श्रीमद्भगवद्गीता ।

[पुरुषार्थ-बोधिनी-भाषा-टीका]

टीकालेखक और प्रकाशक ।
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा)
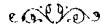
प्रथमवार २०००

संवत् १९८७, शक १८५२, सन १९३०.

'वेदका वेद्य।'

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

भ० गी० अ० १५

"मैं वैश्वानर होकर सब प्राणियोंकी देहोंमें रहता हूँ और मैं ही वहां प्राण और अपानसे युक्त होकर चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ।" १४

"मैं सबके हृदयोंमें प्रविष्ट होकर रहा हूँ। मुझसेही स्मरण, ज्ञान और तर्क (अथवा उनका अभाव) होता है। सब वेदोंसे मैं ही जाना जाता हूँ। मैं ही सब वेदोंका जाननेवाला हूँ और वेदका अन्तिम तत्त्व प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूँ।" १५

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी।

[भाषाटीका।]

श्रीमद्भगवद्गीता यह सातसौ श्लोकोंका छोटासा ग्रंथ मननशील पाठकोंको अत्यंत प्रिय होने योग्य है। यह **गीता** ग्रंथ इतना छोटा है, तथापि अर्थकी गंभीरताकी दृष्टिसे इसकी योग्यता बहुत बडी है। इसलिये **महात्मा गांधी** जी जैसे अनासक्तिके पथपर स्वयं चलने और जनताको चलानेवाले, अहिंसाधर्मका पुनरुज्जीवन करनेवाले कर्मयोगीने इसका अर्थ वर्धिष्णु है ऐसा कहा है-

" गीता एक महान् धर्मकाव्य है। उसमें आप जितने गहरे पैठेंगे उतने ही नये और सुंदर अर्थ आपको मिलेंगे। गीता सर्वसाधारण की चीज है और इसलिये उसमें एकही बात अनेक तरहसे कही गई है। अतएव गीतामें प्रयुक्त महाशब्दोंके अर्थ हरएक युगमें बदलेंगे और विस्तृत होते जायंगे। पर गीताका मूल मंत्र कभी नहीं बदलेगा। जिस रीतिसे यह मंत्र सिद्ध किया जा सकता है उस रीतिसे जिज्ञासु उसका जो चाहे अर्थ करे।"

श्री० महात्मा गांधीजी ने निरंतर ४० वर्ष गीताका मनन किया और **गीताके** उपदेशके अनुसार आचरण किया और पश्चात् उक्त शब्द लिखे हैं, इसलिये इनके विरुद्ध शब्द लिखना सहजहीमें नहीं हो सकता।

गीताका अर्थ एकवार पढनेसे ध्यानमें नहीं आसकता, मनुष्य कितनाभी विद्वान क्यों न हो, थोडेसे मननसे **गीताग्रंथ** का हृद्गत समझमें नहीं आसकता। **लो० तिलकजीने** ४५ वर्ष गीताका मनन किया और **गीता-रहस्य** ग्रंथ लिखा, **म० गांधीजीने** ४० वर्ष मननके साथ आचरण किया और अपना भाषान्तर प्रकाशित किया जिसकी भूमिकामें वे कहते हैं कि—

" गीताके अनुसार आचरण करनेमें प्रतिदिन निष्फलता होती है, इस निष्फलतामेंहम सफलता की उगती हुई किरणोंकी झाँकी करते हैं।"

चालीस वर्ष अखंड तपस्या करनेवाले के हृदयके ये शब्द निःसंदेह **गीताके** उपदेशकी गंभीरताके सूचक हैं। परंतु जो लोग आचरण नहीं करते और मननभी नहीं करते, उनके लिये **गीता** ग्रंथका कोई विशेष मूल्य नहीं होता है। मननके विना गीता ग्रंथको देखा जाय, तो उसमें पुनरुक्ति, असंबद्धता, अस्पष्ट और परस्पर विरुद्ध विधान भी पाये जांयगे। कईयोंने गीताके विषयमें ऐसे ही अनुदार शब्द लिखे हैं,जो उनके अज्ञानके सूचक हैं।

केवल संस्कृत भाषा अथवा अनुवादकी भाषा जाननेसे गीताका आशय मनन न करते हुए ध्यानमें आना करीब करीब अशक्य है। वेद, उपनिषद् और गीता इन सब ग्रंथोंकी अवस्था यही है! प्रायः सब ऋषिग्रंथोंके विषयमें यही बात है। विशेष मननके विना उनका हृद्गत समझना अति कठीन कार्य है। यह इसलिये होता है कि, **ये ग्रंथ विशेष मनोभूमिकाकी अवस्थामें लिखे होते हैं और इनके दृष्टिकोन भी भिन्न होते हैं। जबतक उनका दृष्टिकोन समझ में नहीं आता, तब तक उनके उपदेश समझमें आना कठीन है।**

श्रीमच्छंकराचार्यजी तथा अन्य अनेक **आचार्यों** ने यह कहा है कि **" वैदिक धर्म " के सत्य सिद्धांत कालान्तरसे जनताके मनसे दूर हुए, अतः उनको पुनः उज्वलित करके जनताके सन्मुख रखनेके लिये गीताशास्त्र कहा गया है।** यह आचार्योंका कथन नितान्त सत्य है। **वैदिक धर्म**के गूढ सिद्धांत उज्वल रूपमें देखनेकी इच्छा हो, तो **गीता** पढी जाय। स्वयं **गीता** में चतुर्थाध्यायके प्रारंभमें यही बात कही है—

" श्रीभगवान् बोले— यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान्से कहा था, उसने मनुसे और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा। इस प्रकार परंपरासे आया हुआ और राजर्षियोंका जाना हुआ यह योग दीर्घकाल के कारण नाशको प्राप्त हुआ। वही पुरातन रहस्य रूप योग मैंने आज तुमसे कहा है, क्यों कि तू मेरा भक्त है और मित्र भी है।"

यहां स्वयं भगवान्‌के द्वारा कहा गया है कि, **गीता** कोई नया शास्त्र नहीं है, परंतु प्राचीन परंपरासे जो ज्ञान आदिकालसे चला आया है, वही पुनः यहां कहा गया है। **'वेद' ही अनादि ज्ञान प्राचीन परंपरासे चला आता है**, परंतु मनुष्यके अज्ञानके कारण उस मार्गसे मनुष्य दूर चले जाते हैं। इसलिये **जनताको जगानेवाले 'उत्तम पुरुष' वारंवार आते हैं, वे आकर जनताको जगाते हैं, और पारंपरिक ज्ञान देते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् इसी प्रकारके 'उत्तम पुरुष' किंवा 'पुरुषोत्तम' थे और उक्त हेतुसे ही उन्होंने गीताशास्त्रका उपदेश किया।** इससे स्पष्ट हुआ कि, **गीता**शास्त्रमें जो ज्ञान कहा है, वह ज्ञान परंपरासे चला आता है, वह ज्ञान इससे पूर्वके ग्रंथोंमें भी मिल सकता है, वह नया नहीं है।

इस **'पुरुषार्थ बोधिनी'** भाषाटीकामें यही बात दर्शायी जायगी कि, **वेद, उपनिषद** आदि प्राचीन ग्रंथोंके ही सिद्धांत **गीता**में नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अर्थात् ये ही **गीता**के सिद्धांत प्राचीन ग्रंथोंमें किस रूपमें हैं। यह बात इस समयतकके किसी टीकाकारने विशद नहीं की है, प्राचीन टीकाकारोंने इसका कुछ अंश बताया है, परंतु इसका विशेष आविष्कार किसीने अभीतक नहीं किया है। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस **'पुरुषार्थबोधिनी'** टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है। **गीता**पर इतनी टीकाएं होते हुए पुनः यह टीका लिखनेका यही एकमात्र हेतु है।

छत्तीस वर्ष पूर्व मैंने मराठी भाषामें एक सारांशरूपसे **गीता**का रूपान्तर प्रकाशित किया था, और **गीता**के कई शब्दोंके अर्थ वैदिक प्रमाणोंसे निश्चित करनेके लिये भी कई लेख नियतकालिकोंमें लिखे थे। तबसे यह **'पुरुषार्थबोधिनी'** टीका लिखनेका संकल्प है और तबसे **गीता**का विचार हो रहा है और प्राचीन ग्रंथवचनोंकी तुलना **गीता**वचनोंके साथ तबसे की जारही है। इतने समयके मननसे मेरे मनका यह निश्चय हुआ कि, **वेद, उपनिषद् और गीता इनका तात्पर्य एकही है, जो भेद किसीको दीखता है वह अज्ञान के कारण है।** यदि **निःपक्षपातपूर्वक विचार हो जायगा और यदि पंथाभिमान की कलुषित दृष्टि दूर होना किसी कालमें संभव हो जायगा, तो इन तीनोंका एकही तात्पर्य स्पष्ट रीतिसे दृष्टिके सन्मुख उपस्थित होगा,** इसमें मुझे संदेह नहीं है।

यह बात तो निश्चित है कि, यह **गीता**शास्त्र लोगोंके विचारोंके मतभेद बढानेके लिये उत्पन्न नहीं हुआ, परंतु **विभिन्न मतोंका संगतिकरण करके, उनसे प्रगट होनेवाली विविधता दूर करके, उनके अंदर जो अभेद है उस ओर लोगोंके ध्यानका आकर्षण करानेके लियेही गीताशास्त्र उत्पन्न हुआ था।** यद्यपि ऐसे एकता अथवा समताका प्रचार करनेवाले ग्रंथपरभी आजकल विभिन्न मत लदे गये हैं !! परंतु मूलतः देखा जाय, तो **विभिन्न तत्त्वों में व्याप्त रहने वाला अभिन्न तत्त्व बतानेके लिये और उन सब का संगतिकरण करनेके लिये इस गीताशास्त्र की उत्पत्ति है।** अर्थात् यह ग्रंथ झगडे बढानेके लिये नहीं है परंतु झगडे घटानेके लिये ही है।

यही दृष्टी यदि पाठक रखेंगे, तो उनको **गीता**का दृष्टिकोन शीघ्र दीखेगा और वे **गीता**के उपदेशके अनुसार आचरण करके, अपना और जनताका अभ्युदय और निःश्रेयस साधन करनेके अधिकारी हो सकेंगे।

अन्तमें मुझे पूर्ण आशा है कि जिस प्रकार भूले और मोहित हुए **अर्जुन**को उस समय इस **"भगवान् के गीत"** ने मार्ग दर्शाया, उसी प्रकार इस समय भूले भटके और मोहित हुए जनोंको भी यह **गीता** सच्चा मार्ग दर्शायेगी और मानवी उन्नतिका पथ सबके लिये खुला कर देगी। इसी उद्देश्यसे **भगवान् श्रीकृष्ण** कहते ही हैं कि— **"सब अन्य मतोंका त्याग करके एक मेरी ही शरणमें आ, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, तू शोक मत कर।** (भ० गी० १८।६६)"

जो विश्वास रखेंगे और देवकार्यमें अपने आपको समर्पण करेंगे उनको यही अनुभव आवेगा।

निवेदक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

औंध (जि० सातारा) स्वाध्यायमंडल

कार्तिक शुद्ध पूर्णिमा शके १८५२

श्रीमद्भगवद्गीता।

[पुरुषार्थ-बोधिनी भाषाटीकासे युक्त]

प्रथमाध्यायः।

अर्जुन-विषाद-योग।

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता।

धृतराष्ट्र उवाच- धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

अन्वय—हे सञ्जय! धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, युयुत्सवः समवेताः, मामकाः पाण्डवाः च एव, किं अकुर्वत?

धृतराष्ट्र बोले- हे संजय! धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्रमें, युद्ध करनेकी इच्छा से एकत्र हुए, मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? ॥ १ ॥

भावार्थ— जिस समय अपने लोग किसी युद्धमें संमिलित होते हैं, उस समय उस युद्धका ठीकठीक वृत्तान्त शीघ्र जानना और विजयप्राप्तिके लिये अपने लोगोंकी उचित सहायता करना, प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता।

"श्रीमद्भगवद्गीता" शब्दका अर्थ वास्तविक रीतिसे "श्रीभगवान् के मुखसे गाई गई" ऐसा होता है। श्रीभगवान् का उपदेश द्वितीय अध्याय के द्वितीय श्लोकसे प्रारंभ होता है, उसके पूर्वका यह प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका प्रथम श्लोक पूर्वसंबंध बतानेवाला प्रस्तावनारूप भाग है। इस प्रथम अध्यायमें अर्जुन के मनमें विषाद उत्पन्न होनेका प्रसंग वर्णित हुआ है। परंतु इस प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोकमें अर्जुनका विषाद भी नहीं है। इसमें तो "धृतराष्ट्रकी चिन्ता" है। अर्थात् इस अनुपमेय ग्रंथ का प्रारंभ धृतराष्ट्रकी चिन्तासे हुआ है। यह धृतराष्ट्र कौन है?

धृतराष्ट्र कौन है ?

धृतराष्ट्र एक भारतीय राजा था,यह बात सब जानतेही हैं। परंतु यहां 'धृतराष्ट्र' एक विशेष भूमिका लिये हुए हैं। यह "धृत-राष्ट्र" है। यह 'राष्ट्र' को 'धृत' अर्थात् हडप कर बैठा है। यह जो वास्तविक अपनी चीज नहीं और दूसरे की है, उसपर अन्याय से और पाशवी बलसे अपना अधिकार जमानेका यत्न कर रहा है। दूसरे का राष्ट्र पाशवी बलसे अपने आधीन करना, उसपर अपना अधिकार सदाकेलिये स्थिर रखनेका यत्न करना और उसके अधिकारी पुरुष अपना स्वराज्य वापस मांगने लगे, तो उनको न देनेके लिये प्रयत्न करना, और उनको 'अनधिकारी' सिद्ध करना, यह 'धृत-राष्ट्र' यहां कर रहा है। इसी कारण इसको चिन्ता हो रही है, और यह पूछरहा है कि, "भाई! आज युद्धका पहिला दिन है, उस युद्धमें क्या हुआ ?"

धृतराष्ट्र और हृतराष्ट्र।

"धृत-राष्ट्र" और "हृत-राष्ट्र" इनमें यह युद्ध हुआ है। हमेशा ऐसे ही युद्ध हुआ करते हैं। कौरव 'धृतराष्ट्र' के पक्षपाती और पाण्डवोंका पक्ष 'हृतराष्ट्र' का था। 'हृतराष्ट्र' वे होते हैं कि, जिनका राष्ट्र छीना गया होता है और जो अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके लिये यत्न करते हैं। इनका राष्ट्र छीना गया होनेके कारण और ये राजकीय अवनतिकी चरम सीमा तक पहुंचे होनेके कारण तथा युद्धमें पराजय हुआ तोभी हृतराष्ट्रोंकी और अधिक हानी होनेकी संभावना न होनेके कारण हृतराष्ट्र दक्षतासे युद्धकी तैयारी करते हुए भी चिन्तासे व्याकुल नहीं होते। युद्ध का परिणाम अनुकूल हुआ तो हृतराष्ट्र लोग 'स्वराज्य' प्राप्तकरेंगे, यह आशा इनको रहती है; परंतु युद्धमें पराजय हुआ तो इनकी, पहिलेसे ही राज्य छीना जानेके कारण, और अधिक हानि होनेकी संभावना नहीं होती है; अतः इन को चिन्ता नहीं दुःख देती; प्रत्युत अपना सत्पक्ष होनेके कारण और राज्य प्राप्तिकी संभावना होनेके कारण, इनके अंदर एक प्रकार का अपूर्व उत्साह रहता है।

धृतराष्ट्रकी हानि।

परंतु 'धृत-राष्ट्र' के पक्षकी बात वैसी नहीं है। यदि इनका विजय हुआ तो इनको प्राप्ति कुछभी नहीं होनी है, जो युद्धके पूर्व था, वही अधिकसे अधिक इनके पास स्थिर रहेगा; युद्धमें पराजय हुआ, तो अनेक अन्याय और क्रूरत्व करके कमाया हुआ राष्ट्र हाथसे चला जायगा; और जय किंवा पराजय होनेपर युद्धसे इनकी हानि ही हानि होनी है; इस कारण ये 'धृतराष्ट्र' के पक्षके लोग रातदिन चिन्तासे व्यग्र रहते हैं। युद्धमें जय मिला तोभी इनकी हानि है, युद्धमें पराजय हुआ तोभी इनकी हानिकी सीमा ही नहीं है, और दोनों अवस्थाओंमें संपूर्ण जगत्की निंदा इनके माथे आती ही रहेगी। इस चिन्तासे व्याकुल होकर इस श्लोकमें 'धृत-राष्ट्र' पूछ रहा है कि "मेरे पुत्र और पाण्डुके पुत्र युद्ध की इच्छासे इकट्ठे हुए थे, तत्पश्चात् क्या हुआ?" इस प्रश्नमें जो भय है, वह ऊपर दर्शाया ही है। यह भय सामान्य नहीं, इसी चिन्तासे सब 'धृत राष्ट्र सम्राट्' मनही मनमें दिनरात जलते रहते हैं।

अन्धा धृतराष्ट्र।

'धृत-राष्ट्र' अंधा भी होता है। यह अन्धा क्यों न होवे? मनुष्य पाशवी बलके कारण अन्धा होता है, परंतु जिसके पास पाशवी बल अत्यधिक होता है, वह तो सबसे पहिले और सबसे अधिक अंधा होता है। पाशवी बल बढ-जानेके कारण ही यह दूसरोंका राष्ट्र अपने आधीन करके उसका उपभोग लेता रहता है, और इस कारण उसका धन भी बढता है। इस अधिक धनके कारण भी मनुष्य अन्धा होता है। बल और धन पास रहनेपर साधारण मनुष्य तो अन्धा बनही जाता है, परंतु इनके साथ यदि शासनाधिकार प्रतिबंधरहित रीतिसे हाथ में

आगया, तो अन्धा बन जानेकी कोई सीमाही नहीं रहती। बल, धन और अधिकारके मदसे तना हुआ मनुष्य न्याय और अन्याय, धर्म और अधर्म, कर्तव्य और अकर्तव्य, नीति और अनीति, युक्त और अयुक्त देखनेमें असमर्थ होता है। वह शरीर के नेत्रोंके कारण अन्धा हो या उसकी आंखें अच्छी हों, इसका कोई संबंध नहीं, सत्य दृष्टीसे वह अन्धा ही बनता है। स्थूल शरीरके अन्धत्वकी अपेक्षा उसका जो मानसिक और आत्मिक अन्धत्व होता है, वह बहुत ही भयानक होता है; यह न केवल उसको चिन्तामें डालता है, परंतु जितने भी उसके पक्षमें होते हैं, उन सब को अपरिमित चिन्तासागरमें डुबा देता है।

अन्धेके अन्धे अनुयायी.

धृतराष्ट्रकी पत्नी भी आंखें होती हुई अन्धी बनी थी! क्यों न बनेगी? जो अन्धे धृतराष्ट्रके साथी होते हैं उन सब का हाल ऐसा ही होना है। यह ठीक है कि, गांधारी देवीने पतिव्रता व्रतके कारण अपनी आंखें बांध रखी थीं। यह निःसन्देह ऐसाही होगा। परंतु यह गांधारी अपने घरमें अपनी सन्तानपर चलाये हुए अत्याचारका प्रतिबंध करनेमें समर्थ नहीं हुई। इस देवीने बहुत विरोध भी नहीं किया था। जब अत्यन्त अत्याचार हुआ, तब कुछ बोल उठी थी। इससे प्रतीत होता है कि, यह देवी पतिदेव धृतराष्ट्रकी संमतिके प्रतिकूल बहुत जाना नहीं चाहती थी। यदि यह दुःशासनको अपने पूरे बलसे रोक लेती, तो घर के यशकी रक्षा होना संभव था। मानो, इस देवीने जान बूझकर अपने आंखोंपर परदा डाल रखा था और सच मुच था भी ऐसाही। धृतराष्ट्र तो चाहताही था कि यदि किसी न किसी प्रकार पांडवोंकी बला टल जाय और पूर्ण साम्राज्य अपने पुत्रोंके आधीन हो, तो अच्छाही है। पतिव्रता होनेके कारण और पुत्रलोभके कारण देवी गांधारी का भी अंदर अंदरसे ऐसाही मत हुआ होगा। पुत्रों के मोहसे और पतिके अनुकूल रहनेके यत्नसे स्त्रियोंके अंदर इस प्रकारकी कमजोरी आती ही है। वे सहसा अपनी इच्छाको प्रबल करना नहीं चाहतीं, इस लिये आंखें होती हुई भी उनको अन्धा बननाही पडता है। यही अवस्था गांधारी देवी की हो गई थी।

अन्धे धृतराष्ट्रके पुत्र भी एकसे एक अन्धेके अनुगामी होने योग्य थे। दुर्योधन, दुःशासन, दुःसह, दुःशल, दुर्धर्ष, दुष्प्रधर्ष, दुर्मर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, दुर्मद, दुर्विगाह, दुर्विमोचन, दुष्पराजय, दुराधर, इ० ये पुत्र और इनकी भगिनी दुःशला इनके नाम का प्रारंभ "दुः" अर्थात् दुःख, दुष्टता आदि भावोंसे हो रहा है। यद्यपि शौर्यकी दृष्टिसे इनके अर्थमें कोई बुराई नहीं है, तथापि दुष्टबुद्धि के लिये इनके शौर्यका उपयोग होनेके कारण इनके शौर्यका दुरुपयोगही हुआ। जो शक्ति देवकार्य के लिये लगती है, वही उत्तम आदरणीय है, परंतु जो शौर्य आसुरी कार्यके लिये लगता है; वह शौर्यवीर्य कितना भी बढकर हुआ, तो भी वह दुःख बढानेवाला ही होता है। इसकी सूचना इन नामोंसे भली प्रकार समझमें आसकती है। 'धृत-राष्ट्र' अर्थात् जो दूसरोंका राष्ट्र अन्यायसे हडप कर बैठा होता है, उसके परिवारके लोग और उसके अनुयायी लोग उसको मदत करनेके कारण और उसका पूर्ण विरोध न करनेके कारण उसके दोषके भागी होजाते हैं। इन नामोंकी योजनासे यही स्पष्ट दीखता है। दुर्योधन वस्तुतः सुयोधन अर्थात् उत्तम लडनेवाला था, परंतु उसने अपना युद्धकौशल दुष्ट असत्पक्षके लिये लगानेके कारण वह 'सु-योधन' होता हुआ भी 'दुर्योधन' बनगया।

सामुदायिक पाप।

यही अवस्था भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, आदिकोंकी होगई थी। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो ये ज्ञानी, शूर, पुरुषार्थी और तेजस्वी धार्मिक पुरुष थे। अनुकरणीय और प्रातःस्मरणीय थे।

परंतु उनका सब शौर्य दुष्ट धृतराष्ट्रपुत्रोंकी अनीतिके पक्षके लिये लडनेमें खर्च हुआ !! इतने आदर्श पुरुष होते हुए भी बुरी अनीतिके असत्पक्षमें रहनेके कारण वे वधके योग्य समझे गये। सांघिक अथवा सामुदायिक पापका यही परिणाम होता है। ऐसे युद्धोंमें बुरेके साथ भला भी पीसा जाता है। और ऐसी अवस्थामें जो भले लोग पीसे जाते हैं, उनको कोई बचा नहीं सकता। अतः इस युद्धमें भगवान् श्रीकृष्ण भी भीष्मद्रोणादि सज्जनोंको बचा नहीं सके।

वैसा देखा जाय तो भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य जानते थे कि, पाण्डवोंका सत्पक्ष है और धृतराष्ट्रका असत्पक्ष है। उनका असंदिग्ध मत था कि, पाण्डवोंको स्वराज्य अतिशीघ्र मिलना चाहिये। धृतराष्ट्र और दुर्योधन पाण्डवोंकी स्वराज्यप्राप्तिमें विविध विघ्न खडे कर रहे हैं, यह अधर्म होरहा है, यह भी वे जानते थे और वे समय समयपर वैसा कहते भी थे। परंतु धृतराष्ट्रके साम्राज्याधिकारी पक्षवाले उनका उपदेश माननेको तैयार नहीं थे। दुर्योधन इनके मतको कोई मूल्य देता नहीं था। बूढेकी बक् बक् कौन सुनता है? अधिकारमदसे उन्मत्त हुए पुरुष सदुपदेश और धर्मका उपदेश सुननेको तैयार नहीं होते। कभी तैयार नहीं हुए और आगेभी सुननेको तैयार न होंगे। वे तो उस समय सुननेको तैयार होते हैं कि, जिस समय वे पूर्ण रीतिसे पराजित हुए होते हैं।

पापसे मृत्यु।

दुर्योधन यह कहता था कि, अपने पास ११ अक्षौहिणी सेना है, भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे महावीर सहायक हैं, शस्त्रास्त्र संपूर्ण प्रकारके हैं, साम्राज्यका संपूर्ण धन अपने पास है, इतना होने पर पांडवोंकी थोडीसी स्वराज्यविषयक हलचलको डरकर अपने हाथमें आया साम्राज्य क्यों छोड दें? पाण्डवोंकी सेना छोटी, उस सेनाको बहुत अनुभव नहीं है, उनके पास इतना धन नहीं अर्थात् अपनी शक्तिसे पाण्डवोंकी शक्ति सब प्रकारसे कम है, फिर हम क्यों डरें? केवल युद्धका बलाबल ही देखा जाय, तो दुर्योधनका कहना सत्य ही था; परंतु वह नहीं जानता था कि, अपने किये हुए अनेक पापोंके कारण अपने सब योद्धा (निहताः पूर्वमेव। भ० गी० ११।३३) करीब करीब मरे हुए हैं। दुर्योधन, आंखें होते हुए भी, इस बातको देखनेके लिये वह पूरा अन्धा हुआ था। अपने पापोंके कारण सब जनताका मन और अपने बहुतसे सैनिकोंका भी मन पाण्डवोंकी ओर हुआ है, यह बात वह देखता नहीं था। सच्चा 'विजय' उसको प्राप्त होता है कि, जिसको सब जनता अपने मनसे विजययुक्त देखना चाहती है, और यह जनताका आशीर्वाद सदा 'धर्म' के पक्षवालोंको ही प्राप्त होता है। पाण्डवोंका यह धार्मिक बल दुर्योधनने ध्यानमें नहीं लिया था, वह केवल अपना पाशवी बल ही गिनता रहता था, और अपने अतुल पाशवी बलके मदसे वह उन्मत्त भी हुआ था।

परंतु अन्धे धृतराष्ट्रके मनमें यह बात दिनरात खटकती थी। वह अन्धा होते हुए भी अपने पापोंको सबसे अधिक जानता था और इसी कारण वह युद्धका समय उपस्थित होनेपर सबसे अधिक भयभीत हुआ था, और यह भय मनमें रखते हुए ही धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा था कि, 'अरे संजय! युद्धकी इच्छासे मेरे पुत्र और पाण्डुके पुत्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें उपस्थित हुए, इतना तो तुमने मुझे कहा, पश्चात् क्या हुआ?"

अपने पापसे भीति।

यह प्रश्न पूछनेमें उसके मनके सामने अपने सब पातक उपस्थित हुए हैं ऐसा स्पष्ट, प्रतीत होता है। वह मनमें कहता था कि,— हमने भीमको विषप्रयोग किया, उसको जलमें डुबा दिया, लाक्षागृहमें सब पाण्डवोंको जलानेका यत्न किया, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी पतिव्रता द्रौपदीको सभामें अनंत कष्ट दिये, पाण्डवोंसे कपटद्यूत करके उनका राज्य कपटसे हरण किया, बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके

कष्ट उनको दिये, इतना होने पर भी उन्होंने धर्मके अंदर रहकर कष्ट सहे, शक्ति होते हुए भी कोई अत्याचार नहीं किये, अनत्याचारी वृत्तीसे रहे, सब प्रतिज्ञा पालन करके वे अब अपना स्वराज्य वापस मांग रहे हैं और वह हम उनको वापस नहीं देते। हमने उनको स्वराज्य वापस देनेकी कई वार घोषणा भी की थी, परंतु वह देनेकी इच्छासे नहीं की थी, कालहरण करनेकी मनीषासे ही की थी। इतने हमने अत्याचार और कपट करनेपरभी पाण्डवोंने अन्तमें केवल पांच ग्राम ही मांगे, परंतु वह भी हमने दिये नहीं और कहा कि, युद्धके विना रत्तीभर भूमि भी नहीं मिलेगी। ये सब अत्याचार हमने पांडवोंपर किये हैं। इतने हमने पाप किये हैं, इन पापोंके कारण जनताके मनकी प्रवृत्ती पांडवोंको अनुकूल और हमारे लिये प्रतिकूल हुई है। इस कारण यद्यपि हमारा पक्ष पाशवी शक्तिसे प्रबल है, तथापि आत्मिक शक्तिसे हमारा पक्ष बहुत कमजोर हुआ है और पाण्डवोंका पक्ष तो उनकी 'धर्मके साथ स्थिति' होनेके कारण उनका आत्मिक बल कई गुना हमसे अधिक हुआ है।" धृतराष्ट्रकी यह चिन्ता थी, रातदिन वह मनही मनमें इस चिन्तासे जल रहा था और इसी कारण युद्धकी उपस्थिति होनेपर वह आतुरताके साथ पूछ रहा है कि "युद्धका आगे क्या हुआ ?"

धर्मवचनोंका दुरुपयोग।

अन्यायसे दूसरोंका राज्य हरण करनेवाले और कपटसे उसपर अधिकार स्थिर करनेका यत्न करनेवाले धर्मवचनोंको भी अपने अनुकूल बता देनेका यत्न करते हैं। जित लोगोंमें युद्ध-निवारक धर्माभासके भावको जागृत करना, संपूर्ण मानवोंके हितका विचार उनके मनमें भर देना, उनको युद्धके संहारसे निवृत्त करना, इसी प्रकार जगत् नश्वर है इत्यादि विचार उनमें स्थिर करना, इत्यादि प्रकारका प्रयोग भी 'धृतराष्ट्र' के पक्षवालोंने पाण्डवोंपर कियाही था !!! कहते हैं कि सैतान भी धर्मपुस्तकोंका वचन अपने पक्षके लिये उद्धृत करता है। इसी प्रकार विजेता लोग धर्मवचनोंको अपने पक्षके अनुकूल बताते हैं, बडे बडे तत्त्वज्ञान और शान्तिवचन बोलते हैं, जगदुद्धारके लिये हम यत्न कर रहे हैं ऐसा बताते हैं, इन सबका तात्पर्य यह है कि, जित लोग इन वचनोंसे मोहित हो कर स्वराज्य-प्राप्तिके लिये कोई प्रयत्न न करें, और सदा पराधीनतामें संतोष मानें। कौरवोंने पाण्डवोंके ऊपर भी ऐसाही धर्म प्रयोग किया था। गीताके प्रथम अध्यायसे उस प्रसंगका संबंध है, इसलिये उस प्रसंगका वर्णन सारांशसे यहां करते हैं।

उद्योग पर्वमें (अध्याय २० से अ० ३२ तकके बारह अध्यायोंमें) 'संजययान-पर्व' है। पाठक मूल महाभारतमें यह संपूर्ण पर्व पढें। इसके पढनेसे ही भगवद्गीताका प्रथम अध्याय अर्थात् अर्जुनको विषाद क्यों हुआ, वीर अर्जुनका मन युद्धके प्रारंभमें ही उदासीन और विरक्त क्यों हुआ, यह बात ठीक प्रकार समझमें आसकती है। धृतराष्ट्रके पक्षवालोंने पांडवोंको धर्मवचन-द्वारा युद्धसे हटा देनेका जो अन्तिम प्रयत्न किया था, वह प्रयत्न साम्राज्यवादियोंकी चालाकीका प्रदर्शक है। धृतराष्ट्र जानता था कि, पांडव धर्मप्रवृत्तीके लोग हैं, इसलिये धर्मवचनोंके जालमें अवश्य फंसेंगे। अतः उसने इस कार्यके लिये संजयको पांडवोंकी छावनीमें भेजा था और उसने वहां पांडवोंको जो उपदेश किया था, वह अर्जुनके मनमें जमगया था, युद्धका भयानक चित्र सन्मुख आतेही उन विचारोंने अर्जुनके मन पर प्रभाव जमा दिया और अर्जुन युद्धसे विमुख हुआ। ऐसा होगा ही, यह बात धृतराष्ट्र जानता था और अपने प्रयोग की सफलता हुई या नहीं, यह जाननेकी इच्छासे धृतराष्ट्र पूछता है कि "दोनों ओरकी सेना इकट्ठी होनेके बाद क्या हुआ ?" अर्थात् हमने जो धर्मवचनोंका प्रयोग पांण्डवोंपर कियाथा, उसका अनुकूल परिणाम हुआ या नहीं हुआ। इसके जाननेकी आतुरता धृतराष्ट्रके इस प्रश्नमें है।

जो लोग संजययानपर्वके अनुसंधानसे भगवद्गीताका प्रथमाध्याय पढेंगे वेही इस अध्यायका मर्म समझ सकते हैं। इसलिये पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि, वे उद्योगपर्वके प्रारंभके ये (अ० २० से ३२ तकके) बारह अध्याय सूक्ष्म दृष्टीसे पढें। पाठकोंकी सुविधाके लिये हम यहां सारांश रूपसे वह भाग बता देते हैं—

(उद्योग० अ० २२ में) धृतराष्ट्र संजयसे कहता है कि " हे संजय ! तू पाण्डवोंकी छावनीमें जा, और उनसे कह कि, धृतराष्ट्र पाण्डवोंका हित चाहता है, पाण्डवोंके गुणोंका वर्णन करता है, और पांडवोंको वापस आये देख कर उसको बडा ही आनंद हुआ है। धृतराष्ट्र पांडवोंसे युद्ध करना नहीं चाहता, परंतु पांडवोंसे संधि करना चाहता है, इसलिये पांडव भी संधि करनेके लिये तैयार हो जांय। हे संजय ! ऐसी ऐसी शान्तिकी बातें कहकर पांडवोंका युद्धविषयक जोश कम होगा ऐसा यत्न कर। "

इससे स्पष्ट होता है कि, धृतराष्ट्र शान्ति करनेका इच्छुक नहीं था; परंतु पांडवोंके स्वराज्य-प्राप्तिके लिये युद्ध करनेके उत्साहको कम करनेका इच्छुक था। देखिये साम्राज्यवादियोंकी राजनीति कहांतक गहरी होती है।

आगे चलकर (अ० २४ में) संजय पांडवोंसे कहता है—" हे धर्मराज ! देखो, आप सब पांडव सज्जन हैं, कठिन प्रसंगमें भी धर्मका अतिक्रम आप नहीं करते, आप धन्य हैं। आपने तो कौरवोंके इतने अपराधोंकी क्षमा की है, ऐसे धर्मात्मा लोग आप अब अपनेही भाइयोंका-दुर्योधनादिकोंका-वध करनेका घोर कार्य करेंगे, यह कदापि हो नहीं सकता। कमसे कम मेरा मन तो कहता ही है कि, ऐसा कुलक्षय आप कभी नहीं करेंगे। हे धर्मराज ! क्षत्रियोंका धर्म तो केवल कसाइयोंका धर्म है, वह आप जैसे धर्मात्माओंके लिये शोभा नहीं देता !! मैं निश्चयसे मानता हूं कि, आप ऐसा क्रूर युद्धकर्म कभी करेंगे ही नहीं। आप जानते ही हैं कि बूढा धृतराष्ट्र आपके साथ कितना प्रेम करता है, परंतु वह बिचारा क्या करेगा ? साम्राज्यमदसे धुंद हुआ सुयोधन उसका सुनता नहीं है। क्या इसलिये उनके सब पुत्रोंको मार कर बूढे धृतराष्ट्रको पुत्रशोकमें डालनेमें आप प्रवृत्त होंगे ? यह तो आपके धर्मभावके लिये सर्वथा अनुचित है। हे अजातशत्रो! तुम्हारे मनमें तो शत्रुभाव भी नहीं है। धन्य हो ! तुम ही सच्चे धार्मिक हो। तुमने इतने दुःख सहन किये हैं और अपना धर्म रक्षण किया है, क्या ऐसे तुम इस समय कौरवोंसे शान्तिका बर्ताव नहीं करोगे? हे धर्मराज ! तुम्हारे सब भाई भी धर्मात्मा हैं। इस लिये यह कुलक्षय हटाना अब तुम्हारे हाथमें है। मैं समझता हूं कि, सबको सुख प्राप्त हो, ऐसी यदि तुम्हारी इच्छा है, तो तुम इस समय कौरवोंसे संधि करो और अपने कुलकी रक्षा करनेका यश संपादन करो। " (अध्याय २४)

(अ० २५) " हे पाण्डवो ! धृतराष्ट्र तो शांति करनेके लिये अत्यंत उत्सुक है। आप सब पांडव जन्मसे दयावान्, धर्मवान् और उदार हैं। आप जैसे धार्मिक सज्जनोंको युद्ध जैसा क्रूरकर्म करना कदापि योग्य नहीं है। आप जैसे धार्मिक पुरुषोंने थोडासा भी हीन कर्म किया, तो वह आपके अयशके लियेही कारण होगा। कौरव तो दुष्ट हैं हि, उनके नीच कर्मोंकी तो कोई सीमा ही नहीं, परंतु आप वैसे नहीं ! आपने इस समय तक धर्मका उलंघन नहीं किया है, इसलिये अब आपको युद्धका क्रूर कर्म नहीं सजता है। इस युद्धमें जय मिला तो भी वह पराजयके समानही है और इसमें कुलक्षय तो निःसंदेह होगा ही; इसलिये आप जैसे धार्मिक लोगोंको यह घोर युद्ध करना उचित नहीं है। किस पक्षका जय होगा यह भी नहीं कहा जाता; किसीका भी जय हो और किसीका भी पराजय हो; दोनों अवस्थाओंमें निश्चित बात यह है कि, संपूर्ण कुलका नाश होगा। फिर ऐसा हीन कार्य क्या तुम्हारे जैसे धर्मपुरुषोंको करना योग्य है ? हाय ! हे धर्म ! तूने

इतने दिन धर्मका पालन किया और अब ऐसा हीन कर्म करनेके लिये उद्युक्त हुए हो! युद्ध करना तो नीच पुरुषोंका कार्य है, तुम्हारे जैसे धार्मिक लोगोंको यह उचित नहीं है। कौरव भी तुम्हारे भाई ही हैं और अपने भाइयोंका हित करना तुम्हारा परम कर्तव्य ही है। और पहिले भी तुमने ऐसा ही किया है। जिस समय गंधर्वोंने कौरवोंको पराजित करके बांध दिया था, उस समय तुम पाण्डवोंने ही तो उनकी रक्षा की थी? जिनकी तुमने रक्षा की, क्या तुम अब उनका ही वध करोगे! नहीं नहीं, यह तो कसाइयोंका कार्य है, यह पाण्डवोंके लिये योग्य नहीं है। इस लिये आप शान्ति धारण करनेका कार्य कीजिये।"

(अ०२७) "हे धर्मराज! तू तो धर्मात्मा है। तू जानता है कि जीवित नश्वर है। यहां कौन शाश्वत रहनेवाला है? क्या कौरवोंका नाश करके पांडव चिरंजीव होंगे? यह कदापि नहीं होगा! तुम्हारा स्वराज्य था और वह कौरवोंने छीना यह भी सत्य है, परंतु वे तुम्हारे भाईही हैं, इस लिये राज्यादि नश्वर भोग तुम्हारे पास रहे या उनके पास रहे, उसमें क्या है? यदि उन्होंने तुम्हें स्वराज्य न दिया, तो तुम भिक्षावृत्तीसे उत्तम धर्मका पालन कर सकते हैं। ऐसा न करते हुए तुम अपने कुल का संहार करोगे, तो वडा अधर्म होगा। मनुष्यजीवन अल्प है, इसलिये स्वजातियोंका वध करके राज्य भी कमाया, तो कितने दिन तुम लोग उसका उपभोग करोगे। तुम्हारे जैसे धर्मात्माओंको क्रूर युद्ध करके और वंशक्षय करके राज्य कमाना किसी प्रकार भी यशकारी नहीं है। विषयवासनाही मनुष्यको ऐसा क्रूर कर्म करनेमें प्रवृत्त करती है, इसलिये ऐसी दुष्ट वासना का तू संयम कर। तुम्हारे जैसे ज्ञानी पुरुषको ऐसी तृष्णा धारण करना उचित नहीं! पृथ्वी का राज्य मिलनेपर भी सुख कहां होता है? केवल धर्मसे ही सुख होता है। हे धर्मराज! तू ज्ञानी है, ब्रह्मचर्यपालन तूने किया है, अतः ऐसी विषयवासनामें फंसना तुम्हें उचित नहीं है। तुम्हारे जैसे ज्ञाता मनुष्यको इह लोक की अपेक्षा परलोक का विचार करना योग्य है। परलोकके लिये इस लोकके सुखका समर्पण करना तुम्हें उचित है। तू चाहे योग साधन कर, ध्यानधारणामें रत हो। इससे परलोककी प्राप्ति होगी। ऐसे क्रूर युद्धसे क्या लाभ होगा? युद्धसे स्वराज्य प्राप्त भी हुआ, तोभी वह चिरकाल तो नहीं टिकेगा। अतः धर्मसंचय करना ही तुम्हें योग्य है। हे पाण्डवो! यदि स्वार्थ भावसे तुम लोगोंने स्वकुलका नाश किया; तो तुम सबको चिरकाल नरक भोगना पडेगा। हे धर्मराज! तुमने इस समय तक क्रोधका आश्रय नहीं किया है, परंतु आश्चर्य है, इतने समयके पश्चात् तुम्हें विपरीत बुद्धि हो रही है! हाय! युद्ध करके तुम लोग पूज्यपाद भीष्म पितामह का और द्रोणाचार्यका भी वध करोगे? तुम्हारे सब बंधु बांधवोंका वध होनेके बाद तुम्हें इस राज्यसे कौनसा सुख होगा? इसलिये हे धर्मज्ञ युधिष्ठिर, इस क्रूर कर्मसे निवृत्त हो, शान्तिका अवलंब करो और कौरवोंसे युद्ध करनेका विचार छोड दो।"

सावधानीकी सूचना।

इस प्रकार संजयने पांडवोंको युद्धके पूर्व धर्मका और संन्यास का उपदेश किया था। यह सब धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे ही किया गया था। अर्जुन का विषाद इसीका प्रतिबिंब है। अर्जुन के मनमें यह उपदेश जम गया और वह समझने लगा कि, सचमुच स्वराज्यके लिये भी धर्मयुद्ध करना पाप है और भिक्षावृत्तिसे रहना पुण्य है। अर्जुनके मनपर ऐसा भाव स्थिर करानेके लियेही यह व्यूह धृतराष्ट्रने रचा हुआ था। यदि अर्जुनके मनपर यह उपदेश पूर्णरीतिसे जम जाता, तो कौरवोंका साम्राज्य स्थिर हो जाता और पाण्डव हमेशा के लिये राज्यभ्रष्ट रहते। देखिये जेता लोग - स्वयं सैतान होनेपर भी - जित लोगोंको

धर्मका उपदेश दे देकर और उच्च तत्त्व बतला बतलाकर स्वराज्यके प्रयत्न करनेसे किस प्रकार रोक रखते हैं!! अतः स्वराज्यप्राप्ति करनेवालोंको उचित है कि, वे जेता राष्ट्रके धर्मोपदेशकोंके उपदेश भी बडी दक्षतासे सुनें और सावधानतासे उसके अनुसार चलें। नहीं तो अर्जुन जैसी अवस्था ऐन युद्धके समय बनेगी, और संपूर्ण प्रयत्न फंस जायगा। पूर्वोक्त उपदेशमें धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे संजय पाण्डवोंको ही शान्तिका उपदेश दे रहा है, जैसा कि पाण्डव ही अशान्तिके कारण हैं!! सब अन्याय धृतराष्ट्रके पक्षका है और वेही इस ऐन युद्धके समय शांतिकी स्थापनाके यत्नमें अग्रेसर दीखते हैं!! वेही कह रहे हैं कि युद्धमें क्रूरता है, वैराग्य श्रेष्ठ है, हिंसा करके राज्य कमानेकी अपेक्षा शान्तिसे भीख मांगना उत्तम है, भोग वासनाका क्षय करना चाहिये !! देखिये, विजेता लोग कैसे निर्लज्ज बनते हैं और अपनी साम्राज्य रक्षाके लिये धर्मवचनोंका भी कपट युक्तिसे कैसा आश्रय करते हैं!!! यह धर्मवचनोंका प्रयोग धृतराष्ट्रने पाण्डवोंपर किया था और वह समझता था कि, इस प्रयोगका परिणाम पाण्डवोंपर अवश्य होगा क्योंकि पांडव 'धर्म' के अनुगामी हैं!

पुण्यस्थानका प्रभाव।

दूसरी बात यह है कि, ये दोनों पक्षके सैनिक "धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र" में युद्धके लिये इकट्ठे हुए हैं। साधारण चोर और लुटेरे भी धर्मक्षेत्रमें गये, तो कुछ न कुछ धर्ममें प्रवृत्ति करते ही हैं, तीर्थक्षेत्रोंमें अन्यस्थानोंकी अपेक्षा धर्मकी प्रवृत्ति अधिक रहतीही है। इसलिये धृतराष्ट्र समझता है कि, अपनी प्रेरणासे संजय द्वारा किया गया उपदेश धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें जानेके पश्चात् पाण्डवोंके मनपर अधिक परिणाम करेगा और प्रायः वे कुलक्षय करनेवाले युद्धसे विमुख हो जांयगे। मनमें यह भाव धारण करके वह संजयसे पूछता है कि, "हे संजय! धर्मक्षेत्रमें मेरे और पाण्डुके पुत्रोंकी सेनाने युद्धकी इच्छासे इकट्ठा होकर क्या किया?" पूछनेका तात्पर्य यह है कि, पाण्डव तुम्हारे उपदेशके अनुसार युद्धक्षेत्र छोडकर वापस गये, या नहीं? तुमने जो उपदेश किया, उसका परिणाम उनपर कैसा हुआ? धृतराष्ट्रकी चिन्ताका यह स्वरूप है। इस पूर्व वर्णनका अनुसंधान करके पाठक यदि इस प्रथम श्लोकका विचार करेंगे, तो उनको इस प्रश्न करनेके समय धृतराष्ट्रके मन की चिन्तामय स्थितिकी ठीक कल्पना हो जायगी।

पराजयकी संभावना।

धृतराष्ट्र यह भी जानता था कि, अपने पक्षके वीरोंमें से दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण आदि थोडे वीरोंके अतिरिक्त भीष्मद्रोणादिक सब बडे वीर दिलसे लडनेवाले नहीं हैं। वे दिलसे पाण्डवोंको स्वराज्य देनेके पक्षमें हैं। इस दृष्टीसे अपने पक्षमें सैन्यबल बडा होनेपर भी दिल कच्चा होनेके कारण अपना पक्ष निर्बल है। परंतु पाण्डवोंके पक्षमें इस दृष्टीसे देखा जाय, तो हर एक वीर कौरवोंका बदला लेनेकी अपनी ओर से पूरी पूरी तैयारी किये हुए हैं। अर्जुन, भीम आदि वीर तो अपनी शक्तिसे कई गुना अधिक कार्य करके दिखा देंगे। इसकारण पाण्डवोंका सेना बल छोटा होनेपर भी हरएक वीर दिलसे कार्य करनेवाला होनेके कारण इनका पक्ष सबल है। इस दृष्टिसे संभवतः अपना पराजय भी हो जायगा। इस लिये हृदयमें दुःख करता हुआ धृतराष्ट्र संजयसे पूछता है कि, "दोनों सेनाएं इकट्ठी हो जानेपर आगे क्या हुआ?" वह मनमें समझता ही था कि, यदि युद्ध छिड गया, तो अपने पक्षका पराभव निश्चितसाही है।

धर्मयुद्ध।

हमेशा 'धृत-राष्ट्र' और 'हृत-राष्ट्र' इन दो पक्षोंमें युद्ध हुआ करता है। धृतराष्ट्र दूसरे का राज्य अन्याय से छीनता है और उसको अपने आधीन रखनेके लिये युद्धमें प्रवृत्त होता है, इसलिये उसकी ओर से जो युद्ध होता है,

वह ' अधर्म युद्ध ' कहलाता है। परंतु जो ' धृत-राष्ट्र ' पक्षके लोग होते हैं, वे अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके लिये धर्मपूर्वक यत्न करते हैं, इस लिये उनका सत्पक्ष होनेके कारण उनकी ओरसे जो होता है, वह 'धर्म युद्ध' होता है। एकही युद्धमें दो पक्ष एक ही स्थानपर संमिलित होते हैं, तथापि उसमें एक धर्म युद्ध करता है और दूसरा अधर्मयुद्ध करता है। यह धर्मयुद्ध और अधर्मयुद्ध का विचार पाठक उत्तम प्रकार स्मरण रखें।

धर्मका पक्ष।

पाण्डवोंका पक्ष "धर्म" का पक्ष था। इस पक्षका मुखिया 'धर्म' नाम का राजा था, यह बात गौण है, परंतु यहां इस पक्षके लोग धर्मके अनुसार आचरण करनेवाले थे, यही इस पक्ष द्वारा बताया है। धर्मराज भी यहां धर्मका प्रतिनिधि होकर वैसी भूमिका लिये हुए हैं। धर्मराज 'युधिष्ठिर' है अर्थात् यह जिस भूमिका को लेकर युद्धमें उपस्थित होता है, उससे पीछे नहीं हटता। युद्धमें अपनी भूमिका पर स्थिर रहना यह भी एक बडा कार्य हुआ करता है। ' युधि-स्थिर ' शब्द द्वारा युद्धमें अपने स्थानपर स्थिर रहनेका उपदेश किया है। धर्मयुद्धमें उपस्थित होनेवाले लोग युद्धमें स्थिर रहनेको सीखेंगे, तो अच्छा होगा। 'विजय' प्राप्तिके लिये 'धर्म' का अनुयायी होना और (युधि-स्थिर) युद्धमें अपने स्थानपर स्थिर रहना अर्थात् अपने स्थानसे पीछे नहीं हटना, यह अत्यंत आवश्यक बात है। वीर पुरुष अपने स्थानसे आगे बढें, परंतु कभी डरकर पीछे न हटें।

द्वेषभावरहित मन।

यह धर्मराज "अजात-शत्रु" भी है। जिसका कोई शत्रु नहीं है, कमसे कम जो किसीका द्वेष नहीं करता। जो किसीकी हिंसा या हानि करना नहीं चाहता, शत्रुका भी द्वेष नहीं करता, शत्रुका भी सुधार होनेके लिये यत्न करता है, शत्रुके भी गुण देखता है। यह धर्मकी भूमिका है। जिसके मनसे, वाणीसे और कर्मसे द्वेष भाव दूर हुआ है, जो शत्रुका भी द्वेष नहीं करता प्रत्युत जो शत्रुके भी गुण देखता है वह ' अजात-शत्रु ' पाण्डवोंका धुरीण है। सब पाण्डव इस ' अजात शत्रु धर्म' की आज्ञा शिरोधार्य मान कर उस आज्ञाके अनुसार चलनेमें अपनी कृतकृत्यता मानते हैं। अर्जुन जैसा सव्यसाची वीर, भीम जैसा बलवान योद्धा, नकुल सहदेव जैसे अद्वितीय शूर पुरुष अपने अपने मतभेद रखते हुए भी अनत्याचारी, शान्ततावादी, अजात-शत्रु धर्म की आज्ञा – अपने मतके विरुद्ध होनेपर भी प्रतिकूलताका भाव न बताते हुए— मानते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं; इसीमें उनका बल है। वस्तुतः देखा जाय तो धर्मराज ही अनत्याचारी समतावादी और अजातशत्रु था। भीम तो स्वभावतः मुसली बलराम के समान अत्याचारी ही था, अपने स्वभावके कारण धर्मराजपर क्रोध भी करता था, धर्मराजके हाथ जलानेके लिये भी तैयार होता था ; अर्जुन यद्यपि भीमसेन के इतना क्रोधी नहीं था, तथापि धर्मराज जैसा शमवादी भी नहीं था! नकुल सहदेव तो अर्जुन के पीछे पीछे चलनेवाले थे। और इनकी धर्मपत्नी वीरपत्नी द्रौपदी देवी तो केवल अकेले भीमको ही पसंद करती थी। अर्थात् धर्मराजके साथ समविचार रखनेवाला इनमें एक भी नहीं था। वस्तुतः देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मराजकी अनत्याचारी अहिंसक वृत्तीसे सब इतर पाण्डव त्रस्त हुए थे। इतना मतभेद होनेपर भी धर्मकी आज्ञा सब मानते थे और अन्त तक किसीने भी धर्मकी आज्ञाका उलंघन नहीं किया। मानो धर्मराजका धर्मही 'अनत्याचार' था और अन्योंने नीतिके लिये वैसा बनाया था। यदि स्वराज्य आन्दोलन करनेवालोंका अनत्याचारी धर्मराज नेता माना जाय, तो उसके नीचे नीतिसे अनत्याचारी बने हुए ये अन्य लोक काम करते थे, ऐसा मानना पडेगा। अर्जुन, भीमसेन,

नकुल, सहदेव और वीरा द्रौपदी ये क्रमशः वीर बली, चतुर, और ज्ञानी पुरुषों तथा वीर स्त्रियोंके संघोंके प्रतिनिधी माने जा सकते हैं। और ऐसा माननेपर भिन्न भिन्न संघोंके मत विभिन्न होनेपर भी एक अनत्याचारी नेताकी आज्ञाके अन्दर ये सब एकविचारसे कार्य कर रहे थे, और ऐसे कार्य करते हुए उन्होंने अपनी उत्तम संघटना की, यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि ये विभिन्न मतके वीर प्रथम समयमें धर्मराजके अनत्याचारी मार्ग में न रहते और स्वयं अत्याचार करनेमें प्रवृत्त हो जाते, तो कौरववीर इनको विना आयास पीस डालते और इनके ऊपर उठनेकी कोई आशा न रहती। परंतु धर्मराजकी सहज धर्म प्रवृत्ति होनेसे और धृतराष्ट्र पक्षवालोंके किये अनेक पाशवी अत्याचार चुपचाप सुनते रहनेसे, संपूर्ण जनताकी सहानुभूति तथा कई कौरववीरों की भी अनुकूल बुद्धी पांडवों के लिये सहायक होगई, और इस कारण अन्तमें स्वराज्य प्राप्तिके अन्तिम युद्धमें इनका विजय होने योग्य शक्ति इनको प्राप्त होगई। अर्थात् अनत्याचारी वृत्तिसे रहकर आत्मोद्धारके मार्गसे जाते हुए होनेवाले अनेक कष्टोंको शान्तिसे सहन करनेसे जनताकी सहानुभूतिका अद्वितीय बल प्राप्त होता है, यह बल प्रथमसे अत्याचार करने वालोंको कभी प्राप्त नहीं हो सकता, यह बात निःसन्देह सत्य है।

ईश्वरकी सहायता।

यहां दूसरी विलक्षण बात यह है कि, काठियावाड-द्वारका-निवासी भगवान मन 'मोहन' श्रीकृष्ण पांडवोंका संचालक और परम सहायक था। यह सब प्रकारसे ज्ञानी शूरवीर और युद्ध विद्याकुशल होते हुए भी "मैं हाथमें शस्त्र नहीं धरूंगा, मैं युद्ध नहीं करूंगा" ऐसी युद्ध न करनेकी अनत्याचारकी प्रतिज्ञा करके पाण्डवोंकी सहायता करनेके लिये आया था। धर्मराज वैसा स्वभावतः शमवादी और अजातशत्रु था, और भगवान् मन 'मोहन' श्रीकृष्ण इस प्रकार युद्धसे निवृत्त रहनेकी प्रतिज्ञा किये हुए थे। इस प्रकार पांडवोंके दोनों मुखिया शमवादी थे।

धर्मका विजय।

शमवादी होनेपर भी उनको युद्ध करना पडा, और इन शमवादियोंकी अनुकूलतामें रहनेसे ही पाण्डवोंको अन्तमें विजय प्राप्त हुआ। 'विजय' 'धर्म' का भाई और परमेश्वरका सखा तथा भक्त ही हुआ करता है। विजय कभी अधर्मका भाई नहीं होता और राक्षसोंका भी मित्र नहीं हो सकता।

सनातन उपदेश।

इतने शब्दोंका विचार करनेसे पाठकोंको पता लगा ही होगा कि 'धर्म, अजातशत्रु, अर्जुन, विजय' आदि नाम किसी व्यक्तिके बेशक हों, परंतु यहां ये नाम एक सनातन बात कहनेके लिये आये हैं। 'धर्म' के पक्षमें ही 'विजय' होता है अधर्मके पक्षमें नहीं। 'धर्म' के पक्षमें ही बलवान भीम होते हैं अन्य पक्षमें नहीं, क्योंकि धर्म से ही बल बढता है और अधर्मसे बल घटता है। 'धर्म' के पक्षकी ही परमेश्वर सहायता करता है और धर्मका पक्ष पाशवी बलमें कम होनेपर भी उसको परमेश्वरका बल प्राप्त होनेके कारण अन्त में उसीको यश प्राप्त होता है।

'धर्म' के पक्षमें 'न-कुल' (पाणिनी अष्टा० ६।३।७५) अर्थात् कोई लोग कुलवान न भी हुए तो भी वे श्रेष्ठपद प्राप्त करते हैं और वही धर्मका पक्ष 'सह-देव' अर्थात् देवोंकी शक्तिसे युक्त होता है। धर्मके पक्षका यह माहात्म्य है। परमेश्वर सहायक बननेपर उसकी शक्ति अधिक होगी ही, इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

ये सब शब्द किसी एक कुटुंबके मनुष्योंके वाचक भलेही हों, परंतु यहां एक सनातन तत्व बतानेके लिये ही विशेष हेतुसे प्रयुक्त किये गये हैं। इस धर्म पक्षवालोंके ये नाम देखिये और साथ साथ दुर्योधन, दुःशासन आदि अन्धे धृत-

राष्ट्रके अनुयायीयोंके नाम देखिये। दोनोंके नामों की तुलना करनेसे एक पक्ष साम्राज्यशाहीके पाशवी बलका प्रदर्शक और दूसरा पक्ष धर्मानुयायी स्वराज्यवादियोंके आध्यात्मिक बलका प्रदर्शक स्पष्ट प्रतीत होगा। यह भारतीय युद्ध इन दो पक्षोंमें हुआ था। सब जगतमें ऐसाही होता आया है। साम्राज्यवादियोंके व्यवहारका कपटसे प्रारंभ होता है, उनकी मध्य स्थिति चिन्तासे परिपूर्ण है और अन्तमें उनका पूर्ण नाश होता है। और स्वराज्यवादियोंके धर्म पक्षका सत्य, धर्म, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, समता, पवित्रता, ईशभक्ति, त्यागवृत्ति इत्यादि सद्गुणोंसे प्रारंभ होता है, इनको बीचमें बहुत कष्ट भोगने पडते हैं, परंतु अन्तमें इनका धवल यश ही सर्वोपरि जगतभरमें फैल जाता है, जो इस समयमें भी सबको मार्गदर्शक होनेका सामर्थ्य रखता है।

धृतराष्ट्र नित्य देखता था कि, हम साम्राज्यवादियोंके अनेकानेक कपट प्रयोग होनेपर भी स्वराज्यका यत्न करनेवाले पाण्डव बचही जाते हैं और प्रतिवर्ष पांडवोंकी शक्ति और संघटना बढती ही जाती है। इसलिये इस युद्धके प्रारंभमें वह अधीर होकर पूछता है कि, 'युद्धका समाचार क्या है?' इस प्रश्नका सत्य उत्तर तो संजय श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तमें देगा कि, 'जहां धर्मका पक्षपाती धनुर्धर अर्जुन है और उसका सहायक भगवान् है, वहां ही विजयश्री निश्चयसे रहेगी। (भ० गी० १८। ७८)' यह तो अन्तिम उत्तर है। परंतु यह उत्तर श्रवण करनेके लिये संपूर्ण भगवद्गीताका अध्ययन होना चाहिये। इसलिये धृतराष्ट्रका प्रश्न सुनतेही संजयने जो युद्धका वृत्तांत सुनाया, वही पहिले यहां देखेंगे।

आध्यात्मिक भाव।

इतिहासिक दृष्टिसे भगवद्गीताकी भूमिका इससे पूर्व बता दी है और उस भूमिकामें बताया है कि, धर्म, अर्जुन आदि व्यक्तियाँ इतिहासिक होनेपर भी जिस ढंगसे यह कथा वर्णन की है, उस ढंगसे उनकी व्यक्ति सत्ताका कोई विशेष महत्व नहीं है, परंतु उनके नामोंमें अलंकार दृष्टिसे जो मुख्य उपदेशतत्त्व बताया है, वह बतानाही कथाका मुख्य उद्देश्य है। यह युद्ध कुटिल योधियोंसे धर्मनिष्ठावालोंका हुआ और उसमें धर्मानुयायियोंका विजय हुआ। यह तो एक रीतिसे विचार हुआ। इसी युद्धपर दूसरा एक विचार है और वह अध्यात्मविचार है।

अध्यात्मविचार वह होता है कि जो (अधि+आत्मा) आत्माके आश्रयसे रहनेवाले पदार्थोंके संबंधमें होता है। आत्माके आश्रयसे बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, मन, प्राण, पंच ज्ञानेंद्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और शरीर इतने पदार्थ रहते हैं। इन प्रत्येकमें सत् और असत्प्रवृत्ति रहती है और इन भली और बुरी वृत्तियोंमें सदा झगडा चलता ही रहता है। हरएक समयमें यह झगडा मानवके अन्तःकरणमें चालू रहता है। इसकी साक्षी प्रत्येक मनुष्य दे सकता है। किसी समय मनुष्यके अन्तःकरणमें ईश्वर भक्तिकी लहर आती है और किसी समय भोग प्रवृत्तीकी लहर प्रबल होती हैं। दोनों वृत्तियां परस्पर झगडती हैं और दोनों वृत्तियां इस शरीररूपी क्षेत्रपर अपना प्रभुत्व जमाना चाहती हैं। जो वृत्ति दब जाती है वह प्रबल नहीं होती, परंतु जो वृत्ति दबाती है वह शरीरपर अधिकार करती है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
भ० गी० १३। १

'इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं।' यह कर्म करनेका क्षेत्र है इसलिये इसको 'कर्मक्षेत्र' अथवा 'कुरुक्षेत्र' कहते हैं। यह कुरुक्षेत्र प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें है और उस कुरुक्षेत्रमें भली और बुरी चित्तवृत्तियोंका युद्ध चलता है। इस युद्धका वर्णन भारतीय युद्ध द्वारा बताया है, ऐसा आध्यात्मिक लोगोंका कहना है।

अठारहकी संख्या।

महाभारतकी रचना कुछ विशेष उद्देश्यसे की

गई है, यह शंका तो ऊपर ऊपरकी दृष्टीसे महाभारतका निरीक्षण करनेवालेके ध्यानमें भी आसकती है, देखिये—

१ महाभारतके पर्व १८ हैं,
२ भगवद्गीताके अध्याय १८ हैं,
३ भारतीय युद्ध १८ दिन चल रहा था,
४ उसमें सैन्य १८ अक्षौहिणी था,

यह १८ वाली संख्या कुछ विशेष हेतुसे रखी प्रतीत होती है, यज्ञमें १८ ऋत्विज होते हैं। संभव है इसका इस संख्यासे कुछ विशेष संबंध होगा।

"पुरुषो वाव यज्ञः" (छां० उ० ३। १६। १)

पुरुष अर्थात् मनुष्य एक विशेष यज्ञ है। यदि मनुष्य यज्ञ है तो उसमें १८ ऋत्विज होंगे ही। २ आंख, २ कान, २ नाक, १ त्वगिंद्रिय, २ हाथ, २ पांव, १ मूत्रेंद्रिय, १ गुदा, १ मुख, १ वागिंद्रिय, १ मन, १ चित्त, १ अहंकार ये १८ यहांके ऋत्विज हैं। आत्मा यजमान है और बुद्धि यजमानपत्नी है, यह शरीर यज्ञशाला है। यह यज्ञ १०८ वर्ष तक चलना है। इसका पहिला भाग प्रातःकाल २४ वर्षका है, द्वितीय भाग ३६ वर्षका मध्यान्ह समय है और तीसरा भाग ४८ वर्षका सायंसमय है। तीनोंका समय मिलकर १०८ वर्षोंका अवधि होता है। मनुष्यका जीवन रूपी एक बडाभारी यज्ञ है। इस यज्ञमें ये १८ ऋत्विज कार्य कर रहे हैं। इस यज्ञका नाश करनेके लिये बैठे हुए राक्षस रोग, कुवासनाएं, आलस्य आदि हैं। इनका युद्ध इस युद्ध भूमिमें होता है। अर्थात् इस यज्ञमें भी १८ संख्या है।

भगवद्गीता (अ० १ श्लो० ४—६) में जहां पाण्डवोंके विशेष योद्धा गिने हैं, वे भी अठारह ही गिने हैं। देखिये १ भीम, २ अर्जुन, ३ युयुधान (सात्यकि), ४ विराट, ५ द्रुपद, ६ धृष्टकेतु, ७ चेकितान, ८ काशिराज. ९ पुरुजित् कुन्तिभोज, १० शैब्य, ११ युधामन्यु. १२ उत्तमौजा, १३ सौभद्र अभिमन्यु, १४-१८ द्रौपदीके पांच पुत्र ये अठारहही हैं। इस यज्ञके यजमान धर्मराज और यजमानपत्नी द्रौपदी है। इस यज्ञके विघ्नकर्ता दुर्योधनादिक कौरव हैं। यह सब वर्णन यदृच्छासे नहीं हुआ है। विशेष हेतुसे यह लिखा है, ऐसा इसके देखनेसे ही पता लगता है।

वंशकी उत्पत्ति।

कौरवपाण्डवोंके वंशका वर्णन देखनेसे भी उसमें विशेष हेतु होगा ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। व्यासदेव (ब्रह्मन्) त्रिविध क्षेत्रमें (सत्व रज तमात्मक प्रकृतिमें) अपने बीज से त्रिविध संतति उत्पन्न करता है। तमोगुणात्मक अंधा धृतराष्ट्र, रजोगुणी पाण्डु और सत्वगुणी विदुर। तमोगुणी अंधा होता ही है इसमें बडा बल है, रजोगुणी भोगी होता है और भोगसे रोगी होता है, सत्वगुणी ज्ञानी होता है। एक ही आत्म शक्ति त्रिविध प्रकृतिमें जाती है और उससे त्रिविध सृष्टि पैदा होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता (अ० १४ श्लो० ३— १८) में यह विषय कहा है उसका संक्षेपसे भाव यह है-" विशाल प्रकृति में मैं गर्भ रखता हूं, उससे सब भूत उत्पन्न होते हैं। मैं (आत्मा) ही सब भूतोंका बीज देनेवाला पिता हूं। इसमें सत्वगुण सुख देनेवाला, रजोगुण वासनाओंको बढानेवाला, और तमोगुण मोह तथा प्रमाद उत्पन्न करनेवाला है। सत्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और भोग तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अप्रकाश (अंधकार) की उत्पत्ति होती है। " यह गीताका वचन महाभारतमें देखिये- सत्वगुणी विदुर ज्ञानी शुद्ध और पवित्र है। रजोगुणी पाण्डु राज्यका अधिकारी पुरुषार्थी परंतु भोगी होनेके कारण रोगी (भोगे रोगभयं) होकर अकालमें ही मरता है। तमोगुणी धृतराष्ट्र सब प्रकारसे अन्धा, प्रमादी, मोहयुक्त, मूढ, जो करता है उसमें फंसता है।

एक बीजसे क्षेत्रप्रकृतिभेदके कारण ये तीन प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं। सत्वगुणी विदुर त्याग

वृत्तिवाला होनेसे किसी राज्याधिकारमें अपना अधिकार नहीं रखता। त्यागवृत्तीका यही स्वरूप है। इसका किसीसे झगडा भी नहीं है। झगडा तो रज और तममें ही होता है। धृतराष्ट्र अन्धा होनेसे बडा होनेपर भी अनधिकारी हुआ, और पांडु छोटा होनेपर भी उसको राज्याधिकार मिला, जैसा कि रजोगुणी मनुष्यको मिलना योग्य है। परंतु भोगी रोगसे मरता है और उस भोगी के क्षेत्रमें भोग प्रवृत्तीसे ही-परंतु धर्मसे मर्यादित होकर-अन्य बीजोंसे पांच पुत्र उत्पन्न होते हैं धर्मवृत्ति बलवृत्ति वीरवृत्तिवाले बीजोंसे इनही तीन प्रवृत्तियोंके क्रमशः धर्म, भीम और अर्जुन ये तीन संतान एक क्षेत्रमें होते हैं। दूसरे क्षेत्रमें चिकित्सा (ज्ञान) वृत्तो और देववृत्तीवाले बीजसे क्रमशः नकुल और सहदेव ये दो संतान होते है। अर्थात् रजोगुणसे धर्म, बल, वीर, चिकित्सा (ज्ञान), और देवभाव ये पांच प्रवृत्तियां प्रकाशित होगई और इस कारण परमेश्वर इनका सहायकारी हुआ। रजोगुणसे यदि धर्मकी ओर प्रवृत्ति होगई तो उसका अन्तमें भला होगा ही। शुद्ध सत्वगुणी, विदुर जैसा, अपने अंदर ही संतुष्ट (आत्मन्येवात्मना तुष्टः। भ० गी० २।५५) रहेगा, इस कारण उससे जगत् में धर्म कर्मकी प्रवृत्ति नहीं होसकती। इस कार्यके लिये धर्ममें प्रवृत्त रजोगुण चाहिये; जो पूर्वोक्त रूपक में पाण्डु (शुद्ध, कलंकरहित) द्वारा बताया है। इससे पांच श्रेष्ठ चित्तवृत्तियां धर्म, बल (निर्भयता), वीरभाव, ज्ञान और देवभक्ति येह उत्पन्न होती हैं। वास्तव में मनुष्य का सब कुछ जीवन इन्हीके आधीन रहना चाहिये किंवा सब जगत्पर इन वृत्तियोंका ही राज्य होना चाहिये · परंतु ऐसा होना कठिन है ?

इन वृत्तियोंमें भी धर्मवृत्ति के आधीन ही बल और वीर ये दोनों भाव होने चाहिये, तथा ज्ञान और भक्ति ये भी भाव धर्मके आधीन ही चाहिये। यदि ऐसा न होगा, और बल (भीम) धर्मकी आज्ञा न मानेगा, वीर (अर्जुन) मन माना बर्ताव करेगा, ज्ञान (न-कुल) धर्मका रुख छोड देगा और भक्तिभाव (सह-देव) धर्मानुकूल ईश्वर भजनमें लगनेकी अपेक्षा भूतप्रेतपिशाचराक्षसोंकी प्रसन्नता संपादन करनेमें लगेगा, तो ये चारों-बल, वीर, ज्ञान, और भक्तिवृत्तियां मनुष्यको निःसंदेह गिरा देगीं। इसीलिये इनको यहां 'धर्म' वृत्तिकी आज्ञामें रखा है। जब ये धर्मवृत्तिके अनुकूल रहती हैं, तभी इनको ईश्वरकी सहायता मिलती है, नहीं तो नहीं। निःसन्देह मनुष्यके जीवनपर इनका राज्यशासन होना चाहिये और सब जगत्पर इन्हीका अधिराज्य होना चाहिये। परंतु ऐसा कहां होता है ?

जब ये वृत्तियां अन्तःकरणमें अंकुरित होने लगती हैं तब से ही दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, लोभ आदि घोर राक्षसी वृत्तियां उनपर हमला करती हैं और उन सद्वृत्तियोंको दबानेका यत्न करती हैं। तमोगुणी धृतराष्ट्र की संततिसे इन ही आसुरवृत्तियोंको बताया है। धर्मप्रवृत्तियोंको ये आसुरी प्रवृत्तियां छुटपनसे ही दबाती हैं, यह बतानेके लिये पाण्डवोंको बालपनसे कष्ट प्राप्त होनेका वर्णन है। अन्ततः कपटसे आसुरी वृत्तियां धर्मवृत्तियोंके राज्यमें घुसती हैं वहां अपना अधिकार जमा देती हैं और धर्मवृत्तिको अन्तःकरणके राज्यमें आने नहीं देती। धर्मवृत्ति और उसके अनुयायी सद्भावोंको परमेश्वरके आश्रयसे उक्त कारणहि युद्ध करना पडता है और जिन्होंने उनको बढाया उन्ही को मारना पडता है। ज्ञान देनेवाले यहां ज्ञानेन्द्रियां, मन, चित्त, अहंकार, आदि होते हैं, इनसे ज्ञान प्राप्त प्राप्त किया, यह सत्य है; तथापि जब येही असद्वृत्तिको सहायकारी होने लगते हैं, तब इनका ही दमन और संयम करना पडता है। यहां अहंकार भीष्मपितामह है जो अन्योंके समान एक दोदिनों के प्रयत्नसे नाशको प्राप्त नहीं होता। १८ दिनोंके युद्धमें इसका दमन करनेके लिये १० दिन लगे हैं, तबभी यह मरा नहीं; यह अन्तमें अपनी इच्छासे

ब्रह्म+महद्योनि त्रिगुणात्मक प्रकृति ।
[मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
भ० गी० १४।३]
(ब्राह्मण) व्यास+अम्बिका, अंबालिका, — दासी)
[आसुरसर्ग । तम + रज = अन्ध]
धृतराष्ट्र + गान्धारी
विदुर
[धर्मावतार, सत्वगुणी, ज्ञानी]
[दैवसर्ग । सत्व + रज]
कुन्ती + पाण्डु + माद्री
धर्म
भीम
अर्जुन
नकुल
सहदेव
धर्मप्रवृत्ति
बल-निर्भय-बुद्धि
वीरवृत्ति
ज्ञानवृत्ति
देवभक्ति
(दैवी संपत्ति भ० गी० १६।१—३)
दुर्योधन, दुःशासन, इत्यादि सैकडों अधमवृत्तियोंकी उत्पत्ति ।
दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य इ० आसुरी संपत्ति
(भ० गी० १६।४—२१)
॥ दैवासुरसंपद्विभागयोगः ॥
(भ० गी० अ० १६)

संजय उवाच – दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजयः उवाच- तदा तु पाण्डव-अनीकं व्यूढं दृष्ट्वा, राजा दुर्योधनः आचार्यं उप संगम्य, (इदं) वचनं अब्रवीत्।

संजय बोले – उस समय पाण्डवोंकी सेनाको व्यूह रचकर सिद्ध हुई देख, राजा दुर्योधन (द्रोण–) आचार्यके पास जाकर, कहने लगे।

भावार्थ- शत्रुसेनाका हमला अपनी सेनापर होनेके पूर्व ही अपने और शत्रुके सैन्यके बलाबल का विचार करना योग्य है।

ही शान्त हुआ। क्यों कि यह समाधि सिद्धहोने तक रहता है, पश्चात् यह स्वयं शान्त होता है। मन द्रोणाचार्य है, यह सबको सिखाता है, परंतु इसको भी शान्त करना पडता है। इसी प्रकार अन्यान्य कौरव वीरोंकी अवस्था है। कौरव सैंकडों हैं (आशापाशशतैर्बद्धाः। भ०गी०१४ १२) क्यों कि आशा, वासना, काम क्रोधादि के सैंकडों प्रभेद इस हृदयमें फैलते हैं। इस प्रकार यह कौरव संसार मनुष्य हृदयमें होता है।

अध्यात्मभूमिमें यही भारतीय युद्ध मानवी हृदयकी भूमिकापर होता है। इस युद्धमें दंभदर्प अभिमान क्रोध आदि विकार बडे प्रयत्नसे शान्त किये जाते हैं और परमेश्वरकी कृपासे धर्म प्रवृत्तियोंका राज्य होता है और इन्हींको भूमि का और स्वर्ग का राज्य मिलता है। हरएक मनुष्यके अन्तःकरणमें यह सत् और असत्प्रवृत्तियोंका युद्ध होता है और इसीका वर्णन रूपकालंकारसे महाभारतमें किया है। अध्यात्मवादियोंका सारांशसे यह मत है।

यह मत स्वीकार करनेपर धर्म और दुर्योधन आदि इतिहासिक व्यक्तियां थीं, इसका खंडन नहीं होता है। इस नामके या अन्य नामके कोई राजे हुए होंगे। परंतु इस ग्रंथके लेखकने उन व्यक्तियोंको सूचक नाम दिये और अपना ग्रंथ रचा है और यह रचना सहेतुक की है, यह बतानेके लिये कौरवादिकोंकी जन्मकी कहानियां इस ग्रंथमें अस्वाभाविक लिखी हैं। इस प्रसंगमें इस विषयमें अब अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

यह भारतीय युद्ध मानवी अन्तःकरणकी भूमि पर हुआ हो अथवा कुरुक्षेत्रमें हुआ हो, मनुष्य जीवनके सुधारके लिये दोनोंका परिणाम एकजैसा ही है। ऐसे युद्धोंमें 'धर्म' के सत्पक्षका 'विजय' होता है और स्वार्थसे 'अन्धे' बने हुए असत्पक्ष का नाश होता है। यह सिद्धान्त मनुष्यको अपने मनमें स्थिर करना चाहिये।

आशापाशोंसे बंधे हुए मनुष्य अपना नाश देखते हुए भी अपनी जयकी आशा करते ही रहते हैं और इस लिये पूछते हैं कि 'अब यह युद्ध छिडगया है, आगे क्या होगा?' इस प्रश्नका उत्तर संजय किस प्रकार देते हैं देखिये।

(२) इस प्रथम दिनके युद्धमें कौरवोंकी महा सेनाका 'पतत्रि' नामक व्यूह भीष्मपितामहने रचा और उन्होंने अपने सैनिकोंको संबोधन करके उनका उत्साह बढानेके लिये ऐसा भाषण किया कि—"हे क्षत्रियो! यह युद्ध रूपी स्वर्गद्वार तुम्हारे लिये खुला कर दिया है, इसमें प्रविष्ट होकर चाहे तुम इन्द्रलोकमें अथवा ब्रह्मलोकमें जावो। तुम्हारे पूर्वजोंने इसी मार्गका आश्रय किया और उत्तम गति प्राप्त की थी। घरमें बिस्तरेपर आनेवाला मृत्यु क्षत्रियके लिये योग्य नहीं है। रणक्षेत्रपर शस्त्रधाराके तीर्थमें जो मृत्यु आता है, वही क्षत्रियको सद्गतिदेनेवाला होता है।" (म० भा० भीष्मपर्व० अ० १७) यह पतत्रि व्यूह ऐसा

(२) पांडवसैन्यवर्णन ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

अन्वय— हे आचार्य ! तव धीमता शिष्येण, द्रुपदपुत्रेण व्यूढां पाण्डुपुत्राणां एतां महतीं चमूं पश्य ॥ ३ ॥ अत्र भीमार्जुन-समाः युधि शूराः महेष्वासाः युयुधानः, विराटः च, महारथः द्रुपदः च ॥४॥

हे द्रोणाचार्य ! आपके बुद्धिमान शिष्य, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा जिसकी व्यूहरचना की गई है, ऐसी पाण्डवोंकी इस बडी सेनाको देखिये ॥३॥ इस सेनामें भीम और अर्जुन जैसे युद्धमें शूर वीर और बडे धनुर्धारी योद्धा युयुधान (सात्यकि), विराट, महारथी द्रुपदराजा ॥ ४ ॥

होता है कि इसका आकार पक्षीके समान होता है और जिधर चाहे उधर उसका मुख होता है, इसलिये सब दिशाओंसे यह शत्रुको हमला चढानेके लिये कठिन होता है। इस ढंगसे कौरव-सेना का व्यूह होनेपर धर्मराज अर्जुन से कहने लगे, कि—"हे अर्जुन ! महर्षि बृहस्पतिका कथन है कि सेना थोडी रही तो संघसे हमला करना चाहिये और बडी सेना रही तो फैलाकर हमला करना चाहिये। हमारा सैन्य शत्रुसेनाकी अपेक्षा बहु कम है अतः सूचीमुखाकार व्यूह रचकर हमें सिद्ध होना चाहिये।" इस आज्ञाको सुनकर धनुर्धारी अर्जुनने अपनी सेनाका 'वज्र' संज्ञक व्यूह द्रुपदराजाके पुत्र द्वारा रचा दिया (म० भा० भीष्म०अ०१९)। यह व्यूह नोकदार होनेके कारण शत्रुसेनापर हमला चढानेके लिये अत्यंत योग्य है। इस प्रकार उत्तम व्यूहकी रचना होनेके कारण पाण्डवोंको सेना थोडी होनेपर भी कौरवोंकी बडी सेनाके लिये भी भारी होगई। अतः धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन किंचित् चिन्तासे व्यग्र होकर द्रोणाचार्य जी से कहने लगे।

(३-६) इन श्लोकोंमें भीम, अर्जुन, सात्यकि, विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज कुन्तिभोज, शैब्य, युधामन्यु, उत्तमौजा, अभिमन्यु, और द्रौपदीके पांच पुत्र [धर्मराजसे प्रतिविन्ध्य, भीमसे श्रुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक, और सहदेवसे श्रुतकर्मा] ये अठारह महारथी नामनिर्देशसे कहे गये हैं। महारथी वे कहलाते हैं कि, जो दस हजार धनुर्धारी वीरोंके साथ अकेले ही युद्ध कर सकते हैं। देखिये—

एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेयश्च महारथः ॥

महारथीका अधिकार इतना बडा है। शास्त्रोंका अध्ययन होना चाहिये, युद्धविद्यामें प्रवीणता संपादन करनी चाहिये और दस हजार धनुर्धारियोंके साथ युद्ध करनेकी शक्ति चाहिये, तब 'महारथी' यह पदवी प्राप्त हो सकती है। यह पदवी तो विशेष कर्तृत्व करनेपर राजासे बहुमानपूर्वक मिलती है। यहां यह बताना है कि अभिमन्यु और द्रौपदीके पांच वीर पुत्र आयुकी दृष्टिसे छोटे होनेपर अर्थात् उनकी आयु बीस पचीस वर्षोंसे अधिक न होनेपर भी उनकी गिनती महारथियोंमें होने लगी थी। पाण्डवोंके समय की कुमारोंकी पढाई कैसी होती थी, इसकी

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

(३) कौरवसैन्यवर्णन।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अन्वय- धृष्टकेतुः, चेकितानः, वीर्यवान् काशिराजः च, पुरुजित् कुन्तिभोजः, नरपुंगवः शैब्यः च ॥ ५ ॥ विक्रान्तः युधामन्युः च, वीर्यवान् उत्तमौजाः च, सौभद्रः, द्रौपदेयाः च, सर्वे महारथाः एव ॥ ६ ॥

धृष्टकेतु, चेकितान, पराक्रमी काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥ विक्रमी युधामन्यु, वीर्यशाली उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु), और द्रौपदीके (पांचों) पुत्र हैं, और ये सबही महारथी हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ- शत्रुसेनामें जो जो प्रधान वीर युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए हों, उनके गुणदोषों और युद्धकौशलोंको ठीक ठीक प्रकार जानना चाहिये और अपने वीरोंसे उनकी तुलना करनी चाहिये।

कल्पना इससे हो सकती है। इतना सामर्थ्य कुमारोंमें होता था, इसीलिये उस समयकी आर्य जाती जीवित थी और विजयी थी।

यह तो कुमारोंकी अवस्था है; भीम, अर्जुन,तो सत्तर वर्षकी अवस्थामें पहुंच चुके थे, विराट और द्रुपद तो उनसे भी बहुतही वृद्ध थे। इतनी बडी आयु होनेपरभी ये वीर तरुणोंके समान लडने की सामर्थ्य रखते थे। सत्तर और अस्सी वर्ष का वीर हाथमें तलवार, गदा अथवा धनुष्यबाण लेकर युद्धभूमिमें अपने स्वराज्य स्थापन करने के युद्धमें लडता है, यह दृश्य जीवित राष्ट्रमें ही हो सकता है। पराधीनतामें आयु क्षीण होती है और मन भी निरुत्साह होता है। स्वराज्य न होने से ये हानियां हैं और स्वराज्य होने पर कुमार और वृद्धभी महारथी होना संभव है।

(म० भा० उद्योग० अ० १६४-१७१ में) दोनों ओरकी सेनाके रथी,महारथी और अतिरथियोंका वर्णन है। अध्याय १६९ में भीम और अर्जुन का वर्णन है। उद्यो०अ०१७० में अभिमन्यु तथा द्रौपदीके पांचों पुत्रोंका वर्णन है। इसीमें उत्तमौजा, सात्यकि और युधामन्युका वर्णन है। अ० १७१ में शिशुपालपुत्र चेदिराज धृष्टकेतु का वर्णन है। (अ० १६९-१७१) इन अध्यायोंमें पाण्डवोंके वीरोंका वर्णन देखने योग्य है। 'पुरुजित् कुन्तिभोज, एक ही वीरका नाम है। वृष्णिवीरोंमेंसे प्रसिद्ध योद्धा सात्यकि था। युधामन्यु और उत्तमौजा पाञ्चाल्य वीर थे और चेकितान यादव कुलोत्पन्न था। शिबिदेशके राजा शैब्य थे। इस प्रकार पाण्डव वीरोंका वर्णन दुर्योधनने किया है। अब वह अपने पक्षके वीरोंका वर्णन करता है--

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्वय—हे द्विजोत्तम ! अस्माकं तु ये विशिष्टाः, मम सैन्यस्य नायकाः, तान् निबोध। ते संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ॥ ७ ॥ भवान्, भीष्मः च, कर्णः च, समितिंजयः कृपः च, अश्वत्थामा, विकर्णः च, तथा एव च सौमदत्तिः ॥ ८ ॥ अन्ये च बहवः शूराः सर्वे मदर्थे त्यक्तजीविताः, नानाशस्त्रप्रहरणाः, युद्धविशारदाः (सन्ति) ॥ ९ ॥

हे द्विजोंमें श्रेष्ठ (द्रोणाचार्य) ! अब हमारे पक्षके जो जो प्रमुख वीर, मेरी सेनाके नायक हैं, उनके नाम सुनिये। आपको केवल सूचना देनेके लिये उनके नाम कहता हूं ॥ ७ ॥ आप स्वयं, भीष्म, कर्ण, रणविजयी कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, तथा सोमदत्त के पुत्र (भूरिश्रवा) ॥ ८ ॥ और भी बहुतसे शूर वीर, सबके सब मेरे लिये अपना जीवन समर्पण करनेको तैयार, नाना प्रकार के शस्त्र चलानेमें निपुण और युद्धमें प्रवीण हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ-अपने सेनापति और सेनानायक किस योग्यताके हैं और वे किस किस विषयमें प्रवीण हैं, और उनमें कौन वीर दिलसे लडनेवाले हैं यह बात ठीक ठीक प्रकार राजाको जाननी चाहिये ॥ ७-९ ॥

(७-९) यहां दुर्योधन अपनी सेनाके मुख्य नायकों का वर्णन कर रहा है। सबसे मुख्य द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह ये वयोवृद्ध और अनुभवी गिने गये हैं। अठारह दिनोंके युद्धमें भीष्म पितामह १७० वर्षके वृद्ध होनेपर भी पूरे दस दिन घोर युद्ध करते रहे, द्रोणाचार्य करीब नौवे वर्षके होनेपर भी उसके बाद पांच दिन युद्ध निभानेमें समर्थ हुए। ये ऐसे बडे वीर थे। इनके पश्चात् कर्ण, कृपाचार्य, भूरिश्रवा (सौमदत्ति), अश्वत्थामा, विकर्ण आदि गिने हैं। युद्धमें इनके काम भी इसी क्रमसे हुए हैं। ये सब वीर महा प्रबल होनेपर भी दुर्योधनका पूर्ण विश्वास कर्ण पर ही था। इस लिये उसके वर्णनमें (समितिंजय) ' युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला ' यह विशेषण कृपाचार्यके लिये प्रयुक्त किया गया है। और (अन्ये मदर्थे त्यक्तजीविताः) 'दूसरे वीर मेरे लिये अपना जीवन देनेको भी तैयार हैं।' ऐसा कहा है। दुर्योधन द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह से बातचीत कर रहा है, ऐसे प्रसंगमें ' दूसरे शूर वीर मेरे विजयके लिये अपना जीवनतक देनेको तैयार हैं' ऐसा कहनेका तात्पर्य यही दीखता है, कि " आप भीष्मद्रोण विशेष योग्यता रखनेवाले वीर हैं यह सत्य है, परंतु आपका मन पाण्डवोंकी ओर होनेसे, मेरे कार्यके लिये जैसा दिलसे युद्ध करना चाहिये वैसा आपसे होना कठिन है" यह उनको बतलाना। दुर्योधनका पूर्ण विश्वास कर्णपर था, तथापि वह ऐसी विकट परिस्थितिमें था कि, वह खुले मुखसे भीष्म द्रोणको युद्धभूमिसे हटा नहीं सकता था। अतः पहिले दिनके महायुद्धका कार्य उन्होंने भीष्म पितामहके ऊपर सौंप दिया। इसका तात्पर्य यह था कि, यदि तरुण अर्जुनके साथ युद्ध करनेमें बूढे पितामहकी समाप्ति हुई, तो दूसरे वृद्ध द्रोणाचार्यको आगे करेंगे, और उनकी समाप्ति

(४) दोनों सेनाओंकी तुलना।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अन्वय-अस्माकं भीष्माभिरक्षितं तत् बलं अपर्याप्तम्, एतेषां तु भीमाभिरक्षितं इदं बलं पर्याप्तं (अस्ति)॥१०॥

भीष्मद्वारा रक्षित हुआ हमारा सैन्य अपर्याप्त है, परंतु भीमद्वारा रक्षित हुआ उनका सैन्य पर्याप्त है ॥ १० ॥

भावार्थ-युद्ध चलानेवाले राजाको उचित है कि, वह सब साधनों और अवस्थाओंका विचार करके अपनी सेनाके और पराई सेनाके बलाबलका विचार करे, और निश्चय करे कि, किसका बल पर्याप्त है और किसका नहीं है; और यदि अपना बल अपूर्ण प्रतीत हुआ, तो उसकी पूर्णता करनेका यत्न करे ॥ १० ॥

पर मेरा कार्य उत्तम प्रकार सिद्ध करनेवाले कर्णको सेनापतिका अधिकार देंगे। पश्चात् उस कर्णके युद्ध कौशलसे अपना विजय तो निःसंदेह सिद्धही होगा। प्रारंभमें नया उत्साह होता है, इसलिये ये दोनों बूढे शत्रुके द्वारा शीघ्रही समाप्त किये जायंगे। पश्चात् अपने कार्यके लिये जीवन तक देनेवाले कर्ण जैसे वीर आवेंगे, तो अपना कार्य निःसंदेह यशस्वी होगा। यह अन्तर्यामीका भाव दुर्योधनके इस वर्णनमें दिखाई देता है। यदि भीष्मद्रोणोंपर कुछ संदेहसा उनके मनमें न होता, तो 'अन्य वीर मेरे लिये जीवन देनेको तैयार हैं,' एसे शब्दोंसे वह अन्योंका सन्मान इनके सन्मुख न करता; उनके स्थानपर भीष्मद्रोणोंका ही सन्मान करता। "जिस प्रकार अन्य वीर मेरे कारण अपना जीवन देनेको तैयार हैं वैसे तुम दोनों नहीं, तुम्हारा मन शत्रुओंके हितमें तत्पर है।" इस प्रकार स्पष्ट बोलनेकी अवस्थामें दुर्योधन उस समय नहीं था। क्योंकि युद्ध उपस्थित हुआ है, ऐसे समयमें मुख्य राजाको योग्य ही नहीं कि, वह किसी प्रकार भी अपने वीरोंको निरुत्साह करे। परंतु दुर्योधन भीष्मद्रोणके विषयमें अपने मनमें जलता था और बाहरसे मनका भाव प्रकट करनेमें असमर्थ था; इसलिये उक्त प्रकार का वाक्य उसने कहा, और अपने अंदर का भाव संदिग्ध रीतिसे कुछ अंशमें व्यक्त किया।

युद्ध कलाका एक नियम है कि, विजय चाहनेवाले राजा अपनी सेनाके दो तीन विभाग करें और एक विभाग युद्धभूमिपर कार्यमें लगावे और दूसरा पीछे बचाकर रखे। जब अपनी आगे की सेना थक जावे, तब उसको विश्राम दिया जावे और बचाकर रखी हुई सेना आगे लाई जावे। इस प्रकार नये उत्साहवाली सेना आगे आनेसे जयकी आशा विशेष होती है। दुर्योधनने भीष्मद्रोणको युद्धमें आगे रखा था, और कर्णको बचावकी सेनाविभाग (Reserve force) में रखा था। दुर्योधनकी कल्पनासे भीष्म द्रोणके कार्यके पश्चात् कर्णका युद्धकार्य विशेष होगा। परंतु अन्तमें उलटा बनगया, यह बात और है। दुर्योधन इस हेतुसे दोनों ओरकी सेनाओंकी तुलना करता है, वह उसका भाषण अब देखिये—

(१०) इस श्लोकमें दोनों सेनाओंकी तुलना दुर्योधनने की है। यह तुलना करनेके समय उसने अपने सैन्यके लिये 'अपर्याप्त' कहा है और पांडवोंकी सेनाको 'पर्याप्त' कहा है। इसका ठीक ठीक अर्थ समझमें आनेके लिये श्लोक ७ से ९ तककी टिप्पणी पाठक देखें। 'पर्याप्त और अपर्याप्त'

शब्दके संस्कृत भाषामें दो परस्पर विरोधी अर्थ होते हैं। 'पर्याप्त' = (१) पूर्ण, बस, काफी; (२) [परितः आप्त] चारों ओरसे घेरने योग्य अर्थात् छोटी। 'अ-पर्याप्त' = (१) अपूर्ण, बस नहीं, काफी नहीं, अल्प; (२) [न परितः आप्तुं शक्या] घेरी जानेके लिये अशक्य अर्थात् बडी। ये दोनों अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं। अतः यहां कौन-सा अर्थ अपेक्षित है यह विवाद टीकाकारोंमें बहुत दिनोंसे चला आरहा है। उद्योगपर्व अ० ५५ श्लो० ६०-७० में दुर्योधन कहता है कि—

"मेरी सेना बडी और गुणवान् है, इसलिये मेरा विजय होगा।" इस कथनका विचार करनेसे पता लगता है कि, युद्धके पूर्व दुर्योधनका यह विश्वास था कि, अपनी सेना विशाल है, और सेनापति अच्छे योद्धा हैं, इसलिये जीत अपनी होगी। दूसरी बात यह है कि: कोई राजा युद्धके प्रारंभमें अपनी सेनाको अपूर्ण, अपर्याप्त और अल्प कहकर निरुत्साहित नहीं करेगा। 'अपनी सेना थोडी होने पर भी हमारा बल बडा है विजय अपनी होगी,' ऐसाही कहेगा। यह सब ठीक है। इस दृष्टीसे इस श्लोकका अर्थ यह होगा कि—'हमारी सेना भीष्मके द्वारा रक्षित है और बडी होनेके कारण घेरी जाने योग्य नहीं है, परंतु पांडवोंकी भीमके द्वारा रक्षित सेना थोडी है अतः घेरी जाने योग्य है,' अर्थात् हमारी सेना पांडवोंकी सेनाको घेर देगी और उनका पराजय करेगी, अतः युद्धके अन्तमें विजय हमारी होगी।

वस्तुतः कौरवसेना ११ अक्षौहिणी और पाण्डवोंकी ७ अक्षौहिणी थी। अतः पाण्डवोंकी छोटी और कौरवोंकी बडी होनेमें किसीको संदेह ही नहीं हो सकता।

ग्यारह अक्षौहिणी सेना सात अक्षौहिणी सेनाको घेर सकती है, इसमें क्या संदेह हो सकता है? दुर्योधन का विश्वास पहिलेसे इसी प्रकार था। परंतु हस्तिनापुरमें जो जो विविध घटनाएं हुई और भीष्मद्रोण आदि प्रमुख वीरोंके जो निज मत अनेक सभाओंके भाषणोंमें प्रकट हुए, उनसे दुर्योधनका करीब करीब यह निश्चय बनता गया कि, युद्धके समय भीष्मद्रोण अपने पूरे बलसे लडेंगे नहीं। इसी प्रकार अन्तिम संधि-सभाके प्रसंगमें जब दुर्योधनने श्रीकृष्ण भगवान्‌को पकडनेकी अनुचित आज्ञा की, उस समय उस सभामें उपस्थित हुए पुरुषोंमेंसे बहुतसे सदस्य पाण्डवोंके और श्रीकृष्ण भगवान्‌के, अनुकूल होनेकी बात दुर्योधनने प्रत्यक्ष देखी थी। (म० भा० उ० अ० १३१) इस प्रकारकी घटनाओंको प्रत्यक्ष देखनेसे दुर्योधनके मनमें यह बात करीब करीब आचुकी थी कि हमारा बल अधिक होनेपर भी वह सब का सब हमारे काममें नहीं आवेगा। सेनासंचालक भीष्म और द्रोण यदि पूरे बलसे न लडे, तो शेष सेना डेढगुणी या दोगुणी होने-पर भी क्या लाभ होसकता है? इसीलिये श्लो० ३ में पाण्डवसेनाको 'महती चमू' कहा है। वस्तुतः वह छोटी थी, परंतु आन्तरिक उत्साहसे बडी थी।

इस बातका प्रमाण देखनेके लिये बहुत दूर जानेकी जरूरत नहीं है। इसी स्थानपर पाठक देख सकते हैं। (इसी प्रथम अध्याय के श्लोक २ से ११ श्लोक तक) राजा दुर्योधन का भाषण द्रोणाचार्यकोही उद्देश करके हुआ है। राजा प्रत्यक्ष आता है और अपनी और परायी सेनाके विषयमें कुछ कहता है, कुछ अपमानके शब्द भी सुनाता है; तथापि द्रोणाचार्य एक भी शब्द नहीं बोलते हैं!!! यह देखकर (अ० १ श्लो० १२ से) भीष्म पितामहने सिंहनाद किया और शंख बजाया, परंतु येभी कुछ अनुकूल अथवा प्रतिकूल बोले नहीं। सम्राट्‌के इतना कहनेपर भी ये दो प्रमुख सेनानायक एक शब्दभी बोलते नहीं और मूकके समान चुप रहते हैं, इस का स्पष्ट अर्थ यही है कि, इनकी आन्तरिक प्रतिकूलता सम्राट् की राजनीतिके साथ है। सम्राट् बोलता है, सेनापति उत्तर तक नहीं देते और चुप रहते हैं, यह देख कर सम्राट्‌के अन्तःकरणमें इनसे होने-वाले युद्धके विषयमें पूर्ण निराशा हुई होगी और

इस निराशाको प्रकट करनेके लिये उसने यह कहा होगा कि,- "हमारी सेना डेढगुनी बडी होनेपर भी भीष्म (और द्रोण) के आधिपत्य में रहनेके कारण छोटी होनेके समानही बनी है, और पाण्डवोंकी सेना (वस्तुतः छोटी होनेपरभी) जोशीले भीम के नेतृत्व के अंदर होनेके कारण बडी (होनेके समान प्रभावशाली बनी) है।"

सेना संख्यामें छोटी हो या बडी हो, सेनापति के उत्साहसे कार्य करनेके कारण वह प्रभावशाली बनती है और सेनाचालक निरुत्साह हुआ, तो वही सेना पराभूत होती है। यही बात कौरवोंकी छावनीमें हो गई थी। दुर्योधन की नीतिसे भीष्मद्रोण सर्वथा असंतुष्ट थे, और अन्तःकरणसे पाण्डवोंका हित चाहते थे, तथा युद्ध करके पांडवोंका नाश करनेके सर्वथा विरुद्ध थे। यदि इनका मत कर्णके समान पांडवोंके विरुद्ध होता, तो दुर्योधन की जीत होती। यह अवस्था दुर्योधन ठीक ठीक जानता था, परंतु भीष्मद्रोणोंको युद्धभूमिसे हटा देना भी योग्य नहीं समझता था। इसके मनका यह खेद इस श्लोकमें व्यक्त हुआ है। और यह दर्शानेके लिये द्रोण से कहता है कि '-हमारी सेना भीष्मके आधिपत्य के कारण अपूर्ण है और पाण्डवोंकी सेना भीमके आधिपत्यके कारण पूर्ण है।'

परंतु खुले शब्दोंसे सेनापतिका अपमान करनाभी योग्य नहीं है, अतः यह अन्तःकरणकी जलती हुई बात उसने ऐसे शब्दोंद्वारा कही कि, द्रोणके क्रोधित होनेपर इसी वाक्य का दूसरा सरल अर्थ करके बताया जावे, और अपमान करनेके हेतुसे यह वाक्य उच्चारा नहीं गया, ऐसा बताया जावे। जिस प्रकारकी मनोभूमिका में दुर्योधन था; उस अवस्थामें दो प्रकारके अर्थ बोध करनेवाला वाक्य उच्चारा जाना ही सहज प्रतीत होता है। इसी प्रकारका श्लोक भीष्मपर्व (अ० ५१।४-६) में भी है और वहां भी यही अर्थ अपेक्षित समझना योग्य है।

यहांके १० वे श्लोकमें कहा है कि कौरवसेना के अधिपति भीष्म हैं और पाण्डवसेनाके भीम हैं। वस्तुतः पांडवोंके सैन्यके अधिपति धृष्टद्युम्न थे। मुख्य सेनापति धृष्टद्युम्न थे यह बात सत्य है, परंतु प्रथम दिनके वज्रसंज्ञक व्यूहकी रक्षा करनेके लिये विशेष कुशलताके कारण इस स्थानपर भीमको रखा गया था। इसलिये "पांडवोंकी सेनाकी रक्षा भीम कर रहा है" ऐसा दुर्योधनने यहां कहा; क्योंकि यह बात उसको वहां सामने प्रत्यक्ष दीख रही थी। प्रत्यक्षकी बात देख कर ही दुर्योधन भीमको पाण्डवोंका सेनारक्षक मानता है और वैसाही कहता है। इसी प्रकार (म० भा० भीष्म० अ० २१। १ में) पाण्डवोंकी सेनाको 'भीमनेत्र' अर्थात् भीमद्वारा चलाई जानेवाली, और कौरवसैन्यको 'भीष्मनेत्र' अर्थात् भीष्मद्वारा प्रेरित होनेवाली कहा है। अतः गीताके इस श्लोकमें कहा हुआ वर्णन पूर्वापर इतिहाससे संगत है।

कई लोग कहते हैं कि यदि भीष्मद्रोण विरुद्ध थे तो उनको उचित था कि, वे कौरवोंके पक्षको छोडकर पाण्डवोंके पक्षमें संमिलित होते। परंतु बडे लोगोंको ऐसा करना योग्य नहीं होता। यदि इस समय वे भीष्म द्रोण कौरवपक्षको छोड देते, तो सब जनता कहती कि 'ये बूढे डर गये'। किसी आर्य संतानके अन्तःकरणमें युद्ध और मृत्युको डरने और उस डरके कारण अपना स्थान छोडनेका विचारतक नहीं आना चाहिये, यह शिक्षा भावी संतानको देनेके लिये उनको अपना पक्ष छोडना उचित न था। दूसरी बात यह है कि भीष्मकी प्रतिज्ञा थी कि, सत्यवतीके संतानोंके वंशकी मैं रक्षा करूंगा। महापुरुषोंको प्रतिज्ञाभंग करना कदापि उचित नहीं होता है। तीसरी बात यह है कि, जिस पक्षमें कार्य किया उसी पक्षमें मरना ठीक है, मरनेका समय उपस्थित होनेपर दूसरे पक्षमें जाना सर्वथा अयोग्य है। भीष्मद्रोण तो जानते ही थे कि, इस युद्धमें अपने पक्षका पराजय होगा और हम मारे जांयगे। यह जानते हुए भी वे युद्धभूमिमें खडे

(५) दुर्योधन की आज्ञा।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अन्वय— भवन्तः सर्वे एव हि सर्वेषु च अयनेषु यथाभागं अवस्थिताः भीष्मं एव अभिरक्षन्तु ॥ ११ ॥

(अब) आप सब (वीर) मिलकर सब अयनों अर्थात् सेनाव्यूहोंके द्वारोंमें अपने अपने स्थानोंमें दृढ रहकर भीष्मकी ही सब ओरसे रक्षा कीजिये ॥ १ ॥

भावार्थ—युद्धके समय सैनिकोंका कर्तव्य है कि वे अपने अपने स्थानोंमें रहें, डरकर पीछे न भागें, और सेनापतिद्वारा कहा हुआ कर्तव्य दक्षतासे सिद्ध करनेमें तत्पर रहें, और सब मिल कर सेनापति और सेनानायकोंकी रक्षा करें, और अपने पक्षकी जीत करनेके लिये अपने पराक्रमकी पराकाष्ठा करें।

रहे। यही उनका कर्तव्य था। अतः यह कोई न कहे कि वे पाण्डवोंके पक्षको मिल जाते तो अधिक योग्य होता। वे वैसा करते तो आर्य जातीके लिये बहुत बुरा उदाहरण हो जाता। जो भीष्मद्रोणोंने किया वही उनके लिये उस समय करना अत्यन्त योग्य था। उनके आचरणोंको देख कर ही हम लोग अपने कर्तव्योंको समझ सकते हैं। अस्तु। इस भाषणके पश्चात् दुर्योधन अपने सैनिकोंको जो आज्ञा देता है वह देखिये—

(११) श्लोक ३ से १० तक राजा दुर्योधनका वक्तव्य द्रोणाचार्यको संबोधन करके हुआ है। इसको सुनकर भी द्रोणाचार्य चुप रहे और कुछ भी बोले नहीं! यह आश्चर्य की बात देखकर राजा दुर्योधन कुछ देर स्तब्ध हुए। तब भी आचार्यजीसे कुछ उत्तर नहीं आया! संभव है कि, राजा दुर्योधनने आचार्यजीके चुप रहनेका कारण मनही मनमें समझा होगा। द्रोणाचार्य पाण्डवोंके विनाशके लिये चलाये इस युद्धसे सर्वथा प्रतिकूल थे। इसलिये उनसे उत्तर की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है, और अधिक छेडनेपर कदाचित् यहां ही युद्धभूमिमें खडे होकर कुछ प्रतिकूल बातें सुनायेंगे। इस कारण इस समय द्रोणाचार्यजीको छेडना अच्छा नहीं है, ऐसा जानकर वे चुप होगये।

इस श्लोकमें दुर्योधनने कहा है कि "सब सैनिक भीष्मकी रक्षा करें।" वस्तुतः भीष्म महाप्रतापी योद्धा थे, और उनको किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं थी। तथापि उनको एक डर था, वह यह कि उनकी प्रतिज्ञा थी कि 'शिखण्डी पर शस्त्र न चलाऊंगा।' क्यों कि शिखण्डी पुरुष न था, किसी उपायसे स्त्रीका पुरुष बन गया था। भीष्मपितामह वीर थे और वीरसे लडनेके लिये सिद्ध थे। शिखण्डीभी महारथी था, परंतु स्त्री रूपमें उत्पन्न होनेके कारण उसपर शस्त्र चलानेके लिये वे तैयार न थे। अतः यदि पाण्डवोंने शिखंडीको सामने खडा किया, तो भीष्म उसपर शस्त्र न चलावेंगे और व्यर्थ मारे जांयगे। यह दुर्योधन जानता था। इस उद्देश्यसे सब सैनिकों और सेनाध्यक्षोंको संबोधन करके राजा दुर्योधन ने ऐसा भाषण किया कि "हे सैनिको! तुम्हारे आधीन जो जो पथक हैं, उसको सज्ज करो, अपने सेनाविभाग के आगे सेनापति खडे रहें, सब सावधान होकर अपने स्थानमें दक्षतासे रहें, हरएक अपने अपने अध्यक्षकी आज्ञा पालन करे, कोई वीर अपने स्थानसे पीछे न भाग जावे, हरएक अपने स्थानमें रहते हुए उत्तम प्रकार लडे, तथा आप सब मिल कर भीष्मपितामहकी ही रक्षा करें, क्योंकि इस युद्धको चलाने

(९) शंखनाद।

संजय उवाच— तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

अन्वय— तस्य हर्षं संजयन्, प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहः, उच्चैः सिंहनादं विनद्य, शङ्खं दध्मौ॥ १२॥ ततः शङ्खाः च भेर्यः च पणवानकगोमुखाः सहसा एव अभ्यहन्यन्त। सः शब्दः तुमुलः अभवत्॥ १३॥

संजय बोले— (दुर्योधनके मनको) हर्षित करनेके लिये प्रतापी, कौरवोंमें अति वृद्ध, (भीष्म) पितामहने ऊंचे स्वरसे सिंहनाद करते हुए अपना शंख बजाया॥ १२॥ इसके पश्चात् अनेक शंख, नौबतें, डंके, मृदंग और गोमुख नामक बाजे एकदम बजने लगे। वह ध्वनि बहुत ही प्रचंड हुआ॥ १३॥

का संपूर्ण भार उनहीपर रखा है।" इस प्रकार सब सैनिकों, सेनानायकों और सेनापतियोंको उपदेश करनेके बादभी द्रोणाचार्यको चुप खडे रहे देख कर दुर्योधन भीष्मपितामहकी ओर देखने लगे। भीष्मपितामहभी कुछ बोले नहीं, परंतु उन्होंने गर्जना करके अपना शंख बजाया, उसका वृत्तांत आगे देखिये—

(१२) यहां संजयने कहा है कि, 'भीष्मपितामहने सिंहनाद किया और शंख फूंका, वह दुर्योधनको हर्षित करनेके लिये था।' परंतु सत्य रीतिसे देखा जाय, तो भीष्मपितामह भी इस प्रकारके युद्धके विरुद्ध थे। और यदि उनके मनमें दुर्योधनको हर्ष देना सचमुच होता, तो वे इस समय कुछ तो कह देते। कुछभी न बोलते हुए केवल सिंहनाद करते हैं और शंख बजाते हैं, इससे यहां भीष्मपितामहके मनमें क्या था, इस विषयमें प्रबल शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। पाठक इसका विचार करें। समय समयपर भीष्म पितामहकी जो वक्तृताएं हुई हैं, वे भी दुर्योधन की नीतिके विरुद्ध हैं। द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह राज्य शासनके अधिकारी होनेके कारण राजाका होनेपर आज्ञाका पालन करते हुए वे अपने सेनापतिके स्थानपर खडे हुए, यह नियमपालन की दृष्टिसे बडा योग्य है। परंतु वे मनसे दुर्योधनको हर्ष देनेके लिये सेनापतिका कार्य करते थे, ऐसी बात नहीं थी। समयके अनुसार कर्तव्य करना एक बात है, और दिलसे उस नीति के साथ सहानुभूति रखना दूसरी बात है। द्रोण और भीष्म केवल कर्तव्य करते थे। दुर्योधनकी नीति उनको पसंद न थी।

(१३) भीष्म पितामह का सिंहनाद और शंखनाद सुनते ही कौरवोंकी सेनामें रणवाद्योंका प्रचंड घोष हुआ। शंखनाद और रणवाद्योंका नाद युद्धके उत्साहका सूचक है। रणवाद्योंका शब्द सुनतेही सैनिकोंका भय दूर होता है, युद्धकी उष्णता शरीरमें संचार करती है, और पहिला उत्साह द्विगुणित होता है। कौरवोंकी सेनाने इस प्रकारका रणवाद्योंका घोष करके पाण्डवोंको एकप्रकारसे आह्वान किया कि, 'हम युद्धके लिये तैयार हैं, तुममें युद्धके लिये हमारे सम्मुख आनेका धैर्य है, तो आओ।' पाण्डवोंकी तो पहिलेसे ही तैयारी थी, कोरवोंके सैन्यका रणवाद्योंका घोष सुनते ही, पाण्डवोंने भी वैसाही उत्तर दिया। इसका विस्तारपूर्वक वृत्तान्त देखिये—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

अन्वय—ततः श्वेतैः हयैः युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ माधवः पाण्डवः च दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥ हृषीकेशः पाञ्चजन्यं, धनंजयः देवदत्तं, भीमकर्मा वृकोदरः पौण्ड्रं महाशङ्खं दध्मौ ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयं, नकुलः सहदेवः च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥ परमेष्वासः काश्यः, महारथः शिखण्डी च, धृष्टद्युम्नः, विराटः च, अपराजितः सात्यकिः च ॥ १७ ॥ द्रुपदः, द्रौपदेयाः च, महाबाहुः सौभद्रः च, हे पृथिवीपते ! पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मुः ॥ १८ ॥ सः तुमुलः घोषः नभः च पृथिवीं च एव व्यनुनादयन्, धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ॥ १९ ॥

इसके पश्चात् सफेद घोडोंवाले बडे रथमें विराजमान हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी अपने दिव्य शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥ श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक शङ्ख, अर्जुनने देवदत्त शङ्ख, और भयानक कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शङ्ख बजाया ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक शङ्ख, और नकुलने सुघोष तथा सहदेवने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥ बडे धनुष्यधारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, कभी पराजित न हुए सात्यकी, राजा द्रुपद, द्रौपदीके सब पुत्र,

(१४-१९) पाठक यहां देखें कि भीष्मपितामहके शंखनादका वर्णन कौरवसेनाके वर्णनके प्रसंगमें किया है । उसमें द्रोणाचार्यके भी शंखनादका वर्णन नहीं है; कई बडे कौरव वीरोंने विशेष उत्साहसे शंखनाद किये होते, तो उसका वर्णन अवश्य यहां किया जाता । परंतु जहां अंदरका निज उत्साहही नहीं है, जो केवल वेतन लेनेके कारण ही युद्धभूमिमें खडे हुए हैं, और जिनमेंसे कई वीर समझते हैं कि, अपना पक्ष अधर्मका है, उनके शंखनाद विशेष वर्णन करने

(७) अर्जुन का सेनानिरीक्षण ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु आदि सबोंने अपने अपने शङ्ख बजाये ॥ १७-१८ ॥ वह भय उत्पन्न करनेवाला शङ्खनाद आकाश और पृथ्वीमें गूंजने लगा, और उसने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनादिकोंके हृदयोंको फाड डाला ॥ १९ ॥

भावार्थ—युद्धके समय रणवाद्य बजाकर अपने सैनिकोंको उत्साहित करना चाहिये ।

अन्वय— अथ कपिध्वजः पाण्डवः, धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् दृष्ट्वा, शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते (सति), धनुः उद्यम्य ॥ २० ॥ (हे) महीपते ! तदा हृषीकेशं इदं वाक्यं आह ।—

इसके अनंतर हनुमानकी ध्वजावाले अर्जुनने, कौरवोंको उत्तम व्यवस्थासे खडे देख, शस्त्र चलानेका समय आनेपर धनुष्य उठाया ॥२०॥ और, हे राजा! श्रीकृष्ण से ऐसा भाषण करने लगे ।—

भावार्थ— युद्धका समय उपस्थित होनेपर अपनी पूर्ण तैयारी करके आगे बढना चाहिये ।

योग्य कदापि नहीं हो सकते। जिनका शंख नाभिस्थानके जोरसे बजता है उसीका प्रभाव विशेष होता है। इस प्रकारके शंख तो कौरवोंकी ओरसे बजे ही नहीं !! परंतु पाण्डवोंकी ओर देखिये, यहां एक एक वीरका नाम लेलेकर उसके शंख बजानेका वर्णन किया है, क्यों कि वैसे ही विशेष बलसे पाण्डवोंके शंख बजेथे। इसका कारण यहहै कि, पाण्डवोंकी ओरके सब वीरोंका निश्चय हो चुका था कि, 'या तो हम मर जांयगे अथवा अपना गया हुआ स्वराज्य अपनी शक्ति और संघटनासे प्राप्त करेंगे।' तीसरा विचार उनमें नहीं था।

इस शंखनादका प्रकरणही देखा जावे, तो पता लगता है कि कौरवोंके वीरोंमें वैसा उत्साह नहीं था, जैसा कि पाण्डवोंके वीरोंमें दिखाई देता था। इसका विचार करके देखा जाय तो १० वे श्लोकका अर्थ 'भीष्मके नेतृत्वमें जो हमारा (कौरवोंका) सैन्य है वह अपूर्ण है, परंतु भीमके नेतृत्वमें जो पाण्डवोंका सैन्य है वह पूर्ण है।' ऐसाही प्रतीत होगा। दुर्योधन अपनी सेनाकी अवस्था देखकर ही वैसे आशयका वक्तृत्व कर रहा है। इस श्लोकका अर्थ करनेके समय ये प्रकरण भी देखने आवश्यक हैं।

इस प्रकार युद्धसूचक शंखनाद होते ही वीर अर्जुन अपनी और परायी सेनाका निरीक्षण करनेके उद्देश्यसे आगे बढते हैं, उसका वर्णन अब देखिये—

(२०) 'धृतराष्ट्र का सैन्य उत्तम रीतिसे खडा और युद्धके लिये सिद्ध हुआ देखकर अर्जुनने अपना धनुष्य चढाया और युद्ध करनेका प्रारंभ करनेके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णजीसे निम्नलिखित वाक्य कहा।' यह इस श्लोकका आशय है।

इस स्थानपर अर्जुनके लिये 'कपि-ध्वज' शब्दका प्रयोग किया है। अर्जुनकी ध्वजापर कपि अर्थात् 'बन्दर' किंवा हनुमानजीका चिन्ह था। महाभारतमें कई प्रसंगोंमें सचमुच हनुमानजी

अर्जुनके ध्वजदण्डपर बैठे थे, ऐसाही वर्णन है। कई स्थानोंपर तो युद्धके प्रसंगमें हनुमानजीके भूत्कारशब्द करनेका भी वर्णन है। इससे पता लगता है कि, सचमुच हनुमानजी अर्जुनके ध्वज-दण्डपर विराजमान थे। परंतु साधारणतः देखा जाय तो रथपर जो ध्वजा होती है, वह कपडेकी होती है और उसपर कुछ चिन्हविशेष होते हैं। इसी प्रकार अर्जुनकी ध्वजापर हनुमानजीका चित्र होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार हरएक वीर की ध्वजापर अलग अलग चिन्ह थे, द्रोणा-चार्य की ध्वजापर कमंडलु था, इसी प्रकार अन्यान्य वीरोंकी ध्वजाओंपर अन्यान्य चिन्ह थे।

'कपि' शब्दका वेदमें अर्थ 'सूर्य' ऐसा भी है। 'क' नाम उदकका पान करनेवाला। सूर्य जल-को आकर्षित करता है, इस लिये उसका यह नाम है। यदि यह अर्थ यहां लिया जाय, तो अर्जुनकी ध्वजापर सूर्यचिन्ह था ऐसा भी कहा जा सकता है। अथर्ववेदमें 'एता देवसेनाः सूर्य-केतवः।' (अथर्व० ५।२१।१२) अर्थात् सूर्य चिन्हवाली ध्वजाओंको लेकर ये देवसेनाएं चलती हैं, ऐसा वर्णन है। आर्यवीरोंका सूर्यध्वज होना स्वाभाविक है, परंतु महाभारत या रामा यणमें सूर्यचिन्हवाली ध्वजाका वर्णन नहीं है। आर्यवीर अर्जुन की ध्वजा तो बंदर चिन्हवाली (हनुमानजीके चिन्हवाली) महाभारतमें निश्चित है। इसलिये 'कपि' शब्दके दूसरे कई अर्थ हों, यहां 'हनुमान' यही अर्थ अपेक्षित है, इसमें संदेह नहीं।

अर्जुनकी 'कपिध्वजा' क्या सूचित करती है? उसकी चंचलता सूचित करती है। बंदरकी चंचलता स्पष्ट है। बंदर चंचल है, और वही अर्जुनकी ध्वजा, झंडा अथवा चिन्ह है। अर्जुन की मानसिक चंचलता का अनुभव अभी थोडी देरमें पाठकोंको हो सकता है। अर्जुनपर पाण्ड-वोंके पक्षका पूर्ण विश्वास, अर्जुन युद्ध करेगा तोही इनके पक्षकी जीत होगी, और यदि अर्जुन युद्ध न करेगा तो पाण्डवोंको स्वराज्य प्राप्तिकी आशा नहीं। ऐसी अवस्था है, यह बात अर्जुन भी जानता था, परंतु स्वभावधर्म दूर होना कठिन है। अर्जुन युद्धकी तैयारीसे रणस्थलपर आगया; शंखनाद होते ही युद्धकी इच्छासे धनुष्य उठाने लगा; अब दोनों सैन्योंके वीरोंका निरीक्षण करनेकी इच्छा कर रहा है, और जब निरीक्षण करेगा, तब मोहित होकर युद्धसे पीछे हटनेका विचार करेगा!!! यह चंचलताकी परम सीमा है!! ऐसे वीरकी 'कपि' ध्वजा होना ही स्वाभाविक है!

स्वराज्यप्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले पक्षमें ऐसे चंचल वीर होना योग्य नहीं है। स्वराज्यके लिये लडनेवाले वीर 'स्थितप्रज्ञ' चाहिये। उनमें चंचलता नहीं चाहिये। चंचल वीर युद्धकी सब तैयारी होनेके पश्चात् ऐन युद्धके समय युद्ध-भूमिसे हटेंगे और सब स्वराज्यपक्षकी हानि होगी। पांडवोंका पक्ष सत्पक्ष था, इसलिये श्रीकृ-ष्ण भगवान् उनके सहायक थे; अतः उन्होंनेसदु-पदेशद्वारा अर्जुनकी चंचलता दूर की और उनको 'स्थितप्रज्ञ' बनाया। तत्पश्चात् अर्जुन युद्ध चलानेमें समर्थ हुआ और विजयी बना। मनकी चंचलता दूर करनेके बादही मनुष्य अपना कर्तव्य पालन कर सकता है। अर्जुनकी यह मनोभूमि-का उसकी कपिध्वजासे विदित हो सकती है।

इसमें दूसरी भी एक बात है। अर्जुन इन्द्रका पुत्र है। इन्द्र नाम सामान्य 'विद्युत्' का अथवा अन्तरिक्षस्थानीय मेघमंडलमें संचार करनेवाली विद्युत्का वाचक प्रसिद्ध है। इसीका एक अंश मनुष्यका मन बना है। अन्य सूर्यादि देवताओंके अंशोंके अन्य इंद्रिय बने हैं। देखिये—

इन्द्र (विद्युत्)	मन
सूर्य	नेत्र
वायु	प्राण
दिशा	कर्ण
अग्नि	वाणी
आप्	रसना

अर्जुन उवाच- सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

अन्वय—हे अच्युत ! उभयोः सेनयोः मध्ये मे रथं स्थापय ॥ २१ ॥ यावत् अहं योद्धुकामान् अवस्थितान् एतान् निरीक्षे; अस्मिन् रणसमुद्यमे मया कैः सह योद्धव्यं ? ॥ २२ ॥

हे श्रीकृष्ण ! दोनों सैन्योंके मध्यमें मेरा रथ खडा करो ॥ २१ ॥ इतने में युद्धकी इच्छासे यहां उपस्थित हुए इन वीरोंको मैं देखता हूं । मुझे इस युद्धमें किनके साथ लडना है ? ॥ २२ ॥

इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके अंशोंसे अन्यान्य इंद्रियां बनी हैं । जैसा विश्वमें इन्द्र सब देवोंका राजा है, इसी प्रकार देहमें मन संपूर्ण इंद्रियों (देहस्थानीय देवतांशों) का राजा है । मनका विजय होनेसे सबकी जीत और मनके पराजयसे सबकी हार होती है । जैसा पांच पांडवोंका विजय अर्जुनपर निर्भर था, उसी प्रकार इंद्रियोंका विजय मनपर निर्भर है । यह समता पाठक विचार करके जान लें । मनके साथ प्राणका संबंध नित्य है । सब योगशास्त्रोंमें यह बात स्पष्ट कही है । यह प्राणवायुका अंश है ।-

वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् । ऐ० उ० १

वायु प्राण बन कर नासिकामें रहा । यह प्राण मनका सहचारी है । इस विषयमें योगग्रंथोंमें कहा है—

मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥
ह० यो० प्र० १ । ४९

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
ह० यो० प्र० २ । ४२

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
ह० यो० प्र० २ । २

"मारुत अर्थात् वायु स्थिर होनेसे मनुष्य मुक्त होता है । मारुत अर्थात् वायु-प्राण-मध्य संचारी होनया तो मन स्थिर होता है । प्राण चंचल हुआ तो मन चंचल होता है और प्राणके स्थिर होनेसे मन भी स्थिर हो जाता है ।" इस सब वर्णनसे पता चल सकता है कि, प्राणका और मन का घनिष्ठ संबंध है । ऊपर बताया है कि, इन्द्रका पुत्र मनुष्य-देहमें मन है और वायुका पुत्र प्राण है । कपि, हनुमान, मारुती जो अर्जुनके ध्वजदण्डपर था, वह भी 'वायु-पुत्र' ही है । कितना साम्य है यह देखिये । यह साम्य योंही नहीं हुआ है, यह विशेष हेतुसे ही है । इस शरीररूपी रथमें मन 'धर्म'के विजयके लिये प्रयत्न करता है, प्राण उसको सहायता करता है और ये सब 'धर्म' के कार्यमें लगे रहे तो भगवान् उनकी सहायता करते हैं ।

इन्द्रपुत्र अर्जुन और वायुपत्र(मारुती) हनुमान के रूपकका यह तत्व है । इसीलिये मारुती अर्जुन की ध्वजापर है । यह सनातन तत्त्व यहां इस रूपकसे दर्शाया है । यह विचार करेंगे तो पाठकोंको वायुपुत्र मारुतीका और इन्द्रपुत्र अर्जुनका प्रत्यक्ष दर्शन हो सकेगा, और भगवानके द्वारा चलाये जानेवाले रथपर ये दो कैसे खडे हैं इसका ज्ञान होगा । अस्तु ।

अपना अर्जुन अब क्या कह रहा है देखिये—

(२१—२२) यहां अर्जुन भगवान् अच्युत श्रीकृष्णसे कहता है कि 'मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खडा करो, ताकि मैं इन सब वीरोंको देख लूं ।' यहां भगवान् श्रीकृष्णका नाम 'अच्युत' आया है । इसका अर्थ "जो कभी पतित नहीं होता, जो अपने स्थानपर दृढ रहता है, जो स्वयं ध्रुव है, जो कभी गिरता नहीं, जो स्थिर रहता है,

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥
संजय उवाच -- एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

अन्वय-दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः ये एते अत्र समागताः, तान् योत्स्यमानान् अहं अवेक्षे ॥२३॥

और दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन का प्रिय करनेकी इच्छासे जो ये यहां इकट्ठे हुए हैं, उन लडनेवाले वीरोंको मैं देख लूं ॥ २३ ॥

भावार्थ—युद्ध करनेवाले वीर का कर्तव्य है कि, वह अपने सन्मुख विरुद्धपक्षमें युद्ध के लिये उपस्थित हुए वीरोंको अच्छी प्रकार देखे, उनकी योग्यता ठीक प्रकार जाने और तदनुसार उनसे युद्ध करे ॥ २१-२३ ॥

अन्वय—संजयः उवाच—हे भारत ! एवं गुडाकेशेन उक्तः हृषीकेशः, उभयोः सेनयोः मध्ये, भीष्मद्रोण-प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षितां (प्रमुखतः) रथोत्तमं स्थापयित्वा, 'पार्थ ! एतान् समवेतान् कुरून् पश्य, इति उवाच ॥ २४-२५ ॥

संजय बोले—हे भरतकुलोत्पन्न धृतराष्ट्र ! जब अर्जुनने श्रीकृष्णसे ऐसा वचन कहा, तब उन्होंने, भीष्म और द्रोणके सामने तथा सब राजाओंके अग्रभागमें उत्तम रथको खडा करके कहा कि, 'हे अर्जुन ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको देख' ॥ २४--२५ ॥

जो चंचल नहीं है, जो अविनाशी और सनातन है, सदा एकसा रहनेवाला है और जो दबता नहीं।' अर्जुन चंचल है, उसका निश्चय स्थिर नहीं रहता; परंतु उसका सहायक मित्र ध्रुव, दृढ, स्थिर है। अर्जुनका विश्वास इस सनातन मित्र-पर दृढ है, इसी लिये अर्जुन इस युद्धसे पार हुआ, विजयी हुआ, और धर्मका राज्य जगत्में स्थापन करनेके यशका भागी बना।

नर और नारायण एकही रथपर खडे हैं। नर प्रयत्न करता है और नारायण उसकी सहायता करता है। जो नर—पुरुषार्थी मनुष्य-नारायणको अपना सच्चा मित्र मानता और उसपर दृढ विश्वास रखता है, उसका बेडा पार होता है। हरएक नर युद्धभूमिमें खडा है, इसलिये नारायणपर विश्वास रखना हरएक के लिये लाभकारी है।

अपना अर्जुन अब युद्धभूमिमें जाकर वीरोंको देखता है और आगे क्या करता है देखिये—

(२४—२५) इन श्लोकोंमें श्रीकृष्णका नाम 'हृषीकेश' आया है। 'हृषीक' नाम इंद्रियोंका जो 'ईश' है वह हृषीकेश है। जिसके स्वाधीन अपनी इंद्रियां हैं। जो इंद्रियोंके आधीन नहीं हुआ प्रत्युत जिसके आधीन इंद्रियां हैं। जो इंद्रियोंको स्वाधीन रखकर उनको उत्तम सत्कर्मोंमें प्रेरित करता है और जिसकी इंद्रियां स्वभावतः ही बुरे कर्मोंकी ओर नहीं जातीं, वह हृषीकेश है। श्रीकृष्ण 'हृषीकेश' (हृषीक+ईश) थे, इसीलिये 'अच्युत' अर्थात् अविनाशी, स्थिर और दृढ थे।

जो सुदृढ और ध्रुव बनना चाहता है, उसको चाहिये कि वह हृषीकेश बने और अपनी सब इंद्रियां स्वाधीन रखे और उनको कभी बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त न करे। इंद्रियां स्वाधीन रखनेसे ही 'भग+वान्' अर्थात् भाग्यवान् बनना संभव है और तभी वह 'श्री—कृष्ण' अर्थात् ऐश्वर्यको अपनी ओर खींचनेवाला किंवा 'कृष्ण' अर्थात् सबको अपनी ओर आकर्षित करनेवाला बन सकता है। 'पुरुषोत्तम, (मनुष्योंमें श्रेष्ठ) बनने की यही युक्ति है।

इन श्लोकोंमें अर्जुन का नाम 'गुडाकेश' आया है। 'गुडाका' नाम निद्राका जो 'ईश' अर्थात् स्वामी है, अर्थात् जिसने निद्रा, सुस्ती, आलस्य आदि दोषोंको जीत लिया है। कार्य करनेके समय जिसको सुस्ती या निद्रा नहीं घेरती, विश्राम लेना या न लेना जिसके आधीन है, निद्रा जिसकी आज्ञामें है, अर्थात् जब वह विश्राम लेना चाहे और जितनी देरतक विश्राम लेना चाहे, तब और उतनी देरतक ही जो गाढ निद्रासे युक्त हो सकता है, अथवा विश्रांति ले सकता है वह गुडाकेश है। जिसको दस बीस पल निद्रा लेनेकी इच्छा हुई, तो झट गाढ निद्रा लेसकता है और ठीक दस बीस पलोंके बाद उठकर कार्य करने लगता है, जो निद्राके वश हुआ तो घण्टोंतक सोया पडा नहीं रहता, वह 'गुडाका—ईश' किंवा 'निद्रा—स्वामी' है। जगत् में बहुतही थोडे मनुष्य हैं कि जिनका ऐसा प्रभुत्व निद्रापर होता है। प्रायः सभी लोग सोनेके लिये भी २०। २५ पल बिस्तरेपर करवटें लेते रहते हैं और उठनेके लिये वैसे ही हिलाने पडते हैं। जिस प्रकार हम किसी कमरेमें झट जाते हैं उस प्रकार जो समयपर झट गाढ निद्राके वश हो जाते हैं और समयपर विना सुस्त हुए उठते हैं, उनके आधीन निद्रा हुई, ऐसा कह सकते हैं। यह एक बडी भारी सिद्धि है, जो उस समयके संपूर्ण भारतीय वीरोंमें अकेले अर्जुनको ही प्राप्त थी। यह सिद्धि अत्यंत कठिन है। मनकी एक विशेष अवस्था रही, तोही यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है; अन्यथा नहीं।

बीसवें श्लोककी व्याख्याके प्रसंगमें बताया है कि, अर्जुन इन्द्रपुत्र होनेके कारण आध्यात्मिक विचारमें शरीरमें मनस्थानीय है। पाठक जान सकते हैं कि, मन ही 'निद्राका स्वामी' है। यदि मन सोया तभी निद्रा आती है। अन्य इंद्रियां कितनी भी शान्त की जांय, या स्थिर की जांय, जबतक मन अपने व्यापारोंसे निवृत्त नहीं होता, तबतक कभी निद्रा नहीं आती। यह देखनेसे स्पष्ट होजाता है कि, मनही (गुडाकेश) निद्राका स्वामी है। अर्जुनको भी यह नाम इसी लिये दिया गया है और इसी कारण सब कौरव पांडव वीरोंमें यही अर्जुन एक निद्राका स्वामी कहा गया है। शरीरके अन्दर भी अकेला मन ही निद्राका स्वामी है। पाठकगण यह साम्य देखें और समझें कि, यह समानता किसी विशेष हेतुसे लिखी है।

इन श्लोकोंमें 'भारत' नाम धृतराष्ट्रके लिये आया है। आगे कई प्रसंगोंमें यह नाम अर्जुनके लिये भी प्रयुक्त होगा। महाभारतमें अन्यान्य स्थानोंमें यह शब्द युधिष्ठिर आदि अन्यान्य वीरोंके लिये भी प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है "भारत देशका हित चाहनेवाला, भारत देशके निवासियोंका हित करनेवाला, भारत देशकी भाषा जिसकी जन्मभाषा है और उसपर जिसका प्रेम है, तथा भारत देश, भारतीय लोग और भारती भाषा इनका हित करनेके लिये जो आत्मसमर्पण करनेको तैयार है, अथवा यह करना जिसका कर्तव्य होना स्वाभाविक है।" धृतराष्ट्रका और दुर्योधनका यह कर्तव्य था, परंतु उन्होंने यह नहीं किया; अर्जुनादि पाण्डवोंका यही कर्तव्य था और उसके लिये अर्थात् भरतभूमिमें 'धर्म' का राज्य स्थापन करने और अधर्म राज्य हटानेके लिये उन्होंने आत्मसमर्पण किया था। यही धर्मराज्य स्थापन करना ईश्वरका कार्य है, जो इस कार्यको करते हैं वे अपने कर्मसे परमे-

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अन्वय— अथ पार्थः उभयोः सेनयोः अपि, तत्र स्थितान् पितॄन्, पितामहान्, आचार्यान्, मातुलान्, भ्रातॄन्, पुत्रान्, पौत्रान् तथा सखीन् ॥ २६ ॥ श्वशुरान्, सुहृदः, च एव अपश्यत् । सः कौन्तेयः तान् सर्वान् बंधून् अवस्थितान् समीक्ष्य ॥ २७ ॥ परया कृपया आविष्टः, विषीदन् इदं अब्रवीत् ।

तब अर्जुनने दोनों सेनाओंमें वहां उपस्थित हुए अपने ही बडों, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, तथा मित्रों ॥ २६ ॥ ससुरों, और स्नेहियोंको देखा। वह अर्जुन उन सब भाईयोंको ही उपस्थित हुए देखकर ॥ २७ ॥ अत्यंत करुणासे व्याप्त हुआ और उदास मनसे बोलने लगा।—

भावार्थ—कठिन प्रसंगमें अपने संबंधियोंका मोह मनुष्यको स्वकर्तव्यसे भ्रष्ट करता है। अतः मनुष्यको ऐसे मोहसे बचना चाहिये।

श्वरकी ही पूजा करते हैं। इस लिये कहा जाता है कि, कौरवोंने अपना कर्तव्य पालन नहीं किया और पाण्डवोंने कर्तव्यका पालन उत्तम रीतिसे किया, और इस कारण परमेश्वरका साहाय्य उनको प्राप्त हुआ। जो ऐसा करेंगे उनका ईश्वर निःसंदेह सहायकारी होगा।

यहां कहा है, ' रथको दोनों सेनाओंके मध्यमें रखो'। अध्यात्म पक्षमें रथ शरीर ही है, जो बुरे और भलेके बीच सदा रखा रहता है। ' शरीरं रथमेव तु। इंद्रियाणि हयान्याहुः॥ " (कठ उ० ३।३-४) शरीर रथ है और इंद्रियां घोडे हैं। यहां मन इंद्रियोंका संचालक है। इत्यादि बातें पाठक अब विचार करके जान सकते हैं।

अब अर्जुन दोनों सेनाओंका निरीक्षण करता है, उसमें उन्होंने क्या देखा और उसका परिणाम उसके मनपर कैसा हुआ, यह अब देखिये—

(२६-२८) यहां अर्जुन दोनों सेनाओंमें युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए अपने सब इष्टमित्रों, भाईबंधुओं और पूज्य पुरुषोंको देखकर अत्यंत कृपासे खिन्न होता है। अर्जुनके मनमें बडी कृपा, दया अथवा करुणा उत्पन्न हुई है, युद्धका डर उसको नहीं था। वह वीर था और अपने पराक्रम को भी जानता था। इसलिये उसको निश्चय था कि, युद्ध शुरू होनेके पश्चात् इन सबका संहार अवश्य होगा। इनके बचनेकी कोई आशा नहीं है। अपने शौर्य और युद्धकौशल के कारण और भगवान् श्रीकृष्णकी उत्तम योजनाके कारण निःसंदेह हमें विजय होगा, और हमारे जयका अर्थ ही यह है कि, भीष्म, द्रोण तथा अन्यान्य बडे पूज्य पुरुष मारे जांय, उनमेंसे कोई न बचे, सब भाईयोंकी समाप्ति हो जावे। अपने निज शौर्यके कारण शत्रुपक्षके वीरोंके बचनेकी कोई आशा ही नहीं है, ऐसा अर्जुनके मनमें निश्चय हुआ था। इसलिये उसको उनकी दया आगई और उसके मनमें अत्यन्त खेद हुआ और वह दीन होकर कहने लगा—

(८) अर्जुनका खेद।

शरीरपर परिणाम।

अर्जुन उवाच— दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

अन्वय—हे कृष्ण ! इमं स्वजनं युयुत्सुं समुपस्थितं दृष्ट्वा, ॥२८॥ मम गात्राणि सीदन्ति, मुखं च परिशुष्यति, मे शरीरे वेपथुः रोमहर्षः च जायते ॥ २९ ॥ हस्तात् गाण्डीवं स्रंसते, त्वक् च एव परिदह्यते, अवस्थातुं च न शक्नोमि, मे मनः भ्रमति इव ॥ ३० ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! ये अपने ही संबंधी जन युद्ध करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए देखकर ॥ २८ ॥ मेरे अवयव शिथिल हो रहे हैं, मुख सूखने लगा है, मेरे शरीरमें कँपकँपी होकर, मेरे रोएँ भी खडे होते हैं ॥ २९ ॥ गाण्डीव धनुष्य हाथ से गिरने लगा है, शरीरकी चमडीमें दाह हो रहा है, मेरेसे खडा नहीं रहा जाता और मेरा मन चक्कर सा खा रहा है ॥ ३० ॥

भावार्थ— मोह और करुणा बडे वीरको भी दुर्बल बना देती है। मोहसे शरीरका बल घटता है। इसलिये मोहके वशमें नहीं होना चाहिये। ॥ ३० ॥

(२८—३०) युद्ध के लिये संमुख उपस्थित हुए स्वजनोंको देखकर अर्जुन को करुणा आगई और ऐसे युद्धसे कि जिसमें स्वजनोंके वधके सिवाय दूसरा कुछभी नहीं होगा, अर्जुनके अन्तःकरणको बडा खेद हुआ। युद्धका डर तो उसको था ही नहीं। जिसने प्रत्यक्ष भगवान् कैलासपति शंकरसे युद्ध करते डर नहीं खाया था, और जिसने निवातकवच जैसे कपटी आर्योंके शत्रुभूत राक्षसगणोंका पूर्ण नाश किया था, उसको कौरवोंसे लडनेमें डर लगनेकी संभावना ही नहीं थी। ऐसे निडर और प्रबल वीर के मन में अपने सब संबंधियोंके वध का भयानक चित्र खडा हुआ, और वह कहने लगा कि, हाय हाय! हम यह यहां क्या करने लगे हैं ? उसके मनमें दया आगई, करुणासे मन भर गया, स्वजनोंके प्रेमने विचारशक्तिको घेर लिया, और वह प्रबल आर्य वीर इस मोहसे हलबल होगया !!

पाठक यहां धृतराष्ट्रके द्वारा प्रेषित संजय के शान्तिके उपदेशका स्मरण करें। साम्राज्यवादियोंके फैलाये मोह जालसे सरलहृदय आत्मा कैसे सरलमार्गसे दूर भाग जाते हैं यह देखिये। उस संजय के कपटमय उपदेशका परिणाम अर्जुन के मनपर होगया और वह पूर्ण रीतिसे शिथिल और उत्साहरहित होगया। अस्थानमें दया उत्पन्न होना भी बहुत ही बुरा है और धर्मकार्य करते हुए खेद उत्पन्न होना तो उससे भी बहुत बुरा है। साम्राज्यवादी शत्रुओंके कपटी उपदेशके जालसे इस प्रकार स्वराज्यके लिये

प्रयत्न करनेवाला आर्य वीर मोहित हो गया और स्वकर्तव्यसे पीछे हटा।

खेदका शरीरपर परिणाम।

खेद, मोह, दया, कृपा अथवा करुणासे सबसे प्रथम शरीरकी शक्ति घट जाती है। और बडा शक्तिशाली पुरुष भी अत्यंत निर्बल हो जाता है। इसका उत्तम उदाहरण भ्रमर का देते हैं। भ्रमर सूखी और कठिण लकडीमें भी सुराख करता है, जमीनमें छेद कर डालता है, ऐसा समर्थ भ्रमर जब कमलमें रातके समय बंद होगया, तो वह कमल की कोमल पत्तीको काट नहीं सकता। प्राण जानेका समय भी क्यों न प्राप्त हो जावे, वह कमलको सुराख करके बाहर नहीं निकलता। संसारमें बहुत वीर पुरुष स्त्री और मदिराके मोहके कारण कैसे विवेकभ्रष्ट और हतबल हो गये हैं, इसकी साक्षी इतिहास देरहा है। यही अवस्था अर्जुनकी इस समय होगई है।

खेदके कारण शरीरका रक्त ही बिगड जाता है, शरीर के हरएक अणुकी ओजःशक्ति नष्ट होती है, इसी कारण सब अंग ढीले पडते हैं, मुख सूखता है, क्यों कि लालाग्रंथियोंसे मुखमें लालानामक रसका स्राव होना बंद होजाता है, इसका परिणाम पचनशक्तिके ऊपर भी होता है और यदि यह खिन्नता बहुत दिनतक रही तो पचनशक्ति बिलकुल नष्ट होजाती है। कईयोंकी पुरुषशक्ति अथवा प्रजननशक्ति भी खेदसे नष्ट होनेके उदाहरण हैं। (अर्जुन तो अज्ञातवासमें खेदसेही नपुंसक बना था।) क्यों कि खेदसे सभी अंग शिथिल, निर्बल और निःसत्त्व होजाते हैं। शरीरका बल कम होनेके कारण शरीर कांपने लगता है, रोएं खडे हो जाते हैं, सब शरीरभर एकदम सनसनीसी पैदा होती है, हाथ की पकडनेकी शक्ति नष्ट होती है, पांवकी खडा रहनेकी शक्ति दूर होती है, चमडीमेंसे चिकनाहट दूर होती है, वह खुष्क होती है और पश्चात् अंदरका मल वहां संचित होकर वहां जलन शुरू होने लगती है।

खेदके कारण बाहरसे खाया अन्न पचन होकर शरीरका बल बढाता नहीं। तथा अन्दरके मलोंको बाहर भेजनेकी क्रिया बंद हो जानेके कारण सब मल अन्दरही अन्दर रुधिरमें संचार करने लगते हैं, इस कारण मन चक्कर खाने लगता है और मस्तिष्क विचार करनेमें असमर्थ हो जाता है। अतः यदि यह खेदकी अवस्था बढगई अथवा कई दिनतक रही, तो मनुष्य मर भी जाता है, पागल बनता है और इहपरलोकके कोई कर्तव्य करनेके लिये असमर्थ हो जाता है, देखिये एक मोहका कितना घातक परिणाम होता है। और यदि इसके साथ काम, लोभ, मद और मत्सर मिल जांयगे, तो उसके नाशकी कोई सीमाही नहीं रहेगी।

साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने संजयके द्वारा जो कपटी धर्मोपदेशका जाल पांडवोंपर फैलाया था, उस कारण अर्जुनके मनमें केवल मोह और मोहसे खिन्नताही उत्पन्न होगई थी। अन्य दोष उसके मनमें घुसने नहीं पाये थे। यदि पांडवोंके वीर स्वराज्यका प्रयत्न न करते हुए कौरव पक्षकी कुमारिकाओंके प्रेमके वश होजाते, यदि कौरवोंके धनके लोभमें पड जाते, अथवा कौरवोंके राजशासनमें बडी ओहदेदारीके स्थान प्राप्त करनेके लोभमें फंस जाते, उन प्राप्त अधिकारोंके मदसे 'हम बडे होगये' ऐसा मानने लग जाते और उस कारण आपसमें परस्पर विद्वेष करने लगते, तो उनको पुनः स्वराज्य प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं थी।

साम्राज्यवादी लोग जित लोगोंके विचारोंमें परिवर्तन करते हैं, उनमें आत्मविश्वास रहने नहीं देते, उनमें कर्तृत्वशक्ति बढने नहीं देते, उनमें काम उत्पन्न होजाय इसलिये स्त्री प्रयोग भी करते हैं, उनको नाना प्रकारके प्रलोभन देते हैं और स्वराज्यविषयक प्रयत्नसे उनको हटा देते हैं, उनमें वृथा घमंड उत्पन्न करते हैं, उनमें आपसका मत्सर बढा कर उनके अंदर आन्तरिक कलह बढाते हैं। इनमेंसे कुछ प्रयोग कौरवोंने

पाण्डवोंपर किये थे। उनका राज्यशासन का अनुभव न बढे, इसलिये उन्होंने १३ वर्ष राज्यशासनसे उनको बाहर रखा था। इतने समयमें युद्ध काभी अनुभव उनको न आवे और वे स्वराज्यके लिये पूर्ण नालायक, बिलकुल जंगली जैसे बन जांय। यह साम्राज्यवादी कौरवोंकी इच्छा थी। अंतमें संजय द्वारा भ्रम उत्पन्न करनेवाली कुशिक्षा देनेका भी साम्राज्यशाहीने प्रयत्न किया, जिसका फल अर्जुनके इसप्रकार कर्तव्यभ्रष्ट होनेका प्रत्यक्ष दीखता है। इसी कारण जेता लोगोंसे धर्मोपदेशकी या अन्य प्रकारकी शिक्षा प्राप्त करना भी जित लोगोंको योग्य नहीं। क्यों कि ये लोग उस कुशिक्षा द्वारा किस प्रकारका विष जित लोगोंके मनमें भर देंगे, इसका भी पता नहीं चलेगा। इसी उपदेश द्वारा पिलाये विषके कारण वीरोंमें अत्यंत प्रबल वीर अर्जुन कैसा निर्बल बन गया है, देखिये।

उसका शरीर तो बिलकुल शिथिल बन गया, यहां तक निर्बल बना कि, वह अपने हाथसे अपना गाण्डीव धनुष्य भी धारण नहीं कर सकता, और अपने पांवसे खडा भी नहीं हो सकता !! फिर लडना तो दूर रहा !! अर्जुन जैसे आर्य वीर संतानने शत्रुसे थोडीसी शिक्षा प्राप्त की, तो उसका क्या बन गया देखिये। वह पहिले सिंह था, तो शत्रुके उपदेशकोंसे शिक्षा लेकर भेड बन गया; वह पहिले लोहा था तो उसका मोम बना। यह है शत्रुके धर्मवचनोंपर विश्वास रखनेका परिणाम ! इसीसे तो अर्जुनका शरीर और मन बिगड गया !

अनुभव का अभाव।

साम्राज्यवादी लोग जित लोगोंको राज्यशासनका अनुभव और युद्धका अनुभव ये दो अनुभव लेनेका अवसर नहीं देते। पाण्डवोंको उन्होंने १२ वर्ष जंगलमें इसीलिये रखा था, कि वे जंगलीसे बन जांय और १ वर्ष अज्ञात वासमें इसलिये रखा था कि, इस समय उनके स्वाभाविक अन्तःसामर्थ्यका प्रकाश करनेका थोडा भी अवसर उनको न मिले, और इस समय यदि वे पकडे गये, तो फिर यह १३ वर्षका चक्र घूमना ही चाहिये !! वीरोंको १२ वर्ष जंगलमें और १ वर्ष अज्ञात वासमें रखनेसे वे कितने बदल जाते हैं, इसका परिचय पाठकोंको विराटपर्वके पढनेसे लग सकता है। उस समय तो अर्जुन केवल पूर्ण नपुंसक ही बन गया था !! केवल १२ वर्ष स्वराज्यका अनुभव न होनेसे अर्जुन जैसा महारथी वीर यदि नपुंसक बन जाता है; तो जो लोग उससे वीरतामें कम होंगे उनका क्या बनेगा ? और वे यदि १३ वर्ष से अधिक वर्ष पराधीनतामें रहे, तो उनकी क्या अवस्था होगी, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं।

नपुंसकता।

अर्जुन की स्थिति नपुंसक जैसी बनी थी, यह बात कौरवोंको पता होगी या न होगी; तथापि संजयके कपटी उपदेशने वीर अर्जुनके ही मनमें घर कर लिया था, इसका कारण यही था कि, वह एक वर्षतक विराट नगरीमें नपुंसकही बन गया था, अर्थात् इतना निर्वीर्य बना था कि इसको स्त्रीपरिवारमें रखनेमें किसीको संकोच न हुआ था। कुछ उपायोंसे वह उसका दोष एक सालके पश्चात् दूर हुआ, परंतु नपुंसकके संस्कार रहे, और एक वर्षतक स्त्रियोंकी संगतिमें रहनेके कारण मोह, दया, करुणा, आदि जो गुण स्त्रियोंमें विशेष रहते हैं, वे इसमें बढ गये !! अतः संजयका कपटी उपदेश अर्जुनके मनमें जैसा जमगया, वैसा किसी अन्य पांडव वीरके मनपर नहीं जमा। इससे संस्कारके महत्त्वका पता लग जाता है। इसीलिये साम्राज्यवादी ऐसी नीति करते हैं कि, जित लोगोंके उच्च संस्कार लुप्त हो जांय और उनमें हीन संस्कार दृढमूल हो जांय; जिससे वे कभी न उठ सकें और अपना स्वराज्य कभी वापस न ले सकें।

अर्जुनके शरीर और मनपर तो इतनी शिथिलता छाई गई। इससे वह युद्धके लिये तो पूर्ण रीतिसे निकम्मा बन गया। उसके अंदर ही

खेदका मनपर परिणाम ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

अन्वय—हे केशव ! निमित्तानि विपरीतानि च पश्यामि । आहवे च स्वजनं हत्वा श्रेयः न अनुपश्यामि ॥३१॥

हे केशव ! अब मुझे सब लक्षण विपरीत दीख रहे हैं । तथा अपने संबंधियोंको युद्धमें मार कर कुछ कल्याण होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता ॥ ३१ ॥

केवल उदासीनता छाई थी यह बात नहीं थी, उसकी बुद्धी भी इतनी विवेकभ्रष्ट हुई कि उसको सब जगत् उदास प्रतीत होने लगा । देखिये वह आगे क्या कहता है—

(३१) देखिये, यहां अर्जुन कह रहा है कि 'सब लक्षण विपरीत दीख रहे हैं ।' ऐसा मनके बिगडनेसे होता है । मन बिगडनेसे सब जगत्में विपरीत भाव दिखाई देता है। मन बिगडा तो सब जगत् बिगड जाता है । "मनके हारे हार है, मनके जीते जीत ।" अर्जुनका मन हार गया था, इस लिये उसको संपूर्ण जगत्में अशुभ लक्षण दिखाई देने लगे थे । मनमें उत्साह रहा, तो सब जगत्में शुभ लक्षण दीख पडते हैं। यह सब मनका खेल है । इसीलिये युद्धके पूर्व साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने अर्जुनके मनकोही मोहित करने का प्रयत्न किया था । जिस समय अर्जुन युद्धभूमिमें आया था, उस समय जिस जगत्में उसको एक भी विपरीत लक्षण दिखाई नहीं देता था, उसी जगत्में उसी अर्जुनको अब सब लक्षण उलटे दीखने लगे हैं !! इसका कारण ही यह था कि, जिस समय अर्जुन युद्धभूमिपर आया, उस समय उसके मनमें उत्साह था, और अब वह उत्साह दूर हो चुका है। जगत्में कोई फर्क नहीं हुआ । अपनेमें फर्क होनेसे जगत् बिलकुल अलग मालूम होने लगता है । पाठक यह नियम स्मरण में रखें कि, मनुष्य जो मनका भाव लेकर जगत्के पास जायगा, ठीक वैसाही उसको जगत् दीखने लगेगा ! कामिलारोग वालेको सब जगत् पीला दिखाई देता है, इसका कारण उसके नेत्रका दोष है; बुखार आनेके समय सब जगत्में सर्दी भरने का अनुभव आता है, इसका कारण इसके शरीरका दोष; उदास मनुष्यको सब जगत् उदास दीखता है और उत्साही पुरुषको सब जगत् उत्साहपूर्ण होजाता है,इसका कारण उसका मन ही है। बहुत मनुष्य जगत्को दोष देते हैं, अपना नसीब, दैव आदि कहते हैं, परंतु वास्तविक देखा जाय, तो जगत्में कोई दोष या गुण नहीं है, यदि मनुष्य अपनेमें शुभ गुणोंका उत्कर्ष करेगा, तो उसको जगत शुभ दीखेगा, और यदि इसके अंदर दोष रहे, तो जगत् भी इसके साथ दुष्टता करेगा। इसलिये 'आत्मशुद्धि' का महत्त्व शास्त्रकारोंने कहा है ।

अर्जुनके मनपर जो खेद का परिणाम हुआ, उससे उसका मन दोषयुक्त बना और उस दोषके कारण उसको सब जगत्में विपरीत लक्षण दिखाई देने लगे। जबतक उसके मनमें यह दोष नहीं था, तबतक उसका उत्साह बढ रहा था । जगत् एक शीशेके समान है, जो भाव हम लेकर उसके पास जायंगे, वैसाही ठीक प्रतिबिंब उसमें दीखेगा॥ इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि, जब उसको चारों ओर विपरीत लक्षण दीखने लग जायंगे, तब वह समझे कि, अपनेमें कुछ दोष हुए हैं; और प्रयत्न करके अपने अंदरके दोष दूर करनेका यत्नकरे। अपने अंदरके दोष दूर होतेही उस को जगत्में शुभ लक्षण अवश्यही दिखाई देंगे । अपने सुधारसे जगत्के सुधारका प्रारंभ होताहै।

(९) स्वजनोंका मोह ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

अन्वय—हे कृष्ण ! विजयं न काङ्क्षे, राज्यं सुखानि च न (कांक्षे) । हे गोविन्द ! नः राज्येन किम् ? भोगैः जीवितेन वा किम् ? ॥ ३२ ॥

हे कृष्ण ! मुझे विजयकी इच्छा नहीं है, न मुझे राज्य चाहिये और न मैं सुख चाहता हूं । हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या करना है ? भोगोंसे भी क्या और हमारे जीवित रहनेसे भी क्या लाभ होगा ? ॥ ३२ ॥

अर्जुन दूसरी बात कहता है, कि 'स्वजनोंका वध करके कुछ कल्याण होगा, ऐसा नहीं दिखाई देता है'। स्वजनोंका वध करके क्या लाभ होगा ? यहां शत्रुको अर्जुन 'स्वजन' कह रहा है । रक्तके नातेसे स्वजन और परजन देखे नहीं जाते । स्वजनोंका नाम "आप्त पुरुष" है। और आप्त पुरुष वे होते हैं कि, जो कभी अत्याचार नहीं करते, कभी अधर्मकी बात नहीं करते, कभी असत्य नहीं बोलते । आप्तोंका तो यह लक्षण है । आप्त पुरुषका संमान शास्त्रकारोंने इतना किया है कि, जिसके लिये कोई मर्यादाही नहीं है । जिन्होंने पाण्डवोंका स्वराज्य कपटसे छीन लिया, उनको देशसे बाहर कर दिया, हर प्रकारसे उनको कष्ट दिये, बेइज्जत की, और अन्तमें जो अपना वचन तोडनेको भी तैयार हुए, वे किस प्रकार 'स्वजन' हो सकते हैं ?

बडा उत्तरदायित्व ।

यहां अर्जुनपर केवल अपना छीना हुआ स्वराज्य वापस लेनेकी ही जिम्मेवारी नहीं थी, इससे बढकर एक बडा उत्तरदातृत्व अर्जुनपर था, वह यह है कि, 'जगत् में अन्याय करनेवालोंके संघको तोडना, और सर्वत्र धर्मका राज्य होनेके लिये अनुकूल वायुमंडल तैयार करना ।' भगवान् मनमोहन श्रीकृष्ण इस कार्यके लिये कटिबद्ध थे और अर्जुनको उन्होंने इस कार्यका भार उठानेके लिये अपने पास किया था। अर्थात् अर्जुनके स्वार्थके साथ यह महान परोपकार होनेवाला था। इसी कारण सच्चे स्वजन कौन हैं और सच्चे शत्रु कौन हैं, इस विषयमें अर्जुनको मोह होना इष्ट नहीं था। परंतु जो होना नहीं चाहिये, वही समयपर बन जाता है! और एकवार बुद्धि गिरने लगी, तो उसकी गिरावट भी सीमातक पंहुच जाती है । इसी प्रकार एक वार अर्जुन परमेश्वरके जगद्व्यापक धर्मकार्यका भागी होनेके संमाननीय महत्-स्थानसे जो फिसल गया, वह परिवारके मोहके कीचडमें पडा !! पारिवारिक मोहके संकुचित वायुमंडलसेही वह अब बोलरहा है, अब देखिये कि इस संकुचित विचार के प्रवाह में पडनेसे उसका मत कैसा बन गया है—

(३२—३४) अर्जुन परिवार के मोहके कारण राष्ट्रीय कार्य करनेसे पीछे हटता है ! वास्तविक देखा जाय तो "राष्ट्रकार्य के लिये पारिवारिक सुख को त्यागना चाहिये;" परंतु यह भारतका नेता उलटी बातें बोल रहा है !! यह यहां तक भूला है कि 'मुझे विजय नहीं चाहिये' (विजयं न कांक्षे) ऐसा स्वयं कहता है !! वस्तुतः यह स्वयं ही 'विजय' है, इसलिये 'मैं विजय नहीं चाहता, इसका अर्थ 'मैं अपने आपकोभी नहीं चाहता' यही होता है । परंतु इसका अर्थ क्या ? मैं अपने आपको नहीं चाहता' यह तो मूर्खका बोलना है, थोडासा ज्ञान रखनेवाला मनुष्य ऐसा आत्मघातका भाषण बोलही नहीं

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

अन्वय- येषां अर्थे नः राज्यं कांक्षितम्, भोगाः (कांक्षिताः), सुखानि च (कांक्षितानि); ते इमे आचार्याः, पितरः, पुत्राः, तथा एव च पितामहाः, मातुलाः, श्वशुराः, पौत्राः, श्यालाः, तथा संबन्धिनः प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा, युद्धे अवस्थिताः ! ॥ ३३-३४ ॥

जिनके लिये हमने राज्यकी और भोगों तथा सुखोंकी इच्छा करनी थी, वेही ये आचार्य, बडे बूढे, पुत्र, दादा, मामा, ससुर, नाती, साले और संबंधी अपने प्राण और धन की आशा छोडकर युद्धके लिये खडे हुए हैं ॥ ३३-३४ ॥

सकता। परंतु अर्जुनके मनपर जिन आत्मघातकी विचारोंका प्रभाव जमगया था, उनका प्रभाव वहां स्थिर रहने तक, वह दूसरे विचार बोलही नहीं सकता !! शत्रुकी कपटी शिक्षाका स्वीकार करनेपर ऐसा ही विपरीत विचारों का प्रवाह शुरू होता है; इसीलिये सूज्ञ लोग कहते हैं कि, अपनी सभ्यता की शिक्षा ही प्राप्त करनी चाहिये, और शत्रुके विचारोंके नीचे अपने मनोंको दबाना नहीं चाहिये।

जन्मका उद्देश्य.

प्रत्येक मनुष्य जन्मा है, वह अपना विजय प्राप्त करनेके लिये ही जन्मा है। हरएक मनुष्य चार पुरुषार्थ सिद्ध करनेके लिये जगत् में आगया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष अर्थात् कर्तव्य पालन करना, धन कमाना, धर्मानुकूल भोग भोगना और बंधनसे मुक्त होना, ये चार पुरुषार्थ मनुष्यको करने चाहिये। कर्तव्य करना पहिला काम है और मोक्ष अर्थात् अपना स्वातंत्र्य प्राप्त करना अन्तिम साध्य है। मानवका जन्म इसी लिये है। स्वातंत्र्य प्राप्त करना श्रेष्ठ विजय कमाना ही है। इसलिये किसी को अधिकार ही नहीं कि, वह कहे कि, 'मैं विजय नहीं चाहता।' ऐसा कहना चतुर्विध पुरुषार्थ के सर्वथा विरुद्ध है। अर्जुन यहां यह धर्मविरुद्ध बात कह रहा है। यही उसका मोह अर्थात् अज्ञान है।

अज्ञानवश होकर अर्जुन और कह रहा है कि, 'मुझे सुख भी नहीं चाहिये और राज्य भी नहीं चाहिये।' पूर्वोक्त चार पुरुषार्थोंमेंसे 'विजय नहीं चाहिये' कह कर इसने कहा कि मुझे मोक्ष, स्वतंत्रता अथवा बंधननिवृत्ति नहीं चाहिये, मैं बंधनमें ही रहूंगा, अर्थात् जिस कार्यके करनेके लिये यह जन्मा है, वही कार्य करना इसको पसंद नहीं है !! अब यह कह रहा है, कि मुझे सुख भी नहीं चाहिये और स्वराज्य भी नहीं चाहिये!! येही 'अर्थ और काम' ये दो पुरुषार्थ हैं, येभी इसको नहीं चाहिये !! 'अर्थ, काम और मोक्ष' ये तीनों पुरुषार्थ नहीं चाहिये, ऐसा कहते ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि, 'इसने जन्म किस कार्यके लिये लिया है ?' जिसको ये चार पुरुषार्थ करना अभीष्ट नहीं, क्या वह जीवित रहनेका अधिकारी भी है ? अर्जुनने जब कहा कि 'मुझे सुख, भोग, स्वराज्य और विजय नहीं चाहिये,' उसी समय उसके ही मनमें यह बात आगई कि, 'मैं अब जीवित रहकर भी क्या करूं' क्यों कि किस

उद्देश्यसे जीवित रहना है? यह बात उसके ध्यानमें आकर वही स्वयं कहता है कि, 'भला मेरे जीवित रहनेसे भी अब क्या लाभ है!' अर्थात् जिस रीतिकी खेदमयी विचारपरंपरा उसके मनमें शुरू होगई थी, उस विचारपरंपराके अन्तमें उसको मृत्यु शीघ्र स्वीकारना ही योग्य हुआ!! खेदमय विचारकी परंपरा कितनी घातक है, यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है। अतः कोई मनुष्य खेदमय विचारोंको अपने पास आने न दें, और सदा उत्साहमय पुरुषार्थी विचार अपने मनमें स्थिर करें।

संबंधियोंका मोह ।

अर्जुन अपने संबंधियोंके लोभमें फंस गया है। वह कहता है कि आचार्य दादा, मामा, पिता, भाई, साले, ससुर, नाती, पुत्र आदिकोंके लिये सुख देनेके उद्देश्यसे ही भोगके साधन इकट्ठे किये जाते हैं। परंतु इस युद्धमें तो वेही अपने प्राण और धनकी पर्वा छोडकर यहां उपस्थित होगये हैं। यदि इनको मारा, तो उनकी मृत्युके पश्चात् इस युद्धसे प्राप्त किये हुए भोग किसको देने हैं? जिनके लिये सुख देना है वेही यहां मारे जाते हैं, फिर सुखप्राप्तिका प्रयत्न किस के लिये करना है? ये मेरे संबंधी हैं, इस लिये मुझे उचित नहीं कि, मैं इनका वध करूं। यदि तुम कहोगे कि, मैं इन संबंधियोंका वध करूं तो इनके साथ मैं अपने सहोदर भाइयोंको भी क्यों न मारूं? ये भी भाई हैं और वेभी भाई हैं। अर्जुन कहता है—

'हे कृष्ण! तुम्हें 'गो-विन्द' कहते हैं, क्यों कि तुम 'गो' नाम इंद्रियोंको 'विन्द' अर्थात् स्वाधीन रखते हैं। अतः तुम्हारे जैसा इंद्रियवृत्तियोंको स्वाधीन रखनेवाला ज्ञानी ऐसे आप्तजनोंके वध करनेके अनर्थकारक कार्यमें मुझे किस प्रकार प्रवृत्त कर रहा है, क्या यही तुम्हारा इंद्रियसंयम है? और इसी प्रकार तुम मुझे संयम सिखाओगे? क्या मैं अपने सुखके लिये आचार्यों और अपने सब आप्तोंका वध करूं? और उनका वध करनेके बाद स्वयं सुख भोगूं?'

कुटुंब और राष्ट्र ।

यहां अर्जुन अपने संबंधियोंको सुख देनेके लिये राष्ट्रकार्यमें विघ्न कर रहा है। जनतामें शुद्ध और उच्च नीतिधर्मकी स्थापनाका कार्य एक ओर और दूसरी ओर स्वजनोंका सुख होता है। यहां अर्जुन जनताके उद्धारके कार्यकी अपेक्षा अपने पारिवारिक कुटुंबियोंके सुखको अधिक मान रहा है। कौरव साम्राज्यके शासनाधिकार पर किसी न किसी प्रकार आरूढ हो गये थे। अर्थात् श्रेष्ठ पदपर थे। जो मनुष्य श्रेष्ठ पदपर रहता है, उसपर एक उत्तरदायित्व रहता है कि वह किसी प्रकार भी ऐसा बुरा आचरण कदापि न करें, कि जो जनताके लिये बुरा आदर्श हो जावे। "श्रेष्ठपदपर स्थित मनुष्य जैसा आचरण करता है, वैसा ही अन्य मनुष्य आचरण करते हैं। (भ० गीता ३।२१)" इसलिये श्रेष्ठ मनुष्य पर अन्य साधारण जनोंके लिये उत्तम आदर्शरूप बननेका भार सदा रहता है। क्या यह उत्तर-दायित्व कौरवोंने पालन किया था? बिलकुल नहीं। साम्राज्य बढानेके लिये इन्होंने कईयोंको जहर तो पिलाया, कईयोंको अग्निसे जला दिया, कइयोंकी भूमि हरण की, कईयोंके राज्य कपटसे हरण किये, कईयोंका शस्त्रोंसे वध किया, कई स्त्रियोंकी बेइज्जती की, सदा सर्वदा असत्य वचन कहते रहे, अपना दिया हुआ एक भी वचन इन्होंने पालन नहीं किया, नाना प्रकारसे आशाएं दिखलाते रहे; परंतु एककी भी पूर्तता नहीं की, अन्तिम शान्तिसभामें तो इन्होंने स्पष्ट कहा कि, युद्धके विना एक सुईके अग्रपर रहनेवाली मिट्टी भी नहीं दी जायगी। क्या येही आदर्श हैं कि जिनपर जनता चले? और यदि सम्राट् और उसके मंत्रिगण ऐसी कुनीतिसे चलने लगे, तो संपूर्ण जनताकी स्थिति कैसी होगी? इसलिये कुनीतिसे चलनेवाले इन धृतराष्ट्रपुत्र कौरवोंको साम्राज्य पदपरसे उतारना और उनके स्थानपर धर्ममर्यादासे चलनेवाले लोकसंमत राजपुरुषोंको

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अन्वय— हे मधुसूदन ! (मां) घ्नतः अपि एतान्, त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि, हन्तुं न इच्छामि, किं नु महीकृते ? ॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धार्तराष्ट्रान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात् ? एतान् आततायिनः हत्वा अस्मान् पापं एव आश्रयेत् ॥ ३६ ॥ तस्मात् स्वबांधवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुं वयं न अर्हाः। हे माधव ! हि स्वजनं हत्वा वयं कथं सुखिनः स्याम ? ॥ ३७ ॥

हे मधुसूदन ! यद्यपि ये मुझे मारने लग जांय, तो भी इनको, त्रैलोक्यके राज्यके लिये भी, मारनेकी इच्छा मैं नहीं करता; फिर तो भला पृथ्वीके राज्यके लिये इन्हें क्या मारना है ? ॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार कर हमारा क्या प्रिय होगा ? इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥ इस कारण अपने भाई इन कौरवोंको मारना हमें उचित नहीं है। हे माधव ! अपने ही संबंधि जनोंको मार कर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? ॥ ३७ ॥

को स्थापित करना उस समयके राष्ट्रीय नेताओंका महान राष्ट्रीय कार्य हुआ। इसलिये उस समयके लोगोंका धर्म हुआ था कि यह राष्ट्रकार्य करें और धर्मकी मर्यादा पुनः स्थापित करें। यदि कोई मनुष्य यह राष्ट्रकार्य न करते हुए अपने परिवार के अर्थात् अपने स्त्री, पुत्र, भाई, माता, पिता, दादा, आदिकों को सुख देनेके कार्यमेंही अपने आपको समर्पित करेगा, तो वह उसके लिये अधर्म होगा। विशेष उन्नत हुए और कार्याकार्य का विचार करनेवाले लोगोंको उचित है कि वे परिवारके मोहसे राष्ट्रकार्यमें विघ्न उत्पन्न न करें। अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंके सुखको अधिक मानकर राष्ट्रकार्यसे विमुख हुआ था। यही उस का अधर्म हुआ। इसी प्रवृत्तिसे वह आगे क्या कहता है देखिये—

(३५ – ३७) अर्जुन अपने स्वजनोंके मोहसे दीन होकर कहता है कि–" यद्यपि ये लोग मुझे मारने लगे तो भी मैं इनको नहीं मारूंगा। इनको मारनेसे निश्चयपूर्वक स्वर्गलोक, भूलोक और पाताललोकका राज्य प्राप्त होनेकी संभावना होने पर भी मैं इनको मारनेका विचार नहीं करूंगा। फिर केवल भूलोक के राज्यके लिये इनका वध नहीं करूंगा, यह क्या दुबारा कहना चाहिये ? ये कौरव अपने भाई हैं, इसलिये इनका वध करनेके पश्चात् हमें कदापि सुख प्राप्त नहीं होगा। ये आततायी हैं, यह सत्य है; तथापि इनके वधसे हमें पापही लगेगा। क्योंकि अपने संबंधियोंका वध करनेसे भला कौन कैसा सुखी हो सकता है ? "

आततायीका वध ।

आततायी का वध करनेके विषयमें शास्त्रकी

आज्ञा स्पष्ट है । स्मतिग्रंथोंमें कहा है—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैतान्षड् विद्यादाततायिनः ॥
शुक्रनीति

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन् ॥
अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥
उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा ।
आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥
भार्यारिक्थापहारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः ।
एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥
मनु० ८।३५०-३५३

"अग्निसे जलानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्रसे मारनेवाला, भूमि, स्त्री और धन छीननेवाला, शाप देनेवाला, अथर्वमंत्रोंसे मारक प्रयोग करने वाला, राजासे चुगली करनेवाला, स्त्रीका धन छीननेवाला, दूसरेका छिद्र ढूंढनेमें तत्पर, इत्यादि सभी आततायी समझने चाहियें । आततायी गुरु, बालक, वृद्ध, वा बहुश्रुत ब्राह्मण इनमेंसे कोई हो, जो आततायी होकर आवे, उसको विना विचारे ही मारना चाहिये । लोगोंको सामने वा एकान्तमें मारनेको तैयार हुए आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता, क्यों कि इसका क्रोध उसके क्रोध से हट जाता है ।"

आततायीका वध तत्काल करना चाहिये, ऐसी स्मृति शास्त्रकी आज्ञा है । तथापि अर्जुन कह रहा है कि, आततायी का वध करनेसे हमें पाप लगेगा !! साम्राज्यगद्दीपर आरूढ हुए कौरव सबके सब आततायी हैं, इस विषयमें अर्जुनको कोई संदेह नहीं था । वह स्वयं उनको 'आततायी' कहता है । आततायीका वध शास्त्रसे दूषित नहीं है, यह बात भी वह जानता था । परंतु आततायी हुए तो भी ये अपने संबंधी हैं, अतः रक्तका संबंध होनेसे इनका वध हमको नहीं करना चाहिये; अपने संबंधी लोग कितनी भी दुष्टता करते रहे, उनको दण्ड देना नहीं चाहिये, ऐसा अर्जुनका मत इस समय बन गया था !!

यदि अपने संबंधी कौरव न होते और उस समय साम्राज्यशासक कोई दूसरे विदेशी लोग होते, तो अर्जुन इस प्रकार न बोलता । उदाहरणार्थ मानलें कि हस्तिनापुर में इस समय किसी विदेशी असुर जातीका राज्य होता, तो अर्जुन उनसे युद्ध करता, और उनका नाश करता और उनसे अपना स्वराज्य प्राप्त करता ।

परंतु कौरव हुए अपने कुलके, देशके और रक्तके संबंधी इसलिये वह कहता है कि, 'निवातकवच जैसे विदेशी बादशहाओंका तो मैं वध करूंगा, परंतु अपने संबंधियोंका वध कैसा किया जासकता है ?' स्वदेशी और विदेशी राजाका अपराध समान ही क्यों न हो, अपने राजाका पक्षपात करना चाहिये, ऐसा इस समय अर्जुनका मत बन गया है । युद्ध तो परकीयोंसे ही करना चाहिये, स्वकीयोंसे युद्ध कैसा किया जाये !

वास्तवमें देखा जाय तो यदि विदेशी राजा प्रजाजनोंको सताने लगा, तो जैसा उसका प्रतिकार करना चाहिये; उसी प्रकार अपने देशका, अपनी जातिका, अपने कुलका अथवा अपना मित्र भी क्यों न हो, अथवा अपने रक्तका संबंध रखनेवाला भी राजा प्रजाजनोंको सताने लग जाय, तो उसका भी योग्य रीतिसे प्रतिकार करना चाहिये । पुत्रको विष देकर मारनेवाली माता भी आततायिनी होती है । इसी प्रकार अपने देशका स्वजातीय राजा भी क्रूर हुआ और प्रजाको सताने लगा, तो भी उसको वैसा ही दण्ड करना चाहिये, जैसा विदेशी राजाको दिया जाता है ।

स्वजन होनेसे उनकी क्षमा करनेका जो विचार अर्जुन कर रहा है वही उसकी भ्रान्ति है, वही मोह, वही अविद्या और वही अज्ञान है ।

मनुष्य क्रमशः उन्नत होता है और जैसा वह ऊपर चढता है वैसा हरएक सीढीपर उसका कर्तव्य भिन्न भिन्न होता है। ज्ञान, शौर्य तथा बल बढ जानेसे उसपर विशेष प्रकारसे उत्तर-दायित्व आता है, अतः अपने अन्दर गुणोंका विकास होनेपर उसको इस प्रकार पक्षपात करना कदापि उचित नहीं। मनुष्यकी क्रम उन्नति किस प्रकार होती है और उस कारण उनके कर्तव्य कैसे बढ जाते हैं, यह बात आगे बताये चित्रमें पाठक देख सकते हैं—
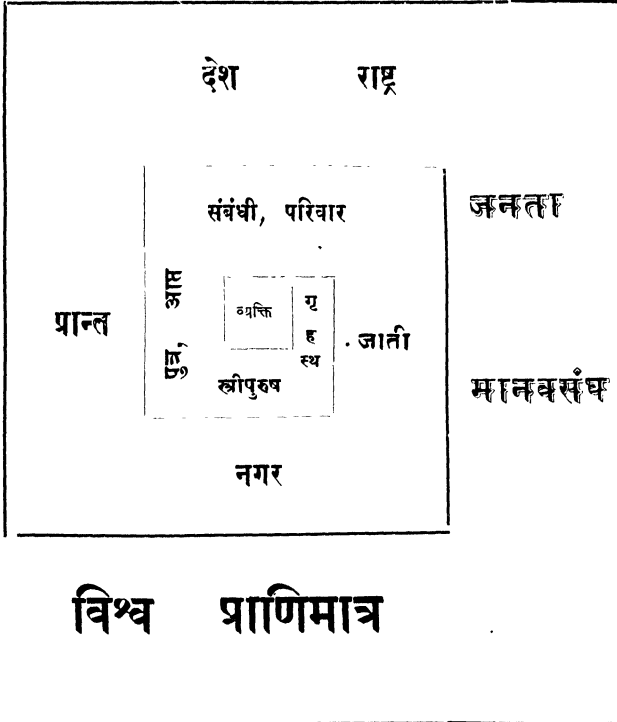
क्रम उन्नतिके साथ कार्यक्षेत्रका विस्तार बतानेवाला चित्र।

इस चित्रमें पाठक देख सकते हैं कि, व्यक्तिका सामर्थ्य बढनेके अनुसार उसके अधिकार और उसके कार्यक्षेत्रका विस्तार हो जाता है। यदि राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें कार्य करनेका अधिकारी वीर लोभ या मोहके वशमें होकर अपने गृहस्थके या अपने परिवारके मोहमें फंस जाय और पारिवारिक सुखके लिये राष्ट्रकार्यमें विघ्न करे अथवा कुटुंबपोषणके मोहसे राष्ट्रकार्य न करे, तो वह पापी बनेगा और गिर जायगा। अर्जुनकी यही अवस्था हो चुकी थी। मनुष्य अकेला और बिल-

कुल स्वतंत्र नहीं है, सब जगत्के साथ उसका सुदृढ संबंध है, अतः उसको उचित है कि वह अपनी व्यक्तिका विचार समष्टिके विचारके साथ करे और समष्टिके कार्यके लिये व्यक्तिका समर्पण अवश्य करे ।

पूर्व चित्रका विचार पाठक इस प्रकार करें । मनुष्य जिस क्रमसे उन्नत होगा उस क्रमसे उसपर समर्पण का भार अधिक आता है । जो व्यक्ति केवल शरीरधर्मसे जीवित रहती है वह पशुवत् है, कई पशुभी संघसे रहते हैं और संघके लिये मरते हैं । जन्मतः मनुष्य पशुसे उच्च होनेके हेतु उसको संघटित रहनाही चाहिये, अन्यथा उसकी अधोगति होगी । कुटुंब स्थितिमें मनुष्य अपने कुटुंबियोंके हितके लिये आत्मसमर्पण करता है । इससे उच्च होनेपर वह राष्ट्रकार्यके लिये आत्मसमर्पण करता है इससे भी उच्च होकर वह मनुष्य संपूर्ण जनसमाजके लिये आत्मसमर्पण करता है । अर्थात् उसका आत्मसमर्पणका पाठ कुटुंब

[ब्रह्माण्ड और व्यक्ति का संबंध बतानेवाला चित्र]

(परमेष्ठी)
अधिदैवत
जगत्
अग्नि
ब्रह्मणस्पति
इ०
इन्द्र
वायु
रुद्र
विश्वेदेव
मरुतः
इ०
त्वष्टा आदि
अन्यदेव
नारायण
वि-भूति
विश्व
अधिभूत
(प्राणिसमष्टि)
समाज
ब्राह्मण
क्षत्रिय
वैश्य
शूद्र
राष्ट्र
वैश्वानर
ज्ञानी
शूर
धनी
धारक
(सं-भूति)
ज्ञान
शौर्य
धन्यता
धारण
वैयक्तिक गुण
अध्यात्म (व्यष्टि)
व्यक्ति
(अ-सं-भूति) नर
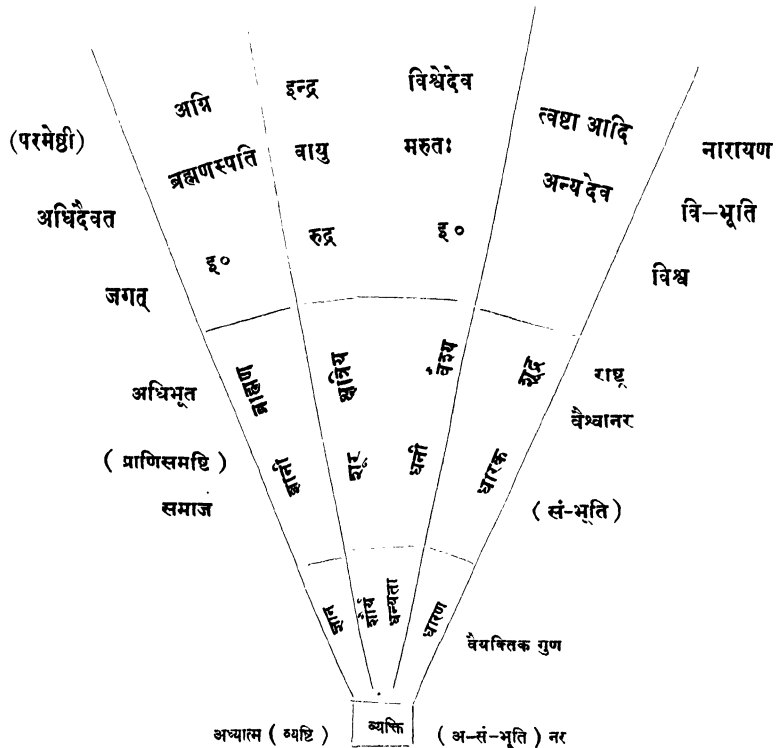
स्थितिमें प्रारंभ होता है। यही पाठ आगे विस्तृत करना होता है। जिसका कार्यक्षेत्र विस्तृत हुआ है यदि वह अपने कार्यक्षेत्रको संकुचित करने लगजाय तो वह पापी बनता है और गिर जाता है।

जिस मनुष्यने गृहस्थस्थितिका स्वीकार किया है वह यदि स्त्री पुत्रादिकोंके भरणपोषणका भार त्याग दे और उनकी पर्वाह न करे, तो वह पापी बनता है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों पर राष्ट्रके हितका भार है, अन्योंपर भी है, परंतु इनके पास ज्ञान, बल और धन अधिक होनेके कारण अन्योंकी अपेक्षा इनपर भार अधिक है। अर्जुन क्षत्रियवीर था, इसलिये धर्मकी व्यवस्था मर्यादाके अनुकूल रखनेका भार इसपर विशेष था। साम्राज्यवादी कौरव धर्ममर्यादाको तोड रहेथे और अपने स्वार्थके लिये धर्मका नाश करनेको तैयार थे। इस लिये उनको दण्ड देना अर्जुन जैसे वीरोंका आवश्यक कर्तव्य था। परंतु छोटेपरिवारके मोहमें फंस कर वह अपने विस्तृत कर्तव्यसे भ्रष्ट होने लगा है। यही इसका पाप है।

इस जगत्में कोई व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र नहीं है। सब एक दूसरेसे मिले हैं, संपूर्ण जगत्के स्थिर चर पदार्थ मिलकर संघटित होकर बना हुआ एक महापुरुष है। अर्थात् यह सब ब्रह्मांड मिलकर एकही विराट देह है और उसका एक अंश मैं हूं ऐसा मानकर मनुष्यको व्यवहार करना चाहिये।

यह व्यष्टिसमष्टिका संबंध बतानेवाला चित्र पूर्व पृष्ठपर देखिये—

इस चित्रको देखनेसे पाठकोंको पता लगजायगा कि कोई व्यक्ति बिलकुल स्वतंत्र नहीं है। विश्वका एक अंश व्यक्ति है। अतः व्यक्तिको उचित है कि वह अपनी शक्ति बढावे और उस का उपयोग संपूर्ण की भलाईके लिये करे।

विश्वका संकोच होकर व्यक्तिका रूप बना है, और व्यक्तिका परम विकास ही इसका जगत् रूप बनना है। इसविषयके उपनिषदोंके प्रमाण देखिये—

> नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां
> प्राणः प्राणाद्वायुः। अक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः ॥३०॥
> ऐ० उ० १। ४

" नासिका उत्पन्न हुई, उससे प्राण बना और प्राणसे वायु हुआ। आंख बने, आंखोंसे चक्षु और चक्षुसे आदित्य बन गया।" इसी प्रकार अन्य शक्तियोंसे विश्वकी अन्य शक्तियां बनी। अर्थात् व्यक्तिकी शक्तियोंका परम विकास यह सब विश्व है। इसी प्रकार सब विश्वका बीज एक व्यक्ति है, देखिये-

इस विषयमें प्रमाण देखिये—
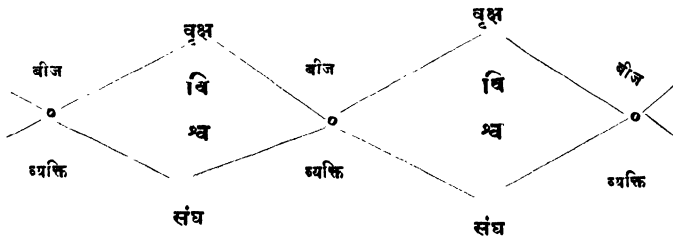
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदा—
दित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत् ।इ०।
ऐ० उ० २।४

"वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ, सूर्य चक्षु बनकर आंखमें प्रविष्ट हुआ।" इसी रीतिसे अन्य विश्वशक्तियोंसे वैयक्तिक सूक्ष्म शक्तियां बनीं। व्यक्ति एक सूक्ष्म बिंदु है और विश्वरूप उसके परमविकासकी अवस्था है,इसका चित्र पूर्व पृष्ठपर दिया है—

इसका ठीक विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता है कि विश्वमें व्यक्ति और व्यक्तिमें विश्व है। एक दूसरेसे पृथक् नहीं है। विश्वका बडापन व्यक्तिमें सूक्ष्म बनकर रहा है और व्यक्तिका सूक्ष्मपन विश्वके बडेपनमें परिणत होता है। बीजका वृक्ष और वृक्षका बीज होनेके अथवा वीर्यबिंदुका पुरुष और उससे फिर वीर्यबिंदु होनेके समानही यह बात है। यही बात इस प्रकार कही है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

तथा— भ० गी० ६।२९

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतस्थमात्मानम्० ॥ ईश उ० ६ ॥

'जो सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखता है।' वही तत्वतः विश्वको जानता है। जब यह दृष्टि उत्पन्न होगी तब उसमें कुटुंबका मोह या परिवारका लोभ कहां रहेगा ? वह तो समझेगा, कि व्यक्तिके दोषसे संपूर्ण समाज दूषित हो रहा है, इसलिये दोष करनेवालेको उस स्थानसे हटाना चाहिये और यदि दोष करनेवाला एक संघ होगा, तो उसको भी हटाना चाहिये। फिर वह दोष करनेवाली व्यक्ति या संघ अपने स्वजन हों या परकीय हों। स्वजन होनेपर भी हटाना चाहिये और परकीय होनेपरभी हटाना ही चाहिये। जिस प्रकार व्यक्तिके शरीर में सदोष अवयवको काट कर दूर करना पडता है, न काटा जाय तो सब शरीर विषमय हो जाता है, ठीक इस प्रकार दोष करनेवाली व्यक्ति या संघ संपूर्ण मानवी जनताको बिगाड देनेके कारण दण्ड देकर दूर करने योग्य है। आततायी हैं परंतु वे अपने हैं इसलिये क्षमा करना सर्वथा अयोग्य है। क्यों कि ये स्वजन भी संपूर्ण ब्रह्माण्ड देहके भाग हैं और यदि यह अवयव सडने लगा, तो उससे सब विश्वकी शान्ति बिगड जायगी। अतः कहा है कि—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।

"कुलके हितके लिये एक व्यक्तिको, ग्रामके हितके लिये एक कुलको, राष्ट्रके हितके लिये एक ग्रामको त्यागना चाहिये।" इसी प्रकार राष्ट्रके हितके लिये साम्राज्यका कुशासन करनेवाले कौरवोंको हटाना चाहिये। क्योंकि इन साम्राज्यवादियोंकी कुनीतिसे संपूर्ण विश्वमें अशान्ति फैल रही है।

विश्वरूप ।

जिस समय भगवद्गीताके उपदेशका प्रसंग था, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण 'विश्वरूप' थे और अर्जुन 'व्यक्तिरूप अथवा अपने परिवाररूप' था। परिवाररूप होनेसे अर्जुनके मनमें मोह हुआ जिस मोहका निराकरण विश्वरूप बने भगवान् श्रीकृष्णने किया। कई मनुष्य व्यक्तिरूप होते हैं, कई परिवाररूप, कई जातिरूप या राष्ट्ररूप, कई मानवसमाजरूप, कई प्राणिसमष्टिरूप और कई विश्वरूप होते हैं। इनके विचार, उच्चार और आचार विभिन्न होते हैं। जो व्यक्तिरूप हैं वे वैयक्तिक विचार करेंगे तो कोई दोष नहीं है; परंतु यदि राष्ट्ररूप बना हुआ मनुष्य पारिवारिक मोहमें फंस जांय, तो वह गिरता है। अर्जुन राष्ट्ररूप होनेकी अवस्थामें था. अतः पारिवारिक बननेसे उसको मोह हुआ, ऐसा कहा जाता है। यदि वह मानवसमाजरूप बननेका यत्न करता तो उसका मोह दूर हो जाता और वह ज्ञानी कहलाता।

जो मनुष्य 'परिवाररूप' होता है वह परिवार के मनुष्यके दुःखसे दुखी होता है, उसका दुःख दूर करनेके लिये यत्न करता है और उस कार्यके लिये स्वयं कष्ट भी भोगता है। इसी कारण यहां अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंको बचानेके लिये स्वयं राज्य त्याग कर भिक्षावृत्ति स्वीकारनेको तैयार हुआ था। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जैसा परमश्रेष्ठ आत्मा 'विश्वरूप' बननेके कारण विश्वकी स्थितिमें बिगाड करनेवालोंकी कभी उपेक्षा कर नहीं सकता, विश्वमें धर्मकी स्थिति सुरक्षित रखनेके लिये कटिबद्ध रहता है और उस कार्यको करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता है। इसकी दृष्टी विश्वरूप होनेके कारण अर्थात् अति विस्तृत होनेके कारण कर्तव्य करनेके समय इसको शोक और मोह कष्ट नहीं देते और यह कभी कर्तव्यभ्रष्ट भी नहीं होता।

श्रीमद्भगवद्गीताका संवाद उन दो आत्माओंमें हुआ है कि जिनमेंसे एकका अन्तःकरण पारिवारिक ममतामें मोहित हुआ है और दूसरेका आत्मा विश्वरूप स्थितिमें है।

अर्जुन अपने परिवारको राष्ट्रीय परिवारसे और जगत्के महापरिवारसे अलग समझने लगा, और राष्ट्रका और जगत्का कैसा भी अहित क्यों न हो जाय, मैं अपने परिवारको ही सुखी रखूंगा, मुझे सार्वभौमिक दृष्टिसे विचार करने की कोई जरूरत नहीं है, ऐसा बोलने लगा !! यही उसका बडा दोष इस समय होगया। ये 'स्वजन' हैं इसलिये ये 'आततायी' हैं, तथापि इनको सुरक्षित और सुखी रखना मेरा कर्तव्य है, यह अर्जुनका कथन स्पष्ट बताता है कि, उसकी दृष्टि अत्यंत संकुचित होगई थी। दृष्टिका संकोच होनेसे ही पाप होता है और उस समय यही पाप अर्जुनसे होने लगा था।

यहां अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको 'मधुसूदन' कहा है, इसका अर्थ 'मधु दैत्यको मारनेवाला' है। मधु दैत्य भगवान् श्रीकृष्णका स्वजन, संबंधी, स्वजातीय या स्वदेशीय भी नहीं था। यह विदेशी असुर था। यह कहकर अर्जुनने श्रीकृष्ण को बताया कि 'हे कृष्ण ! तुमने जो मधुदैत्यको मारा, वह कोई तुम्हारा स्वजन नहीं था। वैसा तो मैंने विदेशी शत्रु निवातकवचोंको भी मारा है।'

'कौरवोंका वध करनेकी बात इससे नहीं सिद्ध हो सकती, क्यों कि वे मेरे आप्त हैं। हे भगवन् ! यदि तुम कहोगे कि तुमने अपने मामा कंसको मारा है, वह भी उदाहरण मेरे योग्य नहीं है, क्यों कि एक तो भीष्मद्रोणके समान कंस का प्रेम तुमपर कभी नहीं था और दूसरी बात यह है कि तुम तो 'जनार्दन' (जन+अर्दन) हो अर्थात् सभी जनोंको मारना तुम्हारा धर्म है, उसमें तुम किसीको रखना और किसीको मारना ऐसा विचार ही नहीं करते हैं। जो सभीको मारनेवाले हैं, उन्होंने अपने मामाको मार दिया, तो उसमें विशेष क्या किया ? इसलिये तुम्हारा उदाहरण मेरे लिये लेने योग्य नहीं है। तीसरी बात यह है कि तुम 'माधव' (मा+धव) हो अर्थात् केवल लक्ष्मी अपने पास रखनेकी तुम्हारी इच्छा रहती है। जो लक्ष्मी-धनसंपत्ति-को अपने पास रखनेका इच्छुक होगा, वह मामाको या किसी संबंधीको मार देगा !! ऐश्वर्य या राज्यके लिये अपने पिताको भी लोग मार देते हैं। परंतु मैं वैसा नहीं हूं। मैंने तो इसी कारण त्रैलोक्यका भी राज्य मुझे नहीं चाहिये ऐसा तुम्हें स्पष्ट कहा है, क्यों कि यह लक्ष्मीका मोहही मनुष्यसे स्वजनवध जैसे घोर कर्म कराता है। अतः मैं कहता हूं कि मुझे राज्य, भोग या सुख भी नहीं चाहिये, और अपने सुखके लिये मैं इन आततायी कौरवोंको भी कभी नहीं मारूंगा।'

इस प्रकार अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको भी कुछ अंशमें चुभनेवाला भाषण किया और फिर कहने लगा—

(१०) कुलक्षय और मित्रद्रोह ।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अन्वय- यद्यपि एते लोभोपहतचेतसः कुलक्षयकृतं दोषं, मित्रद्रोहे च पातकं, न पश्यन्ति ॥ ३८ ॥ हे जनार्दन ! कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम् ॥ ३९ ॥

यद्यपि ये कौरव, लोभसे भ्रष्टचित्तहोनेके कारण, कुलके क्षय करनेसे होनेवाला दोष, और मित्रद्रोहका पातक, नहीं देखते हैं ॥३८॥ तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षयका दोष हमें देख पडता है, इस लिये हम इस पापसे निवृत्त होनेका विचार क्यों न सोचें ॥ ३९ ॥

भावार्थ- प्रतिपक्षीने यदि धर्म और अधर्मका विचार छोड दिया है, तो वह उसका दोष है; हमें वैसा दोष नहीं करना चाहिये और धर्ममर्यादाका विचार अवश्यही करना चाहिये ।

(३८ ३९) अर्जुन कहता है कि " यद्यपि ये कौरव लोभके कारण कुलक्षयसे उत्पन्न होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका पातक नहीं देखते हैं, तथापि उससे यह नहीं सिद्ध होता कि, हम पातकको न देखें और देखकर भी उससे निवृत्त होनेका उपाय न करें। " लोभी मनुष्य किसी भी बुरे कर्ममें दोष या पातक नहीं समझता, समयपर जितना चाहे बुरा कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है, अधिकार प्राप्त होनेपर अपने किये बुरे कर्मकोभी अच्छेसे अच्छा बतलानेकी चेष्टा करता है। यह तो साम्राज्यवादी अपने साम्राज्यकी रक्षाके लिये करते ही हैं। परंतु जो मनुष्य अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके इच्छुक हैं, उनको वैसा अन्याय करना उचित नहीं। उनकी दृष्टि तो आत्मशुद्धिकी ओर होनी चाहिये। अपने आचरणमें कौनसा दोष कैसा होता है इसकी परीक्षा उनको सदा करना उचित है। और जहां दोष और पापकी संभावना हो वहांसे उनको वह दोष दूर करनेका यत्न करना उचित है। कुलक्षय, मित्रद्रोह, पितृद्रोह, बंधुवध, गुरुहत्या, संतानोंका उच्छेद, सभ्यताका लोप ये सब पाप भयानक हैं। छोटीसी पृथ्वीके एक भागके राज्यवैभवके लिये क्या हम ये पाप करें? यदि स्वराज्य प्राप्तिके इच्छुक लोक स्वयं ये पातक करने लग जांय, तो फिर उनको अधिकारही क्या है कि, वे साम्राज्यशासकोंकी इन्ही दोषों और पातकोंके लिये निन्दा करें? दोनोंके पातक समानही होगये फिर एक पापियोंको हटाना और दूसरे पापियोंको उनके स्थानपर रखनेकी क्या आवश्यकता है? कौरवोंने कुछ पातक तो किये हैं, परंतु इस युद्धके करनेसे हमसे जितने पातक होंगे उतने तो उन्होंने निःसन्देह नहीं किये हैं। कुलक्षय, गुरुहत्या, मित्रद्रोह, बंधुवध, संतानोंका उच्छेद और इनके नाशसे होनेवाला सभ्यताका नाश हमसे होगा, यदि हम युद्ध करेंगे। इनमेंसे कौरवोंने क्या किया है, कौरवोंने ऐसा एक भी दोष नहीं किया है।

कौरवोंने हमारे (पाण्डवोंके) साथ अन्याय किया, एक स्त्रीकी अप्रतिष्ठा की, कुछ और ऐसे थोडेसे पातक भी किये; परंतु क्या हमसे होनेवाले इन पातकोंकी तुलना उनसे हो सकती है? यदि उनके थोडेसे पातकोंके कारण हमारे स्वजनोंको राज्यगद्दीसे हटाना है, तो उनसे अधिक पातक करनेके कारण हमारा राज्यपर हक कैसा सिद्ध हो सकता है?

दोनोंका दोष।

"हे कृष्ण! तुम कहोगे कि युद्धमें दोनों ओरके वीर एक दूसरेको मारेंगे, अतः पितृहत्या, गुरुहत्या, मित्रद्रोह आदि दोष दोनों ओर समान होंगे, इसमें कोई कौरवोंका दोष कम और पांडवोंका अधिक यह बात नहीं है। यह कथन ठीक है। दोष तो दोनों ओर समान होंगे ही। परंतु यहां प्रश्न होता है कि यदि ये इस युद्धमें दोष नहीं देखते हैं, तो यह उनका बर्ताव सिद्ध करता है कि लोभके कारण उनकी बुद्धि मारी गई है। हमारी बुद्धि तो वैसी मारी नहीं गई है और यदि हम इसमें दोष स्पष्ट देखते हैं, तो हम ऐसे भयानक दोषमय कर्मसे पीछे क्यों न हटें? किसीने लोभ या मोहसे बछडा मार दिया, तो दूसरेको जरूरही गायका वध करना चाहिये, ऐसी तो बात नहीं है। इसीलिये मैंने कहा कि, पृथ्वीके राज्यके लिये क्या, परंतु त्रिभुवनके राज्यके लिये भी मैं गुरुद्रोहादिक घोर पातक नहीं करूंगा।"

कांटेसे कांटा निकालना।

अर्जुनका यह कथन है। युक्तिवाद बडा योग्य है, परंतु एक कांटा शरीरमें चुभ गया है, वह बाहर नहीं निकल आता, इसलिये दूसरा कांटा फिर शरीर में घुसा करही पहिलेको निकालना पडता है। उस समय यह युक्तिवाद करना कि, भला एक कांटा तो पहिले ही शरीरमें घुसगया है, फिर और दूसरा शरीरमें क्यों डालदेते हैं, ठीक नहीं है। क्यों कि दूसरा कांटा शरीर में डालनेके बिना पहिला निकलेगाही नहीं, अतः दूसरा कांटा उपकारक और पहिला अपकारक समझा जाता है। इसी न्यायसे स्वराज्य प्राप्त करनेवालोंके द्वारा चलाया युद्ध साम्राज्यशाहीके दोषको दूर करनेके लिये अत्यंत आवश्यक और अपरिहार्य होनेके कारण निर्दोष है और उसी युद्धमें साम्राज्यशाही की ओरसे जो किया जाता है वह सदोष होता है। इसके अतिरिक्त सर्व साधारण नियम यह है कि जो लोग शासनाधिकारमें रहते हैं, उनके हाथमें अधिकार होनेके कारण वे ही अधिक दोष करते हैं, वैसा दोष उनसे कदापि नहीं हो सकता कि जिनके हाथमें अधिकार नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यदि माना जाय कि, इस स्वराज्यप्राप्तिके युद्धमें बंधुवधविषयक दोष और पातक दोनों ओर समान ही हैं, तो उसमें साम्राज्यवादी कौरवोंके पूर्वकालके सब पातक यदि मिलाये जांयगे, तो वे स्वराज्य प्राप्त करनेवाले पाण्डवोंके पापोंसे निःसंदेह अधिक हो जांयगे। अतः पाण्डव तुलनासेभी अधिक निर्दोषी सिद्ध होते हैं। इसलिये अर्जुनका यह युक्तिवाद अज्ञान से पूर्ण ही है।

और भी एक बात है वह यह कि पाण्डवोंने शान्तिकी इच्छासे केवल पांच ही ग्राम मांगे थे। इतनी अल्पसंतुष्टता! देखिये केवल युद्ध टालनेके लिये। पाण्डव आधे राज्यके स्वामी होकर केवल पांच ग्रामोंपर ही संतुष्ट होते हैं, और केवल शान्तिके लिये इतना स्वार्थत्याग करते हैं, इसका विचार करनेसे, इस युद्धका कोई दोष पाण्डवोंपर नहीं आता है। जो कुलक्षय का अथवा बन्धुवधका दोष है, वह केवल कौरवोंपर ही जाता है। "जो अधिकार से उन्मत्त होते हैं और न्याय्य बातें भी नहीं सुनते, उनपर सब दोष जाता है।" इस नियमानुसार युद्ध करके इतने वीरोंका वध करनेपर भी पाण्डव दोषी नहीं और कौरव ही इस वधके दोषी हैं। अतः अर्जुन का युक्तिवाद भ्रममूलक ही है।

अब आगे अर्जुन क्या कहता है देखिये—

११ कुलक्षयका परिणाम।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

अन्वय— कुलक्षये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति, उत धर्मे नष्टे अधर्मः कृत्स्नं कुलं अभिभवति ॥ ४० ॥ हे कृष्ण! अधर्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति। हे वार्ष्णेय! स्त्रीषु दुष्टासु वर्णसंकरः जायते ॥ ४१ ॥ संकरः कुलघ्नानां कुलस्य च नरकाय एव (भवति); हि एषां पितरः लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (सन्तः) पतन्ति ॥ ४२ ॥ कुलघ्नानां एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः शाश्वताः जातिधर्माः कुलधर्माः च उत्साद्यन्ते ॥ ४३ ॥

कुलका क्षय होनेसे सनातन अर्थात् परंपरासे चलनेवाले कुलधर्म नष्ट होते हैं, और कुलधर्म नष्ट होनेसे अधर्मका प्रभाव सब कुलपर होजाता है ॥ ४० ॥ हे कृष्ण! अधर्मसे सब कुल व्याप्त हुआ, तो कुलस्त्रियां दुराचारमें प्रवृत्त होती हैं। हे वृष्णिकुलोत्पन्न कृष्ण! स्त्रियां दोषयुक्त होनेसे वर्णसंकर होता है ॥ ४१ ॥ वर्णसंकर होते ही कुलघातकी पुरुष और उनका सब कुल नरकवासको प्राप्त होता है; और इनके पितर पिण्डप्रदान और जलतर्पण आदि क्रिया लुप्त होनेसे पतित होते हैं ॥ ४२ ॥ कुलका घात करनेवालोंके इन वर्णसंकर करनेवाले दोषोंसे पुरातन जातिधर्म और कुलधर्म लुप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

(४०—४५) युद्ध करनेके लिये प्रायः दोनों ओरकी सेनाओंमें तरुण लोक ही संमिलित होते हैं। 'आषोडशात्सप्ततिवर्षपर्यन्तं यौवनम्। (वात्स्यायनः)' सोलह वर्षसे सत्तर वर्षतक युवावस्था होती है और इसी अवस्थाके पुरुष युद्ध करनेके लिये रणभूमिपर उपस्थित होते हैं। भीष्म द्रोण जैसे अतिवृद्ध पुरुष भी कचित् युद्ध करते हैं, परंतु वह नियम नहीं है। अर्थात् युद्धसे जो मारे जाते हैं वे राष्ट्रके सत्व रूप तरुणही होते हैं। इसी कौरवपाण्डवोंके भारतीय युद्धमें दोनों ओरकी मिलकर १८ अक्षौहिणी सेना उपस्थित थी। अक्षौहिणीका प्रमाण यह है—

० ७ ८ १ २

अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः॥

अर्थात् गज २१८७०; रथ २१८७०; अश्व ६५६१०; मनुष्य १०९३५० सब मिलकर २१८७०० अक्षौहिणीकी संख्या होती है। इसमें प्रत्येक हाथीके साथ रहनेवाले दस बारह मनुष्य, प्रत्येक रथके साथ रहनेवाले बीस पचीस मनुष्य, घोडेके साथ

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अन्वय– हे जनार्दन ! उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां नरके नियतं वासः भवति, इति अनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥ अहो ! बत, महत्पापं कर्तुं वयं व्यवसिताः, यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुं उद्यताः ॥ ४५ ॥

हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट होते हैं, उन मनुष्योंका नरकमें निश्चयसे वास्तव्य होता है, ऐसा हम सुनते हैं ॥ ४४ ॥ ओ हो ! कितना बडा भारी पाप करनेके लिये हम सिद्ध हुए हैं, जो राज्यसुखकी लालसासे हम अपने भाइयोंको ही मारनेके लिये उद्यत हुए हैं ! ॥ ४५ ॥

भावार्थ—कुलके बडे पुरुषोंका वध होनेसे स्त्रियां दुराचार करती हैं, और दुराचारसे कुलका संपूर्ण सत्व नष्ट होता है, अतः कुलका घात करना बडा अनर्थ कारक है ॥

रहनेवाले दोतीन मनुष्य भी मिलाना उचित है। इनकी गिनती करनेसे अक्षौहिणीमें मनुष्य संख्या आठ दस लाख हो जाती है। महा अक्षौहिणीका प्रमाण १३२१२४९०० गिना है—

० ० २ ४ २ १ २ ३ १
खद्वयं निधिवेदाक्षिचन्द्राक्ष्यग्निहिमांशुभिः।
महाक्षौहिणी प्रोक्ता संख्यागणितकोविदैः॥

✓ महाभारतीय युद्धमें १८ अक्षौहिणी सैना थी। न्यूनसे न्यून भी गिनती की जाय तो कमसे कम ४० लाख छोटे और मोटे वीर इस युद्धमें संमिलित थे यह बात निश्चित है। ये ४० लाख वीर उस समयकी भारतीय जातीके परिपक्व फल थे, भारतीय जातीकी सब आशा इनमें इकट्ठी हुई थी। ये भारतीय सभ्यताकी जीवित मूर्त्तियां थे। भारतीय युद्धमें इनमेंसे गिनतीके दसपांच आदमी ही बचे। शेष सब काटे गये। इनके कट जानेसे भारतीय सभ्यता प्रायः नष्टसी होगई। इस युद्धके पश्चात् राष्ट्रमें कुछ बूढे, कुछ बालक और कुछ स्त्रियां बची थी और कुछ पुरुषार्थहीन पुरुष रहे होंगे। युद्धमें जखमी होकर कुछ पुरुष बचते हैं तो, वे हाथपांव कटजानेके कारण राष्ट्रमें निकम्मे होकर रहते हैं।

इस प्रकार महायुद्ध होनेसे राष्ट्रीय सभ्यता, जातीय परंपरा, और कुलपरंपरा टूट जाती है। और राष्ट्रकी दृष्टीसे क्या और जातीय दृष्टीसे क्या अनेक प्रकारकी हानियाँ होती हैं। इसी हानिका वर्णन अर्जुन कर रहा है। अर्जुन कहता है कि यदि हमने यह युद्ध किया, तो इस समयतक चली आई सब सभ्यता नष्ट हो जायगी। हमारी आर्य जातीने सहस्रों वर्षोंके प्रयत्नसे बनायी वैदिक संस्कृती लुप्त हो जायगी। युद्धके पश्चात् बचे हुए कुछ बूढे थोडी देरमें मर जांयगे और प्राचीन सभ्यताकी परंपराको बतानेवाला कोई मनुष्य इस जातीमें नहीं रहेगा।

जो बालक बचेंगे वे सभ्यतासे अनभिज्ञ होनेके कारण वे सर्वथा सभ्यताकी रक्षा करनेमें असमर्थ होंगे, और जब वे युवा बनेंगे तब उनकी स्थिति संस्कारहीनसी होगी। क्या उस समय वे आर्यसन्तान कहने योग्य रहेंगे ? कभी नहीं।

जो स्त्रियां बचेंगी, उनमें कुछ गर्भिणी होंगी, उनके बच्चोंपरभी आनुवंशिक शुद्ध आर्यत्वके संस्कार कौन डालेगा ? अतः वेभी संस्कारहीन

हो बनेंगे। जो तरुण युवतियां पति मरनेके कारण विधवाएं होगईं होंगी, उनमेंसे कुछ सती बन कर पतिके साथ जल जांयगी, शेष बची स्त्रियों में कुछ थोडी सतीत्वकी रक्षा करेंगी ऐसा मानने पर भी चालीस लाख तरुणोंकी सबकी सब स्त्रियां पतिव्रता धर्मसे रहेंगी और उनसे कोई बुरा आचरण नहीं होगा, ऐसा कहना कठिन है। क्योंकि यह तारुण्यका देहधर्म है और वह पूर्ण स्वाधीन रखना अति कठिन है। इस कारण उनसे व्यभिचार आदि कुपथका व्यवहार हो जायगा और उस कारण कुलकी शुद्धता मारी जायगी।

चालीस लाख वीरोंका संहार होनेसे जो विधवाएं पीछे रहेंगी, उनके व्यभिचार का पातक तो हम युद्ध करनेवालोंपर ही आवेगा। व्यभिचारसे कुलकी शुद्धता नष्ट होगी, कुलपरंपरासे चले आये सदाचार नष्ट हो जांयगे, और ऐसी प्रजा बचेगी कि जिनको पूर्वेतिहास के विषयमें कुछभी अभिमान नहीं और जिनको पुरातन प्रथाओंका थोडाभी ज्ञान नहीं है। जो स्त्रियां व्यभिचारके लिये प्रवृत्त हो जांयगी, वे तो स्ववर्णमें या स्वजातीमेंही व्यभिचार करेंगी, इस विषयमें कोई नियम नहीं होगा। क्योंकि अनाचारमें नियम किस प्रकार रह सकता है? यदि उनमें प्रति लोम व्यभिचार होगया, अर्थात् हीन वर्ण या हीन जाती अथवा हीन संस्कारोंके मनुष्योंसे व्यभिचार हो जाय, तो वह वर्णसंकरसे बिगडा हुआ कुल जीवित भी रहा, तथापि उसमें कुसंस्कारका बीज घुसनेके कारण, उससे सभ्यताकी इतनी हानि हो जायगी कि, वह किसी प्रकारभी फिर ठीक नहीं हो सकती।

वर्णसंकर से जातिकी जाती नष्ट हो जाती है। आज जो प्रत्येक कुलका अभिमान एक एक वीरमें है, वह पूर्ण रीतिसे नष्ट हो जायगा और आज जो हीन संस्कारके थोडेसे लोग दीख पडते हैं, उनकी ही संख्या देशभरमें बढ जायगी। अर्थात् इस युद्धसे हम आर्य जातिका और परंपरासे चली आई आर्य वैदिक सभ्यताका ही नाश कर रहे हैं!! इस युद्धसे लाभ होनेकी तो कोई आशा दीखतीही नहीं है। इसलिये युद्ध करना बडा भारी पाप है।

राज्य और सुख के लिये जातीका ही समूल नाश करना कदापि योग्य नहीं है, अतः मैं युद्ध नहीं करता, यह अर्जुनके कथन का आशय है।

जो युद्धका भयानक चित्र अर्जुनने अपने भाषणमें खींचा है, वह सत्य है, इसमें कोई संदेह नहीं है। हरएक महायुद्धमें ऐसा हुआही करता है। परंतु महायुद्ध ऐसे समय होते हैं कि, उससे पूर्व एक या अनेक पक्षोंके पातक बहुत ही इकट्ठे हुए होते हैं और उन पातकोंके कारण जनताके अन्तःकरणोंको ऐसी विचित्र गति प्राप्त हुई होती है, कि उस समय उन दोनों पक्षोंको युद्धसे कोई भी रोक नहीं सकता। अर्थात् युद्ध अपरिहार्य होते हैं। भारतीय युद्ध ऐसाही अपरिहार्य था, प्रयत्न करनेपर भी इसको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं हुआ। ये पातक केवल दुर्योधन के द्वाराही हुए ऐसी बात नहीं है, ये इसके पूर्वसे हो रहे थे, शन्तनुराजा का वृद्धावस्थामें द्वितीय विवाह करना, नवयुवतीके पुत्रको राज्याधिकारी निश्चित करना और सच्चे युवराजका अधिकार स्त्रीवशताके कारण छीना जाना, ये और ऐसे अनेक पातक इससे पूर्व हो चुके थे और क्रमशः हो रहे थे। मानो राज्याधिकारियोंको पातक करनेका अभ्यास हुआ था। राष्ट्रमें ऐसे पातक जमा होते हैं और वे राष्ट्रके मनपर कुसंस्कार डालते रहते हैं, ऐसे कुसंस्कार जमते जमते एक समय ऐसा आता है कि, जिस समय राष्ट्रीय मन अधिक कुसंस्कारोंका भार सहनेमें असमर्थ होजाता है, और थोडेसे निमित्तसे झगडा छिड जाता है, तथा युद्धकी अग्नि भडक उठती है। कोई संधि करने लगा, तो उसका भाषण दूसरा समझ ही नहीं सकता और जो जो प्रयत्न संधिके लिये किया जावे, वही युद्धकी अग्नि प्रदीप्त करनेके लिये ही कारण हो जाता है!!!

ऐसी अवस्थामें महायुद्ध अपरिहार्य होते हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अन्वय— यदि शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः अशस्त्रं अप्रतीकारं मां रणे हन्युः, तत् मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि ये शस्त्रधारी धृतराष्ट्रपुत्र, मुझ निःशस्त्र हुए और प्रतिकार न करनेवाले को इस रणक्षेत्रमें मार डालेंगे, तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा।४६।

इस समय यदि अर्जुन जैसा एकाद् वीर युद्धसे विमुख हुआ, तो उसके स्थानपर दूसरा खडा होजाता है और युद्ध होता ही है। अतः ऐसे समय अर्जुनके समान युद्धसे भाग जानेका निश्चय करना भी युक्त नहीं होता। क्यों कि वह समय ऐसा होता है कि एक वीरके भाग जानेसे या मर जानेसे युद्ध बंद होना सर्वथा असंभव होता है। युद्ध बंद उस समय होगा कि जब एक पक्ष पूरा कमजोर हो जाय अथवा दोनों पक्ष पूर्ण तया युद्ध करके थक जांय।

अर्जुन ने जो युद्धके भयानक परिणाम वर्णन किये वे सत्य हैं, परंतु युद्ध अपरिहार्य होनेके कारण इस समय अर्जुनको भागना ठीक नहीं था। अर्जुन रणभूमिसे संन्यास लेकर भागभी जाता तो युद्ध कभी बंद नहीं होता। यहां समय को न जानना अर्जुनका दोष है।

भारतीय युद्धके समय जैसा युद्ध अपरिहार्य हुआ था वैसाही परशुरामके समय भी युद्ध अपरिहार्यही हुआ था। उस समय भी सहस्रों क्षत्रिय कुलोंका संहार हुआ। भारतीय युद्धमें भी लाखों क्षत्रिय विनष्ट हुए। द्रोण, कृप, और अश्वत्थामा की बात छोड दी जाय, तो शेष प्रायः सबके सब क्षत्रियवीर ही थे। क्योंकि भारतीय युद्धके समय विशेषकर क्षत्रिय ही युद्ध करते थे। परंतु यदि राष्ट्रके हरएक व्यक्ति को युद्धदीक्षा लेनेका प्रसंग उत्पन्न हो जावे, तो सब लोगोंमें केवल एकही क्षात्रगुणका उत्कर्ष होता है और शान्त विचारशीलता, व्यापार कुशलता और कारीगरी ये ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रोंके गुण प्रायः दब जाते हैं। और इस प्रकार अन्य वर्णोंके दब जानेसे भी राष्ट्रपर आपत्ति ही आती है। यह भी एक प्रकार का वर्णसंकर समझिये अथवा वर्णनाश समझिये, महायुद्धके कारण हो जाता है। ब्राह्मण सदाके लिये क्षात्रकर्म करने लग जांय तो वह भी एक प्रकारसे वर्णसंकरही होजाता है। इसीप्रकार ब्राह्मणके वैश्यकर्म करनेसेभी उसके ब्राह्मणगुण न्यून होते हैं। इसकारण वर्णभ्रष्टता हो जाती है। दीर्घयुद्ध तथा महायुद्ध के कारण ये सब हानियां होती हैं। अर्जुन इन हानियोंका अनुभव कर रहा है, इस लिये वह युद्ध करनेसे निवृत्त होनेका निश्चय करता है।

यहां श्लोक ४१ में श्रीकृष्ण को 'वार्ष्णेय' अर्थात् 'वृष्णीके कुलमें उत्पन्न वीर' कहा है। इस शब्दसे अर्जुनने यहां यह सूचित किया है कि 'तुमभी तो वृष्णिकुलमें उत्पन्न हुए हो। क्या तुम स्वयं चाहते हैं कि, तुम्हारे कुलका ऐसा नाश हो जाय और वर्णसंकर होकर कुलका सत्त्व नष्ट हो जाय? जैसा तुम्हारा कुल तुम्हें प्रिय है, वैसाही हमारा कुल हमें प्रिय है। इसलिये मुझे ऐसा घोर कर्म करनेकी उत्तेजना देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है।'

इसप्रकार अर्जुन युद्धसे निवृत्त होता है और अन्तिम निश्चय कहता है—

(४६) युद्धसे होनेवाला भयानक कुलका नाश अर्जुनने देखा और उससे आगे आकर होनेवाले सभ्यताके नाशरूपी भयंकर परिणाम काभी उस ने विचार किया, और उसने युद्ध न करनेका ही अन्तिम निश्चय किया। स्वयं युद्ध न करनेपर भी

संजय उवाच— एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अन्वय— संख्ये एवं उक्त्वा, शोकसंविग्नमानसः, अर्जुनः, सशरं चापं विसृज्य, रथोपस्थे उपाविशत् ॥ ४७ ॥

संजय बोले— इस प्रकार रणभूमिमें भाषण कर, शोकसे व्याकुल चित्त होकर, अर्जुन, धनुष्यबाण छोडकर, रथमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

विपक्षी शस्त्र चलायेंगे तो अपनी मृत्यु होगी ही, इस विषयमें वह कहता है कि, " यदि मेरे शान्त और निर्वैर रहनेपर शत्रु मुझपर शस्त्र चलायेंगे, तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा।" क्योंकि जनता कहेगी कि, "अपनी ओरसे अर्जुनने तो शान्ति रखनेका पराकाष्ठाका यत्न किया; सामर्थ्य रहनेपरभी अहिंसाव्रतका अवलंबन किया, तो भी साम्राज्यवादी दुष्ट कौरवोंने अपनी पाशवी शक्तिकी घमंडमें न्याय और अन्याय न देखते हुए, निःशस्त्र और विरोध न करनेवालेका विना कारण वध किया! निःशस्त्र निर्वैर और अहिंसाशील मनुष्योंपर पाशवी बलसे आक्रमण करना और उनपर शस्त्र चलाना बडी अधोगतिको पंहुचे हुए साम्राज्यवादियोंका ही काम है। यह गिरा हुआ कार्य कोई अन्य नहीं कर सकता।" जनता ऐसा कहेगी और जनताके ये शब्द ही मेरे परम कल्याण होनेके सूचक हैं। यहां अर्जुनका भाषण समाप्त होता है।

(४७) संजयने धृतराष्ट्रसे यह सब वृत्तान्त कह कर सूचित किया कि " अर्जुन तो अपना धनुष्यबाण त्यागकर अपने रथमें दुःख करता हुआ बैठ गया।" अर्थात् युद्ध करनेका उसका संपूर्ण उत्साह नष्ट हुआ, उसकी वीरवृत्ती चली गई, उसका हृदय दुःखसे फट गया और वह पूर्ण रीतिसे उदास हो गया है।

संभव है कि यह वृत्तान्त सुनकर धृतराष्ट्रको मन ही मनमें अत्यंत आनंद हुआ होगा, क्योंकि संजयद्वारा उसने जो उपदेश पांडवोंको करवाया था, उसका जो परिणाम होना धृतराष्ट्रको अभीष्ट था, वही उसने संजयके मुखसे श्रवण किया।

इस प्रकार स्वराज्यप्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले पांडवके सन्मुख ऐन आशाके समय पूर्ण उदासीनता और साम्राज्यवादी कौरवके सामने अपना साम्राज्य कंटकरहित होकर चिरस्थायी होनेकी आशा खडी हुई! परंतु होनेवाला कुछ और ही होता है।

स्वराज्य का प्रयत्न करनेवालों की वारंवार होनेवाली निराशासे ही उनकी परमेश्वरपर भक्ति अधिक होने लगती है और उससे उनको नवशक्ति मिलती है और साम्राज्यवादियोंके विजयोंसेही उनकी घमंड बढ जानेके कारण उनका नाश उनके समीप आने लगता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए योगशास्त्र विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, अर्जुनविषादयोग नामक पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

विषादयोग का विचार।

'श्रीमद्भगवद्गीता' एक अपूर्व ग्रंथ है, इसी कारण इस की इतनी मान्यता इस देशमें और इस देशके बाहरके देशोंमें भी होगई है। हिंदूमात्रका प्रेम इस भगवद्गीतापर असीम है। पुराने विचार के बहुतसे हिंदू प्रतिदिन गीताका पाठ श्रद्धासे करते हैं। संस्कृतज्ञ हिंदू गीतापर विचार करते हैं और उसका प्रवचन करनेमें अपने आपको धन्य समझते हैं! शास्त्रज्ञानी हिंदू गीतापर टीका-टिप्पणी, रूपान्तर, भाषान्तर अथवा अन्य प्रकार का प्रबंध या निबंध लिखनेमें आनंद मानते हैं। इस कारण इस भारतवर्षमें इस 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर इतने ग्रंथ निर्माण हुए हैं कि, उन सबका संग्रह करना किसी साधारण मनुष्यकी शक्तिके बाहरका कार्य है। बहुतसे भारतीय कवियोंने इसका रूपान्तर अपने अपने प्रिय छंदमें किया है, सैंकडों भाषान्तर कर्ताओंने गद्यमें विविध भाषान्तर किये हैं, नवीन ग्रंथकार अपने मतकी पुष्टीके लिये श्रीमद्भगवद्गीताका प्रमाण दिये विना संतुष्ट नहीं होते। द्विजोंके भोजनके पूर्व उच्चारे जानेवाले संकल्पमें भी भगवद्गीताका एक श्लोक "अहं वैश्वानरो भूत्वा० (भ० गी० १५।१४)" संमिलित हुआ है, जिससे प्रायः ऐसा कहा जा सकता है कि, कोई द्विज भगवद्गीताका श्लोक पढनेके विना भोजन नहीं करता। श्रीमद्भगवद्गीताने इतना महत्त्व का स्थान हिंदूके हृदयमें प्राप्त किया है, इससे इस ग्रंथकी श्रेष्ठता ज्ञात हो सकती है।

भारतवर्षकी भाषाओंसे भिन्न विदेशकी कई भाषाओंमें भी उन देशोंके निवासियोंनेही साठ से अधिक भगवद्गीताके भाषान्तर स्वयंस्फूर्तिसे किये हैं। जिसका जो धर्मग्रंथ है, वह उसका प्रचार करनेकी इच्छासे दूसरी भाषाओंमें भाषान्तर करता है, यह बात स्वतंत्र है। इस प्रकार हिंदू लोगोंने गीताका रूपान्तर अन्यान्य देशभाषाओंमें किया होता, तो कोई विशेष बात नहीं होती; परंतु भगवद्गीताका भाषान्तर जो अन्यान्य भाषाओंमें हुआ है, वह हिंदुओंद्वारा नहीं हुआ है, परंतु अन्य देशके विद्वानोंने इस गीताकी विशेषताका अनुभव किया और स्वयंस्फूर्तिसेही इसके विचार अपनी अपनी भाषामें ग्रथित किये। ग्रंथकी योग्यता का निश्चय करनेमें यह एक बात जैसी 'श्रीमद्भगवद्गीता' के अनुकूल है, वैसी किसी अन्य धर्मग्रंथके विषयमें नहीं है।

इस प्रकार भारतवर्षीय और दूसरे देशके विद्वान् इस भगवद्गीताको विशेष माननीय मानते हैं, ऐसा कहा जाय तो वह कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसीलिये इसका विचार करनेका यत्न यहां किया जाता है। सबसे प्रथम इसके नामका विचार करना योग्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता का नाम।

गीता।

"श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्गीता, अथवा गीता" ये इसके नाम सबके मुखमें स्थिर हो चुके हैं। इन नामोंका अर्थ 'भगवान् का गीत' है। साक्षात् भगवान् के मुखारविन्दसे इसके प्रकट होनेके कारण इसका महत्त्व विशेष है, यह बात हरएक मान सकता है, अर्थात् इस विषयमें किसीका विरोध नहीं हो सकता। क्यों कि श्रीकृष्णभगवान्ने अर्जुनको यह उपदेश किया, यह बात सबही मानते हैं। 'धर्मसंस्थापना' करनेके लिये श्रीकृष्ण भगवान् ने जन्म लिया था, और जो धर्म उन्होंने कहा और आचरण करके दिखाया वही धर्म इस 'गीता' में कहा है। भगवान् श्रीकृष्णने जिस मानवी धर्मका उपदेश किया अथवा धर्मतत्त्वोंका गायन किया, वही "श्रीमद्भगवद्गीता अथवा भगवद्गीता" है। यह नामही इस उपदेशके

भगवान्के मुखसे आनेकी बात सूचित करता है, और इसलिये भक्तका आत्मविश्वास बढाता है कि, यदि मैं इस उपदेशके अनुसार चलूं तो निःसन्देह मेरा बेडा पार हो जायगा; क्योंकि,इस उपदेशके अनुसार चलनेका अर्थही यह है कि भगवान्के आदेशके अनुसार चलना।

'गीता' शब्दका अर्थ 'गाई गई' है। इस समय तक अनेक गीत गाये गये हैं, परंतु 'गीता' शब्द सबसे प्रथम इस श्रीमद्भगवद्गीता के लिये प्रयुक्त हुआ, क्योंकि इसको देखकर लोगोंका यह निश्चय होचुका कि, यदि कोई सच्चा मानवधर्मका गीत गाया गया हो, तो वह यही है। इसके समान दूसरा कोई गीत नहीं है। जैसा कहते हैं कि इस सुपुत्रको जन्म देनेसे यह माता 'माता' बनी, अर्थात् अन्य माताएं पुत्रका प्रसव करने वाली तो निः सन्देह होती हैं, परंतु सुपुत्रके कारणही माताका नाम यशस्वी होता है, उसी प्रकार गीत तो बहुतेरे हैं, जो शब्द छन्दमें बद्ध होते हैं वे सब गीत ही हैं। परंतु इस गीतासे मनुष्य परम धन्य हो सकता है, इसलिये यही सच्चा गीत है. अतः इसका नाम 'गीता' प्रसिद्ध हुआ। और सबको यही नाम अत्यंत प्रिय हुआ। भगवद्गीता के पश्चात् सैंकडों गीताएं बनीं। रामगीता, अनुगीता,आदि सैंकडों गीताग्रंथ हैं, परंतु जनता ने 'गीता' नाम श्रीमद्भगवद्गीता का ही सच्चा नाम समझा है, अतः 'गीता' शब्दसे किसी अन्य गीताका बोध नहीं होता है, केवल इस भगवद्गीता का ही बोध होता है।

इस गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तका संकल्प इस प्रकार रहता है—

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे [पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽ] ध्यायः ॥ १५ ॥

इसमें आये " श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद्, ब्रह्म विद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद " इन पांच शब्दोंमेंसे कोई एक नाम या इनमेंसे हरएक नाम इस ग्रंथका हो सकता है। इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्गीता या गीता' होनेके विषयमें इसके पूर्व कहा ही है। उसी प्रकार इसका नाम 'उपनिषद्' भी है, सभी जानते हैं कि यह गीता उपनिषदोंका सार है—

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

" संपूर्ण उपनिषद् रूपी जितनी गौवें हैं, उनका सारभूत यह दूध श्रीकृष्ण भगवान् ने निचोडा है, अर्जुन नामक बुद्धिमान् बछडा उस दूधका सेवन करता है। इस प्रकार यह उपनिषद्का सार होनेसे उपनिषद् ही है। अतः भगवद्गीताका नाम उपनिषद् भी हो सकता है। यह 'उपनिषद्' का अर्थ '(उप) समीप (नि) निःसंदेह (सद्) पहुंचानेवाला ज्ञान ' है। इस गीतामें कहा हुआ ज्ञान मनुष्यको निःसंदेह ईश्वरके समीप जाकर विराजमान होनेका अधिकारी बना सकता है, इस लिये इसका नाम 'उपनिषद्' है।

इस गीताका नाम 'ब्रह्मविद्या' भी है। 'ब्रह्म' नाम अति महती शक्ति का है, उस महान् शक्तिका ज्ञान (विद्या) जानना और अपनी शक्ति बढाना इस ब्रह्मविद्याका उद्देश्य है। हरएक मनुष्य अपने अल्पत्वका अनुभव करता ही है, उसको इस ब्रह्मविद्याका ज्ञान होनेसे अपनी शक्तिका विकास किस प्रकार किया जा सकता है, इसका ज्ञान हो सकता है। और इस ज्ञानके सहारे साधक अपनी शक्ति अतिविस्तृत कर सकता है।

इस गीता का नाम 'योग शास्त्र' भी है। इस गीतामें अठारह योग कहे हैं। प्रत्येक अध्यायमें एक एक योग कहा है। सब अठारह योग मिलकर गीताका योगशास्त्र होता है, इस विषयमें आगे विस्तारपूर्वक कहा जायगा, अतः यहां इस विषयमें इतनाही कहना पर्याप्त है।

इस ग्रंथका नाम 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' भी है। यह पूर्ण पुरुष और साधक का संवाद है। श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुष हैं और अर्जुन (अर्जन) प्राप्त करनेवाला साधक है। पूर्ण पुरुषसे पूर्ण बननेके साधनका ज्ञान यह साधक प्राप्त करनेकी

इच्छा करता है, और ज्ञान प्राप्त होते ही वह वैसाही आचरण करता है। इसमें एक साधक का इतिहास होनेसे हरएक साधकको वह अत्यंत उपयोगी हो सकता है। यदि मनुष्यमात्र साधक माना जाय, तो यह संवाद मनुष्यमात्रको मार्गदर्शक होना संभव है।

ये पांच नाम गीताके अध्यायके अन्तिम संकल्पमें हैं। इनमें 'योगशास्त्र' यह एक नाम है। गीतामें 'योग' नाम 'कर्मयोग' के लिये आ गया है ऐसा कह कर स्वर्गीय श्री० लो० बाल गंगाधर तिलक महोदयजीने अपनी भगवद्गीताकी की टीकाको 'कर्मयोगशास्त्र' नाम दिया है। इसीको आपने 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य' भी कहा है। श्रीमद्भगवद्गीता का रहस्य 'कर्मयोग' ही है, इसमें किसीका विरोध नहीं हो सकता। कर्म किस प्रकार करनेसे मनुष्यको बंधन नहीं होगा, इसका अपूर्व विवेचन इस गीतामें है, इस लिये इसका नाम 'कर्मयोग का शास्त्र' योग्यही है।

इसके पश्चात् श्री० महात्मा मोहनदास कर्मचंद गांधी जीने श्रीमद्भगवद्गीताका अनुवाद गुजराती भाषामें प्रसिद्ध किया, जिसका नाम उन्होंने 'अनासक्तियोग' रखा है। इस विषयमें वे स्वयं इस प्रकार लिखते हैं—

"गीताका आशय तो आत्मार्थी को आत्मदर्शन का अद्वितीय उपाय बताना है। जो वस्तु हिंदुधर्ममें यत्रतत्र बिखरे हुए रूपमें पाई जाती है उसे गीताने अनेक रूपमें...भली भाँती सिद्ध की है। कर्मफलत्यागही वह अद्वितीय उपाय है।... जहां देह है वहां कर्म तो है हि।...पर कर्ममात्रमें कुछ न कुछ दोष तो रहता ही है। और मुक्ति तो निर्दोषको ही मिल सकती है। तो फिर कर्मबंधनसे अर्थात् दोष स्पर्शसे कैसे छुटा जाय? गीताजीने निश्चयात्मक शब्दोंमें इसका जवाब यों दिया है- निष्काम कर्मसे। यथार्थकर्म करके। कर्मफलको त्याग कर।... ..." "शारीरिक या मानसिक कोईभी चेष्टा कर्म है, तो फिर कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधमुक्त कैसे रहे? यह पहेली गीताजीमें जिस तरह बूझीगई है मैं नहीं जानता कि दूसरे किसी एकभी धर्मग्रंथमें यह इस तरह बूझी गई हो। गीता कहती है,-"फलासक्ति छोडो और कर्म करो," "निराशी बनो और कर्म करो," "निष्काम बनकर कर्म करो।" यह गीताजी की कभी न भूलने योग्य ध्वनि है, कर्म छोडनेवाला गिरता है और कर्म करते हुए उसके फलको छोडनेवाला चढता है।"

यह गीता की विशेषता है अतः 'अनासक्तियोग' यह नाम महात्मा गांधीजीने इस गीता को दिया है वह सर्वथा योग्य है क्योंकि गीताका यही आशय है।

जिस प्रकार लोकमान्य तिलकजीने गीताको 'कर्मयोग शास्त्र' नाम दिया और महात्मा गांधीजीने इसीको 'अनासक्तियोग' नाम दिया, उस प्रकारके भिन्नभिन्न नाम गीताको देनेकी परंपरा पहिलेसे नहीं चली आयी है। यह बात नवीन है। श्रीमच्छंकराचार्यजीसे लेकर जो जो टीकाकार हुए हैं, उनमेंसे किसीने भी दूसरा नाम देनेका यत्न नहीं किया। श्रीमच्छंकराचार्य भूमिकामें लिखते हैं—

दीर्घेण कालेन ··· प्रवर्धमाने अधर्मे जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता ··· विष्णुः ··· कृष्णः किल संबभूव। ··· सः ··· लोकानुग्रहं कुर्वन् ··· वैदिकं धर्मद्वयमर्जुनाय ··· उपदिदेश। तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबंध॥ तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं ··· । तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निश्रेयसं ··· ॥

—गीताभाष्यम्।

"बहुत समय जानेके पश्चात्...अधर्म बढनेके अनंतर जगत् की सुस्थिति करनेकी इच्छा करनेवाले आदिस्रष्टा ··· विष्णुः ··· कृष्ण रूपसे उत्पन्न हुए। ··· उसीने ··· जनताके ऊपर कृपा करते हुए ··· वेदके दोनों—प्रवृत्ति निवृत्तिरूप — धर्मोंका उपदेश अर्जुनको ··· किया। भगवान् ने जैसा उपदेश किया वैसाही उस धर्मको वेदव्यासजीने ···

गीता नामक सातसौ श्लोकोंसे ग्रथित किया। यह गीताशास्त्र मानो समस्त वेदोंका सार ही है...। उस गीताशास्त्रका संक्षेपसे प्रयोजन निश्रेयस है...।"

इसप्रकार श्रीमच्छंकराचार्यजीने इसका नाम "गीताशास्त्र" माना है। कोई अन्य नाम माना नहीं है और न दूसरा नाम दिया है।

श्रीमधुसूदनसरस्वतीभी इसको "गीताशास्त्र" ही कहते हैं देखिये—

परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम्॥ २॥
एतत्सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम्॥ ४०॥
—मधुसूदनसरस्वती टीका.

श्रीधरस्वामीभी वही नाम स्वीकारते हैं—

यथामति समालोच्य गीताव्याख्यां समारभे॥ ३॥
गीता व्याख्यायते यस्याः पाठमात्रप्रयत्नतः॥ ४॥
श्रीधरस्वामी-टीका.

इसप्रकार ये दोनों सुप्रसिद्ध टीकाकार इस ग्रंथका नाम 'गीता' इतनाही स्वीकारते हैं और कोई नया नाम नहीं देते। इसी प्रकार जो जो प्राचीन टीकाएं हैं उन सबमें 'गीता' ही नाम स्वीकृत किया है।

अर्थात् 'गीता' इतनाही नाम इस ग्रंथका सर्वसंमत और सर्वप्रसिद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता अथवा भगवद्गीता ये नामभी हैं, परंतु जितना 'गीता' शब्द प्रचलित है उतने ये भी प्रचलित नहीं हैं। अन्य नाम जो ऊपर दिये हैं अर्थात् 'उपनिषद्, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' ये कभी प्रचलित नहीं हुए थे। वास्तविक देखा जाय तो 'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्' इतना इसका नाम होना योग्य है, परंतु श्रीमच्छंकराचार्य जैसे आद्य भाष्यकारनेभी इतना लंबायमान नाम स्वीकारा नहीं है, अर्थात् उनके समयमें भी 'गीता' इतनाही नाम सर्वसंमत हुआ था।

लो० तिलक इसको 'कर्मयोगशास्त्र' कहते हैं, और महात्मा गांधीजी इसको 'अनासक्तियोग' कहते हैं। गीतामें कर्मयोग कहा है और वह कर्म अनासक्तिसे करने की युक्ति इसी ग्रंथमें कही है, अतः ये दोनों नाम नये होनेपरभी योग्य हैं। परंतु ये साधक का मार्ग बतानेवाले नाम हैं। साधक कर्म करे और वह अनासक्तिसे कर्म करे, यह भाव इन नामोंसे सूचित होता है। ऐसे साधकका मार्ग बतानेवाले ग्रंथके नाम बहुतही थोडे होंगे। प्रायः ग्रंथोंके नाम साध्यका निर्देश करनेवाले होते हैं। यहां विचारणीय बात यह है कि क्या श्रीमद्भगवद्गीताके ऐसे कोई नाम हैं कि जो साध्यका निर्देश करनेवाले माने जा सकते हैं? पूर्वोक्त संकल्पमें जो 'उपनिषद् और ब्रह्मविद्या' ये दो नाम हैं वे कुछ अंशसे ब्रह्मरूपी साध्यकी सूचना देते हैं। 'योगशास्त्र' यह नाम 'कर्मयोगशास्त्र' माननेपर साधकका मार्ग बताता है, यह सत्य है; परंतु गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ 'कर्मयोग' ही है, यह बात सत्य नहीं है। 'समत्वं योग उच्यते (भ० गी० २।४८)' समत्वका नाम योग है, ऐसी योग की व्याख्या स्वयं गीतामें बताई है, यह गीताका स्वतंत्र सिद्धान्त है, इसलिये गीताके अध्याय समाप्तिके संकल्पके 'योगशास्त्र' शब्दका अर्थ 'समताशास्त्र' (Science of Equanimity) ऐसा मानना योग्य है। गीताका "समता" ही साध्य है। ईश्वरप्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति, आदिकाभी यही अर्थ है कि परिघको छोडकर मध्य केन्द्रमें जाना और वहांका समत्व प्राप्त करना। यह समत्व व्यक्तिके मनमें स्थापन होना चाहिये, उसके उच्चार और आचारमें प्रदर्शित होना चाहिये, यह समत्व समाजमें, राष्ट्रमें और जगत्में स्थापन होना चाहिये। संपूर्ण मानवी समाज यदि किसी बातके लिये तडफ रहा है तो इसी समताके लिये तडफ रहा है। यह समत्व कैसा प्राप्त किया जा सकता है, इसका ज्ञान भगवद्गीताने उत्तम रीतिसे दर्शा दिया है, अर्थात् भगवद्गीताका यदि कोई अन्वर्थक नाम हो सकता है, तो 'समताशास्त्र' ही है और इसी अर्थका 'योगशास्त्र' यह शब्द अध्यायकी समाप्तिके संकल्पमें आया है। वहां योगका अर्थ 'कर्मयोग' नहीं है। क्योंकि गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ

समत्व है ऐसा स्वयं गीतारचयिताने कहा है। समता आसक्तिरहित कुशलतापूर्वक किये कर्मसे स्थापन हो सकती है, यह बात निःसंदेह है, परंतु अनासक्तियुक्त कर्मकौशलरूप कर्मयोग (भ. गी. २।५०) साधन है और उसका साध्य 'समता' है।

'योग' शब्दका मूल अर्थ 'जोडना' है, किसीसे अपना संबंध जोडनेका नाम योग है। अर्जुनने अपना संबंध सबसे पहिले 'विषाद' (खेद) के साथ जोडा था। इसीलिये प्रथम अध्यायका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' हुआ है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अपना संबंध 'पुरुषोत्तम (ईश्वर)' से जोडेगा, तो वह उसका 'पुरुषोत्तमयोग' होगा। मनुष्यको खेदसे मुक्त करके उसका संबंध 'उत्तम पुरुष' से कराना भगवद्गीता का साध्य है। इसमें बताया है कि एक मनुष्य जो प्रारंभमें खेदसे युक्त था, वही गीतोपदेश श्रवण करते करते 'उत्तम पुरुष' से युक्त होकर 'नरका नारायण' बननेका अधिकारी हुआ। नरका नारायण, पुरुषका पुरुषोत्तम, बनाना गीता का ध्येय है। इसलिये इसका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' अथवा 'नारायणयोग' भी हो सकता है। इसके १५ वे अध्यायमें 'पुरुषोत्तमयोग' कहा है, यही अध्याय सब अध्यायोंमें मुख्य है, क्यों कि इसमें मनुष्यका अन्तिम साध्य बताया है, अन्य अध्यायोंमें जो कहा है वह इस एकमात्र साध्यके विविध साधनही हैं।

अर्थात् हमारे मतसे गीताका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' है, यह नाम ग्रंथोकभी है, और गीतामें जो जो उपाय कहे हैं वे सबके सब इसी साध्यके साधनरूप हैं। यदि दूसरे किसी नामकी कल्पना करनी है तो 'समतायोग'का नाम उसके बाद ध्यानमें आसकता है यह नामभी ग्रंथोक्त हीहै।

"योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
(भ० गी०६।३३)"

"आपने जो समत्वरूपी योग कहा है" यहां साम्ययोग शब्दही प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार जगत् में समता और शान्ति स्थापन करनेके लिये ही गीता कही गई है। यहां कई ऐसी शंका करेंगे कि यह गीता तो युद्धभूमिपर कही गई है और जो युद्ध न करनेका निश्चय कर रहा था उसीसे अन्तमें युद्ध कराया है, अतः यह गीता युद्ध करानेवाली है और समता बढानेवाली नहीं है। यह शंका विचार करनेके पूर्व सत्य प्रतीत होती है, परंतु थोडासा विचार करनेपर यह शंका व्यर्थ है ऐसाही प्रतीत होगा। जो युद्ध श्रीकृष्णभगवान् ने अर्जुनसे करवाया वह समता स्थापन करनेके लिये करना अपरिहार्य हुआ था। कौरवोंने विषमता उत्पन्न की थी; वे विषमता के लिये अपनी शक्ति लगा रहे थे, समझानेपर भी वे समझनेकी अवस्थामें नहीं आये, अतः यदि कौरवोंको विषम पथपर से हटाना है तो युद्धके लिये कमर कसना अत्यंत आवश्यक हुआ। अर्थात् भारतीय युद्ध लूटमार के लिये नहीं हुआ था किंतु शत्रुकी लूटमारकी वृत्तिको रोककर जगत्की विषमता दूर करनेके लिये और समताकी स्थापनाके लिये हुआ था। यही कारण है कि युद्धभूमिपर यह 'समताका संदेश' भगवान्ने कहा और अर्जुनके मिषसे जगत्को सुनाया है। ता कि आगेकी जनता जगत् में समता स्थापन करनेका यत्न करे।

अध्यायोंके नामोंका विचार।

गीताके नामके विषयमें इतना कहनेके पश्चात् अब हम गीताके अध्यायोंके नामोंका विचार करते हैं। इन नामोंका विचार करनेके समय एक बात प्रमुखतासे सामने आती है वह यह है कि, ये अध्यायों के नाम हरएक टीकामें भिन्न भिन्न पाये जाते हैं। गीता सर्वमान्य ग्रंथ है इस लिये उसके अक्षर अक्षर की सुरक्षा रखना उसके अनुयायियोंका कर्तव्य है, परंतु अध्यायोंके नामोंके विषयमें बडी शिथिलता दिखाई देती है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये हम कई टीकाकारोंने दिये हुए अध्यायोंके नाम यहां निम्नदर्शित कोष्टकमें देते हैं, इनको देखनेसे पाठकोंको पता

लग जायगा, कि एकहि टीकाकारके ग्रंथमें भी अध्यायोंके नाम मूलमें और टीकामें भिन्न भिन्न दिये हैं! देखिये ये हैं कोष्टक-- [इनमें श्री० शंकराचार्यके समान जो नाम हैं वहां (—) ऐसा चिन्ह है और जहां नाम दिया नहीं वहां (०) ऐसा चिन्ह किया है।]

श्रीमच्छंकराचार्य. मूलग्रंथ	भाष्य	म० वि. प्र. लिमये आचार्य	मूल	मधुसूदनस०	श्रीधरस्वामी	गीतासंग्रह.
१ अर्जुनविषादयोगः	०	--	१ —	०	०	१ —
२ सांख्ययोगः	०	--	२ --	सर्वगीतार्थसूत्रणं	०	२ --
३ कर्मयोगः	—	--	३ —	--	०	३ --
४ ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः	--	—	४ ब्रह्मार्पणयोगः	ब्रह्मार्पणयोगः	ज्ञानयोगः	४ ज्ञानविभागयोगः
५ संन्यासयोगः	--	—	५ --	स्वस्वरूपपरिज्ञानं	—	५ —
६ ध्यानयोगः	--	—	६ आत्मसंयमयोगः	अध्यात्मयोगः	अध्यात्म०	६ अध्यात्मयोगः
७ ज्ञानविज्ञानयोगः	--	—	७ ज्ञानयोगः	ज्ञेयध्येयप्रतिपाद्यतत्त्व-ब्रह्मनिरूपणं नाम.	—	७ ज्ञानयोगः
८ ब्रह्माक्षरनिर्देशः	--	—	८ अक्षरपरब्रह्मयोगः	अक्षरपरब्रह्मविवरणं.	महापुरुषयोगः	८ अक्षरब्रह्मयोगः
९ राजविद्याराजगुह्ययोगः	--	—	९ —	—	—	९ —
१० विभूतियोगः	--	—	१० —	—	—	१० —
११ विश्वरूपदर्शनं नाम	--	—	११ —	—	--	११ —
१२ भक्तियोगः	--	—	१२ --	--	--	१२ —
१३ प्रकृतिपुरुषविवेकयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगः	--	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकः	--	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः
१४ गुणत्रयविभागयोगः	--	—	१४ --	--	--	१४ —
१५ पुरुषोत्तमयोगः	--	—	१५ --	--	--	१५ पुराणपुरुषोत्तमयोगः
१६ दैवासुरसंपद्विभागयोगः	--	—	१६ --	--	—	१६ —
१७ श्रद्धात्रयविभागयोगः	--	—	१७ —	-- (विवरणं)	-- (विवरणं)	१७ —
१८ मोक्षसंन्यासयोगः	—	—	१८ संन्यासयोगः	-- (प्रतिपादनं)	मोक्षयोगः	१८ संन्यासयोगः
[अष्टेकर—मुद्रित.]		(श्रीमच्छंकराचार्य जीके समान)		[आनंदाश्रम-मुद्रित]		[अष्टेकर-मुद्रित]

	लो० बा. गं. तिलक. मूल.	लो० बा. गं. तिलक. अर्थ	दामोदर सांवळाराम मुद्रित गीतापंचरत्न सार्थ (मराठी)	म० गांधीजी. (गुजराती)	निर्णयसागरमुद्रित.
१	—	—	—	—	—
२	—	—	—	—	—
३	—	—	—	—	—
४	—	—	ब्रह्मार्पणयोगः	—	कर्मब्रह्मार्पणयोगः
५	—	—	संन्यासयोगः	कर्मसंन्यासयोग.	कर्मसंन्यासयोगः
६	अध्यात्मयोगः	ध्यानयोग	आत्मसंयमयोगः	—	आत्मसंयमयोगः
७	—	—	ज्ञानयोगः	—	—
८	अक्षरब्रह्मयोग	अक्षरब्रह्मयोगः	अक्षरब्रह्मयोगः	अक्षरब्रह्मयोग.	अक्षरब्रह्मयोगः
९	—	—	—	—	—
१०	—	—	—	—	—
११	—	विश्वरूपदर्शनयोग	— (नाम) — (योगः)	विश्वरूपदर्शनयोग.	विश्वरूपदर्शनयोगः
१२	—	—	—	—	—
१३	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग.	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग.	प्रकृतिपुरुषनिर्देशयोगः
१४	—	—	—	—	—
१५	—	—	—	—	—
१६	—	—	सुरासुरसंपत्तियोगः	—	—
१७	—	—	—	—	—
१८	—	—	संन्यासयोगः	संन्यासयोग.	संन्यासयोगः
	(प्रथमवार मुद्रित-मराठी) (तृतीयवार हिंदी)		(इंदुप्रकाशमुद्रित)	(नवजीवनमुद्रित.)	

श्रीमच्छंकराचार्यजीके नामपर छपे ग्रंथमें १३ वें अध्यायका नाम मूलमें "प्रकृतिपुरुषविवेकयोग" छपा है और उसी अध्यायके भाष्य में उसी अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' मुद्रित हुआ है। एकही मुद्रक और एकही प्रकाशक है।

आनंदाश्रममें मधुसूदनसरस्वती और श्रीधर स्वामी की टीकाएं छपी हैं, उनमें मूलमें अध्यायों के नाम और टीकामें अध्यायोंके नाम विभिन्न हैं। ये टीकाकार श्रीशंकराचार्यजीके अनुगामी होने पर भी शांकरभाष्य में दिये अध्यायके नामोंसे भिन्न नाम इनके मूलमें पाये जाते हैं और इनकी टीकाओंमें तो उससेभी अधिक भिन्नता है!! ये तीनों कोष्टक पाठक स्वयं तुलना करके देखें।

लो० तिलक मुद्रित 'गीतारहस्य'में भी छठे अध्यायमें मूलमें 'अध्यात्मयोग' छपा है और अर्थ में 'ध्यानयोग' नाम छपा है तेरहवें अध्यायका नाम मूलमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' है और अर्थ में 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' छपा है!

अन्य छपे पुस्तकोंके अध्यायोंके नाम पाठक इन कोष्टकोंमें देखकर उनकी विविधताका अनुभव कर सकते हैं। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो ये नाम एक ही होने चाहिये, और इनमें इस प्रकार विविधता नहीं होनी चाहिये। परंतु इस प्रकारकी शिथिलता चली आती है और अभीतक इसका नियंत्रण नहीं हुआ, यह निःसंदेह खेदकी बात है।

इनमें कई नाम अर्थकी दृष्टीसे एकत्व के बोधक माने जा सकते हैं, परंतु कई नाम विभिन्न ही हैं और उनमें संगति लग नहीं सकती। जैसा-लो० तिलकजीके छठे अध्यायके मूलमें 'अध्यात्मयोग' और अर्थमें उसीका नाम 'ध्यानयोग' छपा है। ये एक अर्थके नाम नहीं हैं। इसी प्रकार श्री० शांकर भाष्यमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' और मूलमें 'प्रकृतिपुरुषविवेकयोग' ये नाम १३ वें अध्याय के दिये हैं, यहां प्रकृतिपुरुषविवेकयोग है या क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग है। अर्थात् यहां 'विवेकयोग' इष्ट है वा केवल 'योग' इष्ट है यह शंका रहती है।

चतुर्थ अध्यायके 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, ब्रह्मार्पणयोग, ज्ञानयोग, ज्ञानविभागयोग, कर्मसंन्यासयोग, कर्मब्रह्मार्पणयोग' इतने नाम हैं, इनमें कुछ भिन्न हैं और कइयोंकी संगति अर्थदृष्टिसे लग भी जायगी। इसी प्रकार अन्य अध्यायोंके विषय में कुछ भिन्नता और कुछ समानता भी है।

इतनी विभिन्नता होनेपर भी हम अध्यायोंका तात्पर्य देखकर और अध्यायके श्लोकोंके पदोंका विचार करके अध्यायोंके नाम इस समयमें भी निश्चित कर सकते हैं। इस विषयमें वक्तव्य इस प्रकार है-

१ पहिले अध्यायका सर्वसंमत नाम 'अर्जुनविषाद-योग' है। किसीका इस विषयमें मतभेद नहीं है। वास्तव में यह "विषाद-योग" ही है। 'अर्जुन' नाम अर्जन करनेवालेका है। धनार्जन, ज्ञानार्जन, मोक्षार्जन, ये विषय मनुष्यके द्वारा अर्जन करनेके हैं। अर्जन करनेका भाव प्राप्त करना है। ज्ञान, मोक्ष, अथवा स्वाधीनता प्राप्त करनेका प्रारंभ विषाद स्थितिमें होता है। (विषीदन्निदमब्रवीत्। भ० गी० अ० १।२८) यह श्लोक इस अध्यायका नाम सूचित करता है।

२ द्वितीय अध्यायका नाम 'सांख्ययोग' बहुसंमत है। केवल अकेले मधुसूदन सरस्वतीने अपनी टीकामें इसका नाम 'सर्वगीतार्थसूत्रण' दिया है। वस्तुतः द्वितीयाध्यायके श्लोक ३९ तक ही सांख्यमत का सिद्धांत वर्णन किया है। 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। (भ० गी० २।३९)' 'यह सांख्यसिद्धांत तुझे कहा अब योगसिद्धान्त सुन।' ऐसा कह कर सांख्यमत बताया और इसके पश्चात् ४० वे श्लोकसे योगमत कहनेका प्रारंभ किया है। इसके अनंतर ५४ वे श्लोक से 'स्थितप्रज्ञके लक्षण' और 'ब्राह्मी स्थिति' के लक्षण वर्णन किये हैं। इस प्रकार सांख्यमत, योगमत, स्थितप्रज्ञलक्षण और ब्राह्मीस्थिति इनका वर्णन इस अध्यायमें है। बहुत अधिक भाग सांख्यमत के प्रतिपादन के लिये गया है, इस कारण इस अध्यायका नाम

'सांख्ययोग' माना है। अथवा इसमें सांख्यमत और योगमत कहा है इसलिये भी इसको 'सांख्य+योग' कहा होगा।

३ तीसरे अध्यायका नाम 'कर्मयोग' सर्व टीकाकारोंको संमत है और इसमें किसीकी विप्रतिपत्ति नहीं है।

४ चतुर्थ अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्मसंन्यास' जो श्रीशंकराचार्यजीने माना है वह ठीक है, क्यों कि अपना ज्ञान और कर्म ब्रह्मार्पण करनेसे, ईश्वरार्पण करनेसे ब्रह्मप्राप्ति होती है, ऐसा इस अध्यायमें कहा है। अनेक प्रकारके यज्ञ इस अध्यायमें कहे हैं, उन सबमें ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता वर्णन करके, वह यज्ञ (ब्रह्मार्पणं। भ० गी०४।२४) समर्पण बुद्धिसे करनेसे दोषमुक्त होकर श्रेष्ठ शान्ति प्राप्त होती है ऐसा यहां कहा है। कई दूसरे इसका नाम 'ब्रह्मार्पणयोग अथवा कर्मब्रह्मार्पणयोग' मानते हैं, ये नामभी पूर्वोक्त नाम के समान अर्थवाले ही हैं। इसलिये ये नाम माननेपरभी कोई हानि नहीं है। परंतु 'ज्ञानविभागयोग' आदि नाम चिन्त्य हैं।

५ पंचम अध्यायका नाम 'संन्यासयोग अथवा कर्मसंन्यासयोग' है। (सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। भ० गी० ५।१३) सब कर्मोंका मनसे संन्यास करके संयमी मनुष्य सुख प्राप्त कर सकता है ऐसा इस अध्यायमें कहा है। वस्तुतः देखा जाय तो चतुर्थ और पंचम अध्यायका विषय करीब करीब एकसा ही है।

६ षष्ठ अध्यायका नाम 'ध्यानयोग' ठीक प्रतीत होता है क्योंकि इस अध्यायमें मनकी एकाग्रता करके ध्यानयोगका अभ्यास करनेकी विधि कही है। इसीसे आत्मसंयम होता है अतः इसका नाम कई विद्वान् 'आत्मसंयमयोग' मानते हैं वह अयुक्त नहीं है।

७ सप्तम अध्यायका नाम 'ज्ञानविज्ञानयोग' बहुसंमत है। अकेले मधुसूदनसरस्वतीने इसका नाम अलग दिया है। इस अध्यायके द्वितीय श्लोक में ही 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्यामि' (भ० गी० ७।२) कहा है। इसमें 'ज्ञानविज्ञान' का संबंध इस अध्यायसे है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

८ अष्टम अध्यायका नाम 'अक्षरब्रह्मयोग' प्रायः सर्वसंमत है। 'अक्षरब्रह्म, ब्रह्माक्षर' इन सब शब्दोंका तात्पर्य एकही है। इस अध्यायके तृतीय श्लोकमें 'अक्षरं ब्रह्म परमं' शब्द है जो इस अध्यायके विषयका सूचक है।

९ नवम अध्यायका नाम 'राजविद्याराजगुह्ययोग' सबको संमत है। और ये शब्द 'राजविद्याराजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं।' (भ० गी०९।२) इस श्लोकमें ही आगये हैं।

१० दशम अध्यायका नाम 'विभूतियोग' है, इस विषयमें किसीका विरोध नहीं है। (हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।) (भ०गी० १०।१९) इस श्लोकमें विभूतिकथन की बात स्पष्ट कही है।

११ ग्यारहवें अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शन' है, इसमें सबका एकमत है। इस नामके साथ 'योग' शब्द लगाना या नहीं इसी विषयमें किसी किसीका मतभेद है। भ० गी० ११।१६ में 'विश्वेश्वर विश्वरूप' ये शब्द अध्यायके नामके सूचक हैं। इसके अतिरिक्त 'ऐश्वरं रूपं' (श्लो०३,९) 'ऐश्वरं योगं (श्लो० ८) 'अनंतरूप' (श्लो. ३८) ये शब्द भी इस अध्याके नामके सूचक हैं।

१२ बारहवें अध्यायका नाम 'भक्तियोग' एकमतसे सब मानते हैं। इस अध्यायमें 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः।' (भ० १२।१५) जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है, ऐसा कई वार कहा है, इसलिये इसका नाम भक्तियोग होनेमें कोई शंका नहीं है।

१३ तेरहवें अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' है क्योंकि 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं' (भ० गी० १३।२) ये शब्द इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमेंही आगये हैं। श्रीशंकराचार्यजीने इसका नाम 'प्रकृतिपुरुषविवेकयोग' मूलमें दिया है और भाष्यमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' दिया है। दोनोंका अर्थ समानही है।

१४ चौदहवें अध्यायका नाम 'गुणत्रयविभाग-योग' सर्वसंमत है। इस अध्यायमें 'सत्त्व, रज और तम' इन तीन गुणोंका विचार है इसलिये यह नाम सार्थ है।

१५ पंद्रहवे अध्याय का नाम 'पुरुषोत्तमयोग' है। अकेले गीतासंग्रह कर्ताने 'पुराणपुरुषोत्तम-योग' नाम लिखा है और वह अनावश्यक है।

१६ सोलहवे अध्यायका नाम 'दैवासुरसंपद्वि-भागयोग' है। मुंबईके म० दामोदर सांवळाराम मुद्रित पंचरत्नगीतामें 'सुरासुरसंपत्तियोग' नाम लिखा है। यह भिन्न नाम अनर्थक है। 'दैवी' [संपत्] शब्द अध्याय (भ० गी० १६। ३, ५, ६,)में आगये हैं, वहां एकस्थानपर भी 'सुर' [संपत्] नहीं है।

१७ सतरहवे अध्यायका नाम 'श्रद्धात्रयविभाग योग' है। केवल मधुसूदनसरस्वती और श्रीधर स्वामीने 'योग' शब्दके स्थानपर 'विवरण' शब्द रखा है। अन्तमें 'योग' शब्द रखना ही गीताकी परिपाटीके अनुरूप है।

१८ अठारहवे अध्यायके नाम 'मोक्षसंन्यास-योग' अथवा 'मोक्षयोग' तथा 'संन्यासयोग' ये दिये हैं। बंधनसे मुक्त होनेके लिये किस प्रकार संन्यास और त्याग करने चाहिये इसका वर्णन इस अध्यायमें है, अतः पहिला नाम अधिक योग्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार अध्यायोंके नाम हैं। अध्यायमें आये हुए शब्दोंके और वर्णनोंके साथ जो नाम मिलते हैं वे ही योग्य और आदरणीय हैं। अन्य नाम कल्पित समझने चाहिये। अब इन अठारह अ-ध्यायोंमेंसे प्रथम अध्यायके नामका विचार करके क्या बोध मिल सकता है यह देखेंगे--

प्रथम अध्यायका नाम।

विषादयोग!

पहिले अध्यायका नाम 'विषादयोग' है। यह विषादयोग द्वितीय अध्यायके श्लोक ८ या ९ तक है। वहां तक विषादकी बातें अर्जुन बोल रहा है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या हठयोग, राज-योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोगके समान यह 'विषादयोग' कोई योगशास्त्रका भाग है वा यहां योग शब्दका कुछ और अर्थ है। योगके किसी ग्रंथमें भी 'विषादयोग' नामक कोई योग कहा नहीं है और न यह विषादयोग किसी स्थान-पर अनुष्ठान किया जाता है। हठयोग का अनु-ष्ठान किया जा सकता है, राजयोग का अनुष्ठान होता है, भक्तियोगका अनुष्ठान हो सकता है, वैसा इस 'विषादयोग' का अनुष्ठान नहीं होता। अनुष्ठान करने योग्य यह योग नहीं है। न इसपर कोई प्राचीन या अर्वाचीन पुस्तक है। फिर इस-को यहां 'योग' क्यों कहा?

खेदका योग!

'विषाद' का अर्थ है 'खिन्नता, खेद, उत्साह-का संकोच होना, अपनी शक्तिकी न्यूनता होना, यह बात कोई अनुष्ठान करके प्राप्त करने योग्य नहीं है।

ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग ये सब योग ऐसे हैं कि जो अनुष्ठान करने योग्य हैं, लोग स्वेच्छासे उनका अनुष्ठान करते हैं और उस अनु-ष्ठानसे 'मनका उत्साह बढता है, खेद हटता है, सहजानंद प्राप्त होता है, अपनी शक्तिका विस्तार होता है, अपनी शक्ति बढनेका अनुभव होता है।' अर्थात् 'विषादयोग' का परिणाम शक्तिकी न्यूनता है तो अन्य योगोंका परिणाम शक्तिका विकास है।

पाठक यहां देखें कि 'योग' शब्द कैसे विचित्र अर्थमें यहां प्रयुक्त किया है। इसका संबंध भगवद्गीतामें कहे अन्य योगोंसे भी है; देखिये। इसका विचार करनेके लिये मनसे कुछ शब्दों की कल्पना करनी भी पडेगी। [निम्नलिखित कोष्टकमें गीतामें कहे योग स्थूल अक्षरसे दिये हैं और उनके विरुद्ध कल्पनासे रखे योग सूक्ष्म अक्षरसे दिये हैं।] यह विचार इसप्रकार है--

योगोंका सापेक्ष संबंध।

(आनंदयोग)	विषादयोग(अ० १)
पुरुषोत्तमयोग(अ० १५)	(हीनपुरुषयोग)
दैवीसंपद्योग(अ० १६)	आसुरसंपद्योग (अ० १६)
(सत्व)गुणयोग(अ० १४)	(रजतम) गुणयोग (अ० १४)
(सत्व)श्रद्धायोग(अ० १७)	(रजतम) श्रद्धायोग (अ० १७)
मोक्षयोग(अ० १८)	(बंधयोग)
संन्यासयोग(अ० ३)	(भोगयोग)
कर्मयोग (अ० ३)	(आलस्ययोग)
ज्ञानविज्ञानयोग(अ० ७)	(अज्ञानकुज्ञानयोग)
सांख्ययोग(ज्ञानयोग। अ०२)	(अविवेकयोग, मोहयोग)
ब्रह्मार्पणयोग(अ० ४)	(अहंकारयोग)
(ईश्वरार्पणयोग)	(आसुरभावयोग)
ध्यानयोग (अ० ६)	(चांचल्ययोग)
आत्मसंयमयोग(")	(असंयमयोग)
अक्षरब्रह्मयोग(अ० ८)	(क्षरविषययोग)
विभूतियोग(अ० १०)	(अभूतियोग)
विश्वरूपदर्शनयोग(अ० ११)	(व्यक्तिरूपमोहयोग)
राजविद्यायोग(अ० ९)	(कुविद्यायोग)
राजगुह्ययोग (")	(गुह्यहानियोग)
भक्तियोग (अ० १२)	(भक्तिहीनत्वयोग)
प्रकृतिपुरुषविवेकयोग(अ० १३)	(विवेकहीनतायोग)
क्षेत्रयोग (")	(क्षेत्रवियोग)
क्षेत्रज्ञयोग (")	(क्षेत्रज्ञवियोग)

इस कोष्टकमें पाठक देख सकते हैं कि, विषाद-योगके साथभी उतनेही योग हैं कि जितने आनंद योग अथवा पुरुषोत्तमयोग के साथ हैं। यहां प्रथमाध्यायमें जो विषादयोग कहा है, वह अकेला नहीं है, उसके साथी इतने या इससे भी अधिक हैं, अर्जुनके मनको इन सबने घेर लिया था, जिसका परिणाम अर्जुनको विषाद होने में हुआ। इन सब कुयोगोंने अर्जुन के मनको घेर लिया था, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें इतने सुयोग कहे गये और इन सुयोगोंके बलसे शत्रु-रूपी कुयोगोंको दूर किया गया। गीताके हरएक सिद्धान्त के उपदेशका इस प्रकार कारण है, कोई उपदेश व्यर्थ नहीं किया गया है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि प्रायः सब कुयोग विना प्रयत्न किये ही पास आते हैं, और सब सुयोग निरलस प्रयत्नोंसे साध्य करने पडते हैं। असंयम के लिये बहुत प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है परंतु संयम करना हो तोही अनेक नियमों का पालन करना पडता है। शत्रु लानेके लिये बहुत प्रयत्न नहीं चाहिये, परंतु शत्रुको दूर करने के लिये ही सब सायास करने पडते हैं। गिरना आसान है परंतु चढना कठिन है।

विषादयोग का एक महत्त्व भी है। विषाद होनेके विना आनंदका महत्त्व ध्यानमें नहीं आता है; बंधनमें पडनेके विना स्वाधीनता का महत्त्व विदित नहीं होता। निर्बलताके विना बल का महत्त्व ध्यानमें नहीं आसकता। यद्यपि विषाद प्रयत्नसे प्राप्त करनेयोग्य नहीं है, तथापि उससे ही आनन्द और उत्साह की श्रेष्ठता अधिक उज्वल होती है।

यदि पारतंत्र्यका दुःख अनुभवमें न आवेगा, तो कौनसा वीर स्वातंत्र्यके लिये प्रयत्न करेगा? यदि बंधन न होगा तो मुक्तिके लिये कौन प्रयत्न करता? उसी प्रकार यदि विषाद अथवा खेद न होगा, तो उत्साह और आनंदका रसास्वाद किस-को प्राप्त होगा? जगत्के व्यवहारमें इस सापेक्ष संबंधसे ही कार्य चलता है। यहां ऐन युद्धके प्रसंगमें अर्जुन जैसे वीर को खिन्नता हुई और मोह हुआ, इसी लिये बंधनसे छुडानेवाली यह भगवद्गीता प्रकाशित हुई!!!

शिष्यके मनकी भूमिका योग्य रीतिसे तैयार न हुई तो उसके मनमें कोई उपदेश स्थिर नहीं होसकता। जितनी विषाद, खेद और निराशा मनमें उत्पन्न होती है उतना आनंद, उत्साह और आशावादका उपदेश मनमें जम जाता है। जिस प्रकार खेतमें हल चलाकर भूमिको उखेडा जाता

है और पश्चात् उसमें बीज बोया जाता है; उसी प्रकार मनोभूमिकामें विषाद या खेद रूपी हल चला कर मनको उखेडा जाता है और उसमें आत्मोन्नतिके उपदेशका बीज बोया जाता है ।

यह विषाद केवल अर्जुनकोही भारतीय युद्ध-भूमिपर हुआ था, ऐसी बात नहीं है; हरएक मनुष्यको यह विषाद किसी न किसी अर्जन करनेके समय होताही है । विद्यार्जन, धनार्जन, स्वाधीनतार्जन आदि जो मनुष्यके श्रेष्ठ प्राप्तव्य होते हैं, उनके प्राप्त करनेके पूर्व यह उदासीनता, खेद या विषाद किसी न किसी रूपमें मनुष्यके मनमें आते ही हैं । इस संसारमें विचरनेवाला मनुष्य कितने प्रसंगोंमें खिन्न होता रहता है, यह देखनेसे इस विषादयोगका मानवी जीवनसे कितना घनिष्ठ संबंध है इसका ज्ञान हो सकता है । और यह ज्ञान होते ही गीताके उपदेश हरएक मनुष्यको ऐसे विषादके प्रसंगमें सहायक होनेवाले हैं, यह बात ध्यानमें आवेगी और उससे यह निश्चय हो जायगा कि, यह गीता मनुष्यमात्रका खेद दूर करके उसको जीवनका आत्मानंद देनेवाली है, अतएव यह ग्रंथ मनुष्यमात्रको उच्च मार्ग दर्शानेवाला ग्रंथ है ।

संजयका उपदेश और अर्जुनका मोह.

हमने पहले बता दिया है कि, अर्जुनका मोह संजयके कपटी उपदेशके कारण हुआ था । यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये यहां संजयके कपटी उपदेशके कुछ वचन देते हैं और उसके साथ साथ अर्जुनके मनपर उसका कितना गहरा परिणाम हो गया था । वह बतानेके लिये अर्जुनके भी वचन देते हैं । देखिये—

ते वै धन्या यैः कृतं ज्ञातिकार्यं ते वै पुत्राः सुहृदो बांधवाश्च । उपक्रुष्टं जीवितं संत्यजेयुर्यतः कुरूणां नियतो वैभवः स्यात् ॥८॥ ते चेत्कुरूननुशिष्याथ पार्था निर्णीय सर्वान्द्विषतो निगृह्य । समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्यज्जीवध्वं ज्ञातिवधेन साधु ॥९॥ म० भा० उद्योग. अ० २५

"वे लोग धन्य हैं कि जो अपनी जातीका कल्याण करते हैं और वेही सच्चे पुत्र, मित्र और बांधव हैं । वे निंदित जीवनका त्याग सदाके लिये करें, जिससे कौरवोंका वैभव बढ जाय ।। ऐसा न करते हुए यदि तुम पांडव कौरवोंको शत्रु मानकर मारोगे तो तुम्हारा जीवन मरनेके समान ही हो जायगा, क्योंकि ज्ञातिवधके पापसे तुम्हारा जीना कलंकित होगा ।"

कैसा कपट है देखिये, जातिहित करनेवालेकी महती वर्णन करता है और अधर्म फैलानेवालोंका नाश करनेसे पाप लगेगा ऐसा कहता है । इसका प्रतिबिंब अर्जुनके भाषणमें हुआ है, देखिये—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
गीता० अ० १

"धृतराष्ट्रपुत्रोंको मारकर हमारा क्या प्रिय होगा ? इन अततायियोंको मारनेसे हमें पापही लगेगा ।" इत्यादि श्लोक यहां पाठक देखें । तथा और देखिये—

सोऽहं जये चैव पराजये च
निःश्रेयसं नाऽधिगच्छामि किंचित् ॥१२॥
म० भा० उ० अ० २५

"मैं हार और जीतमें कुछ भी कल्याण नहीं देखता हूं ।" यही संजयका कहना अर्जुनके मन पर कैसा जम गया है यह द्वितीयाध्यायमें देखिये—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ॥
भ० गी० २ । ६

"हम कौरवोंको जीतेंगे, अथवा वे हमें जीतेंगे, इनमेंसे क्या होगा और इनमेंसे कौनसा हमारे लिये अच्छा है यह भी मेरे समझमें नहीं आता है ।" वेही शत्रुके कपटी उपदेश कैसे मनमें जमगये हैं देखिये । तथा और भी—

कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः ॥ १३ ॥
म० भा० उ० २५

"पाण्डव धर्मात्मा हैं, वे नीच कुलमें उत्पन्न हुए हीन मनुष्योंके समान (युद्ध करनेका पाप) कर्म कभी नहीं करेंगे।" अर्थात् पाण्डवोंकी प्रशंसा करके उनको युद्धसे हटानेके लिये यह कपटपूर्ण वाक्य संजयने कहा है। अर्जुन यही भाव अन्य शब्दोंमें बोल रहा है, देखिये—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान्॥३७
भ० गी० १

"इसलिये हम अपने भाई धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करनेके लिये योग्य नहीं हैं।" अर्थात् यदि हम युद्ध करके उनका वध करेंगे, तो हम नीच हो जांयगे। इसी प्रकार और देखिये—

धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ॥
महाश्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
संपश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः॥ १ ॥
न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो॥
भैक्षचर्यामंधकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम्॥ २ ॥
म० भा० उ० २७

"हे पाण्डवो! आपके सब कर्म धर्मानुकूल ही होते हैं, धर्मके विषयमें आपकी कीर्ति जगत्में प्रसिद्ध है। मनुष्यका जीवित अनित्य है यह आप जानतेही हैं, अतः इसका विचार कर युद्धसे इन सबका नाश मत कीजिये। हे युधिष्ठिर! यदि कौरव लोग युद्धके विना आपका राज्य वापस न देंगे, तो आप सब पाण्डव भिक्षा मांगकर अंधक और वृष्णी देशमें रहिये। युद्ध करके राज्य कमानेकी अपेक्षा भीख मांगकर रहना अधिक अच्छा है।" इसी भीख मांगनेका प्रतिध्वनि अर्जुनके भाषणमें देखिये—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं
भैक्ष्यमपीह लोके॥ भ० गी० २।५

"गुरुजनोंका वध करके राज्य कमानेकी अपेक्षा भीख मांगकर इस लोकमें जीविका निर्वाह करना अच्छा है।" इसी प्रकार और देखिये—

निबंधनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात्॥ ५॥
धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः॥ ६॥
म० भा० उद्यो० २७

"हे युधिष्ठिर! तृष्णा बंधनमें डालनेवाली और धर्मका नाश करनेवाली है। अतः जो धर्म स्वीकारता है वह ज्ञानी कहलाता है। उत्तम धर्म कर्म करनेसे आपका तेज सूर्यके समान फैलेगा। परंतु धर्म छोडकर आपने इस पृथ्वीका राज्यभी प्राप्त कर लिया, तो भी उससे गिरावट ही है।"

पाठक यहां देखें कि यह संजय पांडवोंको ही धर्मका उपदेश कर रहा है, कौरवोंके दुष्ट कर्तूत जानता हुआ भी यह कपटी अधिकारी पांडवोंका स्वराज्यप्राप्तिका प्रयत्न सदोष है ऐसा कहता है, यही विचार मनमें रखकर अर्जुन बोलता है-

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि सूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥३॥
भ० गी० १

"मैं इनको मारनेकी इच्छा नहीं करता। हे कृष्ण! यदि त्रैलोक्यका राज्यभी मिल जाय, तो भी मैं यह पाप नहीं करूंगा, फिर पृथ्वीके राज्यके लिये कौन करेगा?" शत्रुके कपटी उपदेशोंसे देशके नवयुवक कैसे फंसते हैं इसका यह उत्तम उदाहरण है। और देखिये—

अन्तं गत्वा कर्मणां मा प्रजह्याः
सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम्।
अश्वमेधं राजसूयं तथेष्ट्वाः
पापस्यान्तं कर्मणो मा पुनर्गाः॥ १५॥
तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय।

निवसध्वं वर्षपूगान्वनेषु
दुःखं वासं पाडवा धर्म एव ॥ १६ ॥
म० भा० उद्यो० अ० २७

"हे पांडव! सत्य, आत्मसंयम, सरलता तथा मृदुता का मार्ग न छोडिये। अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ करके पश्चात् आप इस युद्धके पापमार्गसे जांयगे? यदि धर्म छोडकर इस पापमार्गमें आप जाना चाहते हैं तो अनेक वर्ष वनवास में रहिये, इस पापसे वनवास अच्छा है।" देखिये स्वराज्य का प्रयत्न करनेवालोंको ही साम्राज्यवादी वनवास में जानेका उपदेश करतेहैं!!! कौरव दुराचार करें और राज्य भोगें और पांडव धर्म पालन करें और वनवास में रहें। येही संजयके विचार अर्जुन बोल रहा है—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥
भ० गी० १।४५

"हम जो राज्यके लोभसे अपने बांधवों का वध करना चाहते हैं वह बडाभारी पाप हम कर रहे हैं।" संजयके कपटी उपदेशसे अर्जुन इस प्रकार मतिभ्रष्ट हो गया था। और देखिये--

पापानुबंधं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्यात्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ॥ २४ ॥
कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च।
एतान्हत्वा कीदृशं तत्सुखं स्यात्
यद्विन्देथास्तदनुब्रूहि पार्थ ॥ २५ ॥
लब्ध्वापीमां पृथिवीं सागरान्तां
जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्
एवं विद्वान्नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥
अमात्यानां यदि कामस्य हेतोः
एवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम्।
अपक्रमेः स्वं प्रदायैव तेषां
मा गास्त्वं वै देवयानात्पथोऽद्य ॥२७॥
म० भा० उ० अ० २७

"हे धर्मराज! कौन बुद्धिमान् पुरुष युद्धरूपी पापको करनेकी इच्छा करेगा? आपको क्षमा ही शोभा देती है! भोग भोगना क्या है? जहां भीष्म और अश्वत्थामासहित द्रोण मारे जांयगे, कृपाचार्य, शल्य, सौमदत्ति, विकर्ण, विविंशति, कर्ण, दुर्योधन मारे जांयगे, वहां तुमको कौनसा सुख मिल जायगा? हे धर्मराज! यदि तुम्हें सब पृथ्वी का भी राज्य मिल जावे, तोभी मृत्यु तो तुम्हें नहीं छोडेगा। फिर युद्ध करनेसे क्या लाभ होगा? तुम्हारे मंत्रिगणों के आग्रहसे तुम युद्ध करनेको तैयार हुए होंगे, तो उनको जो चाहे सो देकर तुम देवयान मार्गसे भ्रष्ट न हो जाओ। युद्ध करोगे तो देवयानमार्गसे भ्रष्ट हो जाओगे।"

देखिये यह कौरवोंका उपदेशक पांडवोंको ही देवयान मार्गका उपदेश करता है!! यदि देवयान मार्गपर इसका सच्चा विश्वास है, तो वह अपने साम्राज्य चलानेवाले भाईयोंको ही क्यों नहीं यह उपदेश सुनाता? परंतु पाण्डवोंको इस युद्धसे हटाना इसका प्रयोजन है और उस प्रयोजन की सिद्धिके लिये धर्मका सहारा इसने लिया है! अर्जुनके भाषणमें इसीकी प्रतिध्वनि देखिये-

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥ भ० गी० अ० १

तथा—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
भ० गी० अ० २

" जिनके लिये हमने राज्यादि कमाना है वे ही यहां मरनेके लिये आगये हैं, अतः इनका वध मैं नहीं करूंगा। पूजा करने योग्य इन भीष्मद्रोणोंके ऊपर मैं बाण कैसे चलाऊं? " इस प्रकार अर्जुन शत्रुके कपटी उपदेशोंका ही अनुवाद करता है!

मन शत्रुके विचारोंसे प्रभावित होनेका परिणाम ऐसाही होता है। अतः जो स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे अपने विचारोंको शत्रुके कपटी उपदेशोंसे न प्रभावित होने दें। विचारोंकी स्वतंत्रता रही तो बाह्य जगत् के व्यवहारोंमें भी स्वाधीनता प्राप्त होसकती है। परंतु यदि मन ही दब गया, तो फिर पराधीनता हटना कठिन है।

संजयका कपटी उपदेश और अर्जुनका खेद देखनेसे और दोनोंके वाक्योंकी इस प्रकार तुलना करनेसे पाठक जान सकते हैं कि शत्रुके उपदेशों-द्वारा किये गये धर्मोपदेशभी राजकीय हेतुको केन्द्रमें रख कर ही किये होते हैं। अतः उनको बडी सावधानीसे सुनना चाहिये और सुननेपरभी बडी सावधानीसे ही उनको स्वीकारना चाहिये। अन्यथा मोह और विषाद जैसा अर्जुनके पल्ले पडा वैसेही उस भोले आदमीके भी पल्ले पडेगा।

इस विषादयोग के अध्ययनसे यह सावधानी की सूचना मिलती है। पाठक इस सूचनाको मनमें धारण करें। अब आगे भगवान् श्रीकृष्ण भूले अर्जुनको क्या उपदेश देते हैं देखिये—

अर्जुन-विषाद-योग नामक प्रथम अध्याय समाप्त।

प्रथम अध्यायके कुछ संस्मरणीय श्लोक ।

१ अपना और शत्रुका बल ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलम्.....।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलम्.....॥ १० ॥
भ० गी० १ । १०

"हमारा बल अपूर्ण है। और इन (शत्रुओंका) बल पूर्ण है।" अपना बल अपूर्ण है ऐसा मानकर उसको हरएक रीतिसे बढानेका यत्न करना, तथा शत्रुका बल थोडा हुआ तो भी उसको पूर्ण मान कर उसके प्रतिकारका यत्न करना विजयेच्छु पुरुषको योग्य है ।

२ प्रवेशद्वारकी रक्षा ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
.....अभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥
भ० गी० १ । ११

"सब प्रवेशके द्वारोंमें अपने अपने स्थानोंमें दक्षतासे रहते हुए आप अपनी सब ओरसे रक्षा कीजिये।" देहद्वार, गृहद्वार, नगरद्वार, राष्ट्रद्वार ये शत्रुका प्रवेश अंदर होनेके स्थान होते हैं। यदि इन प्रवेशद्वारोंमें उत्तम रक्षाका प्रबंध रहा तो शत्रुका प्रवेश अंदर नहीं होगा। अतः इन प्रवेशद्वारोंपर उत्तम रक्षाका प्रबंध करना चाहिये। यह रक्षाका सूत्र है, इससे व्यक्तिकी, घरकी, नगरकी, राष्ट्रकी अर्थात् सबकी रक्षा होसकती है।

३ संयमीसे प्रश्न पूछना ।

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते.....हृषीकेशं.....आह ॥
भ० गी० १ । २०-२१

"युद्धके समयमें...इंद्रियोंका जिसने संयम किया है ऐसे संयमी पुरुषसे ही..." (जो कुछ प्रष्टव्य होगा वह) पूछना योग्य है।" असंयमी पुरुषसे पूछा जाय तो अहित होगा। युद्धके समय आत्मसंयम करनेवालेकी ही संमति लेनी योग्यहै।

४ शत्रुका निरीक्षण करना ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यम्.....॥२२॥ भ.गी. १।२२

"जिनके साथ मुझे लढना है उनको मैं पहिले देखता हूं।" युद्धके पूर्व शत्रुकी वास्तविक अवस्थाको देखना योग्य है। इस जगत्में प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी युद्धमें खडा है, अतः उसको उचित है कि वह अपने शत्रुओंकी तैयारियां कैसी हैं, इसका पहिले अवलोकन करे और वैसी लडनेकी अपनी तैयारी रखे।

५ स्वजनोंपर शस्त्र न चलाना ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
भ० गी० १ । ३१

"अपने लोगोंपर शस्त्र चलानेसे कोई कल्याण नहीं होगा।" अपनेही लोगोंपर हथियार चलाकर स्वयं अपने देशभाईयोंका नाश करना किसी को भी योग्य नहीं है । तथा—

.....नार्हा वयं हन्तुं स्वबांधवान्॥भ.गी. १।३७

"हमें अपनेही भाईयोंका वध करना उचित नहीं है।" और भी देखिये—

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम? ॥
भ० गी० १।३७

"अपने ही लोगोंका वध करके हम कैसे सुखी हो सकते हैं?" जो लोग समझते हैं कि, अपने लोगोंका नाश अपने हाथसे करके हम सुखी हो जायगे, वे भ्रममें पडे हैं; क्योंकि वे अपने ही प्रयत्नसे अपना नाश कर रहे हैं। शत्रु तो हम दोनोंको खानेके लिये बैठा है। वह जैसा हमको खायेगा वैसा हमारे भाइयोंको भी खा जायगा। ऐसी अवस्थामें यदि हमने अपने ही भाइयोंका वध किया, तो उससे शत्रुका बल बढेगा और हमारा घट जायगा। अतः स्वजनोंपर शस्त्र चलाना अयोग्य है। इसलिये कहा है—

····महत्पापं कर्तुं व्यवसिताः····। यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

भ० गी० १।४५

"जो राज्य सुख और लोभसे अपने ही लोगों का वध करते हैं वे बडा भारी पाप करते हैं।" भूमि, नौकरी, वेतन अथवा धन या मान प्राप्त करनेके लिये जो लोग अपनेही लोगोंपर शस्त्र चलाते हैं वे बडा भयंकर पाप करते हैं।

६ पापसे बचना।

यद्यप्येते न पश्यन्ति····दोषं····पातकम्।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्॥

भ० गी० १।३८-३९

"यदि ये (दूसरे लोग) इसमें दोष अथवा पाप नहीं देखते, तथापि हम इस पापसे दूर होनेका उपाय क्यों न सोचें?" दूसरे लोग किसी दुष्कर्म में दोष या पाप नहीं देखते हैं और पाप करते हैं, यह हेतु नहीं कि, जिससे हम भी वैसाही दोष और पाप करते जांय। यदि हम उसमें पाप देखते हैं, तो उससे निवृत्त होनेका प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है।

७ कुलक्षयसे धर्मनाश।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।

भ० गी० १।४०

"कुलका नाश होनेसे कुलके साथ सनातन कालसे चले आये धर्म नष्ट हो जाते हैं।" कुल परंपरासे चली आयी विद्या कला आदि कुलके नाशके साथ नाशको प्राप्त होती है, अतः वंशबीज की रक्षा करना उचित है।

८ कुलस्त्रियोंकी गिरावट।

अधर्माभिभवात्····प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः॥

भ० गी० १।४१

"अधर्मप्रवृत्ति बढ जानेसे कुलस्त्रियां दूषित होती हैं।"

९ स्त्रीदोषसे वर्णसंकर।

स्त्रीषु दुष्टासु····जायते वर्णसंकरः।

भ० गी० १।४१

"स्त्रियां दोषी होनेसे····वर्णसंकर होता है।" अर्थात् व्यभिचार आदि दोषोंसे वर्णसंकर होता है, अतः स्त्रियोंकी व्यभिचारादि दुष्ट प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना समाजकी सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक है। व्यभिचारादि दोषसे रक्षा तो जैसी स्त्रियोंकी वैसी पुरुषोंकी भी होनी चाहिये।

१० वर्णसंकरसे नरक।

संकरो नरकायैव····। भ० गी० १।४२

"वर्णसंकरसे नरक अर्थात् मनुष्य अवनत होता है।" नर-क अर्थात् छोटा मनुष्य, हीन मनुष्य। वर्ण शुद्ध रहनेसे मनुष्य उन्नत होता है और वर्णसंकर से अवनत होता है। अतः व्यभिचारादि दोष से वर्णसंकर होने देना योग्य नहीं है।

११ निःशस्त्रका वध।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
····हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ भ०गी० १।४६

"यदि बदला न लेनेवाले मुझ निःशस्त्रका शस्त्रधारी (शत्रु) वध करेंगे, तो मेरा अधिक कल्याण होगा।" निःशस्त्र अहिंसक शान्त और क्रोध न करनेवाले निर्वैर मनुष्यका वध यदि शस्त्रधारी क्रूर शत्रुने किया, तो उस शस्त्रधारी वधकर्ता की निन्दा सब लोग करते हैं, और उस निःशस्त्र निर्वैर के लिये जगत् की सहानुभूति मिलती है। इस प्रकार उच्च भूमिकापर अहिंसक का विजय और हिंसक का पराजय होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी.

प्रथमाध्यायकी विषयसूची.

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

सांख्ययोगः ।

संजय उवाच— तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

(१) अनार्य कर्मका निषध ।

श्रीभगवानुवाच— कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

अन्वयः– संजयः उवाच– तथा कृपया आविष्टं अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषीदन्तं तं मधुसूदनः इदं वाक्यं उवाच ॥१॥
श्रीभगवान् उवाच— हे अर्जुन ! अनार्यजुष्टं अस्वर्ग्यं अकीर्तिकरं इदं कश्मलं, विषमे त्वा कुतः समुपस्थितम् ? ॥ २ ॥

संजय बोले—इस प्रकार कृपासे व्याप्त और अश्रुपूर्ण नेत्रोंवाले खिन्नहृदय उस (अर्जुन) को मधुसूदन (श्रीकृष्ण) ने ये वचन कहे ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन ! (अनार्यही जिसका आचरण करते हैं, किंवा) आर्य जैसा कभी आचरण नहीं करते, जिससे स्वर्गप्राप्तिमें बाधा हो सकती है और जिससे दुष्कीर्ति होती है, ऐसी यह मनकी उदासीनता, इस प्रतिकूल समयमें तुझे कहांसे प्राप्त होगई ॥ २ ॥

अध्याय दूसरा ।

सांख्ययोग ।

पूर्व अध्यायमें वर्णन हुई रीतिसे अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दया उत्पन्न होगई और उस कारण वह अपने कर्तव्य से पराङ्मुख हुआ । यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण उसको स्वकर्तव्य करनेका उपदेश करते हैं, यह प्रसंग संजयके मुखसे इस प्रकार धृतराष्ट्रने सुना–

(१) "हे धृतराष्ट्र ! अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दयाका भाव उत्पन्न हुआ, क्योंकि उसको इस बातका निश्चय ही था, कि यदि मैं युद्ध करनेके लिये धनुष्यबाण लेकर खडा हुआ, तो इनमेंसे कोई नहीं बचेगा । सबके सब निश्चयपूर्वक मर जांयगे । इस आत्मविश्वास के कारण उन सबकी मृत्युका भयानक चित्र उसके आंखोंके सन्मुख खडा हुआ और उसको देखकर अर्जुनके आंख आंसुओंसे भर गये, हृदय गद्गद होगया, अन्तःकरण दयासे भरा और मन अत्यन्त खिन्न दुःखी और शोकपूर्ण हुआ, और इस कारण युद्ध न करनेका निश्चय उसने किया । युद्ध करनेके निश्चयसे उसको बडा पश्चात्ताप हुआ और उस कारण वह अपने युद्धके निश्चयकी ही निंदा करने लगा ! "

अब यह अर्जुनकी अवस्था भगवान् श्रीकृष्णने देखी, तब वह आश्चर्यसे चकित होगये, और वे उसे इस प्रकार बोधवचन कहने लगे—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अन्वयः— हे पार्थ! क्लैब्यं मा स्म गमः। त्वयि एतत् न उपपद्यते। हे परंतप! इदं क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ ॥ ३ ॥

हे पृथाके पुत्र! तू नपुंसक मत बन। तेरे लिये यह योग्य नहीं है। हे शत्रुओंको ताप देनेवाले! अन्तःकरणकी इस क्षुद्र दुर्बलताको छोडकर (युद्ध के लिये) खडा हो ॥ ३ ॥

भावार्थ— हीन अथवा अवनत हुए मनुष्योंके समान आचरण करना, किसीकोभी योग्य नहीं है; श्रेष्ठ सज्जन जो कार्य कभी नहीं करते वैसा कार्य भी कोई न करे। जिससे उच्च लोकोंकी प्राप्तिमें बाधा हो और जिससे अपना यश कलंकित हो वैसा करनाभी किसीको योग्य नहीं है। हरएक मनुष्य सदा सावधानतासे अपना कर्तव्य करे, परंतु प्रतिकूल अवस्थामें तो विशेषही दक्षतासे स्वकर्तव्य करे। प्रतिकूल समयमें मनकी उदासीनताको अपनेपास आने न दे। कोई मनुष्य नामर्द न बने। अपने अन्तःकरणमें सदा वीरता धारण करे। और हृदयकी दुर्बलताको पूर्णतासे छोड देवे ॥ २-३ ॥

आर्यत्वकी रक्षा।

(२—३) भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको अपने आर्यत्वकी रक्षा करनेका उपदेश सबसे प्रथम कर रहे हैं, क्योंकि आर्यत्वकी रक्षामें सब मानव-धर्मकी रक्षा आगई है। 'आर्य' शब्दका अर्थ "सुयोग्य, श्रेष्ठ, सन्मान्य, उच्च, उच्चकुलोत्पन्न, स्वामी, सदाचारसे बर्ताव करनेवाला" है। जैसा आचरण इस समय अर्जुन कर रहा है, वैसा कोई आर्य कदापि नहीं करेगा। (अनार्य-जुष्ट) जो अनार्य होते हैं, वे ही समयका महत्त्व न जानकर जैसा चाहे वैसा हीन व्यवहार करते रहते हैं। परंतु वैसा करना आर्योंके लिये कदापि योग्य नहीं है। मांधाता, श्रीरामचंद्र, जनक आदि आर्य राजाओंका आदर्श जीवन सन्मुख रखो और यह समय कैसा है, इसका विचार करो।

विषम समय।

(विषमे) शत्रु तो तुम्हारे सिरपर नांच रहा है, तुम्हारा नाश करनेके लिये इस समयतक उसने हजारहों कपटप्रयोग किये थे, इस समय-भी शत्रु कमर कसके तुम्हारा नाश करनेके लिये सज्ज हुआ है और तुम्हारे सन्मुख उपस्थित है। तुम्हारा राज्य तुम्हारे शत्रुके आधीन है, उसका सेनाबल, धनबल और अधिकारबल तुमसे कई गुना अधिक है, तुमने इस समयतक इतने कष्ट सहे, सत्यधर्ममें निष्ठा रखी, कभी अधर्मकी ओर रुची नहीं की, उनके अत्याचार करनेपरभी तुमने शान्ति धारण की; तो भी तुम्हारे शत्रुका अत्याचार करनेका स्वभाव कम नहीं हुआ। अन्तिम सन्धिसभामें जब सन्धिकी बातें चलीं, उस समय दुर्योधनने स्पष्ट शब्दोंसे कहा कि "विना युद्ध किये रतिमात्र भूमि तुम्हें प्राप्त नहीं होगी।" इतना शत्रुका दुराग्रह है, वह तुम्हें स्वराज्य कदापि सुखसे नहीं देगा। इस बातका पूर्ण निश्चय होनेके बादही युद्ध करनेका निश्चय सर्वसंमतिसे किया। धर्मराज, भीम, नकुल, सहदेव, सती द्रौपदी तथा तुम्हारे अन्यान्य हितचिंतकोंकी विचारणासे युद्ध करनेका निश्चय किया।

युद्धकी तैयारी।

युद्धके लिये ही तुमने कैलासमें गमन करके भगवान् शंकरसे पाशुपत अस्त्र लाये, और देव-

राज इन्द्रसे दिव्य अस्त्र भी प्राप्त किये। बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास के भयंकर कष्ट सहन करके अपने सब दुःखों और कष्टोंका परिमार्जन करनेके लिये तुम यहां रणक्षेत्रमें आये हो।

पाशवी बलका नियमन।

इसके अतिरिक्त जगत्में अधार्मिक दुष्ट मनुष्य मनमाना अत्याचार पाशवी बलके जोरके कारण न करें और धार्मिक लोग निर्भय होकर जगत्में संचार करें, इस प्रकारकी धर्ममर्यादा स्थापन करनेके हेतुसे यह युद्ध हम कर रहे हैं, ऐसे धर्मयुद्धमें तुम्हारे जैसे आर्य वीरको आनंदके साथ अपना कर्तव्य करना चाहिये।

परंतु तुम तो अनार्योंके समान अपने कर्तव्यको न समझते हुए कार्यक्षेत्रसे पीछे हटते हो! क्या यह तुम्हारे जैसे आर्यवीर को योग्य है? तुम्हारे पूर्वज आर्योंमें से कोई भी आर्यवीर इस प्रकार युद्धके समय मोहित भी नहीं हुआ, और नाही युद्ध से पीछे हटा था। उसीके वंशमें तुम उत्पन्न हुए हैं और उनके ही श्रेष्ठ वंशके यशको कलंकित करते हैं!! हाय हाय! इस समय तुम अपने आर्यत्वकी रक्षा करो! अनार्य मत् बनो।

स्वर्गद्वार का मार्ग।

यह युद्ध क्षत्रियोंके लिये मानो स्वर्गद्वार खुला हुआ है, यदि तुम इस रणक्षेत्रसे भाग जाओगे, तो तुम्हारे स्वर्गप्राप्तिमें (अस्वर्ग्य) बडी बाधा आजायगी, युद्धसे भागनेवाले क्षत्रियको कभी स्वर्ग मिल नहीं सकता।

दुष्कीर्ति।

यदि तुम इस प्रकार रणक्षेत्रसे भाग गये तो तुम्हारा यश (अकीर्तिकर) कलंकित होगा। क्षत्रियकी ऐसी अकीर्ति होना या किसी भी मनुष्यकी ऐसी दुष्कीर्ति होना योग्य नहीं। दुष्कीर्तिसे मरण अच्छा है। अतः दुष्कीर्तिके मार्गसे जाना तुम्हें योग्य नहीं है।

मनकी दुर्बलता।

(कश्मलं) यह मनकी मलीनता है जो अनार्यपथमें मनुष्य को जानेमें प्रवृत्त करती है, मानो यह मन का 'मल' ही है। यह मनकी मलीनता उसका धवल यश फैलानेमें रुकावट उत्पन्न करती है।

हे अर्जुन! तू अर्जुन अर्थात् अर्जन करनेवाला, प्राप्त करनेवाला, अपना स्वराज्य वापस लानेका प्रयत्न करनेवाला है, यह समय तुम पाण्डवों के लिये प्रतिकूलता का समय है। यह समय ऐसा है कि जिस समय तुम्हारे शत्रु हाथमें मट्टी पकडते हैं तो उसका सोना बनता है और तुम लोगोंने हाथमें सोना पकडा तो उसकी मट्टी बनती है। तुम्हारे शत्रु अधर्माचरण और अत्याचार करते हुए बढते जाते हैं, और तुम धर्ममार्गपर पैर रख कर चलते हो तोभी गिरते जाते हो, ऐसे प्रतिकूल समयमें तुम्हें मनकी उदासीनता धारण, किंवा मन की दुर्बलता धारण करना सर्वथा अयोग्य है। मनमें बल धारण करनेका यही समय है। परिस्थिति विपरीत होनेपर ही मनमें बल धारण करना चाहिये, तभी उस विपरीत परिस्थितिसे मनुष्य पार हो सकता है। अतः (क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा) इस समय यह मनकी दुर्बलता दूर कर और अपने मनमें बलको धारण कर।

वीरवृत्ती।

(क्लैब्यं मा स्म गमः) नपुंसक न बन, नामर्द न हो। हे अर्जुन! हमने सुना है कि जब तू अमरावतीमें देवराज इन्द्र के युद्धविद्यालय में दैवी अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये गया था, उस समय वहां की स्वेच्छासे व्यवहार करने वाली विदेशी सुंदर गौरवर्ण तरुणी उर्वशी का तुम्हारेसे कुछ प्रेमसंबंधका वार्तालाप हुआ था। उस समय आर्य कुमारको शोभा देने योग्य बर्ताव तुमने किया था, यह सुनकर हमने आनंदका

(२) रुधिरसे भरे भोग।

अर्जुन उवाच— कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच— हे मधुसूदन! अहं भीष्मं द्रोणं च संख्ये इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि? हे अरि-सूदन! (एतौ) पूजार्हौ ॥ ४ ॥ हि महानुभावान् गुरून् अहत्वा, इह लोके भैक्ष्यं भोक्तुं अपि श्रेयः। गुरून् हत्वा तु, इह एव रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् भुञ्जीय ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले-हे मधुसूदन! मैं भीष्म और द्रोणके साथ युद्धमें बाणों से कैसे लड़ूं? हे शत्रुके नाश करनेवाले कृष्ण! ये पूजा करने योग्य हैं॥४॥ अत्यंत उदार अन्तःकरणवाले इन गुरुजनों को न मार कर, इस लोकमें भीख मांगकर खाना भी अधिक कल्याणकारी है। क्यों कि गुरुजनों का वध करके यहां उनके रक्तसे भरे हुए अर्थ और काम रूप भोगही भोगने पडेंगे॥५॥

लाभ किया था। उस समय उस स्वेच्छा-व्यवहारिणी कुमारिकाके जालमें तुम नहीं फंसे, यह तुमने उत्तम किया। परंतु उनके प्रस्तावका तिरस्कार करनेके कारण उसने तुमको 'नपुंसक' बन जानेका शाप दिया था, यह भी हमने सुना है। क्या इस समय तुमपर उसका कुछ परिणाम हो रहा है? फिर ऐसे वीरताके समयमें तुम ऐसे नामर्दके समान आचरण क्यों कर रहे हो? उर्वशी जैसी विदेशी तरुणियां इच्छाभंग होनेपर वैसा बुराभला कहतीं ही हैं, परंतु तुम जैसे वीरोंको उचित है कि वे अपने आत्मिक बलसे उस विचारका प्रतीकार करें। तुम यदि अपना मनोबल बढाओगे और अपने धैर्यपर स्थिर रहोगे, तो उस तरुणीके बुरेभले कहनेका कोई परिणाम तुमपर नहीं होगा। ऐसे विपरीत समय में (एतत् त्वयि न उपपद्यते) ऐसी मनकी दुर्बलता धारण करना तुम जैसे आर्य वीरको शोभा नहीं देता है।

हे अर्जुन! तुम (परं-तप) शत्रुको ताप देने वाले, शत्रुका नाश करनेवाले प्रचंड महावीर हो! तुम्हारा प्रचंड शौर्य सुनकर शत्रु भाग जायेंगे, तुम्हारे अस्त्रशस्त्रोंके प्रभाव के सामने कौन ठहर सकता है? अतः तुम्हें ऐसी मनकी कमजोरी ऐसे विपरीत और प्रतिकूल समयमें धारण करना कदापि योग्य नहीं।

इस प्रकारका उत्साहवर्धक उपदेश सुनकर अर्जुन अपने मनके भाव फिर कहता है—

(४-८) अर्जुन युद्धसे निवृत्त होनेके अपने कारण बता रहा है। हे मधुसूदन श्रीकृष्ण! देखो, मातापिता आदि पूज्यपुरुषोंकी सेवा करना हमारे लिये योग्य है, न कि उनका वध करना। यहां भीष्मपितामह हमारे पूज्य पितामह हैं, द्रोणाचार्य तो हमारे अत्यंत आदरके योग्य आचार्य हैं, जिनसे मैंने सब विद्या प्राप्त की। क्या इनपर ही मैं बाण छोडूं? जिनकी पूजा करनी योग्य है ऐसे गुरुजनोंका ही मैं वध करूं? यह मुझसे कैसा होगा? जिनसे मैं स्वप्नमें भी वैरभाव नहीं रखता, उनका प्रत्यक्ष नाश मैं कैसा करूं? जो

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अन्वयः- नः कतरत् गरीयः ? यत् वा (वयं) जयेम, यदि वा (ते) नः जयेयुः, एतत् अपि च न विद्मः । यान् हत्वा न जिजीविषामः, ते एव धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः ॥ ६ ॥ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः धर्मसंमूढचेताः (अहं) त्वां पृच्छामि । यत् निश्चितं श्रेयः स्यात्, तत् मे ब्रूहि । अहं ते शिष्यः । त्वां प्रपन्नं मां शाधि ॥ ७ ॥ हि भूमौ असपत्नं ऋद्धं राज्यं, सुराणां च अपि आधिपत्यं, अवाप्य, यत् मम इंद्रियाणां उच्छोषणं शोकं अपनुद्यात् तत् न पश्यामि ॥ ८ ॥

हमारे लिये इन दोनोंमेंसे कौनसा श्रेष्ठ है ? क्या हम जीतेंगे, या वे हमें जीतेंगे ? यह भी समझ नहीं पडता । जिनको मार कर हम जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करते, वे ही धृतराष्ट्र के संबंधी हमारे सन्मुख (युद्धके लिये) खडे हुए हैं ॥ ६ ॥ दीनता के दोषसे मेरी स्वाभाविक वीरवृत्ती मारी गई है, अतः कर्तव्यनिश्चय करनेमें मेरा चित्त मोहित हुआ है। इस लिये मैं तुमसे पूछता हूं। जो निश्चय से कल्याणकारी हो वह मुझे कहो। मैं तुम्हारा शिष्य हूं। मुझ शरणागत को समझाइये ॥७॥ क्योंकि इस पृथ्वीमें निष्कंटक और संपन्न राज्य अथवा देवोंका स्वामित्वभी मिल जाय, तोभी मेरे इंद्रियोंका शोषण करनेवाले इस शोक को दूर करनेवाला कोई उपाय मैं नहीं देखता॥८॥

शस्त्रास्त्रविद्या मैंने सीखी, क्या वह सब इन सबके विनाश करनेके लिये ही है? जिन्होंने विद्या सिखाई उस गुरुकी क्या यही गुरुदक्षिणा है, कि मैं उनका आज वध करूं ? जिन्होंने बचपनसे हमारा पुत्रवत् पालन किया उस पितामह की सेवा करनेके स्थानपर क्या मैं उनके पवित्र शरीरपर बाणोंसे व्रण करूं ? ये भीष्मद्रोण दया के सागर हैं, विद्याके निधि हैं, अनेक गुणोंकी मानो खान हैं । ऐसे सच्चे धर्मात्माओंको मार कर, जो भी कुछ भोग प्राप्त होंगे, उनको भोगते हुए हमें कदापि सुख नहीं मिलेगा । किसीके मतसे इस प्रकार प्राप्त किये राज्यभोग सुखदायक हों, परंतु मैं इनको सुखदायक नहीं मानता हूं। मैं तो इससे भीख मांगकर जीवनयात्रा निभाना अच्छा समझता हूं। अथवा पूर्वके समान वनवास भी भोगना पडे, तो भी मैं उसको निर्दोष समझता हूं। जो कुछ हो मैं ऐसे महानुभावोंपर राज्यभोगकी प्राप्ति लिये कदापि शस्त्र नहीं चलाऊंगा ।

हे श्रीकृष्ण ! आपने तो मधु राक्षस को मारा है, अन्यान्य शत्रुओं को भी मारा है, परंतु वे प्रसंग इस से भिन्न हैं। भीष्म द्रोण जैसे आप्त

(३) अर्जुनका न लडनेका निश्चय।

संजय उवाच--एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्ष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

अन्वयः— संजयः उवाच- परंतपः गुडाकेशः हृषीकेशं एवं उक्त्वा ' न योत्स्ये ' इति गोविन्दं उक्त्वा तूर्ष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय बोले--शत्रुको ताप देनेवाले और निद्राको जीतनेवाले (अर्जुन) ने इंद्रियों को स्वाधीन करनेवाले श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा और अन्तमें ' मैं न लडूँगा ' कह कर चुप होगया ॥ ९ ॥

सत्पुरुषों का वध करनेका प्रसंग आपपर कभी नहीं आया था। जिनसे वैरभाव उत्पन्न होने की अवस्थामें हम जीवित भी रहना नहीं चाहते, वेही संग्राममें इस समय मेरे सन्मुख खडे हैं। इनका वध करनेके पश्चात् हम जीवित रहना ही नहीं चाहते, ऐसे ये पूजनीय पुरुष हैं। इसलिये मेरे सन्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि क्या मैं इनको मारूं या इस युद्धक्षेत्र को छोड कर जंगल में जाऊं? इनमेंसे कौनसा कार्य करना उचित है, यह भी मेरे समझमें इस समय नहीं आता है। मैं क्या करूं?

युद्ध छिडनेपर उसका परिणाम हमारे अनुकूल होगा या प्रतिकूल होगा, यह भी किसको पता है? निश्चयसे हमारी जीत होगी या उनकी होगी यह इस समय संदेह की ही बात है। अतः ऐसे संदेह की अवस्थामें हम गुरुजनोंका वध करना प्रारंभ करें यह निःसंदेह अनुचित बात है।

इस युद्धमें इन पूज्य पुरुषोंका वध करके हमें जय भी प्राप्त हुआ, तोभी वह पराजयसे अधिक दुःखदायक होगा। क्यों कि इनके रक्तसे भीगे भोग भोगते समय इनका स्मरण होता रहेगा और उससे जो दुःख होगा, वह कई गुणा असह्य कष्ट देगा।

इस प्रकारके विचारसे मेरे अंदर की स्वाभाविक वीरवृत्ती नष्ट हुई है। मैं दीन बना हूं और इस समय क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका विवेक करनेकी शक्ति मेरे अंदर नहीं रही है। धर्म की दृष्टीसे इस समय मेरा कर्तव्य क्या है, यह बात मैं जानना चाहता हूं। हे श्रीकृष्ण! मैं इस समय आपको शरणागत हुआ हूं, आपही इस समय मुझे योग्य उपदेश-द्वारा सन्मार्ग बताने में समर्थ हैं। परंतु अन्तमें मैं आपसे स्पष्ट कहना चाहता हूं कि यदि पृथ्वीका निष्कंटक साम्राज्य प्राप्त हुआ, अथवा देवोंके स्वर्गका राज्य अर्थात् इन्द्रपदभी प्राप्त हुआ, तो भी मेरे इंद्रियोंको सुखानेवाले इस शोक को दूर करनेवाला कोई उपाय प्राप्त होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार इस समय मेरी दिशाभूल होगई है, मुझे ठीक मार्ग दीखता नहीं है। अतः प्रार्थना है कि आप योग्य उपदेश करके मुझे उचित मार्ग बताइये।"

(९-१०) ['गुडाकेश और हृषीकेश' इन दो शब्दोंकी टिप्पणी भ० गी० अ० १ श्लो० २४ के स्थानपर देखिये।] इस प्रकार अर्जुनने अपने हृदयकी दीनता प्रकट की और 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसा कह कर वह चुप होगया। यह आश्चर्य कारक घटना देख कर श्रीकृष्ण भगवान् आश्चर्यचकित हुए, क्यों कि अर्जुन जैसे आर्य वीर के मनमें ऐसी दीनता उत्पन्न होना संभवही नहीं था!! क्या कभी सूर्य अंधेरे में छिपाया जा सकता है, कभी मेरु पर्वत राईके दानेमें दबाया जा सकता है, क्या आकाश को समेट कर हटाना

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

सांख्ययोग।

(४) पण्डितोंकी समवृत्ती।

श्रीभगवानुवाच-- अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

अन्वय— हे भारत! उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तं (अर्जुनं) हृषीकेशः प्रसन् इव इदं वचः उवाच ॥ १० ॥ श्रीभगवान् उवाच— त्वं अशोच्यान् अन्वशोचः। प्रज्ञावादान् च भाषसे। पंडिताः गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति ॥ ११ ॥

हे धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के बीच खिन्न हो कर बैठे हुए (अर्जुन) से इंद्रिय-संयमी श्रीकृष्ण कुछ हंसते हुए इस प्रकार उपदेश करने लगे ॥ १० ॥ श्रीभगवान् बोले- जिनका शोक करना योग्य नहीं है, उनका ही शोक तू करता है, और ज्ञानकी बडी बडी बातें बोलता है? परंतु ज्ञानी लोग मरे हुओं का अथवा जीवितों का शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

भावार्थ— जिनके विषयमें शोक करना योग्य नहीं, उनके विषयका शोक करनेमें अपना समय गमाना किसीकोभी योग्य नहीं है। विना आगेपीछे का संबंध समझे बडे ज्ञानियोंके वाक्य बोलकर अपनी खोखली पंडिताई बताना भी किसीको योग्य नहीं है। ज्ञानी लोग कदापि प्राणोंके जाने अथवा रहने का शोक नहीं करते।

संभव है, क्या कभी महासागर सुखाया जायगा? जैसा यह कभी नहीं हो सकता है वैसा ही आर्यवीर के अन्तःकरणमें दीनता आना भी कभी संभव नहीं है। परंतु जो कभी होनेवाला नहीं था, वही आज बन गया!!! यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण किंचित् मुस्कराये, और मनमें समझे कि, यह अर्जुनकी अवस्था कोई आगंतुक कारणसे हुई नहीं है। इसके मूलकारणका विचार करनेसे उनको उसी समय पता लगा कि इसका कारण बडा गहरा है। शत्रुपक्षके संजय ने जो विषैला उपदेश अन्तिम समयमें किया था, वही इस दयालु पुरुषके मनपर जमगया है। शत्रुकी शिक्षा जैसी की वैसी स्वीकार करनेसे इसकी मति भ्रष्ट होगई है। अतः इसके अन्तःकरण का यह दोष विना विशेष उपदेश किये, नहीं धोया जायगा। अपना कौन और पराया कौन है, अपना संबंधी कौन और दूर का कौन, इसका तत्त्वज्ञान की दृष्टिसे विचार इसको समझाना चाहिये। ऐसा विचार करके भगवान्ने इसको इस प्रकार उपदेश करना आरंभ किया—

अध्याय का नाम।

(११) यद्यपि इस द्वितीय अध्यायका नाम 'सांख्य योग्य' है, तथापि पहिले दस श्लोकोंमें सांख्यतत्त्वज्ञान की बात बिलकुल नहीं है। इसी प्रकार इसी अध्याय के ३९ श्लोक तक ही सांख्यतत्त्वज्ञान का उपदेश किया है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। भ० गी० २। ३९

'यहांतक तुझे सांख्यज्ञानका उपदेश किया आगे योगका तत्त्वज्ञान श्रवणकर' ऐसा कहा है। वस्तुतः यहांतक ही सांख्य तत्त्व कहा है और इसके आगे योगतत्त्व कहा है। परंतु सांख्य और योग में बहुत भेद नहीं है। दोनों मार्ग कुछ समय के पश्चात् एकरूप हो जाते हैं। कई लोग 'सांख्य' को 'निरीश्वर योग' कहते हैं और 'योग' को 'सेश्वर सांख्य' भी कहते हैं। इतनी दोनों तत्त्वज्ञानों की एकरूपता मानी है। भगवद्गीतामें भी—

सांख्य और योग।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५॥
भ० गी० अ० ५

" मूढ लोग कहते हैं कि कि सांख्य और योग पृथक् हैं, इनमेंसे एक का अनुष्ठान करनेसे दूसरे का फल मिलजाता है। जो स्थान सांख्योंको मिलता है वही योगियोंको भी प्राप्त होता है। अतः सांख्य और योग एक हैं ऐसा जो जानता है वही ठीक बात जानता है। "

इस कथनसे स्पष्ट होता है कि सांख्यमार्ग और योगमार्ग परस्पर बहुत भिन्न नहीं हैं. इतना ही नहीं, परन्तु बहुत अंशोंमें एकरूपही हैं। इसी कारण इस अध्याय का नाम 'सांख्ययोग' रखा है, यद्यपि इसमें जैसा सांख्यमत कहा है उसी प्रकार योगमत भी कहा है। इस नामसे भी दोनोंकी एकरूपता ही सिद्ध होती है।

सांख्य शब्दका अर्थ।

'सांख्य' किसको कहते हैं, इसका यहां विचार करना चाहिये। इस तत्त्वज्ञानको 'सांख्य' नाम क्यों दिया गया, इसका हेतु देखिये 'संख्या' शब्दसे 'सांख्य' शब्द बना है और इसका अर्थ यह है—

चर्चा संख्या विचारणा। (अमरकोशः)
संख्यैकादौ विचारे च। (हेमकोशः)
संख्या सम्यगात्मबुद्धिः। (मधुसूदनसरस्वती=गी० टीका. ३।३; ५।४)
सम्यक्ख्यानं संख्या क्रमवैशिष्ट्येन ज्ञानम्।
(शब्देन्दुशेखर १४५)
पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्ते अस्मिन् इति सांख्यम् (मधुसूदन० गी० १८।१३)

" संख्या शब्दका अर्थ (सम्यक् ख्यानं) विचार करना, तत्त्वनिश्चय के लिये वादविवाद करना है। संख्या शब्दका दूसरा अर्थ आत्मविषयक निश्चित ज्ञान है। क्रमपूर्वक युक्तियों को दर्शाकर जिसमें सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है उसको सांख्य कहते हैं, इस जगत् में जितने पदार्थ हैं उन पदार्थोंकी संख्या बताकर उनका यथावत् ज्ञान जिस शास्त्र में कहा होता है उसको सांख्य कहते हैं। " यह सांख्य शब्दका अर्थ है। इसी विषयमें महाभारतका एक श्लोक देखिये—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥
म० भा० शान्ति० अ० ३२०। ८२

" किसी सिद्धान्त के विचार में दोषों और गुणों के प्रमाणका विचार करनेका नाम संख्या है। " अर्थात् इसमें दोष पांच हैं और गुण दस हैं, तो यह अच्छा है, दोषोंकी संख्या जिसमें अधिक है वह ठीक नहीं, इस प्रकार का निश्चय करना, इसका नाम 'संख्या' है। इस तरह संख्यानिश्चय जिस शास्त्र में किया होता है उसको सांख्य शास्त्र कहते हैं। सांख्य शास्त्रमें सबसे प्रथम विश्वके अंदर के जडचेतन पदार्थोंकी संख्या निश्चित की, जडपदार्थोंके कार्यों और चेतन के कार्योंका निश्चय किया, इस प्रकार संख्यानिश्चय करनेसे इस शास्त्र का नाम 'सांख्य' हुआ। इस सांख्यशास्त्रके अनुसार उपदेश सबसे प्रथम श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन को दे रहे हैं। अर्जुनका मोह दूर करनेके लिये तत्त्वज्ञानके विना दूसरा साधन कोई नहीं है। और 'अपना और पराया'

इस संबंधका मोह दूर करने के लिये सांख्य शास्त्र जैसा उपयोगी है, वैसा दूसरा कोई शास्त्र नहीं है, क्यों कि इस शास्त्रमें जगत् के संपूर्ण तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान दिया है। जिसको प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यका मोह दूर होता है।

दो प्रकारके लोग।

जगत् में दो प्रकारके लोग, प्राणी अथवा पदार्थ होते हैं। (१) एक "अ-गतासु" और (२) दूसरे "गतासु"। जिनके प्राण चले जाते हैं उनको गतासु कहते हैं, और जिनके प्राण शरीर में कार्य करते हैं उनको अगतासु कहते हैं। भाषामें 'गतासु' का अर्थ 'मृत' और 'अगतासु' का अर्थ 'जीवित' होता है। 'पण्डित लोग जीवित और मृत इनमें से किसी का शोक नहीं करते।' यह एक पण्डितोंका स्वभावधर्म इस श्लोकमें कहा है। यहां पण्डित वे कहे गये हैं जो इस सांख्यतत्त्वज्ञानको यथावत् जानते हैं, ये सांख्य-तत्त्वज्ञानी मनुष्य मरे हुओं का अथवा जीवित मनुष्योंका शोक नहीं करते।

जगत् में सबके सब लोग पण्डित नहीं हुआ करते। पण्डित उनको कहते हैं कि जिनको (पण्डा) आत्माके विषयमें यथार्थ ज्ञान (इत) प्राप्त हुआ है। अर्थात् आत्माका यथार्थज्ञान जो जानते हैं वे ज्ञानी जीवितों या मृतोंके विषयमें शोक नहीं करते। यदि गीताका यह श्लोक ठीक प्रकार समझनेकी पाठकों की इच्छा है तो 'गतासु और अगतासु' शब्दोंका उपयोग करनेसे ही श्रीकृष्ण भगवानजीका आशय समझमें आसकता है, इनके स्थानपर 'मृत और जीवित' शब्द रखनेसे या इस आशयके अन्य शब्द रखने से वह आशय समझमें नहीं आसकता। सांख्यशास्त्रके अनुसार 'मृत और जीवित' ऐसा भेद नहीं है, परंतु 'गतासु और अगतासु' ऐसा भेद जगत् में है। अब इस विषयमें बात यह है—

	अगतासु (जीवित)				गतासु (मृत)		
राजा	आत्मा	प्राण रहनेतक की अवस्था	प्रथम कक्षा	अमर्त्य	आत्मा	न बिगडनेवाला	प्राण जानेके पश्चात् की अवस्था.
रानी	बुद्धि		द्वितीय कक्षा		बुद्धि		
मुख्यमंत्री	सुषुप्तिका मन				सुषुप्तिका मन		
			... ...				
उपमंत्री	जागृतीका मन		तृतीय कक्षा	मर्त्यामर्त्य संबंध	जा. प्र. म. न.		
रक्षक	प्राण		चतुर्थ कक्षा		प्रा ण		
			... ...				
कार्यवाहक	इंद्रियां		पंचम कक्षा	मर्त्य	इं द्रि यां	बिगडनेवाला	
कर्मसाधक	शरीर		षष्ठ कक्षा		श री र		
कर्मसाधन	जगत्		सप्तम कक्षा		जगत्		

अगतासु और गतासु का चित्र

एक बडे मंदिर की कल्पना कर लीजिये। राजारानी अंदरकी प्रथम कक्षामें बैठती हैं। रातके समय का एक और दिनके समयका एक ऐसे दो प्रधान मंत्रीयोंका कार्यालय द्वितीय और तृतीय कक्षामें है। चतुर्थ कक्षामें रक्षक प्राणका कार्यालय है, दशविध प्राण इसके कार्यवाहक मुख्य प्राण की आज्ञासे सब शरीर भरमें जाकर विविध कार्य करते हैं। इसके बाद तीन कक्षायें हैं। इन सब कक्षाओंमें आत्माका राज्यशासन चल रहा है।

इस राज्यशासनमें प्राण द्वाररक्षक, या पहारेदार का कार्य करनेवाला है. यही 'असु' है। यह कुछ काल तक शरीरमें रहता है, और कुछ कालके पश्चात् शरीरको छोडकर बाहर चला जाता है। जब चला जाता है तब इंद्रियां और शरीर कार्य करनेमें असमर्थ हो जाती हैं. क्योंकि प्राणके ही आधीन रहकर वे कार्य कर सकते हैं। यह प्राण गया या रहा, तो प्रथम और द्वितीय कक्षामें रहनेवालों पर कोई परिणाम नहीं होता है। प्राण चला जानेसे तृतीय कक्षासे सप्तम कक्षा तक के जो कार्यवाहक हैं उनपर परिणाम होता है, परंतु प्रथम और द्वितीय कक्षाओंमें रहनेवालों पर प्राणके चले जानेका या रहनेका कोई बुरा या अच्छा परिणाम नहीं होता है।

उदाहरणार्थ देखिये, राजाके महलपर पहारा करनेवाले द्वारपालक एक दिन चले गये तो राजाकी शक्तिमें, बुद्धीमें या महत्तामें कोई न्यूनता नहीं होती। अधिकसे अधिक यही होगा कि राजारानी और मुख्य दीवान अपने दूसरे मंदिरमें जाकर निवास करेंगे, अथवा इसी मंदिरमें दूसरे द्वारपालक को रखेंगे। यहांभी यही होता है. प्राण जाने लगा तो मणिमंत्रऔषधीके प्रयोग से प्राणकी स्थापना शरीरमें की जाती है और इस उपायसे प्राण स्थिर न रहा, तो आत्मा, बुद्धी और मन दूसरे मंदिरमें रहने लगते हैं और वहां अपना वैसाही कार्य शुरू करते हैं, जैसा पहिले मंदिरमें शुरू था।

धनी पुरुषोंके घरमें अनेक द्वारपालक होते हैं। उनमेंसे चतुर्थ कक्षाका द्वाररक्षक नौकरी छोडकर चला गया, तो कोई रोते पीटते नहीं; क्योंकि मुख्य धनी पुरुष वैसाका वैसाही होता है। उसी प्रकार जिन ज्ञानियोंको पता है कि, प्राण चले गये तो भी आत्मा, बुद्धी और मन वैसेके वैसेही हैं और उनमें कोई न्यूनता नहीं हुई. वे क्यों शोक करेंगे? क्योंकि जिनके लिये शोक करना है वे तो प्रथम और द्वितीय कक्षामें जैसेके वैसे ही हैं। चतुर्थ कक्षा टूट भी गई तो भी पूर्वकी तीनों कक्षाएं जैसीकी वैसीही रहती हैं। इस विषयका निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान पण्डितोंको होता है. अतः वे (गतासु) मृत और (अगतासु) जीवित दोनोंमेंसे किसीभी अवस्थाके विषयमें शोक नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि जिसका आनंद या शोक करना है, वह दोनों अवस्थाओं में जैसाका वैसाही है।

यहां कोई कहेगा कि इंद्रियों और शरीरके नष्ट होनेका शोक ज्ञानियोंको क्यों न होगा? इसके विषयमें शोक न होनेके कई कारण हैं देखिये—

१ ज्ञानी जानते हैं कि यह शरीर प्राप्त होनेके पूर्व भी कई वार शरीर प्राप्त हुआ था और हरएक वार वह नाशको भी प्राप्त हुआ। अतः कितने शरीरोंके विषयमें शोक करें? यही एक शरीर मिला है ऐसी बात नहीं है। हरएक वार शरीर मिलता है और वह नाश को प्राप्त होता रहता है। यह उसका स्वभाव ही है। फिर स्वभाव के लिये क्या रोना है।

२ शरीर तो अवश्य नाशको प्राप्त होगा ही शरीर उसीको कहते हैं कि जो (शीर्यते) नाश होता है। फिर नाश होनेवाले का नाश हुआ तो उस विषयमें शोक किसका करना है?

पहारेदार पहारेपर आते हैं और बीच बीच में कार्य छोड कर या नौकरी छोडकर चले भी जाते हैं। अतः वे रहे या गये तोभी किसी

प्रकार शोक करना उचित नहीं। यहां घरका स्वामी नाश को प्राप्त हुआ तो वह शोक का विषय हो सकता है; परंतु 'आत्मा' अविनाशी होनेसे न वह कभी जन्म लेता है और न कभी वह मरता है, अतः उस विषयमें शोक करनेका कदापि कोई कारण ही नहीं है।

ज्ञानी लोग पूर्ण रीतिसे यह बात जानते हैं अतः जीवित या मृत अवस्थाके कारण वे कभी शोक नहीं करते। परंतु जो लोग पण्डित नहीं होते हैं, परंतु मूढ या साधारण लोग होते हैं, वे इस ज्ञानको नहीं जानते हैं और वे समझते हैं कि प्राण जानेके पश्चात् आत्मा भी मरता है, और इस कारण प्राण जाते ही रोने लगते हैं। परंतु घरका मालिक जीवित रहनेतक, पहारेदार नौकरी छोड कर चला गया, तो घरके मालिकके कारण रोनेपीटनेकी क्या जरूरत है? जब उसको दूसरा पहारेदार निश्चयपूर्वक मिलनेवाला है ?

यदि यह विचार पाठक समझेंगे, तो "जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डित जन क्यों शोक नहीं करते" इस बातका ज्ञान पाठकोंके ध्यानमें आवेगा। इस प्रकार इस श्लोकार्धसेही भगवान ने अर्जुन का मोह दूर करनेका ज्ञान दिया, परंतु इतने संक्षेपसे कहा ज्ञान साधारण जनके समझमें नहीं आसकता; अतः आगे इसका स्पष्टीकरण होगा।

(गतासु) मृत किंवा (अगतासु) जीवित लोग ये सबके सब (अ-शोच्य) शोक करने योग्य नहीं हैं। क्योंकि जो मुख्य आत्मतत्त्व है उसकी स्थितिकी दृष्टीसे उक्त दोनों अवस्थाओंमें कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार घरका स्वामी जाग्रत रहा किंवा सोगया, तो कोई शोक का विषय नहीं होता है। उसी प्रकार यह है। अतः मृत या जीवित कोई अवस्था हो, किसी अवस्थाके लिये शोक करना योग्य नहीं है।

अर्जुन बडी बडी ज्ञानी जैसी बातें तो बोलता है, परंतु ये सब आप्त जन मरेंगे ऐसा मानकर शोक कर रहा है। अर्थात् जो ज्ञानके वाक्य वह बोल रहा है, उनका भाव उसके समझमें बिलकुल नहीं आया है यह सत्य है। इसी कारण यह तत्त्वज्ञान उसको सबसे प्रथम समझाना चाहिये। इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं–

'अरे अर्जुन! ऐन युद्ध के समय तूने यह क्या प्रारंभ किया है। तू अपने को बडा ज्ञानी मानता है, परंतु अपना अज्ञान छोडना नहीं चाहता, अच्छा, तुमको कोई सिखलाने का विचार करे, तो तू स्वयं स्यानेपन की बातें बोलने लगता है! जैसा जन्मान्ध पागल होता है और उस पागलपनमें इधर उधर नाचने लगता है, वैसी तेरी अवस्था बन गयी है !! अरे, तू अपने आत्माका स्वरूप तो नहीं जानता, परंतु कौरवोंके लिये शोक करता है, कितना आश्चर्य है। इस विश्वकी रचना अनादि कालसे चली है और उसका संचालक प्रभु सर्वसमर्थ है यह सब तू भूल गया! तू ही इस सब जगत् का उत्पादक तो नहीं है? जगत् के पालनेवाले प्रभुने ये सब प्राणिमात्र उत्पन्न किये और उसीने उन सबकी जन्ममृत्यु की योजना की है तूने तो यह योजना नहीं की है? क्या तूही अकेला इनका नाश करनेवाला है और तूने इनका नाश नहीं किया तो ये अमर रहेंगे? तू ही इनको मार सकता है और तेरे प्रयत्नसेही ये मर सकते हैं? क्या यही तेरा विश्वास ठीक है? तूने इनका वध नहीं किया तो ये चिरंजीव रहेंगे? यही तेरा विश्वास है ना? जरा अनादिसिद्ध विश्वकी महती रचना कैसी चल रही है और उसमें उत्पत्तिविनाश ये स्वयं कैसे चल रहे हैं इसका जरासा विचार तो कर, तो तुझे पता लगेगा कि इनका जीना या मरना तुम्हारे प्रयत्नके आधीन नहीं है। वह किसी अन्य प्रचण्ड शक्तिके आधीन है। अतः तूने इनको न मारा और उस प्रचण्ड शक्तिके मनमें इनको मारनेका विचार हुआ तो ये यहां खडे नहीं हो सकेंगे। अतः किसीके जीने या मरनेके कारण ज्ञानी लोग शोक नहीं करते और तेरे जैसे मोहित भी नहीं होते। तुझको अब यहां

(५) हम सब सनातन हैं।

न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

अन्वयः— अहं जातु न आसं (इति) न तु एव, त्वं (जातु न आसीः इति) न, इमे जनाधिपाः (जातु न आसन् इति) न, अतः परं च सर्वे वयं न भविष्यामः (इति) न एव ॥ १२ ॥

मैं किस कालमें नहीं था (ऐसा) नहीं, तू (कभी नहीं था ऐसा) नहीं, ये राजा लोक (कभी नहीं थे ऐसाभी) नहीं और इसके बाद भी हम सब न होंगे (ऐसा) भी नहीं है। (अर्थात् हम पहिले भी थे, इस समय हैं, और आगे भी होंगे) ॥ १२ ॥

भावार्थ— सब देहधारण करनेवाले आत्मा, (वे देह धारण करें या न करें,) नित्य हैं। वे देहधारण करनेके पूर्व थे, देहधारणके पश्चात् भी वैसे ही होंगे और देहपातके पश्चात् भी रहेंगे ॥ १२ ॥

इसी बातका विचार करना चाहिये कि, उस नियामक प्रभुके विश्वव्यापक प्रचण्ड कार्यका भागी बनकर यहांका तेरे ऊपर आया हुआ कार्य करना है अथवा उसके विरुद्ध होकर जैसा चाहे वैसा मनमाना व्यवहार करके उसका परिणाम भोगना है। हम सब इसी समय इस जगत्में देह-धारण करके आगये हैं, पहिले कभी नहीं थे और आगेभी कभी नहीं होंगे, यह बात नहीं है।

(१२) जगत्में पदार्थ दो हैं। (१) एक देह, जिसको शरीर कहते हैं, और (२) दूसरा आत्मा जिसको जीवात्मा कहा जाता है, शरीर उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, परन्तु आत्मा अविनाशी और अजन्मा है। देहकी उत्पत्तिके साथ आत्मा जन्मता नहीं और शरीरके नाशके साथ आत्माका नाश भी नहीं होता है। शरीर मिला या न मिला तो भी आत्मा अनादि अनन्त अर्थात् नित्य है और अपनी शक्तियोंके साथ जैसा का वैसाही रहता है। शरीरकी शक्तियाँ न्यूनाधिक होती हैं, शरीरका जन्म होता है और नाश भी होता है। साधारण लोग शरीर को ही मनुष्य कहते हैं और यह मनुष्य जन्मको प्राप्त हुआ, तरुण या वृद्ध हुआ और अन्तमें मरा ऐसा भी मानते हैं, इन साधारण जनोंको पुत्र-जन्मसे आनन्द होता है और संबंधीकी मृत्यु से दुःख होता है। परन्तु जो ज्ञानी लोग मनुष्य को स्थूल शरीरकी ओरसे देखते नहीं, परन्तु आत्माकी ओरसे देखते हैं, उनको तो उसमें जन्म और मृत्यु होनेवाला कोई पदार्थ दीखता ही नहीं, क्योंकि उनके सन्मुख सदा नित्य आत्मा ही रहता है। यह श्लोक उन ज्ञानियोंके दृश्यबिन्दु से लिखा है। पूर्व चित्रमें दर्शाया ही है कि ' आत्माबुद्धिमन ' ये अविचल हैं और ' इन्द्रियां और शरीर ' ये चल हैं। और प्राण दोनोंका संबंध करनेवाला है, मनुष्यके ये दो भाग हैं, एक मर्त्यभाग है और दूसरा अमर भाग है।

साधारण मनुष्य अपने मर्त्यभाग को जानता है, और अपने अन्दर की अमर सत्ताको नहीं जानता, इस कारण वह मरा और यह जन्मा ऐसी भाषा बोलता है। यदि यह अपनी अमर सत्ताको जानेगा, तो यह किसीके जन्मसे आनंदित नहीं होगा और किसीकी मृत्युसे दुःखी भी नहीं होगा, क्यों कि वह जन्म, जीवन और मरण इन तीनों अवस्थाओंमें समानतया रहनेवाली इसकी अमर सत्ताको जानता है।
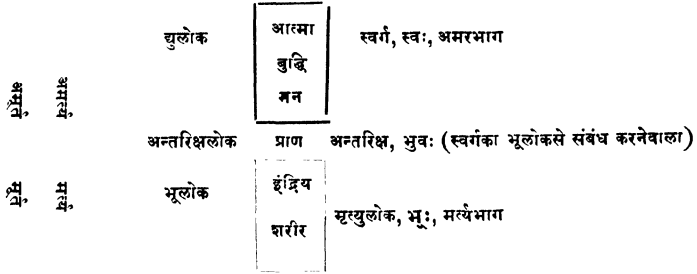
न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।
कठ उप० ५। ५

"प्राण और अपानसे मनुष्य जीवित नहीं रहता, किसी अन्य शक्तिके कारण जीवित रहता है जिसमें ये प्राण और अपान आश्रित होते हैं।" इस उपनिषद्के वचनमें भी वह अमर सत्ता कही है, जो इस गीताके वचनमें कही है। इसको ही आत्मा कहते हैं, इसके आश्रयसे प्राण, इंद्रियां और शरीर इनकी स्थिति होती है। इसी विषयमें और देखिये—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च० ॥ १ ॥......इदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणात्० ॥ ४ ॥ अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतं० ॥ ५ ॥
छांदोग्य उ० २। ३। १

"ब्रह्मके दो रूप हैं, (१) एक अमूर्त और अमर और (२) दूसरा मूर्त और मर्त्य। प्राणसे भिन्न जो इंद्रियां और शरीर आदि हैं वह मूर्त अर्थात् साकार है, यह मर्त्य अर्थात् मरनेवाला है। जो अमूर्त प्राण आदि (मन बुद्धि आत्मा) है वह अमूर्त अर्थात् निराकार है और यह अमर है।"

इस उपनिषद्वचनमें स्पष्ट कहा है कि, मनुष्यके अंदर "मरनेवाला एक भाग है और दूसरा अमर भाग है।" मरनेवाला भाग साकार और स्थूल है तथा न मरनेवाला जो अमर भाग है वह निराकार और सूक्ष्म है। यहां हमें पता लगा कि जो अमर भाग जिसको हम यहां आत्मा कहते हैं वह शरीरके नाशके पश्चात् रहनेवाला है और शरीरके जन्मके पूर्व भी वह होता है। जो शरीरकी उत्पत्तिके पूर्व होता है और शरीरके मरनेके पश्चात् भी रहता है वही अमर कहने योग्य है।

इस युद्धभूमिमें जो कौरव पाण्डव वीर युद्धके लिये उपस्थित हैं, उनके अन्दरभी एक अमर आत्मा और मरनेवाला एक शरीर ऐसे दो भाग हैं। इन सबका आत्मा अमर होनेसे वह उन सबके जन्मके पूर्व भी था और इसी कारण इनके मरनेके पश्चात् भी रहेगा। यही दर्शानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णजीने कहा कि "तू, मैं, और ये सब पहिले भी थे, इस समय हैं और आगे भी रहेंगे।" अर्थात हममेंसे कोई भी शरीरके जन्मके साथ जन्मा है और शरीरकी मृत्युसे मरेगा वह बात नहीं है, अतः हम सब नित्य हैं। और यदि नित्य हैं तो नित्य पदार्थके लिये शोक करनेका किसीको क्या कारण है?

वायुके चलनेसे जलपर तरंग उठते हैं, वायु स्तब्ध होनेसे तरंग भी मरजाते हैं। जलके तरंग बनने या नाश होनेसे जिस प्रकार जलमें कोई

(६) पुनर्जन्म।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३

अन्वयः- देहिनः अस्मिन् देहे यथा कौमारं यौवनं जरा, तथा देहान्तरप्राप्तिः। तत्र धीरः न मुह्यति ॥ १३ ॥

देहधारी (आत्मा) को इस देहमें जिसप्रकार बालपन, तरुणपन और वृद्धपन प्राप्त होता है, उसी प्रकार (आगे) उसी आत्माको दूसरी देह भी प्राप्त होती है। (इस कारण) इस विषयमें ज्ञानी पुरुष मोहित नहीं होता ॥ १३ ॥

भावार्थ— बालपन, तारुण्य और वृद्धावस्था ये जैसी तीन अवस्थाएं हैं उसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्ति भी एक चतुर्थ अवस्था है। अतः पूर्व तीन अवस्थाओंके पश्चात् क्रमसे चतुर्थ अवस्था प्राप्त होती है, इसमें कोई संदेह नहीं ॥

न्यूनाधिकता नहीं होती है, उसी प्रकार प्राणवायु के चलनेसे प्रकृतिके समुद्रमें यह शरीररूपी एक तरंग उत्पन्न हुआ और प्राणवायु स्तब्ध होनेसे वह तरंग शान्त हुआ। उससे देहधारी आत्माको अनित्यता नहीं मानी जा सकती। जैसे वायु स्तब्ध होनेपर जल और जलका आधार जैसेके वैसही हैं। उसी प्रकार कुछ अंशमें पाठक यहां आत्माके विषयमें समझें।

सबका तात्पर्य यही है कि शरीरमें रहनेवाला आत्मा अमर है और शरीर नाशवन्त है। शरीर के मरनेपरभी वह जैसा का वैसाही रहता है। शरीरके नाशके साथ आत्माका कुछ भी बिगडता नहीं, यह बात यहां स्पष्ट होगई। अतः अर्जुनके बाणसे ये भीष्मादि कौरव मरेंगे ऐसी जो अर्जुन की शंका थी, उसका यह शास्त्रीय उत्तर है कि वे नहीं मरेंगे, शरीर कितनी वार भी जन्मे या मरे, उनकी आत्माकी अवस्थामें कोई न्यूनाधिक नहीं होता है।

इतना विचार जाननेके पश्चात् यह शंका उपस्थित होती है कि "आत्मा नित्य है, और देह अनित्य है, यह सत्य है. परंतु जीवित रहनेतक देहके साथ आत्मा है यह हम देखते हैं। देहका नाश होनेके पश्चात् उस आत्माका क्या होता है यह हमें पता नहीं चलता, अतः मरनेका शोक होना योग्य है।" इस शंकाका उत्तर अगले श्लोकमें देते हैं—

(१३) शरीर की तीन अवस्थाएं यहां कहीं हैं, परंतु वस्तुतः यहां छः अवस्थाएं होती हैं। (जायते) उत्पन्न होना, (अस्ति) होना, रहना, (वर्धते) बढना, (विपरिणमते) परिणाम होना, (अपक्षीयते) क्षीण होना और (नश्यति) नाशको प्राप्त होना। इन पांच अवस्थाओंमें बालपन, तारुण्य और वृद्धपन क्रमशः होता है। बालपन के पश्चात् तरुणपन, और तारुण्य के पश्चात् बुढापा क्रमपूर्वक होता है। किसी शरीर का मरण तारुण्यमें हुआ, तो उसको वार्धक्य नहीं आवेगा, और किसी की मृत्यु बालपनमें हुई तो उसको तारुण्य और वार्धक्य नहीं आवेगा, यह सत्य है; परंतु यदि किसीकी दीर्घायु हुई और उसको तीनों अवस्थाएं प्राप्त होनी हैं, तो पहिली आयुमें बालपन, मध्य आयुमें तरुणपन और पश्चात् की आयुमें वृद्धपन आवेगा। इसका तात्पर्य यह है कि यह क्रम कदापि नहीं बदलेगा एक के पीछे ही दूसरेने और दूसरे के पीछे तीसरेने आना है। यह बात सबके प्रत्यक्ष अनुभवमें होनेसे इस विषयमें किसीको संदेह नहीं

पूर्वदेह			वर्तमानसमयका देह					दूसरा देह				
वार्धक्य	मृत्यु	जन्म	बालपन	तारुण्य	वार्धक्य	मृत्यु	जन्म	बालपन	तारुण्य	वार्धक्य	मृत्यु	जन्म

आ　　त्मा　　आ　　त्मा　　आ　　त्मा

हो सकता। इस देहकी तीनों अवस्थाएं होनेमें देहधारी आत्मामें कोई हेरफेर नहीं होता है। देहके बालपनसे आत्मा बाल नहीं होता, इसी प्रकार देहके तारुण्य और वृद्धपन के साथभी आत्मा तरुण या वृद्ध नहीं होता है। वह सदा एक जैसा रहता है। जैसी ये तीनों अवस्थाएं हैं उसी प्रकार इस देहकी समाप्तिपर दूसरा देह प्राप्त होना भी एक चौथी अवस्था है। आत्मा जैसा पहिले तीन अवस्थाओंमें रहता हुआ एक जैसा रहता है, उसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्ति होनेपर भी वैसाही रहता है। और इसी प्रकार इस जन्मके पूर्वभी पूर्व देहकी अन्तिम अवस्थामें वह था। इस प्रकार ये चारों या पांचों अवस्थाएं क्रमपूर्वक आत्माको देह के कारण प्राप्त होती हैं ऐसा साधारणतः समझनेसे आत्मा कैसा नित्य है और देह कैसे अनित्य हैं, यह बात ठीक प्रकार समझमें आसकती है।

जितने निश्चयसे बालपनके नंतर तारुण्य आता है, उतने ही निश्चयसे उसके बाद वार्धक्य आता है और उतने ही निश्चयसे मृत्युके बाद दूसरा देह भी प्राप्त होता है। पुत्रने बालपन का त्याग किया और तारुण्यको प्राप्त किया, तो कोई रोते पीटते नहीं; इसी प्रकार उसने इस देहका त्याग करके दूसरा देह प्राप्त किया, तोभी उसमें दुःख करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। क्यों कि उसकी चार अवस्थाओंमें यह भी एक अवस्था है और वह यथाक्रम प्राप्त होनी ही है। वेदमें यह बात अन्य रीतिसे कही है देखिये—

सनातनमेतदाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः ॥२३॥
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥२७॥ उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः। एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ २८ ॥

अथर्ववेद १०।८

" यह सनातन है, यह पुनः पुनः (पुनः नवः) नवीन जैसा होता है ॥ २३ ॥ तू स्त्री है और पुरुषभी है, तू कुमार है और कुमारी भी है, वृद्ध होनेपर तू हाथमें सोटी लेकर चलता है, और जब तू नवीन जन्मता है तब तू सर्वत्र देखता है ॥ २७ ॥ तू इनका पिता है और इनका पुत्र है, इनमें ज्येष्ठ है और कनिष्ठ भी है। मनमें प्रविष्ट होकर रहा हुआ तू एक ही देव है। जो पहिले जन्मा था वही अब गर्भ में पुनः आगया है॥२८॥ "

अर्थात् जीवात्मा सनातन अथवा नित्य है, वह स्त्रीके शरीर में स्त्री और पुरुषशरीरमें पुरुष होता है। वह कुमारकुमारी वृद्धतरुण जरा-पीडित होता है, वह शरीरकी अवस्थाके कारण ही होता है ऐसा मानते हैं। उसी प्रकार यह किसीका पिता, किसीका पुत्र, किसीका बडा भाई और किसीका छोटा भाई होता है। यह मनमें प्रविष्ट हुआ एक ही देव है, मनके अंदर बुद्धि और आत्मा विराजमान रहता है और यही एकवार जन्म लेनेपर भी पुनः पुनः गर्भमें आता है अर्थात् वारंवार जन्मता है।

इसका सच्चा मतलब यही है कि यह आत्मा नित्य है अतः यह पुरुषके शरीरमें पुरुष होनेपर भी वस्तुतः यह पुरुष नहीं, परंतु शरीरका गुणधर्म इसपर माना गया है। स्त्रीके शरीरमें स्त्री माना जानेपर भी उसी कारण यह स्त्री नहीं। बालकके शरीरमें यह बालक और कुमारीके शरीरमें यह कुमारी होता है परंतु ये भी शरीरके

धर्म हैं वस्तुतः यह न कुमार है और न कुमारी है। इसको कोई पिता कहते हैं, कोई पुत्र और कोई बडा या छोटा भाई कहते हैं, यह कहना भी शरीरकी अपेक्षासे है। वस्तुतः यह किसीका पिता नहीं, किसीका पुत्र या भाई अथवा बहिन भी नहीं है। यह पहिले एकवार जन्मा था और अब पुनः गर्भमें आया है, इसका अर्थ स्पष्ट है कि इसका पहिला शरीर छूट गया है और यह दूसरा शरीर प्राप्त करनेकी तैयारीमें है।

इस प्रकार इसको बाल्य, तारुण्य, वार्धक्य जैसा प्राप्त होता है उसी प्रकार नवीन शरीर भी प्राप्त होता है, यह बात वेदमंत्रों द्वारा भी उक्त प्रकार कही गई है। वेदमें जीवात्माका जन्म, तारुण्य, क्षय और पुनर्जन्म बतानेके लिये 'चन्द्रमा' का उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्ल प्रतिपदामें जन्मता, शुक्ल अष्टमीतक बालकसा रहता है, पूर्णिमातक पूरा जवान होता है, पश्चात् कृष्ण अष्टमीसे क्षीणता आती है और अमावास्याकी रात्रीमें इसका देहपात होता है, और यह पश्चात् पुनः जन्म लेता है। चद्रमाकी जैसी सोलह कलाएं हैं वैसीही जीवात्माकी भी सोलह कलाएं मानी हैं। इस प्रकार साम्य वेदमें वर्णित है, यह इसी लिये है कि जनताको पता लगे कि जीवात्मा भी (पुनः नवः=पुनर्णवः) पुनः पुनः जन्म लेकर नवीन जैसा होनेवाला है। इसी प्रकार उपनिषदोंमें भी कहा है—

वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते।

ऐ० उ० ४।४

पुनःपुनर्वशमापद्यते मे॥ कठ उ० २।६

"बडी आयु होनेके पश्चात् इस लोकसे जाता है और पुनः जन्म लेता है। वह पुनः पुनः (जन्म लेकर मुझ मृत्युके) वशमें होता है।"

पूर्वोक्त स्थानमें 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि०' इत्यादि मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषदमें (४।३में) आगया है, पाठक वहां उसका संबंध अवश्य देखें। इस श्वेताश्वतर उपनिषद्का एक मंत्र यहां विशेष रीतिसे देखने योग्य है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः॥ स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ श्वे० २।१६

वा० य० ३२।४

"यही (देवः) प्रकाशमान आत्मा सब दिशाओंमें है वह (पूर्वः जातः) पहिले जन्मा था, (सः गर्भे अन्तः) वही फिर गर्भमें आया है, (सः जातः) वह एक वार जन्मा हुआ (जनिष्यमाणः) भविष्यमें पुनः जन्म लेगा। यह हरएक मनुष्यमें रहता है इसका मुख सब ओर है अर्थात् जितने मनुष्य अथवा प्राणी हैं उतने सब इसके मुखही हैं।

इसी कारण इसको 'मातरिश्वा' अर्थात् 'मातके गर्भ में रहने वाला' कहते हैं, क्यों कि यह वारंवार माताके गर्भमें जाता है और जन्मधारण करता है। पहिला जन्म लेकर देह प्राप्त करता है, उस देहकी समाप्तिपर उस देहका त्याग कर माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है, वहां नया देह धारण करता है। इस प्रकार यह वारंवार माताके गर्भ में रहकर वारंवार भिन्न भिन्न देह प्राप्त करता है।

इत्यादि स्थलोंपर पुनर्जन्मके विषयमें उपनिषदोंके अंदर लिखा है। अर्थात् जीवात्मा निःसंदेह पुनर्जन्म प्राप्त करता है, इस विषयमें संदेह नहीं। इसी प्रकार इष्ट, मित्र, संबंधी, गुरु आदि नातेका जो संबंध है वह भी शरीरकी अपेक्षासे ही है। वह संबंध आत्माकी अपेक्षासे नहीं है। अर्थात् इस तत्त्वज्ञानके उपदेशसे अर्जुनको यह ज्ञान दिया कि जिनको अर्जुन गुरू, पिता, दादा, मामा आदि आप्तजन समझता है वह नाता केवल इस समयके अनित्य शरीरके संबंधसे उत्पन्न हुआ है। वस्तुतः उनके अंदर जो नित्य आत्मा विद्यमान है, उसकी दृष्टीसे इस प्रकारका कोई नातेका संबंध नहीं है, क्योंकि वह न कभी किसीका गुरु है और न दादा, मामा होता है। अतः यह संबंध अनित्य है। अर्थात् इस अनित्य संबंधके कारण

(७) अमर बननेका सामर्थ्य ।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! मात्रास्पर्शाः तु शीतोष्णसुखदुःखदाः, आगमापायिनः, अनित्याः । हे भारत ! तान् तितिक्षस्व ॥ १४ ॥ हे पुरुषर्षभ ! हि यं समदुःखसुखं धीरं पुरुषं एते न व्यथयन्ति, सः अमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (इंद्रियोंके) बाह्य सृष्टीके साथ होनेवाले स्पर्श शीत उष्ण, सुख और दुःख देनेवाले हैं, वे कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते; अतः वे अनित्य हैं। इस कारण, हे भरतकुलमें उत्पन्न ! उनको तू सहन कर ॥ १४॥ हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ ! क्यों कि जिस सुख दुःखको समान माननेवाले धीर पुरुष को ये पीडा नहीं देते, वह अमरपन के लिये समर्थ होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ- शीत उष्ण सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति अपने अन्दर बढाना मनुष्यको योग्य है; क्योंकि जिसको ये द्वन्द्व कष्ट नहीं दे सकते, वही मनुष्य अमर होने का सामर्थ्य प्राप्त करता है ॥ १४-१५ ॥

शोक मोहमें फंसना किसीको भी योग्य नहीं है ।

यहां प्रश्न होता है कि वर्तमान शरीर संबंधसे उत्पन्न होनेवाला यह दादा, मामा, भाई आदि संबंध भलेही अनित्य हो, यह संबंध इस शरीरके पूर्व भलेही न हो, तथा आगे प्राप्त होनेवाले शरीर के समय भी न रहे, परंतु इस समय तो है ना ? फिर यह प्रत्यक्ष इस जन्मका संबंध नाश होते देखनेसे शोक क्यों न किया जाय ? अर्जुनका मोह भी इसी कारण था, अतः इसका निराकरण करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

(१४—१५) जिससे शोक या आनन्द होता है। वह संबंध नित्य नहीं है। इन्द्रियोंका संबंध जगत् के साथ होनेसे सुख दुःख, शीत उष्ण, शोक या आनंद इत्यादि द्वन्द्व भासमान होते हैं। यह संबंध न होनेपर ये नहीं होते। यह संबंध कभी होता है कभी नहीं भी होता है। अर्थात् यह संबंध अनित्य है। इस कारण इन से मोहित होने की अपेक्षा इन द्वन्द्वोंको सहन करना अधिक लाभ दायक है।

'मात्रा'का अर्थ !

'मात्रा' का अर्थ है ' प्रकृति, प्राकृतिक जगत्, प्राकृतिक तत्त्व,' [इसी ' मात्रा ' शब्द से अंग्रेजी Matter मैटर शब्द बना है और ऊर्दूका ' माद्दा ' शब्द भी बना है ।] गीतामें—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि
यत् सुखं　　भ० गी० अ०५।२१

अर्थात् "बाह्यस्पर्श के विषयमें जो आसक्ति नहीं धारण करता, उसको आत्मिक सुख मिलता है।" ऐसा कहा है। यहां का " बाह्य-स्पर्श " और इस श्लोक का 'मात्रा-स्पर्श' ये दोनों शब्द प्रायः एकही भाव बतानेवाले हैं। बाह्यस्पर्श का अर्थ है " बाह्य जगत् के विषयों का भोग " यही अर्थ " मात्रास्पर्श " काभी है। इस विषयमें अनासक्ति भी इसी लिये धारण करना है, कि ये बाह्य

स्पर्श सुख दुःखादि द्वन्द्व उत्पन्न करनेवाले हैं । मनुस्मृतिमें कहा है-

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगविवर्जितः ॥
म० स्मृ० ६।५७

" लाभ न होनेपर खेद न करे और लाभ होने पर हर्ष न करे । इस प्रकार (मात्रा-संग-विवर्जितः) प्राकृतिक भोगोंसे अपना संबंध छोडकर जीवन-यात्रा चलावे । " यह कथन भी भ० गीता के समदुःखसुखी होनेके उपदेश के समान ही है । यहां "मात्रासंग " शब्द है, यहां " मात्रा " शब्दका अर्थ "प्राकृतिक भोग साधन" स्पष्ट है । मात्रा का यही अर्थ यहां अपेक्षित है । कई लोग मात्रा शब्दका अर्थ इंद्रिय करते हैं, यद्यपि यह इस शब्द का अर्थ है, परंतु वह यहां अभीष्ट नहीं है ऐसा हमें प्रतीत होता है । मात्रा शब्दका इंद्रिय अर्थ करनेपर "मात्रास्पर्श" का अर्थ इंद्रियों का स्पर्श जो प्राकृतिक भोगोंसे होता है वह सुखदुःख देनेवाला है इत्यादि प्रकार अर्थ करना होगा ।

इस प्राकृतिक जगत् के साथ जिस समय मनुष्य की इंद्रियों का संबंध होता है, उस समय शीत उष्ण, सुखदुःख आदि का भास होता है । जिस समय यह संबंध नहीं होता, उस समय सुख दुःखादि द्वन्द्वों का भास भी नहीं होता । संबंध होनेपर ही केवल सुखदुःखादि द्वन्द्वोंका भास होता है, परंतु उस समय सच्चा सुख या सच्चा दुःख होता है वा नहीं, यही एक विचारणीय बात है ।

'मात्रा'का स्पर्श ।

पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश इन पांच महा भूतोंके गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये गुण हैं । इन गुणोंका ग्रहण क्रमशः नासिका, जिव्हा नेत्र, त्वचा व कान इन पांच इंद्रियों द्वारा होता है और उससे सुख दुःख हानि लाभ हुआ करता है । इंद्रियोंका महाभूतों से (मात्रास्पर्शाः) स्पर्श होता है, स्पर्श होते ही तत्त्वों के गुणोंसे संबंध होता है और इससे शीत उष्ण आदि की प्रतीति होती है ।

नासिका गंध का ग्रहण कर सकती है । इस कारण पृथ्वीमें रहे सब प्रकारके गंध अर्थात् सुगंध या दुर्गंध उसके अनुभवमें आते हैं । सुगंधसे इसको सुख और दुर्गंधसे दुःख होता है । जिव्हा रसका ग्रहण करती है, आपूतत्त्वसे अनेक रसोंकी प्राप्ति होती है, मधुर रससे इसको आनन्द होता है और कडुवे रससे इसको दुःख होता है । प्रकृतिभेदके अनुसार किसीको खटाई प्रिय होती है, तो किसीको नमकीन चीज पसंद होती है । जिसको जो रस प्रिय होता है उसको उससे सुख और अप्रिय रससे दुःख होता है । नेत्र रूपका ग्रहण करती है, तेजसे रूपकी प्राप्ति होती है । सुंदरतासे इसको आनन्द और कुरूपतासे दुःख होता है । त्वचासे यह स्पर्शका ग्रहण करता है, वायुसे इसको बहुविध स्पर्श अनुभव होते हैं । मृदुस्पर्शसे इसको सुख और कठोर स्पर्शसे दुःख होता है । कानसे इसको शब्द सुनाई देते हैं, आकाशका शब्द गुण है, वहांसे इसको मंजुल और कर्कश शब्द श्रवणपथमें आते हैं । मधुर शब्दसे यह प्रसन्न होता है और कठोर शब्दसे अप्रसन्न होता है । इस प्रकार यह सुखदुःखके अनुभव का विचार है ।

इंद्रियोंका प्राकृतिक तत्त्वोंसे (मात्रास्पर्शाः) स्पर्श होनेपर (शीतोष्ण-सुख-दुःख-दाः) शीत उष्ण, सुख दुःख, आदिकी प्राप्ति होती है । प्राकृतिक तत्त्वोंसे इंद्रियोंका स्पर्श न हुआ, तो शीत उष्ण, सुख दुःख, आदि नहीं प्राप्त होते । उदाहरण के लिये देखिये, एक मनुष्य जन्मान्ध है, उसकी नेत्र इंद्रिय जगत् के रूपका ग्रहण करही नहीं सकती, इसलिये न उसको सुंदर रूपसे संतोष होता है, ना ही कुरूपतासे दुःख होता है । इसी प्रकार बहिरे मनुष्यको कोमल आलापसे सुख भी नहीं होता और कठोर गालियोंसे दुःख भी नहीं होता । इससे सिद्ध है कि, जगत्के साथ इंद्रियों

का संबंध हुआ, तो ही सुख दुःख होना संभव है, अन्यथा नहीं।

द्वंद्वोंकी अनित्यता।

इसमें और एक बात है कि, एकही संबंध देर तक होनेसे उसका सुख जाता रहता है। जैसा जिलेबीका स्वाद प्रारंभमें सुखदायक लगता है, परंतु घण्टा दो घण्टे केवल एकही जिलेबी ही जिलेबी खाई जाय, तो वह पहिले स्वाद देनेवाला पदार्थ ही आगे दुःखदायक होता है। इसीप्रकार मृदुस्पर्श भी वारंवार और लगातार मिलनेसे पहिले जैसा सुख नहीं देता। इसी तरह सब ही स्पर्शजन्य सुखोंके विषयमें है। इसमें दूसरी बात यह है कि सुख लेनेवालेकी आन्तरिक तैयारी भी चाहिये। स्वादुभोजन आनन्द देता है, परंतु पेटमें भूख रही, तो ही स्वादु अन्नसे आनन्द मिलता है। जिसकी पाचन शक्ति बिगडी है और जिसके मुखमें स्वाद नहीं है, उसको उत्तमोत्तम अमृततुल्य अन्नसे कोई सुख नहीं होता। इसी प्रकार संपूर्ण स्पर्शजन्य सुखोंके विषयमें जनना योग्य है। इसमें तीसरी बात यह है कि, एकही पदार्थसे सबको सर्वदा एक जैसा सुख या दुःख का अनुभव नहीं होता है। मनुष्य विष्ठाको त्याग कर सुखका अनुभव करता है, तो उसीकी प्राप्ति से सूवरको परम आनन्द होता है। मनुष्योंमें भी यह रुचिभेदका अनुभव सार्वत्रिक है।

इस जगत्‌में जो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ सुख कहा जाता है, वह भी लेनेवालेकी आंतरिक अवस्था, इंद्रियकी योग्यता, और अनुकूल बाह्य परिस्थिति, इतनी बातें रहनेपर ही मिलता है, अन्यथा नहीं मिलता। अंदर क्षुधा प्रदीप्त रहनी चाहिये, मुख ठीक अवस्थामें चाहिये, अन्न भी उत्तम चाहिये, इनका संयोग होनेसे सुख होगा और इनमें से किसी एक का बिगाड होनेसे दुःख होगा।

$$\frac{\text{आन्तरिक स्थिति} + \text{इंद्रियकी अवस्था}}{\text{बाह्य जगत् का संबंध}} = \text{सुखदुःख आदि०}$$

यह सुख दुःख (आगम-अपायिनः) आता है और जाता भी है। यह हमने ऊपर देखा ही है कि एकही पदार्थसे प्रारंभमें सुख प्राप्त होनेका अनुभव होता है, परंतु कुछ कालके पश्चात् नहीं होता है। सर्दीके दिनोंमें गर्मीसे सुख अनुभव होता है, परंतु गर्मी आनेपर वही गर्मी दुःखदायक होती है, और उस समय सर्दी सुख देने लगती है। इस विचारसे सुख दुःखकी अनित्यता (अनित्याः) स्वयं सिद्ध होती है। किसीसे नित्य सुख और नित्य दुःख होगा, ऐसा पदार्थ इस प्राकृतिक जगत्‌में एकभी नहीं है।

शीत उष्ण, सुख दुःख, हानिलाभ, जयपराजय, उत्क्रान्ति अपक्रान्ति आदि सब द्वन्द्व हैं और इन सब द्वन्द्वोंकी अनित्यता उक्त कारणसे सिद्ध है। मनुष्य इनमेंसे एकका स्वीकार करे और दूसरे का न करे, ऐसा नहीं हो सकता। देखिये मनुष्यके आंख जब तक खुले हैं, तब तक सुरूप या कुरूप जो सामने आ जायगा, वह उसको देखना ही होगा। कान जबतक खुले रहेंगे, तब तक उसको बुरे भले शब्द सुननेही होंगे। यह मनुष्यकी विवशता है। यदि उसको जगत्‌के अनुकूल पदार्थोंका ग्रहण करना है, तो प्रतिकूल का न्यूनाधिक अनुभव उसको मिलेगा ही। जगत्‌से संपूर्ण प्रतिकूल पदार्थोंको हटाना सर्वथा अशक्य है; और यह अशक्यता तब बढ जाती है, जब यह बात अनुभवमें आती है कि, एकही वस्तु एकके अनुकूल हुई, तो दूसरेके प्रतिकूल रहती है और एकके लिये भी एक समय जो अनुकूल होती है, वही थोडे समयके पश्चात् प्रतिकूल हो जाती है!! इसलिये बाह्य जगत्‌के प्रतिकूल पदार्थोंको सर्वथा हटाना अशक्य है।

तितिक्षा।

यदि बाह्य जगत्‌से प्रतिकूलता नहीं हटाई जाती, तो जिस आन्तरिक अवस्थाके कारण बाह्यजगत्‌में प्रतिकूलताका अनुभव होता है, वह अपने अंदरकी अवस्था सुधारना योग्य है; इसी उद्देश्यसे (तितिक्षस्व) 'सहन कर' ऐसा कहा है।

अपनी सहन शक्ति बढानेसे बाह्य जगत्‌की सबकी सब प्रतिकूलता हट जाती है। देखिये, मनुष्य घरमें रहता है और सदा वस्त्रोंमें वेष्टित रहता है, इस कारण शीत और उष्ण सहन करनेकी इसके शरीरकी शक्ति न्यून होती जाती है। यदि यह शनैः शनैः कपडे कम पहननेका अभ्यास करेगा, और घरके बाहर जितना रहना संभव होगा, उतना रहेगा, धूपमें और सर्दीमें विना कपडे पहने रहनेका अभ्यास बढायेगा, ठंढे पानीसे स्नान करेगा और सूर्यकी धूपसे शरीर तपावेगा, तो उसकी शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति बढ जायगी। किसान सर्दी गर्मीमें खेतोंमें काम करते हैं, क्योंकि वे शीत और उष्ण सहन कर सकते हैं। जो शहरोंमें बाबू रहते हैं वे थोडी देर धूपमें घूमे तो उनका सिर चक्कर खाने लगता है और थोडी सर्दीमें भ्रमण करने लगे, तो कई दिन शीत ज्वरसे रोगी होते हैं। उसी सर्दी और गर्मीमें किसान आनंदसे रहते हैं। क्यों कि उनका द्वंद्व सहन करनेका अभ्यास बढा हुआ होता है। यहि 'तितिक्षा' है। इसीका अवलंबन करनेका उपदेश इस श्लोकसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको किया है।

जो तितिक्षा अर्थात् सहनशीलता शीतोष्ण के विषयमें आवश्यक है, वही सुखदुःख, हानि-लाभ, जयपराजय, आदि अनेक द्वन्द्वोंके विषयमें आवश्यक है। सहन शक्तिसे ही इन द्वन्द्वोंके कष्ट दूर किये जा सकते हैं। शीतोष्ण सहन करते मनुष्य ऐसे बनते हैं कि सर्दी गर्मी और वृष्टीमें सदा घरके बाहर रहते हुए बिलकुल कपडा नहीं पहनते, और पूर्ण आरोग्य संपन्न रहते हैं। इसी प्रकार अन्य द्वन्द्वोंके सहन करने की शक्ति भी मनुष्य अपने अन्दर बढा सकता है। यही तप है। इस द्वन्द्व सहन करने की शक्तिसे मनुष्य बडा सुख प्राप्त कर सकता है।

धीर पुरुष।

जिस पुरुषने इन द्वन्द्वोंके सहन करनेकी शक्ति अपने में बढाई है, अर्थात् (एते यं न व्यथयन्ति) ये शीतोष्णादि द्वन्द्व जिस पुरुषको व्यथा नहीं पहुंचा सकते; सर्दीका भी जिसके शरीर पर कोई क्लेशकारक परिणाम नहीं होता है और गर्मीका भी नहीं होता, तथा अन्य द्वन्द्वों का भी नहीं होता; उसको (समदुःखसुखः धीरः) सुख दुःख को समान समझनेवाला धीर कहा जाता है। सुख से भी वह लुब्ध नहीं बनता और दुःख से भी वह हताश नहीं होता, हरएक अवस्था प्राप्त होने पर वह समानतया कर्तव्यनिष्ठ रहता है, उसको 'धीर' कहते हैं। सुख प्राप्त होने पर घमंड न करना, और दुःख आनेपर हताश न होना, यही बडा धैर्य का कार्य है। इसी प्रकार धनी या निर्धन बननेपर मन को समान रीतिसे रखना बडे धैर्य का कार्य है। अन्य द्वन्द्वोंके सहनेके विषयमें भी यही बात है।

जिसके मनकी समवृत्ति कोई भी द्वन्द्व हटा नहीं सकते, वही पुरुष (समदुःखसुखः) अनु-कूलता और प्रतिकूलताके समय मनका समभाव रख सकता है। यह एक बडी भारी शक्ति है, जो प्राप्त करनेसे मनुष्यका असाधारण सामर्थ्य हो जाता है। यही मनुष्य (धी-रः) बुद्धी देनेमें अर्थात् दूसरों को योग्य सलाह देनेमें योग्य होता है। जो थोडेसे लाभसे घमंड करता है और थोडीशी हानी हुई तो प्राण देनेको तैयार होता है, वह अस्थिर मनका मनुष्य जगत् में क्या कार्य कर सकता है और उसकी मंत्रणासे किसका लाभ होना है?

अमरपन की प्राप्ति।

परंतु जो मनुष्य अपनी अनुकूल परिस्थितिमें अथवा प्रतिकूल परिस्थितिमें अपने मनको स्वाधीन रखता है और परिस्थितिके प्रवाहसे बहा नहीं देता, वही बडा सामर्थ्यवान् है। यही धीर मानसिक समता रखनेवाला मनुष्य (अमृतत्वाय कल्पते) अमृतत्वको प्राप्त करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर रखता है। वह जिस समय चाहे उस समय अमरपन प्राप्त कर सकता है। द्वन्द्वोंके आघातोंसे अपने मनको चञ्चल होने न

देनाही अमर बननेका सामर्थ्य प्राप्त करना है। इस विषयमें एक उदाहरण देखिये- छोटासा दीप थोडीसी वायु चली तो कांपने लगता है, और बुझ भी जाता है। क्योंकि इस वेगको सहनेकी शक्ति उसमें नहीं होती। परंतु वही ज्योती जब बढती है और बडे जंगलको जलाने लगती है, उस समय वायुका कोई डर उसको, नहीं होता इतनाही नहीं परंतु वायु चली, तो वह उसको सहायकारी होती है। इसी प्रकार हानि लाभ आदि द्वंद्वोंके वेगसे जो कांपता नहीं, परंतु विपरीत परिस्थितिमें भी धैर्यसे अपने प्रगतिके पथ पर स्थिर रहता है, उसका सामर्थ्य विपरीत परिस्थितिसे ही अधिकाधिक बढता जाता है। परिस्थितिके कारण वह दबता नहीं, परंतु वह विपरीत परिस्थितिको दबाता है। यही मनुष्य अमर बननेकी शक्ति अपनेमें बढाता है।

मृत्यु और अमरपन।

मृत्यु क्या है और अमरत्व किसका नाम है, इसका विचार यहां करना आवश्यक है। परिस्थितिके अन्दर दब जाना मृत्यु है और परिस्थितिके दबावको हटा देना अमरत्व है। विभक्त होना मृत्यु है और अविभक्त रहना अमरत्व है। नाशवान के साथ रहनेसे मृत्युका भय होता है और अविनाशीके साथ रहनेसे अमरत्व प्राप्त होता है। मनुष्यके पास जो उच्च साधन हैं उनका आश्रय करनेसे अमरपन प्राप्त होता है और उसीके मर्यादित साधनोंमें रहनेसे मृत्यु के वश होना पडता है देखिये-

क्रम-उन्नतिका पथ।

साधारणतः सामान्य अवस्थामें मनुष्य अपनी शरीरस्थितिमें ही रहते हैं, उनको उच्च अवस्थाका कोई अनुभव नहीं होता। ये लोग समझते हैं कि 'मैं शरीरके साथ जन्मता हूं और उसीके साथ मरता हूं।' इससे थोडे उच्च बने मनुष्य शरीरसे भिन्न इंद्रिय शक्तियां हैं ऐसा अनुभव करते हैं। ये लोग इंद्रियोंके वेगोंके साथ बहते जाते हैं, सुख दुःख, शोक मोह आदि द्वन्द्वों के वशमें ये रहते हैं। इससे ऊपरकी श्रेणीके मनुष्य प्राणायामादि साधन करके अपने प्राणके शरीरपर प्रभुत्व पाते हैं, ये अनुभवसे जानते हैं कि यह एकही प्राण सब शरीरके अवयवों और इंद्रियोंमें जाकर विभक्तसा दीखता है। यहां एक ही वस्तु विभक्त स्थानोंपर विभक्तसी किस प्रकार दीखती है, इस बातका अनुभव ये लोग लेते हैं। इस समय इनको विभक्तोंमें व्यापनेवाली अविभक्त वस्तुकी कल्पना आने लगती है। इनसे निचले दोनों मनुष्य शारीरिक विभक्तता और इंद्रियोंकी विभक्तता ही देखते हैं, परंतु प्राणशरीरको स्वाधीन करनेवाला और उसके व्यापारको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य विभिन्न पदार्थोंमें व्यापनेवाली अभिन्न वस्तुका थोडासा अनुभव करने लगता है।

यहां यह योगी मरनेवाले शरीरको और इंद्रियोंको अपनेसे भिन्न देखता है और अपनी शक्तिसे उन मरनेवालों का देह और इंद्रियोंका जीवन होता है, इस बातका निश्चय करता है।

द्युलोक	आत्मा	को स्थितिमें	स्वाभाविक आनंद।	अमृत
	बुद्धि	,, ,,	,, ज्ञान	
	सुषुप्तिके दिक्कालातीत मन	,, ,,	कालातीत और स्थलातीत अनुभव	
अन्तरिक्ष	जागृतिके दिक्कालावच्छिन्न मन	,, ,,	देशकालादि भेदोंका अनुभव	मृतामृत
	प्राण	,, ,,	अपनी नियामक शक्तिका अनुभव	
भू	इंद्रियों	,, ,,	द्वन्द्वोंका अनुभव	मृत
	शरीर	,, ,,	जन्ममरण का अनुभव	

तथापि इसमें प्राणापानके भेद का अनुभव होता है।

प्राणायामसे प्राणकी स्थिरता प्राप्त होकर मन स्थिर होने लगता है। और मनके स्थिरीकरणके साथ यह मनके रथपर सवार होता है। इस अवस्थामें भी संकल्प विकल्प इसके चलते ही हैं और इसका आन्दोलन चलता ही रहता है। इस समय इसको बडी शक्ति प्राप्त होती है। यह इसके इन्द्रत्व प्राप्तिकी अवस्था है। यह इस समय जो कल्पना करता है सिद्ध होती है, मानो यह कल्पवृक्ष-कल्पनाके वृक्ष के नीचे बैठा होता है। इतना होनेपरभी इसको स्थिरताका अनुभव नहीं होता है।

साधन इस समय मनको अशुभ कल्पनाओंसे हटाकर शुभ कल्पनाओंमें स्थिर करता है,ध्यानधारणामें इसकी प्रगति होती है और अन्तमें इसका संकल्पविकल्प करनेवाला तथा दिक्कालमें कार्य-करनेवाला जागृतिका मन स्थिर या स्तब्ध हो जाता है। जिस क्षणमें यह मन स्तब्ध होता है, उसी क्षणमें सुषुप्तिका मन (दिक्कालातीत मन) कार्य करने लगता है। भगवद्गीतामें ही कहा है-

जाग्रति और निद्रा।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
भ० गी० २।६९

"जो सब प्राणियोंकी रात्री होती है उसमें संयमी जागता है, और जिस में सब प्राणी जागते हैं वह देखनेवाले मुनिकी रात्री होती है।" अर्थात् साधारण जन या प्राणी अपने जाग्रतिके मनके साथ जागते हैं, इनका तो वह उच्च मन निद्रित रहता है। परंतु योगी मुनि उसी उच्च मनसे सदा जागते हैं और इस व्यावहारिक मनसे, मानो, सोते हैं। यहां पाठक यह समझें की मुनियोंकी जो जाग्रति है, वह सामान्य जनोंकी गाढ निद्रा है, और उनकी जो निद्रा है, वह सामान्य जनोंकी जाग्रति है। इतना विपरीत अनुभव-जाग्रति और गाढनिद्रा जैसा इन दो मनों के साथ अनुभवमें आता है। जब ध्यानसे यह संकल्प विकल्पात्मक मन थक थक कर सोता है, तब वह समरस मन जागता है।

इस समय मनुष्य 'समत्व' स्थितिमें पहुंचता है। उसको जगत् के संकल्प विकल्प, हानिलाभ, शोकमोह क्षुद्र हैं, ऐसा अनुभव होता है। जगत के लोग क्यों लडते हैं, क्यों मोहित होते हैं, क्यों दुःखी होते हैं, क्यों नहीं इस अवस्थामें आकर काल और देश की मर्यादा का उलंघन करते, और साम्यावस्था का आनंद लेते हैं ऐसा वे कहते होंगे!!!

यहां पाठक स्मरण रखें कि अर्जुन काल और देशके भेदके अन्दर था, अतः उसको बाप दादाओंके मोह में फंस कर दुःखी होना पडा। इस दुःख की निवृत्ती और इस मोहको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उस को कालातील और देशातीत अवस्थाकी कल्पना बता रहे हैं। आत्मा नित्य और देह अनित्य कह कर, इस देह से भिन्न इनके आत्माकी जो कालातीत और देशातीत स्थिति है, उसकी कल्पना इस से पूर्व बतायी। यहां द्वन्द्वातीत स्थिति की कल्पना बताते हैं। इस उच्च मन की भूमिका पर काय करनेवाले मनुष्य किसी स्थानपर बैठकर किसी अन्य स्थान की बात प्रत्यक्ष जैसी देखते हैं, इसी प्रकार अन्य काल की बात भी उनको प्रत्यक्ष होती है। मानो यह नित्य वर्तमान कालमें रहने लगते हैं। इसके ऊपर की दो भूमिकाएं इससे ऊंची और अवर्णनीय हैं। जो 'समदुःखसुख' की साम्यावस्था है, उसकी पूर्णता इस अवस्थामें होती है, इसका प्रारंभ तो शारीरिक अवस्थामें भी होता है, परंतु उसकी पूर्णता यहां होती है।

हठयोग और राजयोग।

हठ योगी यम नियम आसन प्राणायाम द्वारा प्राण स्थिर करके इस अवस्थाको प्राप्त करते हैं और राजयोगी सुविचार से मनकी स्वाधीनता

(८) अविनाशी सत्।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

अन्वयः—असतः भावः न विद्यते, सतः अभावः न विद्यते। तत्वदर्शिभिः तु उभयोः अपि अनयोः अन्तः दृष्टः॥ १६॥

जो 'असत' है उसका भाव नहीं हो सकता, और जो 'सत्' है उसका अभाव नहीं होता। तत्त्वज्ञानी लोगोंने इस प्रकार इन दोनों का अन्तिम निश्चय किया है॥ १६॥

प्राप्त करके इस भूमिकामें जाते हैं, दोनों यहां आकर समान स्थानमें बैठनके अधिकारी होते हैं। इस स्थितिमें जो होते हैं, उनको ही 'समदुःखसुखी, धीर' आदि शब्द पूर्णतासे लगते हैं। प्राणयोगिको 'योगमार्गी' और राजयोगी या मनोयोगीको 'सांख्यमार्गी' अथवा 'ज्ञानमार्गी' कहते हैं। आगे (भ०गी० ५।४-५ में) कहेंगे कि 'सांख्य और योग एकही है' उसका भाव यही है। जन्ममृत्युसे परे जानेका नाम इस भूमिकामें जाना और कार्य करना है। हरएक मनुष्य सुषुप्तिमें अनजान रीतिसे इस अवस्थामें जाता ही है, परंतु अपने सामर्थ्यसे जिस समय चाहे उस अवस्थाका जाग्रति जैसा अनुभव लेना श्रेष्ठ सामर्थ्यका दर्शक है।

जिसको इस भूमिकाका थोडाभी अनुभव होगा वह तो किसीकी मृत्युसे या जन्मसे दुःखी या सुखी नहीं होगा। जो लोग इस जगत्में रहते हुए अन्योंसे अधिक समदुःखसुखी दिखाई देते हैं, उनका यह कालातीत मन कुछ अंशमें उनके आधीन हुआ होता है, यह सत्य है। इसके लक्षण ये हैं कि, अन्योंसे पहिले इनको कर्तव्य कर्मका निश्चित ज्ञान होता है, किसी विषयका निश्चयभी इनका अन्योंकी अपेक्षा अति शीघ्र हो जाता है, और ये तर्कवितर्कके विना अपनी हृदयकी वृत्तिसेही निश्चित परिणाम तक अति शीघ्र पहुंचते हैं, अर्थात् ये पहिले निश्चित सिद्धांत बोलते हैं और पीछेसे वही तर्कसे युक्तिसे और प्रमाणोंसे सिद्ध हो जाता है!! जिनके व्यवहारमें जिस प्रमाणसे ये लक्षण दिखाई देते हैं, उस प्रमाणसे समझना चाहिये कि, उनके अंदर यह दिक्कालातीत मन विशेष रीतिसे कार्य करने लगा है।

इस प्रकार मनकी दिक्कालातीत अवस्थाका विचार करने पर उससे परे रहनेवाला आत्मा भी इसी प्रकार दिक्कालातीत होना चाहिये, इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। परंतु इतना मानने पर भी एक शंका आती है कि, जिस प्रकार यह शरीर साधारणतया १०० वर्ष जीवित रहता है, योगसाधनादि द्वारा ३०० वर्ष या अधिक भी रह सकेगा, पश्चात् नाशको प्राप्त होगा; उसी प्रकार यह आत्मा भी कुछ विशेष अवधिके पश्चात् नाशको प्राप्त होगा या नहीं। इस शंकाके उत्तरमें भगवान् कहते हैं-

(१६-१७) जो सत्य है उसको किसी भी प्रकार असत्य बनाना असंभव है। यह कभी न बननेवाली बात है। इसी प्रकार जो असत्य है उसको भी सत्य बनाना असंभव है। इस जगत्में मनुष्य अपना व्यवहार करते समय सत्यको असत्य और असत्यको सत्य बतानेका प्रयत्न करते हैं, और ऐसे व्यवहारसे अपना लाभ होता है, ऐसा वे मानते भी हैं। परंतु यह उनका भ्रम है। 'सत्यमेव जयते नानृतं' अर्थात् सत्यका ही

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अन्वयः- विद्धि, येन इदं सर्वं ततं, तत् तु अविनाशि। अस्य अव्ययस्य विनाशं कर्तुं, कश्चित् न अर्हति॥१७॥

यह तू जान, कि जिसने यह जगत् फैलाया है, वह अविनाशी है। इस अव्यय का विनाश करनेके लिये कोई समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सत्य कभी असत्य नहीं होता, और जो असत्य है उस का कभी सत्य नहीं बन सकता। तत्वज्ञानका यह अटल सिद्धान्त है।

विजय होता है क्यों कि वही सदा रह सकता है। जो असत्य है वह देरतक टिक नहीं सकता।

सत् और असत्

'सत्' उसीको कहते हैं कि जो 'है' किंवा जिसका अस्तित्व है, जिसकी सत्ता या हस्ती है। जिसका अस्तित्व नहीं है, परंतु किंचित् काल जिसका अस्तित्व भासमान होता है, उसको असत् कहते हैं। जो भूत भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालोंमें एकसा रहता है उसको 'सत्' कहते हैं और इन तीनों कालोंमें जिसकी सत्ता एक जैसी नहीं रहती, उसको शास्त्रकार 'अ-सत्'(सत् नहीं) अर्थात् पूर्वोक्त 'सत्' से भिन्न पदार्थ कहते हैं। तात्पर्य यह कि इस जगत् में केवल दो ही पदार्थ हैं, एक 'सत्' और दूसरा 'असत्'। ये परस्पर भिन्न हैं, अलग हैं और विभिन्न गुणधर्मोंसे भी युक्त हैं।

इस विषयका सिद्धान्त (अन्तः तत्त्वदर्शिभिः दृष्टः) तत्त्वज्ञानी लोगोंने अनुभव किया है। अर्थात् 'सत् और असत्' ये दो पदार्थ भिन्न हैं इस विषयमें ज्ञानी लोगोंको संदेह नहीं है। यहां 'अन्त' शब्द है। इसका अर्थ 'अन्तिम निर्णय' है। 'सिद्धान्त (सिद्ध+अन्त), राद्धान्त (राद्ध+अन्त) और अन्त' ये तीनों शब्द अन्तिम निर्णय के ही वाचक हैं।

जो सत् है, जिसका अस्तित्व है, उसका कालान्तरसे भी अभाव नहीं हो सकता और जो असत् है अर्थात् जिसकी हस्ति नहीं उसका कभी भाव नहीं हो सकता। यह अटल सिद्धान्त तत्त्वज्ञानी लोगोंने निश्चित किया है।

जगत्का निर्माता।

(तत् अविनाशि, येन सर्वं ततम्) वह सत्ता अविनाशी है, जिसने इस सब जगत्का विस्तार किया है। इसका कारण यह है कि यह जगत् बननेके पूर्व इसका निर्माण करनेवाला था और इस जगत्का नाश होनेपर भी वह रहेगा; अतः वह तीनों कालोंमें रहता है इस लिये वह 'सत्' है। परंतु जगत् भूतकालमें नहीं था, अब बना है परंतु नाशको अवश्य प्राप्त होगा और नाश होने के बाद कभी नहीं रहेगा; अर्थात् इसका अस्तित्व केवल वर्तमान कालमें ही है और वह चञ्चल अस्तित्व है, अतः इसको 'अ-सत्' कहा जाता है।

रचना करनेवाला रचित पदार्थ के पूर्व काल में रहता ही है। घडा बननेके पूर्वकालमें कुम्हार का अस्तित्व अवश्य होता है। इसी प्रकार इस जगत्के फैलनेके पूर्वकालमें इसके फैलाने वालेका अस्तित्व अवश्य था। यदि वह पूर्वकालमें न होता, तो इस जगत्को बनाही नहीं सकता था। इससे जगद्रचना करनेवालेका अस्तित्व जगत् के पूर्वकालमें सिद्ध होता है।

जगत् का प्रत्येक पदार्थ बनता है और नाशको प्राप्त होता है, कोई भी पदार्थ ऐसा नजर नहीं

आता कि, जो है परंतु जो न बना हो और जो न बिगडता हो। बनने बिगडने का धर्म प्रत्येक पदार्थ का होनेसे सब पदार्थोंके समूहरूप इस जगत् का भी यही धर्म स्वयं निश्चित होता है। इस जगत्के नाशके पश्चात् जगत् नहीं रहेगा यह निश्चित है, परंतु उसका कर्ता रहेगा या नहीं रहेगा, इस विषय में किसीको संदेह हो सकता है। अतः इस विषयमें विचार करना आवश्यक है।

पूर्वके समान रचना ।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

ऋ० १०।१९०।३

" विधाताने इस जगत् के सूर्य चन्द्र, द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूमि आदि सब पदार्थोंको (यथा पूर्व) पूर्व के समान ही बनाया है। " अर्थात् यह सृष्टी अनेक वार बनी है और हर-एक वार पूर्व के समान बनायी गई है। जिस प्रकार दिन रात पूर्व के समान होते हैं, उसी प्रकार जगत् बनना यह दिन और प्रलय होना रात्री के समान है; अतः ये विधाता के दिन रात सदा समानही होते हैं, क्यों कि परमेश्वर के गुण सदा समान रहते हैं, इस कारण वह जो कुछ बनाता है वह पूर्ण ही बनाता है, पूर्ण बननेके कारण उसमें हेरफेर करनेकी आवश्यकता नहीं होती । अतः वह जो बनावेगा वह एकसा ही होगा।

पूर्णकी पूर्ण कृति ।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

(उपनिषच्छान्ति)

" वह (विधाता) पूर्ण है, यह (जगत्) पूर्ण है, क्यों कि पूर्णसे जो बनता है वह पूर्ण ही होता है। पूर्णसे इस पूर्णकी उत्पत्ति होनेपर भी वह पूर्ण जैसा का वैसाही रहता है। " इसी प्रकार—

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
अथो तदस्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते ॥

अथर्व० १०।८।२९

" पूर्णसे पूर्णका उदय होता है, पूर्णसे पूर्णको जीवन मिलता है। अतः इसके उस कारणको हम जानेंगे कि जिससे इसको जीवन मिल रहा है।"

इत्यादि मंत्रभागोंमें स्पष्ट कहा है कि, इस जगत् का निर्माण करनेवाला 'पूर्ण' है, उसमें अपूर्णता नहीं है, अतः उसकी जगत् रूपी कृति भी पूर्ण अर्थात् जैसी चाहिये वैसी है। इस प्रकार जगन्नि-र्माताकी पूर्णता और उसकी कृतीकी पूर्णता सिद्ध होनेपर वह इसी प्रकार जगत् वारंवार बनाता है यह सिद्ध होगा, क्यों कि उसकी जगन्निर्माण करनेकी शक्ति उसके पास सदा रहती है, अतः उसने जिस कारण के लिये इस जगत्का निर्माण किया, उसी कारण के लिये उसने इससे पूर्व भी जगत् निर्माण किया होगा और आगेभी वह वैसाही निर्माण करेगा। अर्थात् वह निर्माण कर्ता जगत्के पूर्व, जगत्की स्थिति के समय, तथा इसके विनाशके पश्चात् एक जैसा रहेगा। वह पूर्ण होनेसे उसमें घट वध होना असंभव है। आत्माके जगन्निर्माण या जगत् का फैलाव करने के संबंधमें भगवद्गीताके निम्न लिखित वचन भी यहां देखने योग्य हैं—

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

भ० गी० ८।२२

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥

भ० गी० ९।४

त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ भ० गी० ११।३८

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥

भ० गी० १८।४६

" जिसके बीचमें सब भूत हैं जिसने इस सबका फैलाव किया है। मैं अव्यक्तमूर्ति(आत्मा) ने यह सब फैलाया है। हे अनन्तरूप देव! तूने यह विश्व फैलाया है। जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई और जिसने यह सब फैलाया है। "

यहां (मैं, तू, वह इन) तीनों सर्वनामोंसे एकही बात कही है। इससे वही सिद्धान्त सुदृढ हुआ कि, एक अद्वितीय आत्माने इस जगत्का विस्तार किया है।

(अस्य विनाशं कर्तुं कश्चित् न अर्हति) इस आत्मा का विनाश करनेके लिये कोई समर्थ नहीं होता है। कोई कितनाभी सामर्थ्यवान् क्यों न हो, वह इसका नाश नहीं कर सकेगा। इसलिये इसको ' अ-व्यय ' कहा जाता है। जिसका व्यय नहीं होता, जिसमेंसे कुछ खर्च नहीं होता, उसको ' अ-व्यय ' कहते हैं। इसने इतने बडे विश्वकी रचना करनेपरभी इसकी शक्तिका व्यय नहीं हुआ, क्योंकि यह ' अ-व्यय ' है। इसीलिये पूर्वोक्त उपनिषच्छान्ति मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि- " पूर्ण (आत्मा) से इस पूर्ण (जगत्)की उत्पत्ति होनेपरभी वह पूर्ण (आत्मा) जैसाका वैसाही रहता है। " उसमें कुछभी न्यूनाधिक नहीं होता है। ' अ-व्यय ' शब्दकी ही यह व्याख्या है।

इन दो श्लोकोंका विचार करते हुए पाठकोंके मनमें यह बात आजायगी और आगेके कुछ श्लोक देखकर वह दृढ हो जायगी कि, अर्जुनकी शंका तो भीष्मद्रोणादिके जीवोंके नाश होनेके विषयमें थी। उनके देह और उनके आत्मा युद्धमें नष्ट हो जांयगे ऐसा अर्जुन मानता था। इसका उत्तर इस १७ वें श्लोकमें ऐसा दिया है कि, " जिसने यह विश्व फैलाया है वह अविनाशी है, उस अव्यय का कोई विनाश कर नहीं सकता। " यह उत्तर विश्वकी रचना करनेवालेके अविनाशी होनेके विषयमें योग्य है। परंतु अर्जुन तो 'विश्व-रचक परमात्मा इस भारतीय युद्धसे नाशको प्राप्त होगा ' ऐसा मानता नहीं था। उसको तो अपने संबंधियोंके विनाशकी चिन्ता थी। ऐसी अवस्थामें इस उत्तरसे उसकी चिन्ता कैसे दूर होगी ? देखिये—

अर्जुनका प्रश्न - भगवन् ! इस युद्धसे भीष्म-द्रोणादिकों का नाश होगा, इस लिये मैं यह युद्ध कैसे प्रारंभ करूँ ?

भगवान् का उत्तर— अरे अर्जुन! जिसने यह विश्व फैलाया है वह अविनाशी है, उस अविनाशीका नाश कोई नहीं कर सकता। (श्लो०१७)

क्या यह उत्तर ठीक है ? भीष्मद्रोणादिकोंने तो (इदं सर्वं ततं) यह सब विश्व फैलाया नहीं था। 'ततं' का अर्थ ' फैलाना, ढांपना, व्यापना और सुरक्षित रखना' होता है। कोई अर्थ लेनेपर यह अर्थ भीष्मद्रोणोंपर घट नहीं सकता। जिसने इस विश्वको फैलाया, ढांपा, व्यापा या सुरक्षित रखा है, वह अर्जुन के संबंधियों में से कोई एक भी नहीं है, वह इन सबसे भिन्न है।

प्रश्न करनेवाला अर्जुन कि कर्तव्यता-मूढ हुआ है, उसका मोह दूर करके उसको कर्तव्य पथपर लाना है। इस कार्यके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश दे रहे हैं, उसमें प्रसंगको छोडकर उत्तर श्रीकृष्णके मुखसे कदापि आ नहीं सकता। इस लिये इस उपदेश का अन्य रीतिसे मनन करना चाहिये।

पिण्ड ब्रह्माण्ड का एक नियम।

पिण्ड ब्रह्माण्ड का नियम एक है। यदि ब्रह्माण्ड का उत्पत्तिकर्ता ब्रह्माण्ड का विस्तार करके नित्य रह सकता है तो उसी नियम से पिण्ड का चालक भी पिण्ड बननेके पूर्व और पिण्ड के नाशके पश्चात् अवश्य रहेगा। जैसा जीवात्माका शरीर यह पिण्ड है उसी प्रकार परमात्मा का शरीर ब्रह्माण्ड है। जीवात्मा परमात्मा का अंशांशी संबंध भी है, देखिये—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानींद्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

भ० गी० १५।७

हे अर्जुन ! "इस जीवलोक में मेराही सनातन अंश जीव होकर प्रकृति की पांच इंद्रियों और मन को आकर्षित करता है।" यहां जीवात्मा को परमात्मा का अंश कहा है। अग्निका अंश अग्निके समान होता है, पिताका अंश पुत्र है और वह पिताके समान होता है। यह समानता देखिये-

(९) नित्य आत्माके अनित्य देह ।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अन्वयः— अ-नाशिनः अ-प्रमेयस्य नित्यस्य शरीरिणः इमे देहाः अन्तवन्तः उक्ताः । हे भारत ! तस्मात् युध्यस्व ॥ १८ ॥

अविनाशी, अमाप, नित्य, शरीरधारी (आत्मा) के ये देह नाशवान् हैं, ऐसा कहते हैं । हे भरतकुलोत्पन्न ! अत एव तू युद्ध कर ॥ १८ ॥

भावार्थ-आत्मा का कभी नाश नहीं होता, उसका माप या वर्णन नहीं किया जा सकता। वह नित्य है । इस आत्माके देह अनेक होते हैं इसलिये धर्म युद्ध करनेमें कोई दोष नहीं है ॥ १८ ॥

जीवात्मा	परमात्मा
पुत्र	पिता
पिण्डदेही	ब्रह्माण्डदेही
देह [अंश]	ब्रह्माण्ड [अंशी]
मन	विद्युत्
पांच इंद्रियां	पंच महाभूत
नासिका	पृथ्वी
जिह्वा	आप्
नेत्र	तेज
त्वचा	वायु
कर्ण	आकाश

अब पाठकों के मन में बात आगई होगी कि दोनों स्थान के नियम एक जैसे किस कारण हैं। ये पिता पुत्र एक ही नियमसे कार्य करते हैं। पिता का वर्णन करनेसे पुत्र का वर्णन स्वयं होता है, क्योंकि यह पुत्र भी पिताके समान बननेवाला है । देखिये—

मत्कर्मकृन्मत्परमो......मामेति सोऽर्जुन ॥
भ० गी० ११।५५

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥
भ० गी० १४।२

' मेरा कार्य करनेवाला, मुझे परम श्रेष्ठ मानने वाला...मुझे प्राप्त होता है । इस ज्ञान को प्राप्त करके मेरे साधर्म्यको प्राप्त होते हैं ।' इस प्रकार आगे कहा जायगा । इस से यह पुत्र इस समय छोटा होनेपर भी आगे पिताके समान पिताके गुणधर्मवाला निःसंदेह बनेगा । पुरुषका पुरुषोत्तम अवश्य बनेगा । अतः दोनों के नाम, गुण, धर्म और कर्म वेद और शास्त्रोंमें एक जैसे कहे हैं। अतः परमात्माका वर्णन ही अल्प कार्यक्षेत्र में जीवात्मपरक होता है । यह सनातन नियम है, इसीलिये इस उत्तर से अर्जुन की शंका दूर हुई । और अर्जुन समझने लगा कि, इन भीष्म द्रोणादिकों के आत्मा अजर और अमर हैं और इनके देह ही नाशको प्राप्त होनेवाले हैं ।

यही आशय अन्य शब्दोंसे आगेके श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

(१८-१९) आत्मा कैसा है और शरीर कैसा है, इसका अधिक वर्णन इन श्लोकोंमें करते हैं— आत्मा (अ-विनाशी) कभी नाश को प्राप्त नहीं होता, कितनेभी शरीर मर चुके और कितने नये प्राप्त हुए, तो भी आत्मा जैसा का वैसा रहता है । इसी लिये इसको ' नित्य ' अर्थात् सदा एकसा रहनेवाला कहा जाता है । यह 'अ-प्रमेय' है, अर्थात् इसका माप नहीं लिया जा सकता, इसका यथार्थ वर्णन करना असंभव है, इसको प्रत्यक्ष बताना अशक्य है, तथा इसको किसी अन्य प्रकार समझाना भी अशक्य है । यह 'अ-व्यय'

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अन्वयः— यः एनं हन्तारं वेत्ति, यः च एनं हतं मन्यते, तौ उभौ न विजानीतः, अयं न हन्ति, न हन्यते ॥ १९ ॥

इस (आत्मा) को जो मारनेवाला जानता है, या जो इसको मारा गया मानता है; वे दोनों नहीं जानते हैं। यह (आत्मा) न मारता है और ना ही मारा जाता है ॥ १९ ॥

भावार्थ- जो समझता है कि आत्मा किसीका वध करता है अथवा वह स्वयं मारा जाता है, उसको सच्चा ज्ञान नहीं है। यह आत्मा न किसीको मारता है और न स्वयं मारा जाता है ॥ १९ ॥

है अर्थात् इसमेंसे कुछभी खर्च नहीं होता, अतः यह अनादि कालसे एक जैसा है।

परंतु इसके देह 'नाशवान्' हैं, ये देह जन्मते, बढते, क्षीण होते और नाशको प्राप्त होते हैं। अतः उनको 'अ-नित्य' कहते हैं। ये 'प्रमेय' हैं अर्थात् इनका माप—लंबाई चौडाई, मोटाई आदि-किसी प्रमाणसे लिया जाता है। शरीरका वर्णन किया जा सकता, शरीरको प्रत्यक्षरूपसे बताया जा सकता है। इसका स्पर्श करना, सूंघना, आदिसे भी ज्ञान होता है। इस का 'व्यय' होता है, प्रतिदिन इसका व्यय हो रहा है, इसी कारण अन्नादिसे इसको पुष्टी करना प्रतिदिन आवश्यक होता है। यह शरीर पूर्वकालमें नहीं होता, भविष्यमें भी नहीं होता, मध्य समय में रहता है।

नाशवाले देहका नाश हुआ तो उसमें शोक करनेका कोई कारण नहीं है, आत्माका किसी अवस्थामें—[अर्थात देह रहने पर अथवा नाश होनेपर]—नाश नहीं होता, इस कारण उस के विषयमें शोक करनेका कोई कारण नहीं है। इसलिये हे अर्जुन! जिस कार्यके लिये इतनी तैयारी तूने की, वह युद्ध कर और विजय प्राप्त करके अपने स्वराज्यको प्राप्त कर और प्रजा कल्याण करनेके यशका भागी बन।

केवल आत्मा किसीका वध नहीं कर सकता, और केवल शरीर भी जड होनेसे किसीका वध नहीं कर सकता। वध करने करानेवाला इनसे भिन्न है। आत्मा अकर्ता है। इस आत्माको यदि तू मारनेवाला या मरनेवाला समझता है, तो तुझे कुछभी ज्ञान नहीं हुआ, यह सत्य है। हे अर्जुन! तू इन शत्रुओंको मारनेवाला नहीं और ये शत्रू तेरे शस्त्रास्त्रोंसे मरनेवाले भी नहीं हैं। इन सबका आत्मा अविनाशी और नित्य है। उसका नाश करनेमें तू अथवा दूसरा कोई किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकते। अतः तू अपना कर्तव्य कर।

इस प्रकारका वर्णन उपनिषद्में है, व उपनिषद्वचन अब देखिये—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

कठ उ० २। १८-१९

"यह आत्मा न जन्मता है और न मरता है, यह कहां नहीं है ऐसाभी नहीं है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, और पुराणा है। शरीरका नाश होनेपर भी इसका वध नहीं होता है। वधकर्ता यदि इसका वध करनेकी इच्छा करे और मरनेवाला भी यदि अपने आपको मारा गया माने,

(१०) पुराण पुरुष ।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

अन्वयः— अयं कदाचित् न जायते, न वा म्रियते, (अयं) भूत्वा भूयः अभविता न। अयं अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः, शरीरे हन्यमाने न हन्यते ॥ २० ॥

यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है, और न मरता ही है। यह होकर फिर अभावको प्राप्त होगा ऐसाभी नहीं है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता है ॥२०॥

तो उन दोनोंको सत्य-ज्ञान नहीं है। यह न मारता है और न मारा जाता है।"

आत्माके अमरत्व के विषयमें उपनिषद् का यह वचन यहां मनन करने योग्य है। मरने मारनेके लिये 'काल' कारण है यह विषय महाभारत शान्तिपर्व अ० २५ में विस्तारपूर्वक कहा है वहां के कुछ श्लोक अब देखिये—

काल का कार्य ।

नाकालतो म्रियते जायते वा नाकालतो व्याहरते च बालः ॥११॥
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः॥१४॥
घ्नन्ति चान्यान्नरान्राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः।
संज्ञैषा लौकिकी राजन्न हिनस्ति न हन्यते ॥१५॥
आत्मापि चायं न मम सर्वाऽपि पृथिवी मम।
यथा मम तथाऽन्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥१९॥
म० भा० शां० अ० २५

"कालके विना कोई नहीं जन्मता है और ना हि मरता है। काल से ही बालक बोलने लगते हैं। कालसे परिपक्व हुए राजा लोग मरते हैं। एक दूसरे को मारता है और वह मरता है यह लौकिक अर्थात् अज्ञानी लोगोंकी भाषा है। वस्तुतः आत्मा न मरता है और न मारा जाता है। जिस प्रकार यह पृथ्वी मेरी है और सब अन्य प्राणियों की भी है, उसी प्रकार यह आत्मा मेरा है और अन्योंका भी है।'

यहां काल से प्राणी जन्मते और मरते हैं ऐसा कहा है और यही मत भ० गीता में भी कहा है-

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥
भ० गीता ११।३२

"मैं लोकोंका नाश करनेवाला महा काल हूं। लोकोंका नाश करनेके लिये यहां आया हूं। जो प्रतिपक्षी यहां आये हैं वे तेरे विनाभी जीवित नहीं बचेंगे।" अर्थात् ये कालसे परिपक्व होकर मरनेवाले ही हैं। अतः हे अर्जुन! तू अपने आपको इनका वधकर्ता न मान। इतनेसे समझमें न आया तो और देखो—

(२०-२१) [बीसवां श्लोक कुछ पाठ भेदके साथ कठोपनिषद्में आगया है, वह पूर्व श्लोकोंकी टिप्पणीमें दिया है। पाठक उसको वहां देखें।]

यह आत्मा कभी जन्मको नहीं प्राप्त होता है। यह कभी मरताभी नहीं। (भूत्वा अभविता न) यह एकवार होकर पुनः इसका अभाव नहीं होगा। जो जन्मता है और मरता है उसके विषयमें ऐसा कहा जा सकता है कि, (भूत्वा अभविता) यह होकर कुछ कालके पश्चात् अभावको प्राप्त होगा, जैसा देह; यह एकवार जन्मता है अर्थात् जन्म कर 'भाव' को प्राप्त होता है, और पश्चात् (अ-भविता) यह देह अभावको प्राप्त होता

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

(११) वस्त्र बदलना।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

अन्वयः हे पार्थ! यः एनं अविनाशिनं नित्यं अजं अव्ययं वेद, सः पुरुषः कथं कं घातयति कं हन्ति? ॥ २१ ॥

हे अर्जुन! जो इसको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसा किसको मरवाता है और किसको मारता है? ॥ २१ ॥

भावार्थ— अजन्मा आत्माका जन्म नहीं होता, अमरकी मृत्यु नहीं होती, अव्ययका कुछभी व्यय नहीं हो सकता, नित्य वस्तुका कभी अभाव नहीं होगा।

है। संपूर्ण देहोंके विषयमें ऐसाही कहा जाता है। परंतु आत्मा का कभी अभाव नहीं होता।

इसी प्रकार (अ-भूत्वा भविता न) पहिले न होता हुआ भी पीछेसे बनता है, ऐसीभी बात नहीं है। जो जन्मता है उसके विषयमें ऐसा कहा जासकता है, परंतु जिसको जन्म नहीं है उसको 'न होकर भी पीछेसे होनेवाला' ऐसा कहा नहीं जासकता।

यदि इसका जन्म शरीरके साथ होता है और शरीर के साथ इसकी मृत्यु होती है ऐसा माना जायगा, तोही (भूत्वा भविता) होकर फिर होनेवाला यह आत्मा है. ऐसा माना जा सकेगा। परंतु यह बात तभी होगी जब देहके धर्म इसपर आरोपित किये जांयगे। परंतु एकके धर्म दूसरे पर अरोपित करना यह अज्ञान का द्योतक है, इसलिये यह आत्मा एक वार होकर फिर वारंवार होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(न भूत्वा न भविता) वस्तुतः देखा जाय तो यह एकवार न हो कर फिर होनेवाला भी नहीं। तात्पर्य किसी प्रकार यह आत्मा जन्म मृत्युको प्राप्त नहीं होता। इस बीसवें श्लोक के द्वितीय पाद के विषयमें बहुत टीकाकारों में मत भेद है। यहां कई 'भूत्वा भविता' ऐसा पद मानते हैं और कई 'भूत्वा अभविता' ऐसा मानते हैं। यहां टिप्पणीमें दोनों प्रकारके पदों की संगति बतायी है। पाठक इसका विचार करें।]

यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत अर्थात् चिरकाल रहनेवाला है। यह 'पुराण' (पुरा+नवः=पुरा-नवः=पुराण.) पूर्व कालसे होता हुआ भी इस समय नवीन जैसा है। यह अत्यंत पुराणा होता हुआ भी अत्यंत नवीन जैसा सदा रहता है। यह कभी जीर्ण क्षीण या दुर्बल नहीं होता।

इसका शरीर जन्मवाला, अनित्य, अशाश्वत है और जब यह शरीर पुराण अर्थात् वृद्ध होता है, तब नवीन जैसा नहीं रहता है। अर्थात् शरीर के गुणधर्म उसके गुणधर्मों के साथ बिलकुल विपरीत हैं। इस शरीर के काटे या मारे जानेपर भी वह आत्मा मारा नहीं जाता अर्थात् शरीर मरनेपर भी वह अमर रहता हैं।

हे अर्जुन! जो इस आत्माको इस प्रकार अविनाशी, अव्यय, अजन्मा अतएव नित्य जानता है, वह किस को मार सकता है और ऐसा आत्मा मारनेका यत्न करनेपर भी कैसे मर सकता है? अर्थात् आत्मा के मरने मारनेकी कल्पना असत्य है। इस विषयमें और देखिये—

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

अन्वयः-यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय, अपराणि नवानि गृह्णति; तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय नवानि सयाति ॥ २२ ॥

जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रोंको त्याग कर, दूसरे नये वस्त्रोंका ग्रहण करता है; उसी प्रकार देहधारी आत्मा जीर्ण शरीरोंका त्याग करके नये शरीरोंको धारण करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ- जैसा मनुष्य अपने वस्त्र बदलता है, वैसाही आत्मा अपने देहोंको बदलता है।

(२२) किसीने फटे पुराने वस्त्र फेंक दिये और नये उत्तम वस्त्र धारण किये, तो उसमें शोकका कोई विषय नहीं है। किसीने पुराना जीर्ण मकान छोडकर नये घरमें प्रवेश किया तो भी आनंदका विषय है। इसी प्रकार आत्माने पुराना, जीर्ण या फटा शरीर फेंक दिया और नया शरीर धारण किया, तो उसमें शोक का क्या कारण हो सकता है? इस विषयमें बृ० उपनिषद् में निम्न लिखित वचन देखने योग्य है-

यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुप संहरति ॥ ३ ॥
तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते० ॥ ४ ॥
बृ० उ० ४।४।३-४

"जिस प्रकार घासपर रहनेवाला कीडा पहिले घासके तिनकेके अग्रभागपर जाता है, वहां अपना आधा भाग पहिले तिनकेपर रखकर अपने देहका आगेका भाग दूसरे तिनकेपर रखता है। वहांका आधार स्थिर हो जानेपर अपने शरीरका शेष भाग उस दूसरे तिनके पर लेता है; इसी प्रकार यह आत्मा शरीरके नाश होनेके समय अनजान रीतिसे दूसरे देहका आश्रय करनेके पश्चात् पूर्व देहसे अपने आपको समेटता है ॥ ३ ॥ जैसे चित्रकार चित्र करनेके मसालेका आश्रय करके नया चित्र तैयार करता है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरका नाश होते ही कुछ अनजान रीतिसे दूसरा नया उत्तम शरीर धारण करता है ॥ ४ ॥"

नया वस्त्र परिधान करनेवाले भी नवीन सुंदर वस्त्र बनाते या मोल लाते हैं और पुराना अलग करते हैं अर्थात् नया तैयार होनेके या मिलनेके बाद जीर्ण वस्त्र फेंकते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा नवीन देह तैयार होनेके बाद उसमें एक पांव रखकर पहिले देहसे अपनेको समेटता है। बीचका जो समय है वह (अविद्या) अज्ञान का है, उसमें इसको कुछ ज्ञान नहीं होता है। घरका स्वामी भी नया घर बनाता है और पुराना छोड देता है। किरायापर रहनेवाला मनुष्य नया अधिक अच्छा मकान देखता है। उसपर अपना संबंध जोडता है और पहिले मकानसे अपना सामान हटाता है। इसी विषयमें महाभारतमें कहा है --

यथा हि पुरुषः शालां पुनः संप्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते॥५७॥
देहान्पुराणानुत्सृज्य नवान्संप्रतिपद्यते।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः ॥५८॥
म० भा० शां० अ० १५

"जैसा मनुष्य नये घरमें प्रवेश करता है,

वैसाही जीवात्मा नये नये शरीरोंको प्राप्त करता है। पुराने देहोंको छोडता है और नये देहोंको प्राप्त होता है।" इस प्रकार आत्मा अनादि अनन्त तथा नित्य है और देह अनित्य हैं। देहके नाशसे आत्माका कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता। अतः हे अर्जुन ! यदि भीष्मादि धर्मशील पुरुषोंके देहोंका नाश इस युद्धमें हो जाय, तो उनको (नवतरं कल्याणतरं रूपं) नवीन और अधिक सुखकर दिव्य देह प्राप्त होगा, जिससे वे अभौतिक सुखका भोग लेनेमें समर्थ होंगे। इसी प्रकार जो दुर्योधनादि पापी पुरुष हैं जिनके पास पुण्यसंचय विशेषसा नहीं है, उनकी मृत्यु युद्धभूमिपर होनेसे स्वर्गप्राप्ति होगी। इस प्रकार उनका लाभ ही है। अतः धर्म युद्ध करना योग्य है। इस श्लोकमें (नवानि शरीराणि संयाति) नवीन शरीरोंको (सम्यक् रीत्या याति) उत्तम रीतिसे प्राप्त होता है, ऐसा जो कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि इस युद्धभूमिपर मरनेसे उनको उच्च अवस्था निःसंदेह प्राप्त होगी, उनका कल्याण होगा। इस विषयमें संदेह नहीं है।

पुराने पुस्तक की नयी जिल्द बनायी गयी, तो नयी बननेकी तैयारी होते ही पुरानी जिल्द फाडकर फेंकनी पडती ही है। इस समय पुरानी जिल्द फाडकर फेंकना उपकारक है, न कि अपकारक। इसी प्रकार द्वितीय शरीर की प्राप्ति उपकारक होती है, कमसे कम भीष्मद्रोणादि पुण्यात्माओंके विषयमें तो निःसन्देह उपकारक होगी, इस में शंका करनेका कोई कारण नहीं है।

इस श्लोकमें (जीर्णानि वासांसि विहाय) पुराने कपडे फेंकर (नवानि गृह्णाति) नये लेनेके समान ही (जीर्णानि शरीराणि विहाय) अनेक जीर्ण शरीरोंको त्याग कर (नवानि संयाति) अनेक नये देहों को प्राप्त करता है, ऐसा बहुवचन में प्रयोग करके बताया है, कि मनुष्य के पास तीन या तीन से अधिक देह हैं। मनुष्य जैसा कुडती, (वासकट) फतूही, अंगरखा और ऊपर से कश्मीरी चोगा पहनते हैं, अर्थात् तीन वस्त्र कमसे कम पहनते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर आदि अनेक शरीर एक के ऊपर दूसरा धारण करता है।
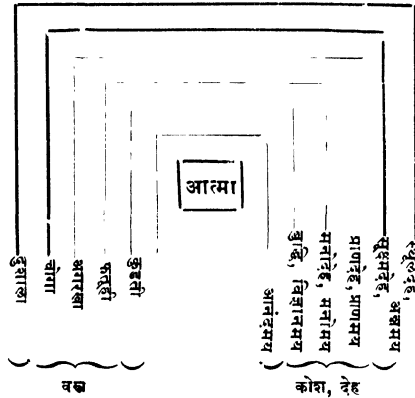
(१२) आत्मा का वर्णन ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अन्वयः— एनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति, एनं पावकः न दहति, एनं आपः न क्लेदयन्ति, एनं च मारुतः न शोषयति ॥ २३ ॥

इस (आत्मा) को शस्त्र नहीं काटते, इसको अग्नि नहीं जलाती, इसको पानी नहीं भिगोता और इसको वायु नहीं सुखाती ॥ २३ ॥

इस विषय में भगवद्गीता में ही कहा है—

इंद्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।
भ० गी० ३।४२

'शरीर से इंद्रियां परे, इन्द्रियोंसे मन परे, मन से बुद्धि परे है और जो बुद्धिसे भी परे है वह आत्मा है।' इस प्रकार ये शरीर एक के ऊपर दूसरा ऐसे हैं। जो मृत्यु करके कहा जाता है, उससे संपूर्ण देहोंका एकदम नाश नहीं होता है। केवल एक स्थूल देहकाही नाश होता है, परंतु सूक्ष्म देह वैसाही रहता है, कालान्तर से सूक्ष्म देह भी नष्ट हुआ तो भी मनोदेह अथवा कारण देह जैसा का वैसाही रहता है। अर्थात् इस लोक में जिसको मृत्यु कहा जाता है, उससे बाहर के वस्त्र फटते हैं, अन्दर के वस्त्र उसीपर रहते हैं। यह स्थिति ध्यानमें धारण करनेसे मृत्युकी वास्तविक कल्पना होगी और मृत्यु का भय इस विचार से दूर होगा।

आवश्यक कार्य करनेके समय यदि अंगरखा फट गया, तो अंगरखा के बचाव के लिये कोइ सज्जन कर्तव्य कर्म करनेसे पीछे तो नहीं हटते; उसी प्रकार अत्यंत आवश्यक कर्तव्य कर्म करने के समय स्थूल देह फट गया, या फट जानेका संभव हुआ, तो कर्तव्य कर्मसे तो पीछे हटना नहीं चाहिये। कर्तव्य कर्म करनेके समय देह-पात होनेसे जो हानि होगी, उससे अधिक हानि कर्तव्य कर्मसे पीछे हटनेसे होगी। अतः हे अर्जुन! तू पीछे न हट। युद्धरूपी यह प्राप्त कर्तव्य कर्म कर। युद्धके शस्त्रास्त्र आत्माको काट नहीं सकते, इस विषयमें कहते हैं—

(२३-२५) इस आत्माको शस्त्रास्त्र नहीं काट सकते, क्यों कि यह निरवयव है। अतः इसके ऊपर शस्त्रास्त्र छेदन का कार्य कर नहीं सकते। इसको अग्नि नहीं जला सकती, इसको पानी भिगा नहीं सकता और वायुसे इसको शुष्क करना भी असंभव है। इसी प्रकार पृथ्वीका गंध गुण इसमें नहीं, अतः संघ कर इसका नाकसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। आप तत्त्वका रसगुण इसमें नहीं है, अतः जिह्वासे यह चखा नहीं जाता, और रुचीसे इसका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अग्नितत्त्वका रूप गुण इसमें नहीं है, अतः आंख-से यह देखा नहीं जा सकता। वायुतत्त्वका स्पर्श गुण इसमें नहीं है, इस कारण स्पर्शसे इसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार कर्णसे इसका शब्द सुनना भी अशक्य है। अतः पञ्च ज्ञानेंद्रि-योंसे इस आत्माका ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस कारण इसको 'अव्यक्त' कहते हैं। मनसे भी इसका चिन्तन होना कठिन है, क्यों कि जिसका मनसे ग्रहण हो सकता है, उसीका मनसे चिन्तन हो सकता है, अतः इसको 'अचिन्त्य' कहते हैं।

इसपर किसी अन्य वस्तुका कोई परिणाम नहीं होता, इसमें न्यूनाधिक नहीं होता, छेदन

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥२५॥

अन्वयः— अयं अच्छेद्यः, अयं अदाह्यः, अयं अक्लेद्यः, (अयं) अशोष्यः एव। अयं नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलः सनातनः॥ २४॥ अयं अव्यक्तः, अयं अचिन्त्यः, अयं अविकार्यः उच्यते। तस्मात् एनं एवं विदित्वा, (त्वं) अनुशोचितुं न अर्हसि॥ २५॥

यह (आत्मा) छेदा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह भिगोया नहीं जा सकता और सुखाया भी नहीं जा सकता। यह नित्य, सर्व स्थानमें गत, स्थिर, अचल और सनातन है॥२४॥ यह अव्यक्त, अचिन्त्य और विकाररहित है ऐसा कहते हैं। इसलिये इसको ऐसा जान कर, तुझे शोक करना योग्य नहीं है॥ २५॥

भेदन आदि नहीं होता, इसको जलाना भिगोना सुखाना अशक्य है, इसमें घटबध नहीं हो सकती, अतः इसको 'अविकारी' कहते हैं। यह नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल, और सनातन है।

इस आत्माकी सत्तासे ही मन, चित्त आदि सब मनन और चिन्तन के कार्य कर सकते हैं, मन और चित्त अपनेसे अधिक स्थूल पदार्थोंका मनन किंवा चिंतन कर सकता है, अतः वे अपने से सूक्ष्म किंवा निरवयव आत्माका मनन कैसा कर सकेगा? आत्मा से स्फूर्ति प्राप्त होकर संकल्प विकल्प उठते हैं, अतः वे संकल्प विकल्प आत्मा का ग्रहण कैसे कर सकते हैं? आंखोंपर शीशा लगाया तो आंखोंमें दर्शन शक्ति रहनेपर शीशोंसे देखा जाता है, परंतु वह आयनक स्वयं आंखोंको देखनेमें असमर्थ होती है। इसी प्रकार आत्मा के ऊपर मन आयनक के समान है, उससे बाह्य सृष्टी देखी जाती है, परंतु उससे अंदरके आत्मा का दर्शन होना असंभव है। अतः मन आत्माका ग्रहण कर उसका मनन नहीं कर सकता। इसलिये आत्मा को 'अचिन्त्य' कहा है।

यह आत्मा ऐसा है, यह जानकर इस विषयमें शोक करना योग्य नहीं है। आत्मा 'सर्वगत' अर्थात् सर्वव्यापक है, वह जैसी, हे अर्जुन! तुम्हारे देहमें है उसी प्रकार भीष्मद्रोणादिकोंके देहोंमें भी है। एकही आत्मा सर्वगत होनेसे सब के अनेक देहोंमें व्यापक है, अतः किसी एक देशी देहके नाश से सर्वगत आत्मा में कोई हानि नहीं हो सकती। इसलिये भीष्मद्रोणादिकों के मरणसे आत्मामें कोई क्षति नहीं हो सकती; क्यों कि जो आत्मा भीष्म द्रोणादिकों में है वही 'सर्वगत' होनेसे तुम्हारे अंदर भी है। कई जीवित रहे या कईयों की मृत्यु हो गई; तो उस एकरस आत्मामें कोई अपूर्णता नहीं होती, इस हेतु युद्ध करनेके समय शोक करनेका कोई कारण नहीं है।

इस समय तक पूर्वोक्त श्लोकोंमें आत्माके कई गुण बोधक नाम आगये हैं, उन सबका एक स्थानपर विचार होनेसे आत्मा का ज्ञान हो सकता है और साथ साथ उसके विरुद्ध गुण धर्मवाले देहका भी ज्ञान होनेमें सुविधा होगी, अतः ये शब्द नीचे देते हैं—

आत्मावाचक शब्द	देहवाचक शब्द
आत्मा	देह, अनात्मा
पुरुष	प्रकृति
अमर	मर
सत्	असत्
देही	देह
अविनाशी	विनाशी
अनन्त	अन्तवान्
अनादि	सादि
नित्य	अनित्य
अज	जन्मवाला
न जायते	जायते
शाश्वत	अशाश्वत
पुराणः(पुरा अपि नवः)	बदलनेवाला
न हन्यते	हन्यते
न म्रियते	म्रियते
अप्रमेय	प्रमेय
अव्यय	व्यय
अच्छेद्य	छेद्य
(एनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति)	(शस्त्राणि छिन्दन्ति)
अदाह्य	दाह्य
(एनं पावकः न दहति)	(पावकः दहति)
अक्लेद्य	क्लेद्य
(एनं आपः न क्लेदयन्ति)	(आपः क्लेदयन्ति)
अशोष्य	शोष्य
(एनं मारुतःन शोषयति)	(मारुतः शोषयति)
सर्वगत	एकदेशीय
स्थाणु (आधार)	आधेय
अचल	चल
सनातन	नश्वर
अव्यक्त	व्यक्त
अचिन्त्य	चिन्त्य
अविकार्य	विकार्य

पूर्वोक्त श्लोकोंमें ये शब्द आगये हैं। इनमें से कुछ शब्द पूर्वापर अनुसंधानसे बाहरसे लिये हैं। पाठक स्वयं उनको अर्थ के अनुसंधानसे वहां देख सकते हैं। इन शब्दोंका विचार करनेसे आत्माके गुणधर्म क्या हैं और देहके गुणधर्म उनसे कैसे भिन्न हैं, इसका ज्ञान पाठकों को हो सकता है। गीताके 'सांख्य सिद्धान्त' का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करनेकी यदि पाठकों के मनमें इच्छा हो तो, वे इन शब्दों को कण्ठ करें और इनका खूब मनन करें। इन शब्दों के मनन से गीतामें कहे सांख्यतत्त्व का ज्ञान हो सकता है।

इन शब्दोंमें (श्लोक २४ में कथित) 'सर्वगत' शब्द आत्माका वाचक है। यह शब्द विशेष महत्त्व का है। 'सर्वव्यापक आत्मा है' ऐसा इसका आशय है। सब स्थानोंमें आत्मा है कोई स्थान उससे खाली नहीं है। इसी कारण उसको 'अ-चल' भी कहा है। क्यों कि सब स्थानमें उपस्थित होनेसे वह चल नहीं सकता। यदि गीता के सांख्य सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अणु होता या अल्प परिमाणवाला होता, तो वह 'सर्वगत और अचल' नहीं हो सकता। अणुपरिमाणवाली वस्तु एक स्थानसे दूसरे स्थान में जा सकती है और उसको "चल" कहा जायगा और वह एकदेशी भी होगी। अर्थात् 'सर्वगत और अचल' ये दो शब्द स्पष्ट बता देते हैं कि गीतामें कहे सांख्य सिद्धान्त के अनुसार एक आत्मा सर्वस्थानमें परिपूर्ण है और वही सब जीवोंका आत्मा है, जिसके ये पूर्वोक्त नाम हैं। इस प्रकार आत्माकी दृष्टीसे सबकी एकता और देहोंकी दृष्टिसे सबकी भिन्नता यहां दर्शाई है। सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा किसी एक या अनेक देहोंके नाश होनेसे नाशको प्राप्त नहीं हो सकता, यह ठीक ही है।

जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक अग्नि किसी स्थान पर प्रज्वलित होगई और बुझ गई, तो उसके जागने और बुझनेसे सर्वव्यापक तैजस तत्त्वमें कुछ भी घटबढ नहीं होता। अथवा एक नगरमें बिजुलीके लाखों दीप जलाये हैं। उनमें कोई

लाल हैं और कई पीले नीले, हरे आदि विविध रंगोंके हैं। कई छोटे हैं और कई बडे हैं। उनमें से कुछ टूट गये या फट गये अथवा बुझ गये, तो सब जगत्में व्यापक बिजुलीके समुद्रमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता है। इसी प्रकार आत्मा का सर्वव्यापक बडा विद्युत्समुद्र है और उससे कुछ अज्ञात कलायन्त्रसे अनेक शरीररूपी विद्युद्दीप लगाये हैं, जो इनमेंसे सात्विक हैं उनका श्वेतवर्ण, राजसिक प्रकृतिवालोंका पीला और लाल रंग है और तमोगुणी प्रकृतिवालों का नीला या काला रंग है। इनमेंसे कुछ किसी कारण बुझ जाते हैं और कई नये प्रज्वलित होते हैं। बुझनेसे या जलनेसे उस आत्माके समुद्रमें कुछभी न्यूनाधिक नहीं होता। भीष्मद्रोणादि बडे लोग इस शरीरसे वियुक्त हुए और कई नये लोग जन्मको प्राप्त हुए, तो विश्वव्यापक सर्वगत आत्मामें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं हो सकता। इस प्रकारके विचार से ही इस ' सर्वात्मवाद ' की कल्पना हो सकती है। यही बात भ० गीतामें अन्यत्र कही है—

१ सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः॥
भ० गी० ६।३१

२ अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥
भ० गी० १०।२०

३ अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ॥
भ० गी० १५।१४

(१) ' सर्व भूतों में स्थित मुझको जो भजता है। (२) मैं आत्मा संपूर्ण भूतों में रहा हूं। (३) मैं वैश्वानर रूपसे सब प्राणियों के देहों में हूं।' भगवान इन श्लोकोंमें कहते हैं कि मैं ही सब भूतोंका एक आत्मा हूं। यह अन्तिम सिद्धि है ऐसा निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट कहा है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
भ० गी० ५।७

' योग का आचरण करनेवाला, शुद्धात्मा', जिसने अपने आत्मा और इंद्रियोंपर विजय पाया है, ऐसा श्रेष्ठ पुरुष जब (सर्व-भूत-आत्मा-भूत-आत्मा) सब भूतों का आत्मा हुआ है जिसका आत्मा, ऐसा बनता है, तब वह कर्म करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता।' कर्मका लेप न होने के लिये इस सर्वात्मभाव की सिद्धी प्राप्त होनी चाहिये। श्रीकृष्ण भगवान् ' सर्वात्मभाव ' की स्थितिपर थे और अर्जुन ' देहात्मभाव ' की स्थिति पर था। कर्म का लेप न होने के लिये सर्वात्मभाव की अवस्था प्राप्त होना आवश्यक है। गत १५ वे श्लोक की टिप्पणी में उच्च मन की भूमिका में पहुंचे महात्मा का वर्णन किया है, उस से दो अवस्था ऊंची यह ' सर्वात्मभाव ' की अवस्था है। अतः यह पूर्ण पुरुष की अवस्था है, यह बात पाठक ध्यान में धारण करें।

'सर्वगत आत्मा' परमात्मा है और वैयक्तिक 'देहगत' आत्मा जीवात्मा है, यह परिभाषा व्यावहारिक है; परिभाषा सबके समक्ष में आनेवाली है इस में संदेह नहीं। परंतु जिस अनुभव के दृश्य बिन्दुसे गीतामें ' सर्वगत ' आत्मा है ऐसा कहा है और उपनिषदोंमें भी कहा है, वह अनुभव का दृश्यबिन्दु भी अधिक विवेकसे अनुभवमें आनेवाला है।

गीताके 'सर्वगत आत्मभाव' और 'सर्वात्मभाव' की कल्पना अथवा ' सर्वभूतात्मभूतात्मा' बननेकी कल्पना यदि पाठक समझना चाहें तो इस प्रकार समझ सकते हैं। मनुष्यके अनुभव की चार अवस्थाएं हैं और उन चार अवस्थाओं का अनुभव विभिन्न है, देखिये—

१ जाग्रति= द्वैतका अनुभव, भेदका अनुभव, सृष्टीकी विविधताका अनुभव।

२ स्वप्न = द्वैतकाही अनुभव, परंतु भासमान होते हुए सत्य जैसा प्रतीत होता है।

३ सुषुप्ति = अद्वैतका अनुभव। द्वैतके अनुभव का अभाव। इस अवस्थामें ब्रह्मरूप स्थिति होती है।

४ तुर्या = [उक्त तीन अवस्थाओंका अनुभव लेनेवालेकी शुद्ध अवस्था चतुर्थ ही मानी जाति है] इसका अनुभव साधारण मनुष्यों को नहीं है।

पहिली तीन अवस्थाएं हरएक मनुष्य को अथवा प्राणीको प्रायः प्रतिदिन प्राप्त होती हैं। इस लिये हम कह सकते हैं कि हरएक मनुष्य जाग्रति में पूर्ण शुद्ध द्वैत का अनुभव करता है और सुषुप्तिमें अद्वैतका अनुभव करता है। सुषुप्तिमें अद्वैत का अनुभव होता है उस समय उसको ब्रह्मरूप अवस्था प्राप्त होती है, देखिये—

समाधिसुषुप्तिमुक्तिषु ब्रह्मरूपता।

"सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है।" यह शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है। सुषुप्ति में तमोगुणप्रधान ब्रह्मरूपता, समाधि में रजोगुणप्रधान ब्रह्मरूपता और मुक्तिमें सत्त्वगुणप्रधान ब्रह्मरूपता होती है, इसप्रकार माननेसे इन अवस्थाओंकी कुछ कल्पना पाठकोंको हो सकती है। जाग्रतिका मन स्थिर होनेसेही सुषुप्ति या समाधि अवस्था प्राप्त होना संभव है और जाग्रतिका मन ही द्वैत का अनुभव करनेवाला है, यह १५ वे श्लोक की टिप्पणीमें बता दिया है। यह संकल्पविकल्पात्मक मन स्थिर हुआ, तो द्वैतका अनुभव हट जाता है और जब तक वह मन स्थिर रहता है तब तक द्वैतका अनुभव नहीं होता। किसी द्वन्द्वका अनुभव मनकी स्थिरता के पश्चात् नहीं होता। मनकी स्तब्धता होनेके पश्चात् जो अनुभव आता है वह अद्वैतका, ब्रह्मरूप अवस्थाका ही अनुभव है। इसका वर्णन उपनिषदोंमें इसप्रकार किया है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं ॥१॥ यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्० ॥ २ ॥
छां० उ० ७।२३-२४

सुपूर्णभूमाऽहमिति भावय। मुक्ति०उ०२।७४

"जो भूमा अवस्था है वह सुख है और जो अल्प अवस्था है, उसमें सुख नहीं। निश्चयसे भूमा सुखकी अवस्था है ॥ जहां दूसरेको देखता नहीं, दूसरेको सुनता नहीं, दूसरेको जानता नहीं वह भूमा अवस्था है, और जहां दूसरेको देखता है, दूसरेको सुनता है और दूसरेको जानता है वह अल्प अवस्था है। जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है ॥ मैं पूर्ण भूमा हूं ऐसी भावना करो ॥"

यहां दो अवस्थाएं कहीं हैं (१) एक 'भूमा' अवस्था जिसमें देखना, सुनना, जानना आदिका कार्य हो नहीं सकता, अर्थात् जिसमें ये स्पर्श भोग नहीं लिये जाते। यह अवस्था सुषुप्ति, समाधि और मुक्ति की अमर अवस्था है। इसमें अभौतिक सुख निजशक्तिसे ही मिलता है। (२) दूसरी 'अल्प' अवस्था है जिसमें मनुष्य देखता, सुनता और जानता है और जिसमें प्राकृतिक स्पर्शभोग लिये जाते हैं। यह मनुष्यकी जाग्रति और स्वप्नकी अवस्था है, यही मर्त्य अवस्था है। 'भूमा (भू-मन्)' शब्दकाही अर्थ (बहोः भावः) बहुत या विपुल होनेका भाव है। मनुष्य का आत्मा सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें ऐसी विपुल व्यापक अवस्थामें जाता है कि जो अवस्था इस जागृतिकी संकुचित अवस्थासे कहीं उच्च अवस्था है। पाठक यहां ये शब्द देखें—

भूमा	अल्प
सुषुप्ति, समाधिका अनुभव	जाग्रतिका अनुभव
अमर्त्य	मर्त्य
सुख	दुःख
पूर्णता	अपूर्णता
सर्वगत	एकदेशीय
अभेद	भेद
व्यापकता	अव्यापक
अचल	चल
सर्वभूतात्मभूतात्मा	भिन्नात्मा

सर्वभूतस्थिति　　देहस्थिति
सर्वात्मभाव　　देहात्मभाव

जिस प्रकार जाग्रति का अनुभव सत्य है उसी प्रकार सुषुप्तिका अनुभव भी सत्य है। सुषुप्तिमें यदि भूमा अवस्था होती है तो वह अद्वैत की अवस्था है। इस अवस्था को अद्वैत इसलिये कहते हैं कि वहां द्वैत, भेद या द्वन्द्व का अनुभव नहीं होता, इस विषयमें उपनिषदों का कथन यहां मनन करने योग्य है, देखिये —

यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं रसयते, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं स्पृशति, तदितर इतरं विजानाति; यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कं रसयेत्, तत्केन कमभिवदेत्, तत्केन कं शृणुयात्, तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं स्पृशेत्, तत्केन कं विजानीयाद्, येनेदं सर्वं विजानाति, तं केन विजानीयात्, स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते ... विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ...　॥ बृ० उ० ४।५।१५

'जहां द्वैतसा होता है वहां एक दूसरे को देखता, सूंघता, चखता, बोलता, सुनता, विचार करता, स्पर्श करता और जानता है; परंतु जहां इसका सब आत्मा ही होता है उस समय कौन किसको देखे, सूंघे, चखे, बोले, सुने, विचार करे, और स्पर्श करे? जिससे सब जाना जाता है वह भला कैसे जाना जायगा? 'यह नहीं, यह नहीं' इस रीतिसे इस आत्मा का वर्णन होता है, इसका ग्रहण करना कठीन है ... जो सब को जानता है, उसको किस साधन से भला हम जानें?'

जाग्रति और सुषुप्तिमें कैसा अनुभव आता है इसका उत्तम वर्णन इस उपनिषद्वचनमें हुआ है। यही वचन और एक वार बृहदारण्यक उपनिषद् (अ० २।४।१४ के स्थान) में भी आगया है अर्थात् एक ही उपनिषद् में दो वार है। शतपथ ब्रा० कां० १४।५।४।१५-१६ और कां० १४।७।३।२४—२५ इन दो स्थानों में है। जिस समय जाग्रतिका द्वैतका अनुभव होता है उस समय एक दूसरेसे द्वैतका व्यवहार करता है, परंतु सुषुप्ति दशामें वैसा द्वैत का अनुभव नहीं है; क्यों कि उस समय (सर्वं आत्मा एव अभूत्) सब आत्मा ही हुआ होता है। दूसरा कोई आत्मासे भिन्न नहीं होता, अतः वहां कौन किससे व्यवहार करेगा। जो आत्मा सबको देखता है उसको कौन देखे, अर्थात् उस समय आत्मरूप, ब्रह्मरूप, भूमा, ब्राह्मी सर्वगत आत्मस्थिति, सर्वात्मभावस्थिति किंवा अद्वैतस्थिति होती है। ये सब शब्द उस एक अवस्थाके वाचक हैं।

जो पाठक द्वैत और अद्वैत के झगडोंमें फंसे हों उनको प्रथम उपनिषदोंकी दृष्टिसे जाग्रति और सुषुप्तिके अनुभव का यथायोग्य रीतिसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् द्वैताद्वैतके झगडोंमें फसना चाहिये। वास्तविक रीतिसे हरएक मनुष्य जाग्रतिमें शुद्ध द्वैतका अनुभव लेता है और सुषुप्तिमें शुद्ध अद्वैत का अनुभव करता है। दोनों अनुभव सत्य हैं। परंतु उनमेंभी जाग्रतिके अनुभव को 'अल्प' और सुषुप्तिके अनुभव को 'भूमा' अर्थात् बडा कहा है।

जिस रीतिसे द्वैताद्वैत के झगडे झगडे जाते हैं, वह परिश्रम व्यर्थ है। जो उपनिषदोंने कहा है उसका खंडन नहीं हो सकता। पंथाभिमान मर्यादासे अधिक प्रबल करके द्वैती लोग अद्वैत-वचनोंको खींचते हैं और अद्वैती द्वैतवचनोंको खींचते हैं। हम तो दोनों प्रकारके वचनोंको पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओंमें पूर्वोक्त रीतिसे यथार्थ देखते हैं; अतः हमें किसी वचन की खींचातानी करनेकी बिलकुल आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जो पाठक इसप्रकार मनन द्वारा इन वचनोंको

समझनेका यत्न करेंगे उनको भी द्वैत और अद्वैत के वचन, पूर्वोक्त दृष्टि उनके अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेसे, खटकेंगे नहीं और योग्य रीतिसे ग्रंथवचनोंकी संगति लग सकती है।

गीता, उपनिषद् और वेद में भी द्वैत और अद्वैत के वचन स्थान स्थानपर हैं। कोई ग्रंथ इन वचनोंसे खाली नहीं है। और होना भी ऐसा ही चाहिये। उदाहरण के लिये कठोपनिषद् का भाग देखिये। नचिकेताने यम से पूछा कि 'मरनेके पश्चात् क्या अवशेष रहता है?' इस का उत्तर यम ने इस प्रकार दिया है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ॥२०॥
अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२१
कठ उ० व० २

'सूक्ष्मसे सूक्ष्म और महानसे भी महान आत्मा इस प्राणी के हृदयमें है। अनित्य शरीरोंके अन्दर रहनेवाले शरीर रहित महान विभु आत्मा को जानकर बुद्धिमान पुरुष शोक नहीं करता।'

यहां भी नचिकेता के प्रश्नके उत्तरमें अर्थात मरण के पश्चात् रहनेवाला विभु आत्मा है, विभु होनेसे वह गीता के वचन के अनुसार 'सर्वगत' है ऐसा स्पष्ट कहा है। नचिकेता का प्रश्न 'शरीर के नाश के पश्चात् क्या शेष रहता है' यह है। उत्तर में कहा है कि जो हृदयमें महान् आत्मा है वही विभु आत्मा रहता है। मरणोत्तर की स्थिति निद्राके समान ही 'महा निद्रा' शब्द से जानी जाती है इसलिये वह 'भूमा' अवस्था ही है, जिसको गीतामें 'सर्वगत' शब्दसे वर्णन किया गया है।

अर्जुन की शंका थी कि "भीष्मद्रोणादिक मेरे पूजनीय गुरुजन युद्धमें मारे गये, तो उनका पूर्णनाश होगा, अतः युद्ध करना अयोग्य है।" इस शंकाको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने उसे समझाया कि, "भीष्मद्रोणादिकों के शरीर तो नाशवान् हैं ही, और आत्मा (सर्वगतः) विभु, अचल और (स्थाणुः) आधारस्तंभ है, वह जैसा भीष्मद्रोणादिकों के शरीरोंमें है उसी प्रकार अर्जुन धर्म आदि पाण्डव वीरोंके शरीरोंमें भी है, वह सबमें व्याप्त है। अतः किसी के शरीरका नाश होनेपर भी इस सर्वगत आत्माका नाश नहीं होता। अतः आत्माके रूपसे भीष्मद्रोणादिकोंकी स्थिति जैसी इस शरीरके पूर्व थी, वैसी ही इस शरीरकी प्राप्ति होनेपर है और इस शरीर के नाश होनेपरभी वैसीही स्थिति रहेगी, उसमें कोई विकार नहीं होगा। अतः हे अर्जुन! तू यह अपना प्राप्त कर्तव्य कर।"

प्रायः यहां सांख्य तत्त्वज्ञान समाप्त हुआ है। सब प्राणिमात्रोंका आत्मा एक है और वह (सर्वगत) विभु है, वह नाशवान् शरीरोंसे भिन्न है और तीनों कालों में अविनाशी है। यह सिद्धांत यहां प्रतिपादन किया गया है।

इस से भिन्न और भी आत्मवादी कई प्रकार के हैं। उनमें से एक मत के आत्मवादी कहते हैं कि प्रत्येक का आत्मा अलग अलग (सर्वगत) विभु है, इनके मतसे अनंत विभु आत्मा हैं। दूसरे मतके आत्मवादी कहते हैं कि प्रत्येक जीवका आत्मा अणु प्रमाणवाला है और पृथक है। इन दोनों मतों में जीवात्माओंकी संख्या अनंत स्वीकृत है। ये सब मतवादी आत्माको अविनाशी आदि विशेषणोंसे युक्त मानते हैं। परंतु अणुप्रमाणवादी ऐसा मानते हैं कि जीव अणु प्रमाण होता हुआ भी अपने प्राप्त शरीर तक अपनी शक्तिसे व्यापता है।

इन से भिन्न और एक आत्मवादी हैं जो मानते हैं कि आत्मा तो शरीर के साथ जन्मता और शरीर के साथ ही मरता है, इस प्रकार आत्मा वारंवार जन्मता और मरता है। इस मत को माननेवाले ऊपर दिये अविनाशी आदि आत्मा के विशेषण स्वीकारते नहीं। उनके मत से तो शरीर के साथ नाश होनेवाला आत्मा है। यदि अर्जुन इस प्रसंग में यह मत स्वीकार करने

(१३) नित्य जनन और नित्य मरण।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

अन्वयः— अथ च एनं नित्यजातं, नित्यं वा मृतं मन्यसे, तथापि, हे महाबाहो! त्वं एनं शोचितुं न अर्हसि॥२६॥ हि जातस्य मृत्युः ध्रुवः, मृतस्य च जन्म ध्रुवं; तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे त्वं शोचितुं न अर्हसि ॥२७॥

और यदि तू ऐसा मानता है कि, यह आत्मा नित्य जन्मता है और नित्य ही मरता है, तो भी, हे महाबाहो अर्जुन! तुझ इसका शोक करना उचित नहीं ॥२६॥ क्योंकि जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है, और जो मरता है उसका जन्म भी निश्चित ही है; इस लिये इस अपरिहार्य बात का शोक करना तुझको उचित नहीं ॥२७॥

भावार्थ— जो उत्पन्न होता है, उसका नाश निश्चित है, यह नाश अपरिहार्य है; अतः इसका शोक करना किसीको उचित नहीं है।

लगेगा, तो इस मत का विचार करना भी भगवान श्रीकृष्णको योग्य है, अतः वे इस मत का अनुवाद करके विचार करते हैं—

(२६-२७) जो लोग मानते हैं कि शरीरके साथ आत्मा नित्य जन्म लेता है और शरीर के साथ ही मरता है; उनके पक्ष में भी युद्ध में मरने वालों या अन्यत्र मरनेवालों का शोक करना अयोग्य है। क्यों कि जो जन्म लेता है वह अवश्य मरेगा ही, आज मरे या कल मरे यह बात भिन्न है, परंतु उसकी मृत्यु अपरिहार्य है। इसी रीतिसे जो मरता है उसको जन्म लेना भी अनिवार्य है। अर्थात् जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्युके पश्चात् जन्म; फिर मृत्यु और फिर जन्म, इस क्रमसे यह चक्र मुक्ति प्राप्त होने तक चलता ही रहेगा, इसमें खंड नहीं होगा' अतः यह अपरिहार्य है और इसमें कोई हानि भी नहीं; क्यों कि यह यथाक्रम होता ही रहेगा। जो अनिवार्य है और किसी प्रकार भी टल नहीं सकता उसके विषयमें शोक करना मूर्खता का कार्य है।

सूर्योदय होता है, पश्चात् अस्त होता है, अस्तके नंतर उदय और फिर अस्त, ये जैसे क्रमपूर्वक होते हैं; उसी प्रकार इस आत्माके जन्मरूपी उदय और मरण रूपी अस्त क्रमपूर्वक होते हैं। जो यथाक्रम होनेवाले हैं उनके विषय में शोक करना व्यर्थ है।

यथाक्रम जन्म और मरण होता है ऐसा मानने वालों का यह पक्ष है। वस्तुतः इस पक्ष को आर्य शास्त्रों की अनुमति नहीं है, क्योंकि यह मत अवैदिक है। तथापि आपत्कालमें वादके लिये यदि यह पक्ष किसीने स्वीकृत किया, तो उसका यह उत्तर है। यह पक्ष स्वीकृत करनेपर भी युद्ध से पराङ्मुख होना अयोग्य है। अपरिहार्य बात का आश्रय करके अपना कर्तव्य छोडना अयोग्य है। दिनके बाद रात्री आती है और रात्रीके

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अन्वयः— हे भारत ! भूतानि अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि एव, तत्र परिदेवना का?

हे भरतकुलमें उत्पन्न ! उत्पत्तिके पूर्व सब भूत अव्यक्त, मध्यसमयमें व्यक्त, और मृत्युके पश्चात् फिर अव्यक्त होते हैं; ऐसी अवस्थामें शोक करने का क्या कारण है?

पश्चात् दिन आता है, ये टलते नहीं, अतः मैं अपने उद्धारका कार्य नहीं करता; ऐसा यदि किसीने कहा तो जैसा उसको लोग मूर्ख कहेंगे और उसके कथन का स्वीकार नहीं करेंगे, उसी प्रकार इस आत्माकी उत्पत्ति विनाश माननेवाले नास्तिकोंके मत का स्वीकार नहीं किया जा सकता। तथापि उनका मत दुर्जनतोष-न्यायसे स्वीकार करनेपर भी उससे अर्जुनका युद्धरूप कर्तव्यसे विमुख होना समर्थनीय नहीं होता, परंतु शोक छोडकर प्राप्त कर्तव्य करनाही योग्य है, ऐसा सिद्ध होता है।

अपने कर्मके अनुसार यथाक्रम जन्म और मृत्यु होनेवाले हैं, जिसका जैसा कर्म होगा वैसा ही ठीक उसको जन्म या मृत्यु होगा। अर्थात् ये यदि अपने कर्मानुसार मरनेवाले हैं, तो उनकी मृत्युका दोष तुझपर नहीं है। यदि तू निमित्तमात्र हुआ तो भी मुख्य कारण उनका कर्म है। और यदि उनकी मृत्यु हुई तो उनको यथायोग्य दूसरा देह अवश्य प्राप्त होगा ही। इसलिये उनकी उत्तर गतिमें कोई हानि नहीं होती। फिर शोकका कारण ही क्या है? मृत्यु तो उनके कर्मानुसार उनको ऐसे समय आनी है कि जिस समय उनको इस देहसे कार्य न रहेगा। फिर तूने उनकी रक्षा की इच्छा भी की तौभी उनका बचाव नहीं होगा। ऐसी अवस्था में तुझे उनका शोक करना उचित नहीं है।

यहां शंका ऐसी होती है कि जिन देहोंके साथ हमारा प्रेमसंबंध हुआ है, उनका नाश होते हम प्रत्यक्ष देखते हैं, अतः उनका नाश देखकर मनमें खेद होता है। इसकी निवृत्ति करनेके उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

(२८) जो जो उत्पन्न होता है उसको 'भूत' कहते हैं। यहां भूत शब्दसे जगत् में दिखाई देने वाले सब पदार्थ लेनेयोग्य हैं। पंच महाभूत, सूर्यादि सब गोल, सब प्राणी आदि सब भूत हैं, क्यों कि ये सब उत्पन्न हुए हैं। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि भी भूत हैं, क्यों कि ये उत्पन्न हुए हैं। इन सब की उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता है। 'जो उत्पन्न होता है उसका नाश निश्चित है' (भ० गी० २।२७)। हर एक पदार्थ की उत्पत्ति होनेके पूर्व की स्थिति 'अव्यक्त' होती है, मरण के पश्चात् भी 'अव्यक्त' हो जाती है। बीचमें कुछ समय व्यक्त स्थिति प्राप्त होती है। फिर जो पहिले अव्यक्त स्थितिमें था वही कुछ समय के पश्चात् उसी अव्यक्त स्थितिमें गया, तो उस विषयमें शोक करनेका क्या प्रयोजन है? यह तो इस जगत् का नियम ही है, इसको टालने का सामर्थ्य किसी में भी नहीं है, यह अपरिहार्य है। अतः इस विषयमें शोक करने का क्या प्रयोजन है? ये तेरे पूजनीय भीष्म द्रोणादिक उत्पत्ति के पूर्व अव्यक्त स्थितिमें थे, थोडे समय के पूर्व व्यक्त स्थितिमें आगये हैं, इनको हमेशाके लिये इस व्यक्त स्थिति में रखना तुम्हारे आधीन नहीं है; ये अपने स्वभावसेही कुछ समयके पश्चात् अव्यक्त

अवस्था को प्राप्त होंगे ही। यदि यह बात कोई भी टाल नहीं सकता, तो उस विषयमें तू शोक क्यों करता है? क्या तू शोक करने लगा तो ये लोग सदा के लिये इस व्यक्त स्थितिमें रहेंगे? जो तू उनके विषय में इतना शोकातुर हुआ है, वह तू भी क्या अन्तमें अव्यक्त स्थितिको नहीं प्राप्त होगा? फिर इस शोक मोह से लाभ कौन-सा होगा?

यही भाव भ० गीतामें आगे दूसरे शब्दोंमें कहा जायगा;—

व्यक्त और अव्यक्त।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

भ० गी० ८।१८

"(ब्रह्मा के) दिन के प्रारंभ में अव्यक्त से सब पदार्थ व्यक्त होते हैं और उसी की रात्री प्रारंभ होने पर वे सब पदार्थ उसी अव्यक्तमें लीन होते हैं।" अर्थात् ब्रह्माके दिनके प्रारंभ में सब को उत्पत्ति होकर सबकी व्यक्तता होती है और ब्राह्मी रात्रीके समय सबकी फिर अव्यक्त स्थिति हो जाती है। कोई इससे छूटता नहीं, इसलिये यह अपरिहार्य है, अतः अपरिहार्य बात का शोक करना सर्वथा अयोग्य है, क्यों कि इस से कोई लाभ नहीं है। महाभारत स्त्रीपर्वमें यही विषय अन्य शब्दोंसे स्पष्ट किया है—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥३॥
अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते॥५॥
अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥६॥

म० भा० स्त्रीपर्व अ० २

"सब संचय क्षय होने तक रहनेवाले हैं, सब ऊपर चढना पतन होने तक ही है, सब संयोग वियोग होने तक रहते हैं, और मृत्यु आनेतक जीवन होता है। युद्ध न करनेवाला मर जाता है और युद्ध करने वाला भी जीवित रहता है। हे महाराज! काल प्राप्त होनेपर कोई बचता नहीं। सब भूत उत्पत्तिके पूर्व अभावरूप होते हैं, मध्य-समयमें भावरूप दीखते हैं, मृत्युके पश्चात् फिर अभाव को प्राप्त होते हैं, उस में शोक करनेका कारण क्या है?"

इस स्थानमें श्रीमद्भगवद्गीताके 'अव्यक्त' शब्द के स्थान पर 'अभाव' शब्द है। अर्थात् यह श्लोक गीताके श्लोक के अर्थ को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार और एक श्लोक है—

अदर्शन और दर्शन।

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।
नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना॥

म० भा० स्त्री० अ० २।१३

"सब भूत पहिले अदर्शन (अदृष्ट) अवस्थामें थे, पश्चात् दर्शन (दृष्ट) स्थितिमें होगये, नंतर पुनः अदर्शन (अदृष्ट) स्थिति में पहुंच गये ऐसी अवस्थामें शोकके लिये कारण क्या है। वास्तविक देखा जाय तो ये तेरे नहीं हैं और उनका तू नहीं है।

यहां 'अदर्शन' शब्द उसी अर्थमें आगया है अर्थात् ये शब्द एक दूसरेका अर्थ स्पष्ट कर सकते हैं। देखिये—

आदि	मध्य	अन्त
अव्यक्तादीनि	व्यक्तमध्यानि	अव्यक्तनिधनानि
		(भ०गी०२।२८)
अव्यक्तात्	व्यक्तयः	प्रलीयन्ते
प्रभवन्ति		(भ०गी०८।१८)
अभावादीनि	भावमध्यानि	अभावनिधनानि
		(म०भा०स्त्री०२।६)
अदर्शनात्	(दर्शनं गताः)	अदर्शनं गताः
आपतिताः		(म०भा०स्त्री०२।१३)

इसप्रकार ये शब्द एक दूसरेके अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं। अतः नाश देखनेसे शोक करने का कोई कारण नहीं, ऐसा कहकर आत्माका अविनाशित्व पुनः कहते हैं—

(१४) आश्चर्यपूर्ण अवध्य आत्मा।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैवमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

अन्वयः— कश्चित् एनं आश्चर्यवत् पश्यति, तथा एव च अन्यः एनं आश्चर्यवत् वदति, अन्यः च एनं आश्चर्यवत् शृणोति; श्रुत्वा अपि च कश्चित् एनं न वेद ॥२९॥ हे भारत! सर्वस्य देहे अयं देही नित्यं अवध्यः; तस्मात् त्वं सर्वाणि भूतानि शोचितुं न अर्हसि ॥३०॥

कोई तो इसकी ओर आश्चर्यपूर्ण दृष्टिसे देखता है, वैसे ही कोई दूसरा इसका आश्चर्यपूर्ण वर्णन करता है, और कोई इसका वर्णन आश्चर्यसे सुनता है, परंतु सुनकर भी कोई इसको नहीं जानता ॥२९॥ हे भरतकुलमें उत्पन्न! सबके देहमें रहनेवाले इस शरीरके स्वामी आत्मा का कभी वध नहीं हो सकता; इसलिये तुझे सब भूतमात्रके विषयमें शोक करना योग्य नहीं है ॥३०॥

भावार्थ— यह आत्मा एक अद्भुत पदार्थ है, इसका वर्णन सब करते और सब सुनते भी हैं परंतु इसको यथार्थ रीतिसे जानना कठीन है। सबके देहोंमें यह रहता है, परन्तु इसका वध कोई कर नहीं सकता। यह आत्मा अमर होने के कारण इसके विषयमें शोक करना किसी को उचित नहीं है।

(२९-३०) आत्मा अत्यंत अद्भुत पदार्थ है। वस्तुतः देखा जाय, तो इसका यथार्थ वर्णन करनाही अशक्य है। इस समय तक इसका यथार्थ वर्णन करनेमें कोई समर्थ नहीं हुआ, अतः सब लोग इसको देखकर अपने ही अन्दर आश्चर्यसे चकित हो जाते हैं और इसको देखते देखते सब जगत् का भान भी भूल जाते हैं। जब महात्मा लोग स्वानुभवसे इसका वर्णन करने लगते हैं, तब वे भी वर्णन करते करते, उसीमें तन्मय होते हैं और शेष बातोंको भूल जाते हैं। कोई लोग यह वर्णन सुनते ही इसकी अद्भुतता का विचार कर चकित हो जाते हैं। इसप्रकार सब लोग जो कोई इसका विचार करते हैं, वे सब आश्चर्यसे स्तब्ध होते हैं। आगे उनकी मति कुंठित हो जाती है। इतना होनेपरभी कोई इसको यथार्थ रीतिसे नहीं जान सकता, इतनी इसकी अगाध महिमा है।

सब मरण-धर्मवाले देहोंमें सर्वगत होकर रहनेवाला यह आत्मा स्वयं सदा अमर अथवा अवध्य है। कितना भी प्रयत्न किया जाय तो इसका वध कोई भी करही नहीं सकता। हे अर्जुन! किसीके आत्माका वध करना तेरी शक्तिके आधीन नहीं है। जब तेरे युद्ध करनेसे तेरे शस्त्रप्रयोग द्वारा किसीका आत्मा मारा या काटा नहीं जा सकता, तो फिर तू किसका शोक कर रहा है?

हरएक मनुष्य अपने अन्दर इस अमर आत्मा की सत्ता है ऐसा मानकर विचार द्वारा उस सत्ताका अनुभव अपने अन्दर करे। और मैं स्वयं ऐसा अजन्मा, अजर, अमर, अशरीरी, देहका

स्वामी, नित्य, शाश्वत, पुराण पुरुष, अवध्य, अच्छेद्य, अशोष्य, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी और सर्वगत तथा अणुसे अणु और महानसे महान हूं, ऐसा विचार से देखे और मनन करके अपने अन्दर इसका अनुभव लेनेका यत्न करे। इस से अपना आत्मिक बल बढेगा और जैसा जैसा यह बल बढेगा वैसा वैसा उसको उच्च भूमिका के ऊपर स्थान प्राप्त होगा। अस्तु। यही वर्णन कठोपनिषद् में निम्नलिखित प्रकार आया है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७॥
न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८॥
कठ उ० व० २।७-८

"बहुत लोगोंको जिस आत्माका वर्णन सुननेका अवसरभी नहीं मिलता, सुननेपरभी जिसका ज्ञान बहुतोंको नहीं होता, कुशलता पूर्वक इसका ज्ञान प्राप्त करनेवाला और उत्तम रीतिसे उस ज्ञानको समझनेवाला प्राप्त होना एक आश्चर्य की ही बात है। तथा निपुण गुरुके पाससे जिसने ज्ञान प्राप्त किया है ऐसा ज्ञाता गुरु मिलना भी एक आश्चर्यकी ही बात है। जिसका बहुत प्रकार से विचार किया जाता है, ऐसा यह आत्मा साधारण उपदेशक द्वारा समझाया जानेपर समझमें नहीं आ सकता। दूसरे ज्ञानीके द्वारा उपदेश होनेके विना इस ज्ञानमें गति नहीं होती। क्योंकि यह सूक्ष्मसे सूक्ष्म होनेके कारण अतर्क्य है।"

इस रीतिसे उपनिषदोंमें कहा है, हजारों मनुष्योंमें कुछ थोडे मनुष्य इस आत्मज्ञानके विषयको सुननेकी इच्छा करते हैं, इच्छा होनेपर उत्तम रीतिसे समझानेवाला गुरु मिलना कठीन है, उपदेशक मिलनेपर भी जो उत्तम गुरुके पास रहकर पूर्ण ज्ञानी हुआ है ऐसा सद्गुरु मिलना तो अत्यंतही कठिन है, इतना सब अनुकूल होनेपर भी सुने हुए ज्ञान को समझना और उसको आत्मसात् करना अत्यंत कठिन कार्य है। क्योंकि यह विषय सूक्ष्मसे सूक्ष्म है। भ० गीता में भी आगे यही बात कही है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।
भ० गी० ७।३

"हजारों मनुष्यों में से कोई एकाद मनुष्य सिद्धि के लिये यत्न करता है और प्रयत्न करने वाले सिद्धों में से भी विरलेहि मुझ (आत्मा) को वास्तविक रीतिसे पहचानते हैं।" इस विषयकी अत्यंत सूक्ष्मता होने के कारण इतनी कठिनता इसमें होती है। जो समझता है कि मैंने इसको जान लिया, उसको भी यह समझा नहीं होता, यह एक आश्चर्य की बात यहां है, देखिये-

यस्य अमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥
केन उ० खं० २

"जो समझता है कि इसका मनसे आकलन नहीं होता, वही इसको जानता है;परंतु जो समझता है कि मैंने इसको ठीक प्रकार जान लिया उसको कुछ भी समझा नहीं है। जो समझ गया ऐसा जानता है उसको इसका ज्ञान नहीं हुआ है,परंतु जो अभी ठीक नहीं समझा ऐसा जानता है उसको ज्ञान हुआ होता है।" क्यों कि यह अतर्क्य अचिन्त्य और अज्ञेय है इसलिये समझना बडा कठिन है। इसी लिये इसका वर्णन करना और समझना एक अद्भुत आश्चर्यकारक बात है ऐसा गीतामें कहा है।

आश्चर्य।

यह आश्चर्य अद्भुत क्या है ऐसा यहां कोई पूछेगा, उसको कुछ दिशा बतानेके लिये यहां

इस विषय के आश्चर्यकारक भाग का कुछ अंश बताते हैं—

जो विचार करता है और आत्माकी शक्तिके चमत्कार देखता है उसको आश्चर्य ही आश्चर्य प्रतीत होता है। जब बालक जन्मता है उस समय वह स्तन पीने लगता है, न सिख सिखाये स्तन-पान कर सकना कितना आश्चर्य है? मनुष्य देखता, सुनता, स्पर्श करता, चखता और सूंघता है और समझता है, यह कितना आश्चर्य है? ये सब व्यापार कितने शीघ्र होते हैं और कैसे होते हैं यह देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित हो जाता है। मनुष्य के मन में कुछ भाव होता है और उसका प्रदर्शन करनेके लिये वह बोलता है, बोलनेमें कैसे एकके पीछे दूसरा ऐसी शब्द परंपरा धारा-प्रवाह के समान चलती है, जो इस बातका विचार करेगा वह आश्चर्य में दंग होगा। मन में आते ही मनुष्य उठता है,दौडता है जो मर्जी आये कार्य करता है.यह मनकी शक्ति कितनी आश्चर्य-मयी है। मनुष्य का शरीर उठाने के लिये चार मनुष्य लगते हैं, ऐसा भारी बोझवाला शरीर विना आयास केवल इच्छाशक्तिसे उठाया जा रहा है, इतनाही नहीं प्रत्युत सरकसवाले उसको तारपर नचाते हैं और छलांग मारनेवाले छलांग मारते हैं, यह अद्भुत शक्ति जिसकी है, उसकी आश्चर्यमयी शक्तिका क्या वर्णन हो सकता है।

यही बात निम्नलिखित श्लोकमें कही है--

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरीन्।

"यह आत्मा मूकको वाचाल बनाता है, पंगु को पहाडोंकी सैर कराता है।" अर्थात् यह शरीर स्वयं वक्तृत्व कर नहीं सकता, इस गूंगे शरीरसे वक्तृत्व हो रहा है! इसीप्रकार यह शरीर स्वयं हिल नहीं सकता वही पहाडोंकी चोटीपर चढ रहा है!! यह चमत्कार आत्माकी अद्भुत शक्तिसे ही हो रहा है।

जलका प्रवाह नीचेकी दिशासे चलता रहता है, परंतु इस शरीरमें रुधिरका प्रवाह नीचेसे भी ऊपरकी ओर चलता है, जलको ऊर्ध्वगतिसे चलानेवाला यह आत्मा कितनी अद्भुत सामर्थ्य-वाला होगा? जगत्के पदार्थोंकी गर्मीके दिनोंमें गर्माई अधिक होती है और सर्दीके दिनोंमें शीतता अधिक होती है. परंतु यह शरीर देखिये यहां सर्दी गर्मीमें एकही उष्णताका प्रमाण रहता है, अर्थात् इसके अंदर ऐसी शक्ति है कि जो बाहर की सर्दीगर्मीकी पर्वाह नहीं करती है, यह कितना आश्चर्य है? वायुको सम प्रमाणसे अंदर लेना और बाहर छोडना और उसको शरीर में विविध प्रकारसे घुमाना आदि जो कार्य यहां हो रहे हैं वे कितने आश्चर्यकारक हैं? इस प्रकार पृथ्वी, आप, तेज, वायु आदि महाभूतोंके ऊपर प्रभुत्व चलानेवाली जो शक्ति अंदर बैठी है वह कैसी आश्चर्य करने योग्य है?

जगत्के दो पदार्थ एक दूसरे पर घसीटे जांयगे तो वे दोनों घसीटनेसे न्यून होते हैं. परंतु यहां शरीरमें देखिये जहां रगड होती है वहां की चमडी बढती है और अधिक सक्त हो जाती है, व्यायामसे पुट्ठ पुष्ट होते हैं. जोडोंके संधि हल-चलसे मजबूत होते हैं, इस प्रकार बाह्य जगत्के विरुद्ध अनुभव यहां आता है, यह आश्चयकारक घटना जो शक्ति कर रही है उसके विषयमें विचारी लोगोंमें अद्भुत आश्चर्यका भाव क्यों नहीं रहेगा?

शरीपर घात्र, अथवा व्रण हो जाय अथवा शरीर में रोग हो जाय, तो उसको ठीक करनेका उपाय शरीर के अन्दर से ही एक शक्ति कर रही है. यह कितनी आश्चर्य की बात है। ऐसे सहस्रों आश्चर्य यहां भरे हैं, इनकी गिनती करना अशक्य है।

ऐसे अनेकानेक आश्चर्य इस शरीर में हो रहे हैं, परंतु उनको विचारकी आंखसे देखनेवाला चाहिये। पाठक इस प्रकार अपने अंदर देखें और अपनी आत्माकी शक्ति कैसी विलक्षण कार्य कर रही है. यह जानें, और अपनी शक्तिका ही अनुभव करें।

(१५) क्षात्रधर्म।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अन्वयः— स्वधर्मं च अपि अवेक्ष्य विकम्पितुं न अर्हसि। हि क्षत्रियस्य धर्म्यात् युद्धात् अन्यत् श्रेयः न विद्यते ॥ ३१ ॥ हे पार्थ! यदृच्छया च उपपन्नं ईदृशं अपावृतं स्वर्गद्वारं युद्धं सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते ॥ ३२ ॥ अथ त्वं इमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि चेत्, ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापं अवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥ अपि च भूतानि ते अव्ययां अकीर्तिं कथयिष्यन्ति। संभावितस्य च अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

स्वधर्मकी ओर देखकर भी इस प्रकार कांपना तुझे योग्य नहीं है। क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढकर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य नहीं हो सकता ॥३१॥ हे पृथापुत्र अर्जुन! अनायास प्राप्त हुए, खुले हुए स्वर्ग के द्वार-रूप ऐसे युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियही प्राप्त करते हैं ॥३२॥ अतएव यदि तू इस धर्मयुद्ध को न करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति खोकर पापकोही प्राप्त करेगा ॥३३॥ इतनाही नहिं, परंतु सब लोक बहुत काल रहनेवाली तेरी दुष्कीर्तिको ही कहते रहेंगे! और संमानयोग्य पुरुष की दुष्कीर्ति मरणसे भी बढकर होती है ॥३४॥

यहां तक सांख्यतत्त्वका उपदेश करके अर्जुन को उस समय करने योग्य कर्तव्यका उपदेश किया। आगे स्वधर्म अर्थात् क्षत्रियके धर्मके अनुसार विचार करके उसका कर्तव्य बताते हैं—

(३१-३८) अब क्षात्रधर्म की दृष्टिसे विचार करके अर्जुन को समझाते हैं कि, इस प्रकार युद्ध देखकर कांपना, युद्धमें होनेवाले प्राणिवध से डरकर स्वकर्तव्यसे पीछे हटना, सामने शत्रुको युद्धके लिये खडा हुआ देखकर स्वयं डरकर उसको पीठ दिखाना, भीरुतामें परिणत होनेवाली हीन दया का अवलंबन करना, ये सब बातें क्षत्रिय का नाम कलंकित करनेवाली हैं।

धर्म के पक्षमें रहकर सत्यके लिये लडना क्षत्रियका परम धर्म है। (क्षतात्) दुःखसे प्रजाओंकी (त्रायते) रक्षा करना क्षत्रिय का परम धर्म है। हे अर्जुन! तू ऐसे उत्तम प्रशस्त क्षात्र कुलमें उत्पन्न हुआ है। क्षत्रियको तो ऐसे धर्मयुद्ध से बढकर अधिक कल्याणकारक कोई कर्म नहीं है। तू धर्म के ही पक्ष में है, और धर्म की रक्षा के लिये ही लड रहा है। तेरे शत्रु धर्म

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

अन्वयः— महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते; येषां च त्वं बहुमतः भूत्वा, लाघवं यास्यसि ॥ ३५ ॥ तव सामर्थ्यं निन्दन्तः तव अहिताः बहून् अवाच्यवादान् वदिष्यन्ति । ततः किं नु दुःखतरम्? ॥ ३६ ॥ हतः वा स्वर्गं प्राप्स्यसि, जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे, हे कौन्तेय! तस्मात् युद्धाय कृतनिश्चयः उत्तिष्ठ ॥ ३७ ॥ सुखदुःखं, लाभालाभौ, जयाजयौ समे कृत्वा, ततः युद्धाय युज्यस्व । एवं पापं न अवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सब महारथी तुझे भयके कारण युद्धसे भागा हुआ मानेंगे, और जिन्हें इस समय तू बडा माननीय है, उनकीही दृष्टीमें तू तुच्छ हो जायगा ॥३५॥ तेरी सामर्थ्य की निंदा करते हुए, तेरे शत्रु बहुतसे न कहने योग्य वचनोंको कहेंगे। इससे और अधिक दुःखकारक क्या होगा? ॥३६॥ मर गया तो स्वर्गको जावेगा, और जीत गया तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा। इसलिये, हे अर्जुन! युद्ध का निश्चय करके उठ ॥३७॥ सुख दुःख, लाभ हानि और जय पराजय को समान समझ कर, फिर युद्धमें लग जा। ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा॥३८॥

के शत्रु हैं, वे कितने भी बडे साम्राज्य का शासन कर रहे हों, कितने भी धनी हों, और कितने भी साधनसंपन्न हों, वे धर्म और सत्यके विरोधी हैं। उन्होंने असत्य और कपट से अपना साम्राज्य बढाया है, इस कारण अन्दर अन्दरसे उनकी निंदा करनेवाले तथा उनकी नीतिका विरोध करनेवाले उनके पक्ष में भी बहुत हैं, अतः उनके पापसेही उनका पक्ष कमजोर होगया है।

तुम्हारा पक्ष धर्मका है, सत्यके विजयके लिये तुम सब तैयार हुए हो, अतः तुम्हारे पक्ष के लिये लोकमत अनुकूल हुआ है। इस प्रकार यह धर्म-युद्ध प्राप्त हुआ है, सच्चे क्षत्रिय तो ऐसेहि युद्धोंको पसंद करते हैं। ऐसे धर्मयुद्धसे अधिक श्रेयस्कर क्षत्रिय के लिये कोई दूसरा कर्तव्य नहीं है।

ऐसा युद्ध मानो स्वर्गका खुला हुआ द्वार ही है। यह स्वर्ग के द्वार के समान युद्ध प्राप्त हुआ तो उसमें क्षत्रिय आनन्द से प्रवेश करते हैं। कोई क्षत्रिय इस युद्धरूपी स्वर्गद्वार को छोड-कर कभी नहीं भागेगा। आनन्द से युद्ध करेगा और उसमें आत्म समर्पण करेगा।

धार्मिक सज्जनों की रक्षा, दुष्ट दुर्जनोंका नाश और मानवी व्यवहार की सुव्यवस्था करनेके लिये जो युद्ध किये जाते हैं उनको धर्मयुद्ध कहते हैं। इसी प्रकारका यह धर्मयुद्ध है। इस समय ये

कौरव नामक जो साम्राज्यवादी शत्रु तेरे सामने खडे हैं वे धर्मपुरुषोंको कष्ट दे रहे हैं, इन्होंने दूसरों के राज्य कपटसे छीने हैं, अपनी शक्तिकी घमंडसे दूसरोंको लूटा है, योग्य पुरुषों को अधिकारसे उतारा है, सत्पुरुषोंको देशसे बाहर निकाला है, स्त्रियोंकी बेइज्जत की है और क्या क्या कहा जाय, इनके कुकर्मोंसे तो इनके ही लोग तंग आगये हैं। अतः इन दुष्टोंको दण्ड देना अत्यंत आवश्यक है।

ऐसे युद्धमें कई लोग मर जांयगे, कई घायल होंगे, कईयोंको अन्य प्रकारके कष्ट होंगे, यह सब होगाही; परंतु वह अपरिहार्य है और आवश्यक भी है। इस समयतक जो इस जातीद्वारा बडा पाप हुआ है, उसको धोने और उसके द्वारा आत्मशुद्धि करनेका यही एकमात्र उपाय है।

यदि ऐसा यह धर्मयुद्ध तू न करेगा, तो तू स्वधर्मसे च्युत होगा और यशकोभी खो बैठेगा। इतनाही नहीं, परंतु बडे पापका भागी बनेगा। क्षात्रधर्मसे च्युत हुआ तू क्षत्रिय नहीं रहेगा। जैसे उष्णतारहित होनेपर अग्नि अग्नि नहीं रहती, वैसेही स्वधर्मसे पतित हुए मनुष्यके विषयमें समझो। धर्मसे ही जगत् की स्थिति है। तू इस प्रकार युद्धसे भाग गया, तो तू क्षात्रधर्मसे पतित हो जायगा, फिर तेरा मूल्य क्या रहेगा? आज जो तेरा संमान हो रहा है और आज जो तेरे नामसे ही तेरे शत्रुको भय होता है, वह तेरे अन्दर वैसा अप्रतिम क्षात्रतेज है, इस कारण ही है। एक वार तूने अपना धर्म छोड दिया, तो फिर तेरा इस प्रकार संमान कोई नहीं करेंगे 'सब लोग खुली तौर पर तेरे सन्मुख तेरा उपहास करेंगे। वह उपहास सुनकर तुझे मृत्युसेभी अधिक दुःख होगा। हाय हाय, ऐसी दशा तो शत्रुपर भी न आवे!

'अर्जुन युद्धसे डरके मारे भाग गया।' ऐसा सब जगत् में सब लोग कहते फिरेंगे। फिर उनको रोकना तेरे आधीन नहीं होगा। जो महारथी, अतिरथी और अतिमहारथी तेरा आज संमान करते हैं; वेही तेरा ऐसा उपहास करेंगे कि उसका वर्णन न करनाही अच्छा है। परमेश्वर करे और ऐसा दिन न आवे। जो तुम्हें इस समय 'बडा' समझते हैं वे ही तुम्हें 'क्षुद्र' मानेंगे। तेरे शत्रु तो जो मर्जी आजाय वह तेरे विषय में कहेंगे उसे सुनने अयोग्य कटु वचनोंको सुनकर जो तुम्हें दुःख होगा, क्या उसकी कभी सीमा हो सकती है? अतः इस भीरुताके मार्ग को छोडकर वीरताके मार्गमें स्थिर हो जा।

ऐसे धर्मयुद्धमें तू मर जायगा, तो स्वर्गको प्राप्त होगा, और जीतेगा तो अपना स्वराज्य प्राप्त करेगा। तात्पर्य तुम्हारे लिये तो इस युद्ध की हार और जीत दोनों लाभदायक हैं और यश बढानेवाली भी हैं। इस कारण युद्धका निश्चय करके उठ खडा हो।

सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय आदिका विचार ही न कर, जो होगा वह होने दो, दोनों को समान समझो और तुम्हारे स्वराज्यरूपी घरपर बलात्कारसे अधिकार चलानेवाले इन शत्रुओंको दूर करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक हुए इस धर्मयुद्धमें दत्तचित्त होकर अपने आपको लगा दो। इस समय दूसरा विचार मनमें न घुसने दो। इस अवसरपर युद्ध करनाही तुम्हारा धर्म है। युद्धही तुम्हारा आवश्यक कर्तव्य है। अतः यह धार्मिक कर्तव्य करनेसे तुमको तथा इस धर्मयुद्धमें संमिलित होनेवाले अन्यान्य वीरों को किसी प्रकार पाप नहीं लगेगा। पापसे मुक्त होने का उपायही इस समय यह धर्मयुद्ध करना है। तुम इस धर्मयुद्ध के करनेसे पापसे मुक्त होकर पवित्र बनोगे और युद्ध न करनेसे पापके भागी बनोगे।

इसप्रकार युक्तिवादसे क्षात्रधर्मका तत्त्व समझाकर अर्जुनको बतलाया कि इस समय धर्मयुद्ध करना ही परम कर्तव्य है। सांख्यसिद्धान्त और युक्तिवाद का उपदेश करनेके पश्चात् अब 'योगसिद्धान्त' के अनुसार क्या करना चाहिये इसका विचार करते हैं—

(१६) योगविचार।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४०॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१॥

अन्वयः— हे पार्थ! एषा ते सांख्ये बुद्धिः अभिहिता; योगे तु इमां (बुद्धिं) शृणु। यया बुद्ध्या युक्तः (त्वं) कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥ इह अभिक्रमनाशः न अस्ति, प्रत्यवायः न विद्यते, अस्य धर्मस्य स्वल्पं अपि (अनुष्ठानं) महतः भयात् त्रायते ॥ ४० ॥ हे कुरुनन्दन! इह व्यवसायात्मिका एका एव बुद्धिः। अव्यवसायिनां हि बुद्धयः अनन्ताः बहुशाखाः च ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन! यह तुझे सांख्यमतानुसार विचार कहा; अब योगमतानुसार विचार सुन। जिस विचार के आश्रयसे तू कर्मबन्धनको दूर करेगा ॥३९॥ यहां आरंभ किये हुए का नाश नहीं होता, इसमें विघ्नभी नहीं होते, इस धर्मका थोडासाभी आचरण किया जाय, तो वह बडे भयसे बचाता है ॥ ४० ॥ हे अर्जुन! इस मार्गमें व्यवसायमें स्थिर रहनेवाली एकही बुद्धि होती है। व्यवसाय न करनेवालोंकी अनेक बुद्धियां और उनकी शाखाएं भी बहुत होती हैं ॥ ४१ ॥

भावार्थ- इससे पूर्व सत् और असत् का विचार करके कर्तव्य का निश्चय किया, अब इसके पश्चात् आचार-धर्मका विचार करके कर्तव्य का निश्चय करनेका उपदेश कहते हैं। इस मार्गमें जो किया जाय वह व्यर्थ नहीं जाता, जमा रहता है; इसके आचरणमें विघ्नोंसे रुकावटें नहीं होतीं, और इसका थोडासा भी आचरण किया जाय, तो वह बडे भयको दूर करता है। यहां एकाग्रतासे कर्म करनेकी तत्परता ही केवल चाहिये, जिससे सिद्धि प्राप्त होती है। जो उद्योग न करनेवाले होते हैं उनकी मति चञ्चल होती है और कभी एकाग्र नहीं होती, अतः उनको कभी सिद्धि नहीं प्राप्त होती ॥

(३९—४१) यहां तक युक्तिवाद की दृष्टिसे विचार हुआ। जो इससे पूर्व कहा गया, उसको "सांख्य, सांख्यमत, सांख्यतत्त्व, सांख्यज्ञान, ज्ञान, ज्ञानमार्ग" कहा जाता है। 'आत्मा अविनाशी है, जगत् नाशवान् है, जगत् के नाश होनेसे आत्मामें घटबध कुछ भी नहीं होता' इत्यादि विचार इस मतमें मुख्य हैं। यद्यपि सांख्यमत का यह सिद्धान्त है, तथापि यहां जो कुछ कहा गया है, वह सब सांख्याचार्य का मत या सांख्य मार्गियोंका सिद्धान्त है, ऐसा नहीं है। यहां 'सांख्यबुद्धि' शब्द आया है, इस सांख्यबुद्धिका अर्थ 'युक्तिवाद अथवा तर्कवाद' यहां अपेक्षित है। (सं+ख्या) उत्तम रीतिसे जो समझाया जाता है, युक्ति प्रमाणोंसे जो दूसरोंको कहा

जाता है, उस युक्तिवादकोभी 'सांख्यवाद' कहते हैं। यह अर्थ यहां विशेषतया अभीष्ट है। अर्जुन की शंका थी कि, 'युद्ध करनेसे भीष्म-द्रोणादि मारे जांयगे।' इसका निराकरण पूर्वोक्त युक्तिवाद से किया गया और दर्शाया गया कि, युद्ध से शरीरनाश होनेपर भी उन शरीरों में निवास करनेवाला आत्मा अमर रहता है और उसका नाश कोई कर नहीं सकता। इस प्रकार सांख्यसिद्धान्तका आश्रय करके युक्तिवाद से आत्माका अमरत्व दर्शाया गया। परंतु इस परभी एक शंका रहती है कि, "युद्धरूप हिंसा-पूर्ण पापकर्म करनेसे जो दोष लगता है वह कभी न कभी बाधा करेगाही। अतः हिंसामय युद्ध करना अयोग्य है।" अर्जुन के मनमें यह शंका उठी, जिसका उत्तर देना अत्यंत आवश्यक है। यह उत्तर देनेके लिये ही योगमार्ग अथवा उद्योगमार्ग का विचार करना अत्यंत आवश्यक हुआ। अतः यह विचार यहां प्रस्तुत किया जाता है—

जिसप्रकार 'सांख्यबुद्धि' का अर्थ कपिल ऋषिका सांख्यमत ही केवल नहीं, उसी प्रकार 'योगबुद्धि' का अर्थभी पतञ्जलिमहामुनिका योग ही केवल नहीं। भगवद्गीतामें ये दोनों शब्द विशेष व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किये हैं। पाठक इस व्यापक अर्थको अच्छी प्रकार स्मरण रखें। यहां 'योगबुद्धि' का अर्थ 'निष्काम कर्म का अनुष्ठान करनेवाली मति' है। इसी अध्याय में आगे 'योग' का अर्थ 'कर्मकुशलता (भ० गी० २।५०) और समत्व (भ० गी० २।४८), कहा जायगा। भगवद्गीताके योग शब्दका अर्थ 'कर्म-प्रवीणता और सिद्धि, असिद्धिके विषयमें सम-बुद्धि' है। प्रत्येक कर्म योग्य रीतिसे होनेके लिये कुशलता और तत्परता अवश्य चाहिये। यहां इसीका नाम 'योगबुद्धि' है। यह पतञ्जलिमहा-मुनिका कहा योग नहीं है, यह वैदिक 'कर्मयोग' है और इसीको भगवद्गीताने आगे निष्काम कर्म-योग नामसे कहा है। वाजसनेयी संहितामें कहा है कि—

> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥१
> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥ वा० यजु० ४०; ईश० उ० १,२

"(१) अतः दान देकर भोग कर, (२) मत ललचा, (३) भला धन किसका है ?, (४) एसे (निष्काम) कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा कर, (५) यही एक मार्ग है, दूसरा मार्ग नहीं है, (६) इसप्रकार (किया हुआ निष्काम) कर्म कर्ताको कलंकित नहीं करता।"

यह वैदिक निष्काम कर्मयोग है, इसीका विस्तार यहां भगवद्गीतामें किया जायगा। इस व्यापक वैदिक कर्ममार्ग का पातञ्जल योग एक छोटासा भाग है। यद्यपि 'योग' शब्द दोनों स्थानोंपर प्रयुक्त होता है, तथापि उसका आशय प्रकरणानुसार भिन्न भिन्न है। पाठक आगे देखेंगे, कि पूर्वोक्त वैदिक कर्मयोगका ही भगवद्गीताका निष्काम कर्मयोग विस्तार है। "लालच छोडकर दान भावसे यावज्जीव कर्म करना" ही 'योग बुद्धि' है। इसको योगबुद्धि कहिये अथवा 'उद्योगबुद्धि' कहिये; इसको 'निष्कामकर्मबुद्धि (गीता)' अथवा 'श्रेष्ठतम कर्मबुद्धि' (वा० यजु० १।१) भी कह सकते हैं। इस रीतिसे कर्मका बन्धन दूर किया जासकता है। इस विषयमें गीता के कथन के साथ वेद के उपदेश की तुलना कीजिये-

> बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ भ० गी० २।३९
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ वा० यजु० ४०।२

"इस बुद्धिसे युक्त होनेपर कर्मबन्धन नहीं होता।" "यही मार्ग है दूसरा नहीं, इसप्रकार कर्म बन्धनकारक नहीं होता।" ये दोनों कथन कितने सदृश हैं, यह देखिये। इनकी तुलनासे दोनों

को एकही प्रकारके कर्ममार्ग का उपदेश करना अभीष्ट है यह बात इस विवरणसे सिद्ध होगी।

मान लिया जाय, कि यह निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है और इसके अनुसार कर्म करनेसे कर्मका बन्धन नहीं होता। इतना माननेपर भी इस में तीन शंकाएं आतीं हैं। ये शंकाएं इस प्रकार हैं-

(१) यदि किसीने कर्म प्रारंभ किया और वह समाप्त होनेके पूर्व ही उस कर्ताकी मृत्यु हुई, तो वह अधूरा कर्म निष्फल होगा या नहीं?

(२) बीचमें विघ्न आनेपर कर्म का विपरीत परिणाम तो नहीं होगा? और—

(३) थोडासा कर्म हुआ और आगे न हो सका तो उससे क्या बनेगा?

ये तीन शंकाएं हरएक कर्मकर्ताके मनमें उत्पन्न होती हैं, अर्जुन के मनमें भी ये तीनों शंकाएं उत्पन्न होगईं, इनका निराकरण करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

इह अभिक्रमनाशः न अस्ति। (भ०गी०२।४०)

"यहां आरंभ किये हुए कर्मका नाश नहीं होता है।" इस मार्ग में रहते हुए, इस मार्गके मुख्य नियमोंके अनुसार जो लोग कर्म करते हैं, उनके प्रारंभ किये हुए कर्मका नाश नहीं होता है। जिसने जो कर्म जितना प्रारंभ किया होता है, उसका उतना कर्म उसके कार्यक्षेत्रमें रहता है। मान लीजिये, कि एक मनुष्य कर्मयोग के अनुसार कुछ कर्म करते हुए मर गया, तो भी वह किया हुआ कर्म उतना ही संस्काररूपसे उसके साथ रहता है, वेद भी यही बात कहता है देखिये—

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ वा० यजु० ४०।४; काण्व यजु० ४०।४; ईश उ०४

"(मातरि-श्वा) माताके गर्भ में रहनेवाला अर्थात् पुनर्जन्म प्राप्त करनेवाला जीव (तस्मिन्) उस आत्मा में (अपः दधाति) सब कर्मोंको धारण करता है।" पहिला देह छोडकर दूसरा देह धारण करनेकी तैयारीमें लगा हुआ जीव दूसरी माताके गर्भमें रहता है, उस समयमें भी उसके पूर्व जन्मके सब कर्म परमात्माके अटल नियमके अनुसार उसी आत्मा में रहते हैं। कोई मनुष्य आज सायंकाल तक कुछ कार्य करता है, रात्रीमें सोजाता है और कल सबेरे उठकर पुनः कलका अधूरा कार्य आगे पूर्ण करने लगता है, रात्रीका समय व्यतीत होनेसे पूर्वदिन का किया कार्य नष्ट नहीं होता; इसी प्रकार कोई मनुष्य इस जन्म में कुछ कार्य करता है, मृत्युकी महारात्री आती है, उस समय वह महानिद्रामें सो जाता है, जब जगत् निर्माणका दिन शुरू होता है तब उसको जाग आती है और वह पूर्वजन्मका अधूरा कार्य आगे करके समाप्त करता है। दोनों स्थानों में रात्रीकी लंबाई में भेद है, कर्मकी उपस्थिति में भेद नहीं है। पाठकोंको यहां स्मरण रखना चाहिये, कि आगे छठे अध्याय में यही विषय आगया है—

"हे अर्जुन! ऐसे लोगोंका नाश न इस लोक में होता है और न परलोक में। कल्याणमार्गपर जानेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती। इस योग-मार्ग में अधूरे साधन करनेवाले लोग पवित्र व्यक्तिके घर जन्म लेते हैं। किंवा वैसे ज्ञानवान् योगीके ही कुलमें जन्म लेते हैं। वहां उसको पूर्व जन्मके बुद्धिसंस्कार मिलते हैं और वहांसे वह मोक्षके लिये आगे प्रगति करता है। पूर्व अभ्यास के कारण उसकी प्रवृत्ति उसी मार्गमें होती है। इस प्रकार दत्तचित्त होकर प्रयत्न करनेवाला योगी अनेक जन्मोंसे शुद्ध बनकर परमगति को प्राप्त करता है।" (भ० गीता० ६।४०-४५)

इस रीतिसे भगवद्गीतामें आगे यही विषय विस्तारसे कहा जायगा। इससे स्पष्ट है कि, आरंभ किया हुआ कर्म नाश नहीं होता। इस बातकी सत्यता हम अपने अन्दर भी देखते हैं जो पूर्व आयुमें योग्य रीतिसे ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक विद्याभ्यास करते हैं, उनको उत्तर आयुमें उत्तम सुखका लाभ होता है। यहां यह बात विचार में लेना योग्य है, कि पूर्व आयुमें शारीरक कार्य करने

वाले अणुजीव भिन्न होते हैं और उत्तर आयुके सुख भोगनेवाले अणुजीव भिन्न होते हैं, इसीप्रकार जिस राष्ट्रके लोग अपने प्रयत्न से अपना स्वतंत्र स्वराज्य अपने आधीन रखते हैं उनके आगे की संतान भी उस स्वातंत्र्यका अनुभव करके सुखी रहती है। यहां राष्ट्रको एक व्यक्ति (पुरुष) मानकर पूर्वसमयके राष्ट्रपुरुष का कार्य उत्तर समय के राष्ट्रपुरुषको प्राप्त होता है, कार्य करनेवाले मरजानेपर भी वह कार्य स्थिर रहकर उत्तराधिकारियोंको सुख देता रहता है, इतनी ही बात देखनी चाहिये। यहां शरीरकी और राष्ट्रकी समता पाठक देखें। अर्थात् किया हुआ कार्य संस्कार रूपसे रहता है, उसका नाश नहीं होता। अब दूसरी शंका का निराकरण करते हैं—

प्रत्यवायः न विद्यते। (भ० गी० २।४०)

'इसमें विघ्न नहीं होते।' अर्थात् सत्कर्म करते रहनेसे विघ्न दूर होते जाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि योगमार्ग के अनुसार कर्म करते रहनेसे विघ्न स्वयं दूर होते जाते हैं, और इस मनुष्य का अधिकार अथवा पुण्यसंचय बढता जाता है। अथवा विघ्न आनेसे इसके किये हुए सत्कर्मका विपरीत फल भी नहीं होता है।

सत्कर्ममें रत रहनेवाले सज्जन को प्रारंभ में दुर्जन उपद्रव करते हैं, और कभी कभी ऐसा भी होता है कि, इसका कार्यक्षेत्र प्रतिसमय व्यापक होता जाता है, इसलिये इसको उपद्रव देनेवाले दुर्जनोंकी संख्या कदाचित् बढती भी जाती है। परंतु इसमें तप अर्थात् कष्ट सहन करनेकी शक्ति बढ जानेके कारण उन दुर्जनोंके खडे किये विघ्न इसके सत्कर्मके फैलानेमें प्रतिबंधक नहीं होते। इतनाही नहीं, परंतु इस सत्पुरुषका वध किया जानेपरभी उसका प्रारंभ किया हुआ प्रशस्ततम कर्म जगत्में फैलताही जाता है। अर्थात् जो प्रतिबंध दूसरोंको रुकावट करनेवाले होते हैं वेही इस सत्पुरुषका कार्य फैलानेवाले अर्थात् इसके कार्यके पोषक होते हैं। अतः वे विघ्न इसके लिये विघ्न नहीं होते। अब तीसरी शंकाके विषयमें देखिये-

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
(भ० गी० २।४०)

" इस धर्मका थोडासा भी पालन हुआ तो वह बडे भयसे बचाता है।" सत्कर्म का पालन थोडा भी हुआ, तो भी उससे बहुतसे लाभ होते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति आदि अनेक सत्कर्म हैं, और इनके योगसे अनेक व्यवहारोंमें किये हुए कर्म सत्कर्म ही होते हैं। इस सत्कर्मयोग रूप मानवधर्मका थोडा भी आचरण किया जाय, तो वह बडे भयसे बचाता है। उदाहरण के लिये देखिये, एक मनुष्य बहुत आयुतक असत्य बोलता है, परंतु यदि किसी समयसे नियम करके सत्य भाषण करने लग जाय, तो उसका संमान होने लगता है और जनता उसके पूर्व दोषोंको भूल जाती है और वह उस नियमपर दृढ रहा, तो उसको वंदनीय मानने लगती है। इसी प्रकार अन्यान्य सदाचारके विषयमें जानना योग्य है। इस लिये ही कहा है कि 'इस धर्मका थोडा भी आचरण किया जाय तो बडे भय से बचाव होता है।' अतः सब लोगोंको उचित है कि, वे इस कर्मयोग के मार्गपर आजांय और अपने आपको कृतार्थ करें।

कई लोग यहां पूछेंगे कि, इस मार्गसे जाने के लिये जो अनेकानेक साधन आवश्यक होंगे, वे हमारे पास न होनेपर हम कैसे इस मार्गसे चल सकेंगे? इस प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि, यहां तो बहुत साधनों की आवश्यकता ही नहीं है। केवल व्यवसायात्मक एकमात्र बुद्धि यहां आवश्यक है-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
(भ० गी० २।४१)

इस सत्कर्मयोग के मार्ग में प्रवृत्त होनेवाले मनुष्य के लिये केवल एकमात्र " व्यवसा-

यात्मक बुद्धि चाहिये।" यह बुद्धि जिसके पास होगी, वह इस मार्ग का आक्रमण कर सकेगा। व्यवसायात्मक बुद्धि का अर्थ है 'प्रयत्न करने की निष्ठा धारण करनेवाली बुद्धि, उद्योगतत्पर बुद्धि, पुनः पुनः प्रयत्न करनेका उत्साह धारण करनेवाली बुद्धि।' 'व्यवसाय' का अर्थ 'प्रयत्न, उद्योग, निरलस यत्न, उत्साह, कर्मण्यता, पुनः पुनः अथक प्रयत्न करनेका स्वभाव, निश्चय, व्यापार, व्यवहार, आचार, सदाचार, युक्ति, उपाययोजना, कर्मकुशलता, चातुर्य' इत्यादि है। जिसकी बुद्धिमें ये स्वभावधर्म होंगे, उस की व्यवसायात्मिक बुद्धि' है ऐसा कहा जायगा। व्यवसाय करना जिसका आत्मा है उसका नाम है 'व्यवसायात्मक बुद्धि।' जो प्रयत्न किये विना रह नहीं सकता, उसकी बुद्धि व्यवसायात्मक है। जो पुरुष अखंड प्रयत्नशील होते हैं और अपनी कर्मकुशलतासे महान् महान् कार्य करके दिखाते हैं उनकी बुद्धि व्यवसायात्मक समझना योग्य है। ऐसे व्यवसायात्मक बुद्धिवाले पुरुष इस योगमार्गमें सुयोग्य कार्य करके दिखा सकते हैं। बुद्धिकी एकाग्रता इसमें मुख्य है। एक विषयमें सुदृढ रहनेवाली बुद्धि सिद्धि के लिये अवश्य चाहिये। जिनकी बुद्धि व्यवसायात्मक नहीं होती वे किसी भी कर्म में कौशल्य प्राप्त कर नहीं सकते। इनके विषय में आगे कहा है-

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।
(भ० गी० २।४१)

'निरलस प्रयत्न न करनेवालों की अनेक बुद्धियां और प्रत्येक की अनेक शाखाएं भी हैं।' अनेक बुद्धि का अर्थ 'चञ्चल अथवा अस्थिर बुद्धि' है। जो लोग अव्यवसायी होते हैं वे आज एक कार्य करेंगे, थोडासा कष्ट हुआ तो कल दूसरा प्रारंभ करेंगे, उसमें थोडी हानि की संभावना हुई तो परसूं तीसरा शुरू कर देंगे, इस प्रकार किसी भी प्रयत्न में स्थिर वृत्तिसे कार्य नहीं करेंगे। तथा एकही कार्य में एक रीतिका अवलंबन करके सबेरे कार्य करेंगे, दूसरी रीतिसे दोपहरको करेंगे और तीसरी ही पद्धति से शामको करेंगे। परंतु किसीएक मार्गपर स्थिर नहीं रहेंगे। इस चंचल मनकी अवस्था के कारण इनको हरएक कार्य में निश्चयसे हानि ही हानि होती है। किसी मार्गपर इनका विश्वास नहीं होता, किसी ज्ञानीपर इनकी श्रद्धा नहीं होती, किसी ग्रंथका आश्रय करने योग्य इनके मनकी भावना भी नहीं होती। सर्वत्र अविश्वास, अश्रद्धा और अस्थिरता होती है। इसका परिणाम ऐसा होता है कि, इनकी श्रद्धा तो अपने ऊपरसे भी उडजाती है, अतः इनमें आत्मविश्वास नहीं रहता और अन्त में ये अश्रद्ध लोक न इस लोक के और न परलोक के हो जाते हैं। इसलिये श्रद्धाका महत्त्व इस प्रकार कहा है कि-

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
भ० गी० १७।३

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्तमो मतः॥
भ० गी० ६।४७

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
भ० गी० १२।२

श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
भ० गी० १२।२०

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
भ० गी० ३।३१

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः॥
भ० गी० ४।३९

'जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा वह होता है। परमश्रद्धासे जो भजन करते हैं वे अधिक योग्य हैं। परमश्रद्धावाले भक्त मुझे प्रिय होते हैं, श्रद्धावान् और निर्वैर भाव धारण करनेवाले कर्मबंधनसे छूटते हैं। श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है।' यहां जो श्रद्धा का माहात्म्य वर्णन किया है वह अश्रद्धासे चित्त अस्थिर होता है, इसी लिये है। अश्रद्धा से संशयवृत्ति बनती है, जो श्रद्धाहीन

(१७) भोगवादियोंकी स्थिति।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

अन्वयः- हे पार्थ! वेदवादरताः, अन्यत् न अस्ति इति वादिनः, अविपश्चितः, कामात्मानः, स्वर्गपराः, भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलां जन्मकर्मफलप्रदां यां पुष्पितां वाच प्रवदन्ति, तया अपहृतचेतसां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धिः व्यवसायात्मिका (भूत्वा) समाधौ न विधीयते॥४२-४४॥

हे अर्जुन! वेदके विषयमें वादविवाद करनेमें बडी रुची रखनेवाले और इस (वादविवाद) को छोडकर दूसरा कुछ (भी कर्तव्य) नहीं है ऐसा कहने वाले अज्ञानी लोग स्वार्थकी कामना करते हुए, स्वर्गको ही परम श्रेष्ठ मानकर भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति की विशेष क्रियाओंका वर्णनही जिसमें बहुत है और जिससे

पुरुषोंका समूल नाश करती है, अतः कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
भ० गी० ४।४०

"अज्ञानी, श्रद्धाहीन और संशयी मनुष्य नाशको प्राप्त होता है। संशयी मनुष्य के लिये न यह लोक है न परलोक; उसे कहीं भी सुख नहीं।"

अव्यवसायी चञ्चल मतिवालेका यह परिणाम है। अतः इस दुर्गतिसे अपना बचाव करना हरएक का कर्तव्य है। अर्जुनका व्यवसाय क्षात्रधर्मका पालन करना और युद्ध करना था। इस व्यवहारमें उसकी मति स्थिर थी। परंतु शत्रुके मायाजालके उपदेशसे उसके मनमें चञ्चलता आगई और उसकी बुद्धि अपने स्वाभाविक व्यवसायपर स्थिर नहीं रही, युद्ध करूं या वानप्रस्थ या संन्यास लूं, ऐसी अनेक चञ्चल वासनाएं उसके मनमें खडी होने लगीं। उसके मनमें अनेक विचार और अनेक कल्पनाएं उठने लगीं, किसी विचार पर मन स्थिर न रहा, भगवान् श्रीकृष्ण उसके सहायकारी थे, परंतु उनपरभी उसका अढळ विश्वास उस समय न रहा। अर्थात् जो अर्जुन पहिले 'व्यवसायात्मक बुद्धिसे युक्त' था वही शत्रुका उपदेश श्रवण करनेके पश्चात् 'अव्यवसायी' बना!! शत्रु सदाही जित शत्रुके व्यवसायी लोगोंको अव्यवसायी, चञ्चल, अश्रद्ध, झगडालू और अपसमें भिन्न बनाना चाहते हैं। अतः यह वर्णन अंशतः अर्जुन का है और सामान्यतः सब चञ्चल प्रकृतिवाले मनुष्योंका भी है। अतः पाठक इस वर्णन को पढें और इन प्रमाणोंसे अपनी परीक्षा करें, और निश्चय करें कि अपने अन्दरकी बात कैसी है।

अव्यवसायी चञ्चल प्रकृतिवाले मनुष्य सुख को लालसासे कैसे भ्रान्तचित्तसे भटकते रहते हैं, इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

(४२-४३) भोगवाद और त्यागवाद ये दो वाद अनादि कालसे प्रचलित हैं। वैदिक धर्म 'त्यागवाद' का सन्देश जगत् को देता है इस-

केवल जन्ममरण रूप कर्मफल ही प्राप्त होते हैं, ऐसी प्रफुल्लित वाणी बोलते हैं, उससे जिनका चित्त आकर्षित होता है, उन भोग और ऐश्वर्य में आसक्त हुए मनुष्योंकी बुद्धि (कभी) व्यवसायात्मक होकर एकतामें स्थिर नहीं होती ॥४२-४४॥

भावार्थ- केवल वादविवाद करनेवाले, कुछभी कर्तव्य न करनेवाले, स्वार्थी, भोगी, ऐश्वर्यकी लालसा करनेवाले, अज्ञानी लोगोंके मोहक भाषणसे जिनकी मति ऐश्वर्यभोगोंमें आसक्त होती है, उनकी बुद्धि किसी सत्कर्ममें एकाग्र होकर स्थिर नहीं होती, सदा चंचल ही रहती है ॥४२-४४॥

लिये "(त्यक्तन भुञ्जीथाः। यजु० ४० । १) दान देकर यज्ञशेषका भोग कर" यह वेदने आज्ञा दी है। जडबुद्धिके लोग कहते हैं कि. जीवित रहने तक सुखका भोग करो। इसप्रकार ये दो वाद जगत् में प्रचलित हैं, इनमें भी भोगवाद पशुपक्षियों में जन्मसिद्ध है और पाशवीवृत्तिवाले लोगोंमें भी फैला हुआ है। त्यागवाद जगत्में प्रचलित करना और मनुष्यों के जीवनमें इस को ढालना वैदिक धर्मका अभीष्ट है। भगवद्गीता भी यहां इस वैदिक सिद्धान्त का प्रचार करती है और इसका बहुत ही वर्णन आगे भी आनेवाला है। उस उपदेशका ग्रहण करनेकी पाठकोंकी तैयारी करानेके उद्देश्यसे भोगवादियोंकी चञ्चल वृत्तीका भयानक चित्र इन श्लोकोंमें खींचा है। पाठक इसका अच्छी प्रकार विचार करें और ये गुण यदि किसीमें हों तो उनको हटानेका यत्न करें। इन श्लोकोंमें जिन भोगवृत्तिवालोंका वर्णन है उनका वर्णन अब क्रमशः करते हैं—

१ अविपश्चित्= (अ- वि- पश्- चित्=न विशेषेण पश्यन् चिन्तयते)= जो विशेषरीतिसे देखता है और देखे हुए विषयपर अच्छी प्रकार विचार करता है उसको (विपश्चित्) ज्ञानी कहते हैं। और जो किसी विषयको विशेष दृष्टीसे देखता भी नहीं और देखे हुए विषय पर जो कभी विचार नहीं करता, उसको (अ-विपश्चित्) अज्ञानी कहते हैं। मनुष्यका धर्म है कि. वह विषयोंको देखे और विचार करे। जो मनुष्य इस धर्मका पालन नहीं करता वह द्विपाद पशुही है, क्यों कि पशुही आंख खुले रहनेपर भी देखते नहीं और कभी किसका विचार करते भी नहीं। जो मनुष्य न देखने और न सोचने के कारण पशुवत् आचरण करता है और पशुके समानही आहारनिद्रा और मैथुनमें ही रत रहता है, उसको मनुष्य किस प्रकार कहा जा सकता है? वह यदि मनुष्य है तो पशुकोटीका मानव है। इसी कारण वह भोगवादी होता है।

२ वेदवादरत:= पूर्वोक्त अज्ञानी मनुष्य वेद का वाद करनेमें बडा चतुर होता है। वेदविषयपर शास्त्रार्थ करनेमें बडा पण्डित है। वेदके सबके सब सिद्धान्त ज्ञात हैं ऐसी जिसको घमंड है। आद्योपान्त वेदवचन न पढनेकी अवस्थामें भी जो कहता रहता है, कि मैं वेदके तत्त्व को यथावत् जाना है। स्वयं वैदिक भाषासे अनभिज्ञ होने परभी जिसको वैदिक सिद्धान्त समझने की घमंड हुई होती है। यह तो अनाडीसे भी सर्वथा अज्ञानी रहता है, इसके अज्ञान की कोई सीमाही नहीं है।

३ न अन्यत् अस्ति इति वादिनः= वैदिक सिद्धान्तोंपर शास्त्रार्थ करने और खंडनमंडन का शाब्दिक युक्तिवाद करने के अतिरिक्त अपने लिये कोई विशेष कर्तव्य है, ऐसा वह घमंडी मानता ही नहीं। वेदका वादविवाद करनेसे ही अन्तिम सिद्धि मुझे मिलेगी अथवा सब प्राप्तव्य सिद्धियां मुझे प्राप्त ही हैं, मैं मुक्ति की अवस्था

भी जानता हूं, प्रलय का भी देखे हुए समान वर्णन करता हूं, प्रलय की पूर्व स्थिति मुझे मालूम है, मुक्ति के पश्चात् क्या होगा वह भी मुझे ज्ञात है, परमेश्वर के विषयमें सब ज्ञातव्य मैं जानता हूं, इस प्रकार वह सर्वज्ञ जैसी बातें कहता जाता है, और अपने उद्धार के लिये आवश्यक कर्तव्य तक नहीं करता। वेदमंत्रोंके सिद्धान्त बोलनेसेही मानव जातीका उद्धार होगा, वेद सिद्धान्त जानेके पश्चात् और कुछ कर्तव्य मनुष्य के लिये अवशिष्ट नहीं रहता ऐसा यह मानता है। इस प्रकार इसका अज्ञान भयानक होता है।

४ कामात्मा = (काम+आत्मा) काम अर्थात् विषयभोगकी इच्छाही जिसका आत्मा है। जो जन्मस्वभावसे भोग भोगने में तत्पर रहता है. कामभोगोंको छोडकर दूसरा जिसको कुछ सूझता नहीं है। अज्ञानी लोगोंको ज्ञानकी बातें तो सूझतीं नहीं है, अतः वे शरीरके पाशवी धर्ममें ही तत्पर रहते हैं और गिरते जाते हैं।

५ स्वर्गपरः= स्वर्गके भोग प्राप्त करनाही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है ऐसा जिसका विचार निश्चित हुआ है। स्वर्गके भोग प्राप्त करनेके लिये यहां जो कुछ करना हो वह करता रहता है। उसके सिवाय अन्य कुछभी नहीं करता। यहांकी सामाजिक, राजकीय अथवा वैयक्तिक सुस्थिति के लिये अत्यन्त आवश्यक बातें भी करता नहीं, इस कारण वह इहलोक के जीवनमें कष्टमय अवस्थाको प्राप्त होता है, इस कारण इहलोकके सुखसे वह वञ्चित रहता है। परलोकका सुख तो अनिश्चित ही है अतः वह न इस लोकका और ना ही परलोक का रहता है। इसको पता नहीं है कि, स्वर्गके स्त्रीभोगोंकी कल्पना अथवा अन्यभोगोंकी कल्पना यहां के भोगों के समान ही अवनतिकारक है। ऐहिक विषयभोग और स्वर्गके विषयभोग, दोनों ही भोग होनेके कारण दोषमयही हैं, अतः आत्मोन्नति चाहनेवाले मनुष्यको इन दोनों भोगोंपरकी आसक्ति छोडना उचित है। अतः योगदर्शनके भाष्यमें भगवान् व्यासमुनि इस प्रकार कहते हैं—

> स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये विरक्तस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्राविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः ......वशीकारणसंज्ञा वैराग्यम् ॥ यो० द० १।१५

'स्त्रियां, अन्नपान, ऐश्वर्य आदि दृष्ट विषय हैं, स्वर्गादि उपभोग अदृष्ट विषय हैं। इन दोनों विषयभोगोंसे विरक्त होना और अपने इंद्रियों का संयम करना वैराग्य कहलाता है' जो योगाभ्यास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जो मनुष्य इस योगमार्गपर चलना और वहां की उन्नति प्राप्त करना चाहते हैं उनको उचित है कि, वे इह लोक के भोगों और स्वर्गलोक के भोगों के विषयमें अपने मनका संयम रखें। भोगोंपर आसक्त न हों। भोगोंमें न फंसें। जो भोगलालसामें फंसते हैं वे योगमार्ग की उन्नति प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं।

६ भोगैश्वर्यगतिं प्रति जन्मकर्मफलप्रदां क्रियाविशेषबहुलां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति=भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति करनेके लिये जन्ममरणादि फल देनेवाली विविध क्रियाएं करते हैं और उन क्रियाओंका समर्थन करने के लिये बडा लंबा चौडा शब्दाडम्बरयुक्त जोशीला भाषण करते हैं। अपने भाषणसे अन्य अज्ञ लोगोंको अपने मतमें आकर्षित करते हैं और इस प्रकार अपना अपना भोगप्रधान मत जगत् में फैलाते हैं, अर्थात् ये स्वयं अन्ध होते हुए भी दूसरे अन्धोंको अपने साथ जमा करते हैं और दोनों पतित होते हैं।

७ तया अपहृतचेतसां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धिः व्यवसायात्मिका समाधौ न विधीयते= पूर्वोक्त लोगोंके जोशीले वक्तृत्वसे उनके पन्थमें कई मूढ लोग आकर्षित होते हैं। ये लोग प्रतिदिन भोग और ऐश्वर्य में आसक्त होते हैं और प्रतिसमय भोगोंमें फंसते जाते हैं। भोगोंके

अतिसेवन से रोगी होते हैं, और विविध दुःख भोगते हैं। इस प्रकार के मूढोंके अनुयायी हुए अतिमूढों को बुद्धि सत् और असत् का विचार करनेमें असमर्थ होती है, किसी एक व्यवसाय में स्थिर नहीं होती और किसी स्थानपर एकाग्रभी नहीं होती। इनकी वृत्ति सदा चञ्चल होती है और चञ्चलता के कारण वे कुछ भी कार्य योग्य रीतिसे समाप्त करनेमें असमर्थ हो जाते हैं।

भोगवृत्तिवाले लोग इस कारण सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करनेके लिये असमर्थ हो जाते हैं, इस कारण उनका जीवन निरर्थक हो जाता है। ऐसे जीवन से क्या लाभ है? मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेसे इन्होंने क्या कमाया? पशुओंसे अपनी अवस्था उच्च है, ऐसा इन्होंने किस रीतिसे सिद्ध किया? जो मनुष्य पशुवृत्तिसे हि जीवित रहते हैं उनके जीवन को धिक्कार है।

इन श्लोकोंमें 'वेदवादरत' पद है, इसको देखनेसे कई लोग मानते हैं कि, इस से गीता ने वेदके धर्मका खंडन किया है। परंतु यह भूल है। क्यों कि इसी भगवद्गीता में अन्यत्र कहा है कि —

वेदानां सामवेदोऽस्मि ॥ भ० गी० १०।२२
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ॥ भ० गी० १५।१५
वेदविदेव चाहम् ॥ भ० गी० १५।१५
(अहं) ऋक्सामयजुरेव च ॥ भ० गी० ९।१७

'वेदोंमें मैं सामवेद हूं। सब वेदोंसे मेरा (आत्माका) ज्ञान होता है। मैं ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हूं।'

यदि भगवद्गीताकारको वेदोंका खंडन अभीष्ट होता तो उस ग्रंथमें ऐसे कथन कदापि न आते। इन कथनोंसे स्पष्ट होता है कि, भगवद्गीतालेखक वेदों को परमधर्मका ग्रंथ मानता है, अन्तिम गुह्य ज्ञान देनेवाला वेद है यही भगवद्गीताका सिद्धान्त है। इस से स्पष्ट है कि यहां 'वेदवादरत' पदसे वैदिक सिद्धान्तों का केवल शाब्दिक वादविवाद और शास्त्रार्थ करनेवालों का ही खंडन किया है, न कि वैदिक धर्मका। जो वेदवाद करते हैं परंतु वैदिक उपदेश के अनुसार आचरण नहीं करते, उनकी निन्दा यहां की है और वह योग्य ही है। उपनिषदों में भी कहा है कि ऋग्वेदादि चारों वेद 'अपरा' विद्या है और 'परा' विद्या दूसरी है जिससे सत्यज्ञान होता है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि ऋग्वेदादि वेदोंमें शब्दोंसे ज्ञान दिया है, वह सत्य ज्ञान तब होगा, जब वह क्रियात्मक होगा। जैसा 'अन्न' शब्द भोजन का वाचक है परंतु जिसने अन्न स्वयं देखा न हो और खाया न हो, उसको अन्न शब्द जानने मात्र से क्या लाभ होगा? अतः जो विद्या केवल शब्दमात्र है वह 'अपरा' अर्थात् निचली विद्या है, परंतु जो विद्या अनुभवसिद्ध है वही श्रेष्ठ (परा) विद्या है। इसी उद्देश्य से यहां वेद का केवल वाद-विवाद करनेवालोंकी निन्दा की है, यह निन्दा वेदके उपदेशके अनुसार आचरण करनेवालोंकी स्तुति करनेके लिये ही है। केवल शब्दवाद मचानेवालोंकी निन्दा तो स्वयं वेदही कर रहा है, देखिये-

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ऋ० १।१६४।३९
उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ४ ॥

ऋग्वेद १०।७१

"वेदमंत्रों के अक्षरोंमें सब देवोंकी शक्तियां निवास करती हैं। जो इस ज्ञानको अनुभव से नहीं जानता, उसको वेदमंत्र से क्या लाभ होगा? परंतु जिसको वह सत्यज्ञान प्राप्त होता है वही उच्च स्थानपर विराजता है ॥ कई मनुष्य ऐसे होते हैं कि जो ग्रंथको देखते हैं परंतु न देखनेके समान ही उनका देखना होता है, कई लोग ग्रंथपाठको सुनते हैं, परंतु उनका श्रवण न श्रवण करनेके समानही व्यर्थ होता है। (परंतु

(१८) द्वन्द्वातीत होना।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

अन्वयः— हे अर्जुन ! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः। त्वं निस्त्रैगुण्यः नित्यसत्त्वस्थः निर्द्वन्द्वः निर्योगक्षेमः आत्मवान् भव ॥ ४५ ॥ यावान् अर्थः उदपाने (तावान्) सर्वतः संप्लुतोदके (भवति। तथा यावान् अर्थः) सर्वेषु वेदेषु, तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य (भवति) ॥ ४६ ॥

हे अर्जुन ! वेद तीन गुणोंके विषयोंसे युक्त हैं। इससे तू तीनों गुणोंके परे अर्थात् नित्य सत्त्वगुणमें स्थित, द्वन्द्वोंसे मुक्त, वस्तुकी प्राप्ति और उसकी रक्षा का विचार न करनेवाला और प्रशस्त आत्मबलसे युक्त हो ॥ ४५ ॥ जो कार्य छोटे कुंएसे होते हैं वे सब कार्य जलसे परिपूर्ण बडे सरोवरसे सहजहीमें बनते हैं; इसी तरह जो संपूर्ण वेदोंमें है वह सब ब्रह्म जाननेवाले विशेष ज्ञानी को सहजही में प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

भावार्थ— सत्त्व रज तम ये तीन गुण हैं, इन तीनों गुणोंका वर्णन वेदमें है। यह वैदिक ज्ञान प्राप्त कर तू तीन गुणोंसे परे अर्थात् शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त, द्वन्द्वोंसे दूर, भोगसंग्रहके झंझाटमें न फंसनेवाला, और श्रेष्ठ आत्मिक बलसे युक्त बन। तात्पर्य तू बडा बन, क्यों कि जो कार्य छोटे जलाशयसे बनते हैं वे तो बडे सरोवरसे स्वयं बन जाते हैं, इसी रीतिसे वेदोंके उपदेशसे जो लाभ होगा, वह तो ब्रह्मको जाननेवाले आत्मानुभवी ज्ञानीको सहजहीसे प्राप्त हो सकता है ॥ ४५-४६ ॥

जो लोग ग्रंथ को देखकर अथवा सुनकर उसका तात्पर्य अपनाते हैं) उनके लिये उस विद्यासे ऐसा अद्भुत सुख प्राप्त होता है, जैसा कि गृहस्थीको उत्तम पतिव्रता स्त्री से प्राप्त होता है।"

इन मंत्रों में वेदने स्वयं वेद न जानने वालों, परंतु शब्दवाद करनेवालों की बहुत ही निन्दा की है। यही बात भगवद्गीताके इन तीन श्लोकोंमें कही है। अतः यह निन्दा वेद की प्रशंसा करनेके लियेही है। पाठक इन श्लोकोंका मनन करें और इस प्रकार के अकर्मण्यताके कई दोष यदि अपने अंदर होंगे, तो उनको दूर करनेका यत्न करें। अर्जुन भी बडी बडी ज्ञानकी बातें बोल रहा था, परंतु स्वकर्तव्य करनेसे भाग रहा था, अतः उसको बताया कि यह शब्दवाद कुछ काम का नहीं है। इससे तो बडी अवनति होती है अतः इस शब्दवादमें रुचि न रखो, और जो हो सकता है अपना कर्तव्य दत्तचित्तसे करो। सबको ऐसा ही करना चाहिये। अब आगे क्या कहते हैं देखिये—

(४५-४६) पूर्वोक्त भोगवादियोंकी चंचल वृत्ति दूर करके द्वन्द्वातीत बननेका उपदेश अब करते हैं। द्वन्द्वातीत और गुणातीत स्थिति का परिचय होनेके लिये गुण कितने हैं और द्वन्द्व क्या है इस का ज्ञान प्रथम होना चाहिये।

गुण तीन हैं सत्व, रज और तम। इन तीनों गुणों का वर्णन वेदमें है। इस वर्णन का सारांश यह है-

सत्व	रज	तम
देवपूजा	राक्षसपूजा	प्रेतपूजा
स्निग्ध भोजन	रूक्ष भोजन	अपवित्र भोजन
कर्तव्यतत्परता	दांभिकता	श्रद्धाहीनता
देशकालोचित-दान	प्रत्युपकारे-च्छासे दान	देशकालके अ-योग्य दान
अविभक्तभाव	पृथग्भाव	तुच्छभाव
निष्काम कर्म	सकाम कर्म	मोहमय कर्म
निर्विकार	विकारी	स्तब्ध
अहिंसक	हिंसक	आलसी
यथार्थबुद्धि	अयथावद्बुद्धि	विपरीत बुद्धि
ऊर्ध्वगति	मध्यस्थिति	अधोगति

साधारणतया सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों का स्वरूप इस कोष्टक से पाठक जान सकते हैं। जो विशेष देखना चाहते हैं, वे भ० गीताके १७वें और १८ वें अध्यायमें देख सकते हैं। वेद में सत्वगुण की देवताएं ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, ब्रह्म, आत्मा आदि हैं; रजोगुण की देवताएं इन्द्र, रुद्र, मरुत् आदि हैं और तमोगुण के प्रतिनिधि वेद में वृत्र, असुर आदि हैं।

इन वेदमंत्रोंके उदाहरण इस प्रकार हैं। तमोगुण का उदाहरण सबसे प्रथम देखिये—

दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥ ऋ० १।३२।१०

अहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः॥

ऋ० १।३२।४

'इन्द्रके शत्रु वृत्र असुर ने दीर्घ तम अर्थात् गाढ अंधकार फैलाया है। इन कपटी शत्रुओंके कपटी मायाजाल इन्द्रने दूर किये।' इस प्रकार तमोगुणी असुरोंका वर्णन वेद में आया है। इनका अन्तमें नाश और अधोगति होना स्वाभाविक है। वेदने तमोगुणी असुरोंका नाश हुआ है ऐसा दर्शाया है। वृत्रवध देखनेसे तमोगुणी असुरोंकी अन्तमें क्या अवस्था होती है उस का पता लग सकता है। इन असुरोंका नाश देखनेसे कौन मनुष्य तमोगुणको अपनानेका यत्न करेगा? अर्थात् इस प्रकार वेद का उपदेश श्रवण करनेसे सुनने वाले की प्रवृत्ति अपनेमें से तमोगुणको दूर करने की ओर होती है।

तमोगुणको दूर करके मनुष्य अधोगतिसे बचता है और भोगप्रधान रजोगुण को अपनाता है। इस समय इसके सामने इन्द्र देव आते हैं। इन्द्रदेवका वर्णन वेदमें इस प्रकार है—

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोच यानि चकार प्रथमानि वज्री। अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्रवक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्॥ १॥ अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष॥ २॥

ऋग्वेद १।३२

'वज्रधारी शूर इन्द्रने जो पराक्रम किये उन पराक्रमोंका वर्णन मैं करता हूं। इन्द्रने शत्रुको मारा, पर्वतोंपर के कीलोंको तोड दिया, पर्वतके आश्रय से रहे शत्रुका वध किया। इस समय त्वष्टाने इन्द्र को उत्तम वज्र दिया था।' इन्द्र देव का ऐश्वर्य, प्रभाव, पराक्रम, राज्यवैभव, शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य आदि श्रेष्ठ गुण देखनेसे यह मनुष्य इनपर मोहित होता है और स्वयं इन्द्र जैसा बननेका यत्न करता है। इन्द्र का एक एक गुण अपनाता है और रजोगुण के कारण परम पुरुषार्थ करता है और श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्राप्त करता है। ऐश्वर्य के साथ इसके भोग बढते हैं और भोगोंके कारण रोगोंसे व्याप्त होना पडता है। (भोगे रोगभयं) भोग भोगनेसे रोगका भय स्वीकारना पडता है। इस रीतिसे शारीरिक रोग, राष्ट्रवैभव में विविध शत्रु, इस प्रकार अन्दर और बाहर दुःख शोक, राग, शत्रु और भय से व्याप्त होता है। प्रयत्नशक्ति बढाता है, इस कारण इसके झंझाट और भी बढ जाते हैं और उस प्रमाणसे इसकी चिन्ता बढती है। अन्तमें यह वेदमें पढता है, कि इन्द्र भी अपने इन्द्रपदसे च्युत होता है, पराजित होता है, दुःख भोगता है, उसके राज्य-

पर आकर दूसरा इन्द्र आ बैठता है। तब उसके मनमें निश्चय होता है कि यह रजोगुणी वैभव कुछ कामका नहीं है। जहां इस प्रकार का दुःख नहीं वह स्थान प्राप्त करना चाहिये। ऐसा निश्चय कर वह रजोगुणसे विरक्त हो,सत्त्वगुणकी प्राप्तिमें यत्नवान् होता है। इस समय इसके सामने ऐसे मंत्र आते हैं—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान्नबिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

अथर्व १०।८।४४

'निष्काम, धैर्यशाली, अमर, स्वयंभू, रससे तृप्त, कहां भी न्यून नहीं-सर्वत्र परिपूर्ण-अजर तरुण आत्माको जानकर मृत्युसे डरता नहीं।'

ये मंत्र पढनेसे अमर और सर्वत्र परिपूर्ण शुद्ध आत्माके अस्तित्व का बोध उसे होता है और मानो वह नश्वर जगत् से अमर जगत् में प्रविष्ट होता है।

इसके आगे शुद्ध आत्मा, ब्रह्म, ज्येष्ठ ब्रह्म स्थाणु, आदि देवता के मंत्र पढता है और इनके अध्ययनसे उसके अन्दर सत्त्वगुणका प्रकाश होता है। इसके बाद उसको रजोगुण और तमोगुण के दोष और सत्त्वगुण का महत्त्व विदित होता है। तब वह नित्य सत्त्वगुण में स्थिर रहनेका यत्न करता है।

वेदमें इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुणोंका वर्णन है और इन वेदमंत्रोंके पढनेसे मनुष्य तमोगुणसे ऊपर चढ कर क्रमपूर्वक सत्त्वगुणमें आकर स्थिर रहता है। वेदमंत्रों के यथायोग्य अध्ययन से इस प्रकार मनुष्य तमोगुणसे सत्त्व गुणमें प्रवेश करता है।

इसलिये गीताके इस श्लोकमें कहा है कि '(त्रैगुण्यविषया वेदाः) 'वेद तीन गुणोंके विषयों का वर्णन करते हैं, परंतु उस के अध्ययनसे मनुष्य (निस्त्रैगुण्यः भव) तीन गुणोंसे परे पहुंचने का यत्न करे।' तीन गुणोंका वर्णन वेदमें है तू तीनों गुणों के परे हो. यह वर्णन पढते ही बहुत लोग ऐसा विचार करते हैं कि, वेदमार्ग को छोड देनेका उपदेश गीता करती है !! परंतु ऐसा भाव गीताका कदापि नहीं है [इस विषयमें गीताके ४२-४४ श्लोकोंकी टिप्पणीमें विशेष रीतिसे कहा है वह पाठक अवश्य देखें] यहां गीताका आशय यही है कि वेद का तीन गुणोंका वर्णन पढकर ही मनुष्य पहिले तमोगुण छोडता है; पश्चात् रजोगुण त्यागता है और अन्तमें केवल अकेले सत्त्वगुणमें स्थिर रहता है। त्रिगुणातीत होनेका अर्थ सत्त्व रज और तम गुणोंको छोडना नहीं है. केवल सत्त्वगुणका अपनेमें उत्कर्ष करने-का ही नाम गुणातीत होना है। जब तक तमोगुण और रजोगुण अपनेमें रहते हैं तब तक सत्त्व गुण भी इनसे दूषित होता है, रज और तम गुण थोडे भी हुए तो भी अन्दर का सत्त्वगुण योग्य रीतिसे प्रकाशित नहीं होता। जैसा शुद्ध दर्पण पर थोडा भी मल लगा तो भी उसकी शुद्धता नष्ट हो जाती है उसी प्रकार शुद्ध सत्त्वगुण के साथ थोडे भी रजोगुण या तमोगुण रहे तो वह उस सत्त्वगुण का जैसा प्रकाश होना चाहिये वैसा नहीं फैलाता। अतः तमोगुण और रजोगुण पूर्णतया दूर करके सत्त्वगुण ही अपनेमें पूर्णतया प्रकाशित होने देना चाहिये। मनुष्य की यही उच्च अवस्था है और इसी को गुणातीत अवस्था कहते हैं। (ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः। गी० १४। १८) सत्त्वगुणी लोग उच्च होते हैं ऐसा गीतामें ही कहा है। गुण तीत होनेका वर्णन गीतामें इस प्रकार आया है—

"अर्जुन बोले— हे प्रभो! इन गुणोंसे परे रहनेवालेके क्या लक्षण हैं? उसके आचार कैसे होते हैं? और वह इन तीन गुणोंसे परे किस तरह होता है?" (भ० गी० १४।२१)

"श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन! प्रकाश प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होते हुए भी जो दुःख नहीं मानता, और इनके न प्राप्त होनेपर इनकी इच्छा

नहीं करता. उदासीन के समान जो स्थिर है जिसे गुण हिलाते नहीं, गुणही अपना काम करते हैं- यों मानकर जो स्थिर रहता है और हिलता नहीं, जो सुखदुःखमें समता रखता है, स्वस्थ रहता है मिट्टीके ढेले पत्थर और सोनेको समान मानता है, प्रिय या अप्रिय वस्तु के मिलनेपर एकसा रहता है, अपनी निन्दा या स्तुति जिसके मन समान है ऐसा बुद्धिमान, जिसके मन मान और अपमान एकसे हैं, जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष दोनोंके प्रति समान भाव रखता है और जिसने सब आरंभोंका त्याग किया है वह गुणातीत कहलाता है।" (भ० गी० १४।२२-२५)

इसीका नाम "निस्त्रैगुण्य" यहां कहा है, इसीको तीन गुणोंसे परे कहते हैं। शुद्ध सत्वगुण अपनेमें स्थिर रहनेपरही इस स्थितिकी प्राप्ति होना संभव है। इसी हेतुसे आगे कहा है कि (नित्य-सत्त्व-स्थः नित्य सत्त्वगुणमें स्थिर रह। क्यों कि सत्त्वगुण में स्थिर रहनेसे ही वह उच्च अवस्था प्राप्त हो सकती है। यदि 'निस्त्रैगुण्य' का अर्थ सत्त्वरजतम इन तीनों गुणोंको छोडना होता, तो इसी श्लोक में 'नित्य-सत्त्व-स्थ' (नित्य सत्त्वगुणमें निवास करनेवाला) यह शब्द निरर्थक होजाता। यदि नित्य सत्त्वगुणमें रहना उन्नतिके लिये आवश्यक है तो 'निस्त्रैगुण्य' का अर्थ तम और रजो गुणकोही छोडनेवाला और केवल सत्त्वगुण में स्थित ऐसाही करना उचित है। पाठक यहां समझें कि—

निस्त्रैगुण्यः, गुणातीतः,
नित्य-सत्त्व स्थः

इन शब्दोंका अर्थ एकदूसरे शब्द के अनुसंधानसे ही करना चाहिये। श्रीमच्छंकराचार्यजीने 'निस्त्रैगुण्य' का अर्थ (निष्कामो भव) निष्काम हो अर्थात् स्वार्थ की कामना छोड दो ऐसा अर्थ किया है। और 'नित्यसत्त्वस्थः' का अर्थ (सदा सत्त्वगुणाश्रितो भव) सदा सत्त्वगुणका आश्रय कर ऐसा किया है। ये दोनों शब्द साथ साथ होनेसे सत्त्वगुण का त्याग दोनों स्थान में अभीष्ट नहीं यह बात स्पष्ट हो जाती है। सत्त्वगुणका त्याग करनेसे वहां स्वास्थ्य कुछ भी रहता नहीं है। उच्च अवस्था तो सत्त्वगुण से ही होती है, अतः उसको त्यागना किसी समय में भी इष्ट नहीं है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
नित्यसत्त्वस्थः। (गी० २।४५)

'तीन गुणों का विषय वेदमें है, उस को देख कर तू तीन गुणों से परे हो. अर्थात् नित्य सत्त्वगुणसे युक्त होकर रह।' इस प्रकार ये कथन एक दूसरे के स्पष्टीकरण के लिये आगये हैं। 'निस्त्रैगुण्य' शब्द से कदाचित् किसी के मन में सत्त्वगुणको दूर करनेका संदेह उत्पन्न हो जायगा अतः उस संदेह की निवृत्ति करनेके उद्देश्य सेही आगे 'नित्य-सत्त्व-स्थः' यह पद उसी श्लोकमें रखा है। पाठक इस योजना को देखें और समझें की सत्त्वगुण का परिपोष करना ही यहां अभीष्ट है। तात्पर्य सत्त्वगुणी मनुष्यको ही 'गुणातीत' कहते हैं।

'निर्द्वन्द्व' अर्थात 'सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त' होना भी सत्त्वगुणी होनेके पश्चात् ही संभवनीय है। इससे पूर्व जो गुणातीत के लक्षण बताये हैं, उनमें 'समदुःखसुखः समलोष्टाश्मकाञ्चनः' तुल्यप्रियाप्रियः, तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः, मानापमानयोस्तुल्यः, मित्रारिपक्षयोः तुल्यः। (भ० गी० १४।२४, २५) ये गुण हैं। सुख दुःख, मट्टी सोना, प्रिय अप्रिय, निन्दा स्तुति, मान अपमान, मित्र शत्रु ये सब द्वन्द्व जिसको सम प्रतीत होते हों वह गुणातीत है, उसीको यहां 'निर्द्वन्द्व' कहा है। अर्थात्—

निर्द्वन्द्व द्वन्द्वातीत, गुणातीत, निस्त्रैगुण्य

ये सब शब्द एकदूसरेका अर्थ स्पष्ट करनेवाले शब्द हैं। सब द्वन्द्व जिसको सम होते हैं वही निर्द्वन्द्व है, इसी को द्वन्द्वातीत कहते हैं। द्वन्द्वोंके परे होने का उपाय इसी अध्याय के श्लोक १४-१५

की टिप्पणी में अधिक विस्तारसे कहा है, पाठक वह टिप्पणी यहां पुनः देखें और यह भाव मन में धारण करके इन श्लोकोंका अधिक मनन करें।

'निर्योगक्षेम' अर्थात् योगक्षेमका झंझाट अपने पीछे न रखनेवाला मनुष्य हो, ऐसा यहां कहा है। किसी पदार्थ को प्राप्तिका नाम 'योग' है और उसकी रक्षा करने का नाम क्षेम' है। संसारमें रहनेवाले सभी मनुष्य इस योगक्षेमके झझाट में फंसे रहते हैं। अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करना और प्राप्त वस्तुकी रक्षा करनेके कार्य में सब रातदिन लगे हैं। इसी प्राप्ति और रक्षा के कार्य के कारण मनुष्य सदा सुखदुःख और हानिलाभ में फंसता है। यदि किसी युक्ति से यह प्राप्ति और रक्षा का झंझाट मनुष्य से दूर हो जायगा, तो उसको द्वन्द्वातीत होना सहज हो सकता है। द्वन्द्वातीत होनेके लिये योगक्षेम का झगडा दूर होना चाहिये। योगक्षेम का अर्थ सामान्यतया संसारसुख है। जगत्के निर्वाह के लिये जिन चीजोंकी आवश्यकता होती है उनका अन्तर्भाव योगक्षेम में होता है। द्वन्द्वातीत, गुणातीत और सत्त्वस्थ हुआ मनुष्य ही योगक्षेम के झगडेसे परे हो सकता है।

'आत्मवान्' होनेको इस श्लोक के अन्तमें कहा है। 'आत्मवान्' का अर्थ विशेष प्रभावित आत्म-बलसे युक्त। वैसा तो हर एक प्राणी आत्मावाला होता ही है। आत्मा न हो तो मनुष्य अथवा कोई प्राणी जीवित हो नहीं रह सकता। अतः वस्तुतः सभी प्राणी आत्मवान् हैं। इसका यह सामान्य अर्थ यहां अपेक्षित नहीं है। जिनके अन्दर आत्माका बल विशेष प्रभावित हुआ होता है, उनको आत्मवान् कहते हैं। प्रशस्त आत्मिक बलसे युक्त कौन हो सकते हैं? इसका उत्तर इसी श्लोकने दिया है। यही श्लोक जरा भिन्न दृष्टीसे देखा जाय, तो आत्मवान् बननेका उपाय भी इसी से ज्ञात हो सकता है—

'जो मनुष्य वेदमें (त्रैगुण्यविषयाः वेदाः) तीनों गुणोंका वर्णन पढते हैं, पढनेके पश्चात् तम और रजो गुण को छोडकर (निस्त्रैगुण्यः) गुणातीत होकर, अर्थात् (नित्य-सत्त्वस्थः) सदा सत्त्वगुणमें स्थिर रहता है, (निर्द्वन्द्वः) सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे परे होता है,(निर्योगक्षेमः) वस्तुप्राप्ति और वस्तुरक्षाके झंझाट में नहीं फंसता, वह(आत्मवान्)प्रशस्त आत्मिक बल से युक्त होता है। जो मनुष्य चाहते हैं कि अपने अंदर आत्मिक बल विशेष रीतिसे प्रकाशित हो,वे इन नियमों को अपने जीवन में ढालनेका यत्न करें। भगवद्गीता यद्यपि अर्जुनसे कही है, तथापि वह हरएक मनुष्य के लिये ही कही है। गीताके कथन कुछ थोडे फर्कसे पढे गये तो उनमेंसे हरएक मनुष्यको लेनेयोग्य बोध मिलता है। जिसको लेकर मनुष्य उन्नतिके पथमें चल सकता है। इस दृष्टिसे यह श्लोक देखनेसे मनुष्यको इसीसे आत्मविकास का उपदेश प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार 'आत्म-वान्' अर्थात् विशेष आत्मशक्ति से युक्त बना हुआ मनुष्य कितना श्रेष्ठ होता है, इस विषयका वर्णन आगेके श्लोकमें कहा है,उसको अब देखिये-

" जो कार्य छोटे कुंएसे होता है वह सहजहीमें बडे सरोवरसे हो सकता है; इसी तरह जो कार्य वेद के जानने से होता है, वह श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी को सहजही में प्राप्त होता है।" यह योग्यता 'आत्म-वान्' मनुष्य की है। आत्मवान् मनुष्य के लिये यहां (विजानन् ब्राह्मणः) विज्ञानी ब्राह्मण ये शब्द आये हैं। ब्रह्म जाननेवाला विशेष ज्ञानी पुरुष ही ब्राह्मण कहलाता है और इसीको आत्म-वान् भी कहते हैं। कई लोग इस श्लोक का अर्थ ठीक रीतिसे समझते नहीं और मानते हैं कि यहां भी वेदका हीनत्व दर्शाया है और ब्रह्मप्राप्ति वेदसे नहीं होती, ऐसा भी इसीसे अनुमान निकालते हैं !! वस्तुतः देखा जाय तो श्लोकके पदोंका अर्थ यह है- " जो लाभ संपूर्ण वेदों के पढनेसे होता है वह ब्रह्मज्ञानी को स्वयं होता है।"

(१९) कर्मयोग।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

अन्वयः- ते अधिकारः कर्मणि एव; कदाचन फलेषु मा । कर्मफलहेतुः मा भूः ; ते सङ्गः च अकर्मणि मा अस्तु ॥ ४७ ॥

तेरा अधिकार कर्म करने में है; कदापि फलोंपर नहीं। कर्मों के फल का हेतु धारण करनेवाला न बन और तेरी रुची कर्म न करने में न होवे ।४७॥

भावार्थ— मनुष्यको केवल कर्म करनेकाही अधिकार है, कर्म के फलोंपर उसका अधिकार नहीं। कोई मनुष्य कर्म के फलों का सदा ध्यान करनेवाला न बने। और कर्म न करने में भी किसी की प्रवृत्ति कभी न हो॥ ४७ ॥

इसमें वेद की निन्दा बिलकुल नहीं है। ब्रह्मज्ञानी होनेका साधन वेदाध्ययन है। इस कारण वेदका पूर्ण ज्ञान होनेके पश्चात् जब वह ज्ञान ठीक ठीक अनुभव में आता है तब वह मनुष्य ब्रह्मज्ञानी, ब्राह्मण, ज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ, आत्मवान् आदि कहलाता है। अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् पहिले किया हुआ अध्ययन गौण होता है। जैसा कोई कहे कि 'शास्त्री' परीक्षा उत्तीर्ण मनुष्य को वह ज्ञान सहज ही में होता है, जो प्रथमश्रेणी में वर्णमालाके शिक्षकसे शास्त्रीपरीक्षा के अध्यापक तक सब गुरुजन अपने अपने विद्यार्थियोंको देते हैं। यह तो त्रिकालाबाधित सत्य है, क्यों कि शास्त्री परीक्षा में उत्तीर्ण मनुष्य उन अध्यापकोंके अध्ययनक्रमसे गुजरा हुआ होता है। इससे पूर्वके अध्ययनक्रमकी निन्दा तो नहीं होती, प्रत्युत उसी अध्ययन क्रममें से गुजरने से यह मनुष्य शास्त्री बना है, अर्थात् वह अध्ययनक्रम मनुष्यको शास्त्रीकी योग्यता देनेवाला है. यह उसकी प्रशंसा ही है। इसी प्रकार संपूर्ण वेदोंका यथावत् अध्ययन करनेसे मनुष्य ब्रह्मज्ञानी होता है, और जब उसको ब्रह्मज्ञान होता है, जब वह ब्रह्मपरायण होता है, ब्रह्मका अनुभव लेता है,तब फिर उसको वेदका ज्ञान सहज प्राप्त सा होता है, यह कथन तो वेदोंकी अत्यंत प्रशंसा करनेवाला है। हमें आश्चर्य होता है कि जो श्लोक वेदप्रशंसापर लिखे हैं उन्हींसे वेदनिन्दा किस प्रकार ये लोक मानते हैं? इसीलिये अन्यत्र भी कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। कठ उ० २।१५

"सब वेद जिस पदका वर्णन करते हैं और सब प्रकारके तप जो कहते हैं।" वह श्रेष्ठपद है। इस प्रकार उपनिषदों में वेदका माहात्म्य वर्णन किया है। भगवद्गीतामें भी (भ० गी० १५।१५) यही कहा है अतः इसमें वेदकी निन्दा कोई नहीं करता। जहां वेदको गौणत्व दिया होता है, वहां 'शब्दज्ञान और अनुभवज्ञान' का भेद करके, अनुभवज्ञानसे शब्दज्ञान का गौणत्व कथन किया होता है और वह योग्य ही है। कौन कहेगा कि अनुभवज्ञानसे केवल शाब्दिक ज्ञान अधिक श्रेष्ठ है? पाठक भगवद्गीताके वचनोंको इस रीतिसे समझेंगे तो उनको सब बातें स्पष्ट हो जायगी। इस प्रकार इन श्लोकोंमें साधारण मनुष्यकी परम उन्नति होनेका उपाय अतिसंक्षेपसे कहा है। हरएक मनुष्य इस मार्गसे उन्नति प्राप्त कर सकता है। अब इस के आगे कर्ममार्गका उपदेश करते हैं—

(४१) प्रत्येक मनुष्य कर्म करने का अधिकारी है। इतनाही नहीं, परंतु हरएक प्राणीका

स्वभाव ही कर्म करना है। इसी लिये भ० गीतामें आगे जाकर कहा है कि–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
भ० गी० ३।५

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥
भ० गी० ३।८

"वस्तुतः कोई प्राणी एक क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणोंके वश होकर प्रत्येक प्राणी कर्म करता है॥ तेरे (मनुष्य के) शरीर का व्यवहार भी कर्म किये बिना नहीं चल सकता।" इतना प्राणी का संबंध कर्म के साथ है। एक क्षणभर भी जीवन धारण करना कर्म किये विना असंभव है। मानो जीवनका आधारही कर्म है। हरएक प्राणी श्वास उच्छ्वास करता है, मूत्र पुरीष त्यागता है, अन्न खाता और जल पीता है, निमेष उन्मेष करता है, इन्द्रिय व्यापार करता है, अन्य शरीरके व्यापार चलते हैं, ये सब कर्मही हैं। केवल जीवित रहनेके साथ इतने अनेक कर्मोंका संबंध आता है। ये न किये जांय तो जीवित रहनाही असंभव है। आहार निद्रा भय और मैथुन ये सब प्राणिमात्रोंके स्वाभाविक धर्म या कर्म हैं। केवल स्वाभाविक अवस्थामें रहनेवालोंके लिये भी ये कर्म करना अत्यंत आवश्यक है। मनुष्य तो सबसे ऊंचा प्राणी है, अतः उसका कर्तव्यक्षेत्र बडा ही विस्तृत है। मनुष्यको वैयक्तिक, कौटुंबिक, गृहस्थधर्मसंबंधी, संतानविषयक, बुजुर्गोंके संबंधमें, जातिके, समाजके राष्ट्रके और संपूर्ण जनता अथवा प्राणिसमष्टिके विषयमें अनेकानेक कर्तव्य करने होते हैं। इतनी कर्मक्षेत्रकी व्याप्ति अन्य प्राणियों के लिये नहीं है। उनकी शक्ति अल्प, उनका अधिकार छोटा अतः उनका कार्यक्षेत्र भी मर्यादित है। मनुष्यको शक्ति बडी अधिकार भी बडा अतः इसका कार्यक्षेत्र भी बडा विस्तृत है। मनुष्यको अपने स्वभावधर्मसे और अधिकार की दृष्टिसे भी कर्म करना अत्यंत आवश्यक है, इसी कारण वेदका आदेश यह है–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ वा० यजु० ४०।२

'यहां मनुष्य प्रशस्त कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे। यही एकमार्ग है दूसरा नहीं, कर्मका कलंक मनुष्यमें नहीं लगता।' वेदकी यह आज्ञा प्रत्येक मनुष्यको कर्मकी प्रेरणा कर रही है। वेदकी दृष्टीसे तो मनुष्यका उपास्य देव 'विश्वकर्मा' परमेश्वर ही है, जो विश्वका कर्म करता है अथवा जो सब कर्म करते है। उपास्य देवके समान बनना उपासक का कर्तव्य है, अतः प्रत्येक मनुष्य अपने अधिकारक्षेत्रमें 'विश्वकर्मा' बने, अर्थात् जो जो कर्तव्य उसको करना आवश्यक हो जांय, वे सब कर्तव्य वह करे, और उनके करनेमें संकोच न करे। जब मनुष्य इस प्रकार कर्म करेगा, तभी विश्वकर्मा देव उसको मुक्तिका मार्ग बतायेगा। इसी विषय में वेद का नियम यह है—

ये भक्षयमाणमनुदीध्याना उग्रदैक्षन्त मनसा चक्षुषा च। अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः। अथर्व० २।३४।३

"जो तेजस्वी लोग बद्ध मनुष्योंको अपने मन और चक्षु द्वारा अनुकम्पापूर्ण दृष्टिसे देखते हैं उन्हें ही प्रजाजनों के साथ रममाण होनेवाला विश्वकर्मा देव सबसे प्रथम मुक्त करता है।" जनताके हितके कर्म जो करता है वह मनुष्य शीघ्र मुक्त होता है और जो इन कर्मोंको करनेसे हिचकता है वह पीछे पडता है। इसका सीधा भाव यह है कि परमेश्वर 'विश्वकर्मा' होनेसे वह उन मनुष्योंपर प्रेम करता है कि जो 'विश्व का हित करनेके कर्म' निरलस वृत्तीसे करते हैं। यह कभी संभवही नहीं है कि, विश्वकर्मा देव आलसी लोगों पर कभी प्रेमकरही करेगा।

शतक्रतु इंद्र।

मनुष्यके शरीरमें अनेक इंद्रियां हैं। प्रत्यक इंद्रिय में इन्द्र अपनी शक्ति रखता है, मानो इन्द्र अपनी शक्ति इंद्रिय द्वारा प्रकट करता है। इस इन्द्र का नाम 'शत-क्रतु' वेदमें और लौकिक संस्कृतमें है,'शत-क्रतु'का अर्थ'सैंकडों कर्म करने वाला' है। अर्थात् मनुष्य का जीवात्मा जो इस के शरीरके मध्य केन्द्रमें बैठकर कार्य करता है वह स्वभावतः सैंकडों कर्म करनेवाला है। 'विश्वकर्मा' बननेका आशय भी यही है। इसी लिये कहा है—

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जातः।

अथर्व० ४। २४। ६

'जो प्रथम स्थानमें रहनेवाला आत्मा यहां कर्म करनेके लिये ही प्रकट हुआ है।' तथा—

कर्म कृण्वन्ति मानुषाः।

अथर्व० ६। २३। ३

'मनुष्य कर्म करते हैं।' क्यों कि कर्म करना उनका स्वभाव है। कर्म किये विना वे जीवित नहीं रह सकते। इसी उद्देश्यसे गीताके इस श्लोकमें कहा है कि—

कर्मणि एव ते अधिकारः।

(भ० गी० २। ४७)

'हे मनुष्य! कर्म करना ही तेरा अधिकार है।' कर्म करना ही तेरे अधिकार में है। जो जिसका स्वभाव होता है वही उसका अधिकार भी होता है। प्रकाश करना सूर्य का धर्म है और वही उसका कर्म और अधिकार भी है। इसी प्रकार मनुष्यका अधिकार, कर्म, और धर्म 'कर्म करना' है। परंतु—

मा फलेषु कदाचन। (भ० गी० २।४७)

'फलोंपर तेरा अधिकार नहीं है।' कर्म के अनेक फल होते हैं, परंतु किसी भी फलपर मनुष्यका अधिकार नहीं है। उदाहरण के लिये देखिये सूर्य प्रकाशदान रूप कर्म करता है, परंतु प्रकाशपर उसका अधिकार नहीं है, क्यों कि उसका प्रकाश दूसरों के लिये है। अपने लिये नहीं है।

यह श्लोक कर्म मार्गके चार सूत्र कहता है, इस लिये गीतामें इस श्लोक का महत्त्व विशेष है। संपूर्ण गीता 'कर्मयोग' प्रतिपादक है अतः मानो कि यह श्लोक सब गीताधर्म का सिद्धांत अतिसंक्षेपसे कह रहा है। इस श्लोकमें कहे चार सूत्र ये हैं—

१ मनुष्य को कर्म करनेका अधिकार है, अर्थात् उसको कर्म करना चाहिये, किंवा कर्म करना अनिवार्य है,
२ फलके ऊपर उसका अधिकार कदापि नहीं.
३ फलका हेतु मनमें धरना योग्य नहीं, और
४ कर्म न करने की ओर मनुष्यकी रुची न हो।

अर्थात् मनुष्य सदा शुभकर्म करे, फलकी इच्छा मनमें प्रबल होने न दें, फल के लिये ही कर्म करना है अन्यथा नहीं ऐसा भाव मनमें धारण न करे और कभी आलस में अपनी आयु न गमावे।

जगत् में देखिये पृथिवी दूसरों का धारण करने के लिये स्थिर है, जल दूसरोंको शान्ति देनेके लिये बह रहा है, अग्नि और सूर्य जगत् का अंधेरा दूर करनेके लिये प्रकाशित हो रहे हैं, वायु सब प्राणियोंको जीवन प्रदान करनेके लिये चल रहा है, आकाश दूसरोंको अवकाश देनेके लिये सर्वत्र उपस्थित है, चन्द्रमा दूसरोंको आल्हाद देनेके लिये प्रकाशता है, इस प्रकार यह संपूर्ण दैवत जगत् जो कर्म कर रहा है वह अपने लिये नहीं, परंतु स्वभावसेहि सब जगत् के लिये कर रहा है। यदि उसने अपना कर्म करना छोड दिया तो जगत् की स्थिति हि नहीं रहेगी, और उन देवताओंका देवतापन भी नष्ट होगा, यदि सूर्य न प्रकाशेगा तो उसको सूर्य कौन कहेगा, जो

दीप न जलेगा उसको दीप कैसा कहा जायगा, इसी प्रकार स्वकर्म करनेपरही उनका-देवोंका-देवत्व और जगत् की स्थिति निर्भर है।

इसीप्रकार मानवी शरीरके अंदर भी देखिये, आंख देखता है वह अपने लिये नहीं अपि तु सब शरीरकी भलाई के लिये, कान सुनते हैं वे अपने लिये नहीं परंतु सब शरीरकी भलाई के लिये। जिह्वा रसग्रहण करती है वह अपने लिये नहीं, परंतु सब शरीरकी पुष्टीके लिये, इसीप्रकार अन्यान्य अवयव अपने अपने कार्य कर रहे हैं, वे अपने लिये नहीं, परंतु सब शरीर की भलाई के लिये ही कर रहे हैं। यदि इनके कार्य केवल अपनेहि लिये होने लगे, तो उसीक्षण शरीरका नाश प्रारंभ होगा। देखिये, पेट यदि मुखद्वारा प्राप्त हुआ अन्न अपनेमें ही रखेगा और उसका रस बनाकर सब शरीरभर भेजनेका उपकार न करेगा, तो उदर रोगी होकर मनुष्य मरने लगेगा। इसी प्रकार ये इंद्रियगण जब अपने लिये विषय भोगने लगेंगे, भोग में तत्पर होंगे और संपूर्ण शरीर की भलाई करनेका विचार छोड देंगे, उस समय शरीरका नाश होने लगेगा। जो नियम शरीरके अंदर कार्य करता है और जगत्में कार्य करता है, वही नियम मानवी समाज में कार्य कर रहा है।

मानवीसमाजमें कुछ लोग मस्तिष्क का कार्य करते हैं, कुछ बाहुबल का कार्य करते, कुछ लोग पेट पालन का कार्य करते और कुछ अन्य कार्य करते हैं। यदि ये अपना कार्य मानव समाजकी भलाई की दृष्टीसे नहीं करेंगे और अपने सुख बढानेके लियेही करेंगे, तो स्वार्थ की मात्रा बढ जानेके कारण जनतामें अशान्ति बढेगी। इस लिये आंख जैसा केवल आंखके लिये नहीं देखता परंतु शरीरके लिये देखता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपना कर्म अपने स्वार्थ के लिये न करे, अपि तु अपना कर्तव्य समझके समाजकी भलाई के लिये निःस्वार्थभाव से करे। जैसा सूर्य अपने स्वभावसे प्रकाशता है और उसके प्रकाशसे जगत्का उपकार स्वयं होता है, सूर्यमें परोपकार रूप कर्मफल की अपेक्षा नहीं, परोपकार होगा तोही मैं प्रकाशूंगा ऐसा भी वह नहीं कहता और कभी प्रकाश न करनेका भी यत्न नहीं करता। उसी प्रकार मनुष्य स्वभावसे सत्कर्मशील बने, कर्मफलकी इच्छा न करे, फलके हेतुसे कर्म न करे और कदापि कर्म न छोड देवे।

कर्ममार्गके ये चार सूत्र हैं और ये चार सूत्र पालन करने से ही मनुष्य कर्म करनेसे बद्ध नहीं होता और क्रमसे उन्नत होता जाता है। इन चार सूत्रोंमें " कर्म करनेका अधिकार मनुष्यको है, " यह पहिला सूत्र है, जो जिसके अधिकारमें होता है वह उसका कर्तव्य ही होता है, वह करने से उन्नति और न करनेसे अवनति होती है, अतः कहा है—

> कर्मणा देवानपि यन्ति। तै० उ० २।८।१
> कर्मसु चामृतम्। मुं० उ० १।१।८
> पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाति।
> म० ना० उ० ८।२

" कर्म करके देवत्व प्राप्त करते हैं। कर्मों में अमृत है। पुण्य कर्मका सुगंध दूरतक जाता है " और वहां दूरस्थोंको भी आनंद देता है।

इसप्रकार कर्मका अधिकार मनुष्यको है इस लिये शुभकर्म करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। कर्म मार्गका दूसरा सूत्र ' फलपर अधिकार नहीं है ' यह है। जैसा आमका वृक्ष लगाना मनुष्य के अधिकारमें है, परंतु उसका फल प्राप्त होना और आम खाना उतना मानवी अधिकार में नहीं, क्योंकि उसके साथ कई बाह्य कारणोंका संबंध आता है, अकाल पडा, वृष्टी न हुई, कूवेका पानी सूखा, बिजली गिरकर वृक्ष जलगया, किसीने तोड दिया तो फल खाना असंभव हो जाता है। इसलिये फलपर मनुष्यका वैसा अधिकार नहीं है जैसा कर्म करनेपर अधिकार है। इसी कारण तीसरे सूत्रमें कहा है कि ' फलका हेतु धर कर

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

अन्वयः— हे धनंजय ! सङ्गं त्यक्त्वा, सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा, योगस्थः कर्माणि कुरु । समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

हे अर्जुन ! आसक्ति छोडकर, सिद्धि और असिद्धि के विषय में सम बुद्धि रख कर, योगमें स्थिर होकर कर्म कर । समत्व को ही योग कहते हैं ॥४८॥

भावार्थ— फलकी आसक्ति छोड कर, सिद्धि हुई या न हुई तो भी मनकी वृत्ती समान रखनी चाहिये । इस प्रकार की चित्तकी समवृत्ती को योग कहते हैं । इस योग से युक्त होकर मनुष्य अपने सब कर्म करे ॥ ४८ ॥

कर्म न कर । ' इसका कारण स्पष्ट है कि जिसपर अपना अधिकार नहीं उसका हेतु मनमें धारण किया तो क्या लाभ होगा ? जो बात अपने अधिकार क्षेत्रके बाहरकी है, उसको अपना उद्देश्य बनाना योग्य नहीं है ।

देखिये यदि किसीने फलको अपना उद्देश्य बनाया तो वह बडे अनर्थमें फंसता है । जो विद्यार्थी परीक्षा उत्तीर्ण करना अपना जीवनोद्देश्य बनाते हैं वे परीक्षा अनुत्तीर्ण हुई तो पागल बनते हैं अथवा आत्महत्या करनेमें प्रवृत्त होते हैं । परंतु जो लोग परीक्षाके उद्देश्यसे अध्ययन नहीं करते वे विद्वान भी होते हैं, परीक्षाभी उत्तीर्ण करते हैं, और कदाचित किसी समय अनुत्तीर्ण हुए तो शान्तिसे पुनः यत्न करते हैं । फलपर आसक्त होनेवालोंके समान पागल नहीं बनते । फलपर आसक्त न होनेसे यह प्रत्यक्ष लाभ है ।

कर्मयोग का अन्तिम सूत्र 'कर्म न करनेकी ओर रुची न रख' यह है । कर्म न करनेकी रुची किंवा आलस्य में रुची रहनेसे मनुष्य की उन्नति की कोई आशा नहीं है । क्यों कि इस आलसी मनुष्य ने अपना निज स्वभावधर्म ही छोडा होता है । निजधर्म छोडनेवाले की उन्नति कैसी होगी । निजधर्म छोडना अपना अस्तित्व ही खोना है । जो अग्नि अपना उष्णतारूप निजधर्म खोती है वह अग्नि नहीं रहती । इसी प्रकार जो मनुष्य अपना कर्म करनेका अधिकारही त्यागता है और आलसी बनता है, वह मनुष्यत्वसे गिरता है । अतः कर्महीनताकी ओर रुची रखना मनुष्यको सर्वथा अयोग्य है । इस प्रकार कर्म करना मनुष्य के लिये अनिवार्य है ऐसा कहनेके पश्चात् मनुष्य कर्म किस रीतिसे करे और उसके बुरे परिणामसे किस प्रकार बचे, इसका उपदेश करना अत्यंत आवश्यक है । वह उपदेश आगे करते हैं—

(४८) इस श्लोक में योगकी निर्दोष पद्धतिसे कर्म करनेकी युक्ति कही है । योग की रीतिके अनुसार कर्म करनेसे कर्मके दोष कर्ताको नहीं लिपटते । योग किसका नाम है ? 'समत्व' का नाम योग है । समत्व का अर्थ समानभाव, समभाव, वृत्तीकी एकरूपता, चित्तवृत्तीकी एकरूपता । पातंजल योगदर्शन में भी—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । यो० द० १ । २

"योगका अर्थ चित्तवृत्तियोंका निरोध" कहा है । चित्तकी वृत्तियोंकी सदा चञ्चलता अनुभवमें आती है । प्रत्येक मूहूर्तमें यह वृत्तियोंकी चञ्चलता मनुष्य अनुभव कर सकता है । प्रत्येक मनुष्य जिस समय जगत्में कार्य करता है उस समय शीतउष्ण, हानि लाभ, जय पराजय, सुख दुःख आदि द्वन्द्व उस के सन्मुख आते हैं और द्वन्द्वोंकी उपस्थितिके कारण इसकी चित्तवृत्ती भी वैसीही

विभिन्न होती है। सुख होनेपर आनन्द और दुःख होनेपर कष्ट की वृत्ति बनती है। लाभ होने पर मनुष्य गर्व करता है और हानि होनेपर वह निरुत्साहित होता है। जय होनेसे इसको घमंड होती है और पराजयसे यह हताश होता है। इस प्रकार मनुष्यकी वृत्ती चञ्चल होती है। इस वृत्तीकी चञ्चलता के कारण मनुष्य निर्दोष रीति से कर्म करनेमें असमर्थ हो जाता है। जो वीर किसी युद्धमें जय आनेसे गर्व करेगा अथवा किसी युद्धमें पराजित होनेसे दुःखी होकर प्राण त्यागने लगेगा, वह वृत्तीकी चञ्चलताके कारण किसी कार्यको यथायोग्य रीतिसे कर नहीं सकता। जो मनुष्य जय प्राप्त होनेपर घमंड नहीं करता और पराजय होनेपर भी अपना सिर शान्त रखता है। अर्थात् इन दोनों अवस्थाओंमें अपने मनकी समता स्थिर रखता है, वही कुछ कर सकता है। साधारण मनुष्य द्वन्द्व प्राप्त होने-पर अपने मनको भी वैसे ही द्वन्द्व रूप बना देते हैं, वे कदापि योगमार्गसे कर्म करने में समर्थ नहीं हो सकते। शुभाशुभ स्थिति प्राप्त होनेपर जो अपने मनकी समवृत्ती स्थिर रखता है, उस को योगी कह सकते हैं, अथवा उसका मन सम है ऐसा कह सकते हैं।

कई लोग गर्मी होने लगी तो 'हाय हाय' करते हुए कर्तव्य छोड बैठते हैं, सर्दी लगी तो सुकड कर बिस्तरेमें ही पडे रहते हैं, वृष्टी होने लगी तो बडे नाराज होते हैं और आंधी चलने लगी तो भी बडे बेचैन बनते हैं; उनसे कोई विशेष कार्य होनेकी आशा नहीं है। क्योंकि उनकी मनोवृत्ती बाह्यपरिस्थितिके कारण बदलती रहती है। बाह्य परिस्थिति जैसी चाहे बने, जिसकी वृत्ति में चञ्चलता नहीं होती, वह कुछ कर्तव्य पालन कर सकता है।

मनोवृत्तीकी चञ्चलताके अनेक कारण और भी हैं। मनुष्य आंखसे सुंदर रूप देखना चाहता है, कुरूप देखनेसे क्रुद्ध होता है; कानसे मधुर शब्द सुनना चाहता है कठोर शब्द सुननेसे गर्म होता है; जिह्वासे मीठे पदार्थ खाना चाहता है वैसे न मिले तो कष्ट होता है। ऐसेही अनुकूल भोग भोगनेकी इच्छा करता है और प्रतिकूल परिस्थितिमें कष्टका अनुभव करता है। इसप्रकार जैसी बाह्य अवस्था होगी, वैसीही इसकी चित्त-वृत्ती बनजाती है; और बाह्य अवस्था क्षणक्षणमें बदलती रहती है। इसकारण इसकी मनोवृत्तीभी उसी प्रकार क्षणक्षणमें बदलती रहती है। इस रीतिसे मनोवृत्तीकी चंचलता मनुष्यको स्वकर्त-व्यसे भ्रष्ट करती है और गिराती भी है। इस लिये मनुष्यको योगमार्ग का अवलंबन करना चाहिये और योगाभ्याससे अपने चित्तको सम रखना चाहिये। बाह्य परिस्थिति बदलनेपर भी जिसका चित्त चंचल नही होता, उसने समत्वकी स्थिति प्राप्त की है, ऐसा कह सकते हैं। चित्तवृत्तियोंके निरोधसेभी यही साध्य होता है। चित्तवृत्तिको बाह्य परिस्थितिके आधीन न रखकर अपनी चित्तकी वृत्ती अपने आधीन रखनेका नाम योग है। इसीका नाम ' समत्व योग ' है।

इस श्लोकमें (समत्वं योग उच्यते) 'समत्वका नाम योग है' ऐसा कहा है। इस 'समत्व' शब्द का अर्थ द्वन्द्वकी बाधा जहां नहीं होती वह स्थिति है। इसी का स्पष्टीकरण इसी श्लोकमें (सिद्ध्य-सिद्ध्योः समो भूत्वा) सिद्धि और असिद्धि के विषयमें मनकी समवृत्ती रखना, इन शब्दोंसे किया है। द्वन्द्वोंसे दूर रहने की यह स्थिति है। जिसको द्वन्द्वोंकी बाधा नहीं होती, उसको सम-त्वकी स्थिति प्राप्त होती है। ' सिद्धि और असिद्धि' इस एक द्वन्द्वके संकेत से अन्य संपूर्ण द्वन्द्व यहां लेने योग्य हैं। कैसी भी अवस्था प्राप्त हो, मनकी वृत्ति सम रखकर अपने कर्तव्य को उत्तम रीतिसे करना चाहिये।

(संगं त्यक्त्वा) फलकी आसक्ती भी त्यागनी चाहिये। संगसे ही अनेक आपत्तियां उत्पन्न होती हैं। इसी लिये कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३
भ० गी० २

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषको उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे कामना होती है, कामनासे क्रोध हो जाता है, क्रोधसे मूढता होती है, मूढता से भ्रम होता है, भ्रमसे बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धिका नाश होने से मनुष्य नाशको प्राप्त होता है।' विषयोंके संगसे अथवा आसक्तिसे हि ऐसा नाश होता है, इसलिये आसक्ति छोडना चाहिये। आसक्ति छोडकर चित्तवृत्तिकी समता धारण करके जो कर्म किये जाते हैं, वे अपनी पवित्रता करनेवाले होते हैं, इस विषयमें भ० गीतामें ही कहा है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥ कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥११॥ भ० गीता० ५

'जो मनुष्य आसक्ति छोडकर ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्मोंको करता है, वह पानीमें कमलपत्र की भान्ति, पापसे लिप्त नहीं होता। योगी लोग आसक्ति छोडकर शरीरसे मनसे बुद्धिसे अथवा केवल इंद्रियोंसे भी आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं।' इस रीतिसे आसक्ति छोडकर अर्थात् परमेश्वर को समर्पण करके जो कर्म किये जाते हैं, वे आत्माकी उन्नति के लिये साधक होते हैं। इस लिये आगे कहते हैं—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥६॥ कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन। सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९॥ भ० गीता० १८

'हे पार्थ! मेरी निश्चित और उत्तम संमति यह है कि, ये सब कर्म आसक्ति छोड कर और फलेच्छाका त्याग करके करनेही चाहियें। कर्तव्य समझ कर जो नियत कर्म आसक्ति और फलकी इच्छा छोडकर किया जाता है उसी को सात्त्विक त्याग कहते हैं।'

यहां ब्रह्मार्पण अथवा ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करनेका अर्थ क्या है, इस बातका विचार करना चाहिये। साधारण मनुष्य जो कर्म करता है वह स्वार्थसे करता है, स्वार्थका अर्थ (स्व+अर्थ) अपने लिये, अपने एक जीव आत्माके सुखके लिये करता है,जब एक आत्माके सुखको प्रधानता दी जाती है, उस समय स्वयंही सर्वात्मा किंवा परमात्मा का विचार गौण होता है। अर्थात् सकाम कर्म करनेवाला मनुष्य अपने अंशरूप आत्माको प्रधान और सर्वव्यापक पूर्ण परमात्मा को गौण मानता है॥ वस्तुतः परमात्मा मुख्य सर्वगत परमपूर्ण है और व्यक्तिगत आत्मा उसीका अंश होनेसे गौण है। संपूर्ण सूर्य परमात्मा है तो उसका एक किरण जीवात्मा है। किरणको प्रधान मानना और सूर्यका विचार न करना अज्ञान का कार्य है, इसी लिये कहते हैं कि कामनातृप्ति के लिये कर्म करना अज्ञान का द्योतक और ब्रह्मार्पण बुद्धिसे कार्य करना ज्ञान है। यह ज्ञान है इसी लिये इसका नाम यहां 'बुद्धियोग' कहा है। इस विचार से पाठक जान सकते हैं, सकाम कर्मसे क्यों दोष होता है और निष्काम कर्मसे क्यों उन्नति होती है।

इस प्रकार प्रारंभसे अन्ततक श्रीमद्भगवद्गीतामें संगत्याग अर्थात् आसक्ति का त्याग और फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेका उपदेश है। और यही कर्मयोग है। इस प्रकार किये हुए कर्म कर्ता को बाधक नहीं होते, प्रत्युत कर्ता की उन्नति करते हैं। भ० गीतामें जो 'समत्वयोग' कहा है वह यही है। 'आसक्तिका त्याग कर, सिद्धि असिद्धि के विषयमें सम भावना रख कर, इस समत्वयोगसे कर्म कर' यह उपदेश अर्जुन को

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

अन्वयः— हे धनंजय! कर्म बुद्धियोगात् दूरेण अवरं हि। बुद्धौ शरणं अन्विच्छ। फलहेतवः कृपणाः॥ ४९॥ इह बुद्धियुक्तः उभे सुकृतदुष्कृते जहाति। तस्मात् योगाय युज्यस्व। योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

हे अर्जुन! (केवल सकाम) कर्म (समत्व रूप) बुद्धियोगसे बहुत कनिष्ठ है। अतः (समत्व) बुद्धिका आश्रय कर। फलके हेतुसे कर्म करनेवाले (लोग) निकृष्ट होते हैं॥ ४९॥ इस जगत्‌में (समत्व) बुद्धिसे युक्त मनुष्य दोनों सुकृत और दुष्कृत को दूर करता है। इसलिये (तू समत्वरूप बुद्धि) योग का साधन कर। (समत्व बुद्धि) योग कर्मोंमें कुशलता है॥ ५०॥

भावार्थ— केवल सकाम कर्म करनेकी अपेक्षा समभावकी बुद्धिसे निष्काम कर्म करना बहुत ही उत्तम है, अतः मनुष्य समत्वबुद्धि धारण करे। केवल फलेच्छासे कार्य करना मनुष्यकी निकृष्ट अवस्थाका सूचक है॥ ४९॥ इस जगत्‌में फलाशा छोड कर समताबुद्धिसे कर्म करनेवाला मनुष्य पापपुण्यसे दूर रहता है। इसलिये मनुष्य इस समत्वबुद्धिसे उद्योग करे। कर्म करनेकी कुशलता को ही 'समत्वबुद्धि योग' कहते हैं॥ ५०॥

भगवान् यहां दे रहे हैं। हे अर्जुन! तू युद्धभूमिपर खडा है, इस समय युद्ध कर्तव्य रूपसे तुम्हारे पास उपस्थित है, अतः तू इस युद्धको ईश्वरार्पण कर, इसकी सिद्धि अथवा असिद्धिका विचार न कर और अपना कर्तव्य समझकर कर। युद्ध करना तुम्हारे अधिकार में है, इस युद्ध का फल तुम्हारे अधिकार में नहीं है, युद्ध के फल की इच्छासे युद्ध न कर और युद्ध न करनेमें भी रुची न रख। यह उपदेश जैसा अर्जुन के लिये है वैसा ही सब जनता के लिये भी है। इस प्रकार कर्मयोग का उपदेश देनेके पश्चात् इसीका अधिक स्पष्टीकरण करते हैं—

(४९-५०) यहां 'कर्म' और 'बुद्धि अथवा बुद्धियोग' शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त हुए हैं। यहां कर्म शब्दका अर्थ 'सकाम कर्म' है और 'बुद्धि अथवा बुद्धियोग' का अर्थ 'समताभावसे किये निष्काम कर्म' है। इन दोनोंकी तुलना करके यहां बताया है कि सकाम कर्मकी अपेक्षा निष्काम कर्म अत्यंत श्रेष्ठ है। अतः सकाम कर्म और निष्काम कर्मका स्वरूप यहां स्पष्ट करना अत्यंत आवश्यक है।—

अयोग,	योग, बुद्धियोग,
सकाम कर्म	निष्काम कर्म
	(२।४७)
	(कर्मण्येवाधिकारः)
	अपना कर्ममें अधिकार।
	(मा फलेषुकदाचन)
फल अपने लिये चाहना।	फलपर अधिकार न रखना।
	(मा कर्मफलहेतुः भूः)
फल हेतुसे कर्म करना।	फल हेतुसे कर्म न करना
	(मा तेसंगोऽस्त्वकर्मणि)
आलस्य में रुची रखना।	आलस्य में रुची न रखना।
	(२।४८)
	(संगं त्यक्त्वा)
फलासक्तिसे कर्म करना।	आसक्ति छोडकर कर्म करना

(सिद्ध्यसिद्ध्योःसमः)

सिद्धिसे घमंड और असिद्धि से विलाप करना।	सिद्धि असिद्धिके विषयमें समबुद्धि रखना।

(योगस्थः कर्माणि कुरु)

योग छोडकर कर्म करना।	योगसे कर्म कर।

(५।१०)

(ब्रह्मण्याधाय कर्माणि)

स्वार्थसे कर्म करना।	ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करना।

इस कोष्टकसे सकाम और निष्काम कर्म का ज्ञान पाठकोंको हो सकता है। फलपर आसक्त न होते हुए समता भावसे परमेश्वरको समर्पण करनेकी इच्छासे जो सब कर्म किये जाते हैं वे बुद्धियोगसे हुए कर्म हैं और फलप्राप्तिकी तीव्र इच्छासे, विषम भावनासे प्रेरित होकर अपने भोग बढानेके हेतुसे जो किये जाते हैं, उनको सकाम कर्म, केवल कर्म या तुच्छ कर्म कहते हैं।

कामनासे जो किये जाते हैं उनका नाम सकाम कर्म है। यहां कामनाका अर्थ अपने भोग बढाने की कामना ही है। इस कामनावालोंका वर्णन १६ वें अध्याय में निम्नलिखित प्रकार आ गया है—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः१०
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥ १२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

भ० गीता० अ० १६

"वे कहते हैं, कि जगत् असत्य है, निराधार है, और इसका नियन्ता कोई नहीं है, यह जगत् एक दूसरेके क्रमसे नहीं हुआ अपितु स्वयं हुआ है, विषयभोग भोगनेके सिवाय इसका कोई दूसरा हेतु नहीं है। इस प्रकार के विचारों को धारण करनेवाले, भयानक कर्म करनेवाले, मन्द-बुद्धि दुष्ट लोग जगत् का नाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं। कभी तृप्त न होनेवाली वासना-ओंसे भरे पूरे, दम्भी, मानी, मदान्ध, अशुभ-निश्चयवाले, मोहसे दुष्ट इच्छाओंको धारण करके दुष्कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। प्रलयतक समाप्त न होने-वाली अपरिमित चिन्ताका आश्रय करके काम-भोग में तत्पर, भोगकोही सर्वस्व माननेवाले, सैंकडों आशाओं के जाल में फंसे हुए, कामी, क्रोधी, अपने विषयभोग बढाने की इच्छा से अन्यायपूर्वक धनसंचय करना चाहते हैं। आज मैंने यह प्राप्त किया है, इसके पश्चात् यह मनोरथ पूर्ण करूंगा, इतना धन आज मेरेपास है, कल इतना होजायगा, इस शत्रुको मैंने मारा है, दूसरों को भी ऐसा ही मार दूंगा, मैं सामर्थ्यवान् हूं, मैं भोग भोगनेवाला हूं, मैं सिद्ध हूं, बलवान् हूं और सुखी हूं। मैं श्रीमान् और कुलीन हूं, मेरे जैसा दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, आनन्द मनाऊंगा, अज्ञानसे मूढ बने लोग इस प्रकारके विचार किया करते हैं। वे अनेक भ्रमों में पडते हैं, मोहजाल में फंसते हैं, विषयभोग में आसक्त होकर अपवित्र नरकमें गिरते हैं। अपने

को बडा मानने वाले, घमंडी, धन और मानसे मस्त बने लोग दंभसे विधिहीन यज्ञ करते हैं। ये लोग अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधका आश्रय करनेवाले, निन्दा करनेवाले, और उनके और दूसरोंके देहोंमें रहनेवाले ईश्वरकी निन्दा करते हैं। इन नीच द्वेषी क्रूर अमंगल नराधमोंको ईश्वर इस संसार की अत्यंत हीन आसुरी योनियोंमें बार बार डालता है॥"

पाठक इन श्लोकोंका मनन करेंगे तो सकाम कर्मोंसे अन्तमें कैसा अनर्थ होता है इसका ज्ञान उनको हो सकता है। स्वार्थ, अपना सुख बढाने की लालसा, अपने लिये दूसरोंके गलोंपर छुरी चलानेकी प्रवृत्ति आदि सब पाप कामनासे कर्म करनेसे होते हैं। एक बार कामना तृप्तिके पीछे पडा हुआ मनुष्य असुर बनने तक गिरता ही जाता है। हरएक इंद्रियका सुख मुझे चाहिये, मैं वह सुख प्राप्त करूंगा, उसका भोग करूंगा, उस सुखके लिये हरएक प्रकारका यत्न करूंगा, जो उस में मेरा विरोध करेंगे उनका नाश करूंगा, यदि धर्मानुकूल रहते हुए सब सुख मुझे नहीं मिले, तो मैं जिस प्रकार के व्यवहार करनेसे सुख मिलेंगे वैसे व्यवहार करूंगा, यदि दूसरों की कतल करके मुझे सुख मिलेंगे तो भी वह क्रूर कर्म मैं करूंगा। इस प्रकार प्रवृत्ति कामनाके पीछे पडे हुए मनुष्यकी क्रमशः बन जाती है। इस प्रकार गिरनेवालेकी गिरावट क्रमशः होती रहती है। इसी लिये गीतामें फल की इच्छा का त्याग करके कर्म करनेका विधान किया है। (कृपणाः फलहेतवः) फलकी कामना से कर्म करनेवाले दीन और हीन हैं, वे अतिनिकृष्ट दर्जे के मनुष्य हैं। जिन कर्मोंसे बंधन होते हैं वे येही सकाम कर्म हैं।

कामना छोडकर, फलकी इच्छा का त्याग कर ईश्वरार्पण बुद्धिसे किये कर्म कर्ता का दोष नहीं लगाते, इसी विषयमें वेद और उपनिषदों में निम्नलिखित उपदेश ध्यानमें धारण करने योग्य हैं—

तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन।
बृ० ४।४।२३

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
ईशा० १।२

'उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य पापकर्म से लिप्त नहीं होता॥ इस लिये दान करके-परोपकार करके-भोग कर, मत ललचाओ, धन (कस्य = प्रजापतेः) प्रजा पालन कर्ता का है, सब प्रजाजनों के हितके कार्य करनेके लिये ही सब धन है। इस कार्य की सिद्धि के लिये आवश्यक विविध कर्म करते हुए मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करे, ऐसा करनेसे कर्म का दोष नहीं लगता।' ये वेद और उपनिषदों के कथन हैं, इसके अनुसार गीताका उपदेश देखिये—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
भ० गी० ४।१४

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
भ० गी० ५।७

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा॥
भ० गी० ५।१०

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
भ० गी० १७।१८

'मेरी कर्म के फलकी कामना नहीं है अतः मुझे कर्म का दोष नहीं लगता। समत्व बुद्धिरूप योग करनेवाला, पवित्रात्मा, संयमी और इंद्रियनिग्रही तथा सर्व भूतमात्रको अपने समान माननेवाला कर्म करता हुआ भी दोषोंसे अलिप्त रहता है॥ जो मनुष्य कर्मोंको ब्रह्मार्पण करके आसक्तिरहित होकर करता है वह कर्म के दोषोंसे

दोषी नहीं होता, जिस प्रकार कमलपत्र पानीमें रहता हुआ नहीं भीगता॥ जिसको अहंकार नहीं और जिस की बुद्धि मलीन नहीं है, वह इन लोकोंको मारता हुआ भी नहीं मारता और उस कर्म के कारण बंधनमेंभी नहीं पडता॥'

यहां ईश्वरार्पण कर्म करनेका अर्थ क्या है, निष्काम कर्मका आशय क्या और आसक्ति छोडनेका भी क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट हुआ है। इसका आशय यह है-'(यस्य नाहंकृतः भावः) जिसके अन्दर अहंकार घमंड नहीं, मैं करता हूं और मैं भोगूंगा यह स्वार्थभाव जिसमें नहीं है, जो जितेंद्रिय, आत्म-संयम करके, शान्त वृत्तिसे कार्य व्यवहार करता है,और जो(सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा) सब भूतोंका आत्मा जिसका अपना आत्मा बना है, सब प्राणिमात्रोंको जो अपने आत्मा के समान प्रिय मानता है, सब प्राणिमात्रोंका हित हुआ तो जिसको अपने हित होनेके समान आनन्द होता है, साधारण मनुष्यको अपने भोग बढानेसे जैसा संतोष होता है उस प्रकार सब भूतमात्रोंका हित साधन करनेमें जिसे समाधान होता है, जो सब प्राणिमात्रोंका हित साधनका कार्य करना अपना कर्तव्य कर्म मानता है, वह मानो ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्म करता है। सब भूतोंको अपने आत्माके समान मानने की कल्पना पाठकोंके मनमें स्थिर हुई तो ही वे जान सकेंगे कि निष्काम और आसक्तिरहित कर्म कैसे किये जाते हैं। जो सब भूतोंको अपने आत्माके समान नहीं मान सकता, वह निष्काम कर्म कर नहीं सकता।

कई मनुष्य कहते हैं कि फलासक्ति न रहनेपर उत्तम तत्परतासे कर्म नहीं हो सकता। परंतु वस्तुस्थिति इससे बिलकुल विरुद्ध, होती है। फलासक्ति छोडनेपर ही उत्तमसे उत्तम रीतिसे कर्म होना संभवनीय होता है। इस जगत् में साधुसंत सत्पुरुष देश और धर्म के लिये कार्य करनेवाले जितने महात्मा होगये हैं वे सबके सब स्वार्थकामना को छोडकर ही कार्य करते रहे, इसीसे उनसे विशेष कार्य हो सके और इसी कारण उनका यश इस समयतक चला आता है। आजभी हम देखते हैं कि साधारण स्वार्थपरायण लोगोंकी अपेक्षा स्वार्थ छोडनेवाले ही विशेष कार्य कर रहे हैं।

जब मनुष्य अकेला होता है और जबतक उसके मनमें स्वार्थत्यागकी भावना नहीं जाग्रत होती, तबतक वह केवल अपने लिये ही कार्य करता रहता है। जब वह गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होता है तबसे अपनी अर्धांगी धर्मपत्नीके लिये स्वार्थत्याग करता है, यदि स्त्री पुरुषके लिये और पुरुष स्त्रीके लिये आत्मत्याग नहीं करेगा, तो वे गृहस्थाश्रमका सुख प्राप्त करने में असमर्थ होंगे। यहां स्वार्थत्याग, आत्मसमर्पण अथवा दूसरेके लिये स्वत्वत्याग करनेका पहिला पाठ मिलता है। जब पुत्र उत्पन्न होता है तब मातापिता दोनों उस पुत्रके लिये आत्मसमर्पण करते हैं और पुत्रप्राप्तिका सुख प्राप्त करते हैं। अपने परिवार में जिस प्रमाणसे पारिवारिकोंकी संख्या बढती है उसी प्रमाणसे आत्मसमर्पण की मात्रा बढती है। इसके पश्चात् जातीकी रक्षाके लिये और राष्ट्ररक्षाके लिये आत्मत्याग करते हैं। इनमें स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण है। स्वार्थका विस्तार और आत्मसमर्पणका भी विस्तार होता जाता है और अपने अंदरके निष्काम भावका भी साथ साथ विस्तार होता जाता है। अर्थात् मनुष्य इस रीतिसे निष्काम कर्मका पाठ सीखता जाता है।

पाठक यहां अनुभव करें कि जो गृहस्थ का घरमें जीवन होता है और जो केवल कुटुंबियोंकी ओर ही देखता है, वैसा स्वार्थी मनुष्यभी यदि अपने कौटुंबिक जीवन में सुख प्राप्त करना चाहे, तो उसको आत्मसमर्पण करना चाहिये। जिस कुटुंबमें एक व्यक्ति दूसरेके लिये समर्पण करती है उसीमें आनंद प्राप्त हो सकता है। स्वार्थको कामना छोडनेसे सुख और स्वार्थ बढानेसे दुःख

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

अन्वयः- हि बुद्धियुक्ताः मनीषिणः कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबंधविनिर्मुक्ताः अनामयं पदं गच्छन्ति ॥५१॥

इसलिये (समत्व) बुद्धिसे युक्त ज्ञानी लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फल का (त्याग) दान करके जन्मबन्धनसे मुक्त होकर दुःखरहित स्थान को प्राप्त होते हैं ॥५१॥

भावार्थ— मनुष्य ज्ञान प्राप्त करे, समतारूप बुद्धिको अपने अन्दर धारण करे, और कर्म करे तथा उस कर्मके फलका सर्वभूतोंका हित करनेके लिये दान करके, जन्म और बंधन से मुक्त होवे और दुःखों और क्लेशोंसे रहित परम पदको प्राप्त करे ॥५१॥

होनेका अनुभव हरएक स्थानपर आता है। फिर जब मनुष्य 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होता है अर्थात् सब भूतमात्रोंको आत्मवत् मानकर उनके लिये आत्मसमर्पण करता है, तब उसका आनन्द असीम होगा, इस में संदेह ही क्या हो सकता है? इसी लिये इन श्लोकोंमें कहा है कि, (कृपणाः फलहेतवः) फल की कामना करनेवाले कृपण दीन हीन अथवा अनुकंपनीय होते हैं। क्यों कि आनन्द प्राप्त करनेकी संभावना होते हुए भी वे दुःखके मार्ग से जाते हैं।

कर्म करनेका अधिकार मनुष्यमात्र को है, परंतु वह कर्म ऐसी युक्तिसे करना चाहिये कि जिससे मनुष्यको दोष न लगे और आनन्द प्राप्त होकर साथ साथ उन्नति भी हो। इसके साधन का नाम ही योग है, देखिये- (योगः कर्मसु कौशलं) कर्म करनेमें जो कुशलता है उसका नामही योग है। जो मनुष्य कुशलतासे कार्य करता है वह उसको उत्तम निर्दोष रीतिसे बनाता है। अर्थात् निर्दोष रीतिसे कार्य करनेका नाम योग है। यह निर्दोष रीति इन श्लोकोंमें कही है कि- 'आसक्ति छोडकर, समत्वबुद्धिसे, सिद्धि और असिद्धि के विषयमें समवृत्ति रख कर, कार्य करना और उस कार्य को सब भूतमात्र के हित के हेतुसे ईश्वरार्पण करना।' इस युक्ति से मनुष्य निर्दोष कर्म कर सकता है। भगवद्गीता की विशेषता इस कर्मयोगकी युक्तिमें है। निष्काम भावसे कर्म करने का वैदिक उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। इसी विषयमें आगेके श्लोकमें अधिक स्पष्टीकरण है। वह अब देखिये—

(५१) इस श्लोकमें सारांशसे वही बुद्धियोग कहा है कि जो पूर्वस्थानपर कहा था। यहां तीन नियम कहे हैं- (१) बुद्धियुक्त होना, (२)मनीषी बनाना, और (३) कर्मफल का दान करना।

इन तीन नियमोंके पालन करनेके दो फल कहे हैं (१)एक जन्म आदि बन्धनोंसे छूटना और(२) दूसरा क्लेशरहित स्थानको प्राप्त करना। क्रमशः अब इनका विचार करते हैं—

(बुद्धियुक्ताः) बुद्धियुक्त होना। 'बुद्धि'का यहां प्रकरणानुकूल अर्थ 'समत्व भावनासे युक्त बुद्धि' है जो इस कर्मयोग में अत्यंत आवश्यक है। जाती के भेद, रंगके भेद, और देशके भेद न देखकर मानवसमाज की जो विशेष समता है, उसको मनमें स्थिर करनेसे यह समत्व बुद्धि प्राप्त की जा सकती है। शीत उष्ण, हानिलाभ, सुख दुःख, जयपराजय होनेपर भी उनसे बुद्धिमें कलुषितता न लाकर अपने कर्तव्य कर्मपर निष्ठा रखना, यह भी एक प्रकारकी बुद्धिकी समता ही है। इस

प्रकारकी बुद्धिसे जो मनुष्य युक्त होते हैं, अर्थात् जिनकी ऐसी बुद्धि होती है उनको यहां बुद्धियुक्त कहा है। कर्मयोगके नियमोंके अनुसार चलनेके लिये इस समता रूप बुद्धिकी अत्यन्त आवश्यकता है।

(मनीषिणः= मनस ईष्टे इति मनीषी) अपनी मनकी शक्तिपर जो प्रभुत्व रखता है उसको मनीषी कहते हैं, मन आदि संपूर्ण इंद्रियोंको अपने आधीन रखनेवाला मनीषी कहलाता है। इन्द्रियोंका स्वैर संचार जिसनेबंद किया है और अपने सब इंद्रियों को जो विशेष मार्गपर से ही चलाता है, वह इंद्रियसंयमी मनुष्य यहांके मनीषी शब्द से लेना योग्य है। इस श्लोक में जो फल कहे हैं वे ऐसे ही मनुष्यको मिलते हैं। मनीषी शब्दका दूसरा अर्थ 'ज्ञानी' है, परंतु यह भाव पूर्वोक्त 'बुद्धियुक्त' शब्दसे व्यक्त हुआ है, अतः यहां मनीषी शब्दसे केवल ज्ञानी अभीष्ट नहीं है. परंतु अपने ज्ञानसे जिसने अपने इंद्रिय स्वाधीन किये हैं ऐसा आत्मसंयमी यहां अभीष्ट है।

समत्व बुद्धिसे युक्त बन कर अपने इंद्रियों को स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य(कर्म-जं फलं त्यक्त्वा) कर्मसे उत्पन्न हुआ फल त्यागकर बन्धनोंसे मुक्त होता है। अब यहां विचार करना चाहिये कि कर्मफलत्यागका अर्थ क्या है? त्याग का अर्थ 'अस्वीकार' प्रसिद्ध है, परंतु केवल अस्वीकार अर्थ लेनेसे यहां पूर्णता नहीं होती है। मान लीजिये कि एक किसान है जिसने अपना खेत बोया है, इसके कृषीरूप कर्मसे उसको बहुत धान्य प्राप्ति रूप अच्छा फल प्राप्त हुआ है। इसके इस फलको यह कृषीवल त्यागना चाहता है वह कैसे त्यागदे? यह प्रश्न यहां है। भूमिसे धान्य न लाया तो एक त्याग होता है, भूमि पर स्थित धान्य जला दिया तो दूसरा त्याग होता है, प्राप्त धान्य गरीबों को योग्यरीतिसे दान देनेसे तीसरा त्याग होता है। ऐसे अनेक प्रकारके त्याग संभवनीय हैं, इनमेंसे कौनसा त्याग करना योग्य है, और किस प्रकार के त्यागसे वह किसान अथवा हरएक मनुष्य जन्मबन्धनसे मुक्त होकर दोषरहित स्थानको प्राप्त कर सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमारे मतसे यहां 'त्याग' शब्दसे 'दान' अर्थ अभीष्ट है, और जब अपने कर्मफलको कोई मनुष्य लोगोंकी भलाई के लिये समर्पण करता है, उसी समय वह बंधनोंसे मुक्त होकर आनन्द लाभ कर सकता है। इसलिये यहां त्याग कितने प्रकारका है इसका विचार करते हैं, भगवद्गीतामें तीन प्रकारके त्यागोंका वर्णन है—

त्यागो हि पुरुष व्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥४
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजत्।
स कृत्वा राजसंत्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥८
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥ भ० गी० १८

'त्याग तीन प्रकारका है. मोहवश होकर जो त्याग होता है उसको तामस त्याग कहते हैं। दुःखदायी समझकर शरीरके कष्टके डरसे जो त्याग होता है उसको राजस त्याग कहते हैं और इसलिये उसे त्यागका फल नहीं मिलता। कर्तव्य समझ कर नियत कर्म फलत्याग के साथ किया जाता है उसका नाम सात्त्विक त्याग है।' इस स्थानपर प्रधानतया कर्मत्याग के तीन भेद कहे हैं तथापि सामान्यतः हम ऐसा बोध इस से ले सकते हैं कि (१) मोहसे होनेवाला त्याग अधम है, (२) कष्टोंके डरसे होनेवाला त्याग मध्यम और (३) कर्तव्यबुद्धिसे होनेवाला त्याग उत्कृष्ट है। इस कसौटीसे यदि हम देखेंगे तो हमें पता लगेगा कि पहिले दोनों प्रकारके त्याग कुछ लाभ देनेवाले नहीं हैं, केवल तीसरा सात्त्विक त्याग श्रेयस्कर है। इसी के साथ यदि हम दानों के तीन भेद यहां देखेंगे, तो इस का आशय हमें

ठीक पता लगेगा, अतः दान के तीन भेद अब देखिये-

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥२०
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥
भ० गी० १७

'यह समझ कर कि दान देना योग्य है, वह दान जब बदलेकी आशा न रख कर, देश, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है, वह सात्विक दान है॥ जो दान बदलेकी आशासे या फल विशेष की इच्छासे और दुःखी होकर दिया जाता है वह दान राजसिक है॥ देशकाल और पात्र का विचार किये विना, तथा आदर सत्कार के विना तथा तिरस्कारपूर्वक जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहा जाता है॥"

यहां तीन प्रकारके दान कहे हैं। इनमें कर्तव्य बुद्धिसे देशकाल पात्रके विचार से दिया हुआ दान श्रेष्ठ, बदले की और फलकी आशासे तथा बडे दुःख के साथ जो दिया जाता है वह मध्यम, और जो देशकाल पात्रापात्र का विचार न करके तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह अधम दान है। उत्कृष्टका फल उत्तम और अधम का अधम फल होता है। इसलिये जो त्याग और दान श्रेष्ठ होगा उसीका फल जन्मबन्ध से मुक्ति और क्लेशहीन अवस्था की प्राप्ति होना स्वाभाविक है।

इतने विचार से हम कह सकते हैं कि जो कर्म के फल का त्याग अथवा दान करना है वह (१) कर्तव्य समझकर, (२) निरपेक्षतासे (३) लोभ छोडकर, (४) प्रत्युपकार की इच्छा न रख कर, (५) योग्य दशमें, (६) योग्य समयमें, (७) योग्य सत्पात्र देख कर और (८) योग्य रीतिसे जो किया जाता वही बन्धनसे मुक्ति करनेवाला और आनन्द देनेवाला होता है।

कर्म का फल अपने लिये न रखना, परंतु वह सब जनता की भलाईके लिये योग्य रीतिसे समर्पण करना चाहिये। यही एक युक्ति है जिस से मनुष्य पारतंत्र्यसे मुक्त होकर आनंद प्राप्त कर सकता है, त्याग का अर्थ यह है और यही मनुष्य की उन्नति करनेवाला है। एक कृषीवल प्रयत्न करके उत्तम खेतीका कार्य करे, जो इस कर्मका फल धान्यरूपसे प्राप्त होगा, उसका सत्पात्रमें जनताकी भलाईके लिये समर्पण करे। इसीप्रकार अन्यान्य कर्मफलोंके त्याग करने के विषय में जानना योग्य है। पाठक इस फलत्याग विषयको इस ढंगसे समझने का यत्न करें। अब इसके पश्चात् इस त्यागसे होनेवाले दो फलोंका विचार करेंगे। बन्धमुक्तता और अनामय स्थानकी प्राप्ति ये दो फल इसके हैं। इनसे क्या भाव मिलता है इस का अब हम विचार करते हैं—

साधारणतः मनुष्य अनेक बंधनों में पडे हैं, और बंधनोंके कारण विविध दुःख भोगते हैं। बंधन, पारतंत्र्य, परवशता, पराधीनता ही दुःख है। इस दुःखको दूर करनेके लिये ही यह कर्मयोग है और इस कर्मयोगको यथावत् करनेके लिये 'कर्मफल का त्याग' करनेकी युक्ति यहां कही है। अर्थात् बंधन अथवा पारतंत्र्य दूर करने के लिये 'कर्मफल का त्याग' करना अत्यंत आवश्यक है। कर्मका फल अपने लिये रखनेसे बंधन होता है और वह फल सब जनताके लिये दान करनेसे बंधन की निवृत्ति होती है। इसके लिये एक उदाहरण हम लेते हैं।

एक ग्राम है, और उसमें सौ कुटुंब रहते हैं और उस ग्राममें हजार बीघे भूमी है। अर्थात् प्रत्येक कुटुंबके विभागमें दस बीघा भूमि आगई। यह विभाग दर्शानेके लिये दस बिघाकी मर्यादा बतानेवाली बाढ लगानी चाहिये। प्रत्येक का स्वार्थ अलग अलग होनेके कारण प्रत्येक की

मर्यादा का दर्शानेवाला बन्धन हर एकके चारों ओर होना अनिवार्य है। परंतु यदि हरएक मनुष्य ने अपनी भूमिका दान सब ग्राम की भलाई के लिये दिया, अथवा सब ग्रामीण लोग अविभक्त रहे और अविभक्त रहकर सब मिल कर संपूर्ण ग्रामका खेती आदि व्यवहार यथान्याय करने लगे, तो उस समय विभक्त अवस्था के कारण होनेवाली मर्यादाके बंधन लगानेकी कोई आवश्यकता नहीं होगी। एक ग्राम अविभक्त होनेके कारण, किंवा हरएकका स्वार्थ समुदाय के हित के लिये समर्पित होनेके कारण, अथवा व्यक्तिका स्वार्थ समुदाय जितना बढनेके कारण वैयक्तिक मर्यादा का बंधन रखना अनावश्यक हो जाता है। इसीप्रकार जितनी अहंकार की, वैयक्तिक स्वार्थ की मर्यादा हट जायगी, उतनेही बंधन दूर होंगे। मेरे कर्मका फल मैं भोगूंगा यह वैयक्तिक अभिमान जब समुदायके हितके लिये नष्ट होगा, इस प्रकार एकएक अहंकार नष्ट होते होते अन्तिम मर्यादा जो परमेश्वर की अमर्याद स्थिति है उस अमर्याद सत्ताके लिये ही सब कर्म और कर्मके फल समर्पित होंगे, तब पूर्वोक्त कारणसे ही कोई बंधन अवशिष्ट नहीं रहेंगे, क्यों कि उस समय एक भी वैयक्तिक अहंकार बंधन उत्पन्न करनेके लिये स्थानपर नहीं होता।

वैयक्तिक सत्ता का अभिमान और उसकी भोगवासना अवशिष्ट रहनेके कारण जन्म लेना आवश्यक होता है, और जन्मके पश्चात् विविध दुःख भोगना भी अपरिहार्य होता है। परंतु जब पूर्वोक्त प्रकार जन्मका मूल कारण वैयक्तिक अभिमान समूल लय को प्राप्त होता है, किंवा आत्मसर्वस्व का पूर्णतया समर्पण परमेश्वर के लिये हो जाता है, तब जन्म और बंधन का कोई कारण शेष नहीं रहता और वह जन्मबंधनसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार बन्धनसे परे होना ही उस अनुपम आनन्द के स्थान को प्राप्त करना है। जहां दुःख का लेश भी नहीं है और केवल निज आनन्दही जहां है वह स्थान उसी को प्राप्त होता है, जिसका वैयक्तिक अहंकार का भाव समूल नाश को प्राप्त होता है।

इसी अध्यायके श्लोक २३-२५ की व्याख्या के प्रसंग में बता दिया है कि जाग्रतिमें 'अल्प अवस्था' रहती है और सुषुप्तिमें 'भूमा अवस्था' जीवात्मा को प्राप्त होती है। [यह सब टिप्पणी पाठक यहां देखें।] जाग्रत अवस्थामें व्यक्तिगत अभिमान जाग्रत रहनेके कारण आत्मा 'अल्प अवस्था' में रहता है और शरीरके दुःख भोगता है; परंतु जब इसीकी जाग्रति नष्ट होती है, और साथ साथ अल्पावस्था भी नष्ट होती है और जब यह सुषुप्तिमें पहुंचकर 'भूमा अवस्था' का अनुभव लेने लगता है, तब इसको शरीरके कोई दुःख कष्ट नहीं पंहुंच सकते। अल्प अवस्था के 'पद' को छोडने और भूमा अवस्थाके अनामय अर्थात् दुःख रहित 'पद' को प्राप्त करने से ही मनुष्य को अनुपम आनन्द मिलता है। ये दो (पद) स्थान भिन्न भिन्न हैं।

मनुष्यका शरीर अनंत फोडे फुन्सीयोंसे युक्त होनेपर भी जब वह जाग्रति के पद को छोडकर सुषुप्ति के पदको प्राप्त करता है, उस समय शरीर के प्रत्यक्ष क्लेशोंसे मुक्त रहता है। यह अनुभव हरएक को प्राप्त है। यहां पाठक यह भी जान सकते हैं कि जैसा जाग्रतीके पद में निवास करने तक वैयक्तिक अहंकार जाग्रत रहता है वैसा सुषुप्तिके पदमें निवास होनेपर नहीं रहता, अतः यह कहना अयोग्य नहीं है कि वैयक्तिक अभिमान जाग्रत रहने तक ही दुःख का अनुभव है और जिस समय यह अहंकार लीन हो जाता है, तब उस अहंकार के साथ सब दुःख भी दूर हो जाते हैं और वह मनुष्य उस पद पर पंहुंचता है कि, जहां निज आनंद ही आनंद है और दुःखका लेश भी नहीं है। यह अवस्था मनुष्य तब प्राप्त कर सकता है, जब कि वह—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अन्वयः- यदा ते बुद्धिः मोह-कलिलं व्यतितरिष्यति, तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदं गंतासि ॥५२॥ यदा श्रुतिविप्रतिपन्ना ते बुद्धिः निश्चला (भूत्वा) समाधौ अचला स्थास्यति, तदा योगं अवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

जब तेरी मति मोहके कारण उत्पन्न होनेवाली मलिनता को दूर करेगी, तब तुझे सुने हुएके और सुननेके विषयोंके संबंधमें उदासीनता प्राप्त होगी॥५२॥ जब अनेक प्रकारके वक्तव्य श्रवण करनेसे तेरी घबराई हुई मति निश्चल होकर एकाग्रतामें स्थिर होगी, तब तू इस समत्वयोग को प्राप्त होगा ॥५३॥

भावार्थ— साधारण मनुष्यकी मतिपर मोहके मल लगे रहते हैं, उनको धोकर मतिको पवित्र करना चाहिये। मति इस प्रकार पवित्र होनेसे ही विषयभोगोंके संबंधमें विरक्तता होती है। इस वैराग्य से मति की चञ्चलता दूर होती है और वह स्थिर होती है, तत्पश्चात् मनुष्य इस समत्वरूप योग का आचरण करने में समर्थ होता है ॥ ५२—५३ ॥

१ (बुद्धियुक्तः) समबुद्धिसे युक्त,

२ (मनीषी) मन आदि इंद्रियों का दमन करनेहाला, और

३ (कर्मजं फलं त्यक्त्वा=दत्त्वा) कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल को सब भूतमात्रों के हितके लिये समर्पण करनेवाला

बनता है। जब ये इसके निज स्वभाव बनते हैं, तब उसको यह सहज आनन्द स्वभावतः प्राप्त होने लगता है। यही मानवी उन्नतिकी अन्तिम सीमा है। इस सीमातक कौन मनुष्य पंहुंच सकते हैं अर्थात् इस परम पदको प्राप्त करनेकी तैयारी किस प्रकार करना चाहिये इसका मार्ग आगेके दो श्लोकोंमें बताया है—

(५२-५३) इन श्लोकोंमें साधारण मनुष्य की बुद्धि उन्नत होनेका क्रम बताया है।

(१) [मोहकलिलं बुद्धिः व्यतितरिष्यति]= मोहके कीचड से बुद्धिका पार होना,

(२) [निर्वेदं गन्तासि] = विरक्त होना।

(३) [निश्चला बुद्धिः] = बुद्धिका चञ्चलता-रहित होना,

(४) [समाधौ अचला स्थास्यति] = समत्व बुद्धिमें स्थिर रहना और अन्तमें—

(५) [योगं अवाप्स्यसि] = इस योग को प्राप्त होना।

साधारण मनुष्यकी बुद्धि इन चार अवस्थाओं में से गुजर कर पांचवी योगावस्थामें स्थिर होती है। इन चारों अवस्थाओंका विचार अब करना चाहिये—

सबसे पहिली 'मोह-कलिलावस्था' है। इस अवस्थामें स्थित मनुष्य मोहके कीचडमें फंसा रहता है। सब ओर से यह मलिनताकी अवस्था समझिये। मोहके कारण यह विषयोंके कीचड में फंसता रहता है। शब्द स्पर्श रूप रस और गंध ये पांच विषय कर्ण त्वचा नेत्र रसना और नासिका इन इंद्रियोंके हैं। जब मनुष्य मोहसे इन इंद्रियों द्वारा इन विषयोंके कीचड में फंसता है

तब उसका बल क्षीण होता है, उसको मलीनता प्राप्त होती है और परतंत्रता का दुःख भोगना पडता है। इस अवस्थामें रहा मनुष्य मानता है कि, बाह्य विषयोंके उपभोगसे ही मुझे आनन्द मिलता है, इस भ्रमके कारण वह बाह्य विषय बढाता जाता है और जैसे उसके विषय बढ जाते हैं, वैसा उसका दुःख भी बढता जाता है। इस रीतिसे जब वह दुःख शोक और घबराहट में फंसा हुआ तडफता है और अन्तमें किसी सत्पुरुषकी प्रेरणासे उसको विदित होता है कि, इस मोहजाल से दूर होनेके विना दूसरा कोई उपाय आनन्द प्राप्त करनेके लिये नहीं है। जब यह उसका निश्चय हो जाता है, तब वह मोहके कीचड को दूर करने का यत्न करता है।

यहां पाठकोंको विचार करके निश्चय करना चाहिये कि, यह कीचड या मल किस रीतिसे धोया जाता है? यहां हम संक्षेपसे उदाहरण के लिये इसकी रीति बताते हैं। सबसे बडा कीचड 'काम'का है, विशेषतः स्त्रीविषयक भोगेच्छाका धर्ममर्यादा का अतिक्रमण करके होना बहुतही भयानक है। इसमें फंसा हुआ मनुष्य अनेक तरहसे गिरता है। इससे बचनेका उपाय 'ब्रह्मचर्य' पालन है। ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठासे वीर्यलाभ होता है, शारीरिक बल बढता है, मनका उत्साह अखंड रहता है और काम के कीचडसे मुक्तता होती है। ब्रह्मचर्य का अर्थ '(ब्रह्म) महती शक्ति प्राप्त करनेके लिये (चर्य) विशेष प्रकारका आचरण करना।' ब्रह्म का अर्थ 'ज्ञान, महत्व, श्रेष्ठशक्ति, आत्मा, परमात्मा।' ईशप्राप्ति करनेके लिये आवश्यक सदाचरण करना। मनुष्यके अन्दर जो दिव्य आत्मशक्ति है, उसका पूर्ण विकास करनेके लिये करने योग्य आचरण करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। संपूर्ण इंद्रियोंका संयम करनेसेही इस ब्रह्मचर्य की पालना होती है और इसके पालन करनेसे 'काम' के कीचड से मुक्तता होती है।

दूसरा कीचड 'लोभ' का है, इसको धोनेके लिये अपरिग्रहका पालन करनेकी आवश्यकता है। अपरिग्रहका अर्थ अपने पास संग्रह न रखना है। घर, घरके पदार्थ, धनसंचय आदि अनेक प्रकारके संग्रह मनुष्य अपने पास बढाता है और क्रमशः लोभ के कीचड में फंसता है। अतः अपरिग्रह व्रत के पालन से मनुष्य लोभरूपी दोष को दूर करे। तीसरा दोष 'क्रोध' का है, इसको दूर करने के लिये अहिंसा व्रत का पालन करना चाहिये। अहिंसा का अर्थ दूसरे की हिंसा न करना ही केवल नहीं है, परंतु विचार,उच्चार और व्यवहार से दूसरे को दुःख होगा ऐसा कोई कार्य न करना, इतनाही नहीं, परंतु अपने विचार से,भाषणसे और आचरणसे दूसरों को सुख हो, ऐसा आचरण करना। इस अहिंसा से क्रोध का मल दूर हो जाता है। इसके साथ साथ 'सत्यपालन, अस्तेय अर्थात् चोरी न करना,शरीर,वाणी, मन आदिकी पवित्रता रखना, संतोष की वृत्ती धारण करना, शीतोष्ण सहन करनेका तप आचरण करना, उत्तम ग्रंथोंका अध्ययन करना और सदा परमेश्वर की भक्ति करना, ये और ऐसे अनेक उपाय हैं कि,जिनके द्वारा मनुष्य अपने मलोंको दूर कर सकता है और मोह के कीचड से अपने आपको बचा सकता है।

मनुष्य के पास कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये इंद्रिय हैं और इनसे शब्द,स्पर्श,रूप, रस और गंध का भोग लिया जाता है। इन भोगोंमें फंसनेवालों को रोगादिकों का दुःख भोगना पडता है, अतः भोगोंमें न फंसनेका यत्न करना अत्यन्त आवश्यक है। इस लिये मनुष्य नियम करे कि 'मैं अच्छे शब्दों का ही प्रयोग करूंगा, अच्छे ग्रंथ ही पढूंगा और अच्छे शब्द ही सुनूंगा; रसना की स्वाधीनता के लिये स्वाद में न फसूंगा और अ-स्वाद व्रत का पालन करूंगा। स्वास्थ्य के लिये जिस अन्न की आवश्यकता है, वैसा ही अन्न लूंगा और स्वाद बढाने का यत्न न करूंगा। स्पर्श के विषयमें तथा रूपा-

दिके विषयमें इसी प्रकार अन्यान्य प्रलोभनों के विषयमें भी मैं यत्न पूर्वक संयम का मार्ग स्वीकारूंगा।' इस रीतिसे प्रयत्न करनेपर मनुष्य मोहके आवरण को तोड सकता है, कीचड को धो सकता है और आवरक अन्धकारको दूर कर सकता है। इस रीतिसे व्यवहार करनेपर मनुष्य अपनी बुद्धिके मोह रूप आवरण को (बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति) हटा सकता है और अपनी बुद्धिको स्वच्छ, पवित्र और मलहीन कर सकता है।

इसी यत्न में मनुष्य की बुद्धि जैसी जैसी शुद्ध होती जाती है वैसा वैसा वह मनुष्य भोगोंसे विरक्त होता जाता है, (निर्वेदं गन्तासि) भोगोंके विषयमें उदासीन होनेके विना मनुष्य कदापि ब्रह्मचर्यादिका पालनही नहीं कर सकता। अतः बुद्धि का मल धोना और विषयभोगोंके संबंधमें उदासीनता धारण करना ये दोनों कार्य साथ साथ होते जाते हैं। ये एक दूसरेपर अवलंबित हैं। जितनी भोगविषयमें विरक्ति होगी उतनाही (मोहकलिल) मोह का कीचड धोया जायगा।

इस प्रकार इन दो बातों में प्रगति होनेपर (निश्चला बुद्धिः) बुद्धिकी चंचलता दूर होती जायगी। भोगी लोगोंकी बुद्धि ही चञ्चल होती है, क्योंकि एकही भोग अनंत कालतक भोगा नहीं जाता, थोडे समय के पश्चात् उसकी घृणा आजाती है और दूसरे भोगमें रुची उत्पन्न होती है,इस कारण भोगी लोग चंचल वृत्तिवाले होते हैं। इसी अध्याय में पूर्व स्थल में कहा है कि—

बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।
भ० गी० २।४१

"अव्यवसायी अर्थात् भोगी लोगोंकी बुद्धियां अनन्त और उनको भी अनन्त शाखाएं होती हैं।" इसकारण उनका चित्त समाधी के लिये योग्य नहीं होता है। (इस प्रसंगमें भ० गी० अ० २ श्लो० ४०-४४ तक टिप्पणीसहित देखने योग्य हैं, पाठक उनको यहां अवश्य देखें।) तात्पर्य यह है कि, भोगी लोगों की चित्तवृत्ती चञ्चल होती है अर्थात् भोगसे निवृत्त हुए विरक्त लोगों की चित्तवृत्ति (बुद्धिः निश्चला)शान्त होती जाती है। पूर्वोक्त प्रकार विरक्त हुआ मनुष्य अपनी चित्तवृत्ति शान्त होरही है, इस बात का अनुभव करता है।

चित्तवृत्तिकी शान्ति जब बहुत देरतक स्थिर रहने लगती है अथवा जब वह अपना स्वभाव बनता है, तब इसकी बुद्धि (समाधौ अचला स्थास्यति) समत्व भावमें स्थिर रहती है,यहां ये दो श्लोक साथ साथ देखने योग्य हैं—

अयोगवृत्ती	योगबुद्धि
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (भ० गी० २।४४)	मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।...तदा गन्तासि निर्वेदं ...। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ (भ० गी० २।५२,५३)
भोगी लोगोंकी बुद्धि समाधिके लिये योग्य नहीं होती।	जब बुद्धि भोगमोहसे दूर होगी, तब विरक्ति होगी और तत्पश्चात् समाधि में बुद्धि स्थिर होकर योग के लिये योग्य होगी।

इन दो श्लोकोंमें परस्पर विरुद्ध बुद्धियोंका वर्णन है। 'भोगोंमें आसक्त हुए मनुष्यों की चञ्चल बुद्धि समाधिमें स्थिर नहीं रहती' और 'भोगसे विरक्त मनुष्यों की बुद्धि निश्चल होकर समाधिमें स्थिर रहती है और समत्वरूप योगमार्ग का आक्रमण करती है।' इन दो श्लोकोंका साथ साथ मनन करने से बडा बोध प्राप्त हो सकता है।

इस रीतिसे साधारण मोहके कीचड में फंसा हुआ मनुष्य क्रमशः उन्नत होता हुआ, अपना चित्त स्थिर करके योगसाधनसे परम उन्नति को

(२०) स्थितप्रज्ञके लक्षण ।

अर्जुन उवाच— स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अन्वयः- अर्जुन उवाच हे केशव ! समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ? स्थितधीः किं प्रभाषेत ? किं आसीत ? किं वज्रेत ? ॥५४ ॥

अर्जुनने पूछा- समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं ? स्थितप्रज्ञ किस तरह बोले, कैसे बैठे और कैसे चले ? ॥ ५४ ॥

प्राप्त कर सकता है । इन श्लोकोंमें जो उन्नतिका क्रम बताया है वह हरएक साधकको बडा बोध-प्रद हो सकता है, अतः पाठक इन श्लोकोंका उत्तम प्रकार मनन करें।

यहां 'श्रुति-विप्रतिपन्ना बुद्धि' ये शब्द संदेह उत्पन्न करनेवाले हैं। 'श्रुति' शब्द का अर्थ 'श्रवण से प्राप्त ज्ञान' यह एक होता है और 'वेद' यह इसका दूसरा अर्थ है। कई लोग यहां के श्रुति शब्दसे वेद अर्थ लेकर इस श्लोक का ऐसा अर्थ करते हैं कि— 'वेद ज्ञानसे बिगडी या चञ्चल हुई मति जिस समय चञ्चलता छोड देगी, तब वह समाधी के लिये योग्य होगी।' यह अर्थ इस श्लोक का नहीं है और यहां 'श्रुति' शब्दसे वेद अर्थ अभीष्ट नहीं है। इस के पूर्वके श्लोकमें 'श्रुत, श्रोतव्य' ये दो शब्द जिस अर्थ में पडे हैं, उसी अर्थका 'श्रुति' शब्द यहां है, ये तीनों शब्द 'श्रुत, श्रुति और श्रोतव्य' एकही धातुसे बने हैं और उनका यहां अर्थ 'भोगोंके वर्णनोंका श्रवण' इतनाही है। विविध मतवाले लोग अपने अपने मतमें आनेसे उनको फलाने भोग मिलेंगे, ऐसा श्रवणमधुर भाषण करते हैं, यह भाषण श्रवण करनेसे त्याग का योगमार्ग आचरणमें लानेकी प्रवृत्ति हट जाती है और उन भोगोंको प्राप्त करनेमें रुची बढती है। ऐसे बेढंगे उपदेश श्रवण करनेसे बिगडी बुद्धि जब विरक्ति से शान्त होगी, तब वह समाधिके लिये तथा समत्वरूप योग साधन के लिये योग्य होगी। यह आशय यहां है। यहां वेदकी निन्दा नहीं है क्योंकि (त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः । यजु० ४०।१) 'त्यागसे भोग कर मत ललचाओ।' यही वेद का उपदेश विस्तार से यहां कहा है, जो इस कर्मयोग का मूल सूत्र है। अतः श्रुति शब्द का अर्थ यहां 'सामान्य उपदेशोंका श्रवण' लेना योग्य है।

अर्जुन का मन सञ्जयादि शत्रुके उपदेशकों के उपदेश श्रवण करनेसे चञ्चल हुआ था, वह उस कारण अपना स्वाभाविक कर्म छोडनेको और विपरीत मार्ग पर चलने को तैयार हुआ था, अतः यहां भगवान् कहते हैं कि, ऐसे " विपरीत उपदेशकों के व्याख्यान सुननेसे तुम्हारा मन चञ्चल हुआ है, जब उसकी वह चञ्चलता दूर होगी, तब इस समत्वरूप योग का आचरण करने के लिये वह स्थिर होगा।"

इतना उपदेश भगवान् के मुखारविन्दसे सुननेके पश्चात् अर्जुन जानना चाहता है कि स्थिरबुद्धि होनेसे क्या लाभ होता है, वैसा मनुष्य क्या करता है, उसका चालचलन कैसा होता है, इत्यादि। देखिये अर्जुन के प्रश्न—

(५४) श्रीमद्भगवद्गीताका आदर्श मनुष्य 'स्थितप्रज्ञ' शब्दसे बताया है। मनुष्योंके दो भेद होते हैं, एक 'स्थितप्रज्ञ' और दूसरे 'चञ्चलप्रज्ञ'। जिनकी प्रज्ञा चञ्चल होती है वे हीन अवस्थाको

प्राप्त होते हैं और जिनकी प्रज्ञा स्थिर होती है वे उच्च अवस्था में विराजते हैं। चञ्चलप्रज्ञ मनुष्य सब जगत् में भरे हैं, स्थितप्रज्ञ ही विरला हैं। उन्नति चाहनेवाले हरएक मनुष्य को बुद्धि की चञ्चलता छोडना और स्थिरता प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रकार स्थितप्रज्ञ बना मनुष्य एक तो समाधिमें रहता है अथवा जाग्रति में व्यवहार करता है। जाग्रतिके व्यवहार में भी उसकी पुनः तीन अवस्थाएं होती हैं, एक बोलना अथवा विचार प्रकट करना, दूसरी किसी अवस्थामें स्थिर रहना और तीसरी व्यवहार करना। इन चारों अवस्थाओंके प्रश्न अर्जुनने यहां पूछे हैं।

[१] (समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा?) समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण हैं? अर्थात् जिस समय यह स्थितप्रज्ञ समाधिमें ब्राह्मी स्थिति का अनुभव लेता रहता है, उस समय यह कैसे होता है, उस समय इसके क्या लक्षण होते हैं, उस अवस्थामें यह किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है, किन लक्षणोंको देखनेसे यह स्थितप्रज्ञ ज्ञानी समाधिमें है, ऐसा जाना जा सकता है? 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इस स्थान में 'भाषा' शब्दका अर्थ 'भाष्य' अथवा 'व्याख्या' है। यहां लक्षण अर्थमें 'भाषा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। भाषा शब्दका अर्थ 'भाषण, वक्तृत्व' ऐसा होता है, परंतु वह यहां अभीष्ट नहीं है। अर्थात् यहां प्रथमावस्थाके लक्षण पूछे हैं।

जब समाधि अवस्था छोडकर जाग्रतिमें आना होता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कैसा आचरण करता है? जाग्रतिमें सभी मनुष्य समान दिखाई देते हैं, सभी बोलते हैं, सभी बैठते हैं और सभी व्यवहार चलाते हैं। इन संपूर्ण मनुष्यों में इस जाग्रतावस्था में कार्य करनेवाले सब मनुष्योंमें जो स्थितप्रज्ञ मनुष्य है, वह कैसे व्यवहार करता है? [२] (स्थितधीः किं प्रभाषेत?) स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है, किस प्रकारके शब्द उच्चारता है, किस प्रकार के विचार प्रकट करता है? समाधि अवस्थासे जाग्रतिमें आया मनुष्य किन भावों को प्रकट करता है? क्या वह सामान्य मनुष्यों के समानही बोलता है अथवा कुछ विशेषता उसमें रहती है? समाधिका अनुभव करनेवाले और न करनेवाले के भाषणोंमें कौनसा भेद है? हम भाषणसे कैसे पहचानें कि यह समाधिसुख लेनेवाला मनुष्य है और यह मनुष्य समाधि तक नहीं पहुंचा है?

जब जाग्रतिमें रहा हुआ मनुष्य समाधिमें जाना चाहे, तब [३] (किं आसीत?) कैसे बैठे? कैसे आसन लगावे? किस अवस्थामें स्थिर रहे? किस स्थितिमें स्थिर रहनेसे जाग्रतिकी अवस्थामें रहनेवाला मनुष्य समाधि अवस्थामें जा सकता है? हम कैसे पहचानें कि यह मनुष्य समाधिकी तैयारी कर रहा है?

[४] (व्रजेत किं?) वह मनुष्य अपना चालचलन कैसा रखता है? स्थितप्रज्ञ मनुष्य जब जाग्रतिमें रहता है तब वह कैसे व्यवहार चलाता है? किस प्रकारके व्यवहार देखनेसे हम जानें कि यह मनुष्य स्थितप्रज्ञ है?

स्थितप्रज्ञ मनुष्य अन्य मनुष्योंके लिये आदर्श होता है। अन्य चञ्चलप्रज्ञ सामान्य मनुष्य यदि उन्नत होना चाहें, तो इस स्थितप्रज्ञ मनुष्य का आचरण देखें और वैसा अपना आचरण करें, वह कैसा आसनादिका अनुष्ठान करता है यह देखकर स्वयं वैसा करें, वह किस प्रकारके भाव अपने भाषणोंसे व्यक्त करता है यह देख कर वैसे भाव स्वयं बोले, अपनी वाणी वैसी बनावे। इस रीतिसे यह आदर्श मनुष्य दूसरों का मार्गदर्शक होता है। अतः अर्जुन पूछ रहा है कि, इस प्रकारके स्थितप्रज्ञके लक्षण क्या हैं?

स्थितप्रज्ञ और स्थिरबुद्धि ये दोनों शब्द एकही भाव बताते हैं। चञ्चल प्रज्ञावाला मनुष्य किसी कार्य के करनेमें समर्थ नहीं होता। परंतु स्थिर मनवाला मनुष्य महानसे महान कार्य

श्रीभगवानुवाच— प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अन्वयः- हे पार्थ ! यदा (नरः) मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति, आत्मनि एव आत्मना तुष्टः (भवति) तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते ॥५५॥ दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः, वीतराग-भय-क्रोधः, मुनिः स्थितधीः उच्यते ॥५६॥ यः सर्वत्र अनभिस्नेहः,तत् तत् शुभाशुभं प्राप्य, न अभिनन्दति,न द्वेष्टि,तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५७॥ कूर्मः अङ्गानि इव, यदा च अयं इंद्रियार्थेभ्यः इंद्रियाणि सर्वशः संहरते, (तदा) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

हे अर्जुन ! जब मनुष्य अपने मनमें उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंका त्याग करता है, और अपने आत्मामें आत्मा द्वारा हि सन्तुष्ट रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥५५॥ दुःखोंमें जिसका मन उदास नहीं होता और सुखोंमें जिसकी आसक्ति नहीं होती, प्रीति भय और क्रोधसे जो रहित होता है, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं ॥५६॥ जो पुरुष सर्वत्र आसक्ति-रहित होकर, शुभ तथा अशुभ को प्राप्त करनेपर न आनंदित होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर हुई होती है ॥५७॥ जिस प्रकार कछुआ अपने सब अवयव समेट लेता है, उसी तरह जब यह पुरुष इंद्रियों के विषयोंसे अपने सब इंद्रियों को समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई होती है ॥५८॥

भावार्थ— जो मनुष्य अपने मनमें उत्पन्न सब कामनाओंको छोडता है और अपने आत्माके निज आनन्दसे हि आनंदित होता है; जो दुःखोंसे उदास नहीं होता और सुखोंमें आसक्त नहीं होता, जो किसीपर आसक्त नहीं होता, किसीसे डरता नहीं और किसपर क्रोधभी नहीं करता; जो असंगवृत्तिसे रहता है और शुभकी प्राप्तिसे आनंदित नहीं होता और अशुभका द्वेषभी नहीं करता, जो अपने सब इंद्रियोंको उनके भोगोंसे हटाता है उसकी बुद्धि स्थिर हुई ऐसा कह सकते हैं ॥ ५५-५८ ॥

योग्य रीतिसे पूर्ण करनेमें समर्थ होता है । स्थिर बुद्धिवाले मनुष्य की इतनी योग्यता होनेसे हि यहां उसके लक्षण पूछे हैं ।

अर्जुनके यह चार प्रश्न सुनकर भगवान श्रीकृष्ण विस्तार से उत्तर देते हैं—

(५५-५८) इन श्लोकों में स्थितप्रज्ञके लक्षण कहे हैं । इन में पहिला लक्षण (मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति) मनोगत सब कामनाओंका त्याग

करना है। यहां केवल अशुभ कामनाओंका त्याग करना और शुभ कामनाओंको पुष्ट करना अभीष्ट नहीं है। शुभ और अशुभ दोनों कामनाओंका त्याग यहां अभीष्ट है। साधकावस्थामें हि शुभ कामनाओंका पोषण करके अशुभ कामनाओंका परित्याग करना होता है। मनको सुशिक्षा देनेके लिये यह अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यासावस्थामें अशुभ कामनाओंका त्याग करनेसे सौमें पचास अथवा अधिक वासनाओंका त्याग हुआ। इस अभ्यासमें अशुभ वासनाओंके त्याग के मिषसे वासना का त्याग करनेकी शिक्षा मिलती है। इस वासनात्यागकी शिक्षासे हि शुभवासनाओंको भी मनसे हटाने का अभ्यास होता है। मनुष्यका मन शुभाशुभ वासनाओंके कारण जाग्रतिके प्रत्येक क्षणमें व्यग्र होता रहता है, उसकी व्यग्रता दूर करना अभीष्ट है। मनुष्य स्थितप्रज्ञ तब हो सकता है जब उसके मनकी व्यग्रता पूर्णतया हटती है। सामान्य मनुष्यका मन शुभ और अशुभ वृत्तियोंसे सदा व्यग्र रहता है, वह चित्तवृत्तियोंका निरोध करने और मनकी व्यग्रता दूर करनेसे स्थिर होता है। अभ्यासकी प्रथमावस्था में अशुभवृत्तियोंको हटानेसे आधी अस्थिरता दूर होती है, परंतु आगे चलकर पता लगता है कि, शुभवृत्तियोंसेभी मनकी चञ्चलता होती है, उस समय वह शुभवृत्तियोंको हटानेका यत्न करता है। इस यत्नकी सफलता होनेसे मनुष्य निश्चल वृत्तिवाला होता है, इसीका नाम 'स्थित-प्रज्ञ' है। शुभ और अशुभ कामनाओं को हटाने की सूचना देनेके लिये हि इस श्लोकमें (सर्वान् कामान् प्रजहाति) सब कामनाओं को हटानेका उपदेश किया है। सब कामनाओंमें जैसी शुभ वैसीहि अशुभ कामनाएं भी आती हैं। मनकी शान्तिके लिये इन दोनों कामनाओं को हटाना आवश्यक है।

यहां बहुत लोगोंको यह शंका आना संभव है कि, मनुष्यके मनसे शुभ कामनाओंके हटानेसे क्या लाभ होगा? अशुभ कामनाओंके हटानेमें किसीका विरोध होना संभव नहीं है, जो आशंका है वह शुभवृत्तियोंके हटानेके विषयमें है। अतः इस बातका विचार करना यहां आवश्यक है। मुक्ति समाधि और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में ब्रह्मरूपता होती है। हम केवल सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्राकाहि विचार करेंगे, क्योंकि यह गाढ निद्राकी अवस्था सबके अनुभवकी है। यदि गाढ निद्रामें प्राप्त निकृष्ट अवस्थाकी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनी है, तो मनके अशुभ विचार जैसे दूर करने चाहियें, वैसेहि शुभ विचार भी दूर करने चाहियें। मन में शुभ विचार जब तक चलते रहेंगे, तब तक निद्रा नहीं आती। निद्राके लिये जैसे अशुभ विचार हानिकारक हैं वैसेहि शुभ विचार। अशुभ विचारों से अन्य प्रकार की हानि होगी, यह बात और है; परंतु दोनों विचार स्तब्ध होने तक निद्रा नहीं आती, यह सत्य है। इससे स्पष्ट बोध होगा कि, निद्रा जैसी तमोगुणी निकृष्ट ब्राह्मी अवस्था का अनुभव लेनेके लिये भी शुभाशुभ वृत्तियोंका त्याग करना आवश्यक है, फिर उससे उच्च समाधि अवस्था और उससे भी सर्वोत्कृष्ट मुक्ति अवस्था जिनको क्रमशः रजोगुणी मध्यम, और सत्वगुणी उत्तम ब्राह्मी स्थिति कह सकते हैं, प्राप्त करनेके लिये शुभाशुभ वासनाओंका त्याग करना चाहिये, इसमें संदेह हि कैसे होसकता है? अर्थात् ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेके लिये जैसी अशुभ वासनाओंका त्याग अभीष्ट है, वैसा हि शुभवासनाओंका भी त्याग आवश्यक है।

व्यवहार की दशामें मनका अभ्यास बढानेके लिये अथवा मनको समस्थितिमें रखनेके लिये अशुभ वासनाओंका हि त्याग करनेका प्रारंभ करना योग्य है, परंतु अभ्यास बढनेके पश्चात् एक अवस्था ऐसी आती है कि, जिसमें शुभवासनाएं भी छोडनी पडती हैं। निद्रा के लिये तथा समाधिके लिये जैसी स्वार्थकी वासना बाधक

है, उसी प्रकार परोपकार की इच्छा भी बाधक हि है। चित्तकी एकाग्रता करनेका अभ्यास करनेवालों को यह अनुभव प्रतिक्षण आसकता है। इसीलिये भगवद्गीतामें कहा है—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः॥

भ० गी० ९। २८

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः

भ० गी० १२। १७

तत्तत्प्राप्य शुभाशुभं। नाभिनन्दति न द्वेष्टि

भ० गी० २। ५७

"बन्धन करनेवाले शुभ और अशुभ फलों से मुक्त होगा। जो शुभ का और अशुभ का त्याग करनेवाला है वह भक्तिमान मुझे प्रिय है। जो शुभ प्राप्तिसे आनंदित नहीं होता और अशुभ प्राप्त होनेपर उसका द्वेष नहीं करता०।" इत्यादि स्थानोंमें शुभ और अशुभ दोनों का त्याग आवश्यक है यह बात स्पष्ट कही है। यहां स्पष्ट हुआ है कि जैसा अशुभ बंधनकारक है, वैसाहि शुभ कर्म भी बंधन कारक है, परंतु अशुभ अवनति करनेवाला होनेके कारण प्रारंभसे छोडना चाहिये और शुभ उन्नतिमें सहायक होनेके कारण कुछ अवस्थाके बाद छोडना योग्य है, इतनाहि इसमें विवेक है।

उदाहरण के लिये मान लीजिये कि किसीका मकान जलने लगा है और घरके मनुष्य अन्दर हैं, यदि वे शीघ्र बाहर न जांयगे, तो अन्दरहि अन्दर जल मरेंगे। यदि ऐसी अवस्थामें घरके लोग घरमें स्थित अशुभ पदार्थों को संभालनेमें अपना समय खर्च करेंगे तो जैसे वे जल जांयगे, उसी प्रकार शुभ पदार्थोंके लोभमें फंसेंगे तो भी जल मरेंगे। अतः यदि उनको अपना बचाव करना अभीष्ट है तो अपने दोनों शुभाशुभ पदार्थों का मोह दूर करना चाहिये। यही बात संसारके सामाजिक और राजकीय बंधन दूर करनेके विषयमें सत्य है। अस्तु। इस प्रकार विचार करनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि शुभाशुभ कामनाओंका परित्याग करनेसेहि मनुष्य श्रेष्ठ बन सकता है।

यहां (मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति) सब मनोगत कामनाओं का त्याग अभीष्ट है प्रारंभमें त्याग इच्छापूर्वक होना है। प्रयत्नसे त्याग करते करते आगे मनका वैसा त्यागमय स्वभाव बनता है। जब मनुष्यका यह स्वभाव बनता है तब उसकी स्थितप्रज्ञता स्वभावसेहि सिद्ध होती है।

मनोगत कामनाएं अपने अन्दरकी न्यूनता दूर करनेके लिये उत्पन्न होती हैं। प्यास लगनेपर जलकी कामना, भूख लगनेपर अन्नकी कामना, सहवासके लिये स्त्रीकी कामना इस प्रकार अनंत कामनाएं होती हैं! प्रतिक्षण इस प्रकार न्यूनता की पूर्ति की जाती है। परंतु शरीरकी न्यूनताएं कभी दूर होनेवाली नहीं हैं, अतः शारीरिक न्यूनताओंकी पूर्ति करनेका यत्न कभी सिद्ध नहीं होगा। यह सिद्ध न होनेवाली बात है। शरीरकी एक एक कामना पूर्ण करनेके कारण मनुष्य को अपने आत्माका विचार करनेके लिये फुरसतहि नहीं रहती। और मनुष्यको अपने आत्माकी उन्नतीका विचार करनाहि मुख्य कार्य है। शरीर तो एक साधनमात्र है। परंतु आश्चर्य की बात यह है कि, मनुष्य इस शरीररूपी साधनकी परिचर्या में सब समय गमाते हैं और जिस आत्माको प्रकाशित करनेके लिये यह शरीर मिला है उस आत्माका विचार तक कोई नहीं करता। अतः कहा है कि जब मनुष्य शुभाशुभ कामनाओं का त्याग करेगा, तभी उसको अपने आत्मामें स्थित आनंद स्वयं प्राप्त होगा।

आत्माकी शक्ति अनंत है, उसकी थोडीसी शक्ति इस शरीरमें आगई है और वह अनेक इंद्रियोंमें विभक्त होगई है। यदि मनुष्य इंद्रियतुष्टीमें लगेगा, तो उसको थोडीसी शक्ति का अनुभव आवेगा; परंतु यदि वह आत्माके असीम स्रोतमें गोता लगावेगा, तब उसको अपार शान्ति

मिलेगी, क्यों कि आत्मा की शक्ति अपार है। इस लाभ की दृष्टिसेभी मनोगत कामनाओंके फंदे में फंसना मनुष्यको उचित नहीं है, परंतु अकाम बनकर आत्माकी शक्ति प्राप्त करना योग्य है। आत्मा 'अकाम' है इसलिये अकाम बनकर हि उसकी प्राप्ति हो सकती है। देखिये-

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥
अथर्ववेद १०।८।४४

"आत्मा (अकामः) कामनारहित, (धीरः) धैर्यवान् किंवा (धी-रः) बुद्धिप्रदाता, अमर, स्वयंसिद्ध, रससे तृप्त, कहां भी न्यून नहीं, (अ-जर) जरारहित, तरुण जैसा है, उसीको जाननेवाला ज्ञानी मनुष्य मृत्युसे डरता नहीं।" यहां आत्माको 'अ-काम' कहा है, यह कामनारहित होने से कामनाओं को छोडनेवाले हि इसको प्राप्त कर सकते हैं। कामनाओंको छोडने वाले 'अकाम' बनते हैं, अतः 'अकाम' के साथ उनका मेल होना सुगम होता है। 'अकाम' की प्राप्ति 'सकाम' को कैसी हो सकती है? अतः कहा है—

उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥ मुण्डक उ० ३।२।१
तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामँ रूपँ शोकान्तरम् ॥ बृ० उ० ४।३।२१
योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥ बृ० ४।४।६
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ बृ० ४।४।७

"जो कामना छोडनेवाले धीर मनुष्य परमपुरुषकी उपासना करते हैं वे विशेष वीर्य लाभ करते हैं॥ वही इसका रूप है जो कामनातृप्त, आत्माकी कामना वाला अथवा कामनारहित है वही शोकरहित है॥ जो कामनारहित है वही आप्तकाम, आत्मकाम, निष्काम अथवा अकाम कहा जाता है। उसके प्राण नहीं जाते, वह ब्रह्म बनकर ब्रह्ममें हि रहता है॥ जब हृदय की सब कामनाएं दूर होती हैं, तब यह मरण धर्मवाला अमर बनता है और वहांहि ब्रह्म प्राप्त करता है॥"

यहां इन उपनिषद्वाक्यों में अकाम होनेका महत्व वर्णन किया है। यहां 'अकाम' का अर्थ 'निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम' कहा है, यह अर्थ ध्यानमें धरने योग्य है। जिसकी सब कामनाएं शान्त होगई हैं, कोई कामना शेष रही नहीं, जिसकी केवल आत्माका अनुभव करनेकी हि कामना रही है, उसको अकाम या निष्काम कहते हैं। उक्त बृहदारण्यक वचनमें तो स्पष्ट कहा है कि हृदयकी सब कामनाएं नष्ट होतेहि मर्त्य अमर बनता है। मनुष्य तबतकहि मर्त्य कहलाता है कि जब तक उसमें कामनाएं भरीं रहती हैं। कामनाओंके मनमें रहनेसे मृत्युका भय होता है। कामनाएं मनसे दूर हुई तो मृत्युका भय दूर हुआ। परमात्मा अकाम होनेसे मृत्युभयसे दूर है, जीवात्मा सकाम होनेसे वारंवार मृत्युके भयसे भयभीत होता है। अतः मनोगत संपूर्ण कामनाओंको दूर करनेसेहि मृत्युका भय दूर होता है यह बात सिद्ध हुई। अमर बननेके इच्छुक इसका विशेष विचार करें।

इसी को (आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) अपने अंदर अपने आत्मासे संतुष्ट हुआ कहते हैं। अकाम या निष्काम बना मनुष्य (आत्मना तुष्टः) आत्मासे सन्तुष्ट होता है, और सकाम या भोगी मनुष्य जगत् के भोग भोगनेमें सदा अतृप्त रहता है। अकाम और सकाम की कल्पना निम्नलिखित कोष्टक से सुबोधतया हो सकती है—

अकाम	सकाम
निष्काम	वर्धमानकाम

आप्तकाम	कामोपभोगपरम
आत्मकाम	विषयभोगकाम
आत्मतुष्ट	असन्तुष्ट
अमर	मर्त्य
धीर	भीरु, धैर्यहीन
शोकरहित	शोकयुक्त
दुःखमें शान्त	दुःखमें उदास
सुखमें निस्पृह	सुखमें लुब्ध
भयक्रोधरहित	भयभीत और क्रोधी
विरक्त	भोगलुब्ध

अकाम और सकाम मनुष्य ऐसा होता है। पाठक इसका विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि, अकाम होनेमें कौनसा सुख है और सकाम होनेमें कौनसा दुःख है। सब जानते हैं कि, वासनाक्षय से सुख होता है; जैसा प्यास लगी तो जल प्राप्ति की वासना उठती है, इस वासना का क्षय जल प्राप्त होनेसे होता है, अतः जल प्राप्तिसे सुख होता है। जब तक जल प्राप्ति की वासना का क्षय न होगा तब तक सुख भी नहीं होगा। जितना जिस वासना का क्षय होता है उतनाही सुख होता है। इसी प्रकार अन्य वासनाओंके क्षयके विषयमें समझना चाहिये। वासना बनीरही तो सुख नहीं होता। वासनाका क्षय होनेकाही नाम 'आप्त-काम' है। जिसकी कामना तृप्त हुई है वह आप्तकाम कहलाता है। वही सुखी है। इसीको अकाम, निष्काम अथवा आत्मकाम कहते हैं।

जब बाह्य जगत् के किसी पदार्थ की कामना नहीं होती, तब वह आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है। जैसा छोटा, नीरोग और हृष्टपुष्ट बालक माताका दूध पीनेके पश्चात् अपनेहि आनन्दमें मस्त रहता है, उस समय उसको किसी बाह्यपदार्थसे आनन्द प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं होती। इस समय उसकी एकही आवश्यकता होती है, वह भूख लगनेपर माताके दूध की है। उतनी कामना पूर्ण होते हि वह अकाम बनता है और अपने आत्मा के निजानन्दसे उल्हसित होता है। यह स्वाभाविक ब्राह्मी स्थिति दो तीन वर्षतक अधिकसे अधिक रहती है, पश्चात् जैसी जैसी मनोगत कामनाएं बढती हैं, उसी प्रमाणसे यह स्वर्गीय उद्यानका विहार करनेवाला देवदूत दुःखमय मर्त्यलोक में गिरता है।

कामना उत्पन्न होतेहि जीव परमात्मासे दूर होकर जगत्के विषयोंमें फंसता है और कामना तृप्त होते हि फिर परमात्मामें वापस जाकर विराजता है और वहां वापस आनेसे हि सुखी होता है। अर्थात् जगत् की ओर आकर्षित होनेसे दुःखी और आत्मामें वापस आनेसे सुखी होता है। सुखदुःखका सारांशसे यह स्वरूप है। यहां पाठक अनुभव करें कि अकाम होनेका संबंध आत्मप्राप्तिसे और सुखी होनेसे कितना घनिष्ठ है। अतः इस श्लोकमें कहा है कि सब मनोगत कामोंको हटानेसे वह (आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) आत्मामें हि निज शक्तिसे संतुष्ट होता है। यही स्थिप्रज्ञ है।

(आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) आत्मामें आत्मासे हि सन्तुष्ट होना श्रेष्ठ अवस्था है। परंतु यहां प्रश्न हो सकता है कि आत्मामें ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जिससे निष्काम मनुष्य केवल आत्मासेहि सन्तुष्ट हो सकता है? इस का विचार करनेके लिये निम्नलिखित वचन देखिये-

> मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यानादरः॥२
> ...एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥ ३॥ ...एतद् ब्रह्म॥ ४॥
>
> छांदोग्य उ० ३। १४

"मन रूप, प्राणरूप शरीरवाला, प्रकाश स्वरूप, जिसके संकल्प सत्य होते हैं, ऐसा यह आकाशवत् आत्मा है। यह कर्म शक्ति से और कामनासे युक्त, सर्वगन्ध

युक्त, तथा सब रसोंसे परिपूर्ण है। यह आत्मा मेरे हृदयके अन्दर है, यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक से भी बडा है, सब लोकों से बडा है, यह यह ब्रह्म है।" अर्थात् इस आत्माकी शक्ति बडी है, सब शक्तियां पूर्णतासे इसमें निवास करती हैं, जो जगत् में सत्त्व है वह सब इसमें है; जो इस में है उसका अल्प अंशहि जगत् में है, इतनी इस की महती शक्ति है, और देखिये—

आत्मनः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर
आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप
आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्न-
मात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यान-
मात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन
आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा
आत्मतः कर्माण्यात्मत एव इदं सर्वम् ॥
छां० उ० ७।२६।१

" आत्मासे प्राण आशा, स्मर, आकाश, तेज जल, अन्न, बल, ज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प,, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्म तथा यह सब जगत् उत्पन्न होता है। जगत् का प्रकट होना और पुनः लय होना आत्मासेहि होते हैं।" यह आत्मा जो संकल्प करता है वह उसका संकल्प सत्य होता है। इतनी शक्ति इसमें है। इसी लिये आत्माकी प्राप्ति करनेका उपदेश सब शास्त्रकारोंने किया है। आत्मा की प्राप्तिका अर्थ सबसे बडी शक्ति की प्राप्तिहि है। जगत् के विषयोंमें आत्मा की अपेक्षा अत्यंत अल्पशक्ति है, जगत् में अल्पता का अनुभव क्षण क्षणमें है और आत्मामें (भूमा) विपुलता का अनुभव है। कौन ज्ञानी मनुष्य अल्प शक्ति में संतुष्ट होगा? वह तो विशाल शक्तिहि प्राप्त करने की इच्छा करेगा। सब शक्ति आत्मामें होनेसे हि आत्माकी प्राप्ति अन्तिम ध्येय कहा गया है। आत्मामें अपनी विशाल शक्ति के अनुभव से हि संतुष्टि होती है। आत्मामें सभी आनन्द इसको इच्छामात्रसे प्राप्त होते हैं। अतः यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था है। (आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) आत्मामें हि आत्मासे तृप्त होता है, क्यों कि इस समय सुख के लिये इसको बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं होती। इसी के अन्दर इसको अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। इस कारण वह सदा तृप्त रहता है और तृप्त रहनेके कारण कोई कामना इसको हिला नहीं सकती, इस लिये इस की प्रज्ञा स्थिर रहती है। अर्थात् स्थितप्रज्ञ विशेष शक्ति से संपन्न होता है।

साधारण लोग 'संपूर्ण मनोगत कामनाओंके छोड देने का अर्थ 'कुछभी कार्य न करना' करते हैं; वे समझते हैं कि मन में कामना रहनेसे हि मनुष्यसे कुछ न कुछ कार्य होता है, और कामना न रहनेसे कुछ कर्म नहीं होता है। साधारण दृष्टि से देखा जाय तो यह विचारसरणी ठीक प्रतीत होती है, परंतु विशेष विचार करनेपर इसमें सत्यता नहीं है यह बात स्पष्ट होगी। श्रीकृष्ण भगवान् जो कि इस उपदेश के वक्ता हैं, वे अपने विषयमें कहते हैं कि—

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
भ० गी० ३।२२

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
भ० गी० ३।२५

'हे अर्जुन! मुझे तीनों लोकोंमें कुछभी करनेका नहीं है। जो प्राप्त करनेयोग्य है, जो नहीं मिला हो, सो भी नहीं, पर फिरभी मैं कर्म में लगाही रहता हूं॥ २२॥ जिस तरह अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं उसी तरह ज्ञानी लोगों को आसक्तिरहित होकर-निष्काम भावसे-लोककल्याणकी इच्छासे कर्म करना चाहिये॥ २५॥'

यहां ज्ञानी स्थितप्रज्ञको भी निष्काम भावसे परोपकारके कार्यमें लगना चाहिये, ऐसा स्पष्ट कहा है। सकाम मनुष्य स्वार्थसे अपने हि हितके कर्म करता है, और निष्काम मनुष्य संपूर्ण

जनताकी भलाईकी दृष्टिसे जनताके हितके कार्य में दत्तचित्त होकर कार्य करता है। सकाम मनुष्य का कार्यक्षेत्र संकुचित और निष्काम मनुष्य का अति विस्तृत कार्यक्षेत्र होता है। इसी लिये उसको ब्रह्म प्राप्त करके विशेष विशाल शक्ति प्राप्त करनी होती है। स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् योगी, आप्तकाम, स्थितप्रज्ञ और पूर्ण पुरुष होनेपर भी उस समय के राजकीय और धार्मिक कार्यक्षेत्रमें उतर कर सबसे अधिक कार्य करते रहे, यह बात इतिहासमें प्रसिद्ध है। जनकादि राजाओंका भी उदाहरण उसी प्रकारका है। वामन, नारद, याज्ञवल्क्य आदिकोंके उदाहरणभी इसी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। इसका विचार करनेपर पाठकों का निश्चय होगा कि निष्काम, अकाम, आत्मकाम, स्थितप्रज्ञ, आत्मतुष्ट होनेपर उसका कार्यक्षेत्र अतिविस्तृत होता है। उसके पास बडी विस्तृत शक्ति जीवित और जाग्रत होती है, उस कारण उसके शब्दसे जनता शीघ्र आकर्षित होती है, और वह ऐसे महान् कार्य कर छोडता है, जैसे साधारण मनुष्यसे कदापि नहीं बन सकते। इस विषयमें गीताके निम्नलिखित श्लोक अवश्य देखने चाहिये—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९॥
भ० गी० ३

"जो मनुष्य आत्मामें रममाण होता है, और जो आत्मामें हि तृप्त होता है और आत्मासे हि सन्तुष्ट होता है, उसे कोई भी (निज) कर्तव्य नहीं होता। कर्म करने और न करनेमें उसका जरा भी स्वार्थ नहीं होता। और भूतमात्रसे उस का कोई (निजी) स्वार्थ साध्य करना नहीं रहता। इस हेतुसे तू आसक्ति छोडकर निरंतर कर्तव्य कर्म करता रह। आसक्ति छोडकर कर्म करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करता है।।" आत्मतृप्त, निष्काम मनुष्यको निजी स्वार्थ कुछभी नहीं रहता, कर्म करने और न करनेमें उस का जरा भी स्वार्थ नहीं होता, यही हेतु है कि वह निष्काम भावसे लोकसंग्रहके—अर्थात् जनताके हितके कार्य करता रहे। ऐसे कार्य करनेका अधिकारी यही होता है। यहां भ० गीतानेहि निष्काम मनुष्यको परोपकारके कर्म सतत करनेकी आज्ञा दी है, अतः इस विषय में अब किसीको संदेह नहीं रह सकता।

सकाम और निष्काम मनुष्यों के कर्मोंमें भेद यह है, सकाम मनुष्य वैयक्तिक स्वार्थसे अल्प क्षेत्रमें कार्य करता है; और अकाम मनुष्य संपूर्ण मानवी समाजके हित के लिये अति विस्तृत क्षेत्र में कार्य करता है। सकाम मनुष्य स्वार्थी है और निष्काम मनुष्य परमार्थी है। अतः कामना छोडनेवाला पत्थर जैसा कर्महीन होता है, ऐसा मानना अयुक्त है। कामना छोडने का अर्थ विस्तृत कार्यक्षेत्रमें प्रवेश करनेकी तैयारी करना है।

स्थितप्रज्ञका तृतीय लक्षण (दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः) दुःखोंमें उदास न होना, (सुखेषु विगतस्पृहः) सुखोंमें लुब्ध न होना, (वीत-राग-भय-क्रोधः) आसक्ति, भय और क्रोध छोडना और (मुनिः) मौन धारण करना है। प्रायः सामान्य मनुष्य दुःखसे भागते हैं, डरते हैं और वारंवार दुःख होनेपर उद्विग्न होते हैं, यह उनकी निर्बलता का लक्षण है। इसी प्रकार मनुष्यमें दूसरी निर्बलता यह रहती है कि, वह सुख प्राप्त होनेपर गर्व करता है, उन्मत्त होता है, घमंडी बनता है धर्माधर्मकी पर्वाह नहीं करता और सुखमें हि लुब्ध होकर कर्तव्यभ्रष्ट होता है। सामान्य मनुष्यमें ये दोनों निर्बलताएं रहती हैं। जिस प्रकार वायुके प्रवाहसे कपास जिधर उधर अवश होकर चलता है, अपने स्थानमें स्थिर नहीं रहता, उसी प्रकार सामान्य निर्बल मनुष्य दुःखकी हवासे

कंपित होकर उदासीनताके कीचडमें गिर जाता है अथवा सुखकी लहरसे मोहित होकर रागके वशमें होता है। अर्थात् इसके पांवके तले कोई अपना स्थान नहीं रहता!! दुःखसे भयकी भूमिकामें जाकर भयभीत होना अथवा सुखसे रागकी भूमिकामें जाकर वहां आसक्त होना, यही इसकी निर्बलताके कारण इसके भाग्यमें होता है। इसकी पराधीनता यहांहि समाप्त नहीं होती, आगे जाकर यदि वारंवार दुःख आने लगे, तो दुःख देनेवालोंपर यह क्रोधित होता है और सुख न मिले अथवा कम प्राप्त होने लगे, तो भी इसको क्रोध चढता है। इसप्रकार यह दोनों अवस्थाओं में क्रोधके वशमें होता है। यह सब इसकी निर्बलताके कारण होता है। निर्बलता ही अवनतिकारक है। मनुष्य निर्बलता के लिये उत्पन्न नहीं हुआ। मनुष्य तो अपना आत्मिक बल विकसित करनेके लिये हि इस जगत् में प्रकट हुआ है। इस लिये यदि मनुष्य ने इस जन्म में आत्मिक बल प्राप्त करके सुखदुःख की लहरियों से कंपायमान न होनेकी शक्ति अपने अंदर स्थिर न की, तो इसके जन्म लेनेसे क्या बना? जन्म व्यर्थ गया! जन्म की सार्थकता होने के लिये इस को उचित है कि, यह दुःखसे उदासीन न हो और सुखमें लुब्ध भी न बने। इसी प्रकार निर्भय बने, क्रोध और लोभ किंवा आसक्ति छोडे। यह तो केवल आत्मिक बलसेहि साध्य हो सकता है।

जगत् में तो इंद्रियविषयों की अनेक लहरें हैं, कल्पना की लहरें भी प्रबल हैं, भोग लालसा भरीपडी है। यहां तो लोभ, मोह और क्रोध पद्‌पद् पर इसे विवश करनेके लिये बैठेहि हैं। इस लिये जब यह इंद्रियोंके विषय भोगोंकी ओर न झुकेगा और (आत्मनि आत्मना तुष्टः) अपने आत्मामें अपनी निजशक्तिसे संतुष्ट होगा, तभी इसको कोई दुःख अपने स्थानसे हिला नहीं सकते और कोई सुख इसको मोहित कर नहीं सकते। इसी से यह राग भय और क्रोध से दूर रहेगा।

पूर्व श्लोक में जो मनोगत कामनाओं को दूर करनेका उपदेश किया है, उसीसे यह सिद्धि मिल सकती है। सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति यही तो मनोगत कामना मनुष्यके अन्दर होती है। सुखके विषयमें प्रीति और दुःखका द्वेष मनुष्यके मनमें रहता है। इन दोनोंके विषय में निर्विकार मन होनाहि आत्माकी शक्ति प्रकट होनेका चिन्ह है। कितनेभी बडेसे बडे दुःख आजांय, अथवा कैसेभी सुखके प्रलोभन सम्मुख खडे हों, मनुष्यको अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होना चाहिये, इसी को नाम नर होना है। जो सुखों में नहीं रमता उसी को "नर" (न+रम्) कहते हैं।

मनुष्यमें सुखकी इच्छा न हुई तो इसको दुःख भी नहीं सता सकते। यदि यह सुख के विषयमें निस्पृह बनेगा, तब एक भी दुःख इसको सता नहीं सकेगा। बाहरसे सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषा धरनाभी एक बडी भारी कमजोरी है, क्यों कि इसकी आत्मामें हि सब आनन्द का भण्डार है, बाह्यसुख उसके सामने तुच्छ हैं। परंतु सम्राट् भ्रांत होकर भिकारी होनेके समान यह स्वयं आनन्दका मूल स्रोत होनेपर भी बाहरके दुःखसे दुखी होता है और बाह्यसुखसे सुख प्राप्त करने का इच्छुक है। शास्त्रके विचारोंसे यही इसकी भ्रान्ति दूर करनी है और इसके अन्दरकी अद्वितीय आत्मशक्तिको जाग्रत करना है। जिसकी यह अंतःशक्ति जाग्रत होती है वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

इस समय यह 'मुनि' अर्थात् मौनावलंबी होता है। यह बोलता नहीं। मौन का अर्थ अपनी शक्तिका व्यय न करना है। मनुष्य जैसा अन्य इन्द्रियोंद्वारा अपनी शक्तिका व्यय करता है वैसा हि वक्तृत्वके द्वारा भी अपनी बहुत शक्ति खर्च करता है। अन्य इन्द्रियोंद्वारा शक्तिका व्यय कर-

नेमें मनुष्य और पशुपक्षीयों की समानता है; वाणीद्वारा अपनी शक्तिका अधिकसे अधिक व्यय करनेवाला एकहि मानव प्राणी है, अतः मनुष्यको अपनी शक्तिका अपने अंदर संग्रह करनेके लिये मौन धारण करनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इससे अन्य इन्द्रियोंद्वारा होनेवाला शक्तिका नाश न करनेकी भी सूचना मिलती है। इसी का नाम संयम है। प्रायः देखा जाय तो मनुष्य अपनी वाक्शक्तिका बहुतसा अपव्यय करता है, बुरा उपयोग करता है। इस जगत्में जो झगडे और कलह हो रहे हैं, वे सबके सब इसकी वाणीके दुरुपयोगसे हि होते हैं। यदि यह मनुष्य वाणीका सदुपयोग करेगा अथवा मौन धारण करेगा, तो जगत् के बहुतसे झगडे मिट जांयगे, और लोग अधिक आनंदमें रहेंगे। मनुष्य दिन भर जो शब्द बोलता और जो लेख लिखता है,उसमें शांति फैलानेवाले कितने और अशान्ति पैदा करनेवाले कितने होते हैं, इस का विचार करनेसे मौनावलंबन का महत्त्व ध्यानमें आसकता है।

मन को स्वाधीन करनेके लिये भी मौन की बडी सहायता होती है। मन को स्थिर करनेमें मौन बहुत ही सहायक होता है। मौन धारण करना बडा कठिन कार्य है, पाठक एक दो दिन मौन धारण करके देखेंगे, तो उनको इसकी कठिनताका पता लग जायगा। वस्तुतः मौन सहज साध्य होनेवाला है, परंतु मनुष्यको बोलनेका अभ्यास इतना अधिक हुआ है कि उसको यह सहज साध्य मौन भी असाध्यसा प्रतीत होता है। स्थितप्रज्ञ होनेके लिये कम बोलना अथवा कुछ मर्यादा तक मौन धारण करना आवश्यक है।

जो स्थितप्रज्ञ होना चाहता है वह (सर्वत्र-अनभिस्नेहः)सब पदार्थोंपर या किसी पर स्नेह, प्रीति या आसक्ति न रखे। यहां 'स्नेह' शब्द का अर्थ 'आसक्ति' लेना चाहिये, जो पूर्वोक्त 'राग' शब्दका अर्थ है वही यहां इसका अर्थ है। पूर्व श्लोक में 'वीतराग' शब्द है, उसी का स्पष्टीकरण 'सर्वत्र–अनभिस्नेह' शब्दसे इस श्लोकमें किया है। इसी प्रकार इस श्लोकमें (शुभं प्राप्य न अभिनन्दति। शुभको प्राप्त करके आनंदित नहीं होता और (अशुभं न द्वेष्टि) अशुभ का द्वेषभी नहीं करता, कहा है। यह सब कथन पूर्व श्लोक की व्याख्याहि है, देखिये—

(श्लोक ५६)	(श्लोक ५७)
वीतरागः।	अनभिस्नेहः।
सुखेषु विगतस्पृहः।	शुभं न अभिनंदति।
दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः	अशुभं न द्वेष्टि।
वीतक्रोधः, वीतभयः	,,

इन वाक्यों का तुलनासे विचार करने से पता लग जायगा कि पूर्व श्लोक का अधिक स्पष्टीकरणहि दूसरे श्लोकमें है और यह सुबोधताके लिये किया गया है। ५५ वे श्लोकमें 'संपूर्ण मनोगत कामनाओंको दूर करने और अपने आत्मामें हि संतुष्ट होने' की बात कही है, यही बात अगले ५८ वें श्लोकमें कछुवेके उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं। कछुवा जैसा अपने अंग अपने अंदर समेट लेता है, उस प्रकार जो मनुष्य अपने इंद्रियों को विषयोंसे समेटता है, अथवा विषयोंसे पीछे हटाता है, वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। प्रत्येक इंद्रिय अपने अपने विषयमें स्वभावसेहि जाता है, उसकी वह प्रवृत्ति स्वाभाविक है, उसको विषयसे निवृत्त करने और वापस लानेका नाम संयम है और अपने मनोगत कामनाओंको दूर करना भी इसी का नाम है। जो कछुवेके अवयव समेटनेके दृष्टान्तसे भ० गीताके इस श्लोकमें कहा है, वही सात नदियोंके दृष्टांतसे यजुर्वेद में कहा है, वह मंत्र यहां देखिये—

सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

वा० यजु० ३४।५५

"सात ऋषि प्रत्येक शरीरमें रखे हैं, मानो

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं, रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

अन्वयः- निराहारस्य देहिनः विषयाः रसवर्जं विनिवर्तन्ते। अस्य रसः अपि परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

देहधारी मनुष्यके निराहार होनेपर विषय तो निवृत्त होते हैं, परंतु उन विषयोंका रस अर्थात् विषयोंकी लालसा बनी रहती है। यह लालसा परब्रह्म का साक्षात्कार होनेपर हि निवृत्त होती है॥ ५९॥

यह शरीर सप्त ऋषियोंका आश्रम हि है। ये सातों ऋषि इस आश्रम की रक्षा भूल न करते हुए करते हैं। सात नदियां सोनेवालेके स्थानको वापस जाती हैं उस समय उस यज्ञमें दो देव निद्रा न लेते हुए जागते रहते हैं।" नाक, रसना, नेत्र, त्वचा, कर्ण, वाणी और मन ये सात इंद्रियां मानो सात ऋषि हि हैं। शरीर रूपी आश्रममें ये सात ऋषि तपस्या करते हैं। इनको ऋषि, तपस्वी, योगी अथवा मुनि बनाना चाहिये। वस्तुतः ये ऋषि होते हुए व्यसनाधीन असंयमी मनुष्यने इनको राक्षस बनाया है। अतः इनको ऋषि बनानेका यत्न करना आवश्यक है। यदि इनको संयमके पथपर चलाया जायगा, तो ये मार्गदर्शक श्रेष्ठ ऋषि बन सकते हैं। ये सात ऋषि इस शरीररूपी क्षेत्र में शतसांवत्सरिक यज्ञ-सत्र-करते हैं, सौ वर्षोंमें यह सत्र पूर्ण होनेवाला है, परंतु रोगादि विविध राक्षस इस पवित्र यज्ञभूमिका नाश करना चाहते हैं, इसमें अपवित्रता करना चाहते हैं। विघ्नकर्ता राक्षस इसमें कुविचार, दुराचार आदि उत्पन्न करते हैं और सौवर्षके पूर्व हि इस यज्ञका विध्वंस करते हैं। इस यज्ञके रक्षणार्थ दो कुमार निद्रा न लेते हुए तैयार रहते हैं, ये कुमार प्राण और अपान हैं। ये न भोग लेते हैं और न विश्राम करते हैं, केवल इस शरीररूपी यज्ञक्षेत्रकी रक्षा राक्षसोंका नाश करके करनेमें दत्तचित्त रहते हैं। ये सप्त ऋषि जिस समय सोते हैं, उस समय (स्वपतः) सोनेवाले आत्मासे बाहर बहनेवाली सात नदियां इसके सोनेके समय वापस उसीमें बहती हैं। अर्थात् ये सात नदियां जाग्रतिके समय आत्मासे बाहरकी ओर बहती हैं, इस समय इनका प्रवाह बाहरकी ओर होता है, और सोनेके समय ये हि सात नदियां वापस अन्दरकी ओर बहने लगती हैं। इसका अर्थ यह है कि नेत्रादिक सात इंद्रिय-प्रवाह जाग्रतिके समय बहिर्मुख होते हैं और जब ये प्रवाह अन्तर्मुख होते हैं उसी समय सुषुप्ति, समाधि अथवा मुक्ति होती है।

इस अलंकारमें भी संयमद्वारा इन इंद्रियोंको ऋषि बनानेका उपदेश है। इंद्रियोंका प्रवाह बहिर्मुख न करने और अन्तर्मुख करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश है। ये सब उपदेश आत्माको और इन्द्रियोंकी शक्तियोंमें अद्भुत बल है यह भाव बताते हैं। स्थितप्रज्ञ बननेके लिये इन सातोंको संयमी ऋषि बनाना चाहिये और अन्तर्मुख करना चाहिये। इनके प्रवाहोंको अन्तर्मुख करनेका हि अर्थ अपने सब मनोगत कामनाओंको छोडना, वीतराग होना, निष्काम बनना और अपने आत्मामें अपनी आत्मशक्तिसे हि संतुष्ट होना है। पाठक इसका इस दृष्टिसे अधिक विचार करें। अब अधिक स्पष्टशब्दोंसे इन्द्रियसंयम का महत्त्व बताते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अन्वयः— हे कौन्तेय! प्रमाथीनि इंद्रियाणि यततः विपश्चितः अपि पुरुषस्य मनः प्रसभं हरन्ति हि ॥ ६० ॥ तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः मत्परः आसीत्। हि यस्य वशे इंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

हे अर्जुन! मथनेवाली इंद्रियां प्रयत्न करनेवाले ज्ञानी पुरुषके मनको भी बलात्कारसे खींच लेती हैं ॥ ६० ॥ इन सब इंद्रियोंको वशमें रखकर, योगी योग का अवलंबन करके मुझमें तन्मय होवे। क्योंकि जिसके वशमें इंद्रियां होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥६१॥

भावार्थ- मनुष्य जब भोगोंसे निवृत्त होता है तब उससे सब भोगके विषय तो दूर होते हैं, परंतु भोगेच्छा जैसी की वैसी बनी रहती है। यह भोगेच्छा परमात्मा का साक्षात्कार होनेके बाद हि हट जाती है॥ इंद्रियोंका वेग इतना प्रबल है कि वे इंद्रियां विशेष प्रयत्न करनेवाले दक्ष मनुष्यके मनको भी समयपर विषय भोग की ओर खींच लेती हैं॥ इस लिये योगी उन सब इंद्रियोंका संयम करके योग का अवलंबन करता हुआ, परमात्मामें मन लगाकर तन्मय होवे। क्योंकि जिसके वशमें इंद्रियां होती हैं उसी को स्थितप्रज्ञ कहा जाता है॥ ५९-६१॥

इंद्रियोंका प्रबल वेग।

(५९-६१) देहधारी मनुष्य के देहमें अनेक इन्द्रियां होती हैं और इनमेंसे प्रत्येक इन्द्रिय का वेग बहुत ही बडा है। साधारण प्रयत्नसे इंद्रियोंका संयम करना कठीन है। जो इंद्रियोंका संयम करनेका यत्न करते हैं, उनकोहि पता होता है कि इंद्रियोंका वेग कितना प्रबल है। जो संयम का यत्न हि नहीं करते, उनको इंद्रियोंके वेगका ज्ञान कैसे हो सकता है? प्रवाहमें बह जानेवालोंको प्रवाहके वेगका पता नहीं लगता, परंतु प्रवाहको रोकनेवाले कोहि उसका ज्ञान हो सकता है।

साधारण मनुष्य समझते हैं कि, विषयोंको अपने पास न रखनेसे किंवा विषयोंका भोग न भोगनेसे इंद्रियोंका संयम हो सकता है। परंतु यह भ्रम है। उदाहरण के लिये—अन्नका भोग लेना रसना का विषय है। कोई मनुष्य उपवास करता है। इस के उपवास करनेसे अन्न इससे दूर होता है अथवा अन्नसे यह दूर रहता है; परंतु अन्न की वासना मनमें बनी रहती है। हर एक इंद्रियके उपवास के विषयमें यही बात है। विषयोंसे दूर रहनेसे विषय तो दूर हो जाते हैं, परंतु उसके रसके विषयमें प्रीति मनमें बनी रहती है। पथ्य करनेवाला मन ही मनमें मिष्ट पदार्थों के स्वादका विचार करता है, उपवास करनेवाला तो भूख की प्रबलता के कारण उपवास के समय ही अन्न के स्वाद का विचार करता रहता है। अर्थात् संपूर्ण इंद्रियोंके उपवास का वारंवार प्रयत्न करनेसे मनुष्यसे भोग के विषय दूर हो जाते हैं, परंतु विषयोंकी चाह दूर नहीं होती। जबतक परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता तब तक यह चाह नहीं हटती। परमात्म साक्षात्कार होते हि उसको परम अमृत रस का आस्वाद मिलनेसे विषयोंके क्षुद्र रसों

(२१) विषयोंके ध्यानसे नाश।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

अन्वयः— विषयान् ध्यायतः पुंसः सङ्गः तेषु उपजायते। सङ्गात् कामः संजायते। कामात् क्रोधः अभिजायते। क्रोधात् संमोहः भवति। संमोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः। बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६२-६३॥

विषयोंका ध्यान करनेवाले मनुष्यको उन विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे कामना होती है, कामनासे क्रोध होता है, क्रोधसे विवेकहीनता पैदा होती है, विवेक नष्ट होनेसे स्मृतिमें भ्रम होता है, स्मृतिभ्रमसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धि का नाश होनेसे उसका पूर्ण नाशहि होता है ॥६२-६३॥

भावार्थ— जो मनुष्य सतत विषयभोगोंका चिन्तन करता है, उसके मनमें विषयभोग भोगनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, इस इच्छाकी तृप्तीके लिये वह बहुत विषयभोग प्राप्त करनेका यत्न करता है। विषयभोग प्राप्त करनेमें किसीने प्रतिबंध किया अथवा देरी लगी, तो उस कारण वह बडा क्रोधित होता है। क्रोधके समय कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार उसके मनमें नहीं रहता और उसका चित्त मोहित भी होता है, इस मोहके कारण उसकी पूर्व स्मृति नष्ट होती है, स्मृतिके साथ उसके ज्ञानका भी नाश होता है। जिस मनुष्यका ज्ञान नष्ट होता

की लालसासे वह सदाके लिये मुक्त होता है। परमात्माका साक्षात्कार होने तक जो विषयों के भोग की चाह बनी रहती है, वह किस समय उसको विषयोंके कीचड में फंसा देगी, इसका कोई नियम नहीं है। इंद्रियोंका वेग बडा भयानक है। प्रत्येक इंद्रिय अपने अपने विषयों की ओर मनुष्यको खींचना चाहता है। थोडीसी असावधानी हुई तो बडे ज्ञानी के मन को भी इंद्रियां विषयोंके जालमें खींच लेती हैं और जब इस प्रकार मनुष्य गिरने लगता है तब उसके गिरनेकी कोई सीमा नहीं रहती। इस लिये मनुष्य को सदा अत्यंत सावधान रहना चाहिये।

इंद्रियोंका संयम करनेके लिये मनुष्य ऐसा यत्न करे कि वह पहिले तो विचार से और युक्तिसे विषयोंसे इंद्रियोंको दूर रखे, योगमार्ग का अवलंबन करके विशेष दक्षतापूर्वक अपना दैनिक व्यवहार धर्मपूर्वक चलावे और मनको परमात्मा में निमग्न करे। इस प्रकार दृढनिश्चयपूर्वक निरंतर प्रयत्न करनेसे इंद्रियां वशमें होती हैं और जिसके वशमें इंद्रियां होती हैं, उसी को स्थितप्रज्ञ कहते हैं। इंद्रियां वशमें होनेसे इसकी शक्ति व्यर्थ खर्च नहीं होती, इसके अंदर संग्रहित होती है; इस कारण ऐसा संयमी मनुष्य अपनी संग्रहित शक्ति किसी उत्तम कर्म में लगा कर उसकी सिद्धि कर सकता है और बडे यश का भागी बन सकता है।

अब आगे बताते हैं कि विषयोंका ध्यान करनेसे मनुष्य कैसा गिरता है और उसको किस उपायसे अपने आपका बचाव करना चाहिये—

(६२-६३) इन श्लोकोंमें विषयोंका ध्यान करने वाले की कैसी अधोगति होती है और

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अन्वयः- विधेयात्मा तु रागद्वेषविमुक्तैः आत्मवश्यैः इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादं अधिगच्छति । प्रसादे अस्य सर्व दुःखानां हानिः उपजायते । प्रसन्नचेतसः हि बुद्धिः आशु पर्यवतिष्ठते ॥ ६४-६५ ॥

परंतु जिसका मन अपने आधीन है वह प्रीति और द्वेषसे रहित अपने स्वाधीन इंद्रियोंसे विषयोंमें विचरता हुआ भी प्रसन्नता प्राप्त करता है। चित्त प्रसन्न रहनेसे उसके सब दुःख दूर होते हैं और प्रसन्नचित्त होनेसे उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६४-६५ ॥

है, उसका मानो सर्वस्व हि नष्ट होता है ॥ ६२-६३ ॥ परंतु जिसका मन स्वाधीन है वह किसी पर आसक्त नहीं होता और किसीका द्वेष भी नहीं करता। वह अपने सब इंद्रियोंको स्वाधीन रख कर उनके द्वारा विषयभोग लेता हुआ भी चित्तकी उत्तम प्रसन्नता प्राप्त करता है, इस प्रसन्नताके कारण उसके सब दुःख दूर होते हैं और उसीकी बुद्धि भी स्थिर होती है ॥ ६४-६५ ॥

संयमी पुरुष की कैसी उच्च अवस्था होती है, इसका उत्तम वर्णन है। पहिले दो श्लोकोंमें विषयी पुरुष की अधोगतिका क्रम बताया है।

विषयी मनुष्य अपने मनही मनमें विषयोंका ऐसा ध्यान करता रहता है— "मुझे ये विषय भोगने हैं, आज इस का भोग करूंगा, कल ये विषय मुझे मिलेंगे, मैं अधिकसे अधिक भोग प्राप्त करके अधिक सुख भोगूंगा। इस प्रकार वह मन ही मनमें भोगोंकी कल्पना करता रहता है, कल्पनासे विषय भोग भोगनेके चित्र अपने सामने खडे करता है। ऐसा सतत ध्यान करने से उसके मनमें भोगों के विषय में आसक्ति जम जाती है। भोगोंके विना अपना जीवित नहीं चल सकता ऐसा वह समझता है। इस समय उसके सन्मुख भोग प्राप्ति ही एक ध्येय रहता है। प्रतिक्षण भोगों की वासना उसके अन्तःकरणमें बढ जाती है। वह हरएक इंद्रियके भोग बढाने का यत्न करता है। इस भोगवृद्धिके उद्योगमें वह प्रथम धर्मानुकूल बर्ताव करता है, परंतु आगे आकर अधर्म, अत्याचार और अनाचार करने में भी प्रवृत्त होता है। धर्म से भोग प्राप्त न हुए तो अधर्म से, किसी रीतिसे भोग चाहिये, यह एकमात्र तृष्णा उसमें बढती है।

भोगोंके विषयमें भी यह नियम है कि एकहि भोग बहुत देर तक भोगते रहने से सुख नहीं होता। एकहि मिष्ट पदार्थ बहुत देर खानेसे दुःखदायक प्रतीत होता है, इसी प्रकार संपूर्ण इंद्रियोंके भोगोंके विषयमें है। अतः भोगी मनुष्य भोगोंमें विविधता चाहता है। भोगोंकी विविधता प्राप्त होनेपर कुछ समय तक यह भोगोंमें रमता है, परंतु आगे एक समय ऐसा आता है कि जिस समय भोगोंकी विविधताभी उसको आनंद नहीं देती। देखिये, रसनाके भोग के लिये मीठा, कडुवा, तीखा, खट्टा, नमकीन, कषाय इन छः रसोंमें विविधता उत्पन्न करने के बाद भी जिह्वा इनका रस लेते लेते थक जाती है, और कितना

भी उत्तम पदार्थ बनाया जाय तोभी इसको रुचिकर प्रतीत नहीं होता। भोगी मधुर पदार्थों के बनाने के लिये आज्ञा देता है, सेवक उत्तमोत्तम पदार्थ बनाते हैं, परंतु स्वामी की जिह्वा पदार्थों की रुची लेनेमें असमर्थ होनेके कारण, स्वामी को वे पदार्थ रुचिकर प्रतीत नहीं होते!! जो पदार्थ अन्योंको बडे रुचिकर प्रतीत होते हैं वेहि इसको अस्वादु लगते हैं। इस कारण यह सेवकोंपर क्रोध करता है। जो अवस्था खानेके पदार्थोंकी है वही अन्य इंद्रियोंके भोगों के विषयमें है। भोग लेते लेते प्रत्येक इंद्रिय भोग ग्रहण करनेमें असमर्थ होता है। इस कारण भोगी को कुछ समय के बाद भोगसे सुख नहीं होता और इससे इसको क्रोध चढता है।

भोगीको क्रोध अन्यान्य कारणोंसे भी आता है। इसके भोग प्राप्त करनेमें जिससे रुकावटें उत्पन्न होती हैं उसपर यह क्रोधित होता है। इसके भोगोंके विषयोंपर दूसरा आसक्त हुआ तो दोनों को क्रोध चढता है, क्यों कि एकहि वस्तु दोनोंको चाहिये, सो कभी मिल नहीं सकती, अतः क्रोध आना स्वाभाविक है। पहिले समयमें स्त्रीके कारण खून, रक्तपात, अत्याचार, और लडाइयां होती थीं, भूमिके कारण भी होती रहीं हैं, देशदेशांतरों में व्यापार व्यवहार करनेके लिये इस समय युद्ध छिडते हैं। सब में 'मुझे भोग चाहिये और मेरे भोगके बीचमें विघ्न करनेवाले का नाश मैं करूंगा' यही भावना है। इस तरह सब विषयोंकी प्राप्तीमें रुकावटें खडीं करनेवाले के कारण भोगीको क्रोध चढता है। यह बात सामान्य व्यवहार से बडे बडे व्यवहारों में सत्य है। पाठक इसकी सत्यता सर्वत्र देख सकते हैं।

वस्तुतः भोग भोगनेमें भोगीकी शक्तिका व्यर्थ व्यय होता है, अतः इसके यकृतादि अवयव बिगड जाते हैं और जिसके ये अवयव बिगडते हैं, उसमें क्रोध आना अत्यंत स्वाभाविक है। क्रोध जिस समय चढता है, उस समय खून के जीवन-अणु मरते हैं, खूनका दौरा शरीरमें अत्यधिक होता है, मस्तिष्कमें रक्तप्रवाह अधिक होनेसे मस्तक बिगड जाता है, और शरीर का ऐसा कोई भी अवयव नहीं कि जो क्रोधके कारण नहीं बिगडता। अतः आरोग्य चाहनेवालोंको क्रोधसे दूर रहना चाहिये। क्रोधी मनुष्य प्रायः अल्पायु होते हैं और शान्त, गंभीर मनुष्य दीर्घजीवी होते हैं। इस दृष्टीसेभी क्रोधसे दूर रहना मनुष्यके लिये अत्यंत लाभदायक है।

क्रोधके कारण मनुष्यका मस्तिष्क बिगडता है और इसकी विवेकशक्ति नष्ट होती है। इसका मन मोहित, भ्रांत, और कर्तव्याकर्तव्य-विवेकहीन बन जाता है। इस कारण इसकी स्मरणशक्ति भी नष्ट होती है। अतः इस समय यह क्रोधी मनुष्य स्त्री, बाल, वृद्ध, आप्त संबंधी, पिता, माता, गुरु, गुरुपत्नी, राजा, पुरोहित, जिसने पहिले उपकार किये हैं, इत्यादिकों के संबंध में अपना कर्तव्य क्या है, इनके साथ हमारा कैसा व्यवहार होना चाहिये, इत्यादि विवेक भूल जाता है और जो सामने आजाय उसपर अत्याचार करने लगता है। जब यह क्रोध प्रमाणसे अधिक होजाता है, तब इसका मस्तिष्क बिगडता है, यह पागलसा बनता है और कुछका कुछ कर बैठता है !! जब क्रोध की मात्रा अत्यधिक होती है तब क्रोधावेशसे मनुष्य मर भी जाता है।

सामान्यतः क्रोधके समय मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। और बुद्धिभ्रंश होनेसे मनुष्य पूर्णतया नष्ट होनेके समान बन जाता है। बुद्धि शान्त और गम्भीर होनेके समय मनुष्य अपने मनुष्यत्वसे युक्त रहता है, परंतु यही मनुष्य जब क्रोधावेगसे पागल बन जाता है, तब बुद्धिहीन होनेके कारण पशुत्व या राक्षसत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् क्रोधसे मनुष्य मनुष्य नहीं रहता इतना अनर्थ क्रोधके कारण होता है, अतः सब शास्त्रकार कहते हैं कि, क्रोध को दूर रखना चाहिये। देखिये—

काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
भ० गी० ३।३७

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहीह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
भ० गी० ३।४१

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥
भ० गी० ५।२६

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
भ० गी० ५।२३

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
भ० गी० १६।२१

"रजोगुणसे उत्पन्न काम और क्रोध बहुत खानेवाले और बडे पापी हैं, इनको अपने शत्रु समझ ॥ इस कारण तू अपने इंद्रियोंको स्वाधीन करके ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी (क्रोध और काम) का त्याग कर॥ जिसने काम और क्रोध को दूर किया है, जो अपनेको पहचानता है, और जिसने मन स्वाधीन रखा है, ऐसे यतीको सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है ॥ देहान्तसे पूर्व इसी देहसे जो मनुष्य काम और क्रोधके वेगोंको सहन करने की शक्ति प्राप्त करता है, वह योगी है और वही सच्चा सुखी है ॥ काम क्रोध और लोभ ये आत्माका नाश करनेवाले नरक के तीन द्वार हैं, इस लिये मनुष्य को इन तीनों का त्याग करना चाहिये॥"

इस प्रकार क्रोध के विषयमें भ० गीता की संमति है। विषयों के ध्यानसे इस क्रोधकी उत्पत्ति होती है, इस कारण विषयोंको दूर करना चाहिये, अन्यथा पूर्वोक्त क्रमसे नाश निश्चित होगा। यह तो विषयोंका ध्यान करनेवालोंकी अधोगति कैसी होती है इस का विचार हुआ। अब बुद्धि की स्थिरता किस रीतिसे होती है, इसका विचार देखना चाहिये -

(६४-६५) बुद्धि की स्थिरता और प्रसन्नता के लिये पहिला उपाय (राग-द्वेष-वियुक्तः) विषयोंपर आसक्ति अथवा काम और द्वेषभाव अर्थात् क्रोध, इन दोनों को छोडना है। मनुष्य के मनसे रागद्वेष जब तक छूटते नहीं, तब तक इसकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। रागद्वेष छोडना यह उन्नतिका पहिला अभ्यास है। दूसरा अभ्यास (आत्मवश्यानि इंद्रियाणि) अपने स्वाधीन संपूर्ण इंद्रियोंको रखना है। ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि, किसी भी कारण इंद्रियोंमेंसे एक भी इंद्रिय विषयाधीन न बने और अपने ऊपर अधिकार चलाने न लगे।

इंद्रियोंको रागद्वेषरहित करने, और उनको अपने आधीन करनेके साथ साथ (विधेय-आत्मा) अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को विशेष प्रकार बना कर, शिक्षित करके अपने आधीन करना चाहिये। मन अपनी उन्नतिकेहि विचार करे, अन्तःकरणमें कभी गिरावट के विचार न आवें, कोई इंद्रिय स्वैर व्यवहार न करे, किसीपर आसक्ति और किसी का द्वेष न किया जावे; इस प्रकार करनेसे इंद्रियोंसे विषयोंका उपभोग लेनेपर भी उसका चित्त प्रसन्न रहता है।

पाठक यहां समझ गये होंगे कि यह संयमी मनुष्य मन और इंद्रियोंको अपने आधीन रख कर और अन्तःकरण को सुशिक्षासे युक्त करके जो विषयोपभोग लेता है, वे अत्यंत मर्यादित और अल्प ही होंगे। अत्यधिक विषयसेवन तो उससे कदापि होना अशक्य ही है। धर्ममर्यादा के अनुकूल अत्यंत अल्प विषय सेवन करने में जो संयम होता है और जो उससे ब्रह्मचर्य का पालन होता है, उसी से यह चित्त की प्रसन्नता होती है। विषय भोगसे चित्तकी प्रसन्नता नहीं होती। विषय तो चित्त को दूषित करते हैं। विषय सेवन को मर्यादित करनेसे जो विषयोंसे दूर

(२२) असंयमीका घोर दुःख ।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अन्वयः— अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति, अयुक्तस्य च भावना न (अस्ति)। अभावयतः शान्तिः न (अस्ति)। अशान्तस्य सुखं कुतः? ॥६६॥

(समत्वरूपी) योग का अभ्यास न करनेवाले की बुद्धि (स्थिर) नहीं होती, और उसमें श्रद्धाभक्ति भी नहीं होती। श्रद्धाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और अशान्तको सुख कहांसे होगा? ॥६६॥

भावार्थ— मनुष्यमें स्थिरबुद्धि और श्रद्धाभक्ति रही तोहि उसको सुख मिलता है। पूर्वोक्त समत्वयोग के अभ्याससे हि मनुष्य की बुद्धि स्थिर होती है और उसके मनमें श्रद्धा भक्ति भी बढती है। जिसकी बुद्धि चञ्चल है और जिसके मनमें श्रद्धा नहिं उसका मन अशान्त रहता है, अतः उसको कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

रहने का यत्न होता है, उसीसे चित्त की प्रसन्नता होती है। यहां ब्रह्मचर्य और संयम का महत्त्व वर्णन किया है। नहीं तो (इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादं अधिगच्छति) इंद्रियोंसे विषयों में विचरता हुआ भी प्रसन्नता प्राप्त करता है, इस वाक्य के पूर्व के (रागद्वेष-वियुक्तैः आत्मवश्यैः इंद्रियैः) " रागद्वेषरहित स्वाधीन इंद्रियोंसे " ये विशेषण भूले जांय तो अर्थ का अनर्थ होगा। जिस प्रकार कैदी और अधिकारी ये दोनों कारागृहमें होते हैं, परंतु एकहि स्थानपर रहते हुए भी कैदी बंधनमें रहता है और अधिकारी स्वतंत्र रहता है, उसी प्रकार भोगी और त्यागी दोनों विषयभोग लेते हैं, परंतु भोगी उनमें आसक्त होकर भोग लेता है अतः चित्त को दूषित करता है और त्यागी असंग वृत्तिसे अति अल्प प्रमाणमें विषयसेवन करता है, अतः चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त करता है।

चित्तकी प्रसन्नता होनेसे सब दुःख दूर होते हैं और शीघ्रहि बुद्धि भी स्थिर होती है, अर्थात् यह स्थितप्रज्ञ होता है। इस प्रकार भोगी और त्यागी का वर्णन करके बताया कि त्यागी को हि सच्चा आनंद प्राप्त होता है। अब आगे बताते हैं कि जो इस स्थितप्रज्ञ बननेके लिये संयमादिका साधन नहीं करता उसकी अवस्था कैसी भयानक बनती है—

(६६-६८) यहां ' अ-युक्त ' शब्द ' अ-योग-युक्त ' इस अर्थमें और ' बुद्धि ' शब्द ' स्थिर-बुद्धि ' के अर्थमें प्रयुक्त है। अतः ' अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति। ' का अर्थ ' जो योगाभ्यासी नहीं है, उसकी बुद्धि स्थिरताको प्राप्त नहीं होती' इस प्रकार समझना योग्य है। श्रीमद्भगवद्गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ ' समत्वयोग ' है यह बात इसी अध्यायमें (श्लोक ४८-५० की व्याख्याके प्रसंगमें) स्पष्ट हो चुकी है। पाठक एक वार पुनः इन श्लोकोंकी व्याख्या पढें और मननपूर्वक समझें कि, यहां योगशब्दका विशेष ही अर्थ है। इस समत्वरूप योग के जो अभ्यासी हैं, वे ही अपनी बुद्धिको सम अर्थात् स्थिर कर सकते हैं। जो अयुक्त अर्थात् योगाभ्यासी नहीं हैं, उनकी बुद्धि चंचल और बहुशाखावाली होती है।

जिनकी बुद्धि चंचल होती है, उनकी बुद्धि क्षणक्षणमें अन्यान्य विषयोंपर दौडती है और

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

अन्वयः-चरतां इंद्रियाणां हि यत् मनः अनुविधीयते, तत् अस्य प्रज्ञां हरति, वायुः अंभसि नावं इव ॥६७॥ तस्मात्, हे महाबाहो ! यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

विषयों में भटकनेवाली इन्द्रियोंके पीछे जो मन दौडता है, वह इसकी बुद्धिको वैसा खींच लेता है, जैसे वायु जलके अन्दर नाव को (खींचता है)॥६७॥ इस लिये, हे महाबाहु अर्जुन ! जिसकी सब इंद्रियाँ विषयोंसे सब प्रकार हटकर अपने वशमें होती हैं, उसकी बुद्धी स्थिर होती है ॥६८॥

क्योंकि सुखके लिये शान्त मनकी आवश्यकता रहती है। जिस मनुष्यका मन विषयोंके पीछे दौडनेवाली इंद्रियोंके साथ दौडता रहता है, उसका मन कभी शान्त नहीं हो सकता। अपार अशान्त महासागर में प्रचंड वायुवेगसे नौका जिधर चाहे उधर भटकती है, इस नौकाके यात्रियों की उस समय जो अवस्था होती है वैसीहि अवस्था विषयसमुद्रमें फंसे मनुष्यके मनकी होती है। इसलिये जिसके इंद्रिय विषयोंमें नहीं फंसते और पूर्णतया स्वाधीन रहते हैं, उसकी हि बुद्धि स्थिर होती है, उसीके मनमें श्रद्धाभक्ति निवास करती है और उसीका मन शान्त होता है। इसी मनुष्यको स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥६६—६८॥

किसी एकपर स्थिर नहीं होती। इस चंचलताके कारण मनुष्य बेचैन होते हैं। यह बेचैनीहि दुःखकी जननी है। चंचल मन किसीपरभी श्रद्धा विश्वास या भक्ति नहीं रख सकता। यदि रखेगा तो उसकी चञ्चलता हि नहीं रहेगी। चञ्चल मन अश्रद्ध, अविश्वासी और भक्तिभावहीन होता है। और श्रद्धाहीन मन चञ्चल हुआ करता है। दोनों दुर्गुण एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं।

यहां 'भावना' का अर्थ श्रद्धा, विश्वास अथवा भक्ति है। बहुत लोक परमेश्वर पर विश्वास रखते हैं, कई लोग अपने आत्मापर विश्वास रखते हैं, कईयोंका विश्वास कर्म पर होता है, कई धर्मवचनोंपर विश्वास करते हैं, कई लोग सत्पुरुषोंपर श्रद्धा रखते हैं। इस प्रकार श्रद्धा भक्ति और विश्वास वालों के भेद हैं। सब विश्वास के अंदर यह भाव है कि " जो धर्मका आचरण मैं यहां करता हूं, उससे मेरा कल्याण यहां होगा और परलोक में भी होगा।" इस प्रकार धर्मपर विश्वास होना भी एक बडी बात है। इनमें से कोई एक विश्वास हुआ, तो उसके साथ साथ अन्य विश्वास स्वयं आ जाते हैं। इस प्रकारकी श्रद्धा और भावना मनुष्य के मनको शान्ति देती है, वह विश्वाससे बडे कार्य करता है और अन्तमें माननीय होता है। अश्रद्ध और भक्तिभावनाहीन मनुष्य अपनी चञ्चल वृत्तिके कारण कदापि उच्च अवस्थाको प्राप्त नहीं हो सकते। ऐसे चञ्चल वृत्तीवाले अशान्त मनुष्यको सुख कहां से प्राप्त होगा?

पाठक अपने जानपहचानके क्रोधी और चञ्चल वृत्तीवाले लोगोंकी अवस्था यहां मनमें लावें। ऐसे लोगोंको किसी रीतिसे भी समाधान नहीं होगा। वे सदा अशांत, उदास, क्रोधी और

दुःखी होते हैं । भला अशान्त मनवालोंको सुख का लाभ कैसे होगा? क्यों कि अशांति का फल दुःख और शान्तिका फल हि सुख है ।

यहां स्मरण रहे कि जिस प्रकार चञ्चल मनुष्य कर्म करता है, उसी प्रकार शान्त और गंभीर मनुष्य भी कर्म करताही है । दोनों का दिन का सब समय किसी न किसी कार्य में चला जाता है । परंतु चञ्चल वृत्तीवाला मनुष्य सब कर्म अधूरे छोडता है, दिल लगाकर नहीं करता, एक को अधूरा छोडकर दूसरेको प्रारंभ करता है, करनेका कार्य श्रद्धा से नहीं करता, अतः सब में असफलता प्राप्त करता है और असफलता के कारण अत्यंत दुःखी होता है। परंतु शान्त गंभीर सश्रद्ध मनुष्य श्रद्धाभक्तिसे जो उद्योग करता है, दिल लगाकर करता है अतः हरएक कार्य में सफलता प्राप्त करता है। अतः सफलतासे उसका आनन्द मिलता है और किसी कार्य में सफलता न भी हुई तो भी उसका ईश्वर पर विश्वास होनेसे उसका मन शान्त रहता है और विफलता की अवस्था में भी वह मनकी शान्तिका अनुभव करता है । इसलिये हरएक अवस्थामें भावनायुक्त व्यवसायी उद्यमी मनुष्य श्रेष्ठ होता है ।

दोनों प्रकारके मनुष्य अपना सब समय किसी न किसी कर्म में खर्च करते हैं, परंतु चञ्चल वृत्तीवाला अश्रद्ध मनुष्य सदा दुःखका भागी बनता है और शान्तवृत्तीवाला सश्रद्ध मनुष्य सदा सुख का अनुभव लेता है । इससे "समत्व-रूप योग" का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है ।

चञ्चल वृत्तिवाले मनुष्यके मन को अशान्त अपार समुद्रमें प्रचण्ड वायुवेगसे जिधर उधर खींची जानेवाली नौका की उपमा दी गई है। अगाध महासागर में एक छोटीसी नौका वायुके महान वेगसे बही जाती है । पहिले तो महासागर में चारों ओर कोई आश्रय का स्थान नहीं होता, जहां जाकर नौका के यात्री विश्राम लेसकें। समुद्रका जल अगाध होनेसे पानीके नीचे जानेका नाम डूब मरना है, चारों ओर कोई स्थान न होनेसे उन यात्रियों को तो चारों दिशाएं भयानक ही प्रतीत होती हैं। ऊपर की दिशामें तो जाना अशक्य है, अतः वे किस दिशामें जांय और कहांसे आधार प्राप्त करें ? ऐसी अवस्थामें यदि प्रचण्ड झंझावात चल पडा, और महासागर उछलने लगा तो उनके सामने महामृत्युका करालरूप आ खडा होगा। वायुका वेग तो उस नौका को किस ओर ले जायगा इसका पता भी नहीं होता । किसीसमय ऐसा भी होना संभव है कि जिस ओर नौकाके यात्री जाना चाहते हैं, उसको विरुद्ध दिशाको हि वायुके वेगसे नौका जायगी, अथवा बीचमें हि जलमें डूब जायगी। हरएक अवस्थामें विना कर्ण-धारके नौकासे प्रवास करना बडा कष्टदायक है ।

इसीप्रकार विना धर्मरूपी कर्णधारके संसार-सागरमें चलाई हुई मानवी जीवनकी नौका विषयोंके झंझावात से डालमडोल होती हुई किस कष्टके पत्थर पर जाकर टूटेगी, इसका कोई पता नहीं है। यदि बीचमें हि टूटगई तो काम-क्रोधादि भयानक नक्र अपने करालमुख फैलाये हुए इन यात्रियोंको खाजाने के लिये बैठे ही हैं । चारों ओर भयानक दुःखका महासागर अपने भयानक रूपमें सब यात्रियों को हडप करनेके लिये तैयार हि है। मनुष्य अपने आपको ऐसी नौकाका यात्री समझेगा तो विषयाधीन इन्द्रियों से क्या विपत्ति होगी इसकी कल्पना उसको हो सकती है ।

इन्द्रियां अपने अपने विषयोंकी ओर मनको खींचती हैं । एक एक इन्द्रियका वेग वायुवेगसे कई गुणा अधिक है । इस विषय प्रवृत्तिरूपी वेगसे मन एक क्षणमें इस ओर खींचा जाता है और दूसरे क्षणमें दूसरी ओर खींचा जाता है । अनेक इन्द्रियोंके विविध विषयोंमें इसप्रकार खींचा गया मन एक स्थानमें स्थिर रह नहीं सकता। सदा

चंचल बना रहता है। ठीक ऊपर वर्णन की हुई नौका की स्थिति इसकी होती है। यही मनकी परवशता है और सब प्रकार की परवशता दुःख का हेतु है। जो मन इंद्रियाधीन होकर विषयोंके पीछे पडा है, वह पराधीन ही है। पराधीन (पर +आधीन) होने का अर्थ शत्रुके आधीन होना है। कौन शत्रुके वशमें होकर सुख भोगनेकी अभिलाषा कर सकता है। शत्रुके वशमें होनेवाले के लिये तो सदा दुःख प्राप्त होता है। इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मन को विषयोंके आधीन न करे और अपने हि आधीन रखे।

जिसके इंद्रिय (इंद्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि) विषयोंसे सब प्रकार निवृत्त होते हैं, उसी की (प्रज्ञा प्रतिष्ठिता) बुद्धि स्थिर,शान्त, गंभीर और प्रतिष्ठावाली होती है और इसी को सब सुख प्राप्त होते हैं।

इंद्रियोंको विषयोंमें स्वैर वृत्तीसे छोडनेसे अपनी शक्ति क्षीण होती है और इसो अशक्ततासे मनुष्यको दुःख भोगना पडता है। परंतु जो मनुष्य अपने इंद्रियों का संयम करता है और उनको विषयोंके जंगलमें भटकने नहीं देता,उसकी शक्ति उसके अंदर भरी रहती है। इसी अपनी निज शक्तिसे मनुष्य सुख लाभ करता है। शक्ति की क्षीणता दुःख है और शक्तिकी वृद्धि सुख है। जिस दिशामें जो अशक्तता होगी उस दिशा में उतनाहि दुःख होगा। यहां ध्यानमें रखना चाहिये कि यदि किसी को सुख होना है तो वह अपनी निज शक्तिसे हि होगा। दूसरेसे प्राप्त की शक्तिसे कदापि नहीं होगा। अतः यदि प्रत्येक मनुष्य सुखका अभिलाषी है तो प्रत्येक को अपने इंद्रियों को विषयोंसे निवृत्त करके अपने आधीन रखनेका अवश्य यत्न करना चाहिये। इस विषयमें उपनिषदोंमें एक उत्तम उपमा दी है वह यहां विचार करने योग्य है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥
इंद्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥५॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येंद्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥६॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥७॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥८॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्९

कठ उप० अ० १ व० ३

"आत्मा रथमें बैठनेवाला है, शरीर उसका रथ है,बुद्धि सारथी है और मन लगाम है। इन्द्रियरूपी घोडे इस रथको जोते हैं जो अपने अपने विषयोंमें जानेकी वृत्ती रखते हैं। आत्मा, इंद्रिय और मन मिलकर जो होता है, उसको ज्ञानी लोग भोक्ता कहते हैं। जो मनुष्य ज्ञानहीन होता है, और जो अपने मनको योगसे शान्त नहीं करता, उस के ये इंद्रिय स्वाधीन नहीं होते। उसकी स्थिति वैसी भयानक होती है जैसी अशिक्षित घोडोंवाले रथमें बैठे किसी सारथी की होती है। परंतु जो ज्ञानी है और जो योग-द्वारा अपने मनका संयम करता है, उसके इंद्रिय उसके आधीन होते हैं, और इसको वैसा सुख प्राप्त होता है जैसा उत्तम शिक्षित घोडोंवाले रथ में बैठे मनुष्यको होता है। जो मनुष्य स्वयं ज्ञानहीन, मन को स्वाधीन न रखनेवाला और अपवित्र होता है वह उस उच्च स्थानको कदापि प्राप्त नहीं कर सकता, वह गिरता हि जाता है। परंतु जो ज्ञानी, मनको स्वाधीन रखता है और पवित्र रहता है वह उस स्थानको प्राप्त करता है, जहां से वारंवार गिरना नहीं होता है। जिसका सारथी ज्ञानसे संस्कृत हुआ है, जिसके मन रूपी

(२३) मुनिकी जाग्रति और निद्रा ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

अन्वयः— या सर्वभूतानां निशा, तस्यां संयमी जागर्ति । यस्यां भूतानि जाग्रति, सा पश्यतः मुनेः निशा॥६९

जो सब भूतोंकी रात्री होती है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है और जिस अवस्थामें सब प्राणिमात्र जागते हैं, वह आंखें खोल कर देखनेवाले मुनिकी रात्री होती है ॥ ६९ ॥

भावार्थ— साधारण लोग और संयमी स्थितप्रज्ञ ज्ञानी इन दोनोंके व्यवहार दिन और रात्रीके समान परस्पर भिन्न होते हैं । साधारण लोग जिसको ज्ञान मानते हैं वह ज्ञानीयोंकी दृष्टीसे अज्ञान होता है और साधारण लोग जिसके विषयमें अज्ञान रखते हैं वह विषय ज्ञानियोंको सुस्पष्ट होता है ॥ ६९ ॥

लगाम स्वाधीन हैं, वही मार्गके पार हो जाता है और भगवान् का परमपद अर्थात् श्रेष्ठ आनंद का स्थान प्राप्त करता है।"

ये उपनिषद्वचन अत्यंत स्पष्ट हैं, अतः इनकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवद्गीतामें नौकाके उदाहरणसे जो बात बताई है वही बात इन उपनिषद्वचनोंमें रथ के दृष्टान्तसे बताई है । पाठक यहां स्वयं विचार करके जान सकते हैं कि जिस रथके घोडे शिक्षित नहीं हैं, और जो सारथी की इच्छानुसार नहीं चलते, जो मार्ग छोडकर जिधर चाहे उधर दौडते हैं, उस रथमें बैठे रथी की जो अवस्था होगी वही अवस्था स्वैरसंचारी इंद्रियोंवाले मनुष्यकी होगी । वह किस गढेमें पडेगा, इसका किसी को भी पता नहीं होगा ।

जो वीर शिक्षित घोडोंवाले रथमें बैठा होता है, जिसके घोडे ठीक मार्गसे केवल इशारे मात्रसे जाते हैं, उसको जैसा सुख होता है और जिस प्रकार वह विना आयास अपने स्थान को सुखसे प्राप्त होता है, ठीक उसी तरह संयम से इंद्रियों को स्वाधीन रखने वाला मनुष्य सुखपूर्वक श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त कर सकता है ।

पाठक यहां श्रीमद्भगवद्गीता के वचनोंकी तुलना पूर्वोक्त उपनिषद्वचनों के साथ करेंगे, तो वे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। अब आगे संयमी और असंयमी मनुष्य का भेद स्पष्ट करते हैं—

(६९) सर्व साधारण जनता का आचरण कैसा होता है और विचारवान ज्ञानी लोगोंका कैसा दिव्य आचरण होता है, यह इस लोकमें बताया है। दिन और रात्री के समान इन दोनोंके आचरणों में भेद होता है । उदाहरण के लिये "भोगी" और "त्यागी" लोगोंके जीवन देखिये। भोगी लोग तो अपने भोग बढानेके लिये अन्य लोगों पर मन माने अत्याचार करते रहते हैं, दूसरोंका खून चूस कर अपना पेट भरना अपना कर्तव्य मानते हैं और अपनी चैन के लिये दूसरों के गलोंपर छुरी चलाते ही हैं। परंतु जो त्यागी लोग होते हैं वे सब लोगोंका भला करनेके लिये अपने प्राणोंतक न्यौछावर करने को तयार होते हैं, जनताकी भलाई के लिये अपना समर्पण करते हैं, इतनाही नहीं, परंतु जनसमाज के हितके कर्तव्य करनेके समयमें यदि अपना जीवन चलागया तो भी वे अपने आपको कृतकार्य

समझते हैं। देखिये, दोनोंके दृष्टिकोन में कितना भेद है।

सामान्यतः देखा जाय तो भी साधारण लोग नाचरंग, नाटक, खेलकूद आदिमें व्यर्थ समय बिताते हुए रात्री में दिन के समान जागते हैं, और कर्म करनेके लिये बनाये दिनमें रात्रीके जागरण के कष्ट दूर करनेके लिये सोते हैं। इस प्रकार इनके लिये रात्रीका दिन होता है और दिनकी रात्री बनती है। अतः ये भोगी रोगी होकर अकालमें हि मृत्यु के अतिथि बनते हैं। परंतु संयमी योगी पुरुषार्थी धार्मिक सज्जन दिनके समय विविध पुरुषार्थ करते हैं और यश कमाते हैं तथा रात्रीके समय योग्य निद्रा का सुख लेकर आरोग्य कमाते हैं और दीर्घायु तथा बलवान होते हैं।

कई योगी लोग उत्तर रात्रीमें जिस समय सामान्य लोग सोते रहते हैं, उस समय उठकर परमेश्वर का ध्यान करते हैं और उससे अतुल शान्ति प्राप्त करते हैं। अर्थात् जिस अध्यात्म के विषयमें सब लोग अज्ञान रखते हैं, उसीके विषयमें तत्त्व ज्ञानी मनुष्य उत्तम ज्ञान प्राप्त करते हैं। और इन ज्ञानी मुनि-जनोंको विषय भोगोंके संबंधमें ऐसा अज्ञान रहता है कि जैसा विषयी लोगों को परमार्थ के विषयमें अज्ञान होता है।

साधारण लोग विदेशी वस्त्र तथा अन्यान्य विदेशी पदार्थ लेकर अपने पडोसी कारीगरोंको बेकार बनाकर उनको भूखे मारनेके लिये सिद्ध होते हैं;इसी प्रकार विदेशी वस्त्रादिका व्यापार व्यवहार करते हुए अपनेहि देशवासियोंके खूनसे भरे धनसे धनी बनना चाहते हैं। परंतु जो संय-मी और ज्ञानी होते हैं वे स्वदेशी व्रतका आचरण करते हुए, स्वेच्छासे स्वयं स्वीकृत दारिद्र्यमें रहते हुए अपने लोगोंको आर्थिक कष्टोंसे बचाने का उद्योग करते हैं, इस कारण इनका सन्मान बढता है। अर्थात् इनके दारिद्र्यमें देशकी सधन-ता है और पूर्वोक्त व्यौपारियों की धनिकता में देशका परम दारिद्र्य है। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्रमें दोनों दृष्टिकोन एक दूसरेसे भिन्न होते हैं।

संयमी मनुष्य अपने संपूर्ण इंद्रियोंको स्वाधीन रखता है, किसी इंद्रियको विषयोंमें भटकने नहीं देता, इस कार्यके लिये नियमपालन, व्रताचरण और आत्मदण्डन करता रहता है और विषय-सेवन को न्यून करनेसे अपने आपको धन्य मानता है और सचमुच धन्य होता है। परंतु विषयी मनुष्य अपने संपूर्ण इंद्रियोंको स्वैरगतिसे छोडता है, हरएक इंद्रिय को यथेच्छ भोगों में फंसाना अपना कर्तव्य समझता है, न किसी नि-यमका पालन करता है और न अपने आपको स्वाधीन रखने का यत्न करता है, विषयोंके भोगों को बढानेका यत्न करता है अतः विविध रोगोंसे ग्रस्त होकर ऐसा दुःखी बनता है कि अन्तमें बडी विपत्तीमें पडनेपर भी संयमके मार्गपर नहीं आता। इस प्रकार ये दोनों परस्पर विभिन्न मार्ग प्रकाश और अन्धकारके समान विभिन्न हैं।

एक 'जगत् की सेवा करनेके लिये मैं हूं' ऐसा मानता है और दूसरा मेरी सेवा करनेके लिये जगत् निर्माण हुआ है ऐसा समझता है। एक अपने आपको परमेश्वरका सेवक मानता है, तो दूसरा परमेश्वरको भी नहीं मानता है!! इस प्रकार सामान्य मनुष्य और संयमी मुनिका दृष्टि-कोन परस्पर भिन्न होता है।

सामान्य मनुष्य अपने कुटुंबियोंकी भलाईके लिये अपने कर्तव्यकर्मसे विमुख होता है, जैसा कि अर्जुन अपने संबंधियोंके मोहसे अपने कर्तव्य रूप युद्धसे विमुख हुआ था। परंतु उसी समय जो संयमी विचारी और ज्ञानी होता है, वह अपने कुटुंबियों की सुरक्षितता की दृष्टीसे कदापि कर्तव्यभ्रष्ट नहीं होता। यहां अर्जुन सामान्य जनोंकी भूमिका दर्शाता है। अपने सगे संबंधी मारे जायंगे केवल इसी कारण स्वकर्तव्य रूप युद्ध से परावृत्त हो रहा है। इसी युद्धभूमिमें

(२४) ब्राह्मीस्थिति।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

अन्वयः - आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं समुद्रं यद्वत् आपः प्रविशन्ति, तद्वत् यं सर्वे कामाः प्रविशन्ति, सः शान्तिं आप्नोति; कामकामी न ॥७०॥ यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय, निःस्पृहः निर्ममः निरहंकारः (भूत्वा) चरति, सः शान्तिं अधिगच्छति ॥ ७१॥

चारों ओर से पानी भर जानेपर भी अचल रहनेवाले समुद्र में जिस प्रकार सब नदियां चलीं जातीं हैं, उसी प्रकार जिस में सब विषय प्रवेश करते हैं, उसे ही सची शान्ति मिलती है ॥७०॥ जो पुरुष सब कामनाओंको छोडकर, निस्पृह, ममत्वरहित और अहंकाररहित हो कर व्यवहार करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥

भावार्थ— चारों ओरसे नदी नाले समुद्रमें जा रहे हैं, इतना जल भरजानेपर भी समुद्र गंभीर रहता है और अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता; इसी प्रकार जो मनुष्य विषयभोग भोगता हुआ भी अपनी धर्म-मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता उसीको शान्ति प्राप्त होती है ॥७०॥ जो मनुष्य अपनी मनोगत स्वार्थ की कामनाओंको छोडता है, निरिच्छ होकर 'मैं और मेरा' इस मोहजालमें नहीं फंसता, घमंड छोडता है, संबंधियोंके मोहको दूर करता है और इस असंगवृत्तीसे जगत् के सब व्यवहार करता है, उसको ही शान्ति मिलती है ॥७१॥

भगवान् श्रीकृष्ण संयमी स्थितप्रज्ञकी भूमिका दर्शाते हैं, इस लिये वे संबंधी और इष्ट मित्र मरते हैं या जीते रहते हैं, इसका विचार न करते हुए अपना जो कर्तव्य है, उस की पूर्तता करनेकी पराकाष्ठा करते हैं। कौरवोंके पक्षमें इन दोनोंके संबंधी और इष्टमित्र तो थेहि। परंतु मनके संकोच के कारण अर्जुन मोहित हो गया, और भगवान् श्रीकृष्ण कर्तव्यको जाग्रत रहकर करते रहे। इसी प्रकार जो कर्तव्य करेंगे और मोहित नहिं होंगे वे धन्य बनेंगे और जो लोभमोहमें फंसेंगे वे हीन होते जांयगे। अर्थात् जो अपने आपको भोगोंसे भरपूर करना चाहते हैं वे अन्दर ही अंदर से खोकले होते जाते हैं, और जो त्यागसे आत्मशुद्धी के मार्ग से जाते हैं वे अपने आपको अन्दर से बलवान होनेका अनुभव करते हैं। इस प्रकार इन दोनोंका अनुभव परस्पर भिन्न होता है। भोगों को अन्दर भरनेसे खाली होनेका अनुभव और विषयोंको अन्दरसे हटानेसे परिपूर्ण होनेका अनुभव आता है। यह एक विरोधानुभव का विलक्षण उदाहरण है। इससे हि स्थितप्रज्ञ मुनि और सामान्य मनुष्यकी अवस्था का ज्ञान हो सकता है।

आगे ब्राह्मी स्थिति का उत्तम वर्णन है वह अब देखिये—

(७०-७२) मनुष्यको जो उत्तमसे उत्तम अवस्था प्राप्त करनी है वह ब्राह्मी स्थिति है, इस

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अन्वयः— हे पार्थ ! एषा ब्राह्मी स्थितिः, एनां प्राप्य न मुह्यति, अन्तकाले अपि अस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ऋच्छति ॥७२ ॥

हे अर्जुन! यही ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर कोई मोहित नहीं होता है। अन्तकालमें भी इस स्थितिमें रहकर ब्रह्मनिर्वाण को पाता है ॥७२॥

भावार्थ— हे अर्जुन ! ब्रह्मप्राप्त हुए, ब्रह्मरूप बने मनुष्यका यह चालचालन है, एकवार यह स्थिति प्राप्त हुई तो उसको कदापि मोह नहीं होता है। यदि किसीको यह स्थिति मरने के अन्त समयमें भी प्राप्त हुई, तो भी उसको ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मोक्ष मिलता है ॥ ७२ ॥

ब्राह्मी स्थिति का स्वरूप इन श्लोकोंमें वर्णन किया है, इस का अब विचार करेंगे—

समुद्रकी उपमा ।

ब्राह्मी स्थिति समुद्रके समान है। समुद्रमें गंभीरता है, गहराई है, शान्ति है, इसके साथ साथ पूर्णता भी है। पूर्णता उसको कहते हैं कि जिसमें न्यूनता और अधिकता नहीं होती। समुद्रभी इसी प्रकार पूर्ण है, क्योंकि उसमें प्रतिदिन अनंत नदियां मिलती हैं तथापि वह अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता, तथा सूर्य के आतपसे उसकी भांप होकर ऊपर जाती है, तथापि वह न्यून नहीं होता। जिसमें से व्यय होनेसे न्यूनता न हो और जिसमें भरनेसे अधिकता न हो, वह पूर्ण है। इस पूर्णताका ज्ञान उपमासे देनेके लिये समुद्र की उपमा सर्वोत्कृष्ट है।

ब्रह्म भी इसी प्रकार पूर्ण है। इस ब्रह्म की शक्ति जगत् की उत्पत्ति के कार्य में लगती है, तथापि जगत् उत्पन्न होनेसे उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं होती। इसी प्रकार जगत् की वृद्धि और क्षय होनेसे उस की शक्तिमें घटवध कुछ भी नहीं होता। अतः कहते हैं कि ब्रह्म पूर्ण है। ब्रह्म में गंभीरता, गहराई और शान्ति है। यह गंभीरता, गहराई और शान्ति उसको प्राप्त होती है कि जिसको ब्रह्मप्राप्ति होती है, अथवा जिसकी ब्राह्मी स्थिति होती है। इस स्थिति की तुलना पूर्वोक्त प्रकार समुद्र के साथ की जाती है।

समुद्रमें जिस प्रकार नदियोंका पानी पहुंचने पर भी समुद्र अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता, उसी प्रकार जगत् के अनंत भोग प्राप्त होनेपर भी जो पुरुष अपनी धर्ममर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, उस की स्थिति समुद्रवत् गंभीर होती है। और वही मनुष्य ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हुआ है ऐसा कहा जाता है। इतना बडा विस्तीर्ण जगत् बनने और बिगडनेपर भी जिस प्रकार ब्रह्ममें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती, उसी प्रकार जगत् का सुखदुःख प्राप्त होनेपर भी जिसमें थोडीसी भी चंचलता नहीं होती, उसकी ब्राह्मी स्थिति होती है। साधारण मनुष्य तो थोडेसे सुख प्राप्त होनेपर घमंड करता है और थोडासा दुःख हुआ तो आत्महत्या करनेको तैयार होता है!! मनुष्यकी हीन स्थितिका यही लक्षण है। जो सुख दुःखों की लहरियोंसे इधर उधर दोलायमान होते हैं और अपने स्थानपर

स्थिर नहीं रह सकते वे हीन हैं, परंतु जो उक्त वेगोंको सहन करके अपनी मर्यादा के अन्दर रहते हैं, वे धीर गंभीर कहलाते हैं। इनको 'पूर्ण पुरुष' कहते हैं।

शरीर सुंदर और बलवान रहा, नीरोग रहा, धन प्राप्त हुआ, उत्तम परिवार रहा, गृहसौख्य बढ गया, लोगों से मान्यता और आदर मिलने लगा, अधिकार हाथमें आगया, लोगोंका भला-बुरा करनेका साधन हाथमें हुआ; तो मनुष्य घमंडी बनता है, उछलने लगता है, दूसरों की पर्वाह नहीं करता, अन्याय भी करता है और दूसरोंको कष्ट देता है। इससे पता लगता है कि वह मनुष्य अभी उच्च कोटीमें नहीं पहुंचा है। जो उच्च कोटीमें पहुंचा होता है, वह उक्त साधन और सुख प्राप्त होनेपर भी धर्ममर्यादा का कभी उलंघन नहीं करता और जितना अधिकार अधिक मिलता है, उतना वह अधिक परोपकार करता जाता है और उतनी अधिक आत्मशुद्धि करता है। पाठक यहां इन दोनों उच्च और नीच मनुष्यों की अवस्थाका विचार करें और जानें कि, इस मंत्रमें समुद्रकी उपमा देकर भगद्गीताने कौनसा उपदेश दिया है और उसका ग्रहण मनुष्योंने किस प्रकार करना चाहिये।

भोगप्राप्ति।

इस श्लोकमें (सर्वे कामाः यं प्रविशन्ति) जिस में सब कामोपभोग स्वयं प्रविष्ट होते हैं (सः शान्ति आप्नोति) वह शान्ति प्राप्त करता है, ऐसा कहा है। सब कामोपभोग एक साथ स्वयं प्रवेश करते हैं, इसका अर्थ यह ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुआ मनुष्य सब कामोंको एकहि समयमें प्राप्त करता हुआ भी नहीं चञ्चल होता ऐसा है।

साधारण मनुष्य एक समयमें एकहि भोग प्राप्त कर सकता है, क्यों कि इसका मन जिस समय एक इंद्रियके साथ संलग्न होता है, उस समय दूसरा विषय ग्रहण करनेमें असमर्थ होता है। परंतु ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुआ मनुष्य एक समयमें सब भोग प्राप्त कर सकता है, इसका कारण यह है कि यह भोगोंके पास नहीं जाता, परंतु इसके अन्दर (सर्वे कामाः प्रविशन्ति) संपूर्ण काम स्वयं घुसते हैं। जिस प्रकार समुद्र नदियोंके पास नहीं जाता, परंतु नदियां स्वयं समुद्रमें घुसती हैं, यहां समुद्रप्राप्ति यह नदियों का ध्येय है। इसीप्रकार आप्तकाम पुरुषमें प्रविष्ट होकर कृतार्थ होना यह भोगोंका ध्येय बनता है, विना मांगे सब भोग इसमें एकहिसमय घुसते हैं, अर्थात् इसको अनायास प्राप्त होते हैं। जब यह भोगोंका इच्छुक होता था, तब यह एक समय एक एक भोगको प्राप्त होता था, परंतु जिस समय यह भोगोंके विषयमें निस्पृह हुआ, तब सब भोग उसकी प्राप्तिकी इच्छा करने लगे और इसी कारण स्वयं इसके पास उपस्थित होने लगे, अतः एक समय में विना आयास इसके पास सब भोग उपस्थित होने लगे।

कामकामी और आत्मकामी।

इस श्लोकमें दो प्रकारके मनुष्योंका वर्णन है, एक मनुष्य (कामकामी) कामोपभोग प्राप्त करनेका इच्छुक है, अतएव अपने आपको अपूर्ण समझता है, अतः अपनी पूर्णता करनेकी इच्छासे भोगोंको प्राप्त करनेका यत्न करता है, इसीको (पूर्यमाण) बाहरसे भोग लाकर पूर्णता किया जानेवाला कहते हैं, भोगप्राप्तिके लिये इसको इधर उधर भटकना पडता है इसलिये इसमें (चल) चञ्चलता रहना स्वाभाविक है। इसी चञ्चलता के कारण इसकी अप्रतिष्ठा भी होती है। साथ ही साथ जो 'आप्तकाम' होता है वह (आपूर्यमाण) भरा जानेपर भी वैसाहि पूर्ण जैसा भरनेके पूर्व पूर्ण था, (अचल) स्थिर क्योंकि वह सदा तृप्त होनेसे भोगोंकी ओर जानेकी इसको आवश्यकता नहीं होती, अपने स्थानमें स्थिर रहनेके कारण (अचलप्रतिष्ठ) जिसकी प्रतिष्ठा स्थिर होती है। जो द्वारोदार मांगता फिरता है उसको

प्रतिष्ठा कैसी प्राप्त होगी? जो अपने घरमें रहता है और जिसको मांगनेकी आवश्यकता नहीं है उसकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार आप्तकामी और कामकामी की स्थिति विचार करके जानने योग्य है, देखिये—

आप्तकामी	कामकामी
आत्मकामी	भोगकामी, विषयी
अकाम, निष्काम	सकाम
पूर्ण	अपूर्ण
स्थिर, अचल	चञ्चल, अस्थिर
प्रतिष्ठावान्	अप्रतिष्ठ
परिपूर्ण	पूर्यमाण
इसके पास भोगोंका आना.	इसका भोगोंके पास जाना.
ब्राह्मी स्थिति	संसारस्थिति
शान्त	अशान्त
तृप्त	अतृप्त

इस रीतिसे विचार करनेपर 'आप्तकामी' और 'कामकामी' की स्थिति जानी जा सकती है। हरएक मनुष्यको दुःख बढानेवाली कामकामी की स्थितिसे दूर होकर आत्मकामी की शान्त स्थिति प्राप्त करनी चाहिये। हरएक मनुष्य इसी मार्ग में है। यहां अब विचार करना है कि आत्मकाम मनुष्यको एकहि समय सब भोग स्वयं कैसे प्राप्त होते हैं? और कामकामी को एक समय एकहि भोग क्यों प्राप्त होता है, देखिये इस का विचार इस प्रकार है—

साधारण मनुष्य अपने अन्दर किसी विषय की न्यूनता अनुभव करता है और उसकी पूर्णता करनेकी इच्छासे किसी विषय को प्राप्त करना चाहता है। जैसा तृषित मनुष्य अपने अंदर जल की न्यूनता का अनुभव करता और जल प्राप्तिका यत्न करता है। इसी प्रकार अन्यान्य भोगोंके विषय में समझना चाहिये। न्यूनता के अनुभव से दुःख और पूर्णता के अनुभव से सुख है। अब देखिये जो मनुष्य सदा तृप्त है वह अपने अन्दर सब प्रकारकी पूर्णताका अनुभव करता है, अतः वह किसी बाह्य विषयको नहीं चाहता, मानो सब विषय और सब काम उसको प्रतिक्षण प्राप्त हैं, कोई विषय उसको कभी अप्राप्त नहीं। जिसके घरमें सब आवश्यक पदार्थ भरपूर हों, उसको किस बातकी चिन्ता होगी? वह तो सदा तृप्त हि रहेगा। इसी प्रकार आप्तकाम सदा सुखी रहता है और उसकी इच्छामात्रसे सब भोग जो उसीमें उपस्थित रहते हैं मिलत हैं। सब काम सदा प्राप्त होनेके समान रहनेका नाम हि आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम आदि है। पाठक यहां कल्पना करें कि यदि किसीको अन्दर हि अन्दर सब कामनाओंके भोग स्वयं प्राप्त होते हों, और उनके लिये किसी बाह्य प्रयत्न की आवश्यकता न होती हो, तो उसको अशान्त और चञ्चल होनेका कारणही क्या होगा? वह तो सदा शान्त, गंभीर, अचल, स्थिर, प्रतिष्ठायुक्त और सदा तृप्त जैसा होगा। यही बात इस श्लोकमें कही है। समुद्रमें नदियोंके प्रविष्ट होनेके समान जिसमें विविध कामनाभोग स्वयं प्रविष्ट होते हैं वही शान्तिका अनुभव करता है; यह शान्ति कामभोगोंके पीछे पडे हुए मनुष्यको कदापि प्राप्त नहीं हो सकती।

इस प्रकार 'कामकामी' और 'आत्मकामी' मनुष्यके व्यवहार में महत् अन्तर है, दोनोंका जीवन भिन्न होता है। मनुष्यको 'कामकामी' बनना नहीं चाहिये और 'आत्मकामी' बनना चाहिये। मनुष्य आत्मकामी कैसा बने, इसका उपाय अगले श्लोकमें कहा है—

कामना-त्याग ।

जो मनुष्य (कामान् विहाय) सब कामनाओं को छोडता है, सब स्वार्थके भाव दूर करता है अर्थात् (निस्पृहः) निरिच्छ होता है, निष्काम बनता है, अकाम होता है तथा (निर्ममः) 'मैं और मेरा' यह भावना छोडता है, यह मेरा है अतः इसको मैं पास करूंगा और यह पराया है

अतः इसको दूर करूंगा ऐसा नहीं कहता, परंतु सबके साथ सम भावनासे वर्ताव करता है और (निरहंकारः) अहंकार अथवा घमंड कभी नहीं करता उसको शान्ति मिलती है। अर्थात् शान्ति प्राप्त करनेके लिये सब कामनाओंका त्याग करना चाहिये, यह पहिला अनुष्ठान है। जब तक मनके अन्दर कामना रहेगी, तब तक शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। यह तो स्पष्ट हि है कि कामना उत्पन्न होतेहि मनुष्य उस कामनाके पीछे पीछे दौडता है और इस दौडनेके कारण अशान्त रहता है। मनुष्यको अशान्त करनेवालीये विविध कामनाएँ हैं। प्रत्येक इंद्रियका एक एक विषय होता है और मनुष्य प्रत्येक इंद्रियकी तुष्टिके लिये एक एक विषयकी कामना करता रहता है। हरएक कामनाके कारण यही विभिन्न विषयोंके क्षेत्रोंमें खींचा जाता है। क्षणमें इस विषय-क्षेत्रमें, दूसरे क्षणमें दूसरे विषयक्षेत्रमें भ्रमण करना इसको आवश्यक होता है। और इसी भ्रमणसे उसको अशान्त होना पडता है। अर्थात् यदि अशान्तिको दूर करके शान्तिकी प्राप्ति करना है तो पहिले इन विषयों की कामनाओं को छोडना चाहिये।

अकामका कर्म।

यहां कई लोग शंका उठायेंगे कि यदि सब कामनाओंका त्याग मनुष्यने किया, तो उसकी हलचल हि बंद होगी, फिर मनुष्यके इस लोकमें जन्म लेनेसे क्या लाभ हो सकता है? यह शंका ठीक है,परंतु भगवद्गीताके उपदेशानुसार कामनाओंका त्याग करनेसे मनुष्य पत्थर जैसा स्तब्ध नहीं बनता, यह दर्शानेके लियेहि इस श्लोकमें (निस्पृहः चरति) 'निष्काम होकर व्यवहार करता है' ऐसा कहा है। इसका स्पष्ट भाव यह है कि सब कामनाओंका त्याग करनेपर भी मनुष्य कुछ विशेष रीतिसे (चरति) आचार व्यवहार करताहि है। वह पत्थर जैसा नहीं बनता। सामान्य मनुष्य ऐसा मानते हैं कि कामना छोडनेपर मनुष्य कर्म करने में असमर्थ होगा, परंतु यह ख्याल अशुद्ध है। कामनाओंका (विहाय) त्याग करनेपर हि मनुष्य विशेष कर्म करनेमें समर्थ होता है। कामनाओंके जालमें बंधा हुआ मनुष्य हि विशाल शुभकर्म करनेमें असमर्थ होता है। कामनाओंके बंधनमें फंसा मनुष्य अपनी सुखवृद्धि करनेका यत्न करेगा, इससे विस्तृत कर्म इससे नहीं हो सकते। परंतु स्वार्थकी कामनाओंका त्याग करनेवाला परमार्थके विशाल कार्यक्षेत्र में कार्य करेगा, यही भाव दर्शाने के लिये इस श्लोकमें 'चरति' पद है। 'चरति' का अर्थ व्यवहार करता है। 'निस्पृहः चरति' निस्पृह अथवा निरिच्छ बना हुआ मनुष्य व्यवहार करता है, ऐसा जो इस श्लोकमें कहा है। वह पूर्वोक्त कुशंकाको दूर करनेके हेतुसेहि कहा है। निष्काम बनकर जो व्यवहार होते हैं वे अधिक शुद्ध होते हैं और अधिक उच्च होते हैं, अतः इनका महत्त्व विशेष है।

अहंकार और ममत्व।

'निस्पृह, निर्मम और निरहंकार' ये तीन शब्द एक दूसरे के साथ संबंधित हैं। अहंकार से ममत्व होता है और ममत्व के कारण स्पृहा अर्थात् इच्छा होती है। यदि किसी के मनसे अहंकार हटगया तो उसके मनसे ममत्व भी हट जायगा और ममत्व के दूर होनेसे स्वयं हि कामनाओंका त्याग भी होगा।

'अहंकार' का अर्थ है 'मैं-पन'। जगत्में मैं हूं, मैं इस जगत का भोग लूंगा, मैं इसमें विजयी हूंगा, मैं ऐसा करूंगा और वैसा करूंगा, यह सब 'मैं-पन' का खेल है। यदि 'मैं-पन' हट गया तो 'मैं' से उत्पन्न होनेवाला 'मेरा-पन' कैसा रहेगा? 'ममत्व' का अर्थ है 'मेरा-पन'। 'मैंपन' के साथहि 'मेरा-पन' संबंधित है। एक के चले जानेसे दूसरा भी दूर होता है। पाठक यहां ऐसे मनुष्यकी कल्पना करें कि जिसके मन से यह (अहंकार) मैं-पन और (ममत्व) मेरापन पूर्णतासे हटगया है, ऐसे मनुष्यके अंदर

कोई कामना उत्पन्नहि नहीं होती। क्यों कि कामना उत्पन्न होनेके लिये अहंकार की अत्यंत आवश्यकता रहती है । इस विचार से पाठकोंके अन्दर यह बात आगयी होगी, कि अहंकारके नाशसे ममत्व का नाश होगा और ममत्व के नाशसे कामनाका नाश होगा। इस प्रकार निष्काम होकर मनुष्य किस प्रकारके कर्म कर सकेगा, इसका विचार अब करना चाहिये।

स्वार्थ और परमार्थ ।

यहां स्वार्थ और परमार्थ का भेद ध्यानमें लाना योग्य है । स्वार्थी मनुष्य अपने हितकी कामना करता है और अपने सुख के लिये दूसरों का नाश भी करना आवश्यक हो तो भी कर लेता है । इसी प्रकार परमार्थी मनुष्य "परम—अर्थ" अर्थात् सबसे श्रेष्ठ हेतुसे प्रेरित होता है । परमार्थी मनुष्यके सन्मुख सब जनता की भलाईका प्रश्न होता है, सत्य, अहिंसा आदि श्रेष्ठतत्वोंका ध्येय उसके सन्मुख होता है। यह सब जनताकी भलाईके लिये आवश्यक हुआ तो आत्मसमर्पण करता है । यह स्वार्थी और परमार्थी मनुष्य के अंदर का भेद है। स्वार्थी मनुष्य अपने सुख बढानेके लिये दूसरोंका बलि लेता है और परमार्थी मनुष्य जनताके सुख बढानेके लिये अपना बलि अर्पण करनेको तैयार होता है। दोनोंके व्यवहारोंमें यह भेद होता है। स्वार्थी मनुष्यको सकाम कहते हैं और परमार्थी मनुष्य को निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम किंवा अकाम कहते हैं, (यह बात इसी अध्यायके श्लोक ५५-५८ की व्याख्या के प्रसंगमें स्पष्ट कर दिखाई है।) स्वार्थी मनुष्य अपनी सेवा करता है और परमार्थी मनुष्य ईश्वरकी सेवा करता है। स्वार्थ छोटा है और परमार्थ बडा विस्तृत है । अतः निष्काम मनुष्य छोटे अर्थको छोडकर विस्तृत अर्थ की सिद्धिमें दत्तचित्त होता है । इसी कारण निष्काम कर्मका महत्त्व बडा भारी होता है ।

संकुचित वायुमंडलमें मनुष्यको आनन्द नहीं होता, जब वह विस्तृत वायुमंडलमें जाता है तब वह आनन्दका भागी बनता है। पर्वतकी चोटीपर चढा मनुष्य खुले विस्तृत वायुमंडलमें पहुंचनेके कारण आनंदित होता है, परंतु पर्वत को पाद-स्थलिमें पडा मनुष्य संकुचित वायुमंडलमें पडने के कारण दुःखी होता है। यही बात स्वार्थके कार्य में है । यह बात कई वार इससे पूर्व बतायी है कि स्वार्थके कारण जगत् में अशान्ति, द्वेष और युद्ध होते हैं और परमार्थ के कारण शान्ति, मित्रता और प्रेम बढता है। अशान्ति द्वेष और युद्धसे शक्तिकी क्षीणता होती है और शान्ति मित्रता और प्रेम के कारण शक्तिकी वृद्धि होती है । प्रेममें और मित्रतामें जो शक्ति है वह किसी अन्यभावना में नहीं है। यद्यपि मनुष्य लडता और झगडता है तथापि वह सचमुच प्रेमका प्यासा है। यदि उसको प्रेमका अमृत मिलनेकी आशा न होगी, तो वह कदापि जीवित भी नहीं रहेगा । कोई प्राणी अशान्ति के लिये जीवित नहीं रहते। शान्तिकी आशासेहि सब जीवित रहते हैं । यह शान्ति परमार्थ साधनसेहि मिलेगी, कभी स्वार्थ के भावसे नहीं मिलेगी। इसीलिये इस श्लोकमें कहा है कि, "स्वार्थको सब कामनाओंका तथा अहंकार, ममत्व और भोगेच्छाओंका त्याग करके परमार्थ के विस्तृत कार्यक्षेत्रमें निष्काम भावसे कर्म करो, ऐसा करनेसेहि शान्ति प्राप्त होगी।" दूसरा कोई मार्ग शान्तिके लिये नहीं है ।

यः कामान् विहाय निस्पृहः चरति स शान्तिं अधिगच्छति ॥७१॥

आत्मवश्यैः इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादं अधिगच्छति ॥६४॥

इसी अध्याय के ये दोनों श्लोक समान भाव बताते हैं । पहिले में कहा है कि "कामना छोडकर व्यवहार करनेवाला शान्तिको प्राप्त करता है" और दूसरेमें कहा है "अपने स्वाधीन रहनेवाले इंद्रियोंसे विषयोंमें विचरता हुआ प्रसन्नता

प्राप्त करता है।" इन दोनों श्लोकोंका भाव तात्पर्य दृष्टीसे समानहि है। कामना का त्याग करने और अपने आधीन इंद्रियोंको रखने का मूल उद्देश्य एक हि है। अर्थात् कामना का अर्थ इंद्रियोंको विषयाधीन करना है। जिसके इंद्रिय स्वाधीन हैं वह सुखी और जिसके इंद्रिय स्वेच्छाचारी हैं वह दुखी होता है। इंद्रियों को स्वैर रखनेवाले को कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार कामनाओंका त्याग करने और निःस्पृहवृत्तिसे व्यवहार करनेसे मनुष्य ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त कर सकता है। ब्राह्मी स्थितिका अर्थ स्थितप्रज्ञ की ज्ञानपूर्ण अवस्था है। इसी अध्यायमें स्थितप्रज्ञका वर्णन (श्लोक ५५ श्लोकसे) चल रहा है। इस श्लोकमें—

सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति (श्लोक५५)

"सब मनोगत कामनाओंका त्याग करना" यह स्थितप्रज्ञ का पहिला लक्षण कहा है। यहां इस श्लोक में (सर्वान् कामान् विहाय) सब कामनाओंको छोडनेका उपदेश किया है। कामना छोडनेकी एकहि बात इस अध्याय में अनेकवार कही है,वह इस लिये कि यह ज्ञान पाठकोंके मन में दृढताके साथ स्थिर हो जाय।

सब कामनाओंको मनसे हटानेसेहि ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। मनुष्यको यह ब्राह्मी स्थिती प्राप्त हुई, तो समझो कि उसकी परम उच्च उन्नति होगई। मनुष्य जिस उच्चतम भूमिका के ऊपर पंहुच सकता है, वह यही अवस्था है। यहां हि वह 'नरका नारायण' होता है। 'जीवका शिव' बनना इसीको कहते हैं। अपने आपको ब्रह्म माननेकी यही स्थिति है अतः इसको ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्मरूप स्थिति कहा करते हैं। इसी का नाम पूर्व स्थानमें "भूमा" अवस्था कहा है। (देखो श्लोक २३-२५ की व्याख्या।) सामान्य स्थितिमें मनुष्य अपनी अल्प और अशिव अवस्था है ऐसा मानता है, परंतु पूर्वोक्त रीतिसे उन्नत होनेपर इसको अनुभव होता है कि अपनी अवस्था भूमा, ब्राह्मी अथवा शिवा अवस्था है। सामान्य मनुष्यके अनुभवसे इस अवस्थामें विलक्षण अनुभव आता है, अतः कहा है कि—

एनां प्राप्य न मुह्यति।

"इस अवस्था को प्राप्त करके मनुष्य मोह वश नहीं होता।" मोह तो इस अवस्थाको प्राप्त होनेतकहि रहता है। एकवार मनुष्यने इस स्थिति का अनुभव लिया, तो वह कभी भ्रममें नहीं फंसता। अन्तकालमें भी इस अवस्थाको प्राप्त किया, तो उसको ब्रह्मपद प्राप्त हो सकता है, अर्थात् अल्प समय तक इसको प्राप्त करने से भी विशेष लाभ हो सकता है। अब इस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने का वर्णन वेदमंत्रोंमें किस ढंगसे आया है वह देखिये—

ऊर्ध्वोऽनुसृष्टाः स्तिर्यङ् नु सृष्टाः सर्वा दिशः पुरुष आबभूव।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुःप्राणं प्रजां ददुः॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥३१
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥३२॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा प्रविवेशापराजिताम्॥३३॥

अथर्ववेद १०।२

"ऊपर और तिरछे आदि सब दिशा विभागोंमें यह पुरुष फैला है, ब्रह्म नगरीको जो जानता है, उस पुरिमें बसने के कारण इस का पुरुष नाम प्रसिद्ध हुआ है॥ अमृतसे परिपूर्ण ब्रह्मकी नगरी को जो जानता है उसको ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न सब अन्य देव चक्षु, प्रजा और प्राण देते हैं॥ जो ब्रह्मनगरी को जानता है उसकी चक्षु और प्राण उसको वृद्धावस्थाके पूर्व नहीं छोडते,

उस पुरीमें वसनेके कारण इसको पुरुष कहते हैं॥ आठ चक्रों और नौ द्वारों से युक्त यह देवों की अयोध्या अर्थात् युद्ध करके जीतने अयोग्य नगरी है। उसमें सुवर्णमय कोश है जो तेजसे परिपूर्ण स्वर्गहि है॥ तीन आरे जिसमें लगे हैं और तीन आधारोंपर जो विराजमान है, उस सुवर्णमय कोशमें पूज्य और चैतन्यपूर्ण देव है उसको ब्रह्मज्ञानी जानते हैं॥ जिसका कभी पराजय नहीं हुआ ऐसी सुवर्णमय तेजस्वी, मनोहर और यशस्वी ब्रह्मकी नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है॥ २८—३३॥"

इन मंत्रोंमें ब्रह्मपुरी का वर्णन है और उसको प्राप्त करनेवालेकी स्थिति अर्थात् ब्राह्मी स्थिती का भी वर्णन है। अतः ये मंत्र विशेष विचार करने चाहिये। इस ब्रह्मपुरी का वर्णन इस प्रकार है—

ब्रह्मपुरी।

इस ब्रह्मकी नगरी को (नव-द्वारा) नौ द्वार हैं, इन द्वारोंके नाम दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख ये सिरमें सात द्वार और गुदद्वार और मूत्र-द्वार ये दो मिलकर नौ द्वार हैं। ये द्वार बडे प्रसिद्ध हैं इस लिये इसके "द्वारावती, द्वार-का" आदि भी अनेक नाम हैं। इसमें आठ चक्र हैं, (१) मूलाधर पृष्ठवंशके मूलमें, (२) स्वाधिष्ठान जननेंद्रियके पीछे, (३) मणि पूरक और (४) सूर्यचक्र नाभिस्थान में, (५) अनाहत हृदयमें, (६) विशुद्धि गलेमें, (७) आज्ञाचक्र भ्रूमध्यमें, (८) सहस्रारचक्र मस्तिष्कमें है। इस प्रकार ये आठ चक्र इस पृष्ठवंशमें मज्जातंतुके केन्द्ररूप हैं। इन चक्रोंमें अनंत शक्ति है और वह शक्ति मज्जातन्तुके जालसे शरीर भर फैलाई जाती है, जिस से यह शरीर चलरहा है। यह ब्रह्मपुरी मनुष्य का शरीर है, ब्रह्मलोक, ब्रह्मनगरी, ब्रह्मपुरी, अयोध्या, द्वारिका, ये सब नाम इसी अद्भुत शरीरके हैं। इसी शरीरमें ब्रह्मका अंश रहता है इस लिये इसका इतना महत्त्व है। अतः कोई यह न समझे कि यह शरीर हीन दीन और मलिन है। यह तो ब्रह्मका निवासस्थान है। जिसको ब्रह्माने अपना निवास स्थान बनाया उसको मलिन कौन कह सकता है? तथापि मनुष्य को उचित है कि वह अपने प्रयत्नसे इसमें राक्षस और पिशाच घुसने न दे और इसमें ब्रह्मकाहि प्रकाश होने दें। इस प्रयत्नका नामहि धर्माचरण है।

यह ब्रह्मकी नगरी (प्रभ्राजमाना) तेजस्वी है, (हरिणी) दुःखोंका हरण करनेवाली है, इस प्रभुत्वके साथ रहनेवालोंको कभी दुःख नहीं होता, (यशसा संपरीवृता) यशसे युक्त है इसमें रहनेवालेको यश प्राप्त होता है, पुरुषार्थके साथ रहनेवाले इसमें रहकर यश प्राप्त करते हैं, (अ-पराजिता) इसका पराजय कोई कर नहीं सकता, न (अ-योध्या) युद्ध करके इसका नाश कोई कर सकता है, यह युद्ध करके जीतने योग्य नहीं है, अर्थात् एक वार ब्रह्मरूप बनकर जो इस में रहता है वह कभी मोहरूप अन्धकार में नहीं फंसता। इस प्रकारकी ब्रह्मपुरीमें जो ब्रह्म बनता है, जो ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होता है वह (प्रविवेश) प्रविष्ट होता है। अन्य लोग गुलाम दास भावसे इसमें रहते हैं, राजा होकर दास रूपसे रहते हैं, परंतु जो ब्रह्मरूप बनते हैं वे इसमें सम्राट् बनकर प्रविष्ट होते हैं। अतः इसमें कोई दास बन कर न रहे, परंतु सम्राट् बनकर विराजे।

इस ब्रह्मनगरीमें एक (कोश) खजाना है, सब शक्तिका मुख्य स्थान है, यह स्थान (त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते) तीन आरोंपर और तीन आधारोंपर रहा है। यह कोश (हिरण्यय) सुवर्ण जैसा तेजःपुंज है, इसकी कान्तिका वर्णन करना कठिन है। यही (स्वर्गः) स्वर्ग है, इस स्थानपर जो प्रभु बनकर जाते हैं उनको हि स्वर्गसुख मिलता है, अपने अन्दर हि यह स्वर्ग स्थान है, यहां (देवानां पूः) देवोंका वसति स्थान है, देवोंके अंशोंसे यह परिपूर्ण है और यहां (ज्योतिषा

आवृतः) इतना तेज है कि मानो सब तेजोंका पुञ्ज हि यह है। इसी स्थानमें (आत्मन्वत् यक्ष) चैतन्य का स्वरूप एक पूजनीय देव है, इस का ज्ञान सामान्य मनुष्योंको नहीं होता, उसे तो केवल (तत् ब्रह्मविदः विदुः) ब्रह्मज्ञानीहि जानते हैं, ज्ञेय वस्तु यही है, यही ब्रह्म है, यही अद्भुत शक्ति है,यही ध्येय और प्राप्तव्य भी यही है।

इस पुरीमें रहनेके कारण इस आत्माको 'पुरुष' कहते हैं। (यस्याः) इस पुरीमें वसनेवालेको (पुरुषः उच्यते) पुरुष कहते हैं। इस पुरीमें अधिकारपूर्वक वास्तव्य करनेका फल यह है—

तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥
अथर्व १०।२।२९.

"उसको ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न हुए सब अन्य देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं।" ब्रह्म-नगरी को जानना, ब्रह्मपुरीमें प्रविष्ट होना, ब्रह्म प्राप्त करना अथवा ब्राह्मी स्थितिमें पहुंचना एक हि है। इस स्थितिमें पंहुचे हुए को ब्रह्म स्वयं कुछ पारितोषिक देता है और ब्रह्मसे बने सूर्यादि सब देवभी इसकी उचित सहायता करते हैं। इस मंत्रमें ब्रह्म और ब्राह्म ये दो शब्द हैं। ब्रह्मशब्द परमात्माका वाचक और ब्राह्म शब्द अग्नि वायु रवि विद्युत् आदि अन्यान्य सब देवताओंका वाचक है। अग्नि सूर्यादि सब देव और उनका अधिष्ठाता परमात्मा ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुए मनुष्यको 'चक्षु, प्राण और प्रजा' देते हैं।

चक्षु, प्राण और प्रजा।

'प्रजा' शब्द संतानवाचक प्रसिद्ध है। ब्रह्म-ज्ञानी अथवा ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त मनुष्य को ब्रह्म प्रसन्न होकर संतान, सुसंतान देता है, इस से स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मी स्थितिको पंहुचा मनुष्य गृहस्थधर्मसे रहकर सुप्रजा उत्पन्न करता है। ब्रह्मकी कृपासे प्राप्त होनेवाली संतान औरस हि होगी, दत्तक पुत्रके लिये ब्रह्मकी कृपाकी कोई आवश्यकता नहीं है। औरस संतान उत्पन्न होने के लिये स्त्रीके साथ रहना आवश्यक है और धर्मानुकूल गृहस्थधर्म का पालन करना भी आवश्यक है। पुत्र उत्पन्न होने योग्य शरीरकी तरुणावस्था भी चाहिये। इससे यह स्पष्ट हुआ कि ब्राह्मी स्थिति तारुण्यमें प्राप्त होनी चाहिये। ऐसी पाठ्यप्रणाली बननी चाहिये कि युवा अवस्थामें मनुष्य ब्रह्मपुरी को जाने और उसमें अधिकार से प्रविष्ट हो सके और पश्चात् सुप्रजा निर्माण कर सके। सुप्रजा निर्माण करना या होना ब्रह्मज्ञान का एक फल यहां वेदमंत्र में वर्णन किया है, यह बात पाठक यहां देखें।

ब्रह्मकी प्रसन्नतासे दूसरी चीज जो प्राप्त होती है वह "प्राण" है। प्राण की प्राप्तिका अर्थ प्राण की स्वाधीनता, प्राणको अपने आधीन रखना, अथवा सारांशसे दीर्घ आयुकी प्राप्ति है। ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होनेसे मनुष्य को दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है, अर्थात् अल्पायुमें मृत्यु नहीं होता। दीर्घ जीवन प्राप्त होनेका अर्थ वह है कि वह उस दीर्घ आयुमें विशेष महत्व के पुरुषार्थ करता रहे। वह पुरुष पत्थर जैसा स्तब्ध नहीं रहता, परंतु ऐसा आदर्श जीवन व्यतीत करता है कि जो जनताके लिये मार्गदर्शक हो जावे।

ब्रह्म प्राप्तिसे जो तीसरा लाभ होता है वह 'चक्षु' की प्राप्ति है। चक्षु शब्द का अर्थ नेत्र है, परंतु यह शब्द यहां उपलक्षण है, यहां चक्षु शब्द से नेत्र आदि संपूर्ण इंद्रिय और अवयव लेना चाहिये। ये सब इंद्रिय और अवयव उत्तम अवस्थामें रहते हैं, वृद्धावस्थाके पूर्व क्षीण नहीं होते, यह इसका तात्पर्य है। इसी को अधिक स्पष्ट स्वयं मंत्रनेहि किया है-

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥

"जिसमें रहनेके कारण इस आत्माको पुरुष कहते हैं, उस ब्रह्मकी नगरी को जो जानता है, उसका नेत्र और उसका प्राण जीर्ण अवस्थाके

पूर्व उसको नहीं छोडते।" अर्थात् अतिवृद्ध अवस्थातक उसके संपूर्ण इंद्रिय और अवयव कार्यक्षम रहते हैं और वह सुदृढ अवयवोंके साथ उत्साहपूर्ण दीर्घ जीवन का अनुभव लेता है।

सुप्रजानिर्माण करना, दीर्घजीवन प्राप्त होना और अन्ततक संपूर्ण अवयव सुदृढ अवस्थामें रहना, ये तीन लाभ ब्रह्मज्ञान के हैं, ब्राह्मी स्थितिमें पहुंचे हुए मनुष्यको ये तीन लाभ मिलते हैं। भगवद्गीतामें (यः कामान् विहाय निःस्पृहः चरति) कामना छोडकर निस्पृह होकर व्यवहार करता है, ऐसा कहा है। इस में (चरति) व्यवहार करनेका अर्थ, इन मंत्रोंके साथ संगति देखनेसे, स्पष्ट हो जाता है। ब्रह्मज्ञानी मनुष्य अतिदीर्घ आयु तक अपने सुदृढ अवयवों के साथ उत्तमोत्तम पुरुषार्थ करता है। वेदमंत्र और गीताका उपदेश इन दोनों की संगति इस प्रकार है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए,
योगशास्त्र विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें,
सांख्ययोग नामक द्वितीय अध्याय
समाप्त हुआ ॥२॥

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायपर विचार।

सांख्य और योग।

सांख्य तत्त्वज्ञानका महत्त्व।

आर्य तत्त्वज्ञान में "सांख्य" और "योग" ये दो मार्ग विशेष महत्त्व के हैं, उनमें भी सांख्य का मान विशेष है। सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल महामुनि अपनीहि विभूति है, ऐसा "सिद्धानां कपिलो मुनिः।" (भ० १०।२६) इस श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णजीने स्वयं कहा है। सांख्य-शास्त्रका इतना महत्त्व है। इसी कारण अन्य-सिद्धान्तों का उल्लेख करनेकेपूर्व इस श्रीमद्भग-वद्गीतामें भी "सांख्यसिद्धान्त" सबसे प्रथम कहा है। श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्याय का नाम हि "सांख्ययोग" है और भगवद्गीताके इसी अध्यायसे उपदेशका प्रारंभ होता है। इस द्वितीय अध्यायमें ११ वे श्लोकसे वस्तुतः उपदेश का प्रारंभ है। इसमें श्लोक ११ से ३० तक के करीब२०श्लोकोंमें सांख्य तत्त्व ज्ञान कहा है,श्लोक ३१ से ३९ के नौ श्लोकोंमें क्षात्रधर्मबोधक सामान्य उपदेश है और श्लोक ४० से श्लोक ५३ तक योगमार्गका तत्त्वज्ञान कहा है, और अन्तमें श्लोक ५४ से ७२ तक स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये हैं यही ब्राह्मी स्थितिका वर्णन है। इस प्रकार देखा जाय, तो केवल इस अध्याय के २० श्लोकों में हि सांख्य तत्त्वज्ञान कहा है। यह तत्त्वज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होनेके कारण इसका यहां सारांश रूपसे पुनः मनन करनेका विचार है—

सांख्यसिद्धान्त।

सांख्य तत्त्वज्ञान (सम्यक् ख्यायते) युक्तियों से उत्तम प्रकार समझाया जा सकता है, इसी लिये इसको सांख्य (सम्यक् ख्यानं) कहा है। अपने आर्यतत्त्वज्ञानके ग्रंथोंमें अधिकतर ग्रंथ इसी तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन करने वाले हैं। उपनिषदों में सनत्कुमार आदिकोंने जो प्रतिपादन किया है वह यही तत्त्वज्ञान है। इस सांख्य-शास्त्रका मुख्य सिद्धान्त "एकात्मवाद" है। आत्मा एक है और वह सर्वत्र व्याप्त है, इस बात को सूचना देनेवाले शब्द ये हैं—

१ सर्वगतः (श्लो० २४)

आत्मा एक है और वह सर्वगत अर्थात् सर्व-व्यापक है। जितने भी पदार्थ जगत् के अन्दर हैं, उन सबमें (सर्वगत) पूर्णतया उसके अणुरेणु में और बाहर भी वह पहुंचा है। कोई पदार्थ अथवा किसी पदार्थ का कोई अवयव इसके विना नहीं है। जगत् के पदार्थ हमें ज्ञात हों वा न हों, उनमें वह पूर्णतया व्यापक है। मनुष्यादि प्राणियोंके अनन्त देह हैं, परंतु उनमें यही एक आत्मा व्यापक हुआ है, इसी प्रकार संपूर्ण जड पदार्थों में भी वह व्यापक है।

२ अचलः (श्लो० २४)

यह एक आत्मा सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक होनेसे हि 'अ-चल' अर्थात् न चलनेवाला है। जो सर्वत्र उपस्थित होगा वह एक स्थानसे दूसरे स्थानको चलकर नहीं जा सकता, क्योंकि जहां वह नहीं है ऐसा स्थानहि नहीं है,जहां वह जाने-का यत्न करे। पहिलेसे हि वह वहां उपस्थित है, इसी लिये वह अचल, अचंचल, किंवा अचर है।

यहां एक शंका ऐसी आती है कि, यह जो सर्वगत आत्मा है, वह सबका मिलकर एक है अथवा हरएक का आत्मा अलग अलग सर्वगत किंवा सर्वव्यापक है? अनंत जीवोंके अनन्त आत्मा हैं, वे सबके सब सर्वव्यापक अथवा विभु मानना

असंभव है।

इस द्वितीयाध्यायमें कहे सांख्य मतानुसार अनंत आत्मा सर्वव्यापक नहीं हैं। सबका एकहि सर्वव्यापक आत्मा है यह इस अध्यायके सांख्य तत्वज्ञानका सिद्धान्त है। इस विषयके प्रमाण यहां देखिये—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
(श्लो० १८)

इस श्लोकमें शरीरधारी (नित्यस्य) नित्य एक आत्माके (अन्तवन्तः देहाः) नाश होनेवाले अनेक देह हैं, ऐसा स्पष्ट कहा है। अर्थात् अनेक शरीरधारियोंका मिलकर सबमें व्यापक एक आत्मा है, ऐसा इस स्थानपर भगवान् श्रीकृष्ण को कहना है। इसी प्रकार अगला श्लोक इसी विषयमें देखिये-

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥
(श्लो० ३०)

"यह देहधारी अवध्य नित्य आत्मा सबके देहमें उपस्थित है।" इस श्लोकमें भी सबके देहमें एक आत्मा है ऐसाहि कहा है। यहां यद्यपि 'सबके देहोंमें' ऐसा नहीं कहा है, तथापि आत्मा (सर्वगत) सर्वव्यापक है और वह सबके देहमें है इतना कहनेसे एक सर्वव्यापक आत्मा अनंत देहोंमें है ऐसा स्वयं सिद्ध होगा। इसके सिद्ध करने के लिये अधिक प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है, यदि किसी को प्रमाण चाहिये, तो भगवद्गीताका निम्नलिखित श्लोक देखिये—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
भ० गी० १०।२०

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
भ० गी० १५।१४

"मैं एक आत्मा सर्व भूतोंके अन्दर रहा हूं। मैं विश्वका नेता होकर सब प्राणियों के देह का आश्रय करके रहा हूं।" यहां एक आत्मा सब भूतोंमें व्यापक है ऐसा कहा है। इन श्लोकोंका विचार करनेसे पूर्वोक्त शंकाका निराकरण हो जाता है और भ० गीताके तत्वके अनुसार एक आत्मा सब देहोंमें है यह बात स्पष्ट होजाती है।

यहां कई पूछेंगे कि यदि सबका एक आत्मा है और वह भूमा है, तो एकका सुखदुःख दूसरेको कैसा नहीं होता? इस शंका का उत्तर भगवद्गीतामें किसी श्लोकमें नहीं दिया है। उपनिषदोंमें इस विषयमें इतनाहि कहा है कि सुषुप्तिमें भूमा अवस्थाका – एकत्वावस्थाका—अनुभव मनुष्य करता है, इस लिये उसको उस समय किसी दूसरेका भान नहीं होता, वही एकत्व का अनुभव करनेवाला आत्मा जाग्रतिकी अवस्थामें द्वैतका अनुभव करता है। अर्थात् एकहि मनुष्य जाग्रतिमें द्वैत स्थितिमें और सुषुप्ति—समाधि—मुक्तिमें अद्वैत स्थितिमें रहता है। यदि यह सत्य है, तो सुषुप्तिमें उसको सबके सुखदुःख का अनुभव होना चाहिये। परंतु इसमें बात यह है कि जो शारीरिक सुखदुःख हैं वे भी सुषुप्ति अवस्थामें स्थूल शरीरका संबंध छूट जाने के कारण किसी को भी नहीं होते। अपने शरीर के फोडे फुन्सीयोंका दुःखभी निद्रामें मनुष्यको अनुभवमें नहीं आता, तो दूसरेके शारीरिक दुःखका कैसा अनुभव होगा? इस लिये शारीरिक सुखदुःख का अनुभव तो भूमावस्थामें नहीं होगा। परंतु शुद्ध मनके प्रेरित विचार काल और स्थान का अन्तर न मानते हुए दूर देशमें सुषुप्ति अवस्थामें स्थित मनुष्यके मन तक पहुंचते हैं, इस अनुभव से पता लगता है कि मनुष्यको यह भूमावस्था के अद्वैतका अनुभव होनेका संभव है। उपनिषदोंमें यहां तक ये विचार स्पष्ट रीतिसे कहे हैं, गीतामें भी उसीका अनुवाद "सर्वगत आत्मा" है ऐसा कहकर किया है।

मनुष्यका अनुभव निःसंदेह द्वैतका है, भिन्न आत्मा होनेका है। साथहि साथ मनुष्य अपने आपको अशक्त, अल्प, अल्पज्ञ, क्षीण, परिमित, क्षुद्र, मरनेवाला, जीर्ण और वृद्ध होनेवाला अनुभव करता है। परंतु शास्त्र कहता है इसके विरुद्ध। शास्त्रानुसार आत्मा ब्रह्म, विभु, ज्ञानी,

अपरिमित, महान्, भूमा, अमर, अजर, अदाभ्य, सदा तरुण, अव्यय आदि रूप है। साधारण मनुष्यके अनुभव और शास्त्रका कथन इसमें इतना महदन्तर है। वेद में भी जीवात्मा परमात्माके सब नाम एक जैसेहि हैं। दोनोंके एक जैसे नाम होनेसेहि दोनोंके गुणधर्मों की एकता सिद्ध होती है। गीतामें भी—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
भ० गी० १५।७

"मेरा (परमात्माका) एक सनातन अंश जीवलोक में जीव बना है।" ऐसा स्पष्ट कहा है। जैसा अग्निका अंश अग्नि रूप होता है वैसा हि परमात्माका का अंश परमात्मरूप होता है। इस प्रकार विचार करनेपर पता लगेगा कि सर्वव्यापक एक आत्मा है, यह यहां कहे सांख्यमत का निश्चित सिद्धान्त है। इस आत्माके गुणबोधक विशेषण ये हैं—

३ नित्यः (श्लो० १८; २०; २१; २४; २५; ३०)

"नित्य अर्थात् सदा एक जैसा रहनेवाला, तीनों कालों में एकसां रहनेवाला, जिसका कभी नाश नहीं होता है," अत एव उसको—

४ शाश्वतः (श्लो० २०) सनातनः (श्लो० २४)

"सदा रहनेवाला, हमेशासे जो एक जैसा है, जो अनादि काल से है, वह शाश्वत और सनातन कहते हैं।" यह कल नहीं था, आज है और कल नहीं रहेगा, ऐसी बात नहीं, यह सब काल में एकसा विद्यमान है। इस कारण इसके निम्नलिखित नाम सार्थ होते हैं—

५ अजः (श्लो० २०; २१)

"यह जन्मता नहीं, नहीं यह उत्पन्न होता है," यही भाव व्यक्त करनेके लिये निम्नलिखित वाक्य कहे हैं—

न जायते। (श्लो० २०)

"यह जन्मता नहीं, इस को कभी उत्पत्ति नहीं होती।" यहां कई कहेंगे कि यद्यपि यह जन्मता नहीं तथापि इसका नाश होता होगा, इस शंका की निवृत्ती करनेके लिये निम्नलिखित शब्द कहे हैं

६ अनाशी (श्लो० १८) अविनाशी (श्लो० २१) अव्ययः (श्लो० २१) नित्यं अवध्यः (श्लो० ३०) अच्छेद्यः (श्लो० २४)

"इसका नाश नहीं होता, इसका व्यय नहीं होता, इसमें न्यूनाधिक नहीं होता, इसका वध नहीं होता, इसको छिन्न भिन्न किया नहीं जा सकता, यह हमेशा अवध्य है।" ये सब शब्द इस का नाश नहीं है यह बात व्यक्त कर रहे हैं। यही भाव अधिक स्पष्ट करनेके लिये निम्नलिखित वाक्य कहे गये हैं—

न म्रियते (श्लो० २०) न हन्यते (श्लो० १९)
हन्यमाने शरीरे न हन्यते। (श्लो० २०)
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि (श्लो० २३)

"यह मरता नहीं, यह मारा नहीं जाता, शरीर काटा जानेपर भी यह काटा नहीं जाता, इसको शस्त्र काट नहीं सकते" ये सब स्पष्टीकरण पूर्वोक्त शब्दोंके भाव को अधिक स्पष्ट कर रहे हैं। इन सब कथनों का विचार करनेसे इसके अमर और अजन्मा होनेका स्पष्ट ज्ञान होता है। कई कहेंगे कि यह एकवार शरीर धारण करता होगा, परंतु पश्चात् शरीर नाश होनेके बाद इसकी कैसी स्थिति होती होगी? इस विषयका पता कैसा लगेगा? इसका उत्तर देनेके लिये गीतामें कहा है कि—

भूत्वा अभविता न। (श्लो० २०)

'एकवार शरीरधारण करनेपर फिर कभी शरीर धारण नहीं करेगा ऐसा नहीं' एक वार जैसा हुआ है वैसाही आगेभी होगा। इसी का अधिक स्पष्टी करण अगले श्लोक में कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥
भ० गी० २

"मैं किस कालमें नहीं था ऐसा नहीं, तू कभी नहीं था ऐसा नहीं, ये राजा लोग कभी नहीं थे ऐसा भी नहीं और इसके बादभी हम सब न होंगे ऐसा भी नहीं है। अर्थात् हम पहिले थे, इस समय हैं और आगे भी होंगे। देहधारी आत्मा को इस देहमें जिस प्रकार बालपन, तरुणपन, और वृद्धपन प्राप्त होता है, उसी प्रकार आगे उसी आत्माको दूसरी देहभी प्राप्त होती है। इस कारण इस विषय में ज्ञानी पुरुष मोहित नहीं होता।" इस प्रकार इसका अजन्मापन, अविनाशीपन कथन करनेके साथ साथ यह वारंवार देह धारण करता है ऐसाभी कहा है। देह धारण करते हुएभी यह अजन्मा है, देह मरनेपरभी यह अमर है, देहको बाल्य और वार्धक्य होनेपरभी यह सदा तरुण है। नूतन देह प्राप्त होनेपर भी उसमें यही पुराणपुरुष निवास करता है अतः इसको-

७ पुराणः (श्लो० २०)

"पुराणपुरुष कहते हैं।" (पुरा अपि नवः पुराणः) यह पुराना होता हुआ भी नवा जैसा है. यह कभी पुराना नहीं होता, यह सदा एक जैसा तरुण युवा रहता है। अतः कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
भ० गी० २।२२

"जैसे कोई मनुष्य पुराने कपडे फटनेपर नये लेता है वैसेहि देह जीर्ण होनेपर देही आत्मा नये देह लेता है।" इस रीतिसे यह पुराना होता हुआ नया बनता है। देह मरनेपरभी यह नहीं मरता, देह जीर्ण होनेसे यह जीर्ण नहीं होता। इस विषय में और देखिये—

८ अदाह्यः, अक्लेद्यः अशोष्यः (श्लो० २४)

अर्थात् यह जलाया, भिगोया अथवा सुखाया नहीं जाता। इसी का स्पष्टीकरण निम्नलिखित वाक्योंमें है—

न एनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापः।
न शोषयति मारुतः। (श्लो० २३)

"अग्नि इसको जला नहीं सकता, जल इसको भिगा नहीं सकता, और वायु इसको सुखा नहीं सकता।" इन पञ्चभूतोंका इस पर कोई परिणाम नहीं होता। इसी लिये—

अविकार्योऽयमुच्यते। (श्लो० २५)

"इसको अविकारी कहते हैं।" अविकारी वह होता है जिसपर कोई परिणाम नहीं होता। जो एक ही स्वरूपसे सदा रहता है। य

९ स्थाणुः (श्लो० २४)

"स्थिर" है, न हिलनेवाला, न बदलनेवाला और न विकृत होनेवाला तथा सबको आधार देनेवाला है। परंतु यह—

१० अव्यक्तः, अचिन्त्यः (श्लो० २४)
अप्रमेयः (श्लो० १८)

"व्यक्त नहीं, यह दिखाई नहीं देता, इसका चिन्तन नहीं किया जा सकता, इसका परिमाण भी नहीं हो सकता। इस प्रकार का यह आत्मा है, परंतु सब इस के विषय में—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं...
वेद न चैव कश्चित्। (श्लो० २९)

"हर कोई इस को आश्चर्यचकित होकर आश्चर्यपूर्ण दृष्टिसे देखता है, परंतु कोई इसको यथार्थ रीतिसे जान नहीं सकता।" इसकी शक्ति सब आश्चर्योंसे भी बढकर आश्चर्य है। यह ऐसा गूढ आश्चर्य है कि इस का पूर्ण ज्ञान किसी को हो नहीं सकता। बडे विशेष ज्ञानियोंको इसका ज्ञान होता है परंतु वे दूसरोंको वह ज्ञान बता नहीं सकते, क्योंकि शब्दोंसे उसका वर्णन करना

कठिन है। इस कारण इसको "स्वसंवेद्य" अर्थात् स्वयं जानने योग्य कहते हैं। अस्तु, इस प्रकार का एकात्मवाद भगवद्गीतामें उपदेशके प्रारंभमें कहा है इस ज्ञान को आचार में लाना चाहिये।

सांख्याचार।

जो आत्मा मेरे अन्दर है वही अन्य मनुष्योंके अन्दर और वही कीट, पिपीलिका,पतंग आदि-कोंमें भी है, यह तत्त्व स्वीकारनेपर आत्मिक दृष्टीसे सबकी एकता है ऐसा मानना पडता है। इसका सरल अर्थ यह है कि यदि मैं किसी की हिंसा करूं तो वह मेरीहि हिंसा होगी, किसी के साथ मैं असत्य बोलूं तो मेरे साथ हि असत्य बोलनेके समान होगा, किसी की चोरी मैं करूं तो वह मेरी हि चोरी मैंने की ऐसा होगा, यदि किसी के साथ व्यभिचार किया तो वह अपने साथहि व्यभिचार होगा, जो जो अत्याचार मैं दूसरेके साथ करूंगा वह सब अत्याचार मेरे आत्माके साथ अर्थात् मेरे साथ होगा। अत्याचारी मनुष्य इस बातको चाहे न समझे, न माने किंवा इस बातकी ओर ध्यान न दे, परंतु यदि सबका आत्मा एक होगा, तो 'दूसरे के साथ करता हूं' ऐसा मानकर किया हुआ अत्याचार और अपकार कभी न कभी अवश्यहि अपने ऊपर आजायगा, क्योंकि इस जगत् में 'दूसरा' कोई नहीं है, इसलिये कहा है कि—

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति। य इह नानेव पश्यति कठ०४।१०,११; बृ०उ०४।४।१९.

"जो यहां भिन्नता देखेगा वह मृत्युसे भी बडे मृत्युको प्राप्त होगा।" दूसरेके साथ किया अत्याचार अपने ऊपर लौट आवेगा और दूसरे पर किया उपकार भी अपनेको प्राप्त होगा, यह ज्ञान जनताके मनमें स्थिर होगा, तो निःसंदेह जनताका व्यवहार सुधर जायगा।

कौरव जो मरनेवाले हैं वे अपनेहि अत्याचार के कारण मरते हैं, दूसरेके मारनेसे कोई नहीं मरता; सब मरते या दुरवस्थाको प्राप्त होते हैं; वे अपनेहि कर्म के कारण होते हैं। यह निश्चित रीतिसे श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को बताया। यही बात सबको ध्यानमें धारण करना योग्य है।

कोई मनुष्य दूसरेके ऊपर अत्याचार क्यों करता है? कौनसी बुद्धि इसके अन्दर है जिसके कारण वह अत्याचार में प्रवृत्त होता है, बुराई करने लगता है अथवा अनाचार के पथमें जाने लगता है? यह समझता है कि मैं अलग हूं और वह दूसरा मेरे से भिन्न है,मैं अधिक सुखी होना चाहता हूं इसलिये उसपर मैं अत्याचार करके उसके भाग मैं लूंगा और सुख भोगूंगा। यह अपने सुख बढाने की बुद्धि मनुष्यको बुरे मार्ग की ओर जाने मैं प्रवृत्त करती है। यदि इस समय उसको ज्ञात होगा कि मेरे अत्याचार करनेसे अन्तमें मेराहि दुःख बढेगा, तो निःसन्देह वह ठीक मार्ग पर चलेगा। तथा दूसरोंका भला करनेसे मेरा सुख बढेगा ऐसा यदि उसका निश्चय हुआ, तो निःसन्देह वह दूसरों की सेवा करेगा। परंतु साधारण मनुष्यको सीधा मार्ग 'सीधा है'ऐसा प्रतीत नहीं होता,विपरीतहि ठीक प्रतीत होता है, इसी लिये शास्त्र के उपदेशों की आवश्यकता होती है। शास्त्र क्या कहता है देखिये—

सुखदुःखकी समानता।

इस अध्यायमें जो विशेष महत्त्व की बात कही है वह 'सुख और दुःख को समान मानना' यह है। सुख को पास और दुःखको दूर करने की लालसासेहि मनुष्य अत्याचार करनेकी ओर झुकता है। परंतु यदि उसके मनमें सुख और दुःख के विषयमें समान भाव रहा, तो वह सुख को पास और दुःख को दूर करने में यत्नहि क्यों करेगा? जिसके मनमें सुख और दुःख समान हैं वह किसको दूर और किसको पास करेगा? और वैसा क्यों करेगा? देखिये—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।(३८)
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते । (१५)
शुभाशुभं नाभिनंदति न द्वेष्टि । (५७)
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते । (५६)

"सुख दुःख, लाभ अलाभ, जय पराजय और शुभ अशुभ को समान मानने, शुभसे आनन्द न मानने और अशुभका द्वेष न करने, शुभपर प्रेम न करने और अशुभपर क्रोध न करने से मनुष्य अमृत की प्राप्तिके लिये योग्य होता है।" मनुष्य क्या और अन्य प्राणी क्या स्वभावतः सुखका प्रेमी और दुःखका द्वेषी है । स्वाभाविक प्रवृत्ति ऐसी है, परंतु शास्त्र कहता है कि सच्चा अविनाशी सुख तो तब मिलेगा कि जब मनुष्य सुख दुःख को समान मानेगा । यह बात इतनी कठिन है कि बहुत मनुष्योंको सुखदुःख, हानि-लाभ, जय पराजय, शुभ अशुभ, मंगल अमंगल आदि द्वन्द्वोंको समान मानना ही अशक्यसा प्रतीत होता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने आपको अशक्त अनुभव करता है और शास्त्र कहता है कि 'तू शक्तिमान् है।' इसी प्रकार द्वन्द्वोंके विषय में है । अपनी मूढतासे एक को चाहता और दूसरे को नहीं चाहता, परंतु होता है यह कि इसके न चाहनेपर भी दुःख इस पर आता है और चाहनेपर भी सुख इसको नहीं मिलता । यदि मनुष्य विचार करके देखेगा कि अपने चाहनेके साथ या न चाहने के साथ सुखदुःखादि द्वन्द्वोंकी प्राप्ति का कोई संबंध नहीं है, वे तो अन्य कारणोंसे प्राप्त होते या नहीं होते हैं, तो उसको पता लगेगा कि सुखदुःखोंको समान मानेकी जो शास्त्रकी आज्ञा है,वही अधिक लाभ-करी है । इतना अनुभव आनेके पश्चात् वह मनुष्य शास्त्रकी आज्ञा अवश्य पालन करेगा और द्वन्द्वों को समान मानने लग जायगा ।

द्वन्द्वोंको समान माननेका अर्थ क्या है? सुख को और दुःखको समान कैसे मानना? कभी लाभ और हानि समान हो सकती है? क्या कभी पुत्रजन्म और पुत्रमरण समान हो सकते हैं? जगत् की सृष्टी और जगत् का प्रलय ये क्या कभी समान भावसे देखे जा सकते हैं?क्या इनमें कोई भेद नहीं है? और यदि इतना अन्तर है तो जन्म मृत्युको समान देखना कैसे हो सकता है? क्या कभी कोई मान सकता है कि मनुष्यका जीवित रहना और मरना समान हि है?

इस प्रकार शंका करना साधारण मनुष्य के लिये योग्यहि है । परंतु द्वन्द्वोंको समान मानने का भाव पहिले समझना चाहिये और पश्चात् शंका करना चाहिये । इसलिये उक्त प्रकार शंका करनेवाले सबसे प्रथम द्वन्द्वोंको समान माननेका तात्पर्य निम्नलिखित प्रकार समझें—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः।(५३)
सर्वत्रानभिस्नेहः । (५७)

'दुःख आनेपर मन उद्विग्न होने न दें, और सुखोंकी प्राप्ति होनेपर उनमें लुब्ध न हों, तात्पर्य किसी विषयमें अधिक स्नेहभाव न धारण करें।' यह सुखदुःखको समान माननेका भाव है । इसी को अधिक स्पष्ट करने के लिये ऐसा कहा जा सकता है कि जय होनेपर घमंड न करें और पराजय होनेपर हताश न होवे, लाभ होनेपर उन्मत्त न होवे और हानि होनेपर उदास न होवे, शुभकी प्राप्ति होनेपर आनंदसे स्वकर्तव्य न भूले और अशुभ प्राप्त होनेपर दुःखसे मूढ न बने, जन्मसे सुख न माने और मृत्युसे दुःख भी न माने । इसीको सुखदुःख समान मानना कहते हैं ।

सामान्य मनुष्य धन मिलनेपर इतना उन्मत्त होता है कि किसी की पर्वाह न करता हुआ मनमाने अत्याचार करने लगता है;तथा धननाश होनेपर वही मनुष्य इतना रोता पीटता है कि अन्तमें पागल बनकर व्यवहार के लिये निकम्मा हो जाता है। परंतु जो सुखदुःखको समान मान-नेवाला है, लाभहानिको एक जैसा माननेवाला है,वह बहुत धन प्राप्त होनेपर भी मनकी समानता

दूर होने नहीं देता अथवा धन नष्ट होनेपर भी दुःख नहीं करता, परंतु दोनों अवस्थाओं में अपने मनको समानतया कर्तव्यदक्ष बना रखता है। इसीको द्वन्द्वोंको सम मानना कहते हैं।

मनुष्यको सुख के लिये प्रयत्न करना चाहिये, परंतु सुख मिलनेपर कर्तव्यभ्रष्ट नहीं होना चाहिये, तथा मनुष्यको दुःखनिवृत्ति के लिये यत्न करना चाहिये, परंतु दुःख प्राप्त होनेपर हताश बनकर कर्तव्यमूढ नहीं होना चाहिये; तात्पर्य सुख मिले अथवा दुःख मिले, दोनों अवस्थाओंमें अपने कर्तव्यकर्म को भूलना नहीं चाहिये। बाह्य सुखदुःख क्षणिक हैं और अपना कर्तव्य पालन करना अपना श्रेष्ठ धर्म है। क्षणिक बातों के लिये श्रेष्ठधर्मको दूर करना अयोग्य है। सुख दुःखको समान माननेका यह अर्थ है। इस के लिये कुछ उदाहरण देखिये- पत्थर सर्दी में और गर्मी में अपने स्थान पर स्थिर रहता है, समुद्र अतिवृष्टी और अनावृष्टीमें अपनी मर्यादा का उलंघन नहीं करता, वृक्ष अपनी छाया जैसी तोडनेवालेको देता है वैसीहि जल सिंचन करने वालेकोभी देता है, मनुष्य भी इसी प्रकार सुख-दुःख, हानिलाभ, जय पराजय और सर्दी गर्मी प्राप्तहोनेपर अपनी धर्ममर्यादा का उलंघन न करे।

आज सर्दी है इसलिये मैं आज अपना कर्तव्य नहीं करूंगा, आज बडी गर्मी है इस कारण मैं अपना कर्तव्य नहीं कर सकता, आज मुझे बहुत धन प्राप्त हुआ अतः मुझे अब कर्तव्य पालन की क्या आवश्यकता है? आज तो मेरा धन सब नष्ट हुआ है मैं उदास हुआ हूं और मुझसे कर्तव्य पालन नहीं हो सकता, आज पुत्रजन्म का महोत्सव है इस लिये आज कर्तव्य करनेके लिये फुरसत नहीं है, आज तो पुत्रकी मृत्यु होगई अतः दुःख के कारण कर्तव्य पालन कैसे हो सकता है? इस प्रकार जो लोग कहते हैं वे द्वन्द्वोंके आघातोंको सह नहीं सकते। वे द्वन्द्वोंसे पराभूत होते हैं। परंतु पूर्वोक्त अवस्थाएं होनेपर भी जो अपने कर्तव्य पालन करनेमें दत्तचित्त होते हैं वे ही द्वन्द्वों के आघातों को सह सकते हैं और वेहि द्वन्द्वोंको सम मानते हैं। और जो द्वन्द्वोंको सम मानते हैं वे हि शान्ति और अमरत्वको प्राप्त होते हैं।

इसका दूसराभी एक अर्थ है। 'सम' शब्द का अर्थ, परब्रह्म, परमात्मा किंवा ईश्वर है, क्यों कि वह सर्वत्र सम है, सबमें समानतासे व्याप्त है, उसकी सर्वत्र सम अवस्थिति है। देखिये—

निर्दोषं हि समं ब्रह्म। भ० गी० ५।१९
समं पश्यति योऽर्जुन। भ० गी० ६।३२
समोऽहं सर्वभूतेषु। भ० गी० ९।२९
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
भ० गी० १३।२७
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
भ० गी० १३।२८

"ब्रह्म सर्वत्र सम और निर्दोष है। जो सर्वत्र सम ब्रह्मको देखता है (वह परम योगी है।) मैं आत्मा सर्व भूतों में सम हूं। सब भूतोंमें सम परमेश्वर को देखे।" इस प्रकार सर्वत्र सम अवस्थित होनेके कारण परब्रह्म, परमात्मा अथवा परमेश्वरको 'सम' कहते हैं। इस अर्थ को लेनेसे—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।(३८)
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। (१५)

" सुखदुःख, हानि लाभ, जयपराजय (समे) सम अर्थात् परमात्मरूप मान कर अपना कर्तव्य कर। (सम-दुःखसुखं धीरं) सम अर्थात् परब्रह्मरूप सुखदुःखको माननेवाले धैर्यशाली मनुष्यको अमृत की प्राप्ति होती है।" यहां शंका होगी कि सुख तो परमात्मरूप होगा, परंतु दुःख परमात्मरूप कैसे होगा? इस शंका के उत्तरमें इतना कहना पर्याप्त है कि जिसको हम सुख या दुःख कहते हैं वस्तुतः वह सच्चा सुख भी नहीं होता और सच्चा दुःखभी नहीं होता है। देखिये कोई विद्यार्थी खेलनेमें सुख और पढाई में दुःख

मानता और अनुभव भी वैसाहि करता है, परंतु वस्तुतः बात उलटी है। कोई राष्ट्र जो पराभूत होता है वह दुःख करता है, परंतु पराभूत होनेके कारण उसको अपनी शक्ति से स्वातंत्र्य कमानेका अवसर प्राप्त होता है, इससे उसके यश की वृद्धि होती है, फिर उसमें दुःखके लिये स्थान कहां है। इस प्रकार विचार करनेसे पता लगेगा कि जिसको हम सुख दुःख, अथवा हानिलाभ मानते हैं वे वैसे हैं इस विषयमें निश्चय नहीं है। परमेश्वर मनुष्यों के कर्मानुसार सबको यथायोग्य अवस्थाएं देता है, जिन अवस्थाओंमें रहकर मनुष्य अपनी आत्मोन्नति कर सकते हैं। परमेश्वर सर्वज्ञ होनेसे और उसका बर्ताव सबके साथ सम होनेसे वह हरएक अवस्था मनुष्यको उन्नत होनेके लिये जैसी आवश्यक होती है वैसीहि देता है, चाहे हम उसको सुखावस्था समझें, चाहे दुःखावस्था समझें, वह परमेश्वर की योजनासे प्राप्त होनेके कारण मनुष्यकी उन्नति के लिये आवश्यक है। इसलिये मनुष्य उसको परमात्मरूप समझे। और दोनों अवस्थाओंके साथ सम भावसे अपने मनको रखे। किसीपर प्रीति न रखे और किसीका द्वेष न करे। परंतु दोनों अवस्थाओं में अपना कर्तव्य दक्षतासे करता रहे। इस दृष्टिसे पाठक निम्नलिखित उपदेशों का मनन करें—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः

भ० गी० २।४८

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।

भ० गी० ४।२२

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित्॥

भ० गी० १२।१९

"सिद्धि असिद्धि, शत्रु मित्र, मान अपमान, शीत उष्ण, सुख दुःख, निन्दास्तुति आदि द्वंद्वोंके विषयमें सम भावना रखना चाहिये। किसी एक की संगति करना और दूसरेका द्वेष करना अयोग्य है। इस प्रकार सम वृत्ति रखनेसे बंधन से मुक्तता हो जाती है।" कोई अवस्था प्राप्त हो, उस समय परमेश्वर की भक्ति मनमें दृढ रखकर अपना कर्तव्य पालन करनेसे निःसन्देह उन्नति और इससे विपरीत भावना से अधोगति होती है।

व्रत लेनेवालोंको इन द्वन्द्वोंके विषयमें समभाव रखना अत्यंत आवश्यक है. अन्यथा थोडीसी विपरीत अवस्था प्राप्त होतेहि व्रतभंग होनेकी संभावना होगी। जितने भी बडे कर्तृत्ववान् पुरुष होगये हैं, उनके चरित्र देखे जांय, तो पाठकों को पता लगेगा कि वे सुखदुःखादि द्वन्द्वोंको सम माननेवाले थे। इस समयतक कोई ऐसा पुरुष यशस्वी नहीं हुआ है कि जो सुखदुःखोंसे मोहित होकर कर्तव्यभ्रष्ट होता हुआ महत्त्वके स्थानपर आरूढ हो सका है। अर्थात् मनुष्यको उन्नत होने की इच्छा होगी तो उसको अवश्यहि द्वन्द्वोंको सहना चाहिये। दूसरा कोई मार्ग उन्नति के लिये नहीं है।

मनुष्यको इच्छा रहती है कि अपनी कामना तृप्त हो। और मनुष्यकी कामना भी कौनसी होती है? एकही कामना होती है कि शुभ अपने पास आवे और अशुभ दूर होवे। यहां कामना सब प्रकारसे मनुष्य को द्वन्द्वोंके जालमें अटका देती है और सदा उसको भ्रान्त बना देती है। अतः कहा है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाँश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति। (७)

"मन की सब कामनाओंका त्याग करके जो निरिच्छ, अहंकाररहित और ममत्वरहित होकर व्यवहार करता है वह शान्ति प्राप्त करता है।" मनकी सब कामनाओं का त्याग करना ही इस सिद्धिका अनुष्ठान है। द्वन्द्वोंके आघातोंसे छूटने की जिसको इच्छा होगी उसको उचित है कि वह अपने अन्तःकरणसे सब कामनाओंका त्याग करे।

कामना त्याग करनेका अभ्यास जिसने किया है और जो अपने मनको निष्काम बना सकता है, अथवा जो अपने मनको निर्विकार कर सकता है, उसकी मानो उच्चतम अवस्था हो चुकी है। जिस उच्चतम अवस्थाकी प्राप्ति करनेकी सूचना सब शास्त्रोंमें कही है, वह मन निष्काम होनेसे हि प्राप्त हो सकती है। इसका अनुष्ठान कैसा किया जा सकता है, इसका विधान निम्नलिखित श्लोकोंमें किया है—

इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः संहरते। (५८)
यस्य इंद्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः
निगृहीतानि। (६८)

"इंद्रियोंको विषयोंसे हटाना" यह अनुष्ठान है। इंद्रियोंके विषय निश्चित हैं। उन विषयोंकी ओर इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। इस प्रवृत्तिसे इंद्रियोंको पीछे हटानेका नाम अनुष्ठान करना है। ये इन्द्रिय शान्त और स्तब्ध होनेके पश्चात् ही उच्च अवस्थाका अनुभव आता है। द्वन्द्वोंको सहनेका अनुष्ठान भी तब होगा जब कि इंद्रियां विषयोंसे हटेगीं और—

आत्मनि एव आत्मना तुष्टः। (५५)

'अपना आत्मा अपने आत्मासेहि संतुष्ट होगा।' इस समय बाह्य पदार्थोंकी प्राप्तिसे संतोष होता है ऐसा हरएक मनुष्य का ख्याल है। परंतु यह भ्रम है। बाह्यविषयोंसे मन हटगया तोहि संतोष होता है। मनुष्यमात्र जिस विषयानन्दके लिये प्रयत्न करता है, उससे कई गुणा यह निर्विषय आनन्द है और आत्मासे आत्माकी तुष्टीका आनन्दभी सर्वोपरि है। इसप्रकार निर्विषयता प्राप्त होनेसे मनसे कामना करनीहि नहीं पडती, उपभोग स्वयं इसके पास आते हैं, वे इसके संकल्पमात्रसे इसके पास उपस्थित होते हैं।

कामाः आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं प्रविशन्ति। ७०

"जो स्वयं पूर्णताका अनुभव करता है और स्थिर रहता है उसके पास सब काम उपभोग स्वयं पहुंचते हैं।" उसको कामोंके पास यत्नसे जाना आवश्यक नहीं होता। उसको इस समय संकल्पसिद्धि होती है। यह संकल्पसिद्धि तब प्राप्त होती है, जब इसके मनसे सब काम पूर्णतया दूर होते हैं। यहां देखिये कि जब यह सुखोंकी कामना करता है तब इसके पास दुःख पहुंचते हैं और सुख दूर भागते हैं। परंतु जब यह कामनाओंका त्याग करता है, निरिच्छ, निःस्पृह, निष्काम, और शान्त बनता है, तब विनामांगे संपूर्ण आनन्द इसके पास स्वयं चलकर आते हैं। देखिये निष्काम होनेका महत्त्व कितना है !!

सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त और उसका अनुभव करनेका अनुष्ठान जो इस द्वितीय अध्यायमें कहा है, उसका सारांशसे यह स्वरूप है। इस अध्याय में कहा दूसरा मार्ग 'योगमार्ग' है उसका स्वरूप अब देखिये—

योगमार्ग।

सांख्यमार्ग इस समय तक कहा, अब योगमार्ग का स्वरूप सारांशसे बताते हैं। योगकी व्याख्या इस अध्यायमें इस प्रकार कही है।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा
समत्वं योग उच्यते। (४८)
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व
योगः कर्मसु कौशलम्॥ (५०)

"सिद्धि और असिद्धिके विषयमें समभाव रखना चाहिये। इस समताका नाम योग है। इस प्रकारकी समबुद्धिसे युक्त मनुष्य सुख और दुःख इन दोनोंको दूर करता है, अतः तू इस योगका आचरण कर, कर्म करनेमें कुशलता का ही नाम योग है।" इस प्रकार योगकी व्याख्या करते हुए भी सुखदुःखके विषयमें समभावना रखनेका नाम योग कहा है। सिद्धि असिद्धि, हानिलाभ, जयपराजय के विषयमें मन सम रखना और हरएक कर्तव्य कुशलताके साथ करने का नाम योग है। यहां इस योगका अर्थहि

'समत्वयोग' है। सब कर्म इस योग के द्वारा करने चाहिये ऐसा निम्नलिखित श्लोकमें कहा है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय। ४८

"योग का आश्रय करके सब प्रकारके कर्म कर और कामना का संग छोड दो।" सब कर्म करनेके समय इस उपदेशका स्मरण रखना चाहिये। द्वन्द्वोंके विषयमें समभाव रखनेका नाम योग है। इसप्रकारका समभाव रखते हुए अर्थात् सुखदुःखका विचार मनसे हटाकर कर्तव्य करना चाहिये। सुख हुआ तोभी कर्तव्य करूंगा और दुःख हुआ तो भी कर्तव्य करता रहूंगा, ऐसा मनका निश्चय करके अपने कर्तव्यपर सदा स्थिर रहनेका नाम योग है। यहां योग का तात्पर्य 'कर्तव्य के साथ अपना संबंध जोडना' है। कैसी भी अवस्था प्राप्त हुई तो भी कर्तव्यकर्म न छोडनेका भाव यहां है। साधारण मनुष्य सुखदुःख होते हि कर्तव्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। परंतु समत्वरूप योग करनेवाले हर एक अवस्थामें कर्तव्यदक्ष रहते हैं। 'समबुद्धि' का अर्थ परमेश्वर में स्थिर बुद्धि ऐसा भी होता है, क्यों कि 'सम' शब्द का अर्थ परब्रह्म है, इस विषयका विवरण इसके पूर्व आचुका है। द्वन्द्वोंके आघात होनेपर भी ईश्वरका विस्मरण न होनेका भी नाम समबुद्धि है। प्रायः दुःखके समय परमेश्वरका विचार जाग्रत होता है, परंतु सुख, लाभ, जय, विशेष धनप्राप्ति, विशेष अधिकारलाभ होनेपर वह अपना महत्त्व है ऐसा मनुष्य मानता है, और परमेश्वर को भूलता है। इस भूलनेके कारण विषम बुद्धि होती है। योगी लोग जैसे दुःखके समय वैसेहि सुखके समय ईश्वरमें श्रद्धा रखते हैं और कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होते। इस समत्वयोग के अनुसार मनुष्यको अपना आचरण रखना चाहिये। इस विषयका सुवर्ण नियम यह है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते।
मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फल हेतुर्भूः।
मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ (४७)
कृपणाः फलहेतवः। (४९)

"मनुष्यका अधिकार कर्म करनेमें है, कदापि फलपर नहीं, कर्मके फल का हेतु मनमें धारण न कर और कर्म न करनेमें तेरी रुची न हो। फल का हेतु मनमें धारण करनेवाले अनुदार होते हैं।"

यह सुवर्णनियम है। हरएक मनुष्यको उचित है कि वह इस नियमको अपने अन्तःकरणमें स्थान दें। कर्म करना अपने अधिकार में है ऐसा समझे, क्यों कि कोई प्राणी कर्म किये विना एक क्षण भर भी नहीं रह सकता, इसकी इच्छा हो या न हो, प्राणीके द्वारा कर्म होनाहि है। यदि ऐसा है तो मनुष्य योग्य रीतिसे श्रेष्ठ कर्म क्यों न करे? इसी लिये कहा है कि मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है। इसको कर्म करनाहि चाहिये। परंतु फलपर इसका कोई अधिकार नहीं है। इसके कर्म का फल इसको मिलेगा हि। जो कर्म करेगा उसको उस का फल अवश्य मिलेगा। परंतु उसपर उसका अधिकार नहीं। देखिये एकने आमका वृक्ष लगाया, उसका अच्छा पालन किया, यह तो उसके अधिकारमें था, परंतु उसका फल खाना उसके अधिकार में अवश्य होगा ऐसी कोई निश्चित बात नहीं। किसीने घर बनवाया, वह उसके अधिकारमें था, परंतु उसमें रहना उसके अधिकारमें निःसंदेह है ऐसा नहीं कहा जासकता। किसीने पाठशाला चलाई और उसमें विद्यार्थियोंको पढाना प्रारंभ किया, यह तो उसके अधिकारमें था, परंतु हरएक विद्यार्थीको पूर्ण विद्वान् बनाना उसके अधिकारमें नहीं है। क्योंकि फल का संबंध तो कई अन्य बातोंके साथ होता है, अतः वह इसीके अधिकारमें नहीं होता। इस कारण कहा है कि फल पर कर्मकर्ताका अधिकार नहीं है।

जब फलपर इसका अधिकारहि नहीं है, तब केवल हेतु मनमें धारण करके कार्य करना निःसंदेह अयोग्य है। यहां कोई पूछेंगे कि फलका हेतु मनमें न धारण किया तो मनुष्यकी प्रवृत्ति कर्म की ओर कैसी होगी? यह प्रश्न ठीक है। साधारण मनुष्यकी प्रवृत्ति फलके हेतुके विना कर्म करनेकी ओर नहीं होगी यह सत्य है, इसीलिये साधारण मनुष्य कर्म करते हैं और फलाशासे बद्ध होते हैं। विना फलप्राप्तिके हेतुके स्वभावसे हि कर्म होना चाहिये। जैसा दीप प्रकाश देता है वह किसी फलेच्छासे नहीं, परंतु उसका स्वभावहि दूसरोंको प्रकाश देना है। इसप्रकार स्वभावहि शुभ कर्म करनेका बनना चाहिये। और उस में कोई फलेच्छा की प्रवृत्ती नहीं रखनी चाहिये।

मनुष्यमें जो फलेच्छा रहती है वह स्वार्थकी इच्छा ही है, जो कर्म मैं कर रहा हूं, उसका फल मुझे मिले और मैं उसके भोगसे सुखी बनूंगा। इस वृत्तीसे किये कर्म बंधनकारक रहते हैं। यदि मनुष्यके मन से यह स्वार्थकी प्रवृत्ती हटजायगी, और यदि वह जाति और राष्ट्रहित की भावनासे कार्य करेगा, तो उससे अधिक निर्दोष कर्म होंगे। परंतु व्यक्तिका स्वार्थ एक व्यक्तितक परिमित रहता है और राष्ट्रका स्वार्थ राष्ट्रकी मर्यादा तक सीमित होता है, यद्यपि वैयक्तिक स्वार्थसे राष्ट्रीय स्वार्थ अधिक विस्तृत है तथापि वह स्वार्थ हि है और जो दोष वैयक्तिक स्वार्थमें अल्प प्रमाण में होते हैं, वेही दोष राष्ट्रीय स्वार्थ में विस्तृत प्रमाणमें होते हैं। इसलिये संपूर्ण मानव जाती के अर्थात् जनता के कल्याण की दृष्टिसे अथवा संपूर्ण प्राणिसमष्टी के कल्याण करनेके विचार से सत्यदृष्टीसे जो कार्य होते हैं वेही निर्दोष होते हैं। यही परमेश्वरसेवा है और विश्वरूपमें परमेश्वरकी पूजा करनेकी विधि यही है। इस रीतिसे ही मनुष्य से निर्दोष कर्म होते हैं। इस प्रकारके कर्मोंमें मानवजातीकी या प्राणिमात्रकी भलाई के लिये कर्मोंके फल का त्याग करना होता है। अतः इसमें कर्मफल मुझे प्राप्त होना चाहिये, यह भावना नहीं रहती।

अन्तमें कहा है कि 'कर्म न करनेमें तेरी प्रवृत्ति न हो।' अर्थात् तू आलसी न बन। क्यों कि शरीरकी स्थितिभी कर्म करनेके विना नहीं होगी। अतः कर्म न करनेकी ओर प्रवृत्ती कदापि करना उचित नहीं है। 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' इस का और भी एक अर्थ होता है- 'तेरा संग अकर्म अर्थात् अयोग्य कर्ममें न हो।' अनुचित कर्म करनेकी ओर तेरी प्रवृत्ती न हो। क्योंकि अयोग्य कर्म करनेसे मनुष्यकी निःसंदेह अधोगति होगी। तात्पर्य यह है कि मनुष्य सुयोग्य कर्म निःस्वार्थबुद्धिसे करे। कर्म करनेके लिये मनुष्यको व्यवसायात्मिक बुद्धि चाहिये—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। (४१)

"व्यवसाय करनेकी एकहि बुद्धि इस कर्मयोगमें चाहिये।" अव्यवसायी लोगोंकी कुमार्ग में प्रवृत्त बुद्धियां अनंत होती हैं और वे सबको सब गिरावटके लिये साधन बनती हैं। अतः मनुष्य इनसे सावध रहे। इस योगमार्गमें प्रवृत्त मनुष्य व्यवसायी तो बने, परंतु उसको आत्मविश्वासी भी बनना चाहिये, अतः कहा है—

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्। (४५)

"मनुष्य द्वन्द्वोंसे मुक्त हो, नित्य सत्त्वगुणमें स्थिर रहे, किसी वस्तुकी प्राप्ति और उसकी रक्षाका विचार करनेवाला न हो और आत्मिक बलसे युक्त हो।" इस प्रकारके मनुष्यसेहि योगमार्गसे उत्तम कर्म होते हैं। क्योंकि इसमें आत्मिक बल और आत्मविश्वास होता है। मैं शुभकर्म करूंगा, मुझसे यह कर्म होगा, इस प्रकारका आत्मविश्वास उसमें रहता है, अतः उससे शुभ कर्म होते हैं। मुझसे कर्म होगा या न होगा, ऐसा संदेह इसके मनमें नहीं होता। आत्मिक बलभी उसमें बडा होता है। इससे उसमें बडाभारी

सामर्थ्य होता है।

द्वन्द्वोंसे वह मुक्त होनेसे उसमें भोगकी आसक्ति और अभोगसे द्वेष नहीं होता है। न वह किसीपर प्रीति करता है और न किसीका द्वेष करता है। इसप्रकारके द्वन्द्वभावसे रहित होनेके कारणही उसके कर्म निर्दोष होते हैं। जो मनुष्य किसीपर प्रीति करेगा उसके लिये वह पक्षपात करेगा और जो जिसका द्वेष करेगा उसके प्रतिकूल वह कार्य करेगा। इस प्रकार उससे दोनों अवस्थाओंमें सदोष कार्य होंगे। परंतु जो मनुष्य रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित होगा,उससे प्रेममूलक अथवा द्वेषमूलक कोई दोष होनेका कारण न रहनेसे उससे निर्दोष कर्म होंगे। द्वन्द्वोंसे मुक्त होनेका यह महत्त्व है।

सांख्य और योग।

इस रीतिसे योगमार्गका उपदेश इस अध्यायमें कहा है। वस्तुतः इन वचनोंकी तुलना करके देखनेसे इन दोनों मार्गों में बहुत अन्तर है ऐसी बात नहीं, सांख्यमार्ग और योगमार्ग में बहुत अन्तर नहीं है, यह बात स्वयं गीताकारने भी कही है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५॥

भ० गी० अ० ५

"सांख्य और योग ये दो पृथक् हैं ऐसा मूढ लोग कहते हैं, ज्ञानी नहीं कहते, क्यों कि इनमें से एक का ठीक रीतिसे अनुष्ठान करनेसे दोनों-का फल प्राप्त होता है। जो स्थान सांख्यों को प्राप्त होता है वही योगियोंको मिलता है, अतः सांख्य और योग एक है ऐसा जो देखता है वही ठीक देखता है।" इस ढंगसे सांख्य और योग ये दो मार्ग भिन्न नहीं, एकहि हैं ऐसा भगवद्गीता का कथन है। अतः 'सांख्ययोग' नामवाले इस द्वितीयाध्यायमें 'योग' काभी उपदेश किया है। यदि इन में बहुत बडा भेद होता, तो दोनोंका उपदेश इस प्रकार साथ साथ न होता।

योग का उपदेश आगे आनेवाला है, उस समय इसका अधिक विचार करेंगे। अतः इस विषयमें यहां इतनाहि पर्याप्त है।

द्वितीय अध्याय का विचार समाप्त।

द्वितीयाध्यायके कुछ संस्मरणीय श्लोक।

(१) क्लीबत्व छोड

क्लैब्यं मा स्म गमः।

"क्लीबत्वको न प्राप्त हो।" मनुष्य पुरुषार्थ करे, पराक्रम करे और यश का भागी बने, परंतु कभी उदास और निरुत्साही न बने। भ० गी० २।३

(२) हृदयकी दुर्बलता छोड।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ।

"क्षुद्रत्व उत्पन्न करनेवाली हृदयकी दुर्बलता फेंक दो और परम पुरुषार्थ करनेके लिये उठकर खडा हो।" हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनसे क्षुद्र विचार दूर करे और उच्च विचार धारण करे। भ० गी० २।३

(३) शोक न कर।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।

"मरे हुओं और जीवितोंके विषयमें ज्ञानी लोग शोक नहीं करते।" ज्ञानी लोग तो कदापि शोक नहीं करते। वे प्राप्त अवस्थामें योग्य कर्तव्य कर्म करते हुए उन्नतिका मार्ग आक्रमण करते हैं। वे अपना समय शोकमें नहीं व्यतीत करते। भ० गी० २।११

(४) मोह न करना।

धीरस्तत्र न मुह्यति।

"धीर कभी मोहयुक्त नहीं होता।" उसको बुद्धियुक्त कहते हैं कि जो कभी मोहवश नहीं होता। भ० गी० २।१३

(५) भाव और अभाव।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

"जो है उसका अभाव नहीं होता और जो नहीं है उसका भाव नहीं होता।" यह शास्त्र-का महासिद्धान्त है। भ० गी० २।१६

(६) जन्मवाले का नाश।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः।

"जिसकी उत्पत्ति हुई है उसका नाश निश्चयसे होगा।" अतः किसीका नाश हुआ तो उस बात के लिये रोने पीटनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। भ० गी० २।२७

(७) क्षत्रियका धर्म।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।

"धर्मसे प्राप्त युद्धकी अपेक्षा दूसरा कोई श्रेयस्कर मार्ग क्षत्रिय के लिये नहीं है।" अतः क्षत्रियको उचित है कि वह धर्मयुद्ध करनेके लिये सदा तैयार रहे। भ० गी० २।३१

(८) युद्ध न करनेसे अकीर्ति।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।

"यदि तू इस धर्मयुद्ध को न करेगा, तो स्वधर्मसे भ्रष्ट होगा, तेरा अयश जगत्में होगा और स्वधर्मसे पतित होनेसे पापभी लगेगा।" अतः धर्म युद्ध करना तुम्हारा कर्तव्य होगा। भ०गी० २।३३

(९) अकीर्ति मरणसे बडी है।

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।

"संभावित-प्रतिष्ठित-मनुष्यकी अकीर्ति मरण से भी बढकर होती है।" अतः कोई मनुष्य अयश के अधर्म पूर्ण कार्य न करे। भ०गी० २।३४

(१०) निन्दाका दुःख।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्?।

"तेरे सामर्थ की निन्दा होने लगी तो उससे अधिक दुःखकारक कौनसी अवस्था है?" अपने सामर्थ्य की निन्दा होना ही सबसे अधिक दुःखकारक है। अतः कोई मनुष्य धर्मयुद्ध से पीछे न हटे। भ० गी० २।३६

(११) अव्यवसायी की चंचलता।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्!

"उद्योग न करनेवालों की बुद्धि चंचल और अनिश्चित होती है।" अतः मनुष्यको उचित है कि वह व्यवसायशील बने। भ० गी० २।४१

(१२) कर्मका अधिकार।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।

"कर्मकरनेमें तेरा अधिकार है, उसके फलपर नहीं। कर्म के फल का हेतु मनमें धारण न कर। अकर्म करनेमें तेरी रुची न हो।" मनुष्य प्रशस्त कर्म करे। फलकी आकांक्षा न धरे। कर्मफल का समर्पण करे। कर्म न करनेमें रुची न धरे आलसी न बने। भ० गी० २।४७

(१३) कर्मयोग।

योगस्थः कुरु कर्माणि।

"योगके अनुसार कर्म कर।" सिद्धि और असिद्धि के विषयमें समभाव धारण करके कर्म कर। यही योगमार्ग है। भ० गी० २।४८

कृपणाः फल हेतवः।

"फल का हेतु धारण करके कर्म करना हीनता का द्योतक है।" फल मुझे प्राप्त हो इस विचारसे किया हुआ कर्म हीन है। भ० गी० २।४९

समत्वं योग उच्यते।
योगः कर्मसु कौशलम्।

"समता का नाम योग है, भ० गी० २।४८ कर्म में कुशलता का नाम योग है।" भ०गी०२।५० इस समत्व योगके साथ कर्म करना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी।

द्वितीयाध्याय की विषयसूची।

अथ तृतीयोऽध्यायः।

कर्मयोगः।

(१) अर्जुनकी शंका।

अर्जुन उवाच–ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

अन्वयः-- हे जनार्दन ! कर्मणः बुद्धिः ज्यायसी ते मता चेत्, तत्, हे केशव ! घोरे कर्मणि मां किं नियोजयसि ? ॥ १ ॥ व्यामिश्रेण इव वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसि इव। तत् निश्चित्य एकं वद, येन अहं श्रेयः आप्नुयाम् ॥ २ ॥

हे जनार्दन ! कर्मकी अपेक्षा (सम) बुद्धि श्रेष्ठ है, (ऐसा यदि) तुम्हारा मत है, तो, हे केशव ! (इस प्रकारके युद्धरूप) घोर कर्म में मुझे क्यों लगाते हो? ॥ १ ॥ संदिग्ध जैसे भाषणसे मेरी मतीको तुम मोहित जैसी कर रहे हो। इसलिये निश्चय करके एकहि बात मुझे कहो, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊं ॥ २ ॥

भावार्थ- इससे पूर्व कर्ममार्ग और समबुद्धिका ज्ञानमार्ग ये दो मार्ग कहे हैं। इनमेंसे किस मार्गसे जानेसे निश्चयपूर्वक कल्याण होगा, इसका विचार करके, जो अपने लिये अधिक योग्य होगा, उसीसे जाकर, कल्याण प्राप्त करना चाहिये। अनेक मार्गों से जाने का यत्न करनेसे कोई लाभ नहीं होगा।

अर्जुनकी शंका।

(१-२) पूर्व अध्यायमें 'कर्मयोग' और 'समत्व-बुद्धि-योग' ये दो योग कहे हैं, और यह भी कहा कि, 'समत्व बुद्धियोगसे कर्म बहुतहि कनिष्ठ है' (भ० गी० अ० २।४९) अर्थात् 'कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग श्रेष्ठ है' यह बात निश्चित रीतिसे कही गई। इतना होनेपरभी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि "हे अर्जुन ! तू युद्ध का निश्चय करके उठ। तू युद्धमें लग जा।" (भ० गी० २।३७,३८) और युद्ध तो बडा घोर कर्म है !! यदि केवल समबुद्धि करनेसे कार्य चल सकता है, समबुद्धि होनेसे मनुष्यको ब्राह्मी स्थिति भी मिल सकती है और इस समबुद्धिसेहि परम उच्च अवस्था भी मनुष्यको प्राप्त हो सकती है, तो फिर युद्ध जैसे घोर कर्म करनेकी प्रेरणा भगवान् क्यों कर रहे हैं ? समबुद्धि की प्राप्ति करनेका अनुष्ठान करनेकी प्रेरणा करनाहि उनको योग्य है, अतः अर्जुनकी यह शंका यथार्थ है।

दूसरी बात यह है कि समत्व बुद्धियोगसे स्थितप्रज्ञ होनेके पश्चात् ब्राह्मी स्थिती प्राप्त होने का निश्चय पूर्व अध्याय (भ० गी० २।७१,७२) में कहा, इस प्रकारका कोई अद्भुत फल कर्मयोग से होता है, ऐसा वहां नहीं कहा। इस लिये

(२) दो साधन मार्ग।

श्रीभगवानुवाच— लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

अन्वयः- हे अनघ! अस्मिन् लोके द्विविधा निष्ठा पुरा मया प्रोक्ता, सांख्यानां ज्ञानयोगेन, योगिनां कर्मयोगेन॥३

हे पापरहित! इस लोकमें दो प्रकारकी साधनकी वृत्तियां हैं, यह मैंने पहिले हि कह दिया था, सांख्यों की ज्ञानयोग में और योगियोंकी कर्मयोगमें ॥ ३ ॥

भावार्थ— इस जगत् में धार्मिक लोगोंकी दो प्रवृत्तियां हैं, कई मनुष्य ऐसे हैं कि जो सत्य ज्ञान प्राप्त करनेमें तत्पर होते हैं और दूसरे कई ऐसे होते हैं कि जो सत्कर्म करनेमें दत्तचित्त रहते हैं॥

अर्जुनके मनमें ऐसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यदि बुद्धियोगसे निश्चयपूर्वक ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है और वैसी स्थिति कर्मयोग से होनेका वर्णन नहीं किया जाता, तो फिर क्यों कहा जाता है कि 'तू युद्ध कर'? ऐसी अवस्था में अर्जुनके मनमें ऐसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि, निश्चयपूर्वक ब्राह्मीस्थितिको देनेवाला बुद्धियोग क्यों न किया जाय? और जिसको कनिष्ठ करके स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाता है उस कर्मयोगका अनुष्ठान क्यों किया जाय? क्या कनिष्ठमार्ग की अपेक्षा श्रेष्ठमार्गसे जाना अच्छा नहीं है?

अर्जुनकी मति स्वकर्तव्यके विषयमें संशयित होगयी थी, युद्ध करनेसे उच्च गति होगी अथवा युद्ध न करनेसे होगी, इस विषय में उसको संदेह हुआ था। अपनी शंका दूर करनेके लिये अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्णजीसे सलाह पूच्छी। भगवान् ने उत्तर में कहा कि 'बुद्धियोगसे ब्राह्मी स्थिति मिलती है तथापि तू कर्म कर, तू युद्ध कर।' इस उत्तर से अर्जुन की शंका दूर होनेकी अपेक्षा और भी बढ गयी!! उपदेश करनेका यह कैसा ढंग है कि शिष्यकी शंका मिट जानेकी अपेक्षा बढ जाय!! अतः अर्जुनने पूछा कि 'यदि कर्म की अपेक्षा समबुद्धि श्रेष्ठ है, तो मुझे कहो कि समबुद्धि की धारणा कर। ऐसा उपदेश न करते हुए हे भगवन्! आप मुझे घोर युद्ध करनेकी प्रेरणा क्यों कर रहे हैं? यह घोर युद्ध पाप की खान है, इसमें डूब मरनेका उपदेश आप मुझे क्यों कर रहे हैं? यह आपका कथन ऐसा है कि जैसा एक रोगी किसी वैद्य से चिकित्सा करवाने के लिये उसके पास गया, उसे वैद्यने कहा कि 'विष मृत्यु लानेवाला है और यह औषध निःसंदेह आरोग्य देनेवाला है, तथापि तू इस विषको पी जा' ऐसी अवस्थामें जो अवस्था उस रोगी की होगी, वही इस समय मेरी बनी है। यदि किसी अन्धेने सीधा मार्ग पूछा, तो उसको सीधा मार्ग ही बताना चाहिये; उसको ऐसा नहीं कहना चाहिये कि, 'यह सरल मार्ग है, परंतु इस तेढे मार्ग से हि तू जा।' भगवन् आपने तो ऐसाहि मुझे भ्रममें डाल दिया!! अतः प्रार्थना है कि मुझे इस समय जो कुछ करना चाहिये, उस का निश्चय करके कोई एक मार्ग मुझे बताइये, जिससे मुझे शीघ्रहि कल्याण प्राप्त हो जाय।

अर्जुन की यह शंका भगवान् श्रीकृष्णने श्रवण की, और उसकी भ्रांति अधिक ही बढ गई यह जानकर, उसका समाधान करनेकी इच्छासे वे कर्मयोगका तत्व कहने लगे—

दो प्रवृत्तियां।

(३-४) इस जगत्में धार्मिक मनुष्योंमें उपासिका

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

अन्वयः- कर्मणां अनारम्भात् पुरुषः नैष्कर्म्यं न अश्नुते । (कर्मणां) च संन्यसनात् एव सिद्धिं न समधिगच्छति॥४

केवल कर्मका प्रारंभ न करनेसे हि मनुष्य निष्कर्मता को नहीं प्राप्त होता और केवल कर्म को त्यागनेसेहि सिद्धिको नहीं पा सकता ॥४॥

भावार्थ- इस विषयमें यहां कोई यह न समझे कि कर्मका प्रारंभ न करनेमात्रसेहि केवल कर्मके दोष दूर होसकते हैं, अथवा कर्मका त्याग करनेसेहि केवल किसी सिद्धिकी प्राप्ति होना संभव है । ये दोनों विचार अशुद्ध हैं ॥३-४॥

साधन करने की दो निष्ठाएं अर्थात् दो प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं । यहां ' निष्ठा ' शब्द का अर्थ (नि-स्था) 'किसी बातमें अत्यन्त स्थिर रहना' है । ज्ञानमार्ग में अत्यंत स्थिर रहना और वहांसे विचलित न होनेका नाम ' ज्ञान-निष्ठा' है और कर्ममार्ग में अत्यन्त तत्परता के साथ स्थिर रहने का नाम ' कर्म-निष्ठा ' है । ज्ञान और कर्म ये दो साधन निश्रेयस की सिद्धिके लिये निश्चित हैं । कई मनुष्य ज्ञाननिष्ठावाले होते हैं और दूसरे कई कर्मनिष्ठावाले होते हैं । ज्ञाननिष्ठावाले कर्म को तुच्छ मानते हैं और कर्मनिष्ठावाले ज्ञान को अगम्य अर्थात् कठिन मानते हैं । इस प्रकार इन दोनोंमें सहकारिता कम दिखाई देती है । सांख्य लोग ज्ञानपर श्रद्धा रखनेवाले और योगी कर्म पर श्रद्धालु होते हैं । प्रायः लोगोंका यह ख्याल है कि ये दोनों मार्ग बिलकुल भिन्न हैं और उनमें परस्पर मेल नहीं है ।

शरीरमें ज्ञान और कर्मसाधन ।

अपने शरीरमें भी आंख, नाक, कान, रसना, त्वचा,और मन ये ज्ञाननिष्ठावाले इंद्रिय हैं । और हाथ, पांव, मुख, उपस्थ और गुदा ये कर्मनिष्ठ इंद्रिय हैं । येभी एक दूसरेका कार्य प्रायः नहीं करना चाहते, ये सदा अपने हि सामर्थ्य में मस्त रहते हैं । यहां विचार यह करना है कि, उक्त इंद्रियों में कर्मशील इंद्रिय श्रेष्ठ हैं वा ज्ञानशील इंद्रिय श्रेष्ठ हैं ? बालक विशेष विचार न करनेपर भी कहेगा कि हाथ पांवकी अपेक्षा आंख नाक कान श्रेष्ठ हैं । जो लाभ शरीर में ज्ञानेंद्रियोंसे हो सकता है, वह लाभ कर्मेंद्रियोंसे नहीं हो सकता, यह बात नितान्त सत्य है । आंख अपनी दर्शन शक्तिसे सूर्यलोकसे भी परे प्रवास करती है, परंतु कर्मयोगी हाथ पांव पृथ्वी छोड कर बहुत दूर जा नहीं सकते । आंख दृष्टिक्षेपसे निमेषार्धमें सूर्यको घेर सकता है, वैसा हाथ या पांव भूमिकी प्रदक्षिणा करना चाहें तो कई वर्ष लगेंगे । शरीर स्थानीय इन ज्ञानदेवों और कर्मदेवों में शक्तिकी इतनी न्यूनाधिकता एवं विभेद है । यह भेद कदापि मिट नहीं सकता ।

कर्मदेव और ज्ञानदेव ।

वाचक यहां ज्ञानदेवोंकी शक्तिका विचार करें अपना मन यह इंद्रशक्तिसे और चान्द्रशक्तिसे युक्त है । इसमें इन्द्र-विद्युत-की चञ्चलता है और सोम की शान्ति भी है । यह मन कल्पना के वेग से बिजली के समान क्षणार्धमें कहां का कहां दौड सकता है । आंख कितनी दूरस्थ पदार्थोंका दर्शन कर सकते हैं, कान कितनी दूर के शब्द सुनता है और नाक भी केवल वास ग्रहण करके पदार्थ का स्वभावधर्म जान सकता है । इतनी शक्ति इन शरीरस्थानीय कर्म देवों में निःसन्देह नहीं है । पांव दौडने लगे तो कहां तक दौड लगायेंगे । हाथ तो कुछ यंत्रादि साधन बनाकर

दौडका वेग बढा भी सकते हैं। मुख शब्दोच्चार और उपदेश आदि द्वारा कुछ विशेष कार्य कर भी सकता है, परंतु इतना होनेपर भी ज्ञानदेवोंका सामर्थ्य इन कर्मदेवोंमें नहीं है। इस रीतिसे विचार करनेपर इस बातका निश्चय हो जाता है कि, ज्ञान निष्ठावालों की योग्यता कर्मनिष्ठावालों की अपेक्षा बहुत ऊंची है। अतः कहा है--

अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः।
स एक आजानदेवानामानन्दः॥
बृ० उ० ४।३।३३

स एको ब्रह्मण आनन्दः। तै० उ० २।८

कर्मदेवोंके सौ आनन्दों के बराबर देवोंका एक आनन्द है और देवोंके हजारों आनन्दों के बराबर ब्रह्मका-ज्ञान-का एक आनन्द है। स्थूल कर्मेंद्रियोंसे प्राप्त होनेवाला आनन्द, ज्ञानेन्द्रियोंसे मिलनेवाला आनन्द, सूक्ष्म अन्तःकरणसे होनेवाला आनन्द और आत्मानुभवसे प्राप्त होनेवाला आनन्द इनमें बहुत अन्तर है और वह अन्तर उक्त प्रमाणसे बताया है। इसका तात्पर्य यह है कि, कर्म साधनोंकी अपेक्षा ज्ञानसाधन कई गुणा श्रेष्ठ हैं और उसी प्रमाणसे उनसे होनेवाले फलोंमें भी भेद है। अर्थात् कर्म और ज्ञानके साधन, मार्ग, फल आदिमें भी इसी प्रकारका भेद है। तथापि कर्मेंद्रिय और ज्ञानेन्द्रिय एक हि मज्जाप्रवाह से ज्ञानतन्तुओंसे और आत्मशक्तिसे प्रेरित होनेके कारण दोनोंमें एक हि शक्ति कार्य कर रही है, इस दृष्टिसे दोनों में समानता भी है। कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग में श्रेष्ठ कनिष्ठ होनेका भेद दर्शानेके लिये अपने शरीरके ज्ञानमार्गी और कर्म मार्गी निसर्ग प्रवृत्त इंद्रियों में जो स्वाभाविक उच्चनीचता है, वह यहां हमने देखी और उनमें सामान्यता भी देखी।

परंतु यह विचार भी कोई अन्तिम निर्णय नहीं है, क्योंकि आंखने देखा और रूप ग्रहण किया, यह ज्ञानेन्द्रिय होते हुए भी देखनेका कर्म करता है, मन अन्तर्ज्ञानका इंद्रिय होते हुएभी मनन का कर्म करता ही है, इस प्रकार ये सब ज्ञानेन्द्रिय एक रीतिसे कर्मेन्द्रिय हि हैं। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ भी सब को आन्तरिक प्रेरणा देनेका कर्म करताहि है। इस रीतिसे सभी कर्म मार्गी हैं। इसलिये दोनोंमें इस दृष्टिसे अभेद भी है। पाठक यहां देखें कि दोनोंमें भेद कहां है और अभेद किस रीतिसे है।

मनुष्योंके प्रवृत्तिभेद।

सांख्यमतवाले लोग ज्ञाननिष्ठ हैं और योगमतवाले कर्मनिष्ठ हैं। जगत् में धार्मिक लोगोंमें ये दो प्रकार की बुद्धियां हैं। कई लोग तत्त्वज्ञानमें रमते हैं और कई लोग अनुष्ठानपर बल देते हैं। कई कहते हैं कि बहुत शब्दज्ञान प्राप्त करनेसे क्या लाभ होगा? जो भी कुछ थोडा ज्ञान प्राप्त हुआ हो, उसको अपने आचरणमें ले आओ। दूसरे कोई ऐसा कहते हैं शरीरको कर्ममें घसीटनेसे क्या लाभ होगा, भाई, ज्ञानसे अपने मनको शुद्ध करो। मन चंगा हुआ तो सब चंगा हो जायगा। ये इस प्रकार दोनों मत जगत् में प्रचलीत हैं। इस विवाद का विचार करके निश्चय करना चाहिये कि इनमें सत्य क्या है?

कर्मसे दोषकी संभावना।

कर्म करनेसे मनुष्यको कुछ न कुछ दोष लगता है और यदि पूर्वोक्त कथनके अनुसार ज्ञानमें भी कुछ न कुछ कर्म होनेका संभव हुआ, अथवा ज्ञानके साथ साथ कर्म होनेकी भी संभावना माननेकी आवश्यकता हुई, तब तो दोनों हालतों में कुछ न कुछ कर्म होगा और कर्मके साथ कुछ न कुछ दोष भी होगाहि। यहां प्रश्न होता है कि यदि इस प्रकार सर्वत्र दोषकी संभावना है, तो दोषसे बचना किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्नके उत्तरमें दो विवादियोंने दो युक्तियां सन्मुख रखी हैं, वे युक्तियां ये हैं—

१ कर्मका प्रारंभ न करनेसे कर्म न होगा और मनुष्य निर्दोष रहेगा, अथवा—

२ कर्मका प्रारंभ हुआ हो, तो आगे कर्मका त्याग करनेसे दोषसे भी मुक्ति होगी।

ये दो युक्तियां विवाद कर्ताने प्रस्तुत की हैं। और उसके मनमें ऐसा विचार आया कि, कर्मके दोषसे छूटनेकी युक्ति मुझे हस्तगत हो चुकी है। परंतु इस भ्रम को दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि- "कर्मका प्रारंभ न करनेमात्रसेहि मनुष्य निष्कर्मा नहीं हो सकता और कर्मका त्याग करनेसेहि मनुष्यको सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।" यह भगवान् की घोषणा सुनतेहि विवाद कर्ताकी पूर्वोक्त दोनों स्थापनाएं उसको अपने मनसे दूर करनी पडीं। और फिर कर्मका दोष हटानेके लिये क्या किया जाय, इसकी चिन्ता उसके पीछे जैसीकी वैसी लगी रही।

भगवान् कहते हैं कि 'कर्मका प्रारंभ न करने से मनुष्य कर्महीन नहीं हो सकता।' क्यों कि मनुष्यने कुछभी कर्म नहीं किया तो भी वह 'कर्म न करना' किंवा 'स्तब्ध रहना' भी एक कर्म ही है। कर्म न करनेपर भी यह कर्म बनता हि है, इससे कैसे छूट सकते हैं? अर्थात् कर्मका प्रारंभ न करनेसे कर्मरहित होना असंभव है।

अच्छा, कर्म करके उसका त्याग करनेसे मनुष्य कर्मरहित होगा या नहीं? भगवान् कहते हैं कि, यह भी नहीं होगा। क्योंकि कोई मनुष्य किसी समय में चुपचाप बैठा, उसने कुछ भी हलचल नहीं की, तो यह उसका चुपचाप बैठनेका जो कर्म है, वह किस प्रकार त्यागाजायगा? क्यों कि वह तो गत समयमें हो चुका है। जो तो हो चुका है वह अपने पल्ले पड गया, उसको त्यागना कैसे हो सकता है? अतः कृत कर्म का भी त्याग असंभव है। कृत कर्म तो हो चुका है और वह अपने ऊपर आचुका है। अर्थात् कर्म का प्रारंभ न करना भी अशक्य और कर्मका त्याग तो उससे भी अशक्य है, क्योंकि कर्म का त्याग भी एक कर्म ही है, फिर उसको त्यागना कैसे संभव हो सकता है?

यहां कई लोग पूछेंगे कि कर्म से इतना क्यों डरा जाता है? कर्मसे दोष लगता है ऐसा जो कहा जाता है वह कैसे सत्य है? कर्म से दोष क्यों लगता है और कैसे लगता है? इस का विचार अब यहां करेंगे—

मनुष्य का कोई कर्म लीजिये। मान लीजिये कि मनुष्य चुपचाप बैठा है, बिलकुल हलचल नहीं करता, ऐसी अवस्थामें उससे कालका निरर्थक व्यय होनेका दोष हो रहा है। इस प्रकार कर्म न करनेसे, चुप बैठनेसे किंवा कर्म न करनेका जो उसने कर्म किया उससे ही यह दोष बन गया!! अब दूसरा कर्म देखिये कोई मनुष्य अन्नदान करनेके लिये अन्न पकाता है, उस पकानेमें अनन्त जीवोंकी हत्या होती है, यह दोष अनिवार्य है। तीसरा कर्म देखिये एक मनुष्य गुरुके पास विद्या पढ रहा है, उसमें अनेक प्रकारसे गुरुको कष्ट देनेका दोष अनिवार्य है। इस रीतिसे कोई कर्म कितनाभी उत्तम क्यों न हो, उसमें किसी न किसी रीतिसे कोई दोष अवश्य होता हि है। दोषरहित कर्म करना प्रायः अशक्य है। कई कर्मोंके दोष हम देख सकते हैं और कई कर्मोंके दोष बहुत विचार करने पर हमें ज्ञात हो सकते हैं। परंतु दोषरहित कर्म नहीं हो सकता, यह बात सत्य है। पाठक भी अनेक कर्मों के उदाहरण अपनी विचारकी दृष्टिके सामने रखकर उनके गुणदोषोंका विचार करें और कर्मके साथ दोष और गुण कैसे लगे हैं, इसका विचार करें। यहां कोई यह न समझे कि, कर्म से केवल दोषहि होते हैं और गुण नहीं होते। गुणभी होते हैं और दोष भी होते हैं। परंतु गुणोंका फल अच्छा होनेके कारण मनुष्य सदा उसको चाहताहि है; परंतु दोषोंकी बात वैसी नहीं है। दोषोंसे बुरा फल होता है, वह भोगनेके समय उसको दुःख होता है, अतः उसको दूर करनेका विचार मनुष्य सदा करता रहता है। अतः कर्मके दोषोंसे बचनेका उपाय

(३) प्रकृतिधर्म।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

अन्वयः- कश्चित् जातु क्षणमपि अकर्मकृत् न हि तिष्ठति। प्रकृतिजैः गुणैः सर्वः हि अवशः कर्म कार्यते ॥५॥

कोई कभी एक क्षणभर भी विना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृतिसे उत्पन्न गुण पराधीन बनाकर सबसे कर्म कराते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ- प्राणिमात्र की प्रवृति ऐसी है कि उसकारण एक क्षणभर भी वह विना कर्म किये रह नहीं सकता। प्रकृतिके गुणोंसे पराधीन बना हुआ हरएक प्राणी कर्म करताहि रहता है ॥ ५ ॥

कथन करने के लियेहि शास्त्रोंकी प्रवृत्ति है। इस गीताशास्त्रने कर्मके दोषोंसे बचनेका सबसे उत्तम उपाय कहा है, यही गीताशास्त्र की विशेषता है। यह अत्यंत आवश्यक विषय क्रमसे आगे आजायगा। इसी विषयका उपक्रम करनेकी इच्छासे शरीरके स्वभाव का वर्णन भगवान् करते हैं—

कर्म अनिवार्य है।

(५) प्राणिमात्र का सहज प्रकृतिधर्म यहां कहा है। प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति ऐसी है कि, वह क्षणमात्रभी विना कर्म किये रह नहीं सकता। इच्छासे करे, अनिच्छासे करे, स्वभावसे करे अथवा कैसी भी वृत्तीसे करे, उससे कर्म होनाहि है। कुछभी करो कर्म छूटता नहीं। मनुष्य स्तब्ध रहा तोभी उस समय उससे स्तब्ध रहनेका कर्म होता है। अच्छा, स्तब्ध रहना या चुप बैठना यह कर्म न माना जाय, तो भी स्तब्ध रहा मनुष्य विना आयास दूसरे के शब्द सुनता है, यह उसका श्रवण रूप कर्म है। उसके नाक में सुगंध या दुर्गंध गया, तो उसका ग्रहण स्वयं होता हि है, वह वासग्रहण का कर्म हुआ। आंख खुले रहनेपर बाहरका दृश्य दीखताहि है, इस रीतिसे उससे दृश्य देखनेका कर्म होता है। बाहरकी हवामें सर्दी और गर्मी रही, तो कुछ भी किये विना उसके शरीरको उस सर्दी और गर्मी का भास होता है, अर्थात् चुप बैठा मनुष्य सर्दीगर्मी लेनेका कर्म करता रहता है। और मलत्याग, मूत्रका उत्सर्ग, पसीना आना, छींके आदि अनेक स्वाभाविक कर्म उससे स्वभावतया होते रहते हैं। मनुष्यका शरीर स्तब्ध रखा गया, तो भी उसके मनके व्यापार बंद नहीं होते; वह मनसे मनन करके अनेक कर्म करता रहता है। निद्रा लेनेका कर्म होताहि है, तथापि उसमें स्वप्न आने लगे, तो वह स्वप्न देखनेका भी कर्म करता है, यह कर्म कैसे रोका जाय? स्वप्न अवस्थापर किसका नियंत्रण है? और देखिये, यह सब न हुआ, ऐसा भी क्षणभरके लिये मान लीजिये; परंतु हरएक प्राणी जीवित रहनेका कार्य तो करता ही है, श्वास प्रश्वास, हृदयकी धुकधुक, आंखोंका खोलना और मूंदना, ये कर्म शरीरके स्वभावसेहि होते हैं; इसके अतिरिक्त, शरीरका जीर्ण होना, रोगी होना, नीरोग रहना आदि कर्म होते हैं; अन्तमें यदि मर गया, तो मरनेका भी एक कर्म उससे होता है!! जन्म लेने का कर्म और मरनेका कर्म ये दो बडे भारी कर्म हैं, जो हरएक प्राणी करता है। इसप्रकार विचार करनेपर पाठकोंको पता लगेगा कि, कुछ कर्म न करने का निश्चय करनेपर प्राणिमात्रसे इतने असंख्य

कर्म प्रकृतिके स्वभावसेहि होते रहते हैं। अतः मनुष्यका कर्मोंका प्रारंभ न करनेका निश्चय और कर्मोंके त्याग करनेका निश्चय ये दोनों निश्चय अव्यवहार्य हैं। कर्म न करना तो एक क्षणमात्र भी संभवनीय नहीं है।

परवशता।

कर्म करनेके विषयमें जैसे सब प्राणी वैसा मनुष्य भी पराधीन है। उसकी प्रकृतिके आधीनहि वह रहता है और उसकी प्रकृति उससे कर्म कराती है। जिस प्रकार इसको प्रकृतिके गुणधर्म नचाते हैं, उस रीतिसे यह नाचता रहता है। प्रकृतिके तीन गुण हैं, सत्त्व रज और तम। तमोगुणसे आलस्य, रजोगुणसे प्रवृत्ति और सत्वगुणसे समता रहती है। इन गुणों के न्यूनाधिक प्रमाणसे इसमें विविध कर्मवृत्तियां उत्पन्नहोती हैं। अतः इस ने कहा कि 'मैं कर्म नहीं करूंगा,' तो भी वह प्रतिज्ञा व्यर्थ है। प्रकृतिका बल इसको परवश करके इस से विविध कर्म करावेगाहि। इसी कारण कहा है कि— हर एक प्राणी क्षणमात्र भी कर्म किये विना नहीं रह सकता। अतः गीतामें आगे कहा है कि—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
भ० गी० १४।५

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥
भ० गी० १४।२०

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
भ० गी० १४।२६

"प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्त्व रज और तम ये तीन गुण हैं। ये तीन गुण अविनाशी देहधारी जीव को शरीरमें बांध देते हैं॥ देहसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणोंसे पार होकर देहधारी जीव जन्म मृत्यु और जरासे छूटता है और मोक्ष प्राप्त करता है॥ इन तीन गुणोंको लांघ कर जीव ब्रह्मरूप बननेके योग्य होता है।" तथा और देखिये—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥२
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। ।
श्रद्धमयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥३॥
भ० गी० १७।२-३

"मनुष्यमें स्वभावसेहि सात्विक, राजसी और तामसी इन तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है। इस विषयमें मैं कहता हूं सो तू सुन॥ सब की श्रद्धा अपने स्वभावके अनुसार हुआ करती है। मनुष्य में कुछ न कुछ श्रद्धा तो अवश्य होती है। जिस मनुष्यमें जैसी श्रद्धा होती है वह मनुष्य वैसा बनता है।"

देहधारी जीवको प्रकृतिके गुण कैसे परवश करते हैं और उससे विविध कर्म कैसे कराते हैं, इस विषयमें ये श्लोक मनन करने योग्य हैं। इन तीन गुणोंसे (तीन रस्सियोंसे) यह जीव इस देहमें बांधागया है। यह अव्यय और स्वतंत्र है तथापि इसको प्रकृतिने इन तीन रस्सियोंसे बांध रक्खा है, यही बात वेदमें भी कही है—

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥ त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्॥ ऋ० ४।५८।३-४

"तीन स्थानों में बंधा हुआ यह बलवान् आत्मा बडा शब्द करता है, यह बडा देव मर्त्य शरीरमें प्रविष्ट होकर बडा आवेश उत्पन्न करता है॥ (पणिभिः) पण अर्थात् व्यवहार करनेवाली इंद्रियोंने तीन प्रकार से (गवि गुह्यमानं हितं) प्रकृतिमें गुप्त रखा हुआ यह है। इस (घृतं) स्नेहपूर्ण तेजस्वी आत्माको दिव्य गुणी लोगहि प्राप्त करते हैं।" दूसरे कोई इसको प्राप्त नहीं कर सकते। तीन गुणोंसे बांधकर इस जीव को प्रकृतिने पारतंत्र्यमें रखा है और इसको पराधीन बनाकर यह प्रकृति इससे जैसे चाहिये वैसे कर्म कराती है, और यह परवश होकर प्रकृति गुणोंके अनुसार कर्म करता जाता है। जो इन तीन बंधोंका

(४) मिथ्याचारी।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

अन्वयः— यः कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते, सः विमूढात्मा मिथ्याचारः उच्यते ॥ ६ ॥

जो कर्मेन्द्रियोंको बलसे रोक कर, मनसे इन्द्रियोंके भोगोंका स्मरण करता है, उस मूढबुद्धिको मिथ्याचारी कहते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो हट से कर्मेन्द्रियोंका निरोध तो करता है, परंतु अन्दरहि अन्दर मनसे भोगोंका चिन्तन करता है, उस मूर्खको मिथ्याचारी अर्थात् दाम्भिक कहते हैं ॥ ६ ॥

अतिक्रमण करता है, जो इन तीनों बंधनों को तोड देता है, वही स्वतंत्र होकर स्वानंदसे विचरता है, ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य को कर्म का लेप नहीं लगता। इस विषयका विशेष वर्णन आगे योग्य प्रसंगमें आजायगा। अतः यहां इतनाहि पर्याप्त है।

यहां इतनाही बताना है कि 'जीव प्रकृतिके गुणोंसे बंधा जानेके कारण परतंत्र होकर, गुण जैसी प्रेरणा करते हैं वैसे कर्म यह जीव करता जाता है। इसलिये कोई जन्तु एक क्षणभर भी विना कर्म के नहीं रहता।' आन्तरिक प्रवृत्ति होनेपर भी शरीर से कर्म न किये, तो उसका परिणाम क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर आगेके श्लोक में देखिये —

(६) दाम्भिक लोग।

(६) इस श्लोकमें दाम्भिक लोगोंकी मूढताका वर्णन किया है। ये लोग कर्मेन्द्रियोंको तो स्तब्ध रखते हैं, परंतु ज्ञानेंद्रियोंसे और विशेषतः मनसे भोगोंका मजा उडानेका विचार करते रहते हैं, येलोग रातदिन विषयोंकी प्राप्तिके लिये तडफते हैं, परंतु बाहरसे शरीरको साधुके समान सजाकर स्तब्ध रखते हैं! येमूढ और मिथ्या व्यवहार करनेवाले हैं। इनकी अधोगति होती है। ये समझते हैं कि 'शरीरसे कर्म न करनेमात्र सेहि सिद्धि होती है।' परंतु यह भ्रम है। शरीर से, हरएक कर्मेंद्रियसे किंवा ज्ञानेन्द्रियसे कर्म नभी किया जाय परंतु मनसे विषयोंका चिन्तन होता रहे, तो अवश्य दोष होता है। कर्मेन्द्रियोंको और शरीरको स्तब्ध रखने के साथ साथ यदि मन शुद्ध न रहा, तो दोषोंसे मुकता नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ देखिये जो लोग किसीको वाणीसे गालियां तो नहीं देते, परंतु मनमें गाली देनेका विचार करते हैं अथवा मन ही मन गालियां देते भी हैं; उनके वाणीको स्तब्ध रखनेसे क्या लाभ हो सकता है? उनके मनने जो दोष करना था वह कियाहि है, केवल व्यक्त शब्दोच्चारण उसने किया नहीं। परंतु इससे वह निर्दोष नहीं हो सकता।

कामविषयक प्रवृत्तिके लोग बाह्य शरीरसे न भी कामोपभोग करें, परंतु मनसे यदि काम का विचार वारंवार करेंगे, सुंदरताका वर्णन वारंवार पढेंगे, वैसे चित्र वारंवार देखेंगे, मनमें उनसे संगति होनेकी कल्पना करेंगे, तो निःसंदेह कामातिसेवन का दोष उनको होगा, उस दोषका परिणाम उनके शरीरपर होगा, वे शरीरसे क्षीण और वीर्यहीन बनेंगे और अन्तमें क्षयविकार के शिकार बन जांयगे। केवल मनसे विचार करनेसे

(५) अनासक्तियोग।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

अन्वयः-हे अर्जुन! यः तु मनसा इंद्रियाणि नियम्य,असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं आरभते, सः विशिष्यते॥७॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य मनसे इंद्रियोंको वशमें रख के, आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोग का अनुष्ठान करता है, वही श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

कितनी हानि होती है, इसकी स्पष्ट कल्पना यहां पाठकोंको हो सकती है। काम मनमें हि उत्पन्न होता है, अतः उसका नाम 'मनसि-ज' है और शरीरसे कुकर्म हो या न हो, वह मनहि मन में रहकर वहां और शरीरमें बडे दोष उत्पन्न करता है, जिसका परिणाम कुसंगतिमें रहे अनेक दुःशील तरुणोंको आयुभर भोगना पडता है।

शरीरकी स्तब्धता।

यहां कोई यह न समझे कि शरीरको स्तब्ध रखनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता तो है। जो दोषोंसे बचना चाहता है वह शरीर को स्तब्ध अवश्य रखे, परंतु साथहि साथ मन को भी शुद्ध रखनेका यत्न करे।

योगासनों के अभ्यास में शरीर को स्तब्ध और निश्चल रखनेकाहि अभ्यास मुख्य है। कुछ समय शरीर बिलकुल शांत रखा जाय और यदि वह शरीर सचमुच निश्चल रहा, तो, मनकी स्वाधीनता होनेमें बडी सहायता होती है। योग के आसन शरीर को अचञ्चल करने के लिये, प्राणायाम प्राणको स्थिर करनेके लिये और ये दोनों मनको स्थिर करनेके लिये अनुष्ठेय हैं। यह हठयोगका क्रम है जो शरीरको स्थिर करता हुआ मनको स्थिर करनेकी अभिलाषा करता है। परंतु इसमें यह बात है कि शरीरके स्थिर करने के अनुष्ठानके साथसाथ मनको शुद्ध, पवित्र और स्थिर करनेका अनुष्ठान होना चाहिये। शरीरको स्तब्ध रखना और मनको विषयोंमें भटकने देना कभी इष्ट नहीं। ऐसा करना तो दांभिकता है। हठयोगमें इस प्रकारकी दांभिकता का लेशभी नहीं है।

राजयोग में मन को विचार से और ज्ञान से शांत करनेका अनुष्ठान करना होता है। राजयोगियोंकी रीतिसे मनको शांत करनेसे प्राण शान्त होता है और इन दोनोंकी शान्तिसे शरीर शान्त और अचञ्चल होता है। राजयोगी ऊपरसे नीचे आता है और हठयोगी नीचेसे ऊपर जाता है। परंतु यहां इन दोनों योगोंमें किसी एकको स्तब्ध रखना और दूसरेको विषयोंमें फंसा देनेका बिलकुल भाव नहीं है। प्रयत्न तो कर्मेंद्रिय, ज्ञानेंद्रिय, प्राण और मनको शान्त, शुद्ध, गंभीर और अचञ्चल करनेके लिये दक्षतासे करना चाहिये। केवल कर्मेन्द्रियोंको स्तब्ध रखकर मन में विषयों का मजा उडानेसे कार्य न चलेगा। यह दांभिकता भलेहि अन्धसमाज में आडंबर मचानेमें सहायता देवे, परंतु इससे किसीप्रकार आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। इससे निश्चयपूर्वक गिरावट ही होसकती है। पत्थर स्तब्ध रहता है, परंतु उस स्तब्धताका नाम शान्ति नहीं है और इसप्रकारकी स्तब्धतासे कुछ उन्नतिकी भी कोई आशा नहीं है। मनुष्य कर्म करता हुआ शान्तिका अनुभव करे, यह ध्येय है। मनुष्यपर विपत्तियां आनेपर वह न डरे, यह अभीष्ट है। कर्म करता हुआ न करनेके समान शान्त रहे, यह सिद्धि किस प्रकार आचरण करनेसे हो सकती है; इसका विचार आगेके श्लोकोंमें किया है वे श्लोक अब देखिये-

कर्मयोगका आचरण।

(७-९) इन श्लोकों में कर्मयोग का अनुष्ठान

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

अन्वयः-त्वं नियतं कर्म कुरु, अकर्मणः हि कर्म ज्यायः। ते शरीरयात्रा च अपि अकर्मणः न प्रसिद्ध्येत् ॥८॥ यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयं लोकः कर्मबन्धनः। हे कौन्तेय ! मुक्तसंगः तदर्थं कर्म समाचर ॥ ९ ॥

इसलिये तू नियत कर्म कर, कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है। तेरे शरीर का निर्वाह भी विना कर्म किये नहीं होगा ॥ ८ ॥ यज्ञ के लिये किये गये कर्मोंके सिवाय अन्य कर्मोंसे इस लोकमें बन्धन होता है। इसलिये हे कुन्तीपुत्र! आसक्ति छोडकर यज्ञके निमित्त कर्म कर॥९॥

भावार्थ— मनुष्य अपने इंद्रियोंको अपने आधीन रखे, उसको इधर उधर भटकने न दें और आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्मको करे। जो इस रीतिसे कर्म करेगा वही श्रेष्ठ होगा॥ विहित कर्म मनुष्यको करनाहि चाहिये। कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना बहुत श्रेष्ठ है। कर्म न करनेसे शरीर का जीवन भी चल नहीं सकता॥ यज्ञ के लिये जो कर्म किये जाते हैं वे बन्धनकारक नहीं होते; यज्ञ का हेतु छोडकर जो किये जाते हैं उनसेहि कर्ताको बन्धन होता है, इस लिये आसक्ति छोडकर मनुष्य यज्ञके लिये कर्म करे ॥७--९॥

किस रीतिसे करना चाहिये, इसका उपदेश दिया है। कर्मयोग का आचरण करनेवाले लोग इन श्लोकोंका उत्तम मनन करें। इस कर्मयोगके अनुष्ठान के कुछ सिद्धान्त इन श्लोकोंमें वर्णन किये हैं, इनका क्रमशः विचार करते हैं—

नियत कर्म करना।

अष्टम मंत्रमें "नियतं कुरु कर्म त्वं" अर्थात् तू नियत कर्म कर ऐसी आज्ञा की है। इस के दो अर्थ होते हैं। देखिये—

१ 'त्वं नियतं कर्म कुरु'=तू [अपने धर्म के अनुसार तुम्हारे लिये कर्तव्य रूपसे] निश्चित हुआ कर्म कर। अथवा—

२ 'त्वं कर्म नियतं कुरु'= तू कर्म सदा कर।

पहिले अर्थ में 'नियत' शब्द 'कर्म' शब्दका विशेषण है। और दूसरे अर्थ में 'नियत' शब्द कालवाचक अव्यय है। इस वाक्य का अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेके लिये 'नियत' शब्दके अर्थ का अधिक विचार करना चाहिये। कोशोंमें इसके निम्नलिखित अर्थ मिलते हैं—

नियत- (१) मर्यादासे युक्त, जो मर्यादामें है, जो मर्यादाओंसे मर्यादित हुआ है, जो अपने अधिकारमें है, नियमानुसार जो कर्तव्य हुआ है, आत्मसंयमसे जो निश्चित हुआ है, जिसमें मर्यादाका अतिक्रमण नहीं हुआ है, निश्चित, अनुशासनसे निर्णीत, नित्य, सनातन, स्थिर, सदा से प्राप्त, टालने अयोग्य, अवर्जनीय, स्पष्टतासे निर्णीत या निश्चित, स्वीकृत व्रतके अनुसार कर्तव्य। (२) सदा, हमेशा, निरंतर। निश्चय से, अचूक रीतिसे, स्थिरतासे, अचंचल रूपसे, अवश्य।

'नियत' शब्द के ये अर्थ हैं। दूसरा अर्थ लेनेपर इस अष्टम श्लोकका ऐसा अर्थ होता है

कि—"(त्वं कर्म नियतं कुरु) तू कर्म सदा करता रह, क्यों कि (हि अकर्मणः कर्म ज्यायः) कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अच्छा है, आलसी बैठनेकी अपेक्षा सदा कुछ न कुछ कर्म करना उत्तम है। (अकर्मणः ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिद्ध्येत्) खाली बैठे रहोगे, तो तेरे शरीरकी स्थिती भी ठीक रीतिसे नहीं होगी।" अर्थात् शरीका स्वास्थ्य उत्तम अवस्थामें रहनेके लिये शरीरके अवयवोंसे कुछ न कुछ कर्म करालेना चाहिये। शरीरको कर्महीन, आलसी अथवा हलचल रहित रखा जाय, तो इस शरीरका स्वास्थ्य भी आलस्य के कारण बिगड जायगा। अतः आलस्यमें समय गमानेकी अपेक्षा कुछ न कुछ कर्म करना बहुतही अच्छा है। कमसे कम शरीर यात्रा भी तो चलती रहेगी। इस हेतुसे मनुष्य सदा कुछ न कुछ प्रयत्न करता रहे। प्रयत्नहीन मनुष्यकी अपेक्षा प्रयत्नशील मनुष्य बहुत अच्छा है।

ऐच्छिक और स्वाभाविक कर्म।

पञ्चम मंत्रमें कहा है कि "कोई एक क्षण के लिये भी तो खाली नहीं रह सकता, प्रकृतिके गुण बलात् उससे कर्म कराते रहते हैं।" इस स्वभावसिद्ध नियम के अनुसार कोई कर्महीन नहीं रह सकता। यह सत्य है, तथापि ये कर्म स्वाभावधर्मसे होनेवाले हैं। जैसा रेलमें बैठा मनुष्य पैदल न चलता हुआ भी सैंकडों मीलोंकी सफर करता है, रेलके स्वभाव के आधीन होनेसे रेलके गुणधर्म इससे बलात् सफर करवाते हैं। इसी प्रकार जीव प्रकृतिके आधीन होनेसे प्रकृति के गुणधर्म उससे कर्म कराते हैं। परंतु जिस प्रकार रेलकी सफर और पैदल सफर में भेद है; उसी प्रकार स्वाभाविक कर्म और ऐच्छिक कर्ममें भी भेद है। पैदल सफर करनेवालेका शरीर सुदृढ होता जाता है और रेलसे सफर करनेवालेका शरीर अकड जाता है। इसी तरह प्रकृति स्वभावसे होनेवाले कर्मोंसे जीवकी शक्तियाँ अकडजाती हैं, परंतु ऐच्छिक सत्कर्म करनेसे जीवकी शक्तियाँ विकसित होती हैं। इसलिये स्वाभाविक कर्मोंकी अपेक्षा ऐच्छिक विशेष कर्म कई दर्जेसे श्रेष्ठ हैं।

पञ्चम मंत्रमें शरीरधर्मसे होनेवाले कर्मोंका वर्णन है। वे कर्म तो जीवमात्रसे होतेहि रहते हैं। उनसे न किसीकी उन्नति होगी और न अवनति। वे कर्म न करनेसे खराबी अवश्य होगी। परंतु मनुष्यको ऐच्छिक श्रेष्ठ कर्म अपनी उन्नतिके लिये अवश्य करने चाहियें। ये ऐच्छिक कर्म उत्तम रीतिसे किये, तो उनका अच्छा फल कर्ताको प्राप्त होगा; कर्म करनेमें अशुद्धि हुई तो दोष होकर अवनति होगी; परंतु दोनों अवस्थाओंमें कुछ न कुछ दोष अवश्य बनेगा (अ०३ श्लोक३-४ का विवरण देखिये)। इसलिये कई लोग बल से शरीरको रोकते हैं, उनके विषयमें छठे मंत्रमें कहा है कि- "जो ऊपर ऊपरसे इंद्रियोंको रोक कर भीतरहि भीतर विषयों का मजा उडाने का विचार करता है वह मिथ्याचारी किंवा ढोंगी है।" इसप्रकार बलसे शरीरको रोकनेसे कोई लाभ नहीं है,इस तरह शरीरको रोकनेसे "कुछ न कुछ कर्म करना अच्छा है,आलसी रहनेसे उद्योग करना अच्छा है" ऐसा मनुष्यकी कर्मकी ओर प्रवृत्ति करनेके उद्देश्यसे अष्टम मंत्रमें कहा है।

परंतु (त्वं कर्म नियतं कुरु) तू सदा कर्म कर, इतनाहि इसका अर्थ करनेकी अपेक्षा 'नियत' शब्दका पहिला अर्थ लेकर इसका (त्वं नियतं कर्म कुरु) "तू [धर्ममर्यादाके अनुकूल तुह्मारे लिये] निश्चित हुआ कर्म कर" ऐसा अर्थ करना अधिक योग्य है। अथवा 'तू अपने लिये निश्चित हुआ कर्म सदा कर' ऐसा अर्थ करना भी अधिक योग्य है। इसमें दोनों अर्थोंका आशय आ जाता है। मनुष्यको कर्म करना आवश्यक है अतः वह नियत कर्म हि सदा करता रहे। यहां नियत कर्म कौनसा है इस विषयका विचार करना चाहिये—

नियत कर्म।

'नियत कर्म' का आशय दो प्रकार से व्यक्त हो सकता है। एक नियत कर्म वह है कि, जो धर्मशास्त्र के द्वारा प्रत्येक मनुष्यके लिये निश्चित हो चुका है। शमदम तप आदि ब्राह्मण के लिये, शौर्य, युद्धसे अपलायन, दान आदि क्षत्रिय के लिये; कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य वैश्यके लिये और कारीगरी तथा परिचर्यादि कर्म शूद्र के लिये धर्मशास्त्र द्वारा निश्चित हुए कर्म हैं। चार वर्णों में उत्पन्न हुए मनुष्योंके इस प्रकार के चतुर्विध कर्म धर्मशास्त्र द्वारा निश्चित हो। ये हि कर्म नियत कर्म हैं और जिस वर्ण में जो उत्पन्न हुआ है उसके लिये येहि नियत कर्म हैं। अपने वर्ण और अपने आश्रम केलिये जो कर्म धर्मशास्त्रसे नियत हुआ है,वह उस मनुष्य को सदा करना चाहिये। 'नियतं कर्म कुरु' अपने लिये नियत हुआ कर्म कर इसका एक आशय यह है। भगवद्गीतामें आगे इसी उद्देश्यसे कहा है कि—

शास्त्रप्रमाण।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
भ० गी० १६।२४

'कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करनेके समय तुझे शास्त्रोंको प्रमाण मानना चाहिये, और शास्त्रोंमें जो कुछ कहा है, उसको समझकर, तदनुसार इस लोकमें कर्म करना तुझे उचित है।' यहां शास्त्र का अर्थ आप्त तत्त्वज्ञानी पुरुषों द्वारा रचित मानवी धर्म के ग्रंथ है। यदि धर्मनियमों में बदल करना हो, तो मनुष्य समाज की परिस्थिति देखकर आप्तपुरुष वैसा बदल धर्मग्रंथोंमें करें। वह अधिकार सामान्य मनुष्य को नहीं है। धर्मशास्त्रकी रचना आप्त पुरुष करें, और अन्य लोग उन नियमों के अनुसार आचरण करें। इस प्रकार करनेसे कोई मनुष्य अयोग्य कर्म कर हि नहीं सकता, किसी मनुष्यसे अधर्म हो नहीं सकता, मनुष्य समाज सदा सन्तुष्ट और आनन्द से रह सकता है और आत्मोन्नति करनेके लिये उसको बहुत अवसर मिल सकता है।

यहां अर्जुन के विषयमें इसका आशय यह है कि, अर्जुन क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न होने के कारण उसका धर्म 'शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धसे पीछे न हटना, दान और प्रभुत्व का भाव ये हैं।' (भ० गी० १८।४३) इन क्षत्रियके धर्मोंमें (युद्धे अपलायनं) युद्धसे पीछे न हटना यह एक धर्म है, शौर्य, धैर्य, तेजस्विता, प्रभुत्व का भाव ये भी धर्म उसके साथ हैं। क्षत्रिय के कुलमें उत्पन्न हुए एक मनुष्य के लिये ये 'नियत कर्म' हैं अर्थात् ये उसको सदा करने अत्यंत आवश्यक है। यदि किसी क्षत्रिय को अपने कर्तव्याकर्तव्य के विषयमें भ्रम उत्पन्न हुआ तो इस शास्त्रवचन को देखे-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
(भ० गी० १८।४३)

इस प्रकारके अन्यान्य वचन वेद और शास्त्र में देखे और अपने कर्तव्य का निश्चय क्षत्रिय करे। वेद में इन्द्र, मरुत्, रुद्र आदि क्षात्र देवता ओंके मंत्रोंमें क्षत्रियके धर्म और कर्म कहे हैं, मनु आदि स्मृतियोंमें ये ही धर्म वेदके अनुसार स्वतंत्र प्रकरणोंमें कहे हैं,पुराणोंमें क्षत्रियोंके उत्तम चरित्र हैं जिनके पढनेसे क्षत्रियके धर्म विदित हो सकते हैं, इसमें और विचार के लिये आधुनिक युगके श्रेष्ठ क्षत्रियोंके जीवन चरित्र लिये जा सकते हैं, तथा आधुनिक विचारकोंके सद्विचार भी विचार के लिये लिये जा सकते हैं। श्रुति स्मृति सदाचार और आत्मतुष्टि ये धर्म के चार लक्षण हैं। और इन से जो निश्चित होता है वह मनुष्य का नियत कर्म है।

अर्जुन क्षत्रिय है अतः उसका धर्मशास्त्रके अनुसार कर्तव्य "युद्ध से न भागना" अर्थात् "युद्धमें स्थिर रहकर शत्रुके साथ युद्ध करना" है। यह कर्तव्य अर्जुन नहीं करता,प्रत्युत शास्त्रके

विरुद्ध आचरण करता है। इस समय अर्जुन नियत कर्म का त्याग कर रहा है, यह बडा भारी पाप उस से हो रहा है। इस पापसे बचानेके लिये भगवान् कह रहे हैं कि 'हे अर्जुन! तू नियत कर्म कर। अन्य हीन कर्म करनेसे अथवा आलस्य में सडनेसे नियत कर्म करना बहुत अच्छा है।' वर्णाश्रमधर्म के अनुसार क्षत्रिय कुलोत्पन्न वीर का जो नियत कर्म है वह उसको करनाहि चाहिये। न करनेसे दोष होगा। यह दोष कितना भयानक है देखिये—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
भ० गी० १६।२३

'जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोडकर स्वेच्छासे व्यवहार करता रहता है, वह न तो सिद्धि को पाता है, न सुख कमाता है और न परम गतिको प्राप्त कर सकता है।' इस प्रकार उसकी सब प्रकारकी उन्नति मारी जाती है। शास्त्र विधिका उल्लंघन करनेका कितना घोर परिणाम है यह देखिये। अर्जुन इस समय शास्त्र से निश्चित हुआ नियत कर्म छोडकर स्वेच्छासे व्यवहार करना चाहता है, ऐसा करनेसे उसको न किस प्रकार की सिद्धि मिल सकती, न सुख प्राप्त हो सकता और न परलोक में उच्चगति मिल सकती। फिर किस आशा से यह मनुष्य स्वेच्छाचार में प्रवृत्त होवे?

पाठक यहां 'नियत कर्म' करनका यह संदेह ठीक रीतिसे समझें। श्रेष्ठ दूरदर्शी विचारी निःपक्षपाती महाज्ञानी आप्त पुरुषोंने चार वर्णों और चार आश्रमों में रहनेवाले मनुष्योंको जो कर्म करने चाहियें ऐसा कहा और जहां उनका वर्णन किया है, उसका नाम शास्त्र है। प्रत्येक मनुष्य का इस शास्त्रके अनुसार नियत कर्म निश्चित हुआ है। हरएक मनुष्यको यह कर्म अवश्य करना चाहिये। इस विषयमें गीता में कहा है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥४५
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥४६
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८
भ० गी० १८

"अपने अपने नियत कर्ममें रत रहकर मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर सकता है। जिससे इस संसारकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने यह संसार फैलाया है, उसकी पूजा जो मनुष्य अपने निज कर्मसे करता है वह सिद्धिको प्राप्त करता है॥ सुकर परधर्म की अपेक्षा अपना गुणरहित निज धर्मही अधिक कल्याणकारी है। स्वभावसे नियत हुए कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता॥ सहज कर्म सदोष होता हुआ भी नहीं छोडना चाहिये। क्योंकि दोष तो सब कर्मोंके साथ रहते हि हैं॥"

सहज कर्म।

इस वर्णनसे नियत कर्मका अर्थ निश्चित होगा। "स्वकर्म, स्वधर्म, स्व-भाव-नियत कर्म, सहज-कर्म" ये शब्द नियतकर्म का अर्थ करनेके समय विशेष महत्त्वके हैं। 'सह-ज कर्म' का अर्थ है 'अपने जन्मके साथ जन्मा हुआ कर्म'। प्रत्येक मनुष्यके साथ उसका कर्म निश्चितरूपसे जन्मता है। इसी प्रकार 'स्व-भाव-नियत कर्म' का अर्थ 'अपने भाव अर्थात् सद्भाव किंवा जन्मके साथ नियत हुआ कर्म'। इन दोनों शब्दोंका अर्थ प्रायः एकहि है। यहां 'स्वभाव' का अर्थ शील नहीं है प्रत्युत 'स्वजन्म' है। चार वर्णोंमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके जन्मके साथ ही उनके कर्मभी उत्पन्न होते हैं। और वे उनको करनेहि चाहियें। इस प्रकार अर्जुन का 'सह-ज अथवा स्व-भाव-नियत' कर्म 'युद्धमें स्थिर रहकर युद्ध करना' था। यह (सदोष) हिंसारूप दोषसे युक्त हो, (विगुण) गुणरहित हो, सत्त्वगुणरहित हो, इससे

(परधर्म) ब्राह्मणादिकोंका शमदम रूप धर्म कितना भी (स्वनुष्ठित) करनेको सुकर क्यों न हो और कितनाभी गुणवान् क्यों न हो, अर्जुन का क्षत्रिय होनेके कारण कर्तव्य था कि वह (स्वकर्मणा तं अभ्यर्च्य) युद्धरूप स्वकर्मके द्वारा हि परमेश्वरकी पूजा करे और परम सिद्धि प्राप्त करे। युद्धसे निवृत्त होना ब्राह्मण और वैश्यके लिये अधर्म न होवे, परंतु क्षत्रिय के लिये युद्ध-भूमि से भागना बडा घोर अधर्म होगा, और उससे उसका पतन होगा। प्रत्येक वर्ण का इस प्रकार नियत कर्म उसके जन्मके साथ निश्चित हुआ है और वह उसको करना हि चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को जो नियत कर्म कर-नेका उपदेश कर रहे हैं उसका यह तात्पर्य है।

'नियत कर्म' का अर्थ 'इंद्रियसंयम से किया हुआ कर्म' ऐसा भी होता है। यह अर्थ स्वीकारने पर इस श्लोक का यह अर्थ होगा कि 'हे अर्जुन तू (नियतं कर्म कुरु.) अपनी इंद्रियोंको नियमन में रखकर कर्मों को कर, (अकर्मणः कर्म ज्यायः) क्यों कि 'कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है।'' यह अर्थ इस के पूर्व श्लोक के आशय के साथ संगत भी है, तथापि यह अर्थ यहां अपेक्षित है या नहीं इस विषयमें मुझे बडी शंका है। यदि केवल 'इंद्रिय संयमसे किये हुए कर्म' हि यहां अपेक्षित हैं, तब तो अर्जुन आत्म-संयमपूर्वक तपस्या करनेकी तैयारी करके हि बैठा था। वह वनवासी होकर कन्दमूल फलाहारी होता हुआ भिक्षावृत्तिसे शमदम का मार्ग अव-लंबन करना चाहता था। यह ब्राह्मधर्म का अनु-यायी होकर अधिक से अधिक आत्मसंयमके मार्ग से जानेका इच्छुक था। अतः यदि भगवान् को केवल 'इंद्रियसंयम से किया हुआ नियत कर्म' हि अभीष्ट था, तो वे उसको क्यों रोकते, और क्यों युद्ध में प्रवृत्त करते? इस रीतिसे विचार करनेपर विदित होगा कि यह अर्थ इस स्थानपर संगत नहीं है। यहां तो अर्जुनको जन्म के साथ प्राप्त सहज और स्वभाव नियत युद्ध-रूप कर्म संयम से करनेका उपदेश भगवान् कर रहे हैं। और अन्यान्य मनुष्योंको भी वर्णाश्रम के अनुसार प्राप्त कर्म करनेका उपदेश कंठरव से दे रहे हैं। मनःसंयमसे दिल चाहे सो कर्म करनेका भाव यहां नहीं है, क्यों कि अर्जुन भी किसी प्रकार अधर्मपथमें प्रवृत्त नहीं था, क्षत्रियसे भिन्न वर्ण के कर्म में तो निःसन्देह प्रवृत्त था। अतः भगवान् चाहते थे कि, वह अपने निजधर्म में प्रवृत्त होवे और अन्य वर्णके धर्म से उसकी प्रवृत्ती हटे।

परिस्थितिसे प्राप्त कर्म।

'नियत कर्म' का अर्थ और भी एक है। 'जो परिस्थितिके अनुसार कर्तव्य होता है और टालने अयोग्य होता है वह नियत कर्म है।' जगत्की परिस्थिति ऐसी बनती है कि उस समय वह कर्म अवश्य करने योग्य होता है। देश काल वर्तमान की परिस्थितिके अनुसार जो कर्तव्य है वह भी 'नियत कर्म' कहा जा सकता है। यह नियत कर्म मनुष्य को करना अत्यंत आवश्यक है। यह अपरिहार्य कर्म है। जैसा राष्ट्रपर बडी भारी आपत्ति आगई, शत्रुकी बडी सेना आगई और उसके सन्मुख केवल अकेले क्षत्रिय ठहर नहीं सकते, ऐसी अवस्था प्राप्त होनेपर ब्राह्मण, वैश्य आदि लोगोंने भी राष्ट्रके स्वयंसेवक बनकर, अपने स्वयंसेवक पथक बनाकर शस्त्र धारण करके युद्धभूमिमें जाकर शत्रुपर चढाई करना चाहिये, अतः कहा है—

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥३४८
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति॥३४९
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥३५०॥
मनु० अ० ८

जब, धर्म में साहसी लोग बाधा उत्पन्न करेंगे तब सब द्विजातियोंको शस्त्र लेकर युद्धके लिये तैयार होना चाहिये । जब सब वर्णोंपर आपत्ति आवे, आत्मरक्षा की शंका हो, सबको युद्ध करना आवश्यक हो, स्त्री की रक्षा और ज्ञानीकी रक्षा करनेका प्रसंग हो, उस समय हर एक मनुष्यको शस्त्र धारण करना चाहिये । आततायीका वध हरएक मनुष्य करे, उससे दोष नहीं लगता ।' इस प्रकार की जब राष्ट्रपर आपत्ति आती है तब हरएक के लिये शस्त्र धारण करना और युद्धके लिये समरभूमिमें जाना आवश्यक होता है । इस प्रकारके अनेक प्रसंगों में जो भी कर्तव्य कर्म उपस्थित होवे, वह उस समयके लिये 'नियत कर्म' कहा जा सकता है और वह उसके वर्णाश्रमके अनुकूल न भी हुआ तो भी वह उसको करना चाहिये ।

'नियत कर्म' का यह अर्थ निःसन्देह है, परंतु अर्जुन के लिये ऐसी कोई आपत्ति नहीं थी । उसकेपास जो नियत कर्म आया था, वह उसका सहजप्राप्त वर्ण के अनुकूल हि युद्धरूप कर्म था । इस लिये अर्जुन के प्रसंगमें यह अर्थ संगत नहीं होगा, तथापि किसी अन्य मनुष्यके लिये किसी विशेष प्रसंगमें यह अर्थ योग्य होगा। तथा आजकल जहां प्रायः वर्णाश्रमधर्म लुप्त हुआ है, और लोग शास्त्रमर्यादा के अनुसार नहीं चलते हैं, उस समय इस प्रकार का अर्थ 'नियत कर्म' का मानकर बोध प्राप्त करना योग्य है ।

कोई मनुष्य किसी ओहदेपर अथवा स्थानपर होता है, उस ओहदे अथवा स्थान के कारण उसके लिये कुछ कर्म नियत होते हैं । वे कर्म उनको करने चाहिये । 'नियतं कुरु कर्म त्वं' इस का यह आशय पाठक ध्यानमें धारण करें ।

आलस्य और प्रयत्न ।

इसके आगे 'हि अकर्मणः कर्म ज्यायः' कहा है । इसका अर्थ ऐसा होता है कि 'कर्म न करने से कर्म करना अच्छा है ।' आलस्य से पुरुषार्थ प्रयत्न अधिक अच्छा है। आलसी रहनेकी अपेक्षा उद्योगी होना बहुत उत्तम है । कर्महीन होनेसे कर्मयुक्त होना अच्छा है । यहां 'अकर्म' का अर्थ कर्म न करना, आलस्य आदि है । इसी 'अकर्म' शब्दका अर्थ 'निर्दोष कर्म' ऐसा आगे आनेवाला है । उसी समय उस अर्थका विचार करेंगे। यहां आलस्य इतनाहि इसका अर्थ है। इसी लिये आगे इसी श्लोक में कहा है कि (शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः) आलस्यसे तेरे शरीरका भी निर्वाह नहीं होगा । क्योंकि शरीर की सुस्थितिके लिये भी मनुष्य को उद्योग करना चाहिये । अतः कहते हैं कि आलस्य रोग है और उद्यमशीलता स्वास्थ्य का चिन्ह है। इस लिये मनुष्य समझे कि जिस समय सुस्ती आजाय उस समय उसमें कुछ रोगबीज घुसे हैं और जिस समय उसमें उद्योग करनेका उत्साह बढ रहा हो, उस समय वह स्वास्थ्यसंपन्न है। अस्तु । यहां तक इस आठवे मन्त्रने कहा कि ' मनुष्यको नियत कर्म करना चाहिये, आलसी रहनेकी अपेक्षा कर्मण्यता कल्याणकारिणी है, आलस्य से शरीरका स्वास्थ्य भी ठीक तरह नहीं रह सकता ।' इस आज्ञाके अनुसार कर्म करना आवश्यक हुआ, अब विचारना चाहिये कि यह कर्म किस तरह किया जावे? इसका उत्तर सप्तम मंत्रने इस प्रकार दिया है--

विशेष श्रेष्ठ मनुष्य ।

१ 'मनसा इंद्रियाणि नियम्य'= मनसे इंद्रियोंका संयम करे और

२ 'असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं आरभते'= आसक्तिरहित होकर कर्मेंद्रियोंसे, कर्मयोग का आचरण करे ।

३ 'सः विशिष्यते'= जो ऐसा कर्मयोग करता है उसकी योग्यता विशेष होती है ।

इस मन्त्रमें 'विशेष मनुष्य' किस प्रकारका आचरण करनेसे होता है यह दर्शाया है । मनसे अपने इंद्रियोंका संयम करना और आसक्ति

छोडकर कर्मयोग का आचरण करना, इससे मनुष्य की योग्यता वरिष्ठ दर्जेकी होती है। अर्थात् इस विशेष मनुष्यके लक्षणसे हमें तीन प्रकारके मनुष्य हैं यह बात विदित होती है, देखिये—

१ विशेष मनुष्य— जो इंद्रियसंयम करता है और आसक्तिरहित होकर नियत कर्म करता है,

२ सामान्य मनुष्य- जो इंद्रियदमन का विशेष सा विचार नहीं करते, परंतु सकाम कर्म धर्मानुकूल करते हैं,

३ अधम मनुष्य- जो अपने इंद्रियोंको विषयों में फंसाते हैं, अपने भोगों को बढानेके लिये जो मर्जी आये करते जाते हैं। किंवा जो बिलकुल आलसी होते हैं, बिलकुल यत्न नहीं करते।

मनुष्यको उचित है कि वह 'विशिष्टता' प्राप्त करनेका यत्न करे। सामान्य और अधम कोटी में अपने आपको रखनेका कभी यत्न न करे। हर-एक मनुष्य 'विशेष' बननेका यत्न करे, इस प्रकार का उत्साह मनुष्य में उत्पन्न करनेके हेतुसे हि इस सप्तम मंत्रमें 'विशेष' बननेका मार्ग कहा है। इसीका नाम 'अनासक्तिका कर्मयोग' है।

इंद्रियोंका संयम।

इस 'अनासक्ति के कर्मयोग' के लिये सबसे पहिली आवश्यक बात इंद्रियोंके संयम की है। (मनसा इंद्रियाणि नियम्य) मनसे इंद्रियों का दमन करना चाहिये। मनके आधीन सब इंद्रियां हैं, इसीलिये मन को इंद्रियोंका राजा कहते हैं, इस राजाके आधीन ये सब इंद्रियाँ रहें, यह राजा भी धर्मपथमें स्थिर रहे अर्थात् मनके सहित संपूर्ण इंद्रियां धर्ममार्ग में संयम के साथ विचरें। कोई इंद्रिय स्वेच्छाचारी न बने।

इंद्रियोंका संयम होनेके पश्चात् कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोग का आचरण आसक्ति छोडकर करे। इसी कर्मयोग के विषयमें पूर्व स्थानमें (भ० गी० अ० २ श्लो० ४७-५१ तक) विशेष रीतिसे कहा है, वह उपदेश पाठक यहां अवश्य पढें।

'आसक्ति छोडकर, सिद्धि और असिद्धि के विषयमें समबुद्धि रखकर, योगमें स्थिर होकर कर्म कर। इस समत्व को हि योग कहते हैं। फल के हेतुसे कर्म करनेवाले निकृष्ट होते हैं, अतः तू समत्व बुद्धि का आश्रय कर॥ इस जगत् में समत्व बुद्धिसे युक्त मनुष्य दोनों सुकृत और दुष्कृत को दूर करते हैं। इस लिये तू समत्वरूप बुद्धियोग का साधन कर। कर्मोंमें जो कुशलता है उसको योग कहते हैं॥ इसलिये समत्व बुद्धि से युक्त ज्ञानी लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फल का दान करके जन्मबन्धसे मुक्त होकर दुःख-रहित स्थान को प्राप्त होते हैं॥ (भ० गी० २।४८-५१)'

इस रीतिसे अनासक्तिरूप कर्मयोग का वर्णन इससे पूर्व आगया है। कर्म का फल अपने भोग के लिये नहीं रखना, कर्म के फल को जगत् की भलाई के लिये समर्पण करना; इसी को कर्मफल का त्याग अथवा दान कहते हैं, इसी का नाम अनासक्ति और इसी का नाम कर्मयोग है। जो इस रीतिका कर्मयोग करता है वही विशेष उच्च अवस्थाको प्राप्त होता है।

एक राजा उत्तम राज्यशासन चलाता है, जो कर प्रजासे लेता है उसको अपने भोग बढाने में खर्च न करता हुआ वह प्रायः सब कर का धन प्रजाकी सच्ची उन्नति करनेमें खर्च करता है। यह राजा कर्मयोगी है। परंतु जो राजा राष्ट्रका धनकोश अपनी चैन के लिये खर्च करता है वह भोगी है। कर्मयोगी राजा राष्ट्रशासन का धनरूपी फल जनता की सच्ची उन्नतिके लिये समर्पित करता है, परंतु भोगी राजा सब धन अपनी चैन और अपने विलासोंके लिये खर्च करता है। इसी कारण पहिले राजा को 'विशेष श्रेष्ठ राजा' कहते हैं और दूसरे को 'अधम पापी' कहते हैं। इस रीतिसे अनासक्ति से विशेषता की प्राप्ति होती है। अनासक्ति, कर्मफलत्याग, निष्कामता आदि शब्दोंका

(६) सहयोगी यज्ञ ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

भाव यही है, और यही भाव अगले नवम श्लोक में अधिक स्पष्ट हुआ है—

कर्मयोग।

(यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयं लोकः कर्म-बन्धनः) यज्ञ के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उन यज्ञ कर्मोंसे मनुष्यको बंधन नहीं होता; परंतु जो दूसरे कर्म मनुष्य करता है उनसे मनुष्यको बन्धन होता है। इस कारण (तदर्थं कर्म मुक्तसंगः समाचर) यज्ञ के लिये कर्म आसक्ति छोडकर कर। अर्थात् यज्ञकर्म से मनुष्य बन्धनसे छूटता है, मनुष्य निर्दोष होता है और यज्ञरहित अन्य कर्मोंसे मनुष्यको बन्धन होता है। यहां यज्ञ शब्दका केवल होमहवन अर्थ नहीं है। आगे भ० गीता अ० ४ में श्लोक २५ से ३२ तक विविध यज्ञ कहे हैं। उनमें ये मुख्य हैं- इंद्रियसंयमयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, इत्यादि यज्ञोंमें होमहवन रूप एक यज्ञ है, परन्तु उससे भिन्न अनन्त यज्ञ हैं, मानो मनुष्यके जीवन व्यवहारमें क्षणक्षणमें यज्ञ हो सकते हैं, मनुष्यकी आयु यज्ञमय होनी चाहिये। मनुष्यका बोलना, चालना, खाना, पिना, सोना और जागना सब यज्ञरूप होना चाहिये। भगवद्गीता का यही उपदेश प्रारंभसे अन्ततक स्पष्ट रीतिसे दीखता है।

अतः यज्ञ का अर्थ क्या है, इसका यहां विचार करना चाहिये। "यज्" धातुके देवपूजा-संगति-करण-दान ये तीन अर्थ हैं। निर्भयता, पवित्रता, ज्ञान में निष्ठा, दान, शम, दम, स्वाध्याय, तपश्चर्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शान्ति, भूतदया, निर्लोभवृत्ति आदि दैवी संपत्तिवाले लोगोंका नाम देव है, इनका सत्कार करना, संगतिकरण करना अर्थात् संगठन करना और दान करना; ये तीन बातें जहां होती हैं उस कर्म का नाम यज्ञ है। सत्कार-संगठन और उपकार ये तीन लक्षण यज्ञ के हैं। जिस कर्मसे सन्मान्य मनुष्योंका सत्कार होता है, जनता का संगति-करण-संगठन-होता है, जिससे विभक्तता नहीं होती, तथा जिससे दीनोंपर उपकार किया जाता है, वह यज्ञ कहलाता है। अपने कर्म से उत्पन्न होनेवाला फल जनताकी भलाई के लिये त्यागने की तैयारी के विना कोई यज्ञ नहीं होता। इसी यज्ञसे मनुष्य उच्च होता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस समय तक जितने मनुष्य उच्च कोटीके होचुके हैं, उन्होंने किसी न किसी रूपसे अपनी आयु यज्ञरूप बनायी थी।

इस प्रकारके यज्ञके हेतुसे जो कर्म होते हैं, उनसे कर्ताको कोई दोष नहीं लगता, परंतु जो कर्म अपने स्वार्थ के लिये होते हैं, अपनी चैन बढाने के लिये होते हैं, उनसे मनुष्य दोषी बनते हैं। इस प्रकारके यज्ञ कर्म आसक्ति रहित होकर निःस्वार्थ भावसे मनुष्य करे।

यहां 'अनासक्तियोग' के अनुष्ठान के लिये (१) इंद्रियोंका दमन, (२) मनका संयम, (३) फलपर आसक्ति न रखना, (४) नियत कर्म करना, (५) यज्ञरूप कर्म करना, इन पांच मर्यादाओं की आवश्यकता है ऐसा कहा है। मनुष्यके लिये यह यज्ञ स्वाभाविक है वा नहीं यह शंका यहां हो सकती है, इसका उत्तर देनेकी इच्छासे श्रीकृष्ण भगवान् मनुष्यके साथ हि यज्ञकी उत्पत्ति होनेका वर्णन करते हैं, वह उत्तम बोध अब देखिये—

सहज यज्ञ।

(१०-१३) यहां जो मुख्य बात कही है वह

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

अन्वयः- पुरा प्रजापतिः सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा 'अनेन यूयं प्रसविष्यध्वम्, एषः वः इष्टकामधुक् अस्तु' इति उवाच ॥१०॥ अनेन (यूयं) देवान् भावयत, ते देवाः वः भावयन्तु, (एवं) परस्परं भावयन्तः परं श्रेयः अवाप्स्यथ ॥११॥ यज्ञभाविताः देवाः वः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते। तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय, यः भुङ्क्ते, सः हि स्तेनः एव ॥१२॥ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते। ये तु आत्मकारणात् पचन्ति, ते पापाः अघं भुञ्जते ॥१३॥

सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापति ब्रह्माने यज्ञके साथ प्रजाको उत्पन्न करके 'इस यज्ञद्वारा तुम्हारी वृद्धि होवे, यह तुम्हें इच्छित कामनाओंको देनेवाला होवे' ऐसा कहा॥१०॥ इस यज्ञसे तुम लोग देवोंको सन्तुष्ट करते रहो, और वे देव तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए तुम सब परम कल्याण को प्राप्त करो ॥११॥ यज्ञ से सन्तुष्ट हुए देव तुम्हें इच्छित भोग देंगे, उन्हीं का दिया हुआ उन्हें कुछ भी न देकर, उसका भोग जो स्वयं करता है, वह सचमुच चोर है॥१२॥ यज्ञ करके शेष बचे हुए भागको खानेवाले सज्जन सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। परंतु जो तो अपने लिये ही अन्न पकाते हैं, वे पापी लोग पापहि खाते हैं॥१३॥

भावार्थ— परमेश्वरने प्रजाको यज्ञके साथ उत्पन्न किया है, और ऐसी जगत् की रचना की है कि, जो यज्ञ करेंगे उनकीहि वृद्धि होगी और उन्हीं की कामनाएं तृप्त होंगी। जो यज्ञ नहीं करेंगे, वे नाश को प्राप्त होंगे और उनकी इच्छाएँ कभी तृप्त नहीं होंगी॥ यज्ञसे मनुष्य देवोंकी सन्तुष्टी करेंगे, तो देवभी मनुष्योंको तृप्त करेंगे। इस रीतिसे एक दूसरे की सहायता करते हुए सब कल्याण को प्राप्त होंगे॥ यज्ञ से सन्तुष्ट हुए देव मनुष्योंको इष्ट भोग अवश्य देंगे, परन्तु उन इष्ट भोगोंमेंसे कुछ भाग यदि मनुष्य उन्हें श्रद्धासे वापस नहीं देंगे और सब अपने लिये हि रखेंगे, तो वे निःसन्देह चोर होंगे॥ यज्ञ करनेके पश्चात् जो अवशिष्ट बचता है, उस का ही जो मनुष्य अपने लिये स्विकार करते हैं, वे पुण्यके भागी होते हैं। परंतु जो अपने भोगोंकी हि सिद्धता करते हैं, वे पापका भोग करते हैं॥ १०-१३ ॥

यह है कि 'यज्ञ प्रजाके साथ उत्पन्न हुआ है।' यहां कोई यह न समझे कि केवल मनुष्यों के साथहि यज्ञ उत्पन्न हुआ है, नहि। यह यज्ञ तो प्राणियों और वृक्षादिकों के साथ भी उत्पन्न हुआ है। परंतु मनुष्य ज्ञानसंपन्न प्राणी है इस लिये उसको उचित है कि इस यज्ञकी अपने साथ उत्पत्ति हुई है यह जाने और उसका अनुष्ठान करे। पशुपक्षी, वृक्ष वनस्पति, पृथ्वी आदि

पंचमहाभूत तथा अन्यान्य सजीव अथवा निर्जीव वस्तुमात्र, अपने साथ यज्ञकी सहज उत्पत्ति हुई है यह बात न जानते हुए स्वभावसेहि यज्ञ करते रहते हैं, मानो उनका यज्ञ स्वभावसे हि हो रहा है, परंतु मनुष्यको यह यज्ञ बुद्धिपूर्वक करना चाहिये। क्योंकि मनुष्य ज्ञानवान है और वह अपने धर्मसंबंधी कर्तव्य ज्ञान के साथ करता है।

जगत् में यज्ञ।

यहां कई पाठक पूछेंगे कि सब स्थिरचर पदार्थोंके साथ यज्ञ उत्पन्न हुआ है इस विषयमें प्रमाण क्या है? इस विषयमें उत्तर इतनाहि है कि पाठक अपने आंख खोलकर जगत् के अन्दर देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, सब जगत् के स्थिरचर पदार्थ न जानते हुए स्वभावसेहि यज्ञ कर रहे हैं। देखिये, इस जगत् में द्युलोक निवासी भगवान् सूर्य प्रकाशता है, वह जगत् की भलाई के लिये अपनी शक्तिका समर्पण कररहा है, आत्मसमर्पण कर रहा है, अपने तेजसे दूसरोंका सत्कार कर रहा है, सब को संगठित होने के लिये प्रकाश देता है, निशाचरों और दुष्टोंको दूर करता है, सज्जनोंका मार्ग खुला करता है, जगत् को जीवनशक्ति देकर उन को जीवित रखता है, यह सब सूर्य का यज्ञ ही है। सूर्य के नंतर अन्तरिक्ष निवासी वायु सब जीवोंका और वृक्षादिकोंका भी प्राण बना है, यह अपना समर्पण करके दूसरों को जिलाता है, यदि क्षणमात्र यह वायु आत्मसमर्पण करना बन्द करे, तो उसी क्षण सब प्राणी मरजांयगे। इसी प्रकार अन्तरिक्ष स्थानीय मेघ को प्रजापति भी कहते हैं और इस प्रजापतिके यज्ञसे आर्योंके वाङ्मयका बहुत सा भाग भरा पडा है। यह मेघ केवल परोपकार के लिये हि जीवित रहता है, केवल परोपकार के लिये जगत् में विचरता है और जगत् की भलाई के लियेहि वृष्टिसे वर्षता है, मानो अपने प्रत्येक अंश का समर्पण यह परोपकार के लिये करता है। परोपकार के लिये आत्मसर्पण करनेमें मेघ की बराबरी कोई कर नहीं सकता। मेघमें जितने भी जलबिंदु होते होंगे, उन सबका वह यज्ञ करता है, निःस्वार्थ भाव की और पूर्ण परोपकारके भाव की इस में परमसीमा है। अपने लिये कुछ भी न रखते हुए अपनी सब सत्ता परोपकारार्थ समर्पण करने में मेघ की बराबरी कोई अन्य कर नहीं सकना। परोपकार रूपी यज्ञ की परमसीमा मेघमें पाठक अनुभव कर सकते हैं।

इस ढंगसे द्युलोक और अन्तरिक्ष की देवताओंका स्वभावसे होनेवाला यज्ञ देखनेके पश्चात् पाठक इस पृथ्वीपर अवलोकन करेंगे, तो उनको यहां भी सर्वत्र यज्ञ चल रहा है, यह अनुभव स्थान स्थानमें प्रत्यक्ष होगा। पहिले भगवती पृथ्वीको हि देखिये, यह सबको आधार देती है, सब को आधार स्थान देनेके लिये हि जिसका अस्तित्व है, कितनी इस मातृभूमि की सहनशीलता है। हम उसपर चलते हैं, खोदते हैं, ठोकते हैं, परंतु वह रुष्ट नहीं होती और हमें आधार देतीहि रहती है, इस विषयमें वेद स्वयं ऐसा उपदेश दे रहा है—

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्॥
अथर्व० १२।१।२८

'उठनेवाले, बैठनेवाले, खडे होनेवाले और चलनेवाले हम सब दाये और बाये पांवोंसे भूमि के अन्दर हम अधिक दुःख उत्पन्न न करें॥' इस रीतिसे यहां दक्षता धारण करने को कहा है कि अपने चाल चलनसे भूमिपर अधिक दुःख उत्पन्न न होवे। सब का दिया हुआ दुःख सहन करती हुई यह भूमिमाता हम सबको आधार दे रही है, यह तो इसके परोपकार की पराकाष्ठा है, परोपकारमें इसकी बराबरी कौन कर सकता है? इतनाही नहीं, परंतु यह भूमि हमें हरएक ऋतुमें कन्द मूल फल शाक और विविध अन्न तथा रस देकर तृप्त कर रही है, ये इस माताके कितने उपकार हैं? यह मातृभूमि हमारे कष्ट सहती है और—

ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि निषीदेम भूमे ॥ अथर्व० १२।१।२९

'यह भूमि पुष्टि देनेवाला अन्नभाग हमारे लिये धारण करती है।' वारंवार हमें अन्न देती है, ये इस मातृभूमिके हमपर अनंत उपकार हैं। इनका कितना वर्णन करें? इसी प्रकार जल के हमपर उपकार हो रहे हैं, जलदेव अपने मधुर रससे हमारी तृप्ति करता है, अपने अमृतरससे हमारे अनंत दोष दूर करता है.अतः इसको अमृत कहते हैं। यह जल स्वयं स्थान स्थानमें जाकर वृक्षों वनस्पतियों पशुपक्षियों और मानवोंको जीवन व्यतीत करनेमें सहायक होता है। यह इसका महान यज्ञ है। इसी प्रकार वृक्षों और वनस्पतियों को देखिये। ये तो अपने मधुर रसवाले फलों और फूलों से जो हमारी सहायता कर रहे हैं उसके लिये तो कोई मर्यादाहि नहीं है। इनका यज्ञ तो ऐसा है कि ये अपने आपको पूर्णतासे स्वाहा करके हमारा सुख बढाने में अपनी शक्तिकी पराकाष्ठा कर रहे हैं। देखिये घास अपना समर्पण करके गौ आदि पशुओंका पोषण करता है,यह इसका कितना स्वार्थत्याग है अथवा स्वार्थका पूर्ण समर्पण है? धान्य खा खाकर हम अपने शरीर बढाते हैं, एकहि हमारे भोजनमें कितने धान्य का स्वाहाकार होता है। देखये इस प्रकार विचार करके कि अकेले मनुष्यके लिये किस रीतिसे यह सब जगत् यज्ञ कर रहा है और यहां अनुभव करियेकि इसके लिये जगत् के सब भूतमात्र कितना त्याग कर रहे हैं?

यहां पाठक सब जगत् की ओर इस दृष्टिसे देखें और इस जागतिक यज्ञका अनुभव करें। इस जागतिक यज्ञसे अपना अस्तित्व है यह बात इस विचार से जानें और मनमें बहुत विचार करके समझें कि अपने अस्तित्व के लिये संपूर्ण जगत् में कितना त्याग हो रहा है,अपने अस्तित्व के लिये इस त्रिलोकी द्वारा कितना बडा यज्ञ हो रहा है, इसी यज्ञपर अपना अस्तित्त्व है। यदि यह यज्ञ न होगा,तो मनुष्योंका जीवित रहना भी असंभव है। यदि मनुष्य के लिये सब अन्य जगत् से इस प्रकार यज्ञ हो रहा है, तो क्या मनुष्यको जगत् के लिये कुछ समर्पण करना नहीं चाहिये? अवश्य करना चाहिये, क्यों कि इसी यज्ञ पर सब जगत् की स्थिति है, यज्ञसेहि सब जगत् चल रहा है, यज्ञ करनेके विना सुख भोगना चोरी करना है। अतः कोई मनुष्य चोर न बने। यज्ञ करनेसे हि मनुष्य का चोरी का अपराध दूर हो सकता है,इसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है।

शरीर में यज्ञ।

जैसा पाठकोंने संपूर्ण जगत् में यज्ञ देखा,उसी दृष्टिसे अपने शरीरमें यज्ञ चल रहा है,इस का अनुभव पाठक विचार की दृष्टिसे करें। यदि यहां यज्ञ न होगा तो यह शरीर क्षणमात्र भी जीवित नहीं रहेगा। इसका जीवन पूर्णतया यज्ञपरहि निर्भर है। देखिये, आंख देख रही है वह सब शरीरकी भलाई के लिये देख रही है, मानो अपनी दर्शन शक्तिका वह सब शरीर की भलाई के लिये समर्पण कर रही है। इसी तरह कान सुनता है, नाक सूंघता है, हाथ कार्य करते हैं, पांव इस शरीर को उठाकर स्थान स्थानपर ले जाते हैं, ये सब इन अवयवोंके यज्ञ इस सब शरीर की भलाई के लिये हो रहे हैं, मानो ये अपनी सब शक्तियोंका शरीरके लिये यज्ञ कर रहे हैं। आंख किसी फलको देखता है, नाक उसका वास सूंघकर निश्चय करता है कि यह शरीरके लिये हितकारी है या नहीं, पश्चात् पांव शरीरको उस के पास ले जाते हैं, हाथ उसको लेते हैं और मुखके आधीन करते हैं, मुख चबाता है और पेटके पास भेज देता है, पेट भी उसको पचाता है और रस बनाता है,वह रुधिरमें परिणत होता है और सब शरीर के अणुरेणुके पास उस फलका अंश पहुंचाया जाता है। इसमें एक का भी स्वार्थ नहीं, प्रत्येक अवयव अपनी शक्ति की पराकाष्ठा करता है और सब शरीर की भलाई

के लिये अपने शक्ति सर्वस्व का समर्पण करता है। यही यज्ञ है, जब तक यह यज्ञ यहां चलता है तब तकहि यह शरीर जीवित रहता है और जिस समय इनमें कोई एकाद् अवयव स्वार्थी बनता है, उसी समय शरीर की मृत्यु होती है।

इसका उदाहरण देखना हो तो कल्पना करिये कि अपने पेट ने अपना यज्ञ करना बंद किया और जो अन्न पेटमें आजाय, उसको पाचन करके सब शरीर भर उसका रस पहुंचाने का यज्ञरूप कार्य करना बंद किया, और जो अपने पास आजाय उसको अपने पासहि रख देना आरंभ कर दिया, तब पेट फूल जायगा, पेटमें गुफारा बढ जायगा, वायु कुपित होगा और अन्तमें मरण होगा। अर्थात् जब तक इस पेट का यज्ञ चल रहा है, तभी तक शरीरका जीवन है और जब यह यज्ञ बंद होगा, तब इस की मृत्यु होगी। इस प्रकार यज्ञ से जीवन और अयज्ञसे मरण होता है।

इस शरीरमें ३३ करोड अणुजीव हैं, वे जीवित हैं, वे जन्मते, खाते पीते, कार्य करते और क्षीण होकर मर जाते हैं। हरएक अंगमें और अवयवमें इनमें से लाखों कीटाणु निवास करते हैं। मानो यह इन का संघ है। मानो यह शरीर रूपी इन तैतीस करोड कीटाणुओंका एक प्रचण्ड राष्ट्र है। प्रत्येक अवयवमें जो कीटाणुओंका संघ है, उस के पास विशेष प्रकार का कार्य दिया हुआ होता है, कोई भी कीटाणु खाली बेकार बैठा नहीं है, हरएक कीटाणु किसी न किसी कार्य में निमग्न है, और वह सब शरीरकी भलाई के लिये अपने कर्म का समर्पण कर रहा है। आंख मे निवास करनेवाले कीटाणु अपने देखनेके कार्य को सब शरीर की भलाई के लिये समर्पण करते हैं, इसी प्रकार पेट के प्रदेशमें निवास करनेवाले कीटाणु अपने पाचन रूपी कर्म को सब शरीर की सुस्थितिके लिये समर्पित कर रहे हैं। इसी प्रकार हरएक अणुजीवका कर्म संपूर्ण शरीरके ३३ करोड अणुजीवोंकी भलाई के लिये हो रहा है। इनमें से कोई भी अपने यज्ञ को योग्य रीतिसे न करेगा, तो उसी स्थानमें रोग की उत्पत्ति होगी और सब शरीरपर मृत्युकी आपत्ति आवेगी।

किसी शरीरके भागमें विजातीय रोगकृमि आकर निवास करने लगे, और उनको यदि उस प्रदेशके अणुजीवोंने योग्य समयमें नहिं हटाया, तो शरीरके सब कीटाणुओंको उस रोगके आधीन होना पडता है और पश्चात् चिकित्सा का बडा प्रयास करनेसे नीरोगता प्राप्त हुई तो होती है, नहीं तो रोगकी वा मृत्युकी परवशता स्वीकारनी पडती है।

यहां पाठक देखें कि यज्ञ से शरीरका जीवन कैसा होता है और अयज्ञसे शरीरका नाश कैसा होता है, जब ये अवयव शरीरकी भलाई के लिये आवश्यक कार्य करना छोड देते हैं, और अपने अपने हि विषयों में लुब्ध होते हैं, 'शरीरका कुछ भी बनजाय, उसकी मुझे क्या पर्वाह है, मैं यथेछ सुख भोगूंगा।' ऐसा स्वार्थयुक्त निश्चय करते हैं, तब शरीर पर अनर्थ आजाता है। एक एक इंद्रियके स्वार्थ से शरीर का नाश हो सकता है, फिर अनेक इंद्रियाँ भोगवश होगई, तो शरीरके नाश की कोई सीमाहि रह नहीं सकती। यहां इस ढंगसे विचार करके पाठक जानें कि यज्ञ से शरीरकी स्थिति कैसी हो रही है और अयज्ञसे उसका नाश कैसा होता है।

राष्ट्रमें यज्ञ।

जो यज्ञ हमने शरीरमें देखा, वही विस्तारसे राष्ट्रमें देखा जा सकता है। राष्ट्रमें ज्ञानी लोग सिरके स्थानमें, वीरलोग बाहुओंके स्थानमें, वाणिज्यादि व्यवहार करनेवाले लोग नाभि स्थानमें और कारीगर या श्रमोपजीवि लोग पांव के स्थानमें हैं ऐसी कल्पना कर लीजिये। यह कल्पना होगई तो शरीरका न्याय राष्ट्रमें और राष्ट्रका न्याय शरीरमें स्पष्ट रूपसे दिखाई देगा और

राष्ट्रीय महायज्ञ के विषयमें कोई शंका किसी के मनमें खडी नहीं रहेगी। जो ज्ञानी लोग हैं उनको उचित है कि वे अपने ज्ञानका यज्ञ राष्ट्रकी भलाई के लिये करें, जो वीर लोग हैं वे अपनी वीरता से राष्ट्रका संरक्षण करके अपनी शक्ति राष्ट्र के लिये समर्पित करें, इसी प्रकार अन्यान्य लोग अपनी शक्ति का समर्पण राष्ट्रकार्य के लिये करें। जब तक इस प्रकारका यज्ञ होता रहेगा, तब तक ही उस राष्ट्रका तेज फैलेगा, उसका वीर्य बढेगा, संपत्तिसे संपन्नता होगी और अन्यान्य सुख होंगे, जनता आनन्दमें रहेगी और सर्वत्र कल्याणहि कल्याण होगा।

परंतु यदि किसी जातीमें, वर्ग में अथवा वर्ण में किंवा संघ में स्वार्थ उत्पन्न होगा, और वह जाति,वर्ग अथवा वर्ण अपने हित के लिये राष्ट्र-का घात करनेके कार्य में प्रवृत्त होगा, अथवा अपनी शक्ति राष्ट्र के हितके लिये समर्पित नहीं करेगा, अथवा अपनी स्वार्थ साधना के लिये राष्ट्रका घात करनेको प्रवृत्त होगा,तो उस राष्ट्रका नाश होगा। राष्ट्रमें और शरीरमें नियम एक जैसाहि है। अपना शरीर संकुचित राष्ट्र है और अपना राष्ट्र विस्तृत देह हि है। इस प्रकार विचार करनेसे पता लगेगा कि राष्ट्र में यज्ञका भाव रहनेसे राष्ट्रकी सुस्थिति और राष्ट्रके लोगोंमें अयज्ञ की ओर प्रवृत्ति होनेसे राष्ट्रकी दुःस्थिति होगी। जो राष्ट्रकी जनता की बात है,वही संपूर्ण जनता के विषयमें समझना चाहिये;अतः उसका विचार अलग करनेकी आवश्यकता नहीं है। अस्तु,इस प्रकार यज्ञ का महत्त्व है अतः कहा है-

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।
भ० गी० ४।३१

'यज्ञ न करनेवालेके लिये जब यह लोक भी नहीं है, तब परलोक तो कहां से प्राप्त हो सकता है?' अर्थात् यज्ञ न करनेवालेकी इस लोकमें निः-सन्देह दुर्गति होती है, फिर उसकी परलोकमें क्या अवस्था होगी, यह तो पाठक समझ ही सकते हैं। यह गीता का वचन निम्नलिखित वेद वचनोंके साथ पढने योग्य है—

१ अयज्वानः सनका प्रेतिमीयुः॥
ऋ० १।३३।४

२ परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्राऽय-ज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः। प्र यद्दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रतां अधमो रोदस्योः॥ ऋ० १।३३।५

३ प्रास्य पारं नवतिं नव्यानामपि कर्तमव-र्तयोऽयज्यून्॥ ऋ० १।१२१।१३

४ शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते॥
ऋ० १।१३१।४; अथर्व० २०।७५।२

(१) [अ-यज्वानः सनकाः] यज्ञ न करने-वाले लोग दानकर्ता होनेपर भी [प्रेतिं ईयुः]नाश को प्राप्त होते हैं (२) [अ-यज्वानः यज्वभिः स्पर्धमानाः] यज्ञ न करनेवाले लोग यज्ञ करने-वालों के साथ स्पर्धा करने के कारण [शीर्षा परा ववृजुः] अपने सिर नीचे करके भागनेके लिये बाधित हुए। हे उग्र प्रभु! तू [रोदस्योः] द्यावा पृथिवी के अन्दर से [अ-व्रतान् अधमः] व्रत पालन न करनेवालों को हटा देता है अर्थात् अयाजकों को यहां सुखसे रहनेका स्थान भी नहीं प्राप्त होता। (३) यज्ञ न करनेवालों को ९९ नदियोंके परे तूने फेंक दिया। (४) हे प्रभो! तू यज्ञ न करनेवाले मनुष्यको दण्ड देता है।

इस रीतिसे यज्ञ न करनेवाले की दुर्दशा का वर्णन वेदमें किया है, तथा और देखिये—

ऋजुरिच्छंसो वनवद्वनुष्यतो देवयन्निददेवय-न्तमभ्यसत्। सुप्रावीरिद्वनवत्पृत्सु दुष्टरं यज्वेदयज्वोर्विभजाति भोजनम्॥
ऋ० २।२६।१

(ऋजुः शंसः इत्) सरल आचरण करने-वाला भक्त हि (वनुष्यतः वनवत्) घातक शत्रु-ओंका नाश सकता है, (देवयन् इत्)देवोपासक हि (अदेवयन्तं अभ्यसत्) देवविरोधक का नाश करेगा। (सु-प्र-अवीः इत्) उत्तम रक्षा

करने में समर्थ हि (पृत्सु दुष्टरं वनवत्) संग्रामोंमें उग्र शत्रुका नाश कर सकता है और (यज्वा इत्) यज्ञ करनेवालाहि (अ-यज्वोः) यज्ञ न करने वाले के भोजन आदि भोग प्राप्त कर सकता है।

इस मंत्रमें सरलता के द्वारा कुटिल शत्रुका नाश, आस्तिकतासे नास्तिक का नाश, आत्मरक्षासे दुस्तर शत्रुका नाश तथा यज्ञ से अयज्ञको दूर करनेका उपदेश स्पष्ट है। इस रीतिसे यह मंत्र बडा बोधप्रद है तथा इसी प्रकारका एक मंत्र और देखिये—

न्यक्रतून्ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्। प्र प्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥ ऋ० ७।६।३

(अ-क्रतून्) आलसी, (ग्रथिनः) केवल पुस्तक पढनेवाले, (मृध्रवाचः) असत्य भाषण करने वाले, (पणीन्) सूदका व्यवहार करने वाले, (अश्रद्धान्) श्रद्धाहीन, (अ-वृधान्) वृद्धिका उपाय न करनेवाले, (अयज्ञान्, अयज्यून्) यज्ञ न करने वाले, सत्कर्म न करनेवाले ये सब लोक समाजके (दस्यून्) शत्रु हैं, अतः इनको तेजस्वी देव (प्र प्र विवाय) निःशेषतासे अवनत करता है और (अपरान् चकार) नीचे करता है। उनकी उन्नति नहीं होती।

इस श्लोकमें अयज्ञ लोगोंके साथी देखिये कितने हैं। आलसी, केवल पुस्तकें पढनेवाले परंतु उस के अनुसार व्यवहार न करनेवाले, बहुत बातें करनेवाले परंतु कुछ भी कर्म न करने वाले, असत्यभाषी किंवा घातपातके विचार प्रकट करनेवाले, (पणी) असत्य व्यापार करने वाले, सूद लेनेवाले, ये स्वयं कार्य नहीं करते परंतु भारी सूद लेकर अन्योंका नाश करते, धर्ममार्गपर श्रद्धा नहीं रखते, अपनी उन्नतिका उपाय नहीं करते; कुछ भी सत्कर्म नहीं करते; इन सब की अवनति होती है। इसी प्रकार निम्न लिखित मंत्र देखिये— .

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्। अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः॥ ऋ० ८।७०।११

(अन्य-व्रतं) अपना कर्तव्य छोडकर दूसरा हि कर्म करनेवाला, (अमानुषं) अमानुष क्रूर कर्म करनेवाला, (अ-यज्वानं) यज्ञ न करनेवाला (अदेवयुं) देव की उपासना न करनेवाला जो होता है, उस (दस्युं) शत्रुको (पर्वतः सखा स्वः दुधुवीत) पर्वत निवासी मित्र स्वर्गसे दूर करता है। इस मंत्रमें भी अयज्ञ के साथी कितने हैं यह देखिये। अपना कर्तव्य छोडता है और दूसराहि कुछ करता है, अमानुष अर्थात् मनुष्यको शोभा न देनेवाला कर्म करता है और यज्ञ नहीं करता; वह समाज का शत्रु है, इस को स्वर्ग कदापि नहीं मिलता, वह स्वर्गसे भ्रष्ट होता है। इस प्रकार अयज्ञ मनुष्योंकी अधोगति होनेका वर्णन है, तथा और देखिये—

अयज्ञियो हतवर्चा भवति॥
अथर्व० १२।२।३७

'जो यज्ञ नहीं करता उसका तेज नष्ट हो जाता है।' वह निस्तेज होता है। इस विषयमें और यह मंत्र देखिये—

यो अन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन् देवपीयून्। तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः॥
अथर्व० ११।२।२३

'जो अन्तरिक्षमें रहता है वह देव, यज्ञ न करनेवाले देवविरोधियोंका नाश करता है, अतः उस देव को हम अपनी दस शक्तियोंके साथ नमस्कार करते हैं।'

इस प्रकार वेदमें यज्ञ न करने वालोंकी बहुत बुरी अवस्था होती है ऐसा वर्णन है। इसी के आधारपर गीता (अ० ४।३१) में 'यज्ञ न करने वालों को इस लोक में भी शुभगति नहीं होती, फिर उनको दूसरे लोक की सद्गति कैसी प्राप्त होगी?' ऐसा कहा है। पाठक इन मंत्रोंके उपदेश के साथ गीताके उपदेशका मनन करें। और यह मनमें ठीक रीतिसे धारण करें कि यज्ञ न करने

से किसी भी रीतिसे मनुष्यको सुख प्राप्त नहीं हो सकता। क्यों कि यज्ञ तो मनुष्यके साथ उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्यका साथी है। यज्ञ तो मनुष्यका 'सह-धर्म' है अतः उसका त्याग नहीं हो सकता।

इस के पूर्व हमने जागतिक यज्ञ, शरीरमें यज्ञ, मानवी समाजमें यज्ञ, ये देखे। जगत् में और शरीरमें जो यज्ञ हो रहा है वह स्वयं हो रहा है, स्वभावसे हो रहा है, उस स्वाभाविक यज्ञको देखकर और उससे यज्ञ की स्वाभाविकता जानकर मनुष्य को उचित है कि वह अपनी बुद्धिके अनुसार निश्चय करके सुयोग्य रीतिसे अपनी आयु भर यज्ञ करता रहे। मनुष्यकी आयु ११६ वर्षकी है, ऐसा मानकर उस आयुमें यज्ञ करनेकी कल्पना निम्न लिखित प्रकार वर्णन की है—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनं०। अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनं सवनं०। अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तृतीयसवनं०। स ह षोडशं वर्षशतमजीवत् प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥

छां० उ० ३।१६।१—७

'मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है, उसमें २४ वर्षों का प्रातः सवन, ४४ वर्षोंका माध्यंदिन सवन और ४८ वर्षोंका सायंसवन होता है, इस प्रकार जो अपनी आयुमें यज्ञ करता रहता है, वह ११६ वर्ष जीवित रहता है।' इस पूर्ण आयुमें १६ वर्ष बालपन के जाते हैं, शेष १०० वर्षोंकी आयुमें मनुष्यको १०० यज्ञ करने चाहिये। इसी लिये जीवात्मा का नाम 'शत-क्रतु' है। सौ वर्ष की आयुभर यज्ञ करनेवाला यही यज्ञ पुरुष है।

घरमें यज्ञ।

हमने इससे पूर्व शरीरमें यज्ञ देखा, जगत् का यज्ञ देखा और राष्ट्रमें भी यज्ञ देखा। इसी प्रकार घर घरमें भी यज्ञ हुआ करता है। सूक्ष्म रीतिसे देखा जाय तो घरमें भी मनुष्यको स्वार्थत्याग का पाठ मिलता है। माता अपने पुत्र के लिये स्वार्थ त्याग करती है, पति पत्नी के लिये और पत्नी पतिके लिये आत्मसमर्पण करते हैं, इसी प्रकार अन्यान्य कुटुंबके लोक एक दूसरे के लिये आत्मसमर्पण करते हैं। ऐसा गृहस्थका कुटुंबहि सच्चा गृह होता है, परंतु जहां ऐसा आत्मसमर्पण नहीं करते, वहां कुटुंबियोंको गृहसौख्य नहीं मिलता। आत्मसमर्पणसे सुख है। यदि पत्नी पति के लिये समर्पण न करे, आत्मयज्ञ न करे तो वह सुखी नहीं हो सकती, इसी प्रकार यदि पति अपना अन्तःकरण पूर्णतया पत्नी को नहीं देता, तो वह भी सुखी नहीं हो सकता। जो माता पिता पुत्र के लिये आत्मसमर्पण नहीं करते, वे पुत्रलोक का सुख नहीं प्राप्त कर सकते। इस प्रकार त्यागसेहि सुख मिलता है। अतः वेदमें कहा है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥१
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतिं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥३॥

अथर्व० ३।३०

'प्रेमपूर्ण हृदय, शुभ विचारोंसे परिपूर्ण मन, और परस्पर निर्वैरता, तुम्हारे अंदर रहे। तुम्हारे अन्दर एक दूसरेके साथ ऐसा प्रेम करे जैसा कि गौ नवजात बछडेके ऊपर प्यार करती है। पुत्र पिता के अनुकूल कर्म करे, वह माता के साथ उत्तम मनसे वर्ताव करे। पत्नी पतिके साथ मीठी और शान्तिपूर्ण वाणी बोले॥ भाई भाई का द्वेष न करे, बहिन बहिन का वैर न करे, सब एकमतवाले होकर एक कर्म में दत्तचित्त होकर परस्पर उत्तम प्रेमसे वार्तालाव करें।'

यहां गृहमें यज्ञ कैसा किया जाता है, यह उत्तम रीतिसे कहा है। मातापिता समझे कि अपने घर में जो बालक उत्पन्न हुआ है वह देवताओं का

अंश है, उसका वैसा आदर करना चाहिये जैसा उपासक अपने उपास्य देवका करता है। पति अपनी धर्मपत्नी को अपनी उपास्य 'देवी' माने और धर्मपत्नी अपने पति को अपना उपास्य 'देव' माने। इसी प्रकार परस्पर की पूजा करते हुए, एकमतसे रहकर, परस्पर की सहायता करें यही 'सत्कार—संगति—दानात्मक यज्ञ' घरमें हो सकता है। पशुपक्षी भी अपने बालबच्चोंके साथ स्वाभाविक रीतिसे ऐसा ही सत्कार का भाव रखते हैं, मनुष्य उनसे ऊंचा होनेके कारण उसको तो उनसे भी अधिक उच्च भाव के साथ 'सत्कार संगति दान' रूप यज्ञ करना चाहिये।

पाठक इस प्रकार विचार करके संपूर्ण जगत् में कैसा यज्ञ चल रहा है यह जानें, पशुपक्षीयोंमें, शरीरमें, विश्वमें वह यज्ञ कैसा हो रहा है इसका ज्ञान विचार से प्राप्त करें। और उस अपने साथ उत्पन्न हुए यज्ञको, अपनी बुद्धिकी और शक्तिकी पराकाष्ठा करके, जहां तक हो सके वहां तक यत्न करके, पूर्ण रीतिसे निभानेका प्रयत्न करें। यज्ञ मनुष्य के जीवन के साथ लगा है, अतः यज्ञका महत्त्व है; इसी लिये यज्ञ के विषयमें उपनिषदोंमें कहा है—

> त्रयो धर्मस्कंधा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। छां० उ० २।२३।१
>
> यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः छां० उ० ४।१६।१
>
> यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्। छां० उ० ८।५।१
>
> त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः। बृ० उ० १।५।१७
>
> अहं ब्रह्मा अहं यज्ञः। कठश्रु० २
>
> अहं ऋतुरहं यज्ञः। भ० गी० ९।१६
>
> विज्ञानं यज्ञं तनुते। तै० उ० २।५।१
>
> यज्ञो विष्णुः प्रजापतिः। मैत्री० ६।१६
>
> यज्ञेन देवाः दिवं गताः। महाना० २१।२

'धर्म के तीन स्कंध हैं यज्ञ, अध्ययन और दान। सबकी पवित्रता करनेवाले कर्मका नाम यज्ञ होता है। ब्रह्मचर्य हि यज्ञ है। तू ब्रह्म और तू यज्ञ है। मैं ब्रह्म और मैं यज्ञ हूं। मैं ऋतु और मैं यज्ञ हूं। विज्ञान रूप यज्ञ फैलता है। यज्ञ प्रजापालक सर्वव्यापक देव है। यज्ञ से हि देव स्वर्गधाम को प्राप्त हुए।

इस प्रकार सर्वसामान्य यज्ञका वर्णन उपनिषदोंमें है। यही यज्ञ अपने अंदर देखनेका उपदेश उपनिषदोंमें हि कहा है, वह वचन अब देखिये—

> स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामि। प्राणाग्नि० उ० २
>
> शरीरं यज्ञः। महाना० उ० २०।१२
>
> वाग्वै यज्ञस्य होता। चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः। प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता। मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा॥ बृ० उ० ३।१।१—६
>
> तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा, हृदयं यूपः, काम आज्यं, मन्युः पशुः, तपोऽग्निर्दमः शमयिता, दक्षिणा वाग् होता, प्राण उद्गाता, चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा, श्रोत्रमग्नीध्यावद्ध्रियते सा दीक्षा, यदश्नाति तद्धविः, यत्पिबति तदस्य सोमपानं० ॥ म० नारायण उ० ८०

'अब अपने शरीरमें यज्ञ का परिवर्तन करते हैं। शरीर यज्ञ है। इस यज्ञमें वाणी, चक्षु, प्राण और मन ये क्रमशः होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा हैं। इस शरीर स्थानीय यज्ञमें आत्मा यजमान, श्रद्धा पत्नी, शरीर इध्म, उर वेदी, लोम बर्हि-दर्भ,वेद शिखा, हृदय यूप, काम घृत, क्रोध पशु, तप अग्नि, दम क्रोधका शमन करनेवाला, दक्षिणा वाक् होता, प्राण उद्गाता, चक्षु अध्वर्यु, मन ब्रह्मा, श्रोत्र अग्नि प्रदीप्त करनेवाला, जीवित रहनेतक इस यज्ञकी दीक्षा है, जो खाया जाता है वह हवि है, पीया जाता है वह सोमरस है०''

इस प्रकार यह यज्ञ चल रहा है। यही शरीर सप्त ऋषियोंका आश्रम है—

सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। यजु० ३४।५५

'सात ऋषि प्रत्येक शरीरमें हैं, वे सात इस यज्ञस्थान की रक्षा कर रहे हैं।' यह शरीर सात ऋषिरूप सप्त इंद्रियोंसे युक्त है। इन इन्द्रियों को ऋषिमुनियों के समान तपस्वी, शमदमसंपन्न, ब्रह्मनिष्ठ बनाना चाहिये। जब ये हमारी इंद्रियां ऋषि बनेंगी तभी यह शरीरका यज्ञ सच्चा यज्ञ होगा। नहीं तो वह बूचडखाना भी बन सकता है।

हरएक मनुष्यको इसी बात की चिन्ता करनी चाहिये कि अपने शरीरमें रहनेवाली ये सब इंद्रियां ऋषिमुनि के समान तपस्वी बन जांय और मेरा जीवन ऋतुमय बने, और (अहं यज्ञः भ० गी० ९।१६) मैं सचमुच 'यज्ञ हूं' यह प्रत्यक्ष स्थितिमें अनुभव आवे। बनावटी नहीं, स्वभावहि बने। जिस प्रकार उष्णता अग्निका स्वभाव धर्म है उसी प्रकार यज्ञ अपना स्वभावधर्म बने। क्योंकि यज्ञ सहज है, परंतु मनुष्य के जीवन में उलटा अभ्यास होनेके कारण सहज बात भी अस्वाभाविकसी प्रतीत होती है। अस्तु। इस तरह यज्ञ मनुष्य के जन्म के साथ उत्पन्न हुआ है और उसके साथ वह मृत्युतक रहेगा। उससे मनुष्य अलग होनेका यत्न करेगा, तो मनुष्यत्वसे गिरेगा। इस लिये कहा है कि—

यज्ञसे उन्नति।

अनेन प्रसविष्यध्वम्।
एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।
भ० गी० ३।१०

' इस यज्ञसे तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होवो,यह यज्ञ तुम्हें इच्छित मनकामनाओंको देगा।' अब पाठकोंके ध्यानमें आया होगा कि यज्ञसे वृद्धि किस तरह प्राप्त होगी और मनोवांछित कामनाओं की भी किस तरह सिद्धता होगी। यज्ञसे ये बातें सिद्ध होती हैं इस विषयमें वेद और ब्राह्मणग्रंथों के वचन अब देखिये—

अध्वरो वै यज्ञः। श० ब्रा० १।२।४।५; १।४।१।३८
यज्ञो वै नमः। यजु० १३।८; श० ब्रा० ७।४।१।३०
यज्ञो वै भुज्युः। यजु० १८।४२
यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति।
श० ब्रा० ९।४।१।११
यज्ञो भगः। यजु० ११।७; श० ब्रा० ६।३।१।१९
यज्ञो वा ऋतस्य योनिः। यजु० ११।६; श० ब्रा० १।३।४।१६
यज्ञो वै मधुसारघम्। श० ब्रा० ३।४।३।१३
यज्ञो वै महिमा। यजु० ११।६; श० ब्रा० ६।३।१।१८
यज्ञो वै स्वः। यजु० १।११
यज्ञो वै सुम्नम्। यजु० १२।६७;श०ब्रा०७।२।२।४
यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। यजु० १।१; श० ब्रा० १।७।१।५
यज्ञो वै विशो यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि।
श० ब्रा० ८।७।३
ब्रह्म हि यज्ञः। श० ब्रा० ३।१।४।१५
यज्ञो वै भुवनज्येष्ठः। कौ० ब्रा० २५।११
यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः। तै० ब्रा० ३।९।५।५
रेतो वा अत्र यज्ञः। श० ब्रा० ७।३।२।९
यज्ञो वा अवति। तां० ब्रा० ६।४।५
भैषज्ययज्ञा वा एते तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते। गो० ब्रा० उ० १।१९, कौ० ब्रा० ५।१

'(अ-ध्वर) अहिंसा यज्ञ है। नम्रता यज्ञ है। यज्ञ अन्न देनेवाला है। यज्ञ सब भूतोंको भोजन देता है। यज्ञ ऐश्वर्य है, सौभाग्य है। यज्ञ सत्यका मूल है। यज्ञ मधुरता है। यज्ञ महिमा है यज्ञ आत्मतेज है। यज्ञ सुख है। यज्ञ अतिश्रेष्ठ कर्म है। यज्ञमें सब भूत रहते हैं। यज्ञ ज्ञान है। यज्ञ भुवनमें श्रेष्ठ है। यज्ञ सब सृष्टिका केन्द्र है। यज्ञ वीर्य-पराक्रम—है। यज्ञ रक्षा करता है। ये यज्ञ औषधियोंसे किये जाते हैं…अतः ऋतुसंधिके समय किये जाते हैं, क्यों कि ऋतुसंधिमें रोग उत्पन्न होते हैं।'

इस तरह इन ग्रंथोंमें यज्ञ की महिमा वर्णन की है, इस से सिद्ध हो सकता है कि यज्ञसे मनुष्यकी उन्नति अवश्य होती है, यह इन लेखकोंकी संमति है।

इन वचनोंमें अहिंसा, नम्रता, सत्य, सौभाग्य, मधुरता, ज्ञान, वीर्य, रक्षा ये यज्ञके रूप हैं ऐसा जो कहा है वे वचन अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। आगे जिस समय यज्ञका स्वरूप देखनेका प्रसंग आजायगा, उस समय येही वचन हमें सहायक होंगे। अस्तु, इतने लेखकोंकी संमति है कि यज्ञ मनुष्योंका सौभाग्य बढानेवाला है, यही बात भगवद्गीतामें (अनेन प्रसविष्यध्वं, एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। ३।१०) इस श्लोक में कही है। निःसन्देह यज्ञ से मनुष्यों की सब प्रकार की वृद्धि और शुभ कामनाओंकी पूर्ति हो सकती है। आगे हम देखेंगे कि यह कैसे हो सकता है; परंतु यहां भी हमने देखा कि यज्ञ में 'सत्कार संगति दान' अथवा 'आदर संगठन और उपकार' येतीन भाव होते हैं, और जहां ये भाव होंगे वहां व्यावहारिक दृष्टिसे भी उन्नति का संभव हो सकता है। आगे इस यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

भ० गी० ३।११

'तुम देवों को संतुष्ट करो और देव तुम्हें सन्तुष्ट करें। इस प्रकार परस्परकी सहायता करते हुए तुम सब परम कल्याण प्राप्त करो।' तुम देवोंकी सहायता करो और देव तुम्हारी सहायता करें; इस तरह परस्पर की सहायता करते हुए तुम सब परम कल्याण प्राप्त करो; इसमें परस्पर की सहायता करना ही परम कल्याणप्राप्तिका हेतु है। परस्पर संभावना से परमकल्याण प्राप्त हो सकता है। 'भावयन्तः'-(भावयति) इसमें भाव् का अर्थ 'विचार करना, मिलना और शुद्ध करना है।' इसी का नाम संभावना है, किसी की कोई संभावना करता है तो उस के हितके विषयमें वह विचार करता है, उसके पास जाकर बैठता है और उसकी पवित्रता करनेमें सहायक होता है, इतना आशय है। इसी का दूसरा नाम 'पूजा, सत्कार या समादर' है। यज्ञ शब्द के जो तीन अर्थ 'सत्कार, संगति और दान' ये उपर कहे हैं, उनमें से सत्कार का भाव इस संभावना में है, संगतिका भी भाव वहां है और उपकार करनेका भी आशय है। इसलिये 'परस्परं भावयन्तः' ये शब्द यज्ञका शुद्ध स्वरूप दर्शाते हैं। 'परस्परका संमान करना, परस्परका मेल मिलाप करना और परस्परकी सहायता करना, ये भाव इस 'परस्परकी संभावना' में हैं। मनुष्यमात्रका परम कल्याण इसी परस्परसंमानसे होगा।

यज्ञसे उन्नति।

(अनेन देवान् भावयत, ते देवाः वः भावयन्तु) यज्ञ में देवोंका आदर करो, और वे देव आपका आदर करें, इस प्रकार परस्परकी सहायता करते हुए उन्नतिका साधन करो। जगत् में इसी रीतिसे उन्नति हो रही है। पक्षी अपने घोसले में रहे छोटे छोटे बच्चों के लिये दूर दूर देशसे आवश्यक भक्ष्य लाकर उनकी पूजा करते हैं। मनुष्य भी करीब करीब ऐसा ही करते हैं। ऊपरके श्लोक में 'देव' शब्द के स्थान पर 'पिता' शब्द रखिये। 'पितृदेवो भव, मातृदेवो भव' यहां पिता माता देव हि हैं। यह अर्थ यहां लेनेसे उक्त श्लोक का भाव गृहस्थ धर्म के संबंधमें हमें ऐसा मिलता है- 'घरमें पुत्र मातापिता का आदर करें और माता पिता पुत्रोंका आदरपूर्वक संभाल करें, इस रीतिसे दोनों एक दूसरे का आदरसत्कार करते हुए दोनों सुखप्राप्तिपूर्वक गृहस्थाश्रम का परमश्रेष्ठ सुख प्राप्त करें।' भाई भाई का आदर करे, बहिन बहिन की सहायता करे, पति पत्नीका और पत्नी पति का आदरसत्कार करें, इस तरह परस्पर की सहायता करते हुए गृहस्थाश्रममें रहनेवाले सब लोग अभ्युदय और निःश्रेयसको उत्तम प्रकार प्राप्त करें।

उक्त श्लोक से यह उपदेश गृहस्थियोंको प्राप्त हो सकता है।

ज्ञान यज्ञ।

'शिष्य अध्यापकोंका सत्कार करें और अध्यापक शिष्योंको आदरपूर्वक पढावें, शिष्य गुरु की प्रतिष्ठा बढावें और गुरु शिष्योंकी योग्यता बढावें, इस रीतिसे परस्पर की सहायता करते हुए सब गुरु और शिष्य परम उन्नति प्राप्त कर सकते हैं।' जो उन्नति परस्पर प्रेमका वर्ताव करनेवाले गुरु-शिष्योंकी होना संभव है वैसी उन्नति परस्पर विद्वेष करनेवाले पढने और पढानेवालोंकी कभी नहीं हो सकती। 'आचार्यदेवो भव' इस वचन के अनुसार पढानेवाला देव है और उसकी संभावना का यह फल होता है।

राष्ट्रयज्ञ।

राजा को भी देव कहते हैं और राष्ट्रके सब छोटे बडे ओहदेदारों को भी देव संज्ञा है। सब लोग राजा और राजपुरुषों का संमान करें और आदर करें, तथा राजा, तथा राजपुरुष सब प्रजाजनोंका सत्कारपूर्वक पालन करें। इस ढंगसे राजा और प्रजा परस्पर का आदर और परस्परकी सहायता करते हुए परस्पर की परम उन्नति करें। प्रजापति ने यज्ञ किया, इस तरह के वाक्य स्थान स्थानपर आते हैं, प्रजापतिका यज्ञ प्रजापालन रूपहि है, कोई दूसरा नहीं। प्रजापालन रूप यज्ञ राजा और राजपुरुष करें और राज-निष्ठासे प्रजा राजाका सत्कार करे। इस तरह परस्परकी सहायता करते हुए दोनों उन्नत हो सकते हैं।

पुरुषयज्ञ।

मनुष्य के शरीरमें भी इंद्रियगण देव हैं, आत्मा भी देव अथवा महादेव है। इंद्रियाँ आत्माकी सहायता करें और आत्मा इंद्रियादिकों की सहायता करे। इस प्रकार परस्पर की सहायतासे स्थूल शरीर और उसके अन्दर की संपूर्ण शक्तियां सहकार्य करती हुई उन्नति को प्राप्त हों। परस्पर सहकार्य से यहां जड चेतन की उन्नति होनेका वर्णन है।

देवयज्ञ।

इसी तरह पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, नक्षत्र, वृक्ष वनस्पति आदि अनेकानेक देवताएं हैं। इनसे विविध रीतिसे मनुष्यको लाभ हो रहा है, भूमिसे अन्न, जलसे जीवन, वायुसे प्राण, आकाशसे स्थान, सूर्यसे जीवनविद्युत् आदि की प्राप्ति होकर मनुष्य यहां सुखसे रह सकता है। इन सब देवताओंके ऊपर मनुष्यका सुख सब प्रकारसे निर्भर है, अतः मनुष्यको उचित है की वह भी इनको प्रसन्न करे, इनका आदर करे और इनकी पूजा करे। मातृभूमिकी सेवा करनेसे उस की उपासना होती है, जल की शुद्धतासे प्रसन्नता होती है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंकी प्रसन्नता करनेके मार्ग विभिन्न हैं। मनुष्य को उचित है कि वह योग्य रीति से इन देवताओंका सत्कार करे, और देवताओंकी प्रसन्नता से अपनी उन्नति प्राप्त करें

इस प्रकार व्यक्तिमें, कुटुंबमें, राष्ट्रमें और विश्वमें यज्ञका रूप कैसा है इसका विचार पाठक करें, और इस बातको ठीक तरह समझें। यही विषय (भ० गी० ४। २३-३३ तक) आवेगा और वहां द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, प्राणापानयज्ञ आदि अनेकविध यज्ञ कहेंगे, उनका अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेकेलिये इस विवरणकी अत्यंत आवश्यकता है, इसलिये यह यज्ञप्रकरण इतने विस्तारसे यहां लिखा है। अतः पाठकोंको निवेदन है कि वे इसका अधिक मनन करें, और व्यापक दृष्टिसे यज्ञकी सर्वव्यापकता अनुभव करें और यह सार्वभौमिक यज्ञ सृष्टिके साथ कैसा उत्पन्न हुआ है, उत्पन्न हुएके साथ कैसा रहता है और इस यज्ञसे इसकी उन्नति कैसी होती है, यह बात ठीक प्रकार समझें। मनुष्यसे

भिन्न सृष्टिमें यह यज्ञ स्वभावसे हो रहा है, वही मनुष्यको ज्ञानपूर्वक प्रयत्न के साथ करना चाहिये। इत्यादि बातें पाठक समझकर अपने मनमें स्थिर करेंगे, तो उनको आगेका विषय सुबोध होगा।

(यज्ञभाविताः देवाः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते) यज्ञसे संमानित देव सबको इष्टभोग देगें। यह कथन अब हरएक स्थानमें अर्थात् व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्वमें कैसा देखना चाहिये, यह बात पाठकोंके मनमें आगई होगी। सचमुच संमानित हुए देव इष्टभोग सर्वत्र देते हि हैं। और असंमानित होनेपर क्रोधित हुए देव कष्टभी देते हैं। व्यक्तिमें ब्रह्मचर्यादि सुनियमपालनसे प्रसन्न हुए इंद्रियगण स्वास्थ्यसुख अर्पण करते हैं और अनियम के कारण अवमानित हुए येही देव अकालमृत्यु देते हैं। इसी प्रकार यज्ञसे सब प्रकारकी उन्नति और अयज्ञसे हानि होती है।

(तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय यः भुंक्ते स स्तेनः) उन देवोंका दिया हुआ उन्हें कुछभी न देकर जो स्वयं भोगता है वह चोर है। इसके उदाहरणके लिये हम राज्यव्यवस्थाका उदाहरण लेंगे। राजा और राजपुरुषोंके कारण जनताके धनभाग सुरक्षित रहते हैं, अतः प्रजाजनोंको उचित है कि वे भी राजाको करभार देकर अपना आदर व्यक्त करें। अच्छे स्वराज्य शासनमें जो लोग कर नहीं देते वे चोर होंगे और दण्डनीय बनेंगे। इसी प्रकार शरीरस्थानीय प्रसन्न हुए इन्द्रियरूप देवताओंनें जो स्वास्थ्ययुक्त आयु दी है, उसका कुछ हिस्सा उनकी सुस्थिति रखनेके उपायोंके लिये लगाना चाहिये। अन्यथा सब बिघाड हो जायगा। इसी तरह सर्वत्र देवोंको यज्ञभाग समर्पण करनेकी कल्पना का प्रभाव देखना चाहिये। सब यज्ञोंमें देवोंको कुछ भाग समर्पण करनेकी कल्पना प्रधान स्थान रखती है। समर्पण करना यज्ञ है और समर्पण न करना चौर्य है।

भूमिपर जितनाभी धन उत्पन्न हुआ है वह सब संपूर्ण प्रजाजनोंका है। अतः वह सब धन प्रजाजनोंके लिये हि रखना चाहिये। वैसा न रखते हुए यदि कोई मनुष्य युक्ति प्रयुक्तिसे बहुत साधन अपने पास संग्रह करके रखेगा, तो वह चोर होगा। क्योंकि जिस धनपर अपना अधिकार नहीं है और दूसरोंका है, उसका अपने पास विशेष संग्रह करना एक प्रकारकी चोरी है। इस दृष्टीसे बहुत मनुष्य चोर सिद्ध होंगे, यद्यपि आजकल की जनता इन संग्रहकर्ताओंको चोर कहके दण्डनीय नहीं समझती, तथापि यज्ञकी दृष्टीसे ये अपनेपास विशेष धनसंग्रह करनेवाले निःसन्देह चोर हैं। परंतु शासनाधिकार इनकेहि हाथमें रहनेसे ये दण्डनीय नहीं समझे जाते, यह बात अलग है। परंतु यज्ञकी व्यापक दृष्टीसे देखनेपर किसीकोभी दो तीन दिनकी आवश्यकतासे अधिक संग्रह अपने पास करना अयोग्य है। यही परमहंसोंकी 'वसुधैव कुटुंबक' वृत्ती है और यही सच्चा यज्ञ है। इस दृष्टीसे बहुतसे लोग अयज्ञ करते हैं और आपसकी लढाईयोंका दुःख उक्त दोषसे हि भोगरहे हैं। क्योंकि अयज्ञसे दुःख अवश्य होगा।

इसी भावको अन्य शब्दोंमें इस प्रकार अगले श्लोकमें कहा है- (ये आत्मकारणात् पचन्ति, ते पापाः अघं भुञ्जन्ति) जो अपने लिये हि केवल अन्न पकाते हैं वे पापी पापहि खाते हैं। अयज्ञ करनेवाला जो भोग भोगता है वह तो पापही है। पाठक अपने लिये पकानेका भाव केवल अन्न पकाना हि न समझें, यहां तो हरएक भोग अपनेपास संग्रहित करने और उसको केवल अपनेलियेहि रखनेका भाव है। इस स्वार्थीका नाम हि वेदमें 'अ-राति' है। इसका अर्थ 'दान न करनेवाला' है। इसका अर्थ आजकल 'शत्रु' मानते हैं, यह ठीक ही है कि जो 'दान नहीं करता वह अयज्ञ करनेके कारण जनताका शत्रु'हि है। यही भाव वेदमें इस तरह कहा है—

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप

गच्छन्ति मृत्यवः। उतो रयिः पृणतो नोपद- स्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते॥ १॥ स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ ३॥ न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः। अपास्मात्प्रेयान्न स ओकोऽस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ ४॥ मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ६॥

ऋग्वेद १०।११७

"देवोंने क्षुधारूपी मृत्यु गरीबोंके पीछे हि लगाया है ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यथेच्छ भोजन करनेवाले धनीक लोग भी मर जाते हैं। जो गरीबोंको धनदान करता है उसका धन कम नहीं होता, प्रत्युत बढता है, परंतु जो दान नहीं करता उसको सुख देनेवाला एक भी मित्र नहीं मिलता है॥ वही (भोजः) सच्चा भोजन करनेवाला है जो (अन्न-कामाय कृशाय चरते) अन्नकी इच्छासे दारोदार भ्रमण करनेवाले कृश याचकको (गृहवे ददाति) घरको आनेपर अन्न देता है। उसीके पास पर्याप्त समृद्धि होती है और उसीके शत्रु भी मित्र होते हैं॥ जो अपने मित्र और सहायक को भी योग्य दान नहीं करता वह सच्चा मित्र नहीं है, उससे दूर भागना चाहिये। (न स ओकः अस्ति) उसका घर सच्चा घर हि नहीं है। दूसरे दाताके पास मनुष्य जाय॥ जिसको अन्तःकरण नहीं है ऐसे अनुदारको धन मिलना व्यर्थ हि है, मैं सत्य कहता हूं कि वह उसका धन धन नहीं है वह उसकी मृत्यु है, जो अपने मित्रोंका या सज्जनोंका पोषण नहीं करता, वह (केवलादी) केवल स्वयं भोग करनेवाला (केवलाघः भवति) केवल पाप रूप बनता है।"

यहां 'दानयज्ञ' करनेका उपदेश है। जो दान, उपकार या दूसरोंकी सहायता करता है उसकी सद्गति होती है और अयज्ञ करनेवालेकी दुर्गति होती है। इस सूक्तका यह भाव स्पष्ट है। इसके अन्तिम मंत्रमें जो अन्तिम वाक्य है वही भगवद्गीताके इस श्लोकमें अन्य शब्दोंद्वारा कहा है, देखिये—

केवलाघो भवति केवलादी। ऋ० १०।११७।६
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्

भ० गी० ३।१३

"केवलादी" शब्दकी व्याख्या 'पचन्ति आत्म कारणात्' है, इस दृष्टीसे इस वेद मंत्रकी व्याख्या हि इस गीताके श्लोकने की है।

जो अन्न पकाना है, जो अपने पास धनसंग्रह करना है, वह दान, उपकार, सत्कार्य अर्थात् यज्ञके लिये हि करना चाहिये। अतः यजुर्वेदमें कहा है—

त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः, कस्यस्विद्धनम्?

यजु. ४०।१

"दानसे भोग कर, मत ललचा, भला धन किसका है?" अर्थात् धन संपूर्ण जनताका है, अतः जो धन है वह जनताकी भलाईके लिये समर्पण करके जितना अपना जीवित रहनेके लिये अत्यंत आवश्यक है उतना हि धन अपने लिये लेकर उसका भोग कर, इससे अधिक लालच न कर। यही यज्ञ है। इसी का अधिक स्पष्टीकरण गीता निम्नलिखित प्रकार करती है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व-
किल्बिषैः॥ भ० गी० ३।१३

"यज्ञ करके शेष बचे हुए भागका सेवन करनेवाले सब पापोंसे मुक्त होते हैं।" यज्ञ शेषका सेवन करना बडा पुण्यप्रद है। धर्म शास्त्रका नियम ऐसा है कि प्रतिदिनका अन्न सिद्ध होनेके पश्चात् देवयज्ञ और भूतयज्ञ करके अतिथि का भोजन पहिले होवे, पश्चात् सब घरके आदमी नौकर चाकर भोजन करें, तत्पश्चात् जो बचा हो उसमें घरका स्वामी और घरकी स्वामिनी अपनी तृप्ति करें। अपने भोजनके लिये

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—भूतानि अन्नात् भवन्ति, पर्जन्यात् अन्नसंभवः, पर्जन्यः यज्ञात् भवति, यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्म अक्षरसमुद्भवं, तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म यज्ञे नित्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

भूतमात्र अन्नसे होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति पर्जन्यसे होती है, पर्जन्य यज्ञसे होता है, और यज्ञ कर्मसे होता है ॥ १४ ॥ कर्म [विधिके] ज्ञानसे होता है, और ज्ञान अक्षय परमात्मासे उत्पन्न होता है; इसलिये सर्वव्यापक परमात्मा यज्ञमें सदा रहता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप परमात्मासे कर्मविधिका ज्ञान, इस ज्ञानसे कर्म, कर्मसे यज्ञ, यज्ञसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है, इस लिये सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप साक्षात् परमात्मा हि नित्य यज्ञमें उपस्थित रहता है ॥ १४-१५ ॥

बैठनेपर सब भूतोंके उद्देश्यसे कुछ आहुतियां पहिले अलग रखकर पश्चात् स्वयं भोजन करना है। जो गृहस्थिके घरके इस पाक यज्ञकी रीति है, वही सब यज्ञोंमें अनेक रूपसे है। इस प्रकार यज्ञशेषका सेवन करना अत्यंत पुण्यकारक है।

यज्ञशेष भक्षण का दूसरा अर्थ महान उपकार है। परंतु यह उपकार करना मनुष्यका स्वभाव बनना चाहिये। यज्ञ प्रजाके साथ उत्पन्न हुआ है इस कथनका तात्पर्य यह है कि यह सहज है, यह स्वभावसेहि होना चाहिये। इसमें कोई भाव बनावटी नहीं होना चाहिये। जो ऐसा अपना स्वभावही यज्ञरूप बनायेंगे वेहि सब पापोंसे मुक्त हो सकते हैं। यहां यह विषय इतना लिखनेकी आवश्यकता इसलिये पडी कि लोग 'यज्ञ' शब्दसे 'होम हवन' ही केवल समझते हैं और यज्ञका व्यापक आशय जो प्रत्येक मनुष्यके आचरण में आना चाहिये उस ओर बहुत लोगोंका ध्यान नहीं होता, इस कारण उस व्यापक आशय को स्पष्ट करनेके लिये यहां इतना लिखना पडा।

यह विषय आगे अनेक प्रकारोंसे अनेक स्थानोंमें आनेवाला है, इसलिये आगेभी इसपर बहुत लेख लिखनेकी आवश्यकता होगी। इस कारण यहां इतना भूमिकारूप लिखा है उतना पर्याप्त है। अब हम आगे यज्ञके विषयमें क्या कहते हैं सो देखेंगे—

(१४-१५) इन श्लोकोंमें साक्षात् परमात्मा यज्ञमें उपस्थित होता है ऐसा कहा है और इस कारण यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है ऐसा दर्शाया है। इस की विचारपरंपरा देखिये—

अन्नसे भूत।

(अन्नात् भूतानि भवन्ति) अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है यह बात सब जानते हि हैं, इस अन्नके विषयमें उपनिषद्वचन देखिये—

या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्। ऐ० उ० ३।२
अन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि।
बृ० उ० ५।१२।१

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। अथो अन्नेन जीवन्ति।
तै० उ० २।२।१
अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते।
तै० उ० २।२।१
अन्नं न निंद्यात्तद्व्रतं प्राणो वा अन्नम्।
तै० उ० ३।७।१
परं वा एतदात्मनो रूपं यदन्नम्।
मैत्री उ० ६।११
प्राणो वा अन्नस्य रसः। मैत्री उ० ६।१३
अन्नं वा अस्य सर्वस्य योनिः। मैत्री उ० ६।१४
अन्नाद्भूतानामुत्पत्तिः। मैत्री उ० ६।३७
ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवति। म०नारा०२३।१
अन्नं वै प्रजापतिः। प्रश्न उ० १।१४
अन्नं ब्रह्म। तै० उ० ३।२।१

"जो स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ वह अन्न ही है। अन्नमें ये सब भूतमात्र रहते हैं। अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है और अन्नसे जीवित रहती है। अन्नसे भूतमात्रकी उत्पत्ति होती है और अन्नसे उनका संवर्धन होता है। अन्नकी निंदा करना योग्य नहीं है, वह व्रत है, प्राण ही अन्न है। आत्माका पर रूप अन्न है। प्राण हि अन्नका रस है। अन्न सबका उत्पत्तिस्थान है। अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है। औषधि वनस्पतियोंसे अन्नकी उत्पत्ति होती है। अन्न हि प्रजापति अर्थात् प्रजाओंका पालन करनेवाला है। अन्न ब्रह्म है।"

इस प्रकार अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होनेका और अन्न साक्षात् ब्रह्मका स्वरूप होनेका वर्णन उपनिषदोंमें है। अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति कैसी होती है, इस संबंधमें उपनिषदोंमें जो कहा है वह अब देखिये-

आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नं। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तै० उ० २।१।१

"आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे औषधियां, औषधियोंसे अन्न, अन्नसे पुरुष अर्थात् शरीर, यह शरीर अन्नरसमय है।"

अन्नसे रेत बनता है और रेतसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। सब पशुपक्षी अन्न खाते हैं, उनके शरीरमें उस अन्नसे वीर्य बनता है और उससे संतानोत्पत्ति होती है। वृक्ष वनस्पतियां उनका अपना अन्न खाती हैं, उससे बीजादिकी उत्पत्ति होती है और उनसे आगे बडा विस्तार होता है।

इसतरह सर्वत्र अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होनेका वर्णन है और यह विषय हरएक मनुष्य के अनुभवका हि विषय है इसलिये इस विषयमें इतनाही लिखना पर्याप्त है।

पर्जन्यसे अन्न।

आगे (पर्जन्यात् अन्नसंभवः) वृष्टीसे अन्नकी उत्पत्ति होती है ऐसा कहा है। यह तो प्रतिवर्षका मनुष्योंका अनुभव है। वृष्टी न हुई तो धान्य अथवा अन्यान्य वृक्षवनस्पतियां नहीं उत्पन्न होंगी, यह तो निश्चित बात है। कई कहेंगे कि नदीके नहरोंके द्वारा अन्न पैदा होगा, परंतु वृष्टि न हुई तो नहरोंमें भी पानी नहीं आवेगा, इसलिये नदी नहर और कूवे के जलसे खेती हुई, तो भी वह वृष्टीसेहि होती है, ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् पर्जन्यसे अन्नकी उत्पत्ति होती है यह बात सत्य है और अनुभव की भी यह बात है। वेदमें तो वृष्टिसे आकाशस्थानीय प्राण हि नीचे पृथ्वीपर आता है ऐसा कहा है देखिये—

यत्प्राणस्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः।
प्रवीयन्ते गर्भान्दधतेथो बह्वीर्विजायन्ते ॥ ३॥
यत्प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः।
सर्वं तदा प्रमोदते यत्किंच भूम्यामधि ॥ ४॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत्प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५॥

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥६॥
अथर्व० ११।४ (६)। ३-६

"जब यह प्राण अपनी महती गर्जनाद्वारा अपना सन्देश औषधियोंसे कहता है, उसी समय वे गर्भ धारण करती हैं, और बहुत बढती हैं॥ जब योग्य ऋतु आता है और प्राण गर्जना करके औषधियोंसे कहता है, तब पृथ्वी के ऊपर के पदार्थ मात्र आनंदित होते हैं॥ जब प्राण अपनी वृष्टी इस बडी भूमीपर गिराता है, तब सब पशु आनंदित होते हैं, वे कहते हैं कि हमारी शक्ति बढेगी। अथवा हमारा अन्न बढेगा। प्राणके द्वारा वृष्टीसे सिंचित हुई औषधियां उसके साथ बोलती हैं कि हे प्राण, तूने हमारी आयु बढा दी है और हमें सुगंधित किया है।"

यहां बडे मनोरंजक अलंकारसे कहा है कि, वृष्टिसे वनस्पतीयोंको प्राण प्राप्त होता है और उससे वनस्पतियां फूलती और फलती हैं। इसी प्रकार वृष्टिसेहि सब प्रकारका अन्नप्राणिमात्रको प्राप्त होता है।

यज्ञसे पर्जन्य।

आगे कहा है कि (यज्ञात् पर्जन्यः भवति) यज्ञसे पर्जन्य होता है। अर्थात् यज्ञ न हुए तो पर्जन्य नहीं होता और अकाल होता है। अकाल होनेसे अन्न नहीं होगा, और अन्नके अभावमें सब भूत मृतवत् होंगे। यहां तक यज्ञचक्र का प्रभाव कहा है। यह यज्ञका चक्र ऐसा है—

यज्ञसे मेघ + मेघसे वृष्टी + वृष्टीसे अन्न
( )
कर्मसे यज्ञ—शरीरसे कर्म—अन्नसे शरीर

यह यज्ञका चक्र है, यह चक्र क्रमसे भ्रमण होता रहता है। इसमेंसे एकभी यथाक्रम न होगा, तो सब चक्र टूट जायगा और भूतमात्रकी स्थिति नहीं होगी। महानारायण उपनिषद्में कहा है—

ताभिः पर्जन्यो वर्षति। पर्जन्यैनौषधिवनस्पतयः प्रजायन्ते॥ म० नारा० २३।१

"पर्जन्य वृष्टि करता है, और वृष्टिसे औषधियां और वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं।" इस रीतिसे यज्ञसे पर्जन्य होकर अन्न की उत्पत्ति होती है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि यज्ञसे पर्जन्य कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें मनुका वचन देखिये—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
मनु० ३।७६

"अग्निमें दी हुई आहुति आदित्य के पास जाती है, आदित्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और उससे सब प्रजाकी उत्पत्ति होती है।" यही विषय महाभारतमें निम्नलिखित प्रकार कहा है—

यज्ञात्प्रजा प्रभवति नभसोऽम्भ इवामलम्॥१०॥
अग्नौ प्रास्ताहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपगच्छति।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥११॥
म० भारत. शां० अ० २६३

"यज्ञसे प्रजा होती है जैसा आकाश से निर्मल जल प्राप्त होता है। यज्ञ की अग्निमें रखी हुई आहुति आदित्य के पास जाती है, आदित्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और उससे प्रजा होती है।" यज्ञसे वृष्टि होने के विषयमें शतपथ ब्राह्मणमें यह वचन है—

पर्जन्येष्टि।

स यदि वृष्टिकामः स्यात्। यदीष्ट्या वा यजेत...ब्रूयाद्वृष्टिकामो वाऽअस्मीति तत्रोऽध्वर्युं ब्रूयात्पुरोवातं च विद्युतं च मनसा ध्यायेति। अभ्राणि मनसा ध्यायेत्यग्नीध्रँ, स्तनयित्नुं च वर्षं च मनसा ध्यायेति होतारँ, सर्वाण्येतानि मनसा ध्यायेति ब्रह्माणं, वर्षति हैव तत्र यत्रैवं ऋत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति॥ श० ब्रा० ११।२।१९

"यदि यजमानकी इच्छा वृष्टि होनी चाहिये ऐसी हो तो वह पर्जन्येष्टी करे, उस समय यजमान कहे की वृष्टी की इच्छा है, अतः अध्वर्यु वायु और बिजली का ध्यान करे, आग्नीध्र अभ्रोंका ध्यान करे, होता मेघगर्जना और वृष्टी

का ध्यान करे और ब्रह्मा इन सब का ध्यान करे। ऐसे ज्ञानी ऋत्विज जहां होते हैं, और वे यदि मनसे ऐसा ध्यान करेंगे और इष्टी करेंगे, तो वहां अवश्य वृष्टि होगी।"

यहां याज्ञवल्क्य मुनि निश्चयपूर्वक कहते हैं कि 'वृष्टि होगी,' इस से पता लगता है पर्जन्येष्टीमें इस प्रकार मानस ध्यान करनेसे कुछ अपूर्व बल पैदा होकर वृष्टी होती होगी। हमें इस बात का अनुभव नहीं है और नांहि ऐसे मनोबलवाले ऋत्विज आजकल कहीं मिलेंगे। इस लिये इस विषयमें अधिक लिखना असंभव है। तथापि वैदिक वाङ्मय देखनेसे पता लगता है कि उस प्राचीन समय पर्जन्येष्टीसे यथेप्सित वृष्टि हुआ करती थी।

यदि आकाशमें बादल आये हों और वृष्टि न होती हो तो नीचेसे ऊर्ध्वमुखी तोफें चलानेसे वृष्टि होती है। इसका कारण यह है कि मेघमंडलमें हलचल होनेसे वृष्टि होती है। आजकल कई स्थानपर अमेरिका और युरपमें मेघमंडलमें विद्युत्संचार करानेसे वृष्टि करनेका यत्न किया गया और वह सफल भी हुआ है। जहां युद्ध होते हैं और बहुत तोफोंकी मार होती है, वहां यदि आकाशमें मेघ रहे तो वृष्टि होती है, यह सैनिकोंका अनुभव है। तोफोंमें अग्नि है और यदि उसको दुर्गन्ध पदार्थोंका हवन माना जाय तो भी बात बन सकती है। इससे यदि इतना सिद्ध होजाय की मेघमंडलमें इस प्रकारकी हलचल करनेसे कुछ न कुछ वृष्टिकी संभावना होगी, तो वह बात सशास्त्र विधिपूर्वक किये गये हवनोंसे भी होना संभव हो सकता है।

आजकल जो घरमें हवन होते हैं वे बहुतहि अल्प प्रमाणमें होते हैं, उसका इष्ट या अनिष्ट परिणाम मेघमंडलपर होना असंभव है। परंतु जहां बडे यज्ञ और महान् सत्र होते हैं, जहां कई दिन बृहद्धवन किये जाते हैं, जहां घृतकी धाराएं हवनमें गिरती हैं, और जहां के हवनका धूवां मैलोंकी दूरीपरसे भी दीखता है, वहां के हवन का परिणाम मेघमंडलपर होना संभव है। हवन की अग्निसे हलकी बनी वायु ऊपर जाती है और वहां चारों ओर की वायु आजाती है। इस प्रकार जो गति वायुमंडलमें होती है उससे यज्ञप्रदेशकी ओर चारों दिशाओंमें स्थित वायुकी गति बनती है और यदि यह गति अनेक दिन रही तो उस प्रदेश की ओर हवाके साथ बादल आना भी संभव होसकता है।

यह गति जिस प्रमाणसे होगी और जितने दिन तक रहेगी उसी प्रमाणसे बादलोंका आना और वृष्टिका होना संभवनीय हो सकता है। यहां कई लोग कहेंगे कि जिस समय बडे जंगलों में आग लगती है वहां उक्त कारण वृष्टि होती होगी। होती है, प्रायः होती है। आजकल भी होती है, परंतु उन दिनोंमें बादलोंकी संभावना होनी चाहिये। वर्षाऋतुमें हि पर्जन्येष्टियां की जाती हैं अन्य ऋतुमें नहीं। जिन देशोंमें हरमास में वृष्टि होती होगी, उन देशोंमें आकाशमें बादलोंका आना और यज्ञसे वृष्टि होना संभव हो सकता है।

यहां कई लोग पूछेंगे कि यदि केवल जंगल की लकडियां जलाने से वृष्टि होना संभव होगा तो विधिपूर्वक यज्ञ करनेकी क्या आवश्यकता है? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है कि विधिपूर्वक किये गये हवनसे अन्यान्य लाभ भी होते हैं। पूर्वोक्त स्थानमें कहा है कि 'ये औषधियोंके महामख हैं, ऋतुसंधियोंमें किये जाते हैं, क्योंकि ऋतुसंधिमें व्याधि होते हैं। (गोपथ ब्राह्मण) अर्थात् यज्ञ की सिद्धाग्निमें जो औषधियां डाली जाती हैं, अग्निसे उनके सूक्ष्म परमाणु बनकर वे हवामें जाते हैं, मेघमंडलमें पहुंचते हैं, और अन्य स्थानोंके वायुमें भी रहते हैं। घृत के अणु रोगजंतुओंका संहार करनेवाले हैं, सोमादि औषधियोंके अंश भी इसी प्रकार रोगबीज दूर करते हैं। यज्ञमें हवन कियेगये घृत का महत्त्व रोग-

नाशन के संबंधमें विशेषहि है। केवल घृतका हवन करनेसे भी कई सांघिक रोग दूर होना संभव है। जब कोई संघिक रोग आता है और ग्राममें उसका उपद्रव शुरू होता है,तो प्रत्येक घरमें और चौरास्तोंपर बृहद्धवन करनेसे रोग दूर होता है।

इस तरह बृहद्धवनोंके द्वारा जो घृतके और विविध औषधियोंके अणु मेघमंडलमें जाते हैं और हवामें रहते हैं वे वृष्टिजल के साथ भूमिपर आकर, उनका भूमिस्थानीय अनंत वृक्षों, वनस्पतियों और कृषियोंके लिये एक पौष्टिक और शुद्ध जीवनीय रस मिलता है। वृक्षादिकोंको उत्तम खाद देनेकी यह रीति है। हवाशुद्धि, वृष्टिका नियमन, जलशुद्धि और वृक्षरसों की पुष्टि इतनी बातें हवन रूप यज्ञसे सिद्ध होती हैं, ऐसा हम हवन विधिके ग्रंथोंसे अनुमान निकाल सकते हैं। यह युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है, तथापि इसके प्रयोग करके देखने चाहिये और जो बात प्रयोगोंसे सिद्ध होगी वही माननी चाहिये।

होम हवनरूप यज्ञोंसे वृष्टि किस तरह होती है इसकी रीति हमने यहां देखी। इसी विषयमें निम्न लिखित मंत्र भी देखना योग्य है-

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते।

ऋग्वेद १।१६४।४७

(अपः वसानाः) जल लेनेवाले (हरयः सुपर्णाः) जलका हरण करनेवाले आदित्य के किरण (कृष्णं नियानं) आकर्षण के मार्गसे (दिवं उत् पतन्ति) द्युलोक को जाते हैं। (ऋतस्य सदनात्) उदकके स्थानसे (ते आववृत्रन्) वे आकर उनके द्वारा (घृतेन) जलसे (पृथिवी व्युद्यते) भरपूर की जाती है। अर्थात् पृथ्वीपर का जल सूर्य किरणोंसे बाष्परूपमें ऊपर आकाशमें उडता है, उसके मेघ बनते हैं, वे मेघ वृष्टिरूपसे पृथ्वीपर आकर जल वर्षाते हैं। वृष्टि होनेका क्रम वेदमें इस प्रकार बताया है, इसके अनुसार जब ये सूर्य किरणों द्वारा भांप होकर जलके अणु ऊपर जाते हैं,उनके साथ हवन के द्वारा सूक्ष्म बनाये गये घृतके और सोमादि औषधियोंके अणु यदि भेजे जांयगे, तो वे जलको औषधि गुणोंसे युक्त बनायेंगे और वह जल न केवल अन्नको विशेष पुष्टिरससे युक्त बना देगा, प्रत्युत प्राणियोंके लिये भी आरोग्यवर्धक होगा।

इसप्रकार सारांशसे (यज्ञात् भवति पर्जन्यः) यज्ञसे पर्जन्य होता है इस विषयका विवेचन है। वैदिक वाङ्मयमें यज्ञविषय बहुत व्यापक और बडा विस्तृत है,उसका होमहवन विषयक एक भाग है। पाठक यहां यह न समझें कि हवनसे केवल रोगोंका नाश होगा। यह बात नहीं है। हवन एक शास्त्र है और उसका उपयोग विविध कार्यों के लिये होता था। जिसप्रकार रोगनाशक और रोगप्रतिबंधक हवन है, उसी प्रकार रोगोत्पादक और रोगवर्धक भी हवन है। शत्रुके देशमें रोग वर्धक हवन कराये जाते थे और अपने देशमें रोगप्रतिबंधक हवन किया करते थे। इसीप्रकार वृष्टिवर्धक भी हवन हैं और वृष्टिनियामक भी हैं। यह एक बडा शास्त्र है और यह प्रायः लुप्त हुआ है, सोमादि औषधियां भी नहीं मिलतीं। अतः इसविषयमें अधिक लिखा नहीं जाता। विद्याके संशोधक इसकी खोज करें। हमें यहां गीताका विधान देखना था वह सारांशरूपसे देख लिया। यज्ञके युक्तायुक्तत्व के देखनेका यहां प्रसंग नहीं है।

पाठक यहां इतनी बात ध्यानमें धारण करें कि, जो यज्ञ वृष्टिनियामक हैं वे होमहवन के हि यज्ञ हैं, परंतु भगवद्गीतामें जो यज्ञ कहे हैं, वे केवल होमहवन रूप हि नहीं हैं; उनमें वैयक्तिक, कौटुंबिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्योंका भी समावेश होता है, इतनी विशेषता है। इस विषयका सामान्य स्वरूप इससे पूर्व (भ० गी० श्लो० ३।१०-१३ के विवरणमें) बताया है और आगेभी अनेक

स्थानोंपर बताया जायगा। भगवद्गीता में जो व्यापक यज्ञ का रूप कहा है, उसका एक भाग होमहवन है। इतनी बात पाठक ध्यानमें रखें॥

यज्ञसे पर्जन्य।

यज्ञसे मेघ, मेघसे पर्जन्य और पर्जन्यसे अन्न होनेमें दूसरी रीतिसेभी एक आत्मसमर्पण रूप यज्ञ हो रहा है। यह यज्ञ भी यहां अब देखना चाहिये। जल का आत्मसमर्पण होकर उस की भांप बनकर मेघ बनते हैं, अर्थात् मेघोंकी उत्पत्ति होनेके लिये जलका आत्मसमर्पण रूप यज्ञ होनेकी आवश्यकता है। जलके इस आत्मसमर्पण रूप यज्ञ से मेघोंकी उत्पत्ति होती है। मेघ भी उसी प्रकार आत्मसमर्पण करते हैं जिसका नाम वृष्टी है। मानो, परोपकार के लिये मेघ अपना अस्तित्व तक समर्पित करते हैं, इस मेघोंके आत्मसमर्पणसे संपूर्ण वृक्षवनस्पतिसृष्टी और जीवसृष्टी पाली जाती है, अर्थात् किसी का पालन होनेके लिये दूसरेका आत्मसमर्पण रूप यज्ञ होना आवश्यक है, यही बात आगेके यज्ञोंमें देखी जाती है। मेघों से वृष्टीके द्वारा जल पृथ्वीपर आनेपर वह जल फिर वृक्षों और प्राणियों के जीवन के लिये आत्मसमर्पण करता है। जब यह जल उन वृक्षवनस्पतियों और प्राणियोंके शरीरका भाग बनता है, तब उनका जीवन होता है, इनके अस्तित्वके लिये, मानो, जलको अपने अस्तित्व का समर्पण करना होता है। इसी प्रकार अन्न भी आत्मसमर्पण करके प्राणियोंके जीवन का हेतु बनता है। प्राणी अपने जीवनभूत रजवीर्य का समर्पण रूप यज्ञ करके हि प्रजा उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार यह यज्ञ से सब जगत् चल रहा है। यह यज्ञ परमेश्वरीय नियमसे हो रहा है, इस लिये यज्ञ होनेपर भी जल को यज्ञ करनेका पुण्य नहीं प्राप्त होता क्योंकि जलका यज्ञ ईश्वरीय नियमसे हो रहा है उसमें जलकी इच्छाका भाग कारणीभूत नहीं है।

मनुष्य इस परमेश्वरीय नियमका अवलोकन करे, और ईश्वरका यज्ञसूत्र सर्वत्र कैसा चल रहा है यह देखे, तथा स्वयं अपनी इच्छासे आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करे। मनुष्य चूंकी स्वेच्छा से यह आत्मसमर्पण करता है, इसलिये इसको पुण्य प्राप्त होता है और यज्ञ न करनेसे उसकी अधोगति होती है। मनुष्यको परमेश्वरने स्वातंत्र्य रखा है, इसलिये अपनी स्वतंत्र इच्छासे उसको यह यज्ञ चलाना चाहिये, यह उसका अत्यंत आवश्यक कर्तव्य है।

मनुष्यका जीवित जगत्के यज्ञपर अवलंबित है, जागतिक यज्ञके कारण मनुष्य जीवित रहता है, इसलिये मनुष्यको उचित है कि, वह स्वयं जगत् की भलाईके लिये अपनी शक्तिका यज्ञ करे। उदाहरणके लिये देखिये, प्राचीन लोगोंके द्वारा लगाये वृक्षोंके फल मनुष्य खाता है, अतः मनुष्यका कर्तव्य होता है कि, वह स्वयं नये वृक्ष लगावे जिनके फल भविष्यमें आनेवाले मनुष्य खा सकें। इसीप्रकार हरएक प्रकारके आत्मसमर्पणके विषयमें जानना चाहिये। मनुष्यका जीवन यज्ञमय होना चाहिये ऐसा जो स्थान स्थानपर कहा है, इसका प्रधान हेतु यह है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जो यज्ञ शब्द है, वह आत्मसमर्पणरूप सामान्य यज्ञका वाचक है। द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि उदाहरण इस सामान्य यज्ञकेहि हैं। होमहवन रूप यज्ञ जो किये जाते हैं वे इस आत्मसमर्पण के उपलक्षण मात्र हैं।

गुप्तदान।

होमहवन यज्ञ का एक उपलक्षण है। जैसा यज्ञमें चन्दनकी समिधा जलाई तो उसकी सुगंधि चारों ओर फैलती है। अनेक लोग उस सुगंधीसे आनन्द को प्राप्त करते हुए भी उनको पता नहीं होता कि उनको किस दाताने सुगंधि दी है, और चंदन के हवन कर्ता को भी पता नहीं होता कि किनको मैंने सुगंधि पंहुंचाई है। 'दाता को लेनेवालेका पता नाहीं और दान लेने वालोंको

दाता का परिचय नहीं' इस प्रकार का परम उच्च दान विधि यज्ञसे साध्य होता है। दाता के मनमें प्रत्युपकार लेनेकी इच्छाहि नहीं। यह उच्च रीतिका दान देनेकी विधि इस हवनसे दर्शायी है। भगवद्गीतामें आगे द्रव्ययज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि अनेक यज्ञ कहे जांयगें, उनमें होने वाला दान इस प्रकारका गुप्त दान होना चाहिये। यह एक यज्ञके दानकी विशेषता है। इसको पाठक न भूलें।

कर्मसे यज्ञ।

(यज्ञः कर्मसमुद्भवः) कर्मसे यज्ञ होता है। यह कथन हरएक यज्ञके विषयमें सत्य है। यज्ञ एक प्रशस्ततम कर्म है। अतः जो मनुष्य कर्म नहीं करेगा, उससे यज्ञ होगाहि नहीं और न होमहवन अथवा द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञानयज्ञ अथवा दूसरा कोई यज्ञ होगा, वह तो कर्म करनेपरहि सिद्ध होगा। आलसी रहनेपर न कोई कर्म होगा और न यज्ञ। अतः मनुष्य कर्म करे और वे कार्य यज्ञरूप बनावे।

ज्ञानसे कर्म।

(कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि) कर्म ज्ञानसे किया जाता है। 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ यहां 'कर्मकी विधिका ज्ञान' है। आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान आदि 'ब्रह्म' शब्दके अन्य अर्थ यहां नहीं है। विविध कर्मों और यज्ञोंके करनेकी विधिका ज्ञान यहां के 'ब्रह्म' शब्दसे लेना चाहिये। इस ज्ञानके विना कोई कर्म यथासांग करना असंभव है। वेदादि ग्रंथोंमें इस कर्मकी विधिका ज्ञान दर्शाया है अतः वेदको और वेदमंत्रोंको 'ब्रह्म' कहते हैं। जिसमें श्रेष्ठ कर्मोंका उपदेश है वह ज्ञान ब्रह्म शब्दसे यहां लेना उचित है।

कई विद्वान् यहांके 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'प्रकृति' करते हैं और (कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि) इसका अर्थ कर्म प्रकृतिसे होता है, ऐसा अर्थ करते हैं। यह अर्थ भी सुसंगत है और इसमें किसी प्रकार विरोध नहीं हो सकता। आगे भगवद्गीतामें

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
भ० गी० १४।३

"मेरी (ब्रह्म) बडी प्रकृति उत्पन्न करनेवाली है, उसमें मैं गर्भ रखता हूं, उससे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।" ऐसा कहा है। यहां ब्रह्म शब्द प्रकृतिके अर्थ में है। यही अर्थ यहां लेनेसे यह अर्थ होता है। तथा महाभारत में कहा है कि-

यज्ञो यष्टव्य इत्येव यो यजत्यफलेप्सया॥३१॥
अनुयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत्सदा॥३४॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां परश्चेति विनिश्चयः॥४०
म० भा० शां० अ० २६८

"यज्ञ वह है कि जिसमें फलकी अपेक्षा न रखते हुए यजनादि किया करते हैं। यज्ञके पीछे सब जगत् है और सब जगत् के पीछे यज्ञ है। यज्ञ के विना इस लोक और परलोक किसी भी लोक में सद्गति नहीं होती।" इस स्थानपर यज्ञ और जगत् परस्पर के अनुसारी हैं ऐसा कहा है, इस से भी पता चलता है कि प्रकृतिस्वभावसे कर्म और कर्म से यज्ञ सिद्ध होता है। शरीरका स्वभाव धर्म कर्म करना है, इस कर्म को यज्ञ रूपमें परिणत किया तो उद्धार होगा और यह कर्म अयज्ञरूप बना तो अपकार होगा। अस्तु, इस तरह यहां 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'प्रकृति' लेना भी योग्य है। परंतु हमारे मतसे यहां 'कर्मविधिका ज्ञान' यह अर्थ है। पाठक इसका अधिक मनन करें।

अक्षरसे ज्ञान।

(अक्षरसमुद्भवं ब्रह्म) अक्षरसे ज्ञान होता है। यहां 'अ-क्षर' शब्दसे 'अव्यय आत्मा' लेना चाहिये। आत्मासे ज्ञान प्राप्त होता है। आत्माकाहि गुण ज्ञान है। चित्स्वरूप आत्मा है इसलिये उससे ज्ञान प्रकट होता है। कर्मविधिका ज्ञान और मोक्षोपायका भी ज्ञान इसी सच्चिदानन्द प्रभु परमात्मासे प्राप्त होता है। यही बात उपनिषद्में इस प्रकार कही है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

अन्वयः- हे पार्थ! एवं प्रवर्तितं चक्रं यः इह न अनुवर्तयति, सः इन्द्रियारामः अघायुः मोघं जीवति ॥१६॥

हे अर्जुन! इस प्रकार चलाये हुए यज्ञचक्रके अनुसार जो मनुष्य इस लोक में नहीं आचरण करता, वह इंद्रियोंको आराम में रखनेवाला मनुष्य पापमय आयुवाला होकर व्यर्थ जीता है ॥१६॥

भावार्थ- इस तरह यह विश्वव्यापी यज्ञचक्र चल रहा है। जो इसके अनुकूल अपना आचरण करेगा वह यज्ञस्वरूप बनने के कारण पवित्र होगा। परंतु जो इसके अनुकूल अपना जीवन नहीं बनायेगा और जो अपने इंद्रियोंको आराममें रखनेका यत्न करेगा उसका जीवन पापी बननेके कारण व्यर्थ जायगा ॥१६॥

आत्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यान-मात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वम् ॥ छां० उ० ७।२६

'आत्मासे बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्म आदि सब होता है।' यहां भगवद्गीता की हि बात बतायी है। मानो, यह छांदोग्य का विधान गीताके विधान का स्पष्टीकरण है। क्यों कि यहां आत्मासे 'मन वाणी नाम मंत्र कर्म' इस क्रमसे प्रकट होते हैं ऐसा कहा है, और गीतामें केवल 'अक्षरसे ब्रह्म और ब्रह्मसे कर्म' इतनाहि क्रम दर्शाया है, अतः पाठक इस उपनिषद्वचन के साथ भगवद्गीता के वचन की तुलना करें और आत्मासे किस क्रमसे कर्म होते हैं, इस का विचार जानें।

यज्ञमें परमात्मा।

इतना क्रम बतानेका हेतु यह है कि यज्ञमें परमात्मा की उपस्थिति है यह बात पाठकोंके मनमें आजाय, इसलिये अन्त में कहते हैं कि—

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

'इसलिये सर्व व्यापक परमात्मा यज्ञमें नित्य उपस्थित होता है।' जहां यज्ञ चलता है वहां परमात्मा है ऐसा समझना चाहिये। जहां पूर्वोक्त कथन के अनुसार सत्कार-संगति-दानात्मक कर्म, आदर-संगठन और उपकार के प्रशस्त कर्म होते हैं, वहां सर्वव्यापक ईश्वर रहता है। अतः अपने पास यदि परमेश्वरकी उपस्थिति हो ऐसी किसी की इच्छा हो, तो वह ऐसे प्रशस्ततम कर्म करता रहे। जब तक किसी मनुष्यसे ऐसे शुभ कर्म होते रहेंगे, तबतक परमेश्वर उसके संनिध रहेगा। परमात्माको अपने पास नित्य रखने का यही एक मात्र उपाय है। परमेश्वर प्राप्ति निश्चयसे होनेका भी यही एक मात्र उपाय है। इसी लिये आगे कहेंगे कि—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
भ० गी० १८।४६

'जिसके द्वारा संपूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने इस सब को व्याप लिया है, उसकी पूजा अपने कर्मोंके द्वारा करने वाला मनुष्य अन्तिम सिद्धी प्राप्त कर सकता है।' मनुष्य का जो जो कर्तव्य है वह उत्तम रीतिसे करके और उसका फल परमात्मा को समर्पण करके मनुष्य कृतकृत्य बन सकता है। अतः आगे यह कर्मका चक्र सतत घुमाने के लिये कहते हैं वह उपदेश अब देखिये--

(१६) इस अध्याय के श्लोक १० से १५ तक के छः श्लोकोंमें विश्वव्यापी यज्ञचक्रका वर्णन किया है। यह यज्ञचक्र परमात्मा द्वारा (प्रवर्तितं)

चलाया जा रहा है। मनुष्यसे भिन्न जितनी भी सृष्टि है वह सबकी सब सृष्टि इस यज्ञचक्रके नियमानुसार परमेश्वर द्वारा चलाई जा रही है। परंतु मनुष्यमें विशेष बुद्धि रखी है, अतः उसमें स्वतंत्र इच्छाशक्ति है। चाहे यह मनुष्य उस यज्ञचक्रके अनुकूल अपना चालचलन रखे, या न रखे; यह सब इसकी इच्छापर निर्भर है। यदि यह मनुष्य उस विश्वव्यापी यज्ञचक्रके अनुकूल अपना आचरण रखेगा तो वह सुख प्राप्त करता हुआ अन्तमें परम पदको प्राप्त करेगा, और यदि यह उस यज्ञचक्रके प्रतिकूल अपना व्यवहार करेगा, तो उसको न सुख प्राप्त होगा और न उच्च गति मिलेगी। मनुष्य और अन्य सृष्टीमें इतना भेद है।

यहां कई पूछेंगे कि यदि मनुष्यसे भिन्न अन्य सृष्टि उस यज्ञचक्रके अनुकूल आचरण कर रही है, तो उसकी मुक्ति क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि "स्वयंप्रेरणासे किये हुए यज्ञसे हि मुक्ति हो सकती है।" जैसा किसी व्याघ्रने किसी गायका वध किया और उसको खालिया, तो उसमें गायका आत्मयज्ञ नहीं है। आत्मयज्ञ तो तब होगा, कि जब गाय अपने आपको स्वेच्छासे व्याघ्रके लिये समर्पित करे। किसी दूसरेके नियमके वशीभूत होकर पराधीनतासे बली न दिया जावे। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको परास्त करके उसको लूटता है, उस अवस्थामें लूटे गये राष्ट्रको आत्मसर्वस्वसमर्पण का पुण्य नहीं लग सकता; परंतु यदि किसीने जगत्के उद्धारके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण किया, तो वह पुण्यात्मा बन जाता है। अर्थात् किसीका घर डाका डालनेवालोंने किसी समय लूट लिया तो सर्वमेध नामक यज्ञ करनेका पुण्य उस घरवालेको नहीं प्राप्त होगा, परंतु यदि वह गृहस्थी अपना सर्वस्व दीनोंके उद्धारके लिये स्वेच्छासे समर्पण करेगा, तो हि वह पुण्यका भागी बनेगा।

दूसरोंसे लूटा जाना "शक्तिहीनताका लक्षण" है। शक्तिहीनतासे उन्नति नहीं हो सकती। अशक्त मनुष्य यज्ञ नहीं कर सकता। जो जिसके पास बल होगा उसका यज्ञ वह दूसरोंकी भलाईके लिये करेगा। जिसके पास ज्ञानका बल है वह ज्ञानयज्ञ करेगा, जिसके पास बाहुबल है वह दूसरोंकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंका यज्ञ करेगा, जिसके पास धनका बल है वह दीनोंके उद्धारके लिये अपने धनका यज्ञ करेगा। इसी प्रकार जो बल जिसके पास होगा उसका यज्ञ वह कर सकेगा। जिसके पास कोई बल नहीं वह कोई यज्ञ कर नहीं सकेगा। इसलिये यज्ञ करनेके लिये किसी न किसी प्रकारका बल अपने पास संग्रहित करना चाहिये, तत्पश्चात् यज्ञ करनेका अधिकार उसको प्राप्त होगा।

आगे चतुर्थाध्यायमें श्लो० २५ से ३० तकके छः श्लोकोंमें कई प्रकारके यज्ञ कहे हैं, वे सबके सब यज्ञ बलवान् मनुष्यहि कर सकता है। बलहीन मनुष्य अथवा निर्बल राष्ट्र लूटा जाने योग्य हि है। वह यज्ञ नहीं कर सकता। अतः उन्नति की इच्छा करनेवालेको उचित है कि वह अपने पास कोई न कोई बल धारण करनेका यत्न करे और पश्चात् उस बलका परोपकारार्थ यज्ञ करे। इस तरह यज्ञ में स्वयं प्रेरणासे आत्मशक्तिका त्याग अभीष्ट है।

जो जगत् में परमात्माद्वारा यज्ञ हो रहा है, उसमें परमात्माके नियम कार्य कर रहे हैं और मनुष्यसे भिन्न सब प्राणी परवश होकर उस यज्ञचक्रमें घूम रहे हैं, इस कारण यद्यपि वे मुक्त नहीं हो सकते, तथापि जीवसृष्टिमें उन्नत होते होते, वे जीव मानव योनीमें प्राप्त होते हैं। इन सबकी यह उन्नति इसीलिये हो रही है कि ये सब परमात्माके यज्ञचक्रके अन्दर रहते हैं। जब मनुष्य योनिमें जीव आता है तब वह अपने प्रयत्नसे अपनी परम उन्नति करनेका अधिकारी बनता है। अतः इस स्वतंत्र मनुष्यके लिये इस श्लोकमें उपदेश दिया है कि- "हे मनुष्य! तू

स्वतंत्र है, तू यत्न करेगा तोहि तेरी उन्नति आगे होगी, तू प्रयत्न करेगा, युद्धके लिये खडा होगा तभी परमात्मा तेरे रथपर सारथी होकर तेरी सहायता करेगा। अतः तू उस विश्वव्यापी यज्ञ को अपने आचरणमें धारण कर, अपना आचरण यज्ञरूप बना और पुण्यात्मा बन कर परम उन्नति प्राप्त कर।"

यहां परमात्माके आत्मयज्ञका आदर्श इसके सन्मुख आता है। परमात्माके आत्मयज्ञसेहि इस सृष्टीकी रचना हुई है। परमात्माने अपनी शक्तिका अधिकसे अधिक यज्ञ किया इसीलिये परमात्माको "परम उच्च" कहते हैं, अर्थात् परम यज्ञके साथ परमोच्चता संबंधित है। ब्रह्मके यज्ञ के विषय में इस प्रकार कहा है—

ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत। तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनीति। तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्। तथैवैतद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति॥

श० ब्रा० १३।७।१

"स्वयंभु ब्रह्म एक समय तप करने लगा। उसने देखा कि तपमें सचमुच अनन्तत्व नहीं है। इसलिये मैं अपने आपका सब भूतोंमें यज्ञ करूंगा और सब भूतोंका अपने आत्मामें यज्ञ करूंगा। पश्चात् उसने अपने आपका सब भूतोंमें यज्ञ किया और आत्मामें सब भूतोंका यज्ञ किया। इस आत्मसमर्पणरूप यज्ञसे उसने श्रेष्ठता, स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त किया। इसी प्रकार जो आत्मसर्वस्वका यज्ञ करेगा, उसको श्रेष्ठता, स्वाराज्य और आधिपत्य निःसन्देह प्राप्त होगा।"

इसी प्रकार विश्वकर्मा के आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करनेका वर्णन निम्न लिखित वचन में है। देखिये—

विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहुवाञ्चकार। स आत्मानमपि अन्ततो जुहुवाञ्चकार॥२॥ तदभिवादिन्येषर्ग्भवति। य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति॥३॥

निरुक्त दै० १०।२६

"विश्वकर्मा भौवनने सर्वमेध यज्ञमें प्रथम सब भूतोंका और अन्तमें अपने आत्माका भी यज्ञ किया, इस विषयका वर्णन 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्' (ऋ० १०।८१।१) इस मंत्रमें है।"

अब यह मंत्र देखिये—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः॥ स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥ ऋ० १०।८१।१

"हमारा (पिता) परमपिता (ऋषिः) सर्व साक्षी विश्वकर्माने पहिले अपने सब भूतोंका यज्ञ किया और पश्चात् अपने आत्माका यज्ञ करनेके लिये (न्यसीदत्) बैठ गया। वह (आशिषा) अपनी शुभेच्छासे सबको धन प्राप्त हो ऐसी इच्छा करता हुआ, यद्यपि वह (प्रथमच्छद्) मुख्य स्थानमें रहनेका अधिकारी था, तथापि (अ-वरान् आविवेश) नीच स्थानमें रहने वालोंके पास पहुंचा।" इस प्रकार उसने यज्ञ किया।

आत्मयज्ञ यही है। यह जगत् परमेश्वरका घर है और ये सब भूत उसके हैं। इस परमेश्वरने इस अपने सब ऐश्वर्यका यज्ञ किया। पहिले उसने ये सब भूतमात्र, पदार्थमात्र, सब की भलाई के लिये सौंप दिये, अर्पण किये और पश्चात् उस सर्व साक्षी पिताने अपने आपको सबकी भलाई के लिये समर्पण कर दिया। इसमें उसकी शुभेच्छा यही थी कि सबको उत्तमसे उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो। इसी एकमात्र परोपकारकी कामनासे उसने, स्वयं परमोच्च स्थानमें विराजमान होने का अधिकार होते हुए भी, नीचसे नीच स्थानमें आकर निवास किया, ता कि सब भूत उन्नत हों, सब स्थानमें आनन्द रहे और सर्वत्र शान्ति

(७) अनासक्तसे कर्म ।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

स्थापन हो। इस परमात्मा के आत्मयज्ञ का महान् आदर्श श्रीमद्भगवद्गीताके इस उपदेश में है। तथा आगे भगवद्गीतामें इसी अध्यायमें कहेंगे कि—

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
भ० गी० ३।२२

"हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें कुछ भी करनेका नहीं है, जो प्राप्त करने योग्य है, वा न मिला हो ऐसा भी नहीं है, तथापि मैं यज्ञकर्म में लगा ही रहता हूं॥" यही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका आत्मयज्ञ हि है। पूर्ण आप्तकाम होनेपर भी लोकसंग्रहके लिये कार्य में आत्मसमर्पण करनेका नाम आत्मयज्ञ है। यह यज्ञ स्वयंभु ब्रह्मने किया, विश्वकर्माने किया और भगवान् श्रीकृष्णने किया। इससे ब्रह्म विश्वकर्मा और श्रीकृष्ण इनका महत्त्व सब गाते हैं। जो इस तरह आत्मयज्ञ करेंगे, वे भी इसी तरह महत्त्वके भागी बनेंगे, वे श्रेष्ठ बनेंगे, वे स्वराज्य प्राप्त करेंगे और वे ही आधिपत्यके योग्य समझे जायंगे।

वेद और ब्राह्मणोंमें जिस आत्मसमर्पण रूप यज्ञका इसप्रकार वर्णन है, वही इस भगवद्गीताके इस श्लोकमें कहा है। परब्रह्म, विश्वकर्मा आदिके यज्ञपर संपूर्ण जगत् की स्थिति अवलंबित है। अतः जो मनुष्य उस परमात्मा के यज्ञ के साथ साथ अपना जीवन यज्ञमय करेगा वह भी उसी प्रकार श्रेष्ठ होगा। वही नरका नारायण बनेगा और पुरुषका पुरुषोत्तम बनेगा।

इस श्लोकमें पापी कौन बनता है और पुण्यात्मा कौन होता है, इसका उत्तम रीतिसे कथन हुआ है, वह विषय अब देखिये—

अघायु	पुण्यायु.
पापी जीवन	पुण्य जीवन.
इन्द्रियाराम	इन्द्रियसंयमी
यज्ञं नानुवर्तयति	यज्ञं अनुवर्तयति
स मोघं जीवति	स सफलं जीवति

जो मनुष्य अपना जीवन यज्ञरूप बनाता है, इन्द्रियसंयम करता है, परमेश्वरीय महायज्ञमें आत्मार्पण करता है वही सफल जीवन व्यतीत करता है। इससे विपरीत जो स्वार्थका जीवन व्यतीत करता है, उसका साधनसंपूर्ण जीवन सुख पूर्ण है ऐसा यद्यपि कुछ समयतक दिखाई देगा, तथापि उसके पापी जीवनका भयानक दुष्परिणाम किसी न किसी समय उसको भोगना हि पडेगा इसमें तिलप्राय संदेह नहीं है।

कौन पुण्यात्मा है और कौन पापात्मा है, इस की परीक्षा करनेकी यही कसौटी है। जो सर्वभूतोंका हित करनेके लिये अपनी आहुती देता है वह पुण्यात्मा है और जो अपने हितके लिये सब भूतोंकी आहुती लेता है वह पापात्मा है। राक्षसी वृत्तिवाले पापात्माओंकी कुछ समय बडी चलती भी है, तथापि उससे मोहित होना योग्य नहीं है, कुछसमय ठहरनेसे पापात्माकी दुर्गति होनेका और यज्ञरूप जीवन करनेवाले पुण्यात्मा की शुभगति होनेका अनुभव आजाता है। इस लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह अपना जीवन यज्ञमय बनानेका यत्न करे, और अपने जीवन को कृतकार्य बनावे. इसीविषयका प्रतिपादन आगेके तीन श्लोक करते हैं वह बोधप्रद विषय अब देखिये—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

अन्वयः-यः तु मानवः आत्मरतिः एव, आत्मतृप्तः च, आत्मनि एव च सन्तुष्टः स्यात्, तस्य कार्यं न विद्यते॥१७ इह कृतेन तस्य अर्थः न एव, अकृतेन (अपि) कश्चन तस्य (अर्थः) न, (तथा) सर्व-भूतेषु च अस्य कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः न ॥ १८ ॥ तस्मात् (त्वं) असक्तः (सन्) सततं कार्यं कर्म समाचर, हि पुरुषः असक्तः (सन्) कर्म आचरन्, परं आप्नोति ॥ १९ ॥

जो मनुष्य आत्मामेंहि रमता है, आत्मासेहि तृप्त होता है, और आत्मा में हि संतुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता ॥ १७ ॥ यहां जैसा कर्म करनेमें उसका कोई स्वार्थ नहीं होता, वैसाहि कर्म न करनेमें भी उसका कोई स्वार्थ नहीं होता है। उसी प्रकार सब भूतोंसे भी उसका कोई निजी स्वार्थका संबंध नहीं होता है ॥१८॥ इस कारण तू संगरहित हो कर निरन्तर कर्तव्य कर्म करता रह। आसक्तिरहित होकर कर्मका आचरण करनेवाला मनुष्यहि परम पदको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ— जिसकी रति, तृप्ति और सन्तुष्टी किसी बाह्य पदार्थपर अवलंबित नहीं है, परंतु वह उसको अपने अन्दरही अन्दर प्राप्त होती है, उसकेलिये कोई कर्तव्य करनेका अवशिष्ट नहीं होता है। अर्थात् वह कृतकृत्य हुआ होता है ॥ इसकारण कर्म करनेसेभी उसको कुछ प्राप्तव्य नहीं होता और न करनेसेभी उसकी कुछ हानी नहीं होती, उसके लिये कर्म करना अथवा न करना समान हि होता है; क्योंकि किसी बाह्य वस्तुके साथ इसके निजी स्वार्थका संबंध स्वल्पभी नहीं होता। वह अपने अन्दर पूर्णताका अनुभव करता है॥ इसकारण मनुष्य आसक्ति छोडकर कर्म करता रहे, क्योंकि संग छोडकर कर्मका आचरण करनेवाला मनुष्यहि परम श्रेष्ठ मोक्षपद प्राप्त करता है ॥ १७—१९ ॥

मनुष्यकी कृतकृत्यता ।

(१७-१९) जबतक मनुष्यकी तृप्ति, सन्तुष्टि और रतिके लिये बाह्य पदार्थोंकी और बाह्य साधनोंकी आवश्यकता होती है, तबतक वह कृतकृत्य हुआ नहीं होता। प्रत्येक साधारण मनुष्य अपने अन्दर अपूर्णता, न्यूनता अथवा कमी का अनुभव करता है, और रातदिन उसकी पूर्णता करनेके यत्नमें तत्पर रहता है। इसीलिये इसको कर्म करना अत्यंत आवश्यक होता है। क्योंकि कर्मके विना सुखके साधन इसको नहीं प्राप्त होते और सुखसाधनोंके अभावमें यह दुःखोंसे सदा तडफता रहता है। मनुष्यकी अपूर्णताका यही लक्षण है कि, वह सदा अतृप्त रहता है, असंतुष्ट दीखता है और सतत बेचैनसा रहता है। रातदिन कर्म करता है, आसक्तिसे भोगोंके साधन अपने पास इकठ्ठे करता है, एक भोगके बाद दूसरा भोग, दूसरेके पश्चात् तीसरा इस प्रकार विश्राम न लेता हुआ भोगोंमें रत

होता है। कर्मोंसे भोग साधनकी प्राप्ति, भोग साधनोंसे भोग और भोगोंसे क्षणिक सुख, सुख के पश्चात् फिर दूसरे भोगोंके लिये कर्म, इस प्रकार कर्मभोगके चक्रमें साधारण मनुष्य सदा फंसता है। इस चक्रसे बाहर होना इसको अशक्यसा होता है। ये सब स्वार्थके हेतुसे कर्म हैं जिनमें साधारण मनुष्य फंसता है। अपने निजी भोगोंमें फंसनेसे मनुष्य सदा गिरता जाता है और अनेकानेक यातनाओंमें ग्रस्त होता है इसकी इन यातनाओंमेंसे मुक्ति होनेके लिये क्या उपाय किया जाय इसका विचार शास्त्रकारोंने किया है, वे कहते हैं कि बाह्य पदार्थों अथवा बाह्य भोगोंपरसे आसक्ति हटानेसे अपने आत्मामें हि उन सब भोगोंकी प्राप्ति उसको होती है, वैसाही सिद्ध पुरुष (आत्म-रतिः) आत्मामेंहि रत होता है, अपने आत्माके साथ वह क्रीडा करता है, आत्माके साथहि वह खेलता है और जो आनन्द साधारण लोग दूसरेके साथ क्रीडा करनेसे प्राप्त कर सकते हैं वह आनन्द अथवा उससे भी अपूर्व आनन्द उसको अपने आत्माके साथ क्रीडा करनेसे मिलता है। इसी विषयमें उपनिषदोंमें इस प्रकार कहा है—

> अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ छां० उ० ७।२५।२

"आत्मा का आदेश ऐसा है— आत्मा नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दायीं ओर तथा बाईं ओर है। आत्माही यह सब है। जो ऐसा देखता है, ऐसा मानता है, और ऐसाही अनुभव करता है वह (आमरतिः) आत्मामें रमनेवाला, (आत्मक्रीडः) आत्माके साथ क्रीडा करनेवाला, (आत्ममिथुनः) आत्मासेहि दूसरेके संबंधसे प्राप्त होनेवाला सुख प्राप्त करनेवाला होनेके कारण उसको (आत्मानन्दः) आत्मासेहि सब आनन्द प्राप्त होते हैं। ऐसा मनुष्य (स्वराट्) पूर्ण स्वतंत्र अर्थात् पूर्ण मुक्त होता है और सर्व लोकोंमें यथेच्छासे संचार करनेवाला होता है। परंतु जो इससे भिन्न ज्ञान अपने पास रखते हैं, (अन्य-राजानः) वे दूसरेके आधीन अर्थात् परतंत्र होते हैं, उनका क्षय होनेवाला लोक होता है और ऐसे लोगोंकी गति सब लोकोंमें नहीं होती।" इस स्थानपर "आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन, आत्मानन्द, स्वराट्" ये शब्द हैं। गीताके 'आत्मरति' शब्दका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये यह उपनिषद्वचन बहुतहि उपयोगी है। तथा और देखिये—

> प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥
>
> मुण्डक ३।१।४
>
> शान्ता दान्ता उपरतास्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः॥ नृ० उत्तर० ६

"यह प्राण (आत्मा) हि सब भूतोंके साथ प्रकाशता है, इसप्रकार जानता हुआ मनुष्य अधिक वक्तृत्व नहीं करता। वह आत्माके साथ क्रीडा करता है, आत्मामें रमता है, आत्माकी कर्मशक्ति से युक्त होकर वह ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ होता है॥ वे शान्त, संयमी, वैराग्यसंपन्न, क्षमावान्, समाहित, आत्मरत, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन, और आत्मानन्द होते हैं।" तथा और देखिये—

> अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्।
>
> बृ० ४।३।२१
>
> अकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः॥ नृसिं० उत्त० ५ बृ० ४।४।६

"जब यह पुरुष प्राज्ञ आत्मासे घेरा जाता है तब उसको बाहरके विषयोंका ज्ञान नहीं होता और न अन्दरके विषयोंका। इसलिये यह रूप (शोकान्तरं) शोकरहित अवस्था है और इसको आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम, निष्काम कहते हैं।" इत्यादि वचन हैं जिनका मनन करनेसे 'आत्मरत' शब्दका आशय ध्यानमें आसकता है। यह आत्मरति तब होगी जब यह (अकामयमानः) कामना न करेगा, (अकामः) कामनारहित होगा, (निष्कामः) निष्कामभाव अर्थात् निजी स्वार्थकी कामना छोड देगा, (आप्तकामः आत्माकीहि कामना करेगा, (आप्तकामः) जिसकी सब कामनाएं पूर्ण हो चुकी हैं, जो (आत्मक्रीडः) आत्माके साथहि खेलता है, जो (आत्मानन्दः) आत्माके आनन्दमें मस्त रहता है, जो (आत्ममिथुनः) आत्मामेंहि जिसको दूसरे पदार्थके संबंधसे प्राप्त होनेवाले आनंद मिलते हैं। ये सब शब्द मनमें रखने और विचार करनेसे 'आत्मरति' का अर्थ ठीक तरह ध्यानमें आवेगा। "आत्मतृप्त" और "आत्मनि एव संतुष्टः" इनका अर्थ भी पूर्वोक्त शब्दोंके अर्थोंमें आचुका है। विशेषतः "आत्मानन्द, आत्ममिथुन, आत्मक्रीड" इनके अर्थोंके साथ इनके अर्थ संगत होते हैं।

"आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मसंतुष्टी" इन तीन शब्दोंमें क्रमशः उत्तरोत्तर अवस्थाका निर्देश है। आत्मरति वह है कि जो एक वार आत्मसाक्षात्कार और आत्मशक्तिका अनुभव आनेपर वही साक्षात्कार सतत रहनेके लिये इच्छा होती है और उसीके लिये प्रयत्न होता है। इसमें मनुष्य रममाण तो होता है परंतु यह अवस्था पहिली होनेके कारण कुछ अनुभवकी अस्थिरता रहती है। इसका अभ्यास सुदृढ होनेपर साधकको दूसरी अवस्था प्राप्त होती है जो आत्मतृप्तिकी अवस्था है। इसमें इसको तृप्त होनेका अनुभव आता है, इससे अधिक कुछ नहीं चाहिये, ऐसा उसका निश्चय होजाता है। आत्मरति प्रयत्नसाध्य थी, उसके बादकी यह आत्मतृप्ति सुसाध्य होती है। इसके पश्चात् 'आत्मसंतुष्टि' की अवस्था है जिसमें विना आयास सहज और स्थायी संतोष इसको मिलता है। यह परमोच्च अवस्था है। यह अवस्था प्राप्त होनेपर इसका कोई क्षण इस सन्तोषवृत्तीसे खाली नहीं रहता अर्थात् यह सन्तोष उसका सहज और चिरस्थायी अथवा निज होता है। इस श्लोकमें ये जो तीन शब्द हैं वे इस प्रकारके तीन अवस्थाओंके वाचक हैं, अर्थात् ये पर्याय शब्द नहीं हैं। स्थिरसंतोषवृत्ति होनेके पश्चात् (तस्य कार्यं न विद्यते) उसका कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, क्योंकि वह सिद्ध पुरुष होता है। सिद्ध पुरुष बनानेतक कर्तव्य कर्म करना आवश्यक होता है, एकवार परमपद प्राप्त होकर सहज सन्तोष वृत्ति स्थिर होगई, तो उसके पश्चात् किस लिये कर्म करना होगा? जो जो सब साध्य हैं उनकी पूर्ण सिद्धता होनेपर और एक भी साध्य अवशिष्ट न रहनेपर कर्तव्य कर्म नहीं रहता, यह बात स्वयं स्पष्ट हो सकती है। यही बात अगले श्लोकमें कही है।

(कृतेन तस्य अर्थः न) कर्म करके कुछ अपना स्वार्थ प्राप्त करना है ऐसी बात नहीं, तृप्ति और संतुष्टी होनेपर इसका कोई स्वार्थ रहनेकी संभावनाहि नहीं ह, इसलिये कुछ प्राप्तव्य अवशिष्ट न रहनेके कारण निजी स्वार्थके लिये कर्म करनेकी आवश्यकताहि नहीं होसकती। कर्म करनेसे उसको कुछ लाभ होगा अथवा उसकी न्यूनताकी पूर्ति होगी ऐसी भी बात नहीं। यहां कोई कहेगा कि जैसा वस्त्र निर्मल होनेके पश्चात् भी उसकी निर्मलता स्थिर रखनेके लिये उसको वारंवार धोना पडता है; उसी प्रकार आत्मसंतुष्टी प्राप्त होनेके पश्चात् वह स्थिर रखनेके लिये उसको कर्म करने पडेंगे और यदि वह ये कर्म न करेगा, तो उसकी आत्मसन्तुष्टीकी अवस्था हटेगी; परंतु

यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि (अकृतेन अपि तस्य अर्थः न) कुछ कर्म न करनेसे भी उसकी कुछ हानी नहीं है। एकवार आत्मसंतोष की अवस्था प्राप्त होनेपर, उसकी वह स्थिर रहती है और कभी कम नहीं होती; अतः कम न होनेके कारण उसकी स्थिरताके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

कर्म करनेसे उसको कोई वस्तु प्राप्तव्य नहीं होती और कर्म न करनेसे उसकी कुछभी हानि नहीं हो सकती। इसीलिये दोनों अवस्थाओंमें यह आत्मसन्तुष्ट मनुष्य एकरूप रहता है। जैसा "महासागर (भ० गी० २।७०) अनंत नदियोंसे उसमें पानी भरनेपरभी भरता नहीं और अवर्षण होनेपर भी सूखता नहीं" उसी प्रकार यह पूर्ण पुरुष अथवा सिद्ध पुरुष कर्म करनेपर अथवा न करनेपर एक जैसाही रहता है, इसीलिये उसको आत्मसन्तुष्ट कहते हैं। इसकी सन्तुष्टी किसी बाह्य हेतुसे नहीं होती, परंतु अन्दरहिसे होती है। आत्मा उसके पास सदा रहताहि है, इसकारण आत्मासे प्राप्त होनेवाला संतोष उसको सदा प्राप्त होता है। जब अन्दरसेहि आनन्द का स्रोत बहने लग जाय, तो फिर उसके पास किस बातकी न्यूनता होगी ? कोई न्यूनता नहीं होती, इसीकारण उसके लिये कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह सकता।

जो सिद्ध पुरुष होता है (सर्वभूतेषु अस्य अर्थव्यापाश्रयः न) उसका स्वार्थ किसीभी वस्तुसे संबंधित नहीं होता। साधारण लोगोंको तो यह अनुभव है कि, उनको जगत् के विविधपदार्थ प्राप्त करनेसे और उनके भोग भोगनेसे सुख मिलता है। परंतु जिसको आत्माका साक्षात्कार हुआ और सहजहि आत्मसंतोष प्राप्त हुआ, उसके सब आनन्द उसको आत्मासेहि प्राप्त होते हैं, देखिये—

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्मात्मत एवेदं सर्वमिति ॥ १ ॥ तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति० ॥ २ ॥

छां० उ० ७।२६

"इस प्रकार आत्मानुभव लेनेवालेको आत्मासेहि आशा, स्मरण, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मंत्र, कर्म, और सब कुछ प्राप्त होता है। इस विषयमें ऐसा श्लोक है— इस आत्माका दर्शन करनेवालेको मृत्यु, रोग और दुःख नहीं होता। वह सब देखता है, और सब प्रकार सबको प्राप्त करता है॥" यदि उसको आत्मासेहि, अपने अंदरसेहि, सब कुछ प्राप्तव्य आनन्द प्राप्त होता है, तो फिर उसको किस उद्देश्यसे कर्म करनेकी आवश्यकता होगी ? इसी लिये पूर्व श्लोकमें कहा है कि (तस्य कार्यं न विद्यते) उसके लिये कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रहता, वह कृतकृत्य होता है, वह पूर्ण बनता है।

यह पूर्णता किस तरह प्राप्त होती है ? इस प्रश्नका उत्तर अगले श्लोकमें दिया है। उसमें कहा है कि (असक्तः कार्यं कर्म समाचर) आसक्ति छोडकर कर्तव्य कर्म कर। आसक्ति छोडकर कर्म करनेवाला परम पदको प्राप्त करता है। (परं आप्नोति) पर अर्थात् उच्च अवस्था प्राप्त करता है। असक्त होकर कर्म करनेके विषयमें इसी अध्यायमें श्लो० १०-१६ तककी व्याख्यामें विशेष विवरण किया है। पाठक यह विषय वहां विशेष रूपसे देखें। यहां फल अपने लिये न लेकर उसका जनताके हितार्थ त्याग करनेका नाम आसक्ति छोडना है, इसीका नाम परार्थ, परमार्थ है। और

फल अपने लिये हि रखनेका नाम स्वार्थ है। फल का भोग स्वयं करनेसे परमपद नहीं प्राप्त होता, परंतु उसका यज्ञ करनेसे अर्थात् जनहितके लिये अर्पण करनेसेहि परमपद मिलता है।

साधारण मनुष्य जो सिद्ध नहीं बना, उसके लिये उचित है कि वह 'फलका त्याग' करनेको सीखे। फलका त्याग करनेसेहि मनुष्यकी पूर्णता होती है। फल अपने भोगके लिये रखनेसे आत्माकी शक्ति संकुचित होनेके कारण गिरावट होती है, और फलपर अनासक्ति रखनेसे अर्थात् फलका यज्ञ करनेसे किंवा फल का जनताकी भलाई के लिये समर्पण करनेसे इसके आत्माकी शक्ति बढती है। अनासक्ति, त्याग आदिके विषयमें भ० गी० अ० २ श्लो ४९ से अन्ततक की संपूर्ण व्याख्या पढिये। वहां अनासक्ति का विषय बहुत विस्तार से कहा है।

भ० गी० अ० ३ श्लोक १८ के समान उपदेश अन्यशास्त्रों में भी है वह अब देखिये—

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ॥

योगवा. ६ उ० १९९।४

"ज्ञानीको कर्मोंका त्याग करनेसे कोई प्रयोजन नहीं होता है, और कर्मोंके करनेसेभी कोई प्रयोजन नहीं होता। वह जहां जैसी अवस्थामें रहता है वहां वैसी अवस्थामें जो जो कर्म आ पडे वह वैसाहि करता है।" तथा और इसी उपदेशके उपसंहार में कहा है—

मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः॥

योगवा०६ उ० २१६।१४

"कर्म करनेसे मुझे कुछभी प्राप्तव्य नहीं है और न करने से भी नहीं है। कर्म करना और न करना मेरे लिये एक जैसा है। जो प्राप्त होता है उसे मैं करता हूं, कर्म न करनेका भी आग्रह क्यों धरा जाय?" यहां पाठक देखें कि, इन दोनों श्लोकोंके पूर्वार्ध "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन" इस गीता के श्लोकार्धके समानहि है। केवल शब्दोंका भेद है, परंतु अर्थ का भेद कोई नहीं है। और देखिये—

किंचिदस्य न साध्यं स्यात्सर्वजन्तुषु सर्वदा।
अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः॥

गणेशगीता. ३।१८

"सब प्राणियोंके द्वारा उस ज्ञानी पुरुषको कुछ प्रयोजन सिद्ध करना नहीं होता, अतः लोगोंको अपने अपने कर्तव्य आसक्ति छोडकर हि करने चाहिये।"

इस तरह गीताके सिद्धान्तोंके समानहि उपदेश अन्यान्य शास्त्रों में पाया जाता है। इन श्लोकोंकी तुलना करनेसे भगवद्गीताके इस (३।१८) श्लोक का अर्थ भी खुल सकता है। अस्तु।

श्रेष्ठ अवस्था, मुक्ति, परमपद, परमआनन्द, आत्मसन्तुष्टि आदि सब जो मनुष्यके प्राप्तव्य हैं उनको प्राप्त करनेके लिये अनासक्तिसे कर्म करने की आवश्यकता है। मनुष्य भोगोंपर और फलोंपर जितनी मर्यादातक अनासक्ति धारण करेगा उतनीहि मर्यादातक उसकी उन्नति होगी। कई लोग कहते हैं कि फलपर आसक्ति नहीं रही तो मनुष्यसे कर्महि नहीं होगा। परंतु यह बात साधारण भोगी मनुष्यके विषयमें ऐसीहि है। जो मनुष्य उच्च कोटीके हैं वे तो स्वभावतः हि आसक्ति छोडे हुए होते हैं और यज्ञ करना उनका स्वभाव बनता है, उनका जीवन यज्ञरूप बनता है, वे जो कुछ करते हैं उसका उद्देश प्राणिमात्र की भलाई होता है। उनका यह धर्महि बनता है। जैसा सूर्यका धर्म और कर्म प्रकाशना स्वभावसे है, उसमें फलासक्तिका भाव थोडाभी नहीं है, उसी प्रकार प्राणिमात्रपर अनुकंपा करना उनका स्वभावधर्म होता है। उनके इन कर्मोंके लिये फलकी आसक्ति प्रेरक नहीं होती। वे तो स्वभावसेहि वैसे श्रेष्ठ कर्म अनासक्तिसे करेंगे और फलका समर्पण भी वैसाहि स्वभावसेहि होगा।

(८) जनकका उदाहरण।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अन्वयः— हि जनकादयः कर्मणा एव संसिद्धिं आस्थिताः। (त्वं) अपि लोकसंग्रहं एव संपश्यन् कर्तुं अर्हसि ॥ २० ॥

जनक आदिकोंने भी कर्मसेहि परमसिद्धि प्राप्त की थी। उसीप्रकार तुझेभी लोकसंग्रहपर दृष्टी रखकर कर्म करना योग्य है ॥ २० ॥

भावार्थ— जनक, अश्वपति आदि पूर्वकालके लोगोंने भी इसीप्रकारके निष्काम कर्म करके उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। इन पूर्वजोंका उदाहरण देखकर तथा लोकसंग्रह की दृष्टी धारण करके भी मनुष्यको कर्म करना अत्यंत योग्य है ॥ २० ॥

इस विषयमें कईयोंको संदेह होगा इसलिये भगवान् श्रीकृष्णहि अगले श्लोकोंमें कुछ उदाहरण देते हैं और संदेहनिवृत्ति करते हैं। इलिये अब अगले श्लोक देखिये—

(२०) पूर्वश्लोकमें अनासक्तिसे कर्म करने का उपदेश किया है। शाब्दिक उपदेश श्रवण करनेसे मनुष्यके मनमें योग्य परिवर्तन नहीं हो सकता, इसलिये उसको उदाहरण देने पडते हैं। किन मनुष्योंने अपने जीवन में यह उपदेश ढाल दिया था, और उनपर इस उपदेशका परिणाम कैसा हुआ था और उन के जीवनचरित्रसे उस समयकी जनतापर क्या परिणाम हुआ, इत्यादि बातें उदाहरणरूपसे जब बतायीं जाती हैं तब वह उपदेश शिष्यके मनमें जम जाता है। इसी कारण भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के मनपर "निष्काम कर्मयोग" किंवा "अनासक्तियोग"का उच्च तत्त्व स्थिर करनेके उद्देश्यसे जनक आदि पूर्वकाल के राजा महाराजाओंके उदाहरण देते हैं। जनक, अश्वपति आदि इतिहासप्रसिद्ध पुरुषोंने इसी अनासक्तियोग का आचरण करके परम सिद्धि प्राप्त की थी। उनके उदाहरण सामने रखकर, हे अर्जुन! तू भी वैसा आचरण करके वह परम सिद्धि प्राप्त कर। यदि जनक को यह निष्कामयोग सिद्ध हुआ, तो दूसरे मनुष्यको भी वह साध्य होसकता है। इस तरह प्राचीन पुरुषोंके जीवन चरित्रोंका विचार करके अपने जीवन में योग्य रीतिसे परिवर्तन करना अत्यंत उचित है।

और भी एक प्रबल हेतु है। मनुष्यमें गतानुगतिकत्व रहता है, इस कारण जैसा एक प्रतिष्ठित मनुष्य आचरण करता है वैसा उसके अनुयायी करने लगते हैं। विशेषतः दोषोंका अनुकरण तो शीघ्र करते हैं, और गुणोंका भी करते हैं। प्रतिष्ठित पुरुषोंपर यह जिम्मेवारी होती है, इसलिये उनको उचित है कि वे अपने आचरण शास्त्रमर्यादा के अनुकूल रखें। क्यों कि इन्होंने अशुद्धाचरण किया, तो उसका बुरा परिणाम उनके अनुयायियोंपर होगा। एक मनुष्य का अयोग्य आचरण हुआ तो कोई दोष नहीं है, परंतु उसके दुराचार से यदि उनके सहस्रों अनुयायियोंका बिगाड होने लगा, तो उसका विशेष विचार करना चाहिये।

अर्जुन एक प्रसिद्ध वीर पुरुष था। उसके प्रभावके अन्दर लाखों मनुष्य थे। अतः जो कार्य

अर्जुन करेगा वैसाहि उसके लाखों अनुयायी करने लगेंगे। इस समय अर्जुन युद्धसे निवृत्त हो रहा था। इस युद्धनिवृत्तीका अर्जुनके मनका हेतु संभवतः उच्च अनुकंपाही होगा, परंतु उसके सब अनुयायी यह अन्तरिक बात जान नहीं सकते। वे तो अर्जुनका युद्धसे निवृत्त होनाही देखेंगे और उससे अनुमान करेंगे, कि अर्जुनके अनुसार हम भी युद्धसे पीछे हटेंगे। इसप्रकार बाह्य अनुकरण बडा विनाशक होता है। अतः नेता अग्रणी लोगों को उचित है कि वे इस जनताकी प्रवृत्तीको जानकर अपना आचरण ऐसा रखें की जिससे अनुयायियोंमें अयोग्य कर्म करनेकी ओर प्रवृत्ति न हो। इस दृष्टीसेभी अर्जुनको युद्धभूमिसे पीछे हटना योग्य नहीं है, प्रत्युत युद्धमें स्थिर रहकर उचित पराक्रम करनाही योग्य है। जिससे इसके अनुगामी लोग उसीप्रकार पराक्रम करेंगे और सबके मिलकर किये पराक्रमसे धर्मके पक्षका विजय होगा।

लोकसंग्रह।

इससेभी और एक विशेष हेतु है जिस कारण अर्जुनको युद्धसे निवृत्त होना अयोग्य है। वह हेतु है "लोक संग्रह" करना। 'लोकसंग्रह' का अर्थ है "(१)(लोक-) लोगोंका, जनताका(सं-) सम्यक् रीतिसे, उचित पद्धतिसे (ग्रह) धारण करना; संघटन करनाः (२) जनताकी भलाई, राष्ट्रकी उन्नति, जगत्‌का सुधार, मनुष्यमात्र को सन्मार्गपर लाना; (३) जनताकी रक्षा, राष्ट्रका संरक्षण; (४) लोगोंकी संघटना, राष्ट्रीय संघटना; (५) जनताको उच्च मार्गसे चलाना, उनका अभ्युदय करना। इ०।" इसका नाम "लोक-संग्रह" है। इस लोकसंग्रह का कार्य करना भी लोगोंका कर्तव्य है। विशेषतः विशेष अधि-कार पर जो होते हैं उनका तो निःसन्देह कर्तव्य है। वस्तुतः हरएक मनुष्य को यथाशक्ति लोक-संग्रह करना हीं चाहिये। परन्तु परमेश्वरकी कृपासे जिनकी योग्यता विशेष उच्च है, उनको तो अपना आचरण "लोकसंग्रह" का विचार करके हि करना चाहिये। मेरे इस आचरण से लोकसंग्रह होगा या न होगा, इसका विचार करके, जिस आचणरसे लोकसंग्रह होगा, उस कार्यको अवश्य करना चाहिये। इसलिये यहां कहा है कि, (लोकसंग्रहम् एव अपि संपश्यन् कर्तुं अर्हसि) लोकसंग्रहपर दृष्टि रखकर भी तुझे कर्म करना योग्य है। यदि तुझे स्वयं कुछ प्राप्तव्य नहीं है, तोभी लोकसंग्रह के लिये तुझे कर्म करना योग्य है। कर्म करने और न करनेसे किसीका कुछ हानि लाभ नभी होता हो, तथापि इस लोकसंग्रहका भार उसपर होनेके कारण उसको दक्षतासे कर्म करना योग्य है। यही बात महाभारतमें कही है—

ऋषयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहान्।
म० भा० उद्यो० ५१।५४

[नीलकंठी टीका— लोकव्यवहारान्पश्यन्तः लोकमध्ये स्थिताः सन्तः।]

"ऋषि लोग लोकसंग्रहका विचार करकेहि मुक्त हुए थे।" अपने शास्त्रोंमें लोकसंग्रहका विषय विशेष महत्त्वका स्थान रखता है। देखिये इस विषयमें महाभारतमें कहते हैं—

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम्॥
म० भा० शां० २५८।२५

"लोकसंग्रहकारक तथा सूक्ष्म प्रसंगोंपर धर्मार्थका निश्चय करानेवाला सत्पुरुषोंका उत्तम चरित्र स्वयं ब्रह्मदेवनेहि बनाया है।" इस तरह लोकसंग्रहका महत्त्व आदिकालसे आर्यशास्त्रोंमें वर्णन किया है। सब जनता का हित करने के लिये आत्मसमर्पण करने की जो उत्तम कल्पना "लोकसंग्रह" शब्दसे व्यक्त होती है वैसी किसी अन्य शब्दसे या अन्य भाषाके किसी शब्दसे नहीं होती। अथर्ववेदमें ब्रह्मचर्यकी समाप्तिपर लोकसंग्रहका कार्य करने की आज्ञा है, वह यहां देखना योग्य है—

(९) लोकसंग्रह ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥
न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

अन्वयः—यत् यत् श्रेष्ठः आचरति, तत् तत् एव इतरः जनः (आचरति)। सः यत् प्रमाणं कुरुते, लोकः तत् अनुवर्तते ॥ २१ ॥ हे पार्थ ! (यद्यपि) मे त्रिषु लोकेषु किंचन कर्तव्यं न अस्ति, अनवाप्तं अवाप्तव्यं च न(अस्ति, तथापि) अहं कर्मणि वर्ते एव ॥ २२ ॥

जैसा श्रेष्ठ पुरुष आचरण करते हैं, उसी प्रकार अन्य लोग भी आचरण करते हैं। वह पुरुष जो प्रमाण बताते हैं, लोग उसीका अनुसरण करते हैं ॥२१॥ हे अर्जुन! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं रहा है, और कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करनेकी रह गई है, ऐसा भी नहीं है; तथापि मैं कर्म करता ही रहता हूं ॥ २२ ॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ अथर्व. ११।५(७)।६

“बडी दाढी मूंछवाला दीक्षित ब्रह्मचारी समिधाओंसे तैयार होकर [पढाई की समाप्तीपर] पूर्व समुद्रसे उत्तर समुद्रतक भ्रमण करके (लोकान् संगृभ्य) लोकसंग्रह जनताके हितके कार्य-करता हुआ, लोगोंसे (मुहुः आचरिक्रत्) वारंवार धर्म के आचारों का ग्रहण कराता है।” अर्थात् ब्रह्मचारी विद्यासमाप्तिके पश्चात् लोकसंग्रह करनेके लिये देशदेशान्तरमें भ्रमण करता है, वहां के लोगोंको धर्मोपदेश देकर सुधारता है और संगठित करता है. तदुपरान्त घरमें आकर गृहस्थाश्रमका स्वीकार करता है, इतना लोकसंग्रहका महत्त्व वैदिकधर्ममें माना है।

इसी विषयमें आगेके चार श्लोक हैं, जिनमें श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं अपना उदाहरण देकर इसी लोकसंग्रहका महत्त्वपूर्ण उपदेश करते हैं यह मनोरंजक कथाभाग अब देखिये—

श्रेष्ठ लोगोंका उत्तरदायित्व ।

(२१-२४) श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरणहि अन्य साधारण मनुष्योंको धर्ममार्गका दर्शक हुआ करता है। उत्तम लोग जैसा व्यवहार करते हैं, अन्य लोग उसको देखते हैं और वैसा आचरण करने लगते हैं। अर्थात् साधारण लोगोंकी प्रवृत्ती अन्धानुकरण में विशेष होती है। अतः यदि श्रेष्ठ लोगोंके आचरणमें थोडा दोष हुआ तो उनके आनुयायियोंमें वही दोष बढ जाता है। सत्कर्मका अनुकरण करना कठिन कार्य है, परंतु दोषोंका अनुकरण सुगम है। श्रेष्ठोंके सद्गुण उनकी महातपस्यासे उनमें बढे होते हैं और उनके दोष उनकी कमजोरीके कारण उनमें होते हैं। अर्थात् दोषोंका अनुकरण करना अज्ञानियोंकी निर्बलताके कारण उनको सहज होता है और सद्गुणोंका अनुकरण करना तपस्याके अभावके कारण साधारण लोगोंको असंभव होता है। इसलिये श्रेष्ठ पुरुषोंपर बडा उत्तरदायित्व होता है।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

अन्वय— यदि हि अहं अतन्द्रितः (सन्) कर्मणि जातु न वर्तेय, (तर्हि) हे पार्थ ! मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते ॥ २३ ॥ अहं कर्म न कुर्यां चेत् इमे लोकाः उत्सीदेयुः, संकरस्य च कर्ता स्याम्, इमाः प्रजाः च उपहन्याम् ॥ २४ ॥

यदि मैं कदाचित् आलस्य छोडकर कर्म में न लगा रहूं, तो हे पार्थ ! लोग भी सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार ही चलने लग जायगे ॥ २३ ॥ यदि मैं कर्म न करूंगा, तो ये लोग भी नष्ट भ्रष्ट हो जायगे, मैं सङ्कर का कर्ता होऊंगा और इन प्रजाजनोंका नाश करनेवाला भी मैं बनूंगा ॥ २४ ॥

भावार्थ- श्रेष्ठ लोग जैसा व्यवहार करते हैं अन्य साधारण लोग भी वैसा ही व्यवहार करते हैं। श्रेष्ठोंके आचरण का दूसरे लोग सदा अनुकरण करते रहते हैं। श्रेष्ठ लोग जिसको प्रमाण मानते और बताते हैं, अन्य लोगभी उसीको प्रमाण मानते हैं। उत्तम पुरुषोंको करनेका कुछ भी कार्य अवशिष्ट नभी रहा, तोभी उनको कर्म करनेमें दत्तचित्त होना चाहिये। यदि वे कर्म में दत्तचित्त न रहे, तो दूसरे लोगभी उनका अनुकरण करेंगे और कुछ कर्म न करनाहि अपना ध्येय बनायेंगे। इस तरह साधारण लोग आलसी बनेंगे और आलस्य से नाशको प्राप्त होंगे, अथवा संकरके दोषसे दूषित होंगे। इस समाजके नाशका दोष श्रेष्ठ लोगोंके कर्म न करनेपर है। अतः समाजहितकी दृष्टीसे श्रेष्ठ पुरुषोंको जनहितके लिये कर्म अवश्य करना चाहिये ॥ २१-२४ ॥

यहां ही अर्जुनके पक्षमें देखिये। अर्जुनका सव्यसाचित्व अन्य मनुष्योंके लिये अनुकरण करना असंभव है, क्योंकि वह बहुत अभ्याससे सिद्ध होनेवाला है। परंतु अर्जुन युद्धसे निवृत्त होता है, यह देखकर हरएक मनुष्य युद्धसे निवृत्त हो सकता है; क्योंकि यह सहजहीमें हो सकता है। अर्थात् अन्य साधारण लोग जो अर्जुनका अनुकरण करेंगे, वह उनकी धनुर्विद्या में नहीं,प्रत्युत उनकी युद्धनिवृत्तीमें। प्रायः अनुकरण करनेवालोंकी प्रवृत्तीहि ऐसी होती है। अनुकरणकी प्रवृत्ती निर्बलताकी ही द्योतक है, और निर्बल मनुष्य बलवाले कार्य कभी कर नहीं सकते। इसी लिये श्रेष्ठ पुरुषोंको उचित है कि अपना अन्धानुकरण साधारण लोग करेंगे, यह जानकर अपना आचरण विचारपूर्वक करें, ताकी जनता अन्धानुकरण करनेभी लगी तोभी वह सुधारके मार्गमें चले और कभी गिरावटकी ओर न झुक सके।

युरोपके राजवंशका एक उदाहरण है, कि एक महाराज्ञी किसी पांवमें फोडा होनेके कारण और पांवमें दुःख होनेके कारण हाथमें यष्टि पकडकर लंगडती हुई चलने लगी। ऐसा चलना तो उनके लिये उस समय अत्यंत आवश्यक हो गया था। परंतु उनका चलना देखकर वहांकी अन्य अच्छी स्त्रियां हाथमें सोटी लेकर वैसीहि लंगडने लगीं!! और अबतब वह महाराज्ञी अच्छी नहीं हुई,तब-

तक वहांकी सैंकडों स्त्रियोंमें लंगडते हुए चलने की "फैशन" बन गई थी। इसका नाम है अन्धानुकरण। सर्वसाधारण मनुष्योंमें यह ऐसा-ही हुआ करता है। इसी लिये उपनिषद् में कहा है—

यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ता, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः ॥

तै० उ० शि० ११।२-४

"जो हमारे अनिंद्य कर्म होंगे, उनका ही तू सेवन कर, इतर अर्थात् निंद्य कर्मोंका अनुकरण न कर। जो हमारे सुचरित हैं, उनकी तू उपासना कर, हमारे कुचरितोंका अनुकरण न कर। जब तुझे कर्म और आचरणके विषयमें तुझे कभी सन्देह उत्पन्न हो जाय, तो वहां जो धार्मिक सत्पुरुष होंगे, वे जैसा आचरण करेंगे, वैसा वहां तू आचरण कर।" अर्थात् श्रेष्ठ सज्जनोंके सुचरितोंका अनुकरण तू कर और कभी कुचरितोंका अनुकरण न कर। महाभारतमें नारायणीयाध्यायमें यही बात कही है—

यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम् ॥ २४ ॥
आत्मानं नार्चयेत्कश्चिदिति मे भावितात्मनः ॥
मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते ॥२५॥

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि-"यदि वरदाता महेश्वर शिवकी मैं पूजा न करूं तो मेरे आत्माकी भी पूजा कोई नहीं करेगा। सब लोग मेरे स्वीकार किये प्रमाणका ही अनुकरण करते हैं।" यदि श्रीकृष्ण भगवान् स्नान संध्या और देवपूजा न करेंगे, तो जगत् के लोग भी इन कर्मोंसे विमुख हो जांगये। यह उत्तरदायित्व नेता लोगोंपर है, इस लिये उनको उचित है कि, वे अपना आचरण उत्तम और निर्दोष रखें।

भगवान् श्रीकृष्ण यहां अर्जुनको अपना उदाहरण देते हैं। पहिले जनक राजा (अश्वपति राजा) आदिका उदाहरण दिया है। उनके विषयमें अर्जुन शंका करेगा कि जनक राजा आदि तो पूर्व कालके राजालोग थे, कौन जान सकता है कि उन्होंने सचमुच ऐसा ही आचरण किया था, और अन्य प्रकार नहीं किया था, उनके चरित्रलेखकोंने उनके चरित्रों में न्यूनाधिक लिखा होगा। कविलोग निरंकुश होते हैं और वे वर्णन करते जाते हैं। अर्जुन के मनमें ऐसी शंका उत्पन्न होना संभव है, इसलिये अर्जुन के सामने अपना ही उदाहरण रखते हैं। वे कहते हैं — हे अर्जुन! अन्योंके उदाहरण तो अलग रखो, और मेराहि आचरण देखो। मुझे इस त्रिलोकी के अन्दर मिलनेवाले सब आनन्द और सुख प्राप्त हैं, मैं सदा तृप्त और आप्तकाम हूं। मुझे कोई प्राप्तव्य वस्तुहि नहीं है। इस कारण मैं कृतकृत्य हूं। अतः मेरे लिये कुछ कर्तव्य अवशिष्ट रहा है ऐसा तो नहीं है। इस तरह कृतकृत्य होनेपरभी मैं सदा कर्म करताही हूँ। यह जो मैं कर्म कर रहा हूं, यह तेरा सारथ्यकर्म करता हूं, धर्मराज के घरके कार्य करता हूं, दुष्टोंका निर्दलन और सज्जनोंका परिपालन करता हूं, धर्मसंस्थापनाके लिये यत्नवान हूं, बालपनसे मैं जो इसी कार्यमें निरलसवृत्तीसे लगा हूं, वह इससे मुझे कुछ प्राप्त करना है इसलिये नहीं। मैंने ये सब कर्म किये अथवा न किये तो भी मेरे आनन्दमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होगा। तथापि मैं जो ये कर्म कर रहा हूं, वह केवल लोकसंग्रह पर दृष्टी रखकर हि कर रहा हूं।"

"क्यों कि यदि मैं इस प्रकारके कार्य न करूंगा और प्रबल पुरुषार्थ करनेमें दत्तचित्त न होऊंगा, तो सब लोग मरा अनुकरण करेंगे। मैं कृतकृत्य आप्तकाम और सब प्रकारसे सुखी और आनंदी होनेके कारणही यदि कर्म करनेसे निवृत्त हुआ, तो भी लोग— जो इस समय सब

प्रकारसे दुःखी, परतंत्र, त्रस्त और संकटोंसे ग्रस्त हैं,- वे भी मेरा अनुकरण करके कर्मसे निवृत्त होंगे। और प्रतिदिन अधिक दुःखसागर में डूबते जांयगे। मैं तो सब प्रकारसे आप्तकाम होनेसे कर्मसे निवृत्त हुआ था, परंतु यह बात तो अन्धानुकरण करनेवाले सामान्य जनोंके ध्यान में भी नहीं आवेगी, और वे मैं कर्मसे निवृत्त हुआ इसीलिये निवृत्त होंगे। इस तरह यदि इस राष्ट्रके सब लोग कर्महीन बनकर आलस्य में सडनेके कारण दुःखी होंगे, तो उनके दुःखका हेतु निसंदेह मैं बनूंगा। अतः लोगोंके इस असदनुकरण का दोष मुझे न लग जाय, इसलिये मैं तन्द्रारहित होकर दक्षतासे इन कार्योंको कर रहा हूं।"

"यदि मैंने कर्म करना छोड दिया तो इस प्रकार जनताका नाश होजायगा। किसी भी प्रकार उनका उद्धार नहीं हो सकता। और सबका संकर हो जायगा।"

संकरसे नाश।

"यदि कर्मत्यागसे संकर हो गया तो सब प्रजाओंका नाश होजायगा। और इस नाशका हेतु मैं बनूंगा। मैं तो कभी जनताके नाश का हेतु बनना नहीं चाहता, क्योंकि प्रजापालन का मेरा हेतु है। और इसीलिये मैं सदा ये श्रेष्ठ कर्म अहर्निश करता रहता हूं। हे अर्जुन! तू भी इस भारतवर्षमें श्रेष्ठ पुरुष है. तेरे अनुयायी भी बहुत हैं। इसकारण यदि तू इसप्रकार कर्मसे निवृत्त हुआ, तो तेरे अनुयायी भी वैसे ही कर्मसे निवृत्त होंगे। और नाशको प्राप्त होंगे, इसलिये इस समय इस युद्धसे निवृत्त होना तुम्हें उचित नहीं है। अतः हे अर्जुन! तू जिस धर्मयुद्ध करनेके लिये यहां उपस्थित हुआ है वह करना इस कारण तुझे अत्यंत उचित है।"

इसप्रकार भगवान् श्रीकृष्णजीका उपदेश अपनाही उदाहरण देकर अर्जुनको हो गया है। यह उदाहरण प्रत्यक्ष होनेसे अर्जुन के मन में यह स्थिर हो सकता है और उसको कोई शंका नहीं होसकती।

इस श्लोकमें 'कर्म छोडनेसे संकर और संकर से प्रजाजनोंका नाश होगा' ऐसा कहा है। इस विषयमें यहां थोडासा अधिक विचार करना आवश्यक है। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंके कर्म छोडनेसे जनतामें संकरकी उत्पत्ती क्योंकर होसकती है और उससे उनका नाशभी किस प्रकार हो सकता है, यह बात विना विशेष विचार किये, हरएक के ध्यान में नहीं आसकती। इसलिये इसका यहां विचार करते हैं।

मान लीजिये कि किसी एक समाज के श्रेष्ठ लोगोंने कर्म करना छोड दिया, तो उसका परिणाम क्या होगा सो देखिये-ब्राह्मण वर्णके श्रेष्ठ लोगोंने अपना अध्ययन अध्यापन, यजन और याजन यह कर्म छोड दिया, तो ब्राह्मण वर्णके अन्य लोगभी उनका अनुकरण करेंगे और अध्ययन छोड देंगे यजन करना छोड देंगे और वे स्वयं अशिक्षित रहनेसे वे योग्य रीतिसे अध्यापन नहीं कर सकेंगे, इसी तरह वे याजन कराने में भी असमर्थ होंगे। इस रीतिसे ब्राह्मण वर्ण कर्मभ्रष्ट होनेसे उसका ब्रह्मवर्चस नष्ट होनेसे वे केवल जातिमात्र ब्राह्मण रहेंगे और गुणकर्मोंसे उनका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जायगा। इसप्रकार संपूर्ण ब्राह्मणोंका नाश होनेसे सबही अन्य वर्ण पतित होंगे और इस राष्ट्रके पतन का कारण श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके स्वकर्म छोडनमें हि पाठकोंको प्राप्त होगा।

अब देखिये श्रेष्ठ क्षत्रियोंने राष्ट्ररक्षा आदि अपना कर्म छोड दिया तो उनके अनुयायी दूसरे साधारण क्षत्रिय भी उनका अनुकरण करेंगे और अपना शौर्य तेज आदिकी संवृद्धि करनेका कार्य छोड बैठेंगे। इस तरह क्षत्रियोंके अन्दरके शौर्य, तेज, वीर्य, युद्धकौशल्य आदि सब शुभ गुण नष्ट होंगे और वे गुण दूर होनेसे क्षत्रियोंसे अपने राष्ट्रकी रक्षा नहीं हो सकेगी, शत्रुके हमले होंगे और अन्तमें राष्ट्र शत्रुके आधीन होगा। श्रेष्ठ

क्षत्रियोंके स्वकर्म छोडनेसे यह अनर्थ होसकता है।

यदि श्रेष्ठ वैश्योंने अपना व्यापारवृद्धि, कृषि, पशुपालन आदि कार्य छोड दिया, तो अन्य वैश्यवर्गके लोगभी कामधन्दा नहीं करेंगे, और व्यापार व्यवहार बन्द होनेसे धन नहीं प्राप्त होगा, राष्ट्रमें निर्धनता बढेगी, बेकारीसे सब लोग वृत्तिहीन होंगे, कृषि अल्प होनेसे दुर्भिक्ष्य बढेगा और इस प्रकार सब राष्ट्रका नाश होगा।

शूद्रोंके श्रेष्ठ लोगोंने अपनी कारीगरीकी कर्म-कुशलता छोड दी,तो राष्ट्रमें कारीगरीकी न्यूनता होगी, बेकारी बढेगी, और किसीको भी खानेको नहीं मिलेगा और सबका नाश होगा।

यदि हरएक वर्गके श्रेष्ठ लोगोंने अपना अपना स्वकर्म छोड दिया तो इस प्रकार सब राष्ट्रकी अवनति होगी। इसीतरह किसी भी वरिष्ठ स्थानपर रहनेवाले मनुष्यने अपना कर्तव्य कर्म छोड दिया, तो भी सब अन्य लोग उसका अनुकरण करेंगे और वही हानि होगी। अकेला श्रेष्ठ ब्राह्मण अथवा अकेला श्रेष्ठ क्षत्रिय अपना कर्तव्य कर्म छोड देगा, तो केवल उसी का नाश होगा ऐसी बात नहीं, प्रत्युत उसके कर्मत्याग के बुरे संस्कार सबही अन्य लोगोंपर होंगे, और सब लोगोंका नाश होता जायगा। जो श्रेष्ठ लोग आचरण करते हैं इतर जन वैसाही आचरते हैं, यह गीताका सिद्धान्त है और पाठक देखेंगे तो इसकी सत्यता सर्वत्र दिखाई देगी।

इस तरह विचार करनेपर श्रेष्ठ के स्वकर्म छोडनेसे सब राष्ट्रका शनैः शनैः कैसा नाश होता है, इस बात का ज्ञान हो सकता है। अब देखना है कि स्वकर्म छोडनेसे ' संकर ' कैसा होगा। समझ लीजिये कि ब्राह्मणने अपना कर्म छोड दिया और क्षत्रियनेभी अपना कर्म छोड दिया। ब्राह्मण शम दम ज्ञान आदि ब्रह्मवर्चस-रहित हुआ और क्षत्रिय भी शौर्य, तेज, वीर्य आदिसे रहित हुआ। तो ऐसे गुणकर्मरहित ब्राह्मण और क्षत्रिय का कौनसा वर्ण होगा? पाठक इसका विचार करें। यदि अग्निकी दाहकता नष्ट हुई, जल ने अपना प्रवाहीपन और शान्ति छोड दी, तो उनको कौन अग्नि और जल कहेंगे? दहनशक्तिसे रहित अग्नि अग्निहि नहीं रहेगी और तृषा शान्त न करनेवाला जल जलही नहीं कहलायेगा। इसी तरह अध्ययन अध्यापन, शमदम आदि गुणोंसे रहित ब्राह्मण ब्राह्मण कहलाने योग्य न रहेगा; और शौर्य, धैर्य आदि गुणोंसे रहित मनुष्य क्षत्रिय नहीं कहलायेगा। यदि इनको ब्राह्मण और क्षत्रिय कहाजाय, तो भी वर्णसंकर ही होगा। क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रियोंके गुणोंसे और धर्मोंसे रहितको ब्राह्मण क्षत्रिय कहना, न जलानेवाले पदार्थको अग्नि कहनेके समान, संकरकाही द्योतक है।

दूसरी बात इसमें यह है कि यदि इन लोगोंने अपने स्वकर्तव्य कठिन होनेके कारण छोड दिये, और दूसरे वर्णोंके कर्म सुकर होनेके कारण करना प्रारंभ किये, तो निःसन्देह कर्म का संकर हुआ हि। और यह बात निश्चित है कि जिस प्रकार आनुवंशिक कृषक जैसी खेती उत्तम प्रकार कर सकेगा, वैसी खेती आनुवंशिक ब्राह्मण कर नहीं सकेगा। इसलिये दूसरे का कर्म करनेसे वह वैसा उत्तम नहीं होगा, अतः वह सदोष होगा और इस कर्मसंकर के कारण अन्तमें राष्ट्रका नाशहि होगा। इसी प्रकार ब्राह्मण घरमें बैठ बैठ कर कार्य करता है, इस कारण वह खेतमें सर्दी गर्मी और वृष्टि में कार्य करने लगा, तो बीमार होगा। इसी तरह किसान घरमें बैठा रहेगा तो परिश्रम न होनेसे उसकी पाचनशक्ति बिगड जायगी। इसी रीतिसे विधर्मके अनुकरणसे सबका नाश हि होगा। बडे प्रयत्नसे किसीको साध्य भी हुआ, तथापि सबको साध्य न होनेसे संपूर्ण राष्ट्रके हित की दृष्टिसे उस प्रकारके कर्मसंकरसे राष्ट्रकी बडी हानि होगी। अतः जहां कर्मसंकर होता है,वहांकी जनता अन्तमें नाशको प्राप्त होती है, यह बात सिद्ध होगयी।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

अन्वयः— हे भारत ! अविद्वांसः यथा कर्मणि सक्ताः (कर्म) कुर्वन्ति, तथा लोकसंग्रहं चिकीर्षुः विद्वान् असक्तः (कर्म) कुर्यात् ॥ २५ ॥ विद्वान् कर्मसंगिनां अज्ञानां बुद्धिभेदं न जनयेत्, (किन्तु) युक्तः समाचरन् सर्वकर्माणि जोषयेत् ॥ २६ ॥

हे भारत ! अज्ञानी जन जैसे आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसेहि लोकसंग्रह की इच्छा करनेवाला विद्वान् आसक्ति छोडकर कर्म करे ॥२५ ॥ विद्वान् मनुष्य कर्ममें आसक्ति रखनेवाले अज्ञानीलोगोंकी बुद्धिमें कदापि भ्रम न उत्पन्न करे; किन्तु स्वयं समत्वबुद्धियोग का आचरण करता हुआ लोगोंसे सब कर्म प्रीतिसे करावे ॥ २६ ॥

भावार्थ-अज्ञानी लोग स्वार्थसे फलभोगकी इच्छा रखकर जितनी तत्परतापूर्वक कर्म करते हैं, उतनीहि तत्परतापूर्वक विद्वान् मनुष्य लोककल्याण करनेकी कामनासे निःस्वार्थ होकर कर्म करे ॥ फलभोगकी इच्छासे कर्म करनेवाले अज्ञानी लोगोंकी कर्ममें प्रवृत्त हुई बुद्धिमें विद्वान् मनुष्य कदापि संदेह उत्पन्न न करे,उनसे वे सब कर्म आनन्दसे करावे; परंतु स्वयं समत्व बुद्धियोग का आचरण करता हुआ अपना कर्म करे ॥ २५-२६ ॥

राजाने अपना कर्म छोडा, धर्माध्यक्षने अपना कर्म छोडा, इनका अनुकरण अन्य लोगोंने किया, तो किसीका कोई नियामक न होनेके कारण व्यभिचारादिके भी अनंत दोष उस समाजमें होंगे और इस अनीतिसे भी अन्तमें रोगादिकों की वृद्धि होनेके कारण जनताका बडा नाश होगा। अर्थात किसी भी दृष्टिसे देखा जाय तो स्वकर्म छोडनेसे संकर, और संकरसे नाश होगा यह बात निःसन्देह सत्य है। इसलिये श्रेष्ठ पुरुषोंको उचित है कि वे कदापि अपना कर्तव्य न छोडें, उनको अनावश्यक होनेपर भी लोकसंग्रह की ओर दृष्टि रखकर स्वकर्तव्य सदा आलस्य छोडकर करते जांय तभी सब राष्ट्रकी सुस्थिति होगी। इसी विषयका बहुमोल उपदेश अगले श्लोकोंमें देखिये—

(२५-२६) लोकसंग्रह का कार्य करने की जिम्मेवारी ज्ञानी मनुष्यपर है यह दर्शानेके लिये इस उपदेशका प्रारंभ है। लोकसंग्रहका अर्थ है 'लोककल्याण,' जनताकी भलाई, राष्ट्रीय उन्नति, लोगोंका अभ्युदय और निःश्रेयस। लोककल्याण की साधना करनेके उद्देश्यसे ज्ञानी मनुष्य लोकसंग्रहके कार्य करे। ज्ञानीमनुष्य तो नित्यतृप्त, आत्मसंतुष्ट तथा इच्छाद्वेषरहित होता है, अतः (तस्य कार्यं न विद्यते। भ० गी० ३।१७) उसके लिये कुछ कर्तव्य नहीं है। 'कर्म करनेपर भी उसको कोई प्राप्तव्य नहीं और न करनेसे भी उसकी कोई हानि नहीं, " ऐसी स्थिति ज्ञानीकी होनेके कारण उसके लिये कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, यह सत्य है। परंतु यदि इसप्रकारके सिद्ध पुरुषने कर्म छोड दिया, तो साधारण लोग

कहेंगे कि "देखो, वह फलाना मनुष्य है, वह कुछ भी कर्म नहीं करता, फिर हम भी क्यों करें;" ऐसा कहेंगे और कर्म छोड देंगे और कर्मत्यागसे उन सबका नाश होगा। यह जनता का नाश करनेका दोष ज्ञानीमनुष्यके कर्मत्यागसे संबंध रखता है, अतः ज्ञानीमनुष्यको कुछ स्वार्थ-साधनके लिये कर्म नभी करने हों, तथापि लोगों को बुद्धिभ्रंशसे बचानेके लिये उसको उचित है कि वह कर्म करे।

अज्ञानी जन फलका भोग (सक्ताः) करनेकी आतुरता से अत्यंत तत्पर होकर कर्म करते हैं, इनका कर्म भोगेच्छासे होता है। जितनी भोगकी इच्छा अधिक उतनी कर्म करनेकी भी तत्परता अधिक होती है। प्रायः साधारण लोग इसी रीतिसे कर्म करते हैं।

ज्ञानी मनुष्यभी ऐसीहि तत्परतासे कर्म करे। इसके कर्ममें तो स्वार्थका लेशभी नहीं होगा, क्योंकि स्वार्थकी पूर्णाहुति होनेके बाद हि वह ज्ञानी बना होता है। यदि उसको कर्मसे कुछभी स्वार्थका साधन नहीं करना है, तो फिर वह किसलिये कर्म करे? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा है कि "चिकीर्षुर्लोकसंग्रहं" अर्थात् 'लोककल्याण करनेकी इच्छासे' वह कर्म करे। और उस प्रकार परमदक्षतासे कर्म करे। मेरा स्वार्थ कुछ भी नहीं है, इसलिये जैसे वैसे कर्म न करे। अपने से जितनी उत्तमतासे होना संभव है उतनी उत्तमतासे और पूर्णतासे कर्म करे और कर्मका फल प्राप्त होनेके पश्चात् उसका समर्पण लोक-कल्याणके लिये करे।

कर्म चार प्रकारसे होता है, सकामकर्म, निष्काम कर्म, कर्मसंन्यास और परेच्छासे कर्म। सकामकर्म दो प्रकारसे हो सकता है, एक धर्मानुकूल और दूसरा धर्मविरुद्ध। धर्मविरुद्ध सकामकर्म को 'विकर्म' ऐसा स्वतंत्र नाम भगवद्गीतामें है। इस लिये सकाम कर्म शब्दका अर्थ यहां धर्मानुकूल कर्तव्य कर्म ऐसा करना उचित है। अभ्युदय साधन के सब कर्म इस प्रकार के सकाम कर्ममें आते हैं। धर्मानुकूल व्यवहार से धन कमाना, उससे अपने सुखसाधन बढाना, ऐहिक सुखके लिये कर्म करना ये सब सकाम कर्म हैं। स्वार्थसाधन करते करते मनुष्यमें परार्थ साधन करनेकी श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न होती है। इस समय निष्काम भाव से यह कर्म करता है, अपने स्वार्थ की आहुति यह इस समय परार्थमें करता है। इससे इसका यह निष्काम योग होता है। इस प्रकारके निष्काम कर्मयोगी लोकोंके हितके लिये दिनरात कर्म करते हैं।

स्वार्थसे कर्म करना हो अथवा लोककल्याण के लिये अर्थात् परार्थ के लिये कर्म करना हो, इन दोनों सकाम और निष्काम कर्ममें कर्मविरोधकोंके दर्शन से बडा क्लेश होता है। स्वार्थ-साधनके सकाम कर्ममें अपने स्वार्थके विरुद्ध प्रयत्न करनेवालेके दर्शनसे जैसे क्लेश होते हैं, वैसे ही क्लेश निष्काम कर्मयोगी को निःस्वार्थ बुद्धिसे लोककल्याण, राष्ट्रकल्याण अथवा जनताके हित के लिये कर्म करते समय उसका विरोध करनेवालेको सामने देखनेसे होते हैं। इस प्रकारके क्लेश वारंवार होनेसे इन कर्मोंसे यह विरक्त होता है और 'कर्म-संन्यास' अर्थात् 'संन्यास' का मार्ग स्वीकारता है। इस संन्यास मार्ग में यह संपूर्ण प्रापंचिक कर्मोंका त्याग करता है और अपने निःश्रेयस के साधनमें लगता है। इस संन्यासमार्गमें मनःशान्तिका साधन वह करता है और अन्तमें उसको ऐसी समावस्था प्राप्त होती है, कि जिसमें पहुंचनेसे सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय आदि द्वन्द्व उपस्थित होनेपरभी उसके मनकी समता और शान्ति नहीं बिघडती। सुखमें जिस शान्तिका वह अनुभव करता है, दुःखमें भी वह वैसाही शान्त रहता है। कर्मसंन्यास की अथवा संन्यासयोगकी यह सिद्धि है। यह सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् उसको कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, अर्थात्

वह कृतकृत्य बनता है।

(तस्य कार्यं न विद्यते। गी० ३। १७) ऐसे संन्यासयोगका आचरण करनेवालेकेलिये स्वार्थ का अथवा परार्थका कोई कर्म करनेके लिये नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें यह परेच्छासे कर्म करता है। कोई मनुष्य, कोई जाती अथवा कोई राष्ट्र संकटोंसे त्रस्त होनेपर इस सिद्ध पुरुषके पास आता है और कहता है कि-" हे महात्माजी! आप हमें इस पारतंत्र्यके दुःख से छुडाइये, हम सब आपकी शरणमें आगये हैं।" इस करुणा-पूर्ण प्रार्थनासे उसके विरक्त मनमें करुणा उत्पन्न होती है और दयाभावसे उनका दुःख दूर करने के लिये यह संन्यासयोगी उनके उद्धारके लिये यत्न करता है। यह भी लोकसंग्रहके लिये उसका कर्म होता है। नरनारायण ऋषि बद्रिकाश्रम में तपस्या कर रहे थे, वे इसी प्रकारकी परेच्छासे प्रेरित होकर कर्ममें प्रवृत्त हुए और अर्जुन-श्रीकृष्णके रूपसे भूभार हरण के कार्यमें दत्तचित्त हुए। इसी प्रकारके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस तरह विचार करनेपर पता लग जायगा कि निष्काम कर्मयोगकी दूसरी अवस्थामें भी यह मनुष्य लोकसंग्रहके लिये लोककल्याण के कार्य करता है और सिद्ध बननेके पश्चात् चतुर्थ अवस्थामें भी परेच्छासे लोकसंग्रह अर्थात् लोककल्याणके लिये यह सिद्ध पुरुष कर्ममें प्रवृत्त होता है। दोनों अवस्थाओंमें इससे लोकसंग्रह होता है, तथापि पहिली अवस्था में इसका मन डावांडोल होता रहता है, विरोधकों का द्वेष करता है, और त्रस्त होता है। परंतु जब यह सिद्ध पुरुष बनने के पश्चात् परेच्छासे प्रवृत्त होकर लोकसंग्रह करनेके लिये लोककल्याणके कर्म करता है, उस समय भयानक प्रतिकूल परिस्थितिमें भी उसके मनकी शान्ति नहीं हटती, वह दुःखोंकी वृष्टिमेंभी मुसकराने लगता है और किसी कारण भी उसका मन अशान्त नहीं होता। ऐसे मनुष्यको (तस्य कार्यं न विद्यते ३।१७) वस्तुतः कुछ भी कर्तव्य नहीं होता है, यह जो भी कुछ करता है वह परेच्छासे करता है और लोककल्याण के लिये करता है। इसीका जीवन ' सज्जनोंकी रक्षा, दुर्जनोंके विनाश और धर्मसंस्थापना ' के लिये होता है। इन्हीं मनुष्योंके विषयमें इस श्लोकमें कहा है कि " (लोकसंग्रहं चिकीर्षुः) लोकसंग्रह करनेकी इच्छासे (विद्वान्) ज्ञानी मनुष्य (कुर्यात्) कर्म करे।" यह इस लिये कहा है कि इस में अपनी निज प्रवृत्ती कर्मसे हट गयी होती है।

(अज्ञानां बुद्धिभेदं न जनयेत्) अज्ञ लोग आसक्तिसे कर्म करते हैं, तथापि उनका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये। बुद्धिभेद का अर्थ है बुद्धि-भ्रंश, बुद्धिनाश, बुद्धिमें संदेह। कई मनुष्य अज्ञानतासे फलकी इच्छा धारण करके कुछ कर्म करता है। मान लीजिये कि वह स्वर्गप्राप्तिके लिये कुछ कर्म करता है। ऐसी अवस्थामें ऐसा कुछ नहीं कहना चाहिये, कि जिससे वह मनुष्य अपने अनुष्ठानको छोड दे। (जोषयेत् सर्वकर्माणि) उचित तो यह है कि वह ज्ञानी पुरुष सब लोगोंके कर्मोंको ऐसी युक्तिसे सन्मार्गपर लावे कि उनकी श्रद्धा और भक्ति बनी रहे, उनका दोष दूर होवे और वे सन्मार्गपर आजांय। ऐसा न करते हुए यदि उनका बुद्धिभेद करेंगे और उनमें अश्रद्धा उत्पन्न करेंगे, तो उनसे आगे कोई अनुष्ठान नहीं हो सकेगा।

यहां ' बुद्धिभेद ' शब्दका अर्थज्ञान होनेके लिये उसका विरोधक शब्द ' बुद्धियोग ' है इसका भी साथसाथ विचार करना चाहिये। देखिये—

बुद्धियोग	बुद्धिभेद
समत्वबुद्धि	विषम भाव
शान्ति	अशान्ति
सन्देहनिवृत्ति	सन्देह
स्थितप्रज्ञ	चंचलप्रज्ञ
वीतरागभयक्रोध	रागभयक्रोधयुक्त

(१०) मूढ और तत्त्वज्ञ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

अन्वयः— प्रकृतेः गुणैः कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि (सन्ति, परन्तु) अहंकारविमूढात्मा 'अहं कर्ता' इति मन्यते ॥ २७ ॥

प्रकृति के गुणोंके द्वारा कर्म सब प्रकार किये हुए होते हैं। परंतु अहंकारसे विशेष मूढ बना हुआ मनुष्य 'मैं कर्ता हूं' ऐसे मान लेता है ॥ २७ ॥

बुद्धिभेद करनेसे इस तरह हानि होती है। जिसकी बुद्धि भिन्न हुई है उससे कुछभी उन्नतिका साधन करना नहीं हो सकता। इसलिये किसी को भी उचित नहीं है कि वह दूसरे साधारण मनुष्यका बुद्धिभेद करे। इस तरह बुद्धिभ्रंश हुए मनुष्यकी बुद्धि फिर किसी अनुष्ठानमें स्थिर होनेके लिये बडे परिश्रम करने होते हैं और परिश्रम करनेपर भी संदेहरहित श्रद्धा उसके मनमें उत्पन्न होगी या नहीं, इस विषयमें संदेह हि है। इस कारण बुद्धिभ्रंश करना उसके भविष्यको नष्ट करना ही है।

शत्रु लोग ही इस प्रकारका बुद्धिभेद करते हैं और उससे अपना स्वार्थसाधन करते हैं। अर्थात् बुद्धिभेद करना महाशत्रुताका कार्य है। बुद्धिभेद से मनुष्यकी जितनी हानि होती है उतनी किसी अन्य प्रकारसे नहीं होती। इसलिये मनुष्यको उचित नहीं है कि वह किसी दूसरेके मनमें इस प्रकारके संदेह उत्पन्न करके उसका आध्यात्मिक दृष्टिसे नाश करे।

इसीलिये कहा है कि वह लोगोंसे सब कर्म इस ढंगसे करावे कि जिससे (जोषयेत्) वे प्रीतिपूर्वक श्रद्धासे कर्म भी करते जांय, उनकी श्रद्धा बनी रहे और वह सत्य मार्गपरभी आजावें। यदि उनका मार्ग अशुद्ध है तो उनको ठीक मार्गपर लाना ही चाहिये, परंतु वैसा उसको सत्य मार्गपर लानेके समय उसके मनमें संशय उत्पन्न करके उसको अश्रद्ध बनाना योग्य नहीं है।

ज्ञानी मनुष्य स्वयं (युक्तः समाचरन्) योगयुक्त होकर, अर्थात् समत्वबुद्धियोगके अनुसार अपना कर्तव्य करता रहे, कर्म न छोडे, परंतु अनासक्ति से कर्म करे।

यहां कई ऐसी शंका करेंगे कि अज्ञानी आसक्तिसे कर्म करता है और ज्ञानी अनासक्तिसे कर्म करता है, परंतु दोनोंसे एकही कर्म होता है, इस प्रकार कर्म होते होते वे दोनों कदाचित् समान रीतिसेही बद्ध होंगे। बाहरकी दृष्टिसे देखनेवालोंको तो उनमें कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होसकता। इसप्रकारकी शंका करनेवालोंका समाधान करनेके लिये और उनकी आशंका दूर करनेके लिये और तत्त्वज्ञानी तथा मूढ मनुष्यका भेद स्पष्ट करनेके लिये आगे कहते हैं—

गुणोंसे कर्म।

(२७-२८) कर्म किसप्रकार होते हैं, कर्मोंका कर्तृत्व किसके पास है, इसका विचार इन श्लोकोंमें किया है। साधारण मनुष्य (कर्ता अहं) मैं कर्ता हूं, ऐसा मानता है; परंतु तत्त्वदृष्टीसे विचार करनेपर वह कर्ता नहीं है ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः देखा जाय तो—

प्रकृतेः गुणैः कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि ॥२७

"प्रकृतिके गुणोंके द्वारा सब कर्म पूर्णतासे

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

अन्वयः— हे महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित् तु 'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते' इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परंतु हे महाबाहो अर्जुन ! गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य 'गुण गुणोंमें कार्य करते हैं' ऐसे मान कर, आसक्त नहीं होता है ॥ २८ ॥

भावार्थ— प्रकृतिके गुणोंसे सब कुछ कर्म होते हैं, आत्मा उन कर्मोंका कर्ता नहीं है, वह अकर्ता है। तत्त्वज्ञानी मनुष्य प्रकृतिके गुणोंको और उनसे होनेवाले कर्मोंको यथावत् जानता है और एकके गुणोंका दूसरोंके गुणोंसे संबंध आकर कार्य बनते हैं, ऐसा जानकर, अहंकाररहित होकर फंसता नहीं। परंतु जो मनुष्य अहंकार से विशेष ही मूढ बनता है वह अपने आपको कर्ता मानकर, फलसे बद्ध होकर फंसता है ॥ २७-२८ ॥

किये हुये होते हैं।" अर्थात् कर्मोंका कर्तृत्व प्रकृतिके गुणोंके पास है न कि किसी मनुष्यके पास। उदाहरणार्थ हम एक मन्दिर बनने के कार्यका विचार करेंगे। एक स्थानपर सुंदर मन्दिर बना है, वह ईंटें, चूना, पत्थर, लकडी, लोहा आदि पदार्थोंके साधनसे कई लोगोंने बनवाया है। अब विचार करना है कि यदि ईंटोंमें, चूनेमें और पत्थर आदिमें वे गुणधर्म न होते कि जिनसे उनमें वह शक्ति आगई है, तो कोई मनुष्य कितना भी बुद्धिमान क्यों न हो, मन्दिर बना नहीं सकता। ईंटोंके गुण, चूनेके गुण, पत्थरों और लकडियों के गुण तथा अन्यान्य पदार्थोंके गुण एक दूसरेके साथ मिलकर दिवार स्तंभ आदिमें परिणत हुए। पक्की ईंट समझकर यदि कच्ची ईंटें किसी स्थानपर लग जांय, तो वह मन्दिरकी दीवार ठहर नहीं सकती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृतिक पदार्थोंके गुणही एक दूसरेके साथ मिलकर मन्दिर आदि कार्य करते हैं। यदि ये गुण उन पदार्थोंमें न होंगे तो कोईभी वैसे कार्य बना नहीं सकता।

अब यहां कई पूछेंगे कि राज, सुतार, लुहार, सूत्रधार, आदि जो लोग उस मन्दिरके कार्यमें लगे होंगे, तथा जिस शिल्पीने उस मन्दिर का ढांचा बनाया होगा, वे सब लोग 'कर्ता' हैं ऐसा माननेमें क्या दोष है? इस विषयमें भी वही बात कही जायगी कि इन कारीगरोंके हाथों, पावों और शरीरोंमें वे गुणधर्म न होते, तो इनके गुण पदार्थोंपर कार्य करके जो मन्दिररूपी कार्य बनाया गया, वह कदापि न बनता। एक कार्य करनेके लिये लाखों प्राकृतिक पदार्थोंके गुणोंका परस्पर सहकार्य होनेकी आवश्यकता है, यदि उस सहकार्यमें थोडीसीभी न्यूनता रही, तो वह कार्य उत्तम रीतिसे बनेगा नहीं। इसलिये ऐसी अवस्थामें कोई एक मनुष्य किस अधिकारसे कैसे कह सकता है कि, "मैं इस कार्यका कर्ता हूं"? क्योंकि उस कार्य के लिये लाखोंके गुण लगे हुए होते हैं, इसलिये तत्त्वतः सत्यदृष्टिसे देखा जाय तो जो अपने आपको कर्ता समझता है वह उसका कर्ता नहीं है।

जो (कर्ता अहं इति मन्यते) 'कर्ता मैं हूं' ऐसा मानता है वह सत्यदृष्टीसे देख नहीं सकता, वह तो (अहंकार-वि-मूढ-आत्मा) घमंडसे विशेष मूढ बना हुआ मनुष्य है। जो स्वयं अकर्ता होता हुआ भी अपने आपको कर्ता मानता है वह 'विशेष मूढ' नहीं तो और क्या है? मननसे यह कर्ता और अकर्ताका विचार मनमें दृढ

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥

अन्वयः— प्रकृतेः गुणसंमूढाः गुणकर्मसु सज्जन्ते; तान् अकृत्स्नविदः मन्दान् कृत्स्नवित् न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृतिके गुणोंसे मूढ हुए मनुष्य गुणों द्वारा बने कर्मोंमें आसक्त होते हैं। उन अज्ञानी मंदबुद्धिवाले मूर्खों को ज्ञानी मनुष्य चंचल न बनावे॥ २९॥

भावार्थ— प्राकृतिक गुणोंमें मोहित हुए मनुष्य प्राकृतिक गुणोंसे बननेवाले कर्मोंको 'मैं करता हूं' ऐसा मानकर, उन कर्मोंका अपने ऊपर स्वयं लेप लगाते हैं। ऐसे मूढ लोग फलासक्तिसेहि कर्म करते रहते हैं। ज्ञानी मनुष्य ऐसे मन्दबुद्धिवाले लोगोंको उनके कर्मोंसे विचलित न करें, अर्थात् उनका बुद्धिभेद न करें॥ २९॥

करके कोई मनुष्य अपने आपको किसीका कर्ता न समझे और सब कर्तृत्व प्राकृतिक पदार्थों के गुणोंके अन्दर है ऐसा अनुभव करे और अहंकारके कीचडमें न फंसे।

यहां गुणसे कर्म बननेका और भी एक भाव है। प्रकृतिगुणसे हि सत्यपालन, उदारता, अहिंसा आदि बनना चाहिये, दीप स्वगुणसे प्रकाशता है, इसी प्रकार गौ स्वभावसे सौम्य है। संभवतः ये स्वगुणसे होनेवाले कर्मोंको जानते भी नहीं हैं। उदार मनुष्य अपनी उदारताको न जानता हुआ भी उदारताके कर्म स्वगुणसेही करता है, अथवा यों कहना सत्य होगा कि उस से उदारताके कर्म होते रहते हैं। इस प्रकारके स्वगुणसे सहजहीमें जिससे श्रेष्ठ कर्म होते हैं वह विशेष योग्यतावाला समझना योग्य है। प्रयत्नसे उच्च कर्म करनेवाले की अपेक्षा स्वगुणसेहि जिससे उच्च कर्म होते हैं, जिससे अशुद्ध आचार बनही नहीं सकता, वही पुरुष वन्दनीय है। मनुष्यको यही स्थिति प्राप्त करनी चाहिये।

गुण कर्मका विभाग।

गुणोंसे कर्म बनते हैं, एक पदार्थके गुण दूसरे पदार्थके गुणोंके साथ मिलकर या विरोधी होकर किसी कार्यको बनाते हैं या बिगाडते हैं। यहां मनुष्यको गुणोंका और कर्मोंका विभाग देखना चाहिये। यही तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञानको यथावत् जाननेवाला ज्ञानीहि एक प्रकारके गुण दूसरे प्रकारके गुणोंके साथ विशिष्ट रीतिसे संबंधित हो कर कार्य करते हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभवसे देखता है और 'मैं अकर्ता हूं' इस बातका अनुभव करता है और बंधनमें नहीं फंसता।

यहां स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है कि अहंकारसे विशेष मूर्ख बना हुआ मनुष्य बंधनमें फंसता है और तत्त्वज्ञानी अहंकारसे दूर रहनेके कारण बंधनको तोडकर मुक्त होता है।

यहां मूढ प्राकृतिक मनुष्यका मार्ग और तत्त्वज्ञानी मनुष्यका मार्ग बिलकुल भिन्न है यह बात स्पष्ट हुई। ये दो मार्ग विभिन्न हैं इसीलिये कोई ज्ञानी दूसरे कर्मसंगी अज्ञानीका बुद्धिभ्रंश न करे, ऐसा आदेश यहां देते हैं, वह अब देखिये—

प्रकृतिके गुणोंका मोह।

(२९) पहिला दोष (प्रकृतेः गुणसंमूढाः) प्रकृतिके गुणोंसे सम्यक् मूढ होना है, सम्यक् मूढ होनेका अर्थ अत्यंत मूर्ख बनना है। प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम गुण हैं, और प्राकृतिक पदार्थोंमें सौन्दर्य, उत्तम आकार, उत्तम रुची आदि अनेक गुण हैं। मनुष्य इन गुणोंमें फंसते हैं। सुरूपतासे मोहित हुआ मनुष्य सुरूपवालेके आधीन होता

है तथा उत्तमरुचीवाले पदार्थके आधीन रुचीके कारण मोहित बना मनुष्य हो जाता है। इसी प्रकार अन्यान्य गुणोंसे मोहित हुए मनुष्य उन गुणियोंके आधीन हो जाते हैं। इस तरह कोई मनुष्य सुंदर स्त्रीके आधीन, कोई धनके आधीन, कई अधिकारके आधीन, ऐसे प्राकृतिक गुणोंसे किंवा रस्सियोंसे बंधे हुए मनुष्य परतंत्र हो जाते हैं और बद्धताके कारण दुःखके भागी बनते हैं। इसीलिये कहा है कि (गुणकर्मसु सज्जन्ते) गुणोंसे होनेवाले कर्मोंमें डूब जाते हैं। पूर्वोक्त कथनके अनुसार गुणोंसे कर्म होनेपरभी, वे कर्मों का लेप मूढतासे अपने ऊपर लेते हैं। अर्थात् ये प्रकृतिके प्रवाहसे वह जाते हैं। इसलिये इनको कदापि शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

ऐसे प्रवाहसे वह जानेवालों को यहां 'अ-कृत्स्न-वित् मन्द' कहा है। 'कृत्स्नवित्' का अर्थ है पूर्ण ज्ञानी अथवा सर्वज्ञ और 'अ-कृत्स्न-वित्' का अर्थ होता है 'अ-पूर्ण ज्ञानी'। पूर्णज्ञानी, किंवा सर्वज्ञ श्रेष्ठ होते हैं इसमें किसी को कोई संदेहहि नहीं है। जो कष्ट उत्पन्न होते हैं वे अल्पज्ञ, किंचिज्ज्ञ किंवा मिथ्याज्ञानीकोहि होते हैं। उसको किंचित् ज्ञान होता है, सत्यज्ञान तो किसी विषयमें भी नहीं होता, अतः उसका व्यवहार अशुद्ध रीतिसे होता है, जो उसके दुःखका हेतु बनता है। जबतक उसका मिथ्याज्ञान नहीं छूटता और उसको पूर्णज्ञान नहीं होता, तबतक उसकी मुक्तता का मार्गभी खुल नहीं सकता।

ये अज्ञानी किंवा मिथ्याज्ञानी लोग यत्न तो बहुत करते रहते हैं, कर्म भी बडी तत्परता से करते हैं। "मैं कर्म करता हूं अतः फल मुझे चाहिये," ऐसा इनका विचार सदा जाग्रत रहता है। अतः ये सदा फलेच्छासे कर्म करते रहते हैं और इस फलेच्छा की आसक्तिसे पुनः पुनः बन्धनमें पडते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि एक तो इनके अज्ञानसे इनके दुःख बढते हैं और दूसरे इनकी फलासक्तिसे ये बन्धनमें पडते हैं। फलकी आसक्तिसे अधिक कर्म करना, और अधिक बन्धनमें पडना, यह क्रम इसीप्रकार इनका सदा चलता रहता है। इसतरह आसक्ति और अज्ञान मनुष्यके बन्धनका हेतु होता है। यहां कई कहेंगे कि जो (कृत्स्न-वित्) ज्ञानी हैं, वे उपदेशद्वारा उन अज्ञानीयोंको इन बन्धन कारक कर्मोंसे निवृत्त करें। ऊपर ऊपर देखनेसे ऐसा करनेमें कोई हानि नहीं, ऐसाही प्रतीत होता है; परंतु गीता का कथन है कि (मन्दान् कृत्स्नवित् न विचालयेत्) इन मूढोंको ज्ञानी मनुष्य विचलित् न करे। क्योंकि उनका बुद्धिभेद करनेसे वे न कर्ममार्गमें दत्तचित होते हैं और न वे ज्ञानमार्गका आचरण कर सकते हैं। वे इसतरह 'न इधरके और न उधरके' होते हैं और चंचलता के कारण अवनत हि होते हैं।

अनधिकार चेष्टा।

आसक्तिसे कर्म करनेवालोंको उसी कर्ममार्ग का उपदेश करके उत्तमसे उत्तम और शुद्ध कर्मों में दत्तचित्त करना योग्य है। कर्ममें दत्तचित्त होनेसे उनकी चित्तकी शुद्धि होगी और वे ज्ञान मार्गके अधिकारी बनेंगे। परंतु मूढ किंवा अज्ञानी लोगोंको कर्ममार्गसे विचलित करनेसे तो वे किसीभी प्रकार उन्नति कर नहीं सकते।

जैसा कोई विद्यार्थी प्रथम कक्षामें पढनेका अधिकारी है तो उसको चतुर्थ कक्षामें रखा जाय, तो प्रथमकक्षाका पाठविधी भी उससे नहीं होता और चतुर्थ कक्षाका तो उससे होना असंभवही था। इसप्रकार वह दोनों कक्षाओंसे वंचित रहता है। यदि वह प्रथम कक्षामेंहि रहता और क्रमसे चतुर्थमें जाता, तो उसका अधिक हित हो सकता था। इसीप्रकार प्रथम कक्षा आसक्ति से कर्म करनेकी है, दूसरी कक्षा अनासक्ति से कर्म करनेकी है। प्रथम कक्षामें उत्तीर्ण होनेके विना द्वितीयमें जाना बडा हानिकारक है। इसी लिये कहा है कि ज्ञानी लोग अज्ञानियोंका बुद्धि-भेद न करें। उनको आसक्तिसे ही कर्म करने दें,

(११) ईश्वरार्पण कर्म ।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अन्वयः— मयि अध्यात्मचेतसा सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य, निराशीः निर्ममः विगतज्वरः भूत्वा, युद्ध्यस्व॥३०

मुझमें अध्यात्मचित्तसे सब कर्मोंका समर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर, युद्ध कर ॥ ३० ॥

भावार्थ— आत्माकी उन्नतिका विचार सदा मनमें रख, सब कर्म मुझे समर्पण कर, फलकी आशा छोड, ममतारहित हो, तथा मनके विरुद्ध बात बननेसे संतप्त न बन और इस तरह अपना आचरण करके युद्ध कर ॥ ३० ॥

उनको स्वयं आसक्तिका कटु अनुभव लेने दें। अनुभव मिलनेके पश्चात् वे स्वयं सद्गुरुके पास जांयगे और आगेके मार्गका उपदेश मांगेंगे और उस समय दिया हुआ उपदेश उनके मनमें स्थिर होगा। पूर्वका अनुभव लिया हुआ होनेके कारण वे चंचल नहीं बनेंगे और क्रमशः उन्नत होते जांयगे।

मनुष्य किसप्रकार निर्दोष कर्म करे इस विषय में आगे उत्तम उपदेश करते हैं।

(३०) युद्ध अथवा इसी प्रकारका कोई अन्य कर्म किस तरह करना चाहिये, और कर्मके दोष से कैसे बचना चाहिये, इस विषय का उत्तम उपदेश इस श्लोकमें दिया है, वह पाठक अवश्य स्मरण रखें।

" अध्यात्मचेताः "

सबसे प्रथम मनुष्य 'अध्यात्मचेताः' बने। 'अधि-आत्म-चेताः' का अर्थ है, आत्माके ऊपर मन लगानेवाला, जिसका चित्त आत्मापर स्थिर हुआ है, जो आत्माका सदा चिंतन करता है, जिसके मनमें आत्मा-परमात्मा-परमेश्वरके विषयमें भक्ति है। इस तरह परमेश्वरका भक्त अथवा उसीपर चित्त स्थिर करनेवाला मनुष्य हो।

साधारण मनुष्य शरीरपर, भोगोंपर, विषयोंपर अथवा जगत् पर मन लगाता है। मन आदि इंद्रियोंकी प्रवृत्ति बाहर की ओर अधिक है, क्यों कि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्
पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मा-
नमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

कठोपनि० २।१।१

" स्वयंभु परमेश्वरने इन्द्रियां बहिर्मुख अर्थात् बाह्य विषयोंका ग्रहण करनेयोग्य बनायीं हैं, इस लिये मनुष्य बाह्य विषय देखता है और अन्तरात्माको नहीं देख सकता। कोई क्वचित् एकाध धैर्यवाला बुद्धिमान्, मोक्षकी इच्छा करता हुआ, चक्षु आदि इन्द्रियोंको स्वाधीन रख कर, अन्तरात्माको देखता है। " तथा—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति
विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं वि-
दित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥

कठोपनि० २।१।२

" मूढ मनुष्य बाह्य विषयोंके उपभोगोंके पीछे लगते हैं। इसलिये वे मृत्युके विस्तृत पाशोंमें बंधे जाते हैं। परंतु धैर्यवाले ज्ञानी अमृतत्व को-मोक्षको-नित्य जानकर, अनित्य विषयोपभोगों की इच्छा नहीं करते. "

यहां बताया है कि मनुष्यके इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति बाह्य विषयोंकी ओर स्वभावतः है। और अन्तरात्माके विषयमें अप्रवृत्ति है। मनुष्य "विषयचेता" स्वभावतः है और "आत्मचेता" नहीं है। इसीलिये प्रायः मनुष्योंकी प्रवृत्ति विषयभोगों की ओर तथा फलासक्तिसे कर्म करनेकी ओर विशेष होती है। परंतु इस फलासक्तिके मार्गसे अनंत दुःख भोगने पडते हैं और जैसा जैसा दुःखोंका अनुभव होता है, वैसा वैसा मनुष्योंका मन फलेच्छा से कर्म करने की ओरसे विमुख होता है। इसीलिये कहा है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥

कठोपनि० । १।२।१-२

"श्रेय (मोक्ष) अन्य है और प्रेय (भोग) अन्य है। विभिन्न अर्थवाले ये दोनों मनुष्यके पास आते हैं। उनमें से श्रेयका ग्रहण करनेवाले का कल्याण होता है, और जो प्रेय अर्थात् भोग स्वीकारता है वह हितसे दूर होता है। श्रेय (मोक्ष) और प्रेय (भोग) मनुष्यके पास आते हैं। धैर्यशाली बुद्धिवान उन दोनों का विचार करके एकको चुनता है। बुद्धिवान् मनुष्य भोगसे मोक्षको पसंद करता है, और निर्बुद्ध मनुष्य योगक्षेमके लिये भोगोंको स्वीकारता है।"

यहां दो प्रकारके मनुष्यका वर्णन है। जगत्में ये दोनों प्रकारके मनुष्य हैं, परंतु भोगोंका स्वीकार करनेवाले अनंत हैं और मोक्षके लिये यत्न करनेवाले विरला कोई होते हैं। जो प्रेय लेनेवाले होते हैं, वे 'विषयचेता' होते हैं और जो श्रेय लेनेवाले हैं वे 'आत्मचेता' होते हैं। अब इनके लिये जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनका विचार कीजिये—

अध्यात्मचेताः	विषयचेताः
श्रेय आददानः	प्रेय आददानः
धीरः	बालः, मन्दः
आत्मानं पेक्षत्	पराङ् पश्यति
अमृतं यन्ति	मृत्युपाशं यन्ति
साधु भवति	अर्थात् हीयते
निराशीः	आशापाशबद्धः
निर्ममः	अहंकारहतः
विगतज्वरः	ज्वराभिभूतः

इस तरह विचार करनेपर श्रेयमार्गसे जानेवालेका और प्रेयमार्गसे जानेवालेका परिणाम क्या होता है इसका पता लग सकता है। मनुष्य 'अध्यात्मचेता' बने, अर्थात् आत्माके कल्याण का विचार करे, भोगोंमें न फसे, यह पहिला उपदेश इस श्लोकमें दिया है।

आत्मा एक नित्य और अखंड आनन्दवाला है, इसलिये भी उसपर चित्त लगानेसे आनन्दकी प्राप्ति होना संभव है; परंतु प्राकृतिक भोग अनंत, हैं, अनित्य हैं, क्षणभर सुखका भास करनेवाले हैं और दुःख बढानेवाले हैं; इसलिये आत्मापर चित्त लगानेसे हित और भोगोंमें चित्त फंसानेसे अहित होता है। इस दृष्टीसेभी 'अध्यात्मचेता' होनेसे मनुष्यका लाभ है।

ईश्वरार्पण कर्म।

२ "सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य"- सब कर्मोंका मुझमें अर्थात् ईश्वरमें संन्यास करनेका उपदेश यहां किया है। परमेश्वरमें सब कर्म समर्पण करने चाहिये। परमेश्वर के लिये सब कर्म समर्पित करनेका अर्थ यह है कि सब कर्म परमेश्वरके लिये करना। कर्म अपने लिये करना और कर्म परमेश्वरके लिये करना, इन दो प्रकारों का तात्पर्य क्या है, इसका विचार अब करना चाहिये। जो मनुष्य अपने लिये कर्म करता है वह अपने भोग बढानेके लिये कर्म करता है, अपने लिये कौनसा भोग अभीष्ट है यह देख कर, उसकी प्राप्ति के लिये कर्म करता है। इससे भोग

प्राप्त करके वह उसका भोग भोगता है। अपने लिये क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये, इसका विचार करके, जो चाहिये ऐसा प्रतीत होता है, वही वह करता है। इसलिये कर्मोंका भला या बुरा फल इसीको भोगना पडता है।

उन्नतिका मार्ग।

अब देखिये कि जो मनुष्य ईश्वरार्पण बुद्धिसे अपने कर्म करता है, वह विचार करता है कि परमेश्वर क्या चाहता है, उसको क्या प्रिय है, क्या करनेसे वह संतुष्ट होता है और किससे वह असंतुष्ट होता है। उसकी बुद्धिसे जो निश्चय होता है वही वह ईश्वरके अर्पण के लिये करता है। पाठक विचार करेंगे तो उनके मनमें इस बातका स्वयं प्रकाश हो जायगा, कि कर्म परमेश्वरके लिये अर्पण करनेके विचारसे मनुष्यका चित्त उक्त प्रकार शुद्ध होने लगता है। मनुष्य कितनाभी अज्ञ क्यों न हो, वह अपने कर्म परमेश्वरके लिये समर्पण करने लगेगा, तो उसीसमय उसके व्यवहारमें पवित्रता बढेगी। उदाहरण के लिये देखिये, कोई मनुष्य घरमेंअपने लिये पकाता है तो यद्यपि वह स्वार्थभोग के लिये हि पकाता होगा, तो भी घरकी स्वच्छता और पाककी विशेषता की ओर वह विशेष ध्यान नहीं देगा। परंतु यदि उसीके घरमें कोई साधुसंत, संन्यासी सत्पुरुष, राजा अथवा ओहदेदार, किंवा कोई बडा मनुष्य आनेवाला हो और उसके लिये भोजन पकाना हो, तो उक्त कारण वह मार्गकी, घरकी और घरके पदार्थोंकी स्वच्छता करेगा, सब घरके पदार्थ उत्तम सजावटसे लगावेगा जो पदार्थ अस्वच्छ हों उनको पीछे रखकर शोभायुक्त पदार्थोंको सन्मुख रखेगा, और सब घरकी सजावट उत्तमसे उत्तम करेगा, और खान पान भी जितना उत्तम होगा, उतना उत्तम बनानेका यत्न करेगा। प्राकृतिक भोगी मनुष्य भी इस प्रकार अपने भोग के लिये थोडा उदासीन रहता है, और मान्य अतिथिके सत्कार के लिये अधिक उत्साह दिखाता है। मनुष्यमें न जानते हुए भी अपने लिये कर्म करनेकी अपेक्षा दूसरेके लिये कर्म करनेके समय विशेष दक्षता दिखाने का गुण अंशतः है। हरएक प्रसंग में यह गुण नहीं दीखता यह बात सत्य है, तथापि किसी किसी प्रसंग में दूसरे के लिये, बडे अतिथिके लिये, आदरसत्कार करनेकी प्रवृत्ति दिखाई देती है, इसमें संदेह नहीं। हमें यहां इतना ही बताना है, इस सत्कारवृत्तीसे दूसरेके लिये कार्य करनेके समय अधिक अच्छा और अधिक निर्दोष करनेमें मनुष्य दक्ष रहता है। यदि मनुष्यके लिये, राजाके लिये अथवा अतिथिके लिये मनुष्य इतना सत्कार दर्शाता है, तो जो ईश्वर राजाओं का भी राजा है और अतिथियोंका भी अतिथि है, उसके लिये अपना कर्म समर्पण करनेका विचार जिस समय यह करेगा, उस समय कितनी दक्षता धारण करेगा, इसका विचार पाठक अवश्य करें। इस विचारसे पता लग जायगा कि, कर्म परमेश्वरार्पण करनेसे मनुष्यके कर्म अधिक शुद्ध होते हैं, अधिक निर्दोष होते हैं और इस कारण मनुष्य अधिक पवित्र होता जाता है। मनुष्यकी पवित्रता संपादन करनेका यह एक उत्तम मार्ग है।

मानवी अतिथिके लिये मनुष्य इतना डर नहीं सकता, क्योंकि वह किसी एक स्थानमें बैठा रहेगा और दूसरे स्थानमें उसके प्रतिकूल व्यवहार करना असंभव नहीं होगा। परंतु परमेश्वर एक समयमें सर्वत्र उपस्थित होनेसे और सर्वज्ञ होनेसे उसको छिपाकर कोई भी कार्य मनुष्य कर नहीं सकता। जो मनुष्य परमेश्वरकी सर्वत्र सत्ता जानता है, वह सर्वत्र और सर्वदा पवित्र बनता जाता है। और जिस समय वह परमेश्वरके लिये अपने कर्म करता है, उस समय उसके कर्म भी पूर्वोक्त कारणसेहि अधिकाधिक पवित्र होते जाते हैं। इस तरह अपने कर्म परमेश्वरार्पण करने वाला मनुष्य पवित्र होता हुआ क्रमशः परमपद

का अधिकारी होता है।

बुरेसे बुरा मनुष्य भी कर्म परमेश्वरार्पण करनेसे उक्त कारण ही उन्नत होता जाता है। इसीलिये भ० गीतामें कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

भ० गी० ९

"बडेसे बडा दुराचारी भी यदि अनन्य भावसे मेरा भजन करे, तो यह मानो कि वह साधु होही चुका है। क्यों कि अब उसका व्यवहार सुधर चुका है। वह शीघ्रही धर्मात्मा बनता है और निरंतर शान्ति पाता है। हे अर्जुन! तू निश्चय ही समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होगा। हे पार्थ! जो पापयोनि हैं वे भी, और स्त्रियां वैश्य तथा शूद्र भी यदि मेरी शरण आ जांय तो वे परमगतिको प्राप्त करते हैं।"

इन श्लोकोंमें जो कहा है वह नितान्त सत्य है। एकवार मनुष्य परमेश्वरकी भक्ति करने लगा, परमेश्वरके लिये कर्म समर्पण करने लगा, तो वह शुद्ध होने लगा। इसीलिये यहां कहा है कि "संपूर्ण कर्म मुझे समर्पण करो।" मनुष्यके सुधारका यही एक सुगम और उत्तम मार्ग है।

३ "निराशीः"

'आशा छोड दो' यह तीसरा आदेश है। मनुष्य कर्मफलकी आशा धारण करता है, सुखका इच्छुक होता है, भोगोंकी आशा रखता है। कर्मफल, सुख और भोग मुझे चाहिये ऐसा जो आग्रह धारण करता है, वह समय आनेपर अन्यायके मार्गसे जानेमें भी प्रवृत्त होता है और गिरता है। अतः यदि यह आशापाश तोड देगा, तो वह बंधमुक्त होनेमें देरी नहीं लगेगी। इसीलिये आगे कहा है—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

भ० गी० १६

"आशारूप सैंकडों फांसियोंसे बंधे हुए और कामक्रोधके परायण हुए विषयभोगोंकी पूर्तिके लिये अन्यायसे धनादिका संग्रह करते हैं॥ मरण पर्यंत रहनेवाली अनन्त चिन्ताओंको आश्रय किये हुए और विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर हुए, और भोग भोगनाही 'आनन्द है ऐसा माननेवाले" लोग आगे दुःख भोगते हैं। इसीलिये इस दुःख और अवनतिसे बचनेके लिये कहा है कि निराशी हो। एक आशा छोडनेसे सहस्रों दुःखोंसे मनुष्यका बचाव होसकता है।

४ "निर्ममः"

'ममत्व छोड दो' यह चतुर्थ उपदेश यहां किया है। "मेरा, मेरा" ऐसा न कहो। कोई अपना नहीं है। जिसको 'मेरा या अपना' कहा जाता है वह सचमुच अपना नहीं है। मनुष्यको जो दुःख होता है, वह 'ममत्व' बुद्धिके कारण हि है। ग्राममें किसीका लडका मर गया, तो उसके संबंधियोंको छोडकर शेष आदमी रोते नहीं हैं, संबंधी लोग शोकमें इसीलिये पडते हैं कि वे उसको 'मेरा लडका' मानते हैं। यदि वे इसको 'मेरा' नहीं मानेंगे, तो उनको भी दुःख नहीं होगा। अतः जो ममत्व छोड देता है वह तत्काल दुःखसे मुक्त होता है।

५ "विगतज्वरः"

पूर्वोक्त चारों उपदेशोंका ग्रहण करनेसे और उन उपदेशोंको आत्मसात् करनेसे मनुष्य 'विगत-ज्वरः' होता है। उसका (ज्वर) संताप (वि) विशेष रीतिसे (गत) दूर होता है। क्योंकि जिसकी आशा छूट गयी, जिसकी बुद्धिमें

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

अन्वयः— ये मानवाः श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः इदं मे मतं नित्यं अनुतिष्ठन्ति, ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते ॥३१॥ ये तु एतत् अभ्यसूयन्तः मे मतं न अनुतिष्ठन्ति, तान् सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसः नष्टान् विद्धि ॥ ३२ ॥

जो मनुष्य, श्रद्धा रखकर और दोषदृष्टिका त्यागकर इस मेरे मतके अनुसार नित्य बर्तते हैं, वे सब कर्मों (के दोषों) से छूटते हैं ॥ ३१ ॥ परंतु जो लोग इसमें दोष निकाल निकाल कर, मेरे इस मतके अनुसार नहीं बर्तते, वे अज्ञानी सर्वज्ञानमें विशेष मूढ हैं और वे नाशको प्राप्त होंगे, ऐसा तू समझ॥ ३२

भावार्थ— केवल दोषोंपर दृष्टि न रख, और श्रद्धासे मेरे इस उपदेशके अनुसार आचरण कर, ऐसा करनेसे तू दोषोंसे मुक्त होगा। परंतु जो दोषोंको ही केवल देखेंगे और मेरे इस मतको न मानेंगे, वे ज्ञान होते हुए भी मूढ होंगे और निःसन्देह नाशको प्राप्त होंगे ॥ ३१-३२ ॥

ममत्व नहीं रहा, जिसका ध्यान परमेश्वरमें स्थिर हुआ और जिसने अपने सब कर्म परमेश्वरके लिये समर्पण किये, उसको संताप होनेका कोई कारणहि नहीं है। अतः वह शांत, गंभीर और प्रसन्न रहता है।

ऐसा शान्त मनुष्य (युध्यस्व) युद्ध करे। युद्ध करेगा तो ऐसे शान्त मनुष्यको कोई दोष नहीं लग सकता। ऐसा मनुष्य जो युद्ध करेगा वह ममत्वबुद्धि छूटनेके कारण उस युद्धमें उसका कोई स्वार्थ नहीं होगा, वह आशारहित होनेके कारण युद्धसे कुछ लाभ प्राप्त करनेकी कोई स्वार्थी आशा उसमें नहीं होगी, उसका चित्त परमेश्वरके ध्यानमें लगा रहेगा और यदि युद्धरूपी कर्म उससे हुआ, तो केवल परमेश्वरके लिये हि होगा। ऐसे कर्म करनेसे क्या लाभ होता है, वह अब देखिये—

(३१-३२) " जो मनुष्य इस मेरे उपदेशके अनुसार नित्य व्यवहार करते हैं, वे कर्मके दोषों से दोषी नहीं होते, परंतु जो इसमें दोष ढूंढते हैं और इसके अनुसार आचरण नहीं करते, वे नाशको प्राप्त होते हैं।" पूर्व श्लोकोंमें जो उपदेश किया है और विशेषतः ३१ वें श्लोकमें जो उपदेश है कि " सब कर्म ईश्वरको समर्पण कर, आत्माके कल्याणपर दृष्टि रख, ममत्व छोडकर आशाकोभी त्याग दो, ऐसा करनेसे तुम्हें कर्मका दोष नहीं लगेगा।" इस उपदेशके अनुसार जो व्यवहार करते हैं, उनका बेडा पार होता है; परंतु जो लोग अपनी कुतर्कशक्ति चलाकर, सब कर्म ईश्वरको क्यों समर्पण करें? क्या ईश्वर भूखा है? क्या उसको हमारे कर्मोंकी जरूरत है? आत्मापरही ध्यान क्यों लगाया जावे? क्या शरीरका विचार करना अयोग्य है? ममत्व कैसे छूट सकता है? और आशा तो छूटना असंभव है और मुक्तिकी इच्छाभी इच्छाही है, इत्यादि प्रकार अनेक तर्क वितर्क और कुतर्क करके, इस गीताके उपदेशके विरुद्ध जनमत बनाते हैं, और न स्वयं आचरण करते और न दूसरोंको करने देते हैं। ऐसे वितंडी लोग अवनत होते हैं। इन लोगोंके उन्नतिकी कोई आशा नहीं है।

जो लोग उन्नति प्राप्त कर सकते हैं, वे (श्रद्धा-

वन्तः अनसूयन्तः) श्रद्धालू और दोषदृष्टि न रखनेवाले हैं। सत्पुरुषोंके और सद्ग्रंथके वचनोंपर जो विश्वास रखते हैं और तदनुसार जो आचरण करते हैं, उनको 'श्रद्धावान्' कहते हैं। इन श्रद्धावानोंका मार्ग सीधा होता है और इनके मार्गमें कोई विघ्न उपस्थित नहीं होते। परमार्थ-साधनमें श्रद्धाकी बडी आवश्यकता है। श्रद्धाके विना इस मार्गपरसे जाना असंभव है। अतः जो लोग स्वयं श्रद्धा नहीं रखते, और अपने वक्तृत्वसे दूसरोंकी श्रद्धा उखाड देते हैं, उनके दोषकी कोई सीमा नहीं है। वे स्वयं तो कदापि उन्नत नहीं हो सकते, परंतु उनके दोषसे दूसरोंकी उन्नतिभी मारी जाती है!

(असूयन्तः) असूया का अर्थ है दूसरोंके "गुणोंपर दोषका आरोप करना।" जो लोग दूसरोंके गुणोंको देखकर हर्षित नहीं होते, परंतु उनके गुणोंपर दोषोंका आरोपण करते हैं, उनका मन बडा हीन होता है। और इस गुणोंपर दोषारोपण करनेके अभ्याससे अधिकाधिक हीन होता जाता है। सद्गुण परमेश्वरके हि गुण हैं, उनको देखकर मनुष्यको प्रसन्न होना चाहिये, और उनको आत्मसात् करना चाहिये। सद्गुणों की परमावधि हि परमेश्वर है, अतः सद्गुणोंका दर्शन परमेश्वरके दर्शनके समान पुनीत करनेवाला है। जो लोग असूया करते हैं और सद्गुणोंके सन्मुख रहनेपरभी वहां दोषहि देखते हैं, वे मानो परमेश्वरके स्थानपर असुरकी पूजा करते हैं, अतः वे असुर बनते हैं। असूयाके दोषका इतना घोर परिणाम है। मनुष्य जिसका स्मरण करता है, जिसका ध्यान करता है, वैसा बनता है। असूया करनेवाला किसी स्थानपर सद्गुणोंको देख नहीं सकता, वह तो सदा दोषही देखता है, इसलिये निरंतर दोषोंकाही चिंतन करनेके कारण स्वयं दोषी बनता है। अपनेहि दोषसे दोषी बननेका यह एक उत्तम उदाहरण है। अतः असूया दोषसे मनुष्य अपने आपको सदा बचावे।

इस श्लोकमें असूया दोषको हटानेका जो उपदेश किया है, वह उन्नतिका मार्ग निर्विघ्न खुला होनेके लियेही है। जिसमें असूया नहीं है, वह मनुष्य दूसरोंके गुणोंको देखकर प्रसन्न होता है और अपनी अपेक्षा दूसरेने कितनी उच्चता प्राप्त की है, यह देखकर उसकी प्रशंसा करता हुआ, उसको अपना आदर्श बनाकर, उससे भी उस सद्गुणमें अधिक बननेका यत्न करता है और इस तरह उन्नत होता है। परंतु असूया करनेवाले तो दोषचिंतनके कारण गिरते ही जाते हैं।

असूयकोंको (सर्व-ज्ञान-विमूढाः) सब ज्ञान सेही मूढ बने हुए, कहा है। इससे पूर्व 'अहंकार-विमूढात्मा' अहंकारसे मूढ बननेका उल्लेख २७वें श्लोकमें आया है, परंतु यहां अहंकारसे किंवा अज्ञानसे विमूढ बननेका भाव न कहते हुए 'सर्वज्ञानसे विमूढ' होनेका वर्णन है। सर्वज्ञानसे विमूढ किस प्रकार होसकते हैं, इसका विचार अब करना चाहिये। कई लोग तो अज्ञानसे मूढ बने होते हैं, दूसरे कई अहंकारसे विमूढ होते हैं, कई तीसरे (धर्मसंमूढचेताः। गी. २।७) धर्मके वृथा अभिमानसे मूढ हुए होते हैं, इनकी मूढता तो पाठक समझ सकते हैं; परंतु 'सर्व ज्ञानोंको प्राप्त करनेपर भी मनुष्य विशेष मूढ' कैसे होते हैं, यह समझनेके लिये इसका थोडासा अधिक विचार करना चाहिये।

इस श्लोकमें कहा है कि (ये तु एतत् अभ्यसूयन्तः) जो इस मेरे-भगवान्‌के-उपदेशको भी निन्दा करते हैं, भगवानके पवित्र उपदेशोंपर दोषोंका आरोप करते हैं, और (मे मतं न अनुतिष्ठन्ति) मेरे इस मतके अनुसार आचरण नहीं करते, वे (सर्वज्ञान-विमूढाः) सब ज्ञान होते हुए भी विशेष मूढ हैं और अतः ये (नष्टाः) नाशको प्राप्त होते हैं। यहां पाठक देखें कि यद्यपि ये विमूढ कहे गये हैं, तथापि ये पढे लिखे तार्किक ज्ञानवाले ही हैं, अनाडी निरक्षर नहीं। क्योंकि ये श्रीकृष्ण भगवान् जैसे अद्वितीय ज्ञानीके उपदेश

(१२) प्रकृतिस्वभाव ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

अन्वयः— ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते । भूतानि प्रकृतिं यान्ति । निग्रहः किं करिष्यति? ॥३३

ज्ञानीभी अपनी प्रकृतिके अनुसार बर्तता है । सभी प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलते हैं, वहां हठ क्या करेगा? ॥३३॥

भावार्थ— प्रत्येक प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिस्वभावके अनुसार व्यवहार करते हैं, इतनाही नहीं, परंतु ज्ञानीभी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलता है, उसमें हठ या बलात्कारसे क्या बनेगा ? ॥ ३३ ॥

वचनोंका आशय स्वयं समझते हैं, समझकर उनके गुणोंके ऊपर दोषोंका आरोप युक्तिसे करने की बुद्धिमत्ता अपनेमें रखते हैं अर्थात् उन उपदेश-वचनोंके गुणोंको जानते हैं, परंतु जानबूझकर भी घमंडसे मानते नहीं हैं और उत्तम उपदेशोंको प्रयत्नसे हीन और दोषयुक्त बतानेका तर्क भी लडाते हैं । किसी उत्तम वक्ता प्रतिपक्षीके सदुपदेशोंको दोषपूर्ण बतानेके लिये ज्ञान अवश्य चाहिये । परंतु यह ज्ञान तर्क वितर्क और कुतर्क करनेकाहि होता है । बालकी खाल निकालना, वितंडा करना, दूसरोंके मतोंका विपर्यास करना, और प्रतिपक्षीकी सरलताका अधिकसे अधिक लाभ उठाना, तथा उसका उपहास करके अपनी जीत करनेका यत्न करना, यह इन ' सर्वज्ञान-विमूढों ' का कार्य है। यह कार्य निरक्षर अनाडी-से हो नहीं सकता । सत्यको असत्य और असत्यको सत्य सिद्ध करनेके लिये आवश्यक तर्क करनेकी विद्याके विना यह असूया हो नहीं सकती। निरक्षर अनाडी मनुष्य प्रायः सरल और श्रद्धालू होते हैं, और वे परमार्थसाधनमें शीघ्र उन्नति कर सकते हैं ।

परंतु ये पढतमूर्ख, पढे हुए होनेपरभी मूढ, सब प्रकारका शब्दज्ञान होनेपर भी जिनके मनोंपर उस ज्ञानका कुछ भी संस्कार नहीं हुआ है, ऐसे ज्ञानामृत सरोवरमें गोते लगाते हुए भी कोरेके कोरे ये 'सर्वज्ञान' प्राप्त होनेपर भी 'विशेष मूढ' बडे घमंडखोर होते हैं, किसीके उपदेशका कोई परिणाम इनपर नहीं होता । ये निःसंदेह नष्ट होनेवाले ही हैं । निरक्षर लोग अनाडी और सरल होनेके कारण अच्छे होते हैं, श्रद्धालु साक्षर भी अच्छे हैं, परंतु ये शब्दशास्त्र जानते हुए भी अनाडी बहुत ही अवनत होने योग्य हैं ।

इस श्लोक का 'सर्व-ज्ञान-विमूढ' शब्द विशेष महत्त्वका है और पाठक इसका यह अर्थ ध्यानमें रखें और स्वयं ऐसे न बनें । यहां 'ज्ञान' शब्दका अर्थ 'शाब्दिक ज्ञान, पुस्तकीय ज्ञान, अक्षरज्ञान, किंवा तर्कज्ञान' है । जो सात्विक, शुद्ध और श्रेष्ठ ज्ञान है उससे कदापि मूढता उत्पन्न नहीं हो सकती । परंतु केवल शब्दज्ञान जिनको हुआ है और जो अश्रद्धालू लोग तत्त्वको नहीं जानते और कभी अनुष्ठान नहीं करते, वे शब्दज्ञान प्राप्त होने पर भी असूयाका भाव बढनेके कारण विशेष मूढ बनते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं। सब प्रकारका परमार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ये अनधिकारी होते हैं । इससे सिद्ध है कि उन्नतिके लिये मनुष्यकी तर्कना शक्ति बढनेकी अपेक्षा हृदय की सात्विक श्रद्धा बढनी चाहिये।

आगे ज्ञानवान् होनेपर भी मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्य करता है, इसलिये प्रकृतिका सुधार होनेकी आवश्यकता है, यह बात कही है; वह विशेष महत्त्वकी होनके कारण अब देखिये-

(३३) प्रत्येक प्राणीका प्रकृतिधर्म भिन्नभिन्न

है, सिंह व्याघ्र प्रकृतिस्वभावसे क्रूर हैं और हरिन अथवा गौ प्रकृतिसे हिंसक नहीं हैं। प्रत्येक योनी में उत्पन्न होनेवाले प्राणी योनिधर्म के अनुसार विभिन्न स्वभाववाले होते हैं। कई शाकभोजी, कई मांसभोजी, कई कृमिजीवी, कई भूमिशायी, कई जलशायी,कई वायुमार्गी, इसी प्रकार प्रत्येक योनीमें उत्पन्न हुए प्राणियोंकी प्रवृत्तियां भिन्न भिन्न होती हैं। इनकी जो प्रधान प्रकृतियां हैं वे बदलती भी नहीं; जैसा सिंह शाकभोजी नहीं हो सकता और गौ मांसभोजी नहीं बन सकती, क्योंकि यह उनका सहज प्रकृतिधर्म है। मनुष्य-मनुष्यमें भी प्रकृतिस्वभाव की भिन्नता होती है, क मनुष्य शान्त प्रकृतिके,कई क्रोधी, कई घातकी, कई दुष्टप्रकृतिके होते हैं। इनकी प्रकृति प्रयत्न करनेपरभी बदलती नहीं। इसकारण जो वीरवृत्तीके लोग होते हैं, उनसे शमदम का कार्य नहीं होसकता, और जो शमदमशील शांत प्रकृतिके लोग हैं, उनसे घातपातका युद्ध नहीं हो सकता। जो वैश्य वृत्तिके लोग हैं और जो एक पैसा देकर डेढ पैसेका माल लेनेकी वृत्तीके हैं, वे ब्राह्मणोंके समान त्याग नहीं कर सकते और जो सेवावृत्तीके लोग हैं, उनसे वीरवृत्तीका कार्य नहीं निभ सकता। इसका कारण प्रकृतिस्वभाव है। अनेक जन्मोंके संस्कारोंसे यह प्रकृति बनती है और कितना भी हट किया, अथवा बलात्कार किया, तो भी यह प्रकृतिस्वभाव नहीं हटता।

"स्व-भाव" शब्दका अक्षरार्थ '(स्व) अपना (भाव) जन्म' है। निज जन्मसे जो बना होता है वह "स्वभाव" कहलाता है। अन्य पशुपक्षियोंका तो स्वभाव बदलताही नहीं, मनुष्योंका भी बदलना कठिन होता है और बडा प्रयत्न करनेपर अंशमात्र बदल सकता है। विश्वामित्र जैसेने अपनी क्षात्रप्रकृति थी, वह ब्राह्मी बनायी थी, परंतु उसके लिये उसको कितने कष्ट पडे, और वह वारंवार अपनी वीर प्रकृतिपर कैसा जाता था, यह बात उसके चरित्रमें स्पष्टता से लिखी है। प्रकृतिस्वभाव बदलना इतना कष्टसाध्य अथवा असाध्यसा है।

अर्जुन वीर वृत्तिवाला क्षत्रिय है, आप्तजनों को देखकर थोडी युद्धविषयमें उसकी अप्रवृत्ती हुई है, परंतु यह चिरकाल टिकनेवाली नहीं है। क्षणमात्र उपरति हुई तथापि वह सदाके लिये टिक नहीं सकती। यह अर्जुन इस समय तपस्या करनेके लिये वनमें चलाभी गया, तो भी थोडेही समयके पश्चात् यह अपने मूल स्वभावपर अवश्य आजायगा। अतः अर्जुन के विषयमें कहा है—

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्६०
भ० गी० १८

"यदि अहंकारके वश होकर मेरी बात नहीं सुनेगा, तो नाश को प्राप्त होगा॥ अहंकारवश तेरा यह मानना कि 'मैं न लडूंगा' एक मिथ्या निश्चय है। तेरा स्वभावही तुझे उस ओर घसीट ले जायगा॥ हे कुन्तीनन्दन! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधा हुआ तू जिसे मोहवश नहीं करना चाहता, उसे तू विवश होकर करेगा॥"

यह जो अर्जुनके विषयमें बात कही है वह प्रायः सबोंके विषयमें सत्य है। प्रकृति स्वभाव बडा दुर्लंघ्य है। अर्जुन अपनी जन्मजात वीर वृत्तीको छोडकर आगन्तुक ब्राह्मवृत्ति धारण करना चाहता था। उसके लिये वह अशक्य था, उससे वह निभना अशक्य था। जबरदस्तीसे ऐसा हठ करना किसी को भी योग्य नहीं है। प्रकृतिके अनुकूल चलते हुए जो उन्नतिका मार्ग आक्रमण करना है वह योग्य है। यह निर्विघ्न मार्ग है। अर्जुन की उन्नति वीरवृत्तीके धार्मिक कर्तव्य करनेसे हो सकती थी। उसका प्राप्त कर्तव्य युद्ध था, यह भी ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया जाय

तो उसका मोक्षका मार्ग सुगम हो सकता था। परंतु वह प्रकृतिस्वभावानुरूप प्राप्त कर्तव्यसे विमुख होता है और अस्वाभाविक परस्वभावका आचरण करना चाहता है। अग्नि यदि जल बनना चाहे, या सूर्य चन्द्र बननेका यत्न करे, तो उस प्रयत्नमें जैसा उनका नाश है, उसी प्रकार अर्जुनका परकीय ब्राह्म प्रवृत्ति स्वीकारनेसे नाश होना था। इस लिये भगवान् और कहते हैं कि-

"(ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते) ज्ञानीभी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही कार्य करते हैं। ज्ञानीभी प्रकृति स्वभावके विरुद्ध कार्य कर नहीं सकते, देखिये—

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी राजानौ जनकराघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः स्मृताः।

जीवन्मुक्तिविवेक.

"कृष्ण भोगी थे, शुकाचार्य त्यागी विरक्त थे, जनक और रामचंद्र राज्यव्यवहार दक्षतासे कर रहे थे, वसिष्ठ यज्ञयाग अध्ययन अध्यापनमें दत्तचित्त थे।" यद्यपि ये इस प्रकार अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार विविध कर्म करते थे, तथापि ये सब ज्ञानी थे। इसी प्रकार जडभरत चूपचाप रहते थे, रैक्व गाडीके नीचे पडे रहते थे, व्यासदेव विद्यार्थीयोंको पढाते थे, दुर्वास ऋषि क्रोधी थे, वामदेव शान्त थे, इसी तरह कई ज्ञानी विविध प्रकारसे व्यवहार करते थे और करते दीखते हैं। परंतु ये सब ज्ञानी हैं। ज्ञानी होनेपर भी प्रकृति धर्म बदलता नहीं। यदि वसिष्ठ युद्ध करने लग जांय, जडभरत सेनापति बनें और रामचंद्र पौरोहित्य करने लग जांय, तो वैसा करनेमें उनकी असमर्थताहि सिद्ध होगी। ज्ञानी होनेपरभी वसिष्ठसे युद्धका क्रूरकर्म होना असंभव है और जनकसे याजन होना कठीन है, क्यों कि उनकी प्रकृति भिन्न है। अर्थात् ज्ञानी होनेपर भी सब ज्ञानियोंकी प्रकृति एक जैसी नहीं होती। ज्ञानी होनेपरभी प्रकृतिके विरुद्ध कर्म नहीं हो सकता। फिर जो ज्ञानी नहीं है उस प्राकृत मनुष्यके विषयमें तो कहनाही क्या है? उसको तो अपनी प्रकृतिके अनुसारही कार्य करते हुए अपनी उन्नतिका मार्ग ढूंढना चाहिये। अन्यथा प्रकृतिके विरुद्ध कार्य करनेसे उसका नाशहि होगा।

बलात्कार, निग्रह अथवा हठ करनेसे कोई लाभ नहीं होसकता, प्रत्युत हठसे हानिही होगी। हानि इसलिये होगी, कि प्रकृतिके विरुद्ध कर्म इससे उत्तम रीतिसे होगा नहीं और प्रकृतिके अनुकूल कर्म यह छोड देगा, इसलिये यह न इधरका और न उधरका होगा और इसी कारण विनष्ट होगा।

इस श्लोकमें कहा है कि (निग्रहः किं करिष्यति) निग्रहसे क्या बनेगा? इस विधानसे निग्रह, इन्द्रियसंयम, दमन आदि नहीं करना चाहिये, ऐसा कोई अनुमान न करें। क्योंकि "सब इंद्रियोंको वशमें रखकर योगीका मुझमें तन्मय बनना चाहिये, क्योंकि जिसका अपनी इन्द्रियों पर काबु है वह स्थितप्रज्ञ होता है॥ जिसका मन अपने अधिकारमें है और जिसकी इन्द्रियां रागद्वेषरहित होकर उसकी वशवर्तिनी हैं, वह मनुष्य इन्द्रियोंसे काम लेते हुए भी प्रसन्नता प्राप्त करता है॥ जिसकी इन्द्रियां चारों ओरसे विषयोंसे निकल कर अपने वशमें आजाती हैं, वह स्थितप्रज्ञ होता है॥ (भ० गी० २।६१,६२,६८) इत्यादि स्थानोंमें इंद्रियसंयम और मनोनिग्रह का जो वर्णन किया है, उसका विरोध करनेके लिये यह श्लोक यहां खडा नहीं है। संयम और निग्रह तो अवश्य चाहिये हि। परंतु जो बलात्कारसे हठ किया जाता है और जो आगे हानिकारक सिद्ध होता है, उसका निषेध यहां किया है। 'हठ' करनेका अर्थ "संयम" नहीं है। यह बात पाठक यहां ध्यानमें पूर्णतासे रखें। अन्यथा अर्थका अनर्थ होगा।

आगे इसी प्रकृतिका वर्णन कुछ अन्य दृष्टीसे किया है वह श्लोक अब देखिये—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

अन्वयः-इन्द्रियस्य अर्थे इन्द्रियस्य रागद्वेषौ व्यवस्थितौ, तयोः वशं न आगच्छेत्। तौ हि अस्य परिपन्थिनौ॥३४

इन्द्रियके विषयके संबंधमें इन्द्रिय की प्रीति अथवा द्वेष स्वभावसिद्ध हैं। उनके वशमें न होना चाहिये, क्योंकि वे इसके शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थ— प्रत्येक इंद्रियका इष्ट अथवा अनिष्ट विषय निश्चित हुआ है। इष्ट विषयपर इंद्रियकी प्रीति और अनिष्ट विषयके संबंधमें द्वेष होता है। सुज्ञ मनुष्य इस रागद्वेषके आधीन न बनें, क्यों कि ये रागद्वेष उसके शत्रु हैं और शत्रुके आधीन होजाना किसीको भी योग्य नहीं है॥ ३४ ॥

(३४) इन्द्रियके (अर्थ अर्थात्) विषय निश्चित हैं। कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका इन पांच इन्द्रियोंके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये विषय सिद्ध हैं। ये इनके निश्चित विषय हैं और इसी लिये इनमें अदलबदल नहीं हो सकता, अर्थात् कान का विषय शब्द ही होगा कोई दूसरा नहीं होगा। इसी प्रकार प्रत्येक अन्य इंद्रियका विषय निश्चत है। ऐसेहि इंद्रियका प्रेम और द्वेष भी निश्चित है अर्थात् कान का प्रेम मधुर शब्दपर होगा और कठोर शब्दपर द्वेष होगा। नेत्र का प्रेम सुन्दर रूपपर होगा और कुरूपके विषयमें द्वेष होगा। इसी रीतिसे अन्यान्य इंद्रियोंके रागद्वेषोंके विषय में जानना चाहिये। इस रीतिसे इंद्रियोंके विषय और इंद्रियोंके रागद्वेष स्वभावसे निश्चित हैं।

सुगंध, मधुर रस, सुंदररूप, मृदुस्पर्श और मीठा शब्द इनपर हरएक मनुष्यकी प्रीति होती है। जैसे ये विषय साधारण मनुष्यका चित्त आकर्षण करते हैं, उसी प्रकार साधुको भी इनसे सुख ही होगा। संयमी अथवा ज्ञानी हुआ तो भी सुगंधसे उसको दुःख नहीं होगा, और सुंदर रूपके सौंदर्यकी सुंदरता उसको सुंदरहि दीखेगी। इसी प्रकार दुर्गन्धसे वह दुःखी होगा, कुरूप उसको कुरूप हि प्रतीत होगा। तात्पर्य यह है कि केवल इंद्रियोंका ही विचार किया जाय, तो यह बात निश्चित है कि, इंद्रियोंके राग और द्वेष निश्चित हुए हैं। इनमें बदल नहीं हो सकता।

साधु हुआ तो भी उसको मधुर रस कडुआ लगेगा और सुंदर रूप उसको भयंकर कुरूप प्रतीत होगा, ऐसी बात नहीं है। परंतु जो भेद है और जिससे साधुकी श्रेष्ठता और साधारण मनुष्य की हीनता व्यक्त होती है, वह आगेके आचरणमें है। सत्पुरुष वे हैं कि, जो सुंदरताका अनुभव करते हुए भी उससे मोहित नहीं होते, मीठे रस को मीठा मानते हुए भी उस की प्राप्ति के लिये तडफते नहीं, इसी तरह अन्यान्य प्रेम के विषयोंके द्वारा आकर्षित नहीं होते। और इंद्रियों के द्वेष्य विषयों का द्वेष करने या उनको दूर हटानेके लिये अपनी शक्तिका अपव्यय नहीं करते। जो लोग सुंदररूप को अपने पास रखनेके लिये और कुरूपको दूर करनेके लिये जीवनान्ततक प्रयत्न करते हैं,वे मूढ हैं और वे अधःपतनके लिये पात्र हैं। कई राजा या बादशाहाओंने सुन्दर स्त्रीकी सुंदरतासे आकर्षित होकर परराज्यसे युद्ध करके सहस्रों निरपराध मनुष्यों का क्रूरतासे वध किया था; इसीप्रकार धनकी लूटमारके लिये भी पाशवी सामर्थ्य बढाकर रक्तपात किये थे और यथेच्छ लूटमार की थी, ये लोग और इसी तरह वर्ताव करनेवाले विषयान्ध लोग रागद्वेषके वशमें हुए होते हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अन्वयः- स्वनुष्ठितात् परधर्मात् स्वधर्मः विगुणः (अपि) श्रेयान् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः । परधर्मः भयावहः ॥३५

सुखसे आचरण करनेयोग्य परधर्मसे अपना धर्म गुणरहित होनेपरभी अधिक कल्याण करनेवाला है । स्वधर्ममें मरना कल्याणकारी है और परधर्म भयंकर है ॥ ३५ ॥

भावार्थ— अपना धर्म आचरणके लिये कितनाभी कठिन और कैसाही गुणहीन क्यों न हो, और दूसरेका धर्म अनुष्ठानके लिये अत्यंत सुगम और कितनाभी गुणवान् क्यों न हो, तथापि सुगम और गुणवान् परधर्म की अपेक्षा कठिन और गुणहीन स्वधर्म ही मनुष्यके लिये अन्तमें श्रेयस्कर सिद्ध होता है। अपने धर्मका आचरण करते हुए मरण आया, तो भी वह कल्याणकारक है, परंतु परधर्मका स्वीकार करनेसे भयंकर आपत्ति आती है ॥३५॥

ये रागद्वेष मनुष्यके शत्रु हैं, ये (परिपन्थी) बटमार हैं। मार्गपर छिपकर रहनेवाले चोर डाकू और लुटेरेके समान ये हैं। ये मनुष्यकी उन्नति के मार्गपर मित्रता करनेका बहाना करके रहते हैं, और मनुष्य वशमें होगया तो उसको जैसा चाहे वैसा नचाते हैं। शहरमें यदि कोई चोर मिला तो नगरके अन्ततक प्रेमका बहाना करता है, और वनका मार्ग आनेपर अपना क्रूररूप प्रकट करता है और नाश करता है, अथवा जैसा बचनाग का वीष खानेके लिये मीठा और परिणाममें विनाशक होता है, उसी प्रकार इन विषयोंके आनन्दके विषयमें समझना चाहिये। सब को प्रेमका विषय प्रारंभ में मीठा और परिणाममें घातक होता है। विषयों पर का राग बढते बढते मनुष्य पागल या मूढ बनता है, यह इस जगत् में में स्थान स्थानपर अनुभव आता है। एकके फंसने का अनुभव देखकर दूसरोंको सावधान होना उचित है। परंतु साधारण मनुष्य ऐसे सावधान नहीं होते, इसी लिये इस श्लोकमें कहा है कि (तौ रागद्वेषौ अस्य परिपन्थिनौ) वे रागद्वेष इस के शत्रु हैं। साधारण मनुष्य इन रागद्वेषरूपी शत्रुओंके आधीन होकर उनके कहने के अनुसार नाचने लगता है और बद्ध होता है। येही शत्रु इसको बन्धनमें डाल देते हैं। श्रेष्ठ सज्जन भी रागद्वेषोंका अवलोकन करता है, परंतु उनके वश में नहीं होता, उनसे अपने आपको स्वतंत्र रखता है; इसलिये अपनी गंभीरता में आनन्दसे रहता है।

सुखके प्रलोभन से मलिन मार्गसे न जाने और दुःखके डर से स्वकर्तव्य न छोडनेका उपदेश विशेषतया यहां है। अर्जुन हिंसारूप युद्ध स्वधर्म होते हुए भी हिंसा के भयसे छोडना चाहता था, और शमदमादि परधर्म सुखकर होनेके कारण स्वीकारना चाहता था। यहां सुकरता का मोह और दुष्करता का द्वेष अर्जुनके मनमें हुआ और अर्जुन इन रागद्वेष रूपी शत्रुओंके आधीन होगया था। इसलिये सावधान करनेके उद्देश्यसे यह उपदेश सामान्यतया अर्जुन को भगवानने किया। परंतु इस का विशेषसा परिणाम उसपर नहीं हुआ, यह देखकर फिर और विशेष स्पष्ट शब्दोंसे कहते हैं—

आधिदैविक दृष्टि ।

(३५) प्रत्येक की स्थिति उसके निज धर्मसे होती है। अग्निका स्वधर्म उष्णता, जलका स्वधर्म शीतलता, वायुका स्वधर्म शुष्कता है और इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंके स्वधर्म भिन्न भिन्न हैं।

यदि अग्नि अपने निजधर्मरूपी उष्णतासे घबराने लगा और जलकी शीतलतारूपी परधर्म स्वीकारने लगेगा, तो उसमें उसका नाश निश्चित है। इसीतरह जिस समय जल अपने शीतलतारूपी निजधर्मको छोडकर उष्णता रूपी परधर्मका ग्रहण करने लगता है, उसी समय वह परिमाण में घटने लगता है। अर्थात् परधर्मस्वीकारसे नाश निश्चित है, वह टाला नहीं जाता।

अब यह भी देखिये कि अग्निकी उष्णता, जलकी शीतता, वायुकी शुष्कता आदि सभोंके सभी विविध धर्म सृष्टिमें अत्यंत आवश्यक ही हैं; फिर एकने अपने धर्म की कठिनता से घबराने और परधर्म स्वीकारनेका यत्न करनेमें लाभही क्या है? यह विचार आधिदैविक दृष्टिसे किया, अब आध्यात्मिक दृष्टिसे यही बात अपने शरीर में देखिये —

आध्यात्मिक दृष्टि।

आंख का धर्म देखना है, कान का धर्म सुनना है, नाक का धर्म सूंघना है, जिह्वाका धर्म स्वाद् लेना है। तथा अन्यान्य अवयवोंके अन्यान्य धर्म हैं। ये सब धर्म यथायोग्य प्रमाण में रहे तो हि शरीरकी सुस्थिति है, अन्यथा दुःस्थिति होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। ऐसी अवस्थामें यदि आंख सुननेका यत्न करे, कान देखनेमें यत्नवान हो, नाक स्वाद् लेनेका हठ करे और जिह्वा सुगंध सूंघने लगे, तो ऐसा करना उनके लिये अशक्य है, और हठसे ऐसा परधर्माचरण कोई करने लगे, तो निःसन्देह उसका नाश ही होगा।

यहां पाठक विचार करके देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, परधर्म स्वीकार करनेकी अपेक्षा यदि स्वधर्मका आचरण उत्तमसे उत्तम रीतिसे करनेकी चेष्टा की जाय, तो उसमें सब काही अधिक कल्याण है। आंख, नाक, कान, जिह्वा आदि इंद्रिय अपने अपने धर्म की पराकाष्ठा करेंगे और संयमसे अपने ही धर्म में उन्नत होंगे, तो उसमें जितना सुख मिलना संभव है, उतना सुख स्वधर्म छोडकर परधर्म स्वीकारनेसे कदापि मिलना असंभव है।

आधिभौतिक दृष्टि।

यही बात अब आधिभौतिक जगत् में अर्थात् प्राणिसमष्टीमें देखिये। ब्राह्मणोंका कर्तव्य शम-दमपालन, अध्ययन अध्यापन आदि है; क्षत्रियोंका शौर्यवीर्य पराक्रम, युद्धमें अपलायन, शत्रुनिर्दलन आदि है; वैश्यका कर्तव्य व्यापारसे धन कमाना खेती करना हैं; शूद्रका कर्तव्य हरएक प्रकार की कारीगरी करना अथवा त्रैवर्णिकोंकी सेवा करना है। इन चार वर्णोंके इन शास्त्रोक्त कर्तव्यों में प्रायः सब कार्य जो मनुष्य समाज की सुस्थितिके लिये आवश्यक हैं, आते हैं। इन कर्तव्योंमें क्षत्रियोंका कर्तव्य क्रूरतायुक्त वध आदि प्रकार का है, कष्ट दायक है, शूद्रका भी दुःखदायक है, ऐसा कईयोंको प्रतीत होना स्वाभाविक है। समतावादी लोग कहते हैं कि—

"देखो ये पंडित लोग बैठके खाते हैं, घरमें बैठकर अध्यापन करना कोई बडी बात नहीं है, देखो क्षत्रिय लोग कितने कष्ट सहते हैं, शूद्र कितने धूपमें अंगमेहनत करते हैं, क्यों ऐसे कष्ट ब्राह्मण न करें, क्या कारण है कि ये ही मजेसे मजा मारें और दूसरे कष्ट भोगें। ये देखो पूंजीपति वैश्य आनन्दसे तकियेके साथ बैठते हैं, घरमें सोने चांदीके ठेर लगे हैं; कुछ मेहनत किये विना ये लोग चैन करते हैं और शूद्र मेहनत करनेपर भी अधपेट की रोटी भी नहीं खा सकते! कितना अनर्थ है! सब मनुष्य एक जैसे समसमान हैं, सबका देह पांचभौतिक है, सबमें आत्मा समान है, अतः क्यों ऐसी विषमता इस जगत् में रहे।"

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दूसरोंपर अत्याचार करते हैं और दूसरोंको सताते हैं, उनके विषयमें ये या इससे भी तीखे विचार प्रकट किये जांय, तो कोई बुरा नहीं है। परंतु वैदिक

धर्म अथवा वर्णाश्रमधर्म ठीक रीतिसे पालन होने-पर कोई किसी प्रकार किसीपर अत्याचार करहि नहीं सकता। श्रुतिस्मृतिके नियम उच्च वर्णियोंको कष्टतर और नीच वर्णियोंको सुखप्रद ही हैं।

ब्राह्मण लोग विनापरिश्रम मीठे पदार्थ खाते हैं, ऐसा दीखता है, परंतु उनके पीछे जो तप-स्याका धर्मनियमाचरण लगाया है वह देखा जाय तो कोई दूसरा वर्णीय मनुष्य ब्राह्मण बननेकी इच्छाहि नहीं करेगा। क्षत्रियोंके अधीन बडा अधिकार है ऐसा प्रतीत होता है परंतु क्षत्रियका राज्यशकट चलानेका तो दुःखदायी कार्य है, उस के लिये ये अधिकार उसके साथ रहनाही आव-श्यक है। वैश्य पूंजीपति इसी लिये होता है कि उसका यह संग्रहित धन राष्ट्रके हितके लिये खर्च करनेका पुण्य प्राप्त हो। ये त्रैवर्णिक आयुष्यका प्रथम भाग ब्रह्मचर्याश्रम में तपस्या का कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, उस में इनके लिये भोग की प्राप्तिहि नहीं है। ब्रह्मचर्यके पश्चात् बीस पचीस वर्ष गृहसौख्य भोगते हैं, पश्चात् वान-प्रस्थ और संन्यास ये तपस्याकेहि आश्रम लेते हैं। वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करनेके पूर्व द्विज प्रायः सर्वमेध यज्ञ द्वारा अपनी कमाई सब राष्ट्र के लिये त्याग देता है, जाती की भलाई के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करता है। इसप्रकार वैदिक धर्म में धर्माचरण करनेवाला ब्राह्मण पोप नहीं, क्षत्रिय क्षत्रप नहीं और वैश्य भी पूंजिपति नहीं। अर्थात् आजकल के ये निन्दनीय शब्द वैदिक धर्मियोंके लिये प्रयुक्त करना बडा अन्याय करना है। जहां प्रत्येक गृहस्थी इष्ट मित्र पारिवारिक जन नौकर चाकर आदि सब का भोजन यथा-योग्य रीतिसे होनेके पश्चात् ही स्वयं भोजन करनेवाला होता है, परिचारकोंके पूर्व कोई गृहस्थी का भोजन होना असंभव है, और वह भोजन भी अवशिष्ट अन्न का होगा, वहां विष-मतावाद उपस्थितहि कैसे हो सकता है? वर्णा-श्रमधर्म समतावाद का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका विशेष विवरण करनेका स्थल यहां नहीं है, तथापि संक्षेपसे यह बात यहां दर्शायी है, उतनी वैदिक धर्मके साम्यवाद का निदर्शन करनेके लिये पर्याप्त है। ये चार वर्ण मिलकर एक राष्ट्रदेह होता है, देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
ऋ० १०।९०।१२

"ब्राह्मण इस समाज का मुख है, क्षत्रिय इस समाज का बाहू बनाया है, जो वैश्य है वह इस समाज का ऊरू है, और पांवोंके लिये शूद्र है।" इस तरह ये चार वर्ण राष्ट्रपुरुष के चार अवयव के लिये माने हैं। जैसा सिर, बाहु, ऊरु और पांव ये शरीर की सुस्थितिके लिये आवश्यक हैं, समतावादी के मतानुसार शरीरमें केवल सब अवयव सिर, अथवा सर्वत्र बाहु, किंवा सब स्थानपर पांव ही पांव बनाये जांय तो अनिष्ट होगा, उसी प्रकार समाज की सुस्थिति के लिये भी सब लोग केवल ब्राह्मण, केवल क्षत्रिय, केवल वैश्य अथवा केवल शूद्र बनाये अथवा प्रत्येक मनुष्यमें सब वर्णोंकी खिचडी बनानेका यत्न किया जाय, तो भी समाज की आत्मिक उन्नति नहीं हो सकती। वैसा होनेपर समाज असुर बनेगा, और उसमें आर्यत्व न रहेगा। इसका कारण यह है कि—

मनकी विषमता।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्व-
समा बभूवुः। ऋ० १०।७१।७

"आंखवाले और कानवाले सभी लोक समान-तया होते हैं, परंतु ये सब मनके वेगमें विषम होते हैं।" इस लिये उनमें विषमता रहती है। समतावादी मनोवेगका विचार नहीं करते, इस लिये फंसते हैं। और वैदिक वर्णाश्रमधर्ममें इस मनोवेगका विचार उत्तम रीतिसे किया है, इसी लिये यह एकहि धर्म जगत् का उद्धार करनेके लिये समर्थ है।

अर्जुन उवाच— अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच- हे वार्ष्णेय ! अथ केन प्रयुक्तः अयं पूरुषः, अनिच्छन् अपि बलात् नियोजितः इव, पापं चरति ? ॥ ३६ ॥

अर्जुनने पूछा- हे श्रीकृष्ण ! अब (यह बतलाओ कि) किसकी प्रेरणासे यह मनुष्य, इच्छा न रहनेपरभी, बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश, पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

भावार्थ— मनुष्यकी इच्छा पाप करनेकी ओर न होते हुए भी, किसीके आधीन होकर कार्य करनेके समान, यह मनुष्य किसी किसी समय पापाचरण करता है मनुष्यकी ऐसी प्रवृत्ति किस हेतुसे होती है ?

ऊपर लिखित चारों वर्णोंमें क्षत्रियका और शूद्रका धर्म कष्टप्रद है यह बात सत्य है, और ब्राह्मणका और वैश्य का घरबैठा व्यवहार होनेके कारण उस प्रकारके कष्ट इनमें नहीं है यह बात भी सत्य है। परंतु उनमें बिलकुल कष्ट नहीं है ऐसी बात नहीं है। एक वर्णके धर्ममें एक प्रकार के कष्ट हैं तो दूसरे वर्ण के धर्म में दूसरे प्रकार के कष्ट हैं और एकमें एक प्रकार का सुख है, तो दूसरेमें दूसरे प्रकारका सुख है। विचार करनेपर पता लग जायगा कि सब वर्णों के लिये सुख और कष्ट समानतया बांटनेका यत्न धर्मस्थापकोंने किया है और यदि कुछ विशेष किया है तो यही है कि उच्च वर्णियोंको तपका जीवन अधिक रखा है और निचले वर्ण को भोग का जीवन अधिक रखा है।

इस प्रकार प्रत्येक वर्ण में कुछ कष्ट और कुछ सुख है, इसी लिये अपना जन्मप्राप्त स्वधर्म-विषयक कर्तव्य का त्याग करके दूसरेका धर्म सुसाध्य प्रतीत होता है, इस लिये उसका स्वीकार करना मूढता का कार्य है। जिसका जो कर्तव्य स्वभाव से प्राप्त है, स्ववर्णसे आया है, सहजन्म- सहज-से हि प्राप्त हुआ है, वही उसको सुकर है। दूसरे का कर्म आज सुकर प्रतीत हुआ, तो भी अन्तमें वह भ्रम था ऐसा ही अनुभव होगा। और स्वधर्मत्याग और परधर्मानुष्ठान करनेका यत्न अन्तमें हानिकारक हि सिद्ध होगा।

इसीलिये कहा है कि (स्वधर्मे निधनं श्रेयः) स्वधर्म आचरण करते करते मरण आगया, तो भी वह कल्याणकारी होगा, परंतु परधर्म के आचरणसे कुछ अभ्युदय होता है ऐसा भी प्रारंभ में प्रतीत हुआ, तो भी वह (परधर्मो भयावहः) परधर्म भयंकर हानिकारक है।

हानिकारक होते हुए मनुष्य क्यों उस पाप कर्म में प्रवृत्त होता है, कौनसा अन्दरका भाव है जिससे यह मनुष्य पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है, यह उत्तम प्रश्न यहां अर्जुनने किया है, यह प्रश्न और उसका उत्तर अब देखिये—

(३६) प्रत्येक मनुष्य पापाचरण के लिये तुला होता है ऐसी बात नहीं। प्रायः मनुष्य जानताभी है कि, पापका फल दुःख है और इस कारण वह पापसे बचना भी चाहता है, बचने का यत्न भी करता है। परंतु इसकी पाप न करनेकी इच्छा होनेपरभी किसीके दबावमें आनेके समान यह मनुष्य पापकर्म में खींचा जाता है, और इच्छा न रहनेपरभी इससे पाप होता है। बचना चाहता हुआ भी बचता नहीं है। यह क्या चमत्कार है? कौन इसको पापकर्ममें प्रवृत्त करता है? मनुष्यका

(१२) पापप्रवृत्तिका कारण ।

श्रीभगवानुवाच— काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः— रजोगुण-समुद्भवः महाशनः महापाप्मा एषः कामः, एषः क्रोधः (अस्ति; त्वं) एनं इह वैरिणं विद्धि ॥ ३७ ॥ यथा धूमेन वह्निः, यथा च मलेन आदर्शः आव्रियते; यथा उल्बेन गर्भः आवृतः, तथा तेन इदं आवृतम् ॥ ३८ ॥

रजोगुणसे उत्पन्न हुआ, बडा खानेवाला और बडा पापी, यह काम और यह क्रोध (मनुष्यका प्रेरक है । परंतु तू) इसको इस लोकमें शत्रु समझ ॥ ३७ जिसप्रकार धूवेंसे अग्नि और मलसे दर्पण ढका जाता है और जैसा झिल्लीसे गर्भ वेष्टित होता है, उसी प्रकार इस (काम) से यह सब (ज्ञान) आच्छादित होता है ॥ ३८ ॥

ऐसा कौन चालक है जो इसको घसीटे लेजाता है और पाप करवाता है ?

अर्जुनका यह प्रश्न श्रवण कर श्रीभगवान् श्रीकृष्ण उसका उत्तर देते हैं ।

(३७-४१) अर्जुन ने प्रश्न किया था कि "मनुष्यकी इच्छा न होते हुए भी मनुष्यकी पापकी ओर प्रवृत्ति क्यों होती है?" इसके उत्तर में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि "हे अर्जुन! मनुष्य के इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें काम रहता है, वह मनुष्य की इच्छा न होनेपर भी उसको पापकर्ममें प्रवृत्त करता है । यह काम सदा भूखा और पापमें प्रवृत्त रहता है, कभी कितना भी भोग प्राप्त हुआ तथापि तृप्त और शान्त नहीं होता । जैसा काष्ठों और घी से अग्नि शान्त नहीं होती, उसी प्रकार भोगोंसे यह काम कदापि शान्त नहीं होता । यह मनुष्यका शत्रु है और यह मनुष्य के ज्ञान विज्ञान को घेर कर मनुष्य के कल्याण का नाश करता है । इस लिये कोई मनुष्य इस काम के आधीन न बने, परंतु सब इंद्रियोंका संयम करके इस को रहनेके लिये अपनी इंद्रियोंमें कोई स्थान मिलने न दे ।"

छः शत्रु!

मनुष्य के छः शत्रु हैं, उनके नाम काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये हैं । इन शत्रुओंका मुखिया काम है, क्यों कि कामके कारणहि अन्य शत्रु मनुष्यमें रहते हैं । देखिये—

कामात्क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति संमोहः ॥ भ० गी० २।६२

"कामसे क्रोध होता है और क्रोधसे मोह होता है ।" कामसे लोभ भी होता है इसी प्रकार अन्यान्य विकार भी होते हैं । अतः काम मुख्य है और शेष विकार उसके अनुयायी हैं । यह काम ही मनुष्यका प्रेरक है । यहां काम शब्दका अर्थ स्त्रीविषयक भोगभावना है, इसके अतिरिक्त काम का अर्थ 'इच्छा' भी है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

अन्वयः— हे कौन्तेय! नित्यवैरिणा एतेन दुष्पूरेण कामरूपेण अनलेन ज्ञानिनः ज्ञानं आवृतम्॥ ३९॥ इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य अधिष्ठानं उच्यते। एषः एतैः ज्ञानं आवृत्य देहिनं विमोहयति॥ ४०॥ हे भरतर्षभ! तस्मात् त्वं आदौ इन्द्रियाणि नियम्य, ज्ञानविज्ञाननाशनं एनं पाप्मानं प्रजहिहि॥ ४१॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! सबके नित्यवैरी, कभी तृप्त न होनेवाले इस अग्नि सदृश कामसे ज्ञानीका ज्ञान ढक जाता है॥ ३९॥ इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस (कामरूपी शत्रु) का निवास स्थान कहा जाता है, यह (काम) इनके द्वारा ज्ञानको आच्छादित करके देहधारी जीवात्माको विशेष मोहित करता है॥४०॥ हे भरतश्रेष्ठ! इसलिये तू पहिले इन्द्रियोंका संयम करके, ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापीका परित्याग कर॥ ४१॥

भावार्थ— रजोगुणसे काम और कामसे क्रोध उत्पन्न होता है। यह काम सदा अतृप्त, भूखा और मनुष्यकी पापकी ओर प्रवृत्ति करनेवाला है। अतः यह मनुष्यका शत्रु है। इस काम और क्रोधसे मनुष्यका ज्ञान नष्ट होता है। मनुष्यके इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें यह घर करके निवास करता है और यह मनुष्यके ज्ञानको घेरकर उसको मोहित करता है। इसलिये मनुष्य संयम द्वारा अपने सब इन्द्रियोंको स्वाधीन करे और ज्ञानविज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी शत्रुकी संगति छोड देवे॥ ३७-४१॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

ऋग्वेद १०।१२९।४

"(अग्रे यत् मनसः प्रथमं रेतः आसीत्) प्रारंभमें जो मनका पहिला वीर्य प्रकट हुआ वह काम (अर्थात् प्रवृत्ति शक्तिरूप काम) हुआ। यही (असति सतः बन्धुं निरविन्दन्) असत् सृष्टि के अन्दर सत् आत्माके साथ संबंध करनेवाला है, यह बात ज्ञानी लोगोंने मनमें विचार कर निश्चित की है।"

इस मंत्रमें कहा है कि सृष्टिके प्रारंभमें ईश्वरके मनसे जो वीर्य प्रकट हुआ वह काम है। काम का अर्थ सृष्टि निर्माण करनेकी इच्छा, कार्य करनेकी इच्छा, अपनी शक्ति प्रकट करने की इच्छा, निवृत्ति छोड प्रवृत्तिमें आनेकी इच्छा। यही काम गृहस्थाश्रमियोंमें स्त्री की प्राप्तिकी इच्छासे प्रकट होता है और संतान निर्माण करने की इच्छा इसी काम का एक अंश गृहस्थाश्रमियों में निवास करता है।

गृहस्थीका परोपकार।

वस्तुतः देखाजाय तो यह काम जो परमेश्वरके

मनसे प्रारंभ में प्रकट हुआ, उसमें सब जीवोंपर उपकार करनेकी इच्छा प्रधानतया थी। सब जीवोंको मुक्तिधाम का मार्ग खुला हो जावे, इस लिये सृष्टि निर्माण करनेका काम आप्तकाम परमेश्वरके मनमें प्रकट हुआ। इसी प्रकार गृहस्थियोंके मनमें जो सन्तानोत्पत्तिका काम उत्पन्न होता है, वह यदि धर्ममर्यादातकहि नियमित रहा, तो उसमें भी जीवोंपर उपकार करनेकी ही भावना है। पाठक यहां आश्चर्ययुक्त न हों और गृहस्थी के गर्भाधान करनेमें परोपकार कहां है ऐसा कह कर इस गंभीर विषयका उपहास न करें। यह गर्भाधानका विषय भी धर्मानुकूल रहनेपर परोपकारका हेतु हो सकता है। विवाहबंधनसे जो स्त्रीपुरुष एकत्रित होते हैं, उनके एकत्र सहवासमें धर्मनियमके अनुसार देखा जाय तो कामुकताका गन्ध भी नहीं है। शुद्धाचारके स्त्रीपुरुष अपना संयम चलाते हुए और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, जो गर्भाधानार्थ सहवास करते हैं, उस से जीवात्माओंको इस कर्मभूमिमें आकर अपना मुक्तिधामका मार्ग आक्रमण करनेके लिये पवित्र अवसर मिलता है। यह अवसर देना बडे परोपकार का कर्तव्य है। जिन जीवोंने पूर्व जन्ममें मुक्तिका आधामार्ग काटा है और जो शेष मार्ग शीघ्र आक्रमण करना चाहते हैं, वे योगभ्रष्ट लोग संयमी योगियोंके घरोंमेंहि जन्म लेते हैं। वे सामान्य आचारभ्रष्टों के घरोंमें नहीं आ-सकते, क्योंकि कहा है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन॥४३॥

भ० गी० ६।४१-४३

"पुण्य करनेवाले लोग जिस लोक को पाते हैं, उसे पाकर, वहां दीर्घ कालतक रहकर, योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र योगसाधनसंपन्न योगी के घर जन्म लेता है। किंवा वह ज्ञानयोगी के ही घर जन्म लेता है। संसारमें इस प्रकार का जन्म अत्यंतहि दुर्लभ है। वहां उसे पूर्वजन्मके बुद्धि-संस्कार मिलते हैं और वह वहां से मोक्ष के लिये आगे प्रगति करता है।"

इस तरह पाठक जान सकते हैं कि संयमी योगी जो गर्भाधान के लिये सहवास करते हैं, वह अपने कामसुखके लिये नहीं, प्रत्युत योगी जीवोंको आगेका मार्ग आक्रमण करनेका अवसर दिलानेके लियेहि है। वस्तुतः यह काम इतना परोपकार का हेतु है, परंतु यह सामान्य भोगी जीवोंके आधीन होनेके कारण इतना तिरस्करणीय हो गया है। यहां जिस भोगरूप काम का तिरस्कार किया है, वह यही हीन काम है। यह रजोगुणसे उत्पन्न होता है, इस विषयमें देखिये—

रजोगुणसे काम।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्॥७॥
संजयति रजः कर्मणि भारत॥९॥
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥१२॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते॥१५॥
रजसस्तु फलं दुःखं..........॥१६॥
रजसो लोभ एव च (जायते)॥१६॥

भ० गी० १४।७-१७

"रजोगुण भोगतृष्णा और आसक्तिका मूल है, यह देहधारी को भोगप्राप्तिके लिये कर्मपाशोंमें बांध देता है॥ रजोगुण कर्ममें मनुष्यको प्रवृत्त करता है॥ जब मनुष्यमें रजोगुण बढता है, तब उसमें लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका प्रारंभ करनेकी रुची, मनकी अशान्त वृत्ति, और इच्छा का उद्गम होता है॥ रजोगुणमें मृत्यु होनेसे कर्मसंगी लोगोंमें जन्म होता है॥ रजोगुणका फल दुःख है तथा रजोगुणसे हि लोभ होता है॥" रजोगुण

का इस प्रकार वर्णन चौदहवें अध्यायमें है और अठारहवें अध्यायमें देखिये---

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥२१
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥३८
भ० गी० अ० १८

"जिससे सब भूतों में भिन्न भाव, भेदभाव दीखता है वह राजस ज्ञान है॥ जो भोग की इच्छासे होता है, जो अहंकारसे कर्म किया जाता है, और बडे परिश्रमसे जो कर्म होता है वह राजस कर्म है॥ जो भोगी, कर्मफल भोगनेकी इच्छा करनेवाला, लोभी, हिंसाशील, अपवित्र और हर्ष तथा शोक करनेवाला है,वह कर्ता राजस कहलाता है॥ जिससे धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य के विषयमें अयोग्य विचार होता है वह राजस बुद्धि है॥ जो विषयों और इंद्रियों के संबंधसे होता है, जो प्रारंभमें मीठा लगता है परंतु अन्तमें विष जैसा प्रतीत होता है उसको राजस सुख कहते हैं॥"

इससे रजोगुण का क्या परिणाम है यह बात पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकती है। इस का तात्पर्य यह है---

"रजोगुणसे भोगवृत्ति बढती है, भोगतृष्णा असह्य होती है, फलासक्ति होती है, भोगप्राप्तिके लिये कर्म होते हैं, मनुष्य लोभी बनता है, मन अशान्त होता है, सब कुछ सुख मुझे चाहिये ऐसा प्रतीत होता है, इस प्रवृत्तिसे दुःख बढता है, भेद और कलह बढते हैं, अहंकार की वृद्धि होती है, बडे परिश्रम से भोग संपादन करनेका यत्न होता है, हिंसा अर्थात् दूसरे का घातपात करनेकी वृत्ति बढती है, अपवित्रता बढती है, किसी समय हर्ष और बहुत समय शोक होता है, धर्म अधर्म का विचार नहीं होता, कर्तव्य और अकर्तव्य नहीं दीखता, विपरीत अर्थात् असत्य ही सत्य प्रतीत होता है, इंद्रियोंके विषयोपभोग बहुत भोगनेकी वृत्ति बढती है, यह विषय-सुख पहिले मोहकसा प्रतीत होता है और अंत में यही विषके समान नाशक सिद्ध होता है। अर्थात् इस रजोगुणसे दुःखही बढता है।" सारांश से यह वर्णन पूर्वोक्त गीताके श्लोकोंमें कहा है। इस प्रकारके रजोगुणसे यह काम उत्पन्न होता है और कामोपभोग में विघ्न आने लगा तो कामीकोही क्रोध उत्पन्न होता है।

बडा पेटू काम।

यह काम (महा-अशनः) बडा खानेवाला है, इसने कितना भी खाया तो भी इसका पेट भरता नहीं। यह सदा भूखा रहता है। कामी मनुष्य को कितने भी भोग प्राप्त हों, वह कदापि तृप्त नहीं होता, आगे और भोग चाहिये ऐसाही यह कहता जाता है। भोग प्राप्त करनेमें कितने भी पाप करने पडें, उस का विचार यह नहीं करता, इस लिये इसको (महापाप्मा) बडा पापी कहा है। सब पाप इस काम के आश्रयसे हि होते हैं। हिंसा, घातपात, कर्तव्य न करना और अकर्तव्य करना, खानपानका विधि-निषेध न धारण करना, ये और ऐसे अनेक पाप इसीके कारण होते हैं। जिसप्रकार अग्नीपर धूम्र का आवरण होता है और दर्पणपर मलका आच्छादन होता है, उसी प्रकार मनुष्यकी आत्मापर इस कामका आवरण है, किंवा मानो मनुष्यके अन्तःकरण पर यह आवरण है। इसी आवरणके कारण मनुष्य मोहित होता है और कर्तव्यसे भ्रष्ट होता है।

यह कामरूपी अग्नि (दुष्पूरः) कभी शान्त न

होनेवाला है। कितनीभी इसमें भोगकी आहुतियां डालीं, तथापि यह शान्त नहीं होगा। यह काम का गढा कभी भरता नहीं, इसमें कितनेभी भोग डालो, यह सदा खाली ही रहता है। साथही साथ यह (महा-पाप्मा) बडा पापी है। पापकी ओर प्रवृत्ति करनेवाला यह है। भोगी मनुष्य अपने भोग प्राप्त करनेके लिये क्या क्या पाप करेगा, इसका कोई पता नहीं है। यदि धर्माचरण करनेसे उसको भोग प्राप्त हुए तो वह धर्माचरण करेगा, परंतु यदि धर्माचरण करनेसे उसके भोगोंमें कुछ न्यूनता हो जाय, तो वह पापाचरण करनेमें भी पीछे नहीं हटेगा। सब पाप प्रायः भोगवृत्ती बढानेसेहि होते हैं। इसलिये कामको यहां 'बडापापी' (महापाप्मा) कहा है। जो पापी होता है वही मनुष्यका वैरी होता है, शत्रु कहलाता है। क्यों कि पापसे दुःख होता है और दुःख देना शत्रुत्वका चिन्ह है।

यहां कई कहेंगे कि जो लोग बहुत समयतक भोगोंमें प्रवृत्त होते हैं और पाप कर्म करनेसे भी भोग प्राप्त करते हैं, क्या वे सदाके लिये गिर जाते हैं? क्या उनको उद्धारकी कोई आशा नहीं है? इस प्रश्नके उत्तरमें अगला श्लोकहि कहता है कि ऐसे भोगी लोग सदाकेलिये अन्दरसे बिघड जाते हैं ऐसी बात नहीं है, यह एक उनके शुद्ध आत्मापर आवरणसा आता है। जैसा अग्निपर धूवां, दर्पणपर मल, और गर्भपर झिल्ली होता है उसी प्रकार इसकी आत्मापर कामका-भोगेच्छाका आवरण होता है। इन तीनों उपमाओंमें पाठक देखें कि, धूवेंके अन्दर प्रदीप्त होने योग्य अग्नि विद्यमान रहती है, मलके आवरण के बीचमें दर्पणका शीशा जैसा का वैसा शुद्ध रहता है और झिल्लीके अन्दर सुन्दर बालक जीवित और जाग्रत रहता है, वैसीही भोगकी इच्छाके अन्दर आत्मा रहता है, सदाके लिये बिगडता नहीं। अग्निको धमनीसे वायु दिया तो अग्नि प्रदीप्त होती है, दर्पण धो दिया तो पुनः स्वच्छ शीशा बनता है और झिल्ली हटानेसे अन्दरसे सुन्दर बालक निकल आता है, इसी प्रकार संयमसे भोगेच्छा को दूर किया, तो शुद्ध आत्मा अपनी निज शक्तियों के साथ प्रकट होता है!! अर्थात् जैसा धूवां रहनेतक अग्नि जलती नहीं, ऊपर मल रहनेतक दर्पण में मुख नहीं दीखता, और झिल्लीके अन्दर वेष्टित होनेतक अन्दरका बालक जगत्का अनुभव नहीं करता, इसीप्रकार भोगेच्छा प्रबल रहनेतक हि भोगीका आत्मा अशक्त-सा प्रतीत होता है। अतः उसको सदाके लिये पतित समझना अयोग्य है तथापि जबतक भोगोंके विषयमें प्रबल इच्छा रहेगी, तबतक उस आत्माकी निज शक्तियोंका प्रकाश होना सर्वथा असंभव है और भोगेच्छा रहनेतक दुःखोंसे छूटनाभी अशक्य है। और इनके संस्कारभी इनके ऊपरसे हटनेके पश्चात् कुछ कालतक अवश्य कष्ट देते रहेंगे।

यह काम (ज्ञानिनः वैरी) ज्ञानी का वैरी है अर्थात् यह ज्ञानीके साथ कभी नहीं रहता। सत्य ज्ञान होते ही इसका नाश होता है। जिस प्रकार सूर्य के साथ अंधेरेका वैर है, उसी प्रकार ज्ञान के साथ काम का वैर है। भगवान् शंकरने अपना तृतीय ज्ञाननेत्र खोलकर उसके तेज से मदन को जला दिया, ऐसी कथा पुराणोंमें है। इस कथामें भी श्रीशंकरको "कामारि (काम+अरि)" काम का शत्रु कहा गया है। काम और मदन एक ही हैं और श्रीशंकर पूर्ण ज्ञानी हैं। अतः इनका नाम 'उमा-पति' (उमा=विद्या) विद्यापति ज्ञानी है। यह ज्ञानी होनेसेही यह कामको जला सका। जो ज्ञानी नहीं होता वह कदापि काम का नाश नहीं कर सकता। इस कथा से भी काम ज्ञान का वैरी है यह बात सिद्ध होती है। जहां काम होगा वहां ज्ञान नहीं रह सकता और जहां ज्ञान है वहां काम नहीं बढ सकता। इसी लिये ब्रह्मचर्य आश्रममें ज्ञानार्जन करनेका कार्य आवश्यक कर्तव्य है ऐसा लिखा

है, क्योंकि उस आश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रममें विवाहादि होनेपर यदि यह काम के आधीन बना, तो ज्ञान प्राप्त करने का कार्य कठिन हो जाता है। यह काम ज्ञानका वैरी है इसी लिये (एतेन ज्ञानं आवृतं) यह ज्ञानको घेरता है। ज्ञान का मुख्य इंद्रिय मन और बुद्धि है, जब इस को यह काम घेरता है तब वहां मूढता छायी जाती है। जैसा शत्रुका सैन्य कीले को घेरता है और कीलेके अन्दर के वीरोंका संचार रोकता है, इसी प्रकार यहां यह काम मनबुद्धिको घेरता है और उनकी स्वतंत्रता का नाश करता है। अर्थात् ऐसे समय मनबुद्धि कामके आधीन होती है और जिस मार्गसे यह लेजाता है, उसी मार्गसे मनबुद्धि जाती है।

अर्जुनके प्रश्नका उत्तर यहां इस तरह मिला है। इच्छा न रहनेपर भी मनुष्य पाप किस कारण करता है, यह अर्जुनका प्रश्न था। इसका उत्तर यह है कि जब कामके द्वारा मनबुद्धि घेरी जाती है और कामके वशमें हो जाती है, तब उसका स्वामी काम हो जाता है और कामही उसका चालक होता है। शरीरका वास्तविक चालक और स्वामी आत्मा है,तथापि वह शत्रुके आधीन हुआ होता है। राज्य शत्रुके आधीन होकर राजा शत्रुके जेलखानेमें पडने के समान अवस्था यहां बन जाती है। इस तरह जो पराधीन-कामाधीन-बनते हैं वे कामके द्वारा अर्थात् शत्रुके द्वारा चलाये जाते हैं। अतः वे कामकी आज्ञानुसार भोगोंमें फंसते हैं और पापमें प्रवृत्त होते हैं। अतः सब लोक इस कामको अपना (नित्य वैरी) शत्रु समझें और संयमसे इसको दबाये रखें, इसको प्रबल होने न दें। 'निष्काम' बनने के मुख्य हेतुका पता पाठकोंको यहां लग सकता है।

यह (कामरूपः अनलः) कामरूप अग्निहि है। यह अग्नि यदि किसी मनुष्यके शरीरमें लगा, तो वह इस मनुष्यके सब सुखोंको और कल्याणोंको जलाता है। अतः इस अग्निको शान्त करना चाहिये। यदि इसमें भोगकी लकडियां और विषयसुखोंका घृत डाला जाय, तो यह अधिकाधिकहि प्रदीप्त होगा, और अधिकहि जलायेगा। अतः इसके आसपासका भोगेच्छा का घास काटना चाहिये, संयम और दमनका तथा निग्रह का जल इसपर डालना चाहिये और वैराग्य के पत्थरपर इसको रखना चाहिये। जिससे इसको प्रदीप्त होनेके लिये कुछ न मिलेगा, और यह स्वयं शान्त होगा और आगे किसी को कष्ट नहीं देगा। परंतु जो मनुष्य भोग बढाकर इस काम को शान्त करना चाहते हैं, वे बडी गलती करते हैं, उनके प्रयत्नसे यह बढता है और सर्वस्वकी आहुती लेता है। अतः 'असंग' शस्त्र से इस का नाश करना चाहिये।

मनुष्य की मनबुद्धीमें यह रहता है, 'मैं तुम्हारा हित करूंगा' ऐसा बहाना करके मनुष्यके मनको अपने ढंगोंके पास आकर्षित करता है और इस प्रकार भुलावा देकर अपना अधिकार मनपर जमा लेता है। इसलिये मनुष्यको सदा सावधान रहना चाहिये और काम के आधीन नहीं होना चाहिये।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥(४१)

"इसलिये तू पहिले इंद्रियोंका संयम करके, ज्ञान विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापीका त्याग करो।" इस काम का त्याग कर अथवा नाश कर। इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह, यह उपाय है जिससे-केवल इसी उपायसे-कामको दबाया जा सकता है। दूसरा उपाय नहीं है।

इस श्लोकमें दो प्रकार से पदच्छेद होता है एक (प्रजहिहि) परित्याग कर, और दूसरा (प्रजहि) मार डाल, नाश कर। यहां दूसरे पदच्छेद की अपेक्षा पहिला अच्छा है। क्योंकि 'काम' का नाश-पूर्ण नाश-प्रारंभमें अभीष्ट नहीं है, परंतु उसको धर्मयुक्त बना देना अभीष्ट है। इस

१४ श्रेष्ठ शक्ति।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥ [१६२]

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अन्वयः- इंद्रियाणि पराणि आहुः, इन्द्रियेभ्यः मनः परं, मनसः तु बुद्धिः परा, यः तु बुद्धेः परतः सः (आत्मा अस्ति) ॥४२॥ हे महाबाहो! एवं (आत्मानं) बुद्धेः परं बुद्ध्वा, आत्मना आत्मानं संस्तभ्य, कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि ॥४३॥

शरीरसे इंद्रियाँ श्रेष्ठ हैं, इंद्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, और जो बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है वह (आत्मा है) ॥४२॥ हे महाबाहु अर्जुन! इस प्रकार (आत्माको) बुद्धिसे भी श्रेष्ठ जान कर अपनी शक्तिसे अपना संयम करके इस दुर्जय कामरूप शत्रुका नाश कर ॥४३॥

भावार्थ- शरीरपर अधिकार इंद्रियोंका है, इंद्रियोंपर मन का प्रभुत्व है, मन पर बुद्धि अधिकार चलाती है, बुद्धिपर आत्माका शासन है। अर्थात् आत्माका शासन सबपर है। यह बात ठीक प्रकार जानकर, आत्माकी सर्वोपरि शासक सत्ताका अनुभव करके, आत्माकी निज निश्चयात्मक शक्तिसेहि आत्माका समाधान करके, अर्थात् आत्माको शान्त करके, मनुष्य इस दुर्जय कामरूप शत्रुका नाश करे ॥४२-४३॥

लिये उसके नाश की अपेक्षा प्रथम उसको दूर रखना योग्य है। धर्म की जिस समय आज्ञा होगी, उस समय उसको अपने पास बुलाना, धर्मकी आज्ञानुसार कार्य करना और फिर उसको दूर करना योग्य है। यदि उसका बिलकुल नाश किया जाय, तो उससे यह कार्य नहीं हो सकता। त्यागने का अर्थ है 'अपने पास सदा न रखना, दूर रखना;' और मारना तथा नाश करनेका अर्थ है 'उसका अस्तित्व ही मिटा देना।'

अस्तु। आगे यही विषय अन्य रीतिसे कहा है, इसलिये वह भाग अब देखिये—

आत्मशासन।

(४२-४३) मनुष्यके शरीरमें किसका शासन चलना चाहिये, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिस का सबको विचार करना चाहिये। हमने (श्लो० ३७-४१ में) इससे पूर्व देखा है कि रजोगुणसे उत्पन्न हुआ 'काम' नामक शत्रु इस शरीरमें शासन चलाता है; कामके पीछे समय समयपर क्रोध रूपी दूसरा शत्रु भी यहां अपना शासन जमा लेता है; किसीसमय लोभ, मोह, मद (घमंड) और मत्सर इन महा रिपुओंमें से कोई एक यहां का राज्य चलाता है। यह बात हम देखते हैं और अनुभव करते हैं, कि इस शरीररूपी महाराज्यमें समयसमयपर किसी न किसी शत्रुका राज्य-शासन होता है!! अतः विचार करना पडता है कि वास्तविक रीतिसे यहां किसका शासन होना चाहिये? इस शरीररूपी महाराज्यका सच्चा राजा कौन है? यदि कोई सच्चा दूसरा सम्राट् है, तो विचार करना चाहिये कि वह रहता कहां है,

उसकी शक्ति क्या है, उसके होते हुए भी ये शत्रु उसके राज्यपर अधिकार क्यों चलाते हैं? इसका विचार करनेके लियेही ये दो श्लोक यहां आये हैं और इनमें सच्चा सम्राट् आत्मा है यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात बतायी है।

इस शरीरमें कार्य करनेवाली आत्माकी शक्तियोंके विचार का नाम है "अध्यात्मविचार" इस अध्यात्मविचार के अनुसार "आत्मा" यहां का सम्राट् है, अतः इसी का शासन यहां चलना चाहिये। आत्माकी सहधर्मचारिणी सम्राज्ञी बुद्धि है, आत्मा बुद्धिके साथ विचार करके यहां का शासन चलाता है। आत्मा और बुद्धीके नीचे इस का सेनापति मन है और इसके आधीन सब प्रांतोंके अधिकारी हैं। कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका ये ज्ञानके प्रांत हैं, तथा हाथ, पांव, मुख, मूत्रद्वार और मलद्वार ये कर्मके प्रांत हैं। इन दस प्रान्तोंके अतिरिक्त अनेक विभाग इस शरीरमें हैं, परंतु उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त दस प्रांतोंपर इस सम्राट् आत्माराम के अधिकारी कार्य करते हैं, परंतु समय मिलनेपर और आत्मारामके भोले स्वभाव के कारण प्रत्येक प्रांत का अधिकारी-सूभेदार-अपने प्रांतमें स्वतंत्र बनता है और वहां अपने मन के अनुसार, जैसा चाहे वैसा, वर्ताव करने लगता है!! कई प्रसंगोंमें एकसे अधिक प्रांतोंके अधिकारी मिलकर सम्राट् आत्माराम के शासन का विरोध भी करते हैं, और यहां ये असत्याग्रह और असहकार भी करते हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक अपने स्वार्थ के लियेही प्रयत्न करता है और सबकी भलाई में अपनी भलाई देखनेवाला इनमें कोई नहीं है।

कई अधिकारी बहुत समय 'कामक्रोध' आदि दुष्ट शत्रुओंको वश होते हैं और सम्राट् के विरुद्ध षड्यंत्र रचते हैं!! समय समय पर इस का ऐसा परिणाम होता है कि, उक्त षड्यंत्रमें इस आत्मा का पूर्ण पराजय होता है और इसका साम्राज्य पूर्णतया शत्रुके आधीन हो जाता है। इस आत्माराम के सब अधिकारी ऐसेही अविश्वास रखने योग्य हैं और जिस समय यह इनपर पूर्ण विश्वास रखता है, उस समय इसी प्रकार फंस जाता है। इसी लिये इन श्लोकोंमें इस आत्माको अपना अधिकार जमानेका और (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) अपनी निज शक्ति से अपने शासन की स्थिरता करके, अपने राज्यमें घुसे हुए शत्रुओंको परास्त करनेका उपदेश किया है।

आत्मा मुख्य और श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त है, यह सर्वशक्तिमान् और इसीका शासन सर्वतोपरि है। प्रत्येक मनुष्य यह बात मनमें स्थिर रखे कि मेरे आत्माका शासनहि इस शरीर में चलना चाहिये। मैं अपने आत्माको ऐसा दृढ और ऐसा बलवान बनादूंगा, कि जिससे मेरे आत्माकाही शासन यहां चलेगा।

मैं अपनी धर्मपत्नी बुद्धिको धर्मानुकूल चलनेवाली और मेरी वशवर्तिनी बनाऊंगा। समय-समयपर काम आदि शत्रुओंको यह आश्रय देती है और यह उनके वश हो जाती है और मुझ आत्माको भी बुरी संमति देती है। परंतु अब मैं इसके ढंग चलने नहीं दूंगा। मेरी धर्मपत्नी मेरे हि आधीन रहे, स्वेच्छाचारी न बने। मेरे मन आदि सब अधिकारी भी शत्रुको वश होकर मेरे विरुद्ध बलवा नहीं मचायेंगे, ऐसा मैं सावध रहूंगा। और मेरा शासनही यहां चलेगा।

इस प्रकार विचार करके आत्माका शासनहि यहां चलाना चाहिये। और यहां शत्रुको किसी भी समय ठहरनेके लिये थोडासा भी स्थान नहीं देना चाहिये—

शरीरको चलानेवाली इंद्रियां हैं, यह प्रत्येक का अनुभव है। आंख स्थान देखता है और पांव वहां शरीरको लेजाते हैं। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियाँ शरीरको चलाती हैं। ये सब इंद्रियांज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ-मनके आधीन हैं। यदि मन किसी इंद्रिय के साथ संयुक्त न रहा,

तो वह इंद्रिय कोई कार्य कर नहीं सकता। जिस के साथ मन होता है वही इंद्रिय अपना कार्य करता है। आंख अथवा कान खुले रहनेपर भी यदि मन साथ न रहा तो आंख देख नहीं सकते, और कान सुन नहीं सकते। इसी प्रकार अन्य इंद्रियोंके विषयमें है। अतः मनके आधीन ये इंद्रियाँ हैं।

ऐसेहि बुद्धिके अधीन मन और बुद्धि आत्माके आधीन है। इस तरह सबपर आत्माका शासन चलता है। प्रबुद्ध आत्माका यही वैभव है। सब इंद्रियों और अवयवोंको सुशिक्षा देनेके लिये जो योगसाधन में विविध प्रक्रियाएं लिखीं हैं, वे इन सब को आत्माके शासनमें रखनेके लिये ही हैं।

संयम।

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अपनी यह शक्ति जानें और उस निज शक्तिका साक्षात्कार करें। और उस निज शक्तिको कार्य करनेमें समर्थ बनावे। यहां जाननेकी पहिली बात यह है कि मैं बुद्धिसेभी ऊपर के स्थानमें रहनेवाला आत्मा हूं और मेरा शासन यहां चलना चाहिये। यह साक्षात्कार कैसे होगा? इसका उत्तर (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) अपनी निश्चयात्मक बुद्धिसे अपने मन आदि सब इंद्रियोंको स्वाधीन रखने से यह निज शक्तिका साक्षात्कार होगा। जब तक संयम नहीं होगा, तबतक अपनी निर्बलता ही प्रतीत होगी। इंद्रियसंयम, दमन और मनोनिग्रहसे आत्मशक्ति बढती है और निग्रह न होने से आत्मा की निर्बलता होती है।

यहां "आत्मशासन" का पाठ दिया है, अपना ही संयम अपन करना है, (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) यहां अपने दोष हुए तो अपने आपको स्वयं हि दंड देना चाहिये, और अपना दिया हुआ दण्ड स्वयं हि भोगना चाहिये। यहां दूसरा शासक कोई नहीं है। जो इस प्रकार आत्मशासन अपने ही ऊपर करेगा, वही उन्नत होगा।

दूसरेपर शासन करना, दूसरोंको आज्ञा देना दूसरेपर हुकुमत चलाना सुगम है, प्रत्येक मनुष्य न्यूनाधिक प्रमाणसे यह कर सकता है। परंतु सबसे कठिण बात जो है वह आत्मशासन की है। अपने दोष के लिये स्वयं अपने आपको ऐसा कडा दण्ड देना कि जैसा साधारण मनुष्य दूसरे को देता है। यही आत्मसुधार के लिये अत्यंत आवश्यक है। यह महत्त्वपूर्ण उपदेश यहां दिया है। जो पाठक आत्मोन्नति करना चाहते हैं, वे इस ढंगसे आत्मशासन द्वारा अपनी उन्नति का साधन करें।

जिस कामरूप शत्रुको दूर करनेको (श्लो० ४१ में) कहा है, वह यदि दूर न हुआ, अथवा दूर होकर भी वारंवार आकर उपद्रव मचाने लगा, तो उसका नाश इस प्रकार आत्मशासन द्वारा करना चाहिये। इसलिये यहां (कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि) कामरूपी दुर्जय शत्रुका नाश कर ऐसा कहा है। पहिले कहा था कि उसको दूर रख और धर्ममर्यादा के अनुसार उससे काम ले। परंतु यदि वह अनिवार्य होगया और अधिक उपद्रव देने लगा, तो उसका नाशहि करना चाहिये यह दूसरा उपदेश यहां दिया है। श्रीभगवान् शंकर का काम को जलाना ज्ञानकी अंतिम सीमा का कार्य है।

आत्माको नाम 'इन्द्र' है, अतः आत्माकी शक्तिकोहि इंद्रिय कहते हैं। इस इन्द्र के वृत्रादि अनेक शत्रु हैं, वेहि घेरनेवाले काम आदि रिपु हैं, यही इंद्र (इंद्रियों अर्थात) देवोंका राजा है। पुराणों में जो देवासुरयुद्ध हैं, इन्द्रवृत्रयुद्ध वेद में भी हैं, वे सब बहुत अंशमें इसी अध्यात्मक्षेत्र के युद्ध हैं। अस्तु।

श्लोक ४१ में 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इस स्थानके 'सः' शब्दसे 'आत्मा' का ग्रहण करना योग्य है, परंतु कोई कहते हैं कि यहां 'सः' शब्द से 'काम' का ग्रहण करना चाहिये, क्यों कि आगे उसीका नाश करनेका विधान है। परंतु उपनिषद् के वचन में भी बुद्धिसे परे आत्माके

होनेका ही उल्लेख है, देखिये—

> इंद्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
> महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
> पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
> कठ उ० १।३।१०-११

"इंद्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे (परः महान् आत्मा) श्रेष्ठ महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वसे (अव्यक्त) मूलप्रकृति श्रेष्ठ है, अव्यक्त मूलप्रकृतिसे पुरुष श्रेष्ठ है, इस पुरुष से कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, क्यों कि यही सब की सीमा और सब की अंतिम गति है।" श्रीमद्भगवद्गीताके विधानसे इस में अधिक विस्तारसे वही बात कही है। शरीरसे इंद्रियां श्रेष्ठ हैं क्योंकी इंद्रियां शरीरको चलाती हैं, इंद्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं क्यों कि ये विषय इंद्रियोंके उत्पादक और प्रेरक हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है क्यों कि इन विषयोंका त्याग करना अथवा स्वीकार करना मनके आधीन रहता है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है क्योंकि किसी के विषयमें निश्चय करके संकल्पविकल्पात्मक मनका नियमन करना इसी बुद्धिका कार्य है, बुद्धिसे महत्तत्व श्रेष्ठ है क्यों कि इसी से (अहं-प्रत्यय 'मैं हूं' ऐसा अनुभव आता है, अव्यक्तसे मूलप्रकृति श्रेष्ठ है, क्यों कि मूल प्रकृतिही अव्यक्त महत्तत्वका कारण है। और इस मूल प्रकृतिसे पुरुष, चेतन आत्मा स्वयं चेतन होनेसे श्रेष्ठ है। इस प्रकार आत्मा किंवा पुरुष सबमें श्रेष्ठ है। यहां 'पुरुष' शब्द है इस लिये अन्तिम आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता के विषयमें कोई शंका नहीं। उपनिषदोंके सिद्धान्तही गीतामें आगये हैं, अतः संभवतः इन उपनिषद् के मंत्रों सेहि भ० गीताके "इंद्रियाणि पराणि०" ये श्लोक बनाये गये हैं। इस लिये 'परतस्तु सः' इस स्थान पर 'सः' शब्दसे 'आत्मा' का ग्रहण होना योग्य है न कि 'काम' का। इस विषयमें कठोपनिषद् के आगेके दो मंत्र देखिये—

> इंद्रियेभ्यः परं मनः मनसः सत्वमुत्तमम्।
> सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥
> अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च।
> यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥
> कठोप० २।३(६)।७-८

"इंद्रियोंसे मन श्रेष्ठ, मनसे (सत्त्वं उत्तमं) बुद्धि अधिक उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ है, बुद्धिसे (महान् आत्मा) महत्तत्त्व श्रेष्ठ है; महत्तत्त्वसे अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति श्रेष्ठ है। मूलप्रकृतिसे पुरुष श्रेष्ठ है, यह पुरुष व्यापक और (अलिंगः) निर्गुण किंवा अतर्क्य है। जिसको जानकर मनुष्य बन्धनसे मुक्त होता है और अमरत्व को प्राप्त होता है।"

कठोपनिषद् में ये दोनों प्रकारके मंत्र हैं। अब गीताके साथ इन कठोपनिषद् के वचनोंकी तुलना करेंगे और उससे क्या बोध मिलता है इसका विचार करेंगे—

गीता.	कठ अध्याय	कठ अध्याय
३।४२-४३	१।३।१०-११	२।३(६)।७-८
शरीर	शरीर	शरीर
इंद्रिय	इंद्रिय	इंद्रिय
......	अर्थ	......
मन	मन	मन
बुद्धि	बुद्धि	सत्त्व
......	महान् आत्मा (अहंकार)	महान् आत्मा (अहंकार)
—	अव्यक्त (प्रकृति)	अव्यक्त (प्रकृति)
सः	पुरुषः	व्यापकः पुरुषः

इस कोष्टक को देखनेसे पता लग जायगा कि, कठोपनिषद् के प्रथमाध्यायमें 'अर्थ' अर्थात् इंद्रियोंके विषयोंका उल्लेख अधिक है, जो गीता में तथा कठ उपनिषद् के द्वितीयाध्याय में नहीं है। तथा कठोपनिषद् के दोनों अध्यायोंमें 'बुद्धि' और 'पुरुष' के मध्यमें '(महान् आत्मा) महत्तत्त्व और (अव्यक्त) मूल प्रकृति' ये दो तत्त्व अधिक कहे हैं, जो भ० गीतामें कहे नहीं हैं। भ० गीतामें बुद्धिके ऊपर 'सः' कहनेसे यह नहीं सिद्ध होता

कि बुद्धि और 'सः' के बीचमें कुछ भी नहीं है, अधिकसे अधिक इतनाही कहा जा सकता है कि, यहां बीचके दो तत्त्वोंका उल्लेख किया नहीं है। उल्लेख न करनेसे बीचके तत्त्व नहीं हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता। अर्थात् गीतामें चार तत्त्वोंका उल्लेख है और कठोपनिषद् में सात तत्त्वोंका एक स्थानपर और छः तत्त्वोंका दूसरे स्थानपर उल्लेख है, यह कोई विरोध नहीं। एक ने कहा कि पहिली श्रेणीसे सातवीं श्रेणी श्रेष्ठ है और दूसरेने कहा कि पहिलीसे पंचम और पंचमसे सप्तम श्रेष्ठ है तो दोनोंमें केवल विस्तार का भेद है, मूलतत्त्वका कोई भेद नहीं। इसी प्रकार भ० गीतामें संक्षेपसे कहा और कठोपनिषद्में विस्तारसे कहा इतना ही भेद है। तत्त्वका भेद यहां नहीं है। अस्तु, अब 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इस श्लोक के अर्थ के विषयमें थोडा अधिक विचार करेंगे। यहां 'सः' शब्दसे 'काम' का ग्रहण है अथवा 'आत्मा'का ग्रहण है इसका विचार कर्तव्य है। इस विषयमें दोनों मतवादियोंका विचार प्रथमतः हम यहां रखते हैं—

"सः=कामः"

"सः" का अर्थ "काम" करनेवाले पहिले आचार्य श्रीमान् रामानुजाचार्य हैं। श्री० भ० मायानन्द चैतन्य जी को भी यही अर्थ संमत है और यही अर्थ स्वीकार करना चाहिये ऐसा कहते हुए उन्होंने निम्न लिखित विचार प्रकट किये हैं— "(१) उपनिषद् का पाठ जैसा का वैसा भ० गीतामें लिया नहीं है, और 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' ऐसा बदल कर पाठ गीतामें दिया है। उपनिषद् से भिन्न पाठ देनेमें कुछ विशेष हेतु है। इस प्रकरणमें (गीता अ० ३।३६-४२ में) कहीं भी 'आत्मा' शब्द नहीं है, अतः 'सः' पदसे यहां 'आत्मा' का ग्रहण नहीं हो सकता। 'सः' शब्द तो पूर्व पदका निदर्शक होता है और ऐसा पद पूर्व श्लोकोंमें 'काम' हि है। (२) इस श्रीकृष्णार्जुन संवादमें 'काम' का विषय चलरहा है, और यहां इस प्रकरणमें आत्माका नाम तक नहीं है, अतः प्रकरण संबंधसे और पूर्वानुवृत्तिसे यहां के 'सः' शब्दसे 'काम' का ग्रहण करना और उसको बुद्धिके परे मानना योग्य है। (३) कई कहेंगे कि काम मनका धर्म होने से बुद्धिके परे नहीं है, परंतु यह कहना व्यर्थ है, क्योंकि—

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।

तै० उ० २।६।१

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति।

बृ० उ० १।२।४

पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत॥

नारा० उ० १

"उसी आत्मा, पुरुष अथवा नारायणने पहिली कामना की थी कि मैं बहुत होऊं" यह पहिला काम आत्मासे हुआ है और यह बुद्धिके परे है। वस्तुतः काम मनका धर्म नहीं यह चित्त का धर्म है, और चित्त बुद्धि से भी सूक्ष्म है। मन केवल संकल्पविकल्पात्मक है। आजकल मन पर सब चित्त बुद्धिके धर्म आरोपित किये जाते हैं, परंतु शास्त्रदृष्ट्या देखा जाय, तो चित्त कामना करता है। एक बात बुरी है ऐसा निश्चित होनेपर भी जिस काम की प्रेरणासे बुद्धि भी उस बुरी बात की ओर प्रवृत्त होती है वह काम निःसन्देह बुद्धिसे परे है। वासनामूलक अहंकार स्वरूप सूक्ष्म इच्छा ही काम है अतः वह बुद्धिसे सूक्ष्म है। इंद्रियां,मन और बुद्धि ये तीनों व्याप्य हैं और काम इनपर प्रभाव डालनेवाला है अतः वह इनके ऊपर अथवा परे है। 'एकोऽहं बहु स्यां' यह ईश्वर का पहिला काम है, यही सर्वत्र व्याप्त है। बुद्धि से इंद्रियों तक यही काम व्यापक है, अतः यह सबपर प्रभाव करता है। इस काम का यह प्रकरण चल रहा है और इसका बडा प्रभाव है ऐसा यहां कहा गया है। अतः इस प्रकरणमें 'सः' शब्दसे 'काम' का ही ग्रहण करना योग्य है।

इसी विषयमें श्री० आचार्य वि० प्र० लिमये, तिलकमहाविद्यालय, पूना, कहते हैं कि 'यो बुद्धेः

परतस्तु सः' इस श्लोकमें 'सः' का अर्थ 'काम' है। उपर्युक्त (कठ २।३।७-८) उपनिषद्वचनमें 'महान आत्मा' का अर्थ 'आत्मा' नहीं है, प्रत्युत 'अहंकार' है। क्योंकि बुद्धिके परे जो तत्त्व है वह अहंकार है और अहंकार का ही दूसरा नाम 'काम' है। इसके ऊपर 'अव्यक्त' (प्रकृति) और उसके भी ऊपर 'परः पुरुषः' (परमात्मा) क्रमसे अधिक श्रेष्ठ हैं। स्वयं गीतामें कहा है कि-

इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
(गी० ३।४२)

"इंद्रिय, मन और बुद्धि (अस्य=कामस्य) इस काम का अधिष्ठान है।" अतः यह इनका अधिष्ठाता है, इसीलिये यह काम बुद्धिसे परे है। वस्तुतः बात यह है कि ईश्वरकी अहंकार अथवा अस्मितारूप मूल वासना किंवा कामना प्रकृतिमें प्रकट होकर जिससे अहंकारबुद्धि और मन बने वही बुद्धिका प्रेरक काम है। और वही 'सः' शब्दसे यहां लेना योग्य है।

यह अर्थ लेनेपर श्लोक ४२-४३ का अर्थ इस प्रकार बनता है— "इंद्रियां शरीरसे श्रेष्ठ, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे जो श्रेष्ठ है वह काम है। इस प्रकार इस कामको बुद्धिका भी प्रेरक मानकर अपने आत्माका आत्मासे संयम करके इस कामरूपी दुर्जय शत्रुका नाश कर।" इस अर्थके साथ महाभारत के एक श्लोक की संगति है, वह श्लोक देखिये—

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी॥
म० भा० शां० १७७

"अपने देह से जो गिनतीमें सातवां है उस प्रबल शत्रुका नाश करके, अवध्य ब्रह्मपुरी को प्राप्त कर मैं राजाके समान सुखी हुआ हूं।" यहां काम को स्थूल देह से सातवाँ कहा है। शरीर, इंद्रियां, विषय, मन, बुद्धि, अहंकार, काम, इस तरह यह शरीरसे सातवाँ है। अस्तु यह एक पक्षका कथन हुआ। अब दूसरे पक्षके कथन का विचार करेंगे।

"सः-आत्मा"

इस पक्षवाले गीताके अ० ३।४२ में 'सः' शब्द का अर्थ 'आत्मा' मानते हैं। ऐसा माननेवालोंमें प्रमुख श्रीमच्छंकराचार्य हैं, इनके बाद इनके अनुयायी टीकाकार श्रीधरस्वामी, मधुसूदन-सरस्वती आदि हैं, लो० तिलक, म० गांधी आदि आधुनिक अनुवादक भी यही मानते हैं। मराठी भाषाके प्राचीन और सर्वमान्य टीकाकार श्रीज्ञानेश्वरमहाराज अपनी ज्ञानेश्वरी में इस विषयमें कुछ विवरण नहीं करते। श्रीमायानंद चैतन्यजीने हिंदीमें जो ज्ञानेश्वरीका अनुवाद किया है उसमें 'सः' शब्द से 'आत्मा' हि अर्थ किया है। वामन पंडित, मोरोपंत, मुक्तेश्वर, तुकाराम और उद्धवचिद्धन तथा प्रायः सभी सन्तकवि इसी मतके अनुयायी हैं। इनका कथन है कि "अहंकार और मूल प्रकृतिके भी परे जो पुरुष अथवा आत्मा है, उसकी शक्ति सर्वोपरि है ऐसा जानकर उस आत्मा की शक्तिसे अपनी सब इंद्रियोंका संयम करके इस दुर्जय कामरूपी शत्रुका नाश करना चाहिये।"

जहां ऐसे बडे आचार्यों और धुरंधर विद्वानों का मतभेद हो, वहां हम निश्चित मत क्या दे सकते हैं? पाठक ही इस का अधिक विचार करके अपने विचारसे इसका निश्चय करें। हम निश्चित मत इस समय यद्यपि कह नहीं सकते, तथापि यहां 'आत्मा' अर्थ लेनेमें जो बहुत आचार्योंकी संमति है, वह देखकर बहुपक्षके अनुकूल अपना मत देना ही इस समय हमें योग्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे मिश्रित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवादमें कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ ३॥

श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायपर विचार।

कर्मयोग।

इस तीसरे अध्यायमें 'कर्मयोग' का विचार किया है। कर्मयोग का मर्म जाननेकी कूंजी इस अध्यायमें है, इतनाहि नहीं प्रत्युत गीताका स्वरूप भी इसी अध्यायके मननसे ज्ञात हो सकता है। कर्म क्यों करना चाहिये, कैसा करना चाहिये, कौनसा करना चाहिये और करनेयोग्य श्रेष्ठ कर्म कौनसा है, इत्यादि विषय इस अध्यायमें स्पष्ट होनेसे यह अध्याय विशेष महत्त्वका है, और इसी कारण इस अध्यायका नाम "कर्मयोग" है।

अर्जुन को कर्तव्य का मोह हुआ और वह मानने लगा कि "मेरे युद्ध करनेसे भीष्मद्रोणादि मरेंगे और गुरुजनोंका संहार होगा।" इस अर्जुन को भ्रान्ति को दूर हटानेके लिये द्वितीयाध्याय के प्रथम भागमें सांख्यमतानुसार "आत्मा अमर है" इत्यादि तत्त्वज्ञान कहा और बताया कि "जैसे ये लोग इस समय यहां हैं, वैसे ही ये पूर्व कालमें थे और भविष्यकालमें भी होंगे। कोई किसी को मार नहीं सकता और कोई मरता भी नहीं।" यह सांख्य तत्त्वज्ञान कहनेके पश्चात् अर्जुन को बताया कि 'तेरा अधिकार कर्म करनेका है, अतः तू युद्धरूप कर्म कर, यद्यपि उक्त ज्ञानसे कर्म गौण है तथापि वही तेरा अधिकार होनेसे तुझे यही करना योग्य है।' इस प्रकार उसको कर्मयोगका उपदेश किया और फिर कहा कि 'निर्मम निरहंकार निस्पृह और निष्काम होनेसे जो ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है वह तो सबसे श्रेष्ठ अवस्था है' ऐसा कहनेसे अर्जुन के मनमें फिर यह शंका उत्पन्न हो गई कि 'यदि कर्ममार्ग गौण है और ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है, तो मैं दोषयुक्त कर्म का आचरण क्यों करूं, क्यों मैं ज्ञानमार्ग से सीधा उन्नत होकर ब्राह्मी स्थितिका आनन्द न प्राप्त करूं?' तृतीयाध्यायके पहिले दो श्लोकोंमें यही प्रश्न अर्जुन करता है और एक उत्तर मांगता है—

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥(२)

"जिससे मेरा कल्याण होगा उसका निश्चय करके उसी (एकं वद) एक मार्ग का मुझे उपदेश कर।" दो मार्गों का उपदेश करनेसे मुझे भ्रम होता है, इस लिये इनमें से कौनसे मार्गसे मैं जाऊं? वह निश्चित मार्ग मुझे बताओ।

मनुष्योंके दो भेद।

यह अर्जुन की शंका ठीक है, यह शंका सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- 'इस लोकमें कई लोग ज्ञाननिष्ठ होते हैं और कई कर्मनिष्ठ होते हैं। ज्ञाननिष्ठोंसे कर्ममार्ग का आचरण ठीक प्रकार न होगा और कर्मनिष्ठोंसे ज्ञानयोग होना असंभव है।" कई लोग तत्त्वज्ञानी होते हैं, वे रातदिन तत्त्वविचार हि करते रहेंगे, उनसे व्यावहारिक कर्म होना असंभव है; और कई लोग कर्म करनेवाले होते हैं, वे कुछ न कुछ कर्म में दंग रहते हैं, इनसे तत्त्वज्ञानका मनन होना असंभव है। प्रायः ये दोनों वृत्तियां एक स्थानपर नहीं रहतीं। मानो इस दृष्टिसे मनुष्योंके ये दो वर्ग बने हैं।

धर्मग्रंथोंका वाद छोडकर हम मनुष्यजातीका जब विचार करते हैं तब हमें सब मनुष्य इन दो वर्गोंमें विभक्त हुए हैं ऐसाही प्रतीत होता है। प्रायः बहुत मनुष्य खेती, सुतार, लुहारका उत्पादक कामधंदा करनेवाले होते हैं। जातियोंका विचार छोड भी दिया और जिस देशमें यहांके समान जातिव्यवस्था नहीं है ऐसे देशमें भी देखा गया तो वहां भी उत्पादक कामधंदा करनेवालों-स्वभावसे उत्पादक काम धंदा करनेवालों-की संख्या अधिक होती है और शास्त्रविचार,

ध्यानधारणा, मनुष्यके भवितव्यके गूढ तत्त्वों का मनन करनेवाले बहुत ही विरला होते हैं। इन मेंभी कृषक, सुतार, लुहार आदि व्यावहारिक कर्ममार्गी को शास्त्रविचार और ध्यानधारणा में लगाया जाय तो उनसे यह बैठा कार्य नहीं होगा, और ध्यानधारणा किंवा तत्त्वविचार करते रहनेवाले को यदि धूप में खेतीका कार्य करना पडे, तो वह धूप की मार से मूर्छित ही होजायगा !! इस तरह इन दोनोंके मार्ग भिन्न हैं और एक का कर्म दूसरे से नहीं हो सकता। यह व्यावहारिक उदाहरण हमने इस लिये लिया है कि, ये दोनोंही सहज धर्म हैं, यह बात पाठकोंके मनपर व्यवहार देख कर भी स्थिर हो जाय। व्यवहारमें भी व्यावहारिक कर्म करनेवाले बहुत और व्यवहारका तत्त्वज्ञान जाननेवाले थोडे होते हैं। इसी प्रकार परमार्थ में भी ज्ञानमार्गी थोडे और कर्ममार्गी बहुत होते हैं।

एक का कर्म दूसरे से नहीं होता इसी लिये इन को दो 'निष्ठाएं' कहा है। (नि शेषेण स्थानं) पूर्णतासे जिसमें अवस्थान होता है, उस का नाम निष्ठा है।

अर्जुन जन्मस्वभावसे कर्मनिष्ठ था, अतः उससे ज्ञानमार्ग का आचरण होना असंभव था। इसलिये उसको यहां कहा है कि ज्ञानमार्गसे प्राप्त होनेवाली ब्राह्मी स्थिती कितनी भी उच्च क्यों न हो, तू उस मार्गसे न जा। क्योंकि वह मार्ग तुम्हारेसे आक्रमण नहीं होगा।

लोगोंकी भूल।

"कर्मयोगी" तो पहचाने जाते हैं, क्यों कि वे कुछ न कुछ कर्म करते रहते हैं, परंतु 'ज्ञानयोगी' की पहचान कठिन है। लोग इस की पहचानमें वारंवार भूल करते हैं। ज्ञानयोगी कर्म नहीं करता इस लिये जो कर्म नहीं करता उसको ज्ञानी और ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुआ मानते हैं!!! ज्ञानी, ढोंगी और आलसी इनके विषयमें साधारण लोग सदा बहुत भूल करते हैं। इसी प्रकार अर्जुनने भी भूल की थी, वह 'कर्म न करना' ही ज्ञानीका लक्षण मानने लगा था, इसी लिये (श्लो० ३ में) कहा है कि कर्म न करनेसे, चुप रहनेसे, तत्त्वज्ञानी नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानी और आलसीमें कर्म न करनेका गुण समान है, परंतु तत्त्वज्ञानीमें वह गुण है और आलसीमें वही दोष है। साधारणतः विरक्त सिद्ध और पागल में भी लोग भूला करते हैं। इस विषयमें पाठक इतना समझें की इनकी परीक्षा तो कदापि बाह्य आचरणसे नहीं हो सकती। जो बाह्य आचरणसे इनकी परीक्षा करने लगेंगे वे सदाही भूल करेंगे।

'जो कर्मेंद्रियों का संयम करता है और मनसे विषयभोगों के लिये तडपता रहता है, उसका नाम मिथ्याचारी किंवा ढोंगी है।' (श्लो० ६) यह ढोंगी का लक्षण यहां दिया है, परंतु इसका पता अन्य मनुष्यों को लगना कठिन है। क्यों कि कौन मनुष्य मनसे विषयोंका चिंतन करता है और कौन नहीं, यह बाहरसे कैसे जान सकते हैं? यह जानना असंभव है, अतः लोग बाह्य आंडबर से फंसते हैं। समय समय पर जो ज्ञानी सीधेसादे रहते हैं और बाह्य आडंबर नहीं करते उनको लोग मान्यता देते नहीं, और जो लोग ऐसे मिथ्याचारी होते हैं, उनका आडंबर बहुत होता है। संभवतः अधिक सहवाससे कौन ज्ञानी है और कौन ढोंगी और मिथ्याचारी है, इसका पता लग सकता होगा। प्रायः ज्ञानी और ब्रह्मनिष्ठ सिद्ध पुरुष जनसंघसे उपसर्ग न पहुंचे इस लिये बाल-उन्मत्त-जडके समान भी रहते हैं, इस लिये तो उनकी पहचान अत्यंत कठीण हो जाती है।

छांदोग्य उपनिषद् में ब्रह्मज्ञानी रैक्व की कथा आती है। जानश्रुति राजा बडा धर्मात्मा पुण्यशील था। उसने एकवार संवाद सुना कि 'ब्रह्मज्ञानी सयुग्वा रैक्व के समान जानश्रुति का महात्म्य नहीं है।' अतः राजाने अपने परिचारक से कहा कि ब्रह्मज्ञानी रैक्व कहां रहता है, इसका

पता लगाओ। नौकरने राज्यमें बहुत तलाश की परंतु पता न लगा। और वह राजा के पास आकर कहने लगा कि, सयुग्वा रैक्व का पता नहीं चलता। उस समय राजाने उसे कहा—

यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥७॥
सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कर्षमाणमुपोपविवेश। तं हाभ्युवाद त्वं नु खलु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहं ह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे० ॥८॥ छां० उ० ४।१

"अरे जहां ब्रह्मज्ञानीकी खोज किया करते हैं वहां उनको देखो। तब उसने ढूंढा, तो उसको गाडीके नीचे खुजली खुजलाता हुआ एक मनुष्य मिला। उसने समझा कि यही ब्रह्मज्ञानी रैक्व है। वह उसके पास आदरसे जा बैठा और पूछने लगा कि 'क्या आपही भगवान् सयुग्वा रैक्व हैं?' उत्तर मिला कि "मैं ही हूं।"

यहां ब्रह्मज्ञानी गाडीके नीचे खुजली करते हुए मिले। परंतु कई मनुष्य गाडीके नीचे बैठते हैं और खुजली भी करते हैं। तथापि वे ब्रह्मज्ञानी नहीं होते! अतः ज्ञानीकी परीक्षा कठिन है—

एनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति। छां० ४।१।६

'सब मनुष्य जो सत्कर्म करते हैं वह सबका सब जिसके सहज व्यवहारमें अन्तर्भूत होता है" उसको ज्ञानी कहते हैं। उसकी तृष्णा क्षय होनेके कारण उसको सब सुख एक ही समयमें प्राप्त होते हैं, साधारण मनुष्योंको एक एक इंद्रिय का सुख एक एक समय मिलता है। ब्रह्मज्ञानीके आंखमें कुछ अलौकिक तेज भी होता है, मुखपर सहजानन्द दीखता है। परंतु ये सब लक्षण ऐसे नहीं हैं, कि जिनसे ब्रह्मज्ञानी सहजहीमें पहचाना जाय। अतः मनुष्य भ्रममें पडते हैं और ढोंगीको भी सत्पुरुष मान बैठते हैं! अर्जुननेभी मनमें यही निश्चय किया था कि "मैंने कर्म छोड दिया तो मैं स्थितप्रज्ञ होकर ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त होऊंगा।" यह उसकी भी भ्रांति थी और भगवान् श्रीकृष्णजीने 'कर्म छोडनेसे कोई मनुष्य सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता' (श्लो० ४) ऐसा कह कर, अर्जुनकी भ्रान्ति दूर की। पाठक यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त ध्यानमें धारण करें।

कर्मत्याग असंभव है।

'सब प्राणी प्रत्येक क्षणमें कुछ न कुछ कर्म करते हैं।' (श्लो० ५) कर्म छोडना भी एक कर्म है। 'शरीर यात्रा निवाहनेके लिये भी कर्म करना अत्यंत आवश्यक है' (श्लो०८)इत्यादि उपदेशद्वारा यह बताया कि 'कर्मसंन्यास' का आशय 'आलस्य' नहीं है, कर्मत्याग, कर्म संन्यास, अकर्म इनके भाव कुछ विशेष हैं। कर्म न करने से 'संन्यास' की सिद्धि हुई ऐसा मानना भ्रम है। कोई प्राणी संपूर्णतया कर्म का त्याग कर नहीं सकता। जीवन ही एक बडा भारी कर्म है। अतः 'जो मनसे इंद्रियोंका संयम करके कर्म करता है उसकी योग्यता विशेष होती है।' (श्लो० ७) अर्थात् इंद्रियसंयम, और मनोनिग्रहसे मनुष्यकी योग्यता उच्च होती है।

यज्ञके लिये कर्म।

'यज्ञके लिये कर्म करनेसे मनुष्यको कर्म का दोष नहीं लगता।' (श्लो० ९) इस लिये यज्ञ के कारण मनुष्य कर्म करता रहे। सब जगत्‌ही यज्ञ पर स्थिर रहा है, यज्ञ के विना सब जगत् का नाश होगा। इस यज्ञ का स्वरूप क्या है? यज्ञका स्वरूप श्लो० १३ में कहा है। 'जो मनुष्य अपनी पेटपूर्तिके लिये अन्न का पाक सिद्ध करते हैं, वे पापके भागी होते हैं, और जो अन्नकी सिद्धता करके उससे यज्ञ करते हैं और अवशिष्टका स्वयं भोजन करते हैं. उनके सब पाप दूर होते हैं। (श्लो० १३) अर्थात् केवल अपनी पेटकी पूर्ति के लिये अन्न पकाना पाप है और दूसरों की पेटकी पूर्ति के लिये पकाना और दूसरोंका पेट भरनेके पश्चात् जो बचे, उससे अपनी पेटपूर्ति करना पुण्य है।

(१) अपनी पेटपूर्तिका अर्थ है 'स्वार्थ' (स्व+अर्थ) अपने सुख के लिये कर्म करना।

(२) दूसरों के सुखके लिये कर्म करनेका नाम है 'परार्थ' (पर+अर्थ)।

(३) और जिसमें स्वार्थ और परार्थ साध्य होता है, एकरूप हो जाता है उसका नाम है 'परमार्थ'(परम+अर्थ) बडा अर्थ। यही यज्ञ है।

अर्थात् यज्ञसे (परस्परं भावयन्तः। श्लो० ११) अपना हित होता है और दूसरोंका भी हित होता है। सबका हित अविरोधसे साधन करने-का नाम यज्ञ है, अथवा यही परमार्थ है। यहां "स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ" का अर्थ पाठक ध्यानमें रखें और केवल स्वार्थके कर्ममें, केवल परार्थके कर्ममें कैसा दोष होता है और परमार्थ के लिये किये जानेवाले यज्ञरूप कर्म से निर्दोष कर्म होनेसे कैसा परम पुरुषार्थ होता है इसका विचार मनमें सुदृढ रखें। यज्ञ का यही महत्त्व है।

अंतिम सिद्धि।

"आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मसन्तुष्टी पूर्णतासे सिद्ध हुई तो ऐसे सिद्ध पुरुषके लिये कोई कर्तव्य कर्म करनेके लिये अवशिष्ट नहीं रहता" (श्लो० १७-१८), अतः इसको 'कृतकृत्य' कहते हैं। यह अन्तिम सिद्धि है, और इसी सिद्धि की प्राप्तिके लियेहि सब शास्त्र हैं। सिद्ध पुरुषके लिये शास्त्र नहीं हैं, वह पूर्ण स्वतंत्र है। यह सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् वह सिद्ध पुरुष कर्म करेगा अथवा न करेगा। यह अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेतक मनुष्यको अपने उद्धारके लिये यत्नवान् होना चाहिये।

अर्जुन इस सिद्धितक पहुंचा नहीं था, इस लिये यहां (श्लो० १९ में) कहा है, कि "आसक्ति छोडकर सतत कर्म कर। आसक्तिरहित होकर कर्मयोगका आचरण करनेसे परमसिद्धि प्राप्त होती है।" सब लोगोंके लिये यही मार्ग उत्तम है। स्वार्थ और परार्थ छोडने और (परस्परं भावयन्तः। श्लो० ११) सबका हित साधन करनेके लिये आसक्ति छोडने का पाठ यहां पाठकोंको अवश्य पढना चाहिये। अतः कहा है कि (तदर्थं कर्म...मुक्तसंगः समाचर। श्लो० ९) यज्ञके लिये कर्म आसक्ति छोडकर कर, इसमें भी अनासक्ति का पाठ दिया है।

लोकसंग्रह और परमार्थ।

केवल स्वार्थ बुरा है, केवल परार्थ भी सदोष है, अतः परमार्थ साधनमें अपना और सब का सच्चा कल्याण है, यही बात 'लोक-संग्रह' के प्रकरण (श्लो० २०-२४) में कही है। लोकसंग्रह का अर्थ "जनताकी धारणा, जनताकी उन्नति, जगत् का सुधार, राष्ट्ररक्षा, मनुष्य मात्र का कल्याण, जनताको सन्मार्गपर रखना" इत्यादि है। यह केवल स्वार्थ से भी नहीं हो सकता और केवल परार्थ से भी नहीं हो सकता। इस लिये परमार्थसाधन से यह लोकसंग्रह करना चाहिये। यही यज्ञ का मूल अर्थ है।

लोकसंग्रह करनेके लिये भी विशेष योग्यता आवश्यक होती है। प्रत्येक मनुष्य लोकसंग्रह करेगा ऐसी बात नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण, राजा जनक, राजा रामचन्द्र ऐसे लोकश्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा लोकसंग्रह हुआ था। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुयायी होनेके कारण लोकसंग्रह के कार्य करनेका संमान अर्जुन को प्राप्त हुआ है। भारतीय युद्धमें अर्जुन केवल "निमित्तमात्र" था। (देखो गी० ११।३३) जो निमित्तमात्र है उससे लोकसंग्रहका मुख्य कार्य हो नहीं सकता। उसके कर्ता भगवान् श्रीकृष्ण जैसे शुद्ध बुद्ध मुक्त पुरुष थे। परंतु इन के कार्य में निमित्त मात्र होने का मान प्राप्त होना भी साधारण कार्य नहीं है। इस लिये पाठक यहां यह बोध लें, कि प्रत्येक युग में शुद्ध बुद्ध मुक्त पुरुष आते हैं, जनता को मार्ग बताते हैं और लोकसंग्रह के कार्य के लिये हलचल करते हैं, मुख्य प्रेरणा उन मुक्तात्माओं की ही होगी, ऐसेलोकसंग्रह के कार्यमें निमित्त-

मात्र होकर युद्ध भूमिपर आकर खडा रहनेका कार्य करने के लिये भी हजारों और लाखों लोगों की आवश्यकता होती है, ऐसे निमित्तमात्र बनने का भाग्य प्राप्त करना भी एक महत्त्वकी बात है और इस कार्य के लिये अपने अन्दर योग्यता प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। इस तरह थोडी योग्यतावाले भी योग्य नेता की आज्ञामें कार्य करते हुए लोकसंग्रह करनेके भागी हो सकते हैं। इस रीतिसे लोकसंग्रह, जनहित, राष्ट्रकल्याण आदि कार्य में भाग लेनेसे भी मनुष्यका जीवनयज्ञ सफल होता है।

इसी लिये (श्लो० २७ में) कहा है कि, कोई साधारण मनुष्य अपनी योग्यताके अनुसार कुछ कर्म करता हो, तो उसकी श्रद्धा उस कर्म से उडाना अच्छा नहीं है, उसकी श्रद्धा बनी रखनेसे हो उसका कल्याण हो सकता है।

कर्तृत्व।

श्लो० २७-२९में 'कर्तृत्व गुणोंके पास है,' यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात कही है। कुम्हार मिट्टी का घडा करता है, इसका कारण मिट्टीमें घटाकार बननेका गुण है। यह गुण न होगा तो कोई भी मनुष्य मिट्टीसे घडा नहीं बना सकेगा। केवल रेतसे घडा क्यों नहीं बनाया जाता? क्यों कि रेतमें घटाकारमें परिणत होनेका गुण नहीं है,वह मिट्टीमें है, इस लिये मिट्टीसे घडा बनता है। इस विचारसे स्पष्ट होगा कि घट बननेका मुख्य हेतु मिट्टीका गुण है। कुम्हार का भी गुण मिट्टीके गुण के साथ मिलकर घटरूपी कार्य होता है। ऐसी अवस्थामें कुम्हार यदि घमंड करे कि "मैं हि केवल घट का कर्ता हूं" तो कहां तक उसकी वह घमंड योग्य हो सकती है? और निष्कारण की हुई घमंड अन्तमें अनर्थकारक क्यों नहीं होगी? वस्तुतः (गुणा गुणेषु वर्तन्ते। श्लो० २८) एक के गुण दूसरेके गुणोंके साथ मिलकर सब कर्म सिद्ध करते हैं। इस लिये ज्ञानी की दृष्टिसे तो कोई मनुष्य अपने आपको किसी कार्य का कर्ता नहीं कह सकता। यदि इस तरह गुणोंके पास हि कर्तृत्व है, तो मनुष्य घमंड क्यों करे? एक वीर है वह घमंडसे कहता है कि मैंने युद्धमें विजय पाया। परंतु सत्य देखा जाय तो शस्त्रास्त्रोंको उत्तमता, साथवाले सैनिकों की आज्ञाधारकता, परिस्थितिकी अनुकूलता इत्यादि गुणसमुदाय से विजयरूपी फल मिला है। कई वीर सब साधनोंसे संपन्न होते हुए भी प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होनेके कारण परास्त होते हैं। इसलिये मनुष्यकी सूज्ञता तो इसीमें है, कि वह कर्तृत्व की घमंड न करे, और प्रकृतिके गुणोंसे यह सब बन रहा है ऐसा माने और आसक्त न होवे।

आसक्ति और घमंड दूर करनेके लिये यह विचार उत्तम है, और जो पाठक अपनी पारमार्थिक उन्नति करना चाहते हैं, उन के लिये यह उपदेश अमूल्य है।

ईश्वरार्पण कर्म।

(श्लो० ३०-३२में) सब कर्म ईश्वरको समर्पण करनेका उपदेश कह कर यह भी कहा कि जो ऐसा करते हैं वे बन्धनसे मुक्त होते हैं और जो ऐसा नहीं करते वे नाशको प्राप्त होते हैं। मनुष्य यदि अपने सब कर्म परमेश्वरकी प्रीति संपादन करने के लिये करने लगे, अथवा अपना प्रत्येक कर्म ईश्वरके लिये अर्पण करने लगे, तो उसी क्षण से वह पवित्र होने लगता है। साधारण मनुष्य समझते नहीं और ईश्वरार्पण कर्म करने का उपहास भी करते हैं, परंतु इसमें इतनी पवित्रता है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वत्र विद्यमान और सर्वशक्तिमान है और उसको समर्पण करने के लिये मैं यह कर्म कर रहा हूं, ऐसा निश्चय करते हि उसके मनके अन्दर छिपे हुए हीन विचार दूर भागने लगते हैं। सर्वव्यापक सर्वज्ञ देवको छिपाकर वह हीन कर्म करेगा हो कहां? और जब वह जानने लगेगा कि वह ईश्वर सब मनुष्यों

मेंभी है, तब वह जनताका उत्तम सेवक बनेगा, दुःखितोंके दुःख दूर करनमें तत्पर होगा और पीडितों की सेवा करना परमेश्वर की सेवा है, ऐसा वह अन्तःकरण से समझेगा। साधुओंकी रक्षा, दुर्जनोंका निर्दलन और धर्मस्थापना करने के लिये परमेश्वर आता है, यह बात मानकर जो सत्पुरुष इन कार्योंमें लगे होंगे, उनका अनुयायी होकर इन कार्योंके करनेके लिये वह आत्मसमर्पण करेगा। इस तरह सहस्रों प्रकारोंसे उससे दिन प्रतिदिन शुद्ध और पवित्र कर्म होंगे और अन्तमें वह बन्धनोंसे परे होगा। ईश्वरार्पण कर्म करनेसे ऐसे अनंत लाभ हैं, पाठक इस बातका विशेष विचार करें।

प्रकृतिस्वभाव।

मनुष्यका प्रकृतिस्वभाव जन्मसे हि विशिष्ट प्रकारका बना होता है, उस स्वभावके अनुरूप हि कर्म उससे ठीक तरहसे हो सकते हैं। और प्रकृतिस्वभावानुरूप कर्म उत्तम हुआ तो उसीमें उसकी उन्नति होती है। यदि किसीको ऐसा प्रतीत हुआ कि अपना प्रकृतिस्वभावानुरूप प्राप्त कर्म वैसा लाभकारी नहीं है जैसा दूसरेका कर्म है, और इस मतानुसार उसने वह अपना कर्म छोड दिया, तो उससे दूसरा कर्म ठीक नहीं होगा और इसका कर्म तो स्वयं इसीने छोडा है। अतः यहांसे भी भ्रष्ट और वहांसे भी भ्रष्ट होकर वह —अवनत होगा। इसलिये अपने प्रकृतिस्वभावानुरूप प्राप्त निज कर्तव्य हरएक को करना योग्य है। दूसरेका कर्म प्रारंभ में मोहक भी दीखाई दिया तथापि वह अन्तमें हानिकारक हि सिद्ध होगा।

राष्ट्रमें जो जो विविध व्यवहार चलते हैं वे सबके सब राष्ट्रकी सुस्थितिके लिये आवश्यक होते हैं। इन सब कर्मोंमें प्रत्येकने उन्नति की, तो सब सामुदायिक उन्नति होनेसे सबका उसमें हित होता है। अतः किसी प्रलोभनमें आकर कोई मनुष्य अपना कर्तव्य कर्म न छोडे। (श्लो० ३३-३५)

प्रकृतिस्वभावानुरूप प्राप्त कर्तव्य हरएकको करना चाहिये, यह उपदेश अत्यंत महत्त्वका है, और युरोप अमेरिकामें भी जहां हरएक मनुष्य जो चाहे सो कर्म कर सकता है, उन स्वतन्त्र देशोंमें भी (लेबर युनियन) कर्म संघोंके सदस्य अपने संघका कर्म ही करते रहते हैं, यदि किसी ने दूसरेका कर्म करनेका साहस किया, तो वह उस संघकी सभासदीसे हटाया जाता है। यह युरोप अमेरिका के कर्मसंघोंकी प्रथा देखकर भगवद्गीताद्वारा भगवान् श्रीकृष्णने दिया हुआ संदेश सब जगत्में कैसा फैल रहा है, यह जानकर, गीताके सत्य सिद्धान्तों का निःसन्देह विजय होगा, यही निश्चय मनमें स्थिर होजाता है।

दुर्जय काम।

इसके पश्चात् अध्यायसमाप्तितक (श्लो० ३६-४३ तक) दुर्जय काम को जीतनेका विषय कहा है। यह काम रजोगुणसे उत्पन्न होनेके कारण भोग बढानेकी प्रेरणा मनुष्योंके अन्तःकरण में करता है। इससे मनुष्य अनंत पाप करते हैं। और पापोंसे दुःख भोगते हैं। मनुष्योंके मनोंपर प्रायः इस काम का मल लगा रहता है। इस काम की तृप्ति कभी भोगोंसे नहीं होती, इसी लिये जो मनुष्य उन्नति चाहता है, वह अपने इंद्रियोंका संयम करे और संयमसे इस दुर्जय काम को जीते। संयमका बल बडा भारी है और मनोनिग्रह से ही इस दुर्जय शत्रुका पराजय करना संभव है।

मनुष्यकी आत्मामें इंद्रियाँ, और बुद्धिसे भी बढकर अनंत शक्ति है। इस शक्तिका विचार कर के मनुष्य इस काम के आधीन न बने, क्यों कि इस तरह शत्रुके आधीन हो जानेसे मनुष्य का आत्माही निर्बल हो जाता है। अतः इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह आदि से अपने आत्मिक बल

के द्वारा इस दुर्जय कामको जीतना चाहिये ।

अध्यायका सार ।

संक्षेपसे अध्यायका यह सार है । इसका भी सार अत्यंत थोडे शब्दोंमें देखना हो तो निम्न-लिखित रीतिसे देख सकते हैं—

१ भोगेच्छाका संयम धर्मसे करना । काम दुर्जय और पापमें प्रवृत्त करनेवाला है; अतः वह मनुष्यका शत्रु है । संयमसे उसको जीत कर आत्मिक बल बढाना चाहिये ।

२ अहंकार का त्याग करके, प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं, इन गुणोंके न होनेपर कोई मनुष्य कर्म नहीं कर सकता, ऐसा मानकर अपने आपको कर्ता होनेके अभिमानसे दूर रखना चाहिये ।

३ प्रकृतिस्वभाव के अनुरूप कर्म होते हैं, इस लिये अपनी प्रकृति स्वभाव के अनुरूप जो अपने मनकी निष्ठा हो, उसके अनुसार दक्षतासे कर्म करने चाहियें ।

४ ढोंग से ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिये, जो अपने सहज कर्तव्यसे प्रतिकूल हो । हठसे ऐसे विरुद्ध कर्म कोई न करे ।

५ अपना सहज धर्म आचरण करते समय मृत्यु आया तो भी उसमें कल्याण है, परंतु ढोंगसे विरुद्ध कर्म करके कुछ लाभ भी प्रतीत हुआ, तथापि अन्तमें वह भयंकर हानि करनेवाला सिद्ध होगा ।

६ मनुष्य के लिये सर्वथा कर्म का त्याग असंभव है, इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य कर्म न छोडे ।

७ यज्ञ के लिये (अर्थात् श्रेष्ठोंका सत्कार, अपनी संघटना और दीनोंके ऊपर उपकार करनेके लिये, परमार्थके लिये) मनुष्य अवश्य कर्म करे ।

८ लोकसंग्रहके लिये (अर्थात् जनता की रक्षा और उन्नति के लिये) मनुष्य अवश्य कर्म करे ।

९ मनुष्यकी उन्नति के लिये उत्तम उपाय यह है कि वह अपने सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करे । ईश्वरको अपने सन्मुख उपस्थित जानकर उसके लिये कर्म करे ।

१० इस प्रकार कर्म करनेसे मनुष्य आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट (अर्थात् आप्त-काम किंवा अकाम) होगा (यह अवस्था प्राप्त होनेपर उस के लिये कोई कर्म अव-शिष्ट नहीं रहेगा ।

सारांशसे इस अध्यायका यह सार है । इन दस नियमोंका मनन करके कर्तव्यकर्म करते रहनेसे मनुष्य उत्तम कर्मयोगी हो सकता है । अब ज्ञानयोग और कर्मयोग की तुलना करते हैं ।

ज्ञानयोग और कर्मयोग ।

ज्ञानयोग और कर्मयोग, किंवा ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा, अथवा सांख्यमार्ग और योगमार्गकी तुलना करते हैं;इस तुलनासे दोनों मार्गोंकी समानता कहां है और विषमता कहां है इसका पता पाठकोंको लग सकता है—

योगोंके नाम ।

ज्ञानयोग	कर्मयोग ३।३
ज्ञाननिष्ठा	कर्मनिष्ठा,योगमार्ग
सांख्यमार्ग	योग ३।३
सांख्ययोग, सांख्य	योगबुद्धि।२।३९
सांख्यबुद्धि २।३९	(समत्व)बुद्धियोग २।४९

कर्मयोगकी व्याख्या ।

समत्वं योग उच्यते २।४८
योगः कर्मसु कौशलं २।५०
समाधौ अचला बुद्धिः योगः । २।५३
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पः योगधर्मः महतो भयात्त्रायते२।४०
अत्र एका व्यवसायात्मिका बुद्धिः २।४०
बुद्धौ शरणमन्विच्छ २ । ४९
(समत्व) बुद्धियोगः कर्मणः वरः ।
(बुद्धियोगात्कर्म अवरं) २।४९

आत्माके विषयमें तत्त्वज्ञान।

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
अविनाशी (आत्मा)। २।१२; २।१७	(स्वतंत्र आत्मा नहीं है)	अविनाशी आत्मा
अप्रमेय ,, २।१८	नान्यदस्तीति वादिनः। २।४२	अप्रमेयः ,,
अज, अमर, नित्य, शाश्वत, पुराण आत्मा। २।२०	(शरीरके साथ जन्मनेवाला और शरीरके साथ मरनेवाला)	अज, अमर, नित्य, शाश्वत, पुराण आत्मा।
अव्यय आत्मा २।२१	(शरीरके व्ययसे व्यय होनेवाला)	अव्ययः
अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन आत्मा। २। २३-२४	(विकारी, एकदेशी, चल इ०)	अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन आत्मा।
अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी आत्मा। २।२५	(व्यक्त, विकारी)	अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी आत्मा।
आश्चर्यरूप आत्मा। २।२९		आश्चर्यरूप आत्मा
अवध्य देही (आत्मा)। २।३०	(वध्य)	अवध्य आत्मा

आत्माके कुछ धर्म।		आत्माके कुछ धर्म।
सतः अभावः न विद्यते। २।१६	(सतः अपि अभावः भवति)	सतः अभावः न विद्यते।
देही नवानि शरीराणि गृह्णाति। २।२२	(पुनर्जन्म नहीं है)	देही नवानि शरीराणि गृह्णाति।
नित्यस्य (आत्मनः) अन्तवन्तः देहाः। २।१८	,,	नित्यस्य अन्तवन्तः देहाः।
जातस्य ध्रुवः मृत्युः मृतस्य च जन्म ध्रुवम्। २।२७	,,	जातस्य ध्रुवः मृत्युः, मृतस्य च जन्म ध्रुवम्।
अव्यक्तादीनि, व्यक्तमध्यानि, अव्यक्तनिधनानि भूतानि। २।२८		अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि भूतानि।

सांख्यमत	शरीरधर्म । अनात्मवाद	योगमत
असतः भावः न विद्यते । २।१६ विनाशी, प्रमेय, जन्मवान्, मरणधर्मी, अनित्य, अशाश्वत, व्ययवान्, छेद्य, दाह्य, क्लेद्य, शोष्य, एकदेशी, अस्थिर, चल, व्यक्त, चिन्त्य, विकारी, वध्य (शरीर)।	असत्य शरीरका अस्तित्व है ।	असतः (शरीरादेः) भावः न । विनाशी आदि (सांख्यमतानुसार)
	द्वन्द्वातीत स्थिति ।	
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति । २।११	(गतप्राणोंका शोक करना)	गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति ।
शीतोष्णसुखदाः स्पर्शा अनित्याः । २।१४	(सुखदुःख नित्य)	सुखदुःख अनित्य ।
(द्वन्द्वान्) तितिक्षस्व । २।१४	(सुखकी इच्छा, दुःखकी अनिच्छा)	द्वन्द्वतितिक्षा ।
समदुःखसुखः धीरः अमृतत्वाय कल्पते । २।१५	कामात्मनः । २।४३	निस्त्रैगुण्यः निर्द्वन्द्वः नित्यसत्त्वस्थः
	द्वन्द्वमय स्थिति	निर्योगक्षेमः आत्मवान् । २।४५
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीः । २।५६	संगभाव, विषमता	संगं त्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भव । २।२८
सर्वत्रानभिस्नेहः । ५।५७	रागी, लुब्धः भोगैश्वर्यप्रसक्तः । २।४४	
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः । २।५६	सुखे स्पृहा, दुःखे उद्विग्नता ।	बुद्धियुक्तः सुकृतदुष्कृते जहाति । २।५०
शुभं नाभिनंदति, अशुभं न द्वेष्टि । २।५७	शुभं अभिनन्दति, अशुभं द्वेष्टि ।	सुखदुःखे समे, लाभालाभौ जयाजयौ समौ कृत्वा पापं न अवाप्स्यसि । २।३८
अपरिहार्येऽर्थे शोकः न । २।२७	अपरिहार्येऽर्थेऽपि शोकः ।	अपरिहार्येऽर्थे शोकः न कार्यः ।
	संयम	
सर्वान्मनोगतान्कामान्प्रजहाति, आत्मनि आत्मना तुष्टः । २।५५	कामात्मानः, स्वर्गपराः । २।४३ भोगैश्वर्यप्रसक्ताः । २।४४	मुक्तसंगः यज्ञार्थं कर्म समाचर । ३।९

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
इंद्रियाणि इंद्रियार्थेभ्यः संहरति। २।५८	त्रैगुण्यविषयाः। २।४५ इंद्रियाणि संयम्य यः विषयान्स्मरन् आस्ते सः मिथ्याचारः। ३।६	इंद्रियाणि मनसा नियम्य असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं आरभते स विशिष्यते। ३।७
इंद्रियाणि संयम्य मत्परः (ईशपरः) युक्तः आसीत। २।६१	इंद्रियाणि मनः हरन्ति। २।६०	इंद्रियाणां रागद्वेषयोर्वशं न गच्छेत्। तौ अस्य परिपन्थिनौ ३।३४
इंद्रियाणि यस्य वशे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। २।६१ यस्य इंद्रियाणि निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। २।६८	इंद्रियाणां चरतां मनः प्रज्ञां हरति। २।६७ कामकामी शान्तिं नाप्नोति। २।७०	इंद्रियाणि नियम्य ज्ञानविज्ञाननाशनं पाप्मानं कामं प्रजहि। ३।४१ कामः क्रोधश्च महापाप्मा महाशनः। तं वैरिणं विद्धि। ३।३७
निराहारस्य विषया विनिवर्तन्ते। परं दृष्ट्वा रसः अपि निवर्तते। २।५९	फलहेतवः कृपणाः। २।४९	आत्मानं बुद्धेः परं बुद्ध्वा आत्मनात्मानं संस्तभ्य, दुरासदं कामरूपं शत्रुं जहि। ३।४३
रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादमधिगच्छति। २।६४	विषयान्ध्यायतः तेषु संगः उपजायते, संगात्कामः, कामात्क्रोधः, क्रोधात्संमोहः, संमोहाद् भ्रमः, स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति। २।६२-६३	इंद्रियाणि नियम्य, असक्तः कर्मयोगमारभते स विशिष्यते। ३।७ असक्तः कर्म आचरन् परं आप्नोति।३।१९
संयमी जागर्ति। २।६९	कामेन ज्ञानं आव्रियते। ४।३८ कामः दुष्पूरः अनलः। ३।३९	मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। ३।५२
(विषयान्) पश्यतो मुनेः निशा। २।६९	कामस्य अधिष्ठानं इंद्रियाणि मनः बुद्धिः। ३।४०	कामः ज्ञानिनः नित्यवैरी, अतः तं जहि। ३।३९

अंतिमासिद्धि ।

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
आपूर्यमाणं कामाः प्रविशन्ति सः शान्ति आप्नोति । २।७०	कामः ज्ञानं आवृत्य देहिनं विमोहयति । ३।४०	कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबंध-विनिर्मुक्ताः अनामयं पदं गच्छन्ति। २।५१
सर्वान्कामान् विहाय निःस्पृहः निर्ममः निरहंकारःचरति सः शान्तिमधिगच्छति। २।७१	अकर्मणः शरीर यात्रापि न प्रसिद्धयंत् । ३।८	(योग) बुद्धया कर्मबध प्रहास्यसि, २।३९
		आत्मरतिः आत्मतृप्त आत्मसन्तुष्टः तस्य कार्यं न विद्यत । ३।१७
ब्राह्मीं स्थितिं प्राप्य न मुह्यति । २।७२		
प्रसाद सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । प्रसन्नचेतसो बुद्धिः पर्यवतिष्ठते । २।६५	सर्वज्ञानिविमूढाः अचेतसः । ३।३२	कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। ३।२०
अन्तकालेऽपि ब्राह्मयां स्थितौ स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति । २।७२		श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्त तऽपि कर्मभिः । ३।३१
		नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतनेह कश्चन । नचास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रय । ३।१८
		कर्मयोग
	अकर्मणि संगः । २।४७	कर्मणि ते अधिकारः । २।४७
		अकर्मणि संगः मास्तु । २।४७
	कर्मफलहेतः । २।४७	कर्मफलहेतुः मा भूः । २।४७
	फलेषु अधिकारः । २।४७	फलेषु ते अधिकारः मा । २।४७
	अयुक्तस्य बुद्धिः, भावना, शान्तिः सुखं च न । २।६६	योगस्थः कर्माणि कुरु । २।२८
		नियतं कर्म कुरु । ३।८
	अकर्मकृत् । ३।५	कश्चिदकर्मकृत्तिष्ठति । ३।५
		प्रकृतिजैर्गुणैः सर्वः कर्म कार्यते । ३।५
		अकर्मणः कर्म ज्यायः । ३।८
		कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं न । ३।४

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
		अनासक्तियोगः ।
	आसक्त्या कर्म करोति ।	असक्तः कार्यं कर्म समाचर । ३।१९
		ईश्वरार्पण कर्म ।
	ये आत्मकारणात्पचन्ति ते पापाः । ३।१३	मयि (ईश्वरे) सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य अध्यात्मचेतसा निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व । ३।३०
	अघायुरिन्द्रियारामो मोघं जीवति । ३।१६	कर्माणि कुरु । ३।३०
		लोकसंग्रह ।
	अप्रदाय भुंक्ते सः स्तेनः । ३।१२	लोकसंग्रहं कर्तुं मर्हसि । ३।२० उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहं । संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः । ३।२४
		यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ३।२१
		यज्ञः
	यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः । ३।९	प्रजाः सहयज्ञाः सृष्टाः । ३।१० यज्ञेन प्रसविष्यध्वम् । ३।१० यज्ञः इष्टकामधुक् । ३।१० यज्ञः कर्मसमुद्भवः । ३।१४ कर्म ब्रह्मोद्भवम् । ३।१५ यज्ञेन देवान्भावयत, देवाः वः यज्ञेन भावयन्तु । परस्परं भावयन्तः परंश्रेयः अवाप्स्यथ । ३।११

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
		बुद्धिभेदवर्जन। अज्ञानां कर्मसंगिनां बुद्धिभेदं न जनयेत् । विद्वान् युक्तः समाचरन् सर्वकर्माणि जोषयेत् । ३।२६ कृत्स्नवित् मंदान्न विचालयेत् । ३।२९
प्रकृति कर्म करती है पुरुष स्वतंत्र है वह अकर्ता है।	अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते । ३।२७	**कर्ता।** प्रकृतेः गुणैः सर्वशः कर्माणि क्रियमाणानि । ३।२७ गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा तत्त्वविन्न सज्जते । ३।२८

पूर्वोक्त कोष्टक में "सांख्यमत, योगमत और इन दोनों मतों को न माननेवाले विवेकभ्रष्ट लोगोंका आत्मघातक मत संक्षेपसे दिया है। भगवद्गीताके पूर्वोक्त तीनों अध्यायोंमें यही मत आगये हैं। यहां कोष्टक रूपमें देनेसे और तीनों मतवादियोंके मत आमने सामने रखनेसे पाठकों को तीनों मतोंका साथ साथ विचार करना सुगम हो सकता है। जहां गीताके श्लोकका संबंध है वहां अध्याय और श्लोक का अंक दिया है और जहां गीता के श्लोकसे अनुमान किया है, वहां श्लोकांक दिया नहीं है।

इस कोष्टक को देखनेसे पाठक जान सकते हैं कि सांख्यमत और योगमत में आत्मतत्त्व, शरीर-तत्त्व, द्वन्द्वातीत स्थिति, इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह, इनके विषयमें तत्त्वोंकी समानता है। अर्थात् इन के विषयमें दोनों के समान उपदेश हैं। जहां कर्म-योग, कर्मतत्त्व, अनासक्ति,ईश्वरार्पण कर्म, लोक-संग्रहार्थ कर्म, यज्ञतत्त्व, कर्ता का विचार आदि के संबंधमें विचार चलता है वहां के विचार कर्मयोग के साथ अधिक संबंध रखते हैं। इनमें भी जहां "प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं, इनका कर्ता आत्मा नहीं है" (३।२७-२८) ऐसा कहा है, वह विचार सांख्य तत्त्व का ही है, ऐसा हमें प्रतीत होता है,क्योंकि सांख्यमत में ही "प्रकृति सब कुछ करती है, पुरुष का उस से कुछ संबंध नहीं" यह तत्त्व प्रधानतया कहा है। यद्यपि भगवद्गीतामें सांख्यमतप्रतिपादक द्वितीयाध्यायमें ऐसा किसी स्थानपर नहीं कहा, तथापि सांख्य-मतप्रतिपादक सभी ग्रंथोंमें पुरुष को अकर्ता और प्रकृतिको कर्ता माना है। इसी तरह अना-सक्ति का तत्त्व भी सांख्य मतके साथ मिलने-वाला है, क्यों कि पुरुष प्रकृतिसे भिन्न होनेसे वह स्वभावसेहि अनासक्त है, इसीलिये अना-सक्तिसे वह मुक्ति अर्थात् निजानन्दावस्था प्राप्त करता है और आसक्तिसे बद्ध होता है॥

जो भगवद्गीता का अभ्यास करनेवाले पाठक

हैं, वे यदि अध्ययन किये हुए गीता के श्लोकोंसे इस प्रकार वचन छांट छांट कर एक एक विषय के वचन अलग अलग करेंगे, तो उनको प्रत्येक विषय के संबंधमें भगवद्गीताका कथन निश्चय रूपसे क्या है इसका ठीक पता लगेगा। पाठकों की सुबोधता के लिये और सांख्य और योग की तुलना करनेके लिये यहां दो कोष्टक दिये हैं, इनमें वे दोनों मतों की समता कहां है और विषमता कहां है यह बात देख सकते हैं। साथ ही तीसरा भी एक कोष्टक है, उसमें आत्मघातक विचार संग्रहित किये हैं,इनकी भी तुलना पूर्वोक्त दोनों मतों के साथ पाठक करके योग्य बोध ले सकते हैं। ये कोष्टक पूर्ण नहीं हैं, प्रयत्नसे इनको परिपूर्ण बनाया जा सकता है। यहां केवल इस की अभ्यास में उपयुक्तता है यह दर्शाने के लिये ही ये अपूर्ण कोष्टक दिये हैं। इस प्रकार विवेचनापूर्वक प्रयत्न करते रहनेसे कभी न कभी ये कोष्टक पूर्ण बनना संभव है अब हम इन कोष्टकों का भी सार निकाल कर प्रत्येक मत का स्वरूप अति संक्षेपसे दिखाते हैं—

ज्ञानयोग।

सांख्यतत्त्व।

"मनुष्य के शरीरमें जो आत्मा है वह अजन्मा अविकारी, अमर, अव्यय, अविनाशी, नित्य, सनातन, पुराण, अप्रमेय, अतर्क्य, अचिन्त्य, आश्चर्यरूप है और वह सर्वगत है। यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य और अवध्य है।"

"इस का शरीर जन्मता है, पुष्ट अथवा कृश होता है, तरुण, वृद्ध और जीर्ण होता है, अन्तमें मरता है। यह शरीर काटा, जलाया, भिगाया अथवा सुखाया जाता है। यह शरीर विकारी है, व्यक्त है और एकदेशी है।"

"शरीर जन्मता है अतः उसका मृत्यु अवश्य होगा। शरीर मरनेपर भी उसके अन्दर रहनेवाला आत्मा जैसा का वैसा रहता है। शरीर का जन्म होनेसे अथवा नाश होनेसे आत्मामें कोई बदल नहीं होता। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र छोडकर नये धारण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा पुराने शरीर छोडकर नये शरीर धारण करता है।"

"जैसा आकाश अनेक घरोंमें और अनेक घडों में रहता है, कोई घर जल गया अथवा एकाध घडा फूट गया, तो आकाशमें कोई अदल बदल नहीं होता, वैसा ही शरीर के नाश से या बनने से आत्मा पर कोई परिणाम नहीं होता।"

"सुखदुःख शीतउष्ण, आदि द्वन्द्व शरीर को होते हैं,आत्मा इनसे अलिप्त है। यह जान कर धैर्य से तितिक्षा वृत्तिसे और सम भावनासे अपने आपको उन द्वन्द्वोंसे अलिप्त अनुभव करना और सदा हर्षशोक से दूर रहना चाहिये। इस से अमृतत्व प्राप्त होता है।"

"मनमें उत्पन्न होनेवाली सब कामनाएं छोडकर इंद्रियोंको विषयों से अलग कर, उनका संयम कर, रागद्वेषोंसे इंद्रियोंको मुक्त कर, सब इंद्रियोंको अपने वशमें रखकर, निःस्पृह, निर्मम, निरहंकार होकर, अपने से हि अपने आत्मामें तृप्त होकर, आत्माका ही चिंतन करता हुआ जो विचरता है, उसको प्रसन्नता प्राप्त होती है।"

"विषयोंके हमलेसे अपना बचाव करनेके लिये सदा सावध रहना चाहिये। विषयोंको देखते हुए भी मन निर्विकार रखना चाहिये, जैसा कि विषय देखेहि नहीं। जो ऐसा निर्विकार रहता है वह मुक्त होता है।"

"प्रकृतिसे कर्म हो रहे हैं,आत्मा अकर्ता है,ऐसा जो अनुभव करता है वह ब्रह्मरूप बनता है।"

यह सांख्यतत्त्व है। वारंवार मनन करने से, वारंवार ध्यान करनेसे, वारंवार इसी विचार को मनमें स्थिर करनेसे, यह तत्त्व सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्टतया अनुभवमें आता है। और

यही सहज अकृत्रिम स्थिति हो जाती है। इस तरह इसका साक्षात्कार हुआ और उसकी सहजानन्द की अखंड स्थिति होगई, तो समझना चाहिये कि उसको अन्तिम ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हुई। श्रवण मनन निदिध्यासन और आत्मानुसंधानसे यह स्थिति प्राप्त होती है। सब कर्म छोडना और केवल आत्मानुसंधान करना इसमें आवश्यक है। यह मार्ग केवल ज्ञाननिष्ठावालों सेहि आक्रमण किया जा सकता है।

कर्मयोग

योगतत्व।

"आत्माका अमरत्व और शरीरका विनाशित्व आदि जो कथन सांख्य मार्गमें कहा है वही यहां मन्तव्य है। इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह आदि सभी सांख्य तत्व की बातें यहां आवश्यक हैं।"

परंतु जिसकी बुद्धि मनन, निदिध्यासन और आत्मानुसंधान में स्थिर नहीं रहती, वारं वार विचलित होती है, और इस चंचलता के कारण जो उच्च भूमिकामें जा नहीं सकता, उस मनुष्यको विविध प्रकार के कर्म करते हुए चित्तकी शुद्धि करना आवश्यक है। ऐसे मनुष्योंके लिये यह कर्मयोग का मार्ग है।

"इंद्रियोंका संयम करना, रागद्वेषोंके वश न न होना, काम को जीतना, क्रोध का शमन करना, शरीर इंद्रियां मन और बुद्धिसे परे आत्मतत्व है और वह विशेष शक्तिमान है, ऐसा मानना, और इसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये अनुष्ठान करना यहां आवश्यक है।

"इसके लिये फलाशा का त्याग कर कर्म करना चाहिये, द्वन्द्वोंके विषयमें सम बुद्धि रखना चाहिये, प्रत्येक कर्म कुशलतापूर्वक करना चाहिये और फल परमार्थ के लिये समर्पित करना चाहिये। कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है, प्रत्येक प्राणी कर्म किये विना रह नहीं सकता। प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म होता ही रहता है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपना नियत कर्म करे, और उसका फल दूसरों की भलाई के लिये किंवा परमेश्वरकी प्रीतिके लिये समर्पित करे।"

"जनता के हित के लिये लोकसंग्रह की बुद्धिसे अवश्य सब कर्म मनुष्य करे और उनका फल लोकहित के लिये समर्पित करे। यही यज्ञ है। यज्ञ से सब जगत् की धारणा होती है। अतः यज्ञ रूप कर्म मनुष्य अवश्य करे। ऐसे कर्म करने से चित्तशुद्धि होगी और मन स्थिर होने लगेगा और पश्चात् सांख्य मार्गमें कहे आत्मानुसंधान से वही ब्राह्मी स्थिति इस को प्राप्त होगी।"

इस से स्पष्ट है कि अखंड एकरस सर्वगत आत्मा है, इस का अनुभव करनेके लिये सब जनता के हितके लिये, सब प्राणिमात्र की भलाई के लिये अपने कर्मोंका फल समर्पित करनेका अनुष्ठान करनेकी दीक्षा कर्मयोग देता है। कर्मयोगी लोकसंग्रह, लोकहित, जनहित आदि बुद्धि से कर्म करता है, उस कर्मका फल जनता के लिये सौंप देता है इससे भी न समझते हुए वह 'सर्वगत आत्मा' की ही उपासना करता है, ऐसा करते करते उसको किसी न किसी दिन 'सर्वगत आत्मा' का साक्षात्कार होता है। इस तरह कर्म मार्गी कर्म करता हुआ, पहिले स्वार्थसे कर्म, नंतर परार्थ केलिये कर्म, पश्चात् परमार्थ के लिये कर्म करता हुआ, चित्त को स्थिर करता है और अन्तमें वैसा ही कृतकृत्य होता है।"

इस प्रकार सांख्य और योग का तत्वज्ञान है, इन मार्गोंमें सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये योगमार्ग किंवा कर्मयोगमार्ग सुगम है। अतः वह सदा सर्व साधारण मनुष्योंके लिये श्रेयस्कर है।

तृतीयाध्यायका विचार समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी।

तृतीयाध्याय की विषयसूची।

तृतीय अध्याय समाप्त।

अथ चतुर्थोऽध्यायः।

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग।

(१) पूर्व इतिहासका महत्त्व।

श्रीभगवानुवाच— इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच—अहं अव्ययं योगं विवस्वते प्रोक्तवान्। विवस्वान् मनवे प्राह। मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत् ॥१॥ हे परंतप! एवं परंपराप्राप्तं इमं (योगं) राजर्षयः विदुः। सः योगः इह महता कालेन नष्टः ॥२॥ सः एव अयं पुरातनः योगः मया अद्य ते प्रोक्तः। (त्वं) मे भक्तः सखा च असि इति, हि एतत् उत्तमं रहस्यम् ॥३॥

श्रीभगवान् बोले- मैंने इस अविनाशी योगको विवस्वान्से कहा था, विवस्वान्ने मनुसे कहा, और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा ॥१॥ हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन! इस प्रकार परंपरासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना था, परंतु वह योग इस पृथ्वीपर बहुत समयसे लुप्तप्राय हो गया ॥२॥ वही यह पुरातन योग मैंने आज तेरे लिये कहा, क्यों कि तू मेरा भक्त है और प्रियमित्र है तथा यह योग भी उत्तम रहस्य की बात है ॥३॥

भावार्थ— ज्ञानयोग और कर्मयोग रूप जो ज्ञान इससे पूर्व कहा था वह कभी नाशको प्राप्त होनेवाला नहीं है; वह सत्य होनेसे अविनाशी और त्रिकालाबाधित है। परमेश्वरसे वह विवस्वान् को, उससे मनुको और उससे वही ज्ञान इक्ष्वाकुको प्राप्त हुआ था। इस राजर्षियोंकी परंपरासे यह ज्ञान पृथ्वीपर बहुत समय तक रहा था, परंतु बहुत समय के पश्चात् लोग इस ज्ञानको भूल गये! अतः वही सनातन ज्ञान आज तुझ क्षत्रियको दिया है। यह कोई नया मनघडन्त नहीं है। तू भगवद्भक्त और ईश्वरका सखा प्रेमी है, अतः यह उत्तम रहस्यका ज्ञान तुझे आज दिया गया है। इसको तू अपने मनमें स्थिर रख, इसका अनुसरण कर और कृतकृत्य हो ॥ १—३ ॥

(१-३) पूर्व अध्यायोंमें कथित ज्ञानयोग, कर्मयोग किंवा कर्मसंन्यासयोग के विषयमें अधिक स्पष्टीकरण इस चतुर्थ अध्याय में है। इन योगोंके विषयमें मनमें कई शंकाएं उपस्थित होती हैं उनका विशेष स्पष्टीकरण पाठक इस चतुर्थ अध्यायमें देख सकते हैं। इसी लिये इस अध्यायका नाम 'ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग' रखा है।

सार्वभौमिक तत्त्वज्ञान।

यहां पहिली शंका यह है कि, " जो भगवान् श्रीकृष्णजीने अर्जुन से कहा, वह केवल अर्जुन को युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये कहा, अतः उसको विशेष प्रमाण मानना अयोग्य है। किसी न किसी युक्तिसे युद्धसे निवृत्त हुए वीरको युद्धके लिये प्रवृत्त करना था। वह कार्य श्रीकृष्ण भगवान् ने किया, अतः यह कथन सार्वकालिक और सार्वभौमिक महत्त्वका नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें सामयिक महत्त्वकाहि उपदेश है; इस लिये हम इसको क्यों प्रमाण मानें? हम पुरातन सनातन सार्वभौमिक और सार्वकालिक धर्मतत्त्वको ही मानेंगे, सामयिक तत्त्व तो एकदेशी होनेसे सबके लिये माननीय नहीं हो सकता।"

कई लोग इस प्रकार की शंकाएं करते हैं। अतः इस शंकाको दूर करनेके लिये, और इस ज्ञान की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता की सिद्धता करने के लिये स्वयं भगवान् कहते हैं कि—"इस योग को मैंने ही प्राचीन समयमें विवस्वानसे कहा था, इसीको विवस्वानने मनुसे कहा और उसने इसी को इक्ष्वाकुसे कहा था। इस तरहसे यह कर्मयोग का ज्ञान श्रेष्ठ राजाओं में परंपरा से बहुत समय तक जाग्रत रहा था।" अर्थात् विवस्वान् मनु इक्ष्वाकु आदि राजा लोग अपना जीवनक्रम इसी योग के अनुसार चलाते रहे और कृतकृत्य बने। यह कर्मयोग राजर्षियोंके लिये बडा उपयोगी है। अर्जुन राजशासन चलानेवाला प्रसिद्ध क्षत्रिय है, इस कारण उसको भी यही योग पालन करना उचित है।

ज्ञान का लोप।

यद्यपि इक्ष्वाकु आदि राजालोग इस कर्मयोगका आचरण करते रहे, और राजा महाराजों, क्षत्रियों और राजपुरुषोंकी पाठविधि में यह पढाईका विषय था, तथापि मनुष्यमात्रकी प्रवृत्तिमें थोडीसी शिथिलता रहती है, इस कारण सत्य सनातन धर्मनियम भी, वारंवार चालना न हुई, तो लुप्तप्राय हो जाते हैं; इस रीतिके अनुसार "यह ज्ञान भी इस पृथ्वीपर से बहुत कालसे लुप्त हुआ।" इस ज्ञानके लुप्त होनेसे हि अर्जुन इस धर्मयुद्ध से निवृत्त होनेकी चेष्टा करने लगा, और उसको ठीक मार्गपर लानेके लिये इतना उपदेश फिर से सुनाना अत्यंत आवश्यक हुआ!! अर्थात् यह उपदेश जो कि श्रीकृष्ण भगवान्ने अर्जुनसे कहा, वह कोई नया उपदेश नहीं है, वह अविनाशी सनातन ज्ञान है, इतनाही नहीं प्रत्युत यह बडी रहस्य की भी बात है। अर्जुन श्रीकृष्ण भगवान् जी का परम मित्र और बडा भक्त था, इस कारण भगवान् के द्वारा यह बोधामृत उसको पिलाया गया। नहीं तो ऐसी मर्म की बात कौन किसको बताता है?

इस प्रकार यहां बताया गया कि यह ज्ञान कोई मनघडन्त उपदेश नहीं है। जो त्रिकालाबाधित सनातन सत्यज्ञान विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजाओंको प्राचीन कालमें दिया गया था, और जिस ज्ञानसे वे राजश्रेष्ठ कृतकृत्य हुए थे, वही सनातन ज्ञान इस समय अर्जुन के द्वारा सब संसारको दिया गया है। अर्थात् यह सनातन सत्य ज्ञान है, अतः उन्नति चाहनेवाले हरएक को यह मानना और आचरणमें लाना चाहिये।

प्राचीन इतिहास की साक्षी।

विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजा लोग अर्जुनसे कई शताब्दी पूर्व भारतवर्षमें हुए थे। ये सूर्यवंशके बडे प्रतापी राजा थे। अर्जुन और श्रीकृष्ण, किंवा कौरवपांडव और यादव ये चन्द्रवंशी थे। श्रीकृष्ण स्वयं चन्द्रवंशमें प्रतापी महापुरुष थे। अर्जुन भी चंद्रवंशका विख्यात वीर था। चन्द्रवंशमें भी कई वीर बडे धुरंधर और विख्यात हुए थे, तथापि सूर्यवंशके राजालोगोंका प्रताप चन्द्रवंशीयोंसे कई गुणा अधिक उस समय भी माना जाता था इसमें संदेह नहीं है। पृथु, मांधाता, हरिश्चन्द्र, दिलीप, भगीरथ, नाभाग, अंबरीष, सिंधुद्वीप, रघु, दशरथ, राम,

नल, आदि सूर्यवंशी राजाओंके नाम महाभारतमें वारंवार आते हैं और आदर्श राजा करके इनका उल्लेख महाभारतमें वारंवार हुआ है। सूर्यवंशी राजाओंने भारतवर्षमें और भारत वर्ष के बाहर के देशोंमें भी अपना यश कमाया था। श्रीरामचंद्रजीने लंकाद्वीपके विदेशी रावण राजा का नाश करके भारत वर्षीय जनताको और त्रिविष्टपके ३३ करोड देववीरोंको रावणके बंदिवास से मुक्त किया था। इस कारण त्रिविष्टप, भारत वर्ष और पाताल तक के भूभागपर सूर्यवंशीय राजाओंका प्रताप सर्वमान्य हुआ था, इस कारण इस समय तक 'रामराज्य' की प्रसिद्धि है। राजा भगीरथ के प्रयत्न से गंगा नदी का भारत वर्षमें आना और उत्तर भारतवर्ष को जलसे पूर्ण और उपजाऊ करने का कार्य सुप्रसिद्ध है। हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठा तो प्रसिद्ध है। मनु ने सबसे प्रथम जनता को धर्मशास्त्र दिया था। इसलिये धर्मशास्त्रके इतिहासमें 'पहिला धर्मप्रवर्तक' होने का सन्मान इसीको प्राप्त हुआ है। इक्ष्वाकुके प्रताप के कारण उसके नामसे हि एक राजवंश प्रसिद्ध हुआ है। सूर्यवंशके कई राजाओंकी देवराज इन्द्रको भी सहायता हुई है और इन्द्रपदके विषयमें स्पर्धाभी हुई है। इत्यादि कारण सूर्यवंशीय राजाओंका प्रताप सर्वतोपरि माना जाता था। इसीलिये अर्जुन को समझाने के समय श्रीकृष्णभगवान ने यहां सूर्यवंशके तीनों नाम लिये हैं और पूर्व अध्याय (३।२०) में जनक नामक सूर्यवंशीय राजाका नाम भी अर्जुन को आदर्श बतानेके लिये संमानके साथ लिया है। सोमवंशी दो वीर आपसमें बातचीत करते समय अथवा एक दूसरेको तत्वज्ञान समझानेके समय सोमवंशियों के नाम न लेते हुए सूर्यवंशियोंके नाम लेते हैं; इससे सूर्यवंशीय प्रतापी वीरोंकी प्राचीनता और विशेष वीरवत्ता स्पष्ट रीतिसे सिद्ध होती है। विभूतियोग (अ० १०) में भी जहां प्रत्येक जाती का उल्लेख कर कर के उस जातीके मुख्य मुख्य विभूतिका नाम लिया है वहां वृष्णियोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें धनंजय ये दो नाम चन्द्रवंशियोंके कहे हैं। वृष्णि जातीमें वासुदेव और पांच पांडवों में धनंजय मैं हूं ऐसा कह कर, सूर्यवंशीय वीर रामचन्द्रका जिस समय उल्लेख किया है, वहां—

रामः शस्त्रभृतामहम्। (भ० गी० १०।३१)

" संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें श्रीरामचन्द्र जैसे श्रेष्ठ हैं वैसा मैं हूं " ऐसा कहा है। 'सूर्यवंशियों में राम मैं हूं' ऐसा नहीं कहा, परंतु जगत् में जितनेभी शस्त्रधारण करनेवाले वीर हैं, उन सब में दाशरथीराम सबसे श्रेष्ठ है, वह मैं हूं, ऐसा कहा। अर्थात् इससे सूर्यवंशीय वीरोंकी सार्वभौमिक श्रेष्ठता सिद्ध होती है। श्रीरामचन्द्र तो सूर्यवंशीय राजाओंमें श्रेष्ठ हैं हि, परंतु साथ साथ इस भूमंडलके संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें भी वे श्रेष्ठ हैं, क्यों कि द्वीपान्तरीय प्रबल शत्रुका पराभव उसने किया, और देवराष्ट्र और मानवराष्ट्र को पुनः स्वातंत्र्य प्रदान किया।

यहां और एक दृष्टिसेभी सूर्यवंशी और सोमवंशीयोंकी तुलना हो सकती है। सोमवंशी कौरव पांडव भाई भाई होते हुए भी आपस में लढकर अपने देशकेहि १८ अक्षौहिणी वीर सैनिकों का नाश करने के लिये कारण हुए! यादव तो आपसमें लड लडकर नष्टही हुए !! अर्थात् इन की आपसकी दुरवस्था यहां तक पहुंच चुकी थी कि इनमें बुद्धि और वीरता रहते हुए भी ये आपसकी संघटना करके जगज्जेता न बन सके। यदि युधिष्ठिरका धर्मनिश्चय, भीम दुर्योधन का बल, भीष्म द्रोणका युद्ध कौशल, अर्जुन कर्णका शरसंधान, और श्रीकृष्णजी की युक्ति इनकी आपस में संघटना हो जाती, तो ये कौरव पांडव और यादव मिलकर निःसंदेह सब भूमंडलपर दिग्विजय कर लेते। भगवान् श्रीकृष्णजी का कौरव सभा में जाकर आपस में समझौता करनेका यत्न इसीलिये था, परंतु कौर-

वोंकी मनःस्थिति यहांतक पहुंचचुकी थी कि यह संघटना बन नहीं सकी। अब श्रीरामचन्द्रजी के समय की स्थिति देखिये। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण नगरसे बाहर किये गये थे। ये शक्ति रहनेपर भी अपने भाईयोंसे न लडे, न पितासे झगडे। शान्तिसे वनमें गये और वहां की वानर जातियोंकी संघटना करके, वानरोंके संख्याबल और अपने अस्त्रबल का मेल करके, भारतवर्ष और त्रिविष्टप को शताब्दियोंसे पारतंत्र्यमें रखने-वाले विदेशी लंकाद्वीपस्थ स्वार्थी और भोगी राक्षससम्राट दशमुख रावण का पूर्ण पराभव करके आर्योंका स्वराज्य पुनः स्थापित कर सके। और देवजाती कोभी रावणके बंदिवाससे मुक्त कर सके !!! यहां तुलना यह करनी है कि सोम-वंशी लोग आपस में लड कर नष्ट होते हैं, और सूर्यवंशी आपसमें लडनेका अवसर आनेपर भी न लडते हुए विविध जातियोंका मेल करके अप-ने संघटित प्रयत्नोंसे अपने देशका और लोगोंका यश बढाते हैं और अपना पूर्ण स्वतंत्र स्वराज्य शासन अपनी मातृभूमिमें स्थापित करते हैं। इस कारण श्रीरामचन्द्रजीको आदर्श विभूति मानना सर्वथा योग्य ही है। प्रायः सभी सूर्यवंशी राजाओंका ऐसा ही प्रताप है। इसलिये भगवद्गी-तामें इनको ही आदर्शरूपसे अर्जुनके सामने रखा है।

अस्तु प्राचीन इतिहास कहते हुए जो सूर्य-वंशियोंका उल्लेख भगवद्गीतामें आगया है, उस से यह अनुमान उस समय के इतिहास के विष-यमें होना संभव है। पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें।

पूर्वजोंका अनुभव।

यहां कई कहेंगे कि पूर्वजोंके नाम लेनेसे क्या होता है? क्या कभी यह माना जा सकता है कि फलाणी बात पूर्वजोंने मानी थी अथवा की थी: इसी कारण वह अच्छी और निर्दोष है?यह शंका स्वाभाविक है, और यह कोई निःसंदिग्ध नियम नहीं है कि प्राचीन कालसे मानी गई चीजें सब की सब अच्छीहि होती हैं। तथापि जो विचार या ज्ञान बहुत समयसे प्रचलित रहता है और जो आचार बहुत काल तक बडे पुरुषोंके आचरणमें रहता है, वह बहुत समय तक सुसंमत रहनेके कारण सहजही में तिरस्करणीय नहीं हो सकता, इतनाही नहीं प्रत्युत वह बहुत अंशसे जनताके लिये उपयोगी लाभदायक और सुखकारक होनेमें भी कोई शंका नहीं हो सकती। इसी दृष्टीसे पूर्वेतिहास के अध्ययन का महत्त्व है। विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु और जनक का नाम-निर्देश करके अर्जुनके मनपर यह विश्वास स्थिर करनेका यहां यत्न किया गया है कि, ये प्रतापी वीर भी इसी कर्मयोगसे श्रेष्ठ पदवीको प्राप्त हुए थे। और इसी कारण यदि अर्जुन इस ज्ञान को प्राप्त करेगा और इसके अनुसार चलेगा, तो वह भी उनके समान संमाननीय होगा। सोम-वंशीय वीरोंका नाम यहां न लेनेका कारण यह भी एक हो सकता है कि वे अपने हि हैं। अपने वंशीयोंके उदाहरणोंकी अपेक्षा इस तत्त्वज्ञानको माननेवाले यदि दूसरे देशवासीयोंमें, दूसरे वंशों में अथवा दूसरी जातियोंमें मिले, तो इस तत्त्व-ज्ञानका महत्त्व सार्वभौमिक रीतिसे स्वयं सिद्ध हो सकता है। इस दृष्टिसे भी सूर्यवंशीयोंके उदाहरण का महत्त्व अधिक है। यदि यह तत्त्व-ज्ञान विशेष उपयोगी न होता तो विवस्वान्,मनु, इक्ष्वाकु, जनक, जैसे प्रतापि और यशस्वी राजा लोग इसका स्वीकार क्यों करते? जिस कारण उन्होंने इस ज्ञानको माना और इसके अनुसार वे चले और कृतकार्य बने, उसी कारण इस ज्ञानकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है और इसी कारण आजके वीरोंको भी इसका स्वीकार करना चाहिये।

विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, जनक आदि राजा-ओंकी परंपरासे यह ज्ञान चला आया है, स्वयं भगवान् ने विवस्वान् से कहा और उसने अन्य राजाओंको कहा। इस कथनसे ऐसा कभी नहीं

मानना चाहिये कि यह कर्मयोगके ज्ञानकी परंपरा इतनीहि है। महाभारतमें इस परंपराका विशेष वर्णन है वह यहां देखिये—

यदासीन्मानसं जन्म नारायणमुखोद्गतम्।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल तदा नारायणः स्वयं॥
फेनपा ऋषयश्चैव तं धर्मं प्रतिपेदिरे।
वैखानसाः फेनपेभ्यो धर्मं तं प्रतिपेदिरे॥
वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः सोऽन्तर्दधे पुनः॥
यदासीच्चाक्षुषं जन्म द्वितीयं ब्रह्मणो नृप।
तदा पितामहेनैव सोमाद्धर्मः परिश्रुतः॥
नारायणात्मको राजन् रुद्राय प्रददौ च तम्॥
ततो योगस्थितो रुद्रः पुरा कृतयुगे नृप।
बालखिल्यानृषीन्सर्वान्धर्ममेतदपाठयत्॥
म० भा० शां० ३४८। १३-१८

यदिदं सप्तमं जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृप।
तत्रैष धर्मः कथितः स्वयं नारायणेन ह॥
पितामहश्च दक्षाय धर्ममेतं पुरा ददौ।
ततो ज्येष्ठाय दौहित्रे प्रादाद्दक्षो नृपोत्तम॥
आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वान्जगृहे ततः।
त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ॥
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ॥
नारदेन सुसंप्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः।
एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप॥
म० भा० शां० ३४८।४८-५४

इस स्थानपर कहा है कि ब्रह्मदेव के सात जन्म हुए और उनमेंसे प्रत्येक जन्ममें नारायणसे यह धर्म ब्रह्माजी को प्राप्त हुआ। पहिलीवार नारायणसे ब्रह्मा को, ब्रह्मासे फेनप ऋषियोंको, उनसे वैखानस ऋषियोंको, और उनसे राजा सोम को प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् शिथिलता उत्पन्न होकर इस धर्मका लोप हुआ।

जब ब्रह्मदेव का द्वितीय जन्म चाक्षुष नामसे हुआ, तब चाक्षुषने सोमसे इस धर्मको प्राप्त किया, उसने रुद्रको पढाया, और उसने बालखिल्य ऋषियोंको पढाया। तत्पश्चात् कालान्तरसे पुनः इसका लोप हुआ। इस प्रकार यहां (म० भा० शां० अ० ३४८ में) ब्रह्माजी के छः जन्मोंका वृत्तान्त दिया है।

पश्चात् आजकलके ब्रह्मा का सातवां जन्म हुआ। और नारायणने यह धर्म उसको पढाया। ब्रह्माने दक्षको सिखाया, दक्षने अपने ज्येष्ठ दौहित्र पुत्रको सिखाया। उससे विवस्वान् को प्राप्त हुआ, उस से मनु को और उससे इक्ष्वाकुको प्राप्त हुआ।

नारद ऋषिने भी यही धर्म रहस्य और संग्रह के साथ स्वयं नारायणसे प्राप्त किया था। इस तरह देखनेसे पता चलता है कि यह परंपरा वैखानस और बालखिल्य आदि ऋषियोंतक पहुंचती है। यहां भगवद्गीतामें दो तीन नाम लेकर संक्षेपसे कहा है, परंतु इस धर्मकी परंपरा इस प्रकार अति प्राचीन है, इस परंपराकी कालमर्यादा निश्चित करना इस समय अति कठीन कार्य है।

"इस तरह यह योग इस प्राचीन परंपरासे प्राप्त है।" ऐसा जो यहां कहा है वह इतनी प्राचीन परंपरा बतानेके उद्देश्यसे कहा है। तथा (इमं राजर्षयो विदुः) यह योग राजश्रेष्ठोंने जाना था, इससे कई लोग यह अनुमान निकालते हैं कि इस ज्ञानका पता ब्रह्मर्षियों को न था। यह विद्या केवल क्षत्रियोंके पास ही थी। परंतु महाभारतांतर्गत नारायणीयोपाख्यानसे उद्धृत किये ऊपर लिखित श्लोकोंके अनुसंधानसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह विद्या जैसी मनुइक्ष्वाकु आदि क्षत्रियों को प्राप्त थी, उसी प्रकार उनसे पूर्व यह विद्या नारद, बालखिल्य, वैखानस आदि प्राचीन ब्रह्मर्षियोंके भी पास थी। किंवा यह विद्या प्रारंभमें ब्रह्माको प्राप्त होनेके कारण ब्रह्म जाती के पास थी और उनसे क्षत्र जातीने प्राप्त की थी। श्रीमद्भगवद्गीता और नाराणीय उपाख्यान का बडा घनिष्ठ संबंध है और सिद्धान्तों के विषयमें भी दोनों की तुलनासे बडा अच्छा बोध प्राप्त हो सकता है।

अर्जुन उवाच-- अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

(२) पुनर्जन्म ।

श्रीभगवानुवाच-- बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच-भवन्तः जन्म अपरं, विवस्वतः जन्म परं, (अतः) त्वं आदौ एतत् प्रोक्तवान् इति (अहं) कथं विजानीयाम्? ॥ ४ ॥ श्रीभगवान् उवाच- हे परंतप अर्जुन ! मे तव च बहूनि जन्मानि व्यतीतानि; तानि सर्वाणि अहं वेद, त्वं न वेत्थ ॥ ५ ॥

अर्जुनने पूछा— हे भगवन् ! आपका जन्म तो अब हुआ है और विवस्वानका पुराने समयमें हुआ था, इसलिये आपने आदिकालमें यह ज्ञान उससे कहा था यह मैं कैसे मान लूं? ॥ ४ ॥ श्रीभगवान् बोले- हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत हीं जन्म हो चुके हैं। इन सबको मैं जानता हूं, परंतु तू नहीं जानता ॥ ५ ॥

भावार्थ— गुरु और शिष्यका समय एक हि होना चाहिये, गुरु इस समयमें हो और उसका शिष्य प्राचीन समयमें हो चुका हो, यह कैसे माना जा सकता है ? ॥ ४ ॥

इस प्रकार यह धर्म प्राचीन परंपरासे चला आता है, यह बात वीर अर्जुनने जान ली, और जब उसने यह सुना कि इस धर्मका उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने हि विवस्वान् से कहा था, तब उसके मनमें एक शंका उठी की, भगवान् श्रीकृष्णजी तो मेरे सन्मुख हैं, येही हजारों वर्षोंके पूर्व विवस्वान् को धर्मोपदेश कैसे कर सकते हैं। इनको जन्म धारण करके कुल सौ वर्ष भी नहीं हुए। अतः ये विवस्वान् को उपदेश कैसे दे सकते हैं ? यह अर्जुनकी शंका उसीके शब्दों से श्रवण करिये —

(४) श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनके सन्मुख उपस्थित हैं। उनकी आयुभी अर्जुनके समान ही है। अर्थात् कृष्ण और अर्जुन समानवयस्क थे। विवस्वान् तो इस कल्पके प्रारंभमें हुए थे। अतः इस समयके श्रीकृष्णके द्वारा कल्पके आदिमें जन्मे हुए विवस्वान् को धर्मज्ञानका बोध हुआ होगा, यह बात किस प्रकार संभवनीय हो सकती है ? अर्जुन की शंका स्थूल शरीर की दृष्टिसे नितान्त सत्य है, परंतु भगवान् श्रीकृष्णजी का कथन कारणशरीर की दृष्टिसे था। यह बात अर्जुनके ध्यानमें नहीं आयी, अतः उसने शंका की है। स्थूलदृष्टीवाले अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं, वह पुनर्जन्मका महत्त्वपूर्ण विषय अब देखिये —

पूर्वजन्मका स्मरण ।

(५—६) श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि, "हे अर्जुन! इस समयतक मेरे और तेरे अनन्त जन्म हो चुके हैं, परंतु तेरी बुद्धिपर अज्ञानका आवरण है, इसलिये तुझे उन जन्मोंका स्मरण नहीं है और मेरे पास उक्त अज्ञान न होनेसे मैं उन सब जन्मोंको यथावत् किंवा प्रत्यक्षवत् जानता हूं। अतः मुझे स्मरण है कि मैंने

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

अन्वयः— (अहं) अजः अव्ययात्मा अपि सन्, भूतानां ईश्वरः अपि सन्, स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय, आत्ममायया संभवामि ॥ ६ ॥

मैं अजन्मा और अविनाशी आत्मा तथा सब भूतमात्रका ईश्वर होनेपर भी, अपनी प्रकृतिको स्वाधीन रखकर, अपनी शक्तिसे हि जन्म लेता हूं ॥६॥

भावार्थ— आत्मा अजन्मा और अव्यय है, तथापि उसको अनेक जन्म प्राप्त होते हैं। जो ज्ञानरहित होते हैं वे इस पुनर्जन्मके विषयको नहीं जान सकते, परंतु जो तत्त्वज्ञानी हैं, वे जन्मजन्मान्तरका विषय प्रत्यक्षवत् जानते हैं। जो जीव बद्ध हैं वे तो स्वकर्मवश होते हुए जन्म लेकर सुखदुःखादि भोग भोगते हैं; परंतु जो अपने ईश्वर भाव का अनुभव करनेवाले शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाववाले हैं, वे भी विशेष धर्मकार्य करनेके उद्देश्यसे दिव्य जन्म लेते ही हैं ॥ ५-६ ॥

यह योगविद्याका ज्ञान कल्पके प्रारंभ में विवस्वान् को दिया था। उस समय विवस्वान् ने क्या किया था और मैंने भी क्या किया था, यह सब मैं इस समय प्रत्यक्षवत् जानता हूं। परंतु हे अर्जुन, तुझे तो इस देह के द्वारा किये हुए सब कर्मोंका भी स्मरण नहीं है, फिर पूर्व जन्मोंका स्मरण कहां से हो सकता है?"

अर्जुन कोई सामान्य मनुष्य नहीं था, वह (परं-तपः) श्रेष्ठ तप करनेवाला था, (गुडाकेशः) निद्राका स्वामी था, परम भक्त था, अर्थात् वह असाधारण योग्यतावाला मनुष्य था। तथापि पूर्वजन्मोंका ज्ञान होने योग्य निर्मल बुद्धि उसको प्राप्त नहीं हुई थी। बुद्धिमें मल रहनेके कारण उसकी बुद्धि स्थूल थी और स्थूलताके कारणहि वह स्थूल शरीर से परे देखनेमें असमर्थ था।

मनुष्य के तीन शरीर ।

मनुष्य के स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर ऐसी तीन शरीर तो मुख्य हैं। स्थूल शरीर जन्मसे मृत्युतक रहता है, सूक्ष्म शरीर वासनाक्षय होकर बंधनिवृत्ति होनेतक रहता है और कारणशरीर कल्प पर्यंत रहता है; अतः जो लोग स्थूल शरीर के ऊपर अपना अधिष्ठान रखकर कार्य कर सकते हैं वे तो केवल स्थूल शरीर को ही जानते हैं, अतः इनको स्थूल दृष्टीवाले लोग कहा जाता है, सामान्यतः सब लोग ऐसे ही हुआ करते हैं। इसके ऊपरले श्रेणी के जो लोग होते हैं वे जैसा स्थूल शरीर पर वैसा ही सूक्ष्म शरीर पर अपना अधिष्ठान रखते हैं और दोनों शरीरोंपर जाग्रतिवत् कार्य करते हैं। इस से भी ऊंचे दर्जेपर जाकर कार्य करनेवाले विरला लोग ऐसे होते हैं कि जो कारण-शरीर के अधिष्ठान पर जाग्रतिवत् कार्य करते हैं, उनको पूर्व और उत्तर कल्पका ज्ञान यथावत् रहता है। और ये लोग कल्पके प्रारंभ की बात भी आज प्रत्यक्षवत् देखते हैं और कल्पके अन्तसमय की भी बात उनको वैसीहि प्रत्यक्षसी हो जाती है। भूत भविष्य उनके लिये वर्तमान जैसे होते हैं। वे सदा आत्मा रूपसे जाग्रत् रहते हैं, स्थूल शरीर उनपर आते हैं और जाते हैं, तथापि वे आकाश में मेघ आने और जानेपरभी जैसा आकाश एकसा निर्मल रहता है, वैसे हो एक रूप और निर्मल रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इस उच्च श्रेणी के अर्थात् पुरुषोत्तम थे, अतः

उनको विवस्वान् के समय क्या हुआ था इसका ज्ञान यथावत् था और उनको अपने अनेक जन्म होने का भी स्मरण उत्तम था।

अर्जुन स्थूल दृष्टिवाला था, वह स्थूल शरीर से परे देखनेमें असमर्थ था। अतः उसको शंका हुई की "मेरे सन्मुख उपस्थित हुए श्रीकृष्ण कल्पके आदिमें विवस्वान् को कैसे उपदेश करते रहे?" वस्तुतः देखा जाय तो आत्मा अजन्मा, अविनाशी, अनन्त, और अव्यय होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णजी का आत्मा जैसा अर्जुन के समय था, वैसा ही विवस्वान के समय में भी था। न उस आत्मामें कुछ कालसे बदल हुआ और न घटबध हुआ। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् जो उपदेशका कार्य इस समय कर रहे हैं, वही कार्य विवस्वान के समय कर रहे होंगे; कमसे कम आत्मा की एकता माननेपर, वह कार्य उस समय उनसे होना स्वाभाविक है। परंतु स्थूल दृष्टिवाले अर्जुन को यह ज्ञान कैसे हो सकता है? यह ज्ञान तो आत्मभाव को सदा जाग्रत रखनेवाले श्रीकृष्ण को ही हो सकता है। अपना शाश्वत अव्यय और अविनाशी आत्मस्वरूपसे अस्तित्व प्रत्यक्ष जाननेसे उसको भूतभविष्यका ज्ञान वर्तमान जैसा हो सकता है, क्यों कि अविनाशी अक्षय आत्माके लिये सदा वर्तमान काल किंवा कालरहित अवस्था ही रहती है। परंतु जो विनाशी शरीर को हि देखते रहते हैं, उनको उत्पत्ति स्थिति और विनाश का अनुभव होता है। अतः वे उत्पत्ति और विनाश से मोहित होते हैं और अक्षय तत्त्व को देख नहीं सकते। श्रीकृष्ण भगवान् की दृष्टि और अर्जुन की दृष्टिमें यह भेद था, इस लिये दोनों के अनुभव भिन्न हैं।

यहां सुबोधताके लिये एक उदाहरण लेते हैं, एक मनुष्य है, उसकी आयुके प्रारंभके ८ वर्ष बालपनमें गये, आगे २४ वर्ष गुरुकुलमें विद्याभ्यासमें गये, इसके पश्चात् के ३० वर्ष गृहाश्रममें गये और शेष आयु संन्यासाश्रममें व्यतीत हुई। आयुके इन चार खण्डोंमें रहता हुआ वह मनुष्य बालपन के किये कर्म को भी 'वह मैंने किया' ऐसा कहता है, और गृहाश्रममें या संन्यासाश्रम में किये कर्म को भी 'वह मैंने किया' ऐसाही कहता है। इन चारों अवस्थाओंमें जैसा वह एक ही भावसे रहता है, उसी प्रकार शरीरान्तरकी अवस्था भी इनमें संमिलित की जावे, तो दूसरे शरीर के द्वारा किये कर्म भी "मैंने हि किये" ऐसा वह कह सकता है। परंतु यह उसको तब साध्य होगा कि जब वह अपने आत्माको शरीरसे भिन्न अनुभव करने लगेगा। अर्थात् जो इसप्रकार अपने आत्माको शरीरसे भिन्न अनुभव करता हो, वही पुनर्जन्मका स्मरण रख सकता है।

पुनर्जन्म के भेद।

पुनर्जन्मके कई प्रकार हैं। पहिले आत्मा प्राण के साथ मिलकर मेघमंडलका आश्रय करता है और वृष्टिके साथ वृक्षवनस्पतियोंपर सिंचित होता है, इस समय यह 'जलात्मा' कहलाता है यह इसका पहिला जन्म है।

वह जल वृक्षवनस्पतियां पीती हैं जिससे वह वृक्षवनस्पतियों में रहने लगता है। यह इसका दूसरा जन्म है। इस समय यह 'अन्नात्मा' कहलाता है।

वृक्षवनस्पतियोंका अन्न स्त्रीपुरुष खाते हैं, उससे उनके शरीर में रक्त और वीर्य बनता है। यह उसका तीसरा जन्म है। इस समय इसको 'वीर्यात्मा' कहते हैं।

इस वीर्यसे स्त्रीके शरीरमें गर्भाधान किया जाताहै। यहां गर्भाशयमें यह रहता है। यह इसका चौथा जन्म है, इस समय इसको 'गर्भात्मा' किंवा 'मातरि-श्वा' (माता के उदर में रहनेवाला) कहा जाता है।

गर्भ स्थितीके नंतर दशम मासमें माताके उदर से वह बाहर आता है, यह उसका पांचवां जन्म है, इसको 'पुरुषात्मा' कहते हैं। इस तरह पांचवे जन्ममें जीवनपूर्ण जल मनुष्य रूपमें परिणत

होता है। (पञ्चम्यां आहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति । छां० उ० ५ । ३ । ३)

इसके नंतर उपनयन संस्कार से द्विजबालकों का नया जन्म होता है, यह छठां जन्म है, इसको 'ज्ञानात्मा' कहते हैं।

आगे ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थाश्रम लेकर विविध कर्म करता है, इस समय इसको 'कर्मात्मा' कहते हैं। यहां कर्म के कारण सातवां पुनर्जन्म होता है। विशेष प्रशस्ततम कर्म करके यह जगद्वंद्य बनता है। शत क्रतु करके इन्द्रपदवी भी प्राप्त करलेता है। नर करणी (कर्म) करनेसे नर का नारायण बनता है। यह इसका 'कर्म जन्म' है।

कदाचित संन्यासाश्रम लेनेद्वारा सब कर्मोंका संन्यास करता हुआ यह 'चिदात्मा' बनता है। यह इसका आठवां जन्म है, यहां इसको आनंदावस्था का अनुभव होता है। इस समय यह (निजानन्दरूपः शिवः केवलोऽहं) मैं आनंदघन हूँ ऐसा अनुभव करता है।

इस तरह मनुष्यका आत्मा कई जन्म लेता है। इनमें पिताके देहसे माताके देहमें और माता के देहसे जगत् में जन्म होना मुख्य पुनर्जन्म है। यहां एक पक्ष ऐसा एक मत प्रतिपादन करता है कि पिता ही पुत्ररूपसे पुनर्जन्म पाता है, अर्थात् पिता पुत्र या पुत्री रूपसे नया जन्म लेता है। तात्पर्य जितने पुत्र या पुत्रियां होंगी, उतने पुनर्जन्म पिताने लिये ऐसा समझना चाहिये।

> आत्मा वै पुत्रनामाऽसि ॥ कौशी० उ० २।११
> स य एवंविदस्माल्लोकात्प्रैति, अथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति ।
> बृ० उ० १ । ५ । १७

"स्वयं ही पुत्ररूप होता है। जो ज्ञानी बनकर यहां से चल बसता है वह अपने प्राणसे पुत्र में प्रविष्ट होता है।" इत्यादि अनेक रीतिसे पिताका पुनर्जन्म पुत्रमें होनेका वर्णन शास्त्रोंमें है।

इसके अतिरिक्त एक और भी 'कर्म जन्म' नामसे पुनर्जन्म हुआ करता है। जैसा राजा, प्रधान, सेनापति, आचार्य आदि के कर्म सब देशोंमें चलते ही हैं। जब ये मरते हैं या स्थानभ्रष्ट हो जाते हैं, तब दूसरे मनुष्य उस स्थानापन्न होते हैं, एक राजा दूर होनेपर दूसरा आता है, प्रधान के स्थानापन्न दूसरा होता है, सेनापति जानेपर दूसरा किया जाता है और आचार्य के स्थानापन्न दूसरा होता है। पहिले का पुनर्जन्म दूसरेमें होता है। यह 'कर्मजन्म' है। जिस राष्ट्रमें इस प्रकार के कर्म से पुनर्जन्म होते रहते हैं वह राष्ट्र सबल रहता है और जिस राष्ट्रमें मृत मनुष्यका कर्मसे पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् उसका स्थान रिक्त रहता है वह राष्ट्र निर्बल समझना चाहिये। अपने देशमें कार्यकर्ता नेता लोगोंके स्थान रिक्त रहते हैं या भरजाते हैं, यह देखनेसे इस बात का पता लगेगा कि हमारा देश कैसा है।

इस प्रकार के कई तरह के पुनर्जन्म हैं। इनका संक्षेपसे यहां निर्देश इसलिये किया है कि, पाठकोंको अनेक प्रकारके पुनर्जन्मोंकी ठीक कल्पना हो जाय और ये इनका विचार कर सकें। परंतु यहां जिस पुनर्जन्मका उल्लेख है, वह एक शरीर छूटनेपर उस आत्माको जो दूसरा जन्म प्राप्त होता है, उस पुनर्जन्मका है और भगवान् श्रीकृष्णजीने अर्जुनसे कहा है कि "मेरे और तेरे कई जन्म वारंवार हुए हैं, इनको मैं जानता हूं परंतु तू नहीं जानता।"

इस जन्मके भी दो भेद हैं, एक स्वेच्छासे किंवा स्वतंत्रतासे और दूसरा नियमके बंधनसे अर्थात् परतंत्रतासे। श्रीकृष्ण भगवान् के जो अनेक जन्म हुए वे उनकी स्वतंत्र इच्छा से हुए हैं और जो अर्जुन के जन्म हुए हैं वे नियमबंधनसे अर्थात् परतंत्रतासे हुए हैं, इस विषयमें अगला श्लोक देखिये—

मुक्तका पुनर्जन्म।

अजः, अव्ययात्मा, भूतानां ईश्वरः सन् अपि, अहम्, स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय, आत्ममायया संभवामि ॥ (४ । ६)

"अजन्मा, अव्यय अर्थात् अविनाशी आत्मा मैं हूं, और सब भूतोंका मैं ईश्वर भी हूं, इतना होनेपर भी अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर मैं आत्मशक्तिसे स्वयं जन्म लेता हूं।" इसमें परमात्मस्वरूपी श्रीकृष्ण किस प्रकार जन्म लेते हैं इसका वर्णन है। इसमें निम्न लिखित विधान हैं—

(१) (अ-जः) आत्मा अजन्मा, जन्मरहित है, तथा (अजः=प्रेरकः) सब का प्रेरक, चालक किंवा मुख्य नेता है;

(२) (अ-व्ययः) आत्माका कभी व्यय नहीं होता, अर्थात् वह अविनाशी है;

(३) (आत्मा=अतति इति) आत्मा सतत गति या प्रेरणा करनेवाला किंवा सर्वत्र व्यापक है;

(४) (भूतानां ईश्+वरः) सब भूतमात्रके ईशोंमें मुख्य ईश, सब जगत् का मुख्य स्वामी सब का एक मात्र अध्यक्ष और चालक;

(५) (स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय) अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर, अपनी प्रकृतिको अपने आधीन रखकर, अपनी प्रकृतिका स्वामी बनकर, अपनी प्रकृतिको यथावत् जाननेवाला होकर, अपनी प्रकृतिका निरीक्षण करके,

(६) (आत्म-मायया सं भवामि) अपनी शक्तिसे जन्म लेता हूं, निजशक्तिसे सम्यक्तया होता हूं, अपनी शक्तिसे प्रकट होता हूं।

श्रीकृष्ण भगवान् के अवतार या जन्म लेनेके विषयमें इस श्लोकमें ये छः बातें कहीं हैं, उनका मनन सबसे प्रथम करना योग्य है। इससे शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ईशका जन्म कैसा होता है और बद्ध का जन्म कैसा होता है, इस महत्त्वपूर्ण बात का निर्णय होना है, अतः पाठक इस ओर विशेष ध्यान दें।

यहां श्रीकृष्ण भगवान् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव युक्त हैं, और अर्जुन बद्ध स्थितिमें है। दोनों के (बहूनि जन्मानि व्यतीतानि) अनेक जन्म हुए हैं, ऐसा पंचम श्लोक में कहा है। इस लिये यह बात स्पष्ट होगई कि, मुक्त भी जन्म लेता है और बद्ध भी जन्म लेता है। अतः इस बातका विचार करना चाहिये कि, इन दोनों के जन्म लेनेमें कौनसा भेद है? पूर्वोक्त स्थानपर मुक्तके जन्म लेनेके विषयमें छः बातें कहीं हैं, उनका सार यह है—

"(मुक्त आत्मा अनुभवसे यथावत् जानता है कि) अपना आत्मा जन्मरहित, नाशरहित, सबका चालक, सर्वत्र व्यापक और सब का मुख्य स्वामी है, (वस्तुतः उसको जन्म लेनेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि विशेष कार्य करने के लिये वह) अपनी प्रकृति को अपने संयम में रखकर, अपनी शक्तिसे हि स्वयं जन्म लेता है।" (भ० गी० ४ । ६)

भगवान् श्रीकृष्णके अनेक जन्म इस तरह होते हैं। जन्म लेनेका वास्तविक कोई कारण न होते हुए भी ये क्यों जन्म लेते हैं? इसका हेतु (भ० गी० ४ । ७, ८ में) आगे कहा जायगा, यहां केवल किस तरह जन्म लिया जाता है, इतनोहि बातका कथन किया है। अब इसके विपरीत बद्ध मनुष्य का पुनर्जन्म कैसा होता है, वह देखिये, पूर्वोक्त मुक्त स्थितिके सर्वथा विरुद्ध अवस्था उसकी है, देखिये—

बद्ध का पुनर्जन्म।

"(बद्ध मनुष्य अपने आपको शरीरसे परिमित समझनेके कारण सचमुच मानता है कि) मैं शरीर हूं और मैं जन्म लेता हूं, (बढता हूं, कृश होता हूं, और) मरता भी हूं, मेरा चालक दूसरा है, मैं एकदेशी और छोटा हूं, मेरे अधिकारमें कुछभी नहीं है, प्रकृतिस्वभावके अनुसार मुझसे कार्य होंगे, मैं सर्वथा असमर्थ हूं और

ईश्वरकी शक्तिसे मुझे अपने कर्मानुसार पुनः पुनः जन्म प्राप्त होगा।" इस प्रकार बद्ध दूसरेकी शक्तिसे घुमाया जाता है और मुक्त अपनी शक्तिसे सब कुछ कर लेता है।

इस के लिये एक उदाहरण देखा लिया जा सकता है कि, एक नगरमें एक कारागृह है, उसमें राज्य प्रबंधसे कुछ बन्दिवान रखे हैं। एक दिन उस कारागृह का निरीक्षण करनेके लिये राजा स्वयं अपने मंत्रियोंसे कारागृह में गया। जब तक राजा वहां रहा तब तक उसी कारागृह में जैसा राजा होगा और उसके मंत्री होंगे, उसी प्रकार कैदी भी होंगे। वस्तुतः इस समय राजा भी जेलखानेमें है और कैदी भी हैं। परंतु राजा स्वतंत्र है और कैदी परतंत्र हैं। यही भेद मुक्तके शरीरधारण करनेमें और बद्धके जन्मलेनेमें है। दोनों इस जगतमें जन्म लेते हैं और कार्य करते हैं, परंतु एक (स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय) अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता है और दूसरा प्रकृतिका दास है। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रकृतिके स्वामी थे और अर्जुन प्रकृतिका दास था। अर्जुनकी योग्यता अन्य मनुष्योंसे कई गुणा अधिक थी, क्योंकि उसके सौभाग्यसे भगवान् के कार्य में प्रमुख भाग लेकर ईशकार्यको करनेका अवसर उसको प्राप्त हुआ था। इसलिये अर्जुनका जन्म सार्थक हुआ। जो भगवत्कार्यसे दूर रहते हैं उनकी दुरवस्थाका विचार ही न करना अच्छा है।

इस तरह बद्ध और मुक्त के जन्म किस तरह होते हैं इस बात का विचार हुआ, अब इस विषयमें वेद में क्या लिखा है सो अब देखिये—

अजका पुनर्जन्म।

> प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
>
> वा० यजु० ३१।१९

"(प्रजापतिः) सब प्रजाओंका पालक (गर्भे अन्तः चरति) गर्भ के अंदर विचरता है। यह (अ—जायमानः) कभी न जन्मनेवाला है तथापि (बहुधा विजायते) अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है, (धीराः तस्य योनिं परिपश्यन्ति) धीर लोग उसके मूल स्थानको देखते हैं, (तस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः) उसीमें ये सब भुवन रखे हैं।" इसी तरह अगला वेदमंत्रभी देखिये—

> एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः।
>
> वा० यजु० ३२।४

"यही देव सब दिशा उपदिशाओंमें है, वह (पूर्वः जातः) पहिले हुआ था और फिर (सः गर्भे अन्तः) वही गर्भ में आगया है। वही पहिले हुआ हुआ और भविष्यमें होनेवाला है। हे लोगों! वही सर्वत्र मुख करके अवस्थित होनेवाला (प्रत्यङ् तिष्ठति) प्रत्येक पदार्थ में है।" तथा और देखिये—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः प्रतिरूप ईयते०॥
>
> ऋ. ६।४७।१८; बृ० उ० २।५।१९

"प्रत्येक रूप के लिये वह (प्रतिरूपः) आदर्श बना है, यह इस का रूप (प्रतिचक्षणाय) देखने योग्य है। यह (इन्द्रः) प्रभु अपनी (मायाभिः) शक्तियोंसे प्रत्येक रूपका नमुना बना है०।"

इन मंत्रोंका और गीताके श्लोकका बहुत साम्य है, देखिये—

गीताश्लोक	वेदमंत्र
अजोऽपि सन्	अजायमानः
भूतानामीश्वरोऽपि सन्	प्रजापतिः, देवः, इन्द्रः,
संभवामि (संभवति)	बहुधा विजायते
,,	चरति गर्भे अन्तः
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि।	जातः, जनिष्यमाणः, (पुनः) गर्भे अन्तः।
संभवाम्यात्ममायया।	इन्द्रो मायाभिः प्रतिरूपः ईयते।

(३) भगवान् के जन्मका उद्देश्य।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

अन्वयः— हे भारत! यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः अधर्मस्य (च) अभ्युत्थानं भवति, तदा अहं आत्मानं सृजामि ॥ ७ ॥ साधूनां परित्राणाय, दुष्कृतां विनाशाय, धर्मसंस्थापनार्थाय च अहं युगे युगे संभवामि ॥ ८ ॥

हे भरतकुलोत्पन्न! जब जब धर्म में शिथिलता और अधर्म की प्रबलता होती है, तब तब मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूं अर्थात् मैं जन्म लेता हूं ॥७॥ साधुओंकी रक्षा के लिये, दुष्टोंके नाश के लिये और धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युगयुगमें जन्म लेता हूं ॥८॥

भावार्थ— जब धर्म दबाया जाता है और अधर्म फैलता है, तब सज्जनों की रक्षा करनेके लिये, दुर्जनों का नाश करनेके लिये और धर्मकी पुनः स्थापना करनेके लिये ईश्वरका अवतार होता है ॥ ७-८ ॥

इस तरह वेदके मंत्रोंमें जो विषय है वही भगवद्गीतामें इन दो श्लोकोंमें संग्रहित किया है। अस्तु। इस प्रकार बद्ध और मुक्त इन दोनों के पुनर्जन्म किस तरह होते हैं इसका यहांतक वर्णन हुआ। अब भगवान् कहते हैं कि, अपने जन्म किस कारण हुआ करते हैं, यह बोधप्रद और चिरस्मरणीय विषय अब देखिये—

(७-८) इन दो श्लोकोंमें मुक्त पुरुष, भगवान्, शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला आत्मा अथवा ईश्वर किस उद्देश्यसे जन्म लेते हैं, इस का वर्णन किया है। इन दोनों श्लोकोंमें अवतारके पांच उद्देश्य कहे हैं—

अवतारके पांच उद्देश्य।

(१) जब (धर्मस्य ग्लानिः भवति) धर्मकी ग्लानि होती है,धर्म दब जाता है,धार्मिक लोगोंके ऊपर अधार्मिक लोग अत्याचार करते हैं, धार्मिक सज्जनोंका वचन कोई सुनता नहीं और अत्याचारी लोगोंके आधीनहि सब राजयंत्र रहते हैं, अत्याचारी लोग विना रोक टोक अत्याचार करते हैं, तब धर्म के सहाय्यार्थ भगवान् अवतार धारण करते हैं।

(२) (अधर्मस्य अभ्युत्थानं भवति)- मनुष्यों की प्रवृत्ति अधर्म की ओर होती है, अधर्म करनेसे अधिक सुख प्राप्त होनेकी संभावना जनता को प्रतीत होती है, उस समय धर्मका उत्कर्ष करनेके हेतुसे भगवान् अवतार लेते हैं।

(३) जिस समय सज्जनोंको उनके सत्य धर्माचरण के कारण क्लेश दिये जाते हैं, सन्मान्य पुरुषोंको अरण्यवास, कारागृहवास, वधदण्ड अथवा अन्य प्रकारके दण्ड दिये जाते हैं, धर्मका रक्त भूमिपर गिरता है, और धर्मका त्राता पृथ्वीपर कोई नहीं रहता, उस समय (साधूनां परित्राणाय) सज्जनोंकी रक्षा के लिये भगवान् का अवतार होता है।

(४) दुष्कर्म करनेवालों की जिस समय चलती होती है, सब अधिकार और वैभव दुष्क-

मियोंके आधीन होते हैं, दुष्ट कर्म करनेवालों कीहि जिस समय मानमान्यता बढती है, उस समय (विनाशाय दुष्कृतां) दुष्टोंको दण्ड देने के लिये और उनका नाश करने के लिये भगवान् का अवतार होता है ।

(५) (धर्म-संस्थापनार्थाय) धर्मकी संस्थापना अर्थात् मानव धर्मकी सुव्यवस्था करने के लिये भगवान् का अवतार होता है ।

ये पांच हेतु हैं जिनके लिये भगवान् का अवतार होता है, सारांशसे (१) धर्मकी ग्लानि का समय, (२) अधर्म के उत्थान का समय, (३) साधुओंके संरक्षण के कार्य के लिये, (४) दुष्टों के दमन के लिये और (५) धर्मव्यवस्था करने के लिये अवतार होता है ।

इसके मननसे पाठक जान सकते हैं कि किस समय और किस कारण के लिये भगवान् का अवतार होता है । जिस समय धार्मिकों का छल होगा, अधार्मिकों के अत्याचार होते जांयगे, साधुओंको कष्ट पहुंचेंगे और दुष्टोंका नाश करनेके विना धर्म की व्यवस्था नहीं होगी, जब ऐसा समय उपस्थित होगा, तब उत्तम-पुरुषका अवतार अवश्य होगा ।

देवोंका अंशावतार ।

वास्तवमें प्रत्येक प्राणीमें किंवा हरएक मनुष्य में आत्माका और अग्नि वायु इन्द्र चन्द्र आदि सब देवोंका अंशावतार होता ही है । आंखमें सूर्य, नासिकाके प्राणमें वायु, मुख में अग्नि, रेत में जल, अस्थियोंमें पृथ्वी, नाभि में मृत्यु आदि अनेक स्थानोंमें अनेक देवोंका अंशावतार होता है और जीवात्माके रूपमें परमात्मा का अंश आकर मनुष्य के हृदयस्थानमें विराजता है । इस दृष्टीसे देखा जाय, तो प्रत्येक मनुष्य अवतार हि है—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ऐ० उ० २ । ४

यह विषय प्रायः बहुत उपनिषदों में वर्णित हुआ है अतः उसका यहां पुनः अधिक वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । यद्यपि इस इस दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्य अंशावतार है,और यह जैसा मनुष्योंमें उसी प्रकार राक्षसोंमें भी होता है । तथापि यहां जो अवतार शब्द आया है वह विशेष महत्त्व के सामर्थ्ययुक्त पुण्य पुरुषके जन्म लेनेके लिये हि समझना चाहिये ।

जनताका उद्धार ।

महात्मा, सत्पुरुष, मुक्तात्मा, पुण्यात्मा, ये तो अपने तपसे नरके नारायण स्वरूप बने होते हैं, येभी जनताकी निकृष्ट अवस्था देख कर उनके उद्धार करनेके लिये स्वयं अपनी इच्छा अथवा परमेश्वरकी आज्ञा प्राप्त करके इस भूमंडलपर आते हैं । किंवा इस भूमंडलपर की जनता जब अत्यंत दुःखी होती है और किसी प्रकार भी अपने उद्धार का मार्ग नहीं देखती, सब ओरसे दुष्टोंका उत्पात देख कर हताश होती है, उस समय अशरण होकर परम पुरुषकी प्रार्थना करती है कि "हे प्रभो ! हम सब तेरी शरणमें आगये हैं, अब तू हि हमारी रक्षा कर, हमें दूसरा मार्ग नहीं दीखता है"। ऐसे जब सब जन प्रभुकी करुणा भाकते हैं और हृदयसे उसकी प्रार्थना करते हैं, तब वह दीनदयालप्रभु भक्तोंकी प्रार्थना निःसंदेह सुनते हैं और अंशावतार से अवतीर्ण होते हैं, किंवा अपनी प्रेरणासे किसी महात्मा मुक्तात्माको प्रेरणा करते हैं । इस तरह इन श्रेष्ठात्माओंके जन्म लेनेको "अवतार" कहते हैं । ये इस भूमंडलपर आते हैं और दुष्टोंको दण्ड देकर, सज्जनोंकी रक्षा करतेहैं और धर्मव्यवस्था करके अपना अवतारकृत्य समाप्त करते हैं ।

अनुभवकी बात।

प्रत्येक देशमें, जातीमें, राष्ट्रमें और जनसमाज में अत्यंत अवनतिके समयमें अत्यंत तेजस्वी पुरुष आते हैं और विशेष कार्य अद्भुत सुकरताके साथ करते हैं, यह बात हरएक देशके इतिहास में देखी जाती है। जो बात साधारण मनुष्यकी कल्पनामें भी नहीं आती वह बात ये लोकोत्तर पुरुष करके दिखा देते हैं और लोगोंपर ऐसा प्रभाव जमा देते हैं कि ये अपने प्रभावसे विरोधियोंको भी अनुकूल बना देते हैं और साधारणतः न बनने-वाले कठिनसे कठिन कार्य सहजहीमें करकेदिखा देते हैं!! पाठक प्रत्येक जातीके इतिहास में ऐसे पुरुषोंके कार्य देख सकते हैं। ये पुरुष महात्मा मुक्तात्मा, श्रेष्ठात्मा, दिव्यात्मा अथवा परमात्मा किंवा पुरुषोत्तम होते हैं। जो लोग तपसे और अपने सदाचार से मुक्त हुए होते हैं, उनका नाम महात्मा, मुक्तात्मा, श्रेष्ठात्मा और दिव्यात्मा होता है। और परमात्मा, पुरुषोत्तम और नारा-यण उसका नाम है कि जो इस जगत् का कर्ता धर्ता और संहर्ता प्रभु है। भगवद्गीता के कथ-नानुसार श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम का अवतार हैं और उनके सहचारी श्रेष्ठात्मागण हैं। यह बात आगे अनेक स्थानोंपर स्पष्ट रीतिसे कही है। अतः इस विषयमें कोई संदेह नहीं है। तथापि सुबोधता के लिये यहां थोडेसे वचन उद्धृत किये जाते हैं—

(१) उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।१७
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
गी० १५। १८

(२) भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
भ० ६। २९

(३) अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
भ० ७। ७

(४) मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
भ० ९। ५

इत्यादि प्रकारके अनेक श्लोक भगवद्गीतामें हैं, जिनमें कहा है कि, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पूर्ण परमात्मा हैं। देखिये इनका भावार्थ इस प्रकार है-"(१)परमात्मा उत्तम पुरुष हैं और मैं हि लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम कहलता हूं। (२) यज्ञोंका भोक्ता, महेश्वर सब का मित्र मैंहि हूं। (३) मैं सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति, और लय करता हूं। सूत्रमें मणि रहनेके समान मुझमें यह सब विश्व रहा है। (४) मुझ अव्यक्त आत्माके द्वारा यह सब जगत् फैलाया गया है, यह सब मुझमें हि है।" इस तरह के वर्णन भगवद्गीतामें अनेक वार आगये हैं। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त निश्चयसे यह है कि, भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर के पूर्ण अवतार हैं। और उन्होंने पूर्वोक्त पांच कर्म करनेके लिये जन्म लिया है। "प्रजापति गर्भमें आता है, वह पहिले हुआ था, इस समय गर्भमें है और भविष्यमें भी होगा," इस प्रकार का आशय व्यक्त करनेवाले वेदमंत्र पूर्व श्लोक (भ० गी० ४। ५-६) के व्याख्यान के अवसर पर दिये ही हैं। इन की भगवद्गीताके वचनके साथ संगति लगाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार भगवान् का जन्म होना संभ-वनीय है।—

अस्तु, इस ढंगसे यहां बताया कि पुरुषोत्तम का दिव्य जन्म किस तरह होता है, मुक्तात्मा-ओंका जन्म क्यों होता है और अन्य बद्ध जीवोंका जन्म किस तरह होता है। पाठक इन सब प्रकार के जन्मों का विचार करें और जानें कि जगत्में इन तीन प्रकारके जन्म हैं। इनमें पुरुषोत्तम के दिव्य जन्म का और उसके कर्म का ही मनन करना चाहिये, क्यों कि इसी के मननसे मनुष्य का उत्कर्ष होता है। देखिये इसी विषयमें आगे भगवान् स्वयं कहते हैं —

(४) दिव्य जन्म और कर्म ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

अन्वयः— हे अर्जुन ! यः मे दिव्यं जन्म कर्म च एवं तत्त्वतः वेत्ति, सः देहं त्यक्त्वा, पुनर्जन्म न एति, (किंतु सः) मां एति ॥ ९ ॥ वीतरागभयक्रोधाः, मन्मयाः, मां उपाश्रिताः, ज्ञानतपसा पूताः, बहवः मद्भावं आगताः ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! जो मेरे इस दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको इस तरह तत्त्वदृष्टि से जानता है, वह देह छोडनेके बाद अर्थात् मरनेके बाद, पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता; परंतु वह मुझे प्राप्त करता है ॥ ९ ॥ राग, भय और क्रोधसे रहित, मुझमें तल्लीन, मुझे ही शरण आनेवाले और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र बने हुए बहुतसे लोग, मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— भगवान् के जन्म भी दिव्य होते हैं और उनके कर्म भी दिव्य होते हैं। उनके रहस्य को जो यथावत् जानता है, वह पुनर्जन्मके प्रवाह में कदापि नहीं फंसता, परंतु वह निःसन्देह भगवत्स्वरूप को प्राप्त करता है ॥ जो राग भय और क्रोधसे दूर रहते हैं, जो भगवद्भक्तिमें तल्लीन हुए हैं, जो प्रभुकी शरणमें जाते हैं, और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र बने होते हैं,वे परमात्मस्वरूपको प्राप्त करते हैं अर्थात् वे परमात्मरूप बनते हैं॥९-१०॥

दिव्य जन्म और दिव्य कर्म ।

(९-१०) (जन्म कर्म च मे दिव्यं) भगवान्के हि जन्म और कर्म दिव्य होते हैं; परंतु अर्जुन के जन्म और कर्म दिव्य नहीं हैं। यह बात यहां देखने योग्य है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि अन्योंके जन्म के समान भगवान् का जन्म नहीं होता है, वह कुछ अद्वितीय अद्भुत और दिव्य किंवा स्वर्गीय होता है। एक दिव्य जन्म है और दूसरा पार्थिव जन्म है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन स्थान हैं। पृथ्वीरूप अर्थात् स्थूल रूपमें होनेवाला जन्म-पार्थिव जन्म कहलाता है, अन्तरिक्ष रूपमें अर्थात् अदृश्य अंतःशक्तीके रूपमें होनेवाला जन्म आन्तरिक्ष जन्म होता है और द्युलोकके रूपमें अर्थात् स्वर्गीय रूपमें होनेवाला जन्म दिव्यजन्म कहा जाता है। ये ब्रह्माण्डके तीनों स्थान पिण्डकी व्यक्तीमें इस तरह होते हैं –

(ब्रह्माण्ड)		(पिण्ड)	
पृथ्वी	भूः	स्थूल	शरीर
अन्तरिक्ष	भुवः	सूक्ष्म	अन्तःकरण
द्यौः	स्वः	कारण	बुद्धि

पार्थिव जन्म का अर्थ है स्थूल शरीरका जन्म। यह जन्म संपूर्ण प्राणिमात्रको प्राप्त है। सब का जन्म उनके स्थूल शरीर के जन्मके साथ ही होता है। यह जन्म अत्यंत साधारण अथवा निकृष्ट है।

इसके ऊपर की श्रेणीवालोंका जन्म अंतःकरण में अथवा मनमें होता है। द्विजोंका ऐसा जन्म होता है, इस समय इसकी माता सावित्री और

पिता आचार्य होता है। यह आचार्यजी की प्रेरणासे विद्यामाता में अन्तरिक्ष के शरीर स्थानीय प्रतिनिधिभूत अन्तःकरण के स्थानमें होता है। यह अभौतिक जन्म है। इस जन्म से उस मनुष्य में बडा परिवर्तन होता है। इस के स्थूल शरीरका जन्म किसी भी कुल में हुआ हो, परंतु आचार्यद्वारा विद्यासंस्कारोंसे जो इस का दूसरा जन्म इसकी मनोभूमिकामें होता है, वह इसकी विशेष योग्यता बनाता है इस विषयमें मनुस्मृतिका वचन है--

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयते मिथः।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्योनावभिजायते॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा

मनुस्मृति २। १४७, १४८

"माता पिता जो आपसमें मिलकर इस पुत्रकी उत्पत्ति करते हैं, और जो मातासे उत्पन्न होती है वह उसकी जाति नाममात्र है॥ पर वेद के पार पहुंचा हुआ आचार्य जो सावित्रीसे इस यथाविधि जन्म देता है, वह जाती सत्य, अजर और अमर है॥"

इसप्रकारके सावित्र जन्म के कारण व्यास, वसिष्ठ, अगस्त्य, विश्वामित्र आदि ऋषि साधारण कुलमें उत्पन्न होनेपर भी महर्षि पद को प्राप्त हुए। यह जन्म आचार्य की कृपा, सावित्री की भक्ति और अपना योग अभ्यास इन के बलसे प्राप्त होता है। यहां स्थूल शरीरके जन्मकी बहुत प्रधानता नहीं है। यह द्विजत्व मनोभूमिका में किंवा अन्तःकरणके स्थानपर बनता है। इससे मनकी शक्तिमें विलक्षण परिवर्तन होता है।

दिव्य जन्मका ज्ञान।

इससे भी ऊंचा जो जन्म होता है वह "दिव्य जन्म" कहलाता है। यह तो आत्मा बुद्धिके क्षेत्रमें दैवी स्फुरणसे हुआ करता है। किसी अद्भुत कारणसे या भगवत्कृपासे अथवा भगवदिच्छासे किसीकी बुद्धिके क्षेत्रमें दिव्य प्रेरणा, दिव्य इच्छा, दिव्य प्रभाव या दिव्य स्फुरण होता है, और उस मनुष्य में इतना परिवर्तन होता है कि उसको देखकर अन्य मनुष्य चकित ही होते हैं!! इसका नाम "दिव्य जन्म" है। इससे मनुष्य का जीवन, बुद्धिकी वृत्ति और आत्मा का तेज विलक्षण, अद्भुत और असामान्य हो जाता है। प्रारंभिक जीवनमें व्यभिचारी रहा मनुष्य आगे उत्तम ब्रह्मचारी होता है, पहिली अवस्था में निःसत्व रहा मनुष्य आगे प्रचण्ड सामर्थ्यके कर्म करता है। यह सब परमात्माकी दिव्य ज्योतिका प्रकाश उसकी आत्मामें होनेसे होता है। किसी मनुष्यमें यह परमात्माकी ज्योतिका आविर्भाव गर्भमें, या बालपनमें होता है और किसीमें आगे की आयुमें होता है। परमात्मा इसी प्रकार स्फुरणसे दिव्य जन्म लेते हैं। परमात्मरूप बने हुए श्रेष्ठात्माभी इसी प्रकार शरीर धारण करते हैं। इनको माताके गर्भमें नौ महिने पकते रहने की आवश्यकता नहीं होती। जिनका केवल पार्थिव जन्म होता है उनको माताके गर्भमें शरीरके साथ नौ मास पकना पडता है।

यहां तीन जन्मोंसे प्राप्त होनेवाले तीन शरीरोंका उल्लेख किया है। ये तीन शरीर यद्यपि एक दूसरेके अन्दर होते हैं, तथापि यह कोई नियम नहीं है कि इनमेंसे एक बलवान होनेपर दूसरा अवश्य ही बलवान होगा। जिसका स्थूल शरीर बलिष्ठ होगा उसके अन्दर के दो शरीर बलवान होंगे इस विषयमें कोई निश्चय नहीं है। "बलिष्ठ शरीरमें बलिष्ठ मन" इस अर्थका एक प्रसिद्ध वाक्य है, परंतु यह सत्य नहीं है। कई योगी और ऋषि पार्थिव शरीरसे अत्यंत दुर्बल थे परंतु उनका आन्तरिक शरीर अर्थात् मनोदेह अथवा बौद्धिक देह बडे शक्तिशाली थे। दिव्य जन्म तो बौद्धिक और आत्मिक देह के साथ संबंध रखता है। जिसके अन्दर यह दिव्य जन्मसे दिव्य देह होता है वह अपने बौद्धिक और आत्मिक देहसामर्थ्यसे निःसन्देह विशेष

समर्थ होता है। उसके अन्य देह उसकी आवश्यकतानुसार ही रहते हैं। प्रायः मल्लका स्थूल देह बडा प्रबल रहता है, परंतु उसके आन्तरिक देह बलहीन रहते हैं।

यद्यपि शारीरिक बलके साथ दिव्य जन्मसे प्राप्त दिव्य देह का कोई संबंध नहीं, तथापि जिसको दिव्य देह प्राप्त होता है उसके स्थूल और सूक्ष्म देह निःसन्देह शुद्ध और पवित्र होते हैं।

इन जन्मोंको दूसरे नाम भी हैं। "दिव्य जन्म" को 'अयोनिसंभव' कहते हैं और "पार्थिव जन्म" को 'योनिसंभव' कहा जाता है। अर्थात् भगवान् इस प्रकारके स्फुरण से या अवतार से (अर्थात् नीचे उतरकर) आते हैं। अवतार के माने नीचे उतरना है, और (अव-तारण) सबको तारण करना भी है। भगवान् अपनी शक्तिसे योग्य भूमिकामें सज्जनोंका तारण करनेके लिये उतरते हैं। जिस तरह कोई मनुष्य दूसरे मंजिलसे पहिले मंजिल पर उतरते हैं, उसी प्रकार अपनी शक्तिसे प्रभु योग्य मनुष्यमें उतरते हैं, किंवा अपना स्फुरण उसके अन्दर करते हैं।

यहां कई शंका करेंगे कि, सर्वव्यापक परमात्मा इस छोटेसे देहमें किस तरह समा जाते हैं। यह शंका व्यर्थ है क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा की जितनी संपूर्ण शक्ति है, उतनीहि उसके एक छोटेसे कल्पनागम्य अंशमें किंवा स्फुरणमें है। संपूर्ण परमेश्वर जैसा पूर्ण है वैसा ही उसका एक अंश भी पूर्ण है। पूर्ण और अंशमें शक्तिकी न्यूनाधिकता नहीं है। (पूर्णमदः पूर्णमिदं) वह भी पूर्ण है और यह भी पूर्ण है, क्यों कि (पूर्णात् पूर्ण उद्च्यते) उस पूर्णसे इस पूर्ण की उत्पत्ति हुई है। इस वर्णन के मननसे उक्त शंका नहीं रह सकती। भगवान् का अंश हो, ज्योतिका उतरना हो, सब का भाव एक ही है, और सब का तात्पर्य भी एक ही है। जैसा लोहेमें या काष्ठमें अग्निका अवतार हुआ तो वह लोहा या काष्ठ अग्निरूप बनता है; अग्निके सब कार्य करता है और प्रत्यक्ष अग्निहि हो जाता है; अग्निमें और उसमें कोई भेद नहीं रहता और वहां यह प्रश्न भी नहीं उठता कि उसमें सब अग्नि आगई है या थोडीसी आगई है, क्यों कि थोडी और सब ऐसा वहां कोई भेद ही नहीं है अग्निरूप लोहा या काष्ठ बनते ही वह प्रत्यक्ष अग्निही हो जाता है। बस, इसी तरह जब किसीमें भगवान् की दिव्य ज्योतिका प्रकाश हुआ, या अवतार हुआ, तो वह भगवद्रूप ही होता है। यही दिव्य जन्म है। और सर्वत्र धर्मकी स्थापना, सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मकी ग्लानि होनेपर और अधर्मकी चढाई जब धर्मपर होती है उससमय यही भगवान् का दिव्य जन्म इस प्रकार होता है।

यह एक प्रकारका परम शक्तिका आविर्भाव है। यह किस तरह होगा इस विषयमें कोई नियम नहीं कह सकता। यह जैसा गर्भमें होगा, वैसाही बालकमें होगा और वैसा ही बडे मनुष्यमें भी हो सकता है। जहां होनेसे योग्य कार्य बनेगा वहां वह स्फुरण होगा। (यः दिव्यं जन्म तत्त्वतः एवं वेत्ति) जो यह भगवान् का दिव्यजन्म तत्त्वतः इस प्रकार जानता है वह (मां एति) भगवत् स्वरूपको प्राप्त होता है, अर्थात् वह भगवान् बन जाता है। इतना महत्त्व भगवान् के दिव्य जन्म का ज्ञान प्राप्त करनेका है।

जो मनुष्य इस तरह यह भगवान् के दिव्य जन्मका तत्त्व जानता है वह निश्चयसे मानता है कि, जो मनुष्य अपने आपको भगवान् के अवतार होने योग्य पवित्र और शुद्ध बनायेगा, उस की निःसन्देह उन्नति होगी। इस प्रकारके विश्वाससे वह नित्य नियमसे अपनी पवित्रता करता है, इससे वह उन्नत होता जाता है। पवित्रतासे वह परमेश्वरके सन्निध पहुंचता है और एक समय ऐसा आता है कि वह परमेश्वर की कृपा के लिये

पात्र बनता है, फिर तद्रूप होनेमें देरीहि क्यों लगेगी?

ऐसा मनुष्य (देहं त्यक्त्वा) मरनेके पश्चात् (पुनर्जन्म न एति) जन्ममरण के चक्रमें नहीं पडता; परंतु सीधा (मां पुरुषोत्तमं एति) परमेश्वर को प्राप्त करता है। उसकी उन्नतिमें कोई रुकावट नहीं होती। जिस प्रकार लोहा अग्निको प्राप्त होनेसे अग्नि बनता है, उसी प्रकार यह मनुष्य जब परमेश्वर को प्राप्त करता है, तब परमेश्वररूप किंवा परमेश्वहि बन जाता है।

दिव्य कर्मका ज्ञान।

इसी प्रकार(यः मे दिव्यं कर्म एवं तत्त्वतः वेत्ति) जो मेरे दिव्य कर्मको इस तरह तत्त्वदृष्टिसे जानता है वह भी परमेश्वरको प्राप्त करता है। जो फल भगवानके "दिव्य जन्म" जाननेवालेको प्राप्त होता है वही फल उसके "दिव्य कर्म" को जाननेवाले को भी मिलता है। दिव्य जन्म का विचार इससे पूर्व स्थानमें किया, अब दिव्य कर्म का विचार करना चाहिये।

उक्त प्रकार प्रभु अपने स्फुरणसे दिव्य जन्म लेनेके पश्चात् जो कर्म करते हैं उनकाहि नाम 'दिव्य कर्म' हैं। अवतारी पुरुष के जो कर्म होते हैं वे दिव्य कर्म ही हैं। उन कर्मोंके अन्दर जो तत्त्व रहता है वह जाननेसे मनुष्य उन्नत होता है और भगवत्स्वरूप हो जाता है। अवतार लेकर भगवान् ने कैसे कर्म किये, किस प्रकार दुष्टोंका नाश किया, किस तरह सज्जनोंका पालन किया, किस रीतिसे धर्म स्थापना की, उस समय धर्मग्लानि कैसी हुई थी और उस ग्लानि को किस तरह दूर किया, इस का विचार करनेसे मनुष्य को दिव्य कर्म का ज्ञान होता है और इस से उसको यह भी ज्ञान होता है कि स्वयं किस प्रकार कर्म करने चाहिये। इस ढंगसे मनन करनेवाला मनुष्य स्वयं इसी प्रकारके दिव्य कर्म करने का यत्न करता है और उन्नत होता जाता है। और अन्तमें परम पद को प्राप्त करता है।

"दिव्य कर्म" का अर्थ "दैवी गुणों से युक्त कर्म" है। भगवद्गीता के १६ वे अध्याय के प्रारंभमें दैवी गुणोंका वर्णन इस प्रकार है- "अभय, अन्तःशुद्धि, ज्ञान और योगमें निष्ठा, दान, इंद्रियदमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निंदा न करना, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादापालन, अचंचलता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह, निरभिमान, ये दैवी गुण हैं।" जिन कर्मोंमें ये गुण दीखते हैं अथवा इन गुणोंसे जो कर्म होते हैं उनको "दिव्य कर्म" कहा जाता है। श्रेष्ठ पुरुषोंके व्यवहारोंमें और उनके कर्मोंमें इन गुणों का प्रत्यक्षीकरण हो सकता है। इस लिये जो मनुष्य अवतारी पुरुषोंके अथवा श्रेष्ठ सत्पुरुषोंके व्यवहारमें मननके द्वारा इन दिव्य गुणोंका दर्शन करते हैं, उनको ये कर्म दिव्य हैं और ये कर्म दिव्य नहीं हैं इस बातका निश्चित ज्ञान हो जाता है और इस प्रकारका निश्चय होते ही वह मनुष्य स्वयं यत्न करके दिव्य कर्म करता है और प्रयत्नसे दिव्यकर्म करता हुआ क्रमशः उन्नत होता है। पाठक यहां स्मरण रखें कि प्रयत्न करनेपर भी प्रत्येकसे प्रारंभमें ऐसे दिव्यकर्म होंगे ऐसा कोई नियम नहीं है, परंतु मनमें वह महत्वाकांक्षा रही और उसके लिये योग्य दिशासे प्रयत्न होने लगे, तो क्रमशः उन्नतिके हि पथपर उसका चालचलन होने लगता है। यही क्रम-उन्नतिकी रीति है। दिव्य विभूतिके दिव्य कर्मोंका मनन करनेसे इस तरह उन्नति होती है और अन्तमें पूर्वोक्त रीतिसे वह परमपद को प्राप्त करता है। इसी लिये यहां कहा है कि "जो मेरे दिव्य जन्म और कर्मको इस प्रकार तत्त्वतः जानता है, उसको पुनर्जन्म के दुःख नहीं भोगने पडते, और वह सीधा परमेश्वरको प्राप्त करता है।" (भ० गी० ४।९)

जन्ममरण छूटना।

यहां इसको 'पुनर्जन्म नहीं होता है' ऐसा कहा

है, यह विचारणीय बात है, क्योंकि इसी अध्याय के प्रारंभके श्लोक ५ में कहा है कि "जैसे भगवान् के अनेक जन्म हुए हैं वैसे हि अर्जुन के भी हुए हैं।" यदि भगवान् को भी अनेक जन्म लेने पडते हैं, तो भगवत्स्वरूपको प्राप्त हुए मुक्तात्मा को जन्ममरण किसप्रकार छूट सकते हैं ? इस शंका का विचार अब करना चाहिये—

इससे पूर्व भगवान् "दिव्य जन्म" कैसा लेते हैं, इसका वर्णन किया है। वे स्वेच्छासे, अपनी लीलासे और अपनी निज शक्तिसे किसी सुयोग्य विग्रहमें उतरते हैं। वहां किसी प्रकार का बंधन उनके लिये नहीं होता, इसीप्रकार जो परमात्म-स्वरूप को प्राप्त हुए मुक्त पुरुष हैं, वे भी ऐसेहि स्वकीय इच्छासे और लोकानुग्रह करनेकी बुद्धि से स्वयं किसी सुयोग्य शरीर को धारणा करते हैं। इन के लिये भी किसी प्रकारकी परतंत्रता नहीं होती। ये विग्रह धारण करें या न करें, इस विषयमें ये पूर्ण स्वतंत्र हैं। किसी दूसरे के नियमसे बद्ध होकर ये नहीं आते। ये शुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव होनेके कारण इनमें परम दया भाव स्वभावसे रहता है। जैसा परमेश्वर स्वभावसे परम कारुणिक हैं, वैसेहि परमात्मस्वरूपको प्राप्त हुए मुक्त जीव भी वैसेहि परम कारुणिक स्वभाव से और अकृत्रिमतासे होते हैं। इस कारण जब वे भूमंडल की जनता अत्यंत दुःख में पडी देखते हैं, उनके दुःख के हृदयभेदक नाद सुनते हैं, और उनकी अशरण स्थिति देखते हैं, तब स्वाभाविक और अकृत्रिम करुणाके कारण स्वयं अपने सुख स्वरूपसे नीचे उतरते हैं, विग्रह धारण करते हैं और जनता के मार्गदर्शक होते हैं। इनका यह दिव्य जन्म उनकी स्वतंत्रतासे होता है और सामान्य जनता का पार्थिव भौतिक पुनर्जन्म परमेश्वरीय नियमकी परतंत्रता के कारण होता है। इसमें नियमानुसार इनको पुनर्जन्म लेना ही पडता है, ये पुनर्जन्म लेनेकी इच्छा करें या न करें, परवश होते हुए ये पुनर्जन्ममें खींचे जाते हैं। ऐसी परवशता परमात्मस्वरूप बने हुए मुक्तात्माओंकी नहीं होती, पुनर्जन्म धारण करनेके लिये उनको कोई बाधित नहीं कर सकता परंतु लोकानुग्रह करने के स्वभावसे वे स्वयं किसी योग्य शरीरमें उतरते हैं और ये स्वयं "दिव्य जन्म" धारण करते हैं।

उदाहरण के लिये जेल खानेके कैदी राजाके नियमानुसार परतंत्रतासे कारागृहमें खींचे जाते हैं, और कोई प्रतिष्ठित नागरिक स्वेच्छासे कारागार देखनेके लिये, अथवा कैदियोंको धर्मतत्त्व का उपदेश करनेके लिये जाता है, वह स्वेच्छासे और अपनी स्वतंत्रतासे जाता है। इसी तरह सामान्य बद्ध जीवोंका पुनर्जन्म और मुक्तात्मा का 'दिव्य जन्म और कर्म' जानने से पूर्वोक्त शंका दूर होसकती है। यह विषय भगवद्गीतामें वारंवार आनेवाला है, इस लिये इसका पाठक अच्छी प्रकार मनन करें।

परमेश्वर-प्राप्ति।

(सः मां एति) वह मुझे प्राप्त होता है अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त करता है, ऐसा यहां कहा है। यहां परमेश्वरप्राप्तिका अर्थ क्या है इसका थोडासा विचार करना चाहिये। इस प्रकार के परमेश्वर-प्राप्ति के सूचक वाक्य भगवद्गीतामें अनेक वार आगये हैं, देखिये—

(१) बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

भ० गी० ४। १०

स योगी मयि वर्तते॥ भ० गी० ६। ३१

मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ भ० गी० ७। २३

यांति मद्याजिनोऽपि माम्॥ भ० गी० ९। २५

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

भ० गी० ८। १५

संन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

भ० गी० ९। २८

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

भ० गी० ११। ५५

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः
भ० गी० १८।६६

(२) ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ भ० गी० २।७२
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥
भ० गी० ४।३१
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥
भ० गी० ५।६
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
भ० गी० ५।२०
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
भ० गी० ६।२७
ब्रह्म संपद्यते तदा॥ भ० गी० १३।३०
ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ भ० गी० १४।२६

(३) जन्म बन्ध विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।
भ० गी० २।५१
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
भ० गी ३।१९
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥
भ० गी० ५।२८
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
भ० गी० ६।४५
स याति परमां गतिम्॥ भ० गी० ८।१३
ततो याति परां गतिम्॥ भ० गी० १३।२८;
१६।२२
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ भ० गी० १५।२०

इस तरह के अनेकानेक वाक्य भगवद्गीतामें हैं। ये ही वाक्य अन्तिम सिद्धिका स्वरूप बतानेवाले हैं। इस अन्तिम सिद्धिका विचार हम आगे योग्य समयमें करेंगे, यहां केवल इतना ही बताना है कि—

१ मुझे प्राप्त करता है, मेरे भाव को प्राप्त होता है, मेरा स्वरूप प्राप्त करता है;

२ ब्रह्मको प्राप्त होता है, ब्रह्ममें स्थिर होता है, ब्रह्मरूप बनता है, ब्रह्मके समान महान् होता है;

३ नीरोग स्थान प्राप्त करता है, उच्च स्थान प्राप्त करता है, मुक्त होता है, श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है, कृतकृत्य होता है।

उक्त सब वाक्योंका यही आशय है और इसका तात्पर्य एक ही है कि वह परमात्मस्वरूप को प्राप्त होता है। इस के विषयमें वेद में कहा है—

तदपश्यत्, तदभवत्, तदासीत्॥
वा० यजु० ३२।१२

"वह उसने देखा, वही बन गया, क्यों कि वही था।" इसमें कहा है कि इस उपासकने (तत्) उस परमात्माका दर्शन किया, तब यह उपासक (तत् अभवत्) वह परमात्मा बन गया, क्यों कि तत्त्वरूपसे यह उपासक (तत्) वही (आसीत्) था।" तथा—

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥ वा० यजु० ३२।११

"(ऋतस्य प्रथमजां उपस्थाय) सत्यके प्रथम प्रवर्तककी उपासना करनेसे (आत्मना आत्मानं) अपने आत्मासे परमात्मा में (अभिसं विवेश) सब प्रकारसे प्रविष्ट होता है।"

इस तरह के मंत्रभागों में परमात्मसाक्षात्कार के पश्चात् परमात्मरूप बननेका विधान है। तथा उपनिषद्में भी कहा है—

शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद॥ मांडूक्य उ० १२

"ओंकार आत्मा कल्याणमय और अद्वैतरूप है, यह जो जानता है, उसका आत्मा परमात्मा में प्रविष्ट होता है।" तथा—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ ८॥
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥ मुण्डक ३।२

"जैसी बहनेवाली नदियां अपने नामों और

रूपोंका त्याग करके समुद्र में लीन होती हैं, उस तरह ज्ञानी मनुष्य नाम और रूप से मुक्त होकर दिव्य परात्पर पुरुषको प्राप्त होता है॥ जो इस परब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म बनता है, इसके कुलमें कोई अज्ञानी मनुष्य उत्पन्न नहीं होता, यह शोक और पापसे दूर होता है, अविद्याग्रंथीसे मुक्त होकर अमर होता है॥"

इन सब वचनों का आशय यही है कि जो भगवद्गीताके (मां एति) "मेरे पास आता है" और (मद्भावं आगच्छति) "मेरे भावको प्राप्त होता है" इन वचनोंका है। नरका नारायण किंवा पुरुषका पुरुषोत्तम बनना है। परमेश्वर के दिव्य जन्म और दिव्यकर्म को जाननेवाला उपासक नर का नारायण होता है। इसकी क्रम उन्नति कैसी होती है इसका विचार आगेके श्लोक (४।१०) में किया है, वह विचार गीताके उपदेशको आचरणमें लानेकी दृष्टिसे अत्यंत महत्व का होनेसे अब उसका विचार करते हैं—

उन्नतिकी चार अवस्थाएं।

इस श्लोकमें उन्नतिकी चार अवस्थाएं कथन की हैं। परमेश्वरके दिव्य जन्म और दिव्यकर्म कैसे होते हैं, और अन्य सामान्य मनुष्यों के जन्म और कर्म कैसे होते हैं, इसका मनन करनेवाला मनुष्य इन चार अवस्थाओंमें से गुजरता है—

(१) मन्मयः= ईश्वरके दिव्य जन्म और कर्म में मन लीन करता है, सर्वत्र ईश्वरका रूप देखता है, सब ईश्वरमय है ऐसा अनुभव करता है,

(२) मां उपाश्रितः= ईश्वरके ऊपर पूर्णतया आश्रित होता है, सब काल और स्थानमें अपने आपको ईश्वर की शरण में रखता है।

(३) वीतरागभयक्रोधः= (राग) भोगप्रेम, भय, और क्रोधसे रहित होता है,

(४) ज्ञानतपसा पूतः= ज्ञान और तपसे पवित्र होता है और

(५) मद्भावं आगतः= मेरे अर्थात् परमेश्वर के भावको अर्थात् ईश्वरस्वरूपको प्राप्त होता है।

मनुष्य इन चार अवस्थाओंसे कैसा गुजरता है, इसका यहां अब विचार करना चाहिये। भगवद्गीतामें जो तत्त्व कहे हैं वे आचरण में लाने चाहियें, ये केवल रटनेसे कार्य नहीं होगा। अतः आचारमें लानेकी दृष्टिसे इन चार अवस्थाओंका मनन करना चाहिये। पहिली अवस्था 'भगवन्मय' होनेकी है—

(१) भगवन्मयः (मन्मयः)

भगवान् के, महात्माओंके, अवतारी पुरुषोंके अथवा विभूतियोंके जीवन चरित्र में तल्लीन होने की अवस्था यह होती है। दिन रात इनके जीवन चरित्र का विचार करके जो सदाचार का बोध मिलता है, उसको अपने आचरणमें डालनेका यत्न इस समय होता है। नित्य नियमसे उनके आचरणके साथ अपने आचरण की तुलना की जाती है, इससे अपने आचरण के दोष स्पष्ट होते हैं। दोषोंको दूर करनेसे पवित्रता बढती है। यह अभ्यास बढतेबढते भगवान् की सर्वत्र उपस्थिति है, सब जगत् भगवन्मय है इस बातका अनुभव होता है।

(२) भगवदुपाश्रितः (मां उपाश्रितः)

भगवान् के आश्रयपर स्थिर रहना। जब किसी विभूतिके जीवनचरित्रके विषयमें चित्त में अढळ प्रेम बसता है और इसके आश्रय से अपना उद्धार निःसंदेह होगा, ऐसा पक्का निश्चय हो जाता है, तब वह उसीके आश्रयमें अपने आपको समर्पित करता है। इसी तरह उसका परमेश्वर पर दृढ विश्वास रहता है और उसी की शरणमें वह रहता है। नित्य उसका ध्यान करता है, और वह अपना सब जीवन ही उसको समर्पित करता है। अपने आपको उसका

आधार है और किसी दूसरे का नहीं है, यह बात वह कदापि नहीं भूलता। प्रतिदिन अपना मन उस प्रभुके सन्मुख खुला करता है और अपनी पवित्रता के लिये उसकी सहायता मांगता है। इस प्रकार प्रतिदिन वह शुद्ध होता जाता है और जैसा शुद्ध बनता है वैसा वह प्रभुमें अधिक दृढ विश्वासी बनता है। इससे उसकी उन्नति होती है।

(३) वीतरागभयक्रोधः।

'राग' का अर्थ भोगोंपर प्रीति, भय और क्रोध, इसीप्रकार काम लोभ मोह मत्सर आदि सब दोष जो आसुरी भावके कारण होते हैं, उनको वह दूर करता है। वह जानता है अलोभ, अभय और अक्रोध ये दैवी संपत्तिके लक्षण हैं और वे अवतारोंके तथा विभूतियों के चरित्रों में दीखते हैं। इसके विरुद्ध असुरों में लोभ भय क्रोध आदि लक्षण होते हैं। मुझे उन्नत होनेके लिये इन असुरलक्षणोंको दूर करना और देव लक्षणोंको अपने अन्दर बढाना आवश्यक है। दिव्य जन्मवाली विभूतियोंके जन्म और कर्म वह देखता है और उनके जीवन चरित्रका मनन करके उनके समान वह निर्लोभ, निर्भय और अक्रोधी बननेका यत्न करता है। बहुत प्रयत्न करनेपर वह वैसा दैवी गुणोंसे युक्त बनता है और रागद्वेषसे दूर होता है।

(४) ज्ञानतपसा पूतः।

पूर्वोक्त रीतिसे वह निर्भय और रागद्वेषरहित होनेसे उसके अन्दर ज्ञानकी कला बढने लगती है। उसमें कामक्रोध लोभ जितने प्रमाणसे रहते हैं, उतनेहि प्रमाणसे उसमें अज्ञान रहता है। अतः कामक्रोध को दूर करनेसे मन निर्भय होता है और ज्ञानभी अतःकरणमें स्थिर होता जाता है। शीत उष्ण सहन करना, धर्माचरण, ब्रह्मचर्य पालन आदि तप करता है और इस तरह वह प्रतिसमय अपने आपको पवित्र करता है। अन्तमें एक समय ऐसा आता है कि यह उसका स्वभाव हि बनता है और विना प्रयत्न किये हि वह स्वयं सिद्ध और पवित्र रहने लगता है यही अन्तिम सिद्धि है। इस सिद्धिकी प्राप्ति होते हि—

(५) भगवद्भावं आगतः (मद्भावं आगतः)

पूर्वोक्त प्रकार स्वभावसे रागद्वेषरहित, निर्भय, ज्ञानपूर्ण और तपोमय जीवन जब होता है, तब वह भगवद्भावको प्राप्त हुआ है ऐसा कहते हैं। भगवानका भाव उसमें दीखता है, भगवान् का जीवित और जाग्रत स्वरूप वह स्वयं होता है, प्रभुकी ज्योति उसमें प्रदीप्त होने लगती है। इस तरह वह नर का नारायण, पुरुष का पुरुषोत्तम और बद्ध का मुक्त हो जाता है। परमेश्वरका भाव देखना हो तो इसमें देख सकते हैं। इस समय यह आदर्श होता है। इस समय वह अपना ध्येय और साध्य प्राप्त करके अपनी हि शक्तिसे अपने में सन्तुष्ट होता है और अपने में परिपूर्णताका अनुभव करके सहजानन्दसे आनन्दपूर्ण होनेका अनुभव करता है।

जो पाठक भगवद्गीता के उपदेशको अपने आचरणमें ढालना चाहते हैं वे इस श्लोक का अधिकसे अधिक मनन करें और इस मार्गसे चलकर अपने जन्मका सार्थक करें। ये उपदेश अपने आचरणमें ढाले गये या नहीं इसकी परीक्षा निम्नलिखित प्रकार की जाती है। "(१) क्या मैं सब जगत् भगवन्मय देखता हूं, या मुझे किसी दूसरे पदार्थका भान होता है? (२) क्या मैं अपना आश्रय प्रभुमें हि लेता हूं अथवा दूसरे का आश्रय करता हूं? (३) क्या मुझमें भोगप्रीति, भय और क्रोध हैं या ये पूर्णतासे छूटे हैं? (४) क्या मेरा तपका जीवन है," इस प्रकारके प्रश्न स्वयं करके अपने आपकी स्वयं परीक्षा करनेसे अपनी उन्नति कितनी हुई है इसका निश्चय हो सकता है। सदाचारशील पाठकोंको यह श्लोक बडा सहायक होगा। प्रयत्नशील मनुष्य शुभकर्म करते रहते हैं और सिद्धि अवश्यही प्राप्त करते हैं। इस विषयमें किसीके मनमें

(५) कर्मकी सिद्धि।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥ (गीता ३।२३)
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥१२॥

अन्वयः— ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तान् तथा एव अहं भजामि। हे पार्थ! मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते॥११॥ कर्मणां सिद्धिं कांक्षन्तः (मनुष्याः) इह देवताः यजन्ते; हि मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं भवति॥१२॥

जो मनुष्य जिस तरह मेरा आश्रय लेते हैं, उन्हें वैसाहि फल मैं देता हूं। हे अर्जुन! मनुष्य सब प्रकारसे मेरे हि मार्गका अनुसरण करते हैं॥ ११॥ कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुष इस लोकमें देवताओंकी पूजा करते हैं, क्योंकि मनुष्यलोकमें कर्म की सिद्धि अतिशीघ्र प्राप्त होती है॥१२॥

भावार्थ— जो जिस भावसे परमेश्वरका आश्रय लेता है, उसको वैसाहि फल ईश्वरीय नियमसे प्राप्त होता है। जो धान्य बोया जाता है वही प्राप्त होता है। सब मनुष्य परमेश्वरके मार्गकाहि अनुसरण करते हैं॥ इस मनुष्यलोकमें कर्म करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है, इस लिये फलकी इच्छा धारण करनेवाले मनुष्य अनेक देवताओंकी आराधना करते हैं और उससे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करते हैं॥११-१२॥

संदेह हो, तो वह आगेके दो श्लोक देखें—

(११—१२) कर्म करनेपर उसका फल मनुष्यको प्राप्त होता है वा नहीं, इस विषयमें कई मनुष्य शंका करते हैं। इस आशंका को दूर करनेके लिये कर्म की सिद्धि निःसन्देह प्राप्त होती है, ऐसा भगवान् कहते हैं—

कर्मका अटल नियम।

(ये यथा मां प्रपद्यन्ते) जो मनुष्य जैसे मुझे शरण आते हैं, जो मनुष्य जिस इच्छासे मेरा आश्रय करते हैं, जो मनुष्य जिस मनोभावनासे मेरे पास आते हैं, जो मनुष्य जिस प्रयोजन से मुझे भजते हैं, (तान् तथैव अहं भजामि) उनको वैसाहि फल देकर मैं उनपर अनुग्रह करता हूं। अर्थात् जो फलभोगेच्छासे सकाम कर्मद्वारा मेरी उपासना करते हैं उनको अभीष्ट फलभोग देता हूं, जो निष्काम कर्मयोग द्वारा मुझे भजते हैं उनको मैं ज्ञान देकर उन्नत करता हूं, जो मुमुक्षु हैं उनको मुक्ति देता हूं, जो केवल दुःख दूर करनेके इच्छुक हैं उनके दुःख दूर करता हूं। इस प्रकार जिस आकांक्षासे लोग मेरे पास आते हैं, मैं उनकी वह आकांक्षा पूर्ण करता हूं।

ईश्वरमें रागद्वेष नहीं है, अतः वह किसीको प्रीति से पास या द्वेषसे दूर नहीं करता। जो जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार वह कर्मके नियमानुसार फल पाता है। कर्म का नियम अटल है।

अर्थका अनर्थ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥
इस श्लोक का अर्थ कई ऐसा करते हैं कि—

"जो जैसा वर्ताव मेरेसे करता है वैसा मैं उससे करता हूं।" ऐसा शब्दार्थ करके उसका तात्पर्य ऐसा मानते हैं कि, दुष्ट के साथ दुष्ट बनना, शत्रु के साथ शत्रु बनना, "शठं प्रति शाठ्यं" करना, क्रोधीके साथ क्रोधका व्यवहार करना इत्यादि आचरण करना धर्म्य है और यही भगवदादेश है। परंतु यह अर्थका अनर्थ है।

शठके साथ शठता करना, दुष्टके साथ दुष्ट बनना, यह तत्त्व एक वार स्वीकृत किया, तो इसका परिणाम आगे ऐसा भयंकर होता है कि उसका वर्णन करना कठिन है। किसीने एक वार मारा तो उसको चार वार मारना, किसीनें एक वार व्यभिचार किया तो उसके बदले में चार वार करना, इस प्रकार दुष्ट कल्पना का प्रवाह चलता रहा, तो दुराचार की कोई सीमा नहीं रहती। और अन्तमें मनुष्य पशुत्वसे भी गिरता है।

इस श्लोकपर इस तरह की कुकल्पना बहुत लोग करते हैं, परंतु यह अर्थ इस श्लोकमें नहीं है। इसका अर्थ इतनाही है कि "मनुष्य जिस भावसे ईश्वरकी उपासना करते हैं, वैसा फल उनको मिलता है।" इस उत्तम धर्मनियम का इतना अनर्थ करना किसीको भी योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त धर्मका नियम भी "शठं प्रति शाठ्यं" नहीं है। 'शठं प्रति सत्यं' यही धर्म का नियम है। देखिये—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम्॥
म० भा० उ० ३९।७२

"क्षमासे क्रोध को, साधुतासे दुष्टको, दानसे कृपण को और सत्यसे असत्य को जीतना चाहिये।" यही धर्म है। अतः भगवद्गीताके इस श्लोक का "शठके प्रति शठता करना" ऐसा अर्थ समझना अर्थका अनर्थ करना है। इस लिये इसका ऊपर दिया अर्थ ही लें और भगवदुपदेश का सार जानने का यत्न करें। अर्थ का अनर्थ करके विपरीत अर्थ समझना सर्वथा अयोग्य है।

अस्तु। इस श्लोकमें कर्म का अटल नियम कहा है। जो जैसा करेगा वैसाही फल उसको प्राप्त होगा। यह जान कर मनुष्य अच्छा कर्म करता रहे और बुरे कर्म से दूर रहे। इतना कर्म का अटल नियम कह कर आगे कहा है—

ईश्वरका मार्ग।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
(४।११)

"मनुष्य सब तरहसे परमेश्वरके मार्ग का ही अनुसरण करते हैं।" मनुष्य किसी प्रकार का भी व्यवहार क्यों न करते हों, वे परमेश्वर के पास जानेके मार्गपरहि हैं, वे परमेश्वरको प्राप्त करने के मार्ग के ऊपर हि किसी न किसी दिन अवश्य आ मिलेंगे। मनुष्य बुरे मार्ग में लगे हैं ऐसा दीखता है, परंतु बुरे मार्गका अनुभव लेनेके पश्चात् वे अवश्य परमपद को पहुंचानेवाले मार्गपर आ जायंगें। सब मानवों को परमेश्वर की प्राप्तिहि अभीष्ट है, थोडे लोग जानते हैं, और बहुत लोग नहीं जानते। न जानते हुए भी उनका वही मार्ग होता है। सत्य धर्म इतनाही होता है कि मनुष्य को सरल मार्ग बतावे। धर्ममार्गसे जानेसे मनुष्य परमपद की प्राप्ति अतिशीघ्र कर सकता है, परंतु जो आज अधर्मसे चल रहे हैं, वे दूर दूर भटकते हुए अन्तमें किसी एक दिन इसी परमेश्वरप्राप्ति के मार्गपर आजायंगे। शीघ्र पहुंचना या देरीसे पहुंचना इतनाही भेद है।

यहां अतिसंक्षेपसे दर्शाया कि भगवद्गीतामें कहा हुआ ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेका मार्ग ही सबका साध्य है। अनेकानेक धर्मों, मतों और पंथोंसे जानवाले सभी लोग इसी मार्गको आकर मिलेंगे। जो इस भगवत्कृपासे कहे मार्ग पर चलते हैं वे तो सीधे मार्गपर पहिले से हि हैं, इस कारण उनको प्रवास के श्रम न्यून और अन्य मार्गियोंको अधिक होंगे। परंतु सब

अन्य मार्ग इसी सीधे मार्गमें आकर मिलते हैं। यह जाननेसे इस मार्गकी उच्चता स्वयं सिद्ध होती है।

यही श्लोकार्ध इससे पूर्व (भ० गी० ३।२३) स्थानमें आगया है। शब्द येही हैं, परंतु वहां पूर्वापरसंबन्धसे अर्थ थोडासा भिन्न है। वहां के (३।२३) श्लोक का अर्थ ऐसा है- "यदि मैं आलस्य छोडकर कर्ममें न लगा रहूं, तो (मम-वर्त्म०) लोग भी सदा मेरे मार्ग के अनुसार ही चलने लगेंगे।" शब्द एकही होनेपर भी वहां का आशय भिन्न है। यह अर्थ इस अपने (४।११) श्लोकमें लिया तो इस श्लोक का अर्थ इस तरह होगा—"सब लोग मेरा अनुकरण करते रहते हैं इस लिये मैं लोगोंको वैसाही फल देता हूं कि जैसे भाव धारण करके लोग मेरेपास आते हैं।" अर्थात् सब लोग भी अपने रागद्वेष को दूर रख कर दूसरे लोगोंके साथ ऐसाही निस्पृहता का यथायोग्य बर्ताव करें। कोई किसीसे अयोग्य व्यवहार न करे। अस्तु।

हमारे मतसे तो "सब मनुष्य परमेश्वरकी प्राप्तिके मार्गको जाकर मिलते हैं" यही आशय यहां अभीष्ट है। इसी प्रकार का एक श्लोक है—

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

"सब देवताओंको किया हुआ नमस्कार पर-मेश्वर कोहि पहुंचता है।" अन्यमतान्तर द्वारा खडे किये देव और देवता पूजा अर्चा अथवा नमस्कार अपने पास नहीं रख सकते, वे तो उनके पास आया हुआ नमस्कार आदि परमेश्वर के पास पहुंचा देते हैं। तथा—

भगवद्गीताके नवम अध्यायमें इसी आशयका एक श्लोक है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

भ० गी० ९।२३-२४

"जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओंकी पूजा करते हैं, वे भी विधिविहीनही क्यों न हो, मेरा ही पूजन करते हैं: क्यों कि मैं हि सब यज्ञों का भोक्ता हूं।" यहां भी किसी अन्य देवता का किया हुआ पूजन परमात्माको प्राप्त होता है, ऐसा स्पष्ट कहा है। तथा वेदमें भी कहा है—

एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।

ऋ० १।१६४।४६

"एक ही सत्य वस्तु का-अर्थात् एकहि परमा-त्माका वर्णन ज्ञानी लोग अनेक नामोंसे करते हैं।" अर्थात् परमेश्वरका कोई भी नाम लिया तो उसी एक अद्वितीय परमात्मा का नाम लिया ऐसा होता है, क्यों कि वस्तुतः उसका कोई नाम नहीं है, फिर नामका झगडा क्यों किया जाता है। कोई नाम लिया, किसी देवताकी पूजा की अथवा किसी मार्गसे गये, तो वह सब परमात्मा की हि उपासना होती है। इस तरह का उदार मत माननेवाले लोग धर्मप्रचारको द्वारा अन्य लोगोंको अपने मतमें लानेका प्रयत्न नहीं कर सकते, क्यों कि उनका विश्वास है कि (सर्वे मनुष्याः सर्वशः ईश्वरवर्त्म एव अनुवर्तन्ते) सभी मनुष्य सर्वथा ईश्वरप्राप्ति के मार्ग पर ही चलते हैं। किसीका मार्ग पास का सीधा है और किसीका टेढा अथवा दूरका है। यदि किसी को टेढा दूर का मार्ग पसंद हो तो वह उसीपरसे चले। एकके पास घण्टे में सौ कोश जानेवाला विमान है, दूसरे के पास वीस कोश दौडनेवाली मोटार है, तीसरेके पास घण्टे में दो कोश जानेवाली घोडा-गाडी है और चौथा पैदल चलनेवाला है। जिसके पास जैसा धनका साधन है, वैसा उसने वाहन प्राप्त किया है। सब जानेवाले हैं एकही स्थानपर, परंतु गतिकी न्यूनाधिकतासे कोई शीघ्र पहुंचता है और दूसरा देरीसे। यहां विचार की बात यह है कि जो मनुष्य पैदल चलनेवाला है, उसके पास वाहन लेने के लिये धन नहीं है, फिर वाहन में बैठनेवाले लोग उसका उपहास

क्यों करें,और उपहास किया भी जाय तो उसको वाहन मिलेंगे भी कहां से?

इसी तरह ज्ञानमार्गी, योगमार्गी, कर्ममार्गी और भोगमार्गी एक दूसरेका उपहास न करें। उपहास करनेसे क्या लाभ होगा? क्यों कि ज्ञान-मार्गीका ब्रह्मज्ञान भोगमार्गीके समझमें हि नहीं आवेगा। कर्मनिष्ठावाला मनुष्य ज्ञाननिष्ठा का विचार समझ ही नहीं सकता (भ० गी० ३।३-४) फिर मतप्रचारक एक दूसरे निंदा क्यों करते हैं?

भागवत धर्मी मनुष्य मानता है कि "सब लाग ईश्वरकी प्राप्ति के मार्ग में ही लगे हैं," कई दूरके मार्गपर हैं और कोई समीपके। जो वाहन जिसके पास है उसमें वह बैठा है और उसी मार्गपर चल रहा है। परंतु—

मनोजवेष्वसमा बभूवुः। ऋ० १०। ७१। ७

प्रत्येक मनुष्य "मनके वेगमें भिन्न होने" के कारण एक जिस तत्व का ग्रहण कर सकता है उसी का दूसरा नहीं कर सकता। इस लिये मनुष्यों का 'बुद्धिभेद' न करते हुए (भ० गी० ३। २६) सब को सत्कर्ममें प्रवृत्त रखना चाहिये। इस से सब की क्रमशः उन्नति हो सकती है।

देवों का यजन।

(कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं) कर्म के फलकी इच्छा करनेवाले लोग (इह देवताः यजन्ते) यहां देवताओंका यजन करते हैं। यहां देवताओं की उपासना का तात्पर्य तो है हि, परंतु अन्य भी भाव है। फलकी इच्छासे अनेक देवताओंकी पूजा जगत् में चल रही है जो आज भी प्रत्यक्ष है।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ भ० गी० ९। २५

"देवताओंके पूजक देवताओंको प्राप्त करते हैं, पितरोंके पूजक पितरोंके पास जाते हैं, भूत-प्रेतोंके पूजक भूत प्रेत होते हैं, और परमेश्वरका भजन करनेवाले परमेश्वर भाव को प्राप्त करते हैं।" आज भी भूत प्रेतोंके और मुर्दोंके उपासक पिशाच वृत्तीसे व्यवहार करते दीख रहे हैं और विविध देवोंके उपासक उन देवताओंके सदृश रहते दीखते हैं। तथा एक ईश्वरकी उपासना कर-नेवाले भी हैं। उपासक अपनी उपास्य देवताके समान बनता है, क्योंकि उसको उपास्यका ध्यान लगा होता है। राजस और तामस उपास्योंकी उपासना करनेवाले राजस और तामस होते हैं और सात्विक उपास्य देव की उपासना करने-वाले सत्वगुणसंपन्न होते हैं। इस लिये मनुष्य अपनी अपनी भोगेच्छाके अनुसार इष्ट देवताकी उपासना करते हैं और उनसे अपना इष्ट फल चाहते हैं। यहां उपासकों की प्रकृतिके अनुसार उपास्य पसंद किया जाता है, यह बात स्मरण रखने योग्य है। प्रेतोपासकों को उत्तम सात्विक देवता कभी पसंद नहीं होगी। अतः लोग अपनी प्रकृतिके अनुसार देवता चुनते हैं और उनका आराधन करते हैं। और आराधनासे इष्टफल प्राप्त करते हैं। क्योंकि (मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं भवति) "इस मनुष्यलोकमें कर्म से शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।" इस कारण मनुष्य तत्परतासे सतत कर्मका आचरण करते हैं।

संगतिकरण।

"यजन" का अर्थ "पूजन, संगतिकरण और दान" ऐसा तीन प्रकार का है। पूजन का अर्थ हमने देखा, अब देवताओंके संगतिकरण का विचार करना चाहिये। प्रत्येक प्राणी में और पदार्थमें ईश्वरका अंश है, अतः प्रत्येक पदार्थ और प्राणी ईश्वरीय शक्तिसे युक्त होने के कारण देवता है। इन देवताओंका संगतिकरण अर्थात् मिलाप करनेसेहि मनुष्यका व्यवहार चलता है। जितना संगतिकरण उत्तम होगा, और जितना उसका उपयोग उत्तम होगा, उतना मनुष्यका सुख अधिक होगा। इस दृष्टीसे यह संगतिकरण रूप यजन बहुत महत्त्वका विष-यक है। मनुष्य आपसमें और विविध पदा-र्थोंमें संगतिकरण कर रहा है। और कुछ न कुछ

(६) चातुर्वर्ण्यका संगतिकरण।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वयः— मया गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं सृष्टं; तस्य कर्तारं अपि मां अव्ययं अकर्तारं विद्धि ॥ १३ ॥

मैंने गुण और कर्म के विभागके अनुसार चार वर्णोंकी व्यवस्था निर्माण की है। उसका कर्ता होते हुए भी मैं अविनाशी अकर्ता हि हूँ ऐसा तू समझ ॥१३॥

भावार्थ— गुणों और कर्मों के अनुसार जो वर्गीकरण किया है, उसको चातुर्वर्ण्य कहते हैं। यह जैसा मनुष्योंमें है वैसा अन्य सृष्टिमें भी है। यह चातुर्वर्ण्य गुणों और कर्मोंको देख कर किया है, इस लिये इसका कर्तृत्व गुणकर्मों के पास है, व्यवस्थापक उसका कर्ता नहीं है। क्योंकि गुण और कर्म न होते, तो वह उसे न बना सकता ॥१३॥

सुख प्राप्त करही रहा है। तथापि यह समयसमय पर इसका उपयोग दूसरेकी हिंसा करनेमें करता है तब दुःखका भागी होता है। अतः यह संगतिकरण दान किंवा त्यागभावसे करना चाहिये। तभी मनुष्यका सच्चा कल्याण होता है। यहां प्रश्न होता है कि यह दानभावसे संगतिकरण किसीने कहां किया है? इसके उत्तर में चातुर्वर्ण्य का संगतिकरण कैसा उत्पन्न हुआ इसका वर्णन करते हैं—

संगतिकरण और व्यवस्था।

(१३) इस जगत् के पदार्थोंके मनुष्य, पशु, औषधि और खनिज ये चार भेद हैं। इनमें भी उपभेद और अधिक हैं। ये भेद गुणकर्मोंसे हि हुए हैं। मनन कर सकते हैं इस लिये (मननान्मनुष्यः। निरु०) मनुष्य कहलाता है; केवल देखता है (पश्यति इति पशुः) इस कारण उस को पशु कहते हैं, यह मनन नहीं कर सकता; (दोष-धीः ओषधीः। निरु०) शरीरस्थ दोषोंको दूर करती हैं इस लिये वनस्पतियों को ओषधी कहते हैं, और खानोंमें उत्पन्न होनेवाले सोना, तांबा आदीको खनिज पदार्थ कहते हैं। यह वर्गीकरण इन गुणोंके कारण हुआ है। फिर गुणकर्मों का अधिक विचार करनेसे इन प्रत्येक में कई भेद माने जा सकते हैं, उनमें चातुर्वर्ण्य मुख्य है।

पिण्ड और ब्रह्माण्डमें चातुर्वर्ण्य।

जैसा मनुष्यका शरीर एक है, और उनमें मनन करनेवाला मस्तिष्क, बलका कार्य करनेवाले बाहु और छाती, सर्वत्र रस पहुंचानेवाला पेट, नाभि या मध्य स्थान, और शरीरका बोझ उठाने का कार्य करनेवाले पांव इस तरह गुणकर्मोंसे य पिण्डके अवयवोंके चार वर्ग होते हैं; इसी प्रकार मानवसमाजरूपी एक शरीर में मनन, विचार और विद्याका मस्तिष्कका कार्य करनेवाले ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण; बाहु और छातीका बल संबंधी कार्य करनेवाले कर्मनिष्ठ क्षत्रिय; धान्य, औषधि और गोरस को उत्पन्न कर सबकी पेट पूर्ती का साधन करनेवाले पूंजीपति वैश्य; और उक्त तीनों के कर्मोंमें हरएक प्रकारकी सहायता करनेवाले अर्थात् सबके कर्मोंका बोझा उठानेवाले शूद्र, ये चार भेद गुणकर्मोंके अनुसार होते हैं।

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं, समता-प्रयत्न और मन्दता ये इन तीन गुणोंके क्रमशः स्वरूप हैं। इनकी न्यूनाधिकतासे ये चार वर्ण होते हैं, इसका प्रमाण इस तरह समझना योग्य है-

वर्ण	धर्म	कर्म
१ ब्राह्मण	सत्त्व, रज, तम -॥- -।- -।-	शम, दम, तप, शुद्धि, शान्ति, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य।
२ क्षत्रिय	रज, सत्त्व, तम -॥ -।- -।-	शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, अपलायन, दान और स्वामिभाव।
३ वैश्य	रज, तम, सत्त्व -॥- -।- -।-	कृषि, गोरक्षा, और वाणिज्य।
४ शूद्र	तम, सत्त्व, रज -॥- -। -।-	सेवा, अथवा हुनर।

इस रीतिसे सत्त्व रज तम की न्यूनाधिकता के कारण मनुष्योंके चार भेद होते हैं। और उनके कर्म भी इसी कारण भिन्न होते हैं। क्यों कि रजोगुणप्रधान मनुष्य स्वभावसे चढाई के कर्म करता है, सत्त्वगुणप्रधान मनुष्य शान्ती और समवृत्तिसे रहता है, और तमोगुणी मन्द बुद्धिवाला होने के कारण पूर्वोक्त वर्णों के साहचर्य से रहकर अपना गुजारा चला सकता है।

ये चार प्रवृत्तिके लोग प्रत्येक ग्राममें, प्रान्तमें, देशमें और राष्ट्रमें होते हैं। भारत वर्ष में इस चातुर्वर्ण्य की उत्तम व्यवस्था की और आनुवंशिक शिक्षाद्वारा इन गुणों का विशेष परिपोष करनेकी अपूर्व योजना बनायी है। ऐसी व्यवस्था प्रत्येक राष्ट्रमें होसकती है, और ऐसी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था करनेसे मानवी समाज का पूर्णकल्याण होगा। परंतु यह बात अन्यदेशीयों के ध्यानमें अबतक नहीं आयी है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें आगे (अध्याय १८।४१-४८ में) यह चातुर्वर्ण्य इस तरह वर्णित हुआ है-

(१) ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

(२) ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥
क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥
वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥
कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

(३) स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥ ४५ ॥

(४) स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

(५) सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ४८
भ० गी० १८

"(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनके कर्म (स्व-भाव-प्रभवैः गुणैः) अपने जन्म के साथ उत्पन्न होनेवाले गुणोंसे भिन्न भिन्न हुए हैं। (२) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म (स्व-भाव-ज) अपने जन्म के साथ बने हैं। (३) अपने कर्म में तत्पर होने से मनुष्यको उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है। (४) (स्व-भाव-नियतं) अपने जन्मसे निश्चित हुआ कर्म करनेसे पाप नहीं लगता। (५) (सह-जं कर्म) अपने साथ उत्पन्न हुआ कर्म सदोष हुआ तथापि उसको छोडना नहीं चाहिये।"

सहज कर्म।

इत्यादि स्थानों में चार वर्णों के कर्म उनके जन्मके साथ उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कहा है। अर्जुन क्षत्रिय था। अतः उसका सहज और स्व-भाव-ज कर्म युद्ध करना था। इस में हिंसारूप दोष होनेपर भी उसको छोडना उसके लिये अनुचित था। इन श्लोकोंमें -

स्व-भाव-प्रभाव कर्म
स्व-भाव-नियत कर्म
स्व-भाव-ज ... कर्म
सह ......ज ... कर्म
स्व .... कर्म

इन सब शब्दोंका अर्थ एक ही है। अर्थात् यह चातुर्वर्ण्य उत्पत्ति सिद्ध है। बडे तपःप्रभाव से विश्वामित्र जैसे उदाहरणोंमें यह बदल भी सकता है, परंतु यह अपवाद मात्र है क्यों कि श्रीकृष्ण, धर्मराज, भीष्मपितामह, ये धर्मतत्त्वके वक्ता

होनेपर भी ये क्षत्रिय ही कहे गये, विदुर धर्मज्ञ होनेपर भी शूद्र माना जाता था और द्रोणाचार्य क्षात्र गुण संपन्न होनेपर भी ब्राह्मण माने जाते थे। अर्थात् वर्णपरिवर्तन होता है यह तत्त्वतः मानने परभी उसकी संभावना अपवादमें मानी जाती थी, और अर्जुन के लिये वह असंभव है ऐसाही कहा गया है। इसलिये भगवद्गीता का सर्वसामान्य सिद्धान्त चातुर्वर्ण्य जन्म, गुण,और कर्मसे है यही है। इसीलिये कहा—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥ भ० गी० १८

"अहंकार वश होकर तेरा हठ कि 'मैं नहीं लडूँगा,' यह तेरा निश्चय मिथ्या है, तेरा स्वभाव ही तुझे बलके साथ घसीटे लेजायगा। अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधा हुआ तू जिसे मोहवश करना नहीं चाहता, उसे विवश होकर करेगा।" स्वभाव का इतना बल है। अस्तु।

'स्वभाव' शब्दका अर्थ 'शील' ऐसा कई करते हैं, परंतु यहभी जन्मसे हि होता है। अपने जन्मसे जो प्राप्त है और जो अपनी प्रकृति है उसी का नाम स्वभाव है। प्रकृतिगुण बदलना अत्यंत कठिन है। इस तरह के स्वभावसे उत्पन्न गुणोंका विचार करके यह चातुर्वर्ण्य निर्माण किया है।

जब प्रारंभमें चारों वर्णोंका वर्गीकरण किया, उससमय मनुष्यों की स्वभाव प्रवृत्ति देखकर हि 'इसका यह वर्ण, इसका यह वर्ण' ऐसा नियम किया, और राजशासन के द्वारा सवर्ण विवाह की मान्यता देकर इन वर्णोंको जन्म द्वारा सुदृढ किया। उत्पत्तिसिद्ध वर्ण माननेसे नियत गुणों का उनमें विशेष परिपोष होने लगा और जन्म स्वभावसे हि गुणकर्मोंका निश्चय होने लगा।

भारतवर्ष में ब्राह्मण, राजपूत, बनिये इत्यादि की आदर्श से बहुत गिरावट होनेपर इस समय में भी वही प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह प्रभाव आनुवंशिक संस्कारों का है। बौद्ध कालमें वर्ण-व्यवस्था टूट गई, फिर आचार्योंने यथाकथंचित् रचना की, पूर्व कालमें पित् सावर्ण्यके समय मिलावट हुई, इस कारण आनुवंशिक शुद्धता जैसी चाहिये वैसी नहीं रही, अतः इस समय भिन्न कर्मोंमें लोगोंकी प्रवृत्ति दीखती है, तथापि आनवंशिक संस्कार आज भी दिखाई देते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

वर्णका निश्चय जन्मसे, वर्ण के कर्म शास्त्र द्वारा नियत किये हुए, और कुल परंपरासे गुणों का परिपोष यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सिद्धान्त है। वर्णधर्मों और वर्णकर्मोंका निश्चय करना शास्त्रकारों का हि कर्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य शास्त्रवचन प्रमाण मान कर अपना नियत कर्म करता रहे, दूसरा विचार करनेका उसको अधिकार नहीं है। शास्त्रमें बदल करना हो तो समय समय के ज्ञानी पुरुष समय का विचार करके योग्य बदल करें। प्रत्येक मनुष्य शास्त्रवचन का दास बन कर अपना नियत कर्म करता रहे, उसी से उसकी उन्नति होगी।

इस तरह की नियमबद्ध वर्णव्यवस्था सब देशमें होगी, तो सब का कल्याण होगा इसमें संदेह नहीं हैः परंतु किसी अन्य देशमें ऐसी व्यवस्था नहीं है, और भारतवर्षमें भी परकीयों का अनुकरण करनेकी शिक्षा बढनेसे मनुष्योंकी मनमाने कर्म करनेकी प्रवृत्ति बढ गयी है, जिससे चातुर्वर्ण्य संस्था टूटनेके समान हुई है।

आश्रमव्यवस्था और वर्णव्यवस्था ये दो ही मुख्य स्तंभ अपने धर्मके हैं, परंतु ये इस समय पूर्णतया शिथिल होगये हैं और भावी काल में राज्यशासन का सहारा मिलनेकी संभावना न होनेके कारण भविष्यमें ये स्तंभ किस अवस्थामें रहेंगे इसका भी कोई निश्चय नहीं होता है। अस्तु इस तरह यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाका तत्त्व है। यह व्यवस्था प्रारंभ में गुणकर्मोंको देखकर निर्माण

की थी। और जब इसकी पुनर्घटना करनी होगी, तब भी मनुष्योंके गुणकर्म के अनुसारहि व्यवस्था करनी होगी। और राज्यशासन व्यवस्था द्वारा आनुवंशिक संस्कारोंसे उसको चिरस्थायी और दृढ करना होगा।

मनुष्यों की तरह यह व्यवस्था पशु पक्षी वृक्ष वनस्पतियों में भी है। यहां भी प्रारंभ में वर्गीकरण स्वाभाविक उत्पत्तिसिद्ध गुणधर्मोंको देखकर किया जाता है और पश्चात् उन गुणकर्मोंको सुदृढ करनेके लिये आनुवंशिक रीतिसे हि ढालना पडता है। वारंवार भिन्न रसरक्तका मिश्रण होनेसे बडा बिगाड होता है, इसी लिये कुत्ते घोडे गाय आदि पशुओंकी संतति शुद्ध बीजसे हि करने की पद्धति सर्वत्र सर्वमान्य है। और वह अत्यंत योग्य है। अस्तु।

गुणकर्मोंको देखकर (गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं सृष्टं) चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था रची। इसमें रचनाकी संभावना गुणों और कर्मोंके कारण होती है, इसलिये चातुर्वर्ण्यका कर्तृत्व गुणकर्मों के पास आता है। व्यवस्था करनेवाली एक व्यक्ति हो अथवा संस्था हो, वह गुणकर्मोंके न होनेकी अवस्थामें चातुर्वर्ण्य व्यवस्था करनेमें असमर्थ होनेसे उसके पास चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का कर्तृत्व नहीं आता। इसी उद्देश्यसे कहा कि (तस्य कर्तारं अपि मां अकर्तारं विद्धि) उस चातुर्वर्ण्य की रचना करनेपर भी मुझे उसका अकर्ता समझ। क्योंकि कर्तृत्व गुणोंका है, मेरा नहीं।

इस का बोध होने के लिये एक उदाहरण लेते हैं कि एक ग्राम में कई बालक हैं, उनमेंसे किसी ने पढाई के लिये कुमारों को और कुमारियोंको अलग कर उनके कुमारगुरुकुल और कुमारिकागुरुकुल बनाये और उनकी पाठविधि निश्चित की। तो ये दो संस्थायें निर्माण होने का वास्तविक कर्तृत्व कुमार कुमारिओंके अस्तित्वमें होता है। ये न होते तो वह कैसे बनाता? इस कारण उन बालकोंमें जो कुमारपन और कुमारिकापन था वही उक्त संस्थाका कर्ता है, मनुष्य केवल योजक है। इसी तरह भगवान् कहते हैं कि मैंने "मनुष्योंके गुणकर्मोंको देख कर चार वर्णोंकी योजना की, उस वर्णव्यवस्था के कर्ता स्वाभाविक गुण हैं, मैं नहीं हूं।" मनुष्य भी गुणोंके पास कर्तृत्व है ऐसा मानें और अपने में कर्तृत्व का अभिमान न बढावे। [इसी विषयमें पाठक भ० गी० अ०३ श्लो० २७-२९ विवरण सहित देखें।]

संगतिकरण।

संगतिकरण से वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है। समान गुणधर्मवाले वर्ग बनाकर उन की संगति करना, केवल इन्हीं का आपसमें मिलाप करना, और केवल इन्हींका आपसमें संबंध होने देना, यह वर्णधर्म का रहस्य है। इस के साथ एक जाती के गुणधर्मवालोंसे भिन्न गुणधर्मवालों का संबंध तोडना भी उतना ही आवश्यक है। समान गुणधर्म वालोंका सख्य करना और उनको विषमगुणधर्म वालोंसे दूर रखना यही गुणपोषण की रीति है। मानवी धर्मका विकास इसी से होगा। परंतु इस से संघशक्ति घटेगी और फिरकेबाजी बढेगी। इसी कारण वर्गीकृत लोगोंकी अपेक्षा अवर्गीकृतोंमें संघटना हमेशा अधिक होती है। परंतु वर्गीकरण ही शास्त्रीय है और गुणविकास की दृष्टिसे उसका महत्त्व अधिक है।

एकवार वर्गीकरण अथवा वर्णीकरण आवश्यक समझागया, तो वही वर्गीकरण खानपानमें, रहनेसहनेमें, उपभोगोंकी न्यूनाधिकतामें, कपडोंलत्तोंमें इत्यादि सब व्यवहारोंमें दिखाई देता है। इसके लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त है—ब्राह्मणों की त्यागवृत्ति होनेसे वे भोग कम करनेमें लगेंगे और क्षत्रियोंकी भोगवृत्ति होनेसे वे भोग बढावेंगे। ब्राह्मणोंको विचारके कार्यमें लगे रहनेसे लघु अन्न खाना अवश्यक है और शूद्रोंको कष्टके कर्म में लगे रहनेसे जडान्नभक्षण आवश्यक है।

इस कारण चार वर्णोंकी भिन्नता माननेसे आगे यह अनेक प्रकारकी भिन्नता होती जाती ह और वही रहनसहनके हरएक पहलूमें दिखाई देती है। इसलिये धर्मविचारकोंको आवश्यक है कि वे ऐसी कुछ व्यवस्था करें कि वर्णभेद माननेपर भी उन सब में मिलकर अभेद होनेके लिये कुछ ऐसे उत्सव रचनेका यत्न करें, कि जिससे चारों वर्णोंका आपसमें मेल होनेका अवसर आजाय। बडे यज्ञोंसे यही संघटना का कार्य प्राचीन समय में होता रहा।

अव्यय कर्ता और अकर्ता।

"मैं अव्यय कर्ता हूं और अव्यय अकर्ताभी हूं।" ऐसा(४।१३) यहां कहा है। इस विधानसे एक बडे सिद्धान्त का उपदेश यहां किया है। कर्ता जिस समय कुछ कर्म करता है, उस समय उसकी शक्तिका कुछ न कुछ व्यय होता है। कर्मका अर्थ हि अपनी शक्ति का व्यय है और यह व्यय करने से फलप्राप्तिरूप लाभ होना है। कर्म में अपनी शक्ति का व्यय न किया तो फल भी नहीं प्राप्त होगा। अर्थात् फल चाहिये तो कर्म के लिये शक्तिका व्यय करना ही चाहिये।

परमेश्वर यहां कहते हैं कि, " मैं अव्यय कर्ता हूं " क्योंकि मैं " अव्यय अकर्ता हूं। " यहां 'अ-कर्ता' का अर्थ 'कर्म न करनेवाला' नहीं है, परंतु "विशेष रीतिसे कर्म करनेके कारण अकर्ता" है। इस विशेष रीतिसे कर्म करने के कारणहि यह कर्ता होता हुआ भी अव्यय अकर्ता होता है!! यह कौनसी विशेषता है कि जिससे कर्म भी होते रहें और (अव्यय) अपनी शक्तिका व्यय भी न हो? और यह विशेष रीति हम जैसे मनुष्योंको साध्य हो सकती है या नहीं? ये प्रश्न यहां विचारणीय हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्न्यो अभिचाकशीति॥
ऋ० १।१६४।२०

"एक वृक्षपर दो पक्षी हैं, उनमें से एक उस का मीठा फल खाता है और दूसरा केवल चमकता है अर्थात् फल नहीं खाता।" जीव और ईश्वर ये दो प्रकृति के ऊपर बैठे हैं। जीव फल भोग करता है और ईश्वर नित्यतृप्त है। यहां हमें पता लगता है कि जीव को फलभोग की इच्छा है इसलिये फलप्राप्त्यर्थ कर्म करने में अपनी शक्ति का व्यय करना पडता है। और परमात्मा नित्यतृप्त होनेसे वह अपने भोग के लिये कुछ नहीं करता, अतः वह सदा अकर्ता रहता है, और अकर्ता रहनेसेहि उसकी शक्तिका व्यय नहीं होता है। उससे जो होता है वह सहज कर्म होता है, इस लिये उसको "अव्यय अकर्ता" (विद्धि अकर्तारमव्ययम्) कहते हैं।

शक्तिकी रक्षा।

यहां अपनी शक्ति क्षीण न करनेका एक नियम हमें ज्ञात हुआ, यदि कोई मनुष्य तृप्त अर्थात् अकाम किंवा निष्काम हुआ, और यदि उसने सकाम भावसे अपने भोग बढानेके अर्थ कर्म न किये तो, उससे निष्काम भावसे कर्म होनेपर भी उसकी शक्ति क्षीण नहीं होगी। वह कर्ता होते हुए भी अ-व्यय अकर्ता होगा। यह हेतु है भगवद्गीतामें निष्काम कर्मयोग का उपदेश करनेका। निष्काम कर्म का यह महत्त्व है। इस निष्काम कर्मयोगसे शक्तिका संग्रह होता है।

साधारण लोग अपने भोगोंके बढाने के लिये विविध कर्म करते हैं, उनके फल स्वयं भोगते हैं, और भोगोंसे रोगी होते हैं और अन्तमें क्षीण होते हैं। इस तरह सकाम-कर्म क्षीणता करनेवाला है। यह दोष न रहने के कारण निष्काम-कर्म अपनी शक्ति बढानेवाला है। यही विचार अगले श्लोकोंमें अधिक स्पष्ट कर दिया है—

(७) फलासक्तिसे बन्धन ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अन्वयः— कर्मफले मे स्पृहा न, (अतः) कर्माणि मां न लिम्पन्ति । इति यः मां अभिजानाति, सः कर्मभिः न बध्यते ॥१४॥ एवं ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः अपि कर्म कृतम् । तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतं एव कर्म कुरु ॥ १५॥

कर्म के फलमें मेरी लालसा नहीं है, (इसीलिये) कर्मोंका लेप मुझे नहीं लगता । इस तरह जो मुझे भली भान्ति जानता है; वह कर्मोंसे बांधा नहीं जाता ॥ १४ ॥ यह जानकर पूर्व समय के मुमुक्षु लोगोंने भी कर्म किये थे । अतः पूर्वके लोगोंद्वारा किये हुए प्राचीन कालके कर्मोंके समान हि तू कर्म कर ॥ १५ ॥

भावार्थ— जिसकी कर्मके फलभोगोंपर आसक्ति नहीं होती, उसको कर्मों से कोई बाधा नहीं होती । कर्मोंके कारण जो बाधा होती है, उस का एक मात्र कारण फलासक्ति है । अतः जो फलासक्ति छोडता है वह कर्म के बंधन से मुक्त होता है ॥ यह नियम जानकर प्राचीन मुमुक्षु लोगोंने कर्म किये थे और वे बद्ध भी नहीं हुए थे । इसलिये फलासक्ति छोडकर इस समयमें भी मनुष्य कर्म कर सकता है और कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकता है ॥ १४-१५ ॥

आसक्तिका दोष।

(१४—१५) मानवी व्यवहारमें तथा प्राणिमात्रके व्यवहारमें हम देख सकते हैं कि आसक्ति से हि बडे कष्ट होते हैं। देखिये—

कुरंग-मातंग-पतंग-भृङ्ग-मीना
हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।

"हरिण, हाथी, पतंग, भृंग और मछली ये पांच क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध पर आसक्त होनेसे नष्ट होते हैं।" हरिन मधुर ध्वनिपर लुब्ध होने के कारण बांधा जाता है, हाथी हाथिनी पर आसक्त होनेसे पकडा जाता है, पतंग दीपके रूपपर मोहित होने के कारण दीप पर गिर कर जल जाता है, भ्रमर मधुर रसपर आसक्त होनेसे कमलमें बांधा जाता है और मछली आमिषपर आसक्त होनेसे जाल में बद्ध होती है ।" मनुष्यों की अवस्था भी यही है ।

कई मिष्ट भोजन पर, कई स्त्रीपर, कई मधुर शब्द पर, कई धनपर, कई अपने अधिकार पर आसक्त होते हैं, और उस आसक्तिके कारण अनेक प्रकारके कष्ट भोगते हैं। जो मिष्ट भोजनपर आसक्त है,उसको दूसरा भोजन प्राप्त होनेसे दुःख होता है और वह मिष्ट भोजनसे सुख मानता है, परंतु सदा मिष्ट पदार्थ भक्षण करनेसे रोगी होकर कष्ट भोगता है । इसी तरह अन्य स्थानों में आसक्त होनेवालोंको कष्ट ही होते हैं । अधिकार पर आसक्त हुए मनुष्य अपने हाथमें अधिकार रखनेके हेतुसे इतने अत्याचार करते हैं कि, उसकी कोई सीमा नहीं होती, इतिहास में राज-

कीय और धार्मिक अधिकारलालसाके कारण जितने रक्तपात हुए हैं उससे इतिहासके पृष्ठ कलंकित ही बने हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, आसक्तिसे अनंत दोष होते हैं और उनके कारण मनुष्यके दुःख बढते हैं।

कोई मनुष्य विशिष्ट प्रकारके मिष्ट भोजन पर हि आसक्त है और दूसरा एक जो सात्विक शाकभोजन आजाय उसको हाजम करके पुष्ट होता है, तो पाठक समझ सकते हैं कि विशिष्ट भोजनपर आसक्त रहनेवालेको अधिक दुःख और यदृच्छासे प्राप्त शाक भोजनपर संतुष्ट होनेवाले स्वादजय करनेवालेको अधिक सुख मिलता है। इससे आसक्तिके कारण उत्पन्न होनेवाले दुःखकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

मैं इस फलका भोग करूंगा, यह फलभोग मिलनेतक मैं अविश्रांत यत्न करूंगा, सब सुख मुझेहि चाहियें, इस प्रकार आसक्तिसे सुखकी लालसा करनेवाला मनुष्य सुख धर्ममार्गसे प्राप्त न होनेपर अधर्म मार्गका अवलंबन करता है, और सुखका यत्न करनेपर भी महादुःखमें फंसता है। इसलिये अति लालसा छोडकर यदृच्छासे प्राप्त होनेवाले भोगोंपर सन्तुष्ट रहनेसेहि सच्चा सुख प्राप्त होता है।

इसलिये भगवान् कहते हैं कि (कर्मफले मे स्पृहा न) कर्मके फलपर मेरी लालसा नहीं है। मैं जो कर्म करता हूं फलके विषयमें आसक्त न होकर कर्तव्यबुद्धिसे करता हूं; इस कारण (कर्माणि मां न लिम्पन्ति) कर्मोंका लेप या कलंक मुझे नहीं लगता और कर्मसे उत्पन्न होनेवाले दोष मुझे दोषी नहीं करते हैं। यदि मैं कर्मफलके भोगपर आसक्त होऊंगा, तो कर्मके दोष मुझे बाधा देंगे।

यहां अपने आचरणसे भगवान् श्रीकृष्णने बताया है कि इस आसक्तिरहित वृत्तीसे हि मनुष्य दोषमुक्त होता है। इसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। अवतारी पुरुषोंके जीवन-चरित्र इस तरह जनताके लिये मार्गदर्शक होते हैं। साधारण मनुष्योंको जहां संदेह हो वहां अवतारी पुरुषोंके जीवनचरित्रोंसे धर्ममार्गका निश्चय इस रीतिसे हो सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण सब तरहसे पूर्ण समर्थ थे, तथापि वे जो प्रयत्न करते थे वह अपना सुख बढानेकी लालसासे नहीं था, प्रत्युत जनतामें धर्मव्यवस्था स्थिर हो जाय, सज्जनोंको रक्षा हो और दुष्टोंका निर्दलन हो जाय, अर्थात् सब जनताको पूर्ण सुखी करनेके लिये वे यत्नवान् होते थे। इसी तरह सबको यत्नवान् होना चाहिये। यही उत्तम मार्ग है और इसी मार्गसे मनुष्य निर्दोष कर्म कर सकता है।

यह भगवान्‌के अवतारका रहस्य जो जानता है, वह इसी प्रकारका सर्वजनहितकारी कर्म करता हुआ, किये कर्मोंसे बद्ध नहीं होता। कर्मके दोषोंसे मुक्त होनेकी यह रीति है। एकहि युद्ध स्वार्थभोगोंके लिये भी किया जा सकता है और सर्वजनहितसंवर्धनके लिये भी किया जाता है। जो युद्ध स्वार्थभोगेच्छासे होता है वह बंधनकारक और जो सर्वजनताके हितसाधनके लिये किया जाता है वह युद्ध मुक्तिका साधन बनता है। युद्ध तो सदा हिंसामय कर्म है, तथापि वह जनताके कल्याणके लिये करनेसे निर्दोष होता है और स्वार्थभोगलालसासे करनेपर सदोष होता है। यहां किस कर्मसे बंध और किससे मुक्ति होती है यह विषय स्पष्ट हुआ। कोई कर्म हो वह किस उद्देश्यसे किया जाता है, उस उद्देश्यके कारण वह बन्धनकारक अथवा मुक्तिकारक बनता है। इसलिये फलेच्छारहित कर्म करना सबको योग्य है। भगवान् श्रीकृष्णजीके जीवनचरित्रमें प्रारंभसे अन्ततक फलभोगरहित कर्मही दिखाई देते हैं। इस कारण उनका पवित्र जीवन सब मनुष्योंके लिये आदर्श माना जा सकता है।

(८) कर्मके भेद।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

अन्वयः- ' किं कर्म, किं अकर्म ' इति अत्र कवयः अपि मोहिताः। तत् कर्म ते प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे ॥ १६ ॥

' कर्म क्या है, और अकर्म क्या है, ' इस विषयमें ज्ञानी लोग भी मोहित होते हैं। इसलिये मैं उस कर्मके बारेमें तुझे कहूंगा, जिसको जानकर तू अशुभसे बच जायगा ॥ १६ ॥

ब्राह्मणका ज्ञानार्जन कर्म है, क्षत्रियका युद्ध करना कर्म है, वैश्यका वाणिज्य-व्यवहार और शूद्रका कर्मकुशलता कर्म है। ये तो इनके धर्मशास्त्रोक्त कर्म हैं। इन चारों वर्णोंको ये कर्म कर्तव्यबुद्धिसे करने चाहियें। इस तरह करनेसे ये कर्म बाधक नहीं होते। परंतु यदि ब्राह्मण बहुत धन कमानेके लिये विद्याध्ययन करेंगे, क्षत्रिय अपने भोग बढानेके लिये युद्ध करके साम्राज्य बढाने लग जांय, यदि वैश्य धन इकट्ठा करके अपने पासही रखेंगे और शूद्र स्वार्थसे कुशलताके कर्म करने लगेंगे, तो इस तरह किये कर्म स्वार्थके कारण और भोगासक्तिके कारण उनके बंधनके हेतु बनेंगे।

वर्णाश्रमधर्मका जो संगतिकरण वेदशास्त्रोंमें कहा है वह यज्ञके लिये है और यज्ञ वह है जिसमें एकदूसरेके लिये आत्मसमर्पण होता है। जहां आत्मसमर्पण नहीं वहां दोषोंकी उत्पत्तिही होती है। इसलिये भोगेच्छारहित कर्तव्यबुद्धिसे आत्मसमर्पण करनेसे कर्मके दोष दूर होते हैं।

(एवं ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः कर्म कृतं) यह आसक्तिरहित आत्मसमर्पणका तत्त्व जानकर प्राचीन कालके मुमुक्षु लोगोंने कर्म किये और वे उस कर्मयोग द्वारा मुक्त भी हुए। मुमुक्षु उसका नाम है कि जो पारतंत्र्यसे अपना छुटकारा करना चाहता है, जिसको बंधसे मुक्त होनेकाही ख्याल होता है। ऐसा मुमुक्षु कर्तव्य कर्म आसक्तिरहित आत्मसमर्पण बुद्धिसे करता है और बंधनसे छुटकारा पाता है। प्राचीन सत्पुरुषोंने इस तरह कर्म किये और वे मुक्त हुए।

इसलिये अबके मनुष्योंको उचित है कि ये भी पूर्वजोंके समान आसक्ति छोड और त्यागभावसे तथा आत्मसमर्पणभावसे कर्तव्य कर्म करें और पारतंत्र्यसे छुटकारा प्राप्त करें; इस कर्मशास्त्रको यथावत् जाननेके लिये ' कर्म ' शब्दसे किसका बोध होता है, इसका अवश्य विचार करना चाहिये, यह विचार अगले श्लोकोंमें किया है—

कर्मके तीन भेद।

(१६-१८) कर्मके तीन भेद हैं, कर्म, अकर्म और विकर्म। कर्मका अर्थ वर्ण और आश्रमके लिये जो कर्तव्य करके निश्चित हुआ है वह 'कर्म' है, जो इसके विरुद्ध है, जो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है उसका नाम ' विकर्म ' है, और जो कर्म न करना किंवा आलस्यमें चुपचाप रहना है उसको अकर्म कहते हैं। कर्मके इन तीन भेदोंके ये लक्षण प्रसिद्ध हैं और इस विषयमें किसीकाभी मतभेद नहीं है।

फिर पाठक पूछेंगे कि कर्म और अकर्म का निश्चय करनेमें (कवयः अपि मोहिताः) कवि लोग भी मोहित होते हैं, यह क्यों ? कर्म, अकर्म और विकर्ममें ऐसी कौनसी बात है कि जिसके

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

अन्वयः— कर्मणः (तत्त्वं) हि अपि बोद्धव्यं, विकर्मणः च (तत्त्वं) बोद्धव्यं, तथा अकर्मणः च (तत्त्वं) बोद्धव्यं, कर्मणः गतिः गहना ॥ १७ ॥ यः कर्मणि अकर्म पश्येत्, अकर्मणि च यः कर्म पश्येत्, सः मनुष्येषु बुद्धिमान्, सः युक्तः, (सः) कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

कर्मका तत्त्व जानना चाहिये, विकर्मका तत्त्व जानना चाहिये, और अकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये। क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥ १७ ॥ जो कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मको देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वही योगी और वही संपूर्ण कर्मोंका यथावत् करनेवाला है ॥ १८ ॥

भावार्थ- कर्म, अकर्म और विकर्मका निश्चय करनेके समयमें बडे बडे ज्ञानी लोगोंकोभी भ्रम होता है। इस लिये कर्मका तत्त्व समझ लेना चाहिये। कर्ममें अकर्म होता है और अकर्म करनेपर भी कर्म होता है, यह बात जो समझ लेता है, वह ज्ञानी योगी और सब कर्म योग्य रीतिसे करनेवाला समझना चाहिये। इस तरह कर्मका तत्त्व यथावत् जाननेसे मनुष्य अशुभ स्थितिसे मुक्त होकर शुभ स्थिति प्राप्त कर सकता है ॥ १६-१८ ॥

कारण कवियोंकोभी मोह होजावे। बात ऐसी होती है, देखिये — एक मनुष्य चुपचाप खडा है, अथवा ध्यान करता हुआ बैठा है : उसका पिता उसके सन्मुख बैठा है। ऐसी स्थितिमें कोई गुण्ड आता है और पिताका मारनेका यत्न करता है। वह गुण्ड पिताके शरीरपर हमला करता है। यह देखता हुआ भी यदि पुत्र चुपचाप बैठा रहे अथवा अपना संध्याकर्म ही करता रहे, तो उसका वह 'अकर्म' अर्थात् कर्म न करना भी 'विकर्म' अर्थात् विरुद्ध किंवा निषिद्ध कर्म बनता है। यहां कुछ न करनेसे भी बडा विकर्म बन गया! अब देखिये कि केवल चुप रहनेसे भी बडा हानिकारक निषिद्ध कर्म बनता है!! निषिद्ध कर्म करने की उसको इच्छा नहीं थी, परंतु जिस समय अपने पिता की रक्षा करना आवश्यक था, उस समय वह चुप बैठ गया यह सर्वथा अनुचित था। इसी प्रकार कोई शुभ कर्म लीजिये वह समय पर किया जाय तो सहायक होता है, नहीं तो बाधक हो जाता है। इससे पाठक जान गये होंगे कि कर्म भी अकर्म हो जाता है और अकर्म भी विकर्म होगा। यह सब परिस्थिति, समय, अवस्था, आदिपर अवलंबित है, अतः इन कर्म अकर्मादिका निर्दोष लक्षण करना असंभव है। साधारण लक्षण तो ऊपर दिया है, परंतु वह बदलनेवाले समयके कारण कभी कभी असिद्ध होता है। इसलिये कहा है कि बडे बडे तत्त्वज्ञानी भी कर्म, अकर्म और विकर्म का निश्चय करनेमें भ्रमित से हो जाते हैं, भूला करते हैं।

कर्म, अकर्म और विरुद्ध कर्म कौनसा है, इसका यथावत् ज्ञान न होनेसे अशुभ स्थिति अर्थात् दुःखद अवस्था प्राप्त होती है, क्यों कि वह कदाचित् कर्म समझ कर अकर्म करता है, और किसी अच्छे कर्मको विकर्म मानकर छोड भी देता है। इस कारण इस मोहित मनुष्य की दुर्गति होती है। परंतु जो समयपर यह कर्म है, यह अकर्म है और यह निश्चयसे विकर्म है ऐसा

असंदिग्ध रीतिसे जानता है वह शुभ अवस्था प्राप्त करता है।

इस हेतुसे (कर्मणः बोद्धव्यं) कर्म अकर्म और विरुद्ध कर्म का तत्त्व किंवा स्वरूप जानना चाहिये। कमसे कम इसके जाननेका यत्न तो अवश्यही करना चाहिये। (कर्मणः गतिः गहना) कर्म की गति गहन है, कर्मका तत्त्व अथवा स्वरूप बडा गूढ है, कर्मका परिणाम बडा विलक्षण होता है।

"अकर्म" शब्दका यहां और एक अर्थ है, जिस कर्मसे बिलकुल दोष नहीं लगता, अर्थात् जो कर्म दोष न लगनेके कारण न करनेके समान होता है, वह कर्म भी 'अकर्म' कहलाता है। निष्काम भावसे जो कर्म किया जाता है वह कर्म होता हुआ भी 'अकर्म' कहलाता है। अर्थात् इन श्लोकोंमें 'अकर्म' शब्दके दो अर्थ हैं— एक आलस्य अर्थात् कर्म न करना और दूसरा निष्काम भावसे, निःस्वार्थ भावसे, फल की आसक्ति छोडकर किया हुआ कर्म। ये अर्थ लेकर पाठक अठारहवें श्लोकका भाव देखें—

(कर्मणि अकर्म यः पश्येत्) कर्म किया जानेपर भी जो कर्म न करनेवालेके समान निर्दोष रहता है, जिसका कर्म निष्काम भावसे किया जानेके कारण जिसको दोष नहीं लगाता, कर्म करनेपर भी जो कर्म न करनेके समान शुद्ध रहता है वह बडा बुद्धिमान् योगी है। शरीरसे कर्म होनेपर भी वह आत्मस्वरूपमें अकर्ता हो कर रहता है, वह बडा ज्ञानी और योगी है और वही सब कर्म यथायोग्य रीतिसे कर सकता है। कर्म करनेपर भी जो अपने आपको निर्दोष अकर्ता अनुभव करता है वह श्रेष्ठ है। भगवान् श्री कृष्णजी कर्ता होनेपर भी अपने आपको अकर्ता मानते हैं (देखो गी० ४। १३) इसका तत्त्व यह है।

(अकर्मणि च यः कर्म पश्येत्) अकर्ममें जो कर्म होनेका अनुभव करता है। आत्मा अकर्ता होनेपर भी जो शरीरसे कर्म करता रहता है। जैसा वाहनमें बैठा हुआ मनुष्य अपने आपको स्थिर अनुभव करता हुआ भी गतिमान् रहता है, और गतिमान् अवस्थामें भी वह स्थिर होता है, इसी तरह शरीररूपी कर्ममय वाहनमें बैठा हुआ यह मोक्षधामका यात्री शरीरद्वारा कर्म होनेपरभी अपने आपको अकर्ता अनुभव करता है और स्वयं आत्मस्वरूपसे अकर्ता होनेपर भी वह शरीरसे कर्म करता ही है। इस तरहका जिसका अनुभव है वह बुद्धिमान् योगी और सब कर्म करनेका वही अधिकारी है। क्योंकि यही निष्काम कर्मका तत्त्व जानता है और निष्काम कर्म यथा योग्य रीतिसे कर सकता है।

यहां 'बुद्धिमान्' का अर्थ समबुद्धिवाला, और 'युक्त' का अर्थ योगयुक्त अथवा 'योगी' है। तथा 'कृत्स्नकर्मकृत्' का अर्थ संपूर्ण कर्म यथासांग करनेवाला और सब कर्म करनेपर भी कर्मोंके दोषसे निर्लेप रहनेवाला पूर्ण ज्ञानी योगी।

इन तीनों श्लोकोंमें कर्म अकर्म और निषिद्ध कर्म कौनसा है, उनके लक्षण क्या हैं, कर्मका तत्त्व गूढ होनेपरभी वह कर्म किस तरह करनेसे मनुष्य दोषमुक्त होता है, इत्यादि बातोंका उत्तम वर्णन है। इसका विचार करके मनुष्य निष्काम भावसे कर्म करके दोषमुक्त हो सकता है और शुभ गति प्राप्त कर सकता है।

कर्म का और एक अर्थ।

"अकर्म, कर्म और विकर्म" का और एक अर्थ है। 'विकर्म' शब्दका अर्थ विरुद्ध, हानिकारक, गिरावट करनेवाला कर्म, यह तो सिद्धही बात है। कर्म और अकर्मकाही दूसरा अर्थ है। अकर्मका दूसरा अर्थ यह है कि केवल अपने अस्तित्वके लिये किया जानेवाला कर्म, अर्थात् भोजन, स्नान, श्वासोच्छ्वास आदि। जिससे मनुष्यका केवल अस्तित्व रहता है। इसलिये ये तो पशुपक्षी, कृमिकीट और वृक्षवनस्पति भी करते हैं, मनुष्य जैसा उत्तम कर्मदेह प्राप्त होने-

(९) कर्ममें अकर्मता।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

अन्वयः— यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः, तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं बुधाः पण्डितं आहुः ॥ १९ ॥ (यः) कर्मफलासंगं त्यक्त्वा नित्यतृप्तः निराश्रयः, सः कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि न एव किञ्चित् करोति ॥ २० ॥

जिसके संपूर्ण कर्मोंके आरंभ, कामना और संकल्पसे रहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे भस्म हुए होते हैं, उसको ज्ञानी लोग पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥ जिसने कर्मफलकी आसक्ति छोड दी है, जो नित्यतृप्त है और जो विना दूसरेके आश्रयसे अर्थात् जो अपनी शक्तिसे हि रहता है, वह कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी कुछ भी नहीं करता है ॥ २० ॥

परभी केवल कृमिकीटकोंके समानहि मनुष्य रहे तो उसने क्या किया, अर्थात् कुछभी नहीं किया, अतः ऐसे सब कर्म जो केवल मनुष्यके वैयक्तिक अस्तित्वके साधक हैं वे सब अकर्म हैं।

इसके नंतर जिन कर्मोंसे व्यक्ति और समाजकी स्थिति होती है और उनका उत्कर्ष होता है, ऐसे जो प्रशस्ततम यज्ञरूपकर्म हैं, उनका ही नाम 'कर्म' हैं। ये सामूहिक हितके कर्म भी जानना चाहिये और वैयक्तिक हितके भी कर्म जानना चाहिये। और ऐसे वैयक्तिक और सामूहिक अवनतिकारक कर्मोंसे दूर रहना आवश्यक है इस तरह के विकर्म ये हैं, यह भी ज्ञान होना चाहिये। इस प्रकार केवल वैयक्तिक अस्तित्वकी रक्षा करनेके लिये आवश्यक कर्म, सामुदायिक उन्नतिके लिये आवश्यक कर्म, और दोनोंकी अधोगति करनेवाले विरुद्ध कर्म जाननेसे मनुष्य ज्ञानी होता है, योगी अर्थात् कुशलतासे कर्म करनेवाला और सब कर्म यथायोग्य रीतिसे करके वैयक्तिक और सामूहिक उन्नति करनेवाला होता है। अतः यह कर्मविवेकका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। अब आगेके ५ श्लोकोंमें कर्म करते हुए भी निर्दोष होनेकी युक्ति कहते हैं—

कर्मके दोष।

(१९-२३) कर्मोंके करनेपर कर्मके दोषोंसे बचनेका उपाय इन पांच श्लोकोंमें कहा है और इसीका नाम यहां 'कर्ममें अकर्मता' अर्थात् कर्म करके कर्म न करनेके समान निर्दोष रहना है। यहां अकर्मका अर्थ आलस्य नहीं है परंतु निर्दोषता है। यहां कई शंका करेंगे कि कर्ममें दोष कहां होते हैं? क्या सभी कर्म दोषपूर्ण हैं? इस विषयमें कुछ पूर्व स्थान (भ० गी० ३।४) में लिखा है तथापि यहां भी कुछ पुनः लिखना चाहिये। प्रत्येक कर्मसे कुछ न कुछ दोष उत्पन्न होता है। देखिये श्वास और उच्छ्वास ये स्वाभाविक कर्म हैं। इन कर्मोंके कारण वायुमें स्थित अनन्त सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा होती है। जब श्वास अन्दर जाता है तब अन्दरकी उष्णतासे वायुके सूक्ष्म कृमि मरते हैं, अतः जब उच्छ्वासके समय

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।। २१ ।।
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ।। २२ ।।
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।। २३ ।।

अन्वय— निराशीः यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषं न आप्नोति ॥ २१ ॥ यदृच्छा-लाभ-संतुष्टः द्वन्द्वातीतः विमत्सरः सिद्धौ असिद्धौ च समः, कृत्वा अपि न निबध्यते ॥ २२ ॥ गतसंगस्य ज्ञानावस्थितचेतसः, यज्ञाय आचरतः मुक्तस्य कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३ ॥

जिसने फलकी आशा छोड दी है, अन्तःकरणका संयम किया है, और सब भोगसाधनोंका त्याग किया है, ऐसा पुरुष केवल शरीरसंबंधी कर्म करनेपर भी पापका भागी नहीं होता है ॥२१॥ जो सहजप्राप्त वस्तुसे संतुष्ट, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त, ईर्षासे रहित, और सिद्धि-असिद्धिके विषयमें समभाव धारण करनेवाला है, वह कर्म करके भी बद्ध नहीं होता ॥ २२ ॥ जो आसक्तिरहित और ज्ञानमय चित्तवाला है, केवल यज्ञके लिये हि कर्म करनेवाले उस मुक्त पुरुषके कर्म पूर्णतासे लय होते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—जो भोगोंकी इच्छाको और भोगसंकल्पको छोडकर संपूर्ण कर्तव्य कर्म करता है और ज्ञानसे जिसके कर्म शुद्ध हुए हैं, उसका नाम पण्डित है ।। जो कर्मका फल भोगनेकी कल्पना छोडता है, अपने आत्मामें हि संतुष्ट है और जो अपनी शक्तिसे अर्थात् विना दूसरेके आश्रयसे रहता है, उसका शरीर कर्ममें प्रवृत्त हुआ ऐसा दीखनेपर भी उसका आत्मा कुछ भी नहीं करता, वह अकर्ता रहता है ।। फलभोग की इच्छा का त्याग करनेवाला संयमी मनुष्य सब भोगसाधनोंका त्याग करके शरीर निर्वाहके लिये किये जानेवाले स्वाभाविक कर्म करने पर भी उनके दोषोंसे दोषी नहीं होता ॥ सहज प्राप्त हुए लाभमें संतुष्ट, द्वन्द्वोंसे रहित, ईर्ष्यासे दूर, और हानिलाभके विषयमें समबुद्धि रखनेवाला मनुष्य कर्म करनेपर भी बद्ध नहीं होता है ॥ फलका भोग करनेके विषयमें जो उदासीन, जिसका मन ज्ञानसे परिपूर्ण हुआ है, वह यज्ञके लिये कर्म करनेपर भी कर्मके दोषोंसे मुक्त रहता है, मानो उसके सब कर्म लय हो चुके हैं ।। १९—२३ ।।

वायु बाहर आता है तब वह दोषयुक्त होता है। इस तरह स्वाभाविक कर्ममें भी हिंसाका दोष है। ऐसेहि क्षुधितोंको भोजन दान करनेके लिये अन्नके पकानेका कर्म किया, तो भी उस परोपकारके कर्ममें अग्निके जलाने आदि के कारण हिंसा होती है, इस तरह स्वार्थ के कर्म हों अथवा परोपकारके हों, हिंसा आदि दोष दूर करना कठिन है । इसके साथ अन्यान्य दोषभी होतेहि हैं जिनका विचार पाठक स्वयं करें । किसीने अपने पास धान्यादिका आवश्यकतासे अधिक संग्रह किया तो कई दूसरे मनुष्योंको भूखा रखनेका दोष उसको लगता है । हाथमें अधिकार रहनेपर जो कर्म किये जाते हैं उनमें अनेक दोष होते हैं जिनके कारण अधिकार-

हीन मनुष्योंको अत्यंत कष्ट होते हैं।

इस तरह विचार करनेपर पता लग सकता है कि प्रत्येक कर्म में दोष होते हैं और कर्म करनेसे ये दोष लगेंगेहि। इनसे बचना असंभव है। इस दोषसे बचनेके लिये फलकी आसक्ति छोडनेका उपाय भगवद्गीताने बताया है। देखिये कोई एक मनुष्य स्वर्गभोग की प्राप्तिके लिये यज्ञरूपी कर्म करता है, इसका विश्वास है कि यह कर्म निर्दोष हुआ तो अपनेको स्वर्गभोग अवश्य प्राप्त होगा। भोगपर आसक्त होनेके कारण यज्ञमें जब विघ्न होगा या त्रुटी होगी तब वह क्रोधी होगा और क्रोधके कारण उसके हि शरीरके रक्तके जीवाणु मरेंगे। इस तरह फलासक्तिसे यह दोष होता है। फलासक्ति छोडी जाय तो यह दोष होना संभव ही नहीं है। इसी रीतिसे आसक्ति और संग छोडनेसे बहुत दोष दूर हो सकते हैं, इसका अनुभव पाठकोंको स्वयं आसकता है। फलासक्ति, फलसंग या भोगकामना किस प्रकार छूट सकती है, इसके लिये क्या करना चाहिये, फलाशा छोडनेवाला मनुष्य कैसा व्यवहार करता है, इत्यादि के विषय में इन पांच श्लोकोंमें निम्न लिखित पद विशेष मनन करने योग्य हैं—

त्याग मार्ग।

(१) यस्य कामसंकल्पवर्जिताः सर्वे समारंभाः। (४।१९)

"जिसके सब कार्य भोगोंके विचारसे रहित होते हैं।" जो भोग प्राप्त करनेके हेतुसे कोई कर्म नहीं करता, अपने भोग बढानेकी इच्छा जिसमें नहीं है, जो कर्म करता है परंतु फलभोग की इच्छा उसकी जडमें नहीं होती है, जो सब कर्म यथासांग करता हुआ भी भोगेच्छारहित रहता है, कामभोगका संकल्प भी जिसके मनमें नहीं उठता है, जो (सं) एकीकरण या संघटनाके लिये (आरंभः) कर्म प्रारंभ करता है, परंतु अपने भोगोंकी लालसा उसमें नहीं होती;

(२) निराशीः। (४।२१)

"भोगोंकी प्यास जिसमें नहीं है।" अपने भोगनेके लिये विविध भोग चाहिये, ऐसी इच्छा जिसके मनमें नहीं है, अपने लिये भोग प्राप्त करनेकी आकांक्षा जो नहीं धारण करता;

(३) गतसंगः। (४।२३)

"जिसने भोगोंका संग छोड दिया," जिसके मनसे फलके भोगनेकी इच्छा दूर होगयी है, जिसके मनमें विषयभोग करनेकी इच्छाही नहीं उत्पन्न होती;

(४) कर्मफलासंगं त्यक्त्वा। (४।२०)

"जो कर्मफलके भोग करनेकी इच्छा का त्याग करता है," अपने कर्मके फल का भोग स्वयं भोगना चाहिये, ऐसी इच्छा जिसके मन में नहीं है, कर्मके फलका भोग करनेकी इच्छासे जो दूर रहता है;

(५) त्यक्तसर्वपरिग्रहः। (४।२१)

"जिसने सब वस्तुसंग्रह करना छोड दिया है," जो भोग्य वस्तुओंका संग्रह अपने पास नहीं करता, जो अपनी भोगेच्छाएं कम करता है, जो न्यूनसे न्यून वस्तुओंसे अपना निर्वाह करता है;

(६) निराश्रयः। (४।२०)

"जो किसी दूसरे पर अपना आश्रय नहीं करता," जो स्वयं अपनी शक्तिसे रहता है, जो अपनी शक्तिसे अपने अन्दर हि सन्तुष्ट रहता है, जो अपने सुख के लिये किसी दूसरेपर या दूसरे पदार्थ पर अवलंबित नहीं रहता, जो अपने ही आधारपर रहता है;

(७) नित्यतृप्तः। (४।२०)

"जो सदा तृप्त रहता है," जो सदा सन्तुष्ट, सदा सुखी और सदा आनन्दपूर्ण रहता है, जिसको अपने अन्दरसेहि आनन्द प्राप्त होता है;

(८) यदृच्छालाभसन्तुष्टः । (४ । २२)

"जो सहज प्राप्त हुए वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है।" जो अपने भोग बढानेकी अभिलाषा धारण नहीं करता, जो भोग सहज प्राप्त होगा, उससेहि जो आनन्दित रहता है, भोग कम मिलनेपर क्रुद्ध नहीं होता;

(९) यतचित्तात्मा । (४ । २१)

"जिसने अपना मन, चित्त अथवा अन्तःकरण अपने आधीन रखा है, जो अपने मनको स्वैर भटकने नहीं देता, जिसका मन जिसकी आत्मामेंहि स्थिर रहता है, बाह्य भोगोंपर नहीं जाता;

(१०) सिद्धौ असिद्धौ च समः । (४ । २२)

"जो सिद्धि और असिद्धिके विषयमें समभाव धारण करता है," सुख मिलनेपर जो गर्वित नहीं होता और दुःखसे जो हताश नहीं होता, लाभ से जो घमंड नहीं करता और हानिसे जो त्रस्त नहीं होता, कर्मकी सिद्धि मिलनेपर जो उन्मत्त नहीं होता और असिद्धि होनेसे जो निरुत्साहित नहीं होता अर्थात्—

(११) द्वन्द्वातीतः । (४ । २२)

"जो सुखदुःखादि द्वन्द्वोंके परे पहुंचा है।" द्वन्द्वोंसे जो पराभूत नहीं होता, द्वंद्वोंके होनेपर जो अपने सन्मार्गसे भ्रष्ट नहीं होता, द्वंद्वोंका हमला होनेपर भी जो अपने सन्मार्गके स्थानमें स्थिर रहता है;

(१२) विमत्सरः । (४ । २२)

"जो दूसरे का उत्कर्ष देखकर ईर्ष्या अथवा द्वेष नहीं करता," जो किसी का मत्सर नहीं करता, दूसरे के वैभवके विषयमें जिसके मनमें ईर्ष्याका भाव नहीं उत्पन्न होता;

(१३) मुक्तः । (४ । २३)

"वह मुक्त कहलाता है।" जो पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त है उसको मुक्त कहते हैं। इस मुक्तके और दो लक्षण ये हैं—

(१४) ज्ञानावस्थितचेताः । (४।२३)

"ज्ञान में जिसका चित्त स्थिर रहता है," ज्ञान का अर्थ है (मोक्षे धीः) मोक्षके विषयमें बुद्धिका स्थिर होना। इस मोक्षविषयक ब्रह्मज्ञानमें जिसका चित्त एकाग्र होकर रहता है, कभी उस ब्रह्मज्ञानको छोडकर दूसरे भोग विषयोंमें नहीं भटकता, स्वभावसेहि जिसका चित्त ब्रह्मज्ञानमें रमता है, तथा—

(१५) ज्ञानाग्निदग्धकर्मा । (४ । १९)

"जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध हो चुके हैं," ब्रह्मज्ञान किंवा मोक्षज्ञान प्राप्त होनेसे जिसमें अपने भोगवर्धनके लिये कर्म करनेकी प्रवृत्ति नहीं रही है, जो केवल ब्रह्मरूप किंवा आत्मरूपसे रहता है, जागतिक भोगोंके विषयमें जिसकी प्रवृत्ति ही नहीं रहती, शुद्धज्ञानसे जिसे शुद्ध यज्ञरूप कर्म होते हैं, वह मुक्त है।

(१६) यज्ञाय आचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते । (४ । २३)

"पूर्वोक्त प्रकारका मनुष्य यज्ञके लिये जो कर्म करता है, वह कर्म सबका सब लयको प्राप्त होता है।" अर्थात् उस कर्मका दोष उसको नहीं लगता। यज्ञमें तीन कर्तव्य होते हैं- (यज्ञः= देवपूजा- संगतिकरण-दान) जो सत्कार करने योग्य हैं उन सज्जनोंका यथायोग्य सत्कार करना, संगतिकरण अर्थात् संघटना द्वारा जनतामें बल की वृद्धि करना, और दीनोंकी सहायता करना, इस त्रिविध कर्म का नाम यज्ञ है। इस प्रकारके यज्ञ कर्म वह करता है, परंतु ये कर्म करते हि लीन हो जाते हैं, इसलिये ऐसे कर्मोंका दोष उस को नहीं लगता। यही बात निम्नलिखित वचनों में कही है--

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः। (४ । २०)

कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ (४ । २२)

केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषं नाप्नोति ॥ (४ । २१)

वह मुक्त मनुष्य अथवा अनासक्त मनुष्य 'कर्म' करनेके लिये प्रवृत्त हुआ तो भी कर्म न करनेके समान निर्दोष रहता है। कर्म करके भी बद्ध नहीं होता। केवल शारीरिक कर्म करने पर भी वह पापका भागी नहीं होता।" शरीररक्षणार्थ आवश्यक कर्म करनेपर भी उसको उन कर्मोंसे दोष नहीं लगता है।

कर्ममें अकर्मता।

इन पांच श्लोकोंमें यह एकहि विषय कहा है। (कर्मणि अकर्म यः पश्येत्) कर्ममें अकर्म देखनेका उपदेश श्लोक १८ में कहा है। इस तरह कर्म में अकर्म का अनुभव कौन कर सकता है, इस प्रश्नका उत्तम विवरण इन पांच श्लोकोंमें कहा है। जो इन गुणोंसे युक्त है वह कर्म में अकर्म देखता है, अर्थात् कर्म करके भी न करने के समान शुद्ध रहता है किंवा कर्म करके भी उन कर्मोंके दोषोंसे वह दूर रहता है। कर्म के दोषोंसे बचनेकी यह युक्ति है। भोगोंपर आसक्ति न धरनेसे सब कर्मों के दोष दूर होते हैं, अब कौन मनुष्य कर्म के दोषोंसे बद्ध होते हैं, इसका विचार अब देखिये-

भोग-मार्ग।

(१) जो लोग अपने कामोपभोग बढानेके लिये हि कर्म का प्रारंभ करते हैं, (२) जो अनेक आशापाशों से कार्य करते हैं, (३) जो फलभोगोंपर आसक्त हैं, (४) जो भोगोंका संग करते हैं, (५) जो अपने पास भोग्य वस्तुओंका संग्रह करता है, (६) जो अपने सुख के लिये दूसरोंपर अवलंबित रहता है, (७) जो सदा अतृप्त और भूखा होता है, (८) जो प्राप्त वस्तु में कभी सन्तुष्ट नहीं रहता, (९) जो अपने मनको भोगोंमें स्वैर भटकने देता है, (१०) लाभ होनेपर जिसे घमंड होती और हानि होने-पर जो उदास होता है, (११) इस तरह सब द्वन्द्वोंसे जो मारा जाता है, (१२) जो भाग्य-वानोंका मत्सर और द्वेष करता है, जो उनसे ईर्ष्या करता है, (१३) जो इन भोगोंके बंधनों को तोडना नहीं चाहता, (१४) जो आत्मज्ञान का द्वेष करता है और भोगोंके विषयोंका ही सदा विचार करता है, (१५) जो अपने स्वार्थ के लिये सब कर्म करता है, वह अपने कर्मोंके दोषोंसे प्रतिसमय बांधा जाता है, जो कर्म वह करता है उसके संपूर्ण दोषोंसे वह दोषी होता है, और उन दोषोंके कारण पाप और दुःखका भागी होता है। ऐसे जो पुरुष पाठकोंके परिचित होंगे, उनके दुःखोंका विचार करनेसे पाठक स्व-यं जान सकते हैं कि, यह भोगों की आसक्ति का मार्ग निःसन्देह दुःखकारक है।

शारीर कर्म!

यहां (शारीरं केवलं कर्म) केवल शारीर कर्म करनेवाला संयमी मनुष्य (किल्बिषं नाप्नो-ति) पापका भागी नहीं होता, ऐसा कहा है, अतः यहां 'शारीर कर्म' का अर्थ क्या है, इस का विशेष विचार करना आवश्यक है। यह विचार अब करते हैं—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥२१

"जिसने आशा छोड दी है, अन्तःकरण का संयम किया है, और सब वस्तुओंका संग्रह करना भी छोड दिया है, उसको, केवल शारी-रिक कर्म करनेपर पाप नहीं लगता।" यह इस श्लोक का आशय है।

ईशदास्य के कर्म।

आशा छोडनेसे वासना का कार्य नहीं होता, अन्तःकरण का संयम करनेसे मनका कार्य नहीं होता, वस्तुसंग्रह न करनेसे उन वस्तुओंकी प्राप्ति रक्षा वृद्धि आदिके विषयमें जो यत्न करने चा-हियें वे नहीं होते, इस तरह उसके सब कर्म स्वयं हि बंद होते हैं। जिसके मनमें भोग प्राप्त करने की आकांक्षा है, अन्तःकरण स्वैर संचार करता है और जो भोगसाधनोंका संग्रह करता है वही

तो सदा सर्वदा भोगके कार्यमें व्यग्र रहता है। परंतु जिसकी वासना का क्षय हुआ, चित्तका संयम हुआ और जो वस्तुसंग्रह नहीं करता उस से किस प्रेरणासे कर्म होंगे? अर्थात् वासना का क्षय और मनःसंयम होते हि वह ब्रह्मरूप आत्मा से युक्त हुआ, उसमें निजकी कोई प्रेरणा नहीं रही, अतः उसके जो कार्य होंगे, वे परमेश्वरीय प्रेरणासे होंगे। उसका चित्त तो शांत है, उससे कार्य न होगा, अतः उसके शरीर से हि जो कुछ होगा वह शारीर कर्म बनेगा। इस तरह जो शारीरिक कर्म बनता है, उसमें इस कर्ताकी प्रेरणा न होनेसे इसको इस शारीरिक कर्मका दोप नहीं लग सकता। और अतः यह शारीरिक कर्म करनेपर भी वह निर्दोष रहता है।

उदाहरणार्थ देखिये कि एक गुलाम या दास है, स्वामी की आज्ञासे वह कार्य करता है, मनमें न होते हुए भी उसको कर्म करने पडते हैं, अतः किये हुए कर्मोंसे वह दास दोषी नहीं होता, क्यों कि उस कर्ममें उसका मन नहीं होता। इसी तरह यह परमेश्वर का भक्त परमेश्वरका अनन्यशरण दास होता है, उसकी मन बुद्धि चित्त अहंकार वासना आदि सब परमेश्वरमें लीन हो चुकी हैं, उसका केवल शरीर हि यहां मरणपर्यंत रहता है, इसकी पर्वाह इसको नहीं है, वह ईश्वरीय प्रेरणासे हलचल करता है और उससे जो कुछ ईशप्रेरणासे शारीरिक कर्म होते हैं, उससे उसको कोई दोष नहीं लगते। जब अपने सुखके लिये उसकी प्रेरणाही नहीं है, जब उसका शरीर परमेश्वर का साधन बना, तब उस शरीरसे हुए कर्मसे उसको दोष किस तरह लग सकता है?

शरीरनिर्वाहके कर्म।

यहां " केवलं शारीरं कर्म " का अर्थ ' शरीर से होनेवाले स्वाभाविक कर्म किंवा शरीरनिर्वाह के लिये अत्यंत आवश्यक जो कर्म हैं वे कर्म " ऐसा दो प्रकारसे होता है। जब उसने भोगोंकी आशा पूर्णतासे छोड दी, सब इंद्रियोंका संयम किया और सब भोगवस्तुओंके संग्रह करनेका भी त्याग किया, तब उससे भोगप्राप्त्यर्थ कर्म होनेकी कोई संभावना ही नहीं है। इसका मन इस समय ऐसे कर्मोंमें नहीं लग सकता, वह तो इस समय ब्रह्मात्मा बन जाता है!! जब तक शरीर रहेगा, तब तक शरीरनिर्वाह के लिये उससे कुछ कर्म अवश्य होंगे, ऐसे शरीरनिर्वाहार्थ किये कर्मोंसे वह बद्ध नहीं हो सकता, क्यों कि इन कर्मोंका संबंध उससे नहीं रहता। श्वासोच्छ्वास, मलमूत्रादि उत्सर्ग, भोजन, शयन, स्नान, आदि सब कर्म शारीरिक कर्म हैं— शरीरनिर्वाह के लिये किये जानेवाले ये कर्म हैं— अतः ये इसको बाधक नहीं हो सकते।

कर्मेंद्रियों के कर्म।

यहां इस श्लोकके विषय में कईयोंका ऐसा मत है कि यहां " शारीरं कर्म " का अर्थ 'शरीर या कर्मेंद्रियोंसे होनेवाले कर्म' ऐसा है। इस प्रकार अर्थ करनके लिये वे आधार देते हैं—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥ भ० गी० ५

"कर्मयोगी शरीरसे मनसे बुद्धिसे और केवल इंद्रियों से भोगवासना छोडकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं।" यहां जिस भावसे कर्माचरण लिखा है, वही अर्थ—

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
(गी० ४-२१)

यहां है। इस तरह के कर्मवादी कहते हैं कि, यहां के 'शारीरं कर्म' का अर्थ 'शरीर धारणा के लिये कर्म' नहीं है परंतु 'कर्मेंद्रियोंसे होनेवाला कर्म' ऐसा ही यहां अर्थ है। इस मतका विचार इस स्थानपर अवश्य करना चाहिये—

जो कहते हैं 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषं' इसका अर्थ 'कर्मेंद्रियोंसे हि कर्म करने वाला पाप का भागी नहीं होता' है, तो इस अर्थ का तात्पर्य यह होगा, कि "मन बुद्धि और ज्ञानें-

द्रियोंसे जो कर्म होते हैं, उनके करनेपर वह कर्म कर्ता पाप का भागी अवश्य होगा।' क्योंकि वहां 'केवलं शारीरं कर्म' ऐसा उल्लेख है। यदि केवल शारीर कर्म से पाप नहीं लगता, तो मानसिक बौद्धिक कर्मसे पाप लगेगा! परंतु 'आशारहित संयमी और अपरिग्रहशील को मानसिक या बौद्धिक कर्मसे पाप लगेगा' यह कल्पनाही अयुक्त प्रतीत होती है, इस कारण उक्त मतवादियोंका अर्थ अयुक्त प्रतीत होता है।

"शारीरं कर्म" का अर्थ 'शरीरद्वारा किया कर्म' ऐसा करके उसका दोष कर्ताको नहीं लगता, ऐसा श्लोक का आशय माननेपर ऐसा मानना पडेगा कि "शरीरद्वारा अथवा कर्मेंद्रियोंके द्वारा निषिद्ध कर्म करनेपर भी कर्ताको दोष नहीं लगते।" परंतु निषिद्धकर्मोंके करनेसे दोष नहीं लगता ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण का आशय मानना सर्वथा अयोग्य है क्यों कि निषिद्ध कर्म सर्वकाल निषिद्ध होते हैं। अच्छा यदि उस का अर्थ "शास्त्रविहित कर्म करनेसे कर्ताको दोष नहीं लगता" ऐसा माना जाय, तो शास्त्रविहित कर्मोंसे दोष लगता है ऐसा किसीका भी मत नहीं था। अतः भगवानने ऐसा यह व्यर्थ उपदेश क्यों किया? इस तरह दोनों रीतियोंसे यह उपदेश व्यर्थ और अनर्थकारक सिद्ध होता है। अतः 'शारीरं कर्म' का अर्थ यहां 'शरीर द्वारा किया कर्म' ऐसा नहीं है, परंतु 'शरीर यात्राके लिये अत्यंत आवश्यक कर्म' ऐसा ही मानना उचित है।

'शरीर निर्वाह के लिये किये जानेवाले कर्म आशारहित संयमी पुरुष को बाधक नहीं होते' इसका हेतु और भी एक हो सकता है। जो शरीर परमेश्वरने दिया, वह उसकी सेवामें अर्पण करनेसे उस का पालन परमेश्वरीय नियमों से हि होना योग्य है। अतः शरीरनिर्वाहके लिए कर्म करनेका अर्थ हि परमेश्वरीय नियमों का पालन करना है। परमेश्वरीय नियमोंका पालन करनेसे किसीको दोष लगनेकी संभावना ही नहीं है।

अतिसंग्रहका दोष।

मनुष्य सामाजिक जीवनमें 'अपने पास अतिसंग्रह' करनेका दोष करता है। अतिसंग्रह करना बडा दोषकारक है, क्यों कि किसी एक के पास वस्तुओंका अतिसंग्रह हुआ तो दूसरेके पास उतने प्रमाणसे न्यूनता होगी। किसी एकने भोजनपदार्थोंका अतिसंग्रह अपने पास किया, तो दूसरे कई भूखे मरेंगे। अर्थात् वह अतिसंग्रही मनुष्य दूसरोंको भूखे मारनेका दोषी होता है। हरएक बातमें अर्थात् अधिकार, धन, विद्या, राज्यशासन आदि सब व्यवहारोंमें अतिसंग्रह बडा भारी दोष है। अति--संग्रह करनेकी इच्छा के कारण इस जगत् में जितने युद्ध हुए हैं, उतने किसी अन्य कारणों से न हुए होंगे। इस तरह दोषोंका जनक यह अतिसंग्रह है। इस को दूर करने के लिये 'त्यक्त-सर्व-परिग्रह' यह आदर्श भगवद्गीता द्वारा जनताके सम्मुख रखा गया है। 'संग्रहत्याग' किंवा 'अपरिग्रह का व्रत लेनेका अर्थ अपने पास का वस्तु-संग्रह सब जनताकी भलाई के लिये समर्पण करना और पश्चात् जीवननिर्वाह की अपेक्षासे अधिक संग्रह न करना। अब पाठकों के मन में इस बात का प्रकाश हुआ होगा कि 'अतिसंग्रह' की वृत्तिसे पाप किस तरह होता है और 'अपरिग्रह' की वृत्तिसे मनुष्य निष्पाप किस रीतिसे होता है।

आगे (यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते) 'यज्ञके लिये कर्म करनेवालेका किया कर्म संपूर्णतया नष्ट होता है' और कर्म नष्ट होनेका तात्पर्य यह है कि वह मनुष्य शुद्ध होता है। इस विधान का अर्थ ध्यानमें आनेके लिये 'यज्ञ' कौनसे हैं, इसका विचार करना चाहिये। यह यज्ञ का विचार अगले श्लोकोंमें किया है—

(१०) यज्ञ-विचार।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अन्वयः— ब्रह्म अर्पणं, ब्रह्म हविः, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्, ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन ब्रह्म एव गन्तव्यम् ॥ २४ ॥ अपरे योगिनः दैवं एव यज्ञं पर्युपासते; अपरे ब्रह्माग्नौ यज्ञेन यज्ञं एव उपजुह्वति ॥ २५ ॥ अन्ये श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति, अन्ये शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥ अपरे ज्ञानदीपिते आत्मसंयमयोगाग्नौ सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च जुह्वति ॥ २७ ॥ अपरे संशितव्रताः द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञाः योगयज्ञाः तथा च स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः यतयः (सन्ति) ॥ २८ ॥ तथा अपरे अपाने प्राणं, प्राणे च अपानं जुह्वति। (तथा अपरे) प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः (सन्ति) ॥ २९ ॥

(यज्ञमें) अर्पण (की क्रिया) ब्रह्म है, हवन की वस्तु ब्रह्म है, ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मने हवन किया है, (इस प्रकार) जिसकी बुद्धिसे सभी कर्म ब्रह्मरूप हुए हैं, वह ब्रह्म को ही प्राप्त करता है ॥ २४ ॥ कोई कोई कर्मयोगी देवताओंके संबन्धका यज्ञ करते हैं, और कोई ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञद्वारा यज्ञ का ही यजन करते हैं ॥ २५ ॥ और कोई श्रोत्र आदि इंद्रियोंका संयमरूप अग्निमें हवन करते हैं। और कोई दूसरे शब्द आदि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं ॥ २६ ॥ और कई लोग ज्ञानसे प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें सब इन्द्रियकर्मोंका और प्राणोंके कर्मोंका हवन करते हैं ॥ २७ ॥ दूसरे कोई अति कठीन व्रत करनेवाले, द्रव्यसे यज्ञ करनेवाले, तपसे यज्ञ करनेवाले, योगसे यज्ञ करनेवाले, और स्वाध्यायके ज्ञानसे यज्ञ करनेवाले, यति होते हैं ॥ २८ ॥ तथा दूसरे कई अपानमें प्राणका और प्राणमें अपानका हवन करते हैं,

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

अन्वयः- अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति । एते सर्वे अपि यज्ञविदः यज्ञक्षपितकल्मषाः (सन्ति) ॥३०॥ हे कुरुसत्तम ! यज्ञशिष्टामृतभुजः सनातनं ब्रह्म यान्ति । अयज्ञस्य अयं लोकः न अस्ति, कुतः अन्यः ? ॥ ३१ ॥ एवं बहुविधाः यज्ञाः ब्रह्मणः मुखे वितताः (सन्ति त्वं) तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि । एवं ज्ञात्वा (त्वं) विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥ हे परन्तप ! द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान् । हे पार्थ ! सर्वं अखिलं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

और दूसरे कोई प्राण और अपानकी गतिको रोक कर प्राणायाममें तत्पर होते हैं ॥ २९ ॥ और कई लोग आहारको नियमित कर प्राणोंमें प्राणोंका हवन करते हैं, ये सभी लोग यज्ञके जाननेवाले और यज्ञोंद्वारा अपने पापको दूर करनेवाले होते हैं ॥ ३० ॥ हे कौरवश्रेष्ठ अर्जुन ! ये यज्ञ करके अवशिष्ट रहे अमृत का भोजन करनेवाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं । यज्ञ न करनेवाले केलिये जब यह लोक (सुखदायक) नहीं है, तब तो भला उसको परलोक कहांसे मिल सकता है ? ॥ ३१ ॥ इस प्रकार अनेक तरह के यज्ञ ब्रह्मके मुखमें (वेदमें) विस्तारित हुए हैं, तू यह समझ कि ये सब कर्मसे होते हैं । यह ज्ञान होनेसे तू मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥ हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक कल्याण करनेवाला है । क्यों कि हे पार्थ ! सब प्रकार के कर्मोंका पर्यवसान ज्ञान में हि होता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ— यजमान, अग्नि, हवन सामग्री, अर्पणक्रिया किंवा यज्ञके सब साधन ब्रह्मरूप हैं, ऐसा जो अनुभव करता है, वह ब्रह्म बनता है ॥ कई लोग देवताके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं और कई ब्रह्मके उद्देश्यसे यज्ञ का समर्पण करते हैं ॥ कई लोग इंद्रियोंको संयमरूप अग्निमें, विषयोंको इंद्रियोंमें और इन्द्रियोंके और प्राणोंके कर्मोंको आत्मसंयममें हवन करते हैं ॥ कई लोग द्रव्यसे, तपसे, योगसे और अध्ययनसे अथवा ज्ञानसे यज्ञ करते हैं ॥ और संयम करते हैं । प्राणायामाभ्यासी कोई योगी अपान का प्राणमें और प्राणका अपानमें यज्ञ करते हैं ॥ दूसरे कई योगी आहारको नियमित करके प्राणका प्राणमें यज्ञ करते हैं । ये सब लोग

यज्ञ द्वारा अपने पापका नाश करनेवाले हैं॥ यज्ञ करके जो बच जाता है उस अमृत का जो सेवन करते हैं, वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। यज्ञसे जैसा इस लोकमें सुख मिलता है, उसी प्रकार परलोकमें भी सुख मिलता है॥ ऐसे अनेक यज्ञ वेदमें हि वर्णित हुए हैं, ये सब यज्ञ कर्मसे ही सिद्ध होते हैं। सब यज्ञोंकी सिद्धता कर्मसे होती है यह तत्व जो जानता है वह मुक्त होता है॥ द्रव्ययज्ञसे ज्ञानयज्ञ अधिक कल्याण करनेवाला है, क्यों कि सब कर्मोंका पर्यवसान ज्ञानमें हि होता है, इस कारण ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है॥ २४—३३॥

विविध यज्ञ।

(२४—३३) इन दस श्लोकोंमें अनेक प्रकार के यज्ञोंका वर्णन है। ये यज्ञ भी संक्षेपसे कहे हैं। परंतु इनके विचारसे यज्ञ की व्यापक कल्पना पाठकों को हो सकती है। यहां जो यज्ञ कहे हैं, उनकी सुबोधता के लिये उन यज्ञोंको कोष्टक रूप में यहां रखते हैं—

मुख्य यज्ञ	भेद	यज्ञभेद	गीताध्याय	यजमान	देवता	अग्नि	हवि	साधन	फल
१ ब्रह्मयज्ञ	१	१ ब्रह्मयज्ञ	४।२४;	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्मरूपता
परमात्मयज्ञ		आत्मयज्ञ		आत्मा	आत्मा	आत्मा	आत्मा	आत्मा	”
		अहं क्रतुः	९।१६	अहं	अहं	अहं	अहं	अहं	”
		जीवयज्ञ		जीव	परमात्मा	परमात्मा	जीव	जीव	”
		यज्ञ	४।२५	यज्ञ	यज्ञ	ब्रह्म	यज्ञ	यज्ञ	”
	(आत्म)	ज्ञानयज्ञ		ज्ञाता	ब्रह्म	शिष्य	ज्ञान	वाणी	”
२ द्रव्ययज्ञ	२	२ द्रव्ययज्ञ	४।२८				धनादि		पापनिवृत्ति
देवयज्ञ		३ देवयज्ञ	४।२५	योगी	देवता				चित्तशुद्धि
३ शरीरयज्ञ	२	४ ज्ञानेंद्रिययज्ञ	४।२६			संयम	ज्ञानेंद्रिय		”
		५ विषययज्ञ	”			इंद्रिय	विषय		”
४ वाग्यज्ञ	१	६ स्वाध्यायज्ञान यज्ञ	४।२८			(शिष्य)	(ज्ञान)		”
		ज्ञानयज्ञ							
		विज्ञानयज्ञ							
५ प्राणयज्ञ	४	७ प्राणयज्ञ	४।२९			अपान	प्राण		”
		८ अपानयज्ञ	”			प्राण	अपान		”
		९ प्राणापानयज्ञ	”				प्राणापान		”
		१० आन्तरप्राणयज्ञ	४।३०			प्राण	प्राण		”
६ बुद्धियज्ञ	१	११ योगयज्ञ	४।२८				समबुद्धि		”
७ कर्मयज्ञ		१२ तपोयज्ञ	४।२८						”
		१३ जपयज्ञ	१०।२५						”
		१४ इंद्रियप्राण- कर्मयज्ञ	४।२७			आत्मसंयम योगाग्नि	प्राणकर्म इंद्रियकर्म		”

ब्रह्मयज्ञ ।

इन यज्ञों में सबसे पहिला यज्ञ ' ब्रह्मयज्ञ ' है। ब्रह्मयज्ञ के परमात्मयज्ञ, जीवात्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ ये तीन अर्थ हैं। जो ब्रह्मयज्ञ नामक अनुष्ठान द्विज करते हैं, वह ज्ञानयज्ञ है; इस ज्ञानयज्ञके भी और दो भेद हैं, एक भौतिक ज्ञानयज्ञ, जिसको विज्ञानयज्ञ भी कह सकते हैं और दूसरा (मोक्षे धीर्ज्ञानं) मोक्षज्ञानयज्ञ । भौतिक ज्ञानयज्ञमें सृष्ट पदार्थों की विद्या शिष्यको दी जाती है, जिस से प्रापंचिक सुखोंकी वृद्धि हो सकती है। दूसरा मोक्षज्ञानयज्ञ है, इससे शान्ति अथवा ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। इस विषयमें वेदमें यह मंत्र देखने योग्य है—

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥
अथर्व० ११।८।२३

" (विद्या) ब्रह्मज्ञान, (अविद्या) प्राकृतिक विज्ञान और जो कुछ उपदेश करनेयोग्य क्रियाकर्म है वह सब ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और (ब्रह्म) अथर्ववेद रूप सब ज्ञान (शरीरं) मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हुआ है। " यहां दो प्रकार के ज्ञान और उपदेश्य कर्म मनुष्यमें वेदरूपसे प्रविष्ट हुए हैं ऐसा कहा है। आत्मज्ञान, प्रापंचिक व्यवहारज्ञान और अनुष्ठानसंबंधी ज्ञान यह सब ज्ञान प्राप्त करने योग्य है। यहां कई लोग ' अविद्या ' शब्दका अर्थ ठीक प्रकार समझते नहीं और ' अज्ञान ' अर्थमें वह शब्द है ऐसा मानते हैं, इस लिये उसके अर्थके विषयमें थोडासा अधिक मनन करना चाहिये—

आत्मज्ञान	अनात्मज्ञान
ब्रह्मज्ञान	सृष्टिज्ञान
आत्मविद्या	अनात्मविद्या
ब्रह्मविद्या	अब्रह्मविद्या
ईशविद्या	अनीशविद्या
(०) विद्या	अ (०) विद्या

" विद्या और अविद्या " शब्दोंका यह अर्थ है। विद्या शब्दका अर्थ आत्माकी विद्या, और अविद्या शब्दका अर्थ अनात्मा अर्थात् सृष्टिकी विद्या है। यही अर्थ निम्नलिखित वेदमंत्रमें है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
काण्व य० ४०।१२-१४; ईश उ० ९-११

" केवल (अ- विद्या) प्रापंचिक विद्यामें जो रमते हैं वे भी दुःखी होते हैं और जो केवल (विद्या) आत्मज्ञानमें रमते हैं [और उदरपोषणादिके लिये भी कुछ यत्न नहीं करते] वे भी अधिक कष्ट का अनुभव करते हैं। प्रापंचिक विद्यासे एक लाभ है और ब्रह्मविद्यासे दूसरा लाभ है। अतः जो मनुष्य (उभयं सह) दोनों विद्याओंको साथ साथ प्राप्त करनेसे हितकारी मानता है, वह प्रापंचिक विद्यासे कष्टोंको दूर कर के ब्रह्मज्ञानसे अमृतमय मोक्ष प्राप्त करता है। "

पाठक मननपूर्वक इस ज्ञानयज्ञका महत्त्व जानें और उससे अपना इहपरलोकमें कल्याण साधन करें। मनुष्यको इहलोकमें उत्तम व्यवहार चलानेके लिये सृष्टिविद्याका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, और पारलौकिक कल्याण के लिये भी ब्रह्मविद्या की प्राप्ति करनी चाहिये। ये दोनों विद्याएं प्राप्त करनेसे हि मनुष्यका सच्चा कल्याण हो सकता है। ब्रह्मयज्ञमें जो ऋषियोंका और उन के ग्रंथोंका नामनिर्देश है, वह इस दोनों प्रकार के ज्ञानका बोधक है। पाठक इसका विचार कर के और ब्रह्मयज्ञ द्वारा यथायोग्य दोनों प्रकारका ज्ञान प्राप्त करके अपनी उन्नतीका साधन करें। इस विषयमें वाजसनेयी यजुर्वेदमें इस तरह लिखा है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणम् । क्षत्राय राजन्यम् ।
नृत्ताय सूतम् । गीताय शैलूषम् ।

धर्माय सभाचरम् । हेत्यै धनुष्कारम् ।
वा० यजु० अ० ३०

" मोक्षज्ञान की प्राप्ति करनेके लिये ज्ञानीके पास, शौर्यके लिये वीरके पास, नृत्य सीखना हो तो नर्तक के पास, गीता सीखनेके लिए गायकके पास, धर्मनियम जानना हो तो धर्मसभाके सदस्यके पास, और हथियार प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो हथियार बनानेवाले के पास जा। " इस तरह प्रापंचिक और पारमार्थिक विद्याकी प्राप्ति के विषयमें वेदमें कहा है, यह सब मनन करने योग्य है।

वस्तुतः ब्रह्मयज्ञ का विषय बडा विस्तृत है, परंतु उसकी सब व्याप्तिका विचार करनेके लिये यहां स्थान नहीं है, अतः यहां इस विषयमें इतना ही पर्याप्त है। पाठक इतनाही स्मरण रखें कि इस ब्रह्मयज्ञमें सृष्टिविद्या और ब्रह्मविद्या ये दोनों विद्याएं प्राप्त करनेका उपदेश किया है। यही ज्ञानयज्ञ है। यह ज्ञान गुरु अपने शिष्यके अन्तःकरणमें हवन करता है। इस यज्ञमें गुरु यजमान है, शिष्य का अन्तःकरण अग्नि है, उसमें इस ज्ञानरूपी हविकी आहुतियां डाली जाती हैं।

परमात्मा का आत्मयज्ञ ।

ब्रह्मयज्ञका दूसरा अर्थ है परमात्मयज्ञ, ब्रह्मका यज्ञ अथवा जीवात्मयज्ञ। प्रथमतः हम परमात्मा के अथवा ब्रह्मके यज्ञका विचार करेंगे। इस विषयमें शतपथ ब्राह्मणमें निम्न लिखित पंक्तियां मनन करने योग्य हैं—

ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत, तदैक्षत, न वै तपस्यानन्त्यमस्ति । हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनीति। तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्। तथैवैतद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति ॥ श० ब्रा० १३।४।३।१

" स्वयंभु ब्रह्मन तप किया, उसने देखा कि तपमें सचमुच अनन्तत्व नहीं है। इसलिये उस ब्रह्मने कहा कि मैं अपने आपका सब भूतोंमें यज्ञ करूंगा और सब भूतोंका आत्मामें हवन करूंगा। पश्चात् उसने अपने आत्माका सब भूतोंमें हवन किया और आत्मामें सब भूतोंका हवन किया। इस से उस ब्रह्मको श्रेष्ठता स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त हुआ। इस तरह जो मनुष्य अपने सर्वस्वका यज्ञ सब भूतमात्र के लिये करता है वह श्रेष्ठता, स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त करता है।"

यहां स्वयंभु ब्रह्मके आत्मयज्ञका वर्णन है। स्वयंभु ब्रह्म अपने हि तेजसे प्रकाशित था। तब उसको किसीने नहीं जाना। परंतु जब उसने अपने सर्वस्वका यज्ञ सब भूतमात्र या संपूर्ण जगत् के लिये किया, तब उसकी श्रेष्ठता सिद्ध हुई, उसको स्वाराज्य प्राप्त हुआ और सब जगत् का आधिपत्य इसी कारण उसको मिला। ब्रह्मने जब अपने सर्वस्वका यज्ञ दूसरों की भलाईके लिये किया तब उसकी श्रेष्ठता मानी गयी। इसी तरह जो मनुष्य आत्मसर्वस्व का यज्ञ मनुष्यमात्र की अथवा प्राणिमात्र की भलाई के लिये करेगा, तब वह श्रेष्ठता प्राप्त करेगा, उसको " स्वराज्य " और उसको राष्ट्रमें अधिकार का स्थान प्राप्त होगा। यहां स्वयंभु ब्रह्मके आत्मयज्ञ द्वारा सब मनुष्योंको उपदेश दिया है कि, वे भी उसी तरह ब्रह्मयज्ञ अर्थात् आत्मयज्ञ करें। यहां ब्रह्मयज्ञ और आत्मयज्ञ य दोनों शब्द आत्मसर्वस्वके समर्पण के अर्थमें हैं। इसी तरह विश्वकर्मा (विश्वकी रचना करनेवाले परमात्मा) के आत्मयज्ञका उल्लेख देखिये—

विश्वकर्माका आत्मयज्ञ ।

विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहुवाञ्चकार। स आत्मानमपि अन्ततो जुहुवाञ्चकार तदभिवादिन्येषर्ग्भवति। य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति।

निरु. दै. १०।२६

"भुवनोंके निर्माता जगत्कर्ता परमात्माने आत्मसर्वस्वका यज्ञ किया। उसने प्रथम सब भूतोंका यज्ञ किया और अन्तमें अपने आत्मसर्वस्व का भी पूर्णतया समर्पण किया। यह आशय अगले मंत्रमें कहा है—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः। स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥

ऋ० १०।८१।१

"(यः नः पिता) जो हम सबका पिता (ऋषिः) ज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा है, उसने इन सब भुवनोंका समर्पण किया, और यश की इच्छा करनेवाला वह (प्रथम—छद्) पहिले स्थान के लिये योग्य होता हुआ भी (अ- वरान् आविवेश) कनिष्ठों में मिलकर रहने लगा।" यही उसका आत्मयज्ञ है और यही उसकी श्रेष्ठताका हेतु है। वह उच्च स्थानपर विराजमान होनेका अधिकारी होनेपर भी वह कनिष्ठों के साथ मिल जुलकर रहने लगा। परमेश्वर सबसे ऊंचा है, तथापि वह निकृष्ट से निकृष्ट के साथ रहता है और उसमें चैतन्य का प्रकाश करता है। इसी कारण उसकी योग्यता सबसे विशेष हुई है। इसी तरह जो मनुष्य अपनी उच्चता की घमंड छोडकर नीचसे नीच दवी हुई जातिके उद्धार के लिये आत्मसमर्पण करेगा उसका महत्त्व अधिक होगा। यह परमात्मा के आत्मयज्ञ का स्वरूप है। इस प्रकार जो आत्मयज्ञ करता है वही विश्वविजयी होता है—

विश्वजित् विश्वभृद्विश्वकर्मा। अथर्व ४।११।५

"जो विश्वके सुखके लिये कर्म करता है, जो विश्वका भरण पोषण करनेके लिये यत्नवान् होता है, वही (विश्वजित्) विश्वविजयी होता है।" अर्थात् जो जगत् के लिये आत्मसमर्पण करता है वही विश्वविजेता हो सकता है। आत्मयज्ञसे ही जगत् में विजय करना संभव है। इसी विषयमें और देखिये--

नारायण का आत्मयज्ञ।

पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि अहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स एतं पुरुषमेधं ... आहरत्, तेनायजत, तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवत्। अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदं सर्वं भवति, य एवं विद्वान् ... यजते॥

शत० ब्रा० १३।५।१।१

"परात्पर पुरुष— नारायण— ने इच्छा की कि मैं सब भूतों में श्रेष्ठ होऊं और मैं हि सब बनूं। उसने यह पुरुषयज्ञ किया और वह सब भूतों में श्रेष्ठ बना। जो इसका तत्त्व जानता है वह आत्मयज्ञ करने द्वारा सब भूतों में श्रेष्ठ बन सकता है।" इस तरह ब्राह्मण ग्रंथों में परमात्माके आत्मसमर्पणरूप यज्ञका वर्णन है। यही वेदमंत्रोंका तात्पर्य है, यह ब्राह्मणग्रंथों की मनघडन्त बात नहीं है। इस विषय के कुछ मंत्र ऊपर दिये हैं। इस परमात्मा के आत्मसर्वस्व समर्पणरूप आत्मयज्ञ का सीधा तात्पर्य यह है— "परमात्मा निजानन्दमें था। उस समय उसको जाननेवाला और उसकी श्रेष्ठता पहचाननेवाला कोई नहीं था। उसने अपनी शक्तिका समर्पण करके सब सृष्टीकी रचना की, उसका पालन किया, उसकी व्यवस्था की, इस आत्मसमर्पण के कारण वह सब जगत् का अधिष्ठाता बना, समर्थ बना और उसका यश सर्वत्र हुआ। इसी तरह जो मनुष्य आत्मसमर्पणद्वारा सब मनुष्योंका हित करनेका यत्न करने में अपनी शक्तिसमर्पण की पराकाष्ठा करेगा, वही सब जनतामें माननीय, यशस्वी और श्रेष्ठ पुरुष बनेगा।" अर्थात् आत्मयज्ञ से श्रेष्ठता प्राप्त होती है। आत्मयज्ञ, परमात्मयज्ञ, नारायणयज्ञ, पुरुषयज्ञ आदि शब्दोंसे यह तात्पर्य पाठक यहां देखें और इसको अपने आचरण में लानेका यत्न करें।

मनुष्यका आत्मयज्ञ।

आत्मयज्ञ तो जैसा परमात्मा करता है, उसी के अनुसार जीवात्माको अर्थात् मनुष्यमात्र को करना आवश्यक ही है। मनुष्यकी उन्नतिका यही एकमात्र साधन है। श्रीमद्भगवद्गीता में जो यज्ञ का महत्त्व वर्णन किया है उसका यही हेतु है। प्रत्येक यज्ञ के लिये परमात्मा का प्राथमिक यज्ञ आदर्श है। पूर्वस्थानमें परमेश्वर बडा था तथापि वह (अवरान् आविवेश) कनिष्ठोंमें भी जाकर प्रविष्ट हुआ, उनमें आवेश उत्पन्न करने लगा, कनिष्ठों के पास रहने लगा। ऐसा जो कहा है वह सब मनुष्यमात्रको आदर्श समझना योग्य है। सब मनुष्य यह आदर्श अपने सामने रखें और अपने अधिकार की घमंड मनमें न रखते हुए कनिष्ठ मनुष्यों के पास जांय, उनकी अवस्था देखें, उनका सुधार करने का यत्न करें और उनकी सेवासे अपनी कृतकृत्यता होगी ऐसा विश्वास मनमें धारण करें। यही तत्त्व उक्त परमात्मयज्ञ अथवा ब्रह्मयज्ञ में है और भगवद्गीतामें कहे 'सर्वभूतहिते रताः' (भ० गी० ५।२५; १२।४) सब भूतोंके हितमें रममाण होने की कल्पनामें है।

"ब्रह्मयज्ञ" शब्दके अर्थोंमें 'ब्रह्मद्वारा अथवा परमात्माद्वारा किया यज्ञ' यह एक अर्थ है, इस का विवरण यहां तक किया, ब्रह्मयज्ञ का दूसरा अर्थ 'ज्ञान द्वारा होनेवाला यज्ञ' है। इसका विचार इस लेखके प्रारंभ में किया है। ब्रह्मयज्ञका तीसरा अर्थ जीवात्मा द्वारा अथवा मनुष्य द्वारा किया जानेवाला ज्ञानयज्ञ है। इसका वर्णन मनुस्मृतिमें

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः। (मनु० ३।७०)

अध्यापन ही ब्रह्मयज्ञ है, ऐसा कह कर किया है। यह ब्रह्मयज्ञ अध्ययन अध्यापन की प्रणाली यथायोग्य रीतिसे चलानेसे हो सकता है। 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः' (४।२८) इस शब्दद्वारा इस ब्रह्मयज्ञ का वर्णन यहां हुआ है। स्वाध्याय-प्रणाली यथायोग्य रीतिसे चलनेपर मनुष्यका और राष्ट्रका कल्याण निःसन्देह हो सकता है। जिस राष्ट्रमें स्वाध्याय बंद होगा, वह राष्ट्र गिर जायगा। ब्रह्मयज्ञ का चतुर्थ अर्थ 'ब्रह्मरूप बननेके लिये किया जानेवाला यज्ञ' है। इस अनुष्ठान करनेकी विधि (४।२४ में यहां) कही है। "यजमान ब्रह्मरूप है, अग्नि ब्रह्म है, हवनीय पदार्थ ब्रह्मरूप हैं, यज्ञसाधन ब्रह्मरूप हैं, यज्ञक्रिया ब्रह्म है, हवन किये पदार्थ ब्रह्मरूप हैं। इस तरह सर्वत्र ब्रह्मरूपदर्शन जिसको होने लगा, वह ब्रह्म बनता है।" सब जगत् ब्रह्ममय, आत्मामय है, अतः उसको वैसा ही देखना यही ज्ञान है, इसी विषय में उपनिषदोंका कथन ऐसा है —

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म। मांडूक्य० २

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छां० उ० ३।१४।१

ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वं। मैत्रि० उ० ४।६

"यह सब ब्रह्म है।" सब ब्रह्ममय है, सब ब्रह्मरूप है, अतः सबको ब्रह्मरूप मानना सत्यज्ञान है। 'सब ब्रह्मरूप है' इसका अर्थ सब आत्मरूप है' ऐसा भी होता है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि यदि मैं आत्मरूप और दूसरा भी आत्मरूप है, तब एक दूसरे का सहायक सेवक अथवा भक्त हुआ, तो वह दूसरेका सहायक सेवक और भक्त नहीं होता, प्रत्युत "स्वयं अपने आत्माकाही सहायक सेवक अथवा भक्त होता है।" जिस समय सर्वत्र सब आत्मरूप दिखाई देता है, उस समय किसी मनुष्यने जनताके लिये आत्मसमर्पण किया, तो उसका अर्थ 'आत्माने आत्माके लिये ही समर्पण किया' ऐसा होता है। (सर्वभूतहिते रताः) सब भूतमात्रके हितमें तत्पर होनेका अर्थहि आत्महितमें तत्पर होना है, क्यों कि सर्वत्र ब्रह्मरूपता दिखाई देने लगी, तो उस समय कोई 'वह अलग और मैं उससे भिन्न' यह कल्पना ही नहीं रहती। इस समय 'परोपकार' भी 'स्वार्थ' बनता है। और स्वार्थ भी परोपकार होता है। देखिये —

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
वा० यजु. ४० । ७; ईश० उ० ७

"जिस समय ज्ञानी मनुष्यके अनुभवमें सब भूत आत्मा ही हो गये, उस समय सर्वत्र एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानी मनुष्य को शोक और मोह नहीं हो सकते।" शोक मोह तो 'मैं तू और वह' का भेद रहने तक होते हैं, जब सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन हुआ और भेद मिट गया, उस समय शोक मोह को स्थान ही कहां है ?

यजमान, अग्नि, ऋत्विज, हवनसामग्री, यज्ञ-साधन सब ब्रह्मरूप हैं, ऐसा अनुभव होना चाहिये, यह बात यहां (श्लो० ४ । २४ में) कही है। यदि किसी को यह अनुभव हुआ, कि वह दूसरे को मारने लगा तो भी अपने आत्माको ही मारता है और दूसरोंके हितके लिये आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करने लगा, तो भी वह अपने आत्माके हितके लियेहि समर्पण करता है; भूखेको अन्न देना, तृषित को जल देना, दुखी मनुष्यके दुःख दूर करनेके लिये यत्न करना, यह सब आत्म-पूजा, परमात्मोपासना अथवा ब्रह्मयज्ञ ही है; जिसका ऐसा निश्चय होता है और जिस को ऐसा अनुभव होता है, वह सीधा ब्रह्म बनता है। इस तरह मनुष्य प्रारंभस्थितिसे अन्तिम परमोच्च अवस्था को प्राप्त होता है। प्रत्येक अवस्थामें 'ब्रह्मयज्ञ' का आशय कैसा लिया जाता है, इसका विवेचन यहां तक किया है, इस से यह ब्रह्मयज्ञ का विषय पाठकोंके ध्यानमें आगया होगा। अब सब की ब्रह्मरूपता के विषयमें एक वचन देखकर इस ब्रह्मयज्ञके विवरण को हम समाप्त करते हैं-

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्,...य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। ... अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽह-मस्मीति न स वेद ॥
बृ० उ० १ । ४ । १०

"प्रारंभमें ब्रह्म था, उसने अपने आपको देखा और जान लिया कि मैं ब्रह्म हूं, वह सब बना। जो ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म हूं, वह यह सब बनता है।...परंतु जो मैं भिन्न हूं और उपास्य देवता भिन्न है, ऐसे भेदभावसे देवता को देखता है, वह अज्ञानी है।" इस तरह ब्रह्मयज्ञकी अन्तिम स्थितिका वर्णन उपनिषदों में है। वेदमें यज्ञपदसे यही वर्णन किया है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथ-मान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥
ऋ० १ । १६४ । ५०; १०।९०।१६

"देव यज्ञके द्वारा यज्ञ का यज्ञ करते थे। ये प्रारंभके धर्म थे। इस यज्ञ को करनेवाले बडे होकर स्वर्गको प्राप्त हुए, जहां पूर्व समयके साधक पंहुच चुके थे।" यहां यज्ञसे यज्ञका यज्ञ करनेका क्या तात्पर्य है, इसका विचार करना चाहिये। इसी मंत्रपर निरुक्त और ब्राह्मण ग्रंथमें इस तरह लिखा है—

साध्या देवा अग्रे अग्निनाग्निमयजन्त, ते स्वर्गं लोकमायन्। आदित्याश्चैव हांगिरसश्च तेऽग्रेऽग्निनाग्निमयजन्त। ते स्वर्गं लोकमायन्। ऐ० ब्रा० १ । १६ ; निरुक्त० १२ । ४१

"साध्य, आदित्य और अंगिरस इन देवोंने प्रारंभमें अग्नि द्वारा अग्निका यजन किया।" पाठक यहां देखें कि पूर्व स्थानके यज्ञ शब्द के स्थानपर यहां अग्नि शब्द है। इस का अर्थ देखनेके लिये निम्न लिखित शब्दोंका परस्पर संगतिसे विचार करिये-

ब्रह्मणा	ब्रह्म	हुतम्।	(गी० ४।२४)
यज्ञेन	यज्ञ	जुह्वति	(गी० ४।२५)
यज्ञेन	यज्ञं	अयजन्त।	(ऋ० १।१६४।५०)
अग्निना	अग्निं	अयजन्त।	(ऐ० ब्रा० १।१६)
,,	,,	,,	(निरु० १२।४१)
विश्वकर्मा	आत्मानं	जुहवांचकार।	(निरु० १०।२६)
नः पिता	,,	जुह्वत्	(ऋ० १०।८१।१)

स्वयंभु ब्रह्म आत्मानं जुहोति। (श० ब्रा० १३।४।३।१)
आत्मना आत्मानं अयजन्त
अहं क्रतुः अहमग्निः अहं हुतं (गी० ९।१६)

इन सब शब्दोंका अर्थ (आत्मना आत्मानं अयजन्त) आत्माने आत्माका यजन किया, यही है। वेदमंत्रोंमें, ब्राह्मणग्रंथमें और आधुनिक ग्रंथोंमें भिन्न भिन्न शब्दोंका प्रयोग होता है, परंतु उन सबका आशय एक ही है, यह बात इस तरह तुलना करनेसे विदित हो जाती है, यह प्रणाली पाठकों के ध्यानमें आजाय, इसी लिये यहां इतना विस्तृत विचार किया है। जो गीतामें ब्रह्मका ब्रह्ममें हवन होनेका वर्णन है, वही वेदमंत्रमें 'यज्ञ का यज्ञद्वारा यज्ञ' इन शब्दोंमें है, शब्द भिन्न हैं परंतु अर्थ एकही है। अस्तु इस तरह यहां ब्रह्म-यज्ञका विचार समाप्त करते हैं। यद्यपि इसका अधिक विवरण अभीष्ट है, तथापि यहां स्थानाभावके कारण इतनाही पर्याप्त है।

गीता में निम्न लिखित दो श्लोक परस्पर-समान हैं। और वे एक दूसरे का अर्थ स्पष्ट करनेके लिये बडे उपयोगी हैं—

गीता. (४।२४)	गीता. (९।१६)
	अहं क्रतुः
	अहं यज्ञः
ब्रह्म अर्पणं	स्वधाऽहं
	अहं औषधं
	मंत्रोऽहं
ब्रह्म हविः	अहं एव आज्यं
ब्रह्म-अग्नौ	अहं अग्निः
ब्रह्मणा हुतम्	अहं हुतम्

जो बात 'ब्रह्म' शब्द द्वारा (श्लोक ४।२४में) बतायी है, वही 'अहं' शब्द द्वारा (श्लोक ९।१६ में) कही है। अतः 'ब्रह्म और अहं' का एक ही आशय है यह बात इससे सिद्ध होती है। प्रत्येक मनुष्य क्रतुमय अथवा यज्ञरूप है। प्रत्येक मनुष्य यज्ञरूप जीवनवाला बनना चाहिये, यह बात छांदोग्य उपनिषद में कही है—

> अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति॥ छां० उ० ३।१४।१

"मनुष्य यज्ञमय है, जैसा यज्ञ करता है वैसा वह बनता है।" इसीलिये 'अहं क्रतुः, अहं यज्ञः' ऐसा गीताने कहा है और इससे दर्शाया है कि मनुष्यका जीवन यज्ञरूप पवित्र बनना चाहिये। क्यों कि यज्ञ ही उन्नति करने का एकमात्र साधन है। उन्नतिका दूसरा मार्ग नहीं है।

मनुष्य आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करनेसे उच्च अवस्था प्राप्त करता है, यह विषय पूर्वोक्त विवरणसे ही स्पष्ट हुआ। किसी राजाके लिये यदि कोई मनुष्य आत्मसमर्पण करता है, तो वह राजा उसका योगक्षेम चलाता है, फिर जगत्पतिके लिये यदि किसीने आत्मसमर्पण किया और वह उसका सेवक बना, तो वह प्रभु इसको कभी नहीं भूलगा। पाठक इस विषयमें मनमें पूर्ण निश्चय रखें।

दैवयज्ञ।

अब योगियोंके दैवयज्ञ का विचार करेंगे। यहां 'योगी' शब्द का अर्थ 'कर्मयोगी' है। हठ-योगी के यज्ञोंका विचार आगे (श्लो० २७, २९ ३० में) आनेवाला है। कर्मयोगी का अर्थ है शास्त्रोक्त कर्म कुशलतासे करनेवाला। ये कर्म-योगी देवताओंके उद्देश्य से पूजा संगतिकरण दानात्मक यज्ञकर्म करते हैं। मनुष्यका जीवित ही देवताओंके संगतिकरण पर अवलंबित है। देवताओंके संगतिकरणसे इस मनुष्यको सहायता न मिली, तो यह जीवित भी नहीं रह सकता। देखिये उलूखल और मूसल ये दो देवताएं हैं। इनकी संगतिकरण से धान्य स्वच्छ किया जाता है और वह यज्ञके लिये योग्य होता है। तथा मनुष्यके खाने योग्य बनता है। भूमि और जल ये दो देव हैं इसके संगतिकरण से बीज का वृक्ष

बनता है और उसके फल मनुष्य खाता है और सुखी होता है। गृह देवता है, वृक्ष देवता है, इन के संगतिकरण से मनुष्य गृहमें रहता और उद्यान में विचरता है। इस तरह देवताओंका सत्कार, संगतिकरण और दानरूप यज्ञ करनेसे हि मनुष्य का जीवन चल रहा है। और देखिये 'गौ आप् तृण और सूर्य' ये देवताएं हैं। गौ का जल तृण और सूर्य प्रकाश के साथ संगतिकरण करनेसे, गौका सत्कार करनेसे और उसको योग्य नैवेद्य समर्पण करनेसे वह गौ सुप्रसन्न होकर मनुष्यको उत्तम अमृतरूपी दूध देती है; जिससे मनुष्य पुष्ट और दीर्घजीवी होते हैं। यज्ञ में विविध पदार्थोंका हवन किया जाता है, और यज्ञमें सूर्य अग्नी वायु भूमि आदिका संबंध आता है, इससे इनका संगतिकरण होकर मनुष्य सुखी होता है। न समजते हुए यह संगतिकरण की बात यज्ञविधिसे सिद्ध होतो है और उससे अन्यान्य लाभ भी होते हैं। कर्मयोगी देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं और उससे शुभ फल प्राप्त करते हैं। मनुष्योंमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अथवा ज्ञानी शूर व्यापारी और कारीगर ये भी देव हैं। इनका सत्कार और संगतिकरण करनेसे राष्ट्रका व्यवहार चलता है और अनंत मनुष्योंका कल्याण होता है। नरमेध नामक यज्ञ मनुष्योंके संगतिकरण करनेके लिये है, राजसूय यज्ञ राष्ट्र-पर अधिकारी चुननेके लिये होता है। अग्निष्टोम ज्योतिष्टोम सोमयाग आदि यज्ञ विविध प्रकारके मानवी संगतिकरण के लिये रचे हैं। गो मेधसे गौवोंका महोत्सव किया जाता है, उससे गोसमृद्धि होती है। इस तरह प्रायः अनेक यज्ञ संगतिकरण के तत्वपर रचे हैं और इनसे मनुष्यमात्र को सुख होता है। इन यज्ञोंके विषयमें और एक बात विचारणीय है, वह अब देखिये—

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते।
ओषधीष्वेव यज्ञं प्रतिष्ठापयति।

गोपथ ब्रा० उ० १। १९ ; गोपथ ब्रा० उ० ९ २।१३

"ये यज्ञ औषधियोंके महामख होते हैं, अतः ऋतुओंकी संधियोंमें प्रयुक्त होते हैं क्यों कि ऋतुओंकी संधिमें व्याधियाँ होती हैं। औषधियोंमें यज्ञ प्रतिष्ठित होते हैं।" इस तरह यज्ञमें जो औषधियों का संगतिकरण होता है, उससे रोग दूर होनेसे मनुष्य के सुख की वृद्धि होती है। सब आयुर्वेदकी प्रक्रियाएं देवताओंके अर्थात् औषधि देवताओंके संगतिकरण से सिद्ध हुई हैं। संपूर्ण सूपशास्त्र, देवताओंके संगतिकरणसे सिद्ध हुआ है। समाजशास्त्र, राज्यशासनशास्त्र, राष्ट्रीय अर्थशास्त्र तथा कई अन्य शास्त्र इसी देवतासंगतिकरण के फल हैं। इसका नाम 'देवयज्ञ' है। यह महत्वपूर्ण विषय है, तथापि यहां इसका संक्षेपसे स्वरूप कथन किया है जिसके पढनेसे पाठक इस विषयको समझ सकते हैं। आजकल देवयज्ञ का एक अंश हवनरूपसे अवशिष्ट रहा है, शेष सब लुप्त हुए हैं। पूर्वोक्त रीतिसे विचार करने पर पाठकों को संपूर्ण देवयज्ञ की कल्पना हो सकती है।

यज्ञका यज्ञ।

आगे पचीसवें श्लोक के उत्तरार्धमें 'ब्रह्माग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञका हवन करते हैं' ऐसा कहा है, इस यज्ञ के स्वरूपका कथन तो पूर्वस्थानमें ब्रह्मयज्ञके वर्णन के प्रसंगमें हो चुका है, तथापि यहां इतना कहना आवश्यक है कि 'यज्ञद्वारा यज्ञ का ब्रह्ममें यजन' यह अद्भुत 'समर्पण-योग' है। सर्वभूतोंके हित के लिये आत्मसमर्पण करनेका यह एक यज्ञ है। यह समर्पणरूप यज्ञ करनेके समय 'मैं आत्मसमर्पणरूप बडा महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा हूं, इससे सब जनता का कल्याण करनेवाला मैं हूं' इस तरह का अहंकार उत्पन्न होता है और इस अहंकारसे मनुष्यका अधःपात होता है। इस लिये यहां कहा है कि 'अपने आत्म-

समर्पणरूप यज्ञका भी परमात्मामें पूर्णतया समर्पण करना चाहिये।' और अहंकार को समूल दूर करना चाहिये। यह भाव 'यज्ञका ब्रह्माग्निमें हवन' करनेका है। अर्थात् आत्मसमर्पण करना चाहिये इतना ही नहीं, परंतु (यज्ञेन यज्ञं) आत्मसमर्पण का भी समर्पण करना चाहिये और 'मैं परोपकार का कृत्य करता हूं,' इसका भी ज्ञान नहीं होना चाहिये। यज्ञ करना स्वभावधर्म बनना चाहिये।

संयमाग्निमें हवन।

'सब इन्द्रियोंके कर्मों और सब प्राणोंके कर्मोंको ज्ञानसे प्रज्वलित हुए आत्मसंयमरूप योगाग्निमें हवन करना चाहिये।' (२७) इस स्थान पर आत्मसंयम करनेका उपदेश है। ज्ञान से अर्थात् आत्मज्ञान से, परमेश्वरविषयक ज्ञानसे किंवा ब्रह्मज्ञान होनेसे पूर्ण आत्मसंयम हो सकता है, इससे पूर्व यथाशक्ति अथवा यथाप्रयत्न होगा। सामान्य मनुष्योंकी प्रवृत्ति भोगोंकी ओर होती है, जैसा पशु हरेभरे खेतकी ओर आकर्षित होता है, वैसाहि सामान्य मनुष्य भोग की ओर आकर्षित होता है। इसको असंयम कहते हैं और यही मनुष्यों की गिरावट का हेतु है। अतः आत्मज्ञान से आत्मसंयम को प्रदीप्त करके उसमें इंद्रियकर्मों को और प्राणकर्मोंको स्वाहा करना चाहिये। इस का सरल और सुबोध अर्थ यह है कि आत्मसंयम करके इंद्रियों के और प्राणोंके कर्म जितने होंगे उतने करने चाहियें। इंद्रियोंको स्वैर नहीं छोडना चाहिये।

ज्ञानेन्द्रियोंसे और कर्मेंद्रियोंसे मनुष्य भोग भोगता है। यदि इन इन्द्रियोंका संयम न किया जाय, तो मनुष्य अत्यधिक भोगमें प्रवृत्त होगा और गिरेगा। संयमसे भोगेच्छाका और भोगसाधनरूप इंद्रियोंका नियमन करनेसे भोगप्रवृत्ति मर्यादित रहेगी और मनुष्य की उन्नतिकी संभावना होगी। (२६ वें श्लोकमें भी) कान आदि इंद्रियोंका संयमाग्निमें हवन करनेका तात्पर्य यही है। सामान्य मनुष्य इंद्रियों का भोगाग्निमें हवन करते हैं, इंद्रियोंके कर्मोंका भी भोगाग्निमें हवन करते हैं। वैसा नहीं करना चाहिये। इनका हवन संयमाग्निमें करना चाहिये, और यह संयमाग्नि ज्ञानसे प्रदीप्त करना चाहिये। ज्ञान का अर्थ अपने 'मोक्षसंबंधी ज्ञान' है। इसीसे संयम सिद्ध होता है। और उसका इष्ट परिणाम इंद्रियों और प्राणोंके कर्मोंपर होता है।

आगे (श्लोक २८ में) (१) द्रव्ययज्ञ, (२) तपोयज्ञ, (३) योगयज्ञ और (४) स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञ करनेवाले नियमपालक यतियोंकी प्रशंसा है। ये चार यज्ञ करनेवाले लोग क्या क्या करते हैं, इसका थोडासा विचार करना यहां आवश्यक है—

(१) द्रव्ययज्ञ= द्रव्यका यज्ञ करनेवाले। द्रव्य का अर्थ धनदौलत और पदार्थमात्र ऐसा दो प्रकार का है। जो धनवान् होते हैं वे अपने पास का धन जनताके कल्याण करनेके कार्य करनेके लिये अर्पण करते हैं, इनको द्रव्ययज्ञ करनेवाले कहा जाता है। वापी, कूप, तालाव, घाट, मंदिर, धर्मशाला, पाठशाला, गुरुकुल, अनाथालय आदि अनेक संस्थाएं जो जगत्में चल रहीं हैं, वे द्रव्ययज्ञसे हि चल रही हैं। राष्ट्रमें मनुष्य जितना अधिक द्रव्ययज्ञ करेंगे, उतनी ऐसी संस्थाएं अधिक कार्य करेंगी और उतनी जनताकी उन्नति अधिक होगी। दूसरे प्रकारका जो द्रव्ययज्ञ है वह अपने पासके पदार्थ देनेसे होता है-जैसा गुरुकुलोंको गौओंका दान देना, मुष्टिभागसे धान्य आटा आदि देना, धान्य, घी, वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि पदार्थ दान करके पूर्वोक्त संस्थाओंकी सहायता करना, अथवा गरीबोंकी सहायता करना। यह यज्ञ भी बडा उपयोगी है। ऐसे द्रव्ययज्ञोंसे अनेक संस्थाएं चलती हैं और जनतापर बडा उपकार होता है।

(२) तपोयज्ञ=तप करनेवाले लोग। तपका अर्थ

शीत उष्ण आदि सहन करके धर्मकार्य करना। यम नियम व्रत उपवास आदिके द्वारा अपनी पवित्रता संपादन करना। यह व्रताचरणरूपी तप आत्मशुद्धिके लिये बडा उपयोगी है। प्रायः मनुष्य धर्माचरण करना चाहता है, परंतु थोडे कष्ट हुए तो उसका मन चंचल होकर वह कार्य छोड देता है। परंतु जो शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन करने की शक्ति रखता है वह कष्टोंकी पर्वाह नहीं करता और अपने धर्माचरण में दत्तचित्त रहता है और उन्नत होता जाता है। तप अनेक प्रकार का है, इस विषयमें निम्न लिखित वचन देखने योग्य है-

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञं तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ महाना० उ० १।१०
तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। केन उ० ३३
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। तै० उ० १।९।१
तपसा प्राप्यते सत्वम्। मैत्रि० उ० ४।३
तपसाऽपहतपाप्मा। मैत्रि० उ० ४।४
लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। मुण्ड० ३३।१।५
तपो ब्रह्मचर्यम्। प्रश्न उ० १।१५
तपो वैराग्यम्। महा० उ० २

'सरलता, सत्य, विद्याध्ययन, शान्ति, इंद्रियदमन, मनःसंयम, दान, यज्ञ, अपने (भूः) अस्तित्व, (भुवः) ज्ञान और (स्वः) आनन्द के लिये प्रयत्न करना, (ब्रह्म) ब्रह्मप्राप्ति का अनुष्ठान करने का नाम तप है॥ तप दम और कर्म ही सब का आधार है॥ स्वाध्याय और उपदेश करना यह तप है॥ तपसे बल प्राप्त होता है॥ तपसे पाप दूर होता है॥ तपसे आत्माकी प्राप्ति होती है॥ ब्रह्मचर्य तप है और वैराग्य भी तप है॥''

इन वचनों के मननसे तप की कल्पना पाठक कर सकते हैं। तप सर्वत्र लाभदायक है और तपका जीवन न व्यतीत करना हानिकारक है।

(३) योगयज्ञ=योग का अनुष्ठान करनेवाले। यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधिरूप अष्टांग योगका अनुष्ठान करनेवाले योगी जन योगयज्ञ करते हैं और आत्मोन्नति प्राप्त करते हैं। 'योग' का दूसरा अर्थ 'मेल करना' है। वैद्यशास्त्रमें अनेक औषधियोंका संयोग करनेके लिये योग शब्द प्रयुक्त होता है। दीर्घायुर्योग, जीवनीय योग आदि औषधियोगसे शरीरस्वास्थ्य, दीर्घायुसाधन, नीरोगताप्राप्ति आदि करते हैं और अपना तथा जनता का हित साधन करते हैं। औषधालयों में यहि योग किया जाता है जिससे रोगीयोंके रोग दूर होकर बडा लाभ होता है। यह योग बडा उपकारक है। इसी तरह विविध शास्त्रोंमें 'योग' शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। पाठक विचार करके जो यहां लग सकते हैं उनका समावेश इस विभागमें करें।

(४) स्वाध्यायज्ञानयज्ञ= स्वाध्याययज्ञ करनेवाले और ज्ञानयज्ञ करनेवाले। स्वाध्याय का अर्थ है (स्व+अध्याय) अपनी उन्नतिके लिये जो जो आवश्यक विद्याएं हैं उनका अध्ययन करना। और ज्ञानयज्ञ का अर्थ है जो ज्ञान अपनेको विदित हुआ है वह दूसरोंको समझाना॥ अर्थात् अध्ययन और अध्यापन ये दोनों बडेभारी यज्ञ हैं और ये दोनों संपूर्ण मानव समाज की उन्नति करनेवाले हैं, क्योंकि ज्ञानसेहि सबका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होगा। जगत् के प्रारंभसे इस समय तक जो ज्ञान का प्रवाह चलता आ रहा है वह कितने मनुष्यों के लिये उपकारक हुआ है, इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। जो कुछ मानवी समाजकी उन्नति इस समय हरएक पहलूमें दीख रही है, वह सब इसी स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ अर्थात् पठण और पाठणसे हि हो रही है। यहां स्मरण रहे कि यह पठण और पाठण 'यज्ञ' रूप होना चाहिये। आजकल यह एक धंदा हुआ है और ऐसे ग्रंथों का पठण पाठन किया जाता है कि जिससे मनुष्य

की प्रवृत्ति बिघडती है, धर्मकी ओर न जाती हुई अधर्मकी ओर होती है। इसलिये इससे मानवी समाज बिगड रहा है। अतः इसको सुधारनेके लिये स्वाध्याय और ज्ञान 'यज्ञरूप' होना चाहिये, अर्थात् यह पवित्रता का केन्द्र होना चाहिये।

प्राणायाम।

प्राण और अपानके अर्थ भाषामें कुछ भिन्न हैं और यहां कुछ भिन्न हैं। यहां जो अर्थ है उसका स्वरूप यह है—

(१) प्राण = मुख अथवा नासिका द्वारा जो वायु बाहर जाता है, उसका नाम प्राण है, और

(२) अपान= मुख अथवा नासिका द्वारा जो वायु अन्दर नीचे की ओर जाता है उसका नाम अपान है।

भाषामें इसके बिलकुल विपरीत अर्थ हैं। अतः गीताके श्लोक का अर्थ करनेके समय ये अर्थ स्मरण रखें। (अपाने प्राणं जुह्वति) जो अपानमें प्राणका हवन करते हैं वे पूरक प्राणायाम करते हैं और (प्राणे अपानं) जो प्राणमें अपान वायुका हवन करते हैं वे रेचक प्राणायाम करते हैं और प्राण तथा अपानकी गतिका निरोध करने वाले कुंभक प्राणायाम करते हैं। चौथे प्राणोंका प्राणोंमें हवन करनेवाले अर्थात् जिस प्राणवायु की स्वाधीनता हो जावे उसीमें दूसरे प्राणों का अर्पण करके अन्तमें सब प्राणोंको स्वाधीन करते हैं। वायु को बाहर निकाल कर बाहर रोकना, अन्दर भरकर अन्दर रोकना, बाहर जानेकी और अन्दर आनेकी इन दोनों गतियोंको रोककर प्राणको स्थिर करना और समगतिसे प्राणापान को चलाना ये प्राणायाम हैं। प्राणायाम विशेष महत्वका विषय है और वह सुयोग्य गुरुके पास रह कर अध्ययन किया जाय तो ही वह आयुरारोग्य तथा योगसिद्धि देकर मनुष्यको समाधिसिद्धि तक पहुंचाता है। परंतु उसमें यदि दोष हुए तो विविध रोग उत्पन्न करता है। इसलिये इसका विशेष अभ्यास पुस्तक पढकर नहीं हो सकता, अतः प्राणायामोंका सविस्तर वर्णन यहां करना उचित नहीं है। जो पाठक प्राणायाम का अभ्यास विशेष करना चाहते हैं वे किसी उत्तम योगीके आश्रम में रहकर अपना साधन करें।

प्राणायाम करने वालों को 'नियताहार' अर्थात् नियमित भोजन करना चाहिये। पेट भर भर कर आकण्ठ भोजन करनेवालों से प्राणायाम नहीं होगा। पेटमें दो भाग अन्न, एक भाग जल सेवन के पश्चात् एक भाग पेट खाली रखना चाहिये। गाय का दूध घी आदि सात्विक भोजन करना योगाभ्यासियोंको उचित है। राजस अथवा तामस भोजन करनेवालोंको प्राणायाम से कदापि सुख नहीं होगा। उत्तम गुरुके पास रहकर प्राणायाम करनेसे शरीर (क्षपितकल्मषाः) दोषरहित हो जाता है और अपने आत्माकी शक्तिका अनुभव मिलता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।(३१)

"यज्ञ करके जो अन्न शेष रहता है, उसको अमृत कहते हैं, इस अमृत का भोजन करनेवाले लोग सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।" अर्थात् ये ब्रह्मरूप बनते हैं। पूर्वोक्त अनेक यज्ञ करके अपने सर्वस्वका अर्पण करनेके पश्चात् जो कुछ बनता है, उसका भोग अपने लिये करनेसे मनुष्य का आत्मा उन्नत होता है। दान करके जो अवशिष्ट रहता है, वही अपने भोगके लिये रखना चाहिये। यही भाव यजुर्वेद के मंत्रमें कहा है-

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। मा गृधः। कस्य स्विद्धनम्? वा० य० ४०।१; ईश० १

"इस कारण त्यागसे, दान करके, भोग कर, मत ललचा, किस का भला धन है?" अपने पास जो धन, द्रव्य, ज्ञान, विद्या, तथा अन्य पदार्थ होगा, उसका दान जनताकी भलाई के लिये करके जो कुछ बचेगा उसका स्वयं भोग करना योग्य

है, इससे अधिक भोगोंकी लालच धारण करना अधर्म है, क्यों कि किसी एक व्यक्तिका धन नहीं है। धन तो सब का है। इसी लिये जो अपने पास अत्यधिक संग्रह करते हैं वे पापी होते हैं, और जो अपने पासके धनादिका दान द्वारा यज्ञ करते हैं, वे ही उसका योग्य उपयोग करते हैं, अतः वे पुण्यशील होते हैं और येही सद्गतिको प्राप्त करते हैं।

यज्ञ न करनेसे इस लोकमें भी सुव्यवस्था नहीं होती, (न अयं लोकः अयज्ञस्य) यदि मनुष्यों में से दानभाव, त्यागभाव अर्थात् यज्ञभाव लुप्त हो जाय, तो वे मनुष्य ही नहीं रहेंगे; वे पशुओंसे भी गिर जांयगे। मनुष्योंका मनुष्यपन यज्ञभावसेहि स्थिर रहता है। मनुष्यके साथ यज्ञकी उत्पत्ति हुई है ऐसा जो (भ० गी० ३।१० में) कहा है उस का यही उद्देश्य है। मनुष्य वाचक 'नर' नाम (न रमते) जो भोग में नहीं रमता, जो त्यागभावसे रहता है, जो यज्ञरूप जीवन व्यतीत करता है, इस अर्थका वाचक है। मनुष्यवाचक 'जन' नाम संतान उत्पन्न करनेके अर्थ में है, यहां वीर्य का यज्ञ करनेका भाव है। वीर्यका यज्ञ करनेका अर्थ धर्मानुकूल गृहस्थधर्मका आचरण करना है। मनुष्यवाचक नामों में 'व्राताः' 'पञ्चजनाः' आदि शब्द सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेका अर्थ बतानेवाले हैं और सामुदायिक जीवन यज्ञसे हि सुखकर हो सकता है, अयज्ञीय वृत्तिवाले स्वार्थी भोगी लोगों का संघ अन्तमें दुःखकारक ही सिद्ध होगा। इस तरह देखनेसे मनुष्यका संबंध यज्ञके साथ घनिष्ठ है, यह बात स्पष्ट होती है। अर्थात् यदि इस लोकमें यज्ञके विना उन्नतिकी संभावना नहीं है, तो भला (कुतः अन्यः) पर लोक यज्ञके विना प्राप्त होगा यह कैसे सिद्ध होगा? अर्थात् इहपर लोकमें जो उच्चता प्राप्त होती है, वह यज्ञ, दान और त्याग भावपर हि अवलंबित है।

इस तरह अनेक यज्ञ (ब्रह्मणः मुखे=ज्ञानके मुख्य भागमें) वेदमें कहे हैं। ये सब यज्ञ (कर्मजान् विद्धि) कर्मसे सिद्ध होनेवाले हैं, कर्म न करनेपर एक भी यज्ञ सिद्ध नहीं होगा, यह बात जाननेसे (एवं ज्ञात्वा वि मोक्ष्यसे) विशेष रीतिसे मनुष्य मुक्त होगा। कर्मसे यज्ञ सिद्ध होते हैं इतनी बात जाननेसे मनुष्य कर्ममें प्रवृत्त होता है, कर्म करनेसे सब प्रकार के छोटे बडे यज्ञ सिद्ध होते हैं, इससे उसको ज्ञान होता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त होता है। कर्मसे मुक्ति प्राप्त होती है, इसका यह आशय है। यही बात अगले श्लोकमें कही है—

द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान्। (४।३३)

"द्रव्ययज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है," अधिक कल्याण करनेवाला है। धन, द्रव्य, गौ, भूमि तथा अन्य पदार्थ अथवा ज्ञानसे भिन्न किसी वस्तुका दान करनेसे जो लाभ होते हैं उससे कई गुणा अधिक लाभ ज्ञानका दान करनेसे होता है। अध्यापक, गुरु, आचार्य, शिक्षक आदिकों का जो महत्त्व है वह इसी कारण है। ये राष्ट्रनिर्माता हैं। शिक्षासे हि सब कुछ उन्नति साध्य होती है। (ज्ञानात् मोक्षः) ज्ञानसे मोक्ष होता है, ज्ञानसे स्वातंत्र्य प्राप्त होता है, ज्ञानसे स्वाधीनता प्राप्त होती है, ज्ञानसे अभ्युदय और निश्रेयस् मिलता है, यह बात सत्य है। यहां जैसा लौकिक ज्ञान लौकिक व्यवहार का साधक है, उसी तरह पारमार्थिक ज्ञान पारमार्थिक सिद्धिको प्राप्त करानेवाला है। अर्थात् दोनों स्थानोंमें ज्ञानसे शुभ अवस्था मिलती है। अतः कहा है—

सर्वं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते। (४।३३)

"सब कर्मोंकी समाप्ति ज्ञानमें होती है।" ज्ञानमें कर्म समाप्त होते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञान होनेके पश्चात् कर्म रहते नहीं। क्योंकि आत्मज्ञान किंवा ब्रह्मज्ञान अन्तिम है, जो प्राप्त होनेके पश्चात् कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रहता। यह ज्ञान किस तरह प्राप्त होता है इस विषयमें अगले श्लोकोंमें

(११) ज्ञानका महत्त्व ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

अन्वयः— प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः ज्ञानं ते उपदेक्ष्यन्ति तत् (त्वं) विद्धि॥३४॥ हे पाण्डव! यत् ज्ञात्वा (त्वं) पुनः एवं मोहं न यास्यसि, येन भूतानि अशेषेण आत्मनि अथो मयि द्रक्ष्यसि॥३५॥ (त्वं) सर्वेभ्यः पापेभ्य अपि पापकृत्तमः असि चेत्, सर्वं वृजिनं ज्ञानप्लवेन एव संतरिष्यसि॥३६॥ हे अर्जुन! यथा समिद्धः अग्निः एधांसि भस्मसात् कुरुते, तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ॥३७॥

प्रणाम, विवेकके साथ प्रश्न और गुरुकी सेवा करनेसे तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे। उनसे उस ज्ञान को तू जान ॥ ३४ ॥ हे पाण्डव! जिस ज्ञानको जाननेसे तू फिर इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा और जिससे सब भूतोंको अपने आत्मामें और मुझमें तू देखेगा ॥ ३५॥ यदि तू सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी सब पापको ज्ञानरूप नौकासे उत्तम रीतिसे पार कर जायगा ॥३६॥ हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जला डालती है, वैसेहि ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को दग्ध करती है ॥३७॥

भावार्थ— यदि कोई मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक है, तो वह सद्गुरुके पास जावे, उसको दण्डवत् प्रणाम करे, उसकी मनोभावसे सेवा करे और अपने मनोगत प्रश्न विवेकपूर्वक और निष्कपट भावसे उसे पूछे। शिष्य की सेवासे सन्तुष्ट होकर वह सद्गुरु उसको सत्य ज्ञानका उपदेश करेगा ॥ इसी सत्य ज्ञानसे मनुष्य मोह-जालमें नहीं फंसता और सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतमात्रमें देखता है॥ पापीसे पापी मनुष्य भी इसी ज्ञानसे पापसे पार हो जायगा॥ क्योंकि ज्ञानसे हि सब कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले बंधन दूर होते हैं॥३४-३७॥

बडा उत्तम उपदेश है, उसका अब मननपूर्वक अवलोकन कीजिये—

ज्ञानप्राप्तिके साधन।

(३४—३७) ज्ञान किस तरह प्राप्त किया जा सकता है, इस का उपदेश यहां किया है (१) प्रणिपात, (२) परिप्रश्न और (३) गुरुसेवा करने से ज्ञान प्राप्त होता है। आजकलके लोग कहेंगे कि फीज के रुपये भरनेसे ज्ञान प्राप्त हो रहा है,

फिर ये तीन शर्तोंकी आज क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में निवेदन है कि आजकल जो विद्या पैसे देनेसे प्राप्त हो रही है, वह जगत् में भयानक वैरभाव उत्पन्न कर रही है, इससे जितना जगत् का नाश हो रहा है, उतना नाश रोगादि से अथवा क्रूर श्वापदोंसे भी नहीं हो रहा है। अतः वह विद्या अथवा ज्ञान कहलाने योग्य भी नहीं है। यह तो अविद्या अथवा अज्ञान है जो फीज देकर खरीदा जा रहा है। यह भी अध्यापक को प्रणाम करके, उनसे प्रश्न पूछकर और उनके पास बैठकर प्राप्त होता है। एक न एक रूपमें इन तीन शर्तोंको पूर्ण करके हि यह ज्ञान प्राप्त होता है। अतः इन तीन शर्तोंकी आवश्यकता है यह बात निर्विवाद है। अतः ऋषिपरंपरा के अनुसार अहंभाव छोडकर सद्गुरुकी सेवा करके, उनकी संगतिमें रहकर, उनके आचरण देखते हुए, सत्यज्ञान प्राप्त करने से निःसन्देह अधिक लाभ होगा। आजकल या सदा सर्वदा यही पद्धति ज्ञान प्राप्त करनेके लिये लाभदायक है। आज भी गुरुशिष्यका निवास एकत्र होना चाहिये, यह तत्त्व सर्वमान्य हुआ है, एकत्र निवास हुआ परंतु गुरुके विषयमें शिष्यके अन्तःकरण में श्रद्धा भक्ति न हुई, और शिष्य अपनीहि ऐंटमें अकड कर रहने लगा, तो उसे क्या लाभ होगा? इसलिये शिष्यमें नम्रता रहनी चाहिये, उसके मन में अहंभाव नहीं रहना चाहिये और गुरुके विषयमें भक्ति चाहिये। ऐसा शिष्य यदि गुरुके सन्निध रहेगा और गुरुसे प्रश्न पूछेगा, तो गुरु उसे योग्य ज्ञान देगा। यदि यह शिष्य मनोभावसे गुरु की सेवा शुश्रूषा करेगा और गुरुका प्रेम संपादन करेगा, तो उसमें जो विशेष दिव्यता होगी, वह सब पाठक अपनी कल्पनासे जान सकते हैं। इस तरह प्रणिपात परिप्रश्न और सेवा करनेसे हि गुरुसे ज्ञान प्राप्त होता है। अध्यात्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान तो सद्गुरु की सेवा करनेसेहि प्राप्त होना संभव है, वह मोल लेना असंभव है और यहां जो 'ज्ञान' शब्द आया है वह विशेषतः इसी मोक्षविषयक ज्ञानके लिये आया है। अतः इस ज्ञान की प्राप्तिके लिये तो ये तीन शर्तें पूरी करना अत्यंत आवश्यक है। यह ज्ञान हरएक पंडित दे नहीं सकता, जो (तत्त्व-दर्शिनः ज्ञानिनः) तत्त्वदर्शी ज्ञानी होंगे, वेही मोक्षज्ञान का उपदेश करनेमें समर्थ होते हैं। अतः जो इस ज्ञानके इच्छुक हैं वे सद्गुरुकी सेवा शुश्रूषा करके, उनसे प्रश्न पूछ कर और उनको नम्रभाव से नमन करके प्राप्त कर सकते हैं।

ज्ञानके फल।

यह ज्ञान प्राप्त होनेसे कौनसा फल प्राप्त होता है, इस का विचार अब करना चाहिये, क्यों कि फलके विना कौन मनुष्य है जो उसकी प्राप्तिके लिये यत्नवान् होगा? आगेके तीन श्लोकोंमें इस ज्ञान का चार प्रकारका फल कहा है जो सारांशसे यह है—

१ मोहका दूर होना। (मोहं न यास्यसि। ४।३५)
२ अपने में सब भूतोंको और सब भूतोंमें अपने को देखना। (भूतानि आत्मनि द्रक्ष्यसि। ४। ३५)
३ पापके पार होना। (वृजिनं संतरिष्यसि। ४। ३६) और
४ कर्मोंके दोषोंसे बचना। (ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते। ४। ३७)

ज्ञान प्राप्त होनेसे ये चार फल मिलते हैं। इनमें पापके पार होना (४। ३६) और कर्मोंके दोषोंसे बचनेका (४।३७) आशय एक ही है। अतः इन दोनों को एक माननेसे शेष तीन ही फल रह जाते हैं। मोहके कारण पाप करता है, अयोग्य कर्म अयोग्य रीतिसे करता है और वह मोहयुक्त मनुष्य ऐसे कर्म करता है कि जिससे उसकी स्वार्थ साधनेकी इच्छा तृप्त होनेका संभव हो। इसी कारण वह इन कर्मोंसे बद्ध होता है। अर्थात् मोह, पाप और कर्मदोष इनका निकट संबंध है। मोहका अर्थ अज्ञान है, अतः ज्ञान होनेसे मोह दूर होता है,

मोह दूर होनेसे पापप्रवृत्ति हटती है और पाप प्रवृत्ति हटनेसे कर्म सदोष नहीं होते। इस तरह मोहपरंपराके ये दोष ज्ञानसे अज्ञान दूर होनेसे स्वयं नष्ट होते हैं।

अज्ञान	ज्ञान
मोह	मोहनाश
पापप्रवृत्ति	पुण्यशीलता
कर्मदोष	दोषरहित कर्म
बन्ध	मुक्ति

इससे स्पष्ट होजाता है कि ज्ञानसे क्या लाभ है और अज्ञानसे कौनसी हानि है। अर्जुन अज्ञान के कारणहि मोहवश हुआ था, भगवद्गीता का उपदेश श्रवण करनेसे उस में ज्ञान का प्रकाश हुआ, और अज्ञान दूर हुआ। अतः वह स्वकर्तव्य करनेमें समर्थ हुआ। ज्ञानका यह स्पष्ट फल गीतामें दीखता है, अतः कहा है—

मोहनाश।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
(४।३५)

"हे अर्जुन! ज्ञान प्राप्त होनेसे तुझे ऐसा मोह फिर नहीं होगा।" यह ज्ञानसे पहिला लाभ है। आगेके श्लोकोंमें कहा है कि, "पापीसे पापी मनुष्य भी इस ज्ञान को पानेसे पाप के पार हो जाता है। (४।३८)" यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि पापीको ज्ञान कैसा होगा और वह ज्ञानकी नौकामें बैठकर पापसे पार किस तरह होगा? पापी मनुष्य मोहवश होनेसे उसको ज्ञान नहीं होता यह सत्य है, परंतु पापीके किसी अज्ञात कारणसे अथवा पापभोग की समाप्ति होनेपर, उसके मनमें पापके विषय में दोष दृष्टि होती है और सत्संगति करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। वह किसी समय यदृच्छासे सत्संगति प्राप्त करता है, उसको पश्चात्ताप होता है, वह सद्गुरुको शरण जाता है, उसकी सेवा करता है और अपने उद्धारके विषय में प्रश्न पूछता है पश्चात् उसकी कृपासे उसको ज्ञान प्राप्त होकर वह पापी भी उत्तम ज्ञान नौकापर चढकर दोष-समुद्रके पार होता है। इस जगत् में इतिहासमें ऐसे कई पापी देखे हैं कि जो थोडेसे कारण होनेसे बडे पवित्रात्मा बने हैं। पश्चात्ताप होतेही वह सीधे मार्गपर आता है। पश्चात्ताप बहुत शुद्धि करनेवाला है। पश्चात्तापसे तप्त हुआ मनुष्य जिस एकाग्रतासे प्रभुकी शरण जाता है, जिस पवित्र और अहंकाररहित भावसे सद्गुरुकी सेवा शुश्रूषा करता है, उसमें उसकी शुद्धता के बीज हैं। एकवार इस तरह शरणागत हुआ मनुष्य कदापि फिर पापवृत्तिमें नहीं फंसता। इससे पाठक जान सकते हैं कि पापीसे पापी मनुष्यभी किस तरह ज्ञानप्राप्ति करके पुण्यात्मा बनता है। यह कोई असंभव बात नहीं है। सत्संगतिका ऐसाही महत्त्व है। पहिले कितने भी पापोंके पर्वत हुए तो भी ज्ञानाग्निसे उनका भस्म होता है और शरीरभोग रहनेपर भी वह स्वानंदसुखमें मग्न रहता है। इसके लिये एक उत्तम उदाहरण दिया है—

कर्मदोषक्षय।

"जैसा लकडियोंके बडे ढेरको अग्नि लगी तो वह छोटीसी अग्नि सब लकडियों को जलाकर भस्म कर देती है, अग्नि लगनेपर एक भी लकडी अवशिष्ट नहीं रहती, इसी तरह ज्ञानरूप अग्नि लगनेपर सब बुरे भले पूर्व समयमें किये हुए कर्म और वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्म और उन कर्मोंके सब दोष जल जाते हैं। उनमेंसे एकभी कर्म और उसका दोष अवशिष्ट नहीं रहता। फिर मनुष्य कितना भी पापी हुआ, तो भी उसके सब कर्म और उन सब कर्मों के दोष ज्ञानाग्निसे जल जानेपर उसके पास क्या अवशेष रह जाता है, जो उसको प्रतिबंध कर सके? यहां पाठक इस उपमा और उपमेय का अच्छा विचार करें। और देखें कि—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते।
(४।३७)

"ज्ञानरूप अग्निसे संपूर्ण कर्म (और उनके दोष) जल जाते हैं," उन में से एक भी कर्म नहीं रहता कि जिसको भोगनेकी आवश्यकता रहे। पाठक यहां पूछेंगे कि इस श्लोकमें (सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते) सब कर्म भस्म होते हैं ऐसा लिखा है, उन कर्मोंसे उत्पन्न हुए दोष जल जाते हैं ऐसा नहीं लिखा, अतः वे कर्मोंके दोष अवशिष्ट रहते होंगे। परंतु यह शंका व्यर्थ है क्योंकि कर्मके नाश होनेपर कर्ताकी स्थिति कर्म न करनेवालेके समान होगी, कर्ता होता हुआ भी वह अकर्ता होगा (भ० गी० ४।१३); कर्म करने में भी अकर्म अर्थात् कर्म न करनेके समान रहनेकी अवस्था होती है (भ० गी० ४।१८) कर्म करनेपर भी वे सब कर्म लय होते हैं, यह जो उपदेश भगवद्गीतामें अन्यत्र किया है उसका आशय यही है कि ज्ञान होनेसे कर्म और कर्मदोष सब लयको प्राप्त होते हैं और वह मनुष्य शुद्ध होता है।

पापी मनुष्यके दुःखपार होनेकी बात भ० गीतामें आगे भी इस तरह कही है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥ भ० गी० ९

"बडे से बडा दुराचारीभी यदि अनन्य भावसे मेरा भजन करे तो यह मानो कि वह साधु होहि चुका है क्यों कि अब उसका संकल्प शुभ हुआ है ॥ वह शीघ्रही धर्मात्मा बनकर निरन्तर शान्ति पाता है। हे अर्जुन! तू निश्चय ही समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता ॥ हे अर्जुन! जो पापयोनि हैं वे भी, और स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्र भी, यदि वे मेरी शरण रहें, तो परम गतिको पाते हैं।"

प्रभुको भक्तियुक्त अन्तःकरणसे शरण जानेसे, सच्चा पश्चात्ताप होनेसे, उत्तम गुरु के पास जाकर उसकी सेवा शुश्रूषा करने से पापी मनुष्य भी पवित्र होकर सद्गति प्राप्त करता है। किसी भी रीतिसे मनुष्य गया तो भी वह अन्तमें ज्ञान प्राप्ति द्वारा ही परमपद प्राप्त करता है। इसमें संदेह नहीं है।

ज्ञानसे सब दोष दूर होनेका एक उदाहरण ऐसा दिया जा सकता है कि किसी एक धनी मनुष्यके कामधंदेमें बहुत नुकसान आया और उसका दिवाला निकला, पश्चात् बहुत दिन विपन्न दशामें वह रहा, एक दिन किसीने उसके घरमें भूमिगत द्रव्य होनेका ज्ञान उसको दिया। उसने खोदकर वह धन लिया और फिर उसी क्षणमें वह मालदार बना। अपने धनी होनेका ज्ञान होते हि उसका संपूर्ण दारिद्र्य नष्ट हुआ, जल गया और वह फिर उसको सतानेके लिये नहीं रहा। इसी तरह अज्ञानके कारण उत्पन्न होनेवाले दोष ज्ञान होते ही नष्ट होते हैं।

ज्ञानके इतने लाभ हैं। अब एक लाभ सबसे महत्त्वका है उस का अब विचार करेंगे।

सर्वभूतात्मभाव।

भूतानि अशेषेण आत्मनि अथो मयि द्रक्ष्यसि। (४।३५)

"भूतमात्रको पूर्णतासे अपने आत्मामें और मुझमें देखेगा" यह अन्तिम सिद्धि है और विशेष महत्त्व की भी है; अतः इसका विशेष विचार करना चाहिये। इसी तरह के वाक्य अनेक स्थान पर हैं, उनको इस समय देखिये—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
ईश उ. ६; काण्व य० ४०।६

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
भ० गी० ६।२९

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
भ० गी० ६। ३०

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
श्री० भागवत ११। २। ४५;

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम्।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि॥
श्री० भागवत ३। २४। ४६;

"जो सब भूतोंको आत्मामें देखता है और सब भूतोंमें आत्माको देखता है उससे कुत्सित कर्म नहीं होते। सब भूतोंमें आत्मा है और आत्मामें सब भूत हैं ऐसा जो योगयुक्त आत्मा देखता है उसकी दृष्टि सम हुई होती है। जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये कभी मैं नष्ट नहीं होता और मेरे लिये वह भी कभी नष्ट नहीं होता। सब भूतोंमें जो नित्य प्रभुका स्वरूप देखता है और सब भूत परमात्मा हैं यह अनुभव करता है वह उत्तम भगवद्भक्त है। जो सब भूतोंमें भगवान् और अपना आत्मा है ऐसा देखता है और सब भूत भगवान्में और अपने आत्मामें हैं, ऐसा जो अनुभव करता है वह उत्तम भगवद्भक्त है।" ये सब वचन एकहि भाव बताते हैं।

यहां परमात्मा सब भूतोंमें है इतना कहनेसे परमात्मा सर्वव्यापक है, सब स्थिरचरमें विद्यमान है यह बात स्पष्ट हुई है। परब्रह्म, परमात्मा अथवा आत्मा सर्वव्यापक, 'सर्वगत' (गी० २।२४) है यह बात इससे पूर्व स्थानमें भी कई वार बतायी है।

अहं आत्मा सर्वभूताशयस्थितः। (गी० १०।२०)
सर्वभूतस्थितं यो मां भजति। (गी० ६।३१)
अहं प्राणिनां देहं आश्रितः। (गी० १५।१४)
सर्वभूतात्मभूतात्मा न लिप्यते। (गी० ५।७)
महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा। (कठ उ० २।२१)

इन वचनोंका आशय यही है कि "एक आत्मा सब भूतोंमें व्यापक है।" जो सब भूतोंको आत्माके समान मानता है वह दोषोंसे मुक्त होता है। अर्थात् सब भूतोंमें- स्थिरचरमें-एक आत्मा व्यापक है और वह सर्वत्र एकरस ओतप्रोत भरा है, यह जो अनुभव करता है, और उसी तरह मैं अर्थात् मेरा आत्माभी सब भूतोंमें भर गया है ऐसा जिसको अनुभव है, उसको अपना आत्मा और परमात्मा में अभेद का अनुभव होना स्वाभाविक है। यह एक अनुभव है।

दूसरा अनुभव यह है कि (मयि) परमात्मामें सब भूत हैं और अपने (आत्मनि) आत्मामें सब भूत हैं, अर्थात् मैं और आत्मा एक तत्त्व है और उस के अन्दर सब संसार है। ज्ञान प्राप्त होनेसे ये दो अनुभव साक्षात् प्रत्यक्षवत् होते हैं। जिस समय यह अनुभव होगा, उसी समय समझना चाहिये कि 'ज्ञान' हुआ है। ज्ञान का अर्थ शब्दोंका अर्थ जानना नहीं है। ज्ञान का अर्थ यही है कि 'मेरा आत्मा सब भूतोंमें है और सब भूत मेरे आत्मामें हैं यह प्रत्यक्षसा अनुभव होना।' यह ज्ञान अन्तिम सीमा है। यह ज्ञान प्राप्त होते ही उसके सब कर्म और कर्मोंके सब दोष भस्मसात् होते हैं, नष्ट होते हैं, दग्ध होते हैं किंवा बन्धन करने के लिये पीछे नहीं रहते। पापीसे पापी मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त करनेसे पापसे पार हो जाता है। और इसी ज्ञान के प्राप्त होनेके बाद उसको कभी मोह नहीं होता है।

पाठक यहां ध्यानमें रखें कि यहां 'ज्ञान'का अर्थ यही है। अन्य व्यावहारिक किंवा प्रापंचिक विद्या इससे भिन्न है। जिस ज्ञानको महत्त्व भगवद्गीतामें वर्णन किया है, वह ज्ञान प्रापंचिक ज्ञान नहीं है, वह ज्ञान सर्वात्मभाव का अनुभविक ज्ञान है। इसी विषयमें छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है-

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार, तँ होवाच, यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अंग तदाहरेति

तद्भावमृश्य न विवेद ॥१॥ यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति, कथमिति, लवणमिति, मध्यादाचामेति, कथमिति, लवणमित्यन्तादाचामेति, कथमिति, लवणमिति, अभिप्राश्यैनदथ मोपसीदथा इति, तद्ध तथा चकार, तच्छश्वत्संवर्तते, तँ होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यँ, स आत्मा, तत् त्वं असि० ॥

छां० उ० ६ । १३

इस छांदोग्य उपनिषद् में निम्न लिखित गुरु-शिष्य-संवाद है। यह अत्यंत बोधप्रद है अतः पाठक इसका विशेष विचार करें—

गुरुजी— हे शिष्य ! इस पात्रमें जो उदक है, उसमें यह नमक डाल दे और सवेरे यह मेरे पास ले आ।

शिष्य— अच्छा गुरुजी।

[पश्चात् शिष्यने वैसा किया, तब दूसरे दिन प्रातःकाल गुरुजी शिष्यसे पूछते हैं -]

गुरु— हे प्रिय शिष्य ! कल रात्रिके समय जो नमक जलमें तूने रख दिया था, वह नमक मेरे पास ले आ।

शिष्य— [शिष्यने उस जल में देखा, परंतु उस में नमक उसे नहीं मिला, तब उसने कहा कि] हे गुरो! वह नमक तो यहां नहीं दीखता !

गु०— वह जलमें मिलगया होगा, अस्तु, अब वह जल ऊपरसे थोडासा पीकर देख कि उसकी रुचि कैसी है?

शि०— गुरुजी! यह नमकीन है!

गु०— अच्छा, अब बीच का थोडा पीकर देख, कैसा लगता है?

शि०— यह भी नमकीन है।

गु०— अच्छा, अब सबसे निचले भाग का थोडासा जल पीकर देख तो सही, वह कैसा लगता है ?

शि०— गुरुजी ! वह भी नमकीन ही लगता है।

गु०— हे प्रिय शिष्य ! अब तुम्हें पता लगा कि यह नमक इस जलके साथ एकरूप हुआ, जलभरमें फैल गया, या व्याप रहा है, अतः वह तुम्हें अलग नहीं दीखता है। यद्यपि वह नहीं दीखता है, तथापि वह उसी में है। इसी तरह यह आत्मा इस सब भूतमात्रमें व्यापक हुआ है, वही सत्य वस्तु है, उसीको आत्मा कहते हैं, 'वही आत्मा तू है।'

यह उपमा और संवाद परमात्माकी व्यापकता दर्शानेके हेतुसे यहां रखा है। छांदोग्य उपनिषद् के इस छटे अध्यायमें यही विषय है। जैसा जल में नमक है और नमकमें जल है, उसी प्रकार सब भूतोंमें आत्मा है और आत्मामें भूतमात्र हैं। जो मनुष्य इस बातका साक्षात्कार करता है, उसको ज्ञान हुआ है और वही मोहसे, पापसे और कर्मोंके दोषोंसे दूर होता है।

यह ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होनेके पश्चात् और कुछ भी ज्ञातव्य उसके लिये अवशिष्ट नहीं रहता। इतना इस ज्ञान का महत्त्व है। क्योंकि जब 'मनुष्यको मेरे अन्दर जैसा आत्मा है वैसाहि और वही आत्मा सब भूतोंमें है' यह ज्ञान अनुभवसिद्ध रीतिसे होगा, तब उसके अन्दर आत्मौपम्य बुद्धि स्वभावसे जाग्रत रहेगी, और उसको अन्यान्य उपदेश करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। वह स्वयं अपने स्वभावसेहि दूसरोंपर दया करेगा, दूसरोंकी सहायता करेगा, दूसरोंका भला करेगा, दूसरोंको अभ्युदयके मार्गमें लानेका यत्न करेगा, दूसरोंपर आत्मवत् प्रीति करेगा, उनके साथ प्रेमका व्यवहार करेगा, सबके साथ न्यायसे व्यवहार करेगा, किसीको धोखा नहीं देगा, किसीका धनापहरण नहीं करेगा, किसीकी हिंसा नहीं करेग, किसीके साथ झूट न बोलेगा,

(१२) ज्ञानप्राप्तिके उपाय।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अन्वयः— हि इह ज्ञानेन सदृशं पवित्रं न विद्यते। तत् (ज्ञानं) स्वयं योगसंसिद्धः कालेन आत्मनि विन्दति ॥३८॥ श्रद्धावान्, तत्परः, संयतेन्द्रियः ज्ञानं लभते। ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण परां शान्तिं अधिगच्छति ॥ ३९॥ अज्ञः च अश्रद्दधानः च संशयात्मा विनश्यति। संशयात्मनः अयं लोकः नास्ति, न परः (लोकः), न (च) सुखम् (अस्ति) ॥४०॥

क्यों कि इस लोकमें ज्ञान के समान दूसरी कोई वस्तु पवित्र नहीं है। उस ज्ञानको स्वयं योग द्वारा उत्तम रीतिसे सिद्ध हुआ मनुष्य योग्य समय से अपने आत्मामें प्राप्त करता है ॥३८॥ श्रद्धालु और तत्पर पुरुष इंद्रियसंयम करके ज्ञानको प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शीघ्र ही उसको परम शान्ति मिलती है॥३९॥ जिसे ज्ञान नहीं और श्रद्धा भी नहीं है और जो संशयग्रस्त मनुष्य है उसका नाश होता है। संशयग्रस्त को न यह लोक है, न परलोक है, और न उसे किसी प्रकारका सुख प्राप्त होता है ॥४०॥

भावार्थ—ज्ञानके समान पवित्रता करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। समत्वबुद्धियोगसे सिद्ध हुआ मनुष्य अपनेमें वह ज्ञान योग्य समयके अनुष्ठान के पश्चात् प्राप्त करता है॥ ईश्वरपर श्रद्धा रखनेवाला अनुष्ठानमें तत्पर और अपने इंद्रियोंको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है। और ज्ञान प्राप्त होनेसे उसको शान्ति प्राप्त होती है॥ अज्ञानी, अश्रद्ध और संशयी मनुष्य का नाश होता है। संशयी मनुष्यको तो इस लोकमें भी सुख नहीं मिलता, फिर परलोकमें कैसा मिलेगा ?

अधिक लोगोंका अधिक कल्याण करनेकी पराकाष्ठा करेगा, सबके साथ आत्मवद्भावके साथ वर्ताव करेगा। यह उसका सहज स्वभाव बनेगा, अतः उसको व्यवहारशास्त्रका उपदेश करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सर्वत्र परमेश्वरकी उपस्थिति उसको प्रत्यक्ष होगयी है, वह अपने सब व्यवहार प्रत्यक्ष ईश्वरके साथ करनेके समान करेगा, फिर उसके व्यवहारमें कपट छल असत्य आदि दोषोंका उद्भाव कैसे होगा। वह तो आदर्श मनुष्य बनेगा। मनुष्य की पराकाष्ठा की उन्नत स्थिति ही यह है। इसलिये इस ज्ञानकी श्रेष्ठता है।

यह ज्ञानका महत्त्व है, यह ज्ञान किन उपायों से प्राप्त होता है यह विषय अब बताते हैं—

ज्ञानप्राप्तिके हेतु।

(३८-४०) (श्रद्धावान्) ईश्वर, गुरु और सत्यधर्मग्रंथोंके वचनोंपर श्रद्धा रखनेवाला;

(तत्परः) अनुष्ठानमें तत्पर अर्थात् दूसरे विचारोंमें अपना समय न गमानेवाला, कर्तव्य कर्ममें दत्तचित्त रहकर उत्तम निर्दोष रीतिसे अपने कर्तव्य करनेवाला, परमेश्वर में तल्लीन और (संयत—इन्द्रियः) अपने इंद्रियों को अपने स्वाधीन रखनेवाला, इन्द्रियनिग्रही और संयमी मनुष्य को ही अर्थात् (स्वयं योग-सं-सिद्धः) स्वयं समत्व बुद्धियोग द्वारा उत्तम रीतिसे सिद्ध बना हुआ मनुष्य योग्य (काले) समय तक अनुष्ठान करके अपने आत्मामें ज्ञान का प्रकाश हुआ है, इस बात का अनुभव करता है। इस ज्ञानप्राप्ति के चार उपाय हैं—

(१) श्रद्धा, (२) तत्परता, (३) इंद्रियसंयम और (४) योगसंसिद्धि ये चार उपाय हैं, जिनसे मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। श्रद्धा में बडा बल है । जो ईश्वरपर अटल श्रद्धा रखता है वह ईश्वरके साथ अपना संबंध अतिशीघ्र जोडता है और शीघ्रही तन्मयता प्राप्त करता है। गुरुके वचनोंपर और शास्त्रकी आज्ञाओंपर श्रद्धा रखनेवाला मनुष्य अपने मनको इधर या उधर न भटकाता हुआ, एक ही बिन्दुमें केन्द्रित करके अनुष्ठान करता है। इंद्रियसंयम करनेवाला मनुष्य अपने इंद्रियोंको वशवर्ती रखकर, उनको विषयमें न फंसाता हुआ,ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन करके शान्तिसे अपने मार्गका आक्रमण करता है । इसी तरह योगसे सम्यक् सिद्धि प्राप्त करता है, अर्थात् समत्त्वबुद्धिरूपयोगसे सम्यक् सिद्धि प्राप्त करके वह अपने अन्दर पूर्वोक्त ज्ञान प्राप्त करता है। श्रद्धा, कर्तव्यतत्परता, इंद्रियसंयम और समत्वबुद्धियोग इन चार साधनों द्वारा मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है, यहां ज्ञान का अर्थ- "आत्मा का सब भूतोंमें निवास और सब भूतोंका आत्मामें निवास देखना है। (४।३५; ६।२९, ६।३०)" यह ज्ञान श्रद्धा, तत्परता, संयम और समबुद्धि से प्राप्त होता है। और यह ज्ञान प्राप्त होते ही—

अचिरेण परां शान्ति अधिगच्छति । (४।३९)

"शीघ्रहि श्रेष्ठ शान्ति प्राप्त होती है।" यह ज्ञान अत्यंत पवित्र है और पवित्रता करनेवाली वस्तु है। जहां यह ज्ञान प्रकट होता है, वहां पवित्रता बनती है और सब प्रकारकी अपवित्रता वहांसे हट जाती है। यह पवित्र ज्ञान जिसको प्राप्त होता है उसको इस लोकमें भी सुख मिलता है और परलोकमें भी आनन्द प्राप्त होता है।

संशयसे नाश।

परंतु जो स्वयं अज्ञानी, अश्रद्ध और संशयग्रस्त है, उसका तो नाश होता है । वह जैसा इस लोक में दुखी होता है वैसाही परलोक में भी वह अनिश्चित स्थितिमें रहता है । यहां सश्रद्ध और अश्रद्ध ऐसे दो प्रकार के मनुष्यों की स्थिति वर्णन की है, देखिये उनकी क्या स्थिति होती है-

श्रद्धवान् (३९)	अश्रद्दधानः (४०)
तत्परः (३९)	चञ्चलः
संयतेंद्रियः(३९)	भोगपरः, असंयमी
योगसंसिद्धः(३८)	चंचलबुद्धि
स्थितप्रज्ञः	संशयात्मा (४०)
ज्ञानवान्	अज्ञः (४०)
पवित्रः (३८)	अपवित्रः, मलीनः
अविनाशी	विनश्यति (४०)
सुखमयः	दुःखरूपः
शान्तः	अशान्तः

श्रद्धालु का क्या बनता है और अश्रद्ध मनुष्यकी कैसी गिरावट होती है, यह बात यहां उत्कृष्टतासे विशद हुई है । श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेसे शान्तिसुख प्राप्त होता है, परंतु अश्रद्ध और भोगमय जीवन बननेसे सब प्रकार की गिरावट हो जाती है।

अज्ञ वह है कि जिसको 'परमात्मा सर्वत्र उपस्थित है और सब संसार परमात्मामें है' इसका पता नहीं है । इस तरह का अज्ञ मनुष्य किसीपर अर्थात् ईश्वर गुरु और शास्त्रवचनोंपर श्रद्धा नहीं रखता, और इस अश्रद्धा के कारण वह

(१३) संदेह-निवृत्ति।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अन्वयः— हे धनंजय! योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयं आत्मवन्तं कर्माणि न निबध्नन्ति ॥ ४१ ॥ हे भारत! तस्मात् अज्ञानसंभूतं हृत्स्थं आत्मनः एनं संशयं ज्ञानासिना छित्वा योगं आतिष्ठ, युद्धाय (च) उत्तिष्ठ॥४२

हे युद्धमें विजयी अर्जुन! जिसने योगद्वारा अपने सब कर्मोंका संन्यास किया है, जिसने ज्ञानसे सब संशय काट दिये हैं, जो आत्मिक बलसे युक्त है, उसको कर्मसे बंधन नहीं होते हैं ॥४१॥ हे भारतीय वीर! इसलिये अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले इस हृदयके संशयको अपने ज्ञानरूप शस्त्रसे काटकर कर्मयोग का आचरण कर और युद्ध करनेके लिये उठकर खडा हो ॥ ४२ ॥

भावार्थ — कर्मयोगके अनुसार अपने सब कर्म कर, ज्ञानसे अपने संदेह दूर कर, आत्मिक बलसे युक्त हो, तब तुझे कर्मोंके दोष नहीं लगेंगे, अज्ञानसे संदेह होते हैं, उनको ज्ञानरूप शस्त्रसे काटकर कर्मयोग कर और युद्ध करनेके लिये उठ ॥ ४१-४२ ॥

संशयसागर में डूबता रहता है। ईश्वर नहीं होगा, यह सृष्टी स्वयं बनी होगी, क्या इसका कोई कर्ता होगा, मृत्युके पश्चात् इस जीव का क्या होता है इत्यादि विषयमें उसके विचार संशयित होते हैं। इस कारण वह कहां भी श्रद्धा नहीं रखता, कुछ भी अनुष्ठान नहीं करता और वह यहां भी दुखी रहता है और मृत्युके पश्चात् भी वह दुखीहि रहता है। संशयी मनुष्यको सत्य मिथ्या, अनुकूल प्रतिकूल, हित अहित, योग्य अयोग्य, धर्म अधर्म आदिका ज्ञान नहीं होता, और वह हित को अहित और अहित को हित मानकर फंसता है और प्रतिसमय दुःखमें रहता है। यह दुःख हटानेकी इच्छा है तो श्रद्धा, तत्परता, संयम और योगाभ्यास आदि मार्गका अवलंबन करके अपने प्रयत्नसेहि ज्ञानप्राप्तिद्वारा ऊपर उठना चाहिये। यही बात आगे के दो श्लोकोंमें कही है—

कर्मबंधनिवृत्ति।

(४१-४२) जो मनुष्य (योग-) बुद्धिकी समता (गी० २।४८) और कर्मकुशलता (गी० २।५०) रूप योगके द्वारा (-सं-न्यस्त-कर्मा) सब कर्मोंकी उत्तम प्रकार से (न्यास) व्यवस्था करता है, किंवा कर्मोंके फलोंका जगत्की भलाई के लिये समर्पण करता है; और जो (ज्ञान-सं-छिन्न-संशयः) परमात्माके सर्वत्र व्यापक होनेके अनुभविक ज्ञानसे अपने सब संशयोंको काटकर नाश करता है; तथा जो (आत्म-वान्) आत्मिक

शक्तिसे संपन्न है ऐसे मनुष्य को उसके किये कर्मोंका (कर्माणि न निबध्नन्ति) बंधन नहीं होता । अर्थात् कर्मोंके बन्धनसे छुटनेके तीन कारण हैं—

(१) बुद्धिकी समता और कर्मोंकी कुशलता के साथ कर्तव्यकर्मोंको यथायोग्य रीतिसे करना; (योग-संन्यस्त-कर्मा);

(२) (ज्ञान-) परमेश्वर सब में है और सब जगत् परमेश्वरमें है इस का अनुभव करना और परमेश्वर सर्वत्र उपस्थित है ऐसा अनुभव करके (-संछिन्नसंशयः) संदेह दूर करना और उसी की अध्यक्षता में उसकी संतुष्टीके लिये अपने कर्तव्य कर्म करना; और

(३) (आत्मवान्) आत्मा के बलसे युक्त होकर प्रमादरहित रीतिसे अपने कर्तव्य करना ।

इन तीन शर्तोंका पालन करनेसे मनुष्य कर्मों के बंधनसे मुक्त होता है और इस तरह वह जो जो कर्म करता है वह कर्म उसको बंधन करनेके लिये रहता ही नहीं । अर्थात् वह सब कर्म निर्दोष रीतिसे करता है अतः कर्मदोषोंसे अलिप्त रहता है । यह निर्दोषता क्यों सिद्ध होती है, इसकी उपपत्ति देखिये । कर्मके बंधसे मुक्त होने के लिये कर्मसे दोषकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये । यह निर्दोष कर्म किस तरह साध्य होता है, इसका मनन करना चाहिये । " समता, कुशलता, प्रभुकी समीपता, अपनी बलवत्ता और फल का समर्पण करनेसे कर्मोंके दोषोंसे मुक्ति होती है; " अब एक एक का विचार करेंगे—

(१) (योग) समता ।

अपना पराया, छोटा बडा, उच्च नीच आदि विषमता मनमें रही, तो कर्म विषम होते हैं और विषम कर्मोंसे विविध दोष होते हैं । परंतु इनके विषयमें (योग) समभाव मनमें रहा, मैं और दूसरा यह भेद मिट गया और सब के साथ समान व्यवहार होने लगा, तो वैसे व्यवहार से दोष नहीं होते । यह पुत्र मेरा है और यह दूसरे का है, ऐसा भेदभाव मनमें रहेगा तब तक ही उक्त दोनों पुत्रोंके साथ विषम व्यवहार होगा और विषमतासे दोष होगा, परंतु जिस समय यह भेदभाव नहीं रहेगा और अपने और पराये पुत्रके साथ समान व्यवहार होने लगा, तो उस समय विषमता मिटनेके कारण कर्मसे दोष नहीं होंगे और कर्म भी बाधा नहीं करेंगे । सब प्रकार के द्वन्द्वों के विषयमें समबुद्धि होनेसे इसी तरह सब प्रकारकी विषमता हट जाती है और ऐसी अवस्थामें जो कर्म होते हैं, वे बाधा करनेवाले नहीं होते ।

(२) (योग) कुशलता ।

कुशलता से कर्म निर्दोष होते हैं, यह सब जानते हि हैं । एक कारीगर अपने कर्ममें कुशल है और दूसरा नहीं है । उनमें जो कुशल होगा उसीके कर्म निर्दोष होंगे, वैसे दूसरेके नहीं हो सकते । और निर्दोष कर्म बाधक नहीं हो सकते प्रत्युत उद्धारक होसकते हैं ।

'योग' के ये दो अर्थ हैं, समता और कुशलता । इन दोनों अर्थों को देखनेसे पाठकों को ज्ञान हुआ होगा कि इन से कर्म दोष रहित होंगे और कर्ता को मुक्त करनेमें समर्थ होंगे । (योग-संन्यस्त-कर्मा) जो इस प्रकारके योग के साथ कर्तव्य करता है वह बंधन से मुक्त होता है, यह बात अब पाठकोंको स्पष्ट हुई होगी ।

(३) प्रभुकी उपस्थिति ।

परमेश्वर सर्वत्र है और सब परमेश्वरमें है, इसका मुख्य अर्थ है प्रभुकी सर्वत्र प्रत्यक्ष उपस्थिति । मनुष्य जहां जाये वहां उसको यदि प्रभुकी उपस्थिति प्रत्यक्ष हो, वह प्रभु मेरे कर्म देख रहा है ऐसा इसको प्रतीत होता हो, और उस प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये मैं यह कर्म कर रहा हूं यह इसका निश्चय हो, तो निःसन्देह उस के कर्म उत्तम होंगे और निर्दोष होंगे । स्वामीके सन्मुख रहनेसे सेवक से उत्तम कर्म होते हैं, और

जहां तक हो सके वहां तक सेवक प्रमादरहित होकर सब कर्म करता है। फिर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा प्रभु मेरे सन्मुख है ऐसा जिस भक्त के अन्तःकरण में विश्वास होगा, वह उसकी अध्यक्षता में निर्दोष कर्म करेगा इस में कुच्छ भी संदेह नहीं है। (ज्ञान-संछिन्न-संशयः) ज्ञानसे जिसके संदेह नष्ट होते हैं, परमेश्वर सर्वत्र है वा नहीं, वह मेरे कर्म जानता है वा नहीं, इस प्रकार के संदेह दूर होनेसे वह प्रभुको सर्वत्र उपस्थित जानता है और वह जो करता है वह उस की संतुष्टीके लिये करता है।

(४) आत्मबल।

अपने बल से कर्म करनेसे कर्म निर्दोष होता है। दूसरेकी सहायतासे जो कर्म होंगे, उसमें दूसरेके बलपर निर्भर होनेकी परतंत्रता होनेके कारण पारतंत्र्य का बडा दोष उसमें है। यह दोष हटना अशक्य है। आत्मबलसे कर्म करनेवाले में वह पारतंत्र्य का दोष नहीं रहता, यही इसकी निर्दोषता है। (आत्मवान्) आत्मिक बल सबसे श्रेष्ठ बल है अतः जिसके पास यह बल होता है, वह श्रेष्ठबलयुक्त होनेके कारण अन्य कनिष्ठ बलवालों की अपेक्षा निःसन्देह श्रेष्ठ है और उसी प्रमाणसे वह निर्दोष भी है।

(५) कर्मफल का समर्पण।

अपने (संन्यस्तकर्मा= कर्मफलसंन्यासः) कर्मोंसे जो फल प्राप्त होगा, वह अपने भोग के लिये न रखते हुए, सब जनता की भलाईके लिये उसका समर्पण करनेवाला मनुष्य इसी त्यागभाव के कारण निर्दोष होता है। क्योंकि स्वार्थभोग-वासना उससे पूर्णतया हट जानेके कारण और उससे जो होता है वह सब जनता की भलाई, भूतमात्रका हित, (सर्वभूतहिते रताः। ५।२५; १२।४) करनेमें तत्पर होनेके कारण और उसकी स्वसुख-निरपेक्षता के कारण जो कर्म उससे होते हैं, उनका दोष उसको बाधक नहीं होता है।

इस प्रकार इस श्लोकमें कर्मके दोष से मुक्त होनेके जो उपाय कहे हैं उनका विचार पाठक करें। इस श्लोकका संक्षिप्त विवरण यहां किया है, इससे पाठकोंके मनमें इसका तत्त्व ठीक प्रकार आजायगा ऐसी हमें आशा है। इतना उपदेश कर्मदोषसे मुक्त होनेके विषय में कहनेके पश्चात् अन्तिम श्लोकमें कहते हैं कि- "अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले और हृदयमें रहनेवाले संशयको ज्ञान-रूपी शस्त्रसे काटकर अपनी उन्नतिका उद्योग कर।"

(संशयात्मा विनश्यति। ४।४०) जिसके अन्तःकरणमें संदेह हैं उसका नाश होता है, ऐसा पहिले कहा है, अतः उस संशयको हटाने का उपाय 'ज्ञान' है, यह बात यहां कही है। ज्ञानका अर्थ यहां "परमेश्वरकी सर्वत्र उपस्थिति और सबकी परमेश्वरमें उपस्थितिकी प्रत्यक्षता" है। इस प्रकार का ज्ञान होते ही सब सन्देह दूर होते हैं और कर्तव्याकर्तव्य के विषय में निश्चय होता है। इस तरह जिसका निश्चय होता है, वह अपने अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिये कर्मयोग का आचरण करता है और उन्नति प्राप्त करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे
निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के
संवादमें ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक
चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥४॥

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायपर थोडासा विचार।

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग।

कर्मका सूक्ष्म विचार।

इस चतुर्थ अध्यायमें 'ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग' कहा है, अर्थात् "ज्ञानपूर्वक कर्मोंका संन्यास करके कर्मोंके दोषोंसे छूटनेकी युक्ति" कही है, अतः इसमें कर्मोंका बडा सूक्ष्म विचार किया है। इस दृष्टीसे यज्ञविचार का प्रकरण वारंवार मनन करने योग्य है। अध्याय के प्रारंभमें हि 'इस गीता शास्त्र की अखंड परंपरा आदिकालसे चली आ रही है और इस अनादि परंपरा का पुनरुद्धार करने के लिये अपना यत्न है,' यह बात भगवान् के मुखारविंद से प्रकट हुई है। श्रीभगवान् कहते हैं कि "मैंने हि पूर्व समयमें विवस्वान् से इस शास्त्र का उपदेश किया था, उससे मनु और इक्ष्वाकु को यह योग प्राप्त हुआ, पश्चात् यह लुप्त हो चुका, उसका पुनरुद्धार करनेके उद्देश्यसे मैंने तुझे यह उपदेश दिया" इस तरह भगवान् स्वयं वारंवार अवतीर्ण होते हैं, और इस योग की पुनः पुनः जाग्रति करते हैं। ऋग्वेद में भी इसी तरह का आशय कहा गया है—

पूर्ववृत्तकथन।

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥१॥ अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥२॥ अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य। शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥३॥ ऋग्वेद ४।२६।१—३

"मैं मनु हुआ, मैं सूर्य बन गया था, मैंने बुद्धिवान् कक्षीवान् ऋषि बनकर (ज्ञानका प्रसार किया था।) मैंने अर्जुनीके पुत्र कुत्सको अपने आधीन रखा था और मैंने ही महाकवि उशना अर्थात् शुक्राचार्य बनकर (विद्या का प्रचार बहुत किया था।) यह मेरा कार्य देखो॥ मैंनेहि आर्यों को यह भूमि समर्पण की, दाता परोपकारी मनुष्योंके हितके लिये मैं हि वृष्टि करता हूं और उन्हीं के लिये मैं नदियां बहाता हूं। और सब देव मेरे द्वारा प्रचारित हुए इस ज्ञानको अनुसरते हैं॥ मैंने शंबर नामक शत्रुके ९९ कीले तोड कर और सौवा नगर आर्योंके रहने योग्य बनाकर आर्योंको रहनेके लिये स्थान कर दिया और अतिथिपूजक दिवोदास की रक्षा युद्धमें मैंने हि की थी।"

इस स्थानपर ऋषि बनकर धर्मोपदेशका कार्य और क्षत्रिय बनकर आर्योंकी रक्षा करनेका कार्य मैंने किया था ऐसा श्री भगवान् का कथन है। यह कथन इस गीताके वचन के साथ तुलना करने योग्य है। इसी प्रकार ऋ० १०।४८-४९ और ऋ० १०।१२५ ये सूक्त इसी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। अर्थात् जैसा भगवद्गीतामें कहा है कि, "मैंने पूर्व युगमें ऐसा किया और वैसा किया," इसी तरह वेदमें भी कई सूक्तोंमें कहा है।

पिताका पुनर्जन्म।

चतुर्थ अध्यायके श्लोक ५-६ के विवरण में पिताका पुनर्जन्म पुत्ररूपसे होता है, यह विषय कहा है। यही विषय महाभारतमें अधिक स्पष्ट शब्दोंके साथ आया है, अतः वे श्लोक यहां अवश्य देखिये—

भार्यां पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः॥३७
आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।

तस्माद्भार्यां नरः पश्येन्मातृवत्पुत्रमातरम् ॥४९॥
म० भा० आदि० अ० ७४

"पति बीजरूपसे अपनी स्त्रीमें प्रविष्ट होकर पुनः पुत्ररूपसे जन्मता है। इस तरह पतिको पुत्र-रूपसे उत्पन्न करनेके कारण धर्मपत्नीको जाया नाम सार्थ होता है, ऐसा प्राचीन ज्ञानी मानते हैं॥ स्वयं अपना ही जन्म होकर पिताही पुत्र बनता है, ऐसा ज्ञानियोंका मत है। इसलिये पुत्र की माता अर्थात् अपनीहि धर्मपत्नीको पुत्रजन्म के पश्चात् (मातृवत् पश्येत्) अपनी माताके समान देखना उचित है।" इस रीतिसे यहां कहा है कि पिताका पुत्ररूपसे पुनर्जन्म होता है। पुनर्जन्मके कई भेद भ० गी० (अ०४) श्लो० ५-६ के विवरणमें बताये हैं,उनके साथ विचारने योग्य यह श्लोक है, इतनाही पाठक यहां स्मरण रखें।

ईश्वरभावकी प्राप्ति।

संपूर्ण भगवद्गीताका उद्देश्य एकहि है कि 'नर का नारायण बने।' पुरुषका पुरुषोत्तम हो जावे। जीव का शिव बने किंवा—

ज्ञानतपसा पूताः मद्भावं आगताः। (४।१०)

"ज्ञान और तपसे पुनीत होकर (मद्भावं) परमेश्वरके भावको प्राप्त होते हैं।" जो ज्ञान और तपसे पवित्र बनेंगे वे ईश्वरके भावको प्राप्त होंगे। जैसा अग्निभाव को लकडी या लोहा प्राप्त हुआ तो वह अग्नि ही होता है, इसी तरह ईश्वर भाव को जो मनुष्य प्राप्त होता है, वह साक्षात् ईश्वर बनता है। कई पाठक इस विषयमें संदेह करते हैं, अतः श्रीमद्भगवद्गीता का इस विषयमें निश्चित सिद्धान्त क्या है वह अब देखेंगे। भगवद्गीतामें इस प्रकारके भगवद्भाव से युक्त बन जानेको "सिद्धि अथवा परम सिद्धि को प्राप्त होना" कहा है, अतः वे श्लोक यहां देखिये—

परम सिद्धि।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥
गी० १४।१

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥
गी० १८।४९

"उत्तम से उत्तम ज्ञान वह है कि जो ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् अनेक मुनि यहांसे परम सिद्धि को पहुंचे हैं॥ जिसकी भोगोंपर आसक्ति नहीं है, जिसने अपने मनको जीता है, जिसने भोगेच्छाओंका त्याग किया है, वह संन्यास द्वारा परम सिद्धिको प्राप्त होता है।"

यहां 'परमसिद्धि' प्राप्त करनेके साधन "सत्य ज्ञान, अनासक्ति, मनका संयम और भोगोंकी अनिच्छा" कहा है, तथा और भी देखिये—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
गी० १८।४६

"जिसके द्वारा सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई और जो सर्वत्र व्याप्त है, उस ईश्वर की पूजा अपने कर्म के द्वारा करनेसे मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।" ईश्वरपूजा करनेका और सिद्धि प्राप्त करनेका यह अति सुगम उपाय है। प्रत्येक मनुष्य जो काम धंदा करता है अथवा प्रत्येक मनुष्य जिस कर्म में नियुक्त हुआ है, वह मनुष्य वही कर्म परमेश्वर को अपने सन्मुख उपस्थित जान कर और उसको सन्तुष्ट करने के लिये करे। इस से वह परम सिद्धि को प्राप्त करता है। पुरुष हो या स्त्री हो, अपना निज कर्म करता हुआ इस प्रकार उच्च होता है; किसी भी मनुष्य को किसी भी अवस्थामें इस मार्ग से जानेमें किसी भी प्रकार का प्रतिबंध नहीं हो सकता। माता अपने पुत्रको उत्तम रीतिसे सुसंस्कृत करने द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकती है, पत्नी अपने पतिविषयक और पति अपने पत्नीविषयक कर्तव्य उक्त प्रकार करते हुए उन्नत हो सकते हैं; इसी तरह ओहदेदार, व्योपारी, कारीगर, कर्म-

चारी तथा हरएक प्रकारका अन्य मनुष्य अपना कार्य परमेश्वर को संतुष्ट करने लिये करता रहेगा, तो निःसन्देह उन्नत होगा। इसमें दोही बातें मुख्य हैं।

(१) परमेश्वर को अपने सन्मुख उपस्थित मानना, और

(२) अपना कर्म उसको संतुष्ट करने के लिये करता हूं ऐसा मान कर कर्म करना।

इतने ही से मनुष्य शुद्ध, पवित्र और उन्नत होता है। दुष्ट दुराचारी मनुष्य भी ये दो बातें मानेगा, तो थोडे ही समयमें दुष्टतासे और दुराचारसे दूर होगा, फिर सदाचारी मनुष्य की उन्नति होनेमें क्या संदेह हो सकता है? उन्नति का यह सुगमसे सुगम उपाय है। यही बात अन्य शब्दोंसे निम्न लिखित श्लोकमें कही है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
गी० १२।१०

"यदि तू योगादि साधनोंका अभ्यास करनेमें समर्थ नहीं है, तो तू मेरे लिये कर्म कर। मेरे लिये कर्म करनेसे हि तू सिद्धिको प्राप्त करेगा।" बहुतसे मनुष्य ऐसे होते हैं कि वे योगादि साधन नहीं कर सकते। इस प्रकारकी असमर्थता होने पर भी उन मनुष्योंको हताश होनेका कोई कारण नहीं है, क्यों कि ऐसे मनुष्य यदि अपने कर्म परमेश्वरकी संतुष्टी के लिये करेंगे अथवा अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करेंगे तो वे सिद्धी प्राप्त करेंगे।

कई यहां शंका करेंगे कि, केवल अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करनेसे किस तरह उन्नति होगी? इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक मनुष्य स्थान स्वच्छ करता है, यदि यह स्थान स्वच्छ करनेका कार्य वह अपने देशके राजाके लिये करेगा, तो वही काम वह कितनी दक्षतासे करेगा!! अपना कर्म राजा देखेगा, इतना विश्वास होनेसे उसका वह स्वच्छता का कर्म निर्दोष होता है, फिर राजाओंका भी जो राजा है, उस सर्वसमर्थ परमेश्वरके लिये जब वह अपना कर्म समर्पण करेगा तब उसकी शुद्धता, पवित्रता और उन्नति होनेमें संदेह ही क्या होगा? अर्थात् अपने कर्म परमेश्वरार्पण करनेसे मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होगी इसमें संदेह ही नहीं है।

इस तरह सिद्धि प्राप्त होनेके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है- यह सिद्धि प्राप्त होनेके साधन ये हैं—

१ भोगोंपर अनासक्ति,
२ आत्मसंयम, मनःसंयम और
३ वासनाओंका त्याग.

यदि ये साधन कोई मनुष्य न कर सके, तो वह मनुष्य—

४ अपने कर्म परमेश्वर को अर्पण करे।

यह सुगमसे सुगम उपाय है, इसका अवलंबन करनेसे प्रत्येक मनुष्य उन्नतिके पथपर आगे बढ सकता है। 'मनुष्य जो कर्म करता है वह परमेश्वरको समर्पण करे' इस से और सुगम उपाय क्या हो सकता है? यहां सुगम साधन की परम सीमा हो चुकी है। मनुष्य अपना जीवन परमेश्वर के लिये समर्पण करेगा तो सिद्धि को अवश्य प्राप्त करेगा।

परंतु "सिद्धि" शब्द से किसी भी निश्चित अवस्थाका बोध स्पष्टतया नहीं होता, 'सिद्धि'का तात्पर्य क्या है? मनुष्य जब सिद्धिको प्राप्त करता है, तब उसको क्या मिलता है, और मनुष्य को जबतक सिद्धि नहीं मिलती, तब तक उसमें किस बातकी न्यूनता रहती है, इसका विचार करना चाहिये। इसका निश्चय होनेसेहि परम सिद्धिकी कल्पना ठीक प्रकार आसकती है, अतः इस बातका अब विचार करेंगे।

विशेषता।

जिस मनुष्यको सिद्धि प्राप्त नहीं हुई होती है, उस सामान्य मनुष्यकी अपेक्षा जिसको सिद्धि

प्राप्त हो चुका है, ऐसे सिद्ध पुरुषमें कुछ न कुछ विशेषता होती है, ऐसा निम्नलिखित गीतावचनोंसे प्रतीत होता है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
गी० ७।१७

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥
गी० ६।९

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
गी० ३।७

"इनमें नित्य योगानुकूल व्यवहार करनेवाला, अकेले मेरी (ईश्वरकी) भक्ति करनेवाला ज्ञानी विशेष योग्यतावाला है। मैं ज्ञानीको प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे प्रिय है॥ उत्तम हृदयवाला, मित्र,शत्रु, पक्षपातरहित, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धु, साधु और पापी इन सबपर जो समभाव रखता है वही विशेष श्रेष्ठ है॥ जो मनुष्य मनके द्वारा इंद्रियों को अपने आधीन रखता है और भोगमें आसक्त न होता हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करता है वह विशेष श्रेष्ठ होता है॥"

इस तरह "(१) योगानुकूल व्यवहार, (२) ईश्वरभक्ति, (३) सर्वत्र समभाव, (४) इंद्रियसंयम, (५) अनासक्ति और (६) कर्मयोगका आचरण करनेसे मनुष्यकी योग्यता विशेष उच्च होती है," यह गीताका कथन है। पूर्व स्थानमें "परम सिद्धि" प्राप्त करनेके लिये "अनासक्ति, संयम, वासनात्याग और प्रभुको अपने कर्म समर्पण करना" ये चार बातें लिखीं हैं। यहां मनुष्यको "विशेषता" प्राप्त करनेके लिये छः बातें कहीं हैं, जिनमें आधीं पूर्वोक्त ही दुबारा कहीं हैं।

'विशेषता' प्राप्त करनेका भी क्या आशय है? सामान्य मनुष्योंमें कौनसी हीनता होती है और विशेष मनुष्यमें कौनसी पूर्णता होती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है, जब तक इस बातका निश्चय नहीं होगा, तब तक 'विशेषता' प्राप्त होनेका आशय ध्यानमें नहीं आवेगा। अतः इसकी खोज करना चाहिये।

श्रेयःप्राप्ति।

यहां कई कहेंगे कि श्रेय प्राप्त होनेसे मनुष्यकी योग्यता विशेष श्रेष्ठ होती है। सामान्य मनुष्य श्रेय मार्गसे दूर रहते हैं और विशेष मनुष्य श्रेयमार्गमें प्रवृत्त होते हैं। दोनोंमें यही भेद है।। इस श्रेय को प्राप्त करने का उपाय भ० गीतामें निम्न लिखित श्लोक में कहा है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
भ० गी० ३।११

"तुम यज्ञद्वारा देवोंकी संभावना करो और देव तुम्हारी संभावना करेंगे। इस रीतिसे परस्पर सहायता करते हुए तुम परम श्रेय को प्राप्त करो।" यहां परमश्रेयःप्राप्ति का साधन 'परस्परसहायता' है ऐसा कहा है। समाजमें अथवा राष्ट्रमें द्विविध लोग रहते हैं। पूंजीपति और कर्मचारी, ज्ञानी और अज्ञानी, अधिकारी और जनता, आर्य और दस्यु, द्विज और द्विजेतर इस प्रकार अनेकविध लोक समाजमें रहते हैं, इनकी परस्पर सहायतासेहि सबका पूर्ण हित होसकता है। ज्ञानी अशक्त होंगे और कर्मचारी सशक्त होंगे, तो ज्ञानी लोग कर्मचारियों की सहायता ज्ञानद्वारा करें और कर्मचारी अपने शारीरिक बलसे ज्ञानीयोंको लाभ पहुंचावें। इस तरह परस्पर सहायतासे सबका कल्याण हो सकता है और आपसके झगडेसे सबकी हानी होसकती है। यह बात सहजहीमें सबके ध्यानमें आसकती है। यहां कल्याण अथवा श्रेय शब्दसे इहपर लोकमें प्राप्त होनेवाला सुख जाना जाता है।

'सिद्धि, परमसिद्धि, विशेषता, श्रेय,परमश्रेय, और कल्याण' ये सब शब्द संदिग्ध ही हैं। इनसे कुछ अवस्थाविशेषकी कल्पना मनमें उत्पन्न

होती है, यह सत्य है; तथापि उस अवस्थामें क्या लाभ है और वह अवस्था प्राप्त न होनेसे क्या हानि है, इस बात की निश्चित कल्पना इन शब्दोंसे नहीं होती है, अतः इस बात की खोज और करनी चाहिये।

मायाके पार होना।

इस स्थानपर कई लोग कहेंगे, कि श्रेयःप्राप्ति का अर्थ 'माया के पार होना' है। जिस का वर्णन इस प्रकार किया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
गी० ७। १४

"मेरी यह तीन गुणोंवाली दैवी माया पार करना बडा कठिन कार्य है। जो लोग मेरी शरण लेते हैं वे ही इस माया से पार जाते हैं।"

इस श्लोकमें कहा है कि संसारमें रहनेवाले सामान्य मनुष्य इस दैवी माया के पाशोंसे बंधे होते हैं, इस माया के बन्धन तोडना कठीन कार्य है; परंतु जो मनुष्य परमेश्वर की शरण में जाते हैं, केवळ वेही इस माया के बंधनोंको तोडकर मुक्त होते हैं। यहां कुछ न कुछ विशेष अवस्थाकी कल्पना होती है। 'माया' नाम की दैवी शक्ति है, उसके तीन गुण हैं, येही बडे पाश हैं, साधारण अज्ञानी मनुष्य इन पाशोंसे बांधे जाते हैं। जो विशेष ज्ञानी परमेश्वर की भक्ति करते हैं, वेही इन पाशोंको तोड कर मुक्त होते हैं।

यद्यपि यहां "माया और गुण (पाश)" इन शब्दोंसे कुछ बंधन की कल्पना आती है, तथापि 'माया' शब्दसे किसी निश्चित पदार्थ का बोध नहीं होता और गुणों (पाशों) में मनुष्य कैसा बांधा जाता है, इस का भी बोध ठीक तरह नहीं होता है, अतः इस विषयकी अधिक खोज करनी चाहिये।

पुनर्जन्म न होना।

यहां कई विद्वान् कह सकते हैं कि 'माया के पाशोंमें बंधा होनेके कारण जीव को वारंवार जन्ममरण के चक्रमें परवश होकर घूमना पडता है; परंतु जो मायापाशोंसे दूर रहता है वह पुनर्जन्म में नहीं आता।' अतः कह सकते हैं कि 'साधारण मनुष्य जन्ममरण के चक्रमें घंसीटे जाते हैं, परंतु विशेष श्रेष्ठता प्राप्त करनेवाले मनुष्य जन्ममरण के प्रवाह के बाहर हो जाते हैं। इस विषयमें निम्न लिखित श्लोक विशेष विचार की दृष्टीसे देखने योग्य हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ गी० ५।१७

"ज्ञानसे जिनके पाप धुलगये हैं, वे पवित्रात्मा लोग ईश्वर का ध्यान करते हैं, ईश्वर में अपने आत्माको लगाते हैं, ईश्वरकी भक्ति करते हैं और ईश्वरपरायण होते हैं और इससे वे जन्ममरण के प्रवाहसे छूट जाते हैं।" तथा—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ गी०८।१६

"ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक जन्ममरण की यातना भोगनेवाले हैं। परंतु जो मनुष्य मुझे (ईश्वरको) प्राप्त करते हैं, उनको पुनः जन्म नहीं लेना पडता।" इस प्रकार यहां कहा कि परमेश्वरकी भक्ति करनेवाले श्रद्धालु आस्तिक लोग परमेश्वरको प्राप्त होनेके पश्चात् पुनः पुनः जन्ममरण लेनेके कष्टमें नहीं पडते हैं। यहां निश्चय हुआ कि 'सिद्धि प्राप्त होना, श्रेय कमाना, विशेष अवस्था प्राप्त करना' इत्यादि वाक्योंका तात्पर्य 'परमेश्वरको प्राप्त करना' है। परमेश्वरको प्राप्त करनेसेहि मनुष्य परमसिद्ध होता है, परमश्रेय प्राप्त करता है, और पुनर्जन्मसे पार होता है। परमेश्वरको प्राप्त करनेका विषय, गीतामें क्या और अन्य शास्त्रोंमें क्या, वारंवार आगया है। इसका निश्चित अर्थ समझनेकी इच्छा है तो नीचे लिखे श्लोकका अच्छी तरह मनन करिये—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥
गी० १४। २

"इस ज्ञान को प्राप्त करके उपासक ईश्वरके गुणधर्मोंके समान गुणधर्मोंसे युक्त होता है, तत्पश्चात् उसको सृष्टिकी उत्पत्तिके समय में भी जन्म लेना नहीं पडता, और प्रलयकालमें भी उसको व्यथा नहीं होती।" यहां परम सिद्धि की स्पष्ट-कल्पना होगई है। परमेश्वर के जो जो गुणधर्म हैं वे गुणधर्म इस को प्राप्त होते हैं, मानो वह परमेश्वर के समान बन जाता है। जैसा अग्नि का स्फुलिंग अपनी दाहक शक्ति बढाकर अग्नि बन जाता है, उसी प्रकार यह जीव शिवस्वरूप हो जाता है। (मम साधर्म्य=ईशसाधर्म्य) ईश्वर के समान धर्मवाला बनना ही अन्तिम सिद्धि है। ईश्वर के समान गुणधर्म होनेसे वह जन्ममरण के क्लेशोंसे दुःखी नहीं होता है। जैसा ईश्वर सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है वैसाही यह बनता है. फिर इसको दुःख, शोक कैसे हो सकेंगे? जन्म मरण के क्लेशोंसे दूर होनेका हेतु और भी एक है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।

गी० १३।२३

"जो मनुष्य गुणमयी प्रकृति और पुरुष को यथावत् जानता है उसको सब तरह का बर्ताव अर्थात् सब कर्म करनेपर भी फिर से जन्म लेना नहीं पडता।" प्रकृति पुरुष का यथावत् ज्ञान होनेपर उसको कर्म करते हुए भी निर्लेपता सिद्ध करनेका उपाय ज्ञात होता है, और उस कारण उसको पुनर्जन्म लेनेका कारण नहीं रहता। अस्तु इस तरह परम सिद्धि प्राप्त करनेका अर्थ परमेश्वरके समान गुणधर्मोंसे युक्त बनना है, अर्थात् निर्दोष, निर्लेप या निष्कलंक बनना है। इस निर्लेपता का स्वरूप अब देखिये—

निर्लेपता।

मनुष्य इस संसारमें विचरता है, अतः अनेक रीतिसे उसपर दोष लगनेका संभव होता ही है। ऐसा दोष लगनेका संभव होनेपर भी, श्रीमद्भगवद्गीताने एक अपूर्व युक्ति दर्शाई है, उसका उपयोग करनेसे इस संसारमें यह मनुष्य निर्लेप या निष्कलंक, शुद्ध और पवित्र बन सकता है। निर्लेपता को प्राप्त करनेकी युक्ति यह है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

गी० ५।१०

"कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके अर्थात् सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करके जो मनुष्य आसक्तिरहित होकर सब व्यवहार करता है, वह पानी में जैसा कमल पत्र निर्लेप रहता है वैसा पापसे कलंलित नहीं होता।" यहां निष्कलंक रहने की दो युक्तियां कही हैं,-"(१)कर्म परमेश्वर को समर्पण करना, और (२) भोगोंका संग छोडना।" इस युक्तिसे मनुष्य सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी निर्दोष रह सकता है। पापी मनुष्य भी इस ज्ञानसे निर्दोष होगा, देखिये—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

गी० ४।३६

"सब पापियोंमें भी तू बडेसे बडा पापी हुआ, तो भी इस ज्ञानरूपी नौका द्वारा तू संपूर्ण पापोंसे पार हो जायगा।" इस तरह इस ज्ञानसे और पूर्वोक्त युक्तिसे मनुष्य निष्कलंक हो सकता है।

जो जो कर्म मनुष्य करता रहे वह परमेश्वरके लिये करे, और उसके फलभोग की इच्छा न धरे। बस इतनी युक्ति करनेसे वह निर्दोष रहेगा। कर्म करनेपर भी कमलपत्रके समान निर्लेप रहेगा। वस्तुतः तत्त्वदृष्टिसे जैसा आकाश घरघर में रहनेपरभी घरके दोषसे दोषी नहीं होता है, इसी तरह यह आत्मा सर्वव्यापक होनेसे शरीर से बने कर्मोंके दोषोंसे दोषी नहीं बनता, देखिये इस विषयमें भगवद्गीता का कथन कितना स्पष्ट है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२॥
गी० अ० १३

"यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण शरीरमें रहते हुएभी न कुछ करता है और न किसी से लिप्त होता है ॥ जैसे सूक्ष्म होनेके कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे हि सब देहोंमें रहनेवाला आत्मा भी लिप्त नहीं होता ॥ " यही उपदेश उपनिषदोंमें भी कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥ वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १०॥ सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥ कठ० २।५

"जैसा अग्नि एक है, तथापि वह भुवनोंमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक वस्तुमें अलग अलग दीखता हैं, इसी तरह सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है, परंतु वह प्रत्येक रूपमें भिन्न रूपवाला दीखता है और उसके बाहर भी वह है ॥ वायु जैसा एक है, परंतु प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट होकर विभिन्न रूपवाला दीखता है, उसी तरह सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है, परंतु वह प्रत्येक रूपमें अलग अलग दीखता है और वह उसके बाहर भी है ॥ जैसा सूर्य सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेके कारण सबका चक्षु जैसा है, तथापि किसी से संसर्ग होने के कारण दोषयुक्त नहीं होता, वैसा ही सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है, तथापि वह लोकोंके दोषोंसे दोषी अथवा लोकोंके दुःखसे दुखी नहीं होता।"

आत्मा सर्वगत-सर्वव्यापक-है, यह बात (गी० २।२४ में) पूर्व स्थानमें कही है । यह सर्वगत होनेसेहि तत्त्वतः निर्दोष है । जैसा थोडा थोडा जल बिगडता है, नदीनाले गंदे होते हैं, परंतु यह सब दोषपूर्ण जल महासमुद्र में पहुंचनेपर भी समुद्रका जल कभी बिगडता नहीं, समुद्रका जल सदा पवित्र रहता है, (सागरे सर्वतीर्थानि) महासमुद्रमें सब प्रकारके पवित्र तीर्थ हैं. यह सागरजलकी पवित्रता उसके "महत्त्व"के कारण है चूं कि सागर बहुत बडा है, इस लिये बडा पवित्र है । आत्मा भी सब से बडा है अतः वह निर्दोष है । 'भूमा और अल्प' का विचार इससे पूर्व (गी० २।२३-२५ के विवरणमें) किया है, वह लेख यहां अवश्य देखें। जो दोष होता है वह अल्पमें होता है, अतः व्यक्तिगत संकुचित भावकी दृष्टिसे कर्म करनेपर दोष होते हैं और सामुदायिक विस्तृत सार्वभौमिक भाव की दृष्टिसे कर्म करनेपर निर्दोषता सिद्ध होती है, अतः वैयक्तिक भोगतृष्णा दूर करनेसे सब दोष हट जाते है, ऐसा वारंवार कहा है, वह युक्तियुक्त है ।

इस निर्लेपताका अर्थ "कर्मके बन्धसे निवृत्ति" है । यह कर्मबन्ध किस तरह दूर होता है. यह विचार भी बडा सूक्ष्म है, वह अब देखिये—

कर्म-बन्ध-निवृत्ति ।

कर्मसे बन्धन उत्पन्न होता है और प्रत्येक जीवित मनुष्य सदा कर्म करता है, अतः प्रत्येक मनुष्य कर्मबन्ध में फंसता है । ऐसी अवस्था में कौन मनुष्य किस तरह कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकता है ? इस तरह विचार करनेसे मनुष्य अपनी मुक्ति के विषय में निराश होगा, अतः भगवद्गीता ने कहा है कि, हे मनुष्य तू निराश न हो, क्योंकि, असंगवृत्तिसे रहनेपर कर्मके बंधन नहीं रहते, यह सिद्धान्त बतानेके उद्देश्य से गीतामें कहा है—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ गी.४।२३

" जो भोगोंपर आसक्त नहीं है, जिसका चित्त ज्ञानसे पूर्ण है, और जो यज्ञके लिये कर्म करता है उस मुक्तके सब कर्म नष्ट होते हैं।" भोगोंपर आसक्त न होनेसे और ईश्वरविषयक ज्ञानसे चित्त पूर्ण करनेसे मनुष्य के सब कर्म नष्ट होते हैं, सब कर्मोंका लय होता है, अतः बन्धन उत्पन्न करनेके लिये वे कर्म उसके पास अवशिष्टही नहीं रहते। इसी तरह कर्मयोगके द्वारा कर्मके बन्धन दूर किये जा सकते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
गी० २।३९

" यह सांख्यतत्त्वज्ञान तुझे बताया; अब कर्म योगका तत्त्वज्ञान समझाता हूं सो तू श्रवण कर, इस ज्ञानसे तू कर्मके बन्धनोंको तोड सकेगा।" कर्मयोग की रीतिसे कर्म करनेपर कर्म के दोषसे बंधन नहीं है। कर्मदोष से मुक्त होनेकी यह युक्ति है। तथा और-

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥
गी० ५।३

"जो मनुष्य किसी का द्वेष नहीं करता और किसी भोगकी इच्छा भी नहीं करता, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे दूर रहता है,वह सच्चा संन्यासी बन्धनसे मुक्त होता है।" यहां बन्धन से छूटनेके तीन हेतु दिये हैं, (१) अद्वेष, (२) निरिच्छता और (३) निर्द्वन्द्वता। जिस मनुष्य के आचरण में ये तीनों सहज ही से रहते हैं वह मनुष्य कर्म के दोषोंसे बद्ध नहीं होता है। किसी का द्वेष न करो,भोग की कामना न करो और सुखदुःखादि द्वन्द्वोंके विषयमें समभाव रखो, ऐसा करनेसे मनुष्य मुक्त होगा। तथा और—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
गी० ३।३१

"जो लोग श्रद्धा रखकर, और द्वेष का त्याग करके, इस मेरे कथन के अनुसार अनुष्ठान करते हैं, वे भी कर्म के बन्धन से मुक्त होते हैं।" इस वचन में भी (१) श्रद्धा, (२) अद्वेष और (३) भगवान् के मतानुकूल व्यवहार करना ये तीन हेतु कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये दिये हैं। भगवान् के मतानुसार चलनेका अर्थ आसक्ति रहित कर्म करना इत्यादि भगवद्गीतामें कहा हुआ है। अब कर्म बन्धन न होनेके लिये क्या करना चाहिये इस विषयमें देखिये -

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
गी० ४।१४

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥
गी० ४।२२

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥
गी० ४।४१

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
गी० १८।१७

"मुझे कर्मफल की लालसा नहीं है, अतः मुझे कर्मोंका लेप नहीं होता है; इस तरह जो मुझे भलीभान्ति जानता है, वह कर्मोंसे बांधा नहीं जाता॥ जो सहजप्राप्त हुए वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है, जो सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे परे रहता है, जो द्वेषरहित होता है और जो सफलता और निष्फलता के विषय में मन में समभाव रखता है, वह कर्म करते हुए भी बंधन में नहीं पडता॥ समत्वरूपी योगद्वारा जिसने कर्मफलका त्याग किया है, ज्ञान के कारण जिसके सब संदेह दूर हो चुके हैं और जो आत्मबलसे युक्त है, उसको कर्मोंसे बन्धन नहीं होते हैं॥ जिसमें अहंकार--घमण्ड-नहीं है, जिसकी बुद्धि मलीन नहीं हुई

है, वह इन सब लोकोंको मारते हुए भी नहीं मारता, और किये कर्मोंसे बन्धन में नहीं पडता।''

इन चार श्लोकोंमें कर्मोंके द्वारा होनेवाले बन्धन दूर करनेके उपाय कहे हैं। कर्मबन्धन तोडनेके उपाय ये हैं— (१) कर्मफल की अनिच्छा, (२) यदृच्छालाभ में संतोष, (३) द्वन्द्वातीत होना, (४) मत्सररहित होना, (५) सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखना, (६) योग से कर्म को करना, (७) ज्ञान से सन्देहनिवृत्त होना, (८) आत्मबलसे युक्त होना, (९) अहंकार न होना, (१०) शुद्ध पवित्र निर्मल बुद्धि करना, इन दस उपायोंसे कर्मोंके बन्धन दूर होते हैं। ये दस युक्तियां जिसने साध्य की हैं, वह सदा कर्म करता रहा, तो भी बद्ध नहीं होता; तथा—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
गी० ५।७

''जो समत्वरूपी योगका आचरण करता है, जिसका हृदय शुद्ध है, जिसने अपने मन को जीता है और जिसने इंद्रियोंका संयम किया है, और जो सब भूतमात्रको अपने आत्माके समान अनुभव करता है, वह कर्म करते हुए भी अलिप्त रहता है।'' यहां (१) समत्वयोगका आचरण, (२) हृदय की शुद्धता, (३) आत्मविजय, (४) इंद्रियसंयम, और (५) सर्वभूतात्मभाव ये पांच साधन कर्मदोष निवारण के लिये कहे हैं, इन में से कई पूर्वोक्त साधनों में आचुके हैं और शेष उनके साथ साथ सिद्ध होनेवाले हैं।

इन श्लोकोंका मनन करनेसे हमें पता चलता है कि मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होनेका आशय 'कर्म के दोषोंसे दूर होना' है। जो कर्मोंके करनेपरभी निर्लेप रहता है, उसको सिद्ध पुरुष समझना चाहिये, इसीको मुक्त कहते हैं।

मुक्ति अथवा मोक्ष।

मनुष्य को सिद्धि मिली, मनुष्य विशेष योग्यतासे युक्त हुआ, कर्मबन्धनसे दूर रहा, निर्लेप या निष्कलंक हुआ, तो कहा जाता है कि वह मुक्त हुआ। यह मुक्ति प्राप्त करना मनुष्यका मुख्य ध्येय है, अतः इस मुक्तिके विषय में गीतामें क्या कहा है उसका यहां विचार करना चाहिये—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
गी० ९।१

'तू द्वेष रहित है, इस लिये तुझे यह गुह्य ज्ञान मैं कहता हूं, इस ज्ञान से तू अशुभ से अपने आपको मुक्त करेगा।'' यहां मुक्तिका अर्थ 'अशुभसे बचना' है और यह मुक्ति गुह्य ज्ञानसे प्राप्त होती है। तथा—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥
गी० १८।७१

''जो मनुष्य श्रद्धालु और द्वेष न करनेवाला है, यदि वह यह मोक्षका ज्ञान श्रवण करेगा, तो निःसन्देह मुक्त होकर शुभकर्म करनेवालों के पुण्य लोकों को प्राप्त होगा।'' यहां मुक्त होनेके तीन साधन कहे हैं, (१) श्रद्धालुता, (२) द्वेषरहितता और (३) मोक्षमार्ग का ज्ञान। श्रद्धाहीन और द्वेष करनेवाले लोग वारंवार बन्धनमें फंसते हैं, अतः मुमुक्षु मनुष्यको उचित है कि वह श्रद्धा से मोक्षज्ञान प्राप्त करे और कभी द्वेषभाव मनमें न धारण करे। अथवा ईश्वर की शरणमें जानेसे भी मोक्ष प्राप्त होता है, देखिये—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
गी० १८।६६

''सब विभिन्न धर्मकल्पनाओंका त्याग करके तू मेरी (ईश्वरकी) शरणमें आ। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, अतः तू शोक मत कर।''

यहां एकनिष्ठासे परमेश्वर की शरण में जानेसे मुक्ति मिलती है, ऐसा स्पष्ट कहा है। अन्य विचार छोडकर शुद्ध भावसे परमेश्वरकी शरणमें जानेसे

मनुष्य मुक्त होता है। परमेश्वर मनुष्य का हृदय देखता है, उसमें श्रद्धाभक्ति होगी और सत्य-निष्ठासे शरण में आनेका भाव होगा, तो उसकी मुक्ति होनेमें क्या देरी होगी? इस तरह शरण जानेवाले को साधनोंके विविध आडम्बर करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह भक्तिसे प्राप्त होनेवाली मुक्ति है। ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली मुक्ति का वर्णन यह है—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ गी. १०।३

"जो मनुष्य मुझ सब लोकोंके महेश्वर को अजन्मा और अनादि स्वरूपमें यथावत् जानता है, वह सब लोगोंमें बडा ज्ञानी होता है और सब पापोंसे मुक्त होता है।" यहां ईश्वरको यथावत् जाननेसे अर्थात् ज्ञानमार्गसे मुक्ति प्राप्त करनेका वर्णन है। परमेश्वरका दिव्य स्वरूप जाननेसे इस तरह मुक्ति होती है। अब योगमार्गसे मुक्त होनेके विषय में देखिये—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥
गी० ५। २८

"जो मोक्षपरायण मुनि अपने इंद्रिय, मन और बुद्धिको अपने वश में रखता है और इच्छा, भय और क्रोधसे रहित होता है, वह सदा मुक्त ही है।" यह अनुष्ठान तथा योगसाधनसे मुक्ति है, इंद्रियादिकोंका संयम करना और इच्छा, कामना, वासना, भय, क्रोध आदिसे दूर होना, यही प्रयत्नसाध्य है। यह साध्य होते हि मुक्ति सिद्ध होती है। मुक्तिका अर्थ इंद्रिय-मन-बुद्धि की स्वाधीनता और इच्छा-भय-क्रोधरहित होना है। इसका नाम मुक्ति है। पूर्वोक्त निर्द्वन्द्व आदि स्थिति इस से स्वयंसिद्ध होती है।

यहां एक शंका उत्पन्न होती है कि बन्धन-निवृत्ति, पापसे बचना, कर्मबन्धन से छूटना आदि जो मुक्तिके लक्षण हैं वे निषेधभावदर्शक हैं। फलानी बात वहां नहीं होती, यह अभाव-कथन है, अभावकथन से मुक्त स्थितिमें क्या होता है इसकी कल्पना नही होती। अतः मुक्तिका भावरूपस्वरूप क्या है इसका विचार करना आवश्यक है। वह अब करते हैं—

शान्ति की प्राप्ति।

मुक्तिमें 'शान्ति' रहती है। यह मुक्तिका भाव-रूप वर्णन है। मुक्तिमें शान्ति है। आपने देखा कि मुक्तिमें निर्द्वन्द्व स्थिति होती है। द्वन्द्व का अर्थ लडाई झगडा है और निर्द्वन्द्व स्थितिका अर्थ शान्ति है। इसी तरह इच्छा-भय-क्रोध ये अशान्तिके स्वरूप हैं और इनसे दूर होनेका नाम मोक्ष अथवा शान्ति है। इस तरह मुक्तिके जो अन्यान्य साधन कहे हैं, उनसे अशान्ति हटती है और शान्ति प्राप्त होती है; इसका अनुसन्धान पाठक करें। इस शान्तिके विषयमें भगवद्गीतामें निम्न लिखित वचन मनन करने योग्य हैं –

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
गी० २। ७१

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
गी० ५। १२

"सब कामनाओंको छोडकर जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार रहित होकर विचरण करता है वही शान्ति प्राप्त करता है॥ समत्वरूप योगका आचरण करनेवाला कर्मफलका त्याग करके परम शान्ति प्राप्त करता है, परंतु समत्व-रूप योगका आचरण न करनेवाला कामना के वशमें होकर फलासक्तिके कारण बंधनमें फंसता है॥"

यहां परम शान्ति प्राप्त करनेके जो साधन कहे हैं वे ये हैं— "(१) कामना अथवा वासना का त्याग, (२) निःस्पृह वृत्तिका धारण, (३) ममत्व-का त्याग, (४) अहंकारका त्याग, (५) समत्व रूप योगका आचरण, (६) कर्मफलका त्याग।"

पाठक यदि पूर्व स्थानमें मोक्ष, बन्धननिवृत्ति, परम सिद्धि आदि प्रकरण देखेंगे, तो उनको येही साधन वहां भी दिखाई देंगे, अर्थात् यद्यपि इन शीर्षकोंके शब्द विभिन्न हैं, तथापि उनसे बोधित होनेवाली स्थिति एक ही है, क्योंकि येही सब साधन हरएक स्थानमें भिन्न भिन्न रूपसे आरहे हैं। यही बात और देखिये –

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
गी० ४। ३९

"श्रद्धालु और तत्पर पुरुष इंद्रियसंयम करके ज्ञानको प्राप्त करता है, ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शीघ्र ही उसको परम शान्ति मिलती है।" यहां श्रद्धा, तत्परता, इंद्रियसंयम ये साधन ज्ञान प्राप्तिके लिये कहे हैं और ज्ञानसे शान्ति प्राप्त होनेका उल्लेख यहां भी है। योगसे भी शान्ति मिलती है देखिये—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ ६।१५

"जिसका मन इस तरह नियम में रहता है, वह योगी आत्माको परमात्माके साथ मिलाता है जिससे वह मुझ-परमात्मा में रहनेवाली परम शान्ति प्राप्त करता है।"

इस तरह ध्यानयोगी भी परम शान्ति प्राप्त करता है, इस के साधनों में भी (१) मन का संयम, (२) ध्यानयोग, (३) ईशप्राप्ति ये शान्ति के साधन कहे हैं। इनमें मनःसंयम पूर्वोक्त साधनोंमें से एक है। परमेश्वरको जाननेसे भी शान्ति मिलती है –

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
गी० ५। २९

"यज्ञ और तपके भोक्ता, सब लोकोंके बडे ईश्वर, और सब भूतमात्रों का हित करनेवाले, सब भूतोंके साथ मित्रवत् आचरण करनेवाले मुझ परमेश्वरको जान कर मनुष्यको शान्ति प्राप्त होती है।" परमेश्वर को यथावत् जाननेसे शान्ति प्राप्त होनेका कथन यहां है। यहां जो 'सब भूतका हित करनेका गुण' परमेश्वरमें है ऐसा कहा है, वही सब भूतोंका हित करनेका स्वभाव अथवा सब भूतोंके हित में आत्मसमर्पण करनेका स्वभाव बनाना (सर्वभूतहिते रताः। गी० ५। २५; १२। ४) उपासक को योग्य है। ईश्वर के गुणोंका ज्ञान होने से उन गुणोंका अपने में धारण करने की ओर प्रवृत्ति होती है और उससे ईश्वरीय भाव उपासक में प्रति समय बढता है और अन्त में शान्तावस्था प्राप्त होती है। इसीका वर्णन इस श्लोकमें है। परमेश्वर सब लोकोंका महान् ईश्वर है इस लिये सब भूतमात्रोंका हित करनेका कार्यक्षेत्र उसके लिये बहुत ही विस्तृत है। जो मनुष्य जितना बडा होगा, उस प्रमाणसे उसका सब भूतोंका हित करनेका कार्यक्षेत्र बडा होगा। जैसा उदाहरण के लिये देख सकते हैं, कि– एक ग्रामनिवासी ग्रामनेताका भूतहित करने का कार्यक्षेत्र ग्राम होगा, किसी प्रांतके नेताका कार्यक्षेत्र प्रांत तक होगा, और राष्ट्रके नेताका कार्यक्षेत्र राष्ट्र तक होगा, इस तरह कार्यक्षेत्र न्यूनाधिक होगा। परमेश्वर सब विश्व का नेता है इस कारण वह सब विश्वका हित करता है। कार्यक्षेत्र छोटा हो या बडा हो, उस में अपनी योग्यतानुसार 'सब भूतोंका हित' करनेका नियम सर्वत्र समान है जो उन्नतिका हेतु है। परमेश्वर सब विश्वका हित करता है इसी लिये वह विश्वका नेता है, यह योग्यता उसके उस कर्म के कारण उसको प्राप्त हुई है। अर्थात् जो मनुष्य जितना कार्यक्षेत्र अपने लिये विस्तृत करेगा, उतनीहि उसकी योग्यता बढना संभव है। और उसी प्रमाणसे वह शान्तिका अधिकारी होगा। तथापि अपना कर्तव्य कर्म करनेकी शान्ति तो कर्तव्य करनेपर प्रत्येक कर्ता को प्राप्त होगी। अब त्यागसे प्राप्त होनेवाली शान्तिके विषयमें देखिये –

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
गी० १२।१२

"अभ्यास से ज्ञानमार्ग श्रेयस्कर है, ज्ञानसे ध्यान विशेष है, ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है क्यों कि इस त्यागसे तत्काल शान्ति प्राप्त होती है।" यहां योगाभ्यास, ध्यान, ज्ञान आदिसे कर्म-फलका त्याग अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि इस त्याग-भावसेहि शान्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो कहा है वह शान्ति प्राप्त करनेकी दृष्टीसे विशेष महत्व की बात है। कर्मयोगियोंको तथा अन्यों को भी फलत्याग से ही शांति की संभवना है, अब शांत मनुष्य की स्थिति कैसी होती है सो देखिये—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्ति माप्नोति न कामकामी॥ गी० २।७०

"चारों ओर से पानी भर जानेपर भी अचल रहनेवाले समुद्रमें जिस प्रकार सब नदियां स्वयं चली जाती हैं, उसी प्रकार जिसमें सब विषय (स्वयं उसकी कामनाके विना) प्रवेश करते हैं, उसे ही सच्ची शान्ति मिलती है। जो कामोप-भोगोंकी इच्छा करता है, उसको शान्ति नहीं मिलती।"

यहां उपमा और उपमेय का विचार करना चाहिये। समुद्र चाहता नहीं की नदियां अपनेमें पानी लावें, वह तो पहिले भी पूर्ण होता है, ऐसे स्वयं पूर्ण में नदियोंने पानी भर दिया तो भी वह वैसाही पूर्ण रहता है, जैसा पहिले था। नदियोंने पानी न लाया तोभी वह अपूर्ण नहीं होगा। नदी-योंसे पानी आने और न आनेपर समुद्रकी पूर्णता अवलंबित नहीं है, वह तो दोनों अवस्थाओं में पूर्ण है इसी कारण वह शान्त है। जो नदियोंके पानी लानेसे भर जायगा और न लानेसे सूख जायगा, उसमें यह पूर्णताकी शान्ति नहीं होगी। इसी तरह जिसको विषय प्राप्त होनेसे ही सुख होगा और न प्राप्त होनेसे नहीं होगा, वह तो उसकी अपूर्णताका लक्षण है। जिसमें ऐसी बात नहीं है, जो दोनों अवस्थाओं में सम रहता है, उसीको शान्ति प्राप्त होती है।

यह शान्ति मनुष्य चाहता है। यह शान्ति प्राप्त होनेके साधन ये हैं— (१) कर्मफलका त्याग, (२) समत्वयोगका आचरण, (३) मनका संयम, (४) कामनात्याग, (५) निःस्पृहता, (६) ममत्व छोडना, (७) निरहंकार होना, (८) श्रद्धालु होना, (९) ईश्वरतत्परता, (१०) इंद्रियसंयम करना (११) परमेश्वरको जानना, (१२) परमेश्वर सबका मित्र है ऐसा जानना (और वैसा स्वयं सबका मित्र बनना), (१३) स्वयं परिपूर्ण रहना, ये शान्ति प्राप्त करनेके साधन हैं। इनमें बहुतसे पूर्व स्थानमें आगये हैं। इसका विचार करनेसे पता चलता है कि शान्ति प्राप्त करनेका आशय भी पूर्ववत् "सिद्धि" प्राप्त करना है। सुख प्राप्त होनेके साधन भी ऐसे ही हैं, देखिये—

अक्षय्य सुख।

मनुष्य प्रतिसमय कुछ न कुछ सुख प्राप्त करता है, परंतु वह सुख क्षणिक होता है अतः प्राप्त होते हि नष्ट होता है, और फिर मनुष्य दुःख का अनुभव करने लगता है। इस तरह सुख के नंतर दुःख और दुःखके नंतर सुख, ऐसा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंका चक्र चलनेके कारण मनुष्य त्रस्त होता है। इस त्रासते मुक्त होना और अक्षय्य सुख प्राप्त करना यह मनुष्यका ध्येय है। सब धर्मशास्त्र मनुष्यको अक्षय्य सुख प्राप्त करने का सीधा मार्ग बतानेके लिये हैं। यह अक्षय्य सुख कैसा मिलता है, इस विषयमें भगवद्गीताका उपदेश देखिये—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥
गी. ५।२१

"जो बाह्य स्पर्शविषयोंपर आसक्त नहीं है, उसको अपने आत्मामें सुख प्राप्त होता है; वह ब्रह्मके साथ अपने आत्माका योग करनेवाला मनुष्य अक्षय्य सुख प्राप्त करता है।" इसमें

अक्षय सुख प्राप्त करनेके दो उपाय कहे हैं— (१) विषयोंपर अनासक्ति और (२) परमात्माके साथ योग। पाठक विचार करेंगे, तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि, इन दोनों उपायोंमें विषयोंपर अनासक्ति रखना ही मुख्य बात है, क्यों कि बाह्य विषयोंपर आसक्ति न रही, तो स्वयंहि अन्तरात्मा परमात्मामें संयुक्त हो जाता है। अतः विषयोंका मोह छोडने का कितना घनिष्ठ संबन्ध अक्षय सुख प्राप्त करनेके साथ है, इसका पाठक यहां विचार करें। संपूर्ण मानवी उन्नति अर्थात् मानवोंकी अध्यात्मिक उन्नति विषयोंपर अनासक्त होनेसे हि सिद्ध होती है, फिर उसका नाम अक्षयसुखप्राप्ति हो अथवा सिद्धि, परम सिद्धि, परम गति इत्यादि हो। नामभेदोंसे कल्पनाभेद कितना भी हुआ, तथापि 'भोगोंपर अनासक्त होना' ही साधनोंमें मुख्य साधन है, इसमें सन्देह नहीं है। यही बात आगे कही है—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥
गी० ५।१३

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
गी० ६।२८

"सब कर्मोंका मनसे त्याग करके, संयमी पुरुष, नव द्वारवाले इस देहरूपी नगरमें, स्वयं कुछ न करता हुआ और कुछ न कराता हुआ, सुखमें रहता है॥ आत्माके साथ निरंतर अनुसंधान करनेवाला निष्पाप योगी सहज ही में ब्रह्मप्राप्तिसे मिलनेवाला अत्यंत सुख अनुभवता है।" पहिले श्लोक में भोगोंपर अनासक्ति का और दूसरे में परमात्माके साथ अपने आत्माका संबंध करनेका विषय कहा है। इस से विना आयास अपने अन्दर ही अन्दर अनन्त और अक्षय सुख प्राप्त होता है। मनुष्य भोगोंपर आसक्त होनेसे दुःखमेंहि फंसता जाता है। इस तरह क्षणिक सुखके पीछे लगकर अक्षय सुखसे वंचित होता है। यही बात और अन्य शब्दोंसे कही है, देखिये—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
गी० ६।२७

"जिसका मन भलीभान्ति शान्त हुआ है, जिसके विकार नष्ट हुए हैं, वह ब्रह्मरूप बना हुआ निष्पाप योगी निःसन्देह उत्तम सुख प्राप्त करता है।" यहां भी वेही दो साधन-भोगोंपर अनासक्ति और ब्रह्मके साथ योग—ये दो साधन उत्तम सुख की प्राप्तिके लिये कहे हैं। यही विषय सारांशसे पुनः अन्य शब्दोंद्वारा कहते हैं, देखिये—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
गी० ५।२३

"जो मनुष्य यह देह छूटनेके पूर्व काम और क्रोधके वेगको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करता है, वही योगी और वही सुखी है।" यहां कामवेग को सहन करना और क्रोधवेगको सहन करनेसे सुख मिलनेकी बात कही है। यहां मनुष्य मात्रपर कामके वेग और क्रोधके वेगका आक्रमण होता है ऐसा कहा है। जो मनुष्य श्रेष्ठ श्रेणीका होगा, वह उन कामक्रोधके हमलोंको सहता है, अर्थात् उस वेगके आधीन नहीं होता, उनका आक्रमण होनेपरभी अपनी स्थितिमें अचल रहता है, अतः सुखी रहता है। परंतु जो मनुष्य कमजोर होता है वह कामके वेगसे कामी और भोगी बनता है और क्रोधवेगसे क्रोधी बनता है और उन वेगोंके साथ बहता जाता है, अतः निरंतर दुःखी होता है। सुखदुःखका यह मुख्य कारण पाठक ध्यानमें धारण करें। इसी अक्षय सुखको अमृत कहते हैं, अतः अमृत प्राप्त करनेके विषय में गीताका उपदेश देखिये—

अमृतत्वकी प्राप्ति।

मरनेका नाम दुःख है और न मरने अर्थात् अमर होनेका नाम सुख है। परंतु यहां विचार ऐसा करना होता है कि, मनुष्य अपने मर्त्य देह में रहता हुआ अमर कैसे हो सकता है? मर्त्यदेह कभी न कभी मरेगा ही, इसलिये अमरत्वप्राप्ति मनुष्यको किस उपाय से होना संभव है? इस विषयमें गीता का मननीय उपदेश ध्यानमें नित्य धारण करने योग्य है, देखिये—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥२।१५

"सुखदुःखको समान माननेवाले जिस धैर्यशाली मनुष्यको ये विषय पीडा नहीं देते, वह अमरपन के लिये योग्य होता है।" यह पुरुष अमरपन का अधिकारी है। सुखदुःखको समान मानना यह एक बडी भारी तपस्या है, सुखमें कदाचित् मनुष्य सम रहेगा, परंतु दुःख आनेपर भी समवृत्ति रखना और कर्तव्यसे न गिरना बडा कठीन कार्य है। इसी तरह विषयोंसे दूर रहना भी एक तपस्या ही है। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर पाठकोंको यह बात विदित होगी कि, यह सब भोगोंपर अनासक्ति रखनेसेहि साध्य होना संभव है। इसी विषयमें और देखिये—

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥
गी० १४।२०

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
गी० १३।१२

"देहके संगसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणों से पार होकर देहधारी मनुष्य जन्म मृत्यु जरा आदि दुःखोंसे छूटता है और अमरत्वको पाता है॥ जिसे जाननेवाला अमरपन प्राप्त करता है, वह ज्ञेय वस्तु क्या है सो मैं तुम्हें कहूंगा, वह अनादि परब्रह्म है, उसे न सत् कहते हैं और न असत्॥"

इस तरह मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है। शान्ति, अक्षय सुख, अमरत्व, परमसिद्धि आदि का अर्थ एक ही है। इसीको "अनामय-अव्यय-शाश्वत पद" कहते हैं, इस के विषयमें गीताके वचन देखिये—

अनामय-अव्यय-शाश्वत पद।

"अनामय" का अर्थ जहां रोगादिकों के क्लेश नहीं हैं, जो नीरोग स्थान है, "अव्यय" का अर्थ जहां व्यय अर्थात् शक्तिका नाश नहीं होता है, शक्ति अखंडित रहती है और "शाश्वत" का अर्थ चिरकाल रहनेवाला, कभी नाश न होनेवाला। ये सब शब्द अक्षय सुख देनेवाले अमृतत्व के के वाचक हैं; इनके संबंधका वर्णन गीतामें निम्न लिखित श्लोकोंमें आगया है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
गी० २।५१

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ गी० १५।५

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
गी० १८।५६

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ गी० १८।६२

"समत्वबुद्धियोग करनेवाले ज्ञानी लोग कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल का त्याग करके, जन्मबन्धसे मुक्त होकर दुःखरहित स्थान को प्राप्त होते हैं॥ जिसने मान और मोहका त्याग किया है, जिसने आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको दूर किया है, जो आत्मविचार में मग्न हैं, जिनकी विषयकामनाएं शान्त हो चुकी हैं, जो सुखदुः-खादि द्वन्द्वोंसे परे रहते हैं, वे अविनाशी पदको प्राप्त करते हैं॥ मेरा (ईश्वरका) आश्रय करके सदा सब कर्म करनेवाला मनुष्य मेरी (ईश्वरकी)

कृपासे सनातन अविनाशी स्थान प्राप्त करता है॥ भक्तिसे तू उसी ईश्वरकी शरण जा। उसी की कृपासे तू परम शांतिसे परिपूर्ण अमरपद प्राप्त करेगा।"

इन श्लोकोंमें शाश्वत स्थान प्राप्त करनेके साधन निम्न लिखित दिये हैं— (१) कर्मफलत्याग, (२) समत्वयोगका आचरण, (३) मनकी स्वाधीनता, (४) मान और मोह छोडना, (५) भोगदोषोंसे दूर होना, (६) कामनात्याग, (७) द्वन्द्वोंको छोडना, (८) आत्मविचार-ईशध्यानमें तत्परता, (९) सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करना, (१०) परमेश्वरकी शरणमें जाना, इन साधनोंसे शाश्वत सुखका स्थान मिल सकता है। इन में वही त्यागवृत्ति, भोगनिवृत्ति और ईश्वर-परायणता है, जो इस से पूर्व हमने देखी है। शाश्वत पद का ही अर्थ परम गति है, अतः इस विषयमें गीताका सिद्धान्त देखिये—

परम धाम और परम गति।

परम गति, परम धाम और शाश्वत पद एकही के अनेक नाम हैं। इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
गी० ८।२१

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
गी० १५।६

"जिसका नाम अव्यक्त और अक्षर है, उसको परम गति भी कहते हैं, जिस स्थान को प्राप्त होनेसे पुनर्जन्म लेना नहीं पडता, वही स्थान (मेरा) परमेश्वरका परम पद है॥ सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि उस स्थान को प्रकाशित नहीं करता, जहां पहुंचकर फिर वापस आना नहीं होता, वही (मेरा) परमेश्वर का परम स्थान है॥" अर्थात् परमेश्वरका जो परम स्थान है उसी को परम पद, परम स्थान, परम धाम, परम गति आदि नाम हैं। यह स्थान, धाम अथवा गति प्राप्त करनेसे वारंवार जन्ममरण के कष्ट भोगनेकी आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करनेसे हि यह स्थान मिलता है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ गी० ८।२८

"इस ज्ञानको प्राप्त करनेपर वेद, यज्ञ, तप और दान के जो पुण्य फल कहे गये हैं, उन सब का अतिक्रम करके योगी आद्य श्रेष्ठ स्थान को प्राप्त करता है।" ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करनेसेहि योगी को इस परम स्थानकी प्राप्ति होती है। योगमार्गसे मनुष्य इस परम गतिको प्राप्त करता है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
गी० ६।४५

"प्रयत्नसे योगाचरणमें दक्ष रहनेवाला योगी पापसे मुक्त होकर और अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे शुद्ध होकर परम गतिको पाता है।" कर्मयोग के अनुष्ठानसे इस तरह परम गति मिलती है। ओंकारके जपयोगसे भी परम गति मिलती है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
गी० ८।१३

"ओंकार का उच्चार करता हुआ और (मेरा) ईश्वरका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देह-त्याग करता है वह परम गतिको प्राप्त करता है।" इसी तरह ईश्वरस्मरण नित्य करनेवाला भी पुण्यात्मा बनता है। यहां परम गति प्राप्त होनेका साधन ओंकारजप और ईश्वरध्यान कहा है। तथा—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥
गी० १३।२८

"जो मनुष्य ईश्वरको समभावसे सर्वत्र उपस्थित

देखता है, और स्वयं अपने आत्माका घातपात नहीं करता, वह उस कारण परम गतिको पाता है।" यहां भी परमेश्वर के सर्वव्यापक होनेका ज्ञान प्राप्त करनेसे परम गति प्राप्त होनेका विधान स्पष्ट है। जो परमेश्वरको सर्वत्र उपस्थित जानता है वह अपने साथ परमेश्वरकी उपस्थिति देखता है और अपने आपको हीन कर्मसे दूर रखता है, इसलिये उन्नत होता है। यही बात निम्नलिखित श्लोकमें कही है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ गी० ९।३२

"जो पापयोनि हैं वे, तथा स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्र भी, जो (मेरी) ईश्वरकी शरणमें जाते हैं वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।" अर्थात् परम गति प्राप्त करनेका सरल और सीधा उपाय परमेश्वर की शरण में जाना है। तथा—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ गी० १६।२२

"(काम क्रोध लोभ) इन तीन नरकद्वारोंसे जो मनुष्य दूर रहता है और अपने आत्माका कल्याण करता है, वह उस कारण परम गतिको प्राप्त होता है।" इस श्लोकमें काम-क्रोध-लोभसे दूर रहनेसे परम गतिकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है, यह मार्ग प्रत्येक मनुष्य अपने दैनिक व्यवहारमें ला सकता है। अन्य मार्गभी सुकर हैं, परंतु काम, क्रोध और लोभ के द्वार प्रत्येक क्षण में मनुष्य के सन्मुख आते हैं; अतः वे सन्मुख खुले होकर आतेहि उनसे दूर रहनेका यत्न करनेसे मनुष्य की उच्च गति होने लगती है। इसका अनुष्ठान करनेका अवसर मनुष्यको प्रतिदिन मिलनेवाला है। सामान्य मनुष्यको आगेके श्लोक में कहा है कि, शास्त्रमर्यादानुसार न चलने से उन्नति, सुखप्राप्ति और परमगति नहीं होती—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ गी० १६।२३

"जो मनुष्य शास्त्रविधि छोडकर स्वेच्छासे भोगोंमें रमता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त करता है, न सुख कमाता है और न परम गतिको पाता है।" अर्थात् मनुष्य शास्त्रमर्यादा के अनुसार चलते रहे तोहि उनको परम गति सुख और सिद्धि मिलती है। मनुष्य इस बातका अनुसंधान करें और शास्त्रविधिके अनुसार चलकर अपना कल्याण करें। शास्त्रमर्यादाके अनुसार चलनेसेहि मनुष्य उन्नत होता हुआ कृतकृत्य होता है।

कृतकृत्यता।

मनुष्य कृतकृत्य किस रीतिसे होता है, इस विषयमें श्रीमद्भगवद्गीताका कथन यह है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद्बुध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ गी० १५।२०

"यह गुह्यसे गुह्य शास्त्र मैंने तुझसे कहा है, इसे जानकर मनुष्य समत्वबुद्धिसे युक्त बनता है और कृतकृत्य भी होता है।" अर्थात् इस गीताशास्त्रके अनुसार मनुष्य कर्तव्य कर्म करने लग जायंगे, तो वे निःसन्देह कृतकृत्य बनेंगे। शास्त्रानुसार अपना कर्तव्य कर्म करनेसे मनुष्य पर (ब्रह्म)को प्राप्त होता है।

श्रेष्ठ अवस्था की प्राप्ति।

जो दूर, अति दूर होता है, जो श्रेष्ठ अति श्रेष्ठ होता है, उसको 'पर' कहते हैं, जो मनुष्यका अन्तिम प्राप्तव्य है उसको भी पर कहते हैं। इस पर की प्राप्ति करनेके लिये मनुष्य निम्नलिखित ज्ञानको प्राप्त करे और अनासक्तिसे कर्तव्य कर्म करे—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ गी० १३।३४

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
गी० ३ । १९

" जो ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृतिपुरुषके भेदको देखता है और भूतों का प्रकृतिबंधसे मोक्ष होनेका उपाय भी जो जानता है, वह पर (ब्रह्म) को प्राप्त करता है ॥ तथा तू संगरहित होकर निरंतर कर्तव्य कर्म करता रह; आसक्तिरहित होकर कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्य को पर (ब्रह्म) की प्राप्ति होती है। " इस तरह प्रकृतिका, जीवात्मा का और परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके तथा मोक्षमार्गका ज्ञान प्राप्त करनेसे मनुष्यको पर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यह ज्ञान मार्गसे उन्नति है। फलासक्ति छोडकर सतत कर्तव्य कर्म करनेसे भी मनुष्य परब्रह्मको प्राप्त होता है। यह कर्ममार्गसे उन्नति है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अर्थात् प्रकृति, जीव और ईश्वरका ज्ञानचक्षुसे निरीक्षण करनेसे मनुष्य परम पदको प्राप्त होता है, ऐसा जो ऊपर कहा है, उस 'ज्ञानचक्षु' द्वारा निरीक्षण करनेका तात्पर्य क्या है, और उस ज्ञानचक्षुका अर्थ क्या है? ज्ञानचक्षु, दिव्यचक्षु, दिव्यदृष्टि, ज्ञानदृष्टि आदि शब्दोंके अर्थ क्या हैं? इस ज्ञानचक्षुसे यह किस तरह देखा जाता है, इसका विचार इस स्थानपर अब करेंगे—

ज्ञानचक्षुसे देखना।

मनुष्य परमेश्वरको देखता है, परंतु वह चर्मचक्षुसे नहीं देख सकता, परंतु ज्ञानचक्षुसेहि देख सकता है, इस विषयमें कहा है—

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥
गी० १५ । १०

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥
गी० १५।११

" चलनेवाले, स्थिर रहे, भोग करनेवाले और गुणोंसे युक्त होनेवाले ईश्वर के अंश को मूर्ख लोग नहीं देखते, परंतु ज्ञानचक्षुवालेहि देखते हैं ॥ यत्न करनेवाले योगी जन अपनेमें रहनेवाले इस ईश्वरको देखते हैं, परंतु आत्मशुद्धि न करनेवाले मूढ लोक इसको नहीं देखते ॥ " यहां ज्ञानचक्षुसे परमेश्वरका दर्शन शक्य है और इस ज्ञानचक्षुसे हि ईश्वरको हम चलते फिरते और ठहरे हुए देख सकते हैं। यही बात विश्वरूपदर्शनके समयमें भी कही है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
गी० ११ । ८

" इस अपने चर्मचक्षुसे तू मुझे (ईश्वरको) नहीं देख सकता, अतः तुझे मैं दिव्यचक्षु देता हूं, इससे तू मेरा ईश्वरीय योग देख। " यहां दिव्य चक्षु प्राप्त कर, किंवा ज्ञानचक्षु प्राप्त कर ईश्वरका विश्वरूप अर्जुनने देखा है। यहां कहा है कि ईश्वरका विश्वरूप साधारण आंखोंसे नहीं दीख सकता, वह केवल दिव्यदृष्टिसे ही दीख सकता है। अर्जुनने दिव्यचक्षु का लाभ करनेपर परमेश्वरका विश्वरूप देखा है, उसका वर्णन यह है—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७
गी० ११

" मेरे सैंकडों और हजारों रूप देख, ये अनेक प्रकारके रंगरूपोंसे युक्त हैं। (वसु) अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये वसु, मरुत्, अश्विदेव आदि सब मेरे रूप तू देख। यहां बहुतसे आश्चर्य तू देख। इस मेरे देहमें सारा स्थावर जंगम जगत् और जो तू देखना चाहता है सब यहां देख। " यह भगवान् श्रीकृष्ण का वचन श्रवण करके अर्जुनने

जो विश्वरूप देखा वह यह है—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
गी० ११

"अनेक मुख और अनेक आंखवाला, अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अनेक आभूषणोंसे युक्त, अनेक आयुध धारण करनेवाला, दिव्य माला और वस्त्र धारण करनेवाला, दिव्य चन्दन लगाया, आश्चर्यमय अनन्त देव का सर्वत्र मुखवाला वह रूप था। उस ईश्वरके देहमें अनेक प्रकारसे विभक्त हुआ सब जगत् का एकत्र ठहरा रूप उस पाण्डवने देखा।" यही रूप अर्जुनने कैसा देखा सो देखिये-

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्। ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्। नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥ १६ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्। पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ॥२०॥ गी० ११

"हे ईश्वर! मैं आपकी देहमें सब देवोंको, सब प्राणियोंको, ब्रह्माको, सब ऋषियों और सर्पोंको देखता हूं। आपके अनेक बाहु, पेट, मुख और नेत्र हैं। और अनन्त रूप हैं, आपके विश्वरूप का आदि मध्य और अन्त नहीं है। आपकी आंख सूर्यचन्द्र हैं, अग्नि मुख है, और आप सब जगत् को तपा रहे हैं। आकाश, पृथ्वी और सब दिशाओंमें अकेले आप ही व्याप्त है।"

यह परमेश्वर का विश्वरूप है। विश्वरूपका अर्थ 'सर्वरूप किंवा सब विश्वका अर्थात् जगत् का रूप' है। परमेश्वर का विश्वरूप वही है जो सब जगत् के अन्दर के सब पदार्थों का रूप है। इस विश्वरूपमें मनुष्य, सर्प आदि प्राणी संमिलित होनेके कारण इस परमेश्वरके विश्वरूपके असंख्य मुख, असंख्य आंख, असंख्य हाथ, असंख्य पेट और असंख्य पांव हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि सब उसीके शरीर के अवयव हैं। जगत्के प्रत्येक रूपके लिये वही मूल नमूना होनेके कारण जगत् का संपूर्ण रूप उसी ईश्वरका 'विश्वरूप' है।

जैसा मनुष्यका जीवात्मा पूर्ण निराकार है, तथापि उस निराकार जीवात्माके आधार पर रचा हुआ यह शरीर साकार है, अतः उस निराकार जीवात्मा का यह साकार शरीर है; उसी तरह निराकार परमात्माका साकार शरीर यह 'विश्व' है, अतः विश्वका रूप उसकाही रूप है। तथापि इस विश्वरूप के बनने बिगडनेसे उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती है। यही बतानेके लिये परमेश्वर की अष्टधा प्रकृतिका वर्णन गीतामें निम्न लिखित प्रकार किया है –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
गी० ७।४

"पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह मेरी (ईश्वरकी) आठ प्रकारकी प्रकृति है," अर्थात् यह ईश्वरका शरीर है। जीवात्माका भी यही अष्टधा प्रकृतिका शरीर है। इस अष्टधा प्रकृतिमें मनुष्यशरीर, जीवात्मशरीर और परमात्मशरीरकी समता है। जीवात्मशरीर छोटा और परमात्मशरीर बडा इतना ही इसमें कल्पनाभेद है। जैसा जीवात्मा शरीर में रहता हुआ शरीरसे सदा पृथक् है। उसी प्रकार परमात्मा इस संपूर्ण विश्वरूपमें रहता हुआ भी विश्वरूपसे पृथक् है। उपासक को अपनी उन्नतिके लिये परमेश्वरका ज्ञान,

और दर्शन तथा उसमें प्रवेश करना चाहिये, यह दर्शानेके लिये कहा है—

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ गी०११।५४

"ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, ईश्वरका दर्शन करना चाहिये, और परमेश्वरमें सच्चा प्रवेश करना चाहिये।" ये तीनों बातें पूर्वोक्त विश्वरूपकी कल्पना लेनेपर ही करना संभव है, विश्वके रूपमें ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना, विश्वके रूपमें ईश्वरका दर्शन करना और उसीके विश्वरूपमें प्रवेश करना अर्थात् मैं प्रत्यक्ष परमेश्वरमें विचरता हूं, इस बातका अनुभव करना। यह त्रिविध अनुभव पूर्वोक्त विश्वरूपको परमेश्वरका रूप माननेपर ही संभव है। नहीं तो (द्रष्टुं) ईश्वर को देखना कैसे संभव हो सकता है ? देखना तो विश्वरूपको ही हो सकता है। यही बात और देखिये—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
गी० ६।३०

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥
गी० ६।२९

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यतं यः पश्यति स पश्यति ॥
गी० १३।२७

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
गी० ५।१८

"जो मुझे (ईश्वरको) सब जगह देखता है और सबको मुझमें (ईश्वरमें) देखता है, उसके लिये मैं (ईश्वर) कभी दूर नहीं हूं और वह मेरे लिये (ईश्वरके लिये भी) कभी दूर नहीं है अर्थात् हम दोनों परस्पर के साथी होते हैं ॥ सर्वत्र समभाव से देखनेवाला योगयुक्त आत्मा सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतों को देखता है ॥ सब भूतोंमें समभावसे परमेश्वर है और वह विनष्ट होनेवाले पदार्थोंमें अविनाशी है, यह जो जानता है वही सत्य जानता है ॥ विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें, गौमें, हाथीमें, कुत्तेमें और कुत्तेको पकानेवाले में अर्थात् सब में ज्ञानी लोग सम (भावसे अवस्थित ब्रह्म) को देखते हैं ॥" अर्थात् ब्रह्म सबमें एकसा है इसका अनुभव करते हैं।

मुक्तिकी प्राप्तिके लिये जिस तरह की 'समदृष्टि' चाहिये उसका वर्णन इन श्लोकोंमें है। इस समदृष्टिका ही नाम 'ज्ञानदृष्टि ज्ञानचक्षु, दिव्य दृष्टि अथवा दिव्य चक्षु' है। इसी दृष्टीसे ईश्वरका विश्वरूपदर्शन हो सकता है और जब विश्वरूपमें एकरस ईश्वरका दर्शन होने लगा, तो अन्तिम उच्चतम अवस्था प्राप्त हुई, ऐसा मान सकते हैं। यह एक दृष्टि है और भी एक दृष्टि है वह अब देखिये –

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥
गी० १३।२९

"जो इस बातका अनुभव करता है कि सब कर्म प्रकृतिसे होते हैं, और आत्मा अकर्ता है, वही सत्य ज्ञान जानता है।" यह भी दृष्टि मुक्ति के लिये अत्यंत आवश्यक है। अन्तिम स्थितिको प्राप्त करने के लिये प्रारंभमें अनेक अनुष्ठान के मार्ग हैं –

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
गी० १३।२४

"कई ध्यानसे, कई सांख्यसे, कई योगसे और कई कर्मयोगसे आत्माद्वारा आत्मामें आत्माको देखते हैं।" अर्थात् स्वयं अपने अंदर परमेश्वर का दर्शन करते हैं। यह आत्मा सब आश्चर्योंमें एक बडा भारी अद्भुत आश्चर्य है –

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति
तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैवमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ गी० २।२९

"कोई तो इसकी ओर आश्चर्यपूर्ण दृष्टीसे देखता है, वैसे ही कोई दूसरा इसका आश्चर्यपूर्ण वर्णन करता है, और कोई इसका वर्णन आश्चर्य से सुनता है, परंतु सुन कर भी कोई इसको नहीं जानता।" जगत् में अत्यंत आश्चर्यका विषय यही आत्माके ज्ञानका विषय है। यह अत्यंत अद्भुत होनेसे इसको यथावत् जानना कठिन है और शब्दोंद्वारा जानने पर भी इस का यथावत् अनुभव करना तो अत्यंतहि कठिन कार्य है, इसी कारण ब्रह्मज्ञानी विरला होते हैं। और इसी लिये ब्रह्मज्ञान की महती वर्णन की है। और इसी लिये इस लेखमें अन्तिम अवस्थाकी कल्पना शब्दों में वर्णन करनेका यत्न किया है। अस्तु। यहां तक जिस दृष्टिसे मनुष्य की उन्नति होती है उसका स्वरूप बताया, तथापि इस विषयमें एक श्लोक और देखिये–

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
गी० ६।३१

"सर्व भूतोंमें रहनेवाले मुझ-ईश्वर-को जो अभेद दृष्टिसे भजता है, वह चाहे जिस तरह बरतता रहे, वह योगी मुझ-ईश्वरमें हि रहता है।" यहां ऐसा कहा है कि जीव अन्तमें परमेश्वरमें रहता है, यह अन्तिम स्थिति है और इसीका नाम ईश्वरप्राप्ति है। अब इस स्थितिका विचार करते हैं।—

परमेश्वर–प्राप्ति।

यहांतक जो विचार किया, उसका तात्पर्य यह है कि, मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति विविधमार्गोंसे करते करते अन्तमें परमेश्वरको प्राप्त करता है, इसीका नाम सिद्धि, मुक्ति, परमपदप्राप्ति आदि है। यह विषय सबसे मुख्य है, इसलिये इसका विशेष मनन करना चाहिये। परम पुरुषकी प्राप्ति के विषयमें भगवद्गीतामें कहा है—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
गी० ८।८

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव। भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
गी० ८।१०

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
गी० ८।२२

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये- यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ गी० १५।४

"जो चित्तको अभ्यासद्वारा स्थिर करके उसको इधर उधर भटकने नहीं देता है अर्थात् एकाग्र बनाता है, वह उसीका चिन्तन करनेके कारण उसी दिव्य परम पुरुषको प्राप्त करता है॥ जो मनुष्य प्रयाणसमयमें अचल मनसे, भक्तियुक्त होकर योगबलद्वारा भ्रुकुटीके बीच ठीक प्रकार प्राण को प्रविष्ट करता है, वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है॥ जिसमें सब भूत रहे हैं और जिसने सब व्याप लिया है, उस उत्तम पुरुषके दर्शन अनन्य भक्तिसे हि होते हैं॥ जिसने सब जगत् की प्रवृत्ति फैल रखी है, उसी आदि पुरुष की शरण में मनुष्य जाये। और उस पदकी खोज करे कि, जिसे प्राप्त कर फिर से जन्ममरण लेना नहीं होता है।"

इन श्लोकोंमें परमेश्वरप्राप्ति के विषयमें स्पष्ट निर्देश है। अतः परमेश्वरप्राप्ति मनुष्यका अन्तिम साध्य है इस विषयमें सन्देह नहीं है। इसी परमेश्वरप्राप्तिके विषयमें निम्न लिखित श्लोक देखने योग्य हैं, इनमें 'परमेश्वर' वाचक शब्द के स्थानपर '(मां) मुझे' इस शब्दका प्रयोग किया है। भगवद्गीतामें परमेश्वर के अर्थमें 'मैं' शब्द कई वार आगया है, अतः अब ये श्लोक देखिये-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
गी० ४।९

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
गी० ७।१८

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
गी० ७।१९

मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ गी० ७।२३

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
गी० ८।७

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
गी० ८।१५

यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ गी० ९।५४

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
गी० ९।२८

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
गी० ९।३४

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
गी० १०।१०

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
गी० ११।५५

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
गी० १२।४

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
गी० १८।६५

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयम्॥
गी० १८।६८

"जो मेरे इस दिव्य जन्म और कर्म के रहस्य को जानता है, वह देह छोडनेके बाद फिरसे पैदा नहीं होता, परंतु मुझे पा लेता है॥ ये सारे भक्त अच्छे हैं, पर मेरी संमति में ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। क्यों कि वह योगी यह जान कर कि मुझे पानेसे बढकर दूसरी अधिक अच्छी गति नहीं है, मेरा ही आश्रय लेता है॥ बहुत जन्मोंके बाद ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है, सब "वासुदेवही है," इस बात का अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है॥ मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं॥ मुझमें मन और बुद्धि को लगानेसे तू अवश्य मुझे पावेगा॥ मुझे पा कर परमगतिको पहुंचे हुए महात्मा लोग पुनः दुःखके घर अशाश्वत पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते॥ मेरा यजन करनेवाले मुझे प्राप्त होते हैं॥ इससे तू शुभाशुभ फल दायी कर्मबन्धसे छूटेगा और संन्यास योग से मुक्त होकर मेरे पास आवेगा॥ मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिये यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इस तरह मुझमें परायण होनेसे और मेरे साथ आत्माका योग करनेसे तू मुझेहि प्राप्त होगा॥ मुझमें इस तरह तन्मय होकर रहनेवालों और प्रीति पूर्वक मेरा भजन करनेवालोंको मैं ज्ञान देता हूं जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं॥ जो सब कर्म मेरे लिये करते हैं, जो मुझमें तल्लीन होते हैं, जो मेरे भक्त हैं, जो आसक्ति छोडते हैं और सब भूतोंका द्वेष नहीं करते; वे मुझे प्राप्त होते हैं॥ जो अपने इंद्रियसमूहोंको अपने वशमें रखते हैं, सर्वत्र समभाव रखते हैं, वे सबभूतोंके हितमें लगे रहनेके कारण मुझेहि पाते हैं॥ मेरी लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिये यजन कर, मुझे नमन कर। ऐसा करनेसे तू मुझेहि पावेगा, मेरी यही सत्य प्रतिज्ञा है॥ जो यह परम गुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको कहता है, वह मेरी श्रेष्ठ भक्ति करनेके कारण निःसंदेह मुझे प्राप्त करता है॥

इन श्लोकोंमें 'मुझे पाता है' इसका अर्थ 'परमेश्वर को प्राप्त करता है' ऐसा है। इस

स्थानपर परमेश्वर प्राप्तिके साधन जो कहे हैं वे ये हैं— (१) परमेश्वर के अवतार और कर्मके रहस्य का ज्ञान, (२) आत्मज्ञान, (३) सब जगत् में ईश्वरके विश्वरूपका दर्शन, (४) ईश्वरभक्ति, (५) ईश्वरको सब कर्मोका समर्पण, (६) संन्यासयोग, (७) ईश्वरमें तल्लीनता, (८) ईश्वरको नमन, (९) ईश्वरसे अपने आत्माका योग, (१०) अनासक्तिसे कर्म करना, (११) इन्द्रियसंयम, (१२) सर्वत्र समभाव, (१३) सब भूतोंके हितमें तत्परता, (१४) ईश्वर के साथ लगन (१५) यह गुह्य ज्ञान भक्तोंको देना, इतने अनुष्ठानसे मनुष्य परमेश्वरको प्राप्त करता है, ईश्वरके साथ रहता है, ईश्वरके पास रहने लगता है अथवा ईश्वरको अपनाता है। इस ईश्वर प्राप्तिका अर्थ क्या है इस का विचार करने के लिये निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
गी० १२।८

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
गी० ८।१४

"अपना मन मझ (ईश्वर) में लगा, अपनी बुद्धि ईश्वरमें स्थिर कर, इससे तू मुझमें हि निवास करेगा॥ जो अनन्यचित्त होकर निरन्तर मेराहि स्मरण करता है, उस नित्ययोग करने वाले योगीको मैं सुगमतासे मिलता हूं॥"

यहां परमेश्वर प्राप्तिका अर्थ परमेश्वर का सहज से दर्शन होना लिखा है। कई मनुष्योंको राजाका दर्शन कठीन होता है, परंतु कईयोंको सहजही से होता है। अर्थात् जिनके लिये राजाका दर्शन सुलभ होता है उनकी योग्यता विशेष होती है। राजाकी सहायतासे वे जनताका बहुत कल्याण कर सकते हैं। इसी तरह जिनको परमेश्वर का दर्शन सुलभ है, वे उस शक्तिसे बहुत लोगोंका कल्याण कर सकते हैं। परमेश्वर प्राप्ति किंवा ईश्वर का सुलभ दर्शन होनेका क्या भाव है, यह साध्य होनेसे कौनसी शक्ति इसे प्राप्त होती है, इसका निश्चय करने के लिये निम्न लिखित श्लोकों का मनन करिये—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥
गी० ४।१०

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
गी० ८।५

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥
गी० १३।१८

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
गी० १४।१९

"राग भय और क्रोधसे रहित, ईश्वरके ध्यान में तत्पर, ईश्वरकी शरणमें जानेवाले, ज्ञान और तपसे पवित्र होकर ईश्वरके भाव को प्राप्त करते हैं॥ अन्तसमयमें ईश्वर का स्मरण करता हुआ देह छोडता है वह ईश्वर के भाव को प्राप्त करता है, इस में कोई संदेह नहीं है॥ इस तरह क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के संबन्धमें सारांशसे कहा है। इसे जान कर ईश्वरका भक्त ईश्वर भाव को प्राप्त होता है॥ जब ज्ञानी यह देखता है कि गुणोंको छोडकर दूसरा कोई कर्ता नहीं है, वह गुणोंसे परे आत्मा को जानकर ईश्वर भावको प्राप्त करता है॥"

यहां कहा है कि "(१) राग भय और क्रोध को दूर करता है, (२) ईश्वरमें तल्लिन होता, है, (३) ईश्वरकी शरण जाता है, (४) ज्ञान और तपसे पवित्र होता है, (५) अन्त समयमें ईश्वरका स्मरण करता है, (६) क्षेत्र ज्ञान और ज्ञेयको जानता है, (७) प्राकृतिक गुणोंसे सब

किया जा रहा है ऐसा जानकर जो आत्माको अकर्ता अनुभव करता है और आत्मा को गुणोंके परे अनुभव करता है " वह ईश्वर भावको प्राप्त होता है।

ईश्वरके गुणोंका अपने में उत्कर्ष होनेसे अपन में 'ईश्वर भाव' आता है। उदाहरण के लिये अग्निमें कुछ समय लोहा रहा, तो अग्निके गुण धर्मोंको धारण करता है, मानो वह अग्निभावको धारण करता है। अग्निभाव जलती लकडीमें भी आता है। जब लोहा अग्निकी उपासना (उप-समीप, आसन-बैठना) करता है, अनन्य होता है अर्थात् वह किसी अन्यके सहवास में नहीं जाता, परंतु केवल अग्निके हि सन्निध रहता है, जब पूर्णतया अग्निकीहि शरणमें रहता है, जब अग्निके गुणोंसे प्रभावित होता है, तब अग्निभावको धारण करता है और अग्निभावसे युक्त होनेसे अग्निही बनता है अर्थात् अग्निके कर्म करता है। मनुष्यकी उन्नतिके भी यही नियम हैं, जब मनुष्य ईश्वरकी उपासना करता है, ईश्वरके पास बैठता है, अनन्य भावसे ईश्वरकी शरणमें जाता है, कभी दूसरा भाव मनमें नहीं लाता, जब ईश्वरके गुणोंको अपनेमें धारण करता है, तब वह ईश्वरभावसे युक्त होता है। यही नरका नारायण, अथवा पुरुषका पुरुषोत्तम, जीवका शिव अथवा मर्त्यका अमर बनना है। जो अन्तिम पद, परम स्थान, परमसिद्धि आदि शब्दोंसे सब धर्मग्रंथोंमें वर्णन किया है। मनुष्यका जन्म इस ईश्वरभावको प्राप्त होनेके लिये हि है। जो इस ईश्वरभावको प्राप्त करता है उसके जन्मका सार्थक हुआ, अन्य लोगोंने व्यर्थ जन्म लिया, ऐसा कह सकते हैं।

ब्रह्म-प्राप्ति

इस समय तक जो बात 'ईश्वर-प्राप्ति' शब्द से कही गयी, वही बात 'ब्रह्म-प्राप्ति' शब्द द्वारा अब कही जाती है। देखिये—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥
गी० ५।६

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
गी० ८।२४

"योगाभ्यास के बिना संन्यास का आचरण दुःख दायक है। योगाभ्यास से शीघ्र ही मुनिजन ब्रह्मको प्राप्त करते हैं ॥ उत्तरायण के छः मासोंके शुक्लपक्ष के दिन के समय में सूर्य की ज्योती पूर्णतेजस्वी रहने के कालमें और समीप भागमें यज्ञाग्नि प्रज्वलित रहनेके समय जो इह लोक छोड कर जाते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥" यहां ब्रह्म प्राप्त होनेका विधान है, "मेरी प्राप्ती, ईश्वर प्राप्ति और ब्रह्म प्राप्ति" एक ही स्थितिका नाम है। इसी का नाम ब्रह्म-निर्वाण है—

ब्रह्म-निर्वाण।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥
गी० २।७२

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
गी० ५।२४

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
गी० ५।२५

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥
गी० ५।२६

"यह ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके बाद फिर कभी मोहवश नहीं होता और अन्त समय में भी यह ब्राह्मी स्थिति रही, तो ब्रह्मनिर्वाण को पाता है ॥ जिसको अन्दरसे सुख मिलता है, जिसके अन्दर शान्ति है, तथा जिसके अन्दर आत्म-प्रकाश हुआ है, वह ब्रह्मभूत

योगी ब्रह्म निर्वाण को पाता है॥ जिसके पाप नष्ट हुए हैं, जिनके द्वैतभाव दूर हो चुके हैं, जिनका संयम हुआ है, जो सब भूतमात्र के हितमें लगे हैं, वे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं॥ जिन्होंने काम और क्रोध छोड दिया है, जो संयमी हैं, और जिनको आत्माका ज्ञान हुआ है ऐसे ऋषियोंको सर्वत्र ब्रह्म निर्वाणका अनुभव होता है॥''

यहां ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होनेके कुछ साधन कहे हैं— (१) पापोंका नष्ट होना, (२) द्वैतभाव दूर होना, (३) आत्मसंयम, करना, (४) सर्वभूतोंके हित करनेमें आत्म—समर्पण करना, (५) कामक्रोध छोडना, (६) इंद्रिय संयम करना, (७) आत्मज्ञान होना, इन साधनोंसे ब्रह्मनिर्वाण की स्थिति प्राप्त होती है।

इस स्थितिमें जो अनुभव होता है वह भी इन्हीं श्लोकों में कहा है— (१) अपने अन्दरसे सुख होता है, (२) अन्दरसे शान्तिका अनुभव होता है, (३) अन्दर से प्रकाश होनेका अनुभव होता है, (४) ब्रह्मरूप अवस्था होती है, (५) मोह सदा के लिये दूर होता है, (६) सर्वत्र ब्रह्मरूपता का अनुभव होता है। यह अनुभव ब्रह्म निर्वाण प्राप्त होनेके नंतर होता है।

इस से हम अनुमान कर सकते हैं कि, ब्रह्मनिर्वाण जब तक प्राप्त नहीं होता है, तब तक निम्न लिखित अनुभव होता है— (१) बाह्य विषयोंसे सुख प्रतीत होता है, (२) अन्दर से और बाहर से अशान्ति रहती है, (३) अन्दर और बाहर अन्धेरा मोह और अज्ञान रहता है, (४) अल्पता का अनुभव होता है, (५) मोहयुक्त अयोग्य व्यवहार होता है, (६) सर्वत्र जडता का अनुभव होता है। ब्रह्मनिर्वाण न प्राप्त होनेकी अवस्थामें मनुष्यकी यह अवस्था होती है। यह अवस्था साधारण मनुष्य के प्रतिदिनके अनुभव की हि है।

इतना विचार करनेके पश्चात् 'ब्रह्मनिर्वाण' का अर्थ क्या है इसका विचार करना चाहिये। 'निर्-वा' धातुका अर्थ 'खुली शान्त वायुमें बैठ कर शान्त होना' है। और 'निर्वन्' धातुका अर्थ 'सत्कार करना, संगत होना, मिलना, विजय प्राप्त करना, प्रीति करना, साथ होना, उसीमें रहना' है। येही धात्वर्थ 'निर्वाण' शब्दमें प्रधानतया हैं। अतः 'ब्रह्मनिर्वाण' का अर्थ निम्न लिखितप्रकार होता है—(१) ब्रह्मके साथ मिलकर शान्ति प्राप्त करना, (२) ब्रह्मकी उपासना करना, (३) ब्रह्मके साथ मिलना, (४) ब्रह्मके रूपमें एकरूप होना, (५) ब्रह्मकी शक्ति पाकर विजय कमाना, (६) ब्रह्मके साथ प्रीति करना, (७) ब्रह्मके साथ होना, (८) ब्रह्ममें रहना। ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होनेके ये आशय हैं।

ब्रह्मनिर्वाण न प्राप्त होनेकी अवस्थामें क्या होता है, इसका अनुमान इसीके विचार से हो सकता है, जैसा— (१) विषमतामें रहनेसे अशान्त होना, (२) जड के साथ रहनेसे जड बनना, (३) द्वैतमें फंसना, (४) संकुचित स्थितिमें रहना, (५) पराजित होना, प्राकृतिक जय भी पराजय ही है, (६) ईश्वर का द्वेष करके मोहोत्पादक पदार्थोंपर प्रेम करना, (७) विषयों के साथ रहना, (८) द्वन्द्वों के युद्धमें फंसना, इत्यादि अनुभव ब्रह्म निर्वाण प्राप्त न होने तक होते हैं। सामान्य जनोंके दैनिक अनुभव येही हैं।

कई लोग 'निर्वाण' का अर्थ 'पूर्णनाश को प्राप्त होना' करते हैं, विशेषतः विधर्मी प्रचारक लोग निर्वाण का सत्य अर्थ न ध्यानमें धारण करके, पूर्ण नाश होनेका अर्थ निर्वाण में है, ऐसा मानते हैं, और स्वयं भ्रममें फंस कर दूसरोंका भ्रममें फंसाते हैं। इनको इस सत्य अर्थका विचार करना चाहिये। ब्रह्मनिर्वाणमें ब्रह्म जैसी अवस्था होती है। लोहा तपकर अग्निरूप अवस्थाको प्राप्त होता है, उस अवस्थामें लोहेका नाश नहीं होता है, परंतु उसके अणुरेणु में विशेष महाशक्ति का

स्फुरण होता है, इसी तरह साधारण मनुष्य प्रापंचिक द्वन्द्वोंमें दुःख भोगता है,यह दुःख उससे दूर होकर धर्म नियमादि तपके द्वारा यह शुद्ध होता हुआ, ब्रह्मकी संपूर्ण शक्तिसे यह आविर्भावित होता है, मानो ब्रह्मके समान होता है। अतः इसको 'पूर्ण विनाश' कहना मूढता है। हां, यह तो मान सकते हैं कि इसमें जो त्रुटियां थीं उनका नाश इस समय हुआ है, परंतु वह इसका नाश नहीं। ब्रह्मनिर्वाण में यह स्वयं 'आनन्दमय' बनता है। जैसा सूर्यको अन्धेरेका पता तक नहीं होता, इसी तरह ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होनेके पश्चात् उसको अपनेहि अन्दरसे इतना आनन्द मिलता है और इतनी शान्तिका अनुभव होता है कि, उसके पश्चात् उसको दुःख और अशान्तिकी कल्पना भी नहीं रहती। (अन्तःसुखः, अन्तरारामः, अन्तर्ज्योतिः। गी० ५।२४) अन्दर से सुखी, अन्दरसे शान्त, अन्दरसे प्रकाशपूर्ण होनेका नाम ब्रह्मनिर्वाण अथवा निर्वाण है। अतः कोई यह न समझे कि, निर्वाण प्राप्त होनेका अर्थ सर्वस्व नाश होना है, प्रत्युत 'सर्वतःपूर्ण' होनेका नाम निर्वाण है। इस विषयमें ये श्लोक देखने उचित हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
गी० १४।२६

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
गी० १८।५३

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
गी० १८।५४

"जो एकनिष्ठ भक्तियोगद्वारा ईश्वरकी सेवा करता है वह प्रकृति के गुणोंसे होनेवाले बंधनको तोडकर ब्रह्मरूप बननेके लिये समर्थ होता है॥ अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और भोगसाधनोंका संग्रह छोडकर, ममत्व भावको छोडता है, वह ब्रह्मरूप बनने योग्य है॥ ब्रह्मभावको प्राप्त मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त रहता है, न शोक करता है न किसी वस्तुकी वासना धरता है। वह भूत मात्रके विषयमें समभाव रखता हुआ, ईश्वरकी परमोच्च भक्ति में मग्न रहता है॥"

यहां ब्रह्मरूप बननेके साधन कहे हैं और ब्रह्मरूप बननेपर कैसी अवस्था होती है इसका भी निरूपण किया है। ब्रह्मरूप बननेके साधन ये हैं— (१) ईश्वरी एक निष्ठ भक्ति, (२) गुणातीत होनेका प्रयत्न, (३) काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मद, बलकी घमंड छोडना, (४) शान्त होना, (५) ममत्व छोडना, (६) शोक और कामना का त्याग करना, (७) सर्वत्र समभाव धारण करना, इससे मनुष्य ब्रह्मरूप अवस्था को प्राप्त होता है।

ब्रह्मरूप बननेपर उनकी स्थिति ऐसी होती है- (१) प्राकृतिक विषयोंसे बाधा नहीं होती, (२) अतुल शान्ति रही है, (३) षड्रिपुओंका हमला नहीं होता, (४) सदा प्रसन्नता रहती है, (५) कामना और शोकसे दूर होता है, (६) सब से समान व्यवहार होता है, (७) ईश्वर की परमोच्च भक्ति में रहता है। ब्रह्मरूप बना हुआ मनुष्य इन गुणोंसे युक्त होता है। अतः यह कहना कि निर्वाण प्राप्त होनेपर पूर्णनाश होता है, केवल अज्ञान का द्योतक है। इस स्थितिका स्वरूप गीतामें और अधिक स्पष्ट किया है, वह अब देखिये—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
गी० ५।२०

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥
गी० १३।३०

"जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जिसका मोह नष्ट हुआ है, जो ब्रह्मको जानता है,और जो ब्रह्ममें

आश्रित है, उसको प्रिय की प्राप्तिसे सुख नहीं होता और अप्रिय प्राप्त होनेसे दुःख नहीं होता॥ जब वह मनुष्य भूतमात्र का अस्तित्व भिन्न होते हुए भी एकमें समाया है ऐसा देखता है और वहां से हि सबका विस्तार होता है ऐसा समझता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त होता है॥" अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्ति होनेसे (१) बुद्धि स्थिर होती है, (२) मोह दूर होता है, (३) प्रिय अथवा अप्रिय की प्राप्तिसे सुख दुःख नहीं होता, (४) विभिन्न भूतोंका उगम एक सत्तत्वमें है और वहां से हि फिर सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है, इसका ज्ञान होता है। ब्रह्मप्राप्ति के ये और फल पूर्वोक्त फलों के साथ देखने योग्य हैं।

अस्तु। यहां तक अन्तिम सिद्धिका स्वरूप क्या है और उस समय सिद्ध पुरुष में कौनसी शक्ति बढती है और कैसा अनुभव होता है, इस विषयमें सारांश से विवरण किया। इस चतुर्थ अध्याय में इस सिद्धिके निदर्शक ये वाक्य हैं—

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति॥ (४।१२)
पुनर्जन्म नैति। (४।९)
कर्मभिर्न स बध्यते। (४।१४)
कृत्वाऽपि न निबध्यते। (४।२२)
कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्। (४।२१)
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति। (४।४१)
मोक्ष्यसेऽशुभात्। (४।१६)
एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे। (४।३२)
ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि। (४।३६)
परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। (४।३९)
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्। (४।२४)

"इस मर्त्यलोकमें मनुष्यको सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है। सिद्धि प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्मोंका बन्ध दूर होता है। कर्म करनेपर भी पाप नहीं लगता। आत्मबल प्राप्त होनेसे कर्मोंसे बन्धन नहीं होता। अशुभ दूर होगा। बन्धनसे मोक्ष प्राप्त होगा। पाप दूर होगा। पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी। ब्रह्म प्राप्त होगा।" इतने वाक्य इस अध्यायमें हैं, इनका बोध यथायोग्य रीतीसे होना अत्यंत आवश्यक है। भगवद्गीताका यह मुख्य विषय है और मनुष्यको प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है। इस विषय में गीता के पाठकोंकी निश्चित कल्पना होनी चाहिये। तभी गीताका सिद्धान्त समझमें आजायगा। सिद्धी क्या है, ब्रह्मप्राप्ति होनेपर क्या लाभ होते हैं, न होनेपर हानी कौनसी है इत्यादि विषय मुख्य हैं और इसका निश्चित ज्ञान पाठकोंको होना अत्यंत आवश्यक है। अतः सिद्धि के विषय में संपूर्ण भगवद्गीता में जो जो वाक्य विविध स्थानों में आये हैं, उनको प्रकरणशः यहां एकत्रित करके संगति लगायी है। जो पाठक इनका मनन करेंगे उनको इस विषयकी निश्चित कल्पना हो जायगी।

अब इस लेखका संक्षेपसे सार निकालते हैं। निम्नलिखित कोष्टक में परम सिद्धि के साधन और फल रखते हैं, इससे पाठकोंको विना परिश्रम पता लग जायगा, कि सिद्धिके साधन कौनसे हैं और सिद्धि प्राप्त होनेपर कौनसे फल प्राप्त होते हैं। यह विषय इससे पूर्व आचुका है, अतः यहां केवल सूचक शब्दही दिये जाते हैं, जिन शब्दोंके मननसे पाठक साधनों और फलोंका स्वरूप जान सकेंगे—

सिद्धिके साधन।

१ चित्तकी एकाग्रता

चित्तकी एकाग्रता अथवा 'स्थिरता' सिद्ध करनेके लिये 'मनः स्थैर्य' अर्थात् मनकी स्थिरता, और 'बुद्धीस्थैर्य' बुद्धिकी स्थिरता सिद्ध करनी चाहिये। मनकी चञ्चलता ही सब परमार्थ सिद्ध होनेमें विघ्न रूप है।

२ संयम

अन्तिम सिद्धि अथवा परमपद प्राप्तिके लिये 'संयम' करना अत्यंत आवश्यक है, इस विषयमें यह मार्ग है—

यदृच्छालाभसंतुष्ट= सहज जो प्राप्त होगा उसमें संतोष मानना, अधिकाधिक भोगसाधन प्राप्त करनेकी इच्छा न करना; इसके लिये "**भोगवासना त्याग**" करना चाहिये। मनमें भोग वासना उत्पन्न हुई तो उसका त्याग करना; तथा '**कामत्याग, कामवासनात्याग, भोगत्याग, संग्रहत्याग**' करना चाहिये। '**आत्मजय, चित्तसंयम, आत्मसंयम, इंद्रियसंयम, जितेन्द्रियता, मनोनिग्रह, मनःशान्ति**' ये शब्द संयमकी व्याप्ति बता रहे हैं। मनुष्यके अन्दर दोष रहनेसे उसका मन चञ्चल होता है अतः '**आत्मशुद्धि, दोषत्याग, कामक्रोधलोभत्याग, भोगभयत्याग, मोहत्याग, अहंकार-गर्व-त्याग, मानत्याग, ममतात्याग**' करना चाहिये। इस कार्य के लिये '**कामक्रोधवेगोंको सहन**' करना चाहिये। अन्यथा वे हि सिरपर चढ बैठेंगे। इसीसे मनुष्य '**आत्मबलसे युक्त**' होगा।

३ अनासक्ति।

विषयों और भोगोंपर तथा कर्मफलपर आसक्ति न रखनेसे हि संयम साध्य हो सकता है। इसके लिये '**असंगभाव, कर्मफलमें अनासक्ति, कर्मफलत्याग, बाह्य सुखोंपर अनासक्ति, निष्कामता, निस्पृहता, कर्मफल के विषयमें निस्पृहता, निस्पृहबुद्धि**' धारण करना चाहिये।

४ निर्द्वन्द्वता।

निस्पृह और अनासक्त बननेके लिये '**निर्द्वन्द्व**' बनना चाहिये, सुखदुःख, हानिलाभ आदि अनेक द्वन्द्व हैं, इनमेंसे किसीमें भी फंसना नहीं चाहिये, इसकी सूचना देनेवाले शब्द "**निर्द्वन्द्वता, सुखदुःखसमबुद्धि,**" ये हैं। प्रियसे प्रेम और अप्रियका द्वेष न करना, भेदोंमें अभेद का अनुभव करना, यही निर्द्वन्द्वता प्राप्त करनेका साधन है।

५ अद्वेष।

"**अद्वेष, अनसूया, मत्सररहितता, वैरत्याग, द्वैतनिवृत्ति**' ये शब्द अद्वेष भाव की साधना करनेके सूचक हैं।

६ आत्मवद्भाव।

सबको आत्माके समान देखनेसे द्वेषसे और द्वन्द्वसे दूर रहनेकी संभावना होती है। '**आत्मवद्भाव, सर्वभूतहितरतत्व, सर्वभूतमित्रता,**' ये शब्द इस आत्मभाव का अभ्यास करनेकी सूचना दे रहे हैं।

७ गुणातीतता।

"**निर्गुण, गुणातीतत्व, निर्मल बुद्धि**" ये शब्द गुणातीत होनेकी कल्पना दे रहे हैं।

८ समबुद्धि।

समबुद्धि होनेसे मनुष्य को पूर्वोक्त सिद्धि मिलती है। इसके सूचक शब्द "**सर्वत्र समबुद्धि, बुद्धियोग, समत्वयोग, सर्वत्र समदर्शन, सर्वत्र समता**" ये हैं।

९ कर्मयोग।

समबुद्धिसे कर्म करनेसे मनुष्य पूर्ण उन्नतिका अधिकारी होता है। इसके सूचक शब्द—"**यज्ञार्थकर्म, शास्त्रोक्त कर्म, ईश्वरार्पणके लिये कर्म, पुण्यकर्म, कर्तव्यकर्म, इन्द्रियसंयमपूर्वक कर्मयोगाचरण, समत्व योगपूर्वक कर्माचरण, कर्मयोग, स्वकर्माचरण, नित्ययोगाचरण, परस्पर सहायतार्थ कर्म**' इत्यादि हैं। इन शब्दोंके मननसे प्रारंभसे अन्ततक संपूर्ण कर्मयोग के मार्ग का ज्ञान होता है।

१० ज्ञानयोग।

"**ज्ञान, प्रकृति-पुरुष-विज्ञान, क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञान, ईशज्ञान, ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, ज्ञान, विज्ञान,**" ये शब्द ज्ञानका स्वरूप बताते हैं। यह ज्ञान और विज्ञान महत्वका है जो जाननेसे मनुष्य परम पदको प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसे '**निष्पापता, संशयनिवृत्ति, स्वयंपूर्णता, आत्मबल, आत्मनिष्ठा, आत्माके अकर्तृत्व का अनुभव, आत्मदर्शन, अपनी प्रसन्नता और पवित्रता, अन्तरिक सुखशान्ति और ज्योतिका अनुभव,**' होने का वर्णन गीतामें स्पष्ट है। इसी का नाम '**ब्रह्मयोग**' है, इसके लिये '**मोक्षतत्पर**' मनुष्य योग्य अधिकारी है, '**ओंकारजप**' इसका एक

साधन है। 'प्रकाशमार्ग' का अवलंबन करना इस कार्य के लिये योग्य है। 'आत्मघात न करते हुए' इस मार्ग का आक्रमण करना चाहिये। इससे 'भूत-प्रकृति-बंधनसे मुक्ति' होती है।

११ ईश्वरभक्ति।

ज्ञानसे 'ईश्वरभक्ति' जाग्रत होती है। ज्ञानसेहि सत्य 'ईश्वरपरायणता, ईश्वरप्रेम, ईश्वर-बुद्धि, ईश-श्रद्धा, ईश्वर-शरणता, ईश्वर-ध्यान-तत्परता, ईश-पूजन, ईश्वर-स्मरण, ईश्वराश्रय, एकनिष्ठ भक्ति, एकाग्रभक्ति, और पराभक्ति' होती है। इससे आगे 'सर्वत्र आत्मदर्शन, सर्व सृष्टीमें ईश्वर-दर्शन, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ईश्वरमयता, अष्टधा प्रकृति और पुरुषका संबंध' ज्ञात होता है और इस ज्ञानसे 'ज्ञानीका विश्वरूपी परम पुरुषमें प्रवेश' होता है और इसीपर 'ईश्वरकी प्रसन्नता' होती है।

इस तरह 'नरका नारायण बननेका साधनयोग है।' यहां यह अतिसंक्षेपसे इस लिये दिया है कि, यह सूत्ररूपसे पाठकोंके सन्मुख सदा रहे। इनमेंसे ये सूचक शब्द भगवद्गीतामें कौनसे स्थानपर हैं, यह यदि किसी पाठक को देखना हो, तो वह पूर्व प्रकरणोंमें देख सकते हैं। परंतु इतने विस्तृत लेख देखनेका समय जिनके पास न हो, उनके लिये येही शब्द पतोंके समेत आगे प्रकरणशः दिये हैं—

परमसिद्धिकी प्राप्तिके साधन।

१ सिद्धिकी प्राप्ति।

ज्ञानप्राप्ति (१४। १); सर्वत्र असक्त बुद्धि; आत्मजय; निस्पृहता; संन्यास (१८। ४९); स्व-(-वर्णाश्रम-)-कर्म से ईशपूजा (१८। ४६); ईश्वर के लिये कर्म करना (१२। १०)।

२ विशेषताकी प्राप्ति।

नित्य योगाचरण; एकाग्र भक्ति; ईश्वर प्रेम (७। १७); सर्वत्र समबुद्धिः। (६। ९), इंद्रिय संयमपूर्वक कर्मयोगाचरण (४। ७)।

३ श्रेयःप्राप्ति।

परस्परसहायता (३। ११)।

४ मायाके पार होना।

ईश्वर प्रपन्नता (७। १४)।

५ पुनर्जन्ममरण दूर करना।

ईश्वरबुद्धि, ईश्वरध्यान, ईश्वरपरायणता, ज्ञानसे निष्पाप होना (५।१७); ज्ञान प्राप्ति (१४।२); प्रकृतिपुरुषविज्ञान (१३।२३)

६ निर्लेपता।

कर्म ईश्वरको समर्पण (५।१०); असंगभाव (५।१०); ज्ञान (४।३६); निर्गुणत्व (१३।३१)।

७ कर्म-बन्ध-निवृत्ति।

असंगभाव, ज्ञानतत्परता, यज्ञके लिये कर्म करना (४।२३); बुद्धियोग (२। ३९); अद्वेष, निष्कामता, निर्द्वन्द्वता (५।३); श्रद्धा, अनसूया, (गीता-शास्त्रानुसार) नित्यअनुष्ठान (३।३१); कर्मफलमें निस्पृहता (४।१४); यदृच्छालाभसंतुष्टता, द्वन्द्वातीतता, मत्सररहितता, सिद्धिअसिद्धिविषयमें समता (४।२२); समत्वयोगसे कर्मफलत्याग, ज्ञानसे संशयनिवृत्ति, आत्मबलसे युक्त होना (४।४१); अहंकारत्याग, निर्मलबुद्धि (१८।१७); योगाचरण, आत्मशुद्धि, आत्मजय, जितेंद्रियता, सर्वभूतोंके साथ आत्मवद्भाव (५।७)।

८ मुक्ति।

ज्ञान विज्ञान (९।१); श्रद्धा, अद्वेष, पुण्यकर्म (१८।७१); ईश्वरशरण होना (१८।६६); ईश्वरज्ञान (१०।३); इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह, मोक्षतत्परता, इच्छा-भय-क्रोध त्याग (५।२८)।

९ शान्ति।

कामनात्याग, निस्पृहता, ममतात्याग, अहंकारत्याग (२।७१); कर्मफलत्याग (५।१२); श्रद्धा, इंद्रियसंयम, ज्ञान (४।३९); मनोनिग्रह, योगाचरण(६।१५); सर्वभूतोंसे मित्रता (५।२९); कर्मफल त्याग(१२।१२); अचलता, स्वयंपूर्णता, निष्कामता (२।७०)।

१० अक्षय सुख।

बाह्य सुखोंपर अनासक्ति, ब्रह्मयोग (५ । २१); कर्म संन्यास (५ । १३); योगाचरण (६ । २८); मनःशान्ति, भोगवासनानाश (६ । २७); कामक्रोधोंके वेग को सहना (५ । ५३)।

११ अमृतकी प्राप्ति।

सुखदुःखविषयमें समता (२ । १५); गुणातीत होना (१४ । २०); ब्रह्मज्ञान (१३ । १२)।

१२ अनामय शाश्वत पद की प्राप्ति।

बुद्धियोग, कर्मफलत्याग (२ । ५१); मानमोह का त्याग, आसक्ति दोष का त्याग, आत्मनिष्ठा, काम का त्याग, निर्द्वन्द्वता, मोहत्याग (१५ । ५); ईश्वर का आश्रय (१८ । ५६); ईश्वरशरण (१८ । ६२)।

१३ परम–धाम।

सतत योगाचरण (६ । ४५); ओंकारजप (८।१३)। सर्वत्र समदर्शन, आत्मघात न करना, (१३ । २८); ईश्वरशरण (९।३२); कामक्रोधलोभत्याग (१६।२२); शास्त्रविधिके अनुसार आचरण (१६।२३)।

१४ कृतकृत्यता।

ज्ञान (१५ । २०)।

१५ श्रेष्ठ अवस्था।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञान, भूतप्रकृतिसे मुक्त होनेका उपाय (१३ । ३४); अनासक्ति, कर्तव्यकर्माचरण (३ । १९)।

१६ ज्ञानचक्षुकी प्राप्ति।

सर्वत्र आत्मदर्शन (१५ । १०-११); विराट् देहमें सब जगत् को देखना (११।६-१३); अष्टधा प्रकृति को ईश्वर का देह मानना (७।४); इस विराट् पुरुषका ज्ञानसे दर्शन करके उसमें प्रविष्ट होना (११।५४); सर्वत्र समदृष्टि, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन (६।२९;३०;१३।२७;५।१८); आत्माको अकर्ता और प्रकृति कर्मकर्त्री है इसका अनुभव (१३।२९); अपने अन्दर परमात्मदर्शन (१३।२४); आत्मदर्शन से आश्चर्यका अनुभव (२।२९); सर्व भूतों में परमेश्वर का दर्शन (६।३१)।

१७ ईश्वरप्राप्ति।

एकाग्रचित्त (८।८); भक्ति (८।२२); योगसाधन, स्थिर मन (८।१०); ईश्वरशरण (१५।४); परमेश्वरज्ञान (४।९); अपने मन बुद्धिको ईश्वरमें लगाना (८।७); ईश्वरपूजन (९।२५); संन्यासयोग (९।२८); ज्ञान (७।१८); सर्व ईश्वर है इसका अनुभव (७।१९); ईश्वरके लिये कर्म करना, ईश्वर की भक्ति करना, भोगसंगत्याग, वैरत्याग (११।५५); इंद्रियसंयम, सर्वत्र समबुद्धि, सर्व भूतों के हित करनेमें तत्परता (१२।४); सतत योगाचरण, प्रीतिपूर्वक भक्ति (१०।१०); इस ज्ञान का प्रचार (१८।६९); ईश्वरमें मन बुद्धि को लगाना (१२।८); अनन्यचित्त होना, ईश्वरका नित्य स्मरण (८।१४); भोग, भय, क्रोध दूर करना, ईश्वरमयता, ईश्वरका आश्रय, ज्ञानतपसे पवित्रता (४।१०); ईश्वर स्मरण (८।५); क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का अनुभव (१३।१८); गुणातीत आत्माका ज्ञान (१४।१९)।

१८ ब्रह्म--प्राप्ति।

योगयुक्त संन्यास (५।६); प्रकाशमार्ग से जाना (८।२४)।

१९ ब्रह्मनिर्वाण प्राप्ति।

अपने अन्दर सुख, शान्ति और ज्योति का अनुभव (५।२४); निष्पाप होना, द्वैतनिवृत्ति, आत्मसंयम, सर्वभूतहितमें तत्परता (५।२५); कामक्रोधत्याग, चित्तसंयम, (५।२६); एकनिष्ठ भक्ति, गुणातीत होना (१४।२६); अहंकार, गर्व, कामक्रोध, संग्रह और ममता इनका त्याग (१८।५३); सर्वत्र समता, परा भक्ति(१८।५४); प्रियसे प्रेम और अप्रियसे द्वेष न करना, बुद्धिकी स्थिरता, मोहत्याग, ब्रह्मज्ञान (५।२०); भेद में अभेद का अनुभव (१३।३०)

साधनमार्ग का विचार करनेवाले पाठकों को ये शब्द इस विषयका स्पष्ट बोध करा सकते हैं। सब भूतों में ब्रह्मकी प्रत्यक्षवत् उपस्थिति का ज्ञान होनेसे और सब भूतों में एक आत्मा है और उसी आत्मामें सब भूत हैं, इसका प्रत्यक्षवत् ज्ञान होनेसे मनुष्य का मोह दूर होता है, यह नर नारायणरूप हो जाता है, क्योंकि उस अव-

स्थामें विश्वरूप नारायण में वह भी एकरूप हुआ होता है। जब नारायण विश्वरूप है तब उससे भिन्न नर का अस्तित्व ही कैसा होगा? क्यों कि विश्वरूप में इस नर का रूप भी तो संमिलित है। इसकी यथावत् प्रत्यक्षता करना ही अन्तिम अनुभव है, जो होनेके बाद और कुछ ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रहता, और जो अनुभव होतेहि यह शोकमोहादि से मुक्त होता है। यही परम पदकी प्राप्ति है।

चतुर्थ अध्यायका विचार समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीता-सुभाषित।

चतुर्थ अध्याय।

(१) श्रेष्ठका आत्मयज्ञ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य संभवाम्यात्ममायया ॥ (४।६)

" मैं अजन्मा, अविनाशी और भूतोंका ईश्वर होनेपर भी (जगत्कल्याण करनेके लिये) अपनी शक्तिसे जन्म लेता हूं॥ "

जगत् के कल्याणके लिये ईश्वर स्वयं इतना आत्मयज्ञ करता है, यह देखकर राजा, महाराजा, सरदार, साहुकार, धनी और बडे समझे जानेवाले लोगोंको भी सर्वभूतोंका हित करनेके कार्य में अपना समर्पण करना चाहिये। जो ऐसा करेंगे वे ही श्रेष्ठ बनेंगे, अन्य स्वार्थी लोग गिरते जांयगे। बडे लोग कनिष्ठोंके सुधारके लिये आत्मयज्ञ नहीं करते, इसी लिये जगत् में दुःख बढ रहे हैं।

(२) विपत्ति-निवारणार्थ कर्म।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (४।७)

" जहां धर्मकी ग्लानि और अधर्मकी प्रबलता होती है, वहां (धर्मस्थापनाके लिये) मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूं। "

जहां अधर्म, अनीति, अन्याय, और सज्जनोंका छल होता है, वहां श्रेष्ठोंको पहुंचना चाहिये और वहां धर्म न्याय आदिकी स्थापना करनेके लिये आत्मार्पण करना चाहिये। तथा पराधीन लोगोंको स्वाधीनता प्राप्त करनेकेलिये जो कार्य करने होते हैं, उस में स्वयं यत्नवान् होना चाहिये।

(३) तीन कर्तव्य।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ (४।८)

" साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका नाश और धर्मकी स्थापना करने के लिये मैं युगयुगमें आता हूं। "

मनुष्यको सत्पक्षकी रक्षा, असत्पक्षका नाश और धर्मस्थापना के कार्यमें अपने आपको लगाना योग्य है। इसीसे मनुष्य कृतकृत्य होता है।

(४) योग्य आचरण।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (४।११)

" जो जैसे मुझे शरण आते हैं उनको वैसाही फल मैं देता हूं। "

मनुष्यको उचित है कि वह दूसरोंके साथ यथायोग्य आचरण करे।

(५) कर्मसिद्धि।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा। (४।१२)

" मनुष्यलोकमें कर्म करनेसे शीघ्रहि सिद्धि प्राप्त होती है। "

मनुष्यको कर्म करनेसे हि सिद्धि मिल सकती है।

(६) स्वार्थ से दोष।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। (४।१४)

" कर्मके फलपर मेरी दृष्टी नहीं है, इस लिये कर्मोंका दोष मुझे नहीं लगता। "

फलभोगकी इच्छा होनेसे कर्मका दोष लगता है। स्वार्थके कारण दोष लगता है।

(७) गहन कर्मतत्त्व।

गहना कर्मणो गतिः ॥ (४।१७)

" कर्मका तत्त्व बडा गहन है। "

कर्म अच्छा है या बुरा, इसका निश्चय करना बडा कठिन काम है।

(८) पण्डित।

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
(४।१९)

" जो भोगेच्छा छोडकर कर्म करता है, उसके सब दोष ज्ञानसे जल जाते हैं, अतः उसीको ज्ञानी पंडित कहते हैं। "

भोगेच्छा छोडनेसे कर्मके दोष दूर होते हैं।

(९) यज्ञार्थ कर्म।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥
(४।२३)

" यज्ञके लिये जो कर्म होता है, उस कर्मका दोष पूर्णतासे नष्ट होता है। "

सर्व भूतोंके हित करनेके लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म यज्ञरूप होते हैं, वैसे कर्म करनेसे किसी प्रकार का दोष नहीं होता है।

(१०) ब्रह्मकर्म।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(४।२४)

"कर्ता, कर्म, विधि, और साधन ये सब जिसको ब्रह्मरूप प्रतीत होते हैं, उसको सर्वत्र ब्रह्म दीखनेके कारण वह स्वयं ब्रह्म ही बनता है।"

संपूर्ण जगत् में और संपूर्ण व्यवहार में जिसको परमात्माका रूप दिखाई देता है, वह स्वयं परमात्मा बनता है।

(११) कर्महीन की दुर्गति।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः॥ (४।३१)

" कर्म न करनेवालेको यहां सुख नहीं होता, फिर उसको परलोक कहांसे प्राप्त होगा?"

कर्म न करनेसे अपना भी हित नहीं होगा और दूसरे की भी उन्नति नहीं होगी और न परलोक मिलेगा। अतः सदा शुभ कर्म करते रहना चाहिये।

(१२) ज्ञानदान श्रेष्ठ है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः॥ (४।३३)

" द्रव्यदानसे ज्ञानदान अधिक कल्याण करनेवाला है। "

द्रव्य देनेसे ज्ञान देना दोनोंका भला करनेवाला है।

(१३) ज्ञानसे पापनाश।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
(४।३६)

" ज्ञानकी नौका सब पापसमुद्रके पार ले जायगी।"

ज्ञानसे हि सब दोष दूर होंगे और सब सुख प्राप्त होंगे।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते॥ (४।३७)

" ज्ञानरूप अग्निसे सब कर्मोंके दोष जल जाते हैं।"

ज्ञानसे सब दोष दूर होते हैं और गुण पास आते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
(४।३८)

"ज्ञानके समान कोई दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है।"

ज्ञान सब से पवित्रता करनेवाला है।

(१४) श्रद्धासे ज्ञानप्राप्ति।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ॥
(४।३९)

"श्रद्धालु, तत्पर और जितेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।"

(१५) ज्ञानसे शान्ति।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(४।३९)

"ज्ञानसे शीघ्रही शान्ति मिलती है।"

(१६) संशयसे नाश।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
(४।४०)

"अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशयी मनुष्य का नाश होता है।"

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(४।४०)

"संशयी मनुष्यको न इस लोकमें सुख होता है और न परलोकमें।"

क्योंकि संशयसे नाश निश्चित है।

(१७) आत्मबलसे निर्दोषता।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति। (४।४१)

"आत्मिक बल से युक्त हुए मनुष्यको कर्मोंका दोष नहीं लगता।"

(१८) अज्ञान दूर कर।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥
(४।४२)

"हे भारतीय! हृदयस्थ अज्ञानजन्य संशयको ज्ञानसे दूर कर और उद्योग करनेके लिये उठ।"

ज्ञान प्राप्त कर, अपना संदेह दूर कर और अपनी सर्वांगीण उन्नति करनेके लिये प्रबल प्रयत्न करने की इच्छासे सिद्ध हो।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी।

चतुर्थ अध्यायकी विषयसूची।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

कर्मसंन्यासयोग ।

कौनसा मार्ग श्रेयस्कर है?

अर्जुन उवाच-- संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अन्वयः- अर्जुनः उवाच- हे कृष्ण ! कर्मणां संन्यासं, पुनः योगं च शंससि; एतयोः यत् एकं श्रेयः, तत् मे सुनिश्चितं ब्रूहि ॥१॥

अर्जुनने पूछा— हे कृष्ण! आप एक बार कर्मोंके संन्यासकी और दूसरी बार कर्मके योगकी प्रशंसा करते हो, इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग निश्चयसे मेरे लिये कल्याणकारी होवे, वह मुझे निश्चित रीतिसे कहिये ॥ १ ॥

भावार्थ— गुरुको उचित है कि वह शिष्यको एकहि निश्चित और श्रेयस्कर मार्गका उपदेश करे। अनेक मार्गोंकी प्रशंसा करके शिष्यके मनमें भ्रम उत्पन्न न करे।

(१) पूर्व अध्यायमें कई श्लोकोंमें सर्वकर्म-संन्यास करनेकी प्रशंसा की है जैसे—

संन्यासकी प्रशंसा।

कर्मण्यकर्म यः पश्येत् ॥ गी० ४।१८
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं ॥ गी० ४।१९
यदृच्छालाभसंतुष्टः गी० ४।२२
सर्वं कर्म...ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ गी० ४।३३
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते०॥गी४।३७

"जो कर्ममें अकर्म देखता है, जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे भस्म हुए हैं, जो सहजप्राप्त वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है, सब कर्म ज्ञानमें समाप्त होते हैं, ज्ञानाग्निसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं।" इत्यादि वाक्योंमें ज्ञानमार्ग अर्थात् सर्वकर्म-संन्यास-मार्गकी प्रशंसा की है। यह प्रशंसा पढनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य संन्यासका आश्रय करे। क्यों कि सब कर्मोंका अन्त यदि संन्यासमें हि होना है, तो वही संन्यास प्रारंभसेहि क्यों न लिया जावे? इस तरह पाठककी प्रवृत्ति इस संन्यासप्रशंसाके उपदेशोंसे कर्मसंन्यास करने की ओर होती है।

इस प्रकार कर्मसंन्यासकी ओर प्रवृत्ति करके अन्तमें भगवान्ने कहा कि—

कर्मयोगकी आज्ञा।

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥
गी० ४।४२

"हे भारतका हित करनेके लिये प्रवृत्त हुए वीर! इस सन्देहको काटकर कर्मयोगका आचरण करनेके लिये उठ।" इस उपदेश द्वारा फिर कर्मयोगमें प्रवृत्त हो ऐसा कहा है। यहां सन्देह उत्पन्न होता है कि कर्मका संन्यास किया जाय अथवा कर्मयोगका आचरण किया जाय? दोनों मार्ग परस्पर भिन्न हैं, 'ठहरो और भागो' इन दो आज्ञाओंमें जितना परस्परविरोध है, उतना ही विरोध 'कर्म करो और कर्मत्याग करो' इन

(२) कर्म और संन्यास एकही हैं।

श्रीभगवानुवाच-- संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयः— संन्यासः कर्मयोगः च उभौ निःश्रेयसकरौ; तयोः तु कर्मसंन्यासात कर्मयोगः विशिष्यते ॥ २ ॥ यः न द्वेष्टि, न (च) कांक्षति, सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः, हे महाबाहो ! हि निर्द्वंद्वः बन्धात् सुखं प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

भगवान् बोले— कर्मोंका संन्यास और कर्मोंका योग ये दोनोंही मनुष्यका कल्याण करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें कर्मोंके संन्यासकी अपेक्षा (तेरे लिये) कर्मयोग विशेष श्रेष्ठ है॥ २ ॥ जो मनुष्य किसीसे द्वेष नहीं करता और किसी की प्राप्तिकी भी इच्छा नहीं करता, उसे नित्यसंन्यासी समझना उचित है। जो द्वन्द्वोंसे दूर रहता है, वही सुखपूर्वक बन्धनसे छूट जाता है ॥ ३ ॥

आज्ञाओंमें है ! जिस समय गुरु कर्मयोग और कर्मसंन्यास इन दोनोंकी मुक्तकंठसे प्रशंसा करते हैं, उस समय शिष्य क्या करे, कर्म करे वा कर्म छोड देवे ? मार्ग पूछनेवालेसे यदि कोई कहे कि तुम पूर्वकी ओर जानेवाले मार्गसे जाओ अथवा पश्चिमकी ओर जानेवाले मार्गसे जावो, तो वह पांथस्थ किस मार्गसे जावे? उसी तरह यहां अर्जुनके मनमें पूर्वोक्त कारणसे बडा संदेह उत्पन्न हुआ। अतः वह कह रहा है कि " कर्मयोग और ज्ञानयोग इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग मेरे लिये श्रेयस्कर होगा, उसका उपदेश मुझे करो " अर्थात् अनेक मार्गोंका उपदेश करके पहिलेसे भ्रान्त हुए मेरे चित्तको अधिक भ्रममें न डालो, इस समय मेरा निश्चित रीतिसे कल्याण किस तरह होगा, इसका ही उपदेश करना आपको उचित है। इस प्रकार अर्जुनका प्रश्न श्रवण करके भगवान् उसका सन्देह दूर करनेके लिये समझाते हैं—

(२-३) पूर्व अध्यायमें ज्ञान और कर्मकी समान प्रशंसा सुनकर अर्जुनके चित्तमें संशय उत्पन्न हुआ, यह जानकर, इस सन्देहको दूर करनेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

संन्यास और कर्म।

संन्यासःकर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ॥(५।२)

" संन्यास और कर्मयोग ये दोनों निःसंदेह मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाले हैं" यहां गीताशास्त्रमें संन्यास और कर्मयोग ये शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त किये हैं। निम्न लिखित कोष्टक देखनेसे इनका यथार्थ ज्ञान हो सकता है—

कर्म	संन्यास
,, योग	सांख्य, ज्ञान
कर्ममार्ग	संन्यासमार्ग
,,	सांख्यमार्ग
कर्मयोग	संन्यासयोग
,,	सांख्ययोग
,,	ज्ञानयोग

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

अन्वयः— सांख्ययोगौ पृथक् (इति) बालाः प्रवदंति, न पंडिताः; एकं अपि सम्यक् आस्थितः (पुरुषः) उभयोः फलं विन्दते ॥ ४ ॥ यत् स्थानं सांख्यैः प्राप्यते, तत् योगैः अपि गम्यते; यः सांख्यं योगं च एकं पश्यति, सः (एव) पश्यति ॥ ५ ॥

अज्ञानी लोग सांख्यमार्ग (संन्यासयोग) और योगमार्ग (कर्मयोग) को पृथक् पृथक् मानते हैं, परंतु ज्ञानी जन ऐसा नहीं मानते। क्यों कि इनमेंसे किसी एकका अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेसे, मनुष्यको दोनोंका फल प्राप्त होता है॥४॥ जो स्थान सांख्यमार्गियोंको प्राप्त होता है, वह योगमार्गियोंको भी प्राप्त होता है, अतः जो सांख्य और योगको एकरूप देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—ज्ञान और कर्म ये दोनों मार्ग मनुष्यमात्र का कल्याण करनेवाले निःसन्देह हैं। तथापि सर्वसाधारण मनुष्यके लिये कर्महि विशेष लाभकारी है ॥ जो किसीका द्वेष नहीं करता अथवा किसीपर प्रेम भी नहीं करता, वही सच्चा संन्यासी है, फिर वह ज्ञानमें तत्पर हो अथवा कर्ममें लगा हुआ हो। द्वन्द्वोंसे जो दूर रहता है वह सुखसे बन्धनोंसे छूट जाता है ॥ ज्ञान और कर्म ये दोनों भिन्न भिन्न हैं ऐसा मूढ लोग मानते हैं, परंतु ज्ञानी लोगोंका मत वैसा नहीं है। इस का कारण यह है कि, इनमें से किसी एकका भी यथायोग्य रीतिसे अनुष्ठान किया जाय, तो दोनोंका फल प्राप्त होता है ॥ जो उच्च स्थान ज्ञानियोंको मिलता है, वही कर्ममार्गियों को भी प्राप्त होता है। अतः अन्तिम साध्यकी दृष्टिसे इनमें कोई न्यूनाधिकता नहीं है। इस तरह ज्ञान और कर्मको फल-की दृष्टिसे एक जानना ही सत्य ज्ञान है ॥२—५॥

कर्मयोग	बुद्धियोग
योगबुद्धि	सांख्यबुद्धि
कर्म	अकर्म

इस तरह इन दोनों मार्गोंके नाम हैं। यदि पाठक इन नामोंका स्मरण रखेंगे तो उनको किस शब्दसे किसका बोध होता है इसका उत्तम ज्ञान हो सकता है। इससे पूर्व तृतीयाध्यायमें कहा है कि—

दो निष्ठा।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(गी० ३।३)

"इस संसारमें दो प्रकारकी प्रवृत्तिवाले लोक होते हैं। सांख्योंकी प्रवृत्ति ज्ञानकी ओर और योगीयोंकी प्रवृत्ति कर्मकी ओर होती है।" यह मनुष्यका स्वभाव धर्म है। जो जिसकी निसर्ग-प्रवृत्ति होती है, उसके अनुकूल चलनेसेहि उसका कल्याण होता है। निसर्गप्रवृत्तिके विरुद्ध चलने-से, अर्थात् प्रकृतिका विरोध करनेसे बडी हानि होती है, अतः कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥
(गी० ३।१३)

"ज्ञानीभी अपने प्रकृति स्वभावके अनुसार बर्तता है। सब प्राणिमात्र अपने स्वभावके अनुसार चलते हैं, ऐसी अवस्थामें बलात्कार करनेसे क्या लाभ हो सकता है?" इस कारण अपने निज निसर्गस्वभावके अनुकूल मार्गसे चलना उचित है, यह पहिले दर्शाया है। इस नियमके अनुसार जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ज्ञानमार्गकी ओर हो वह ज्ञानमार्गसे जावे और जिसकी निज प्रवृत्ति कर्ममार्गकी ओर हो वह कर्ममार्गका अनुष्ठान करे। ये दो मार्ग पूर्वोक्त दो प्रवृत्तिवाले मनुष्योंके लिये होनेसे, दोनोंकी समान प्रशंसा होनेपर भी मनुष्यको संदेहमें पडनेका कोई कारण नहीं है। क्यों कि मनुष्यको उचित है कि वह अपनी निज प्रवृत्ति देखे और उस प्रवृत्तिके अनुकूल जो मार्ग हो उसका अनुष्ठान करे और अपनी निज प्रवृत्तिके विरुद्ध मार्ग से न जावे। भगवान् श्रीकृष्णजी महाराजने चतुर्थ अध्यायमें संन्यासयोग और कर्मयोगकी समानतया प्रशंसा की है, यह सत्य है, परंतु इससे उसके चित्तको भ्रम होनेका कोई प्रयोजन नहीं है। अर्जुनको उचित था कि, वह अपनी निज प्रवृत्ति देखता और उस निज प्रवृत्तिके अनुकूल जो मार्ग है उसपर चलता। परंतु अर्जुन प्रारंभमेंहि युद्धरूप स्वभावोचित कर्म छोडनेको अर्थात् अपना कर्म छोडनेको प्रवृत्त हुआ था,और भिक्षावृत्तिसे रहनेके लिये उत्सुक हुआ था। भैक्ष्यचर्यसे अकिंचन संन्यासवृत्तिसे रहना उसका प्रवृत्तिधर्म नहीं था, युद्धरूप कर्ममार्गका अवलंबन करके, शत्रुपर विजय प्राप्त करके, राजा बनना उसके प्रवृत्तिके अनुकूल था। परंतु अर्जुन स्वाभाविक प्रवृत्तिका कर्म त्याग रहा था और बलात्कारसे भिन्न प्रवृत्तिका शमदमादि संन्यासधर्मका आश्रय करनेमें दत्तचित्त था। इसी लिये अर्जुन से श्रीकृष्ण महाराजने आगे कहा है कि—

प्रवृत्तिकी प्रबलता।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०
गी० १८

"यदि अहंकार वश होकर 'मैं नहीं लडूंगा' ऐसा तू निश्चय करेगा, तो यह तेरा निश्चय व्यर्थ होगा, क्योंकि तेरा स्वभावही तुझे उस ओर घसीट ले जायगा। अपने स्वभावानुकूल स्वकर्मसे बंधा हुआ तू जिसे मोहवश करना नहीं चाहता, उसे तूहि विवश होकर करेगा।" यह अन्तमें उपदेश इस लिये किया कि अर्जुन अपनी प्रवृत्तिके विरुद्ध चल रहा था। बलात्कारसे वैसे प्रकृतिधर्मका विरोध करना अन्तमें लाभदायक नहीं होता है। यदि मनुष्य अपनी प्रवृत्तिको जानकर अपनी प्रवृत्तिके अनुकूल कर्म करेगा, तो उसको कभी अयश नहीं प्राप्त होगा। श्रीमद्भगवद्गीतामें आगे सत्त्व रज तम आदि गुणोंका विचार करके प्रत्येक मनुष्यको अपनी प्रकृतिका स्वभावगुण धर्म जाननेका आदेश दिया है। यदि मनुष्य सत्त्व प्रकृतिवाला हो तो सात्त्विक ज्ञानमार्गसे जानेका निश्चय करे और यदि रजोगुणी प्रकृतिवाला हो तो कर्ममार्गमें प्रवृत्त होवे। सोलहवें अध्यायमें दैवी गुणोंवाले और आसुर गुणोंवाले लोगोंकी प्रवृत्ति कैसी भिन्न होती है इसका वर्णन है। इसका विचार करके मनुष्य अपनी कौनसी प्रवृत्ति है इसका निश्चय कर सकता है। इसीतरह सतरहवें और अठारहवें अध्यायमें सत्त्व रज और तम प्रवृत्तिवाले लोगोंका वर्णन है, इसका विचार करके मनुष्य जान सकता है कि अपनी प्रवृत्ति कौनसी है। इन अध्यायोंमें जो विचार किया है वह मनुष्यको आत्मपरीक्षा करनेके लिये साधक हो सकता है। इसके मनन

से मनुष्य अपनी परीक्षा करके निश्चय करे कि निज प्रवृत्ति सात्विक है या राजस है अथवा तामस है ? इसी तरह अपनी ज्ञाननिष्ठा है या कर्मनिष्ठा है ? इस प्रवृत्तिको जानकर उस प्रवृत्ति के अनुकूल जो कर्तव्य हो वह करनेमें प्रवृत्त हो। अर्जुनने इस अपनी स्वभावप्रवृत्तिका विचार नहीं किया और एकदम विकारवश होकर स्वभावोचित युद्धकर्मका त्याग कर बलात्कारसे ध्याननिष्ठ संन्यास लेकर भिक्षावृत्तिका आश्रय करनेमें प्रवृत्त हुआ। इसीलिये उसने यही समझा कि भगवान् श्रीकृष्णजीने जो संन्यास और कर्म इन दोनों मार्गोंकी प्रशंसा की, वह अपने लियेहि है, ये दोनों मार्ग मेरे लियेहि कहे गये हैं, ऐसा समझकर भ्रममें पडा और प्रश्न करने लगा कि इन दोनों मार्गोंमेंसे कौनसा मार्ग अपने लिये अधिक श्रेयस्कर है ? यदि अर्जुन अपनी प्रवृत्ति को जान लेता, तो यह प्रश्नहि उसके मनमें न उठता, क्यों कि उसकी निसर्गप्रवृत्ति शमदमादि साधन की ओर झुकनेवाली नहीं थी, भोगप्रधान प्रवृत्ति थी। इस तरह अर्जुनके मनमें अहंकार की प्रधानता होनेके कारण उसने अपना सहजप्राप्त कर्तव्य छोड दिया और दूसरा भिक्षुधर्म स्वीकारना चाहा, अतः उसके मनमें सन्देह हुआ और उसने शंका की, जिसका उत्तर भगवान् दे रहे हैं। वे कहते हैं कि "संन्यासमार्ग और कर्ममार्ग ये दोनों निःसन्देह कल्याण करनेवाले हैं।" यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या ये दोनों मार्ग प्रत्येक मनुष्यका हित करनेवाले हैं ? अथवा प्रत्येक मार्ग भिन्नभिन्न प्रवृत्तिवालोंकाहि हित करनेवाला है ?

पूर्वापरसंबंधका विचार करनेसे यह बात स्पष्ट है कि संन्यासमार्ग ज्ञाननिष्ठावालोंके लिये कल्याणकारी है और योगमार्ग कर्मनिष्ठावालोंके लिये हितकारी है। इसी उद्देश्यसे "संन्यास और कर्मयोग ये दोनों मार्ग मनुष्योंका कल्याण करनेवाले हैं" ऐसा सामान्यतया उपदेश यहां कहा है। इसमें किन लोगोंका कल्याण ये दो मार्ग करते हैं यह बात गुप्त है। इसके आगे भी ऐसा ही कहा है कि—

कर्मयोगकी विशेषता ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥
(गी० ५।२)

"इन दोनोंमेंभी संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष श्रेयस्कर है।" परंतु यह कर्मयोग जो श्रेयस्कर है वह सब लोगोंका श्रेयस्कर है अथवा किसी विशेष प्रकारके मनुष्योंको श्रेयस्कर है इसका विचार करना चाहिये। जनतामें दो प्रकारके मनुष्य होते हैं (गी० ३।३) एक प्रकारके पुरुषोंको कर्मनिष्ठ कहते हैं और दूसरे प्रकारके पुरुषोंको ज्ञाननिष्ठ कहा जाता है। जगत् में सब मनुष्य एकही वृत्तिके नहीं होते और उक्त दो निष्ठाओंसे तीसरी निष्ठाभी जगत् में नहीं है। एक वार यह निश्चित होनेसे संन्यासयोग और कर्मयोग किन मनुष्योंके लिये हितकारी है, यह बात स्वयं स्पष्ट होजाती है। इसका स्पष्ट आशय यह है कि संन्यासमार्ग ज्ञाननिष्ठावालोंके लिये हितकारी है और कर्मयोग शेष सब लोगोंके लिये लाभकारी है। जगत् में ज्ञानी लोग बहुतही थोडे होते हैं, अतः कर्मयोग सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये लाभकारी है, यही इसकी विशेषता है।

जो मनुष्य अत्यंत विरक्त होते हैं, भोगवासनाओंसे स्वभावतः दूर रहते हैं, वैराग्य जिनका स्वभावधर्म बना है, जो मुक्त होनेकी एक मात्र कामना धारण करते हैं अथवा जगत् के व्यवहार छोडकर जो केवल ज्ञानप्राप्तिके लियेहि अपना जीवन लगानेको सिद्ध हैं, वे संन्यासमार्गसे जाकर अपना जीवन सफल कर सकते हैं। इनके लिये ही संन्यासमार्ग श्रेयस्कर है।

नामसंन्यासी ।

नहीं तो जो आजकलके वेषधारी नाममात्र संन्यासी हैं, जिन्होंने आजीविकाके लिये संन्यास

ग्रहण किया है, संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् भी विविध भोगप्राप्तिके साधनोंमें जो फंसते रहते हैं जिसका चित्त ब्रह्मप्राप्तिकी अपेक्षा भोगप्राप्तिमें अधिक लगा होता है, जिनको मनके अन्दर संन्यास ग्रहण करनेके कारण पश्चात्ताप होता है, वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। ये वस्तुतः कर्मयोगके अधिकारी हैं। कर्म करके चित्तकी शुद्धता करनेसे इनकी उन्नतिका मार्ग सुकर होता है। ऐसे लोगोंका उद्धार कर्मयोग द्वारा होता है।

पूर्वोक्त संन्यासमार्गके अधिकारी जगत् में थोडे होते हैं। उनको छोडकर शेष सब लोग कर्मयोगसे अपनी उन्नतिका साधन कर सकते हैं, अर्थात् इस कर्मयोगके अधिकारी इस जगत् में अधिक हैं। हरएक मनुष्य कर्ममार्गसे अपना कल्याण कर सकता है, यही (कर्मयोगो विशिष्यते। ५। २) कर्मयोगकी विशेषता है। मानो इस तरह सभी लोग कर्मयोगके अधिकारी हैं। यह कर्मयोग सब लोगोंका कल्याण करनेवाला है। जैसे अधिकार न रहते हुए लिये हुए संन्यास से संन्यास लेनेवाले की गिरावट होती है, वैसी गिरावट कर्मयोगसे किसीकी भी नहीं हो सकती। क्यों कि सभी लोग इसके अधिकारी हैं। ज्ञाननिष्ठावाले लोग भी यदि कर्म करेंगे तो वे गिरेंगे नहीं, परंतु कर्मनिष्ठावाले संन्यास लेंगे तो उनका अधःपात हो सकता है, क्यों कि उनसे संन्यास निभ नहीं सकता। यह कर्मयोगकी विशेषता है।

संन्यासका मुख्य लक्षण भोगेच्छाकी पूर्ण निवृत्ति है। अतः जिसमें भोगेच्छा है उससे संन्यास कदापि नहीं हो सकता। संन्यासधर्मकी यही कठिनता है, क्योंकि प्रायः मनुष्य भोगेच्छायुक्त होते हैं। अब ऐसे भोगेच्छावाले मनुष्य अपनी उन्नति किस तरह साध्य करें? उत्तरमें गीताने कहा है कि वे कर्मयोगसे अपनी उन्नति कर सकते हैं। इसमें भोगेच्छाका पूर्ण त्याग करना आवश्यक नहीं है, थोडा भोग और थोडा त्याग ऐसा मेलमिलापसे साधन करते हुए, इसमें उन्नति प्राप्त करना होता है। इसलिये प्रत्येक प्रवृत्तिका मनुष्य इस कर्मयोगसे उन्नति प्राप्त कर सकता है। यह दर्शानेके लिये संन्यास के मुख्य लक्षण कहे हैं—

संन्यासीके लक्षण।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते॥

'नित्य संन्यासी' के लक्षण ये हैं— (५-३)

(१) यः न द्वेष्टि= जो किसीका द्वेष नहीं करता, किसीका शत्रुत्व नहीं करता,

(२) यः न कांक्षति= जो किसीकी इच्छा नहीं करता, जो किसी भोगकी प्राप्तिकी वासना नहीं धरण करता, जो भोगोंके विषयमें निरिच्छ है,

(३) यः निर्द्वन्द्वः= जो सुखदुःख, हानिलाभ, रागद्वेष, शत्रुमित्र, उच्चनीच आदि द्वन्द्वभावसे दूर रहता है, सुख हो अथवा दुःख हो दोनों अवस्थाओंमें जिसका मन सम रहता है,

(४) यः नित्यसंन्यासी-जो पूर्वोक्त संन्यासीके लक्षणोंसे सदा युक्त रहता है, अर्थात् थोडी देर भोगी और थोडी देर त्यागी नहीं रहता, परंतु सदा सहजतया रागद्वेषरहित रहता है,

वही सुख प्राप्त करके बन्धनसे मुक्त होता है। यहां चार लक्षण संन्यासी के कहे हैं, (१) द्वेष न करना, (२) भोगेच्छा का न होना, (३) द्वन्द्वभावसे दूर होना और (४) इन तीनों गुणोंका सतत होना, ये चार लक्षण जहां होंगे, वह संन्यासमार्गका अधिकारी है। इसमें चतुर्थ लक्षण विशेष महत्त्वका है। कई मनुष्य थोडी देर तक किसीका द्वेष करना छोड देंगे, किसी भोगकी कामना भी नहीं करेंगे, कदाचित् शत्रुमित्र भावादि द्वन्द्वोंसे भी दूर रहेंगे, परंतु यह सब थोडी देर के लिये उनसे नाट्य होगा। इस तरह जो लोग

थोडी देर तक उक्त लक्षण धारण करनेका नाट्य करेंगे, वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। परंतु जिनमें उक्त तीनों लक्षण 'नित्य' रहते हैं, स्वभावसे सहज वृत्तिसे और विना आयास रहते हैं वे संन्यासी हैं।

जिनमें द्वेष करनेकी प्रवृत्ति नहीं, जो स्वभाव से सन्तुष्ट हैं, अतः भोगवासना जिनमें उठती नहीं, जो अनुकूल या विपरीत अवस्थामें सम वृत्तिसे रहते हैं, और ये तीनों वृत्तियां जिनमें सदा रहती हैं, वेही सच्चा संन्यासी हैं। और येही संन्यासमार्गसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

संन्यास का अनधिकारी।

पूर्वस्थानमें संन्यासयोगका अधिकारी कौन है इसके लक्षण कहे। अब उक्त विचारसे हि संन्यासका कौन अधिकारी नही है, इसका विचार हो सकता है। संन्यास लेनेका जिनको अधिकार नहीं है उनमें निम्न लिखित लक्षण होंगे—

(१) यः द्वेष्टि = जो द्वेष करते हैं, निन्दा करते हैं, शत्रुत्व करते हैं, जो झगडालू हैं,

(२) यः कांक्षति= जो वासना धारण करते हैं, मुझे सुख चाहिये ऐसा मान कर जो वासना के पीछे दौडते हैं,

(३) यः द्वन्द्वयुक्तः= जो सुखदुःखादि द्वन्द्वों में फंसे होते हैं, जो सुखसे हर्षित और दुःखसे उदासीन होकर कर्तव्य छोडते हैं।

(४) यः अल्पसमयसंन्यासी= जो थोडी देर तक तो संन्यासभावको स्वीकारना चाहता है, और थोडी देर के पश्चात् पुनः भोगोंमें लिपट जाता है।

इस तरहके लक्षणोंसे जो लोग युक्त होंगे, वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। उनको उचित है कि, वे कर्मयोगसे अपने चित्तकी शुद्धि करें, और क्रमशः उच्च भूमिका को प्राप्त करते जांय। ये लक्षण यद्यपि श्रेष्ठ संन्यासीके हैं तथापि कर्म योगीभी इन लक्षणोंको अपने अन्दर क्रमशः बढा सकता है और कर्मयोग करते हुए भी संन्यासी होनेका फल प्राप्त कर सकता है। इसीलिये येही लक्षण पूर्वस्थानमें कर्मयोगीके वर्णनमें आगये हैं, देखिये—

कर्मयोगीके लक्षण	संन्यासीके लक्षण
निर्द्वन्द्वः (२।४५)	निर्द्वन्द्वः (५।३)
शुभाशुभ परित्यागी (१२।१७)	,,
सिद्ध्यसिद्ध्योः समः (२।४८)	,,
... ...	... ...
न द्वेष्टि (१२।१७)	न द्वेष्टि (५।३)
वीतक्रोधः (२।५६)	... ...
न कांक्षति (१२।१७)	न कांक्षति (५।४)
संगं त्यक्त्वा (२।४८)	,,
फलं त्यक्त्वा (२।५१)	,,
कामं जहि (३।४३)	,,

इस तरह कर्मयोगी अपने कर्ममार्गपर चलता है, और शनैः शनैः उन उच्च गुणोंको प्राप्त करता है, जो गुण ज्ञानमार्गीको प्राप्त होते हैं और इस तरह कर्मयोगीभी उसी स्थानपर पहुंच जाता है, जहां ज्ञानमार्गी पहुंच जाता है। कर्मयोगी यद्यपि भोगप्राप्तिके उद्देश्यसे प्रारंभमें कर्म करता है, तथापि उसको शनैः शनैः त्याग करनाहि पडता है, और जितना उसका स्थान उच्च होता है उतना उसको अधिक त्याग करना अत्यंत आवश्यक होता है। अर्थात् शनैः शनैः उसमें त्यागभाव बढता है और भोगभाव कम होता है, इसी तरह जिस प्रमाणसे उसमें त्यागकी मात्रा बढती है, उसी प्रमाणसे उसमें द्वेषकी मात्रा भी न्यून होती जाती है। ऐसेहि उत्तम कर्मयोगी होनेके लिये उसको 'सम' बुद्धि धारण करनी पडती है, यहां उसको निर्द्वन्द्व होनेका पाठ मिलता है। इस रीतिसे उस कर्मयोगीमें कर्मयोग आचरण करते करते संन्यासीके लक्षण विकसित होने लगते हैं, मानो इस प्रकार उन्नत होनेपर कर्मयोगी और संन्यासयोगी एकहि अवस्थामें हैं ऐसा दिखाई देता है। इसीलिये कहा है कि-

(३) संन्यासके लिये योगकी आवश्यकता।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अन्वयः— हे महाबाहो! अयोगतः संन्यासः तु दुःखं आप्तुं, योगयुक्तः मुनिः नचिरेण ब्रह्म अधिगच्छति॥६॥

हे महाबाहो अर्जुन! कर्मयोगके विना संन्यास दुःखसे साध्य होनेवाला है, परंतु कर्मयोग करनेवाला मुनि शीघ्रही ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ- कर्मके विना ज्ञानयोग सिद्ध होना अत्यंत कठिण है अर्थात् सिद्ध होना प्रायः अशक्य है। परंतु पुरुषार्थरूप कर्मयोग करता हुआ मनुष्य क्रमपूर्वक उन्नत होकर अन्तमें निश्चयसे ब्रह्म प्राप्त करता है, उससे उच्च पदको प्राप्त करता है, मुक्त होता है अर्थात् बन्धनसे छूट जाता है ॥६॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥५।४
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।५।५

"मूर्ख लोग मानते हैं कि सांख्यमार्ग भिन्न है व योगमार्ग भिन्न है, परंतु ज्ञानी लोग जानते हैं कि दोनों का फल एक ही है। क्यों कि इनमें से किसी एक मार्गका अच्छी प्रकार आक्रमण किया जाय, तो दोनोंका फल प्राप्त होता है। जो स्थान सांख्योंको प्राप्त होता है, वही योगमार्गियों को भी प्राप्त होता है, अतः फलकी दृष्टिसे दोनों मार्ग एकही हैं, ऐसा जो जानता है वही सच्चा ज्ञानी है।"

यहां स्पष्ट रीतिसे कहा है कि सांख्य और योग, किंवा ज्ञान और कर्म, अथवा संन्यास और कर्मयोग एक ही अन्तिम फल देनेवाले हैं। जो फल एकसे प्राप्त होता है, वही दूसरेसे मिलता है। दोनों मार्गोंसे एकहि अन्तिम साध्य सिद्ध होता है। यदि ऐसा है, तो दोनोंकी समानतया प्रशंसा करनेमें कोई हानि नहीं है, क्यों कि प्रशंसा सुननेसे मनुष्य इन मार्गोंसे जायगे और अन्तिम सिद्धि दोनों मार्गोंसे जानेवालोंको समानतया प्राप्त होगी। इसलिये मनुष्य इस मार्गसे गये अथवा उससे गये, तो, उसमें कोई हानिकी संभावना नहीं है। मनुष्य चलनेके समय विचार करे कि, अपने लिये सुगम कौनसा मार्ग है? अपनी स्वभावतः कर्मनिष्ठा है या ज्ञाननिष्ठा है। अपनी स्वभावतः जो निष्ठा होगी, उसके अनुकूल अपने योग्य मार्ग द्वारा आगे बढनेसे मार्गक्रमण विना कष्ट हो जाता है, अन्यथा थोडे कष्ट होंगे। जो विचार करना चाहिये केवल इस ही बात का विचार सबसे प्रथम करना चाहिये।

'दोनों मार्ग फलकी दृष्टिसे समान हैं' ऐसा भगवान् श्रीकृष्णजी महाराजका भाषण श्रवण करके अर्जुन को बडी प्रसन्नता होगई, और वह मनही मनमें मानने लगा कि, "जो मैंने स्वयं भैक्ष्यचर्या स्वीकारने द्वारा भिक्षु या संन्यासी होकर तपस्वी होनेका मार्ग आक्रमण करनेका निश्चय किया है, वह भी निःसंदेह उन्नति करनेवाला है, अतः अब युद्ध न करते हुए उसी संन्यासमार्गपर चलना मेरे लिये अच्छा है।" इस तरह अर्जुनके मनमें संन्यासी बननेके विचार चलहि रहे थे इतनेमें उसके भावोंको उसके मुखाविर्भावसे जानकर कुशल वक्ता तत्त्वज्ञानी भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं—

(३) पूर्वस्थानमें ज्ञानयोग और कर्मयोग का फल एकहि है, किंवा फल प्राप्त होनेकी दृष्टिसे ये दोनों मार्ग एकही हैं, ऐसा कहा। इस कथनसे

कोई साधक मान सकता है कि, ये दोनों मार्ग समानतया सुगम हैं, प्रारंभसे अन्ततक अनुष्ठान-कालमें भी एकसा सुख देनेवाले हैं, कोई साधक किसी मार्गसे चलने लग जाय तो उसकी सुगमताकी दृष्टिसे उनमें कोई भेद नहीं, इस तरह का विचार साधकके मनमें आसकता है; इस लिये इस दृष्टिसे इन दो मार्गोंमें जो भेद है उसका विवरण करनेका उपक्रम भगवान् इस श्लोकमें करते हैं।

अयोगतः संन्यासः दुःखं आप्तुं। (५।६)

"योग के न करनेपर संन्यास लिया तो उससे दुःखही दुःख प्राप्त होगा।" परंतु संन्यास न लेते हुए योग का अनुष्ठान किया जाय तो दुःख नहीं होता। इस कथन से इस बातकी स्पष्टता होती है कि सबसे प्रथम मनुष्य योगका अनुष्ठान करे, यहां 'योग' का अर्थ 'कर्मयोग, निष्काम कर्मयोग, कर्ममार्ग, योगसाधन, योगमार्ग, अथवा पुरुषार्थयोग' है। जो साधक प्रारंभमें इस कर्मयोग को करता है वह कुछ साधन के पश्चात् ज्ञानयोग का अधिकारी होता है और उस समय उसने संन्यासमार्ग का स्वीकार किया, तो उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होता।

जो मनुष्य पूर्वजन्मके सत्कर्मसे जन्मसेहि सिद्ध होते हैं, वे चाहे कर्मयोगके अनुष्ठानके विना भी संन्यास ग्रहण करके मोक्षको प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि वे जन्मसे सिद्ध होते हैं। परंतु जो ऐसे जन्मसे सिद्ध नहीं होते हैं, वे सामान्य मनुष्य ब्रह्मचर्यादि आश्रममें रहते हुए, और शनैः शनैः योगाभ्यास करते हुए अपने आपको संन्यासमार्ग के अधिकारी बनावें और पश्चात् संन्यास लें, अर्थात् ज्ञानयोगका अधिकार प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगका आचरण करना आवश्य है।

इसके लिये एक उदाहरण लेते हैं- एक सुंदर अमृत जैसे शुद्ध और पवित्र जलका सरोवर है, उसमें ऐसा उत्तम जल है कि जिस जलका सेवन करनेसे मनुष्य नीरोग, सुदृढ, दीर्घजीवी और सुखी होता है। अतः प्रत्येक मनुष्य उस अमृत जलको प्राप्त करनेका इच्छुक है। उस सरोवरके पास जानेके दो मार्ग हैं, एक सीधा और सुगम्य है परंतु पंधरह सौ कोस लंबा है, दूसरा अति समीपका है, बीचके एक पर्वतपर चढकर एक दो दिनोंमें दूसरी ओर उतरनेसे सरोवर के समीपके तीर पर पहुंचता है। पर्वतपर का मार्ग केवल दो दिनोंका है और दूसरा सीधा मार्ग चलनेके लिये दो अथवा तीन मास लगते हैं। परंतु उस पर्वतपर चढना कठिन है. मार्ग अत्यंत बिकट है। पांव फिसल गया तो निश्चयसे मृत्यु होती है. बीचमें सांप बिछू सिंह व्याघ्र आदि पशु भी हिंसा करनेके लिये तयार हैं। दुष्ट लुटेरे दस्यु भी मारपीट करनेके लिये तैयार हैं, इस कारण यह मार्ग साधारण मनुष्यके जानेके लिये अत्यंत कठिण है। दूसरा दूरका सीधा मार्ग यद्यपि दो मास लगेंगे, तथापि बीचका सब मार्ग सुगम है, मार्गपर पत्थर या गढे नहीं हैं, सुखदायी वाहन हैं, बीचबीचमें धर्मशालाएं अतिसुंदर बनीं हैं, सब खानपानकी सामग्री है इस तरह सुंदर दृश्य देखते हुए मनुष्य आनंदसे वहां पहुंच सकता है। इस विचार-से यह बात निश्चयसे ज्ञात होगी कि समीपके मार्गसे यह दूरका मार्ग सर्वसाधारणके लिये हितकारी है। जो विशेष धीर वीर शूर और विशेष संनद्ध हों वे पर्वतके मार्गसे जावें, परंतु सर्वसाधारण मनुष्यका इसी सीधे दूरके मार्गसे जाना योग्य है।

यही बात संन्यासमार्ग और कर्ममार्गकी है। सर्वसाधारण मनुष्य संन्यासधर्मका यथायोग्य पालन कर नहीं सकता, अतः ऐसा मनुष्य संन्यास लेकर गिर जाता है, परंतु वही कर्ममार्गसे क्रमशः उन्नति प्राप्त करता हुआ अपने परम धाम. को प्राप्त कर सकता है। योग्यता न होते हुए अनधिकारी लोग संन्यास लेकर अपनी और दूसरोंकी गिरावटके लिये कैसे कारण होते हैं,

इसकी प्रत्यक्षता इस समयके नामधारी संन्यासी दे रहे हैं। इस समय बहुत थोडे संन्यासी सच्चे संन्यासी हैं,वे अपना और समाजका उद्धार करते हैं। परंतु अन्य संन्यासी केवल वेषधारी होनेसे राष्ट्रमें कितना अनर्थ करके कैसे भूभार होते हैं यह विचारी मनुष्य अपने चारों ओर देखकर जान सकते हैं। इस लिये वेषधारी नाममात्र संन्यासियोंका नियंत्रण होना चाहिये इसमें संदेह नहीं है।

अब कर्मयोग क्या है और उससे उन्नति का सीधा मार्ग सबके लिये कैसा खुला होता है, इसका संक्षेपसे यहां विचार करना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि पारिभाषिक शब्दोंके उपयोग ऐसे किये जाते हैं कि किसका कहां कौनसा अर्थ है,इसका निर्णय करना विचारवान् पाठकोंको भी दुर्घट कार्य हो जाता है, जैसा 'सांख्य, संन्यास, ज्ञान' इनके साथ 'योग अथवा मार्ग' शब्द लगकर "सांख्ययोग, सांख्यमार्ग, संन्यासयोग, संन्यासमार्ग, ज्ञानयोग, ज्ञानमार्ग" ये शब्द बनते हैं। प्रायः इनका अर्थ गीतामें समान है, परंतु 'ज्ञान' शब्दका 'भौतिक विज्ञान, ग्रंथज्ञान, शास्त्रज्ञान' आदि मानकर कई लोग अर्थका अनर्थ करते हैं। ज्ञानमार्ग आदि शब्दोंका अर्थ गीतामें निश्चत है, "ज्ञानका अर्थ मोक्षविषयक ज्ञान, परमात्मा एक है, वह सर्वव्यापक है, प्रत्येक वस्तुमात्रमें उसकी शक्ति कार्य कर रही है, वही परमात्मा मेरे हृदयमें है,उसका पूर्ण ज्ञान होनेपर उस साधकको प्रापंचिक सुख तुच्छ लगता है, परमात्मसाक्षात्कारका अनुभव प्राप्त करनेकी अभिलाषा बढती है, बेचैनी होता है, और वह आंतरिक आतुरतासे निश्चय करता है कि, इस सर्वव्यापक परमात्माका साक्षात्कार किये विना मैं नहीं रहूंगा। ऐसे अटूट निश्चयसे वह सब प्रपंच छोडता है और परमार्थसाधनमें दत्तचित्त होता है।" यह ज्ञानमार्ग का अथवा संन्यासमार्गका अधिकारी है। शेष सब लोग कर्ममार्गके अधिकारी हैं।

'कर्ममार्ग, कर्मयोग, योगमार्ग' ये सब शब्द समानार्थक हैं। मनुष्य निकृष्टसे निकृष्ट भी क्यों न हो वह अपनी उन्नति इस मार्गसे चलकर निःसंदेह प्राप्त कर सकता है। संन्यासमार्गके समान यहां गिरावट का डर नहीं है। कर्ममार्गमें दो भेद हैं-(१) सकाम कर्म, और (२) दूसरा निष्काम कर्म। सकाम कर्मकी सीढी नीचे है और निष्काम कर्मका स्थान ऊंचा है। साधारण मनुष्य प्रारंभ में सकाम कर्म करे। सकाम कर्मका अर्थ अपने भोगके लिये, सुखके लिये अथवा यशके लिये किये जानेवाले कर्म। मुझे सुख प्राप्त होना चाहिये ऐसा मानकर मनुष्य प्रारंभमें सकाम कर्म ही करता है। क्योंकि निष्काम कर्म बडा कठिन अर्थात् स्वयं प्रयत्न करना और उसका फल न लेना, यह बडा स्वार्थत्यागसे होनेवाला है।

सुखकी इच्छासे ब्रह्मचर्य पालन करता है, प्रापंचिक और पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त करता है, इस ज्ञानप्राप्तिके अध्ययनमें उसको सिद्ध पुरुषोंका जीवनचरित्र विदित होता है, उससे पारमार्थिक उन्नतिकी शाब्दिक कल्पना आती है। पश्चात् वह सुख बढानेके लिये गृहस्थाश्रम स्वीकारता है, विवाह करके सहधर्मचारिणीके साथ रहने लगता है, यहां तो उसको अपनी पत्नीके लिये स्वार्थ त्याग करनेका पाठ मिलता है,थोडे समयके पश्चात् उसको संतान होते हैं, उस समय वह उनके लिये अपने सुखका त्याग करनेका पाठ सीखता है। इसी तरह उसका परिवार जितना बढता है, उतना अपना सुख त्यागना और दूसरोंके हितके लिये प्रयत्न करना वह सीखता है। यही अपने सुखका दूसरोंकी भलाईके लिये संन्यास करना है। कर्ममार्गमें संन्यासका पाठ इस तरह वह सीखता है।

गृहस्थधर्ममें स्वसुखवर्धनके प्रयत्नमें हि इस रीतिसे स्वसुखत्याग करनेसे महत्सुख मिलनेका अनुभव गृहस्थीको प्राप्त होता है। पुत्रादि

के हितके लिये स्वसुखका त्याग करनेसे उसको बडा सुख मिलनेका अनुभव आता है। इसी तरह कर्ममार्गसे आत्मसमर्पणका पाठ उसको मिलता है। आगे इसी तरह अपने कुटुंब के लिये, परिवारके लिये, जातिके लिये और राष्ट्रके लिये आत्मसमर्पण करनेके लिये यह कर्मयोगी तैयार होता है; अन्तमें अपने धर्मके लिये मरनेको भी सिद्ध होता है, यह इसका बडा स्वार्थत्याग है। जब यह जाति, राष्ट्र और धर्मके लिये आत्मसमर्पण करनेको तैयार होता है, तब वह त्यागी अथवा संन्यासी होनेका अधिकार अथवा योग्यता धारण करता है। इस स्थानपर कर्मयोग और संन्यासयोगका संमेलन होता है।

कर्मयोगके अनुसार पहिले सकाम और पश्चात् निष्काम कर्म करनेवाला कर्ममार्गी प्रारंभिक अवस्थामें अपने सुखके लिये कारणीभूत स्त्री आदिकी उपासना करता है, धन देनेवाले धनिकके पास बैठता है,अधिकार देनेवाले राजाका अनुसरण करता है, इहपर लोकमें सुखभोग देनेवाले विविध देवताओंकी उपासना करता है। इस तरह सकाम कर्म करते करते उसको दैवी शक्तिकी जाग्रति होती है। प्रारंभमें अपने उपास्य में वह देवत्वकी कल्पना करता है और अन्यत्र देव नहीं है ऐसा मानता है। परंतु उपासना होते होते, चित्तके मल दूर होते हैं, कुछ श्रवण मनन भी करता है और इस तरह उन्नत होकर सब भूतोंमें परमात्मा की उपस्थिति है ऐसा जानता है और यह विश्वही परमात्माका विश्वरूप है यह बात उसके मनमें स्थिर होती है।

इस ढंगसे कर्मयोगी सकाम कर्मको छोडकर निष्काम कर्म द्वारा परमेश्वरकी पूजा करता है, इस समय वह मानता है कि --

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
गी० १८।४६

"स्वकर्म द्वारा उस परमात्माकी पूजा करनेसे मनुष्यको परम सिद्धि प्राप्त होती है।" इस स्थानपर उसको परमेश्वरकी सर्वव्यापकताका पता लगता है और वह उसका साक्षात्कार करनेको उद्युक्त होता है। यहां इस रीतिसे कर्मयोगी और संन्यासी एक सीढीपर होते हैं।

अपने धर्मके वर्णधर्म और आश्रमधर्म बताने वाले सब शास्त्र इसी कर्मयोगका ही वर्णन करते हैं और आजकल जो भी सार्वजनिक हितके अथवा राष्ट्रहितके कार्य जनताके सन्मुख आये हैं, वे सब तथा वैयक्तिक उन्नतिके सब कार्य इसी वर्णाश्रमधर्ममें किसी न किसी स्थानपर अवश्यमेव रहते हैं। अर्थात् वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले लोग वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, औद्योगिक, राष्ट्रीय आदि सब प्रकारकी उन्नतिमें कदापि पीछे नहीं रहेंगे। अतः हम कहते हैं कि हमारा वर्णाश्रमधर्म सर्वांग परिपूर्ण है और चिरस्थायी अतएव सनातन कहने योग्य है।

कर्मयोगका यह विचार यहां इसलिये किया कि स्वार्थी मनुष्य भी कैसा शनैः शनैः उन्नत होता हुआ अन्तमें परमार्थी बनकर संन्यासमार्गका अधिकारी होता है,अथवा कर्मयोगसे हि वह परम पद प्राप्त करता है कि जो ज्ञानीको प्राप्त होता है; यह बात पाठकोंके ध्यानमें ठीक रीतिसे आजाये। कर्मयोगसे चित्त शुद्ध होनेकी जो संभावना है, वह इस तरह है। थोडासा विचार करनेसे पता लग सकता है कि इस कर्मयोगसे प्रत्येक मनुष्य चलकर उन्नतिका भाग्य प्राप्त कर सकता है। अन्तिम अवस्थामें संन्यासी और कर्मयोगी एकसे बनते हैं इसका तत्त्व यह है। अतः कहा है—

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥ (५।६)

"कर्मयोगका आचरण करनेवाला मुनि शीघ्र ही ब्रह्मपद प्राप्त कर सकता है।" कर्मयोगका अधिकार यह है। इस योगमार्गमें पातंजलयोग, हठयोग भी संमिलित है। नीरोगता, मनःशान्ति

(४) उन्नतिका क्रम।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७॥

अन्वयः— योगयुक्तः, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रियः, सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन् अपि न लिप्यते ॥ ॥

जो योगका आचरण करता है, जिसका हृदय शुद्ध है, जिसने अपने आपको जीत लिया है, जिसने अपने इंद्रियोंको जीत लिया है और जिसका आत्मा सब भूतोंका आत्मा बना है, वह कर्म करता हुआ भी अलिप्त रहता है ॥ ७॥

भावार्थ— जो कर्मयोगमें दत्तचित्त है, जिसने अपनी शरीर, मन और इंद्रियां स्वाधीन करली हैं, और सब प्राणियोंका आत्माही जिसका आत्मा हुआ है, वह कर्म करनेपर भी उन कर्मोंके पुण्यपापसे दूर रहता है अथात् निष्कलंक होता है ॥ ७॥

आदि सुख प्राप्त करनेके हेतुसे मनुष्य इस आसनादि अभ्यासको स्वीकारता है और अभ्यास करते करते वह समाधितक पहुंचता है। यही कर्मयोगकी विशेषता है। इसका प्रारंभ सकाम कर्म अर्थात् अपने सुख बढानेके कर्म के प्रारंभ में होता है, इसलिये यह मार्ग हरएकको पसंद आता है, और ये कर्म करते करते मनुष्य निष्काम कर्म करने लगता है और पश्चात् क्रमशः मोक्षका अधिकारी होता है।

कर्मयोगमें शास्त्रवचनसे जो कर्म बताये हैं वेही करने चाहिये। जो शास्त्रने कहा वह करो, न कहा वह न करो। शास्त्रपर विश्वास रखो, शास्त्रही आगेका मार्ग बता देगा। इस विचार-पद्धतिसे निष्काम कर्मकी दीक्षा मिलती है और मनुष्य निष्काम कर्मयोगी बनकर उच्च अवस्था प्राप्त करता है। पाठक यहां स्मरण रखें कि इस कर्मयोगके लिये प्रत्येक मनुष्य अधिकारी है, यह कर्मयोग किसीको दूर नहीं करता, स्वार्थीसे स्वार्थी मनुष्य भी इस मार्गसे उन्नतिके पथपर चलकर उन्नत हो जाता है। यही कर्म योगकी विशेषता है। (कर्मयोगो विशिष्यते। गी० ५।२)

कर्मयोगी उक्त प्रकार अपनी उन्नति करता है, इसकी उन्नतिका क्रम कैसा है यह आगे बताते हैं—

(७) कौन मनुष्य कर्मके दोषसे दूर होते हैं और कौन कर्मके दोषसे दोषी होते हैं इसका विचार इस श्लोकमें किया है। इस श्लोकमें कर्मयोगकी उन्नतिका क्रम भी बताया है। इसमें सबसे प्रथम कर्मयोगमें तत्पर होना चाहिये, ऐसा कहा है—

योग-युक्त।

'योग-युक्त' शब्दसे यही बात कही है। योगयुक्तका अर्थ कर्मयोगतत्पर है। योगयुक्तका अर्थ 'योगकी रीतिसे अपने दैनिक कार्य करनेवाला' है। जो कुछ कर्म वह करता है, वह कर्मयोगकी रीतिसे करता है। उनका चालना बोलना बैठना उठना सब कुछ कर्मयोगके अनकूल होता है, अर्थात् कर्मयोगाचरण जिसका स्वभावधर्मसा बना है वह मनुष्य योगयुक्त, कर्मयोगी अथवा योगी है। कर्मयोगसे अपनी उन्नति सिद्ध करनेवालेको उचित है कि वह इस प्रकार अपने आपको कर्मयोगयुक्त अर्थात् कर्मयोगमें दत्तचित्त करे, अपना जीवन योगमय करे, अपना चाल-

चलन रहना सहना आदि योगमय करे। योगका अर्थ समता और कर्मकुशलता है। (गी० २।४८; ५०) अपने द्वारा जो कुछ कर्म हो जाय वह योग ही बने, इस तरह जो कर्मयोगी अपना सब व्यवहार योगमय करता है, वह मानो दिनरात योगाचरण ही करता है, उसने अहिंसा की तो भी वह योग होगा और हिंसा की तो भी वह योगही होगा। जो उससे होगा वह सब योगही होगा। इस तरह कर्मयोगरूप जीवन व्यतीत करनेवाले को क्रमसे शुद्धि होती है।

विशुद्ध आत्मा।

अपना जीवन उक्त प्रकार योगमय करनेसे वह शुद्ध होने लगता है। अपना जीवन योगमय करना बडा कठिन कार्य है। यह सहज साध्य नहीं है, तथापि मनुष्यको यह बात सिद्ध करनेके लिये तत्परतासे यत्नवान् होना चाहिये। बडा प्रयत्न करनेपर यह योगमयता अपना स्वभाव बन सकती है। जो आचरण किया जाय, उसमें समता है वा नहीं, इसका विचार करनेसे अपने आपको पता लग सकता है कि, यह आचरण योगयुक्त हुआ या नहीं। ऐसी विचारपूर्वक अपने आचरणकी परीक्षा करनेसे कुछ समयके पश्चात् अपना आचरण योगानुकूल होने लगता है और अपनी शुद्धि होती जाती है।

इस आचरणमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरभक्ति की प्रधानता रहती है। अपने मन आदि इंद्रियोंसे अहिंसा आदिक कर्म ही करने चाहियें और हिंसा, असत्य, चोरी, भोग, अपने पास वस्तुसंग्रह करना, अपवित्रता, असंतोष, शीतोष्ण सहन न होना, अध्ययन न करना और ईश्वरसे विमुख होने आदिकी ओर नहीं जाना चाहिये। पहिले पहिले आचरणका यही पाठ है। इस पाठका अभ्यास करते रहनेसे साधक अपवित्रतासे दूर होता है और पवित्रता की ओर जाता है। इस तरह क्रमपूर्वक जितना अभ्यास होगा, उतनी पवित्रता उसकी होती जायगी। कर्मयोगसे इस तरह पवित्रता होती है।

'विशुद्धात्मा' शब्दमें यद्यपि 'विशुद्ध हुआ आत्मा' ये शब्द हैं तथापि यहांका आत्मा शब्द 'शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा' का वाचक है। यहां का आत्मा शब्द 'अपना' वाचक है। अर्थात् कर्मयोगसे जो पवित्रता होती है वह शरीरकी, इंद्रियोंकी, मनकी, बुद्धिकी और आत्माकी होती है। मानो वह अन्तर्बाह्य शुद्ध होता है। उसका शरीर निर्दोष, नीरोग और निर्मल होता है, उसकी इंद्रियां सुसंस्कारसंपन्न होती हैं और कुपथमें नहीं भटकती, उसका मन शुभ संस्कारयुक्त होता है, उसकी बुद्धि निर्मल होती है और आत्मा सदा प्रसन्न होता है। कर्मयोगीका स्थान इस समय इस द्वितीय भूमिकापर होता है। इस शुद्धता और निर्मलतासे वह अपने इंद्रियोंको जीतनेमें समर्थ होता है।

विजितात्मा, जितेन्द्रिय।

कर्मयोगसे पवित्रता और पवित्रतासे इंद्रियनिग्रह होता है। यह उन्नतिका क्रम है। कर्मयोगसे पवित्रता और निर्दोषता किस तरह सिद्ध होती है इसका वर्णन इससे पूर्व किया जा चुका है। अब उस पवित्रतासे इंद्रिय-निग्रह किस तरह सिद्ध होता है इसका विचार करना है। पवित्रता साध्य करनेका ध्येय अपने सन्मुख रखने मात्रसेहि सब प्रकारकी अपवित्रतासे दूर रहनेकी ओर रुचि होती है। सत्यका अवलंबन करनेकी प्रतिज्ञा करनेसेहि सब प्रकारके असत्यसे दूर रहना आवश्यक हो जाता है। अहिंसामय जीवन व्यतीत करनेका निश्चय करनेसे संपूर्ण प्रकारकी हिंसासे दूर रहना पडता है। इसप्रकार सब तरहके असद्व्यवहारोंसे दूर रहनेमें इंद्रियोंको संयमकी शिक्षा मिलती है।

सामान्य मनुष्यके सन्मुख सत् और असत्

ये दोनों प्रकारके व्यवहार उपस्थित होते हैं और वह किसी समय सद्व्यवहारमें जाता है और किसी समय असद्व्यवहारमें फंसता है। यह स्थिति असंयमकी है। असंयमका अर्थ विषयों से पराभव होना है। जो विषय सामने आता है वह इसका पराभव करता है और इसको अपने आधीन कर लेता है और वह मनुष्य पराधीनता से विषयमें लिपट जाता है, तथा प्रसंगविशेषमें वह अनर्थ भी कर लेता है। काम क्रोध लोभ मोह मद और मत्सर ये इसको परास्त करते हैं और इसको बांधकर जैसा चाहे वैसा इससे आचरण कराते हैं। यह पूर्ण पराधीन अवस्था है। इससे उन्नत होनेके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह सबसे प्रथम असद्व्यवहार से दूर रहे और सद्व्यवहारमें हि दत्तचित्त हो। यही आत्मशुद्धि का मार्ग है और इसीसे इंद्रियजय, मनोजय और आत्मजयके पाठ मिलते हैं। सद्व्यवहार में प्रवृत्त रहनेसे निश्चयसे हि असद्व्यवहार के झंझाटसे मनुष्य बच सकता है, और उतना उसका संयम होता है और उतनाही उसका विजय होता है। इस रीतिसे शनैःशनैः वह आत्मसंयम में अपना कदम आगे बढता हुआ 'विजितात्मा और जितेंद्रिय' बनता जाता है। इस दृष्टिसे पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, आत्मशुद्धि करनेके यत्न से हि आत्मजय होता है। मनुष्यकी शुद्ध और अशुद्ध व्यवहारमें प्रवृत्ति होती है, परंतु जो आत्मशुद्धीकी इच्छासे शुद्ध व्यवहारमें अपने आपको रखता है और अशुद्ध व्यवहारसे बचता है, उसने मानो सौमें पचास प्रलोभनोंसे अपना बचाव निःसन्देह किया है। और असद्व्यवहारमें प्रलोभनों की संभावना अधिक होनेसे जो मनुष्य केवळ सद्व्यवहार में हि अपने आपको रखता है वह प्रायः सभी प्रलोभनोंसे दूर रहता है। यही आत्मजय और इंद्रिय जय है।

इस तरह 'योगतत्पर' होनेसे 'आत्मशुद्धि, आत्मजय और इंद्रियजय' क्रमशः साध्य होते हैं। 'विजितात्मा और जितेन्द्रिय' का अर्थ 'शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि और आत्माको जीतना' है। साधारण स्थितिमें इंद्रियां ही हुकुमत करती हैं, शासन करती हैं, अर्थात् इंद्रियां जो चाहती हैं वही करना पडता है अर्थात् यहां शासन इंद्रियोंका होता है न कि आत्मा का। जिस समय आत्माका विजय होता है उस समय शरीर, इंद्रियां, मन और बुद्धि आत्माके आधीन रहती हैं और स्वेच्छाचार नहीं करतीं हैं। यह आत्माका राज्य है, इसीको आध्यात्मिक स्वराज्य किंवा वैदिक भाषामें बोलना हो तो 'स्वाराज्य' कहते हैं।

सर्वभूतात्मभूतात्मा।

साधक प्रारंभमें शुभकर्ममें रत होता है, उस कर्मसे वह निर्दोष बनता है, इंद्रियजय तथा आत्मजय करके संयमी होता है, और अन्तमें 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होता है। सर्व भूतोंका आत्मा जिसका आत्मा बना है, उसको 'सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा' कहते हैं। यह अन्तिम उन्नतिकी अवस्था है। सर्वसाधारण लोगोंका अनुभव प्रारंभावस्थामें 'मेरा आत्मा भिन्न है और दूसरेका आत्मा भिन्न है तथा प्रत्येकका आत्मा भिन्न है' ऐसा होता है। यह भिन्नभावकी अवस्था है, यही सब दुःखोंका कारण है। इस अवस्थामें यह अपने सुखके लिये दूसरोंके गले घूंटता है। दूसरोंका नाश करके अपने सुख बढाने के यत्नमें तत्पर रहता है। इससे उसको अनंत दुःख भोगने पडते हैं। दुःखोंके अनुभवके पश्चात् वह दूसरोंपर प्रेम करने लगता है, जहां तक इस के प्रेमकी व्याप्ति फैली होती है, वहांतक उसका आत्मा फैलता है। पहिली वैयक्तिक आत्माकी अवस्था छोडकर यह 'कुटुंबात्मा' बनता है और अपने स्त्रीपुत्रादिकों पर अपने आत्मासमान प्रेम करता है, उनके सुखसे सुखी और उनके दुःखोंसे दुःखी होता है। यह कुटुंबात्मा की अवस्था कुछ

समय वह अनुभवता है, इस समय इसका प्रेम अपने कुटुंबपर रहता है। अपने कुटुंबके सुखके लिये दूसरे कुटुंबोंका घातपात करनेमें इस समय यह प्रवृत्त होता है, इससे कुटुंबोंमें झगडे होते हैं। इस अवस्थासे उन्नत होकर यह 'जात्यात्मा' बनता है। अपनी जातिपर प्रेम करने लगता है, इस समय इसका आत्मा जातितक फैलता है। इस अवस्थामें यह जातिके हितके लिये अपने और अपने कुटुंबकी आहुति देनेमें धन्यता मानता है। जातिके लिये आत्मसर्वस्व समर्पण करता है, परंतु दूसरी जातिसे युद्ध करता है और अपनी जातिके हितके लिये दूसरी जातिका नाश करनेमें प्रवृत्त होता है। इससेभी जगत् में दुःख बढानेका अनुभव होता है।

इसके नंतर वह राष्ट्रात्मा बनता है। अपने राष्ट्रके हितके लिये अतुल स्वार्थत्याग करता है, परंतु दूसरे राष्ट्रोंके साथ द्वेष करता है, युद्ध करता है, दूसरे राष्ट्रवासियोंको पादाक्रान्त करता है, उनको लूटता है इस कारण जगत् में द्वेष बढता जाता है और इस द्वेषसे उसको अत्यंत दुःख भोगना पडता है। इसके पश्चात् मानवसमष्टिका आत्मा बनता है, इसका आत्मा मानो इस समय मनुष्यमात्रतक फैलता है, इस समय यह जात पात राष्ट्र आदि बंधनोंसे बाहर होता है, बडे विस्तृत कार्यक्षेत्रका अनुभव करता है। संपूर्ण मानवोंको अपने परिवारमें मानता है और भेद मिटनेके कारण बडा सुख अनुभव करता है। तथापि इस समय यह मानवेतर प्राणियों को अपना भोग्य समझता है और मानवोंको भोक्ता समझता है। इस दोषके कारण फिरसे उसको दुःखोंका अनुभव होता है। इन दुःखोंमें तडफता हुआ आगे सोचता है, उस समय उसको प्रतीत होता है कि अपने आत्मा की भूतमात्रतक व्याप्ति बढानी चाहिये, तभी शान्तिकी संभावना है।

इस ज्ञानके अनुसार वह अपने प्रेमका फैलाव भूतमात्रतक करता है। इस समय वह संन्यास लेकर अपने प्रेमका विस्तार सब भूतोंतक करता है। जितना उसका प्रेम विस्तृत होता है उतनाही उसका आत्मा फैलता है क्योंकि प्रेमहि आत्माका गुण है। इस समय वह 'मैं किसीकी हिंसा नहीं करूंगा' ऐसा संकल्प करके सब भूतमात्रके हितके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
गी० ५।२५

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहित रताः॥
गी० १२।४

"जिनके पाप नष्ट हुए हैं, जिनका द्वैतभाव नष्ट हुआ है, जिन्होंने अपने आपका संयम किया है, जिनके इंद्रियसमूह वशमें हुए हैं, जिनकी सर्वत्र समबुद्धि हो चुकी है, जो सर्व भूतोंके हित करनेके कर्ममें रमते हैं; वे ईश्वरको प्राप्त करते हैं।" यहां हमें ईश्वरकी प्राप्तिका मार्ग कौनसा है और ईश्वरसे दूर होनेका मार्ग कौनसा है, इसका ज्ञान होता है, देखिये—

ईश्वरप्राप्तिका मार्ग	ईश्वरसे विमुखता का मार्ग
पापनाश	पाप
द्वैतनाश	द्वन्द्व, युद्ध
आत्मसंयम	असंयम
इंद्रियदमन	इंद्रिय स्वैराचार
समबुद्धि	विषमबुद्धि
सर्वभूतहितरति	अपने हितमें रति
ईशप्राप्ति	असुरत्वप्राप्ति
ब्रह्मप्राप्ति	अल्पत्वप्राप्ति
मुक्ति, स्वातंत्र्य	बंधन, परवशता

पाठक यहां विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि सर्वभूतहितमें रममाण होनेसे पापनाशादि सब ही गुण प्राप्त होते हि हैं। अपने प्रस्तुतके श्लोकमें 'योगयुक्त, विशुद्धात्मा, विजि–

(५) तत्त्वज्ञानी योगी।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥

अन्वयः – युक्तः तत्त्ववित् पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्, प्रलपन्,

तात्मा, जितेंद्रिय और सर्वभूतात्मभूतात्मा ' ये शब्द मुख्य हैं। इस श्लोकका ही भाव पूर्वोक्त दो श्लोकोंमें है, देखिये—

क्षीणकल्मषाः (५।२५) विशुद्धात्मा (५।७)
यतात्मा ,, विजितात्मा ,,
संनियम्येन्द्रियग्राम ,, जितेन्द्रिय ,,
सर्वभूतहितरत सर्वभूतात्मभूतात्मा ,,
(५।२५;१२४)
सर्वत्र समबुद्धिः (२।४) योगयुक्त ,,

पाठक इन शब्दोंको परस्पर तुलना करेंगे तो उनको उक्त उपदेशोंमें कितनी समानता है, इस का ज्ञान हो सकता है। अस्तु। सर्व भूतोंके हित-में रमनेकी अवस्था उच्चतम अवस्था है। व्यक्ति-हित, कुटुंबहित, जातिहित, राष्ट्रहित, मानव समाजहित और सर्वभूतहित इस तरह मनुष्य की उन्नतावस्था होती है और पहिले जो अपने हितके लिये संपूर्ण जगत्को स्वाहा करना चाह-ता था, वही अन्तमें विश्वके हितके लिये अपना सर्वस्व समर्पण करता है, यही सर्वभूतहितमें रत होना है और यही सर्वभूतात्मभूतात्मा बनता है। इस समय उसको कोई दूसरा दीखता ही नहीं। सबकी भलाईमें अपनी भलाई होती है, इस बात का अनुभव वह इस समय करता है। सब भूतोंका हित करनेसेहि सच्चा अपना हित होता है, यह बात इस समय वह स्वानुभवसे जानता है। संपूर्ण जगत् में एकही आत्मा सर्वव्यापक है और वही मैं हूं, मुझसे भिन्न कोई वस्तु नहीं, यह भाव ' सर्वभूतात्मभूतात्मा ' की अवस्थामें अनुभवमें आता है। इस समय न कोई मेरा है, न कोई पराया है और न कोई अपनेसे भिन्न है ' यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस समय जो यह सब भूतोंके हितमें रमता है वह मानो अपनेहि हितमें रमता है, क्योंकि अपनेसे भिन्न कोई पदार्थका अस्तित्वही नहीं होता है।

एकात्मप्रत्ययसारं शिवं॥ मांडूक्य उ० ॥

एक आत्माका प्रत्यय इस समय उसको आता है। इस समय चाहे आप ऐसा भी मान सकते हैं कि इसका आत्मा सब भूतोंको व्यापता है,अथवा आप ऐसा भी मान सकते हैं कि (सर्व-भूतात्म-भूतात्मा) सर्व भूतोंका आत्मा जिसका आत्मा (सर्वात्मभावसे) बना है। सबका आत्मा (सर्व गतः। गी० २।२४) एकही होनेसे उक्त दोनों कथनोंका भाव एकही होता है।

पूर्वोक्त स्थानमें मनुष्यकी उन्नतिका क्रम स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। साधक इस क्रमका अवश्य मनन करे। कर्मयोगसे आत्मशुद्धि होकर मनुष्य कैसा उन्नत होता है और अन्तमें सर्वात्मभावको कैसा प्राप्त होता है, इसका यहांका वर्णन बडाही मननीय है। इस तरह सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ साधक अब साधक नहीं रहता,परंतु सिद्ध बनता है और—

कुर्वन्नपि न लिप्यते। (५।७)

" कर्म करनेपर भी वह कर्मके गुणदोषोंसे लिप्त नहीं होता है।" सदा एकसा निर्दोष नि-ष्कलंक अथवा निष्पाप रहता है। कर्मके बंधनसे छूटता है, मुक्त होता है अथवा ब्रह्मरूप बनता है। इस समय इसकी मनोभावना कैसी होती है, इसका वर्णन अब देखिये—

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

अन्वयः— प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्, उन्मिषन्, निमिषन् अपि, इंद्रियाणि इंद्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारयन्, अहं किंचित् न एव करोमि इति मन्येत ॥ ८-९ ॥

योगयुक्त तत्त्वज्ञानी देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, छोडते, लेते, पलक खोलते और बंद करते समय 'केवल इंद्रियां ही अपने अपने विषयोंमें स्वयं वर्तती हैं, और मैं कुछ भी नहीं करता' ऐसा अनुभव करे ॥ ८-९ ॥

भावार्थ— साधक सबसे पहिले संपूर्ण तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करे और पश्चात् अपना जीवन योगमय करे। इससे शनैः शनैः उसकी कर्मविषयक अहंकारबुद्धि कम होती जायगी, और अन्तमें ऐसी एक उच्च अवस्था उसके अनुभवमें आजायगी कि, जिसमें इंद्रियोंके सब व्यवहार विना इसकी अहंकारयुक्त प्रेरणाके स्वयं हो रहे हैं और उनका कर्तृत्व इसके पास थोडासा भी नहीं, है ऐसा अनुभव उसको आजायगा ॥ ८-९ ॥

तत्त्ववित्।

(८-९) इन दो श्लोकोंका मिलकर एक वाक्य है। इस में कहा है कि साधक पहिले 'तत्त्ववित् योगी' बने। 'तत्त्ववित्' का अर्थ तत्त्वज्ञानी, तत्त्वोंके गुणधर्म जाननेवाला। तत्त्व कुल पच्चीस हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात्पंच तन्मात्राणि, उभयमिंद्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुषः इति पंचविंशतिर्गणः ॥

सांख्यदर्शन १।६१

" सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंकी सम अवस्था का नाम प्रकृति है। इस प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है, महत्तत्त्वसे अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकारसे पांच तन्मात्रा, पांच कर्मेंद्रिय और पांच ज्ञानेंद्रिय तथा मन बनते हैं, पंच तन्मात्रोंसे पांच स्थूल भूत बनते हैं और पच्चीसवाँ आत्मा है।" इसका आशय यह है—

सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंकी सम अवस्था अर्थात् किसी एक गुण की न्यूनाधिकता न होना प्रकृतिका स्वरूप है। इसी साम्य अवस्थाको 'प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त, कारण, मूल प्रकृति' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है, महत्तत्त्व का अर्थ सब जगत्में व्यापनेवाला बुद्धितत्त्व है। जागतिक बुद्धि ऐसा भी इसका नाम हो सकता है। मूल प्रकृतिसे पहिला कार्य यह बना है।

इस महत्तत्त्वसे अहंकारकी उत्पत्ति हुई। अहंकारका अर्थ 'मैंपन' है। 'मैं भिन्न हूं और दूसरे भिन्न हैं' इस प्रतीतिका नाम अहंकार है। इसी अहंकारके कारण इस जगत्के बीचमें मर्यादा भेदभाव, द्वैतभाव आदि उत्पन्न होते हैं।

इस अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्रा हुए। तन्मात्राका अर्थ मूल सूक्ष्म तत्त्व, जिनसे इन पांच गुणोंका बोध होता है वे मूल शुद्ध तत्त्व। इनसे पांच ज्ञानेंद्रिय और पांच कर्मेंद्रिय बने हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिव्हा और नासिका ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं, और वाक्, हाथ, पांव, गुदा और उपस्थ ये पांच कर्मेंद्रिय हैं। ये दस इन्द्रिय पूर्वोक्त तन्मात्राओंसे

क्रमपूर्वक बने हैं। इन दस इंद्रियोंको बाह्य इंद्रिय कहते हैं। दूसरा आभ्यंतर इंद्रिय मन है, वह भी अहंकारसेहि बना है। इनमें अहंकार होनेसे प्रत्येक इंद्रियका गुण कर्म और स्वभाव भिन्न भिन्न होता है। गुण कर्म स्वभावोंकी अर्थात् धर्मकर्मकी भिन्नताही अहंकारका लक्षण है। पांच तन्मात्रा, पांच ज्ञानेंद्रिय, पांच कर्मेंद्रिय और मन मिलकर सोलह पदार्थ अहंकारसे बने हैं।

पंच तन्मात्राओंसे पांच स्थूल भूत बने हैं. पृथ्वी, आप तेज, वायु और आकाश ये पांच स्थूल भूत हैं।

मूल प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पांच तन्मात्रा, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेंद्रिय मन, पांच महाभूत और आत्मा मिलकर पच्चीस तत्त्व हैं।

इनका यथावत् ज्ञान होनेका नाम तत्त्वज्ञान है। जो इनका यथावत् ज्ञान प्राप्त करता है उसीको तत्त्ववित् कहते हैं। जो कुछ पढाईका विषय है वह यही है। इस पढाईमें प्रायः आज कलके सभी शास्त्र आते हैं। आजकलके विज्ञानके जितने भी शास्त्र हैं उन सबका समावेश इस पढाईमें होता है और आत्माका शास्त्र विशेषतया इसमें पठनीय करके कहा है, जिसकी ओर आजकलकी पढाईमें ध्यान कम है। यही आर्य और अनार्य पाठविधिमें भेद है। अस्तु। इससे ज्ञात होगा कि गीतामें जिसको तत्त्ववित् कहा है, वह ज्ञानविज्ञानसे संपन्न है, अर्थात् वह भौतिक विज्ञानशास्त्र का और आत्मिक ज्ञानको जाननेवाला है। यह अधिकार कोई साधारण नहीं है। शब्द ब्रह्मको आत्मसात् करनेसेहि यह अधिकार प्राप्त होना संभव है।

इस तरह जिसने शब्दोंके द्वारा तथा मननके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है अर्थात् जिसने प्रत्यक्ष अनुभव नहीं लिया, परंतु शब्दों द्वारा तत्त्वको जाना है, वह (तत्त्ववित् युक्तः) तत्त्वज्ञानी योगयुक्त होवे अर्थात् शब्दोंद्वारा प्राप्त किये ज्ञानका अनुभव किंवा साक्षात्कार करनेके लिये योग का अभ्यास करे।

योगी।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। यो० द० १।२

"योगका अर्थ चित्तवृत्तियोंका निरोध है।" गीतामें योगके दो अर्थ दिये हैं—

समत्वं योग उच्यते॥ गी० २।४८

योगः कर्मसु कौशलम्॥ गी० २।५०

'सिद्धि और असिद्धि आदि द्वन्द्वोंके विषयमें मनकी सम भावनाका, और कर्म करनेकी कुशलताका नाम योग है।' अर्थात् योगी, योगयुक्त किंवा युक्त बननेका तात्पर्य यही है कि, अपनी चित्तवृत्तियोंका निरोध करना, द्वन्द्वोंका परिणाम अपने ऊपर न होने देना और कर्मकी कुशलता संपादन करना। इसमें 'समत्व' का अर्थ विशेष रीतिसे ध्यानमें धारण करना चाहिये। मनुष्यका मन सदा विषम रहता है, स्वकीय और परकीय भावकी विषमता, सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय, उच्चनीच, सिद्धि असिद्धि आदि अनेक प्रकारकी विषमता इस जगत् में है। इस विषमताका परिणाम मनपर न हो और किसी भी अवस्थामें मनकी समवृत्ति न बदले, इसका नाम योगसाधन है, किंवा योगाभ्यास है किंवा अभ्यास है। यही समत्वका अभ्यास है। चित्तवृत्तिका निरोध करके यही समत्व प्राप्त करना चाहिये। जिसका मन इस प्रकारके समभावसे सदा युक्त होता है और कितनी भी विपरीत परिस्थिति उत्पन्न होनेपर उसमें थोडी भी चंचलता उत्पन्न नहीं होती, उसको योग सिद्ध हुआ ऐसा मान सकते हैं।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि मनकी चंचलता अनुकूल परिस्थितिसे जैसी होती है वैसी ही प्रतिकूल परिस्थितिसे भी होती है। धन प्राप्त होनेपर मनुष्य उन्मत्त होता है और निर्धनता आनेसे वह खिन्न होता है। परंतु जिसका मन 'सम' हुआ है, जिसने समत्वयोगका अभ्यास

उत्तम रीतिसे किया है और जिसको समत्वकी सिद्धि हो चुकी है उसका मन किसी भी अवस्था में चंचल नहीं होगा। कठिनसे कठिन प्रसंग में भी उसको सहजानंदवृत्तिमें न्यूनता नहीं होगी। जिसको यह स्थिति पूर्णतया प्राप्त हुई है उसको हि 'योगी' कह सकते हैं। और जिसको पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान हुआ है और जिसने यह योग भी साथ साथ सिद्ध किया है उसको 'तत्त्ववित् योगयुक्त' कह सकते हैं।

तत्त्ववित् योगी ।

ऐसा तत्त्वज्ञानी योगी कैसा व्यवहार करता है यह बात इन दो श्लोकोंमें कही है। "चलने बोलन सूंघने आदि व्यवहार करते समय ये कार्य मैं नहीं करता, परंतु इंद्रियों से स्वयं ये कर्म हो रहे हैं" ऐसा अनुभव उस तत्त्वज्ञानी योगीको सदा होता है। प्रथमतः यह बात समझना जरासा कठिण है। कोई व्यभिचारी अत्याचारी और दुराचारी भी इससे कहेगा कि मैं तो व्यभिचार अत्याचार या दुराचार नहीं करता, मेरे इंद्रियही ये व्यवहार करते हैं; परंतु यह उसका कथन नितान्त असत्य है। क्योंकि 'तत्त्ववित योगी' होनेपर उससे ऐसे हीन आचार होना सर्वथा असंभव है। तत्त्ववित् योगी हि कह सकता है कि मेरे इंद्रियों द्वारा जो कुछ हो रहा है उससे मेरा संबंध नहीं, वह मैं नहीं करता, परंतु उसका कर्ता मुझसे भिन्न है। इसका अनुभव लेनेकी रीति निम्न लिखित स्थानपर दी है, उसका अनुभव पाठक स्वयं ले सकते हैं।

अकर्तृत्वका अनुभव ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें अकर्तृत्वका अनुभव कई श्लोकोंमें कहा है। पाठक भी यह अनुभव थोडेसे अभ्याससे ले सकते हैं। उक्त श्लोकमें जो कर्म लिखे हैं वे ये हैं—

पश्यन्	(देखना)	नेत्र का कार्य
शृण्वन्	(सुनना)	कान ,,
स्पृशन्	(स्पर्श करना)	त्वचा का कार्य
जिघ्रन्	(सूंघना)	नाक ,,
अश्नन्	(खाना)	मुख ,,
गच्छन्	(जाना)	पांवों ,,
स्वपन्	(सोना)	मन ,,
श्वसन्	(श्वास लेना)	नाक ,,
प्रलपन्	(बोलना)	मुख ,,
विसृजन्	(छोडना)	गुदा ,,
गृह्णन्	(लेना)	हाथ ,,
उन्मिषन्	(पलक खोलना)	प्राण ,,
निमिषन्	(,, बंद करना)	,, ,,

ये तेरह कार्य यहां कहे हैं। परंतु पाठक अनुभवके लिये अन्यान्य कार्य भी विचार में ले सकते हैं। प्रथम पलक खोलना और बंद करना (उन्मेष और निमेष) ये कार्य तो प्रत्येक मनुष्य कह सकता है कि मैं नहीं करता, ये स्वयं हो रहे हैं। अर्थात् इस निमेष-उन्मेषका कर्तृत्व मेरे पास नहीं है, इसका कर्ता कोई हो परंतु वह मैं नहीं हूं। इस विषयके अकर्तृत्वका अनुभव प्रत्येक मनुष्यको स्वयं है।

इसी तरह गुदाका कार्य छोडनेका है। यद्यपि शौच छोडनेपर मनुष्यका थोडा दबाव है, जिस समय चाहे वह शौच जाता है, जिस समय चाहे नहीं जाता, तथापि प्रबल वेग आनेपर यह शौच का कार्य भी करने न करनेका अधिकार मनुष्य के आधीन नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त केवल शौच करना ही 'विसर्जन' का कार्य नहीं है। शरीरके संपूर्ण रोमरंध्रोंसे जो मलत्याग, पसीने का त्याग, आंख नाक कान आदिसे मलत्याग होता है वह भी विसर्जनकाही कार्य है और वह मनुष्यके आधीन बिलकुल नहीं है। शरीरमें शौच का कार्य केवल गुदासे हि होता है ऐसा मानना ठीक नहीं है। शरीरके लाखों रोमरंध्रोंसे शौच-का कार्य हो रहा है और वह मनुष्यके आधीन बिलकुल नहीं है। इसका कर्तृत्व मनुष्य अपने पास है ऐसा किसी तरह नहीं मान सकता।

इसके पश्चात् (स्वपन्) सोना देखिये। सोने का कार्य भी मनुष्य अपने कर्तृत्वसे कर सकता है ऐसी बात नहीं है। "मैं अब निद्राको लाता हूं" ऐसा कहकर कोई निद्रा लानेके लिये प्रयत्न करे, तो निद्रा आना बंद होता है। निद्रा लानेका उपाय इंद्रियों और मनको निष्क्रिय करनाहि है। अर्थात् अपने कर्तृत्वका अभिमान छोडनेसेहि निद्रा आनेकी संभावना होती है। कर्तृत्वका अहंकार पूर्ण नष्ट हुआ, मन स्थिर और शान्त हुआ, कर्मप्रवृत्ति बंद हुई तो निद्रा आती है। इसलिये (स्वपन्) सोने का कार्य अपने कर्तृत्वसे होता है ऐसा कहना असंभव है।

(श्वसन्) श्वास लेने और छोडनेका कार्य भी मनुष्यके आधीन नहीं है। प्राणायाम करनेवाले योगी कुछ समय कुंभक करके श्वासको बंद रखते हैं, तथापि वे भी सदाके लिये बंद नहीं रख सकते। कुंभककी मर्यादा न्यूनाधिक कर सकते हैं। अतः श्वास लेने और छोडने का कार्य मनुष्य के कर्तृत्व से बाहर है। योगी लोग दीर्घ कुंभक करते हैं उस समय उनके शरीरके सभी रोमरंध्रोंसे श्वास लेने और छोडनेका कार्य स्वयं होता है, यह कार्य तो किसीभी मनुष्यके आधीन नहीं है। अर्थात् यह श्वसनका कर्तृत्व मनुष्यके आधीन है ऐसा मानना असंभव है। इसका नियंत्रण किसी दूसरी शक्तिके आधीन है। इसका अनुभव भी पाठक ले सकते हैं। बिस्तरेपर लेट रह कर, तकियेके साथ लेटकर अथवा किसी अन्य सुखसे बैठनेकी अवस्थामें रहकर पाठक अपना शरीर ढीला छोड दें और स्वयं श्वासोच्छ्वास करना भी छोड दें। प्रयत्नसे श्वास भी न लें और न छोडें। श्वास लेनेछोडनेका कोई प्रयत्न न करें। शरीरस्वभावसे जो श्वासोच्छ्वास होगा वही होने दें। थोडे अभ्याससे यह बात साध्य हो सकती है और उस समय अनुभव आसकता है कि अपने श्वास और उच्छ्वास होनेका संबंध थोडा भी अपने पास नहीं है और उसका संबंध किसी अन्य शक्तिके साथ है, जो अपने प्रयत्नके विना ही इस शरीरसे श्वासोच्छ्वास की क्रियाएं करा रही है। यह अभ्यास साध्य होतेहि इस संबंधमें अपना अकर्तृत्व उत्तमतासे अनुभवमें आसकता है।

यहां तक हमने देखा कि, निमेष उन्मेष करना, मलत्याग करना, सोना और श्वास उच्छ्वास करना ये शरीरसे होनेवाले कर्म किसी स्वतंत्र शक्तिसे हो रहे हैं, अर्थात् मनुष्यको इन कर्मोंके विषयमें अपने कर्तृत्वका अभिमान धारण करना अयोग्य है। मनुष्यके प्रयत्न न करनेपर भी ये कर्म शरीरसे स्वयं होते रहेंगे। फिर कौन इसका कर्ता है? जिसने किसी विशेष उद्देश्यके लिये यह शरीर निर्माण किया है, वह इस शरीरसे ये कर्म कराता है। यदि शरीर निर्माण करनेमें उसका कोई विशेष उद्देश्य है, तो निःसंदेह उसको स्वस्थ रखनेके लिये अत्यंत आवश्यक ये कर्म करना भी उसीको आवश्यक है। अपना शरीर निर्माण करनेका क्या उद्देश्य है, इसका पता साधारण मनुष्यको नहीं है। परंतु यह सब संसार किसी विशिष्ट उद्देश्यकी पूर्तिके लिये बनाया है, अतः इस संसारके अंदर जो जो सब संसारके अवयवरूप अनंत शरीर रचे गये हैं, वे भी उसी विशिष्ट उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ही होना संभव है। वह उद्देश हम जानते नहीं परंतु यह रचना करनेवाला अवश्य जानता होगा। क्यों कि विना उद्देश्य इस संसारकी रचना मानना अशक्य है।

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
> भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥
> गी० १८।६१

"ईश्वर सब भूतोंके मध्यमें बैठा है और सबको अपनी अद्भुत शक्तिसे घुमा रहा है।" सब जगत् का भ्रमण वही कर रहा है। हमें पता नहीं है कि वह सब संसारको क्यों घुमा रहा है, परंतु

निःसंदेह वह जानता है। मेरा शरीर संसारका एक भाग है, संसारके साथ वह भी बनता बिघडता और घुमाया जाता है। और इससे जो पूर्वोक्त कर्म हो रहे हैं, वे उसीकी गतिसे हो रहे हैं। ये कर्म न तो हम कर रहे हैं और नहि करनेकी शक्ति हम रखते हैं। शरीर निर्माण करनेवालाहि इसका उद्देश्य जानता है। यदि ऐसा है, तो इस शरीरको उसीके आधीन करो। तुम अपना अभिमान बीचमें लाकर 'मैं यह करता हूं और वह करता हूं' ऐसा क्यों करते हो? विचार करनेपर तुम्हें पता लगेगा कि, यह शरीर तुम्हारे प्रयत्नके विनाही चल रहा है और चलता रहेगा।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
गी० १८।५९

"अहंकारसे यदि तू कहेगा कि मैं यह (युद्धरूप) कर्म न करूंगा, तो तेरा यह व्यवसाय मिथ्या होगा, क्योंकि प्रकृति तुझसे यह कर्म करावेगी।" हमने ऊपर देखहि लिया है कि उक्त कर्म जो शरीरसे हो रहे हैं वे किसी दूसरी शक्तिकी नियंत्रणासे हो रहे हैं, उनके होनेमें मनुष्यका प्रयत्न नहीं है। इन कर्मोंके अतिरिक्त शरीरके अन्दर हृदयकी दधुक्, रुधिरका प्रवाह आदि अनेक कर्म हैं जो उसी परमेश्वरकी शक्तिसे चल रहे हैं। मनुष्य चाहे या न चाहे वे कर्म होते ही रहेंगे। ईश्वरकी सार्वभौमिक शक्ति इन कर्मोंको करती है, अथवा यों कहिये कि इस शरीरनिर्माणमें ईश्वरका कोई विशेष उद्देश्य है, वह सफल होनेतक यह शरीर बनेगा और इससे ये कार्य होतेहि रहेंगे। इसलिये उत्तम तो यह है कि जिसने यह शरीर निर्माण किया है, उसीके आधीन इस शरीरको किया जावे, उसीके कार्यके लिये यह शरीर समर्पित होवे और अपने अहंकारको बीचमें न लाया जावे। इसी उद्देश्यसे कहा है कि—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
गी० ५।८

"तत्त्वज्ञानी योगी मैं कुछ भी कर्म नहीं करता हूं ऐसा माने।" मैं अपने अहंकारसे कुछ नहीं करता हूं, इस शरीरको उसके निर्माता ईश्वरके आधीन करता हूं, इसका कर्ता धर्ता वही है, जिस उद्देश्यसे उसने इसको निर्माण किया है, वह उसका उद्देश्य इस शरीरसे पूर्ण हो जावे, उसकी शक्तिकी अपेक्षा मेरी अहंकारकी शक्ति कम है, मैंने न भी इच्छा की तभी वह कार्य करावेगाही, यदि ऐसा है तो मैं बीचमें अपने अहंकारको लाकर सार्वभौमिक कार्यका विरोध क्यों करूं?

इस प्रकारके विचारसे उच्च सार्वभौमिक उद्देश्यकी सिद्धिके लिये आत्मसमर्पण करनेका भाव अपने अकर्तृत्वमें है, यह बात पाठकोंके मनमें स्थिर होगी।

इसीके समान देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूंघना, खाना, जाना, बोलना और लेना ये कर्म भी पूर्ण पुरुषके शरीरसे वसेहि ईशप्रेरणासे होते रहते हैं, कि जैसे अपने श्वास उच्छ्वास होते हैं। वह अपने स्वार्थसाधनके लिये नहीं देखता, परंतु सार्वभौमिक हितके लिये देखता है, इसी तरह अन्यान्य व्यवहारभी सार्वभौमिक प्रेरणासे वह करता है।

इस बातकी कल्पना ठीक ठीक होनेके लिये एक उदाहरण हम लेते हैं। एक सैनिक है, वह अकेला शत्रुके साथ युद्ध कर रहा है, अपनी इच्छानुसार शत्रुपर हमले करता है। दूसरा एक सैनिक है, वह सेनापतिकी आज्ञानुसार सेनापथकके साथ चलता है, स्वयं अपनी प्रेरणासे कुछभी नहीं करता, परंतु जो कुछ करता है वह सेनापति जैसा कराता है वैसा करता रहता है। इन दो सैनिकोंमें बडी शक्ति किसकी है? जो स्वयं युद्ध करता है उसकी शक्ति कम है और जो सेनापथकके साथ रहकर सेनापतिकी

(६) निर्दोष कर्म।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

अन्वयः-यः संगं त्यक्त्वा कर्माणि, ब्रह्मणि आधाय, करोति, सः पद्मपत्रं अम्भसा इव, पापेन न लिप्यते॥१०॥

जो फलासक्तिको छोडकर, कर्मोंको, ब्रह्ममें अर्पण करके, करता है, वह कमलपत्र पानीसे न लिप्त होनेके समान, पापसे लिप्त नहीं होता है ॥१०॥

भावार्थ— कर्मका फल मुझे मिलना चाहिये, मैं उसका भोग करूंगा, यह फलके साथ संग करनेकी वृत्ति छोड दो, अपने सब कर्म ब्रह्ममें रख दो अर्थात् ब्रह्मके लिये अर्पण करो, और फिर सब कर्म करो। इस तरह किये कर्म दोष बढानेवाले नहीं होते अर्थात् इनसे कर्ता दोषी नहीं होता है ॥१०॥

प्रेरणासे व्यवहार करता है उसकी शक्ति संघके साथ रहनेके कारण कई गुणा बढती है।

अहंकारसे अकेले रहकर कार्य करनेसे शक्ति की हानि कैसी होती है और अहंकार छोडकर संघरूप बनकर संघपतिकी प्रेरणासे सबके चलने पर कैसी शक्ति बढती है, इसका पता यहां लग सकता है। पहिला मनुष्य कर्तृत्वका अहंकार धारण करता है, इसलिये अकेला होनेके कारण शक्तिसे क्षीण है और दूसरा अहंकार दूर करनेके कारण संघवान् बननेसे अपनी शक्ति बढाता है। यही बात 'अकर्म' सिद्धिमें है।

एक मनुष्य अहंकारवश होकर अपने आपको कर्ता मानता है और कृतकर्मके पुण्यापुण्य कर्मों का फल भोगता है और उसमें बद्ध होता है। दूसरा अहंकार छोडकर मैं कुछ नहीं करता, परंतु इस शरीरके इंद्रिय विषयोंमें स्वयं प्रवृत्त होते हैं, उनको मैं प्रेरित नहीं करता हूं, जिसने यह शरीर बनाया उसकी प्रेरणासे यह सब हो रहा है, ऐसा अनुभव करता है, उसके शरीरमें उसका अहंकार कार्य नहीं करता, उस समय परमेश्वरकी सार्वभौम प्रेरणासे उसके शरीरके व्यापार विशिष्ट सार्वभौम उद्देश्य पूर्ण करनेके लिये होते हैं। अतः मानो इसके शरीरसे ईश्वर ही कार्य करा रहा है; अतः इससे महान् महान् कार्य होते हैं। इसीको लोग पुण्य पुरुष, महात्मा, पुण्यात्मा आदि शब्द प्रयुक्त करते हैं। और ऐसे महा पुरुष का प्रभाव बडा भारी होता है।

अपने इंद्रिय अपनी प्रेरणासे कार्य नहीं करते, यह बात केवल शब्दोंसेहि नहीं होनी चाहिये, परंतु सचमुच अपने अहंकारकी प्रेरणा शून्य होनी चाहिये। अपना अहंकार शून्य होनेसेहि वहां परमेश्वरकी प्रेरणा शुरू होती है! जबतक अपना अहंकार रहेगा तबतक परमेश्वरकी शुद्ध प्रेरणा होना संभव नहीं है। शास्त्रोंमें 'अहंकार-को नाश करो,' ऐसी जो आज्ञाएं हैं उसका हेतु क्या है यह बात इस विवरणसे स्पष्ट हो सकती है।

सचमुच अहंकार नष्ट होकर 'मैं कुछ भी नहीं करता (नैव किंचित् करोमि। ५।८) ऐसा कहने का अर्थ मैंने व्यक्तिगत छोटा कार्य छोडकर, मैं समूहगत विशाल कार्यमें समर्पित हुआ हूं' ऐसा है। इससे गीतामें कहा अकर्तृत्व अथवा अकर्मत्व कर्मका अभाव नहीं दर्शाता, परंतु सार्वभौमिक महाकर्मकी संभावना बताता है। यही बात आगेके श्लोकमें दर्शायी है—

(१०) निर्दोष कर्म करनेकी युक्ति इस श्लोकमें कही है। ऐसे कर्मोंकी दो ही शर्तें हैं।—

निर्दोष कर्म	सदोष कर्म
(१) संगं त्यक्त्वा ।	(१) संगं कृत्वा
(फलके साथ संग न करना)	(फलका भोग करने की दृढ इच्छा करना)
(२) कर्माणि ब्रह्मणि आधाय ।	(२) कर्माणि स्वस्मिन् आधाय ।
(कर्मोंका ब्रह्ममें रखना)	(कर्मोंका अपनेमें रखना)

यहां सदोष कर्म कौनसा है और निर्दोष कर्म कौनसा है इसका स्पष्ट दर्शन होता है। जिस कर्मके फल कर्ता स्वयं अपने भोगके लिये उपभोगना चाहता है, जिन फलभोगोंका संबंध दूसरोंके साथ नहीं होने देता और जो कर्म केवल अपनी भोगलालसा तृप्त करनेके लियेही होते हैं, वे कर्म दोष बढानेवाले, बंधन करनेवाले और कष्ट बढानेवाले होते हैं।

तथा जिन कर्मोंका फल कर्ता अपने भोगके लिये नहीं रखता, प्रत्युत दूसरोंके हितके लिये अर्पण करता है, और जो कर्म परब्रह्मके लिये, परमात्माकी संतुष्टिके लिये समर्पित किये जाते हैं, उनका दोष कर्ताको नहीं लगता, उनसे बंधन दूर होते हैं और उनसे कष्ट नहीं होते।

बंध और मोक्षका इस तरह संग और असंग वृत्तिके साथ संबंध है। एक गृहमेंहि इसका अनुभव लीजिये। यदि किसी गृहस्थके घरमें एक मनुष्य भोग्य पदार्थ कमाता है और अपने गृहमें निवास करनेवालोंको कुछभी न देता हुआ सबका स्वयं भोग करता है, तो कुछ समयके पश्चात् उसके उस स्वार्थके कारण उस कुटुंबमें विषम मनोवृत्तियां बढकर कलह शुरू होते हैं। और अन्तमें उस कुटुंबका नाश होता है। इसके विरुद्ध यदि कोई गृहस्थी स्वयं कमाये हुए भोगोंको सब गृहनिवासियोंमें बांटता है, तो उस गृहके सब लोग आनंदमें रहते हैं और उस कुटुंबका यश बढाते हैं।

यही बात ग्रामके विषयमें और राष्ट्रके विषयमें सत्य है। राष्ट्रमें उत्पन्न होनेवाले भोग राष्ट्रनिवासियोंको विना प्रतिबंधके मिलने चाहिये। परंतु राष्ट्रमें कई लोग स्वार्थी होते हैं, वे भोगसाधनोंका अपने पास संग्रह बढाते हैं और उतने ही प्रमाणसे दूसरोंको भोगोंसे वंचित रखते हैं। यहां संपत्तिका विषमविभाग होता है और यही सबके दुःखका कारण है। फलका भोग मैं हि करूंगा और मैं इस फलको अपने लिये रखूंगा, दूसरोंको नहीं दूंगा, यह प्रवृत्ति दोषमय है। जहां जहां दोष उत्पन्न हुए हैं वहां वहां यही प्रवृत्ति दोषोंके जडमें रही है। अतः घरका, ग्रामको अथवा राष्ट्र की वस्तुव्यवस्था की ऐसी रचना करनी चाहिये कि, जिससे कोई मनुष्य वंचित न रहे और एकके पासहि उस का अत्यधिक संग्रह न होवे।

इस कार्यके लिये (१) संगत्याग और (२) ब्रह्मार्पण ये दो उपाय यहां श्रीमद्भगवद्गीताने सूचित किये हैं। प्रत्येक मनुष्य आसक्ति छोडे, भोग मैं ही करूंगा यह प्रवृत्ति छोडे और अपने कर्म ब्रह्मके लिये अर्पण करे।

कर्मोंको ब्रह्मार्पण करनेका अर्थ क्या है? ब्रह्म का अर्थ बडा, महान्, भूमा, सर्वव्यापक सत्ता है, इसके विरुद्ध अल्प है।

ब्रह्म	अल्प
भूमा	थोडा
समष्टि	व्यष्टि, व्यक्ति,
संपूर्णता	अपूर्णता
महत्त्व	क्षुद्रत्व
व्यापक भाव	संकुचित भाव
सबके लिये समर्पण	एकके लिये संग्रह
निर्दोषता	सदोषता

मनुष्य जब एक व्यक्तिके लिये, अल्पके लिये अपने कर्म करता है तब वह दोषी होता है, परंतु वही जब सबके हितके लिये अपने कर्म करता

है तब वही निर्दोष होता है। 'ब्रह्म' का ही अर्थ 'सब' है। ब्रह्मार्पण करनेका तात्पर्य सबकी भलाईके लिये समर्पण करना है। यहां दोष और निर्दोष की व्याख्या स्पष्ट होती है। व्यक्तिके हित के लिये सबके हितकी उपेक्षा करना दोषकारक है और समष्टिके हितके लिये व्यक्तिका समर्पण होना निर्दोषताका हेतु है। अर्थात्—

ब्रह्मणि कर्माणि आधाय। (गी० ५।१०)

का अर्थ 'संपूर्णके लिये अपने कर्मोंके फलका समर्पण करना' है। कर्म ब्रह्मार्पण करना, परमात्माकी प्रीतिके लिये कर्म करना, ईश्वरकी संतुष्टता के लिये पुरुषार्थ करना इस सबका अर्थ एक ही है। ब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वर सब विश्व का हित, समष्टिका हित, सबका हित चाहता है। अपने कर्म ब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वरको समर्पण करने का अर्थ अपने प्रयत्न विश्वहितके लिये, समष्टिके हितके लिये, सबके हितके लिये करना है। ये कैसे हो सकते हैं? सार्वजनिक हित करनेकी बुद्धि बढानेसे यह अभ्यास बढ सकता है। अथवा इसी उद्देश्यसे इस श्लोकके पूर्व दो श्लोकोंमें कहे अनुसार " मैं इस शरीरसे कुछ भी नहीं करता हूं, यह शरीर जिसने निर्माण किया और जो इसका चालक है, उसके लिये मैं यह शरीर समर्पण करता हूं, वह जैसी चाहे वैसी प्रेरणा इस शरीरको करे और इस शरीरसे कर्म करावे, अब यह शरीर मेरा नहीं है, यह मेरा जीवन उसीके उद्देश्यकी पूर्तिके लिये समर्पित होवे।" ऐसा संकल्प करके जो अपने अहंकार को पूर्णतया नष्ट करता है, उसीके अंदर दैवी स्फुरण होता है और उसके शरीरसे दैवी प्रेरणासेहि सब कर्म होते हैं। अतः वह उक्त कर्मोंके दोषोंसे मुक्त होता है। अपना सब शरीर और जीवन ब्रह्मको, परमात्माको अथवा ईश्वरको समर्पित करनेसे अर्थात् अपना अहंकार पूर्णतया नष्ट करनेसे इस शरीरको चलानेवाला ब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वर होता है। और इसी कारण इसके होनेवाले कर्म सार्वभौमिक महत्त्वके होते हैं। ऐसी योग्यता रखनेवाला मनुष्य कहां क्वचित् होता है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
गी० ७।३

"हजारों मनुष्योंमें कोई एखाद मनुष्य इस सिद्धिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवालोंमेंसे भी विरलाहि तत्त्वदृष्टिसे परमेश्वरको जानता है।" इतने थोडे लोग सिद्ध पुरुष अथवा महात्मा होते हैं। परंतु सबको उचित है कि वे इस मार्गसे चलनेका अभ्यास जितना हो सके उतना करें। यह कोई आवश्यकता नहीं है कि पूर्ण सिद्धि इसी क्षणमें प्राप्त हो। प्रयत्न करनेपर सिद्धि प्राप्त होगी हि, उसका विचार इस समय करनेकी आवश्यकता नहीं है। अस्तु। कर्म ब्रह्मार्पण करनेका आशय इस प्रकार महत्त्वपूर्ण और गंभीर है।

कर्म ब्रह्मके लिये समर्पण कैसे किये जाते हैं? यह प्रश्न यहां कोई पूंछ सकते हैं। इसका उत्तर सरल है। यह विश्व ब्रह्मका ही रूप है। विश्वमें जितने रूप हैं वे सब ब्रह्मके रूप हैं यह विषय आगे ११ वें अध्यायमें स्पष्ट होनेवाला है। इस ब्रह्मकी सेवा हम जितनी अधिक कर सकें, उतनी करना चाहिये। यह सेवा अविरोधसे और अहिंसासे होनी चाहिये। अर्थात् हमारा वैयक्तिक द्वेष उसमें लाना नहीं चाहिये, संग अर्थात् अपने भोगकी मनीषा उसमें नहीं रहनी चाहिये, और जितनी सेवा अधिकसे अधिक कर सकें उतनी करनी चाहिये। मानवसमष्टी अथवा प्राणिसमष्टीका कोई भाग हम अपने कर्मफलसमर्पण के लिये ले सकते हैं। इसका प्रारंभ 'फलसंग छोडने' से होगा। एकवार अहंकार और फलसंगकी इच्छा छूट गयी, तो आगेका कार्य उसी परमात्माका है। वह जैसी चाहिये वैसी सेवा इससे ले सकता है। उसका विचार वह उत्तम

(७) आत्मशुद्धि ।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

अन्वयः— योगिनः आत्मशुद्धये कायेन, मनसा, बुद्ध्या, केवलैः इंद्रियैः अपि संगं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति ॥११ युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा नैष्ठिकीं शान्तिं आप्नोति । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तः निबध्यते ॥ १२ ॥

कर्मयोगी आत्मशुद्धिके लिये शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे अथवा केवल इन्द्रियोंसे भी आसक्ति छोडकर कर्म करते हैं ॥ ११ ॥ कर्मयोगी कर्मके फलका त्याग करके परम शान्ति प्राप्त करते हैं। परंतु जो योगाचरण नहीं करता, वह कामनावश होनेके कारण फलमें आसक्त होनेसे बद्ध होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ— साधक योगी अपने शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे भी कर्मयोगके नियमानुसार फलासक्ति छोडकर कर्म करते हैं, जिससे उनकी शुद्धि होती है ॥ ११ ॥ फलका त्याग करनेके कारण कर्मयोगीको बडी शान्ति मिलती है, परंतु जो लोग फलभोगकी कामनासे फलके ऊपर आसक्त होकर कर्म करते हैं, वे उनकी आसक्तिके कारण ही बद्ध होते हैं ॥ १२ ॥

रीतिसे कर सकता है।

पाठक यहां स्मरण रखें कि— (१) फलसंगत्याग और (२) कर्मोंका ब्रह्मार्पण " ये दो हि विषय श्रीमद्भगवद्गीताके मुख्य विषय हैं। मनुष्यके प्रत्येक जीवनविभागमें इनका संबंध आता है और इनका जितना पालन होगा, उतना साधक उन्नत होता जायगा। इसीसे आत्मशुद्धि होती है, इस विषयमें गीताका उपदेश देखिये—

(११-१२) कर्मयोगी किस तरह कर्मयोग का आचरण करता है और उस कर्मयोग के आचरणसे उसको क्या फल प्राप्त होता है, इस का विचार यहां किया है। साधक को ये श्लोक बहुत बोध देनेवाले हैं । योगी लोग फलकी असक्ति छोडकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

योगिनः संगं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति। (५।११)

योगी अर्थात् कर्मयोगी कर्म तो करते हैं, परंतु फलासक्ति छोड कर करते हैं। "जो कर्म मैं कर रहा हूं उसका फल मुझे नहीं चाहिये, परंतु वह परमेश्वरको समर्पित हो," इस त्यागबुद्धिसे वे कर्मयोगी कर्म करते हैं। परमेश्वरार्पणका तात्पर्य समष्टिके हितके लिये समर्पण है, यह बात इसके पूर्वके श्लोकके स्पष्टीकरणमें बतायी है। अपने शरीरमें हस्तपादादि अनेक अवयव हैं, वे व्यक्तिशः कर्म करते हैं, परंतु उनके कर्मका फल सब शरीर को मिलता है, इससे शरीर स्वस्थ रहता है। जिस समय कोई एक अवयव हठ करके अपने स्वार्थके लिये अधिक सुखभाग लेनेका यत्न करेगा, उसी समय वहां रोग हो गया है ऐसा समझना चाहिये। रक्तका प्रवाह सब शरीरभर चल रहा है, यदि उसमें प्रतिबंध करके किसी अवयवने अपने अन्दरहि अधिक रक्त संचय करनेका हठ या स्वार्थ किया, तो वहां सूजन शुरू होगी और जो रोग उत्पन्न होगा, उससे

सब शरीर दुःखी होगा। एकके स्वार्थसे अर्थात् एक व्यक्तिकी फलासक्तिसे उसको तो कष्ट होते ही हैं, परंतु जिसका वह अंग है, उसको भी कष्ट भोगने पडते हैं। एक व्यक्तिके स्वार्थवश होनेके कारण राष्ट्रको परतंत्र होना पडता है, इसके उदाहरण इतिहासमें अनंत हैं। अतः फल-भोगकी कामनाका संग छोडना ही उन्नतिका मुख्य साधन है। इस कारण भगवद्गीतामें 'फलका संग छोडने' का उपदेश वारंवार आगया है। 'संग' में प्रबल आसक्ति होती है। यह प्रबल असक्तिहि दोष उत्पन्न करती है।

फलत्यागसे सबका सुख।

कर्म करनेसे कुछ न कुछ फल उत्पन्न होगा ही। फिर उसका क्या किया जावे? यदि कर्ताने उस फलका संग छोडा, तो उसका आगे क्या होगा? वस्तुतः इसका विचार कर्ताको करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जिसकी नियंत्रणा-से इस संपूर्ण जगत् के सब व्यवहार चल रहे हैं, वह इस फलका जहां जैसा उपयोग करना होगा, वहां वैसा करेगा। कर्ताको उसकी चिंता करने-की आवश्यकता नहीं है।

तथापि इस बातको स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण हम लेते हैं। किसी एक राज्यके सब प्रजाजन कर्म करते हैं, और जो उन कर्मोंका फल होता है, वह सबका सब उस राज्यकी शासन-संस्थाको समर्पित करते हैं अर्थात् कर्मफलत्याग करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अंत्यज अपने अपने ज्ञान, शौर्य, व्यापार, कारीगरी और सेवा आदि कर्म करते हैं, और सब अपने कर्मफल का त्याग करते हैं अर्थात् इनसे जो फल उत्पन्न होता है, वह सब प्रजापालकके कोशमें जमा होता है। कोई व्यक्ति अपने पास कोई धन नहीं रखती। प्रजापालक संस्थाही सब प्रजाजनों की सब प्रकारकी आवश्यकताओंको पूर्ण करती है। इस प्रकारकी राज्यव्यवस्थामें उत्तम रीतिसे अपना कर्तव्य कर्म करना ही प्रजाजनका कर्तव्य है, उसके फलपर उस प्रजाजनका अधिकार नहीं है, फलपर अधिकार तो प्रजापालक शासनसंस्था का है। प्रजाजनोंके संपूर्ण कर्तव्यकर्मोंका फल शासनसंस्थाके कोशमें संचित होगा, और जहां जिस प्रजाजनको जिसकी आवश्यकता होगी, वहां उसको राज्यप्रबंधसेहि वह वस्तु प्राप्त होगी। सब धन प्रजापालक शासनसंस्थाका है-

कस्य स्वित् धनम्। वा० य० ४०।१; ईश उ०१

"(कः वै प्रजापतिः) क नाम प्रजापालकका है और सब धन उस प्रजा पालनेवालेका है।" धनपर किसी दूसरेका अधिकार नहीं है। धनका अर्थ प्रजाके 'कर्मोंका फल' ही है। जहां इस तरहकी प्रजापालक शासनसंस्था है और जहां सब प्रजाजन अपने कर्तव्य कर्म तो करते हैं, परंतु कर्मका फल अर्थात् धन अपने पास नहीं रखते, परंतु प्रजापालकके कोशमें समर्पण करते हैं, और प्रजापालक सबके हितसाधनका प्रबंध करता है, वहां सब प्रजाजनोंको अधिकसे अधिक सुख, आनंद और शान्ति रहती है। क्यों कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने पास अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुए सब धनोंका संचय करते रहते हैं, इसलिये राष्ट्रमें विषम धन संचय होता है और कई मनुष्य इस संचयके कारण विना कर्म कियेही बहुत भोग भोगते हैं, और कई ऐसे प्रजाजन होते हैं कि, जो बहुत परिश्रम करनेपर भी अपनी न्यूनसे न्यून आ-वश्यकताओंको भी पूर्ण करनेमें असमर्थ होते हैं। इस विषमताके कारण इस जगत् में सब दुःख और कष्ट होते हैं। इसलिये उत्तम तो यह है कि-

(१) प्रत्येक मनुष्य अपना नियत कर्म अत्यंत कु-शलतासे जहां तक उत्तम हो सके वहां तक उत्तम रीतिसे पूर्ण करे, [कर्मण्येवाधिकारस्ते। गी० २।४७]

(२) उस कर्मसे प्राप्त होनेवाले फल (धन) पर अपना अधिकार न रखे, उस कर्मसे जो फल (धन) प्राप्त होगा वह सबका सब प्रजापालकके कोशमें संचित होता रहे। [मा फलेषु कदाचन। गी० २।४७।

(३) अपने कर्मका फल (धन) अपने भोगके लियेहि अपने पास संग्रहित करनेकी वैयक्तिक स्वार्थकी कामनासे कोई कर्म न करे। [मा कर्मफलहेतुर्भूः । गी० २।४७]

(४) अपने पास कर्मका फल (धन) संग्रहित नहीं होता, इसलिये मैं कर्म ही नहीं करूंगा ऐसा कुविचार भी कोई न करे। [मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि । गी० २।४७]

ये चार सूत्र परम उच्च और सबको सुख तथा शान्ति देनेवाले सर्वहितकारी राज्यशासन संस्थाकी सुव्यवस्थाके निदर्शक हैं, यह बात यहां पाठक समझें। और ऐसी उत्तम राज्यव्यवस्थामें सब प्रजाजनोंको किस तरह सुख हो सकता है, इसका मनन अपनी कल्पनाशक्तिसे करें। इससे फलका संग छोडनेका महत्त्व सबको अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति समष्टिके हितके लिये अपने कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करेगी, तो सब को अधिक सुख, अधिक आनंद और अधिक शान्ति मिल सकती है। ऐसी शासनसंस्थामें एक भी मनुष्य दुःखी नहीं होगा। मनुष्योंके अपने कर्मफलका संग छोडनेसे (सर्वभूतहिते रताः । गी० ५।२५;१२।४) सर्व भूतोंका हित कैसा होता है, इसका विचार पाठक इस विवरणसे जान सकते हैं, और फलासक्ति छोडनेके उपदेश का महत्त्व भी जान सकते हैं।

यहां हमने एक ग्राम या राष्ट्रकी शासक संस्थाकाहि विचार किया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें 'सर्व-भूत-हित' का विचार है। सर्वभूतहित में केवल मानवसमष्टिहि नहीं, परंतु सब प्राणियोंकी समष्टिका विचार है। सब प्राणियोंको अधिकसे अधिक सुख तभी हो सकता है, जब कि सब मानव फलासक्ति छोडकर अपने अपने सब कर्म उत्तमसे उत्तम रीतिसे परिपूर्ण करते रहें और कर्मके विना अर्थात् बेकार कोई न रहे। शासन संस्थाकी उच्चसे उच्च कल्पना यहां इस तरह भगवद्गीताने दी। ये उपदेश सब लोगोंके आचरणमें कब आवेंगे इसकी कल्पना आज करना कठिन है, परंतु जब ये उपदेश आचरणमें आवेंगे, तभी सबको सुख, आनंद और शान्ति मिलेगी, इसमें कोई संदेह नहीं। फलके साथ संग त्यागने का इतना महत्त्व है। पाठक इस बातको न भूलें।

कर्मसे आत्मशुद्धि।

अशुद्धिसे कष्ट और शुद्धिसे सुख होता है। अशुद्धिसे शरीरमें रोग होते हैं और शरीर शुद्ध होनेपर रोग दूर होते हैं, इसी तरह इंद्रिय, मन, बुद्धि और चित्तमें अशुद्धतासे दोषोंकी उत्पत्ति होती है और शुद्धतासे दोषोंकी निवृत्ति होती है। प्रत्येक मनुष्य इस तरह शुद्ध होगा, तभी मानवसमष्टि शुद्ध हो सकती है। प्रत्येक मनुष्यको मानवसमष्टि शुद्ध हुई है वा नहीं, इसका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है, अपनी शुद्धि करनेके लियेहि उसको यत्न करना चाहिये। अर्थात् एक मनुष्य भी इस तरह पूर्ण शुद्ध हुआ, तो भी उसमें सबका हित हो है। क्यों कि सब अशुद्ध होनेकी अपेक्षा उनमेंसे एक शुद्ध हुआ तो भी उतनी सब समाजकी शुद्धता होगी। इस बातका विचार करके प्रत्येक मनुष्यको अपनी शुद्धताके लिये कटिबद्ध होना चाहिये।

अपनी पवित्रता, चित्तशुद्धि अथवा आत्मशुद्धि कर्मसेहि होती है। साधारण बातमें भी यह सत्य है। स्नानरूप कर्म करनेसे शरीरका बाहरका भाग पवित्र होता है। इस विषयमें मनुस्मृतिमें कहा है—

> अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
> विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥
> मनु० ॥ ५।१०९

"जलसे शरीरके अवयव शुद्ध होते हैं, सत्यपालनसे मन शुद्ध होता है, विद्या और तपसे

भूतात्मा की शुद्धि होती है और ज्ञानसे बुद्धि शुद्ध होती है।" जलस्नान, सत्यपालन, विद्यार्जन, तपश्चर्या, ज्ञानार्जन ये सब कर्म हैं, जिनसे मनुष्य की शुद्धि होती है। जो सकाम या निष्काम कर्म करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमें कही है, वे सब कर्म चित्तशुद्धि करनेवाले हैं।

ब्राह्मणके कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, सहनशीलता, सरलता, विज्ञान और आस्तिक्य ये हैं; क्षत्रियके कर्म शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान और प्रभुत्व ये हैं; वैश्यके कर्म कृषि, गोरक्षण और वाणिज्य हैं और शूद्रके कर्म कारीगरी और परिचर्या हैं (भ० गी० १८। ४२-४४)। ये सब कर्म मनुष्यकी पवित्रता करने वाले हैं। आलस्यसे मनुष्य अपवित्र होता है और पुरुषार्थसे सब दोष दूर होते हैं।

यहां कोई पूछ सकते हैं कि आलस्यसे दोष क्यों उत्पन्न होते हैं? इसका कारण यह है कि मनुष्यमात्र को कुछ न कुछ भोग आवश्यक ही होते हैं। कमसे कम स्थान, अन्न, जल और वस्त्र इनकी तो उसे अत्यंतहि आवश्यकता है। आलसी मनुष्य अपने आलस्यके कारण कामधंदा नहीं करता और सदा दरिद्रतामें फंसा रहता है, परंतु पेटकी आवश्यकता उसको सतातीही रहती है। इस कष्टसे उसकी प्रवृत्ति चौर्य, असत्य, हिंसा, व्यभिचार आदि कुकर्मोंकी ओर होती है और इस तरह वह दोषोंकी परंपरामें फंसता है। इतने विचारसे पाठक जान सकते हैं कि कर्म छोडनेसे दोष कैसे उत्पन्न होते हैं और कर्म करनेसे हि मनुष्य दोषसे कैसा बच सकता है। कर्मसेहि धन मिलता है। कर्महि धन है। धनसे मनुष्यको आवश्यक उपभोग मिलते हैं। शास्त्रोक्त कर्म करनेमें समय जानेसे उसको बुरा विचार करनेके लिये अवकाश भी नहीं रहता है और सब समय में कर्म करनेसे कर्मका रूपान्तर आवश्यक उपभोग मिलकर जीवन सुखमय होनेमें होता है, इस तरह कर्म से दोषप्रवृत्ति हटती है और चित्तशुद्धि होती है। अतः मनुष्य अपने आपको शुभ कर्ममें सदा रखे। क्योंकि यही कर्ममार्ग उस की उन्नतिका साधक है। इसलिये कहा है—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
(गी० ५।११)

"योगी लोग आत्मशुद्धिके लिये फलासक्ति छोडकर कर्म करते हैं।" इस कर्मयोगसे किस तरह उन्नति होती है, इसका ज्ञान इतने विवरणसे पाठकोंको हो सकता है। तथा—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(गी० ५।१२)

"कर्मयोगी अपने कर्म के धनरूप फल का सर्व भूतोंके हित के लिये दान करके पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है। और कर्मयोग न करनेवाला भोगी मनुष्य अपने कर्म का फल अपने भोग के लिये अपने पास रखकर बद्ध होता है।" यह सब कथन पूर्वोक्त विवरण के अनुकूल ध्यानपूर्वक मनन करनेसे स्पष्ट हो सकता है।

पूर्वस्थानमें इसी विवरणमें यह बात बतायी है कि—(१) प्रत्येक मनुष्य उत्तम कुशलतासे अपना कर्तव्य कर्म करे, (२) अपने कर्मसे प्राप्त होनेवाला धनरूप फल अपने पास न रखे, परंतु प्रजापालक के कोशमें सबके हितके लिये जमा होवे, (३) कोई मनुष्य अपने भोग बढानेके उद्देश्यसे कर्म न करे, तथा (४) कोई मनुष्य कभी कर्महीन न रहे। ये कर्म के नियम ध्यानमें धारण करनेसे पता लगता है कि 'कर्मफल का त्याग या दान' करनेसे परम शान्ति कैसी प्राप्त होती है। प्रजापालक द्वारा अपना सब योगक्षेम होगा, ऐसा निश्चय प्रत्येक योगी को रहता है, इससे योगक्षेमविषयक चिन्ता उसकी शान्तिका नाश करनेमें असमर्थ रहती है। तथा अपने कर्म का धनरूप फल भी प्रजापालक के कोशमें जमा होनेसे उसकी रक्षा करनेकी चिन्ता भी कमानेवाले को नहीं कष्ट देती। इस तरह कर्मयोगीको

न धनरक्षाकी चिन्ता है और न अपने योगक्षेम की चिन्ता है। ऐसा निश्चिन्त होनेसे वह परम शान्ति पाता है। ऐसी शान्ति उसको नहीं होती कि जो अपने कर्मका वेतन अपने पास जमा करता है, उसकी रक्षा करनेकी चिन्ता रखता है, और अपने योगक्षेमकी सब चीजें खरीदने के कष्ट उठाता रहता है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लगेगा कि जो अपनी वैयक्तिक भोग वासनामें लिपटा हुआ मनुष्य होगा वही दुखी अशान्त और कष्टी होगा, और उसीको कम भोग प्राप्त होंगे, क्यों कि उसको तो अपनी कमाईका ही उपभोग लेनेकी संभावना है। परंतु जो अपनी कमाई सर्वभूतहितके दानमें अर्पण करता है उसको स्वयं अनंत भोग उपस्थित होते हैं क्यों कि उसका योगक्षेम प्रजापति चलाता है, फिर उसको किस बातकी न्यूनता होगी ? यहां कर्मयोगीको कर्मफल समर्पणसे शान्तिकी प्राप्ति और स्वार्थी भोगीको भोगवृत्तिसे अशान्ति कैसी होती है, इसका स्पष्टीकरण हुआ। पाठक इसका विचार करें। अब एकही पंक्ति विचार करनेकी शेष रही है, वह है—

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति० ॥ (गी० ५।११)

"योगी लोग केवल शरीरसे, केवल मनसे, केवल बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे कर्म करते हैं।" वह केवल कर्म कैसा होता है, इसका विचार करना चाहिये। बालकके व्यवहार मन और बुद्धिके विनाही होते हैं। पंचतत्त्वोंसे बना यह शरीर सब इंद्रियोंके साथ जब सोता है, तब मन अकेला स्वप्नमें व्यापार करता है, उस समय शरीर और इंद्रियां कार्य नहीं करती हैं। जिस समय मनुष्य भ्रम या उन्मादसे युक्त होता है,उस समय जो व्यवहार वह करता है, उसका पता उसको नहीं होता; क्योंकि उस समय उसका मन उसमें नहीं होता है। इस तरह साधारण मनुष्य भी समयसमयपर केवल शरीरसे, केवल मनसे, केवल बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे कर्म करता है। योगी तो मन तथा बुद्धि आदिके संयम द्वारा उनको अलग रखके केवल प्रत्येकसे कर्म करता है, अतः कर्मका दोष उसको नहीं लगता। अहंकार न रहनेसे यह निर्दोषता सिद्ध होती है, यह बात यहां पाठक स्मरण रखें। जहां अहंकार हुआ वहां दोष हुआ ही जानो। बालक जो कर्म करता है उसमें उसका अहंकार नहीं होता, इसलिये वह कर्म करनेपर भी निर्दोष रहता है। युवती स्त्रीको बालक स्पर्श करता है और एक तरुण युवा पुरुष स्पर्श करता है; परंतु दोनोंके स्पर्शके परिणाममें कितना अंतर होता है, इसका विचार यहां पाठक करेंगे, तो उनको दोष कहां उत्पन्न होता है, इस बातका पता लगेगा। जब बालक एक युवतीको देखता और उसके अवयवोंको स्पर्श करता है, तब वह केवल शरीर से और आंखसे कर्म करता है, अतः उस कर्मसे उसपर कोई विकार नहीं होता, अतः वह निर्दोष रहता है। परंतु तरुण पुरुषका युवतिके शरीर को स्पर्श या उस स्त्रीके अवयवोंका निरीक्षण करनेमें उसके अहंकारका मन-बुद्धिके साथ संमेलन होनेसे उसके अंदर विकार उत्पन्न होते हैं, इससे दोष होता है।

जो बालकके समान अवस्था है, वही सहजावस्था है। योगाभ्यास, संयम, दृढ भक्ति, वैराग्य आदिसे योगी उस अवस्थाको पुनः प्राप्त करता है। जब वह सहजावस्था प्राप्त होती है तभी योगी केवल शरीरसे, केवल मनसे, केवल बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे कर्म करके निर्दोष रह सकता है। सहजावस्था प्राप्त होने तक अहंकार को दूर रखनेसे भी वही बात बनना संभव है, परंतु यह प्रत्येक समय प्रयत्नसे और दक्षतासे सिद्ध करना आवश्यक है। प्रयत्नमें और दक्षता में थोडीसी शिथिलता होगई,तो अहंकार बीचमें घुसेगा और दोष उत्पन्न करेगा। इस कारण सदा दक्षता धारण करना युक्त है। अभ्यासकालमें

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्वयः— वशी देही सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य, नवद्वारे पुरे, न एव कुर्वन्, न कारयन् सुखं आस्ते ॥१३॥

संयमी देहधारी पुरुष सब कर्मोंका मनसे संन्यास करके, नौ द्वारों वाले (इस देहरूपी) नगरीमें, न कुछ करता और न कराता हुआ सुखसे रहता है ॥ १३ ॥

भावार्थ— अपने सब इंद्रियोंका संयम करो, मनका संबंध भी कर्मोंसे छोड दो और प्रकृतिस्वभावसे कर्म होने दो। ऐसा करनेसे स्वयं कुछ भी न करते और कराते हुए, इसी शरीरमें सहजहीसे पूर्ण सुख प्राप्त हो सकता है ॥ १३ ॥

ऐसेहि दक्षतापूर्वक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है। इस प्रकारके अभ्याससे सिद्ध हुए पुरुषकी स्थिति कैसी होती है, इसका वर्णन आगेके श्लोक में अब देखिये—

(१३) इस शरीरमें नौ द्वार हैं— दो आंखें, दो कान, दो नासिकाछिद्र, मुख, मूत्रेन्द्रिय और गुदा ये नौ द्वार इस शरीररूपी नगरीमें हैं। इसी लिये इसको 'द्वारवती' अर्थात् 'जिसको द्वार हैं ऐसी नगरी' कहते हैं। यह भगवान् की कृपासे बनायी गयी है, अर्थात् यह भगवान्‌ने किसी विशेष उद्देश्यसे बनायी है, इसका स्वामी वह है मैं नहीं हूं। अतः इसपर भगवान् का अधिकार है मेरा नहीं। इस तरह विचार करनेसे देहपरकी अहंकारबुद्धि दूर होती है, और मैं दूसरेके घरमें अतिथि हूं, यहां आनेकी मेरी तिथि जैसी निश्चित नहीं है, वैसीहि यहांसे जानेकी भी तिथि निश्चित नहीं है। अतः मैं यहां 'अ-तिथि' के रूपमेंहि रहूंगा। ऐसा निश्चय मनमें करनेसे अहंकार दूर होनेमें सहायता होती है।

इस शरीरके बनानेमें जो परमात्माका उद्देश्य है वही पूर्ण होना चाहिये। यदि मैंने इस शरीर को अहंकारसे किसी दूसरे कार्यमें लगाया, तो कदाचित् इस शरीरका मूल उद्देश्य सिद्ध न होगा, और उस उद्देश्यकी सिद्धितक वारंवार शरीर धारण करना पडेगा। इस आपत्तिको टालनेके लिये अपना अहंकार बीचमें न लाना आवश्यक है। अपना अहंकार बीचमें न लानेसे अपनी ओरसे कोई भी प्रेरणा होना संभव नहीं है, और—

नैव कुर्वन्, न कारयन्। (५।१३)

"स्वयं कुछ न करना, और न कराना" यह अवस्था सिद्ध हो सकती है। जबतक अपना अहंकार बीचमें रहेगा तबतक यह अवस्था प्राप्त नहीं होगी। अहंकार कुछ न कुछ करेगा और करावेगा हि और इस कारण दुःखादि भी भोगना पडेगा। अपने अहंकारको इसी कारण समूल दूर करना चाहिये।

जैसा प्रवासी दूसरेके घरमें कुछ दिन निवास करता है, वैसा इस नौ द्वारवाले शरीररूपी परमेश्वरके मंदिरमें निवास करना चाहिये। यदि पाठक इस शरीरको परमेश्वरका मंदिर मानें और उसमें अपने आपको प्रवासी अतिथि समझें, और यही वृत्ति अपनेमें स्थिर कर सकें, तो पूर्ण सिद्धि प्राप्त होनेसे विलंब नहीं होगा।

दूसरेके घरमें रहनेवाला अतिथि जहां तक हो सके वहां तक (वशी) संयमी रहता है, अपनी वृत्तियोंको उच्छृंखल होने नहीं देता, वहांके कर्मचारियोंपर अपना अधिकार नहीं चलाता,

(८) अज्ञानसे मोह।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

अन्वयः— प्रभुः लोकस्य न कर्तृत्वं, न कर्माणि, न च कर्मफलसंयोगं सृजति। स्वभावः तु प्रवर्तते ॥१४॥

ईश्वर लोगोंके न कर्तापनको, न कर्मोंको और न कर्मोंके फलके संयोगको निर्माण करता है। स्वभाव हि सब कुछ करता है ॥१४॥

वहांके कर्मचारियों से होनेवाले-बननेवाले अथवा बिघडनेवाले कर्म देखता है, परंतु केवल साक्षी होकर वहां रहता है, क्योंकि उसको वहां से थोडी देरके पश्चात् जाना है; अतः वह वहांके कर्मोंके फलके साथ अपना संबंध जोडना नहीं चाहता। (मनसा संन्यस्य सुखं आस्ते) मनसे अपना संबंध यहां नहीं है ऐसा जानकर सुखसे अपने स्थानमें रहता है। वहांके कर्मचारियोंके वेतन देनेकी चिन्ता उसको नहीं सताती और किसीनें कुछ कर्म किया, या न किया, इसका आयव्यय रखनेकी भी उसको आवश्यकता नहीं है। जितने समय वहां विश्राम करना होगा, वह चिन्तारहित होकर विश्राम करेगा और जानेका समय प्राप्त होते हि उस स्थानको छोड देगा। इस परमेश्वरके मंदिरमें जो इस तरह अतिथिरूप रहेगा, वह पूर्ण सुख सहजहीसे प्राप्त कर सकता है। इस नौ द्वारोंवाली नगरीमें कुछ न करते और न कराते रहनेका तात्पर्य यह है।

इस शरीरका स्वभावही कर्म करनेका है, अतः कोई प्राणी क्षणभरभी कर्म न करते हुए रह नहीं सकता (गी० ३।५)। यह सत्य है, परंतु यह कर्म जिसका यह मंदिर है, उसकी प्रेरणासे होते रहें, अपनी प्रेरणाका अहंकार बीचमें घुसेडना और इस कारण उत्पन्न होनेवाली चिन्ता आदिका भार व्यर्थ अपने ऊपर लेना योग्य नहीं है। अपनी अहंकारकी प्रेरणा पूर्णतया बंद होते हि यहां ईश्वरकी प्रेरणाका प्रारंभ होता है। उस ईश्वरकी प्रेरणासे जो कर्म इस शरीरसे होते हैं, वे सर्व-भूतहित (गी० ५।२५; १२।४) के लिये होते हैं। क्यों कि वह सर्वव्यापी है और सबका हित करना उसका स्वभाव है। उसकी प्रेरणासे जो कर्म होते हैं, वे शुद्ध होते हैं और उसका दोष साक्षी होकर रहनेवाले जीवको नहीं लगता। इसलिये साक्षी बनकर रहनेका उपदेश यहां किया है। स्वयं अपनी प्रेरणासे कुछ कर्म न करना और न कराना, इस शरीरको परमेश्वरकी प्रेरणाके अनुसार व्यवहार करनेके लिये उसके आधीन करना, और जो इससे कर्म होगा उसका निरीक्षण साक्षी होकर करना, यह उपाय कर्मके दोषसे बचनेका है। जिसका शरीर इस प्रकार परमेश्वरकी प्रेरणासे सर्वभूतहितके कर्ममें लग गया, वही धन्य है। यही धन्यता प्राप्त करना प्रत्येकका कर्तव्य है और साध्य है। जो इस तरह धन्य होनेका यत्न नहीं करते, उनको अज्ञानसे मोह होता है, इस विषयमें आगेके दो श्लोकोंमें स्मरण रखने योग्य उपदेश कहा है। यह अब देखिये—

(१४—१५) जो मनुष्य अहंकार को नहीं छोडते और फलासक्तिसे कर्म करते हैं, वे कर्मों के दोषोंसे दुःखी होते हैं। जब उनका दुःख असह्य होता है तब वे कहते हैं कि, "देखो, परमेश्वरने ये दुःख मुझे दिये हैं, क्या किया

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

(९) ज्ञानसे परमतत्त्वका प्रकाश ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

अन्वयः- विभुः न कस्यचित् पापं न च एव सुकृतं आदत्ते । अज्ञानेन ज्ञानं आवृतं, तेन जन्तवः मुह्यन्ति॥१५॥

सर्वव्यापी परमेश्वर न किसीके पापको और न किसीके पुण्यको लेता है। अज्ञानसे ज्ञान आच्छादित हुआ है, इस कारण मनुष्य मोहित होते हैं ॥१५॥

भावार्थ— लोगोंका कर्तृत्व, उनके कर्तृत्वसे होनेवाले कर्म और उन कर्मोंसे मिलनेवाले फल ये सब ईश्वर नहीं निर्माण करता। स्वभावहि सब कुछ बनाता है॥ ईश्वर किसीके पापको या पुण्यको अपने ऊपर नहीं लेता। लोगोंका ज्ञान अज्ञानसे ढंका रहनेके कारण लोग भले बुरे फलका संबंध ईश्वरके साथ जोडते हैं और भ्रममें पडते है ॥१४-१५॥

जावे," इस तरह सुखदुःखका कारण परमेश्वर है ऐसा लोग वारंवार बोलते हैं। परंतु यह लोगोंका अज्ञान है। क्यों कि जो लोग अहंकारसे कर्म करते हैं वे ही उस कर्मदोषसे प्राप्त होनेवाले दुःखसे दुखी होते हैं। जब यह दोष या पाप उन्होंने हि किया है, तब उसके लिये ईश्वर पर शब्द रखना कैसा योग्य हो सकता है? स्वयं अग्निमें हाथ रखना और जल गया तो ईश्वरने जलाया ऐसा कहना, यह कदापि योग्य नहीं है। जिसने अपना अहंकार बीचमें रखा है और जो यह कार्य मैंने किया ऐसा कहता है, उसको उचित है कि वह अपनी कमाईका भोग करे। दूसरेको बुराभला कहनेसे क्या बनेगा ? अपना उत्तरदातृत्व दूसरेपर लगा देनेसे भी कुछ बनेगा नहीं। सीधी बात तो यह है कि मनुष्य या तो सबसे पहिले अपना अहंकार दूर करे, नहीं तो दुःखभोगनेको तैयार रहें। अपने कर्मसे सुख प्राप्त हुआ तो उस समय 'मैंने किया' ऐसा कहना और दुःख होने लगा तो कहना कि 'परमेश्वरने दुःख दिया' यह केवल अज्ञानका मोह है। मनुष्योंका ज्ञान अज्ञानसे आच्छादित है, इस लिये वे ऐसा कहते हैं। वस्तुतः सब दोष उनके अहंकारका और अज्ञानका है। जो लोग पराधीन हैं, दुःखी हैं, पीछे रह गये हैं, अज्ञानी हैं यह सब उनकाहि दोष है और इसका उत्तरदातृत्व किसी प्रकार भी दूसरेपर नहीं है। जो जैसा कर्म करते हैं वे वैसा फल प्राप्त करते हैं। यह सब स्वभावसे हो रहा है। परंतु अज्ञानसे मनुष्य अपना दोष दूसरेपर लगाना चाहता है और भ्रमसे वैसा कहता भी है। जो इस अज्ञानको दूर करते हैं उनको स्वयं प्रकाशी ज्ञान कैसा प्रकाशित होता है, यह बात आगेके श्लोकमें कही है—

(१६-१७) जैसा प्रकाश होनेसे अंधेरेका नाश होता है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होतेहि अज्ञान नष्ट हो जाता है। जैसी सूर्यको अंधेरीकी कल्पना तक नहीं है, अमृतने मृत्युका नाम भी न सुना होगा, जैसी लक्ष्मी कभी दरिद्रताका अनुभव

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

अन्वयः— येषां तु तत् अज्ञानं आत्मनः ज्ञानेन नाशितं, तेषां ज्ञानं आदित्यवत् तत् परं प्रकाशयति ॥ १६ ॥ तद्बुद्धयः, तदात्मानः, तन्निष्ठाः, तत्परायणाः, ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति ॥ १७ ॥

जिनका वह अज्ञान आत्माके ज्ञानसे नष्ट हुआ है, उनका ज्ञान सूर्यके समान उस परम श्रेष्ठ तत्त्वको प्रकाशित करता है ॥ १६ ॥ उस परमात्मतत्त्वमें जिनकी बुद्धि लगी है, उसीमें जिनका आत्मा रमता है, उसीमें जिनकी निष्ठा है, और उसीमें जिनका ध्यान तन्मयतामें लगा है, उनके पाप इसी ज्ञानसे धुल जाते हैं और वे जन्ममरणके भँवरमें नहीं फंसते ॥ १७ ॥

भावार्थ— ज्ञान प्राप्त होनेसे साधकका अज्ञान दूर होता है और उसी ज्ञानसे परमात्माका प्रकाश उसके सन्मुख हो जाता है। जैसा सूर्य आकाशमें दिखाई देता है, वैसाहि उसको परमात्मा साक्षात् हो जाता है। ऐसा साक्षात्कार होनेके पश्चात् उसकी बुद्धि, अन्तःकरण, निष्ठा और ध्यान ये सब उसी परमात्मामें सदा सर्वदा तल्लीन हो जाते हैं और यह साधक उसमें तन्मय हो जाता है। जब वह ऐसा तन्मय होता है, तब वह पापोंसे मुक्त होकर जन्ममरणके चक्रसे भी मुक्त हो जाता है ॥ १६-१७ ॥

नहीं करती, इसी प्रकार ज्ञान होतेहि वहां अज्ञान रह नहीं सकता। मनुष्य जिस शास्त्रका ज्ञान प्राप्त करता है उस संबंधका उसका अज्ञान दूर होता है। यह बात सर्वसाधारण व्यावहारिक विद्याके विषयमें भी सत्य है। परंतु यहां 'ज्ञान' शब्द परमात्माके संबंधका ज्ञान बताता है। मोक्षविषयक बुद्धिको (मोक्षे धीर्ज्ञानं) ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान प्राप्त होते हि सब ज्ञातव्यका ज्ञान होनेसे उसका संपूर्ण अज्ञान अर्थात् आत्माके संबंधका अज्ञान पूर्णतया दूर होता है। यह अज्ञान दूर होतेहि उसके सन्मुख सूर्यके समान परमात्माका प्रकाश होता है। इसी विषयमें ऋग्वेदकी श्रुति देखिये—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ २० ॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ २१ ॥ ऋ० १ । २२

"ज्ञानी सदा उस सर्वव्यापक परमेश्वरके परम पदको देखते हैं। जैसा सूर्य आकाशमें दिखाई देता है, वैसा उनको परमेश्वर दिखाई देता है ॥ विद्वान्, कुशलतासे कर्म करनेवाले बुद्धिवान् और जागनेवाले विशेष ज्ञानीहि सर्वव्यापक ईश्वरके परम पदको प्रदीप्त अवस्थामें देखते हैं।" अतः गीतामें कहा है कि—

तेषां ज्ञानं तत् परं आदित्यवत् प्रकाशयति।
(५ । १६)

"उन ज्ञानियोंका ज्ञान उनको सूर्यप्रकाशके समान परम पद उसको प्रकाशित करता है।" अर्थात उनको वह परम पद ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है कि जैसा आकाशमें सूर्य दिखाई देता है। जिसको एक वार उस परम पदका दर्शन हुआ उनकी वृत्ति तल्लीन होती है, इस विषयमें १७ वें श्लोकमें चार शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं—

(तद्बुद्धयः) उनकी बुद्धिमें वही एक परमेश्वरका विषय है, अर्थात् दूसरा कोई विषय उनकी बुद्धिमें नहीं रहता, केवल परमेश्वर विष-

(१०) समदर्शन।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥१८॥

अन्वयः-पण्डिताः विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि, शुनि, श्वपाके च एव समदर्शिनः (सन्ति) ॥१८॥

ज्ञानी लोग विद्या और विनय संपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और कुत्तेको खानेवाला चाण्डाल इन सबमें सम (भावसे स्थित ब्रह्मको) देखते हैं ॥१८॥

यक ज्ञान ही उनकी बुद्धिमें जीवित और जाग्रत रहता है। (तदात्मानः) जिनका आत्मा तद्रूप हुआ है, जिनका चित्त अथवा अन्तःकरण परमात्ममय बना है, जो परमात्माके विषयमें रमते हैं। (तन्निष्ठाः) जिनकी निष्ठा परमेश्वरमें दृढ हो गयी है और (तत्परायणाः) जो अपने जीवित का ध्येय वही परम पद है, ऐसा मानते हैं। इस तरह ज्ञानी जन परमात्माके रंगसे रंगे होते हैं और इस कारण (ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः) उनके सब पाप अथवा दोष इस ज्ञानसे हि धोये जाते हैं और वे निर्दोष, निष्कलंक, निर्मल और स्वच्छ होते हैं।

उनकी बुद्धि, आत्मा, मन और चित्त सबका सब परमात्मरूप, परमात्ममय बननेसे उसमें भोगादि विषय- हीन कामक्रोधादि विषय-रह नहीं सकते; इस लिये वहां दोषोंकी संभावनाही नहीं होती। अन्तःकरणका ऐसा धर्म है कि उसमें कोई एक विषय हि एक समयमें रह सकता है। यदि कामादि विषय उसमें रहे तो परमात्माकी भक्ति वहां नहीं रहेगी; और यदि परमात्ममय अन्तःकरण बना तो वहां ये क्षुद्र विषय नहीं रहेंगे। ऐसा नियम होनेसे साधकका उचित है कि वह अपने अन्तःकरणमें हीन विषयोंको स्थान न दें। ऐसा अभ्यास करें कि सदा सर्वदा अपने अन्तःकरणमें परमात्माका निवास बना रहे। ऐसा करनेसे उनको सदा आनंद प्राप्त होगा। अखंड आनन्द प्राप्त करना हो तो दूसरा कोई उपाय नहीं है। अपना अन्तःकरण कामक्रोधादि विषयोंको खुला करनेसे किसी समय थोडासा सुख और दूसरे समय थोडासा दुःख मिलता रहेगा। विषयी अन्तःकरण रहनेतक अखंड आनन्द प्राप्त होना असंभव है। अपने आपको परमात्ममय अनुभव करनेसेहि असीम अखंड आनन्द प्राप्त होना संभव है। तथा इसके साथ साथ परमात्ममय बननेसे-

अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति। (५।१७)

"चक्रवत्परिभ्रमण करनेके दुःखसे मुक्त होते हैं।" चक्रवत् परिभ्रमण किंवा पुनरावृत्तिका अर्थ पुनर्जन्म ऐसा भी है और सुखदुःखका चक्र ऐसा भी है। इस प्रपंचमें सुखके पश्चात् दुःख और दुःखके पश्चात् सुख होता है। यह सुखदुःखका चक्र सदा भ्रमण करता है। इसी तरह दिनरात यह कालचक्र चलता है। जन्ममृत्युका भी चक्र है। ऐसे अनेक चक्र यहां है। इन चक्रोंमें मनुष्य भ्रमता है, पागल बनता है, दुःखी कष्टी होता है। जबतक विषयभोगोंमें यह मग्न रहेगा तबतक इस द्वन्द्वोंके चक्रसे मुक्त होना अशक्य है। केवल परमात्ममय होनेसेहि इसके सब मल धुल जाते हैं और इस चक्रभ्रमणसे इसकी मुक्ति होती है। परमात्ममय बननेसे वृत्ति कैसी होती है, इसका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें किया है, वे श्लोक अब देखिये—

समदर्शन।

(१८-१९) मनुष्य जब इस संसारमें देखता है, तब उसको उच्च नीच आदि भेद भावही

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

अन्वयः-येषां मनः साम्ये स्थितं, तैः इह एव सर्गः जितः, ब्रह्म हि समं निर्दोषं, तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः॥१९॥

जिनका मन इस साम्यभावमें स्थिर हो चुका है, उन्होंने, मानो, इसी जीवनमें जन्ममरणको जीत लिया है। ब्रह्म ही सर्वत्र सम और सदा निर्दोष है। इस लिये वे (समदर्शी मनुष्य सदा) ब्रह्ममें हि स्थित अर्थात् ब्रह्ममय होते हैं ॥१९॥

भावार्थ— जो आत्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करते हैं, वे आत्मज्ञानी महात्मा लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, पशुपक्षी, वृक्षवनस्पति आदि सब पदार्थोंमें सम भावसे अवस्थित ब्रह्मका अनुभव करते हैं। उनको सर्वत्र सब विभिन्न पदार्थोंमें अभिन्न ब्रह्मका दर्शन होता है। जिनको इस तरह सर्वत्र ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, मानो उन्होंने जन्ममरणको जीतकर अमर पद प्राप्त किया है। क्यों कि ब्रह्म सर्वत्र सम और दोषरहित है और इसी ब्रह्ममें वे सदा स्थिर होते हैं ॥१८—१९॥

नजर आता है। संपूर्ण सृष्टिमें यदि कुछ है तो भेदभावहि है। साधारण मनुष्य संसारमें इस भेदभावको प्रत्यक्ष देखता है, इसलिये शास्त्रका 'समदर्शन' उसके समझमेंहि नहीं आता है। प्रत्यक्षको छोडकर अप्रत्यक्षको कौन मानेगा? ऐसीही सब संसारी जीवोंकी भावना होती है। अतः यहां हमें देखना है कि, यहां सृष्टिमें सचमुच भेदभाव है या नहीं है?

भगवद्गीताने इन श्लोकोंमें कहा है कि, 'ज्ञानी और सदाचारी ब्राह्मण, अज्ञानी और दुराचारी चाण्डाल ये मानव प्राणी, तथा गाय, हाथी, कुत्ता, आदि पशु इन सबको समदृष्टिसे देखना चाहिये। अर्थात् इनको ओर विषम भावसे देखना योग्य नहीं है। इनमें जो सम और निर्दोष तत्त्व है उसका देखना चाहिये। वही ब्रह्म है और उसका दर्शन होनेसे इस संसारमें (सर्गः जितः) विजय प्राप्त होता है।

यहां प्रश्न होता है कि क्या ब्राह्मण और चाण्डाल समान हैं? क्या मानव प्राणी और पशु समान हैं? क्या गाय और कुत्ता समान हैं? हमारा अनुभव यह है कि, ये समान नहीं हैं। हम देखते हैं कि ब्राह्मण सद्विद्या पढाता है, चाण्डाल का रहनसहन मलिन होती है, गाय उत्तम पौष्टिक दूध देती है, कुत्ते और हाथीसे यह कार्य नहीं होते। यह भेद हमारे अनुभवमें प्रतिदिन आता है, फिर हम इनमें समभाव कैसा रखें? क्या ज्ञानी लोग नहीं जानते कि, गायका उपयोग भिन्न है, और कुत्तेका उपयोग भिन्न है? क्या कभी इन दोनोंकी समानता हो सकती है? इतना भेद प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेपर भी इनको हम समत्वसे कैसे देखें?

सर्वसाधारण मनुष्य इसी प्रकारकी शंकाएं वारंवार उपस्थित करते हैं। इनके उत्तरमें इतनाही कहना है कि, पूर्ण ज्ञानी मनुष्य भी गायसे उत्तम दूध प्राप्त होता है और कुत्ता उत्तम रक्षा करता है, हाथी बडा बोझ उठाता है, इत्यादि भेदोंका अनुभव करता ही है। वह कभी दूध निचोडनेके लिये कुत्तेके पास नहीं जाता और द्वाररक्षा करनेके लिये गायको कभी नहीं रखता, इतना भेद अनुभव करता हुआ भी वह दोनोंकी

और सम दृष्टिसे देखना है। अर्थात् भेद अनुभव करनेमें साधारण मनुष्य और ज्ञानीका अनुभव समान है, परंतु समदृष्टि रखना ज्ञानीकोहि साध्य है। यह सम दृष्टि कैसी हो सकती है इसका विचार यहां करना चाहिये।

उदाहरणके लिये सोनेके आभूषण लीजिये। कई आभूषण सिरमें धारण किये जाते हैं, कई गलेमें, कई छातीपर, कई हाथमें, कई कमरमें और कई पांवमें धारण करते हैं। ज्ञानी महात्मा लोग भी जानते हैं कि नथ नाकमें धारण की जाती है और कंकण हाथमें धारण करते हैं। ज्ञानी लोगभी हाथमें नथ नहीं धारण करते और न कंकण नाकमें डालते हैं। तथापि वे संपूर्ण विविध आभूषणोंमें सुवर्ण दृष्टिसे समत्वका अनुभव करते हैं। कोई आभूषण लीजिये उसका सुवर्णत्व सब आभूषणोंमें समान है। इसी प्रकार मृत्तिकाके घडा, कूजा आदि अनेक बर्तन बनाये तो भी उन सबमें मृत्तिकाका रूप समान है। यही समत्व उन सबमें है। तांबे पितल के अनंत पात्र बनते हैं, प्रत्येक पात्रका व्यवहारकी दृष्टिसे अर्थात् उपयोगकी दृष्टिसे भिन्नत्व स्पष्ट है; परंतु उनकी तांबापन या पीतलपनकी दृष्टिसे समानता है। बर्तन कोई हो वह उपादान दृष्टिसे तांबा है, या पीतल है, अथवा मृत्तिकाहि है। यहां पता लगा कि व्यवहार दशामें भेदका अनुभव होता हुआ भी वहां तत्त्वकी दृष्टिसे अभेदका अनुभव होना संभव है।

मच्छर छोटेसे छोटे प्राणी हैं, हाथी बडेसे बडा प्राणी है। मच्छरका छोटापन और हाथीका बडापन छोड दें, तो दोनों 'प्राणी' होनेमें एक हैं। इसी तरह ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी, गाय, कुत्ता और मच्छर भिन्न योनिवाले होते हुए भी प्राणी हैं और प्राणी होनेके कारण प्राणियोंके समान गुणधर्मोंसे युक्त हैं। यही उनमें समत्व है। प्राणी होनेके कारण सबको भूख समान रीतिसे लगती है, सबको जीवन समानतासे प्यारा है, सबको मृत्युका समान भय है, इस तरह सबकी समानता देखने योग्य है। ब्राह्मणको सांपके काटनेसे जैसे क्लेश होंगे वैसेहि चाण्डाल को होंगे। निद्रामें दोनोंकी समान अवस्था होगी। इस तरह विचार करनेपर दोनोंका समत्व ध्यानमें आसकता है। देखिये—

> आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
> सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
> गी० ६।३२

"जो मनुष्य सबको अपने समान देखता है, और सुखके विषयमें तथा दुःखके विषयमें समान भाव रखता है वह परम श्रेष्ठ योगी है।" यहां आत्मौपम्य दृष्टि कही है। जिस अवस्थामें मनुष्य सबको अपने समान देखता है, वही श्रेष्ठ अवस्था है। पशुमें और मनुष्यमें यही भेद है। आत्मौपम्य-दृष्टिसे पशु कभी देख नहीं सकता। मनुष्यमें यह आत्मौपम्यदृष्टि बढ सकती है। इसीलिये मनुष्यकी योग्यता श्रेष्ठ है।

आत्मौपम्यदृष्टिसे भी 'समदर्शन' अधिक श्रेष्ठ है। समदर्शनका अर्थ ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार है।

> निर्दोषं हि समं ब्रह्म॥ गी० ५।१९

"ब्रह्महि निष्कलंक और सम है।" सदा निर्दोष और सर्वत्र सम ब्रह्म है। किसी स्थानपर वह न्यून और किसी स्थानपर वह अधिक नहीं है। जैसा आकाश सर्वत्र समानतया अवस्थित है, वैसाहि ब्रह्म सर्वत्र सम है। अतः समदर्शन का अर्थ ब्रह्मदर्शन है।—

> पण्डिताः समदर्शिनः॥ गी० ५।१८

"पण्डित लोग समदर्शी होते हैं।" अर्थात् वे सर्वत्र सदा ब्रह्मदर्शन करते हैं। ब्रह्मका साक्षात्कार उनको सदासर्वदा होता है। वे जैसा ब्रह्म ब्राह्मणमें देखते हैं, वैसाहि चाण्डाल, गाय, हाथी, कुत्ता आदिमें देखते हैं, इसी तरह जगत् का प्रत्येक पदार्थ उनको ब्रह्मरूप दिखाई देता है। यह

विश्व ब्रह्मका रूप है ऐसा उनको स्पष्ट प्रतीत होता है। वे किसी पदार्थको देखें, उनको ऐसा प्रतीत होता है कि, ब्रह्महि उस रूपको धारण करके अपने सन्मुख उपस्थित हुआ है। इस तरह उनकी अखंड ब्रह्मरूप वृत्ति रहती है, वे ब्रह्म देखते हैं, वे ब्रह्म सुनते हैं, वे ब्रह्मकी सेवा करते हैं और अन्तमें ब्रह्मरूप बनते हैं। देखिये—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
गी० ४।२४

"अर्पण, हवनसामग्री, अग्नि, हवनकर्ता ये सब ब्रह्म हैं। जिसकी वृत्ति इस तरह ब्रह्ममय हुई वह स्वयं ब्रह्म बनता है।" यही बात यहां कही है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
गी० ५।१९

"जिनका मन इस साम्य भावमें स्थिर हुआ, वे कृतकृत्य और विजयी हुए हैं। क्यों कि जैसा ब्रह्म निष्कलंक और सम है वैसेहि वे निष्कलंक और सम होते हैं।" मनकी समवृत्ति होना ही मनुष्यका अन्तिम साध्य है। पूर्ण पुरुषका यही लक्षण है। सुखदुःख में समभाव, उच्चनीच के विषयमें समवृत्ति, चराचर के विषयमें समदृष्टि होनी चाहिये।

प्रायः मनुष्य अपने संबंधियों के विषयमें पक्षपात करता है और दूसरोंके विषयमें तिरस्कार रखता है। परंतु समदर्शी मनुष्य निष्पक्ष रहता है। वह कभी अपने संबंधियोंका पक्षपात नहीं करेगा और न दूसरों के विषयमें उदास रहेगा। वह सबके विषयमें सम रहेगा। यही समवृत्ति मनुष्य के श्रेष्ठ होनेकी सूचक है।

अर्जुन की दृष्टि विषम हो गयी थी। उसने कहा था कि 'ये मेरे दादा, मामा, चचा, भाई, पिता आदि हैं इस कारण इनका वध करना योग्य नहीं,' यह पक्षपात का वचन है। ये लोग सत्पक्ष में हैं या असत्पक्षमें हैं, इसका विचार समभावसे करके अपना कर्तव्य क्या है, इसका निश्चय करने में वह असमर्थ था। वह अपने संबंधियोंका पक्षपात करना चाहता था और विश्वकी स्थिरताका विचार तक करना नहीं चाहता था। यही उसके मनकी विषमता है। यह विषमता हटा कर उसका मन समभावयुक्त करना भगवान्‌को अभीष्ट था। जगत् की दृष्टिसे अपना कर्तव्य क्या है इसका निश्चय प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये। अपने संबंधियों के हितके लिये जगत् का नाश करना दोषकारक है। समष्टिके हितके लिये व्यष्टिका समर्पण करना ही धर्म है।

समदृष्टि रखनेसे सेवाभाव भी बढता है। क्यों कि सर्वत्र समदृष्टि रखनेसे सदा सर्वदा सर्वत्र परमात्माका साक्षात्कार होनेसे और परमात्मा सब का उपास्य और सेव्य होनेसे इस उपासक में सेवाभाव बढता है और वह सर्वत्र परमेश्वर की सेवा ही करता है। यदि वह ब्राह्मण हुआ तो वह अध्यापन द्वारा परमेश्वरकी सेवा करता है, यदि वह क्षत्रिय हुआ तो वह दुर्जननिर्दलन और सज्जनप्रतिपालन द्वारा ईश्वरसेवा करता है, इसी तरह वह अन्य वर्णमें हुआ तो अपने अपने कर्तव्य कर्म करके परमेश्वर की सेवा करता है। सर्वजनहित करना ही महासेवा है। कोई रोगी सन्मुख आया तो साधक वैद्य हुआ तो वह उसको योग्य उपचार करे और उस स्वकर्तव्यद्वारा परमात्माकी सेवा करे। मनुष्य अधिकारपर हो, वकील हो, नौकर हो, कारीगर हो, पूंजीपति हो, या हुनर करनेवाला हो, वह किसी भी अवस्थामें हो, वह यदि समदर्शी होगा तो वह समदृष्टिसे ईश्वरसेवा करके योग्य आचरण करता हुआ निःसन्देह उन्नत हो सकता है।

समदर्शनसे निर्दोषता भी आती है, विजय प्राप्त होता है, अमरत्व प्राप्त होता है और अन्तमें मोक्ष भी मिलता है। समदृष्टि होतेहि उसके सब

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

अन्वयः— प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत्, अप्रियं प्राप्य च न उद्विजेत्, एवं स्थिरबुद्धिः, असंमूढः, ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो प्रिय वस्तुको प्राप्त कर हर्षित नहीं होता, और अप्रिय की प्राप्ति होनेसे उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिर बुद्धिवाला और कभी मोहमें न फंसनेवाला ब्रह्मज्ञानी, मानो, ब्रह्ममें हि स्थिर हुआ है ॥२०॥

बंधन टूट जाते हैं। क्यों कि सब बंधन विषम दृष्टि रहने तकही सताते हैं।

समदृष्टि होनेसे जागतिक व्यवहारमें समवर्तन नहीं होता। जैसा देखिये कि कोई समदृष्टिवाला महात्मा है, तो वह पंडित को भी घास देगा और गौको भी घास देगा, ऐसी बात कभी नहीं हो सकती। व्यवहारमें आवश्यक भेदभाव रहेगा। परंतु समदृष्टिवाला आत्मवत् भावसे सबभूतोंकी ओर देखेगा और वैसाहि कहेगा, कि जैसा अन्न तथा जलके विना मुझ कष्ट होते हैं वैसेहि घास के न मिलनेसे गौ आदिको कष्ट पहुंचते हैं। इस तरह सर्वत्र एक आत्माका प्रत्यय वह करता है और सबके हितके लिये स्वयं सेवा करनेको उद्युक्त होता है और सर्वभूतहितके लिये आत्मसमर्पण करता है। सर्वभूतोंकी स्वयं सेवा करता है।

सर्वत्र समदृष्टि होनेसे सर्वत्र ब्रह्मका साक्षात्कार होता है और वह साधक भी अन्तमें स्वयं ब्रह्म बनता है। जो मनुष्य सर्वत्र परमात्माका साक्षात्कार करेगा, वह आचरणसे भी शुद्ध बनेगा और पवित्र होता हुआ निष्कलंक होगा।

अपनेमें समदर्शन।

सर्वत्र समदर्शन करनेका और एक उपाय है। अपने शरीरमें देखिये। मुख, बाहु, छाती, पेट, जांघें, और पांव ये अवयव हैं, पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय ये दस इंद्रिय भी हैं। इनमें आंख,मुख आदि इन्द्रिय सुन्दर हैं, गुदा मलत्यागका इन्द्रिय है इसलिये वह मलिन है। इन्द्रिय अथवा अवयव सुन्दर हों या मलिन हों, उनमें जीवात्मा का कार्य समानताके साथ हो रहा है, सुन्दर मुखमेंहि केवल आत्मा है और मलिन पांवमें नहीं ऐसी बात नहीं है। सब शरीरमें वह जीवनरूपसे सर्वत्र सम विद्यमान है। पाठक अपने शरीरमें यह आत्माकी समतासे अवस्थिति देखेंगे, तो परमात्माकी विश्वमें समत्वसे अवस्थिति कैसी है, इसका ज्ञान उनको हो सकता है। क्योंकि पिण्ड और ब्रह्माण्डमें नियम एकही है। अतः जो साधक अपने देहमें आत्माका समत्व देखेगा वही विश्वमें परमात्माका समत्व जान सकता है, वेदमें भी यही बात कही है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥
अथर्व० १०।७।१७

"जो एक मनुष्यमें ब्रह्मका दर्शन करते हैं, वे हि विश्वमें परमेष्ठी प्रजापति परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं।" इसलिये सबसे प्रथम अपने देहमें समत्व देखना उचित है। तत्पश्चात् वही न्याय संपूर्ण विश्वमें लगानेसे संपूर्ण विश्व ब्रह्मकाही रूप है, ऐसा प्रतीत होगा। यही विश्वरूपदर्शन है।

इस तरह जिसकी दृष्टि सम होती है, वह पूर्ण पुरुष बनता है और सबको वंद्य होता है। इसका वर्णन आगेके श्लोकोंमें देखिये—

(२०-२१) साधारण मनुष्य और ब्रह्मज्ञानी

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

अन्वयः— यः बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा (सः), आत्मनि यत् सुखं विन्दति, (तत्) अक्षयं सुखं सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा अश्नुते ॥२१॥

जो बाह्य विषयभोगोंमें आसक्त नहीं होता, वह अपने आत्मामें जिस सुखको प्राप्त करता है, वही अक्षय सुख ब्रह्मयोगमें अपने आपको तत्पर करनेवालेको प्राप्त होता है ॥२१॥

भावार्थ— प्रिय वस्तु प्राप्त होनेसे हर्ष न करो, अप्रिय वस्तु मिली तो दुःख न करो; दोनों अवस्थाओंमें ऐसी समवृत्ति रखो कि जो दोनों की अनिच्छा में हो सकती है। इस तरह बुद्धिको स्थिर रखो, किसी प्रलोभनमें न फंसो। इससे ब्रह्मकी स्थिति प्राप्त होगी॥ बाह्य भोगोंमें आसक्त न होनेसे जो मनकी शान्ति होती है, उससे स्वयं अपने आत्मामें अखंड प्रसन्नता होती है। इसी तरह ब्रह्म के साथ अपनी तन्मयता करनेसे भी वैसा ही अखंड सुख अनुभवमें आता है ॥२०-२१॥

इन दोनोंकी पहचान किस तरह कर सकते हैं यह प्रश्न अनेक वार पूंछा जाता है। इसका उत्तर इन श्लोकोंमें दिया गया है।

साधारण मनुष्य।

साधारण मनुष्य प्रिय वस्तुको प्राप्त कर ऐसा उन्मत्त होता है कि मानो बेहोषसा बनता है। साधारण मनुष्यको विशेष अधिकार या ओहदा प्राप्त होनेसे, बहुत धन मिलनेसे, उत्तम स्त्री आदि मिलनेसे, बहुतही घमंड करता है, किसीकी भी पर्वाह नहीं करता और उन्मत्त होकर ऐसे प्रमाद करता है कि, उनसे उस का अधःपात हि होता है। इसी तरह अप्रिय वस्तु प्राप्त होनेसे, ओहदे परसे उतारनेसे, धनका नाश होनेसे, स्त्री आदि का साहचर्य नष्ट होनेसे अथवा कोई सांसारिक आपत्ति उत्पन्न होनेसे ऐसा दुःख करने लगता है कि, उस दुःखके कारण उसकी बुद्धि निकम्मी हो जाती है। इस प्रकारके मनुष्य सुख प्राप्त होनेपर अथवा दुःख प्राप्त होनेपर किसी कामके नहीं रहते और इनका जीवन व्यर्थसा होता है। अनुकूल परिस्थितिमें अत्यधिक घमंड होनेके कारण और प्रतिकूल परिस्थितिमें खेद होनेके कारण उनका मन कोईभी शुभ कर्म करनेयोग्य स्थिर नहीं रहता।

कोई मनुष्य राजकार्य करता है, प्रजाके उद्धार में दत्तचित्त होता है, इसको राजपुरुष कष्ट देते हैं। यदि इन कष्टोंके प्राप्त होनेपर वह हताश और निरुत्साह बनेगा, तो उससे कोई नहीं कार्य बन सकता। अतः मन ऐसा बनना चाहिये कि जो समयपर फूलोंसे भी मृदु हो और दूसरे समयपर वज्रसे भी कठोर हो परंतु परिस्थितिके दबावसे न दब जावे। जैसा पर्वत मृगजलके पूरसे नहीं बहता, न वायुके वेगसे उडता है, मेघोंसे वृष्टी होनेपर भी अढळ और स्थिर रहता है, उस प्रकार वह स्थिर रहे।

दुष्ट लोग जब अधिकारपर चढते हैं तब वे सज्जनोंको कष्ट देते हैं, मारते हैं, पीटते हैं, अनंत दुःख देते हैं। ये दुःख शरीरको होंग हि। ऐसी कोई बात नहीं है कि महात्माके शरीरपर ताडन

करनेसे उनको दुःख नहीं होता। ताडनसे, भूखसे या अन्य कष्टसे दुःख होना शरीर धर्मही है। साधारण मनुष्य इन दुःखोंके वशमें हो जाता है इसलिये असमर्थ बनता है। परंतु श्रेष्ठ मनुष्य शरीरको यातनाके दुःख होनेकी अवस्थामें भी अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होता। शत्रु उसे ताडन करे अथवा मित्र उसे सुख देवे, उसका शरीर सुखमें रहे या क्लेशमें रहे, उसका मन सदा समवृत्तिसे युक्त और शांत होता है।

जो परिस्थितिके दबावसे नहीं दबता, परंतु अपने मनको परिस्थितिसे ऊंचा ऊठाकर उच्च स्थितिमें रखता है, वही स्थिरबुद्धिवाला है। जो स्थिरबुद्धि होता है वही मूढ नहीं बनता। जो परिस्थितिके दबावसे दबता है वही मूढ है। उसका निजी मत कुछभी नहीं होता है। उस मूढ की बुद्धि संसारके प्रभावसे बहती चली जाती है। बाहरके दुःखसे दुःखी और बाहरके सुखसे सुखी होना ही संसारके प्रवाहसे बह जाना है। ऐसे प्रवाहसे बह जानेवाले लोग किसी कामके नहीं होते। महा प्रवाहमें गिरनेपर भी जो अपने बलसे परले पार हो जाते हैं वेहि स्थिर बुद्धिवाले कहे जाते हैं। येही जगद्वंद्य होते हैं और ऐसेहि श्रेष्ठ लोग शककर्ता होते हैं। इनकी तुलना करनेसे बडा बोध प्राप्त होता है, अतः यहां तुलनाका कोष्टक दिया जाता है।

ब्रह्मज्ञानी	संमूढ
प्रियं प्राप्य न प्रहृष्यति	प्रियं प्राप्य हर्षति
(प्रियसे हर्षित नहीं होता)	(प्रियसे हर्षित होता है)
अप्रियं प्राप्य नोद्विजति	अप्रियं प्राप्य उद्विजति।
(अप्रियसे खिन्न नहीं होता)	(अप्रियसे खिन्न होता है)
असंमूढः।	संमूढः।
(मूढ नहीं बनता)	(मूढ बनता है)
स्थिरबुद्धिः।	चंचलबुद्धिः।
(स्थिर होता है)	(चंचल होता है)
भोगेषु असक्तः।	भोगेषु सक्तः।
(भोगोंमें सक्त नहीं होता)	(भोगोंमें रमता है)
आत्मनि सुखं विन्दति।	बाह्यभोगेषु सुखं विन्दति।
(आत्मामेंहि सुख प्राप्त होता है)	(भोगोंसे सुख लेता है)
अक्षयं सुखं अश्नुते।	किंचित् सुखं किंचित् दुःखं अश्नुते।
(अक्षय सुख मिलता है)	(कभी सुख कभी दुःख अनुभवता है)

इस तरह संसारी और ब्रह्मज्ञानीका स्वरूप होता है। पाठक यहां यह न समझें की ब्रह्मज्ञानी मनुष्य संसारमें विजयी नहीं हो सकता। वस्तुतः वह संसारमें विजय प्राप्त करता हुआ परमार्थका भी साधन कर सकता है। संसारी करके जो वर्णन ऊपर दिया है वह सर्वसाधारण मूढ मनुष्य है। संसारमें विजयी होकर रहनेके लिये भी स्थिरबुद्धि और अनासक्त ही बनना चाहिये। अर्थात् ब्रह्मज्ञानीका जो वर्णन ऊपर दिया है, वह संसारके प्रवाहके साथ बहता नहीं, परंतु संसार के प्रवाहको अपने पीछे लाता है, संसारके प्रवाह को अपने मतानुसार चलाता है। संसारपर प्रभुत्व प्राप्त करता है। संसारी मनुष्य संसारके प्रवाहका गुलाम होकर रहता है, परंतु ब्रह्मज्ञानी मनुष्य संसारको अपने आधीन रखता है। ब्रह्मज्ञानी संसारको अपना खेल बनाता है और संसारी जीव स्वयं संसारका खेल बनता है। पाठक यह भेद विचारसे ध्यानमें रखें और दोनोंकी योग्यता जाने।

अन्तःस्रोत।

मनुष्यकी आत्मामें आनंदका अखंड स्रोत है। मनुष्यकी बाह्यप्रवृत्ति हटगयी तो वह शुरू होता है। सर्वसाधारण मनुष्य मानता है कि बाहरके पदार्थ प्राप्त होनेसेहि सुख मिलता है। परंतु यह उसका भ्रम है। अनुभवके लिये देखिये कि मनुष्य स्वप्नमें सामान्यतः और गाढ निद्रामें विशेषतः जिस सुखका अनुभव करता है वह

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! ये हि संस्पर्शजाः भोगाः ते दुःखयोनयः आद्यन्तवन्तः एव तेषु बुधः न रमते ॥२२॥

हे कुन्तीपुत्र ! जो उत्तम स्पर्शसे प्राप्त होनेवाले भोग हैं, वे दुःखके कारण हैं, और वे आदि अन्तवाले अर्थात् उत्पन्न हो कर नाश होनेवाले हैं, अतः इनमें ज्ञानी नहीं रमते हैं ॥२२॥

भावार्थ— विषयोंका इन्द्रियोंके साथ उत्तम स्पर्श होनेसे जो सुख प्राप्त होनेका अनुभव होता है, वह निःसन्देह दुःखका कारण है । और वह सुख उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त होनेवाला है, अतः बुद्धिमान् मनुष्य इन भोगोंमें नहीं रमते हैं ॥२२॥

किसी भी बाह्य पदार्थ के कारण नहीं होता, प्रत्युत वह अंदर ही अन्दर उसको मिलता है । प्रत्येक मनुष्य इस सुखका अनुभव प्रतिदिन लेता है । जबतक बाह्य भोगोंमें मनुष्य रत होता है, तब तक यह अखंड आनंदका अन्तःस्रोत बंद रहता है । जैसी जैसी बाह्य भोगोंपर की इसकी प्रवृत्ति हट जाती है, वैसा वैसा यह अपने आत्मा के सुखके अखंड स्रोतका अनुभव करने लगता है । अतः कहा है —

बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा आत्मनि सुखं विन्दति।
(गी० ५।२१)

"बाह्य भोगोंपर आसक्त न होनेसे अपने आत्मामें हि एक विलक्षण सुख है इस बातका अनुभव होता है।" यदि सुख मनुष्य को प्राप्त करना चाहिये। यह सुख अन्दर है, अन्तर्मुख होनेसे हि यह प्राप्त होता है। बाह्य भोग क्षणभंगुर हैं। क्षणभंगुर भोगोंसे प्राप्त होनेवाला सुख भी क्षणभंगुर ही होगा। क्षणभंगुर सुख क्षणभर रहकर फिर नष्ट होता है। इससे क्या लाभ होगा? मनुष्यको तो अक्षय सुख की लालसा है। वह कभी बाह्य भोगोंसे प्राप्त नहीं हो सकता।

देखिये जल पीनेसे सुख होता है, परंतु तृषा लगनी चाहिये और उत्तम जल भी चाहिये। अच्छा तृषाभी लगी और जल भी मिला, तो भी थोडासा जल पीतेहि तृषा शांत हो जाती है। और जब तृषा शांत होगी तब उस जलसे कोई सुख नहीं होगा। इसी तरह सब बाह्य भोगोंकी बात है। एक क्षणमें जो भोग सुख देंगे, वेही भोग दूसरे क्षणमें सुख नहीं दे सकते। ऐसे अनिश्चित परिणामोंपर जो विश्वास रखेंगे, वेही भ्रांत और मूढ पुरुष हैं।

वस्तुतः बाह्य भोगोंमें कोई सुख नहीं होता है। सब सुख अन्दर ही अन्दर है। तृषा लगतेहि मानव की प्रवृत्ति जलकी ओर होती है, जल मिलते हि उसकी बहिःप्रवृत्ति हटती है, उस समय उसकी वृत्ति स्वरूपमें अर्थात् अपने आत्मा में होती है, वही अन्तर्मुख वृत्ति है। और वृत्ति अन्तर्मुख होतेहि सुख होता है। कोई बाह्यविषय किसीको सुख देता है ऐसा मानना मूढतासे हि हो सकता है। मनुष्य को सर्वदा जो सुख होता है वह उसको अपने आत्मासे हि प्राप्त होता है। यही अक्षय सुख है। ऐसा होते हुए सब संसारी जीव भोगोंके संग्रहमें लगे रहते हैं, यही एक इस जगत् में आश्चर्य है। यही मूढता है और यही भ्रम है।

ब्रह्मयोग।

मनको प्रवृत्ति अन्तर्मुख करनी और बाह्य प्रवृत्ति को हटानाही ब्रह्मयोग है। सर्वत्र ब्रह्म है, सर्व जगत् ब्रह्ममय है ऐसा अनुभव करना, वह ब्रह्म अपने अन्दर है यह जानकर उसके साथ अपने आत्माका योग करनेका नाम ब्रह्मयोग है। 'ब्रह्म-योग-युक्त-आत्मा' बनना चाहिये। ब्रह्मके साथ अपने आत्माका निरंतर योग करनेसे और उस ब्रह्मकी कभी विस्मृति न होनेसे निरंतर ब्रह्मपरायणता साध्य होती है। जैसा संसारी जीव सदासर्वदा संसार का विचार करता है, वैसाही ब्रह्मज्ञानी महात्मा सदा सर्वदा ब्रह्मपरायण होता है। जो ब्रह्मपरायण होता है वह ब्रह्म बनकर अक्षय सुख प्राप्त करता है।

ब्रह्मपरायण होनेवाला ज्ञानी कभी सांसारिक भोगोंमें नहीं फंसता, क्यों कि उसकी दृष्टीसे सांसारिक भोग तुच्छ होते हैं। यही बात आगेके श्लोकमें कही है—

(२२) सब भोग 'संस्पर्श से उत्पन्न होनेवाले' हैं। स्पर्श के कई भेद हैं। स्पर्श, संस्पर्श किंवा सुस्पर्श, कुस्पर्श ये स्पर्शका विचार करनेके समय विचारमें लेना योग्य है। स्पर्श शब्द सामान्य संबंध का वाचक है। बुरे दुखदायी स्पर्शको कुस्पर्श कहते हैं और उत्तम सुखदायी स्पर्शको संस्पर्श किंवा सुस्पर्श कहते हैं। बुरे स्पर्श अर्थात् कुस्पर्श का विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्यों कि कोई मनुष्य कुस्पर्शके विषयमें फंसता नहीं। जहांसे कुस्पर्श होता है वहांसे वह भाग जाता है। मनुष्य जो फंसते हैं वे सुस्पर्श अथवा संस्पर्शमें हि फंसते हैं, अतः यहां कहा है कि जो भोग इस उत्तम स्पर्शसे प्राप्त होते हैं और उनसे जिस सुखका अनुभव होता है ऐसा लोग मानते हैं, वह सुख सच्चा सुख नहीं है, प्रत्युत यह सुख दुःख बढानेवाला है। अतः उन भोगोंमें फंसना योग्य नहीं है। ये भोग आदि-अन्तवाले होते हैं, अर्थात् ये एक समयमें उत्पन्न होते हैं और दूसरे समयमें विनाशको प्राप्त होते हैं। अतः ये क्षणभंगुर हैं इसलिये अस्थायी सुखमें फंसना किसी को योग्य नहीं है। इसी कारण ज्ञानी लोग भोगोंमें नहीं फंसते। यह इस श्लोक का आशय है, इसका विशेष विचार करना चाहिये—

सुस्पर्शसे सुख कैसा प्राप्त होता है, इसका अनुभव प्रत्येक मनुष्यको है। जिस समय शीत लगता है, उस समय गर्म कपडोंका उष्ण स्पर्श सुखदायी प्रतीत होता है, परंतु यह उष्ण स्पर्श तबतक हो सुखदायक होता है कि जबतक शीत की बाधा होती रहती है। जिस क्षणमें शीतबाधा हट गयी उसी क्षण उष्ण स्पर्शसे होनेवाला सुख भी हट जाता है, इसी कारण कहा है कि यह संस्पर्शसे होनेवाला सुख नाशवन्त है।

भूख लगनेकी अवस्थामें मधुर अन्नका स्पर्श सुख देता है, जबतक भूख रहती है, तबतक ही अन्नसे सुख होता है। जिस समय भूख दूर होती है उसी समय अन्नसे सुख होना भी दूर होता है। इसी तरह सब प्रकारके सुस्पर्शसे होनेवाले सुखके विषयमें समझना योग्य है। इस विचारसे इस बातका पता लगेगा कि केवल उत्तम स्पर्शसे भी सुख नहीं होता, परंतु उस स्पर्शकी वासना अपने अन्दर उत्पन्न होनी चाहिये। वासना के विना कितनाभी उत्तम स्पर्श पास आगया तो उससे सुख नहीं होगा।

इस लिये ऐसा कहा जा सकता है कि अपने अन्दर इच्छा हो, तदनुकूल संस्पर्श हो, तब सुख प्राप्त होता है। अन्यथा नहीं होता। इसी कारण यह संस्पर्शसे उत्पन्न होनेवाला सुख अनित्य है। इच्छा न हो, अथवा विषय न हो, उसमें मन न हो तो सुख नहीं होता, इच्छा तृप्त होनेपर भी सुख नहीं होता, एक ही विषयका सतत सेवन करनेपर भी पहिले के समान आगे सुख नहीं होता। ऐसी इस संस्पर्शजन्य सुख की अवस्था है। इसी लिये कहा है कि यह संस्पर्शसे होनेवाला सुख

(११) कामक्रोध-वेगको सहना ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

अन्वयः— इह एव शरीरविमोक्षणात् प्राक्, यः कामक्रोधोद्भवं वेगं सोढुं शक्नोति, सः नरः युक्तः, सः सुखी भवति ॥२३॥

इस संसारमें हि शरीर के नाश होनेसे पहिले, जो काम और क्रोधसे उत्पन्न हुए वेगको सहन करने में समर्थ होता है, वही मनुष्य योगी है और वही सुखी होता है ॥२३॥

भावार्थ- मनुष्य इस लोकमें रहता हुआ, शरीरका नाश होनेके पूर्व अर्थात् जबतक शरीर है तब तक ही काम और क्रोधके वेग को सहे, उस वेगके वशमें न होवे; परंतु वह वेग आनेपर भी अपने आपको अचल रखे । जो इस वेगको जीतेगा वही सुखी होगा । इन वेगोंको जीतनाही योग है ॥२३॥

उत्पन्न होकर नाश होनेवाला, अत एव अनित्य है । अतः इस अनित्य सुख के पीछे कोई न जावे और नित्य सुखकी प्राप्ति के लिये हि सब का यत्न होता है ।

यदि ये विषयोंसे प्राप्त होनेवाले भोगसुख अनित्य हैं तो नित्य सुख कौनसा है? यह प्रश्न यहां उत्पन्न होता है, इस विषयमें इसी श्लोकसे निर्णय हो सकता है। देखिये—

अनित्य सुख	नित्य सुख
संस्पर्शज भोग	स्पर्शरहित भोग
विषयसुख	निर्विषयसुख
दुःखयोनि	सुखयोनि
आद्यन्तवन्त	अनाद्यनंत
अनित्य	नित्य
बुधः न रमते	बुधः रमते
अज्ञः रमते	अज्ञः अनधिकारी

इस कोष्टक से पता लग सकता है कि सुख दो प्रकारके हैं,एक विषयोंसे प्राप्त होनेवाला और दूसरा विषयोंको छोड कर अपने हि आत्मा में प्राप्त होनेवाला, अपने आत्मा में आत्मासे हि होनेवाला सुख । विषयोंकी संगतिसे प्राप्त होनेवाला सुख विषयोंके आधीन होनेसे खंडित है और अपने आत्मामें हि मिलनेवाला सुख दूसरे किसी साधनकी अपेक्षा न रखनेके कारण अखंड सुख है । विषयसुख दुःख उत्पन्न करता है और आत्मसुख किसी प्रकार दुःखका हेतु नहीं बन सकता । अज्ञ लोग बाह्य विषयोंके सुखमें फंसते हैं, परंतु ज्ञानी मनुष्य आत्मासे मिलनेवाले अखंड सुखका अखंड अनुभव लेते हैं और निजानन्दमें मस्त होते हैं ।

विषयोंसे प्राप्त होनेवाला सुखदुःखका मूल कैसा है, इस विषयमें थोडासा विवेचन करना यहां आवश्यक है । पाठक यहां देखें कि योग्य खानपानके सेवनसे सुख होता है, यह सुख बाह्य विषयसे प्राप्त होनेवाला है । इस सुखकी लालसा के कारण जिह्वा रसास्वाद लेनेमें अधिकाधिक आसक्त होती है, मुझे फलाणे रसवाले पदार्थ अधिक मिलें इस इच्छासे यह मनुष्य उन रसीले पदार्थोंका अत्यधिक संग्रह करनेका यत्न करता है । दूसरोंको ये पदार्थ न मिलें और मुझहि केवल

मिलें इस स्वार्थबुद्धिसे वह दूसरोंको उन विषयों से दूर रखता है, अतः द्वेष बढता है और इस प्रकारके द्वेषसे अनंत कलह होते हैं और कलहसे दुःख बढते हैं। इस कलहाग्निमें जैसी व्यक्तिकी वैसीहि समाजकी बहुत हानि होती है। इसी तरह अन्यान्य विषयों के भोगोंकी लालसा बढ जानेके कारण अन्त में दुःख बढते हैं। इसलिये कहा है कि ज्ञानी लोग ऐसे विषयभोगोंमें नहीं फंसते। अतः सब लोगों को योग्य है कि वे इस प्रकारके विषयभोगों में न फंसे और आत्मामें स्वयं प्राप्त होनेवाले निर्विषय सुख को प्राप्त करनेका यत्न करें। इस अखंड सुख को प्राप्त करनेका यत्न कैसा करना चाहिये इस विषयमें आगेके श्लोक में एक युक्ति कही है, वह अब देखिये—

(२३) इससे पूर्व दो प्रकारके योग कहे हैं। (१) कर्ममें कुशलता [२।५०] और (२) द्वन्द्वोंके विषयमें समभाव [२।४८] ये दो योग हैं, तीसरा योग इस श्लोकमें कहा है- (३) कामक्रोधों के वेगोंको सहना [५।२३] यह भी बडाभारी योग है। इस योगके आचरणसे मनुष्यको सच्चा स्थायी सुख प्राप्त होता है। कर्म-कौशल रूप योगसे उत्तम कर्म बनते हैं, द्वन्द्वविषयक समभावरूप योगसे द्वन्द्वोंसे कष्ट नहीं होता, और कामक्रोध-वेग सहनेसे अपना बल बढता है। ये तीनों योग बहुतही महत्त्वके हैं और साधक को निःसन्देह उन्नति करनेवाले हैं।

कामका वेग और क्रोधका वेग ये बडे भारी वेग हैं। विश्वामित्र बडी भारी तपस्या करता था। परंतु एक दिन मेनका नामक एक स्त्रीका दर्शन होतेहि उसके मनमें कामका वेग ऐसा बढ गया कि अन्तमें वह तपस्यासे भ्रष्ट हि हुआ। दूसरे शुक्राचार्यभी बाल ब्रह्मचारी तपस्वी थे, उसको तपस्याका भंग करनेके लिये भी एक अप्सरा आयी थी। परंतु वे कामके वेगको सहनेवाले थे, अतः कामवेग उस शुक्राचार्यजीके मनको कंपायमान नहीं कर सका। यह मनोबल का भेद है। विश्वामित्र का मन कामवेग सहन करनेमें समर्थ हुआ। कदाचित् यहां ऐसाभी कहना संभव है कि शुकाचार्यके मनमें काम उत्पन्न ही नहीं हुआ और विश्वामित्रके मन को कामवेगने बहा दिया। कामके वेगको सहनेकी अपेक्षा मन में काम की उत्पत्तिहि नहीं हुई तो वह स्थिति बडीहि उच्च है इसमें संदेह हि नहीं। अस्तु। इन दो उदाहरणोंसे पाठकोंके मनमें कामके वेग को सहने और न सहने का आशय स्थिर हो सकता है। कामके वेगको न सहनेवाले हि प्रायः सब संसारी मनुष्य होते हैं। मनकी निर्बलताके कारण इनका कमजोर मन कामके वेगसे कंपायमान होता है, मानो जलप्रवाहमें पडे हुए पत्तेके समान वह वेगके साथ बहता चला जाता है। इस प्रकारके कामप्रवाहके साथ बहनेवाले मनको कदापि स्थिरता और शान्ति प्राप्त नहीं होती। वह सदा अशान्तिसे तडफता रहता है।

कितना भी वायुका वेग हुआ तो भी पर्वत स्थिर रहता है, क्योंकि वह प्रबल वायुवेग को सह सकता है, परंतु थोडासा वायु वृक्षों के पत्तोंको हिलाता है क्यों कि वे वायुवेगको नहीं सह सकते। इससे स्पष्ट है कि शत्रुका वेग सहनेके लिये अपने अन्दर विशेष शक्ति चाहिये और शत्रुके वेगसे उखड जाने के लिये अपनी निर्बलताही कारण हो सकती है।

वेदमें 'सहमान और असह्य' ये दो शब्द इसी अर्थ के संबंधमें विशेष मनन करने योग्य हैं। 'सहमान' का अर्थ शत्रुके वेग को सहन करके अपने स्थानमें स्थिर रहनेवाला, और 'असह्य' का अर्थ जिसका वेग शत्रुको असह्य होता है। ये दोनों शब्द अपने सामर्थ्य के द्योतक हैं। वही भाव 'कामक्रोधके वेगको सहने का है।' काम क्रोधके वेग को सहनेका अर्थ उनसे अपनी शक्ति अधिक करना और उनको अपने वशमें करना है। अपनी शक्ति अधिक करनेसेहि शत्रु अपने आधीन हो सकता है और अपनी शक्ति कम

होनेसे शत्रुका अधिकार अपने ऊपर होगा।

"जो मनुष्य इसी देहमें, इसी जन्ममें, अर्थात् मृत्युके पूर्व कामक्रोध के वेग को सह सकता है, अर्थात् कामको और क्रोधको अपने वशमें करता है, अपने ऊपर उसका शासन होने नहीं देता, वही योगी और वही सुखी है।"

कामका हमला हुआ और यदि मनुष्यका मन निर्बल हुआ, तो मनपर कामका प्रभुत्व होता है, इससे सब शरीर में एक प्रकार की विलक्षण हलचल शुरू होती है, इस हलचल का परिणाम वीर्यपर होता है। वीर्य पिघलता है, स्रवता है, और सब शरीर की कमजोरी होती है। मस्तिष्क की शक्ति क्षीण होती है। इस तरह शारीरिक ओज और मस्तिष्क का बल क्षीण होता है। यदि वारंवार कामवेग के हमले शुरू हुए और प्रतिवार इसकी निर्बलता सिद्ध होने लगी तो आगे क्षय आदि बीमारियां होती हैं और अन्तमें मृत्यु के वश में वह मनुष्य जाता है।

इसी प्रकार क्रोधके वेग से शरीरमें रक्तके जीवनकण नष्ट होते हैं और रक्त निर्जीवसा बनता है, मस्तिष्कमें भ्रम होता है और यदि क्रोध का वेग बढ गया तो मनुष्य पागल या भ्रान्तसा बनता है। इस रीतिसे देखा जाय तो काम और क्रोध ये दोनों प्रबल शत्रु हैं अतः उनका वेग बढने नहीं देना चाहिये। अतः गीतामें अन्यत्र कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणम्॥
गी० ३।३७

"रजोगुणसे उत्पन्न काम और क्रोध भोगोंसे तृप्त न होनेवाले और महापापी हैं। इनको तू अपने वैरी समझ।" ये शत्रु हैं ऐसा मान कर इनसे सदा सावधान रहना चाहिये। तथा—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥
गी० १६।१२

"कामी और क्रोधी लोग सैंकडों आशाओंके जालोंसे बद्ध होते हैं और अपने विषयभोगोंके लिये अन्यायपूर्वक अपने पास अधिकाधिक द्रव्य संचय करते हैं।" और इसी संचय के कारण मनुष्योंके समाजमें विविध क्लेश बढते हैं, अतः—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥
गी० ५।२६

"जिन्होंने काम को और क्रोधको परास्त किया है, जिन्होंने अपने मनको स्वाधीन किया है और जिनको अपने आत्माका ज्ञान हुआ है, ऐसे संयमी यतियोंको सर्वत्र ब्रह्मही ब्रह्म अनुभव में आता है।" यह है काम और क्रोधको वश करनेका फल। तथा और देखिये—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
गी० १६।१६

"अनेक भ्रमोंमें पडे, मोहजालोंमें फंसे और कामभोगोंमें आसक्त जो होते हैं, वे अपवित्र नरक में गिरते हैं।"

इस तरह कामक्रोध में फंसने का परिणाम भयानक अधःपात होनेमें होता है और कामक्रोध का संयम करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। इस लिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह कामक्रोधोंके वेगको सहनेके योगका अभ्यास करे। इस योगका अभ्यास प्रत्येक दिन मनुष्य कर सकता है। रात्रीके सोनेके पूर्व एकान्तमें बैठकर अपने दैनिक जीवनका विचार मनुष्य करे और सोचे कि कामका वेग अथवा क्रोधका वेग कितने समय अपने ऊपर आगया, उस समयमें उस वेगसे बह गया अथवा मैंने उसको सहन किया। इसका विचार करके साधक परमेश्वरकी प्रार्थना करे कि इस वेगके सहनेका बल अपनेमें बढे और मुझे इस योगकी सिद्धि प्राप्त होवे। पुनः प्रातःकाल उठकर मनुष्य निश्चय करे

(१२) ब्रह्मनिर्वाण।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

अन्वयः— यः अन्तःसुखः, अन्तरारामः, तथा यः अन्तर्ज्योतिः एव, सः योगी ब्रह्मभूतः ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति॥२४॥ क्षीणकल्मषाः छिन्नद्वैधाः, यतात्मानः, सर्वभूतहिते रताः, ऋषयः ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते॥२५॥ कामक्रोधवियुक्तानां यतचेतसां विदितात्मनां यतीनां अभितः ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते ॥२६॥

जिसे अन्दरसे सुख प्राप्त होता है, जिसके अन्दर शान्ति रहती है तथा जिसके अन्दर प्रकाश (ज्ञान) हुआ है, वह योगी स्वयं ब्रह्मरूप बनकर ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त करता है ॥२४॥ जिनके सब पाप नष्ट हुए, जिनके सब सन्देह दूर हो चुके हैं, जिन्होंने अपना संयम किया है और जो सब प्राणिमात्रके हितमें लगे हुए हैं, वे अतीन्द्रियार्थदर्शी मनुष्य ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त करते हैं ॥२५॥ जिन्होंने काम का और क्रोध का त्याग किया है, जिन्होंने अपना संयम किया है, जिन्होंने अपने को पहचाना है, उन संयमीयों के लिये चारों ओर ब्रह्मकी शान्ति सदा रहती है ॥२६॥

भावार्थ- जिनको किसी बाह्य कारण के विना ही अन्दरहि अन्दरसे सुख प्राप्त होता है, जिनके अन्तः-करणमें अटळ शान्ति रहती है, जिनको अन्तर्यामी आत्माका ज्ञान हुआ है, जिनके सब पाप और सब सन्देह दूर हो चुके हैं, जिन्होंने अपना पूर्ण संयम किया है, तथा जो सब प्राणिमात्रोंके हितमें अपने आपको लगानेमें आनंद मानते हैं, जिन्होंने कामक्रोध का त्याग किया है, उन संयमी अतीन्द्रियार्थदर्शी मनुष्यों को ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त होती है ॥२४—२६॥

कि आजके दिन मैं कामक्रोधके वेगको सहूंगा और उस वेगसे परास्त न होऊंगा। इस तरह आत्मपरीक्षा करनेसे मनुष्यमें यह बल बढ सकता है और इसका मन उक्त वेग सहनेमें समर्थ हो सकता है। यही इस योगकी सिद्धि है। इसी सिद्धिको ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं। इसका वर्णन आगेके तीन श्लोकोंमें देखिये—

(२४-२६) इन तीन श्लोकोंमें मनुष्यमात्रका अन्तिम ध्येय जो "ब्रह्मनिर्वाण" है, वह कौन प्राप्त कर सकते हैं, इस बातका वर्णन है। इन श्लोकोंके मननसे ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करनेवाले और ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्ति न करनेवाले, ऐसे

द्विविध जन होते हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। इन दोनोंके स्वभाव कैसे होते हैं, इसका विचार अब देखिये—

ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करनेवाले	ब्रह्मनिर्वाण जिनको नहीं प्राप्त होता
(१) अन्तःसुखः- जिनको अपने अन्दरहि अन्दर सुख प्राप्त होता है।	(१) जिनको केवल बाह्य विषयोंसे हि सुख मिलता है, जो कि वास्तव में दुःखका हेतु है। (गी० ५।२२)
(२) अन्तरारामः- जिनके अन्तरात्मामें शान्ति स्थिर रहता है। जो निजानन्दसे आनन्दित होते हैं।	(२) जिनके अन्दर और बाहर सदा अशान्ति रहती है। जो दिनरात तडफते रहते हैं।
(३) अन्तर्ज्योतिः, विदितात्मा, ऋषिः— जिनके अन्दर प्रकाश है, आत्माका ज्ञान हुआ है। जिनके अन्तःस्फूर्तिसे सब सन्देह निवृत्त होते हैं। जो अतीन्द्रियार्थदर्शी हैं, ज्ञानी हैं।	(३) जिनको आत्मज्ञान नहीं हुआ, जिनको अन्तःस्फूर्ति नहीं होता, जिनको सांसारिक विद्या होनेपर भी आत्मज्ञान नहीं है, अथवा दोनों नहीं हैं।
(४) ब्रह्मभूतः- ब्रह्मके समान जो विशाल बना है।	(४) जिसके विचार संकुचित है, जिसकी दृष्टि विशाल नहीं है।
(५) क्षीणकल्मषाः— जो निष्पाप हैं।	(५) जो पाप करते हैं।
(६) छिन्नद्वैधः— जिनके संदेह और द्वैतभाव नष्ट हुए हैं।	(६) जो संदेहग्रस्त हैं, और जो द्वन्द्वोंमें फंसे रहते हैं।
(७) यतात्मा, यतचेताः; यतिः— जिन्होंने अपना संयम किया है।	(७) जो स्वैर आचार करते हैं।
(८) सर्वभूतहितरत- सर्व प्राणिमात्रोंके हितमें तत्पर।	(८) दूसरोंका घातपात करके अपना सुख बढानेवाले।
(९) कामक्रोधवियुक्तः— जिन्होंने काम और क्रोधका त्याग किया है।	(९) कामी और क्रोधी।
(१०) ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति, लभते, अभितः वर्तते— ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त होती है, चारों ओर होती है।	(१०) सर्वदा अशान्त रहते हैं।

पाठक यदि इस कोष्टकका अच्छी प्रकार मनन करेंगे, तो उनको पता लगेगा कि, किस साधनसे कौन मनुष्य ब्रह्मकी शक्ति प्राप्त करते हैं। इस कोष्टकके मननसे जो ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्तिका साधन निश्चित होता है, वह निम्नलिखित है—

ब्रह्मनिर्वाण का साधन।

पाप का आचरण न करना, पापविचार दूर करना, ज्ञानप्राप्तिसे सब संदेह दूर करना, द्वन्द्वभाव दूर करना, झगडे फिसाद न करना, इंद्रियोंका, मनका और आत्माका संयम करना, इंद्रियोंको अपने आधीन करना, स्वैराचार बन्द करना, कामक्रोध आदि अन्तःशत्रुओंका निरास करना, विषयलंपटता छोड देना, सब प्राणियोंका हित करनेमें आत्मसमर्पण करना, उदारचरित बनना, ये हैं साधन जिनसे ब्रह्मप्राप्ति होती है।

ये साधन करते रहनेसे मनुष्यकी एक एक शक्ति विकास को प्राप्त होती है। और साधनका महत्त्व उसे ज्ञात होता है। जब साधन विशेष अधिक होता है, तब निम्नलिखित अनुभव उसे प्राप्त होते हैं—

उसकी आत्मामें अन्दरहि अन्दर बिना किसी बाह्य कारण के अपूर्व सुख और आनन्द होता है, यह अखंड आनंद होता है और किसी बाह्य कारणसे वह नष्ट नहीं होता। इसको सहजानन्द कहते हैं। जैसा आनंदयुक्त बालक का मुख प्रसन्न होता है वैसी उसकी वृत्ति सदा प्रसन्न होती है। आन्तरिक शान्ति रहती है, जगत्

(१३) सदा मुक्त।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

अन्वयः— यः मुनिः बाह्यान् स्पर्शान् बहिः कृत्वा, चक्षुः च एव भ्रुवोः अन्तरे कृत्वा, प्राणापानौ च नासाभ्यन्तरचारिणौ समौ कृत्वा, यतेन्द्रियमनोबुद्धिः, विगतेच्छाभयक्रोधः, मोक्षपरायणः (स्यात्), सः सदा मुक्तः एव ॥२७-२८॥

जो मुनि बाह्य विषयोंको बाहर हि त्याग कर, दृष्टिको भृकुटी के बीच स्थिर करके, प्राण और अपान को नासिकाके अन्दर संचार करते हुए सम करके, इंद्रियां मन और बुद्धिको वशमें करके, इच्छा भय क्रोध से रहित होकर, जो मोक्षपरायण होता है, वही सदा मुक्त है ॥२७-२८॥

भावार्थ— जो मौनावलंबन करके बाह्य विषयोंको त्यागता है, दृष्टिको दोनों भौहों के बीचमें स्थिर रखता है, प्राण और अपान की गतिको सम करता है, इन्द्रियां मन और बुद्धिको वशमें रखता है, इच्छा भय क्रोध को दूर रखता है और केवल ब्राह्मी शान्ति प्राप्त करनेमें तत्पर रहता है, वही सदा मुक्त होता है ॥२७-२८॥

(२७-२८) इन दो श्लोकों में सदा मुक्त

का कोई कारण उसको अशान्त करनेमें असमर्थ होता है। उसको ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अन्दर प्रकाश है, मैं अपने प्रकाशसे जगत् को प्रकाशित कर रहा हूं यह उसका अनुभव होता है। सत्य वस्तु का यथार्थ ज्ञान उसको होता है। उसका मन विशाल होता है। संकुचित और संकीर्ण भाव उसमें कदापि नहीं होते। पापकी प्रवृत्ति उसकी हट जाती है, मैं अन्य जगत् से भिन्न हूं और जगत् परस्पर भिन्न है और वह मुझसे भिन्न है यह द्वैतभाव हट जाता है और द्वैत भाव के कारण उत्पन्न होनेवाले सब संदेह दूर होते हैं। सहज ही से संयम होता है, कभी मन विषयों की ओर दौडता ही नहीं। सब प्राणियोंका हित करना वह अपना कर्तव्य समझता है इतनाही नहीं परंतु सर्वभूतहित करनेसे हि उसको आनन्द होता है। सब भूत-सेवासे वह अपने आपको कृतकृत्य हुआ समझता है। सब भूतोंकी सेवा निष्काम भावसे करना उसकी प्रसन्नताका विषय होता है। वह न कभी काम विषय में लिपटता है और न क्रोध के वश होता है, तथा लोभ मोह मद मत्सर से भी वह दूर होता है।

ऐसे मनुष्य के चारों ओर ब्रह्मकी शान्ति सदा अटल रहती है। अर्थात् वह सदा ब्राह्मी शान्तिका अनुभव करता है। 'ब्रह्मनिर्वाण' का विशेष वर्णन चतुर्थ अध्याय के अन्त के विवरण में किया है, यह विषय पाठक वहां देखें। अस्तु। इस तरह ब्रह्म प्राप्तिका साधन और फल है। पाठक इसका अच्छी प्रकार मनन करें। यही विषय कुछ अन्य शब्दों द्वारा भगवान् पुनः कहते हैं, वह उपदेश अब देखिये-

रहनेवालेके लक्षण और साधन बताये हैं। इन श्लोकोंका मनन करनेके लिये सदा मुक्त और सदा बद्धके लक्षणोंका विचार करना चाहिये। वह विचार निम्नलिखित कोष्टक में दिया है—

सदा मुक्त	सदा बद्ध।
(१) मुनिः- मौन धारण करता है, अल्प-भाषण करता है।	(१) बहुत भक् भक् करता है।
(२) स्पर्शान् बहिः कृत्वा- विषयभोगोंका बहिष्कार करता है।	(२) विषयभोगोंमें फंसता है।
(३) चक्षुःभ्रुवोः अंतरे कृत्वा- दृष्टिको भ्रूमध्यमें स्थिर करता है। दृष्टिको स्थिर करता है।	(३) दृष्टि चञ्चल रहती है।
(४) प्राणापानौ समौ कृत्वा- प्राण अपानोंकी गति सम करता है।	(४) प्राण अपानोंकी गति विषम होती है।
(५) यतेन्द्रियमनोबुद्धिः- इंद्रियां मन और बुद्धिका संयम करता है।	(५) इंद्रियां, मन और बुद्धिको स्वैर छोडता है।
(६) विगतेच्छाभयक्रोधः (गी. ५।२८); वीतरागभयक्रोधः- (गी. २।५६;४।१०) इच्छा भय और क्रोधका त्याग करता है।	(६) इच्छा भय और क्रोधसे युक्त होता है।
(७) मोक्षपरायणः- मुक्तिके मार्ग में तत्पर रहता है।	(७) मुक्त होनेका विचार हि नहीं करता, बंधनमें आनंदसे रहता है।

पाठक इस कोष्टक का विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि मुक्तिका मार्ग कौनसा है और बंधनका मार्ग कौनसा है। जो बहुत बोलते हैं, व्यसनों में फंसते हैं, विषयोंके पीछे पडे रहते हैं, इंद्रियोंको स्वैराचारी बनाते हैं, वासनाओंके पीछे दौडते जाते हैं, क्रोधसे अन्धे हुए होते हैं, भविष्यके विषयमें डरते हैं, जो चञ्चल वृत्तिवाले होते हैं, वे सब बंधनमें कष्ट सहते रहेंगे। जबतक उनके ये आचार रहेंगे तब तक उनकी बंधनसे निवृत्ति होनेकी आशा नहीं है।

परंतु जो मौनावलंबन करते हैं, अथवा अल्प भाषण करते हैं, विषयभोगोंको दूर रखते हैं, दृष्टि स्थिर करते हैं, इंद्रियोंका संयम करते हैं, वासना, भय और क्रोध को दूर रखते हैं, अपने बंधन को दूर करनेका उद्योग करनेमें तत्पर होते हैं, वे मुक्त होते हैं।

साधारणतः बंध और मुक्त होनेका हेतु यह है। अब इसका थोडासा अधिक विचार करना चाहिये। पहिली बात मौन की है। मुनि बनना चाहिये। जो मौन धारण करता है, उसको मुनि कहते हैं। अथवा अल्प भाषण करनेवालों को भी मुनि कहा जाता है। भाषण द्वारा मनुष्यकी बहुतसी शक्ति क्षीण होती है। शब्दोच्चारणमें बडी शक्ति लगती है। यदि ये शब्द अच्छे हुए तो उन से परिणाम उत्तम होने के कारण, उस भाषण के लिये हुए शक्ति-क्षय का शोक करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। परंतु यदि भाषणमें बुरे हीन विचारही प्रकट हुए तो उनसे सुननेवालोंका भी अधःपात होनेकी संभावना होनेके कारण, उस भाषण में जो शक्ति खर्च हुई, वह न केवल व्यर्थ गयी अपितु हानिकारक भी बनी। इसलिये मुनि लोग मौनावलंबन करते हैं, अथवा जितना कम बोला जाय उतना कम बोलते हैं और जब बोलते हैं तब शिवसंकल्पयुक्त ही बोलते हैं। इस लिये उनके उच्चारे हुए शब्दोंके अनुकूल बात बन जाती है।

चित्तकी एकाग्रता करनेके लिये 'मौन' धारण करना एक बडा भारी साधन है। इससे बुरे विचार हटते हैं और चित्त स्थिर होने लगता है। जो व्यवहार में पडे हैं वे यदि सप्ताहमें एक दिन मौन धारण करेंगे, तो भी उनको लाभ होगा। परंतु साल दो साल जो मौन धारण करेंगे उनको बहुत लाभ होगा। उत्तम मौन तो वह है कि

जिसमें दूसरोंके प्रश्नोंका किसी शब्दसे, चिन्हसे या चेष्टासे उत्तर देनेका यत्न न हो। जिसमें लेखद्वारा या चिह्नद्वारा उत्तर दिया जाता है वह मौन रूपयेमें दो आने लाभ करेगा। अस्तु। यहां इतनाही बताना है कि मौन एक उत्तम साधन है, जिससे आत्माकी शक्तिका अनुभव होता है। इससे अपने आत्माकी शक्ति आत्मामें संग्रहित होती है। बहुत बोलनवालेकी शक्ति व्यर्थ चली जाती है।

दूसरा मोक्षका साधन विषयभोगोंपर बहिष्कार है। इंद्रियोंके विषयभोग निश्चित हैं। उन विषयभोगोंमें पडनेसे भी मनुष्यकी शक्ति क्षीण होती है। इस शक्तिके क्षयसे बचनेके लियेहि यह संयमका साधन है। स्पर्शका अर्थ विषयोंसे स्पर्श है। नेत्रका विषय रूप है अतः सुन्दर रूपका भोग नेत्रद्वारा होता है और इस उपभोगमें मनुष्यकी शक्तिका बहुत क्षय होता है। परंतु यह क्षयकी परंपरा इससे भी दूरतक चली जाती है। जब मनुष्य सुंदर रूपमें मोहित होता है, उस सौंदर्यभोगमें बडा आसक्त होता है, तब उसके केवल नेत्र इंद्रियकी शक्ति ही नष्ट होती है ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत उस उपभोगके साथ जिन दूसरे इंद्रियोंका संबंध आता है, उन सब इंद्रियों की शक्ति भी कम होती है। यहां तक की सौन्दर्य के पीछे पडे हुए मनुष्यका वीर्यनाश होकर उससे शरीरका भी नाश होता है। इसी तरह जिह्वाके रसभोगमें आसक्त मनुष्यका पेट खराब होता है, कब्जी होती है और अन्तमें शरीर क्षीण होकर मृत्यु होती है। इसी प्रकार अन्यान्य भोगों के विषयमें भी समझना उचित है। इसलिये धर्मानुकूल विषयसेवन जहांतक हो वहांतक अल्प करना योग्य है और अपने आपको क्षयसे बचाना भी योग्य है।

इसी साधनके साथ संबंध रखनेवाला साधन इंद्रियसंयम है, जिसमें इंद्रिय, मन और बुद्धिका संयम करना होता है। बुद्धिका संयम सुविचार में बुद्धिको रखना और दुष्ट विचारसे हटानेसे होता है, मनभी सत्कर्म में लगाना और दुष्ट कर्म से दूर रखना योग्य है। इंद्रियोंके संयमके विषय में भी वही बात है। इस संयमसे अपनी शक्ति सुस्थिर रहती है, बढती है, और आत्माकी शक्तिका अनुभव होता है।

इसके साथ वासना अथवा इच्छाका त्याग करनेका साधन है। इच्छा, भय और क्रोध का त्याग करना चाहिये। क्रोधसे जो हानि होती है उसका वर्णन इससे पूर्व किया जा चुका है। रक्तके जीवनकण क्रोधसे नाश होते हैं, अतः क्रोध को जीतनेसे वेहि जिवनकण सुरक्षित रहते हैं, जिनसे जीवन का आधार स्थिर होता है। क्रोध न करनेसे यह प्रत्यक्ष लाभ है। क्रोध के समय संपूर्ण शरीर के रक्त में एक प्रकारके आघात शुरू होते हैं, जिनसे मस्तिक बिगडता है, विवेक का नाश होता है, स्मृति दूर होती है और मनुष्य पागलसा बनता है। इस समय क्रोधी मनुष्य अनुचित कर्म भी करता है। यह सब क्रोध से अनर्थ होता ह। अतः क्रोध को दूर रखनेसे मनुष्य इन अनर्थोंसे बचता है।

भोग और कामक्रोध के कारण मनुष्य जो कुछ बुरा भला करता है, उसके परिणामसे वह भयभीत होता है, डरता है। आगे परिणाम मेरे प्रतिकूल होगा, ऐसा उसका मन गवाही देता रहता है। इस कारण ऐसा कोई कर्म करना मनुष्य को उचित नहीं है कि जिस कारण ऐसा डरना उसको आगे आवश्यक होवे। इसका आशय यह है कि यदि डर हटाना है तो सब प्रकारके बुरे विचार, बुरे उच्चार और बुरे आचारोंसे दूर रहना चाहिये।

इच्छा, वासना ये सब भोगप्राप्तिके विषयमें होती हैं। मुझे भोग चाहिये और हर प्रयत्न करके मैं भोग भोगूंगा। इस वासना से मनुष्य प्रेरित होकर समय समयपर भयानक कर्म करता है। इन से कुछ समय उसको कुछ भोग प्राप्त भी हुए,

तथापि अन्तमें उस भोगवासना के इतने भयानक बुरे परिणाम होते हैं कि उन का दुःख न केवल कर्ताको परंतु उनके अनेक वंशजों को भी भोगना पडता है। इसलिये मोक्षपरायण मनुष्यको उचित है कि वह इच्छा को दूर करे और निरिच्छ रहे।

यह सब साधन मोक्षप्राप्तिके लिये, 'सदा मुक्त' होनेके लिये कहे हैं। इसके साथ 'मोक्ष-परायण' होना भी अत्यंत आवश्यक है। मोक्ष-परायण का अर्थ मोक्षतत्पर, जिन साधनोंसे अपने सब बंधन दूर होंगे, उन का अवलंबन करनेवाला, अपने मोक्ष का ही ध्यान करनेवाला। यह गुण आतुरता दर्शाता है।

ये सब साधन 'सदा मुक्त' होने के हैं। 'सदा मुक्त' का अर्थ इस जीवित दशामें भी जो मुक्त होता है। कई मानते हैं कि शरीर रहने तक मुक्ति नहीं होती। इस पक्षवालोंके मत का इन श्लोकोंने अच्छी प्रकार खंडन किया है और कहा है कि मनुष्य इसी जीवन में 'सदा मुक्त' हो सकता है और इसके साधन ये हैं।

इन श्लोकोंमें और दो साधनों का उल्लेख है, जिनका विचार हमने अभीतक नहीं किया। उनमें से एक 'भौंहोंके बीचमें दृष्टि स्थिर करना' है और दूसरा 'प्राणापानोंको नासाभ्यंतर संचारी करके सम करना' है। इन दो साधनोंका संबंध जैसा शरीरके साथ है वैसा मन आदि सूक्ष्म शक्तियोंके साथ भी है। अतः इन का विशेष विचार करना चाहिये।

(चक्षुः भ्रुवाः अन्तरे कृत्वा) दृष्टि भौंहोंके बीचमें स्थिर रखना चाहिये। दोनों भौंहोंके मध्यमें दृष्टि रखनेसे एक प्रकार की मूर्छासी आजाती है। मूर्छा होने तक यह अभ्यास कोई न करें। गुरु के सन्निध रहनेका जिनको सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे जितना चाहे उतना अभ्यास करें, परंतु अन्य असहाय्य मनुष्य मूर्छना तक अभ्यास न बढावें। भ्रूमध्यमें दृष्टि रखनेसे प्रथमावस्थामें बहुतसे दृष्टिदोष दूर होते हैं। जिनको समीपका दीखता नहीं, उनको समीपका ठीक प्रकार दीखने लगता है। इसके अतिरिक्त दूसरा यह लाभ है कि चित्तकी स्थिरता होती है। परंतु कई लोग मस्तिष्क के निर्बल होते हैं, उनको भ्रूमध्यमें दृष्टि रखने से शिरोवेदना शुरू होती है और वे अधिक अभ्यास नहीं कर सकते। ऐसे निर्बल लोगोंको उचित है कि वे प्रथम मस्तिष्कका बल बढानेका उपाय करें। और पश्चात् भ्रमध्य में दृष्टि स्थिर करनेका अनुष्ठान करें। जिनको शिरोवेदना नहीं होती उनका मार्ग सरल होता है। इस दृष्टिका अभ्यास करनेवाले सूर्यदर्शन का अभ्यास करें, मंद सूर्यकी ओर १०।१५ मिनिट तक टकटकी लगानेसे सब दृष्टिदोष दूर होते हैं। शनैः शनैः यह अभ्यास १ मिनिटसे १५ मिनिट तक बढाया जावे। इस अभ्याससे दृष्टि निर्दोष होती है और भ्रूमध्य में स्थिरता करना सुगम हो आता है। ब्रह्मका स्थान मस्तक है, इसको सहस्रार कमल कहते हैं, इस सहस्रार कमलमें ब्रह्मका स्थान है। भ्रूमध्यदृष्टिसे कुछ अभ्यासके पश्चात् प्रकाश-दर्शन होने लगता है। आगे उसी प्रकाशमें दृष्टि रखनेसे शनैः शनैः आगेके अनुभव होते हैं। इस तरह भ्रूमध्यदृष्टिसे अनेक लाभ होते हैं।

दूसरा साधन (प्राणापानौ नासाभ्यंतरचारिणौ समौ कृत्वा) प्राण और अपान नासिकामें संचार करनेवाले परंतु सम करनेसे होता है। यहां प्राण अपान शब्द श्वास उच्छ्वासका बोधक है। मनुष्यके श्वास उछ्वास नीरोग अवस्थामें करीब करीब सम रहते हैं और रोगी अवस्थामें विषम हो जाते हैं। उच्छ्वास कम हुआ तो शरीरसे मल दूर नहीं होता और अधिक हुआ तो अशक्तता बढती है। परंतु श्वास और उच्छ्वास सम हुए तो शरीरका आयव्यय सम होनेसे शरीर की समावस्था देर तक रहती है। श्वास और उच्छ्वास पूर्ण हुए तो शौचशुद्धि होनेमें और अवष्टंभ हटनेमें सहायता होती है, जिससे आरोग्य बढता है। श्वास उच्छ्वास सम होनेसे

(१४) शान्तिकी प्राप्ति।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अन्वयः— यज्ञतपसां भोक्तारं सर्वभूतानां सुहृदं सर्वलोकमहेश्वरं मां ज्ञात्वा शान्तिं ऋच्छति ॥२९॥

यज्ञ और तपके भोक्ता, सब भूतोंके हित करनेवाले, सब लोगोंके महान् ईश्वर ऐसे मुझको जानकर मनुष्य शान्ति को प्राप्त होता है ॥२९॥

भावार्थ- जिस ईश्वरके लिये यज्ञ और तप किये जाते हैं, जो सब प्राणिमात्रका हित करता है, और जो सब विश्वका एकमात्र मुख्य-स्वामी है, उस को यथावत् जाननेसे मनुष्यको शांति प्राप्त होती है ॥२९॥

मनभी सम अवस्थामें रहने लगता है, क्यों कि प्राणका मनसे संबंध नित्य है।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।

'प्राण चंचल होनेसे चित्तकी चंचलता होती है और प्राण समवृत्ति होनेसे चित्त भी समवृत्ति होता है।'' इसी कारण प्राणापान सम होनेसे मन स्थिर होता है। और मनका स्थिर होना एक बडा भारी साधन मोक्षकी प्राप्तिके लिये होता है।

पाठक'सदा मुक्त'होनेके इस साधन का अच्छी प्रकार मनन करें और इसको अपने आचरण में ढाल कर अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करें। क्यों कि यही एकमात्र मनुष्यजन्म का सार्थक है।

सदा मुक्त होनेका अर्थ अढल शान्ति प्राप्त करना है। इस शांतिकी प्राप्ति कैसी होती है यह विषय अगले श्लोकमें कहा है, वह महत्त्वका उपदेश अब ध्यानसे देखिये—

(२९) इस श्लोकमें शान्ति प्राप्त करने का उपाय कहा है। परमेश्वरका स्वरूप यथावत् जाननेसे मनुष्यको शान्ति प्राप्त होती है। परमात्माका और जीवात्माका स्वरूप वस्तुतः एक ही है, क्योंकि दोनों स्वरूपतः 'आत्मा' हैं। एक का बडापन और दूसरेका छोटापन अलग रखकर दोनोंका विचार किया जाय तो दोनोंका रूप एक ही प्रतीत होगा। परंतु इन दोनोंमें भेद भी है। वह भेद यह है कि, एक परमात्मा, परमेश्वर, सर्वभूतहितकर्ता है और दूसरा अल्प, अनीश, स्वार्थी है। यही भेद मुख्यतः दीखता है और विचारणीय भी है।

एकके पास सर्व अधिकार है और दूसरेके पास कुछभी अधिकार नहीं है। यह क्यों हुआ? इसका मनन करना चाहिये। जिसके हाथमें कुछ भी अधिकार नहीं है उसको उचित है कि वह अधिकारवाले के कर्तृत्वका मनन करे और स्वयं वैसा बननेका विचार करे। पुत्र अपने पिताका कर्तृत्व देखे, शिष्य अपने गुरुका गुरुत्व किसमें है, इसका विचार करे और उनके अनुसार बननेकी चेष्टा करे। ईश्वरके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेका यही हेतु है। इस गीतामें क्या और अन्य ग्रंथोंमें क्या ईश्वरके गुणोंका वर्णन जो किया है उसका हेतु यही है। साधक जीव उन परमेश्वरके गुणोंका मनन करे और स्वयं वैसा बननेका प्रयत्न करे।

पुत्र पिताके सदृश बन सकता है, शिष्य गुरुके समान विद्वान् हो सकता है, इसी तरह आत्मा परमात्मा हो सकता है। यदि साधक नर नारायण होना संभव न होगा, तो फिर उसको परमात्माके गुण जाननेकी आवश्यकता ही नहीं है। परंतु शास्त्रोंका सिद्धान्त तो यही है कि यह पुरुष पुरुषोत्तम हो सकता है। इसीलिये इस पुरुषके उद्धारके लिये पुरुषोत्तमके गुणोंका वर्णन किया जाता है। यह वर्णन पुरुष देखे और उन गुणोंको अपने अन्दर धारण करे और प्रयत्नसे पुरुषोत्तम बने।

इस श्लोकमें इसी उद्देश्यसे ईश्वरके कुछ गुण कहे हैं। ईश्वर के गुण अनंत हैं। उन गुणोंका विचार बहुत है। यहां केवल सूचना मात्र थोडेसे गुण कहे हैं। इस श्लोकमें परमेश्वर-(१) यज्ञतपका भोक्ता, (२) सर्व भूतोंका सुहृत्, और (३) सर्व लोकोंका महेश्वर है, ये तीन ही गुण कहे हैं। परंतु इनसे दूसरे अनेक गुण सिद्ध होते हैं। देखिये—

" सर्वभूतानां सुहृत् ।"

"ईश्वर सब भूतोंका मित्र है।" सबका हित करनेवाला है। मित्र अथवा सुहृत् वह होता है कि जो सदा हित करनेवाला होता है। सुहृद उत्तम हृदयवाले को कहते हैं। किसी के विषय में उत्तम हृदयवाला होनेका अर्थ उसका उत्तम हित करना है। ईश्वर सब प्राणिमात्रोंका हित करता है, कोई प्राणी ईश्वरकी प्रार्थना करे या न करे, वह उसका उत्तम हित करता है। सब प्राणियों का हित करनेमें ईश्वर सदा तत्पर है। यही ईश्वरका ईश्वरत्व है। वह कभी किसी का बुरा करता ही नहीं। अतः उसको 'शं-कर' कहते हैं। वह सदा सब का कल्याण करता है।

सामान्य मनुष्य क्या करता है, यह तो सब को पता है। मनुष्य अपने हित करनेमें तत्पर रहता है, इतना ही नहीं, प्रत्युत दूसरोंका घातपात करके अपना सुख बढाना चाहता है। यहां साधारण मनुष्य और ईश्वर के गुणोंकी तुलना हो सकती है—

ईश्वर के गुण	सामान्य मनुष्यके गुण।
सर्व भूत-सुहृत् ।	स्वहिततत्पर ।
सब भूतों का हितकर्ता ।	अपनाहि हित करनेका इच्छुक ।
अपनी शक्तिसे दूसरोंकी मुक्ति करनेवाला ।	दूसरोंको परतंत्र रखकर अपना स्वार्थ साधन करनेवाला ।
सब का आनन्दवर्धक ।	अपना सुख बढानेका इच्छुक ।
परमार्थी	स्वार्थी
विश्वकुटुंबका हितकर्ता	अपने परिवारका हितैषी
सर्व भूत-हितके कारण अजातशत्रु	स्वार्थ के कारण सब दूसरोंकी शत्रुता करनेवाला ।

किन प्रशस्त गुणोंके कारण ईश्वरका सबपर प्रभुत्व हुआ है और किन दुष्ट गुणोंके कारण साधारण मनुष्य मनुष्यत्वसे भी गिरता है, उसका स्पष्टीकरण इस कोष्टकसे हो सकता है। मनुष्यको उचित है कि वह इन गुणोंका मनन करे, और अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये वह " सर्वभूतोंका सुहृत् " बननेका यत्न करता रहे। जितना उसका सुहृदत्व व्यापक होगा, उतना उसका प्रभुत्व सिद्ध होता जायगा। मनुष्यका उन्नतिका क्रम इस तरह होता रहता है। अपना हित, कुटुंब का हित, परिवारका हित, जातिका हित, राष्ट्रका हित, मानवजातिका हित, सब भूतमात्रका हित। यहां "अपनापन" बढता जाता है। जितना इसका 'अपनापन' विस्तृत होता है उतना इसमें प्रभुत्व स्थिर होता है। और जब यह 'सर्वभूतहितरत' होता है, तब वह ईश्वरके सदृश हो जाता है। सब प्राणियोंके हितके विषयमें समान भाव मनमें स्थिर होना यह एक विशेष उन्नतिकी स्थिति है।

सब प्राणियोंका हित हो जावे, इतनी इच्छा तो प्रायः सबमें होती है, परंतु जो मनुष्य अपना सर्वस्व प्राणिमात्रके हितके लिये समर्पित करता है, वही श्रेष्ठ होता है। सब प्राणिमात्र वासुदेव स्वरूप हैं, और वासुदेवकी सच्ची प्रसन्नता प्राणिमात्रका हित करनेसे होती है, ऐसा जान कर जो अपनी शक्तिको सब प्राणिमात्रके हितके लिये समर्पित करता है, उसीकी योग्यता श्रेष्ठ होती है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः।
गी० १८।४६

"जो अपना कर्म है, उसके द्वारा सब प्राणिमात्रका हित करनेसे उस वासुदेवकी पूजा होती है। और इसीसे अन्तिम सिद्धि प्राप्त होती है।" उदाहरणके लिये देखिये। ब्राह्मण अपने ज्ञानसे सब भूतोंका हित करे, क्षत्रिय अपनी रक्षा द्वारा सब भूतोंका हित करे, वैश्य व्यापारसे सब भूतोंका हित करे और शूद्र अपनी कारीगरीसे सबका हित करे। इस तरह चारों वर्ण अपने अपने कर्मोंसे सब लोगोंका हित कर सकते हैं। साधारणतः इन कर्मोंका उपयोग अपने हित संवर्धनके लिये किया जाता है, वेही कर्म यदि सर्व भूतोंका हित करनेके लिये किये जायगे, तो वे कर्म मुक्तिके सहायक बन जांयगे और उनसे पुरुष सचमुच पुरुषोत्तम बनेगा।

पाठक विचार करके जान सकते हैं कि इस सर्वभूतहित की कसौटीसे अपना आचरण कैसा हो रहा है और कैसा होना चाहिये। मनुष्योंको उचित है कि वे अपने अन्दर सुहृद्भाव बढावें और द्वेषभाव कम करें। साधकको यही अभ्यास करना चाहिये।

"यज्ञतपसां भोक्ता।"

"ईश्वर यज्ञ और तपका भोक्ता है।" उपासक यज्ञ करते हैं और परमेश्वरकी प्रीति होनेके लिये उसको समर्पित करते हैं। ऐसेहि तपस्वी लोग अपने तपको भी परमेश्वरार्पण करते हैं। उन यज्ञोंको और तपोंको स्वीकार करके ईश्वर उनपर संतुष्ट होता है। ईश्वरकी संतुष्टताका यही एकमात्र साधन है।

यहां यज्ञ क्या चीज है इसका विचार करना चाहिये। 'देव पूजा-संगति करण-दान' ये तीन यज्ञ के रूप हैं। जनतामें ज्ञानदेव, बलदेव, धनदेव और कर्मदेव ये चार प्रकारके देव हैं, इनको चार वर्ण कहा जाता है। इन चार वर्णोंमें जो देव होंगे उनका सत्कार करना, आपसमें संगतिकरण मित्रता अथवा संघटना करना, और दीनों को दान करना ये तीन भाग यज्ञके हैं। यज्ञमें ये तीन बातें अवश्य होनी चाहिये। ये न होनेकी अवस्थामें कोई कर्म यज्ञरूप हो नहीं सकता। इस प्रकारके यज्ञरूप कर्मसे परमेश्वर प्रसन्न होता है, ये ही यज्ञरूप कर्म परमेश्वर के पास स्वीकृत होते हैं। इन यज्ञरूप कर्मोंका ही परमेश्वर भोक्ता है।

तपका अर्थ शीतोष्ण सहन करना है। सत्कर्म करनेके समय जो कष्ट होंगे उनको सहनेका नाम तप है। प्रत्येक कर्म करनेके लिये शीतोष्ण, हानि-लाभ, जयापजय, भूखप्यास आदि सहन करनाही चाहिये। इस सहन करनेका ही नाम तप है। यह तप ईश्वरार्पणबुद्धिसे करना चाहिये, जिससे ईश्वर की प्रसन्नता होती है। देखिये—

ईश्वरकी प्रसन्नता	ईश्वरकी अप्रसन्नता
यज्ञ—	अयज्ञ—
यज्ञसे ईश्वरकी प्रसन्नता	यज्ञ न करनेसे अप्रसन्नता
सत्पुरुषोंके सत्कारसे	सत्पुरुषोंको कष्ट देनेसे
आपसकी संघटनासे	आपसके झगडोंसे
दीनोंकी सहायतासे	दीनोंको कष्ट देनेसे
तप—	अतप—
शीतोष्ण सहनेकी शक्ति बढानेसे	शीतोष्ण सहनेकी शक्ति न होनेसे

इस कोष्टकसे स्पष्ट हुआ कि यज्ञ और तपसे ईश्वरकी प्रसन्नता होती है और इनके न होनेसे ईश्वर अप्रसन्न होता है। ईश्वर की प्रसन्नता का विचार अलग रखा जाय, और केवल मानवी-समाजके हितकी दृष्टिसे भी देखा जाय तो पाठकोंको स्पष्ट होगा कि यज्ञ और तपसे समाजका हित होता है। देखिये यज्ञसे कैसा हित होता है। श्रेष्ठोंका सत्कार, आपसकी संघटना और दीनोंका उद्धार ये यज्ञके तीन भाग हैं। श्रेष्ठ सज्जनोंका सत्कार करनेसे वे समाजको सदुपदेश देते हैं और सन्मार्गपरसे समाजको चलाते हैं। आपस की संघटना करनेसे संघशक्ति बढती है और दीनोंकी सहायता करनेसे उनकी सामाजिक सुस्थिति उत्तम होनेके कारण वे भी समाजके लिये आत्मार्पण करते हैं। इस तरह संपूर्ण समाज और राष्ट्र यज्ञके द्वारा संजीवित, सुसंघटित और सबल होता है। यज्ञसे यह प्रत्यक्ष लाभ है। तपसेभी इसी तरह लाभ होता है। प्रत्येक कर्म करते समय जो कष्ट होंगे, उनको सहन करनेसे वह कर्म पूर्ण रीतिसे हो सकता है। तथा उसमें बलकी भी वृद्धि होती है। अस्तु। यज्ञ और तप से इस रीतिसे लाभ होता है। यह लाभ प्रत्यक्ष होनेके कारण इसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

परमेश्वरकी प्रसन्नता भी उसीसे होगी जिससे संपूर्ण जनता का लाभ होगा, क्यों कि परमेश्वर का मुख, बाहु, उदर और पांव क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अर्थात् ज्ञानी, वीर, व्यापारी और कारीगर हैं; (ऋग्वेद १०।९०।१२) इसका सरल अर्थ यह है कि जनता ही जनार्दन का प्रत्यक्ष रूप है। अतः संपूर्ण जनताका लाभ जिससे होगा, उससे निःसन्देह परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी हि, और परमेश्वरकी प्रसन्नताका अर्थ भी सबकी प्रसन्नता है— क्योंकि—

वासुदेवः सर्वमिति। भ० गीता ७।१२

" वासुदेव अर्थात् परमेश्वर ही सब कुछ है " अतः वासुदेव तृप्त और प्रसन्न हुआ तो सब तृप्त और प्रसन्न होनेमें कोई संदेह नहीं। ईश्वर यज्ञ और तपका भोक्ता होनेमें यह आशय है। पाठक इसका विशेष मनन करें और इससे उचित बोध प्राप्त करें।

"सर्वलोकमहेश्वरः।"

अब परमेश्वर का यह एक गुण विचारके लिये हमारे सन्मुख है। संपूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर एक मात्र प्रभु है। उसको छोडकर इसका नियंता दूसरा कोई नहीं है। सब जगत् का प्रभु एकही है, उसको किसी नामसे पुकारो, सबकी प्रार्थना वही सुनता है।

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥

तथा—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥२३
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च॥
गी० अ० ९

" संपूर्ण देवताओंको किया हुआ नमस्कार परमात्माको पहुंचता है! जो लोग अन्यान्य देवताओंकी पूजा करते हैं वे यद्यपि अविधिपूर्वक पूजा करते हैं तथापि वे परमेश्वर की ही पूजा करते हैं। क्यों कि वही ईश्वर सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु है।"

एक ईश्वरकी कल्पना इससे अधिक पूर्ण रीतिसे कही जानी असंभव है। पाठक एक ईश्वर की इस पूर्ण कल्पना को अपने मनमें स्थिर करके अनेक देवतावादको मनसे हटादें। अनेक देवताएं वैदिक धर्मके अनुसार हैं, परंतु वे केवल इस एक परमात्माके विविध प्रकाशकिरण ही हैं। परमात्माको छोडकर उन अन्य देवताओंको स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

जो लोक इस सर्व लोकोंके महेश्वरको शरण जाते हैं, उनको भय दर्शानेवाला इस जगत् में कोई नहीं है। वह निर्भय होकर विचरता है। उसको इस परमात्माका आधार सदा रहता है।

"शान्ति ऋच्छति।"

इस प्रकारके परमेश्वर का ज्ञान होनेसे प्रत्येक साधक को शान्ति प्राप्त होती है। क्यों कि जो परमेश्वर को यथावत् जानता है वह स्वयं परमेश्वर बनता है और परमेश्वर सदा शान्त है, अतः वह साधक भी शान्ति को प्राप्त होता है। देखिये—

ईशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति॥
श्वे० उ० ३।७

ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥
श्वे० उ० ४।१४

ब्रह्मविदाप्नोति परम्॥ तै० उ० २।१।१

ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ व्या० उ० ८;
गीता. ५।२०

ब्रह्म विद्वान् ब्रह्माभिप्रैति॥ कौ० उ० १।४

"ईश्वर को जानकर अमर होते हैं। परमेश्वर को जानकर अत्यंत शान्ति प्राप्त होती है। ब्रह्मज्ञानीको परम पद प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्ममें स्थिर होता है। ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्मको प्राप्त होता है।"

इत्यादि वचनों में कहा है कि ईश्वरके ज्ञान से शान्ति मिलती है और ईश्वरत्व स्थिर होता है। इसी का नाम नर का नारायण होना है।

"मां ज्ञात्वा।"

"मुझे जान कर" शान्ति मिलती है ऐसा यहां कहा है। यहां "मुझे" (मां) शब्दद्वारा किसका बोध लेना चाहिये, यह एक बडा विचारणीय प्रश्न है। सब लोग जानते हैं कि यहां कहनेवाले भगवान् वासुदेव होनेसे यहां "(मां) मुझे" इस शब्दद्वारा भगवान् का ही ग्रहण करना योग्य है। भगवान् वासुदेव, कृष्ण, परमेश्वर और परमात्मा इन शब्दोंसे गीतामें एकही सद्वस्तुका ज्ञान होता है, यह बात सब जानते ही हैं। निःसन्देह यहां के "(मां) मुझे" इस शब्दसे परमात्मा यह अर्थ विवक्षित है। परंतु भगवद्गीतामें जहां जहां "अहं, मम, मां" आदि शब्द आये हैं, वहां वहां परमात्मा यह अर्थ तो है हि, परंतु गुप्त रूपसे साधक भी अपने आत्माको वहां रखकर, अपना भावी अनुभव पूर्ण पुरुषकी स्थिति आनेके पूर्वहि केवल शब्दोंसे जान सकता है।

साधक कभी न कभी सिद्ध बन सकता है। अतः साधकस्थितिमें उसको सिद्धावस्थाका अनुभव आना असंभव है। तथापि सिद्ध अवस्थामें अपना अनुभव कैसा होगा, इसकी कल्पना करनी हो तो, गीताके 'अहं, मम, मां' आदि शब्दोंके स्थानपर 'भगवान् की कल्पना' न करके 'अपनी कल्पना' वहां करके शब्दों द्वारा वह स्थिति यह साधक भी जान सकता है। सिद्धावस्थामें मेरी कैसी स्थिति होगी, मैं कैसा उन्नत होऊंगा, और उस स्थितिमें मुझे क्या अनुभव होगा, इसका ज्ञान वह उक्त प्रकार पहिले भी प्राप्त कर सकता है।

जैसा कोई मनुष्य नाटकमें राजा का स्वांग लेकर रंग में आता है, और राजाका आविर्भाव करता है और सचमुच राजा ही क्षणमात्र बनता है। जब तक वह उस रंग में रहता है तब तक उसको स्वयं राजा न होते हुए भी राजा बननेका अनुभव आता है। सच्चा राजा न होता हुआ भी केवल नाट्यप्रसंग से जैसा वह राजाके अधिकार का अनुभव ले सकता है, वैसा ही गीताके 'मैं, मेरा, मुझे' इन शब्दोंके स्थान में और वेद के भी इन शब्दोंके स्थान में अपनी कल्पना करके अपनी भावी अवस्था की कल्पना उसको हो सकती है। यह कल्पना केवल शब्दों की ही है, इस में इस समय सत्यांश थोडासा भी नहीं है, तथापि इस साधक को इस तरह यह कल्पना करनेसे मैं कहां हूं, मेरा कितना साधन हुआ और कितना होना चाहिये इत्यादिका निश्चय करने के विषयमें इस आत्मपरीक्षासे सुगमता हो सकती है।

गीता का अभ्यास करनेवाले इस दृष्टिसे भी मनन करें। अभ्यास की यह एक रीति है। कईयों

को इस अभ्यास से भी बहुत लाभ हो सकता है। यदि मैंने अच्छी तरह अभ्यास किया, तो मेरी स्थिति कैसी होगी इसकी कल्पना होनेसे साधक का चित्त अभ्यासपर अधिक स्थिर हो सकता है।

"मेरा ज्ञान होनेसे शान्ति प्राप्त होती है।" इसका अर्थ "आत्मा का ज्ञान होनेसे शान्ति मिलती है" ऐसा भी है। शरीर, इंद्रियां, मन इनमें भिन्नता, विषमता, न्यूनाधिकता, दोषमयता, विकारमयता और अशांति है। इस लिये इनके ज्ञान से विषमता ही बढेगी, और विषमतासे अशान्ति हो सकती है, अर्थात् इससे कभी शान्ति नहीं प्राप्त होगी। केवल 'आत्मा' हि एक अव्यय, अजर, अमर, अभय, निर्दोष, निर्विकार है, इस लिये आत्माके ज्ञानसेहि निर्दोषता होगी और निर्दोषतासे शान्ति भी प्राप्त होगी।

जिस आत्मा के ज्ञानसे यह शान्ति प्राप्त होगी वही आत्मा मेरे अन्दर, मेरे अन्तःकरणमें है, इतनाही नहीं परंतु वही मेरा अन्तरात्मा है, यह ज्ञान होनेसे अपना बल अधिक हो जाना संभव है। मेरा अन्तरात्मा इस प्रकारका है, यह सबसे श्रेष्ठ ज्ञान है और इसीसे मनुष्यका उद्धार होता है। गीताके "मैं, मेरा, मुझे" ये शब्द इसी अन्तरात्माके वाचक हैं। परंतु जब यह अनुभव होगा तभी इनकी सचाईका पता लग सकता है। तब तक यह शाब्दिक ज्ञान ही रहेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित,
ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक,
श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवादमें
कर्मसंन्यासयोग नामक
पंचम अध्याय
समाप्त ॥५॥

श्रीमद्भगवद्गीताके पंचम अध्यायका थोडासा विचार।

कर्मसंन्यासयोग।

इस अध्याय का नाम 'कर्मसंन्यासयोग' अथवा 'संन्यास योग' है। कई पुस्तकोंमें 'सांख्य-योग' ऐसा भी मुद्रित है। आत्मा अकर्ता,अभोक्ता किंवा निष्क्रिय है, इस बातकी सिद्धता इस अध्याय में की है, इस लिये इस का यह नाम है। इस लिये इस अध्यायमें जिस संन्यास का वर्णन है उसका स्वरूप हमें यहां देखना चाहिये। इस अध्याय के पूर्व भी संन्यास का बहुत मनोरम वर्णन किया और पश्चात् कर्म करनेको भी कहा इस लिये अर्जुन के मनमें शंका उत्पन्न हुई कि-

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ ५।१

"हे कृष्ण! आप एक वार कर्मोंके संन्यासकी और दूसरी वार कर्मोंके योग की प्रशंसा करते हो, इस लिये इन दोनोंमें से जो एक मार्ग मेरे लिये कल्याणकारी होवे,वह मुझे निश्चित रीतिसे कहिये।"

इस प्रश्नमें अर्जुन की शंका का कारण स्पष्ट हुआ है। भगवान् के मुखारविंदसे जब अर्जुन ने संन्यास और कर्मयोग की प्रशंसा समानतया श्रवण की, तब उसके मनमें शंका हुई की कौनसा मार्ग अवलंबन करें? यदि कर्मसंन्यास श्रेयस्कर है तो उसीका आचरण क्यों न करें? फिर वारंवार 'कर्म करो' ऐसा उपदेश भगवान् मुझे क्यों दे रहे हैं? ऐसा विचार अर्जुन के मन में आया। और कर्मसंन्यास और कर्मयोग में मेरे लिये श्रेयस्कर कौनसा योग है, यह प्रश्न अर्जुनने यहां किया। इसी प्रश्नका उत्तर भगवान् ने इस अध्यायमें दिया है।

"संन्यासयोग और कर्मयोग दोनों निश्रेयसकर हैं, परंतु संन्यास की अपेक्षा अर्जुन जैसे मनुष्यों के लिये कर्मयोग विशेष सुखकारक है।" (गी. ५।२) यहां कर्मयोग में कुच्छ विशेषता है, जो विशेषता संन्यासयोगमें नहीं है, ऐसा कह कर कर्मयोग की विशेष प्रशंसा की है। यहां ध्यानमें धारण करना यह है कि, अर्जुन का प्रश्न "मेरे लिये श्रेयस्कर कौनसा मार्ग है" ऐसा है और प्रश्न के अनुकूल श्रीभगवान् का उत्तर भी "तेरे लिये कर्मयोग विशेष हितकर है" ऐसाहि है। यह प्रश्न और यह उत्तर विचारपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है, कई दूसरे मनुष्यों के लिये संन्यासयोग भी वैसा ही श्रेयस्कर होगा जैसा अर्जुन जैसों के लिये कर्मयोग श्रेयस्कर है। क्यों कि (गी० ३।३ में कहा है कि) संन्यास-स्वभाव-वाले और कर्मस्वभाववाले ऐसे दो प्रकारके लोग होते हैं, उनमें से संन्यास-स्वभाववालों के लिये संन्यासमार्ग श्रेयस्कर है और कर्मस्वभाव-वालोंके लिये कर्मयोग श्रेयस्कर है। इस पूर्वकथित नियमानुसार यहां (५।२ में) कहा है कि अर्जुन जैसे कर्मस्वभाववालों के लिये कर्मयोग ही विशेष श्रेयस्कर है।

यदि ऐसा है तो अर्जुन जैसे कर्मयोगी लोग संन्यासफल कैसे प्राप्त कर सकते हैं? अथवा उनको संन्यास का फल कभी प्राप्त ही नहीं हो सकता? यदि नहीं हो सकता तो बडी निराशाकी बात है। परंतु भगवद्गीता निराशा का उपदेश कभी नहीं देती, इसी लिये कर्मयोगी को भी संन्यास का फल प्राप्त करा देनेकी युक्ति यहां कही है, जिस से कर्मयोगी को निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। वह इस युक्तिका आश्रय करके कर्मयोग का आचरण करता हुआ भी संन्यास का फल प्राप्त कर सकता है। देखिये—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते॥५।३

"जो मनुष्य किसीसे द्वेष नहीं करता और किसी की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता और जो द्वन्द्वोंसे दूर रहता है, वह नित्यसंन्यासी है और वह सुखपूर्वक बंधनसे मुक्त होता है।" यहां (१) इच्छा न धरना, (२) द्वेष न करना और (३) द्वैतभाव न धारण करना, ये तीन लक्षण नित्य संन्यासीके कहे हैं। जिसके मन से इच्छा दूर हुई, द्वेषभाव हट चुका और द्वैतभाव अलग हुआ वह संन्यासी हुआ जानो। अर्थात् वह गेरुवे कपडे पहने या न पहने, वह निःसंदेह संन्यासी है। सच्चा संन्यासी कौन है और कौन नहीं इस का ज्ञान अधोलिखित कोष्टकसे होगा।

नित्य संन्यासी	असंन्यासी
न कांक्षति	कांक्षति
(इच्छा न धरना)	(इच्छा धरता है)
न द्वेष्टि	द्वेष्टि
(द्वेष न करना)	(द्वेष करता है)
निर्द्वन्द्वः	द्वन्द्वः
(द्वैत छोडना)	(द्वैत भाव का धारण)
बंधात् प्रमुच्यते	बंधात् न मुच्यते
(बंधसे मुक्त होता है)	(बंधमें गिरता है।)
मोक्ष	बंध

यहां इसके मननसे संन्यास से मोक्ष होनेके अर्थ क्या हैं और संन्यास न होने से बंधन होनेका तात्पर्य क्या है, इस का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। पाठक इस कोष्टक का बहुत मनन करेंगे तो उनको व्यवहार में सब कर्म करते हुए भी नित्य संन्यासी होनेकी युक्ति प्राप्त हो सकती है।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन निषेधलक्षणों से किन गुणोंका बोध होगा? इच्छा का दूर होना, कामनाका हटना और द्वैत का न होना ये तीनों निषेधक लक्षण हैं। निषेधसे किसी सत् तत्त्व का बोध नहीं होगा, अतः इनसे संन्यासीके सत् गुणोंका विचार करना चाहिये।

(१) द्वैतभाव मनसे हट गया, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वहां सबके एक तत्त्व का भाव होगा, साधारण अवस्था में 'मैं भिन्न हूं और सब जगत् मुझसे भिन्न है' ऐसा ही द्वैत का अनुभव मनुष्य को आता है। यह द्वैतानुभव सत्य नहीं है। 'मैं तू और वह' यह सब मिलकर एक ही 'अस्तित्व' है। क्यों कि "वासुदेवः सर्वं" (गी० ७।१९) यह महासिद्धान्त है। अतः यदि 'वासुदेवः सर्वं' यह सत्य है, तो 'नेह नानास्ति किंचन' इस उपनिषद्वचन की सत्यता भी यहां ही अनुभव में इसी तरह आजायगी। अतः 'निर्द्वन्द्व' रूप निषेध लक्षण का विधिलक्षण 'एकत्वका दर्शन' ही है। (एकत्वमनुपश्यतः। ईश उ०)

(२) 'न द्वेष्टि' यह नित्य संन्यासी का दूसरा निषेध लक्षण है। जो नित्य संन्यासी होगा वह किसी का कभी द्वेष नहीं करेगा, परंतु वह द्वेष नहीं करेगा, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह दूसरोंसे कैसा आचरण करेगा। वस्तुतः द्वेष न करने का विधि रूप तात्पर्य दूसरे पर 'प्रेम करना' ही है। वास्तविक तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो यह नित्यसंन्यासी किसी दूसरेपर प्रेम नहीं करता, वह अपनेपरहि प्रेम करता है। क्यों कि 'वासुदेवः सर्वं' सब कुछ वासुदेव का रूप है। 'मैं तू और वह' ये सब उसके लिये एक तत्त्वके रूप बने हैं। दूसरा कोई जगतमें नहीं है, फिर यह द्वेष किसका करे? यदि कुछ बिगडा है तो भी उसीने बिगडा है और यदि कुछ सुधरा है तोभी उसीनें सुधरा है। इस एकत्वके अनुभवसे द्वेषकी जड ही नष्ट होती है। वह किसीका द्वेष कर हि नहीं सकता। इस स्थितिमें वह द्वेष रहित होता है इतनाही नहीं, इस समय उसको अखंड आत्माका दर्शन होनेसे तथा आत्मासे भिन्न दूसरा कुछ न होनेसे सर्वत्र वासुदेव का अखंड रूप दिखाई देता है, अतः वह सब पर अखंड प्रेम करता है। अपने आत्मापर प्रेम करनेके समान वह सब पर प्रेम करता है। संपूर्ण जनता, संपूर्ण प्राणिसमष्टी, संपूर्ण स्थिर-

चर जगत् उसके लिये वासुदेवमय, परमात्ममय ईश्वरस्वरूप बन गया, तब—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। ईश ४

'इस तरह एकत्व का साक्षात्कार हुआ तो शोक और मोह कैसे हो सकते हैं?' इस एकत्वानुभव के कारण ही वह सब पर अखंड प्रेम करता है। 'न द्वेष्टि' इस निषेध लक्षण का 'अखंड प्रेम करना' यह विधिरूप अर्थ है।

(३) नित्य संन्यासी का तीसरा लक्षण (न कांक्षति) इच्छा न करना है। जिसको अखंड परमात्मस्वरूपका साक्षात्कार हुआ उसको और कौनसी कामना होगी? अन्तिम कामना उसकी सफल होनेके कारण जो अन्तिम प्राप्तव्य था वह उसको प्राप्त प्राप्त हुआ, फिर उसके समीप कौनसी कामना होगी, जो उसको सतावेगी? सब वासुदेव का रूप है, इस विषय में जिसको संदेह न रहा, उसको कोई कामना नहीं रह सकती। अतः उसको 'तृप्त, संतुष्ट' कहते हैं। इस लिये 'न कांक्षति' का विधिरूप अर्थ 'नित्य तृप्त' अथवा 'नित्य संतुष्ट' है।

इतने विवेचनसे तीनों विषेधरूप लक्षणोंके विधिरूप लक्षण ध्यानमें आसकते हैं। वे यहां कोष्टकमें देखिये—

नित्यसंन्यासी के लक्षण।

विधिलक्षण।	निषेधलक्षण।
एकत्वानुभव	निर्द्वन्द्वः
अखंड प्रेम	न द्वेष्टि
नित्य संतुष्टी	न कांक्षति

इन लक्षणोंसे 'नित्य संन्यासी' कौन है और कौन नहीं है, इस का ज्ञान हो सकता है। जो नित्यतृप्त है, जिसके अंतःकरणमें अखंड प्रेम का स्रोत चलता है और जिसमें आपपर भाव नहीं है तथा जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको कुछ वासना नहीं है और जिसमें द्वंद्वभाव नहीं है, वह नित्यसंन्यासी है।

कर्म करनेवाला मनुष्य भी द्वन्द्वरहित होने द्वेष छोडने और वासनात्याग करनेसे किंवा नित्य संतुष्ट रहने, अखंड प्रेम करने और एकत्वका अनुभव करनेसे नित्यसंन्यासी होनेका लाभ प्राप्त कर सकता है।

नित्य और अनित्य संन्यासी।

यहां 'नित्य संन्यासी' और 'अनित्य संन्यासी' का अर्थ भी विचार करके देखना चाहिये। पूर्वोक्त स्थानमें जो लक्षण दिये हैं वे नित्य संन्यासी के हैं। नित्य संन्यासी वह है कि स्वभावतः हि जिसके मनसे वासना, द्वन्द्व और द्वेष हट चुके हैं, स्वभावसेहि जिसके मनमें संतोष, सर्वात्मभाव और प्रेम विद्यमान हैं। ऐसा मनुष्य कर्म करे अथवा न करे वह सदा संन्यासी है।

परंतु जो मनुष्य बलात्कारसे वासनाको दूर रखना चाहता है, चिडानेपर भी प्रयत्न से द्वेष करना नहीं चाहता, द्वैतका अनुभव होनेपर भी सर्वत्र एक तत्त्व है ऐसा मननसे जानना चाहता है, उसका यह भाव स्वभावसे नहीं होता, परंतु प्रयत्नसे जो इस प्रकार अपने मनको ढालना चाहता है; तथा जो मनमें संतोष न रहनेपर भी मनकी वासनाओंको दबाकर संतोष को मन में स्थिर करना चाहता है, दूसरों का द्वेष मनमें उत्पन्न होनेपरभी विचार से वह द्वेष को दबाकर प्रेम करनेका यत्न करता है, इस प्रकारका मनुष्य यद्यपि बाह्य दृष्टिसे संयमी संन्यासीसा दिखाई देता है, तथापि वह 'अनित्य संन्यासी' हि कहलायेगा, क्योंकि उसके स्वभाव में संन्यासीपन परिपूर्ण भरा नहीं, वह प्रयत्नसे संन्यासी होता है, इसी लिये जिस समय उसका प्रयत्न ढीला होता है, उस समय वह संन्यासी नहीं होता है। इसी हेतु से उसे 'अनित्य संन्यासी' कहते हैं। जो नित्य संन्यासी है वह स्वभावतः हि हरएक अवस्था में संन्यासी है। वह कर्म करे या न करे, गेरुवे कपडे पहने या न पहने, वह कैसाभी रहे, उसका संन्यासीपन अखंड है। गीताका कहना है कि मनुष्य उक्त लक्षण अपनेमें स्थिर करे और नित्य

संन्यासी बने। कर्म करने या कर्म छोडनेका संबंध गीताकी दृष्टिसे इस नित्य संन्यासके साथ नहीं है। गीताकी दृष्टिसे संन्यासका संबंध मनकी अवस्था के साथ है; यदि मन द्वेषभाव, द्वैतभाव और अपूर्णताके भाव से रहित हुआ और यदि उसमें प्रेम, ऐक्य और संतोष रहा तो वह नित्यसंन्यासी हुआ। गीता मनुष्यके मनको देखकर संन्यासी होने न होनेका निश्चय करती है। पाठक इस बात को ध्यानमें धारण करें और नित्यसंन्यासी बनने का यत्न करें। इस अभ्यास के लिये बडा प्रयत्न करना पडेगा, परंतु जब यह साध्य होगा, तब संन्यासकी सब सिद्धियां इसके पास आकर सदा खडी होगीं।

सांख्य और योगकी एकता।

सांख्यमार्ग और योगमार्ग, अथवा संन्यासमार्ग और कर्ममार्ग भिन्न नहीं हैं, एकही हैं यह भी गीताका एक महत्त्वपूर्ण कथन अत्यंत विचार करने योग्य है। सब लोग जानते हैं कि संन्यास मार्ग में कर्मोका त्याग करना आवश्यक है और कर्ममार्ग में कर्मोका करना आवश्यक है। प्रकाश और अंधकार के समान इन दोनों मार्गोंमें अन्तर है। तथापि गीताका कथन है कि ये दोनों एकही हैं-

> सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
> एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विंदते फलम् ॥४॥
> यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
> एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५
> गी० ५

"सांख्य और योग विभिन्न हैं, ऐसा मूढ मानते हैं, ज्ञानी नहीं। किसी एक के अनुष्ठानसे दोनोंका फल प्राप्त होता है, जहां सांख्यमार्गी जाते हैं वहां योगी भी पहुंचते हैं। अतः सांख्य और योगको जो एक देखता है वही सत्य देखता है।" इस तरह दोनों मार्ग एकसे हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। दोनोंको पृथक् माननेवालोंको 'मूढ (बाल)' भी कहा है और आग्रहके साथ दोनोंकी एकता दर्शायी है। तथापि एकता दर्शाते दर्शाते दोनोंमें कुछ भेद है यह भी यहांहि दिखाया है, नहीं तो 'जो स्थान सांख्यमार्गी प्राप्त करते हैं, वह योगी भी प्राप्त करते हैं' ऐसा कहनेका कोई प्रयोजन नहीं था। इसी विधानसे ये दो मार्ग कुछ अंशमें भिन्न हैं ऐसा सिद्ध होता है। परंतु यह भेद आचरण की दृष्टिसे है, अन्तिम सिद्धिकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं, क्योंकि दोनोंको एकहि स्थान प्राप्त होता है। पाठक पूर्वोक्त संन्यासी के ही लक्षण देखें, कर्मयोगी भी इच्छा द्वेष और द्वैतभाव छोडकर संन्यास का पूर्ण फल प्राप्त करता है। पूर्णफल प्राप्त होनेकी दृष्टिसे दोनोंकी एकता ही होगयी। यद्यपि बाह्य दृष्टिसे कर्मयोगी और संन्यासयोगी भिन्न दिखाई देंगे, तथापि उनकी मनोभूमिपर समान योग्यता होगी। यहां परिणामकी दृष्टिसे दोनोंकी एकता हमने देखी। और भी एक विचार है जिससे कर्मयोगकी विशेषता स्पष्ट हो जाती है। कर्मयोगके विना सांख्ययोग सिद्ध होना अति कठिन है-

> संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
> योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥
> गी० ५।६
> संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
> तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥
> गी० ५।२

"योगके अभ्यासके विना संन्यासका अभ्यास करना अति दुःखदायक है। परंतु जो पहिले योगसाधन करके पश्चात् संन्यासका अनुष्ठान करता है वह शीघ्रहि ब्रह्म प्राप्त करता है। संन्यास और कर्मयोग दोनों श्रेयस्कर हैं, परंतु कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की विशेषता है।" यह विशेषता सुगमताके कारण है। यदि कोई मनुष्य दोनों एकही हैं ऐसा मानकर कर्मयोग का त्याग करके एकदम संन्यासका ग्रहण करेगा तो उसको (दुःखं आप्तुं अयोगतः। ५।६) निःसंदेह दुःख होगा। परंतु संन्यास न लेते हुए कोई कर्मयोग करेगा तो उसको वैसे कष्ट नहीं होंगे।

अर्थात् यह विशेषता सुगमताकी दृष्टिसे है। सर्वसाधारण लोगोंको आचरणमें कठिनता प्रतीत न हो इस लिये उनके लिये प्रथम श्रेणिमें रह कर करने योग्य सुगम यह कर्म मार्ग है। इसी दृष्टिसे इसकी यह विशेषता कही है। इस मार्ग से जाते जाते आगे इच्छा द्वेष छोड दिये तो इसीसे नित्य संन्यासी बनकर अन्तिम सिद्धि भी मिलती है। इस तरह यह मार्ग सुगम है, प्रारंभमें आचरने योग्य है, इस कारण आगे इसको छोडना पडता है और दूसरा पकडना पडता है, ऐसी भी बात नहीं। इसी का आचरण करते करते, रागद्वेष और द्वैतभाव छूटते हि अन्तिम सिद्धी प्राप्त होती है। इस तरह यही मार्ग प्रारंभ में सुकर है और अन्तमें सिद्धिप्रद भी है, अतः कहा है कि "जहां संन्यासी जाते हैं वहां योगी भी जाते हैं। (गी. '५।५)" अर्थात् योगी पीछे नहीं रहते। शनैः शनैः उन्नत होंगे, देरीसे पहुचेंगे, परंतु पहुचेंगे निश्चयसे। इतने विचारसे कर्मयोग की विशेषता किस दृष्टिसे है यह बात पाठकों के ध्यानमें आचुकी होगी, और दोनोंकी एकता किस दृष्टिसे है इस का भी ज्ञान हुआ होगा।

"संन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयसकर हैं" (गी० ५।२) तथापि अर्जुनसे कहा कि 'तू कर्मयोग ही कर,' इसका कारण इस मार्ग की सुगमता है। कोई यहां शंका न करे कि कर्मयोग करनेसे कर्मसंन्यास का फल प्राप्त होता है वा नहीं? वह निःसन्देह प्राप्त होता है। क्यों कि गीतामें इसी सिद्धि की युक्ति कही है। कर्मयोग करते करते इस युक्ति के द्वारा साधक सहज ही में कर्मसंन्यास का फल प्राप्त कर सकता है। वह युक्ति 'कर्मफलपर अनासक्ति किंवा कर्मफलत्याग' है, अथवा दूसरे शब्दोंमें 'इच्छा, द्वेष और द्वन्द्व का त्याग करना' है। दोनों का अर्थ एक ही है।

निर्लेपता।

'इच्छा द्वेष और द्वन्द्व' ये तीन बंधन के हेतु हैं, इन से युक्त होकर कर्म करनेसे मनुष्य का कर्म का लेप लगता है, अथवा पाप लगता है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि कर्म के दोष को हटाना है तो इच्छा द्वेष और द्वैतभावको दूर करना चाहिये। यहां पाठक पूछ सकते हैं कि इच्छा द्वेष आदि के कारण कर्म का दोष क्यों लगता है? इस के उत्तर के लिये थोडासा विचार करना आवश्यक है। सब से पहले द्वन्द्वभाव में "मैं अलग हूं और अन्य लोग मुझसे पूर्णतया भिन्न हैं" यह विचार सतत जाग्रत रहता है। इस से हि यह विचार उत्पन्न होता है कि मेरे प्रतिस्पर्धी ये सब अन्य हैं, इस लिये इनसे मुझे डर है अतः इनसे सुरक्षित रखनेके लिये मुझे प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारके अनेक विचार मन में उत्पन्न होनेसे मनमें द्वेष उत्पन्न होता है। इस द्वेषभावका परिणाम लडाई झगडे फिसाद आदि हैं और अन्तमें मनकी अशान्तिहि इसका फल है। तात्पर्य यह है कि द्वैत भावसे द्वेष भावकी उत्पत्ति है। द्वैतभावसेहि इच्छा की उत्पत्ति है, क्योंकि मैं अपूर्ण हूं और वह दूसरा पदार्थ प्राप्त होनेसे मैं पूर्ण होऊंगा, इस विचार से दूसरे पदार्थोंकी प्राप्ति करनेकी कामना होती है, इस इच्छा या कामनासे विरोधक के साथ द्वेष और अनुकूल के साथ स्नेह होता है और आगे झगडे और अशान्ति होनेमें कोई संदेह हि नहीं है।

इस तरह एक के साथ प्रेम, दूसरे के साथ द्वेष शुरू हो गया, मुझे भोग चाहियें, उनके मिलनेके लिये बीचमें जो जो रुकावटें आ जायगीं उनको मैं हटा दूंगा, इत्यादि विचार से जो कृत्य होंगे, जो जो कर्म होंगे वे परिशुद्ध होंगे, ऐसा कौन कह सकेगा? और यदि ये कर्म परिशुद्ध नहीं होंगे तो वे बंधनकारक अवश्य होंगे। इसी लिये कहा है कि 'इच्छा द्वेष और द्वैत' भावसे जो कर्म होंगे व बंधन के हेतु होंगे। अतः बंधनसे निवृत्त होने के लिये यदि प्रयत्न करना है तो पहिले 'इच्छा, द्वेष और द्वन्द्व' को मन से हटाना

चाहिये। और मनमें 'तृप्ति, और सर्वात्मभाव' स्थिर करना चाहिये। इसी सिद्धि के लिये धर्मग्रंथों में विविध विधि कहे हैं, गीतामें भी कहा है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥
नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥१०॥
—गी० ५

"कर्मयोग करनेवाला, पवित्रात्मा, आत्मविजयी, इन्द्रियविजयी और सर्व भूतोंके आत्मा को अपने आत्मा के समान माननेवाला, कर्म करता हुआ भी निर्दोष रहता है॥ कर्मयोगी तत्त्व का ज्ञान जानता हुआ मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूं ऐसा माने। देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, छोडते, लेते, पलक खोलते और बंद करते समय केवल इंद्रियांही इंद्रियोंके विषयोंमें स्वयं बर्तती हैं ऐसा अनुभव करे॥ फल की आसक्ति छोडकर कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके जो करता है, वह पद्मपत्र पानीमें न लिप्त होने के समान, पापसे अलिप्त रहता है॥"

यहां गीताने कर्म करते हुए कर्म के दोषोंसे अलिप्त रहने की उत्तम युक्ति कही है। पहिले मनुष्य जितेन्द्रिय, शुद्धात्मा और आत्मसंयमी बने और सर्व भूतोंका जो आत्मा है वही मेरा आत्मा है ऐसा समझे। कर्म के फल पर आसक्त (संगं त्यक्त्वा) न रहे, ईश्वर को अपने सब कर्म समर्पण करे। अपने आपको कर्मोंका अकर्ता समझे और सब कर्म इंद्रियों द्वारा हो रहे हैं, मैं उनका कर्ता नहीं हूं ऐसा अनुभव करे। इतने होने से कर्म के दोषोंसे मनुष्य अलिप्त रह सकता है। इन चार श्लोकोंमें जो कहा है वही पूर्वोक्त तीन शब्दोंमें कहा है, यह बात अधोलिखित कोष्टकमें देखिये—

न कांक्षति (५।३) = विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रियः (५।७); नैव किंचित्करोमि (५।८); इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते (५।९); संगं त्यक्त्वा (५।१०) ब्रह्मण्याधाय कर्माणि (५।१०) [फलेच्छा छोड, सब कर्म ईश्वरार्पण कर शुद्धात्मा होकर कर्मयोग करे]

निर्द्वन्द्वः, न द्वेष्टि (५।३) = सर्वभूतात्मभूतात्मा (५।७) [सर्व भूतोंका आत्मा अपना आत्मा है ऐसा माने]

"वासना त्याग, द्वेषत्याग और द्वन्द्वत्याग" इन तीन त्यागोंमें ये सब उपदेश किस तरह आते हैं यह बात यहां पाठक देख सकते हैं। वासनात्याग से हि यह सब हो सकता है, क्यों कि राग द्वेष सब वासना के कारणहि होते हैं। कर्मयोगी सब कर्म करता हुआ किस तरह अलिप्त रह सकता है इस संबंध का यह विवरण सदा स्मरण रखने योग्य है। कर्मफल की भोगेच्छा छोडनेसे यह सब साध्य हो सकता है। कर्मको फल भोगनेकी इच्छा छोडना अथवा कर्मफल का त्याग अथवा दान ईश्वर की तुष्टि के लिये करना एक ही है। सर्व भूतोंका आत्मा ही व्यावहारिक भाषामें ईश्वर और पारमार्थिक भाषामें ब्रह्म है। अपने सब कर्मोंके फल उसकी संतुष्टि के लिये समर्पण, दान अथवा त्याग करनेसे मनुष्य कर्मदोष से मुक्त हो सकता है। इस का स्पष्टार्थ देखिये—

ब्रह्म के लिये सब कर्मोंके फल समर्पण करना।

ईश्वरके लिये सब कर्मोंके फल समर्पण करना।

सर्वभूतात्मा के लिये सब कर्मफल दान करना।

सर्व प्राणियों की संतुष्टीके लिये अपने कर्मफलोंका दान करना।

प्राणिमात्रको सुख देने के लिये अपना जीवन दान करना।

अहिंसा व्रत धारण करना और किसीको कष्ट न देना, इतनाही नहीं परंतु सब प्राणियोंका हित करनेके लिये यथाशक्ति यत्न करना। अद्वेष, अद्वैत, निष्कामता आदि शब्दोंका भाव यही है। साधारण हीन मनुष्य अपने सुखके लिये दूसरोंका घातपात करता है यह द्वेषमय द्वैतरूप सकाम अवस्था है। इसमें कर्मदोष लगते हैं। परंतु जब मानव उच्च अवस्थामें पहुंचता है, उस समय दूसरोंके हित के लिये आत्मसमर्पण करता है, इस समय उसके मनमें अद्वेष, अद्वैत और निष्काम भाव होता है अतः वह कर्मोंके दोषोंसे मुक्त होता है। बंधमुक्तकी सिद्धि इस तरह होती है।

सर्वभूतोंकी सेवा परमात्माकी सेवा है, क्योंकि (वासुदेवः सर्वं॥ गीता ७।१९) सर्वभूतही वासुदेवका रूप है। वासुदेव, नारायण, परमात्मा, परमेश्वर, ईश्वर वस्तुतः अमूर्त है, परंतु उसकी मूर्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गौ, घोडे आदि प्राणी हैं (ऋग्वेद १०।९०।८,१०,१२ देखो) अतः परमात्माकी सेवा, भक्ति, उपासना करने की इच्छा हो तो इन मूर्तियोंकी सेवा भक्ति उपासना करनी चाहिये। भगवद्गीताके विभूति अध्याय (गी० १०) और विश्वरूप अध्यायमें (गी० ११) यही कहा है। मानवोंमें तथा अन्य प्राणियोंमें जो दुखी, कष्टी, और त्रस्त होंगे, उनका दुःख, कष्ट और त्रास दूर करनेके लिये अपना जीवन अर्पण करना ही परमात्माके लिये अपना जीवन अर्पण करना है। जो लोग अपनी मानव जातिमें हीन, दीन, रोगी, दुखी, दबेदबाये, दारिद्र्यपीडित, अकालसे कष्टी लोग देखते हैं, और उनको सहायता न करते हुए मंदिरोंमें भोग चढाते हैं, या अन्य रीतिसे अपनी चैन उडाते हैं, वे ईश्वरभक्तिसे कोसों दूर हैं। पाठक यहां समर्पण आदि किस के लिये करना चाहिये इसका यह सिद्धान्त ध्यानमें धारण करें। कर्मफलका त्याग-दान समर्पण इसी सर्वभूतात्माके लिये करना चाहिये, इसी सर्वभूतात्माकी भक्ति करना चाहिये। यही सर्वभूतात्मा दृश्य और मूर्त परमेश्वर है। यही सबका उपास्य है। यहां कई लोग कहेंगे कि ब्राह्मणमें परमात्माका रूप हम देख सकते हैं, परंतु चाण्डालमें परमेश्वर कैसे रह सकते हैं, इस आशंकाके निवारण के लिये इसी अध्यायमें कहा है—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः
—गी० ५।१९

"ज्ञानी ब्राह्मण, अज्ञानी चाण्डाल ये मनुष्य तथा गाय, हाथी और कुत्ता आदिमें ज्ञानी लोग समरूपसे ब्रह्म है ऐसा देखते हैं। यह ब्रह्म सर्वत्र सम और निर्दोष है, जिनका मन साम्य स्थितिको प्राप्त होता है, वे ब्रह्ममें अवस्थित होते हैं और जन्ममरण को जीतते हैं।" इस उपदेशसे ब्राह्मण में ईश्वर का भाव है और चाण्डाल में नहीं है ऐसा कहना अयोग्य है। सब वस्तुमात्र वासुदेव हि है (गी० ७।१९) वह चाण्डाल हो या ब्राह्मण, अथवा कुत्ता हो या हाथी। वह सब परमेश्वरका ही मूर्त रूप है। यह समबुद्धि धारण करके इस सर्वभूतात्माकी भक्ति मुमुक्षुको करनी चाहिये। अपने कर्मोंके फल का दान इसी की संतुष्टिके लिये करना चाहिये। गीता में 'कर्मफलत्याग, कर्मफल का संग छोडना' आदि जो कहा है उसका अर्थ अपने कर्मका फल इसी जनताजनार्दन या सर्वभूतात्मा को समर्पण करना है। गीता में कर्मफलत्यागका उपदेश देखिये—

कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा । २।४८
कर्मजं···फलं त्यक्त्वा । २।५१
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं । ४।२०
कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति । ५।१०
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा । ५।१२
कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः । ६।२४
कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानि । १८।६
संगं त्यक्त्वा फलं चैव कार्यं...कर्म···क्रियते॥ १८।९
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं । १८।२
अधिकारः मा फलेषु कदाचन । २।४७
फले सक्तो निबध्यते ॥ ५।१२
कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये । ५।११

"अपने कर्मोंका फल केवल मुझेहि मिले ऐसी वासना न धारण कर। अपने कर्मका जो फल होगा वह सर्वभूतात्माके लिये दान कर। कर्मके फलपर तेरा अधिकार नहीं है। अपने कर्मके फलमें आसक्त होनेसे बंधन प्राप्त होता है। अपने कर्मका फल सर्वभूतात्माके लिये समर्पण करनेसे अपनी पवित्रता होती है।" कर्मफलके त्यागका आशय क्या है, इसका विचार करनेके लिये इन वचनोंका मनन करना चाहिये। इस मननसे निश्चित होता है कि कर्मयोगके निम्नलिखित सूत्र हैं—

कर्मयोगके सूत्र ।

प्रत्येक मनुष्यको कर्म अवश्य करना चाहिये। (२।४७)

किसीको कर्मोंका त्याग करना योग्य नहीं है। (१८।५)

कर्म यथासांग करना चाहिये। (२।४८)

इसके फलपर आसक्ति नहीं धारण करनी चाहिये। (२।४७)

अपने कर्मोंका जो फल प्राप्त होगा वह सर्वभूतोंके हितके लिये समर्पण करना चाहिये। (५।७; ३।२०; ५।२५; १२।४)

अपने कर्मोंका फल अपने लिये रखनेसेहि बंधन होगा। (५।१२)

अपने कर्मोंका फल सर्वभूतात्माकी संतुष्टिके लिये दान करनेसे मोक्ष होगा। (५।२५; १२।४)

कर्मयोग के ये सूत्र हैं। पाठक इनका मनन करें। इन सूत्रोंका मनन करनेसे जो मानवधर्म निश्चित होता है वह यह है। ब्राह्मण अपना अध्यापनरूप कर्तव्य उत्तम रीतिसे करे, परंतु जो उससे वेतन मिलेगा, उस फलरूप धनका दान सब प्राणियोंकी भलाई के लिये करे। क्षत्रिय प्रजारक्षण आदि अपना कर्तव्य उत्तम रीतिसे करे, उससे प्राप्त होनेवाला फल अर्थात् धन आदि सब प्राणियोंके हित के लिये अर्पण करें। वैश्य कृषि, गौरक्षा और वाणिज्य करे, बहुत धन कमावे और उस धनरूप कर्मफल का दान सब की भलाई के लिये करे। इसी तरह शूद्र अपनी कारीगरी और सेवा उत्तम से उत्तम करे, उससे जो धनरूप फल प्राप्त हो उस का दान वह सब की भलाई के लिये करे। अर्थात् राष्ट्रके सब लोग उत्तमोत्तम कर्म करें, कोई आलसी न रहे, कर्म में कसूर कोई न करे, जितना उत्तम होना संभव हो उतनी पराकाष्ठा करके उत्तम कर्म करे, उस कर्मसे जो फल अर्थात् धन आदि मिले वह लेकर अपने पास जमा करके कोई न रखे। सब कर्मफलरूप धन राष्ट्रकोशमें सबकी भलाई के लिये समर्पण होता रहे। उस राष्ट्रकोशसे सब जनताका योगक्षेम चलाया जावे। संपूर्ण मानव जातिका व्यवहार इसी निष्काम भावसे चले, तभी मुक्ति होगी। और सकाम भावसे उत्पन्न हुए आजकल के सब दुःख दूर होंगे।

जगत् के सब बंधन, सब कष्ट, मानवजातिकी संपूर्ण आपत्तियां सब व्यक्तियां अपने लिये अपने कर्मफल का संग्रह कर रही हैं इसी कारण हैं। इसी फलासक्तिके कारण सब आपत्तियां हैं। जिस समय यह फलासक्ति दूर होगी और

अपने कर्मका फल सर्वभूतात्माके लिये दान करने का सब का स्वभाव बन जायगा, उसी समय सब आपत्तियां दूर होगीं। इसी स्वभाव का नाम 'संन्यास, कर्मसंन्यास' है, इसी को 'त्याग' कहते हैं। यही मानवी दुःखोंका अन्त करनेवाला है। यही फल निम्न लिखित गीताके श्लोक में कहा है—

निर्द्वन्द्वो हि...बंधात्प्रमुच्यते ॥५।३॥
कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति ॥५।१२॥
संन्यस्यास्ते सुखं वशी ॥५।१३॥
ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥५।२१॥
विगतेच्छाभयक्रोधो...मुक्त एव ॥५।२८॥
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा... शान्तिमृच्छति ॥ ५।२९

"द्वैतभाव का त्याग करनेसे बंधनसे मुक्ति होती है। अपने कर्म के फल का दान करनेसे शान्ति होती है। फल का संन्यास करनेसे सुख मिलता है। सर्वभूतात्माके साथ मिलनेसे अक्षय्य सुख मिलता है। वासनात्याग से मुक्ति मिलती है। सर्व भूतोंके मित्र का ज्ञान प्राप्त करनेसे शान्ति मिलती है।" ये सब वचन पूर्वोक्त अर्थ ही अन्य शब्दों द्वारा बता रहे हैं। मनुष्य अपना कर्तव्य कर्म करें, उसका फल जनताजनार्दन के लिये समर्पित करें, इससे वे बंधनसे मुक्त होंगे और उनके सब क्लेश दूर होंगे।

बंध के विषयमें उपनिषदोंका सिद्धान्त इस प्रकार है—

बंधाय विषयासंगि। मैत्री० उ० ६।३४
बंधाय विषयासक्तम्। ब्रह्म० २
बंधो हि वासनाबन्धः। मुक्ति० २।६८
मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः। मुक्ति० २।६८

"विषयोंपर आसक्त होनेसे बंधन होता है। वासनासे बंधन होता है। वासना का क्षय ही मोक्ष है।" अपने पास भोगसाधनोंका संग्रह करने की इच्छा का नाम वासना है। यही सब मनुष्यों के अनंत क्लेशोंका हेतु है। यहां तक जो विचार किया, उससे पाठकों के मनमें कर्मफल-संग्रह से दुःख और कर्मफलदान से सुख होता है, यह बात स्पष्ट हो चुकी है। त्याग और भोग का सुव्यवस्थित नियम इसी के मननसे ज्ञात होगा।

फलसंग्रहसे दुःख कैसा होता है, इसका विचार पाठक कर सकते हैं। कल्पना कीजिये कि एक ग्राममें एक बहुत ही बडा धनी मनुष्य है, सबसे अधिक धन होनेसे वह अन्योंका भलाभी कर सकता है और बुरा भी कर सकता है। परंतु भला करनेवाला क्वचित् कोई होता है, मनुष्य स्वार्थी होनेके कारण वह अपने स्वार्थ के कारण दूसरोंकी हानि करता है। अतः वह धनवान् मनुष्य अपने धनसे सब धान्य खरीद कर अपने पास रखता है और दिल चाहे भावसे बेचता है। अन्योंके पास इतना धन न होनेसे वे लाचार होते हैं और भूखे रहते हैं। यह अनर्थ अयोग्य धनविभागसे होता है। यदि वह धनी मनुष्य अपके सब धन का त्याग ग्रामके लोगोंके लिये करेगा और इसी तरह ग्रामके सब अन्य लोग अपने अपने कमाईका त्याग सब ग्राम की भलाई के लिये करेंगे और ग्राम की ग्रामसभा अपने सार्वजनिक कोशमें उस धनको रखेगी और उस से सब ग्राम का प्रतिपाल किया जायगा, तो उस ग्राममें कोई दुखी नहीं रहेगा। इस त्यागसे सब ग्रामका अधिकसे अधिक भला होगा। इसी लिये 'अपरिग्रह' अर्थात् संग्रह न करनेका व्रत धारण करनेके लिये कहा है। कर्मफलसंग का त्याग करनेका ही नाम अपरिग्रह है। अपना परिग्रह बढानेसे हि अनंत क्लेश होते हैं। इस से अर्थात् फलसंग का त्याग करनेसे जो फल होता है वह अब देखिये—

ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥५।६॥
ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥५।२०

विदुरत्यात्मनि सुखम् ॥ ५।२१

स सुखी नरः ॥ ५।२३

ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ ५।२४

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम् ॥ ५।२५

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते ॥ ५।२६

प्रकाशयति तत्परम् ॥ ५।१६

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम् ॥ ५।१७

"ब्रह्म प्राप्त होता है। वह सुखी होता है। परमपद प्राप्त होता है। दुःख का पुनः पुनः आक्रमण नहीं होता।" यह अन्तिम सिद्धि कर्मफल का त्याग करनेसे हो सकती है। ब्रह्मप्राप्ति का अर्थ बडी शक्तिकी प्राप्ति है। ब्रह्म सबसे बडी शक्ति है, वह सब स्थिरचर में व्यापक है। यह ब्रह्म अर्थात् यह बडी शक्ति किस समय प्राप्त होती है? जब यह मनुष्य स्थिरचरकी सुस्थितिके लिये अपने कर्म के फल का समर्पण करता है। इस विषयमें एक उदाहरण हम देखते हैं—

कर्मफलसंग्रह।

किसी एक घरमें दस भाई रहते हैं। इनमेंसे प्रत्येक अपने कर्म से प्राप्त होनेवाला धन अपने लिये अपने पास रखता है, उसमें से थोडासाभी दूसरे को नहीं देता। दूसरे मरे या जीवित हैं इसका कुछ भी विचार नहीं करता। प्रत्येक भाई अपने अपने कमरे में रहता है। यद्यपि इस मकानमें दस भाई हैं तथापि शत्रु उपस्थित होनेपर ये दस नहीं हैं। एक एक अलग अलग है। यदि शत्रुके दो मनुष्य आजांय तो वे इस एक एक भाई का नाश करके उनके घरके स्वामी बन सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपने कर्म का फल अपने पास रखनेसे अपना सांघिक बल बढता नहीं, अपना वैयक्तिक बल भी घटता है और अनेक कष्ट होते हैं। इसी लिये कहा है कि कर्म का फल ईश्वरार्पण करो। फलपर आसक्त न होओ।

कर्मफलत्याग।

अब कर्मफलत्याग करनेवाले दस भाइयोंके दूसरे घरकी स्थिति हम देखेंगे। इस घरमें वैसे हि दस भाई हैं। वे प्रत्येक उत्तम कर्म करते हैं और जो कमाई होती है वह एकत्र मिलकर रखते हैं। उस संग्रहित धनसे सब की भलाई के लिये मिलजुलकर व्यय करते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति दसों भाइयोंकी भलाई के लिये व्यय करने को तैयार रहता है। सब मिलकर परस्पर सहायतासे सब कार्य करते हैं, इस लिये प्रत्येक मनुष्य दस भाइयोंकी शक्ति से युक्त है। ऐसे सुसंघटित दस भाईयों की शक्ति प्रत्येक की दस शक्ति होनेके कारण दसों की मिलकर शक्ति सौ के बराबर होगी। यह लाभ कर्मफलत्याग और अपरिग्रहव्रत के कारण होता है। इस स्थितिमें वे परमशक्तिसे युक्त होते हैं, मानो यही उनकी ब्रह्मभूत स्थिति है।

जो एकात्मरूप होता है उसकी शक्ति एक मनुष्यके शक्तिके समान होगी। परंतु जो सर्वात्मरूप होगा, सर्वभूतात्मभूतात्मा बनेगा, जो सर्वभूतात्मा बनेगा उसकी शक्ति सब भूतोंकी शक्तिसे भी अधिक होगी। इसी का नाम ब्रह्म है। ऐसे लोग कर्म करनेपर भी उनके दोषों से दूर रहते हैं।

अब विचार करना चाहिये कि इस स्थितिको प्राप्त करनेका साधन क्या है, कैसा आचरण करनेसे मनुष्य सर्वभूतात्मरूप बन सकता है, किस रीतिसे मनुष्य इस उन्नति के पथपर सीधा चल सकता है? इस के सूचक शब्द इसी अध्याय में जो हैं उनका अब विचार करेंगे—

अज्ञानी बाल।

पहिले जो अज्ञानी निर्बुद्ध और मूढ हैं उनका वर्णन इस तरह इस अध्याय में किया है—

बालाः (४)= बालक जैसे अप्रबुद्ध,

अयुक्तः (१२) = योग न करनेवाले, प्रयत्न न करनेवाले,

कामकारेण फले सक्तः (१२) = स्वार्थसे फलमें आसक्त, अपने कर्म का फल अपने लिये अपने पास रखनेवाला,

अज्ञानेन ज्ञानं आवृतं तेन मुह्यन्ति (१५) = अज्ञानसे जिनका ज्ञान ढका है, उस कारण मोहमें जो पडते हैं।

ये लोग गिरते हैं, इनका अधःपात होता है, इनको क्लेश होता है। इनमें (अयुक्त) कर्म न करनेवाले, स्वार्थी, कर्मका फल अपने लिये रखनेवाले, अज्ञानी मनुष्य आते हैं। इन शब्दोंके विरोधी शब्दोंसे उन्नतिका मार्ग सूचित होता है, वह ऐसा है—

बाल ४	पंडित (प्रौढ) ४
अयुक्तः १२	युक्त (योगी) ८
सक्तः १२	असक्तः १०
अज्ञानी १५	ज्ञानी १५, १७
मोहयुक्त	मोहरहित
संमूढ	असंमूढ २०

पाठक विचार करेंगे तो उनको यही उन्नतिका शुभ मार्ग आगे के शब्दोंसे व्यक्त हो रहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा।

तत्त्वज्ञानी पण्डित।

जो कर्तव्य और अकर्तव्य यथावत् जानता है वह तत्त्वज्ञानी पंडित है। यह फलासक्ति छोडकर कर्म करता है। इसका वर्णन इस अध्यायमें निम्न लिखित रीतिसे किया है—

पण्डिताः (४), पण्डिताः समदर्शिनः (१८) = ज्ञानी, बुद्धिमान्, समदर्शी

तत्त्ववित्, (८) ब्रह्मवित् (२०) विदितात्मानः (२६) = तत्त्व जाननेवाले, ब्रह्म जाननेवाले, आत्मज्ञानी,

ऋषयः (२५) = अतीन्द्रियार्थदर्शी, सूक्ष्मदर्शी,

सांख्य (५) = ज्ञानमार्गी, संन्यासमार्गी,

असंमूढ (२०), ज्ञानेन येषां अज्ञानं नाशितं (१६) = जिनकी मूढता दूर हो चुकी है, तत्त्वज्ञानसे जिनका अज्ञान हट गया है,

ज्ञानं तत्परं प्रकाशयति (१६) = ज्ञानसे जिनको परतत्त्वका ज्ञान हो चुका है,

ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः (१७), क्षीणकल्मषाः (२५), विशुद्धात्मा (७) = ज्ञानसे जिनके पाप धोये गये हैं, जो शुद्ध बने हैं, जिनके दोष न्यून हो गये हैं,

येषां साम्ये स्थितं मनः (१९) = जिनका मन सम हो गया, समभाव में जिनका मन रहता है।

ब्रह्मणि स्थिताः (१९, २०) = जो ब्रह्ममें रहते हैं।

इस तरह जो ज्ञानी, मोहरहित, पापरहित, समबुद्धिवाले, तत्त्वज्ञानी होते हैं वे असंग होकर अर्थात् कर्मोंका फल अपने लिये न रखते हुए, जनताजनार्दन के लिये समर्पण करते हैं, मनुष्य और पशुओंके विषयमें सम दृष्टि रखते हैं, सर्वत्र एकरस आत्मतत्त्व भरा है, ऐसा अनुभवसे जानते हैं। ऐसे तत्त्वज्ञानियोंसे कभी पापाचरण नहीं होता, अतः वे शुद्धात्मा होकर बंधनसे मुक्त होते हैं।

योगी।

येही योगका आचरण करते हैं और अपना उन्नतिका मार्ग आक्रमण करते हैं। इनके सूचक शब्द ये हैं--

योगयुक्तः (६, ७), युक्तः (८), योगी (२४), योगः (५) = योगका आचरण करनेवाले। कर्मयोगमें योग शब्दका विशेष अर्थ है। 'कर्ममें कुशलता' (गी० २।५०) संगत्यागपूर्वक सिद्धि असिद्धिके विषयमें 'बुद्धिकी समता' (गी० २।४८) और कामक्रोधादि वेगोंको 'सहन करनेकी शक्ति' (गी० ५।२३) ये योगके अर्थ हैं। अर्थात् योगका आचरण करनेका अर्थ कुशलतापूर्वक कर्म करना, द्वन्द्वोंके विषयमें सम

बुद्धि धारण करना और कामक्रोधादि वेगोंको सहना ' है। भगवद्गीतामें योग शब्दका अर्थ यह है। और भी इस शब्दके कुछ विशेष अर्थ हैं, उनका विचार किसी अन्य स्थानमें किया जायगा।

कुर्वन् (७) = इस शब्दका अर्थ भी कर्मयोगका आचरण करनेवाला ऐसा है। कर्मयोग प्रयत्नका योग है। प्रत्येक कर्म उत्तम कुशलताके साथ करना चाहिये और फलोदय तक बीचमें प्रयत्नकी शिथिलता नहीं होनी चाहिये, यह तो कर्ममार्गका सर्वसाधारण नियम है हि। इसके साथ साथ—

मोक्षपरायणः (२८) = मोक्ष मिलनेकी इच्छा धारण करना, मोक्षप्राप्ति के विषयमें तत्पर रहना, मोक्षके सिवाय दूसरा कुछ नहीं सूझना चाहिये। तथा-

तद्बुद्धयः, तदात्मनः, तन्निष्ठाः, तत्परायणाः (१७) = ईश्वरका स्मरण अपनी बुद्धिमें रखना, अपने आत्माको ईश्वरमय करना, ईश्वरपर निष्ठा और भक्ति रखना, और ईश्वरपरायण होना। कर्मयोगीको इस प्रकार ईश्वरपरायण होना चाहिये। जिसका ध्यान किया जाता है वैसा वह बनता है, इस न्याय के अनुसार ईश्वरपरायण हुआ मनुष्य ईश्वरही बनता है और तदनुकूल सुयोग्य कर्म करता है। कर्मयोगी अपने सन्मुख अपना आदर्श तारक श्रेष्ठ पुरुषको रखता है और तदनुकूल बनता है।

संयम का आचरण।

कर्मयोगमें संयम के आचरण का महत्त्व अत्यंत है। इस के विना कर्मयोग की सिद्धि नहीं हो सकती। इस विषयके सूचक शब्द ये हैं-

मुनिः (६, २८) = मौन धारण करनेवाला, यहां भाषाका संयम है। भाषण द्वारा जो शक्तिका ऱ्हास होता है वह इस वाक्संयमसे बचाया जाता है। इस का दूसरा अर्थ 'मननशील' भी है। जो मनन करके तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करता है।

वशी (१३), **यति** (२६), **विजितात्मा** (२५), **यतचेतस्** (२६), **स्थिरबुद्धिः** (२०) **जितेंद्रिय** (७), **यतेंद्रियमनोबुद्धिः** (२८) = ये सब शब्द आत्मा, बुद्धि चित्त, मन, वाणी, इंद्रियां, शरीर आदि सब का संयम करनेकी सूचना दे रहे हैं हैं। इसमें बुद्धि चित्त आदि सब का संयम है, किसी को छोडा नहीं है। क्यों कि एक को स्वैर छोडने से अन्योंका संयम निरर्थक हो जाता है। अतः सावधानता से सब का संयम करना चाहिये।

ऐसे संयमी मनुष्य ही कुशलतापूर्वक कर्मयोग का आचरण करके अपनी परम उन्नति सिद्ध कर सकते हैं। विना संयम के कर्मयोग की सिद्धि प्राप्त होना असंभव है। अतः सब प्रकारकी उन्नति सिद्ध होने के लिये संयम अतीव आवश्यक है।

निरिच्छता।

संयम के साथ इच्छा, वासना अथवा कामना का कम होना भी अत्यंत आवश्यक है। संयम सिद्ध होनेसे इच्छा कम होगी और इच्छा कम होनेसे संयम सिद्ध होगा, ऐसा अन्योन्याश्रय इस विषयमें है। इस महत्त्वपूर्ण विषयके सूचक कई वाक्य इस अध्यायमें हैं, देखिये—

न कांक्षति (५) = इच्छा नहीं करता, वासनाको प्रबल होने नहीं देता। यहां इच्छा का अर्थ भोगप्राप्तिकी इच्छा है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्। (२७), **बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा** (२१) = स्पर्श का अर्थ बाह्य विषय है। इन विषयोंमें जो असक्त नहीं रहता, इन विषयोंको जो दूर करता है, वह आसक्तिरहित होता है। क्योंकि—

ये संस्पर्शजा भोगाः दुःखयोनयः आद्यन्तवन्तः, तेषु बुधः न रमते (२२)=जो विषयभोग हैं वे दुःखके उत्पादक हैं, तथा उनसे जो सुख मिलता है, वह उत्पन्न होकर नाश होता है, इसलिये ज्ञानी मनुष्य उनमें रमता नहीं, क्योंकि अखंड सुख उन विषयभोगोंसे नहीं प्राप्त होता और उनसे विविध दुःखों की उत्पत्तिभी होती है। इसीलिये कहा है कि—

कामक्रोधोद्भवं वेगं यः सोढुं शक्नोति स युक्तः

सुखी च। (२३) = जो मनुष्य कामके वेगको और क्रोधके वेगको सह सकता है, इनका वेग आनेपर जो अपने स्थानसे चलित नहीं होता, वेगोंका हमला होनेपर भी जो उन वेगोंको दूर कर सकता है, वही योगी है और वही सुखी है। पाठक यह सच्चे सुखका लक्षण ध्यानमें धारण करें। भोगेच्छासे दूर रहनेसे इस सुखकी प्राप्ति होती है। विषयभोगोंका संग छोडना चाहिये, अपने कर्मके फलका संग करनेकी इच्छाका भी त्याग करना चाहिये तभी सुख मिल सकता है, इसीलिये कहा है—

कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति (१२), संगं त्यक्त्वा कर्म करोति (१०,११) = अपने कर्मके फलका त्याग करनेसे शान्ति प्राप्त होती है, कर्मके फल का संग छोडनेसे हि निर्दोषता प्राप्त होती है, यह त्याग मनसे करना चाहिये तभी उक्त सिद्धि मिलेगी। इस विषयमें निम्नलिखित प्रमाण देखिये—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी (१३) = सर्व कर्मोंका मनसे संन्यास करता है वह सुखी रहता है। सुख चाहिये तो मनसे कर्मसंन्यास करना चाहिये, यह बात सिद्ध है।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत (८), नव-द्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् (१३)= योगी ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता, इस नौ द्वार-वाले नगरमें न कुछ करते और न कुछ कराते रहना चाहिये। नगरमें न करते कराते-कैसे रह सकते हैं ऐसी आशंका यहां हो सकती है। इस के उत्तर में निवेदन है कि एक नगरमें एक उत्तम राजा है, उसने मंत्री सेनापति आदि स्थानोंपर उत्तमोत्तम सुशिक्षासंपन्न पुरुषों को नियुक्त किया है। वे कर्मचारी अपना अपना कार्य पूर्ण और उत्तम रीतिसे करते हैं, इस कारण उस राजा को कोई कार्य करनेके लिये अवशिष्ट नहीं रहता। राजा की शक्ति लेकर वे सब ओहदेदार कार्य करते हैं, यह सत्य है, तथापि सब कर्मचारी अपने कर्म में परिपूर्ण और उत्तम सुशिक्षित रहनेके कारण सब कर्म उनसे यथायोग्य होते हैं और राजाको उनका कर्म देखनेके सिवाय कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। इसी तरह योगादि साधनों द्वारा जिसने अपने सब मन बुद्धि और अन्य इंद्रियोंको सुशिक्षित, संयमित, शान्त और दान्त बनाया है उनके इंद्रिय ही स्वयं योग्य कर्म करते हैं, कभी स्वेच्छाचारी नहीं होते, और इस देहधारीको स्वयं कुछ करने के लिये अवशिष्ट नहीं रहता। ऐसे योगी महात्मा ही कह सकते हैं कि मैं इस देह में रहते हुए कुछ भी कर्म नहीं करता, मैं कुछ नहीं करता हूं। इस विषयमें अधिक स्पष्टीकरण के लिये निम्न लिखित श्लोक देखिये—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ (११)

इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्। (९)

"केवल शरीर से, केवल मनसे, केवल बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे योगी लोग अपनी शुद्धिके लिये, कर्मफल का संग छोडकर कर्म करते हैं। सब इंद्रिय स्वयं अपने अपने निश्चित विषयोंमें वर्तते हैं, इस बातका वे अनुभव करते हैं।" प्रत्येक इंद्रिय केवल स्वयं अपने विषयमें सुयोग्य कर्म करने के लिये वह इंद्रिय कितना सुशिक्षासे संपन्न और संयमित होना चाहिये, इसका विचार पाठक यहां अवश्य करें। नेत्र रूपविषय के क्षेत्र में हि काम करेगा, परंतु उसका कार्य पूर्णतया निर्दोष होनेके लिये उसको उत्तम शिक्षित, संय-मित और शान्त बनाना चाहिये। सब इंद्रियोंको ऐसे शिक्षित, संयमित, शान्त और दान्त बनाने के लिये योगसाधन अत्यंत आवश्यक है। इस का विचार आगे छटे अध्यायमें आनेवाला है। यहां इतनाही ध्यानमें रखना चाहिये कि केवल इंद्रियोंसे भी कर्म हो सकता है और वह उत्तम से उत्तम हो सकता है, योगी लोग ऐसाही कर्म करते हैं। इस कारण वे निर्दोष रहते हैं।

प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत्। (२०)= प्रियवस्तु

प्राप्त करनेसे भी बहुत हर्ष नहीं करना चाहिये। क्योंकि यदि प्रियके दर्शनसे हर्ष हुआ तो अप्रियके दर्शनसे अवश्यमेव दुःख होगा। इसलिये यदि अप्रियकी प्राप्तिका दुःख नहीं चाहिये, तो प्रियकी प्राप्तिसे हर्ष भी करना योग्य नहीं है। क्योंकि—

आत्मनि सुखं विंदति। (२१) = जो सुख मिलता है वह आत्माके अन्दरसे हि मिलता है, बाहरसे नहीं। अतः अपने सुखके लिये बाह्य पदार्थोंको अपने पास जमा करनेकी क्या आवश्यकता है? बाह्य पदार्थों का आकर्षण जितना छोडा जाय उतना अन्दरहि अन्दरसे सुख मिलता है। सुखका स्रोत अन्दर है, बाहर नहीं है। इसलिये बाह्य पदार्थ प्रिय हों या अप्रिय हों उनके विषयमें समबुद्धि रखकर संतुष्ट रहनेका अभ्यास करना चाहिये। इसीसे अन्तरात्मामें सुख मिलने लगता है।

द्वेष न करो।

न द्वेष्टि (३), अप्रियं प्राप्य न उद्विजेत् (२०)= द्वेष नहीं करना चाहिये। अप्रिय पदार्थ प्राप्त होनेसे उद्विग्न नहीं होना चाहिये। इससे पूर्व कहा है कि प्रिय की प्राप्तिसे हर्ष नहीं करना चाहिये। उसीसे अप्रियसे उद्विग्न नहीं होना चाहिये, यह उपदेश सिद्ध होता है, तथापि स्पष्ट बोधके लिये वही सूचित होनेवाला उपदेश यहा स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है। अप्रिय का द्वेष नहीं करना चाहिये और प्रियसे हर्ष नहीं करना चाहिये, इसका आशय क्या है? इसका आशय यह है—

कामक्रोधवियुक्तः (२६), विगतेच्छाभयक्रोधः (२८), कामक्रोधोद्भवं वेगं यः सोढुं शक्नोति स सुखी नरः। (२३)= काम और क्रोध का त्याग करना, जिसने इच्छा, भय और क्रोध को दूर किया, जो काम और क्रोध के वेग को सह सकता है वही मनुष्य सुखी है। 'काम' का अर्थ प्रिय वस्तुकी प्राप्ति की इच्छा, 'क्रोध' का अर्थ अप्रिय की प्राप्तिसे रोष करना। इस तरह जो पूर्व स्थानमें कहा वही यहां कामक्रोध शब्दों द्वारा बताया और कामक्रोध को छोडनेको भी इसी लिये कहा है। ये दोनों छूट गये तो 'भय' भी नहीं रहता, क्यों कि भय तबतक हि रहता है जबतक काम और क्रोध रहते हैं।

द्वन्द्व छोडना।

द्वन्द्व से काम क्रोध भय आदि होते हैं। द्वन्द्व का अर्थ द्वैतभाव है। सुख दुःख, इष्ट अनिष्ट आदि अनेक द्वन्द्व द्वैतभाव की कल्पनासे होते हैं। अतः कहा है—

निर्द्वन्द्वः (५) = द्वन्द्वभावना छोडनी चाहिये। यही सब दुःखकी जड है। यदि किसी प्रकार द्वैतभाव या द्वन्द्वभाव छूट गया, तो किसी कारण भी अपने पास दुःख आ नहीं सकते। इसीलिये वारंवार द्वन्द्वोंको दूर करनेको, या द्वन्द्वके विषयमें '**समबुद्धि**' रखनेको कहा है। समबुद्धिका अर्थ ब्रह्मबुद्धि है। यदि द्वन्द्वके विषयमें ब्रह्मबुद्धि हो गयी तो द्वन्द्वोंका ही नाश हुआ। द्वैत रहा ही कहां? इसीलिये —

छिन्नद्वैधाः (२५) = द्वैतभाव जिनका छिन्नभिन्न हुआ है, उनकोहि "**ब्रह्मभूत**" (२४) ब्रह्मरूप बना कहा है। अर्थात् ब्रह्मरूप बनना और द्वन्द्वभाव छोडना एकही है, इसीलिये गीतामें ब्रह्मभूतको द्वन्द्वातीत कहा है। जो द्वन्द्वातीत होता है वही-

सर्वभूतानां सुहृत् (२९), सर्वभूतहितरत (२५), सर्वभूतात्मभूतात्मा (७), ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (२१) होता है। जो द्वन्द्वभाव के परे जाता है, जिसका आपपरभाव छूट गया है, वही सर्व भूतोंका मित्र, सब प्राणियोंका सच्चा हितकर्ता, सर्वभूतोंका आत्मा जिसका आत्मा बना है ऐसा सर्वात्मभावयुक्त और ब्रह्मके साथ संयुक्त हुआ होता है। अर्थात् जिसमें द्वन्द्वभाव है, वह ब्रह्मसे दूर है, अतः दुःखी है।

इन शब्दों और वाक्योंके मननसे अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेके लिये कौनसा साधन आवश्यक है इस बात की स्पष्टता हो जाती है। आशा है कि पाठक इसका यथेष्ट मनन करके जो साधन निश्चित होगा, उसका अनुष्ठान करके उन्नत होनेका यत्न करेंगे।

योगसाधन।

योगसाधनका विषय अगले अध्यायमें आनेवाला है, वहां उसका अधिक विचार होगा।

जो अन्तिम सिद्धि होती है ऐसा इस अध्याय में कहा उसमें योगसाधनके विना बडे विघ्न उपस्थित होते हैं। योगसाधनके विना मनुष्यको योग्य प्रगति होनेमें बडे कष्ट होते हैं (गी० ५।६) ऐसा जो इस अध्यायमें कहा, उससे मानवी उन्नति में योगसाधनका महत्त्व कितना है, इस बातकी सिद्धि होती है। अतः जो पाठक अपनी उन्नति करनेका यत्न करते हैं,उनको आगेके 'योगाध्याय' का अच्छी तरह मनन करना चाहिये। इस लिये बीचमें कोई दूसरा विचार उपस्थित न करते हुए हम भी छठे अध्याय का मनन अब शुरू करते हैं, उसका अध्ययन पाठक करें और अपने आपको मानवी पूर्णताकी अन्तिम सिद्धिको योग्य बनावें॥

पंचम अध्याय का विचार समाप्त ॥ ५ ॥

गीताके पंचम अध्याय के कुछ सुभाषित ।

१ निश्चित उपदेश करो ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

गी० ५।१

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

गी० ३।२

"इन दोनों में से जो श्रेयस्कर है, वही निश्चय करके मुझसे कहो।" शिष्यको उपदेश करनेके समय, यह भी करो अथवा वह भी करो, ऐसा संदेहपूर्ण उपदेश नहीं कहना चाहिये। निश्चय करके जो उस के लिये हितकारक हो, वही कहना चाहिये, जिससे शिष्यको संदेह न होगा और उसका कल्याण होगा ।

२ द्वन्द्व छोडनेसे मुक्ति ।

निर्द्वन्द्वो.... बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ५।३

"द्वन्द्वोंको छोडनेसे बन्धन से मनुष्य मुक्त होता है।" सुख दुःख, हानि लाभ, मैं और अन्य आदि अनेक द्वन्द्व हैं। जब तक ये द्वन्द्व भाव मन में रहते हैं तब तक ही बंधन के कष्ट भोगने पडते हैं। ये द्वन्द्वभाव छूट गये तो बंधन भी दूर हो गये। अर्थात् मुक्ति ही सिद्ध होती है।

३ शान्तिकी प्राप्ति ।

कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति ॥

गी० ५।२२

"अपने कर्म से जो फल प्राप्त होगा, उसका दान जनता की भलाई के लिये करने से शान्ति की प्राप्ति होती है।" और इस के विरुद्ध-

कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

गी० ५।१२

"स्वार्थ से फलभोग के विषयमें आसक्त होने से बंधन होता है।" बंध और मोक्षकी यह व्यवस्था स्वार्थ और उपकार के साथ संबंधित है।

४ स्वभाव बलवान् है ।

स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ गी० ५।१४

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥

गी० ३।३३

प्रकृतिं यान्ति भूतानि ॥ गी० ३।३३

"प्रकृति स्वभाव ही सर्वत्र प्रबलतासे प्रवृत्त होता है।" "ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृति के स्वभावके अनुसार कर्म करता है।" तात्पर्य प्रकृति स्वभाव का अतिक्रमण करना बडा कठिण कार्य है।

५ अज्ञानसे मोह ।

अज्ञानेन .... मुह्यन्ति जन्तवः ॥

गी० ५।१५

"अज्ञान के कारण मनुष्य मोहित होते हैं।" और प्रमाद करते और दुःख भोगते हैं। सब दुःख इसी अज्ञान से होते हैं। अतः ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

* * *

६ ज्ञानसे उन्नति।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

गी० ५।१७

"ज्ञानसे जिनके मल धोये गये और जो निर्मल होगये वे पुनः पुनः कष्टमें नहीं पडते।" उनके सब दुःख दूर होते हैं।

* * *

७ आसक्ति छोडनेसे सुख।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा....सुखमक्षयमश्नुते ॥

गी० ५।२१

"बाह्य विषयोंके भोगोंकी आसक्ति छोडनेसे अक्षय सुख मिलता है।" और विषयभोगोंपर आसक्त होनेसे अक्षय दुःख होता है। क्योंकि—

भोगाः दुःखयोनय एव, न तेषु रमते बुधः ॥ गी० ५।२२

"भोग दुःख बढानेवाले हैं अतः उनमें ज्ञानी नहीं रमता।" अज्ञानीहि भोगोंमें रमता है और दुःख भोगता है। अतः सिद्ध है—

शक्नोति यः सोढुं....कामक्रोधोद्भवं वेगं, स सुखी नरः ॥ गी० ५।२३

"जो काम और क्रोधके वेगको सह सकता है वही मनुष्य सुखी है।" परंतु जो कामक्रोधके वेगको सह नहीं सकता, उस वेगमें बह जाता है वह अत्यंत दुखी होता है।

* * *

८ जनताका हित करनेसे ब्रह्मप्राप्ति।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं....सर्वभूतहिते रताः ॥

गी० ५।२५

"सर्व भूतोंका हित करनेमें जो सदा दत्त चित्त होते हैं वे ब्रह्म प्राप्त करते हैं।" जो दूसरों के हित में विघ्न करते हैं, दूसरों को कष्ट देते हैं वे दुःख भोगते हैं।

* * *

९ कामक्रोध छोडनेसे ब्रह्मप्राप्ति।

कामक्रोधवियुक्तानां....ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते ॥

गी० ५।२६

"काम और क्रोध छोडनेवालोंको ब्रह्मप्राप्ति होती है।" काम और क्रोध के वश होनेवालों को अनंत दुःख होते हैं। तथा—

विगतेच्छाभयक्रोधो....मुक्त एव ॥

गी० ५।२८

"जिसने इच्छा, भय और क्रोध छोड दिये वह मुक्त ही हुआ जानो।" अर्थात् जिसमें वासना है, भय है और क्रोध है, वह सदा बद्ध होकर रहता है।

* * *

तृतीय अध्याय के सुभाषित।

तृतीय अध्याय के सुभाषित पूर्व स्थानमें नहीं दिये गये वे अब दिये जाते हैं—

१० प्रतिक्षण कर्म होता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ॥

गी० ३।५

"एक क्षणभर भी कोई प्राणी कर्म किये विना रह नहीं सकता।" यदि ऐसा है तो फिर मनुष्य

उत्तम कर्म करके उन्नत होनेका यत्न क्यों नहीं करता है? अवश्य यत्न करना चाहिये ।

११ नियत कर्म कर ।

नियतं कुरु कर्म त्वं । गी० ३।८

"तू नियत कर्म कर ।" जो धर्मशास्त्र सदाचार और अपने मनकी प्रसन्नता से करने योग्य निश्चित होता है, वह नियत कर्म है । क्यों कि—

कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ॥ गी० ३।८

"कर्म न करने से कर्म करना अधिक श्रेष्ठ है।" क्यों कि कर्म करनेसे सुधार होता है, लाभ होता है । आलस्य से क्या लाभ होना संभव है? विशेषकर यह देखो कि—

शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ गी० ३।८

"कर्म न किया तो शरीर का व्यवहार भी नहीं चलेगा।" क्यों कि कर्म न किया तो सर्वत्र स्तब्धता ही होगी और पूर्णतासे अधःपात होगा।

१२ परस्पर-सहाय्य ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ गी० ३।११

"परस्पर की सहायता करनेसे सब का परम कल्याण हो सकता है ।" इस लिये आपस की संघटना करके परस्पर सहायक होने द्वारा सब लोग अपना उद्धार करें ।

१३ चोर का लक्षण ।

अप्रदाय....यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ गी० ३।१२

"जो दान करनेके विना स्वयं हि भोग करता है वह चोर है ।" अतः अपने पास जो है उसका कुछ योग्य अंश दान करके अवशिष्ट भाग का स्वयं भोग करना योग्य है । अतः कहा है—

१४ पापी भोजन ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ गी० ३।१३

"दान करके अवशिष्ट रहे भोग का जो सेवन करते हैं उन के सब पाप नष्ट होते हैं । परंतु जो केवल अपने लिये हि पकाते हैं और वह स्वयं खाते हैं वे मानो पाप ही खाते हैं ।" अर्थात् केवल स्वार्थ भोग पाप है और दान करके भोग करना पुण्य कारक है ।

१५ व्यर्थ जीवन ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं....जीवति ॥ गी० ३।१६

"जिसका पापमय जीवन है और जो अपने इंद्रियोंके आराममें सदा लगा रहता है, उस को जीवन व्यर्थ है ।" मनुष्यको उचित है कि वह कुछ पुण्य कर्म करे और परोपकार भी करे ॥

१६ कर्तव्य कर ।

असक्तः....सततं कार्यं कर्म समाचर ॥ गी० ३।१९

पंचम अध्यायकी विषयसूची।

पंचम अध्यायकी विषयसूची समाप्त।

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई	॥)
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	(३१ " ३३)	३	३०६	२) दो	॥)
५ उद्योगपर्व	(३४ " ४२)	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०)	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	७॥ साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३॥ साढेतीन	॥)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥) अढाई	॥)
१० सौप्तिकपर्व	(७५)	१	१०४	॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	॥) " "	।)
१२ शान्तिपर्व।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४) चार	॥)
आपद्धर्मपर्व	(८४ " ८५)	२	२३२	१॥) डेढ	॥)
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७)	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८ " १११)	४	४००	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिक	(११२)	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।)

सूचना- ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

श्रीमद्भगवद्गीता।

[पुरुषार्थ-बोधिनी-भाषा-टीका]

द्वितीय विभाग।

षष्ठ अध्याय।

टीकालेखक और प्रकाशक।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

प्रथम बार २०००

संवत् १९९०; शक १८५५; सन १९३३

अभ्यासयोग।

यहां श्रीमद्भगवद्गीता के षष्ठ अध्याय का प्रारंभ होता है। पंचम अध्याय तक ज्ञानयोग और कर्मयोग का सिद्धान्त बतलाया और इनके अधिकारी कौन हैं, तथा इनके अवलंबन से क्या लाभ होते हैं, इत्यादि विवेचन इससे पूर्व हो चुका है। प्रायः ज्ञानयोग और कर्मयोग के विषयमें जितना तत्त्वज्ञान कहना चाहिये, उतना पूर्वके पांच अध्यायों में कहा जा चुका है। इस विषयमें इसके आगे बहुधा कोई नयी बात नहीं कही है, अर्थात् यही विषय अनेक युक्ति-प्रयुक्तियोंके साथ सुबोध करके समझा दिया है। इस लिये कोई कह सकते हैं कि जो कुछ भगवान् श्रीकृष्णको धर्मस्थापना का तत्त्व दर्शाना था, वह यहां तक दर्शाया गया है। इसके कहने के प्रसंगमें (गी० ५।६ में) पूर्व स्थानमें कहा गया है कि "योगके विना संन्यास दुःखवर्धक है," अर्थात् योग-साधन करनेपर हि ज्ञानयोग, संन्यासयोग किंवा सांख्य-योग सुखदायक होना संभव है। इस लिये जो मनुष्य भगवद्गीतोक्त किसी मार्गसे जाकर अपने अभ्युदय तथा निःश्रेयस का साधन करना चाहता है, उसको उचित है कि, वह सबसे प्रथम योगाभ्यास करके अपने अन्दर ज्ञानयोग आदि मार्गोंसे जानेकी योग्यता प्राप्त करे।

मनुष्य किस तरह योगसाधन करे, यह प्रश्न यहां उत्पन्न होता है। इस का उत्तर देनेके लिये इस षष्ठ अध्याय का उपक्रम है। पाठक इसमें अष्टांग-योग-साधन देख सकते हैं। भगवद्गीतामें "योग" शब्द का अर्थ 'अष्टांगयोग' है और भी इसका अर्थ विशेष है। "समबुद्धि, कर्मकौशल्य, काम-क्रोध-वेग सहना" आदि 'योग' के अर्थ गीतामें हैं। जिस योग का विवरण इस षष्ठ अध्यायमें किया है वह योग इन संपूर्ण अर्थोंके साथ होनेवाला योग है, यह बात पाठक न भूलें। केवल अष्टांग-योग की अपेक्षा गीता का 'योग' बहुत ही व्यापक है, यह योग प्रत्येक के आचारमें आने योग्य है, इस लिये इसको 'आचार-योग' या 'अभ्यास-योग' भी कह सकते हैं।

उदाहरण के लिये 'कर्म-कौशल' रूप योग देखिये। यह जैसा पातंजल अष्टांग-योगमें उपयोगी है, वैसाही व्यावहारिक आचार-योग में भी उपयोगी है। श्रीमद्भगवद्गीताकी यही विशेषता है कि इस गीताने 'योग' का संकुचित सांप्रदायिक भाव दूर किया और उसको व्यापक व्यावहारिक रूप दिया। भगवद्गीता में यज्ञ, कर्म, संन्यास आदिके विषयमें भी यही बात है। इनके विषयमें यहां हम कुछ भी लिखना नहीं हैं, क्यों कि यहां योग का ही विषय प्रस्तुत है। अतः भगवद्गीताने योग को कैसा व्यवहारमें लाया है, यह बात पाठक अवश्य इस अध्याय में देखें।

गीता का लक्ष्य मनुष्यमात्र का सुधार है। गीता चाहती है कि योगादि साधनों द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपना सुधार करे और पूर्ण बनने का यत्न करे। प्रत्येक मनुष्य योग-साधन कर सकता है, क्यों कि योगसाधन का डर गीताने हटा दिया है और उसको प्रत्येक मनुष्य के आचरणमें लाने योग्य सुगम बना दिया है। सांप्रदायिक योगसाधन कठिण है, गुरुके विना करनेसे उसमें कष्ट होने की संभावना है। परंतु गीता का योग-साधन ऐसा है कि इसके अनुसार चलनेसे मनुष्यको कोई कष्ट नहीं होंगे। "इसका थोडासा आचरण करने-पर भी मनुष्य बडे भय से मुक्त हो सकता है। (गी० २।४०)" इस लिये इसमें कोई भय नहीं, कोई हानि की संभावना भी नहीं है।

पाठक इस दृष्टिसे इस षष्ठ अध्याय का विचार करें और अभ्यास करके उन्नत हो जांय।

स्वाध्याय-मंडल
औंध (जि० सातारा)
ज्येष्ठ शु० ११ सं० १९९०

लेखक
श्री० दा० सातवळेकर

श्रीमद्भगवद्गीता ।

(पुरुषार्थ-बोधिनी-भाषा-टीका समेत)

षष्ठ अध्याय ।

ध्यान-योग ।

—— o ——

(१) संन्यासी और योगी ।

श्रीभगवानुवाच— अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

अन्वयः— यः कर्मफलं अनाश्रितः कार्यं कर्म करोति, सः संन्यासी च योगी च, निरग्निः अक्रियः च न ॥ १ ॥ हे पाण्डव! यं संन्यासं इति प्राहुः तं योगं विद्धि, कश्चन असंन्यस्तसंकल्पः योगी न भवति हि ॥ २ ॥

जो कर्म के फल का आश्रय न करके अपना कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी और वही योगी है। जो अग्नि-होत्र नहीं करता किंवा जो कोई कर्म नहीं करता वह न संन्यासी है और न योगी ॥ १ ॥ हे अर्जुन! जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग समझ। क्यों कि कोई भी मनके संकल्प छोडनेके विना योगी हो नहीं सकता ॥ २ ॥

कर्मफलभोग और कर्मफलत्याग ।

(१-२) मनुष्य कर्म करता है, कर्म करना मनुष्यका स्वभाव है। (गी० ३।५) मनुष्य कर्मका त्याग कर नहीं सकता, कर्मका पूर्णतया त्याग करनेसे मनुष्य जीवित भी रह नहीं सकता (गी० ३।८)। अतः मनुष्यको कर्म करना अनिवार्य

भावार्थ— जो मनुष्य अपना कर्तव्य कर्म उत्तम रीतिसे करेगा, परंतु इस का फल अपने उपभोग के लिये अपने पास जमा करके न रखेगा; इतनाही नहीं, परंतु उसके उपभोग की इच्छा का ही त्याग करेगा, वही सच्चा संन्यासी और सच्चा योगी है। जो अग्निहोत्र करना छोडता है अथवा कोई कर्म करता ही नहीं, आलसी होकर चुपचाप बैठा रहता है, वह न तो संन्यासी है और न योगी। जो संन्यास है वही योग है और जो संन्यास नहीं वह योग भी नहीं; क्यों कि विषयोपभोगोंके सब संकल्प छोडनेके विना कोई भी मनुष्य योगी नहीं हो सकता और न संन्यासी हो सकता है॥ १—२॥

है। इसीलिये कहा है कि ' कर्म करनेमें मनुष्यका अधिकार है, परंतु कर्मके फलपर मनुष्यका अधिकार नहीं है '। (गी० २।४७) इस कारण मनुष्य जैसा कर्मके फलका त्याग कर सकता है वैसा कर्मका नहीं।

यहां मनुष्यके सन्मुख ' कर्म करना या न करना ' यह प्रश्न नहीं है, परंतु ' कर्मके फलका स्वयं भोग करना या उसका दान करना ' यही केवल एक प्रश्न है। ' मैं कर्म करूं या न करूं ' ऐसा प्रश्न मनुष्य पूछ नहीं सकता, क्योंकि मनुष्यकी शरीरप्रकृति हि उससे घसीट कर कर्म करावेगी (गी० १८।५९-६०)। अतः कर्मके त्याग का विचार हि करना व्यर्थ है। दीपका प्रकाशना, सूर्यका तेजस्वी होना जितना स्वाभाविक है, उतना मनुष्यका कर्म करना स्वाभाविक है। इस लिये यदि अग्नि और सूर्यका प्रकाश होना ही है तो वे जगत् के उपकार के लिये प्रकाशते रहें; वैसा ही यदि मनुष्य को कर्म करना अनिवार्य है, तो वह सर्वभूतहित करनेके लिये कर्म करता रहे, अर्थात् कर्म करे और उसका फल सर्वभूतों के हितके लिये समर्पण करे (गी० ५।२५;१२।४)।

सर्वसाधारण मनुष्य कर्म करता है और कर्म का फल अपने उपभोगके लिये अपने पास अपने अधिकार में संग्रहित करता रहता है। ब्राह्मण विद्यादान करता है, क्षत्रिय जनरक्षण करता है, वैश्य कृषि करता है, शूद्र कलाकौशल करता है और निषाद वनरक्षा करता है और प्रत्येक अपने कर्मका वेतन प्राप्त करके उसका स्वयं उपभोग करना चाहता है। यही बद्धताका हेतु है।

कर्मका फल क्या है? वेतन ही कर्मका दृश्य फल है। कर्मके अदृश्य फल पुण्यपापादि बहुत हैं, परंतु उनका त्याग या दान असंभव होनेसे गीताके कर्मफलत्यागके सिद्धान्त का विचार करनेके समय हमें अदृश्य फलोंका विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कर्मका फल ऐसा चाहिये कि जो सर्वभूतोंके हितके लिये समर्पित किया जा सके। वैसा फल वेतनसे प्राप्त होनेवाला धनहि है। धनका अर्थ रुपया आना पाई समझना उचित नहीं, जो भी कर्मके बदले मिल सकता है और जो परोपकारार्थ दान दिया जा सकता है वही कर्मफल यहां अपेक्षित है।

फलका स्वरूप।

ब्राह्मण पाठशालामें पढाता है और इसके बदले क्या लेता है? क्षत्रिय जनरक्षा करता है और क्या प्राप्त करता है? वैश्य व्यापार करके क्या कमाता है? शूद्र कारीगरी द्वारा किस चीजको प्राप्त करता है? निषाद वनरक्षा करके क्या लेता है? वही कर्मफल है। थोडासा विचार करनेपर पाठकोंको विदित होगा कि यह कर्मफल धनहि है। पाठक इस कर्मफलकी कल्पना निश्चयपूर्वक मनमें स्थिर करें, क्योंकि कर्मफलका निश्चय होनेसे उसका संन्यास, त्याग, दान अथवा अनाश्रय कैसा करना चाहिये इसका निश्चय हो सकता है।

मनुष्योंका संपूर्ण व्यवहार देखनेसे मालूम होता है कि कर्मका रूपान्तर कर्मफलमें-अर्थात् धनमें-होता है और इस धनके बदलेमें फिर कर्म

किये जाते हैं। ऐसा कर्मका यह चक्र सनातन चल रहा है। एक मनुष्य कर्म करता है, उससे वेतन प्राप्त करता है, उस धनको देकर वह फिर दूसरोंसे कर्म कराता है। इस तरह कर्मसे फल और फलसे कर्म होकर जगत् का व्यवहार चल रहा है।

गीताका कथन है कि यदि मनुष्य फलके उद्देश्यसे कर्म करेगा तो उसे दुःख प्राप्त होंगे और यदि वह अपने कर्म के फल का त्याग करेगा, तो वह दुःखोंसे मुक्त होगा।

फलत्याग ।

संक्षेपसे इस कर्मफलत्याग की व्यवस्था का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद अपने अपने कर्म अर्थात् विद्यादान, जनरक्षा, कृषि, कारीगरी और वनरक्षा करें, अपने कर्म का फल कोई अपने पास न रखे, प्रत्युत वह फल सर्वभूतहितके लिये प्रत्येक मनुष्य समर्पित करे अर्थात् प्रत्येक मनुष्य सर्वभूतहितके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करे, अपने लिये कोई न जीवे, परंतु सर्वभूतहितके लिये प्रत्येक मनुष्य जीवित रहे। जो मनुष्य इस तरह सर्वभूतहित करनेके लिये जीवित रहेंगे, उनका योगक्षेम ईश्वर चलायेगा (गी० ९।२२)। यह योगक्षेम कैसा चल सकता है और यह कौन चलाता है इसका विचार क्रमशः हम आगे करेंगे, परंतु यहां इतनाही देखना है कि कर्मफलका आश्रय न करनेका आदेश भगवान् श्रीकृष्ण यहां दे रहे हैं, अतः वे कहते हैं कि (कर्मफलं अनाश्रितः कार्यं कर्म करोति) जो अपने कर्मके फलका आश्रय अपने उपभोग के लिये नहीं करता, परंतु अपना कर्तव्य उत्तम रीतिसे यथासांग करता है, वही सच्चा संन्यासी और सच्चा योगी है। अर्थात् संन्यासमार्गसे और योगमार्गसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि उसको प्राप्त होती है, जो कर्मके फलका त्याग करता है।

फलका आश्रय ।

कर्मके फलका आश्रय करना दोषोंका मूल है। जो कर्मफलका आश्रय करता है वह बद्ध होता है। कर्मफलके आश्रय करनेका अर्थ अपने कर्म का फल अपने भोगके लिये अपने पास रखना है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लगेगा, कि आजकल प्रायः सभी लोग अपने कर्मोंके फलोंको अपने उपभोगके लिये अपने पास संग्रहित करते हैं। क्वचित कोई मनुष्य साधुसंत संन्यासी योगी परोपकारी होकर निःस्वार्थ कर्म करते हैं। इनको छोड दिया जाय, तो संसार भरके लोग अपने कर्मफलोंको अपने पास रखने में दत्तचित्त रहते हैं। इसी कारण सब लोग दुःखोंमें डूब रहे हैं और जबतक वे अपने कर्मफलको अपने पास रखते जांयगे, तबतक उनका दुःखसे मुक्त होना असंभव है।

कई लोग अवैतनिक स्वयंसेवक होते हैं, कई लोग परोपकारार्थ अपना जीवन दान करते हैं, कई लोग अपने कर्मफलका कुछ अल्प अंश परोपकारार्थ दान देते हैं। परंतु इनकी संख्या अत्यल्प है। प्रायः सब लोग अपने भोगके उद्देश्यसे कर्म करते हैं। सब जगत् में सकाम कर्म करनेवालों की संख्या अत्यधिक है। ये सब अपने कर्मके फलका आश्रय अपने भोगके लिये करते हैं। इस कारण सब बंधनमें पडे हैं। इनको बंधनसे मुक्त करना असंभव है।

मैं और मेरा ।

प्रत्येक गृहस्थी की चित्तवृत्ति देखिये। वह कहता है कि यह घर मेरा है, यह भूमि अपनी है, यह धन मेरा है, जो कार्य मैं कर रहा हूं उससे प्राप्त होनेवाला वेतन मेरा है, ये स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं। मैं जो कमा रहा हूं वह मैं और मेरे परिवारके लोग भोगेंगे, किसी दूसरोंका इस धनपर अधिकार नहीं हैं। इस अधिकारकी सुरक्षा के लिये राज्यशासन के नियम बनाये

गये हैं। राजरक्षक, न्यायालय, तथा अन्यान्य राज्यव्यवस्था के अंग सबके सब इस अधिकार की सुरक्षा के लिये नियुक्त हुए हैं। संपूर्ण न्याय-विभाग यदि कुच्छ करता है तो यही करता है। प्रत्येक मनुष्यका अधिकार उसके कर्मके फलपर है यही सिद्ध करनेके लिये संपूर्ण राज्ययंत्र चलाया जा रहा है। परंतु गीताका कथन है कि "कर्म करनेपर मनुष्यका अधिकार है, परंतु फलपर उसका अधिकार नहीं (गी० २।४७)।" इससे सिद्ध है कि आजकलका व्यवहार गीताका मार्ग छोडकर कहां तक दूर गया है। प्रत्येक मनुष्य गीताका पाठ करता है, परंतु कोई मनुष्य अपने कर्मके फलपरका अपना अधिकार छोडने को तैयार नहीं है। गीताके अभिमानी इस भारतवर्षमें थोडे नहीं हैं, सभी हिंदू गीताको पूज्य मानते हैं, परंतु उनमें कितने लोग ऐसे हैं कि जो कर्मफल को त्यागनेको तैयार हैं? सभी कर्मफल का आश्रय करते हैं, इसलिये दुखी हो रहे हैं।

यह न केवल भारतवर्षीयोंका दोष है, अपितु सब जगत् के लोग अपने कर्मके फलमें मोह धारण करते हैं। सभी पुंजीपतियोंका व्यवहार कर्मफलको अपने पास रखनेके लिये ही चल रहा है, सब साम्राज्य कर्मफल भोगनेके लियेहि चलाये जा रहे हैं। सब गृहव्यवस्था, जातिव्यवस्था, राज्यव्यवस्था और साम्राज्यव्यवस्था अपने कर्मफलपर अपना अधिकार सुरक्षित करनेके लिये चलायी जा रही है। यहां पाठक देखें कि गीताने सब जगत् के इस समय चलनेवाले व्यवहारकी जडपर कुल्हाडा चलाया है। वह कहती है कि "हे मनुष्य! तेरा अधिकार केवल कर्मपर है, उसके फलपर नहीं (गी० २।४७)।" अपने कर्मफलका मोह ही सब जगत् को दुःखमें डाल रहा है। गीताका उपदेश होकर आज पांच सहस्र वर्ष हो चुके हैं, परंतु सामूहिक रूपमें कर्मफल त्यागने की बुद्धि जनतामें अभीतक उत्पन्न नहीं हुई, और आगेभी कितने सहस्र वर्ष इस निष्काम बुद्धिकी स्थिरताके लिये लगेंगे यह कहना कठीण है!!

वर्णाश्रमधर्म में कर्मफलत्यागकी शिक्षा मिलती है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासमें फलसंग्रह करना धर्मसे अयोग्य समझा गया है। केवल गृहस्थाश्रममें हि कर्मफल अपने पास रखा जाता है, परंतु वह त्यागनेके लिये ही है क्यों कि गृहस्थने हि अन्य तीनों आश्रमोंका प्रतिपाल करना होता है। इस तरह आश्रमव्यवस्थामें त्याग ही धर्म है। वर्णधर्ममें 'ब्राह्मण' का आदर्श सबके सन्मुख है, और ब्राह्मणधर्म त्यागकाही धर्म है। इस तरह वर्णाश्रमधर्मद्वारा त्याग की शिक्षा मिलती है, परंतु इस समय वर्णाश्रमधर्म शुद्ध स्वरूपमें कहीं भी नहीं है। अस्तु, तात्पर्य यह है कि गीतोक्त कर्मफलत्यागका धर्म इस समय सबके वक्तृत्वमें है, परंतु आचरणमें लेशमात्र भी नहीं है।

यदि भगवद्गीताने कुछ कहा है तो 'कर्मफलत्याग' ही कहा है। यही गीताकी विशेषता है। यदि गीतासे कर्मफलत्याग की कल्पना हटायी जाय, तो गीताकी कोई विशेषता अवशिष्ट नहीं रहती। परंतु इस भारतभूमिमें इस फलत्याग का उपदेश होकर इतना समय बीत गया, इतने समय में इस गीतापर इतने भाष्य बने, इतनी टीकाएं और टिप्पणीयां, होगयीं, इसके अनुवाद इतने हो चुके और व्याख्यान भी हो चुके हैं, परंतु यह कर्मफलत्याग का सिद्धान्त अभीतक इस भरतभूमिमें सामूहिक रूपमें स्थिर नहीं हुआ! कितनी आश्चर्यकी और शोक की यह बात है!!

इस गीतामें कर्मफल त्यागनेका उपदेश इतनी वार पुनः पुनः किया गया है, तथापि वह उपदेश हमारे सामूहिक जीवनमें नहीं आया। पाठक इसका विचार अवश्य करें कि भगवद्गीतामें संन्यास, कर्म, सांख्य, ज्ञान, भक्ति आदि अनेक मार्ग कहे हैं, उन सबमें कर्मफल त्यागनेकी अत्यंत आवश्यकता है। एकभी मार्ग ऐसा नहीं है कि जो विना

(२) योगारूढ ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयः— योगं आरुरुक्षोः मुनेः कर्म कारणं उच्यते, योगारूढस्य तस्य एव शमः कारणं उच्यते ॥ ३ ॥

योगका साधन करनेकी इच्छा करनेवाले मुनिके लिये कर्म साधन है; और योगका साधन हो चुकनेपर उसीका साधन शम होता है, ऐसा कहते हैं ॥ ३ ॥

कर्मफल त्यागने के सिद्ध होनेवाला हो। अतः हम कह सकते हैं कि कर्मफलत्याग मनुष्य मात्रके आचरणमें आना चाहिये, यह इच्छा गीताधर्म प्रणेताकी निःसंदेह है।

संन्यास और योग ।

इस श्लोकमें कहा है कि "संन्यास और योग कर्मफलभोग करनेसे हो नहीं सकते, कर्मफल का त्याग करनेसे हि वे सिद्ध हो सकते हैं।" संन्यासी और योगी बनने के लिये निम्नलिखित प्रकार आचरण करना चाहिये—

(१) [कर्मफलं अनाश्रितः] = अपने कर्मके फलका आश्रय न करना, अर्थात् अपने कर्मके फलका त्याग करना, दान करना अथवा संन्यास करना;

(२) [कार्यं कर्म करोति] =कर्तव्य कर्म करना, अपना कर्तव्य कभी न छोडना।

ये दो नियम पालन करनेसेहि मनुष्य संन्यासी और योगी हो सकता है। संन्यास और योगमें विघ्न कौनसे हैं, इस बातका भी ज्ञान यहां हो सकता है—

(१) [कर्मफलं आश्रितः] = अपने कर्मका फल अपने भोग के लिये अपने पास रखना, दूसरे को न देना;

(२) [कार्यं कर्म न करोति] = कर्तव्य कर्म न करना, और

(३) [अकार्यं कर्म करोति] = जो करना अयोग्य है, वह करना।

इन विघ्नोंसे संन्यास और योग सफल और सुफल नहीं हो सकते। जो समझा जाता है कि (निरग्निः) जो अग्निमें हवन न करनेसे तथा (अ-क्रियः) कर्म न करनेसे संन्यास सिद्ध हो सकता है वह भ्रम है। न वह सच्चा संन्यास है और न योग है। यहां योगके तीन लक्षण हमें ज्ञात हुए (१) कर्मफलत्याग, (२) कर्तव्य करना और (३) संकल्पसंन्यास। पाठक पूर्वोक्त योगके लक्षणोंमें इनको मिलावें।

वस्तुतः योग और संन्यास एक ही हैं (भ० ५।४-५), इनको पृथक् पृथक् मानना भ्रम है, वह बालबुद्धिका लक्षण है। इन दोनोंको एक समझना ही सच्चा ज्ञान है। क्यों कि "जो संन्यास है वही योग है। (गी० ६।२)" इसका हेतु यह है कि (असंन्यस्तसंकल्पः योगी न भवति) मनसे भोगवासनाओंका समूल त्याग होनेके विना कोई मनुष्य योगी नहीं हो सकता, और न संन्यासी हो सकता है। इस तरह दोनोंको भोगवासनाओं का त्याग करना अत्यंत आवश्यक है। परंतु 'योग के विना संन्यास दुःखकारक है (गी० ५।६)।" अतः संन्यास साधन के लिये योग की आवश्यकता है, और योगसाधन के लिये योग की आवश्यकता तो है हि। इस लिये वह योग क्या है, इस का विचार अब किया जाता है, पाठक इसको ध्यानसे पढें—

आरुरुक्षु और आरूढ ।

(३—४) इन श्लोकोंमें 'योगारुरुक्षु और योगा-

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

अन्वयः— यदा हि इन्द्रियार्थेषु च कर्मसु न अनुषज्यते, तदा सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढः उच्यते ॥ ४ ॥

जब मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंमें और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, और सब संकल्पोंका त्याग करता है, तब उसको योगारूढ कहते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— जो योग साधन करना चाहता है, उसको सबसे प्रथम मुनि बनना चाहिये अर्थात् मौन धारण करना चाहिये। इस साधनके समय उसको योगसाधनरूप कर्म कुशलतापूर्वक करना योग्य है। जब उसका साधन समाप्त होगा, तब उस सिद्ध पुरुषको बडी सावधानताके साथ शमका अवलंबन करना चाहिये ॥ शमका अर्थ इन्द्रियोंके विषयोंमें न फंसना, कर्ममें अर्थात् कर्मफलमें लुब्ध न होना, और सब संकल्पोंका त्याग करना है। जब ये तीनों सिद्ध होंगे, तब समझना चाहिये कि उसका योग पूर्णतासे सिद्ध हो चुका है ॥ ३-४ ॥

रूढ' के लक्षण कहे हैं। 'योगारुरुक्षु' वह है कि जो योगसाधन करना चाहता है, मनसे योग का अभ्यास करनेका इच्छुक है। 'योगारूढ' वह है कि जो योगसाधन कर चुका है, जिसने अपना योगाभ्यास समाप्त किया है। इन दोनोंका अर्थात् साधक और सिद्धका लक्षण यहां बताया है।

जो (योगं आरुरुक्षोः) योग साधन करना चाहता है उसका (कारणं कर्म) साधन कर्म है। योगसाधन के जो जो कर्म हैं वे उसको करने चाहिये। अर्थात् यम नियम का पालन, आसन प्राणायाम का अनुष्ठान, तथा प्रत्याहार ध्यान धारणा का अभ्यास ये सब कर्म उसको करना आवश्यक है। यही कर्म उसका साधन है। यदि यह कर्म वह न करेगा तो वह योगारूढ कभी नहीं होगा।

यह साधनरूप कर्म थोडा नहीं। यह सतत दीर्घकालतक करना होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, ये यम और नियम अत्यंत आवश्यक हैं। इन के लिये कई वर्ष सतत प्रयत्न करना चाहिये। स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान यह कोई अल्पकाल में सिद्ध होनेवाली बात नहीं है; अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्य की सिद्धि अथवा मनमें स्थिरता अल्प प्रयत्नसे साध्य नहीं होगी। थोडेसे विचारसे पाठकोंके मनमें यह बात स्थिर होगी कि ये योगसाधनरूप कर्म मनुष्य को स्थिर चित्तसे बहुत समयतक करने आवश्यक हैं। जो ये कर्म करता रहेगा, उसीको सिद्धी होगी, जो कर्म ही नहीं करेगा उसको सिद्धि कैसी मिलेगी?

योगसाधन।

यहां पाठकों के मनमें शंका उत्पन्न हो सकती है कि साधक के लिये कर्म करनेकी आवश्यकता है ऐसा जो यहां कहा है, उसका अर्थ क्या है? इसका स्पष्टीकरण करनेके लिये पातंजलयोग का थोडासा विषय यहां उद्धृत करना चाहिये—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥
(यो० सू० २)

"तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये योग-साधन में करनेके क्रियाकलाप हैं। क्रियाकलाप इस लिये करना चाहिये कि शीघ्र समाधि सिद्ध हो जाय और क्लेश कम हों।" तथा—

अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः॥३॥ अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनु-विच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

"अविद्या, अस्मिता (घमंड), (राग विषय-प्रीति, द्वेष, और अभिनिवेश (पक्षपात) ये पांच क्लेश हैं। इनमें अविद्या के क्षेत्रमें शेष चार उत्पन्न होते हैं। क्लेश कईयोंमें प्रसुप्त अर्थात् गुप्त रहते हैं, कई तपस्वियोंमें ये क्लेश क्षीण होते हैं, कईयोंमें विच्छिन्न और उदार होते हैं।" अर्थात् किसीपर किसी का प्रेम हुआ तो वहां उसका क्रोध विच्छिन्न होता है, और प्रेम के कारण एक मनुष्य दूसरेपर उदार भी होता है। ये सब मनोधर्म योगसाधनमें कष्ट उत्पन्न करनेवाले हैं। क्लेश सुप्त और क्षीण (तनु) भी हुए तथापि वे किस समय कष्ट देंगे इसका कोई नियम नहीं। इस कारण साधक को सावधान होना चाहिये और इनको दूर करना चाहिये। अब अविद्याका अर्थ देखिये—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

"अनित्य, अपवित्र, दुःख, अनात्मा को नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा माननेका नाम अविद्या है।" इसी को अज्ञान कहते हैं। प्रायः जगत् के सर्वसाधारण लोगोंका व्यवहार इसी अज्ञान में चल रहा है। वे अनित्य को नित्य, अपवित्रको पवित्र, दुःख को सुख और अनात्माको आत्मा मानते हैं और फसते हैं। यही अविद्या और अज्ञान है और इसीसे अनंत दुःख होते हैं।

योगसाधन करनेवालोंको कर्म करने चाहियें ऐसा जो यहां कहा है, उस कर्म का स्वरूप संक्षेप से यह है। इस संबंधमें जो विशेष विस्तारपूर्वक देखना चाहते हैं, वे योगदर्शन तथा योगसाधन के अन्यान्य पुस्तक देख सकते हैं। तप में शीतोष्ण सहन करनेका अभ्यास है, स्वाध्यायमें स्थूल सूक्ष्म तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करनेका उद्योग मुख्य है, ईश्वरप्रणिधानमें सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करना है। इसके अतिरिक्त आसन प्राणायामादि अनेक कर्म योगसाधन के लिये आवश्यक हैं। पाठक ऐसा समझें, कि जो मनुष्य अष्टांगयोगसाधन करना चाहता है उसको दिनभर कुछ न कुछ साधन करनाही पडता है। योगसाधन के जो विघ्न गिने गये हैं, उनको देखनेसे भी योगसाधन के कर्मोंका ज्ञान हो सकता है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्ते अन्तरायाः ॥

(यो० सू० १। ३०)

"रोग, मंदता, संदेह, प्रमाद, आलस्य, जागतिक भोगेच्छा, भ्रम, ठीक स्थान को न प्राप्त करना, चंचलता, ये चित्तको चञ्चल करनेवाले दोष हैं अतः ये योगसाधनमें विघ्न हैं।" ये विघ्न दूर करनेके लिये थोडा पुरुषार्थ पर्याप्त नहीं होता। शरीरको व्याधिरहित रखनेके लिये कितना यत्न करना चाहिये इसका विचार पाठक करेंगे, तो उनको पता लगेगा कि ये विघ्न दूर करनेके लिये कितना प्रयत्न करना चाहिये। इसी तरह विचार करनेसे योगसाधनके कर्मोंका निश्चय हो सकता है।

ऐसे कर्म करके मनुष्य योगसाधन करेगा तो कुछ समय के पश्चात् उसको योग साध्य होगा। अच्छे गुरु के पास अच्छा तत्पर शिष्य योगसाधन करने लगेगा, तो तीन चार वर्षोंमें समाधि तक पहुंचना संभव है। न्यून योग्यतासे समय अधिक लगेगा।

इतना प्रयत्न करनेके मनुष्य योगपर आरूढ हो सकता है, अतः उसको इस समय 'योगारूढ' कहा जाता है। इस समय यह सिद्ध पुरुष हो जाता है। पूर्ण पुरुष होनेकी यह प्रारंभावस्था है। ऐसी अवस्थामें उसका साधन 'शम' रहता है। शम का अर्थ इंद्रियोंका और मनका निग्रह है। यहां कई शंका पूछेंगे कि योगारूढ होनेके पश्चात् शम की क्या आवश्यकता है? परंतु थोडा

(३) आत्मोद्धार।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

अन्वयः— आत्मना आत्मानं उद्धरेत्, आत्मानं न अवसादयेत्। आत्मा एव हि आत्मनः बन्धुः, आत्मा एव आत्मनः रिपुः ॥ ५ ॥

मनुष्य आत्माद्वारा आत्माका उद्धार करे, अपने आत्माकी कभी अधोगति न करे। क्योंकि आत्मा ही आत्माका बन्धु है, और आत्माही आत्माका शत्रु है ॥ ५ ॥

विचार करनेपर यह विदित होगा कि योगसाधन से मनके दोष सुप्त या क्षीण होते हैं, बिलकुल नष्ट नहीं होते। इस लिये कई समाधिसिद्ध योगी भी पुनः विषयोंमें फंसते हैं, ऐसे उदाहरण कई देखनेमें आते हैं। अतः समाधि सिद्ध होनेपर भी पतन का भय कम नहीं होता। इस कारण आगे भी शम का अभ्यास रखना आवश्यक है। शम का आशय इंद्रियों और मन को शांत रखना और उछलने न देना है। यह शमका अभ्यास आगे बहुत समय तक करना चाहिये। जब तक वैसा अपना स्वभाव ही बन जाय, तब तक यह शम का अभ्यास करना चाहिये। इस अभ्यास के पश्चात् ऐसी स्थिति आती है कि—

(१) इंद्रियार्थेषु न अनुषज्यते = विषयोंमें फंसता नहीं,

(२) कर्मसु न अनुषज्यते = कर्मोंके फलोंमें आसक्त नहीं होता,

(३) सर्वसंकल्पसंन्यासी = सब मन के संकल्प छोडता है।

तब उसको पूर्णतया योगारूढ कहते हैं। यह उसकी पूर्ण सिद्धि है।

इस तरह योग की अन्तिम सिद्धि प्राप्त होने-पर उसको जैसा योगी कहा जाता है, वैसाही उसको संन्यासी भी कह सकते हैं। क्योंकि 'जो संन्यास है वही योग है और जो योग है वही संन्यास भी है। (गी० ६।२)।

यहां एक ऐसी शंका आती है कि साधक को यह सिद्धि कैसी प्राप्त होती है? कौन इस में सहायक होता है? इस शंका के उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि स्वयं अपना उद्धार अपने ही करना होता है। इस में दूसरे की सहायता कम ही है। इस विषयमें भगवान् का उत्तर विशेष बोधप्रद होनेसे विचारपूर्वक देखना चाहिये—

अपना उद्धार।

(५-६) अपना उद्धार कैसा किया जावे, इस की चिन्ता सब को है। प्रत्येक चाहता है कि मैं उन्नत होऊं। कोई भी नहीं चाहता कि अपनी अवनति हो। परंतु बहुत थोडे लोगोंकी उन्नति होती है, शेष लोग भयानक अवनतिमें पडे होते हैं। इसका क्या कारण है? इसका विचार इन श्लोकोंमें उत्तम रीतिसे करके मानवी उन्नति का मूल मंत्र स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। इस दृष्टिसे ये श्लोक अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

सर्वसाधारण लोग समझते हैं कि, अपनी उन्नति दूसरेके द्वारा होगी। मुझे वह सहायक होता है अथवा मारक होता है। ऐसा सर्व-साधारण लोगोंका विचार होता है। परंतु यह विचार सत्य नहीं है। सुख या दुःख, हानि या

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

अन्वयः— येन आत्मना एव आत्मा जितः, तस्य आत्मनः बन्धुः आत्मा, अनात्मनः तु शत्रुत्वे आत्मा एव शत्रुवत् वर्तेत ॥ ६ ॥

जिसने अपने आत्माद्वारा अपने आत्माको जीत लिया है, उसके आत्माका बन्धु उसीका आत्मा है; परंतु जिसने अपने आत्माको जीता नहीं, उसके शत्रुत्वमें उसीका आत्मा शत्रुके समान वर्तता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— मनुष्य अपना उद्धार स्वयं आपहि करे। अपने आपको कभी गिरने न दे। प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना उद्धारक अथवा सहायक है और स्वयं हि अपना घातक अथवा शत्रु है॥ जिसने अपने आपको जीत लिया वह स्वयं अपना उद्धारक और सहायक है; परंतु जिसने अपने आपको स्वेच्छाचारी बना दिया है, वह स्वयं अपना घातक शत्रु होता है॥ अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपना मित्र भी होता है और शत्रुभी होता है। किसी दूसरेसे न सहायता होगी और न शत्रुता भी हो सकती है॥ ५-६ ॥

लाभ, उन्नति या अवनति, उद्धार अथवा अधोगति जिसकी वही करता है, दूसरा नहीं।

यदि यह सत्य है तो जगत् के लाखों लोग दुःख भोगते हुए नजर आते हैं, तो क्या वे अपना दुःख स्वयं निर्माण करके भोग रहे हैं? हां सत्य तो यही है। जिसका जो सुख या दुःख है वही उसका निर्माणकर्ता है, कोई दूसरा नहीं। यह गीताका सिद्धान्त सुनकर सब लोग आश्चर्य करेंगे, और कईयोंका इसपर विश्वास भी नहीं बैठेगा। परंतु यह त्रिकालाबाधित सत्य है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ॥

सुख दुःखका कोई दाता नहीं, सुख दुःख दूसरेसे मिलता है, ऐसा मानना यह कुबुद्धी है। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपना सुख या दुःख स्वयं निर्माण करता है और उसको भोगता है।

यह सिद्धान्त न केवल व्यक्तिगत सुख दुःखके विषयमें सत्य है, अपितु सामाजिक और राष्ट्रीय सुख दुःख, हानिलाभ, जय पराजय, उद्धार अवनति, स्वातंत्र्य पारतंत्र्य आदिके विषयमें भी पूर्णतया सत्य है। कोई समाज सुखी है तो उसने वैसे कर्म किये हैं, दूसरा समाज पराजित हुआ है, तो उसने पराजित होने योग्य कुकर्म किये हैं। एक राष्ट्र स्वतंत्र है, तो उसने स्वतंत्र रहने योग्य पुरुषार्थ किये हैं, और दूसरा राष्ट्र पराधीन है तो उसने स्वप्रयत्नसे हि पराधीनता अपने ऊपर धारण की है!!

किसी राष्ट्रको दूसरा राष्ट्र परतंत्र कर नहीं सकता और न स्वातंत्र्य दे सकता है। यहां कौरव पाण्डवोंके व्यवहार का ही निरीक्षण करिये। कौरवोंने पाण्डवोंको द्यूतमें जीत लिया यह वस्तुतः सत्य नहीं है। सत्य यह है कि पाण्डवोंने हि अपने आपको जीत कर, पराधीन बनाकर, कौरवोंके आधीन अपना राष्ट्र कर दिया। इसी लिये जिस समय पाण्डव अपने स्वराज्यप्राप्त्यर्थ युद्ध करनेके लिये समरांगण में खडे हुए, उस समय वे विजयी होगये और पूर्ण स्वतंत्र भी बन गये। यह विजय पाण्डवोंके लिये स्वयं पांडवोंने हि अपने प्रयत्नसे बना दिया। अर्थात् जिस समय उन्होंने अपनी परवशताके लिये द्यूत खेलने का मूर्खजनक समान यत्न किया, उस समय वे

राज्यभ्रष्ट होकर वनवासी होगये, और जिस समय उन्होंने अपनी संघटना द्वारा स्वराज्य स्थापना का यत्न किया, उस समय वे स्वयं-शासित स्वराज्यके स्वामी बन गये। पाण्डवों की स्वतंत्रता अथवा परतंत्रता के लिये किसी दूसरे का प्रयत्न कारण नहीं बना, स्वयं इनकाही अपना प्रयत्न कारण हुआ। इसी तरह प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक समाज की उन्नति-अधोगतिके विषयमें समझना चाहिये और वैसाहि प्रत्येक व्यक्तिकी उन्नति-अधोगतिके विषयमें भी यही नियम है। जो सर्वसाधारण लोग कहते हैं, दूसरेने मुझे परतंत्र बनाया और दूसरा मुझे स्वराज्य देगा, यह सब भ्रम है। इस भ्रमसे किसीकी–व्यक्तिकी, समाजकी अथवा राष्ट्रकी–उन्नति नहीं होगी।

यहां अपना स्वयं उद्धार करनेके लिये स्वयंहि कमर कसनी चाहिये। अपनी अधोगति होने योग्य कोई कर्म स्वयं नहीं करना चाहिये। क्योंकि मित्र या शत्रु जिसका वही है, दूसरा नहीं।

शत्रु-मित्र-लक्षण।

अपना जय, आत्मसंयम करनेसे स्वयं आपहि अपना मित्र होता है और अपना असंयम करनेसे, स्वेच्छाचारसे, अपनही अपना शत्रु हो जाता है। अपनी शक्तिका ज्ञान होनेसे मनुष्य उन्नतिपर चलने लगता है और जिसको आत्माका ज्ञान नहीं है, वह अपने हि घातका कार्य करता है। अर्थात् शत्रु और मित्र दूसरा कोई नहीं है, जिस का वही है। तात्पर्य आत्माकी स्वाधीनता या पराधीनता अपनीहि विद्या या अविद्यापर निर्भर है।

यह बात व्यक्तिकी उन्नतिमें देखिये। मनुष्य ब्रह्मचर्य न पालने में सुख है ऐसा मानता है और भोगतत्पर होता है, जिससे वीर्यभ्रष्ट होनेसे वही रोगी और अल्पायु होता है। यह दुःख किसी दूसरेने नहीं लाया, परंतु जिसका उसीने अपने ऊपर लाया है। इसी तरह अहिंसा सत्य अस्तेय शुचिता आदि सब व्यवहारोंके विषयमें देखिये। तो व्यक्तिके व्यवहारमें पाठक देख सकते हैं, कि यह मिथ्याज्ञानमें फसता है, सुखको दुःख और दुःखको सुख मानता है और फंसता चला जाता है। स्वयं अपने अज्ञानसे मोहित होकर दुःख भोगता है। कोई उपदेश करने आया तो भी सुनता नहीं और इस तरह अपने ही प्रयत्नसे दुःख बढाता है और उसमें गोते खाता है।

यही बात राष्ट्रीय सुख दुःखके विषयमें देखिये। मनुष्य दूसरे देशके चमकीले पदार्थ देखता है, उन के तेजसे मोहित होता है, उनको लेकर अपने भोग बढाता है और प्रति दिन दरिद्रतामें फंसता जाता है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर सब पाठकोंको ज्ञात होगा कि राष्ट्रीय पारतंत्र्य अथवा स्वातंत्र्य अथवा अन्यान्य राष्ट्रीय सुख दुःख अपने ही प्रयत्नसे किया होता है। किसी उपदेशकने मार्ग दर्शा भी दिया कि स्वदेशीव्रत का पालन करो, तो मनुष्य सुनता तक नहीं, और अधिकाधिक दुःख में पडता है। ये सब दुःख और कष्ट मनुष्य स्वयं निर्माण करता है। जो पाठक इस दृष्टिसे विचार करेंगे, उनको यह बात सुस्पष्ट रीतिसे विदित होगी; अतः इसका वैयक्तिक रीतिसे अथवा सामुदायिक रीतिसे अधिक विचार यहां करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

मनुष्य स्वयं अपना मित्र और अपना शत्रु है, यह बात जैसी व्यक्ति की दृष्टिसे वैसोहि सामूहिक दृष्टिसे भी सिद्ध है, जो विचार करके देखेंगे उनको यह सिद्धांत सर्वत्र दिखाई देगा। प्रचलित योगसाधन के विषयमें भी यही बात सत्य है। क्योंकि जो योगसाधन करेगा, वही सिद्ध बनेगा। इस लिये योगियोंको स्वयं दक्षतासे प्रयत्न करना है।

जीवात्मा और प्रकृत्यात्मा।

इन श्लोकों में 'आत्मा' शब्दके दो अर्थ लेकर भी एक और उत्तम अर्थ हो सकता है। एक आत्माका अर्थ जीवात्मा है और दूसरे आत्माका अर्थ प्रकृति, जड, सृष्टि आदि है। जड और चेतन ये दो रूप हमारे सन्मुख हैं। चेतन जड, आत्मा प्रकृति, पुरुष प्रकृति, देव शक्ति, प्राण रयि, सूक्ष्म स्थूल ऐसे इनके अनंत नाम हैं। ये वस्तुतः परस्पर बन्धु हैं, परंतु कई लोग जड सृष्टिको शत्रु मानकर वर्णन करते हैं। विचार करके निश्चय करना चाहिये कि सचमुच सृष्ट्यात्मा जीवात्मा का सहायक है अथवा मारक है। भगवद्गीता का कथन है कि वह सहायक भी है और मारक भी है। यहां के 'आत्मा' शब्द के दोनों अर्थ लेकर जो अर्थ हो सकता है, वह यहां देते हैं—

"(आत्मना=प्रकृत्यात्मना) देह सृष्टिरूप स्थूल या मूर्त की सहायता से (आत्मानं = जीवात्मानं) जीवात्माका उद्धार करना चाहिये, सृष्टिका ऐसा उपयोग नहीं करना चाहिये कि, जिससे जीवात्मा की अधोगति हो जाय। क्यों कि स्थूल जगत् जीवात्माका मित्र भी है और शत्रु भी है॥ जिसने (आत्मा = प्रकृत्यात्मा) इस जगत् को (आत्मना=जीवात्मना) अपने आत्मा द्वारा जीत लिया, स्वाधीन किया, उस समर्थ जीवात्मा को स्थूल जगत् बन्धुके समान सहायक हो जाता है, और जिसने उस स्थूल जगत् पर विजय नहीं पाया, उसका शत्रु वही बन जाता है।"

इसके मननसे इसका आशय पाठकोंके मनमें आसकता है, तथापि सुखबोध के लिये इसका थोडासा स्पष्टीकरण यहां किया जाता है। कठोपनिषद्में कहा है—

अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥

कठ उ० १।२।१०

"अनित्य द्रव्योंसे नित्यकी प्राप्ति होती है।" सब साधन अनित्य हैं, सब जगत् के साधनरूप पदार्थ अनित्य हैं, परंतु उनकी साधना से मनुष्य नित्य आत्मसुख प्राप्त कर सकता है। यही बात यहां अनुसंधान करनी योग्य है।

प्राकृतिक जगत् परिमित, मर्यादित और सान्त है, इसमें संदेह नहीं है, परंतु इसका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्य अपना सुख बढा सकता है। अपना भोजन, आच्छादन, गृहनिर्माण आदि कार्य सृष्ट पदार्थोंसेहि होता है। योगसाधनमंदिर निर्माण करना हो तो ईंट चूना लकडी आदिसे हि निर्माण होगा। इस स्थूल गृहमें बैठ कर ध्यान धारणा द्वारा सूक्ष्म की खोज हो सकती है। इस तरह यह स्थूल जगत् हमारा सहायक हुआ।

जो मनुष्य आत्मसंयमी, आत्मविजयी होता है वही इस स्थूल विश्वको, इस मूर्त जगत् को अपना सहायक बना सकता है, परंतु जो असंयमी और स्वेच्छाचारी है वह इसी से अपने दुःख बढा सकता है। इस तरह यह जगत् अपना बंधु भी है और शत्रु भी है। जैसा हम उससे व्यवहार करेंगे वैसा वह होगा। थोडेसे विचार से यह बात पाठकोंको प्रत्यक्ष हो सकती है।

इस लिये कोई मनुष्य इस सृष्टिको तुच्छ न समझे। यदि उसको तुच्छ समझा जाय तो उससे समझनेवालेकी तुच्छता व्यक्त होगी। भगवद्गीता के विचार से यह सब विश्वका रूप परमात्माका विश्वरूप है और परमात्माका रूप कभी हानिकारक नहीं हो सकता है। वह सदा सहायक और मित्रवत् ही रहेगा।

इस दृष्टिसेभी इस विश्वरूप में हानिकारकता नहीं है। यदि किसी की इससे हानि हो सकती है, तो इसी के अपने दोष के कारण होगी अर्थात् उसका इससे कुछ संबंध नहीं है। इस तरह सब विश्वरूपको अपना सहायक बनाकर अपनी उन्नतिका पथ चढनेकी सूचना यहां दी है, निःसन्देह इससे प्रत्येकका लाभ हो सकता है।

(४) योगीके आत्माका परमात्मा।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

अन्वयः— जित-आत्मनः प्रशान्तस्य परम-आत्मा शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु तथा मान-अपमानयोः समाहितः (भवति) ॥७॥ ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा कूट-स्थः विजित-इन्द्रियः सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः योगी युक्तः इति उच्यते ॥ ८ ॥

जिसने अपने आपको जीत लिया है और जिसने पूर्ण शान्ति पायी है, उसका आत्मा महान् होता है और वह शीत उष्ण, सुख दुःख तथा मान अपमान के विषयमें समबुद्धि रखता है ॥ ७ ॥ जो ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त हो चुका है, जो सबसे उच्च स्थानमें स्थिर हुआ है, जिसने सब इंद्रिय जीत लिये हैं, जिसको मिट्टी, पत्थर और सोना समान हो चुके हैं, उस योगी का योग सिद्ध हुआ ऐसा कहते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— अपनी शक्तियोंको स्वाधीन करने, द्वन्द्वोंके विषयमें समता धारण करने और चित्त शान्त करनेसे साधक का आत्मा विशाल होकर सर्वत्र समदर्शी होता है ॥ जब वह ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त, जितेन्द्रिय, उच्च और समदर्शी होता है, तब उसका योग सिद्ध हुआ, ऐसा कह सकते हैं ॥ ७-८ ॥

इस तरह सब जगत् को सहायक बनाकर योग साधन करनेवाला कैसा योगी बनता है और उसकी योग्यता कितनी बडी होती है, इसका मनोरंजक और बोधप्रद वर्णन आगे देखिये—

(७-८) इन श्लोकोंमें योगकी सिद्धिके लक्षण कहे हैं। और योग का आत्मा (परमात्मा) विशाल होता है ऐसा भी कहा है। ये श्लोक विशेष मननपूर्वक देखने योग्य हैं।

आत्मा का परमात्मा, महात्मा
ब्रह्म का परब्रह्म
पुरुष का परम पुरुष, परात्पर पुरुष
नर का नारायण;
इन्द्र का महेन्द्र
देव का महादेव

इस तरह अनेक शब्दों द्वारा वेद, उपनिषद् तथा अन्यान्य आर्य ग्रंथोंमें आत्माकी परमोन्नतिकी सीमा वर्णन की है। इसका स्वरूप क्या है इस विषयमें यहां थोडासा विचार करना चाहिये।

आत्मा और परमात्मा।

आत्मा अणुस्वरूप है और परमात्मा विभुस्वरूप है। इस लिये अणुस्थिति में जीवात्मा दुःखसे हटना चाहता है और सुख में रहना चाहता है, एक समय शीत पसंद करता है और दूसरे समय उष्ण को पास करता है, अपमानके स्थान से दूर रहकर संमानके स्थानमें रममाण होना चाहता है। किसी एक स्थानसे हटना और दूसरे स्थानमें जाना तब हो सकता है कि, जब

वह अणु या छोटा होगा। यदि यह विशाल होगा तो कहांसे हटेगा और कहां जायगा?

परमात्मा विशाल और सर्वत्र विभु है, शीतस्थानमें भी है और उष्णस्थानमें भी है, सन्मान के स्थान में भी है और अपमानके स्थानमें भी है, सुखदायक स्थानमें है वैसा ही दुःखदायी पदार्थ में भी है, किसी स्थानपर वह नहीं है ऐसी बात नहीं है, क्यों कि वह सर्वव्यापक विभु है। जो अणु होगा वही एक स्थानमें है और दूसरे स्थानमें नहीं ऐसा कहा जा सकता है। अणु पदार्थ को हि दुःख के स्थानसे दूर होना और सुखस्थान में रहना संभवनीय है। व्यापक पदार्थ दोनों स्थानोंमें एक ही समय रह सकता है। जो आत्मा ब्रह्मभाव किंवा परमात्मभाव को प्राप्त होता है, वह भी वैसा ही शीतोष्ण सुखदुःखों में समानतया एक ही समय रह सकता है। इस लिये इस श्लोकमें कहा है कि "जब साधक जितात्मा और प्रशान्त होता है,तब वह परमात्मा (विशालात्मा) बनकर शीतोष्ण अथवा सुखदुःखमें समानतया रहता है।" यह ब्रह्मभाव या परमात्मभाव प्राप्त होनेकी अवस्थामें नितान्त सत्य है।

जितात्मा।

'जितात्मा' का अर्थ है विजयी आत्मा, जिसने सब प्रकारके प्रलोभनोंपर विजय पाया है। जो अपने निजानन्दमें मस्त रहता है, जिसे अपने अंदरहि अखंड आनंद मिलता है। इसके विरुद्ध जो 'पराजितात्मा' है वह सुख की लालसासे मारे मारे घूमता रहता है, बाह्य पदार्थ अपने पास इकट्ठे करता है, उनसे सुख मिलता है ऐसा मानता है, उनके नाशसे दुःखी होता है, उनके उत्तम रहनेसे सुखी बनता है। इस तरह जिसको अपने निजानंदका बिलकुल अनुभव नहीं वह पराजितात्मा है।

'प्रशान्तात्मा' वह हो सकता है कि जो जितात्मा होगा, जिसने अपने आपको स्वाधीन किया है, जिसने अपने आत्मा बुद्धि मन चित्त अहंकार इंद्रिय प्राण और शरीर पर अपना पूर्ण अधिकार रखा है अथवा इन सबको अपने स्वाधीन कर लिया है। ऐसा संयमी सदा शान्त और प्रशान्तहि रहेगा, क्यों कि उसके चञ्चल होनेकी संभावना ही नहीं है। चञ्चल तो वह होगा जो पराजितात्मा होगा, क्यों कि वह पराजित और पराधीन होनेसे वह जिसके आधीन होगा वह जिधर ले चलेगा वहां उसको जाना पडेगा। देखिये, जिस समय यह पराजितात्मा होता है उस समय यह नेत्र के आधीन बनकर सुंदर रूप के पीछे दौडता है, जिह्वाके आधीन होकर सुस्वादवाले पदार्थोंके पीछे मारे मारे फिरता है, कामवश होकर कामसंतुष्ट्यर्थ अकार्य करनेमें भी प्रवृत्त होता है। इस तरह पराधीन मनुष्य चंचल होता है, अतः वह प्रशान्त होना असंभव है। क्यों कि वह दूसरेके आधीन होता है।

अन्तःसुखी।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लगेगा कि जो इस तरह चंचल होता है वह अपने आप को अणु किंवा अल्पहि अनुभव करता है। इसी कारण वह मानता है कि जो सुखदायक सुंदर पदार्थ, रुचिकर पदार्थ और कामतृप्तिके पदार्थ इसको आकर्षित कर रहे हैं वे दूसरे स्थानमें हैं, कमसे कम जहां वह रहता है वहां ये नहीं हैं। इसी लिये वह उनकी प्राप्ति के लिये अहर्निश दौडता रहता है। यदि ये सब सुख उसको सदा उपस्थित रहेंगे, तो यह दौडेगाही किस लिये? जब इसका विकास होनेसे इस की अणुता और अल्पता हट जाती है, तब इसके पासहि सब सुख चलकर आते हैं, इसको सुखों के पास जाना नहीं पडता, अथवा इसीके अन्दर संकल्प होते हि सब सुख उपस्थित होते हैं। जिसको इस तरह

संकल्पसेही सब सुख उपस्थित होते हैं उसको चंचल होनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता। वह शान्त और समाहित अर्थात् समबुद्धि हो जाता है। विषमबुद्धि होनेका वहां कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। ऐसे सिद्ध पुरुषोंका वर्णन उपनिषदों में इस प्रकार किया है—

यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समु-
त्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते॥१०॥ छां०८।२।१०

" जिस सुखकी वह इच्छा करता है, वह सुख उसके सन्मुख उसके केवल संकल्प करनेहिसे उपस्थित होता है।" पाठक यहां कल्पना करें कि यदि कोई महात्मा ऐसा होगा कि केवल संकल्प करनेसेहि सब सुख उसके पास उपस्थित होते हैं, तो उसको हिलने अथवा चञ्चल होनेकी क्या आवश्यकता है? जितात्मा, प्रशान्तात्मा, समाहितात्मा जो होता है वही परमात्मा अथवा परमात्मासम होता है, इसी कारण वह शान्त होता है। जैसा किसी एक पात्रमें जल थोडासा रहा तो हिलता है, चंचल होता है; परंतु उसमें यदि जल भरपूर भरगया तो उसका हिलना बंद होता है। इसी तरह यदि कोई आत्मा प्रशान्त होता है तो वह परत्मामा (विशाल आत्मा) ही बन जाता है। इस दृष्टिसे यहां का 'परमात्मा' शब्द विशेष हेतुसे प्रत्युक्त हुआ है। पाठक इसका विचार करके इसका यह हेतु जानें, इसके अतिरिक्त महाभारतमें 'आत्मा' का भेद अधिक स्पष्ट कर दिया है। वह वचन अब देखिये—

पाशबद्धता।

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥
म० भा० शां० १८७।२४

" जब प्राकृतिक गुणोंसे संयुक्त होता है तब उसको क्षेत्रज्ञ आत्मा कहते हैं, जब वे प्राकृतिक गुण उससे दूर होते हैं तब उसीको परमात्मा कहते हैं।" प्राकृतिक गुण सत्त्व-रज-तम ये हैं। गुणका अर्थ रस्सी होता है। प्रकृतिके इन तीन गुणरूपी तीन रस्सियोंसे जब यह आत्मा बांधा जाता है तब इसको जीव कहा जाता है और जब यह इन बंधनोंको तोडकर अर्थात् गुणातीत होकर अपने तेजसे चमकता है, तब उसको परमात्मा कहा जाता है। गुणोंसे युक्त होनेसे जीव और गुणातीत होनेसे शिव हो जाता है। यह महाभारत के वचन का तात्पर्य है।

ज्ञान और विज्ञान।

ज्ञान और विज्ञानसे इस समय यह तृप्त (ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा) होता है। ज्ञान और विज्ञान ही मनुष्य की उन्नति के सहायक हैं। यहां नौ पदार्थ हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥
गीता० अ० ७

"पृथ्वी आप् तेज वायु आकाश अहंकार मन बुद्धि और जीवात्मा ये नौ पदार्थ हैं। इनमें पहिले आठोंका नाम अपरा प्रकृति और नौवेंका नाम परा प्रकृति है। यह परमात्माकी प्रकृति अर्थात् उसका शरीर है।" इन नौ पदार्थोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। पृथ्वीमें जो जो पदार्थ हैं उनके गुण धर्म क्या हैं, जल क्या है, अग्नि विद्युत आदि तैजस तत्त्व क्या है,आकाश तत्त्वका स्वरूप क्या है वह तो भौतिक शास्त्र में अंतर्गत होनेवाला ज्ञान है। भूस्तरशास्त्र, भूगर्भशास्त्र खनिजशास्त्र आदि सब पदार्थ विद्या का ज्ञान इस पढाई में आता है। वनस्पतिविद्या, धातुविद्या आदि सब की पढाई इसीमें अन्तर्भूत होती है। जलतत्त्व विद्यामें सब रसों की विद्या, जलसे सिद्ध होनेवाली विद्या आगई, अग्निविद्यामें अग्नि विद्युत् आदि का समावेश होता है, वायुविद्यामें संपूर्ण वायु बाष्प आदिकी विद्या है।

इस तरह पंचमहाभूतों की विद्या का संक्षिप्त नाम भूतविद्या है। यह सब स्थूल पदार्थ विद्या है, जिसको आजकल पदार्थविद्या कहते हैं। अहंकार मन और बुद्धि की विद्या इस से भी बडी है। आत्मविद्या उससे भी गुह्यसे गुह्य है। यह सब ज्ञान प्राचीन पढाईमें गुरुकुलोंमें दिया जाता था। इसका वर्णन छांदोग्य में निम्नलिखित प्रकार आया है—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥

छां० उ० ७।१।२

"चार वेद इतिहास पुराण, (पित्र्यं) पितृज्ञान अर्थात् वंशविद्या, राशि अर्थात् गणित विद्या, निधिका अर्थ धनविद्या किंवा अर्थशास्त्र, (वाकोवाक्यं) वाक्यार्थशास्त्र किंवा मीमांसा, (एकायनं) संगठनशास्त्र, (देवविद्या) पंचभूतविद्या किंवा पदार्थविद्या, (ब्रह्मविद्या) आत्मज्ञान, (भूतविद्या) पंच महाभूतोंका ज्ञान, (क्षत्रविद्या) युद्धशास्त्र, राज्यशासनशास्त्र, (नक्षत्रविद्या) खगोलशास्त्र, (सर्पदेवजनविद्या) प्राणिविद्या, समाजविद्या, इत्यादि अनेक विद्या प्राचीन पाठविधि में पढाई जाती थी।" यह पाठविधि १२ वर्षोंसे ४८ वर्षों तक अथवा आमरणान्त होती थी। इसमें संदेह नहीं की आजकल भूतविद्या किंवा पदार्थविद्या बहुत अधिक बढ गई है, तथा कई शास्त्र नवीन भी हुए हैं, तथापि पूर्वोक्त ज्ञान और विज्ञानमें उन सबका तथा इससे भी भविष्यमें नवीन बननेवाले विद्याग्रंथोंका समावेश हो सकता है। इस विषयमें इतना लिखनेका कारण यह है कि जो भी कोई सत्य शास्त्रीय ज्ञान है उसका विरोध वेद, उपनिषद् तथा गीता इनमें से किसीका नहीं है। हमारा अध्यात्मशास्त्र सब ज्ञान का स्वागत कर सकता है, वह ज्ञानसे घबराता नहीं।

गीतामें ज्ञानविज्ञान शब्दका अर्थ मोक्षका ज्ञान और परमात्मा के साक्षात्कार का ज्ञान ऐसा भी है। यह ज्ञान पूर्वोक्त पढाई के अन्तिम विभागमें पढाया जानेवाला है अर्थात् यह पूर्व स्थानमें वर्णित पढाईमें अन्तर्भूत हो चुका है। पाठक विचार करें कि यह पढाई कितनी विस्तृत है। इस ज्ञानविज्ञानसे मनुष्य तृप्त, संतुष्ट और प्रसन्न होना चाहिये। आजकल की पढाईमें यह दोष है कि इस से मनुष्य तृप्त नहीं होता, सदा अतृप्त भूखा और असंतुष्ट होता है। यह दोष इस लिये है कि, इस पढाईसे आत्मज्ञान को अलग किया है। वैदिक पढाई में और आजकी पढाई में अंतर यही है, अतः वैज्ञानिक उन्नति होनेपर भी आजकल भूखापन अथवा असंतोष बढ रहा है। इसी लिये भारतवर्षको स्वतंत्रता प्राप्त कर अपनी पढाई की उन्नति करके जगत् में शान्ति और समता स्थापन करनेके लिये कटिबद्ध होना चाहिये।

ज्ञान और विज्ञानसे जिसका आत्मा तृप्त हुआ है वही प्रशान्त होता है और जितात्मा भी होता है। विजितेन्द्रिय भी वही होता है। जिसने अपने सब बाह्य और आन्तरिक इंद्रिय जीते हैं उसका नाम जितेन्द्रिय है और जिसने विशेष प्रकार से सब इंद्रियोंको स्वाधीन रखा है और सहजहीसे स्वभावतया जिसके इंद्रिय स्वाधीन रहते हैं, उसको 'विजितेन्द्रिय' कहते हैं। जितेन्द्रिय और विजितेन्द्रिय इन में अर्थ की भिन्नता है, इस का विचार पाठक करें। जिसके इंद्रिय स्वभावसेहि अधर्म पथमें प्रवृत्त होना असंभव है, वह विजितेंद्रिय है, परंतु जो प्रयत्नसे अपने इंद्रियोंको स्वाधीन रखता है, वह जितेंद्रिय है। आत्माकी शक्ति विकसित होनेके लिये विजितेंद्रिय होना चाहिये, यह बात यहां स्पष्ट की है।

समभाव।

(सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः) जिसको मिट्टी, पत्थर और सोना समान हो गये, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सोनेका मूल्य जानता नहीं और मिट्टी तथा पत्थर का उपयोग उसको ज्ञात नहीं। परंतु वह सोनेके प्रलोभनमें फंसता नहीं यह इसका अर्थ है।

इस समदृष्टिका अर्थ पाठकोंको उत्तम प्रकार से अपने मनमें स्थिर करना चाहिये। (गीता अ० ५।१८ के स्पष्टीकरण में इस का अधिक विचार किया है, वहां पाठक यह विषय देखें) ज्ञानी ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय और कुत्ता इनको समदृष्टिसे देखनेका उपदेश वहां किया है और यहां मिट्टी, पत्थर और सोनेको समभावसे देखनेवाले की प्रशंसा की है। दोनों स्थानोंमें समदृष्टि रखनेकी समानतया प्रशंसा है। समदृष्टिका अर्थ ज्ञानी और अज्ञानी में भेद न जानना, अथवा सोना और पत्थर का मूल्य एक समझना ऐसा नहीं, परंतु किसी प्रकार के प्रलोभनमें न फंसना यह भाव है। मिट्टी और सोना एकही मूल प्रकृतिकी विकृति है ऐसा तत्त्वदृष्टिसे मानना समदृष्टिमें है, ब्राह्मण और चाण्डालमें एकही आत्मतत्त्व निवास करता है ऐसा समदृष्टिसे माना जाता है। यहां कोई यह न समझे कि दोनों के साथ समवर्तन हो सकता है। ब्रह्मज्ञान की विचिकित्सा करनेके लिये कोई मनुष्य चाण्डाल या कुत्तेके पास नहीं जायगा, वह ज्ञानी ब्राह्मण के पासहि जायगा। तात्पर्य यहां मिट्टी, पत्थर और लोहेकी व्यावहारिक विभिन्नता का अनुभव करते हुए भी तत्त्व दृष्टिसे एकही तत्त्वकी यह विभिन्न विकृति है ऐसा मानकर, इन सब विभिन्न पदार्थोंमें एकही अभिन्न तत्त्व है, ऐसा समझकर उसका सतत अनुसंधान रखना समदृष्टीमें है। इतनाही बोध समदृष्टिका है और किसी प्रलोभनमें न फंसना यह दूसरा बोध है। क्यों कि यदि जितात्मा, जितेन्द्रिय और विजितेंद्रिय बनना है, तो उसको प्रलोभनों में फंसना नहीं चाहिये। जो किसी प्रलोभनमें फंसेगा वह कदापि जितेंद्रिय नहीं हो सकता। इस लिये जितात्मा होनेके लिये इस समदृष्टिकी अत्यंत आवश्यकता है।

सम और विषम बुद्धि।

जिसकी दृष्टि सम नहीं है और विषम है वह किसी स्थानपर सोना पडा हुआ हो तो वह उस सोनेको चुरायेगा और अपने पास रखेगा। परंतु जिसकी समदृष्टि हुई है, वह उसको परमात्मा का रूप मानेगा, किंवा ब्रह्महो सोनेका रूप लेकर अपने सन्मुख अपनी परीक्षा करनेके लिये आया है ऐसा मान कर, उसमें ब्रह्म साक्षात्कार करके वह उस कुकर्मसे पीछे हटेगा और समवृत्तिसे शान्त रहेगा। इस तरह समदृष्टिवाला मनुष्य कुकर्मसे अपने आपको बचा सकता है। 'सम' का अर्थ सर्वत्र एक रूपसे अवस्थित 'ब्रह्म' है। सर्वत्र ब्रह्म या परमात्मा का दर्शन करनेका नाम 'समदर्शन' है। ऐसा ही मनुष्य 'कूटस्थ' अर्थात् उच्च अवस्थामें स्थित होता है, क्यों कि उसके गिरनेकी संभावनाही नहीं होती। जो ऐसा होता है वही 'योगी, योगारूढ किंवा युक्त' कहलाता है। इस स्थितिकी ठीक कल्पना होनेके लिये येही शब्द कोष्टक रूपसे नीचे धर देते हैं, उनको परस्पर तुलना करके देखनेसे विशेष अर्थबोध होगा—

बद्धजीवः	मुक्तात्मा, महात्मा, परमात्मा
स्वेच्छाचारी	विजितात्मा
स्वैरेंद्रिय	विजितेंद्रिय
अशान्तः	प्रशान्तः
असमः	(शीतोष्णसुखदुःखेषु) समः
विषमः	(मानापमानयोः) समः
असमाधानवृत्तिः	समाहितवृत्तिः

(५) समबुद्धि ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

अन्वयः— यः सुहृत्-मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बंधुषु, साधुषु अपि च पापेषु समबुद्धिः विशिष्यते ॥९॥

सुहृत्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करने योग्य, बांधव, साधु और पापी लोगों के विषयमें जिसकी बुद्धि सम होगई है, वही विशेष योग्यताका मनुष्य है ॥९॥

अज्ञानमिथ्याज्ञान-अतृप्त	ज्ञानविज्ञानतृप्त
भिन्नदृष्टिः	समलोष्टाश्मकांचनः
अधःस्थः	कूटस्थः
अयोगी (अयोग्य)	योगी (योग्य)

इस कोष्टक के मननसे बद्ध जीव की स्थिति क्या है और मुक्त की स्थिति कैसी होती है, इसकी स्पष्ट कल्पना हो सकती है। अतः पाठक इस का अच्छी तरह मनन करें।

शीतोष्णकी समता ।

यहां कई पाठक पुनः प्रश्न कर सकते हैं कि जिस समय शीतोष्ण, सुख दुःख, मानापमान सम हो जाते हैं, तब क्या उस को शीत पदार्थ उष्ण लगता है और उष्ण पदार्थ शीत लगता है, या क्या होता है? शीत और उष्ण समान कैसे लगेंगे? यह शंका ठीक है। मनुष्य बद्ध हो, साधक हो अथवा मुक्त हो, उसको अग्नि उष्ण लगेगा और बरफ शीत ही लगेगा, इसी तरह मृदु पदार्थ मृदुहि लगेगा और कठोर कठोर हि लगेगा। शरीरकी संवेदना सबकी समान ही होगी। परंतु बद्धात्मा की अवस्था ऐसी होती है कि, वह सुख-दुःख, शीत उष्ण होनेपर उनसे पराभूत होता है, वैसा मुक्तात्मा पराभूत नहीं होता।

उदाहरण के लिये देखिये कि किसी मनुष्यको कुछ धर्मकर्म करना आवश्यक है, वह उसका कर्तव्य कर्म होकर उसके सन्मुख उपस्थित हुआ है। वह मनुष्य उस कर्तव्य को करना प्रारंभ करता है, तब उस कर्तव्य को करनेसे जिसकी हानि होती है, वह शत्रु उस कर्तव्यसे उसको हटाना चाहता है। उसको मारता, पीटता या अन्य प्रकार दुःख देता है। यदि वह बद्धात्मा होगा, तो दुःख प्राप्त होतेही कर्तव्य छोड देगा, परंतु यदि वह मुक्तात्मा होगा, तो वह दुःख सहन करके भी कर्तव्य नहीं छोडेगा, मृत्यु आनेतक अपना कर्तव्य दुःखोंके पर्वत आनेपर भी करता ही रहेगा। बद्ध और मुक्तको शारीरिक क्लेश शरीरधर्मानुसार समानही होंगे, परंतु दुःखोंसे पराभूत होकर बद्ध मनुष्य कर्तव्य-भ्रष्ट होगा वैसा मुक्त मनुष्य नहीं होगा। इसी तरह सब अन्य परिस्थितिमें बद्ध का और मुक्त का आचरण कैसा होगा, इस विषयमें विचार करके पाठक जान सकते हैं। बद्धात्माकी निर्बलता और मुक्तात्माकी समर्थता कैसी होती है इसका ज्ञान इस विचार से स्पष्ट हो सकता है। यही समबुद्धि कैसी होती है, इसका वर्णन आगे के श्लोकमें किया है, वह अब देखिये—

मनुष्योंके नौ विभाग ।

(१) 'सु-हृत्'= वह है कि जिसका हृदय उत्तम है, जो अपने हृदय के आंतरिक भावसे

भावार्थ— जो सब के संबंधमें समान भाव रखता है, उसीकी योग्यता श्रेष्ठ समझनी चाहिये। परंतु जो अपने और पराये के विषय में केवल अपने और पराये होनेके कारण विषम भाव रखता है, वह हीन मनुष्य है ॥ ९ ॥

भला करता है, जो किसी का बुरा कर नहीं सकता, दूसरोंको कष्ट देना जिसके स्वभावमें आता ही नहीं, जो दूसरों के दुःखसे दुःखी और दूसरोंके सुखसे सुखी होता है। 'मित्र'=वह है जो अपने मित्र का सदा हित करनेमें तत्पर रहता है, पूछनेपर अथवा विना पूछनेपर भी जो हित की मंत्रणा देता रहता है, मान्य करना जिसका उद्देश्य रहता है। 'अरि' = शत्रु, जो अहित करता है, घातपात करता है। 'उदासीन'= अपनी हानि अथवा लाभ होनेपर भी जिसको दुःख सुख कुछभी नहीं रहता। 'मध्यस्थ'= मध्यमें अवस्थित रहता है, जो मित्र भी नहीं और शत्रु भी नहीं, परंतु जो घात भी नहीं करेगा और सहायता भी नहीं करेगा, परंतु निष्पक्ष होकर योग्य मंत्रणा योग्य समयमें पूछनेपर देगा, स्वयं दुःख कभी नहीं देगा, परंतु विवाद उत्पन्न होनेपर जो निष्पक्षपातसे निर्णय देता है। 'द्वेष्य' = जो सबके द्वारा द्वेष करने योग्य है। 'बन्धु' = जो भाई, बांधव, पारिवारिक अथवा अपना संबंधी है। 'साधु' = जो भला है, सन्त, महन्त अथवा महात्मा है। 'पाप' = जो पाप करता है, पापी है, दुर्गुणी है।

मनुष्य-समाजके ये नौ विभाग हैं। इनके दो पक्ष होते हैं। एक शुभ पक्ष और दूसरा अशुभ पक्ष। देखिये—

शुभ पक्ष	अशुभ पक्ष
१ साधु	१ पापी, पाप
२ सुहृत्	
३ मित्र	२ अरि
४ मध्यस्थ	३ द्वेष्य
५ बन्धु	
६ उदासीन	

मनुष्योंके शुभ विभागमें 'साधु, सुहृत्, मित्र, मध्यस्थ, बन्धु और उदासीन' ये छहोंका अन्तर्भाव है और अशुभ विभाग में 'पापी (पाप), अरि और द्वेष्य' इन तीनोंका समावेश होता है। मानवी जनता इन नौ विभागोंमें विभक्त होती है। प्रत्येक मनुष्य अपने चारों ओर देखें, और अपने चारों ओर के लोगों में कौन साधु है, कौन मित्र है तथा कौन मध्यस्थ और शत्रु है, इत्यादिका विचार करें। इस तरह देखनेसे उसको विदित होगा कि, इन नौ विभागों में हि अपने से भिन्न संपूर्ण जनता विभक्त हुई है। इन नौ विभागोंमें विभक्त हुई जनता के साथ कैसा व्यवहार मनुष्य को करना चाहिये, इस बातका विचार प्रत्येकको करना चाहिये। प्रत्येक समय मनुष्य इन भले बुरे मनुष्योंके संबंधमें आता है, उस समय वह कैसी भावना मनमें धारण कर के व्यवहार करे, यह प्रश्न यहां है, इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि 'सम भावना धारण करके मनुष्य व्यवहार करे।'

सम बुद्धिका अर्थ।

"समबुद्धि, समभाव और समभावना" का अर्थ एक ही है। यहां 'सम' शब्दका अर्थ 'समान' है ऐसा माननेवाला एक पक्ष है। वह कहता है कि सब के साथ समान भावसे व्यवहार करो। समवर्तन करो ऐसा निष्कर्ष इस श्लोकसे ये लोग निकालते हैं। परंतु 'समबुद्धि' धारण करनेका गीताका उपदेश है, 'समदृष्टि' का भी निर्देश अन्यत्र है, परंतु किसी स्थानपर गीतामें 'समवर्तन' नहीं कहा है। इस संबंधमें गीता के सब निर्देश देखिये—

(१) सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। गी० २।३८

(२) सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं

योग उच्यते ॥ गी० २।४८

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ गी० ४।२२

(३) इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ गी० ५।१९

(४) आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ गी० ६।३२

(५) समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः॥ गी० ९।२९

(६) समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ गी० १२।१८

(७) समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ गी० १३।२७

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्॥ गी० १३।२८

(८) ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ गी० १८।५४

(९) नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ गी० १३।९

(१०) सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ गी० ६।२९

(११) विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ गी० ५।१८

(१२) संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ गी० १२।४

(१३) ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ गी० ६।८

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः॥ गी० १४।२४

भगवद्गीता में समताका उपदेश करनेवाले निर्देश इतनेही हैं। इन श्लोकोंमें कहा है—

१ सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंको (समे कृत्वा) सम करना,

२ सिद्धि असिद्धि आदि द्वन्द्वोंके विषय में (समो भूत्वा) सम होना,

३ सर्वत्र सम ब्रह्मही है इसलिये उस (साम्ये स्थितिः) साम्यमें स्थिति करना, अर्थात् ब्रह्ममें निवास करना,

४ अपने आत्माके समान सर्वत्र (समं पश्यति) सम देखना,

५ सब भूतोंमें (अहं समः) ब्रह्म समभावसे है ऐसा अनुभव करना,

६ शत्रुमित्रमें (समः) समभाव रखना,

७ सर्व भूतोंमें (समं परमेश्वरं पश्यति) सम रहनेवाले परमेश्वर को देखना, सम ब्रह्मको देखना,

८ (सर्वेषु भूतेषु समः ब्रह्मभूतः) सब भूतोंमें जो सम होता है, वह ब्रह्म बनता है। अर्थात् सम का दर्शन करके ब्रह्म बनना,

९ (समचित्तत्वं) सम चित्त होना,

१० सर्वत्र (समदर्शनः) सम दर्शन करना,

११ ब्राह्मण, चांडाल, पशु पक्षी आदिपर (समदर्शिनः) समदृष्टि रखना,

१२ सर्व भूतोंका हित करनेमें तत्पर होकर, संयम करके, सर्वत्र समदृष्टि रखना,

१३ मिट्टी पत्थर और सोना आदिके विषयमें

(समलोष्टाश्मकांचनः) सम दृष्टि रखना।

संक्षेपसे यह आशय पूर्वोक्त श्लोकोंका है। इसमें 'सम करना, सम होना, सम स्थिति रखना, सम देखना, सम का अनुभव करना, समचित्त बनना और समदृष्टि करना' इतनाही सारतत्त्व है। भगवद्गीतामें 'सम' शब्द ब्रह्मवाचक है (गी० ५।१९; ९।२९; १३।२८, २९), ब्रह्मवाचक, आत्मावाचक और ईश्वरवाचक का आशय एक ही है। यह अर्थ लेकर यदि पूर्वोक्त वाक्योंका अर्थ किया जाय, तो ऐसा अर्थ होगा-

१ सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंको (समे कृत्वा) ब्रह्मरूप करना,

२ सिद्धि असिद्धि आदि द्वन्द्वोंके विषयमें (समो भूत्वा) ब्रह्म होना,

३ सर्वत्र ब्रह्महि है इसलिये (साम्ये स्थितिः) ब्रह्ममें रहना,

४ अपने आत्माके समान सर्वत्र (समं पश्यति) ब्रह्म देखना,

५ सब भूतोंमें (अहं समः) समभावसे ब्रह्म है, ऐसा अनुभव करना,

६ शत्रुमित्रमें (समः) ब्रह्मभाव रखना,

७ सब भूतोंमें (समं परमेश्वरं पश्यति) परमेश्वरको-ब्रह्मको-देखना,

८ (सर्वेषु भूतेषु समः ब्रह्मभूतः) सब भूतोंमें सम होकर ब्रह्म बनना,

९ (समचित्तत्वं) ब्रह्ममय चित्त बनाना,

१० सर्वत्र (समदर्शनः) ब्रह्मदर्शन करना,

११ ब्राह्मण, चाण्डाल पशुपक्षी आदिपर (समदर्शनः) ब्रह्मदृष्टि रखना,

१२ सर्व भूतोंका हित करनेमें तत्पर होकर, संयम करके सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना,

१३ मिट्टी पत्थर और सोना आदिके विषय में ब्रह्मदृष्टि रखना।

जहां 'सम' शब्द 'समान' अर्थवाला है, उन स्थानोंको छोडकर शेष स्थानोंमें जहां जहां 'सम' शब्द है वहां 'ब्रह्म, आत्मा, परमेश्वर' ये शब्द रखनेसे उन वाक्योंका अर्थ स्पष्ट होजाता है और गीताके कथनका आशय भी ठीक प्रकार समझमें आसकता है। अर्थात् 'समबुद्धि' रखनेके लिये जो वारंवार गीतामें कहा है वहां 'समबुद्धि' का अर्थ प्रायः 'ब्रह्मबुद्धि, आत्मबुद्धि, परमात्मबुद्धि, किंवा ईश्वरबुद्धि' है। इस तत्त्वको ध्यानमें रखकर पूर्वोक्त १३ उपदेशोंका आशय देखिये—

(१-२) सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय, सिद्धि असिद्धि आदि द्वन्द्वोंको सम करने, सम मानने, और सम अनुभव करनेका अर्थ दोनोंको समानतया ब्रह्मका भाव मानना है। (३) सर्वत्र समानतया ब्रह्म है इसलिये साम्य स्थितिमें रहने का नाम अपना स्थान अटल रूपसे ब्रह्ममें स्थिर करना है, पाठक विचार करके जान सकते हैं कि जिसकी अवस्थिति ब्रह्ममें हो चुकी उसको सुख दुःख आदि द्वन्द्व एकरूप ही हो चुके हैं, क्योंकि वह द्वन्द्वभावसे परे, द्वन्द्वातीत होकर विराजता है। द्वन्द्वातीत महात्माको सुख और दुःख समान एकरूप होना स्वाभाविक है, क्योंकि द्वन्द्वों की द्वन्द्वरूपता वहां रहती हि नहीं। (४) जैसा अपना आत्मा प्रिय है वैसी ही सर्वत्र समान प्रेमदृष्टि रखना, यहां भी सर्वत्र आत्मदर्शन करनेका ही उपदेश है। (५) सब भूतोंमें (समः अहं) समानरूपसे मैं हूं, अर्थात् आत्मा हूं, यहां 'अहं' शब्दसे ब्रह्मकी सर्वत्र उपस्थिति दर्शायी है। (६) शत्रुमित्रमें भी सदा एक ही समान आत्मभाव देखना, जैसा शत्रु ब्रह्म है वैसा मित्र भी ब्रह्म है। शत्रुमित्र एक आत्मरूप होनेसेहि शत्रु मित्र, उदासीन मध्यस्थ आदिमें समबुद्धि हो सकती है। (७-१०) सब भूतोंमें परमेश्वर सम है, यह बात यदि मनमें स्थिर होगई तो शत्रुमित्रमें परमेश्वरबुद्धि करनी हि पडेगी। या तो उनमें ईश्वर नहीं

है ऐसा मानना, नहीं तो उन में परमेश्वरबुद्धि समानतया रखना, इससे भिन्न तीसरा मार्ग ही नहीं है। इसीका नाम समचित्त होना है, जहां चित्त जाय वहां ब्रह्मदर्शन होनेसे हि समचित्त होनेकी बात सिद्ध होगी। जो चिंतनमें आजाय वह ब्रह्मका, परमात्माका अथवा ईश्वरका रूप है ऐसा विचार दृढ होनेसे मनुष्य समचित्त हो सकता है। (११-१३) सब वर्ण, सब जातियां, सब प्राणी, सब पदार्थ, सब स्थावरजंगम वस्तु, मिट्टीसे लेकर सोनेतक अथवा तिनकेसे लेकर सूर्यतकके पदार्थ ब्रह्मरूप हैं, सबके दर्शनमें ब्रह्मदर्शन होनेसे मनुष्य समदृष्टि होता है।

भगवद्गीतामें 'समदृष्टि' का जो विचार है उसका स्वरूप यह है।

'वासुदेवः सर्वं' (गी० ७।१९)

ईश्वर ही यह सब रूप है, इसमें संक्षेपसे जो कहा, और जो 'विश्वरूपदर्शन' (गी० अ० ११) में विस्तारसे कहा, वही बारंवार 'समदर्शन, समदृष्टि' आदिसे कहा है। यद्यपि सब ब्रह्मका ही रूप है तथापि सबके साथ 'समवर्तन' करने का उपदेश कहां भी नहीं है। क्षुधा तृषा ब्रह्मका भाव निःसंदेह है, परंतु क्षुधित को अन्न और तृषित को जलही देना चाहिये, तथा ब्राह्मण गौ और हाथी ब्रह्मके रूप हैं, परंतु सबको घासहि खानेके लिये देना नहीं है। इसी प्रकार जल और अग्नि दोनों ब्रह्मरूप हैं तथापि अन्न पकानेके लिये अग्नि लेनेके स्थानमें जल नहीं लिया जा सकता, अथवा हवन के स्थंडिलपर अग्निके स्थानमें जल नहीं रखा जा सकता। इस तरहका 'समवर्तन' मूढताका प्रदर्शक है। यहां पाठक समदर्शन और समवर्तनका भेद ध्यानमें धारण करें। यहां कई लोग शंका कर सकते हैं कि यदि शत्रु और मित्र ये दोनों ब्रह्मरूप बनें, तो उनसे व्यवहार हम किस तरह करें, उत्तरमें निवेदन है कि दोनोंके साथ हम समानतया धर्मके साथहि व्यवहार करें। मित्रके साथ धर्म और अमित्रके साथ अधर्म नहीं करना चाहिये। दोनोंके साथ समानतया धर्मसेहि व्यवहार करना चाहिये। इस दृष्टिसे 'समवर्तन' भी हो सकता है। पाठक इस सूक्ष्मताका विचार निश्चयपूर्वक ठीक प्रकार समझलें।

नाटक।

सामने शत्रु आता है उसको ब्रह्मरूप कैसे मानें? यह शंका यहां आसकती है। यह बडा गहन विषय है, तथापि एक उदाहरणसे थोडासा स्पष्ट करते हैं। एक नाटक मंडली है जिसमें अनेक मनुष्य नाट्य का कार्य करते हैं। एक मनुष्य राजा होता है, दूसरा रानी बनता है, तीसरा नौकर होता, चौथा चोर और इस तरह अन्य लोग अन्य वेष धारण करके रंगपर कार्य करते हैं। रंगस्थलमें रानी अपना स्त्रीका कार्य करती है, चोर और रक्षक अपना अपना कार्य उत्तम प्रकार करते हैं, राजा दंडनीयको दण्ड देता है और सज्जनोंको पारितोषिक देता है। यह सब नाटक चलनेके समय नाटक मंडलीके सब मनुष्य जानते हैं कि यह चोर चोर नहीं है और राजा राजा नहीं। अपना अपना निजरूप सब पहचानते हैं, इस लिये चोर को दण्ड होनेपर और शूर को पारितोषिक मिलनेपर वे दोनों उसमें विषाद या हर्ष नहीं मानते। परंतु दोनों ही दोनों परिणामोंके विषयमें समबुद्धिहि धारण करते हैं, क्योंकि दोनोंको अपने निज सत्य स्वरूपका ज्ञान है। यदि यह सत्य स्वरूप भूला जाय और राजा अपने आपको सच्चा ही राजा मानने लग जाय, और चोर अपने आपको सच्चा चोर समझे, तो इस तरह अपना निज सत्य स्वरूप भूलतेहि दण्ड और पारितोषिकसे दुःख और सुख होना प्रारंभ होगा।

इसी तरह अपना आत्मस्वरूप भूल जानेसे और जगत् में जो रूप लेकर आये हैं वही सत्य है, ऐसा माननेसे सुख दुःख आदि द्वन्द्व सत्य हैं ऐसा प्रतीत होता है और इससे सब प्रकार के कष्ट होने लगते हैं। परंतु यदी ये सब ब्रह्मके रूप

(६) योगसाधन ।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

अन्वयः-योगी रहसि स्थितः एकाकी, यतचित्तात्मा, निराशीः, अपरिग्रहः (च सन्) सततं आत्मानं युञ्जीत॥१०॥

योगी एकान्तमें अकेला रहकर चित्त और आत्मा का संयम करे, भोगवासना छोड दे, भोगवस्तुओंका संग्रह न करे और सतत अपने आपको योगाभ्यासमें लगा देवे ॥१०॥

ही है ऐसा साक्षात् होने लग जाय, तो दुःख और सुखके परे पहुंचनेसे उसको दोनों कष्ट की बाधा नहीं पहुंचा सकते ।

सुवर्णका दृष्टांत ।

इस विषयमें एक सुवर्णका दृष्टांत दिया जाता है। सोना धातु रूपसे एक है, परंतु उसके सिरमें, गलेमें, छातीमें, हाथमें और पांवमें धारण करनेके आभूषण भिन्न भिन्न होते हैं। आभूषण की दृष्टिसे भिन्नता है, धारण करनेका व्यवहार भी विभिन्न है, तथापि सुवर्णत्व दृष्टिसे समत्व है, एकत्व है, अभेद है। सब आभूषणोंको सुवर्ण रूपसे देखनेवाला भी कानमें डालनेके आभूषण कानमेंहि डालेगा और पांव के पांवमेंहि रखेगा। समदृष्टि रखनेवालोभी यह व्यावहारिक भेद अनुभव कर सकता है। समदृष्टि होनेसे समवर्तन नहीं हो सकता, इसका यह उत्तम उदाहरण है। जैसी आभूषण दृष्टि विषम दृष्टि है और सुवर्ण दृष्टि समदृष्टि है, वैसे ही सृष्टि दृष्टि विषमदृष्टि है और ब्रह्मदृष्टि समदृष्टि है। ब्रह्मके ही ये सब पदार्थ सोनेके आभूषण बनानेके समान बनाये हैं, ऐसी कल्पना करनेसे समदृष्टिका आशय ध्यानमें आ सकता है। विश्वकी ओर ब्रह्मदृष्टि से कैसे देखा जा सकता है, इसका विचार यह ऐसा है।

वेदमें समदृष्टि ।

यही समदृष्टि वेदमें कही है।वे मंत्र अब देखिये। वेदमें रुद्रका विश्वरूप दर्शाया है, उन मंत्रोंमें रुद्र देवताके जो रूप बताये हैं, वे ये हैं—

"क्षेत्रपति, सूत (आहन्त्य) वधकर्ता, (स्थपति) स्थानस्वामि, मंत्री, (वणिक्) बनिया, (पत्ती) पैदल सेना, (स्तेनपति) चोरोंका मुखिया, परिचर, अरण्यपति, (स्तायूपति) डाकूओं का मुखिया, (तस्करपति) लुटेरोंका मुखिया, सभा, सभापति, अश्व, अश्वपति, गण, गणपति, सेना, सेनानी, रथी, अरथी, क्षत्ता, (तक्षा) सुतार, रथकार, कुलाल, (कर्मार) लुहार, निषाद, (श्वपति) कुत्ते पालनेवाला।
(वा० यजु० १६)

यहां राज्यके लोग, राज्यरक्षक मंत्री, संरक्षक सेनापति आदि तथा चोर डाकू आदि सबके सब रुद्रके रूप हैं ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त इसी अध्यायमें वन्य और ग्राम्य पशु, वृक्षवनस्पति, जलजन्तु आदि सब ही रुद्रदेवके रूप हैं ऐसा कहा है। यदि चोर और मंत्रीको रुद्रदेवताका ही रूप समानतया मानना है और उसको नमन करना है, तो शत्रु और मित्रको समदृष्टिसे अर्थात् ब्रह्मदृष्टिसे देखनेकी कल्पना ही अन्य शब्दोंमें यजुर्वेदमें है ऐसा हम कह सकते हैं। इसी तरह अन्यत्र वेदका उपदेश है। पाठक इसका विचार करें और जाने कि वेदमें किस तरह शत्रु और मित्र को समान दृष्टिसे देखनेका उपदेश किया है। अस्तु। अब योगसाधन किस तरह करना चाहिये इसका विचार प्रस्तुत होता है, उसका मनन पाठक करें—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियाक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

अन्वयः- शुचौ देशे, न अत्युच्छ्रितं, न अतिनीचं, चैलाजिनकुशोत्तरं, आत्मनः स्थिरं आसनं प्रतिष्ठाप्य ॥ ११ ॥ तत्र आसने उपविश्य, मनः एकाग्रं कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः (सन्) आत्मविशुद्धये योगं युञ्ज्यात् ॥ १२ ॥ स्थिरः (भूत्वा) कायशिरोग्रीवं अचलं समं धारयन्, स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य, च दिशः अनवलोकयन् ॥१३॥

शुद्ध देशमें, बहुत ऊंचा न हो और बहुत नीचाभी न हो, ऐसा दर्भ, मृगचर्म और वस्त्र एकके ऊपर एक बिछाकर, अपने लिये स्थिर आसन बनावे ॥ ११ ॥ वहां आसनपर बैठकर, मन एकाग्र करके, चित्तके और इन्द्रियोंके व्यापारको वशमें करके, आत्मशुद्धिके लिये योगका साधन करे ॥१२॥ स्थिर होकर, शरीर, गर्दन और मस्तक सम रेखामें और निश्चल रखकर, अपनी नाक की नोकपर दृष्टि स्थिर करके, और इधर उधर दिशाओंमें न देख कर ॥ १३ ॥

योगाभ्यास की तैयारी।

(१०-१५) योगाभ्यासकी तैयारी करनेकी रीतिका वर्णन इन श्लोकोंमें है, इसलिये साधक की दृष्टिसे इन श्लोकोंका महत्त्व अत्यंत है। योग-साधन में (१) साधककी तैयारी, (२) साधन-के मठ की सिद्धता, और (३) योगसाधन इन तीन बातोंका समावेश होता है। इन के विषयमें आवश्यक निर्देश यहां इन श्लोकोंमें दिये हैं, अतः इन का विवरण देखिये—

साधक की तैयारी।

योगी आत्मानं सततं युञ्जीत।
गी० ६।१०

"योगसाधन करनेवाला अपने आपको निरन्तर योगसाधनमें तत्पर रखे।" साधन की सिद्धता होनेतक केवल एक मात्र योगसाधन करे। क्यों कि साधनावस्थामें अन्यान्य बातोंका अभ्यास करनेके लिये समय देनेसे योगसाधन सिद्ध होनेमें विशेष देरी लगती है। और चित्त की एकाग्रता का ही नाम योग है। (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। पा० यो० द० १।१) अतः चित्तवृत्ति एकाग्र करनेके लिये उसको अनेक वृत्तियों में फंसाना नहीं चाहिये। इस कारण साधक को अपने दिन के संपूर्ण कालविभाग केवल एक मात्र योगसाधन के लिये देना योग्य है। निद्रासे जाग्रतिमें आनेके समयसे निद्रामें आनेके समय तक का सब समय योगसाधनमें व्यतीत करना चाहिये। योगके ग्रंथ वाचना, योगके साधनका विषय सुनना, योगीके चित्र देखना, योगी की परिचर्या करना, शरीरसे आसनादि

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

अन्वयः— प्रशान्तात्मा विगतभीः ब्रह्मचारिव्रते स्थितः, मनः संयम्य, मच्चित्तः, मत्परः युक्तः आसीत ॥१४॥ एवं सदा आत्मानं युञ्जन्, नियतमानसः योगी निर्वाणपरमां मत्संस्थां शान्तिं अधिगच्छति ॥१५॥

अपने आपको शान्त रखके, भय छोडकर, ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते हुए, मनका संयम करके, मुझमें हि चित्त लगाकर, मेरा ध्यान करनेमें परायण होकर, योगमें स्थिति करे ॥ १४ ॥ इस तरह नित्य अपने आपको योगमें तत्पर करनेवाला, मनको स्वाधीन रखनेवाला, योगी मोक्षस्वरूपी मुझमें स्थित परम शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ— योग करनेवाला साधक अपने लिये एकान्त शुद्ध पवित्र और रम्य स्थान पसंद करे। वहां अकेला रहे, वहां आत्मा चित्त मन और शरीरको स्वाधीन रखे, भोगेच्छा छोडे और भोगसाधनोंको इकट्ठा करके अपने पास उनका संग्रह करके न रखे। कुश, कृष्णाजिन और वस्त्रका ऐसा आसन अपने बैठनेके लिये बनावे कि जो बहुत ऊंचा न हो और न बहुत नीचा। ऐसे आसन पर बैठे। शरीर, गर्दन और मस्तक समरेखामें स्थिर करके, नासिकाग्रपर दृष्टि स्थिर रखकर, इधर उधर किसी दूसरी ओर न देखे। अपने आपको शान्त, निर्भय और संयमित करके, ब्रह्मचर्य पालन करता हुआ, परमात्मामें चित्त स्थिर करे। इस रीतिसे अभ्यास करनेसे परम शान्ति प्राप्त होती है ॥ १०—१५ ॥

का अभ्यास करना, मनसे योगसाधन का मनन करना, बुद्धिसे आगेकी स्थितिकी कल्पना करना, इस तरह अपनी सब शक्तियोंको योगसाधनमें तत्पर करनेसे अल्प समय में योग की सिद्धि हो सकती है।

ऐसा न करते हुए यदि कोई मनुष्य सबेरे कुछ आसन करे, तत्पश्चात् थोडा समय खगोलविद्या सीखे, नंतर स्नान करके कुछ थोडा प्राणायाम करे, तदनंतर भोजन करके नौकरी के कार्य करे, सायंकाल थककर आनेके पश्चात् थोडी संध्या और प्राणायाम करे और रात्री भोजन के बाद सोवे, तो ऐसा चंचल व्यवहार करनेवाला सिद्धि को नहीं प्राप्त हो सकता। हां, योगसाधन अंशतः होनेसे अन्यों की अपेक्षा उसकी वृत्ति निःसन्देह सात्विक बनेगी, परंतु साधनकी पूर्ण सफलता नहीं होगी। क्यों कि उसने अनेक व्यापारोंमें अपना चित्त भ्रान्त किया है, इसलिये चित्तकी एकाग्रता ही नहीं होती।

कई लोग पूछते रहते हैं कि, हमारा चित्त एकाग्र क्यों नहीं होता? उसका उत्तर गीतामें यहां दिया है। उनका चित्त एकाग्र नहीं होगा। क्यों कि विविध कर्मोंमें उस चित्त को वे स्वयं भ्रान्त कर रहे हैं। इस लिये कहा है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
गी० २।४१

"साधक की बुद्धि एक ही योगसाधन के व्यवसायमें लगनी चाहिये। क्यों कि बुद्धि अनेक कार्योंमें व्यग्र होगई तो योगसाधनरूप व्यवसाय नहीं हो सकता।" इस लिये कहा है कि (योगी आत्मानं सततं युञ्जीत। गी० ६।१०) साधक अपने आपको सतत, निरंतर, सदा बीचमें कार्यान्तर न करते हुए, योगसाधनमें दत्तचित्त रखे। इस तरह प्रतिदिन निरंतर योगसाधन करनेसे साधक को शीघ्र ही सिद्धि मिल सकती है। साधक के अन्तःकरण की शुद्धि के अनुसार तीन से पांच वर्षोंके अन्दर निरन्तर साधन करनेवाला साधक सिद्धि को प्राप्त हो सकता है। परंतु बहुशाख बुद्धिवाला आयुभर साधन करता रहा तोभी सिद्धि से दूर हि रहेगा।

अकेला रहना ।

(एकाकी) अकेला रहे, परिवार को साथ न रखे। परिवार को साथ रखने से उनका संभाल करने, उनकी व्याधिग्रस्ततासे विघ्न उत्पन्न होने आदि की संभावना है। इसलिये अकेला रहे ऐसा यहां कहा है।

अकेला रहे ऐसा कहनेसे किसी गुरुके पास न रहे ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्यों कि योगी के पास रहकर हि योगसाधन करना उचित है। एक बार योगीके पास रहकर सिद्ध दशाको प्राप्त होनेकी अवस्था आनेके पश्चात्, अपनी प्राप्त भूमिका को सुदृढ करनेके लिये, स्वयं एकेला किसी स्थानमें रहकर अपना अभ्यास दृढ कर सकता है। परंतु साधक प्रारंभिक अवस्थामें किसी सुयोग्य योगी गुरुके परंपरासे चले आये आश्रममें रहकर हि अभ्यास करे। योगसाधन का अभ्यास केवल योगसाधन की पुस्तकें पढकर करनेसे बहुत लाभ होनेकी आशा नहीं है। कदाचित् अंशतः कुछ हानिकी भी संभावना होगी।

योगमठ ।

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे।
धनुःप्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ १२ ॥

अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतम्।
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजन्तूज्झितं।
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितम्।
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः॥
हठयोगप्रदीपिका १-१२।१३

"जहां उत्तम राज्य है, जहां धार्मिक लोग रहते हैं, जहां हरएक पदार्थ सस्ता मिल सकता है, जहां दंगा फिसाद नहीं होता, जहां शिला अग्नि और जलसे पीडा होनेका संभव नहीं है, ऐसे एकान्त स्थानमें मठ बनाकर साधक को अभ्यास करना चाहिये। उस मठके द्वार थोडे हों, सुराख, विवर आदि न हों, कृमि कीट मकोडे न हों, मठ अन्दर बाहर सुंदर और स्वच्छ हो, बाहर कूप, मंडप, वेदी आदि उत्तम बने हों, बाहर प्राकार हो, ऐसा सुरम्य उद्यानसे युक्त अत्यंत रमणीय स्थान हो। वहां अभ्यास किया जाय॥"

अभ्यास करनेके लिये मठ ऐसा चाहिये कि जो पक्का बनाया हो, किसी भागमें सांप आदि के बिल विवर आदि न हों, एकदम सर्द और एकदम गर्म होनेवाला न हो, सर्दी गर्मीमें उसका उष्णतामान प्रायः सम रहनेवाला हो। इस कार्यके लिये साधन के मठकी दीवारें पतली न हों, परंतु बडी मोटी हों, जिससे बाहरकी सर्दीगर्मी अन्दर न पहुंच सके। बहुत प्रकाश और बहुत वायु अन्दर न आवे, किसी प्रकार बिच्छू, सांप, किंवा अन्यान्य प्राणियोंका वहां उपद्रव न होवे, ऐसा सुरक्षित स्थान हो, अभ्यास के समय निश्चिततासे साथ साधक वहां बैठे और अभ्यास करे, अपनी सुरक्षितताकी चिन्ता किसी कारण भी उसके मनमें उत्पन्न न हो। मठमें योगियोंके चित्र हों, योगसाधन के लिये आवश्य सामानहि

वहां रहे, कोई अन्य सामान वहां न रखा जाय, बाहरके स्थानमें गडबड अथवा बडा शब्द होने की कोई परिस्थिति न हो, मठ के बाहर उत्तम उद्यान हो, उसमें सुंदर फल फूलके हरेभरे वृक्ष हों, उत्तम जल उस उद्यानमें हो, उसके लिये उत्तम पक्का बना हुआ कूप हो, क्यों कि नलके का जल ऋतुके अनुसार अधिक शीत और अधिक उष्ण होता है, स्रोतका जलभी बदलता रहता है, कूपका जल सर्व ऋतुओंमें सम रहता है, इस संबंधमें जो अनुकूलता हो वैसा किया जाय। इस प्रकारके आश्रममें सद्गुरुके पास साधक रहे और अभ्यास करे। इसके साथ दूसरे शिष्य हों, उनके साथ बात चीत चलानी हो तो वह केवल योगसाधनकी हि हो, अन्य वैषयिक वार्तालाप वहां न हो, सब वायुमंडल शुद्ध पवित्र और उच्च हो, हीन शब्द सुननेका प्रसंग वहां न उत्पन्न हो।

सद्गुरु योगिराज के आश्रममें अनेक शिष्य हों तो प्रत्येकके साधनके लिये अलग अलग मठ हो, एकका शब्द दूसरेको सुननेका अवसर न हो। इसका कारण यह है कि यदि एक ध्यानमें मग्न हो तो उस समय दूसरा साधक भजन करने लगा, तो पहिलेको उपसर्ग होगा। इसी तरहका कोई उपसर्ग किसीको न पहुंचे, ऐसे साधकके स्थान हों।

एकान्तसेवन ।

(रहसि स्थितः) एकान्त सेवन करे, एकान्त में रहकर योगसाधन करे, यह उपदेश इसीलिये दिया है। पूर्ण एकान्त न रहनेसे साधनमें व्यत्यय हो जाता है और अभ्यास सिद्ध होनेमें देरी होती है और विघ्नभी होता है। एक गुरुके पास अनेक शिष्य हुए तो प्रत्येकको पूर्ण एकान्त देने योग्य स्वतंत्र स्थान निर्माण करनेके लिये बडा व्यय और बडा प्रबंध चाहिये। इसका विचार पाठक कर सकते हैं। पर्वत की गुफामें साधनका स्थान जमा देनेमें हेतु यही है कि वहां सर्दी गर्मीमें उष्णता सम रहती है, गडबड करनेके लिये वहां कोई नहीं रहता, इस तरह बहुतसी अनुकूलता होती है। यह कारण है कि साधक लोग पर्वतकी गुहा पसंद करते हैं। हमारे विचार में ऐसे साधकके लिये सुयोग्य आश्रम बनाये जा सकते हैं, केवल उसके लिये धनी पुरुषोंको योग्य सहायता मिलनी चाहिये। किसी निसर्गरमणीय स्थानमें ऐसे आश्रमोंकी रचना करनेसे बहुत साधकोंका हित होना संभव है। मुख्य आशय यह है कि वहां पूर्ण एकान्त साधकको प्राप्त हो जाय। अधिक मनुष्योंकी भीड होनेसे मनमें विक्षेप होते हैं और योगसाधनकी प्रगति रुक जाती है। इस कारण (रहसि स्थितः) एकान्तमें रहना चाहिये ऐसा यहां कहा है।

भोगसाधन छोडना ।

(अ-परिग्रहः) योगसाधन करनेवाला साधक अपने पास विषयभोग करनेके साधन इकट्ठे करके न रखे, क्यों कि ऐसा करने से उसका मन उन विषयभोगों में लगेगा, चित्त व्यग्र होगा, ब्रह्मचर्य न रहेगा, जिह्वास्वादजय नहीं होगा, उन भोगसाधनों की रक्षा की चिंता मनको व्यग्र करेगी; इस तरह अनंत उपाधियां बढेंगी। अतः जबतक योगसाधन करना है तबतक भोगसाधन अपने पास रखना योग्य नहीं है। इसको ' निष्परिग्रह-वृत्ति' कहते हैं। इसी लिये कहा है कि पारिवारिक जन अपने पास न रखे जाय, (एकाकी) अकेलाहि साधनाश्रममें आकर अभ्यास करे। जब तक साधन करना है, तब तक अपने अधिकार में कोई वस्तु है ऐसा भी न समझे। मैं और अपना योगसाधन इतनाही ध्यानमें रखे। जब तक भोगसाधन पास रहेंगे तब तक कोई योगसाधन नहीं हो सकेगा।

भोगवासनात्याग ।

(निराशीः = निः+आशीः) भोगवासना भी छोडनी चाहिये। केवल भोगसाधन अपने पास

न रखनेसे कार्य नहीं होगा। क्यों अपने पास किसीने भोगसाधन न रखे, परंतु उसने अपने पास भोग की इच्छा रखी, तो उसका परिणाम बहुत ही बुरा होता है। भोगसाधन अपने पास रखनेसे अथवा भोग भोगनेसे भी जितना बुरा परिणाम नहीं हो सकता, उतना बुरा परिणाम मनसे भोगोंका चिन्तन करनेसे हो सकता है। प्रत्येक भोगके विषयमें यह सत्य है। इस लिये कहा है कि साधक भोग-वासना भी छोड दे। भोगवासना कैसी छोडी जा सकती है? इस का उपाय यह है कि, योगसाधन का प्रारंभ करनेके ही पूर्व मनसे पूर्ण निर्धार करना चाहिये कि साधन यथासांग होनेके लिये भोगवासना छोडनेका पथ्य संभालना चाहिये, इस लिये विचार करके मन को सुयोग्य शिक्षा देनी चाहिये और उस प्रकार की सुशिक्षासे सुसंस्कारसंपन्न करके उसको भोगवासनाओंसे दूर करना चाहिये। भोगवासनाओंसे दूर रहना एक प्रकारकी अन्तःकरण-शुद्धि ही है।

आश्रममें सद्गुरुके पास सत् शिष्योंके अन्दर रहनेसे भी भोगवासना नहीं सता सकती। भोगसाधन अपने पास रखनेसे उनके दर्शन से भोगवृत्तियां उछलती हैं,अतः अपने सन्मुख भोगसाधन न रहे, तो भोगवासनाओंका कष्ट नहीं हो सकता। इस लिये सद्गुरुके आश्रममें पवित्र अन्तःकरणवाले सच्छिष्योंमें रहना उत्तम है।

संयम।

(यत-चित्त-आत्मा) अपने चित्त, मन, इंद्रियां, शरीर आदिको स्वाधीन करना, इनको स्वैराचारी न करना। इंद्रियसंयम और दमन करना, इनको प्रथम सत्कर्म में प्रवृत्त करना। संयम करनेका उपाय यह है कि मनुष्यके इंद्रिय सत् और असत् कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं, इसलिये उनको केवल सत्कर्ममें ही प्रवृत्त करना और असत्कर्मोंसे हटाना। नियमपूर्वक और दक्षतासे इंद्रियोंको सत्कर्ममें प्रवृत्त करनेसे उनकी सत्कर्मरुची बढती है और कुछ समय के पीछे वे असत्प्रवृत्तिसे स्वाभाविक रीतिसेहि दूर रहते हैं। जब अपने बाह्य और आन्तरिक इन्द्रिय सत्कर्ममेंहि प्रवृत्त होने लगते हैं और कभी असत्कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते, उस समय सत्कर्मके फल का त्याग करनेका अभ्यास बढाना चाहिये, अर्थात् अपने सत्कर्मका जो भी फल मिले, वह अपने भोगके लिये अपने पास नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत सर्व भूतोंके हित के लिये (गी० ५।२५; १२।४) उसका समर्पण करना चाहिये। इस अभ्यास से भोगवासना दूर होती है, इंद्रियसंयम सिद्ध होता है। यहां पाठक ध्यानमें धारण करें कि उन्नतिका क्रम यह है— (१) सदसत्कर्ममें प्रवृत्ति, (२) केवल सत्कर्ममें प्रवृत्ति, (३) कर्मफल का सर्वभूतहित के लिये समर्पण, (४) वासनाक्षय और (५) संयम-सिद्धि। पाठक इस क्रमका मनन करें और अपनी संयम की शक्ति इस युक्ति से बढावें।

शुद्ध देशमें निवास।

(शुचौ देशे) योगसाधन करनेवाला मनुष्य शुद्ध पवित्र निर्मल नीरोग निर्भय प्रदेशमें निवास करे। कई ऐसे देश होते हैं कि जहां रहनेसे हिमज्वर की पीडा होती है, तापतिल्ली बढती है, पचनशक्ति घटती है, अवष्टंभ होता है, इस तरह नाना प्रकारके क्लेश होते हैं। अतः साधक को उचित है कि वह अपने लिये ऐसे पवित्र स्थान को चुने कि जहां ऐसे कोई उपद्रव होनेकी संभावना न हो। प्रायः नर्मदातटाक का जलवायु इस साधन कार्य के लिये सुयोग्य समझा जाता है। योगसाधन के बहुतसे आश्रम भी नर्मदा के किनारेपर हैं। जल भी अच्छा है। साधक अपना प्रारंभिक योगसाधन यहां करे और उत्तर आयु में गंगा-किनारेपर निवास करे। तथापि गिरनार आदि पर्वत, हिमालयके मनोरम स्थान तथा अन्यान्य सुयोग्य प्रदेश भी योगसाधनके लिये अच्छे हैं और यहां परंपरासे चले आये योगाश्रम

भी हैं। जो जिसके लिये योग्य और प्रसन्नता देनेवाला प्रतीत हो वह वहां रहकर अपना साधन करे।

आसन।

आसन के लिये (चैल-अजिन-कुश-उत्तरं) भूमिपर दर्भासन बिछाया जाय, उसपर कृष्णाजिन फैलाया जावे और उसपर धोती दो चार तय करके बिछायी जावे। भूमिपर दर्भासन, उसपर कृष्णाजिन और उसपर वस्त्र इन तीन पदार्थोंका आसन बनाया जावे। भूमी उत्तम बनायी होवे, ऊंची नीची न होवे। पत्थर की फरशी न हो, क्यों कि वह सर्दीमें बडी शीत होगी। यदि फरशी नीचे हो तो कमरा ऐसा होवे कि जो न शीत हो और न उष्ण। यदि भूमि अच्छी सम न हो तो नीचे लकडीका फट्टा रखा जावे और उसपर पूर्वोक्त आसन रखा जावे।

(नात्युच्छ्रितं नातिनीचं) आसन बहुत ऊंचा न हो और न बहुत नीचा। ऊंचा हुआ तो चित्तैकाग्र्य होने के समय झुकाव होकर गिरनेकी संभावना होगी। मान लिजिये कि किसीने एक उंची चौकीपर अपना आसन जमाया, और साधन करने लगा, तो संभव है कि मानसिक एकाग्रता करनेके समय उसका किसी एक ओर झुकाव हुआ तो वह किसी ओर गिरेगा। और यहां ध्यानमें रखना उचित है कि इस समय यदि किसीका शरीर इस तरह गिरा, तो बडी भारी चोट लगती है और उससे भी मानसिक आघात तो बहुत ही बडा होता है, इस तरह की असावधानीसे मृत्यु तक की भी संभावना हो सकती है, इसलिये आसन बडा ऊंचा न किया जावे। आसन बहुत नीचा करनेसे भूमिकी सर्दी बाधा पहुंचा सकती है। इसलिये कहा है कि आसन न नीचा हो और न ऊंचा हो। सामान्यतया विचार किया जाय, तो भूमिसे चार अंगुल ऊंचा आसन हो ऐसा हम कह सकते हैं।

कई लोग आसन के लिये गद्देलेका उपयोग करते हैं, परंतु वैसा करना अयोग्य है, क्यों कि गद्देलेकी रुई वारंवार बैठनेसे दब जाती है और कई मासोंके पश्चात् आसन ऊंचा नीचा हो जाता है। और उस कारण बैठनेवालेका चित्त व्यग्र होता है। इसलिये गद्देला आसनके लिये अयोग्य है। दूसरी बात यह है कि गर्मीके दिनोंमें गद्देलेसे बहुत गर्मी आनेके कारण उसपर बैठनेवालोंको आसन कुछ समय के पश्चात् गर्म होनेका अनुभव आता है। और उस कारण ध्यानपर चित्त स्थिर नहीं होता, प्रत्युत आसनकी गर्मीकी ओर जाता है। सूती कपडेके स्थानपर गर्म कंबल रखनेसे भी गर्मीके दिनोंमें यही कष्ट होता है। इसीलिये विचार करके ऊपर आसन के लिये ' दर्भ, कृष्णाजिन और तय की हुई धोती ' कही है वही योग्य है। यह अनुभवसिद्ध और हितकर आसन है। पाठक अनुभव लें।

आसन (स्थिरं) स्थिर हो, हिलनेवाला न हो। थोडासाभी हिलनेका संभव न हो। चित्त एकाग्र होने लगा, तो उस समय थोडासा भी धक्का लग जाय तो बडा अनर्थ होनेकी संभावना होती है। इस समयके थोडेसे धक्केका मन, चित्त, इन्द्रियां और शरीरपर बहुत बुरा परिणाम होता है। इस लिये आसन स्थिर रहनेवाला होना चाहिये। यदि तो दर्भ, कृष्णाजिन और धोती सीधी भूमिपर बिछायी जाय, तो आसन हिलनेकी संभावना नहीं होती, परंतु यदि भूमिपर फट्टा या चौकी रखकर उसपर अपना पूर्वोक्त आसन लगाना हो तो वह फट्टा यदि भूमिपर सीधा न लगा तो हिलनेकी संभावना हो जाती है। अतः निवेदन है कि भूमिपर पहिले फट्टा रखना हो तो उसे स्थिर करना चाहिये और पश्चात् उसपर कुश अजिन और धोती बिछाना योग्य है। यह अत्यंत महत्त्वकी बात है, इसलिये यहां सावधानी की सूचना दी है। पाठक यहां स्मरण रखें कि जितनी चित्तकी एकाग्रता अधिक होती है उतना स्वल्प अवाज भी बडा भारी

प्रतीत होता है, एक सुई जमीनपर गिर गई तो उसका छोटासा शब्द बहुत बडा सुनाई देता है और बडाभारी धक्का छातीपर लगता है। ऐसे सूक्ष्म समयमें यदि आसन में थोडीसी हिलावट होगयी तो कितना धक्का लगना संभव है, इसकी कल्पना ही पाठक कर सकते हैं। इसी लिये (आत्मनः स्थिरं आसनं) अपना आसन स्थिर अर्थात् न हिलनेवाला हो ऐसा यहां कहा है, वह अत्यंत योग्य है, अतः साधक को ध्यान में धारण करने योग्य है।
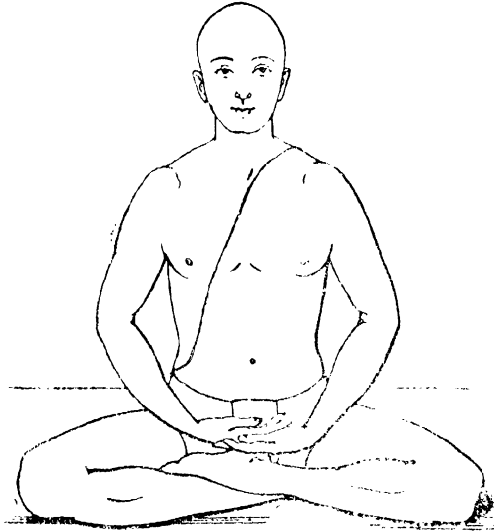
सिद्धासन।

आसन।

(तत्र आसने उपविश्य) वहां आसनपर बैठकर (आत्मशुद्धये योगं युञ्ज्यात्) आत्मशुद्धि के लिये साधक योगसाधनका अनुष्ठान करे। इस समय सिद्धासन, सुखासन आदि कोई सुखपूर्वक किया जानेवाला आसन साधक करे। अष्टांगयोगमें कई आसन हैं, परंतु वे शरीर को स्वाधीन करनेके लिये ही केवल हैं। शरीरकी नसनाडीमें रुधिर-प्रवाह ठीक प्रकार संचारित हो, और शरीर पूर्णतया अपने आधीन रहे इसलिये वे आसन हैं। कई आसन पचनशक्तिकी वृद्धि करनेवाले हैं, कई आसन मस्तिष्क की कमजोरी दूर करनेवाले हैं, कई श्रमपरिहार करनेवाले हैं, और कई ध्यानके उपयोगी हैं। जो आसन यहां अपने अनुष्ठानके लिये आवश्यक हैं वे ध्यानसाधक आसन ही हैं। तथापि साधक को योग्य है कि वह प्रथम शरीर शुद्ध करे। बस्ति, धौती, नेति, नौलि, त्राटक, कपालभाति, इन षट्कर्मों द्वारा शरीर शुद्ध होने के पश्चात् ध्यानादि का अनुष्ठान करनेसे सिद्धि

सुलभ हो जाती है। शरीरमें मलसंचय रहनेसे चित्तका विक्षेप होता है और ध्यान ठीक प्रकार लगता नहीं।

(आत्मशुद्धये योगं युञ्ज्यात्) साधक आत्मशुद्धिके लिये योगसाधन करे ऐसा जो यहां कहा है, इस आत्मशुद्धिका अर्थ, अपनी पूर्ण शुद्धि है। पूर्ण शुद्धिमें शरीरशुद्धि, बाह्य इन्द्रियशुद्धि, अन्तःकरणशुद्धि, इन सब शुद्धियोंका अन्तर्भाव होता है। इस विषयमें यहां थोडासा लिखना योग्य है---

(१) बस्तिविधि।

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुंचनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥२६॥
गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः ॥२७॥
धात्विंद्रियान्तःकरणप्रसादं दद्याच्च कान्तिं दहन प्रदीप्तिम्। अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥२८॥

हठयोग प्र० २

"नाभि जितने जलमें स्थित होकर, एक नली, जिसको छोटा छिद्र हो और जिसकी छः अंगुल लंबाई हो, ऐसी लेकर उसको तेल लगाकर उस का गुदा में चार अंगुल प्रवेश कराया जावे। पश्चात् उत्कटासन करके मूलाधार का आकुंचन करे, जिससे जल गुदाके अन्दर प्रविष्ट होगा। पश्चात् नौलि करके पेटको घुमाया जावे। पश्चात् कुछ समय के शौच विधि किया जावे। यह भोजनके पूर्व करना चाहिये। इस से गुल्म, प्लीहा, उदर, जलोदर, वात पित्त कफ के सब रोग दूर होत हैं। बस्तिकर्म से रस रुधिर मांस मेद अस्थि मज्जा शुक्र, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेंद्रिय, अन्तःकरण मन बुद्धि चित्त अहंकार इनके सब दोष दूर होते हैं, इन की प्रसन्नता होती है, जठराग्नि प्रदीप्त होता है, सब रोगोंके कारण हट जाते हैं, शरीर तेजस्वी होता है और आरोग्यलाभ होता है।"

किसी योगी के पास एक दो मास रहनेसे यह बस्तिविधि साध्य होता है। बडे पात्र में बैठकर यह पानी अंदर चढाया जा सकता है। बडे पात्र में करनेसे शुद्ध पानी मिल सकेगा, नदीमें करनेसे मल अंदर जानेकी संभावना है। जल शीत उष्ण जैसा चाहिये वैसा भी घरमें प्रबंध हो सकता है।

डाक्टरी विधिमें बस्तिविधिके सुगम साधन मिल सकते हैं। रबरकी नल को के साथ सब साधन बाजारोंमें ४।५ रुपयोंमें मिलते हैं। और यह डाक्टरीय बस्तिविधि एक आध घंटेमें सीखी जा सकती है। यूरोप-अमरिकामें इस 'अन्तः-स्नान' विधिके कई किमती यंत्र निकले हैं और ये सब यंत्र न्यूनाधिक मूल्यसे मिलते हैं। डाक्टरों द्वारा इस का प्रयोग सीखा जा सकता है।

योगबस्तिसे अन्दरकी आंतोंमें विकृति नहीं होती, परंतु यंत्रबस्तिसे अंदर के आन्त्र, अधिक दिन और वारंवार यंत्रबस्ति किया जाय तो बढते जाते हैं। इस तरह आन्त्र बढनेसे आगे अवष्टंभके क्लेश होनेकी संभावना है। अतः यंत्रबस्ति करनेवालोंको उचित है कि वे यंत्रसे जल थोडा लें और नौलिद्वारा उसको पेटमें घुमावें। जिससे उक्त दोष नहीं होंगे। योगबस्ति विना यंत्रके साधन के हो सकता है इसलिये वह यंत्रबस्तिसे अच्छा है। बस्तिविधिसे गुदाके पासका वितस्ति मात्र आन्त्रभाग स्वच्छ होता है, जिससे बडा आरोग्यलाभ हो सकता है। वीर्यदोषी लोग इससे लाभ उठा सकते हैं।

(२) धौति।

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ २४॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौति कर्म तत्।
कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ॥ २५॥
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः॥ हठ०प्र०२॥

"चार अंगुल चौडा और पंद्रह हात लंबा पतला (मलमल जैसा) वस्त्र लेना, और उसको किंचित् उष्ण जलमें भिगाकर सद्गुरुकी बतायी रीतिके अनुसार ग्रास करते जाना।" पहिले दिन थोडासा वस्त्रका ग्रास करना, दूसरे दिन एक हाथ, तीसरे दिन दो हाथ, इस तरह प्रतिदिन बढाकर आठ पंद्रह दिनों में एक हाथ बाहर रखकर शेष वस्त्र का ग्रास करने का अभ्यास करना योग्य है। स्मरण रहे कि एक वीत से कुछ अधिक वस्त्र मुख के बाहर अवश्य रखना चाहिये, अन्यथा संपूर्ण वस्त्र पेटमें चला जाय तो बाहर निकालना कठिण होगा। इस लिये एक वीत वस्त्र स्मरणपूर्वक बाहर रखना चाहिये। जब वस्त्र पेटमें चला जाय तब शेष बाहर बचे वस्त्र को दांतसे पकडकर अन्दर जानेसे रोकना चाहिये। पश्चात् शीघ्र नौलि कर के उदरका संचालन करना चाहिये। उदर संचालन करनेके पश्चात् मुखसे वस्त्रको शनैः शनैः बाहर निकालना चाहिये। वस्त्र बाहर निकालनेके समय पेट थोडा ऊंचा और सिर नीचा करनेसे वस्त्र सुगमताके साथ बाहर खींचा जाता है। वस्त्र पेटमें बहुत देर रखना नहीं चाहिये, बहुत देर रहा तो पेटसे नीचे जाता है, और निकलना कठीण होता है। अतः धौतिकर्म शीघ्र समाप्त करना चाहिये।

धौति करनेसे खांसी, श्वास, दमा, कफदोष, प्लीहा, कुष्ट, सब बीस प्रकारके कफरोग दूर होते हैं, कई लोग पहिले पहिले कपडा निगल नहीं सकते, उनको उचित है कि वे किंचित् उष्ण जल में थोडी मिश्री मिला दें, और उस में वह वस्त्र भिगो दें, जिससे वस्त्र का निगलना सुगम हो जावेगा।

सूचनार्थ निवेदन है कि यह धौतिकर्म कोई मनुष्य पुस्तक पढकर न करे, परंतु अच्छे योगी के पास रहकर सीखे और पश्चात् करे। जिससे कष्ट नहीं होंगे।

कई लोग अधिक चौडा वस्त्र पसंद करते हैं। यह सब गुरुसे ज्ञात हो सकता है। इससे लाभ बहुत हैं, परंतु पुस्तक पढकर करनेका यह विषय नहीं है।

डाक्टरी यंत्र भी रबरकी नलीसे बनाये धौतिविधिके लिये मिलते हैं। किसी डाक्टर के पास से इसका उपयोग करनेकी रीति सीखी जा सकती है। योगकी धौति डाक्टरी यंत्रकी धौति से अच्छी है। धौती होनेके पश्चात् वह धौतिका वस्त्र साबून लगाकर गर्म जल से उत्तम प्रकार धोकर सुखाकर गोल लपेट कर डबीमें सुरक्षित रखना चाहिये। मलिनतासे इस को हमेशा दूर रखना चाहिये।

(३) नेति ।

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥
कपालशोधनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ ३० ॥
हठयोग प्र० २

"एक सूत्र नौ दस अथवा पंद्रह गुणा करना, और एक वीत लंबा बनाना, थोडा अधिक लंबा रहा तो कोई दोष नहीं होगा। वह सचिक्कण हो, ग्रंथी आदि न हो, खर्दरा न हो। सावधानताके साथ नासिकामें उसका प्रवेश किया जावे।" नासिका से प्रविष्ट होकर वह गलेमें से मुख में आवेगा। नाकसे पूरक करके मुखसे रेचक करने से मुख में आजाता है। इस तरह आया सूत्र का अन्तिम भाग अंगुलिसे पकडकर शनैः शनैः अंदर बाहर संचालित करना चाहिये। इसी तरह दूसरे नासिकाछिद्रमें करना चाहिये। इस की विधि भी अच्छे गुरुके पास रहकर सीख सकते हैं। पुस्तक पढकर इस का अनुष्ठान कोई न करे।

इस नेतिसे कपाल, नासिका और कपाल का नासिका के पीछेका भाग स्वच्छ होता है। दृष्टि के दोष दूर होते हैं और गलेके ऊपरके सब रोग इस विधिसे दूर होते हैं।

(४) त्राटक।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥३१॥
मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम्।
हठयोग प्र० २

"एकाग्रचित्त करके निश्चल दृष्टि रखकर सूक्ष्म लक्ष्य के ऊपर टकटकी लगाकर देखना। जब तक नेत्रमें जल नहीं आवे तब तक देखते जाना। नेत्रमें जल आते हि बंद करना। इसे त्राटक कहते हैं। इस से नेत्ररोग दूर होते हैं और तंद्रा भी नहीं आती।"

त्राटक का अभ्यास करनेके पश्चात् नेत्रके अश्रु बिंदु हटाकर घृतका एक बिंदु आंख के प्रांतमें छोडनेसे श्रम दूर होते हैं।

(५) नौलि।

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥३३॥
मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव। अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥३४॥ हठयोग प्र० २

"कंधे नीचे करके, हाथ घुटनोंपर जमाकर, अपने पेटको वेगसे दाईं और और बाईं ओर जलचक्र के समान घुमाने का नाम नौलि है। यह योगक्रियाओंमें बडी महत्वकी क्रिया है, इस से मंदाग्नि दूर होता है, पचनशक्ति बढती है, भूख बढ जाती है, सदा आनंद का अनुभव होता है, शौचशुद्धि होती है, पेट में होनेवाले अनेक वात आदि दोषोंका नाश करनेवाली यह क्रिया है।"

यह थोडे प्रयत्नसे साध्य हो सकती है। परंतु जिसको हृदयकी बीमारी बहुत है वह स्वयं इसे न करे। करना हो तो अच्छे गुरुके सन्निध रहकर वह करे। अन्य लोग इस का अभ्यास कर सकते हैं।

(६) कपाल-भाति।

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपाल-भातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥३५
हठयोग प्र० २

"लुहार की धौंकनी के समान वेगसे रेचक और पूरक करने से कपाल-भाति विधि होती है।" इस से कफदोष दूर जाते हैं। और श्वास-मार्ग दोषरहित हो जाता है।

इस षट् कर्म से शरीर की शुद्धि होती है। शरीर शुद्ध होनेसे सब रोग दूर भागते हैं और आरोग्यका सहजानंद मिलता है। इस प्रकार शरीर शुद्ध होनेके पश्चात् प्राणायाम का अनुष्ठान करना उचित है।

प्राणायाम।

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति॥३६
प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम्॥३७
हठयोग प्र० २

"पूर्वोक्त षट्कर्म से स्थूल पेट, कफ आदि दोष और अन्य शरीरस्थ मलोंको दूर करनेके पश्चात् साधक प्राणायाम का अभ्यास करे, इस से अनायास से प्राणायामकी सिद्धि होगी। कई आचार्योंका मत है कि केवल प्राणायामके अभ्याससेहि सब शरीर शुद्ध होता है, अतः पूर्वोक्त षट् क्रिया करने की कोई आवश्यकता नहीं।" जिनका खानपान परिमित है, जो आरोग्यसंपन्न हैं, जिनके पसीनेको बहुत दुर्गंध न आती हो, वे षट् कर्म न करें और केवल प्राणायाम ही करें। परंतु जिनके पसीने को दुर्गंध है, मुखमें दुर्गंध है, तथा शरीरमें मल संचय है, पेटमें आम रहता है, पेट स्थूल है, वे पूर्वोक्त षट् क्रिया करें।

नासिका से श्वास अंदर लेनेका नाम पूरक, बीचमें रखनेका नाम कुंभक और बाहर छोडनेका

नाम रेचक है। पूरक कुंभक रेचक की कालमर्यादासे तथा न्यूनाधिक रीतियोंसे प्राणायाम अनेक प्रकार के होते हैं। पुस्तक पढकर प्राणायाम करना किसीको भी योग्य नहीं है, अच्छे गुरुके पास उनकी निग्रानीमें रहकर प्राणायाम सीखना और तदनुसार अभ्यास करना योग्य है। किसको कौनसा प्राणायाम योग्य है इस का उपदेश परिचित गुरुहि कर सकता है, तथापि उज्जायी प्राणायाम सुगम होनेसे यहां उसकी विधि देते हैं—

उज्जायी प्राणायाम ।

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥५१॥
पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ।
श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ॥५२॥
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम् ५३

हठयोग प्र० २

"मुख बंद करके नाकसे वायुका शब्द के साथ आकर्षण करके, अर्थात् वायु अन्दर जानेके समय कण्ठसे हृदयतक शब्दके साथ लग जावे, ऐसा पूरक करके, इच्छा के अनुसार कुंभक करके, पश्चात् रेचक किया जावे। इसमें स्वरके साथ पूरक और रेचक होने चाहिये। इस प्राणायाम से कफरोग दूर होते हैं, शरीरकी कान्ति तथा पाचन-शक्ति बढती है। तथा नाडीयोंमें रहनेवला रक्त, और शरीर में रहनेवाले धातु इनमें जो जो दोष होते हैं, वे सब इसके अभ्यास से दूर होते हैं। यह उज्जायी प्राणायाम चलते फिरते और स्थिर रहनेके समय भी किया जा सकता है।"

यह सुगम है और बडा लाभकारी है। कुंभक की मर्यादा कम करनेसे इस की सुगमता और अधिक बढ जाती है। जो जो पाठक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहते हैं, वे अच्छे गुरु के पास जाकर उससे प्राणायाम का अभ्यास करें। इस विषयमें कहा है—

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥२॥
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥५॥
अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥१४॥
प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥१६॥
यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिन्हानि बाह्यतः ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् १९,
वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले । अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥ ७८ ॥

हठयोग प्र० २

"प्राण स्थिर होनेसे चित्त स्थिर होता है, जब तक प्राण चंचल है तब तक चित्त भी चंचल होता है। सब शरीर मलरहित होनेके पश्चात् हि प्राण स्थिर होता है। प्राणायाम का अभ्यास करनेके समय प्रथम केवल दूध और घी का ही सेवन करना चाहिये। दिनमें विशेषतः सायंकालमें वस्तिविधि करके दिनमें केवल चार वार मिलकर डेढ सेर दूध, और छटाक घी पीकर रहने और दूसरा अन्न न खानसे, तथा दो वार के दूधमें एक दो वार जलपान करने से दो मास में शरीर शुद्ध होता है। अन्य खाद्यपेय पदार्थोंका सेवन नहीं करना चाहिये। (यह गाय का दूध और घी हुआ तो अधिक अच्छा है, यह न होनेपर जो मिले वह लिया जावे।) योग्य रीतिसे प्राणायाम करनेसे सब रोग दूर होंगे, परंतु अयोग्य रीतिसे प्राणायाम करनेपर सब रोग पीडा कर सकते हैं। (अतः प्राणायाम का अभ्यास योग्य गुरु के पास रहकर हि करना चाहिये।) जब नाडीशुद्धि होगी तब शरीर की स्थूलता (शरीर की मेद) हट जाती है और शरीर तेजस्वी होता है। मेद का हटना, मुखकी प्रसन्नता, शब्द की स्फुटता, नेत्र की निर्मलता,

शरीर की नीरोगिता, वीर्य की स्थिरता, अग्निकी प्रदीप्तता इस योग से सिद्ध होती है।"

इस तरह आत्मशुद्धि करनेके फल हैं। बस्तिसे नाभिके नीचे के भाग की शुद्धि, धौतिसे नाभिके ऊपरके पेटकी शुद्धि, नेतिसे नासिका के अन्तः-प्रदेश की शुद्धि, त्राटकसे नेत्रकी शुद्धि, कपाल-भाति से प्राणमार्गकी शुद्धि, नौलिसे बस्ति-धौती की सहायता, प्राणायामसे प्राणकोश की पवित्रता और मन की स्थिरता होती है। ध्यान-धारणासे अन्तःकरण की पवित्रता होकर चित्तकी एकाग्रता होती है। इस तरह योगसाधन निः-सन्देह आत्मशुद्धि करनेवाला है। इस लिये कहा है कि (आत्मशुद्धये योगं युञ्ज्यात्) योग का अभ्यास करके अपनी शुद्धि करनी चाहिये, अपनी शुद्धि का अर्थ अपने देह, इंद्रिय, प्राण-संस्थान, मज्जासंस्थान, मन आदि सबकी शुद्धता, पवित्रता और मलहीनता है।

मनकी एकाग्रता।

आगे अन्तःशुद्धिके विषयमें विशेष निर्देश किया है। (यतचित्त-इंद्रिय-क्रियः तत्र मनः एकाग्रं कृत्वा) चित्त और सब इंद्रियोंकी सब-क्रियाओंका संयम करके मनकी एकाग्रता करना चाहिये। मन की एकाग्रता के लिये संपूर्ण इंद्रि-योंकी क्रियाओंका संयम करना चाहिये अन्यथा मनकी एकाग्रता होना असंभव है। इंद्रियोंकी क्रियाएं निश्चित हैं, जैसा पांवसे चलना, हाथसे पकडना, विसर्जन-इंद्रियोंसे मलविसर्जन करना मुखसे बोलना, आंखसे देखना, कानसे सुनना, नाकसे वास लेना इत्यादि इंद्रियोंके कर्म हैं। इन सबका संयम करना चाहिये, अर्थात् इन क्रिया-ओंको स्वाधीन करना चाहिये। क्यों कि यदि इंद्रियसे कुछ कर्म करनेका यत्न किया तो उस ओर मन चला जायगा, और एकाग्र नहीं होगा। इस लिये मन एकाग्र करनेके समय शरीरसे कुछ भी कर्म नहीं करना चाहिये।

यहां कोई पूछेगा कि मस्तिष्कसे विचार किया जाय या नहीं, इस प्रश्नके उत्तर में निवेदन है कि विचाररूप कर्म भी नहीं करना चाहिये। यदि विचार-प्रवाह चलता रहेगा तो चित्तकी एकाग्रता नहीं हो सकती। हृदयकी हर्ष शोक विषाद आदि भावनाएं भी नहीं होनी चाहियें, कोई ऐसा विषय सन्मुख नहीं आना चाहिये कि जिससे हर्षशोकादि भाव हृदयमें उत्पन्न हो सके, क्योंकि जिस समय ये भाव हृदयमें उत्पन्न होंगे उस समय मनकी एकाग्रता नहीं हो सकती।

इस के अतिरिक्त भूखका वेग, शौच-मूत्रा-दिका वेग, तथा अन्य वेगोंके होनेके समय भी मनकी एकाग्रता नहीं हो सकती। इसी प्रकार अति भूख लगनेपर, अधिक खानेपर, भोजनके पश्चात्, निद्रा के आनेके समय, अति जागरण होनेपर, भय के समय मनकी एकाग्रता नहीं होती। भोजन होते हि बैठनेसे कदाचित् निद्राके आनेका संभव होता है। इस तरह मनकी एका-ग्रताके कई विघ्न हैं, जिनका विचार करके पाठक स्वयं जान सकते हैं। और इन विघ्नोंसे दूर रहने का यत्न करके चित्त की एकाग्रता सिद्ध कर सकते हैं। चित्तकी एकाग्रता साध्य होनेसे सचमुच अद्भुत प्रसन्नता का लाभ होता है। यह प्रसन्नता अपनेहि अन्दर से मिलती है और इस से जो समाधान प्राप्त होता है, वह किसी अन्य उपायसे नहीं होता। अतः इस ओर साधक का लक्ष्य आकर्षित होना योग्य है।

समस्थिति।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। (१३)

"साधक अपना शरीर, मस्तक और गला सम रेखामें धारण करे, तथा शरीर अचंचल और स्थिर रखे।" कोई अवयव की थोडी भी हल-चल न हो, सब शरीर स्तब्ध निश्चल शान्त और स्थिर रहे। केवल श्वास और हृदयकी धुकधुक होती रहे। श्वास स्वल्प समय तक बंद भी किया

जा सकता है, परंतु हृदय स्वयं चलता रहता है उसपर साधक का अधिकार नहीं है। इस तरह स्वयं चलनेवाले अवयव अपना कार्य करते रहें, परंतु जो अवयव अपनी प्रेरणासे कार्य करते हैं, उनको पूर्णतया स्तब्ध करके शान्त रखना चाहिये। अपने अन्दर से कोई प्रेरणा करनी नहीं है। प्रेरणाकी वृत्ति बिलकुल बंद करनी है, जैसा कि यह शरीर अपना ही नहीं है ऐसी वृत्ति रखनी चाहिये। क्यों कि 'मैं इसको स्तब्ध रखना चाहता हूं' ऐसा कहनेसे भी यह एक मनोवृत्ति उछलने लगती है, जिससे स्तब्धता का भंग हो जाता है। अतः जबरदस्तीसे शरीरको स्तब्ध करनेकी अपेक्षा वह स्वयं स्तब्ध हो जाय ऐसा यत्न करना चाहिये। इस स्थितिका नाम 'सम स्थिति' है।
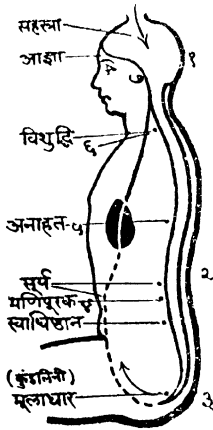
पृष्ठवंश (१, २, ३)

मस्तक, गला और धड समरेखा में रखने से पृष्ठवंशमें मज्जा-प्रवाह निष्प्रतिबंध चलने लगता है। मस्तकसे पृष्ठवंशके निम्नभागतक मज्जा-प्रवाह चलता है। इसमें धन और ऋण प्रवाह हैं। मध्यमें सम प्रवाह भी है। इस प्रवाहकी निष्प्रति-बंधतामें संपूर्ण शरीर के मज्जातन्तु-संस्थानकी निर्दोषता अवलंबित है। जो योगसाधनसे सिद्ध होनेवाला सहजानन्द है, वह इस समस्थितिकी सिद्धतासेहि प्राप्त होसकता है। किसीभी आसन-पर शान्त और निश्चल स्थिर रहनेका अभ्यास होते ही और शरीरकी निश्चलता सिद्ध होतेही साधक को अभौतिक आनन्द का अनुभव आने लगता है। कोई मनुष्य इसका साधन कर सकता है। किसी शान्त और एकान्त शुभ स्थानमें बैठ कर शरीरको स्तब्ध और शान्त करना। पूर्वोक्त प्रकार समस्थिति में निश्चल बैठना, और कुछ न करना, मन आदि पूर्ण शान्त करना। केवल इतने ही करनेसे मनमें अद्भुत प्रसन्नता होती है। बाहरका द्वन्द्वोंका अनुभव दूर होनेसे हि आन्त-रिक प्रसन्नता का प्रारंभ होता है। केवल इस समस्थितिकी सिद्धता होनेसे हि प्रकाशदर्शनतक अनुभव साधकको हो सकता है। केवल शरीरकी समस्थितिका साधन भी उच्च अनुभव देनेमें इस तरह समर्थ है।

नासिकाग्रदृष्टि।

इस समसूत्र स्थितिमें नासिकाग्रपर दृष्टि रखनी चाहिये। (संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं) अपनी नासिका के अग्रभागपर दृष्टि स्थिर करनी चाहिये। पूर्वोक्त प्रकार समसूत्र स्थितिमें रहकर नासि-काग्रपर दृष्टि स्थिर करनेसे थोडीसी देरमें मूर्च्छनाका अनुभव आता है। इस मूर्च्छनाका अर्थ जाग्रति की द्वैतस्थिति दूर होकर समाधिकी अद्वैतावस्था प्राप्त होना है। यह उच्च भूमिका योग्य साधन स्थिर होनेसे प्राप्त होती है। नासि-काके अग्रभागपर (गी० ६।१३) अथवा भ्रूमध्य में (गी० ८।१०) दृष्टि स्थिर करनेका उल्लेख गीतामें है। ये दोनों साधन एक ही स्थिति प्राप्त करनेके लिये उपयोगी हैं।

नासाग्रपर दृष्टि रखना हो अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टि

स्थिर करना हो, तो इन दोनों साधनोंके अनुष्ठान करनेके समय नेत्रोंको बहुत श्रम होते हैं। अतः साधन करने के पश्चात् श्रमपरिहार करनेके लिये नेत्रोंमें एक दो घृतबिन्दु छोडना चाहिये। जिससे श्रम दूर होकर नेत्रोंका बल बढेगा। इस साधन की अवस्थामें धूपमें बहुत भ्रमण करना, अथवा पादत्राण न धारण करके उष्ण स्थानमें भ्रमण करना आदि नेत्रोंको कष्ट देनेवाले व्यवसाय करना योग्य नहीं हैं। भोजन भी लघु और स्निग्ध तथा सुपच करना चाहिये।

इस साधन करते समय नासिकाग्रपर दृष्टि रखनी चाहिये और इधर उधर (दिशश्च अनवलोकयन्) दिशाओंमें देखना नहीं चाहिये। एकही स्थानपर दृष्टि स्थिर करनी चाहिये। दृष्टिको इधर उधर भेजनेसे मन चञ्चल होता है और साधन बिगडता है। नासाग्रदृष्टि और भ्रूमध्य दृष्टि का अनुष्ठान करनेसे जिनके नेत्रोंको बहुतही कष्ट होते हैं, वे बाह्य स्थानपर कोई रमणीय पदार्थ, चित्र, बिन्दु आदि अपनी प्रियताके अनुसार कोई पदार्थ रखें और उसपर दृष्टि स्थिर करने का अभ्यास करें। आकाशमें किसी एक नक्षत्रपर दृष्टि स्थिर करनेसे थोडे समयके पश्चात् संपूर्ण आकाशमें केवल वही एक नक्षत्र है और शेष सबका सब आकाश शुद्ध नीला है और दूसरा कोई तारा आकाशमें नहीं है, ऐसा दीखता है। इसका नाम 'एकप्रत्यय' है। एक प्रत्यय आनेतक और एक प्रत्यय की स्थिरता होनेतक इस दृष्टि-स्थिरताका अनुष्ठान करना योग्य है। संपूर्ण आकाशमें केवल वही एक तारका है, शेष आकाशमें शिवाय नीलवर्णके और कोई नहीं है ऐसा अनुभव आतेही एक प्रकारका आश्चर्य प्रतीत होता है। दृष्टिकी स्थिरता होनेतक एक प्रत्ययका अनुभव और दृष्टि थोडीसी चञ्चल होगई तो अनेकत्व-प्रत्ययका अनुभव होता है। घरके अंदर कमरेमें भी किसी चित्र, मूर्ति या बिन्दु पर दृष्टि जमानेसे भी थोडे समयके पश्चात् एक-प्रत्ययता अनुभवमें आती है, और उस पदार्थके सिवाय दूसरा कुछ भी वहां नहीं है ऐसाही दीखता है। जब अनेक पदार्थोंका अनुभव हो तब समझना चाहिये कि दृष्टि स्थिर नहीं हुई। यह प्रारंभ में बाहर दृष्टि स्थिर करनेका अभ्यास करना और जब अभ्यास की दृढता होगी, तब नासाग्र अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टि रखना, इस तरह अभ्यास करनेसे सुगमताके साथ साधनमार्गमें प्रगति होती है। दृष्टि स्थिर होनेसे कुछ अभ्यासके पश्चात् अन्तर्यामी के प्रकाश-वर्तुल दिखाई देते हैं। जब ये दिखेंगे तबसे इनपर ही दृष्टि स्थिर करके अपना साधन आगे बढाना चाहिये।

(प्रशान्तात्मा) इस अभ्यास के समय यह साधक अपने आपको शान्त रखे, चञ्चल होने न दे, मन शान्त रखे, मनको किसी कारण भी व्यग्र होने न दे। (विगत-भीः) निर्भय होकर एकनिष्ठासे अपना अभ्यास बढावे। साधनकालमें विविध कल्पना-तरंग मनमें उठते हैं, किसी समय भय उत्पन्न होता है, किसी समय उदासीनता आती है, किसी समय मन हताश होता है, परंतु इन कुसंस्कारोंके जाग उठनेसे साधक को अपना साधन बंद करना अयोग्य है। जितना साधन अधिक बढेगा उतने, ये विघ्न अधिक सतावेंगे। इनसे घबराना नहीं चाहिये। भयरहित होकर अपना अभ्यास चलाना चाहिये।

(ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः) ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना चाहिये। यही योगसाधन की बुनियाद है। ब्रह्मचर्यका बल न रहा तो हि अनेक आपत्तियां विघ्न करनेके लिये खडी होती हैं, परंतु ब्रह्मचर्यका बल यथायोग्य रहा, तो कोई आपत्ति साधकके सामने खडी नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल वीर्य-रक्षण इतना ही मर्यादित नहीं है। किसी भोग्य विषय की ओर प्रवृत्ति न जानेका नाम पूर्ण ब्रह्मचर्य है। जैसी बालक की वृत्ति पूर्ण निर्विकार होती है, कोई अब्रह्मचर्यका

विकार उसके मनपर नहीं दिखाई देता, वैसी सहज निर्विकार स्थितिका नाम पूर्ण ब्रह्मचर्य है। यह अखंड ब्रह्मचर्य सिद्ध होनेसे हि अन्तिम स्थितितक मनुष्य पहुंच सकता है। पाठक इस अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत की कल्पना अपने मनमें स्थिर करें और वैसा ब्रह्मचर्य स्थिर करने का प्रयत्न करें।

अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतमें संपूर्ण वासनाओं का जय होता है। जैसी बालकके मनमें कामवासना होती ही नहीं, उत्पन्न भी नहीं होती, वैसीहि उस के मनमें वासना होती नहीं। भोगवासना की लहर उत्पन्न होकर उसको दबाना यह गौण है, परंतु भोगवासनाकी उत्पत्ति हि न होना मुख्य है। इसके लिये जिह्वाका जय होना चाहिये। स्वादका जय होनेसे अन्य इन्द्रियों के जय हो सकते हैं। इस प्रकार जब इन्द्रियजय संपूर्ण रूपमें होगा तब इस अखंड ब्रह्मचर्यव्रतकी प्रतिष्ठा हो सकती है। केवल जनन-इंद्रियका निग्रहरूप जो ब्रह्मचर्य है वह अंशभूत ब्रह्मचर्य है, पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं।

भोगचर्य और ब्रह्मचर्य।

ब्रह्मचर्य का अर्थ (ब्रह्म) परमात्मा में (चर्य) विचरना है, ब्रह्मरूप बनकर विचरना। इस प्रापंचिक स्थितिके समयमें मनुष्य भोगरूप बनकर विचरता है, इसलिये इसके जीवनका नाम 'भोग-चर्या' है। जब यह इस भोगरूपता को छोडकर ब्रह्मरूप बनकर विचरेगा तब इसकी 'ब्रह्मचर्या' सिद्ध होगी। पाठक भोगचर्य और ब्रह्मचर्य का भेद ध्यानमें धारण करें और भोगचारी न बन-कर ब्रह्मचारी बनें।

मनःसंयम।

(मनः संयम्य) पूर्वोक्त जो साधन कहा है, वह मनका संयम करके करना चाहिये। इसकी सूचना (तत्र एकाग्रं मनः कृत्वा) एकाग्र मन करके बैठकर साधन करे, ऐसा जो पूर्व (श्लो० १२ में) कहा है, उसमें मनके संयम करने की सूचना अंशतः मिलि ही है। मन एकाग्र करनेका आशय यही है कि मन इधर उधर भटकने न देना, जो अपने मनको भटकने देगा, उससे यह योग-साधन कदापि नहीं होगा। मन एकाग्र करना यह पहिला अभ्यास है और मनका संयम करना, यह दूसरा अभ्यास है। संयम करनेके लियेही मन एकाग्र करना होता है। संयमित मन स्वभावसे हि एकाग्र होगा। इसलिये साधक अपने मनको सम्यकया स्वाधीन रखे। सम्यक् यमन का अर्थ संयम है।

(मच्चित्तः) मुझपर चित्त लगावे। यहां 'मत् (मुझपर)' यह शब्द भगवान् श्रीकृष्णके लिये है और परमेश्वरके लिये भी है। अपना सब चित्त भगवान् के चरित्रमें लगानेका नाम 'मच्चित्त' होना है। भगवान् श्रीकृष्ण का जीवन-चरित्र कैसा है, उन्होंने दुष्ट-निर्दलन, सज्जन-संरक्षण और धर्मसंस्थापन के लिये कैसे प्रयत्न किये, कितने कष्ट उठाये, अन्यान्य दुष्टोंको दूर करने और सज्जनोंकी संघटना के लिये कौनसे यत्न किये, तथा अन्यान्य प्रसंगोंमें उनका आचरण कैसा रहा, इसका चिंतन करना, इसका नाम उसपर चित्त लगाना है। श्रीकृष्ण भगवान् आदर्श पुरुषोत्तम हुए, इसलिये उनके चरित्रपर चित्त लगानेसे साधक में भी वे गुण आसकते हैं और साधक की उन्नति हो सकती है।

(मत्परः) मेरे विषयमें तत्पर होना, अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके विषयमें तत्पर होना, परमेश्वर के विषयमें तत्पर होना, ये दोनों अर्थ यहां हैं। दूसरा कोई विषय मनमें न लाना, परंतु भगवान् श्रीकृष्ण की जीवनी को हि परम शरण जाना, उसमें तल्लीन होना यह भाव यहां है। तत्पर होने-का आशय दूसरे स्थानसे मनको हटाना है और भगवान्के गुणोंमें लगाना है। जाग्रत और स्वप्न में मन भगवत्स्वरूप में और भगवद्गुणोंमें लगना चाहिये। दूसरा कोई विचार मनमें नहीं आना

(७) योग्य आहार-विहारका महत्त्व।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

अन्वयः- हे अर्जुन! अति-अश्नतः तु योगः न अस्ति, एकान्तं अनश्नतः च न, अतिस्वप्नशीलस्य च न, जाग्रतः न एव ॥ १६ ॥

हे अर्जुन! बहुत खानेवाले का भी योग सिद्ध नहीं होता, और न बिलकूल न खानेवालेका, न अति निद्रा लेनेवाले का और न अत्यंत जागनेवाले का भी योग सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

चाहिये। ऐसी एकतानता हो गई तो समझना चाहिये कि योगसाधन ठीक हो रहा है। अतः कहा है कि इस तरह (युक्तः आसीत ॥ १४ ॥) योगसाधनमें अपने आपको लगा देवे। इस रीतीसे लगा देनेसे मनुष्य जिस योग-सिद्धिको प्राप्त कर सकता है, उसका वर्णन आगेके श्लोकमें किया है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। (१५)

'इस तरह नित्य अपने आपको योगमें तत्पर करनेवाला, मनको स्वाधीन रखनेवाला योगी' कैसी उच्च अवस्था प्राप्त करता है, देखिये—

मत्संस्थां निर्वाणपरमां शान्तिं अधिगच्छति। १५

"मुझमें रहनेवाली मोक्षरूप परमशान्तिमयी अवस्थाको प्राप्त करता है।" अर्थात् जहां किसी प्रकारकी अशान्ति अथवा बेचैनी नहीं होती, ऐसी अखंड शान्तिमय प्रसन्नता उसको प्राप्त होती है। यही अन्तिम उच्चतम अवस्था है और योगसाधन करनेवाला मनुष्य इस तरहका साधन करनेसे इस परमोच्च स्थितिको प्राप्त करता है।

साधनका मार्ग।

यहां इस योगसाधनके साधन-मार्गका संक्षेपसे पुनः वर्णन करना साधक की दृष्टिसे अत्यंत आवश्यक है। अतः सुबोधताके लिये वैसा करते हैं- (१) शुद्ध पवित्र और एकान्त स्थानमें अकेला साधक रहे, (२) ऐहिक सुखभोग की इच्छा छोडे, (३) भोगसाधनोंका संग्रह अपने पास न रखे, (४) अपने सब इंद्रियों का संयम करे, (५) कुश, कृष्णाजीन और धोतीका स्थिर आसन बनाकर उसपर साधन करनेके लिये बैठे, (६) सब शरीरकी क्रियाओंको संयमित कर मन एकाग्र करके वहां योगसाधन करे, (७) धड गला और सिर समसूत्रमें रखे, सब शरीर स्थिर अचल और शान्त रखे, इधर उधर न देखते हुए अपने नासिकाके नोकपर दृष्टि स्थिर करे, (८) अपने आपको शान्त रखे, (९) भय छोडे, (१०) ब्रह्मचर्य पालन करे, (११) मनका संयम करे, (१२) भगवत्परायण और भगवत्तत्पर होवे। (१३)सब इंद्रियोंका संयम करे,सब प्रकार अपना संयम करे। इस तरह योगसाधन करनेवाला मोक्षरूप परमशान्तिको प्राप्त कर सकता है।

इस योगसाधनके थोडेसे पथ्य हैं उनका विचार आगेके श्लोकोंमें किया है, वह उपयोगी विषय अब देखिये—

(१६-१७) योगसाधन करनेवाला मनुष्य कैसा खाये, कैसा पीये, कैसा सोये और जागे, अन्यान्य कर्म कैसे करे, इस विषयमें योग्य निर्देश यहां दिये हैं। जो साधक योगसाधन करना चाहते हैं

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

अन्वयः– युक्ताहारविहारस्य, कर्मसु युक्तचेष्टस्य, युक्तस्वप्नावबोधस्य योगः दुःखहा भवति ॥ १७ ॥

यथायोग्य आहार-विहार करनेवाले, कर्मोंको यथायोग्य करनेवाले, यथायोग्य निद्रा लेनेवाले और योग्य समयमें उठनेवालेका यह योग दुःख दूर करनेवाला होता है ॥ १७ ॥

भावार्थ-बहुत खाना, बहुत पीना, बिलकुल भूखा रहना, अति निद्रा लेना या बिलकुल निद्रा न लेकर जागते ही रहना, यह योगसाधनमें बडा विघात करनेवाला है। ऐसे अव्यवस्थित व्यवहार करनेवालेको कदापि सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। योग्य मर्यादित आहारविहार करनेसे, कर्मोंको सुव्यवस्थित रीतिसे करनेसे, योग्य समयपर योग्य कर्म करनेसे, जागने, सोने और विश्रांतिकी मर्यादा योग्य रखनेसे हि साधकका योगाचरण सुखदायक होता है। अत्याचार, अनाचार और अयोग्य व्यवहार करनेवालेसे कदापि योग नहीं होगा और यदि उसने किया, तो उसका दुःख कदाचित् बढेगा भी। अतः योगसाधन करनेवाले को उचित है कि वह अपना आचरण योग्य रखे ॥ १६-१७ ॥

वे इसका अधिक मनन करें।

अतिभोजन ।

(न अत्यश्नतः योगः) अति भोजन करना योग्य नहीं, इससे न केवल योगसाधन में विघ्न होगा अपितु आरोग्य भी बिगडेगा। अतिभोजन करनेसे पेट बडा फूलता है, श्वासोच्छ्वास ठीक नहीं होते, पचनशक्ति बिगड जाती है और अनेक रोगोंकी संभावना होती है। इस लिये अतिभोजन सर्वथा निषिद्ध है। कई लोग समझते हैं कि अतिभोजन करनेसे बल बढता है, परंतु यह भ्रम है। वस्तुतः अति भोजनसे शक्ति क्षीण ही होती है। अति भोजन करनेसे प्राणायाम नहीं हो सकता, आसन नहीं होते, ध्यानधारणा नहीं हो सकती, यमनियम पालन होना असंभव होता है, ब्रह्मचर्यादि पालन होना अशक्य होता है, चित्त की एकाग्रता नहीं होती, इस तरह अति भोजन योगसाधन का बडा भारी विघ्न है।

उपवास, अतिनिद्रा और जागरण ।

इसी तरह (अनश्नतः) उपवास करना, (जाग्रतः) जागना, (अतिस्वप्नशीलस्य) अधिक सोना भी हानिकारक है। उपवास से कुछ लाभ अवश्य हैं, परंतु रोगनिवृत्तिके लिये योग्य वैद्यकी निग्राणीमें शास्त्रशुद्ध रीतिसे उपवास करना लाभदायक हो सकता है। परंतु अन्य समयमें एक वार अधिक भोजन करना और दूसरी वार उपवास करना ये दोही रीतियां विषमता उत्पन्न करनेवाली होने के कारण हानिकारक हैं। अतः योगसाधन करनेके कालमें उपवास और अत्यशन, तथा जागरण और अतिनिद्राभी हानिकारक है। जागरणसे रूक्षता बढती है और अतिनिद्रासे सुस्ति आती है। दोनों हानिकारक हैं। रूक्षता बढनेसे प्राणायाम नहीं हो सकता, सिरदर्द आदि पीडा होती हैं। सुस्ती आनेसे आसन प्राणायाम योग्य रीतिसे नहीं हो सकते, ध्यानधारणाके समय निद्रा आवेगी, तो कैसे ध्यान होगा? और सिद्धि भी कैसी मिलेगी? इस तरह ये आचार के अतिरेक करना जैसा योगीके लिये अयोग्य है, वैसा ही स्वास्थ्य, बल और दीर्घायुके इच्छुक के लिये भी अयोग्य है।

युक्तचेष्टा।

अतः मनुष्य आहारविहार और व्यवसायमें, खानपानमें, निद्रा और जागरणमें, तथा अन्यान्य कार्यव्यापारोंमें योग्य रीतिका व्यवहार सम प्रमाणसे करे। किसी प्रकार विषमता कहां भी न करे। ध्यान रहे कि जहां विषमता होगी वहां कष्ट होंगे। इस प्रकार करनेवालेको 'युक्तचेष्ट' कहते हैं। सदा सर्वदा युक्तचेष्ट होनेसे सब प्रकार के लाभ होते हैं।

इस तरह सामान्य निर्देश यहां किये हैं, ये सब लोगोंको सर्वदा उपयोगी हैं। इतना सामान्य विवेचन होनेके पश्चात् भी खानपान आदि कैसा करना चाहिये इसका यहां थोडासा अधिक विचार करना चाहिये। क्यों कि यह बडा उपयोगी विषय है, अतः इसको यहां संकेतमात्र छोड देना योग्य नहीं है।

खानपान।

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५८॥
कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक-
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान्।
आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल-
पिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९॥
भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम्।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम्॥
वर्जयेद्दुर्जनप्रांतं वह्निस्त्रीपथिसेवनम्।
प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशविधिं तथा ॥६१॥
गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं।
क्षीराज्यखंडनवनीतसितामधूनि।
शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं
मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ॥६२॥
पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम्।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥६३॥
युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ॥६४
क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत्।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥६५॥
हठयोग १

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत्।
वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥
(अभियुक्तवचनं)

योगसाधन करनेवालोंका भोजन ऐसा हो— "उत्तम स्निग्ध अर्थात् घृतयुक्त, मधुर भोजन हो, पेटके दो भाग अन्न से भर जाय, एक भाग पानीसे भरा जावे और एक भाग वायुसंचार के लिये खुला रखा जावे। इस तरह के भोजन को 'मिताहार' कहते हैं। इस प्रकार के मितभोजनसे आत्माकी प्रसन्नता होती है।" यह भोजन योगियोंके लिये हितकारक है। "कटु, आम्ल, तीक्ष्ण, रूक्ष, नमकीन (जिसमें बहुत नमक है), बहुत उष्ण, बहुत शाकयुक, कांजी, तिलतैल, सरसों, मद्य मांस (सब प्रकारका) खट्टा दही, खट्टा छाछ, कुलत्था, बेर, तिलपिंड, हिंग, लसन, ये सब पदार्थ योगीके लिये सेवन करना अयोग्य हैं।" ये पदार्थ हानिकारक होनेसे इनका सेवन साधक न करे। "जो अन्न एक वार शीत होनेपर पुनः उष्ण किया होता है वह रूक्ष अर्थात् खुश्की उत्पन्न करनेवाला होनेके कारण सेवन करने अयोग्य है। अति खट्टा, अति नमकीन, अति साकयुक्त ऐसा भोजन साधक न करे। योगसाधन करनेवाला दुष्टलोगोंके देशमें न जावे, अग्निके पास बैठकर सेक न ले, प्रवास न करे, स्त्रीसंग न करे, प्रातःस्नान न करे, (क्यों कि आसनादि करनेके पश्चात् पसीना आता है, अतः पसीना आनेके पश्चात् शरीर मर्दन करके स्नान का समय आता है।) उपवास न करे। इसी तरह शरीरके क्लेश होनेयोग्य कोई क्रिया न करे (शरीरक्लेश होनेपर प्राणायामादि नहीं हो सकते।) योगसाधन करनेवालेके लिये भोजन

करने योग्य पदार्थ ये हैं- "गेहूं, चावल, जौं, शाठी चांवल, श्यामा नीवार आदि शुभ अन्न. दूध, मीठा दही, मक्खन, घी, शर्करा, मिश्री, शहत, शुंठी, परवर, (पनस) जमीकंद, सूरण, रताल, पंचशाक (अर्थात् जीवंती, वास्तुमूल्या, अक्षी, मेघनाद, पुनर्नवा,) मूंग, अरहड आदि का सेवन करना योग्य है। (दिव्यं उदकं) वृष्टिसे जो पानी प्राप्त होता है, वह पीया जावे। (गंगानदीका पानी उत्तम है। उत्तम गहरे शुद्ध कूवेका पानी योग्य है। अन्यथा शुंडायंत्रसे भांपका पानी बनाकर पीया जावे, इसकी योग्यता दिव्य उदक जैसी होती है।) योगीका भोजन पुष्टिकारक, स्निग्ध अर्थात् घृतयुक्त, गाय के दूध आदि पदार्थोंसे युक्त, वीर्य बढानेवाला, मनको प्रसन्नता देनेवाला हो। इससे विपरीत न हो। इस तरह का भोजन करके योगाभ्यास करनेसे वृद्ध व्याधित दुर्बल मनुष्य हुआ तो भी अभ्यास करनेसे सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। योग्य रीतिसे अभ्यास करनेसे सिद्धि होगी। अभ्यास न करनेसे सिद्धि किस तरह प्राप्त होगी? केवल शास्त्र पढनेसे हि किसी को सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।"

ऊपर जो दिव्य जल पीनेको कहा है वह दिव्य जल वृष्टिका उदक है, वृष्टिका उदक संभाल कर संग्रहित करना चाहिये। पहिली वृष्टिका छोड देना, क्यों कि हवा की मिट्टी उसमें मिली होती है, दूसरी वृष्टिका लेना, परंतु ऐसी युक्तिसे लेना चाहिये कि जिसमें किसी प्रकार मिट्टी आदि संग्रहित न हो सके। घर में शुंडायंत्रसे बनाया पानी भी वैसाही गुणकारी है।

अब भगवद्गीता में जो भोजन के निर्देश दिये हैं उनका मनन करिये--

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥८॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥
यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥
गी० १७

"आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और रुची बढानेवाला रसयुक्त, स्निग्ध, पौष्टिक, हृदयको आरोग्य देनेवाला भोजन सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होता है। कटु, अम्ल, नमकीन, अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, दाह करनेवाला भोजन राजस मनुष्यको प्रिय होता है, इससे दुःख, शोक और रोग बढते हैं। प्रहरके पूर्व तैयार हुआ, रसहीन, सडा हुआ, दुर्गंधियुक्त अन्न, उच्छिष्ट, अपवित्र भोजन तामस मनुष्यको प्रिय लगता है।" सात्त्विक भोजन स्वास्थ्य बढानेवाला, तथा राजस और तामस भोजन अस्वास्थ्य बढानेवाला अर्थात् हानिकारक होता है। इससे कौनसा भोजन साधकको करना योग्य है, इसकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है। उपनिषदोंमें कहा है—

अन्नमयं हि सोम्य मनः। आपोमयः प्राणः।
छां० उ० ६।५।४

"अन्नमय मन है, जलमय प्राण है।" इस लिये अन्न और जल उत्तम रहा तो मन और प्राण उत्तम अवस्थामें रहते हैं। किसका मन कैसा है. इसकी परीक्षा कौनसा अन्न उसे प्रिय है इससे हो सकती है। जिसको राजस अन्न प्रिय होता है, उसके संपूर्ण मन आदि इंद्रिय राजस होंगे, इस में संदेह नहीं। अतः यदि किसी का मन शुद्ध करना अर्थात् सात्त्विक बनाना है, तो उसको सात्त्विक भोजन सेवन करना उचित है। कोई यह कहे कि मैं राजस या तामस भोजन करूंगा, तो उसको ध्यानमें धरना चाहिये कि उसका मन भी राजस या तामस ही रहेगा। अन्नसे मन बनता है, यह तत्त्व ध्यानमें धारण करना साधकको योग्य है। इससे मनको सात्त्विक बनानेकी युक्ति प्रत्येक साधकको विदित हो जायगी।

(८) योगसिद्धि ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

अन्वयः— यदा विनियतं चित्तं आत्मनि एव अवतिष्ठते, सर्वकामेभ्यः निस्पृहः तदा युक्त इति उच्यते ॥ १८ ॥ यथा निवातस्थः दीपः न इंगते, सा उपमा, आत्मनः योगं युञ्जतः यतचित्तस्य योगिनः, स्मृता ॥१९॥ योगसेवया निरुद्धं चित्तं यत्र उपरमते, च एव यत्र आत्मना आत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

जिस समय भली प्रकार स्वाधीन किया हुआ चित्त आत्मामेंहि स्थिर होता है, और साधक संपूर्ण कामनाओंसे स्पृहारहित होता है, तब उसे योगयुक्त कहते हैं ॥ १८ ॥ जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें रखा हुआ दीप चलायमान नहीं होता, यह उपमा, आत्माके योगका अनुष्ठान करनेवाले स्थिरचित्त योगीके लिये, कही गयी है ॥ १९ ॥ योगाभ्याससे निरुद्ध हुआ चित्त जहां स्थिर होता है, वहां वह आत्माद्वारा आत्माको देखता हुआ, आत्मामें हि संतुष्ट होता है ॥ २० ॥

भावार्थ— सब प्रकारसे स्वाधीन हुआ चित्त जब अपने आत्मामें स्थिर होता है, जब उसकी सब चंचलता हट जाती है, और जब साधक संपूर्ण भोगवासनाओंसे पूर्णतया निवृत्त होता है, तब वह योगमार्गमें उत्तम रीतिसे लगा है, ऐसा सब कहते हैं । इस योगका मन ऐसा स्थिर होता, है जैसा वायुरहित स्थानमें रखा हुआ दीप हिलता नहीं । इस तरह योगाभ्याससे स्वाधीन हुआ चित्त जिस समय स्थिर होता है, उस समय वह आत्माको आत्माद्वारा साक्षात् करके अपने आत्मामें हि संतोष को प्राप्त करता है ॥ १८-२० ॥

अन्न सात्त्विक ही सेवन करना चाहिये। परंतु वह परिमित और योग्य रीतिसे सिद्ध किया हुआ होना चाहिये । पथ्य-हित-मित भोजन होना चाहिये । प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृतिके अनुसार भी उसमें योग्य और आवश्यक न्यूनाधिक करना योग्य है। इस तरह साधक अपने खानपान का विचार करे । प्राणायामका विशेष अभ्यास करने के समय केवल दूध और घृत इतना ही भोजन लेना योग्य है, यह बात पूर्व स्थानमें बतायी ही है । भोजनके अतिरिक्त अन्य व्यवहार भी धर्ममर्यादाके अनुकूल ही होने चाहिये, यह बात इतने विवरणसे पाठकोंके मनमें स्थिर हो चुकी होगी।

इस साधनकी सिद्धता होनेपर साधक की कैसी उच्च स्थिति होती है, इसका वर्णन आगे करते हैं, सो अब पाठक देखें—

(१८-२०) योगसाधन यथायोग्य रीतिसे होनेपर साधक को कौनसे अनुभव प्राप्त होते हैं

इसका वर्णन अब कहते हैं। (चित्तं आत्मनि अवतिष्ठते । १८) साधकका चित्त आत्मामें हि स्थिर और स्तब्ध होकर रहता है। साधक तो अपना चित्त पहिलेसे हि (वि-नि-यतं) विशेष प्रकार से नियमपूर्वक अनुष्ठानद्वारा स्वाधीन करता है, एकाग्र करता है। अतः उसके चित्तको एक स्थानपर स्थिर होनेका अभ्यास पहिलसे होता है। साधारण मनुष्यका मन अत्यंत चञ्चल रहता है, परंतु जिसने योगसाधन में सुयोग्य परिश्रम किये होते हैं, उसका चित्त संपूर्ण वृत्तियोंका निरोध होनेसे स्थिर हुआ होता है। वह चित्त बाह्य विषयभोगोंसे तो निवृत्त हि होता है, ऐसी अवस्थामें वह आभ्यंतरीय आत्मामें स्थिर होता है। चित्त जब बाह्य व्यापारोंसे हट जाता है, तब वह अपने अन्दर शान्तरूपसे स्थिर होता है, इसीको 'आत्मावस्थान' कहते हैं। अतः योगदर्शनमें कहा है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ यो० द० १

'चित्तवृत्तिका निरोध करनेका नाम योग है। जब चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है, तब द्रष्टा-आत्माकी अपने ही रूपमें स्थिति होती है।' यही बात भगवद्गीतामें यहां कही है। इस समय चित्त आत्मामें रहता है। साधारण समयमें चित्त बाह्य विषयोंमें लगा रहता है, एक क्षणमें एक विषयमें और दूसरे क्षणमें दूसरे विषयमें, इस तरह क्षणक्षणमें चित्तकी दौड चलती रहती है। इस दौडके कारण इसको बडे परिश्रम होते हैं, इस दौडमें बडी शक्ति खर्च होती रहती है। यही दुःख है। इस दुःखनिवृत्तिका एक मात्र साधन चित्तको अपने आत्मामें स्थिर करना है। जब यह अपने आत्मामें शान्त होता है, तब इसको अपूर्व आनंदका अनुभव होता है। यह आनंद दौडके अभावका है। शान्तिमें ही यह आनंद है। अतः मनुष्य शरीर मन चित्त इंद्रियोंको केवल शान्त रखेगा, तो भी उसको विलक्षण आनंद मिलेगा। आनंद प्राप्त करना कितना सुलभ है? परंतु करता कौन है? प्रतीत एसा होता है कि बहुत हलचल करनेसे बहुत सुख मिलेगा, परंतु वास्तविक अवस्था इसके बिलकुल विपरीत है। जो मनुष्यका चित्त विविध झंझटोंमें लगा रहता है, उसको वहांसे निवृत्त करो और उसको किसी एक स्थानमें स्थिर करो, तो आनंद आपके हस्तगत होगा। यह निश्चय है।

पाठक पूछेंगे कि इसका अनुभव कहां है? प्रतिदिन इस बातका अनुभव मिलता है, परंतु कोई देखता नहीं। देखिये अपनी दिनचर्या। आप जब रात्रिके समय सोते हैं, वहां संपूर्ण विषयोंसे चित्त हटता है और आत्मा में स्थिर होता है। जब स्थिर होगया तब निद्रा आगयी। निद्रासे कितना आनंद, सुख और समाधान होता है, कितनी स्वस्थता प्राप्त होती है, पुष्टि भी होती है। चित्त स्थिर करनेसे कौनसा आनन्द मिल सकता है, इसका विचार पाठक अपनी निद्राकी स्थितिका विचार करनेसे कर सकते हैं। विषयोंका आनंद इसके सामने तुच्छ है। एक समय ऐसा आता है कि विषयोंको छोडकर मनुष्य निद्रा ही चाहता है। इस विषयमें यदि पाठक विचार करेंगे तो उनको इस आत्मानंदका अनुभव मिल सकेगा। पाठक प्रयत्न करें। इसी लिये कहा है कि (निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः । १८) सब भोगकामनाओंसे निरिच्छ बनो, तभी तो चित्तकी आत्मामें स्थिति हो सकती है। यदि संपूर्ण भोगोंकी स्पृहा रही, तो चित्तकी स्थिरता कहां हो सकती है? कभी नहीं हो सकेगी। भोगेच्छाको दूर करनेका अर्थहि सुखको अपने पास लाना है। इस तरह योग सिद्ध होनेके ये चिन्ह हैं—

योगसिद्धि	असिद्धि
विनियतं चित्तं (चित्तका संयम)	चित्तका असंयम।

चित्तं आत्मनि अवतिष्ठते विषयोंमें चित्तका
(चित्तकी आत्मामें स्थिति) अवस्थान
सर्वकामेभ्यो निस्पृहः सब भोगोंकी कामना
(सब भोगोंसे निरिच्छता)

सिद्ध पुरुषका कौनसा लक्षण है और जिसको योगसिद्धि नहीं हुई उसकी अवस्था कैसी होती है, इस विषयका निश्चय इस तरह यहां हुआ है।

दीप की उपमा।

(यथा निवातस्थः दीपः न इंगते। १९) जैसा वायुवेगरहित स्थानमें रखा हुआ दीप नहीं हिलता, परंतु जलता रहता है, प्रकाशित होता रहता है, ऊर्ध्वगतिसे तेजस्वी होता है, वैसाहि—

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः १९

जिसने अपने चित्तका संयम किया है, उस आत्माका योग करनेवाले योगीका चित्त उस दीपवत् स्थिर होता है, और साथ साथ उसके आत्माकी ज्योति विशेष प्रकाशमान होती है, उसकी गति उच्च होती है, उसका तेज बढता है और अद्भुत निजानंद प्राप्त होता है। वे धन्य हैं कि जिनके अंदर ऐसी निश्चल आत्मज्योति प्रकाशती रहती है और जिनके अन्दर किसी प्रकार विषयभोगवासनाकी कालिमा या धूवां ज्योतिपर छाया नहीं जाता। हरएक साधक को यही अवस्था प्राप्त करनी है। प्रत्येक साधक यत्न करे। प्रयत्न करनेपर अवश्य ही उस स्थानकी प्राप्ति होगी।

आत्मयोग।

इस योगका नाम 'आत्मयोग' है। (आत्मनः योगं युंजतः। १९) यह आत्माके योगका अभ्यास है। क्यों कि जब शरीर स्तब्ध होता है, इद्रियां विषयोंसे निवृत्त होनेके कारण शान्त होती हैं, मनकी चंचलता हट जाती है, चित्त चिन्तनकर्मसे निवृत्त होता है, तो आत्माके बाहरका सब परिवार पूर्णतया निवृत्त हो जानेके कारण केवल अकेला एकही आत्मा रहता है, जिसका परमात्मामें योग होता है। मन आदि सबके हटने अथवा स्तब्ध होनेतक यह आत्मयोग किसीभी प्रकार बन नहीं सकता। पाठक यह बात स्मरण रखें कि यह आत्मयोग अन्तमें होता है। पहिले शरीरयोग आसनोंद्वारा होता है, इससे शरीर की चञ्चलता दूर हो जाती है, पश्चात् इंद्रिययोग जिसमें इंद्रियोंको स्वाधीन किया जाता है, पश्चात् प्राणयोग जिसको प्राणायामसे सिद्ध किया जाता है, इससे प्राण स्थिर होजाता है। प्राणकी स्थिरता होनेसे मन स्थिर होता है, इसका नाम मनोयोग है। चित्तयोग और बुद्धियोग ये ज्ञानद्वारा ध्यानधारणादि साधनसे सिद्ध होनेवाले हैं। जब इन सब योगोंकी सिद्धता होगी, तब आत्मयोग करनेकी योग्यता साधकमें आ सकती है। जब पहिले सब योग हो चुके होते हैं, तब आत्मयोगका साधन सहज होता है, क्यों कि उस अवस्थामें विना आयास आत्माकी परमात्मामें अवस्थिति होती है। यह आत्माकी परमगति है।

जब योगसाधनसे चित्त विषयोंसे निवृत्त होता है, तब इस आत्मयोग करनेका अवसर आता है। इस समय—

आत्मना आत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति ॥२०

'आत्मा आत्माको देखता हुआ आत्मामें हि संतुष्ट होता है।' इस समय इसके सामने कोई विषय नहीं होता है, जिसको वह आत्मासे भिन्न देख सके। अतः वह आत्माको देखता है, आत्माको अनुभव करता है, आत्माकाही भोग करता है, आत्मासेहि आनंद अनुभवता है। अपने अन्दर कितना आनंद है, इसका अनुभव इस समय वह करता है। सब आनंद, सब सुख, सब सत्यता आत्मामें हि होती है, इसका आस्वाद वह इस समय लेता है। केवल अखंड संतोष इसको इस समय प्राप्त होता है, मानो आनंदका अखंड स्रोत अंदरहि अन्दर से चलता रहता है। यह न कभी खंडित होता है और न इसमें किसी प्रकार की मिलावट हो जाती है। इस स्थितिकी कल्पना

सुखमात्यंतिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

अन्वयः-यत्र यत् तत् बुद्धिग्राह्यं अतीन्द्रियं आत्यंतिकं सुखं वेत्ति, यत्र च स्थितः अयं तत्त्वतः न एव चलति॥२१

जिस अवस्थामें जो वह केवल बुद्धिसे हि ग्रहण होने योग्य और इंद्रियोंसे जिसका ग्रहण नहीं हो सकता, ऐसा आत्यंतिक सुख अनुभव होता है, और जिस अवस्थामें स्थिर होनेसे यह योगी आत्मतत्त्वको छोडकर विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥

ठीक आनेके लिये निम्नलिखित कोष्टक देखिये-

योगसिद्धि	असिद्धि
निवातस्थ दीपवत् स्थिरता	वायुस्थलस्थित दीपवत् चंचलता
यतचित्त	चित्तका असंयम
आत्मयोग	अनात्मयोग
निरुद्धचित्त	भ्रान्तचित्त
आत्मासे आत्मदर्शन	इंद्रियोंसे विषय-दर्शन
आत्मामें संतोष	भोगसुख, असंतोष

आत्मयोग करनेवाले योगीकी कैसी अवस्था होती है और आत्मयोग न करनेवाले की स्थिति कैसी होती है, इसका निश्चय यहां इस कोष्टकको देखनेसे हो सकता है। पाठक इन दोनोंका मनन करें। अब इस आत्मयोगकी सिद्धि प्राप्त होनेपर कौनसा अनुभव आता है, इसका वर्णन आगेके तीन श्लोकोंमें देखिये—

आत्मयोगकी सिद्धि ।

(२१-२३) आत्मयोगकी सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् उस सिद्ध पुरुषका अनुभव कैसा होता है, यह पाठक इन श्लोकोंमें देख सकते हैं। इस समय उसे आत्यंतिक सुख प्राप्त होता है। जिस सुखका अनुभव साधारण मनुष्यको नहीं हो सकता, ऐसा यह अभौतिक अनिर्वचनीय सुख है। मनुष्यका अनुभव है, कि वह अपने इंद्रियोंसे हि सुख ले सकता है। पदार्थकी मीठासका सुख जिह्वासे मिलता है, सुंदर रूपका सुख नेत्रसे अनुभवमें आता है, मृदुस्पर्शका सुख चर्म इंद्रियसे प्राप्त होता है। इस तरह पाठक पूछ सकते हैं कि यह जो आत्मयोगसे प्राप्त होनेवाला सुख है, वह किस साधनसे अनुभवमें आता है? इस प्रश्नके उत्तरमें गीताका कथन है, कि यह (अतीन्द्रियं सुखं) सुख इंद्रियोंसे प्राप्त होनेवाला नहीं है। इंद्रियोंके विनाही इसका अनुभव होता है। मन तथा ज्ञानेन्द्रियें बाहरके विषयोंकी ओर हि सदा प्रवृत्त होती हैं, क्यों कि वे बाहरके विषयोंको ही ले सकती हैं। परंतु आत्मयोगका साधन बाहरके विषय छोडनेके पश्चात् हि हो सकता है, इसलिये जो इंद्रियां बाहर जानेवाली हैं वे इससे प्राप्त होनेवाला सुख कदापि प्राप्त कर नहीं सकती। इसलिये मन आदि इंद्रियें इस सुखका लाभ करनेमें असमर्थ हैं।

'अतीन्द्रिय' का अर्थ यह है। इंद्रियोंकी जहां पहुंच नहीं हो सकती, वह विषय अतीन्द्रिय कहलाता है। फिर यहां शंका हो सकती है कि यदि इन्द्रियोंसे इस सुखका ग्रहण नहीं हो सकता, तो कौन इसका ग्रहण कर सकता है? और जो कहा जाता है कि यह अत्यंत बडा सुख है, तो इसका बडपन किसने अनुभव किया? इन प्रश्नोंके उत्तरमें गीताका कथन है कि यह सुख (बुद्धिग्राह्यं सुखं) बुद्धि द्वारा अनुभव होता है, बुद्धिसे समझता है,

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

अन्वय- यं च लब्ध्वा, ततः अधिकं अपरं लाभं न मन्यते, यस्मिन् स्थितः गुरुणा अपि दुःखेन न विचाल्यते ॥ २२ ॥ तं दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितं विद्यात्, सः योगः अनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः ॥ २३ ॥

और जिसको प्राप्त करनेपर, उससे अधिक दूसरा कोई लाभ है, ऐसा वह नहीं मानता, और जिस अवस्थामें स्थिर हुआ योगी बडे दुःखसे भी विचालित नहीं होता॥ २२॥ उसको दुःखसंबंध का नाश करनेवाला योग समझना चाहिये। उस योग का अनुष्ठान साधकको प्रसन्नचित्तसे और दृढनिश्चयसे करना उचित है॥ २३॥

भावार्थ- अपना योगसाधन सिद्ध होनेपर उस सिद्ध पुरुष को ऐसे अद्वितीय अनंत सुखका अनुभव होता है, कि जो केवल बुद्धिद्वारा हि जाना जाता है। इंद्रियोंसे जिसका ज्ञान नहीं होता, जिससे अधिक और कोई सुख होगा ऐसा भाव हि उसमें अवशिष्ट नहीं रहता, अर्थात् इस सुखसे ऐसी तृप्ति हो जाती है, कि जिसके बाद अपूर्णताका भानहि नहीं होता, बडे से बडा दुःख होनेपर भी जिसका वह आनंद लुप्त नहीं होता, अतः वह परमात्मासे कदापि विचलित नहीं होता अर्थात् वह सदा परमात्मामें रहता है। इस आत्मयोगसे ये लाभ होते हैं, इस लिये साधक इसका अनुष्ठान प्रसन्नतापूर्वक निश्चयसे करे और अतुल सुखको प्राप्त करे॥ २१-२३॥

क्यों कि बुद्धि बाह्य विषयोंमें भटकनेवाली नहीं है, वह तो आत्माकी सहधर्मचारिणी है, वह नीचे उतरकर विषयोंके कीचडमें फंसना नहीं चाहती, वह तो अन्तर्मुख होकर ही कार्य करती है। जिस समय सब इंद्रिय अपने अपने विषयों से निवृत्त होते हैं, मन भी स्तब्ध होता है, सब चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है, इस तरह सब नीचे प्रवृत्त होनेवाली वृत्तियां शान्त होनेके पश्चात् यह बुद्धि कार्य करने लगती है, इसका कार्य इतना ही है कि वह आत्मानंद को अनुभव करे। इसलिये इस सुख को बुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय कहते हैं।

यह सुख (आत्यंतिकं सुखं) आत्यंतिक है, इसको अनंत, अखंड, अपरिमेय, अत्यंत सुख कहते हैं। पाठक यहां ऐसा विचार करें कि जो भोगोंसे प्राप्त होनेवाला सुख है वह खण्डित, अल्प और दुःखपर्यवसायी है। क्यों कि इंद्रियां थक जाती हैं, इसलिये जो सुख एक समय उनसे ग्रहण हो सकता है, वही वैसा दूसरे समय नहीं ग्रहण हो सकता है, इसलिये सुख की न्यूनाधिकता हो जाती है। दूसरा कारण भोगविषय भी बदलते रहते हैं, अतः जो विषय एक समय जैसा सुख देता है, वैसा सुख वही विषय सदाके लिये दे नहीं सकता। इसलिये इन्द्रियग्राह्य सुख खण्डित, अल्प और परिमित तथा दुःखपर्यवसायी होता है। यह तो प्रत्येक मनुष्यका सदा का अनुभव ही है। प्रतिदिन मनुष्य को जो सुख मिलता है, वह इसी प्रकारका खंडित सुख है।

अब जो सुख आत्मयोग की सिद्धिसे मिलता है वह अखंड सुख है, इसका कारण यह है कि यह तो "आत्माद्वारा आत्माका दर्शन करकेआत्मामें संतुष्टी प्राप्त करनेसे" (गी० ६।२०) प्राप्त होनेवाला सुख है। आत्मा स्वयं सदा एकरस है, सदा एकसा रहता है, उसमें घटबध नहीं होता. अखंड सत्य स्वरूपवाला आत्मा है, इस लिये इससे प्राप्त होनेवाले सुखमें घटबध नहीं होता। बुद्धि भी आत्माको सहधर्मचारिणी होनेसे उसका सामर्थ्य भी अखंडही रहता है। अर्थात् आत्मा एकरस है और बुद्धि भी अखंडित है, इस कारण इंद्रियोंके और भोगों के कोई दोष यहां इस सुख को कम नहीं कर सकते। यहां आत्मा का भोग बुद्धिद्वारा करना होताहै, इसी कारण इसका सुख अपरिमेय, अनंत और अखंडित है। इस विचार से पाठकों को ज्ञान हो सकता है कि भोगसुख अल्प क्यों और आत्मसुख अपरिमित क्यों। इसी लिये मनुष्यको आत्मसुख प्राप्त करना आवश्यक है। उसका समाधान भोगोंसे प्राप्त होनेवाले सुखसे नहीं हो सकता।

यह आत्मसुख किसी बाहरका पदार्थ मिलनेसे प्राप्त होनेवाला नहीं है, अपने आत्मा का निजरूप हि आनन्दमय है, इस लिये यह स्वयं आत्मा में आत्मा के द्वारा आत्माकोहि प्राप्त होता है। इसमें किसी बाह्य पदार्थका व्यवधान न होनेसे यहां शुद्ध आनंद प्राप्त होता है। इस लिये इस की अपूर्वता कोई और ही है। इसी लिये कहा है कि 'इस आनंद के प्राप्त होनेसे इस से अधिक कोई आनंद है ऐसा नहीं प्रतीत होता' (गी० ६।२२) क्यों कि यही अन्तिम आनंद है, इससे अधिक और क्या सुख होगा? आत्मा के होनेसे ही सब अन्य सुख प्राप्त होते हैं, और विना किसी अन्य पदार्थ के आश्रयके यह आत्मसुख मिलता है। इस लिये इसका सुख निरपेक्ष सुख है और सब भोगसुख सापेक्ष होते हैं। इस कारण इस से अधिक कोई दूसरा सुख नहीं है।

इस आत्मयोग में (दुःखसंयोगवियोग) दुःख का जिससे संयोग होना संभव है, उसी का वियोग होता है। किससे दुःखका संयोग मनुष्यको होता है? इस विषयमें गीता में पहिले कहा ही है कि—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः॥
गी० २।१४

"भोगोंके इंद्रियोंके साथ होनेवाले स्पर्श शीत उष्ण सुख दुःख देनेवाले होते हैं।" भोगोंका इंद्रियोंसे संबंध होनेसे किसी समय सुख और किसी समय दुःख होता है। यही दुःखसंयोग है। यह दुःखका संयोग हुआ इस बातका ज्ञान मनसे मिलता है। अर्थात् भोग, इन्द्रियका संबंध और मन उसका संबंध होनेसे यह दुःखका ज्ञान होता है। इसी का नाम 'दुःखसंयोग' है।

आत्मयोग में यह दुःखसंयोग हो ही नहीं सकता, क्यों कि इस के अनुष्ठान के पूर्व ही इंद्रियां विषयभोगोंसे निवृत्त हुई होती हैं, और मन भी स्तब्ध होता है, इस लिये दुःखका कारण समीप उपस्थित हुआ तो भी उस दुःख के साथ संबंध करनेवाला कोई साधन न रहने के कारण दुःखके साथ संयोग नहीं होता। इस कारण इस योग को (दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितं। गी० ६।२३) दुःखके संयोगका वियोग करनेवाला कहा है। अतः इस योग की सिद्धि होनेपर कोई क्लेश इसको सता नहीं सकते। इस लिये कहा है -

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते॥

"इस आत्मयोग की सिद्धि होनेपर बडा दुःख प्राप्त होनेपर भी यह सिद्ध पुरुष विचलित नहीं हो सकता।" क्यों कि कितना भी बडा दुःख इस के समीप क्यों न आजाय, उसका संबंध उस दुःखसे हो ही नहीं सकता। दुखोंसे घेरा जानेपर भी यह आनंदपूर्ण रहता है। क्यों कि जिनसे

(९) आत्मयोग का साधन।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

अन्वयः— संकल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषतः त्यक्त्वा, मनसा एव इन्द्रियग्रामं समंततः विनियम्य ॥ २४ धृतिगृहीतया बुद्ध्या शनैः शनैः उपरमेत्, मनः आत्मसंस्थं कृत्वा, किंचिद् अपि न चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंको पूर्णतया छोडकर, मनसेहि इन्द्रियसमूहको सब ओरसे अच्छी प्रकार वशमें करके; धैर्ययुक्त बुद्धिसे शनैः शनैः विषयोंसे उपराम होवे, और मनको आत्मामें स्थिर करके, दूसरा कोई भी विचार न करे ॥ २४-२५ ॥

दुःखका संबंध होना है अथवा जाना जाता है, उनका कार्य ही स्थगित हुआ होता है।

(यत्र स्थितः अयं तत्त्वतः नैव चलति। २१) जिस सुखपूर्ण अवस्था में स्थिर होनेपर यह योगी ब्रह्मतत्त्व से अपने आपको कभी विचलित नहीं होने देता। किसी कारण से भी वह ब्रह्मतत्त्वसे दूर नहीं होता, कोई अवस्था उसको ब्रह्मसे पृथक् नहीं कर सकती। वह सदा ब्रह्ममें रहता है, ब्रह्मका उपभोग लेता है, ब्रह्मको देखता है, मानो ब्रह्म ही होता है, अन्दर बाहर ऊपर नीचे सब ओर उसके ब्रह्महो ब्रह्म होता है। फिर वह ब्रह्मसे विचलित भी कैसा हो सके?

विचलित होने का हेतु अधिक सुख कमानेकी उत्कंठा ही है। मनुष्य एक स्थान छोडकर दूसरे स्थान में जाता है, इस का यह कारण है कि उसको उस दूसरे स्थानमें पूर्व स्थान की अपेक्षा अधिक सुख प्राप्त होगा, ऐसा प्रतीत होता है। यदि ऐसा प्रतीत न हो, तो वह पहिला स्थान छोडेगा ही नहीं। अब आत्मयोग करके जिसने ब्रह्मप्राप्ति किया है, उसको ऐसा आनंद मिलता है, कि जिससे अधिक और कोई आनंद नहीं है। यदि इस को सबसे अधिक आनन्द प्राप्त हुआ, तो फिर वह उस अवस्था को छोडेगा ही क्यों? सब अन्य सुख उस ब्रह्मसुख की अपेक्षा कम हैं, हीन हैं, तुच्छ हैं। अतः (अत्र स्थितः तत्त्वतः न चलति) यहां ब्रह्ममें, आत्मामें, स्थिति प्राप्त होनेपर वहां आत्यंतिक अपूर्व अद्भुत आनंद प्राप्त होनेके कारण वहां ही तल्लीन होकर रहता है और वहां से हटकर दूसरे विषयमें अवस्थित होनेके लिये उसका दिल ही नहीं करता। कोई कारण नहीं है कि, जिस के लिये वह वहां से विचलित होवे। प्रापंचिक दुःख उसके सामने कोई दुःख नहीं है। प्रापंचिक सुख उसके लिये तुच्छ है, इस दुःखके परे जो ब्रह्मानन्द है, वह उसके अन्दर ही उसको सहज ही से प्राप्त होता है। इस लिये उस अवस्थाका त्याग वह क्यों करेगा? इस लिये कहा है, कि उस ध्रुवपदको प्राप्त करनेपर वह वहांसे कदापि विचलित नहीं होता।

यह आत्मयोग सब योगोंमें श्रेष्ठ है। अतः

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

अन्वयः– चञ्चलं अस्थिरं मनः यतः यतः निश्चरति, ततः ततः एतत् नियम्य, आत्मनि एव वशं नयेत् ॥२६॥ प्रशान्तमनसं शान्तरजसं अकल्मषं ब्रह्मभूतं एनं योगिनं उत्तमं सुखं उपैति हि ॥ २७ ॥ एवं सदा आत्मानं युञ्जन् योगी विगतकल्मषः ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखं सुखेन अश्नुते ॥ २८ ॥

चञ्चल और अस्थिर मन जहां जहांसे बाहर जाने लगे, वहां वहांसे उसे रोक कर, आत्मामें हि वश करके रखे ॥ २६ ॥ इस तरह जिसका मन शान्त, रजोगुणसे रहित और पापरहित हुआ, उस ब्रह्मरूप बने योगीको उत्तम सुख निश्चयसे प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ इस रीतिसे सदा आत्मयोगका अभ्यास करनेवाला योगी पापोंसे छूटकर, ब्रह्मसंयोगसे अत्यंत सुख आनन्दसे प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

भावार्थ– साधक संकल्प और संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली वासनाएं छोड देवे । अपने मनसे अपने सब इंद्रियोंको अपने आधीन करे। बुद्धिसे सब विषयोंसे उपराम होवे । मनको आत्मामें स्थिर करे और दुसरा कोई विचार मनमें न लावे । मन चञ्चल और अस्थिर है, वह जहांसे बाहर भागने लगे, वहांसे हि उसको पकडकर अपने आत्मामें हि स्थिर करनेका यत्न करे। इस तरह जिसका मन स्थिर और भोगवासनासे रहित हुआ, वह योगी ब्रह्मस्वरूप होता है, और इसको उत्तम सुख प्राप्त होता है। यह योगाभ्यासी अपने सब पापोंसे मुक्त होकर ब्रह्मसंयोगसे प्राप्त होनेवाला अनंत आनंद सहजहीसे प्राप्त करता है ॥ २४–२८ ॥

साधकको इसका अनुष्ठान निश्चयपूर्वक और प्रसन्नता के साथ करना चाहिये। इस आत्मयोग का साधन कैसा किया जाता है, इस शंका का समाधान भगवान् अगले श्लोकोंमें करते हैं–

(२४-२८) यहां आत्मयोग का साधन करने की सुगम रीति बतायी है । और इस साधन से प्राप्त होनेवाला फल भी अन्तमें कहा है ।

कामना-त्याग ।

पहिला अभ्यास कामना त्याग का है। मनुष्य भोगके अथवा अन्यान्य विषयों के संकल्प करता है, इस संकल्पसे उस के मनमें अनेक कामनाएं होती हैं। ये कामनाएं मनको चञ्चल और अस्थिर करती हैं । अतः संकल्प करना छोडना चाहिये और संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंका भी त्याग करना चाहिये । (कामान् अशेषतः त्यक्त्वा। २४) इन कामनाओंका त्याग निःशेष होना चाहिये । थोडीभी कामना शेष नहीं रहनी चाहिये। अन्यथा वह अपना विस्तार करके मनको अधिक चञ्चल करेगी। कामनात्यागका

अभ्यास साधक ऐसा करे। जो कामना, जो विचार, जो संकल्प मनमें उठे उसका त्याग करे, यह अपने लिये नहीं चाहिये, ऐसा मानकर उसको छोड देवे। इस तरह कामनात्याग का अभ्यास होनेके पश्चात् मनमें विचारतरंग उठना ही बंद हो जायगा।

इंद्रियजय।

इस अभ्यासके साथ साथ इन्द्रिय-संयम का अभ्यास भी करना चाहिये। मनसे अपने सब इन्द्रियोंको सब ओरसे संयमित करना चाहिये। कर्मेंद्रियोंका चलनवलन पूर्ण बंद करना चाहिये। कोई कर्मेंद्रिय किसी प्रकार भी गति न करे। ज्ञानइंद्रिय भी अपने ज्ञानग्रहणसे विरक्त होवे। यह सब मनसेहि करना चाहिये अर्थात् किसी प्रकार दूसरे साधनोंका उपयोग नहीं करना चाहिये। मनसेहि सबको निवृत्त और संयमित करना योग्य है।

बुद्धिका धैर्य।

इस तरह ये दोनों अभ्यास सिद्ध होने लगे, तो मनमें संकल्प नहीं उठते, विविध कामनाओं की लहरें नहीं हलचल मचातीं, और सब इंद्रिय शान्त और स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकारकी स्थिरता प्राप्त होनी चाहिये। यह स्थिरता प्राप्त होते हि आगे का अनुष्ठान सहज होनेवाला है। बुद्धिमें धैर्य धारण करके, अर्थात् किसी प्रकार न डरके धीरे धीरे सब विषयों से उपराम होवे। यहां पाठक पूछेंगे कि यहां धैर्य का क्या कार्य है? जो अभ्यास करेंगे उनको पता लगेगा कि संकल्प, कामना तथा इंद्रियां शान्त होने लगी, तो कई प्रकारके भय प्रतीत होते हैं। उनसे डरना नहीं चाहिये। ये भय ऐसे होते हैं कि, यदि विचार बंद हो जांय, तो फिर मैं विचार कर सकूंगा या नहीं, यदि इन्द्रिय स्तब्ध हुए तो फिर वे कार्य कर सकेंगे या नहीं, इत्यादि अनेक प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं। इनका क्लेश कुछ थोडे समय ही होगा और सद्गुरुके पास रहकर अभ्यास करना हो, तो उसकी सहायतासे भी ये भय दूर हो सकेंगे। अतः भयरहित बुद्धि से यह अभ्यास करना चाहिये। इस अभ्याससे मेरा कल्याण ही होगा, कभी अहित नहीं हो सकता, विषयोंको छोडकर परमात्माके संनिध जाने से किसीका भी अहित नहीं होगा, ऐसा विचार सुदृढ करके, बुद्धिको धैर्य देकर अपने आपको बाहर से उपराम करना योग्य है।

बाहर से उपराम हुआ मन आत्मा में स्थिर करना चाहिये और इस समय कोई दूसरा विचार मनमें नहीं लाना चाहिये अर्थात् मन विचार-रहित करना चाहिये। इस तरह साधक को इस समय अपना मन सुस्थिर करने का यत्न करना योग्य है। यद्यपि किंचित् स्थिरता मनमें आगयी, तो भी यह नहीं समझना चाहिये कि, मन स्थिर हो चुका, क्यों कि मन ऐसा है कि, वह किस समय खिसकेगा, इसका कोई नियम नहीं है, अतः उसको पुनः पुनः बाहर से वापस लाना चाहिये।

फिरसे यत्न।

(मनः यतः निश्चरति ततः नियम्य) मन जहां से खिसक कर बाहर भाग जायगा, वहीं से उसको पकडकर वापस लाना चाहिये। यह वापस लानेका अभ्यास बडे महत्त्व का है। इसी से मन थक जाता है और वशमें होता है। इस विषयमें ऋग्वेदका कथन है—

(ऋषयः-बन्ध्वादयो गोपायनाः। देवता-मन आवर्तनम्)

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् ॥१॥
यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम् ॥२॥
यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम् ॥३॥
यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ॥४॥
यत्ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम् ॥५॥

यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम् ॥६॥
यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम् ॥७॥
यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम् ॥८॥
यत्ते पर्वतान्बृहतो मनो जगाम दूरकम् ॥९॥
यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम् ॥१०॥
यत्ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम् ॥११॥
यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् ॥
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥१२॥

ऋग्वेद १०।५८

"जो साधक का मन बडा प्रयत्न करनेपर भी संयममें नहीं रहता और दूर दूर भागता रहता है, किसी समय स्वर्ग में, किसी समय पृथ्वीपर, किसी समय चारों दिशाओंमें, समुद्रमें और महासागर में, किसी समय किरणोंमें, जलों और औषधि वनस्पतियोंमें, किसी समय सूर्यमें, उषामें, पर्वतों में, किसी समय विश्वमें, दूर दूरके प्रान्तों में, किसी समय भूतकाल में अथवा भविष्यकालमें भटकता रहता है, उसको भटकनेके कार्य से वापस लाने के लिये और उसको आत्मामें स्थिर करने के लिये मैं वापस लाता हूं।" इस तरह अपने मनको वापस लाना चाहिये। जब मन बाहर जायगा, तभी उसको पकडकर वापस लाना चाहिये। इस तरह उसका पीछा करनेसे वह वशमें रहना स्वीकारता है। और इधर उधर जानेका यत्न नहीं करता। मनको स्वाधीन करनेका यही उपाय है। गीतामें इसी अध्यायमें आगे कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

गी० ६।३५

"निःसन्देह मन का संयम करना कठिन है, परंतु अभ्यास और वैराग्यसे उसका संयम हो सकता है।" अभ्यास का अर्थ इस तरह पुनः पुनः मनको वापस लाना है और वैराग्य का अर्थ विषयोंसे उपराम होना है। यही एकमात्र उपाय है। पूर्वोक्त ऋग्वेद के सूक्त का ऋषि 'गोपायन' है। गो नाम इन्द्रियोंकी (पा) रक्षा करनेमें प्रयत्न करनेवाला 'गो-पाऽऽयन' कहलाता है। इस सूक्तकी देवता 'मन-आवर्तन' है, इसका अर्थ मनको वापस लानेका अभ्यास करना है। इससे पाठकोंका निश्चय होगा कि मनको सुस्थिर करनेका एक मात्र उपाय यही है। पाठक यहां देखें कि जो उपाय ऋग्वेदने कहा है, वही गीतामें कहा है। योगदर्शनमें भी—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। यो० द०

"अभ्यास और वैराग्यसे मनका निरोध हो सकता है।" यह अभ्यास मनको वापस लाना ही है। जहां मन जायगा, वहांसे उसको वापस लाकर आत्मामें स्थिर करना चाहिये। यही अभ्यास है। वह अभ्यास योग्य रीतिसे निश्चयपूर्वक किया, तो छः मासमें भी सिद्धि हो सकती है। इस विषयमें कहा है—

षण्मासान्नित्ययुक्तस्य योगः पार्थ प्रवर्तते ॥

म०भा०आश्वमे०अनुगीता०१९।६६

अनेन विधिना सम्यङ्नित्यमभ्यस्यते क्रमात्।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशयः ॥२९॥
इच्छयाप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः॥३०

-अमृतनादोपनिषद्

"इस तरह नित्य अभ्यास करनेवाले को तीन मास से छः मास तक की अवधिमें सिद्धि प्राप्त होती है।" जिसका अभ्यास तीव्रता से नहीं होता उसको सिद्धि के लिये थोडा समय अधिक लगेगा। परंतु यह प्रत्येक मनुष्य के निज प्रकृतिपर और साधन की तीव्रतापर अवलंबित है। इस तरह योग्य अभ्यास होनेपर सिद्धि अवश्य होगी।

सिद्धिका स्वरूप।

सिद्धि होनेका तात्पर्य क्या है? सिद्धि प्राप्त होनेके लक्षण कौनसे हैं? ऐसे प्रश्न वारंवार पूछे जाते हैं। इस का उत्तर गीताने इस तरह दिया है। जिसको सिद्धि प्राप्त होती है (प्रशान्तमनः) उसका मन विशेष शान्त होता है। (शान्तरजसम्)

उसमें रजोगुण किंवा भोगेच्छा कम होती है, रजस् के होनेसेहि भोग, क्रोध, उन्मत्तता, असमाधान आदि होते हैं, अतः जिसका रजोगुण शान्त हुआ होता है, उसका स्वभाव क्रोध-रहित, भोगलालसासे रहित और प्रेमपूर्ण होता है। (अ-कल्मषः) वह निष्पाप बनता है, क्यों कि पाप की संभावना रजोगुणसे हि होती है—

रजसो लोभ एव च। गी० १४।१७

रजसस्तु फलं दुःखम्। गी० १४।१६

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
गी० ३।३७

'रजोगुणसे लोभ और दुःख होता है। काम और क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं, ये बडे भोगी और पाप करनेवाले हैं। ये मनुष्य के वैरी हैं।" इसतरह रजोगुणसे पाप होता है, और जब इसका रजोगुण शान्त (शान्तरजस्) होता है, तब यह स्वभावतः ही निष्पाप बनता है। इस समय इसकी पापकी ओर प्रवृत्तिभी नहीं होती। अतः इस का नाम (विगतकल्मषः) जिससे पाप हट चुके हैं ऐसा होता है। जिसका काम शान्त हुआ, जिससे रजोगुण दूर हुआ, उसके पास पाप आही नहीं सकते। इस समय यह (ब्रह्मभूतः) ब्रह्मके समान हुआ होता है। जैसा लोहा अग्निमें रहने से अग्निके समान होता है, इसी तरह आत्मयोगसे इसका (ब्रह्मसंस्पर्शः) ब्रह्मके साथ उत्तम स्पर्श होता है, और ब्रह्मके साथ स्पर्श होनेसे ब्रह्मके गुणधर्म इसमें उतरने लगते हैं, और यह ब्रह्मरूप बन जाता है। साधारण मनुष्य जडरूप होते हैं, परंतु यह आत्मयोगी ब्रह्मरूप बनता है। ब्रह्मरूप बननेका अर्थ परमश्रेष्ठ सामर्थ्यसे युक्त बनना है। अतः (अत्यंतं सुखं अश्नुते) अत्यंत अनंत शाश्वत सुख उसको प्राप्त होता है। यही अंतिमसिद्धि है। इसकी तुलना करिये—

मुक्त पुरुष	बद्ध पुरुष
शान्त मन	अशान्त मन, चंचल चित्त
शान्तरजस्	रजोगुणका प्रकर्ष
अकल्मष, विगतकल्मष	पापी, अमंगल
निष्काम	सकाम
ब्रह्मसंस्पर्श	भोगविषयस्पर्श
आत्मानं युञ्जन्	अनात्मानं युंजन्
आत्मयुक्त	भोगयुक्त
योगी, युक्त,	अयोग्य, अयोगयुक्त
ब्रह्मभूत	भोगविषयभूत
सुखं अश्नुते	दुःखमश्नुते
उत्तमं सुखं	परमं दुःख

'आत्मयोग' करनेवालेकी स्थिति कैसी होती है, और 'भोगयोग' करनेवालेकी स्थिति कैसी होती है, इसका विचार पाठकोंके सन्मुख इस कोष्टकसे स्पष्ट हो सकता है। पाठक इन शब्दोंका विचार करें और आत्मयोगका साधन करके उत्तम सुख प्राप्त करें, मनुष्यका जन्म इसी कार्यके लिये है। इस आत्मयोगके फलके विषयमें उपनिषदोंका जो कथन है, उसका अब विचार करते हैं—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥
नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ १३॥
तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्॥ १४
कठ उ० ५

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं

(१०) आत्मौपम्य-दृष्टि ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

अन्वयः- योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः, आत्मानं सर्वभूतस्थं, सर्वभूतानि च आत्मनि ईक्षते॥ २९ ॥ यः मां सर्वत्र पश्यति, सर्वं च मयि पश्यति, तस्य अहं न प्रणश्यामि, सः च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जिसका आत्मा योगयुक्त हुआ है, वह सर्वत्र समदृष्टिसे देखता है, अर्थात् वह आत्माको सबभूतोंमें और सब भूतोंको आत्मामें देखता है ॥ २९ ॥ जो मुझको सबमें और सबको मुझमें देखता है, उसकी दृष्टिमें मैं कभी नष्ट नहीं होता, और वह मेरी दृष्टिमेंसे भी कभी नष्ट नहीं होता ॥ ३० ॥

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥
श्वेताश्व० उ० ६

अक्षय्यं......अनामयं सुखमश्नुते ॥
मैत्र्यु० ४।४

सुखमव्ययमश्नुते ॥ मैत्र्यु० ६।२०;३४

अक्षय्यमपरिमितं सुखमाक्रम्य ॥
मैत्र्यु० ६।३०

"एक सबको अपने वशमें करनेवाला सब भूतोंके अन्दर रहनेवाला जो आत्मा है, जो एक रूपको अनेक रूपोंमें विभक्त करता है, उस को जो अपने आत्मामें देखते हैं, उनको शाश्वत सुख मिलता है, किसी दूसरेको नहीं मिलता ॥ जो अनित्योंमें नित्य, चेतन और अचेतनोंमें जो एक चेतन, अनेकोंमें जो एक सब की कामनाएं तृप्त करता है, उसको अपने आत्मामें जो देखते हैं उनको शाश्वत शान्ति मिलती है ॥ इस सुख को अवर्णनीय परमसुख कहते हैं ॥ यह सुख अक्षय, व्यथारहित,अव्यय,अपरिमित और शाश्वत है॥"

इस तरह शाश्वत सुखका वर्णन उपनिषदोंमें है । यही सुख आत्मयोगसे प्राप्त होता है । इस आत्मयोगसे समदृष्टि उत्पन्न होती है, इस का वर्णन आगेके श्लोकोंमें देखिये -

अपनी उपमा ।

(२९-३२) इन श्लोकोंमें आत्मौपम्य-दृष्टिका महत्त्व बताया है । आत्मौपम्य-दृष्टि का अर्थ अपनी उपमासे सबकी ओर देखना है । अपने आत्माकी उपमा सबको देना और इस कसौटीसे सब व्यवहारोंकी परीक्षा करना । जैसा मुझे सुख चाहिये वैसाही सबको चाहिये, जैसा मुझे दुःख नहीं चाहिये वैसा किसीको दुःख नहीं चाहिये, इत्यादि बातें आत्मौपम्य-दृष्टिसे सर्वत्र देखनेका नाम समदृष्टि है । अपना आत्मा जैसा मुझे प्रिय है, वैसा ही सबको अपना अपना आत्मा प्रिय है । यह भाव सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये । यही समदृष्टि है ।

साधारण मनुष्यमें यह दृष्टि नहीं होती । दूसरों का घातपात करके अपना सुख बढानेका यत्न जो करते हैं, उनमें समदृष्टि की संभावना नहीं है। जो आत्मवत् सर्वभूतोंको देखता है वह कभी दूसरोंका घातपात कर नहीं सकता । क्यों कि वह उस समय अपनी उपमा देकर उस कर्म की

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अन्वयः- यः एकत्वं आस्थितः सर्वभूतस्थितं मां भजति, सः योगी सर्वथा वर्तमानः अपि, मयि वर्तते ॥३१॥ हे अर्जुन ! यः आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं वा यदि वा दुःखं समं पश्यति, सः योगी परमः मतः ॥ ३२ ॥

जो इस एकत्वपर स्थिर हुआ योगी सब भूतोंमें रहनेवाले मुझ (ईश्वर) को भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी, मुझ (ईश्वर) में हि रहता है ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! जो अपने समान सर्वत्र सुख वा दुःख सबको समान होता है ऐसा देखता है, वह योगी परमश्रेष्ठ माना जाता है ॥ ३२ ॥

भावार्थ— जिसका आत्मा योगसाधनद्वारा सिद्ध बनता है, उसकी दृष्टि सर्वत्र सम होती है। वह सब भूतोंमें आत्मा है और आत्मामें सब भूत हैं, ऐसा देखता है। जो सबमें ईश्वर है और ईश्वरमें सब पदार्थ हैं, ऐसा देखता है, वह कभी ईश्वरको भूलता नहीं और ईश्वर भी उसको कभी भूलता नहीं अर्थात् दोनों एक दूसरे को सर्वदा प्रत्यक्ष होते रहते हैं॥ जिसको इस तत्त्वका प्रत्यय आचुका है और जो सर्व भूतोंमें अवस्थित ईश्वरको भजता है, वह योगी सब प्रकारका व्यवहार करनेकी अवस्थामें भी वह सदा ईश्वरमें हि रहता है॥ जैसा अपने को सुखदुःख होता है, वैसाही दुसरोंको भी होता है, ऐसा समभाव जिसमें स्थिर हो चुका है, और जो अपने आत्माके समान सबको देखता है, वह योगी अत्यंत श्रेष्ठ है ॥ २९-३२ ॥

परीक्षा करता है। वह अपने आपसे पूछता है है कि अपना नाश होनेसे मुझे आनंद होगा? इसका उत्तर आनंद नहीं होगा यही है। अतः अपने समान दूसरोंको भी उनका नाश होनेसे सुख नहीं होगा, यह बात वह जानता है। और वह कभी दूसरेका घातपात करनेकी ओर प्रवृत्ति नहीं करता। इस का नाम आत्मवद्भाव है। यह भाव मनुष्य की उन्नति करनेवाला है।

मनुष्यमात्र के जो सब दुःख, हानियां, क्लेश और विपत्तियां हैं,वे सबके सब इस आत्मवद्भाव के अभाव के कारण हैं। जगत् के व्यवहारमें पडे सब मनुष्य अपने समान दूसरे को देखते ही नहीं। परंतु इसके विपरीत देखते हैं। वे मानते हैं कि अपना नाश देखनेसे यद्यपि मुझे क्लेश होंगे, तथापि मैं दूसरेका नाश करके अपना सुख बढाऊंगा। कैसी आसुरी प्रवृत्ति है देखिये। यह आसुरी प्रवृत्ति पूर्वोक्त विषम भावके कारण ही होती है और यही सब क्लेशोंका मूल है।

जब एक मनुष्य दूसरोंका नाश करनेके लिये प्रवृत्त होता है, तब दूसरा भी इसके नाश करने का विचार करता है। इस तरह सर्वत्र प्रापंचिक व्यवहारमें, स्वार्थी भोगतृष्णा से चलनेवाले सब व्यवहारोंमें, यह सार्वभौमिक कलह बढता जाता है, जिससे वैरभाव बढते हैं और क्लेश में पडना पडता है। जब मनुष्य अपने सुखके लिये दूसरों का प्राण लेता है, तब वह भी इस का वैर करता

(११) मनकी चञ्चलता ।

अर्जुन उवाच— योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच— हे मधुसूदन ! यः अयं योगः त्वया साम्येन प्रोक्तः, एतस्य स्थिरां स्थितिं चंचलत्वात् अहं न पश्यामि ॥ ३३ ॥ हे कृष्ण ! मनः बलवत् दृढं चंचलं प्रमाथि, अहं हि तस्य निग्रहं वायोः इव, सुदुष्करं मन्ये ॥ ३४ ॥

अर्जुन बोला— हे मधुसूदन ! जो यह योग आपने समत्वभावसे होनेवाला करके कहा है, इसकी स्थिर स्थिति होनेका उपाय मनके चञ्चल होनेके कारण मैं नहीं देखता हूं ॥ ३३ ॥ हे कृष्ण ! यह मन बलवान्, बडा दृढ, चञ्चल और मथनेवाला है । मैं तो उसका निग्रह करना, वायुके समान, अति दुष्कर मानता हूं ॥ ३४ ॥

है । इसी तरह जब एक देशके लोग दूसरे देशको पादाक्रान्त करते हैं, और उस देशको स्वाधीनताके मार्गसे चलनमें विघ्न करते हैं, तब वे पददलित लोग इन राजाधिकारियोंका द्वेष करते हैं । यह युद्ध चलता रहता है, द्वेष बढता जाता है, एकका विचार दूसरेके ध्यानमें नहीं आता, ऐसी विकट अवस्था आती है । और अन्तमें दोनों लड मरनेको तैयार होते हैं । इस प्रकारके युद्ध इस जगत् में चल ही रहे हैं । हरएक स्थानमें यही लडाई झगडे हैं । इसका उपाय क्या है ? त्रस्त आत्माएं ऐसा प्रश्न वारंवार पूछती हैं । इसका उत्तर गीताने दिया है । ' आत्मवद्भावसे सबको समान देखो । ' यही इसका उत्तर है ।

यह उत्तर ठीक है, परंतु अपने आत्माके समान सबको सम दृष्टिसे देखना अति कठिन कार्य है । क्योंकि मनुष्यमें ममत्व है। यह मेरा और यह मेरा नहीं, ऐसा भाव मनुष्य में होता है । इस कारण समबुद्धि मनुष्यके अन्दर स्थिर होना कठिन है । यह पुत्र मेरा है और वह दूसरेका है, यह द्वैत-बुद्धि सदा रहती है, इसकी जाग्रति रहनेतक समबुद्धिका उदय नहीं हो सकता । अपने पुत्रके समान दूसरेके पुत्रको देखना अथवा दूसरेके पुत्रके समान अपने पुत्रको मानना, दोनोंमें कोई भेदभाव न मानना, अत्यंत कठिन है । जब सभी पुत्र राष्ट्रके हैं, इनमें न तो कोई पुत्र मेरा है और न कोई दूसरेका है, सबके सब राष्ट्रके हैं । ऐसा जिस समय माना जायगा, उसी समय सब लडकोंके विषयमें समबुद्धि होना संभवनीय है । इससे भी ऊपर चढकर जब सभी पदार्थ परमेश्वरके हैं ऐसा माना जावगा, तब तो सबके हि विषयमें समबुद्धि स्थिर हो जायगी, परंतु हमारा मन ऐसा प्रबल और हठीला है कि यह सर्वात्मभाव उसमें स्थिर नहीं होता । अतः इसकी चंचलता दूर करना आवश्यक है । अर्जुनके मनमें भी यह शंका उठी और वह यही प्रश्न पूछता है, पाठक ! अब वही मनोरंजक संवाद देखें—

(३३-३४) इन श्लोकोंमें मनकी चञ्चलताके वर्णन के साथ साथ मनकी शक्तियोंकाभी उत्तम

भावार्थ— मन अत्यंत चञ्चल है, बड़ा हठीला है, अत्यंत प्रबल है, बडा सामर्थ्यवान् है, सबको मथनेवाला है। जैसा वायुको अपने आधीन करना अत्यंत कठिन है, किंवा अशक्य है, उसी प्रकार मनको स्थिर और स्वाधीन करना अशक्य है। और जबतक मन स्वाधीन नहीं होता, तबतक समबुद्धि भी कैसी बनेगी? और यदि समबुद्धि नहीं बनी तो यह योग भी कैसा हो सकेगा? तात्पर्य, मनकी चञ्चलताके कारण यह योग होना अशक्य है ॥ ३३-३४ ॥

वर्णन है। मन अत्यंत चञ्चल है इसलिये उससे साम्ययोगका अनुष्ठान होना कठिन है, यह अर्जुन का कथन है। (साम्येन) समबुद्धि रख कर जो (योगः) कौशलयुक्त कर्म किया जाता है उसका नाम साम्ययोग है। यह साम्ययोग तब सिद्ध होगा, जब मन स्थिर रहेगा।

कोई कुशलता का कार्य करना हो, कोई कारीगरी या हुनर का कार्य करना हो, चित्रकारी, मूर्ति निर्माण का कर्म अथवा किसी प्रकार की कला की योजना करनी हो, तो ऐसे कौशलपूर्ण कार्य के लिये मन की स्थिरता रहना अत्यंत आवश्यक है। मन चंचल रहनेकी अवस्थामें ये कार्य ठीक प्रकार हो हि नहीं सकते। यदि ये कार्य मन चंचल रहने के समय नहीं हो सकते, तो इन से कई गुणा उच्च कार्य कैसे हो सकते हैं? व्यवहार भी जहां मनकी चंचलता के कारण बिगड जाता है, तब परमार्थ बिगडेगा इसमें क्या संदेह हो सकता है? इस लिये यहां कही हुई अर्जुन की चिन्ता कि 'यह योग मनकी चञ्चलता के कारण नहीं होता' यह बिलकुल सत्य है। और यह त्रिकालाबाधित सत्य है। मन स्थिर किये विना मानवी उन्नतिका कोई प्रयत्न सिद्ध नहीं हो सकता।

मन (चञ्चलं) चंचल है, अस्थिर है, (बलवत्) बलशाली है, सामर्थ्यवान् है, (दृढं) सुदृढ है, बडा प्रबल है और (प्रमाथि) मथनेवाला है, खिलबिली मचानेवाला है; अतः इसका (तस्य दुष्करः निग्रहः) निग्रह करना बडा कठिन कार्य है। यह वर्णन यहां मनका है। इस का विचार करने के पूर्व वेद और उपनिषदों में मनका कैसा वर्णन किया है, वह देखना चाहिये। वह मनोरम विषय अब देखो—

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। ऐ० उ० ५।२
प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतम्। कौ० उ० २।१
मनो नाम देवतावरोधिनी। कौ० उ० २।३
मन एव तेजः। कौ० उ० २।१३
मनो ज्योतिः। बृ० ३।९।१०; ११-१७
मनसा सर्वाणि ध्यानान्याप्नोति। कौ० उ० ३।४
गच्छतीव च मनः। केन उ० ३०
मनो अमः। छां० उ० १।७।३
मनो ब्रह्म। छां० उ० ३।१८।१; बृ० ४।१।६; तै० उ० ३।४।१
अन्नमयं हि सोम्य मनः। छां० उ० ६।५।४
प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः। छां० ६।८।२
मनो ह्यात्मा, मनो ब्रह्म। छां० ७।३।१
आत्मतो मनः। छां० उ० ७।२६।१
मनोऽस्य दैवं चक्षुः। छां० ८।१२।५
दैवं मनः। बृ० १।१९
अनन्तं वै मनः। बृ० ३।१।९
सर्वेषां संकल्पानां मन एकायतनम्। बृ०२।४।१
रथः शरीरं मनो नियन्ता। मै० उ० २।६
एकत्वं प्राणमनसोः। मै० उ० ६।२५
मनो हि द्विविधं प्रोक्तं। मै.उ. ६।३४; ब्रह्मबिं०उ०१
मन एव कारणं बन्धमोक्षयोः। मै० उ० ६।३४ ब्रह्मबिं० २
मनो रथः। प्राणा० उ० ४
मन ऐश्वर्यं। महा० २
निर्विषयं मनः कार्यं। ब्रह्मबिं० ३
मनसा मन्थानभूतेन। ब्रह्मबिं० २०

मनश्चैवातिचञ्चलम् । अमृत ५
ध्यानं निर्विषयं मनः । स्कंद. ११
स्नानं मनोमलत्यागः । स्कंद. १२
मनः सर्वत्र संयम्य । योग. ३
मनो ह्यस्य हि शृंखला । मुक्ति. २।३९
जयेदादौ स्वकं मनः । मुक्ति. २।४२

मनके विषयमें उपनिषदोंका यह कथन है। इसका तात्पर्य यह है-

" जो हृदय है वही मन है, प्राण और ब्रह्मका दूत मन है, मन यह अवरोध करनेवाली देवता है, मन तेज अथवा ज्योति है, मनसे सब प्रकारके ध्यान होते हैं, मन गतिमान् अर्थात् वेगवान् है, मन गतिरूप है, मन ब्रह्म अर्थात् महाशक्ति है, अन्नमय मन है, प्राणके साथ मन बंधा हुआ है, मनही आत्मा और ब्रह्म है, आत्मासे मन होता है, मन दिव्य नेत्र ही है, दिव्य शक्तिवाला मन है, मन अनंत है अर्थात् मनका सामर्थ्य अनंत है, सर्व संकल्प मनमें होते हैं, शरीर रथ और उसका नियन्ता मन है, प्राण और मन एकही हैं अर्थात् परस्परसंबंधित हैं, मन दो प्रकारका है (एक जाग्रतिमें कार्य करता है और दूसरा सुषुप्तिमें कार्य करता है), मन बंधमोक्षका कारण है, मन ही बडाभारी ऐश्वर्य है अर्थात् ईश्वरका सामर्थ्य है, मनको निर्विषय बनाना चाहिये, मन मन्थनका दण्ड है, मन अति चञ्चल है, मनके मलको दूर करनाही सच्चा स्नान है, मन सब तरह स्वाधीन करना चाहिये, मनही आत्माकी शृंखला है, सबसे प्रथम अपने मनका जय करना चाहिये।"

मनके विषयमें उपनिषदोंमें ये वचन हैं, इन वचनों में सारांशरूपसे मनके संबंधमें ये उपदेश हैं—

(१) मन सबको घेरनेवाला है,
(२) मन बडा तेजस्वी है,
(३) मन बडा गतिमान किंवा वेगवान् है, (चंचलं),
(४) मन बडा सामर्थ्यसंपन्न है, दिव्य शक्तिसे युक्त है, (बलवत् दृढं)
(५) मनसे दिव्य दृष्टि है,
(६) मन सबका नियामक है,
(७) मन दो प्रकारका है, (एक जाग्रतिमें कार्य करता है और दूसरा सुषुप्तिमें कार्य करता है,)
(८) मनसेहि बंध अथवा मोक्ष होता है,
(९) मन मथनेवाला मन्थनदण्डही है (प्रमाथि),
(१०) इसलिये मनको जीतना चाहिये।

इतनी बातें ऊपरके उपनिषद्वचनोंमें कहीं हैं। गीताके पूर्वोक्त श्लोकमें कहे शब्द सूचनाके लिये ऊपरके विधानके साथ कोष्टकमें दिये हैं, जिससे पाठकोंको पता लग सकता है कि गीताके कथन के साथ उपनिषद्वचनोंके कथन कैसे संगत हो सकते हैं।

मन दो प्रकारका (द्विविधं मनः) है ऐसा जो ऊपर कहा है वह बडा महत्त्वका कथन है। एकही मनके ये दो भाग समझिये अथवा इनको दो विभिन्न मन मान लीजिये। इनमेंसे एक मन जाग्रतिमें कार्य करता है। जब यह मन जाग्रतिमें कार्य करता है, तब दूसरा मन स्तब्ध होता है अर्थात् कार्य नहीं करता। जब जाग्रतिका मन स्तब्ध होता है तभी दूसरा मन कार्य करने लगता है। यह बात समझनेके लिये पाठक ऐसा समझें कि एक मन सोनेके समय दूसरा मन जागता है और दूसरा मन सोनेके समय पहिला मन जागता है। इनमें अपने अपने कार्यक्षेत्रमें प्रत्येक मन प्रबल है, परंतु सुषुप्तिमें जागनेवाला मन बडा ही प्रभावशाली है, क्योंकि इसके कार्य देशकाल की मर्यादासे परिच्छिन्न नहीं होते।

योग में चित्तवृत्तिनिरोध करके जाग्रतिका मन सुलाया और सुषुप्तिका मन जगाया जाता है। योग का महत्त्व यही है। सब ग्रंथोंमें कहा होता है कि मन शान्त करो, एकाग्र करो, स्तब्ध करो, निरुद्ध करो, इन सब आज्ञाओंका अर्थ एक हि है। यह मन चंचल है, प्रतिक्षण चंचलताके

व्यवहार करता रहता है, इस कारण उस उच्च मनको कार्य करने का अवसर हि नहीं मिलता। उस उच्च मन को कार्य करनेका अवसर मिल जावे, इस लिये इस जाग्रतीमें कार्य करनेवाले मनको एकाग्र करने की आवश्यकता है।

'द्विविध मन है' इस उपनिषद् के महत्त्वपूर्ण कथन में यह सब भाव है। पाठक इसको ध्यानपूर्वक देखें, इस का मनन करें और बोध प्राप्त करें। जाग्रतिका मन मर्यादित क्षेत्र में कार्य करता है, दूसरा मन अमर्याद क्षेत्रमें कार्य करनेवाला है। इस लिये उस का महत्त्व विशेष है। सच्चे सन्तों महापुरुषों और साधु सज्जनोंमें यह उच्च मन जाग्रत रहता है और जाग्रतिका मन शान्त हुआ रहता है। मानवी श्रेष्ठता, उच्चता और पूर्णताका यही चिन्ह है। इसी लिये सब आप्तवाक्य कहते हैं कि मन स्वाधीन करो, शान्त करो, चित्तवृत्तिका निरोध करो। क्यों कि इस जाग्रतिमें कार्य करनेवाले मनसे बहुत लाभ होनेकी आशा नहीं, इस की चञ्चलता दूर होनेसेहि अनंत लाभ होना संभव है।

इस तरह उपनिषदों में जो मनविषयक उपदेश-वाक्य आगये हैं उनका मनन हुआ, अब गीता में हि अन्यत्र जो जो मनके विषयमें उपदेश वचन आगये हैं, उनका विचार करेंगे—

भ्रमतीव च मे मनः। गी० १।३०
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
गी० २।६०
इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥२।६७
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥३।६
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ३।७
इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ३।४०
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। ५।१३
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। ५।१९
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥६।१२
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥६।१४
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः॥
मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ ६।२४
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥६।२५
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ ६।२६
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ६।३५
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते॥ १२।२
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ॥ १२।८
मनः समाधाय स सात्त्विकः (यज्ञः)॥ १७।११

ये वचन भगवद्गीतामें आये हैं और इनमें जो मनके गुणधर्म सूचित किये हैं, वे यहां देखने योग्य हैं-- "मन कभी कभी भ्रान्त होता है। प्रयत्न करते रहनेपर भी विद्वान् पुरुषके मनको उसके इन्द्रिय किसी विषयकी ओर खींच लेते हैं। विषयोंमें संचार करनेवाले इंद्रियोंकी ओर जब मन दौडने लगता है, तब इसकी प्रज्ञा मारी जाती है। कर्मेंद्रियोंका बलात्कारसे संयम करके जो साधक मनसे विषयोंका स्मरण करता रहता है, उसे मिथ्याचारी कहते हैं। जो मनसे अपने सब इंद्रियोंका संयम करता है, वह विशेष उच्च अवस्था प्राप्त करता है। कामका स्थान मन है, यहाँ रहकर यह मनुष्यके ज्ञानको घेर कर मोहित करता है। मनसे जो सब कर्मोंका संयम करता है वह संयमी सुखसे रहता है। जिनका मन सम होगया अर्थात् इधर उधर नहीं जाता उनको यहां हि परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी ऐसा समझना योग्य है। मन एकाग्र करके आत्मशुद्धिके लिये योगका अनुष्ठान करना उचित है। मनका संयम

करके ईश्वरपर मनको लगाना चाहिये। संपूर्ण कामनाओंका त्याग करके मनसेहि सब इंद्रियोंका संयम करना योग्य है। मन आत्मापर लगाना चाहिये। इस समय दूसरा कुछ भी विषय मनमें नहीं लाना चाहिये। जहां मन दौडता है, वहां से उसको वापस लाकर आत्मापर स्थिर करना चाहिये। मन निःसंदेह चंचल और संयम करनेके लिये कठिण है।" अभ्यास और वैराग्य से हि उसको वश किया जा सकता है। ईश्वरपर मन लगानेसे सब प्रकार की उन्नति हो सकती है।"

भगवद्गीता में मन के विषय में इतने वचन हैं। इनका सारांश यह है कि—

१ मन भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला है। यह विषय-भोगोंकी ओर खींचा जाता है।

२ इसका बलात्कार से संयम करनेसे कोई लाभ नहीं होता है।

३ यदि सुविचार के साथ संयम हो जाय, तो लाभ होगा।

४ मन को सम अर्थात् चञ्चलतारहित बनाना चाहिये।

५ भोगकामना का त्याग मननपूर्वक करनेसे मन निश्चल होता है।

६ ईश्वरभक्ति से मन को शान्ति मिलती है।

७ सतत प्रयत्न करनेसे मनका संयम हो सकता है।

इतने नियम पूर्वोक्त वचनों के मननसे दिखाई देते हैं, जो मन की शक्तिका विचार करनेवालों को बड़े बोधप्रद हो सकते हैं। अब हम वेद के मंत्रों में मन के विषय में क्या क्या उपदेश है, इस का विचार करते हैं। सब से प्रथम यजुर्वेद का शिवसंकल्पसूक्त देखिये—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥३॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ४ ॥

यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ५ ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥ ६ ॥

वा० यजु० अ० ३४

" जो जागते हुए दूर दूर भटकता है और सोनेके समयमें भी जो वैसाही आता है, जो दूर जानेवाला, दिव्य शक्तिसे युक्त, तेजस्वियोंमें भी अधिक तेजस्वी एक मन है; जिस मनकी सहायतासे ज्ञानी विद्वान् युद्धोंमें, सभाओंमें तथा यज्ञोंमें विविध कर्म करते हैं; जो प्रजाजनोंके अन्दर अपूर्व शक्ति से युक्त पूज्य तत्त्व है ऐसा समझा जाता है; जो प्रज्ञान, चित्त और धैर्य रूप अमर तेज सब प्रजाजनों में है, जिसके विना कोई भी कर्म किया नहीं जाता; जिस अमर मनमें यह सब भूत, वर्तमान और भविष्य अपने में समाया है, जिसके द्वारा सात ऋत्विजों द्वारा होनेवाला यज्ञ चलाया जाता है; जैसे चक्रकी नाभि में आरे रहते हैं, वैसे ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद आदि के मंत्र जिस में रहते हैं, जिस में सब

प्रजाजनों का चित्त प्रोया है; जैसा उत्तम सारथी लगामोंसे घोडों का नियंत्रण करता है, वैसा जो मन मनुष्योंको चलाता है; जो हृदयमें रहता है और जो जरारहित और अत्यंत वेगवान् मन है, वह मेरा मन शुभसंकल्पयुक्त होवे।"

यजुर्वेद में यह एक मन का उत्तम सूक्त है। इस में मन का बडा मनोरंजक और बोधप्रद वर्णन है। इस के मनन से निम्न लिखित मनकी शक्तियोंका ज्ञान होता है—

१ मन जाग्रतिमें जैसा भटकता है, वैसा निद्रामें भी भिन्न रीतिसे दौडता ही है,

२ मन में अपूर्व गति, दिव्य शक्ति, तेजस्विता, और नियंत्रण शक्ति है,

३ सब लोग मन की सहायतासे हि सब कार्य करते हैं,मन के विना कोई कर्म नहीं हो सकता,

४ मनुष्यमें ज्ञान, मनन और धैर्य मनके कारणहि होते हैं,

५ भूत,वर्तमान,भविष्य सब कुछ मनमें रहता है,

६ संपूर्ण वेदशास्त्र मन में रहते हैं,

७ मन हृदयमें है, यह अमर दैवी शक्ति है, इस से सब इंद्रियां चलायीं जाती हैं,

८ यह मन शुभ संकल्पसे युक्त होनेसे उन्नति और अशुभ विचारोंसे युक्त होनेसे अवनति होती है।

उक्त सूक्तमें इतने गुण मन के कहे हैं। इसी प्रकार अन्य वेदों में अनेक वचन हैं, परंतु उन सब का विचार करने के लिये स्थान नहीं है, तथापि थोडासा दिग्दर्शन करने के लिये एक दो मंत्रभाग यहां देते हैं—

मनो अस्ति श्रुतं बृहत्। ऋ० ५।३९।३;
साम० २।५२४

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः। ऋ० ६।९।५

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
ऋ० १०।२५।१

मनो ज्योतिर्जुषताम्। तै० सं० १।५।३।२

मनो जूतिर्जुषताम्। वा० य० २।१३

मनो दानाय चोदयन्। ऋ० ८।९९।४;
अथर्व० २०।५८।२

मनो यज्ञेन कल्पताम्। वा० य० १८।२९;
२२।३३; तै० सं० १।७।९।२

मनोवाक्कायकर्माणि मे शुद्ध्यन्ताम्।
तै० आ० १०।६६ (आंध्र.)

"मन बहुश्रुत अर्थात् ज्ञानयुक्त होना चाहिये, संस्कारसंपन्न होना चाहिये;यह मन दृढ, तेजस्वी, वेगवान्, दौडनेवाला, देखनेवाला और आनंद देनेवाला है; कल्याण करनेवाला, बलवान् और कर्म करनेवाला मन है; मन ज्योतिस्वरूप है, वह गतिमान है; मन परोपकारके कर्मोंमें अर्पण करना चाहिये; मन यज्ञसे समर्थ होता है; मन, वाणी और देहके कर्म शुद्ध हों।" इस तरह मन का वर्णन अन्यान्य वेदमंत्रोंमें है। यहां भी मनकी चंचलता, समर्थता और तेजस्विता वैसीहि कही है, जैसी गीता और उपनिषदोंमें कही है। इसका विचार करनेके लिये पूर्वोक्त गीता, उपनिषद् और वेदके वचनोंमें जो विशेष शब्द आये हैं, वे देखिये-

गीता	उपनिषद्	वेदमंत्र
चञ्चलं	चंचलं, अमः (गतिः)	जविष्ठं
प्रमतीव	गच्छतीव	दूरंगमं
प्रमाथि	मन्थानभूतं	
बलवत्		ध्रुवं, धृतिः
दृढं		दक्षं
	ज्योतिः	ज्योतिः
	दैवं	दैवं, अजरं
	आत्मा, ब्रह्म	कं, भद्रं, अमृतं
	अनंतं	अपूर्व यक्षं
	ऐश्वर्य	श्रुतं, प्रज्ञानं, चेतः,
दुर्निग्रहं		

गीता,उपनिषद् और वेद के मंत्रों में आये मन

के गुणवर्णन के ये शब्द देखनेसे यह बात स्पष्ट होती है कि, मुख्य वर्णन के विषयमें सर्वत्र एक मत हि है। मन ऐसा महासामर्थ्यवान् है इसी लिये उसको संयमित करके अपने आधीन रखना चाहिये। जिस में बडा भारी सामर्थ्य होता है, उसी से अधिक भय होनेकी संभावना होती है। किसी एक धनी पुरुषका एक नौकर बडा भारी सामर्थ्यवाला है, और उसका धनी बडा निर्बल है। ऐसी अवस्था में वह स्वामी हि उस नौकर से डरता रहेगा। परंतु यदि उस स्वामिमें विशेष शक्ति रही तो उसके आधीन वह नौकर रहेगा, और उसका कार्य अनुकूलता के साथ करेगा।

यहां अपने प्रकृत विवरण में आत्मा स्वामी है और उसका मन नौकर है। यह नौकर बडा सामर्थ्यवान्, अत्यंत चतुर और विशेष प्रभावशाली है। यह अत्यंत तेजस्वी और विशेष प्रभावशाली होने के कारण ही उसका डर सब को प्रतीत होता है। यह क्या करेगा और क्या नहीं करेगा, इस विषयमें सब को भय लगता है। यह नौकर स्वामी के आधीन कैसा रहेगा और स्वामी के अनुकूल कार्य कैसा करेगा, यही चिन्ता सबको लगी रहती है। यह आत्माके आधीन रहे और आत्माकी उन्नतिके लिये आवश्यक कार्य करे। इसकी सिद्धता के लिये कार्य करना चाहिये, इस के विषयमें जैसा विचार अर्जुन के मन में उठा वैसा ही वह सब शास्त्रोंका ही विषय बनकर रहा है। प्रबल हुए नौकर को वश कैसा करना, उसको सदा अपने आधीन कैसा रखना और उसके द्वारा अपने हित के कार्य कैसे करवाने, यही प्रश्न सदा स्वामीके सन्मुख रहता है।

इसी विषयमें दूसरा उदाहरण शस्त्रास्त्रों का लिया जा सकता है। शस्त्रास्त्र जितने अधिक प्रभावशाली होंगे, और जितने अधिक प्राणघातक होंगे, उतनी उन की भीति अधिक होगी। बडे प्राणघातक शस्त्रास्त्र यदि वर्तने नहीं आये तो उसका उपयोग करनेवाले का ही नाश उनसे होगा। उनसे शत्रुका नाश तो तब होगा जब वे पूर्णतया स्वाधीन रहेंगे। प्राणघातक शस्त्र का वेग बढानेके साथ साथ उसका उपयोग करनेका ज्ञान भी मनुष्यमें बढना चाहिये। यदि स्वामीमें वह शक्ति न रही तो उस से स्वामी का ही नाश होगा। यही मन के विषयमें भी सत्य है। मन अत्यंत सामर्थ्यवान् होनेके कारण उसका योग्य रीतिसे उपयोग करने के लिये आत्मामें उससे अधिक शक्ति चाहिये, अथवा इसका दूसरा आशय यह है कि मन आत्माके आधीन रहना चाहिये। इसीको मनका संयम, दमन, निरोध आदि करना अथवा उसको स्वाधीन रखना कहते हैं।

इस तरह विचार करनेसे पता लग गया कि मन स्वाधीन रखना अत्यंत आवश्यक है। इसके विना कार्य नहीं चलेगा। राक्षस को नौकर रखनेके समान यह है। एक राक्षस किसी एक मनुष्यके यहां नौकर रहा। उसने शर्त यह की कि यदि स्वामी कुछ कार्य न कहेगा तो वह राक्षस स्वामीकोहि खा जायगा। अब वह स्वामी उस राक्षस नौकर को कुछ कार्य कहे तब वह राक्षस थोडेसेहि काल में वह करे और फिर स्वामी के पास उपस्थित होकर कहे कि 'काम बताओ नहीं तो तुम्हें खा जाता हूं।" इस तरह कुछ दिन व्यतीत हुए। इतने में मालक चिन्तासे क्षीण होने लगा और उस राक्षस नौकर से डरने लगा। यही अवस्था मनरूपी राक्षस को नौकर रखनेवाले आत्माकी हुई है। अर्जुन इससे डर रहा है, वह हाथ जोडकर ईश्वर की प्रार्थना करता है कि, हे प्रभो! यह मन बडा चंचल है, वायुकी गठडी बांधने के समान इसका संयम करना असंभव है। क्या किया जाय, इसके संयमका उपाय बताओ। इस प्रश्न को श्रवण करके भगवान् उत्तर देते हैं—

(१२) मनके संयमका उपाय।

श्रीभगवानुवाच— असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

अन्वयः— हे महाबाहो ! मनः असंशयं चलं दुर्निग्रहं। हे कौन्तेय ! (तत्) तु अभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

हे महाबाहु अर्जुन ! मन निःसन्देह चञ्चल और संयम करनेके लिये कठीन है। हे कुन्तीपुत्र ! परंतु वह अभ्याससे और वैराग्यसे वशमें किया जा सकता है ॥ ३५ ॥

भावार्थ— सचमुच मन अत्यंत चञ्चल है और उसका संयम करना बडा कठीन कार्य है। परंतु वारंवार यत्न करनेपर तथा भोगविषयोंके संबंधमें विरक्ति रखनेपर वशमें होना संभव है ॥ ३५ ॥

(३५) इस श्लोक में भगवान् गोपाल कृष्णने बडी युक्ति के साथ मन के संयम करनेका उपाय अति संक्षेपसे कहा है। यह उपाय केवल दो ही शब्दोंमें कहा है- '(१) अभ्यास और (२) वैराग्य।' यही मन के संयमका उपाय है। मनका एक बडा भारी गुण है, वह यह है कि उसकी जहां प्रीति होती है वहांहि वह स्थिर हो कर रहता है और जहां उसको घृणा होती है वहां वह जाना नहीं चाहता। यह गुण मनके अन्दर स्वभावसे है। मन को स्वाधीन करने के लिये इस गुणके अनुरोधसे उसके साथ बर्ताव करनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इसी लिये 'अभ्यास और वैराग्य' ये दो संकेत कहे हैं। बुरे मार्ग से जाना नहीं चाहिये, इस लिये बुरे विषयोंके संबंधमें वैराग्य धारण करना चाहिये। जिसके संबंधमें वैराग्य उत्पन्न होगा, उस ओर मन कदापि जायगा नहीं। यदि भोगादिके विषयमें वैराग्य उत्पन्न हुआ, तो मनुष्य विषयभोगमें कभी नहीं फसेगा।

इस विषयमें एक उदाहरण दिया जा सकता है। मनुष्यके लिये यद्यपि स्त्रीभोग प्रिय होता है, तथापि अपनी पुत्री, भगिनी, माता आदि पूज्य स्त्रियोंके विषयमें उसके मनमें सहसा भोग की इच्छा उत्पन्न नहीं होती। क्यों कि वह बडा निंद्य कर्म है ऐसी मनकी भावना होकर उस विषयसे मन हट जाता है। परंतु स्वस्त्री, तथा अन्य योषिताओंके संबंधमें वैसा मन हटा नहीं होता, इस लिये स्त्रीदर्शनसे इसके मनमें चञ्चलता उत्पन्न होती है। यदि यह भोग घृणित है, पूय विण्मूत्रसेवनके समान यह है, ऐसी भावना उसके मनमें स्थिर हो जाय, तो उन भोगोंमें भी इसका मन नहीं जायगा।

मनुष्यके लिये स्वादु मीठा अन्न चाहिये। मनुष्यका मन मिष्टान्नपर आसक्त हुआ होता है। वैसा मिष्टान्न देखकर उसकी जिह्वापर पानी उत्पन्न होता है। तथापि यदि उसे मालूम हो जाय कि इस अन्नमें विष मिला दिया है, तो उसकी स्वादतृष्णा उस अन्नसे एकदम हट जाती है। फिर वह उस अन्नको स्पर्शभी नहीं करेगा। ऐसा क्यों होता है? इसलिये होता है कि उसका मन उससे विरक्त होता है। उसके भोगसे भय है यह उसके मनमें स्थिर हो जानेसे ऐसा होता है। यदि इसी प्रकारसे संपूर्ण भोगोंके विषयमें इस का मन हट जायगा तो किसी भोगमें वह फिर

आकर्षित नहीं होगा।

भोग भोगनेसे जो आनन्दका आभास होता है, उससे कई गुणा आनन्द आत्मासे हि प्राप्त होता है। यदि यह बात मनुष्यके अनुभवमें आजायगी तो वह कदापि भोगोंकी ओर नहीं दौडेगा, क्यों कि कोई भी मनुष्य अल्पसुखके लिये महासुख नहीं खो देगा। इस तरह भोगोंमें व्याप कर रहनेवाले दुःखका विचार करनेसे मनुष्य भोगोंके विषयमें विरक्त होता है। मनको स्थिर, शान्त और गंभीर करनेके लिये इस प्रकारके विचार और मननसे सिद्ध होनेवाले वैराग्य की अत्यंत आवश्यकता है वैराग्यके विषयमें योगदर्शनमें कहा है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥
तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥
योगद० १

"प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले और ग्रंथादिकोंमें कहे विषयभोगोंके विषयमें जब साधक की बुद्धि कामनारहित हो जाती है, जब उसका मन उन भोगोंसे हट जाता है, जब उसको उन विषयोंके संबंधमें घृणा हो जाती, और अपने इंद्रिय अब वशमें आगये हैं ऐसा भाव मनमें स्थिर हो जाता है, जब इंद्रियसंयम होनेका अनुभव हो जाता है, तब उसको साधारण वैराग्य कहते हैं। यही वैराग्य परमात्माके साक्षात्कारसे प्राकृतिक गुणोंके विषयमें तुच्छबुद्धि होकर उनके विषयमें उदासीनता आगयी, तो उच्च कोटीतक पहुंचता है। इस समय इसको परवैराग्य कहते हैं।"

साधारण मनुष्यको इतना परवैराग्य प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रथमतः विषय भोगमें जो दोष हैं उनको देखनेसे प्रथमारंभमें अपने लिये जितना आवश्यक वैराग्य चाहिये, उतना मिल सकता है। जितना वैराग्य होगा, उतना ही यह भोगोंसे दूर होगा और उतनाही इसका साधन होता जायगा। इस तरह वैराग्य होनेके साथ साथ अभ्यास भी होना चाहिये। इस अभ्यासके विषयमें पतंजली अपने योगदर्शनमें कहते हैं—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥
स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः ॥१४॥
योगद० १

"चित्त की जो सात्विक स्थिति है, उस स्थितिमें स्थिर रहनेका यत्न करनेका नाम अभ्यास है। यह अभ्यास दीर्घकाल तक, बीचमें न छोडते हुए, सुनियमाचारपूर्वक किया जाय तो स्थिर हो जाता है।" चित्तको सात्विक वृत्तिमें स्थिर रखनेका नाम अभ्यास है। मनुष्य का मन तामस, राजस और सात्विक वृत्ति में सदा भ्रमण करता है। तामस वृत्तिके कारण आलस्य और राजस वृत्ति के कारण भोगभाव बढता है। साधारणतः मनुष्यमें सात्विक वृत्ति कम ही होती है। राजस तामस में ही यह वृत्ति भ्रमण करती रहती है। मनुष्य अपना मन आलस्य में है वा भोगमें रहता है अथवा ईश्वरभक्ति आदि सत्वगुण में रहता है, इसका विचार करेगा, तो अपनी स्थिति कहां है, इस का निश्चय उसको हो सकता है। मनुष्य इस का निश्चय प्रथम करे और उससे ऊपर उठने का यत्न करे। इस का नाम अभ्यास है और यह अभ्यास निरंतर बहुत देरतक करनेसे स्थिर होता है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१२॥
योगद० १

"अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तिका निरोध होता है।" मनको स्थिर, शान्त और गंभीर करना हो तो वैराग्य धारण करना और पश्चात् पूर्वोक्त रीतिसे अभ्यास करना। इससे सिद्धि प्राप्त हो सकती है। मन कितना भी चञ्चल हुआ, तथापि इस उपायसे वह शान्त, स्थिर और गंभीर हो जाता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—असंयतात्मना योगः दुष्प्रापः, वश्यात्मना यतता तु उपायतः अवाप्तुं शक्यः, इति मे मतिः॥३६॥

अपना संयम न करनेवाले मनुष्यसे योग होना असंभव है, परंतु जो अपने आपको वशमें रखता और प्रयत्न करता है, उसको अनेक उपायोंसे योग सिद्ध होना शक्य है, ऐसा मेरा मत है ॥ ३६ ॥

भावार्थ— जो आत्मसंयम नहीं कर सकता उससे योगसाधन होना अशक्य है, फिर उसको योगकी सिद्धि होगी यह कहनेकी क्या आवश्यकता है ? परंतु जो प्रयत्नशील है और जो आत्मसंयम करनेमें दक्ष है, वह अनेक उपाययोजनाद्वारा योगसाधन करके अन्तिम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। प्रयत्न योग्य रीतिसे करनेपर सिद्धि होगी, योग्य प्रयत्न न करनेसे क्या हो सकता है ?

यहां स्मरण रखना चाहिये कि मन (प्रमाथि) मथनेवाला है । पूर्वश्लोकमें अर्जुनके प्रश्नमें यह शब्द आया है। मन सब शरीरका मंथन करता है, जैसा मंथनदण्ड दहीसे मक्खन निकालता है वैसाही यह मन संपूर्ण शरीरका मन्थन करके उससे सत्त्व बाहर निकालकर फेंक देता है। मनुष्य संयम करने लगता है, उस समय मन बहुत काल संयमित रहता है, परंतु किसी समय विषयभोगमें प्रवृत्ति हुई तो अन्दर मन ऐसी हलचल मचाता है कि जिससे सर्वत्र क्षोभ होता है और सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति उत्पन्न करता है और ऐसी अवस्था करता है कि जिससे पूर्व समयका सब अनुष्ठान व्यर्थ गया ऐसा प्रतीत होता है। ऐसा प्रबल मथनेवाला यह मन है। इसी लिये इसके संयमका उपाय बडी सावधानीके साथ और दीर्घ काल तक करते रहना चाहिये। थोडी भी असावधानी हो जायगी तो यह गडबड मचा देगा। इसी लिये भगवान् आगे कहते हैं—

(३६) यह श्लोक स्पष्ट है। जो प्रयत्न करेगा उसको सिद्धि प्राप्त होगी, जो नहीं करेगा उसको नहीं प्राप्त होगी। इस विषयमें विवाद नहीं हो सकता।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत्। ह० योगप्र०

पुरुषार्थ करनेपरहि सिद्धि होगी, प्रयत्न न करनेपर कुछ भी नहीं होगा। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है, तथापि इसमें 'संयतात्मा, वश्यात्मा और असंयतात्मा' ये शब्द विशेष महत्त्व के हैं। जो अपना संयम करता है और जो अपना संयम करता नहीं, उसकी सिद्धिमें वैसा ही अन्तर हो जाता है। संयतात्मा आत्मसंयमन करनेवाले पुरुष का नाम है। जिसने अपनी संपूर्ण शक्तियोंका संयम किया है। यहां आत्मा शब्द केवल आत्मा, मनकाही वाचक नहीं है। 'संयतात्मा' का अर्थ मन का संयम करनेवाला इतना ही मानना अशुद्ध है। यहां 'संयतात्मा' का अर्थ 'संपूर्ण अपने आपका संयम करनेवाला' ऐसा है। मनुष्य में आत्मा,बुद्धि,मन, इंद्रियगण,शरीर, शरीरावयव यह सब है। इनमें से प्रत्येक का जो संयम करता है अर्थात् जो सबका संयम करता है, वह संयतात्मा है। अपनी सब क्रिया भावना आदि का जो संयम करता है, वह संयतात्मा है। बुद्धिसे ज्ञान लेने का कार्य होता है, इस ज्ञान में

जैसा ब्रह्मज्ञान है वैसा ही सब अन्य ज्ञान भी है। लौकिक ज्ञानमें भला बुरा बहुत है, उस में भला ही अपनी बुद्धि में लेना और बुरेको अपने पास आने न देना यह इस विषयका संयम है। मन तर्क वितर्क कुतर्क करता है, विवेक करता है, सोचता है, चिंतन करता है। मन का यह धर्म ही है, सद्धर्मका यह विचार करे और असद्धर्मसे सदा बचा रहे, इस तरह मनका संयम होगा। इसी तरह प्रत्येक इंद्रियका संयम करना चाहिये। आंख कल्याणकारक पदार्थ को देखे और अवनतिकारक पदार्थ न देखे, कान उच्च विचार सुने और हीन विचार न सुने, जिव्हा कल्याणपूर्ण शब्द बोले और बुरे शब्दोंका उच्चारण न करे, मुख से सात्त्विक पदार्थ भक्षण किये जाय और राजस तथा तामस पदार्थोंका सेवन न किया जाय। इसी तरह शरीरसे संपूर्ण व्यवहार उच्च ही किये जावें, हीन व्यवहोंमें यह न फसा रहे। किसी समाजमें जाना हो, तो वहां कैसे लोग हैं इसका विचार पहले किया जाय, और वहां जानेसे सत्संगतिका लाभ होनेकी संभावना हो तो वहां जाना, नहीं तो न जाना। पुस्तकें पढनीं हों तो शुद्ध विचार बढानेवाली पुस्तकें ही पढीं जाय, विषयवासना बढानेवाली न पढी जाय। इस तरह प्रत्येक हलचलमें, प्रत्येक स्थानमें, प्रत्येक विचार उच्चार आचारमें संयमका विचार है। मानो मनुष्यकी प्रत्येक गति या अगतिमें आत्मसंयमका संबंध आता है। कोई व्यवहार इससे खाली नहीं है। इन संपूर्ण व्यवहारोंमें जो अपने आपका अर्थात् अपने छोटे बडे बर्तावका संयम करता है उसको 'संयतात्मा, कहते हैं। शेष लोग सब 'असंयतात्मा' ही हैं। इसी लिये-

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
>
> गी० ७।३

"सहस्रों मनुष्योंमें एकाध मनुष्य योग-सिद्धिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई क्वचित् तत्त्वसे मुझे जानता है।" यह इस लिये कहा है कि यत्न करनेवालोंमें भी संपूर्ण रीतिसे 'संयतात्मा' होना यह बडा कठिन है। इस संयतात्मा होनेके लिये अपने संपूर्ण व्यवहार कैसे परखने चाहियें इसका संक्षिप्त विवरण इससे पूर्व बतायाही है। प्रयत्न करनेपर भी किसी न किसी स्थानपर थोडीसी त्रुटी या शिथिलता रहती है और जहां त्रुटी रही वहां असंयम होता है और सिद्धि दूर जाती है।

इस लिये संपूर्ण योग की सिद्धि प्राप्त करनी हो तो संपूर्ण रीतिसे अपने आपका संयम करना चाहिये। इस तरह 'वश्यात्मा' होने के पश्चात् भी (यतता) प्रयत्न चलना ही चाहिये, यत्न की पराकाष्ठा करनी चाहिये। यत्नवान् काही दूसरा नाम योगी है। अतः प्रयत्न न करनेवाला कदापि योगी नहीं हो सकता, इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

इसके पश्चात् 'उपायतः' यह एक महत्त्वपूर्ण शब्द है जिस का विचार यहां अवश्य करना चाहिये। उपाय अनेक प्रकार के करने चाहिये, एक ही उपाय नहीं। साधक को इस मार्ग से जाना असंभव हुआ तो उसको दूसरे मार्ग से जाना चाहिये, यह सब उपाय गुरुके पाससेहि ज्ञात हो सकते हैं। सुयोग्य गुरु अनेक उपायों द्वारा शिष्यको पार ले जा सकता है। स्वयं भी उपाय सोचना चाहिये। किसी को कोई आसन नहीं होता, कोई प्राणायाम नहीं बनता, कोई अनुष्ठान नहीं होता, तब क्या करना चाहिये? किस युक्तिसे शिष्यसे उक्त अनुष्ठान करवाना चाहिये, इन युक्तियोंका नाम यहां 'उपाय' है। साधनमें यह उपाय की बात अत्यंत महत्त्व रखती है। इसलिये वाचकोंका इस ओर दुर्लक्ष्य नहीं होना चाहिये।

अब अर्जुन के मनमें एक महत्त्वपूर्ण शंका उठी। यदि कोई साधक इस योगका साधन करने

(१३) योगभ्रष्टकी गति।

अर्जुन उवाच-- अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

अन्वयः- अर्जुनः उवाच-हे कृष्ण ! श्रद्धया उपेतः अ-यतिः, योगात् चलितमानसः, योगसंसिद्धिं अवाप्य, कां गतिं गच्छति ॥ ३७ ॥ हे महाबाहो ! ब्रह्मणः पथि अप्रतिष्ठः विमूढः सः, उभयविभ्रष्टः छिन्नाभ्रं इव न नश्यति कच्चित् ॥ ३८ ॥ हे कृष्ण ! मे एतत् संशयं अशेषतः छेत्तुं अर्हसि; हि त्वत् अन्यः अस्य संशयस्य छेत्ता न उपपद्यते ॥ ३९ ॥

अर्जुनने पूछा— हे कृष्ण ! (किसी साधक की) श्रद्धा तो है, परंतु उससे पूर्ण यत्न न हुआ, और उसका मन योगसे विचलित हुआ, वह योगकी सिद्धिको न प्राप्त होकर, किस गतिको पहुंचता है ? ॥ ७ ॥ हे महाबाहू! ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें वह आश्रयरहित और विशेष मोहित हुआ, दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर छिन्नभिन्न बादलके समान बीचमें हि नष्ट तो नहीं होता ? ॥ ३८ ॥ हे कृष्ण ! मेरे इस सन्देहको निःशेष दूर करनेके लिये आपहि योग्य हैं, क्योंकि आपको छोडकर इस संशयको दूर करनेवाला कोई नहीं मिलेगा ॥ ३९ ॥

भावार्थ— कोई एक साधक योग मार्गपर बडी श्रद्धा रखता है, कुछ यत्न भी करता है, परंतु सिद्धि प्राप्त होने योग्य उससे योगसाधन नहीं होता है। इतनेमें कई शारीरिक आपत्तियां आती हैं और उससे योगसाधन यथासांग नहीं होता और ऐसी अधूरी अवस्थामें उसका देहपात होता है । ऐसे योगसे भ्रष्ट हुए साधककी क्या गति होती है ? वह तो ब्रह्मनगरीका पथिक था ही, परंतु न तो वह ब्रह्मनगरीको पहुंच सका और ना हि यहांके भोग भोग सका ! दोनों सुखोंसे वंचित रहनेवाले उस योगभ्रष्ट साधकका बीचमें हि नाश तो नहीं होता ? यह संदेह यहां मनको बडा क्लेश देता है, इसका निराकरण होना आवश्यक है ॥ ३७-३९ ॥

लगा, और सिद्धि होनेके पूर्व हि उसका देहान्त होगया, तो उसका क्या होगा? अर्थात् योगसिद्धिकी इच्छासे उसने ऐहिक भोगोंका त्याग किया और योगसिद्धिके पूर्व मृत्यु आनेसे सिद्धि भी प्राप्त नहीं हुई । ऐसी अवस्थामें उसकी गति क्या होगी ? सब साधकोंके सामने यह प्रश्न है अतः इस शंकाका उत्तर भगवान् कैसा देते हैं, यह ध्यानपूर्वक पाठक देखें—

(३७-३९) योगभ्रष्ठ की गति क्या होती है? यह शंका हरएक साधक के मन में उठती है और जो साधन नहीं करते परंतु गप्पें मारने में प्रवीण होते हैं, वे तो दूसरों को चूप बैठानेके लिये ऐसी

श्रीभगवानुवाच-- पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

अन्वयः- श्रीभगवान् उवाच- हे पार्थ ! न इह न एव (च) अमुत्र तस्य विनाशः विद्यते। हे तात! कश्चित् कल्याणकृत् दुर्गतिं न गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् ने कहा- हे पार्थ ! न इस लोकमें और ना ही परलोकमें उस (योगी) का विनाश होता है। हे प्रिय ! क्यों कि शुभ कर्म करनेवाला कोई (पुरुष) कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता है ॥ ४० ॥

शंकाएं उपस्थित करतेहि रहते हैं। परंतु जो साधक नहीं हैं उनका विचार हमें यहां करनेकी आवश्यकता नहीं हैं। क्यों कि उनका विचार करनेसे किसी का लाभ होना नहीं है। परंतु जो सचमुच साधना करना चाहता है, उसके मनमें भी ऐसी शंकाएं उपस्थित होती हैं। अतः यह शंका महत्त्वपूर्ण है और इसका यथायोग्य विचार होना चाहिये।

जो साधन मैं कर रहा हूं, उसमें असफलता प्राप्त करके यदि मृत्यु हो गयी, तो किया साधन व्यर्थ गया, अधूरा साधन होनेसे सिद्धि तो प्राप्त होनीहि नहीं है, साधन करनेके लिये ऐहिक भोगोंका पहिलेहि त्याग किया, इस लिये इस लोक के सुख से भी वंचित रहा, सिद्धि प्राप्त होने तक साधना नहीं हो सकी इस लिये सिद्धि के अभाव में परलोकसे भी वंचित रहा, इस से न इधर और न उधर ऐसी स्थिति हो गई, यह अवस्था बडी भयानक है। इस जन्म में किया साधन दूसरें जन्ममें तो उपयोगमें नहीं आवेगा, क्योंकि वहां का देह दूसरा,परिस्थिति दूसरी सब कुछ भिन्न। इस लिये यह किया हुआ साधन तो व्यर्थ ही गया। फिर अगला जन्म किस योनिमें होगा, इस विषय में भी क्या प्रमाण है? इस लिये यदि योगसाधन अधूरा रहा, तो बडी हि हानि होगी। इस लिये योगभ्रष्ट की गति क्या होती है, इस का विचार होना चाहिये।

मनुष्य ब्रह्मनगरिका पथिक है, संसारग्राम से ब्रह्मनगरि के मार्ग से यह चल रहा है। यदि संसारग्राममें हि यह रहा तो भी यहां कुछ न कुछ तो सुख उसको मिलेगाहि। यदि उस को ब्रह्मनगरिकी प्राप्ति हो गयी, तो उसको अखंड आनंद का साम्राज्य प्राप्त होगा इस में भी संदेह नहीं है। परंतु यह यदि बीचमेंहि रहा, तो इसकी अवस्था क्या होगी? यह शंका यहां है।

अभ्र जैसा आकाशमें रहता है, वह आकाशमें रहेगा तो एक प्रकारकी शोभा बढाता है, यदि उसकी वृष्टि हो गई तो भी पृथ्वीपर की शोभा उसने बढायी,ऐसा माना जा सकेगा। परंतु यदि कोई अभ्र न आकाशमें रहा और न वृष्टिरूपसे पृथ्वी को सृष्टि को परिपुष्ट कर सका, बीचमें हि विरल होकर नष्ट हो गया। तो उसका अभ्र होना तो व्यर्थ ही हुआ।

इस प्रकार योगभ्रष्टकी भयानक अवस्था प्रतीत होती होती है। तो इस विषयमें सत्य बात क्या है? यह प्रश्न यहां है। भगवान् इस शंकाका कैसा उत्तर देते हैं, वह उनकीहि अमृतमयी वाणीसेहि अब देखिये—

अविनाशी कर्मप्रभाव।

(४०—४५) "शुभ कर्म करनेवाले का कभी नाश नहीं होता" यह भगवान् का संदेश यहां पहिले हि हमें प्राप्त हुआ है। यह निर्भयता का

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः-योगभ्रष्टः पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य, (तत्र) शाश्वतीः समाः उषित्वा, शुचीनां श्रीमतां गेहे अभिजायते ॥४१॥ अथवा धीमतां योगिनां एव कुले भवति, यत् एतत् ईदृशं जन्म लोके दुर्लभतरं हि ॥ ४२ ॥ हे कुरुनंदन ! (सः) तत्र तं पौर्वदेहिकं बुद्धिसंयोगं लभते, ततः च भूयः संसिद्धौ यतते ॥ ४३ ॥ तेन एव पूर्वाभ्यासेन सः अवशः अपि ह्रियते । योगस्य जिज्ञासुः अपि शब्दब्रह्म अति वर्तते ॥ ४४ ॥ ततः प्रयत्नात् यतमानः संशुद्धकिल्बिषः योगी तु अनेक जन्मसंसिद्धः परां गतिं याति ॥४५॥

योगसे भ्रष्ट हुआ (मनुष्य) पुण्यवानोंको मिलनेवाले लोकोंको प्राप्त होकर, और उनमें बहुत वर्षोंतक रहकर, पवित्र श्रीमान् लोगोंके घरमें जन्म लेता है ॥४१॥ अथवा बुद्धिमान योगियोंके कुलमें जन्म लेता है । इस प्रकारका यह जन्म इस लोकमें अत्यंत दुर्लभ है ॥४२॥ हे कुरुकुलका आनंद बढानेवाले अर्जुन ! वहां वह पूर्वजन्मके बुद्धिसंस्कारको प्राप्त करता है और उससे वह अधिक सिद्धि पानेका प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥ उसी पूर्वजन्मके अभ्याससे वह अस्वतंत्रसा होकर (सिद्धिकी ओर स्वयंहि) खींचा जाता है। क्यों कि योगका जिज्ञासुभी शाब्दिक ज्ञानवालोंसे बहुत ही श्रेष्ठ होता है ॥ ४४ ॥ वहांसे आगे प्रयत्नपूर्वक योगसाधन करता हुआ पापोंसे छुटकर परिशुद्ध हो कर वह योगी अनेक जन्मोंसे सिद्धि प्राप्त करके अन्तमें उत्तम गतिको प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

संदेश प्रत्येक मनुष्यको सदा स्मरणमें रखना चाहिये । जो चाहे सो हो, परंतु "कल्याण-मार्ग का पथिक नाश को नहीं प्राप्त होता" सब साधक इस भगवान् की घोषणाको कभी न भूलें। शुभ कर्म से पीछे न हटें। यदि इस जन्ममें शुभकर्मका पूर्ण फल न मिला, तो अगले जन्ममें मिलेगा,

भावार्थ— जो शुभ कर्म करता है उसका अधःपात कभी किसी प्रकार भी नहीं होता । अतः जो योगसाधन करेगा उसकी हानि किसी प्रकार भी नहीं होगी ॥ योग करते करते मृत्यु आगई, तो उसको उत्तम पुण्यलोक प्राप्त होंगे, वहां उन पुण्य स्थानोंमें वह बहुत समय निवास करेगा, और पश्चात् योग्य समयमें पवित्र आचरणवाले श्रीमान् साधनसंपन्न पुण्यजनोंके घरमें जन्म लेगा ॥ किंवा ज्ञानी योगियोंके कुलमें भी जन्म प्राप्त करेगा, सच मुच इस प्रकार योगीयोंके घर जन्म प्राप्त होना यह अत्यंतहि दुर्लभ है ॥ इस तरह जन्म प्राप्त होनेपर पूर्व योगाभ्यासके कारण पूर्वकेहि शुभ संस्कार उसकी बुद्धिमें संकलित होते हैं। और वह वहांसे आगेकी साधना करने लगता है ॥ पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण वह स्वयंहि योगसानमें खींचा जाता है। उसी प्रकार यह योगी आगे करने योग्य साधनमें स्वयं खींचा जाता है । तात्पर्य पूर्व जन्मका किया हुआ साधन उसके काममें आता है और उसके आगेका मार्ग वह आक्रमण करने लगता है । योगसाधनका पुरुषार्थ करनेका इच्छुक और केवल शब्दमात्र जाननेवाला इनमें पुरुषार्थी योगी कई गुणा श्रेष्ठ है, क्योंकि वह कुछ न कुछ करता है और उसका फल उसे मिलता है ॥ वहांसे आगेकी साधना वह दूसरे जन्ममें करता है, उससे उसका चित्त शुद्ध होता है। वह पापोंसे मुक्त होकर, परिशुद्ध बनता हुआ, इस तरह अनेक जन्मोंके योगसाधनसे वह सिद्ध बनता है और अन्तमें ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करता है ॥ ४० - ४५ ॥

परंतु किया हुआ शुभकर्म व्यर्थ नहीं जायगा, यह विश्वास प्रत्येक साधकके मनमें स्थिर रहना चाहिये । फल मिलने या न मिलनेका विचार छोडकर सदा शुभ कार्य में तत्पर रहना चाहिये । यह एक मात्र कार्य है, जो मनुष्यको करना चाहिये । शुभ कर्म करते हुए देहपात भी होगा, तो भी कोई हानि नहीं है, क्यों कि यदि देह चला गया तो दूसरा मिलेगा और पूर्व संस्कार तो स्थिरहि रहेंगे । इसलिये कोई हानि नहीं है ।

जैसा एक वैश्य अपनी दुकानदारी करता हुआ अपने वस्तुओंकी थोडी विक्री आज करता है, रात्रिको सोता है, फिर दूसरे दिन शेष वस्तुओंकी विक्री करता है । कलके व्यापारमें जो लाभ हुआ वह उसकी संदूकमें रखा होता है, वह उसको दूसरे दिन प्राप्त होता है और उसको संमिलित करता हुआ वह अपना व्यवहार आगे बढाता है । इसी तरह इस मनुष्यका संपूर्ण जीवन एक दिन है, इस दिनमें वह कुछ व्यापार व्यवहार करता है, पश्चात् मृत्युरूपी महारात्रि आती है, उसमें वह कालवश होकर सोता है, पश्चात् दूसरा दिन आता है, यही उसका दूसरा जन्म है। इस जन्ममें उसको पहिले दिनकी पूंजी अपनीहि संदूकमें मिलती है और उसको लेकर वह अपना व्यवहार बढाता है । यही उसकी साधना है । इस तरह साधक अपने जीवनको बडी व्यापक दृष्टिसे देखे । मनुष्यका जीवन एक देहके जन्मसे प्रारंभ होकर उसके विनाश तक ही नहीं समझना चाहिये; परंतु संसारमें आनेके समय उस जीवनका प्रारंभ होता है और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होतेहि वह जीवन परिपूर्ण होता है । मनुष्यका इतना बडा जीवन है ।

(चित्र ७२ पृष्ठपर देखो)

इतना लंबा जीवन मनुष्यका है, परंतु मनुष्य अज्ञानके कारण मानता है कि इस एक देहके जन्मसे मृत्युतक ही अपना जीवन है । जैसा कोई समझे कि जाग्रतिसे निद्रातक ही जीवन है तो उसकी जैसी मूढता होगी, वैसीही मूढता एक देहके जन्मसे मृत्युतक ही जीवन है ऐसा माननेमें है । मनुष्यका जन्म तो जब यह इस संसारचक्रमें सबसे प्रथम आया तब हुआ है और इसकी पूर्णता तब होगी जब इसको ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होगी। इसकी मृत्यु तो कभी होगीहि नहीं । परंतु यह सदा मृत्युसे डरता रहता है । यह डर इसके अज्ञानके कारणहि होता है । यह

मुक्ति
जीवन्मुक्ति
जन्म
मृत्यु
जन्म
मृत्यु
जन्म
मृत्यु
जन्म
मृत्यु
जन्म
मृत्यु
जन्म
सूक्ष्म देहकी जन्म मृत्यु
मृत्यु
जन्म
सूक्ष्मदेहकी जन्म मृत्यु
स्थूलदेहकी मृत्यु
जीर्ण अवस्था—वार्धक्य—
मध्यमावस्था— तारुण्य—
बाल्य— स्थूलदेहजन्म
जीव संसारमें आनेका प्रारंभ
खंडित जीवनका अनुभव
अखंड जीवन का अनुभव
का.....र.....ण.....दे.....ह.....का.....अ.....खं.....ड.....जी.....व.....न
स्थूल देहका खंडित जीवन...
सूक्ष्म देहका खंडित जीवन...
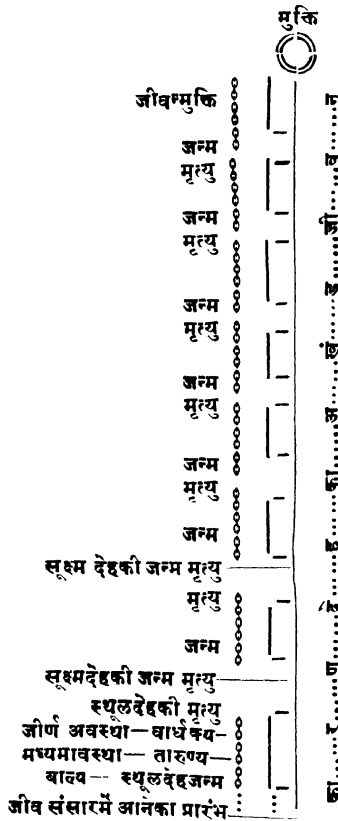
देह के नाशकोहि अपना नाश मानता है और उसे डरता रहता है ।

जन्ममृत्यु का संबंध ।

स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारणशरीर ऐसे इसके तीन शरीर होते हैं । स्थूल शरीर का जन्म होता है और नाश भी होता है । परंतु स्थूल शरीर का जन्म और मृत्यु केवल स्थूल शरीरका ही है, उसके साथ सूक्ष्मदेह का कोई संबंध नहीं होता । सूक्ष्म शरीर की भी उत्पत्ति और विनष्टी होती है, यह सूक्ष्म शरीर भी वैसा ही भिन्न है जैसा स्थूल शरीर । ये दोनों शरीर बनने और बिगडनेवाले हैं । इस जीव का और एक कारण शरीर है वह मुक्ति मिलने तक रहता है ।

अखंड जीवन ।

ऊपर बताये प्रत्येक शरीर के जन्म और विनाश होते हैं ऐसा कहा, वह स्थूल और सूक्ष्म शरीर के जन्म और विनाश हैं । परंतु मनुष्य का कारणशरीर मुक्तितक इसके पास रहता है, इसी में सब संस्कार रहते हैं, जो सच्चा मानवी जीवन है, जो जीवन सहस्रों जन्ममृत्यु होनेपर भी अखंड रहता है, वही इसके कारणशरीरका जीवन है । और यही सच्चा मानवी जीवन है, जिसका प्रत्येक मनुष्यको विशेष विचार करना चाहिये । स्थूल शरीरमें जो कुछ बुरा भला किया जाता है वह संस्काररूपसे इसमें संग्रहित होता है। कोई विचार उच्चार अथवा आचार जो मनुष्य करता है उसका प्रभाव बुरा या भला इसपर पडता है । मानो मनुष्यका सब बुराभला चरित्र यहां सूक्ष्मरूपमें रहता है । इसी लिये मनुष्यको उचित है कि उसके विचार-उच्चार-आचारमें सदा पवित्रता रहे । किसी भी समय अपवित्रता न रहे, क्यों कि जितनी अपवित्रता की जायगी, उतनी किसी न किसी समय धोनी ही पडेगी ।

इस लिये ही यहां कहा है कि " शुभ कर्म करनेवाला कभी नाशको प्राप्त नहीं होता है ।" योगसाधन करनेवाला साधक यदि सिद्धि प्राप्त होनेके पूर्व मर चुका, तो उसके संपूर्ण संस्कार उसके इस कारणदेहमें संग्रहित रहते हैं, स्थूल सूक्ष्म देहोंके विनाशसे उसमें कोई क्षति नहीं होती । यही अपने जीवनका रहस्य है । इसी लिये इस सत्यको जाननेवाला साधक कभी अपने स्थूल देहकी सुरक्षाके लिये सत्य धर्मका विच्छेद नहीं करता, परंतु सत्य धर्मकी रक्षाके लिये अपने स्थूल देहका नाश होनेका प्रसंग आया तो उस समय वह आनंदके साथ स्थूल देहका अर्पण करता है। क्यों कि स्थूल देह नाशको प्राप्त होना ही है, जो अखंड रहनेवाला है वह इससे भिन्न ही है ।

अर्जुन भी जिस नाशके लिये डरता था वह इस स्थूल देहका नाश था । जीवके अखंड जीवनमें इस देहका स्थान एक बिंदुमात्र है । जीवके संपूर्ण अखंड जीवनकी हानि यदि इस स्थूल देह के कारण होने लगी, तो कौन ज्ञानी मनुष्य इस बिंदुमात्र जीवनवाले इस स्थूल देहकी रक्षा करेगा ? अतः भगवान् अर्जुनको यहां सूचित करते हैं कि हे अर्जुन! तू यदि योगसाधनरूप शुभ कर्म करेगा, तो उसका नाश कभी नहीं होगा । इस स्थूल देह के जीवन के लिये तू इस अखंड जीवन का बिगाड न कर । केवल इसी स्थूल देह का जीवन पूर्ण जीवन है ऐसा मानना बडाभारी भ्रम है और यही अज्ञान है ।

योगभ्रष्टकी गति ।

योगसाधन—सत्कर्म—करते हुए मरण आ-गया, तो आगे क्या होगा, इस शंका की निवृत्ति के लिये योगभ्रष्टकी गति कैसी होती है, इसका स्पष्ट निर्देश भगवान् करते हैं । (पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य) वे योगसे विचलित हुए साधक इस स्थूल देह के नाश के पश्चात् ऐसे उत्तमोत्तम लोकोंमें जाते हैं कि, जहां पुण्यकर्म करनेवाले

लोग रहते हैं और अपने पुण्यकर्मोंका फल भोगते हैं। वे ऐसे शुभ लोकोंमें जाकर निवास करते हैं। वहां पहुंचकर (शाश्वतीः समाः उषित्वा) वहां बहुत समय रहकर फिर आगे का मार्ग आक्रमण करनेके लिये इस कर्मयोनिमें अर्थात् इस नरदेहमें अवतीर्ण होते हैं।

वहां उन पुण्य लोकोंमें ये कितने समय रहते हैं, इसका परिगणन करना असंभव है। क्योंकि जैसा जिसका सुकृत होगा, वैसा उसका वहां निवास हो सकता है। (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति) पुण्यसंचय समाप्त होतेहि इस मर्त्य लोक की नरयोनीमें जन्म लेना ही पडता है। यहां "शाश्वतीः समाः" शब्द है। शाश्वत समय का अर्थ सदा के लिये ऐसा होता है। परंतु यहां सदा के लिये ऐसा अर्थ अभीष्ट नहीं है। शाश्वत शब्दका अर्थ और दूसरा कुछ भी नहीं है। यदि चिरकाल यहांहि रहना होगा तो पुनरावर्तन नहीं हो सकता, और यदि पुनर्जन्म मानना है तो यहां चिरकाल निवास नहीं हो सकता। यह आपत्ति टालनेके लिये 'शाश्वतीः समाः' का अर्थ सभी भाष्य और टीकाकारोंने 'बहुत वर्ष' ऐसा किया है। परंतु 'शाश्वत' शब्दका अर्थ 'बहुत' ऐसा होता है, इस विषयमें प्रमाण नहीं है। सभी कोशकार इस का अर्थ 'अनन्त' ऐसा करते हैं। अतः इस 'शाश्वतीः समाः' का अधिक विचार करना उचित है। उपनिषदोंमें और गीतामें यह शब्द आया है, वह प्रयोग अब देखिये। प्रथमतः आत्माके विषयमें शाश्वत शब्दका प्रयोग देखिये —

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो०।
कठ उ० २।१८; गीता. २।२०

स्थिरः शाश्वतः। मैत्रि० उ० २।४
शाश्वतं शिवमच्युतम्। महानारा० ११।३
शाश्वतं शान्तं सदाशिवम्। नृ० पू० ५।१०
शाश्वतं वै पुराणं। अ० शिर० ५
शाश्वतेन वै पुराणेन ऊर्जेन। अ० शि० ५
ब्रह्म शाश्वतम्। नाद० १६
शाश्वतं ध्रुवमच्युतम्। तेजो० ८
कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्॥ कृष्ण उ० १४
पुरुषं शाश्वतं दिव्यम्। गीता १०।१२
त्वमव्ययः शाश्वत धर्मगोप्ता गीता ११।१८
शाश्वतस्य च धर्मस्य। गीता १४।२७
शाश्वतं पदमव्ययम्। गीता १८।५६
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ गीता १८।६२

इन उपनिषदों के और भगवद्गीता के वचनों का सारांशसे यह आशय है कि- "ब्रह्म परमात्मा पुरुष शिव सदाशिव कृष्ण धर्म परमपद परम स्थान यह सब शाश्वत है। (स्मरण रखना चाहिये कि यहां का सदाशिव कृष्ण आदि शब्द प्रयोग परमात्मपरक है।)" यहां शाश्वत पद का अर्थ सदा, हमेशा, चिरकाल, अनंत काल ऐसा ही है। परंतु यह अर्थ पूर्वोक्त गीता के "शाश्वतीः समाः" पदों में नहीं है, क्यों कि जो योगभ्रष्ट की बीचकी अवस्था है, वह चिरकालिक नहीं हो सकती। उससे तो वापस आकर उस साधक को आगे का मार्ग चलना होता है। अस्तु। अब अन्य वचनोंमें जो शाश्वत शब्दका प्रयोग हुआ है, उसका विचार करेंगे। प्रथम वे वचन देखिये—

स लोकमागच्छति अशोकमहिमं तस्मिन्व-सति शाश्वतीः समाः॥ बृ० उ० ५।१०।१
अर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
ईश उ० ८
तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ कठ उ० ५।१२; श्वे० उ० ६।१२
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥
कठ उ० ५।१३; ब्रह्म० ३
कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ गीता १।४३
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते॥
गीता ८।२६

इन वचनों में कईयों में शाश्वत शब्द का अर्थ अनंतकाल ऐसा है और कई वचनोंमें बहुत समय इतना ही तात्पर्य है । इस लिये इतने वचन देखने पर भी इस का अर्थ निश्चय करने में कोई निःसन्देह प्रमाण नहीं मिला ।

आजकल ईसाई और मोहमदीय मतावलंबी लोग मानते हैं कि देह को मृत्यु होनेके पश्चात् उनका आत्मा सदा के लिये रहता है और कियामत का दिन जब आता है, तब उन कबरोंमें से सब लोग उठते हैं, परमेश्वर उनका पापपुण्य देखता है और पश्चात् उनकी योग्यता के अनुसार स्वर्ग या नरक स्थिररूपसे उनको मिलता है । इस मतमें सदा के लिये स्थिति होती है ऐसा जो वर्णन है, उसका कारण उक्त उपनिषद् और गीताके वचनोंमें 'शाश्वत' पदका प्रयोग किया है, उसका अनुवाद करनेवाले के ध्यानमें उसका अर्थ 'बहुतकाल और अनंतकाल' इनमें से कौनसा लेना चाहिये इस का ठीक निश्चय नहीं हुआ । यदि वह निश्चय होता तो वह 'बहुत समय' इतनाही अर्थ करता और जो भ्रान्ति उनके तथा उनके सदृश मतों में हुई है वह न होती ।

कालातीत स्थिति ।

वस्तुतः मरणोत्तर की स्थिति सदाके लिये नहीं हो सकती । वह बहुत समय के लिये होना संभव है । दूसरी बात यह है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर छूटनेपर की जो स्थिति है अर्थात् जो कारणशरीरपर की अवस्था है, उसमें काल के परे की स्थिति होने के कारण कालके मापसे उसका वर्णन करना असंभव है । निद्रा में कालका पता नहीं रहता, हम पूर्व और उत्तर जाग्रती में घडी देखते हैं और काल का पता लेते हैं । परंतु यदि किसी को दो तीन दिनके पश्चात् उसी समय जाग आगयी तो उसको कितने घण्टे सोनेका समय व्यतीत हुआ, इसका पता भी नहीं चलेगा । अर्थात् एक मनुष्य रात्रिके १० बजे सोता और चार बजे उठता है, अर्थात् वह छः घण्टे सोता है, यदि वह और २४ घण्टे निद्रामें रहा अथवा और ४८ घण्टे निद्रा में रहा और ठीक चार बजे उठा तो बीचके २४ या ४८ घण्टे सोनेके समयका ज्ञान उसको नहीं होगा । तारीख बदली देखकर वह ज्ञान होगा, यह बात दूसरी है । ऐसा होने का कारण वह ऐसी 'भूमा' अवस्था में पहुंचा होता है कि जो स्थल और काल के परेकी अवस्था है । मृत्युके पश्चात् भी यही अवस्था प्राप्त होती है, इस लिये वहां के वर्ष इतने बीते यह कहना असंभव है । क्यों कि वहां एक क्षणसा विदित हुआ तो भी यहां के कई वर्ष, या बीसियों वर्ष व्यतीत होना संभव है । इस अखंडित जीवन का वर्णन करने के लिये यहां 'शाश्वतीः समाः' ऐसा शब्द प्रयोग किया होगा ।

शुभ जन्म ।

पूर्वोक्त रीतिसे पुण्य लोक में स्थिति होनेके पश्चात् जो उसका जन्म होता है उस को शुभ जन्म कह सकते हैं । क्यों कि वह शुद्धाचारी श्रीमान् लोगोंके घर अथवा योगियोंकेहि घर में होता है । जहां इस का आगेका साधन निर्विघ्न होगा, ऐसे शुभ, पवित्र, और पुण्यवान् साधनसंपन्न सत्पुरुषोंके घरमें जन्म होता है । जिससे बालपनसेहि वह सद्वचन सुनता है, सदाचार देखता है, सत्कर्मका अनुकरण करता है और उसका प्रतिदिन सुधार हि होता जाता है । शुद्धाचारसंपन्न सज्जनोंके घरमें जन्म होनेसे रजवीर्यकी शुद्धता रहनेके कारण उसका शरीर शुद्ध रहता है । खानपान पवित्र रहते हैं, आचार विचार पवित्र रहते हैं और सब मर्यादा धर्मानुकूल रहनेके कारण उसकी गिरावट होनेका संभव नहीं होता । इस लिये समझना चाहिये कि इस प्रकारका जन्म यह अत्यन्त दुर्लभ है ।

पुण्य गृहस्थाश्रम।

जो गृहस्थाश्रम पुण्यकारक है वह इस शुद्ध श्रीमान् योगियोंकाही है। ऋतुकालमें गमन करनेमेंभी यहां उनको पुण्य ही प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसे योगसाधन करनेके लिये जन्म लेनेवाले आत्मा आकाशमें संचार करते हुए अपने लिये जन्म लेनेका अवसर देखते रहते हैं। यदि मातापिता अपवित्राचारी होंगे, तो वे अपवित्र स्थानमें प्रवेश नहीं करते, परंतु यदि मातापिता पवित्र होंगे तो वैसे योगी जीव जन्म लेकर साधन करने द्वारा कृतकृत्य बननेके लिये वहां प्रविष्ट होते हैं, इन्हीं गृहस्थियोंका स्त्रीसमागम यज्ञ हुआ करता है। इसका वर्णन उपनिषद्में कैसी गंभीरताके साथ किया है, देखिये—

> योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति ते अंगारा अभिनन्दा विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति॥ बृ० उ० ६।२६

'यह गृस्थाश्रमका संबंध एक बडा यज्ञ है, इसमें रेतकी आहुती डाली जाती है और इसी यज्ञसे पुरुषकी उत्पत्ति होती है।" वीर्य सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है, इससे अधिक मूल्यवान् पदार्थ मनुष्यके पास दूसरा नहीं है। ऐसे अमूल्य पदार्थका दान इस यज्ञमें होताहै,इस लिये इसका पुण्य बडाभारी है। परंतु वह ऐसे ही धार्मिक गृहस्थियोंको प्राप्त होता है, प्रत्येक विवाहितको वह प्राप्त नहीं होता। जिस वीर्यदानसे ऐसे योगभ्रष्ट पवित्र आत्माका जन्म होता है और उसको अपनी आगेकी साधना करनेका शुभ अवसर मिलता है। एक योगीको ऐसा साधन करनेका अवसर प्राप्त कर देनेका अधिकार ऐसे गृहस्थियोंकोही है। इसलिये ऐसे गृहस्थाश्रमी बडे धन्य हैं। प्रत्येक गृहस्थ ऐसा धन्य बने, परंतु कितने लोगोंको यह धन्यता प्राप्त होती है इसका विचार पाठक ही करें। जो गृहस्थाश्रम ऐसा पुण्यकारक है, वही आजकल पापका स्थान बना हुआ है, यह अत्यंत दुःखकी बात है।

पूर्वसंस्कारोंकी प्राप्ति।

इस प्रकार पवित्राचारी योगियोंके घरमें जन्मा हुआ बालक बालपनसेहि पवित्र आचार विचारमें बढता है, अनुकरण करनेके लिये उसके सामने दूसरा कोई अशुभ विचार उच्चार आचार रहता नहीं। पूर्वजन्मके सब योगसाधनके संस्कार उसके कारणदेहमें संग्रहित होते ही हैं। चारों ओरके परिशुद्ध वातावरणसे वे पूर्वसंस्कार जाग उठते हैं और वह आगेका साधन करनेके लिये प्रवृत्त होता है। किसी किसी समय इसकी परिस्थिति और प्रकारकी होगई तो भी आन्तरिक संस्कार उसे योगसाधनकी ओर खींचते हैं और वह परवशसा होकर योगसाधनमें खींचा जाता है और अन्तर्बाह्य परिशुद्धता होनेके कारण उसकी प्रगति उस साधनमें अतिशीघ्र होती है। किसी तरह रुकावट न होनेके कारण वह सहज ही में सिद्धि को प्राप्त करता है। इस कारण 'योगभ्रष्ट' की अवस्था बडी उच्च होती है।

कई लोग शब्दवाद अर्थात् शास्त्रार्थ करनेमें बडेहि चतुर होते हैं (शब्दब्रह्मणि निष्णातः), ऐसे शब्दशास्त्री लोग यद्यपि जगत् में बडे चतुर समझे जाते हैं, तथापि उनका चातुर्य केवल शब्दोंको बर्तनेमें हि होता है। इनसे कई गुणा (योगस्य जिज्ञासुः शब्दब्रह्म अति वर्तते) योगसाधन में जिज्ञासा रखनेवाला श्रेष्ठ होता ह। फिर योगसाधन करनेवाला तो उस से श्रेष्ठ होने में कोई शंका ही नहीं। केवल शब्दज्ञान से व्यवहारज्ञान अधिक महत्त्वका है, इसमें संदेह नहीं है। जैसा "जलस्नानसे शरीर की पवित्रता होती है" इतना शब्दज्ञान किसी को है, परंतु

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

अन्वयः— योगी तपस्विभ्यः अधिकः, ज्ञानिभ्यः अपि च अधिकः मतः, योगी कर्मिभ्यः चः अधिकः, तस्मात्, हे अर्जुन ! त्वं योगी भव ॥ ४६ ॥

योगी तपस्वी लोगोंसे अधिक है, ज्ञानियोंसे भी अधिक माना जाता है, योगी कर्म करनेवालोंसे भी अधिक है, इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी हो ॥४६॥

वह कभी स्नान नहीं करता, उसे उस स्नान से क्या लाभ हो सकता है? परंतु यदि कोई जल-स्नान के सब गुण नहीं जानता, परंतु प्रतिदिन स्नान करता है, तो वह स्नान करनेवाला केवल स्नान के गुण जाननेवालेसे कई गुणा अधिक श्रेष्ठ है । क्यों कि वह आचरण करता है । इस कारण योग का शाब्दिक ज्ञान होनेसे योग का आचरण हो गया तो अधिक लाभ होता है ।

सिद्धिलाभ ।

पूर्व जन्म के संस्कारोंसे यह योगी उत्तम परिस्थितिमें जन्म लेकर, उसी परिस्थितिमें पाला जाकर, स्वभावप्रवृत्तिसेहि योगसाधनमें तत्पर हो जाता है । (प्रयत्नात् यतमानः) प्रयत्न करता हुआ वह योगी अपने (सं-शुद्ध-किल्बिषः) सब पाप धोकर परिशुद्ध बनकर, (अनेक-जन्म-संसिद्धः) अनेक जन्मोंसे अपनी उन्नति करता हुआ, सिद्ध बनकर (परां गतिं याति) परम गतिको प्राप्त करता है । अर्थात् जो मनुष्य-जन्मका सार्थक्य है वह उसे प्राप्त होता है अथवा वह कृतकृत्य बनता है । यह परम उच्च स्थिति है, यही ब्राह्मी स्थिति है । मनुष्य इस स्थितिको प्राप्त होने के लिये ही इस संसारमें आया है, वह स्थिति उसको इस तरह प्राप्त होती है । एक ही जन्ममें सिद्धि प्राप्त होनी चाहिये, ऐसा आग्रह किसी काम का नहीं है । प्रयत्न करना साधकके आधीन है । अतः साधक प्रयत्न करे, सिद्धि इस जन्ममें न मिली तो दूसरे जन्म में मिलेगी । स्मरण इस बातका रखना चाहिये कि—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥

"कोई शुभ कर्म करनेवाला मनुष्य कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता ।" इस परमेश्वर के आदेशका स्मरण रखकर मनुष्य अपना योग-साधन करे । कितना समय लगता है इस का विचार साधक न करे, क्यों कि कहा है —

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् । २।४०
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ॥ ७।१९
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ६।४५
(गीता)

इस तरह अनेक जन्मों के संस्कार लगते हि हैं । इस लिये आज जो अपना कर्तव्य होगा, उसको अच्छी तरह पूर्ण रीतिसे निभाना चाहिये। तब जाकर अन्तमें सिद्धि अवश्य होती है । शीघ्रता करनेसे कोई विशेष लाभ नहीं होगा । योगसाधन करना ही अपना उद्देश्य बनाना चाहिये, क्यों कि सब साधनोंमें यही साधन श्रेष्ठ है, इस विषयमें भगवान् के तेजस्वी वचन देखिये—

(४६—४७) पूर्व स्थानमें कहा कि 'शुभ कर्म करनेवाला योगी कभी नष्ट नहीं होता ।' शुभ कर्म अनेक हैं- जैसा तप करना, शास्त्राभ्यास करके ज्ञान संपादन करना, शास्त्रोक्त कर्म करना, योगसाधन करना, और भक्ति करना आदि सब मार्ग हैं । इनमें कौनसा मार्ग उत्तम है, अधिक लाभकारी है, निःसन्देह हित करनेवाला है,ऐसी

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अन्वयः- सर्वेषां अपि योगिनां यः श्रद्धावान्, मद्गतेन अन्तरात्मना मां भजते, सः मे युक्ततमः मतः ॥ ४७ ॥

सब ही योगियोंमें जो श्रद्धावान् मुझमें अपने अन्तरात्माको लगाकर मुझे भजता है, वह मुझे सबसे अधिक मान्य है ॥ ४७ ॥

भावार्थ— तपस्वी, शास्त्रके ज्ञाता और कर्मकाण्डियोंसे योगी अधिक उत्तम है, इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य योगी बने। इन सब योगियोंमें भी जो अपना अंतःकरण परमेश्वरमें एकनिष्ठासे लगाता है और श्रद्धासे भक्ति करता है, वह योगी भक्त ईश्वरको अधिक प्रिय होता है अर्थात् वही शीघ्र परम गति प्राप्त करता है॥४६.४७

शंका यहां हो सकती है। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि, तपस्वियोंसे योगी श्रेष्ठ है। जो हठ से शीत उष्ण सहन करना, उपवास करना, धूम्रपान, चांद्रायण आदि करना ये और इस प्रकारके तपका अनुष्ठान करते हैं, इन तपस्वियोंसे योगमार्ग अधिक अच्छा है।

दूसरे ज्ञानी हैं, शब्दब्रह्ममें निष्णात (शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः। ब्र. बिं. १७; मैत्री. ६।२२) अर्थात् शाब्दिक ज्ञानमें चतुर, व्याख्यान देने, प्रवचन करने, शास्त्रार्थचर्चा करनेमें बडे निपुण जो होते हैं, जिनका शब्दज्ञान सुनकर सुननेवालोंको संतोष होता है, परंतु अनुभवका ज्ञान जिनके पास नहीं होता, वे शब्दशास्त्रज्ञ यहां ज्ञानी शब्दसे लिये जाते हैं। इसके पूर्वके श्लोकमें --

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।

कहा है। योगका जिज्ञासु शब्दशास्त्रीकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है, वही बात यहां (ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः योगी) ज्ञानियोंसे योगी अधिक है। इस वाक्यमें कही है। शाब्दिक पांडित्य कुछ विशेष कामका नहीं है। उसके साथ प्रयोगका कौशल्य अवश्य चाहिये।

कर्ममार्गी जो अज्ञानसे शास्त्रोपदिष्ट कर्म करते हैं, वे कुछ भी उपपत्ती नहीं जानते। इस लिये (अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ कठ उ. २।५) अन्धेके पीछे जानेवाले अन्धोंकी उपमा उपनिषत्कारोंने इन कर्मठोंको दी है। इनसे योगी अच्छा है क्यों कि वह जो करता है वह बडे कौशल्यसे और समताभावसे करता है। इस लिये कर्मठोंसे योगी अधिक श्रेष्ठ है।

इस तरह हठसे तप करनेवालों, शास्त्रचर्चा अथवा शास्त्रवाद (या वेदवाद) में रमनेवालों और कर्मवादियोंसे योगी अधिक उच्च है, ऐसा यहां कहा। यहां आया हुआ 'ज्ञानी' शब्द 'तपस्वी और कर्मी' इनके मध्यमें पडा होनेके कारण, इनके साहचर्यसे ज्ञानमार्गीका वाचक नहीं है,केवल सामान्य ज्ञान,शास्त्रज्ञान,केवल शाब्दिक ज्ञानका वाचक है। जिसकी निन्दा इससे पूर्व 'वेदवादरत' (गी. अ. २।४२), 'शब्दब्रह्माति-वर्तते' (गी. ६।४४) इत्यादि स्थलोंमें की है। हठी, तपस्वी और कर्मियोंमें यही शब्दशास्त्री आसकते हैं। ज्ञानमार्गीकी तो अन्तिम श्रेष्ठता की स्थिति है। क्यों कि कर्म, योग आदिसे वह अन्तिम ज्ञान होता है और इसलिये वह ज्ञान योगसे कनिष्ठ नहीं हो सकता। जो ज्ञान योगसे

कनिष्ठ है वह शाब्दिक ज्ञान ही है। इस विषयमें छांदोग्य उपनिषद् अ. ७ में प्रारंभमेंहि सनत्कुमार-नारदसंवाद है वह देखने योग्य है। नारद सनत्कुमार महात्माके पास गया और कहने लगा कि मैंने वेद और शास्त्र सब पढे हैं, अब मुझे ज्ञानका उपदेश कीजिये। फिर उस सद्गुरुने नारदको उपदेश कहा। इससे वेदशास्त्रके शाब्दिक ज्ञानकी एक अवस्था है और सद्गुरु उपदेश द्वारा प्राप्त होनेवाले ब्रह्मज्ञानकी अवस्था इससे ऊंची है ऐसा स्पष्ट होता है। यही बात यहां गीतामें है।

अब रही एक शंका, वह यह है कि योगियों और भक्तोंमें कौन श्रेष्ठ है? इसका उत्तर इसी अध्यायके अन्तिम श्लोकमें दिया है। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि योगियों और भक्तोंसे 'योगी भक्त' परमेश्वरको अधिक प्रिय है। जैसा ईश्वर को 'योगी भक्त' अथवा 'भक्त योगी' प्रिय है वैसा न तो केवल योगी प्रिय है और नाहि केवळ भक्त प्रिय है। इसलिये कहा है कि संपूर्ण योगियों में 'ईश्वरमें चित्त लगाकर श्रद्धासे ईश्वरभक्ति करनेवाला ईश्वरको अत्यंत प्रिय है।'

यहां का योगी शब्द कर्मयोगी, हठयोगी, भक्तियोगी, ज्ञानयोगी आदि सब प्रकारके योगियोंका वाचक हो सकता है अथवा केवल निष्काम कर्मयोगियोंका भी वाचक हो सकता है। इस श्लोक का मुख्य आशय यह है कि 'भक्तिके जीवनके विना योग व्यर्थ है।' योगके साथ भक्ति चाहिये। यहां श्रेष्ठ भक्त-योगीके तीन विशेष लक्षण कहे हैं—

१ [मद्गतान्तरात्मा] ईश्वरमें अन्तःकरण लगाना,
२ [श्रद्धावान्] श्रद्धा अन्तःकरण में धारण करना,
३ [भजते] भजना, सेवा करना।

जो योगी इन तीन लक्षणोंसे युक्त होता है, वह सबसे श्रेष्ठ है। इन तीन लक्षणोंके साथ योगीके भी लक्षण साथ साथ देखने चाहिये—

४ [कर्मसु कौशलं] कर्ममें कुशलता (गी० २।५०)
५ [समत्वं] समत्व अर्थात् न इधर झुकना और न उधर झुकना। (गी० २।४८)
६ [कामक्रोधवेगसहनं] कामक्रोधादि वेगका सहना (गी० ५।२३)

कमसे कम ये तीन लक्षण योगीके हैं और पूर्वोक्त तीन लक्षण भक्तके हैं। ईश्वरको केवल ऐसा तीन लक्षणोंवाला भक्त भी प्रिय नहीं और केवल ऐसा तीन लक्षणोंवाला योगी भी प्रिय नहीं, परंतु छहों लक्षणोंसे संपन्न 'भक्त योगी' हि प्रिय है।

जो कर्म करनेकी कुशलता संपादन करता है, जो द्वंद्वोंके विषयमें समभाव रखता है अर्थात् अनुकूल प्रतिकूल स्थितिमें भी अपना कर्तव्यकर्म नहीं छोडता, और जो कामक्रोधादिकों को वश में करके उनके आधीन नहीं होता, वह योगी कहलाता है। कर्म कुशलतासे करना, द्वन्द्वोंसे न डरना और कामक्रोधोंको काबूमें रखना यह यहां मुख्य है। पाठक विचार करेंगे तो इतनेही से परिपूर्णता नहीं होती है, यह बात उनके ध्यान में आजायगी। भक्तोंके लक्षण इनमें मिलाये गये तो ही पूर्णता हो सकती है, इसलिये वे लक्षण अब देखिये—

१ ईश्वरमें चित्त लगाना, २ ईश्वरमें श्रद्धा रखना और ३ ईश्वर की सेवा करना, ये तीन लक्षण भक्तके हैं। ईश्वर परमात्मा अथवा परब्रह्म ये शब्द अन्तिम महाशक्तिके वाचक हैं। उस महाशक्ति में मन लगाना और श्रद्धा रखना। मनका धर्म ऐसा है कि जहां वह एकाग्र होता है उसका रूप और गुणधर्म वह स्वीकारता है। अतः वह ईश्वरमें लग गया तो वह ईश्वररूप बन जाता है, ईश्वर की शक्ति उसमें आने लगती है। जैसा लोहा अग्निमें रहनेसे अग्निके गुणोंसे युक्त बन जाता है, वैसाही मन बुद्धि आत्मा परमात्मामें लग जानेसे तद्रूप बनते हैं अर्थात् उनकी महाशक्ति थोडी थोडी इसके अन्दर आने

लगती है। यह एक विशेष लाभ है जो योगीके लक्षणोंसे विलक्षण है। योगीके लक्षणोंमें यह महाशक्तित्व मिल जाय तो निःसंदेह अधिक सफलता होगी।

अब रही ईश्वरकी भक्ति करनेकी। (भजते) भजता है का अर्थ सेवा करता है। भक्ति अथवा भजनका अर्थ नामजप करना है ऐसा लोग समजते हैं, परंतु यह अर्थ अपूर्ण है। भक्ति का मूल अर्थ सेवा करना है, (भज्-सेवायां) भज् का अर्थ सेवा करना है। इसी भज् धातुसे भक्ति, भजन, भक्त ये शब्द बने हैं। सेवा, सेवन, सेवक ये इनके अर्थ हैं। स्वामीकी सेवा कैसी करनी चाहिये? इसका उत्तर इतनाही है कि स्वामीका जो कार्य है वह सेवक करे। वेतन लेकर करेगा तो उसकी सेवाका मूल्य होनेसे उसमें गौणत्व आवेगा, और अवैतनिक सेवा करेगा तो उसकी सेवा अमूल्य समझी जायगी। क्रमशः सकाम और निष्काम कर्म इनकोही कहते हैं। सकाम सेवासे निष्कामसेवा श्रेष्ठ है, इसका कारण ही यह है।

स्वामीका जो कार्य है वह सेवक को निष्काम भावसे अर्थात् अवैतनिक भावसे करना चाहिये और अवैतनिक सेवकका सब योगक्षेम स्वामीकी योजनासे चलना चाहिये। यही भक्तिमार्गमें हुआ करता है। अनन्य भावसे भक्त सेवा करता है और ईश्वर उसका योगक्षेम चलाता है।

अब प्रश्न होता है कि भक्त ईश्वरकी सेवा कैसी करे? इस के उत्तर में इतनाही कहा जा सकता है कि भक्त वह कार्य करे कि जो ईश्वर के अभीष्ट कार्य हों। ईश्वर के अभीष्ट कार्य कौनसे हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्तसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥गी०४।८

"(१) साधुओंका परित्राण, (२) दुष्टोंका विनाश और (३) धर्मकी स्थापना ये तीन कर्म परमेश्वर के हैं, इन कर्मोंके लिये परमेश्वरको वारंवार अवतार धारण करना पडता है।" हमारे प्रभु के ये कर्म निश्चित हैं। यदि किसी भक्तको परमेश्वर की सेवा करनी हो तो वह इन कर्मों को करे, इन कर्मोंको वेतन की अपेक्षा न करके करे। संक्षेपसे यहां संपूर्ण 'भक्त-योगी' के कार्यक्रम का पता लगा। वह इस प्रकार है—

१ भक्त अपने मनमें ईश्वरकी महा शक्तिका ध्यान करे, मन को इस महाशक्तिसे परिपूर्ण करे, इसको छोडकर मन में दूसरे विचार न रखे।

२ इस महाशक्तिपर दृढ विश्वास रखे। कभी अविश्वासी न बने।

३ अपने प्रभुके कार्य "सज्जनोंका परिपालन, दुष्टोंका विनाश और मानवधर्मकी व्यवस्था" ये तीन हैं ऐसा माने। ये कार्य बदलेकी इच्छा न करता हुआ, ईश्वरकी संतुष्टिके लिये हि करता रहे।

४ ये तीन कर्म अत्यंत कुशलतासे (योगः कर्मसु कौशलं) करे। ये कर्म करनेमें किसी प्रकार दुर्लक्ष्य अथवा शिथिलता न करे।

५ शीत उष्ण हानिलाभ आदि द्वन्द्व उपस्थित होनेपर भी उन द्वन्द्वोंको तुच्छ मानकर पूर्वोक्त तीन कर्म तत्परतासे करे।

६ काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर आदि शत्रुओंको वशमें होकर उक्त कर्तव्य न छोडे, परंतु इन शत्रुओंको परास्त करके अपने कर्तव्य करता रहे।

"योगी भक्त" अथवा "भक्त योगी" ये कर्म करता है और ये कर्म प्रभुके लिये अत्यंत अभीष्ट होनेसे प्रभु इसपर अत्यंत संतुष्ट होता है। स्वामीके लिये जो प्रिय कर्म हैं वे जो तत्परतासे करता है उसपर स्वामी संतुष्ट होता है यही बात यहां है। प्रभुके कर्म ये ही हैं, भगवद्गीतामें तथा महाभारत आदिमें येही कर्म प्रभुके हैं ऐसा स्थानपर कहा है। भगवद्गीतामें अपने येही कर्म हैं ऐसी घोषणा स्पष्ट शब्दोंमें इसलिये की है कि

भक्तोंको संदेह न हो, क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये इस विषयमें विवाद उत्पन्न न हो, इसलिये प्रभुने स्वयं पूर्वोक्त श्लोकमें घोषणा की है। इससे सिद्ध है कि (१) सज्जन रक्षण, (२) दुर्जन विनाश और (३) धर्म-व्यवस्था ये तीन कर्म प्रभुको प्रिय हैं और (१) सज्जनोंको कष्ट देना, (२) दुष्टोंकी सहायता करना, और (३) धर्मकी अव्यवस्था करना ये तीन कर्म अप्रिय हैं। प्रभुको जो कर्म प्रिय हैं वेहि करने चाहियें और उसको अप्रिय हैं वे नहीं करने चाहियें। भक्त योगीके कर्तव्य कौनसे हैं और अकर्तव्य कौनसे हैं इसका निश्चित निर्देश इस प्रकार यहां हुआ है।

इस तरहका भक्त योगी मुझे (युक्ततमो मतः) अत्यंतहि मान्य है ऐसा जो यहां कहा है उसका रहस्य यहां पाठकोंके ध्यानमें आयाही होगा। इस तरहका स्वयंसेवक किस स्वामीको अप्रिय होगा? और ऐसे सेवकका योगक्षेम प्रभु क्यों न चलावेगा?

भक्तके कर्तव्य निश्चित रूपसे ये हैं। परंतु भक्तके लक्षण आज कल " नामका वारंवार उच्चार करनेवाला और दूसरा कुछ भी न करनेवाला " ऐसे समझे गये हैं। यह सचमुच इस धर्मका दुर्दैव है। इस कारणही सर्व जनतामें ऐसा एक समझ फैल गया है कि 'भक्त' बिलकुल निकम्मा होता है, परंतु पूर्वोक्त रीतिसे देखा जाय तो भक्त योगी हि सबसे अधिक उपयोगी है और जनपदका सच्चा नेता हो सकता है। ऐसे योगी भक्त बहुत ही थोडे होते हैं। और येही जनताका उद्धार करनेमें समर्थ होते हैं। पाठक आजकलकी भक्तोंकी कल्पना और भगवद्गीताकी भक्तोंकी कल्पना इसमें भूमि और आकाश जितना अन्तर कैसा है यह देखें और जो भक्तयोगी परमेश्वरको प्रिय हैं वैसे भक्तयोगी बननेका पुरुषार्थ करें और परमेश्वरके प्यारे बनकर कृतार्थ बनें। यही परम योग इस अध्यायमें कहा है॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ध्यानयोग नामक षष्ठ अध्याय समाप्त॥ ६॥

श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायके

सुभाषित.

(१) संन्यासी और योगी।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥ ६।१

" अपने कर्मका फल अपने भोगके लिये न लेता हुआ जो अपना कर्तव्य कर्म उत्तम रीतिसे करता है, वही संन्यासी और वही योगी है। अग्नि प्रज्वलित न करनेवाला और कर्म न करनेवाला सच्चा संन्यासी नहीं है।"

गेरुवे वस्त्र धारण करना, शिखासूत्रका त्याग करना, अग्निमें हवन न करना, कर्म न करना ये संन्यासीके लक्षण समझे जाते हैं, परंतु ये लक्षण संन्यासीके नहीं हैं। कर्मका फल अपने भोगके लिये अपने पास संग्रहित करके न रखना और उसका समर्पण जनताकी भलाईके लिये करना ये संन्यासीके सत्य लक्षण हैं।

(२) संन्यास और योग एक है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि ॥ ६।२

" जो संन्यास करके कहते हैं वही योग है ऐसा समझ।" अर्थात् जो संन्यास है वही योग है और जो योग है वही संन्यास है।

(३) योगीका संकल्पत्याग।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन। ६।२

" संकल्पोंका त्याग किये विना योगी होना असंभव है।" अर्थात् योगी होनेके लिये भोगसंकल्पोंका पूर्ण त्याग होना चाहिये।

(४) कर्मसे योग साधन।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ॥ ६।३

" योगमार्गपर चलनेवालेके लिये कर्म साधन है।" अर्थात् जो पुरुषार्थ प्रयत्न न करनेवाला है उससे योगमार्गका आक्रमण नहीं हो सकता।

(५) योगीका शम साधन।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ६।३

योगमें स्थिर हुए मुनिके लिये शम साधन है। अर्थात् जो योगीके लिये मन आदि संपूर्ण इंद्रियोंका शम, सर्व भोगसंकल्पोंका शमन यह साधन है।

(६) योगीका लक्षण।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ६।४

जो भोगविषयोंमें विरक्त, कर्मोंमें (कर्मफलमें) आसक्ति रहित और संपूर्ण भोगसंकल्पोंका त्याग करनेवाला है, वह योगी कहलाता है।" विषयभोगों कर्मफलों और संकल्पोंका त्याग करनेसे योग सिद्ध हो सकता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेंद्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः। ६।८

" जो ज्ञानविज्ञानसे संतुष्ट, जितेंद्रिय, शान्त और मिट्टी पत्थर और सोनेको समदृष्टीसे देखनेवाला है वह योगी कहलाता है।"

(७) आत्मोद्धार ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥६।५

" स्वयं अपना उद्धार अपनही करना चाहिये। अपनी अधोगति होनेयोग्य कार्य कभी नहीं करना चाहिये । क्योंकि स्वयं आपहि अपना हितकर्ता मित्र और आपहि अपना शत्रु है।" व्यक्ति समाज और राष्ट्रके उद्धारके विषयमें यही नियम है । स्वयं अपने उद्धार करनेके लिये अपनहि कटिबद्ध होना चाहिये और अपनी अधोगति होने योग्य कोई कर्म स्वयं कदापि नहीं करना चाहिये । जिसका वही मित्र या शत्रु है। न दूसरा कोई मित्र है और नाही दूसरा शत्रु है ।

(८) बन्धु ।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः । ६।६

" जिसने अपने आपको स्वाधीन कर लिया है वह अपना बन्धु है ।" जो अपने आपका संयम करता है वह अपने आपका मित्र हितकर्ता अथवा स्नेही है ।

(९) शत्रु ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्ततात्मैव शत्रुवत् ।६।६

" जिसने अपने आत्माका संयम नहीं किया वह अपने आत्माका हि शत्रु होता है।" जो अपने आपको स्वैर छोडता है वह अपना स्वयं शत्रु बनता है ।

(१०) महात्मा ।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः । ६।७

" जिसने अपने आपको जीत लिया और जिसमें शान्ति स्थिर होगई उसका आत्मा महान हुआ है।" अर्थात् जो स्वेच्छाचारी और अशान्त है उसका आत्मा छोटा हुआ होता है ।

(११) समभाव

सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते। ६।९

" सुहृत्, मित्र, शत्रु, उदासी, मध्यस्थ, द्वेषी, और भाई, तथा साधु और पापीको जो समान भावसे देखता है वह श्रेष्ठ है।" जिसमें पक्षपात रहित समदृष्टी है वह श्रेष्ठ है ।

(१२) योग कौन नहीं कर सकता ?

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन६।१६
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः॥३६

"अतिभोजी, अति उपवासी, अति सोनेवाला अथवा जागनेवाला योगसाधन नहीं कर सकता। "असंयमी मनुष्यसे योग नहीं हो सकता ।

(१३) योग कौन कर सकता?

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा । १७
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६

"योग्य रीतिसे आहार विहार करनेवाला, सब कर्म यथायोग्य रीतिसे करनेवाला, योग्य रीतिसे निद्रा लेनेवाला और योग्य समयपर जागनेवाला जो होगा, उसके लिये योगसाधनसे सुख होगा॥" इंद्रिय संयम करनेवाला पुरुषार्थी साधक योग साधन कर सकता है ।

(१४) संयम का साधन ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ६।२६

"चञ्चल मन जहां जहां भागने लगेगा, वहांसे उसको रोककर आत्मा के अन्दर स्थिर करना चाहिये।" इंद्रियोंके संयम का यही उपाय है।

(१५) उत्तम सुख की प्राप्ति।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ ६।२७

"जिसका मन शान्त हुआ है जिसकी भोग वृत्ति शान्त हुई है, पापबुद्धि जिसमें नहीं रही उस ब्रह्मभूत योगी को उत्तम सुख मिलता है।" जिसका मन अशान्त है, जिसमें भोगकी इच्छा है, पापभावना है उस अल्पात्माको कभी सुख नहीं मिल सकता॥

(१६) ईश्वर सेवा।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः॥

"सर्वभूतों में रहनेवाले ईश्वर को एकभाव में स्थिर हो कर भजता है।" वह सच्ची ईश्वरकी सेवा करता है। सर्व भूतोंकी सहायता करनाही सच्ची ईश्वर सेवा है।

(१७) आत्मौपम्य दृष्टी।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यः॥ ६।३२

"अपने समान सब भूतों को जो देखता है" वह परम योगी है।

(१८) मन का संयम।

मनो दुर्निग्रहं चलं, अभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते॥ ६।३५

"मन चंचल और संयम करनेके लिये कठिन है, परंतु वैराग्यसे और दीर्घ प्रयत्नसे वशमें किया जा सकता है।"

(१९) शुभकर्मकर्ता की दुर्गति नही होती।

नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ६।४०

"शुभ कर्म करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती।" शुभ कर्म करनेवाला उन्नत ही होता है। दुर्गति तो अशुभ कर्म करनेवाले की हो सकती है।

नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते॥ ६।४०

"शुभ कर्म करनेवालेका न इस लोकमें और न परलोकमें विनाश होगा।" दोनों लोकोंमें उसका अभ्युदय ही होगा। दुष्कर्म करनेवालेका ही सर्वत्र नाश होगा।

(२०) अनेक जन्मोंमें सिद्धिलाभ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥४५

"प्रयत्न से साधन करनेवाला योगी निष्पाप होकर अनेक जन्मों से सिद्धि प्राप्त करके परम गतिको प्राप्त होता है।"

श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठ अध्यायका थोडासा मनन।

ध्यान योग।

इस श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठ अध्यायमें ध्यान-योगका विचार किया है। और 'ध्यान योग' यह योगसाधनका सातवाँ योगांग है, यह योगांग इस छठे अध्यायमें कहा गया है। कुल योगके अंग आठ हैं—

यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥ तत्राहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥ शौच-संतोष-तपः-स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥ स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥४७॥ स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥ देशबंधश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥ त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥ योगदर्शन पा० २।३

इन योगदर्शनके सूत्रोंमें योगके आठ अंगोंका स्वरूप लक्षण कहा है। (१) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और असंग्रह ये पांच यम हैं, (२) पवित्रता, संतोष, तप, अध्ययन और ईश्वरभक्ति ये पांच नियम हैं, (३) स्थिरतासे सुख देनेवाला आसन कहलाता है, (४) श्वास और उच्छ्वासकी गतिका निरोध करनेका नाम प्राणायाम है, (५) अपने अपने विषयोंको छोडकर चित्तमेंहि इंद्रियोंके स्थिर होनेका नाम प्रत्याहार है, (६) किसीपर चित्तको स्थिर करनेका नाम धारणा है, (७) वहां एकताका प्रत्यय आनेसे ध्यान सिद्ध होता है, (८) वहां अपने ध्यान कार्यको भूलना और ध्यानके विषय का ही केवल भास होनेका नाम समाधि है। धारणा ध्यान और समाधि ये तीन एक स्थानपर रहे तो उसका नाम संयम है।

योगके ये आठ अंग हैं। इनमेंसे सातवे ध्यान नामक योगांगका विचार इस छठे अध्यायमें किया गया है। यह योगसाधन परंपरा देखनेसे पाठकोंको इस बातका निश्चय होगा कि इस अध्यायके ध्यानयोगका विचार करनेके समय इसके पूर्वके छहों अंगोंका विचार होना चाहिये और ध्यानसे सिद्ध होनेवाले अन्तिम समाधिका भी थोडासा विचार करना चाहिये। इस तरह यह गीताका छठा अध्याय अष्टांगयोगका ही विचार करता है।

यहां पाठक पूछेंगे कि गीतामें इस अष्टांग योगका प्रकरण क्यों आया है ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि व्यक्ति की परम उन्नति करनेवाली योगविद्या है, और भगवद्गीताका ध्येय व्यक्तिकी परम उन्नति है इसलिये यहां इस अष्टांगयोगका साधन बताया है। वस्तुतः गीतामें यह योगसाधन थोडासाहि कहा है, विशेष साधनाके लिये योगदर्शन, हठयोगप्रदीपिका, घेरंडसंहिता आदि ग्रंथ देखने चाहिये। परंतु गीतामें जितना योगका भाग कहा है उतना हरएक मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक भाग है। कोई साधक योगका विशेष साधन करे या न करे, वह उसकी संगति का प्रश्न होगा, परंतु सर्व साधारणको गीतामें कहा योगसाधन तो अवश्यमेव करना चाहिये। यमनियमादि योगसाधन अतिसंक्षेपसे भगवद्गीतामें कहा है, प्रायः कोई बात छोडी नहीं है। इसका क्रमशः विचार देखिये—

यमोंका साधन

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥

यो० द० २।३०

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और असंग्रह ये पांच यम हैं।" ये पांच नियम मनुष्यको पालन करने चाहिये। इन पांचों के विषयमें गीताका क्या कथन है वह अब देखिये—

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः॥ गी० १०।५॥ अहिंसा क्षान्तिरार्जवम्॥ गी० १३।७ अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्॥ गी० १६।२॥ ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ गी० १७।१४

उपनिषदोंमें भी—

यत्तपोदानमार्जवमहिंसा०॥ छां० उ० ३।१७।४
स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा०॥ प्राणा० उ० ४
ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च॥ आरुणे० ४

इस प्रकार उपनिषदों में भी अहिंसाके विषयमें आचरणीय करके कहा है। पूर्वोक्त गीताके वचनोंमें 'अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य' इन तीन यमोंका उपदेश है। अपरिग्रह के विषयमें गीतामें—

निराशीरपरिग्रहः। गी० ६।१०; तेजो० उ० ३; आरुणेय उ० ४, जाबाल उ० ५

इन शब्दोंके द्वारा उपदेश दिया है। अपरिग्रह का अर्थ है भोगसाधनोंका संग्रह अपने पास न करना। भगवद्गीता का तो यह विषयहि मुख्य है। भोगों के विषयमें असंग रहने का उपदेश गीता में प्रमुख स्थान रखता है। निम्न लिखित गीता वचनों से भोगों के विषयमें असंगभाव धारण करने का उपदेश मिलता है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ गी० ३।१९॥ कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ गी० ३।२५॥ असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥ गी० १८।४९॥ बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्। गी० ५।२१॥ असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु। गी० १३।९

इस तरह अनेक स्थानोंमें भोगोंके विषयमें असंग भाव धारण करनेका उपदेश गीता में अनेक स्थानोंपर है। जो असंगवृत्ती धारण करेगा वह भोगसंग्रह अपने पास कदापि नहीं कर सकता। इस तरह इस छठे अध्यायमें 'अपरिग्रह' शब्द द्वारा इस असंग्रह वृत्ती की सूचना दी है और अन्यत्र असंगवृत्तीसे उसी भाव का वर्णन किया है। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन चार यमोंका वर्णन हमने गीता में देखा, अब एक 'अस्तेय' के विषयमें देखना है सो अब देखिये—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
गी० ३।१२—१३

"जो दान किये विना भोग करता है वह चोर है, जो यज्ञमें दान करके अवशिष्टका भोग करता है वह निष्पाप होता है, परंतु जो दान किये विना भोग भोगते हैं वे महापापी होते हैं।" इस तरह दान, परोपकार आदि न करनेवालोंको चोर स्तेन आदि प्रकार निंदनीय शब्द कहे हैं, इससे अस्तेयके विषयमें गीतामें इस यज्ञ प्रकरणमें कहा है ऐसा कह सकते हैं। गीतामें जो इन पांचों यमोंके विषयमें कहा है वह यही है। अब पांच नियमोंके विषयमें गीतामें क्या उपदेश आया है सो देखिये—

नियमोंका साधन।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ यो. द. २।३२

"पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर भक्ति ये पांच नियम हैं" अर्थात् इन नियमोंको अभ्यासमें परिणत करना चाहिये। इनके विषयमें गीता और उपनिषदोंमें क्या कहा है सो देखिये—

शुद्धताके विषयमें—

स्नानं दानं तथा शौचम्। न्यास उ. ४; कठ. श्रु. ४

शौचमिन्द्रियनिग्रहः। स्कंद उ. १२
आचार्योपासन शौचं। गीता १३।७
तेजः क्षमा धृतिः शौचं। गीता १६।३,
शौचमार्जवम्। गीता १७।१४,
शमो दमस्तपः शौचं। गीता १८।४२

संतोषके विषयमें—

संतोषं...योगाभ्यासात्। मैत्र्यु० ६।२९
धृतिर्दीक्षा संतोषः। गर्भ उ० ५
सन्तुष्टः सततं योगी। १२।१४
सन्तुष्टो येन केन चित्। गी० १२।१९
आत्मन्येव च सन्तुष्टः। गी० ३।१७

तप के विषयमें—

स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। गी० १६।१
यज्ञस्तपस्तथा दानम्। गी० १७।७
शारीरं ..वाङ्मयं...मानसं तपः।गी०१७।१४-१६
शमोदमस्तपः शौचम्। गी० १८।४२
तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। केन० ३३
तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्म। तै० उ० ३।२।१
तपसा प्राप्यते सत्त्वम्। मै० उ० ४।३
तपसापहतपाप्मा। मै० उ० ४।४
तपसा चीयते ब्रह्म। मुंड १।१।८
लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। मुंड० ३।१।५
ऋतं तपः सत्यं तपः। महाना० ८।१

स्वाध्याय के विषयमें—

स्वाध्यायान्मा प्रमदः। तै० उ० १।११।१
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ तै० उ० १।११।१
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तपः। गी०१७
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च। गी० ४।२८

ईश्वरप्रणिधान के विषयमें—

समं सर्वेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरं। गी० १३।२७

इस तरह गीतामें और उपनिषदोंमें इन पांच नियमोंके विषयमें कहा है। इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। योग दर्शनमें ये यम और नियम उपनिषदोंसे तथा तथा गीतासे लिये हैं। इन ग्रंथोंमें जो यम और नियम बिखरे हुए थे उनको पतंजलीने दो सूत्रोंमें बांध दिया है। इस तरह गीतामें स्थान स्थानपर यमनियमोंका उपदेश है। यह बात इस ध्यानयोगका अभ्यास करनेवाले पाठकोंको भूलना नहीं चाहिये।

यमनियम क्या हैं ऐसा प्रश्न यहां कोई कर सकता है। इसके उत्तरमें बहुत कुछ कहा जा सकता है, परंतु यहां विस्तारसे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। मनुष्यका वैयक्तिक आचरण और सामुदायिक आचरण कैसा होना चाहिये इस का विचार यम नियमोंसे होता है।

मनुष्य दूसरोंके साथ आचरण करनेके समय अहिंसक वृत्ती धारण करे, सत्य पालन करे, चोरी न करे, ब्रह्मचर्य पालन करे अर्थात् व्यभिचारादि न करे, और भोगोंका संग्रह अपने पास करके दूसरोंको भूखा रखनेका हेतु न बने। इन पांच सूचनाओंको मनुष्य अपने मनमें धारण करे और तदनुसार अपना आचरण करे।

अब व्यक्तिगत व्यवहार करनेके समय मनुष्य पांच नियमोंको ध्यानमें धारण करे। स्वयं पवित्र रहे और अपना स्थान पवित्र रखे, मनमें संतोषको स्थिर रखे कभी असंतुष्ट न रहे, शीतोष्ण सहन करनेका अभ्यास बढावे, विद्याध्ययन करके ज्ञानसंपादन करे, और ईश्वर भक्ति करे। वैयक्तिक आचार व्यवहार के लिये ये नियम उत्तम हैं। इनसे मनुष्यकी और समाजकी निःसंदेह उनति होती रहेगी।

आसनोंका अभ्यास।

स्थिरसुखमासनम्। यो० द० २।४६

जिससे स्थिरता पूर्वक सुख प्राप्त होता है वह आसन कहलाता है। अर्थात् आसनों के अभ्याससे शरीर के पुट्ठोंमें बल उत्पन्न होता है और सुख होता है। इस को आरोग्य का सुख कहते

हैं। आसनों के विषयमें भगवद्गीतामें कुछ विशेष वर्णन नहीं है। क्यों कि इसमें केवल ध्यान के लिये आवश्यक आसन का ही वर्णन है। आरोग्य के लिये जो अन्यान्य आसन करने आवश्यक हैं उनका वर्णन यहां करनेकी आवश्यकता ही नहीं है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥११
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः१३

"सीधे सरल और पवित्र स्थानपर अपना स्थिर आसन लगाना उचित है। दर्भासनपर कृष्णाजिन और उसपर धोती रखकर उत्तम मृदु सुखदायी, ऊंचा न हो और नीचा भी न हो, ऐसा आसन बनाया जावे। उस आसनपर मस्तक गर्दन और शरीर समरेखामें धारण करते हुए अपना आसन स्थिर करके लगाया जावे। और मन एकाग्र करके, सब इंद्रियोंकी क्रियाओं को बंद करके, मनका निरोध करके, ईश्वरपर चित्त लगाकर, परमेश्वरकाही ध्यान करे।" इस प्रकार यह ध्यानयोगके लिये सुखासन अथवा इसी प्रकारका कोई आसन लगाना योग्य है। परंतु जो आसन शरीर स्वास्थ्य के लिये करने होते हैं वे अन्य हैं। उनका उल्लेख स्वतंत्र ग्रंथमें पाठक देख सकते हैं। आसनाभ्यास के पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये--

प्राणायामका अभ्यास।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ यो० द० २।४९

"श्वास और उच्छ्वास की गति बंद करनेका नाम प्राणायाम है।" श्वास और उच्छ्वास की गतिको रोकनेसे जो स्तब्धपन आता है वह प्राणायाम कहलाता है। इस प्राणायामके अनेक प्रकार हैं जो योगके ग्रंथोंमें कहे हैं। प्राणायाममें कुंभकका महत्त्व बहुतही है। कुंभकसे शरीरके रोमरंध्र शुद्ध होते हैं और कार्यक्षम होते हैं। यह लाभ सबसे विशेष महत्त्वका है। इसीसे दीर्घायु की प्राप्ति और आरोग्य प्राप्त हो सकता है। इस के अन्य लाभ बहुत हैं उनका वर्णन करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। गीतामें भी (अ० ४ श्लो० २९ और ३० में) प्राणायाम का वर्णन है, पाठक वह वर्णन यहां देखें। इतनाही प्राणायामका वर्णन गीतामें है।

यहां प्राणायाम का अभ्यास इस लिये कहा है कि प्राणायामसे प्राणकी चंचलता हट जाती है और वह स्थिर होता है। और प्राण स्थिर होनेसे मन स्थिर होता है, क्यों कि प्राण और मन परस्पर के साथ संबंधित हैं। चूंकि ध्यान योग का अनुष्ठान करना है इस इसलिये मनकी स्थिरता होनी चाहिये। इसके साध्य करनेके जो अनेक साधन हैं उनमें प्राणायाम एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन है। इसी दृष्टी से गीतामें एक दोवार प्राणायामका उल्लेख आया है।

प्रत्याहारका अभ्यास।

स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इंद्रियाणां प्रत्याहारः। यो० द० २।५४

"अपने अपने विषयोंसे इन्द्रियोंको हटाकर अपने आत्मस्वरूपकी ओर उनको अन्तर्मुख करनेका नाम प्रत्याहार है।" संपूर्ण इन्द्रिय विषयोंकी ओर जाते हैं यह स्वभावधर्म है। अतः इस प्रवृत्ति से रोककर उनको अन्तर्मुख करनेका अभ्यास इस साधनमें होता है। इन्द्रियोंकी बाह्य प्रवृत्ति बंद करके उनको अन्तर्मुख करना। इससे भी मनकी चंचलता हटती है। क्यों कि बाह्य विषयोंमें चंचलता अधिक है, वहां प्रवृत्त होनेसे मनकी चंचलता बढती है और वहांसे निवृत्त होनेसे चंचलता बढानेका कारण ही नहीं रहता,

इस लिये इस साधन का अनुष्ठान ध्यानयोग के लिये अत्यंत आवश्यक है। इस के नंतर धारणा का अभ्यास है—

धारणाका अभ्यास।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। यो० द० ३।१

"किसी स्थानविशेषपर चित्तको स्थिर करने का नाम धारणा है।" किसी चित्र, मूर्ति, पदार्थ अथवा वस्तुका भाग सन्मुख रखकर उसपर अपना चित्त स्थिर करना, अर्थात् उस स्थानसे चित्तको न हिलने देना, इस का नाम धारणा है। पाठक मनमें समझें की यहां ध्यानयोग का अल्पसा प्रारंभ हुआ है। क्यों कि ध्यान नाम इसी अभ्यास के बढ जानेका है, देखो—

ध्यान का अभ्यास।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो० द० ३।२

"वहां अनुभवकी एकतानता होगई तो उसको ध्यान कहते हैं।" जो धारणामें अल्प अनुभव आता है वही ध्यानमें दृढ हो जाता है। उदाहरण के लिये देखिये कि रात्रि में आकाशमें किसी एक नक्षत्रपर आपने धारणा करनेका अभ्यास शुरू किया, तो प्रथम चित्त वहां नहीं स्थिर रहता इधर उधर विचलित होता है। जबतक विचलित होता रहता है, तब तक इधर उधर के नक्षत्र दिखाई देते हैं। परंतु जिस समय चित्त उसी एक नक्षत्रपरहि स्थिर होगा उसी समय अन्य नक्षत्र दीखना बंद होगा और संपूर्ण आकाशमें केवल वही एक नक्षत्र है, शेष आकाश केवल खाली नीले रंगका है, ऐसा दीखेगा। इस तरह केवल एक ही नक्षत्र का अनुभव आनेका नाम प्रत्ययकी एकतानता है और यही ध्यान कहलाता है। यह अष्टांगयोग का सातवां भाग है और इसी का विचार गीता के इस षष्ठ अध्यायमें हुआ है। इसी का नाम "ध्यानयोग" है। अर्थात् इस ध्यानयोग के पूर्व योगके इतने छः अंग हैं जिनका अभ्यास पाठकोंको करना चाहिये, तब इस ध्यानयोग का अभ्यास होना संभव होगा। यदि कोई मनुष्य इस प्रारंभिक अभ्यास को न करते हुए एकदम ध्यान का ही अभ्यास करेगा, तो निश्चयसे उसकी प्रगति होगी, ऐसा हम नहीं कह सकते। परंतु जो इस प्रारंभिक अभ्यासको करके इस ध्यानयोग का अभ्यास करेंगे, उनकी उसमें प्रगति निःसन्देह होगी। इस तरह विदित होगा कि सिद्धि के लिये पूर्व अभ्यास की अत्यंत आवश्यकता है। अस्तु। इस रीतिसे ध्यानयोग का स्थान कितना उच्च है, इस बात का पता पाठकों को लग सकता है।

ध्यानयोग का साधन।

ध्यानयोग का अनुष्ठान करनेका उपदेश इस अध्यायमें किया है, इसी का विचार अब करना है। सब से प्रथम आसन तैयार करना है, यहां आसन वह है कि जिसपर बैठा जाता है। यहां कहा आसन पूर्वोक्त अष्टांगयोग का व्यायाम का आसन नहीं है। आसन तैयार करनेके विषयमें गीतामें जो कहा है वह इसके पूर्व बताया हि है। दर्भासन, उसपर कृष्णाजिन, उसपर उत्तम धौत वस्त्र रखकर अधिक ऊंचा न हो और अधिक नीचा न हो ऐसा सुयोग्य आसन बनाना योग्य है। (गी० ६।११-१३) ऐसे आसनपर एकाग्रचित्त होकर साधक बैठे और अपना साधन करे। साधन के समय वह युक्ताहारविहार बने। इस विषयमें कहा है --

युक्ताहारविहार।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः। न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥ युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥ असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥ गी० ६

"अधिक भोजन करनेवाले, बिलकुल उपवास करनेवाले, अतिनिद्रा लेनेवाले अथवा केवल अति जागनेवाले से योगसाधन नहीं हो सकता। साधक भोजन आहार विहार तथा कर्म आदि योग्य रीतिसे नियमित रीतिसे करे, किसी प्रकार अनियम न करे। जागना, सोना, खाना, पीना, कर्म करना, आदि सब यथायोग्य मर्यादासे करे। अपने आपको संयमित रीतिसे कार्य में प्रवृत्त करनेवाला साधक योगमें सिद्धि प्राप्त कर सकता है। परंतु जो असंयमी है वह सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः ध्यानयोग का साधक किसी भी कारण अत्याचार न करे, अत्याचारीका योगसाधन सफल नहीं हो सकता। साधक इस मर्यादाका स्मरण रखे।

मनकी की स्थिरता।

ध्यानयोगसे मनकी स्थिरता साध्य की जाती है। मन अत्यंत चंचल है, किसी समय एकाग्र नहीं हो सकता। इसको एकाग्र करनेके लिये ही ध्यानयोग का साधन करना होता है।

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥३६॥

"मन अत्यंत चंचल है, बडा हठी है, बडा मथनेवाला है, बडा ही बलवान् है, इस का निग्रह करना कठीन काम है। अभ्याससे अर्थात् वारंवार प्रयत्न करनेसे और विषयोंसे दूर रहनेसे मनकी स्थिरता की जा सकती है। यद्यपि वायुकी गठडी बांधनेके समान मनको एकाग्र करना कठीन है तथापि प्रयत्नसे वह साध्य हो सकता है। मन चंचल है अतः वह भटकता रहता है, जहां वह दौडकर जावेगा वहांसे उसको वापस लाकर फिर पूर्व स्थान में स्थिर करनेसे और यह अभ्यास वारंवार करनेसे मन को एकाग्र करना संभव हो सकता है। ध्यानयोगका यही अभ्यास है।

पूर्वोक्त आसनपर बैठना और किसी पूज्य वस्तुपर चित्त की एकाग्रता करना। मन अन्यत्र गया तो वहांसे उसको वापस लाकर उसी इष्ट वस्तुपर उसको स्थिर करना। यही अभ्यास है। यही वारंवार करनेसे ध्यानयोग साध्य होता है। सब अभ्यास इस विधिमें आगया। पाठक इस विधिको अच्छी प्रकार समझें और तदनुसार अभ्यास करें।

आत्मौपम्य दृष्टि।

ध्यानयोग का अथवा संपूर्ण योग का साधन करनेके लिये आत्मौपम्यदृष्टि की अत्यंत आवश्यकता है। इसके विना योग की सिद्धता नहीं हो सकती। यह दर्शाने के लिये कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
गी० ६।३२

"अपने समान सर्वत्र जो देखता है, अर्थात् अपने समान सब को सुख और दुःख होता है, ऐसा जो मानता है, उसको परम श्रेष्ठ योगी कहते हैं।" आत्मौपम्यदृष्टिसे हि यह परमश्रेष्ठता प्राप्त होती है। किसी देवता का ध्यान करनेवाला, मनको उसपर एकाग्र करनेवाला, यमनियम पालन करनेवाला, ध्यान धारणा करनेवाला जो योगी है, उससे कई गुणा उच्च अवस्थामें यह आत्मौपम्यदृष्टिसे अपना आचरण करनेवाला योगी रहता है। क्यों कि सर्वत्र समभावसे देखना ही योग का मुख्य लक्षण है। इसीको सर्वत्र ब्रह्मदर्शन कहते हैं। यह दृष्टि सर्वत्र आत्मसम दृष्टि रखनेसेहि प्राप्त होती है।

आत्मौपम्यदृष्टिसे सामाजिक राजकीय और धार्मिक व्यवहारमें भी बडा लाभ होता है। अपना आचरण कैसा करना उचित है इसका ज्ञान मनुष्यको इसी दृष्टिसे हो सकता है। अपनेको जैसा सुख दुःख होता है, वैसा सबको होता

है यह विचार मनमें आतेहि क्रूरता दूर होती है। क्रूरताका आचार तब तक हि रहता है जब तक यह मनुष्य मानता है कि केवल मुझेहि सुखःदुख होता है, वैसा अन्योंको नहीं होता। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है, कि संपूर्ण धर्मशास्त्र और आचारशास्त्रका उगम इसी आत्मौपम्य दृष्टिसे हुआ है। यदि धर्मशास्त्रमेंसे आत्मौपम्यदृष्टि हटाई जायगी तो वहां स्थानपर कोई धर्मशास्त्र स्थिर नहीं रहेगा। इतना आत्मौपम्यदृष्टिका महत्त्व है।

समबुद्धि।

आत्मौपम्यबुद्धिके समानहि समबुद्धि धारण करनेका महत्त्व इस योगसाधनमें अत्यंत है। समबुद्धिके विना कोई मनुष्य ध्यानयोग कर नहीं सकता, तथा ध्यानयोग करने लगा और समबुद्धि न हुई तो सिद्धि भी उसको प्राप्त नहीं हो सकती। समबुद्धिका वर्णन गीतामें कई स्थानोंपर आगया है, और इसी अध्यायमें भी इस प्रकार वर्णन हुआ है—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥
गी० ६।९

"मित्र शत्रु, सुहृत् द्वेष्य, साधु पापी, मध्यस्थ उदासीन, बन्धु और परकीयके विषयमें समबुद्धि धारण करनेवाला विशेष योग्यतावाला होता है।" साधारणतया मनुष्यका स्वभाव ऐसा होता है कि वह अपने मित्रके साथ प्रेम करता है, उसके दोष छिपाता है, और शत्रुका द्वेष करता है और उसके गुण भी दोषदृष्टिसे देखता है, अर्थात् यह समदृष्टि नहीं है। मित्रकी ओर देखनेकी दृष्टि और होती है और शत्रुकी ओर देखनेकी दृष्टि और होती है। यह दो प्रकारकी दृष्टि होनेसे यह समदृष्टि नहीं है। इसमें पक्षपातका भाव है। अपने पुत्रके दोष न देखने और दूसरेके दोषही देखनेसे दुर्गुणोंका ही उत्कर्ष जगत्में हो रहा है। वह न हो और सद्गुणोंकाही प्रकर्ष जगत्में हो इस लिये इस समदृष्टिकी अत्यंत आवश्यकता है।

आत्मौपम्यदृष्टिसे जगत्के छगडे दूर होते हैं और समबुद्धिसे द्वेषका मूलही नष्ट होता है, अर्थात् यह दोनों मानवसमाजके स्वास्थ्यकी दृष्टिसे अत्यंत आवश्यक नियम हैं। अतः योगीको इनका पालन करनेकी सूचना यहां दी है।

कर्मफलका दान।

कर्मफलका लोभ न धरनेका उपदेश योगमार्गमें विशेष प्रधान स्थान रखता है। योगका ही अर्थ कौशलसे किया कर्म है और कोई भी कर्म किया जाय तो उसका कुछ न कुछ फल तो कर्ताको मिलता ही रहता है। फल बुरा हो या भला हो यह बात और है परंतु फल मिलेगा, इसमें संदेह नहीं है। प्रत्येक कर्मका फल मिलनेवाला है। फल मिलनेवाला है इसी लिये उसका फल भोगनेके लिये मुझेहि मिलना चाहिये, ऐसी भोगेच्छा साधकके अन्दर होना अत्यंत स्वाभाविक है, परंतु यह फलभोगकी इच्छा ही योगसाधनमें हानि करनेवाली है। इसलिये कहा है कि—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च॥ गी० ६।१

"जो मनुष्य कर्तव्य कर्म करता है परंतु उसका फल अपने भोगके लिये नहीं रखता, वह योगी होता है।" अर्थात् योगी होनेके लिये कर्म करना चाहिये, परंतु उसका फल अपने पास न रखते हुए सबकी भलाईके लिये अर्पण करना चाहिये। अनासक्तिके विषयमें इस अध्यायमें निम्न लिखित उपदेश आये हैं—

१ निराशीः = आशारहित, फलभोगेच्छारहित (६।१०)
२ अपरिग्रहः = जो भोगसाधनोंका संग्रह अपने पास नहीं करता (६।१०)

३ सर्वकामेभ्यः निःस्पृहः = संपूर्ण भोगेच्छाओंके विषयमें निरिच्छ, (६।१८)

४ संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः = संकल्पसे उत्पन्न होनेवाले कामोंको निःशेष रीतिसे त्यागना चाहिये। (६।२४)

५ शान्तरजस् = रजोगुण अर्थात् भोग भोगनेका गुण जिससे दूर या शान्त हुआ है। (६।२७)

कर्मका फल अपने उपभोगके लिये न रखनेका संदेश इतने वाक्य दे रहे हैं। यहां (कर्मफलं अनाश्रितः) कर्मके फलका आश्रय न करनेको कहा है। अपने लिये कर्मके फलका आश्रय न करो, फिर वह कर्मका फल कहां चला जावे? क्यों कि फल तो उत्पन्न होनेवाला ही है। यदि वह कर्ताके पास न रहा तो किसी दूसरे के पास वह अवश्य जावेगा। वह किसके पास जावे, यह प्रश्न बडे महत्त्वका है। इस त्यागके विषयमें भगवद्गीतामें कई प्रकारसे कहा है—

कर्मफलसंन्यास = कर्मके फलका सुरक्षित स्थानपर निधिरूपसे रखना,

कर्मफलदान = कर्मके फलका किसीको विशिष्ट उद्देश्यसे दान देना,

कर्मफलत्याग = कर्मके फलका विशेष उद्देश्यके विना दान देना,

कर्मफलसमर्पण = कर्मके फलका अर्पण करना।

जगतमें व्यक्ति और समाज ऐसे दो पुरुष हैं। एक व्यष्टि है और दूसरा समष्टि है। प्रत्येक मनुष्य जो कर्म करता है, उसका फल या तो व्यक्तिको मिलता है अथवा समाजको मिलता है। यदि व्यक्तिने अपने कर्मका फल अपने पास रख दिया तो वह व्यक्तिके पास रहेगा, परंतु यदि व्यक्तिने अपने कर्मके फलको अपने पास नहीं रखा, तो वह समाजके पास ही जावेगा। इस नियमको अनुभवमें देखनेके लिये हम एक उदाहरण लेते हैं। एक ग्राममें सौ मनुष्य हैं और उस ग्राममें हजार फलके वृक्ष हैं। अर्थात् प्रत्येक मनुष्यके दस दस वृक्ष हुए। प्रत्येक मनुष्य दस दस वृक्षोंका पालन यथायोग्य रीतिसे करता है। यदि किसी एक व्यक्तिने अपने दस वृक्षोंके फल अपने घरमें नहीं संग्रहित किये तो वे सब ग्रामके होंगे और वे सब ग्रामके लोगोंमें विभक्त किये जायंगे अर्थात् पाठक यह समझें कि कर्मका फल या तो कर्ताके पास रहेगा अथवा समाजके पास जायगा, वह किसी प्रकार यों हि नष्ट नहीं होगा। इसलिये कर्ता अपने कर्मका फल स्वयं भोगे अथवा उसका न्यास, दान, त्याग या अर्पण करे अर्थात् समाजको देवे। स्वयं भोगे अथवा परोपकार करे, स्वयं भोगे अथवा जनताके लिये समर्पण करे। किसी अवस्थामें कर्मका फल नष्ट नहीं होगा।

एक मनुष्य किसी स्थानपर नौकरी करता है और वेतन पाता है। यह वेतन उसके कर्मका फल है। वह स्वयं भोगनेके लिये अपने पास रखे अथवा जनताकी भलाईके लिये राष्ट्रीय महासभाको समर्पित करे। यदि वह व्यक्तिके पास न रहा, तो समाजके पास रहेगा, परंतु कदापि नष्ट नहीं होगा। व्यक्तिके पास उपभोगके लिये रहा, तो उसको संभालनेका भार उस व्यक्तिपर रहेगा, इससे व्यक्तिकी चिन्ता बढेगी, चोरी आदिका भय होगा, इस तरह चित्त व्यग्र होता रहेगा और चित्तकी एकाग्रता नहीं होगी, चित्त शान्त भी नहीं रहेगा। इस लिये कर्मका फल व्यक्तिके पास संग्रहित होकर नहीं रहना चाहिये, क्योंकि वह अनेक प्रकारके दुःखोंका कारण होता है। अतः गीतामें कहा है कि व्यक्ति कर्म तो करे, परंतु (कर्मफलं अनाश्रितः) कर्मके फलका आश्रय न करे, (अपरिग्रहः) अपने पास भोगसंग्रह न करे, (कर्मफलत्याग) कर्मके फलका सबकी भलाईके लिये दान देवे। सबकी भलाईमें अपनी भलाई है। सब राष्ट्रका अथवा सब ग्रामका सुख बढ गया तो उसमें अपना सुख बढता ही है। क्योंकि ग्रामसभा

ग्रामका और राष्ट्रसभा राष्ट्रका पालन पोषण करेगी, उससे प्रत्येक व्यक्तिका पालन पोषण होगा ही। फिर व्यक्तिको इस विषयकी चिन्ता करनेकी क्या आवश्यकता है? इस तरह गीताके अनुसार संपूर्ण राज्यव्यवस्था ही अत्यंत उच्च प्रकारकी हो जाती है। यह 'भागवत राज्यव्यवस्था' है जिसमें राज्यशासनसंस्था ही सबका यथायोग्य पालन पोषण और योगक्षेम चलाती है। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपना अपना कर्म पूर्ण कौशल्यसे करनेकी अधिकारी है, कर्मफलपर सब समाजका अधिकार है। इस प्रकारकी राज्यशासनसंस्थामें यह योग-ध्यानयोग-पूर्णतासे सिद्ध हो सकता है, अन्यथा ध्यानकी सिद्धिके लिये संपूर्ण जगत् का संबंधही छोडना पडेगा जो सर्वथा अशक्य है।

यहां पाठकोंके ध्यानमें कर्मफलत्याग की संपूर्ण कल्पना आगयी ही होगी। यह तो एक विशेष शासनसंस्थाकी ओर निर्देश है। मनुष्य जब ऐसी शासनसंस्थाकी निर्मिती करेगा, तब सब का योगक्षेम उत्तम चलेगा, और सब को योगसाधन करनेका अवसर मिलेगा और सब को सुख भी अधिक प्राप्त होगा।

भक्तगाथाओंमें भक्त ईश्वरका कर्म करते हैं और ईश्वर सब का योगक्षेम करता है, ऐसा दर्शाया है। यही भागवत-शासन-संस्था का वर्णन है। प्रत्येक व्यक्ति समष्टि के कार्य करे और समष्टि प्रत्येक व्यक्तिका उत्तम पालन पोषण करे। श्रीकृष्ण भगवान् अपने सब भक्तों का योगक्षेम चलाते थे, इन कथाओंका आशय भी यही है। सब लोग गीताके योगका अनुष्ठान करते थे, कोई भोगी नहीं होता था, और उनका योगक्षेम श्रीकृष्ण ही चलाते थे। योगी निरिच्छ होनेसे उसकी आवश्यकताएं भी अत्यंत न्यून होती हैं। आजकल भोगवासनाओंकी वृद्धि होनेसे आवश्यकताएं भी बढ गई हैं और आवश्यकताएं बढनेसे दुःख भी बढ गये हैं। इन सब दुःखोंको दूर करनेके लिये यही एक उपाय है,जो कर्मफलत्याग के नामसे गीतामें वर्णित हुआ है।

पाठक इस ढंगसे योगीके जीवन का विचार करेंगे तो उनके मनमें एक अद्वितीय राजशासन की कल्पना आसकती है। जिसमें संपूर्ण जनता इस गीतोक्त योगधर्मसे चलनेवाली होगी और जिसमें सब लोग सुखी होंगे। आशा है कि गीताभ्यासी जन प्रयत्न करके इस आदर्शसंस्थाका निर्माण करेंगे और इस गीताके पुरुषोत्तमयोग को आचरणमें लानेका यत्न करेंगे। गीताके पुरुषोत्तमयोग का ध्यानयोग एक भाग अथवा एक साधन मात्र है और कर्मफलत्याग के विना गीता का कोई योग सिद्ध नहीं हो सकता,इस का कारण यही है।

संकल्पत्याग।

कर्मफलत्याग के साथ सर्वसंकल्पत्याग का भी घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि संकल्पत्याग के विना फलत्याग हो नहीं सकता। यहां संकल्पोंमें भोगोंके संकल्पही अधिक होते हैं। अतः इस के विषयमें इस अध्यायमें वारंवार कहा है—

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ ६।२
यदा हि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ६।४
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।६।३६

"सर्व संकल्पोंका त्याग किये विना योगसाधन नहीं हो सकता।" सर्व संकल्पोंका त्याग करनेके लिये इंद्रियोंके भोग और कर्मोंके फलके भोग भोगनेकी सब कल्पनाओंको छोडना चाहिये। यहां भोगवासना की जड ही उखाड दी गयी है। जैसा बालक किसी भी भोगसंकल्पको न करता हुआ आनंदसे निर्विकार स्थितिमें रहता है, वह निसर्गसिद्ध निर्विकार स्थिति प्राप्त होनी चाहिये। संकल्पत्याग करनेसे हि वह स्थिति प्राप्त हो सकती है। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

कर्म और शम।

योगसाधन के लिये कर्म भी करने चाहिये और इंद्रियोंका शम भी करना चाहिये। प्रारंभमें कर्म की आवश्यकता विशेष है और आगे शमकी महती विशेष है। इस विषयमें कहा है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ६।३

"योगसाधन करनेके समय अर्थात् योगभूमिपर आरूढ होनेके समय कार्य करने चाहिये और जब योगभूमिपर साधक पहुंचेगा, तब उसको इंद्रियशमन सतत रखना चाहिये।" वास्तवमें कर्म और शम ये दोनों साधन योग में सतत उपयोगी हैं, परंतु प्रारंभ अवस्थामें कर्मोंका उपयोग विशेष है और उत्तर अवस्थामें शम का विशेष है। प्रारंभमें (विगतकल्मषः।६।२८) चित्तशुद्धिके लिये अनेक अनुष्ठान करने होते हैं, ये अनुष्ठान करने से जब चित्त शुद्ध होकर स्थिर हो जायगा, तब शान्तचित्त योगी के लिये इन कर्मोंकी उतनी आवश्यकता नहीं है। वह उस समय बाह्य साधनोंपर अवलंबित नहीं रहता, उस समय उसको आंतरिक साधन ही आवश्यक होते हैं। जिसका नाम शम है, इंद्रियोंकी शान्ति, संयम, इंद्रियदमन अथवा इंद्रियशमन है। इस श्लोक में साधक की प्रारंभिक और उत्तर ऐसी दोनों अवस्थाओंका वर्णन है, इस के मननसे पाठक बहुत बोध अपनी साधना के विषयमें प्राप्त कर सकते हैं। यहां जो शम कहा है उसके विषयमें पाठक इंद्रियसंयम का भी प्रयोग कर सकते हैं। शमका प्रारंभ इंद्रियसंयम ही है, इस विषयमें इस अध्यायमें ये सूचनाएं दी हैं—

१ विजितेंद्रियः, जितात्मा— साधक अपने इंद्रियोंको विशेष रीतिसे जीते, अर्थात् उनको अपने आधीन रखे, उनके आधीन न हो जावे; (६।८)

२ यतचित्तात्मा— चित्त और आत्माका संयम करे, अपने आपको अपने आधीन रखे; (६।८)

३ मनः संयम्य— मनका संयम करे; (६।१४)

४ नियतमानसः— जिसने मन को स्वाधीन किया है; (६।१५)

५ यतचित्तः— जिसका चित्त स्वाधीन हुआ है; (६।१९)

६ मनसा इंद्रियग्रामं समंततः विनियम्य— मनसे अपने संपूर्ण इंद्रियोंको सब ओर से संयमित करे। (६।२४)

इस तरह इंद्रियसंयम, मनःसंयम और आत्मसंयम के विषयमें कहा है। यही प्रारंभिक साधन है। प्रथम प्रयत्नसे करने योग्य है, परंतु आगे सहज ही सिद्ध होनेवाला है। जो पाठक इंद्रियोंको स्वाधीन करनेका यत्न करेंगे उनकोहि उनके वेगका पता लग सकता है। यह संयम का कार्य बडी सावधानता के साथ करना चाहिये। इस की साधना शनैः शनैः होनी उचित है—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ (६।२५)

"शनैः शनैः धैर्ययुक्त बुद्धिके साथ विषयोंसे निवृत्त होवे, मन अपने अंदर स्थिर करे और दूसरे किसी विषयका चिंतन न करे।" यह है साधन जो करनेसे मन शान्त, स्थिर और प्रसन्न होता है। परंतु यदि किसीने यह अनुष्ठान शनैः शनैः न किया और इंद्रियोंपर असाधारण दबाव डालनेका यत्न किया तो विरुद्ध परिणाम हो सकता है। क्यों कि सब इंद्रियां क्रान्ति करनेके भाव से खिलबिली मचाती हैं और इसकी बचैनी करती हैं। इस लिये जैसे व्याघ्र अथवा सिंह आदि पशुओंको शनैः शनैः प्रेमके साथ वशमें करते हैं, वैसेहि इन इंद्रियोंको शनैः शनैः उन्हीकी प्रवृत्तिके अनुसार चलते हुए वशमें करना चाहिये।

उदाहरण के लिये देखिये यदि जिह्वा को वश में करना है तो जिह्वा की प्रवृत्ति देखनी चाहिये, जिह्वा क्या चाहती है वह देखकर उस के अनुकूल

रहते हुए परंतु उसकी स्वेच्छाप्रवृत्तीको शनैः शनैः रोकते हुए उसपर प्रभुत्व स्थापित करना चाहिये। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंको स्वाधीन करनेका अभ्यास करना चाहिये। हठ नहीं करना चाहिये, प्रत्युत प्यारके साथ परंतु एकही संयमसाधनके उद्देश्यसे यत्नवान् होना चाहिये।

निवातस्थ दीप।

इस तरह साधन करते करते अच्छी प्रकार साधना होनेके पश्चात् स्थिरचित्त होनेका अनुभव आता है। इसको "निवातस्थदीप" (६।१९) की उपमा गीताने दी है। जैसे वायुरहित स्थानमें दीपकी ज्योति शान्त रीतिसे जलती है, वैसा इस योगीका मन शान्त होकर प्रकाशमान होता है। जब तक दीप वायुसे हिलता रहता है तब तक वह प्रकाश पूर्णतया नहीं दे सकता। वह वायुके वेगसे दोलायमान होता है और दीप रहता या बुझ जाता है इस विषयमें भी संदेह होता है। परंतु शान्त वायुमें जलनेवाले दीपके विषयमें देखिये, वह अपने पूर्ण प्रभावसे चमकता रहता है, उसके जलनेके विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। यही बात मनके विषयमें समझनी उचित है। सामान्य मनुष्यका मन चंचल रहता है। उस समय उसका कोई प्रभाव नहीं दीखता, परंतु साधनसंपन्न मनुष्यका शान्त प्रसन्न और स्थिर हुआ मन विशेष प्रभावशाली होता है। व्यवहारमें इस बातका अनुभव देखनेसे पाठकोंको चित्तकी स्थिरताका महत्त्व ज्ञात हो सकता है।

एकान्त-सेवन।

योगसाधनके लिये एकान्त-सेवनकी अत्यंत आवश्यकता है। प्रारंभमें बहुत जनसंमर्दमें जाना योग्य नहीं है, इससे मनकी चंचलता होती है। अतः कहा है—

१ रहसि स्थितः– योगी एकान्तमें रहे, एकान्त-सेवन करे, (६।१०)

एकाकी- अकेला रहे (६।१०)

दूसरा मनुष्य साथ रहा तो प्रारंभिक अवस्थामें मनकी व्यग्रता होती है। इस लिये एकान्त-सेवन करनेका उपदेश यहां किया है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि एकही गुरुके आश्रममें रहनेवाले अनेक शिष्य रहें तो भी उसको एकान्त ही कहा जा सकता है। जैसा शहरके लोगोंका उपसर्ग होकर मनकी व्यग्रता बढती है वैसी आश्रमवासी साधकोंकी संगतिसे नहीं बढती। यह विवेक करनेसे जनसंमर्दसे दूर रहनेका तात्पर्य समझमें आ सकता है। साधनका ऐसा एक समय आता है कि उस समय आश्रमवासियोंके साथ रहनेसेभी कष्ट होता है, उस समयको छडानेसे अन्य समय आश्रमवासियोंकी संगतिसे लाभ ही होता है। नगरवासियोंकी संगतिमें अर्थात् नागरिक जीवनमें इतने विक्षेप होते हैं कि उसकी गिनती करना कठिन है। नागरिक जीवन योगसाधनके लिये हानिकारकहि है। बहुत लोग साथ साथ रहनेके कारण हवा खराब रहती है, इस लिये प्राणायाम करना असंभव हो जाता है। शहरमें अनेक बीमारियोंके बीज रहनेके कारण यह भी एक बडा डर रहता है। नाटक, तमाशे, बाजे आदि अनेकविध उपसर्गके सैंकडों कारण नगरजीवनमें निसर्गसिद्ध रहते हैं। इस लिये योगके अभ्यासके समय एकान्तसेवन करनेका उपदेश किया है। वह योग्य ही है। यदि भगवद्गीताकी शिक्षाके अनुसार 'भागवत-शासन-संस्था' का राज होगा तो इस समय आजकलके नागरिक उपसर्ग उन नागरिकोंमें नहीं होंगे। परंतु वैसा भाग्य इस समयके लोगोंका नहीं है। अतः इस समयके लोगोंको एकान्त-सेवन अत्यंत आवश्यक है।

द्वन्द्व-सहन।

योग-साधन में द्वन्द्व-सहन करने का महत्त्व

विशेष है। वस्तुतः सभी मनुष्योंको द्वन्द्व सहन करनेसे लाभ होना संभव है। उदाहरण के लिये देखिये-शीत उष्ण, सर्दी गर्मी, वृष्टि जाडा आदि ऋतुओंकी जो विषमता है, वह कईयोंको सहन नहीं होती और कई लोग ऋतुपरिवर्तन के समय रोगी हो जाते हैं। ऋतुपरिवर्तन के कारण बीमार होनेका नाम ही द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति शरीरमें न होना है। सभी द्वन्द्वोंके विषयमें यह बात सत्य है। यदि मनुष्यमें द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति रही तो ऋतु बदलनेके समय मनुष्य बीमार नहीं होंगे। द्वन्द्व सहन करनेकी शक्तिसे इतने प्रत्यक्ष लाभ हैं। व्यावहारिक दशामें भी ये लाभ अनुभवमें आते हैं।

हानिलाभ, जयपराजय, मानापमान, ये भी द्वन्द्व हैं। इनके सहन करनेसे भी साधारण मनुष्यको लाभ होते हैं। जो इनको सहन नहीं कर सकते वे दुर्बल लोग हानि, पराजय और अपमान होनेसे पागल बनते हैं और उनका मस्तिष्क बिगड जाता है और वे पराजय की असह्यतामें मृत्यु को भी प्राप्त होते हैं। इस तरह द्वन्द्व की असह्यतासे हानि होती है और द्वन्द्व सहन करनेकी शक्तिसे मनुष्य निडर होकर अपने स्थानमें स्थिर रहता है। जय होनेसे वह उन्मत्त नहीं होता और पराजय होनेसे वह हताश भी नहीं होता, दोनों अवस्थाओंमें अपने कर्तव्यमें स्थिर रहता है। ऐसा ही द्वन्द्वोंको सहन करनेवाला मनुष्य इस जगत् में उच्च से उच्च स्थानको प्राप्त कर सकता है। इसलिये योगमें कहा है कि द्वन्द्वोंको सहन करो।

द्वन्द्वका अर्थ 'युद्ध' भी है। 'द्वन्द्वको सहन करो' का अर्थ 'युद्ध को सहन करो' ऐसा होता है। युद्ध को सहनेका अर्थ युद्ध में विजय प्राप्त करना है, अपनेमें ऐसा बल बढाना कि युद्धमें अवश्य विजय प्राप्त होगा। हरएक मनुष्यके सन्मुख इस जगत् में युद्ध है, अथवा यों समझो कि प्रत्येक मनुष्य युद्धक्षेत्रमें खडा है, अतः उसको यह द्वन्द्वयुद्ध सहन करना ही चाहिये, युद्धमें जो प्रतिपक्षीके शस्त्रास्त्रोंसे व्रण होंगे उनको सहना चाहिये, और उनसे आहत होकर मरना नहीं चाहिये।

पाठक विचार करेंगे तो वैयक्तिक सामाजिक राजकीय रोगविषयक अनेकानेक युद्ध चल रहे हैं और मनुष्यको उनका सामना करना पडता है। इन युद्धोंमें विजय प्राप्त करना है तो मनुष्योंको द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति अपनेमें बढाना आवश्यक ही है। अन्यथा मनुष्य परास्त होनेमें देरी नहीं लगेगी।

मनुष्यका व्यवहार विरुद्ध हो रहा है। देखिये, सभ्य मनुष्य अनेक कपडे पहनता है और चमडी की सर्दी गर्मी सहन करनेकी शक्ति उस कारण घटती है। इस लिये सर्दी गर्मी से यह रोगी बनता है। वनवासी लोग कपडे नहीं पहनते इस लिये सर्दी गर्मी की बाधा उनको नहीं होती और सर्दी हो या गर्मी, वे आनन्दप्रसन्न और स्वस्थ रहते हैं। इसी तरह अन्यान्य द्वन्द्वों के विषय में पाठक समझें। योगी के लिये तो द्वन्द्व सहन करनेका अभ्यास अवश्य ही करना चाहिये, अन्यथा उसका चित्त पूर्णतया द्वन्द्वों के साथ युद्ध करनेमें हि लगेगा और उसको एकाग्र होनेमें समय नहीं मिलेगा। अतः गीतामें कहा है—

१ शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः। समाहितः। ६।७

२ समलोष्टाश्मकाञ्चनः। ६।८

" शीतउष्ण, सुखदुःख, मान अपमान, मिट्टी पत्थर और सोना इनको सम मानना चाहिये।" सोनेका अथवा धनका प्रलोभन बडा भारी है। मिट्टी और सोना समभावसे देखना बडा कठीण है। परंतु यदि साधक ऐसा न देखेगा, तो वह सिद्धिको भी नहीं प्राप्त हो सकता। सोनेके प्रलोभनमें फंसा मनुष्य उन्नत होहि नहीं सकता।

शीत उष्णादि द्वन्द्वोंकी अपेक्षा सोने मिट्टीके द्वन्द्व बडे कठीन हैं। कई संन्यासी इसी जायदादके प्रलोभनमें फंसकर अधोगतिको पहुंचे हैं। इसी लिये द्वन्द्वोंको सहन करना चाहिये। दुःखको सहन करना सुगम है, परंतु धनसे प्राप्त होनेवाले ऐषआरामको सहन करना अत्यंत कठिन बात है। क्यों कि धनसे प्राप्त हुए अनेक साधन शनैः शनैः मनुष्यको गिराते रहते हैं। इस तरह विचार करते करते द्वन्द्वसहन करनेका तत्त्व जानना चाहिये और उसका महत्त्व समझकर अपने आचारणमें लाना चाहिये।

ज्ञान और विज्ञान।

योगसाधनके लिये ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। मुक्ति प्राप्त करनेके उपायका नाम ज्ञान है और जो सब अन्य शास्त्र-ज्ञान है उसको विज्ञान कहते हैं। सब प्रकारका ज्ञान इनमें आगया है। भगवद्गीतामें सातवें और नववें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञान सविस्तरसे कहा गया है। अन्यान्य स्थानोंमें भी कई वार ज्ञानविज्ञानका विषय आगया है। भौतिक शास्त्रोंका विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान सबका सब इसमें आता है। योगसाधन करनेवालोंको इसके तत्त्व तो अवश्य समझने चाहिये, जिससे वह सुखपूर्वक साधन करके लाभ उठा सकता है। अज्ञानी मनुष्य योगसाधनसे वैसा लाभ नहीं प्राप्त कर सकता जैसा ज्ञानविज्ञानसंपन्न मनुष्य प्राप्त कर सकता है। अतः कहा है—

१ ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा। ६।८

२ ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्। ९।१

"ज्ञान और विज्ञान जानकर अशुभसे मुक्त होकर तू शुभको प्राप्त करेगा।" अशुभसे दूर होना और शुभको प्राप्त करना यह ज्ञानविज्ञानका प्रयोजन है, और संपूर्ण जगत्का उद्देश्य यही एक है। इसलिये योगसाधन करनेवाला साधक यावच्छक्य ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करे और उसके प्रकाशमें अपना साधन करे।

ज्ञानका स्वरूप प्रकाश है और अज्ञान अन्धकारका रूप है। प्रकाशमें जैसा जानेका मार्ग दिखाई देता है वैसा अन्धकारमें नहीं दिखाई देता। इस लिये मनुष्य रात्रीके समय किसी स्थानपर जाना हो तो साथ दीप रखते हैं। इसी तरह योगी ब्रह्मनगरीका पथिक इस संसारसे अपना मार्ग आक्रमण करना चाहता है। इसको मार्ग दिखानेका कार्य शास्त्रज्ञानरूपी दीप करता है। अतः ज्ञानविज्ञानसंपन्न साधक निर्विघ्न रीतिसे अपना मार्ग आक्रमण करता हुआ ब्रह्मनगरीको पहुंचता है। पाठक यहां स्मरण रखें कि गीताका मार्ग ज्ञानमार्ग है, इसमें अज्ञानी मनुष्य प्रगति कर नहीं सकता।

निरंतर अभ्यास।

साधकको निरंतर अभ्यास करना चाहिये, अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेतक बीचबीचमें छोडना नहीं चाहिये। आज प्रारंभ किया, थोडे दिन छोड दिया, फिर कुछ दिन किया, फिर छोड दिया, ऐसा नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे कुछ न कुछ लाभ तो होगाहि, परंतु संपूर्ण लाभ कदापि नहीं होगा। अतः सिद्धि प्राप्त होनेतक निरंतर योगसाधन करना चाहिये, बीच बीचमें दूसरा कार्य करना नहीं चाहिये। जो करना हो वह योगसाधनके लिये हितकारी होगा, वही किया जावे, विरोधक कार्य कभी न किया जावे। इस लिये कहा है-

१ योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः। ६।१०

२ युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। ६।१५

३ युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः। ६।२८

४ स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा। ६।२३

"योगी सदा सतत अपना योगसाधन करेगा,

तो निष्पाप बनकर अपने प्राप्तव्यको प्राप्त होगा।" यहां 'सतत, सदा,' ये शब्द विशेष लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य हैं। क्यों कि इसीसे सिद्धि प्राप्त होती है। अन्यथा सिद्धि दूर जाती रहेगी। जितना बीचमें व्यवधान होगा उतनी सिद्धि दूर होती रहेगी। जो निरंतर साधन नहीं करेंगे उनकी क्या अवस्था होगी, इस शंकाके उत्तरमें गीताने कहा है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। ६।४५

"प्रयत्नसे योगसाधन करनेवाला साधक निष्पाप बनकर अनेक जन्मोंके साधनसे सिद्धिलाभ करता हुआ उच्च अवस्थाको प्राप्त कर सकता है।" यहां शनैः शनैः जितना साधन होगा उतना करनेवालोंको कैसी क्रमसे उन्नति प्राप्त होती है, यह कहा है। इस तरह दोनों प्रकारके साधकोंको अर्थात् सतत साधन करनेलोंको और यावच्छक्य साधन करनेवालोंको कैसी गति मिलती है यह स्पष्ट कहा है। इससे जो मनुष्य सतत साधन नहीं कर सकते उनको चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि वे सतत नहीं अभ्यास कर सकते तो न सही, जितना हो सकता है उतनाही करें। किया हुआ साधन-संस्कार कभी नष्ट नहीं होगा। वह आगे कभी न कभी उपायोगमें आवेगाहि। इस तरह साधनका महत्व है, इसके करनेसे मनुष्य उच्च होता ही रहता है। इस साधनमार्गमें कोई विघ्न नहीं है और कोई भय नहीं है, अतः निर्भय होकर साधन करनेके विषयमें गीताने कहा है—

निर्भय बनो।

भीतिका कोई कारण नहीं है। योगसाधनमें कभी कभी ऐसा भय प्रतीत होता है कि मैं जो साधन कर रहा हूं वह योग्य है या नहीं, इससे सिद्धि होगी या नहीं, इससे बीचमें कष्ट तो नहीं होंगे, बीचमें साधन छूट गया तो क्लेश तो नहीं होंगे ऐसे भय बीचमें उत्पन्न होते हैं। इन भयोंसे मनुष्य साधन छोडता है और साधनत्यागसे अवनति होती है। ऐसा न हो इस लिये कहा है कि—

१ विगतभीः युक्तः। ६।१४

"भयरहित होनेपरहि योगाभ्यास हो सकता है।" यह बिलकुल यथार्थ है। डरपोक मनुष्य साधन कर नहीं सकता। योगी को भय अंदरसे भी होता है और बाहरसे भी होता है। साधन करते करते कुछ अनुभव ऐसे आते हैं कि जिनसे मनुष्य डरता है। जैसा कुंडलिनी उत्थापन के समय अशक्तता इतनी आती है कि मनुष्य बहुत चल भी नहीं सकता। यह अवस्था देखकर मनुष्य घबराता है और योगसाधनसे अशक्तता आगयी ऐसा मानकर साधनसे दूर होता है। सद्गुरु इस कठिनतासे पार होने का मार्ग बता सकता है, परंतु डरनेवाले साधक को गुरु भी क्या कर सकता है? गुरुपर विश्वास रखकर तो निडर होना उचित है। इस तरह आन्तरिक उन्नति होते होते ध्यानसे प्राप्त होनेवाले अन्तर-नुभव भी समय समय पर भय उत्पन्न करते हैं। इनका विचार छोडकर अपना मार्ग आक्रमण करना चाहिये। जो इस तरह न डरता हुआ आगे बढेगा वही सिद्धि पा सकेगा।

बाह्य कारणोंसे डर यह है कि किसी समय एकान्तमें बैठकर ध्यान करना होता है। बडे घरमें अकेला रहने से भी मनुष्यको डर होता है। यदि कोई ऐसा डरनेवाला होगा तो उससे साधन क्या होगा और उसको फल क्या मिलेगा? इस तरह अन्तर्बाह्य डर छोडनेसे हि योगसाधन होना संभव है, अन्यथा नहीं। यह डर विचार और मननसे हो दूर हो सकता है। और सद्गुरु पर विश्वास रखनेसे भी दूर होता है। विश्वासी मनुष्य निडर होता है, यह विश्वास का बडा भारी लाभ है। यह श्रद्धा का बल बताने के लिये कहा है कि—

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (६।४७)

"जो श्रद्धा रखकर ईश्वरभक्ति करता है, वह उत्तम योगी कहलाता है।" श्रद्धा का सामर्थ्य बडा विलक्षण है। यह श्रद्धा और विश्वास बडा सहायक होता है। इससे अनेक कुतर्क विक्षेप आदि नष्ट होते हैं और साधनमार्ग निर्विघ्न रीतिसे आक्रमण करना संभव होता है। इस तरह मनुष्य साधन करे और आगे बढे।

ब्रह्मचर्य।

योगसाधन करनेके समय ब्रह्मचर्य पालन करना अत्यंत आवश्यक है। वीर्यस्खलन होता रहा तो साधन होना अशक्य है। वीर्यदोषी मनुष्य की एक बिंदुमात्र प्रगति साधनमें नहीं हो सकती। इस लिये प्रारंभमें षट्क्रियाएं शरीर शुद्धि के लिये करते हैं। इन क्रियाओंसे शरीर मलरहित हुआ तो सब प्रकारके वीर्यदोष हट जाते हैं और शरीरमें वीर्य स्थिर होता है, जिस से योगसाधनमें अच्छी तरह प्रगति होती है। इस तरह ब्रह्मचर्य साधन का महत्त्व है, अतः कहा है—

ब्रह्मचारिव्रते स्थितः॥ ६।१४

"ब्रह्मचर्यपालन के व्रतमें जो स्थिर होता है" उससे योगसाधन होता है। ब्रह्मचर्य का पालन जो मनुष्य कर नहीं सकता, अर्थात् जिसका वीर्यनाश होता है, उससे योगसाधन नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। यो० द०

"ब्रह्मचर्य स्थिर रहनेसे वीर्य प्राप्त होता है।" वीर्य एक प्रभावशाली शक्ति है। यह शक्ति शरीर की आधारशक्ति है और जो अष्टचक्र पृष्ठवंशमें हैं, जो मस्तिष्कमें सहस्रार चक्र है, इन सब चक्रोंका कार्य इस वीर्यसेहि होता है। वीर्यक्षीण मनुष्य से इसी कारण इन चक्रोंका यथायोग्य कार्य हो नहीं सकता। परंतु वीर्यवान् मनुष्य ही इसमें प्रगति कर सकता है। इससे पाठक समझ गये होंगे कि वीर्यरक्षणसे योगसाधन किस तरह होता है। साधन तो मनसे हि होता है, मन प्राण के साथ मिला रहता है और प्राण वीर्य के साथ संबंधित है। इस तरह संपूर्ण योगसाधन वीर्य के साथ संबंधित है। इस लिये योगसाधन में ब्रह्मचर्य का बहुतहि महत्त्व है।

इस तरह योगसाधन का वर्णन भगवद्गीताके छठे अध्यायमें है। इसका विचार करनेसे प्रत्येक पाठक को इसका अनुष्ठान करनेकी विधि ज्ञात हो सकती है। प्रत्येक पाठक से यह अनुष्ठान पूर्णतया हो सकता है, ऐसा हम नहीं कह सकते, परंतु यदि प्रत्येक पाठक यह साधन करना चाहेगा, तो वह कुछ न कुछ अनुष्ठान कर सकता है और करनेके अनुसार लाभ भी प्राप्त कर सकता है। जो जितना प्रयत्न होगा और जिसका जितना सुकृत होगा, उतना लाभ उसको हो सकेगा। हर एक की आत्मिक योग्यता अलग अलग होती है, इस लिये प्रत्येक की प्रगति भी अलग अलग होना संभव है। परंतु यह साधन ऐसा है कि करनेका निश्चय करनेपर कुछ न कुछ अवश्य होगा और प्रगति भी करेगा। इस तरह का अनुष्ठान करनेवालोंका वर्णन इस अध्याय में निम्न लिखित प्रकार किया है—

युक्तः योगी॥ ६।८

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
युक्त इत्युच्यते॥ ६।१८

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ६।१९

"योगसाधन में दत्तचित्त हुए योगी का यह वर्णन है। इस साधन करनेसे चित्त अपनी आत्मामें स्थिर होता है और बाह्य विषयोंसे हट जाता है।" यही साधनका फल है। मनुष्यका चित्त बाह्य विषय में रमता है और योगी का चित्त आत्मामें रमता है। साधारण मनुष्य और योगी में यही भेद है। परंतु चित्त का प्रवाह जो सदा

बहिर्मुख रहता है, उसको अन्तर्मुख करनेके लिये कितने प्रयास करने होते हैं, यह बात देखने योग्य है।

प्रवाह की गति बदलना बडे प्रयास का कार्य है। नदी का प्रवाह जिस दिशामें जाता है, उस का प्रवाह उलटी दिशामें करना जितना कठिन कार्य है, उस से भी अधिक दुस्तर कार्य मनकी प्रवाह की दिशा बदलने के लिये करना आवश्यक होता है। इस मन के प्रवाह के बदलनेसे इस मनुष्य की आत्मामें बडा परिवर्तन होता है, यह पहिले अल्पात्मा हुआ तो आगे मन का रुख बदल जानेके बाद वही महात्मा बनता है। इस विषयमें कहा है—

आत्माका महात्मा।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः॥ ६।७

"(जितात्मा) जिसने अपने आपको जीत लिया वह शान्ति को प्राप्त होता है और वह (परमात्मा) परमात्मा अर्थात् महान् आत्मा बनता है। यहां ही इतने साधन के पश्चात् 'आत्मा का परम-आत्मा' बनता है। यही 'नर का नारायण' है। यह सिद्धि तब होती है जब (जितात्मा) आत्मविजय सिद्ध हो जाय, (प्रशान्त) उत्तम शान्ति प्राप्त हो जाय और (समाहित) समाधानवृत्ति स्थिर हो जाय। आत्मा का परमात्मा बन गया ऐसा समझनेके ये लक्षण हैं। मनुष्यकी उन्नतिकी अन्तिम अवस्था यह है, जो पूर्वोक्त साधनसे प्राप्त हो सकती है।

साधनका फल।

योगसाधन पूर्वोक्त स्थानमें कहा, इस का जो गीतामें फल लिखा है वह कैसा है, इस का अब विचार करना चाहिये। इस कार्य के लिये निम्न लिखित वचन देखिये—

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ६।१५
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ ६।२०
सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ ६।२१
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते६।२२
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा६।२३
प्रशान्तमनसं योगिनं सुखमुत्तमं उपैति॥६।२७
योगी, सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते६।२८

"परमेश्वर के अन्दर जो शान्ति विद्यमान है वह इसको प्राप्त होती है। इससमय आत्मा अपने अन्दरहि तृप्तिका लाभ करता है। इस स्थितिको प्राप्त होतेहि अद्वितीय सुखलाभ होता है। जो सुख मिलनेसे बडा दुःख प्राप्त होनेपर भी वह योगी अपने पथसे विचलित नहीं होता। ऐसा अद्वितीय असाधारण सुख मिलता है, इसी लिये मनुष्यको इस योग का साधन करना योग्य है। इस साधन से ब्रह्मसंबंधका सुख प्राप्त होता है।" इस वर्णन से पता लग सकता है कि मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होनेसे कौनसा लाभ होना संभव है। यह तो अद्वितीय सुखलाभ है, इस लिये इस के लिये यत्न करना हरएकको योग्य है।

योगीका अनुभव।

इस समय यह योगी किस प्रकार का अनुभव करता है यह देखने योग्य है। इस का अनुभव इस प्रकार का है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥
गी० अ० ६

"सब भूतोंमें आत्मा है और आत्मामें सब भूत हैं, ऐसा उसको अनुभव आता है, जिसकी समदृष्टि हुई होती है और जो योगकी सिद्धि

प्राप्त करता है। वह योगी ईश्वर को सर्वत्र देखता है और सब को ईश्वर में देखता है, इस से इस योगी को सर्वत्र ईश्वर का अनुभव आता है।" यह योगी का अनुभव है। जिस स्थानपर योगी देखेगा वहां वहां उसको ईश्वर अथवा आत्मा अर्थात् परमात्मा दिखाई देगा। 'सर्वत्र सम-दर्शनः' यह पद अत्यंत महत्त्वका है। इसका अर्थ 'सर्वत्र-ब्रह्म-दर्शनः' है किंवा 'सर्वत्र-आत्म-दर्शनः' है। 'सम' शब्दका अर्थ आत्मा ईश्वर किंवा ब्रह्म है। सर्वत्र सब स्थानमें आत्मा का दर्शन होना ही योगसाधन से प्राप्त होनेवाली अन्तिम दृष्टी है। और इसी को परिपूर्ण दृष्टि कहते हैं। जब ईश्वर की सत्ताके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है ऐसा अनुभव आने लगेगा, तो समझना चाहिये कि इस को अन्तिम अनुभव प्राप्त हुआ, और इसकी अन्तिम उन्नति अथवा गति हो चुकी है। जिसको ऐसा अनुभव आ चुका है, वह सच्चा भक्त बनता है। इस विषयमें कहा है—

सच्ची भक्ति।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ६।३१

"सब भूतों में रहनेवाले ईश्वरके एकत्वमें स्थिर होनेवाला योगी भक्ति करता है। वह कैसा भी रहा तो भी वह सदा ईश्वरमें हि रहता है।" यह सच्ची श्रेष्ठ भक्ति है। इसी को परा भक्ति कहते हैं। यह भक्ति तब होती है, जब योगीको एक परमात्माका अनुभव आता है। सब भूतोंमें एक आत्माकी सत्ता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव आनेके पश्चात् हि यह भक्ति होना संभव है, तब तक जो कुछ होगी वह गौण भक्ति होगी। जब इस उच्च श्रेष्ठ भक्ति में मनुष्य लीन होता है, तब वह जो कुछ करता है, वह स्वभावसेहि उच्च कृत्य हो जाता है। इस कारण ऐसे भक्त की योग्यता सर्वश्रेष्ठ समझनी उचित है। जिस श्रेष्ठ भक्ति का वर्णन गीतामें है, वह भक्ति यही परा-भक्ति है। इस भक्तिमें ईश्वर के साथ एकत्वका अनुभव करनेवाला भक्त होता है। यहां भक्त अपने आपको अलग न समझता हुआ ईश्वर के साथ अपना अभेदभाव अनुभव करता है। इसी लिये इस के कर्म सर्वदा निर्दोष हुआ करते हैं। इसी श्रेणी के योगी के विषयमें इसी अध्यायमें और कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥६।४७

"सब प्रकारके योगियोंमें जो योगी अपने अन्तरात्माको मेरे अन्दर लगाकर श्रद्धाभक्तिसे मेरी भक्ति करता है, वह मेरे मतसे श्रेष्ठ योगी है।" यह योगी पूर्व श्लोकमें कहे एकत्वका आश्रय करनेवाला नहीं है, परंतु अपने अन्तरात्माका पूर्ण समर्पण करनेवाला है, अर्थात् थोडासा उपास्य-उपासकमें भेद रहा है। यहां उपासक अपने आत्माका समर्पण करता है और जो एकत्व का आश्रय करनेवाला होता है, वह तो तद्रूप हुआ होनेके कारण समर्पण करने योग्य उसके पास कुछ अलग नहीं रहता। तथापि यह योगी-भक्त भी अन्य भक्तोंसे श्रेष्ठही होता है, क्योंकि इसनेभी अपना अन्तरात्मा पूर्णतया समर्पित किया होता है, इसलिये इसके पास भी अपना अलग अस्तित्व अवशिष्ट नहीं रहता। इन दोनोंमें थोडासा भेद है जो पाठकोंके ध्यानमें आसकता है। यही इस ध्यानयोगका महत्त्व है। इसलिये इस अध्यायमे इसका वर्णन बडे गौरवके साथ किया है—

योगका गौरव।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४।४४
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
६।४६

"केवल शब्दज्ञानीकी अपेक्षा योगका जिज्ञासु भी श्रेष्ठ है अर्थात् अनुष्ठानी योगी श्रेष्ठ है, इसमें कोई संदेहही नहीं है। तपस्वियों शब्दज्ञानियों, और कर्मियोंकी अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है, क्यों कि वह कुछ योगदिशासे प्रयत्न करनेमें तत्पर रहता है।" अर्थात् केवल तत्त्व-विचारोंके जाननेका महत्त्व नहीं है, परंतु सत्कर्म के अनुष्ठानका महत्त्व है। प्रियपाठको! इस महत्त्वपूर्ण बातका ध्यानसे स्मरण रखिये।—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥६।४०

"जो कल्याण करता है उसकी दुर्गति नहीं होती और उसका नाश कभी नहीं हो सकता।" यह है योगमार्गपर चलनेवाले योगीका अधिकार! और इसी लिये अन्यान्य मार्गोंसे यह योगमार्ग श्रेष्ठ है, क्यों कि इसमें दुर्गतिकी संभावनाही नहीं है। हां इसमें कोई साधक प्रवृत्त हुआ और उसका योगसाधन अधूरा रहकर उसकी मृत्यु हो गई, तो भी उसमें उसकी हानी नहीं है, क्यों कि अगले जन्ममें उसका अधूरा साधन पूर्ण होकर वह सिद्ध बन सकता है। देखिये--

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः॥४४॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५
गी० अ० ६

"जिसका योगसाधन इस एक आयुमें पूर्ण नहीं हुआ, वह मृत्युके पश्चात् लोकान्तरमें अपूर्व सुखलाभ करके फिर इस मानवजन्ममें अवतीर्ण होता है, और उसको जो जन्म मिलता है वह योगियोंके कुलमें अथवा बुद्धिमान् धनवानोंके कुलमें होता है। सब साधन उसके लिये अनुकूल मिलते जाते हैं और उसकी प्रवृत्ति भी पूर्व-जन्मके अभ्याससे बडी सात्त्विक हुआ करती है। इस तरह वह सब अनुकूल परिस्थितिका सदुपयोग करके आगेका साधन यथायोग्य रीतिसे करता है और परम श्रेष्ठ उच्च अवस्था को प्राप्त करता है, अर्थात् ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करता है।"

इस तरह एक जन्ममें साधनकी पूर्णता न हुई तो भी डरनेका कोई कारण नहीं है। यदि एक जन्ममें न हुई तो अनेक जन्मोंमें होगी परंतु सिद्धि होगी अवश्य। इसी लिये कहा जाता है कि इस योगमार्गमें किसी प्रकारका भय नहीं है, स्वल्प आचरण हुआ तो भी उससे बडे विघ्न दूर हो जाते हैं। इसलियेही इस अध्यायमें कहा है कि तपश्चरण, ज्ञानमार्ग और कर्ममार्गकी अपेक्षा यह योगमार्ग अत्यंत श्रेष्ठ है, जिसमें कोई भीति नहीं है और जिसमें अखंड उन्नति होना संभव है। इसीलिये—

"योगी भव" (६।४६)

कहा है कि हे मनुष्य! "तू योगी बन"। अन्य सब मार्ग छोडकर इस योगमार्गका अवलंबन कर। इस योगमार्गको यह महत्त्व जानकर पाठक इसका अवलंबन करके अपने आपको कृतकृत्य बनावें और अपने जीवनका सार्थक्य करें।

इस अध्यायमें जो योगसाधन कहा है, उसका संक्षेपसे यह स्वरूप है। इस साधनकी ठीक ठीक कल्पना पाठकोंके मनमें उतरने के लिये इस साधन के सूचक जो शब्द इस अध्यायमें आगये हैं, उनका विचार अति संक्षेपसे करते हैं—

योगसाधनके पाठ।

योगसाधन किस तरह करना चाहिये, इसका अति संक्षेपसे विचार करने का उपक्रम यहां करना है। इस से पाठकोंको साधनका मार्ग सुगमतया समझमें आसकता है। सबसे प्रथम स्वावलंबन का पाठ पढना चाहिये—

स्वावलंबनका पाठ।

१ उद्धरेदात्मनात्मानं (५)— अपना अपन हि उद्धार करनेका यत्न करो।

२ नात्मानमवसादयेत्— स्वयं अपनी अधोगति न करो।

३ आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः— अपनहि अपना बंधु है और

४ आत्मैव रिपुरात्मनः— अपनहि अपना शत्रु है।

५ बन्धुरात्मा येन आत्मा जितः (६)— जिसने अपने आपको जीत लिया वह अपना बन्धु है।

६ अनात्मनः आत्मा शत्रुः (६)— जिसने अपने आपको नहीं जीता, वह अपना ही शत्रु है।

इस प्रकार स्वयं निश्चय करके अपना उद्धार करनेका निश्चय साधक सबसे प्रथम करे। मैं अपने पुरुषार्थसे अपना उद्धार करूंगा, उद्धार करनेतक यत्न करता रहूंगा, बीचमें नहीं छोडूंगा, ऐसा प्रबल निश्चय करना चाहिये। इसके पश्चात् कर्तव्यतत्पर होना चाहिये—

कर्तव्यतत्परताका पाठ।

१ कार्यं कर्म करोति यः (१)— कर्तव्य कर्म करो क्यों कि—

२ आरुरुक्षोः योगं कर्म कारणं (३)— योगका अनुष्ठान करनेवालेके लिये कर्म करना अत्यंत आवश्यक है अतः कहा है-

३ योगः योक्तव्यः (२३)- योगका अनुष्ठान करना हरएक को योग्य है, इस तरह यत्न करनेपर साधक-

४ युक्तः (८, १४, १८); युक्ततमः (४७)— योगसाधन करनेमें तत्पर होता है, और अन्तमें—

५ अनेकजन्मसंसिद्धः (४५)— अनेक जन्मोंमें सिद्धि प्राप्त करता है। सिद्धि एक जन्ममें प्राप्त होवे अथवा अनेक जन्मोंमें होवे, सिद्धि मिलती है, इसमें संदेह नहीं है। तत्परतासे किये कर्मसे सिद्धि अवश्य मिल जाती है। इस योगमें अवनतिकी भीति बिलकुल नहीं है, यह दर्शानेके लिये कहा है—

६ न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति (४०)— कल्याणमार्गपर चलकर कल्याण-कर्म करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती।

यह सब स्मरण रखकर साधक कर्तव्य कर्म निष्ठासे करे और अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेतक यत्न न छोडे।

सतत अभ्यासका पाठ।

१ सततमात्मानं युंजीत (१०); आत्मानं सदा युंजन् (१५, २८) अपने आपको सतत योगसाधनमें लगाना चाहिये।

२ योगं युञ्ज्यात् (१२)— इस तरह सतत योगाभ्यास करो।

३ प्रयत्नाद्यतमानः (४५)— प्रयत्नसे अनुष्ठान करो।

४ अभ्यासेन वैराग्येण चलं मनः गृह्यते (३५)- अभ्यास अर्थात् सतत यत्न और अर्थात् भोगविषयक वैराग्यसे मन चंचल रहनेपर भी उसका निग्रह किया जा सकता है।

इस रीतिसे सतत प्रयत्न करनेवालोंको अत्यंत लाभ होता है, यह जानकर साधक अपना मन इधर उधर न दौडते हुए परिश्रमपूर्वक साधन करके यश प्राप्त करे।

योग्य आचारविचारका पाठ।

१ युक्ताहारविहारः (१७)— साधक आहार-विहार योग्य रीतिसे करे।

२ युक्तस्वप्नावबोधः (१७)— योग्य समयमें सो जावे और योग्य समयमें उठे ।

३ कर्मसु युक्तचेष्टः (१७)— सब कर्म यथा योग्य रीतिसे करे।

४ अत्यश्नतः, अनश्नतः, जाग्रतः, अतिस्वप्नशीलस्य च न योगः (१६)- अतिभोजी, उपवासी, अतिजागनेवाले और अतिनिद्रालु ऐसे साधकोंको योग की सिद्धि नहीं होती।

इस लिये आहार-विहार आदिमें साधक कभी अत्याचार न करे। सम प्रमाणसे आहार-विहार करते हुए साधक योगसाधन करे, जिससे सिद्धि हो सकती है।

निर्भयताका पाठ ।

१ विगतभीः (१४)- साधक निर्भय बने, निडर होकर साधन करे।

२ अनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योगः योक्तव्यः (२३)- उत्साहसे और निश्चयसे योगका साधन करना योग्य है।

भय, खिन्नता और अनिश्चय छोडकर साधक योगाभ्यास करे। भय, खिन्नता और अनिश्चयसे योगसाधन नहीं हो सकता।

शुद्धताका पाठ ।

१ आत्मविशुद्धये योगं युंज्यात् (१२)— अपनी पवित्रता करनेके लिये साधक योगसाधन करे।

२ अकल्मषः (२७), विगतकल्मषः (२८); संशुद्धकिल्बिषः (४५)— निष्पाप बने, पाप न करे।

३ ब्रह्मचारिव्रते स्थितः (१४)— ब्रह्मचर्यका पालन करे।

इस तरह अपनी पवित्रता करनेका यत्न करे, जितनी अधिक पवित्रता होगी उतना अधिक अच्छा है, उतना लाभ अधिक होगा।

एकान्त-सेवनका पाठ ।

योगसाधनके लिये एकान्तसेवनकी अत्यंत आवश्यकता है, जिसके विषयमें कहा है—

१ रहसि स्थितः एकाकी (१०)— एकान्तमें अकेला रहे और अपना अभ्यास करे।

जिसका चित्त विक्षिप्त होता है, वह इस एकान्तसेवन का अभ्यास करे। इससे चित्तकी विक्षिप्तता दूर होती है। जनसंघमें जानेसे विविध प्रकारके विचार मनमें उठते हैं और चित्त विक्षिप्त होता है, इसकी निवृत्तिके लिये एकान्तसेवनहि एक उत्तम विचार है।

आसनाभ्यासका पाठ ।

शरीरको स्थिर और शांत करनेका पाठ देनेके लिये यहां आसनका अभ्यास करनेको कहा है—

शुचौ देशे आसने प्रतिष्ठाप्य (११)— शुद्ध स्थानपर अपना आसन लगाना चाहिये। दर्भासनपर मृगचर्म और उसपर धौत वस्त्रकी तय रखी जावे। यह आसन बैठनेके लिये मृदु, सुखदायी और अधिक ऊंचा नीचा न हो। अर्थात् सम और सुखदायी आसन बानया जावे। ऐसे आसनपर—

२ आसने उपविश्य (१२)— साधक बैठे और-

३ समं कायशिरोग्रीवं धारयन् अचलं स्थिरः (१३)— सिर, गर्दन, और शरीर समसूत्रमें रखे, शरीरकी सब हलचल बंद करे और बिलकुल स्थिर होवे।

कोई साधक इस तरह स्थिरताका अभ्यास करे। इसको कुछ दिनोंके अभ्यासके पश्चात् जितनी निश्चलता साध्य होगी, उतना आनंद प्राप्त होता है।

एकाग्रताका पाठ ।

इस रीतिसे शारीरिक स्थिरता होनेके पश्चात् मन एकाग्र करनेके अभ्यासके लिये पाठ दिया है। वह अब देखिये—

१ एकाग्रं मनः कृत्वा (१२)— मन एकाग्र करो। यह श्रवण करतेहि मन एकाग्र कैसा किया जाता है? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है, उसके विषयमें कहते हैं-

मन चंचल, मथनेवाला और प्रबल वेगवाला है तथापि अभ्याससे उसकी स्वाधीनता हो सकती है। यह अभ्यास इस तरह करना योग्य है—

२ यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्। ६।२६

'जिस मार्गसे मन बाहर जायगा, उसी मार्गसे उसको फिर अंदर लाकर अपने अन्दर वशमें रखना चाहिये।'

३ शनैः शनैः उपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया। (२५)— धैर्ययुक्त बुद्धिसे शनैः शनैः मनको उपराम करना चाहिये।

४ संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वम्। (१३)— अपने नासिकाके अग्रपर दृष्टि स्थिर करनेसे मन एकाग्र होता है, इसी प्रकार भ्रूमध्यपर दृष्टि स्थिर करनेका अभ्यास भी लाभकारी है।

४ दिशः अनवलोकयन् (१४)
न किंचिदपि चिन्तयेत् (२५)

"इधर उधर न देखना और न किसी विषयका विचार करना" इस समय उचित है। दृष्टि स्थिर करने और चित्त स्तब्ध करनेसे इष्ट कार्य होता है।

५ निवातस्थः दीपः (१९)
स्थितः तत्त्वतः न चलति (२१)

"निवात प्रदेशमें जैसा दीप न हिलता हुआ जलता है और इधर उधर नहीं हिलता" वैसा अपने आपको स्थिर करो। इस समय—

६ मच्चित्तः, मत्परः (१४)
मद्गतान्तरात्मा, श्रद्धावान् (४७)

"ईश्वर पर श्रद्धा रखो, उसीमें चित्त स्थिर रखो, उसीको मनमें अटल स्थान दो, उसीमें तन्मय होनेका यत्न करो।"

यह साधन है। इसके करनेसे आपही आप साधन का मार्ग खुल जाता है।

ज्ञानप्राप्तिका पाठ।

मनुष्यकी उन्नति ज्ञानविज्ञानसेहि होती है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। इस लिये साधकको कहा है—

१ ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा (८)

"तृप्त होनेतक ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करो।" आत्माका ज्ञान और प्रकृतिका विज्ञान प्राप्त करो और उसको अपने उपयोग में लाओ, तभी संपूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति होगी।

इंद्रिय-दमनका पाठ।

जैसा इंद्रियोंका संयम संसारके सब कार्योंमें अत्यंत उपयोगी है, वैसाहि योगसाधनमें भी उपयुक्त है। इस विषयमें ऐसा कहा है—

१ जितात्मा (७); यतचित्तात्मा (१०); विजितेंद्रियः (८); यतचित्तेन्द्रियक्रियः (१२); यतचित्तः (१९); विनियतं चित्तं (१८); नियतमानसः (१५); मनः संयम्य (१४); आत्मैवात्मना जितः (६); निरुद्धं चित्तं (२०)— अपने आपका, चित्तका, मनका, इंद्रियोंका, संपूर्ण इंद्रियक्रियाओंका संयम करना चाहिये।

२ मनसा इंद्रियग्रामं विनियम्य (२४)— मनसे इंद्रियसमूहका संयम करना चाहिये।

३ इंद्रियार्थेषु नानुषज्यते (४)— इंद्रियोंके विषयोंमें बद्ध होना योग्य नहीं है।

४ असंयतात्मना योगो दुष्प्रापः (३६)- संयम न किया तो योग सिद्ध नहीं होगा, परंतु—

५ वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः (३६) अपने आपको वश करनेवाला प्रयत्न करनेलगा तो उसे योगकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

६ योगारूढस्य शमः कारणम् (३)— योगमार्गसे आगे उन्नति करनेवालेके लिये अपने इंद्रियोंका शमन ही करना चाहिये।

इस तरह इंद्रियदमन का प्रयत्न योगसाधन करने वालेके लिये कितना आवश्यक है, यह जानकर साधक यह अनुष्ठान करे और लाभ उठावे।

द्वन्द्वसहनका पाठ।

योगसाधनके लिये शीत उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेका अभ्यास करना चाहिये, इस लिये कहा है—

१ शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः समाहितः (७)- शीत उष्ण सुख दुःख मान अपमान आदि द्वन्द्वोंको समान मान कर सहन करना। तथा—

२ समलोष्टाश्मकांचनः (८), समदर्शनः (२९)- मिट्टी, पत्थर और सुवर्णको समान मानना। सबको सम दृष्टिसे देखना।

३ सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ६।९

"मित्र-शत्रु, हितकर्ता और द्वेष्टा, उदासीन और मध्यस्थ, बंधु और परकीय, साधु और पापी को समबुद्धिसे देखना योग्य है।" इस प्रकार सर्व द्वन्द्वोंके विषयमें समान भाव धारण करना और सुख हो अथवा दुःख अपना कर्तव्य करना, योगसिद्धिके लिये अत्यंत आवश्यक है।

उच्च स्थितिका पाठ।

जैसा कोई मनुष्य उच्च पहाडके शिखरपर रहनेके कारण उसको निम्न स्थानके दुःख भोगनेका कारण नहीं रहता, उसी प्रकार साधक अपने आपको उच्च स्थानमें स्थित अनुभव करे, यह पाठ निम्न लिखित शब्दद्वारा दिया है—

कूटस्थः (८) – पर्वतशिखर, उच्च भाग, उन्नत स्थानमें स्थिर और अटल अचल रहनेके समान अपने आपको नीच भावोंसे सर्वथा अलग अनुभव करना।

आत्मौपम्यदृष्टिका पाठ।

१ आत्मौपम्येन सर्वत्र पश्यति (३२) – अपने आपको जैसा सुख दुःख होता है वैसाही सबको होता है ऐसा भाव मन में सर्वदा रखना और तदनुसार कार्य करना।

एकात्मभावका पाठ।

१ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।६।२९
२ यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।६।३०

"सब भूतोंमें ईश्वरको और ईश्वरमें सब भूतों को देखना" चाहिये—

३ सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।६।३१

'सर्व भूतोंमें ईश्वर एक अद्वितीय सत्तासे रहा है' इस बातको जानना और अनुभव करना चाहिये।

आत्मयोगका पाठ।

१ आत्मयोगं युञ्जतः (१९); आत्मनाऽऽत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति। (२०) – साधक आत्मयोगको करे, अपने अपने आत्माको देखता हुआ, अपने आत्मामें संतुष्टिका अनुभव करे।

२ आत्मसंस्थं मनः कृत्वा। (२५) – अपना मन अपने आत्मामें रखे, इधर उधर जाने न दे।

इस तरह साधक आत्मयोग करके अपने आत्मामें स्थित अपूर्व आनंद प्राप्त करे।

कर्मफलत्यागका पाठ।

१ कर्मफलमनाश्रितः (१), निराशीः (१०), निस्पृहः सर्वकामेभ्यः (१८)— कर्मका फल अपने लिये न रखे, फलभोग की आशा न रखे, सब कामनाओंके विषयमें निरिच्छ होवे, अर्थात् भोगविषयोंका त्याग करे।

२ न कर्मस्वनुषज्यते। (४)— कर्मोंमें अर्थात् कर्मफलमें आसक्त न रहे।

३ संन्यस्तसंकल्पो योगी (२), सर्वसंकल्पसंन्यासी (४), संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। (२४)— सब संकल्पोंका त्याग करना, सब भोगेच्छाओंको दूर करना, अपने भोग बढानेकी संपूर्ण वासनाओंको निःशेष छोडना चाहिये।

४ अपरिग्रहः (१०)— भोगसाधनोंको अपने पास संग्रहित करके नहीं रखना चाहिये।

शान्तिका पाठ।

१ प्रशान्तः (७), प्रशान्तमानसः (२७), प्रशान्तात्मा (१४)— अपने आपको, अपने मनको, अपने आत्माको शान्त रखे।

२ समाहितः (७)— समाधान वृत्तिसे रहे। अर्थात् शान्ति धारण करे, अशान्त न होवे।

साधनका फल ।

पूर्वोक्त रीतिसे योगसाधन करनेसे और वह निर्विघ्नतया सिद्ध होनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह निम्न लिखित वचनों द्वारा कहा है –

१ यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। (२२) – ऐसा आनंद मिलता है कि जिससे और अधिक आनंद कोई दूसरा है, ऐसा नहीं कह सकते, अर्थात् अद्वितीय आनंद अनुभवमें आता है ।

२ उत्तमं सुखमुपैति । (२७)— उत्तम सुख प्राप्त होता है ।

३ ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते । (२८)— ब्रह्मके उत्तम संपर्कसे प्राप्त होनेवाला अत्यंत उत्तम सुख मिलता है । इसलिये –

४ दुःखसंयोगवियोगः योगः (२४)— इस योगको दुःखके संयोगसे दूर रखनेवाला कहते हैं ।

५ निर्वाणपरमां शान्तिमधिगच्छति (१५)- मोक्षमें प्राप्त होनेवाली शांति उसे प्राप्त होती है ।

६ गुरुणापि दुःखेन न विचाल्यते । (२२)- बडा दुःख होनेपर भी वह दुःखी नहीं होता, कितना दुःख आ पडा तथापि वह अपने कर्तव्यसे विचलित नहीं होता । तात्पर्य–

७ ब्रह्मभूतः (२७) – वह साधक अन्तमें स्वयं ब्रह्मही बनता है ।

यह योगसाधनका फल है । इसी लिये मनुष्यको इस योगसाधनमें दत्तचित्त होना चाहिये ।

यहां अतिसंक्षेपसे योगसाधनके पाठ दिये हैं । इन पाठोंका मनन करनेसे योगसाधन कैसा करना चाहिये, इसका पता पाठकोंको लग सकता है । आशा है कि इस साधनका अनुष्ठान करके ध्यानयोगसे प्राप्त होनेवाले लाभ प्राप्त करके पाठक अद्वितीय सुखका अनुभव लेंगे।

षष्ठ अध्यायका मनन समाप्त ।

षष्ठ अध्यायकी विषयसूची।

अथ सप्तमोऽध्यायः

ज्ञानविज्ञानयोगः ।

(१) समग्र ईश्वरका ज्ञान ।

श्रीभगवानुवाच- मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

अन्वयः- श्रीभगवान् उवाच- हे पार्थ! मयि आसक्तमनाः मदाश्रयः (त्वं) योगं युञ्जन्, मां समग्रं यथा असंशयं ज्ञास्यसि, तत् शृणु ॥१॥ अहं इदं सविज्ञानं ज्ञानं ते अशेषतः वक्ष्यामि; यत् ज्ञात्वा इह भूयः अन्यत् ज्ञातव्यं न अवशिष्यते ॥२॥ मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् सिद्धये यतति; यततां सिद्धानां अपि कश्चित् मां तत्त्वतः वेत्ति ॥३॥

श्रीभगवान् बोले- हे पार्थ! मुझमें मन लगाकर और मेरा आश्रय लेकर (तू) योग करता हुआ, मुझे संपूर्णतासे जिस प्रकार निःसंदेह जान सकता है, वह (ज्ञान) सुन ॥१॥ मैं यह विज्ञानसहित ज्ञान तुझे पूर्ण रीतिसे कहूंगा, जिसको जाननेके बाद यहां अधिक दूसरा जानने योग्य कुछ भी अवशेष नहीं रहता ॥२॥ हजारों मनुष्योंमेंसे कोई विरला ही सिद्धिके लिये यत्न करता है; और यत्न करनेवाले सिद्धोंमेंसे भी कोई विरला ही मुझे सत्य रूपसे जानता है ॥३॥

भावार्थ-- मनुष्य ईश्वरमें हि अपना चित्त स्थिर करे और केवल ईश्वरके हि आश्रयसे रहे, न अपने चित्त को इधर उधर दौडने देवे और ना हि किसी दूसरेका अवलंबन करनेका यत्न करे। इस तरहका योग करनेसे परमेश्वरका संपूर्ण ज्ञान संदेहरहित रीतिसे होता है। यह ज्ञान जब होगा तब और कुछ जानने योग्य इस लोकमें अवशिष्ट नहीं रहता। परंतु सहस्रों मनुष्योंमें एकाध कोई इस सिद्धिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवालोंमेंसे कोई एकाध ईश्वरको सत्य रूपसे जानता है। इतने महत्त्वका यह ज्ञान और विज्ञान अब कहा जाता है॥ १-३ ॥

किसका ध्यान करें ?

(१-३) पूर्व छठे अध्यायमें ध्यानयोगका अभ्यास करनेकी विधि कही। उस विधिको जाननेके पश्चात् ध्यान किसका करना चाहिये? यह प्रश्न साधकके मनमें उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अर्जुन बडा बुद्धिमान् था और ध्यानयोगके

अनुष्ठानका उपदेश सुनतेही वह इस प्रश्नके पूछनेके हि विचारमें था। अर्जुनके मनकी बात उसके बाहरके इंगितोंसे जानकर स्वयं भगवान् उस अनुच्चारित प्रश्नके उत्तरमें कहने लगे। वह भगवान् गोपालकृष्णका अमृतसमान सारगर्भित भाषण सुनिये—

इस सातवें अध्यायके प्रारंभसे ग्यारहवें अध्यायकी समाप्ति तक प्रायः यही महत्त्वपूर्ण विषय है, अतः पाठक इन अध्यायोंका मनन शान्तिके साथ और दत्तचित्त होकर करें। भगवद्गीतामें जो कुछ विशेष महत्त्वका उपदेश कहा है वही इन अध्यायोंमें है। वैसा तो इसका प्रारंभ द्वितीय अध्यायमेंहि हुआ है, परंतु वह अति गूढ रूपसे हुआ है। यहां इस सातवें अध्यायमें अधिक स्पष्टतासे वह बात कही है और आगे उसीको क्रमशः अधिकाधिक विशद करके ग्यारहवें अध्यायमें ईश्वरका विश्वरूप प्रत्यक्ष बताया गया है। पाठक इस सूक्ष्म विषयका ग्रहण करनेके लिये अपने आपको तैयार करें। यह ज्ञान इस भगवद्गीतामें जितनी स्पष्टतासे कहा है, उतनी स्पष्टतासे किसी अन्य ग्रंथमें नहीं कहा है, परंतु वेद और उपनिषदोंमें यह ज्ञान जिस ढंगसे कहा है वह ढंग और हि विलक्षण है। हम आगे जाकर यह बात उचित स्थानपर विस्तारपूर्वक स्पष्ट कर देंगे।

प्रत्यक्ष दर्शन।

प्रत्यक्ष परमात्मदर्शनका यह विषय है। ध्यानयोगद्वारा जिसका ध्यान करना चाहिये, वह यही विषय है। जो पाठक इस ध्यानयोगद्वारा अपनी उन्नति करना चाहते हैं वे इन अध्यायोंका अधिक मनन करें। परमात्माका साक्षात् प्रत्यक्ष दर्शन करनेका संबंध इस ज्ञानके साथ है। इस परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन करनेके पश्चात् ही उसका ध्यान हो सकता है। प्रत्यक्ष दर्शनके विना ध्यान होना असंभव है।

मनुष्यको विषय प्रत्यक्ष दीखते हैं इसलिये वह उनका ध्यान करता है। यदि मनुष्यको ये विषय प्रत्यक्ष न होते, तो वह उनका ध्यान कैसे करता? यदि किसी युक्तिसे मनुष्यको आकाशस्थ सूर्यके समान परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन हो जावेगा, तो साधक उसका ध्यान अवश्य कर सकेगा। यहां पाठक पूछेंगे कि क्या कभी अव्यक्त परमात्माका दर्शन आकाशस्थ सूर्यके समान हो सकता है ? उत्तरमें हम कुछ नहीं कहेंगे, परंतु इतना ही कहेंगे कि, आगेके चार पांच अध्यायोंका मनन होने दे, पश्चात् शंका रही, तो इस प्रश्नका उत्तर देनेका यत्न करेंगे। उपनिषदोंमें कहा है कि—

> आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृ. उ. २।४।५; ४।५।६

"हे साधक! आत्माको देखो, उसका वर्णन सुनो, उसका मनन करो और पश्चात् उसका निदिध्यास करो" इस उपनिषद्वाक्यमें आत्माको देखनेकी बात सबसे प्रथम कही है। इससे भी ज्ञात होता है कि,ध्यानयोगके साधनमें परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी कुछ युक्ति अवश्य होगी, अन्यथा उपनिषद् जैसे सद्ग्रंथमें 'आत्माको देखो सुनो ध्यान करो' ऐसा क्रम न आता। क्या उपनिषद्के रचयिताको—

> आत्मा वा अरे श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः पश्चात् द्रष्टव्यः।

ऐसा लिखनेके लिये किसीने प्रतिबंध किया था? प्रत्यक्ष ब्रह्मर्षी याज्ञवल्क्य अपनी प्रिय धर्मपत्नीको उपदेश कर रहे थे। उस प्रसंगका यह वाक्य है। वे अपनी धर्मपत्नीको धोखा देनेवाले तो नहीं थे। उन्होंने इस ध्यानके अनुष्ठानकी प्रणाली का सोच विचार करके हि यह वाक्य कहा होगा। ऐसे उपदेशके प्रसंगमें—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः' ऐसा क्रम कहा है। इसमें आत्मदर्शन पहिले है और पश्चात् उसके गुणोंका

वर्णन सुनना आदि है। इसके साथ वेदका वचन देखिए—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥ ऋ. १।२२।२०

"वह व्यापक परमात्माका परम पद सदा ज्ञानी वैसा देखते हैं जैसा आकाशमें सूर्य प्रकाशता है।" अर्थात् आकाशस्थ सूर्यवत् परमात्माका प्रत्यक्ष होना वेदमेंभी है। अतः यह असत्य है ऐसा कहना कठिन है। यदि वेदकी यह बात सत्य होगी, तो उपनिषद्के वचनमें जो कहा है वह भी सत्य होगा, और तदनुसार जो गीतामें कहा गया है, वह भी निःसंदेह सत्य होगा। इतने प्रमाण उपस्थित होनेके पश्चात् फिर इस विषयमें किसीको संदेह होना नहीं चाहिये।

परंतु परमात्मा (गी. २।२५ में) अव्यक्त और अचिन्त्य है ऐसा इससे पूर्व कहा है और यहां उसका आकाशस्थ सूर्यवत् दर्शन होता है ऐसा कहा जाता है। क्या यह परस्पर विरुद्ध कथन नहीं है? यह परस्पर विरुद्ध है ऐसा दीखता तो है, परंतु वैसा ही वर्णन करनेका प्रसंग यहां आगया है, इस लिये इस विरुद्ध वर्णनका कुछ भी विचार न करते हुए, हम गीताके उपदेशका क्रमशः विचार करेंगे और ग्यारहवें अध्यायके अन्ततक विश्वरूपदर्शनका चमत्कार देखनेके पश्चात् निश्चय करेंगे कि, यह सचमुच परस्पर विरोध है या नहीं है। इसका यहां हि विचार करनेसे कुछ विशेष लाभ होनेवाला नहीं है। अतः इसका यहां विचार छोडकर हम ईश्वरका समग्र ज्ञान कैसा हो सकता है इसका विचार करेंगे—

ईश्वरका समग्र ज्ञान।

(असंशयं समग्रं ज्ञास्यसि) संदेहरहित होकर समग्र ईश्वरका ज्ञान होगा, ऐसा स्पष्ट शब्दोंसे यहां कहा गया है। ईश्वरके स्वरूपका समग्र ज्ञान होनेकी संभावना है, यह बात यहां स्पष्टतासे कही है। ईश्वर अव्यक्त और अचिन्त्य (गी. २।२५) होते हुए भी उसका समग्र ज्ञान होगा ऐसा यहां कहा है। अचिन्त्यका समग्र ज्ञान कैसा हो सकता है? यह प्रश्न यहां उत्पन्न होगा, इसका भी उत्तर आगे चलकरहि मिलेगा। ईश्वरका समग्र ज्ञान कब होगा, यह भी इसी श्लोकमें कहा है, वह अनुष्ठानकी दृष्टिसे बडा महत्त्वपूर्ण उपदेश है, इस लिये उसका विचार अधिक सूक्ष्मताके साथ करना चाहिये। ईश्वरका समग्र ज्ञान तब होगा जब निम्न लिखित तीन शर्तोंका पूर्णतया पालन होगा, देखिये—

१ मयि आसक्तमनाः— ईश्वरमें मन पूर्णतया लगाना चाहिये,
२ मत्-आश्रयः — ईश्वरका ही आश्रय करना चाहिये, और
३ योगं युञ्जन् — ध्यानयोगका साधन करना चाहिये।

ये तीन साधन करनेसे ईश्वरका साक्षात्कार आकाशस्थ सूर्यके समान हो सकता है। इसीसे विदित होगा कि ईश्वरके साक्षात्कारमें बाधाएं कौनसी हैं-

ईश्वरसाक्षात्कारमें बाधाएं।

ईश्वरका प्रत्यक्ष साक्षात्कार होनेमें निम्न लिखित तीन बाधाएं हैं-

१ ईश्वरे (मयि) अनासक्तिः — ईश्वरमें भक्ति न होना,
२ ईश्वरस्य (मत्) अनाश्रयः— ईश्वरका आश्रय न करना, और
३ योगं अयुञ्जन् — ध्यानयोगका अनुष्ठान न करना।

ये तीन बाधाएं ईश्वरके प्रत्यक्ष साक्षात्कार होनेमें हैं। पाठक इनका विचार करें और देखें कि ये बाधाएं अपने जीवनमें कहांतक हैं। फिर हरएकको पता लग जायगा कि, परमेश्वरका साक्षात्कार क्यों नहीं हो रहा है। अपना मन परमेश्वरमें लगानेके स्थानमें विषयोंमें लगाया

जाता है, परमेश्वरकोहि अपना आश्रय माननेके स्थानमें अपने आपको अथवा भोगोंकोहि अपना आधार माना जाता है, और चित्त एकाग्र करनेके स्थानमें चित्तको व्यग्र किया जाता है। ऐसा व्यवहार मनुष्यका चल रहा है, इस लिये आकाशस्थ सूर्यवत् परमात्मा सन्मुख खडा होनेपर भी और वह सर्वत्र उपस्थित होनेपर भी साक्षात्कार नहीं होता। इसका दोष किसके पास है, इसका विचार पाठक ही स्वयं करें। इसका यह आशय नहीं है कि परमेश्वर किसी स्थानपर छिपा हुआ है। यह बात नहीं है, परमेश्वर सर्वत्र उपस्थित है, परंतु अपने आंख ही शुद्ध नहीं हुए, दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं हुई। अपने आंखोंपर विषयोंकी धुंद चढी है। जब वह कुछ अंशमें दूर हो जायगी, तभी तो प्रभुका साक्षात्कार हो सकेगा।

इस अध्यायमें यही विषय विस्तारसे आनेवाला है और क्रमशः आगेके दोचार अध्यायोंमें इसका और अधिक विस्तार होनेवाला है। इस लिये यहां ही इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

ज्ञान और विज्ञान।

इस ज्ञानकोहि ज्ञान और विज्ञान कहते हैं। एक वार यह ज्ञान और विज्ञान यथायोग्य रीतिसे हुआ तो फिर उसके लिये और जाननेयोग्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। अर्थात् जो कुछ ज्ञातव्य है, जो कुछ जानने योग्य है, वह सब इसमें आया है। यही ज्ञान इस अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण देना चाहते हैं। हम उस ज्ञानको लेनेका यत्न करें।

कुमार्गमें प्रवृत्ति।

मनुष्यकी सदा कुमार्गमें प्रवृत्ति होती है, सन्मार्गकी ओर जानेवाले लोग कम होंगे। मानवी व्यवहार देखनेसे इसकी सत्यता प्रतिक्षण दिखाई देती है। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि "सहस्रों मनुष्योंमें एकाध कोई विरलाहि मनुष्य इस ध्यानयोगकी ओर आता है और अन्तिम सिद्धितक यत्न करता है। और ऐसे सिद्धिके लिये यत्न करनेवालोंमें भी क्वचित् कोई मनुष्य परमात्माका सत्यज्ञान प्राप्त करता है।" यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह विषय इतना कठिन है? क्या यह विषय इतना रूखा है? क्या यह विषय इतना समझनेमें अशक्य है? ऐसे ही अनेक प्रश्न पूछे जाते हैं। उत्तरमें कहा जा सकता है कि यह परमात्माका ज्ञान इतना कठीण नहीं है, रूखा नहीं है और समझनेमें भी कठिन नहीं है। वास्तवमें देखा जाय, तो यही परमात्म विषय अत्यंत रसीला और मीठा है, अत्यंत आनंद देनेवाला है, सुगम है, और सर्वत्र उपस्थित होनेसे सुप्राप्य भी है। परंतु मनुष्यकी प्रवृत्तिहि ऐसी है कि जो भोगोंमें पडकर दुःख भोगनेमें सहजहीसे चलती है और ईश्वरभक्तिमें महा आनंद और अतुल सुख होनेपर भी उस ओर जानेवाले कम होते हैं। जगत्में यही एक आश्चर्य है। सब सद्ग्रंथ पुकार रहे हैं कि परमात्माही आनंदकंद, सुखका निधान और मंगलका निधि है, सत्पुरुष यही साक्षी दे रहे हैं, परंतु सुननेवाला कौन है? सब जगत् उलटे मार्गसे चल रहा है। मनुष्य विद्वान् हो या अविद्वान्, सभी उलटे मार्गसे चल रहे हैं। यह अनुभव करते हुए ही यहां स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हजार मनुष्योंमें ९९९ मनुष्य उलटे मार्गसे जा रहे हैं और विरला एकाध सीधे मार्गसे जाता है। और सीधे मार्गसे जानेवालोंमें भी अन्तिम ब्राह्मी स्थितितक पहुंचनेवाला भी विरला ही है। क्यों कि सीधे मार्गसे चलनेपर भी कई तो बीचमें ही छोडते हैं। इस तरह जो परमेश्वरका साक्षात्कार करते हैं, ऐसे तो बहुत ही विरला हैं। मनुष्यकी प्रवृत्तिहि ऐसी है। इस तरह मनुष्यकी प्रवृत्ति है ऐसा कहनेके पश्चात् ज्ञान और विज्ञान कहते हैं। वह

(२) ईश्वरकी प्रकृति।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

अन्वयः— भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खं, मनः, बुद्धिः एव च अहंकारः इति अष्टधा भिन्ना मे इयं प्रकृतिः ॥४॥ हे महाबाहो! इयं अपरा (प्रकृतिः अस्ति)। इतः तु अन्यां जीवभूतां मे परां प्रकृतिं विद्धि, यया इदं जगत् धार्यते ॥५॥ सर्वाणि भूतानि एतद्योनीनि, इति उपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः तथा प्रलयः (अस्मि) ॥६॥

पृथ्वी, आप्, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ प्रकारोंमें विभक्त मेरी यह प्रकृति है ॥४॥ हे महाबाहु अर्जुन! यह अपरा (अर्थात् गौण प्रकृति है)। इससे भिन्न जीवरूप मेरी परा अर्थात् श्रेष्ठ प्रकृति है (यह तू) समझ, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है ॥५॥ सब भूतमात्र इनसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसा तू समझ। और मैं संपूर्ण जगत् का उत्पत्ति और लय का कारण हूं ॥६॥

महत्त्वपूर्ण विषय पाठक अब ध्यानके साथ देखें-

ईश्वरका शरीर।

(४—७) ईश्वरकी प्रकृतिका वर्णन इन श्लोकोंमें है। यहां प्रकृतिका अर्थ शरीर है। मनुष्य की प्रकृति का अर्थ मनुष्य का शरीर होता है, उसी प्रकार ईश्वर की प्रकृतिका नाम ईश्वर का शरीर है। यहां पाठक प्रश्न करेंगे कि, 'ईश्वर तो 'अशरीरी' अर्थात् देहरहित है, फिर देहरहित ईश्वर के देह का वर्णन कैसा हो सकता है? क्या यह परस्पर विरोध नहीं है? वंध्यापुत्रका दर्शन आकाशपुष्पकी माला, भीरु का दिग्विजय वैसा ही अशरीरी का शरीर! ऐसा परस्परविरोध हम कहां तक सहन करें?' यह प्रश्न बिलकुल ठीक है। परंतु यह प्रश्न करनेवाले यह प्रश्न अपने आत्माके विषयमें प्रथम हि करें, वहां अनुभव देखें और पश्चात् परमात्माके विषयमें प्रश्न करें। वेदमें कहा है कि जब शंका हो जावे, तब अपने अन्दर पहिले देखना चाहिये—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
अथर्व० १०।७।१७

"जो मनुष्यके देहमें ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे ही परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।" इस नियमके अनुसार जब कोई विधान परस्पर विरुद्ध है ऐसी शंका आ जावे, तब उसके विषयमें

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

अन्वयः- हे धनंजय! मत्तः परतरं अन्यत् किंचित् न अस्ति। सूत्रे मणिगणाः इव इदं सर्वं मयि प्रोतम्॥७॥

हे धनंजय! मुझसे अधिक श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है। जैसे सूतमें मणि (पिरोये होते हैं वैसा) यह सब मुझमें प्रोया है ॥७॥

भावार्थ— ईश्वरकी प्रकृति अर्थात् जो शरीर है, उसके दो भाग हैं, एक भागका नाम गौण और दूसरेका नाम मुख्य है। गौण विभागमें पृथ्वी आप् तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहंकार इन आठों तत्त्वोंका समावेश है और मुख्य विभागमें केवल एक जीवतत्त्व है। इस जीवतत्त्वसेहि संपूर्ण जगत् की धारणा हुई है। इस गौण और मुख्य प्रकृतिसे संपूर्ण जगत् के पदार्थमात्र और प्राणिमात्र उत्पन्न हुए हैं और ईश्वरहि संपूर्ण जगत् का उत्पत्ति, पालन और लयका कारण है। यही ईश्वर सबसे श्रेष्ठ है और इससे अधिक श्रेष्ठ दूसरा कोई भी नहीं है। जैसे किसी मालाकी बनावटके लिये धागेमें मणि पिरोये होते हैं, उसी प्रकार इस ईश्वररूपी सूत्रात्मामें ये सूर्यचन्द्रादि जगत के ग्रहनक्षत्रादि मणि पिरोये हैं अर्थात् जैसे सूत्रके आधारसे मणि रहते हैं, वैसेहि ईश्वरके आधारसे सब जगत् के सब पदार्थ रहे हैं ॥४-७॥

अपने अन्दरका अनुभव कैसा है यह बात देखनी चाहिये। अशरीरीका शरीर होता है वा नहीं यह शंका अपने अन्दर घटा दें, और अपने लिये ही यह प्रश्न पूछें कि, मेरा आत्मा शरीररहित है उसका देह होता है वा नहीं? इस प्रश्न के उत्तरमें हरएक कहेंगे कि जीव-आत्मा का देह होता है परंतु साथ साथ यह भी सब मानते हि हैं कि, आत्मा शरीररहित ही है। आत्मा शरीररहित है इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं है। यहां जो वस्तुतः शरीररहित है, उस आत्माका यही शरीर है, यह बात यहां प्रत्यक्ष ही है, इसमें संदेह ही क्या हो सकता है? फिर यदि इस अशरीरी जीव-आत्माका यह छोटासा शरीर है, तो अशरीरी परमात्माका बडा ब्रह्मांड देह हुआ, तो उसमें विप्रतिपत्ति कैसी हो सकती है और परस्पर विरोध भी कहां है? जैसा इस छोटेसे शरीरसे जीव-आत्मा भिन्न माना जाता है,वैसा ही विश्वव्यापी ब्रह्माण्ड-देहसे परमात्माको भिन्न मान सकते हैं। इस समय इस तरहकी कल्पना विचारसौकर्यके लिये करनेसे दोनों स्थानके आत्माकी ठीक ठीक कल्पना आ सकती है और फिर कोई शंका नहीं रहती।

शरीरके घटक।

यदि आत्माका शरीर मान लिया जाय, तो उस शरीरके घटक कौनसे हैं, इसका भी निश्चय करना चाहिये, अर्थात् वह शरीर किन तत्त्वों की मिलावट होकर बना है, इसका निश्चित ज्ञान होना चाहिये। इस लिये चतुर्थ श्लोकमें अष्टधा प्रकृतिका वर्णन आया है। आठ तत्त्वोंका बना यह शरीर है यह इसका भावार्थ है। ये आठ तत्त्व यहां गिनाये हैं-पृथ्वी, आप्, तेज, वायु,आकाश, मन, बुद्धि और अहंभाव ये आठ तत्त्व हैं। इनका शरीर बना है अर्थात् शरीरमें ये आठ घटक हैं। इन आठ तत्त्वोंका मेल होकर आत्माके शरीर बनते हैं। जैसे ये आठ तत्त्व मनुष्यके शरीरमें हैं वैसेहि पशुपक्षियोंके शरीरोंमें भी हैं। और

वैसे हि परमात्माके ब्रह्माण्डदेहमें भी हैं।

शरीरमें जो घन अंश है वह पृथ्वीतत्त्वका है, जो द्रवभाग है वह आपतत्त्वका है, जो उष्ण अंश है वह तैजस तत्त्वका है, जो प्राण है वह वायु तत्त्व है, जो अवकाश है वह आकाश-तत्त्वका भाग है। जो मनन करता है वह मनका अंश है, जो ज्ञानग्रहणशक्ति है वह बुद्धि है और एक दूसरेसे भिन्नता है वह अहंकारका तत्त्व है। इस तरह आठ तत्त्व हरएक शरीरमें हैं। पाठक अपने शरीरमें इनका अनुभव करें और पश्चात् जगत् के अन्य शरीरोंमें देखें और अन्तमें वही बात ब्रह्माण्डशरीरमें देखें। कौन कह सकता है कि ये आठ तत्त्व ब्रह्माण्डशरीरमें नहीं हैं? जगत् के कौनसे शरीरमें ये आठ तत्त्व नहीं हैं? यदि संपूर्ण शरीरमें ये आठ तत्त्व हैं तो ब्रह्माण्ड-देह में भी हैं।

पंचतत्त्वविवेक ।

जो अष्टधा प्रकृतिका वर्णन यहां किया है उसका अधिक मनन करके निश्चय करना चाहिये कि ये तत्त्व सचमुच अनुभवमें आते हैं वा नहीं। उक्त आठ तत्त्वोंमें पहिले पांच तत्त्व पंचमहाभूत ही हैं। ये भूत कहां हैं और कहां नहीं हैं, इसकी परीक्षा मनुष्य अपने ज्ञानेंद्रियोंसे ही कर सकता है।

पृथ्वी आप तेज वायु आकाश ये पंचभूत हैं, इनके गुण क्रमशः गंध रस रूप स्पर्श शब्द ये पांच हैं और इनका ग्रहण करनेवाले इंद्रिय क्रमशः नासिका जिह्वा नेत्र त्वचा और कर्ण ये पांच हैं। मनुष्यके पास ये ५ इंद्रिय हैं, इनसे पूर्वोक्त पांच गुणोंका ग्रहण किया जाता है और इससे पंच महाभूतोंके अस्तित्वका अनुभव हो सकता है।

नासिका द्वारा गंधका ग्रहण करो, जहां जहां गंध (सुगंध अथवा दुर्गंध) आजायगा वहां पृथ्वीतत्त्व है ऐसा समझो। पाठक देखें, चारों ओर घूमें और जहां बिलकुल गंध नहीं है ऐसा स्थान ढूंढ कर निकालें। ऐसा स्थान मिलेगा नहीं क्यों कि सर्वत्र पृथ्वीतत्त्व भरपूर भरा हुआ है। हमारे विकृत नासिकाको किसी स्थानपर गंधका ग्रहण न होगा तो दूसरे शुद्ध नासिका-वालेको वहां गंधका अनुभव होगा। चूंटियां कितनी दूरीपरसे पदार्थ को गंधसे ही जानती हैं और वहां आ पहुंचती हैं। इससे गंध कितना और कैसा व्यापक है इस बातका पता लग जायगा। इस तरह सर्वत्र गंध है और इस कारण पृथ्वीतत्त्व भी सर्वत्र है। जहां यह पृथ्वीतत्त्व नहीं होगा ऐसा कोई स्थान इस जगत् में नहीं है।

दूसरा आप् तत्त्व है, इसका गुण रस अथवा रुचि है। जिह्वासे रुचीका ग्रहण करनेका यत्न करो, तो पता लग जायगा कि रुचीके विना कोई पदार्थ नहीं है। सर्वत्र रस रुचि अथवा स्वाद है। कटु, तिक्त, मिष्ट, आम्ल, लवण और कषाय ये षड्रस हैं। पदार्थमात्रमें एक या अधिक रस होते हैं। जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि जिसमें लेशमात्र भी रुचि न हो, इस लिये जगत् में सर्वत्र रस है और इसी कारण सर्वत्र विश्वमें आपतत्त्व है।

तीसरा अग्नितत्त्व है। इसका गुणरूप नेत्र-द्वारा ग्रहण किया जाता है। आप जगत् में सर्वत्र देखिये जहां आपको रूप दिखाई देगा, वहां वहां अग्नितत्त्व है ऐसा आप समझिये। सब ही जगत् रूपमय होनेसे सब अग्नितत्त्वमय है, यह बात सबको स्पष्ट होगी। इसमें किसीको संदेह नहीं होगा, क्यों कि हरएक मनुष्य इसका अनुभव प्रत्यक्ष कर सकता है।

चौथा वायुतत्त्व है, इसका गुण स्पर्श है। त्वचासे इसका अनुभव होता है। जहां स्पर्शका अनुभव नहीं हो सकता ऐसा स्थान इस विश्वमें कहीं भी नहीं है। स्पर्श मृदु हो या कठोर, उष्ण हो या शीत, स्पर्श सर्वत्र अनुभव होता है, इसमें

कोई संदेह नहीं है। अतः वायुतत्त्व सर्वत्र है।

पांचवां आकाशतत्त्व है इसका गुण शब्द है। सर्वत्र शब्द होता है। कोई स्थान ऐसा नहीं है कि जहां शब्द न होता हो, अवकाश का होना तो सर्वत्र ही है इस लिये आकाश भी सर्वत्र उपस्थित है।

इस तरह पांच तत्त्व सर्वत्र हैं ऐसा अनुभव आ सकता है। अपने शरीर में भी ये पांच तत्त्व हैं और संपूर्ण जगत्मेंभी हैं। अपना शरीर संपूर्ण जगत् का एक भाग अथवा एक अंश है, इस लिये संपूर्ण जगत्में ये पांच तत्त्व हैं, ऐसा कहने मात्रसे वे अपने शरीर में भी हैं, ऐसा आपही आप सिद्ध होता है। यहां पाठक अपना शरीर संपूर्ण जगत् का एक अंश है, वह जगत् से भिन्न नहीं है, यह बात ठीक तरह स्मरण में रखें और कभी न भूलें।

क्या पंचभूत भिन्न हैं?

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ये पंचमहाभूत हैं ऐसा हमने ऊपर कहा, वे भिन्न भिन्न और एक दूसरेसे बिलकुल पृथक् हैं। पाठक कहेंगे कि इसमें संदेह कैसा हो सकता है? पृथ्वी आप नहीं, आप अग्नि नहीं, अग्नि वायु नहीं है और वायु आकाश नहीं है, इसमें भला संदेह के लिये कहां स्थान है? यहां संदेह इस कारण हुआ कि इनका विभिन्न अस्तित्त्व हमारे इंद्रियोंने सूचित किया है। अर्थात् आंखने जगत् का निरीक्षण किया उसमें उसको रूप का अनुभव हुआ, उसी का निरीक्षण नासिकाने किया और उस को उसमें गंध का अनुभव हुआ, इस तरह पांचों इंद्रियोंने पांचों गुणों का अनुभव लिया और कहा कि ये पांच गुण बाहर हैं। बाह्य विश्वमें पांच गुणोंका अस्तित्त्व देखनेसे उन गुणोंको धारण करनेवाले पांच महाभूतों के अस्तित्वकी कल्पना करनी है। यह केवल हमारी कल्पना मात्र है। क्यों कि शुद्ध स्थितिमें किसी भी महाभूतकी प्रत्यक्षता इस समयतक किसी को नहीं हुई है। शुद्ध पृथ्वी, शुद्ध आप्, शुद्ध तेज, शुद्ध वायु और शुद्ध आकाश न तो किसीने देखे और न देखनेकी शक्ति अथवा इनको पृथक् पृथक् करके अलग अलग बोतलोंमें भरकर रखनेकी शक्ति किसी महात्मामें है। इस लिये हमने कहा कि पांच इंद्रियों द्वारा पांच गुणोंका अनुभव होनेसे हमने पांच महाभूत भिन्न भिन्न हैं, ऐसी कल्पना की, वस्तुतः वे भिन्न हैं अथवा एक ही वस्तुके ये पांच गुण हैं इस बातका पता अभीतक हमें नहीं लगा।

ऐसा मान लीजिये कि किसी एक पदार्थ में हि शब्द स्पर्श रूप रस और गंध ये पांच गुण हैं। यदि ऐसा एक ही पदार्थ किसी स्थानपर होगा तो हमारे पांचों इंद्रियोंसे उसी एकही पदार्थ के ये पांच गुण लिये जांयगे। यदि जगत् के मूल एक तत्त्वमें ये पांच गुण होंगे, तो हमारे इंद्रियोंसे उस एकही तत्त्व के ये पांच गुण इसी तरह लिये जांयगे।

अर्थात् हमारे इंद्रियोंसे ये विभिन्न पांच गुण लिये आते हैं इस से जगत् में विभिन्न पांच तत्त्व हैं ऐसा निश्चयसे मानना असंभव है। क्यों कि किसी एक ही मूल तत्त्व में इन पांच गुणोंका होना भी संभवनीय है और वैसी स्थितिमें हमारे इंद्रियोंसे इन पांच गुणोंकी उपलब्धी वैसी ही हो सकती है। हमें पृथ्वी आदि पांच भूत शुद्ध और पृथक् स्थितिमें कहीं भी मिल नहीं सकते, जहां देखा जाता है वहां बिंदु बिंदुमें शब्द स्पर्श रूप रस गंध का अनुभव आता है, इस लिये एक ही मूलतत्त्वके ये पांच गुण हैं ऐसा मानना ही युक्तियुक्त है। अथवा इस एक तत्त्व का संबंध हमारे आंखसे हुआ तो रूप दिखाई देता है, हमारे नाकसे उसी तत्त्वका संबंध हुआ तो गंधका अनुभव आता है इसी तरह उसी एक तत्त्वका अन्यान्य इंद्रियों से संबंध होनेसे अन्यान्य

गुणोंका ज्ञान होता है। इस अनुभवके लिये उक्त पंच भूत विभिन्न पृथक् और मूलतः अलग रहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

सर्वव्यापक पांच तत्त्वोंका होना भी असंभव है। सावयव दो पदार्थ एक स्थानपर रह नहीं सकते। ये पंचमहाभूत तो सावयव पदार्थ हैं। इस लिये जहां एक होगा वहां दूसरेका रहना असंभव है। परंतु हमें तो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध का अनुभव सर्वत्र आता है, किसी बिंदुमें भी यह अनुभव नहीं आता ऐसा बिंदु नहीं है। इस लिये पांच महाभूत अलग अलग हैं ऐसा मानना कठीन है, क्योंकि एक ही सत्तत्वके सर्वव्यापी होने और उसीके साथ इंद्रियसंबंध होनेसे पंच गुणोंका अनुभव होनेसे भी पूर्वोक्त अनुभव होना संभवनीय है।

यही ईश्वर की प्रकृति (मे ईश्वरस्य प्रकृतिः) है जो एक होती हुई हमारे इंद्रियसंयोगसे पांच या आठ प्रकारकी दीखती है, इस एक प्रकृतिको हम अपने अनुभवसे पांच प्रकारकी अथवा आठ प्रकारकी है ऐसा कहते हैं। परंतु यह एक ही अपरा प्रकृति है।

तमः=अहंकार।

इसी तरह इस अपरा प्रकृति में मन बुद्धि और अहंकार का अनुभव आता है। इसका विचार करनेके लिये अहंकारको प्रथम लीजिये। इस जगत् में सर्वत्र अहंभाव प्रत्येक पदार्थ में अनुभव आता है। एक ही भूमिमें इमली, ईख और मिरच के पौधे अपने अहंकारके कारण खटाई मीठाई और तिखाई अपने अंदर संग्रहित करते हैं। इसी तरह प्रत्येक पदार्थमें यह अहंभाव है। आम्रवृक्ष अपने पत्ते आदिसे अपनी विभिन्नता प्रकट करता है, इसी तरह अन्य वस्तुजात अपने भिन्न अस्तित्वसे अपना अहंभाव प्रकट करते हैं। जगतके प्रत्येक पदार्थ मे यह अहंभाव है, और यह 'अहं' भाव प्रत्येक स्थानपर कह रहा है कि—

एकोऽहं बहु स्याम्।

"मैं एक हूं, मैं बहुत बनूंगा"। देखिये एक गेहूं का दाना अपने अहंभावसे कहता है कि यद्यपि 'मैं एक हूं, तथापि मैं बहुत बनूंगा' ऐसा कहता हुआ वह भूमिमें जाता है, उगता है और अनेक बनता है, इस तरह १५।२० वर्षोंमें एकही गेहूं के दानेके अनेक दाने बनाये गये तो सारी पृथ्वी व्यापेंगे और फिर भी उनमेंसे प्रत्येक दाना कहेगा कि 'मैं यद्यपि एक हूं तथापि मैं बहुत बनूंगा।' यह अहंभाव इस से हट नहीं सकता। प्रत्येक बीज ऐसा ही कहता है और ऐसाही बढ सकता है। अपने साथ दूसरेको बढने न देना, अपने नीचे किसी दूसरेको उन्नत होने न देना ये सब भाव इनमें हैं। यह सब अहंकार का ही प्रभाव है। इस तरह विचार करनेसे यह अहंभाव सर्वत्र है ऐसा ही दिखाई देगा। यह तमोगुण है।

रजः=मन।

मन भी ऐसाही है। सब प्राणियोंमें मनन के रूपसे यह दिखाई देता है, तथा अन्यान्य पदार्थोंमें भी विचार की दृष्टीसे देखा जाय तो मन के अस्तित्व का पता लग सकता है। प्रत्येक पदार्थकी घटना अणु परमाणुओंकी मिलावट, प्रत्येक का आकर्षण और दूरीकरण, संघटना और विघटना, मनन पूर्वक होता है। इसमें नियमोंकी गलती होती नहीं। इससे मनके अस्तित्वका पता लग जाता है और यह रजोगुण है।

सत्त्व=बुद्धि।

अब सत्त्वगुणका प्रकटीकरण जो इस जगत् में है वह बुद्धी का रूप है। प्राणियोंमें ज्ञान ग्रहण करनेके गुणसे इसका अनुभव आता है। अन्यत्र सात्विक प्रभावसे इसकी प्रतीति होती है। योग्य अन्नादिके ग्रहणसे बुद्धिका संवर्धन और अयोग्य

अन्नसे बुद्धिका कम होना सब के अनुभवकी बात है।

इस तरह यह ईश्वरकी अष्टधा प्रकृति है और यह सर्वत्र है। कोई स्थान इससे खाली नहीं है। हमारे पास आठ इंद्रियाँ हैं इस कारण हम इस प्रकृति को आठ प्रकार की कहते हैं, परंतु परमेश्वरकी यह एक ही अपरा प्रकृति है, जिसको आगे 'क्षर प्रकृति' करके कहा है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेंद्रिय गोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥
गी० अ० १३

"पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, इंद्रिय, मन, पंच विषय, इच्छा द्वेष, सुख दुःख, संघात, चेतना अर्थात् प्राणादिका व्यापार और धैर्य इस ३१ तत्वोंके समुदायको सविकार क्षेत्र कहते हैं।' यह सब इस प्रकृतिका ही विस्तार है। अस्तु, इस तरह यह अष्टधा प्रकृति क्षर प्रकृति ही है। अर्थात् यह बदलनेवाली प्रकृति है। यह अपरा प्रकृति है, परंतु सदा बदलती रहती है, इस लिये इसमें विभेद अनंत होते हैं।

सत्त्व-रज-तम।

इस प्रकृतिमें सत्त्व रज और तम की साम्य अवस्था रही तो वही मूल प्रकृति कहलाती है, और सत्त्व रज तम इन गुणों में विषमता हो गई तो उससे उस प्रकृतिकी विकृति बनती है और यह जगत् उस विकृतिसे प्रकट होता है। प्रकृति और विकृतिमें इस तरह सत्त्व रज तम गुणोंकी समता और विषमता का ही भेद है। समता हो या विषमता हो, दोनों अवस्थाओंमें वह परमेश्वरकी प्रकृति है, इसमें कोई संदेह नहीं है। और इस प्रकृतिका एक अंश हमारा शरीर है इस लिये हमारा शरीर भी परमेश्वरके शरीरका एक भाग है। इसी तरह परमेश्वरके शरीरमें सबके शरीर समाये हैं, अथवा मनुष्यों, पशुपक्षियों, वृक्षवनस्पतियों, स्थावरजंगमों तथा सूर्यचंद्रादिकोंके सब शरीर मिलकर होनेवाला जो यह प्रचंड ब्रह्माण्ड रूपी विराट् देह है, वही परमेश्वर का शरीर है, जिसमें हरएक का बिंदुमात्र शरीर समाया है और कोई उससे बाहर नहीं है। यही उसका 'विश्वरूप दर्शन' है जो ग्यारहवे अध्यायमें पाठक कर सकेंगे।

अपरा प्रकृति।

यहां तक जिसका वर्णन किया अर्थात् पंचभूत और मन बुद्धि अहंकार रूप जो अष्टधा प्रकृति है वह अपरा प्रकृति है, यह कनिष्ठ गौण अथवा क्षर किंवा स्थूल प्रकृति है। यहां जो कनिष्ठ शब्द का प्रयोग किया है वह उसके हीनत्वका दर्शक नहीं है, प्रत्युत दूसरी की अपेक्षा इसकी गौणता है। अब इस गौण अर्थात् गुण-मयी किंवा त्रिगुण मयी प्रकृतिको छोडकर परा प्रकृतिका वर्णन देखते हैं।

परा प्रकृति।

परमेश्वर की दूसरी परा प्रकृति है। जिसको 'जीव' कहते हैं वही यह प्रकृति है—

जीवभूतां मे परां प्रकृतिं विद्धि। (श्लो० ५)

"जीवरूप जो इस जगतमें विभाग है वह मेरी (परमेश्वरकी) परा प्रकृति है।" मनुष्य, पशुपक्षी, जलजन्तु, उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, आदि प्रत्यक्ष जीव जगत् है। इनमें इच्छाद्वेष, सुखदुःख, प्रयत्न का अनुभव प्रत्यक्ष होता है। वृक्षादिमें भी जीव है, परंतु वह स्वप्न स्थितिमें रहनेके समान अर्ध निद्रित अवस्थामें है, पशुसृष्टिमें वह किंचित् जाग्रत होने लगा है और मानवसृष्टिमें वह अत्यंत जाग्रत हुआ है। यही स्थावर सृष्टीमें पूर्ण सुप्तावस्थामें है। यह जो जीवसृष्टी है वह परमेश्वर की श्रेष्ठ प्रकृति है, मनुष्य शरीरमें भी जो जीवन कला है वह इसीका

एक अंश है, अर्थात् इस जीवरूप पराप्रकृति-को भी परमेश्वरका प्रचंड सागर माननेसे मनुष्यकी जीवन कला उसका एक बूंद ही है। इस दृष्टीसे भी परमात्माकी प्रचंड जीवरूप प्रकृतिका एक विभाग मानवी जीवन कला है।

यया इदं जगत् धार्यते। (५)

'इस जीवन शक्तिसे इस जगत् की धारणा होती है।' जगत् के अंदर जो अनंत पदार्थमात्र हैं वे इसी जीवन शक्तिसे अपने अपने स्थानमें धारण किये गये हैं। अर्थात् जिसको हम जीव-सृष्टी कहते हैं और जिसको हम निर्जीव सृष्टी कहते हैं, इन दोनोंको इस जीवनशक्तिका आधार है, मानो इस जीवन शक्तिके आधार परहि यह सब जगत् रहा है।

यह अपरा और परा प्रकृति मिलकर परमेश्वरकी प्रकृति बनती है। देखिये—

ईश्वर— { जीवन- परा प्रकृति-अक्षर-अविनाशी-अविकारी
जड -अपरा प्रकृति- क्षर-नाशवंत -विकारी

जीवात्मा- { चैतन्य—सूक्ष्म शरीर—अविनाशी—अविकारी
स्थूल शरीर, जड शरीर, विनाशी देह, विकारी प्रकृति

जीव और शिव में यह समानता देखने योग्य है। अपने देह के अंदर प्रथम देखने के पश्चात् विराट् देहमें वही बात देखी जा सकती है। इस तरह यह परा और अपरा प्रकृतिका खेल सर्वत्र देखनेसे गीता की शिक्षा का पता लग सकता है। आगे कहा है—

भूतोंकी उत्पत्ति।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। (६)

"इस परा अपरा प्रकृतिसेहि सब भूत अर्थात् सब स्थिरचर संपूर्ण पदार्थ उत्पन्न होते हैं।" यह बात निम्न लिखित चित्रसे विदित हो सकती है।
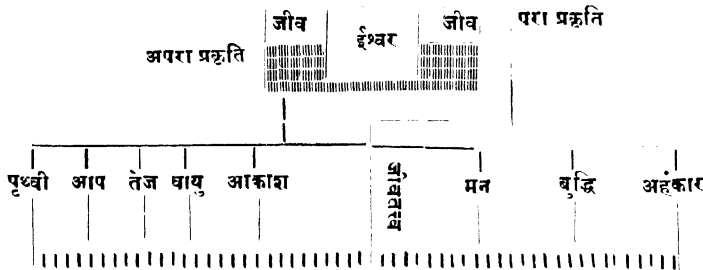
इस तरह ईश्वर, और प्रकृति- [जीव शक्ति+ स्थूल भूत] मिलकर संपूर्ण जगत् बनता है अतः कहा है—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। (६)

"(मैं) ईश्वर संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण हूं।" यह ईश्वर कैसा कारण है यह बात इस समय तक के विवरण से ज्ञात हो सकती है। मनुष्यके शरीरमें भी जीवन-कला और स्थूल शरीर है और आत्मा अंदर रहता हुआ अपनी शक्तिसे शरीरके अंदर का

सब कार्य चलता है। इसी तरह ईश्वर अपनी शक्तिसे जीव शक्ति और क्षर प्रकृति में कार्य करता है, जिससे इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होते हैं।

परतत्त्व।

अष्टधा अपरा प्रकृति, जीवभूत परा प्रकृति और ईश्वर इन सबमें ईश्वरहि सबसे श्रेष्ठ है। इससे और परे अथवा इससे और अधिक श्रेष्ठ, उच्च, कुछ भी नहीं है—

परतरं नान्यत्किंचिदस्ति। (७)

सबसे जो कुछ श्रेष्ठ है, परात्पर जो कुछ है, वह यही पुरुषोत्तम है। अन्तिम प्राप्तव्य यही है। यहां पहुंचतेहि आगे चलनेकी कोई आवश्यकता नही है। क्योंकि इसके आगे और कुछ भी नहीं है। इस लिये वारंवार कहते हैं कि यहां पहुंचनेपर गति कुंठित हो जाती है। गति कुंठित हो जाती है इस का अर्थही यह है कि यहां हि प्रगति की समाप्ति हुई है।

यहां पाठक स्मरण रखें कि अपरा और परा प्रकृति मिलकर परमेश्वरकी एक ही प्रकृति अर्थात् ईश्वर का शरीर बनता है। अपने शरीर में स्थूल शरीर और जीवनतत्त्व ये दो विभाग हैं वैसेहि परमेश्वर के इस विराट् शरीरमें अपरा और परा प्रकृति ये दो विभाग हैं। हमारे शरीर में जो ये दो विभाग हैं वे परमेश्वरके विराट् शरीरकेही अंश हैं। अर्थात् हम सब प्राणी परमेश्वरके शरीरके सूक्ष्म अंश हैं। जैसे हमारे शरीर में सूक्ष्म कीटाणु होते हैं, वे हमारे शरीर के अंश होते हुए भी वे स्वतंत्रतया जन्मते जीवित रहते और मरते हैं, उनके जीने और मरनेसे हमारे अखंड जीवनमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती, उसी प्रकार हम सब जीव-सब प्राणियोंके शरीर-ये सब परमेश्वरके विराट् देहमें कीटाणु समान हैं और हमारे मरने और जन्म लेनेसे उनके अखंडानन्द जीवनमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती।

इस कारण हम अपने क्षुद्र जीवन का अभिमान न धारण करते हुए, किंवा क्षुद्र जीवन के अभिमानसे अपने आपको क्षुद्र न बनाते हुए, यदि हम अपने आपको परमात्माके अखंडानन्द जीवन का अंश अनुभव के साथ बनायेंगे, तो हम जितने दिन यह शरीर रहना है उतने दिन, अखंडानन्द के भागी होंगे। यह है परमद प्राप्तिका लाभ। पाठक इस का अधिक मनन करें।

एक मनुष्य पैदल चलता है, दूसरा बैल गाडी में जाता है, तीसरा घोडागाडीमें विराजता है, चौथा मोटारमें दौडता है, पांचवा रेलसे भागता है और छठां विमानमें उडता है। यद्यपि सभी गतिमान हैं और सभी प्राप्तव्य स्थानमें जानेकेहि उत्सुक हैं, तथापि उनकी गति क्रमशः घण्टे में ३, ४, ६, ३०, ६०, और १०० मील की होती है। अब जानेवालेको हि विचार करना चाहिये कि मैं किस गतिसे जाऊं। वह मनुष्य अपने आपको जिस यान का भागी बनावेगा, उस वेगसे वह युक्त होगा। इसी तरह यहां भी भोगोंका लघु आनंद है और परमेश्वर का महानन्द है। लोग लघु आनन्द देनेवाले भोगोंमें रमते हैं इस लिये अल्प आनंद पाते हैं, परंतु वे महानन्द में रमेंगे तो वे अखण्ड महानन्दसे युक्त होंगे। इस कारण ही वारंवार कहा होता है कि परमेश्वरकी उपासना करो, इसका तात्पर्य यही है कि,हे उपासक, साधक! तू अखंड आनंद का भागी बन।

परमतत्त्व, परमपद, परमेश्वर की प्राप्तिसे जो लाभ होना संभव है उसकी किंचित् कल्पना इस विवरणसे आसकती है। अब हम अगला विचार करते हैं।

सूत्रमें मणि।

सातवें श्लोकमें "सूत्रमें मणि रहनेके समान सूत्रात्मामें यह संपूर्ण जगत् है" ऐसा कहा है। पृथ्वी आप तेज वायु आकाश, सूर्य चंद्र, ग्रह नक्षत्र तारामंडल, वृक्ष वनस्पती, प्राणी आदि जो भी इस जगत् में वस्तुमात्र हैं, वे मणिरूपी हैं

(३) जगत्में ईश्वर।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

अन्वयः- हे कौन्तेय! अहं अप्सु रसः, शशिसूर्ययोः प्रभा अस्मि; सर्ववेदेषु प्रणवः, खे शब्दः, नृषु पौरुषं ॥८॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मैं जलमें रस हूं; सूर्य और चन्द्रमें प्रभा मैं हूं; सब वेदोंमें प्रणव अर्थात् ओंकार मैं हूं, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पराक्रम मैं हूं ॥८॥

और उसमें व्यापनेवाला आत्मा सूत्र है। इस तरह इन मणियोंकी इस सूत्रात्मामें जो माला बनाई है वही यह जगत् है।

फूलोंकी माला, मणियोंकी माला, मोतियोंकी माला ऐसी अनेक मालाएं रहती हैं। माला बननेके लिये सूत्रकी अत्यंत आवश्यकता होती है, सूत्रसे दो मणियोंका संबंध सुदृढ होता है, और दो मणियोंका संबंध सुदृढ होनेसेहि माला बनती है। यह संबंधका सूत्र टूट जानेसे माला भी टूट जाती है।

यहां जो मालाएं बनती हैं वे विजातीय और सजातीय पदार्थोंसे बनती हैं। सूत्रमें फूल, मणि- मोती आदि पिरोकर जो माला बनती है वह विजातीय माला है, क्योंकि सूत्रकी जाती और मणियोंकी जाती भिन्न होती है। परंतु सोनेकी तारमें सोनेके मणि, चांदीकी तारमें चांदीके मणि सूत्रके धागेमें सूत्रके मणि रखनेसे भी सजातोय माला बनती है। सजातीय मालामें जिस तत्त्वके मणि होते हैं, उसी तत्त्वका धागा होता है और विजातीय मालामें सूत्र भिन्न तत्त्वका और मणि भिन्न तत्त्वके होते हैं।

इस जगद्रूपी मणियोंकी माला बननेमें परमा- त्माका सूत्र है और यह विश्वरूपिणी मनमोहिनी माला बनी है। यहां प्रश्न होता है कि क्या यह सजातीय माला है अथवा विजातीय है? अर्थात् विश्व और विश्वात्मा, जगत् और जगदात्मा ये विजातीय हैं वा सजातीय हैं? इसका यहां विचार करना चाहिये। अर्थात् सूत्रात्मामें सूत्रकेही मणी पिरोये हैं अथवा फूलोंमें सूत्र रखकर यह माला बनाई है, यह प्रश्न यहां है। इसका उत्तर स्वयं गीता आगे जाकर देगी, परंतु इसी अध्यायमें आगे कहा है कि—

वासुदेवः सर्वम्। गी० ७।१९

"सब कुछ वासुदेव ही है।" यदि यह कथन सत्य है तो सूत्रभी वासुदेव है और मणिभी वासुदेव है, ऐसा मानना पडेगा। नहीं तो केवल सूत्र ही वासुदेव है और मणि वासुदेव नहीं है ऐसा मानने पर 'वासुदेवः सर्वं' यह कथन असत्य होगा। यदि वासुदेव सब कुछ है तो सूत्र और मणि एक ही तत्त्वके हैं यही सिद्धान्त भगवद्गीताको अभीष्ट है, इसमें संदेह नहीं हो सकता। इस विषयमें जो कुछ कथन करना होगा वह युक्ति प्रमाणों के समेत हम इस श्लोक की व्याख्या के प्रसंगमें कहेंगे। यहां इतना ही कह देना पर्याप्त है कि, सूत्रमें सूत्रके मणि, सोनेकी तारमें सोनेके मणि रखनेके समान यहां जगत् और आत्मा एक ही तत्त्व के हैं। यह कैसा है इसका विवेचन आगे आवेगा। यह बात समझा देनेका यत्न स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही करते हैं, वह मनोरंजक और अद्भुत उपदेश अब देखिये-

ईश्वरका रूप।

(८-१२) मनुष्यके सन्मुख यह जगत् है, इस

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

अन्वयः- च पृथिव्यां पुण्यः गंधः, विभावसौ च तेजः अस्मि; सर्वभूतेषु जीवनं, तपस्विषुच तपः अस्मि ॥९॥ हे पार्थ! मां सर्वभूतानां सनातनं बीजं विद्धि, अहं बुद्धिमतां बुद्धिः अस्मि, तेजस्विनां तेजः ॥१०॥ अहं च बलवतां कामरागविवर्जितं बलं अस्मि, हे भरतर्षभ! भूतेषु धर्माऽविरुद्धः काम अहं अस्मि ॥११॥ ये च एव सात्त्विकाः राजसाः तामसाः च भावाः, (ते) मत्तः एव इति तान् विद्धि; अहं तु तेषु न (अस्मि), ते मयि (वर्तन्ते)॥१२॥

पृथ्वीमें उत्तम शुभ गंध मैं हूं, सब प्राणियोंमें जीवन मैं हूं, तपस्वियोंमें तप मैं हूं, ॥९॥ हे अर्जुन! सब भूतों का सनातन बीज मैं हूं, ऐसा तू समझ। मैं बुद्धिवानोंकी बुद्धि हूं और तेजस्वियोंका तेज हूं ॥१०॥ और मैं बलवानोंका इच्छा--द्वेष--रहित बल हूं, हे भरतश्रेष्ठ! सब भूतोंमें धर्मा-नुकूल वासना मैं हूं ॥११॥ जो सात्त्विक राजस और तामस भाव हैं, वे सब मुझसेहि उत्पन्न होते हैं, ऐसा तू समझ। मैं उनमें नहीं हूं, परंतु वे मुझमें (रहते) हैं ॥१२॥

भावार्थ- पृथ्वीमें गंध, जलमें रस, अग्नि का तेज, वायुका स्पर्श, आकाश का शब्द, सूर्यका प्रकाश, चन्द्रका चांदना, वेदमें ओंकार, प्राणियोंका जीवन, भूतोंका सनातन बीज, भूतों की धर्मानुकूल वासना, पुरुषोंका पराक्रम बलवानोंका इच्छाद्वेषरहित बल, तेजस्वियोंका तेज, और बुद्धिवानोंकी बुद्धि ईश्वर है। इस जगत् में सात्त्विक राजस और तामस भाव हैं वे सब ईश्वरसेहि होते हैं। ईश्वर उन विकारोंमें नहीं है, परंतु ये विकार इस ईश्वर में है ॥८-१२॥

जगत् में परमेश्वर किस रूपमें प्रत्यक्ष होगा इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं, कि, —

१ पृथ्वी में जो उत्तम सुवास है वह ईश्वर है,
२ जल में जो रस है वह ईश्वर है,
३ अग्नि में जो तेज है वह ईश्वर का रूप है,
४ वायुमें जो स्पर्श है वह ईश्वर का रूप है,
५ आकाशमें जो शब्द है वह ईश्वर का रूप है।

अर्थात् पृथ्वी आप् तेज वायु आकाशमें जो गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द है वह परमेश्वर का प्रत्यक्ष रूप है। मनुष्य फूल का सुगंध लेता

है, मधुर फल का मीठा रस चखता है, पदार्थ का सुंदर रूप देखकर सौंदर्यका अनुभव करता है, उत्तम पदार्थका स्पर्शसुख अनुभवता है और जो शब्द सुनता है वह परमेश्वरके रूप का ही अनुभव है। फूल का सुगंध परमेश्वर का ही प्रत्यक्ष रूप है, मधुरादि षड्रस प्रत्यक्ष परमेश्वर का स्वरूप है, पदार्थ के रूप, स्पर्श तथा शब्दोंका विस्तार यह सब परमेश्वरका प्रत्यक्ष रूपहि है। पंचमहाभूतोंमें जो यह अनुभव आता है यह प्रत्यक्ष परमेश्वरका ही साक्षात्कार है। फूलों में भगवान् कहां विराजते हैं ऐसा किसीने प्रश्न किया, तो सुगंधके रूपसे फूलों में भगवान् विराजते हैं यही उत्तर है। इसी तरह अन्यत्र समझना चाहिये। इतना प्रत्यक्ष परमेश्वर होता हुआ भी मनुष्य कहता है कि परमेश्वर हमें प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये उसको ढूंढकर निकालना चाहिये और उस कार्यके लिये अनेक क्षेत्र देखने चाहियें। कितना भ्रम फैला हुआ है! हमारे चारों ओर पंचमहाभूत भरे हैं और उनका सत्वांश परमेश्वरही है। यदि मनुष्य गंध रस रूप स्पर्श और शब्द ये परमेश्वरके भाव हैं ऐसा सचमुच विना संदेह मानने लग जाय, तो उनको सर्वत्र ही परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है। पाठक इस तरह परमेश्वर को प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

अब यही बात अपने अन्दर देखिये। अपने शरीरमें आत्मा रहने तक ही नाक गंध का ग्रहण कर सकता है, जिह्वा रसग्रहण कर सकती है, नेत्र रूपका ग्रहण कर सकता है, त्वचा स्पर्शका अनुभव कर सकती है, कान शब्द सुन सकता है, अतः तब तकहि आत्माका अस्तित्व उस शरीरमें है यह अनुभव हो सकता है। इसी तरह पूर्वोक्त पंचमहाभूतों में पूर्वोक्त गुण अनुभवमें आते हैं, वही उसका प्रत्यक्ष रूप है, ऐसा समझना चाहिये। यह तो पंचमहाभूतोंमें परमात्माका भाव हुआ, अब मनुष्यादि प्राणियोंमें परमात्माका भाव कहां और कैसा रहता है वह देखिये—

प्राणियोंमे जो जीवनकी कला है वह परमेश्वरका रूप है। प्रत्येक प्राणी जन्मता है, पश्चात् जीवित रहता है और पश्चात् मरता है। जन्मसे मृत्युतक उसका जीवनकाल है, इसमें जो जीवनशक्ति कार्य करती है, वह ईश्वरीय भाव है। मनुष्यमें भी यह जीवन है। पाठक अपने जीवनमें भी यह परमात्माका अनुभव कर सकते हैं। यह ईश्वरीय जीवन न मिला, तो कोई भी मनुष्य आदि प्राणी जीवित नहीं रहेगा। जीवन तो मनुष्य पशुपक्षी तथा वृक्षवनस्पतियोंमें समानतया है। यह जीवनका चमत्कार परमेश्वर का ही भाव है।

वीरों का पराक्रम, बुद्धिमानों की बुद्धिमत्ता, तपस्वियोंकी तपस्या, तेजस्वियोंकी तेजस्विता, बलिष्ठोंका बल, मनुष्यों में दीखनेवाली वासना, यह सब परमेश्वर का ही रूप है। उक्त श्लोकोंमें कहा है कि "मैं (ईश्वर) मनुष्योंमें पराक्रम, बुद्धिमत्ता, तेजस्विता, बल, वासना आदिरूपसे रहता हूं।" इससे स्पष्ट होता है कि यह ईश्वर का ही रूप है। यदि यह रूप ईश्वरका है तो हम सब में इस तरह इस रूपमें ईश्वर का निवास है यह आपहि आप सिद्ध हुआ।

वीरोंसे वीरता दूर कैसी हो सकती है? बलिष्ठोंसे बल पृथक् करना कैसा संभव है? क्या बुद्धिवानोंकी बुद्धि उनसे किसी तरह पृथक् की जा सकती है? क्या कभी उन मनुष्योंसे ये दैवी शक्तियां अलग कि जा सकती हैं? नहीं की जा सकती। इससे सिद्ध है कि परमेश्वर वीरोंमें पराक्रमरूपसे रहता है, बुद्धिमानोंमें बुद्धिमत्ता के रूपसे विराजता है, बलिष्ठोंमें बल के रूपमें वह रहता है, इस तरह मनुष्योंमें परमेश्वर का रूप हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

यदि वीरता ईश्वर का रूप है तो सब वीर पुरुष परमेश्वर की विभूतियां हैं, यदि बुद्धिमत्ता परमेश्वर का रूप है तो बुद्धिमान् पुरुष परमेश्वर-

की विभूतियां हैं, यदि बल ईश्वरका रूप है तो सब बलवान् पुरुष परमेश्वर की विभूतियां हैं। इसी तरह अन्यान्य गुणों के विषयमें समझना चाहिये। ये गुण परमेश्वर का प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाला परमेश्वर का रूप है और वे गुणी मनुष्य परमेश्वरकी विभूतियां हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों में इस तरह परमेश्वरकी विभूति देख सकते हैं। इनमें कौन कौन विभूतियां हैं इसका विचार आगे १० वें अध्यायमें विभूतिवर्णन के प्रसंगमें किया जायगा। यहां केवल मनुष्योंमें परमेश्वर का भाव कैसा जाना जा सकता है यही देखना है और वह पूर्वोक्त प्रकार देखा जा सकता है।

जहां बुद्धिका उत्कर्ष है, बलका प्रकर्ष है, तेजस्विताका विशेष है, ज्ञानका विकास है, वहां परमेश्वर का भाव है ऐसा पाठक समझ सकते हैं। और जहां इस तरह परमेश्वर का भाव प्रकट हुआ है उसी को पूज्य विभूति कह सकते हैं। इन्ही विभूतियोंकी पूजा होती है।

प्राणिमात्रमें धर्म के अनुकूल काम अर्थात् वासना, बलवानों में इच्छाद्वेषरहित बल, ये सब परमेश्वर के प्रत्यक्ष रूप हैं। जहां ये भाव होंगे वहां परमेश्वर का रूप प्रकट हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। ऐसे हि सज्जनोंको महात्मा और पुण्यात्मा कहते हैं और ये ही सत्पुरुष लोकोंमें वंदनीय विभूतियां होती हैं। इसका कारण उनमें परमात्मभाव अधिक प्रकट हुआ यही है।

अन्तमें १२ वें श्लोक में जो सात्विक राजस और तामस भाव हैं वे सब (मत्तः=मुझसे) ईश्वर से हि होते हैं ऐसा कहा है। यहां पाठकों को विशेष मननपूर्वक स्मरणमें रखना चाहिये कि यहां सात्विक, राजस और तामस ये सब भाव ईश्वर से होनेकी कल्पना कही है। सामान्य वाचक तो सात्विक और राजस भाव ईश्वरसे या परमात्मासे होते हैं ऐसा मानेंगे, परंतु तामस भाव भी उसी से होते हैं यह मानना लोगोंको कठीन होगा। परंतु यहां स्पष्ट कहा है, सात्विक राजस और तामस ये सब भाव ईश्वरसे हि होते हैं। यदि ये तीनों प्रकारके भाव ईश्वर का रूप हैं तो ११ वें श्लोकके कथन का अर्थ थोडा विस्तृत करना पडेगा। वहां कहा है कि "काम राग (इच्छा-द्वेष) रहित बल और धर्मानुकूल काम ईश्वरका रूप है।" यहां काम रागरहित बल का अर्थ सात्विक बल है, और धर्मानुकूल काम का अर्थ सात्विक और राजस काम है। इससे यह सूचित हुआ कि कामरागयुक्त राजस बल और आत्मघातकी तामस बल तथा धर्मविरोधी तामस काम ईश्वर का रूप नहीं है। ग्यारहवें श्लोकसे सात्विक और राजस भाव ही ईश्वरके भाव हैं और तामस गुण ईश्वर के भाव नहीं है ऐसा सूचित होता है। परंतु यह केवल सात्विक और केवल राजस भावोंमें प्रकट होनेवाला रूप समग्र ईश्वरका (समग्रं मां-ईश्वरं-ज्ञास्यसि। ७।१) समग्र रूप नहीं है। ईश्वर का समग्र रूप जगत् में सात्विक राजस और तामस भावोंमें प्रकट होता है, वह सब ईश्वर का रूप है ऐसा जाननेसेहि समग्र ईश्वर का समग्र रूप जाना जा सकता है।

मत्तः एव इति तान् विद्धि। १२

'मुझ-ईश्वरसेहि ये तीनों भाव-सात्विक राजस और तामस भाव-निश्चयसे प्रकट होते हैं,' ऐसा निश्चय पूर्वक कहा है। यहां शंका के लिये कोई स्थान नहीं है। निःसन्देह ये सब भाव ईश्वरसे हि प्रकट होते हैं और किसी अन्य कारणसे ये प्रकट नहीं होते। अर्थात् इनको देखनेसे इनके आदिकारण ईश्वर का ही बोध लेना उचित है।

तथापि इनके विषयमें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ये भाव परमात्मामें हैं परंतु परमात्मा उनमें नहीं है।

ते मयि (परमात्मनि) न त्व हं (परमात्मा) तेषु। (७।१२)

'वे भाव परमात्मामें हैं परंतु इनमें परमात्मा नहीं है।' इस बात को स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण देते हैं। वृक्षमें पत्र फूल फल होते हैं, परंतु केवल पत्ते में, केवल फूलमें अथवा केवल फलमें संपूर्ण वृक्ष नहीं होता। इसी तरह और भी कई उदाहरण इसको समझाने के लिये दिये जा सकते हैं। जैसा बीजसे वृक्ष बनता है, परंतु वृक्ष के काष्ठ में प्रत्यक्ष बीज नहीं दीखता, वैसे ही परमात्मासे सात्विक राजस तामस भाव बने हैं, तथापि उनमें परमात्मा नहीं है। दूसरा उदाहरण बादलोंसे जल होता है, परंतु जलमें बादल नहीं होता है। बादलोंसे जलसंघर्षणसे बिजली उत्पन्न होती है, परंतु उस बिजलीमें न बादल होता है और न जल होता है। अग्निसे धूवां निकलता है परंतु धूवेमें अग्नि नहीं होती। इसी तरह सात्त्विक राजस तामस भाव ईश्वरसे हुए हैं, परंतु इनके आश्रयसे परमेश्वर नहीं है।

यहां यह बात समझनेके लिये ऐसा समझना चाहिये कि सत्त्वादि भाव परमात्माकी शक्तिसे उत्पन्न हुए हैं और परमात्माके आश्रयसे रहते हैं, परंतु सत्त्वादि भावों के रहनेसे परमात्माका अस्तित्व है ऐसी बात नहीं है, अथवा सत्त्वादि भावोंके आश्रयसे परमात्मा रहता है यह बात नहीं है। यही भाव अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक और उदाहरण देते हैं। किसी यंत्रालयमें भाप या विद्युच्छक्तिसे मुख्य उड्डाणचक्र चलता है और उड्डाणचक्र (फ्लाय् व्हील) से शक्ति लेकर कई यंत्र चलते हैं। इनमें कई यंत्र काटनेका, कई यंत्र जोडनेका और कई यंत्र छपाईका कार्य करते हैं। यहां मुख्य शक्ति उड्डाणयंत्रमें रहती है और वहांसे वह मुख्य शक्ति विभक्त होकर विभिन्न यन्त्रोंको चलाती है। इस स्थानपर कहा जाता है कि उड्डाणयंत्रकी मुख्य शक्ति विभिन्न यंत्रोंको चलाती है, परंतु विभिन्न यंत्रोंकी शक्ति मुख्य उड्डाणयंत्रकी प्रेरक नहीं है। मुख्य यंत्रकी शक्ति गौण यंत्रोंमें है, परंतु गौण यंत्रोंपर मुख्य यंत्रकी गति अवलंबित नहीं है। मुख्य यंत्र चलेगा तो गौण यंत्र चलते रहेंगे, परंतु गौण यंत्र चले या न चले तो उनके साथ मुख्य यंत्रके चलनेका कोई संबंध नहीं है।

और एक उदाहरण लीजिये। अनियंत्रित राजशासनके राजा में मुख्य राजशक्ति है, वह महामंत्री से लेकर छोटेसे कर्मचारी तक विभक्त होकर कार्य करती है। यहां कहा जा सकता है कि राजाकी शक्ति राजपुरुषोंमें कार्य करती है, परंतु कर्मचारियोंकी शक्तिके आश्रयपर राजशक्ति नहीं रहती। कर्मचारी रहा या चला गया तो भी राजशक्ति अबाधित रहती है, परंतु राजा न रहा तो किसी कर्मचारी की शक्ति उसका कार्य नहीं कर सकती। इसी तरह परमेश्वर के आश्रयसे जगत् के सात्त्विक राजस और तामस भाव प्रकट होते हैं, परंतु जगत् में ये भाव प्रकट होने न होनेपर परमेश्वरका अस्तित्व अवलंबित नहीं है। ईश्वर उनमें नहीं है, परंतु वे ईश्वर में हैं इसका आशय इन उदाहरणोंसे स्पष्ट हो सकता है।

ईश्वरसे सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र जल भूमि आदि हो गये हैं, अतः इनके कारण ईश्वरके अस्तित्व का ज्ञान हमें होता है, यह सत्य है तथापि सूर्यचन्द्रके अस्तित्वपर परमेश्वर का अस्तित्व अवलंबित नहीं है। इस लिये कहा जाता है कि ईश्वरमें सूर्यादि ग्रह नक्षत्र आश्रित हैं, परंतु सूर्यादि ग्रहनक्षत्रोंके आश्रयसे ईश्वर नहीं रहता। (अहं तेषु न, ते मयि) मैं ईश्वर उनमें नहीं हूं परंतु वे मुझ ईश्वरमें रहते हैं। इतने उदाहरणोंसे श्लोक का तत्त्व समझमें आगया होगा।

परमेश्वरकी प्रत्यक्षता।

इतने विवरणसे परमेश्वरकी प्रत्यक्षता किस रीतिसे हुई वह अब देखना चाहिये। यहां तक जो ज्ञान भगवद्गीताने दिया है उस को अच्छी

(४) मायामोह।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

अन्वयः- एभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः इदं सर्वं जगत् मोहितं, (अतः) एभ्यः परं अव्ययं मां न अभिजानाति ॥१३॥

इन तीन गुणयुक्त भावोंसे यह सब जगत् मोहित हुआ है, (इस कारण) इनके परे अविनाशी मुझ (ईश्वरको वह) नहीं जानता ॥१३॥

तरह समझनेका यत्न हमें करना चाहिये। तब गीतामें जो परमेश्वरकी कल्पना व्यक्त की है वह हमें ज्ञात हो सकती है।

जलमें रस परमेश्वरका रूप है। क्या जलसे रस अलग किया जा सकता है? नहीं, जल और रस का अभेद्य संबंध है। जलसे रस अलग नहीं हो सकता और न रस जलसे अलग किया जा सकता है। परंतु जलका स्थूल रूप प्रत्यक्ष दीखता है और रस अप्रत्यक्ष होता हुआ भी अनुभवमें आता है। यहां जलमें रस परमेश्वका रूप है, जो जलसे अभिन्न है। जैसा मिश्रीका या खांडका रूप जो आंखसे दीखता है वह प्रत्यक्ष है और उसकी मीठास आंखको अप्रत्यक्ष होनेपर भी अन्य साधनसे जानी जाती है। यह मीठास खांडको तोडनेसे भी नहीं टूटती। यहां खांडका एक रूप टूटनेवाला (क्षर) है और उसी खांडका दूसरा न टूटनेवाला रूप (अक्षर) मीठासके रूपमें हमें अनुभव होता है। यह क्षर और अक्षर एकही स्थानपर भिन्न होते हुए भी अभिन्नतासे रहते हैं और दोनोंका (क्षराक्षर-भाव) मिलकर एक भाव होता है, जो खांडके रूपसेहि प्रत्यक्ष है वह ही पूर्ण पुरुषोत्तमका रूप है, जो केवल क्षरमें भी नहीं और केवल अक्षरमें भी नहीं होता, परंतु क्षराक्षरसे परे होता हुआ भी क्षराक्षरमेंहि रहता है। अर्थात् खांडमें स्थूल रूपी साकार दृश्य क्षर आकार, मीठासरूपी निराकार अक्षर, और इन दोनोंका अभेद संबंध खांडरूपसे अनुभव आता है, यही क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम परमात्मा है। अर्थात् इसकी कल्पना ठीक होनेसे पुरुषोत्तम, नारायण, परमेश्वर, परमात्माकी कल्पना ठीक हो सकती है।

इसी तरह जलका स्थूल भाग क्षर रूप है, उसमें रस अक्षररूप दिव्य भाव है और यह क्षर और अक्षर मिलकर जो होता है वह सब पुरुषोत्तम किंवा वासुदेव है। इसी प्रकार चंद्रसूर्य की प्रभा, मनुष्योंमें पौरुष, तपस्वियोंका तप, बुद्धिमानोंकी बुद्धि, बलवानोंका बल इत्यादिके विषयमें क्षराक्षरविवेक समझना चाहिये। यहां इस प्रकार सब पदार्थोंमें परमेश्वरका भाव कैसा है यह मननपूर्वक देखना चाहिये और उन भावोंको देखकर ईश्वरका साक्षात्कार करनेका यत्न करना चाहिये। इतना प्रत्यक्ष ईश्वर होनेपर भी मनुष्योंको वह दूर क्यों दीखता है, इसमें मोह होनेका कारण क्या है, यह बात आगेके श्लोकोंमें कही है, वे श्लोक अब देखिये—

मायाका स्वरूप।

(१३—१५) मायाका स्वरूप क्या है और इस कारण मनुष्यको मोह कैसा होता है यह एक विचार करने योग्य प्रश्न है। मायाके स्वरूप

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

अन्वयः- एषा दैवी गुणमयी मम माया हि दुरत्यया । ये मां एव प्रपद्यन्ते, ते एतां मायां तरन्ति ॥१४॥ मायया अपहृतज्ञानाः आसुरं भावं आश्रिताः दुष्कृतिनः मूढाः नराधमाः मां न प्रपद्यन्ते ॥१५॥

यह दैवी गुणमयी मेरी (ईश्वरकी) माया दुस्तर है। जो मुझ (ईश्वरको) हि प्राप्त करते हैं, वे इस मायासे पार होते हैं ॥१४॥ मायासे जिनका ज्ञान नष्ट हुआ होता है, ऐसे आसुरी भावको प्राप्त हुए दुराचारी मूढ नराधम मुझ (ईश्वरको) नहीं प्राप्त होते ॥१५॥

भावार्थ- संपूर्ण जगत् पूर्वोक्त सात्त्विक राजस और तामस भावोंसे अर्थात् भोगपदार्थोंसे मोहित हुआ है, इस लिये इनसे परे रहनेवाले ईश्वरको नहीं पहचान सकता। दिव्य शक्तिवाली यह त्रिगुणयुक्त माया पार करना बडा कठीन है। इस मायासे पार वेहि होते हैं कि जो ईश्वरको प्राप्त होते हैं। परंतु जो ईश्वरको प्राप्त नहीं करते, वे नराधम आसुरी वृत्तिसे युक्त होकर दुराचार करते हुए ज्ञानको नष्ट करके मूढ बनते हैं और गिरते हैं ॥१३—१५॥

के विषयमें कई अशुद्ध कल्पनाएं प्रचलित हैं, इस लिये उसका विचार यहां करना चाहिये। 'माया' शब्दका मूल अर्थ 'कला, कौशल्य, हुनर, कारीगरी' है। अब कारीगरीसे क्या होता है, वह देखिये। कोई कारीगर अपनी कलाकौशल्यतासे मिट्टीका घडा बनाता है, जब मिट्टी थी तब घडेकी कल्पना भी नहीं थी। मिट्टीमें किसी कारीगरकी 'माया' मिलते ही घडा बन गया। अर्थात् मिट्टीसे घडा बनना यह मायासेहि हो सकता है, इस लिये यह मायाका रूप है। यह मायामय रूप बनतेहि मनुष्य उसका उपयोग करके उपभोग लेने लगा। यह उपभोग लेते लेते ऐसा उसमें फंस गया कि वह इसके मूल रूपको अर्थात् मिट्टी को भूल ही गया। घट पास रखनेसे आनंदित और घट टूटनेसे दुःखी होने लगा। यह क्यों हुआ? केवल मायाद्वारा वह रूप बननेके कारण ही हुआ। इसी तरह कारीगरीकी अनंत चीजें इस जगत् में मनुष्य बनाता है और उसमें मोहित होता है।

घर बनाता है, उद्यान करता है, विविध चित्र और मूर्तियां घरमें रखता है, यह स्थान मेरा है यहां दूसरा नहीं आ सकता, इत्यादि विचार प्रबल होते हैं, इस स्थानाधिकारसे अनेक झगडे उत्पन्न होते हैं। यह सब इसी मायाके कारणहि है। यह तो हमने मानवी कृतिमें माया देखी। इसी तरह ईश्वरीय कृतिमें ईश्वरकी अद्भुत माया विचारसे देख सकते हैं। ये सब वृक्ष वनस्पतियां, मनुष्य पशुपक्षी, स्थावरजंगमादि पदार्थ परमेश्वरकी अद्भुत कारीगरीसे अर्थात् दैवी मायासे बने हैं। इसमें परमेश्वरकी माया कार्य कर रही है। यह दैवी मायाका खेल है। वेदमें भी कहा है—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ॥ ऋग्वेद

"इन्द्र अपनी इन मायाओं द्वारा अनेक रूप-

अनेक आकार-बनाकर चमत्कार करता है।'' इन्द्रकी यह माया अद्भुत है। इस मायाको देखनेसे मनुष्य चकित होता है, मनुष्यकी मति कुंठित होती है, कभी कभी मनुष्य भ्रांत भी होता है। बुद्धिमान् मनुष्य भी मोहित होता है, यह सृष्टिकी अद्भुतता कैसी विलक्षण है !! प्रत्यक्ष यह रमणीयता देखकर उस प्रेमपूर्ण रमणीयतामें मनुष्य फंसता है, भ्रांत होता है, लुब्ध होता है। और अनर्थ करता है। जगत् के ईर्ष्याद्वेष इसी कारण होते हैं। कौन कह सकता है कि यह परमेश्वरकी अद्भुत कारीगरी नहीं है? कौनसा साधारण मनुष्य इसमें लुब्ध नहीं होता है? सुंदर और कुरूप पदार्थ सम्मुख आगये तो मनुष्य सुंदरको ही अपने पास करना चाहता है। यह प्रवृत्ति ऐसी क्यों होती है? इसका विचार करना चाहिये।

मोह।

सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंसे यह संपूर्ण जगत् मोहित हुआ है। जो मोहित होता है वह सत्य और असत्यको यथार्थ रीतिसे जान नहीं सकता। सत्यासत्यको न जान सकनेका ही नाम मोह है। यह मोह जिसको घेरता है वह सत्यको देख नहीं सकता। सत्त्वगुणसे सुख होता है रजोगुणसे कर्ममें प्रवृत्ति होती है, और तमोगुणसे आलस्य होता है। मनुष्यमें हि देखिये कि किसी समय मनुष्यमें आनन्दका अनुभव होता है, किसी समय मनुष्य पुरुषार्थ प्रयत्न करनेमें दत्तचित्त होता है और किसी समय मनुष्य आलस्यमें रहता है। पूर्वोक्त तीन गुणोंसे ये वृत्तियां मनुष्यमें दिखाई देती हैं। मनुष्यकी प्रवृत्ति देखकर जान सकते हैं कि किस मनुष्यमें कौनसा गुण कार्य कर रहा है।

रात्रिके समय मनुष्य सोता है,उस समय उसपर तमोगुणका प्रभाव होता है। जिस समय वह प्रयत्नशील होता है उस समय जानना चाहिये कि उसपर रजोगुणका प्रभाव हुआ है, और जिस समय वह आनन्दप्रसन्न और शान्त रहता है उस समय उसमें सत्त्वगुण कार्य कर रहा है, ऐसा मानना उचित है। इस तरह इन तीनोंका अनुभव पाठक देख सकते हैं। अपने अन्दर भी इसी तरह कौनसा गुण अधिक बलवान् हुआ है यह प्रत्येक मनुष्य जान सकता है। आगे १७ वें और १८ वें अध्यायमें सत्त्वरजतमगुणोंकी परीक्षा कैसी करनी चाहिये इस संबंधका विवेचन बहुत ही विस्तारसे आनेवाला है। इसलिये इसका विवेचन वहां ही पाठक देख सकते हैं।

यह त्रिगुणोंका साम्राज्य इस जगत्में सर्वत्र है। अन्न तीन प्रकारका है, प्राणी तीन प्रकारके हैं, मानव तीन प्रकारके हैं, सब वस्तुएं तीन प्रकारकी हैं। और संस्कारोंसे इन गुणोंका उत्कर्ष अथवा अपकर्ष होता है। इस लिये इन त्रिगुणोंकी संकीर्णता बहुतही विलक्षण है। मनुष्योंके कर्म प्रवृत्तियां, खानपान, व्यवहार आदि सब सत्त्व रज और तमोगुणोंके भेदसे त्रिविध होते हैं और मनुष्य इनमें फंस जाता है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये ही गुण मनुष्यको मोहित करते हैं।

जैसा कई सत्त्वगुणी पदार्थ सुख देते हैं, इस लिये सुखेच्छु मनुष्य उन्हींके पीछे पडता है, इसी तरह रजोगुणमें फंस कर कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है और कई समय तमोगुणसे आलस्यमें भी पडना पसंद करता है। मानवी जीवन में इस तरह ये गुण सबको नचाते हैं और इस प्रकार इन गुणोंसे (रसीयोंसे) बंधा हुआ मनुष्य परवश होकर बाहर नहीं आ सकता। (पभ्यः परमव्ययं) इससे परे जो अविनाशी परमात्मा है उसे जान भी नहीं सकता, क्यों कि वह इन गुणोंसे जगत् में बांधा गया होता है। जो एक स्थानपर बंधा हुआ होगा वह जबतक वहां बंधा रहेगा तबतक दूसरे स्थानपर आ नहीं सकता। इसी प्रकार जो इन तीन गुणोंसे

बंधा जाता है वह वहांसे हिल नहीं सकता और इनके परे रहनेवाले परमात्माको भी जान नहीं सकता।

सात्विक राजस और तामस भाव इसी परमात्माके प्रभावसे होते हैं (गी. ७।१२) परंतु परमात्मा इनसे परे है अर्थात् इन भावोंमें नहीं है, वह परे रहता हुआ इन तीनों भावोंको निर्माण करता है अथवा ये उससे निर्माण होते हैं। जैसा कोई राजा किसी स्थानमें जानेवाला है, तो उसके कर्मचारी स्वयं अन्तःप्रेरणासेहि उस स्थानकी स्वच्छता करते हैं, शोभा बढाते हैं और अन्यान्य उपायोंसे मन प्रसन्न होने योग्य बातें करते हैं। राजाको इसका पता भी नहीं होता, न तो राजा यह करता है और करवाता है, परंतु ये सब सजावटें राजाके कारण ही होती हैं, राजा इनमें नहीं होता परंतु राजाके निमित्तसे ये बनते हैं। इसी प्रकार परमात्मा संपूर्ण जगत् का सम्राट् जहां होता है वहां स्वभावसेहि प्रकृतिमें सुख (सत्व), रज (भोग) और (स्तब्धता) तम ये भाव होते हैं। इनके बनानेमें परमात्मा नहीं होता तथापि ये उसीके कारण बनते हैं। जगत् में जो आश्चर्य है वह यही है। ये भाव बनते बिगडते और विकृत होते हैं, परंतु परमात्मा सदा एक ही अव्यय आनन्दस्थितिमें रहता है। इतना होनेपर भी मनुष्य सत्व-रज-तममें ऐसा भ्रांत होता है कि वह परमात्माको जाननेका यत्न भी नहीं करता।

यह माया 'दैवी' है अर्थात् 'देव' नाम परमात्माकी ही शक्ति है, उस देव की ही यह शक्ती है, इस लिये दैवी शक्तिके विना उसका मुकाबला करना असंभव है। यह 'गुणमयी' है, गुणका अर्थ 'गुण' भी होता है और 'रस्सी' ऐसा भी होता है। सत्व रज तम ये गुण इसमें होनेसे यह गुणमयी है अथवा ये गुण बंधनमें डालते हैं इस लिये भी रस्सीयोंके समान यह कार्य करती है इसलिये भी यह गुणमयी किंवा रस्सियोंवाली है।

एकवार यह (दैवी माया) परमात्माकी कारीगरी है यह बात सिद्ध हो जाय, अथवा समझमें आजाय, तो (देव) परमेश्वरकी शक्तिसेहि इसको संभाला जाना संभव है, यह बात स्वयं ध्यानमें आ सकती है। जैसा किसी मनुष्यको किसी राजाकी आज्ञासे कारागृहमें डाल दिया जाय तो राजाकी आज्ञासे हि उसका छुटकारा हो सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है; उसी प्रकार जो बंधन परमेश्वरकी शक्तिसे होता है उसका निराकरण करनेके लिये भी परमेश्वरकी शक्तिहि प्राप्त करनी चाहिये। इस लिये १४ वें श्लोकमें कहा है कि 'जो लोग परमेश्वरको शरण जाते हैं वे हि इस मायाके बंधनसे मुक्त होते हैं, अन्य उपायसे इस जालमय ईश्वरी शक्ति को पार करनेका काम बडा ही कठीन है।''

जैसी किसी कारीगरकी कारीगरी अथवा कुशलता उस कारीगरसे भिन्न नहीं होती और उसीमें होती है, उसी प्रकार यह ईश्वरकी कारीगरी मायाशक्ति उससे भिन्न नहीं है परंतु उसीमें है। शक्तिमान् से शक्ति भिन्न नहीं होती। देवसे दैवी शक्ति कहां पृथक् रहेगी? इसी तरह ईश्वरसे माया भी भिन्न नहीं है। इस मायाका डर तबतक ही है कि जबतक परमेश्वरकी शक्तिकी प्राप्ति नहीं हुई है। एक वार परमेश्वर की शक्ति प्राप्त हुई तो फिर मायाका डर किसी भी प्रकार उसको कष्ट दे नहीं सकता।

देव और असुर।

आगे (भ० गी० अ० १७।६ में) कहा जायगा कि 'देव और असुर ये दो प्रकारके प्राणी उत्पन्न हुए हैं।' जिनकी प्रवृत्ति ईश्वरकी भक्ति करनेकी ओर होती है उनका नाम 'देव' है और इसके विरुद्ध प्रवृत्तिवाले जो होते हैं उनका नाम 'असुर' होता है। आगे सतरहवां अध्याय इसी देवासुरभावका विवरण करनेके लिये कहा गया है। वहां इन दोनों प्रवृत्तियोंका विस्तारसे विवरण

(५) भक्तोंके चार प्रकार।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

अन्वयः— हे भरतर्षभ अर्जुन! आर्तः, जिज्ञासुः, अर्थार्थी, ज्ञानी च (इति) चतुर्विधाः सुकृतिनः जनाः मां भजन्ते ॥१६॥

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! आर्त (अर्थात् दुःखपीडित), जिज्ञासु (अर्थात् तत्त्व जाननेका इच्छुक), अर्थार्थी (अर्थात् भोगप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला) और (तत्त्व) ज्ञानी ये चार प्रकारके सदाचारी मेरी भक्ति करते हैं ॥१६॥

होगा। यहां अतिसंक्षेपसे कहा है कि "(श्लो० १४) जो ईश्वरको (प्रपद्यन्ते) शरण जाते हैं वे (मायां तरन्ति) मायासे पार होते हैं, परंतु जो (श्लो० १५) ईश्वरको शरण नहीं जाते वे असुर भावको प्राप्त हुए लोग (मायया अपहृतज्ञानाः) मायासे मोहित होते हैं, (दुष्कृतिनः) दुराचार करते हैं, (नराधमाः) नीच बनते हैं।" देव और असुरके लक्षण यहां इतने ही कहे हैं, इनहींका विस्तार आगे १७ वें अध्यायमें विस्तारसे होगा। यह जो असुरोंका अधःपात है, वह ईश्वरका स्वरूप न जाननेसे और उसको शरण न जानेसे, उसकी सेवा न करनेसे ही है।

जिस परमेश्वरकी यह शक्ति है वह जलमें रस रहनेके समान सर्वत्र उपस्थित है, उसीका यह विश्वरूप है। जहां यह अद्भुत शक्ति है वहां वह है, यह प्रत्यक्षता जिनको नहीं होती वे अपने अज्ञानके हि कारण (मूढः) मूढ होते हैं, मूढता के कारण उनको कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है, यह (अपहृतज्ञानाः) समझमें नहीं आता, इसी लिये उनसे योग्य कर्तव्य नहीं होता। जो योग्य कर्तव्य नहीं करते उनसे (दुष्कृतिनः) दुराचार होना स्वाभाविक ही है। क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये यह जो नहीं जानते उनसे दुराचार न होगा तो और क्या होगा? कर्तव्य कर्म जो नहीं करते वे (नराधमाः) मनुष्योंमें नीच होते जाते हैं। हीन कर्म करते हैं और अधिक गिरते हैं। यह ईश्वरका स्वरूप भूलनेका परिणाम है। इसलिये साधकोंको उचित है कि वे परमेश्वरका स्वरूप जाननेका यत्न करें, और जानकर उसकी शरणमें जावें, उसकी सेवा करें और उसकी शक्ति प्राप्त करके इस दैवी मायाके बंधनसे पर हों।

इस तरह उपासना करनेवाले साधकोंका वर्णन अब करते हैं, सो वर्णन अब देखो—

(१६—१९) इस जगत् में जो लोग परमेश्वरकी भक्ति करते हैं उनके चार वर्ग होते हैं। जिस वर्गमें सबसे अधिक लोग हैं वह 'आर्त-वर्ग' है।

आर्त।

जिनको व्यवहारमें कष्ट हुआ है,जो आधिव्याधिसे पीडित हैं, जिनको व्यापारधंदेमें नुकसान उठाना पडा है;इस तरह शारीरिक और मानसिक दुःखों कष्टों और आपत्तियोंसे पीडित लोग अपनी शक्तिसे जब उन्नति प्राप्त करनेकी कोई आशा नहीं देखते, उस समय वे ईश्वरकी भक्ति करने लगते हैं। ईश्वरभक्तिसे अपने कष्टोंको दूर

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

अन्वयः— तेषां नित्ययुक्तः एकभक्तिः ज्ञानी विशिष्यते । अहं हि ज्ञानिनः अत्यर्थं प्रियः (अस्मि), सः (ज्ञानी) च मम प्रियः (अस्ति) ॥१७॥ एते सर्वे एव उदाराः (सन्ति); ज्ञानी तु (मम) आत्मा एव (अस्ति इति) मे मतम् । सः हि युक्तात्मा अनुत्तमां गतिं मां एव आस्थितः (अस्ति) ॥१८॥ ज्ञानवान् बहूनां जन्मनां अन्ते **'वासुदेवः सर्वं'** इति (अनुभूय) मां प्रपद्यते । सः महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

इनमें नित्य समभाव रखनेवाला योगी और एकनिष्ठ ज्ञानी भक्त विशेष श्रेष्ठ होता है। मैं ज्ञानीको अत्यंत प्रिय हूं और वही ज्ञानी मुझे अत्यंत प्रिय है ॥१७॥ ये सब ही (उदार अर्थात्) श्रेष्ठ हैं। ज्ञानी तो मेरा आत्माही है ऐसा मैं मानता हूं। क्योंकि वह योगी मुझे श्रेष्ठ गति मानकर मेरा ही आश्रय लेता है ॥१८॥ ज्ञानी मनुष्य, बहुत जन्मोंके अनंतर 'वासुदेव ही सब कुछ है' ऐसी प्रतीति प्राप्तकर मुझ (ईश्वर) को प्राप्त होता है। ऐसा महात्मा बहुत ही दुर्लभ है ॥१९॥

भावार्थ— कई लोग रोगोंसे और दुःखोंसे अत्यंत पीडित और त्रस्त होकर ईश्वरभक्ति करते हैं, कई लोग तत्व जाननेकी इच्छासे भक्ति करते हैं, कई लोग धनादि भोग प्राप्त करनेकी इच्छासे ईश्वरकी भक्ति करते हैं और कई लोग ईश्वरका सत्य ज्ञान प्राप्त कर उसकी भक्ति करते हैं। ये चारों बडे अच्छे और पुण्यात्मा हैं। इनमें ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करके एकनिष्ठासे और समत्वभावरूप योगसे अनुष्ठान करनेवाला ज्ञानयोगी ही अधिक श्रेष्ठ है। ऐसा ज्ञानी ईश्वरको प्रिय होता है और ईश्वर भी इसी ज्ञानीको अत्यंत प्रिय होता है। इस तरह परस्परको परस्पर अत्यंत प्रिय होनेके कारण ये दोनों आपसमें एक होकर एक दूसरेमें मिल जाते हैं। ये सभी अच्छे हैं, परंतु इनमें ज्ञानीहि आत्मास्वरूपी हो जाता है। वह ईश्वरको अन्तिम प्राप्तव्य मान कर योग युक्त होकर ईश्वर ही का केवल आश्रय करता है और उसीको प्राप्त होता है। ऐसा ज्ञानी अनेक जन्मोंके अनुष्ठानसे **'यह सब विश्व वासुदेवका ही विश्वरूप है'** ऐसा अनुभव करता है और उसी वासुदेवकी शरणमें अपने आपको सदा समर्पित करता है। इसी समय यह **'महात्मा'** बनता है। ऐसा महात्मा इस भूमंडलमें अत्यंत दुर्लभ है ॥१६-१९॥

करनेकी अभिलाषा इनके मनमें रहती है। यदि बाहरके कष्ट न रहे तो ये ईश्वरभक्ति नहीं करेंगे। बाहरसे होनेवाले कष्टोंकी जितनी तीव्रता अधिक उतनी भक्तिकी तीव्रता इनमें अधिक

होती है। इस लिये इन भक्तोंकी श्रेणि नीचली समझी जाती है। तथापि इनका उद्धार होता ही रहता है, क्यों कि ईश्वरभक्ति किसी भी तरह हुई तो भी उससे श्रेष्ठता अवश्य ही प्राप्त होती है।

जिज्ञासु।

तत्त्वजिज्ञासुओंकी श्रेणि इससे ऊपर है। सत्य तत्त्व क्या है, क्या ईश्वर है और वह भक्तिसे सहाय्यक होता है, जगत् के अंदर कितने तत्त्व हैं और उनसे परमात्माका क्या संबंध है, इसका यथातथ्य ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे ये लोग प्रयत्न करते हैं। केवल ज्ञानलालसा इनमें प्रबल रहती है। ऐसे लोगोंको जब विदित होता है कि परमेश्वर सर्वोपरि है, तब वे उसकी जिज्ञासु भावसे भक्ति करने लगते हैं और भक्तिसे उन्नतिको प्राप्त होते हैं। इनकी भक्ति दुःखमूलक नहीं होती, इनका सब प्रयत्न जिज्ञासाकी तृप्ति करनेके लिये होता है। इनके मनमें सत्यजिज्ञासा रहती है और उस कारण ये लोग खोज करते रहते हैं और खोज करते करते इनको अन्तमें सत्य तत्त्वका लाभ होता है। केवल जिज्ञासाके कारण इनके प्रयत्न होते रहते हैं। इस लिये इनकी श्रेणी आर्तों की अपेक्षा ऊपर की है।

अर्थार्थी।

इंद्रियोंके भोगोंका नाम 'अर्थ' है, इन भोगोंकी कामना कई लोगोंमें होती है। भोग भोगनेकी इच्छाकी प्रबलता इनमें अत्यधिक रहती है। ईश्वरभक्तिसे कई लोगोंको अनेकानेक भोग प्राप्त हुए ऐसी भक्तगाथाओंमें रोचक कथाएं पढकर अथवा सुनकर ये लोग भोगतृष्णाकी शान्ति करनेके लिये ईश्वरकी भक्ति करते हैं। यदि किसी अन्य रीतिसे इनको यथेच्छ भोग प्राप्त हो जांयगे तो ये कदापि भक्ति नहीं करेंगे। परंतु जैसे भोग मिलते जांयगे वैसी वैसी इनकी श्रद्धा बढेगी और वे अधिकाधिक श्रद्धासे ईश्वरभक्ति करते जांयगे। इस तरह इनकी उन्नतिका क्रम है। जिज्ञासुकी अपेक्षा इनकी श्रेणी इस लिये ऊंची है कि ये सकाम भक्ति करनेवाले लोग ईश्वरके अस्तित्वको निश्चयसे मानते हैं और जो जिज्ञासु होते हैं वे अस्तित्वको मानते नहीं। दोनोंमें यह भेद है। जिज्ञासु प्रारंभमें ईश्वरकी सत्ता नहीं मानता और अर्थार्थी ईश्वरकी सत्ताको मानता है। प्रारंभमें यह भेद है। आगे उन्नति होते होते दोनों एक स्थानपर मिल जाते हैं।

ज्ञानी।

ज्ञानी वह है कि जो क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम इनको यथावत् जानता है, मानता है और इनपर श्रद्धा रखता है। तथा इनका अनुभव लेनेके लिये यत्नवान् होता है। पुरुषोत्तमस्वरूपका अनुभव लेनेके लिये यत्न करता है। सद्गुरु के पास जाना, उनके पाससे स्वरूपानुभव प्राप्त करना, श्रवण मनन और निदिध्यासन करना और आत्मप्रतीति संपादन करना, यह उद्देश्य इसका रहता है, इसलिये यह भक्ति करता है। इसी कारण इसकी योग्यता अतिश्रेष्ठ होती है। इसकी भक्ति के कारणमें न तो दुःख है, न खोज है, न भोग लालसा है; शुद्ध भक्ति ही यहां है। इसलिये इस ज्ञानी भक्तकी योग्यता सबसे अधिक है। इसको अहेतुक भक्ति कहते हैं, इसका लक्षण श्रीमद्भागवतमें इस तरह कहा है—

> मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
> मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगांभसोऽम्बुधौ॥११॥
> लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥१२॥
> श्री० भा० ३।२९

'जैसा गंगाजल सहज वेगसे महासागरमें जाता है वैसाहि जिसका मन परमेश्वरकी ओर दौडता है उसको अहेतुकी भक्ति कहते हैं।' किसी अन्य कारण के विना सहज स्वभावधर्मसे मनकी ईश्वरभक्तिमें प्रवृत्ति होना यह पूर्व जन्मके पुण्य-

संचयसेहि संभवनीय है। यह श्रेष्ठ भक्ति है, इसीको अकृत्रिम भक्ति कहते हैं। महाभारतमें पूर्वोक्त चतुर्विध भक्तोंका वर्णन इस प्रकार किया है—

चतुर्विधा मम जना भक्ता एवं हि मे श्रुतम्।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः॥
अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्।
ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः॥
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक्॥
म०भा० शान्ति० ३४१।३३-३५

"चार प्रकारके लोग ईश्वरभक्ति करते हैं, उनमें दूसरे किसी देवताकी भक्ति न करते हुए एक ही ईश्वर की उपासना करनेवाले सबसे श्रेष्ठ हैं। फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेवाले भक्तोंका अन्तिम प्राप्तव्य यही ईश्वर है। अन्य तीनों प्रकारके भक्त अर्थात् आर्त, जिज्ञासु और भोगार्थी ये तीनों भक्त फलकी इच्छासे हि कार्य करते हैं। इसलिये सकामतासे कर्म करनेके कारण ये गिरते हैं, परंतु जो ज्ञानी भक्त होता है वह श्रेष्ठ होता है।"

इस तरह महाभारतमें इन भक्तोंके विषयमें लिखा है, वह मननके लिये योग्य है।

नित्ययुक्त ज्ञानी।

जो ज्ञानी भक्त होता है वह 'नित्ययुक्त' होता है। अर्थात् उसका योगसाधन सतत और निरंतर चलता रहता है। उसके साधन में खंड कभी नहीं होता। अखंड योगसाधन वह करता है। जो कर्म वह करता है वह योगही होता है। क्यों कि वह तत्त्ववित् होनेसे कोई भी कर्म वह अनुचित रीतिसे करता हि नहीं। उसके कर्ममें कुशलता रहती है, समभाव रहता है अर्थात् योगके सब लक्षण उसके जीवनमें पूर्ण रूपसे रहते हैं। इसलिये वह जो कुछ करता है, वह योगहि होता है। इसी कारण उसका आचरण अखंड योगानुष्ठान होता है।

एकभक्ति।

यही ज्ञान-योगी एकभक्ति होता है। एक ईश्वरकी भक्ति करनेवाले को 'एकभक्ति' कहते हैं। एकनिष्ठासे ईश्वरकी भक्ति करनेवालेको एकभक्ति कहते हैं। इस एकनिष्ठामें इसके योग-सिद्धिकी संभावना है। यदि यह 'एकनिष्ठ' न रहा और 'अनेकनिष्ठ' बना तो उसको कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। एकनिष्ठ होनेसे बडा भारी बल प्राप्त होता है। यह बल जिसको प्राप्त होता है वही सिद्धि प्राप्त करता है।

इस तरह यह एकनिष्ठ भक्त होनेके कारणहि यह परमेश्वर को प्रिय होता है। हरएक एकनिष्ठ सेवक इसी तरह स्वामीको प्रिय हुआ करता है। उसकी एकनिष्ठा देखकर स्वामी उसपर प्रसन्न होता है। इस रीतिसे स्वामीका प्रेम एकनिष्ठ सेवकपर जम जाता है और भृत्यका प्रेम भी स्वामीपर होता है। जहां परस्परके प्रेम मिल जाते हैं वहां वे परस्परको अधिकाधिक सहायता करते हैं, और उनके इस आचरणके कारण उनका पारस्परिक प्रेम दिन प्रतिदिन बढता जाता है। यही बात भक्त और ईश्वर में होती है। वे एक दूसरेसे प्रेमके अटूट संबंधसे मिले हुए रहते हैं। राजा और प्रजामें, स्वामी और भृत्यमें, पूंजीपती और कारीगर में यदि यह प्रेमसंबंध परस्परके आत्मसमर्पणसे हो जायगा, तो यह जगत् स्वर्गधाम बन जायगा। यह संबंध व्यवहारमें लानेके लियेहि यहां ईश्वर और भक्त का पारस्परिक अखंड और अटूट संबंध वर्णन किया है। यह संबंध पाठक देखें, इसकी महत्ता अनुभव करें और इसे अपने व्यवहारमें लानेका यत्न करें। गीताका तत्त्वज्ञान केवल शब्दोंमेंहि रखनेके लिये नहीं है, वह मनुष्योंके आचरणमें आना चाहिये और उसका एक लोक-विलक्षण राज्यशासन बनना चाहिये।

आर्त, जिज्ञासु, भोगार्थी और ज्ञानी ये सब

उदार हैं अर्थात् अच्छे हैं, परंतु इनमें जो ज्ञानी होता है, वह इन सबमें मुख्य है। जैसा शरीरमें आत्मा है वैसा यह ज्ञानी भक्त अन्य भक्तोंमें है। क्योंकि वह सर्वश्रेष्ठ ईश्वरकाहि आश्रय लेता है। जैसा कोई मनुष्य राजाका आश्रय करता है, उसको उस राज्यमें विशेष अधिकार असाधारण रीतिसे प्राप्त होता है, इसी तरह यह राजाओंके राजा ईश्वरका आधार लेता है, इस लिये इस ज्ञानी भक्तका सामर्थ्य सबसे अधिक होता है।

अनेक जन्मोंसे सिद्धि।

यह ज्ञानी भक्त अनेक जन्मों में योगसाधन करता हुआ उन्नत होता है। गत षष्ठ अध्यायमें (श्लोक ४०-४५ तक के विवरणमें) बताया है कि साधक प्रत्येक जन्ममें पूर्व जन्मके संस्कारों का बल प्राप्त करके कैसा उन्नत होता है। इस जन्ममें जितना साधन हुआ होता है, उसके अनुसार सुयोग्य परिस्थिति उसको अगले जन्ममें प्राप्त होती है, वहां वह आगेका साधन करता है और इस तरह क्रमशः उन्नति प्राप्त करता हुआ आगे बढता है। ऐसा उन्नत होता हुआ—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।
गी० ६।४५

"अनेक जन्मोंके अभ्याससे उत्तम सिद्धि प्राप्त करनेके पश्चात् परम गतिको प्राप्त होता है।" यही बात यहां कही है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते॥ गी० ७।१९

'अनेक जन्मोंके पश्चात् ज्ञानीभक्त मुझ(ईश्वर) को प्राप्त होता है।' इन दोनों कथनोंका तात्पर्य एक ही है। अनेक जन्मोंकी तपस्यासे क्या होता है वह भी यहां कहा है। वह अब विशेष रीतिसे देखने योग्य है—

'वासुदेवः सर्वं' इति स महात्मा सुदुर्लभः॥
गी० ७।१९

"वासुदेव ही सब कुछ है" ऐसा जिसको ज्ञान हुआ है ऐसा महात्मा इस जगत् में अत्यंत दुर्लभ है। सब कुछ जो भी वस्तुमात्र हमारे अनुभवमें आता है वह वासुदेव ही है, ऐसा निःसन्देह माननेसे यह उन्नति होती है। यही बात वेदादि ग्रंथोंमें कही है, वह अब देखिये—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
ऋग्वेद १०।९०।२

ओंकार एवेदं सर्वम्। छांदोग्य उ० २।२३।४
गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्। छां० उ० ३।१२।१
सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छां उ० ३।१४।१
प्राणो वा इदं सर्वं भूतम्। छां० उ० ३।१५।४
अहमेवेदं सर्वम्। छां० उ० ७।२५।१
एतदात्म्यमिदं सर्वं। छां० उ० ६।९।४ इ०
स एवेदं सर्वं। छां० उ० ७।२५।१
आत्मा वा इदं सर्वं। छां० उ० ७।२५।२
स इदं सर्वं भवति। बृ० उ० १।४।१०
इदं सर्वं यदयमात्मा। बृ० उ० २।४।६; ४।५।७;
नृ० उ० ५
इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वं। बृ० उ० २।५।१
एतद् ब्रह्मैतत्सर्वं। बृ० उ० ५।३।१
सर्वाणि भूतानि आत्मा एवाभूत्। ई० उ० ७
ओमितीदं सर्वं। तै० उ० १।८।१
ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वं। मैत्री उ० ४।६
ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं। मुण्ड० उ० १;
नृ० पू० २।२; ४।१; नृ० उ० १
सर्वमोंकार एव। मुण्ड० उ० १
सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। मुण्ड उ० २
सर्वं ह्ययमात्मा। नृ० उ० ७
ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं। नृ० उ० ७
ब्रह्म ह वा इदं सर्वं। नृ० उ० ७
सच्चीदं सर्वं चिच्चीदं सर्वं॥ नृ० उ० ७
आत्मा हीदं सर्वं सदेव। नृ० उ० ८
सूक्ष्मः पुरुषः सर्वं। शिरस्० उ० ३
नारायण एवेदं सर्वं। नारा० उ० २

(६) अन्य देवोंके उपासक ।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार अनेक वचनों द्वारा वही बात कही है कि जो 'वासुदेवः सर्वं' इस वचन में कही है। अथवा यों कहना अधिक सत्य होगा कि, वेदादि ग्रंथोंके इन वचनोंमें जो बात कही है वही भगवद्गीताके 'वासुदेवः सर्वं' इस वचनमें कही है। इन सब वचनोंका तात्पर्य यही है कि "आत्मा ब्रह्म नारायण पुरुष ओंकार आदिसे जिस तत्त्वका बोध होता है वही यह सब है।" इससे भिन्न यहां दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। हम अपनी सुबोधताके लिये 'क्षर अक्षर, पुरुष प्रकृति, चेतन जड, निराकार साकार' जो मर्जी चाहे कहें, यह सब तत्त्वतः एक ही है। ऐसी एकताकी प्रतीति जिसको निःसन्देह हो चुकी है और जिसको इस विषयमें कोई संदेह नहीं है, ऐसा महात्मा इस जगत् में अत्यंत दुर्लभ है। ऐसे महात्मा बहुत ही थोडे हैं।

भगवद्गीताके द्वितीयाध्यायमें 'सर्वगत' आत्मा का वर्णन (श्लोक २।२४ में) किया गया है। आत्मा सर्वत्र है अथवा आत्मा सर्वमें है ऐसा कहनेमात्रसे आत्माका ही यह सब रूप है ऐसा प्रतीत होता है। परंतु इसमें इतनी स्पष्टता नहीं है।

चतुर्थ अध्याय (श्लोक ४।२४) में कहा है कि 'अर्पण, हवि, अग्नि, हवन, यह सब ब्रह्म ही है।' अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न यहां कोई वस्तु नहीं है। इस वर्णनमें पूर्वोक्त उपनिषद्वचनोंका ही सार कहा गया है।

पंचम अध्यायमें 'सर्व-भूतात्म-भूतात्मा' शब्द महत्त्वपूर्ण है (देखो ५।७)। सर्व भूतोंका आत्मा जिसका आत्मा बना है, यह इसका आशय है। इससे स्पष्ट है कि एक समय ऐसा आता है कि जिस समय सब भूतोंका आत्मा एक ही आत्मा हो जाता है। इसी समय इस एकही आत्मा के ये सब रूप होते हैं।

इसी पंचम अध्यायमें (श्लो० ५।१८ में) कहा है कि 'समदर्शिनः' सर्वत्र समभावसे अवस्थित ब्रह्मका दर्शन करना, यह एक उच्च उन्नतिका दर्शक है।

इस रीतिसे एक ही बात गीताके द्वितीय अध्यायसे वारंवार कही गई है, वह 'वासुदेवः सर्वं' इन पदोंसे यहां स्पष्ट कही गई है। यह सब वासुदेव का रूप है इस विषयमें अब किसीको संदेह नहीं रहेगा। हां, इसमें केवल शब्दज्ञानसे हि यह बात यहां कही गयी है, पाठकोंको भी शाब्दिक ज्ञानही हुआ है, अभी जगत् में खोज की जायगी, अभी बहुत मनन होगा, बहुत अनुभव लिया जायगा और अन्तमें इसका अनुभव हो जायगा। उस समयतक पाठकोंको स्वाध्याय हि करना चाहिये, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जो इस एक आत्माकी शरणमें नहीं रहते और अन्यान्य देवताओंके पीछे लगे रहते हैं, उनकी अवस्था कैसी होती है, यह भी अब जानना चाहियें। इसका विचार आगेके कुछ श्लोकोंमें स्वयं भगवान् करते हैं—

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अन्वयः— तैः तैः कामैः हृतज्ञानाः स्वया प्रकृत्या नियताः (अज्ञानिनः) तं तं नियमं आस्थाय अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते॥२०॥ यः यः भक्तः यां यां तनुं श्रद्धया आर्चितुं इच्छति, तस्य तां एव श्रद्धां अहं अचलां विदधामि॥२१॥ सः तया श्रद्धया युक्तः तस्याः राधनं ईहते, ततः च मया एव विहितान् तान् कामान् लभते हि ॥ २२ ॥ तेषां अल्पमेधसां तत् फलं तु अन्तवत् भवति; देवयजः देवान् यान्ति, मद्भक्ताः अपि मां यान्ति ॥ २३ ॥

उन उन विभिन्न कामनाओंके कारण जिनका ज्ञान नष्ट हो चुका है, और जो अपनी प्रकृतिके आधीन होनेसे पराधीन हो चुके हैं, वे अज्ञानी लोग भिन्न भिन्न विधिनियमोंके अनुसार दूसरे दूसरे देवताओंकी शरण जाते हैं ॥ २० ॥ जो जो भक्त जिस जिस स्वरूपकी श्रद्धासे भक्ति करना चाहता है, उसकी उस श्रद्धाको उस स्वरूपमें मैं सुदृढ करता हूं ॥ २१ ॥ वह उस श्रद्धासे युक्त होकर उस स्वरूपकी आराधना करता है, और उससे मेरे द्वाराहि नियत की गई उन कामनाओंको प्राप्त करता है ॥ २२ ॥ इन अल्पबुद्धि लोगोंको जो फल मिलता है, वह नाशवान् होता है । देवोंका भजन करनेवाले देवोंको प्राप्त होते हैं, मेरे (ईश्वरके) भक्त मुझे (ईश्वरको) मिलते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ— जिस मनुष्यमें अनेकानेक भोगकामनाएं बढीं होतीं हैं, उसकी बुद्धि उन कामनाओंके कारण नष्ट होती है अर्थात् इन कामनाओंके कारण बुद्धिका विकास नहीं होता । वह अपने शारीरिक प्रकृति-स्वभावके आधीन होकर पराधीन बनता है और इस तरह वह परतंत्र होनेके कारण मूढ बनता है। ऐसे अज्ञानी लोग अपनी अपनी प्रकृतिस्वभावके अनुकूल भिन्न भिन्न देवताओंकी उपासना करते हैं। जो मनुष्य जिसकी भक्ति करता है उसमें उसकी श्रद्धा दृढ होती जाती है और उसकी श्रद्धाके अनुसार उसको फल प्राप्त होते हैं। इस तरह ये लोग अपनी कामनाओंकी पूर्ति करते रहते हैं। इन अल्पमतिवालोंको जो फल मिलता है, वह नाशवान् होता है और वह फल अत्यंत अल्प होता है। जो भक्त जिसकी उपासना करता है, वह उसके स्वरूपको पाता है, और ईश्वरका भक्त ईश्वरको प्राप्त होता है ॥ २०-२३ ॥

भोगेच्छा।

(२०-२३) साधारण मनुष्यमें अनेक भोग-कामनाएं रहती हैं और उनको तृप्त करनेके लिये उसका सब यत्न चलता है। मनुष्य अनेक भोग भोगना चाहता है, मनुष्यकी अनंत कामनाएं होती हैं। इन सबकी सफलता करना मनुष्यके लिये सदा अभीष्ट होता है। मनुष्यके सबही प्रयत्न अपनी कामनाकी पूर्तिके लिये होते हैं। भोगोंकी इच्छासेहि मनुष्यकी बुद्धि बाहर जाती है। मानवी बुद्धि भोगोंके इसी संकुचित कार्य-

क्षेत्रमें लगी रहती है। एक कामना उठी उसकी पूर्तता हो गई, तबतक दूसरी कामना उठती है और उसकी पूर्णता करनेके लिये मनुष्य अपनी बुद्धि दौडाता है। दूसरा विचार करनेके लिये उसको फुरसत ही नहीं रहती। सत्यज्ञान प्राप्त करना और मानवी उन्नतिको पराकाष्ठा तक पहुंचाना, इसके लिये उसके पास समयही नहीं रहता। अतः (कामैः हृतज्ञानाः) इन कामनाओं के कारण मनुष्योंका ज्ञान नष्ट होता है।

कामनाओंसे जिनका ज्ञान नष्ट हुआ है ऐसे ये लोग विविध उपाय ढूंढते हैं और विविध देवताओंकी उपासना करनेकी चेष्टा करते हैं। ये लोग विविध देवताओंकी उपासना इसलिये करते हैं कि उससे उनकी कामनाओंकी तृप्ति हो जावे। (अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते) अन्यान्य देवताओंकी शरण जानेका कारण कामनाओंकी तृप्ति करना ही होता है।

उपासनाके तीन भेद।

कई देवता सात्त्विक हैं, कई राजस और कई तामस होती हैं। प्रत्येक देवताके उपासनाविधि विभिन्न होते हैं। नियम और उपनियम सबके भिन्न होते हैं। (तं तं नियमं आस्थाय) जिस देवताकी जो उपासना करता है, उस देवताकी उपासना करनेके नियम वह पालन करता है। क्यों कि इन नियमोंका पालन न किया जाय, तो वह देवता प्रसन्न न होगी, और यदि उसकी प्रसन्नता न हुई तो मुझे भोग नहीं मिलेंगे, यह डर उसके मनमें होता है। इसलिये वह उपासना के नियम यथायोग्य रीतिसे पालन करता है।

पहिले कहा ही है कि सात्त्विक राजस और तामस देवताएं होती हैं। (स्वया प्रकृत्या नियताः) अपनी प्रकृतिके अनुसार निश्चित किये गये देवताओंकी उपासना लोग करते हैं। राजस प्रकृतिके लोग राजस देवताकी और तामस प्रकृतिके लोग तामस देवताकी उपासना करते हैं। इस उपासनासे लोगोंमें बडे मतभेद उत्पन्न होते हैं। अर्थात् सात्त्विक राजस और तामस देवताओंके उपासकोंमें अनेक झगडे उत्पन्न होते हैं और बडे अनर्थ समाजमें खडे होते हैं। इसकी निवृत्ति करनेके लिये देवताओंके एकीकरणके भी यत्न सुविज्ञ लोगोंने किये हैं। जैसा विष्णु ब्रह्मा और शिव ये क्रमशः सात्त्विक राजस और तामस देवताएं हैं। इनका एकीकरण त्रिशिरोधारी दत्तात्रेय की मूर्तिमें किया गया है और दत्तात्रेयके तीन सिर ब्रह्मा विष्णु महेश के हि हैं ऐसा बताकर तीनों देवताओंके उपासकोंको एक देवताके उपासक बनाकर झगडे मिटानेका भी यत्न किया गया था। परंतु इससे भी सफलता नहीं हुई। क्यों कि इन झगडोंका मूल कारण स्वकीय प्रकृतिमें है, इसलिये ये झगडे बाह्य साधनोंसे मिटना संभव नहीं है। ये झगडे मिटने का उपाय पूर्व विद्वानोंने जैसा किया था उसका एक नमूना देखिये—

झगडे मिटानेका उपाय।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते। स्थित्यादयो हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥ श्री० भाग० १।२।२३

"सत्त्व रज और तम ये प्रकृतिके तीन गुण हैं, इनसे युक्त होकर एकहि पुरुष विष्णु ब्रह्मा और शंकर ये तीन संज्ञाओंको धारण करता है और वह जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करता है।" इस तरह एकही जगद्बीज पुरुषके ये तीन नाम हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। इतना कहने पर भी शैव वैष्णवों के झगडे मिटे नहीं। एक परमात्माकी पूजा करनी चाहिये ऐसा भी असंदिग्ध रीतिसे कहा गया है, देखिये—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्माऽवस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥२१
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।

हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥२२
श्री० भाग० ३।२९

"मैं (ईश्वर) सब भूतोंमें सदा रहता हूं, उसका अपमान कर मनुष्य पूजाकी विडंबना करते हैं। जो सब भूतोंमें रहनेवाले मुझ परमात्मा ईश्वरको त्यागकर मूर्खतासे अर्चा करता है वह मानो भस्ममें हवन करता है।" इस तरह अन्यान्य देवताओंकी उपासनाका निषेधहि किया है और यह मूढता है ऐसा भी स्पष्ट कहा है। वेदमें भी इन्द्र अग्नि आदि विभिन्न देवताओंकी उपासना करनेका निषेधहि किया है और उन नामोंसे एक ही अभिन्न देवताका बोध जानकर उस एक देवकीहि उपासना करनेका आदेश दिया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० १।१६४।४६

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
वा० य० ३२।१

"इन्द्र मित्र वरुण अग्नि सुपर्ण गरुत्मान् यम मातरिश्वा आदित्य वायु चन्द्रमा ब्रह्म आपः प्रजापति आदि नामोंसे एक ही परमात्माका वर्णन होता है।" इस तरह विभिन्न नामोंसे अभिन्न देवताकी उपासना करनेका आदेश वेदमें भी है। इतना होते हुए भी भोगकामनाओंसे बुद्धि मारी जानेके कारण अन्यान्य देवताओंकी उपासना चल ही रही है। और इससे जगत् में कष्टहि बढ गये हैं, क्यों कि मूढतासे कष्ट और ज्ञानसे दुःखनिवृत्ति होती है। अस्तु। इस प्रकार विविध नियमोंका पालन करके मूढ लोक परमात्माको छोडकर अन्यान्य देवताओंकी उपासना करते हैं। यह भ्रम है, अज्ञान है, मिथ्या ज्ञान है और यही दुःखोंका कारण है।

तनुकी उपासना।

यः यां तनुं श्रद्धया अर्चितुं इच्छति।
तस्य तत्र अचलां श्रद्धां विदधामि॥ २१

"जो भक्त जिस तनुकी श्रद्धासे पूजा करना चाहता है, उसकी वहां श्रद्धा होती है।" ईश्वर का ही यह नियम है, अथवा मनुष्यके मनका ही यह धर्म है कि, वह जहां मन श्रद्धासे लगाता है वहां हि उसकी श्रद्धा दृढ होती है। यह एक आश्चर्यकी बात है कि, हिंदुलोक मूर्ति और प्रतिमाके पूजक हैं, इनके पास अनेक वैदिक देवताएं हैं, पौराणिक देवताएं भी कुछ कम नहीं हैं, यज्ञयाग अनंत हैं, इसके अतिरिक्त पुराणोंमें जिनका नाम भी नहीं ऐसी देवताएं भी इनके पास हजारों हैं, इतना होते हुए भी कबरस्तान भी पूजनेके लिये ये मारे मारे फिरते हैं!! इनकी मूढता तो यहां तक पहुंच गयी है। मुसलमीन भाई अपने आपको एकेश्वरपूजक मानते हैं, परंतु उनके पीछे भी प्रेतपूजा, कबरपरस्ती, मस्जिदपरस्ती लगी है और इस कारण वे इतना झगडा मचाते हैं कि उसका कोई ठिकाना नहीं है! ईसाई मतके पुराने पंथवाले तो ईसामसीह की प्रतिमाएं पूजतेहि थे और इनके दूसरे नये पंथमें अन्यान्य रीतिसे विभूतिपूजा है। बुद्धधर्म और जैनधर्ममें तो प्रतिमापूजन विशेषही रीतिसे है। इस तरह ईश्वर माननेवाले, न माननेवाले, मूर्तिपूजा स्वीकारनेवाले, प्रतिमापूजा करनेवाले और इसके विरोधी भी विविध रीतिसे प्रतिमापूजा करते ही रहते हैं और (हतज्ञानाः) मतिहीन होते जाते हैं, यह एक बडा भारी आश्चर्य है।

यहां 'तनु' की उपासनाका वर्णन है। 'तनु' का अर्थ है शरीर। ये लोग जो तनुके उपासक हैं वे केवल शरीरपूजक हैं। शरीरके सदृश प्रतिमा बनाना और उसका सत्कार करना इनका कार्य होता है। कबरपरस्ती भी तनुपूजा ही है। किसी

का चित्र मूर्ति आदि करके उसकी पूजा करना तनु-उपासना ही है। प्रकृतिपुरुष मिलकर होने-वाली विभूतिकी उपासना और है और विभूति के केवल शरीर (तनु) की, केवल देहकी हि उपासना और बात है। 'शरीर-उपासक, देह-पूजक, तनु भक्त' बिलकुल स्थूल दृष्टिवाले होते हैं। तनू भक्ति करना यह मूढता का कृत्य है। विभूतिपूजा इससे भिन्न है। विभूति उपासक विभूतिके समान अपना आचरण करेगा, उसका चरित्र पढेगा और उससे बोध लेकर उसको अपने आचरणमें ढालेगा। परंतु तनू-उपासक उसके शरीरकी हि सजावट करता रहेगा। गीता की यह तनूभक्तिकी निंदा और विभूति उपासना की और पूर्ण उत्तम पुरुषकी उपासना की प्रशंसा पाठकोंको विशेष ध्यानसे देखनी चाहिये।

इनमेंसे हर एकही अपनी उपास्य देवतापर श्रद्धा रहती है। प्रेतपूजकको प्रेतकी कबरपर इतनी श्रद्धा होती है कि, वह उसपर सुंदर चादर रखकर विविध वस्तुओंके चढावे करता है। स्वयं बुत्परस्ती न करनेवाले और बुतोंका नाश करनेवाले भी जब कबरोंपर इतनी श्रद्धा प्रकट करते हैं तब बुत्परस्तोंकी श्रद्धाको क्या मर्यादा हो सकती है? इस तरह जो जिसमें श्रद्धा रखता है उसीमें उसकी श्रद्धा बढती जाती है। यहां तक की जो नास्तिकतामें श्रद्धा रखते हैं, उनकी उस में भी श्रद्धा बढ जाती है। ऐसा यह मनुष्यका मन बडा विचित्र है। यह ईश्वरीय नियमहि ऐसा विलक्षण है और इसी कारण मनुष्यको उचित है कि, वह सत्य ज्ञान प्राप्त करे और सत्य स्वरूप परमात्मापर हि श्रद्धा रखे।

इस रीतिसे मनुष्य पूर्वोक्त श्रद्धासे युक्त होकर देवताकी अधिक उपासना करता है और ईश्वर द्वारा निश्चित हुए अनेक कामोपभोग उसको प्राप्त होते हैं। उपासक समझता है कि अपनी उपास्य देवताने हि ये भोग मुझे दिये हैं, ऐसा माननेसे उसकी श्रद्धा और अधिक उस देवता पर दृढ होती है। वस्तुतः जो अन्यान्य देवताओं की उपासना की जाती है वह भी अविधिपूर्वक की हुई ईश्वरोपासना ही है, अतः गीतामें ही कहा है—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥ भ० गी० ९

"अन्य देवताओंका श्रद्धापूर्वक भजन करने वाले भी, विधिहीन रीतिसे मेरा (ईश्वरका) ही भजन करते हैं। क्यों कि सभी यज्ञों और पूजा अर्चाका स्वामी मैं (ईश्वर) हि हूं। ईश्वरके सच्चे स्वरूपको न जाननेके कारण हि अन्य देवताभक्त गिरते हैं। देवपूजक देवोंको प्राप्त होते हैं, पितृपूजक पितरोंको और भूतपूजक भूतोंको प्राप्त होते हैं। तथा ईश्वर उपासक ईश्वरको प्राप्त करते हैं।" अविधिपूर्वक उपासना करनेकी अपेक्षा विधिपूर्वक ईश्वर उपासना करना बडा लाभप्रद है। अतः इस उपदेशका मनन सबको करना उचित है। अन्य देवताओंकी पूजा करना यह 'अल्पबुद्धि' होनेका लक्षण है और ये अल्प-बुद्धिवाले लोग नाशवान् अल्प फल प्राप्त करते हैं, यह बात यहां स्पष्ट कही है—

अल्पमेधसां अन्तवत् फलं भवति। (२३)

अल्पबुद्धिके जो लोग अन्य देवताकी उपासना करते हैं उनका जो भी फल उनको मिलता है वह अल्प और नाशवान् ही होता है। कौनसा बुद्धिमान् मनुष्य अल्प और नाशवान् फलको प्राप्तकर संतुष्ट होगा? परंतु ये क्षुद्र देवतोपासक (हृत-ज्ञानाः) ज्ञाननाश हो चुकनेके कारण, (अल्पमेधस्) अल्पबुद्धि हुए होते हैं। इसलिये

बडे अखंड फलका त्याग करके अल्प और नाशवान् फलको लेकर हि संतुष्ट होते हैं !!

अल्प और बडा फल।

अल्प फल क्या है? देवताप्राप्तिही अल्प फल है और ब्रह्मप्राप्ति महत्फल है। उदाहरण के लिये देखिये, एक राष्ट्रमें एक बडा महाराजा है, उसके कई ओहदेदार महामंत्री मंत्री आदि हैं, उनके नीचे सीपाही चपराशी आदि छोटे नौकर होते हैं, उनके नीचे बर्तन मांजनेवाले, झाडू देनेवाले आदि होते हैं। कोई एक मनुष्य राजभवन में जाना चाहता है, वह महाराजाका मित्र बनकर भी जा सकता है, मंत्री और महामंत्रीका परिचित होकर भी जा सकता है, चपरासीका साथी होकर भी जा सकता है और झाडूवालेका संबंधी होकर भी जा सकता है। राजमंदिरमें तो इन सभी नातोंसे लोग जा सकते हैं, परंतु महाराजा का मित्र बनकर जानेमें महाफल है और चपरासीके वसीलेसे जानेमें अत्यल्प फल है। इस बात का परिचय पाठकोंको हो सकता है। यहांका नाता देखिये—

देहमें	राष्ट्रमें	विश्वमें
आत्मा	महाराजा	परमेश्वर
काम	महामंत्री	प्रकृति
बुद्धि	मंत्री	महत्तत्त्व
प्राण	प्रांताधिकारी	जगत्प्राण
इन्द्रियगण	कार्यवाहक	देवतागण
देह (पिण्ड)	प्रजा (राष्ट्र)	जगत् (ब्रह्माण्ड)
अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैवत

यहां पाठक देख सकते हैं कि अन्य देवताओं के उपासक कहांतक पहुंच सकते हैं। पिण्ड-ब्रह्माण्ड की व्यवस्था के मध्यमें राष्ट्रव्यवस्था है। तीनों स्थानोंमें नियम एकही है। मुख्यकी उपासनासे अधिक लाभ है और गौणकी उपासनासे अल्प लाभ है। यही बात यहां कही है।

फलप्राप्तिमें भेद।

अग्निके उपासक उष्णता ही प्राप्त कर सकते हैं, जलके उपासक शीतता ही प्राप्त कर सकते हैं, भूमिके उपासक अन्नही प्राप्त कर सकते हैं, गौके उपासक दूध ही पा सकते हैं। यह देवताकी उपासनासे प्राप्त होनेवाली बात है। उष्णता जिस समय आवश्यक है उस समय अग्नि देवता के पास जाना योग्य है, परंतु जिस समय तपा हुआ मनुष्य अग्निके पास जायगा, तो वह अति उष्णता प्राप्त करके मर जायगा। इसी तरह उष्णतासे त्रस्त हुआ तृषित हुआ मनुष्य यदि जलदेव के पास जायगा तो उसको आराम मिल सकता है, परंतु भीगा हुआ शीतसे त्रस्त हुआ मनुष्य यदि नदीदेवीके पास जायगा तो उसको शीतके कष्ट अधिक होंगे। गौण देवताओंकी उपासनासे यह भय है। उनकी शक्ति परिमित है, उनके पास एक एक शक्ति अल्प प्रमाणमें रहती है। वे अपने पास जो है वही दे सकते हैं और उनमेंसे प्रत्येक के पास एक एक ही पदार्थ देनेके लिये होता है। अतः वे दूसरा पदार्थ देहि नहीं सकते। परंतु पूर्ण परमात्मा पुरुषोत्तमके उपासक के पास हरएक पदार्थ जो जिस समय चाहिये वह उसी समय उसको प्राप्त हो सकता है। वहां तो जिस समय उष्णता चाहे उस समय उष्णता और जिस समय शीतता चाहिये उस समय शीतता कल्पना करने मात्रसे प्राप्त हो सकती है अथवा यों कहना अधिक सत्य होगा कि वहां पूर्ण समता सदा एकसी रहती है, इसलिये उष्णता और शीतता इस तरह मिली होती है कि वहां किसी दूसरी अवस्थाकी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हो सकती।

पाठक इस तरह विचार करके परमात्मोपासनाका लाभ और गौण देवताओंकी उपासनासे अल्पत्वकी प्राप्ति कैसी होती है, इस बातको जानें और महत् की उपासनासे महत्ता प्राप्त करें। श्रेष्ठ भावका आश्रय करनेसे कैसा लाभ होता है, इस

(४) श्रेष्ठ भावका लक्ष्य ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

अन्वयः— मम परं अव्ययं अव्यक्तं अनुत्तमं भावं अजानन्तः अबुद्धयः मां व्यक्तिं आपन्नं मन्यन्ते ॥२४॥ योगमायासमावृतः अहं सर्वस्य प्रकाशः न । अयं मूढः लोकः अजं अव्ययं मां न अभिजानाति ॥ २५ ॥ हे अर्जुन ! अहं समतीतानि वर्तमानानि च भविष्याणि च भूतानि वेद । कश्चन तु मां न वेद ॥२६॥ हे परंतप भारत ! सर्वभूतानि इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन सर्गे संमोहं यान्ति ॥२७॥ येषां पुण्यकर्मणां जनानां तु पापं अन्तगतं, ते दृढव्रताः द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः मां भजन्ते ॥२८॥

मेरे श्रेष्ठ अविनाशी अव्यक्त और अत्यंत उत्तम भावको न जाननेवाले बुद्धिहीन लोग मुझे व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ २४ ॥ योगमायासे घिरा रहनेके कारण मैं सबको प्रकट नहीं होता हूँ। अतः ये मूढ लोग मुझ अजन्मा और अविनाशी को ठीक रीतिसे नहीं पहचानते ॥ २५ ॥ हे अर्जुन ! मैं भूतकालके, वर्तमानकालके और भविष्यकालके सब प्राणिमात्रको जानता हूं। परंतु मुझे कोई नहीं जानता ॥ २६ ॥ हे श्रेष्ठ तप करनेवाले भारतीय वीर ! सब प्राणी इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुखदुःखादि द्वन्द्वरूप मोह होनेके कारण उत्पत्तिके समय बडे भ्रम को प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥ परंतु जिन सदाचारी लोगोंका पाप नष्ट हो चुका है, वे दृढव्रती और द्वन्द्वमोहसे छुटे हुए मुझेहि भजते हैं ॥ २८ ॥

विषयमें भगवान् आगे कहते हैं, सो अब देखिये-

अव्यक्ति और व्यक्ति ।

(२४-२८) क्षुद्र विषयोंकी उपासना छोडकर महान् की उपासना द्वारा महत्वको प्राप्त करना चाहिये, यह उपदेश यहांतक किया। अब क्षुद्रत्व क्या है और महत्त्व क्या है, इसका स्पष्टीकरण

भावार्थ— ईश्वर श्रेष्ठ अविनाशी अव्यक्त और सबसे उत्तम है। इस ईश्वरकी यह सत्ता जो नहीं जानते उनको ही मूढ कहा जाता है। ऐसे लोग अवतारी पुरुषको केवल व्यक्ति अर्थात् केवल व्यष्टि मानते हैं और उसके व्यापक भावको नहीं जानते ॥ ईश्वर अपनी योगमायासे घिरा रहनेके कारण सबको प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः वे मूढ लोग इस अजन्मा और अविनाशीको जान नहीं सकते॥ ईश्वर तीनों कालोंमें अवस्थित भूतमात्रको यथावत् जानता है, परंतु ईश्वरको इनमेंसे कोई नहीं जानता ॥ इच्छा द्वेष के कारण सब सुखदुःखादि द्वन्द्व होते हैं, इन द्वन्द्वोंके मोहमेंहि सब फंसे रहते हैं। अतः सबको बडा भ्रम हुआ है॥ परंतु जो लोग द्वन्द्वोंके मोहसे दूर रहते हैं और अपने सदाचारमें स्थिर रहनेके कारण जो निष्पाप हो चुके हैं, वे हि निर्भ्रान्त होकर एक-निष्ठासे ईश्वरकी भक्ति करते हैं और उन्नत होते हैं॥ परंतु जो लोग द्वन्द्वोंके मोहमें फंसे हैं, वे ईश्वरकी भक्ति न करते हुए किसी अन्य कार्यमेंहि अपने आपको लगाते हैं और गिरते जाते हैं ॥२४-२८॥

करते हैं। वह इस प्रकार है—

क्षुद्रत्व	महत्त्व
व्यक्ति (एक)	समूह (संघ)
व्यष्टि	समष्टि
व्यक्त	अव्यक्त
व्यक्ति	अ-व्यक्ति
एक	बहुत
अ-सं-भूति	सं-भूति
किंचित् (अ-सर्व)	सर्व
लघु (अ-विश्व)	विश्व
जगत्	जगती
अल्प	भूमा

क्षुद्रत्व और महत्त्वकी कल्पना इन शब्दोंके मननसे हो सकती है। मनुष्य क्षुद्र न बने परंतु महासामर्थ्यवान् बने, इस लिये शास्त्र बनाए गये हैं। इसी उद्देश्यसे कहा है—

अबुद्धयः अव्यक्तं मां व्यक्तिं आपन्नं मन्यन्ते॥ (२४)

"निर्बुद्ध मनुष्य अव्यक्त ईश्वरको व्यक्तिके भावको प्राप्त हुआ मानते हैं।" यहांका गूढ अर्थ समझमें आनेके लिये विशेष मनन करनेकी आवश्यकता है। 'अव्यक्त' शब्दका अर्थ 'अदृश्य, अगोचर, इंद्रियातीत' ऐसा है और 'व्यक्ति' का अर्थ 'व्यक्त, दृश्य, गोचर, इंद्रियगम्य; व्यक्ति, व्यष्टि' ऐसा होता है। मूढ लोग अव्यक्त ईश्वरको व्यक्त मानते हैं। यह एक प्रकारकी मूढता निःसन्देह है, परंतु यहां जो मूढता व्यक्त की है वह दूसरे प्रकारकी है। यह अर्थ समझनेके लिये निम्न-लिखित प्रकार पूर्वोक्त वाक्य लिखना चाहिये—

अबुद्धयः अव्यक्तिं मां व्यक्तिं आपन्नं मन्यन्ते॥

"निर्बुद्ध लोग व्यक्ति न बने हुए मुझ ईश्वरको व्यक्ति बना हुआ है, ऐसा मानते हैं।" अर्थात् बुद्धिहीन लोग अखंड संपूर्ण ईश्वरको एक व्यक्ति जितना मर्यादित मानते हैं। संपूर्णको अपूर्ण मानना, अखंडको खंडित मानना, यही बुद्धि-हीनताका लक्षण है। यहां 'अव्यक्त' का अर्थ 'अ-व्यक्ति' है। जो व्यक्ति नहीं है, वह अव्यक्त किंवा अव्यक्ति है। अव्यक्त का अदृश्य आदि जो दूसरा अर्थ है वह यहां अपेक्षित नहीं है। जो एक छोटीसी मूर्तिमें सीमित है वह 'व्यक्ति' है और जो संपूर्ण विश्वरूप है, वह 'अ-व्यक्ति' किंवा अव्यक्त है। संपूर्ण विश्वरूप होनेसे वह हमें दीखता नहीं यह बात और है, परंतु यहां व्यक्तित्वका निषेध किया है और उसके दीखने न दीखनेका यहां विचार नहीं है। यहां दो ही भाव हैं—

व्यक्तिं आपन्नं	= व्यक्तिं न आपन्नं,
	अव्यक्तिं आपन्नं,
	अव्यक्तं, अव्यक्तिं
अपूर्ण	संपूर्ण
व्यष्टि	समष्टि

यहां व्यक्ति बना हुआ और व्यक्ति न बना

हुआ इतनाही 'अव्यक्त' और 'व्यक्ति आपन्न' का भाव है। और यही भाव यहां मुख्यतः देखने योग्य है। मूढ बुद्धिवाले लोग ईश्वरको एक व्यक्ति जितना मानते हैं, परंतु वह व्यक्ति नहीं है वह तो संपूर्ण विश्वव्यापक है, यह बात वे जानते भी नहीं। उसको संपूर्ण जानना यह ज्ञान है और उसको एक व्यक्ति जितना मानना, यह मूढता है। यही यहां कहा है—

श्रेष्ठ भाव।

मम परं अव्ययं अव्यक्तं अनुत्तमं भावं अजानन्तः॥ (२४)

"ईश्वरकी सर्वश्रेष्ठ अविनाशी संपूर्ण उत्तम सत्ताको ये मूढ लोग जानते नहीं।" ईश्वरकी सत्ता सर्वव्यापक है। उसको वैसाही जानना योग्य है, इसके विपरीत उसको एकदेशी जानना मूढता है, अज्ञान है, बुद्धिहीनताका लक्षण है।

इसी अध्यायके श्लोक ४ और ५ में कहा है कि परमेश्वरकी प्रकृति "पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि अहंकार और जीवतत्त्व इतनी नवविध है।" यह ईश्वरकी प्रकृति संपूर्ण विश्वभरमें व्याप्त है। किसी स्थानपर नहीं ऐसी नहीं है, इसमें टूकडे नहीं हैं। जहां यह प्रकृति है वहां पुरुष है अतः पुरुषभी संपूर्ण विश्वभरमें अखंडतया व्याप्त है। वह प्रत्येक मूर्तिमें है परंतु प्रत्येक मूर्ति जितना सीमित नहीं है। वह प्रत्येक खंडमें होता हुआ भी अखंड है। यह उसकी अखंडितता जाननी चाहिये। जो इसको अखंडित जानते हैं वे ज्ञानी और जो इसको प्रत्येक व्यक्तिमें सीमित देखते हैं, वे मूढ हैं।

जैसी जलपर लहरियां होती है और जैसी कपडेपर तयें होती वैसी एकरस अखंड प्रकृति पुरुषपर ये मूर्तियां लहरिरूप हैं। जैसी एक एक लहरी जलसे भिन्न नहीं होती और एक एक तय कपडेसे पृथक् नहीं होती, वैसीहि एक एक मूर्ति एकरस अखंड प्रकृति पुरुषसे पृथक् नहीं है। दूसरा उदाहरण देखिये-एक मनुष्यका शरीर है, उसमें नाक, कान, आंख,हात,पांव, उंगली,बाल, नाखून आदि आदि हैं, परंतु ये शरीरके अंदर हैं, शरीरसे पृथक् नहीं है। मनुष्यका अखंड भाव जानना चाहिये न कि एक एक अवयवका पृथक् भाव। संपूर्ण अवयवोंमें जो अखंडित भाव है, वही देखना चाहिये, क्योंकि वही 'मानव भाव' है, इसी तरह संपूर्ण विश्वमें जो अखंडित भाव है वही परमेश्वरीय सत्ता है। इतने विवरण से पाठकोंके ध्यानमें आया ही होगा कि अखंड को खंडित माननेसे कितनी मूढता होती है। संपूर्ण राष्ट्रको एक व्यक्तिमें सीमित मानना, संपूर्ण जातिको एक व्यक्तिमें परिमित मानना, यही अज्ञान है। इस अज्ञानसे अनेक दुःख होते हैं।

अन्योपासनाका दोष।

अन्यान्य देवताओंकी उपासना करनेसे जो दोष होते हैं ऐसा पूर्व स्थानमें (श्लोक २०-२२) कहा है, इसका कारण ही यह है। यह दोष संपूर्णको व्यक्ति जितना माननेका अर्थात् अखंड को खंडके परिमाणमें माननेका दोष है। पृथ्वी जल वायु आदि देवताएं हैं, इनमें जो शक्ति है वह परमेश्वरकीहि शक्ति है, तथापि इन देवताओंमें परमेश्वरीय शक्तिका एक एक अंश प्रकट हुआ है और परमेश्वरमें वह संपूर्ण शक्ति है। देवताओंकी उपासना करनेमें जो दोष होता है, भूतप्रेतादिकोंकी उपासनामें जो दोष होता है, वह यही दोष है। इस लिये इन उपासकोंको निर्बुद्ध कहा है।

'व्यक्ति' काही अर्थ 'खंड' है। अखंडका दर्शन नहीं हो सकता। एक व्यक्ति और दूसरी व्यक्ति ये इस अखंड सत्ताके छोटे छोटे अज्ञानसे माने हुए 'खंड' हैं। जैसा बडा आकाश है, उसमें 'मठाकाश' (घरके अंदरका अवकाश) और 'घटाकाश' (घडेके अन्दरका अवकाश)

ऐसे खंडित आकाश हैं ऐसी कल्पना की जाती है। परंतु विचार करनेपर आकाशमें खंड कहां हैं? सर्वत्र अखंड आकाश एकरस है। मठाकाश और घटाकाश यह मनुष्यकी कल्पना है, वस्तुतः इन छोटे आकाशोंका अस्तित्व ही नहीं है। वैसी हि किसी खंडित सत्ताका अस्तित्व ही नहीं है, एकही अखंडित सच्चिदानन्दस्वरूप सत्ता सर्वत्र एकरूप है।

परभाव	अपरभाव
अव्यय	व्यय
अनुत्तम	हीन
अव्यक्त	व्यक्त
अ-व्यक्ति	व्यक्ति
अखंड सत्ता	खंडित भाव
अज	जन्मधारी
वेद	न वेद (अज्ञान)
इच्छाद्वेषरहित	इच्छाद्वेषसहित
निर्द्वन्द्व	द्वन्द्वमोह
मुक्ति	बद्धता

श्रेष्ठ भाव और तुच्छ भावकी यहां ठीक ठीक कल्पना पाठकोंको हो सकती है। प्रत्येकको सत्य ज्ञान प्राप्त करके इस परभावको यथावत् जानना चाहिये और खंडित हीन भावसे मुक्त होना चाहिये। यही मुक्ति और यही बद्धता है।

परभावकी प्राप्ति।

भगवान् श्रीकृष्ण इस परभावकी अवस्थामें थे, यद्यपि वे व्यक्तिगत देहमें हैं ऐसा मूढ लोगोंको दीखता था, परंतु वे स्वयं इस परभावमें रहकर हि बोल रहे थे। प्रत्येक मनुष्य इस परभावको प्राप्त हो सकता है। जो साधन करेगा, ज्ञान प्राप्त करेगा, वह इस परभावको पहुंच सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस परभावमें थे। इसीलिये इनको 'पूर्ण पुरुष' कहा जाता है। भगवद्गीतामें इस परभावकी प्राप्तिके विषयमें जो कुछ कहा है, वह अब देखिये—

परमाप्नोति पूरुषः।	गी० ३।१९
प्रकाशयति तत्परम्।	गी० ५।१६
ततो याति परां गतिं।	गी०६।४५;१३।२८;१६।२२
परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो०।	गी० ८।२०
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।	गी० ८।२८
तेऽपि यांति परां गतिम्।	गी० ९।३२
यान्ति ते परम्।	गी० १३।३४
परां सिद्धिमितो गताः।	गी० १४।१

इस प्रकार परभावको प्राप्त होनेके विषयमें भगवद्गीतामें अनेकवार असंदिग्ध रीतिसे कहा है। प्रत्येक मनुष्यको यह पर अवस्था प्राप्त हो सकती है, प्रत्येक मनुष्य इस जगत् में इसीलिये आया है, कि वह यदि यत्नवान् होगा तो इस परभावको प्राप्त होगा। इसी तरह भगवान् श्रीकृष्ण इस परभावके अनुभवपर रहकर ही यह उपदेश बोल रहे हैं। यहां अर्जुन व्यक्तिभावपर है और भगवान् श्रीकृष्ण इस अखंड परभावपर हैं। दोनोंके दृष्टिकोणमें जो भेद दीखता है,उसका यह कारण है।

क्या कोई मनुष्य इस मनुष्यदेहमें रहता हुआ इस परभावकी अवस्थाका अनुभव ले सकता है? हां अवश्य, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। इसीलिये तो गीताशास्त्रकी उत्पत्ति है। इसी गीतामें परभावकी प्राप्तिका मार्ग बताया है। भगवान् श्रीकृष्ण इस देहमें रहते हुए भी सदा इस परभावके अनुभवी थे, क्यों कि यही उनका निजरूप था। संपूर्ण गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके इस परभावके निजभावकी साक्षी मिलती है। ऐसा होते हुए भी सबको यह अनुभव नहीं होता, इसका कारण क्या है? इसके उत्तर में कहा है—

योगमाया।

योगमाया समावृतः अहं सर्वस्य प्रकाशः न। (२५)

'योगमायासे आच्छादित होनेके कारण मैं सबको प्रकाशित नहीं होता।' योगमायाका अर्थ

मायाका योग, मायाकी कृति, प्रकृतिकी विकृति, मूल प्रकृतिसे बनी जड सृष्टी। जैसा कोई बहुरूपीया अपनी कलाकुशलतासे नाना रूप धारण करता है, अर्थात् विविध वेषभूषण पहन कर कभी स्त्री, कभी वीर पुरुष, कभी दास, कभी राजा और कभी बनिया बनता है। उसकी कुशलताके कारण अन्य लोग उसके शुद्धरूपको पहचान नहीं सकते, अन्य लोग तो उसे स्त्री-वीर-दास-राजा-बनिया आदि मानते हैं और फंसते हैं, वह सदा अपनी योगमायासे-बहुरूप धारण करनेकी कलासे आच्छादित रहनेके कारण औरोंद्वारा पहचाना नहीं जाता, परंतु सदा वह किसी भी रूपमें रहे अपने आपको पहचानता ही रहता है। इसी तरह परमेश्वर अपनी योगमायासे नानाविध रूपोंमें इस विश्वमें प्रकट हो रहा है, परंतु सामान्य मनुष्य समझते हैं कि जो ये रूप इस विश्वमें दीख रहे हैं वे किसी अन्य सत्वके रूप हैं, इनमें परमेश्वर नहीं है। परंतु वस्तुतः परमेश्वर ही विश्वके विविधरूपोंमें अपनी योगमायासे प्रकट हो रहा है। हम उसे पहचानें या न पहचानें। वह विश्वरूपमें प्रकट है, इसमें संदेह नहीं है। परमेश्वरही सबसे अधिक कुशल बहुरूपी-विश्वरूपी है। यही बात प्रकट करनेके लिये कहा है—

मूढः मां अजं अव्ययं नाभिजानाति। (२५)

"मूढ जन मुझको अजन्मा और अविनाशी नहीं जानता" परंतु मानता है कि मैं इस शरीर के साथ जन्मा हूं और शरीरके साथ नाशको प्राप्त होऊंगा। यही इन मानवोंकी मूढता है, क्यों कि वे इस परभावको नहीं जानते।

जैसा देखिये-मिश्रीका एक ढेला है, यदि उसके अनेक छोटे छोटे टुकडे किये गये तो मिश्री के स्थूल भागके टुकडे हो गये, परंतु क्या उसकी मीठासके भी टुकडे हो गये? मिश्रीके ढेलेके टुकडे होनेपरभी मीठासके टुकडे नहीं होते। इसी तरह परमेश्वरके अनेक रूप धारण करनेपर, वे रूप रहनेपर अथवा वे रूप छूटनेपर परमेश्वरकी अखंड सत्तामें कोई भेद नहीं होता।

उदाहरण के लिये देखिये कि सोनेके अनेक जेवर बनाये गये, तो सोनेके निजरूपमें कौनसा विकार होगया? सोना जेवररूप बना अथवा न बना तो सोना जैसा का वैसा ही है। इसी तरह योगमायासे परमेश्वरने विश्वरूप धारण किया अथवा न किया, तो उसकी अखंड सत्तामें कौनसी न्यूनता अथवा अधिकता आनी है? भगवद्गीतामें इसी कारण अन्यत्र कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
गी. ४।६

"मैं (ईश्वर) अजन्मा, अविनाशी और सब भूतोंका ईश्वर होता हुआ भी अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर अपनी मायासे विविध रूपोंमें अवतीर्ण होता हूं।" जैसा कोई नट विविध नटवेषमें नाट्यभूमिपर आता है, वैसा ही अपनी कुशलतासे यह नटराज परमेश्वर अपने मायायोगसे विश्वरूप बनकर हमारे सन्मुख खडा है। तथा—

इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥
गी० अ० ७

"पंच महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, यह अष्टविधा प्रकृति है। इस प्रकृतिसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। मैं (ईश्वर) ही सब जगत् का जन्म और लय हूं।" इस तरह प्रकृति और पुरुष मिलकर सब विश्वरूप बना है। तथा—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥७
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥
गी० अ० ९

" सब भूत कल्पके अन्तमें मेरी प्रकृतिमें लीन होते जाते हैं और कल्पका प्रारंभ होते ही मैं उन्हें फिरसे पैदा करता हूं। अपनी मायाके बल से मैं इन प्रकृतिके प्रभावके आधीन रहनेवाले प्राणियोंके समस्त समुदायको बारबार उत्पन्न करता हूं। " इस तरह परमेश्वर और उसकी अपनी प्रकृतिसे इस सब विश्वकी उत्पत्ति होती है। यही बात उपनिषद्में कही है, देखिये—

देवोंका पशु।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तत् आत्मानमेवावेद, अहं ब्रह्म अस्मीति। तस्मात् तत्सर्वमभवत्, तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्, तथर्षीणां तथा मनुष्याणां, तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे"ऽहं मनुरभं सूर्यश्चेति।
(ऋ० ४।२६।१)"

तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति, तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युः, एवमेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्ति, एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु, तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः॥

बृ० उ० १।४।१०

"प्रारंभमें ब्रह्मही एक था, 'मैं हूं' ऐसा उस ब्रह्मने स्वयं अपने आपको जान लिया। उस 'मैं हूं' ऐसे जाननेसेहि यह सब बन गया। इस तरह देव ऋषि और मनुष्योंमें से जो कोई 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा बोध प्राप्त करता है, वह ब्रह्मही बनता है। ऐसा वामदेव ऋषिको ज्ञान हुआ, अतः उसने 'मैं मनु हो गया था, मैं सूर्य था,' ऐसा कहा है। (देखो ऋग्वेद ४।२६।१) आज भी जो 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा जानेगा वह यह सब होगा। इस ब्रह्मज्ञानीका ऐश्वर्य नष्ट करनेके लिये कोई देवता भी समर्थ नहीं होते, क्यों कि वह इस सबका आत्माही बनता है। इसके विपरीत जो मनुष्य 'मैं उपास्यसे पृथक् हूं और मुझसे उपास्य पृथक् है' इस भावनासे अन्यान्य देवताओंकी उपासना करता है, वह ब्रह्मके विषयमें कुछ भी नहीं जानता, वह देवोंकी गोशालामें पशुके समान बंधा रहता है। जैसे बहुत पशु एक मनुष्यके उपभोगके लिये होते हैं, उसी प्रकार यह मनुष्य देवताओंके उपभोगके लिये होता है। किसीका एक पशु चुराया गया तो स्वामीको बुरा लगता है, फिर बहुत पशु चले गये तो उस को बहुत बुरा लगेगा ही। इसी कारण मनुष्य को ब्रह्मज्ञान होना इन देवोंको प्रिय नहीं होता है।"

अर्थात् ये छोटे छोटे देव चाहते हैं कि मनुष्य ब्रह्मज्ञानी न बने और अपनी उपासनामें फंसा रहे, क्यों कि यदि मनुष्य ब्रह्मज्ञानी बने तो उनकी उपासना कौन करेगा और उनको चढावे कौन चढाता रहेगा? इसलिये क्षुद्र देव तो यही चाहते हैं कि मनुष्य मूढ रहें, ब्रह्मज्ञानी न बनें और सतत अपने पीछे पीछे चलें।

यहां अन्यान्य देवताओंकी उपासना की 'वह उपासक देवोंका पशु है' ऐसा कहकर निंदाही की है। जैसी भ० गी० के इस सप्तम अध्यायके श्लोक २० से २३ तक की है। उपनिषद् और भगवद्गीताकी इस विषयमें एक ही संमति है। इस उपनिषद्वचनमें और यह भी कहा है कि 'ब्रह्महो यह सब बना' और 'जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करेगा वह न केवल ब्रह्म बनेगा परंतु वह भी यह सब बनेगा।' इस तरह गीता और उपनिषद्वचन की तुलना करनेसे सत्यज्ञान स्वयं प्रकट होता है, जिसके मननसे मनुष्य 'पर अवस्था' तक पहुंच सकता है।

इस उपनिषद्वचनसे यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि अन्यान्य देवताओंकी उपासना ब्रह्मोपासना

के समान लाभकारी नहीं है, और ना ही वह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होनेमें सहायक हो सकती है। क्यों कि अन्यान्य देवताओंके उपासक उन देवताओंको विविध भोग चढाते हैं, इस तरह उपासक ये उपास्य देवताके पशु होते हैं। जैसी हम अपने घरमें गौ रखते हैं, वह दूध देती है इसलिये हम उसे छोडना नहीं चाहते, वैसे ही ये देवताएं इन उपासकोंको मुक्त होने नहीं देते, अपने फंदेमेंहि फंसे रखते हैं। क्योंकि यदि उपासक मुक्त हो गये तो उपास्य देवताको भूखा ही रहना पडेगा। इसलिये क्षुद्र उपासना मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बडी भारी बाधा है।

यह बाधा है इसी लिये भगवद्गीताने क्षुद्र देवताओंकी उपासना करनेकी बडी युक्तिसे निन्दा की है। 'देवतोपासक देवोंको प्राप्त होते हैं और ईश्वरके उपासक ईश्वरको पाते हैं।' यही बात उपनिषद्वचनमें कही है। अतः इन दोनोंकी तुलना पाठक करें और बोध प्राप्त करें।

अहं अतीतानि वर्तमानानि भविष्याणि च भूतानि वेद (परंतु) कश्चन मां न वेद ॥ (२६)

"मैं ईश्वर भूत भविष्य वर्तमान कालमें उत्पन्न होनेवाले सब विश्वको यथावत् जानता हूं, परंतु मुझ ईश्वरको कोई भी जानता नहीं।" इसका कारण पूर्व स्थानमें बताया है कि ईश्वर योगमायासे घिरा रहनेके कारण वह सबको अगम्य होता है। विरलेही तत्त्वज्ञानी उसको जानते हैं। ऐसा क्यों होता है, इसका कारण अगले श्लोकमें कहा है, वह अब देखिये—

भ्रमका कारण।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन सर्वभूतानि संमोहं यान्ति। (२७)

"इच्छा और द्वेषके कारण सुखदुःखादि द्वन्द्व होते हैं और इन सुखदुःखोंके कारण सबको भ्रम होता है।" और इस भ्रममें मनुष्य फंसते हैं और परमेश्वरको जाननेमें असमर्थ होते हैं। जिस पदार्थकी जिस समय इच्छा होती है उस समय उस पदार्थसे सुख होता है और जो पदार्थ जिस समय नहीं चाहिये, वही सन्मुख आ गया तो दुःख होता है। सुख दुःख तो किसी पदार्थमें नहीं है, वे इसकी इच्छा और द्वेषके कारण होते हैं। परंतु यह मनुष्य इष्ट पदार्थका लोभ और अनिष्ट पदार्थका द्वेष करता है और हरएक पदार्थ के साथ यह मनुष्य अपना संबंध अलग अलग जोड देता है। इस कारण यह सब व्यवहार बना है और लोभमोह उत्पन्न हुए हैं।

जैसी एक स्त्री जाती है, यह परमेश्वर की एक ही कृति है, परंतु मनुष्य किसी एक स्त्रीको धर्मपत्नी कहता है, किसीको माता, किसीको बहन, किसी को सास इत्यादि नाते उत्पन्न करता है और इस नाते के कारण व्यवहारमें पृथकता उत्पन्न होती है और आगे चलकर नाना झगडे उत्पन्न होते हैं।

इसी विषयका और एक उदाहरण देखिये। सोना चांदि आदी अनेक धातुएं हैं। मूलमें अर्थात् परमेश्वरीय सृष्टिमें इनका कोई मूल्य नहीं है। परंतु मनुष्यको सोना चाहिये और लोहा नहीं चाहिये, इस लिये सोनेका मूल्य बढ गया और लोहेका घट गया। इस मानवी इच्छा द्वेषके कारण जो सोनेकी मांग बढी है, इस कारण कितने झगडे उत्पन्न हुए हैं, कितने कुटुंब अदालतोंमें जाकर नाश हो चुके, सोनेकी लालसासे कितने राष्ट्र पादाक्रान्त हुए हैं और इन राष्ट्रराष्ट्रकी लडाईमें कितने मनुष्योंका संहार हो चुका है। यह क्यों हुआ? मनुष्यके इच्छा-द्वेषसे जो पदार्थोंकी आवश्यकता और अनावश्यकता उत्पन्न हुई उस कल्पित भ्रम के कारण यह अनर्थ हुआ। यही द्वन्द्व मोह है और इसीमें सब मनुष्य फंसे हैं। तत्त्वदृष्टिसे न सुवर्णका मूल्य बडा है और न लोहेका कम है। परंतु इस विश्वसत्यको मनुष्यने अपने इच्छाद्वेष के कारण होनेवाले

द्वन्द्वमोहसे विपरीत माना और उसी भ्रममें यह गोते खाता है।

इस विषयका दूसरा उदाहरण यह है कि एक ही कपासका सूत्र बनकर कपडा बना। बारीक मोटा और मध्यम कपडा तैयार हुआ। उसीकी रजाई, गद्दी, तकिया, कोट, पतलून, पाजामा, कुरता, जाकीट, टोपी, साफा आदि अनेक कपडे पहननेके लिये अथवा विविध उपयोग के लिये बनाये गये। यह सब मायासे अर्थात् कुशलतासे हि बने हैं। एकही कपाससे बने हैं। परंतु इनमें से एक कपडा दूसरे काममें नहीं आ सकता। अपनीहि कुशलताकी कृतिसे यह द्वन्द्व उत्पन्न हुआ और इसी द्वैतभावने हमारा सब व्यवहार बद्ध हुआ है। राजदर्बारका पोशाख अन्य है, और मृतकके समयका पोशाख भिन्न है और मंगल कार्यका भिन्न है, सैनिकका भिन्न है और पंडितका भिन्न है। मूल परमेश्वरीय तत्त्वमें कोई भेद नहीं है, परंतु मनुष्यके इच्छाद्वेषके कारण जो द्वन्द्व बन गये, उस कारण यह भ्रम और मोह हुआ और इसीमें मनुष्य फसकर सब व्यवहार कर रहे हैं। परमेश्वरीय विश्वमें एकही रुई है, इसमें कोई भ्रमका कारण नहीं है। परंतु यह भ्रम मनुष्यनेहि अपनी कल्पनासे रचा है और इसीमें वह फंसा है। इतने विवरणसे पाठकोंके मनमें यह बात आ चुकी होगी कि मनुष्यके इच्छाद्वेषका प्रभाव जगत् में सुखदुःख उत्पन्न होनेमें कितना है। वस्तुतः मूल तत्त्वकी दृष्टिसे ये इच्छाद्वेष होनेका कोई कारण नहीं, परंतु इसकी कल्पना बडी प्रबल है और वह उस कल्पना के कारण इच्छाद्वेष करता है, उससे सुखदुःख भासमान होते हैं और इस भासके कारण मोह होता है जिसमें यह फसता जाता है, इस कारण इस मनुष्यकी तत्त्वकी ओर दृष्टि नहीं जाती। इस कारण मनुष्य परमात्माको जानता नहीं, और क्षुद्र देवताओंके फंदेमें फंसता है किंवा भोग-विलासमें बद्ध होता है। पराधीन बनता है और संकटपरंपरामें फंसकर दीन बनता है।

इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह इच्छाद्वेष छोड दे, द्वन्द्वोंमें न फंसे, मोहको दूर करे और परतत्त्वका दर्शन करे। यही उपाय अगले श्लोक में भगवान् वर्णन करते हैं—

> पुण्यकर्मणां पापं अन्तगतं (भवति)
> ते दृढव्रताः द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः (मां) ईश्वरं भजन्ते ॥ (२८)

"जो पुण्य कर्म करते हैं उनका पाप नष्ट होता है, वेही दृढव्रती पुण्यात्मा लोग द्वन्द्वमोहसे मुक्त होकर ईश्वर को जानते और उसीकी सेवा करते हैं।" पुण्य कर्म करनेवालोंके पाप समूल नष्ट होते हैं, ये पाप नष्ट होनेका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि वे द्वन्द्वमोहसे मुक्त होते हैं। सुखदुःखादि द्वन्द्वमें नहीं फंसते। द्वन्द्व भाव छोडकर सत्यका आश्रय करते हैं। दृढव्रत होकर निश्चयसे तत्त्वदर्शन करते हैं। वे ही परमेश्वर को पा सकते हैं।

ईश्वर-सेवा।

(ईश्वरं भजन्ते) यहां ईश्वरका भजन करनेका तात्पर्य ईश्वरसेवा है। केवल नामजप करनाही भजन नहीं है। विश्वरूपी परमेश्वरकी सेवा करना ईश्वरका भजन है। विश्वरूपी परमेश्वर का स्वरूप क्या है, यह पहिले देखना चाहिये। ऋग्वेदमें नारायणका स्वरूप इस तरह कहा है—

> सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
> स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥१॥
> पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥२॥
> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
> ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥१२
> ऋग्वेद १०।९०

"सहस्र मुख, सहस्र आंख और सहस्र पांवों से युक्त एक पुरुष भूमिपर सर्वत्र फैला है। यह पुरुष भूत भविष्य और वर्तमान काल में जो सब

(८) मोक्षप्राप्तिका यत्न।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

कुछ है वही है। इसका मुख ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, ऊरू वैश्य और पांव शूद्र है।" इस तरह यह मानवी समाजरूपी हजारों हस्तपादादि अवयवोंवाला पुरुष है। संपूर्ण मनुष्यजातिके जितने सिर बाहू पेट जंघाएं और पांव हैं, वे सब इस जगद्बीज नारायणके अवयव हैं। यही विश्वरूपी पुरुष मनुष्योंका उपास्य है। (द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः) द्वैतभावसे उत्पन्न होनेवाले मोहसे मुक्त होकर मनुष्य इसकी सेवा करे। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषादोंमें अर्थात् विद्वान् शूर व्यापारी कारीगर और वन्य मनुष्योंमें अलग अलग भेद्भाव करके असमानताका व्यवहार करना व्यवहारमें द्वन्द्वभाव रखना है। मैं अलग, मेरी कमाई अलग, दूसरेकी अलग ऐसा मानकर द्वैतव्यवहार करना द्वन्द्वमोहमें फंसना है। और

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥
गी० ५।१८

"विद्वान् ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, चांडाल इनपर ज्ञानी लोग समदृष्टि रखते हैं।" ऐसी सबपर समदृष्टि रखना और ब्राह्मणादि सभी लोग परमेश्वरके ही अवयव हैं, परमेश्वरकीहि मूर्तियां हैं, ऐसा मानकर अपने आपको उनसे अभिन्न मानकर अर्थात् सब मानवसमष्टिको उसी नारायण पुरुषका शरीर मानकर अनन्य भावसे उसकी सेवा करना, अर्थात् विश्वसेवा करना यह द्वन्द्वभावसे मुक्त होना है। यही पुण्यकर्म है और इसीसे पाप नाशको प्राप्त होता है।

(इच्छाद्वेषसमुत्थः द्वन्द्वमोहः) मुझे सुख चाहिये और दुःख नहीं चाहिये, दूसरेके सुख दुःखकी पर्वाह मैं नहीं करता, मैं अलग हूं और दूसरा अलग है, दूसरोंको दुःख हुआ तो मुझे उसकी चिन्ता नहीं है, मैं केवल अपने सुखको देखूंगा, यह विचारसरणी अज्ञ मनुष्योंकी होती है, यही इच्छाद्वेषसे उत्पन्न होनेवाला द्वन्द्वमोह है। यही मानवी उन्नतिको रोकनेवाला है। यह द्वन्द्वमोह छोडना चाहिये और पूर्वोक्त प्रकार अपने समेत संपूर्ण प्राणियोंको एकही परमेश्वरके देहमें देखकर उनकी सेवा करके परमेश्वरकी सेवा होगी ऐसा ही निश्चय मानना चाहिये।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
गी० १८।४६

"अपने कर्मसे इस परमेश्वरकी पूजा करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो सकता है।" यहां तक जो विचार हुआ उससे परमेश्वरका सत्य स्वरूप क्या है और उसकी सेवा अनन्यभावसे कैसी की जाती है इसकी कल्पना हरएकको हो सकती है। यहां 'अनन्य भाव' का अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें धारण करना चाहिये। (अन्+अन्य) मैं उपास्यसे पृथक् नहीं ऐसे निश्चयसे अर्थात् मैं उपास्यके देहका एक अंश हूं ऐसा मानकर वही मैं हूं यह जानकर उपास्यकी अर्थात् परंपरया अपनीहि वह सेवा है ऐसा भी जानकर जो सेवा की जाती है वह अनन्य सेवा है। (द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः) द्वैतभाव छोडकर जो सेवा होती है, वही अनन्य सेवा है। इस तरह दृढव्रती मनुष्य अनन्य होकर सेवा करते हैं वे श्रेष्ठ होते हैं। ये लोग ईश्वरको कैसा देखते हैं, यह बडा बोधप्रद ज्ञान अगले श्लोकमें कहा है, वे दो श्लोक अब देखिये—

पूर्ण ब्रह्मज्ञान।

(२९-३०) (मां ईश्वरं आश्रित्य) ईश्वरका ही केवल आश्रय करके साधक लोग प्रयत्न

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अन्वयः- ये मां आश्रित्य जरामरणमोक्षाय यतन्ति, ते तत् ब्रह्म, कृत्स्नं अध्यात्मं, अखिलं कर्म च विदुः॥२९॥ ये साधिभूताधिदैवं साधियज्ञं च मां विदुः, ते युक्तचेतसः प्रयाणकाले अपि च मां विदुः ॥ ३० ॥

जो मेरा आश्रय करके जरासे और मरणसे मुक्त होनेका यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, संपूर्ण अध्यात्मको और सब कर्मको जानते हैं ॥ २९ ॥ और जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित मुझे जानते हैं, वे चित्तका योग करनेवाले मृत्युके समय भी मुझे स्मरण करते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ- परमेश्वरका ही आश्रय करके जो जरामरणसे मुक्त होनेके लिये प्रयत्न करते हैं वे ही संपूर्ण ब्रह्म, संपूर्ण अध्यात्म और संपूर्ण कर्मको यथावत् निःसंदिग्ध रीतिसे जानते हैं। तथा ईश्वरको जब वे सब प्राणीमात्रमें, सब देवताओंमें और सब यज्ञोंमें देखते हैं, तब उनको ईश्वरके सत्य स्वरूपका उत्तम स्मरण मृत्युके कष्टदायक समयमें भी यथावत् रहता है ॥ २९-३० ॥

अपनी उन्नतिके लिये करते हैं। यहां ईश्वरका आश्रय करनेका क्या अर्थ है यह बात पाठकोंके मनमें आ चुकी होगी। ईश्वरका सत्य स्वरूप क्या है, इसका भी निर्णय यहांतकके विवरणमें हो चुका है। इस विश्वरूपी परमेश्वरका आश्रय करके (जरामरणमोक्षाय) वृद्धावस्थासे और मृत्युकी परंपरासे मुक्त होनेके लिये ये साधक यत्न करते हैं। वृद्धावस्था न हो और मृत्युभी न हो, तारुण्य का उत्साह अखंड रहे। जीर्ण अवस्थाकी थकावट उसको होगी जो अपने आपको ईश्वरसे पृथक् मानकर सब चिन्ताको अपने सिरपर लेगा। जो परमेश्वरके रूपमें मिल गया उसकी सभी अवस्थाएं परमेश्वरके रूपमें मिल जानेके कारण उसको जरामृत्युका भय किस प्रकार बाधा कर सकता है? ऐसेही भक्तोंको ब्रह्म क्या है, संपूर्ण अध्यात्म क्या है, कर्मप्रवाह कैसा चल रहा है, अधिभूत-अधियज्ञके साथ परमेश्वर कैसा है, यह सब ज्ञान होता है। यह ज्ञान उसको अति स्पष्ट होनेके कारण उसका चित्त सदा सर्वदा परमात्माके साथ संयुक्त होता है। अर्थात् उसका सदा सर्वदा यह चित्तयोग होता रहता है। इस कारण मरणसमयकी कष्टप्रद पीडा होनेके समयमें भी उसको परमेश्वरका अच्छा स्मरण रहता है। फिर अन्य समय ईश्वरका स्मरण होता होगा, इसमें क्या संदेह है?

यहां ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ आदि शब्द आ गये हैं। इनका अर्थ अगले अष्टम अध्यायमें आनेवाला है, इसलिये इनके विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। अतः यहां हि इस ज्ञानविज्ञानयोगका स्पष्टीकरण समाप्त करते हैं।

सप्तम अध्याय समाप्त ॥७॥

श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तम अध्यायके

सुभाषित ।

(१) उन्नतिका यत्न ।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि ····कश्चित् ····वेत्ति तत्त्वतः ॥

भ० गी० ७।३

"हजारों मनुष्योंमें क्वचित् कोई एकाध सच्ची उन्नतिके लिये प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालोंमेंसे भी क्वचित् कोई निश्चित रीतिसे (अंतिम ध्येय) जानता है।" मनुष्य कुछ न कुछ करते तो रहते हैं, परंतु निश्चित ध्येय का लक्ष्य करके योग्य मार्गसे जानेवाले दुर्लभ हैं।

(२) मायाको पार करना ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

भ० गी० ७।१४

"जो मुझ ईश्वरकी शरणमें आते हैं, वे इस मायाके पार हो जाते हैं।" सच्ची ईश्वरभक्तिसे कठिणता दूर होती है। परंतु जो अहंकारवश होकर ईश्वरभक्ति नहीं करते, वे दुःख बढाते हैं।

(३) कौन ईश्वरभक्ति नहीं करते ?

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

भ० गी० ७।१५

"दुराचारी नीच मूढ मोहित-भ्रांतचित्त और आसुरी वृत्तिके लोग ईश्वरभक्ति नहीं करते।" वे अपने भोग बढाते हैं परंतु दुःख भोगते हैं।

(४) एकनिष्ठाका महत्त्व ।

एकभक्तिर्विशिष्यते ।

भ० गी० ७।१७

"एकनिष्ठासे कार्य करनेवाला सबसे श्रेष्ठ है।" चंचलवृत्तिसे कार्य करनेवालेको यश नहीं मिल सकता।

(५) अल्पबुद्धिके लिये अल्पफल ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

भ० गी० ७।२३

"अल्पबुद्धिवाले लोक जो कुछ करते हैं, उनको नाशवान् अल्प ही फल मिलता है।" विशेष बुद्धिके विना महत्ता प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये बुद्धि सुसंस्कृत और विशाल करनी चाहिये।

(६) मोहका कारण ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥

भ० गी० ७।२७

"इच्छाद्वेषके कारण सुखदुःखादि द्वन्द्व होते हैं और इस कारण सब लोग मोहित होते हैं।" अज्ञान और दुःखका कारण यह है। जो सुख चाहता है, वह इस दुःखहेतुसे दूर रहे।

(७) पुण्य कर्म ।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

गी० ७।२८

"पुण्य कर्म करनेवालोंका पाप नष्ट होता है और वे द्वन्द्वमोहसे मुक्त होकर दृढ निश्चयसे ईश्वरका भजन करते हैं।"

'द्वन्द्वमोह' का अर्थ झगडा करनेका मोह। युद्ध करके दूसरेका नाश करके अपना सुख बढानेका भ्रम। इसीसे जगत्में क्लेश बढ गये हैं।

(८) अजरामर रहनेकी इच्छा।

जरामरणमोक्षाय....यतन्ति। गी० ७।२९

"जरा और मृत्युको दूर करनेके लिये प्रयत्न करते हैं।" मनुष्यको यही प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् शरीर शीघ्र वृद्ध न हो और शीघ्र मृत्यु न आवे।

श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तम अध्यायका मनन।

अखंड उपदेश।

इस समयतक जितने अध्याय हो चुके हैं उनमें अर्जुनके प्रश्न और भगवान् श्रीकृष्णका उत्तर ऐसे प्रश्नोत्तररूपमें वर्णन है। केवल यही सातवां अध्याय पहिला है, जिसमें श्रीकृष्ण भगवान् का धाराप्रवाह जैसा अखंड उपदेश हुआ है। बीचमें चित्तका विक्षेप करनेके लिये किसीका भी प्रश्न नहीं है। इससे पूर्व ५ वें अध्यायमें केवल प्रारंभमें ही अर्जुनका प्रश्न है, और ५वें अध्यायके अन्ततक भगवान् श्रीकृष्णका उत्तर है, परंतु यह उत्तर अर्जुनके प्रश्नके निराकरणके लिये दिया गया है, स्वयंस्फूर्तिसे नहीं। यह सातवां अध्याय ऐसा है कि जो केवल भक्त अर्जुनपर कृपा करनेके लियेही कहा गया है। अपना भक्त भ्रांतचित्त हुआ है उसको सत्यज्ञान देना अवश्यक है, ऐसा जानकर उसपर अनुग्रह करनेके लिये हि केवल यह ईश्वरके संपूर्ण स्वरूपका विज्ञानसहित समग्र ज्ञान कहा है। यह यथावत् जाननेके पश्चात्—

नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ गी० ७।२

'यहां-इस संसारमें अधिक जानने योग्य कुछ भी ज्ञान अवशिष्ट नहीं रहता।' ऐसा यह ज्ञान न पूछनेपर ही भक्तानुग्रहकी इच्छासे कहा गया है। यह इस अखंड उपदेशका महत्त्व है। इसमें परमेश्वरके अखंड स्वरूपका समग्र ज्ञान है, इसलिये पाठक भी इसका अधिक मनन करें और यह ज्ञान आत्मसात् करें।

परमेश्वरका समग्र ज्ञान होना अत्यंत कठीन है। क्योंकि परमेश्वर अनंत है, कहांतक मनुष्यकी मति उसको ग्रहण कर सकती है? मनुष्यकी प्रवृत्ति संसारमेंहि सदा लगी रहती है, इसलिये सहस्रोंमेंसे क्वचित् कोई परमेश्वरके स्वरूपको जाननेका यत्न करता है और ऐसे यत्न करनेवालोंमेंसे भी क्वचित् किसी एकाधको यथार्थ ज्ञान होता है (गी० ७।३); ऐसा यह ज्ञान अत्यंत दुर्लभ है जो इस अध्यायमें सबके ध्यानमें आनेयोग्य सुगम रीतिसे कहा है।

पुरुषकी प्रकृति।

पुरुषकी प्रकृति है। यहां प्रकृतिका अर्थ शरीर, देह, या तनु है। कई लोग समझते हैं कि पुरुष

और प्रकृति पूर्णतया विभिन्न है, एक दूसरेसे पृथक् है, अर्थात् जड प्रकृति सर्वथा भिन्न है और चेतन पुरुष सर्वथा भिन्न है। ऐसा भेद यह केवल कल्पनागम्य ही है, वस्तुतः इस जगत् में चेतन पुरुष और जड प्रकृति अलग अलग बोतलोंमें भरकर रखी नहीं जा सकती। ऐसी अलग अलग सत्ताएं किसीके भी अनुभवमें नहीं हैं। केवल कल्पनासे ये भेद शास्त्रकारोंने मान लिये हैं। जैसा खांडका ढेला और मीठास ये दो कल्पनाएं विभिन्न हैं, परंतु खांडके ढेलेसे मिठास कभी पृथक् नहीं होती, ऐसाही प्रकृतिपुरुषका पृथकत्व है। इसी तरह (गीता ७।८-११में कहा है कि) जलमें रस, सूर्यका तेज, चन्द्रमाका चांदना, आकाशका शब्द, मनुष्यका शौर्य, पृथ्वी का गन्ध, अग्निकी उष्णता, प्राणियोंका जीवन, तपस्वियोंका तप, बुद्धिमानोंकी बुद्धि, तेजस्वियों की तेजस्विता, बलवानोंका बल, जैसा है वैसा ही इस विश्वमें ईश्वर है। इस प्रकार ईश्वर और प्रकृतिका संबंध नित्य बताया है। पृथ्वीसे गन्ध अलग नहीं हो सकता, अग्निसे उष्णता अलग नहीं हो सकती, इसी तरह प्रकृतिसे पुरुष अलग नहीं किया जा सकता। यह कथन बडा बोधप्रद है। मिश्रीके ढेलेसे मीठास कैसी अलग की जायगी? इसी तरह जडसे चेतन अलग नहीं किया जा सकेगा। जो भेद हम मानते आये हैं वह कल्पनाका भेद है, वस्तुतः नहीं। सूर्य और तेजकी कल्पनामें भिन्नता है, परंतु वस्तुतः अभेद है, आकाश और शब्दमें कल्पनाका भेद प्रत्यक्ष है परंतु वस्तुत्वकी दृष्टिसे दोनोंकी एकरूपता भी उतनीहि प्रत्यक्ष है। तपस्वी बुद्धिमानोंके तप और बुद्धिमत्तामें हमारी कल्पना भेद देखती है परंतु ये पदार्थ अलग अलग करनेका यत्न किया तो वे अभिन्न ही हैं, ऐसा निसन्देह जाना जाता है। इसी तरह 'माला' का उदाहरण देखिये (सूत्रे मणिगणा इव। गी. ७।७) यहां तो सूत्र भी अलग है और मणि भी अलग हैं, परंतु 'माला' कहनेसे उसमें सूत्र और मणि ये दोनों लीन होते ह। इसी तरह प्रकृति (मणी), पुरुष (सूत्र) और दोनोंका जिसमें लय हुआ वह परमात्मा (माला) है। वस्तुतः ये तीनों केवल कल्पनाएं हैं, सबका आधार सद्वस्तु एक ही है। जड और चेतन यह भेद कल्पनाका है, सद्वस्तु एकही है। एकही वस्तुके ये दो पहलू हैं। एक ओरसे देखा तो जड दीखता है और दूसरी ओर से देखा तो वही चेतन है, ये दोनों रूप एकही सद्वस्तुके हैं। (एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ. १।१६४।४६) वस्तु एकही है, उसका वर्णन अनेक प्रकारसे होता है। यही बात इस तरह कही है—

ईश्वरकी प्रकृति।

> भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
> अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥
> अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
> जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
>
> भ० गी० ७

"पृथ्वी आप् तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकारकी निकृष्ट प्रकृति है और जीवरूप प्रकृति श्रेष्ठ प्रकारकी है।" यह सब मिलकर नव प्रकारकी ईश्वरकी प्रकृति है। यहां प्रकृतिका अर्थ शरीर है। मानो यह परमेश्वरका शरीर है जिसमें जड और चेतन मिले-जुले हैं। मणियोंके स्थानपर पृथिव्यादि पदार्थ हैं, सूत्रके स्थानपर जीव-सूत्रात्मा-सूत्रवत् सर्वत्र रहनेवाला आत्मा–है, और मालाके स्थानपर परमात्मा, परमेश्वर, नारायण आदि अनेक नामोंसे दर्शित होनेवाली एक वस्तु है। असंदिग्ध रीतिसे यह परमेश्वरका स्वरूप है। लोग कहेंगे कि यह रूप खंडित है, यह टुकडे हैं, यहां एकरसता नहीं है। यहां जो भ्रांत दृष्टिसे देखते हैं उनको ही खंडित रूपमें टुकडे टुकडे नजर आते हैं, परंतु जो दिव्य दृष्टिसे देखते हैं, उनको

इस एकही रूपकी अखंडितता प्रत्यक्ष हो जाती है।

दिव्य दृष्टि।

यह दिव्य दृष्टि क्या है? भगवद्गीतामें ११ वे अध्यायमें यह दिव्य दृष्टि अर्जुनको दी गयी (दिव्यं ददामि ते चक्षुः। भ० गी० ११।८) ऐसा वर्णन है। यद्यपि संपूर्ण गीतामें किसी भी स्थानपर ऐसा नहीं कहा है कि यह दिव्यचक्षु अथवा यह दिव्य दृष्टि क्या है। तथापि गीतामें अनेक स्थानोंपर दिव्य दृष्टि की प्रणाली कही है। उन स्थानों में गी० अ० ७ में ४-११ ये श्लोक विशेष महत्त्वके हैं। यहां दिव्य दृष्टि क्या है, वह स्पष्टतासे और विस्तारसे कहा है। दिव्य दृष्टि, दिव्य चक्षु, दिव्य नेत्र, तृतीय नेत्र ये सब शब्द इसी दिव्य ज्ञानके बोधक हैं। इससे विपरीत जो ज्ञान है वह अज्ञान है।

'पंचतत्त्व' विवेक— यहां पाठक पूंछ सकते हैं कि इतने विभिन्न पदार्थोंमें एक अखंड सत्ता कहां और कैसी रहती है? इसका निश्चय करनेके लिये पंचमहाभूत कहां हैं और कहां नहीं हैं इसका निश्चय करना चाहिये। हमारे नाकसे गन्धका ग्रहण होता है और उससे पृथ्वीका पता लगता है। पाठक नाकसे गन्धका ग्रहण करते जांयगे, तो उनको पता लग जायगा कि जहां किसी प्रकारका गन्ध नहीं है ऐसा स्थान कहां भी नहीं है। रसनासे रसका ग्रहण होता है, पाठक अपनी रसनाद्वारा रसका ग्रहण करें, जहां रस नहीं है ऐसा स्थान मिलेगा नहीं। आंखसे रूपका ग्रहण होता है, पाठक जहां दृष्टि फेंकेंगे वहां रूपकी प्रत्यक्षता होगी। यहां पाठक विचारपूर्वक अवलोकन करें और उनको कहां रूप न दिखाई देता हो तो देखें। यह महत्त्वकी बात है। इस विषयका सिद्धान्त यह है कि विश्वभरमें ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहां रूपका दर्शन नहीं होता है। लोग कहेंगे कि दो पदार्थोंके बीचमें जो अवकाश है वहां रूपका दर्शन नहीं होता है, परंतु यह गलत है। दो पदार्थोंके रूपोंके मध्यमें किसी न किसीका रूप अवश्य है। रूप सर्वत्र ऐसा एक दूसरेसे चिपका है कि एक अणुरेणु जितनी भी जगह बीचमें खाली नहीं है। बस यही बात मुख्य है। इसी तरह एकही व्यापक तत्त्व है जिसका रूप सर्वत्र अनुभवमें आ रहा है। इसी तरह त्वचासे स्पर्शगुणका अनुभव होता है। पाठक देखें कि सर्वत्र स्पर्शका अनुभव आता है या नहीं? कौनसा ऐसा स्थान है कि जहां स्पर्शका अनुभव नहीं होता? एक रत्ती जितना भी स्थान ऐसा नहीं मिलेगा कि जहां स्पर्शका अनुभव नहीं होगा। इस तरह सर्वत्र अखंड स्पर्श है। कानसे शब्द भी सर्वत्र अनुभवमें आता है। आकाश तो सर्वव्यापकही है और उसका गुण सर्वत्र है, इसीलिये सर्वत्र शब्द होता है और होतेहि अनुभवमें आता है।

इसी तरह सर्वत्र और अखंडित रीतिसे शब्द स्पर्श रूप रस गंधका अनुभव आता है। एक सुईके अग्रके जितना भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहां इन पांचोंका अनुभव न आता हो। यह अखंडित अनुभव है। इसका साक्षात्कार पाठक करें।

लोग कहेंगे कि ये पंचमहाभूत हैं और वे सर्वत्र हैं इस लिये शब्दस्पर्शादिका सर्वत्र अनुभव आता है। इसमें विवेक इस बातका करना है कि हमारे पांच ज्ञानेन्द्रिय शब्दादि पांच गुणोंका ग्रहण कर सकते हैं, ये इंद्रिय गुणोंकाही ग्रहण कर सकते हैं, पदार्थका ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिये पांच गुणोंका ग्रहण होनेसे इस बातका निश्चय नहीं हो सकता कि, पांच गुणोंका धारण करनेवाले पांच तत्त्व परस्परभिन्न और अलग अलग हैं, अथवा एकही सत्य तत्त्वके साथ इन पांचों ज्ञानेन्द्रियोंका

संबंध आनेसे इन पांच इंद्रियोंको पांच गुणोंका भास होता है।

पांच अन्धे हाथी देखने गये थे। जो अन्धा पांवके पास पहुंचा, उसको हाथी खंबे जैसा प्रतीत हुआ। दूसरा अन्धा कानके पास पहुंचा, उसको सूप (छज) जैसा प्रतीत हुआ। तीसरा सोंडके पास गया,उसको सांप जैसा प्रतीत हुआ। चौथा पूंछके पास गया, उसको झाडूके समान दिखाई दिया और पांचवां पेटके पास गया, उसको कपासकी बडीभारी बोरी जैसी प्रतीत हुई। पांचोंका अनुभव सत्य है, परंतु एकही सत्य वस्तु पांचोंको पांच प्रकार प्रतीत हुई यह भी उतनाही सत्य है। इन पांचों अंधोंमें प्रत्येकका अनुभव सत्य है, इसलिये हाथीके स्वरूपके विषय में बडा झगडा होगा, प्रत्येक दूसरोंका खंडन करेगा, यह सब सत्य है, परंतु जिसको दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई है वह कहेगा कि वस्तु तो एक ही है, यह आंख नाक कान का अनुभव आंशिक अनुभव है,पूर्ण अनुभव नहीं है। हमारे इंद्रियोंके अनुभव ऐसे ही हैं। अस्तु। इस तरह हमारे इंद्रिय कहते हैं कि पंचमहाभूत अलग अलग हैं, वे इंद्रिय कभी एकताका अनुभव नहीं देते। अतः हम अब अपने मनसे पूछेंगे।

'मन'की साक्षी–मनने विश्वमें देखा तो उसको पांच पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हुए। सत्त्व रज और तम इन तीन प्रकारका अनुभव ही उसको प्रत्यक्ष हुआ। संपूर्ण विश्वका मनन करनेसे मनको कई पदार्थ सुख देनेवाले अर्थात् सात्विक दीखते हैं, कई दुःख देनेवाले अर्थात् तामसी नजर आते हैं और कई मिश्रित मध्यम अर्थात् सुख दुःख देनेवाले दिखाई देते हैं। अतः मनने अपनी साक्षीमें कहा है कि विश्वमें पांच पदार्थ नहीं है, परंतु कुछ सुख है, कुछ दुःख है और कुछ मध्यमसी अवस्था है, जिसका शास्त्रीय नाम सत्त्व (सुख), रज (मध्यम), तम (दुःख) यह है। इनकी परिभाषा भिन्न विचारकोंने यह रची है-

सत्त्व	रजः	तमः
सुख	सुखदुःखमिश्र	दुःख
ज्ञान	कर्म	अज्ञान
सुर	सुरासुर	असुर
मधुरान्न	तीक्ष्णान्न	गतरसान्न
पवित्र	मेध्यामेध्य	अपवित्र
अनासक्ति	फलासक्ति	अश्रद्धा

इस तरह मनके मननद्वारा संपूर्ण विश्व तीन प्रकारका प्रतीत होता है। अतः मन कहता है कि विश्व पांच प्रकारका नहीं है,परंतु तीन प्रकार का है। शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध में भी मनने सुख दुःख और मिश्रित भाव ही देखे। अर्थात् सुखदायी शब्द, दुःखदायी शब्द और मध्यम शब्द। इसी तरह स्पर्शरूपादि के विषयमें समझना चाहिये। इस तरह मनका अनुभव होनेसे विश्व पांच प्रकारका (पंचभूतात्मक) है ऐसा जो इन्द्रियोंने कहा था वह अनुभव दूर होकर संपूर्ण विश्व तीन प्रकारका-सत्त्वरजतमात्मक (त्रिगुण रूप) प्रतीत होने लगा। यहां भी वही प्रश्न आया कि इन तीन गुणोंके पीछे तीन पदार्थ हैं अथवा एकही पदार्थमें ये तीन गुण हैं जो विभिन्न रूपोंमें प्रकट होते हैं? जैसा एकही पदार्थ तीन अनुपानों द्वारा तीन प्रकारका प्रतीत होगा। जैसी मिश्री घृतके साथ खानेसे सात्विक, जल के साथ खानेसे राजस और वैसेहि खानेसे तामस प्रतीत होती है, इसी तरह प्रत्येक पदार्थ तीन गुणोंको प्रकट कर सकता है। यदि यह सत्य हुआ तो इन तीनों गुणोंको प्रकट करनेवाला एकही पदार्थ है,ऐसा निश्चित होगा। अतः इसकी और अधिक खोज करनी चाहिये। मनने विचारके अनुभवसे कहा कि विश्वमें सत्त्व रज तम यह त्रिविध अनुभव है।

बुद्धिकी साक्षी— इसके पश्चात् हमारे पास बुद्धि है। इसकी साक्षी क्या है वह अब देखनी चाहिये। बुद्धि आगे हो गई और विश्वका निरीक्षण करने लगी। बुद्धिको कुछ जड और कुछ

चेतन ऐसा द्विविध जगत् प्रतीत हुआ। बुद्धि कहने लगी कि कुल विश्व द्विविध है जिसको शास्त्रकार ये नाम देते हैं—

जड	चेतन
प्रकृति	पुरुष
साकार	निराकार
रयी	प्राण
मूर्त	अमूर्त
स्थूल	सूक्ष्म
अचेतन	सचेतन
अपरा प्रकृति	परा प्रकृति
प्रकृति	जीव
क्षर	अक्षर
व्यय	अव्यय
व्यक्ति	अव्यक्ति

इस तरह बुद्धिने विश्वका निरीक्षण किया। बुद्धि संपूर्ण जगत्में फैल गयी और उसने निश्चय किया कि यहां केवल दोही पदार्थ हैं जो मनको त्रिविध प्रतीत हुए और ज्ञानेंद्रियोंको पंचविध प्रतीत हुए। वस्तुतः ये दोही हैं। फिर यहां वही प्रश्न आता है कि ये दो पदार्थ परस्परभिन्न हैं अथवा एकही सद्वस्तुके ये विभिन्न पहलू हैं? बुद्धि इसका निश्चय नहीं कर सकती।

आत्माकी साक्षी- इसके पश्चात् अहंकार (अर्थात् 'अहं' का अनुभव=मैंपनका अनुभव) आगे बढा। यही मैं कहनेवाला आत्मा है। वह विश्वके पास देखने लगा, तो उसे सर्वत्र एकही अहंकार फैला है, दूसरा कुछ भी नहीं ऐसा अनुभव आया। प्रत्येक पदार्थ कहता है कि "मैं हूं" अर्थात् 'मैं हूं' यह बात सर्वत्र है। इसके अतिरिक्त आत्मा देखने लगा कि जब मैं जागता हूं तब ही विश्व दीखता है और मैं सोता हूं तो विश्व भी लीन होता है। मेरे देखनेपर विश्वका अस्तित्व है। आत्मा ज्ञाता है और विश्व ज्ञेय है। ज्ञाताके विना ज्ञेयका अस्तित्व कहां है? मेरा अपना अस्तित्व पहिले है और मेरे देखनेका यत्न करनेपर विश्वका अस्तित्व भासता है। अतः यह विश्व मेरे ज्ञानमें रहा है, जो मेरे ज्ञानमें है वह मुझसे भिन्न कहां है? अतः आत्माने कहा कि एकही 'अहं' भाव सर्वत्र है अर्थात् मैं ही यह सब कुछ हूं, मुझसे भिन्न यह विश्व नहीं है।

यहां निश्चय हुआ जो 'अहं' भावका तत्व सर्वत्र है उसका अनुभव पंच ज्ञानेंद्रियोंको पांच प्रकारका हुआ, उसीका अनुभव मनको तीन प्रकारका हुआ, और बुद्धिको दो प्रकारका हुआ। परंतु वस्तुतः वह एकही वस्तु है। उसको एक ओरसे देखनेसे क्षर भाव दिखाई देता है और दूसरी ओरसे देखनेसे अक्षर भाव देखा जाता है, परंतु वह वस्तु क्षराक्षर होनेसे केवल क्षर भी नहीं और केवल अक्षर भी नहीं, केवल क्षरसे भी श्रेष्ठ और केवल अक्षर से भी श्रेष्ठ है, अतः उसको 'पुरुषोत्तम' कहते हैं। अतः कहा है—

क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८
भ० गी० अ० १५

"इस लोकमें क्षर और अक्षर ये दोही पुरुष हैं। भूतमात्र क्षर पुरुष है और उसके अन्तर्यामी जो पुरुष है उसको अक्षर कहते हैं। उत्तम पुरुष अन्य है जिसको परमात्मा कहते हैं, जो तीनों लोकोंको धारण करता है वह ईश्वर ही परमात्मा है क्यों कि यह क्षरसे परे है और अक्षरसे भी उत्तम है, इसलिये इसको लोकोंमें और वेदोंमें पुरुषोत्तम करके प्रसिद्धि प्राप्त हुई है।"

यहां प्रश्न हो सकता है कि यहां पुरुष एक

कहा है, दो कहे हैं अथवा तीन कहे हैं? साधारणतः लोग तीन पुरुष यहां कहे हैं ऐसा मानते हैं परंतु वह कल्पना अशुद्ध है। बुद्धिके द्वारा विश्वमें क्षरभाव और अक्षर भाव ऐसे दो भाव हि प्रतीत होते हैं। परंतु क्षराक्षरात्मक पुरुषोत्तम होनेसे, वह क्षरभी है और अक्षर भी है। ये दोनों भाव पुरुषोत्तममें हैं इसलिये वह क्षरसे भी ऊपर और अक्षरसे भी श्रेष्ठ है ऐसा कहा है अर्थात् उसमें ये दोनों भाव लीन हुए हैं, अतः केवल पुरुषोत्तम एकही है।

जैसा कोई एक मनुष्य शरीरभावसे क्षर है, आत्मिक भावसे अक्षर है, परंतु ये दोनों भाव मनुष्यके रूपमें मिले हैं इस लिये मनुष्य क्षराक्षर विलक्षण पुरुषोत्तम है। यह मनुष्य केवल क्षर शरीरसे परे है क्योंकि उसमें क्षर शरीरके साथ अक्षर आत्मा भी है। और यह केवल अक्षर आत्मासे भी उत्तम है क्योंकि इसके पास कर्तव्य-पुरुषार्थक्षम शरीर भी है। अतः यह केवल शरीरसे और केवल आत्मासे शरीर और आत्मा मिलकर होनेवाला मनुष्य निःसंदेह श्रेष्ठ है। यहां पाठकोंको कल्पना आ गयी होगी कि क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम ये कल्पनाएँ तीन हैं परंतु वस्तु एकही है, पहलुओंके रूपमें इनमें भेद है, परंतु वस्तुरूपमें अभेद है।

इस बातको समझानेके लिये हम आमका उदाहरण लेते हैं। आमका स्थूल आकार जो आंखको दिखाई देता है वह क्षर भाव किंवा 'क्षर पुरुष' है, उसके रसमें जो मीठास है जो आमके टुकडे होनेपर भी नहीं टूटती वह अक्षर भाव किंवा 'अक्षर पुरुष' है। यह अक्षर आंखको नहीं दीखता परंतु अनुभवमें आता है। इस क्षरसे परे और इस अक्षरसे उत्तम जो 'उत्तम पुरुष' है उसको ही 'आम' कहते हैं, क्यों कि इसमें क्षर और अक्षरका पूर्ण लय हुआ है, अतः जो केवल क्षरमें नहीं और जो केवल अक्षरमें नहीं वह सब इस पुरुषोत्तममें है। यहां पाठक देख सकते हैं कि क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम ये कल्पनाएं तीन हैं, परंतु एकही वस्तुपर ये तीनों कल्पनाएं हैं, उस वस्तुसे भिन्न इनका अस्तित्व नहीं है। अतः क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष ये तीन पुरुष हैं ऐसी असत्य बुद्धि कोई न धारण करे। एकही वस्तुपर ये तीनों कल्पनाएं इसलिये की गई हैं, कि साधकोंको उस एक सद्वस्तुकी यथायोग्य कल्पना हो जावे और वे उसकी योग्य उपासना अनन्यभावसे करके अपने आपको कृतकृत्य बनावें।

यही दिव्य दृष्टि है, इसीको दिव्य चक्षु कहते हैं। इसीसे ज्ञात होता है कि अनेक विभिन्न तत्व एक तत्वमें कैसे लीन होते हैं। प्रथमतः अर्जुन इस जगत्में प्रत्येक पदार्थ अलग अलग, एकदूसरेसे विभिन्न देख रहा था, इस अज्ञानके कारण उसको भ्रम हुआ कि मैं मारनेवाला हूं और कौरव मरनेवाले हैं, इस भ्रमके कारण उसको शोक मोह हुए। इस भ्रमको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको दिव्य दृष्टि का उपदेश (गी० अ० ७।४-१२ इन श्लोकोंमें) किया। और बताया कि यहां इस विश्वमें अलग अलग टूकडे नहीं हैं, संपूर्ण अखंड एकरस एकही सत्तत्व है। इसका विचार अर्जुन करेगा और जब उसका निश्चय होगा तब वह भगवान् श्रीकृष्ण की बात मानेगा। इस लिये हम भी उसके अनुभवके पीछे पीछे जानेका यत्न करेंगे।

आत्मासे त्रिगुणोंकी उत्पत्ति।

प्रायः लोग मान सकते हैं कि सात्त्विक भाव आत्मासे उत्पन्न होते हैं, परंतु वे यह माननेको तैयार नहीं होते कि आत्मासे तामस भावभी हो सकते हैं। इस शंकाकी निवृत्ति करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥
गी० ७।१२

"सात्त्विक, राजस और तामस भाव परमात्मा सेहि उत्पन्न होते हैं।" क्यों कि जब अखंड एकरस वही परमात्मा एकही एक है, तब किस दूसरेसे तामस भावकी उत्पत्ति हो सकती है? इसी उद्देश्यसे वेदने भी कहा है—

प्रियाऽप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्रयः।
आनंदानुग्रो नंदांश्च कस्माद्वहति पूरुषः ॥९॥
आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥१०॥
को अस्मिन्यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतो अमृतम् ॥१४॥
बलं को अस्मै प्रायच्छत्को अस्याकल्पयज्जवम् १५
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत्को वाणं को नृतौ दधौ॥१७॥
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गोऽज्योतिषावृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
अथर्ववेद १०।२

"प्रिय और अप्रिय, निद्रा, बाधाएं और थकावटें, आनन्द और हर्ष ये सब मनुष्यको कैसे प्राप्त होते हैं? पीडा, दरिद्रता, बीमारी, कुमति, मनुष्यमें कैसी होती है? पूर्णता, समृद्धि, अहीनता, बुद्धि और उदयकी प्रवृत्ति कहांसे होती है? मनुष्यमें यज्ञ, सत्य, असत्य, मृत्यु और अमरपन कैसे होता है? बल और वेग मनुष्यमें कैसे उत्पन्न होते हैं? मेधाबुद्धि, वाणी और नृत्य कैसा होता है? इन सब प्रश्नोंका उत्तर यही है कि- आठ चक्र और नौ द्वारोंवाली इस शरीररूपी अयोध्या नामक देवनगरीमें एक मध्यमें तेजस्वी कोश है जो तेजोमय स्वर्गधाम है। इस कोशमें आत्मवान् यक्ष रहता है इसको ब्रह्मज्ञानीहि जानते हैं।" इसीसे सत्य और अनृत सब कुछ होता है।

सब कुछ इसी ब्रह्मसे अथवा आत्मासे होता है। यही भाव भगवद्गीतामें 'अहं' शब्दप्रयोगसे बताया है—

भगवद्गीता	अथर्ववेद
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि (गी० ७।१०)	मेधां अस्मिन्नध्यौहत् (अ० १०।२।१७)
बलं बलवतामस्मि (गी० ७।११)	बलं अस्मै प्रायच्छत् (अ० १०।२।१५)
सात्त्विका राजसास्ताम-साश्च भावा मत्त एव (गी० ७।१२)	आनन्द, उग्र, तन्द्रयः (अ० १०।२।९)

इस तरह वेदका कथन भगवद्गीतामें कैसा प्रतिबिंबित हुआ है यह देखने योग्य है। आनन्द दुःख, उन्नति अवनति, प्रिय अप्रिय, अमृत और मृत्यु, सत्य अनृत, समृद्धि और दरिद्रता, मति और अमति ये सब भाव उसी एक ब्रह्मसे होते हैं, जो मनुष्यके हृदयमें रहता है। ये भाव निःसंदेह परस्परविरुद्ध हैं तथापि इनके कारण अनेक नहीं हैं, सबका एकही कारण है। जैसा जाग्रति और निद्रा आत्मासेहि होते हैं वैसेहि ये सब भाव इसी आत्मासे होते हैं। इसी लिये वेद-शास्त्रानुकूल भगवद्गीताने कहा है कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव इसी आत्मासे होते हैं। परंतु ये उत्पन्न होनेके पश्चात् जो मनुष्य इनमें फंसता है उसको ये बाधाएं अवश्य पहुंचाते हैं।

जैसे एक शरीरमें एकही वीर्यबिन्दुसे शरीरके सप्त धातु उत्पन्न होते हैं और शरीरके विविध अवयव उत्पन्न होते हैं, यद्यपि सबकी उत्पत्ति एकही कारणसे है तथापि विभिन्न पदार्थ उत्पन्न होनेके पश्चात् उनके विविध धर्म उत्पन्न होकर उनके आधीनही मनुष्यको रहना पडता है। इस लिये कहा है कि—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
गी० ७।१३

"सत्व रज और तम इन गुणोंसे मोहित हुआ यह जगत् परमात्माके भावको नहीं पहचान सकता।" क्योंकि जगत्की प्रवृत्ति बाह्यकी ओर होती है। मनुष्यके शरीरमें बाल और नाखून अचेतनसे हैं और इतर शरीर सचेतनसा है, परंतु इन दोनों अचेतन और चेतनका मूल कारण एकही है। प्रायः मनुष्य अचेतन और चेतन भावोंको देखता है, परन्तु मूल कारणको नहीं देख सकता। यह अज्ञानजन्य मानवकी प्रवृत्तिहि हो गयी है।

स्थूलदृष्टि मनुष्य स्थूलको ही देख सकते हैं, वे सूक्ष्मकी ओर देख नहीं सकते। यदि ऐसा है तो फिर परमात्माकी उपासना कौन करते हैं? ऐसी शंका होती है, उसकी निवृत्ति करनेके लिये उपासकोंके चार विभाग बताये हैं—

चतुर्विध भक्त।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
(गी० ७।१७)

"दुःखोंसे पीडित, भोगोंको प्राप्त करनेके लिये आतुर, तत्त्वजिज्ञासु और ज्ञानी ये चार प्रकारके लोग अपने विभिन्न उद्देश्योंसे ईश्वरकी उपासना करते हैं।" जब बहुत दुःख सताने लगते हैं तब दुःखी मनुष्य ईश्वर उपासना करता है, प्रायः इस वर्गमें आनेवाले बहुत हैं। जब तक शरीर सुदृढ और नीरोग है, धन विपुल है, घरमें सुख यथेच्छ है, तब तक परमेश्वरका विचारतक नहीं करेंगे, परंतु जब एकके पीछे एक आपत्ति आजायगी और भौतिक साधनोंकी समाप्ति हो जायगी, तब वे आर्त होकर परमेश्वरोपासना करेंगे। दूसरे लोग भोगार्थी हैं, उनको भोग चाहिये, इस लिये ये उपासना करते हैं। तीसरे जिज्ञासू हैं, ये लोग तत्त्वजिज्ञासाभावसे ईश्वरकी ओर झुकते हैं। चौथे ज्ञानी लोग, ये बहुतही थोडे होते हैं, इनको सत्य तत्त्वज्ञान होनेसे ये ही निष्ठासे अनन्य होकर ईश्वरभक्ति करते हैं।

इन ज्ञानियोंको अन्तमें (वासुदेवः सर्वं। गी० ७।१९) परमेश्वरहि सब कुछ है ऐसा अनुभव दिव्यचक्षुद्वारा आता है, जिसका वर्णन इसके पूर्व किया गया है। उस प्रकार इनको सर्वत्र एकही सत्यतत्त्व है, (नेह नानास्ति किंचन बृ० उ०) यहां अनेक विविध तत्त्व नहीं हैं, यह बात स्पष्ट होती है। जब ऐसा ज्ञान होता है उसी समय वे 'अनन्य' (न+अन्यः=अनन्यः) होते हैं और परमेश्वरकी भक्ति करते हैं।

जो विभक्त नहीं होते वेही भक्त हुआ करते हैं। जो परमेश्वरके रूपमें अभिन्नतासे संमिलित हो गये वेहि अनन्य होकर भक्ति कर सकते हैं। जो अन्य न रहे वे अनन्य भक्त हो सकते हैं। अतः 'वासुदेव ही सब कुछ है' यह ज्ञान अन्तिम है, वह जिसको हो गया उसे और अधिक ज्ञातव्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। इसलिये भगवद्गीतामें इसको (सुदुर्लभः महात्मा) अत्यंत दुर्लभ महान् आत्मा करके कहा है। यह अवस्था प्राप्त होनेतक आत्मा अल्प रहता है, इसलिये मैं अलग और दूसरे अलग हैं ऐसा भान होता है। परंतु एकवार इसका आत्मा महान् विशाल हो गया, फिर उसको कोई दूसरा रहताही नहीं, वह 'अनन्य' हो जाता है। फिर उसको शोक और मोह क्योंकर हो सकते हैं?

तनूभक्ति।

जो इस प्रकार अनन्य ज्ञानी नहीं हुए वे 'अन्य' होकर रहते हैं, अर्थात् वे समझते हैं कि 'उपास्य देव भिन्न है और उससे मैं भिन्न हूं।' इस प्रकारके जो अज्ञानी होते हैं वे अन्यान्य देवताओंकी उपासना करते हैं, (प्रपद्यन्ते अन्य-देवताः) वे अन्यान्य देवताओंकी शरण जाते हैं।

इसको 'तनूभक्ति' कहा जाता है। अर्थात्

यह क्षरकी भक्ति है क्यों कि जितने दृश्य शरीर हैं वे सब 'तनू' हैं और तनूभक्ति यह बिलकुल स्थूलकी भक्ति है। इसके ऊपर चेतनकी भक्ति है और इसके भी ऊपर पुरुषोत्तमकी 'पुरुषोत्तम ही सब कुछ है' ऐसा जानकर अनन्य भावसे भक्ति करना है।

तनूभक्तिमें मूर्तिपूजा और प्रतिमापूजा संमिलित है। इसके अतिरिक्त प्रेतपूजा, पितृपूजा, विभूतिपूजा, वीरपूजा आदि पूजाएं इसी तनूभक्तिमें आती हैं। 'वासुदेवः सर्वं' हो गया तो सभी मूर्तियां परमेश्वरकी मूर्तियां होती हैं, अतः इस सर्वांगयोगकी दृष्टिसे मूर्तिपूजामें कोई दोष नहीं है। क्यों कि वेदभी कहता है कि—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋग्वेद)

'इन्द्र अपनी शक्तियोंसे अनेक रूप धारण करता है' इसलिये ये सब रूप परमेश्वरके-इंद्रके हि हैं, दूसरे किसीके नहीं हैं। अतः रूपके आश्रयसे की हुई उपासना सदोष नहीं है। परंतु परमेश्वरके स्थानपर किसी प्रतिमाकी उपासना करना यह वेदने सदोष बताया है।—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
यजु० ३२।२

'उस ईश्वरकी कोई प्रतिमा नहीं हो सकती। जिसका यह महा यश है।' पाठक इस तरह मूर्तिपूजा और प्रतिमापूजामें जो भेद है उसका विचार करें। जो मूर्तियां विश्वमें हैं वे सभी परमेश्वरकी हैं, परंतु उसकी एक भी प्रतिमा नहीं है। इसके नंतर प्रेतपूजा तो कबरपरस्ती है, वह तो प्रेतोंको भूमिमें गाडकर उस स्थानकी पूजा होती है। वह केवल अज्ञानही है। क्योंकि वह बिलकुल क्षरकीहि परिचर्या है। उससे कुछ ऊंचाईपर पितृपूजकोंका स्थान है,वे उन पितरोंके क्षर भावकी पूजा तो नहीं करते परंतु उनके अक्षर भावका सत्कार करते हैं। प्रेतपूजकोंको अक्षरकी कल्पना तक नहीं हुई। स्थूल शरीरके अन्दर कुछ चेतन अक्षर भाव है इसकी कल्पना हो जायगी, तो कोई कबरपरस्ती करेगाही नहीं। प्रेतपूजकोंका तत्त्वज्ञान स्थूल शरीरतक ही है और ये प्रेतपूजक समझते हैं कि यह एकही शरीर है जो पहिला और अन्तिम है। इसलिये ये समझते हैं कि ईश्वर जब न्याय करेगा,उस दिन ये सब प्रेत कबरोंमेंसे उठ कर खडे हो जायगे और उस समय उनके पापपुण्योंका निर्णय होगा। यह तत्त्वज्ञान अब कोई मान नहीं सकता और जिनके पास यह तत्त्वज्ञान आ गया था उनमेंसे भी कईयोंने इसका त्याग अब किया है।

पितृपूजकोंका तत्त्वज्ञान इससे थोडा ऊंचा है। वे मानते हैं कि स्थूल देहके पीछे कुछ सूक्ष्म चेतन अविनाशी तत्त्व है, जो इस स्थूल शरीरके नाशके पश्चात् रहता है, दूसरा देह धारण करता है और अपने कर्मोंके अनुसार उन्नत या अवनत होता है। इनकी खोज अधिक है। तथापि यह उपासना भी अज्ञानकीहि द्योतक है। इनके ऊपर विभूतिपूजा और वीरपूजाका स्थान है। और सबसे ऊपर 'पुरुषोत्तम' के पूजकोंका तेजस्वी स्थान है।

सभी मूर्तियां पुरुषोत्तमकी हैं इसलिये हरएक उपासकको कुछ न कुछ फल प्राप्त होता ही है। जैसा जो सिपाही की मित्रता करेगा उसको सिपाही थोडासा लाभ पहुंचायेगा, जो दीवाणजीका मित्र बनेगा उसको उससे अधिक लाभ होगा, परंतु जो राजाका सखा बनकर रहेगा उसको सब प्रकारका सुख प्राप्त होगा। जैसी सब शक्ति यहां राजासे आती है, वैसीहि सब देवताओंके अन्दर अंशरूप शक्ति परमेश्वरसेहि आती है। इसलिये अन्य देवताओंके उपासकोंको अल्प लाभ (अन्तवत्फलं) होता है और पुरुषोत्तमके भक्तोंको अनन्त लाभ होता है।

इस पुरुषोत्तमका स्वरूप क्या है और उसकी सर्वांगोपासना कैसी करनी चाहिये, इस संबंधका

पूर्ण विचार ११ वें अध्यायके प्रसंगमें होगा। तथापि संक्षेपसे यहां इतना कहना पर्याप्त होगा कि जो यहां प्राणिमात्र हैं तथा स्थिरचर पदार्थमात्र हैं उन सबको नारायण पुरुषोत्तम का रूप मानकर, अपने आपको भी उसीमें संमिलित करनेके पश्चात् ' मैं उससे भिन्न नहीं ' ऐसा जब अनन्य भाव होगा, इस समय जो उसका आचरण बनेगा वह यथायोग्यही बनेगा। यह मानवी उन्नतिकी पूर्णावस्था है। यही नरका नारायण और पुरुषका पुरुषोत्तम हो गया है। इस विषयका विशेष विवरण आगे आनेवाला है, जो ग्यारहवें अध्यायमें प्रत्यक्ष विश्वरूप बतलाकर स्पष्ट किया जायगा।

जबतक ' वासुदेवही यह सब कुछ है ' ऐसा निश्चय नहीं होता है, तबतक मनुष्य क्षुद्र देवताओंकी उपासनामें फंसा रहता है।

द्वन्द्वमोह।

जबतक ' वासुदेवही यह सब कुछ है ' इसका ठीक ठीक ज्ञान नहीं हुआ, अर्थात् जबतक 'वासुदेव यह एकही सद्वस्तु यहां है, इसके अतिरिक्त दूसरी वस्तुही नहीं है, ' ऐसा निश्चय नहीं होता तबतक मनुष्य द्वैतभाव अर्थात् द्वन्द्वभावमें फंसा रहता है। मैं, मेरा, तू और तेरा तथा वह और इसका यह सब द्वन्द्वकाही व्यवहार है। इसी प्रकार संपूर्ण जगत्का व्यवहार चल रहा है और अनेक झगडे इसी कारण चल रहे हैं। झगडे क्यों उत्पन्न हो रहे हैं? इस जगत् में ' मैं और मुझसे भिन्न दूसरा ' ऐसे दो पदार्थ हैं, इसलिये मैं दूसरोंको लूटकर अपना सुख बढाना चाहता हूं। जब तक द्वैत रहेगा तबतक यह लूटमार रहेगी हि। यही द्वन्द्वमोह है। सभी लोग इस द्वन्द्वमोहमें फंसे हैं।

जो राष्ट्रोंराष्ट्रोंके युद्ध चल रहे हैं, राष्ट्रोंके अन्तर्गत पक्षविपक्ष खडे हो रहे हैं, एक दूसरेका नाश करना चाहते हैं, दूसरोंका नाश करके अपनी उन्नति होगी ऐसा विचार करते हैं, कहां धनके लिये युद्ध चल रहे हैं, कहां भूमिके लिये लडाइयां हो रहीं हैं, तो कहां व्यापारव्यवहार अपने आधीन करनेके लिये झगडे हो रहे हैं, यह सब इस द्वन्द्वमोहके कारण ही है।

अदालतोंमें जाकर प्रतिपक्षीको डुबानेके लिये बडे वकीलोंको धन दिया जाता है और अपने भाईका नाश हुआ तो मैं जीत लिया ऐसा आनंद होता है। व्यापारमें दूसरोंका नुकसान करके अपना लाभ साधनेका यत्न किया जाता है। जिसके पास ज्ञान है वह ज्ञानके बलसे, जिसके पास अधिकार है वह अधिकारके बलसे, जिसके पास धन है वह धनके बलसे और जिसके पास हुनर है वह हुनरके बलसे दूसरोंका नाश करके अपनी उन्नति करना चाहता है। यह बातें हरएक राष्ट्रमें इस समय चल रही हैं। यह क्यों हो रहा है? सब मनुष्य (इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन संमोहं यान्ति) इच्छाद्वेषसे उत्पन्न हुए द्वन्द्वमोहसे संमोहको प्राप्त हुए हैं। प्रायः सभी लोक इस मोहमें फंसे हैं। जबतक ये ऐसे द्वन्द्वमोहमें फंसे रहेंगे तबतक ये झगडे मिटनेकी और मानवजातिको शान्ति प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं है। दिन प्रति दिन झगडे बढते जाते हैं, अशान्ति फैल रही है, एकसे एक मारक और संहारक शस्त्रास्त्र तैयार किये जा रहे हैं। यह क्यों हो रहा है? यह इसलिये हो रहा है कि मनुष्य द्वन्द्वमोहमें फंसा है।

यह द्वन्द्वमोह पापका मूल कारण है। इस जगत् में जितने भी पाप हुए हैं वे सबके सब इस द्वन्द्वमोहके कारण ही हैं। इसीलिये कहा है कि—

पुण्यकर्मणां जनानां पापं अन्तगतं।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः भजन्ते। (गी० ७।२८)

" जो द्वन्द्वमोहसे मुक्त हुए हैं, उन पुण्यकर्मी मनुष्योंका पाप नष्ट हो जाता है और वे हि परमेश्वरकी भक्ति करते हैं। " यहां स्पष्ट कहा है कि

अथ अष्टमोऽध्यायः।

अक्षर–ब्रह्म–योग।

(१) छः प्रश्न।

अर्जुन उवाच— किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच— हे पुरुषोत्तम! तत् ब्रह्म किं? अध्यात्मं किं? कर्म किं? अधिभूतं किं प्रोक्तं? अधिदैवं च किं उच्यते? ॥ १ ॥ हे मधुसूदन! अत्र अस्मिन् देहे अधियज्ञः कः कथं (च अस्ति)? प्रयाण-काले च नियतात्मभिः त्वं कथं ज्ञेयः असि? ॥ २ ॥

अर्जुन पूछने लगा— हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म कौनसा है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसे कहते हैं? और अधिदैव किसको कहते हैं? ॥ १ ॥ हे मधुसूदन! यहां इस देहमें अधियज्ञ क्या और किस तरह है? और अन्तसमयमें संयमी योगी तुझे (ईश्वरको) कैसे पहचान सकते हैं? ॥ २ ॥

भावार्थ—ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ, और कर्म इन शब्दोंका प्रयोग वारंवार किया जाता है, अतः इन शब्दोंका अर्थ-इन शब्दोंका क्या तात्पर्य है यह अच्छी प्रकार समझना उचित है ॥ १—२ ॥

(१—२) सप्तम अध्यायके अन्तमें "ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और प्रयाणकालमें परमेश्वरका स्मरण करना चाहिये" ऐसा कहा है। इन शब्दोंके अर्थ अभीतक किसी स्थानपर नहीं कहे हैं, अतः अर्जुनके मनमें शंका उठी कि यह क्या है, ब्रह्म किसका नाम है, अध्यात्म क्या है, संपूर्ण कर्मका क्या तात्पर्य है, तथा अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ से किस चीजका बोध लेना उचित है? अन्तसमय और प्रयाण समयका अर्थ क्या है और उस समय परमेश्वरका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है और उसका लाभ क्या है? इत्यादि प्रश्न अर्जुनने किये और उत्तर सुननेकी प्रतीक्षा करता रहा। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण दयाभावसे उनकी शंकाओंका उत्तर देते हैं।

अर्जुनके प्रश्नोंका महत्त्व इतना है कि भगवान् श्रीकृष्णजीने उनकी दो चार शंकाओंका उत्तर देनेके लिये जो प्रयत्न किया, तो उनको एक संपूर्ण अध्यायभर अपने व्याख्यानका विस्तार करना पडा। इन शंकाओंका तत्त्वज्ञान की दृष्टिसे बडा महत्त्व है, अतः पाठक भी इस अध्यायका अच्छी तरह मनन करें और समझनेका यत्न करें। अब भगवानका उत्तर सुनिये—

(२) एकके छः भाव ।

श्रीभगवानुवाच— अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अन्वयः— अक्षरं परमं ब्रह्म, स्वभावः अध्यात्मं उच्यते, भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥ हे देहभृतां वर ! क्षरः भावः अधिभूतं, पुरुषः अधिदैवतं, अत्र देहे च अहं एव अधियज्ञः ॥ ४ ॥

भगवान्‌ने उत्तर दिया— अविनाशी श्रेष्ठ तत्त्व ब्रह्म है, (उसके) स्वकीय निज भावका नाम अध्यात्म है, प्राणियोंके भावकी उद्भूति करनेवाले व्यापारका नाम कर्म है ॥ ३ ॥ हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ ! नाशवान् भावको अधिभूत कहते हैं, पुरुषको अधिदैवत कहते हैं और इस देहमें मैं (ईश्वर) हि अधियज्ञ हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— (१) जिसका कभी नाश नहीं होता है उस श्रेष्ठ तत्त्वका नाम ब्रह्म है, (२) प्रत्येक वस्तुमात्रमें जो अपना अपना अलग अलग निजभाव है उसको **अध्यात्म** कहते हैं, (३) प्राणियोंके अपने अपने भावकी उद्भूति और उन्नति करनेवाले व्यवहारका नाम **कर्म** है, (४) जो नाशवान् वस्तुभाव है उसको **अधिभूत** कहते हैं, (५) जो जडमें चेतनभाव है उस चेतन पुरुषको **अधिदैवत** कहते हैं, और (६) प्रत्येक देहमें जो ' मैं मैं ' कहनेवाला ईश्वर भाव है उसको **अधियज्ञ** कहते हैं ॥ ३—४ ॥

ब्रह्म क्या है ?

(३-४) पहिला प्रश्न (किं तत् ब्रह्म) ' वह ब्रह्म क्या है ' यह है। इसके उत्तरमें (अक्षरं ब्रह्म परमं) "अविनाशी परम श्रेष्ठ तत्त्व जो है वह ब्रह्म है " ऐसा कहा है। जितने तत्त्व यहां हैं उन सबमें श्रेष्ठसे श्रेष्ठ तत्त्व ब्रह्म है और वह ' अ-क्षर ' अर्थात् अ-विनाशी है, अर्थात् (क्षर-भिन्नं) वह क्षरसे भिन्न है, क्यों कि आगे कहा जायगा कि (क्षरं अतीतः । गी. १५।१८) क्षरसे परे वह तत्त्व है, क्षरसे परे और क्षरसे भिन्न जो है वह अक्षर है।

इस ब्रह्मको केवल अविनाशीहि नहीं कहते, परंतु जब इसके ' विश्वरूपका दर्शन होगा तब समदर्शीके (अक्ष—रम्) आंख उसमें रममाण होंगे ।' जो विश्वरूपमें परमेश्वरका साक्षात्कार करेगा उसके आंख उसके विश्वरूपमें रममाण होंगे । आंखों—अक्षों—के लिये रमणीयता उसमें है, इसलिये भी उसको ' अक्ष—र ' कहते हैं । अर्थात् यह ब्रह्म (अ—क्षर) अविनाशी है और (अक्ष—र) आंखोंको रममाण करनेवाला है । मूर्त ब्रह्ममें आंख रममाण होते हैं और अमूर्त ब्रह्म अविनाशी है—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च। बृ. उ. २।३।१

" ब्रह्मके दो रूप हैं, एक मूर्त अर्थात् मूर्तिमान् ब्रह्म है और दूसरा अमूर्त अर्थात् निराकार ब्रह्म है।" मूर्तिमान् ब्रह्ममें आंख रमते हैं और अमूर्त ब्रह्म अविनाशी है । क्योंकि आकार हि नाशको प्राप्त हो सकता है । इस तरह ' अक्षर ' शब्दके दोनों अर्थ ब्रह्मके दोनों स्वरूपोंमें सार्थक हो गये

हैं, यह बात पाठक यहां देखें और अच्छी तरह ध्यानमें रखें, इसका आगे विशेष संबंध है।

अध्यात्मका अर्थ क्या है?

दूसरा प्रश्न (किं अध्यात्मं) 'अध्यात्म क्या चीज है' यह है। इसके उत्तरमें (स्वभावः अध्यात्मं उच्यते) 'स्वभावको अध्यात्म कहते हैं' ऐसा कहा गया है। 'स्वभाव' का अर्थ है 'स्वकीय भाव, अपनी सत्ता, अपना अस्तित्व।' जो अपना भाव है वही स्वभाव है। परंतु यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह किसका (स्वभाव) निज भाव है? उत्तरमें निवेदन है कि यह 'ब्रह्मका ही स्वभाव' है। क्योंकि—

अक्षरं परमं (तत्त्वं) ब्रह्म (इति उच्यते) (तस्य ब्रह्मणः) स्वभावः अध्यात्मं (इति) उच्यते।

'अविनाशी परम तत्त्वको ब्रह्म कहते हैं और उस अविनाशी परम ब्रह्मतत्त्वका जो स्वभाव अर्थात् निज भाव है उसकोही अध्यात्म कहते हैं।' इस तरह यहां इन वाक्योंकी संगति है। अर्थात् परब्रह्मका निज भाव अध्यात्म कहलाता है। यह निज भाव कहां दीखता है? यह निज भाव प्रत्येक भूतमें, प्रत्येक वस्तुमें, प्रत्येक देहमें दीखता है। अध्यात्मका अर्थ 'प्रत्येक आत्माके आश्रयसे रहनेवाला सत्त्व' ऐसा है। हरएक जीवात्माके देहमें जो सहज निज स्वभाव है, जो प्रत्येक जीवमें प्रकट होता है, वह उस ब्रह्मकाही स्वभाव है। जो ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियोंके द्वारा तथा मन बुद्धि अहंकार द्वारा प्रकट हो रहा है, वह उसकाही स्वभाव, निज भाव, निज धर्म है। क्यों कि वह स्वभाव सर्वत्र समानतया प्रकट हो रहा है। वस्तु है, वस्तु दीखती है और उसमें प्रियत्व है, यह सर्वत्र अनुभवमें आता है। कोईभी ऐसा स्थान नहीं है कि जहां यह निज भाव नहीं है। यह निज-भाव क्या प्रत्येक वस्तुका है? नहीं, यदि प्रत्येक वस्तु अलग होगी तो उनके अलग होनेके कारण स्व-भावभी अलगही होना चाहिये, परंतु सर्वत्र अस्ति-भाति - प्रियत्व रूप स्वकीय भाव सर्वत्र एकसाही है। इसलिये यह अलग अलग वस्तुमात्रका धर्म नहीं है, वह अखंड एकरस रहनेवाले अक्षर पर-ब्रह्मका ही यह स्वभाव है, क्यों कि यही एक वस्तु समानतया सर्वत्र है। इस स्वभावका नाम अध्यात्म है। क्यों कि यह स्वभाव प्रत्येक आत्मा में व्यक्त हो रहा है। प्रत्येक आत्मामें व्यक्त होनेके कारण इसको अध्यात्म (अधि-आत्मा) कहते हैं।

यहांतक दो बातोंका वर्णन हुआ- (१) एक अक्षर परब्रह्म है और (२) दूसरा प्रत्येक आत्मामें व्यक्त होनेवाला उसका ही स्वभाव है। अब तीसरा प्रश्न देखिये—

कर्म क्या है ?

तीसरा प्रश्न (किं कर्म) 'कर्म क्या है ?' यह है। जो अनादि कर्मप्रवाह चल रहा है, जिस कर्मप्रवाहमें सभी जीव पडे हैं, उस कर्मका क्या स्वरूप है ? यह प्रश्न है। इसके उत्तरमें बताया है कि (भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः) भूतमात्रके भावका उद्भव करनेवाला जो विसर्ग है, उसका नाम कर्म है। भूतका अर्थ प्राणिमात्र है, इन भूतमात्रोंका जो भाव अर्थात् अस्तित्व है, उसका नाम 'भूतभाव' है। प्राणियोंका होना, प्राणियोंका रहना और प्राणियोंका अस्तित्व इस भूतभावसे प्रकट हो रहा है। 'भूतभाव' का अर्थ 'प्राणियोंका जीवन' समझ सकते हैं। सब प्राणी जीवित रहते हैं, यही भूतभाव अथवा भूतोंका भाव है। इस भूतभावका उद्भव करनेवाला कर्म है। 'उद्भव' का अर्थ (उत्—भव) उच्च होना, उच्चतर बनना, उच्चतम अवस्था प्राप्त करना है। 'उत्' का अर्थ उच्च और 'भव' का अर्थ होना। उद्भवका अर्थ उच्च होना है। अतः 'भूत-भाव-उत्-भव-कर' का अर्थ 'प्राणिमात्रके जीवनको उच्चतम बनानेका यत्न' है। जिससे प्राणिमात्रके जीवन अधिक उच्च, अधिक

विकसित, अधिक उन्नत, अधिक उत्क्रान्त होंगे, वह कर्म है। यह उत्क्रान्तिका यत्न 'विसर्ग' रूप होना चाहिये। विसर्ग का अर्थ-"(१) आगे भेजना, (२) यत्न करना, (३) त्यागना, दान देना, देना, अर्पण करना, (४) बनाना, तैयार करना, (५) मुक्त होना, (६) प्रकाश करना, विसर्गके ये अर्थ हैं। पूर्वोक्त अर्थके साथ विसर्ग के ये अर्थ देखनेसे कर्मका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। देखिये—

(१) प्राणिमात्रके जीवनको अधिक उच्च बनानेके लिये आगे प्रेरित करना, (२) प्राणिमात्र के जीवनकी उन्नति करनेके लिये यत्न करना, (३) प्राणिमात्रके जीवनका विकास करनेके लिये दान देना, अर्पण करना, आत्मयज्ञ करना, (४) प्राणिमात्रके जीवनको उच्च बनानेके लिये तैयारी करना, सामग्री इकट्ठी करनेकी योजना निश्चित करना, (५) प्राणिमात्रके जीवनको उच्च बनानेके लिये मुक्तिकी सिद्धि प्राप्त करना, बंधनकी निवृत्ति करना, पारतंत्र्य के दूर करनेका यत्न करना, पराधीनताका नाश करना, (६) प्राणिमात्रके जीवनका विकास करनेके लिये प्रकाशका मार्ग दर्शाना। इत्यादि अनेक अर्थ 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः' इस वाक्यके हैं। इसके अर्थ समझानेके लिये हरएक शब्दके अर्थ ऊपरके स्थानपर दर्शाये हैं। पाठक इन शब्दोंका अधिक मनन करेंगे तो उनको इसका संपूर्ण अर्थ ज्ञात हो सकता है। पाठक इसका अर्थ मनन-पूर्वक जानें और कर्मप्रवाहका कार्यविस्तार समझनेका यत्न करें। भूतभावका उद्भव करनेवाला जो कुछ किया जाता है उसका नाम कर्म है।

(१) एक अविनाशी परब्रह्म है, (२) उसका स्वभाव प्रत्येक आत्मामें प्रकट होता है, (३) उस आत्माके प्रकाशके लिये होनेवाले यत्नका नाम कर्म है। इस तरह इन तीनों उत्तरोंकी संगति है। अविनाशी अनादि अनंत अखंड ब्रह्म है, उसका स्वयंभू स्वभाव है। वह जीवात्माके भावमें प्रकट होता है, वह प्रकट होना भी अनादी हि है, क्योंकि यही उसका निज स्वभाव है, जैसा ब्रह्म अनादि है वैसाही यह स्वभावभी अनादि है। जब आत्मभावमें वह प्रकट हुआ, तब वहां आत्मभावमें अल्पत्व आ गया, इस अल्पत्वका विकास होनाही चाहिये। इस विकास के लिये जो प्रयत्न है, वह प्रयत्नभी अनादिही है, क्योंकि जीवात्मभावमें प्रकट होना भी अनादि है और विकासका प्रयत्न करना भी अनादिहि है। 'भूतभाव' में आना और 'भूतभाव का उद्भव' करना तथा 'भूतभावके उद्भवके लिये (विसर्ग) दान करना' यह सब अनादि प्रयत्न है, अतः इस कर्मप्रवाहको अनादि कहते हैं।

पाठक यहां इनका परस्परसंबंध देखें, अनादि कर्मप्रवाहका प्रश्न यहां खोलकर बताया है। यह बडा महत्त्वका प्रश्न है। इससे पूर्व—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
भ० गी० ४।२४

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।
भ० गी० ९।१६

इन दोनों श्लोकोंमें विभिन्न शब्दोंसे वही बात कही है। एकमें कहा है कि 'ब्रह्म हि हवि, अग्नि, हवन, अर्पणक्रिया आदि है। और दूसरे में कहा है कि 'मैं क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधि, मंत्र, घृत, अग्नि और हवन हूं।' इस तरह दर्शाया है कि 'ब्रह्म और अहं, एकही भाव दर्शानेवाले दो शब्द हैं, जो 'ब्रह्म' है वही 'अहं' है। यहां भी वही कहा है- (१) एक ब्रह्म है, (२) उसका स्वभाव आत्मभावमें प्रकट होना है और (३) आत्मभावका अथवा भूतभावका उद्भव करनेवाला जो प्रयत्न है वही कर्म है। जो एक ब्रह्म है, उसका स्वभाव उससे भिन्न रह नहीं सकता

और उद्भव करनेका भी उसीका धर्म है, अर्थात् ये तीनों एकहीके तीन पहलूओंके तीन वर्णन हैं। इस तरह परब्रह्म, उसका स्वभाव और उसका कर्म कैसा है, वह यहां बताया है। पहले बताये श्लोकोंमें 'ब्रह्म' का और 'अहं' का कर्मस्वरूप बताया है, वही यहां भिन्न शब्दोंसे बताया है। ब्रह्मका स्वभाव अध्यात्म है और उसीका स्वयं प्रकाश यह कर्म प्रवाह है। पाठक इन सब कथनोंकी संगति विशेष मननपूर्वक देखें और इसका अनुभव करें।

अधिभूत क्या है ?

चतुर्थ प्रश्न (अधिभूतं किं प्रोक्तं) 'अधिभूत किसे कहते हैं ?' यह है। इसका उत्तर भगवान् श्रीकृष्णने इस तरह दिया है- (अधिभूतं क्षरः भावः) 'जो नाशवान् भाव है उसको अधिभूत कहते हैं।' इस जगत्में जो वस्तुमात्र है, वह इस क्षर भावमें आता है। सप्तम अध्यायमें जो अपरा प्रकृति कही है, वही यह क्षर भाव है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ गी. ७।४

'पंच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकारकी प्रकृति है' यही क्षर है और यही अधिभूत है। इस जगत्में जो वस्तुमात्र है वह अष्टधा प्रकृतिका रूप है और वही क्षरभाव है और वही अधिभूत है।

भूतका अर्थ वस्तु है। जितना वस्तुमात्र है वह सब भूतमात्र है। यह अष्टधा प्रकृतिका रूप है और यही 'मूर्त ब्रह्म' है, अथवा यह ब्रह्मका देहही है। पहिले जिस ब्रह्मका वर्णन किया, कि एक ब्रह्म है, उसका स्वभाव अध्यात्म है और उसका प्रयत्नही कर्म है। उसीका क्षर भाव, क्षर देह अथवा अष्टधा प्राकृत भाव अधिभूत है। जो संपूर्ण वस्तुसमूह है वही अधिभूत है और वही परब्रह्मका विश्वरूप है। यहां पाठकोंके ध्यानमें आयाही होगा कि यहां जो क्षर भाव कहा है, वही 'क्षर पुरुष' (गी० अ० १५।१६-१८ में) कहा है। क्षर पुरुष, क्षर भाव, क्षर सत्ता और अधिभूत एकही है। यहां पाठक देखें कि यहां जो वर्णन हो रहा है वह अनेक तत्त्वोंका नहीं है, परंतु एकही तत्त्वके अनेक पहलुओंका है। यही बात सप्तम अध्यायमें कही गयी है और वही फिर अन्य प्रकारसे यहां कही जा रही है।

अधिदैवत क्या है?

पांचवां प्रश्न (अधिदैवं किं उच्यते) 'अधिदैवत किसे कहते हैं?' यह है। इसकेउत्तरमें कहा है कि (पुरुषः अधिदैवतं) 'पुरुष अधिदैवत है।' पूर्व अध्यायमें 'अष्टधा प्रकृतिका नाम क्षर कहा है और जो परा जीवरूप प्रकृति कही है, वही यहां पुरुष शब्दसे कही है।'

(सप्तम अध्याय)	(अष्टम अध्याय)
अष्टधा प्रकृति	क्षर, अधिभूत
अपरा प्रकृति	क्षर भाव
परा प्रकृति	अक्षर, पुरुष, अधिदैवत
जीवभूत	अध्यात्म, स्वभावः
अहं	अक्षरं ब्रह्म
(अध्याय ७।४-६)	(अध्याय ८।३-४)

इस तरह पाठक दोनों अध्यायोंकी तुलना करके देखें और अर्थ जाननेका यत्न करें। अस्तु। जो जीव-आत्मतत्त्व सर्वत्र है, उसीको पुरुष और अध्यात्म यहां कहा है। अब एक प्रश्न है, उसका उत्तर देखिये—

अधियज्ञ कौन है ?

छठां प्रश्न (अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहे?) 'इस देहमें कैसा कौन अधियज्ञ है ?' ऐसा अर्जुनने पूछा था। उसका उत्तर भगवान् श्रीकृष्णने इस तरह दिया है- (अत्र देहे अहं एव अधियज्ञः) 'इस देहमें मैं हि अधियज्ञ हूं।' इस देहमें जो यज्ञ हो रहा है, जो कर्म हो रहा है, उसका अधिष्ठाता 'अहं' (मैं) शब्दसे प्रकट होता है।

(३) अन्तकालका साधन।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

अन्वयः-यः च अन्तकाले मां एव स्मरन् कलेवरं मुक्त्वा प्रयाति, सः मद्भावं याति, अत्र संशयः न अस्ति ॥५॥

जो अन्तसमयमें मेरा (ईश्वरका) ही स्मरण करता हुआ देह छोडकर चला जाता है, वह मेरे (ईश्वरके) भावको प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं है ॥५॥

मनुष्यजीवन यह एक सौ वर्ष चलनेवाला सत्र, अथवा यज्ञ है, इसका वर्णन उपनिषदोंमें इस तरह हुआ है—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं...॥ १ ॥ अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनं सवनं··· ॥ ३ ॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तृतीयं सवनं...॥५॥
छांदोग्य उ. ३।१६

" मनुष्यका संपूर्ण जीवन-संपूर्ण आयुष्य-यह एक बडा भारी यज्ञ है। उसका प्रातःकाल चौवीस वर्षका है, मध्यदिन चवालीस वर्षका है और सायंकाल अठतालीस वर्षका है।" इन तीन कालोंमें यह जीवनरूप यज्ञ चल रहा है, सब मिलकर (२४+४४+४८) ११६ एकसौ सोलह वर्षोंका यह यज्ञसमय है । यह मानवी जीवन उत्तम यज्ञमय होना चाहिये। यज्ञीय पवित्र जीवन होना चाहिये । इस मानवजीवन-रूप यज्ञका अधिष्ठाता (अहं एव) मैं करके जो यहां है वही है । यह इस यज्ञका अधिष्ठाता होनेसे इसको अधियज्ञ कहते हैं । इसीको अन्य स्थानोंमें 'यज्ञपुरुष, यज्ञदेव, यज्ञात्मा, यज्ञेश्वर, यज्ञेश, यज्ञपति, यज्ञभुज्, यज्ञभोक्ता ' आदि नामोंसे वर्णन करते हैं । यह कौन है? यह यज्ञपुरुष वही है जो ' अक्षर परब्रह्म ' करके सबसे प्रथम कहा है, क्यों कि यही अध्यात्मा बनकर प्रत्येक प्राणिमात्रमें निवास करता है, यही अपनी शक्तिके प्रकटीकरणके लिये परम पुरुषार्थ-श्रेष्ठ कर्म-करता है, यही क्षर भावसे स्थूल रूपमें प्रकट होता है और यही सब चैतन्यरूप होनेसे प्राकृतिक विश्वमें पुरुष रूपसे व्याप रहा है,और यही मानवी जीवनरूप यज्ञका अधिष्ठाता है।

इस तरह इन छः प्रश्नोंके उत्तरोंसे एकही परब्रह्मके छः पहलुओंका वर्णन हुआ है, मानो उस परब्रह्मका अनुभव इन छः पहलुओंमें होता है। साधक इस अनुभवको लेता हुआ अपनी निजरूपकी शक्तिको जाने, अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करे। हरएकको यह आत्मज्ञान यथावत् होना चाहिये, क्यों कि इसी आत्मज्ञानपर सब प्रकारकी मानवी उन्नति अवलंबित है । इस आत्मज्ञानके विना मनुष्यकी सत्य उन्नति होना असंभव है । अपना यथायोग्य ज्ञान होनेसेहि मनुष्यको अपने कर्तव्यका निश्चय हो सकता है, अपनी शक्तिका पता लग सकता है, सहजवृत्तिसे प्रबल पुरुषार्थ हो सकता है और निर्दोष विश्व-सेवा करनेद्वारा मानवजातिकी सच्ची उन्नतिका यथायोग्य साधन हो सकता है। अस्तु, अब एकही प्रश्न रहा है, उसका उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण कैसा देते हैं, सो देखिये—

अंतसमयकी तैयारी।

(५-८) 'अन्तसमयमें परमेश्वरका स्मरण करनेवाला मनुष्य परमेश्वरके भावको प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं है' यह पांचवे मंत्रका कथन है । देह छोडनेके समय जिसे परमेश्वरका

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अन्वयः— हे कौन्तेय! यं यं वा अपि भावं स्मरन् अन्ते कलेवरं त्यजति, सदा तद्भावभावितः (सः) तं तं एव एति ॥६॥ तस्मात्, सर्वेषु कालेषु मयि अर्पित-मनो-बुद्धिः (भव), मां अनुस्मर, युद्ध्य च । (एवं) असंशयं मां एव एष्यसि ॥७॥ हे पार्थ ! अभ्यासयोगयुक्तेन न-अन्यगामिना चेतसा अनुचिन्तयन्, दिव्यं परमं पुरुषं याति ॥८॥

हे कुन्तीपुत्र ! जिस जिस भावका स्मरण करता हुआ अन्तमें देह छोडता है, सदा उस भावसे युक्त होनेके कारण वह उसीको प्राप्त होता है ॥६॥ इस लिये सब कालोंमें मुझमें (ईश्वरमें) मन और बुद्धि अर्पण कर, मेरा (ईश्वरका) स्मरण कर और युद्ध कर । ऐसा करनेसे तू निःसंदेह मुझे (ईश्वरको) हि पावेगा ॥७॥ हे पृथापुत्र! अभ्यास--योगके द्वारा स्थिर हुए चित्तसे (ईश्वरका) ध्यान करनेसे साधक दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥८॥

भावार्थ— मनुष्य ईश्वरका नित्य स्मरण करता रहेगा, तो उसे अन्त समयमें भी ईश्वरका स्मरण रहेगा । जिसको अन्तसमयमें ईश्वरका स्मरण रहेगा वह निःसन्देह ईश्वरभावको प्राप्त होगा । जो मनुष्य जिस भावनाका सदा स्मरण करता है, उसका मन सदा उस भावनामें संलग्न रहनेके कारण देह छोडनेके पश्चात् भी वह उसी भावनाको प्राप्त होता है, अर्थात् जो शुभभावना धारण करेगा उसकी शुभगति होगी और जो अशुभ भावना धारण करेगा, उसकी निःसन्देह अशुभगति होगी । अतः मनुष्य सदा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप ईश्वरका स्मरण करे, उसीमें मन और बुद्धिको लगावे और उसीमें तन्मय होवे, ऐसा करनेसे वह उसीके स्वरूपको प्राप्त होगा, इसमें संदेह नहीं है । ऐसा ईश्वरमें तन्मय हुआ मनुष्य युद्ध करेगा तो भी ईश्वरकोहि प्राप्त होगा । इस तरह सतत ईश्वरका ध्यान करनेका नाम ही 'अभ्यास योग' है । इस अभ्यासयोगसे मन ईश्वरमें स्थिर होता है और इधर उधर नहीं भटकता । इस रीतिसे जिसको इस अभ्यासयोगकी सिद्धि हुई है, वह दिव्य प्रकाशमय परम श्रेष्ठ पुरुषके स्वरूपको प्राप्त होता है, अर्थात् उसमें एकरूप होता है ॥ ५-८ ॥

ठीक ठीक स्मरण होगा वह ईश्वरभावको प्राप्त होगा । परंतु यह बडा कठिन है । अन्तसमयमें संपूर्ण शरीर शिथिल होता है, मस्तिष्क कार्य नहीं करता, मन बुद्धि चित्त आदि सबकी क्षीणता होती है, सोच विचार करना असंभव हो जाता है, किसी किसी समय शरीरकी पीडा भी असह्य हो जाती है, कई तो मूर्च्छितसे हो जाते हैं, ऐसे समयमें परमेश्वरका स्मरण करना कैसा

संभव हो सकता है?

यह प्रश्न यहां हो सकता है और हरएक यह प्रश्न सत्य है, ऐसा कह सकता है । इसके उत्तरमें इतनाही कहना पर्याप्त है कि मरनेके समयमें मनुष्य कितना भी क्षीण हो, कितना भी त्रस्त या पीडित हो, वाणी क्षीण हुई हो तो भी वह अपने पुत्रोंको समीप बुलाता है और उनको कुछ कहता ही है । अर्थात् संसारकी बातोंका स्मरण वह करता है । ऐसे कठिन समयमें यदि वह संसारकी बातका स्मरण रख सकता है तो निःसंदेह परमात्माका स्मरण कर सकता है । अतः विचार करके देखना चाहिये कि मृत्युके कठिण समयमें संसारकी बातोंका इसको स्मरण कैसे होता है? इसका उत्तर इतनाही है कि संसारकी बातोंका विचार और ध्यान यह मनुष्य दिनरात करता रहता है । दिनरात सांसारिक बातोंका ध्यान करनेके कारणही इसको संसार की बातोंका स्मरण मृत्युके समयमें, अन्तसमय में, होता है । यदि यह बात सत्य है तो हमें एक विशेष महत्त्वके नियमका पता लग गया कि, यह मनुष्य जिस बातका दिनरात ध्यान करेगा, उसका स्मरण इसको मृत्युके समयमें—अन्तके समयमें होगा । यही नियम छठे श्लोकमें कहा है, जिसका भाव यह है -- " मनुष्य जिस भावका दिनरात स्मरण करता है, उस भावसे प्रभावित (तद्भावभावितः) होनेके कारण वह उस भाव को प्राप्त होता है, और उसको देह त्यागनेके समयमें भी वही भाव स्मरणमें रहता है।" मनुष्यको अन्तसमयमें सांसारिक भावोंका स्मरण रहनेका कारण यही है, क्योंकि यह दिनरात सांसारिक अवस्थाओंका विचार करता रहता है । यदि यह सदा परमात्माका ध्यान करेगा, तो उसको परमात्माका भी स्मरण अन्तकालमें रहेगा । क्योंकि मनका धर्म एक जैसाही है । जिस भावका स्मरण अथवा ध्यान यह करता है, उस भावसे वह युक्त बनता है ।

इसमें (तद्भावभावितः) उस भावसे प्रभावित होनेकी बात मुख्य है । जिस भावसे यह प्रभावित होगा उस भावसे यह युक्त होगा और उस भावका रूप इसमें दिखाई देगा । उदाहरणके लिये देखिये कि जो मनुष्य लडाई झगडे करनेमें प्रवृत्त रहता है, रातदिन इसीमें अपने आपको लगा देता है, उसे उसमें कोई बुरा नहीं लगता । जो सैनिक हर समय लडाईपर रहता है, उसको दूसरेका जीव लेनेमें कोई कठीनता नहीं होती । जो दिनरात अहिंसाका विचार करता है वह जीवकी हिंसा होनेके भयसे जलभी छानकर पिता रहता है । इस तरह जो सूद आदि लेनदेन का व्यवहार करता है उसको गरीब इस व्यवहारसे मरते हैं इसका विचारतक नहीं होता । जो पूंजीपति अपनी पूंजी बढानेकी फिक्रमें रहते हैं वे मज्दुरोंके कष्टोंका विचारतक नहीं करते । जो राजामहाराजा प्रजासे पैसा कररूपसे लेते हैं और अपने विलासमें उसका व्यय करते हैं वे उस धनका उपयोग प्रजाके हितसाधनके कार्यों में करना चाहिये, यह बात भूल जाते हैं । यह सब इसी कारण होता है कि मनुष्य (तद्भावभावितः) उसी भावसे रँगा जाता है कि, जिसका वह रातदिन विचार करता रहता है । यदि यह सत्य है तो क्या इसको परमात्माका स्मरण नहीं होगा यदि यह दिनरात परमात्मा का ध्यान करेगा? अवश्य स्मरण होगा ।

वनस्पतियोंपर कई कीडे होते हैं, फूलोंपर कई जीव होते हैं, वे उन्ही रंगोंसे रँगे होते हैं । ये क्यों ऐसे रँगे जाते हैं इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये । वे जीव उन फूलों और वनस्पतियोंके रंगकाही ध्यान करते हैं, अतः उनके शरीर वैसेहि बन जाते हैं । यदि मनुष्य परमात्मभावसे रँगा जायगा तो इसी न्यायसे वह परमात्मभावसे युक्त क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा, यही दर्शानेके लिये यहां कहा है कि—

स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः । (५)

मामेवैष्यस्यसंशयम्। (७)
परमं पुरुषं दिव्यं याति। (८)

" ईश्वरभावको प्राप्त होता है, परम पुरुषको प्राप्त करता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। परंतु परमात्माको वही प्राप्त होगा कि जो इस तरह परमात्मभावसे रँगा जायगा।

जैसा लोहा अग्निमें रखा तो कुछ समय अग्निभावसे युक्त होता है, अग्निभावसे रँगा जाता है और अग्निरूप होता है। लकडी भी इसी तरह अग्निका रूप धारण करती है। लकडी प्रारंभमें जलती नहीं, परंतु जिस समय वह अग्निरूप होती है उस समय अग्निके समान ही जलाती है। अर्थात् सब अग्निके गुणधर्म लकडी पर और लोहेपर आजाते हैं। इसी तरह यहां यह सिद्ध पुरुष परमात्माके सब गुणधर्मोंसे युक्त होता है। अर्थात् यह परमात्मभाव धारण करता है, मानो वह इस समय परमात्मा ही बनता है, यह नरका नारायण बनता है, जीवका शिव होता है, पुरुषका पुरुषोत्तम बनता है।

यह प्रभाव (मय्यर्पितमनोबुद्धिः) ईश्वरमें अपना मन और अपनी बुद्धि अर्पण करनेसे प्राप्त होता है। जब मनुष्य मन और बुद्धि परमात्मामें अर्पण करता है, और अपने पास मन बुद्धि नहीं रखता, तब ही यह प्रभाव अर्थात् परमात्माव मनुष्यमें होता है। इसीको 'अभ्यासयोग' कहते हैं।

अभ्यासयोग।

अभ्यासयोगके यहां दो लक्षण बताये हैं। (१) 'तद्भावभावित' अर्थात् ईश्वरके प्रभावसे प्रभावित होना, और (२) दूसरा 'अर्पितमनोबुद्धिः' अपने मन और बुद्धिको परमात्मामें अर्पण करना। ये दो लक्षण हैं किंवा इनको दो अनुष्ठान के साधन कहिये। परमात्मभावसे रँगा जाना और परमात्मामें आत्मसमर्पण करना। यही अन्तिम सिद्धिका साधन है। तीसरा एक साधन है जो 'चेतसा नान्यगामिना' शब्दोंद्वारा कहा है। दूसरे किसी विषयमें चित्त न लगाना, और इसी परमात्मामें अपना चित्त लगाना, उसीमें तन्मय करना। यह साधन मनबुद्धिका समर्पण करनेसे होनेवाला है। अस्तु। इसका नाम 'अभ्यासयोग' है और यह निरंतर करनेवाला योग है। निरंतर करनेसेहि यह सिद्ध होता है, यदि कोई थोडा समय करे और थोडा समय न करे, ऐसा करेगा, तो वह सिद्धिको कदापि प्राप्त नहीं होगा। इस सतत अनुष्ठानकी सूचना देनेवाले वाक्य ये हैं—

'सदा' तद्भावभावितः। (६)
'सर्वेषु कालेषु' 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' (७)

" सदा इस भावसे प्रभावित रहना चाहिये। सर्व कालमें ही अपने मन और बुद्धिको ईश्वरार्पण करना चाहिये।' यहां 'सदा और सर्वेषु' ये शब्द सतत अभ्यासकी सूचना करनेवाले हैं। और 'सतत अभ्यास' करनेका ही नाम 'अभ्यास' है। वारंवार और सतत यत्न करनेको ही 'अभ्यास करना' कहते हैं। अर्थात् 'अभ्यासयोग' का अर्थ 'सतत और वारंवार परमात्माका ध्यान करना' यहां अभीष्ट है। इस तरह जो साधक 'अभ्यासयोग' करता है वही परमेश्वरभावको प्राप्त करता है। अपने आत्मामें दिव्य परम पुरुषका भाव वह देखता है। यही मनुष्यकी अन्तिम सिद्धी है।

इस विषयमें एक अनुभव हमने लिया था। कई मास सतत हमने ऐसा नियम रखा कि जिस समय कोई कार्य न हो, उस समय श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ करना। दो मास ऐसा सतत पाठ चलता रहनेसे ऐसा हुआ कि जब कभी निद्रासे जाग आती थी, उस समय आपही आप भगवद्गीताका कोई श्लोक मनमें रहता था। अर्थात् खाली समयमें भगवद्गीताका श्लोक पढना यही काम मनका हो गया था। और वही कार्य निद्रामेंभी चलता रहता था। इससे भी पता लगता

है कि मनको जो कार्य सतत दिया जाय उसीमें मन रँगा जाता है और मन तद्रूप बन जाता है।

अन्त-समय।

यहां अन्तसमयमें, देह छोडनेके समय ऐसा बार बार कहा है। इसलिये यहां अन्तसमयका अर्थ क्या है, इसका विचार करना चाहिये। देह छोडनेका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ 'मृत्यु' है ऐसा सब समझते हैं। परंतु मृत्युभी कौनसा समझना चाहिये ? क्यों कि क्षणिक मृत्यु, दैनिक मृत्यु (निद्रा), अवस्थान्तरका मृत्यु (बाल्यसे तारुण्य आदि), अज्ञानान्तका मृत्यु (उपनयन-द्विजन्मा होना, दूसरा जन्म मिलना), देहान्तर का मृत्यु (महामृत्यु), ऐसे अनेक मृत्यु हैं। इनमें से कौनसा मृत्यु यहां अपेक्षित है? इनको अन्तभी कहते हैं। क्षणिक अन्त, दैनिक अन्त, अवस्थाका अन्त, ज्ञानका अन्त और देहका अन्त ऐसे अनेक अन्त हैं। इनमेंसे किस अन्तका उल्लेख यहां अपेक्षित है, यह बात विचारणीय है। वस्तुतः सभी अन्त यहां अपेक्षित हैं।

प्रत्येक प्रकारके अन्तके समय परमेश्वरका स्मरण करना चाहिये ऐसा यदि इसका आशय कोई समझेगा, तो प्रतिक्षण परमेश्वरका स्मरण करना चाहिये ऐसा इसका अर्थ होगा, क्यों कि प्रतिक्षण मनुष्यकी मृत्यु हो रही है। कोई क्षण खाली नहीं छोडना चाहिये। तभी कार्य चलेगा।

निद्राभी एक मृत्यु है और इस समय इस जड शरीरको एक रीतिसे आत्मा त्याग देता है। किसी किसी समय शरीरत्याग होनेका अनुभव मनुष्यको आता भी है। यदि किसी शुभविचार का स्मरण निद्रा लगनेके समय मनुष्यको होगा तो संपूर्ण निद्राके समय उसी शुभ विचारका कार्य चलता रहेगा। यदि कोई मनुष्य बीमार हो, और निद्रा लगनेके समय 'मैं नीरोग हूँ' ऐसा विचार उसके मनमें स्थिर रहेगा तो निद्रा रहनेतक यही विचार उसके मनमें स्थिर रहेगा, और जाग्रतिको प्राप्त करनेपर उसको अनुभव होगा, कि पूर्वकी अपेक्षा अपनेको अधिक आरोग्य प्राप्त हुआ है। इसी तरह यदि निद्रा लगनेके समय इसके मनमें परमात्माका विचार रहेगा, तो निद्रामें भी वही स्थिर रहेगा और इसको अपूर्व आनंद प्राप्त होगा। इस तरह प्रतिदिन अनुभव लेनेका अभ्यास जो करेगा, उसको अन्त-समयमें-मृत्युके समयमें भी-परमेश्वरका अवश्य स्मरण होगा और उसका बेडा पार होगा।

मनुष्यके पास दो मन हैं, एक मन जाग्रतिमें कार्य करता है और दूसरा मन निद्रामें कार्य करता है। जो मन निद्रामें कार्य करता है वह जाग्रतिमें सोता है और जो जाग्रतिमें कार्य करता है वह निद्रामें सोता है। जाग्रतिके मनमें जो संस्कार होते हैं, वे निद्राके मनमें संग्रहित होते हैं। और इस निद्राके मनका ऐसा विलक्षण धर्म है कि वह तर्कवितर्क कुतर्क नहीं करता, जो इस उच्च मनमें आता है, बस वह वैसा ही मानता है और जैसा वह मानता है वैसा बनता है। इसीलिये शुभविचार मनमें सतत धारण करनेकी आवश्यकता है। जिसके शिवसंकल्प होंगे उसका वह उच्च मनभी शिवसंकल्पोंको पकडे रखेगा और स्वयं शिव बनेगा।

जिसका यह उच्च मन परमात्माको पकडे रखेगा, वह उसे नहीं छोडेगा और वह उसके स्वरूपको धारण करेगा। यही सतत अभ्याससे होता है। इस साधनकी उपपत्ति यही है। यहां पाठक विचार करेंगे तो उनको अपने आरोग्य-साधनका पता लग जायगा, अपने आपको उच्च बनानेका मार्ग उनको दीखेगा और परमधामकी प्राप्तिका उपाय उनके हाथमें आजायगा, इस तरह यह मार्ग मानवी उन्नतिका साधक है और इससे मनुष्यकी जैसी ऐहिक वैसीहि पारमार्थिक उन्नति सिद्ध हो सकती है। अब ध्यानका मार्ग बताया जाता है—

(४) परम पुरुषका ध्यान।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

अन्वयः— कविं, पुराणं अनुशासितारं, अणोः अणीयांसं, सर्वस्य धातारं, अचिन्त्यरूपं, तमसः परस्तात् आदित्यवर्णं, (विद्यमानं पुरुषं), प्रयाणकाले, अचलेन मनसा, भक्त्या युक्तः योगबलेन च एव भ्रुवोः मध्ये सम्यक् प्राणं आवेश्य, यः अनुस्मरेत्, सः तं दिव्यं परं पुरुषं उपैति ॥९-१०॥ वेदविदः यत् अक्षरं वदन्ति, वीतरागाः यतयः यत् विशन्ति, (ब्रह्मचारिणः) यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् पदं ते संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥११॥

सर्वज्ञ, पुरातन नियन्ता, अणुसे भी सूक्ष्म, सबका धारणकर्ता, अचिन्त्यस्वरूप, अन्धकारसे परे रहनेवाले सूर्यके समान तेजस्वी, ईश्वरका, प्रयाणके समयमें स्थिर मनके द्वारा, भक्तिसे युक्त होकर और योगबलके द्वारा दोनों भौंहोंके बीच भलीभान्ति प्राणको रखकर, जो स्मरण करता है, वह उस दिव्य परम पुरुषके समीप पहुंचता है ॥९--१०॥ वेद जाननेवाले जिसे अक्षर कहते हैं भोगोंके विषयमें निरिच्छ हुए यति जिसमें प्रवेश करते हैं, ब्रह्मचारी लोग जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे ब्रह्मचर्य व्रतका आचरण करते हैं, उस पदका अति संक्षेपसे वर्णन तुझे (यहां) कहतां हूँ ॥११॥

प्रयाणकाल।

(९-१३) प्रयाणकालमें परमपुरुषका ध्यान किस तरह करना चाहिये, वह यहां कहा है। प्रयाणकाल और अन्तकालका मुख्य अर्थ मृत्यु का समय है, परंतु इसका गौण अर्थ 'प्रतिक्षण' ऐसा भी होता है, क्योंकि प्रतिक्षण मनुष्यकी मृत्यु होती है और प्रतिक्षण इसके देहका कुछ न कुछ अंश वह छोडता ही है। प्रत्येक शरीर सात वर्षोंमें बिलकुल नवीन होता है, अर्थात् पूर्व समयके अणु दूर होकर नये अणु वहां आते हैं। यह परिवर्तन शनैः शनैः प्रतिक्षण हो रहा है। मनुष्यका शरीर दो मण बोझवाला होता है, और वह सात वर्षोंमें परिवर्तित होता है ऐसा माननेसे एक दिनमें अढाई तोले अणु मरकर दूर होने चाहियें और इतने नये आने चाहियें, ऐसा करीब करीब हिसाब होता है। उपवास करनेसे यह परिवर्तन शीघ्र होता है। अस्तु। इस तरह इतने परमाणुओंकी मृत्यु मनुष्यशरीरमें प्रतिदिन होती है और इतने नये आते हैं। प्रथम आयुमें मृत्यु की अपेक्षा परमाणुओंका संवर्धन अधिक होता

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

अन्वयः- सर्वद्वाराणि संयम्य, मनः च हृदि निरुध्य, मूर्ध्नि आत्मनः प्राणं आधाय, योगधारणां आस्थितः ॥१२॥ ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्, मां अनुस्मरन्, यः देहं त्यजन्, प्रयाति, सः परमां गतिं याति ॥१३॥

इंद्रियोंके सब द्वारोंका संयम कर, मनका हृदयमें निरोध कर, मस्तकमें अपने प्राणको ले जाकर, योगकी धारणावस्थामें साधक स्थिर होवे ॥ १२ ॥ वहां ओंकाररूपी एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ, और मेरा (परमेश्वरका) चिन्तन करता हुआ, जो साधनकर्ता देह छोडकर चला जाता है, वह परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ॥१३॥

भावार्थ— ईश्वर सर्वज्ञ है, अतः उसे कुछभी अज्ञात नहीं है। वह प्राचीन है और प्राचीन कालसे अर्थात् सदासेहि वह सबका नियन्ता और शासनकर्ता है, वह सब जगत्का एकमात्र सर्वाधिकारी शासक है। वह सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म और सबका एकही आधार है। उसके अखंड अनंत स्वरूपका चिंतन करना बडा कठिन कार्य है। वह स्वयं अत्यंत तेजस्वी होनेसे उसके पास अन्धकार रह नहीं सकता। इसी दिव्य परम पुरुषका सबको ध्यान करना योग्य है। प्रयाणकालमें, भक्तियुक्त होकर, भ्रुकुटीमें प्राणको चढाकर, जो इसका ध्यान करता है वह उसी दिव्य परम श्रेष्ठ पुरुषको प्राप्त करता है ॥ इसी परम पुरुषको वेदवेत्ता लोग अक्षर कहते हैं, भोगोंके विषयमें निरिच्छ लोग इसीमें प्रविष्ट होते हैं, इसीकी प्राप्तिके लिये लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस परम पदका अतिसंक्षेपसे वर्णन यही है ॥ इंद्रियोंका संयम करो, मनको हृदयमें स्थिर करो और मस्तकमें अपने प्राणको स्थिर करके धारणाका अभ्यास करो। इस समय ओंकारका जप और परमेश्वरका चिन्तन करता हुआ जो देह छोडता है, वह निःसंदेह परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ॥ ९-१३ ॥

है, इसलिये शरीर बढता है और उत्तर आयुमें मरनेवाले परमाणुओंकी संख्या अधिक होनेके कारण शरीर क्षीण होता है। यदि प्रतिदिन करीब ढाई तोले परमाणुओंकी मृत्यु होनी है तो प्रतिक्षण कितनी मृत्यु होती है इसका हिसाब लगाया जा सकता है। इस तरह यह क्षणिक मृत्यु होती है और यही दैनिक मृत्यु है। इतना देहका त्याग प्रतिक्षण और प्रतिदिन करना पडता है। देहत्यागके समय, अन्तके समय अर्थात् देहके अन्तके समय मनुष्यको परमेश्वरका स्मरण करना चाहिये। यदि प्रतिक्षण परमाणुओंका अर्थात् देहका अन्त होता है, तो प्रतिक्षण ही अन्तका समय है।

अन्तसमयकी प्रतीक्षा।

इसके अतिरिक्त यदि प्रतिक्षणको अन्तका समय मनुष्य न माने, तो इसको पता ही नहीं है कि इसका अन्तसमय किस समय आनेवाला है। यदि यह सौ वर्षोंके अन्तमें देहका अन्त होनेवाला है ऐसा मानेगा, तो निश्चय नहीं है कि

इसकी १०० वर्षोंकी आयु है हि। यदि यह १०० वर्षोंकी आयुका ख्याल करता रहेगा,और बीचमें हि मृत्यु आ गयी, तो इसकी तैयारी न रहनेसे यह अन्तसमयमें परमात्माका ध्यान करनेमें असमर्थ होगा और सब आयु व्यर्थ चली जायगी। इसलिये मृत्युके कठिण समयमें ठीक प्रकार परमेश्वरका स्मरण होनेके लिये इसको प्रतिक्षण परमात्माका स्मरण करना ही चाहिये। जो नित्य स्मरण करता है उसको स्मरण करनेका नित्याभ्यास होनेसे हि वह अन्तसमयमें ईश्वरका स्मरण कर सकेगा। जो कहेगा कि 'मैं अन्तसमयमें स्मरण करूंगा, इस समय आजहि कौनसी शीघ्रता है?' वह ऐन समयमें भ्रांत होगा और उसको स्मरण ही नहीं होगा, वह तो शरीरकी पीडामें ही फंसा रहेगा। अन्तसमयकी व्यथामें भी परमेश्वरका स्मरण होना चाहिये, इसलिये साधकको इस बातका नित्य अभ्यास करना उचित है।

प्रयाणसमय।

प्रयाणके कालमें स्मरण करनेका उल्लेख यहां आया है। यह प्रयाणकाल कौनसा है? पाठक सोचेंगे तो उनको पता लगेगा कि, मनुष्य नित्य अर्थात् प्रतिक्षण प्रयाण करही रहा है। वह अपने धामका यात्री है, वह नित्य पथिक है। इस संसार की गाडीमें वह बैठा है और आगे बढ रहा है। जो इसको स्थिर समझते हैं वे गलतीपर हैं। यह प्रवासी है, यह पथिक है, यह मार्गस्थ है, इसलिये यह प्रयाणमें ही है। इसकी सभी आयु प्रयाणकाल है, क्यों कि पथिकके सभी दिन प्रयाणसमयके होते हैं। इसका प्रवास तब समाप्त होगा कि जब यह निजधामको प्राप्त होगा। तब तक इसका प्रतिक्षण प्रयाणसमय ही है। इसलिये प्रयाणसमयमें परमात्माका स्मरण करनेका अर्थ प्रतिदिन और प्रतिक्षण परमात्माका ध्यान करना है। अब भला प्रतिक्षण परमेश्वरका स्मरण कैसे हो सकता है? श्वासके साथ 'सोऽहं' अथवा 'अहं सः' का अजपाजप करनेके अभ्याससे जब तक श्वास होते रहते हैं, तबतक परमेश्वरका ध्यान होता रहता है। 'सोहं' अथवा 'अहं सः' में ओंकारही मुख्य है। इसका विवरण ऐसा है—

[स्+]ओ[+ह्+]म्=ओम्

अ[+ह्+]म्[+सः]=अ(उ)म्

इस अजपा जपमें भी ओंकारहि है। इसके अतिरिक्त अपनेसे जो कर्म होता है वह परमेश्वरके लिये अर्पण करनेके हेतुसे करनेसे हरसमय प्रतिक्षण-परमेश्वरकी हि अखंड सेवा मनुष्यसे हो सकती है। इस तरह 'स्वकर्मद्वारा परमात्माकी पूजा' (गी० १८।४६) करनेसे परमात्माका अखंड ध्यान होना संभव है। अचंचल मनसे,सुदृढ भक्तिसे और योगसामर्थ्य प्राप्त करके उसके द्वारा भ्रुकुटीमें प्राण ले जाकर, जब वहां प्राण स्थिर होगा तब उस प्रभुका ध्यान करना चाहिये। यह तो तब हो सकता है कि जब मनुष्य इस योगसाधनमें सदा तत्पर रहेगा। दत्तचित्त होकर योगसाधन करेगा। यह सिद्धि कोई थोडेसे अभ्याससे प्राप्त होनेवाली नहीं है। इसके लिये भी नित्य साधन करनेकी आवश्यकता है। अर्थात् किसी दृष्टिसे देखा जाय, तो साधन नित्य करना चाहिये,जिससे सिद्ध हो सकता है। साधन इतना करना चाहिये कि वह इसका निज स्वभाव बन जाय। तभी देहपातके कठिन समयमें यह उस प्रभुका स्मरण कर सकेगा।

परमात्माका स्वरूप।

परमेश्वरका स्मरण करना चाहिये और वह नित्य अभ्यास करना चाहिये यह बात यहां सिद्ध हुई। जिस प्रभुका स्मरण करना चाहिये उसका स्वरूप विदित होना चाहिये। अन्यथा उसका स्मरण ही अशक्य है। जिसका पहिले ज्ञान होता है,जिसका पहिले अनुभव लिया होता है,उसीका स्मरण हो सकता है। जिसने आम खाया होगा

उसीको आमका स्मरण होगा। जिसने कभी आमका दर्शन ही नहीं किया उसको आमका स्मरण कैसे होगा ? अतः ' अनुस्मरेत् ' आदि शब्दोंद्वारा परमेश्वरके साक्षात् अनुभव होनेकी बात पहिले माननी चाहिये। अनुभूत विषयके स्मरणका ही नाम स्मृति है। जो विषय अनुभूत नहीं है उसका कदापि स्मरण नहीं हो सकेगा। इसलिये भगवद्गीतामें अथवा अन्य ग्रंथोंमें जहां ' स्मरण, अनुस्मरण, चिंतन ' अथवा इस अर्थके अन्य शब्द प्रयुक्त हुए हों, वहां परमात्माके स्वरूपकी अनुभूति पहिले हो चुकी है, ऐसा समझना चाहिये। शास्त्र कभी ऐसा नहीं कह सकता कि जिसका तुझे अनुभव नहीं है उसका स्मरण करो और उसका ध्यान करो। जो आठ वर्षके बालक अथवा अनुभव न लेनेवाले बडे आयुवाले लोग आंख बंद करके बैठते हैं वे अनुभवके विना किसका ध्यान करते हैं ? परंतु लोगोंको आंख बंद करके बैठनेका एक अभ्यास हुआ है। उपनिषद्में कहा है कि—

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।
बृ. उ. २।४।५

" आत्मा देखना और सुनना चाहिये और पश्चात् उसका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। आत्माके दर्शन श्रवण, मनन और विज्ञानसे इस सबका ज्ञान होता है।" यहां (१) आत्माका दर्शन पहिले होना चाहिये, पश्चात् (२) उसका वर्णन सुनना चाहिये, तत्पश्चात् (३) उसका मनन, ध्यान, चिंतन अथवा स्मरण करनेकी योग्यता आसकती है और तत्पश्चात् (४) उसका निदिध्यासन और विज्ञान हो सकता है। यहां स्मरणका स्थान तीसरा है यह बात पाठक ध्यानमें धारण करें। पहिले परमात्माका दर्शन करना चाहिये, पश्चात् उसका वर्णन सुनना चाहिये और तत्पश्चात् उसका चिंतन, ध्यान अथवा अनुस्मरण करना चाहिये। यह अभ्यासका क्रम यहां कहा है और वह युक्तियुक्त है।

भगवद्गीता अ० ७ (श्लो० १९) में 'वासुदेवः सर्वं' कहा है। वासुदेव अर्थात् 'ईश्वर ही सब कुछ है' ऐसा यहां स्पष्ट कहा है वही बात वेदमें—

पुरुष एवेदं सर्वं। (ऋ. १०।९०)

'पुरुष-परमेश्वर-ही यह सब है,' इस तरह स्पष्ट शब्दोंमें कही है। उपनिषदोंमें भी यही कहा है 'आत्मा वा इदं सर्वं' इत्यादि। तात्पर्य वेद, उपनिषद् और गीतामें 'परमेश्वर यह सब' है ऐसा कहा है। इसका ज्ञान कैसा प्राप्त करना चाहिये यह विद्या सप्तम अध्यायमें कही है। जो भी कुछ वस्तुमात्र पंचमहाभूतोंका बना हुआ है, जिसमें मन बुद्धि अहंकार और चैतन्य दीखता है, वह सब परमेश्वरका शरीर है, वह सब परमेश्वरका दृश्य अथवा प्रकट रूप है, ऐसा देखना चाहिये। सातवें अध्यायका अच्छी प्रकार मनन करनेसे यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह ज्ञान प्राप्त होनेसे यह सब परमात्माका प्रत्यक्ष रूप-ब्रह्मका विश्वरूप है ऐसा प्रतीत होगा और परमेश्वरमें 'मैं प्रवेश करता हूं' इसका साक्षात्कार होगा और—

वीतरागाः यतयः यत् विशन्ति। (श्लो० ११)

" वैराग्यसंपन्न यति जिस परब्रह्ममें प्रविष्ट होते हैं।" यह बात अनुभवमें आ जायगी। परमेश्वरमें प्रविष्ट होनेके लिये परमेश्वरका दर्शन पहिले होना चाहिये। जब यह सब (पुरुष एवेदं सर्वं। ऋ०) परमात्मा है ऐसा साधकको परमात्माके सगुण रूपका दर्शन होगा, तब वह उसमें अपना प्रवेश है, यह बात अनुभव करेगा। अनायास परमात्माके अन्दर अपना सचमुच प्रवेश है, यह बात इस तरह अनुभवमें आनी चाहिये।

जब इस तरह परमात्माका दर्शन होगा, तब वेद उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें जो अनेकविध

वर्णन किया गया है वह परमात्माका ही है ऐसा वह जान सकेगा। दर्शन के पश्चात् श्रवण करनेका अधिकार इस तरह प्राप्त होता है। जब 'सब ही पुरुष है' (पुरुष एवेदं सर्वं) यह प्रत्यक्ष होगा, तब—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।
यजु०

"वह ही अग्नि आदित्य वायु चन्द्र शुक्र ब्रह्म आप (जल) और प्रजापति है" यह ज्ञान होगा और अग्न्यादि देवताओंके मंत्र पढकर उसको परब्रह्मका वर्णन पढ रहा हूं, ऐसा अनुभवसे विदित होगा, इस रीतिसे—

वेदविदः यत् अक्षरं वदन्ति। (श्लो०११)

"वेदवेत्ता लोग जिसे अक्षर ब्रह्म कहते हैं" इस अक्षर ब्रह्मका वर्णन वेदके संपूर्ण सूक्तोंमें कैसा है, इसका यथावत् ज्ञान उसे होगा। यह तो उसको प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वेद पढने और सुननेका अधिकारी वह इस तरह इस समय होता है। परमेश्वरके प्रत्यक्ष दर्शन होनेके पहिले उसने वेद पढे तो भी उसके समझमें नहीं आवेंगे और अपने अज्ञानके कारण वह वेदमंत्रोंके अर्थ ऐसे ऊटपटांग करेगा कि उस कारण मतभेदही बढते जांयगे। परंतु परमेश्वरका सगुण रूप जब उसे प्रत्यक्ष होगा, तब वह प्रत्यक्षानुभवका अर्थ वेदमें देखेगा और उसको स्पष्ट और ठीक अर्थ ज्ञात होगा। इस रीतिसे इस प्रत्यक्ष ज्ञानका महत्त्व है।

यह परमात्माका स्वरूप कैसा है इसका वर्णन यहां थोडासा किया है, वह अब देखिये—

कविः।

'कवि' शब्दका अर्थ 'सर्वज्ञ, ज्ञानी, बुद्धिमान्, चतुर, प्राज्ञ, सुविचारी, प्रशंसनीय, तत्त्वज्ञानी, कवि-काव्यनिर्माता, त्रिकालज्ञानी, ब्रह्म, सूर्य,' यह है। 'क्रान्तदर्शी, अतीन्द्रियार्थदर्शी, जो चर्मचक्षुसे नहीं दीखता उसको अपने ज्ञाननेत्रोंसे देखनेवाला' ये भी इसके अर्थ हैं।

पुराण।

'पुराण' शब्दका अर्थ 'पुराना, प्राचीन, पुरातन कालका, वृद्ध, प्राथमिक' ऐसा होता है। 'पुरा अपि नवं' प्राचीन होता हुआ भी नवीन ऐसा एक इस शब्दका अर्थ होता है और यह अर्थ यहां लेना उचित है। क्योंकि यह परमात्मा ऐसा है कि जो पुरातन होता हुआ भी नवीन जैसा है, वृद्ध होता हुआ भी तरुण जैसा है।

अनुशासिता।

जो दिशा बताता है, आज्ञा करता है, जो यथायोग्य रीतिसे राज्य चलाता है और दण्डनीयको दण्ड करता है, जिसकी आज्ञामें यह सब है, वह अनुशासक है।

अणोः अणीयान्।

सूक्ष्मसे सूक्ष्म, जितनेभी सूक्ष्म पदार्थ हैं उनमें यह अतिसूक्ष्म है, अतः सर्वव्यापक है।

सर्वस्य धाता।

सबका धारण करनेवाला, निर्माणकर्ता, बनानेवाला, उत्पादक, पोषणकर्ता, व्यवस्थापक, आत्मा, परमात्मा।

अचिन्त्यरूप।

अचिन्तनीय रूपवाला, उसका रूप है परंतु वह मनन करनेके लिये कठिन है। अतिमहान् रूप होनेके कारण हरएक मनुष्यका छोटासा मन उसका चिन्तन कर नहीं सकता।

आदित्यवर्ण।

सूर्यके समान तेजस्वी, प्रकाशस्वरूप, तेजस्वी पदार्थोंको भी तेजस्विता देनेवाला!

तमसः परस्तात्।

वह प्रकाशस्वरूप होनेके कारण अन्धकारसे परे है, उसके पास अन्धकार रहता नहीं, उसके

साथ अन्धकार नहीं है। यहां 'तमः' शब्द केवल अन्धकारकाही वाचक नहीं है, अपितु अज्ञान, आलस्य, शिथिलता, दोष आदिका भी वाचक है। अतः जो तमस् के परे रहता है, उसमें तमके दोष नहीं होते अर्थात् अज्ञान, आलस्य, शैथिल्य आदि दोष नहीं रहते और ज्ञान, उद्यम, उत्साह, निर्दोषता आदि गुण रहते हैं। तमस्से जो दोष होते हैं उनका निर्देश भगवद्गीतामें किया है वह यहां देखना चाहिये—

तमका विचार।

(१) तम अज्ञानसे उत्पन्न होता है, मोह करता है और इससे प्रमाद आलस्य और निद्रा होती है। (गी० १४।८); (२) तम ज्ञानको घेरता है (१४।९); (३) अप्रकाश, अज्ञान, अन्धकार, अप्रवृत्ति, कर्म करनेकी अरुचि, प्रमाद और मोह तमसे होते हैं (१४।१३)। (४) तमका फल अज्ञान है (१४।१६)। (५) तमसे अधःपात होता है (१४।१८)। (६) तामस मनुष्य बासा, निःसार, दुर्गंधियुक्त, उच्छिष्ट, अपवित्र और अस्वच्छ अन्न आनंदसे खाता है (१७।१०)। (७) तामस मनुष्य श्रद्धारहित, विधिहीन, दातृत्वहीन, मंत्ररहित कर्म करता है (१७।१३)। (८) मूढतासे पीडा देनेके लिये, दूसरेका नाश करनेके लिये जो किया जाता है वह तामस है। (९) देशकाल छोडकर अपात्रमें जो दान दिया जाता है, जिसमें सत्कार नहीं है और अपमान किया जाता है वह तामस दान है (गी. १७।२२)। (१०) नियत कर्मका त्याग तामस है (गी. १८।७)। (११) रहस्यरहित तुच्छ ज्ञान तामस कहलाता है (गी. १८।२२)। (१२) परिणामका, हानिका और हिंसाका विचार छोडकर तथा अपने सामर्थ्यका विचार न करते हुए जो मोहवश होकर किया जाता है वह तामस कर्म है (गी. १८।२५)। (१३) अयोग्य, असंस्कार युक्त, हठी, शठ, नीच, आलसी, खिन्न तथा दीर्घसूत्री तामस कर्ता होता है (१८।२८)। (१४) अहंकारसे घिरी, अधर्मको धर्म माननेवाली, सबको उलटी देखनेवाली बुद्धि तामस होती है (१८।३२)। (१५) निद्रा भय शोक निराशा और मदको न त्यागनेवाली तामस धृति होती है (१८।३५)। (१६) जो प्रारंभमें और अन्तमें आत्माका मोह बढानेवाला है और जो निद्रा आलस्य और प्रमादसे प्राप्त होता है, वह तामस सुख है (१८।३९)।

यहांतक तमका स्वरूप भगवद्गीतामें कहा है। इसका संक्षेपसे तात्पर्य " अज्ञान, मोह, प्रमाद, आलस्य, अति निद्रा, सुस्ती, अप्रकाश, अन्धकार, अप्रवृत्ति, अधःपात, अश्रद्धा, स्वार्थ, अदातृत्व, मूढता, दूसरेका नाश करनेकी बुद्धि, अविचार, हिंसा, हठ, शाठ्य, नीचता, खेद, दीर्घसूत्रता, अहंकार, विपरीत ज्ञान " यह है। यही तमोगुण है, इस तमोगुणसे परे परमेश्वर है। अर्थात् परमेश्वरके पास यह भाव नहीं है। वहां " ज्ञान, निश्चय, निर्दोषता, उत्साह, जागृति, प्रकाश, तेजस्विता, बढनेकी प्रवृत्ति, उन्नति, उत्कर्ष, सर्वार्थ, दातृत्व, ज्ञातृत्व, शुभेच्छा, सुविचार, अहिंसा, अशाठ्य, सरलता, श्रेष्ठता, खेदरहितता, सत्वर योग्य कार्य करनेकी शक्ति और सत्यता " है। जो उन्नति चाहनेवाला मनुष्य है उसको परमेश्वरके इन गुणोंका ध्यान करना चाहिये और इन गुणोंको अपनाना चाहिये। इस तरह परमात्मा तमसे परे है। तमसे परे होनेमें यह अर्थ है। इसका मनन करेंगे तो पाठकोंको तमसे परे होनेका मार्ग विदित हो जायगा।

कई पाठक यहां प्रश्न करेंगे कि पूर्व स्थलमें (गी. ७।१२) में कहा है कि " सात्विक राजस और तामस भाव परमेश्वरसे ही होते हैं। " यदि यह सत्य है तो तामस भावभी परमेश्वरसे ही हुआ है, अतः तामस भावसे परे परमेश्वर है ऐसा कैसा कहा जा सकता है ? यह प्रश्न सयुक्तिक है। परंतु यह प्रश्न सत्य नहीं है, क्यों कि जिस श्लोकमें सत्व रज तम भाव परमेश्वरसे होनेका

वर्णन है उसी श्लोकमें कहा है कि (न त्वहं तेषु, ते मयि) " उन त्रिगुणात्मक भावोंमें मैं नहीं हूं, परंतु वे मेरे आधारसे हैं।" क्यों कि परमेश्वरके कारण वे उत्पन्न हुए हैं, तथापि उनमें परमेश्वर नहीं है, प्रत्युत परमेश्वरके आधारसे वे हैं।

उदाहरणके लिये हम कह सकते हैं कि सूर्यके प्रकाशके हेतुसे इस जगत्में प्रत्येक पदार्थकी छाया दीखती है, जहां पदार्थ है वहां उसकी छाया है। यह छाया निःसन्देह सूर्यप्रकाशसे होती है, परंतु सूर्यप्रकाशमें वह छाया नहीं होती। इसी प्रकार दीपके प्रकाशसे कमरेके अन्दरकी वस्तुओंकी छायाएं उत्पन्न होती हैं, तथापि दीपमें वह नहीं होती। इसी तरह परमेश्वरके कारण सात्विक राजस तामस भाव होते हैं, परंतु उन भावोंमें परमात्मा नहीं है।

इसी तरह जिसको दीप चाहिये वह छायामेंहि रहेगा तो दीप नहीं प्राप्त कर सकेगा, यद्यपि वह छाया दीपके कारणहि होती है। उसको छाया छोड देनी पडेगी और प्रकाशके मार्गसेही दीपके पास पहुंचना पडेगा। इसी तरह तमोगुण यद्यपि परमेश्वरसेहि हुआ है, तथापि उस तमोगुणमें परमेश्वर नहीं है, जैसा छायामें दीप नहीं होता क्योंकि छाया प्रकाशके अभावकाही नाम है, उसी प्रकार तमोगुण परमात्म-प्रकाशके अभाव का ही एक प्रकारका नाम है, अतः जो तमोगुणमें रहेंगे वे परमात्माको प्राप्त नहीं होंगे, इस कारण उपासकको तमोगुणका त्याग करके सत्त्वगुणका ही आश्रय करना चाहिये। कमरेके अंदर जो पदार्थ होते हैं उनकी छाया प्रकाशकी विरुद्ध दिशासे आगे बढती जाती है। कमरेमें कुछ भाग प्रकाशसे व्याप्त हुआ होता है और शेष भाग छायासे परिपूर्ण होता है। छाया प्रकाशके अभावका नाम है तथापि छायाका संबंध प्रकाशके साथ रहता है। सत्त्वगुण प्रकाशका रूप है, तमोगुण अन्धकार अथवा छायाका रूप है और रजोगुण छाया और प्रकाशका मिश्ररूप है—

सत्त्वगुण	प्रकाश
रजोगुण	प्रकाश + छाया
तमोगुण	अन्धकार, छाया

सूर्य और दीप कहता है कि " मेरे कारण प्रकाश, छायाप्रकाश और छाया ये तीनों भाव उत्पन्न होते हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूं, वे मेरे आधारसे हैं।" इसी तरह परमेश्वरने कहा है कि " सत्व, रज और तम ये तीन भाव ईश्वरसे उत्पन्न हुए हैं, परंतु ईश्वर उनमें नहीं है, वे ईश्वर के आधारसे हैं।"

यदि कोई मनुष्य दीपके पास जाना चाहे तो उसको प्रकाशके मार्गसेही जाना चाहिये, वह कितनी भी देर छायामें घूमता रहेगा तो कभी दीपके स्थानको प्राप्त नहीं हो सकता, यद्यपि छायाकी उपलब्धि दीपके कारणहि होती है, तथापि दीपकी प्राप्ति करनेके लिये छाया सहायक नहीं हो सकती। इसी तरह तीनों गुण परमात्मासे होते हैं इसलिये कोई मनुष्य तमोगुण में हि रहेगा और परमात्मप्राप्तिकी इच्छा करेगा, तो वह उसकी इच्छा कदापि सफल नहीं होगी। उसको शुद्ध सत्त्वगुणमें अर्थात् प्रकाशके मार्गमें हि आना पडेगा। इसी अध्यायमें आगे प्रकाशके मार्ग और अन्धेरेके मार्गका उल्लख आनेवाला है। उसका संबंध इस विवरणसे है, इसलिये यहां इतना लिखना पडा है। अस्तु। परमेश्वर तमसे परे है इसका यह तात्पर्य है।

योगबल।

प्रयाणकालमें भक्तियुक्त अतःकरणके साथ स्थिर चित्तसे और योगबलसे प्राणको भ्रूमध्यमें स्थिर करके जो इस परात्पर पुरुष परमेश्वरका ध्यान करता है और देह त्यागता है, वह उस दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है। यह मरनेके समय का तैयारी है। जो सिद्ध पुरुष योगसाधन करता है, जिसके वशमें प्राण हुआ है, वह इस तरह योगबल प्राप्त कर सकता है। सर्वसाधारण

(५) परम सिद्धि।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

मनुष्यको यह भाग्य प्राप्त नहीं हो सकता। यह योगी तो अपनी इच्छासे अपने मरणकी तैयारी करता है, जैसा कोई मनुष्य ग्रामान्तर करता है वैसाही यह योगी देहान्तर करता है। इतनी शरीरपर स्वाधीनता स्थापित करनी चाहिये। जो योगाभ्यास करेगा उसीको यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है। अन्य लोग यदि सतत परमेश्वरके गुणोंके ध्यान करेंगे, तो उस अभ्यासयोगसे उनको अन्तमें परमेश्वरका स्मरण रहेगा और वे कृतकृत्य होंगे। पूर्वोक्त योगमार्ग यद्यपि सबके लिये उपयोगी नहीं है, तथापि इस अभ्यासयोग के अवलंबसे सबका उद्धार हो सकता है।

जिस परम पदका वर्णन वेदमें सर्वत्र किया है, जिसकी प्राप्तिकी इच्छा वैराग्यसंपन्न लोग करते हैं, जिसकी इच्छासे लोग ब्रह्मचर्य धारण करते हैं, वह पद यहां इस तरह वर्णन किया है। सब इन्द्रियद्वारोंका संयम और मनका हृदयमें निरोध करके तथा मूर्धामें-मस्तकमें-प्राणको धारण करके धारणाका अभ्यास करना चाहिये। इस धारणाकी अवस्थामें रहकर ओंकारका जप करता हुआ, परमेश्वरका स्मरण करके जो देहको छोडता है, वह निःसंदेह परम गतिको प्राप्त होता है।

प्रत्येक मनुष्य अल्प अंशसे यह सब कर सकता है, परंतु सिद्धितक अभ्यास करना प्रत्येक के अधिकारमें नहीं हो सकता। जो यह साधना कर सकते हैं वे अवश्य करें। जो जितना कर सकता है वह उतना अवश्य करे। परंतु जिससे यह प्राणमननिरोधरूपी योग नहीं सिद्ध हो सकता, वह साधक दूसरा अभ्यासयोग अवश्य करे। पूर्वोक्त स्थानमें जो अभ्यासयोग कहा है वह चिरंतन अभ्याससे प्रत्येकको साध्य हो सकता है। अस्तु। भगवद्गीताके ये श्लोक उपनिषदोंसे उद्धृत किये हैं ऐसा विदित होता है। वे श्लोक अब देखिये-

> सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत् ॥१५॥ अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः० ॥ १८॥ अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तो-र्निहितो गुहायाम् ॥ २०॥
>
> कठ उ. २
>
> वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥८॥ यस्मात्पराणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्० ॥ ९॥ अणोरणीन्महतो महीयान्० ॥ २०॥

"सब वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, तप जिसके लिये किये जाते हैं, और जिसके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है, वह पद सारांशसे कहता हूं, वही ओंकार है। वह आत्मा अजन्मा नित्य शाश्वत और पुरातन है। वह छोटेसे छोटा और बडेसे बडा है, वह प्राणीके हृदयमें निवास करता है। यह महान् पुरुष अन्धकारसे परे और सूर्यके समान तेजस्वी है। न इससे कोई छोटा है और न कोई बडा है।" इत्यादि प्रकार वर्णन उपनिषदोंमें मिलता है। पाठक तुलना करके देखें। अब इस उपासनासे प्राप्त होनेवाला फल देखिये—

ईश्वरस्मरण।

(१४-१६) ईश्वरका स्मरण करनेसे ईश्वर प्राप्त होता है ऐसा यहां कहा है। (स्मरति) ईश्वरका स्मरण करनेके लिये ईश्वरका अनुभव

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्येय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! यः नित्यशः अनन्यचेताः (सन्) मां सततं स्मरति, तस्य नित्ययुक्तस्य योगिनः अहं सुलभः (अस्मि) ॥ १४ ॥ परमां संसिद्धिं गताः महात्मानः मां उपेत्य, पुनः दुःखालयं अशाश्वतं जन्म न आप्नुवन्ति ॥ १५ ॥ हे अर्जुन ! आब्रह्मभुवनात् (सर्वे) लोकाः पुनरावर्तिनः (सन्ति); हे कौन्तेय ! मां उपेत्य तु पुनः जन्म न विद्यते ॥

हे अर्जुन ! जो नित्य ' अन्य कुछ भी नहीं है ' ऐसी चित्तकी भावना करके मुझ (ईश्वरकाही) सतत स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीको मैं (ईश्वर) सुलभतया प्राप्त हूँ ॥ १४ ॥ परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्मा लोग मुझ (ईश्वर) को प्राप्त होनेके पश्चात्, पुनः दुःखके स्थानरूप अशाश्वत जन्मको नहीं प्राप्त होते ॥१५॥ हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे लेकर जितने सब लोक हैं, वहांसे (पुनरावृत्ति) पुनः लौटना होता है; हे कुन्तीनन्दन ! परंतु मुझ (ईश्वर) के पास आनेके पश्चात् फिरसे जन्म लेना नहीं पडना ॥ १६ ॥

भावार्थ— जो अपने चित्तसे ' यहां दूसरा कुछभी नहीं है ' ऐसा जानकर अपना मन सतत ईश्वरमेंहि लगाता है और ऐसा अनन्यचित्त होकर जो सतत ईश्वरकाही स्मरण करता है, उस नित्य योगसाधन करनेवाले योगीको ईश्वर सहजहीसे प्राप्त होता है ॥ इस परम श्रेष्ठ सिद्धिको प्राप्त हुए महात्मा लोग ईश्वरको पानेके पश्चात् पुनः पुनः दुःखमय अशाश्वत पुनर्जन्मको कदापि नहीं प्राप्त होते । ब्रह्मलोकसे लेकर जितनेभी लोक हैं, उनमें पहुंचे सिद्ध पुरुष पुनः पुनः लौट आते हैं, परंतु जो सिद्ध पुरुष ईश्वरको प्राप्त होते हैं, उनको लौटना नहीं पडता, अर्थात् उनको पुनः जन्म लेना नहीं होता ॥ १४-१६ ॥

पहिले होना चाहिये । क्योंकि स्मरण अनुभूत विषयकाही होता है । जो विषय किसी तरह भी मनुष्यके अनुभवमें न आया होगा उसका स्मरण वह कैसा कर सकेगा ? मनुष्यके पास कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, और नाक ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं; मन मनन करनेका इंद्रिय है; चिन्तन करनेवाले इंद्रियका नाम चित्त है; ज्ञान ग्रहण करनेवाली बुद्धि है, इनमेंसे किसी इंद्रियद्वारा अथवा सभी इंद्रियोंद्वारा ईश्वरका ग्रहण पहिले होना चाहिये अथवा जिस किसी तरह ग्रहण करना संभव है, उस तरहसे ईश्वरका ग्रहण पहिले होना चाहिये । ग्रहण होनेके पश्चात् हि स्मरण हो सकता है । इस विषयमें इससे पूर्व (९-१३ श्लोकोंकी व्याख्या करनेके प्रसंगमें) जो लिखा है वह पाठक यहां देखें । इस रीतिसे ईश्वरका स्मरण करनेसे ईश्वर सुलभतया प्राप्त होता है ।

नित्य स्मरण ।

(नित्यशः सततं स्मरति) नित्य और सतत

स्मरण करना चाहिये। अर्थात् प्रतिदिन और प्रतिसमय स्मरण होना चाहिये, बीचमें अन्तर नहीं होना चाहिये। निरंतर स्मरण करना मनुष्यके लिये कैसे शक्य है ? क्योंकि मनुष्यके जीवनमें ऐसे कई क्षण चले जाने संभव हो सकते हैं कि उनमें उसके द्वारा ईश्वरका स्मरण होना असंभव हो सकेगा। यह तो हरएकके जीवनमें संभावना है फिर किसको कैसा ईश्वर प्राप्त होगा ?

इसलिये उपाय यही है कि ईश्वरके लिये हि अपना जीवन समर्पण करना। ईश्वरके लिये संपूर्ण जीवन समर्पण करनेसे जो भी इस जीवन में होगा उससे परमेश्वरका स्मरण होगा। यह कैसे हो सकेगा इसका संपूर्ण विचार क्रमशः आगे होगा। परंतु पाठक यहां इतना ही स्मरण रखें कि ईश्वरका सतत और नित्य स्मरण करनेका एकमात्र उपाय आत्मसमर्पण यही ह। आत्मसर्वस्व समर्पण करनेसे अपना ऐसा अन्यत्र कुछ भी नहीं रहता जिसका वह स्मरण करे। दूसरा पदार्थ ही स्मरण करनेके लिये रहा नहीं, जो कुछ रहा है वह ईश्वरही ईश्वर है। ऐसी 'अनन्य' अवस्था होनी चाहिये। जिस अवस्थामें ईश्वरसे भिन्न कोई अन्य नहीं है ऐसा निश्चय होता है उसको 'अनन्य' अवस्था कहते हैं। चित्तकी यह अवस्था हो गई तो उसको 'अनन्य-चेताः' कहते हैं। यही अनन्यचेता साधक ईश्वरका सतत और नित्य स्मरण कर सकता है।

अनन्यचेताः।

प्रायः मनुष्य 'अन्यचेता' होते हैं, 'मैं अन्योंसे भिन्न हूं और अन्य पदार्थ मुझसे भिन्न हैं।' सब पदार्थ परस्परभिन्न हैं। इस प्रकार भिन्नताका दर्शन मनुष्य सदा करता है। यही दुःखका कारण है। पाठक विचार करें और देखें कि जो कुछ झगडे मानवी जीवनमें हो रहे हैं वे सबके सब इस भिन्नताके कारण ही हो रहे हैं। अतः 'अनन्य' का दर्शन होना चाहिये। कोई अन्य नहीं है ऐसा जो अनुभव है वही 'अनन्य' दर्शन है। मुझसे भिन्न कोई नहीं है, यह अनुभव मनुष्यको आ सकता है। यह कोई ख्याली काल्पनिक बात नहीं है। सर्वसाधारण मनुष्य 'अन्यचेता' होते हैं वे 'अनन्यचेता' बनने चाहिये। जो ऐसा 'अनन्यचेता' बनेगा वही मनुष्य (नित्यशः सततं ईश्वरं स्मरति) नित्य और सतत ईश्वरका स्मरण कर सकता है। यहां कोई शंका करनेवाले पूछ सकते हैं कि वह किस तरह नित्य और सतत ईश्वरका स्मरण कर सकता है ? देखिये, उसकी 'अनन्य' स्थिति या चित्तकी भूमिका हुई है। ईश्वरसे भिन्न दूसरा कुछ भी यहां नहीं है, ऐसा पूर्ण निश्चय उसका हो चुका है। एकबार जिसका ऐसा निश्चय हुआ वह जो भी स्मरण करेगा वह परमेश्वरका ही स्मरण होगा, क्यों कि दूसरा कोई पदार्थ स्मरण करनेके लिये उसके सामने आनेकी संभावना ही नहीं है। इस तरह विचार करनेपर पाठकोंका निश्चय होगा कि यही मनुष्य ईश्वरका स्मरण नित्य और सतत कर सकता है, कोई अन्य वैसा नहीं कर सकता। अर्थात् 'अन्यचेता ईश्वरका स्मरण सतत और नित्य नहीं कर सकता, परंतु अनन्यचेता जो होगा वही ईश्वरका सतत और नित्य स्मरण कर सकता है।' इस श्लोकके 'अनन्यचेताः' पदका यह महत्त्व पाठक ठीक प्रकार ध्यानमें रखें।

नित्ययुक्त योगी।

जो इस तरह ईश्वरका नित्य और सतत स्मरण करता है उसका नाम 'योगी' है, योगीका अर्थ है जुडा हुआ। जो 'अनन्यचेता' होता है, जिसके चित्तमें अन्यपनका भाव नहीं है और केवल अनन्यताका ही भाव है, उसमें भिन्नता न होनेके कारण वह समझता है कि यह सब जुडा हुआ ही है, वह अपने आपको भी ईश्वरके साथ जुडा हुआ अनुभव करता है, अतः यह सच्चा 'योगी'

(६) ब्रह्मलोक।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

अन्वयः— यत् ते अहोरात्रविदः जनाः सहस्रयुगपर्यन्तं ब्रह्मणः अहः, तां युगसहस्रां रात्रिं च विदुः॥ १७॥

जो अहोरात्रका प्रमाण जाननेवाले हैं, वे लोग हजार युगोंका एक ब्रह्माका दिन और हजार युगोंकी एक ब्रह्माकी रात्रि होती है, ऐसा जानते हैं॥ १७॥

(जुडा हुआ) कहलाता है। यह (नित्ययुक्त योगी) नित्य ईश्वरके साथ संयुक्त हुआ होता है। कभी उससे भिन्न नहीं रहता। यह एक बडी भारी महत्त्वकी बात है। यहां भी 'नित्ययुक्त' शब्द पडा है, ईश्वरके साथ नित्य संयुक्त रहना कोई सहज कार्य नहीं है, परंतु भगवद्गीताका उपदेश मनमें धारण करनेवाले ईश्वरके साथ नित्ययुक्त हो सकते हैं। यही भगवद्गीता का महत्त्व है।

इस प्रकार जो (अनन्यचेताः) अन्य भाव छोडकर रहनेवाला (नित्ययुक्तः) नित्य संयुक्त योगी होता है वह (नित्यशः सततं स्मरति) नित्य और सतत ईश्वरका स्मरण करता है, अतः (तस्य सुलभः) उसको ईश्वर सुलभ है, अर्थात् उसको ईश्वर सहज ही में प्राप्त होता है। उससे वह दूर नहीं रह सकता।

महात्मा।

एकवार इस तरह साधक परमेश्वरके (उपपत्य) पास पहुंच गया तो वह 'महात्मा' बनता है। इससे पूर्व उसका आत्मा अल्प (अल्पात्मा) होता है, परमेश्वरकी पूर्णताके साथ उसका मेल हो जानेसे वह 'पूर्णात्मा' किंवा 'महात्मा' होता है। और (परमां संसिद्धिं गतः) उसे परम संसिद्धि प्राप्त होती है। यह एक उन्नतिकी अन्तिम अवस्था है। यह अवस्था जिसको प्राप्त होती है उसको (अशाश्वतं दुःखालयं पुनर्जन्म न) अस्थिर और दुःखमय पुनर्जन्म वारंवार प्राप्त नहीं होता। अर्थात् वह जन्ममरणके भ्रमणसे मुक्त होता है। इस रीतिसे मुक्त होना ही मनुष्यजन्मका अन्तिम ध्येय है।

जबतक यह अल्पात्मा रहता है अर्थात् जबतक इसकी दृष्टि भेदभावसे युक्त होती है, अन्यभावसे युक्त होती है, तबतक इसको पुनर्जन्म लेना ही पडेगा। परंतु जिस समय इसके चित्तसे 'अन्यभाव' दूर हो चुका, भेदभाव नष्ट हुआ, उसी समय यह महात्मा और अनन्यचेता होगा और तत्पश्चात् जन्ममरणके कष्ट उसको भोगने नहीं पडेंगे। ब्रह्मलोक तक जितनेभी लोक हैं उतने सब पुनर्जन्म देनेवाले हैं। उन लोकोंको जो प्राप्त होते हैं, पुण्यसंचय समाप्त होनेपर उनको पुनर्जन्म लेनाहि पडता है। परंतु पूर्वोक्त रीतिसे ईश्वरको प्राप्त करनेके पश्चात् पुनर्जन्मके कष्ट भोगनेकी संभावनाही हट जाती है। अब इन ब्रह्मलोक आदि लोकोंका स्वरूप बताते हैं, वह अब देखिये—

ब्रह्माका दिन।

(१७—१९) इस स्थानमें ब्रह्माके दिनका वर्णन है। यह कालगणनाका विषय है। कृत युगका अवधि ४००० दैवी वर्ष, त्रेतायुगका प्रमाण ३००० दैवी वर्ष, द्वापरयुगका प्रमाण २००० दैवी वर्ष, और कलियुगका प्रमाण १००० दैवी वर्ष माना गया है। सब मिलकर १०००० दैवी वर्ष

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्याहरागमे ॥ १९ ॥

अन्वयः— अहरागमे सर्वाः व्यक्तयः अव्यक्तात् प्रभवन्ति, (पुनः) रात्र्यागमे तत्र अव्यक्तसंज्ञके एव प्रलीयन्ते ॥ १८ ॥ हे पार्थ ! स एव अयं भूतग्रामः अवशः (सन्), भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे प्रलीयते, (पुनः) अहरागमे प्रभवति ॥ १९ ॥

ब्रह्माके दिनके आरम्भमें सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्त प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और फिर रात्रिके प्रारंभमें उसी अव्यक्त प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं ॥ १८ ॥ हे अर्जुन ! वही यह भूतोंका समुदाय परतंत्रतासे बार बार उत्पन्न होकर, रात्रि होते ही लीन हो जाता है, और फिर दिन होनेपर उत्पन्न होता है ॥१९॥

भावार्थ— कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग हैं, इन चारों युगोंका नाम मिलकर 'महायुग' है। ऐसे एक सहस्र महायुगोंका ब्रह्माका एक दिन और उतनेही समयकी ब्रह्माकी एक रात्रि होती है। [अर्थात् ब्रह्माका एक अहोरात्र दो सहस्र महायुगोंका होता है। ऐसे ३६० अहोरात्रोंका एक वर्ष और ऐसे १०० वर्षोंकी ब्रह्माकी आयु होती है।] ब्रह्माके दिनका आरंभ होते ही अव्यक्त प्रकृतिसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है और दिनकी समाप्ति होकर रात्रिका प्रारंभ होनेके समय सब भूतोंका लय उसी अव्यक्त प्रकृतिमें हो जाता है। जो भूतोंका समुदाय यहां हमें दीखता है वह उत्पन्न होने और लय होनेमें स्वतंत्र नहीं है। वह विश्वचक्रके आधीन है अर्थात परतंत्र है, अतः ब्रह्माकी रात्रिके समय वे अवश होकर अव्यक्त प्रकृतिमें लीन होते हैं और ब्रह्माके दिनके प्रारंभमें अवश होकरही उत्पन्न होते हैं। यह क्रम अखंड चलता रहता है। किसीके मनमें उत्पन्न होने या लीन होनेकी इच्छा न रही तोभी उसका कुछभी नहीं चलता, वह अनादि चक्र घूमता ही रहेगा ॥ १७—१९ ॥

होते हैं। एक युग समाप्त होतेहि दूसरा युग प्रारंभ नहीं होता है, बीचमें संधिसमय होता है, इस संधिसमयकी अवधि निम्न लिखित प्रकार मानी गयी है-कृतयुगके आदि अन्तमें चार चार सौ वर्ष मिलकर ८०० वर्ष, त्रेताके आदि अन्तमें तीन तीन सौ वर्ष मिलकर ६०० वर्ष, द्वापरके आदि अन्तमें दो दो सौ वर्ष मिलकर ४०० वर्ष और कलियुगकी आदि अन्तमें सौ सौ वर्ष मिलकर २०० वर्ष, मिलकर २००० वर्ष संधिकालके समझे गये हैं। मुख्य चार युगोंका समय १०००० और संधिकालके २००० वर्ष मिलकर चारों युगोंका कुल समय १२००० दैवी युग होता है। यह चतुर्युगीका समय है, इसीको एक महायुग कहते हैं। इस चतुर्युगीके मानवी वर्ष कितने होते हैं, देखिये—

मानवी ३६० दिनोंका १ दैवी दिन होता है। इस तरह मानवी ३६० वर्षोंका १ दैवी वर्ष होता है। अतः १२०००×३६०=४३२०००० मानवी वर्ष पूर्वोक्त चतुर्युगीके होते हैं। इसका प्रमाण यह है-

३६० मानवी दिन = १ मानवी वर्ष, १ दैवी दिन,
३६० दैवी दिन = १ दैवी वर्ष

(७) परम धाम।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

१२००० दैवी वर्ष	= १ चतुर्युगी, १ महायुग
७१ महायुग	= १ मन्वन्तर
१४ मन्वन्तर और १५ संधिकाल	= १ ब्रह्माका दिन अथवा १००० महायुग

१४ मन्वंतरोंके (१४×७१) ९९४ महायुग हुए और प्रति मन्वंतरके पश्चात् कृतयुग जितना (४००० दैवी वर्षोंका) संधिकाल होता है। ऐसे १४ मन्वन्तरोंमें १५ संधिकाल होते हैं। अतः (१५×४ मिलकर=) ६ महायुग संधिकालके मिलकर (९९४+६=) १००० महायुग एक ब्रह्माके दिनमें होते हैं।

इससे पूर्व महायुगका प्रमाण (१२०००×३६०=) ४३२०००० मानवी वर्ष हैं ऐसा बताया है। ऐसे एक हजार युग ब्रह्माके एक दिनमें होते हैं, अतः ४३२००००×१०००=४३२००००००० इतने मानवी वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन होता है, और इतनेही समयकी ब्रह्माकी एक रात्री होती है। अर्थात ब्रह्माके अहोरात्रका समय ८६४००००००० इतने मानवी वर्षोंका है। मनुस्मृतिमें इस विषयमें कहा है—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥६८॥
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥६९
इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥७०॥
यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥७२॥
तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥७३॥

मनुस्मृति अ. १

"ब्रह्माके दिन और रात्रिका प्रमाण यह है। कृतयुगका समय चार हजार वर्षोंका है, इसका संधिकाल भी चार सौ वर्षोंका है। अन्य युगोंका समय प्रत्येकमें एक एक हजार वर्षोंसे न्यून और प्रत्येकका संधि समय सौ सौ वर्षोंसे क्रमशः न्यून होगा। मनुष्योंके चतुर्युगोंकी वर्षसंख्या बारह सहस्र वर्षोंकी है यही देवोंका एक युग है। देवोंके एक हजार वर्ष हुए तो ब्रह्माका एक दिन होता है और उतनाही समय रात्रिका होता है, यह अहोरात्रकी गणना करनेवालोंका मत है।" यही कथन निरुक्त अ. १४ खंड ४ में किया गया है। भगवद्गीताका 'सहस्रयुगपर्यन्तं' आदि (८।१७) श्लोक जैसाका वैसाही निरुक्तमें मिलता है। यही कालगणना महाभारत शान्तिपर्व अ. २३१ और सूर्यसिद्धान्त १।१५-२० में कही है।

ब्रह्माका दिन प्रारंभ होतेहि संपूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है और ब्रह्माकी रात्रिका प्रारंभ होतेहि सब भूतोंका लय होता है। इस तरह उत्पत्ति और लय चल रहे हैं। ब्रह्माके ऐसे सौ वर्ष व्यतीत हुए तो दूसरा ब्रह्मा आता है। यह क्रम अव्याहत चल रहा है। इसका अन्त नहीं है। अतः इस ब्रह्मलोकको प्राप्त करनेके पश्चात् भी शान्ति नहीं है। जन्ममृत्युका दुःख है हि, आयुष्य बडा होगा इतना ही है, परंतु मृत्युभय नहीं हटता। इसके हटनेका उपाय अब कहते हैं-

परम धामकी खोज।

(२०-२२) इन श्लोकोंमें परम धामका वर्णन

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

अन्वयः— यः तु सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति, सः, तस्मात् अव्यक्तात् अन्यः, अव्यक्तः, सनातनः, परः, भावः (अस्ति) ॥ २० ॥ यः अव्यक्तः (भावः) अक्षरः इति उक्तः, तं परमां गतिं आहुः, (ज्ञानिनः) यं प्राप्य न विवर्तन्ते, तत् मम परमं धाम (अस्ति) ॥ २१ ॥ हे पार्थ ! भूतानि यस्य अन्तस्थानि (सन्ति), येन इदं सर्वं ततं, सः तु परः पुरुषः अनन्यया भक्त्या लभ्यः (अस्ति) ॥ २२ ॥

जो सब भूतोंके नाश होनेपरभी नाशको नहीं प्राप्त होता, वह उस अव्यक्तसे भिन्न, अदृश्य और सनातन ऐसा दूसरा एक भाव है- वह दूसरा पदार्थ है ॥ २० ॥ जो अव्यक्त भाव अक्षर नामसे प्रसिद्ध है, उसे ही परम गति कहते हैं। ज्ञानी जिसे प्राप्त करके फिर पीछे नहीं लौटते, वह मेरा (ईश्वरका) परम धाम है ॥ २१ ॥ हे पार्थ ! सब भूत जिसके अन्दर हैं और जिसने यह सब व्याप्त हुआ है, वह परम पुरुष अनन्य भक्तिसेहि प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

भावार्थ— ये जो संपूर्ण भूतमात्र हैं वे सबके सब नाशको प्राप्त होते हैं। इन सबका नाश होनेपर भी एक तत्त्व ऐसा रहता है कि जिसका कभी नाश नहीं होता। इस प्राकृतिक अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ वह जो सनातन टिकनेवाला अव्यक्त पदार्थ है वही सबसे श्रेष्ठ है॥ जो अक्षर नामसे सुप्रसिद्ध अव्यक्त तत्त्व है वही परम गति है, वही परम पद है और वही परम धाम है। इस परम धामको प्राप्त होनेवाले ज्ञानियोंको फिर पुनर्जन्म नहीं लेना पडता। यही ईश्वरका श्रेष्ठ धाम है। इसके अन्दर संपूर्ण भूतमात्र हैं, और यही सब भूतोंमें व्याप्त है और यह परम पुरुष केवल अनन्यभक्तिसे प्राप्त होता है। इसकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ २०-२२ ॥

है। परम धामकी खोज करनेके लिये हमें अपने चारों ओर देखना चाहिये। चारों ओर अनंत पदार्थ दीखते हैं। क्या इन विविध पदार्थोंमें परम धाम है? नहीं नहीं, ये तो सब ही पदार्थ ऐसे हैं कि जो पहिले नहीं थे,किसी कालमें उत्पन्न हुए हैं और कुछ समयके पश्चात् नष्ट होंगे। उत्पन्न होना, बढना, परिणत होना, क्षीण होना और नाश होना,ये ही अवस्थाएं इन सब पदार्थोंकी होती हैं। यह विकारवान् पदार्थोंकी अवस्थाएं हैं। जो विकारवान् पदार्थ हैं और नाशवान् हैं वह परम धाम कहलाने योग्य नहीं हो सकता। परमधाम तो अविनाशी सनातन होनेसेहि प्राप्त करने योग्य है। यदि हमने परमधामके बदले कोई ऐसा विकारी नाशवान् पदार्थ प्राप्त किया, तो वह हमें क्षणमात्र सुख देगा और कुछ समयके पश्चात् वह स्वयं नष्ट हो जायगा। ऐसे नश्वर पदार्थसे भला कौनसा लाभ होगा और ऐसी नश्वर वस्तु प्राप्त होनेके लिये ऐसे परिश्रम करनेकी भी क्या आवश्यकता है? अतः जो परमधाम प्राप्त करना है वह इन नश्वर वस्तुओंके अन्दर नहीं हो सकता।

हम प्रतिदिनके अनुभवसे ऐसा कह सकते हैं

कि ये सब पदार्थ नाशको प्राप्त होनेवाले हैं। ये व्यक्त पदार्थ हैं जो नष्ट होते हैं, अतः केवल व्यक्त वस्तु परम धाम नहीं हो सकती। इससे परे 'अव्यक्त' है। संभवतः वह अव्यक्त परम धाम होगा। परंतु अव्यक्त दो प्रकारके हैं ऐसा यहां कहा है। एक अव्यक्त वह है कि जो इन सब नश्वर वस्तुओंका उपादान कारण महत्तत्त्व, अथवा गुणसाम्या मूलप्रकृति है। इससे मिट्टीसे घडे बननेके समान सब वस्तुमात्र बनते हैं और घडे मिट्टीमें मिलजानेके समान सब वस्तुएं उसी में लीन हो जाती हैं। इस महत्तत्त्वको और गुणसाम्या प्रकृतिको भी 'अव्यक्त' कहते हैं। परंतु यह अव्यक्तभी परमधाम कहने योग्य नहीं है, क्योंकि यह एक समय अव्यक्त स्थितिमें रहता है और दूसरे समय व्यक्त स्थितिमें परिणत होता है। अर्थात् सदा एकसां नहीं रहता। जो एकसां नहीं रहता उसके आश्रयपर हम कैसे विश्वास रख सकते हैं? उदाहरणके लिये देखिये तालाव के बर्फपर यदि किसीने विश्राम किया, तो बर्फ पिघल जानेपर वह उस जलमें डूब मरेगा। क्यों कि वह जल एक समय बर्फरूप सख्त होगा और दूसरे समय प्रवाही बन जायगा। इसी तरह यह गुणसाम्या प्रकृतिरूप जो अव्यक्त है वह एक समय अव्यक्त रहता है और दूसरे समयमें व्यक्त रूप धारण करता है। अतः यह परमधाम होने योग्य नहीं है।

परमधाम ऐसा होना चाहिये जो अखंड एकरस, एकरूप और एकस्थितिवाला हो; वही विश्वासयोग्य निवासस्थान होगा। वह तो मूलप्रकृतितकके अनेक पदार्थोंमें एक भी नहीं है। इसीका वर्णन इस श्लोकमें

अव्यक्तात् अन्यः अव्यक्तः सनातनः परः भावः। (२०)

" इस गुणसाम्य मूलप्रकृतिसे (अव्यक्त प्रकृतिसे) दूसरा एक सनातन अव्यक्त (आत्मतत्त्व) है वही सच्चा श्रेष्ठ तत्त्व है।" यही सच्चा परम धाम कहलाने योग्य है, क्यों कि यह सदा एकरस अखंड सनातन है, यह जैसा आज है वैसाही कल था और वैसा ही भविष्यमें रहेगा। यही संपूर्ण नाशवान् पदार्थोंमें अविनाशी है। सबके नाश होनेपर भी यह एक जैसा रहता है। यह विकाररहित है। इसीको—

अव्यक्तो अक्षर इत्युक्तः

"अव्यक्त अक्षर ऐसा कहते हैं।" और इसी अव्यक्त अक्षरको-

परमां गतिं आहुः। (२१)

तत्परमं धाम। (२१)

" परमगति और परमधाम कहते हैं " यही अन्तिम प्राप्तव्य है। यहां पहुंचनेपर फिर (यं प्राप्य न निवर्तन्ते) दुःखमें लौटना नहीं पडता। यहांही अखंड आनन्द प्राप्त होता है। यही परमात्माका पद है। ईश्वरकी सत्ता इसीको कहते हैं। यही ब्रह्मपद है। यही (परः पुरुषः) पर पुरुष, परम पुरुष कहलाता है। इसीमें सब भूत हैं। और सब भूतोंमें यह रहता है। यही सर्वत्र व्याप्त है। (अनन्यया भक्त्या लभ्यः) अनन्य भक्तिसेहि उसकी प्राप्ति हो सकती है। जिसमें अन्य भाव नहीं है वह अनन्यभाव है और उसके साथ जो भक्ति होती है वह अनन्य भावसे भक्ति है। मैं ईश्वरसे विभक्त नहीं हूं, ईश्वरसे भिन्न मैं नहीं, मैं ईश्वरसे अन्य नहीं हूं ऐसे भावसे जो भक्ति होती है, ऐसे ऐक्यभावसे जो सेवा होती है वह अनन्य भक्ति है। जो ऐसी अनन्यसेवा करता है उसको परमेश्वर प्राप्त होता है, क्यों कि वह परमेश्वरसे अभिन्न होता है, अभिन्न होनेके कारण हि वह सदा प्राप्त रहता है। उसको परमेश्वर किसी दूसरे स्थानसे आकर प्राप्त होता है ऐसी बात नहीं है, वह अनन्य होनेका आशय ही यह है कि वह परमेश्वरका एक भाग बनता है (ममैवांशः। भ० १५।७) । वह परमेश्वरका अंश बननेसेहि वह 'अनन्य' हो सकता है। जो

(८) पुनरावर्तनका समय।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

अन्वयः— हे भरतर्षभ ! यत्र काले तु प्रयाताः योगिनः अनावृत्तिं आवृत्तिं च एव यान्ति, तं कालं वक्ष्यामि ॥ २३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जिस समयमें प्रयाण करनेसे योगी लोग लौटकर नहीं आते और (जिस समयमें प्रयाण करनेसे) लौटकर आते हैं, वह समय मैं तुझे बताऊंगा ॥ २३ ॥

अन्य होगा वह कदापि अनन्य हो नहीं सकता। जो स्वभावसे अनन्य होगा वही अनन्य हो सकता है। अतः कहा है कि—

तदपश्यत्, तदभवत्, तदासीत् । वा. य. ३२

उसने उस ब्रह्मको देखा, देखनेसे वह स्वयं ब्रह्म बन गया, क्यों कि वह पहिलेसेहि ब्रह्म था। यदि वह ब्रह्म न होता तो कदापि ब्रह्म न बनता। था इसलिये बन गया। अस्तु इस तरह-

पर पुरुष	पर भाव	परमेश्वर
पर-अव्यक्त	अव्यक्त(सनातन)	गुणसाम्या-प्रकृति
अव्यक्त	अव्यक्त	महत्तत्त्व
व्यक्त	विश्व (भूतानि)	पंचमहाभूत

इस तरह जो परम पुरुष है वही 'परमगति, परमधाम, परमपुरुष, परमभाव' आदि नामसे वर्णित होता है। यही मनुष्योंका प्राप्तव्य है।

यहां 'अव्यक्त' शब्द 'दैवी प्रकृति' और 'अक्षर परब्रह्म' इन दोनों अर्थोंमें आया है। अतः (अव्यक्तात् अन्यः अव्यक्तः) एक अव्यक्तसे दूसरा परला अव्यक्त, ऐसा यहां अव्यक्त अक्षर-ब्रह्मके विषयमें कहा है। अव्यक्त शब्दके ये दोनों अर्थ लेनेसे अर्थकी स्पष्टता हो सकती है। गीतामें प्रयुक्त हुआ है, इसका अनुसंधान पाठक अवश्य करें।

अब मरणके पश्चात् पुनर्जन्म प्राप्त होने और न होनेके विषयमें जो कालकी अवधि नियत है, उस संबंधमें कहते हैं, तो देखिये-

(२३—२६) जिस समयमें मृत्यु होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है और जिस समय मृत्यु होनेसे पुन-र्जन्म प्राप्त होता है, इसका संकेत यहां किया है। उत्तरायणके छः महिनोंमें शुक्ल पक्षमें दिनके समय हवनाग्निकी ज्योती बडी तेजस्वी रहनेके कालमें ब्रह्मज्ञानी देह छोडते हैं और वे सीधे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। तथा दक्षिणायनके छः महिनोंमें कृष्णपक्ष की रात्रीके समय हवनाग्नि बुझनेके पश्चात् जो धूआँ फैलता है उस समय जो कर्मयोगी देह छोडते हैं वे चन्द्रमाको प्राप्त होकर वापस लौटकर आते हैं। इनको पुनः जन्म लेना पडता है। ब्रह्मज्ञानियोंकी प्रकाशगती कहलाती है और दूसरोंकी धूम्रगति कही जाती है। ये दोनों गतियां इस जगत्में सनातन कालसे चल रहीं हैं। जो अर्चिरादि मार्गसे जाते हैं वे मुक्त होते हैं और धूम्रमार्गसे चले जाते हैं वे लौटकर वापस आते हैं।

इन मार्गोंका अधिक विचार करना चाहिये। 'अक्षर' शब्दभी इसी तरहके दो अर्थोंके साथ साधारण व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करनेसे

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

अन्वयः— अग्निः, ज्योतिः, अहः, शुक्लः (पक्षः), षण्मासाः उत्तरायणं, तत्र (काले) प्रयाताः ब्रह्मविदः जनाः ब्रह्म गच्छन्ति ॥ २४ ॥ धूमः, रात्रिः, तथा कृष्णः (पक्षः), षण्मासाः दक्षिणायनं, तत्र (काले प्रयातः) योगी चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥ जगतः एते हि शुक्लकृष्णे गती शाश्वते मते। एकया अनावृत्तिं याति, अन्यया पुनः आवर्तते ॥ २६ ॥

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायणके छः महिने, इस समयमें प्रयाण करनेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥२४॥ धूवाँ, रात्री, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनके छः महिने, इस समयमें जानेवाले कर्मयोगी चन्द्रमाकी ज्योतीको प्राप्त होकर वापस लौटकर आते हैं ॥२५॥ जगत्के ये शुक्ल और कृष्ण नामक मार्ग सनातन हैं। एकसे लौटकर नहीं आते, और दूसरेसे पुनः पुनः लौटकर आना पडता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— किस समयमें प्रयाण करनेसे लौटकर आना पडता है और किस समयमें प्रयाण करनेसे लौटकर आना नहीं होता, इस विषयका सिद्धान्त यह है, उत्तरायणके छः महिनोंके शुक्ल पक्षमें दिनके प्रकाशमें अग्निके प्रदीप्त रहनेके समयमें जो ब्रह्मज्ञानी इस देहको छोड़कर चले जाते हैं वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और लौटकर वापस नहीं आते। तथा दक्षिणायनके छः महिनोंके कृष्णपक्षमें रात्रीके अन्धेरेके समयमें अग्निसे धूवां फैलनेके समयमें जो कर्मयोगी देह छोडकर चले जाते हैं वे चन्द्रमाको प्राप्त होकर वापस आकर पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं। ये इस जगत्के शुक्ल और कृष्ण गति शाश्वत हैं। एकसे पुनर्जन्म और दूसरेसे मोक्ष मिलता है ॥ २३-२६ ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाशके समय मार्ग चलनेसे विना विघ्न इष्ट स्थानमें पथिक अच्छी तरह पहुंच सकता है। यदि वह गाढ अंधकारकी रात्रीमें, धुवां फैलनेके समय अथवा हिम फैलनेके समय प्रवास करनेके लिये चला जायगा, तो उसको मार्ग दीखेगा नहीं, ठोकर खायेगा, गिरेगा और प्राप्तव्य स्थानको न पहुंचते हुए वापस लौट आवेगा। यदि अंधकारमें वह अपने साथ दीप लेगा तो वह अपने मार्गको सुगमताके साथ काट सकेगा। अर्थात् प्राप्तव्य स्थानको पहुंचनेके लिये प्रकाशकी आवश्यकता है, यह बात प्रत्यक्ष व्यवहारमें अनुभवमें आनेवाली है।

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्षकी चन्द्रिका ये शब्द मार्गदर्शक प्रकाशके सूचक हैं। और धूवाँ, रात्री, अंधेरा, कृष्णपक्ष ये शब्द मार्गलोपक अन्धेरेके सूचक हैं। यहां शब्दोंका हठ न करते

हुए यदि भावकी ओर लक्ष्य दिया, तो पता लग जायगा कि ये शब्द केवल प्रकाश और अंधेरेके सूचक हैं। उत्तरायणमें भी वृष्टी नहीं होती, बर्फ पिघलकर मार्ग खुल जाते हैं इत्यादि सुगमता प्रवासके लिये होती है। इसी तरह दक्षिणायनमें वृष्टीके कारण असुविधा प्रवासके लिये होनेका अनुभव है। अर्थात् प्रवासकी सुगमता इस प्रकाशके मार्गमें है और प्रवासकी कठिनता इस कृष्णमार्गमें है। यह बात विचारी पाठक जान सकते हैं।

यहां जो हमें प्रवास करना है वह ब्रह्मधामका प्रवास है। यदि इस प्रवासमें हमारा साथी प्रकाश रहा तो सुगमता होगी, और यदि प्रकाश न रहा और अन्धेरेमें टटोलना पडा तो बडा दुःख होगा। इसलिये आध्यात्मिक ब्रह्मधामके मार्गमें भी प्रकाशकी सहायता लेना अत्यंत आवश्यक है। यहां आध्यात्मिक ब्रह्मधामके मार्गमें प्रवासके मार्गमें प्रकाश कौनसा है? सद्गुरु ही मुख्य प्रकाश देनेवाला अग्निके समान तेजः केन्द्र है, इसीकी ज्ञानरूप ज्योती साधकको मार्ग दर्शाती है। जबतक इस सद्गुरुके ज्ञानरूप प्रकाशमें यह रहता है तब तक इसको दिनके समान प्रकाश मिलता रहता है, यही आध्यात्मिक प्रवास के पथिकका दिन है। शुद्धपक्षमें रहनेका अर्थ यही है कि कभी अशुद्ध पक्षका आश्रय न करना, मलिन पक्षके लिये अपनी शक्ति कदापि समर्पित न करना। प्रतिसमय विचार करना चाहिये कि मैं शुद्धपक्षमें हूं अथवा अशुद्ध पक्षमें हूं। इस तरह जो सद्गुरुरूपी सूर्यके ज्ञानरूप प्रकाशसे प्रकाशित हुए दिनमें रहता है और सदा शुद्ध पक्षका पक्षपाती रहता है उसीका 'उत्तर-अयन' होता है अर्थात् (उत्-तर) अधिक ऊंचा (अयन) गमन होता है, वह उच्च अवस्थाको प्राप्त करता है। इस प्रकाश मार्गसे जानेवाले ज्ञानी सीधे ब्रह्मको प्राप्त करते हैं।

अब इसके विपरीत जो सद्गुरुको प्राप्त नहीं करते, वे गाढ अन्धकारकी रात्रीमें धूवेंसे वेष्टित होनेके समान भ्रान्त होते हैं, मार्ग नहीं देख सकते, (रात्री = रमयित्री) रममाण होना भोग भोगना चाहते हैं, भोगभोगते और भोगोंसे रोगी होते चले जाते हैं। इतना होनेके पश्चात् वे अशुद्ध मलीन (कृष्ण) पक्षमें संमिलित होते हैं, क्योंकि इनके लिये कोई मार्ग दर्शक नहीं होता, न वे स्वयं मार्ग देख सकते हैं, इस तरह चारों ओर से कष्ट भोगते हुए, ठोकरें खाते हुए (दक्षिण-अयन) दक्षिण गतिको प्राप्त होते हैं, यह पितरोंकी गति है, यह मृत्युकी गति है, यह वारंवार दुःख भोगनेकी गति है। इस अधोगति को प्राप्त होते हैं। यहां उनको सहायक कोई नहीं मिलता, यहां इनके वेही साथी होते हैं, जो भोगी आर रोगी होते हैं, जो अशुद्ध पक्षमें संमिलित हुए होते हैं, जो कभी शुद्धपक्षमें संमिलित हो नहीं सकते। ऐसे पक्षमें संमिलित होनेके कारण ये अंधेरेमें अधिकहि ठोकरें खाते जाते हैं। ऐसे दूर, सरल मार्गसे दूर जानेके पश्चात् इनको कुछ रोशनी दीखती है। वह रोशनी स्वयंप्रकाशी आदित्य ब्रह्मचारी की नहीं है, प्रत्युत परप्रकाशी बहुभोगी होनेके कारण नित्य-क्षयी चन्द्रमाकी धुंधली रोशनी है। यह चन्द्रमा बिचारा थोडासा प्रकाश सूर्यसे प्राप्त करके उसमें से कुछ अपने लिये रखकर थोडासा दूसरोंको यथाशक्ति देता रहता है। आधी आयु तो उसकी क्षयी अवस्थामें चली जाती है, यह पूर्व आयुमें अधिक भोग भोगनेके कारण राजयक्ष्मासे व्यथित हुआ, पश्चात् सोमादि औषधियोंका सेवन करनेके कारण कुछ तेजस्वी बनने लगा। ऐसा यह स्वयं अशक्त सदा परगृहमें रहनेवाला परप्रकाशी चन्द्र कुछ मार्गदर्शक बनता है, और इसकी रोशनीमें यह अपना मार्ग आक्रमण करता जाता है। इसके प्रकाशसे अन्ततक सहायता होना असंभव है क्योंकि कुछ दिन प्रकाश मिला तो फिर ये स्वयं ऐसे क्षीण होते हैं कि इनको

(९) मोहनिरास ।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

अन्वयः— हे पार्थ! एते सृती जानन् कश्चन योगी न मुह्यति; तस्मात्, हे अर्जुन! (त्वं) सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः भव ॥ २७ ॥

हे अर्जुन! इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई योगी कदापि मोहको प्राप्त नहीं होता; इसलिये हे अर्जुन! तू सब कालोंमें योगसे युक्त हो ॥ २७ ॥

भी प्रकाश नहीं मिलता। फिर ये भला दूसरोंको क्या मार्ग दिखा सकते हैं? इसलिये इनसे प्रकाश दिखाई दिया तो मार्ग आक्रमण करना और इनका प्रकाश न मिला तो स्वयं अंधेरेमें रहना होता है। इसलिये वारंवार कष्ट होते हैं। कोई कार्य किया, तो वह पूर्ण होगाही ऐसा निश्चय नहीं होता, अधूरा छोडकर वापस आना भी होता है। इस तरह यह आवागमनके कष्टोंका मार्ग है।

एक सत्पक्ष होता है और दूसरा असत्पक्ष होता है। इन पक्षोंके ये नाम विभिन्न स्थानोंमें संस्कृत सारस्वतमें आगये हैं—

शुक्लगति	कृष्णगति
शुक्लपक्ष	कृष्णपक्ष
शुद्ध पक्ष	मलिन पक्ष
सत्पक्ष	असत्पक्ष
संवृद्धपक्ष	हीन पक्ष
अग्नि,ज्योति	धूम, अन्धकार
सूर्य	चन्द्रमाः
उत्तर-अयन	अधोगमन
उच्चतर गमन	दक्षिणायन
दिन	रात्री
प्रकाश	अन्धकार
ब्रह्मविदः	अविद्वांसः
अर्चिमार्ग	धूम्रमार्ग
देवयान	पितृयाण
देवपक्ष	असुरपक्ष
दिव्यमार्ग	मृत्युमार्ग
अमरत्व	मरण

इत्यादि शब्दोंसे दो मार्गोंकी ठीक ठीक कल्पना आ सकती है। सत्पक्ष और असत्पक्ष ये हैं। इनकी गति कैसी होती है वह यहां बतायी है। इन शब्दोंके मननसे इनकी गतिका निश्चय हो सकता है।

पाठक अपने आपको शुद्धपक्षमें रखनेका यत्न करें कभी अशुद्ध मलिन पक्षकी ओर न जाय। ऐसा करनेसे उनका उच्चतर गमन (उत्तर-अयन) हो सकता है। आगे १६ वें अध्यायमें दैवी और आसुरी संपत्ती का विभाग बताया है, उसके साथ इन दो शुक्लगति और कृष्णगतिका घनिष्ट संबंध है। इसका विचार करनेसे बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। देखिये-

नित्ययोग ।

(२७-२८) जो पूर्वोक्त शुक्ल और कृष्ण गतियोंका यथायोग्य ज्ञान जानता है वह किसी प्रकार मोहित नहीं होता। क्योंकि शुद्ध पक्षमें

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अन्वयः- योगी इदं विदित्वा, वेदेषु यज्ञेषु तपःसु दानेषु च एव यत् पुण्यफलं प्रदिष्टं, तत् सर्वं अत्येति, आद्यं परं च स्थानं उपैति ॥२८॥

योगी इसको जानकर, वेदोंमें यज्ञोंमें तपोंमें और दानोंमें जो पुण्यफल है ऐसा बताया है, उस सबके परे जाकर, आद्य और परम उच्च स्थानको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

भावार्थ— योगी इन दोनों शुक्ल और कृष्ण मार्गोंको जानता है, और इनको जाननेके कारण किसी प्रकार किसी भी मोहमें नहीं फंसता। अतः सदा सर्वदा योगका अवलंबन करना योग्य है ॥ इस तरह जो सदा सर्वदा योगमार्गका अवलंबन करता है वह वेदों यज्ञों तपों और दानोंसे मिलनेवाले पुण्यको छोडकर, आगे जाकर आद्य परम उच्च स्थानको प्राप्त करता है और वहां विराजता है, जिससे और कोई श्रेष्ठ प्राप्तव्य नहीं है ॥२७-२८॥

रहनेसे क्या होगा और मलिन पक्षमें रहनेसे क्या होगा, इसका यथावत् ज्ञान उसको होता है, अतः मलिन पक्षमें संमिलित होनेका मोह इसको नहीं होता। इसका स्पष्ट कारण यह है कि मलिन पक्षका परिणाम कैसा भयानक हो सकता है यह बात उसे विदित होती है और इस हेतुसे वह अपने आपको उस हीन मार्गसे बचाता है, मोहित होकर उसमें गिरना नहीं चाहता। दोनों मार्गोंका परिणाम स्पष्टताके साथ उसके सन्मुख होनेसे हि वह हीन मार्गमें मोहित नहीं होता।

इस अधःपात करनेवाले मोहसे छुटकारा पानेका उपाय एकमात्र यही है कि सदा सर्वदा योगके अनुसार अपना आचरण करना। जो कुछ करना हो वह योगके अनुसार करना। उठना बैठना सोना चलना, संसारका कार्य करना, राष्ट्र-कार्य करना हो, अथवा जोभी कुछ करना हो वह सब योगके आदेशानुसार करना। प्रत्येक क्षण योगसे हि युक्त करना। योगका अर्थ कर्मकी कुशलता, सुखदुःखके विषयमें समबुद्धि, और भोगके विषयमें अनासक्ति है। प्रतिक्षणमें जो कुछ कर्म बनेगा वह कुशलतासे, समतासे और अनासक्तिसे बने। इसीका नाम सदासर्वदा योग-युक्त रहना है। जो इस तरह सर्वदा योगयुक्त होता है वह कभी मोहमें नहीं फंसता। योगका दूसरा अर्थ 'योग्य कर्म' है। प्रतिसमय मनुष्य अपने आपसेहि पूछे कि मुझे इस समय क्या करना योग्य है? इस प्रश्नका जो उत्तर आवे तदनुसार वह कर्म करे। मन सुसंस्कृत रहा तो उत्तर योग्यही आता है।

मनुष्यको उचित है कि वह अपने आपको नित्य योगयुक्त करनेका यत्न करे। पहिले पहिले यह बात बनेगी नहीं, कठिनता प्रतीत होगी, परंतु बारंवार अभ्यास करनेसे यह अपना स्वभावही बन जायगा।

ऐसा नित्य योगयुक्त होनेसे कौनसा लाभ होना संभव है इस का उत्तर अगले श्लोकमें दिया है। वेद पठन करना, यज्ञयाग करना, कृच्छ्र-

चांद्रायणादि तप करना, दान देना इत्यादिसे जो पुण्य प्राप्त होता है उससेभी (अत्येति) अधिक पुण्य 'नित्ययुक्त' अर्थात् प्रत्येक क्षणमें योग पद्धतिके अनुसार आचरण करनेसे मिलता है। और अन्तमें (आद्यं) पहिला और श्रेष्ठ स्थान प्राप्त होता है। यही मनुष्य का प्राप्तव्य है।

आद्य का अर्थ पहिला, आदिम, प्रथम, मुख्य स्थान है। सबसे प्रथम स्थान और सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करनेके लिये केवल एकही उपाय है और वह यह है कि योगपद्धतिके अनुसार अपने संपूर्ण समयका यथायोग्य उपयोग करना, अथवा जो करना हो वह योगरूप बनाना, योगयुक्त बनना, अपना स्वभावही ऐसा बनाना कि अपने द्वारा जो हो वह योगही बने।

अक्षरब्रह्मके साथ अपना संयोग करनेके लिये यह 'नित्ययोग' यहां कहा है। पाठक इसका आचरण सदा सर्वदा करें, प्रत्येक कर्म योगपद्धतिसे करें और पहिला और श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करें।

आठवां अध्याय समाप्त ॥८॥

अष्टम अध्यायके सुभाषित।

१ कर्मका लक्षण.

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

गी. ८।३

"प्राणिमात्रके अपने निज स्वभावकी उन्नति करनेका जो विशेष प्रयत्न है उसका नाम कर्म है।" प्रत्येक प्राणीका कुछ विशेष शुभ गुण कर्म-स्वभाव होता है, उसका उत्कर्ष करनेके यत्नका ही नाम कर्म है।

२ सतत मननका प्रभाव.

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

गी. ८।६

"जिस भावका स्मरण करता हुआ मनुष्य देह छोडता है उस भावसे प्रभावित होकर, उसीको प्राप्त होता है।" मनुष्य जैसा विचार धारण करता है वैसा बनता है।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

गी. ८।७

"ईश्वरमें मन बुद्धि अर्पण करनेसे ईश्वरही निःसंन्देह प्राप्त होगा।" क्यों कि मन और बुद्धिमें जो भाव सतत रहेगा वैसाही मनुष्य बनेगा।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥

गी० ८।८

"चित्त एकाग्रकर ईश्वर स्मरणका सतत अभ्यास करनेसे मनुष्य दिव्य पुरुष परमेश्वरको प्राप्त होता है।"

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

गी. ८।१४

"एकाग्रचित्त होकर जो सतत नित्य ईश्वरका स्मरण करता है, उसको ईश्वर सुलभतासे प्राप्त होता है।"

३ ईश्वरस्मरण

सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ॥ गी. ८।७

" सदा ईश्वरका स्मरण कर और युद्ध कर।" पहिले ईश्वरका स्मरण कर और पश्चात् युद्ध आदि कर्तव्य कर।

४ ज्ञानका महत्त्व।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ॥

" जो इस गतिका ज्ञान प्राप्त करता है वह योगी कदापि मोहको प्राप्त नहीं होता।"

श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टम अध्यायका थोडासा मनन।

अक्षर-ब्रह्म-योग।

इस अष्टम अध्यायका विषय 'अक्षर-ब्रह्म-योग' है अर्थात् अविनाशी ब्रह्मके साथ मिल जानेकी युक्ति इस अध्यायमें कही है। इस दृष्टिसे यह अध्याय अत्यंत महत्त्वका है। 'योग' का अर्थ ही 'युक्ति' है। प्रत्येक प्राणी जो इस संसार में आ गया है वह इस अक्षर ब्रह्मके साथ मिल-जानेके लिये ही आ गया है। अतः जिस उपायसे वह ध्येय साध्य हो सकता है वह उपाय मनुष्य को जानना उचित है।

अक्षरब्रह्मका स्वरूप।

'अक्षरं परमं ब्रह्म' इन तीन शब्दोंमें अक्षर ब्रह्मका स्वरूप बताया है। 'ब्रह्म' का अर्थ महान् शक्तिवाला तत्त्व है। जो एक तत्त्व सबसे विशाल, सबसे श्रेष्ठ, सबसे समर्थ और सबसे परे है उसको 'ब्रह्म' कहते हैं। ब्रह्म का शब्दार्थ 'बडा' है। यह सबसे सब तरह बडा है। किसी प्रकार की अल्पता, न्यूनता वा हीनता इसमें नहीं है। अतः इसको 'परम ब्रह्म अथवा पर ब्रह्म' कहते हैं। सबसे श्रेष्ठ कहने मात्रसे इसकी महत्ताकी कल्पना होती है, परंतु स्वरूपकी पूर्ण कल्पना नहीं होती, वह करा देनेके लिये यहां 'अक्षर' शब्द पडा है।

'अक्षर' का अर्थ दो प्रकारसे हो सकता है। एक 'अ-क्षरं' अर्थात् 'अ-विनाशी' और दूसरा 'अक्ष-रम्' आंख जिसमें रमते हैं। अविनाशी अर्थ 'अमूर्त ब्रह्म' बताता है और आंख जिसमें रमते हैं इस अर्थसे 'मूर्त ब्रह्म' सूचित होता है। इन मूर्त और अमूर्त ब्रह्म मिलकर हि 'अक्षर परब्रह्म' होता है। देखिये—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृ-
भोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ श्वे० उ० १।९

"एक (ज्ञः) सर्वज्ञ ईश्वर है, दूसरा (अज्ञः) अज्ञ अनीश है, तीसरी (अजा) प्रकृति है जो इसके भोगके लिये काम आती है। इनमें जो सर्वज्ञ ईश्वर है वह (विश्वरूपः आत्मा अकर्ता) विश्वस्वरूपी आत्मा अकर्ता है। इन तीनोंका जो (विन्दते) मेल होता है उसका नाम ब्रह्म है।"

इस तरह ब्रह्ममें प्रकृतिभाव, जीवभाव और शिवभाव इन (त्रयं विन्दते) तीनों भावोंका एकरूप मेल हुआ है। इनमें जीवात्मा और परमात्माका मेल आत्मभावमें है, यही आत्मभाव (अ-क्षर) अविनाशी अमूर्त करके कहा जाता है और भोग्य प्राकृतिक पदार्थ (अक्ष-र) आंखों-की रमणीयता करानेवाले होनेसे विनाशी मूर्त समझे जाते हैं। इस तरह मूर्तामूर्त ब्रह्म है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तंचैवाऽमूर्तंच॥

बृ० उ० २।३।१

"ब्रह्मके दो रूप हैं एक मूर्त है और दूसरा अमूर्त है।' ऐसा जो उपनिषदमें कहा है वह इस तरह सत्य है। मूर्तिमान् रूपमें आंख रमते हैं इस लिये उसका वर्णन 'अक्ष+रम्' शब्दसे होता है और अमूर्त ब्रह्म अविनाशी होनेसे उसका वर्णन 'अ-क्षरं' शब्दसे होता है। ब्रह्म मूर्तिमान्, मूर्तिवाला होनेसेहि उसको ऊपरलिखे श्वेताश्वतर उपनिषद्के वचनमें 'विश्वरूप आत्मा' कहा है। विश्वका जो रूप है वही रूप इस आत्माका है, वही इस ब्रह्मका रूप है। मानो इस आत्माने या ब्रह्मने विश्वका रूप धारण किया है। हमारे आंखसे जो रूप दीखता है वह परमात्मा या परब्रह्मका ही है। जितना सब रूप दिखाई देता है वह सब विश्वरूप इसी आत्माका है। यह विश्वका रूप किसी दूसरेका नहीं है। यह विश्वका रूप उसी आत्माने धारण किया है, मानो इस विश्वरूपमें वह छिपा है। जैसा अपने शरीरमें रहा जीवात्मा इस शरीरका रूप धारण करता है, वैसाही इस विश्वमें रहा परमात्मा विश्वरूप धारण करता है। यह विश्वरूप कैसा है इसका वर्णन आगे ग्यारहवें अध्यायमें आनेवाला है। वहां हम इसका अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे। यहां इस अध्यायमें जो विश्वरूप आत्माका स्वरूप कथन किया है वह स्वरूप विश्वके रूपसे हमारे सामने दीख रहा है।

अक्षर ब्रह्मका स्वभाव।

इस अक्षर ब्रह्मका अक्षय स्वभाव है। स्वभावका अर्थ अपना भाव, अपना धर्म है। यह इसका निज स्वभाव है जो कभी बदल नहीं सकता। इसीको अध्यात्म कहते हैं, 'अध्यात्म' का अर्थ आत्माके ऊपर जो प्रकट होता है। जैसा अपने शरीरमें जो जीवात्मा है उसका प्रभाव इंद्रिय, प्राण और मनबुद्धिद्वारा प्रकट होता है, यही इस शरीरमें दीखनेवाला अध्यात्म है, क्योंकि यही इस शरीरस्थानीय आत्माके ऊपर दीखनेवाला आत्माका स्वभाव है, जिससे शरीरके अन्दर आत्मा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

इसी तरह ब्रह्माण्डमें जो विश्वात्मा अथवा परमात्मा है उसका स्वभाव किंवा उसका अध्यात्म अग्नि, वायु, रवि, चन्द्र आदि द्वारा प्रकट होता है। जैसे शरीरमें आंख हैं वैसेहि ब्रह्मांडमें सूर्य हैं। इसी तरह संपूर्ण सृष्टीके अन्तर्गत सब पदार्थोंमें जो अपना अपना स्वभाव है, वह इसी विश्वात्माके कारण है। जो वस्तुमात्रका स्वभाव है और संपूर्ण विश्वका स्वभाव है वह सब (अधि-आत्मं) इसी आत्माका ही भाव है, क्योंकि दूसरा कोई पदार्थ ही यहां नहीं है जिसका कोई भाव यहां प्रकट हो सकता है।

यहां कई शंका करेंगे कि इस लेखके प्रारंभमें जीव, ईश्वर और प्रकृति करके तीन पदार्थ हैं ऐसा कहा, और अब एकही पदार्थ है ऐसा भी कहा जा रहा है। क्या यह परस्पर विरोध नहीं है? इसके उत्तरमें इतना कहना पर्याप्त है कि स्थूल भूत, जीव तत्व और परमात्मा ये तीन पदार्थ 'क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम' शब्दों द्वारा वर्णन किये गये हैं। ये तीन पदार्थ परस्पर भिन्न नहीं हैं इस विषयमें सातवें अध्यायसे वारंवार कहा गया है। जैसे (आमका) रूपरंग वाला स्थूल आकार, (आमकी) मीठास और दोनोंके मिलापसे होनेवाला आम्रफल ये तीन कल्पनाएँ हैं परंतु वस्तुमें भेद नहीं है, इसी तरह क्षर (स्थूल भूत), अक्षर जीवतत्व (सूक्ष्म जीव) और (दोनोंका अभेद जिसमें है वह) पुरुषोत्तम ये परस्पर भिन्न नहीं हैं, एकही वस्तुके पहलू हैं। जड और चेतन ये दो कल्पनाएं भिन्न हैं परंतु वस्तु एकही है। बहुत लोग समझते हैं कि मिट्टी और जलके समान जड और चेतन बिलकुल भिन्न पदार्थ हैं, परंतु वैसे वे भिन्न नहीं हैं। एकही सद्वस्तु चेतन रूपमें और स्थूल पदार्थोंके

रूपमें दिखाई देती है, अर्थात् एकही वस्तुके ये दो 'भाव' हैं। यह अर्थ यहां के 'स्वभाव' शब्दका है। पाठक इसका यह अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें रखें। यह इसका स्वभाव अक्षर – अक्षय है। इसका कभी नाश नहीं होता।

ब्रह्मका कर्म।

संपूर्ण विश्वमें इसी ब्रह्मका कर्म स्वभावसे चल रहा है। यह स्वयं कर्म न करता हुआ भी कर्म चल रहा है। इसको इस कर्मसे कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, कामना कुछ भी नहीं है, अतः इसका यह कर्म पूर्ण निष्काम भावसे चल रहा है। पाठक पूछेंगे कि इस निष्काम कर्मसे क्या बन रहा है? उत्तमें निवेदन है कि (भूत-भाव उद्भव) भूतमात्रकी सत्ताका उद्भव हो रहा है, बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज हो रहा है, यह अखंड भूतोंकी उत्पत्ति होती है और इसके लिये इसकी शक्तिका (विसर्गः) प्रदान हो रहा है। यही ब्रह्मका यज्ञ है। यही विश्वकर्माका आत्मयज्ञ है। इस तरह यह अखंड कर्म प्रवाह चल रहा है, जो पूर्वोक्त स्वभावके अनुकूलही है।

क्षर भाव।

इस विश्वमें सर्वत्र क्षर भाव दीख रहा है, प्रत्येक वस्तु नाशको प्राप्त हो रही है। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह विनाशकी ओर जा रहा है। ब्रह्मलोकसे लेकर मृत्यु लोक तक जितनेभी पदार्थ हैं वे सबके सब नाश हो रहे हैं। जो दीखता है, जिसका रूप स्थूल है वह नाशवान् है। इस क्षर भावका संबंध प्रत्येक भूतसे है। प्रत्येक पदार्थ विश्वका एक अंश है। अतः वह मर्यादित है और इसी कारण वह नाशवान् है। अंश नाशवान् होता हुआ भी संपूर्ण विश्व नाशवान् नहीं है। अतः संपूर्ण विश्वरूपमें क्षरत्व नहीं है, परंतु प्रत्येक अंशमें क्षरभाव है, अतः कहा है (अधिभूतं क्षरोभावः) भूतभावमें क्षर-भाव है। जब प्रत्येक भूत विश्वभावमें मिल जायगा, तब उसमें क्षरभाव नहीं रहेगा। अतः यह क्षर होते हुए भी अक्षर है क्योंकि अल्पत्वके साथ नाश होनेका धर्म है। भूमा अवस्थामें नाश नहीं है। तथा इन क्षर भूतोंमें भी सदा अविनाशी अक्षर चैतन्य-जीवतत्त्व है हि। इनके नाश होने-पर भी इसका नाश नहीं होता।

पुरुष।

इसी क्षरमें अक्षर तत्त्वको पुरुष कहते हैं। 'पुरुष' शब्दका अर्थ 'पुरि+वस्' पुरीमें रहने-वाला है। पुरि नाशवान् है और पुरिका नाश होनेपर भी अखंड अविनाशी रहनेवाला यह पुरुष है। इसीको देही, आत्मा कहते हैं। जो भूतमात्र है वह 'पुर्' है क्यों कि सप्तधातुओंसे वह पूर्ण होता है।

सप्तभिर्धातुभिः पूर्यते इति पूः शरीरम्।

सप्तधातुओंसे परिपूर्ण है इस लिये इसको पुर्, पुरी अथवा शरीर कहा जाता है। यह नगरी, पुरी नाशको प्राप्त होनेवाली है परंतु पुरी-का स्वामी अविनाशी है।

यज्ञपुरुष।

मनुष्यका जीवन एक यज्ञ है, यह सौ वर्ष चलनेवाला यज्ञ है। इस यज्ञका यजमान आत्मा है, और यहां आत्माका ही यजन होता है। इसका अधिष्ठाता यज्ञपुरुष, अधियज्ञ वही है कि जो 'अहं' (मैं हूँ) ऐसा कहता है। 'मैं' ऐसा यहां कौन कहता है? जो आत्मा है, जो चेतन तत्त्व है वह कहता है कि यहां 'मैं हूँ'। और जो ऐसा कहता है वही इस जीवन यज्ञका अधिष्ठाता है। इसीका वर्णन ऐसा किया गया है-

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ गी. ९।१६

"मैं क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधि, मंत्र, घी, अग्नि और आहुति हूं।" अर्थात् सब कुछ मैं ही हूं। यहां 'मैं' शब्दका अर्थ आत्मा ही है। यही यज्ञ-पुरुष है। यज्ञके संपूर्ण अंग यही पुरुष है, इसी

लिये इसको यज्ञ पुरुष कहते हैं। यह सब ब्रह्म है-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।
गी. ४।२४

"ब्रह्महीं अर्पण, हवि, अग्नि, यजमान, हवन, कर्म आदि है।" क्यों कि यहां दूसरा कुछभी नहीं है, यही भाव वेदमें इस ढंगसे कहा है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। ऋग्वेद १०।९०।१६

"देव यज्ञसे यज्ञ करते थे।" यज्ञ ही यज्ञ बनता है, यज्ञके सब साधन और यज्ञ एकही वस्तुके भाव हैं। यहां स्पष्टतासे कहा है कि जो 'अहं' कहनेवाला है उसीके येसब भाव हैं। कितने भाव हैं? देखिये—

१ (अक्षरं) एक अक्षर भाव है, (ब्रह्म)
२ (क्षरः) दूसरा क्षर भाव है (अधिभूत)
३ (स्वभावः) तीसरा स्व-भाव है, (अध्यात्म)
४ (उत्-भव) चौथा उच्च होनेका भाव है, (कर्म)
५ (पुरुष) पांचवां पुरीमें वसनेका व्यापक भाव है, (अधिदैवत)
६ (यज्ञः) छठां यजनका भाव है। (अधियज्ञ)

इस तरह यहां इसके छः भाव कहे हैं। ये सब ब्रह्मके भाव हैं। प्रत्येक मनुष्य इस परमात्माका अंश होनेसे परमात्माके विश्वव्यापक कर्मका अंश वह अपना कर्म समझ कर परमेश्वरार्पण बुद्धिसे और निष्काम भावसे फलभोग की इच्छा न करता हुआ करे। यह बोध यहां मनुष्यको मिलता है।

विश्वके साथ विरोध।

परमेश्वरकी सत्ता सार्वभौमिक है, उसका कर्म विश्वव्यापक हो रहा है। मनुष्य उसका अंश होनेसे उसको भी अपना कर्म परमेश्वरके कर्मके साथ मिलाता हुआ करना चाहिये। यदि वह संपूर्ण विश्वव्यापक यज्ञका विरोध करने लग जाय तो इसका नाश होगा। विश्वके साथ विरोध करनेसे व्यक्तिकी उन्नति कैसे हो सकती है? मनुष्यमें शक्तिभी कितनी है जिसको लेकर यह विश्वरूपी देवताके साथ विरोध कर सके? देखिये—

मनुष्यकी आंख है, यह आंख सौरतत्त्वकी बनी है, क्या इस आंखसे यह सूर्यका विरोध कर सकता है? और यदि आंख सूर्यके साथ विरोध करेगी तो क्या वह जीवित रह सकेगी? नहीं, सूर्यका विरोध करनेसे आंखमें कोई सामर्थ्य नहीं रहेगा। इसी तरह मनुष्यका प्राण है, क्या यह वायु तत्त्वके साथ विरोध करके अपना कार्य कर सकेगा? कदापि नहीं, विश्वरूपी वायुके साथ विरोध करनेसे प्राणका नाशही है। इसी तरह मनुष्यके संपूर्ण अवयव विश्वकी अनुकूलतामें रह कर ही कुछ कार्य कर सकते हैं, यदि वे विरोध करने लगेंगे, तो उनका नाश होगा।

मनुष्यका प्राण एक छोटीसी छातीमें रहता है, विश्वव्यापक प्राणका वह कितना छोटा अंश है, मनुष्यका आंख सूर्यका कितना छोटा अंश है, मनुष्यका संपूर्ण देह विश्वका कितना अल्प अंश है, विचार कीजिये, जिससे पता लग जायगा कि मनुष्यकी शक्ति अत्यंत अल्प है, इसलिये वह विश्वरूपके साथ विरोध नहीं कर सकता। वृक्षकी एक शाखा अथवा पत्थर मनुष्यके सिरपर गिरनेसे इसके शरीरका नाश हो सकता है। विश्वरूपका यह एक अंश है, अतः यह संपूर्ण विश्वका विरोध नहीं कर सकता। विश्वरूप परमात्माका जो विश्वव्यापक कर्म चल रहा है, उसके साथ अनुकूल होकर मनुष्यको कर्म करना चाहिये। (मत्कर्मकृत्। गी. ११।५५) ईश्वरका कर्म करनेवाला मनुष्य हो ऐसा जो वारंवार कहा है इसका कारण यह है। समुद्रमें रहनेवाला एक जलबिंदु संपूर्ण समुद्रका विरोध कैसा करेगा? ऐसेहि विश्वरूपमें रहनेवाला एक बिंदुरूप मनुष्य

संपूर्ण विश्वरूपका विरोध कैसे कर सकेगा? यह असंभव है।

यहां मनुष्यके धर्मका निश्चय हो सकता है। जो विश्वधर्मके अनुकूल है वह मनुष्यका धर्म है और जो प्रतिकूल है वह अधर्म है। इसका निश्चय करनेके लियेहि यहां परब्रह्म, उसका स्वभाव, उसका उद्धारक कर्म, अंशरूप क्षर-भाव, उसका अधिष्ठाता पुरुष और जीवनरूपी यज्ञका अधिष्ठाता आदिका संबंध यहां बताया है। यह बतानेका उद्देश ही यह है कि मनुष्यको अपनी शक्तिका पता लगे और वह विश्वधर्मका विरोध करनेका साहस कदापि न करे। अपने सुखके भ्रमसे विश्वधर्मका विरोध करनेवाला निःसंदेह मूर्ख है। वैसी मूर्खता कोई न करे और सब कोई अपने आपको विश्वसेवाके लिये योग्य बनावे, यह उद्देश्य इस उपदेशको यहां प्रकट करनेमें है। पाठक इसका अनुभव लें।

मनका धर्म।

मनकी शक्ति बडी विलक्षण है। मन जिसका चिन्तन करता है वैसा बनता है। मन तदाकार बनकर हि किसी वस्तुका अनुभव कर सकता है, अतः मनको जिसका ध्यास लगता है उसको प्राप्त करता है, जिस जिस भावका ध्यान मन करता है उस उस भावसे वह युक्त बनता है। (गी. ८।६) यदि यह वीरताका ध्यान करेगा तो वीर बनेगा और यदि कामुकताका ध्यान करेगा तो कामान्ध बन कर नष्ट होगा। यह कल्पवृक्ष है, क्योंकि यहां जो कल्पना की जायगी वह फलीभूत होगी। इस मनकी ऐसी विलक्षण शक्ति है इसी लिये इसका उपयोग बडी साव-धानताके साथ करना चाहिये। यदि अच्छा उपयोग किया जाय तो भला होगा, अन्यथा नाश होनेमें कोई देरही नहीं लगेगी। मनमें बडी शक्ति है इसीलिये इसका सावधानताके साथ अच्छा उपयोग करना चाहिये।

मनका स्वभावही सतत मनन करनेका है। ऐसा एक क्षणभी नहीं जाता कि जिस समय मन किसी न किसीका विचार नहीं करता। यदि ऐसा है तो अच्छेसे अच्छे तत्वका क्यों मनन न किया जाय? इसी लिये मनुष्यके मनके सन्मुख परमेश्वरका चिन्तन करनेका विषय रखा गया है। परमेश्वरहि सबसे श्रेष्ठ है, इस श्रेष्ठके मननसे मनुष्यका मन श्रेष्ठ बने, इसी हेतुसे ईश्वर-स्मरणका विषय मनुष्यके सामने रखा गया है।

मननका प्रभाव।

मनुष्यका मन (तद्भाव-भावितः) मननके विषयके प्रभावसे प्रभावित होता है और वह तद्रूप होता है। मनुष्यकी उन्नतिकी यह कुंजी है। एक व्यक्तिको अथवा समाजको जैसा बनाना चाहते हैं वैसा बनाया जा सकता है। मनुष्यके मनके सन्मुख जैसा विषय रहेगा वैसा वह बनेगा। अतः मनुष्यके सामने अत्यंत उच्च ध्येय सदा रहना चाहिये। इस उच्च ध्येयमें यह जितना मग्न होगा उतना यह उन्नत होगा। जो मनुष्य निकृष्ट होते हैं उनका मन पहिले निकृष्ट बनता है, जो मनुष्य रोगी होते हैं उनका मन पहिले रोगी होता है, जो मनुष्य श्रेष्ठ महात्मा बनते हैं उनका मन श्रेष्ठ बनता है। जो अपनी उन्नति चाहते हैं उनको इस मनके धर्मका विचार करना चाहिये। इस मनके धर्मका ज्ञान होते ही अपनी उन्नतिका साधन करनेका ज्ञान हो सकता है।

यदि मनुष्य यह समझेगा कि मन जिसका ध्यान करता है वैसा बनता है, तो निःसन्देह अपनी उन्नति चाहनेवाला मनुष्य कदापि अशुभ विचारको अपने मनमें स्थान नहीं देगा। क्यों कि अशुभ विचार मनमें आते ही मन अशुभ होता है और उसका परिणाम भोगनाही पडता है। इसलिये वेदमें वारंवार कहा है कि—

शिवसंकल्प।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। यजु० ३४

"मन शिवसंकल्पयुक्त होवे," क्यों ऐसा लिखा है, इसलिये कि शिवसंकल्प करनेसेहि मन शिवस्वरूप बन सकता है। और जैसा मन होता है वैसाही मनुष्य बनता है। अतः कहा है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।

'मनुष्योंके बंध और मोक्षका कारण मनही है।' अतः इसकी उन्नति करनेका मार्ग इस तरह गीतामें कहा है। मरनेके समयमें भी यदि शुभसंकल्प मनमें रहा तो इसकी शुभगति होती है, इतना महत्त्व शुभ संकल्पका है। परंतु मरनेके समय शुद्ध शुभ संकल्प रहनेके लिये मरनेके पूर्व शुभ संकल्प धारण करनेका अभ्यास करना चाहिये, यही अभ्यास करनेकी सूचना भगवद्गीताने दी है-

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
गी० ८।८

'एकाग्रचित्त होकर यह अभ्यासयोग करनेसे मन शुभसंकल्पोंका धारण कर सकता है।' यदि शुभगति चाहिये तो शुभसंकल्पोंका धारण करना चाहिये, अशुभ गतिमें जिनकी संतुष्टता होती है वे तो अशुभविचार धारण कर हि रहे हैं। जो साधारण अज्ञ जनता है वह भी अशुभविचारोंके धारणका अभ्यास करती हि है। मनुष्यमात्र इस अभ्यासमें मग्न है। शास्त्रकार कहते हैं कि यदि किसी न किसी विचारके धारणका अभ्यास करना ही है तो शुभविचार का धारण क्यों न किया जावे? यदि किसी न किसी प्रकारकी गतिमें अपने आपको रखना ही है तो उच्च गतिमें हि क्यों न रखा जावे? संक्षेपसे तात्पर्य यह है कि परमपुरुषका चिन्तन करनेसे साधक परमपुरुषका भाव प्राप्त कर सकता है।

परमपुरुष कैसा है।

"सर्वज्ञ (कविः), सदा विद्यमान, भूत वर्तमान भविष्यमें रहनेवाला (पुराण-पुरा अपि नवः), सबका शासक (अनुशासिता), सूक्ष्मसे सूक्ष्म (अणोः अणीयान्), सबका धारक (धाता), चिन्तन करनेके लिये कठिन (अचिन्त्य रूप), तेजस्वी (आदित्यवर्णः), और अन्धकारसे परे (तमसः परः)" ऐसा परमपुरुष है। जो साधक इस परम पुरुषके इन गुणोंका ध्यान करेगा उसके मनमें इन गुणोंकी धारणा होनेसे उसका मन इन गुणोंसे युक्त बनेगा और इन गुणोंसे युक्त बननेका अर्थ हि इसको परम पुरुषकी प्राप्ती हुई ऐसा होता है। परम पुरुषकी प्राप्ति होनेका अर्थहि यह परमपुरुष बन गया ऐसा ही होता है, क्योंकि जिसमें परमपुरुषके गुण स्थिर हो चुके वह परमपुरुष ही बन जाता है।

प्रयाणकी तैयारी।

प्रयाण कालमें इस परम पुरुषका स्मरण करनेसे बहुत लाभ हैं। प्रयाण काल मृत्युसमयका नाम है। मृत्युके समय इस परम पुरुषका ठीक प्रकार ध्यान करनेकी संभावना होनेके लिये सदा ही इसका ध्यान करनेका अभ्यास करना चाहिये। मनको जिसका ध्यान करनेका अभ्यास सतत रहेगा उसीका स्मरण उसको होगा।

यदि मनके द्वारा किसी न किसीका ध्यान सदा होना ही है तो वह "उत्तम पुरुष" का ध्यान क्यों न करे? अधम और मध्यमका ध्यान सदा मनुष्य करता ही रहता है, इसीलिये मनुष्य अधम या मध्यम बनता है। यदि वह उत्तमका ध्यान करेगा तो निःसन्देह उत्तम बनेगा। यह रहस्य है 'उत्तम पुरुष' अथवा 'परमपुरुष' के ध्यान करनेका। पाठक इसका विचार करें। क्या कभी कोई मनुष्य मनको खाली रख सकता है?

नहीं, कदापि नहीं, यदि मन कदापि खाली (रिक्त) नहीं रह सकता तो उसमें ' उत्तम पुरुष' को क्यों न सुपूजित किया जावे ?

इस समय जो चाहे सो विचार मनमें आते हैं और वे मनुष्यको गिराते हैं। मन अवश होकर किसी न किसी विषयका विचार करता है, फिर उसको उत्तम पुरुषका विचार करनेमें क्यों न लगाया जावे ? ऐसा करनेसे मनके धर्मका उपयोग उत्कर्ष साधन के कार्यमें होगा और अद्भुत लाभ होगा।

मनुष्य वेदका अभ्यास करते हैं, संयम का साधन करते हैं, वैराग्यका धारण करते हैं, ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, इस सबका यही प्रयोजन है, कि मनमें प्रभुको अच्छा स्थायी स्थान मिले। और अन्तमें परमपुरुषकी और परमपदकी प्राप्ति हो। (गी० ८।११)

मनुष्य जीवित रहनेके लिये पुरुषार्थ करते हैं, यह सब ठीक ही है, परंतु उनको प्रयाणकालकी तैयारी करनी चाहिये। प्रयाणसमयमें प्रभुका ध्यान होने योग्य अपना स्वास्थ्य सुरक्षित रखना चाहिये और स्वास्थ्यके समय मनको प्रभुके गुणगानका सतत अभ्यास रहना चाहिये। तभी अन्त समयमें परमेश्वरका स्मरण हो सकता है। अतः इसकी उत्तम तैयारी पहिलेसेही करनी चाहिये।

' प्रयाणकाल 'का अर्थ ग्रामान्तर या देशान्तर करनेका समय ऐसा भी एक अर्थ है। इस स्थलान्तरके समय भी ईश्वरका स्मरण करना चाहिये। हम स्थलान्तर एक दिनमें अनेकवार करते हैं उतने समयोंमें ईश्वरका स्मरण मनुष्य करता रहेगा, और ईश्वरके गुणोंका विचार करता जायगा तो उसका चित्त शुद्ध होगा, इसमें संदेहही नहीं है।

ईश्वर स्मरणका स्वरूप।

हर समय ईश्वरका स्मरण करना चाहिये ऐसा वारंवार कहा जाता है। ऐसा स्मरण करनेसे मनुष्यकी उन्नति किस तरह हो सकती है ऐसी एक शंका यहां उत्पन्न हो सकती है। उसकी निवृत्ती करनेके लिये ईश्वरस्मरणमें किन गुणोंका स्मरण करना पडता है इसका विचार पहिले करना चाहिये। यहां नवम श्लोकमें परमेश्वरके गुणोंका कथन किया है, वे गुण ये हैं—

१ "कवि"

परमेश्वर सर्वज्ञ है, इसमें उसके 'ज्ञान' गुणका स्मरण करना होता है, परमेश्वर सब जानता है। मुझे यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये यह पहिली सूचना है। 'कवि'का दूसरा अर्थ 'क्रान्तदर्शी' है। दूरदर्शी, अतींद्रियार्थदर्शी है। परमेश्वर इंद्रियोंकी जहां तक पहुंच है, उससे भी परे देखता है। यह कविकी दृष्टी मुझे प्राप्त करनी चाहिये यह दूसरी सूचना यहां प्राप्त होती है।

२ "पुराण"

ईश्वर प्राचीन होता हुआ भी नवीन (पुरा अपि नवः) है। यही मनुष्यको शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। मनुष्य वृद्ध होनेपर भी तरुण जैसा उत्साही और कार्यक्षम बने, ज्ञान विचार और कर्ममें पुराना होता हुआ भी नवीन जैसा रहे। पुरानेको नयेके साथ मिलाता रहे। यह तीसरी सूचना मिलती है।

३ "अनुशासिता"

ईश्वर सबके लिये अनुकूल अर्थात् हितकारी शासन करता है। सबका यथा योग्य पालन करता है। मनुष्य भी इसी तरह अनुकूल शासन और पालन करे। घरके लोगोंका, ग्रामके लोगोंका, राष्ट्रके लोगोंका अनुकूल शासन करनेका जितना अधिकार मनुष्यको प्राप्त हो, उतने अधिकारतक हितकारक शासन करे, यह यहां चौथी सूचना है।

४ "सर्वस्य धाता"

ईश्वर सबका धारण करता है। मनुष्य अपने अन्दर इस तरहकी धारक शक्ति धारण करे। मनुष्यको अपने परिवार, अपनी जाती, तथा अपने राष्ट्रका धारण करना होता है। इसलिये अपने अन्दर धारक शक्ति बढाकर इनका यथायोग्य धारण करनेका यत्न करे, यह यहां पांचवी सूचना है। इस धारणमें धारण पालन और पोषणका अन्तर्भाव है, यह बात यहां भूलना नहीं चाहिये।

५ "अणोरणीयान्"

ईश्वर सूक्ष्मसे सूक्ष्म है। मनुष्य सूक्ष्म दृष्टीसे विचार कर सकता है अतः विचारोंकी सूक्ष्मता मनुष्य करे और उसमें पूर्णता प्राप्त करे। यह छठी सूचना यहां मिलती है। अपना आत्मा भी सूक्ष्म है, स्थूलदेह ही आत्मा नहीं है, ऐसा विचार कर अपनी सूक्ष्म शक्तियोंका सामर्थ्य देखे और अनुभव करे और उनको बढावे।

६ "आदित्यवर्णः।

ईश्वर सूर्यके समान तेजस्वी है। मनुष्यभी अपने अन्दर तेजस्विता धारण करे। स्वयं तेजस्वी बने, दूसरोंको तेजस्वी बनावे, स्वयं मार्ग देखे और दूसरोंका मार्ग दर्शक बने। यह सातवी सूचना यहां मिलती है। सूर्यके समान निर्दोष बने, सूर्यके समान पवित्रता करे, पवित्र रहे।

७ "तमसः परः"।

ईश्वर अन्धकारसे परे है। मनुष्य अन्धकारसे परे रहे। यहां अन्धकार या तम शब्द तमोगुणका सूचक है और तमोगुण आलस्य, अज्ञान आदि अधोगतिदर्शक असुर भावोंका सूचक है। मनुष्य आसुरी संपत्तीसे दूर रहे यह आठवी सूचना यहां मिळती है।

८ "उत्तम पुरुष"।

ईश्वर उत्तम पुरुष है। मनुष्य सबसे उत्तम बननेका यत्न करे, उत्तम पुरुष बननेका प्रयत्न करनेकी नवम सूचना यहां मिळती है।

९ "अचिन्त्यरूपः"।

ईश्वर अचिन्त्यरूप है। मनुष्य भी ऐसे श्रेष्ठ कार्य करे कि लोग आश्चर्यसे चकित हो जांय। दूसरोंको कल्पना भी न हो कि ये कार्य इसने कैसे किये। अद्भुत कुशलतासे 'अचिंतनीय रूप' बनावे। यहां कारीगरी बढानेकी दसवी सूचना मिलती है।

इस प्रकार परमेश्वरके गुणोंका स्मरण और मनन करनेसे अनेक उपयुक्त सूचनाएं मिलती हैं, जिनका दैनिक व्यवहारमें भी उपयोग करके मनुष्य अपना अभ्युदय संपादन कर सकता है। अतः स्थलान्तर, देशान्तर अथवा ग्रामान्तर करनेके समय इनका इस तरह मनन करना निःसन्देह निरर्थक नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने मनको इन ईश्वरीय शुभगुणोंसे भर देवे। "ज्ञान, दूरदृष्टी, प्राचीन और नवीन का संगम, शासनसामर्थ्य, धारणपोषण, सूक्ष्मविचार, तेजस्विता, तमोगुणसे दूर रहना, उत्तम मनुष्य बनना, कुशलता" ये दस दैवीगुण हैं। इनका मनन करनेसे और इनकी प्राप्ती करनेसे मनुष्यकी उन्नति होनेमें कोई संदेह नहीं है। ईश्वर स्मरणका संक्षेपसे यह स्वरूप है। ईश्वरके जितनेभी गुण हैं उनकी धारणा इस तरह मनुष्यको करनी चाहिये, उनका उपयोग दैनिक व्यवहारमें करना चाहिये और ईश्वरके गुणोंसे अपने आपको परिपूर्ण बनाना चाहिये। ईश्वरके गुणोंका जो कथन अपने धर्मग्रंथोंमें वारंवार किया गया है, उसका संबंध अभ्युदयके साथभी है और निश्रेयसके साथ भी है। पाठकोंको इस तरह इस उपासना विषयका विचार करना चाहिये।

जो सतत इस रीतिसे परमेश्वर का स्मरण करता है, उसके गुणोंको अपने जीवनमें ढालता है, उसको सतत ईश्वर स्मरण होनेसे उसकी पुण्यगति होती है, और ऐसे सतताभ्यासीको

मृत्युके समयमें भी ईश्वरका स्मरण होता है जिससे उसको परम श्रेष्ठ गति मिलती है। यही परमेश्वर प्राप्ती और अन्तिम सिद्धी है।

ईश्वरका दर्शन।

यहां वारंवार कहा है कि ईश्वरका स्मरण करे। देखिये—

मामेव स्मरन्। गी० ८।५
मां स्मरति नित्यशः। गी० ८।१४

इस रीतिसे ईश्वरके स्मरण करनेके विषयमें कहा है। स्मरण तो सदा पूर्वकालमें दृष्ट विषयकाही होता है। जो विषय अनुभूत नहीं उसका स्मरण नहीं हो सकता। अतः यहां ईश्वरका स्मरण करनेको कहा है, इस लिये सूचित होता है कि ईश्वरका साक्षात्कार स्मरणके पूर्व होनाही चाहिये। इसी स्पष्टीकरणमें 'अक्ष-रं' की व्याख्यामें ब्रह्मका मूर्तिमान होना बताया है। जो ईश्वरका साक्षात्कार कैसा करना चाहिये इस संबंध का विषय खोल रहा है। जो भी मूर्तरूप यहां है वही ईश्वरका 'विश्वरूप' है और इस विश्वके रूपमें ही मनुष्यको ईश्वरका साक्षात्कार होना है। और जो मनन करना है वह यही 'विश्वरूपी नारायण'का है। पाठक अनुभव करें कि जो रूप इस विश्वमें दीखता है वह खंडित है या अखंडित? विचार करते करते पता लग जायगा कि यह विश्वरूप अखंडीत है। किसी भी स्थानपर रूप नहीं है ऐसा स्थान नहीं है। जहां तक दृष्टी पहुंचती है वहां तक रूप विद्यमान है। यही अनन्तका अनन्तरूप है। यही विश्वरूप है इस विश्वरूपमें अपने रूपका अन्तर्भाव हुआ है। यह बात पाठकोंको स्मरण रखना चाहिये। कोई पाठक इस विश्वरूपसे पृथक् नहीं है।

दैशिक आत्मरूप।

जो विश्वरूप इस समयतक कहा है वह दैशिक है अर्थात् देशके साथ संबंध रखनेवाला है। जितना देश है उतना यह विश्वरूप है। जिस दिशामें देखेंगे उस दिशामें यह विश्वरूप दिखाई देगा। किसी भी दिशामें थोडा भी स्थान ऐसा नहीं है कि जहां यह विश्वरूप नहीं है। इस दैशिक विश्वरूपके साथ अपना अभेद संबंध देखनेका अभ्यास करना पाठकोंका यहां कर्तव्य है। जिस समय यह अभेद प्रत्यक्ष होगा, उसी समय सत्य धर्मका ज्ञान होगा। जिस समय यह अभेद प्रत्यक्ष होगा उसी समय—

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥
वा० य० ४०

"इस एकत्वका साक्षात्कार करनेवालेको शोक और मोह कैसे होंगे?" कदापि शोक और मोह उनको कष्ट नहीं देंगे। क्योंकि जितना विश्वरूप है उतना सब एक है, अनन्य है, यहां कोई अन्य नहीं है, ऐसा साक्षात्कार होनेसे इसको मोह कैसे हो सकता है। यहां दूसरा ही नहीं है, सब कुछ एकही तत्व है। फिर दूसरेपर उपकार करना कहां है, यह भाषाही अशुद्ध है। जो किया जाता है वह अपने लियेही किया जाता है। परोपकार भी यहां स्वार्थ काही विशालरूप होता है। यहां 'पर' कोई नहीं है। यदि बुरा किया तो भी अपनेहि साथ किया और यदि भला किया तो भी अपनेही साथ किया जाता है।

जो दूसरोंको लूटते हैं, दूसरोंको दबाकर रखते हैं, दूसरोंको दासतामें रखते हैं वे मानो अपने ही को लूटते हैं। अपनेही को दबा रखते हैं और अपनेही को दासतामें रखते हैं। इतिहासमें साक्षी मिलती है कि विजयी जातीने जो अत्याचार किये उसका बदला उसको यथायोग्य मिला है। अतः जो मैं करूंगा वह मेरेहि ऊपर आवेगा, क्योंकि मुझसे भिन्न यहां दूसरा कोई नहीं है। यह अनुभव करनेसेहि सत्यमार्ग दीख सकता है, सत्यधर्म ज्ञात हो सकता है और सत्यकर्तव्य प्रतीत हो सकता है।

अस्तु इस रीतिसे इस दैशिक विश्वरूपके विषयमें यहां कहा है। आगे कालसंबंधी विश्वरूप कहेंगे। जितनेभी ब्रह्मलोक तक लोक हैं वे सब इस दैशिक विश्वरूपमें आते हैं और वे सब नश्वर हैं। अब कालकी मर्यादा कैसी विस्तृत है यह देखिये। 'काल और दिशा' ये दो पदार्थ हैं जिसमें यह सब है, अतः दिशाका रूप हमने देखा। अब कालका प्रचंड रूप देखिये--

महाकालका विश्वरूप।

कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग मिलकर एक महायुग होता है, ऐसे एक सहस्र महायुगोंका ब्रह्माका एक दिन होता है और उतनेही समयकी ब्रह्माकी एक रात्रि होती है। मनुष्यकी आयु १०० वर्षकी है, एक युगमें हि मनुष्य लाखोंवार पुनः जन्म ले सकता है, फिर ब्रह्माके दिनमें इसका कितनीवार आवागमन होगा, यह एक बडा हिसाब लगानेका हो विषय है। और ब्रह्माकी सौ वर्षोंकी आयुमें कितनीवार आवागमन होना संभव है यह किसीको भी पता लगना संभव नहीं है। इतनी इस महाकालकी अमर्याद अनंत सत्ता है। इस महाकालके अनंत समयमें कृमि-कीटकोंकी जन्ममृत्युका कोई हिसाब ही नहीं है। और मनुष्यकी १०० वर्षोंकी दीर्घ आयुका भी कोई हिसाब हो नहीं सकता है। इतना अमर्याद अनंत काल है। हम कागजपर ब्रह्माके १०० वर्षोंकी आयुमें इतने मानवी वर्ष होते हैं इतना हिसाब लिख सकते हैं, परंतु उससे कालकी अनंत सत्ताका कोई ज्ञान नहीं हो सकता। यह कालका विश्वरूप है,इस महाकालमें मानवी पूर्ण आयुका एक बिंदु भी रखा जासकता है वा नहीं यह एक बडी शंकाका ही स्थान है।

इस अनंत कालमें जिस मानवके लिये एक बिंदुमात्रका भी स्थान नहीं है वह अपनी १०० वर्षोंकी दीर्घ आयुकी घमंड करता है और मैं इस आयुमें ऐसा किया और वैसा किया ऐसा गर्व करता है। यहां इस ब्रह्माके दिनका प्रमाण बतानेका प्रयोजन यह है कि मनुष्यको अपनी क्षुद्र आयुकी ठीक ठीक कल्पना होवे और इसके मनका घमंडका अंश समूल नष्ट होवे।

जैसे हमारे एक श्वास लेनेमें सहस्रों कीटाणु मर जाते हैं और नये पैदा होते हैं वैसेही ब्रह्माके एक क्षणमें मनुष्यके अनंत जन्म हो जाते हैं। जहां एक क्षणमें मनुष्यके अनंत जन्म होते हैं वहां उस क्षणमें इस मनुष्यने कितना समय साम्राज्य किया, और कितना समय पारतंत्र्य दूर करनेका युद्ध किया, और कितना समय दासताका अनुभव किया होगा! इस कालका विश्वरूपदेखनेसे मनुष्यको अपनी क्षुद्र शक्तिका ठीक ठीक पता लग सकता है। इसी तरह दैशिक विश्वरूप दर्शनसे भी मनुष्यकी क्षुद्रताही उसके अनुभवमें आ सकती है। क्योंकि जिस विश्वरूपमें ऐसे ऐसे वडे सूर्य हैं कि जिनका प्रकाश क्षणमें हजारों कोश दूर जाता हुआ भी जगदुत्पत्तिके समयसे इस समय तक वहांसे पृथ्वीपर वह प्रकाश पहुंचा नहीं है, अभी तक मार्गही चल रहा है। कितनी आकाशकी विशालता है? और उसकी तुलनासे हमारी युद्ध भूमिकी क्षुद्रता तो अत्यंत उपेक्षणीय है।

अपना स्थान।

तात्पर्य यह है कि दैशिक या कालिक विश्वरूपमें अपना स्थान ढूंढनेसे अपनी अल्प शक्तिका पता लग सकता है और अहंकार दूर होनेमें सहायता होती है। और जब अहंकार इस तरह दूर होगा, तब आत्म समर्पण करनाही अपने उद्धारका एक मात्र मार्ग है यह बात स्पष्ट हो सकती है। जब दिशा (देश) की दृष्टिसे और कालकी दृष्टिसे अपना जीवन बिलकुल छोटा है और उसकी अपेक्षा विश्वरूप बहुतही बडा है, तो हम विश्वरूपके विरोधमें खडे नहीं रह सकते। विरोधमें खडे रहे तो हमारा आत्मघात होगा। फिर दूसरा उद्धारका मार्गही कौनसा है?

केवल एकही मार्ग है और वह यह है कि उस विश्वरूपमें अपने आपको समर्पित करना और भगवदिच्छामें अपनी इच्छाको मिलाना और ईश्वरके कार्यमें अपना समर्पण करना। इसीसे यह ईश्वररूप बनकर अपने आपको कृतार्थ कर सकता है।

संपूर्ण भूतमात्र इस तरह आवागमनके चक्रमें भ्रांत होनेकी अवस्थामें कोई एकाद साधक अपने आपको प्रभुकी अखंड शक्तिमें समर्पित करता है और—

नश्यत्सु न विनश्यति। (गी० ८।२०)

'नाश होनेवाले अनेक भूतोंमें जो अविनाशी सत्तत्त्व है' उसको प्राप्त करता है, और धन्य होता है। जिसमें अनन्त भूत हैं और जिसने यह सब विश्व फैलाया है वही परम पुरुष है और वह इस तरहकी अनन्य (भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। गी. ८।२२) भक्तिसेहि प्राप्त होनेवाला है और इसको प्राप्त करनाही एकमात्र मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है।

दो मार्ग।

मनुष्य दो मार्गोंसे यत्न करते हैं। एक शुद्ध मार्गसे जाते हैं और दूसरे कृष्णमार्गसे जाते हैं। सभी जगत् के मनुष्य इन दो मार्गोंके पथिक हैं। अतः कहा है कि—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
गी० ८।२६

"यह शुक्ल और कृष्ण गति इस जगत्में शाश्वत कालसे चली आयी है।" कई लोग शुक्ल (शुद्ध) मार्गसे जाते हैं और कोई कृष्ण (अशुद्ध) मार्गसे जाते हैं। इनको पाप पुण्यके मार्ग भी कह सकते हैं। पुण्यमार्ग शुद्धमार्ग है और पाप मार्ग अशुद्धतामय कृष्णमार्ग है। पुण्यमार्गसे (अनावृत्ति याति) सिद्धि प्राप्त करता है और दूसरे अशुद्ध मार्गसे (पुनः आवर्तते) चक्करमें फंसता है।

शुद्धपक्ष (शुक्लपक्ष) और कृष्णपक्ष (कुटिलताका पक्ष) ऐसे इसके नाम होते हैं। पाठक अपने ग्राममें अथवा अपने देशमें देख सकते हैं कि कितने लोग कुटिलताके पक्षमें जाते हैं और कितने सरलताके पक्षमें जाते हैं। यहां शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष ये नाम महिनेके १५ दिनके हैं और इनमें अधिक श्लेषार्थ नहीं है ऐसा समझना बडी भूल करना है। ये तो मानव जातीके सुर और असुर भेदवृत्तीके दर्शक हैं। आगे १६ वें अध्यायमें दैवी और आसुरी वृत्तिका वर्णन आनेवाला है। दैवी पक्ष शुद्ध सरल वृत्तिवाला पक्ष है और आसुरी पक्ष कुटिल हिंसक वृत्तिवाला है। देवासुर युद्ध इसी कारण सनातन है। दिन रात्र, प्रकाश अन्धकार, शुक्ल कृष्ण ये नाम इन दैवासुर भावोंके द्योतक हैं। येही मनुष्योंकी शुक्ल और कृष्ण गतियां हैं।

शुद्ध मार्गसे चलनेवाला मनुष्य निश्चित स्थानपर पहुंचता है और अशुद्ध मार्गसे चलनेवाला मनुष्य इष्ट स्थानपर पहुंच नहीं सकता, यह बात व्यवहारमें भी प्रत्यक्ष होती है। अतः शुक्लपक्ष (शुद्ध संघ)में रहकर प्रकाशके पवित्र मार्गसे जानेवाला (उत्-तर-अयन) उच्च तर गतिको प्राप्त होता है। यहां 'उत्तर' शब्द 'उच्चतर' अर्थ बताता है न कि वर्षका एक काल भाग। अग्नि, प्रकाश, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण ये शब्द इस तरह, शुद्ध मार्गके सूचक हैं। ये दैवी संपत्तिवालोंके मार्गके सूचक हैं। इसी तरह धूम, रात्री, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन ये शब्द आसुरीमार्गके लोगोंके व्यवहारके सूचक हैं। ये दोनों गतियां सनातन हैं क्योंकि देवासुर भेद सनातन है। हम भी लोक व्यवहारमें देखते हैं सत्पक्ष और असत्पक्ष सदासे है,किसी एकका नाश नहीं होता। दोनों पक्षोंका सनातन होना इस तरह प्रत्यक्ष है।

इन दोनों मार्गोंके विषयमें वेदमें और उप-

निषदोंमें जो कहा है वह भी अब यहां देखना चाहिये—

ये...श्रद्धां सत्यमुपासते ते अर्चिरभिसंभवन्ति, अर्चिषो अहः, अह्न आपूर्यमाणपक्षं, आपूर्यमाणपक्षात् यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति, मासेभ्यो देवलोकं, देवलोकादादित्यं, आदित्याद्वैद्युतं, तान्वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति, तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति, तेषां न पुरावृत्तिः॥१५॥ ये यज्ञेन...लोकाञ्जयन्ति ते धूममभि संभवन्ति, धूमाद्रात्रिं, रात्रेरपक्षीयमाणपक्षं, अपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान्दक्षिणादित्य एति, मासेभ्यः पितृलोकं, पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्य अन्नं भवन्ति, तांस्तत्र देवा भक्षयन्ति,.... आकाशाद्वायुं, वायोर्वृष्टिं, वृष्टेः पृथिवीं, पृथिवीं प्राप्य अन्नं भवन्ति, ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते, ततो योषाग्नौ जायन्ते, लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्ते, अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतंगा यदिदं दन्दशूकम् ॥१६॥ बृ० उ० ६।२

यही वचन छांदोग्य उपनिषद्में कुछ भेदके साथ आया है वह अब देखिये—

ये...श्रद्धा तप इत्युपासते ते अर्चिषमभिसंभवन्ति, अर्चिषोऽहः, अह्न आपूर्यमाणपक्षं, आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् ॥१॥ मासेभ्यः संवत्सरं, संवत्सरादादित्यं, आदित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो मानवः स एनान्ब्रह्म गमयति, एष देवयानः पन्था इति ॥२॥ अथ ये इष्टमित्युपासते ते धूममभि संभवन्ति, धूमाद्रात्रिं, रात्रेरपरपक्षं, अपरपक्षाद्यान्षड् दक्षिणैति मासांस्तान्, एते संवत्सरमभि प्राप्नुवन्ति ॥३॥ मासेभ्यः पितृलोकं, पितृलोकादाकाशं, आकाशाच्चन्द्रमसं,...एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं, तं देवा भक्षयन्ति ॥४॥ तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा, अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, यथेतमाकाशं, आकाशाद्वायुं, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वा अभ्रं भवति ॥५॥ अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते...यो हि अन्नमत्ति यो रेतः सिंचति, तद्भूय एव भवति ॥६॥

छां० उ० ५।१०

"जो श्रद्धा और सत्यकी उपासना करते हैं वे (अर्चिः) प्रकाशको प्राप्त होते हैं, वहांसे दिन, दिनसे (आपूर्यमाण पक्षं) पूर्ण पक्षको, वहांसे उत्तर दिशामें सूर्य जानेवाले छ मासोंको, उत्तरायणसे संवत्सरको (देवलोकको), वहांसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको, चन्द्रमासे विद्युत् को प्राप्त होते हैं। वहांसे आगे मानस पुरुषके साथमें चलते हुए ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। वहां वे अनंत समयतक रहते हैं, यहांसे फिर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते। अब दूसरा मार्ग यह है- जो यज्ञसे अनेक लोकोंको जीतते हैं वे धूमको प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्री, रात्रीसे क्षयपक्ष, वहांसे सूर्य दक्षिण दिशामें जानेवाले छः मासोंको, वहांसे पितृलोक, वहांसे चन्द्रको प्राप्त होकर अन्न रूप बनते हैं। वह अन्न देव भक्षण करते हैं। वहांसे आकाश, वायु, वृष्टि, पृथ्वीको प्राप्त होकर अन्न द्वारा पुरुषमें, पश्चात् वीर्यरूपसे स्त्रीमें प्रविष्ट होकर मानव जन्मको प्राप्त होते हैं। इस तरह सकाम कर्म करनेवाले सृष्टिके चक्रमें भ्रमणको प्राप्त होते हैं। इन दोनों मार्गोंको जो नहीं जानते वे कृमि कीट बनते हैं।

इस प्रकार इन दोनों उपनिषदोंमें मरणोत्तर मार्गका वर्णन है। इसका स्पष्ट बोध होनेके लिये फिरसे यहां कोष्टक रूपमें देते हैं—

यहां मार्गमें बृहदारण्यकमें जहां देवलोक कहा है वहां छांदोग्यमें संवत्सर कहा है। तथा आदित्यसे विद्युतमें जानेका वर्णन बृहदारण्यकमें है, वहां छांदोग्यमें बीचमें चन्द्रलोकका एक मुकाम अधिक कहा है। यदि देवलोकका नाम संवत्सर माना जाय और आदित्यके पश्चात् चन्द्रलोकका मुकाम करकेहि विद्युत् रूप बनना सत्य माना जाय तो दोनों में कोई भिन्नता प्रतीत नहीं होती। इस तरह दोनोंकी संगति हो सकती है। (यह वर्णन छां० उ० ४।१५।५-६ में भी इसी तरह है। इसका नाम यहां देवपथ कहा है।

अब धूम्रमार्गका विचार करते हैं-

धूम्रमार्ग। बृहदारण्यक उपनिषत्के अनुसार

पुनरागमन

गमन	पुनरागमन
९ देवोंद्वारा अन्नभक्षण	१० आकाशमें अवस्थान
८ सोम-अन्न	११ वायुमें "
७ चन्द्र (सोमः)	१२ वृष्टिमें "
६ पितृलोक	१३ पृथ्वीमें "
५ दक्षिणायन	१४ अन्नमें "
४ क्षीणपक्ष	१५ पुरुष वीर्यमें "
३ रात्री	१६स्त्रीके गर्भाशयमें"
२ धूम्र	१७मनुष्य रूपमें जन्म.
१ यज्ञ	

धूम्र मार्ग (छांदोग्य उपनिषत्के अनुसार)

गमन	पुनरागमन
१० देवोंद्वाराभक्षण	११ आकाशमें अवस्थान
९ सोम-अन्न	१२ वायुमें "
८ चन्द्रमाः (सोमः)	१३ धूममें "
७ आकाश	१४ अभ्रमें "
६ पितृलोक	१५ मेघमें "
५ संवत्सर	१६ वृष्टिमें "
४दक्षिणायनके छःमहिने	१७ व्रीहि आदि अन्नमें
३ अपरपक्ष	१८ अन्न खानेवाले पुरुषमें
२ रात्री	१९ स्त्रीके गर्भाशयमें
१ दान	२० मनुष्य जन्म
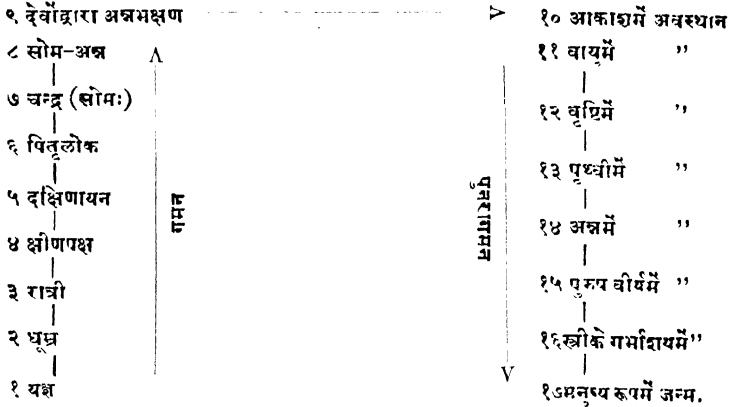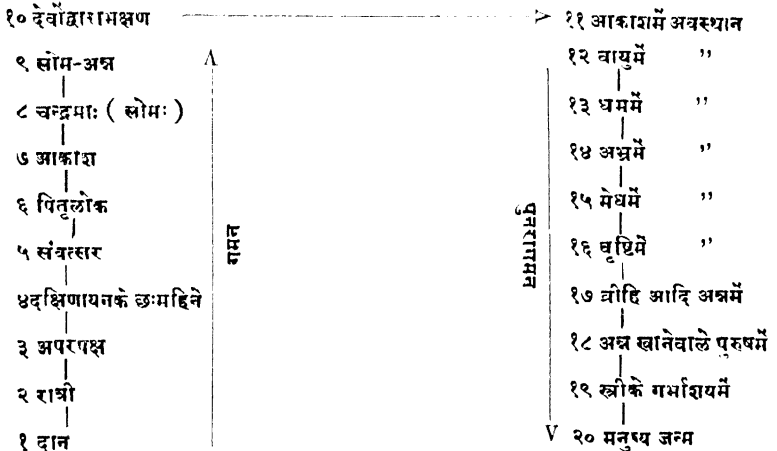
इन मार्गोंमें कुछ शब्दोंकी अधिकता है, परंतु तत्त्वमें कोई भेद नहीं है। इन पथोंका विचार करनेसे मुक्त होनेवाला कैसा उच्च गतिको प्राप्त होता है और पुनरावर्तन के चक्रमें घूमाया जानेवाला कैसा वापस आता है, इसका पता लग सकता है। अब देवयान और पितृयानके संबंधमें अन्य उपनिषदोंमें क्या कहा है सो देखेंगे —

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते, तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥९॥ अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त०॥१०॥ मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणः० ॥ ११ ॥ अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः०॥१२॥
प्रश्न उ० १

"संवत्सर प्रजापति है, उसके उत्तर और दक्षिण ये दो अयन हैं। जो कर्ममार्गी कर्म करते हैं वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं, वे बारंबार पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं। अतः जो प्रजाकी इच्छा करते हैं वे इस पितृयाण मार्ग, रयि मार्गका अवलंबन करते हैं॥ दूसरे ऋषि तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्याद्वारा आत्माकी खोज करते हैं वे आदित्यको प्राप्त करते हैं। यह आदित्य प्राणोंका आधार है और यही अमृत, अभय, और परायण है। इसे प्राप्त करनेवाले फिर लौटकर नहीं आते॥ महिना प्रजापति है उसका शुक्लपक्ष प्राण है और कृष्ण पक्ष रयि है॥ अहोरात्र प्रजापति है, उसका दिन प्राण है और रात्री रयि है॥" यहां स्पष्ट कहा है एक प्राणमार्गसे जानेवाले और दूसरे रयिमार्गसे जानेवाले होते हैं। इन दोनोंकी गतियां भिन्न भिन्न होती हैं। अब मुण्डकोपनिषद्का वचन देखिये-

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥ मुण्डक उ०३।१

" सत्य, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे यह आत्मा प्राप्त हो सकता है। यह शरीरके अन्दर ज्योतिरूप शुभ्र है जिसे पवित्र यति देखते हैं। सत्यका जय होता है कभी असत्यका नहीं है। सत्यसे हि देवयान मार्गपर गति होती है। इस मार्गपरसे आप्तकाम ऋषि जाते हैं और सत्यके परम पदको प्राप्त करते हैं।" यहां देवयान मार्ग कहा है, यह देवयान मार्ग वह है कि जो सत्य आत्माको पहुंचाता है। अर्थात् इससे भिन्न जो दूसरा मार्ग है वह भोगी जीवनमें मनुष्योंको फंसाता है।

एष देवपथो ब्रह्मपथः। छां० उ० ४।१५।६

देवपथका नाम यहां ब्रह्मपथ दिया है। जो ब्रह्मको पहुंचाता है वह देव पथ है, वही प्राणमार्ग है। यहां तक उपनिषद्वचनोंका विचार है। ईश, केन, कठ, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वर इन उपनिषदोंमें देवयान पितृयानके विषयमें स्पष्टतासे लिखा नहीं है। प्रश्न, मुंडक, छांदोग्य और बृहदारण्यक इनमें क्रमशः अधिकाधिक वर्णन है। अतः कल्पना होती है कि यह कल्पना पीछेसे बढाई गयी है। पहले इतनी नहीं थी। बृहदारण्यकसे भी आगे चलकर पुराणोंमें यह विषय बहुत ही बढाया गया है। इससे यह कल्पना पीछेसे बढाई जानेकी बात अधिक ही स्पष्ट होती है। कठोपनिषद्में कितना संक्षेपसे कहा है वह देखिये —

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥६॥
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्॥७
कठ उ० २।५

"मरनेके पश्चात् आत्माकी गति कैसी होती है वह गुह्य बात कहता हूं। कई आत्मा दूसरा देह प्राप्त करनेके लिये गर्भको प्राप्त होते हैं, और दूसरे स्थाणु - ब्रह्म- को प्राप्त होते हैं। जैसा जिसका कर्म और जैसा जिसका ज्ञान, वैसी गति होती है।" यहां कर्म मार्गसे पुनर्जन्म और ज्ञानमार्गसे मुक्ति कहनेका उद्देश है। मूल यही कल्पना है। यही बात अविद्या और विद्याके वर्णनसे ईशोपनिषद् में सूचित की है। ऐसा कई-योंका अभिप्राय है, तथापि विद्या अविद्याका यहां अर्थ आत्मज्ञान और प्रकृतिविज्ञान है। अतः यहांका वर्णनका क्षेत्र दूसरा ही है। इस तरह देखनेसे पता लगता है कि यह अर्चि और धूम मार्ग का वर्णन प्रारंभमें कुछ और था, और पीछेसे कुछ बढा दिया गया।

वेद मंत्रोंमें इन मार्गोंके विषयमें क्या कहा है सो अब देखेंगे —

द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥ ऋ १०।८८।१५

"मनुष्योंकी देव, पितर ये (द्वे स्रुती) दो प्रकार-की गतियाँ होती हैं ऐसा हम सुनते आये हैं। जो इस मातापितारूपी (द्यावा पृथ्वीके मध्यमें) जगत् है वह इन दो मार्गोंसे जाता है।" यहां दो ही गतियाँ हैं ऐसा कहा है। इससे अधिक वेदमें नहीं कहा है, जिसका विस्तार आधुनिक उपनिषदों में अधिक बढाया गया और पुराणोंमें विशेष कर गरुड पुराणमें तो दिन दिनकी गतिका वर्णन है।

क्या यह अक्षरशः सत्य है? ऐसा पाठक प्रश्न पूछ सकते हैं। इस शंकाके उत्तरमें हम कह सकते हैं कि यह अक्षरशः सत्य है ऐसा माननेकी आवश्यकता नहीं है। क्यों कि उपनिषदोंमें कई बातें ऐसी हैं कि जो अक्षरशः सत्य नहीं मानी जा सकतीं, उदाहरणके लिये सूर्यके ऊपर चन्द्रका होना निम्नलिखित वचनमें है—

कस्मिन्नु खलु आप ओताश्च प्रोताश्चेति, वायौ गार्गीति। कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेति, अन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु अन्तरिक्ष लोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेति, आदित्यलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु आदित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्र-लोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेति इन्द्रलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु इन्द्र-लोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति, कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति।
बृ० ३।६।१

"जल वायुमें, वायु अन्तरिक्षमें, अन्तरिक्ष गंधर्वलोकमें, गन्धर्वलोक आदित्यलोकमें, आदित्य चन्द्रलोकमें, चन्द्र देवलोकमें, देवलोक इन्द्रलोकमें, इन्द्रलोक प्रजापतिलोकमें, और प्रजापति ब्रह्मलोकमें ओतप्रोत हुए हैं।" यह वर्णन अक्षरशः सत्य मानना कठीन है क्यों कि आदित्य लोकका आधार चन्द्रलोक नहीं है, अर्थात् यह वर्णन स्थूल सृष्टीमें अनुभव होनेवाला नहीं है। तथा—

यदा पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रेति, स वायुमाग-च्छति। स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमाग-च्छति। स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमाग-च्छति। स ऊर्ध्वमाक्रमते स लोकमागच्छति अशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः।
बृ० ५।१०।१

"जब मनुष्य मरता है तो वायुमें पहुंचता है, वहांसे वह ऊपर चढता है और सूर्यको प्राप्त होता है, वहांसे वह ऊपर चढता है और चन्द्रमाको प्राप्त करता है, वहांसे वह ऊपर चढता है और ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है वहां शोकरहित होकर अनंत समय रहता है।" यहां सूर्यके ऊपर चन्द्रलोक होनेका वर्णन है। यह अक्षरशः मानना अशक्य है। एक तो चन्द्रलोक यह हमारा चन्द्रमा न होगा, अथवा कुछ अन्य अवस्था होगी। जो कुछ हो यह सब वर्णन जैसा उत्तानार्थसे दिखाई देता है वैसा नहीं है यह बात यहां स्पष्ट है। यही वर्णन श्रीमद्भागवतमें भी है—

अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम्।
सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः॥
श्री० भागवत ५।२०।४३

एवं चन्द्रमा अर्कगभस्तिभ्य उपरिष्टाल्लक्षयोजनत उपलभ्यमानः ॥ ९ ॥ तत उपरिष्टात्त्रिलक्ष योजनतो नक्षत्राणि ॥ ११ ॥ तत उपरिष्टादुशना द्विलक्ष योजनतः ॥ १२ ॥
श्री० भागवत ५।२२

"ब्रह्माण्डके मध्यमें सूर्य है, सूर्यसे ब्रह्माण्डकी परिधि पच्ची कोटी योजन है। सूर्यके ऊपर चन्द्रमा एक लाख योजन है, उसके ऊपर तीन लाख योजन नक्षत्र हैं, उनके ऊपर दो लाख योजन शुक्र है।" इत्यादि बडा वर्णन है। यह वर्णन आधुनिक विज्ञानसे सिद्ध नहीं होता और यदि कोई सिद्ध करेगा, तो उसको इसका कुछ दूसरा अर्थ करना पडेगा। यही हमने ऊपर कहा है कि इसका अक्षरशः सत्य मानना कठिन है। किसी ग्रंथमें एकाध विधान कुछ संशयित हुआ तो उससे दूसरे सिद्धान्त भ्रांत नहीं हो सकते। इसलिये इन्द्रादि लोकोंकी स्थितिका वर्णन संशयित सिद्ध होनेपर मुख्य सिद्धान्तमें बाधा नहीं हो सकती। मुख्य सिद्धान्त आत्माकी स्थितिका है वह अबाधित ही रहता है। अस्तु।

इससे इतना ही बताया कि मरणोत्तरकी जो द्विविध गतिका वर्णन उपनिषदोंमें दिया है वह लाक्षणिक अर्थसे लेना चाहिये, न कि उत्तान शब्दार्थसे। इस लाक्षणिक अर्थको कैसे समझ सकते हैं ऐसा प्रश्न कोई विचारी पाठक यहां पूछ सकते हैं। इसके उत्तर में कह सकते हैं कि इस अर्थके निदर्शक शब्द ये हैं—

शुक्लपक्ष	कृष्णपक्ष
शुद्धपक्ष	कृष्णपक्ष
शुद्धमार्ग	कृष्णमार्ग
आपूर्यमाणपक्ष	अपक्षीयमाणपक्ष
श्रद्धा तप	यज्ञ
तप, ब्रह्मचर्य, विद्या,	कर्ममार्ग
ज्ञानमार्ग, देवयान	पितृयान
उत्तर अयन	दक्षिण अयन
उत्तरगति, उच्चतरगति	दक्षिणगति

ये शब्द लाक्षणिक अर्थके सूचक हैं। एकका नाम शुद्ध और दूसरेका नाम कृष्ण है। यहां ही दोनों मार्गोंके स्वरूपका निश्चय हो सकता है। 'आपूर्यमाण' का अर्थ भरनेवाला, पूर्ण करनेवाला और 'अपक्षीयमाण'का अर्थ क्षीण करनेवाला है। जो शुद्धमार्ग है उससे जानेवाले अपने आपको प्रतिसमय परिपूर्ण होनेका अनुभव करते हैं और कृष्ण मार्गसे जानेवाले लोक अपने आपको क्षीण होनेका अनुभव करते हैं, क्योंकि यहांका पुण्यसंचय क्षीण होनेके पश्चात् वे स्वर्गसे गिराये जाते हैं। एक मार्गमें ब्रह्मचर्य और विद्या है और दूसरे मार्गमें केवल कर्म है। एक मार्गसे (उत्तर, उत् तर) उच्चतर होनेकी संभावना है और दूसरे मार्गमें वैसी संभावना नहीं, प्रत्युत वारंवार वापस आनेका निश्चय है। इस तरह ये शब्द दोनों मार्गोंका स्वरूप बताते हैं। इस स्थानपर जो कर्म मार्गका वर्णन है उसके संबंधमें उपनिषद् इस तरह कहते हैं—

एहि एहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥ मुंडक उ० १।६

"आओ, आओ, ऐसा यजमानको यज्ञकी आहुतियां बुलाती हैं और सूर्यके किरणोंसे उसे चलाती हैं, मीठा भाषण बोलती है। यह पुण्यलोक यजमानके लिये है" इस विषयमें और आगे कहा है-

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितंमन्यमानाः। जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

मुंडक उ० १।८

ये कर्ममार्गी लोग "अन्तःकरणमें अविद्या अज्ञानसे भरपूर भरे होते हैं, परंतु अपने आपको बडे बुद्धिमान और पंडित मानते हैं अतः वे मूढ गिरते जाते हैं, जैसे अन्धेके पीछे अन्धे जाकर गिरते हैं।"

यह वर्णन है कृष्णमार्गसे जानेवालोंका। 'आंखवालोंके पीछे आंखवाले चलते हैं' यह वर्णन होगा शुद्ध मार्गियोंका। इससे स्पष्ट होता है कि कौनसा अच्छा है और कौनसा कष्टदायक।

एक मार्ग श्रद्धा, तप, ब्रह्मचर्य, विद्या, ज्ञानका है और दूसरा है अन्ध विश्वासयुक्त कर्मका। यहां मार्गोंकी भिन्नताकी स्पष्टता हो गयी, शुद्धमार्ग दैवीसंपत्तिका है और दूसरा आसुरीसंपत्तिका है। अतः एकको 'प्राण'का मार्ग और दूसरेको 'रयि' (भोग) का मार्ग कहा है। भोगमें फंसनेसे गिरावट होती है, इसीलिये गीतामें भोगोंपर अनासक्ति रखनेको कहा है।

भगवतद्गीतामें 'यज्ञ, संन्यास, योग,' आदि शब्द नवीन विशेष आर्थोंके साथ प्रयुक्त किये हैं। ऐसेहि देवयान पितृयानके शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष ये तथा ज्योती और धूम्र ये सब शब्द विशेष अर्थ सामने रखकर ही प्रयुक्त किये गये हैं। अन्यथा इनके उत्तान अर्थ लिये जांयगे तो भ० गीताका अन्य उपदेश इसके साथ सुसंगत प्रतीत नहीं होगा।

शुक्ल और कृष्ण गति।

ये दो शब्दही इन मार्गोंका स्वरूप बता रहे हैं। एक मार्गसे जानेसे शुद्धता आती है और दूसरे मार्गसे जानेसे कृष्णता, कालिमा आती है। जनतामें जो भोगोंके पीछे दौड रहे हैं वे कृष्णमार्गसे जानेवाले और जो स्वावलंबन और स्वाधीनताके पीछे जानेवाले हैं वे शुद्धमार्गसे जानेवाले हैं। इन मार्गोंके संबंधमें अब इन दो शब्दोंको सामने रखनेके पश्चात् अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

ये दो भिन्न परिणाम इन मार्गोंके जानेसे होते हैं, एक मार्गसे जानेसे स्वाधीनता मिलती है और दूसरे मार्गसे जानेसे अनेक दुःख भोगने पडते हैं, यह ज्ञान जिसको होता है वह कभी मोहित नहीं होता, अर्थात कृष्णमार्गके भोगोंमे न फंसता हुआ त्यागके शुद्ध मार्गसे उन्नत होता है। वेदाध्ययन, यज्ञ, तप और दान से जो पुण्य प्राप्त होता है उससे कई गुणा अधिक फल प्रत्यक्ष त्यागमार्गका अवलंबन अर्थात् कर्मफलत्यागका आचरण करनेसे होता है। पाठक इस बातको जानें और इस स्वाधीनताके मार्गसे चलकर परमपद प्राप्त करें।

यहां अष्टम अध्यायका मनन समाप्त हुआ॥८॥

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी।

अष्टम अध्यायकी विषयसूची।

अष्टम अध्यायकी विषयसूची समाप्त

अथ नवमोऽध्यायः ।

राजविद्या--राजगुह्य--योगः ।

(१) पवित्र अविनाशी राजधर्म ।

श्रीभगवानुवाच- इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अन्वय— यत् ज्ञात्वा (त्वं) अशुभात् मोक्ष्यसे, (तत्) तु इदं गुह्यतमं विज्ञानसहितं ज्ञानं अनसूयवे ते प्रवक्ष्यामि ॥ १ ॥ इदं (ज्ञानं) राजविद्या, राजगुह्यं, उत्तमं, पवित्रं, अव्ययं, प्रत्यक्षावगमं, कर्तुं सुसुखं, धर्म्यं च (अस्ति) ॥ २ ॥ हे परंतप ! अस्य धर्मस्य अश्रद्दधानाः पुरुषाः मां अप्राप्य मृत्युसंसारवर्त्मनि निवर्तन्ते ॥ ३ ॥

भगवान् बोले-जिसके जाननेसे तू अशुभ अवस्थासे दूर रहेगा, वह यह अत्यंत गुप्त विज्ञानसहित ज्ञान, तू मत्सररहित है इसलिये तुझे मैं कहता हूं ॥ १ ॥ यह ज्ञान सब विद्याओंमें मुख्य समस्त गुह्योंमें अत्यंत गुह्य, उत्तम, पवित्र और अविनाशी, प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाला और सुखसे आचरण करने योग्य पूर्ण धर्मरूप है ॥ २ ॥ हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन ! इस धर्मपर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य मुझ (ईश्वर) को प्राप्त न होकर, मृत्युमय संसारके मार्गमें वारंवार भ्रमण करते रहते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— सत्य ज्ञान और सत्य विज्ञान जाननेसे मनुष्य अशुभ अवस्थासे बच सकता है । यह विज्ञानसहित सत्यज्ञानही सबसे श्रेष्ठ विद्या, सबसे श्रेष्ठ ज्ञान और सबसे गुह्य तत्त्वज्ञान है । यही सबमें उत्तम अविनाशी अर्थात् चिरकाल रहनेवाला, पवित्र और प्रत्यक्षतासे हरएकके अनुभवमें आनेवाला तथा सुगमतासे और सहजहीसे आचरण होने योग्य मानवोंका श्रेष्ठ धर्म है । जो इस अविनाशी परमोच्च धर्मपर श्रद्धा नहीं रखेंगे, उनको ईश्वरस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होगी, और वे इस संसारमें मृत्युके दुःख वारंवार भोगते रहेंगे ॥ १-३ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ— " जिस राजविद्याको जाननेसे मनुष्योंको कभी दुरवस्था प्राप्त नहीं होती, वह अत्यंत गुप्त ज्ञान विज्ञानके साथ तुम्हें कहता हूं ॥ १॥ (राजविद्या) यह राज्यशासनकी विद्या है, यह श्रेष्ठ राजाओंका (राजगुह्य) राज्यशासन चलानेका गुह्यज्ञान है, यह मनुष्यको (उत्तमं) उत्तम और (पवित्रं) पवित्र करनेवाला ज्ञान है, (अ-व्ययं) इसमें कोई अधिक व्यय नहीं होता, इससे उत्तम लाभ होता है, इसका (प्रत्यक्ष-अवगमं) प्रत्यक्ष अनुभव हर कोई ले सकता है, यह (कर्तुं सुसुखं) आचरण करनेके लिये भी अत्यंत सुगम है ॥२॥ जो इस राजविद्यापर विश्वास नहीं रखेंगे, वे पूर्ण-(पुरुष-)-त्वको प्राप्त नहीं होंगे और मृत्यु तथा विविध दुःखपरंपराको प्राप्त होंगे ॥ ३ ॥

भावार्थ- यह राज्यशासन चलानेकी मुख्य विद्या है, इस प्रकार राज्यशासन चलानेसे मनुष्यको अखंड कल्याण प्राप्त होता है और कभी मनुष्यकी दुर्दशा नहीं होती। यह राज्यशासनकी गुप्त विद्या है, यह मनुष्यको नित्य हृदयमें धारण करनी चाहिये। जहां इस तरह राज्यशासन चलेगा वहांके मनुष्य उच्चतम होंगे और अधिक पवित्र होते जायंगे। इस पद्धतिसे राज्यशासन चलानेके लिये किसी प्रकारभी अधिक व्यय करना नहीं पडता, प्रत्युत अन्य राज्यशासनोंकी अपेक्षा न्यून व्ययसेही यह राज्यशासन चलाया जा सकता है। इससे मनुष्योंका प्रत्यक्ष हित होता है, यह बात हरएकके अनुभवमें आ सकती है। यह राज्यशासन चलाना बडा सुगम है। जो लोग इस राज्यशासनपर विश्वास नहीं रखेंगे, वे पुरुषोत्तम नहीं बनेंगे और अनंत दुःख भोगेंगे ॥ १—३ ॥]

गुह्ययोग।

(१-३) इस अध्यायमें गुह्ययोगका वर्णन श्री भगवान् करते हैं। इसीको ' गुप्तयोग ' गुप्तविद्या, गुह्यविद्या, राजयोग, राजविद्या' आदि कहते हैं। संपूर्ण विद्याओंमें, ज्ञानोंमें और योगोंमें यह श्रेष्ठ होनेसेहि इसको ' राजविद्या और राजगुह्य ' कहा जाता है। या तो इसको विद्याओंका राजा कहो अथवा गुह्य ज्ञानोंका सम्राट् कहो। अथवा राजाओंकी विद्या और राजाओंका गुप्त ज्ञान ऐसाभी कई लोग इसे कह सकते हैं। परंतु यह दूसरा अर्थ (राज्ञां विद्या, राज्ञां गुह्यं) सत्य होगा ऐसा हमें विश्वास नहीं है। क्यों कि यह ज्ञान जो श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णजीके द्वारा प्रकाशित हुआ है, वह केवल क्षत्रियोंके लिये ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह ज्ञान तो मनुष्यमात्रके उद्धारार्थ कहा गया है। जो ज्ञान राजाओं (क्षत्रियों) की विद्यासे प्रकाशित होगा अथवा जो राजाओं (क्षत्रियों) का गुप्त ज्ञान या गुह्य ज्ञान होगा वह केवल क्षत्रियोंके लिये हि हो सकता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें किसी एक जातिका या वंशका पुरस्कार करके कोई उपदेश नहीं किया है, यहां तो मनुष्यमात्रका उद्धार करनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान् जो कुछ कहना है, कहते हैं। स्त्री, वैश्य, शूद्र, पापयोनि अर्थात् चांडाल (गी. ९।३२) ये भी परम गतिको प्राप्त हो सकते हैं। जिस ज्ञानसे यह चमत्कार होता है, वह सर्वजनहितकारी श्रेष्ठ ज्ञान इस भगवद्गीतामें कहा है। "बडेसे बडा दुराचारीभी यदि अनन्य भावसे ईश्वरकी भक्ति करे तो यह मानो कि वह साधु होही चुका है, क्योंकि उसका शुभ संकल्प हुआ है। वह शीघ्रही धर्मात्मा बनकर निरन्तर शान्ति पाता है। मनुष्य निश्चयसे यह समझे कि ईश्वरका भक्त कभी नष्ट नहीं होता।" (गी० ९।३१-३२)

राजविद्या।

अन्य सब विद्याएं खास व्यक्तियोंके लिये हैं, परंतु यह विद्या ऐसी है कि जिससे संपूर्ण मानव-समाज का हित हो सकता है। इसीलिये इसको राजविद्या अथवा श्रेष्ठ ज्ञान कहते हैं। यहां किसी व्यक्तिविशेषका पक्षपात नहीं है और जातिविशेषका अधिकार नहीं है। यहां इस राजविद्या के पास मनुष्यमात्र आ जांय और निजानंद प्राप्त करें। राजविद्याका यह अर्थ यहां पाठक ध्यानमें धारण करें।

राज्य चलानेकी विद्या ।

राजविद्याका एक दूसराभी अर्थ यहां हो सकता है। राज्यशासन चलानेकी यह विद्या है इस अर्थसे (राज्ञां विद्या) राजाओंकी विद्या यह है । राजपुरुष राज्यका शासन कैसा करें, राजका कर्मचारी अपना व्यवहार अर्थात् शासनव्यवहार कैसा करे और राजमें रहनेवाला प्रत्येक मनुष्य कैसा बर्ताव करे और प्रजाजनोंका आपसका बर्ताव कैसा हो, यह राजप्रबंध और प्रजाप्रबंधकी विद्या यहां कही है । यहां "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चांडाल, स्त्रियाँ, पापयोनि, श्वपाक, पंडित, गौ, हाथी, कुत्ता आदि सबको समान दृष्टीसे देखा जायगा। " (गी० ५।१८) इस भगवद्गीताके अनुसार जो राज्यशासन चलाया जायगा उसमें सबको समदृष्टिसे देखा जायगा। अर्थात् किसीका पक्षपात जन्म या वर्णके कारण यहां इस राज्यमें नहीं होगा ।

यहां भगवद्गीतोक्त राज्यशासनमें सब लोक कर्मफल त्याग करेंगे, कोई अपने कर्मका फल अपने भोगके लिये नहीं रखेगा । अर्थात् इस भगवद्गीताकी ' राजविद्या ' के अनुसार ब्राह्मण विद्या,पढावेगा,ज्ञान फैलावेगा,प्रजाजनोंको ज्ञानविज्ञानसंपन्न करेगा, परंतु इस पढाईके लिये वेतन नहीं लेगा, वह अपने कार्यका और कर्मफलका समर्पण प्रजापतिके लिये करेगा। इस 'राजविद्या' के अनुसार क्षत्रिय राज्यका पालन करेगा, ग्रामका नियंत्रण करेगा, पहारेदारी करेगा, दुष्टोंको दण्ड देगा, सत्पक्षकी रक्षाके लिये असत्पक्षके साथ युद्ध करेगा, इत्यादि कर्म करेगा। परंतु इन कर्मोंको और अपने कर्मफलोंको प्रजापतिके लिये समर्पण करेगा । ये क्षत्रिय भी अपने कर्मोंके फलोंको अपने उपभोगके लिये अपने पास संग्रहित नहीं रखेंगे । वैश्य भी कृषि, पशुपालन और व्यापारव्यवहार, लेन देन आदि सब करेंगे, परंतु जो लाभ होगा वह प्रजापतिके पास जमा करेंगे । अपने उपभोग बढानेके लिये अपने पास संग्रह करके नहीं रखेंगे। शूद्र भी विविध कारीगरी और हुनरोंकी उन्नति करेंगे और सेवा भी करते जांयगे । अपने कार्यसे जो मिलेगा वह अपने पास संग्रह करके उसका स्वयं भोग नहीं करेंगे, परंतु वह सब फल प्रजापतिके पास समर्पण करेंगे । इसी तरह निषाद और अन्यान्य लोग अपने कर्मोंके फलोंको अपने पास संग्रह करके नहीं रखेंगे । परंतु सभी लोग अपने कर्मोंसे जो जो फल उत्पन्न होंगे, वे सबके सब फल प्रजापति (प्रजापालक राजा अथवा राज्यशासक संस्था) के पास सबके द्वारा समर्पित होते जांयगे ।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषादादि सब लोग अपने अपने निज सहज (जन्मसे प्राप्त) कर्ममें अत्यंत उन्नति करेंगे, पराकाष्ठाकी पूर्णता प्राप्त करेंगे, जो कर्म करेंगे वह उत्तम कुशलतासे (योगस्थः कुरु कर्माणि। गी० २।४८॥ योगः कर्मसु कौशलम् । गी० २।५०) करेंगे। सिद्धि हो या असिद्धि हो, उसकी चिन्ता न करते हुए अपना कर्तव्य करना अपना धर्म है,ऐसा मानकर हरएक अपना अपना निज कर्तव्य करेंगे। (सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा । गी० २।४८; १८।२६) सबलोग अपने कर्मके फलोंको (ब्रह्मार्पण । गी० ४। २४) प्रजापतिके लिये अर्पण करेंगे और कोई लोग अपने उपभोगके लिये अपने पास संग्रहित करके नहीं रखेंगे ।

प्रत्येक मनुष्य समझेगा कि'अपने अपने कर्मसे मैं परमेश्वरकी सेवा कर रहा हूं ' (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः । गी. १८।४६) और अपना कर्म ईश्वरकी सेवा करनेके भावसे करेगा । वैद्य रोगीकी चिकित्सा इसी भावसे करेगा कि इस रोगीके रूपमें परमेश्वरही मेरे पास आगया है और इसकी सेवा स्वकर्मके द्वारा करना मेरा निज कर्तव्य है । अध्यापक शिष्यको इसी भावसे सिखावेगा कि ईश्वरही इस शिष्यके

रूपमें अपने सन्मुख आया है और अध्यापनरूप कर्मके द्वारा इस ईश्वरकी सेवा करना अपना धर्महीं है। न्यायाधीश यही समझेगा कि वादी और प्रतिवादी जो मेरे सामने खडे हैं, वे इन रूपोंमें प्रत्यक्ष परमेश्वरकेही रूप हैं और उत्तम निःपक्षपातसे न्यायदानद्वारा मैं इनकी सेवा करनेके लिये हि यहां बैठा हूं। स्त्री कहेगी कि मैं अपने स्त्रीत्वसे पतिरूपी परमेश्वरकी सेवा करूंगी और पति कहेगा कि परमेश्वर ही स्त्री-रूपसे मेरे सन्मुख मेरा साथी हुआ है और अपने पतिधर्मद्वारा उसकी सेवा करना और उसको संतुष्ट करना मेरा धर्म है। इसी तरह युद्धभूमिपर जाकर लडनेवाला वीर समझेगा कि ईश्वरहि इन प्रतिपक्षियोंके रूपमें अपने सामने खडा हुआ है और उत्तम युद्धरूप कर्म करके उसकी सेवा करना मेरा परम आवश्यक कर्तव्य है। इस तरह हरएक मनुष्य स्वकीय कर्म उत्तम रीतिसे करके परमेश्वरकी सेवा करेगा और उत्तम सिद्धिको प्राप्त होगा। अपना कर्तव्य करना हीं परमेश्वरकी सेवा है। (मानुषीं तनुमाश्रितं भूतमहेश्वरं भजन्ति। गी० ९।११-१३) मानवी शरीर धारण करके ईश्वरहि पंच जनोंके रूपमें मेरे सामने हैं ऐसा मानकर उसकी यथा-योग्य सेवा करना हरएकका कार्य होगा। और कर्तव्य करनेपरभी कोई उस कर्मका फल अपने उपभोगके लिये अपने पास संग्रहित करके नहीं रखेगा, परंतु सबका सब कर्मफल प्रजापतिके लिये समर्पित होगा।

सब लोग जो श्रीमद्भगवद्गीतोक्त राज्यमें रहेंगे वे यह सेवा अनन्य भावसे करेंगे-

अनन्याः पर्युपासते। गी०९।२२

अनन्येनैव योगेन ध्यायन्ते। गी० १२।६

'मैं अन्य हूं और जो मेरे सन्मुख उपस्थित हैं वह अन्य है' ऐसा भाव छोडकर, हम सब मिलकर 'विराट् पुरुष' हुआ है, सब मिलकर एकही (वासुदेवः सर्वं। गी० ७।१९) सद्वस्तु है, ऐसे अनन्यभावसे अपने अपने स्वभावनियत कर्मद्वारा परमेश्वरकी सेवा करेंगे। इस तरह विश्वसेवा करना उनका निज धर्म, निज कर्तव्य और सहज कर्तव्य होगा।

इस राज्यमें राज्यशासन का नियमन करने-वाली प्रजापतिसंस्था होगी और उसका नियामक प्रजापति होगा। इसीका दूसरा नाम गण-संस्था और उसका नियामक गणपति है। कार्य-व्यवसायके अनुसार अर्थात् (चातुर्वर्ण्यं गुणकर्मशः गी०४।१३) गणोंकी व्यवस्था यहां होगी। प्रत्येक गणमें कितने स्त्री पुरुष बाल तरुण हैं इनकी उत्तम रीतिसे गिनती होगी, कौन कहां है, उसका कार्य कौनसा है, इत्यादि सब गिनाया गया होगा। गणसंस्थाके बाहर कोई न होगा। प्रत्येक गणका एक अध्यक्ष होगा, उसको गणपति कहा जायगा। अनेक गणोंका गणमंडल होगा, उसका अधिष्ठाता गणमंडलाध्यक्ष कहलावेगा। सबका नियमन प्रजापति करेगा।

प्रत्येक गण क्या कार्य करता है, उसका फल क्या होगा, उसका विनियोग कैसा करना चाहिये, इत्यादि सब बातोंका विचार गणपति तथा गण मंडलाध्यक्ष करेंगे। परंपरया यह सब कार्य प्रजापतिसंस्थाद्वारा प्रजापतिहि करेगा।

गणमें रहनेवाले सब लोग अपना अपना कर्म उत्तम रीतिसे करेंगे। अपना कर्म उत्तम रीतिसे करना इतनाही (कर्मण्येवाधिकारस्ते। गी०२।४७) हरएक मनुष्यका कार्य होगा। उस कर्मके फलका विचार प्रजापति करेगा। क्यों कि जो जो लोग इस तरह अपने अपने कर्ममें रत रहेंगे और अपने कर्मका फल अपने पास नहीं रखेंगे, उनका योग-क्षेम प्रजापतिनेहि चलाना है-

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। (गी० ९।२२)

'इस तरह नित्य अपने कर्ममें दत्तचित्त हुए कर्मी लोगोंका योगक्षेम प्रजापतिद्वारा चलाया जायगा।' किसीको अपने योगक्षेमकी चिंता

करनेकी आवश्यकता नहीं है। राजप्रबंधद्वारा जो जिसको जैसा चाहिये वह उसको वैसा मिलता रहेगा, और सबका उत्तम योगक्षेम चलता रहेगा।

हरएक निर्लोभ वृत्तिसे रहेगा, भोगोंका त्याग करेगा, सद्वृत्त रहेगा, अस्तेय आदि वृत्तिमें सब रहेंगे, इस कारण सबकी आवश्यकताएं कम होंगी। इसलिये झगडे कम होंगे और सब लोग आनंदमें रहेंगे।

इस तरह यह " राजविद्या " श्रीभगवद्गीतामें कही है। इसका विस्तारसे वर्णन करना हो तो बहुतही बडा ग्रंथ होगा। अतः यहां अतिसंक्षेपसे इस भगवद्गीतोक्त 'राजप्रबंधकी विद्या'से चलाये राजमें लोकव्यवहार किस तरह चलेगा। यह यहां बताया है। पाठक विचार करके देखेंगे और यहां तक आया उपदेश राजप्रबंधमें घटायेंगे तो उनको हि श्रीकृष्णभगवान्‌के राज्यशासनकी उत्तम कल्पना हो सकती है। यह 'राजविद्या' अर्थात् राज्यशासन चलानेकी विद्या है, और यही ' राजगुह्य ' अर्थात् राजाके उत्तम शासनका गुह्य है। यही गुप्त ज्ञान है जिससे राजा और प्रजाको अखंडित सुख मिल सकता है। यह राज्यशासन चलता रहेगा तो आगे ऐसा होगा कि विना किये सब शासन-व्यवहार आपही आप चलता रहेगा। कार्य होता रहनेपर भी सब लोग अकर्तृत्वका अनुभव करेंगे। उत्तम राज्य वह है कि जहां राजा और राजपुरुषोंको कोई कार्य करना न पडे और सुराज्य और स्वराज्य स्वभावसे चलता रहे।

गुप्त ज्ञान।

यह राज्यशासनका गुप्तज्ञान (राजगुह्य) है, यही सुखका गुह्यतम साधन है और यह श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रारंभसे अन्ततक कहा होनेपरभी प्रकट नहीं है। क्योंकि ऐसीहि गुप्त रीतिसे वह कहा गया है।

सुख देनेवाला धर्म।

जिसका ज्ञान होनेसे मनुष्य (अशुभात् मोक्ष्यसे) अकल्याणसे दूर रह सकते हैं और पूर्ण कल्याण प्राप्त कर सकते हैं, वह विज्ञानसहित ज्ञान यहां कहा जायगा। यह (कर्तुं सुसुखं) आचरणमें लानेके लिये अत्यंत सुखदायक है, सहजहीसे होनेवाला और अति सुख देनेवाला है। तथा इसका अनुभव (प्रत्यक्ष-अवगमं) प्रत्यक्ष लिया जा सकता है, जो करेगा उसको प्रत्यक्ष सुख प्राप्त होगा। यहां इस जन्ममें करो, मरनेपर स्वर्गमें सुख मिलेगा अथवा अगले जन्ममें, सुख मिलेगा ऐसी अप्रत्यक्षता यहां नहीं है। यहां जीते जी प्रत्यक्ष सुखका अनुभव आ सकता है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
(गी० २।४०)

इसका थोडासा आचरण हुआ तोभी बडा भय दूर हो सकता है। इसीलिये वह सबको (सुसुखं) उत्तम सुख देनेवाला ज्ञान है। यह सबको (पवित्रं) पवित्र करनेवाला है, सब प्रकारके दोषोंको दूर करनेवाला और अद्भुत अखंड सुख देनेवाला है। संपूर्ण मनुष्योंका यह (धर्म्यं) धर्म है। सबके कर्तव्य इससे व्यक्त होते हैं। ये कर्तव्य करनेसे मनुष्य सुखी और आनंदी हो सकता है, इसमें संदेह नहीं है।

अविश्वासियोंको दुःख।

पूर्वोक्त प्रकार अत्यंत सुखदायी मानवधर्म श्रीभगवान्‌ने कहा, परंतु कई लोग अविश्वासी होते हैं। जो इस धर्म्य वचनपर विश्वास नहीं रखते और कर्मफलभोग करने और अपने पास भोगसंग्रह करनेका यत्न करते हैं। (अस्य धर्मस्य अश्रद्दधानाः) जो ऐसे लोक हैं और जो इस सत्यधर्मपर विश्वास नहीं रखते और भोग भोगनेमें प्रवृत्त होते हैं वे ईश्वरको (अप्राप्य मां) कभी प्राप्त नहीं होते और (मृत्युसंसारवर्त्मनि निवर्तन्ते) मृत्युके दुःखदायी मार्गपरहि चलते हैं, अर्थात् उनको वारंवार अनंत दुःख होते हैं।

(२) अव्यक्तका प्रभाव।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

अन्वयः— अव्यक्तमूर्तिना मया इदं सर्वं जगत् ततम्। सर्वभूतानि मत्स्थानि (सन्ति), अहं च तेषु न अवस्थितः (अस्मि) ॥ ४ ॥ भूतानि च मत्स्थानि न (सन्ति), मे ऐश्वरं योगं पश्य। अहं भूतभृत् (अपि) भूतस्थः न। मम आत्मा च भूतभावनः (अस्ति) ॥ ५ ॥

अव्यक्तमूर्तिधारी मुझ (ईश्वर) से यह संपूर्ण जगत् फैलाया गया है अथवा व्यापा गया है। सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूं ॥ ४ ॥ तथा सब भूत मुझमें नहीं भी हैं। यह मेरा ईश्वरीय योग तू देख। मैं सब भूतोंका भरण पोषण करनेवाला हूं, तो भी मैं उनमें नहीं हूं। तथापि मेरा आत्मा भूतोंकी उत्पत्ति करनेवाला है ॥ ५ ॥

इस तरह जो लोग इस मार्गपर नहीं चलते वे दुःखके भागी होते हैं, ऐसा यहां कहा है, यह सबको ध्यानमें धारण करना चाहिये और ईश्वरोक्त कर्मफलत्यागके मार्गपरहि चलना चाहिये, तथा यह राजविद्या जानकर तदनुसार राज्यशासन चलाकर सब लोगोंको सुखी करना चाहिये।

निर्मत्सर वृत्तिवालेको उपदेश।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि यह उपदेश (अनसूयवे। गी०९।१) [असूया अर्थात् मत्सर-बुद्धि, द्वेषभाव, दूसरेके उत्कर्ष सहन न होना आदि दोषोंका जिसमें अभाव होता है उसको 'अनसूयु' कहते हैं, इस प्रकारके] निर्मत्सर, निर्द्वेष और दूसरेके उत्कर्षसे आनंदित होनेवाले कोहि यह उपदेश कहा है। यही इस उपदेशका अधिकारी है। जो लोग दूसरेका मत्सर करते हैं, द्वेष फैलाते हैं और जिनको दूसरोंका उत्कर्ष सहन नहीं होता, वे लोग इस उपदेशपर विश्वास नहीं रखेंगे और न इस उपदेशके अनुसार चलेंगे। वे तो अविश्वासी दुःखोंको भोगनेके लिये ही जीवित रहते हैं।

अब भगवान् इस मानवधर्ममार्गका वर्णन गुह्य रीतिसे करते हैं वह अद्‌भुत वर्णन देखिये-

नित्य संबंध।

(४-६) यहां सबसे पहले यह समझा देना चाहिये कि तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंका अधिभूत और अध्यात्म विद्यासे क्या संबंध है। यह संबंध ठीक प्रकार जबतक ध्यानमें नहीं आता तबतक भगवद्गीतामें जो "गुह्य राजविद्या" भरी है उसका आविष्कार नहीं हो सकता। भगवद्गीतामें राजविद्या और राजगुह्य है, यह बात इस अध्यायके प्रारंभमेंहि कही, अतः इसमें संदेह नहीं हो सकता। परंतु पाठकोंको इसका संदेह हो सकता है कि इस अध्यायमें राजविद्या कही है या

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

अन्वयः-यथा सर्वत्रगः महान् वायुः नित्यं आकाशस्थितः (अस्ति), तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि (सन्ति), इति (त्वं) उपधारय ॥ ६ ॥

जैसे सर्वत्र गमन करनेवाली महान् वायु नित्य आकाशमें रहती है, वैसेहि सब भूत मुझमें रहते हैं, यह तू ध्यानमें धारण कर ॥ ६ ॥

भावार्थ— ईश्वरने संपूर्ण जगत् फैलाया है और वह उसमें व्याप्त हुआ है। संपूर्ण पदार्थ मात्र उसके आधारपर हैं, परंतु वह ईश्वर इन भूतोंके आधारसे नहीं है अर्थात् वह अपनीहि शक्तिसे है। सब पदार्थ यद्यपि इसमें हैं तथापि इसमें न होनेके समान हैं। यही ईश्वरीय योगका चमत्कार है। ईश्वर सबका पालनपोषण करता है, तोभी वह उसमें फँसा नहीं है। ईश्वरका आत्मा भूतोंकी उत्पत्ति और विकास करनेवाला है। जैसे इस आकाशमें यह वायु है इसी प्रकार ये सब पदार्थ ईश्वरमें हैं। साधक इस बातका विचार करें ॥ ४-६ ॥

[**राजविद्यापरक अर्थ**— (अव्यक्तमूर्तिना) अमूर्त राजसत्तासे (इदं सर्वं जगत्) यह संपूर्ण प्रगतिवाला राज्यशासन (ततं) चल रहा है और वही अमूर्त राजसत्ता राज्यमें सर्वत्र फैल गयी है। (सर्वभूतानि) सब लोग इसी (तत्स्थानि) राजसत्ताके आधारसे रहते हैं, परंतु यह राजसत्ता (तेषु न अवस्थितः) लोगोंके आधारसे नहीं रहती अर्थात् यह लोगोंके आधारसे रहती हुई भी स्वतंत्र है ॥ ४ ॥ (भूतानि तत्स्थानि) तथा सब लोग राजसत्ताके आधारसे रहते हुए भी, स्वतंत्र जैसे हैं। यही राजसत्ताका (ऐश्वरं योगं पश्य) ऐश्वर्ययोग देखने योग्य है। राजसत्ता सबका (भूतभृत्) भरणपोषण करती है, तथापि वह उसमें (न च भूतस्थः) बद्ध नहीं है। राजसत्ताका जो (आत्मा) आत्मा है वह राजके (भूत-भावनः) प्राणिमात्रका अभ्युदय करनेवाला है ॥ ५ ॥ (यथा) जैसी (आकाशस्थितः) आकाशमें (वायुः) वायु होती है और अंदर होती हुई (सर्वत्रगः) सर्वत्र गमन कर सकती है, (तथा) उसी तरह (सर्व भूतानि) प्रजा राज्यशासनमें बंधी रहनेपर भी स्वतंत्रताके साथ प्रगति कर सकती है ॥ ६ ॥

भावार्थ— राजशासन ऐसा हो कि जो संपूर्ण राज्यके प्रत्येक स्थानमें जीता जागता रहे, उसके आधारसे सबके कार्य व्यवहार चलते रहें परंतु किसी व्यवहारमें वह बद्ध न हो। सर्वत्र उसका कार्य होता रहे परंतु किसीसे वह बाधित न होवे। स्थानस्थानमें ईश रहें और उनका एक अधिष्ठाता ईश-वर रहे। इस रीतिसे यह ईश्वरीय योगसे राज्यशासन चलता रहे। सब भूतोंका भरण पोषण होता रहनेपर भी राजा किसीमें आसक्त न रहे, सब कार्योंसे अलग रहे। अलग रहनेपरभी सबका प्रेरक,चालक और अभ्युदयकर्ता रहे। मानो आकाश राजसत्ता है और उसमें वायु प्रजा है। आकाशके आधारसे वायु है, आकाशमें वायु विचरती है, आकाशमें बंधी होनेपरभी विचरण करनेके लिये उसे आवश्यक स्वतंत्रता है, इस प्रकार राजसत्तामें प्रजा रहे, बढे और जीवन सार्थ करे ॥४-६॥

नहीं। संभवतः कहीं नहीं है ऐसाहि लोग समझते रहेंगे और किसीने बतानेका यत्न किया तोभी वह खींचातानीहि है, ऐसा भी कई लोग समझेंगे। यदि किसीने इस राजविद्याको खींचातानी समझ ली, तो उसमें उसका कोई अपराध नहीं है, क्यों कि इस समयतक वैसाहि प्रवाह चल रहा है। इस अध्यायमें राजविद्या है यह बात इस समयतक किसीने बताई नहीं है, अतः जो लोग इस विषयमें संदेह करेंगे, उनको दोष देना योग्य नहीं। अब इस प्रस्तावको

अधिक न बढाते हुए हम इसमें जो तत्त्व है वह बताते हैं।

वेद,उपनिषद्, भगवद्गीता तथा अन्यान्य तत्त्व-ज्ञानके ग्रंथोंमें जो तत्त्वज्ञान कहा है वह अधि-दैवत, अधिभूत और अध्यात्म इन तीन विभागोंमें विभक्त करके कहा है। कई स्थानोंमें इनमेंसे एकही विभागका वर्णन किया है, कई स्थलोंमें दोनों विभागोंका वर्णन है और कई स्थानोंमें तीनोंका वर्णन है। जहां तीनोंका यथायोग्य वर्णन है ऐसे स्थल बहुतही थोडे हैं। अतः परिपाठी यह है कि किसी एक विभागका वर्णन देखकर अन्य विभागोंका ज्ञान उसके अनुसंधान-से समझना चाहिये।

बृहदारण्यक और छांदोग्य उपनिषदोंमें 'अथाधिदैवतं, अथाध्यात्मं' ऐसे सूचक वाक्य देकर कौनसा वर्णन किस विभागका है यह समझाया है। परंतु ऐसे स्थल बहुत थोडे हैं।

इसका विचार ठीक ठीक ध्यानमें आनेके लिये यह बात समझनी चाहिये कि तीनों स्थानोंके नियम एक जैसे हैं, अतः एक स्थानके नियमोंका पता लगा तो दूसरे स्थानके नियमोंका आपही आप ज्ञान होना संभव है। यह तत्त्व-ज्ञानके सत्य नियमोंकी सार्वभौमिकता ही ध्यानमें आनी चाहिये। यह सार्वभौमिक सत्यता समझमें आ गई तो भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानसे राज्यशासनके नियम कैसे जाने जा सकते हैं, यह बात स्वयं मनमें प्रकट हो जायगी।

तीनोंमें एक नियम।

(१) 'अधिदैवत' से परमात्मा और अग्न्यादि देवताओंका विचार होता है। (२) 'अधिभूत' से प्राणिसमष्टिका विचार होता है। भूत शब्द यहां मुख्यतया प्राणिवाचक है,तथापि मानव-समाजका बोध इससे लिया जाता है,अतः इसीसे राज्यशासन प्रकट होता है। (३) 'अध्यात्म' से व्यक्तिके शरीरमें जो जीवात्मा और इंद्रिय-गण हैं उनका संबंध प्रकट होता है। यह बात जिज्ञासुको समझना उचित है कि इन तीनों क्षेत्रोंमें एकही नियम कार्य कर रहे हैं, जो ऋषि-मुनियोंने देखे और शास्त्रोंमें ग्रथित किये हैं, इसी-लिये यह तत्त्वज्ञान अटल और सनातन है। अब ये नियम देखिये-

अधिदैवत	अधिभूत	अध्यात्म
परमात्मा	महाराजा	आत्मा-जीवात्मा
प्रकृति-महत्तत्त्व	मंत्रीपरिषद्	बुद्धि
विद्युत्	नियामक अधिकारी	मन
सूर्यादिदेवता	ग्रामप्रांतादिके अधिकारी	नेत्रादि इंद्रिय
जगत् तत्त्व	प्रजाजन	शरीर

संक्षेपसे इतना संबंध ज्ञात हुआ तो पर्याप्त है। जैसा परमात्मा सब जगत्का अधिष्ठाता है, चालक और पालक है, वैसाही सम्राट् अपने साम्राज्यका है और जीवात्मा अपने देहका है। जैसी महत्तत्त्वरूपी परमात्माकी मंत्रणा करनेवाली बुद्धि है वैसीही राजाकी मंत्रणा करनेवाली मंत्री-परिषद्, दशावरापरिषद् अथवा प्रजाप्रनिनिधि-योंकी परिषद् है और उसी प्रकार जीवात्माकी बुद्धि है। जैसे परमात्माके अधिष्ठातृत्वमें अग्नि-वायुसूर्यादि देव अपने अपने कार्यक्षेत्रोंमें अपना नियत कार्य करते हैं वैसाही नेत्र कर्ण हस्तपादा-दि इंद्रियगण शरीरमें अपने अपने नियत कार्य-क्षेत्रोंमें अपना अपना सहजसिद्ध कार्य जीवा-त्माके अधिष्ठातृत्वमें करते हैं, उसी प्रकार सम्रा-ट्के अधिष्ठातृत्वमें ग्रामपति, प्रांताधीश, सेना-धीश आदि ओहदेदार अपने अपने कार्यक्षेत्रमें अपने अपने नियत कार्य करते हैं। जैसा सब इंद्रियोंका मन नियामक है,वैसाही राज्यव्यवहार में मुख्य प्रधान सबका नियामक है और विश्वमें विद्युत्तत्त्व सबका नियामक है। इस प्रकार विचार करनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि तीनों स्थानोंमें नियम किस तरह एकजैसे हैं।

तत्त्वज्ञान बोला जायगा वह परमात्माके विषय

में बोला जायगा। उस ज्ञानको लेकर अधिभूत सृष्टिमें विचार करनेसे राजविद्याका ज्ञान होगा और अध्यात्मक्षेत्रमें विचार करनेसे वैयक्तिक उन्नतिके नियमोंका ज्ञान होगा। इसी तरह यदि किसीको आधिदैविक ज्ञानका पता नहीं है तो वह अपने शरीरमे जो घटनाएं हो रहीं हैं उनका अपने अंदर निरीक्षण करें और उसके अनुसंधानसे विश्वमें और राष्ट्रमें कैसा होना चाहिये इसका अनुमान करें।

इस रीतिसे अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्त जाननेसे अथवा तत्त्वज्ञान किंवा ज्ञानविज्ञान जाननेसे राज्यशासनकेभी सिद्धान्त कैसे जाने जा सकते हैं इसकी सनातन परिपाटी समझमें आ जायगी। भगवद्गीतामें इसके पूर्व अनेक नियम कर्मफलत्याग आदि इसी विषयके साथ संबंध रखनेवाले कहे हैं। लोग समझते हैं कि वे केवल मरणोत्तर के स्वर्ग और अपवर्गके लियेहि कहे हैं, परंतु यह अशुद्ध विचार है। वे सबके सब नियम साम्राज्यशासन और राष्ट्रशासनमें उपयोग करनेके लियेही कहे गये हैं। इन नियमोंका उपयोग बहुत कालसे आर्योंने नहीं किया, इसलिये आर्योंका अधःपात हुआ। इतना परिपूर्ण शास्त्र ज्ञानविज्ञानसहित अपने पास होते हुएभी पतन होनेका कोई कारण उपस्थित नहीं होना चाहिये। परंतु मुख्य तत्त्वज्ञान मानवी व्यवहारमें लानाही बंद हुआ और उसका उपयोग केवल मरणोत्तरके काल्पनिक अवस्था विशेषके लिये ही होने लगा !!! इसलिये मानवी व्यवहार शिथिल हुए। यदि इस तरह तत्त्वज्ञान और गुह्यराजविद्याका मेल होता रहता, तो जैसा यह वैयक्तिक शरीर प्रत्येक अणुरेणुमें जीवित और जाग्रत रहता है वैसा आर्यराष्ट्रभी सर्वदा जीवित और जाग्रत रहता। अस्तु, इतना महत्त्व तत्त्वज्ञान और राज्यशासनविद्याका संबंध देखनेमें है। पाठक इस बात को न भूलें।

आजकल समझते हैं कि तत्त्वज्ञानका राज्यशासनविद्यासे कोई संबंध नहीं, सामाजिक और औद्योगिक उन्नतिके साथ तत्त्वज्ञानका कोई संबंध नहीं ऐसा भी कई मानते हैं। परंतु भारतीय ऋषिमुनि सब मानवी व्यवहारोंको तत्त्वज्ञानके साथ सुसंगत समझते थे। इसीलिये उनके संपूर्ण शास्त्र अर्थात् धर्मशास्त्र, वैद्यशास्त्र, यंत्रशास्त्र, राज्यनीतिशास्त्र, आदि सब शास्त्र तत्त्वज्ञानकी बुनियादपरहि रचे गये थे। अतः पाठक श्रीमद्भगवद्गीताको (प्रत्यक्षावगमं) अनुभवमें- मानवी व्यवहारमें प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाला शास्त्र समझें और उसमें जो राज्यविद्या गुप्त रीतिसे भरी है वह इस तरहसे है यह बात जानें। जहां परमात्मा और प्रकृतिके नियम कहे हैं वहां उन्हींको राज्यव्यवहारमें परिणत करके देखनेसे राजविद्या होती है। यह तत्त्वज्ञानके मिषसे कही होनेके कारण "राजगुह्य राजविद्या" यह है, यह अत्यंत अप्रकट राज्यशासनशास्त्र है। इसको किस ढंगसे प्रकट किया जा सकता है इस विषयमें इतना विवेचन पर्याप्त है। अब अपने प्रस्तुत श्लोकोंका मनन करके उसमें तत्त्वज्ञानके साथ राजनीतिके सिद्धान्त कैसे कहे हैं, इसकी विवेचना करेंगे।

१ अव्यक्तमूर्तिना इदं सर्व जगत् ततम्। (४)

अव्यक्त परमेश्वरद्वारा इस संपूर्ण जगत्का विस्तार हुआ है और वह उसमें व्याप्त हुआ है। इसी तरह अदृश्य जीवात्माद्वारा यह शरीर हुआ और बढा है और वह इस शरीरमें अपनी शक्तिसे व्यापता है अर्थात् प्रत्येक अंग अवयव और प्रत्येक अणुमें जीवन रखता है। विश्वमें परमात्मा और देहमें जीवात्माका यह कार्य पाठक देखें। अब इससे राजविद्याका कौनसा तत्त्व व्यक्त होता है, वह देखिये--

परमेश्वर अपनी अव्यक्त सत्तासे सबका विस्तार करता और सबमें व्यापता है, क्योंकि कोईभी सत्ता व्यक्त रूपसे व्यापक नहीं हो सकती। राजसत्ता भी ऐसीहि अव्यक्त है, जो

राजा है अर्थात् जो व्यक्ति राजगद्दीपर बैठती है वह अमूर्त राजसत्ताका सगुण साकार रूप है। यद्यपि यह साकार व्यक्ति 'राजा' करके कहलाती है तथापि इसकी शक्ति मर्यादित है। जो सच्ची राजसत्ता है वह इस व्यक्तिकी सत्तासे अधिक बडी है और अधिक प्रभावशाली है। उस अमूर्त अव्यक्त राजसत्ताका विचार यहां किया है। राजगद्दीपर बैठनेवाली व्यक्ति जीवित रही या मर गयी, तो भी यह अमूर्त राजसत्ता अनेक रूपोंमें राज्यमें कार्य करती रहती है। यह अमूर्त राजसत्ता इस राज्यको फैलाती है और राज्यके प्रत्येक स्थानमें, प्रत्येक अधिकारीमें रहकर सब कार्य करती है।

२ मत्स्थानि सर्वभूतानि, न च तत्तेष्ववस्थितम्। (४)

"उस ईश्वरमें सब भूतमात्र हैं, परंतु वह ईश्वर उन भूतमात्रोंमें नहीं है।" अर्थात् उस ईश्वरके आधारसे सब पदार्थ हैं, परंतु पदार्थोंके आधारसे वह नहीं है, वह स्वतंत्रतासे अपनी निज शक्तिसेहि है। परंतु सब अन्य पदार्थ उसके आधारसे रहे हैं। उसकी शक्ति न मिली तो कोई अन्य पदार्थ रह नहीं सकेगा। व्यक्तिमेंभी जीवात्माके आधारसे सब इंद्रियां,शरीरके सब अवयव अपने अपने स्थानमें और कार्यक्षम अवस्थामें रहते हैं,परंतु इंद्रियों और अवयावोंके आश्रयसे जीवात्माकी सत्ता है ऐसी बात नहीं है। इसी तरह राज्यशासनमेंभी सम्राट्की सत्तासे सब ओहदेदार कार्य करते हैं, प्रजामें तेजस्विता रहती है और राष्ट्रकी सब प्रकारकी उन्नति होती है। परंतु ओहदेदारोंपर या प्रजाके कारोबार पर राजाकी सत्ता अवलंबित नहीं है। वह स्वतंत्र है। राजसत्तासे राज्यके सब कार्य चलते हैं, राजसत्ता उत्तम रही तो छोटासा भी राज्य बडा प्रबल और प्रभावशाली होता है। इस तरह राजविद्याकी बातें इससे प्रगट होती हैं।

३ न च मत्स्थानि भूतानि। (५)

"परंतु उसमें सब भूत नहीं भी हैं।" अर्थात् यद्यपि परमेश्वरके आधारसे और परमेश्वरमें सब भूतमात्र हैं, तथापि उनकी थोडी स्वतंत्रसी सत्ता है भी। जैसा खांडका घोडा बनाया, तो घोडा खांडमें है यह भी सत्य है और खांडसे पृथक् सत्ता उसकी है यहभी एक दृष्टिसे सत्य है। इसी तरह जीवात्माके आधारसे इंद्रियां हैं, परंतु उनको थोडी स्वतंत्र सत्ता भी है। यह बात राज्यशासनमें अधिक स्पष्टताके साथ सुस्पष्ट हो जाती है। राजसत्ताके आधारसे राजसत्ताको लेकरहि ओहदेदार कार्य कर सकते हैं यह निःसन्देह सत्य है, तथापि उनको थोडीसी स्वतंत्रता भी है। राज्यशासनके नियम कैसे भी हुए तथापि अधिकारके स्थानपर रहनेवाले मनुष्यपर उनका परिणाम अवलंबित रहता है। यह आशय यहां समझना चाहिये।

४ पश्य ऐश्वरं योगम्। (५)

'यह प्रभुत्वका योग है।' प्रभु होनेमें जो सामर्थ्य है,वह यह है। ईश्वरका यह अद्भुतयोगसामर्थ्य है। जीवात्मा, राष्ट्रात्मा और परमात्मामें यह वाक्य समान भावसे लगता है। शरीरमें जीवात्माका अद्भुत योगबल दीख रहा है वैसाही राष्ट्रमें राष्ट्रपतिका सामर्थ्य प्रकट होता है।

५ भूतभृत्, न च भूतस्थः। (५)

'भूतोंका पोषण करता है, तथापि वह भूतोंके आधारसे नहीं रहता।' वह स्वतंत्र अपनी निजसत्तासे रहता है। परमात्मा संपूर्ण भूतमात्रोंका पालन पोषण धारण संवर्धन करता है, तथापि वह स्वसत्तासे रहता है। इसी तरह जीवात्माभी शरीर, इंद्रियों और अवयवोंका धारण पालन पोषण करता है, परंतु उसका अस्तित्व अपनी निज सत्तासेहि है। राज्यमें राजसत्ताके विषयमेंभी यह बात सत्य है। राजप्रबंधसे संपूर्ण राज्यका धारण, पोषण, संवर्धन होता है, परंतु राजसत्ता अपनी शक्तिसे रहती है, वह केवल पाल्य प्रजापर निर्भर है ऐसी बात

(३) कल्पादि और कल्पक्षय।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अन्वयः— हे कौन्तेय! सर्वभूतानि कल्पक्षये मामिकां प्रकृतिं यान्ति। पुनः अहं कल्पादौ तानि विसृजामि ॥७॥ (अहं) स्वां प्रकृतिं अवष्टभ्य, प्रकृतेः वशात् अवशं इमं कृत्स्नं भूतग्रामं पुनः पुनः विसृजामि ॥ ८ ॥

हे कुन्तिपुत्र अर्जुन! सब भूत कल्पके अन्तमें मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और फिर मैं कल्पकी आदिमें उन भूतोंको उत्पन्न करता हूं— बाहर छोड देता हूं ॥ ७ ॥ मैं अपनी प्रकृतिका आश्रय करके, प्रकृतिके वश होनेसे पराधीन जैसे रहनेवाले इस संपूर्ण भूतोंके समुदायको पुनः पुनः उत्पन्न करता हूं— बाहर प्रेरित करता हूं ॥ ८ ॥

नहीं है।

६ भूतभावनः आत्मा। (५)

'आत्मा सब भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला है।' यह सब विश्व उसीने उसीकी प्रेरणासे किया और धारण किया है। जीव आत्मा भी शरीरको उत्पन्न करता और धारण करता है। राजाभी राष्ट्रको प्रभावशाली करता है अथवा गिराता भी है। अच्छा तेजस्वी राजा राष्ट्रको निर्माण करता है, बढाता है और प्रभावशाली करता है।

७ यथाकाशस्थितो वायुः सर्वत्रगः, तथा भूतानि तत्स्थानि। (६)

"जैसा आकाशमें वायु रहता हुआ सर्वत्र गमन कर सकता है, वैसेही परमात्मामें ये सब भूतमात्र हैं।" जैसे आकाशमें वायु आदि पदार्थ रहते हैं, चलतेफिरते हैं, कई तो प्रगतिभी करते है, उसी प्रकार परमात्माम ये सब भूत हैं, चलते फिरते और बढते भी हैं। जीवात्माके आधारमें शरीरान्तर्गत पदार्थ हैं और इसी प्रकार राजसत्ताके आधारमें सब राष्ट्रका वैभव है।

इस तरह सर्वत्र अमूर्त शक्तिका अद्भुत प्रभाव है। इस विषयका बडा विस्तार हो सकता है, परंतु विस्तार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक इस तरह विचार करके सब उपदेश जान सकते हैं। आगे यही मनोरंजक विषय चल रहा है वह अब देखिये—

कल्प।

(७-१०) यहां कल्पके आदिमें परमेश्वर प्रेरणा करता है और कल्पके अन्तमें सबको विश्राम देता है, ऐसा कहा है। यहां 'कल्प' की कल्पना ठीक होनी चाहिये। 'कल्प' शब्दका अर्थ कोशोंमें इस तरह दिया है— (१) पवित्र नियम, पवित्र आज्ञा, (२) निश्चय, निश्चित कार्यक्रम, संकल्पित कार्य, (३) जगत्‌का अन्त,

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

अन्वयः- हे धनंजय ! तेषु कर्मसु असक्तं उदासीनवत् आसीनं मां तानि कर्माणि च न निबध्नन्ति ॥ ९ ॥ हे कौन्तेय ! मया अध्यक्षेण प्रकृतिः सचराचरं सूयते, अनेन हेतुना जगत् विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे युद्धमें विजयी अर्जुन ! इन कर्मोंमें आसक्तिरहित होनेके कारण उदासीन जैसे रहनेवाले मुझको वे कर्म बंधनमें नहीं डालते ॥ ९ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! मेरी अध्यक्षतासे यह प्रकृति जड और चेतन जगत्को निर्माण करती है और इस कारण जगत् परिवर्तित हो रहा है ॥ १० ॥

भावार्थ— सब बने हुए पदार्थ कल्पके अन्तमें ईश्वरीय प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पकी आदिमें पुनः सब की उत्पत्ति होती है । ईश्वर अपनी प्रकृतिका आश्रय करके संपूर्ण जगत्को उत्पन्न करता है और यह जगत् प्रकृतिके आधीन अर्थात् पराधीन होता है । ईश्वर इन कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, इसलिये इन कर्मोंसे उसको बंधन नहीं होता । ईश्वरकी अध्यक्षतामें उसकी प्रकृतिहि चर और अचर वस्तुमात्रको उत्पन्न करती है, जिस कारण यह जगत्का परिवर्तन हो रहा है ॥ ७—१० ॥

[राजविद्यापरक अर्थ— (सर्वभूतानि) सब प्राणिमात्र (कल्पक्षये) संकल्पित निश्चित कार्यक्रमकी समाप्तिपर केवल अपनी (प्रकृतिं) स्वभावस्थितिको प्राप्त होते हैं, ऐसा होनेके पश्चात् पुनः (कल्प-आदौ) नवीन संकल्पित निश्चित कार्यक्रमकी योजनाका प्रारंभ करके राजा अपनी प्रजाको उस कार्यक्रममें प्रेरित करे ॥ ७ ॥ राजा अपनी (प्रकृतिं) प्रजाके साथ रहता हुआ, अपनी अपनी निज स्वभावप्रकृतिके अनुसार पराधीन होकर चलनेवाले सब प्राणिमात्रोंको इसी तरह पुनः पुनः नये नये निश्चित (कल्पे) संकल्पित कार्यक्रममें प्रेरित करता रहे ॥ ८ ॥ राजा इन कार्यक्रमोंमें (असक्तं) आसक्तिरहित रहे, उदासीनके समान (अपने निज भोगके विषयमें) पूर्ण निरपेक्ष रहे । इससे उन कर्मोंका दोष उसे नहीं लगेगा ॥ ९ ॥ राजा प्रजा [सभा] का अध्यक्ष है, यह अध्यक्ष राजा अपनी (प्रकृतिः) प्रजासे चराचर वस्तुजातकी (सूयते) उत्पत्ति करावे, इस हेतुसे इस जगत्में (विपरिवर्तते) विशेष परिवर्तन होते रहते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— राजा अपने सब प्रजाजनोंको अपने उत्तम संकल्पपूर्वक निश्चित किये हुए उन्नतिके कार्यक्रमोंमें लगावे और उनका उत्तम योगक्षेम चलावे । पहिले निश्चित किया कार्यक्रम समाप्त हुआ और प्रजाजनोंको कोई कार्यक्षेत्र न रहा तो वे प्रजाजन पुनः अपनी मूल शिथिल वृत्तिपर आते हैं, और क्रियाहीन बनते हैं । ऐसी स्थिति आनेपर राजा पुनः नवीन सुसंकल्पित आयोजनाकी रचना करके फिर विविध कार्यक्षेत्रोंमें सब प्रजाजनोंको लगावे । ऐसा पुनः पुनः करे और प्रजाजनोंको क्रियाहीन बेकार अवस्थामें कभी न रखें । राजा सदा अपनी प्रजाके साथ रहे, प्रजाको छोडकर दूर देशमें जाकर न बसे । प्रजाजन अपने अपने स्वभावधर्मके आधीन रहनेके कारण पराधीनसे रहते हैं, अतः उनको बारबार नये नये उन्नतिके कार्यक्रमोंमें संकल्पपूर्वक रखना चाहिये । यह राजसंस्थाका ही

कर्तव्य है । इन प्रजाजनोंके विविध कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले भोगोंपर कभी राजा अपनी दृष्टि न रखे, उन भोगोंको स्वयं न भोगे । उनके विषयमें उदासीन रहे, अर्थात् निरपेक्ष रहे । ऐसा निरपेक्ष वृत्तिसे रहनेवाला राजा निष्कलंक रहता है । राजा ही सब प्रजाजनोंका अधिष्ठाता है, वह अपनी सुयोग्य प्रेरणासे अपने प्रजाजनोंद्वारा चर और अचर वस्तुमात्रमें ऐसी उन्नति करावे कि जिससे राष्ट्रका उदयकी दिशाकी ओर परिवर्तन होता रहे ॥ ७—१० ॥

(४) ब्रह्माका दिन ।

'कल्प्' धातुसे 'कल्प' शब्द बनता है । इस धातुका अर्थ " योग्य होना, समर्थ होना, पूर्ण करना, सिद्धि प्राप्त करना, विजय प्राप्त करना, सुव्यवस्था करना, होना, बनाना, सिद्ध करना, अनुकूल करना, योजना करना, उत्पन्न करना " है । यह धात्वर्थ ध्यानमें धारण करनेसे 'कल्प' शब्दका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है—" योग्यता, सामर्थ्य, पूर्णता, सिद्धि, विजय, व्यवस्था, अनुकूलता, योजना, उत्पत्ति"।

कल्प शब्दके ये भाव ध्यानमें धारण करनेसे कल्प शब्दका ठीक अर्थ ध्यानमें आ सकता है। परमेश्वर कल्पकी आदिमें जगत्की उत्पत्ति करता है और कल्पके अन्तमें सब भूत अर्थात् उत्पन्न हुए पदार्थ प्रकृतिमें लीन होते हैं । इसका दूसरा अर्थ यह है कि " परमेश्वरने कल्पमें अर्थात् कालमर्यादामें संपूर्ण जीवोंकी उन्नतिका निश्चित सुसंकलित कार्यक्रम ठहराया होता है । इस संकलित कार्य चलानेके पवित्र नियम बनाये होते हैं, येही धर्मनियम कहलाते हैं । इन पवित्र नियमोंके अनुसार चलनेसे मानव जीव समर्थ और मुक्तियोग्य होते हैं, पूर्ण होते हैं, सिद्ध बनते, विजय प्राप्त करते, अनुकूलताके साथ उन्नत होते हैं । "

कल्पमें ब्रह्मा इस सृष्टिकी उन्नति इसलिये करता है, कि इसमें उत्पन्न हुए जीव अपना मुक्तिका मार्ग आक्रमण करें और पूर्ण विजयी तथा सिद्ध बनें। इस कल्पनासे परमेश्वर इस विश्वका निर्माण करता है, इसीलिये इस कालमर्यादाको 'कल्प' कहते हैं । इस संपूर्ण कल्पमें परमेश्वरकी यह मूलभूत कल्पना और प्रेरणा कार्य करती है। इस कारण कल्पकी आदिमें ईश्वरके मानसपुत्र प्रकट होते हैं, अनेक प्रजापति अपने अपने नियत कार्यमें लग जाते हैं और छोटे मोटे देव देवता विभूति आदि अपना कार्यभार करना प्रारंभ करते हैं । इन सबका उद्देश्य यही होता है कि परमेश्वरके संकल्पके अनुसार सब कार्य हो और उसकी प्रेरणानुसार संसारके कार्यप्रवाहमें पडे हुए जीवोंकी यथोचित उन्नति हो । यहां परमेश्वर राजा है और जीव उसकी प्रजा है, तथा मानसपुत्र, प्रजापति, देवदेवता और विभूति परमेश्वरके ओहदेदार हैं । जो ईश्वरके संकल्पके अनुसार कल्पकी मर्यादा समाप्त होनेतक अपना अपना कार्य करते हैं ।

ईश्वर और राजा ।

यदि पाठकोंको, इस कल्पके अंदर ईश्वरका संकलित कार्यक्रम चलाया जाता है और उस प्रचंड कार्यके अन्दर ईश्वरके जीवरूपी प्रजाजनोंकी उन्नतिका ध्येय होता है,यह बात ठीक प्रकार समझमें आ जायगी, तो राजा अपनी प्रजाकी उन्नतिके लिये क्या करे, यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायगी। तुलनाके लिये यहां निम्न लिखित कोष्टकमें परमेश्वरके संकल्पकी और राजाके संकल्पकी तुलना करते हैं—

परमेश्वर	राजा
प्रकृति	प्रजा
प्रकृतिरंजन	प्रजारंजन
(उद्देश्य) जीवोंकी मुक्तिके लिये सृष्टिरचना	(उद्देश्य) प्रजाजनोंके अभ्युदयके लिये संघटित प्रयत्न

सूर्यादि देवता (कार्यकर्ता)	ओहदेदार (कार्यकर्ता)
भूतरचना-विशेष	प्रजासंघटनाद्वारा कार्यक्रम करना
जीवमुक्ति	प्रजाकी बंधननिवृत्ति

इस कोष्टकको बहुतही बढाया जा सकता है। परंतु पाठकोंके विचारके लिये इतनाही पर्याप्त है। पाठक विचारपूर्वक इसको देखेंगे तो उनको परमेश्वरके महाराज्यके व्यवहारके अनुसार राजाको राज्यव्यवहार कैसा करना चाहिये इसका ज्ञान हो सकता है। वेद, उपनिषद और गीता आदि शास्त्रोंमें जो परमेश्वर और प्रकृतिका वर्णन आता है,वह केवल परमेश्वरके व्यवहार जाननेके लिये नहीं है, क्योंकि परमेश्वरके कार्यव्यवहारको जाननेसेहि केवल मनुष्यमात्रका कल्याण होनेकी संभावना नहीं है। मनुष्यको 'नरका नारायण' बनना है, अतः परमेश्वरके व्यवहारको अपने अन्दर और मानवी व्यवहारमें अर्थात् राज्यव्यवहारमें ढालना चाहिये। परमेश्वरके गुणोंका चिन्तन इसलिये करना चाहिये कि वे गुण अपनेमें और राज्यव्यवहारमें ढाले जांय। इस तरह विचार करनेसे स्पष्ट होगा कि परमेश्वरका वर्णन उत्तम पुरुषका आदर्श सामने रखनेके लिये दिया गया है और उसीसे आदर्श राज्यव्यवस्थाभी प्रकट होती है। इस विषयका इन श्लोकोंका विवरण अब देखिये —

१ अहं कल्पादौ सर्वभूतानि विसृजामि। ७

(मैं ईश्वर कल्पकी आदिमें सब भूतोंको विशेष प्रकार संसारप्रवाहमें छोडता हूं।) ईश्वर सब जीवोंको वे अपनी मुक्ति प्राप्त करें, अभ्युदय निःश्रेयसका साधन करें, इस संकलित उद्देश्यसे संसारके कर्मप्रवाहमें प्रेरित करता है। इस प्रकार राजा अपने प्रजाजनोंको वे अपना अभ्युदयपूर्वक पूर्ण कल्याण प्राप्त करें इस संकलिपत उद्देश्यसे विविध कार्यप्रवाह शुरू करके उनमें उनको प्रेरित करे। जैसा ईश्वरीय राज्यमें (न हि कश्चित् अकर्मकृत्तिष्ठति। गी० ३।५) कोई जीव कर्म किये विना बेकार अवस्थामें नहीं रह सकता, वैसाहि राजा अपने राज्यमें किसीको कामधंदेके विना बेकार अवस्थामें न रखे। ऐसा प्रबंध करे कि किसीको बेकारीके कष्ट न हो सके। ईश्वरके राज्यमें कोई जीव कर्म किये विना रह नहीं सकता अर्थात् कोई बेकार नहीं है। राज्यमें राजप्रबन्धद्वारा बेकारीका पूर्णतया निर्मूलन होना चाहिये। राजा अपनी प्रजाकी उन्नतिकी कोई योजना तैयार करे और उसमें सब प्रजाजनोंको लगावे।

२ कल्पक्षये सर्वभूतानि प्रकृतिं यान्ति। ७

कल्पकी समाप्तिके समय सब भूत प्रकृतिमें लीन होते हैं। संकलिपत कार्यकी समाप्तिपर सब भूत प्रकृतिकी स्थितिको प्राप्त होते हैं। राजाकी प्रेरणासे जो प्रजाकी उन्नतिका कार्य चलाया जायगा वह संकलिपत कार्यक्रम समाप्त होनेपर सब प्रजाजन क्रियाहीन अवस्थाको प्राप्त होते हैं, बेकार होते हैं।

प्रकृतिकी अवस्था गुणसाम्या है,इसमें किसी प्रकारकी हलचल नहीं होती है,सब भूत प्रकृतिमें लीन होनेका अर्थ निद्रामें लीन होना है, क्रियाहीन हो जाना है। वही बात प्रजाजनोंकी संकलिपत कार्यकी समाप्तिपर हो जाती है। अतः एक कार्य समाप्त होनेके समय दूसरा कार्यक्रम तैयार रखना योग्य है। तभी जनताकी बेकारी अथवा क्रियाहीनता दूर होगी। राजप्रबन्ध कैसा परिपूर्ण होना चाहिये,इसकी यहां कल्पना पाठकोंको हो सकती है।

इन श्लोकोंमें 'प्रकृति' शब्दके दो अर्थ हैं। एक स्थानपर मूल प्रकृति, गुणसाम्यावस्था, क्रियाहीन अवस्था यह अर्थ विवक्षित है। दूसरे स्थानपर प्रकृतिस्वभाव, निजस्वभाव ऐसा अर्थ है। राजविद्यामें 'प्रकृति' शब्दका अर्थ 'प्रजा' है और दूसरा अर्थ निजस्वभावधर्म तथा

क्रियारहित बेकारीकी स्थिति ऐसा भी है। पूर्वापर सम्बन्धके अनुसार योग्य अर्थकी परीक्षा करके श्लोकका भाव समझना चाहिये।

३ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। (८)

[मैं (ईश्वर) अपनी मूल प्रकृतिका आश्रय करके सृष्टिको वारंवार उत्पन्न करता हूं।] ईश्वर अपनी निज मूलप्रकृतिका आश्रय करके उससे अनंत जीवोंकी उन्नतिके लिये संकल्पित योजनाद्वारा सृष्टिकी रचना करता है। जिस सृष्टिके प्रवाहमें नाना जीव आकर अपनी परम उन्नतिकी प्राप्तिके लिये विशेष पुरुषार्थ प्राप्त करते हुए परम उत्कर्षको प्राप्त होते हैं। यही ईश्वरका कल्प है अर्थात् संकल्प, कल्पना, आयोजना है। इसी तरह राजाको उचित है कि वह अपनी प्रजामें रहे और संपूर्ण प्रजाजनोंकी परम उन्नति करनेके लिये संकल्पपूर्वक आयोजना करे और उस कार्यक्रममें सब प्रजाजनोंको लगावे। सब प्रजाजन इस नियोजित संकल्पित आयोजनामें रहकर अपनी परम उन्नति प्राप्त करें। एक योजनाके पश्चात् दूसरी इस तरह वारंवार उत्तमसे उत्तम कार्यक्रमकी रचना करके उस कर्ममें प्रजाजनोंको तत्पर करावे और ऐसी रचना करे कि जिससे सबको उत्तम सुख, परम आनन्द और परम उत्कर्ष प्राप्त हो सके।

४ भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्। (८)

संपूर्ण प्राणिमात्र अपनी प्रकृतिके आधीन हैं, इसलिये पराधीन जैसे हैं। प्रत्येक प्राणिकी निज प्रकृति रहती है, वह सात्त्विक राजसिक और तामसिक होनेसे वह प्राणी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक होता है। वह प्राणि अपनी निज प्रकृतिके अनुसार ही कार्यव्यवहार करता है। गौ सात्त्विक दूध देती है, सिंह व्याघ्र घातपात करते हैं, सात्त्विक वृत्तिवाले मनुष्य शमदम आदिमें तत्पर रहते हैं, राजसिक प्रवृत्तिवाले मनुष्य प्रयत्नशील होते हैं और तमोगुणी मनुष्य आलसी और अपवित्र होते हैं। अनेक प्रयत्न करनेपर भी यह प्रकृति बदलती नहीं है। अतः भगवान्‌ने कहा है कि—

> यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
> मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
> स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
> कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
> गी० १८-५९।६०

"अहंकारवश तेरा यह मानना कि 'मैं नहीं लडूंगा' एक मिथ्या निश्चय है। तेरा स्वभावही तुझे उस ओर बलसे घसीट ले जायगा। हे अर्जुन! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बन्धा हुआ तू जिसे मोहवश करना नहीं चाहता, तू उसेहि परवश होकर करेगा।"

इस तरह प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृतिके स्वभावके अनुसार चल सकता है, प्रकृतिके अनुकूलहि कार्य कर सकता है। कितना भी प्रयत्न किया जाय तो भी मनुष्य अपनी निज प्रकृतिके विरुद्ध कार्यको नहीं कर सकेगा। अर्थात् तमोगुणी मनुष्य सात्त्विक और राजसिक कार्य कदापि नहीं कर सकेगा। इसी तरह सात्त्विक मनुष्यको राजस कार्य करना असंभव है। इस रीतिसे पता लग जायगा कि मनुष्य तथा अन्य प्राणीभी अपनी प्रकृतिके आधीन होनेके कारण पराधीन हैं। जो जिसका प्रकृतिस्वभावधर्म है, उसीके अनुसार उसका स्वकर्म होगा और यही स्वकर्म उसका स्वधर्म है और यही उसको करना चाहिये।

राजप्रबन्धद्वारा जो सम्पूर्ण प्रजाजनोंकी उन्नतिकी प्रचण्ड आयोजना बनानी है, वह इस स्वभावधर्म, स्वप्रकृतिधर्म अथवा निजधर्मका विचार करके हि बनानी चाहिये। अर्थात् सात्त्विक प्रवृत्तिवालोंको सात्त्विक कार्य, राजस

प्रकृतिवालोंको राजसिक कार्य और तमोगुणी प्रकृतिवालोंको तमोगुणी कर्म देने चाहिये। इससे ये कर्म उनसे उत्तम होंगे और उनकी सफलता और सुफलता शीघ्र प्राप्त होगी।

ऐसा न करते हुए एकही कार्यमें सबको घसीटकर ले जानेसे वह कार्य सब यथायोग्य रीतिसे कर नहीं सकेंगे और कार्य भी बिगड जायगा और उनका निरुत्साह भी बढेगा। इस लिये प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृतिके आधीन परतंत्र है, यह बात जानकर हि उन्नतिकी आयोजना तैयार करनी चाहिये। मानवी उन्नतिका और राजविद्याका यह बडा भारी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जो पाठकोंको ध्यानमें धरना चाहिये।

५ तेषु कर्मसु असक्तं उदासीनवत् आसीनं मां तानि कर्माणि न निबध्नन्ति। (९)

(इन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीन जैसा ईश्वर है, अतः इन कर्मोंका दोष उसको नहीं लगता है।) परमेश्वर प्रकृतिद्वारा सब कर्मोंको कराता है, इसमें उसका हेतु इतनाही होता है कि सब जीवोंको अपनी अपनी उन्नतिका मार्ग खुला हो, इसके अतिरिक्त अपने भोग बढानेका उद्देश्य उसका नहीं होता, इस कारण इन कर्मोंसे यह कलंकित नहीं होता। यहां निर्दोषताका नियम यह है कि कर्म करे और करावे, परन्तु उनके फलोपभोगमें न लिपट जाय, फल अपने लिये न लेवे, आसक्तिरहित उदासीन जैसा रहे। परमेश्वर इस तरह कर्मफलके ऊपर अनासक्त है, इसलिये निर्दोष है। जो इस तरह कर्मफलपर अनासक्त रहेगा वह भी दोषरहित होगा। इस नियमको देखकर राजाभी अपने प्रजाजनोंको विविध कर्मोंमें प्रेरित करे, उनसे विविध कार्य करावे, अभ्युदय और निःश्रेयसके कर्मोंमें इनको तत्पर करे, परन्तु स्वयं उन कर्मोंके फलोंके विषयमें अनासक्त रहे, उदासीन जैसा रहे, उन कर्मोंके फलोंको अपने उपभोगके लिये न रखे, प्रत्युत स्वयं उदासीनके समान रहकर प्रजाजनोंका समाधान, सुख और सन्तोष बढावे। सब प्रजाओंसे यथायोग्य कर्म करावे, परन्तु उनके फलोंपर स्वयं आसक्त न होवे। नहीं तो राजालोग विदेशकी प्रजापर हमला करते, उनको लूटते और उस धनसे अपने भोग बढाते हैं। यह सब भोगासक्ति बंधनकारक है। सुयोग्य कर्म राजा प्रजासे करावे और उन कर्मोंका भोग स्वयं न करे अर्थात् सब प्रजाजनोंको सुखी करनेके लिये उसे समर्पित करे, जैसा ईश्वर करता है वैसाहि वह करे।

६ अध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (१०)

परमेश्वरकी अध्यक्षतामें रहकर प्रकृति स्थावर जंगमको उत्पन्न करती है। परमेश्वर प्रकृतिरूप दैवी शक्तिका अधिष्ठाता है। और उसकी प्रेरणा प्रकृतिमें होकर प्रकृतिसे स्थावर और जंगमकी उत्पत्ति होती है। यहां 'सूयते' का अर्थ 'सु-प्रसव-ऐश्वर्ययोः' इस धातुके कारण प्रसव-उत्पत्ति होना और ऐश्वर्य प्राप्त करना होता है। अर्थात् परमेश्वरकी अध्यक्षतामें प्रकृति स्थावर जंगम सृष्टि उत्पन्न करती है और उस सृष्टिको ऐश्वर्यसंपन्न करती है। राजाभी अपने राष्ट्रमें ऐसाही कार्यव्यवहार करे। स्वयं सब प्रजाके कार्यसमितियोंके व्यवहारका निरीक्षण करे, हरएक प्रकारकी सहायता देवे, उनकी उन्नति करनेका यत्न करे, जहां प्रजाकी शक्ति न्यून प्रतीत होवे, वहां अपनी शक्ति देकर कार्यको बढावे, इस रीतिसे हरएक कार्यव्यवहारको बढाते हुए चर पदार्थों अर्थात् गौ घोडे मानव आदिकी उन्नति करावे, तथा अचर पदार्थ अर्थात् हुनरकी कारीगरीके पदार्थ उत्पन्न करावे। प्रजाजन चर अचर की उन्नति करनेमें समर्थ

(४) मूढ राक्षसोंकी अवनति ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

अन्वयः— भूतमहेश्वरं मम परं भावं अजानन्तः मूढाः, मानुषीं तनुं आश्रितं, मां अवजानन्ति ॥ ११ ॥ (ते) मोघाशाः मोघकर्माणः मोघज्ञानाः विचेतसः मोहिनीं राक्षसीं आसुरीं प्रकृतिं च एव श्रिताः ॥ १२ ॥

प्राणिमात्रके महा ईश्वररूप मेरे श्रेष्ठ भावको न जाननेवाले मूर्ख लोग, मानवी शरीरका आश्रय करनेवाले, मुझ (ईश्वर) की अवज्ञा करते हैं ॥ ११ ॥ उनकी आशा व्यर्थ, उनके कर्म व्यर्थ और उनका ज्ञानभी व्यर्थ है । क्यों कि वे अज्ञानी लोग मोहमयी राक्षसी और आसुरी प्रकृतिकाही आश्रय करते हैं ॥ १२ ॥

होंगे ऐसा कार्यक्रम राजा अपने राज्यमें चलावे । स्थावर और जंगम उन्नतिको प्राप्त हों और ऐश्वर्यसंपन्न हों ऐसा करे ।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि चर अर्थात् जंगमकी उन्नति कैसी होती है और अचर अर्थात् स्थावरकी उन्नति कैसी होती है । यह सब उन्नति कर्मयोगसे अर्थात् कौशल्यपूर्ण कर्मोंसे करनी चाहिये । अतः राष्ट्रमें कौशल्य बढाना और सब प्रजाजनोंको कर्मतत्पर करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है ।

७ हेतुनानेन जगत् विपरिवर्तते (१०

इस हेतुसे जगत्में विशेष परिवर्तन होता है । परमेश्वरकी अध्यक्षतामें रहकर प्रकृति चराचरकी उन्नति और समृद्धि करती है इसलिये जगत् में विशेष परिवर्तन- हेरफेर- हो रहा है । तथा जिस राष्ट्रमें राजाकी अथवा लोगोंकी प्रेरणासे कारीगरी हुनर तथा कलाकौशल्य बढेगा और कौशल्यके कार्य बहुत होते रहेंगे, उस राष्ट्रमें परिवर्तनभी शीघ्र होता रहेगा । क्योंकि कौशल्यका अर्थ हि अधिक सौन्दर्यकी निर्मिति है । इस तरह जनता अधिक सौंदर्यको निर्माण करने लग जायगी, तो सभी जीवन विशेष रीतिसे परिवर्तित होनेमें देरी नहीं लगेगी ।

इस प्रकार परमात्माका व्यवहार जो प्रकृतिमें और इस सृष्टिमें हो रहा है, उसे देखकर राजा अपने राष्ट्रमें प्रजापालनके कार्य करता है । यहां केवल सूचनामात्र लिखा है । विचार करनेसे अधिकाधिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यवहारोंका पता लग सकता है । इसीसे गृहव्यवस्थाकाभी बोध मिल सकता है । घरमें पिता अधिष्ठाता है, माता प्रकृति है, संतान सृष्टि है । इसका विचार करके पाठक गृहाश्रमविषयक बोध जान सकते हैं ।

अब इस उपदेशको न जाननेवाले कैसे गिरते हैं, यह बात कहते हैं—

भावार्थ— परमेश्वर संपूर्ण भूतमात्रोंका सबसे बडा ईश्वर है, हरएकको इसके श्रेष्ठ भावको जानना चाहिये। वह ईश्वर मानवी शरीरका आश्रय करके इस जगत्में विचरता है, परंतु मूढ मनुष्य मानवी शरीरमें निवास करनेवाले ईश्वरको जानते नहीं, उसकी अवज्ञा अर्थात् निंदा करते हैं। ये लोग मूढ होते हैं और मोहको बढानेवाली राक्षसी आसुरी विशेष कृतिका आश्रय करके अपने व्यवहार करते हैं। अतः उनकी आशाएं, उनके कर्म और उनके ज्ञान व्यर्थ होते हैं। क्यों कि मानवोंकी उन्नतिके लिये उनके आशा-कर्म-ज्ञानका कोई उपयोग नहीं होता है ॥११-१२॥

[राजविद्यापरक अर्थ— अमूर्त राजसत्ता संपूर्ण छोटे छोटे अधिकारियोंके (परं भावं) ऊपर शासन करनेवाली है, यह उस राजसत्ताका (भूतमहेश्वरं) महेश्वरत्व कई लोग ठीक प्रकार नहीं समझते। यह अमूर्त राजसत्ता विविध (मानुषीं तनुं) मानवोंमें विभिन्न अधिकारीभेदके अनुसार (आश्रितं) रहती है, यह न जानते हुए उस अधिकारी मानवकी, उसे केवल मनुष्य मानकर (अवजानन्ति) अवज्ञा करते हैं ॥ ११ ॥ इन मूढ लोगोंकी आशाएं, कर्म और ज्ञान व्यर्थ होते हैं क्यों कि अज्ञान उत्पन्न करनेवाले राक्षसी आसुरी स्वभावको धारण करके हि वे व्यवहार करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ— अमूर्त राजसत्ता सबसे ऊपर है। वह राजाके शरीरसे लेकर छोटेसे छोटे अधिकारी- द्वारपालतकके शरीरतकके मानवोंके शरीरोंका आश्रय करके कार्य करती है। इस अमूर्त सत्ताको न जानते हुए मूढ लोग मानते हैं कि ये मानवही है और इनमें कोई विशेष श्रेष्ठ शक्ति नही है। ऐसा समझकर ये उस अधिकारीके स्थानपर कार्य करनेवाले मानवका अपमान करते हैं, उस समय वह अमूर्त राजसत्ता जो उस मनुष्यके पीछे रहती है, वह संघटित रूपसे उस आततायी मूर्खका निरोध करती है। इन मूढोंकी कितनीही आकांक्षाएं हों, कितनेभी कर्म हों और इनके पास कितनाभी ज्ञान हो, वह सबका सब व्यर्थ होता है। क्यों कि ये लोग मोह उत्पन्न करनेवाले राक्षसी और आसुरी स्वभावको धारण करके ऐसा अयोग्य व्यवहार करते हैं। इस कारण ये आततायी लोग दुःख भोगते हैं ॥ ११-१२ ॥

माहेश्वरी भाव।

(११-१२) ईश, ईशवर, महेश्वर ये तीन शब्द मनन करने योग्य हैं। ईशोंका अधिकार छोटा, अनेक ईशोंके ऊपर ईश्वर होता है और अनेक ईशों और ईश्वरोंपर महेश्वर होता है। वस्तुतः महेश्वर ही सब विश्वका एकमात्र ईश्वर है, परंतु मनुष्य, ईश, ईशवर, महेश्वर ये शब्द पर्याय हैं, ऐसा मानकर वर्तते हैं। यहां महेश्वर शब्दका उल्लेख करके इसके अतिरिक्त ईश और ईशवर इससे भिन्न हैं, ऐसा स्पष्ट कहा है। यह बात राज्यमें अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। छोटे द्वारपाल, ग्रामाधिपति और नगरपति ये 'ईश' हैं, प्रांतोंके अधिकारी नगरपतियोंके ऊपर शासन करते हैं, इसलिये 'ईश्वर' कहने योग्य हैं और ऐसे प्रान्ताधिकारियोंपर शासन करनेवाला महाराजा 'महेश्वर' कहलाता है। जैसे राष्ट्रमें ईश, ईश्वर और महेश्वर होते हैं, वैसेहि विश्वमें भी होते हैं। इन सबमें महेश्वरकी अमूर्त शक्ति कार्य करती है। और राज्यमें अमूर्त राजसत्ता सब ओहदेदारोंके अन्दर कार्य करती है। दोनों स्थानोंमें यही अमूर्त शक्ति मुख्य है। मानो किसीभी स्थानमें जो अधिकारी मनुष्य कार्य करते हैं वे मनुष्यही वहां कार्य करते हैं ऐसा मानना अज्ञान है। वह अमूर्त शक्ति उस शरीरमें रहकर कार्य करती है, ऐसा मानना और ऐसा अनुभव करना चाहिये।

मनुष्योंमें ईश्वर।

जो महेश्वर है वह है तो सर्वव्यापक, अतः सभी पदार्थोंमें विद्यमान है, तथापि मनुष्योंके शरीरोंमें वह रहकर कार्य करता है। यह बात आगेके (दशम) विभूति अध्यायमें कहेंगे और विस्तारसे विश्वरूप (एकादश) अध्यायमें कहेंगे। वही बात यहां संक्षेपसे कही है।

मानुषीं तनुं आश्रितं भूतमहेश्वरं । (११)

"मानवी शरीरका आश्रय करके महेश्वर रहा है।" मनुष्योंके जितने शरीर हैं, उनमें परमेश्वर है। यही बात वेदमें कही है-

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥२॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत १२
ऋ० १०-९०

"एक पुरुष (ईश्वर) है उसको हजारों मस्तक, हजारों आंख और हजारों पांव हैं। यह पुरुष (ईश्वर) ही यह सब, जो हुआ था, जो है और जो होनेवाला है, है। इस पुरुष (ईश्वर) का मुख ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, ऊरू वैश्य और पांव शूद्र हैं।" इस तरह वेदनेभी मानुषीय शरीरोंमें परमेश्वर कार्य करता है ऐसा कहा है। वह मुखका कार्य ब्राह्मणोंमें करता है, बाहूका कार्य क्षत्रियोंमें करता है, पेट तथा ऊरुओंका कार्य वैश्योंमें करता है और पांवोंका कार्य शूद्रोंमें करता है। अर्थात् संपूर्ण मानवीय शरीरोंमें वह है और वहां वही कार्य करता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रही परमेश्वरका शरीर है। इस तरह प्रत्येक मानवी शरीरमें भी वह विद्यमान है और कार्य करता है। साधकको उचित है कि मानुषीय शरीरमें रहनेवाले और वहां कार्य करनेवाले भूत-महेश्वरको देखें और अनुभव करें।

परंतु मूढ मनुष्य मानवी शरीरोंमें महेश्वर है यह भी नहीं जानते और वह वहां कार्य करता है,यहभी नहीं देखते। वे समझते हैं कि ईश्वर किसी सातवें आस्मानमें है, वैकुंठमें निवास करता है और ये मानव उससे बिलकुल भिन्न हैं। ऐसा मानकर वे मूढ लोग मानवोंकी निंदा करते हैं, उनको कष्ट देते हैं, उनको लूटते हैं और हरतरह सताते हैं। मनुष्योंका अन्य मनुष्योंके साथ जो ठगानेका व्यवहार है वह यहां पाठक देखें। वस्तुतः मनुष्योंमें ईश्वर है, ईश्वर अनेक मानवी रूप धारण करके हमारे सम्मुख आता है। उसको ईश्वर न मानते हुए सामान्य मनुष्य मानकर उसको ठगानेका यत्न करना, उसको कष्ट देनेका यत्न करना, कितनी मूढता है। ईश्वरके यहां इसकी क्षमा नहीं होगी, यथायोग्य दण्ड मिलेगाहि।

यदि किसी समय महाराजा गुप्त वेषसे हमारे सन्मुख आ गया और हमने उनके साथ बुरा व्यवहार किया, तो उस हमारे बुरे व्यवहारको राजा प्रत्यक्ष देखेगा और उसे योग्य दण्ड वह देगाही। कभी क्षमा नहीं होगी। परंतु यदि मनुष्य यही समझेगा कि राजा किस वेषसे हमें देखेगा इसका पता नहीं है, अतः हमें उचित है कि हम सदा सुयोग्यही व्यवहार करें। तो ऐसा मनुष्य सदाही योग्य व्यवहार करनेके कारण उन्नत होगा और दूसरोंको ठगानेवाला अवनत होगा।

इसी तरह प्रत्येक मनुष्यमें ईश्वर है, अथवा ईश्वरही अनेक मनुष्योंके रूप धारण करके हमारे सन्मुख आता है। वह कभी शत्रुरूपसे आता है, कभी मित्ररूपसे आता है, कभी स्त्री-रूपसे आता है तो कभी पुत्ररूपसे आता है। प्रत्येक समयके कर्तव्य भिन्न होते हैं, जो यथायोग्य रीतिसे करने चाहिये। यदि शत्रुके रूपमें ईश्वर उपस्थित हुआ तो उसको यथायोग्य दण्ड देनाही चाहिये, बिलकुल क्षमा नहीं करनी चाहिये। तभी इसकी परीक्षा उत्तीर्ण हो सकती है। जैसा अर्जुनने श्रीशंकरके साथ घोर युद्ध किया था। यह इस समय युद्ध न करता तो श्रीशंकर प्रसन्न न होते और उस अर्जुन को अस्त्रोंकी प्राप्ति भी न होती। श्री कृष्ण मित्ररूपसे उसके सन्मुख खडे थे। अर्जुनने उसके साथ मित्रभाव का बर्ताव करके प्रसन्न किया था। यहां यथायोग्य बर्ताव का पाठ पाठकोंको मिल सकता है।

जो मनुष्य सन्मुख आता है वह उस रूपमें ईश्वरही होता है। डाक्तरके सन्मुख रोगीके रूपमें ईश्वर आता है, पतिके सन्मुख स्त्रीके रूपमें ईश्वर आता है। पत्नीके सन्मुख पतिरूपसे ईश्वर आता है। मातापिताओंके सन्मुख पुत्ररूपसे परमेश्वर आता है। किसी समय शत्रुरूपसे भी आता है और किसी समय क्रूर रूप धारण करके भी आता है। पाठक यह समझें की यह परीक्षाका समय है। इस परीक्षामें जो उत्तीर्ण होगा वही श्रेष्ठ बनेगा। प्रत्येक स्थानमें हमारा कर्तव्य क्या है इसका विचार करना है। और वैसा करना चाहिये। कर्तव्यकर्म न किया तो अधोगति और यथायोग्य कर्तव्य किया तो उन्नति होती है।

उदाहरणके लिये आततायीके रूपसे परमेश्वर हमारे सन्मुख आगया, वह हातमें शस्त्र लेकर हरएकका वध कर रहा है, वह इस विश्वरूपका भाग है, इस लिये परमेश्वरके विश्वरूपमें हमारे सन्मुख आगया है, अतः उसका वध करना हमारा धर्म है। उसका वध किया तोहि हम परीक्षामें उत्तीर्ण होंगे और यदि उसे डरकर भाग गये अथवा वह परमेश्वर है इस लिये चुप रहे तो हम अनुत्तीर्ण रहे। इस तरह यह परीक्षा चारों ओर हो रही है। भगवानने अर्जुनसे कहा कि कौरवपक्षके सभी लोक परमेश्वरके विश्वरूपमें हैं, परंतु अर्जुन की क्षात्रत्वकी परीक्षाका यह समय है। प्रत्यक्ष परमेश्वर इतने रूपोंमें सन्मुख आकर परीक्षा ले रहा है। यदि इस समय अर्जुन युद्धसे निवृत्त हुआ तो परीक्षामें उत्तीर्ण होगा, अथवा अपना युद्धकौशल पूर्णरूपसे दिखानेसेहि परीक्षामें उत्तीर्ण हो सकेगा? अर्जुनने विश्वरूपदर्शन करनेके पश्चात्‌हि युद्ध किया है, क्योंकि उसी समय उसका निश्चय हुआ कि प्रत्यक्ष परमेश्वर सन्मुख उपस्थित होनेपर युद्धसे भाग जाना यह निरी मूर्खता है। इस समय तो युद्ध करना ही एकमात्र उपाय है।

पाण्डवोंका राज्य छीनकर कौरव अपने हाथ में दबाकर बैठे थे और पांण्डव अपना गत स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे। दोनों पक्षोंके मानवी शरीरोंमें ईश्वर था ही। पाण्डव यदि युद्ध न करते, अथवा उत्तम युद्ध करके कौरवोंको परास्त करके उनके हाथोंसे अपना स्वराज्य छीनकर न लेते, तो पांण्डवोंको स्वराज्य प्राप्त न होता। यहाँ परमेश्वर कौरवोंके रूपमें आकर पाण्डवोंकी परीक्षा ले रहा था, कि ये पांडव स्वराज्य प्राप्त करने और उसकी रक्षा करनेके लिये योग्य हुए हैं या नहीं, इसकी परीक्षा परमेश्वर ले रहा था। इस परीक्षामें पांडव उतीर्ण हुए और उत्तीर्ण होनेसेहि उनको स्वराज्य प्राप्त हुआ। यहां पता लगता है कि परमेश्वरके विश्वरूपमें शत्रु भी हैं, उनके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये। जैसा अर्जुनने किया वैसा ही करना चाहिये। जो भी स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं उनको तब तक स्वराज्य नहीं मिलेगा जबतक कि वे युद्ध करके विजयी न होंगे और युद्ध भी पराकाष्ठा के प्रयत्नसे करना होगा, अर्थात् उसमें न्यूनता नहीं रहनी चाहिये।

मानवी शरीरोंमें परमेश्वर रहा है (मानुषीं तनुं आश्रितं भूतमहेश्वरं। गी० ९।११) यह बात देखना चाहिये, ध्यानमें धारण करनी चाहिये। अनेक मानवोंके साथ हमारा संबंध आता है, वह संबंध सुयोग्य रीतिसे होना चाहिये, क्योंकि उन मानवी शरीरोंमें रहनेवाले परमेश्वरके साथहि हमारा संबंध आता है उस समयकी परीक्षामें उत्तीर्ण होना चाहिये।

राजविद्याके पक्षमें अमूर्त राजसत्ता छोटेमोटे ओहदेदारोंके-उन मानवोंके-शरीरोंमें आश्रित रहकर कार्य करती है। इसलिये मनुष्यका शरीर समझकर उसका अपमान करना उचित नहीं क्यों कि अमूर्त राजसत्ता वहां है, उसका अपमान करना अयोग्य है। इस तरह विचार करके पाठक अनेक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

जो मूढ लोग हैं, वे अमर्त परमेश्वरीय भाव व्यक्तिमात्रमें है यह भी नहीं जानते और अमूर्त राजसत्ता अधिकारियोंमें है यह भी नहीं जानते।

(५) महात्माओंका स्वभाव ।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

अन्वयः— हे पार्थ ! दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः महात्मानः तु मां भूतादिं अव्ययं ज्ञात्वा, अनन्यमनसः (मां) भजन्ति ॥१३॥ (ते) नित्ययुक्ताः भक्त्या मां सततं कीर्तयन्तः यतन्तः च दृढव्रताः नमस्यन्तः मां उपासते ॥१४॥

हे अर्जुन ! दैवी प्रकृति–स्वभाव–का आश्रय किये हुए महात्मा लोग तो, मैं भूतोंका आदिकारण और अव्यय हूं यह जानकर, अनन्य मनवाले होकर मेरा (ईश्वरका) भजन–सेवन–करते हैं ॥ १३ ॥ वे नित्य योगाचरण करनेवाले भक्तिसे मेरा (ईश्वरका) सतत कीर्तन करते हैं, वे प्रयत्नशील दृढव्रती नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

इस अज्ञानके कारण वे अनेक प्रकारका आचरण का दोष करते हैं, उसका फल उनको भोगनाही पडता है। इस लिये कहा है कि उनकी आशाएँ, उनके कर्म और उनके ज्ञान (मोघाशाः, मोघकर्माणः, मोघज्ञानाः) व्यर्थ होते हैं। यदि वे सब भूतोंमें ईश्वरभावको देखेंगे तो उनकी आकांक्षाएँ, उनके कर्म और ज्ञान सफल और सुफल हो जायंगे। यह एक बात न समझनेके कारण उनको मोह होता है और मोहसे उनकी राक्षसी और आसुरी प्रवृत्ति होती है। इसके लिये हम एक उदाहरण लेते हैं—

सब मनुष्य परमेश्वरीय भावसे परिपूर्ण हैं, समभावसे सबमें परमेश्वर भरा है, इस दृष्टिसे सब एक ही हैं। ऐसा माननेपर एक दूसरेको ठगाना, परस्पर चोरी करना, परस्पर लूटना, दूसरेकी वस्तु छीनना आदि सब दोष उस समाजमें रह ही नहीं सकते। ये दोष किस समाजमें रह सकते हैं? जिस समाजके लोग सब भूतोंमें परमेश्वरभावको नहीं मानते हैं और प्रत्येक व्यक्ति भिन्न भिन्न है, परमेश्वर किसी स्वतंत्र स्थानमें है, वह व्यक्तिव्यक्तिमें नहीं है, ऐसा मानते हैं वेही एक दूसरेको ठगानेका यत्न कर सकते हैं, चोरी, लूटमार, व्यभिचार आदि येही लोग करते हैं, इन लोगोंमें ही राक्षसी और आसुरी वृत्ती रह सकती है। इस आसुरी संपत्तिका वर्णन आगे १६ वें अध्यायमें होगा। मानवोंमें भी कईयोंमें क्रूर आसुरी राक्षसी वृत्ति दिखाई देती है, येही लोग जगत् में अनेक उपद्रव मचाते हैं। इनमें यह वृत्ति होने का कारण मानवी देहमें भूतमहेश्वर की सत्ताको न देखना ही है।

इस लिये जगत् के अन्दर शान्ति स्थापन करनेकी इच्छा हो तो यह सब भूतोंमें माहेश्वरी भावको देखनेकी विद्या सबको देनी चाहिये। जो इसको जानते हैं उनका व्यवहार कैसा होता है वह अगले श्लोकोंमें कहा है, वे श्लोक अब देखिये—

महात्मा लोग।

(१३-१५) आसुरी स्वभाववाले मनुष्य क्या करते हैं,इसका वर्णन इसके पूर्वके दो श्लोकोंमें

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अन्वयः— अन्ये च अपि ज्ञानयज्ञेन यजन्तः, एकत्वेन, पृथक्त्वेन, बहुधा विश्वतोमुखं मां उपासते ॥ १५ ॥

और दूसरे लोग भी ज्ञानयज्ञद्वारा यजन करनेवाले, एकत्वसे, पृथक्भावसे अर्थात् अनेक प्रकारोंसे मुझ सर्वतोमुखी (ईश्वरकी) उपासना करते हैं ॥१५॥

भावार्थ— महात्मा लोग दैवी स्वभाववाले होते हैं। उनका निश्चय होता है कि परमेश्वर संपूर्ण भूतोंका आदिकारण है और वह अविनाशी है। इस परमेश्वरको यथार्थ जानकर, अनन्यभाव मनमें धारण करके उसकी सेवा करते हैं। वे नित्य योगका आचरण करनेवाले लोग अनन्यभक्तिसे ईश्वरकी सेवा करते हैं। वे सदा प्रयत्नशील पुरुषार्थी होते हैं, दृढव्रती अर्थात् नियमपालनमें दक्ष होते हैं, वे परमेश्वरको नमस्कार करते हुए उसकी अखंड सेवा करते हैं॥ दूसरे लोग ज्ञानयज्ञ करते हैं, इनमें कई एकत्वभावको देखकर, कई पृथक्त्वको अनुभव करके, इस प्रकार अनेक प्रकारोंसे ईश्वरकी उपासना और सेवा करते हैं। वस्तुतः परमेश्वर तो सर्वतोमुख है ॥ १३-१५ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ-(दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः) दैवी स्वभाववाले पुरुष (महात्मानः) महात्मा होते हैं, वे अमूर्त राजशक्तिको (भूत-आदिं) प्राणिमात्रकी उन्नतिका आदिकारण और (अ-व्ययं) व्यय न करनेवाली अर्थात् आर्थिक सुस्थिति करनेवाली जानते हैं। अतः वे (अन्-अन्य-मनसः) उस राजसत्ताके साथ अनन्यचित्तवाले होकर अर्थात् उससे अपने आपको विभिन्न न मानते हुए, उसीमें अपना चित्त लगाकर, उसीकी सेवा करते हैं ॥१३॥ वे (नित्य-युक्ताः) सदा योग अर्थात् कौशलयुक्त कर्म करते हैं। (भक्त्या) भक्ति अर्थात् सेवाभावसे उसीका वर्णन करते हैं। (यतन्तः) उसीके विषयमें प्रयत्न करते हैं, (दृढ-व्रताः) शुभनियमोंका सुदृढताके साथ पालन करते हैं। (नमस्यन्तः) नमः अर्थात् श्रेष्ठोंको नमन, सब प्रजाको अन्न और दुष्टोंको शस्त्र का दण्ड देनेका विचार करते हुए उसी राजशक्तिकी सेवा करते हैं ॥ १४ ॥ दूसरे कई सत्य (ज्ञान-यज्ञेन) ज्ञानका फैलाव करते हैं, कई लोग (एकत्वेन) एकतासे अर्थात् संघभावसे और कई लोग (पृथक्त्वेन) पार्थक्यके भावसे अर्थात् व्यक्तिभावसे, इस तरह (बहुधा) अनेक रीतियोंसे उसीकी सेवा करते हैं। यह राज-सत्ता तो (विश्वतोमुखं) सर्वतोमुखी है अर्थात् प्रत्येक मनुष्यमें रहनेवाली अथवा अनेकविध है ॥ १५ ॥

भावार्थ- दैवी स्वभाववाले सत्पुरुष राजसत्ताको मानवी समाजके अभ्युदयका हेतु और न्यून व्ययसे अधिक लाभ पहुंचानेका साधन समझते है। वे ऐसी राजसत्ताके साथ मिलकर जनताके उद्धारका कार्य करते हैं। वे नित्य कौशलयुक्त कर्म करके, सदा सेवाभावसे कार्य करते हुए, नित्य पुरुषार्थ करनेका उत्साह धारण करके, सुनियमोंका दृढताके साथ पालन करके, अपना व्यवहार करते हैं। वे सज्जनोंके साथ नम्र होते हैं, सबको खानेके लिये अन्न मिलनेका यत्न करते हैं और दुष्टोंको दण्ड देते हैं। ज्ञानका फैलाव करते हैं, वैयक्तिक और सांघिक उन्नतिका यत्न अनेक उपायोंसे करते हैं, क्यों कि वे जानते हैं कि सर्वांगोंकी उन्नति होनेसेहि सबका यथार्थ कल्याण होना है ॥१३-१५॥

किया गया, अब दैवी स्वभाववाले लोग क्या करते हैं इसका विचार इन तीन श्लोकोंमें करते हैं। यहां 'प्रकृति' शब्द का अर्थ 'स्वभाव' है। दैवी प्रकृति अर्थात् दैवी स्वभाववाले लोग

महात्मा होते हैं, उनका आत्मा महान् विशाल होता है। उन महात्माओंमें संकुचित भाव नहीं होता। महात्मापन मनके विशाल भावसे हि प्राप्त होता है। जिसकी समदृष्टि हो, जो पक्षपात-रहित हो, जो शान्त और दान्त हो वह महात्मा कहलाता है। ये महात्मा लोग परमेश्वरको (भूतादिं अव्ययं) भूतमात्रका आदिकारण और अविनाशी सत्य तत्त्व जानते हैं और (अनन्य-मनसः भजन्ति) अनन्यमनवाले होकर भजते हैं। अन्यमनवाले और अनन्यमनवाले ऐसे दो प्रकारके लोग होते हैं। अन्यमनवाले जो होते हैं वे अपनेमें और ईश्वरमें तथा पदार्थपदार्थमें, वस्तुवस्तुमें भेद देखते हैं, अन्यत्वका भाव देखते हैं। यही सामान्य मनुष्योंकी दृष्टि है। इसीको प्रापंचिक अथवा व्यावहारिक दृष्टि कहते हैं। इस दृष्टिमें भेदभाव, अन्यभाव व्यक्त रहता है।

अनन्यदृष्टि।

दूसरी दृष्टि 'अनन्य दृष्टि' है। इसमें उपासक अपने आपको परमेश्वरसे अभिन्न देखता और अनुभव करता है। ईश्वरके साथ अभिन्न होकर अपने आपको यह विभक्त नहीं समझता। यह अपने आपको ईश्वरसे अविभक्त अनुभव करता है। ईश्वर अन्य है और मैं उससे अन्य हूं यह भेदभाव इसके मनमें नहीं होता। यह अन्य-भाव सर्वथा मिटनेसे इसका मन सच्चा 'अनन्य' होता है। इसी हेतुसे यहां 'अनन्यमनसः' यह शब्द आया है। जिसके मनसे अपने आपका परमेश्वरसे अन्य होनेका भाव पूर्णतासे मिट गया है, उसका नाम 'अनन्यमानस' है। यह अवस्था केवल महात्माओंकोहि प्राप्त हो सकती है। अथवा जो इस प्रकार अनन्य होते हैं वे हि महात्मा कहलाते हैं।

ये महात्मा लोग अपने आपको ईश्वरसे 'अनन्य' (अन्+अन्य) अर्थात् अभिन्न अनु-भव करके ईश्वरको (भजन्ति) भक्ति करते हैं। यहां भक्ति करनेका क्या अर्थ है, इसका विचार करना आवश्यक है। 'भज्' धातुका अर्थ कोशोंमें यह है— "विभाग करना, निर्देश करके यथायोग्य रीतिसे देना, प्राप्त करना, आश्रय लेना, अभ्यास करना, अपने पास रखना, सेवा करना, सन्मान करना, पसंद करना, संबंध जोडना, अधिकार जमाना, प्रेम करना, दान देना, दया करना, अनुकूल बनाना, लग जाना, पकाना, अन्न तैयार करना, सेवन करना" भज् धातुके ये अर्थ हैं।

'भज्' धातुके ये अर्थ ध्यानमें धारण करनेसे 'भक्ति' का अर्थ जो प्रतीत होता है वह यह है- "योग्य विभाग, निर्देश, योग्य दान, प्राप्ति, आश्रय, अभ्यास, अपनाना, सेवा, सन्मान, पसंदी, संबंध, अधिकार, प्रेम, दान, दया, अनुकूलता, लगना, तत्परता" इतने सब अर्थोंका विचार न करते हुए इसके दो तीन मुख्य अर्थही विचारके लिये लेंगे। जैसा "सेवा, संमान, दान, तत्परता" भक्तिमें ये अर्थ हैं। भक्ति करनेका अर्थ 'सेवा करना, संमान करना, दान करना और तत्परतासे कर्तव्य करना हैं।' महात्मा लोग जो ईश्वरभक्ति करते हैं उसमें वे इतनी बातें करते हैं। ईश्वरकी सेवा करते हैं, ईश्वरका संमान करते हैं, ईश्वरके लिये आत्मसर्वस्वका दान करते हैं और तत्पर होकर स्वकर्तव्य करते हैं।

ईश्वरका सेवा करनेयोग्य रूप।

ईश्वरका मनुष्यद्वारा सेव्य स्वरूप वही है जो ऋग्वेदमें कहा है। "उस विराट् पुरुष परमे-श्वरका मुख ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, ऊरू वैश्य और पांव शूद्र हैं।" (ऋ. १०।९०।१०) इस तरह वेदोक्त ईश्वर सेवा लेनेके लिये चार वर्णोंके रूपसे हम सबके सन्मुख उपस्थित है। शूद्रमें अन्त्यज पंचम आदि सबका समावेश है, यह बात यहां भूलना नहीं चाहिये। चार वर्णोंसे अतिरिक्त कोई मनुष्य अवशिष्ट नहीं रहता। इस तरह परमेश्वरकी सगुण मूर्ति

(मानुषीं तनुं आश्रितं...भूतमहेश्वरं भजन्ति। भ० गी० ९।११) चातुर्वर्ण्यरूप समाज है, यह सिद्धान्त प्रथम ऋग्वेदमें कहा गया था, वही भगवद्गीतामें कहा गया है। इसलिये ईश्वरकी सेवा कैसी करनी चाहिये यह प्रश्न यहां रहा नहीं है। चार वर्णोंकी सेवा-जनसमाजकी सेवा, जातिकी सेवा, राष्ट्रसेवाही परमेश्वरसेवा है। सब मनुष्योंको जिसकी सेवा करनी चाहिये वही यह ईश्वरका रूप है। चातुर्वर्ण्यके रूपमें परमेश्वर प्रत्यक्ष है। जनताजनार्दनकी सेवा करनेकी विधिभी स्पष्ट है। इस चातुर्वर्ण्यमें संपूर्ण मानवजाती आती है। कोई मानव अवशिष्ट नहीं रहता। इस सेवाके लिये आत्मार्पण करना, इसका संमान करना, तत्परताके साथ इसके संबंधके कर्तव्य करने यही भक्ति यहां कही है। महात्मा लोग जो ईश्वरभक्ति करते हैं वह यही भक्ति है। इसीका नाम सत्य भक्ति और यही भक्ति मानवसमाजका उद्धार करनेवाली है।

चातुर्वर्ण्य-समाज सब भूमंडलपर है। यही नारायणका रूप है। यही ईश्वरका सगुण रूप है। इस मानुषी तनुमें आश्रय किये हुए ईश्वरको महात्मा लोक (गी० ९।११-१३) यथावत् जानते हैं। यही उसका (अव्ययं) अविनाशी रूप है ऐसा अनुभव करते हैं, इसी का (कीर्तयन्तः) वर्णन करते हैं, इसीके लिये (यतन्तः) प्रयत्न करते हैं, इसीका कार्य करनेके लिये (दृढव्रताः) दृढतासे नियमपालन करते हैं, इसीको (भक्त्या नमस्यन्तः) सेवाभावसे नमन करते हैं, इसीका कार्य करनेके लिये (नित्ययुक्ताः) नित्य लगे रहते हैं, इसीका (ज्ञानयज्ञेन यजन्तः) ज्ञानप्रसारद्वारा कई महात्मा लोग यजन करते हैं, इसी की (उपासते) उपासना अपनी शक्ति लगाकर करते हैं, (एकत्वेन) ऐक्यभावसे तथा (पृथक्त्वेन) वैयक्तिक पृथग्भावसे भी अर्थात् (बहुधा) बहुत ही रीतियोंसे (विश्वतोमुखं) सब ओर जिसके मुख हैं ऐसे जनसमाजरूपी सगुण परमेश्वरकी (उपासते) उपासना सेवा और भक्ति करते हैं। ये दैवी स्वभाववाले महात्मा लोग हैं और इनका कार्य इस तरह होता है।

राजविद्याका रहस्य।

इतना ईश्वरसंबंधी विचार करनेके पश्चात् इन श्लोकोंमें जो राजविद्याका तत्त्व है उसका विचार अब हम करते हैं।

(दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः) दैवी संपत्तिवाले सत्पुरुष महात्मा लोग (अनन्य-मनसः)अनन्य-मन होकर राजशक्तिकी (भजन्ते) सेवा करते हैं। राजशक्ति राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यतक व्याप्त है, यह जानकर अपने आपको उसके साथ (अनन्य-मनसः) अनन्यभावसे संबंधित अतएव एकरूप जानकर उसकी सेवा करते हैं। सेवामें आत्मसमर्पण, संमान, दान और स्वकर्तव्यपालन आदि सब संमिलित है।

महात्मा लोग जानते हैं कि वह राष्ट्रशक्ति (अ-व्ययं) व्यय बचानेवाली है. अर्थात् संरक्षण और संवर्धनकी अन्य सब रीतियोंकी अपेक्षा इस गीतोक्त दैवीभावकी राज्यपद्धतिमें राष्ट्र-संरक्षामें व्यय कमसे कम होता है। और (भूत-आदि) प्राणिमात्रकी उत्पत्ति, उन्नति, उत्कर्ष आदि अधिकसे अधिक होता है। इस पद्धतिमें व्यय न्यूनसे न्यून और लाभ अधिकसे अधिक होता है, इसलिये यह राजशासन सर्वोत्कृष्ट है, ऐसा सब महात्मा लोग मानते हैं। अतः वे इसके लिये आत्मसमर्पण करते हैं, इसकी सेवा करनेके लिये जीवन देते हैं और तत्परताके साथ इसी राज्यपद्धतिमें (यतन्तः) कार्य करते हैं। इस राज्यशासनके लिये (दृढव्रताः) दृढ निश्चयसे उद्योग करते हैं, नियमादिका पालन करते हैं। वे जानते हैं कि यह राज्यपद्धति अत्यंत लाभदायक है, इसलिये वे इसका

(६) ईश्वरका स्वरूप।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

अन्वयः— अहं क्रतुः, अहं यज्ञः, अहं स्वधा, अहं औषधं, अहं मंत्रः, अहं एव आज्यं, अहं अग्निः, अहं हुतम्॥ १६॥

(कीर्तयन्तः) महत्त्व वर्णन करते हैं, इसके गुण सबको समझाते हैं, तथा (नित्य-युक्ताः) नित्य कुशलतापूर्वक प्रयत्न करते हैं। इस राज्यशासनमें प्रयत्न करते रहना अपना आवश्यक कर्तव्य है ऐसा महात्मा लोग मानते हैं।

(नमस्यन्तः) नमन करते हैं। महात्मा लोग नमन करते हैं। यह चातुर्वर्ण्यरूपी राष्ट्र पुरुष जगद्‌बीज नारायणका स्वरूप है ऐसा जानकर, इस दैवी राज्यशासनद्वारा राज्यशासनका कार्य करना, उसकी सेवा करना है ऐसा वे मानते हैं और इसी कारण वे इसको (नमः) नमन करते हैं। इस 'नमः' के तीन अर्थ हैं (१) नमन, (२) अन्न और (३) शस्त्र। ये तीनों अर्थ महात्माओंके नमनमें संमिलित हैं। महात्मा लोग सदा नम्र होते हैं, सज्जनोंके सन्मुख तो नमतेहि रहते हैं, बुभुक्षितोंकी क्षुधा शान्त करनेके लिये अर्थात् उनको पर्याप्त अन्न मिलनेके लिये वे सदा यत्नवान् होते हैं, बेकारीको दूर करने, कारीगरीकी उन्नति करनेके लिये और कृष्यादिका सुधार करनेके लिये वे प्रयत्न करते हैं। ये महात्मा लोग शस्त्रसे दण्डनीय दुष्टोंको यथोचित दण्डभी देते हैं, चोर लुटेरे दुष्ट आदि पापकर्माओंका उचित दण्डद्वारा नियमन भी करते हैं। इस तरह इनके नमनमें ये तीन क्रियाएं होती हैं जो जगत्‌की सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक होती हैं। महात्मा लोगोंके नमनका यह प्रभाव है, इससे सज्जनोंका समादर होता है, बुभुक्षितोंको अन्न मिलता है, बेकारी नष्ट होती है और दुष्टोंको दण्ड भी यथोचित प्रमाणमें मिलता है।

ये महात्मा लोग जनताको (ज्ञानयज्ञेन यजन्तः) ज्ञान प्रसारद्वारा सज्ञान करते हैं। यह एक प्रकारकी जनता जनार्दनकी सेवाही है। और यही (उपासते) ईश्वर उपासना है ऐसा वह मानते हैं। यह जनसेवा अथवा विश्वसेवा कई महात्मा लोग (एकत्वेन) ऐक्य भावसे अर्थात् संघभावसे करते हैं, कई तो (पृथक्त्वेन) पृथग्भावसे अर्थात् वैयक्तिक भावसे करते हैं, अन्य कई (बहुधा) अनेक प्रकारोंसे, विभिन्न साधनोंसे अथवा भिन्नभिन्न विधियोंसे करते हैं। इस सबसे (विश्वतः मुखं उपासते) सब ओर मुखोंसे युक्त जो यह राष्ट्रपुरुष, जनसमाज या जनता जनार्दन है उसीकी सेवा वे करते हैं।

दोनोंकी एकता।

यहां तक राजविद्याका रहस्य देखा। वह देखनेसे पता लगा कि विश्वरूपी परमात्माकी उपासना और राष्ट्रपुरुषकी उपासना एकही है। क्योंकि विश्वरूपी परमात्माका जो सगुणरूप मनुष्योंद्वारा उपासित होने योग्य है वह चार वर्णोंसे होनेवाला राष्ट्रपुरुषही है। इसकी यथायोग्य सेवा होनेके लियेहि राज्यकी सुव्यवस्थाकी निर्मिती हो गयी है। यहां ईश्वरउपासना और राष्ट्रोपासना एक स्थानपर मिल गयी हैं। मानवधर्ममें ईश्वरकी उपासना और राष्ट्रभक्ति एकही है और यही सच्चा दृष्टिकोन है।

इस तरह महात्माओंका कार्य बतलाकर अब ईश्वरका सच्चा स्वरूप बतलाते हैं, वह बोधप्रद विषय अब देखिये—

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

अन्वयः- अहं अस्य जगतः माता, पिता, धाता, पितामहः, वेद्यं (वस्तु), पवित्रं (वस्तु), ओंकारः, ऋक् साम, यजुः एव च (अस्मि) ॥ १७ ॥ (अहं) गतिः, भर्ता, प्रभुः, साक्षी, निवासः, शरणं, सुहृत्, प्रभवः प्रलयः, स्थानं, निधानं, अव्ययं बीजं (च अस्मि) ॥ १८ ॥ हे अर्जुन ! अहं तपामि, अहं वर्षं निगृह्णामि उत्सृजामि च, अहं एव अमृतं मृत्युः च, (अहं एव) सत् असत् च (अस्मि) ॥ १९ ॥

मैं क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध, मंत्र, घृत, अग्नि और हवनकर्म हूं ॥ १६ ॥ मैं इस जगत्का माता, पिता धारणकर्ता, पितामह, ज्ञेयवस्तु, पवित्र वस्तु, ओंकार ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हूं ॥ १७ ॥ मैं अन्तिम गति, पोषणकर्ता, स्वामी, साक्षी, निवासस्थान, शरण जाने योग्य, मित्र, उत्पत्तिकर्ता, लयकर्ता, मध्यकी अवस्थिति अर्थात् सबको रहनेके लिये स्थान देनेवाला, भण्डार और अविनाशी बीज हूं ॥ १८ ॥ हे अर्जुन ! मैं (सूर्यरूपसे) तपता हूं, मैं पर्जन्यको रोकता हूं और पर्जन्यको गिराताभी हूं। मैं अमरता हूं और मृत्युभी हूं। मैं सत् और असत् हूं ॥ १९ ॥

भावार्थ— ईश्वर सब कुछ है। भूत वर्तमान और भविष्य कालमें जो कुछ था, है, और होगा, वह सब ईश्वरहि है। ईश्वरही सबका बीज, उत्पत्ति और लय है। वही अमरत्व और मृत्यु, सत् और असत् सब कुछ वही है ॥ १६-१९ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ— राज्यशासनहि प्रजाजनोंका कर्मकर्ता, यज्ञकर्ता, धारणकर्ता, औषधि वनस्पतिके समान दोषोंको दूर करनेवाला, मनन करनेवाला, तेजस्विता बढानेवाला और अर्पणका हेतु है ॥१६॥ राज्यशासनही राष्ट्रका मातापिता, आधार, पितामह रूप है। राज्यशासनहि जानने योग्य वस्तु है, पवित्र वस्तु है और रक्षकभी है। सब ज्ञानभी राजशासनसेहि होता है ॥ १७ ॥ प्रजाजनोंकी अन्तिम गति राजाही है, वही सबका पोषक, सबका स्वामी, सबका निवासक, सबका आश्रय, सबका उत्पत्तिकर्ता लयकर्ता और पालनकर्ता है, वही सबको रहनेके लिये स्थान देता है, सब प्रजाजनोंका निधि वही है, सबकी उन्नतिका अक्षय मूल बीज वही है ॥ १८ ॥ वही दुष्टोंको दण्डरूप ताप देता है, वही जीवनका प्रतिबंधकर्ता और स्वतंत्रताका जीवन देनेवाला है। जनताका मृत्यु और जीवन वही है। वही सत् और असत् होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ— राजशक्तिहि प्रजाका उद्धार करनेवाली अथवा नाश करनेवाली है। राजशक्ति प्रजाका हित करने लगी तो प्रजाका जगत्में अद्भुत अभ्युदय होता है और वही विरोध करने लगी तो उन्नत प्रजाजन अवनतीके ऐसे गढेमें जाते हैं कि वहांसे उनका निकलना कठीन हो जाता है। इसलिये कहा है कि राजशक्तिहि प्रजाकी अन्तिम गति और सब कुछ है॥ १६-१९॥

(१६-१९) यज्ञमें स्वधाकार स्वाहाकार, हवनार्थ औषधियोंका संग्रह, मंत्र, घृत, अग्नि और हवनका कर्म इत्यादिकी आवश्यकता होती है। यज्ञके क्रतु और यज्ञ ये दो भेद हैं। ये सब एकही ब्रह्मतत्त्वके रूप हैं। यही भाव इससे पूर्व कहा गया है--

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥
गी. ४।२४

"अर्पण, हवन, अग्नि, हवन की गयी वस्तु और हवन करनेवाला यह सब ब्रह्म है।" इस श्लोकमेंभी वही बात कही है, इसीका रूपान्तर ऐसा किया गया है--

हरिर्दाता हरिर्भोक्ता हरिरन्नं प्रजापतिः।
हरिर्विप्रशरीरस्तु भुंक्ते भोजयते हरिः॥

"दाता, भोक्ता, अन्न, प्रजापालक, खानेवाला, भोजन खिलानेवाला और विप्रोंके शरीररूप इश्वरहि है।" इसका तात्पर्य यह है कि जो कुछ वस्तुमात्रमें भेद दीख रहा है वह सत्य नहीं है. यद्यपि वस्तुएं अनेक दीखती हैं तथापि एकही सद्वस्तुके वे सब रूप हैं। जैसे एकही सोनेके अनेक जेवर किये जाते हैं, अनेक जेवरोंके रूपमें ढाला जानेपरभी सोना जैसाका वैसाही रहता है, उसके रूपमें मूल्यमें अथवा स्वरूपमें कोई भेद नहीं होता, इसी तरह जो 'अहं, ब्रह्म अथवा ईश्वर' है वही इन सब वस्तुओंके रूपमें हमारे सन्मुख उपस्थित है। दूसरा कोई पदार्थही नहीं है। फिर वह क्रतु यज्ञ स्वधा औषधि मंत्र घृत अग्नि हवन आदि कितनेभी रूपोंमें दिखाई देवे, वह वस्तु एकही है। यद्यपि यह वस्तुओंका भेद दिखाई देता है तथापि वह वस्तुतः सत्य नहीं है।

परमेश्वर इस जगत्का मातापिता है क्यों कि वह इसका उत्पादक है धारण पोषण करनेके कारण उसीको धाता कहते हैं, पिताकाभी वह पिता था इसलिये उसीका नाम पितामह है। यह सब बाता पाठकोंके ध्यानमें आसकता है क्यों कि यह सत्य है। (वेद्य) ज्ञातव्य, जानने योग्य, मनुष्योंको यहां उत्पन्न होनेके पश्चात् जाननेयोग्य वही एक ईश्वर है। ओंकार वही है, रक्षक को ओं कहते हैं, (अवति इति ओं) जो सबका यथायोग्य रीतिसे संरक्षण करता है वही ईश्वर है। ओंकारमें 'अ-उ-म्' ये अक्षर उत्पत्ति स्थितिलयके वाचक हैं। जो उत्पन्न होता है, जो यहां है और जिसका लय होता है वह सब वस्तुमात्र परमेश्वरकाही रूप है। इसप्रकार ओंकारके कई अर्थ हैं जिन सबका विचार यहां करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेदभी वही ईश्वर है। ऋग्वेदके मंत्रोंपर आरोहावरोह तथा आलापसंलापादि गायनके स्वरोंका कौशल करनेसे सामवेदके मंत्र होते हैं। इसलिये कहा है कि.--

या ऋक् तत्साम। छां.उ.

"जो ऋचा है वही साम है" इस तरह ऋग्वेद और सामवेदकी एक रूपता स्पष्ट हो जाती है। अतः ऋग्वेद और यजुर्वेद शेष रहे। ऋग्वेद में सूक्त (सु - उक्त) सुवचन हैं और यजुर्वेदमें सुकर्म हैं। सुवचन और सुकर्म परस्पर अति निकट संबंधसे युक्त हैं। प्रथम सुविचार होता है, पश्चात् सुवचन बोला जाता है और अन्तमें सत्कर्म किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि सुविचारकाही रूपान्तर सत्कर्म है। अतः ये दोनों या तीनों एकही हैं। क्यों कि रूपान्तरित

वस्तु अनेकविध होनेपरभी एकही हुआ करती है।

ईश्वर सबकी गति है, अर्थात् सब जाकर अन्तमें वहांहि पहुंचते हैं क्योंकि उससे परे और कोई नहीं है. (भर्ता) वह सबका पालनपोषण करता है. (प्रभुः) वह सबका स्वामी है, (साक्षी) वह सबके कर्मोंको यथावत् देखता है, (निवासः) वह सबका निवास यथायोग्य रीतिसे कराता है, (शरणं) वह सबको शरण जाने योग्य है, अर्थात् उसीको शरण जानेसे सबके कष्ट दूर हो सकते हैं, (सुहृत्) वह सबका मित्र है, वही सबका हितकर्ता है, (प्रभवः) वह सबका उत्पादक है, तथा (प्रलयः) सबका नाश करनेवालाभी वही है, वही सबका(निधानं) निधि है, इसलिये उसीसे सबको यथायोग्य वस्तुएं प्राप्त होती हैं, और वही सब जगत्का (अव्ययं बीजं) अविनाशी बीज है। अर्थात् उसकी शक्तिके विना कुछभी बनता नहीं और बिगडताभी नहीं है। जो कुछ बन रहा है अथवा बिगड रहा है वह उसीकी सामर्थ्यसे है।

वह सूर्यके रूपसे यहां तपता है, वही वृष्टीका निरोध करता है। और वही वृष्टी कराता है। सबका अमरत्व देनेवाला और सबका मृत्यु करनेवाला वही एक प्रभु है। सत् और असत्, कारण और कार्य वही है। वेदमें कहा है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
वा. य.

" वही ब्रह्म अग्नि सूर्य वायु चन्द्रमा जल प्रजापति और शुक्र है " ये सब उसीके रूप हैं। वही अग्नि होकर जलाता है, सूर्य होकर तपाता है, वायु होकर सखाता है, चन्द्रमा होकर आनंद देता है, जल होकर बरसता है, प्रजापति होकर प्रजाका पालन करता और शुक्र होकर सबका बल बढाता है। " यह वेदमंत्रके कथनकाही अंशतः रूपान्तर गीताके इस श्लोकमें किया गया है। अस्तु। इसतरह ईश्वरकाही यह सब रूप है ऐसा यहां कहा गया है।

राजविद्यासंबंधी बोध।

प्रजाजनोंके सब (क्रतुः) कर्म और पुरुषार्थ प्रयत्न, (यज्ञः) सब सर्वोपकारक याजनादि शुभ संघटनात्मक कर्म, सब प्रकारकी (स्वधा) अपनी धारणाकी शक्तियाँ, सब प्रकारकी (औषधी = दोषधी) दोष धोनेवाली अर्थात् पवित्रता करनेवाली विधियां, (मंत्रः) मनन करनेयोग्य गुप्तविद्या, (आज्यं) घृतादि पुष्टीके पदार्थ, (अग्निः) उष्णता तेज और प्रकाश करनेवाले पदार्थ, (हुतं) सब प्रकारके समर्पण और दान ये सब राजाके कारणही होते हैं। राजा उत्तम प्रजाहितैकतत्पर और राष्ट्रहित करनेवाला रहा, राजशासन प्रजाकी उन्नति करनेवाला रहा तोहि ये सब राजशक्तिसे संवर्धित होते हैं। जहां राजशासन प्रजाके हितका विरोध करनेवाला होता है वहां इन सबका लोप होता है और प्रजा नाशको प्राप्त होती है।

यहां कई पाठक पूछेंगे कि यहां श्लोकमें 'अहं' शब्द है, इसका अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण अथवा ईश्वर हो सकता है,इसका संबंध राजशक्तिकी ओर कैसा हो सकता है ? यह प्रश्न ठीक है। भगवद्गीतामें जो राजविद्या गुह्य रीतिसे (राजविद्या राजगुह्यं) भरी है वह यही रीति है। जो जो शब्द ईश्वर, परमात्मा, आत्मा, ब्रह्म आदिके वाचक जहां आयेंगे, वहां उन शब्दोंके अर्थमें राजा, राजशक्ति, अमूर्त राजबल, राज्यशासन आदि भाव देखनेसे वेही वाक्य राजविद्याके बोधक होसकते हैं। यह इस गुप्तविद्याको प्रकट करनेका नियम है। इस नियमको ध्यानमें धारण करके भगवद्गीताका वाचन करनेसे इसी ग्रंथमें राजविद्याकी बातें स्पष्ट हो जांयगी। ईश्वर शब्द संकृतमें जैसा परमेश्वर का वाचक है वैसा राजाकाभी वाचक है, उसके बदले यहां ' अहं '

शब्द प्रयुक्त हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण जहां जहां 'अहं' शब्द प्रयुक्त करते है वहां अपने ईश्वरभावसे युक्तही उसका अर्थ रहता है। अतः परमात्मपक्षमें उसका अर्थ परमेश्वरपरक, जीवात्मपक्षमें उसका अर्थ शरीरधारी जीव परक और राजविद्याके पक्षमें राजा अथवा राजसंस्थापरक समझना चाहिये। जैसा—

अहं अस्य जगतः माता पिता पितामहः धाता (अस्मि) ॥ (१७)

इसके अर्थ तीनों क्षेत्रोंमें कैसे होते हैं सो देखिये —

१ परमात्मपरक अर्थ—

परमात्मा–परमेश्वर इस विश्वका मातापिता, पितामह और सब प्रकारसे धारणकर्ता है।

२ जीवात्मपरक अर्थ—

जीव– आत्मा इस (जगत्) चलने फिरनेवाले शरीरका मातापिता पितामहके समान हितकारी किंवा संबंधी और सब प्रकारसे इस शरीरकी धारणा करनेवाला है क्योंकि जीवात्मा न रहा तो इस शरीरकी स्थिति क्षणमात्र भी नहीं हो सकती है। जीवका संबंध छूट जानेसे यह शरीर सडने लगता है। बिगडता है, और शरीरही नहीं रहता है।

३ राजपरक अर्थ—

राजा ही राष्ट्रका मातापिता, पितामह और राष्ट्रका धारक, पोषक और संवर्धन करनेवाला है। राजशासन प्रजाके अनुकूल रहनेसे प्रजाकी उन्नति होती है। प्रतिकूल राजशक्ति हो गयी तो राष्ट्रकी अधोगति होती है। अराजक राष्ट्रभी अवनत होता है। जहां सुराज्य और स्वराज्य है वहां ही उन्नति हो सकती है।

अस्तु। इस प्रकार यहां 'अहं' शब्द हुआ, और किसी स्थानपर ईश्वर या परमात्मा शब्द रहा, तो अर्थबोध होनेमें कोई व्यत्यय नहीं आता। राजाको भी ईश्वर कहते हैं और ईश्वरको भी जगत्का राजा, सम्राट आदि कहाही जाता है। अथवा राजाके मुखमें हि यह वाक्य है ऐसा समझना योग्य है और उसका अर्थ " मैं (राजाही इस राष्ट्रका) मातापिता पितामह और धारणकर्ता हूं।" ऐसा अर्थ समझनेसे भी वही बोध मिल जाता है। तात्पर्य यह है कि भगवद्गीतामें जो राजविद्या गुप्त रीतिसे सर्वत्र भरी है वह इस तरह ज्ञात हो सकती है। अतः पूर्वोक्त प्रश्नका यह उत्तर है।

जाननेयोग्य है।

यह राजविद्या हरएक मनुष्यको (वेद्यं) जाननेयोग्य है, क्यों कि इससे उसको अपने अधिकार क्या हैं इसका ज्ञान हो जाता है। राज्यव्यवहारके नियम, शासनके विधिनियम हरएक मनुष्यको जानने योग्य हैं। हरएक मनुष्य उत्तम रीतिसे इन सबको यथावत् ज्ञान नहीं सकता, परंतु अपने अधिकार इस शासन विधिके अनुसार कितने हैं यह तो हरएकको विदित चाहिये। हरएकको अपने अधिकारोंका ज्ञान होने योग्य शिक्षा प्राप्त होनी चाहिये, यह भी अनुमान इससे हो सकता है।

(पवित्रं) राज्यशासन, राजशक्तिसे मनुष्योंकी पालना यथायोग्य होना संभव है इसलिये यह राजसंस्था अत्यन्त पवित्र है। (ओंकारः- अवति इति ओं) ओं का अर्थ संरक्षण है, ओंकार का अर्थ रक्षाका कार्य है। राजसंस्थासेहि सब प्रजाजनोंकी उत्तम रक्षा होना संभवनीय है। ओंकारके कई अर्थ हैं, उन सबका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। रक्षाके अन्दर अन्य सब प्रकारकी उन्नति आसकती है। अतः ओंकारके दूसरे अर्थ यहां देखनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पाठक अधिक बोध लेना चाहें वह ओंकारके सब अर्थ देखकर उनको राजविद्यामें घटावें।

(ऋक् साम, यजुः) राज्यमें ऋक्सूक्त, सामोपासना और याजुषकर्म अर्थात् सद्विचार,

(७) कामकामी और अनन्यभक्त।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

सदुपासना और सत्कर्म सदा चलाना और उन्नत करना राजसंस्थाका कर्तव्य है। (गतिः) राजा ही सबकी गति है अर्थात् अन्तिम प्रार्थना राजाके पास जाकर हि की जाती है, राजाके पास पहुंचनेसे सर्वोपरि विराजमान हुई शक्तिकी प्राप्ति होती है। अधिकारीके किये अन्यायका परिमार्जन राजाके पास जानेसे होता है, इसलिये भी इसको अन्तिम गति कह सकते हैं। (भर्ता प्रभुः) राजा सब राष्ट्रका भरण पोषण करे, राजसंस्थाका कर्तव्य है कि वह अपने राज्यके सब प्रजाजनोंको उत्तम अन्न योग्य प्रमाणमें मिलनेके लिये जो कर्तव्य करना चाहिये वह करे, राष्ट्रमें कोई प्रजाजन भूखा न रहे ऐसा करना राजसंस्थाका कार्य है।

(साक्षी) राजा साक्षीके समान रहे, किसी पक्षके साथ अपना संबंध न रखे, साक्षीके समान सब कार्यों और व्यवहारोंका यथावत् निरीक्षण करे। जैसा साक्षी किसी पक्षके साथ न मिलता हुआ सत्य को ही देखता और सत्यको ही बोलता और करता है वैसाही राजा निष्पक्ष होकर सब कारोबार देखे और अपना कर्तव्य करे। (निवासः शरणं) सब प्रजाजनोंको रहनेके लिये योग्य स्थान देवे और सच्चे शरणागतकी योग्य रीतिसे सहायता करे। (सुहृत्) अपना हृदयका भाव उत्तम रखे। सबका मित्र बन कर रहे।

(प्रभवः) प्रजाका उत्कर्ष करे, (प्रलयः) शत्रुका नाश करे, (स्थानं) सबको यथायोग्य स्थान देवे, (निधानं) अपना निधि परिपूर्ण रखे, क्यों कि निधिके बलसेहि राजाका सामर्थ्य बढता है। (अव्ययं बीजं) अविनाशी बीज राजा अपनेपास रखे, मानवी उन्नतिके जो जो भाव हैं उनका अविनाशी बीज, अक्षय बीज राजा अपनेपास रखे, इन बीजोंसे वह अपनी प्रजाकी उन्नतिका वृक्ष बढावे और उसको सफल और सुफल करे। राजाके पासके उन्नतिके बीजों का नाश यदि हुआ, तो वह प्रजाकी उन्नति कैसी कर सकता है,? अतः वह अपनेपास सदा उन्नतिके अक्षय बीज रखे, जिससे राज्यकी अखण्ड उन्नति हो सके और राज्यका सामर्थ्य सदा बढता रहे।

राजा कहे कि (अहं तपामि) मैं दण्ड देकर दुष्टोंको तपाता हूं, और वह दुष्टोंको उचित दण्ड देवे। इस तरह दुष्टोंका दुर्वृत्त बंद होकर सब प्रजा सुखी करे तथा (निगृह्णामि, उत्सृजामि) राजा कहे कि मैं दण्डनीयोंका निग्रह करता हूं और सत्पुरुषोंको मुक्त करता हूं। यही राजसंस्थाका कार्य है, राजसंस्थाद्वारा खलोंका निग्रह होवे और सज्जनोंको सब उन्नतिके कार्य करनेके लिये पूर्ण स्वतंत्रता रहे। (अमृतं मृत्युः) राजा सज्जनोंको निर्भय करे और दुष्टोंको मृत्युतक दण्ड देवे। (सत् असत्) राजाके पास सत् और असत् दोनों आते हैं राष्ट्रमें सत् असत् दोनों होते हैं, दोनोंको यथायोग्य रीतिसे परीक्षापूर्वक रखे और अपना राज्यशासन चलावे।

इस प्रकार राजविद्याका आशय है, इस विषयका अधिक विचार होना चाहिये। परतु उतना स्थान यहां नहीं है। पाठक इस संबंधमें इस विषयका अधिक मनन करके बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। अस्तु। अब आगेके श्लोक देखिये—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

अन्वयः— त्रैविद्याः सोमपाः पूतपापाः मां यज्ञैः इष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते । ते पुण्यं सुरेन्द्रलोकं असाद्य, दिवि दिव्यान् देवभोगान् अश्नन्ति ॥ २० ॥ ते तं विशालं स्वर्गलोकं भुक्त्वा, पुण्ये क्षीणे (सति) मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीधर्मं अनुप्रपन्नाः कामकामाः गतागतं लभन्ते ॥ २१ ॥ अनन्याः चिन्तयन्तः ये जनाः मां पर्युपासते, तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं अहं वहामि ॥ २२ ॥

तीन विद्या जाननेवाले, सोम औषधिका रस पीनेवाले, निष्पाप लोग मुझ (ईश्वर) का यज्ञोंद्वारा यजन करके अपनी स्वर्गमें गति होनेके लिये प्रार्थना करते हैं। वे पुण्यसे प्राप्त होनेवाले देवेन्द्रलोकको प्राप्त होकर उस स्वर्गलोकमें दिव्य देवभोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥ वे उस विस्तृत स्वर्गलोकमें सुखभोग भोगकर, पुण्यकी समाप्ति होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं। इस प्रकार तीनों विद्याओंके अनुयायी कामोपभोगी लोग गमनागमनके क्लेशोंको प्राप्त होते हैं ॥२१॥ अनन्य होकर विचार करनेवाले जो लोग मुझ (ईश्वर) की उपासना करते हैं, उन नित्य योगयुक्त होनेवाले लोगोंका योगक्षेम मैं (ईश्वर) चलाता हूँ ॥ २२ ॥

भावार्थ— जो लोग इह लोकमें भोग भोगते हैं और परलोकमें भी भोग प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, वे इन भोगोंको अपने अपने सुकृतके अनुसार प्राप्त करते हैं। परंतु सुकृतकी समाप्तिपर फिर उनके जैसे ऐहिक भोग नष्ट होते हैं वैसेहि स्वर्गीय भोग भी नष्ट होते हैं। अर्थात् इन भोगेच्छावालोंको अक्षय सुख प्राप्त नहीं हो सकता। परंतु जो ईश्वरसे अनन्य होकर ईश्वरकी उपासना करते हैं उन नित्य योगियोंका पूर्ण योगक्षेम ईश्वरही चलाता है, अतः उनके आनंदका क्षय कदापि नहीं होता ॥ २०-२२ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ और भावार्थ— भोगी लोगोंके भोग नष्ट होते हैं और पश्चात् उनको दुःख सहन करना पडता है। परंतु जो निष्काम बुद्धिसे अनन्य होकर सेवा करते हैं उनको अक्षय सुख मिलता है ॥ २०-२२]

(२०-२२) तीन विद्याओंके ज्ञाता लोग अपने भोग बढानेकी इच्छासे क्या करते हैं उसका वर्णन यहां किया है—

तीन विद्याएं ।

ऋग्विद्या सूक्त (सु-उक्त) सुभाषणविद्या है, सुविचार विद्या है, यजुर्विद्या सत्कर्मविद्या है और सामविद्या उपासना विद्या है। इन तीन विद्याओंसे मनुष्य सुसंस्कारसंपन्न होता है। सद्विचार सत्कर्म और सदुपासनासे मनुष्य अपने भोग बढाना चाहते हैं। सद्विचारोंका प्रचार

करके मनुष्योंको सत्कर्म करनेकी ओर प्रवृत्त करते हैं। और सदुपासनासे अपना सुख बढानेकी इच्छा करते हैं। भोगेच्छासे युक्त जो मनुष्य होते हैं वे अपने विचारों अपने कर्मों और अपनी उपासनाओंसे अपने भोग बढानेका यत्न करते हैं। ऐसे लोग जगत्में बहुत हैं।

धन मिलता है इसीलिये अध्ययन करते हैं, धन कमानेके लियेही अच्छे उद्योग करते हैं और धनादि भोग प्राप्तिकी इच्छासेहि उपासना आदि करते हैं। ये सब सकाम उपासक हैं। इनमें " सोमपाः " एक शब्द है। सोमयाग करनेवाले ये लोग होते हैं। संपूर्ण यज्ञयाग करनेवालोंका उपलक्षण यह है। संपूर्ण यज्ञयागोंका संबंध मानवी उन्नतिके साथ घनिष्ट है। नरमेध मानवी उन्नतिके लिये सहायक है, अश्वमेध राष्ट्रीय दिग्विजय करनेकेलिये होता है, राजसूय यज्ञमें नूतन राजाका चुनाव होता है, वाजपेयमें सबको अन्नपानका दान मुख्य है, सर्वमेधमें सर्वस्वका समर्पण जनताकी उन्नतिके लिये होता है, इसप्रकार ये यज्ञ मानवी उन्नतिके साधक होते हैं, परंतु इनमें अपने भोग - ऐहिक और पारमार्थिक भोग - बढानेका हेतु प्रमुख होता है। सोमपान करनेवाले लोगोंका यही हेतु संपूर्ण कर्मोंमें है। ये लोग बडे (पूतपापाः) निष्पाप होते हैं, परंतु मैं जो कर्म करूंगा उसका फल मेरे उपभोगकेलिये मुझे मिलना चाहिये " यह भाव इन सबके कर्मोंमें मुख्यतया होता है।

ये लोग सुकृत करते हैं और उनका फल जैसा इहलोकमें वैसाही स्वर्गलोकमें प्राप्त करते हैं। अनेक भोग भोगते हैं, मजा उडाते हैं। परंतु कर्मकी समाप्ति होनेपर भी उनके कष्ट वैसेहि बने रहते हैं। जैसा भूक लगी तो अन्न पकाओ, अन्न खाकर भूख शान्त करो, फिर थोडी देरके पश्चात् भूख लगेगी, उस समय फिरभी वही चक्र चलाना पडेगा। पकाना खाना फिर पकाना फिर खाना। ऐसा १०० वर्षोंतक करनेपरभी आगे वैसाही करना पडेगा। यह इस चक्रमें दुःख है। अतः इससे शाश्वत सुख नहीं हो सकता।

राष्ट्ररक्षाके लिये सैन्य रखा जाता है, उस सैन्यकेलिये शस्त्रास्त्र बढाये जाते हैं। उनसे शत्रुओंको परास्त किया जाता है, शत्रुभी अधिकाधिक शस्त्र बढाते हैं। अतः अपनेकोभी जीवित रहनेके लिये शत्रुओंसे बढकर शस्त्रास्त्र रखने चाहिये। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र अपने शस्त्रास्त्र दूसरोंसे अधिक बढाने लगा तो उसकी मर्यादा कहां समाप्त होगी ? इस संरक्षणके भारके नीचेहि लोग दब जांयगे और दुःखी होंगे। इस तरह संरक्षणभी मारक हो सकता है। इसी प्रकार ये कामोपभोग बढानेके सुखसाधनभी ऐसे भाररूप बनते हैं कि उसके नीचे मनुष्य दब जाता है और अत्यंत दुःखी होता है। भोगी लोगोंके हरएक सुखसाधनोंकी यही अवस्था है। अतः इनके सुखप्राप्तिके यत्नभी दुःख बढानेवाले होते हैं। इसलिये क्या किया जाय ?

अनन्यभावसे निष्कामकर्म।

सकाम कर्मोंसे उक्तप्रकार दुःख होता है अतः अनन्यभावसे निष्काम कर्म करने चाहिये ऐसा वेद उपनिषद् और भगवद्गीताका उपदेश है। यहां 'अनन्य' भाव धारण करना मुख्य है। मैं (अन्-अन्यः) दूसरा नहीं हूं ऐसा समझनेका नाम अनन्य होना है। जो मनुष्य अपने आपको अपने समाजसे मैं भिन्न नहीं हूं ऐसा मानता है वह अपने सुख बढानेके लिये समाजको हानि नहीं पहुंचा सकता। अनन्य होनेका यह लाभ है। इसके विपरित जो मनुष्य मैं अलग हूं और अन्य लोग मुझसे अलग हैं ऐसा मानता है वह अपने सुखके लिये समाजकी हानि कर सकता है। अन्यभाव धारण करने और अनन्यभाव धारण करनेका यह परिणाम है। अन्यभाव धारण करनेवाले लोग दुःख बढानेके हेतु हो सकते हैं, परंतु जो लोग अनन्य भाव धारण करते

(८) अन्य देवताओंके भक्त।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

अन्वयः— अपि ये अन्यदेवताभक्ताः श्रद्धया अन्विताः यजन्ते, ते अपि, हे कौन्तेय ! अविधिपूर्वकं मां एव यजन्ति ॥ २३ ॥

हैं वे कदापि दूसरोंको कष्ट नहीं देंगे, क्यों कि वे अनन्य होनेके कारण उनके सन्मुख अपनेसे भिन्न दुसरा कोई नहीं है। दूसरोंको कष्ट दिया तो वह परंपरया अपनेकोहि मिलता है ऐसा इनका मत है। पाठक यहां "अन्य भाव" और "अनन्य भाव" का यह भेद ध्यानमें धारण करें। अनन्य भाव धारण करनेवाले लोग भोगेच्छा बढानेके इच्छुक नहीं होते, अतः वे निष्काम कर्म करते हैं।

इस तरह अनन्य भाव धारण करनेवाले लोग निष्काम भावसे और ईश्वरार्पणबुद्धिसे उपासनादि कर्म करते हैं और इनका यह कर्म ऐसाही सतत चलता है। इनको अपना ऐसा कुछभी नहीं रहता है। जो भी ये करते हैं वह सब सबोंकी भलाईके लिये होता है। अतः इनका अपना योगक्षेम कैसा चलेगा? यदि ये सब अपने लिये कार्य न करेंगे और सभी कार्य परमेश्वरके लियेहि करेंगे, तो इनका योगक्षेम कैसा चलेगा? इसके उत्तरमें निवेदन है कि इनका योगक्षेम परमेश्वरहि चलावेगा। यही भाव—

योगक्षेमं वहाम्यहम् (२२)

इस श्लोकमें कहा है। जो परमेश्वरके लिये अपने कर्म समर्पण करता है, उसका योगक्षेम परमेश्वर चलाता है। जैसा किसी स्वामीका सेवक स्वामिके लिये काम करता है, तो उसका योगक्षेम स्वामी चलाता है, वैसाही एकनिष्ठ भक्तका योगक्षेम परमेश्वर चलाता है।

इन श्लोकोंका राजविद्यापरक भाव स्पष्ट है। राष्ट्रमेंभी स्वार्थी भोगी लोग दुःखके कारण बनते हैं और निःस्वार्थी परोपकारी सत्पुरुष सर्वजनहितकारी होते हैं। ये निष्कामी स्वयंसेवक वेतनादिकी अपेक्षा न करते हुए राष्ट्रसेवा और राज्यसेवा तथा सर्वजनसेवा करते हैं। अतः इनका योगक्षेम राजाको अथवा राजसंस्थाको चलाना चाहिये। इस संबंधका विवरण अनेकवार निष्कामभावके वर्णनोंके प्रसंगोंमें आ गया है, इसलिये इसका अधिक वर्णन यहां करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जो लोग राज्यकी अथवा राष्ट्रकी निःस्वार्थ सेवा करते हैं, उनका योगक्षेम राज्यको अथवा राष्ट्रको चलाना चाहिये।

जो लोग भोगकामी होकर कार्य करते हैं उनका योगक्षेम चलानेका भार राजसंस्थाके ऊपर अथवा राष्ट्रपर नहीं है। क्यों कि वे स्वार्थी अपनी जिम्मेवारीपर कार्य करते हैं और कर्मका फल अपने पास अपने भोगके लिये संग्रहित करते हैं, उसका भोग करते हैं, उस फलभोगकी समाप्तिके पश्चात् भोग नष्ट होता है, अतः नये भोगोंकी प्राप्तिके लिये पुनः कर्म करते हैं। यह क्रम इनका अबाधित चलता रहता है। इनकी पोषणाका उत्तरदायित्व राष्ट्रपर अथवा राजसंस्थापर नहीं है।

ये दो प्रकारके लोग हैं यह बात पाठक समझें। कामभोगियोंकी अपेक्षा अनन्ययोगी लोग उत्तम हैं। यह बात स्पष्ट है। अस्तु। इस तरह इन दोनों प्रकारके लोगोंका विवरण करनेके पश्चात् अब अन्य देवताओंके भक्तोंकी गति कैसी होती है, इसका विवरण करते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५ ॥

अन्वयः— हि अहं सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुः एव च (अस्मि), मां तु तत्त्वेन न अभिजानन्ति, अतः ते च्यवन्ति ॥ २४ ॥ देवव्रताः देवान् यान्ति, पितृव्रताः पितॄन् यान्ति, भूतेज्याः भूतानि यान्ति, मद्याजिनः अपि मां यान्ति ॥ २५ ॥

जो कोई अन्य देवताओंकी भक्ति श्रद्धासे युक्त होकर करते हैं, वे भी, हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! विधिविहीन ही क्यों न हो, मेरा (ईश्वरका) ही भजन करते हैं ॥ २३ ॥ क्यों कि मैं हि सब यज्ञोंका भोक्ता स्वामी हूँ, मुझे वे सत्य रीतिसे नहीं पहचानते, (अतः वे अन्यदेवताओंके पीछे पडकर) गिरते हैं ॥२४॥ देवताओंका व्रत करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंके पूजक पितरोंको प्राप्त करते हैं, भूतप्रेतादिके उपासक भूतप्रेतोंको प्राप्त होते हैं और मेरे याजक भी मुझे (ईश्वरको) प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ— श्रद्धासे किसीभी देवताकी पूजा की जाय तो वह ईश्वर की ही पूजा न समझते हुए होती है, क्यों कि केवल एकही अद्वितीय ईश्वर सब सत्कारमानपूजादिका सच्चा स्वामी है। परंतु सत्य रीतिसे लोग सत्य ईश्वर को नहीं पहचानते, अतः गिरते हैं। जो जिसका अनुयायी होता है वह उसके समान होता है, अतः देव पितर भूत प्रेतादिकोंके अनुयायी देवों पितरों भूतों और प्रेतोंके सदृश आचारवाले होते हैं, इसलिये अपना उपास्य उत्तम-से उत्तम पसंत करना हरएकका कर्तव्य है ॥ २३-२५ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ-- किसीभी अधिकारीका आदरसत्कार किया जाये तोभी वह मुख्य राज्यसंस्थाका अथवा मुख्य राजाका ही आदरसत्कार किया ऐसा (गौण दृष्टिसे) होता है ॥ २३ ॥ क्यों कि संपूर्ण राज्यमें एकही मुख्य राजा सबके लिये आदरणीय होता है और वही एकमात्र सबका स्वामी और सर्वाधिकारी होता है। परंतु सब लोक इसका सत्य ज्ञान नहीं जानते इसलिये (अधिकारियोंके पीछे पडकर) गिरते हैं ॥ २४ ॥ जो जिसका अनुसरण करता है, वह उसको पाता है; परंतु मुख्य राजाको प्रसन्न करनेवाला राजाकोही प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

भावार्थ-- राज्यमें एकही राजा सर्वाधिकारी होनेसे वही सत्य दृष्टिसे आदरसत्कार और पूजासंमान करने योग्य है। परंतु राजाकी शक्ति लेकरहि सब अधिकारी अपना अपना कार्य करते हैं, इस लिये उनमेंभी राजशक्ति का अंश रहताही है, अतः जो उनका सत्कार होता है, वह परंपरया राजसत्ताकाही सत्कार है, क्यों कि यदि उनके पीछे राजसत्ता न रही अथवा वे अधिकारपर न रहे तो उस अवस्थामें उनका वैसा सत्कार होनेकी संभावना नहीं है। इससे सिद्ध है कि अधिकारियोंका सन्मान होनेसे राजाकाही सन्मान होता है। अज्ञानी लोग इस मुख्य बातको नहीं जानते और समझते हैं कि यह अधिकारी पूर्ण स्वतंत्र हैं, इसी अज्ञानमें सबकी गिरावटका मूल है। जो जिसको अनु-सरता है वह उससे उतनाही लाभ प्राप्त कर सकता है। अधिकारियोंके पीछे जो लगते हैं उनको अधिकारियोंके हाथमें

जितना होता है, उतना लाभ मिलता है । जो सरंक्षकोंके पीछे पडते हैं उनका उत्तम संरक्षण होता है । जो प्रजाजनोंके लिये यत्न करते हैं वे प्रजाका बल प्राप्त करते हैं और जो राजाकी प्रीति संपादन करते हैं वे राजाके बलसे युक्त होते हैं ॥ २३-२५ ॥

(२३-२५) ये श्लोक अर्थ और भावार्थ समझनेसे स्पष्ट बोध होनेवाले हैं । अतः इनका अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । तथापि संक्षेपसे थोडा स्पष्ट करना आवश्यक है ।

परमेश्वरका विश्वरूप ग्यारहवें अध्यायमें दीखनेवाला है, उसकी सूचना द्वितीय अध्यायसे मिलने लगी है और सातवें अध्यायमें (वासुदेवः सर्वं । गी. ७।१९) ईश्वरही सब कुछ है ऐसी घोषणा करके वही बात कही है । ईश्वरही सब कुछ है, इसी कथनका विस्तार ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपदर्शनद्वारा होनेवाला है । इतनी बात ध्यानमें आनेसे स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरके सिवाय, ईश्वरसे भिन्न, इस जगत्में कुछभी नहीं है । श्रीमद्भगवद्गीताकी यह अपूर्व शिक्षा है । इसको जो जानेगा वह स्पष्ट रीतिसे अनुभव कर सकता है कि एकही ईश्वर सब कुछ है और दूसरा कोई पदार्थ नहीं है । यह जाननेके पश्चात् ईश्वरकी हि अखंड उपासना हो सकती है । ईश्वरके स्थानपर दूसरे किसी भिन्न पदार्थकी उपासना होना संभवही नहीं है ।

परंतु अज्ञ लोग समझते हैं कि ईश्वर किसी सातवें अस्मानमें विशेष स्थानपर है और यहां जगत्में उसके देवदूत आते हैं, अतः उनके दूतोंकीभी खुशामद करनी चाहिये । इस हेतुसे ये लोग अन्यान्य देवताओं, पितरों, भूतों, पिशाचों, ब्रह्मराक्षसोंकी उपासना करते हैं । इनको इस बातका ज्ञान नहीं है कि इनमें यदि परमात्माकी शक्ति न कार्य करती तो इनका अस्तित्व होना भी संभव नहीं था । इसीलिये कहा है कि अन्यान्य देवोंकी उपासना श्रद्धासे करनेका अर्थ इसी ईश्वरकी विधिविहीन उपासना करना है । अब पाठकोंको इस विधानका अर्थ विस्पष्ट रीतिसे ज्ञात हुआही होगा ।

इस जगत्में एकही प्रभु परमेश्वर है, दूसरा कुछ उससे बिलकुल भिन्न कोई नहीं है । जो कुछ दीख रहा है वह उसीका विश्वरूप है । अतः वही एक सबका उपास्य पूज्य सन्मान्य और नमस्य है इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता । लोग भ्रांतिसे अन्यान्य उपदेवोंकी उपासना करते हैं । सत्यज्ञान न होनेसे उनकी गिरावट ही होती है ।

जो जिसका अनुगामी होता है वह उसका बल प्राप्त करता है । देवोंके उपासक दैवी बलसे युक्त, पितृपूजक पैत्रिक बलसे युक्त, भूतप्रेतोंके अनुयायी भूतप्रेतोंके बलसे युक्त होते हैं और परमेश्वरके भक्त परमेश्वरके अद्भुत बलसे युक्त होते हैं । पाठक यहां देखें कि छोटे छोटे बल प्राप्त करनेकी अपेक्षा बडा बल प्राप्त करनाही अच्छा है ।

राजविद्याकी बात ।

यहां तक जो वर्णन किया है, वह देखनेसे राजविद्याकी गुप्त बातें स्वयं स्पष्ट हो सकती हैं । क्यों कि पाठक भी परमात्मविद्याको देखकर राजविद्याके उपदेश जाननेके अभ्यासी हुएही होंगे और इन श्लोकोंमें जो उपदेश कहा है, वह अत्यंत स्पष्ट होनेसे इन श्लोकोंसे दोनों प्रकारके बोध लेना सुगमभी है, तथापि स्पष्ट बोधके लिये यहां कुछ राजविद्याके विषयमेंभी लिखते हैं ।

राष्ट्रमें सर्वसत्ताधारी सर्वाधिकारी राजा होता है । यह आनुवंशिक राजगद्दीका अधिकारी वंशाधिकारसे हो वा प्रजाद्वारा नियुक्त हुआ हो, इसमें संपूर्ण राज्यशासनकी शक्ति केन्द्रित होती है,

इसम कोई शंका नहीं है। इससे थोडी थोडी सत्ता प्राप्त करके छोटे मोटे अधिकारी अपने अपने ओहदोंका कार्य करते हैं, इसलिये ये अधिकारी छोटे ईश हैं और सर्वसत्ताधारी राजा महा-ईश्वर है। यह बात समझमें आनेसे पता लग सकता है कि किसी अधिकारीका बल प्राप्त करनेसे राजाकाही बल प्राप्त किया ऐसा गौणभावसे होता है, क्यों कि सबके अन्दर कार्य करनेवाली सत्ता राजाकी हि होती है। किसी अधिकारीकी अपनी सत्ता नहीं होती। एकही राजा सत्ताका केन्द्र है जिसको प्रभु और कर्मोंका भोक्ता कहा जाता है। जो यह मूलतत्त्व जानते हैं वे तो भ्रममें नहीं पडते, परंतु अन्य लोक राजा तो किसी दूसरे स्थानपर है, ओहदेदार यहां है, इसको वश करनेसे मेरा कार्य होगा। ऐसा मान कर यथाकथंचित् बुरी और भली वृत्तिसे उसको वश करते हैं और अपना स्वार्थ साधन करते हैं। इससे जैसी उस मनुष्यकी गिरावट होती है वैसीहि उस ओहदेदारकीभी गिरावट होती है। अतः ओहदेदारोंके पीछे लगकर गिरना किसीकोभी उचित नहीं है।

अधिकारियोंके पीछे पीछे लगनेवाले स्वार्थसाधु मनुष्योंके ऊपर अधिकारी प्रसन्न होकर उनके स्वार्थसाधनमें सहाय्यक होते हैं। वैसेहि पालकोंके (पुलिसोंके) पीछे पीछे रहनेवाले स्वार्थी लोगोंकी रक्षा पालक लोग करते हैं और इस तरह इनके दोष छिपे रहते हैं। इस प्रकार स्वार्थका साधन करनेवाले लोग अपनी स्वार्थकी इच्छासे स्वयं गिरते हैं और अधिकारियोंकोभी गिराते हैं। इस तरह परंपरया राजसत्ताधारियोंका अधःपात होता है।

कई लोग इस तरह अधिकारियोंके पीछे नहीं लगते। परंतु वे प्रजाजनोंके हितके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करते हैं। ऐसे प्रजाहिततत्पर लोगोंको प्रजाका बल मिलता है और ये लोग लोकमान्य महात्मा जनताके नेता बनते हैं। यहभी एक बडाभारी सामर्थ्य है। (भूतानि) भूत शब्दका अर्थ प्रजा यहां लिया है। इस 'भूत' शब्दका दूसरा अर्थ भूतप्रेतके समान क्रूर दुराचारी लोग भी है। कई लोग ऐसे अधम लोगोंको अपने आधीन करके भयानक दुराचार करते हैं, उनकोभी उन दुष्टोंका घातक बल प्राप्त होता है। परंतु यह उनकी गिरावटका कारण होता है। इसी तरह कई लोग भूतोंका अर्थात् पंचमहाभूतोंका बल विज्ञानकी सहायतासे प्राप्त करते हैं। भूतविद्यामें उन्नत हुए पुरुष अभ्युदयविषयक अनेक सुख बढा सकते हैं और जनताको सुखी कर सकते हैं। परंतु सुखलालसा बढ जानेसे किसी किसी समय इनसेभी पाप होनेका संभव हो सकता है और येभी भूतविद्यापारंगत लोग गिरते हैं। इसलिये इनको यहां सावधान होकर रहना चाहिये। भूत शब्दोंके कई अर्थ हैं। यहां विचारार्थ 'प्रजाजन, भूतप्रेत और पंचभूत' इतनेही लिये हैं। इस तरह लोग अपनी शक्ति बढानेका यत्न करते हैं। ये अल्पशक्तिके उपासक कभी न कभी गिरते हैं।

दूसरे कई लोग ज्ञानविज्ञानसंपन्न होकर संपूर्ण शक्तियोंका मूल स्रोत जो मुख्य शक्तिसंपन्न महाराजा है उसके कार्यमें एकनिष्ठासे लगते हैं। इन निःस्वार्थी अवैतनिक स्वयंसेवकोंका योगक्षेम चलाना राजाका आवश्यक कर्तव्य है। अतः कहा है कि राजाके उपासक राजाकोहि वश करते हैं। राजा वश हो गया, तो संपूर्ण राजैश्वर्य प्राप्त होनेमें देरी नहीं लगती। अस्तु।

यहां तक इन श्लोकोंमें आया हुआ राजविद्याका विषय समाप्त हुआ। अब इन श्लोकोंके आशयवाले श्लोक जो महाभारतमें आ गये हैं सो देखिये-

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम्॥

म० भा० शां० ३४१।३५

" ब्रह्मा, शिव अथवा दूसरे देवताओंको भजनेवाले साधु पुरुषभी मुझ ईश्वरमेंहि आ मिलते

(९) आत्मसमर्पण।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यासि ॥२८॥

अन्वयः—यः पत्रं पुष्पं फलं तोयं भक्त्या मे प्रयच्छति, तस्य प्रयतात्मनः भक्त्युपहृतं तत् अहं अश्नामि ॥२६॥ हे कौन्तेय ! यत् करोषि, यत् अश्नासि, यत् जुहोषि, यत् ददासि, यत् तपस्यसि, तत् मदर्पणं कुरुष्व ॥ २७ ॥ एवं (कृते सति) शुभाशुभफलैः कर्मबंधनैः मोक्ष्यसे, संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तः (भूत्वा) मां उप-एष्यसि ॥ २८ ॥

जो पत्र, फूल, फल अथवा जल मुझे (ईश्वरको) भक्तिसे अर्पण करता है, उस शुद्ध चित्तवाले भक्तने लाया हुआ वह पदार्थ मैं ग्रहण करता हूं ॥ २६ ॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तू जो कुछ करता है, जो भक्षण करता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, जो तप करता है, वह सब मुझे (ईश्वरको) अर्पण कर ॥ २७ ॥ इस प्रकार सब कर्म मुझे (ईश्वरको) अर्पण करनेपर शुभ और अशुभ कर्मबंधनोंसे तू मुक्त होगा और इस रीतिसे फलसंन्यासयोगमें तेरा अन्तःकरण युक्त होकर, तू मुझे (ईश्वरको) प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

भावार्थ— अल्पमूल्यवाला पदार्थ भी परमेश्वरको भक्तिसे समर्पित होनेपर, ईश्वर उसका स्वीकार करता है। मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब परमेश्वरको अर्पण करे। इस तरह सब कर्म ईश्वरको समर्पित होनेपर शुभ और अशुभ कर्मोंका बंधन करनेवालेको नहीं होता और वह मुक्त होता है ॥ २६-२८ ॥

हैं। " तथा—

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा ॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते।
म. भा. शां. २४५।२६, २७

" देव, पितर, गुरु, अतिथि, ब्राह्मण और गौ प्रभृतिकी सेवा करनेवाले परमेश्वरकाही यजन करते हैं। " इस तरह भगवद्गीतोक्त भाव अन्यान्य ग्रंथोंमें और स्थानोंमें कहा है। अस्तु। अब आगेके श्लोक देखिये—

(२६-२८) पत्र पुष्प फल अथवा जल भक्तिसे जो मनुष्य ईश्वरको समर्पण करता है, वह शुद्धात्मा होता है और उसका वह अर्पण ईश्वर स्वीकारता है। यहां पत्र पुष्प फल और जल ये शब्द हैं, यहां इतनेही पदार्थ अर्पण योग्य हैं ऐसा नहीं है। यह एक उपलक्षण मात्र है। इन

[राजविद्यापरक अर्थ— जो कुछ मनुष्यके पास होगा, उसका समर्पण मनुष्य अपने राष्ट्रके हितके लिये करे। अल्पमूल्यवाले पदार्थ भी राजकार्यमें उपयोगी होनेसे स्वीकृत होते हैं ॥ २६ ॥ मनुष्य जो कुछ भी करता है, वह स्वराष्ट्रके हितके लिये करे ॥ २७ ॥ इस प्रकार अपने सब कर्म राष्ट्रके लिये करनेसे करनेवाला निर्दोष होता है और उसे कर्मके बंधन नहीं होते ॥ २८ ॥

भावार्थ— मनुष्यके पास अल्पशक्ति हो अथवा बडी शक्ति हो, वह सब वह अपने स्वराज्यके हितके लिये लगावे। स्वराज्यके लिये हरएक प्रकारकी शक्तिका उपयोग होता है। मनुष्य जो कुछ करे वह स्वराज्यके लिये करे। इस तरह जो लोग अपने स्वराज्यके लिये पूर्णतया आत्मसमर्पण करते हैं, अपने सब कर्मोंके सब फल राष्ट्रको समर्पित करते हैं, उनको उनके शुभाशुभ कर्मोंका दोष नहीं लगता ॥ २६-२८ ॥

पदार्थोंके अतिरिक्त किसीने वस्त्र दिया, किसीने धान्य दिया, तो भी वह ईश्वरद्वारा स्वीकृत हो जायगा। यहां परमेश्वरको देनेका अर्थ क्या है? क्या ये पदार्थ स्वयं परमेश्वरको चाहियें? नहीं, ईश्वरको इनकी आवश्यता नहीं है, क्यों कि ईश्वर नित्यतृप्त है। फिर ये पदार्थ ईश्वरको कैसे दिये जांय? यह एक प्रश्न है। जिसका हरएकको विचार करना चाहिये।

जो तो जल अथवा फूल अर्पण करना है वह परमेश्वरके नामसे अर्पण करनेसे परमेश्वरको प्राप्त होगा, ऐसा माना जा सकता है। परंतु थोडासा जल छोड दिया, फूल जलके साथ बहा दिया, या कुछ किया, तो वह परमेश्वरके पास पहुंचता है, इसका तात्पर्य क्या है? यह कैसे पहुंच सकता है? यह एक विचारणीय बात है।

मूर्तिपूजा।

यहां पत्र पुष्प फल और जल ईश्वरको अर्पण करनेकी जो बात कही है, वह मूर्तिपूजाके साथ संबंध रखती है। श्रीमद्भगवद्गीताके पूर्व समयसेहि मूर्तिपूजा शुरू थी ऐसा इससे प्रतीत होता है। अन्यथा पत्र पुष्प फल और जल अर्पण करनेका विधान यहां आनेकी संभावनाही नहीं हो सकती थी। अस्तु।

मूर्तिको पुष्पादि का समर्पण करना एक भावनाका विषय है, वस्तुतः जो मूर्तिपूजा करते हैं वे तो मिट्टी पत्थर पीतल चांदी सोना आदिकी जो मूर्ति होती है उसकी पूजा करतेही नहीं। वह एक सामने स्मरणके लिये चिन्ह रखा होता है। वस्तुतः उस नामकी विभूतिका जो आत्मा था उसके उद्देश्यसेहि सब पूजाएं, सब जप और हवन होते हैं। अतः मूर्तिपूजा जडपूजा है ऐसा कहनेवाले अशुद्ध विचार फैलाते हैं, यह सत्य है। मूर्तिको लक्ष्य करके उस विभूतिका आत्मा ही पूजा जाता है। परंतु हमें यहां मूर्तिपूजाके विषयका विचार करना नहीं है। यहां केवल इतनाही कहना है कि यह श्लोक मूर्तिपूजाका सूचक दीखता है. अतः हम कह सकते हैं कि, जिस समय यह श्लोक गीतामें लिखा गया था, उस समयके पूर्व पत्र पुष्प फल और जल समर्पण करके पूजा करनेकी विधि शुरू हो चुकी थी।

परमेश्वरकी विभूति।

इसका और भी एक रीतिसे विचार हो सकता है। परमेश्वरका रूप ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चार वर्णरूप है। ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय उसके बाहु, वैश्य उसके पेट और शूद्र उसके पांव हैं। यह वर्णन वेदसे लेकर भगवद्गीतातक समान रूपसे है। यदि येही ब्राह्मणादि मूर्तियां ईश्वरकी मूर्तियां हैं, तो इनको फल आदि देनेसे वह ईश्वरको देनेके समान हो सकता है। तृषितको जल दिया, भूखेको फल दिया, विद्वान्को पुष्प समर्पण किया, तो वह सीधा परमेश्वरकोही अर्पण किया, ऐसा हो

सकता है। गौ आदि पशु भी परमेश्वरकाही मूर्तरूप है यह बात अगले अध्यायमें बतायी जायगी। इस लिये गौ आदि पशुओंको तृण, पत्ते आदि देनेसे वे परमेश्वरकोही समर्पित होंगे। इस तरह योग्य सत्पात्रको ये पदार्थ समर्पित करनेसे वे परमेश्वरको समर्पित किये ऐसाही होता है, क्यों कि परमेश्वर 'सर्व' है और परमेश्वरकी हि ये 'सर्व' मूर्तियां हैं। ये जीती जागती मूर्तियां छोडकर अन्योंकी उपासना करना योग्य नहीं है। और इनको तो इन चीजों से प्रत्यक्ष लाभ हो सकता है।

जीवनसमर्पण।

इसका और भी एक विचार है। (तोयं= जीवनं) जलका अर्थ जीवन है। ईश्वरको जल समर्पण करना अपने जीवनके समर्पण करनेका सूचक है। मनुष्यको उचित है कि वह अपना संपूर्ण जीवनही परमेश्वरको समर्पित करे। (फलं = कर्मफलं) यहां फलका अर्थ कर्मफल है। परमेश्वरको फल समर्पण करनेका अर्थ अपने कर्मफलोंको ईश्वरके लिये समर्पित करना ही है। यही तो भगवद्गीतामें कहा है। यही सत्य कर्मफलत्याग है। पुष्प है हृदयकमल। अपने पास हृदयकमलरूप एकही पुष्प है, जो सचमुच ईश्वरको समर्पण करने योग्य है। जो अपना हृदय ईश्वरको अर्पण करता है, वह अपना संपूण जीवनही परमात्माको समर्पण करता है। कितना अच्छा होगा यदि मनुष्य अपना हृदय (पुष्पं) कमल और अपना (तोयं) जीवन ईश्वरको समर्पित करेगा! भगवद्गीतोक्त रीतिसे यह होना चाहिये। अब रहा पत्रसमर्पण। पत्र क्या है? पत्र और पर्ण एकही है। गीतामें-

छंदांसि यस्य पर्णानि॥ गी. अ. १५।१

"छंद अर्थात् वेद किंवा ज्ञान ये पर्ण अथवा पत्र हैं।" यहां अपने ज्ञानरूपी पर्णोंको परमेश्वरार्पण करनेका उपदेश दीखता है। अर्थात् अपने ज्ञानमें ईश्वरस्वरूपही रहे, दूसरा कुछ आसुरी रूप न रहे। मनुष्यको उन्नत होना है तो ऐसाही करना चाहिये। अस्तु। पत्र पुष्प फल और जल ईश्वरार्पण करनेका तात्पर्य यह है, ऐसा हमारा विचार होता है, पाठक इस विवरणका अधिक मनन करें।

भक्तिसे जो प्रिय वस्तु परमेश्वरको अर्पण की जायगी उसका परमेश्वर स्वीकार करेगा। और भक्तकी उन्नति उससे होगी, इसमें संदेह नहीं है। यह अर्पण केवल पत्रपुष्प आदि पूर्वोक्त प्रकार अन्तर्बाह्य पदार्थोंकाही होना चाहिये, ऐसी बात नहीं है। "जो कुछ भी मनुष्य करता है, खाता है, पीता है, भोगता है, हवन करता है, दान देता है, तप करता है, सोता है, बैठता उठता है, बोलता है, पढता है, युद्ध करता है वह सब ईश्वरको अर्पण करना चाहिये।" (गी. ९।२७) मनुष्यकी संपूर्ण हलचल परमेश्वरके लियेहि अर्पण होनी चाहिये, यह इसका तात्पर्य है।

बंधन-निवृत्ति।

इस तहर अपना संपूर्ण जीवन परमेश्वरको समर्पित होनेसे--

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः॥ २८॥

"शुभ अथवा अशुभ फल प्राप्त होनेरूप जो कर्मबंधन हैं, उनसे मनुष्य मुक्त होता है।" अर्थात् ये शुभ अशुभ फल उस कर्ताको नहीं लगते। पाठक पूछेंगे यह कैसे होता है? इसके लिये एक उदाहरण दिया जा सकता है। एक राजाके लिये सेनापति तथा सैनिक युद्ध करते हैं। इसमें शत्रुसैनिकोंका वध होता है, परंतु यह वध राजाके लिये होनेके कारण ये सब सैनिक उस वधरूप अशुभ कर्मके फलसे मुक्त रहते हैं. क्योंकि ये सब सैनिक अपने कर्मफलको राजाके लिये पूर्णतया समर्पित करते हैं। अतः जयापजय राजाका होता है, सैनिक उस शुभाशुभ कर्मके गुणदोषोंसे सदा मुक्त रहते हैं। इसी तरह अपना जीवन ईश्वरार्पण करनेवालोंके

(१०) ईश्वरभक्तिसे सबका तारण।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

अन्वयः-- अहं सर्वेषु भूतेषु समः, मे द्वेष्यः प्रियः च न अस्ति, (परं) तु ये मां भक्त्या भजन्ति, ते मयि, च अहं अपि तेषु (च)॥ २९॥

शुभाशुभ फलोंका संबंध ईश्वरके साथ होता है और कर्ता उससे मुक्त होता है, और परमेश्वर तो सदा-मुक्त रहनेके कारण कोई दोष वहां रहही नहीं सकता। यह महत्फल है और कर्म ईश्वरार्पण करनेसेहि यह प्राप्त हो सकता है। इसीका नाम संन्यासयोग है।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तः। (२८)

' इस संन्यासयोगके अनुष्ठानसे साधक शुद्ध और बुद्ध बनकर मुक्त होता है।' और पश्चात्-

मां उपैष्यसि। (२८)

"ईश्वरको प्राप्त करता है।" अथवा ईश्वरमें जा मिलता है, मानो वह ईश्वरहि होता है। ईश्वरको जो प्राप्त होता है, वह ईश्वरही बनता है। यदि लोहा अग्निको प्राप्त करेगा तो अग्नि-वत् होगा, प्रत्यक्ष अग्निके गुणधर्मोंसे युक्त होगा। ईश्वरको प्राप्त होनेका अर्थही यह है कि ईश्वरके गुणधर्मोंको धारण करना और ईश्वरके तुल्य बनना। जीवमें सत् चित् और आनंद ये गुण अंशतः हैं। येही गुण बढ गये तो वही ईश्वरभाव है। मनुष्य इस संन्यासयोगसे यही प्राप्त करता है और कृतकृत्य होता है।

राजविद्याका भाव।

शुद्ध भावसे (प्रयतात्मनः) जो भी कुछ प्रजाके स्वत्वरूप धनका भाग पत्रपुष्पफलरूप हो या अन्य कुछ रूपसे हो, जो भी देनेका भाग हो वह राजाको प्रजाके द्वारा मिले, वह राजा स्वीकार करे। यही वस्तुरूपमें करभार प्रजासे राजाको प्राप्त होने योग्य है। वह राजा स्वीकार करता है और इसके बदले राजा प्रजाकी रक्षा करता है।

जो वस्तुरूपमें करभार देनेमें असमर्थ हैं, वे जो कुछभी कर सकते हैं वह कर्मही राजाके लिये करें। इतनाही नहीं परंतु राजाके लियेही जीवें, राजाके लियेहि खाएं और पीयें, तप करें और दान देवें अर्थात् अपना जीवनही राजाके लिये समर्पण करें।

इस तरह जो पूर्णतया राजाके लिये आत्म-समर्पण करेंगे उनके सब कर्म उनके निजी सुख के लिये नहीं होंगे, प्रत्युत वे संपूर्ण राष्ट्रके लिये होंगे। इसलिये उन कर्मोंका शुभाशुभ उनको भोगना नहीं पडेगा। वे सर्वथा कर्मोंके परिणाम से मुक्त रहेंगे। इस तरह कर्मोंके दोषोंसे मुक्त हुए ये महात्मा लोग प्रत्यक्ष राजाके अधिकारों-को प्राप्त होते हैं। वे स्वयं राष्ट्रके कर्ता धर्ता बनते हैं।

इस प्रकारका भाव राजविद्याके विषयम इन श्लोकोंसे ज्ञात होता है। पाठक विचार करके इनसे अधिक बोध जान सकते हैं। यह भी राज-विद्यामें आवश्यक संन्यासयोग ही है।

इसका अनुष्ठान करनेवालोंकी उन्नति कैसी होती है, यह अब देखिये--

ईश्वरका समभाव।

(२९-३३) ईश्वर सबको समभावसे देखता है, अर्थात् किसीका पक्षपात नहीं करता। जो

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः— सुदुराचारः अपि मां अनन्यभाक् भजते चेत्, सः साधुः एव मन्तव्यः, सः हि सम्यग्व्यवसितः (अस्ति) ॥ ३० ॥ हे कौन्तेय! (सः) क्षिप्रं धर्मात्मा भवति, शश्वत् शान्तिं निगच्छति, मे भक्तः न प्रणश्यति, (इति त्वं) प्रतिजानीहि ॥ ३१ ॥ हे पार्थ! ये अपि हि पापयोनयः स्त्रियः वैश्याः तथा शूद्राः स्युः, ते अपि मां व्यपाश्रित्य, परां गतिं यान्ति ॥ ३२ ॥ किं पुनः पुण्याः भक्ताः ब्राह्मणाः तथा राजर्षयः? (तस्मात्) त्वं अनित्यं असुखं इमं लोकं प्राप्य, मां भजस्व ॥ ३३ ॥

मैं सब भूतोंके प्रति समभाव रखता हूं, मेरा कोई शत्रु नहीं और प्रिय भी नहीं है, परंतु जो मुझे भक्तिसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं ॥ २९ ॥ बडेसे बडा दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मेरा भजन करे, तो यह मानो कि वह साधु हो ही चुका है। क्यों कि वह अब सम्यक् व्यवसायमें आ चुका है ॥ ३० ॥ हे कुन्तीपुत्र! वह शीघ्रही धर्मात्मा बनता है, और निरन्तरकी शान्ति प्राप्त करता है। मेरा भक्त कभी नाश को प्राप्त नहीं होता, यह तू निश्चयही समझ ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन! जो पापयोनि हैं वे और स्त्रियां वैश्य तथा शूद्रभी यदि मेरा आश्रय करेंगे, तो उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥ फिर तो जो पुण्यवान्, भक्त ब्राह्मण और राजर्षीगण हैं उनका तो पूछनाही क्या? अतएव इस अनित्य और सुखरहित लोकमें जन्म लेकर तू मेरा भजन कर ॥ ३३ ॥

भावार्थ— ईश्वरका भाव सब भूतोंकी ओर समान है, अतः वह किसीको अपना शत्रु और दूसरेको अपना मित्र नहीं मानता, प्रत्युत सबका ही समदृष्टिसे देखता है। जो भक्तिसे ईश्वरकी सेवा करते हैं वे ईश्वरमें हि निवास करते हैं और यह भी समझो कि उनमें भी ईश्वरका निवास है। बडे दुराचारी भी यदि परमेश्वरकी अनन्यभावसे भक्ति करने लगे तो वे उसी समय सत्पुरुष हो जाते हैं, क्यों कि वे सन्मार्गपर आये होते हैं। वे तत्काल धर्मात्मा बनकर चिरकालकी शान्ति प्राप्त करते हैं। सब लोग यह निश्चयसे ध्यानमें रखें कि ईश्वरके सच्चे भक्तोंकी कभी दुर्गति नहीं होती। कोई भी पापयोनी हों अथवा स्त्रियां, वैश्य अथवा शूद्र भी क्यों न हों, वे भी ईश्वरकी भक्तिसे

उन्नतिको प्राप्त होते हैं, फिर जो पुण्य कर्म करनेवाले महात्मा ज्ञानी ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं, उनकी उन्नति होगी इस विषयमें कहनाही क्या है ? अतः इस मृत्युलोकमें मनुष्य ईश्वरका भजन करे ॥ २९-३३ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ— राजा सब मनुष्योंको समदृष्टिसे देखे, किसीको न अपना मित्र समझे और न शत्रु समझकर कष्ट देवे। जो कोई भक्तिसे सेवा करे उसको अपने आश्रयमें रखे और स्वयं उसके साथ रहे ॥ २९ ॥ कोई एक पहिले दुराचारी होता हुआ भी अनन्यभावसे सेवा करने लग जाय तो उसको सज्जनही मानना योग्य है, क्यों कि वह अब तो अच्छा कर्म करने लगा ही है ॥ ३० ॥ ऐसा मनुष्य तत्कालही धर्मात्मा बनता है और अचल शांतिको प्राप्त करता है। यह विश्वास (प्रजाजनोंमें उत्पन्न होवे कि) किसी अनन्यभावसे सेवा करनेवाले-का नाश नहीं होता है ॥ ३१ ॥ पापी, स्त्रियां, वैश्य, शूद्र कोई भी क्यों न हो, जो राजाकी अनन्य सेवा करेंगे उनकी उन्नति होगी ॥ ३२ ॥ फिर जो ज्ञानी और शूर, श्रेष्ठ कर्म करनेवाले उत्तम लोग राजाकी अनन्यभावसे सेवा करेंगे, तो उनकी उन्नति होगी, ऐसा कहनेकी आवश्यकताही क्या है ? अतः सब लोग अपने अनित्य और दुखदायी व्यवसायोंको छोडकर राजाके आश्रयसे रहेंगे और एकनिष्ठासे उसका कार्य करेंगे, तो उनको निःसंदेह सुख प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

भावार्थ— राजा कभी किसीका पक्षपात न करे, सबकी ओर समभावसे देखे। पक्षपात करके किसीका प्रिय करना अथवा किसीको दुःख देना, राजाको कभी योग्य नहीं है। जो योग्य सेवा करेगा उसका योगक्षेम राजा चलावे, क्यों कि ऐसेहि सेवकोंसे राजाकी सुस्थिति और राजाके द्वारा ऐसे सेवकोंकी सुस्थिति होती है। यदि कोई मनुष्य अब अच्छा कर्म करने लगा तो उसके पूर्व समयके दोष निकाल निकाल कर उसको दुःख देना योग्य नही। मनुष्य अब क्या कर रहा है इसीकी ओर देखना योग्य है। पूर्व समयमें मनुष्य कैसा भी क्यों न हो, यदि वह अब अच्छा कर्म करने लगा, तो वह सुधर जाता है, परंतु उसको योग्य सन्मान समयपर मिलता रहना चाहिये। इससे उसकी रुची सत्कर्ममें बनी रहेगी और वह फिर बिगडेगा नहीं। तात्पर्य जनतामें यह विश्वास उत्पन्न होना चाहिये कि किसी सत्कर्म करनेवाले मनुष्यको कभी दुःख प्राप्त नही होगा। मनुष्य स्त्री हो या पुरुष, पहिले पापी हो या पुण्यात्मा, यदि वह अब योग्य रीतिसे सेवा कर रहा है, तो उसकी उन्नतिहि होनी चाहिये। उसकी उन्नतिमें कोई रुकावट खडी नहीं होनी चाहिये। ऐसा योग्य पारितोषिक मिलता जायगा, तो सब लोग उस राजाकी योग्य सेवा करेंगे और हरएक प्रकारकी उन्नति प्राप्त कर सकेंगे ॥ २९-३३ ॥

पक्षपाती होता है वह किसीको मित्र मानकर उनका हित करता है और किसीको शत्रु मान-कर उसको क्लेश भी देता है। यह सब उसकी अयोग्यताका चिह्न है। जो ईश्वर है उसमें ये दोष नहीं हैं। वह सबके साथ समदृष्टि रख-ता है और किसीका पक्षपात नहीं करता।

हरएकको ऐसाही निष्पक्षपाती होकर इस जगत्में व्यवहार करना चाहिये। (न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः) मेरा कोई शत्रुभी नहीं है और मित्रभी नहीं है। अर्थात् निष्पक्ष होकर मेरा सब के साथ व्यवहार होता है। हरएक को ऐसाही निष्पक्ष होना उचित है। ऐसे जो भक्त होते हैं उनमें (तेषु अहं) ईश्वर निवास करता है और (मयि ते) ईश्वरमें हि वे निवास करते हैं।

कोई मनुष्य प्रथम आयुमें दुराचारी रहा हो और पश्चात् ईश्वरमें भक्ति करने लग जावे, (अनन्यभाक्) अनन्यसेवक बन जाय, तो सम-झना चाहिये कि वह योग्य मार्गमें लग जानेके कारण साधु ही बन गया है। ऐसी अवस्थामें उसकी पूर्व आयुकी ओर देखना योग्य नहीं है। पहिले उसने अशुद्धी की होगी, अब तो वह योग्य मार्गपर आयाही है, अतः वह परिशुद्ध बनही गया है। परमेश्वरकी भक्ति करनेसेहि तत्काल परिशुद्ध हो धर्मात्मा बनता है, उसका चित्त शान्त

(११) ईश्वरभक्ति।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्या-राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

होता है और वह उन्नत होता है। सबको यह विश्वास हो कि कभी परमेश्वरके भक्तका नाश नहीं होता है। पापी हो, कैसाही दुराचारी क्यों न हो, एकवार वह परमेश्वरकी भक्तिमें लग गया, तो मानो वह पुनीत हो चुका है। वह फिर स्त्री हो या पुरुष हो, बाल हो या वृद्ध, हीनजाती हो या उच्चजातीय, कैसीभी अवस्थाका हो वह परमेश्वरकी भक्तिमें आतेहि उन्नतहि होता है। जब हीन जातीवालेभी उन्नत होते हैं फिर श्रेष्ठ पवित्र कुलमें उत्पन्न हुए लोग यदि ईश्वरभक्ति करने लग जांय, तो वे उन्नत होंगे इसमें संदेह ही क्या है?

अतः उन्नत होनेका एक मात्र उपाय यह है कि मनुष्य परमेश्वरकी भक्ति करें। ईश्वरभक्तिमें हि सब दोष दूर करनेकी और सब सद्गुण स्थापन करनेकी शक्ति है। मानवोंकी उन्नति करनेका एक मात्र साधन ईश्वरकी भक्ति है।

राजविद्याका संदेश।

राजा सब जातिके और धर्मोंके मनुष्योंके साथ सम भावसे व्यवहार करे, किसीके साथ पक्षपातसे न प्रेम करे और न द्वेष करे। इस तरहका समवर्तन करनेवाला राजा राजपदपर रहे।

जो लोग राज्यरक्षाका कार्य अनन्य भक्तिसे करते हैं उनका योगक्षेम राजा चलावे, क्योंकि वही एक मात्र राजाका मुख्य कर्तव्य है। इस कारण अनन्यसेवक और राजा इनमें कोई भेद ही नहीं है। राजा उनके रूपमें है और वे राजाके रूपमें हैं। इस तरह उनका अभेद संबंध है।

यदि कोई दुराचारी मनुष्य अनन्य सेवक बनकर अपना कर्म सुयोग्य रीतिसे करता है, तो उसको उस समयसे दुराचारी नहीं समझना चाहिये। क्योंकि वह सुयोग्य कार्यमें लग चुका है। जो सुयोग्य कार्य करता है उसको दुराचारी कहना कभी योग्य नहीं, क्यों कि एक वार मनुष्य सदाचाररत हुआ तो उसकी उन्नति निःसन्देह हो सकती है। लोगोंमें ऐसा विश्वास होना चाहिये, कि इस राज्यप्रबंधमें सदाचारी सच्चे मनुष्यका कभी नाश नहीं होगा। जिस राज्यमें जनताकी ऐसी धारणा होगी कि इस राजप्रबंधमें सच्चे मनुष्यको कभी क्लेश नहीं होंगे वही सच्चा धर्मराज्य कहलावेगा।

मनुष्य किसी जन्मके, जातीके और किसी रंगके हों, गुणकर्मानुसार हि उनकी योग्यता समझी जायगी, ऐसी ही राजप्रबंधमें सुव्यवस्था चाहिये। जहां जन्म जाती रंग आदिके कारण उच्चता ठहराई जाती है वहां गुणोंकी ओर ध्यान कम दिया जानेके कारण बडी अनवस्था हो जाती है। अयोग्य मनुष्य बडे ओहदेपर आते हैं और राज्यमें गडबड मचा देते हैं। इसलिये गुणकर्मको प्रधान स्थान देना चाहिये और जन्म कुल वर्ण आदिको गौण स्थान देना चाहिये।

यह आशय इन सब श्लोकोंका है। जिसका विचार पाठक करें और राज्यविधानका उपदेश जानें। अब इस अध्यायका अन्तिम श्लोक देखिये–

(३४) इस श्लोकमें ईश्वरभक्तिसे मनुष्यका

अन्वयः—त्वं मन्मनाः, मद्भक्तः, मद्याजी (च) भव, मां नमस्कुरु, मत्परायणः (सन्) एवं आत्मानं युक्त्वा मां एव एष्यसि ॥ ३४ ॥

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यजन कर, मुझे नमस्कार कर, इस तरह मुझमें परायण होकर, आत्माका मेरे साथ योग करनेसे तू मुझे ही प्राप्त करेगा ॥ ३४ ॥

भावार्थ— ईश्वरमें मनकी तल्लीनता करना, ईश्वरकी सेवा करना ईश्वरके लिये समर्पण करना, ईश्वरको ही नमन करना, इस तरह ईश्वरपरायण होकर अपने आत्माको ईश्वरके साथ नित्ययुक्त करनेसे वह साधक ईश्वरको ही प्राप्त कर सकता है ॥ ३४ ॥

राजविद्यापरक अर्थ और भावार्थ— राष्ट्रहितके कार्यमें हि मन लगाना, मनसे राष्ट्रहितके कार्यका विचार करना, राष्ट्रसेवा करना, राष्ट्रहितके लिये आत्मयज्ञ–आत्मसमर्पण करना, राष्ट्रहितके सन्मुख नम्र होना– अपने मतभेद एक ओर रखने, इस तरह लोग राष्ट्रहिततत्पर होकर यदि अपने सर्वस्वको राष्ट्रहितमें हि संलग्न करेंगे तो वे निःसन्देह अपने राष्ट्रके हितका साधन करेंगे ॥३४॥

बेडा पार हो जाता है। साधक अपना मन ईश्वरपर लगावे, मनमें ईश्वरका ध्यान रखे, ईश्वरसे भिन्न कोई पदार्थ मनमें न रखे ईश्वरकी सेवा करे, जो कुछ शरीरसे होगा वह सब ईश्वरके लियेहि करे ईश्वरके लिये यजन अर्थात् समर्पण करे, आत्मसमर्पण ईश्वरके लिये करे, जो कुछ अपने पास हो वह सब ईश्वरके लिये अर्पण करे। ईश्वरको छोडकर किसी अन्यकी भक्ति न करे, किसी दूसरेको नमन न करे, केवल ईश्वरके सन्मुख ही नमन करनेके लिये सिर झुकावे, ईश्वरके भावसेहि अपना मन तल्लीन करे, सदा ईश्वरपरायण होकर रहे। इस तरह जो अपने आपको ईश्वरपरायण करेगा वह ईश्वरको प्राप्त होगा। अर्थात् वह मुक्त होगा। वह पूर्ण होगा अर्थात् वह ईश्वर-स्वरूपमें मिल जायगा।

राजविद्याके विषयमेंभी यही बात है जो राजाकी सेवा करेगा, जो राष्ट्रहितके लिये आत्मार्पण करेगा, वह राजशक्ति प्राप्त करेगा। यहां राष्ट्र राज्य राजा और राज्यशासन परस्परविरोधी नहीं है, परंतु परस्परका हितकारी कहा है, यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये। जो राज्यशासन प्रजाका हित करता है, प्रजाके हितके लिये चलाया जाता है, राजाका और प्रजाका एकही हित जिस राज्यशासनमें होता है, वहांके राजाके लियेहि प्रजाको आत्मसमर्पण करना चाहिये। यदि कोई राजा वेन जैसा प्रजाका नाश करने लगे, तो उसके लिये कोई आत्मसमर्पण न करे। क्योंकि वेदनेहि कहा है कि—

मा व स्तेन ईशत। माघशंसः। वा० यजु १।१

" हे प्रजाजनो ! तुम्हारा राजा चोर न हो, पापी दुष्कर्मी न हो।" अर्थात् जो राजा चोर और पापी हो, और जो प्रजाके उत्कर्षमें बाधा डालता हो, उसको तो राजगद्दीसे हटाना चाहिये। उसके शासनमें रहना नहीं चाहिये। इस दुष्ट राजाको छोडकर जो सुयोग्य राजा प्रजाहितके लिये यत्न करता है, उसके लिये प्रजाकोभी आत्मसमर्पण करना उचित है।

इत्यादि राजविद्याके गुप्त संदेश पाठकोंको जानना और तदनुरूप बर्तना योग्य है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें राजविद्या-राजगुह्ययोग नामक नवम अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

नवम अध्यायका मनन।

अध्यात्म और राज्यशासन।

संपूर्ण भगवद्गीता तो वस्तुतः मनुष्यके आध्यात्मिक दिव्य जीवनका विकास करनेके लियेही है। और इस नवम अध्यायकाभी वही उद्देश्य निःसन्देह है। परन्तु मानवी आध्यात्मिक दिव्य जीवनमें वैयक्तिक और सामुदायिक ऐसा दो प्रकारका जीवन होता है, और सामुदायिक जीवनमें राष्ट्रीय अथवा 'राजकीय जीवन' एक महत्त्वका भाग है। श्रीभगवद्गीताका उद्देश्य ऐसा है कि, मनुष्यका राज्यशासनतंत्र सुधार कर, उसको दिव्य आध्यात्मिक बनाकर मनुष्यके दिव्य जीवनका विकास करनेका मार्ग सुगम करना। इस उद्देश्यसे इस नवम अध्यायमें "पवित्र राजगुह्य राजविद्या" कही है। यह राज्यशासनकी विद्या गुप्त रीतिसे कही है। प्रकटतासे तो अध्यात्मविद्या है और उसके अन्दर गुप्त रीतिसे यह राजविद्या है। ऐसा क्यों किया गया है? इस लिये किया गया है कि भगवद्गीतामें सर्वत्र मुख्य विषय दिव्य अध्यात्मजीवनकाही है। और इसके अनुरोधसे अप्रकट रीतिसे गौण राजकीय विषय है।

अध्यात्मज्ञान के आधारपर राज्यशासनकाभी प्रकटीकरण इस भगवद्गीतामें किया है। यह विषय कैसा देखना चाहिये इसका विवेचन इस नवम अध्यायके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें किया गया ही है, अब इसका कुछ अधिक मनन करना चाहिये। यह मनन करनेके प्रसंगमें अध्यात्मके सिद्धान्त राज्यशासनमें किस तरह प्रकट करने चाहिये, इसका विचार हम पहिले करना चाहते हैं।

गीताशास्त्रको माननेसे लाभ।

भगवद्गीतामें कहा है कि जो लोग इस गीता-उपदेशको आचरणमें लाते हैं, उनका उद्धार होता है और जो अविश्वासी होते हैं उनका नाश होता है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः। श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥ ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्। सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥ गीता अ. ३

"जो लोग श्रद्धायुक्त होकर और द्वेष न करते हुए इस गीतोक्त मार्गसे अपना चालचलन करते हैं, वे बन्धनसे मुक्त होते हैं। परंतु जो लोग इसमें दोषदृष्टि रखकर इसके अनुसार आचरण नहीं करते वे ज्ञानहीन मूढ नाशको प्राप्त होते हैं।" यह जैसा अध्यात्म उन्नतिके विषयमें सत्य है वैसाही राजकीय उन्नतिके विषयमेंभी सत्य है। तथा—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ। एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥ गी. १५

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥ गी. १६

"यह अत्यंत गुह्य शास्त्र है। इसको जाननेवाला मनुष्य बुद्धिमान बनता है और कृतकृत्य भी होता है। जो मनुष्य इस शास्त्रविधिको छोडकर स्वेच्छासे कामभोगमें रमता है, उसे

सुख, सिद्धि, अथवा परम गति प्राप्त नहीं होती। कार्याकार्यनिर्णयके लिये मनुष्यको शास्त्रही प्रमाण है, अतः मनुष्य इस शास्त्रको जानें और वैसा व्यवहार करें।" राज्यशासनके विषयमें कर्तव्य कौनसा और अकर्तव्य कौनसा है, इसका निर्णय इसी शास्त्रके ज्ञानसे हो सकता है। मनुष्यका विकास करनेके जो जो पहलू हैं उन सब के विषयमें मनुष्यको यह शास्त्र देखकरही कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना चाहिये। हमें यहां इस गीताशास्त्रमें कहे अध्यात्मविद्याके अनुसार राज्यशासनशास्त्रका स्वरूप कैसा है, उसीका विचार करना है। अतः हम सबसे पहिले आत्माका स्वरूप देखकर उससे राजाके गुणोंका विचार करते हैं।

आत्माके और राजाके गुण।

नित्य सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥
गी. २।२४-२५

"आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी है।" ये आत्माके, ईश्वरके, ब्रह्मके गुण कहे हैं, इन गुणोंसे राजाके गुणोंका ज्ञान कैसा होता है देखिये--

(१) राष्ट्रमें राजाका शासनाधिकार (सर्व-गत) सर्व स्थानमें सब मनुष्योंतक पहुंचना चाहिये, यदि किसी स्थानपर न पहुंचा तो समझना चाहिये कि वहां बलवा होगा अथवा वहां राज्यक्रान्तिके बीज उगेंगे। राष्ट्रके कोने कोने तक राजाका शासनाधिकार जीवित और जाग्रत स्वरूपमें रहना चाहिये। एकभी मनुष्य ऐसा नहीं होना चाहिये कि जो राज्यशासनका विरोध करे और अनियंत्रित रह सके।

(२) राज्यशासन (सनातन) सदाके लिये समान होना चाहिये, अर्थात् उसमें एक स्थानपर एक प्रकारका, दूसरे स्थानपर दूसरे प्रकार का ऐसा वैषम्य नहीं होना चाहिये। एक कालमें एक प्रकार का और दूसरे कालमें दूसरेहि प्रकारका नहीं होना चाहिये। अर्थात् उसमें सुधार और उन्नति होती रहे, परंतु विषमता न रहे। प्रजाकी उन्नतिका साधन सदाके लिये समान भावसे होता रहे।

(३) राज्यशासनकी संस्था (स्थाणु) सुस्थिर और (अचल) अचंचल हो। सुस्थिर राज्यशासन वह है कि जो उपद्रवी लोगोंको यथावत् दण्ड देनेका और सज्जनोंके परिपालनका कार्य यथायोग्य रीतिसे कर सके। और राज्यसंस्थामें चंचलता न रहे, प्रजाको योग्य न्याय सदा एकसा सुव्यवस्थासे मिलता रहे, आज एक और कल दूसरा ऐसी अव्यवस्था न हो। (नित्यः) नित्य सदाके लिये सुव्यवस्थित और सुसंघटित राज्यशासन समभावसे होता रहे।

(४) राज्यशासन (अविकारी) विकारयुक्त, रोगयुक्त न हो, राज्यसंस्थाको रोग रिश्वतखोरी आदि अनेक हैं। ऐसे बिगाड राज्यशासनमें न हों।

(५) राज्यशासन कैसी सुव्यवस्थासे चल रहा है, इस बातका (अचिन्त्य) किसीको पता न लगे। कोई शत्रु इसके गुप्त भेदको न जानने पावे। (अव्यक्त) सब बातें अन्दरहि अन्दरसे यथायोग्य रीतिसे चलती रहें। जैसा शरीरमें अन्न जाता है, वहां पचन होता है और शरीर पुष्ट होता है, परंतु यह अंदरहि अन्दरसे होता रहता है, उसी प्रकार राज्यव्यवस्थामें अन्दरही अन्दरसे सब व्यवहार विना विरोधके चलते रहें, और किसी स्थानपर कोई विरोध न रहे। सब राज्ययंत्र सरल उन्नतिके मार्गसे चलता रहे। तथा--

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते
हन्यमाने शरीरे। गी. २।२०

"आत्मा अजन्मा, नित्य शाश्वत और पुराण है, शरीरोंके नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता।"

(६) राजा भी 'अज' है। यहां 'अज' का अर्थ हलचल करनेवाला है। संपूर्ण राष्ट्रभरमें जो गति जो चैतन्य दीखता है, जो जीवितता दीखती है, वही उत्तम राज्यव्यवस्थासेही होती है। शरीरमें आत्मा रहनेतकही शरीर हलचल करता है वैसीही राष्ट्रपर सुयोग्य राजा रहनेतकही राष्ट्रकी हलचल सुयोग्य उन्नतिके पथपर हो सकती है।

(७) राजाभी पुराण होना चाहिये, 'पुराण' का अर्थ 'पुरा अपि नवः' पुराना होता हुआभी नवीन जैसा होना चाहिये। राज्य कितनाभी पुराना क्यों न हो, उसमें नवीनके समान उत्साह रहना चाहिये। तथा--

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः॥ गी. २।१८

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ गी. २।२२

"नित्य आत्माके ये अन्तवाले देह हैं। जैसा मनुष्य अपने पुराने वस्त्र फेंककर नवीन लेता है, वैसेही आत्मा पुराने देहोंका त्याग करके नये देह लेता है।"

(८) राज्यशासनमेंभी जीर्ण कार्यकर्ताओंके स्थानपर नये तरुण कार्यकर्ता आते हैं और संपूर्ण राष्ट्रका स्वरूप पुराणा होता हुआभी नवीन बनता है। राजा वृद्ध होनेपर मर जाता है उसके स्थानपर उसका तरुण पुत्र आजाता है, इसी तरह मंत्री सेनापति आदि स्थानोंपर पुराने देह फेंके जाते हैं और राजशक्ति नये देहोंमें प्रकट होती है। राजसत्ता सनातन और नित्य है परंतु जिन देहोंद्वारा वह कार्य करती है, वे देह नाशवाले हैं। नाशवाले ओहदेदारोंके देहोंमें अविनाशी सनातन, अमूर्त नित्य राजशक्ति कार्य करती है। अतः एक ओहदेदारको किसी अराजकने मारा तो उसके स्थानमें दूसरा आता है और कार्य करता है, क्यों कि एक अधिकारी का देह नष्ट हुआ तो उससे संपूर्ण राजसत्ताका परिवर्तन नहीं हो सकता।

और देखिये—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः। सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ गी० ८।९

"आत्मा कवि, पुराण, अनुशासिता, अणुसेभी अणु, सबका धारक, अचिन्त्यरूप और तेजस्वी तथा अज्ञानके परे है।" इससे राजाके गुण पता लगते हैं वे ये हैं--

(९) राजा 'कवि' अर्थात् ज्ञानी विद्वान् हो, दूरदर्शी हो, सूक्ष्मदर्शी हो, राज्यशासनभी दूरदर्शिताके साथ चलाया हुआ हो।

(१०) राजा 'अनुशासिता' अर्थात् प्रजाओंके अनुकूल शासन करनेवाला हो, राज्यशासन ऐसा हो कि जो प्रजाजनोंका हित करे।

(११) राजा 'अणोः अणीयान्' अर्थात् सूक्ष्मसे सूक्ष्म विचार करनेवाला हो, सूक्ष्मसे सूक्ष्म केन्द्रमें प्रविष्ट होकर वहां कार्य करे, राज्यशासन ऐसा हो जो सूक्ष्मसे सूक्ष्म बातमेंभी बडी उत्तम व्यवस्थासे कार्य करनेमें समर्थ हो।

(१२) सबका धारण पोषण राजा करे (सर्वस्य धाता), राज्यशासन ऐसा हो जिससे सब प्रजाजनोंका धारण और पोषण तथा पालन होता रहे। किसीभी प्रजाजनकी दुरवस्था न हो।

(१३) राजा ज्ञानका उत्तेजक और प्रसारक और (तमसः परः) अज्ञानका नाश करनेवाला हो। साधारण मनुष्य जिसका विचारभी नहीं कर सकता ऐसे अतर्क्य प्रबंध (अचिन्त्यरूप) द्वारा राज्यशासन उत्तम रीतिसे चलाया जावे, और इससे सबका परम कल्याण होता रहे।

व्यक्त और परभाव।

आत्माके अव्यक्त और परभाव अर्थात् श्रेष्ठ भावके विषयमें इस प्रकार कहा है—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
गी. ७।२४

"आत्मा अव्यक्त है, परंतु मूढ मनुष्य उसे व्यक्त मानते हैं, और उसका उत्तम श्रेष्ठ अव्यय भाव जानते नहीं।"

(१४) राजा यद्यपि (व्यक्तिं आपन्नः) व्यक्ति होता है तथापि उसमें (अव्यक्त) अमूर्त राजसत्ता होती है। निर्बुद्ध लोग इस अमूर्त सामर्थ्यको नहीं जानते परंतु वस्तुतः यही अमूर्त सामर्थ्य श्रेष्ठ होता है। यही उत्तम श्रेष्ठ और अविनाशी होता है।

सबका मूल कारण।

मूलशक्तिम सबकी उन्नतिका मूल है इस विषयमें ऐसा कहा है--

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्
॥ १० ॥ बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ॥ ११ ॥ ये चैव सात्त्विका भावा
राजसास्तामसाश्च ये मत्त एवेति तान्विद्धि
न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥ गी. अ. ७

"आत्मा की शक्ति ही सर्वत्र जीवन देनेवाली, सबकी उन्नतिका बीज, बुद्धिवानों की बुद्धि, तेजस्वियोंकी तेजस्विता बलवानोंका बल है। जो कोई सात्विक राजस और तामस भाव हैं वे सबके सब उस आत्माके प्रभावसे होते हैं।" इसी प्रकार राजसत्ताके कारण सब प्रजाकी उन्नति होती है—

(१५) सब प्रजाजनोंके जीवनका बीज राजसत्तामें है, सबकी उन्नतिका बीज, बुद्धिमानोंकी बुद्धि, तेजस्वीलोगोंकी तेजस्विता, बलवानोंका बल, सब कुछ राजसत्तापर निर्भर है। सात्विक, राजस और तामस जो भी भाव प्रजाजनोंके होते हैं वे सब राजसत्ताके कारणही हैं। अर्थात् प्रजाको सात्विक राजस अथवा तामस बनाना हो तो वह राजसत्तासे ही बनाया जाता है। प्रतिकूल राजसत्ता रही तो प्रजा तमोगुणी बनकर पतित होती है और अनुकूल राजसत्ता रही तो सब प्रजाजन उन्नत हो जाते हैं। राजा सुयोग्य हुआ तो लोग दिग्विजयी होते हैं और राजा मूढ रहा तो प्रजा परास्त होकर अनन्त दुःख भोगती है। इस तरह विचार करनेपर पता लग सकता है कि प्रजाजनोंकी उन्नति अथवा अवनति सब प्रकारसे राजशक्तिपर अवलंबित है। राजशक्ति अनुकूल रही तो प्रजा उन्नत होती है, और प्रतिकूल रही तो, प्रजा अवनन होती है। इसलिये प्रजाकी उन्नति (सत्त्व), अधोगति (तम), अथवा मध्यम अवस्थिति (रज) राजाके उपरहि निभर है। इतना राजसंस्थाका महत्त्व राष्ट्रमें है। अब राजा और राज्यके छोटे मोटे अधिकारीका संबंध देखिये--

राजा और अधिकारी।

राज्यकी मुख्य अधिकारसत्ता राजाके आधीन होती है, फिर यह राजा आनुवंशिक हो या प्रजाद्वारा नियुक्त हो। राजा अपना कार्य ग्राम नगर प्रान्तोंमें करनेके लिये ग्रामाधिकारी, मंत्री महामंत्री आदि रखता है और उनके पास आवश्यक अधिकार देता है। जनताके लोग किसी किसी अधिकारीकी खुशामत करते हैं, और अपना अल्पसा हित साधन करते हैं। कई लोग जो अधिक प्रतिष्ठावान् होते हैं वे मंत्रीके पास पहुंचते हैं और कई विशेष योग्यतावाले राजाके पास जाते हैं और प्रत्यक्ष उनसे मिलते हैं। इस संबंधके विषयमें निम्नलिखित श्लोक है —

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ॥२०

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ॥ २२ ॥ अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् । देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥ गी अ. ७

" विविध कामना धारण करके उनकी तृप्ती करनेकी इच्छासे लोग अन्यान्य देवताओंकी पूजा करते हैं । जो छोटी देवताओंकी आराधना करते हैं उनको लाभ छोटा और जो प्रत्यक्ष ईश्वरकी उपासना करता है उसको अनंत लाभ होता है । "

यह राज्यव्यवस्थामें भी सत्य है । जो किसी द्वाररक्षक-चपरासी के पास जावेगा उसको अत्यंत अल्प लाभ होगा, जो ग्रामाधिकारी और प्रांताधिकारीके पास जा सकेगा उसको उससे अधिक लाभ होगा और जो प्रत्यक्ष महामंत्री अथवा महाराजाके पास जावेगा उसको लाभ सबसे अधिक होगा । वस्तुतः सब अधिकार राजाकाही है परंतु छोटे अधिकारीके पास छोटा और बडेके पास बडा अधिकार होता है। जिसके पास जितनी शक्ति होगी उतनाही लाभ उससे हो सकेगा ।

लोग अज्ञानवश छोटे छोटे अधिकारियोंके पास जाते हैं उनको मिलते, उनकी पूजा करते, रिशवतें देते हैं और अपना लाभ साधन करते हैं । परंतु इससे उन अधिकारियोंकी गिरावट होती है और ऐसे अधिकारी जहां कर्तव्यभ्रष्ट होते हैं, वहांकी राज्यशासनसंस्थाभी भ्रष्ट ही होती है । अतः राजसंस्थाकी पवित्रता रक्षण करनेके लिये उचित है, कोई मनुष्य किसी अधिकारीको इस तरह अपना लाभ करनेके हेतुसे न मिले और अधिकारीभी अनधिकार चेष्टा न करे । जो कुछ दान देना है वह किसी अधिकारीको न दिया जावे, सब दान राजाके पास ही आवे, क्योंकि राजाही सब दानका अधिकारी है ।

अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥
गी. ९।२४

" मैं (ईश्वर) ही सब यज्ञदानोंका भोक्ता और प्रभु हूँ । " राजाही सब दानोंका स्वीकार करनेका अधिकारी है । राज्यमें कोई अधिकारी कोई दान न लेवे, जो भी दान हो वह राजाको ही दिया जावे ।

एक सर्वेश्वरकी पूजा सब करें, छोटे छोटे देवताओंके पीछे कोई न पडे, इसका राजकीय क्षेत्रमें अर्थ यह है । जिस राज्यमें हरएक अधिकारी दान लेता है वहां प्रजाका न्याय होनेकी संभावनाही नहीं है । इत्यादि बोध इस मननसे पाठक ले सकते हैं ।

चार प्रकारके लोग.

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।
गी. ७।१६

" दुःखी, जिज्ञासु, धनकी इच्छा करनेवाले और तत्त्वज्ञानी ये चार प्रकारके लोग ईश्वर भजन करनेवाले सुकृतियोंमें होते हैं । " इनसे भिन्न दुष्कर्म करनेवाले पांचवें प्रकारके लोग हैं वे ईश्वरभजन करतेही नहीं.

राष्ट्रमेंभी दुष्कर्मी लोग और सत्कर्मी लोग ऐसे दो प्रकारके लोग होते हैं । दुष्कर्मी लोग तो राज्यशासनके प्रतिकूल होकर लूटमार करते हैं और स्वार्थसाधनमें तत्पर होते हैं । ये राज्यशासन संस्थाद्वारा दण्डनीय हैं । दूसरे जो सत्कर्मी लोग हैं, उनमें कई साधनाभावसे दुःखी कष्टी होते हैं । कई धनप्राप्तिके लिये सत्कर्म करते हैं, कई जिज्ञासुभावसे सत्कर्म करते हैं और कई तत्त्वज्ञानी होते हैं । इनका संरक्षण राजसत्ताद्वारा होना चाहिये और दुःखितोंके कष्ट दूर होकर सबको सुख मिलेगा ऐसी सुव्यवस्था सब राष्ट्रमें रहनी चाहिये । राजसंस्थाका यही कार्य है, कि राष्ट्रमें कोई आर्त न रहे, आर्तोंका दुःख दूर होवे, धन प्राप्तिके मार्गमें किसी को रुका-

वट न रहे, परंतु धनेच्छासे कोई किसी को किसीतरह न लूटे। जिज्ञासुओंको ज्ञान मिलनेके साधन सुगमतासे प्राप्त हों और उक्त ज्ञानीका यथायोग्य आदरसत्कार होता रहे।

दो गतियाँ।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः॥
गी ८।२६

"जगत् में एक शुद्धमार्ग है दूसरा और अशुद्ध मार्ग है। शुद्ध मार्गसे चलनेसे सुख मिलता है और अपवित्र कृष्णमार्गसे जानेसे दुःख भोगना पडता है।" राजकीय क्षेत्रमें तथा मानवी व्यवहार में भी यह सत्य है। पवित्र शुद्ध निष्पाप निर्दोष मार्गसे मनुष्य जांय, और कृष्ण अपवित्र अशुद्ध पापमय दोषयुक्त अधर्म मार्गसे कोई न जांय। राजसत्ताका कर्तव्य है कि वह राज्यमें ऐसा प्रबंध करे कि कोई दुर्वर्तन कर न सके और सब लोग सत्पथसे उन्नतिके मार्ग परही चलते जांय।

असन्मार्गसे चलनेपर कदाचित शीघ्र धनादिकी प्राप्ति होती है इसलिये कई मनुष्य उस मार्गसे जाते हैं। परंतु राज्यप्रबंधद्वारा उनको यथायोग्य समयपर दण्डादि मिलनेसे सब लोग असन्मार्गसे निवृत्त होते हैं और सबको सन्मार्गपर स्थिर रहनाही पडता है।

प्रकृति--प्रजा--धर्म।

प्रकृतिका धर्म और प्रजाका धर्म अब देखना चाहिये। वह इस श्लोकमें कहा है-

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
गी. ३।३३

"ज्ञानी मनुष्य हुआ तो भी अपनी प्रकृतिके अनुसारहि कार्य करता है। सब भूत अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्य करते हैं वहां निग्रहसे क्या बनेगा?"

प्रजाजनोंके जैसे संस्कार होंगे, जैसा उनको ज्ञान मिला होगा, वैसा कार्य वे कर सकेंगे। इसलिये उनको दण्ड देनेके पूर्व उनके संस्कार यथायोग्य हैं वा नहीं, इसका विचार करना चाहिये। जिसके हीन संस्कार हैं जो सत्यासत्य क्या है इसको यथावत् जान नहीं सकता, उसको केवल दण्ड देनेसे क्या होगा, अतः राजसंस्थाको उचित है कि वह ऐसे संस्कारहीन लोगोंको पहिले सुसंस्कारसंपन्न करे और ज्ञानी बनावें और पीछे उनके ऊपर योग्य कार्य करनेका भार डालें. राजाका कर्तव्य है कि वह अपने राज्यमें ऐसा एकभी मनुष्य न रखे कि जो संस्कारहीन तथा हीनसंस्कार युक्त हो।

कर्तव्य।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥६॥ यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥७॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥८॥
गीता अ ४

"भूतोंका ईश्वर स्वयं आता है और जहां धर्मकी ग्लानी और अधर्मका उत्थान होता है वहां धर्मराज्य स्थापन करता है। साधुओंकी रक्षा, दुर्जनोंका विनाश और धर्मकी स्थापना करता है।"

यही राजाका और राजाधिकारियोंका कार्य होता है। राजा और अधिकारी अपनी अधिकारकी घमण्डमें न बैठें, वे अपने राज्यमें स्वयं जांय, प्रजाकी स्थिति स्वयं देखें, विचारें, कहां अधर्म हो रहा है वह देख, कौन दुष्ट उपद्रव देते हैं उसका निश्चय करें और उनको दण्ड देवें, सज्जनोंका संरक्षण करनेकी पराकाष्ठा करें और धर्मसे राज्यशासन चलावें। राजा अपनेही राजभवनमें विलास करता न रहे, मंत्री और महामंत्री अपनेही अधिकारकी घमंडम न रहे।

वे नीचसे नीच लोगोंमें जांय, उनमें रहें, उनकी अवस्था देखें और उनके उद्धार करनेका यत्न करें ।

संपूर्ण जगत्का संचालक परमेश्वर जब दुर्जनोंको दण्ड देनेके लिये स्वयं सर्वत्र उपस्थित होकर यत्न करता है, तो उससे छोटा राजा अपने आपको कैसा अलग रख सकता है, उसका भी वही कर्तव्य है । वह उस कर्तव्यको न करेगा तो अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट होगा । और पतित होगा ।

पिता माता ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥ ॥ १७ ॥ गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ॥ प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥ अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥ गी० अ० ९

" ईश्वर सबका माता, पिता, पितामह, धाता (पोषक), भर्ता भरणपोषण कर्ता, प्रभु साक्षी, निवास, शरण जाने योग्य, मित्र, उत्कर्ष कर्ता, अमृत, मृत्यु आदि है " राजा भी प्रभुके इन गुणोंका विचार करके अपने कर्तव्य जानें.

माता पिता और पितामहके समान सब प्रजाजनोंका पालन राजा करे । राजा सब प्रजाजनोंका धारण, भरण पोषण करे । सब कार्य साक्षीके समान तटस्थ रह कर देखे, प्रजाजनोंका सदा आश्रय बने । सदा जनताका मित्र बन कर अपना व्यवहार करे । सब लोगोंके उत्कर्षका हेतु बने, दुष्टोंका प्रलय करे, सबको अपने अपने यथायोग्य स्थानमें रखे, सबकी उन्नतिके बीज धारण करे, अयोग्य कार्यमें कदापि व्यय न करे, सज्जनोंको जीवन देवे और दुष्टोंको मृत्युदण्ड देवे, इसी तरह सत् और असत् व्यवहारको देखता हुआ अपना कर्तव्य प्रजापालनके विषयमें करे ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

गी० ९।२२

" अनन्य होकर जो लोग कार्य करते हैं उन नित्य योग्य कर्तव्य करनेवालोंका योगक्षेम प्रभु चलाता है । " राजाभी अपने राज्यमें जो जो लोग नित्य कर्तव्य करनेमें दत्तचित्त होते हैं, जो स्वयं आत्मसमर्पण करके अपना कर्तव्य करते हैं उनका सब प्रकारका योगक्षेम चलावे । कर्तव्यकर्म करनेवाले लोग राष्ट्रमें भूखे न रहें ऐसा योग्य प्रबंध राजाको करना चाहिये ।

समर्पण ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

गी० ९।२७

" जो तू करे, खाय, हवन करे, दान दे, तप करे, सो सब मुझ ईश्वरको समर्पण कर ॥ " जो कुछ मनुष्य करे वह ईश्वरको समर्पण करे, वही भाव राष्ट्रीय दृष्टीसे देखा जाय तो मनुष्य जो कुछ करे वह राष्ट्रहितके लिये करे । अपना जीवन राष्ट्रहितके लिये अर्पण करे, जो कुछ किया जाय वह राष्ट्रहितके लिये किया जाय । अपना जीवन राष्ट्रके सब लोगोंकी भलाईके लिये है ऐसा मनुष्य समझें और वैसा आचरण करें । ऐसा करनेपर-

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः । संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि

॥ २८ ॥ गी० ९

" तू शुभ और अशुभ कर्मोंके बन्धनसे छूट जायगा, और कर्मफलत्यागरूपी समत्व भावको प्राप्त होकर दुःखसे विमुक्त होकर ईश्वरको प्राप्त करेगा । " जो मनुष्य सार्वजनिक हित, राष्ट्रहित आदिके उद्देश्यसे कार्य करेगा, वह कर्मोंके दोषोंसे मुक्त होगा ।

सम व्यवहार।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
गी० ९।२९

" ईश्वर सब भूतोंके विषयमें सम भाव रखता है, किसीका द्वेष और किसीपर प्रेम भी नहीं करता।" ऐसाही राजाका, राजाके अधिकारियोंका, राज्यशासनका सबके साथ बर्ताव रहे। द्वेष और प्रीति दूर रखकर समभावसे सबके साथ व्यवहार करनेसेहि कर्तव्य पालन योग्य रीतिसे हो सकता है। इसीको समभावसे वर्तन कहते हैं।

अध्यक्ष।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥
गी० ९।१०

"ईश्वरकी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर सृष्टिकी रचना करती है। इस हेतुसे जगतमें परिवर्तन होता है।" इसी तरह राज्यमें राजाही सबका अध्यक्ष है। उसकी प्रेरणासे सब कार्य चलाये जाते हैं इन अनेक कर्मोंके कारण राज्यमें अनेक परिवर्तन होते हैं। सुयोग्य दिशामें इष्ट परिवर्तन होने योग्य मार्गसे राष्ट्रमें प्रयत्न होता रहे। राजा अपनी अध्यक्षतामें सब उन्नतिके कार्य चलावे और सबोंकी उन्नति करावे।

राजा मनुष्यही होता है इसलिये उसका अपमान कोई न करे क्योंकि उसमें विशेष अधिकार रहता है।—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
गी० ९।११

" मानवी तनुका आश्रय करनेवाले ईश्वरकी अवज्ञा मूढ लोग करते हैं, क्योंकि महान ईश्वरका श्रेष्ठ भाव वे नहीं जानते।" ऐसाही राष्ट्रमें होता है। मूढ लोग समझते हैं कि यह राजा एक मनुष्यही है, यह अध्यक्षभी एक मनुष्यही है, यह अधिकारी भी एक मनुष्यही है। परंतु वे नहीं जानते कि इनके अन्दर एक अद्भुत शक्ति कार्य कर रही है। इस अज्ञानके कारण मूढ लोग राजा और अधिकारियोंको मनुष्य मानकर अपमान करते हैं और फंसते हैं और गिरते हैं—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव मोहिनीं प्रकृतिं श्रिताः॥
गी० ९।१२

"जो राक्षसी और आसुरी प्रवृत्तिवाले मोहित हुए लोग हैं उनकी आशाएं, उनके कर्म और उनके ज्ञान व्यर्थ होते हैं। क्योंकि वे भ्रान्तचित्त होते हैं।" अस्तु, इस प्रकार राजामें मनुष्यके रूपमें एक अद्भुत शक्ति कार्य कर रही है ऐसा अनुभव करें और उस शक्तिका महत्व जाने।

राक्षसी और आसुरी प्रवृत्तिवाले मनुष्योंका अन्तमें नाशही होता है। इनकी पहिले उन्नति होती है ऐसा दिखता है, परंतु इनकी उन्नतिही इनके नाशका हेतु होती है। राष्ट्रके उद्धारमें राजशासन शक्तिका अत्यंत महत्व होता है, उस शासन शक्तिका तिरस्कार ये राक्षसी वृत्तिवाले लोग करते हैं, और इस कारण अन्तमें इनका नाश होता है। अतः राजशक्तिका उपयोग क्या है, प्रजाशक्तिका उपयोग क्या है, दोनोंकी परस्परकी सहायता होनेसे कैसा लाभ होगा, और दोनोंमें विरोध होनेसे कैसा नाश होगा, इस सबका योग्य विचार करना चाहिये और राक्षसी वृत्ति हटाकर मानवोंमें दैवी वृत्तीहि बढानी चाहिये। दैवी वृत्तिवाले लोगही उन्नत होते हैं। राष्ट्रके मनुष्योंपर दैवी शुभसंस्कार होने चाहिये यह उपदेश यहां मिलता है।

राजा और प्रजा।

राजा और प्रजाका संबंध कैसा है, इसका उपदेश देनेके लिये निम्नलिखित श्लोकोंमें सनातन जागतिक तत्वका ज्ञान करा दिया है, वे श्लोक अब देखिये—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४७ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् । भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥ यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् । तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

गी. अ. ९

" जैसा वायु सर्वत्र है और उसमें सब प्राणी रहते हैं, वैसी सर्वव्यापक सूक्ष्म राजसत्ता है, उसमें सब प्रजाजन रहते हैं । जैसे वायुके आधारसे प्राणी हैं वैसेही राजसत्ता के आधारसे प्रजाजन हैं । अव्यक्त आत्मा सब जगत् फैलाता है, उसके आधारसे सब भूतमात्र रहते हैं, परंतु भूतमात्रके आधारसे उसकी स्थिति नहीं है। इसी प्रकार अमूर्त राजसत्ताके द्वारा सब प्रजाजनोंका शासन चलाया जाता है, सब प्रजाजन उसी अमूर्त राजसत्ताकी शक्ति लेकर विविध कार्य करते हैं, परंतु वह राजसत्ता व्यक्तिशः प्रजाजनोंपर अवलंबित नहीं है । तथा प्रजाजन भी राजसत्ताकेहि केवल आधारपर निर्भर हैं ऐसाभी नहीं है । यह दोनोंका ऐश्वरयोग है। अर्थात् प्रजा और राजा इन दोनोंका संयोग इस ऐश्वर-योगसे हुआ है। ये एक दूसरेपर अवलंबित रहते हुए भी अवलंबित नहीं जैसे हैं । जैसा परमात्मा (भूतभावनः) भूतमात्रोंकी उन्नति करनेवाला है, और भूतोंका (भूतभृत्) भरणपोषण करनेवाला होनेपरभी (भूतस्थः न) भूतोंपर निर्भर नहीं है। इसी तरह राजसत्ता सब प्रजाजनोंकी उन्नति करती है, प्रजाजनोंके भरणपोषणका विचार करती है, तथापि वह प्रजापर निर्भर नहीं है । "

इस तरह आत्मज्ञानके सिद्धान्तोंके साथ राजशासन का उपदेश यहां दिया है । इसका मनन पाठक करेंगे तो ऐसे उपदेशोंमें राज्यशासनका तत्त्व कैसा भरा पडा है इसका ज्ञान हो सकता है । सूचनार्थ यहां किंचित् विवरण करते हैं । यहां सब शब्द राज्यशासनपरक लेकर ही विचार करते हैं-

१ अव्यक्त मूर्ति (राजसत्ता)

राज्यशासन अव्यक्त, अमूर्त रहता है, जो राजा है उसकी मूर्तिके अन्दर वह केन्द्रित रहता है, तथापि उस राजाके शरीर से राजसत्ताका स्वतंत्र अस्तित्व है । राजसत्ता अमूर्त है यह बात यहां ध्यानमें धारण करना चाहिये ।

२ अव्यक्त मूर्तिना सर्वं जगत् ततम् ।

अमूर्त राज्यसत्तासे सब जगत् (मानवसमाज) का शासन फैलाया गया है । ' जगत् ' का अर्थ ' मनुष्य और मानवी समाज ' है । जगत् का अर्थ विश्व है यह सब जानते ही हैं, उसके साथ मनुष्य और मनुष्य समाज यहभी अर्थ है । यहां राज्यपरक अर्थमें मनुष्य और मनुष्य समाज यह अर्थ लेना चाहिये । परमात्मपरक अर्थमें विश्व अर्थ लेना उचित है । अव्यक्त राज्यसत्ता द्वारा मानवी समाजका शासन फैलाया जाता है । सब समाज इस शासनके अन्दर रहता हुआ उन्नति करता है, अपना विस्तार करता है ।

३ तत्स्थानि सर्वभूतानि

उस अमूर्त राजसत्तामें सब भूत अर्थात् सब मानवजाति के लोग रहते हैं । उस राज्यशासनसे बाहर कोई नहीं है । नगरोंमें और ग्रामोंमें रहनेवाले तथा वनोंमें रहनेवाले सब ही मानव उस शासनमें ही रहते हैं ।

४ न च तत् तेष्ववस्थितं

वह राज्यशासन उन मनुष्योंमें नहीं है अर्थात् प्रजाजनोंके आधारसे वह नहीं रहता । वह उनसे पृथक् सत्ता धारण करता है । प्रजाजनोंके आधारके विना ही वह सर्वोपरि रहता है । निष्ठुर राजसत्ता प्रजाजनोंके विरुद्ध भी उनपर शासन करती है, इसी कारण अनेक देश पारतंत्र्यमें पडे रहते हैं । राजसत्ता सुसंघटित रहती

है और प्रजा असंघटित होती है अतः प्रजापर राजसत्ताका शासन चलता है, और इसी कारण यहां कहा है कि (तत्) वह राजसत्ता (तेषु) प्रजाजोंनके आधारसे (न अवस्थितं) नहीं रहती।

५ नच तत्स्थानि भूतानि

इतना होनेपरभी (तत्स्थानि) राजसत्तामेंहि सब (भूतानि न) मानव जाती रहतीहि हैं, ऐसी बात नहीं। कई क्रान्ति करनेवाले लोग राजसत्ताके क्षेत्रके बाहरभी होते हैं। महात्मा मुक्तात्मा भी राज्यशासनके क्षेत्रसे बाहर होते हैं। किसी समय प्रजाभी राज्यशासनके विरुद्ध उठती है। अतः राजसत्ताके अंदर सब प्रजाजन रहते हुएभी वे बाहरहि हैं ऐसा समझना योग्य है।

६ योगं ऐश्वरं पश्य।

यह 'ऐश्वरयोग' है। ऐश्वरयोग का अर्थ प्रभुत्वयोग है। राज्यको एक प्रभु, ईश्वर-राजाके आधीन रखनेकी यह युक्ति है। सब राज्यको एक राजसत्ताके आधीन रखनेकी जो एक अपूर्व युक्ति है उसका नाम 'ऐश्वर-योग' है। यही ऐश्वर-योग इस नवम अध्यायमें कहा है। इसका वर्णन इस अध्यायके प्रारंभमें ऐसा किया है--

अव्यय राजविद्या।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥ राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥ अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप। अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥ गी० अ० ९

यह राजविद्याका ज्ञान अर्थात् राज्य चलानेकी शासनविद्याका ज्ञान बडा गुह्य है अर्थात् गुहामें बुद्धीमें धारण करने योग्य है। जिसको असूया न हो वही इसका अधिकारी है। इस ज्ञानके अनुसार राज्यशासन चलाया जाय तो निःसंदेह किसी प्रकारका अशुभ कष्ट नहीं देगा। यह ज्ञान विज्ञानसहित है। अर्थात् इसमें ज्ञानभी है और विज्ञान भी है। अर्थात् इसमें आत्मज्ञान है और प्राकृतिक विज्ञान भी है। (धर्म्यं) यही धर्ममार्ग है, यह आचरण करनेसे (सुसुखं) सुख देनेवाला है। और इससे राज्यशासनका (अ-व्यय) व्यय न्यूनसे न्यून होता है। यह जो करेगा उसे लाभ (प्रत्यक्ष-अवगमं) प्रत्यक्ष दिखाई देगा। (उत्तमं) यही सबसे श्रेष्ठ राज्यशासनका मार्ग है। जो इसपर श्रद्धा नहीं रखेंगे वे दुःख प्राप्त करेंगे।"

इस नवम अध्यायमें राज्यशासनकी विद्या गुप्त रीतिसे कही है। प्रकट रीतिसे तो यह अध्याय पारमात्मिक शासनका स्वरूप बता रहा है। परंतु उसी उपदेशके अन्दर गुप्त रीतिसे राज्यशासनका आदेश दिया है। पाठक इसका विचार करें और गीताके श्लोकसे राज्यशासनका बोध कैसा समझना चाहिये, इसका ज्ञान इस अध्यायके मननसे प्राप्त करें।

समदृष्टि।

इस गीतोक्त राज्यशासनमें 'समदृष्टि' का महत्त्व बहुतही अधिक है। इस समदृष्टिके विषयमें भवद्गीतामें निम्नलिखित श्लोक बडे मनन करने योग्य हैं—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः
॥ १९ ॥ गी० अ० ५

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः
॥ ३२ ॥ गी० अ० ६

"विद्वान ब्राह्मण, चाण्डाल और गौ हाथी कुत्ता आदिपर समदृष्टि रखनी चाहिये। मित्र,

उदासीन, मध्यस्थ, शत्रु, बन्धु, साधु और पापी इनपर समदृष्टि रखनी चाहिये। अपने समान समभावसे जो सबको देखता है, सबको अपने जैसे सुखदुःख होते हैं ऐसा जो मानते हैं वेही परमयोगी हैं। जिनका मन यहां इस संसारमें रहते हुए ऐसा समदृष्टिसे सम हुआ, मानो उन्होंने जन्ममरणके दुःख जीत लिये हैं। अर्थात् वे स्वर्गके अधिकारी हो गये अथवा उनको ब्रह्मलोक प्राप्त हुआ है।"

इस समदृष्टिके विषयमें बडी अशुद्ध कल्पना जनतामें फैली है। सबको समान माननेकी यहां कल्पनाही नहीं है। विद्वान् ब्राह्मण, अनाडी चांडाल और कुत्ता या बिल्ली इनको समदृष्टिसे देखना चाहिये, इसका अर्थ यह नहीं है कि ये सब समान हैं, अथवा इनके साथ समान बर्ताव करना चाहिये। यह आदेश यहां नहीं है। इसी प्रकार मित्र शत्रु, मध्यस्थ, उदासीन, भाई और द्वेषी, साधु और पापी इनको समदृष्टिसे देखना चाहिये, इसका अर्थ यह नहीं है कि जो दण्ड पापीको करना चाहिये, वह साधुकोभी करना चाहिये। जो पारितोषिक मित्रको देना चाहिये वही शत्रुकोभी देना चाहिये ऐसा कोई न समझे। समवर्तनका उपदेश यहाँ नहीं है। जहां ब्राह्मण और गौ समान दृष्टिसे देखनी है वहां गौके सामने जैसा घास रखा जाता है वैसाही ब्राह्मणके सामने रखना चाहिये अथवा ब्राह्मणको जैसा पायसपूरीका भोजन देते हैं वही गौको देना चाहिये यह भाव इस समदृष्टिमें नहीं है। पाठक इस बातका स्मरण रखें। गीतोक्त राज्यशासनपद्धति इस समदृष्टिपर रची गयी है, अतः विशेष मननपूर्वक इस समदृष्टिका अर्थ समझना उचित है।

इस समदृष्टिका अर्थ समझनेकी एक युक्ति 'आत्मौपम्य' नामसे यहां कही है। जो कर्म करना है वह अपनी उपमा देकर, अपनी उपमाद्वारा विचार कर करना चाहिये। यह कर्म करनेसे मुझे सुख होगा, अथवा मुझे दुःख होगा इसका निश्चय अपने आपको उसकी अवस्थामें रखकर करना चाहिये। इससे कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय ठीक प्रकार हो सकता है।

ब्राह्मण, चांडाल, स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, मित्र, शत्रु कोई हो, उनके साथ व्यवहार करनेके समय अपने आपको उनके स्थानपर रखकर विचार करें और वहां रहकर अपनेको जैसा प्रतीत होगा, वसाही उसकोभी प्रतीत होगा ऐसा मानकर मनुष्य व्यवहार करें।

उदाहरणके लिये अंत्यजोंके साथ जो व्यवहार किया जाता है वह योग्य है वा अयोग्य है, इसका निश्चय करनेके लिये अपने आपको अन्त्यजोंके स्थानपर रख कर विचार करना कि अन्योंने वैसा व्यवहार मुझसे किया तो मुझे कैसा लगेगा? ऐसा विचार करनेसे शीघ्रही अपने अंदर समदृष्टिका उदय होता है और अपने कर्तव्यका निश्चय होता है। पशुपक्षीयोंके साथ व्यवहार करनेके समयभी अपने आपको उनके स्थानमें रखकर उनके साथ जो व्यवहार किया जा रहा है वह योग्य है वा अयोग्य इसका उत्तम निश्चय हो सकता है। गौ, घोडा, कुत्ता आदि पशुओंके साथ आत्मौपम्यसे व्यवहार करके देखिये, ऐसा व्यवहार करनेसे उसका परिणाम मनुष्यके आचरणमेंभी तत्काल दिखाई देता है। जो पशु मनुष्यको शत्रु मानते हैं वेही मित्र बनते हैं, और आनंदसे समीप आते हैं और जो मित्रवत् आचरण करते हैं, वह एक अपूर्व चमत्कार युक्त प्रेमसे भरपूर होता है।

मनुष्योंके साथ व्यवहार करनेके समयमेंभी यह मित्र है, यह अपना पुत्र है, यह अपना बंधु है ऐसा समझकर उनका पक्ष समर्थन करना और जो शत्रु हैं उनके गुणभी न देखना, यह अनुचित व्यवहार है। इसीसे अनेक झगडे उत्पन्न होते हैं और कलहाग्निका निपटारा कभी नहीं हो सकता। सबको समभावसे देखने और अपने आपको उनके स्थानपर रखने और

आत्मौपम्य दृष्टीसे सब व्यवहार करनेसेही सच्चा व्यवहार हो सकता है।

सुख और दुःख जैसा अपनेको होता है वैसा ही अन्योंकोभी होता है ऐसा अनुभव करनेका नाम समदृष्टि अथवा समभाव है। यह एक बडाभारी योग है और इसी एक समत्व योग-सेहि मनुष्य मुक्त हो सकता है।

'मैं और दूसरा' केवल इतने ही भेदसे मनुष्य की दृष्टि कलुषित हो जाती है। समदृष्टि नहीं रहती। वह समदृष्टि-समभाव -सबकाल रखनी चाहिये, यही योग साधन है और यदि इस समदृष्टिसे राज्यशासन चलाया जायगा तो वह स्वर्गका राज्य होगा। इतिहासमें पाठक देखेंगे तो इस समदृष्टि, आत्मौपम्य दृष्टिके अभाव के कारण कितनी लडाइयां, कितने झगडे और कितने वध हुए हैं, इस महाभारतीय युद्धकी उत्पत्तिभी समदृष्टिके अभाव के कारण ही हुई है। कौरव यदि मानते कि जैसा राज्य हमें चाहिये वैसा ही पांडवोंको चाहिये, तो झगडेका कारणहि उत्पन्न नहीं होता। परंतु कौरव तो ऐसा मानते थे कि सब राज्य हम भोगेंगे और पांडवोंको सूईके अग्रपर जितनी मिट्टी रहती है उतनी भी नहीं देंगे। यह विषम दृष्टि है, आत्मौपम्य का अंशभी यहां नहीं है, इस कारण घोर संग्राम हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीता यह आत्मौपम्य - सम-दृष्टि जनतामें उत्पन्न करना चाहती है और संपूर्ण राज्याशासन इस समदृष्टिके आधारपर चलानेका उद्देश गीता कथन करनेवालेका है। जो गीतापाठी हैं उनको उचित है कि वे अपने अंदर इस आत्मौपम्य समदृष्टिका जितना अधिक होसके उतना विकास करें। यदि राष्ट्रकी जनतामें समदृष्टिका उदय हुआ तो गुन्हे नहीं होंगे, झगडे फिसाद नहीं होंगे ऐसे अनेक लाभ हैं। समदृष्टि वाले लोगोंपर राज्यशासन करनेके लिये व्ययभी कम होगा। ऐसे अनेक लाभ हैं। यह एक आदर्श राज्य होगा और यह स्वर्गीय राज्य कहलायेगा।

श्रीमद्भगवद्गीतोक्त राज्यशासनमें जनताको शिक्षा ऐसी दी जायगी कि जिससे जनतामें समदृष्टिका और आत्मौपम्य दृष्टिका उदय होगा और जिससे सब लोग आत्मवद्भावसे सब व्यवहार करेंगे। जिससे सब लोग अद्भुत सुखके भागी होंगे।

संयम और मिथ्याचार।

श्रीमद्भगवद्गीतोक्त राज्यव्यवस्थामें संयमको प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है और मिथ्याचारका तीव्र निषेध किया गया है। संपूर्ण शिक्षणही लोगोंको ऐसा देना चाहिये कि जिससे जनता स्वयं संयमकी ओर अधिक झुक जाय और मिथ्याचारसे दूर हो जाय। अथर्ववेदमें कहा है–

> आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
> प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी॥१६॥
> ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
> आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छति॥१७॥
> अथर्ववेद ११।५

राष्ट्रमें 'आचार्य' नाम शिक्षाविभागके कर्मचारियों अर्थात् शिक्षकोंका है और 'प्रजापति' नाम प्रजाके पालन विभागके कर्मचारियोंका अर्थात् शासनाधिकारमें नियुक्त होकर कार्य करनेवाले राजपुरुषोंका है। ये दोनों अर्थात् शिक्षाविभागके और शासनविभागके कर्मचारी स्वयं ब्रह्मचारी हों और वे ऐसा कार्य करें कि जिससे राष्ट्रमें ब्रह्मचर्य और संयमकी लहर फैल जावे। जहां जिस राष्ट्रमें ऐसे कर्मचारी और ऐसे राजा होंगे वहां आदर्श संयमीराष्ट्र निर्माण होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है। यही वेदकी शिक्षा भगवद्गीताने अपनी राज्यव्यवस्थामें ली है और संयमका प्रोत्साहन देनेके लिये ऐसा कहा है–

कामजय और क्रोधजय।

संयमकी आवश्यकता सिद्ध होनेपर काम और क्रोधको जीतना चाहिये यह कहनेकी कोई

आवश्यकता नहीं है. क्योंकि वही उसका अर्थ है, अतः भगवद्गीताके उपदेशमें कामक्रोधको जीतनेके विषयमें एक प्रकरणही है-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥३७॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३८॥
इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहीह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्
॥ ४१ ॥ (गी० अ० ३)

"रजोगुण अर्थात् भोगवृत्तिसे काम उत्पन्न होता है और इस काममें प्रतिबन्ध होनेसे क्रोध होता है। यह बडा भोक्ता और पापवृत्ति बढाने वाला है। अतः ये वैरी हैं। मनुष्यका ज्ञान ये घेरते हैं और उसको निर्बुद्ध बना देते हैं इंद्रियाँ मन और बुद्धि यह इसका अधिष्ठान है। अर्थात् ये यहां रहते हैं और मनबुद्धिको घेर कर मनुष्यको मूर्ख बना देते हैं। इसलिये हे भारतीय वीर! तू पहिले अपने इंद्रिय वशमें करके इस ज्ञानका नाश करनेवाले पापीको दूर कर।"

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इंद्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

गी० ३।६

'जो कर्मेंद्रियोंका संयम करता है, परंतु विषयोंका ध्यान मनसे सदा करता रहता है,वह मूढ मिथ्याचारी ढोंगी है।' ऐसे ढोंगी राष्ट्रमें नहीं रहने चाहिये। विद्याधिकारियों और शासनाधिकारियों का यह कार्य होना चाहिये कि वे ऐसे मिथ्याचारियोंको शिक्षाद्वारा सुधारें अथवा दण्डद्वारा ठीक करें अथवा अन्य उपायोंद्वारा उनको बढने न दें।

मन वश होना कठीन है, परंतु अभ्यास और वैराग्यपूर्वक प्रयत्न करने से वह वशमें आता है (गी० ६।३५) इस तरह प्रजाजन मन वशमें करनेका यत्न करें, संयमी बनें, ब्रह्मचारी रहें और सदाचारवान् बनें। इस तरह संयमी बननेसे मानवोंकी सब प्रकारकी उन्नति होती है। इस विषयमें कहा है—

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
(गी. ५।२५)

"जो संयमी-आत्मसंयमी हैं, द्वैतभाव जिनका दूर हो चुका है, वे सर्वभूतोंका हित करनेमें तत्पर होकर परमोच्च गति पाते हैं।" सर्वभूतमात्रोंका हित करनेसे हि परमात्मसेवा होकर मानवोंकी उन्नति होती है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। भूतहित करनाही भगवद्भक्ति है। यह भूतहित कौन कर सकता है? जो संयमी हैं वही कर सकता है। इसलिये भगवद्गीतोक्त राज्यशासनमें संयमको प्रधान स्थान है।

संयम इंद्रियदमन करके काम और क्रोधको दूर करनेका उपदेश यहां है। गृहस्थीको काम सुसंतान उत्पन्न करनेके कार्यके लिये आवश्यक है. उतना ही कार्य उससे लेना योग्य है। धर्मशास्त्रकी यही मर्यादा है। भगवद्गीतोक्त राज्यशासनप्रणालीमें यह मर्यादा रक्षण करनेकाही उपदेश जनता को दिया जायगा। इस प्रकार इंद्रियसंयमी पुरुष हो इस राज्यशासनव्यवस्थामें नियुक्त होंगे और वे यही मर्यादा चलायेंगे। इसमें कामक्रोधोंके वेगोंको रुकनेका महत्त्व है-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ (गी० ५।२३)

जो कामक्रोधका वेग सहन कर सकता है वही सुखी होता है। परंतु जो कामक्रोधके वेगसे बह जाता है उसके दुखी होनेमें कोई संदेहही नहीं है। यही समाज और राष्ट्रकी अवस्था है। जिस राष्ट्रमें कामको भडकाया

जाता है, कामुकता बढानेवाले व्यवहार बढाये जाते हैं, वह राष्ट्र कामके वेगसे मारा जाता है। उसको सुख प्राप्त होनेकी आशा नहीं है। क्रोध और चिडचिडा स्वभाव मानवोंमें बढनेसेभी वही अवस्था हो जाती है।

यहां पाठक पूछेंगे कि काम और क्रोधका संयम किस तरह किया जाता है? इसके उत्तर-में इतनाही कहना पर्याप्त होगा, कि खान पान व्यवहार ज्ञान विज्ञान संस्कार आदिसेही इनका संयम होगा। सात्विक भाव बढनेसे संयम होगा और राजसिकता बढनेसे कामक्रोधकी वृद्धि होगी।

जैसा वायुका वेग बढनेसे वृक्षादि हिलने लगते हैं, परंतु मंदिर हिलते नहीं क्यों कि उनमें स्थैर्य होता है, इसी तरह मनुष्य अपने धर्मभावपर स्थिर रहेंगे तो कामक्रोधके वेगसे बहे नहीं जायंगे। भगवद्गीतोक्त राज्यव्यवस्थामें जनताको यही बात इस तरह समझायी जायगी-

इंद्रियस्येन्द्रियार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गी० ३।३४)

इंद्रियोंका विषयोंसे रागद्वेष निश्चित है, उनके आधीन मनुष्य न हो जांय, क्यों कि वे उनके शत्रु हैं। शत्रुके आधीन हो जाना योग्य नहीं है। शत्रुको अपने आधीन करना चाहिये। यही बात भगवद्गीतोक्त राज्यव्यवस्थामें जनताको समझायी जायगी। लेखों ग्रंथों उपदेशों द्वारा यही बात समझायी जायगी और इसके विरुद्ध लेख ग्रंथ और उपदेश बंद किये जांयगे। अर्थात् कामको भडकानेवाला उपदेश नहीं दिया जायगा और और संयमका वायुमंडल बनानेका प्रयत्न किया जायगा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गी० २।३८)

" सुखदुःख हानिलाभ जयपराजयको समान मान कर युद्धादि कर्तव्य कर्म करना उचित है। " इसका नाम समवृत्ति है। धन मिला तो घमण्ड होती है और धन न रहा तो पागल होता है, ये दोनों अवस्थाएं बहुत बुरी हैं। इन दोनों अवस्थाओंसे जनताको उठाना और अपने कर्तव्यकर्म करनेकी भूमिकामें रखना योग्य है। घमण्ड हुई तो भी मनुष्य गिरता है और निरुत्साह बढ गया तो भी कर्तव्यच्युत हो जाता है। अतः मनुष्योंको मनोविकारोंको स्वाधीन रखने और कर्तव्यकर्म करनेकी शिक्षा देना उचित है। यही भगवद्गीतोक्त राज्यशासनमें होगा।

ज्ञानसे उन्नति।

ज्ञानसे मनुष्य मात्रकी उन्नति निःसन्देह होती है। ज्ञानसेहि बंधनसे निवृत्ति होती है और मनुष्य सुखको प्राप्त कर सकता है। यह गीताका मुख्य सिद्धान्त है, अतः कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥ योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्। आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ ४१॥ तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

(गी० अ० ४)

" ज्ञानहीन और श्रद्धा न रखनेवाले संशयात्माका नाश होता है। संशयात्माको न यहां सुख मिलेगा न दूसरे स्थानमें। अतः ज्ञान प्राप्त करके संदेहनिवृत्त हो और योगके अनुसार सब कर्म कर। जो ऐसा करता है, उसको कर्मोंका दोष नहीं लगता। इसलिये हृदयमें स्थित अज्ञानसे उत्पन्न हुआ संदेह ज्ञानसे दूर करके अपनी उन्नतिके लिये उद्योग कर। हे भारतीय! यह तुम्हारा कर्तव्य है। "

अर्थात् भारतीयोंका कर्तव्य है कि वे ज्ञान प्राप्त करें, संशयनिवृत्त हो जांय, और अपना

कर्तव्यकर्म करके उन्नत हो जाय। यहां ज्ञानसे अज्ञानको नाश करनेका उपदेश है। भगवद्गीतोक राज्यशासनमें यही ज्ञान सब जनताको दिया जायगा। किसीसे जो इसे प्राप्त करनेमें समर्थ है उसको कदापि वंचित नहीं रखा जायगा। सार्वत्रिक ज्ञानदान यह इस शासनका एक मुख्य भाग होगा। योग्य मनुष्य-ज्ञानका अधिकारी मनुष्य ज्ञानसे दूर रखा नहीं जायगा। अतः कहा है-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गी० ४।३८-३९)

"ज्ञानके समान इस जगत् में कोई दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है। श्रद्धावान् और संयमी मनुष्यही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और जिसको ज्ञान प्राप्त होता है उसे शान्ति भी प्राप्त होती है।"

इस जगत् में ज्ञानही पवित्र वस्तु है, जिसे वह प्राप्त होता है वह पवित्र बनता है। इसीलिये भगवद्गीतोक्त राज्यशासनमें सबको ज्ञान देकर पवित्र बनाया जाता है। कोई भी ज्ञानहीन रखा नहीं जायगा। कोई प्रमादी ज्ञानसे दूर रहा तो वह उसका दोष होगा। राज्यप्रबंधके कारण किसीको दूर नहीं रखा जायगा। पापीसे पापीको भी ज्ञान देकर शुद्ध किया जायगा—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
(गी० ४।३५)

"पापीसे पापी मनुष्य भी क्यों न हो, उसको भी ज्ञान दिया गया तो उस ज्ञानसे उसके सब पाप दूर होंगे" और वह निष्पाप हो जायगा। फिर पुण्यात्मा लोगोंका उद्धार ज्ञानसे होगा यह कहनेकीहि क्या आवश्यकता है? स्त्रियां, वैश्य, शूद्र, चांडाल कोई हो इसको ज्ञान मिलेगा और वह ज्ञानसे अपनी उन्नति कर सकेगा। जहां पापीको भी पढाया जायगा वहां दूसरोंको पढाया जायगा, इसमें क्या संदेह है? अर्थात् गीतोक्त राज्यव्यवस्थामें सबको ज्ञान मिलनेकी सुविधा अवश्य होगी। यहां ज्ञानका अर्थ बडा विस्तृत लेना चाहिये, क्यों कि यह ज्ञान दोनों लोकोंमें सुख देनेवाला है, केवल पारलौकिक सुखही देनेवाला नहीं। अतः जो ज्ञान जनताको देना है वह कौनसा है, इसका संक्षेपसे उल्लेख यहां करना चाहिये। वह इस प्रकार है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥
(भ० गी० ७)

पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार और जीव ये नौ पदार्थ और इनमें व्यापनेवाला परमात्मा मिलकर दस पदार्थ जानने चाहिये। इसी विषयमें तेरहवें अध्यायमें कहा है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।
(गी० १३।२)

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञानही परमेश्वरका ज्ञान है। अर्थात् परमेश्वरका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। इस परमेश्वरके ज्ञानमें पृथ्वीविद्या, जलविद्या, अग्निविद्या, वायुविद्या, आकाशविद्या, मनोविज्ञान, बुद्धिज्ञान, अहंकारज्ञान, जीवतत्त्व ज्ञान और परमात्मज्ञान इत्यादि सब विद्याएं हैं। भगवद्गीतामें अथवा अन्यत्र 'ईश्वरको जानना चाहिये,' 'परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये,' 'ब्रह्मज्ञान कमाना चाहिये' ऐसा कहा है, इस ज्ञानमें इतनी विद्याएं पढाने योग्य हैं, यह भूलना नहीं चाहिये। ईश्वरके ज्ञानमें ईश्वर और उसकी प्रकृतिका ज्ञान अन्तर्भूत है। ईश्वरकी प्रकृतिमें अष्टधा प्रकृति और जीवका अन्तर्भाव है। पाठक विचार करेंगे तो

उनको पता लग जायगा कि यदि इस आदेशानुसार पाठविधि बनायी जायगी, तो उसमें आजकल जो विद्याएं पढानेयोग्य समझीं जाती हैं, वे सब पढानी होंगीहि, परंतु उनके साथ आत्मविद्या भी पढानी होगी। भगवद्गीतामें इतनी बडी पाठविधि है जो गीतोक्त राज्यव्यवस्थाकी पाठशालाओंमें पढायी जायगी। यहां कही एक एक विद्यामें अनेक पाठ्य विषय हैं जैसा अग्नि विद्यामें अग्नि-विद्युत्-सूर्यकिरण-आदि अनेक विद्याएं समायीं हैं। इसी प्रकार अन्यान्य विद्याओंमें समझना चाहिये। यह पाठविधि बडीभारी है और यह सब ज्ञान मनुष्यकी पूर्णता करनेवाला है।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१६॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥
(गी० ५)

अज्ञानसे जिनका ज्ञान घेरा जाता है वे मोहित होते हैं अर्थात् उनको कर्तव्याकर्तव्यका ठीक ज्ञान नहीं होता, अतः वे पतित हो जाते हैं। परंतु जिनको ज्ञान प्राप्त हुआ वे सूर्यप्रकाशमें विचरनेके समान प्रत्यक्ष परमेश्वरकोही प्राप्त करते हैं, फिर वे लौकिक यश प्राप्त करेंगे इसमें संदेहही क्या है? ज्ञानका यह महत्त्व है। और यह ज्ञान मनुष्यका सब प्रकारसे उद्धार कर सकता है। इसीलिये गीतोक्त राज्यपद्धतिमें परा और अपरा विद्याका ज्ञान सबको मिलनेकी सुविधा होती है।

अपरा विद्यामें सब प्रकारकी इहलोकका सुख बढानेवाली विद्या आती है, परा विद्यामें जीवतत्त्वका ज्ञान होता है और परात्पर विद्यासे परमेश्वरका ज्ञान होता है। इस तरह इससे इहलोकमें सुख और पारलौकिक आनंद प्राप्त होता है। जिस समय ये सब विद्याएं जनतामें फैल जाती हैं और राष्ट्रके सब लोगोंपर इन विद्याओंके सुसंस्कार होते हैं, तब उस राष्ट्रमें ऐसी सुस्थिति होती है, जैसी निम्नलिखित उपनिषद्वचनमें वर्णन की है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्ना विद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः। (छां० ५।११।५)

उस राज्यमें चोर, कृपण, मद्यपी, हवन न करनेवाला, अविद्वान्, स्वैराचारी और स्वैराचारिणी स्त्री नहीं होगी। सब लोग धर्मानुकूल व्यवहार करेंगे, और परस्परकी उन्नतिमें सहाय्यक होते हुए सबकी सर्वांगीण उन्नति करेंगे। यह सब ज्ञानके फैलावपर अवलंबित है, राष्ट्रमें जैसा ज्ञान फैलेगा वैसा उस राष्ट्रमें होगा। आजकल भेद कलह झगडोंका ज्ञान फैलता है, इसलिये झगड फिसाद बढ रहे हैं। यदि परिशुद्ध ज्ञान फैलेगा, तो जनता उसी परिशुद्ध मार्गसे जायगी। भगवद्गीताका उद्देश्य यह है कि ऐसा परिशुद्ध ज्ञान जनतामें फैल जाय और सबका कल्याण हो।

उद्योगसे उन्नति।

प्रयत्न करनेसेही सब कुछ बनता है। उत्कर्षके लिये जो योग किया जाता है, उसका नाम 'उद्योग' है। इसको कर्म कहते हैं, इस विषयमें कहा है—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
(गी० ८।३)

'भूत' का अर्थ बना हुआ वस्तु मात्र है, इन वस्तुओंका जो अस्तित्व है उसका नाम 'भूत-भाव' है। इस वस्तुमात्रके अस्तित्वका जो 'उत्-भव' ऊपर होना-उन्नत होना है अर्थात् विकास है, उसका नाम भूतभावोद्भव है। यह विकास करनेवाला जो 'वि-सर्ग' अर्थात् विशेष सर्जन उसका नाम कर्म है। इस स्थानपर कर्म शब्दकी व्याख्या की है। कर्म उसको कहते हैं कि जिससे सबकी उन्नति होती है, उद्भव होता है, उच्च स्थिति होती है। गीतोक्त राज्यमें ऐसे कर्मोंकीही शिक्षा सब जनताको दी जायगी।

अतः- इस राज्यमें लोगोंको निश्चय होगा कि—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥
(गी० ६।४०)

"अच्छा कर्म करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होगी। अच्छा कर्म करनेवालेकी सदा उन्नतिही होती रहती है।" इस दृढतर विश्वास-से इस राज्यका हरएक मनुष्य सदा शुभ कर्ममें प्रवृत्त होगा। शुभ कर्म, कल्याणकर्म आदिका अर्थ योगयुक्त कर्म है, जिसका स्वरूप यह है--

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७॥ (गी० अ. ६)

"अतिभोजन, अति उपवास, अतिनिद्रा, अति जागरण न करते हुए, योग्य आहार-विहार करके, योग्य निद्रा और जागरण करते हुए जो लोग योग्य रीतिसे पुरुषार्थ प्रयत्न करते हैं, उनका दुःख दूर होता है।" यह योगका फल है। यह योग हरएक कार्यमें किया जा सकता है और प्रत्येक शुभ कार्यसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। ऐसे कार्य करनेकी शिक्षा मनुष्यको गीतोक्त राज्यमें प्राप्त होगी।

इस गीतोक्त राज्यशासनमें जो धर्मशिक्षा दी जायगी, उससे सब मनुष्य आत्मोद्धार करने-वाले बन जांयगे जैसा गीतामें कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥५॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥
(गी. अ. ६)

"स्वयं अपना उद्धार अपनेकोही करना चाहिये, अपनी अवनति होने योग्य कोई आच-रण करना नहीं चाहिये। क्योंकि मनुष्य स्वयं-हि अपना मित्र अथवा शत्रु होता है। जिसने अपना संयम किया वह अपना मित्र है, और जो अपनी उपेक्षा करता है वह अपनाही शत्रु होता है।" इस तरह संक्षेपसे अपना शत्रु या मित्र स्वयंहि होता है। यह जैसा व्यक्तिके व्यवहारमें सत्य है वैसाही समाज और राष्ट्रके व्यवहारमेंभी सत्य है। जो आत्मविजयी है वही कर्मके दोषोंसे अपने आपको बचा लेता है। उसका वर्णन ऐसा किया है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
(गी. ५।७)

"योगके अनुसार व्यवहार करनेवाला, आत्म-विजयी जितेन्द्रिय और सर्व भूतोंका आत्मा जिसका आत्मा बना है वह कर्म करनेपर भी दोषोंसे लिप्त नहीं होता।" यहां मुख्य गुण सर्वभूतोंका आत्मा अपना आत्मा बनना यह है। साधारणतः प्रत्येकका आत्मा उसकाही व्यक्तिगत होता है, यहां आत्मा सर्वगत होनेका अनुभव है। मेरा आत्मा, मेरी व्यक्ति जितना मर्यादित नहीं, अपितु वह सर्वभूतोंतक व्याप्त है, अर्थात् अनंत व्यक्तियोंका आत्मा एक है, शरीर भिन्न होनेपर भी आत्मा भिन्न नहीं है। जिस समय यह ज्ञान होता है उस समय मनुष्यकी दृष्टिहि भिन्न होती है। इस अवस्थामें किये कर्म निर्दोष होते हैं। गीतोक्त राज्यमें यह शिक्षा जनताको दी जायगी और उसकी दृष्टि विस्तृत की जायगी।

यहां 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह' (गी. २।४१) एकही सतत पुरुषार्थ करनेकी बुद्धि स्थिर होगी। अनंत बुद्धियोंकी व्यग्रता यहां नहीं होगी। तथा जनताको यह शिक्षा दी जायगी कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥
(गी. २।४७)

" प्रत्येक मनुष्यका अधिकार कर्म करनाही है, उसके फलपर उसका अधिकार नहीं, कर्मके फलका उद्देश्य धरकर कोई कर्म न करे और कर्म न करनेकी ओरभी किसीकी रुचि न हो।" सबको उचित है कि--

योगस्थः कुरु कर्माणि। (गी. २।४८)

" योग नाम कुशलतासे कर्म किया करे।" जितनी कुशलता हो सकती है उतनी कुशलता संपादन करके अपने अपने कर्म करना हरएकको उचित है। कोई मनुष्य कर्म किये विना न रहे। सब लोग अत्यंत कुशलताके साथ उत्तम कर्म करें।

कोई जीवजन्तु क्षणभरभी कर्म किये विना नहीं रह सकता, (गी. ३।५) ऐसी सबकी प्रकृतिहि कर्म कराती है, फिर मनुष्य शुभ कर्म अत्यंत कुशलतासे क्यों न करे? मनुष्य मात्रको नियत कर्म करनाही चाहिये। कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है, कर्म न करनेसे शरीरयात्राभी नहीं चलेगी, अतः हरएक मनुष्यको कर्म करनाही चाहिये। कर्मके विना मनुष्य जीवितभी नहीं रह सकता, अतः मनुष्य अपना नियतकर्म उत्तम कुशलताके साथ करे। कर्म करकेहि जनकादिकोंको सद्गति प्राप्त हुई है (गी. ३।२०), यदि वे कर्म न करते तो उनको सिद्धि कदापि प्राप्त न होती। अतः हरएक मनुष्यको जनकादिकोंका उदाहरण अपने संमुख रखकर प्रयत्नशील होना चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य अपना धर्म कौनसा है, इसका निश्चय करे, यह निश्चय करनेकी विधि गी० अ० १७ और १८ इन अध्यायोंमें सत्व-रज-तम-निरूपण प्रकरणमें कही है। अपने अंदर सत्त्व गुण है, रजोगुण है, या तमोगुण है इसका निश्चय करके अपना निजधर्म निश्चित करे, और जो धर्म निश्चित होगा, उसके अनुसार अपना कर्तव्य कर्म करता रहे। अपनी प्रकृतिधर्मके अनुकूल जो कर्म होगा, वही उत्तम रीतिसे हो सकेगा, प्रकृतिधर्मके प्रतिकूल कर्म उत्तम होना असंभव है। अतः अपनी प्रकृतिधर्मका निश्चय करना और तदनुकूल कर्म करना योग्य है।

गीतोक्त राज्यके शिक्षाविभागमें यही शिक्षा दी जायगी जिससे हरएक मनुष्य अपना प्रकृति-स्वभाव कैसा है इसका निश्चय कर सकेगा और तदनुकूल जो नियत कर्म होगा उसको करके अपना और सब जनताका कल्याण करके यशस्वी होगा।

यह सर्वसाधारण कर्मयोगके विषयमें विचार हुआ। अब गीतामें जो विशेषता है वह 'कर्म-फलत्याग' की है। कर्म करनेमें मनुष्यका अधिकार है, फलपर उसका अधिकार नहीं है, इत्यादि बोध इसके पूर्व कहा गया है। यह कर्मफलत्याग गीतोक्त राज्यशासनमें कैसा किया जायगा, इसका अब विचार करना चाहिये।

कर्मफलत्याग।

इस कर्मफलत्यागके विषयमें गीतामें यह वाक्य मनन करने योग्य है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता ही फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
(गी. २।५१)

" (कर्मजं फलं त्यक्त्वा) कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके (मनीषिणः) बुद्धिमान् लोग श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त करते हैं।" कर्मके फलका त्याग करना चाहिये, अपने पास अपने कर्मका फल संग्रहित करके रखना नहीं चाहिये। कर्मफलके संग्रहमें दोष होता है और कर्मफलत्यागसे निर्दोषता होती है, यह इसका तात्पर्य है। अतः कर्मका फल कौनसा है, इसका विचार करना चाहिये—

ब्राह्मण विद्यादान करता है, क्षत्रिय राष्ट्रका संरक्षण करता है, वैश्य कृषि गोरक्षा और वाणिज्य व्यवहार करता है, शूद्र कारीगरी और

परिचर्या करता है, इस तरह सब मनुष्य अपने अपने कर्म करते हैं । इस कर्मका फल उनको वेतनके रूपमें प्राप्त होता है, यह वेतन धनरूपमें हो, या अन्य किसी रूपमें हो, फलरूपमें ही मिलता है । यह कर्म करनेवाला अपने पास संग्रह करके रखे या न रखे । इस विषयमें गीतोक्त राज्यव्यवस्थामें यह आदेश है कि यहां कोई कर्मकर्ता अपने कर्मका फल अपने पास संग्रहित करके न रखे, क्योंकि उससे दुःख बढेगा, अतः सब लोग अपने कर्मके फलका दान करे । इस विषयमें थोडा अधिक विचार करना चाहिये ।

सब जनता चार वर्णोंमें विभक्त हुई है, उनके कर्म निश्चित और नियत हैं । प्रत्येक कर्म होते ही उसका वेतनरूप फल कर्ताको मिलना ही चाहिये । कर्ता उस फलको लेवे, परंतु अपने पास उसका संग्रह करके न रखे, परंतु उसका त्याग करे, दान करे, समर्पण करे । संग्रह करनेमें दोष कौनसा है और त्यागसे लाभ कौनसा है इसका विचार करना चाहिये ।

अनुभवके लिये मान लीजिये कि एक अध्यापक सहस्र रु. अध्यापनका मूल्य प्राप्त करता है, दूसरा एक क्षत्रिय दो सहस्र रु०प्राप्त करता है, तीसरा कर्मचारी दस रु. प्राप्त करता है । ये लोग अपने वेतन अपने पास संग्रह करके रखने लगे, तो पहिले दो प्रतिमास सहस्रों रु. घरमें रखते जांयगे और तीसरा केवळ दस रु. ही लेगा, जितना उसका मासिक व्यय ही होगा । अर्थात् पहिले दो धनी बनेंगे और तीसरा निर्धनही रहेगा । ऐसाही होता आया है । धनी को धन अपने पास सुरक्षित रखनेका कष्ट है, चोर आदिसे दूर रखना होगा, दिनरात इसकी चिन्ता उसके पास रहेगीहि । जो निर्धन हैं और भूखे हैं वे इन धनियोंके पीछे पडते हैं, लूटते हैं । इससे द्वेष होता है और वैरभाव बढता है, ये निर्धन ऐसा न करें इसलिये रक्षक पोलिस, फैजी सेनानी, तथा न्यायालयके कर्मचारी आदि रखे हैं । केवल धनी लोगोंके धनको सुरक्षित रखनेके लिये यह सब झंझाट है । यदि मनुष्य अपनेपास धनसंग्रह करनेका यत्न न करेंगे, तो यह सब सुरक्षितताके लिये जो अनन्त व्यय हो रहा है, नहीं करना पडेगा, और इसका दूसरा सदुपयोग होना सम्भव होगा ।

पाठक यहां विचार करें कि धन हरएक व्यक्तिके पास संग्रह करके रखनेसे कितने झगडे हो रहे हैं, सब अदालतें इसी कारण चल रही हैं । मनुष्य यदि इस वस्तुसंग्रहका व्यसन छोड देगा और अपरिग्रही बनेगा, तो उसके पीछेसे अनेक दुःख स्वयं दूर होंगे ।

फिर प्रश्न आता है कि जो अपने कर्मका मूल्य प्राप्त होगा वह कहां रखा जावे ? वह सब धन 'प्रजा-पति' का है, प्रजापालन करनेवालेका वह सब धन है, वह धन व्यक्तिका नहीं है । यद्यपि व्यक्तिके कर्मके बदले वह उसको मिलता है, तथापि वह सब धन प्रजापति परमेश्वरका है । अतः वह प्रजापतिके पास पहुंचना चाहिये, व्यक्तिके संग्रहमें रहना उचित नहीं है ।

प्रजापति परमेश्वर कहां है? (वासुदेवः सर्वं । पुरुष एवेदं सर्वं) प्रजापति यह सब है । इसका मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय,ऊरु वैश्य और पांव शूद्र हैं । यह चार वर्ण उसके चार अवयव हैं । यह सब जनताही प्रजापतिका रूप है । इसको वह सब कर्मका फल समर्पित होना उचित है । यह प्रजापति एक संस्था है, यही शासनसंस्था है, जो गीतामें गुह्य और अव्यय शासनसंस्था है ऐसा कहा वह यही है । इस शासनसंस्थाके पास हरएकका कर्मफल जमा होता रहे । इसके कई प्रकार हैं—

१ कर्मफलत्याग- यह एक प्रकार है । इसमें कर्मका फल लिया नहीं जाता, परंतु लेनेके पूर्वही त्यागा जाता है और सीधा शासनसंस्थाके कोशमें जमा होता है ।

२ कर्मफलदान- कर्मका फल कर्ता लेता है और विशेष उद्देश्यके लिये शासनसंस्थाके कोशमें देता है। इस धनका व्यय विशिष्ट कार्यमें ही होगा।

३ कर्मफलसंन्यास- कर्ता अपने कर्मके फलको लेता है और उसका विशिष्ट स्थानमें न्यास (Deposit) रखता है। कर्ता यह रकम या धन सुरक्षित रखता है और इसका लाभ किसी कार्यविशेषमें देता है। इसके अनेक प्रकार हो सकते हैं जो पाठक जान सकते हैं।

इस तरह कर्मके फलका त्याग, दान और संन्यास करनेके कई प्रकार होते हैं। कर्मफलका कैसा त्याग कर सकते हैं इसका मनन करनेसे दानविधिका ज्ञान हो सकता है। जैसा किसीको कर्मके फलरूपमें गौ मिली तो वह उसका दान गुरुकुल आदि संस्थाको दे सकता है, धन मिला तो किसी छात्रको शिष्यवृत्ति रूपमें दे सकता है, इत्यादि अनेक प्रकार हो सकते हैं। कर्मका फल कर्ताके पास संग्रह हो कर न रहे, वह जनताके भलाईके लिये प्रजापालकके पास संग्रहित होता जाय,यह मुख्य तत्त्व है। यह कर्मफलत्याग गीतोक्त राज्यशासनका मुख्य सार है, यही इसकी विशेषता है।

यहां प्रश्न होता है कि यदि इस तरह कर्ता अपने कर्मके फलको अपने पास संग्रह न करते हुए उस फलका त्याग करेगा और वह फल प्रजापतिको समर्पित होगा, तो कर्ताका योगक्षेम कैसा चलेगा ? यह शंका हरएक पाठकके मनमें उपस्थित होगी। इसका उत्तर इतनाही है कि उसका योगक्षेम प्रजापति अथवा प्रजापति-संस्थाके द्वारा होता रहेगा। जो जिस समय उसको आवश्यकता होगी वह प्रजापति-संस्थाके द्वारा पूर्ण हो जायगी। भोजन आच्छादन विवाह कुटुंबभरणपोषण आदि सब यथायोग्य प्रकार शासनसंस्थाद्वारा सबका चलता रहेगा। इस विषयकी चिन्ता किसीको न होगी और सबका यथायोग्य योगक्षेम होगा, इसी कारण सर्वत्र संतोष रहेगा और चोरी लूट आदिको इच्छाही किसीके मनमें नहीं होगी। और किसीके मनमें चोरीकी इच्छा हो भी गई, तो किसी व्यक्तिके पास अपना धन न होनेके कारण उस चोरको चोरी करनाही असंभव हो जायगा। चोरी नहीं और सुरक्षितताके प्रबंधकीभी आवश्यकताभी नहीं, इस कारण इस प्रकारकी शासनसंस्था न्यूनसे न्यून व्ययमें चल सकेगी।

राज्यप्रबंधद्वारा जिनका योगक्षेम चलाया जा रहा है ऐसे संन्यासियोंका जैसा आपसमें ईर्ष्याद्वेष होनेकी संभावना नहीं है,वैसा ही यहां समझिये। आजकलके संन्यासीभी झगडते हैं यह सत्य है. परंतु यह पतित अवस्था है। उसका विचारही यहां नहीं करना चाहिये। सबके योगक्षेमका भार शासनसंस्थापर रहेगा, और सब लोग (स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः) अपने अपने कर्मोंमें दक्ष रहेंगे, (त्यक्तसर्वपरिग्रहः॥ गी० ४।२१) सब वस्तुसंग्रहकी बुद्धिका त्याग करेंगे, (विमत्सरः ।४।२२) मत्सररहित होंगे, ईर्ष्याद्वेषसे दूर रहेंगे, (अनिकेतः) अपना निजी गृह भूमि आदि जिनका नहीं होगा, (यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं । गी० ४।२३) सब कर्म यज्ञके लियेही करेंगे, किसीकी (न कर्मफले स्पृहा । ४।१४) कर्मके फलपर इच्छा नहीं होगी। इस तरह गीतोक्त राज्यमें जनताका व्यवहार होगा। इस विषयमें यहां ग्रंथ विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक इतने विवरणसे सब बातें जान सकते हैं और जो विचार करते जायंगे उनको इस गीतोक्त राज्यशासनकी विशेषता ज्ञात होती जायगी।

यहां ऐसा माननेकी कोई आवश्यकता नहीं कि जितने मानव इस गीतोक्त राज्यशासनमें होंगे, उतने सबके सब कर्मफलत्यागी होंगे। उनमें कई फलभोगी होंगे, उनका नाम सकाम

कर्म करनेवाले हैं, और जो कर्मफलत्यागी हैं उनको निष्काम कर्म करनेवाले कहते हैं । यद्यपि गीतोक्त राज्यशासनकी विशेषता 'निष्काम कर्म' तथा 'कर्मफलत्याग' है तथापि संपूर्ण मानव इसको कर सकेंगे यह कठिन प्रतीत होता है, अतः सकाम कर्मका मार्ग गौणरूपसे कहा गया है । ये नीचली श्रेणीके लोग सकाम कर्म करें, उसके दुःख भोगें और दुःखोंका अनुभव लेते हुए निष्काम कर्मयोगके मार्गपर आ जांय। इस तरह नीचली श्रेणीके लोगोंकाभी यहां प्रबंध किया गया है, तथापि सब लक्ष्य 'कर्म फलत्याग' की ओर है । जो पाठक विचार करना चाहते हैं वे इस लक्ष्यको ध्यानमें धारण करके विचार करेंगे, तो उनको गीतोक्त राज्यशासनकी विशेषताका पता लग जायगा, और जितना उनका अधिक विचार होता जायगा, उतना उसका महत्त्व उनके ध्यानमें आता जायगा ।

यहां हमने जो विचार किया है वह कोई परिपूर्ण विचार नहीं है, इसमें अनेक न्यूनताएँ होंगी । इस गीतोक्त राज्यशासनके विषयमें बहुतही विचार करके सब शासन विषयक प्रबंधका निश्चय करना चाहिये, वह विचार ऐसे थोडेसे लेखसे नहीं होगा, तथापि यहां थोडासा दिग्दर्शन किया है जिससे पाठक विचार करके गीतोक्त राज्यशासनके प्रबंधके विषयमें कुछ न कुछ जान सकेंगे ।

यहां कर्मफलका अस्वीकार, अनिकेतन अर्थात् अपनी मलकियतकी भूमि घर आदि न होना, सबका योगक्षेम राज्यशासनद्वारा चलना इत्यादि बातें देखकर यह रूसके बोलशेविकोंकी शासन-प्रणाली है ऐसा कोई न समझे, क्यों कि वह ईश्वरहीन राज्यशासन है और गीतोक्त राज्य-शासन ईश्वरको अधिष्ठान मानकर चलता है । इससे दोनोंका दृष्टिकोन बहुतही भिन्न है । भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें ईश्वरका विश्वरूप बताया है वह समझमें आनेके पश्चात् गीतोक्त राज्यशासनका विचार पाठक कर सकेंगे । अतः निवेदन है कि यह परमेश्वरका विश्वरूप पाठक जानें और तत्पश्चात् उस विश्वरूपपर यह राज्य-शासन कैसा सुस्थिर हुआ है, इसका मनन करके जानें । जबतक विश्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होगा, तबतक प्रजा, प्रजापति, प्रजापति संस्था आदिका ज्ञान नहीं होगा । इसलिये आगेके विभूतिअध्यायका अध्ययन करनेके पश्चात् विश्वरूपका दर्शन करें और संपूर्ण वैदिक धर्म इसी विश्वरूपकी विद्यापर कैसा आरूढ हुआ है यह जाननेका यत्न करें ।

यहां केवल सूचना मात्र सूत्ररूपसे कहा है और उसमें अतिसंक्षेपके कारण अनेक दोष रह गये हैं, वे आगेके अध्यायोंके स्पष्टीकरणसे दूर हो सकेंगे । इतना कहकर यहांही इस नवम अध्यायका विवेचन समाप्त करते हैं ।

नवम अध्यायका मनन समाप्त ॥ ९ ॥

नवम अध्यायके सुभाषित।

(१) ज्ञानविज्ञानसे अशुभकी निवृत्ती।

ज्ञानं विज्ञानसहितं ज्ञात्वा
मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ ९।१ ॥

" विज्ञानसहित ज्ञान प्राप्त करनेसे अशुभकी निवृत्ती हो सकती है। "

(२) राजविद्याका प्रत्यक्ष फल।

राजविद्या राजगुह्यं
पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं
सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ ९।२ ॥

" राज्यशासनकी गुह्यविद्या पवित्रता करनेवाली, उत्तम फलदायी, प्रत्यक्ष हितकारी, धर्मभाव बढानेवाली, सुखसे आचरने योग्य, और कम व्ययमें सिद्ध होनेवाली है। "

(३) अध्यक्षकी प्रेरणा।

अध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन जगद्विपरिवर्तते ॥ ९।१० ॥

" अध्यक्षके द्वारा प्रकृतिमें प्रेरणा होती है और चराचर जगत् में परिवर्तन होता है। " अध्यक्ष, सभापति अथवा राजा ऐसा प्रेरणा करनेवाला होना चाहिये।

(४) कार्यकर्ताओंका योगक्षेम।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां
ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ९।२२ ॥

" अनन्य होकर जो लोग मेरा कार्य करते रहते हैं उन नित्य कार्य करनेवालोंका योगक्षेम मैं चलाता हूं। " परमेश्वर अपने भक्तोंका योगक्षेम चलाता है वैसाही राजा अपने सेवकों और स्वयंसेवकोंका योगक्षेम चलावे।

(५) उपासक उपास्यके समान बनता है।

यान्ति देवव्रता देवान्
पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या
यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ॥ ९।२५ ॥

" देवोंके उपासक देव बनते हैं, पितृपूजक पितरोंके समान होते हैं, भूतप्रेतोंके पूजक भूतप्रेतोंके समान होते, और ईश्वर उपासक ईश्वरको प्राप्त होते हैं। "जो जैसा उपासनादि व्यवहार करता है, वह वैसा बनता है।

(६) समता धारण करो ।

समोऽहं सर्वभूतेषु
न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥ ९।२९ ॥

" सब प्राणिमात्रोंके साथ मेरा सम व्यवहार है, न कोई मेरा प्रिय है और न शत्रु है । " ऐसाही सबको सबके साथ समभावसे व्यवहार करना चाहिये ।

(७) साधुका लक्षण ।

अपि चेत्सुदुराचारो
भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यः
सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ९ । ३० ॥

" दुराचारी मनुष्यभी क्यों न हो वह ईश्वर भजन करने लग गया और सम्यक् आचार करने लगा, तो वह समझो साधुही होगया है।" जिसका आचरण अच्छा है और जो ईश्वरभक्तिमें रमता है वह साधु है ।

(८) भक्तका नाश नहीं होता ।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा
शश्वच्छांतिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि
न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ९।३१ ॥

" ईश्वरकी भक्ति करनेवाला तत्काल धर्मात्मा बनता है, शान्ति प्राप्त करता है । ऐसे भक्तका कभी नाश नहीं होता ।"

(९) पापियोंका उद्धार

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य
येऽपि स्युः पापयोनयः
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा-
स्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ९।३२ ॥

" ईश्वरका भक्तिसे आश्रय करनेसे पापी, पापयोनीमें उत्पन्न अथवा वैश्य शूद्र और स्त्रियां भी परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होती हैं ।" इसलिये ईश्वरभक्ति करना सबको योग्य है ॥

भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी ।

नवम अध्यायकी विषयसूची ।

अथ दशमोऽध्यायः ।

विभूति–योग ।

(१) महत्त्वपूर्ण उपदेश ।

श्रीभगवानुवाच– भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयः— हे महाबाहो ! भूयः एव मे परमं वचः शृणु । प्रीयमाणाय यत् अहं ते हितकाम्यया वक्ष्यामि॥ १॥ सुरगणाः महर्षयः च मे प्रभवं न विदुः, अहं हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः आदिः (अस्मि) ॥ २ ॥ यः मां अजं अनादिं लोकमहेश्वरं च वेत्ति, सः मर्त्येषु असंमूढः (भूत्वा), सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

भगवान् बोले– हे महाबाहू ! फिर भी मेरा और एक श्रेष्ठ वचन श्रवण कर। तुझे संतोष होता है यह देखकर यह वचन मैं तेरे हित करनेकी इच्छासे कहता हूं ॥ १ ॥ देवगण और महर्षि भी मेरी उत्पत्तिको नहीं जानते, क्यों कि मैं देवों और महर्षियोंका सब प्रकारसे आदिकारण हूं । २ ॥ जो मुझे अजन्मा, अनादि और सब लोकोंका अधिपति जानता है, वह मर्त्योंमें मूढतारहित– ज्ञानी– होकर सब पापोंसे मुक्त होता है । ३ ॥

भावार्थ—यहां विशेष महत्त्वका कथन यह है कि परमेश्वर सब देवों और ऋषियोंका भी आदि कारण होनेसे उस परमेश्वरको न तो ये देव जानते हैं और ना ही ऋषि जानते हैं । यह ईश्वर कभी जन्मता नहीं, वह अनादि अनंत है और सबका अधीश्वर है, ऐसा जो जानता है वह सत्य ज्ञानसे युक्त होनेके कारण निष्पाप बनकर मुक्त होता है ॥ १–३ ॥

(१–३) अर्जुन शंकारहित होकर भगवान् श्रीकृष्णजीके वचनोंसे तृप्त और संतुष्टसा होने लगा, इस लिये उसका कल्याण करनेकी इच्छासे भगवान् फिर एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं । यह बात अर्जुनने पूछी नहीं थी, परंतु अर्जुनको प्रश्न पूछनेकी इच्छा नहीं हुई, अतः जगच्चालक परमेश्वर उसके कल्याणकी बात न कहेंगे, यह कैसे हो सकता है ? श्री भगवान्का हृदय माताका हृदय है, जो सदा पुत्रका कल्याणही चाहेगा । इस माताके प्रेमसे भगवान् केवल अर्जुनके कल्याण करनेके हेतुसे यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं । देवगण और ऋषिगण

(२) विभूतियोग और उसका फल।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

ईश्वरके प्रभवको नहीं जानते, ईश्वर कबसे है, कैसा हुआ इत्यादि वृत्तांत ये नहीं जानते। ये क्यों नहीं जानते ? इसका कारण यह है कि इसी ईश्वरसे इन देवोंकी उत्पत्ति है, अतः वह ईश्वर इनके जन्मके भी पूर्वकालसे विद्यमान है अतः ईश्वर पिता है और देव तथा ऋषि उसके पुत्र हैं। पुत्र पिताके जन्मको कैसे जान सकते हैं ? इसी प्रकार ये देव और ऋषि ईश्वरकी सत्ताको, आदिकारणको यथावत् नहीं जान सकते।

जो लोग इस लोकोंके महेश्वरको न जन्मनेवाला, अनादि तथा अनंत जानता है, वही सत्य जानता है, वही ज्ञानी कहलाता है। ईश्वरको अनादि अनंत जाननाही सत्यज्ञान है। वह ज्ञानी मनुष्योंमें कृतकृत्य होता है, पापरहित होता है और मुक्तभी होता है। ईश्वरको अनादि अनंत जाननेसे मनुष्य निष्पाप कैसा होता है, यह एक विचार करनेकी बात है। इसका कारण इतनाही है कि ईश्वर अनादि अनंत है, सब प्रकारसे परिपूर्ण है, तो भी सब प्राणियोंके उद्धारके लिये जगद्रचनादि कार्य निष्कामभावसे करता है। इतना बडा होता हुआ भी छोटेसेछोटे प्राणीके हितके लिये पूर्ण योजना करता है, यह उसकी दयालुता है। यह देखकर मनुष्य भी अपनेसे छोटोंकी सहायता करें, उनका हित करें। यह उपदेश जो लेते हैं और अपने आचरणमें ढालते हैं वे निष्पाप बनते हैं और परिशुद्ध होते हुए मुक्त हो जाते हैं।

देव ईश्वरको नहीं जानते, क्यों कि वे उसके पीछेसे बने हैं। यह बात ऋग्वेदमें भी कही है—

> को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव ॥
>
> (ऋग्वेद १०।१२९।६)

" सत्‌का यह विसर्ग अर्थात् पसारा किससे या कहांसे आया ? यह इसे अधिक विस्तारपूर्वक कौन कहेगा ? इसे कौन निश्चयपूर्वक जानता है ? देव भी इस सृष्टिके बननेके पश्चात् बने हैं फिर वह जहांसे हुई उसे कौन जानेगा? "

इस तरह ऋग्वेदका भी कथन यह है कि देव उसके पीछेसे उत्पन्न होनेके कारण उसको यथावत् जानते नहीं। यह वेदकीहि बात भगवान्‌ने गीतामें यहां दुहराई है।

इतनी भूमिका कहकर पश्चात् अपना वक्तव्य भगवान् कहते हैं, वह महत्त्वका विषय अब पाठक मननपूर्वक देखें, क्यों कि भगवद्गीताका मुख्य महत्त्वका भाग अब शनैः शनैः आ रहा है--

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अन्वयः— बुद्धिः, ज्ञानं, असंमोहः, क्षमा, सत्यं, दमः, शमः, सुखं, दुःखं, भवः, अभावः, भयं, च अभयं एव च ॥ ४ ॥ अहिंसा, समता, तुष्टिः, तपः, दानं, यशः, अयशः (इमे) पृथग्विधाः भूतानां भावाः मत्तः एव भवन्ति ॥ ५ ॥ पूर्वे सप्त महर्षयः तथा चत्वारः मनवः मद्भावाः मानसाः जाताः, येषां लोके इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥ यः मम एतां विभूतिं योगं च तत्त्वतः वेत्ति, सः अविकंपेन योगेन युज्यते, अत्र संशयः न ॥ ७ ॥

बुद्धि, ज्ञान, अमूढता, क्षमा, सत्य, इंद्रियनिग्रह, मनःशान्ति, सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय और अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अयश ये भिन्न भिन्न प्रकारके प्राणियोंमें उत्पन्न होनेवाले अनेक भाव मुझ (ईश्वर) सेहि उत्पन्न होते हैं ॥ ४—५ ॥ पूर्व कालके सात ऋषि और चार मनु ये मेरे (ईश्वरके) मनसे उत्पन्न हुए भाव हैं, जिनसे इस लोकमें इन सब प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है ॥ ६ ॥ जो मेरी (ईश्वरकी) इस विभूतिको और रचनाकी कौशल्यपूर्ण शक्तिको यथार्थ रूपमें जानता है, वह अविचलित योगसे युक्त होता है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ७ ॥

भावार्थ— बुद्धि ज्ञान आदि अनंत भाव जो प्राणिमात्रोंमें दिखाई देते हैं, वे अनेक तरहके भाव ईश्वरसेही होते हैं। सप्त ऋषि और मनुभी ईश्वरके मानस भावही हैं, जिनसे यह सब प्रजा उत्पन्न हुई है। यह सब ईश्वरकी विभूतियां हैं और इन विभूतियोंको उत्पन्न करनेकी कौशल्यपूर्ण शक्ति ईश्वरकीहि है। इसी शक्तिसे इस विश्वमें सब विभूतियां उत्पन्न होती हैं। जो लोग ये सब विभूतियां ईश्वरकीहि हैं और इन विभूतियोंकी उत्पत्ति उसकी अद्भुत कौशल्यपूर्ण शक्तिसे होती है, ऐसा जानते हैं, उनका योग सुदृढ होता है ॥ ४-७ ॥

(४-७) इन श्लोकोंमें बुद्धि ज्ञान आदि अनेक भाव जो मनुष्योंमें दिखाई देते हैं वे सब ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है। ईश्वरका जो विश्वव्यापी मन है उससे उत्पन्न हुए (मद्भावाः मानसाः जाताः) मानस भाव हैं, वे उस व्यक्तिके भाव नहीं। यह ईश्वरकी विभूति है और यही ईश्वरकी शक्तिका अद्भुत योग है। जो इसमें ईश्वरकी विभूति देखता है और इसमें ईश्वरकी शक्तिका अद्भुत योग हुआ है ऐसा जानता है अथवा ऐसा अनुभव करता है उसको स्थिर योग उत्तम प्रकार साध्य होता है। यह इस ज्ञानका फल है। इसलिये इसका विशेष विचार करना चाहिये। यहां कुल बीस भाव कहे हैं, इनमें चार अभाववाचक हैं और सोलह भाववाचक हैं। जिन बारह भावोंके प्रतियोगी अभाववाचक भाव गीताके श्लोकोंमें दिये नहीं हैं, उनके अभाववाचक शब्दोंकी कल्पना यहां करनी चाहिये या नहीं, यह पहली आशंका यहां होती है। पाठकोंकी सुविधाके लिये हम गीतोक्त शब्द स्थूल अक्षरोंमें नीचे देते हैं, और जिन प्रतियोगी भावोंके शब्द हमने यहां रखे हैं, उनको हम सूक्ष्म अक्षरोंमें रखते हैं, जैसा—

१ बुद्धिः	(अबुद्धिः)
२ ज्ञानं	(अज्ञानं)
३ असंमोहः	(संमोहः)

४ क्षमा	(अक्षमा)
५ सत्यं	(असत्यं)
६ दमः	(अदमः)
७ शमः	(अशमः)
८ सुखं	९ दुःखं
१० भवः	११ अभावः
१३ अभयं	१२ भयं
१४ अहिंसा	(हिंसा)
१५ समता	(विषमता)
१६ तुष्टिः	(असंतोषः)
१७ तपः	(अतपस्विता)
१८ दानं	(अदानं)
१९ यशः	२० अयशः

यहां गीतामें कहे भाव स्थूल अक्षरोंमें दिये हैं और उनके पीछे क्रमांक भी रखे हैं। जो प्रतियोगी भाव हमने अपनी कल्पनासे यहां रखे हैं वे सूक्ष्म अक्षरोंमें रखे हैं।

सुख	दुःख
भाव	अभाव
अभय	भय
यश	अयश

यदि ये भाव दोनों संयोगी और प्रतियोगीके रूपोंमें दिये हैं, तो-

ज्ञान	अज्ञान
सुख	दुःख

इत्यादि दूसरे भाव क्यों दोनों रूपोंमें न लिये जांय? हमारा विचार ऐसा है कि ये सब भाव यहां दोनों रूपोंमें लेना चाहिये। इतनाही नहीं परंतु इनसे भिन्न अन्य दूसरे सब भाव भी यहां लेना चाहिये। क्यों कि जागतिक व्यवहारमें केवल इतनेही भाव हैं और इनसे अधिक भाव नहीं हैं ऐसी बात नहीं है। सैंकडों भाव अनेक प्राणियोंके व्यवहारमें दिखाई देतेही हैं, उन सबको यहां विचारार्थ लेना चाहिये, जैसा--

अक्रोध	क्रोध
अकाम	काम
शान्ति	अशान्ति
अमत्सर	मत्सर
निर्ममत्व	ममत्व
त्याग	लोभ

इत्यादि अनेक मानस भाव जो प्राणिमात्रके व्यवहारमें दिखाई देते हैं, वे सबके सब यहां विचारार्थ लेने चाहिये। क्यों कि वे सभी भाव ईश्वरीय योजनासे होते हैं।

कौनसा ऐसा भाव है कि जो ईश्वरके साथ संबंध नहीं रखता? यही एक मुख्य प्रश्न है। इसका उत्तर यही है कि यहां एक भी ऐसा भाव नहीं है जो ईश्वरके साथ संबंध नहीं रखता। अतः यहां जो बीस भाव गिनाये हैं वे केवल उदाहरणके लिये ही हैं, तथा संयोगी प्रतियोगीके रूपमें जो चार भाव यहां गिनाये हैं वे भी उदाहरणरूपही हैं। इनसे अन्य भावोंके संयोगी और प्रतियोगी भाव यहां लेने चाहिये। इसी उद्देश्यसे कहा है कि--

भूतानां पृथग्विधा भावाः मत्त एव भवन्ति।

(१०।५)

"भूतोंके पृथक् पृथक् अनेक भाव ईश्वरसेही होते हैं।" जन्म, मृत्यु, सत्य असत्य, निर्भयता भय, सुख दुःख ये सभी भाव ईश्वरसे होते हैं। इनमें एक भी भाव ऐसा नहीं कि जो ईश्वरसे हुआ नहीं है। आगे कहा जानेवाला विभूतियोग उसी समय समझमें आवेगा और विश्वरूपदर्शन भी उसी समय समझमें आवेगा कि जब ये भाव समझमें आ जांयगे। ऐसा समझो कि अतिसंक्षेपसे यहां विभूतियोग और विश्वरूपदर्शनयोग कहा गया है।

ईश्वरके मानस पुत्र सप्त ऋषि और मनु हैं और इनसे इस लोकमें जो प्रजा है वह हो गयी है। अर्थात् यह प्रजाजनभी ईश्वरसेही उत्पन्न हुए हैं। यह भी विभूतियोगही है और यही विश्वरूपदर्शनमें परिणत होनेवाला विचार है।
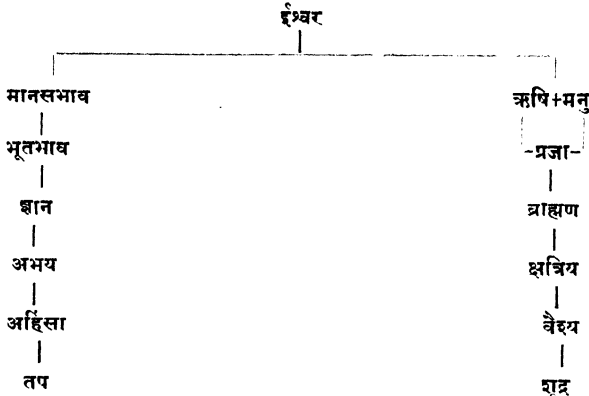
इस तरह ईश्वरसे मानसभाव हुए और उन मानसभावोंसे युक्त प्रजाजन हुए। ईश्वरसे ज्ञान हुआ, उससे युक्त ज्ञानी ब्राह्मण हुए। ईश्वरसे निर्भयता हुई,उससे निर्भयवृत्तिवाले क्षत्रिय बने। ईश्वरसे अहिंसा हुई, उस अहिंसा अर्थात् पालक भावसे युक्त पशुपालन करनेवाले वैश्य हुए। ईश्वरसे तप हुआ और इस कष्टका कार्य करनेवाले शूद्र हुए। ईश्वरसे इसी तरह क्रोध तथा मन्यु हुआ, उससे युक्त क्रोधी मनुष्य हुए। इसी प्रकार अन्यान्य भावोंके विषयमें जानना चाहिये।

ईश्वरसे गुणरूप मानस भाव उत्पन्न हुए, और उन गुणोंको धारण करनेवाले मानवादि प्राणी तथा अन्यान्य भूत उत्पन्न हुए। इस तरह विचार करनेपर पता लग जायगा कि सब भूतोंमें जो अनंत भाव हैं वे सबके सब ईश्वरसे बने हैं, अतः ये सब ईश्वरकी विभूतियां हैं और इसी कारण यह विश्वका रूप ईश्वरकाही विश्वरूप है।

ये ईश्वरकी विभूतियां हैं और यह ईश्वरीय सामर्थ्यका अद्भुत कौशल्ययोग है। (वासुदेवः सर्वं। गी० ७।१९) पूर्व अध्यायमें वासुदेव अर्थात् ईश्वरही सब कुछ हैं ऐसा कहा है। उसीका यह स्पष्टीकरण है। सब कुछ ईश्वर कैसा है? वह ऐसा है। प्रथम ईश्वरके संकल्पसे मानसभाव उत्पन्न हुए और उनको धारण करनेवाले भूतमात्र बने, वे ही ये सब प्राणी हैं। अतः येही उनकी विभूतियां हैं और यही उसका विश्वरूप है और इसी लिये वासुदेव सब कुछ है, ऐसा पूर्व स्थानमें कहा गया है।

अविकम्पित योग।

जो यह जानता है उसका योग स्थिर हो जाता है, क्योंकि योग नाम ईश्वरके साथ मिलना है। जब मनुष्यको सुखदुःख, यश अयश, भय अभय आदि सब भाव परमेश्वरके हैं और उन भावोंसे युक्त सब प्रजा ईश्वरके मानस भावोंसेही बनी है, ऐसा निश्चित ज्ञान होता है, तब उसके सामने जो भी भाव अथवा जो भी भूत आ जावे, वह परमेश्वरका ही भाव है ऐसा उसको प्रतीत होता है। इस तरह उसका परमेश्वरके साथ अखंड योग सतत हो जाता है, क्यों कि उसके लिये विश्वका हरएक भाव ईश्वरकाही भाव है। फिर वह ईश्वरसे दूर कैसा होगा? यही कारण है कि वह इस

(३) सतत योगका लक्षण।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

अन्वयः-- अहं सर्वस्य प्रभवः (अस्मि), मत्तः सर्वं प्रवर्तते, इति मत्वा बुधाः भावसमन्विताः मां भजन्ते॥ ८॥ मच्चित्ताः मद्गतप्राणाः परस्परं बोधयन्तः कथयन्तः च नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥ (एवं) सतत-युक्तानां प्रीतिपूर्वकं भजतां तेषां, तं बुद्धियोगं ददामि येन ते मां उपयान्ति॥ १०॥

मैं (ईश्वर) सबका उत्पन्नकर्ता हूं, मेरेसे (ईश्वरसे) हि सब कुछ प्रवृत्त होता है, यह जानकर ज्ञानी लोग श्रद्धासे युक्त होकर मेरा (ईश्वरका) भजन करते हैं॥ ८॥ मुझ (ईश्वर) में चित्त लगाकर, मुझे (ईश्वरके लिये) प्राण तक समर्पण करके आपसमें परस्परोंको बोध करते हुए और मेरा (ईश्वरका) वर्णन करते हुए नित्य संतुष्ट रहते और आनन्दित होते हैं॥ ९॥ इस प्रकार इस योगको सतत करनेवालों और प्रेमपूर्वक मेरा (ईश्वरका) भजन करनेवालोंको मैं उस बुद्धियोगको देता हूं, जिससे वे मेरे (ईश्वरके) पास आते हैं॥ १०॥

ज्ञानसे--

सः अविकम्पेन योगेन युज्यते॥ (१०।७)

वह अविचलित योगसे युक्त होता है। अर्थात् उसका सदा ईश्वरके साथ योग होता है। जो वह करेगा, जहां वह जायेगा, जिसका वह विचार करेगा, वह सब ईश्वरके साथही संबंधित होगा। इसीका नाम 'अविकंपित योग' है। जबतक सब भाव ईश्वरके हैं यह ज्ञान यथावत् नहीं होगा, तबतक होनेवाला योग 'विकंपित अथवा चंचलयोग' होगा। परंतु जब सभी भाव ईश्वरके हैं यह ज्ञान निश्चित रूपसे होगा तब इसका योग 'अविकंपित, अविचलित अथवा स्थिर योग' होगा। इसका फल देखिये--

(८-११) ईश्वरसे सबकी उत्पत्ति होती है, क्यों कि सृष्टिकर्ता वही है, सबका उत्पन्न करनेवाला वही एक है। उसी ईश्वरसे संपूर्ण वस्तुओंकी प्रवृत्ति होती है अर्थात् ईश्वरकी प्रेरणासे सब विश्वके पदार्थ अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। इस सकल विश्वमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है कि जो ईश्वरकी प्रेरणासे रहित सर्वतंत्र स्वतंत्र रूपसे प्रवृत्त हुआ हो। अतः यह निश्चय जानना चाहिये कि जो कुछ इस विश्वमें प्रवृत्ति दीखती है, वह उसी एक अद्वितीय ईश्वरसे हुई है।

जिस समय सब प्रवृत्तिका आदिकारण परमेश्वर है ऐसा स्पष्टतया विदित होता है, उस समय उस परमेश्वरपर श्रद्धा भक्ति और अटल विश्वास स्थिर हो जाता है। और ऐसे ज्ञानी

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अन्वय-तेषां एव अनुकम्पार्थं अहं आत्मभावस्थः (सन्) भास्वता ज्ञानदीपेन अज्ञानजं तमः नाशयामि ॥ ११ ॥

उनके ही ऊपर दया करनेके लिये मैं उनकी आत्माके भाव (बुद्धि) में रहता हुआ प्रकाशमय ज्ञानदीपसे उनके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश करता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ— ईश्वर सबको उत्पन्न करता है, सबको प्रेरणा देता है, उसकी प्रेरणासे सब वस्तुमात्र अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त हुए हैं। यह जान कर साधक श्रद्धाभक्तिसे युक्त होकर परमेश्वरका भजन करते जांय। ईश्वरमें चित्त स्थिर करें, ईश्वरके कार्यके लिये अपना जीवन समर्पण करें, स्वयं ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करके वह ज्ञान दूसरोंको देनेका यत्न करें, ईश्वरके गुणोंका संकीर्तन करें। ईश्वरके गुणगानमें आनन्द प्राप्त होनेका अनुभव करें। इस तरह जो लोग सतत योग करेंगे, उनको ईश्वरमेंही एक अद्भुत बुद्धियोग प्राप्त होगा कि जिससे वे सदा ईश्वरके साथ रहेंगे। और ईश्वरसे कदापि दूर न होंगे। उनकी आत्माबुद्धिमें सत्य ज्ञान प्रकाशित होगा और उस कारण उनके अज्ञान पूर्ण रूपसे दूर होकर वे कृतकृत्य होंगे ॥ ८-११ ॥

भक्त उसीका भजन सतत करते हैं।

ईश्वरपर चित्त लगाते हैं, सब मन उसीपर स्थिर करते हैं, अथवा उनका चित्त निरंतर उसीपरहि रहता है, क्यों कि उससे भिन्न कोई वस्तु न होनेके कारण जहां चित्त लगेगा, वहां ईश्वरकाही भाव उनको प्रतीत होगा। जो भाव उनके सामने आता है वह ईश्वरकाही भाव होनेसे ईश्वरको सर्वत्र प्रत्यक्ष करनेके कारण उनका मन ईश्वरहीमें सदा स्थिर रहता है।

उनके प्राण ईश्वरके लिये समर्पित होते हैं। ईश्वरका कार्य करनेके लिये उनके प्राण लग जाते हैं अर्थात् उनका संपूर्ण जीवन ईश्वरके कार्यके लिये समर्पित होता है। उनका जीवन निजी स्वार्थके लिये नहीं होता, प्रत्युत ईश्वरसेवाके लिये होता है। ईश्वरका कार्य करते हुए मृत्यु आजाय तो उनको परम आनंद होता है।

वे स्वयं ईश्वरके अद्भुत सामर्थ्यका विचार करते हैं, उस सामर्थ्यको जानते हैं और दूसरोंको समझानेका यत्न करते हैं, दूसरोंको समझाते हैं। यह ज्ञान दूसरोंको देना अपना कर्तव्य समझते हैं। इसी लिये वे उपदेश देते रहते हैं, ईश्वर तत्त्वका ज्ञान बोलते रहते हैं, प्रवचन करते हैं, जिससे ईश्वरके गुण मनुष्योंको विदित हों वह यत्न वे करते हैं। और इसी गुणगानसे संतुष्ट होते हैं और आनंदप्रसन्न होते हैं।

सतत योगी।

जो पूर्वोक्त प्रकार ईश्वरविषयक तत्त्वज्ञान जानते, उपदेश करते और उसीमें रमते हैं, जिनका चित्त सदा उसी ईश्वरमें लगा रहता है, जिनका जीवन परमेश्वरको समर्पित हुआ होता है और जिनका कायावाचामन इस तरह सदा ईश्वरमय होता है, उनको "सतत योगी" कहा जाता है, क्योंकि उनकाही जीवन पूर्ण योगमय हुआ होता है। सदा और अखंड योग उनकाही हुआ करता है। जिस अवस्थामें वे रहेंगे उस अवस्थामें उनका योग होता रहता है, उसमें खंड नहीं रहता। ईश्वरके लिये आत्मसमर्पण करनेमें उनको प्रेम होता है और प्रेमभरे चित्तसे वे सदा यह योग करते हैं अथवा

(४) किस किस भावमें ईश्वरका चिंतन करना चाहिये ?

अर्जुन उवाच—परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच — भवान् परं ब्रह्म, परं धाम, परमं पवित्रं (अस्ति)। सर्वे ऋषयः त्वां शाश्वतं दिव्यं आदिदेवं अजं विभुं पुरुषं आहुः। तथा देवर्षिः नारदः असितः देवलः व्यासः (कथयति), त्वं च स्वयं एव मे ब्रवीषि॥ १२-१३॥

अर्जुन बोले— आप परब्रह्म हैं, परम धाम हैं, और परम पवित्र हैं। सब ऋषि आपको शाश्वत, दिव्य, आदि देव, अजन्मा, विभु और उत्तम पुरुष कहते आये हैं। और ऐसाही देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास भी कहते हैं और आप स्वयंभी मुझे ऐसाही कह रहे हैं॥ १२-१३॥

स्वभावसे यह योग उनसे होता रहता है।

इन सदायोगियोंकी बुद्धि इस योगसे संयुक्त होती है। मानो उनकी बुद्धिमें दूसरा कुछ विषय रहताही नहीं। इस कारण वे परमेश्वरके पास सदाही रहते हैं, परमेश्वरको पूर्णतया प्राप्त होते हैं। उनकी आत्मा बुद्धि इस तरह परमेश्वरके निकट रहती है कि वह कदापि वहांसे हटती नहीं अथवा वह हटकर जायभी कहां? क्यों कि जहां वह जाय वहां ईश्वरहि है।

इसका नाम 'बुद्धियोग' है। यह बुद्धियोग जिसे प्राप्त हुआ वह सदा ईश्वरसे संयुक्त रहता है। उनके ऊपर परमेश्वरकी अनुकम्पा होती है, ये लोग ईश्वरकी दयाके पात्र होते हैं। उनके आत्माबुद्धिमें परमेश्वर जागता है, ऐसा कहा जाता है। सच तो यह है कि परमेश्वर तो कभी सोता ही नहीं, निरंतर जागताही है, परंतु उसकी जागृतिका अनुभव उन महानुभावोंको होता है कि जो पूर्वोक्त बुद्धियोगसे युक्त होते हैं। इस तरह आत्माबुद्धिमें सदा परमेश्वरकी ऐसी जागृति होने लगी तो शुद्ध ज्ञान बुद्धिमें चमकने लगता है और ज्ञानका प्रकाश होतेही अज्ञान तत्कालही नाश होता है। इस तरह अज्ञानका नाश होनेसे साधकको मुक्ति प्राप्त होती है।

इतना विवेचन श्रीभगवान्के मुखारविंदसे श्रवण करनेपर अर्जुन ईश्वरको सर्वत्र उपस्थित माननेका यत्न करने लगा, इस यत्न करनेकी अवस्थामें उसके मनमें कुछ शंकाएं उपस्थित हुई, उनको भगवान्के सन्मुख वह रखता है। हमभी उनका श्रवण करेंगे--

(१२-१८) परमेश्वरकोही परब्रह्म, परमधाम और परम पवित्र कहते हैं। 'पर ब्रह्म' का अर्थ 'श्रेष्ठ बडा व्यापक समर्थ तत्त्व' 'परम धाम' का अर्थ 'श्रेष्ठ स्थान, श्रेष्ठ आश्रय, विशाल गृह'; और 'परम पवित्र' का अर्थ 'अत्यंत शुद्ध, किसी प्रकारकी विजातीय मिलावटसे रहित'। जो अन्तिम वस्तु है वह ऐसी है।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६ ॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अन्वयः— हे केशव ! यत् मां त्वं वदसि, तत् एतत् सर्वं (अहं) ऋतं मन्ये । हे भगवन् ! देवाः दानवाः (वा) ते व्यक्तिं न हि विदुः ॥ १४ ॥ हे पुरुषोत्तम, भूतभावन, भूतेश, देवदेव, जगत्पते ! त्वं स्वयं एव आत्मना आत्मानं वेत्थ ॥ १५ ॥ (अतः) याभिः विभूतिभिः त्वं इमान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि, (ताः) दिव्याः आत्मविभूतयः हि अशेषेण वक्तुं अर्हसि ॥ १६ ॥ हे योगिन् ! सदा परिचिंतयन् अहं त्वां कथं विद्याम् ? हे भगवन् ! केषु केषु च भावेषु त्वं मया चिन्त्यः असि ? ॥ १७ ॥ हे जनार्दन ! आत्मनः योगं विभूतिं च भूयः विस्तरेण कथय । (एतत्) अमृतं शृण्वतः हि मे तृप्तिः नास्ति ॥ १८ ॥

हे केशव ! जो मुझे आप कहते हैं वह सब मैं सत्य मानता हूं । हे भगवन् ! देव वा दानव आपका स्वरूप नहीं जानते हैं ॥ १४ ॥ हे पुरुषोत्तम, भूतोंके उत्पादक, भूतोंके ईश्वर, देवोंके देव और जगत्के स्वामी ! आप स्वयं ही अपने आपको जानते हैं ॥ १५ ॥ अतः मुझे जिन विभूतियोंद्वारा आप इन लोकोंको व्याप कर रहे हैं, उन आपकी दिव्य विभूतियोंका वर्णन पूर्ण रूपसे कहिये ॥१६॥ हे योगिन् ! नित्य आपका परिचिन्तन करते हुए मैं किस तरह आपको जान सकता हूं ? हे भगवन् ! किन किन भावोंमें आपका मुझे चिन्तन करना चाहिये? ॥ १७ ॥ हे जनार्दन ! अपने कौशलयोगका और अपनी विभूतियोंका फिर मुझे विस्तारसे वर्णन करिये । यह अमृतरूप वर्णन सुननेपर भी मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥

भावार्थ— परब्रह्म, परमधाम, परम पवित्र स्वरूप एकही है । सब ऋषि उसी ईश्वरको सनातन, दिव्य, पहिला देव, अजन्मा, अनन्त, व्यापक और मुख्य पुरुष कहते हैं । जो उसका ऐसा वर्णन किया जाता है वह सत्यही है, परंतु उस ईश्वरको यथार्थ रूपसे जाननेमें उससे भिन्न दूसरा कोई समर्थ नहीं है। वही सबका उत्पत्तिकर्ता, स्वामी और प्रकाशक है । वह स्वयं अपने आपको जानता है । वह इन सब लोकलोकान्तरको किन किन विभूतियों द्वारा व्यापता है यह देखना चाहिये । किन किन विभूतियोंके रूपमें साधक उसे देखे, पहचाने और समझे कि यह इस रूपमें परमेश्वरही है ? ईश्वरका यह विभूतियोग साधकको जानना चाहिये ॥ १२—१८ ॥

इसीको 'शाश्वत' अर्थात् 'सदा एक जैसा रहनेवाली, सनातन, चिरंतन'। 'दिव्य' अर्थात् 'द्युलोकमें-आकाशमें फैली हुई, प्रकाशमान, तेजस्वी, सबको प्रकाश देनेवाली'। 'आदि देव' अर्थात् 'पहिला देव, सबसे पूर्व जो रहता था और सबके बाद जो रहेगा'। 'अज' अर्थात् (अ-जः) 'जन्मरहित, जो जन्मता नहीं जो सदासे है, तथा जो (अजति) हलचल प्रेरणा करता है, जो चलाता है'। 'विभु' अर्थात् 'जो विशेष प्रभावशाली, व्यापक, प्रभावयुक्त है'। 'पुरुष' अर्थात् (पुरि वसति) इस विश्वरूपी पुरीमें जो व्यापकर रहता है, जो सर्वत्र विद्यमान है ।

सब ऋषि तथा नारद, असित, देवल, व्यास आदिभी इस प्रभुका ऐसा ही वर्णन करते हैं। यहां प्रत्यक्ष ईश्वरका कहना है वह भी ऐसाही है । ईश्वरका कथन और ऋषियोंका वर्णन इसके विषयमें एक है, इसमें कोई मतभेद नहीं है। मतभेद न होनेके कारण वह यथार्थ मानना चाहिये ।

इतना होनेपर भी देव और दानव ईश्वरको पूर्णरूपसे जानते हैं,ऐसा नहीं कहा जा सकता। यहां दानवोंका नाम आया है। यहां कई शंका कर सकते हैं कि दानवोंकी ज्ञानग्रहण करनेकी संभवनाही कहां है ? इस विषयमें इतना कहना आवश्यक है कि देव, दानव, असुर, दैत्य और राक्षस एकही गुरुकुलमें विद्या ग्रहण करते थे। इस विषयमें छान्दोग्य उ० में ऐसा वचन है—

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे, ते होचु- र्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्, इति इन्द्रो हैव देवानामभि प्रवव्राज विरोचनो असुराणां, तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥
(छां० उ० ८।७।२)

'देव और असुर ये दोनों आत्माको जाननेकी इच्छा करने लगे, क्यों कि आत्माका ज्ञान होनेसे सब लोकों और सब कामनाओंकी प्राप्ति होती है । देवोंमेंसे इन्द्र और असुरोंमेंसे विरोचन ये दोनों इस विद्याके अध्ययन करनेके लिये प्रजापतिके गुरुकुलमें प्राप्त हुए ।' ये दोनों बत्तीस वर्ष इस प्रजापतिके गुरुकुलमें रहे और अध्ययन करते रहे । इस तरह देव दानव आदि एक विद्यालयमें पढा करते थे, इसी लिये यहां कहा है कि देवों और दानवोंको भी परमेश्वरका यथार्थ ज्ञान नहीं होता है ।

देव दैवी शक्तिसे युक्त होते हैं और असुर आसुरी मायाशक्तिसे युक्त होते हैं । दोनोंकी संस्कृति विभिन्न होती है, दोनोंके ध्येय विभिन्न होते हैं । यह सब भेदके चिन्ह स्पष्ट हैं, परंतु वे एक विद्यालयमें पढा करते थे इसमें कोई संदेह नहीं और ये दोनों आत्माकीहि खोज करनेके लिये गुरुकुलमें रहते थे। परंतु दैत्य, असुर और राक्षस भोगकामी होनेके कारण आत्मज्ञान पूर्णतया होनेतक रहते नहीं थे, परंतु देव अध्ययन पूर्ण होनेतक रहते थे । पूर्वोक्त प्रजापति आचार्यके गुरुकुलमें विरोचन असुर केवल ३२ वर्षही रहा, परंतु देवोंका इन्द्र सौ

(५) परमेश्वरकी विभूतियाँ।

श्रीभगवानुवाच– हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

वर्षतक रहकर अध्ययन करता रहा। विरोचनने केवल पहिली प्रवेशपरीक्षा उत्तीर्ण करके अध्ययन छोड दिया। परंतु इन्द्रदेवने आगेकी तीनों परीक्षायें उत्तीर्ण की और उत्तम ज्ञान प्राप्त किया। असुरों और देवोंमें यह भेद है। बली, प्रह्लाद, रावण आदि असुरोंमेंभी बडे विद्वान् सुप्रसिद्ध हैं। अतः उनके विद्या अध्ययन करनेमें कोई शंका नहीं है। इसीलिये गीताके इस श्लोकमें कहा है कि देवों और दानवोंकोभी परमेश्वरका सत्यस्वरूप यथार्थ रीतिसे विदित नहीं होता।

परमेश्वर पुरुषोंमें उत्तम है, भूतोंका उत्पादक है, सबका सम्राट् है, देवोंका देव अर्थात् देवोंकोभी प्रकाश देनेवाला है और संपूर्ण जगत् का स्वामी है। वह अपने आपको यथार्थ रीतिसे जान सकता है।

यद्यपि यह परमेश्वर संपूर्ण विश्वमें पूर्णतया व्याप्त है, किसी स्थानपर वह नहीं है ऐसा नहीं है, तथापि किसी किसी स्थानपर वह अपनी शक्ति अधिक प्रकाशित करता है। सर्वत्र परमेश्वरकी 'भूति' है, परंतु जहां उसकी शक्ति विशेष प्रकाशित होती है वहां उसकी 'वि-भूति' है, ऐसा कहा जाता है। यह 'भूति और विभूति' में भेद है। ईश्वर सब जगह है यह किसीको पता नहीं लगता, परंतु जहां उसका सामर्थ्य अधिक है, वहां उसका पता लग सकता है। जैसा अग्नितत्त्व सर्वव्यापक है, तथापि आग, विद्युत् और सूर्यमें उसकी शक्ति प्रकट होनेसे इन तीन स्थानोंमें उसकी 'विभूति' है ऐसा कह सकते हैं। अतः यहां अर्जुन पूछ रहा है कि 'हे भगवन्! आप किन किन विभूतियोंसे इन लोकोंको व्याप रहे हैं?' वस्तुतः परमेश्वर सब अणुरेणुमें व्याप रहा है, इसलिये वह किन विशेष स्थानोंमें व्याप रहा है, ऐसा प्रश्न करना अनुचित ही है। इस समयतक अनेक स्थानोंपर परमेश्वरकी सर्वव्यापकता कही है--

नित्यः सर्वगतः स्थाणुः। (गी. २।२४)

ऐसे स्थानोंपर वह सर्वगत अर्थात् सब अणुरेणुमें व्यापक है ऐसा स्पष्ट कहा है। जो सर्वगत है वह किन किन स्थानोंमें प्रकाशित होता है! यह प्रश्न वस्तुतः कोई महत्त्व नहीं रखता। वास्तविक देखा जाय तो यह अर्जुनका प्रश्न असंबद्ध है, तथापि जिज्ञासाबुद्धिसे प्रश्न किया है और जिज्ञासुके मनमें यह भी एक अवस्था आती हि है। अग्नितत्त्व सर्वत्र है तथापि आग विजुली और सूर्यमें वह विशेष प्रभावित है। इसी तरह यद्यपि परमेश्वर सर्वत्र है तथापि किन किन स्थानोंपर वह अधिक प्रकाशित है? इस जिज्ञासाभावसे यह प्रश्न योग्य है। साधारण मनुष्यके अनुभवमें इस विश्वमें अनंत पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, परंतु परमेश्वर किसी स्थानपर दिखाई नहीं देता। इसलिये यहां पूछा है कि उसका विशेष प्रकाश कहां देखना चाहिये?

साधक परमेश्वरका चिन्तन करना चाहता है, परंतु वह किसका चिन्तन करे? सर्वव्यापक, अदृश्य, अगोचरका चिन्तन कैसा किया जाय? चिन्तन करनेके लिये कोई तो सामने वस्तु रहे, जो वस्तुके अन्दर हो उसका चिन्तन कैसा होवे? अतः पूछा है कि किन किन वस्तुओंमें प्रथम हम परमेश्वरकी विभूति देखें? परमेश्वरकी सत्ताका वहां कैसा अनुभव करें? परमेश्वर तो

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

अन्वयः— हे कुरुश्रेष्ठ ! हन्त, दिव्याः आत्मविभूतयः प्राधान्यतः ते कथयिष्यामि, मे विस्तरस्य हि अन्तः नास्ति ॥ १९ ॥ हे गुडाकेश ! अहं सर्वभूताशयस्थितः आत्मा, भूतानां आदिः, मध्यं च अन्तः च अहं एव (अस्मि) ॥ २० ॥ आदित्यानां विष्णुः अहं, ज्योतिषां अंशुमान् रविः अहं, मरुतां मरीचिः, नक्षत्राणां शशी च अहं अस्मि ॥ २१ ॥ वेदानां सामवेदः (अहं) अस्मि, देवानां वासवः अस्मि, इंद्रियाणां मनः अस्मि, भूतानां चेतना च अस्मि ॥२२॥ रुद्राणां शंकरः, यक्षरक्षसां च वित्तेशः अस्मि, वसूनां पावकः, शिखरिणां मेरुः च अहं अस्मि ॥२३॥

श्रीभगवान् बोले— अच्छा, अब मैं अपनी मुख्य मुख्य विभूतियाँ तुझे बताऊंगा, क्यों कि उनके विस्तारका तो अन्तही नहीं है ॥ १९ ॥ हे गुडाकेश अर्जुन ! मैं सब प्राणियोंमें रहनेवाला आत्मा हूँ, भूतोंका आदि मध्य अन्त भी मैं ही हूँ ॥ २० ॥ आदित्योंमें विष्णु मैं हूँ, ज्योतियोंमें चमकनेवाला सूर्य मैं हूँ, मरुतोंमें मरीचि और नक्षत्रोंमें चन्द्र मैं हूँ ॥ २१ ॥ वेदोंमें सामवेद मैं हूँ, देवोंमें इन्द्र मैं हूँ, इंद्रियोंमें मन और प्राणियोंमें चेतना मैं हूं ॥ २२ ॥ रुद्रोंमें शंकर, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर मैं हूँ, वसुओंमें पावक अग्नि मैं हूँ, पर्वतोंमें मेरुपर्वत मैं हूँ ॥ २३ ॥

अरूप है, निराकार है ऐसा सब मानते हैं। इस अरूपको हम किस रूपमें देखें ? इस निराकारको हम किस आकारमें और कैसे प्रत्यक्ष करें ? कहां, किस प्रकार, कौनसा परमेश्वरका भाव है ? और वह हम कैसा जानें ? यह आशय इस प्रश्नमें है।

परमेश्वरकी (विभूति) विशेष भूति कहां है ? और उसकी अद्भुत शक्तिका कौशल्यमय योग कहां दिखाई देता है? यह प्रश्न है। इसका उत्तर संक्षेपसे इसी अध्यायके पहिले सात श्लोकोंमें आचुका है,वह सुनकरही अर्जुनने विस्तारपूर्वक जाननेकी इच्छासे प्रश्न किया है। इस प्रश्नका उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण विस्तारसे अब देते हैं; वह अमृत जैसा जन्मका सार्थक करनेवाला भाषण अब मननपूर्वक श्रवण करें—

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धिमाममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥
अनन्तश्चाऽस्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! पुरोधसां च मुख्यं बृहस्पतिं मां विद्धि, सेनानीनां स्कंदः, सरसां सागरः अहं अस्मि ॥ २४ ॥ महर्षीणां भृगुः, गिरां एकं अक्षरं अहं अस्मि, यज्ञानां जपयज्ञः, स्थावराणां हिमालयः च अस्मि ॥२५॥ सर्ववृक्षाणां अश्वत्थः, देवर्षीणां च नारदः, गंधर्वाणां चित्ररथः, सिद्धानां कपिलः मुनिः (अहं अस्मि) ॥ २६ ॥ अश्वानां अमृतोद्भवं उच्चैश्रवसं, गजेन्द्राणां ऐरावतं, नराणां नराधिपं च मां विद्धि ॥ २७ ॥ आयुधानां वज्रं अहं, धेनूनां कामधुक् (अहं) अस्मि, प्रजनः कंदर्पः अस्मि, सर्पाणां वासुकिः अस्मि ॥ २८ ॥ नागानां अनन्तः,यादसां वरुणः च अहं अस्मि, पितॄणां अर्यमा च, संयमतां यमः च अहं अस्मि ॥ २९ ॥

हे पार्थ ! तू पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पति मुझे जान, सेनापतियोंमें स्कंद और जलाशयोंमें सागर मैं हूँ ॥२४॥ महर्षियोंमें भृगु, वाणीमें एक अक्षर ॐ मैं हूं, यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थावरोंमें हिमालय मैं हूँ ॥ २५ ॥ सब वृक्षोंमें अश्वत्थ, देवर्षियोंमें नारद, गंधर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिलमुनि मैं हूँ ॥२६॥ अश्वोंमें अमृतसे उत्पन्न उच्चैःश्रवा, हाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें राजा मैं हूँ, ऐसा तू जान ॥२७॥ हथियारोंमें वज्र मैं हूँ, गौवोंमें कामधेनु मैं हूँ, प्रजा उत्पन्न करनेवाला काम मैं हूं और सर्पोंमें वासुकी मैं हूं ॥ २८ ॥ नागोंमें अनंत नामक नाग और जलचरोंमें वरुण मैं हूं। पितरोंमें अर्यमा और नियमन करनेवालोंमें यम मैं हूँ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

अन्वयः-दैत्यानां प्रह्लादः, कलयतां कालः च अहं अस्मि; मृगाणां मृगेन्द्रः, पक्षिणां वैनतेयः च अहं (अस्मि) ॥३०॥ पवतां पवनः अस्मि, शस्त्रभृतां च रामः अहं (अस्मि), झषाणां मकरः अस्मि, स्रोतसां जाह्नवी च (अहं) अस्मि ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! सर्गाणां आदिः मध्यं च अन्तः च एव अहं (अस्मि), विद्यानां अध्यात्मविद्या, प्रवदतां वादः अहं (अस्मि) ॥ ३२ ॥ अक्षराणां अकारः, सामासिकस्य च द्वन्द्वः, अक्षयः कालः अहं एव, च विश्वतोमुखः धाता च अहं (अस्मि) ॥ ३३ ॥ सर्वहरः मृत्युः, भविष्यतां उद्भवः च अहं । नारीणां च कीर्तिः श्रीः वाक् स्मृतिः मेधा धृतिः क्षमा (च अहं अस्मि) ॥ ३४ ॥ साम्नां बृहत् साम, तथा छन्दसां गायत्री अहं, मासानां मार्गशीर्षः, ऋतूनां च कुसुमाकरः अहं (अस्मि) ॥ ३५ ॥

दैत्योंमें प्रह्लाद और संख्या करनेवालोंमें काल मैं हूं, पशुओंमें सिंह, और पक्षियोंमें गरुड मैं हूँ ॥३०॥ पावन करनेवालोंमें पवन मैं हूं, शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूं, मछलियोंमें मगरमच्छ और नदियोंमें गंगानदी मैं हूँ ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि मध्य अन्त मैं हूँ, विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और विवाद करनेवालोंमें वाद मैं हूँ ॥३२॥ अक्षरोंमें अकार, समासोंमें द्वन्द्व, अक्षय काल और सर्वतोमुखी सबका आधार मैं हूं ॥ ३३ ॥ सबका संहार करनेवाला मृत्यु और भविष्यमें उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिका कारण मैं हूँ । स्त्रियोंमें कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ ॥३४॥ सामोंमें बृहत् नामक साम तथा छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं हूँ, महिनोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्त ऋतु मैं हूं।३५।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

अन्वयः—छलयतां द्यूतं,तेजस्विनां तेजः च अहं अस्मि, जयः (अहं) अस्मि, व्यवसायः (अहं) अस्मि, सत्त्ववतां सत्वं अहं (अस्मि) ॥ ३६ ॥ वृष्णीनां वासुदेवः, पाण्डवानां धनंजयः (अहं) अस्मि, मुनीनां अपि व्यासः अहं, कवीनां उशना कविः (अहं अस्मि) ॥ ३७ ॥ दमयतां दण्डः अस्मि, जिगीषतां नीतिः अस्मि । गुह्यानां मौनं, ज्ञानवतां ज्ञानं अहं अस्मि ॥३८॥ हे अर्जुन ! सर्वभूतानां यत् बीजं तत् अपि अहं (अस्मि), यत् चराचरं भूतं स्यात् तत् मया विना न अस्ति ॥ ३९ ॥ हे परंतप ! मम दिव्यानां विभूतीनां अन्तः न अस्ति, एषः तु विभूतेः विस्तरः मया उद्देशतः प्रोक्तः ॥ ४० ॥

छल करनेवालोंका द्यूत, तेजस्वियोंका तेज, जय, निश्चय मैं हूं और सत्त्ववालोंका सत्त्व मैं हूं ॥ ३६ ॥ वृष्णियोंमें वासुदेव और पाण्डवोंका अर्जुन मैं हूँ, मुनियोंमें व्यास और कवियोंमें उशना कवि मैं हूँ ॥ ३७ ॥ शासन करनेवालोंका दण्ड मैं हूं, विजयके इच्छुकोंकी नीति, गुह्य बातोंमें मौन और ज्ञानियोंका ज्ञान मैं हूं ॥ ३८ ॥ हे अर्जुन ! सब भूतोंका जो बीज है वह मैं ही हूँ, जो स्थावरजंगम वस्तुमात्र है वह मुझसे रहित नहीं है ॥ ३९ ॥ हे परंतप अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। विभूतियोंका यह विस्तार मैंने केवल दिग्दर्शनरूपसेहि बतलाया है ॥ ४० ॥

भावार्थ—ईश्वर सब भूतोंका आत्मा है, वही सबका आदि मध्य अन्त है,सब भूतोंका बीज भी वही है, ऐसी कोई वस्तु यहां इस विश्वमें नहीं है, जो ईश्वरसे विरहित हो, ईश्वरकी शक्ति लेकरही सब पदार्थ बने हैं, इसलिये प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरकी विभूति है । तथापि जहां ईश्वरका विशेष प्रभाव दिखाई देता है उसकोही विभूति कहना हो, तो तेजस्वी पदार्थोंमें सूर्य, नक्षत्रोंमें चन्द्र, इंद्रियोंमें मन, गंधर्वोंमें चित्ररथ, मनुष्योंमें राजा, पशुओंमें सिंह,

पक्षियोंमें गरुड, शस्त्रधारी वीरोंमें राम, मुनियोंमें व्यास, इस तरह ईश्वरकी मुख्य मुख्य विभूतियां भी अनंत हैं। इन विभूतियोंको देखकर वह ईश्वरकी विभूति है, यह जानकर, उनकी शक्तियोंका चिन्तन करनेद्वारा परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये और परमेश्वरको जानना चाहिये ॥ १९-४० ॥

(१९-४०) यहां भगवान् अपनी विभूतियां कहते हैं। एक ' भूति ' है और दूसरी 'विभूति' है। ' भूति 'का अर्थ— ' होना, सुख, विजय, धन, ऐश्वर्य, महत्त्व, शक्ति ' आदि है और ' विभूति ' का अर्थ ' विशेष प्रभावित होना, विशेष सुख, बडा दिग्विजय, विशेष ऐश्वर्य, विशेष महत्त्व, बडी विलक्षण शक्ति ' ऐसा होता है। ईश्वरकी भूति अर्थात् ईश्वरकी सत्ता तो अणुरेणुमें, प्रत्येक वस्तुमें, प्रत्येक पदार्थमें है, परंतु उसका विशेष प्रभाव थोडे पदार्थोंमें मनुष्य अनुभव कर सकता है, उसीको 'विभूति' कहा जाता है। अर्थात् यह विभूति मनुष्यकी दृष्टिसे है। क्योंकि ईश्वर तो एक जैसा समभावसे सर्वत्र है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ॥ (गी० १३।२७)

समोऽहं सर्वभूतेषु। (गी० ९।२९)

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ॥ (गी० १३।२८)

इस प्रकार इसका वर्णन होता है। ईश्वर सर्वत्र समभावसे होता है। परंतु मनुष्य उसको वैसा पहचान नहीं सकता। अतः जहां अधिक प्रभाव दिखाई देता है, वहां ही वह ईश्वरकी सत्ताका अनुभव करता है। ईश्वरकी भूति प्रत्येक वस्तुमें है अतः जितने पदार्थ हैं उतनी ईश्वरकी भूतियां है। विश्वमें पदार्थ अनंत हैं इसलिये ईश्वरकी विभूतियां भी अनंत हैं, अतः कहा है कि—

मे विस्तरस्य अन्तः नास्ति। (गी० १०।१९)

ईश्वरकी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं, क्योंकि संपूर्ण विश्वभर उसकी विभूतियांही हैं, मनुष्य कहांतक गिनती करें ? इसलिये (प्राधान्यतः) मुख्य मुख्य विभूतियां दिग्दर्शनके लिये कहीं जाती हैं—

सब भूतोंका आत्मा।

परमेश्वर सब भूतोंका आत्मा है और सबके बीचमें, सबके अन्तःकरणमें रहता है। सब भूतोंका आदि मध्य और अन्त वही है। वस्तुमात्रका आदि मध्य अन्त वही है, इससे प्रत्येक वस्तुका संबंध उससे निश्चित हुआ। सब भूतोंका वह आत्मा है,ऐसा कहनेसे सब भूतोंमें उसका प्रभाव है यह स्पष्ट हो चुका है। कोई ऐसा पदार्थ नहीं कि जहां वह नहीं है और जहां उसका प्रभाव नहीं दिखाई देता। परंतु देखनेवालेकी दृष्टि अशक्त होती है, इसलिये देखनेवाला पूछता है कि भला कहां उसका प्रभाव दिखाई देता है वह स्थान बताओ ? वस्तुतः ऐसा एक भी अणुरेणु नहीं है कि जहां उसका विलक्षण प्रभाव न दीखता हो। इसीलिये कहा है जो भूत अर्थात् बने हुए पदार्थ हैं उनका आदि मध्य अन्त वही है। आदि मध्य अन्तमें सब पदार्थोंकी सब अवस्थाएं आ चुकीं हैं।

सबका बीज ईश्वर है और उसका विस्तार यह विश्व है। अतः सब विश्वही उसकी दिव्य विभूति है। परंतु जिसको यह नहीं दिखाई देता और उसका प्रभाव नहीं समझता उसको समझानेके लिये संक्षेपसे दिग्दर्शनरूपसे यहां कुछ विभूतियां गिना देते हैं, जिनको जानपर पाठक विचार करेंगे तो उनको सर्वत्र उस ईश्वरकी विभूतियां कैसीं हैं, इसका पता लग जायगा।

अब यहां जो विभूतियां हैं उनका वर्गीकरण करके अलग अलग एक एक प्रकारकी विभूतियां क्रमपूर्वक देते हैं, जिससे पाठकोंको विचार करनेकी सुविधा हो जायगी। देखिये—

[सूचना- इनमें पहिला अंक गीतोक्त विभूतियोंका क्रमांक होगा, और अन्तिम अंक गीताके श्लोकका होगा। इससे कोई विभूति गीतामें कहां है यह विना आयास समझमें आ सकता है-]

क्षत्रिय-विभूतियाँ।

४० रामः शस्त्रभृतामहम्। १०।३१
६२ वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि। १०।३७
६३ पाण्डवानां धनंजयः। १०।३७
२६ नराणां च नराधिपम्। १०।२७
३० सर्पाणामस्मि वासुकिः। १०।२८
३१ अनंतश्चास्मि नागानाम्। १०।२९
३५ प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्। १०।३०

"शस्त्रधारियोंमें राम, वृष्णियोंमें कृष्ण, पाण्डवोंमें अर्जुन, मनुष्योंमें राजा, सर्पजातिमें वासुकी, नागजातिमें अनन्त, दैत्योंमें प्रह्लाद ये मेरी विभूतियां हैं।"

संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें राम ईश्वरकी विभूति है। जगत्में जितनेभी शस्त्रधारी वीर हैं उनमें राम विशेष प्रभावशाली वीर है, अतः सब वीरोंमें इसकी विभूति मानी गयी है। वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव-कृष्ण-यह विभूति है और पांच पांडवोंमें अर्जुन विभूति है। यहां एक एक विभूतिके अधिकारकी व्यापकता विचारपूर्वक देखनी योग्य है। रामका विभूतिमत्त्व संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें है, इतनी इसकी मान्यता समझनी चाहिये, वासुदेवकी महत्ता वृष्णिवंशी जनतामेंहि है और अर्जुनका महत्त्व तो पाण्डवोंमेंहि केवल है।

अर्थात् जगत्के शस्त्रधारी वीरोंमें अर्जुनकी वह प्रतिष्ठा नहीं की जो श्रीरामको प्राप्त है। इस तरह विचार करनेपर एक स्थानपर जो विभूति है वह दूसरे क्षेत्रमें विभूति नहीं मानी जाती। यह बात ध्यानमें आ सकती है।

नरोंमें राजा विभूति है। परंतु यह जिस राष्ट्रका जो राजा है वह उसी राष्ट्रमें विभूति हो सकता है। क्योंकि राजाकी पूजा अपने देशमें ही होती है। बाहर उसका अधिकार-क्षेत्रही नहीं हो सकता। सर्पजाति और नागजातिमें क्रमशः वासुकी और अनन्त ये उनके राजा होनेसे विभूति हैं। यहां हमने सर्प और नाग ये मानवोंकी दो जातियां हैं ऐसा मानकर विचार किया है। जो लोग उनको सांप मानकर विचार करना चाहें वे वैसा कर सकते हैं। महाभारतमें सर्प और नाग ये मनुष्य जातिके लोग थे ऐसा कहा है और कई स्थानोंमें इनको सांप भी कहा है। ये दोनों भाव हो सकते हैं। नागकन्याओंका विवाह आर्योंसे हुआ है। सर्पोंके साथ आर्योंके युद्ध आदि होनेका भी वर्णन है। इसलिये हमने यहां इनको मानवजातीय माना है। वासुकि सर्पोंका राजा व अनन्त नागोंका राजा था। भारतवर्षमें तक्षक, सर्प, नाग इन जातियोंका राज्य था। तक्षशिला, नागपूर इत्यादि ग्रामनाम उसका स्मरण दे रहे हैं।

दैत्य भी एक मनुष्य जातिहि थी। क्रूर-कर्म करनेवाले ये लोग थे, इस कारण इनका द्वेष किया जाता था। प्रह्लाद इनका राजा था, जो सात्विक वृत्तिवाला होनेसे ईश्वरकी विभूति माना गया है। जबतक प्रह्लाद राज्य करता था तबतक दैत्योंके साथ आर्यों और देवोंका युद्ध नहीं हुआ और जगत्में शान्ति रही थी। इसलिये प्रह्लादको ईश्वरकी विभूति मानी गयी है।

स्त्री-विभूतियाँ।

५२ कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा। १०।३४

"स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा ये ईश्वरकी विभूतियाँ हैं।" ये कीर्ति अर्थात् यश आदिकी वाचक नहीं हैं।

इन नामोंकी देवतास्त्रियां थीं। कीर्ति, श्री, स्मृति, मेधा, धृति, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, लज्जा और मति ये दस दक्षकी (म. भा. आदि अ. ६६।१३-१४) कन्याएँ थीं, इनमेंसे पहिली ५ यहां गिनाई हैं। इन विभूतिरूप स्त्रियोंका संक्षेपसे वर्णन पुराणान्तरमें ऐसा मिलता है-

१ कीर्ति- दक्षप्रजापतिकी कन्या, धर्मपत्नी (म. भा. आ. ६६). प्रियव्रत राजाकी ज्येष्ठपत्नी (गणेश. २।३२।१२) बडी धर्मात्मा थी।

२ श्री- भृगु और ख्यातिकी कन्या। यह भृगुने विष्णुको प्रदान की थी। क्षीरसागरसे उत्पन्न हुई लक्ष्मी। लक्ष्मी-नारायण, श्री-विष्णु यह आदर्श गृहस्थियोंका नमूना करके माना जाता है।

३ वाक्- आंभृण ऋषिकी पुत्री, (ऋ० १०।१२५ सूक्तकी द्रष्ट्री) ऋषिका। ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ कन्या और तेजस्वी विचारवाली स्त्री।

४ स्मृति- दक्षकी कन्या, अंगिरस् ऋषिकी धर्मपत्नी।

५ मेधा- दक्षकी कन्या, धर्मकी पत्नी।

६ धृति- धर्म ऋषिकी स्त्री, मनुनामके एक रुद्रकी स्त्री।

७ क्षमा- दक्षकन्या, पुलह ऋषिकी स्त्री, ब्रह्मधानकी कन्या।

पुराणोंमें इन स्त्रियोंका जो वर्णन है उसका संक्षेप यह है। इससे अधिक विस्तार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्राचीन कालकी सुप्रसिद्ध धार्मिक स्त्रियोंमें इनकी मानमान्यता विशेष अधिक होनेसे इनकी गणना ईश्वरकी विभूतियोंमें की गई है। अस्तु। ये नाम स्त्रियोंके हैं और यश आदिके वाचक ये शब्द नहीं इतनाही यहां स्मरण रखना चाहिये। इन ७ स्त्रियोंकी गिनती यहां की है इसलिये आर्य-इतिहासमें स्त्रियोंमें केवल सातही स्त्रियां हो चुकी थी और इनसे अधिक नहीं हुई थी, ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यहां संक्षेपसेही विभूतियोंकी गणना की है, अतः स्त्रियोंमें इनसे अधिकभी विभूतियाँ होना स्वाभाविक है।

ब्राह्मण-विभूतियाँ।

१२ पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।	१०।२४
२१ देवर्षीणां च नारदः।	१०।२६
६५ कवीनामुशना कविः।	१०।३७
१६ महर्षीणां भृगुरहम्।	१०।२५
२३ सिद्धानां कपिलो मुनिः।	१०।२६
६४ मुनीनामप्यहं व्यासः।	१०।३७

" पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पति, देवऋषियोंमें नारद, कवियोंमें उशना, महर्षियोंमें भृगु, सिद्धोंमें कपिल और मुनियोंमें व्यास ईश्वरकी विभूतियां हैं। "

बृहस्पति देवोंका चतुर पुरोहित प्रसिद्ध है, दैत्योंका पुरोहित शुक्राचार्य, जिसको कवि उशना कहते हैं, विख्यात है, इसीके पास संजीवनी विद्या थी और शुक्र संरक्षणकी योगविद्या यह जानते थे। नारद सर्वत्र आदरणीय थे और दुष्टोंका दमन करनेमें सदा इनकी बडी सहायता होती थी, त्रिभुवनकी वार्ता संग्रहित करनेमें ये बडे प्रवीण थे, कपिल मुनी बडे तत्त्ववेत्ता थे और व्यास सुप्रसिद्ध भारतादि ग्रंथोंके रचयिता थे। ये विशेष कार्य होनेसे इनको विभूतियोंमें गिना गया। विशेष कर्तृत्व करनेके विना कोई विभूति बन नहीं सकता।

देवोंमें विभूतियाँ।

६ देवानामस्मि वासवः।	१०।२२
४९ धाताहं विश्वतोमुखः।	१०।३३
१ आदित्यानामहं विष्णुः।	१०।२१
२ ज्योतिषां रविरंशुमान्।	१०।२१
९ रुद्राणां शंकरश्चास्मि।	१०।२३
३९ पवनः पवतामस्मि।	१०।३१

३ मरीचिर्मरुतामस्मि। १०।२१
३२ वरुणो यादसामहम्। १०।२९
१४ सेनानीनामहं स्कंदः। १०।२४
११ वसूनां पावकश्चास्मि। १०।२३
४ नक्षत्राणामहं शशी। १०।२१
२९ प्रजनश्चास्मि कंदर्पः। १०।२८

पितरोंमें विभूति

३३ पितॄणामर्यमा चास्मि। १०।२९

यक्षराक्षसोंमें विभूति

१० वित्तेशो यक्षरक्षसाम्। १०।२३

गन्धर्वोंमें विभूति

२८ गंधर्वाणां चित्ररथः॥ १०।२६

" देवोंमें इन्द्र, सर्वतोमुखी धाता, आदित्योंमें विष्णु, तेजस्वियोंमें सूर्य, रुद्रोंमें शंकर, पावन करनेवालोंमें पवन, मरुतोंमें मरीचि, जलचरोंमें वरुण, सेनानायकोंमें स्कंद, वसुओंमें पावक अग्नि,नक्षत्रोंमें चन्द्र, प्रजनन करनेवाला, कामदेव पितरोंमें अर्यमा, यक्षराक्षसोंमें कुबेर, गन्धर्वोंमें चित्ररथ, ये सब देवोंमें ईश्वरकी विभूतियां हैं।"

पृथ्वीपर ग्यारह, अन्तरिक्षमें ग्यारह और द्युलोकमें ग्यारह ऐसे सब मिलकर ३३ देव हैं। उनमें आठ वसु, ग्यारह रुद्र और और बारह आदित्य मिलकर इकत्तीस और इन्द्र तथा प्रजापति मिलकर ३३ देव होते हैं। किसी प्रकार गितनी करो, वे ३३ हैं। उनमें ये विभूतियां हैं। इनमें भी पितर, यक्ष, राक्षस, गंधर्व ये देवोंसे भिन्न जातियां हैं। शेष विभूतियां देवोंमें हैं। पितरोंकी विभूति अर्यमा है, गंधर्वोंकी चित्ररथ है, यक्ष राक्षसोंमें कुबेर है और देवोंमें शेष विभूतियां जो हैं वे ऊपर दी गयीं हैं।

सार्वभौमिक विभूतियों।

कई लोग अर्यमा और कुबेरको देवोंमें गिनते हैं, परंतु यहां गीताने इनको क्रमशः पितरों और यक्षराक्षसोंमें गिनाया है। राक्षस, वानर, दैत्य, असुर, देव, पितर, किन्नर, भूत, आर्य ये विभिन्न जातियां थीं, इसमें कोई संदेहही नहीं है। साधारणतः आजके देशोंके साथ इन जातियोंके भूप्रदेशोंसे संबंध लगाया जाय तो निम्न लिखित प्रकार लग सकता है। रूसके साथ राक्षसदेश, डान्यूब नदीके पास दानवदेश, असिरियाके साथ आसुर देश, त्रिविष्टपके साथ देवोंका प्रदेश, गंधर्वोंके साथ हिमालय शिखरका प्रदेश, किन्नर जातिका किनौर प्रदेश, भूत जातिका भूतान (भोतिया) देश और आर्य जातिका आर्यावर्त देश साधारणतः समझा जा सकता है। आजकल देशोंकी मर्यादायें विभिन्नता हो चुकी है, इसमें संदेहही नहीं है, तथापि कुछ देश इस समय भी वेही नाम धारण करते हैं, इसलिये उनका प्रदेश निश्चित करना बहुत अशक्य नहीं है। जैसी आजकल चीनी, जपानी, रूसी, तुर्क, युरोपीयन,अमरिका, अफ्रीका, भारत आदि देशकी जातियां और उनकी संस्कृतियाँ विभिन्न हैं, उसी प्रकार भारतीय युद्धके समय पूर्वोक्त नामोंकी जातियां पूर्वोक्त प्रदेशोंमें निवास करतीं थीं। भगवद्गीतामें विभिन्न देशोंमें रहनेवाली कई जातियोंकी विभूतियां गिनाई हैं यही हमें देखना है। राक्षसों और देवोंका वैर सुप्रसिद्ध है, भूतों और आर्योंके झगडे कम नहीं हैं, सर्पों और आर्योंका वैर सर्पसत्र (सर्पोंका विध्वंस) करनेके प्रयत्नसे कितना था, इसकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है। ये सब जातियां विभिन्न देशकी और विभिन्न सभ्यता धारण करनेवाली थीं इसमें संदेहही नहीं है। तथापि भगवान् श्रीकृष्णने जैसी आर्योंमें विभूतियां गिनाई हैं वैसी राक्षसों, भूतों और देव जातियोंमें भी गिनाई हैं। यद्यपि देवजाति आर्योंके साथ मित्रत्व करनेवाली थीं, तो भी किसी आर्य राजाने सौ यज्ञ करके इन्द्र बननेका यत्न किया तो देव उसको विघ्न करते थे। शंकर, गणेश,

ब्रह्मा, सूर्य आदि देवोंने कई राक्षसोंको वर प्रदान करके उन्मत्त कराया था, जिससे सब त्रिभुवन परतंत्रतामें डूब भी गया था। इससे इन जातियोंके पारस्परिक वैरभावकी और मित्रभावकी कल्पना हो सकती है। इनका इतिहास यहां कहनेकी हमें आवश्यकता नहीं है, परंतु इतनाही बताना है कि ये सब जातियां विभिन्न होनेपर भी इनमें ईश्वरकी विभूतियां गीताकारने मानी हैं। इतनीहि बात हमें यहां ध्यानमें धारण करनी है।

आर्योंमें जैसी राम, कृष्ण और अर्जुन ईश्वरकी विभूतियां थीं वैसीही आर्योंकी शत्रु जातियोंमें अर्थात् दैत्यों, राक्षसों और सर्पोंमें भी ईश्वरकी विभूतियां होती हैं और क्रमशः वे प्रह्लाद, कुबेर और वासुकि ये हैं, ऐसा यहां माना है। इसी तरह आज भी हम जैसी भारतीय आर्योंमें ईश्वरकी विभूतियां देख सकते हैं वैसीही चीनीयों, जापानियों, रूसियों, जर्मनों, फ्रान्सीसियों, अंग्रेजों तथा अन्यान्य देशवासियोंमें ईश्वरकी विभूतियां देख सकते हैं।

ईश्वरकी विभूतिका तत्त्व सार्वभौमिक है न कि किसी देश तथा किसी जातितक मर्यादित है। अतः हम जैसे आर्यधर्मियोंमें ईश्वरकी विभूतियां देख सकते हैं वैसीही बौद्धों, ईसाइयों और मोहमदीयोंमें तथा अन्य धर्मवालोंमें भी देख सकते हैं। भगवद्गीताका दृष्टिकोन उदार और व्यापक है यही यहां बताना है और विभूतियोगका विचार करनेके समय वही दृष्टिकोन धारण करना चाहिये। नहीं तो कई लोग मान बैठेंगे कि भारतदेश और (आर्य) धर्मके अंदरहि ईश्वरकी विभूतियाँ हो सकती हैं, अन्यत्र नहीं। यदि ऐसा भाव कोई धारण करेगा तो उसको वह कृपणताका भाव शीघ्रही त्याग देना चाहिये। इस रीतिसे हम जर्मनीका प्रिन्स बिस्मार्क, फ्रान्सका नेपोलियन, रूसका टोलस्टोय, इंग्लैंदका वर्डस्वर्थ, इजिप्त–मिश्रदेशका शकांकमनु (तुतांखामैन),चीनका कन्फ्युशिअस,जापानका इतो आदि ईश्वरकी विभूतियाँ हैं,ऐसा माननेसे कोई हानि नहीं है। यहां हमारा यह आग्रह नहीं है कि येहि माननी चाहिये, जो योग्य हों उनको माना जाय। ऐसा माननाही गीताका दृष्टिकोन है।जो धारण करनेसे गीताका तत्त्व ठीक प्रकार समझमें आसकता है।

गुणियोंके गुणोंमें विभूतियाँ।

६८	ज्ञानं ज्ञानवतामहं।	१०।३८
४५	वादः प्रवदतामहं।	१०।३२
६९	मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्।	१०।३८
६६	दण्डो दमयतामस्मि।	१०।३८
५८	तेजस्तेजस्विनामहं।	१०।३६
६१	सत्त्वं सत्त्ववतामहं।	१०।३६
६७	नीतिरस्मि जिगीषताम्।	१०।३८
५९	जयोऽस्मि।	१०।३६
६०	व्यवसायोऽस्मि।	१०।३६
५७	द्यूतं छलयतामस्मि।	१०।३६

"ज्ञानियोंका ज्ञान, विवादकोंका वाद, गुह्योंका मौन, दमन करनेवालोंका दण्ड, तेजस्वियोंका तेज, सत्त्ववानोंका सत्त्वगुण, विजयशालियोंकी नीति, जय करनेवालोंका जय, व्यवसायियोंका व्यवसाय अथवा निश्चय, छल करनेवालोंका द्यूत ये ईश्वरकी विभूति हैं।"

उत्तम ज्ञान, उत्तम वादविवादशैली, उत्तम गुप्तता, उत्तम दण्डशासन, उत्तम तेजस्विता, उत्तम बल, उत्तम नीति, उत्तम जय, उत्तम निश्चय और उत्तम छल ये सब गुण ईश्वरकी विभूति है। ये गुण गुणी पुरुषोंमें रहते हैं।

इसी अध्यायके प्रारंभमें(श्लोक ४ से ५ तक) 'बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, (उत्पत्ति) अभाव, (लय) भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अयश, ये भाव प्राणियोंमें होते हैं, वे ईश्वरकी विभूति हैं' ऐसा कहा है। इसीका स्पष्टीकरण यहां किया है। यह स्पष्टीकरण इस तरह है।

[अ० १०।४-५]	[अ० ७,९, १०,१६, १७]	
१ बुद्धिः	बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।	७।१०
२ ज्ञानं	ज्ञानं ज्ञानवतामस्मि।	१०।३८
३ असंमोहः (निश्चयः)	व्यवसायोऽस्मि।	१०।३८
४ क्षमा	नारीणां क्षमा।	१०।३४
	क्षमा... (दैवी संपत्।)	१६।३
५ सत्यं	सत्यं.. ...(दैवी संपत्।)	१६।२
६ दमः	दण्डो दमयतामस्मि।	१०।३८
७ शमः	दमः......(दैवी संपत्।)	१६।१
८ सुखं	दैवी संपद्विमोक्षाय।	१६।५
९ दुखं		
१० भवः (उत्पत्ति)	अहमादिश्च मध्यं च। १०,२०; अहमादिः। १०।२	
	उद्भवश्च भविष्यतां	१०।३४
	यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहं। १०।३९	
	बीजं मां सर्व भूतानां। ७।१०	
११ अभावः	भूतानामन्त एव च (अहं)।	१०।२०
	मृत्युः सर्वहरश्चाहं।	१०।३४
१२ भयं	द्यूतं छलयतामस्मि।	१०।३६
१३ अभयं	अभयं.....(दैवी संपत्।)	१६।१-३
१४ अहिंसा	अहिंसा　,,　,,　,,	
१५ समता	समोऽहं सर्वभूतेषु।	९।२९
१६ तुष्टिः		
१७ तपः	तपश्चास्मि तपस्विषु। ६।९	
१८ दानं	दाने स्थितिः सदिति चोच्यते।	१७।२७
१९ यशः		
२० अयशः		

दो चार शब्दोंका स्पष्टीकरण नहीं हुआ। और शेष भाव कहेभी नहीं गये। कहे नहीं और स्पष्टीकरण नहीं हुआ इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि ईश्वरके अनंतभाव हैं और यहां दिग्दर्शनके लिये थोडेसे कहे हैं और उनमें भी थोडोंकाही स्पष्टीकरण किया गया है। अस्तु। इस तरह प्राणिमात्रमें दिखाई देनेवाले भाव, गुण अथवा विशेष प्रभाव ईश्वरकी विभूति है और ये भाव गुण अथवा प्रभाव जिसमें व्यक्त हुआ हो उसको भी ईश्वरकी विभूति कह सकते हैं।

उदाहरणके लिये देखिये- ज्ञानगुण ईश्वरकी विभूति है,इसलिये जो ज्ञानी है वह भी विभूति है। उत्तम वादविवादशैली ईश्वरका गुण है, अतः जो उत्तम वादविवाद करता है, वह ईश्वरकी विभूति है। जय ईश्वरकी विभूति है, अतः जो जय प्राप्त करता है, वह वीर ईश्वरकी विभूति है। इसी तरह अन्यान्य गुणों और गुणधारियोंके विभूति होनेमें समझना चाहिये।

विद्यामें विभूतियाँ

४४	अध्यात्मविद्या विद्यानाम् ।	१०।३२
४६	अक्षराणामकारोऽस्मि ।	१०।३३
१७	गिरामस्म्येकमक्षरम् ।	१०।२५
५	वेदानां सामवेदोऽस्मि ।	१०।२२
५३	बृहत्साम तथा साम्नाम् ।	१०।३५
५४	गायत्री छन्दसामहम् ।	१०।३५
४७	द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।	१०।३३
१८	यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि ।	१०।२५

" विद्याओंमें अध्यात्मविद्या,अक्षरोंमें अकार, वाणीमें ओंकार, वेदोंमें सामवेद, सामगायनोंमें बृहत्साम, छन्दोंमें गायत्री, समासोंमें द्वन्द्व और यज्ञोंमें जपयज्ञ ईश्वरकी विभूति है । "

अध्यात्मविद्या ईश्वरकी विभूति है, इसलिये जो ब्रह्मवेत्ता हैं वे भी अध्यात्मविद्यावाले होनेसे विभूति ही हैं। सामवेद और बृहत्साम ईश्वरकी विभूति होनेसे उत्तम सामगायक भी ईश्वरकी विभूतिहि हैं। जपयज्ञ ईश्वरकी विभूति होनेसे जपयज्ञका विशेष अनुष्ठान करनेवाले ईश्वरकी विभूति हैं।

'अ'कारका विश्वरूप

अक्षरोंमें अकार ईश्वरकी विभूति है, यह ईश्वरकी व्यापकता बतानेके लिये विभूति कही है। अकारकाही परिवर्तित रूप अन्य अक्षर हैं, अकार हि अन्य अक्षरोंके रूपोंमें ढाला गया है, मानो मूल अकार है और शेष सब वर्णमाला अकारका विश्वरूप है। इसी तरह एक अक्षर परमेश्वर विश्वके विविध रूपोंमें ढाला गया है। जैसा विश्व यह ईश्वरका विश्वरूप है, वैसाही अकारका विश्वरूप संपूर्ण भाषा है। दोनोंकी समानता देखनेसे ईश्वरका विश्वरूप विश्वमें कैसा है,यह ज्ञात हो सकता है। विश्वरूप समझानेके लिये यह साधन उत्तम है। पाठक इस 'अ' कारके विश्वरूपका मनन करें और उससे 'ईश्वर' का विश्वरूप जाननेका यत्न करें।

समासोंमें द्वन्द्वसमास ईश्वरकी विभूति है। यहां परस्परविरुद्ध भाव एक स्थानपर रहते है, यह भाव बताया हैं।

समास (सं+आस)=एक स्थानपर अनेकोंकी उपस्थिति।

द्वन्द्व= एक स्थानपर रहनेवालोंका परस्पर युद्ध।

ये दो शब्द परस्परविरोधी अर्थ बतानेवाले हैं। एक शब्द इकट्ठा होनेका भाव बता रहा है और दूसरा शब्द अलग होनेका भाव बताता है। 'समासोंमें द्वन्द्व' का अर्थ यह है कि एकत्र उपस्थित रहनेवालोंमें झगडा। अब देखिये इस विश्वमें क्या चल रहा है? भेदोंमें अभेद और अविभक्ततामें विभक्तता, एकमें अनेक और अनेकोंमें एक। यही इस जगत्‌में दीख रहा है। यही भाव 'समासों'में इन शब्दोंद्वारा व्यक्त किया है। इस प्रकार विचार करके गूढ अर्थ जानना चाहिये।

पशुपक्षियोंमें विभूति

२८	धेनूनामस्मि कामधुक् ।	१०।२८
२४	उच्चैःश्रवसमश्वानाम् । विद्धि मामृतोद्भवम्	१०।२७
२५	ऐरावतं गजेन्द्राणाम् ।	१०।३०
३७	मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं ।	१०।३०
३८	वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।	१०।३०
४१	झषाणां मकरश्चाहम् ।	१०।३१

" गौवोंमें कामधेनु, घोडोंमें उच्चैःश्रवा, हाथियोंमें ऐरावत, मृगोंमें सिंह, पक्षियोंमें गरुड, मछलियोंमें मगरमच्छ ये ईश्वरकी विभूतियां हैं। " कामधेनुका अर्थ ऐसी उत्तम गौ कि जो चाहे उस समय दूध देती है, लाथें मारती नहीं इत्यादि गुणोंवाली गौ। उच्चैःश्रवा अश्व वह है जो समुद्र पारसे आता है, अर्वा जिसे कहते हैं, अरबी घोडा ऐसा जिसे कहते हैं। 'अर्वा' शब्द और 'अरब' शब्द एकही है। हाथियोंमें एरावत नामक श्वेतहाथी जो

ब्रह्मदेशमें मिलता है । ये सब ईश्वरकी विभूतियां हैं, क्यों कि इनमें विशेषता शुभ गुणोंकी है ।

स्थावरोंमें विभूति

१२ मेरुः शिखरिणामहम् । १०।२३
१९ स्थावराणां हिमालयः । १०।२५
२० अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् । १०।२६

" शिखरवाले पर्वतोंमें मेरुपर्वत, स्थावरोंमें हिमालय, सब वृक्षोंमें अश्वत्थ वृक्ष ये ईश्वरकी विभूतियां हैं । " मेरुपर्वत और हिमालय अपने सौंदर्यसे और ऊंचेपनसे विशेष गंभीर दीखते हैं इसमें कोई संदेहही नहीं है । वृक्षोंमें अश्वत्थ विशेष महत्त्व रखता है । अतः ये सब विभूतियां हैं ।

जलस्थानोंकी विभूति

१५ सरसामस्मि सागरः । १०।२४
४२ स्रोतसामस्मि जाह्नवी । १०।३१

" सरोवरोंमें समुद्र और नदियोंमें गंगानदी ईश्वरकी विभूति है । " इनका महत्त्व स्पष्ट है ।

इंद्रियोंमें विभूति

७ इंद्रियाणां मनश्चास्मि । १०।२२

" इंद्रियोंमें मन ईश्वरकी विभूति है । " क्यों कि मनही इतना समर्थ है कि वह मनुष्योंको मुक्त भी कर सकता है और बद्ध भी कर सकता है । मनही मनुष्योंको सुख देता है और दुःखमें डुबा देता भी है ।

शस्त्रोंमें विभूति ।

२७ आयुधानामहं वज्रम् । १०।२८

" शस्त्रोंमें वज्र ईश्वरकी विभूति है । " क्यों कि वह सब आयुधोंमें श्रेष्ठ आयुध है ।

जन्ममृत्युकी विभूति ।

५१ उद्भवश्च भविष्यताम् । १०।३४
५० मृत्युः सर्वहरश्चाहम् । १०।३४
३४ यमः संयमतामहम् । १०।२९

" उत्पत्ति, मृत्यु, संयमन करनेवालोंमें यम ये परमेश्वरकी तीन विभूतियाँ हैं । " जन्म और मृत्यु ये ही भाव इस जगत्‌में दीखते हैं और वे परमेश्वरसे होते हैं । परमेश्वरका विलक्षण चातुर्य उनमें दीखता है । उसकी अद्भुत शक्तिका यहां पता लगता है । यम शब्द यहां संयमन, नियमन अर्थात् स्वाधीन रखनेका भाव बताता है । उत्पत्ति, संयमन अर्थात् धारण और नाश ये तीन भाव सर्वत्र दीखते हैं । जन्म, स्थिति और लय ये ईश्वरसेही होते हैं, जिससे जगत्‌की स्थिति हो रही है ।

कालकी विभूति ।

४८ अहमेवाक्षयः कालः । १०।३३
३६ कालः कलयतामहम् । १०।३०
५५ मासानां मार्गशीर्षोऽहम् । १०।३५
५६ ऋतूनां कुसुमाकरः । १०।३५

"अक्षय काल, गिननेवालोंका काल, महिनोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसंत ये ईश्वरकी विभूतियां हैं ।" आगे चलकर ग्यारहवें अध्यायमें भी कहा है कि--

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः । गी० ११।३२

" लोकोंका क्षय करनेवाला काल मैं हूं । " ऐसा भगवान् कहेंगे । वह वाक्य भी यहां देखनेयोग्य है ।

बीज और विस्तार

७० यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन । (१०।३९)
४३ सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन । (१०।३२)
८ भूतानामस्मि चेतना । १०।२२

" सब भूतोंका बीज, सबका आदि मध्य और अन्त और भूतमात्रोंकी चेतना ये सब ईश्वरकी विभूतियां हैं।" सबका आदि, मध्य और

अन्त इतना कहनेसे संपूर्ण विश्व ही उसमें आ गया। क्योंकि आदि, मध्य और अन्त जहां है वह ईश्वरकी विभूति यह लक्षण प्रत्येक वस्तु-मात्रमें लग सकता है। इतनी विभूतियां यहां कहीं हैं। हमने १४ विभाग यहां किये हैं और उनमें निम्नलिखित प्रकार विभूतियां रखी हैं—

७ क्षत्रियोंमें	विभूतियाँ
१ स्त्रीजातिमें	,,
(इसमें ७ स्त्रियोंके नाम हैं)	
६ ब्राह्मणकी	,,
१५देवोंमें	,,
१०गुणरूप	,,
८ विद्याकी	,,
६ पशुपक्षियोंमें	,,
३ स्थावरकी	,,
२ जलस्थानकी	,,
१ इंद्रियोंमें	,,
१ शस्त्रोंमें	,,
३ जन्ममृत्युकी	,,
४ कालकी	,,
३ बीज और विस्तारकी	,,
७०	

कुल सत्तर विभूतियां यहां गिनाई हैं। इनमें स्त्रियोंकी सात विभूतियां कहीं हैं, उनकी गणना करनेसे ७६ विभूतियां दशमाध्यायमें कहीं हैं। यहां वैश्यों और शूद्रोंकी विभूतियां नहीं हैं। यह एक विचार करने योग्य बात है। इसके अतिरिक्त गीताके सातवें अध्यायमें कुछ विभूतियां गिनी हैं उनकोभी यहां धरना योग्य है क्योंकि सबका विचार होनेसे यथायोग्य मनन हो सकता है, अतः उनको यहां लिखते हैं—

१ पुण्यो गन्धः पृथिव्याम्। ७।९
२ रसोहमप्सु। ७।८
३ तेजश्चास्मि विभावसौ। ७।९
४ प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। ७।८
५ शब्दः खे। ७।८
६ प्रणवः सर्ववेदेषु। ७।८
७ पौरुषं नृषु। ७।८
८ जीवनं सर्वभूतेषु। ७।९
९ तपश्चास्मि तपस्विषु। ७।९
१० बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि। ७।१०
११ तेजस्तेजस्विनामहम्। ७।१०
१२ बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्। (७।११)
१३ धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि। ७।११
१४ बीजं मां सर्व भूतानां विद्धि पार्थ सनातनं। ७।१०
१५ ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि। ७।१२

"पृथ्वीतत्त्वमें गन्ध, जलतत्त्वमें रस, अग्नितत्त्वमें प्रकाश, सूर्यचन्द्रकी प्रभा, आकाशतत्त्वमें शब्द, वेदोंमें प्रणव ओंकार, मनुष्योंमें पौरुष, प्राणियोंमें जीवन, तपस्वियोंका तप, बुद्धिवानोंकी बुद्धि, तेजस्वियोंका तेज, बलवानोंका कामभोग-रहित बल, धर्मके साथ अनुकूल काम, सब भूतोंका सनातन बीज और सब जगत्में दीखनेवाले सात्विक, राजस और तामस भाव ये सब परमेश्वरकी तिभूतियां हैं। 'प्रणव, जीवन, तप, काम, बीज' ये विभूतियां दशमाध्यायमेंभी कहीं हैं। शेष नवीन हैं। पाठक विचार करनेके समय इन सब विभूतियोंका विचार करेंगे, तो उनको विभूतियोगका ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। सातवें और दसवे अध्यायमें जो कहा है उसका साथ साथ विचार पाठक करें, इतनाही यहां कहना है।

जो विभूतियां यहां गिनाई हैं, उतनीहि विभूतियां हैं और अधिक नहीं ऐसा मानना नहीं चाहिये। क्योंकि यह गिनती केवल (उद्देशतः प्रोक्तः) दिग्दर्शन मात्र की गई हैं। यदि ऐसा है तो विभूतियोंकी पहचान कैसी कर सकते हैं? ऐसी कोई शंका कर सकते हैं। इस शंकाका निरास करनेके लिये भगवान् आगे कहते हैं—

(६) विभूतिका लक्षण।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ ४१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अन्वयः— यत् यत् सत्त्वं विभूतिमत्, श्रीमत् ऊर्जितं एव वा (अस्ति), तत् तत् मम तेजोंशसंभवं (अस्ति इति) त्वं अवगच्छ॥ ४१॥ हे अर्जुन! अथवा एतेन बहुना ज्ञातेन तव किं? अहं इदं कृत्स्नं जगत् एकांशेन विष्टभ्य स्थितः (अस्मि इति त्वं विद्धि)॥ ४२॥

जो जो वस्तु वैभवयुक्त, शोभायुक्त और प्रभावयुक्त है, वह सब मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हुई है ऐसा तु जान॥ ४१॥ हे अर्जुन! अथवा इस बहुत विस्तारको जाननेसे तुझे क्या लाभ होगा? ऐसा समझो कि मैं इस सारे जगत् को अपने एक अंशसे व्यापकर रहा हूं॥ ४२॥

भावार्थ— जहां वैभव, शोभा और प्रभाव है वह परमेश्वरकी विभूति है। यह विभूतिका लक्षण है। इससे विभूति जानी जा सकती है। परंतु इस बातका इतना विस्तार करनेकी क्या आवश्यकता है, ऐसा समझो कि ईश्वर इस जगत्में अपने एक अंशसे व्याप कर रहा है। इतना ज्ञान हुआ तो पर्याप्त है॥ ४१-४२॥

(४१-४२) परमेश्वरकी विभूति कहां है और कहां नहीं है, यह जाननेके तीन लक्षण हैं। जहां विशेष ऐश्वर्य है, जहां श्री अर्थात् विशेष शोभा है और जहां विशेष प्रभाव या बल है, वहां परमेश्वरकी विभूति है। यह विभूतिका लक्षण ध्यानमें रखनेसे कौनसी विभूति है और कौनसी नहीं है, इसका निश्चित ज्ञान हो सकता है। विभूति मनुष्योंमें हो, पशुपक्षियोंमें हो, स्थावरोंमें हो अथवा अपने देशमें हो किंवा देशदेशान्तरमें हो,वहां यह विभूति है और यह नहीं है, इसकी परीक्षा करनेकी तीन कसौटियां यहां कहीं है। इसका विचार करके पाठक जान सकते हैं कि यह विभूति है और यह नहीं है।

जहां ऐश्वर्य नहीं, जहां शोभा नहीं और जहां प्रभाव नहीं, परंतु जहां दरिद्रता है, विरूपता है और जहां दुर्बलता है, वहां विभूति नहीं है। इतने विचारसे पाठक जान सकते हैं कि कौनसी विभूति है और कौनसी नहीं है

कई विचारक यहां शंका करेंगे कि पूर्व स्थल में जहां "छल करनेवालोंका द्यूत ईश्वरकी विभूति है (गी० १०।३६)." ऐसा कहा है, वहां द्यूतमें वैभव, शोभा और प्रभाव कहां है और वह द्यूत ईश्वरकी विभूति कैसी हो सकती है? इस विषयमें छल, कपट करनेवालोंके पास छल कपटके अनेक साधन होते हैं, उनमें द्यूत ही एक ऐसा साधन है कि जहां विशेष छल और कपट होता है। इसलिये यह विभूति है। जैसा घातक शस्त्रोंमें वज्र विशेष घातक होनेसे विभूति

है वैसाही यहां समझना चाहिये। यहां वैभव, शोभा और प्रभाव छलकपटमें है न कि सात्विक वैभव, सात्विक शोभा और सात्विक प्रभाव। इस जगत्में जो जो सात्त्विक,राजसिक और तामसिक भाव हैं वे सब ईश्वरसे होते हैं, ऐसा भ० गी० ७-१२ में कहा है और जगत्का आदिमध्य ईश्वरही है, ऐसा कहनेसे परमावधिका छलकपट भी ईश्वरकीही विभूति है ऐसा माननाही पडता है। यहां छलभावकी परमावधि होनेसे विभूतिमत्त्व है।

यहां एक शंका उपस्थित होती है कि यदि 'सबका सनातन बीज (गी० ७-१०) परमेश्वर है, और यदि सात्त्विक, राजस तथा तामसभाव, ईश्वर (गी० ७-१२) से होते हैं, और यदि सबका आदि,मध्य, अन्त ईश्वरही है (गी० १०-२०) तो प्रत्येक वस्तुही ईश्वरकी विभूति है।' और यही भाव 'ईश्वर एक अंशसे सर्व जगत् व्यापकर रहा है (गी० १०-४२)' इस कथनमें कहा है। फिर पांडवोंमें अर्जुनही विभूति है ऐसा क्यों कहा? क्या अन्य पांडव विभूति नहीं हैं? यदि वृष्णियोंमें वासुदेवही विभूति है, तो उस जातीके अन्य वीर क्यों विभूति नहीं? इसी तरह प्रत्येक विभूतिके विषयमें प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। इस विषयमें पाठक यह निश्चय समझें कि, प्रत्येक वस्तु ईश्वरकी विभूति है यही बात सत्य है, परंतु यह बात एकदम हरएक मनुष्यके मनमें ठीक प्रकार बैठ नहीं सकती, इसलिये हि केवल यहां कहा है कि इनमें यह विभूति है। वस्तुतः जैसा अर्जुन विभूति है वैसाही धर्म भी विभूति है। परंतु प्रारंभ विशेषताकी ओर निर्देश करके, यह विभूति है ऐसा कहा, अब आगे ग्यारहवें अध्यायमें कहेंगे कि सब विश्वही ईश्वरकी विभूति है। और वही सत्य है। उस विश्वरूपके दर्शन करनेके लिये पाठक अब अपनी तैयारी करें।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें विभूतियोग नामक दशम अध्याय समाप्त ॥१०॥

श्रीमद्भगवद्गीताके दशम अध्यायका थोडासा मनन ।

विभूतियोग

भगवद्गीताके दशम अध्यायका नाम 'विभूतियोग' है। 'योग' का अर्थ 'कौशल्य' है और 'विभूति' का अर्थ 'ऐश्वर्य, शोभा और प्रभाव' है। अर्थात् 'विभूतियोग' का अर्थ ऐश्वर्य, शोभा और प्रभाव प्रकट करनेका कौशल्यमय ईश्वरीय सामर्थ्य।' यह सामर्थ्य कहां दिखाई देता है, इसका विचार इस अध्यायमें किया है।

साधक परमेश्वरका ध्यान करना चाहते हैं। परमेश्वर उनको प्रत्यक्ष हुआ नहीं है, ऐसी अवस्थामें वे कहां किसका ध्यान करें? परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है इतना कहने मात्रसे वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वह दिव्यदृष्टिसे देखना चाहिये। परंतु दिव्यदृष्टी प्राप्त होने तक क्या किया जावे? इसका उत्तर इस विभूतियोगने दिया है। दिव्यदृष्टी प्राप्त होनेतक और विश्वके रूपमें ईश्वरका साक्षात्कार होनेतक इस जगत्में परमेश्वरकी विभूति देखनी और उसका ध्यान करना, यह साधना प्रथम अवस्थामें है।

जहां विशेष ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है, जहां विशेष अधिक शोभा दिखाई देती है, और जहां विशेष प्रभाव अनुभवमें आता है, वह ईश्वरकी विभूति है। उस विभूतिकी पूजा करनेसे वह परमेश्वरकी पूजा होती है। इस साधनावस्थामें साधक किसका ध्यान करें? इसका उत्तर यह है कि साधक किसी विभूतिकी उपासना करे और समझे कि यहां ये ईश्वरीय गुण प्रकट हुए हैं और इन गुणोंके रूपमें, यह मुझे ईश्वरका साक्षात्कार हो रहा है।

मूर्तिपूजा ।

यहां मूर्तिपूजाका तत्त्व प्रकट हुआ है। शस्त्रधारियोंमें रामचन्द्रकी विभूति है, और वृष्णी वंशियोंमें श्रीकृष्ण विभूति है।

अमोघवीर्य, एकपत्नी, एकवचनी, सब प्रजाको पारतंत्र्यसे मुक्त करनेवाला आदि अनेक गुण श्रीरामचन्द्रमें हैं। भगवान् श्रीकृष्णमें भी वैसे ही अनंत गुण हैं। इन गुणोंके कारण ये विभूतियाँ अपने अपने जीवन समयमें, इस जगत्में चमक गयीं। इनकी पूजा तो उनके जीवन समयमें ही प्रचलित हुई थी। और उनको असामान्य प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी।

इसी प्रकार अनेक वीर, अनेक तत्त्वज्ञानी, अनेक संतमहन्त और अनेक विद्वानकी विभूतियां हो चुकी हैं, जिनको पूजाका स्थान भारतीय धर्मप्रचारकोंने अपने धर्ममें दिया हुआ है। आज इस समय हिंदूधर्ममें जो मूर्तिपूजा प्रचलित है, उसका मूल इस विभूतिपूजा और इस वीरपूजामें है। यह बात पाठक समझें। जहां ऐश्वर्य, शोभा और प्रभाव विशेष है वह विभूति पूजनीय मानी गयी है। हिंदूपूजक भवानी, शंकर, गणेश, विष्णु, आदि अनेक देवताओंकी पूजा करते हैं, सैंकडों मंदिर इनके नामसे भारतभूमि और बाहरके देशकी भूमिपर खडे हैं। ये सब एक समय वीर विभूतियां थीं। इन विभूतियोंने जनताके शत्रुओंको दूर करके

उनको सुखी किया था और प्रभाव प्रकट किया था। इस संबंधके इतिहास पुराणोंमें लिखे इस समयमें भी मिलते हैं। पाठकोंको ये प्राचीन इतिहास ढूंढकर देखने चाहिये। और जानना चाहिये कि इस विभूतिने अपने जीवनमें सर्व-जन हितकारी कार्य कौनसा किया था। कोई ऐतिहासिक पुरुषोंमें विभूति ऐसी नहीं है कि जो सर्वभूतहितमें रत नहीं थी। सर्वभूतोंका हित करनेके प्रशंसनीय कार्यमें जिन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया, उनकी हि गणना विभूति-योंमें हुई है।

गौकी पूजा, पीपलकी पूजा, वज्रकी पूजा, गंगानदीकी पूजा, समुद्रकी पूजा, हिमगिरीकी पूजा क्यों शुरू हो गयी, इसका कारण भी उनकी गणना विभूतियोंमें हो चुकी है यही है। गौका उपयोग मनुष्यके लिये अत्यंत है, वैसाही अन्यान्य स्थावर, जंगम विभूतियोंका है। इस उपयोगिताके कारण उस वस्तुका महत्व सिद्ध होता है और उस वस्तुकी पूजा शुरू होती है।

पूजा कैसी करनी चाहिये, यह प्रश्न स्वतंत्र है। उस वस्तुके संबंधमें आदर क्यों उत्पन्न होता है, इतनाही हमें यहां देखना चाहिये। अपनी परिस्थितिके कारण हरएकका पूजाविधि अलग हो सकता है। पूजाविधिमें भेद होनेपर भी आदरमें भेद नहीं हो सकता। गौकी पूजा और विद्वानकी पूजा विभिन्न होगी, परंतु मनमें आदर भाव समान होगा।

'विद्वान ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चांडालमें समानतया ब्रह्मभाव देखना चाहिये' (गी० ५।१८) यह गीतामें कहा है। इसीका अर्थ यह ब्रह्मकी विभूति है ऐसा अनुभव करना है। परंतु एकदम यह अनुभव आ नहीं सकता, इसलिये कहा है कि जो विशेष उच्च तत्त्व-ज्ञानी विद्वान होगा, जो विशेष वीरताके कर्म करेगा, जो गाय उत्तम दूध देनेवाली और वशमें रहनेवाली हो, जो कुत्ता विशेष गुणसंपन्न हो, उनकोही ईश्वरकी विभूति मानना चाहिए। एकवार ऐसे श्रेष्ठोंमें ईश्वरका भाव देखनेका अभ्यास हुआ, तो पश्चात् वही अभ्यास बढाया जा सकता है, और आगे प्रत्येक वस्तुमें ईश्वर भाव देखा जा सकता है। अर्थात् विश्वरूपमें ईश्वरका साक्षात्कार होनेके पूर्वकालमें, करने-योग्य अभ्यास विभूतियोगद्वारा बताया है।

परमेश्वर अपने एक अंशसे इस विश्वको व्याप रहा है, सब सात्त्विक-राजस-तामस भाव उससेही हो रहे हैं, विश्वमें जो वस्तुएं दीख रहीं हैं, उनका आदि, मध्य, अन्त उसीसे हो रहा है, सब भूतोंके बीचमें ईश्वरही आत्माके रूपसे रहता है, सुखदुःखादी सभी भाव ईश्वरसे होते हैं, इतनाही नहीं, परंतु जहां उसका संबंध नहीं ऐसा एकभी स्वतंत्र भाव यहां नहीं है। अर्थात् हरएक वस्तुमें ईश्वरका भाव है। वह जहां विशेष रूपसे है उसकी विशेषता बतानेके लिये उसकी विभूति कहां कैसी है उसका विवरण इस अध्यायमें किया गया है।

इस संबंधमें यहां अधिक लिखनेकी आव-श्यकता नहीं है, क्यों कि इसके आगेका ग्यार-हवां अध्यायही विश्वरूप-दर्शनका अध्याय है और उसके विवरणमें इस संबंधकी सभी बातें विशेष रूपसे दर्शायीं जायगीं। इसकारण इस अध्यायका मनन इतनाही यहां पर्याप्त समझते हैं। आगे विश्वरूपदर्शन करना है, और यदि वह बात समझमें आगयी, और इस विश्वके रूपमें परमेश्वरकाही रूप अनुभवमें आगया, तो फिर कृतकृत्यताही हो जायगी। इसलिये विलंब न करते हुए हम, आगे ग्यारहवें अध्यायका विचार प्रस्तुत करते है।

दशम अध्यायका मनन समाप्त ॥ १० ॥

दशम अध्यायके सुभाषित।

ईश्वरसे सब भाव प्रकट होते हैं।

बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, निर्भयता, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अयश, (गी० १०।४-५) दण्ड, नीति, मौन, (गी० १०।३८) तेज, जय, व्यवसाय, सत्त्व (बल) (१०।३६), वादविवाद, अध्यात्मविद्या, (१०।३२) पौरुष, जीवन, तप, काम और अन्यान्य सब सात्विक, राजस और तामस भाव मुझ (ईश्वर)से ही उत्पन्न होते हैं। (७।९-१२) ऐसा जानकर इनको स्वाधीन करना चाहिये। क्यों कि 'वे मेरे वशमें हैं परंतु मैं उनके वशमें नहीं हूं (गी० ७।१२)।'

इस ज्ञानको सदा मनमें जाग्रत रखकर, इन सब अपने भावोंको अपने आधीन रखना योग्य है, (७।१२) कभी स्वयं इनके आधीन न होना।

—

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी।

दशम अध्यायकी विषयसूची।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

(पुरुषार्थ–बोधिनी–भाषा–टीका)

तृतीय विभाग ।

एकादश अध्याय ।

टीकालेखक और प्रकाशक ।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमंडल, औंध, (जि. सातारा)

प्रथमवार

संवत् १९९२, शके १८५७, सन १९३५.

ईश्वर-प्राप्तिका उपाय।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

भ० गी० अ० ११।५५

"हे अर्जुन! जो मेरे लिये (ईश्वरके लिये) कर्म करता है, जो मुझे (ईश्वरको) परम श्रेष्ठ मानता है, जो भोगोंका संग छोडता है और सब भूतोंके विषयमें वैररहित होता है, वह मेरा (ईश्वरका) भक्त मुझे (ईश्वरको) प्राप्त होता है।"

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता ।

(पुरुषार्थ–बोधिनी–भाषाटीका–समेता ।)

अथ एकादशोऽध्यायः ।

विश्वरूपदर्शनयोग ।

(१) अध्यात्मज्ञानसे मोहका नाश ।

अर्जुन उवाच– मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाऽव्ययम् ॥२॥
एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

अन्वयः– अर्जुनः उवाच– त्वया मदनुग्रहाय अध्यात्मसंज्ञितं यत् परमं गुह्यं वचः उक्तं, तेन मम अयं मोहः विगतः ॥ १ ॥ हे कमलपत्राक्ष ! भूतानां भवाप्ययौ मया त्वत्तः विस्तरशः श्रुतौ हि; अव्ययं महात्म्यं अपि च (श्रुतं) ॥ २ ॥ हे परमेश्वर ! यथा एवं त्वं आत्मानं आत्थ, एतत्, हे पुरुषोत्तम ! ते ऐश्वरं रूपं द्रष्टुं इच्छामि ॥ ३ ॥

अर्जुन बोले– आपने मुझपर कृपा करनेके लिये अध्यात्म संज्ञक जो परम रहस्य सुनाया, उससे मेरा यह मोह दूर हुआ है ॥ १ ॥ हे कमलनेत्र ! भूतोंकी उत्पत्ति और उनके नाशके विषयमें मैंने आपसे विस्तारपूर्वक बातें सुनीं; वैसा ही आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुन लिया ॥२॥ हे परमेश्वर ! जैसा यह आपने अपने विषयमें कहा, वैसा ही यह, हे पुरुषोत्तम ! आपका ईश्वरीय रूप देखनेकी मुझे इच्छा है ॥ ३ ॥

(१-४) श्रीमद्भगवद्गीताका यह ग्यारहवाँ अध्याय सब अध्यायोंमें मुख्य है । क्यों कि वैदिक धर्म, गीताधर्म और मानवधर्मका जो ध्येय, जो प्राप्तव्य, वह इसमें प्राप्त हुआ है, साधकको

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

अन्वयः–हे योगेश्वर प्रभो ! मया तत् द्रष्टुं शक्यं इति त्वं यदि मन्यसे, ततः मे अव्ययं आत्मानं दर्शय ॥ ४ ॥

हे योगेश्वर प्रभो ! मेरे लिये उसका दर्शन होना शक्य है, ऐसा यदि आप मानते हैं, तो मुझे अपने अविनाशी आत्मस्वरूपका दर्शन कराइये ॥ ४ ॥

भावार्थ— अध्यात्म ज्ञानको जाननेसे सब प्रकारका मोह दूर होता है। वस्तुमात्रकी उत्पत्ति, स्थिति और लय कैसे होते हैं और उसमें परमेश्वरका सामर्थ्य कैसा प्रकट होता है, यह जाननेसे परमेश्वरकी ही यह अद्भुत शक्ति कार्य करती है यह स्पष्ट हो जाता है। यह महाशक्तिका प्रचंड कार्य देखनेसे मनुष्यके मनमें ईश्वरके रूपको साक्षात् करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। यहां तक यह ईश्वरका रूप प्रत्यक्ष देखनेकी संभावना हो वहां तक प्रयत्न करके मनुष्यको अविनाशी आत्माके स्वरूपको देखनेका यत्न करना चाहिये। यह रूप देखनेसे हि मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है ॥१–४॥

मिल गया है। अन्य साधकोंको जैसा जिस रीतिसे प्राप्त करना चाहिये वह रीति इसमें बतायी है, और साधकको कृतार्थ होनेकी साधना यहां स्पष्ट कही है। इस अध्यायके समझनेके पश्चात् ज्ञातव्य, प्राप्तव्य, द्रष्टव्य, कुछ भी नहीं रहता। यह अध्याय मानो गीतागुरूने शिष्यपर परम अनुग्रह करनेके लिये कहा है, गुरुकी यह परम दया है, यह अध्याय समझनेके पश्चात् शिष्यका मोह पूर्णरूपसे दूर होता है। ऐसा अपूर्व यह अध्याय है, अतः पाठकोंको यह अध्याय अत्यन्त मननपूर्वक पढना चाहिये।

गुह्य अध्यात्मज्ञान यहांतक भगवान् श्रीकृष्णने कहा, वह श्रवण करके अर्जुनका मोह दूर हो चुका है। इसी तरह पूर्वोक्त दस अध्याय जो साधक पढेंगे, सुनेंगे और मननपूर्वक विचारेंगे उनका भी सब मोह दूर होगा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

भूतमात्रोंके जन्म और लय कैसे होते हैं, भूतमात्रोंकी पालना कैसी होती है, यह सब इस समयतक विस्तारपूर्वक कहा है, जिसका श्रवण मनन और निदिध्यासन करनेसे परमेश्वरका अपूर्व महात्म्य समझमें आ सकता है। दशम अध्यायमें (श्लो० २ से ११ तक, नवम अध्यायमें श्लो० ४ से १० तक, अष्टम अध्यायमें श्लो० १८ से २२ तक, सप्तम अध्यायमें श्लो० ४ से १४ तक, इस प्रकार अनेक स्थानोंपर) जगत्की और भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशका वर्णन करके परमेश्वरका महात्म्य अनेक प्रकारसे वर्णन किया है।

जैसा यहाँ और अन्यत्र वर्णन किया गया है वैसा ही है। यह ईश्वरकी महिमा अवर्णनीय है, अतर्क्य है, अचिन्त्य है, परन्तु उसमेंसे अल्प यहां बताई है। इतनी महिमा जाननेके पश्चात् ऐसे अद्वितीय परमेश्वरका सत्यस्वरूप कैसा है, वह जाननेकी आकांक्षा साधकके मनमें होना स्वाभाविक है। वैसी वह इच्छा अर्जुनके मनमें हुई है। इसके अतिरिक्त अर्जुनके साथ भगवान् नित्य रहते थे, उसके हितके लिये हरएक कार्य करते थे, उसीका यह सब महिमा है, और उसीका यह अद्भुत सामर्थ्य ऐसा जाननेसे, अर्जुनके मनमें विशेष ही अचंबा हुआ और वह मनमें विचार करने लगा कि 'अहाहा, यदि इसी देवाधिदेवका यह द्विभुजी, मनमोहन शरीर है, और इसीका यह अद्वितीय अतर्क्य प्रभाव है, तो इसीका सत्यस्वरूप कुछ विशेष ही अद्भुत होना चाहिये, मैं क्यों न उसे देख

(२) ईश्वरके अनेक रूप और दिव्य दृष्टि ।

श्रीभगवानुवाच- पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! मे नानाविधानि, नानावर्णाकृतीनि, दिव्यानि च शतशः अथ सहस्रशः रूपाणि पश्य ॥५॥

हे पार्थ ! मेरे नाना प्रकारके, नाना रंगों और अनेक आकृतियोंसे युक्त दिव्य सेकडों और हजारों रूप देखो ॥ ५ ॥

लूँ ? ये भगवान् मुझपर अनंत उपकार करते हैं, फिर उसके ईश्वरीय रूपको ये मुझे क्यों न दिखावेंगे ? ' ऐसा विचार करके अर्जुन नम्रताके साथ भगवान्से कहने लगा, कि ' यदि आपका ईश्वरीय रूप मैं देख सकता हूं तो उसको देखनेकी मेरी अभिलाषा है, आप कृपा करके मुझे वह बतलाइये । '

भगवान् तो अर्जुनपर सब प्रकारका अनुग्रह करनेके लिये तैयार ही थे । अतः वे अर्जुनके सामने अपने रूपका वर्णन करने लगे । वह रूप अब हम भी देखेंगे ।

यहां पाठकोंसे एक निवेदन है कि वे यहां की शब्दयोजना अवश्य देखें—

हे परमेश्वर ! ते ऐश्वरं रूपं द्रष्टुं इच्छामि॥ (३)
यदि तत् मया द्रष्टुं शक्यं (तर्हि) तत् त्वं मे अव्ययं आत्मानं दर्शय ॥ (४)

"हे परमेश्वर! आपके ईश्वरीय रूपको देखनेकी मेरी इच्छा है, वह रूप यदि मेरे द्वारा देखना शक्य है, तो आप उस अपने अव्यय आत्माको दिखाइये । " यहां दो ही प्रश्न पूछे गये हैं-

१ ईश्वरीय रूपको देखना है, और
२ अव्यय आत्माको देखना है ।

इन दो आकांक्षाओंमें थोडा भेद है, एकमें अव्यय आत्माका दर्शन करनेकी इच्छा है और दूसरेमेंईश्वरके रूपका दर्शन करनेकी अभिलाषा है । अव्यय आत्मा निराकार, निर्विकार, अरूप, अशरीरी करके प्रसिद्ध है, यह चक्षूका विषय नहीं है, (न तत्र चक्षुर्गच्छति) वहां आंख जाती नहीं ऐसा स्पष्ट कहा है, इस अदर्शनीयका दर्शन करनेकी अभिलाषा यहां प्रकटकी है, और दूसरे प्रश्नमें ईश्वरके रूपको देखनेकी इच्छा प्रकटकी है । यहां ' रूप ' शब्दसे यह चक्षूका विषय निःसन्देह है । दोनों प्रश्न पूछनेका अभिप्राय यह है कि- 'जो कहा जाता है कि अचिंत्य, अरूप, आत्मा है, जो कहा जाता है कि सगुण, साकार भी वह होता है अर्थात् जो मूर्त और अमूर्त ब्रह्म है वह सब प्रत्यक्ष हो जाय । '

यहां ' ऐश्वरं रूपं' और ' अव्ययं आत्मानं ' ये सब शब्द एकवचनी हैं, ईश्वरकी अटूट एक जो सत्यरूप सत्ता है,वह देखनेकी इच्छा यहां प्रकटकी है । यहां एक अखण्ड रूप देखनेकी इच्छा प्रकट की है यह महत्त्वका भाव पाठक ठीक प्रकार समझमें रखें । यहां अनेक रूप- परमेश्वरके विविध रूप-देखनेकी इच्छा नहीं है । अव्यय आत्माका जो एक अखण्ड रूप है वह देखनेकी लालसा यहां प्रकट हुई है । प्रश्नका यह भाव ठीक प्रकार ध्यानमें धारण करके पाठक अब भगवान्के उत्तरका विचार करें । अब जो अपना रूप श्रीभगवान् कह रहे हैं वह यह है—

(५—८) अर्जुनका प्रश्न था (ऐश्वरं रूपं द्रष्टुं इच्छामि) ईश्वरका रूप मैं देखना चाहता हूं, तथा (अव्ययं आत्मानं दर्शय) अव्यय

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अन्वयः— हे भारत! आदित्यान्, वसून्, रुद्रान्, अश्विनौ; तथा मरुतः पश्य, अदृष्टपूर्वाणि बहूनि आश्चर्याणि च पश्य ॥ ६ ॥ हे गुडाकेश! कृत्स्नं सचराचरं जगत्, यत् अन्यत् च द्रष्टुं इच्छसि, तत् (अपि) इह मम देहे एकस्थं अद्य पश्य ॥ ७ ॥ अनेन एव स्वचक्षुषा तु त्वं मां द्रष्टुं न शक्यसे, (अत एव) दिव्यं चक्षुः ते ददामि, मे ऐश्वरं योगं पश्य ॥ ८ ॥

हे भारत! ये आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनी और मरुत् देखो, पहिले कभी देखे नहीं थे ऐसे अनंत आश्चर्य यहां देखो ॥६॥ हे गुडाकेश! संपूर्ण स्थावर जंगम जगत् तथा और जोभी तू देखना चाहता है वह सब यहां मेरे देहमें एक ही स्थानमें विद्यमान जैसा (दृश्य) आज हि देखो ॥ ७ ॥ इस अपने चर्मचक्षुसे तू मुझे देख नहीं सकता। इसलिये दिव्यदृष्टि तुझे मैं देता हूं। उससे तू मेरा ईश्वरीय योग-सामर्थ्य देख ॥ ८ ॥

भावार्थः- जिनमें अनेक भेद, अनेक रंग और अनेक आकृतियां हैं ऐसे ये ईश्वरके सेकडों, हजारों और लाखों रूप हैं। ये आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनी, मरुत् आदि सब उसीके रूप हैं। इसमें ऐसे अनंत अद्भुत आश्चर्य हैं कि जो कभी पहिले देखे नहीं होंगे। संपूर्ण स्थावर जंगम जगत् और भी इससे भिन्न जो कुछ होगा, वह सब यहां इस ईश्वरके देहमें एकरूप बनकर रहा है। सूर्यचन्द्र आदि रूपोंकी भिन्नता इस चर्मचक्षुसे मनुष्य देख सकता है, परंतु यह सब अनेकविधभेद यहां एक होकर कैसे रहे हैं,यह इस चर्मचक्षुसे कोईभी देख नहीं सकता। अतः भेदोंमें अभिन्नता का दर्शन करने के लिये दिव्यचक्षुको प्राप्त करना चाहिये। यह दिव्यचक्षु जब प्राप्त होगी, तभी ईश्वरका विश्वरूप दिखाई देगा और उसमें ईश्वरीय योग भी प्रतीत होगा ॥ ५-८ ॥

आत्माका दर्शन कराओ। ईश्वर और अव्यय आत्मा एक ही है और वह अद्वितीय है। इस एक आत्माका जो रूप होगा वह देखनेकी इच्छा अर्जुनको हुई है। अर्जुनका पक्का निश्चय था कि ईश्वरका रूप एक ही होगा। और वह किसी युक्तिसे भगवान् श्रीकृष्ण बतायेंगे।

अर्जुनकी यही इच्छा थी। अर्जुनका प्रश्न श्रवण करनेके पश्चात् भगवान् क्या उत्तर देने लगे, यह बडा ही विचारणीय विषय है। देखिये ये प्रश्नोत्तर—

अर्जुन— हे भगवन्! मैं आप ईश्वरके ईश्वरीय अव्यय आत्माका रूप देखना चाहता हूं, कृपया मुझे दिखाईये।

भगवान् श्रीकृष्ण— हे अर्जुन! देखो ये सूर्य,

वसु, रुद्र, मरुत्, अश्विनी आदि सेकडों, हजारों और लाखों नानाविध दिव्य रूप, ये अद्भुत अनेक वर्णों और आकृतियोंवाले रूप मेरे हि हैं। ये अनेक अपूर्व आश्चर्य यहां देख ये ही सब मेरे रूप हैं।

अर्जुन ईश्वरका (एक) रूप देखना चाहता है, उसका प्रश्न सीधा और सरल था। अर्जुनको कल्पना तक नहीं है कि ईश्वरके हजारों रूप होंगे। ईश्वर एक है इसलिये उसका रूप भी एक ही होना चाहिये यह अर्जुनका आशय है। परंतु भगवान् अर्जुनके आशयको समझकर उसका संदेह पूर्णतया मिटानेके लिये कहते हैं कि 'ईश्वरके सेकडों, हजारों, लाखों और करोडो रूप हैं, ये सब सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, वायू, जल, बादल आदि सब ईश्वरके ही अनंत रूप हैं। यहां अनंत आदित्य हैं, अपनी ग्रहमालाका यह आदित्य दिनके समय हमारे संमुख होता है, वैसे लाखों आदित्य इस आकाशमंडलमें हैं, वे सब सूर्य ईश्वके ही रूप हैं, सब वसु अर्थात् पृथ्वी, अग्नि वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र, चन्द्रमा और आदित्य ये वसु हैं (श. ब्रा. ११।७।१) वसुओं की गिनती अन्य प्रकारभी शास्त्रकारों ने की है, विष्णुपुराणमें कहा है-

धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवाऽनिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोष्टाऽविति स्मृताः॥
(विष्णुपुराण)

'धर (पृथ्वी), ध्रुव (ध्रुवतारा), सोम (चंद्र), अहः (दिन,) वायु, अग्नि, प्रत्यूष (सूर्य), और प्रभास (प्रकाश) ये आठ वसु हैं।' इस तरह ये वसु हैं क्योंकि ये सबको वसाते हैं। ये सब वसु ईश्वरके रूप हैं।

इसी प्रकार ये सब रुद्र अर्थात् सब प्रकारके प्राणभी ईश्वरके रूप हैं, ये मेघमंडलमें दीखनेवाले, शब्द करनेवाले मेघ भी ईश्वरके ही रूप हैं। ये मरुत् अर्थात् सब प्रकारके वायुभी ईश्वरके रूप ही हैं, ये अश्विनी देव-ये दो तारे-ये ईश्वरके रूप हैं। इस जगत्में जितनेभी आश्चर्य हैं वे सर्व आश्चर्य अव्यय आत्माके ईश्वरीय रूप हैं। इस विश्वमें सभी आश्चर्य भरे पडे हैं। क्या सूर्यका महत्त्व, क्या जीवकी हलचल, क्या जलका प्रभाव, क्या पृथ्वीकी उत्पन्न करनेकी शक्ति, एक नहीं दो नहीं सहस्रों आश्चर्य इस विश्वमें प्रतिक्षण हो रहे हैं, ये सब आश्चर्य, ये सबकी सब अद्भुत घटनाएं परमेश्वरके ही रूप हैं। यहां जो नाना रंग, नाना आकृतियां, नानाविध अपूर्व चमत्कार दिखाई दे रहे हैं वे सबके सब ईश्वरके ही भाव हैं। यहां कोई भाव ऐसा नहीं कि जो ईश्वरका न हो। अर्थात् संपूर्ण चराचर जगत्भी ईश्वरहीका रूप है।

अर्जुन एक ईश्वरका एकरूप देखना चाहता है और उसका प्रश्न वही भाव व्यक्त करता है। परंतु भगवान् श्रीकृष्णके उत्तरमें ईश्वरके अनंत रूप होनेका स्पष्ट वर्णन है। यह सुनकर अर्जुन चकित हुआ और मन ही मनमें आश्चर्य करने लगा कि एक ईश्वरके ये अनंत रूप कैसे हो सकते हैं? इस जगत्में इतनी विविधता है और परस्परविरोधी भाव भी इतना है कि वे सब भाव एक ही आत्माके हैं ऐसा मानना कठीण है? क्या अग्नि और जल एक ही ईश्वरके रूप हैं, क्या दिन और रात्री एक ही आत्माके स्वरूप हैं, क्या जन्म और मरण एक ही प्रभूके भाव हैं, क्या शत्रु और मित्र एक ही हैं? इस विश्वमें जो अनंत भाव दिखाई देते हैं वे सब एक ही सच्चिदानन्द अखंड एकरस परमेश्वरके ही रूप हैं? यह कैसे मानें? यह कैसे हो सकता है? ज्ञान और अज्ञान, शूरता और भीरुता, उदारता और कृपणता, दया और छल ये सब एकके ही भाव हैं?

ऐसी खिलबिली अर्जुनके मनमें मच जाना

(३) विश्वरूपका दर्शन ।

संजय उवाच- **एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।**
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

स्वाभाविक था । वह अवस्थता अर्जुनके मनमें उत्पन्न हुई यह देख कर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको समझानेकी इच्छासे कहते हैं—

'इह मम देहे सचराचरं कृत्स्नं जगत् एकस्थं पश्यं।' (७)

" इस मेरे (ईश्वरके) देहमें स्थावर जंगम सब जगत् एकरूप होकर स्थिर हुआ है " यह तू देख । यहां अलग अलग टूकडे नहीं हैं, यहां भिन्नता नहीं, यहां सबकी एकरूपता हुई है, भेदवाले सब पदार्थ यहां एकरूपताको प्राप्त हुए हैं । इसतरह अर्जुनके प्रश्नके साथ उत्तरकी संगति है । यद्यपि प्रारंभमें श्रीकृष्ण भगवान्ने अपने अनेक हजारों रूपोंको दर्शाया, तथापि उनको भिन्न भिन्न न देखते हुए एकरूप देखनेके लिये उन्होंने कहा । इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि सामान्य जनोंकी दृष्टिको यहां अनेकविध विभिन्न पदार्थ दिखाई देते हैं, तथापि वे पदार्थ विभिन्न नहीं हैं, ईश्वरके ब्रह्माण्ड देहमें वे एकरूप होते हैं ऐसा देखना चाहिये। सामान्य जनोंकी दृष्टिमें विविध पदार्थोंकी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती हैं, परंतु दिव्यचक्षु प्राप्त होनेपर यह भेद मिट जाता है और सबका मिलकर एक अखंडरूप परमेश्वरका ही है ऐसा दीखता है ।

उदाहरणके लिये हम ऐसा विचार कर सकते हैं कि हम भारतीयोंमें हिंदु, मुसलमान, ईसाई आदि भेद देखते हैं, तथापि सबको हम ' हिंदी' किंवा ' भारतीय ' करके एकरूपभी देख सकते हैं । ' भारतीय ' माननेके समय अन्यभेद मिट जाते हैं और अन्य भेदोंको माननेके समय भारतीयोंकी एकरूपता दूर होती है । हम अपने शरीरमें आंख, नाक, कान, हाथ पांव,पेट आदि अवयव पृथक् भावसे देखते हैं । यह नाना अवयवोंकी विभिन्नता रहते हुएभी यहां ' मैं ' पनकी एकरूपता अवश्य है । इस ' मैं ' पनकी एकरूपतामें सब भेदभाव हट चुके हैं । इसी प्रकार और एक उदाहरण देखिये । एक गाडी है, उसको ' गाडी ' के रूपमें देखनेसे चक्र, आरे, याग,रस्सी आदि जो अनेक पदार्थ गाडी निर्माण में लगे हैं, उनकी भिन्नता मिट जाती है, परंतु जिस समय हम चक्रोंको अलग करते हैं, आरे अलग करते हैं, रस्सीयां और कील अलग करते हैं, तो एक ही गाडीमें अनेक विभिन्न पदार्थोंकी असंदिग्ध भिन्नताका अनुभव होता है । यहां पृथक् वस्तुओंका अनुभव करना यह सामान्य दृष्टि है और सब एक भाव होकर जो रथभाव उत्पन्न हुआ है उसका अनुभव करना और विभिन्न पदार्थोंके होते हुए भी उसमें एक अखंड सत्ताको देखना दिव्यचक्षुका कार्य है । सर्वत्र यही रीति है । इसको पाठक समझनेका यत्न करें। भगवान् श्रीकृष्ण यही दिव्यदृष्टि अर्जुनको दे रहे हैं ।

यह दिव्यदृष्टि प्राप्त होते ही अनंत वस्तुओंके अन्दर एक तत्त्व भरा है, इतना ही नहीं परंतु वस्तुओंकी अनेकता वास्तविक नहीं है, परंतु एक ही तत्त्व विविध वस्तुओंके रूपोंको लेकर विश्वरूप बनकर हमारे सामने खडा है ऐसा अनुभव आ जायगा । यह दिव्यदृष्टिका अनुभव है । यह दिव्यदृष्टि अर्जुनको कैसी प्राप्त हुई और अर्जुनने परमेश्वरका विश्वरूप कैसा देखा, यह अत्यंत मनोरंजक वर्णन हम आगे देखते हैं—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगंधानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

अन्वयः— संजयः उवाच– हे राजन्! एवं उक्त्वा, ततः महायोगेश्वरः हरिः पार्थाय परमं ऐश्वरं रूपं दर्शयामास ॥ ९ ॥ अनेकवक्त्रनयनं, अनेकाद्भुतदर्शनं, अनेकदिव्याभरणं, दिव्यानेकोद्यतायुधं, दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगन्धानुलेपनं, सर्वाश्चर्यमयं, अनन्तं विश्वतोमुखं देवं (अर्जुनः अपश्यत्) ॥ १०–११ ॥ यदि दिवि सूर्यसहस्रस्य भाः युगपत् उत्थिता भवेत्, तर्हि सा तस्य महात्मनः भासः सदृशी स्यात् ॥ १२ ॥ पांडवः तदा अनेकधा प्रविभक्तं कृत्स्नं जगत्, तत्र देवदेवस्य शरीरे एकस्थं अपश्यत् ॥ १३ ॥

सञ्जयने कहा— हे राजा धृतराष्ट्र! इस प्रकार कह करके, महायोगेश्वर कृष्णने अर्जुनको अपना परमश्रेष्ठ ईश्वरीय रूप दिखलाया ॥ ९ ॥ उसके अनेक मुख और अनेक नेत्र थे, उसमें अनेक अद्भुत दृश्य थे, उसपर अनेक प्रकारके दिव्य अलंकार थे, और उसके पास अनेक दिव्य आयुध थे, उसपर अनेक दिव्यपुष्प मालाएं थीं और उत्तम वस्त्र थे, दिव्यगंध लगाये हुए थे, और वह सर्व आश्चर्योंसे युक्त, अनंत तथा सर्वतोमुख देव था (उसे अर्जुनने देखा) ॥ १०–११ ॥ यदि आकाशमें एक हजार सूर्योंकी प्रभा एक साथ प्रकट हो, तो वह उस महान् आत्माकी कान्तिके समान कदाचित् दीख पडे ॥ १२ ॥ अर्जुन उस समय अनेक प्रकार विभक्त हुए सारे जगत्को, उस देवाधिदेवके शरीरमें एकत्रितसा देखने लगा ॥ १३ ॥

(९-१४) पाठक यहां ध्यानपूर्वक देखेंगे, तो उनको इस बातका स्पष्ट पता लग जायगा, कि यहां 'दिव्यदृष्टि' दी इतना ही वर्णन है, परंतु वह कैसी दी, किस रीतिसे दी, वह क्या चीज थी, इसका वर्णन नहीं है। दिव्यदृष्टिका स्वरूप अथवा लक्षण यहां नहीं बताया। यह दिव्य-दृष्टि यहां गुप्त रखी गयी है। यह दिव्यदृष्टि क्या थी यह जाननेकी उत्कंठा सब पाठकोंको हुई होगी, अतः इसका थोडासा विचार करना चाहिये।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥१४॥

अन्वयः-- ततः विस्मयाविष्टः हृष्टरोमा सः धनंजयः, देवं शिरसा प्रणम्य, कृतांजलिः अभाषत ॥ १४ ॥

उससे आश्चर्यसे युक्त होनेके कारण अर्जुनके शरीरपर रोमांच खडे हो गये; और वह मस्तक नमा कर, नमस्कार करके हाथ जोडकर उस देवसे ऐसा बोलने लगा ॥ १४ ॥

भावार्थ— अर्जुनको दिव्यदृष्टि भगवान् श्रीकृष्णने दी और उसको अपना ईश्वरीय विश्वरूप दिखला दिया। उसमें अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक दृश्य, अनंत अलंकार, अनेक आयुध, अनेक पुष्प और अनेक मालाएं, अनेक वस्त्र, अनेक प्रकारके चंदन और उबटने, विविध प्रकारके अनंत आश्चर्य थे, इतना ही नहीं, परंतु उसके मुख सब ओर दिखाई देते थे। आकाशमें सहस्रसूर्योंकी प्रभा उदित होनेके समान उसकी प्रभा थी। और सारा विविध आकृतियोंमें बटा हुआ जगत् उसमें एकरूप दिखाई देता था। उस दृश्यसे अर्जुन आश्चर्ययुक्त हुआ, उसके शरीरपर रोमांच खडे हुए, उसने उस विश्वरूप प्रभुके सामने अपना सिर झुकाया, और हाथ जोड कर वह उसकी ऐसी स्तुति करने लगा ॥ ९-१४ ॥

यहां दिव्यदृष्टि केवल अर्जुनको ही दी गयी थी, ऐसा यहां वर्णन है। यदि केवल अर्जुनको गुप्त रीतिसे कानमें कही होगी, और किसीने वह नहीं सुनी होगी, तो संजयको विश्वरूपका दर्शन किस प्रकार हुआ? क्योंकि यह वर्णन संजय स्वयं विश्वरूपको देख कर कर रहा है। दिव्यदृष्टिके न प्राप्त होनेकी अवस्थामें विश्वरूप-दर्शन होनेकी संभावना नहीं है। यह बात तो भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट कही है और इसीलिये उन्होंने दयाभावसे अर्जुनको दिव्यचक्षु दिये। यदि दिव्यचक्षुके विना किसीको विश्वरूपदर्शन होनेकी सम्भावना होती, तो अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णका प्रियसखा होनेके कारण उसको वह दर्शन हो सकता था। यहां भगवान्के प्रिय-सखाको भी दिव्यचक्षु प्राप्त नहीं हुए थे, उस समयतक विश्वरूपके दर्शन नहीं हुए। अतः दिव्यचक्षु प्राप्त होनेके विना विश्वरूपदर्शन असम्भव है ऐसा सिद्ध होता है, फिर संजयने जो विश्वरूपका दर्शन किया वह कैसे किया, यह शंका यहां उपस्थित होती है। इसका विचार करना चाहिये।

युद्धका प्रारम्भ होनेके समय श्रीव्यासदेवजीने संजयसे कहा था कि जो वृत्तान्त युद्धभूमिमें होता रहेगा वह तुम्हें ज्ञात होगा। इस साधनके अनुसार अर्जुनको दिव्यदृष्टि जिस समय प्रदान की, कही अथवा समझा दी, उसी समय वह ज्ञान संजयको हुआ होगा। अथवा श्रीभगवान् की अर्जुनके साथ वातचीत सबको सुनने योग्य खुली आवाजमें होनेके कारण ही भगवद्गीता सबको ज्ञात हो गई, और श्रीव्यासदेवजी उस गीताको लिख सके। इसीमें दिव्यदृष्टिका प्रदान करना भी है, अतः वह ज्ञान संजयको भी उसी समय मिलना स्वाभाविक है। युद्धकी संपूर्ण वातें संजयको विदित होती थीं, युद्धके प्रारंभमें भगवद्गीता कही गयी और उसी प्रसंग-में दिव्यदृष्टि प्रदान की। अतः यह सब संजयको उसी समय विदित हुआ। अर्थात् जो दिव्य-दृष्टि जिस रीतिसे अर्जुनको दी गयी वह उसी

प्रकार संजयको विदित हुई।

संजयको दिव्यदृष्टी प्राप्त होनेके कारण ही वह परमेश्वरके विश्वरूपका दर्शन करनेमें समर्थ हुआ। और जैसा उसने देखा वैसा उसने धृतराष्ट्रको बतला दिया। धृतराष्ट्रको प्रत्यक्ष विश्वरूप दिखाई दिया या नहीं, यह हम कह नहीं सकते, क्यों कि उसको तो चर्मचक्षु भी नहीं थे, अतः केवल कहनेसे उसको विश्वरूपका दर्शन हुआ होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्यों कि रूपका दर्शन करनेके लिये आंखें तो चाहिये, भेद इतना ही है, इन आंखोंसे दीखनेवाली वस्तुओंकी परस्पर भिन्नता मिट जाय और एकरूपता उसके दृष्टिगोचर हो। यह तो आंखवालोंको ही हो सकता है, अतः धृतराष्ट्रको संजयके समझानेपर भी प्रत्यक्ष विश्वरूपका दर्शन नहीं हुआ।

यहां केवल संजयको ही विश्वरूपदर्शन हो गया ऐसा नहीं है, प्रत्युत उस युद्धभूमिमें खडे हुए कई वीरोंको यह विश्वरूप दिखाई दिया और वे घबराये ऐसा भी आगे चल कर कहा है-

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्। बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥

"जिस विश्वरूपमें अनेक नेत्र, बाहु, ऊरु, पांव, पेट, दंष्ट्राएं हैं उस ईश्वरके भयानक विश्वरूपको देखकर जैसा मैं डर गया हूं वैसे ये सब लोक भी भयभीत हुये हैं।" इस अर्जुनके वचनके अनुसार ऐसा मानना पडता है कि युद्धक्षेत्रमें अर्जुनने, और वहां उपस्थित हुए अन्य वीरोंने भी विश्वरूपदर्शन किया और संजयने भी किया। इनमें अर्जुनको दिव्यदृष्टि साक्षात् भगवानने दी थी, वह उपदेश संजयने सुन लिया और उसका भाव जान लिया और उस पद्धतिके अनुसार विश्वरूपका अनुभव किया। अब यह बात रही कि वहांके अन्य वीरोंने विश्वरूपदर्शन किया वह कैसे किया?

इस घटनाका विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रश्नोत्तर छोटी आवाजमें नहीं हुए थे। संभवतः ऐसी आवाजमें हुए होंगे कि जो आसपासके समीपस्थ १००-५० मनुष्योंको सुनाई देवे। इस लिये जो अर्जुन पूछता था और जो उत्तर भगवान् देते थे, वह अर्जुनके सिवाय वहां उपस्थित रहे अन्य वीरोंको भी सुनाई देता होगा। इस तरह अर्जुन मुख्य श्रोता था, संजय ऐसा श्रोता था कि जो युद्धकी सब बातें अपनी गुप्त रीतिसे जानता ही था, इस रीतिसे संजयने गीतोपदेश जान लिया। अब जो वीर अर्जुनके रथके आसपास थे, उन्होंने भी भगवान्‌का उपदेश मन लगाकर कुतूहलसे सुना ही होगा, जिससे उनको भी दिव्यदृष्टिका तत्त्व, अर्थात् भेदोंमें अभेद दर्शन करनेका तत्त्वज्ञान विदित हुआ होगा। अन्यथा विश्वरूप-दर्शनसे उन अन्य वीरोंको घबराहट होनेका कारण दूसरा कोई दीखता नहीं।

दिव्यदृष्टि।

यहां भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी थी, इसमें संदेह नहीं है। वह बात संजयने सुनी थी और वह अतिबुद्धिमान होनेसे उसने उस दिव्यदृष्टिका तत्त्व जान लिया था इसमें भी संदेह नहीं, क्यों कि भगवद्गीताके अन्तमें भी वह फिर कहता है कि-

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः॥
विस्मयो मे महान्राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥
गी० १८-७७

"श्रीहरिके उस दिव्य विश्वरूपका स्मरण करके मुझे बडाहि विस्मय हुआ है।" विश्वरूपदर्शन संजयने केवल उसी समय किया ऐसा नहीं, परंतु उसका स्मरण उसको पीछेसे भी रहा,

इतना दृढ वह रूप उसके मनमें जम गया था।

यह कौनसी युक्ति है जिससे मनुष्य ईश्वरके विश्वरूपको देख सकते हैं? संपूर्ण गीतामें ईश्वरीय तत्त्वज्ञानकी सब बातें कहीं हैं, परंतु जो दिव्यदृष्टिकी मुख्य बात है वह कही जानेपर भी श्रीव्यासदेवने क्यों नहीं लिखी? संपूर्ण गीताकी लिपी करनेवाले व्यासदेवजीको इतना ही दिव्यचक्षुका ज्ञान लेखबद्ध करनेमें क्यों कठिनता प्रतीत हुई? प्रतीत तो ऐसा होता है कि संपूर्ण गीता लिखनेवालेको यह ज्ञान लिखना असंभव नहीं था। तथापि 'मैं दिव्य चक्षु देता हूं? (दिव्यं ददामि ते चक्षुः)' इतना कह कर भी वहां वह युक्ति नहीं दर्शायी है। ऐसी महत्त्वकी बात क्यों छोडी गयी? कौनसा हेतु इसमें होगा? यह बडा गंभीर प्रश्न है। इसका विचार शान्तिके साथ करना चाहिये।

हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात श्रीव्यास देवजीने छोडी नहीं, न लिखना भूल गये। परंतु यहां न लिखनेका कारण यह है कि यह बात इससे पूर्व कही गयी है इसलिये दुहराई नहीं। संक्षेपसे जो बात यहां कहनी चाहिये थी और जो पूर्व स्थानमें कही जानेके कारण यहां फिरसे नहीं कही गयी, वह हम पीछेसे पुनः उद्धृत करते हैं जिससे पाठकोंको सुबोधतासे यह ज्ञान प्राप्त होगा, वह दिव्य-दृष्टिका विषय ऐसा है-

वासुदेवः सर्वम् ॥ भ० गी० ७-१९

" परमेश्वर सब कुछ है। " जो कुछ वस्तु-मात्र यहां है वह सब परमेश्वर है। यह कैसे देखा जाय? इसका अनुभव कैसा ले सकते हैं? इसका उत्तर इस रीतिसे दिया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥
(गी० ७)

" परमेश्वरकी प्रकृति- अर्थात् उसका शरीर पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि अहंकार और जीव इस तरह नवविध है। इससे सर्व भूत उत्पन्न हुए हैं अतः परमेश्वर संपूर्ण जगत्का उत्पन्नकर्ता और प्रलयकर्ता है। "

यदि परमेश्वरका शरीर इन नव तत्त्वोंका बना है तो ये तत्त्व जहां होंगे वह परमेश्वरका शरीर ही है इसमें संदेह नहीं। पाठक इस सिद्धान्तको ध्यानमें धारण करें और देखें कि कोनसी वस्तु इन तत्त्वोंसे बनी नहीं है। प्रत्येक वस्तु इन तत्त्वोंकी ही बनी है अतः प्रत्येक वस्तु ईश्वरके अखंड शरीरमें समाविष्ट है। अथवा विश्वभरके सब पदार्थ मिलकर अर्थात् अखंड-भावसे उसमें समाविष्ट होनेसे यह सब ईश्वर-का ही शरीर है।

अथवा दूसरी रीतिसे देखाजाय तो ऐसा कह सकते हैं कि जो हम नाक, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कर्ण, मन, बुद्धि, अहंकार और जीवनसे अनुभव करते हैं अथवा कुछ है ऐसा देखते हैं, वह सब परमेश्वर ही है। उसीको हम सूंघते, चखते, देखते, स्पर्श करते, सुनते, मनन करते, जानते, अहंकार भावसे अनुभव करते और जीवनरूपसे देखते हैं। अर्थात् हम अपनी संपूर्ण शक्तियोंद्वारा परमेश्वरका ही अनुभव करते हैं।

यहां कई पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि हम जो इन्द्रियोंद्वारा जगत्का अनुभव करते हैं वह 'खंडों, टुकडों' का अनुभव है, अखंडताका अनुभव नहीं है। और परमेश्वर अखंड, एकरस, अटूट अनंत वस्तु है, इसलिये नेत्रादि इन्द्रियोंसे उसको कैसा अनुभव कर सकते हैं? यह प्रश्न जगत् दृष्टिसे ठीक है, परन्तु इंद्रियोंका अनुभव

भी खंडोंका अनुभव नहीं है, उनसे भी अखंड एकरस एक ही सद्वस्तुका अनुभव आता है। उदाहरणके लिये नेत्रका अनुभव लीजिये। विश्वभर आप अपनी आंखें घुमाइये, 'सर्वत्र अखण्ड, एकरस, अटूट, रूपका अनुभव आवेगा'। मनुष्य भ्रमसे बीच बीचमें खण्डोंकी कल्पना करता है, यह सत्य है, परंतु वह उसका अनुभव नहीं है। पाठक पुनः अपनी आंखे विश्वमें घुमावे, और देखें, दो वस्तुओंके रूपोंमें 'रूपके अभावका अनुभव नहीं होता'। यदि दो वस्तुओंके बीच में रूपका अभाव नहीं है, तो वस्तुएं भिन्न होती हुई भी रूप अखण्ड ही अनुभव में आता है। एक वस्तुका रूप जहां समाप्त हुआ, वहांसे ही दूसरी वस्तुका रूप दीखना शुरू होता है, उसका समाप्त होते ही तीसरी वस्तुका रूप दीखता है। ऐसा ही सर्वत्र है। इस तरह थोडासा विचार करनेपर पता लग जाता है कि इस विश्वका रूप खण्डित नहीं है, टुकडोंवाला नहीं है, अखंड, एकरस, रूप इस विश्वमें है। यह जैसी रूपकी अखंड एकरसता है वैसी हि गंध, रस, स्पर्श, शब्द, मन्तव्य, ज्ञातव्य, अहंकर्तव्य, जीवन इन भावोंकी अखंड एकरसता है। टुकडों खण्डो विभागोंका जो अनुभव है यह जागतिक अनुभव व्यावहारिक दशाका है, वह सत्य अनुभव नहीं है, इसलिये हम कह नहीं सकते कि विश्वमें विभागोंका अनुभव है। अर्थात् ज्ञानेंद्रियोंसे जो अनुभव आता है वह अखंडताका ही अनुभव है।

इसीको 'अ-दिती' कहते हैं। अ-दितीका अर्थ अ-खंडित ऐसा ही है। यही अनुभव मनुष्य सदा लेता है, परंतु न जानता हुआ लेता है। एकत्वका अनुभव न करता हुआ यह अनुभव लेता है, किंवा एकताका अनुभव करता हुआ पृथक्ताका अनुभव हुआ ऐसा मानता है। यही इसका अज्ञान है। इतने विवरणसे सिद्ध हुआ कि हम जो व्यवहार कर रहे हैं वह एक ही परमेश्वरमें और एकही परमेश्वरके साथ कर रहे हैं। क्योंकि वही एक अखंड वस्तु यहां है, नाक उसीको सूघती है, जिह्वा उसीका रस लेती है, नेत्र उसीका रूप देखती है, त्वचा उसीका स्पर्श करती है, कान उसको सुनती है, मन उसीका मनन करता है, बुद्धी उसीको जानती है, वही मैं करके कहता है, और उसीका जीवन सबको जीवरूपमें दिखा रहा है।

यही अर्थ 'वासुदेवः सर्वं' (गी० ७-१९) में बताया है और यही अर्थ निम्नलिखित श्लोकों-का है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
गी० ४-२४

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ गी०९-१६

"क्रतु, यज्ञ, अर्पण हविर्द्रव्य, अग्नि, हवन, स्वधा, औषधि, मंत्र, घी" यह सब ब्रह्म, (आत्मा, मैं, ईश्वर) ही है। क्योंकि हमें जो अनुभव है वह अटूट, अखण्ड एक वस्तुका ही अनुभव है।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
ईश० ७, (वा० यजु० ४०-७)

"जब विशेष ज्ञानीको सब भूतमात्र एक ही आत्मा हुआ, तब उस एकत्वका अनुदर्शन करनेवालेको शोक और मोह कैसे होगा?"

इस वेदमंत्रका भी अनुभव यही है। 'सर्व-भूतात्मभूतात्मा' (भ० गी० ५।७) यह अनुभव भी इसी ज्ञानसे होता है। सब भूतोंका आत्मा जिसका आत्मा हुआ, अर्थात् सबका अखण्ड एक आत्मा है ऐसा अनुभव आया तभी शोक मोह पूर्णतया हट जाते हैं। यही बात 'नित्यः सर्वगतः (आत्मा)। गी० २।२४' एक सर्वगत-सर्वव्यापक आत्मा है, ऐसा कहकर कही है। सर्वत्र सबके अन्दर एक ही आत्मा है और यह

विश्व उसका स्थूल शरीर है, जिसको हम पृथिव्यादि नौ तत्त्वोंमें नवविध इंद्रियोंके कारण देखते हैं, वस्तुतः वह एक ही सद्वस्तु है। हमारी इंद्रियोंकी असमर्थताके कारण अभेदमें भेदका अनुभव हमें होता है।

अस्तु इस तरह इस विश्वके विविध भेदोंमें अभिन्न एक वस्तुका दर्शन होता है। यह अभिन्न अखण्ड वस्तु परमेश्वर है, उसका ही शरीर यह विश्व है, अतः इस विश्वका रूप उसी परमेश्वरका सब रूप है, सब रूपको ही 'विश्वरूप' कहते हैं।

विविध भिन्नताओंमें अभिन्नवस्तुका इस तरह दर्शन करनेकी जो दृष्टि है, उसका नाम 'दिव्यदृष्टि, दिव्यचक्षु' है और इस विश्वमें अलग टुकडोंका-भेदभावका, विभक्तताका जो दर्शन करना है, उसके नाम 'संसारदृष्टि, प्रपंचदृष्टि, चर्मचक्षु, स्थूलदृष्टि,' आदि अनेक हैं। यहां पाठक समझ गये होंगे कि, इस दिव्य दृष्टिकी पद्धतिका विवेचन इससे पूर्व हो चुका है, इसलिये यहां दिव्यचक्षुका पुनः स्पष्टीकरण किया नहीं। पुनरुक्तिका दोष हटानेके लिये 'दिव्यचक्षु देता हूं' (गी० ११।८) ऐसा कह कर भी यहां कहा नहीं। क्यों कि थोडे समयके पूर्व ही यह बात समझा दी थी, उसीको यहां फिर दुहरानेका प्रयोजन क्या है?

संभवतः यह भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी वार्तालाप संजय और वहांके अन्यान्य वीरोंने भी सुन ली होगी और उनको भी भेदोंमें अभेद देखनेकी पद्धति ज्ञात हुई होगी। इसी कारण संजयने विश्वरूप देखा और वहांके अन्यान्य वीरोंने भी देख लिया, परंतु कुरुक्षेत्रपर उपस्थित रहे सभी क्षत्रियोंने नहीं देखा, क्योंकि अर्जुन श्रीकृष्णकी बातचीत सबोंने नहीं सुनी थी, जिन्होंने सुनी और सुनकर जिनके समझमें आगयी उनको ही 'यह विश्व परमेश्वरका एक अखण्डरूप है' यह सिद्धान्त ठीक प्रकार समझमें आगया होगा।

विश्वरूपका वर्णन।

उक्त प्रकार दिव्यदृष्टिकी पद्धति समझाकर महायोगेश्वर श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना परम ऐश्वरीयरूप- विश्वरूप- दिखला दिया। यह जो विश्वका रूप है वह अपना ही अखण्ड रूप है ऐसा अर्जुनको समझाया। जो हरएकको इस विश्वमें दीखता है वही परमेश्वरका विश्वरूप है, वह किसी दूसरेका रूप नहीं है, वह रूप अनंत विभिन्न पदार्थोंका नहीं है, प्रत्युत एक अखंड नित्य सद्वस्तु परमात्माका ही है। यहां विभिन्न पदार्थोंमें अभिन्न तत्त्वका दर्शन करना है, यह तत्त्व जाननेके पश्चात् जो विश्वरूप अर्जुनने तथा संजयने देख लिया उसका वर्णन इस तरह उन्होंने किया है—

"उस देवाधिदेव परमेश्वरके अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक रूप हैं, उसपर अनेक दिव्य आभूषण हैं उसने अनेक दिव्य शस्त्रास्त्र लिये हैं (१०), दिव्य पुष्प और दिव्य मालाएं उस प्रभुके शरीरपर हैं, उत्तम सवासिक चंदन उसके शरीरपर लगाये हैं, अनेक उबटने लगे हैं, उसके मुख सब ओर हैं, उसमें अनेक आश्चर्य हैं ऐसा यह अनादि अनन्त प्रभु है (११), आकाशमें सहस्रों सूर्योंका प्रकाश एकसाथ प्रकाशित होनेके समान इसका ही तेज चमक रहा है (१२), अनेक प्रकारसे अनंत वस्तुओंमें विभक्त हुआ संपूर्ण जगत् इस प्रभुके देहमें एक होकर रहा है, अर्थात् प्रभुके देहमें जगत्की विभक्तता हट गयी है। सब प्रकारके भेद यहां नष्ट हो गये हैं और सबका मिलकर अखंड एकरस एकही रूप हुआ है (१३)।"

जो विश्वरूप अर्जुनने देख लिया, और संजयने देख लिया वह यह है। इसी प्रकार अर्जुनके रथके समीप उपस्थित कई वीरोंने भी ऐसा ही देखलिया। अर्जुन हाथ जोडकर उस देवाधिदेव प्रभुकी स्तुति करने लगा। वह स्तुती

कैसी की इसका विचार आगे किया जायगा। यहां उक्त विश्वरूपका ही वर्णन अधिक स्पष्ट करना है।

परमात्माके रूपमें अर्जुनने और संजयने क्या देखा ? अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक अद्‌भुत रूप, अनेक आभूषण, अनेक उठाये आयुध, उत्तम पुष्पमालाएं, चंदन और उबटने, प्रकाश, और विभिन्न पदार्थोंकी एकरूपता, इतना ही अर्जुनने देख लिया। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ इतना ही है कि वहां कुरुक्षेत्र की युद्धभूमिपर अनेक वीर इकट्ठे हुए थे, उन अनेक वीरोंके अनेक मुख, अनेक नेत्र और अनेक प्रकारके रूप थे, उन्होंने अनेक आभूषण धारण किये थे, उनके हाथोंमें अनेक उठाये शस्त्रास्त्र थे, उनके शरीरपर उत्तम पुष्पमालाएँ थीं, उनके शरीरपर उत्तम चंदन और उबटनोंके लेप लगाये थे, सब ओर उनके मुख दिखाई देतेथे, आकाशमें सूर्यप्रकाश चमक रहा था, अनेक आश्चर्य विश्वमें दीख रहे थे और यह सब विभिन्नता प्रभुके विश्वरूपमें एकरूप होकर दिखाई देती थी।

यह वहांकी ही कुरुक्षेत्रकी भूमिपर दिखाई देनेवाला दृश्य था। किसी अन्य प्रकारका अथवा अन्य स्थानका दृश्य नहीं था। उन विरोंके विभिन्न देहोंमें व्यापनेवाला अभिन्न परमेश्वर है यह ज्ञान पूर्वोक्त दिव्यदृष्टिकी रीतिसे अर्जुनको प्राप्त हुआ। और यह ज्ञान होते ही इस विभक्त विश्वके रूपमें एकरूप परमेश्वर है और उसीका यह सब रूप है ऐसा उसका निश्चय हुआ। जिन्होंने दिव्य आयुध उठाये हैं ऐसे वीर उसी कुरुक्षेत्रमें उसी समय अर्जुनके चारों ओर उपस्थित थे। उनको ही अर्जुनने देखा और जो दिव्यदृष्टिका ज्ञान उसको प्राप्त हुआ था, उसके द्वारा उन्होंने देख लिया कि ये विभिन्न वीर परमात्माके शरीरमें उक्त प्रकार अभिन्न हैं क्योंकि ये सब परमेश्वरकी अष्टधा अथवा नवधा प्रकृति के हि रूप हैं। उस नवधा प्रकृतिसे भिन्न कोई नहीं हैं। जहां अर्जुनकी दृष्टि गयी वहां उसको परमेश्वरकी नवधा प्रकृतिहि दृष्टिगोचर हुई, उससे भिन्न कुछभी अन्य पदार्थ उसकी दृष्टिको गोचर नहीं हुआ। इसलिये उसने कहा कि यह अनेक मुख, अनेक नेत्रवाला, अनेक आभूषण और आयुधवाला सर्वतोमुखी देव ही मेरे संमुख खडा है। इन सब वीरोंके रूपमें परमेश्वरही मेरे संमुख खडा है।

पाठकोंको यहां स्मरण रहे की यहां इस समय अर्जुनकी दृष्टि सब विश्वकी ओर गयी नहीं थी। आयुध उठाये हुए पास खडे रहे वीरोंको ही वह देख रहा था, इसीलिये उसने कहा कि (दिव्य-अनेक-उद्यत-आयुधं) अनेक दिव्य आयुध उठाये यह देव खडा है। यदि उसकी दृष्टि कुरुक्षेत्रके बाहर इस समय पहुंचती तो उसको यही ईश्वर किसी स्थानपर ब्राह्मणोंके रूपोंमें अध्यापन कर रहा है, दूसरे स्थानोंपर वैश्योंके रूपमें वाणीज्य कर रहा है, तीसरे स्थानपर शूद्रोंके रूपमें परिचर्या कर रहा है, चतुर्थ स्थानपर बालकोंके रूपमें क्रीडा कर रहा है और पांचवे स्थानपर स्त्रियोंके रूपमें स्त्रीके कार्य कर रहा है, ऐसा अनुभव आ जाता। परंतु दिव्यदृष्टि प्राप्त होते ही उसने अपने आंख अपने सामने खडे रहे वीरोंपर डाले और वहां देखा, तो उसको वहां परमेश्वर ही आयुध उठाये, चंदन लगाये, माला पहने अद्‌भुत दर्शन दिखाते खडा है ऐसा अनुभव हुआ। अलग अलग अनेक वीरोंका भान जाता रहा और सबका मिलकर एक विश्वरूप उसको प्रतीत हुआ। देवाधिदेवके विश्वरूपी विशाल शरीरमें ये वीर उसके अंग बनकर रहे हैं, यह बात यहां उसने प्रत्यक्ष देखी।

उसको आश्चर्य हुआ, वह विस्मय चकित हो गया, उसके रोंवें खडे होगये और हाथ जोड उस प्रभुकी वह स्तुति करने लगा। जैसी जैसी

(४) विश्वरूपका वर्णन।

अर्जुन उवाच- पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

अन्वयः— हे देव ! (अहं) तव देहे सर्वान् देवान्, तथा भूतविशेषसंघान्, कमलासनस्थं ईशं ब्रह्माणं च, सर्वान् ऋषीन्, दिव्यान् उरगान् च पश्यामि ॥ १५ ॥ (अहं) त्वां अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं सर्वतः अनंतरूपं पश्यामि। हे विश्वरूप विश्वेश्वर ! पुनः तव अन्तं मध्यं आदिं च न पश्यामि ॥ १६ ॥ त्वां किरीटिनं, गदिनं, चक्रिणं, तेजोराशिं सर्वतः दीप्तिमन्तं, समन्तात् दीप्तानलार्कद्युतिं अप्रमेयं दुर्निरीक्ष्यं च पश्यामि ॥ १७ ॥

हे ईश्वर ! मैं तुम्हारी देहमें सब देवताओंको, विविधप्रकारके प्राणियोंके समुदायोंको, ऐसे ही कमलासनपर बैठे हुए सबके स्वामी ब्रह्मदेवको, सब ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देख रहा हूं ॥ १५ ॥ मैं आपको अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्रवाला तथा अनेक रूपोंवाला चारों ओर देखता हूं। हे विश्वरूपी विश्वेश्वर ! आपका न तो अन्त, न मध्य न आदि ही मुझे देख पडता है ॥१६॥ मुकुट, गदा तथा चक्र धारण करनेवाले, तेजके पुञ्जके समान दीखनेवाले, चारों ओर प्रभा फैलाये हुए, विशेष प्रदीप्त अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, अपरिमित, और कठिनतासे दिखाई देनेवाले तेरे रूपको चारों ओर देख रहा हूं ॥ १७ ॥

उसकी दृष्टि विश्वमें घूमने लगी, वैसा वैसा प्रभूका विश्वरूप अनंत है, इसका भी पता उसको पूर्वोक्त रीतिसे ही लगने लगा, अर्थात् जो अर्जुन ईश्वरका स्वरूप कुरुक्षेत्रस्थ वीरोंतक ही देख रहाथा, वही आगे जाकर उसी देवाधिदेवका स्वरूप संपूर्ण विश्वमें और तीनों कालोंमें व्याप्त है, ऐसा देखने लगा। अब वह अपना अनुभव कैसा बोल रहा है वह अपूर्व बात देखिये—

(१५-३१) अर्जुनने जिस विश्वरूपका दर्शन किया उसका वर्णन यहां उन्होंने किया है। पूर्वके वर्णनमें केवल युद्धभूमिके अन्दर रहनेवाले वीर ही ईश्वरीय रूपमें संमिलित होनेका भाव है, परंतु अब अर्जुनकी दृष्टि अधिक विस्तृत हुई प्रतीत होती है, अतः वह ईश्वरीय रूपमें (सर्वान् भूतविशेषसंघान्) सब प्राणियोंका समावेश कर रहा है। इस दृष्टिसे पाठक इस वर्णनका विचार करें।

हे देव तव देहे सर्वान् देवान् तथा सर्वान्

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

अन्वयः— त्वं वेदितव्यं परमं अक्षरं, त्वं अस्य विश्वस्य परं निधानं, त्वं अव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता, त्वं सनातनः पुरुषः मे मतः ॥ १८ ॥ अनादिमध्यान्तं, अनंतवीर्यं, अनन्तबाहुं, शशिसूर्यनेत्रं, दीप्तहुताशवक्त्रं, स्वतेजसा इदं विश्वं तपन्तं, त्वां पश्यामि ॥ १९ ॥ हे महात्मन् ! त्वया एकेन द्यावापृथिव्योः इदं अन्तरं व्याप्तं, सर्वाः दिशः च (व्याप्ताः), इदं तव अद्भुतं उग्रं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं हि ॥ २० ॥ अमी हि सुरसंघाः त्वां विशन्ति, केचित् भीताः प्राञ्जलयः गृणन्ति, महर्षिसिद्धसंघाः स्वस्ति इति उक्त्वा पुष्कलाभिः स्तुतिभिः त्वां स्तुवन्ति ॥ २१ ॥

आपको ही जाननेयोग्य, परम अविनाशी (ब्रह्म), इस विश्वके अन्तिम आधार, शाश्वतधर्मके अविनाशी संरक्षक, और सनातन पुरुष मैं मानता हूं ॥ १८ ॥ जिसका आदि, मध्य तथा अन्त नहीं है, जिसका बल अनंत है, जिसके अनन्त बाहु हैं, चन्द्रसूर्य जिसकी आंखें हैं, प्रदीप्त अग्नि जिसका मुख है, अपने तेजसे इस विश्वको तपानेवाले, ऐसे आपको मैं देखता हूं ॥ १९ ॥ हे महात्मन् ! आप ही अकेलेने आकाश और पृथ्वीके बीचका अन्तर व्यापलिया है, इसी प्रकार संपूर्ण दिशाओंको भी आपने ही घेर लिया है । यह आपका घोर रूप देखकर तीनों लोक व्यथित हुए हैं ॥ २० ॥ ये देवताओंके समूह तुममें प्रवेश कर रहे हैं, कोई कोई भयभीत होकर हाथ जोड प्रार्थना कर रहे हैं, महर्षियों और सिद्धोंके समूह ' स्वस्ति--स्वस्ति ' कहते हुए अनेक प्रकारकी स्तोत्रोंसे तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥
नभस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

अन्वयः— रुद्रादित्याः वसवः, ये च साध्याः, विश्वे अश्विनौ च, मरुतः उष्मपाः च, गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः, च सर्वे विस्मिताः एव त्वां वीक्षन्ते॥ २२॥ हे महाबाहो! बहुवक्त्रनेत्रं बहुबाहूरुपादं, बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं ते महत् रूपं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः, तथा अहं (अपि व्यथितः अस्मि)॥ २३॥ हे विष्णो! त्वां नभस्पृशं, दीप्तं, अनेकवर्णं, व्यात्ताननं, दीप्तविशालनेत्रं, दृष्ट्वा हि (अहं) प्रव्यथितान्तरात्मा (भूत्वा) धृतिं शमं च न विंदामि॥ २४॥ हे देवेश! हे जगन्निवास! कालानलसंनिभानि दंष्ट्राकरालानि ते मुखानि दृष्ट्वा एव (अहं) दिशः न जाने, शर्म च न लभे, (अतः त्वं) प्रसीद॥ २५॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, दोनों अश्विनी कुमार, मरुद्गण, उष्मप--पितर, गन्धर्व और यक्ष, असुर और सिद्धोंके संघ, ये सब विस्मित होकर तुम्हारी ओर हि देख रहे हैं॥ २२॥ हे महाबाहो! अनेक मुखों और नेत्रोंवाले, अनेक बाहुओं, जंघाओं और पैरोंवाले, अनेक उदरोंवाले, अनेक दाढोंके कारण विकराल, तुम्हारे इस महान रूपको देखकर सब लोग व्याकुल हो गये हैं, और मैं भी भयभीत हुआ हूँ॥ २३॥ हे व्यापक देव! आकाशको स्पर्श करनेवाले, प्रकाशमान, अनेक रंगोंवाले, जबडे फैलाये हुए, प्रदीप्त, विशालनेत्रवाले तुमको देख कर मेरा अन्तरात्मा घबडा गया है, इस कारण मैं धैर्य और शान्ति धारण कर नहीं सकता॥ २४॥ हे देवाधिदेव! हे जगन्निवास! प्रलयकालकी अग्निके समान विकराल दाढोंसेयुक्त तुम्हारे इन मुखोंको देख कर ही न तो मैं दिशाओंको जानता हूं और नहीं मुझे समाधान होता है। अतः मुझपर प्रसन्न हो जाओ॥ २५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समंताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

अन्वयः- अमी च सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्राः अवनिपालसंघैः सह एव, तथा भीष्मः द्रोणः असौ सूतपुत्रः अस्मदीयैः अपि योधमुख्यैः सह त्वां (विशन्ति) ॥ २६ ॥ ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि त्वरमाणाः विशन्ति, केचित् दशनान्तरेषु विलग्नाः चूर्णितैः उत्तमांगैः (युक्ताः) दृश्यन्ते ॥ २७ ॥ यथा नदीनां बहवः अम्बुवेगाः अभिमुखाः समुद्रं एव द्रवन्ति, तथा अमी नरलोकवीराः तव अभिविज्वलन्ति वक्त्राणि विशन्ति ॥ २८ ॥ यथा पतंगाः समृद्धवेगाः नाशाय प्रदीप्तं ज्वलनं विशन्ति, तथा एव लोकाः समृद्धवेगाः नाशाय तव अपि वक्त्राणि विशन्ति ॥ २९ ॥ हे विष्णो ! समंतात् ज्वलद्भिः वदनैः समग्रान् लोकान् ग्रसमानः त्वं लेलिह्यसे । तव उग्राः भासः तेजोभिः समग्रं जगत् आपूर्य प्रतपन्ति ॥ ३० ॥

और ये धृतराष्ट्रके सब पुत्र, राजाओंके समूहोंके समेत, भीष्म, द्रोणाचार्य, और यह सूतपुत्र (कर्ण), हमारी ओरके मुख्य मुख्य योद्धाओंके साथ, आपके (मुखमें घुस रहे हैं) ॥२६॥ तुम्हारे विकराल दाढोंवाले भयंकर मुखोंमें ये वीर धडाधड घुस रहे हैं, कोई कोई तो दान्तोंमें ऐसे चिपक गये हैं कि उनके उत्तम अंग चूरचूर हुए दिखाई देते हैं ॥ २७ ॥ जैसे नदियोंके बडे बडे जलप्रवाह समुद्रकी ही ओर चले जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य लोकके ये वीर आपके जलते हुए मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८॥ जैसे पतंग बडे वेगसे अपने नाशके लिये जलती हुई अग्निमें कूदते हैं, वैसे ही ये सब लोग बडे वेगके साथ मरनेके लिये ही तुम्हारे जबडोंमें घुसते हैं ॥२९॥ हे व्यापक देव ! चारों ओरसे अपने प्रज्वलित मुखोंके द्वारा सब लोगोंको निगलकर जीभ चाट रहे हो। आपकी उग्र प्रभाएँ अपने तेजसे सब जगत् को व्यापकर चारों ओर चमक रही हैं ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

अन्वयः- हे देववर ! ते नमः अस्तु, (त्वं) प्रसीद, भवान् उग्ररूपः कः (अस्ति) ? (तत्) मे आख्याहि। (अहं) आद्यं भवन्तं विज्ञातुं इच्छामि। तव प्रवृत्तिं हि अहं न प्रजानामि ॥ ३१ ॥

हे देवाधिदेव ! तुम्हें नमस्कार करता हूं। तुम प्रसन्न हो जाओ। आप उग्रस्वरूप कौन हो ? यह मुझे बतलाओ। आप आदिपुरुष कौन हैं यह मैं जानना चाहता हूं। आपकी इस प्रवृत्तीको मैं बिलकुल नहीं जानता ॥३१॥

भावार्थ— ईश्वरकी देहमें सब देवताएं, सब प्राणियोंके सब समुदाय, सब ऋषि और सब जातीके सर्प समाविष्ट हुए हैं। इस कारण वह ईश्वर अनेक बाहु, अनेक पेट, अनेक मुख, अनेक नेत्रवाला और अनेक पैरोंवाला हुआ है। अतः उसको अनेक रूपोंवाला कहते हैं। ईश्वरका आदि, मध्य, अन्त कुच्छ भी नहीं है। वह अत्यंत तेजस्वी, जानने योग्य, सबका अन्तिम आधार, शाश्वत धर्मका रक्षक और सनातन पुरुष है। ईश्वरका बल अपरिमित है,उसके अनन्त बाहु और सूर्यचन्द्र नेत्र हैं, अग्नि इसका मुख है, और उसीके तेजसे सब विश्व तेजस्वी हो रहा है। सब आकाश, अन्तरिक्ष, पृथ्वी तथा दिशा उपदिशा इन सबमें परमेश्वर पूर्णतया व्याप्त हुआ है। इस तरह यह सब विश्वव्यापक रूप उसी परमेश्वरका है। जो इस विश्वव्यापक रूपको देखते हैं वे भयभीत होते हैं, क्योंकि जहां जांय वहां वह पहलेसे ही उपस्थित होता है। सभी प्राणी तथा इतर स्थावर पदार्थ ईश्वरमें, पूर्णतया प्रविष्ट हुए हैं। ऋषिलोग इसीकी प्रार्थना कर रहे हैं और सिद्धलोग इसीकी स्तुति करते हैं। सब रुद्रादि देव,पितर, गंधर्व, यक्ष, असुर ये सब ईश्वरकी ओर ही देख रहे हैं। और जिनको इस ईश्वरके रूपका पता लगा वे उसे देख कर अत्यत विस्मित हुए हैं। अपनी अनेक भयंकर दाढोंसे वह विकराल मुखवाला संहारक ईश्वर सबको निगल रहा है। अपनी विकराल दाढोंसे वह मानो सबका चूर कर रहा है। यह देखकर मन अशान्त होता है और सब धीरज नष्ट होता है। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि उभय पक्षोंके सब वीर इसकी विकराल दंष्ट्रामें प्रविष्ट होकर नष्ट हो रहे हैं। जैसी नादियां धडाधड समुद्रमें जा मिलती हैं, वैसे ही यह सब वीरोंके समुदाय इसके जलते हुए मुखोंमें घुस रहे हैं। पतंग अग्निमें कूदनेके समान ये सब इसीके मुखमें विवश होकर कूद रहे हैं। इससे अब इनका बचाव नहीं हो सकता। इस ईश्वरकी उग्र प्रभाएँ सब विश्वभर फैल रही हैं और सब विश्व इसीसे प्रकाशित हो रहा है। यह कौन है ? और यह क्या कर रहा है, यही तो हरएकको विचार करने योग्य प्रश्न है। ॥ १५-३१ ॥

भूतविशेषसंघान् सर्वान् ऋषीन्, सर्वान् उरगान् च पश्यामि। (१५)

"ईश्वरके देहमें सब देव और सब प्राणी अर्थात् मनुष्य, ऋषि, पशुपक्षी, सर्व नाग, कृमि, कीट, पतंग आदि सब प्रकारके प्राण धारण करनेवाले दिखाई देते हैं।" यहां केवल वीर-ही दीखते हैं यह भाव नहीं है, सब भूतोंके सब समुदाय ईश्वरके देहमें समाये हैं। यहां सब देव तो हैं हि परंतु उनके साथ सब ऋषिगण, सब मानवजातिके लोग, सब सर्पजातिके प्राणी सब पशु, सब पक्षी, सब प्रकार के जीवजन्तु, सब स्त्रीपुरुष तथा नपुंसक भी, वीर और भीरु, सभी प्राणी ईश्वरके देहमें समाविष्ट हुए हैं, कोई इस ईश्वरके देहसे बाहर नहीं हैं।

जब सभी प्राणी उसके देहके अवयव हुए तो निःसंदेह उसके देहमें अनेक नेत्र, अनेक कान, अनेक नाक, अनेक मुख, अनेक बाहु, अनेक पेट, अनेक हाथपांव, अनेक जंघाएं और अनेक पैर होना स्वाभाविक है। यही वर्णन—

अनेक-बाहु-दर-वक्त्र-नेत्रं (१६), अनन्त-वीर्य, अनन्तबाहुं (१९), बहु-वक्त्र-नेत्रं, बहुबाहूरु-पादं, बहूदरं, बहुदंष्ट्राकरालं, (२३), अनेकवक्त्र-नयनं (९),

इन शब्दोंद्वारा किया गया है। इन शब्दोंसे ऐसी मूर्तिकी कल्पना करना अनुचित होगा कि जिसको दो पांव एक पेट और अनेक मुख हों, जैसी मूर्तियाँ पंचमुखी महादेव, षण्मुखी षडानन, त्रिमुखी दत्तात्रेय आदि हैं, इनके पांव दो, पेट एक और अनेक मुख होते हैं। ऐसी मूर्ति इस विश्वरूपकी नहीं है। यहां तो पेट भी अनंत है (बहूदरं, अनेकबाहूदरं), पेट अनंत कैसे हैं ऐसा प्रश्न यहां हो सकता है। इसके उत्तरमें कहना इतना ही है कि अनंत प्राणि परमेश्वरके देहमें समाविष्ट होनेके कारण जितने प्राणी समाविष्ट हुए हैं, उतने इसके पेट हुए, उनके जितने पैर होंगे उतने इसके पैर हुए, उनके जितने हाथ, मुख, नेत्र आदि होंगे उतने इसके ये अवयव मानने पडेंगे। इस तरह इसका अनेक उदर, अनेक पांव और अनेक मुखादि अवयवोंवाला होना इस विश्वमें प्रत्यक्ष दीख सकता है, क्योंकि सब प्राणियोंके मुखादि अवयव उसीके अवयव हैं। यह विश्वरूपदर्शन इस तरह प्रत्यक्ष है।

विश्वरूपी परमेश्वरका दर्शन करना हो तो पहिले सब प्राणियोंका समूह मिलकर उसका ब्रह्माण्ड देह होता है (देहे भूतसंघान्), यह कल्पना ठीक प्रकार समझमें आनी चाहिये। वेदमें भी ऐसाही कहा है-

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा० ॥ १ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ॥ २ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासिद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥
(ऋग्वेद १०।९०)

" जिसको सहस्रों मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों पांव हैं ऐसा एक पुरुष है, उसने पृथ्वीको घेर लिया है। यह पुरुष ही सब कुछ है जो भूतकालमें था, भविष्यकालमें होगा (और जो वर्तमान कालमें है। इस नारायण-पुरुषका मुख ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, उरू वैश्य और शूद्र पांव हैं।" ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र ये इसके अवयव हैं, इसीलिये इसके अवयव हजारों और लाखों हैं ऐसा कहा गया है। यही वेदकी विश्वरूपकी कल्पना इस भगवद्गीता यहां रंगवाई है। यही प्रभु—

अनंतरूपः। विश्वरूपः। (१६)

" अनंतरूपोंवाला और विश्वका रूप धारण करनेवाला है।" विश्वमें जितना भी रूप दिखाई दे रहा है उतना सब रूप इसीका है। इस तरह परमेश्वरका सब स्थावरजंगमरूप है यह बात इस विचारसे सिद्ध होती है। इतना विचार करनेपर आगेके शब्द देखिये-

शशिसूर्यनेत्रं, दीप्तहुताशवक्त्रं, (१९)

' सूर्य और चन्द्र ये जिसके नेत्र हैं, प्रदीप्त अग्नि जिसका मुख है ' ऐसा यह ईश्वर है। यहां प्राणियोंके बाहरके पदार्थ भी ईश्वरके अवयव हैं यह बात कही है। यही बात ऋग्वेदमें वर्णन की है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥
(ऋग्वेद १०।९०)

ये ही मंत्र सब वेदोंमें कुछ शब्दान्तरके साथ आगये हैं। यहां पूर्व संदर्भसे विभक्तिका बदल करके अर्थ करना होता है। जैसा " चन्द्रमा मनके स्थानमें, सूर्य नेत्रके स्थानमें, अग्नि मुखके स्थानमें और वायु प्राणके स्थानमें है। नाभी अन्तरिक्ष है, द्युलोक मस्तक है, पांवके स्थानपर भूमि है और दिशाएं कान हैं।" इस प्रकार परमेश्वरके विश्वरूपका वर्णन ऋग्वेदमें है। इसी वर्णनका कुछ अंश भगवद्गीतामें यहां आया है और कहा है कि सूर्यचन्द्र उनके नेत्र हैं, अग्नि मुख है इत्यादि। इससे पाठकोंके समझमें आवेगा कि वेदका ही भाव भगवद्गीतामें विश्वरूप-दर्शनके प्रसंगसे वर्णन किया है।

जैसे सब मनुष्य इस परमेश्वरके देहमें समाविष्ट हुए हैं उसी प्रकार सब देव भी उसीके ब्रह्माण्ड देहमें समाविष्ट हुए हैं। इसका वर्णन करते हुए-

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं,
पश्यामि देवांस्तव देव देहे। (१५)

ये शब्द कहे हैं। कमलासनस्थ ब्रह्मदेव तथा अनेक देव परमेश्वरके देहमें हैं यह बात अर्जुन को किस प्रकार विदित हुई यह एक बडा भारी प्रश्न है। आगे भी कहा है-

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति। (२१)

' ये सब देवोंके संघ इस प्रभुके देहमें घुस रहे हैं और कई तो भयभीत होकर हाथ जोडकर स्तुति करते हैं। तथा- ' रुद्र ' आदित्य, वसु, साध्य, अश्विनौ, मरुत, उष्मप पितर, गंधर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध ये सब विस्मित होकर इस परमेश्वर की ओर देख रहे हैं। यह वर्णन भी अर्जुन किस तरह कर रहा है? क्योंकि इनमेंसे कई तो अदृश्य हैं, कई भूतकालके हैं, अर्जुनके पूर्व समय हो चुके थे। फिर अर्जुनने विश्वरूपमें इन सबको कैसे देखा ? इस शंकाके विषयमें उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं। भूतंभवद्भविष्य-दिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्रिकाला-तीतं तदप्योंकार एव। सर्वं ह्येतद्ब्रह्म, अय-मात्मा ब्रह्म॥ (मांडूक्य उ. १)

' ओंकारसे आत्मा अथवा ब्रह्मका बोध होता है, यह ब्रह्म यह सब है ' भूत, भविष्य, वर्तमान कालमें जो होता है तथा जो त्रिकालके भी परे है वह सब ब्रह्महीं है।" यही वर्णन यहां किया है। कमलासनस्थ ब्रह्मा, तथा सिद्ध आदि जो भूत-कालमें हो चुके वे इस विश्वरूपमें संमिलित किये गये। अर्जुनकी स्मृतिमें वे थे, इसलिये उस स्मृतिकी इस समय जाग्रति हुई और वह उसको इस विश्वरूपमें देखने लगा। विश्वरूप केवल वर्तमान कालका ही नहीं है, वह जैसा वर्तमान कालका है वैसा ही भूत और भविष्य-कालका भी है। जो पहिले हो चुकाथा वह भी इस विश्वरूपमें संमिलित होना योग्य है और जो आगे होनेवाला होगा वह भी इस विश्व-रूपमें संमिलित होगा। विश्वरूप तो सबकुछ है। जो था, जो है और जो होगा वह सब विश्वरूप है। इसलिये भूत कालके सब दैवी-भाव जो अर्जुनके स्मृतिमें थे वो यहां संमिलित हुए है।

इसीप्रकार मरुत्, रुद्र आदि अदृश्य देवता-ओंको भी यहां इस विश्वरूपमें संमिलित किया है। यह एक महत्वपूर्ण विषय है। जैसे दृश्य पदार्थ विश्वरूपमें है वैसे हि अदृश्य पदार्थ भी हैं। ईश्वरके देहमें सब कुछ हैं। मरुत् वायु हैं, और रुद्र प्राण हैं। दोनों अरूप पदार्थ हैं। इनका समावेश विश्वरूपमें कैसा किया है ऐसी शंका यहां पाठक पूछ सकते हैं। इसके उत्तरमें इतना ही कहना है कि यहां जो विश्व-रूपमें ' रूप ' शब्द है वह केवल आंखका ही विषय है ऐसी बात नहीं है। वायुका ज्ञान स्पर्शेंद्रियसे होता है, रुचीका ज्ञान जिह्वासे होता है, ये सब अरूप होते हुए भी परमेश्वरके स्वरूपमें संमिलित

हैं। विश्व-रूप शब्दसे यह केवल आंखका ही विषय है ऐसी बात नहीं है। जो भी पंच ज्ञानेंद्रियोंसे और मनबुद्धिसे ज्ञात होता है वह परमेश्वरका स्वरूप है। यह आशय यहां है। इसीलिये जैसे भूतभविष्यकालके पदार्थ इसमें संमिलित होते हैं, वैसे ही आंखसे न दीखनेवाले रूपविहीन पदार्थ भी उसमें संमिलित होते हैं। 'विश्व' शब्दसे जो ज्ञात होता है वह सब परमेश्वरके देहमें संमिलित है और वह परमेश्वरका रूप है।

इसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। यहां ये शब्द जैसे स्थलवाचक हैं वैसे ही कालवाचक भी समझने योग्य हैं। आदि शब्द, भूतकालका, मध्य शब्द वर्तमानकालका और अन्त शब्द, भविष्यकालका वाचक समझनेसे ईश्वरमें तीनों काल नहीं है ऐसा भाव निष्पन्न होता है। दूसरी रीतिसे ऐसा भी कह सकते हैं कि ईश्वरमें केवल वर्तमानकाल ही है और भूतभविष्य ईश्वरकी दृष्टिसे नहीं हैं।

आदि शब्दका अर्थ उत्पत्ति, मध्य शब्दका अर्थ स्थिति और अन्त शब्दका अर्थ प्रलय है। ईश्वरभावसे इस विश्वरूपमें उत्पत्तिस्थितिलय नहीं हैं। क्यों कि जैसा वह है वैसा ही है। इसके पूर्व--

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।
(गी० १०-२०)

ईश्वर सबका आदि, मध्य, अन्त है ऐसा स्पष्ट कहा है, वह व्यष्टिभावसे है। प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, कुछ समय रहती है और अन्तमें नष्ट भी होती है। प्रत्येक वस्तुको ये तीनों भाव हैं, परन्तु जो समष्टि है वह न उत्पन्न हुई और न नष्ट होगी। वह तत्त्वरूपसे जैसी थी वैसी ही है और वैसी हि रहेगी। जैसा सोनेके आभूषण बनाये हैं, तो वे आभूषण एक समय बने, कुछ काल रहेंगे और बाद नष्ट भी होंगे, परंतु इन तीनों अवस्थाओंमें सोना एक ही रूपसे रहता है। इसलिये व्यष्टिभावमें आदि-मध्य-अन्त दीखते हैं, परंतु समष्टिभावसे वे नहीं होते हैं। अतः दोनों प्रकारके वर्णन सत्य हैं, यह बात पाठकोंके समझमें आजायगी।

सतरहवें मंत्रमें 'मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, तेजस्वी' ऐसा जो वर्णन किया है वह भगवान् श्रीकृष्णका वर्णन स्पष्ट है, साथ ही साथ सब वीर उसके विश्वरूपमें संमिलत हैं इसलिये उनके किरीट, उनकी गदाएं, उनके चक्र और उनका तेज इस विश्वरूपमें संमिलित होनेसे साकल्यभावसे भी यह वर्णन सत्य है ऐसा कह सकते हैं।

आगे अठरहवें मंत्रमें 'अक्षर, (वेदितव्य) ज्ञेय, विश्वका निधान, अव्यय, सनातन पुरुष और शाश्वतधर्मगोप्ता आदि शब्दोंद्वारा परमेश्वरकाही वर्णन किया है। ये शब्द अनेक वार इसके पूर्व आचुके हैं, अतः यहां इसकी विशेष चर्चा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पहिले जिसका उल्लेख नहीं हुआ ऐसा 'शाश्वतधर्मगोप्ता' यह एक ही शब्द यहां विशेष महत्त्वका है। गीतामें 'शाश्वतधर्म' कहा है और उसकी रक्षा परमेश्वर ही करता है, यह बात यहां बतायी है। यह 'शाश्वतधर्म' जानना मनुष्यका कर्तव्य है। यही मनुष्यका सहज धर्म है। सहज धर्मका अर्थ स्वभावधर्म है। मनुष्यकी प्रकृति सत्त्व-रज-तमोगुणात्मक होती है और सत्त्व-रज-तमोगुणोंके धर्म निश्चित हैं, वे बदले नहीं जाते, अतः इनके कारण जो स्वभावधर्म बनता है वह प्रकृतिका धर्म होनेसे वह शाश्वतधर्म है और यही सनातन होना स्वाभाविक है। इस शाश्वतधर्मकी रक्षा परमेश्वरके सिवाय दूसरा कोई कर नहीं सकता। मनुष्य इस शाश्वतधर्मका उत्पादक नहीं है। क्योंकि प्रकृतिका धर्म मनुष्यनिर्मित नहीं है।

द्यावापृथिवीके बीचका सब अवकाश, और सब दिशाओंके अन्दरका अवकाश ईश्वरने व्याप लिया है। (श्लो० २०) इसका अर्थ स्पष्ट ही है। अणुरेणुके अन्दर वह व्याप्त है इसलिये प्रत्येक पदार्थका रूप उसीका रूप है, ऐसा जो पूर्व स्थलमें कहा है वही यहां भिन्न प्रकारसे बतलाया है। आकाश और पृथ्वीके अन्दरके सब पदार्थोंमें वह प्रविष्ट हुआ है, अर्थात् सब पदार्थ उसके बाहरी आकार हैं, यही उसका विश्वरूप है। विश्वरूपमें खंडित रूपोंका भाव नहीं है। विश्वमें रूप खंडित दीखता नहीं है, रूप जो दीखता है वह अखंडित ही दीखता है। यदी कोई कहेगा कि रूप खंडित दीखता है तो दो रूपोंके बीचमें रूप नहीं ऐसा अवकाश दीखना चाहिये। परंतु रूपके विना कोई भाग हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिये कहना पडता है कि रूप अखंडित है। और यह सर्वत्र दीखनेवाला अखंडित रूप उसका है कि जो सर्वत्र व्याप्त है, क्योंकि वही सर्वत्र व्याप कर सब रूपोंका हेतु होता है। इसलिये यह सब रूप उसका ही रूप है।

यदि पाठकोंको यह कल्पना हो जायगी और अखंड एकरस रूप उनको प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जायगा, तो इस प्रकार जो अखंड एकरस रूप दीखेगा वही ईश्वरका विश्वरूप होगा। इतना विश्वव्यापी विश्वरूप दीखनेपर और वह एकरस अखंडरूप विश्वात्माका है ऐसा जानकर और अपने आपको भी उसके अन्दर संमित हुआ देखकर हरएकको बडा डर लगेगा, कि अहा! यह कैसा विलक्षण अद्भुत रूप है। अर्जुन इसे देखकर ही घबरा गया और कहता है कि-

उग्रं अद्भुतं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितम्। (२१)

'उग्र, भयकंर। विलक्षणरूप (परमेश्वरका विश्वरूप) देखकर तीनों लोक अत्यंत व्यथित हुए हैं।' यहां स्वयं अर्जुन भयभीत हुआ है। वह स्वयं भयभीत हुआ इसलिये उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि तीनों लोकोंके जीव भयभीत हुए हैं, परंतु तीनों लोकोंमें रहनेवाले सब जीवोंको विश्वरूपी परमेश्वरका साक्षात् दर्शन हुआ ऐसा माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः यह अर्जुनका कहना केवळ अपने आन्तरिक भावको व्यक्त करना ही है। हरएक मनुष्यको ऐसा ही प्रतीत होता है। जिस समय वह भयभीत होता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सब विश्व भयभीत हुआ है, और जिस समय यह हर्षित होता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सब विश्व हर्षित हुआ है। इसी प्रकारका यह अर्जुनका भाव है।

आगे चलकर (श्लो० २१-२२ में) कहा है कि ये "देवोंके समूह इस परमेश्वरके रूपमें घुसे हैं, कई तो भीतिसे हाथ जोडे हैं, महर्षि स्तुति कर रहे हैं, रुद्रादि देव, पितर, असुर आदि सब विस्मित हुए हैं, यह सब इसके हि मनके भाव हैं। क्योंकि सब देवगण तो परमेश्वरके रूपमें संमिलित ही हैं। कौन उससे पृथक् है? परंतु अर्जुन पृथक् भावसे इनको देखकर उनको विषयमें जो उसकी कल्पना हुई वह वह बोल रहा है। ऋषिगण ईशस्तुति करते हैं, असुर राक्षस विरोध कर रहे हैं, सिद्धगण सिद्धिके लिये प्रयत्नशील हो रहे हैं, यह सब उसीमें हो रहा है, जैसा मनुष्य सोते समय कलवट लेता है और दायां भाग बाये भागपर रखता है अथवा किसी समय इसके विपरीत करता है, जो भाग नीचे हुआ अथवा जो ऊपर हुआ वह उसीका भाग होता है। इसी तरह यहां समझना चाहिये। सब उसीके रूप होनेपर कौन उससे बाहर रहा और कौन उसमें संमिलित हुआ। अतः सुरसंघोंके विषयमें जो अर्जुनने कल्पना की है वह सब घटना विश्वरूपी प्रभुके विश्वरूपमें हो हो रही हैं और यह अर्जुन अपनी ओरसे कल्पना कर रहा है ऐसा समझना चाहिये।

(५) कालका अवतार ।

**श्रीभगवानुवाच—कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥**

अर्जुन स्वयं इस विश्वव्यापी रूपको देखकर भयभीत हो चुका था और इसकारण उसको ऐसा प्रतीत होने लगा कि सभी त्रिलोकके प्राणी भयभीत हुए हैं। आगेके तीनों श्लोकोंमें वह इसी अपने अन्तःकरणकी भीतिका वर्णन कर रहा है।

अनेक मुख,नेत्र बाहु,पांव,पेट और दंष्ट्रावाला आकाशतक व्याप्त रूप देख कर और उसमें अनेक रंग उत्तम रीतिसे भरे रहनेके कारण उसका विलक्षण सौंदर्य बढ रहा है, चारों ओर प्रकाश भरपूर हो रहा है, चारों और उसके मुख और नेत्र कार्य कर रहे हैं, कई स्थानोंपर उसके विनाशक भाव कार्य कर रहे हैं, यह सब विश्वमें चल रहा है, यह एक ही ईश्वरका प्रभाव है, ऐसा देखकर अर्जुनका अन्तःकरण भयसे कंपित हो रहा है। क्यों कि इस देवके अन्दर ही वह अपने आपको अनुभव कर रहाथा और इसको त्याग कर इसके बाहर जानेका मार्ग भी इसको दीखता नहीं था। अर्जुन इससमय युद्धभूमिमें खडा रहनेके कारण परमेश्वर का संहारक स्वरूप प्रलयकालके अग्नि (कालानलसंनिभ) के सदृश उसको दिखाई दिया, इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं थी। सचमुच उससमय भगवान्का विश्वरूप कुरुक्षेत्रपर प्रलयकाल का रूप लेकर ही खडा था इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

आगेके दो श्लोकोंमें वह ऐसा वर्णन कर रहा है कि 'ये कौरवपांडवोंके भीष्मद्रोणादि वीर सबके सब परमेश्वरके इस विश्वरूपमें परवश होकर घुस रहे हैं। प्रलयकालकी विकराल दंष्ट्रामें मरनेके लिये वेगसे प्रविष्ट हो रहे हैं। जैसे पतंग अग्निमें कूदते हैं।' ऐसा एक समय आता ही है कि जिस समय युद्ध अपरिहार्य हो जाता है। पूर्व समयके कर्मोंका ऐसा परिणाम हो जाता है कि कोई उस युद्धको टाल नहीं सकता। जब युद्ध होता है उससमय मानो वह विश्वरूपी परमात्माकी विकराल डाढ ही फैली है और उसमें वहांके वीर प्रविष्ट हुए हैं। उस समय कौन उनका बचाव कर सकता है। अर्जुनके मनमें इससमय यही कल्पना आगयी कि यह युद्धभूमी भी उस विश्वरूपी परमात्माकी फैलायी हुई भयानक दंष्ट्रा है और उसमें दोनों ओरके वीरगण वेगसे घुस रहे हैं। अपना विनाश देखते हुए भी वे उसके अन्दर प्रविष्ट होनेसे अपने आपको बचा नहीं सकते। यह है विश्वरूपी परमेश्वर की अद्भुत गति,इसी गतिसे सब विश्व घुमाया जारहा है। जैसी नदियां अवश होकर वेगसे समुद्रमें जाकर नष्ट होनेके लिये दौडती हैं अथवा जैसे पतंग मरनेके लिये ही अग्निमें कूद पडते हैं,इसी तरह ये सब दोनों पक्षोंके वीर इस विश्वरूपी परमेश्वरकी कालदंष्ट्रामें कूद रहे हैं।

जैसे सिंह व्याघ्र आदि हिंस्रपशु अपना भक्ष्य खाकर जीभ चाटते खडे रहते हैं, वैसा ही यह विश्वरूपी कालपुरुष इन सब वीरोंको भक्षण करके जीभ चाटते हुए खडा है। यह अर्जुनके मनके अन्दर भावी अटल युद्धका परिणाम देखकर कल्पना हुई और यह सत्य कल्पना है। ऐसा ही बना और विश्वव्यापक दृष्टिसे देखनेपर ऐसा ही दीखेगा।

आगे (श्लो० ३१ में) में अर्जुन इस विश्वरूपी परमेश्वरको नमन करके उसका नाम और उसका कार्य पूछ रहा है और प्रसन्न होनेकी प्रार्थना कर रहा है। इस अर्जुन का प्रश्न सुनकर भगवान् क्या उत्तर दे रहे हैं यह देखिये—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच— (अहं) लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः कालः अस्मि, इह लोकान् समाहर्तुं प्रवृत्तः (अस्मि) त्वां ऋते अपि प्रत्यनीकेषु ये योधाः अवस्थिताः, ते सर्वे न भविष्यन्ति॥ ३२॥ तस्मात्, हे सव्यसाचिन्। त्वं उत्तिष्ठ, यशः लभस्व, शत्रून् जित्वा समृद्धं राज्यं भुंक्ष्व। मया एव एते पूर्वं एव निहताः, त्वं निमित्तमात्रं भव॥ ३३॥ त्वं द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथा मया हतान् अन्यान् अपि योधवीरान् जहि, मा व्यथिष्ठाः, युध्यस्व, रणे सपत्नान् जेता असि॥ ३४॥

श्रीभगवान् बोले- (मैं) लोकोंका नाश करनेवाला बढा हुआ काल हूँ; यहां लोकोंका संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। तेरे (युद्धके प्रयत्नके) विना भी प्रत्येक सेनामें जो वीर खडे हैं वे सब बचनेवाले नहीं हैं॥३२॥ इसलिये हे सव्यसाची अर्जुन! तू उठ, यश प्राप्त कर, शत्रुओंको जीत कर समृद्ध राज्यका उपभोग कर। मैंने इन्हे पहिले ही मार डाला है, इसलिये तू केवल निमित्तके लिये आगे हो॥ ३३॥ द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य वीरोंको मैंने पहिले ही मार डाला है, उन्हे तू मार, मत् घबराओ, युद्ध कर, तू युद्धमें शत्रुओंको जीतेगा॥ ३४॥

भावार्थ— प्रलयकर्ता परमेश्वर कालपुरुषके रूपमें युद्धभूमिपर कार्य करता है। किसी एक वीरने युद्ध किया अथवा न किया, तो उससे युद्ध टल नहीं सकता। जो इस प्रकारका युद्ध होता है वह अपरिहार्य होता है, वह सब राष्ट्रोंके कर्मोंका फल होता है। वे वीर तो अपने कर्मोंके द्वारा ही मारे हुए होते हैं, युद्ध करनेवाले वीर तो आगे निमित्र मात्र खडे होकर युद्ध करते हैं। अतः ऐसे युद्धोंसे वीर निवृत्त न हों, हरएक वीर अपना अपना नियत कार्य करें और विजयके लिये अपने प्रयत्नकी पराकाष्ठा करे॥ ३२-३४॥

(३२-३४) ईश्वरमें जैसी उत्पादक शक्ति है वैसी ही संहारक शक्ति भी है। युद्धके समय उसकी संहारक शक्ति कार्य करती है। जैसा अपने देहपर किसी स्थानमें फोडा हुआ तो वह भाग काटकर फेक देते हैं, वह फोडा अपने देहका भाग है इसलिये उसकी रक्षा करनेका यत्न कोई नहीं करता, उसी तरह विश्वरूपी विराट् पुरुषके विश्वदेहके ऊपर ऐसे युद्ध प्रसंग फोडे फुन्सीके समान हैं। वह टल नहीं सकता, इसलिये उसे काटकर फेंकना ही चाहिये। वैसे युद्धभाववाले मनुष्योंकी रक्षा करनेका यत्न करनेसे मानवी समाजके क्लेश बढेंगे ही। इसलिये ऐसे युद्धाभिमानी लोगोंका युद्धके द्वारा जितना शीघ्र नाश होगा उतना अच्छा है। उनकी मृत्युके पश्चात् जनतामें नूतन व्यवस्था प्रसृत होगी और उससे जनताको सामाजिक राष्ट्रीय और

संजय उवाच-एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अन्वयः- केशवस्य एतत् वचनं श्रुत्वा, वेपमानः किरीटी कृताञ्जलिः कृष्णं नमः कृत्वा, भीतभीतः प्रणम्य च, भूयः एव सगद्गदं आह ॥ ३५ ॥

संजय कहने लगा- श्रीभगवान्‌के इस वाक्यको श्रवण करके, कांपनेवाला अर्जुन हाथ जोडकर, श्रीकृष्णको नमस्कार करता हुआ भयभीत होनेके कारण नम्र होकर, वारंवार गद्गद कंठसे फिर ऐसा बोलने लगा ॥ ३५ ॥

भावार्थः- परमेश्वरके अद्भुत चमत्कार देखनेसे और उसकी सहायता अपने अंगीकृत कार्यमें है यह जानकर मनुष्य गद्गद होता है, अपने आपको कृतार्थ मानता है और ईश्वरके सामने नम्र होता है ।

सार्वजनीन स्वास्थ्य लाभ ही होगा । ऐसे युद्धोंके समय किसी वीरने युद्ध किया अथवा किसीने नहीं किया तो उससे उस समयकी परिस्थितिमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं हो सकता । क्योंकि उस समयकी परिस्थिति पूर्व समयके उन सबके सामूहिक कर्मोंसे बनी होती है । उसका प्रवाह कौन रोक सकता है ? इसलिये हरएक वीरको उचित है कि वह अपना उस समयका कर्तव्य उत्तम रीतिसे करे और जो परिणाम होगा, उसका स्वीकार करे । कर्मोंके विपाकका अत्यंत उत्तम उदाहरण यह है । इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्णसे भीष्मने (उद्योग पर्वमें) ऐसा कहा था कि—

कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन ।
(म० भा० उ० १२७।३२)

" हे कृष्ण ! यह युद्ध कालसे परिपक्व होकर तैयार हुआ सब क्षत्रियोंका कर्मफल ही है । " इसको टालना कठीन है ।

अर्जुन युद्ध करे और विजय प्राप्त करके राज्यका शासन यथायोग्य रीतिसे करे । धर्मका राज्य शुरू करनेका पवित्र कार्य करे । जो धर्मका राज्यशासन शुरू करनेमें सहायता करते हैं उनका विजय होता है, उसके शत्रु परमेश्वरके द्वारा ही मारे जाते हैं, वह केवल निमित्तमात्र युद्धभूमीपर खडा होता है, परिस्थिति उसके लिये ऐसी अनुकूल हो जाती है कि वह जहां जाये वहां विजय उसको मिलता है । परंतु यह कब होगा, जब धर्मका राज्य चलानेके लिये आवश्यक कर्तव्य करनेके समय आवश्यक हुआ तो अपने सर्वस्वका त्याग करनेके लिये वह कटिबद्ध होगा । अब आगे देखिये—

(३५) अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णका पूर्वोक्त भाषण श्रवण किया, विशेषकर ' तुम्हारे शत्रु मैंने मारे हुए हैं, केवल निमित्तमात्र आगे हो जाओ और यश कमाओ ' ऐसे वाक्य श्रवण करके उसके मनमें एक विलक्षण भाव उत्पन्न हुआ; परमेश्वरने मेरे लिये इतना किया है, परंतु मैं कैसा हीन हूं कि हाथमें दिया यश स्वीकारनेको भी मैं तैयार नहीं हूं, ऐसा उसको प्रतीत हुआ, उस कारण वह गद्गद हुआ, साथसाथ भयसे कांपने भी लगा, नम्रतासे हाथ जोडकर प्रणाम भी करने लगा और आगे कहे अनुसार बोलने लगा--

(६) स्तुति और आत्मनिवेदन।

अर्जुन उवाच- स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ ३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनंतरूप॥ ३८॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच-- हे हृषीकेश ! स्थाने, तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यति, अनुरज्यते च, भीतानि रक्षांसि दिशः द्रवन्ति, सर्वे च सिद्धसंघाः नमस्यन्ति ॥ ३६ ॥ हे महात्मन् ! हे अनन्त, देवेश ! ब्रह्मणः अपि गरीयसे आदिकर्त्रे (तुभ्यं) ते कस्मात् च न नमेरन्, हे जगन्निवास ! यत् सत् असत् (अस्ति) तत् परं अक्षरं त्वम् ॥ ३७ ॥ त्वं आदिदेवः, पुराणः पुरुषः, त्वं अस्य विश्वस्य परं निधानं, (त्वं) वेत्ता च वेद्यं परं धाम च असि। हे अनन्तरूप ! त्वया विश्वं ततम् ॥ ३८ ॥ त्वं वायुः यमः अग्निः वरुणः शशांकः प्रजापतिः च प्रपितामहः (असि), ते सहस्रकृत्वः नमो नमः, पुनः च भूयः अपि ते नमो नमः अस्तु ॥ ३९ ॥

अर्जुनने कहा— हे हृषीकेश ! यह योग्य ही है कि, आपके (गुणोंका) कीर्तन करनेसे जगत् प्रसन्न होता है और उसमें उसकी प्रीति होती है। राक्षस तुमसे डरकर (दसों) दिशाओंमें भाग जाते हैं। और सब सिद्ध पुरुषोंके संघ तुमको नमस्कार करते हैं॥ ३६॥ हे महात्मन्। हे अनन्त देवाधिदेव! तुम जैसे ब्रह्मदेवसे भी श्रेष्ठ आदि कारणके सामने वे कैसे नम्र नहीं होंगे? हे जगन्निवास! जो सत् और असत् है और (उन दोनोंके) परे जो अक्षर है वह भी तुम ही हो॥ ३७॥ तुम आदिदेव, तुम पुराणपुरुष, तुम इस जगत्के परम आधार, तुम ज्ञाता और तुम ही ज्ञेय तथा तुम ही श्रेष्ठ स्थान हो। हे अनन्तरूप! तुमने ही इस जगत्को विस्तारित किया अथवा व्याप लिया है॥ ३८॥ तुम ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति (अर्थात् सबके दादा ब्रह्मदेव) और सबके परदादा तुम ही हो। तुम्हें हजार बार नमस्कार है। और तुम्हें वारंवार नमस्कार है॥ ३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥
पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

अन्वयः-हे सर्व ! ते पुरस्तात् नमः, अथ ते पृष्ठतः नमः, ते सर्वतः एव नमः अस्तु, हे अनंतवीर्य ! त्वं अमितविक्रमः। सर्वं समाप्नोषि, ततः सर्वः असि ॥४०॥ तव इदं महिमानं अजानता मया सखा इति मत्वा,' हे कृष्ण ! हे यादव! हे सखा ' इति प्रमादात् प्रणयेन वा अपि प्रसभं यत् उक्तं ॥ ४१ ॥ हे अच्युत ! यत् च विहार-शय्याऽऽसन-भोजनेषु, अवहासार्थं एकः अथवा तत्समक्षं, असत्कृतः असि, तत् अहं अप्रमेयं त्वां क्षामये ॥४२॥ हे अप्रतिमप्रभाव ! त्वं अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता, गरीयान् पूज्यः गुरुः च असि, लोकत्रये अपि त्वत्समः न अस्ति, कुतः अभ्यधिकः अन्यः ? ॥ ४३ ॥

हे सर्व ! तुम्हें सामनेसे नमस्कार और तुम्हें पीछेसे भी नमस्कार है, और सभी ओरसे तुम्हें नमस्कार है। हे अनन्तवीर्य ! तुम्हारा पराक्रम अतुलनीय है। तू सबको सम्यक्तया प्राप्त होता है इसलिये तुम्ही 'सर्व' है ॥ ४० ॥ तुम्हारी इस महिमाको न जाननेके कारण मैंने मित्र समझकर 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा', ऐसा जो भी कुछ भूलसे या प्रेमसे कहा हो ॥ ४१ ॥ हे अच्युत! और आहारविहारके समय, सोनेबैठनेके समय, हास्यविनोदके समय, अकेले अथवा अनेक मनुष्योंके समक्ष मैंने जो तुम्हारा अपमान किया हो, उस (अपराध)के लिये मैं अनन्तस्वरूप आपकी क्षमा माँगता हूँ ॥ ४२ ॥ हे अतुल प्रभाव! तुम्ही इस स्थिरचर जगत्के पिता हो, तुम सबके पूज्य और गुरुके भी श्रेष्ठ गुरु हो। तीनों लोकोंमें तुम्हारे बराबर कोई नहीं है, फिर तुमसे अधिक श्रेष्ठ कहांसे होगा ? ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

अन्वयः-हे देव! तस्मात् कायं प्रणिधाय, प्रणम्य, अहं ईड्यं ईशं त्वां प्रसादये, पुत्रस्य (अपराधं) पिता इव, सख्युः (अपराधं) सखा इव, प्रियाय (अपराधं) प्रियः (इव, मम अपराधान्) सोढुं त्वं अर्हसि ॥ ४४ ॥ हे देवेश, हे जगन्निवास! अदृष्टपूर्वं (विश्वरूपं त्वां) दृष्ट्वा, (अहं) हृषितः अस्मि, मे मनः च भयेन प्रव्यथितं (अस्ति अतः) हे देव! त्वं प्रसीद च तत् एव (पूर्वं) रूपं मे दर्शय ॥ ४५ ॥ हे सहस्रबाहो विश्वमूर्ते! अहं त्वां किरीटिनं गदिनं च तथा एव चक्रहस्तं द्रष्टुं इच्छामि, (तस्मात्) तेन एव चतुर्भुजेन रूपेण (युक्तः) भव ॥४६॥

हे देव! इसलिये शरीर झुका कर, नमस्कार करके, मैं आप स्तुतियोग्य ईश्वरकी प्रार्थना करता हूं कि जैसे पुत्रके (अपराध) पिता, मित्रके (अपराध) मित्र, प्रियके लिये (अपराध) प्रिय क्षमा करता है, वैसे ही मेरे सब अपराधोंकी क्षमा करनेके लिये तू योग्य है ॥ ४४ ॥ हे देवाधिदेव, हे जगन्निवास! तेरा पहिले कभी न देखा हुआ यह (विश्वरूप) देखकर मैं अत्यंत हर्षित हुआ हूँ, और मैं व्याकुल भी होगया हूँ, इसलिये हे देव! प्रसन्न हो जाओ! और वही पहिला रूप दिखाओ ॥ ४५ ॥ हे सहस्रबाहू ! और हे विश्वमूर्ति! मैं तुमको (पहिलेके समान ही) किरीट और गदाधारी, हाथमें चक्र लिये हुए देखना चाहता हूं। (अतः) उसी चतुर्भुज रूपसे प्रकट हो जाओ ॥ ४६ ॥

भावार्थ— परमेश्वरके गुणोंका वर्णन करनेसे मनुष्यको सच्चा आनंद प्राप्त होता है और जैसा जैसा वह उन गुणोंका मनन करता जाता है वैसी उसकी प्रीति उस विषयमें बढती जाती है। सज्जन ही ईश्वर की भक्ति करते हैं, परंतु दुर्जन ईश्वरसे सदा दूर रहते हैं। ईश्वर सबका मूल कारण है, वह सत् असत् और अक्षर अर्थात सब कुछ है। ऐसे सर्वशक्तिमानके सम्मुख सब कोई नम्र होकर ही रहेंगे। सबका आदिदेव, अतः सबका पूर्वज, सबके वृद्ध, सबका आधार, ज्ञाता और ज्ञेय, सबको स्थान देनेवाला ईश्वर ही सब जगत्का विस्तार करता है और सर्वत्र व्यापक होकर रहता है। अग्नि वायु आदि सब देवोंके रूपोंमें वही प्रकट होता है, इसलिये उसको अनेक बार प्रणाम करते हैं। वही ईश्वर सब कुछ है इसीलिये उसको अनन्तरूपवाला कहते हैं। ईश्वरकी यह महिमा कोई नहीं जानता और अपने अज्ञानके कारण उसकी अवहेलना भी कई करते हैं, परंतु अन्तमें सबको उसकी क्षमा याचना करनी पडती है। क्योंकि ईश्वर ही सबका रक्षक और गुरुओंका भी गुरु है। उसके बराबरीका कोई नहीं है, फिर उससे बढकर कौन होगा? अतः सबको उचित है कि वे बडे नम्रभावसे परमेश्वरको प्रणाम करें और अपने अपराधोंकी क्षमा करनेके लिये उसकी प्रार्थना करें ॥ ३६-४६ ॥

(३६-४६) इन ग्यारह श्लोकोंमें विश्वरूप वर्णनके संबंधमें निम्न लिखित शब्द अत्यंत महत्त्वके हैं—

(हे) सर्व (४०)
सर्वः असि (४०)
अनन्तरूप (३८)
विश्वमूर्ति (४६)

" ईश्वर सब कुछ है, उसका नाम ' सर्व ' है, उसके रूप अनन्त हैं, और उसकी मूर्ति विश्वही है अर्थात् सब कुछ जो यहां है, वह सब उसकी मूर्तियाँही हैं। " ये चार शब्द स्पष्टतासे बता रहे हैं कि जो इस विश्वमें वस्तुमात्र हैं, वे सब परमेश्वरकी मूर्तियां हैं अर्थात् सब विश्व परमेश्वरका रूप ही है। इन चार शब्दोंकी यथार्थ कल्पना होनेसे परमेश्वरके विश्वरूपकी ठीक ठीक कल्पना हो सकती है। ये शब्द बडे महत्त्वके हैं और इस दृष्टीसे इन शब्दोंका महत्त्व पाठक जाने।

यदि ' सर्व ' (सब) परमेश्वर है, यदि ' विश्व-मूर्ति ' (विश्वकी मूर्ति) परमेश्वर है, तो निःसन्देह उसी परमेश्वरका यह सब रूप है। जो रूप यहां दिखाई देता है वह सब उसीका रूप है। यहां पाठक पूछेंगे कि यहां जैसा पाण्डवोंका रूप दीखाई देता है वैसाही कौरवोंका भी दीखता है। क्या दोनों रूप परमेश्वरके हैं। हां दोनोंरूप परमेश्वरके ही हैं, क्यों कि यहां दूसरा कोई नहीं है,-

नेह नानास्ति किंचन।

यहां अनेक पदार्थ नहीं हैं, एक ही पदार्थ है और उसीके ये सब रूप हैं जो यहां दीख रहे हैं। सब विश्वमें एक ही वस्तु है जिसके ये सब रूप हैं। विश्वरूपकी कल्पना ठीक प्रकार मनमें स्थिर करना हो तो सबसे प्रथम यहां एक ही वस्तु है और उसके ये सब रूप हैं यह बात समझनेका यत्न करना चाहिये।

यहां दूसरा कोई नहीं है, इसीलिये लोकसंग्रह, जनसेवा आदि करना धर्म कहा जाता है, विश्वसेवा अपनीहि सेवा है, और विश्वद्रोह भी अपना ही द्रोह है। शत्रुता की तो भी अपनी ही शत्रुता है, और मित्रता की तो भी अपनी ही होती है। इसी मुख्य विचारपर सब मानवधर्मकी रचना की गयी है। पाठक भी इस मुख्य विचारका मनन करें, और इसी दृष्टीसे विचार कर मानवधर्मके सिद्धान्त समझनेका यत्न करें। इतना प्रस्ताव करनेपर अब हम इन श्लोकोंको विचार करते हैं-

परमेश्वरके गुणोंका (प्रकीर्त्या) वर्णन करनेसे सब जगत्को (प्रहृष्यति) हर्ष होता है और उस वर्णनमें मन (अनुरज्यते) रमता भी है। मनुष्य वस्तुतः समझते हुए अथवा न समझते हुए ईश्वरका ही वर्णन करते हैं, क्योंकि किसी वस्तुके उत्तम गुणोंका वर्णन किया तो वह साक्षात् अथवा परंपरया परमेश्वरका ही वर्णन होता है, वस्तुमात्रमें ' विभूतिमत्, श्रीमत् और ऊर्जित ' ऐसा जो भी भाव है, वह सब (गी० १०-४१) ईश्वरका ही भाव है। मनुष्य जिस किसीका वर्णन करता है उसमें वह कुछ वर्णनीय भाव देखता है, उससे उसका मन उस ओर आकर्षित होता है, वह आकर्षित करनेवाला भाव अर्थात् विभूतिमत्त्व ईश्वरका ही होता है। छल करनेवालेका द्यूत, मानवोंका राज्य करनेवाला धर्मराजा ये दोनों ईश्वरकी विभूतियां हैं। इनके बीचमें सब कुछ आगया। अतः वर्णनीय भाव ईश्वरकी विभूति है। मनुष्य जो आकर्षित होता है वह ईश्वरके विभूतिमत्त्वसेहि आकर्षित होता है, परंतु यह अनुसंधान उसे नहीं रहता, सब एक वस्तु है यह उसे अनुभव नहीं होता। अज्ञानवश वह सब कुछ कहता है। यदि वह ज्ञान प्राप्त करके वही बातें करेगा, तो उसे मुक्ति प्राप्त होगी। मनुष्यका (जगत् अनुरज्यते) जगत्में जो मन रमता है वह ईश्वरमेंही रमता है,

परंतु इस बातका उसे पता नहीं है, यहां श्लोक ३६ में जो ' जगत् ' शब्द है वह संपूर्ण प्राणियोंका वाचक है, विषय समझानेके लिये हम इसके अर्थका संकोच करते हैं और 'जगत्' का अर्थ मनुष्यमात्र इतना ही यहां लेते हैं। (जगत् प्रहृष्यति, अनुरज्यते च) मनुष्यमात्रको जो हर्ष होता है और मनुष्यमात्र जो रममाण होता है वह (तव प्रकीर्त्या) ईश्वरके गुणवर्णनसे ही है। यहां शंका ऐसी होती है कि संपूर्ण प्राणिमात्र अथवा मनुष्यमात्र परमेश्वरका वर्णन करते ही कहां हैं ? कई तो परमेश्वरके अस्तित्वको भी नहीं जानते। जो ईश्वरके अस्तित्वकोभी नहीं जानते वे उसका वर्णन कैसा करेंगे ?

इस शंकाके उत्तरमें निवेदन है कि परमेश्वर ' सब कुछ ' (सर्व) है, अतः मनुष्य जिसका भी वर्णन करने लग जाये वह वर्णन ईश्वरका ही होगा, और मनुष्य जिस किसीमें अनुरक्त हो जांय वे ईश्वरके ही रूपमें अनुरक्त होंगे। क्यों कि यहां दूसरा कोई रूप है ही नहीं। यद्यपि मनुष्य-मात्र जो वर्णन करते हैं और प्रेम करते हैं वह केवल ईश्वरका ही वर्णन करते हैं और ईश्वरपर ही प्रेम करते हैं, तथापि उनको उस बातका पता नहीं है। न समझते हुए वे यह सब करते हैं, अतः महत्फलसे वंचित रहते हैं। यदि वे विश्वरूपका अनुभव लेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वे ईश्वरकाही वर्णन करते और ईश्वरपर ही प्रेम करते हैं। परंतु यह बहुत ही थोडे लोगोंको पता होता है।

राक्षस जिससे भयभीत होकर भाग जाते हैं और सिद्धोंके समूह जिसे नमन करते हैं वह एक ही जगच्चालक प्रभु है, जो विश्वके रूपमें सबके सम्मुख उपस्थित है। ईश्वर (ब्रह्मणः आदिकर्ता) ब्रह्मदेवका भी आदिकर्ता है, सबका आदिकारण है, वह स्वयंसिद्ध है, अतः उससे राक्षस क्यों न डरेंगे ? और सिद्ध पुरुष उसे क्यों नमन नहीं करेंगे ? अवश्यमेव करेंगे। वैसा ही यहां हो रहा है। सिद्धोंके नमनार्ह जो ईश्वर है, उसीसे राक्षस डरते हैं।

वही देव अन्तरहित (अनन्त) है, सब देवों-का देव भी वही है, जगत्का वही आश्रय है, अ-क्षर अविनाशी वही है और अक्ष-र आंखोंके रममाण होने योग्य भी वही है। तथा सत् असत् और इसके परे जो भी है, वह सब उसी-का स्वरूप है। यहां ' असत् ' का अर्थ 'अभाव' नहीं है, जैसा ' सत् ' एक पदार्थ है वैसा ही उसीका दूसरा भाव ' असत् ' है और सत् असत्के परे जो है वह भी उसी पदार्थका तीसरा भाव है। यह बात समझमें आनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं। अपने सामने मिश्रीका ढेला रखिये और उसकी ओर देखिये। उसकी मीठास ' सत् ' है क्यों कि उसीके कारण मिश्रीको मिश्रीका भाव प्राप्त हुआ है। उसका जो स्थूल रूप है जो मीठाससे पृथक् अनुभवमें आता है वह ' असत् ' है क्यों कि वह टूटता है, एकसा नहीं रहता। ' सत् ' जो मीठास है वह जिह्वासे ग्रहणकी जाती है और ' असत् ' जो स्थूलता है वह स्पर्शसे अथवा नेत्रसे ग्रहण होती है। भिन्न इंद्रियोंसे ग्रहण होनेके कारण इसमें पृथक्त्वकी भावना होती है। वस्तुतः मीठास और ढेला भिन्न नहीं होते। दोनोंका एक स्थान पर होना ही ' सत्-असत्के परे ' रहनेवाला भाव है जो ' मिश्री, खांड, शक्कर ' आदि नामोंसे हम सब पहचानते हैं। सत् (मीठास), असत् (ढेला), सदसत्के परे रहनेवाला भाव (मिश्री) है। यदि मिश्रीको आप केवल सत् (मीठास) कहेंगे तो उसमें असत् (स्थूल ढेला) भी मिला है, यदि असत् (ढेला) ही कहेंगे तो उसमें सत् (मीठास) भी है, दोनोंके संयोगसे होनेवाला दोनोंसे भिन्न तीसरा कहा जाता है। इसी तरह ' सत्, असत् और उनसे परे' ये तीन पदार्थ एक वस्तुके ही तीन भाव हैं यह बात ध्यानमें आसकती है।

यही प्रभु (आदिदेव) सबसे पूर्वकालमें रहनेवाला तेजस्वी ईश्वर,(पुराणः पुरुषः) अतः पुराणा पुरुष, सबसे पूर्वकालसे रहनेवाला, और (विश्वस्य परमं निधानं) इस विश्वका परम आधार, अर्थात् जिसपर यह विश्व रहा है, जिसपर यह विश्व है ऐसा दीखता है, जिसके आधारके विना विश्वका अस्तित्व रह नहीं सकता, वही एक प्रभु सबका परम आधार है।

वही (वेत्ता वेद्यं च) ज्ञाता और ज्ञेय है, अर्थात् जो ज्ञाता है वह अपने आपको ही यहां जाननेका यत्न करता है, क्यों कि यहां दूसरा कोई पदार्थ न होनेसे वह स्वयं जाननेवाला और स्वयंही जानने योग्य ज्ञेय वस्तु होती है और स्वयं ज्ञानस्वरूप भी है। अर्थात् ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान यहां एक ही पदार्थके साथ संबंध रखता है।

वही परमधाम है, सबका वही आश्रय है, कोई किसी ओर भाग जाय, वह उसीमें आश्रय पाता है। इसीने (विश्वं ततं) यह संपूर्ण विश्व फैलाया है और वही उसमें व्याप्त है। इतनाही नहीं वही इस विश्वके अनंत रूपोंको लेकर चारों ओर फैला है, अतः उसको (अनंतरूप) अनेक रूपोंवाला कहते हैं। जो रूप यहां दिखाई देते हैं वे सब रूप उसीके हैं क्यों कि सब विश्वका रूप उसीका रूप है।

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति (ब्रह्मदेव), (प्रपितामह) परदादा अर्थात् विष्णु शंकर आदि सब वही प्रभु है। ये सब देव उसीके रूप हैं। ये देव भिन्न नहीं, परंतु इनके कार्य विभिन्न होनेके कारण उसी एकके ये विभिन्न नाम हुए हैं, जैसे एक ही मनुष्यको पुत्र, भाई, पिता, चचा, दादा, पडदादा, मामा, भतीजा, पति आदि कहा जाता है, इतने नाम होनेपर वह एक ही होता है, इसी तरह ये नाम उसके भिन्न गुण और भिन्न कर्म बता रहे हैं, परंतु वह एकही है। इस प्रभुके लिये हम सबका नमस्कार हो, क्यों कि यही एक देव वंदनीय है।

यही (अनन्तवीर्य) अनन्त सामर्थ्यसे युक्त है, (अमितविक्रम) अपरिमित पराक्रम उसके हैं, कोई उसका यथार्थ वर्णन कर नहीं सकता। वह (सर्वं समाप्नोति) सबको सम्यक्तया प्राप्त होता है, क्यों कि वह सर्व वस्तुओंमें पूर्ण व्यापक है अतः उसको 'सर्व' कहते हैं। वह सबके रूप धारण करके रहा है इसलिये उसका नाम 'सर्व' हुआ है। उसके नाम कहां तक कहे जाय, कविकी जिह्वा कहते कहते थक गयी, अतः कवियोंने उसको 'सर्व' कहा और अपना वर्णन समाप्त किया। उसका यथार्थ वर्णन 'सर्व' शब्द द्वाराही हो सकता है, अन्य शब्द उसका पूर्ण वर्णन करनेमें असमर्थ ही हैं। ऐसे 'सर्व' नामक परमेश्वर को हमारा नमस्कार है।

अर्जुन कहता है कि 'हे प्रभो ! हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, हे मित्र ! आदि नामोंसे मैंने आपको पुकारा था, उस समय आपकी यह महिमा मुझे विदित नहीं थी, न जानते हुए हास्य विनोदमें तथा खेल, कूद, शयन, आसन, भोजन आदिके प्रसंगोंमें, एकान्तमें अथवा सार्वजनिक प्रसंगोंमें जो आपका उपहास मैंने किया होगा, उसकी मुझे क्षमा कीजियेगा, आपकी महिमा इतनी बडी है इस बातका मुझे पता ही नहीं था इस कारण मेरे द्वारा यह प्रमाद हो चुका, प्रभो क्षमा कीजिये आपके विना दूसरा कौन क्षमा करनेवाला है ?'

अर्जुन इस प्रकार प्रभुकी प्रार्थना कर रहा है, यहां ध्यान रहे कि अर्जुनही इसप्रकार प्रमादी था ऐसी बात नहीं है। मनुष्यमात्र प्रतिसमय क्या कर रहा है? हंसी, खेल, कूदमें और अन्यान्य व्यवहार करते समय मनुष्य परमेश्वरकी सत्य-महिमा जानता हुआ और उसको अपने सम्मुख

सदा उपस्थित जानकर कहां व्यवहार करता है? सब सामर्थ्य उससे प्राप्त करता हुआ भी मनुष्य उससे विमुख रहनेके समान व्यवहार करता है और प्रभुकी उपहास ही अपने आचरणसे करता है। अतः अर्जुनने उपहास किया था और दूसरे किसीने नहीं यह बात नहीं है, प्रायः हरएक मनुष्य परमेश्वरका उपहास करनेमें अर्जुनसे बढकर है, परंतु अर्जुनको यहां पूर्ण पश्चात्ताप हुआ अतः उसका अन्तःकरण पवित्र बना। अन्य लोग उपहास करते हैं, परंतु उपहास करनेका भान उनको नहीं होता, अतः उनके अन्तःकरण वैसे ही अपवित्र रहते हैं जैसे पहिलेसे होते हैं। पाठक यहां अपना व्यवहार देखें और इससे जो बोध लेना हो वह ले लें।

परमेश्वर (चराचरस्य पिता) स्थिर चरका पिता है, सबसे पूज्य है, सबका श्रेष्ठ गुरु है, ईश्वरके समान दूसरा कोई नहीं है फिर उससे अधिक कहांसे मिलेगा? तीनों लोकोंमें ईश्वरका ही प्रभाव अप्रतिम है। इसलिये उसीकी सबको प्रार्थना करनी चाहिये। जैसा पिता अपने पुत्रके अपराधोंकी क्षमा करता है, जैसा मित्र अपने मित्रके अपराध क्षमा करता है, जैसा प्रिय अपने प्रिय मित्रके अपराधोंकी क्षमा करता है, उसी तरह यह प्रभु भक्तोंके अपराध क्षमा करता है। वह परम दयालु हैं और जो क्षमाकी याचना अन्तःकरणसे करता है, उसकी क्षमा करता है। अतः हरएक मनुष्य नम्रभावसे उसकी प्रार्थना अपने अपराध क्षमा करनेके लिये करें।

अर्जुन कहता है कि यह कभी न देखा हुआ अद्भुत रूप मैंने देखा और मेरा हृदय भयसे कांपने लगा है। अतः प्रार्थना है कि हे प्रभो, मुझपर आप प्रसन्न हो जाईये और वही सौम्यरूप मुझे पूर्ववत दर्शाईये। यहां अर्जुनके सम्मुख ही भगवान श्रीकृष्ण उपस्थित थे, तथापि उसके नेत्र प्रभुके विश्वरूपपर लगे हुए थे, इसलिये उनको सम्मुख उपस्थित भगवान् श्रीकृष्णजीके शरीरका विस्मरण सा हुवा। इसकी समाधि ईश्वरके विश्वरूपपर लगी थी वहांसे उसको निवृत्त करना चाहिये था। उसकी दृष्टि समष्टि शरीरपर लगी थी वहांसे जब श्रीकृष्णजीके व्यष्टिशरीरपर उसकी दृष्टि आजायगी उस समय वह श्रीकृष्णजीके व्यष्टि शरीरको देख सकेगा। यहां इस समय जो बोल रहा है वह समष्टिपर ध्यान लगाये अर्जुन बोल रहा है, इतना ही अनुसंधान पाठक यहां करें।

अर्जुन कहता है कि "किरीटधारी, गदाधारी चक्रधारी, और चतुर्भुज रूपमें भगवान् श्रीकृष्णकारूप मैं देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहो, हे विश्वमूर्ते! वह अपना रूप मुझे बताइये।" यहां प्रार्थना करते हुए अर्जुन भगवान श्रीकृष्णका चतुर्भुज रूप देखना चाहता है। परंतु श्रीकृष्णजी का रूप द्विभुजी था और चतुर्भुजी रूप नहीं था। महाभारतमें द्विभुजी मानवरूप श्रीकृष्ण थे ऐसा ही वर्णन है। वह अर्जुनको पता था, परंतु उसकी समाधि इस समय विश्वमूर्ति विश्वरूपी समष्टिरूप ईश्वर पर हो चुकी थी, उस धुंदमें वह इस समय बोल रहा है, अतः उसको द्विभुजी रूपवाला श्रीकृष्ण है अथवा चतुर्भुजी रूपवाला है, इस विषयमें विस्मृति हुई प्रतीत होती है। जैसे किसीको निद्रा या मूर्च्छा आती है उस समय कुछ प्रश्न पूछा जाय, तो वह बेढंगाही उत्तर देता है वैसी हि स्थिति अर्जुनकी समाधि विश्वरूपी परमेश्वरपर लग जानेके कारण इस समय हुई थी। इसलिये वह द्विभुजी श्रीकृष्णको चतुर्भुजी कह रहा है। आध्यात्मिक धुंदमें ऐसा हुआ ही करता है।

इस प्रकार अर्जुनकी प्रार्थना श्रवण करके परम दयालु भगवान् प्रेमपूर्ण दृष्टिसे अर्जुनसे कहते हैं—

(७) सौम्य व्यष्टिरूप दर्शन ।

श्रीभगवानुवाच— **मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।**
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥
संजय उवाच– **इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।**
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच— हे अर्जुन ! यत् त्वदन्येन, दृष्टपूर्वं न, तद् इदं मे तेजोमयं विश्वं अनन्तं आद्यं परं रूपं प्रसन्नेन मया आत्मयोगात् तव दर्शितं ॥ ४७ ॥ हे कुरुप्रवीर ! अहं एवं रूपः नृलोके वेदयज्ञाध्ययनैः न, दानैः न, क्रियाभिः न, उग्रैः तपोभिः च न त्वदन्येन द्रष्टुं शक्यः ॥ ४८ ॥ मम इदं ईदृक् घोरं रूपं दृष्ट्वा, ते व्यथा मा (अस्तु), विमूढभावः च मा (अस्तु) । त्वं व्यपेतभीः प्रीतमनाः (भूत्वा) पुनः तत् एवं इदं मे रूपं प्रपश्य ॥४९॥ संजय उवाच– महात्मा वासुदेवः इति तथा अर्जुनं उक्त्वा भूयः स्वकं रूपं दर्शयामास । पुनः च सौम्यवपुः भूत्वा, भीतं एनं आश्वासयामास ॥ ५० ॥

श्रीभगवान् बोले– हे अर्जुन ! जो तेरे सिवाय और किसीने पहिले देखा नहीं था, वह यह मेरा तेजोमय विश्वस्वरूपी, अनन्त, आद्य, श्रेष्ठरूप प्रसन्न होकर मैंने आत्मयोगके द्वारा तुझे दर्शाया है ॥ ४७ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! मुझे इस प्रकारके रूपमें इस मनुष्य लोकमें वेदाध्ययनसे, यज्ञोंसे, दानोंसे कर्मोंसे अथवा उग्र तपोंसे तुझे छोडकर अन्य कोई भी नहीं देख सकता ॥ ४८ ॥ मेरे इस घोर रूपको देखकर तुझको व्यथा न हो, तू भ्रान्त भी न हो। तू डर छोडकर सन्तुष्ट मनसे मेरे उसी पहिले रूपको देख ॥४९॥ संजय बोला— महात्मा वासुदेवने इस प्रकार अर्जुनसे कहकर फिर अपना पहिला रूप दिखलाया । अर्थात् पुनः सौम्य शरीरवाला होकर, इस डरे (हुए अर्जुन) को धीरज बंधाया ॥ ५० ॥

भावार्थ-- परमेश्वरके विश्वरूपको कोई विरलाही देख सकता है, आत्मयोगसे ही इस तेजस्वी, अनन्त, आद्य, परमश्रेष्ठ रूपको देखना संभव है। आत्मयोग न करनेपर अन्य साधन अर्थात् वेदपाठ, यज्ञ, दान, कर्म, तप आदि मनुष्य कितना भी करे, उससे इस विश्वरूपका दर्शन नहीं हो सकता । परमेश्वरका विश्वरूप देखकर कोई अति भावके कारण कोई भी न डरे और ना ही दिङ्मूढ हो जावे । यहां तो इस रूपमें भयका कोई कारण नहीं है. यह तो प्रसन्नताका ही हेतु है ॥ ४७–५० ॥

(४७-५०) यहां विश्वरूपदर्शन किस प्रकार होता है यह बात कही है। यह बात विशेष महत्त्वकी है इसलिये पाठक इसका अधिक मनन करें। (१) आत्मयोगसे और (२) परमेश्वर प्रसन्न होनेसे परमेश्वरका विश्वरूप साधक देख सकता है। जो जो साधन परमेश्वरकी प्रसन्नताके हैं वे साधन करनाही इस साक्षात्कारकी साधना है। जो मनुष्य इस साधनाको करेंगे वे विश्वरूपका साक्षात्कार कर सकते हैं। आत्मयोगका अर्थ 'आत्माका अटूट संबंध जानना और उसका अनुभव करनेका यत्न करना।' तथा परमेश्वरकी प्रसन्नता परमेश्वरके कार्यके लिये आत्मसमर्पण करनेसे हि हो सकती है। बस यही साधन अर्जुनने किया था। अर्जुनने अपने आपको परमेश्वरके साधुओंका परित्राण, दुष्टोंका निर्दालन, और धर्मराज्यका संस्थापन इस त्रिविध कार्यके लिये समर्पित किया था। तथा अपना संबंध अखंडतासे परमेश्वरके साथ जोड दिया था। परमेश्वरका वह सखा बनकर व्यवहार करता था। इस कारण परमेश्वर उसपर प्रसन्न हुआ और उसने अपना विश्वरूप अर्जुनके सामने दिखाया। और इस प्रकार उस भक्तने अनन्त, आद्य, अदृष्टपूर्व, तेजोमय समग्ररूप देख लिया। जो भी भक्त इस तरह आत्मसमर्पण करेगा, वह इस विश्वरूपको इसी तरह देख सकेगा, परंतु यदि कोई कहेगा, कि केवल ग्रंथके अध्ययनसे, दान देनेसे, विविध क्रिया कर्म करनेसे और अनेक कठोर तप करनेसे मैं विश्वरूपको देख लूंगा, तो यह असंभव है। सिवाय परमेश्वरकी प्रसन्नताके और आत्मयोग करनेके, कोई इस रूपको देख नहीं सकता। यह रूप 'विश्वं' है अर्थात् संपूर्ण अथवा समग्र है इसमें अपूर्णता नहीं है, खंड नहीं है, अखंड, एकरस, अटूट अनुभव विश्वभर आना चाहिये। ऐसा अनुभव आसकता है और वह आत्मयोगसे अनुभव हो सकता है, यह बात यहां अत्यंत महत्त्वकी कही है।

यह विश्वरूप (त्वदन्येन न दृष्टपूर्वं । ४७) तेरेसे भिन्न किसी अन्यने इस समयतक देखा नहीं था। ऐसा जो यहां कहा है, वह पूर्ण अर्थसे लेना उचित नहीं है, क्योंकि इसी युद्धभूमिमें अर्जुनने यह विश्वरूप जैसा देखा, वैसा ही संजयने भी देखा था और उन्होंने श्लोक ९ से १३ तक उसका वर्णन भी किया था। तथा अध्याय १८ श्लोक ७७ में संजय कहते हैं कि—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनःपुनः ॥ १८।७७ ॥

इस तरह वह संजय 'उस ईश्वरके अद्भुत रूपका स्मरण करके पुनः पुनः आश्चर्यचकित भी हो रहा था।' अर्थात् संजयने उस विश्वरूपको देखा था इसमें संदेह नहीं है। तथा अर्जुनके वर्णनके प्रसंगमें—

रूपं महत्ते...दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥११।२३॥

'परमेश्वरका बडा विश्वरूप देखकर सब लोक भयभीत हुए हैं। इस कथनमें ईश्वरका विश्वरूप सब लोकोंने देखा था यह भाव स्पष्ट है। यहां अर्जुनके कथनमें कुछ अधिक वर्णन हुआ होगा, इसमें संदेह नहीं है, तथापि सब लोग भयभीत हुए ऐसा जो अर्जुनने कहा उसके स्थानपर यहांके कुछ लोग भयचकित हुए ऐसा हम समझते हैं। ऐसा माननेमें कोई अत्युक्ति नहीं है और इतना तो अर्थ अर्जुनके वर्णनमें अवश्य ही होगा। इतना अर्थ माननेपर भी अर्जुन और संजयको छोडकर कुछ अन्य पुरुषोंने-कमसे कम अर्जुनके रथके चारों ओर खडे रहे पुरुषोंमेंसे कुछ मनुष्योंने इस विश्वरूपको देखा था, और वे भी चकित हुए थे, इतनी बात निर्विवाद सिद्ध हुई।

(८) ज्ञानदर्शनपूर्वक ईश्वरमें प्रवेश ।

अर्जुन उवाच— दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अन्वय— अर्जुनः उवाच— हे जनार्दन ! तव इदं मानुषं सौम्यं रूपं दृष्ट्वा अहं इदानीं सचेताः संवृत्तः प्रकृतिं गतः अस्मि ॥ ५१ ॥

अर्जुनने कहा— हे जनार्दन ! तुम्हारे इस मानुषीय सौम्य रूपको देखकर मैं अब सचेत होकर अपने स्वभावपर आगया हूं ॥ ५१ ॥

इससे सिद्ध है कि इस कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिपर अर्जुन संजय और कुछ अन्य वीर परमेश्वरके विश्वरूपको देखनेमें समर्थ हुए थे। इतना होनेपर भी (त्वदन्येन न दृष्टपूर्वं रूपं) अर्जुनसे भिन्न किसीने यह रूप इस समयतक देखा नहीं था ऐसा यहां कहा है, अतः इस कथनका अर्थ कुछ गौण रीतिसे ही समझना चाहिये।

इसके अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णने अपनी माता यशोदाको विश्वरूप दिखला दिया था। वेदमें रुद्रके, (यजुर्वेद वा० सं० अ० १६) तथा जगदीश नारायणके विश्वरूपका वर्णन (ऋ० १०। ९०) अतिस्पष्ट है। अन्यान्य पुराणोंमें भी विश्वरूपके वर्णन हैं और वे भी कई सिद्धोंने देखे ही होंगे। इसलिये अर्जुनने ही केवल इस समय यह विश्वरूप देखा था और किसीने इस समयतक विश्वरूप देखा नहीं था, यह कथन अक्षरशः सत्य मानना नहीं चाहिये, गौणभावसे इसकी सत्यता मानना उचित है।

आगे भगवान् कहते हैं कि ' इस घोररूपको देखकर भयभीत और दिङ्मूढ मत बन, डरको दूर कर, मन प्रसन्न कर और यह पूर्वका तेरा परिचित मेरा रूपहि फिर देख ' इस तरह कहकर भगवान्ने अपना सौम्यरूप अर्जुनसे दिखला दिया और धीरज दिया और सौम्यरूपसे फिर उसके सामने खडे हुए।

यह वर्णन भी शब्दशः समझना नहीं चाहिये क्योंकि विश्वरूपमें ऐसी डरनेकी और घबडानेकी बात ही क्या है? यह संपूर्ण विश्व अटूट, अखंड एक वस्तु है इतना अनुभव हुआ तो उसमें डर लगने और भयभीत होनेकी बात ही क्या है? जो हम सबको विश्वका रूप दीखता है वही विश्वरूप है केवल हमें इसमें अलग अलग अनेकविध पदार्थ दीखते हैं और दिव्यदृष्टिसे देखनेवालेको अखंड एक वस्तु दीखती है। अनेक पदार्थ देखनेकी स्थितिमें डर नहीं और वह सब पदार्थ एक अखंड सत्तामें परिणत हुए तो डर लगेगा और उस अखंडरूपको देखनेवाला भयभीत होगा, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसलिये इसका आशय भी गौण वृत्तीसे ही समझना चाहिये। यह एक काव्यमय वर्णन है, इतनाही भाव यहां समझना चाहिये।

इस प्रकार इन श्लोकोंका भाव ध्यानमें धारण कर आगे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ क्या वार्तालाप करते हैं सो देखिये—

(५१-५५) अर्जुनने श्रीभगवान्का मानुषी सौम्यरूप देखलिया और उसको समाधान हुआ, उसका डर दूर हुआ और उसमें धैर्य प्राप्त हुआ। अतः वह निर्भय होकर पूर्ववत् खडा हुआ। यह देखकर भगवान् कहने लगे- देवतागण भी इस मेरे विश्वरूपको देखनेकी इच्छा करते हैं, परंतु उनको वह रूप दीखता

श्रीभगवानुवाच– सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विश्वरूपदर्शनो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अन्वयः— श्रीभगवानुवाच— यत् मम सुदुर्दर्शं इदं रूपं दृष्टवान् असि, अस्य रूपस्य देवाः अपि नित्यं दर्शनकांक्षिणः (सन्ति) ॥ ५२ ॥ त्वं यथा मां दृष्टवान् असि, एवं विधः अहं न वेदैः, न तपसा, न दानेन, न च इज्यया द्रष्टुं शक्यः (अस्मि) ॥ ५३ ॥ हे परंतप अर्जुन ! अहं एवंविधः तत्त्वेन ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च अनन्यया भक्त्या (एव) शक्यः (अस्मि) ॥ ५४ ॥ हे पांडव ! यः मत्कर्मकृत्, मत्परमः, संगवर्जितः, सर्वभूतेषु निर्वैरः मद्भक्तः (अस्ति) सः मां एति ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान् बोले– जिस मेरे, देखनेके लिये अत्यंत कठिन इस रूपको तुमने देखा है, इस रूपके दर्शन करनेकी देव भी नित्य इच्छा धारण किये रहते हैं ॥५२॥ तूने जैसा मुझे देखा है, वैसा मुझे वेदोंसे, तपसे, दानसे अथवा यज्ञसे भी कोई देख नहीं सकता ॥ ५३ ॥ हे शत्रुको ताप देनेवाले वीर अर्जुन ! मुझे इस तरह तत्त्वसे जानना, देखना और मुझमें प्रवेश करना केवल अनन्य भक्तिसेहि शक्य है ॥५४॥ हे अर्जुन ! जो मेरे लिये कर्म करता है, जो मुझे परम श्रेष्ठ मानता है, जो (भोगोंका) संग छोडता है, और सब भूतोंके विषयमें वैररहित होता है, वह मेरा भक्त मुझे प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

भावार्थ— ईश्वरका विश्वरूप देखना अति कठिन कार्य है। उस अद्भुतरूपको देखनेके लिये देवतागण भी बडे आतुर हुए रहते हैं। यह विश्वरूप यज्ञ, दान, तप, अध्ययन आदिसे नहीं दीख सकता। केवल (अनन्य भावसे) मैं दूसरा नहीं इस भावसे होनेवाली जो (भक्ति) विश्वसेवा है, उसीसे यह विश्वरूप दीख सकता है। अतः जो साधक भक्त परमेश्वरके कर्म करता है, परमेश्वरको ही सर्वोपरि मानता है, भोगोंका संग छोडता है, और सब भूतोंके ऊपर वैररहित–प्रेमभाव–रखता है, वही विश्वरूपी परमेश्वरका साक्षात्कार करता है ॥ ५१–५५ ॥

नहीं क्यों कि वह देखना अति कठिन है। यहां जो कठिनता वर्णन की है वह दृष्टिकोन की कठिनता है। वह एक विशेष प्रकारका दृष्टिकोन है जिससे परमेश्वरका दिव्य विश्वरूप दीखता है, वह दृष्टिकोन केवल ग्रंथोंके पढनेसे, यज्ञ, दान, तप करनेसे अथवा गुरु बननेसे, राज्याधिकार पास रहनेसे, धन कमानेसे, बडा कारीगर होनेसे नहीं प्राप्त होता है। वह तो गुरुके द्वारा समझानेपर ही प्राप्त हो सकता है।

अनन्यभक्ति ।

अनन्यभक्तिसे ही परमेश्वरका विश्वरूप देखा जा सकता है। यह अनन्यभक्ति क्या है? अपने आपको 'अन्य' न मानते और न समझते हुए जो विश्वरूपी भगवान् की सेवा की जाती है वही अनन्यभक्ति है। विश्वरूपी प्रभुका साक्षात्कार करनेका एक मात्र उपाय यह है। अन्य यज्ञदानादि सब उपाय गौण उपाय हैं, परंपरासे अर्थात् दूरसे वे सहायता करते हैं, साक्षात् लाभ इसी उपायसे हो सकता है। अन्यभावसे जो विश्वरूपकी सेवा करनी है उसीका दूसरा नाम 'विश्वसेवा' है। इस विश्वसेवा की बुद्धि मनुष्यमें उत्पन्न करनेके लिये यज्ञदानतपादि अन्यान्य उपाय परंपरया सहाय्यक होते हैं, अनन्य होकर विश्वसेवा करनेसे ही साक्षात्कार हो सकता है।

ज्ञान-दर्शनपूर्वक प्रवेश ।

(ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं) परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, परमेश्वरका दर्शन करना चाहिये और परमेश्वरमें प्रवेश करना चाहिये। ज्ञान प्राप्त करना यह बौद्धिक साक्षात्कार है, प्रत्यक्ष दर्शन करना यह दृष्टिका साक्षात्कार है और उसमें प्रवेश करना यह अनन्य होनेका पूर्ण अनुभव है। ये परमेश्वरके तीनों साक्षात्कार मनुष्यको हो सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसके लिये मनुष्यको अपने अन्दर अनन्य भाव अर्थात् 'मैं उससे पृथक् नहीं हूं' यह भाव किंवा यहां अनेकविध पदार्थ नहीं हैं परंतु एकही वस्तु है यह भाव निश्चयपूर्वक मनमें धारण करना चाहिये। तभी यह अन्तिम सिद्धी प्राप्त होती है।

ईश्वरके ज्ञान-दर्शनपूर्वक उसमें अपना प्रवेश हुआ है इसका साक्षात्कार करना यही वेदधर्मका अन्तिम प्रामण्य है। जो यहां भगवद्गीतामें इस तरह वर्णन किया है। इस सिद्धिके उपाय इस प्रकार भगवान् वर्णन करते हैं। ये उपाय पांच हैं—

मत्कर्मकृत् ।

'मत्कर्मकृत्' यह पहिला उपाय है, इसके करनेसे मनुष्य ईश्वर प्राप्तिकी अन्तिम सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। यही कर्ममार्ग अथवा 'कर्मयोग' है। 'मत्कर्म' का अर्थ है 'ईश्वरके कर्म करना।' मनुष्य सदा अपने कर्म करता है, वह अपने कर्म करना छोड दे और परमेश्वरके कर्म करे, किंवा परमेश्वरके लिये कर्म करे। परमेश्वरकी संतुष्टताके लिये ही कर्म करता रहे। परमेश्वरके कर्म भगवद्गीतामें निश्चित हुए हैं, (१) सज्जनोंका परित्राण, (२) दुर्जनोंका विनाश, और (३) धर्मकी स्थापना। ये तीन कर्म परमेश्वरके हैं। इनकी सिद्धिके लिये आवश्यक जो जो अन्यान्य अनेकविध कार्य होंगे, वे सब परमेश्वरके ही कार्य होंगे। अर्थात् दुर्जनोंका वध करना यह परमेश्वरका कार्य है। वध करनेके लिये शस्त्र तैयार करना भी उसीका साधक कार्य है, इस तरह दुर्जन वध-कर्ताकी हरएक प्रकारकी सहायता करना भी परमेश्वरका ही कार्य है। इस प्रकार जो जो कार्य पूर्वोक्त तीनों परमेश्वरके कार्योंके सहायक होंगे वे सब परमेश्वरकेही कार्य हैं। उनको उत्तमसे उत्तम रीतिसे (योगस्थः कर्म कुरु) करना मनुष्यका कर्तव्य है। ये कर्म

मनुष्य करे। इनके करनेसे मनुष्यका उद्धार होगा।

सज्जनोंका पालन, दुर्जनोंका नाश और धर्मसंस्थापना ये तीन कार्य परमेश्वरके हैं। ये कर्म करनेसे और ये कर्म परमेश्वरके हैं ऐसा मानकर करनेसे, तथा इनके सहायक सब कर्म परमेश्वरकी संतुष्टीके लिये करनेसे मनुष्यकी कृतकृत्यता होती है। मनुष्यके आयुष्यभरके सब सत्कृत्य इन तीन कार्योंमें संमिलित हो सकते हैं। इतनी इन कर्मोंकी व्याप्ती होना संभव है, अतः मनुष्य अपना जीवन ही परमेश्वरके कार्योंके लिये समर्पित करे, परमेश्वरको सन्तुष्ट करनेके लिये कर्म करे, और जो कर्म करे वह परमेश्वरको समर्पण करे। कर्मयोगके पूर्व भागमें कहे नियमोंका अनुसंधान पाठक यहां करें और कर्म करनेकी विधि निश्चित करें और तदनुसार कर्म करके कृतकृत्य बनें।

मत्परमः।

परमेश्वरको ही जो परम अर्थात् परतम, श्रेष्ठतम मानता है जिसके लिये परमेश्वरके सिवाय दूसरा कुछभी यहां रहा नहीं, अपना ध्येय प्राप्तव्य सबकुछ परमेश्वर ही जिसके लिये हुआ है, जो अपना सब लक्ष्य इसी अद्वितीय परमेश्वरपर लगाये रखता है, जिसके मनमें परमेश्वरको छोडकर दूसरा विचार ही नहीं आता, जिसके सब इंद्रिय परमेश्वरके लिये कार्य करते हैं, जिसका संपूर्ण जीवन परमेश्वरके लिये ही समर्पित हुआ है, वह भक्त परमेश्वरके लिये कर्म करके कृतकृत्य होता है।

मद्भक्तः।

परमेश्वरका जो भक्त होता है वह कृतकृत्य होता है। भक्त उसको कहते हैं कि जो तत्परतापूर्वक सेवा करनेवाला हो। 'भज्-सेवायां' इस धातुसे यह शब्द बनता है। सेवा करनेका अर्थ यही है कि जिसकी सेवा करनी है उसके लिये करने योग्य कार्य करना। स्वामीके कार्य स्वामीका मन प्रसन्न होने योग्य रीतिसे करना। स्वामीके न कहनेपर भी उसके कार्य यथायोग्य रीतिसे करना। स्वामी उपस्थित रहने न रहनेकी अवस्थामें उसके कार्य जैसे करने चाहियें, वैसे करना और उसके बदले कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा न करना। जो सहेतुक भक्ति करता है वह उसका फल अपने लिये प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, परंतु जो निष्काम भक्त होता है, जो स्वयंसेवक होता है, वह अपने किये कर्मका फल अपनेको मिलना चाहिये ऐसा नहीं कहता और इसीलिये ऐसे निष्काम भावसे सेवा करनेवाले स्वामीको अधिक प्रिय होते हैं। ऐसे भक्त कृतकृत्य होते हैं।

संगवर्जितः।

संगकी इच्छा न करनेवाला। संगका अर्थ भोगोंका संग, कर्मके फलोंका उपभोग लेनेका संग, कर्मके फल मुझे उपभोगके लिये मिलने चाहियें यह कामना। यह भोगकामना न धारण कर कर्म करनेवाला, निष्काम कर्मयोगी कृतकृत्य होता है।

सर्वभूतेषु निर्वैरः।

सर्व भूतोंके विषयमें वैरभावका त्याग करनेवाला, किसीसे वैर न करनेवाला, किसीका किसी भी कारण द्वेष न करनेवाला। जिसके मनमें द्वेषभाव, वैरभाव, शत्रुभाव नहीं होता ऐसा मनुष्य कृतकृत्य होता है।

यहां 'सर्वभूत' शब्द है। भूत शब्दका अर्थ प्राणी है, और सब उत्पन्न हुए पदार्थ ऐसा भी इसका अर्थ है। सब प्राणियोंके साथ द्वेष नहीं करना चाहिये, उसी प्रकार किसी पदार्थ या किसी वस्तुके साथभी द्वेष नहीं करना चाहिये। मनमेंसे पूर्णतया द्वेषभावको हटाना चाहिये।

पाठक यहां यह समझें की मनसे द्वेषभावको पूर्णतया हटाना यह भी निषेध लक्षण है। इसका विधिलक्षण यह है कि सबपर अखंड प्रेम करना। केवल द्वेषके अभावसे कार्य नहीं होगा, वहां प्रेमका सद्भाव चाहिये। सब भूतोंपर प्रेम करनेवाला मनुष्य ही अन्तिम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। द्वेषका अभाव घडा खाली करनेके समान है, केवल घडा खाली करनेसे कार्य नहीं हो सकता, वह दूध, मीठा, घी, शहद आदिसे भरकर रखना चाहिये।

जो साधक (१) परमेश्वरके कार्य करता है, (२) जो परमेश्वरको परम श्रेष्ठ मानता है, (३) जो परमेश्वरकी अखंड भक्ति (सेवा) करता है, (४) जो भोगोंका संग छोड देता है, और (५) जो सबभूतोंका द्वेष नहीं करता अथवा सब भूतोंपर अखंड प्रेम करता है--

सः मां एति (११५५)

" वही साधक (मुझ) परमेश्वरको प्राप्त करता है।" परमेश्वर को प्राप्त होनेका अर्थ पूर्ण होना है। संक्षेपसे पूर्ण होनेका यह पांच प्रकार का साधन है, पाठक यह स्मरण रखें। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस समयतक जो उपदेश कहा है, उसका पांच शब्दोंमें यहां अतिसंक्षेप किया है। पाठक इन पांच शब्दोंका स्मरण रखें और ये साधन अपने आचरणमें लानेका यत्न करें। इन साधनोंके अनुष्ठानसे ही साधककी सच्ची उन्नति हो सकती है।

इस तरह इस अध्यायमें परमेश्वरका अखंड विश्वरूप बडी युक्तिके साथ बताया है और उसका साक्षात्कार करनेका सुगम उपाय भी बताया है। इस रीतिसे मानवी उन्नतिके लिये जो कहना चाहिये वह इस अध्यायमें कहा है। जो इसका अनुष्ठान करेंगे उनका बेडा पार होगा, और जो लोग साधन नहीं करेंगे वे डूब जायगे। इस अध्यायमें विश्वरूप-दर्शनका साधन और स्वरूप कहा है, इसलिये यह अध्याय भगवद्गीता मंदिरका उच्च शिखर समझना चाहिये। आशा है पाठक इस शिखरपर चढेंगे और वहांसे विश्वरूपका सुमनोहर दृश्य देखकर कृतकृत्य होंगे।

ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादशवें अध्यायका

थोडासा मनन।

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादशवें अध्यायमें परमात्माका विश्वरूप बताया है। दसवें अध्यायमें परमेश्वरकी विभूतियां कहीं हैं, शस्त्रधारियोंमें राम और पांडवोंमें धनंजय परमेश्वरकी विभूति है, ऐसा दसवें अध्यायमें कहा गया। वहां शंका उपस्थित हुई कि यदि सब शस्त्रधारियोंमें राम ही ईश्वरकी विभूति है तो अन्य शस्त्रधारी किसके रूप हैं, यदि पाण्डवोंमें अर्जुन ही ईश्वरकी विभूति है तो अन्य पाण्डव किसकी मूर्तियां हैं? यह शंका यहां हुई। इस शंकाको निर्मूल करनेके लिये ग्यारहवें अध्यायमें कहा कि संपूर्ण विश्व ही परमेश्वरका रूप है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि जैसा राम परमेश्वरकी विभूति है वैसे ही अन्य वीर भी परमेश्वरकी भूति अवश्य है, जैसा अर्जुन परमेश्वरकी विभूति है वैसे ही अन्य पाण्डव भी परमेश्वरकी भूति हैं। वस्तुतः कोई भिन्नता नहीं, सब रूपोंमें एक ही आत्मा नट रहा है। एक ही आत्मा अनेक रूपोंमें हमारे सम्मुख आकर खडा है। ये अनेक रूप भिन्न नहीं हैं, सबरूप मिलकर एक ही अखंड रूप ईश्वर है और उसको इसीतरह अखंड एकरस देखना चाहिये।

जो बात भगवान् गीताके द्वितीय अध्यायसे कहना चाहते थे, वह बात इस ग्यारहवें अध्यायमें पूर्णताके साथ कह दी है। यही विश्वरूपका ज्ञान, वैदिक धर्मका मुख्य ज्ञान है. वैदिक धर्म इसी ज्ञानको आधारमें रख कर फैला है यदि यह विश्वरूपकी कल्पना वैदिक धर्मसे हटायी जायगी तो वैदिक धर्मके आधारमें कुछ भी शेष नहीं रहेगा। इतना इस धर्मकल्पनामें इस विश्वरूपके ज्ञानका महत्त्व है, अतः पाठक इसका विचार इस प्रकार करें। यही विश्वरूपकी कल्पना भगवद्गीतामें प्रारंभसे कैसी कही है वह संक्षेपसे देखिये—

१ सर्वगतः (आत्मा) गी० २–२४
२ सर्वगतं ब्रह्म ॥ गी० ३–१५
३ ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥ गी० ४–२४
४ अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ गी० ९–१६
५ विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ गी० ५–१८
६ सर्वत्र समदर्शनः ॥ गी० ६–२९
७ समोऽहं सर्वभूतेषु ॥ गी० ९–२९
८ वासुदेवः सर्वं ॥ गी० ७–१९
९ विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। गी० १०–४२
१० अनंतरूप, विश्वरूप ॥ गी० ११–१६
११ सर्व, सर्वः ॥ गी० ११–४०

(१) प्रारंभमें द्वितीय अध्यायमें कहा है कि 'सर्वगत आत्मा' है। आत्मा सर्वगत–सर्वव्यापक– है इतका कहने मात्रसे यह विश्व आत्माका रूप है ऐसा स्पष्ट होता है। (२)

वही बात तृतीय अध्यायमें 'सर्वगत-सर्वव्यापक-विश्वव्यापक ब्रह्म ' है ऐसा कह कर बताई है। दोनों वचनोंका उद्देश्य एक ही है। (३, ४) आगे चतुर्थ और नवम अध्यायोंमें ' अर्पण, हवि, अग्नि, हवन, क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधि-समिधा आदि हवनीय औषधि, मंत्र, घी, ' यह सब आत्मा ही है ऐसा कहा है। एक ही तत्त्वके ये रूप हैं ऐसा कहने मात्रसे उस एक तत्त्वके ये रूप हैं ऐसा सिद्ध हुआ। यही आत्माका विश्वरूप किंवा सर्वरूप है।

(५) आगे पंचम अध्यायमें ' ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी और कुत्ता इनमें एक ही ब्रह्म समभावसे देखना चाहिये, ऐसा कहा है। यहां भी समभावसे अवस्थित ब्रह्मके ये विविध रूप हैं ऐसी ही ध्वनि निकलती है। (६) छठे अध्यायमें सर्वत्र समदर्शन अर्थात् ब्रह्मदर्शन करनेका उपदेश स्पष्ट है। सर्वत्र ब्रह्मदर्शनका अर्थ सर्वत्र दूसरा कोई पदार्थ नहीं है केवल एक ही ब्रह्म है ऐसा देखना है। (७) सब भूतोंमें समानतया भगवान्‌की अवस्थिति है। (८) इतना कहकर ' सब वासुदेवका ही रूप है ' ऐसा सातवें अध्यायमें स्पष्ट कहा। (९) दसवें अध्यायमें परमेश्वर एक अंशसे सब विश्व व्यापकर रहा है और उसकी विभूतियां ये हैं ऐसा कहा।

(१०) इतना कहनेके पश्चात् इस ग्यारहवें अध्यायमें कहा है कि ' परमेश्वरका सब रूप है, वह विश्वरूपी प्रभु है, वह सब कुछ है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी रूप दीखता है वह उसीका रूप है। जो कुछ है वह सब वही है। '

पाठक यहां देखें कि कैसी शनैः शनैः गीताके उपदेशमें यह परमेश्वरके विश्वरूपकी कल्पना कही है। प्रत्येक अध्यायका उपदेश यही परमेश्वरका विश्वरूप बतानेके लिये कहा गया है। गीताका संपूर्ण तत्त्वज्ञान इसी एक बातपर केंद्रित हुआ है। इतना इस ' विश्वरूप ' का धर्म-निश्चयमें महत्त्व है।

अब हमें देखना है कि यह विश्वरूपी ईश्वरकी कल्पना वेद मंत्रोंमें कही है अथवा यह भगवद्गीताकी ही कल्पना है। इस बातका निश्चय हमें यहां करना है। हमारे मनसे वेदके मंत्रोंमें भी परमेश्वरका विश्वरूप कहा है। प्रथमतः हम ऋग्वेदके मंत्रोंका निरीक्षण करेंगे—

ऋग्वेदमें विश्वरूपी ईश्वर

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥ २ ॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥ (ऋग्वेद १०।९०)
अथर्ववेद पाठ-- ' सहस्रबाहुः पुरुषः ।

इस पुरुषसूक्तका आशय जगद्बीज नारायण पुरुष अर्थात् परमेश्वरका विश्वरूप बताना ही है। ' हजारों सिर, हजारों बाहु, हजारों आंख, हजारों पांववाला यह नारायण पुरुष परमात्मा परमेश्वर है। वह भूमिकी चारों ओर फैला है। और भूत, वर्तमान और भविष्यकालका सब रूप जो दीखता है वह उसीका रूप है ' यह भाव पहिले दो मंत्रोंका है। (मं. १-२)

जो मनुष्यादि हजारों प्राणी हैं उनके हजारों और लाखों सिर, बाहु, हाथ, पेट और पांव

उसी प्रभुके अवयव होनेसे उसके हजारों और लाखों अथवा करोडों अवयव हैं, ऐसा उक्त मंत्रोंमें कहा है। इस विषयमें किसीको शंका उत्पन्न न हो इसलिये उसी सूक्तमें इसका विशेष स्पष्टीकरण आगेके मंत्रोंमें किया है, देखिये--

'जिस पुरुषका वर्णन किया गया, उसकी कल्पना किसप्रकार की गई है? उसका मुख कौनसा है? उसके बाहू कौनसे हैं? उसके ऊरू कौन हैं और उसके पांव कौन हैं?' (मं० ११) इन प्रश्नोंको देखनेसे भी पता लगता है कि उत्तर क्या आना चाहिये, जो अनंत प्राणी इस नारायण पुरुषके अवयव हुए हैं, उनमेंसे कौन उनके मुखके स्थानमें हैं, कौन उनके बाहुओंके स्थानपर हैं और कौन अन्यान्य अवयवोंके स्थानोंपर हैं? इसके उत्तरमें मंत्र ही कहता है कि-

''ब्राह्मण इसके मुख, क्षत्रिय इसके बाहु, वैश्य इसके ऊरु और शूद्र इसके पांव हैं।'' अर्थात् परमेश्वरका मानवी समाजमें यह विश्वरूप ही है। जो इस भूमिपर ज्ञानी हैं वे इस विश्वरूपी नारायणके हजारों मुख हैं, जो शूर, वीर, धीर, पुरुष जनताकी रक्षा करनेके कार्यमें अपने आपको समर्पित करते हैं, वे लाखों क्षत्रिय उस परमेश्वरके बाहू हैं, जो खानपानके लिये कृष्यादि द्वारा अन्न उत्पन्न करते हैं और व्यापार द्वारा सर्वत्र पहुंचा देते हैं वे लाखों वैश्य उसी विराट् पुरुषके पेटके स्थानमें तथा ऊरुओंके स्थानमें समझने योग्य हैं और जो केवल अन्योंकी सेवा कर सकते हैं अर्थात् इससे अधिक ऊंचा कार्य कर नहीं सकते वे सहस्रों शूद्र उस परमात्माके पांव हैं। मानव समाजके ये चार भाग इस विराट् पुरुषके चार अवयव हैं। मानव समाजमें ईश्वरका विश्वरूप यही है।

यहां विश्वरूपमें गौ, घोडे आदि पशु, पक्षी तथा वृक्ष, वनस्पति आदि भी समाविष्ट हैं, तथा सूर्य, चंद्र आदि ग्रह नक्षत्र भी हैं। इस विश्वरूपका निर्देश पूर्वोक्त सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार आया है--

'मन चन्द्र, आंख सूर्य, मुख इन्द्र और अग्नि, प्राण वायु, नाभि अन्तरिक्ष, सिर द्युलोक, पांव भूमि और कान दिशाएं हैं, इसी तरह अन्य लोक अन्य अवयवोंके स्थानपर हैं। (मं. १४)'

यह बाह्य जगत्में परमेश्वरका विश्वरूप है। पशु, पक्षि, वृक्ष, वनस्पति, ग्रह, नक्षत्र इन सबमें चार वर्ण माने गये हैं, उन वर्णोंको जाननेसे परमेश्वरकी विभूति सर्वत्र कैसी है इसका ज्ञान हो सकता है। यही वर्णन कुछ भेदके साथ मुण्डकोपनिषद्में है, वह ऐसा है--

> अग्निर्मूर्धा चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः॥ वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ (अथर्व० मुण्डकोपनिषद् २।१।४)

'अग्नि मूर्धा, सूर्यचन्द्र आंख, दिशा कान, वेद, वाणी, वायु प्राण, विश्व हृदय, पृथिवी पांव हैं, इस रूपमें यह सर्वभूतान्तरात्मा हमारे सामने है।' यह उपनिषदोंमें परमेश्वरका विश्वरूप है। पाठक यह वर्णन भगवद्गीताके वर्णनके साथ मिलावें। यही वर्णन श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार आया है--

> इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः। नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः॥२९॥ द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतंगः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च। तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा॥३०॥
> (श्री० भागवत २।१)

'परमात्माके बाहु इन्द्रादि देव हैं, कान दिशाएं, श्रोत्रेंद्रिय शब्द है, अश्विनीकुमार नासिका है, घ्राणेन्द्रिय गन्ध है, मुख प्रदीप्त

अग्नि है, द्युलोक आंख हैं और नेत्रेंद्रिय सूर्य है, पलके दिनरात हैं, जलतत्त्व उसकी तालु है और रसतत्त्व जिह्वा है, नक्षत्र उसकी भौंहोंका विक्षेप है। ऐसा यह परमेश्वर विष्णु है।"

यह ईश्वरका विश्वरूप ही है जो वेदमंत्रोंके आधारपर श्रीमद्भागवतमें लिखा है। पाठक श्रीमद्भागवतका यह वचन है ऐसा न समझें, क्योंकि जो ऋग्वेदके मंत्रमें था वही श्रीमद्भागवतमें उल्था किया गया है। इस तरह यह ऋग्वेदके सूक्तमें विश्वरूपी नारायणका स्वरूप बताया है। इसी तरह ऋग्वेदमें अनेक स्थानपर परमेश्वरका विश्वरूप बताया है, वे मंत्र अब देखिये-

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो
बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति
सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥

(ऋ० १०।८१।३)

'परमेश्वरके (विश्वतः) सब ओर चक्षु हैं, सब ओर मुख हैं, सब ओर बाहु हैं और सब ओर पांव हैं। वह अपने अनंत बाहुओं और अनंत पांवोंसे सबको प्रेरणा करता है वह द्युलोक और पृथ्वीलोकको उत्पन्न करनेवाला एक ही देव है।' यहां इस ईश्वरके आंख मुख, बाहु और पांव सब ओर हैं ऐसा कहा है, ये इसके अवयव कहां हैं? जो मानवादि प्राणी हैं उनके जो आंख, नाक, कान, मुख, हाथ, पेट, पांव आदि हैं वेही इस विश्वरूपी परमेश्वरके अनंत अवयव हैं। सर्व भूतांतरात्मा वह एक ही देव होनेसे सर्व भूतमात्रों और सर्व प्राणिमात्रोंके संपूर्ण अवयव उसीके अवयव हैं। यदि सब प्राणिमात्रोंका मिलकर एक 'भूतान्तरात्मा देव' है ऐसी कल्पना पाठक कर सकेंगे तो निःसन्देह उनको अनन्त मुख, बाहु, उदर, पांवोंसे युक्त ब्रह्माण्डदेही विश्वरूपी परमेश्वरकी कल्पना हो सकती है, उसमें विशेषता इतनी हि है कि इनको अलग अलग न मानते हुए सबको एकरस एक मानना चाहिये। पूर्ण कल्पना आनेतक यह केवल कल्पना होगी, परंतु वह विश्वरूप आत्माकी वैदिक कल्पना ठीक ठीक मनमें सुस्थिर होनेके पश्चात् उस साधकको उसकी एकरसताका प्रत्यक्ष अनुभव आजायगा और वह उसीमें अपने आपको भी अभिन्न अनुभव कर सकेगा। अस्तु अब ऋग्वेदके विश्वरूप वर्णनके कुछ मंत्र देखिये—

इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये।

(ऋ० १।१३।१०)

अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्। (ऋ० १।३५।४)

'उत्तम (त्वष्टा) कारीगर जो विश्वरूपी परमेश्वर है उसकी हम यहां प्रार्थना करते हैं।' (कृशनैः अभीवृतं) अनेक आकृतियोंसे घेरा हुआ अतः विश्वरूपी देव सुवर्णके समान तेजस्वी महान् यजनीय देव है।' इस तरह विश्वरूपी अजन्मा देवका वर्णन ऋग्वेदके प्रथम मंडलमें स्पष्ट शब्दोंमें आया है। यह अनेक प्रकारसे वर्णन होनेके कारण इसका आशय स्पष्ट हो सकता है। अब और देखिये-

सनेम ये त ऊतिभिस्तरन्तो विश्वाः स्पृध आर्येण दस्यून्। अस्मभ्यं तत्त्वाष्ट्रं विश्वरूपमरन्धयः साख्यस्य त्रिताय॥

(ऋ० २।११।१९)

जो (ते ऊतिभिः) तेरी रक्षाओं द्वारा (विश्वाः स्पृधः तरन्तः) सब शत्रुओंके पार होते हैं और जो (आर्येण) आर्योंके द्वारा (दस्यून्) दुष्टोंका पराभव करते हैं, उनके साथ (सख्याय) मित्रता करनेके लिये हमें (तत् त्वाष्ट्रं विश्वरूपं) वह जगत्का कारीगर जो विश्वरूपी देव है उसका रूप दिखाओ। तथा--

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्। अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं

न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥

(ऋ० २।३३।१०)

'हे देव! तू शत्रुके नाशके लिये धनुष्यबाण धारण करता है, तेरा यह तेजस्वी, पूजनीय (विश्वरूपं) सर्वरूप है, तू ही यह विश्वका धारण करता है अतः तेरेसे अधिक बलवान् दूसरा कोई नहीं है।'

इतना वर्णन ऋग्वेदके द्वितीय मंडलमें है अब तृतीय मंडलमें विश्वरूपका वर्णन देखिये-

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः। महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥

(ऋ० ३।३८।४)

'(विश्वे) सब (आतिष्ठन्तं परि अभूषन्) स्थिर रहनेवाले उस देवको सुभूषित करते हैं। वह (स्व-रोचिः) स्वयंप्रकाशी देव (श्रियः वसानः चरति) विविध शोभाओंको धारण करता हुआ विचरता है। उस (वृष्णः असुरस्य महत् नाम) सामर्थ्यशाली प्राणरक्षक ईश्वरका अद्भुत यश है, वह (विश्वरूपः अमृतानि तस्थौ) विश्वरूपी ईश्वर अनन्त अमृतोंका धारण करता है।' यहां उस विश्वरूपी परमात्माको 'विश्वरूप' कहा है और 'असुर' भी कहा है, यहां असुरका अर्थ (असु-र) प्राणरक्षक, जीवनदाता ऐसा है। अन्य मंत्रोंसे इस मंत्रका वर्णन अधिक स्पष्ट है और यहां का विश्वरूप शब्द ठीक ठीक गीताके विश्वरूपवर्णनका ही भाव बता रहा है, तथा-

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान। इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम ॥

(ऋ० ३।५५।१९)

'(त्वष्टा देवः) कारीगर ईश्वरने (पुरुधाः प्रजाः जजान) अनेक प्रकारोंसे विविध प्रजाओंकी उत्पत्ति की और (सविता विश्वरूपः पुपोष) सर्वस्रष्टा विश्वरूपी वही देव उन सबका पोषण करता है। ये सब भुवन उसीके हैं, और इस देवताका यह जीवन प्रदानरूपी महा अद्भुत कृत्य है।' यहां 'सविता विश्वरूपः' इन शब्दोंद्वारा (सविता वै सर्वस्य प्रसविता। श० ब्रा०) सबका उत्पन्नकर्ता विश्वरूपी परमेश्वर हि वर्णित हुआ है। तथा-

त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान्। त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान्त्स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम् ॥

(ऋ० ३।५६।३)

'(त्रि-पाजस्यः) तीन प्रकारके शक्तियोंसे युक्त, (त्र्युधा) तीन पोषक शक्तियोंसे युक्त (त्र्यनीकः) तीन बलोंसे युक्त (वृषभः विश्वरूपः) बलवान् विश्वरूपी देव (रेतोधा) बलवीर्यको धारण करनेवाला अनेक प्रजाओंसे युक्त है। वही देव सबका धारण करता है।' यहां तीन तीन शक्तिवाला देव विश्वरूप है ऐसा ही कहा है। इसकी तीन तीन शक्तियोंका यहां विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। तथा—

वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम्। बृहस्पतिं वरेण्यम् ॥ (ऋ० ३।६२।६)

'(चर्षणीनां वृषभं) प्राणियोंमें बलवान्, (अ-दाभ्यं) न दबनेवाले (वरेण्यं बृहस्पतिं) श्रेष्ठ ज्ञानपति (विश्वरूपं) विश्वरूपी परमेश्वरकी हम प्रार्थना करते हैं।' यहां विश्वरूपी सर्वज्ञ ईश्वरकी पूजा ही बतायी है। इतने मंत्र तृतीय मंडलमें हैं। अब नवम मण्डलतक मन्त्र नहीं हैं, अतः दशम मण्डलके मन्त्र देखिये-

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। (ऋ० १०।१०।५)

'उस कारीगर सबके उत्पादक विश्वरूपी परमेश्वरने गर्भमें हि हमें दम्पती बनाया है।' यहां विश्वकी अद्भुत रचना करनेवाले ईश्वरका वर्णन विश्वरूप शब्दद्वारा किया है।

इतने मंत्र साक्षात् अथवा परंपरासे परमेश्वर

विश्वरूप है यह भाव बता रहे हैं। विश्व है रूप जिसका यह अर्थ विश्वरूपका है। 'सर्वरूप' परमेश्वर है यह भी इसका आशय हो सकता है। जो रूप दीखता है वह सब ईश्वरका ही रूप है। जो आशय श्रीमद्भगवद्गीतामें ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपके वर्णनके द्वारा बताया है वही भाव इन ऋग्वेदके मंत्रोंमें है। सब मंत्रोंमें एक जैसा है ऐसा हमारा कथन नहीं है, क्योंकि कई मंत्रोंमें 'विश्वरूप' शब्दका अर्थ 'विविधरूप-वाला' ऐसा भी है। वे मंत्र छोड भी दिये जांय तो भी जो मन्त्र शेष रह जाते हैं उनमें स्पष्ट विश्वरूपी देवताका वर्णन असंदिग्ध रीतिसे है।

ऋग्वेदमें यही देवताका विश्वरूपी होना अन्य वर्णनके द्वारा बताया है, वह वर्णनशैली वेदोंकी हि विशेषतया है, अतः उस वर्णन शैलीके कुछ नमूने यहाँ बताये जाते हैं-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋ० १।१६४।४६)

"इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा ये सब एक ही 'सत्' वस्तुके नाम और रूप हैं।" ज्ञानी लोग एक ही ईश्वरकी प्रशंसा इन विविध नामोंसे करते हैं। सब जानते हैं कि इन्द्र बिजुली है, वरुण जल-देव है, मातरिश्वा वायु है और अग्नि आग है, क्या ये सब एक ही हैं? नहीं एक नहीं हैं, परंतु एक सद्वस्तुके ये अनेक रूप हैं। एक ही सद्वस्तु ने इतने रूप धारण किये हैं, इतने विविधरूपोंसे वह एक ही सत्तत्त्व प्रकट हुआ है, अतः ज्ञानी-लोग ये सब नाम उस एक ही सत्तत्त्वको देते हैं। इस तरह देखनेसे सहज ही से सिद्ध होता है कि एक सद्वस्तुका इन्द्रादि रूप जो यहां प्रकट हुआ है वह विश्वरूप ही है, क्योंकि इतने नामोंसे अन्य नाम भी उपलक्षित होते हैं जैसा कहा है--

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

(वा० यजु० ३२।१)

'एक ही वह सत् वस्तु अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्र, शुक्र, ब्रह्म (आपः) जल और प्रजापति बनी है।' सबको यह निःसंदेह विदित है कि (आदित्य) सूर्य और (आपः) जल यह एक ही पदार्थ नहीं है, परंतु यहां एक ही सत् पदार्थ-ने ये रूप धारण किये हैं ऐसा असंदिग्ध रीतिसे कहा है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि एक सत् आत्मा इतने रूपोंमें प्रकट हुआ है जिन रूपोंका यह विश्व बना है। इन दो मंत्रोंमें जितनी देवता-एं गिनायी हैं उतने ही रूपोंमें वह परमात्मा प्रकट हुआ है और अन्य रूपोंमें नहीं ऐसी बात नहीं है, यहां दोनों मंत्रोंमें उपलक्षणार्थ थोडेसे नाम गिनाये हैं, शेष पदार्थोंकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। इस तरह विचार करनेपर यह सिद्ध होगया कि इन मंत्रोंमें परमेश्वरका विश्व-रूपही बताया है। अब इसी तरहके कुछ मंत्र देखिये--

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्व-मश्मनस्परि। त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥ १ ॥

(ऋ० २।१।१)

'अग्निदेव (नृपति) मनुष्योंका राजा है और वह (शुचिः) पवित्र देव तेजोंसे, जलोंसे, पत्थरोंसे, वनोंसे और औषधियोंसे प्रकट होता है।' अर्थात् वह देव प्रकाश, जल, पत्थर, वन और औषधियोंके रूपोंमें दीखता है। इतने रूप अग्नि लेता है और उनमें वह प्रकट होता है। अग्नि जलके रूपमें है, औषधिके रूपमें है और सूर्यके रूपमें है और राजाके रूपमें भी है। तथा--

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं
त्वमग्निदृतायतः। तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि
ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥
(ऋ २।१।२)

' अग्नि (नः दमे) हमारे घरमें (गृहपति) गृहस्वामी अर्थात यजमान है और वही होता, पोता, ऋत्विज, नेष्टा, अग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि याजक गणोंका कर्म करनेवाला भी है। ' अर्थात यजमान और ऋत्विज ये सब अग्निके ही रूप हैं। इस विषयमें गीताके श्लोक देखिये--

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
(भ० गी० ४-२४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥
(भ० गी० ९।१६)

' ब्रह्म ही अर्पण, हवि, अग्नि और आहुति है, तथा 'आत्मा ही क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधि, मंत्र, घी, अग्नि और आहुति है।' यही भाव अन्य शब्दों-द्वारा पूर्वोक्त दोनों मंत्रोंमें है। ' अग्नि ही राजा, जल, तेज, पत्थर, वन, औषधि, होता, अध्वर्यु आदि सब ऋत्विज और यज्ञरूप है। यजमान भी वही है। ' देखिये गीता और वेदका कथन कितना समीप है। और देखिये--

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः ··· त्वं विष्णुः ··· त्वं
ब्रह्मा ··· त्वं विधर्तः ··· ॥ ३ ॥ त्वमग्ने
राजा वरुणः ··· त्वं मित्रः ··· त्वमर्यमा ···
त्वमंशो ··· ॥ ४ ॥ त्वमग्ने त्वष्टा ··· ॥ ५ ॥
त्वमग्ने रुद्रो असुरो ··· त्वं पूषा ··· ॥ ६ ॥
त्वमग्ने द्रविणोदा ··· त्वं देवः सविता ···
त्वं भगः ··· त्वं पायुः ··· ॥ ७ ॥ त्वामग्ने
··· विश्पति ··· त्वां राजानं ॥ ८ ॥ त्वामग्ने
पितरं ··· त्वं पुत्रः ··· त्वं सखा ··· ॥ ९ ॥
त्वमग्न ऋभुः ··· ॥ १० ॥ त्वमग्ने अदितिः
··· त्वं भारती ··· त्वमिळा ··· त्वं
वृत्रहा ··· सरस्वती ॥ ११ ॥ त्वमग्ने ···
वयः । त्वं वाजः ··· त्वं रयिः ॥ १२ ॥
(ऋग्वेद २।१)

"अग्नि देव इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, विधाता, वरुण, मित्र, अर्यमा, अंश, त्वष्टा, रुद्र, पूषा, द्रविणोदा, सविता, भग, पायु, (विश्पति) प्रजापालक राजा, पिता, पुत्र, सखा, (ऋभु) कारीगर, अदिति, (भारती) वाणी, (इळा) भूमि, वृत्रवध कर्ता, सरस्वती, अन्न, बल और धन है।" एक ही देव इतने रूपोंमें प्रकट होता है अतः ये एक ही देवके रूप हैं, एक ही देवका यह विश्वरूप है। जैसा यहां अग्निका वर्णन है वैसा ही प्रत्येक रूपमें इन्द्र प्रतिरूप हुआ है, ऐसा वेदमें कहा है वह मंत्र देखिये—

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति-
चक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता
ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋ ६।४७।१८)

" इन्द्रदेव (रूपं रूपं) प्रत्येक रूपमें (प्रतिरूपः बभूव) प्रकट हुआ है। (तत् अस्य रूपं) यह उस इन्द्रका रूप (प्रतिचक्षणाय) प्रत्येकके वर्णनके लिये है। इन्द्र (मायाभिः पुरुरूपः ईयते) अपनी कुशलतासे अनेक रूपोंको धारण करता है क्योंकि उसके हजार (हरयः) किरण उसके साथ हैं [जो अनेक रूपोंमें उसे प्रकट करते हैं।] "

यह मंत्र बिलकुल स्पष्ट है, इन्द्रदेव अपने स्वाभाविक कौशल्यसे हरएक रूपको धारण करता है; बहुरूप-अनंतरूप-विश्वरूप बनकर प्रकट होता है। ये इसके रूप देखकर उनके गुण जाने जाते हैं और इनके वर्णनसे उसीका वर्णन होता है। यहांका ' पुरुरूप ' शब्द 'विश्व-रूप ' के ही अर्थमें है। यही ' पुरुरूप ' शब्द इसी अर्थमें वेदोंमें अनेकवार आगया है उनमेंसे कुछ मंत्र देखिये--

स्थिरेभिरंगैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः

पिपिशे हिरण्यैः। ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम्॥ (ऋ० २।३३।९)

'(पुरुरूपः)' अनेक रूप धारण करनेवाला अर्थात् विश्वरूपी उग्र (शुक्रेभिः स्थिरेभिः हिरण्यैः अंगैः) बलवान् स्थिर सुवर्णसदृश अंगोंसे (पिपिशे) शोभता है। (अस्य भूरेः भुवनस्य) इस बडे भुवनके (ईशानात् रुद्रात्) शासक रुद्रदेवसे (असुर्यं न योषत्) बल कभी दूर नहीं होता' अर्थात् वह सदा सामर्थ्यशालीहि रहता है।

रुद्रदेव विश्वरूपी है अर्थात् सब विश्व यह रुद्र देवका ही रूप है। इसका वर्णन आगे यजुर्वेदके मंत्रोंका विचार करनेके समय बताया जायगा। यह रुद्रदेवके विभूतियोंका वर्णन वा० यजुर्वेद अ० १६ में आया है जो गीताके ग्यारहवें अध्यायके साथ तुलना करके देखने योग्य है। यहां केवल अनेक रूपोंको धारण करनेवाला रुद्रदेव है। इतना ही इस मंत्रमें देखना है। तथा और देखिये--

त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं नि षेदिरे। बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम्॥ २॥ त्वामग्ने पुरुरूपो विशेविशे वयो दधासि प्रत्नथा पुरुष्टुत। पुरूण्यन्ना सहसा वि राजसि त्विषिः सा ते तित्विषाणस्य नाधृषे॥५॥(ऋ०५।८।१,५)

'हे अग्निदेव! तू(पूर्व्यं) पुरातन, (अतिथिं) सतत गति देनेवाला अथवा पूज्य, (शोचिष्केशं) शुद्ध प्रकाशवाला (गृहपति) गृहस्वामी (बृहत्केतुं) बडे ध्वजसे युक्त, (धनस्पृतं) धन देनेवाला, (सुशर्माणं) उत्तम सुख देनेवाला, (सु-अवसं) उत्तम संरक्षक, (पुरुरूपं) अनेक-अनंत रूप धारण करनेवाला है। तथा हे अग्ने! तू (पुरुरूपः) अनंत रूपोंको धारण करके (विशेविशे वयः दधासि) प्रत्येक प्राणीको-प्रत्येक मनुष्यको अन्न देता है। हे अनेक प्रकारसे प्रशंसित देव! तू अनेक अन्नोंसे विराजता है, तुम्हारा तेज कोई सहन कर नहीं सकता।'

इन मंत्रोंमें अग्नि शब्दसे परमात्माका वर्णन करके उसमें उसे 'पुरुरूप' अर्थात् अनंतरूप धारण करनेवाला कहा है। अनंतरूपोंको धारण करनेवालेको ही 'विश्व-रूप' कहते हैं।

इसतरह ऋग्वेदमें ईश्वरके विश्वरूपका वर्णन है। इनमें कुछ मंत्र प्रसंगतः अन्यान्य वर्णन कर रहे हैं, उनको छोड भी दिया जाय, तो भी कुछ मंत्र इतने स्पष्ट हैं कि उनके अर्थके विषयमें किसीको संदेह ही नहीं हो सकता। यहां हमने वाचकोंके विचारार्थ इतने मंत्र दिये हैं। पाठक इनका विचार करें और इनमें जो मंत्र निःसंदेह ईश्वरके अनंतरूप धारण करनेका उपदेश कर रहे हैं उनकी तुलना गीताके विश्व-रूपके साथ करें। अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके मिषसे एक ही परमात्माका वर्णन होताहै। यह बात ऋग्वेद १।१६४।४६ में स्पष्टताके साथ कही है, अतः अग्नि, इन्द्र आदि नामोंसे भयभीत होनेका कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि ये नाम आग आदि पदार्थोंके वाचक होते हुए भी अग्नि आदि अनंत रूप धारण करनेवाले परमेश्वरके भी वाचक हैं। यह तो वेदका सिद्धान्त ही है। यह सिद्धान्त जिसके ध्यानमें ठीक प्रकार आजायगा उसको परमेश्वरका विश्वरूप बतानेके लिये विशेष प्रयत्न करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अनेक रूपोंद्वारा प्रकट होता है इसीलिये उस एक देवके अनेक नाम हुए हैं और वेदके अनेक नामोंद्वारा उस एक देवताका वर्णन होता है यदि वह अनंत रूपोंका धारण न करता तो उसको अनेक नामोंकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

अस्तु। इस प्रकार ऋग्वेदमें विश्वरूपी ईश्वरका वर्णन है अब यजुर्वेदमें विश्वरूपी ईश्वरका वर्णन आया है सो देखते हैं। पुरुषसूक्त यजुर्वेदमें भी है, परंतु उसका विवेचन ऋग्वेदके सूक्तोंके वर्णन प्रसंगमें हो चुका है। अब रुद्र देवताका विश्वरूप जो यजुर्वेदमें आया है वह देखते हैं-

यजुर्वेदमें विश्वरूपवर्णन।

रुद्रदेवताका विश्वरूप।

यजुर्वेदमें रुद्र देवताका विश्वरूप बताया है। यह वर्णन वा० संहिताके १६ अध्यायमें है। काण्व तथा तैत्तिरीय संहितामें भी रुद्र देवताका वर्णन है। यह करीब करीब इसी प्रकारका है। कुछ पाठ भेद हैं, परंतु उन पाठ भेदोंमें कुछ विशेषता नहीं। उन पाठभेदोंमेंसे कुछ शब्द हमने आगेके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें लिये हैं। ऋग्वेदमें रुद्राध्याय नहीं है तथापि ऋग्वेदियोंका रुद्र है जो कुछ पाठभेदोंके साथ ऐसा ही है। तैत्तिरीयोंका रुद्र ही ऋग्वेदियोंने लिया है। जिस रुद्राध्यायमें रुद्र वर्णन है उनमेंसे विश्वरूप वर्णनके कुछ मंत्र यहां देते हैं इनमेंसे 'नमः' शब्द हमने अलग करके शेष मंत्र भाग यहां दिया है-

हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां पतये वृक्षेभ्यः हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये हरिकेशाय उपवीतिने पुष्टानां पतये नमः ॥ १७ ॥

बभ्लुशाय व्याधिने अन्नानां पतये भवस्य हेत्यै जगतां पतये रुद्राय आततायिने क्षेत्राणां पतये सूताय अहन्त्यै वनानां पतये नमः ॥ १८ ॥

रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये भुवन्तये वारिवस्कृताय ओषधीनां पतये मंत्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये उच्चैर्घोषाय आक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ॥ १९ ॥

कृत्स्नायतया धावते सत्वनां पतये सहमानाय निव्याधिने आव्याधिनीनां पतये निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये निचेरवे परिचराय अरण्यानां पतये नमः ॥ २० ॥

वञ्चते परिवंचते स्तायूनां पतये निषङ्गिणे इषुधिमते तस्कराणां पतये सृकायिभ्यः जिघांसद्भ्यः मुष्णतां पतये असिमद्भ्यः नक्तंचरद्भ्यः विकृन्तानां पतये नमः ॥ २१ ॥

उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुंचानां पतये इषुमद्भ्यः धन्वायिभ्यः आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यः आयच्छद्भ्यः अस्यद्भ्यः नमः ॥ २२ ॥

विसृजद्भ्यः विध्यद्भ्यः स्वपद्भ्यः जाग्रद्भ्यः शयानेभ्यः आसीनेभ्यः तिष्ठद्भ्यः धावद्भ्यः नमः ॥ २३ ॥

सभाभ्यः सभापतिभ्यः अश्वेभ्यः अश्वपतिभ्यः आव्याधिनीभ्यः विविध्यन्तीभ्यः उगणाभ्यः तृंहतीभ्यः नमः ॥ २४ ॥

गणेभ्यः गणपतिभ्यः व्रातेभ्यः व्रातपतिभ्यः गृत्सेभ्यः गृत्सपतिभ्यः विरूपेभ्यः विश्वरूपेभ्यः नमः ॥ २५ ॥

सेनाभ्यः सेनानिभ्यः रथिभ्यः अरथेभ्यः क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यः महद्भ्यः अर्भकेभ्यः नमः ॥ २६ ॥

तक्षभ्यः रथकारेभ्यः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यः निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यः श्वनिभ्यः मृगयुभ्यः नमः ॥ २७ ॥

श्वभ्यः श्वपतिभ्यः भवाय रुद्राय शर्वाय पशुपतये नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय नमः ॥ २८ ॥

कपर्दिने व्युप्तकेशाय सहस्राक्षाय शतधन्वने गिरिशयाय शिपिविष्टाय मीढुष्टमाय इषुमते नमः ॥ २९ ॥

ह्रस्वाय वामनाय बृहते वर्षीयसे वृद्धाय सवृधे अग्र्याय प्रथमाय नमः ॥ ३० ॥

आशवे अजिराय शीघ्र्याय शीभ्याय ऊर्म्याय अवस्वन्याय नादेयाय द्वीप्याय नमः ॥ ३१ ॥

ज्येष्ठाय कनिष्ठाय पूर्वजाय अपरजाय मध्यमाय अपगल्भाय जघन्याय बुध्न्याय नमः ॥३२॥

सोभ्याय प्रतिसर्याय याम्याय क्षेम्याय श्लोक्याय अवसान्याय उर्वर्याय खल्याय नमः ॥३३॥

वन्याय कक्ष्याय श्रवाय प्रतिश्रवाय आशुषेणाय आशुरथाय शूराय अवभेदिने नमः ॥ ३४ ॥

बिल्मिने कवचिने वर्मिणे वरूथिने श्रुताय श्रुतसेनाय दुन्दुभ्याय अहनन्याय नमः ॥ ३५ ॥

धृष्णवे प्रमृशाय निषंगिणे इषुधिमते तीक्ष्णेषवे आयुधिने स्वायुधाय सुधन्वने नमः ॥ ३६ ॥

स्रुत्याय पथ्याय काट्याय नीप्याय कुल्याय सरस्याय नादेयाय वैशन्ताय नमः ॥ ३७ ॥

कूप्याय अवट्याय वीध्र्याय आतप्याय मेघ्याय विद्युत्याय वर्ष्याय अवर्ष्याय नमः ॥३८॥

वात्याय रेष्म्याय वास्तव्याय वास्तुपाय सोमाय रुद्राय ताम्राय अरुणाय नमः ॥ ३९ ॥

शङ्गवे पशुपतये उग्राय भीमाय अग्रेवधाय दूरेवधाय हन्त्रे हनीयसे वृक्षेभ्यः हरिकेशेभ्यः ताराय नमः ॥ ४० ॥

शम्भवाय मयोभवाय शङ्कराय मयस्कराय शिवाय शिवतराय नमः ॥ ४१ ॥

पार्याय अवार्याय प्रतरणाय उत्तरणाय तीर्थ्याय कूल्याय शष्प्याय फेन्याय नमः ॥ ४२ ॥

सिकत्याय प्रवाह्याय किꣳशिलाय क्षयणाय कपर्दिने पुलस्तये इरिण्याय प्रपथ्याय नमः ॥४३॥

व्रज्याय गोष्ठ्याय तल्प्याय गेह्याय हृदय्याय निवेष्प्याय काट्याय गह्वरेष्ठाय नमः ॥ ४४ ॥

शुष्क्याय हरित्याय पाꣳसव्याय रजस्याय लोप्याय उलप्याय ऊर्व्याय सूर्म्याय नमः ॥४५॥

पर्णाय पर्णशदाय उद्गुरमाणाय अभिघ्नते आखिदते प्रखिदते इषुकृद्भ्यः धनुष्कृद्भ्यः किरिकेभ्यः देवानाꣳ हृदयेभ्यः विचिन्वत्केभ्यः विक्षिणत्केभ्यः आनिर्हतेभ्यः नमः ॥ ४६ ॥

(वा० यजु० अ० १६)

इस अध्यायमें रुद्र देवताका 'विश्वरूप' वर्णन किया है। यहां 'रुद्र' नामसे परमात्मा परमेश्वरका ही ग्रहण करना योग्य है। रुद्रके कितने रूप हैं उनकी गिनती यहां की है। इन मंत्रोंमें अनेक रुद्र कहे गये हैं। उनके चार वर्णोंमें विभाग करके यहां बताते हैं और चार वर्णोंसे भिन्न कृमिकीटादि जंतुओंका अलग विचार करेंगे। प्रथमतः विद्वान ज्ञानी ब्राह्मण वर्गमें आनेवाले निम्न लिखित रुद्र हैं—

ब्राह्मणवर्गके रुद्र।

श्रुत- श्रुतिशास्त्रमें विद्वान्

श्रव, प्रतिश्रव- ये दो शब्द श्रवण प्रतिश्रवण, वादविवाद आदि करनेमें चतुर विद्वानोंके वाचक हैं।

मंत्रिन्- मंत्रणा देनेमें कुशल, राजाका मंत्री,

प्रमृश- विचारशील पण्डित वा निरीक्षण करनेवाला विद्वान्

श्लोक्य- सुप्रसिद्ध विद्वान्

गृत्स— बुद्धिमान्

गृत्सपति- बुद्धिमानोंके रक्षक

पुलस्ति- ऋषि

सवृध- विद्याविनयादि गुणधर्मोंसे पारलौकिक साथ वर्तनेवाले यति

वृद्ध- अवस्थामें अधिक

सभापति- सभाका अध्यक्ष

सभा- सभा, सभासद

याम्य- यमनियमका पालन करनेवाला

क्षेम्य- कल्याण करनेवाला, कल्याण पथका पालक

अहन्ति- अहिंसक, अहिंसाशील

अहन्त्य- नहीं मारनेवाले; अहिंसक

प्रतरण- तारनेवाला, पार ले जानेवाला

आतार्य- तारण करनेवाला, पार ले जानेवाला

तीर्थ्य- पवित्र स्थानमें रहनेवाला

उत्तरण- उत्कृष्ट तत्त्वज्ञानसे संसार सागरसे पार करनेवाले

शंगु— कल्याण करनेवाला

आसीन- योगासनमें आराम करनेवाला, आसनस्थ

तिष्ठत्- एकासनमें स्थिर रहनेवाला

गह्वरेष्ठ- गिरिगुहामें विराजमान, गुहानिवासी तपस्वी

उपवीतिन्, कृत्स्नवीत- उपवीत धारण करनेवाला, यज्ञोपवीत धारण करनेवाला,

कपर्दिन्- जटाजूटधारी,

व्युप्तकेश- मुण्डितकेश; संन्यासी

इन नामोंमें 'आसीन' आदि ऐसे नाम हैं जो सर्व साधारण मनुष्यों और प्राणियोंके भी

वाचक हो सकते हैं। विचारी पाठक इसका यथायोग्य अनुसंधान कर सकते हैं। अब क्षत्रिय वर्गके रुद्र ये हैं—

क्षत्रियवर्गके रुद्र।

क्षत्रिय वर्गके रूप यहां अधिक विस्तारके साथ कहे हैं, क्योंकि रुद्र देवताके गुण-धर्म कर्म विशेषतया क्षात्रतेजके साथ संलग्न हैं। इस क्षत्रवर्गमें युद्ध करनेवाले, शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग करनेवाले, शस्त्रास्त्र तैयार करनेवाले, सेनापति, वीर, धीर, शूर पुरुष हैं। पाठक यहां रुद्र देवताका विश्वरूप क्षत्रियोंमें देखें—

शूर– शूरवीर
धृष्णु– धैर्यशाली, अपने पक्षकी रक्षा करनेवाला
सहमान– शत्रुओंको पराभव करनेवाला
भीम– शत्रुको भय उत्पन्न करनेवाला
रुद्र– शत्रुको रुलानेवाला
अवार्य– जिसका निवारण करना अशक्य है
अवट्य– गर्तमें बैठकर लडनेवाला
अग्रेवध– सम्मुख रहकर शत्रुका वध करनेवाला
दूरेवध– दूरसे शत्रुका वध करनेवाला
तृंहती– युद्धमें प्रहार करनेवाला
जिघांसत्– शत्रुका हनन करनेवाला
अस्यत्— शत्रुपर बाणको फेकनेवाला
विसृजत्– शत्रुके दमनार्थ बाण फेंकनेवाला
आखिदत्, प्रखिदत्– शत्रुको दुःख देनेवाला
आततावित्, आततायिन्– उद्यत आयुधवाला, धनुष्य खींचनेवाला
आहनन्य– आघात करनेवाला
शर्व– नाश करनेवाला
व्याधिन्– शत्रुओंको वेधनेवाला
हन्ता– शत्रुको मारनेवाला
हनीयस्– अतिशय हनन करनेवाला
विव्याधी, विविध्यन्ती– विशेषकर वेधनेवाला
विध्यत्– शत्रुओंको लक्ष्यमें वेधनेवाला
निव्याधिन्– शत्रुओंको अधिक वेधनेवाले
आव्याधिन्– समन्तात् वेधनेवाला
विकृन्तानां पति– छेदन करके पराया धन हरनेवाले, दिवाचारी दस्युगणके पालन करनेवाले
आव्याधिनीनां पति– सब प्रकारसे प्रहार करनेवाली शूर सेनाओंके पालक
आतन्वान– दुष्टोंके दमनार्थ धनुषपर ज्या आरोपण करनेवाले
आक्रन्दयत्– शत्रुओंको रुलानेवाला
आयच्छत्– दुष्टोंके दमनके निमित्त धनुषको आकर्षण करनेवाले
अभिघ्नत्– शत्रुओंके संहारक
अवभेदिन्– शत्रुका हृदय वेधनेवाले
अवभिंदत्– शत्रुका भेदन करनेवाला
सुधन्वा— श्रेष्ठ धनुषधारी
शतधन्वा– बहुत धनुष धारण करनेवाला
धन्वावी, धन्वायी– धनुष साथ लेकर चलनेवाला
तीक्ष्णेषु— तीक्ष्ण बाणधारी
निषंग— उपद्रव कारियोंपर खड्ग चलानेवाले
वरूथी– रथका गोपन स्थानपर रहनेवाला वीर
सृकावी, सृकायी– वज्र लेकर चलनेवाले
स्वायुध– शोभन आयुध त्रिशूल आदि धारण करनेवाले
वर्मी— बख्तर धारण करनेवाले
रथी— प्रशंसित रथवाले
बिल्मी– शिरस्त्राण धारण करनेवाले
प्रतिदधान– धनुषपर बाण चढानेवाले
कवची– कवच धारण करनेवाले
आयुधी– मुद्गरादि आयुध धारण करनेवाले
इषुधिमान्– बाणधारी
इषुमान्– बाण धारण करनेवाले
असिमान्– खड्गधारी
आशुरथ– शीघ्र चलनेवाले रथवाला वीर
अरथ— रथहीन, पदाती वीर
अश्व— घोडा

अश्वपति- अश्वोंके अधिपति
श्वनि- कुत्तोंको साथ रखनेवाले
शुन— कुत्ता
श्वपति- कुक्कुरोंके अधिपति
पशुपति, पशूनां पति- जीवोंके पालन करनेवाले
सेनानी- सेनानायक
सेना- सैनिकसमूह
श्रुतसेन— प्रसिद्ध सेनावाले
आशुषेण- शीघ्र चलनेवाली सेनावाले
निषाद- गिरिचारी भीलादि
पुञ्जिष्ठ- पुञ्जस्थित, सेनासमूहवाले
गणपति- गणोंके अधिपति
गण- सैनिक, भृतगण
उग्र- शत्रुओंके मारनेके लिये, आयुध उठाये हुए
उगण- उत्कृष्ट भृत्य समूहवाली सेनामें स्थित-सैनिक
दूत- दूतकर्मकर्ता
पुष्टानां पति- बलवाले मनुष्योंके स्वामी
अरण्यानां पति- वनोंके पालक
अन्नानां पति- अन्नोंके पालक
जगतां पति- संसारके पालक, प्राणियोंके रक्षक
दिशां पति— दिशाओंके अधिपति
पथीनां पति- मार्गोंके रक्षक
पत्तीनां पति- एक रथ, एक हाथी, तीन घोडे पांच पैदलका नाम पत्ति है, इस प्रकार सेनाविशेषके पालक
सत्वनां पति- प्राणिओंके पालक
वनानां पति- वनोंके पालक
कक्षाणां पति-सेनाके बाजुओंके रक्षक
व्रातपति— समूहोंके अधिपति
व्रात— समूह, गण
वास्तव्य, वास्तुप- वास्तु, घरके पालनेवाले
नीप्य- पर्वतके नीचे भागमें स्थित वीर
क्षेत्राणां पति- भूमिके पालन करनेवाले
स्थपति— गृहादिका पालक
वृक्षाणां पति- वृक्षोंके रक्षक
वन्य- वनमें होनेवाले
ओषधीनां पति- औषधियोंके पालक, वैद्य अथवा रक्षक
रथकार- रथ निर्माणकारी उत्कृष्ट तक्षा
धन्वकृत्, धनुष्कृत्- धनुष्के बनानेवाले
इषुकृत्— बाणके बनानेवाले
क्षत्ता— रथके निर्माता, तर्खाण
तक्षा— काष्ठकी शिल्पविद्याके जाननेवाला
कर्मार— लोहेके शस्त्र बनानेवाला
कुलाल- प्रशंसित मृत्तिकाके पात्र बनानेवाले
दुन्दुभ्य- रणके बाजेवाले
सूत— सारथी
हिरण्यबाहु- भुजाओंमें सुवर्ण धारण करनेवाले
उष्णीषी- उष्णीष 'पगडी,' धारण करनेवाले सभ्यगण
संग्रहीता- रण सामग्री इकट्ठा करनेवाले
संवृध्वन- रण सामग्री बढानेवाले
सोभ्य— मनुष्य लोकमें होनेवाले
उच्चैर्घोष- बडा उग्र शब्द करनेवाले
उद्गुरमाण- निरन्तर उद्यमी
शीघ्रीय, शीघ्र्य- वेगवाला
परिचर- फिरनेवाले
अजिर- गतिशील
धावत- वेगवान्
जाग्रत्- जागनेवाले
कक्ष्य— कक्षामें स्थित
कृत्स्नायतया धावते- हमारी रक्षाके निमित्त कर्णपर्यंत धनुष खेंचकर धावमान होनेवाले वीर
अग्रिय, अग्र्य- प्रथम स्थानमें स्थित
अवसान्य- अन्तिम स्थानमें स्थित
मृगयु- मृगोंकी कामनावाले, मृगया करनेवाले
तस्कराणां पति— चोरोंके स्वामी
मुष्णतां पति- धनादिका हरण करनेवालोंके मुख्य
स्तायूनां पति- गुप्त चोरोंके प्रमुख
स्तेनानां पति- गुप्त धनहारी जनोंके मुखिया

वञ्चत्— ठगोंके प्रमुख

परिवञ्चत्– स्वामीको अपना विश्वास दिला कर व्यवहारमें उनको वञ्चन करनेवालोंके मुख्य

कुलुंचानां पति– छल, बल कौशलसे दूसरोंकी गृह, भूमि आदि हरण करनेवालोंके मुख्य

विक्षीणक– क्षीणता करनेवाले

विक्षिणत्क– क्षीण करनेवाले

निचेरु– अपहारकी बुद्धिसे निरंतर फिरनेवाले

नक्तंचरत्– रात्रिमें फिरनेवाले दस्युगण

प्रकृन्तानां पति– काटनेवालोंके प्रमुख

गिरिश— पर्वत विहारी

गिरिशय– पर्वतपर शयन करनेवाले

गिरिचर– गिरि वनमें फिरनेवाले

काटय— दुर्गम मार्गमें स्थित

विरूप— विकृत रूप वा विविध रूपवाले

यहां तक क्षत्रियोंके वर्गका विश्वरूप वर्णन आया है। यहां तर्खाण आदि क्षत्रियोंके शस्त्रनिर्माणके कारण सहायक और तस्कर चोर आदि क्षत्रियोंद्वारा निग्रह करनेके कारण इस वर्गमें रखे हैं। ये सब रुद्रकी विभूतियां हैं अथवा रुद्र इतने रूप धारण करके हमारे सम्मुख आया है। पाठक अपने चारों ओर रुद्र देखके ये रूप देखें और रुद्रका यह विश्वरूप अनुभव करें। जितना भगवद्गीतामें कालस्वरूपी नारायणका संहारक विश्वरूप कहा है, उससे अधिक विस्तारके साथ यहां रुद्रका क्षात्र-विश्वरूप वर्णन किया है। वेदमें विश्वरूप जो देखना चाहें वह यहां देखें—

वैश्य–वर्गके रुद्र ।

वैश्य-वर्गमें भी रुद्र हैं। स्वयं 'वणिक' भी रुद्रकी विभूति है। यहां गौ आदि पशु पालना, गोष्ठमें उनको रखना, कृषि करके धान्य प्राप्त करना आदि नाम पाठक देखेंगे। इन स्थानोंमें जो कृमि होते हैं वे भी यहांके रुद्र ही हैं। धान्य तैयार करनेवाला, उसको पीसनेवाला, पकानेवाला, ये सब रुद्रके रूप हैं। तथा इनके साथ साथ जो कृमि कीटक बनते हैं वे भी रुद्र हैं। इस दृष्टिसे पाठक इन नामोंका विचार करें।

वाणिज– व्यापारकर्ता

व्रज्य, वृज्य– गोव्रजमें विद्यमान

गोष्ठ्य– गोष्ठमें विद्यमान

इषीमत्– धान्यमें होनेवाले

गेह्य– घरमें विराजमान

उर्वर्य– उपजाऊ भूमिमें होनेवाले

ऊर्व्य– उर्व भूमिमें रहनेवाले

इरण्य, इरिण्य– तृणरहित ऊसर भूमिमें विद्यमान

खल्य– धान्य विवेचनके स्थानमें होनेवाले

सूद्य– सूदके साथ रहनेवाले

कृमिकीटकरूपी रुद्र ।

क्षुद्र कृमी भी रुद्र हैं। ये बिछानेमें होनेवाले खटमल हों अथवा जलमें होनेवाले कृमि हों। ये सब रुद्र हैं। पाठक इन नामोंमें इनका साक्षात्कार करें–

तल्प्य– शय्यामें विद्यमान, खटमल

प्रतिसर्य– आभूषणमें विद्यमान

शष्प्य— कुश अंकुरादिमें विद्यमान

हरित्य– हरे पत्ते आदिमें विराजमान

हरिकेश– पर्णरूप हरेबालोंमें होनेवाले

शष्पिंजर– बालतृणवत् पीतवर्णवाले

उलप्य— तृणमें विद्यमान

वृक्ष— वृक्षरूप

पर्ण्य, पर्ण–पानमें विद्यमान

पर्णशद्य, पर्णशद्– पर्णमें उत्पन्न कीटादि

निवेष्प्य– निवेशनके स्थानमें होनेवाला

किरिक– कृन्तन करनेवाले

वात्य– वायुप्रवाहमें होनेवाले

शितिकण्ठ– नीलकण्ठवाले

नीलग्रीव– नीलवर्ण ग्रीवावाले

लोप्य— अगम्य देशमें विराजमान

शुष्क्य— सूखे काष्ठादिमें विराजमान

रेष्मिय, रेष्म्य– रेखामें होनेवाला
प्रपथ्य– बहुसेवितमार्ग विद्यमान
द्वीप्य– द्वीपमें होनेवाले
पार्य— समुद्रके पारमें भी विद्यमान
अवार्य– इस पारके स्थानमें रहनेवाला
अवर्ष्य– वृष्टिरहित स्थानमें होनेवाला
आतप्य– धूप वा प्रकाशमें होनेवाले
मीढुष्टम– वर्षा करनेवाले
मेघ्य— मेघमें होनेवाले
विद्युत्य- बिजलीमें होनेवाले
वर्णीयस्, वर्ष्य– वर्षाकी धारामें स्थित
शीभ्य– जलप्रवाहमें विद्यमान
क्षयण– स्थिर जलमें विद्यमान
सरस्य– सरोवरमें होनेवाले
वैशन्त– अल्प जलमें स्थित
कुल्य, कूल्य– नहरके मार्गमें स्थित
नाद्य, नादेय– नदीमें होनेवाले
प्रवाह्य– नदी आदिके प्रवाहमें होनेवाले
कूप्य— कूपमें होनेवाले
फेन्य— पानीके फेनमें होनेवाले
ऊर्म्य— जलतरंगमें होनेवाले
सूर्म्य– ऊर्मिमें विद्यमान
अवस्वन्य– स्थिर जलोंमें विद्यमान
सूर्व्य– ऊर्वीमें विराजमान
स्रुत्य– क्षुद्र मार्गमें स्थित
सिकत्य– रेतीमें विद्यमान
पांसव्य– धूलिमें विराजमान
रजस्य– पुष्पपरागमें विद्यमान
अपरज– रज अर्थात् धूलिरहित स्थानमें होनेवाला
किंशिल– कंकारादिमें विद्यमान
बुध्निय— तलभागमें स्थित
उपगुरमाण– शब्द करनेवाला
वीध्न्य– महाप्रकाश वा घोर अन्धकारमें स्थित

छोटे बडे रुद्र।

छोटे बडे, पहिले अन्तके, ज्येष्ठ कनिष्ठ सभी रुद्र हैं। यह बात इन नामोंमें पाठक देखें। इन नामोंमें जगत् के सब पदार्थ आयेंगे, क्योंकि कोई छोटा होगा तो दूसरा बडा होगा। ये सब रुद्र हैं—

प्रथम– सबमें मुख्य
मध्यम– मध्य स्थानमें स्थित
जघन्य– छोटे क्षुद्र कृमि कीट
महत्– बडा रूपवाला
ह्रस्व— अल्पशरीर
बृहत्– प्रौढांग, बडा
क्षुल्लक– छोटा
वामन– संकुचित अवयववाला, छोटा
ज्येष्ठ– अतिश्रेष्ठ
कनिष्ठ– अतियुवा वा कनिष्ठरूप
अर्भक– छोटा बालक
अपगल्भ– जो विशेष ज्ञानी नहीं है
आशु— शीघ्रता करनेवाला, व्यापक
स्वपत्– सोनेवाला
शयान– सुषुप्ति अवस्थामें स्थित
रोहित– लोहितवर्ण
बभ्रुश, बभ्लुश– कपिलवर्ण
ताम्र— लालरंगवाला
अरुण– अरुण वर्णवाला

ईश्वरवाचक रुद्रके नाम।

ईश्वरवाचक रुद्रके नाम और उनमें प्रकट होनेवाला परमेश्वरका रूप अब निम्नलिखित नामों देखिये। यहां पहिला नाम 'विश्वरूप' है और अन्तिम नाम 'हृदय्य, हृद्य' ये हैं। हरएक के हृदयमें यह है अतः सबके अन्दर होनेसे सबका जो रूप है वह इसीका रूप है। यहां इन रुद्रके नामोंमें परमेश्वरके विश्वरूपका दर्शन पाठक करें—

विश्वरूप– विश्वका रूप धारण करनेवाला
पूर्वज– आदिमें विद्यमान
देवानां हृदय– देवताओंके हृदयस्वरूप
शिव, शिवतर– कल्याण करनेवाला

शंभु- सुखदायी
शम्भव- कल्याणकारी
शंकर- सुख करनेवाले
मयस्कर- सुख देनेवाला
मयोभु- सुखदायक
मयोभव- सुखदाता
तार- तारनेवाले
प्रहित- हितकर्ता
शिपिविष्ट- किरणोंसे व्याप्त
सहस्राक्ष- सहस्रलोचन
सोम— चन्द्रमामें स्थित और उमासहित
विचिन्वत्क- जो पृथक् रूपसे रहता है
भव- जगत्का उत्पन्न कर्ता
भुवन्ति- भूमण्डलमें रहनेवाला
भवस्य हेति- संसारके आयुध अर्थात् संसार निवर्तक
आनिर्हत्- जो हत नहीं होता
हृद्य, हृदय्य- हरएकके हृदयमें स्थित

रुद्र देवताका विश्वरूप।

इस तरह रुद्र देवताका विश्वरूप यजुर्वेदके इस अध्यायमें बताया है। विश्वमें जो रूप है वह सब रुद्रका ही रूप है। यह दर्शानेका उपदेश इस रुद्राध्यायमें किया है। इस अध्यायमें दो ढाई सौ नाम हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कारीगरोंसे लेकर पशुपक्षी, जीवजन्तु, कृमिकीट तक सब रुद्र ही हैं। इतना ही नहीं परंतु वृक्ष, वनस्पति, स्थावर जंगम सभी नाम यहां आये हैं, अर्थात् ये सब रूप रुद्र देवताके ही रूप हैं।

यहां गुरु, अध्यापक, उपदेशक, वैद्य, राजाके मंत्री, राजा, क्षत्रिय, शूरवीर धीर, सैनिक, सेनापति, घुडसवार, नौकर चाकर, चोर डाकू, घोडे, गौवें, कृमिकीट पतंग, पत्थर, रेतके कण, मिट्टी आदि सब रूप रुद्र देवताके हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। भगवद्गीतामें जितने रूप गिनाये हैं, उनसे रूपोंकी अधिक संख्या इस रुद्राध्यायमें कही है। इससे सिद्ध हुआ कि परमेश्वरके 'विश्वरूप' की मूल कल्पना विस्तारके साथ वेदमें ही कही है। उसका एक अंश भगवद्गीतामें लिया है। भगवद्गीतामें संहार करनेवाले कालस्वरूप ईश्वरका विश्वरूप बताया है, अर्थात् यह पूर्ण ईश्वरका परिपूर्ण विश्वरूप नहीं है। क्योंकि परमेश्वर जैसा संहार करनेवाला है वैसा ही, उत्पत्ति और पालन पोषण करनेवाला भी है, अतः उत्पत्ति, स्थिति, पोषण, संहार आदिमें जो जो रूप प्रकट होते हैं वे सब उसीके रूप हैं। परमेश्वर जन्म है और मृत्यु भी वही है, जैसा जन्म देखकर ईश्वरभाव वहां प्रकट हुआ ऐसा मानना चाहिये,वैसा हि मृत्यु भी ईश्वरका ही एक भाव है। जन्म, मृत्यु और अमरत्व ये सभी भाव उसी ईश्वरके हैं। वेदोंमें परमेश्वरका 'मृत्यु' नाम अनेक स्थानोंमें दिया है। भगवद्गीतामें काल स्वरूप बताया है, अतः वह ईश्वरके एक भावका वर्णन है। रुद्राध्यायमें उससे बहुत ही अधिक भावोंका वर्णन है।

महान क्षुल्लक, ज्येष्ठ कनिष्ठ, उच्चनीच, पास दूर, अंदर बाहर ये शब्द जो रुद्राध्यायमें आये हैं, बडे महत्त्वके शब्द हैं। इनमें संपूर्ण प्रकारके रूपोंका समावेश होता है। एक भी रूप छूटता नहीं है। कई रूप तो 'महान्' में आवेंगे और कई 'क्षुल्लक' में आवेंगे, शेष कोई रूप रहेगा ही नहीं। वेद भी परमेश्वरके विश्वरूपके नाम गिनने लग जाय तो कहां तक गिने, पढनेवालेकी शक्ति भी तो परिमित ही है। अतः 'अनंत, सर्व' ऐसे शब्द रखकर यह विश्वरूपका वर्णन समाप्त किया जाता है। भगवद्गीतामें भी 'सर्व' ही कहा है, वेदमें भी परमेश्वरको 'सर्व' कहा है। विष्णुसहस्रनाममें भी 'सर्व' ही परमेश्वरका नाम दिया है। ऋग्वेदके पुरुषसूक्तोंमें भी—

पुरुष एव इदं सर्वं। (ऋग्वेद १०।९०)

'पुरुष ही यह सब है' ऐसा कहा है। यदि पुरुष ही यह सब है तो पुरुषके रूपसे शेष क्या रहा है? 'पुरुष' शब्द परमात्मवाची और 'इदं

सर्व' विश्ववाची है। जो दीखता है जो अनुभवमें आता है वह सब परमेश्वरका रूप है। इस सबको परमेश्वरका रूप जानकर और उसमें अर्थात् इस सब रूपमें अपना भी समावेश करके, मैं उससे भिन्न नहीं हूं ऐसा निश्चय जान अभेद-भावसे अथवा अनन्य (न+अन्य) भावसे उसकी सेवा करनी चाहिये। जो भगवद्गीतामें कहा और जो रुद्राध्यायमें कहा अथवा वेदोंमें अन्यत्र कहा है उसका ठीक ठीक भाव यह है। विश्वरूप जानकर, विश्वरूपमें अपना भी समावेश होता है यह अनुभव करके अनन्यभावसे विश्वरूपी परम आत्माकी सेवा करनी चाहिये। वेदने भी इसी लिये परमात्मदेवके विश्वरूप बताये और उसी कारणके लिये भगवद्गीतानेभी ईश्वरका विश्वरूप दर्शाया है। तुलना करके देखनेसे पता लगता है कि वेदने जो रुद्र देवताका विश्वरूप वर्णन किया है वह भगवद्गीताके वर्णनसे अधिक विस्तृत है।

यजुर्वेदके इस रुद्राध्यायकी देवता 'रुद्र' है। यह रुद्र देवताभी संहारकी देवता है। भगवद्गीताकी देवता 'लोकक्षयकृत्काल' है अर्थात् यह देवताभी संहार करनेवाली ही है। दोनों स्थानकी देवताएं—जिनका की विस्तारसे विश्वरूप वर्णन किया गया है—वे संहार देवताएंही हैं यह एक अद्भुत साम्य है। यह साम्य होता हुआ भी यजुर्वेदका वर्णन अधिक विस्तृत है, यह इस बातकी सिद्धता करती है कि वेदकी शैली अधिक पूर्ण है। जो समझते हैं कि यह विश्वरूपवर्णनका ढंग केवल इस भगवद्गीतानेही रचा है, उनको इस रुद्राध्यायका अवश्य अधिक विचार करना चाहिये।

पुरुषसूक्तमें भी विश्वरूप बताया है परंतु अतिसंक्षेपसे बताया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण इस जगद्बीज नारायणके-इस विराट्पुरुषके मुख, बाहू, ऊरू और पांव ये चार अवयव हैं यह संक्षेपसे पुरुषसूक्तका कथन है। पुरुषसूक्त चारों वेदोंमें है, इसलिये चारों वेदोंको जगद्बीज नारायणके इस विश्वरूपकी कल्पना पसंद है। अब यह जो अतिसंक्षेपसे पुरुषसूक्तमें कहा हुआ विश्वरूप है वही विस्तारसे रुद्राध्यायमें कहा है और वही गीतामें कहा गया है।

नारायण देवताका मुख ब्राह्मण है ऐसा कहने पर सब ज्ञानी लोग उस देवताके मुख स्थानमें विराजते हैं ऐसा स्वयंसिद्ध हुआ। वही बात वक्ता, उपदेशक, भिषक्, मंत्री, ज्ञानी, गुरु आदि के नामोंकी गिनती करके कही तो कोई नयी बात नहीं कही, परंतु उसी संक्षिप्त कथनका विस्तारही कहा है, ऐसा पुरुषसूक्त और रुद्राध्यायके विवेचनमें समझना उचित है। अतः जो पुरुषसूक्तमें संक्षेपसे कहा वही रुद्राध्यायमें विस्तारसे कहा। इतना विस्तार करनेसे परमेश्वरके संपूर्ण विश्वरूपका वर्णन हुआ ऐसा माननाभी सर्वथा अयोग्य है, क्योंकि वह विश्वरूप अनंत है। अनन्तका वर्णन सान्त शब्द किस तरह कर सकते है? केवल कल्पना होनेके लिये ये सब वर्णन यहां और अन्य ग्रंथोंमें किये गये हैं। विश्वमें स्थित संपूर्ण रूप उस ईश्वरके हैं और सबरूप मिलकर एक अखंड एकरस परमेश्वरकाही रूप है और उसमें कोई वस्तु छूटी नहीं है, इतना अवश्य समझना चाहिये। तब विश्वरूपकी कल्पना ठीक ठीक हो जायगी।

यजुर्वेदमें परमेश्वरके विश्वरूपी ज्योतिके विषय में एक उत्तम मंत्र आया है वह अब देखिये-

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित्॥
वा० यजु० ५।३५

हे ईश्वर! "तू विश्वरूप ज्योति है जहां सब देव मिल जाते हैं ऐसा तेराही तेज है।" सब सूर्यादि देवोंका तेज जिसमें मिला है ऐसा विश्वरूपी तेज परमेश्वरका है। यह मंत्र विशेष कर यह भाव बताया है कि सब देवोंका जो तेज है वह उस ईश्वरके तेजसेही प्राप्त होता है।

अतः सब देवतागण उस ईश्वरकाही रूप है, इसीका नाम विश्वरूप अथवा सर्वरूप है। और एक मंत्र देखिये--

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसान-
श्चरति स्वरोचिः। महत्तद्वृष्णो असुरस्य
नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥
वा० यजु० ३३।२२

"(आ तिष्ठन्तं) सब ओर ठहरे हुए उस ईश्वरको (विश्वे परि अभूषन्) सब अन्य देव सब ओरसे सुभूषित करते हैं। वह (स्व-रोचिः) स्वयं अपने निज तेजसे युक्त तथा (श्रियः वसानः) अनंत शोभाओंको धारण करनेवाला है। उस (वृष्णः असु-र-स्य नाम) बलशाली प्राणदाता ईश्वरका यश (महत्) महान् है, क्योंकि वह (विश्वरूपः) सब रूपोंका धारण करनेवाला परमेश्वर (अमृतानि तस्थौ) अनेक अमर भावोंको धारण करता है।" अनंत प्रकारके अमृत उसीके पास हैं।

कितना उत्तम मंत्र है, कितना उत्तम विश्वरूपी ईश्वरका वर्णन है देखिये, परमेश्वर सर्वत्र उपस्थित है, सूर्यचंद्रादि देवताएं उसके आभूषण हैं, वह सबको जीवन देनेवाला है, उसका यश और सामर्थ्य विशाल है, विश्वमें जितने रूप हैं उतने सब इसी परमेश्वरने धारण किये रूप हैं, संपूर्ण अमरपन उस ईश्वरके पासही हैं क्योंकि दूसरा कोई ऐसा नहीं है जिसके पास अमरपद रह सके।

यह एकही मंत्र परमेश्वरका विश्वरूप होना पर्याप्त बलके साथ सिद्ध कर रहा है। 'विश्वरूप' शब्दमें दो पद हैं, 'विश्व' और 'रूप'। 'रूप' शब्दका स्वरूप अर्थ प्रसिद्ध है, 'विश्व' शब्दका अर्थ 'सब' सब किंवा यह दीखनेवाला विश्व' इतना होता है। अर्थात् 'विश्व-रूप' शब्दका अर्थ 'सर्वरूप, सबका रूप, विश्वका रूप' ऐसाही होता है। विश्वमें जो रूप दिखाई देता है वह किसका है? प्रत्येक वस्तुका जो रूप है वह किसका रूप है और सब मिलकर जो अखंड रूप इस विश्वमें दीख रहा है वह किसका है, यह बडा महत्त्वका प्रश्न है। वेद कहता है कि यह सब रूप परमात्माका है। सब तेज परमात्माका है, सब यश परमात्माका है अतः उसको 'विश्वरूप, स्वरोचि, महन्नाम' कहा जाता है। अस्तु। अब यजुर्वेदके और दो मंत्र देखते हैं-

त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा, विष्णवे निभूयपाय
स्वाहा ॥ य० २२।२०
त्वष्टारमिन्द्रं देवं भिषजं सुयजं घृतश्रियं
पुरुरूपं सुरेतसं मघोनं ॥ यजु० २८।९

(त्वष्ट्रे) अर्थात् कारीगर, (विष्णु) व्यापक (नि-भूयप) सबके नीचे होकर सबका पालन कर्ता, (सुयज्) उत्तम यजन करनेवाला (घृतश्रियं) घृतके समान सबकी शोभा बढानेवाला, (सुरेतस्) उत्तम प्रभावशाली, (मघोनं) महान सबसे विशाल, (भिषज्) सबकी चिकित्सा करनेवाला, सबके रोग दूर करनेवाला (इन्द्र देव) प्रभु ईश्वर (पुरुरूप) अनंत रूपवाला है।

इस मंत्रमें प्रभु परमेश्वरके अनेक गुण कहे हैं और अन्तमें वह प्रभु (विश्वरूप-) बहुरूप है अर्थात् अनन्तरूप है ऐसा कहा है। इस तरह यजुर्वेदमें परमेश्वरका विश्वरूप कहा है। पुरुषसूक्त यजुर्वेदके ३१ वें अध्यायमें है। इस पुरुषसूक्तके मंत्र ऋग्वेदके पुरुषसूक्तके वर्णन प्रसंगमें आये हैं, इसलिये उनका पुनः यहां विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतः अब अथर्ववेदमें ईश्वरका जो विश्वरूप बताया है उसका विचार करते हैं—

अथर्ववेदमें विश्वरूप।

अथर्ववेदमें कई मंत्र परमेश्वरके विश्वरूपका

वर्णन करनेवाले हैं, अब उनका विचार करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ है। अतः वे मंत्र देखिये-

एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥
अथर्व० ९।७।२५

इस अथर्ववेदके मंत्रमें 'विश्वरूप' का अर्थ बताया है। जो विश्वरूप करके कहते हैं वह 'सर्व-रूप' है। सब जितना भी रूप है उतना सब अखंड विश्वरूपही है। इसीका नाम 'गोरूप' है, गो नाम इंद्रियोंसे प्रतीत होनेवाला जो रूप है वह सब 'गोरूप, सर्वरूप अथवा विश्वरूप' कहा जाता है। यहां वेदनेही विश्वरूप शब्दका अर्थ स्पष्ट कर दिया है। इंद्रियोंसे प्रतीत होनेवाला जो सबरूप है वही विश्वरूप है। और वह सर्वका रूप है। इस तरह विश्वरूपका भाव स्पष्टताके साथ कहकर सर्वत्र विश्वरूप कैसा है यह निम्नलिखित मंत्रोंमें बताया है-

पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥ ७ ॥
अन्तरिक्षे विश्वरूपम् ॥ ८ ॥
दिवि विश्वरूपम् ॥ ९ ॥
देवेषु विश्वरूपम् ॥ १० ॥
लोकेषु विश्वरूपम् ॥ ११ ॥
अथर्व० ९।६ (११) ७-११

'पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, देव और लोक अर्थात् मानव प्राणी आदि सबमें यह विश्वरूप है।' जैसा विश्वरूप पृथ्वीपर है वैसाही आकाशमें है,देवताओंमें है और वैसाही लोगोंमें राजा, मंत्री, सभासद् आदि रूपसे है।' पाठक इसी कथनको रुद्राध्यायमें तथा पुरुषसूक्तमें देखें। यद्यपि यह अन्नका विश्वरूप कहा है और उस वर्णनके मिषसे विश्वरूपका विवेचन किया है, तथापि यह सब अन्नही है और यहां इस विश्वमें अन्नके सिवाय कुछभी नहीं है। अतः अन्य देवताका विश्वरूप और अन्नदेवताका विश्वरूप इन दो वर्णनोंमें विश्वरूप दर्शनकी अपेक्षासे कोई भेद नहीं है। पुरुषसूक्तमें पुरुष, नारायण, विराट आदि नामोंसे विश्वरूप कहा, रुद्राध्यायमें रुद्रदेवका विश्वरूप कहा और यहां अन्नदेवताका विश्वरूप कहा, तथा अन्य सूक्तोंमें अग्नि इन्द्र आदि देवताओंका विश्वरूप कहा है। ये सब देवतावाचक नाम एकही सद्वस्तुके वाचक हैं और उसी एक सत्तत्वका यह सब विश्वरूप है, ऐसा अनुसंधान करनेसे देवताओंके अनेक नामोंसे घबरा जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अब और मंत्र देखिये—

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता स्कंभः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद् बभूव ॥ अथर्व० १०।८।८

'प्रजापतिने जो (परमं मध्यमं अवमं विश्वरूपं) सबसे परला, बीचका और सबसे निचला विश्वरूप (ससृजे) निर्माण किया, उसके (कियता) कितने भागमें (स्कंभः) सर्वाधार परमात्मा प्रविष्ट हुआ है और (यत् न प्राविशत्) जिसमें प्रविष्ट नहीं हुआ ऐसा विश्वरूपका भाग (तत् कियत् बभूव) कितना है?' अर्थात् यह सब विश्वरूप परमेश्वरने उत्पन्न किया, इस सबमें वह प्रविष्ट हुआ है अथवा कुछ थोडे हिस्सेमें प्रविष्ट होकर रहा है क्योंकि यहां विश्वरूप ऊपर आकाशमें है,बीचके अंतरालमें भी है और पृथ्वी और उसके नीचेभी है। ऐसा यह विश्वरूप उस परमात्माने निर्माण किया है यह सत्य है, परंतु क्या वह इस सबमें व्याप्त है अथवा उसके कुछ हिस्सेमें व्याप्त है? यह विश्वरूपकी व्याप्ति सर्वत्र है ऐसा कहा है, क्योंकि 'परम-मध्यम-अवम' में सब विश्व आचुका है। अन्यत्र उपनिषदोंमें—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तै०उ० २।६।१

'इस विश्वको उत्पन्न करके वह परमात्मा उसीमें प्रविष्ट हुआ है' ऐसा जो कहा है, वह इसी मंत्रके अनुसार कहा है। अब एक मंत्र इस विश्वरूपके संबंधमें देखिये—

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राण-
न्निमिषच्च यद् भुवत्। तद् दाधार पृथिवीं
विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ॥
अथर्व० १०।८।११

'जो (एजति) हिलता है, जो (पतति) नीचे गिरता है, जो (तिष्ठति) ठहरा है, जो (प्राणत) प्राण धारण करता है, जो (अप्राणत्) प्राणयुक्त नहीं है, जो (निमिषत्) पलकें हिलाता है, जो (भुवत्) होता है (तत् पृथिवीं विश्वरूपं दाधार) वह भूमिका और विश्वरूपका धारण करता है (तत् संभूय) यह सब मिलकर (एकं एव भवति) एकही है।' इस जगत्में जो अनंत प्रकारका रूप है उसमें कुछ हिलनेवाला है, कुछ भ्रमण करनेवाला है, कुछ न हिलनेवाला अर्थात् स्थावर है, कुछ प्राण धारण करता है और कुछ प्राणरहित है किसीकी आंखकी पलकें हिलती हैं और कुछ हलचल न करनेवाला है, यह पूर्वापर है और अन्यत्र भी विराजमान है, यद्यपि यह विविध प्रकारका अनेक रंगरूप आकारवाला है, तथापि वह सब मिलकर एकही रूप होता है। उसमें यह भेदभाव नहीं रहता। भेदभाव दीखता हुआ भी वहां वह मिट जाता है।

विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव।

यह मंत्रभाग बहुतही महत्त्वका है। 'संपूर्ण विश्वरूप मिलकर एकही रूप होता है' यही तो विश्वरूपकी कल्पना है। इस विश्वमें अनंतरूप हैं, वे विविध प्रकारके हैं, वे सब मिलकर परमेश्वरकाही एक अखंड, अनंत, अटूट विश्वरूप बनता है। और वही उसको धारण करता है। वेदमंत्रने यहां विश्वरूपकी कल्पना नितान्त स्पष्ट कर ली है। प्रत्यक्ष कितने भेद उसमें दीखते हैं यह भी कहा है और वे सब भेद नष्ट होकर उन सबका एक अखंड रूप होता है ऐसाभी कहा है। प्राणधारण करनेवाला और प्राणधारण न करनेवाला इत्यादि प्रकारका भेद व्यवहारमें दीखता है, परंतु यह सब भेद उस परमात्माके अखंड रूपमें मिट जाता है, अवशिष्ट नहीं रहता। जो भगवद्गीतामें विश्वरूप कहा है वही इस तरह इस मंत्रमें कहा है। व्यवहारमें दीखनेवाले भेद परमार्थमें नहीं रहते, रूपोंकी विविधता और अनंतता होती हुई भी (तत् एकं एव भवति) वह सब एकही अखंडित अटूट रूप हो जाता है, यह तत्त्वकथन हरएकको स्मरण रखना चाहिये।

अथर्ववेदमें 'विश्वरूप' शब्दद्वारा इतनेही मंत्रोंमें ईश्वर स्वरूपका कथन किया है। अब 'पुरुरूप' शब्दद्वारा यही बात कही हुई निम्नलिखित मंत्रमें देखिये—

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति
प्रदिशश्चतस्रः। अथर्व० ९।१५ (१०)।१९

'ब्रह्म पुरु अर्थात् अनंत रूपोंवाला त्रिपात् है, उससे चारों दिशा विदिशाएं जीवित रहती हैं।' ब्रह्म पुरुरूप है इसीका अर्थ ब्रह्म विश्वरूपी है ऐसा होता है। जितने रूप हैं वे सबके सब ब्रह्मकेही रूप हैं, वे अनंतरूप होते हुएभी एकही ब्रह्मके रूप हैं और सब रूप मिलकर ब्रह्मका अखंड एकरस अटूट रूप होता है। इस विषयमें एक विलक्षण मंत्र देखिये—

त्रीणि छंदांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं
दर्शतं विश्वचक्षणम्। आपो वाता ओषध-
यस्तान्येकस्मिन्भुवन आर्पितानि ॥
अथर्व० १८।१।१७

जिसका कवि लोग तीन प्रकारके छंदोंमें वर्णन करते हैं वह (पुरुरूपं विश्वचक्षणं दर्शतं) अनंतरूप युक्त दर्शनीय विश्वदृश्य है। (आपः) जल, (वाताः) वायु और (ओषधयः) औषधिवनस्पतियां (तानि) ये सबही वस्तुमात्र (एकस्मिन् भुवने) एकही वस्तुमें—एकही सद्वस्तुमें (आर्पितानि) समर्पित हुई हैं।"

यह मंत्र अत्यंत स्पष्ट है। एक परमात्मा है, उस एकका वर्णन कवि लोग अनेक छंदोंसे

करते हैं। उस परमात्माका यह अनंतरूप दृश्य दर्शनीय अद्भुत रूप है. इसीका नाम विश्वरूपी परमेश्वरका दर्शन है। जो विश्वमें दीखनेवाले जल, वायु, ओषधि आदि अनंत पदार्थ हैं वे सबके सब इस एक सद्वस्तुमें समर्पित हुए होते हैं। अर्थात् इन सबका रूप उस विश्वरूपमें समाविष्ट होता है।

इस तरह अथर्ववेदमें विश्वरूपी परमात्माका वर्णन है। यह वर्णन गीताके विश्वरूपी परमात्माके वर्णनके साथ मिलावें और देखें कि वेदकाही वर्णन गीतामें कैसा रूपान्तरित हुआ है। अब अथर्ववेदके कुछ मंत्र इसी विषयमें देखने योग्य है—

१ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥ १३ ॥

२ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे। तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

३ यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ॥ १६ ॥

४ यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरंगिरसोऽभवन्। अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १८ ॥

५ यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत। विराजमूधो यस्याहुः ॥ १९ ॥

६ यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः। भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ २२ ॥

७ यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥

८ यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

९ यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥

अथर्व० १०।७

(१) जिस परमात्माके अंगमें तेंतीस देव आश्रय लिये हुए हैं। (२) जिस परमात्माके अंगमें तेंतीस देव अवयव बनकर रहे हैं, उन तेंतीस देवोंको अकेले ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं। (३) चारों उपदिशाएं जिसके शरीर की नाडियां हैं। (४) जिसका सिर अग्नि, आंख अंगिरस हुए हैं और जिसके अवयव ये गतिमान सूर्य चन्द्रादिक हुए हैं वही सर्वाधार ईश्वर है वही सुखदायक है। (५) जिसका मुख ब्राह्मण है और जिव्हा मधुकशा है तथा विराज जिसका दुग्धाशय है। (६) जहां आदित्य रुद्र और वसु रहे हैं और भूत वर्तमान तथा भविष्य और सब लोक वहां ही प्रतिष्ठित हुए हैं। (७) जिसके पांव भूमि, अन्तरिक्ष उदर और द्युलोक सिर हुए हैं उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है। (८) जिसकी आंख सूर्य और पुनः नवीन बननेवाला चन्द्र है, अग्नि जिसका मुख है उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये हमारा नमस्कार है। प्राण और अपान जिसका वायु है, आंख अंगिरस हुए हैं, दिशाएं जिसकी प्रज्ञा है उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये हमारा नमस्कार है।

यह परमात्माका वर्णन है। इसमें जो वर्णन है वह ध्यानमें धारण करके जो परमात्माका स्वरूप बनता है वह निम्न लिखित प्रकार है-

मूर्धा- द्युलोक (मं० ३२)

सिर- अग्नि (मं० १८); द्युलोक (मं०३३)

प्रज्ञा- दिशा (मं० ३४)
आंख- अंगिरस् (मं० १८; ३४)
सूर्य, चन्द्र (मं० ३३)
मुख- ब्रह्म, ब्राह्मण (मं० १९),
अग्नि (मं० ३३)
जिव्हा- मधुकशा (मं० १९)
प्राण- वायु (मं० ३४)
अपान- ,, ,,
स्तन-विराज, विराट (मं० १९)
नाडियां- दिशा, (मं० १६)
पेट— अन्तरिक्ष (मं० ३२)
अंग—तैंतिस देवता (मं० १३; २७)
शरीरावयव- ,, गतिमान पदार्थ
(मं० १०)
शरीर- आदित्य, रुद्र और वसु सब लोक-
लोकान्तर (मं० २२)
पांव- भूमि (मं० ३२)

यह ब्रह्मका स्वरूप है। परब्रह्म, परमात्मा, के पांव भूमि हैं, अन्तरिक्ष उसका पेट है और द्युलोक उसका सिर है। इसके बीचमें सब अवयव रूप सब लोकलोकान्तर समझने चाहिये। पाठक विचार करें कि क्या यह परमेश्वरका विश्वरूप नहीं है? इस वर्णनमें संपूर्ण विश्वके पदार्थ उस परमात्माके रूपमें समाये हैं ऐसा नहीं कहा गया है? यदि उसका आंख सूर्य है, तो सूर्य नारायण उसीका रूप है, यदि अग्नि उसका मुख है और अग्नि उसीका रूप है, यदि वायु उसका प्राण है तो वायु भी उसीका रूप है। यदि तैंतीस देवतायें उसके तैंतीस शरीरावयव हैं, तो निःसन्देह उसका संपूर्ण रूप तैंतीस देवताओंके द्वारा जो इस विश्वमें दिखाई देता है वही है। क्या यही विश्वरूप नहीं है? परमात्मा विश्वदेही है, विश्वरूप है, बहुरूप है, पुरुरूप है किंवा सर्व-रूप है। यह वेदका सिद्धांत यहां स्पष्ट हुआ है।

इसी प्रकारका वर्णन अनेक प्रकारोंसे वेद-मंत्रोंमें आया है। उन सब मंत्रोंको यहां उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अपने शरीरकी कल्पनासे परमात्मा परब्रह्मकी कल्पना हो सकती है, ऐसाभी वेदमंत्रोंमें कहा है, देखिये—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
अथर्व० १०।७।१७

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे॥
अथर्व० ११।१०(८)।३१

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रम्हेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते॥
अथर्व ११।१० (८) ३२

"जो इस देहमें ब्रह्मको जानते हैं वे परमेष्ठी परमात्माको जानते हैं। सूर्य चक्षु बना, वायु प्राण बना, इस तरह इस देहमें ये देव हैं। इसी कारण इस पुरुषको ब्रह्म कहते हैं, क्योंकि सब देवताएं इसमें रहती हैं जैसी गौवें गोशालामें रहती हैं।" अर्थात् सब देवताएं परमात्माके समष्टि देहमें रहती हैं, और उनके अंश जीवात्माके इस व्यष्टि देहमें रहते हैं। व्यष्टि समष्टिकी इस तरह समानता देखनेसे विश्वरूपी परमात्माकी उत्तम कल्पना साधकको हो सकती है। यहां पाठकोंके ध्यानमें यह बात आजाय इसलिये कोष्टक रूपसे हम देते हैं—

परमात्माका समष्टिदेह	जीवात्माका व्यष्टिदेह
ब्रह्माण्ड	पिण्ड
परब्रह्म	ब्रह्म
परमात्मा	आत्मा
परमेष्ठी	जीव
सूर्य	नेत्र
चन्द्र	मन
जल	जिह्वा
दिशा	कान
औषधि	लोम

वायु	प्राण
नदियां	धमनियां
अन्तरिक्ष	पेट
भूमि	पांव

इस प्रकार परमेष्ठी प्रजापतिका ब्रह्माण्ड देह और जीवात्माका पिण्ड देह इनकी तुलना पाठक कर सकते हैं। परमात्माके ब्रह्माण्ड देहका सूक्ष्म अंश पिण्ड देहमें आकर रहा है। जो पिण्डमें है वह ब्रह्माण्डमें है और जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है। पिण्ड देहमें आंख है, ब्रह्माण्डमें सूर्य है। इसी तरह अन्यान्य विभाग जानना उचित है। जैसा पिण्डदेह है वैसाही ब्रह्माण्ड देह है। ब्रह्माण्डदेहकोही विश्व कहते हैं। ब्रह्माण्डदेहका रूप है इसीलिये उसको विश्वरूप कहते हैं। क्योंकि संपूर्ण विश्वका रूप उसीका रूप है। पाठक अपने देहमें देवताओंके निवासकी कल्पना प्रत्यक्ष देखकर ब्रह्माण्ड देहमें वही कल्पना विशालरूपमें जान सकते हैं। जो यह जान सकते हैं वेही विश्वरूपी परमेश्वरको यथावत् अखंड एकरस अटूट जान सकते हैं।

विश्वरूपी परमात्माको जानना सरल सुगम है, परंतु पूर्वग्रह पूर्व अज्ञानका आवरण प्रबल रहनेके कारण यह सुबोध बात भी दुर्बोध हो गयी है, और बहुतही थोडे लोग इसको जाननेका यत्न करते हैं। वेदोंद्वारा इस विश्वस्वरूपी परमात्माकी उच्च कल्पना सबसे प्रथम सबके कल्याणार्थ प्रकाशित हुई। वही उपनिषदोंमें अधिक स्पष्ट की गई और वही भगवद्गीताने इस ग्यारहवें अध्यायमें कही है।

गीताके कथनमें वेदके उपदेशकी अपेक्षा कोई न्यूनाधिक नहीं कहा है। वेदका ही आशय अन्य शब्दोंमें भगवद्गीताके ग्यारहवें अध्यायमें कहा है। पाठकोंका कर्तव्य है कि वे इसको यथावत् समझनेका यत्न करें और इस सत्य ज्ञानसे अपने जीवनका रहस्य जानें।

यहां तक वेदके विश्वरूप वर्णनका विचार किया, अब वही विश्वरूप उपनिषदोंमें किस रीतिसे कहा है सो देखिये-

उपनिषदोंमें विश्वरूपवर्णन।

(१) ईश उपनिषद्में विश्वरूप।

ईश उपनिषद्में निम्न लिखित मंत्र है जो परमात्माका स्वरूप बताता है-

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्रको मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
ईश० ७; वा० यजु० ४०।७

"(यस्मिन्) जिस अवस्थामें (सर्वाणि भूतानि) सब भूत मात्र (आत्मा एव अभूत्) आत्मा ही हो गये (तत्र) उस अवस्थामें (विजानतः) विज्ञानी और (एकत्वं अनुपश्यतः) एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानीको शोक और मोह कैसे हो सकता है ?"

इसकी पूर्व अवस्थामें क्या दीखता है वह भी देखिये-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
ईश० ६; वा० यजु० ४०।६

'जो सब भूतोंको (आत्मनि अनुपश्यति) परमात्मामें देखता है और सब भूतोंमें परमात्माको देखता है वह कभी निंदित नहीं होता।' यहां सब भूत और परमात्मा पृथक् पृथक् हैं और वे एक दूसरेमें हैं ऐसा कहा है। यहां पृथक्त्वका अनुभव है। इससे ऊपरके दर्जेपर जो अनुभव आता है उसमें पृथक्त्व अनुभव नहीं आता, परंतु (एकत्वं अनुपश्यतः) एकत्वका अनुभव आता है और इस अनुभवमें सब भूत और परमात्मा एकरूप हुए हैं, पृथक् नहीं रहे ऐसा अनुभव आता है। यही विश्वरूप परमात्माका अनुभव है।

सब भूतोंका अर्थ पंच महाभूत, सब प्राणि तथा सब वस्तुमात्र ऐसा है। यह सब पदार्थ

मात्र परमात्मसत्तासे पृथक् हैं ऐसा एक अनुभव है, इसमें भेदभाव अनुभवमें आता है। परंतु एक अवस्था इसके पश्चात् ऐसी आती है, कि जिस समय यह भेदभाव मिट जाता है और जो भूतमात्र हैं वही परमात्मा है ऐसा प्रतीत होने लगता है, उस अवस्थामें परमात्माका स्वरूप ही यह सब भूतमात्र बनता है। वही विश्वरूप परमात्माका ज्ञान है।

पहिली अवस्थामें मिश्रीका ढेला और मीठास ये दो पदार्थ परस्पर विभिन्न हैं ऐसा प्रतीत होता है, परंतु पश्चात् मीठास ढेलेसे पृथक् नहीं है ऐसा प्रतीत होते ही मीठासका स्थूलरूप ही मिश्री है ऐसा ज्ञान होता है। यही एकताका ज्ञान है। और यही अन्तिम सत्य ज्ञान है। इस अवस्थामें क्या दिखेगा? मिठासका ही विश्वरूप मिश्री है ऐसा दीखेगा. इसी तरह सब भूत परमात्मासे पृथक् हैं यह पहिला ज्ञान और सब भूत ही परमात्मा है और परमात्मा ही सब भूत है यह दूसरी अवस्थाका ज्ञान पाठक विचारकी दृष्टिसे देखें। जब उस सिद्ध पुरुषको सब भूत ही परमात्मा है और परमात्मा ही सब भूत हैं ऐसा दिखाई देगा, उस समय परमात्मा ही इस विश्वमें विश्वका रूप धारण किये हुए फैला है ऐसा प्रतीत होगा। यही परमात्माका विश्वरूप ईश उपनिषद् में कहा है और यद्यपि यह एक ही मंत्र है तथापि विश्वरूप वर्णन की दृष्टिसे वह स्वयं परिपूर्ण है।

केन उपनिषद् में विश्वरूपी ईश्वरका वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें नहीं है। अतः अब कठ उपनिषद् में देखिये-

(२) कठोपनिषद्में विश्वरूप।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युंगच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥ (कठ० उ० २।४)

' जो यहां है वही वहां है, और जो वहां है वही यहां है। मनसे ही यह जानना चाहिये कि (किंचन नाना इह नास्ति) किस प्रकार भी अनेकत्व यहां नहीं है। जो यहां (नाना पश्यति) अनेक देखता है वह एक मृत्युके पीछे दूसरे मृत्युको ही प्राप्त करता है।'

इस विश्वमें अनेक भूत हैं, अनेक वस्तुमात्र हैं, अनेक पदार्थ हैं. इनसे परमात्मा भिन्न है। अर्थात् विश्वमें दिखाई देनेवाले भूत और परमात्मा ये दो पदार्थ परस्पर भिन्न हैं ऐसा हर कोई देखता है। परन्तु यह सत्य ज्ञान नहीं है, जो विश्वमें- जो भूतोंमें है वह परमात्मामें है और जो परमात्मामें है वही विश्वके रूपोंमें है। मनसे ही यह एकता जाननी चाहिये। क्योंकि बुद्धिसे पृथकत्वकी कल्पना हर कोई मनुष्य करताही है। परंतु साधक यहां इसका निश्चय रखे कि यहां (नाना नास्ति) अनेक पदार्थ नहीं हैं। जो नाना पदार्थ मानकर भेदभावको मनमें स्थान देता है, वही मृत्युके वशमें जाता है अर्थात् वह कभी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसीका और विचार देखिये-

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः
तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥
कठ० उ० २।५

"जैसा अकेला अग्नि इस भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपमें उस रूप जैसा हुआ है वैसा सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है और वही प्रत्येक रूपमें उस रूप जैसा हुआ है और बाहरभी है। जैसा एक वायु इस भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपमें उस रूप जैसा हुआ है वैसा सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है और वही प्रत्येक रूपमें उस रूप जैसा हुआ है और बाहर भी है। यह एक परमात्मा सबको अपने वशमें धारण करनेवाला सब भूतोंका अन्तरात्मा हरएक रूपको अनेक प्रकार का बनाता है। उसको जो अपने आत्मामें देखते हैं उनकोंही शाश्वतसुख प्राप्त होता है दूसरोंका नहीं होता।"

अग्नि जैसा प्रत्येक पदार्थ में है और उस पदार्थका आकार धारण करके प्रकट होता है उसी प्रकार परमात्मा सब पदार्थोंमें रहकर उन सब पदार्थोंका आकार धारण करके प्रकट होता है। वह संपूर्ण विश्वमें है अतः उसको विश्वका रूप धारण करके प्रकट होने के कारण विश्वरूप कहते हैं। इस तरह कठ उपनिषद्में परमात्मा विश्वरूप वर्णन किया है। इश उपनिषद् कि अपेक्षा यहां अधिक विस्तार है, परंतु यहां कोई नयी बात नहीं कही जो ईशउपनिषद्में कहा था वही यहां विशद किया है।

प्रश्नोपनिषद्में विश्वरूप।

प्रश्नोपनिषद् में विश्वरूप अग्नि देव है ऐसा प्रारंभम ही कहा है—

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्नि-रुदयते ॥७॥ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥ प्रश्न उ० १

'यह वैश्वानर अग्नि विश्वरूप प्राण ही है। यह विश्वरूपी ज्योति, रसोंका हरण करनेवाला सदा तपनेवाला हजारों किरणवाला प्रजाओं का प्राणही सूर्यरूपसे उदयको प्राप्त होता है।'

सूर्यही अग्निविद्युत आदि अनन्त रूपोंको धारण करता है, इतनाही नहीं परंतु सूर्यमालामें तथा इस पृथ्वीपर जितने भी पदार्थ हैं वे सबके सब सूर्य के ही बने हैं। सूर्यके तत्त्वसे सब ग्रह उपग्रह बने और उन परके पदार्थभी उसी तत्त्वसे बने हैं। मानो सूर्यही पृथ्वी, वनस्पति और प्राणीरूप बन कर प्रकट हुआ है मानो यह पृथ्वी आदि सूर्य मालिका यह सब सूर्यकाही विश्वरूप अथवा सबरूप है। इसी तरह परमात्माका यह विश्व ही विश्वरूप है।

प्रश्नोपनिषद्में प्राणका विश्वरूप बताया है, वे मंत्र इस प्रकार हैं—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सद-सच्चामृतं च यत् ॥५॥ प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे ॥७॥ इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥९॥ यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः। आनन्द रूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥१०॥ व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः। वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥११॥ प्रश्न उ० २

"प्राण ही अग्नि है वह सूर्य बनकर द्युलोकमें तपता है वह पर्जन्य, मघवा, वायु पृथ्वी, रयी देव, सत असत् और अमृत है। वह प्राण ही प्रजापति है वह गर्भमें प्रविष्ट होकर उत्पन्न होता है। वही तेजस्वी इन्द्र, संरक्षक रुद्र है और ज्योतियोंका स्वामी सूर्य भी वही है। जब यह प्राण पर्जन्यरूप होकर वृष्टि करता है तब सब प्रजा आनंदित होती है क्योंकि अब बहुत अन्न उत्पन्न होगा ऐसा सबका निश्चय होता है। यह प्राणही व्रात्य संन्यासी ऋषी (अत्ता) भोक्ता विश्वपति सबका पिता है।"

यहां प्राणका विश्वरूप कहा है। अथर्व वेदमें

प्राणसूक्त है। (देखो अथर्व वेद ११।६ (४)१-२६) उसके आधारपर यह प्रश्न उपनिषद् का विषय रचा गया है। वहां भी प्राण का विश्वरूप कहा है,और वही यहां विस्तार के साथ कहा है। प्राण ही इन्द्र, जल, वायु, सूर्य, ज्योति, पर्जन्य, मेघ, पृथ्वी, रयी, अग्नि, आदि रूपसे प्रकट होता है। प्राण ही इन रूपोंसे प्रकट होता है। यह प्राण का विश्वरूप है। प्राण ही हरएक वस्तुरूपसे प्रगट हुआ है।

इस तरह प्राण का विश्वरूप प्रश्नोपनिषद्में कहा है। अब आगे देखिये-

मुण्डक उपनिषद् में विश्वरूप।

अब मुण्डकोपनिषद्में जो परमात्माका विश्वरूप वर्णन किया है वह अब देखिये—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथा क्षरात्संभवतीह विश्वम्॥

मुंडक उ० १।१।७

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति॥१॥ दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥२॥ एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥३॥ अग्निर्मूर्धा चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥४॥ तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥७॥ अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥९॥ पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्॥ एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रंथिं विकिरतीह सोम्य॥१०॥

मुण्डक उ० २।१

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥११॥

मुण्डक उ० २।२

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।
तरति शोकं...विमुक्तोऽमृतो भवति।

" जिस तरह मकडी अपनेमेंसे सूत्र उत्पन्न करती है, जिस तरह पृथ्वीसे औषधियां उत्पन्न होती हैं और शरीरसे केश लोम होते हैं, उस प्रकार अक्षर परमात्मासे यह विश्व उत्पन्न होता है। "

" यह सत्य है कि प्रदीप्त अग्निसे सहस्रशः चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार अक्षर परमात्मासे विविध भाव प्रकट होते हैं और वे उसीमें लीन होते हैं॥ यह दिव्य अजन्मा परमात्मा अंदर बाहर भरा है, यह प्राण और मनके विरहित स्वच्छ मलरहित और सबसे श्रेष्ठ है॥ इसीसे प्राण, मन, सब इंद्रियां, आकाश, वायु, ज्योति, आप, पृथिवी, ये सब उत्पन्न होते हैं॥ इस परमात्माकी मूर्धा अग्नि है, सूर्यचन्द्र आंख हैं, दिशा कान है, वाणी वेद हैं। वायु प्राण है, हृदय अन्तरिक्षस्थानीय विश्व है, पांव पृथिवी है। ऐसा यह सर्वभूतान्तरात्मा है॥ इसीसे अनेक देव, साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राणापान, चावल और जौ, तप श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि उत्पन्न हुए हैं॥ इसीसे समुद्र, पर्वत और सब नदियां हुई हैं, इसीसे सब प्रकारकी ओषधियां बनीं और उनमें रस भी हुआ है। यह सबका अन्तरात्मा इन भूतोंको साथ रहा है। (पुरुषः एव इदं विश्वं)

यह परमात्मा ही यह सब है, कर्म, तप, परब्रह्म और अमृत भी यही परमात्मा है। जो यह जानता है उसकी अविद्याग्रंथी दूर होती है। अमृतरूपी ब्रह्मही आगे पीछे, दायीं बायीं ओर, नीचे ऊपर सब जगह है। (ब्रह्म एव इदं विश्वं) ब्रह्म ही यह विश्व है। वरिष्ठ ब्रह्म ही यह सब है। जो इस ब्रह्मको जानता है वह (ब्रह्म एव भवति) ब्रह्म ही होता है, उसका शोक दूर होता है, वह मुक्त होकर अमर बनता है। "

इस तरह मुण्डकोपनिषद् का कथन है। इसमें निम्नलिखित वचन मननीय हैं-

१ मनुष्यसे नख, केश और लोम होनेके समान परमात्मासे यह विश्व बनता है, अतः यह विश्व उसीका रूप है।

२ अग्निसे जैसे स्फुलिंग वैसा परमात्मासे यह विश्व है, अतः यह विश्व और वह एक ही है।

३ सब भाव उस परमात्मासे उत्पन्न होते हैं और उसीमें लीन होते हैं, अतः वे उससे पृथक् नहीं हैं।

४ प्राण, मन, इंद्रियां, पंचभूत ये उसीके भाव हैं।

५ उस सर्वभूतान्तरात्माके अवयव ये हैं-

मूर्धा सिर —	अग्नि
आंख —	सूर्य चन्द्र
कान —	दिशाएं
वाणी —	वेद
प्राण —	वायु
हृदय —	विश्व (अन्तरिक्ष)
पांव —	पृथिवी

यह उस परमात्माका विश्वरूपही है। यह उसीका रूप है।

६ सब प्राणी, पशु, पक्षी, मनुष्य, ऋषिमुनि, प्राणापान, सब धान्य, तप श्रद्धा आदि, तथा पर्वत समुद्र, नदियां, औषधियां उससे बनी हैं, यह उसके साथ रहा है और यह सब उसीका रूप है।

७ यह सब वह पुरुषही है (पुरुषः एव इदं विश्वं), उसके विरहित यहां कुछ भी नहीं। (ब्रह्म एव इदं विश्वं)

८ वह अंदर बाहर ऊपर नीचे सर्वत्र है।

इन वाक्योंके मननसे स्पष्ट होता है कि पर ब्रह्म परमात्माकाही रूप यह विश्वरूप है। क्यों कि—

पुरुष एव इदं विश्वम्।
ब्रह्म एव इदं विश्वं।

ब्रह्मही यह विश्व है। अग्निसे भिन्न स्फुलिंग नहीं, प्राणीसे भिन्न उसके नाखून और बाल नहीं, इसी प्रकार यह विश्व उस विश्वात्मासे भिन्न नहीं, उसका दृश्यरूप ही यह है। प्राण अपान जन्ममृत्यु ये अनंत भाव हैं, ये सब भाव उसीके हैं, अतः उससे भिन्न नहीं हैं। इस तरह मुण्डकोपनिषद्में परमात्माके विश्वरूपका वर्णन आया है।

माण्डूक्य उपनिषद्में विश्वरूप।

मांडूक्य उपनिषद् तो केवल इसी सिद्धान्तको समझानेके लिये ही निर्माण हुआ है। इसके मंत्र स्पष्टतया विश्वरूप दर्शन करा रहे हैं उनमें से कुछ मंत्र देखिये—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्।
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वं ओंकार एव।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥१॥
सर्वं ह्येतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म ॥ २ ॥
एकात्म्यप्रत्ययसारं ... शिवमद्वैतं ॥ ७ ॥
शिवोऽद्वैत ... आत्मा ॥ १२ ॥
मांडूक्य उ०

'ओं इस अक्षरसे इस सब (विश्व)का बोध होता है। भूत वर्तमान भविष्य कालमें जो हुआ है और होगा, वह सब ओंकारसे बोधित होता है, इसके अतिरिक्त जो त्रिकालातीत है वह भी ओंकार ही है। सब यह ब्रह्म है, यह आत्मा भी ब्रह्म है। यह आत्मा सबका एक है ऐसा अनुभव आता है। यह मंगल आत्मा एकहि है। "

यहां ब्रह्म, आत्मा, ओंकार ये शब्द समानार्थक हैं ऐसा कहा है और इन शब्दोंसे जिस सत्तत्त्वका बोध होता है वह तत्त्वही भूत, भविष्य वर्तमान और कालातीत वस्तुमात्र के रूपसे प्रकट होता है, अर्थात भूत कालमें जो हुआ, वर्तमान कालमें जो है भविष्य कालमें जो होगा और जो कालातीत है वह सब ब्रह्म, आत्मा तथा ओंकार ही है।

यह विश्व भूत भविष्य वर्तमान कालमें है, और जीवात्मा कालातीत है, यह सब पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्मही है। यह विश्वरूप है क्योंकि सब विश्वका रूप तीनों कालोंमें दीखनेवाला है और आत्मा कालमर्यादासे बाहर है। ये दोनों मिलकर ब्रह्म ही है।

मांडूक्य उपनिषद्में इस तरह ब्रह्मका विश्वरूप देखनेके पश्चात् तैत्तिरीय उपनिषद्में विश्वरूप देखिये—

तैत्तिरीय उपनिषद्में विश्वरूप।

तैत्तिरीय उपनिषद्में परमात्माका विश्वरूप बताते हुए कहा है कि—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्।

तै० उ० १।८

'ओंकार ही यह सब है और ओं ही ब्रह्म है। सब क्या है यह भी यहां ही दर्शाया है जैसा—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः।
अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि।
आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा।
इत्यधिभूतं अथाध्यात्मम् प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्।
चर्म मांसं स्नावास्थिमज्जा।

तै० उ० १।७

पृथ्वी, अन्तरिक्ष द्यौ दिशा, उपदिशा अग्नि, वायु, आदित्य चन्द्रमा, नक्षत्र जल औषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा ये विश्वके भागोंमें तथा शरीरमें प्राण, अपान, उदान, समान चक्षु श्रोत्र, मन, वाणी, त्वचा, चर्म, मांस, स्नावा, अस्थि और मज्जा ये सब पदार्थ मिलकर यह सब होता है जो ओंकार वाच्य है। 'ओंकार ही ब्रह्म है' अर्थात पृथिव्यादि रूप ओंकार के ही हैं। मानो ओंकारवाच्य ब्रह्मका ही विश्वरूप यह सब है।

आगे इसी उपनिषद्में ब्रह्मका स्वरूप लक्षण बताया है उस में ऐसा कहा है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति॥

तै० उ० ।१

"जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे ये जीवित रहते हैं और जिसमें जाकर ये मिलते हैं वह ब्रह्म है।" इसमें ऐसा कहा है कि कोई एक पदार्थ है जिससे ये विश्वान्तर्गत पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिससे ये जीवित रहते हैं और जिसमें जाकर अन्तमें मिलते हैं वह पदार्थ ब्रह्म है। उदाहरणके लिये सुवर्णसे आभूषण बने, सुवर्णके आधारसे रहे और सुवर्णमें ही अन्तमें जा मिले, अर्थात् तीनों कालोंमें सुवर्णके सुवर्णपनमें कोई भेद नहीं, इसलिये आभूषणों की अपेक्षा से सुवर्ण ब्रह्म है, वैसा ही विश्वके पदार्थों की अपेक्षासे मूल सद्वस्तु ही ब्रह्म है जिससे कि ये पदार्थ बनते रहते और लीन होते हैं। अर्थात् जो यहां विश्वमें रूप दिखाई देता है वह उसी का है कि जिससे इसका बनना, जीना और बिगडना सिद्ध होता है। इस तरह के वर्णनसे यहां विश्वरूपी ब्रह्म है ऐसा कहा है। और—

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।

तै० उ० ३।१०।४

यह जो इस पुरुषमें है और जो यह सूर्यमें है वह एकही है' मनुष्यमें और सूर्यमें एकही वस्तु है। अर्थात् मनुष्यमें और सूर्यादि विश्वगत सब पदार्थोंमें जो तत्त्व है वह विभिन्न नहीं है प्रत्युत एक ही तत्त्व इन सब पदार्थोंमें है किंवा एकही

तत्वने ये विभिन्नरूप लिये हैं। सब विभिन्न वस्तुओंमें वही एक अभिन्न तत्त्व है किंवा उस एक अभिन्न तत्त्वके ही ये विभिन्न पदार्थ हैं। इस तरह उस अन्तर्यामी सत्तत्त्वका ही यह सब विश्वरूप है जैसे पुरुष और आदित्य ये दो रूप एकही सत्तत्त्वके हैं वैसेही उपलक्षणसे सब पदार्थ उसी सत्तत्त्वके ही रूप हैं।

इस तरह तैत्तिरीय उपनिषद्में विश्वरूपक-विषय बताया है। अब ऐतरेयोपनिषद्में देखिये

ऐतरेयोपनिषद् में विश्वरूप।

इस ऐतरेयोपनिषद्में प्रबल युक्तिके साथ इस विश्वरूपी परमात्माका स्वरूप बताया है वह देखिये

> आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाक् वाचो अग्निः। नासिके निरभिद्येतां, नासिकाभ्यां प्राणः। प्राणाद्वायुः। अक्षिणी निरभिद्येतां, अक्षिभ्यां चक्षुः, चक्षुष आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येतां, कर्णाभ्यां श्रोत्रं, श्रोत्राद्दिशः। त्वङ् निरभिद्यत,त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः। हृदयं निरभिद्यत, हृदयान्मनः, मनसश्चन्द्रमाः। नाभिर्निरभिद्यत, नाभ्या अपानो अपानान्मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत, शिश्नाद्रेतो रेतस आपः॥ ऐ०उ० १।१-४

'आत्मा प्रारंभमें एक ही था, दूसरा कुछभी हिलने झुलनेवाला नहीं था उस आत्माने सोचा कि मैं लोकोंको उत्पन्न करूं।...उसके तप्त होने-पर मुख खुल गया, मुखसे वाणी निकली और वाणीसे अग्नि निर्माण हुई;नासिका निर्माण हुई, नासिकासे प्राण हुआ और प्राणसे वायु निर्माण हुआ। आंखे निर्माण हुई आंखसे चक्षु और चक्षुसे आदित्य हुआ। दोनों कान निर्माण हुए, कानोंसे श्रोत्र और श्रोत्रसे दिशायें प्रकट हुई। त्वचा बन गयी, त्वचासे लोम और लोमोंसे औषधिवनस्पतियां हो गयीं। हृदय बन गया, हृदयसे मन और मनसे चन्द्रमा होगया। नाभी हुई, नाभीसे अपान और अपानसे मृत्यु होगया। शिस्न निर्माण हुआ,शिस्नसे रेत और रेतसे जल निर्माण होगया।

इस वर्णन का संक्षिप्त कोष्टक इस तरह बनता है--

[अगले ७० वें पृष्ठपर कोष्टक देखिये]

इस कोष्टक को देखनेसे पाठकोंको पता लगेगा कि आत्माका व्यक्तिगत रूप 'मुख-नासिका-नेत्र-कर्ण-त्वचा- हृदय- नाभि-शिस्न' है और विश्वगतरूप 'अग्नि- वायु-आदित्य- दिशा- ओषधिवनस्पति- चन्द्रमा-मृत्यु- आप' है। इसी कारण आत्माको 'सर्व' कहते हैं। क्यों कि इसमें सब का अन्तर्भाव होता है। यह विश्वरूप आत्मामें लीन होता है और आत्मासे ही प्रकट होता है। अर्थात् आत्माही विश्वरूपसे प्रकट हुआ है यह आशय यहां है। इसी विषयमें इस उपनिषद्में और कहा है, वह अब देखिये—

> कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा। ... ...। एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च भूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषि, इत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं ... प्रज्ञानं ब्रह्म।
>
> ऐ० उ० ३

'कौनसा है वह आत्मा जिसकी हम उपासना करें वह कौनसा आत्मा है ? यह आत्माही ब्रह्म है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है यही सब देवता है, पृथ्वी, वायु आकाश, जल तेज, पंचमहाभूत यही है, क्षुद्र मिश्र और जो इतर बीज हैं अण्डज
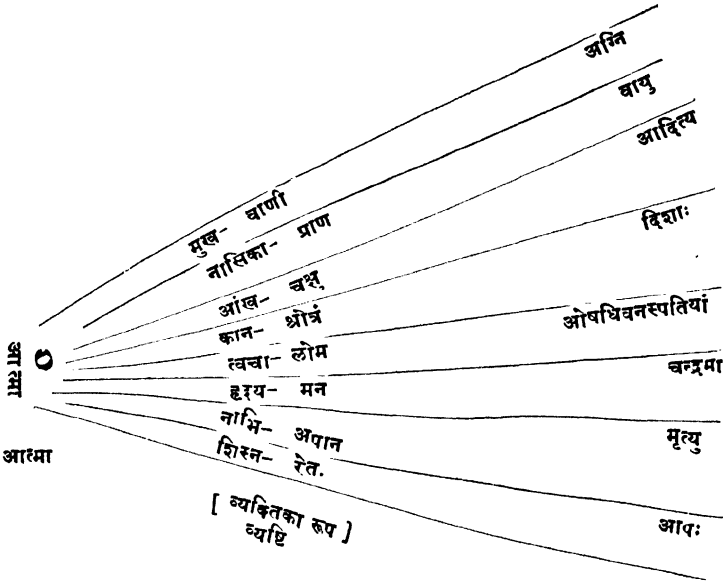
(पक्षी) जरायुज (मानव पशु आदि), स्वेदज (कृमि आदि), उद्भिज (वृक्षादि), घोडे गौवें, मनुष्य हाथी और जो सजीव हिलनेवाले, उडनेवाले और स्थावर हैं यह सब प्रज्ञाके द्वारा चलाया जाता है, यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है।'

यहां आत्मा अथवा ब्रह्म ही इन्द्र प्रजापति तथा संपूर्ण देवतारूप है, पृथिव्यादि पंचमहाभूत भी वही है, सब प्राणि, सब वनस्पति और सब स्थावर यह सब वही है। इस वर्णन में यह सब विश्वही आत्माका व्यक्तरूप है ऐसा स्पष्ट कहा है। यही विश्वरूप वर्णन ऐतरेय उपनिषद में कहा है।

अब छान्दोग्य उपनिषद्में विश्वरूप का वर्णन देखिये-

छांदोग्य उपनिषद् में विश्वरूप।

छांदोग्य उपनिषद्में विश्वरूपी आत्माका वर्णन अनेक प्रकारसे आया है उनमेंसे कुछ यहां देखिये-

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च।
छां० उ० ३।१२

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छां० उ० ३।१४

'जो कुछ यहां है वह सब गायत्री है। यह सब निश्चयसे ब्रह्म है।' इस तरह यह सब दृश्यमान विश्व, यह सब विश्वरूप ब्रह्म ही है ऐसा स्पष्ट

कहा है। और देखिये-

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत ॥ तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत ॥ ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त ॥ छां० उ० ६।२

'हे प्रिय शिष्य! प्रारंभ में एकही सत् तत्त्व था दूसरा कुछभी नहीं था। उसने देखा और कहा कि मैं बहुत हो जाऊं उसने तेज उत्पन्न किया। उस तेजने देखा और कहा कि मैं अनेक बनूं, और उसने जल निर्माण किया। उस जलने देखा और कहा कि मैं अनेकविध बनूं और उसने अन्न निर्माण किया।' इस तरह अनेक विध सृष्टि उसी एक अद्वितीय सत्तत्त्वसे निर्माण हुई। यह अनेकविध सृष्टि हि विश्व है अतः यह विश्वरूप उसी एक अद्वितीय सत्तत्त्वका रूप है। इस वर्णन का विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि. यह विश्वरूप उसी एक आत्मा का ही पूर्ण रूप है। तथा और देखिये-

स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं। तत्सत्यं, स आत्मा, तत् त्वं असि श्वेतकेतो॥ छां० उ० ६।८।६-७

'जो यह सूक्ष्म तत्त्व है, इसी आत्मासे यह सब बना है, वही सत्य तत्त्व है. वही आत्मा है, वह तू है, श्वेतकेतो!' इसमें एक आत्मतत्त्वसे सब बना है और वही तू है ऐसा कहा है। जैसा श्वेतकेतु वह तत्त्व है, वैसा ही गुरुभी वह तत्त्व ही है. अन्य शिष्यभी वही तत्त्व है, अन्य मानव और अन्य प्राणी भी वही तत्त्व है और अन्य सब वस्तुभी वही तत्त्व है, यह इस तरह देखना चाहिये—

तत् त्वं असि, श्वेतकेतो।
तत् सः अस्ति
तत् अहं अस्मि
तत् एव सर्वे सन्ति
एतदात्म्यं इदं सर्वम्।

'वह तू है. वही वह है, वह मैं हूं, वही सब हैं, वही यह सब है' अर्थात् केवल श्वेतकेतुही वह आत्मा है ऐसा ही केवल नहीं है, प्रत्युत हरएक वस्तुमात्र वह आत्मा है। जैसा श्वेतकेतु का रूप हो उस आत्माका रूप है उसी तरह इस सब वस्तुमात्र का रूप भी आत्माका ही रूप है. अतः यह विश्वरूप आत्माका रूप है। आत्मा ही विश्वरूपी बना है। तथा और देखिये-

(१) स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वं इति ॥

(२) अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमेवेदं सर्वं इति ॥

(३) आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तात् आत्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति।

(४) अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्तेक्षय्यलोका भवन्ति ॥ छां० उ० ७।२५

(५) आत्मत एवेदं सर्वं इति ॥ छां० उ० ७।२६

(१) वह ही नीचे ऊपर पीछे आगे दायीं और बाईं ओर है और वही यह सब कुछ है। (२) मैं ही नीचे ऊपर पीछे आगे दायीं और बाईं ओर हूँ और मैं ही यह सब कुछ हूँ। (३) आत्मा ही नीचे ऊपर पीछे आगे दायीं और बाईं ओर है और आत्मा ही यह सब कुछ है। (४) जो इससे भिन्न ज्ञान जानते हैं वे किसीके आधीन होते हैं अर्थात् वे परतंत्र होते हैं अतः वे नाशको प्राप्त होते हैं। (५) आत्मासेही यह सब (विश्व) बना है।"

यहां 'सः, अहं, आत्मा' ये शब्द एकही वस्तुके वाचक हैं जिस वस्तुसे यह विश्व बना है।

इस रीतिसे छांदोग्य उपनिषद्में विश्वरूप आत्माका वर्णन है। पाठक इसका वारंवार मनन करें और विश्वरूप में उस आत्मा का दर्शन करके अपनी अखंड सत्ताका अनुभव करें। अब बृहदारण्यक उपनिषद्में विश्वरूपका वर्णन देखिये—

बृहदारण्यकोपनिषद्में विश्वरूप।

बृहदारण्यक उपनिषद्में अनेक प्रकारोंसे परमात्मा विश्वरूप है ऐसा बताया है। देखिये प्रारंभमें ही कहा है-

आत्मा एव इदमग्र आसीत्पुरुषविधः।
सोऽनुवीक्ष्य- नान्यदात्मनोऽपश्यत्...॥१॥
सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति, सहाय्यमीक्षांचक्रे, यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमि ॥२॥...स द्वितीयमैच्छत् स एतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्...॥३॥

बृ० उ० १।४

"प्रारंभमें एकही आत्मा था उसने देखा की अपनेसे भिन्न कुछभी दूसरा पदार्थ नहीं है। वह डर गया, क्यों कि अकेला डरता है। उसने सहायककी इच्छा की, पश्चात् सोचा कि यदि मुझसे भिन्न दूसरा कोईभी यहां नहीं है, तो मुझे किससे भय होगा॥ उसने दूसरेकी इच्छा की. वह ऐसा था कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं उसने अपने आपको ही दो प्रकारका बनाया जिससे स्त्री और पुरुष होगये।" आगे इस स्त्रीपुरुषसे सब विश्व बन गया।

इस उपनिषद्के वचनमें स्पष्टताके साथ कहा है कि प्रारंभमें एकही आत्मा था, दूसरा कुछभी नहीं था, दूसरा होता तो भयहो सकता था, दूसरा नहीं था इसलिये उस आत्माको भय नहीं था। वह निर्भय था। उसने अपने से ही स्त्री निर्माण की और वे प्रकृतिपुरुष-स्त्रीपुरुष-होकर रहने लगे। इस जोडेसे आगे की सृष्टि बन गयी। जोभी कुछ आगेकी सृष्टि बनी वह उस एक अद्वितीय आत्मासे बनी ऐसाही इस वचनका तात्पर्य है। निःसदेह सृष्टि बनी है और निःसन्देह आत्मासे भिन्न और दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। फिर सृष्टि किससे बनी और यह विविध विश्व कैसा बना? उस एक ही सत्तत्वसे बना यह बात निश्चित है। इस बृहदारण्यक वचन का आशय यही है। इस तरह एक आत्माकाही यह विश्वरूप है। क्योंकि उससे भिन्न कोई वस्तु है हि नहीं। यही बात आगे स्पष्ट की है—

एतस्यैव सा विसृष्टिः। एष उ ह्येव सर्वे देवाः॥

बृ० उ० १।४।६

'इसी की यह विशेष प्रकार की सृष्टि है, यही निश्चयसे सब देव हैं।' इसका आशय स्पष्ट है यह सृष्टि यह विश्व उससे भिन्न नहीं है, ये सूर्य चन्द्रादि देव भी विभिन्न गुणधर्मवाले होनेपर भी उससे ये विभिन्न नहीं हैं. परंतु ये सब देव वही है अर्थात् उसीके ये रूप हैं। क्या यह उस आत्माका विश्वरूप नहीं है। उक्त उपनिषद्वचन का आशय तो यही स्पष्ट है।

तथा और देखिये —

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तदात्मानमेवाऽवेदाहं ब्रह्मास्मीति, तस्मात्तत्सर्वमभवत्।...तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति तदप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति॥ अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानां॥

बृ० उ० १।४।१०

"प्रारंभमें ब्रह्मही था. उसने अपने आपको मैं ब्रह्म हूं ऐसा जान लिया उस ज्ञानसे वह यह सब बना। इस तरह ज्ञान प्राप्त कर वामदेव ऋषिने अनुभव किया कि 'मैं मनु हू और मैं सूर्य हूं' इत्यादि। इस समयमें भी जो जानेगा कि 'वह ब्रह्म मैं हू' वह यह सब होगा। तथा जो उपास्य देवता मुझसे भिन्न है और मैं उपासक मेरी उपास्य देवतासे भिन्न हूं ऐसा मानता है. वह कुछभी जानता नहीं. वह देवोंका भोग्य पशु ही है।'

यहां कहा एक ही ब्रह्म है और वह ब्रह्मही सब विश्व बनता है तथा जिसको यह ज्ञान होता है वह भी ब्रह्म बनता है। आज भी जिसको यह ज्ञान होगा वह ब्रह्म बनेगा। प्राचीन कालमें

वामदेव ऋषिको यह ज्ञान हुआ और वह ब्रह्म बन गया, जब उसे ब्रह्म होनेका अनुभव आया उस समय उसने इस तरह कहा—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥१॥

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥२॥

अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शंबरस्य।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥ ३॥

ऋग्वेद ४।२६।१-३

वामदेव कहते हैं (अर्थात् ब्रह्मज्ञानी बननेके पश्चात् ब्रह्मरूप होकर कहते हैं)- 'मैं मनु हुआ था, मैं सूर्य हुआ था, मैं ही बुद्धिवान् कक्षीवान ऋषि था। मैंने ही अर्जुनीके पुत्र कुत्सको वशमें किया था, और मैं ही उशना कवि हूं मुझे देखो॥ मैंने ही आर्योंको भूमि दी है, मैं ही दाता मनुष्यके लिये वृष्टि करता हूं, मैंने ही प्रवाहित उदक को यहां लाया है,मेरी इच्छाके अनुसार देव अनुसरते हैं॥ मैंने हि आनन्दके साथ शंबर राक्षस के न्यानवे कीले तोड दिये थे और उसका सौंवा नगर रहनेके योग्य बना दिया था। और मैंनेही अतिथिग्व तथा दिवोदास का युद्धमें संरक्षण किया था।'

बृहदारण्यक उपनिषद्, शतपथब्राह्मणके लेखक इन मंत्रोंका इसप्रकार अर्थ समझते थे। यदि किसी अन्य विद्वान् को दूसरा अर्थ प्रतीत हुआ तो वह करे, हम इस समय शतपथब्राह्मणके लेखक याज्ञवल्क्य ऋषिका ही अर्थ लेते हैं। वे इन मंत्रोंमें वामदेव ऋषिका ब्रह्मरूप होनेके बाद का अनुभव देखते हैं। ब्रह्मरूप होते हि वामदेव ऋषि को निश्चय हुआ कि मैं हि मनु इन्द्र सूर्य चंद्र वायु भूमि मनुष्य मेघ आदि हूँ, भूत कालमें वीर बनकर मैंने युद्ध किये थे, इस समय मेरी सहायता ये सब देव कर रहे हैं।' शतपथ ब्राह्मणकार साक्षी देते हैं कि आज इस समयमें भी यदि कोई मनुष्य ब्रह्मज्ञानी होगा तो वह भी ब्रह्मभावको प्राप्त करके इसी प्रकार अनुभव करेगा। यह अनुभव भेदभावयुक्त उपासना करनेवालेको अर्थात् मैं उपासक मेरा उपास्य देवतासे भिन्न हूं ऐसा मानकर उपासना करनेवालेको नहीं आसकता, क्यों कि वह देवताओंके घरका पशु बनता है।

अस्तु यहां हमें अन्य बातोंका विचार करनेके लिये फुरसत नहीं है, हमें यहां इतनाही देखना है कि मनुष्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् वह ब्रह्मभावसे संपन्न होता है और ब्रह्मभावसे युक्त होते ही उसको मैं ही यह सब विश्व हूं ऐसा अनुभव आता है। उक्त वेद मंत्रोंसे तथा पूर्वोक्त बृहदारण्यकोपनिषद् (शतपथ ब्राह्मण) के वचनसे यह आशय स्पष्ट विदित होता है। जो ब्रह्मको जानता है वह स्वयं ब्रह्म बनता है और ब्रह्म बनते ही मैं यह सब हूं यह अनुभव भी होता है।

जिस समय 'मैं यह सब हूं' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उस समय मेरा ही यह विश्वरूप है, ब्रम्हका ही यह विश्वरूप है, आत्माका ही यह विश्वरूप है ऐसा ही प्रत्यक्ष ज्ञान होगा इस में संदेह नहीं है। इस तरह पूर्वोक्त बृहदारण्यकोपनिषद्का आशय पाठक देखें और मनन करें। यह महत्त्वका विषय है अतः इसको वैसा ही छोडना नहीं चाहिये। मनके पूर्वग्रह छोडकर प्राचीन ग्रन्थोंको यथावत् जाननेका यत्न करना चाहिये। अब आगे बृहदारण्यकके वचन और देखिये—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च। बृ० उ० २।३।१

'ब्रह्मके दो रूप हैं एक अमूर्त रूप है और

दूसरा मूर्त रूप है, एक निराकार है और दूसरा साकार है, एक रूपरहित है और दूसरा रूपवान् है एक अविनाशी है और दूसरा नाशवान है।' ये दोनों ब्रह्मके रूप हैं, यदि ये दोनों ब्रह्मके रूप हैं तो संपूर्ण आकारवाले, रूपवाले, दृश्य स्वरूपवाले पदार्थ जो इस विश्वमें दीख रहे हैं वे ब्रह्मके रूप हुए और यह विश्वका रूप ब्रह्मका ही रूप है यह बात सिद्ध हुइ। इस तरह इतने वाक्यसे ही परमात्माका विश्वरूप यह दीखनेवाला और प्रत्यक्ष होनेवाला विश्वका रूप ही है यह निर्विवाद सिद्ध हुआ है।

ब्रह्मका मूर्तरूप है इतना इस वचनमें पढनेके पश्चात् भी जो इस विश्वके रूपको परमेश्वरका अथवा ब्रह्मका रूप मानते नहीं, उनके हठकी कोई मर्यादा ही नहीं है। अतः उनका मत विचारमें भी लेना योग्य नहीं, क्यों कि वचन प्रामाण्यकी दृष्टिसे बृहदारण्यकोपनिषद् की अपेक्षा उनका मत निःसंदेह अधिक बल नहीं रख सकता। ब्रह्मका रूप मूर्तिमान है इतना ही कहकर उपनिषद् ठहरा नहीं है, परंतु इस बात का उसने स्वयं अधिक स्पष्टीकरण किया है, वह अब देखिये—

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च।

बृ० उ० २।३।२

'जो ब्रह्मका मूर्तरूप है वह वायु और अन्तरिक्षको छोडकर जो इनसे भिन्न पृथ्वी, आप, तेज आदि है वह ब्रह्मका मूर्तरूप है' इस मूर्तरूपमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वृक्षवनस्पति, पशुपक्षी मनुष्य आदि सभीका अन्तर्भाव होता है। जो आंखसे दिखाई देता है वह सब ब्रह्मका मूर्तरूप समझना चाहिये। जो अमूर्त रूप है वह प्राण, वायु आदि इस मूर्त रूपसे भिन्न है।

पाठक इसका विचार करके जानें कि यहां ब्रह्मका मूर्त रूप कौनसा है और अमूर्त रूप कौनसा है और मूर्त रूपमें विश्वरूपका समावेश कैसा होता है यह भी विचारपूर्वक जानें। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो अमूर्त रूप अर्थात् वायु, प्राण आदिका भी विश्वरूपमें समावेश होता है, परंतु वह बात हम यहां विचारमें न लें, केवल आंखका विषय होनेवाले विश्वरूपका ही हम समावेश करें और सबसे प्रथम इस विश्वरूपकी ठीक ठीक कल्पना मनमें स्थिर करें। अस्तु अब और देखिये—

यस्य पृथिवी शरीरं, यस्य आपः शरीरं, यस्य अग्निः शरीरं, यस्यान्तरिक्षं शरीरं, यस्य वायुः शरीरम्, यस्य द्यौः शरीरं, यस्यादित्यः शरीरं, यस्य दिशः शरीरं, यस्य चन्द्रतारकं शरीरं, यस्याकाशः शरीरं, यस्य तमः शरीरं, यस्य तेजः शरीरं, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, यस्य प्राणः शरीरं, यस्य वाक् शरीरं, यस्य चक्षुः श्रोत्रं मनः त्वक् विज्ञानं रेतः शरीरं, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः। बृ० उ० ३।७-२३

'इस अन्तर्यामी आत्माका शरीर (विश्वमें) पृथ्वी आप, तेज, वायु, आकाश, अन्तरिक्ष, द्युलोक, आदित्य, दिशा चन्द्रतारका आकाश, तम, तेज, सब भूत हैं और (व्यक्तिमें) प्राण, वाचा, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान, रेत और शरीर है।' इस तरह इस विश्वात्माका यह सब विश्व शरीर है, क्यों कि वह अन्तर्यामी आत्मा होनेसे वह संपूर्ण विश्वके अन्तर्याममें है और संपूर्ण विश्व उसके बाहर है अर्थात् यह संपूर्ण विश्व उसका शरीर है। और शरीरका ही रूप होता है वैसा इस विश्वात्माके शरीरका अर्थात् संपूर्ण विश्वका जो रूप है वह उसी विश्वात्माका रूप किंवा विश्वरूप है। इस तरह इस 'अन्तर्यामी ब्राम्हण' में विश्वात्माका विश्वरूप बताया है। पाठक इसका अच्छी तरह मनन करें और विश्वरूपी परमेश्वरका

साक्षात् दर्शन करें।

इस तरह बृहदारण्यकोपनिषद्‌में विश्वरूपी परमात्माका दर्शन कराया है। अब श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में विश्वरूपका वर्णन देखिये—

श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में विश्वरूप।

श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में (ज्ञ) जाननेवाला ईश (अ-ज्ञ) न जाननेवाला जीव और (अजा) प्रकृति ऐसे तीन पदार्थ कह कर ये तीनों जहां एक होते हैं वह ब्रह्म है ऐसा कहा है, इस कथनके समय (आत्मा विश्वरूपः) आत्मा विश्वरूपी है ऐसा स्पष्ट कहा है, यह वचन देखिये—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृ-
भोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो
ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥

श्वे० उ० १-९

"(ज्ञ-अज्ञौ) एक ज्ञाता है और दूसरा अज्ञ है, (ईश-अनीशौ) एक ईश्वर है और दूसरा असमर्थ है परंतु ये दोनों न जन्मनेवाले हैं। (एका अजा) तीसरी एक न जन्मनेवाली प्रकृति है. यह जीवके भोगके लिये है। इस तरह ईश, जीव और प्रकृति ये तीन पदार्थ हैं। (अनन्तः विश्वरूपः अकर्ता आत्मा) एक अनन्त अकर्ता विश्वरूपी आत्मा है। ये तीनों मिलनेसे उसको ब्रह्म कहते हैं। यहां ब्रह्ममें 'परमात्मा-जीव-प्रकृति' संमिलित है ऐसा कहा है। तीनोंकी अविभक्त एकताही ब्रह्म है।

इस मंत्रमें अनन्त आत्मा (विश्वरूपः) विश्वरूप है ऐसा कहा है। विश्वका रूप जिसने धारण किया है ऐसा आत्मा है। विश्वरूप धारण करनेका अर्थ क्या है विश्वरूप-बहुरूप-पुरुरूप-सर्वरूप-अनन्तरूप इन शब्दोंका अर्थ एकही है। जो ये रूप दिखाई देते हैं वे सबरूप उस आत्माके हैं, वह परमात्मा सब रूपोंके अन्दर हैं. उसके कारणही सब रूप रूपयुक्त हुए हैं।

इस तरह यह विश्वरूपका वर्णन सर्वत्र है। अब श्वेताश्वतरके अन्य वचन देखिये—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवान्तस्मात्सर्वगतः शिवः॥

श्वे० उ० ३।११

'सर्व मुख सिर और ग्रीवाओंसे युक्त, सब भूतोंकी गुहाओंमें निवास करनेवाला सर्वव्यापी वह भगवान् सब जगह विराजमान है और वह मंगल स्वरूप है।' इस मंत्रमें संपूर्ण मुख-सीर और कंठोंसे युक्त अर्थात् संपूर्ण हाथों, पावों, पेटोंसे युक्त वह सर्वव्यापी आत्मा है ऐसा कहा है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि वह (सर्व-भूत-गुहा-शयः) सर्व प्राणियोंके हृदयोंमें रहनेके कारण सब प्राणियोंके जितने सिर, मुख, कण्ठ, पेट, जंघा, पांव, हाथ होंगे वे सबके सब उसी सर्वगत सर्वव्यापक परमात्माके समझने चाहिये। ऐसा माननेसेही (सर्व-आनन-शिरो-ग्रीवः) सब मुख सिर ग्रीवावाला वह परमात्मा होता है। यही अर्थ 'विश्वरूप अनन्त आत्मा' इन शब्दोंसे व्यक्त होता है। अब यहां किसीको शंका हो सकती है कि सब प्राणियोंके अवयव उस परमात्माके किस तरह हो सकते हैं, इस शंकाके निराकरणके लिये निम्नलिखित मंत्र देखिये—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्‌जनास्तिष्ठति सर्वतो-मुखः॥ १६॥ यो देवो अग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश। य ओषधीषु यो वन-स्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥ ७॥ श्वे० उ० २
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो-बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ ३॥
सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः॥ ११॥

श्वे० उ० ३

" यह देव सब दिशा उपदिशाओंमें है, वह पहिले जन्मा था, और वह फिर गर्भमें आया है, वही पहिले हुआ था और आगेभी होगा, वह प्रत्येक मनुष्यमें रहता है, उसका मुख सब ओर है ॥ जो देव अग्नि, आप, ओषधि, वनस्पतिमें है, जो सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है, उस देवताके लिये नमस्कार है॥ जिस देवके चक्षु, मुख, बाहु, पांव सब ओर हैं वही एक द्युलोक और भूलोकका बनानेवाला देव है ॥ वह सब भूतों-प्राणियों-की वृद्धिमें है और वह सब मुख, सिर और ग्रीवावाला है। "

भूत कालमें वह प्राणीके रूपसे जन्मा था, इस समय वह गर्भमें है और भविष्यकालमें भी जन्मेगा, अर्थात् वही प्राणियोंके रूप धारण करता है, इसी कारण सब प्राणियोंके मुख, सिर, कण्ठ, उदर, पांव, हाथ जितने भी होंगे वे सबके सब उस देवताके-उस आत्माकेही हैं। इसी कारण उसके मुख,हाथ, पांव सब ओर हैं। क्योंकि सब ओर सब प्रकारके प्राणि रहते हैं और उनके मुखादि अवयव सब ओर हैं । इस भावको ध्यानमें धारण करनेसेही ये मंत्र समझमें आसकते हैं। पाठक इसका विचार करें। पूर्वोक्त तीनों मंत्र वेदमें हैं और वेदसेही उपनिषद्में लिये हुए मंत्र ये भी यहां साथ साथ देखने योग्य हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥१४॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥ १५ ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥१६॥
श्वे० उ० ३

' सहस्रों सिरों, सहस्रों आंखों, सहस्रों पांवोंवाला देव भूमिके चारों ओर व्याप्त है। यह पुरुषही सब कुछ है जो भूत,वर्तमान और भविष्यमें है। इस देवताके पांव,हाथ,आंख,सिर मुख और कान (सर्वतः) सब ओर हैं क्योंकि यह सबको घेरकर रहता है। '

पूर्वोक्त प्रकार विचार करनेसे यह वर्णन स्पष्ट हो जाता है, इस भूमंडलपर जितने प्राणिमात्र हैं उनके जितने भी हस्तपादादि अवयव हैं वे सबके सब इसीके हैं। यह सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण सबके अवयव इसीके अवयव होते हैं । यदि पाठकोंके मनमें यह कल्पना ठीक प्रकार जम जायगी तो प्रभुका विश्वरूप ठीक प्रकार समझमें आसकता है। पाठक यह विश्वरूपी प्रभुकी कल्पना वारंवार इन मंत्रोंका मनन करके समझनेका प्रयत्न करें। क्योंकि इसी कल्पनापर सब शाश्वत धर्मकी रचना हुई है। एकही ईश्वर विविध प्रकारका विश्व किस तरह बनाता है इसके स्पष्टीकरणार्थ इस उपनिषद्में एक उपमा दी है—

एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ॥ श्वे० उ० ४।१

' एकही रंग विशेष शक्तिके कारण अनेक प्रकारसे अनेक रंगोंको धारण करता है। ' एक रंगसे अनेक रंग प्रकट होते हैं। एक श्वेत वर्णमें पहलूवाला शीशा रखनेसे उससे अनेक रंग दीखते हैं। ये अनेक रंग एकही रंगके रूप हैं। अनेक रंगोंका विशेष प्रमाणसे संमिश्रण होनेसे श्वेत वर्ण दीखता है और श्वेत वर्णका पृथक्करण करनेसे विविध रंग प्रकट होते हैं। इससे पाठक आत्मासे यह सब विश्व किस तरह प्रकट होता होगा इसकी कल्पना कर सकते हैं।

एक वर्णसे मूल तीन वर्ण होते हैं और तीन वर्णोंसे अनंत रंग होते हैं, इतने अनंत रंग एकही श्वेत रंगमें कैसे रहते हैं, यह एक रहस्यही है। इसी उपनिषद्में आगे कहा है—

स विश्वरूपः॥ श्वे० उ० ५।७;
तं विश्वरूपं। श्वे० ६।५

अनाद्यनन्तं ... विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्॥
श्वे० उ० ५।१३

'वह आत्मा विश्वरूप है। वह अनादि अनन्त है ... विश्वकी रचना करनेवाला है और अनेक रूपवाला है।' यह अनंतरूपका वर्णन बिलकुल स्पष्ट है और परमात्माके अनंतरूप कैसे होते हैं यह पूर्वोक्त विवेचनसे स्पष्ट हो सकता है। विशेष स्पष्टीकरणके लिये इस उपनिषद्ने दो उपमाएं दी हैं—

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः।
देव एकः स्वमावृणोति ॥ श्वे० उ० ६।१०
एकं बीजं बहुधा यः करोति ॥ श्वे० उ० ६।१२

'एक (ऊर्णनाभी) मकडी अपने शरीरमेंसे तन्तु निकालता है' और उसका जाला बनाता है, तद्वत् परमात्मा अपने शरीरमेंसे तन्तु निकालता और उसकी सृष्टि रचता है। दूसरी उपमा बीजकी है। एक बीज वृक्षरूप होकर अनेक बीजोंमें परिणत होता है।

ये दोनों उदाहरण केवल इतनाही सूचित करनेके लिये यहां दिये हैं, कि यह विश्वरूप उसी परमात्मासे बन गया है, यह बात पाठकोंके मनमें स्थिर हो जाय। अस्तु।

श्वेताश्वतरोपनिषद्में इस ढंगसे परमात्माके विश्वरूप होनेकी बात विशद की है। यहां तक ग्यारह उपनिषदोंमें जो विश्वरूपका वर्णन आया है वह संक्षेपसे यहां दिया है। इसका बहुत विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। इन मुख्य उपनिषदोंमें विश्वरूपी परमात्माका स्वरूप बताया है इतनीहि बात यहां दर्शानी थी। जो वेदमंत्रोंमें है, वही उपनिषदोंमें और वही गीतामें लिया गया है, इतनाही नहीं प्रत्युत हम इतना भी कह सकते हैं कि वेद और उपनिषदोंमें जो अधिक विस्तारके साथ कहा गया है, वही संक्षेपके साथ भगवद्गीतामें कहा हुआ है। पाठक यहां दिये हुए वचनोंकी तुलना करेंगे तो वे इसी परिणामको पहुंचेंगे। इन ग्यारह उपनिषदोंके विश्वरूपी परमात्माके वर्णन एकवार देखनेके पश्चात अन्य उपनिषदोंके इस विषयके वर्णन देखनेकी आवश्यकता नहीं है। तथापि पाठकोंकी सुबोधताके लिये यहां विश्वरूपी परमात्माके वर्णनके कुछ वाक्य मनन करनेके लिये देते हैं—

१ एष वै विश्वरूप आत्मा। छां० उ० ५।१३।१
२ छन्दसामृषभो विश्वरूपः। तै० उ० १।४।१; महानारा० ७।५
३ अनन्तश्चात्मा विश्वरूपः। श्वे० उ० १।९
४ तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यम्। श्वे० उ० ६।५
५ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसम्। मैत्री उ० ६।८; प्रश्न० उ० १।८
६ ते विश्वरूपाय नमः। मैत्री उ० ७।७
७ विश्वरूपाय वै नमः। महानारा० १२।१
८ स एष वैश्वानरो विश्वरूपः। प्रश्न उ० १।७
९ विश्वरूपोऽसि ब्रह्मैकस्त्वं। शिरस् उ० ८
१० वैश्वानरो विश्वरूपः। प्राणाग्नि उ० २
११ त्वाष्ट्रो विश्वरूपः। बृ० उ० २।६।३; ४।६।३;
१२ विश्वेश्वर विश्वरूप। भ० गीता ११।१६

(१) यह आत्मा निश्चयसे विश्वरूपी है, (२) छन्दोंमें विश्वरूप आत्माका वर्णन है; (३) अनन्त आत्मा विश्वरूप है, (४) संसारके सब भूतोंद्वारा स्तुति करने योग्य यह विश्वरूपी आत्मा है, (५) सबका हरण करनेवाला विश्वरूपी आत्मा ज्ञानका दाता है, (६-७) विश्वरूपी आत्माके लिये नमस्कार हो, (८) जो संपूर्ण विश्वमें जो नर स्वरूप आत्मा है वही विश्वरूपी है, (९) जो ब्रह्म है वह विश्वरूपी है, (१०) जो विश्वका नेता है वह विश्वरूपी देव है, (११) जो सब रूपोंको बनानेवाला है वही विश्वरूपी देव है, (१२) जो विश्वका ईश्वर है वह विश्वरूप देव है।

इस तरह उपनिषदोंमें विश्वरूप परमात्माके संबंधमें स्पष्ट निर्देश हैं। ये मंत्रभाग असंदिग्ध

हैं इसलिये इनका अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। अब अथर्ववेदका एक उच्छिष्ट सूक्त है उसका थोडासा विचार करते हैं—

अथर्ववेदका उच्छिष्ट सूक्त।

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ १ ॥
उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥ २ ॥
सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥ ३ ॥
दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥ ४ ॥
ऋक्साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिंकार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥ ५ ॥
ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम्।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥६॥
राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥७॥
अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामः प्रच्छन्दसा सह।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ८ ॥
अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः।
दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥९॥
एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥१०॥
चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥ ११ ॥
प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥ १२ ॥
सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥ १३ ॥
नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥ १४ ॥
उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥ १५ ॥
पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥ १६ ॥
ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥
समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥१८॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥१९॥
अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह।
उच्छिष्टे घोषिणीरापस्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥२०॥
शर्कराःसिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ २१ ॥
राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥
यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २३ ॥
ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ॥ उ० ॥ २४ ॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ॥ उ० ॥ २५ ॥

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये ॥उ०॥
॥ २६ ॥
देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः
॥ २७ ॥
अथर्व० ११।७

भगवद्गीताके विश्वरूपदर्शनका विचार करने के समय इस सूक्तका विचार करना आवश्यक है, इस सूक्तमें मंत्र १ से २२ तक के बाईस मंत्रोंमें 'उच्छिष्ट' देवतामें सब कुछ है ऐसा कहा है और अन्तके पांच मंत्रोंमें (अर्थात् २३ से २७ तक के मंत्रोंमें) 'उच्छिष्ट' देवतासे सब कुछ बना है ऐसा कहा है। अर्थात् पहिले २२ मंत्रोंमें 'मिट्टीमें घडे हैं' ऐसा कहा है और अन्तके ५ मंत्रोंमें 'मिट्टीसे घडे हुए हैं' ऐसा कहा है। पाठक इस बातका विचार करें।

'मिट्टीमें घडे रहते हैं' और 'मिट्टीसे घडे बने हैं' इसका स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे उससे पूर्व पूर्वोक्त उच्छिष्ट सूक्तका अर्थ और भावार्थ देखेंगे--

"उच्छिष्टमें नाम रूप और सब लोक रहे हैं। इन्द्र अग्नि तथा संपूर्ण विश्व इसीमें समाया है ॥ १ ॥ द्युलोक भूलोक और सब कुछ वस्तुमात्र इसीमें रहा है। जल, समुद्र, चन्द्रमा, वायु सभी इसीमें है। ॥ २ ॥ सत्, असत्, प्रजापति मृत्यु बल, लौकिक वस्तु उच्छिष्टमें हैं। (ब) स्वीकार करने योग्य वस्तु तथा (द्र) विनाश के योग्य वस्तु तथा (श्री) शोभा मुझमें हैं ॥ ३ ॥ सुदृढ, बलिष्ठ, स्थिर, समर्थ ब्रह्म है। विश्व उत्पन्न करनेवाले दस देव हैं, नाभिके चारों ओर आरे होते हैं इस तरह ये सब देव इस उच्छिष्टमें रहते हैं ॥ ४ ॥ ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, उद्गीथ, प्रस्ताव, स्तुति, हिंकार, स्वर, सामके आलाप, इन्द्राग्नीसूक्त, पवमानसूक्त, महानाम्नी, महाव्रत, यज्ञके सब अंग, राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अध्वर, अर्काश्वमेध, आनन्ददायक जीवनमय दर्भ, अग्न्याधान, दीक्षा, काम, छन्दोंके साथ यज्ञ, सब प्रकारके सत्र, अग्निहोत्र, श्रद्धा, वषट्कार, व्रत, तप, दक्षिणा, इष्ट पूर्त, एकरात्र क्रतु, द्विरात्र, सद्यक्रीः, प्रक्रीः, उक्थ्य, यज्ञके सूक्ष्म विधि ये सब उच्छिष्टमें हैं ॥ ५-१० ॥ चतूरात्र, पंचरात्र, षड्रात्र, षोडशी, सप्तरात्र, ये सब यज्ञ उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए और अमृतमें रहे हैं ॥ ११ ॥ प्रतीहार, निधन, विश्वजित्, साम्हातिरात्र, द्वादशाह, शुभता, नमन, क्षेम, स्वधा, शक्ति, अमृत और सामर्थ्य, सब प्रकारके काम पूर्ण संतुष्टीके साथ पूर्ण होकर उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ १२-१३ ॥ नौ भूमियां, समुद्र, आकाश ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं, सूर्य उच्छिष्टमें प्रकाशता है और अहोरात्र मुझमें हैं। उपहव्य, विषवान् जो यज्ञ वह्निमें रहते हैं, जो जनकका पिता विश्वका धारण करता है वही यज्ञोंका धारण करता है। विश्वके जनकका पिता, प्राणका पोता, सबका पितामह ये सब विश्वके पालन करनेवालेके साथ विजयी हो उच्छिष्टके साथ रहते हैं ॥ १४-१६ ॥ ऋतु सत्य, तप, राष्ट्र, श्रम, धर्म, कर्म, भूत, भविष्य, वीर्य, लक्ष्मी, बल, समृद्धि, शक्ति, व्यवसाय, क्षात्रबल, राष्ट्र, छः भूमि, संवत्सर, वाणी, दान, ग्रह, हवि, चार होता, आग्नि देवता (अग्नि), चातुर्मास्य, निविद्, सब यज्ञ, होत्र, पशु बन्ध सब इष्टियां, अर्धमास, मास, ऋतु, अयन ऋतुओंके साथ, जल मेघ गर्जना, बडा शब्द, रेत, वालु, पत्थर, औषधियां, वनस्पतियां, घास, अभ्र, विजलियां, वृष्टि, ऋद्धि, प्राप्ति, समाप्ति, व्याप्ति, पूर्ण विस्तार, उन्नति, अति समृद्धि यह सब उच्छिष्टमें रहा है ॥ १७-२२ ॥ जो प्राणके द्वारा जीवन करता है और जो आंखसे देखता है वह सब तथा, द्युलोकके आश्रयसे रहनेवाले सब देव (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २३ ॥ ऋग्वेद, सामवेद, छन्द, पुराण, यजुर्वेद, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अविनाश, विनाश, आनन्द

हर्ष, प्रमोद, ऋषी, संतोष, देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सराएं, तथा द्युलोकके आश्रयसे रहनेवाले देव ये सब उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २४-२७ ॥ "

यह इस सूक्तका सरल अर्थ है। पहिले ये सब गिनाये पदार्थ उच्छिष्टमें हैं उच्छिष्टके आधारसे रहते हैं ऐसा कहा है। और पश्चात् ये सब पदार्थ उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए ऐसा कहा है। जैसा हमने पहिले कहा कि 'घडा मिट्टीमें है' और 'घडा मिट्टीसे उत्पन्न होता है' इसी तरह यह संपूर्ण विश्वरूपी घडा उच्छिष्टरूपी मिट्टीमें रहता है और वह उसी उच्छिष्टरूपी मिट्टीसे उत्पन्न होता है। घडा मिट्टीसे बना है यह सब कोई जानते हैं, वह बननेके पश्चात् भी मिट्टीके आधारसे ही रहता है, क्यों कि घडा मिट्टीहीका होता है, बननके पूर्व भी मिट्टीमें ही था और नाशके पश्चात् मिट्टीहीमें जा मिलेगा। सोनेका आभूषण सोनेसे बनता और सोनेमें ही रहता है। इसी तरह यह विश्व उच्छिष्टसे बनता और उच्छिष्टमें ही रहता है। इतने विवरणसे पाठकोंके मनमें उच्छिष्टके विश्वरूपकी कल्पना आगयी है। उच्छिष्टने ही यह विश्वका रूप धारण किया है, जैसा सोना विविध आभूषणोंके रूप धारण करता है अथवा मिट्टी विविध घडोंका रूप धारण करती है।

उच्छिष्टका अर्थ यहां अवशिष्ट (उत्) ऊर्ध्व-भागमें (शिष्ट) अवशिष्ट रहा हुआ परमात्मा है।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि
त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ॥ ऋग्वेद १०।९०

'इस परमात्माके एक अंशसे सब भूत बने हैं और शेष सब परमात्मा अपने दिव्य भावमें रहा है।' अर्थात् यह विश्व उसके अल्प अंशसे बना है, इतना यह अल्प है और वह महान है। वह ऊर्ध्व भागमें अविशिष्ट रहा परमात्मा ही यहां उच्छिष्ट नामसे कहा है। परमात्माका दूसरा नाम 'यज्ञ' है और यज्ञका अवशेष भी 'उच्छिष्ट' कहलाता है। इस परमात्मरूप महान यज्ञका अवशिष्ट भाग जो है उससे यह सब विश्व बना है, ऐसा भी आशय यहां लिया जा सकता है। यज्ञ जैसा पवित्र है वैसा उच्छिष्टरूप यज्ञावशेष भी एक पवित्र भाग है। इस तरह इस विश्वका मूल कारण अत्यंत पवित्र है। इस तरह यह सब विश्व इस यज्ञरूप परमात्मासे बना है और परमात्माके आधारसे रहा है और विनाश होनेके पश्चात् परमात्मामें हि मिल जायगा। क्यों कि बननेके पूर्व भी यह उसी परमात्माके रूपमें था। यह आशय यहां स्पष्ट हो चुका है। अब इस सूक्तके मंत्रोंके साथ गीताके वचनोंकी तुलना करनी है-

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मंत्रोहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥
गी० ९-१६

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि ॥ गी० १०-२५

" मैं (ईश्वर) क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधि, मंत्र, घृत, अग्नि और हवन हूं, मैं ही यज्ञोंमें जप यज्ञ हूं।" यही बात इस सूक्तमें निम्नलिखित मंत्रोंमें कही है—

उच्छिष्टे इन्द्रश्चाग्निश्च। (मं० १)
ऋक्साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिंकार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥
(५)

उच्छिष्टे यज्ञस्यांगानि। (मं० ६)
राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥ (७)
एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः।
(१०)

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥ (११)
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः।

उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥
(१९)

स्वधा । (१३)

ओषधयो वीरुधस्तृणाः । उच्छिष्टे श्रिताः ।
(२१)

इस तरह उच्छिष्ट सूक्तमें उच्छिष्टमें यज्ञ मंत्र औषधि आदि रहती हैं ऐसा कहा है। जो उच्छिष्टमें है वही (मयि) मुझमें, आत्मामें, ईश्वरमें है, यह इन मंत्रोंका आशय स्पष्ट है। जो मंत्रोंमें विस्तारके साथ कहा गया है वही भगवद्गीतामें एक श्लोकमें संक्षेपसे कहा है। उच्छिष्ट सूक्तमें यज्ञके पचीस नाम गिनाये हैं परंतु गीतामें 'क्रतु' और 'यज्ञ' ये दो ही नाम हैं। गीतामें 'मंत्र' इतना ही कहा है, परंतु उच्छिष्ट सूक्तमें चार वेद साम तथा अन्य मंत्रोंके नाम हैं। स्वधा औषधि आदि सब दोनों स्थान में समान हैं। और यह सब परमेश्वरके याज्ञिक विश्वरूपमें समाया है यही दोनों स्थानोंमें आशय स्पष्ट है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च । (गी० ११-३९)

अग्निः (मं० १), चन्द्रमा, वातः (मं० २), मृत्युः, प्रजापतिः (मं०३) इस रीतिसे जो परमात्माका विश्वरूप गीतामें बताया वही उन शब्दोंसे उच्छिष्ट सूक्तमें कहा है, उच्छिष्टमें ये हैं और ये सब उच्छिष्टसे हुए हैं और उच्छिष्टके आधारसे रहते हैं। तथा—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।
(गी० ९-१९)

तपः (मंत्र ९), वर्ष (मं०२१), मृत्युः, सत् असत् (मं० ३) इस तरह मंत्रोक्त शब्द ही भगवद्गीतामें लिये हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
(गी० १०)

ऋतं सत्यं तपः (मं० १७), समृद्धिः (मं० १८), राद्धिः (मं० २२), आनन्दः मोदः, (मं०२६),क्षितिः अक्षितिः (मं० २५) इन मंत्रोंमें जो कहा कि ये सब भाव (उच्छिष्टात् जज्ञिरे सर्वे) उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं, वही आशय गीतामें ये भाव (भवन्ति भावा भूतानां मत्तः) मुझ आत्मासे हुए हैं ऐसा ही कहा है। यहां की वाक्यरचना दोनों स्थानोंकी बिलकुल समान है और यहां शंका करनेके लिये कोई स्थान नहीं है।

इस तरह उच्छिष्ट सूक्तके विधानोंके साथ गीताके कथनका साम्य है। यहां जितना बताया है उससे अवशिष्ट भागका भी साम्य है, परंतु सम्पूर्ण रूपसे बतानेकी आवश्यकता नहीं है। इतनेहीसे पाठक स्वयं तुलना कर सकते हैं। भगवद्गीतामें—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(गी० ७-७)

'मुझ ईश्वरमें यह सब प्रोया है, जैसे सूत्रमें मणि रखे होते हैं।' इसी तरह "उच्छिष्टमें सब कुछ है" ऐसा इस सूक्तमें कहा है। तथा—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥
(गी० १०-८)

"मैं सबकी उत्पत्ति हूं, मुझसे सब होता है।" ऐसा जो गीतामें कहा है उसके साथ 'उच्छिष्टसे सब उत्पन्न होता है' ऐसे मंत्रोंकी तुलना करनी चाहिये।

गीता	उच्छिष्टसूक्त
मयि सर्वमिदं प्रोतं ।	उच्छिष्टे सर्वं समाहितं
मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।	उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ।

इस तरह गीताका कथन और वेदका कथन

बिलकुल एकजैसा है। एक ही कल्पना जो वेदमंत्रोंमें कही है वही भगवद्गीतामें अनुवादित की गई है। इस तरहका साम्य देखनेसे मंत्रोंके अर्थ और गीताके वचनोंके अर्थ निश्चित हो सकते हैं। इस तुलनाका यह लाभ है। अब शब्दब्रह्मका विश्वरूप देखिये--

शब्दब्रह्मका विश्वरूप।

जैसा साक्षात् परब्रह्म है और उसका विश्वरूप स्थिरचर आदि संपूर्ण विश्व है वैसाही शब्द ब्रह्म है और उसका विश्वरूप संपूर्ण शब्दसृष्टि है। ज्येष्ठ-ब्रह्मका विश्वरूप कैसा है यह विषय समझानेके लिये, शब्दब्रह्मका शब्दसृष्टिरूपी विश्वरूप पहिले समझाना चाहिये। इसके समझनेसे परब्रह्मके विश्वरूपका ज्ञान होता है।

ज्येष्ठ-ब्रह्म	शब्दब्रह्म
विश्वरूप	विश्वरूप
संपूर्ण वस्तुसृष्टि	संपूर्ण शब्दसृष्टि

इस तरह ज्येष्ठ ब्रह्मके विश्वरूपके समान शब्दब्रह्मके विश्वरूपकी समानता है। अतः शब्द-ब्रह्मके विश्वरूपकी अर्थात् संपूर्ण शब्दसृष्टिकी योग्य कल्पना हो गई तो ज्येष्ठ ब्रह्मकी विश्वरूपी संपूर्ण वस्तुसृष्टिकी कल्पना हो सकती है। उपनिषद्में कहा है—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेका-
न्निहितार्थो दधाति। विचैति चान्ते विश्व-
मादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया
संयुनक्तु॥ (श्वे० उ० ४।१)

'(एकः अवर्णः) एक वर्णहीन (बहुधा शक्तियोगात्) अपनी शक्तिसे (अनेकान् वर्णान्) अनेक वर्णोंको (निहितार्थः दधाति) निश्चित हेतुसे धारण करता है। (सः देवः) वही देव, वही ईश्वर (विश्वं विचैति) संपूर्ण विश्वको इकठ्ठा करता है। वह देव हमें शुद्ध बुद्धिसे युक्त करे।'

इसमें प्रथम भागमें कहा है, कि 'एक अवर्ण अनेक वर्णोंको उत्पन्न करता है' अर्थात् एक ध्वनि किंवा एक अस्फुट शब्द अनेक स्फुट शब्दोंको निर्माण करता है। यही शब्दब्रह्मका विश्वरूप है।

केवल ध्वनि अर्थहीन होता है, परंतु वह निश्चित अर्थवाले शब्दोंमें परिणत होनेपर निश्चित अर्थ प्रकट करनेमें समर्थ होता है। शब्दकी उत्पत्ति इस तरह होती है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते
विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेर-
यति मारुतम्॥६॥ मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं
जनयते स्वरम्॥७॥ सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो
वक्त्रमापद्य मारुतः॥ वर्णान् जनयते तेषां
विभागः पञ्चधा स्मृतः॥८॥

(पाणिनीय शिक्षा)

"आत्मा बुद्धिके साथ संयुक्त होकर कुछ भावको प्रकट करनेकी इच्छासे मनको नियुक्त करता है। वह मन शारीर अग्निपर आघात करता है, वह अग्नि वायुको प्रेरणा करता है। वह वायु छातिमें संचार करने लगता है और मन्द्र स्वर उत्पन्न करता है। वह मुखमें विभिन्न स्थानोंमें आकर विविध वर्णोंको उत्पन्न करता है।"

इस तरह एक स्वरके अनेक स्वर होते हैं, एक वर्णके अनेक वर्ण होते हैं, एक अवर्णसे अनेक सुवर्ण शब्द प्रकट होते हैं। यहां शब्दकी अवस्थाएं कितनी हैं सो देखिये—

१ सबसे प्रथम आत्मा बुद्धिके साथ मिलकर कुछ भाव व्यक्त करना चाहता है। यह पहली अवस्था है। यहां शब्द आत्मा बुद्धिरूपही है।

२ वह आत्मा बोलनेकी इच्छासे मनको नियुक्त करता है यहां मनको कुछ संदेश मिलता है। यह दूसरी अवस्था है। यहां शब्दने मनका रूप धारण किया है।

३ मन आत्माका संदेश प्रकट करनेकी इच्छा-से शारीर अग्निको ताडन करके वायुको प्रेरित

करता है। इस तिसरी अवस्थामें शब्दने वायुका रूप धारण किया है। यह वायु हृदयसे संचारित होनेके समय मन्द्र शब्द करता है।

यहां तक (एकः अवर्णः) वर्णहीन रूप इस शब्दका होता है। यही अवर्ण शब्द अनेक वर्णोंसे युक्त शब्दकी उत्पत्ति करेगा, उसका क्रम देखिये-

४ वही आत्माका संदेश प्रकट करनेके लिये जो मन्द्र शब्द छातिमें हुआ वह कण्ठ तालु मूर्धा दन्त और ओष्ठ इन पांच स्थानोंमें जाकर उन स्थानोंके वर्णोंमें परिणत होता है।

यही (एकः अवर्णः अनेकान् वर्णान् दधाति) एक अवर्ण अनेक वर्णोंको धारण करता है. ऐसा कहा है। यहां यह प्रकट शब्द होता है और अपने अन्दरसे लाया हुआ आत्माका आशय प्रकट करता है। अस्फुट शब्द स्फुट शब्दमें परिणत होता है। इस शब्दका विलास और विकास इस तरह होता है-

१ आत्मा+बुद्धि की विवक्षा

|

२ मनमें आत्माका संदेश

|

३ अग्निद्वारा प्रेरित वायुमें स्थिति

|

४ हृदयमें वायुसे मन्द्र शब्दकी उत्पत्ति

|

५ मुखमें विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न अक्षरोंसे प्रकट शब्दकी उत्पत्ति

|

६ इन अक्षरोंसे शब्द और शब्दोंसे संपूर्ण भाषाओंका विस्तार।

अस्पष्ट शब्दसे स्पष्ट शब्द ऐसे होते हैं और संपूर्ण भाषाओंका विश्वरूप इस तरह बना है। आत्मासे वायुतक जो शब्द है वह अव्यक्त स्थितिमें है. कण्ठसे प्रकट होनेपर उसे व्यक्त स्थिति प्राप्त होती है। व्यक्त और अव्यक्त एकही शब्द है, अनन्त शब्दसृष्टि एकही अव्यक्त शब्दका प्रकट रूप है। यह जो जानते हैं वे शब्द-ब्रह्मका विश्वरूप जान सकते हैं। इसका और विवरण देखिये—

छातिमें जब वायु संचारित होता है तब कुछ अस्पष्ट शब्द होता है। वह मुखमें प्रवेश करता है, तब सबसे प्रथम कंठमें कण्ठय वर्ण बनते हैं। पश्चात् तालु, मूर्धा, दन्त्य, ओष्ठ्य वर्ण उसी अस्पष्ट शब्दके बनते हैं, जिनका आगे बहुत भाषाविस्तार होता है।

१ कण्ठमें सबसे प्रथम 'अ' कार उत्पन्न होता है।

२ यही 'अ'कार तालुस्थानमें 'इ' कारका रूप धारण करता है।

३ वही 'अ'कार मूर्धा स्थानमें 'ऋ' कारका रूप लेता है।

४ वही 'अ'कार दन्त्य स्थानमें 'लृ' कार का रूप स्वीकारता है।

५ और वही अकार ओष्ठस्थानमें 'उ' बनता है।

इस तरह एकही 'अकार' स्थानभेदसे 'अ, इ, ऋ, लृ, उ' इन पांच वर्णोंमें परिणत होता है। 'अ'कारका विश्वरूप ये पांच स्वर और उनका ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत, उदात्त-अनुदात्त स्वरित तथा सानुनासिक-निरनुनासिक आदि भेदोंसे अनन्त रूपोंमें प्रकट होता है।

मूल स्वर 'अ'

अकारसे बने पांच स्वर-	अ इ ऋ लृ उ
इससे बने पांच व्यंजन-	ह य र ल व
येही वर्ण हकारके बडे दबावके साथ-	घ झ ढ ध भ
हकारका दबाव न्यून करनेसे-	ग ज ड द ब
दबाव बहुत कम करनेसे-	क च ट त प
हकारका कुछ दबाव डालनेसे-	ख छ ठ थ फ
नाकमें उच्चारण करनेसे-	ङ ञ ण न म

इनमें स्वर मिलनेसे प्रत्येक व्यंजनके कमसे कम बारह अक्षर बनते हैं, अधिक बनाने हों तो बहुतही बनेंगे। इस तरह सहस्रों अक्षर एक अकारके रूपान्तरित होकर बनते हैं, मानो एकही अकार इतने सहस्रों अक्षरोंके रूप धारण करता है।

इतने अक्षर बननेके पश्चात् एक या अनेक अक्षर मिलकर शब्द बनते हैं और अनेक शब्दोंकी भाषा होती है। भाषामें नये नये शब्दभी बनते रहते हैं। एक 'अ' कार का यह शब्दविस्तार देखनेसे 'अ' कारके विश्वरूपकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है। जगत्में जितनी भाषाएँ हैं, उनके सब शब्द इसी तरह एकही अकारके रूप हैं, अतः गीतामें कहा है—

अक्षराणामकारोऽस्मि। (गी० १०।३३)

'सब अक्षरोंका मैं अकार हूं।' अर्थात् जैसा एकही अकार संपूर्ण अक्षरोंमें परिणत होकर भाषारूप बन गया, उसी प्रकार एकही विश्वात्मा विविध वस्तुओंके रूप बनकर विश्वरूपी बना है।

पशुपक्षियोंके शब्द भी इसी अकारके ही रूप हैं। जितनेभी शब्द हैं वे सब इसी अकारके रूप हैं। अर्थात् इस अकारका विश्वरूप भाषा है। इस भाषामें कई शब्द पुंलिंग, कई स्त्रीलिंग, कई नपुंसकलिंग होते हैं। इसी तरह इस विश्वरूपमें कई पुरुष, कई स्त्रियां और कई नपुंसक होते हैं। इस प्रकारका साम्य देखने योग्य है।

इतने विस्तृत विवरणसे पाठक शब्दब्रह्मका विश्वरूप जान गये होंगे। जो नहीं समझे होंगे उनको विचार करके यह जानना उचित है। जब शब्दका विश्वरूप समझमें आजायगा, तब दूसरे विश्वरूप उसी तरह समझमें आजायंगे।

भांप, पानी और बर्फ (ओले) ये तीन पदार्थ हैं, परंतु ये तीनों पदार्थ एकही जलके रूप हैं। बर्फकी अनंत मूर्तियां बनायीं जा सकती हैं, ये सब जलके विश्वरूप हैं। भांप, पानी और बर्फके गुणधर्मभी विभिन्न हैं, एकही जलके इतने विभिन्न गुणधर्मवाले पदार्थ हो सकते हैं। वस्तु एक होनेपरभी उससे विभिन्न गुणधर्मवाले पदार्थ होते हैं और उनसे विभिन्न प्रयोजनभी सिद्ध हो सकते हैं। अर्थात् विभिन्न अनुभव आनेसे मूल वस्तुओंका भेद सिद्ध नहीं हो सकता।

एकही सोनेके जेवर अनंत होते हैं, कई मस्तकमें, कई छातीपर, कई हाथमें और कई कमरमें डाले जाते हैं। मस्तकमें डालनेका जेवर कमरमें डाला नहीं जा सकता, इतना भेद होनेपरभी उन सबका सोनेपन दूर नहीं हो सकता। इसी तरह शब्दोंकी विविधता होनेपर भी वे सब शब्द एकही अकारके विविध रूप हैं यह भी पूर्वोक्त रीतिसे सिद्धही है।

यहां कोई प्रश्न पूछ सकता है, कि अकारके रूप बदलनेके लिये मुखके कंठादि स्थान कारण होते हैं, सोनेके जेवर बननेके लिये सुनार आदि कारण हो सकते हैं। इस तरह ज्येष्ठ ब्रह्मका विश्वरूप होनेमें कोई दूसरा कारण होनेकी संभावना नहीं है। अतः ज्येष्ठ ब्रह्म विश्वरूप कैसा हुआ?

यह शंका युक्तियुक्त है। इसका उत्तर मांडूक्य उपनिषदूमें चतुष्पाद आत्माके वर्णनसे दिया है—

१ जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः।
२ स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः।
३ सुषुप्तस्थानः एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयः।
४ अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा।

(माण्डूक्य १-८)

'जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और चतुर्थी तुर्यावस्था ये चार अवस्थाएँ आत्माकीही हैं।

अर्थात् जाग्रतिमें दीखनेवाला अनंत संसार, स्वप्नमें दीखनेवाला भास, सुषुप्तिमें होनेवाला अभास ये सब आत्माकेही रूप हैं । अर्थात् यहां दूसरी कोई सद्वस्तु नहीं है एकही एक सद्वस्तु है, जिसके ये विविध रूप हैं । उपनिषद् एकही इस सद्वस्तुका वर्णन करते हैं-

१ [सर्वं ह्येतद् ब्रह्म ।] अयमात्मा ब्रह्म । [सोऽयमात्मा चतुष्पाद् ।]
२ अहं ब्रह्मास्मि ।
३ तत्त्वमसि ।
४ सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।

ये सब महावाक्य हैं और ये सब वाक्य उपनिषद्विद्याका सार हैं । एक सद्वस्तुकी सत्ता सर्वत्र है, यह बात इनसे सिद्ध होती है ।

मिट्टीके अनंत पात्र, तांबे पीतलके अनंत बर्तन, चांदी सोनेके अनेक जवर, कपासके अनंत वस्त्र, अकारके अनंत शब्द, इसी तरह एक ब्रह्मका यह सब विश्वरूप है । सूक्ष्म विचार करते करते, अनुभव देखते देखते, वेदादि ग्रंथोंके वचनोंका मनन करते करते यह बात समझमें आ-सकती है कि ब्रह्मका अथवा आत्माका यह सब विश्वरूप कैसा है ।

वैदिक धर्मका तत्त्व यथावत् जाननेके लिये आत्माका विश्वरूप जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है । इसके जाननेके विना वैदिक धर्मका कोई सिद्धान्त यथावत् जानना असंभव है । इसलिये गीताका विश्वरूपदर्शन वैदिक धर्मका तत्त्वज्ञान यथावत् समझनेकी कूंजी है ।

अखण्ड विश्वरूप ।

यह विश्वरूप अखण्ड आत्माका अखण्ड रूप है, इस विश्वरूपमें मेरा रूप संमिलित है । अतः मैंभी विश्वरूपमें संमिलित हुआ हूं, मैं विश्वरूपसे पृथक् नहीं हूं । मेरे समेत सबके रूप इस अखंड विश्वरूपमें एकरूप हो चुके हैं । इस विश्वरूपमें मैं और मुझसे भिन्न ऐसी नाना वस्तुएँ नहीं हैं । सब मिलकर एकही अखण्ड अटूट अनन्त विश्वरूप है ।

वैदिक धर्मके सिद्धान्त ।

इतना माननेपर वैदिक धर्मके सिद्धान्त कैसे स्पष्ट होते हैं यह बात अब देखिये—

प्रश्न- ' अहिंसा ' का पालन क्यों करना चाहिये ?

उत्तर- यहां एकही अखण्ड वस्तु होनेसे किसीकी हिंसा करनेका प्रयत्न करनेसे वह हिंसा अपनीहि हिंसा होती है । अपना घात करना यह सर्वकाल अयोग्यहि है, अतः अहिंसाका पालन करना मनुष्यका धर्म है । हिंसावृत्तिसे दूसरेका नाश होता है ऐसा दिखाई देता है, परंतु अन्तमें अपनाही नाश होता है, क्योंकि यहां दूसरा कोई नहीं है । एकही आत्मा है, वह अपनीहि हिंसा करेगा तो आत्मघातहि होगा । अज्ञानी मनुष्य अज्ञानके कारणहि हिंसा करते हैं और पछताते हैं । अतः अहिंसा धर्म है ।

प्रश्न— 'सत्य' का पालन क्यों करना चाहिये ?

उत्तर- मनुष्य इसीलिये असत्य बोलता है कि वह मानता है कि मुझसे भिन्न दूसरा मनुष्य है, वह मुझसे भिन्न है मैं उसके साथ असत्य-कपट-छल आदि करूंगा तो उससे मुझे लाभ होगा । इस लाभेच्छासे वह असत्य बोलता है । यदि उसे विदित हो जाय कि यहां एक ही आत्मा है, यहां दूसरा कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, दूसरेके साथ असत्य व्यवहार करना अपने आपको ही ठगाना है, तो वह कदापि असत्य व्यवहार करेगा ही नहीं, क्योंकि वह समझेगा कि जो असत्य व्यवहार मैं दूसरेके साथ करूंगा वह मेरे साथ ही होगा । इस तरह सत्य-पालन मनुष्यका धर्म है ।

प्रश्न- ' अस्तेय ' व्रतका पालन क्यों करना चाहिये ?

उत्तर—दूसरेके वस्तुकीहि चोरी होती है । जब सब विश्व एक ही आत्माका रूप बनेगा तब

कौन किस की चोरी करेगा, अपनीहि वस्तुकी चोरी कोई कर नहीं सकता। इसी उद्देश्यसे यजुर्वेदमें कहा है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥
(वा० यजु ४० ; ईश उ०)

"ज्ञानीको जिस अवस्थामें सब भूत आत्माही हुआ, उस अवस्थामें (एकत्वं अनुपश्यतः) एकत्वका दर्शन करनेवाले उस ज्ञानीको शोक और मोह क्यों कर हो सकता है ?' जैसा शोक मोह नहीं होगा वैसाही उसको स्तेय करनेका भाव भी नहीं होगा, क्योंकि चोरी करना मोहका ही परिणाम है। सब एकही अखण्ड वस्तु है ऐसा ज्ञान होते ही हिंसा, असत्य, चोरी आदि करनेके भाव स्वयं हट जाते हैं।

प्रश्न— 'ब्रह्मचर्य' का पालन क्यों करना चाहिये ?

उत्तर—संपूर्ण विश्व ब्रह्मका रूप हो चुकनेपर सभी चालचलन ब्रह्मचर्यरूप ही होता है। तथापि व्यवहार अवस्थामें भी सर्वत्र एक अखण्ड वस्तु ही है ऐसा ज्ञान होनेसे सभी ब्रह्मरूप होता है। इसलिये सच्चा ब्रह्मचर्य विश्वरूपके ज्ञानके पश्चात् ही होता है, तबतक उस अधिकारको प्राप्त करनेके लिये वीर्यरक्षारूप ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यकही है। वस्तुतः सभी इंद्रियोंका संयमही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य-भ्रष्टताका नाम व्यभिचार है, वह व्यभिचार परमेश्वरका अखण्ड एकरस रूप है ऐसा जाननेपर कैसा हो सकता है ? क्योंकि जिसके साथ इसने व्यभिचार करना है वह भी ईश्वरका रूप है ऐसा जाननेसे उसका व्यभिचारी भावही समूल नष्ट हो जायगा और उसका अखण्ड ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा, इसमें क्या संदेह है ?

प्रश्न— 'अपरिग्रह' का पालन क्यों करना चाहिये ?

उत्तर— परिग्रहका नाम भोगसाधनोंका संग्रह है। भोगसाधनोंका अपने पास अत्यधिक संग्रह करनेका नाम परिग्रह है। इस परिग्रहका भाव बढ जानेके कारणही जनसमूहमें दुःखोंकी वृद्धि होती है। क्योंकि जो मनुष्य अपने पास भोग साधन बढाता है वह दूसरोंके उतने भोग छीनता है, इसलिये परिग्रहवृत्ति सब दुःखोंका कारण है। अतः मानवसमाजको सुख पहुंचानेके लिये अपरिग्रहवृत्ति धारण करनी चाहिये। मुख्य बात यह है कि सभी विश्व एकही अखण्ड आत्मा हुआ तो दूसरोंसे भोग छीनना और अपने पास भोगसाधन बढाना, इसका आशय 'अपने भोग छीनना और अपनाही दुःख बढाना' ऐसा होता है। इसलिये अपरिग्रहका पालन मानवधर्म है।

इसी तरह अन्यान्य धर्मनियमोंका पालन करना क्यों आवश्यक है, इस बातका निश्चय 'विश्वरूपी एक अखण्ड आत्मा' की कसौटीसे हो सकता है। पाठक इसका निश्चय करना सीखें। यह धर्म है, और यह अधर्म है, इसका निर्णय इस रीतिसे हो सकता है।

व्यक्ति धर्मका-निश्चय।

विश्वरूपका तत्त्व व्यक्तिमें भी देखने योग्य है। इससे व्यक्तिधर्मका निश्चय हो सकता है। साधक अपनेही शरीरमें देखे और विचार करे, इस शरीरमें केश, नाखून, हड्डी, मांस, मज्जा, रुधिर आदि विभिन्न पदार्थ हैं। ये पदार्थ भिन्न होते हुए भी शरीरकी दृष्टिसे भिन्न नहीं हैं। आंख, नाक, कान, मुख, हात पांव आदि अवयव विभिन्न हैं, तथापि इनमें भेद होते हुए भी एक ही के ये अवयव हैं। फुन्सी फोडे भी दूर करने योग्य विकार हैं, फोडाभी अपने शरीरकाही भाग है, जहां फोडा होता है वह भाग अपना होते हुए भी काटा जाता है, नाखून अपना होता हुआ भी काटा जाता है, वैसेही बाल काटे जाते हैं।

किसी जगह चमडी बढ जाती है,वह भी काटने योग्य समझी जाती है। अपने शरीरपर फोडा हुआ तो वह अपनेही शरीरका भाग है तथापि वह शीघ्रातिशीघ्र काटा जाने योग्य समझा जाता है और काटकर दूर फेंका जाता है। वह अपना है इसलिये अपने शरीरमें रखा नहीं जाता। दांत (ब्रिज) अपना है परंतु वह हिलने लगा, अपने स्थानसे गिरने लगा, तो उसको शीघ्र हटाया जाता है।

इस तरह अपने देहमें-अध्यात्ममें-जो घटना चल रही है वह देखनेसे, अवयव अपना है इसलिये अपने पासही रखना चाहिये, ऐसी बात नहीं। जो अवयव अपना होता हुआ भी संपूर्ण शरीरको कष्ट देने लगता है उसे काटकर दूर फेंका जाता है। यहां इस तरह काटकर दूर करना ' धर्म ' होता है।

इसी तरह योग्य अन्नका स्वीकार करके शरीर का पोषण करना धर्म है। इसी तरह मलमूत्रको त्यागनाभी धर्म है और फोड फुनसीको काटना भी धर्म है।

इस रीतिसे एकही जीवात्माका रूप यह शरीर है, यह अखंड एक होनेपर भी इसमें दायाँ बायाँ अंग ये भेद हैं। अनेक अंगों अवयवों, इंद्रियों आदिके विभेद अनन्त हैं। ये भेद होते हुए भी 'मैं 'की सत्ता इसमें यावज्जीव रहती है। इसमें अनवश्यक भाग काटा और छाटा जाता है, आवश्यक भाग पुष्ट किया और बढाया जाता है। इस ढंगसे विचार करनेपर इस व्यक्तिके क्षेत्रमें जो धर्म है, इसका ज्ञान हो सकता है।

धर्म जाननेके लिये मनुष्यको अपने क्षेत्रमें-शरीरमें-अध्यात्ममें- जो बातें हो रही हैं, उनका सूक्ष्म दृष्टिसे निरीक्षण करना चाहिये। अपने क्षेत्रका अर्थात् शरीर-इंद्रिय-मन-बुद्धि का विचार करनेका नाम अध्यात्मविचार है। यही अध्यात्मविचार सत्य धर्मका प्रकाश करनेवाला है।

राष्ट्रधर्मका निश्चय।

पूर्वोक्त व्यक्तिके क्षेत्रका अर्थात् अध्यात्म क्षेत्रका मनन करनेसे जैसा वैयक्तिक धर्मका ज्ञान होता है, उसी तरह राष्ट्रधर्मकाभी ज्ञान हो सकता है। क्योंकि जैसे व्यक्तिमें सिर, बाहू, उदर और पांव ये चार अवयव हैं वैसेही राष्ट्रके देहमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार राष्ट्रदेहके अवयव हैं। इनके कार्य समसमानही हैं-

व्यक्तिमें	राष्ट्रमें	कर्म
सिर	ब्राह्मण	ज्ञान
बाहू	क्षत्रिय	संरक्षण
उदर	वैश्य	पोषण
पांव	शूद्र	गमन(प्रगति)

जैसा व्यक्तिका देह 'पुरुष' है, वैसाही राष्ट्रका देहभी ' राष्ट्रपुरुष ' है। इसी पुरुषका वर्णन वेदमें ऐसा किया है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा॥ (ऋग्वेद १०।९०।१)

'सहस्रों सिर, सहस्रों आंख और सहस्रों पांववाला यह (राष्ट्र समाजरूपी) पुरुष है जो पृथ्वीके चारों ओर फैला है।' इसीके मुख ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, उदर अथवा जघा वैश्य और पांव शूद्र हैं।

जैसे शरीरमें अंग अवयव इंद्रिय हैं, वैसेही इस समाज-पुरुषमेंभी हैं। परस्पर-संघटन भी समानही है। अर्थात् जैसा देहमें हाथ पांव सिर और पेटका परस्पर सहाय्य होनेसे शरीरका आरोग्य रहता है, उसी तरह राष्ट्रमें भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रोंकी संघटना होनेसे राष्ट्रका बल बढता है और विघटना होनेसे बल घटता है।

राष्ट्रके देहमें फोडे फुनसीयां आदि होती हैं जैसी कौरवरूपी फोडे इस समयके राष्ट्रके देहमें

हुए अतः उनको काटकर दूर फेकनेका कार्य भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुनके द्वारा कराना पडा।

संपूर्ण मानवसमाज परमेश्वरका विश्वरूप है, जनता जनार्दनका रूप है और वह सबका उपास्य भी है, इसमें संदेह ही नहीं है। तथापि कौरव जैसे दुष्ट लोग समाजको कष्ट देने लगे, अधर्मका फैलाव करने लगे तो उनको समाजरूपी राष्ट्रपुरुषके देहपरके वे फोडे फुनसीयां हैं ऐसा मानकर उनको काटनाही धर्म होता है। अर्जुनको विश्वरूप बताकर, उस विश्वरूपमें कौरव पाण्डवोंको संमिलित हुए बतलाकर, अर्थात् कौरवपाण्डवोंका विश्वरूपका एक भाग जतलाकर, किंवा कौरवपाण्डवोंको परमेश्वरके रूपका एक अंश बतलाकर, पश्चात् कौरवोंको युद्धमें मारा है। कौरव विराट् पुरुषके देहके अवयवही थे, इसमें कोई संदेहही नहीं है, तथापि पाण्डव रक्षा करने योग्य और कौरव मारकर दूर करने योग्य समझे गये।

संपूर्ण मानवसमाजको परमेश्वरका अखंड विश्वरूप माननेके पश्चात् भी एक विभागका दूसरे विभागसे युद्ध होना संभवनीय है, यही धर्म यहां बताना है। कौरवपाण्डवोंको परमेश्वरके विश्वरूपमें संमिलित हुए समझनेपर भी युद्ध टल नहीं सका, इतनाही नहीं परंतु युद्ध करना अर्जुनका और श्रीकृष्णका धार्मिक कर्तव्य हुआ, यह बात यहां देखना चाहिये।

अखंड एकही विश्वरूप होनेपर भी मलका त्याग और पौष्टिक अन्नका स्वीकार करना होता है। पौष्टिक अन्नका त्याग और मलका स्वीकार करना नहीं होता। पाठकोंको यह बात ठीक ठीक समझना चाहिये। ईश्वरका सभी रूप है तथापि घास गायको और दूध मनुष्यको देना होता है। घास और दूध ब्रह्मके रूप होनेमें संदेह नहीं है, तथापि घास मनुष्यको दिया नहीं जाता। योग्यताका विचार यहां प्रमुख है।

सब मानव ब्रह्मरूप होनेपरभी चोरको दण्ड देना और सज्जनको पारितोषिक देना धर्म है। इसके विपरीत अधर्म होगा।

चोरको दण्ड देनेके समय भी उसे ब्रह्मरूप मानकर यथायोग्य दण्ड देना चाहिये, न्यून वा अधिक दण्ड देना योग्य नहीं। ईश्वरही प्रत्यक्ष (सेनानां पतये नमः। यजुर्वेद) अपने सामने चोरका रूप धारण करके अपनी परीक्षा करनेके लिये खडा है, मेरे दण्ड देनेकी निष्पक्षपातताका निर्णय यहां होगा, ऐसा विचार करके योग्य दण्ड देना उचित है। इस रीतिसे विचार करनेपर पाठकोंको स्पष्ट होगा कि परमेश्वरका यह सब विश्वरूप है ऐसा माननेपर मनुष्यसे निर्दोष व्यवहार हो सकता है, पक्षपात आदि दोष व्यवहारमें होंगे ही नहीं, छलकपट पूर्ण रूपसे दूर होंगे। इत्यादि अनेक लाभ विश्वरूप परमात्माको देखनेसे हो सकते हैं।

राज्यके सब कर्मचारी प्रजाजनोंको परमेश्वरका सगुण रूप मानेंगे तो कितना प्रेमका राज्य होगा? तथा सब प्रजाजन राज्यके कर्मचारियोंको परमेश्वरकाही रूप मानेंगे तो कितना अच्छा होगा? परंतु सांप्रतमें राजपुरुष चाहते हैं कि हम तो परमेश्वरकी मूर्तियां प्रजाके अन्तःकरणमें बनें, परन्तु हमारे लिये प्रजा उपभोग्य बने, इस कारण सर्वत्र असंतोष बढ रहा है। शान्ति और समाधान तो तब होगा कि जब राजपुरुष और प्रजाजन सब मिलकर अपने आपको परमेश्वरके विश्वरूपमें संमिलित देखें और परस्पर अनन्य-यहां कोई दूसरा नहीं-ऐसा भाव धारण करके अपना व्यवहार पूर्ण रूपसे यथायोग्य करें, और सब अपने आपको परमेश्वरके अर्पण समझने लग जांय।

परमेश्वरका विश्वरूप देखनेके पश्चात् ही सबकी अखण्ड एकता है यह ज्ञात होता है और सबकी अखण्ड एकताही मानवधर्मकी पक्की बुनियाद है। जो मानवधर्म इसपर अधिष्ठित होगा वही सत्यधर्म है, जो इसके विरुद्ध होगा

वही अधर्म है। इसीसे धर्माधर्मका निर्णय यथार्थ रीतिसे हो सकता है।

अध्यापकगण विद्यार्थियोंको पढाते हैं, जो तो वेतन के लिये पढाते होंगे वे सच्चे अध्यापक हो नहीं सकते, क्योंकि उनका उपास्य वेतन होता है। जब अध्यापकगण मानेंगे और समझेंगे कि मेरे सामने जो विद्यार्थी उपस्थित हैं, वे प्रत्यक्ष परमेश्वरके रूप हैं, प्रत्यक्ष ईश्वर मेरे सन्मुख विद्यार्थियोंके रूपमें उपस्थित हुआ है, मेरी विद्या पढानेकी यहां परीक्षा होनी है, परमेश्वरके सन्मुख मैं कपट करके किसी तरह पढाने में त्रुटी कर सकता हूँ, तो उससे मुझे दण्डही होगा, अतः निष्कपट भावसे यथायोग्य और सर्वोत्तम रीतिसे विद्या पढाना मेरा धर्म है। इस भावसे जब अध्यापकवर्ग कार्य करेगा तो विद्यार्थीगण कैसे सुयोग्य तैयार होंगे, इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। ऐसी पाठन प्रणाली जहां होगी वहांहि नरका नारायण होना संभव है।

ईश्वरभावसे सब विश्वकी ओर देखतेही हरएक क्षणमें अपना कौनसा कर्तव्य है यह ज्ञात होता है, और किसी प्रकारका संदेह नहीं रहता।

वैद्य और डाक्टरके सन्मुख एक रोगी आता है। जबतक वह वैद्य उस रोगीको अपनेसे भिन्न दूसरा 'मैं नहीं ऐसा मुझसे भिन्न कोई अन्य' मानता है, अर्थात् उससे 'अन्य-भाव' रखता है, तभीतक उसकी चिकित्सा करने में छलकपट करता है, तभीतक उसकी चिकित्सा ठीक ठीक नहीं हो सकती। इस तरह 'भिन्नभाव, अन्यभाव, भेदभाव, पृथग्भाव.' माननेसेहि हरएक स्थानमें दोष हो जाते हैं। दुःख बढानेका यही कारण है।

जिस समय वह वैद्य और डाक्तर यह समझेगा कि यह रोगी प्रत्यक्ष परमेश्वर इस रूपसे मेरे सन्मुख मुझसे सेवा लेनेके लिये उपस्थित हुआ है। यही सर्वात्मा है और यही ईश्वर के विश्वरूप का अंश है जिसका मैं भी अंश हूं। यह रोगी और मैं अखंड एकही सत्ताके—एकही विश्वरूपी आत्माके अनन्य भाव हैं। मैं उससे भिन्न नहीं और वह मुझसे भिन्न नहीं। उसको रोगमुक्त करना मानो अपने आपको सुखी करना ही है और उसे रुग्णस्थितिमें रखना अपने आपको दुःखी रखना है। रोगीकी सेवा करना अपने आपकी सेवा करना है, रोगीकी सेवा करना प्रभुकी सेवा करना है, इस तरहके पवित्र विचार जो धारण करेगा वह ही सच्चा चिकित्सक होगा और वही (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य। गी १८।४६) अपने स्वभावनियत कर्मसे परमात्मा की पूजा करता है।

इस तरह प्रत्येक मनुष्य स्वकर्म करता हुआ, उसी स्वकर्मसे परमात्माकी पूजा कर सकता है। जो कर्म मनुष्य करता है वही कर्म परमात्माकी पूजारूप इस तरह हो जाता है।

उक्त वैद्यके उदाहरणमें वैद्य, रोगी, रोग, औषधी, औषधियोजना यह सब एक अखण्ड आत्माकाही रूप है, इनमें अनन्यभाव है 'आत्माही आत्मापर आत्माद्वारा सब तरह कार्य करता है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। गी०

इसी तरह ब्रह्मही वैद्य, रोगी रोग, औषधी और चिकित्सा आदि है। यहां दूसरा कोई नहीं है। इस दूसरेके भावसे ही भय होता है अतः कहा है

द्वितीयाद्वै भयं भवति। बृ० उ० १।४।२

'दूसरेकी उपस्थितिसेही भयकी उत्पत्ति होती है।' मैं उससे भिन्न हूं और वह मुझसे भिन्न है, इस द्वैतभावसे ही सब दुःख होते हैं। जगत् के संपूर्ण दुःख इस द्वैतभाव के कारण हुए हैं। अतः कहा है—

यन्मदन्यन्नास्ति, कस्मान्नु बिभेमि?
तत एवास्य भयं वीयाय, कस्माद्ध्यभेष्यत्?
बृ. उ १।४।२

'जब मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है, तो मुझे भय किसका है? अतः मेरा भय दूर हुआ, क्यों कि मैं किससे डरूंगा जब कि मुझसे भिन्न कोई दूसरा यहां नहीं है।'

इसी को 'एकात्मप्रत्ययसार' कहते हैं। एकही आत्मा है, दूसरा कोई पदार्थ नहीं, वैद्य भी वही है रोगीभी वही है, औषधभी वही है औषध- देनेवाला और लेनेवाला वही है, पथ्य करने करानेवाला वही है। इस तरह एकात्मप्रत्यह होनेपर अनन्यभाव स्थिर हो जाता है और जो कर्म होता है वह कर्मभी ब्रह्मरूपही होता है और यही ब्रह्मभाव सत्य है।

वैद्य या डाक्तर रोगीको औषध देनेके मिषसे तबतक ही लूट सकता है जबतक उनमें द्वैतभाव हो, जब एकात्मप्रत्यय हो जाय। तब कौन किसे लूटेगा? और किस हेतुसे लूटेगा? यह है विश्वरूपी परमात्माके दर्शन का महा फल।

इसी तरह राज्यपालनादि संपूर्ण सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवहारोंमें पाठक देख सकते हैं कि एकात्मप्रत्यय से कितना अपूर्व लाभ होना संभव है और एकात्मप्रत्यय न होनेसे निरर्थक दुःख किस तरह बढ रहे हैं और विना कारण बढाये जा रहे हैं।

राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन के हरएक पहलूका विस्तारपूर्वक यहां विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। एकात्मप्रत्यय होनेपर दैवी जीवन होगा, दैवी संपत्तिके नामसे जिसका वर्णन भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें किया है वह एकात्मप्रत्यय का फल है। द्वैतभाव का परिणाम आसुरी जीवनमें होता है, जो द्वैतभाव मानते हैं उनके अन्दर स्वयं भोगभाव की वृद्धि होनेके कारण किस तरह आसुरी जीवन पैदा होता है और इससे जगत् में कितने कष्ट उत्पन्न होते हैं, इसकाभी वर्णन इसी गीताके १६ वें अध्यायमें आ गया है।

दैवी और आसुरी जीवन, धर्माधर्म-निर्णय इस तरह होता है। एकात्मप्रत्यय का ही नाम विश्वरूपी परमेश्वर का दर्शन है। इससे दैवी जीवनका विकास होता है और इसके अभावसे आसुरी जीवन होता है। पाठकोंको इसका योग्य विचार करना चाहिये।

दैवी गृहस्थी-जीवन।

पूर्वोक्त रीतिसे विश्वरूपदर्शन होनेके पश्चात् गृहस्थ आश्रमभी आदर्श रीतिसे हो सकता है। पतिपत्नी और पुत्रके धर्म यहां ही पूर्ण रूपसे दैवी भावयुक्त सिद्ध हो सकते हैं। यहां पति अपनी धर्मपत्नी को परमात्माका रूप मानता है और धर्मपत्नी अपने पतिका भी उसी तरह परमात्माका रूप समझती है। दोनों तत्त्वतः अभिन्न अर्थात अनन्य होकर गृहस्थाश्रम करते हैं। जिनमें तत्त्वतः भेदभाव नहीं रहा वहां अधर्माचरण का दोष किस तरह उत्पन्न हो सकता है? दोषका कारण भेदभाव है, पति अपनी पत्नीसे छिपकर कुछ कुकर्म करता है और पत्नीभी अपने पतिकी अनुपस्थितिमें कुछ दुराचार करना चाहती है, परंतु जिन पतिपत्नीमें द्वैतभाव हीन रहा हो और जिनको एकात्मप्रत्यय हुआ हो उनमें व्यभिचारादि दोषोंकी संभावना भी कैसी हो सकती है?

> यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
> यत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
> (यजु० ४०।७)

'जिसमें सब भूतमात्र एकही आत्मा हो गये, उस एकत्वका प्रत्यक्ष दर्शन करनेवालेको शोक मोह क्यों कर हो सकता है?" अर्थात् ऐसे एकतत्त्वानुभवी गृहस्थियोंको न शोक होगा और न मोह होगा, क्योंकि स्वभावसे हि उनका आचरण निष्कलंक होगा और किसी तरह वहां

दोषोंकी संभावना नहीं रहेगी । आदर्श गृहस्थी ही ये होंगे ।

जब पुत्र जन्मता है, उस समय ये पतिपत्नी समझेंगे कि अपने घरमें परमात्माने अवतार लिया है, गर्भ रहनेके समय वे समझेंगे कि-

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानः बहुधा विजायते । वा० य० ३१।१९
अथर्व. १०।८।१३

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुख ॥
श्वे० उ० २।१६

'प्रत्यक्ष प्रजापति जो सर्व दिशाओंमें भरपूर भरा है वही अब गर्भमें आगया है । अपने गर्भमें वही है । प्रसूती होनेपर वह कहेंगे कि (स एव जातः) वह अब उत्पन्न हुआ है । वही बढेगा और वही सब जनोंमें है । '

इस तरह भाव अपने पुत्र या पुत्रीके विषयमें धारण करेंगे । जिनको अपने पुत्रमें प्रत्यक्ष परमात्मा दिखाई देता है वे अपना अहो भाग्य समझते हैं, पुत्ररूपसे परमात्मा अपनी सेवा लेनेके लिये आया है ऐसा समझकर उस बालककी सेवा करनेके लिये अपनी पराकाष्ठा करते हैं । उस सेवामें अशुद्धी रहने नहीं देते । इसी तरह पुत्र भी अपनी मातापिताके विषयमें इसी प्रकार ईश्वरभाव धारण करता है और वह सच्चा -

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव ।

इस आज्ञाके अनुसार मातापिताको साक्षात्परमेश्वर मानता है और उनकी वैसी ही अनन्य भावसे सेवा करता है । पश्चात् वह इसी रीतिसे अध्यापकको गुरुदेव मानता हुआ विद्यारूपी अमृत प्राशन करके सचमुच अमर बनता है ।

माता समझती है मेरा पति साक्षात् परमेश्वर है वही मुझ पत्नीमें गर्भरूप रह कर पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुआ है ।

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ।
मनु० ९।८

इस तरह वह समझती है और परमात्म भावसे पतिकी और पुत्रकी सेवा करती है । जिस गृहस्थीके घरमें इस तरह अनन्य भावसे धर्माचरण होता है वह गृहस्थीका घर सचमुच ब्रह्मधाम होता है वहीं अखंड सुख रहता है और ऐसे ही गृहस्थी निर्माण करनेके लिये धर्मका आविर्भाव हुआ है । कोई यह न समझे कि यह ख्याली बात है और यह व्यवहारमें नहीं आ सकती । यह तो व्यवहारमें लानेके लिये ही वेदोंकी और गीताकी प्रवृत्ति है ।

ज्ञानोत्तर कर्म ।

ज्ञान होनेके पश्चात् कर्म होना संभव है या नहीं यह वाद कई दिनोंसे चल रहा है । परंतु इसमें इतना वाद होने योग्य कुछ भी नहीं है । अर्जुनको विश्वरूप-दर्शन हुआ और ज्ञानोपदेश हुआ और उसके पश्चात् उसने युद्धरूपी कर्म किया है । अर्थात् विश्वरूप दर्शन होनेके पश्चात् और एक आत्माका प्रत्यय आनेके पश्चात्, सब विश्वरूप एकही आत्माका रूप है, यही अखण्ड एक रस विश्वरूप है, मैं उसमें संमिलित हूं और संपूर्ण विश्वके सब रूप उसीमें संमिलित हैं, इस तरह अखण्ड एक रस अनन्य भाव होनेके पश्चात् ही दैवी जीवनके कर्म हो सकते हैं । तब तक सच्चे धर्मका ज्ञान होना संभव नहीं और सच्चा अनन्य भाव उत्पन्न होना भी संभव नहीं ।

भगवद्गीतामें अनन्य होकर ही कर्म करनेका उपदेश किया है ये वचन देखिये—

१ अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥
गी० ८।८

२ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
गी० ८।१४

३ पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ गी० ८।२२

४ महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
गी० ९।१३

५ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
गी० ९।२२

६ अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ गी० ९।३०

७ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
गी० ११।५४

८ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
गी० १२।६

९ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
गी० १३।१०

(१) "अनन्यगामी चित्त अर्थात् जिस चित्तमें अन्य भाव नहीं है उस चित्तसे जब अभ्यासयोग करता है तब वह दिव्य परम पुरुष का चिन्तन करता हुआ उसी पुरुषको प्राप्त होता है ॥ (२) अनन्यचित्त अर्थात् जिस चित्तमें अन्य भाव नहीं है उस चित्तसे जब ईश्वरका नित्य स्मरण होता है तब उस नित्ययुक्त योगीको परमेश्वर सुलभतासे प्राप्त होता है ॥ (३) अनन्य-भक्तिसे अर्थात् जिसमें अन्य भाव नहीं है उस भक्तिसे प्रभुकी प्राप्ति होती है ॥ (४) अनन्य-मन अर्थात् जिनके मनमें अन्य भाव नहीं है, वे ही सबके आदि ईश्वरको भजते हैं ॥ (५) अनन्यभावसे सेवा करनेवालोंका योगक्षेम ईश्वर चलाता है। (६) दुराचारी भी अनन्य-भावसे युक्त हुआ तो उसको साधु ही मानना चाहिये॥ (७) अनन्य भक्तिसेहि (विश्वरूप) ईश्वरको जानना, देखना और उसमें प्रवेश करना शक्य है ॥ (८) जो अनन्ययोग करनेवाले ईश्वरका ध्यान-ईश्वर-उपासना करते हैं वे सब कर्म ईश्वरार्पण करते हैं ॥ (९) ईश्वरमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति करते हैं वे सिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥

इस तरह अनन्यभावका महत्त्व गीतामें कहा है। अनन्य (न+अन्यः) होनेका अर्थ द्वैतभाव का त्याग, दूसरा कोई नहीं है, प्रभु ही अकेला एक है और उसी एक अद्वितीय प्रभुका रूप इस संपूर्ण विश्वका रूप है, मैं और सब उसीमें हैं, वहां मैं और सब यह द्वैतभाव भी नहीं, वहां यदि कुछ है तो 'अन्+अन्य' भाव ही है, अर्थात् यही एकात्म-भाव है। इस भावसे मन युक्त होनेके पश्चात् ही पूर्वोक्त ९ श्लोकोंमें कहे अनुष्ठान स्वभावतः होते हैं। इन श्लोकोंका थोडासा अधिक मनन करनेकी आवश्यकता है देखिये—

१ अनन्य-चित्तसे अभ्यासयोगद्वारा ईश्वरका चिंतन करना,
२ अनन्य चित्तसे परमेश्वरका स्मरण करना,
३ अनन्य-भक्तिसे ईश्वरकी प्राप्तिकी सुलभता,
४ महात्मा लोग अनन्य मनसे ईश्वरकी भक्ति किया करते हैं,
५ अनन्य होकर लोग ईश्वरकी उपासना करते हैं,
६ अनन्य-भाव होनेपर दुराचारीका साधु बनता है,
७ अनन्य भक्तिसे ईश्वरका ज्ञान, दर्शन और उसमें प्रवेश होता है,
८ अनन्य योग करनेवाले ध्यान उपासनादि सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करते हैं,

२ अनन्य-योगसे अव्यभिचारिणी भक्ति होती है,

इन नौ श्लोकोंका यह आशय देखनेसे पता लगता है कि मनमें अनन्यभाव स्थिर होनेके पश्चात ही ' चिन्तन, स्मरण, भजन, भक्ति, उपासना, साधु-आचार, ज्ञान-दर्शन-प्रवेश, समर्पण, आदि कर्म होते हैं । इनमें सब शुभकर्म आ-चुके हैं ।

अनन्ययोग, अनन्यभक्ति, अनन्यचित्त, अनन्य-मन, अनन्यभाव इन सब शब्दोंका आशय एक ही है । जो सब लोगोंमें ' अपनेसे भिन्न दूसरे हैं और वे अन्य हैं यह जो अन्य भाव बैठा है, यह ' अन्यभाव ' जिनके मनसे दूर होगा वे ही इस अनन्ययोगका आचरण कर सकते हैं । जिस समय अन्य-भाव मनसे हट जाता है उस समय ' अनन्यभाव ' स्थिर हो सकता है और उसकी स्थिरताके पश्चात् ही गीताका उपदेश जीवनमें उतरना संभव है ।

उदाहरणके लिये देखिये, ऊपर कहा है कि ' अव्यभिचारिणी भक्ति ' (गी० १३।१०) करनी चाहिये । व्यभिचारिणी भक्ति तब तक हो सकती है, कि जब तक उपासकका उपास्यसे भेद हो और अनेक उपास्य हों । अनेक उपास्य देव होनेके कारण मनुष्य एककी भक्ति छोड दूसरेकी करनेका विचार करता है, उस कारण व्यभिचारी भाव भक्तिमें उत्पन्न होता है ।

जब संपूर्ण विश्वके विषयमें ' अनन्यभाव ' स्थिर और सुदृढ हो जायगा और जब सर्वत्र एक ही अखण्ड सत्ता सर्वत्र भरपूर भरी है यह बात किसीको प्रत्यक्ष हो जायगी, तब उसमें अव्यभिचारिणी भक्ति ही होगी, व्यभिचारिणी भक्ति वहां हो ही नहीं सकती । एक अखण्ड सत्ता प्रत्यक्ष देखनेवाला और उसके साथ अपना अनन्य (दूसरा नहीं यह) भाव अनुभव करने वाला व्यभिचारिणी भक्ति कर ही नहीं सकता । दूसरी सत्ता है ऐसा मानने तक ही व्यभिचारिणी भक्तिकी संभावना है, यह बात स्पष्ट है ।

अनन्यभाव स्थिर होनेके पश्चात् मैं और सारा विश्व मिलकर एक ही अखण्ड सत्ता है, मैं अन्य हूं यह भाव यहां मिटता है, परमात्मा विश्व मैं आदि सब एक अखण्ड सत्ता है । मैं उस परमात्मासे अनन्य (अभिन्न) हूं, परमात्माका ही सारा विश्व यह अखण्ड रूप है, मैं-तू-वह यह व्यावहारिक भेद वहां नहीं हैं, सबका अनन्यभाव (अभेदभाव, अभिन्नभाव) है, यहां कोई किसीसे भिन्न नहीं है । सब एक ही सत्ताके भाव हैं । इस तरह एक अखण्ड भाव होनेका नाम अनन्यभाव है । इस अनन्यभाव की स्थिरता मनमें होनेके पश्चात् ही संपूर्ण सत्य धर्मका प्रकाश पडता है, और उसे किसी भी विषयमें संदेह वा शोक मोह नहीं होते ।

दो भिन्न दृष्टियाँ ।

सब कर्तव्योंकी परीक्षा वह इस अनन्यभावसे ही करता है । यहां ये दो भिन्न दृष्टियां हैं यह पाठक न भूलें । एक अनन्य-दृष्टि और दूसरी अन्य दृष्टि । इन दो दृष्टियोंसे विश्वका अनुभव विभिन्न प्रकारका आता है, इस विषयमें इस तरह विचार होता है—

अनन्य दृष्टि	अन्य दृष्टि
अभेदका अनुभव	भेदका अनुभव
उपास्य उपासकका ऐक्य	उपास्य-उपासकभेद
उपास्यसे अभेद	उपास्यसे भेद
विश्वरूपमें अभेद	विश्वरूपमें भेद
व्यवहारमें समभाव	व्यवहारमें विषमता
समदर्शन	विषमदर्शन
अव्यभिचारिणी भक्ति	व्यभिचारिणी भक्ति
समता	कलह, विषमता
आनंद	दुःख

जगत्में जो दुःख बढ रहे हैं वे विषमभावके

कारण बढ रहे हैं। वह विषमभाव हट जाता है और सर्वत्र समभाव सुस्थिर हो जाता है। इसलिये दुःखका कारणही नहीं रहता। इसलिये दुःख किस तरह हो सकेगा ?

यह मेरा घर है, ये मेरे लडके हैं, यह मेरा परिवार है, यह मेरा है, ये दूसरे हैं, दूसरोंको लूटकर मैं अपने संबंधियोंका भला करूंगा। यह भाव संसारमें कार्य कर रहा है, इसे 'अन्य-भाव' (किंवा द्वैतभाव, भेदभाव) कहते हैं, यही सब दुःखोंका हेतु है। इस भावके कारणही इस जगतमें लूटमार ठगपन विविध रीतिसे चल रहा है। अतः इस द्वैत भावकोही दुःखकी जड और अज्ञान शास्त्रकारोंने कहा है।

अनन्यभाव जिसके मनमें स्थिर होता है वह बालबच्चे, घरदार, जाति देश, सब विश्व भरमें एक अभिन्न सत्ताका अनुभव करता है। यह अनन्य अखण्ड–अटूट–अभिन्न आत्मसत्ता है, इसमें मेरा मैं–तू–वह–यह–भाव नहीं है। सब विश्वभरमें इस तरह अनन्यभावका अनुभव यहां होता है। फिर वह दूसरोंको कैसे लूटेगा, कैसा ठगायेगा, कैसा दूसरोंका घातपात करेगा, सब भूतमात्र जिसका आत्मा ही बना वह दूसरोंकी हिंसा कैसी करेगा, मैं ही सब विश्वमें फैला हूं ऐसा जिसे अनुभव होगा, वह किसकी चीजका हरण करेगा, अपना सुख बढानेके लिये वह दूसरोंको किस प्रकार दबाये रखेगा?

छल कपट दूसरेसे किया जाता है, कोई अपनेसेहि नहीं करता। जबतक अन्य-भाव होता है तभी तक छल कपटकी संभावना है, एकबार अन्यभाव हट चुका और अनन्य-भाव सुस्थिर हुआ तो छल कपटका कारण ही दूर हुआ। संपूर्ण हीन भाव, संपूर्ण आसुरीभाव इसतरह अनन्यभावका उदय होतेही नष्ट हो जाते हैं।

अनन्यभावसे कर्म।

यहां कईयोंको शंका होती है कि इस तरह अनन्यभाव जिसके मनमें सुस्थिर होगा उससे इस विश्वमें कर्म होंगे वा नहीं ? उससे कर्म नहीं होंगे ऐसाही बहुतोंका निश्चय है, परंतु यह भ्रम है। अनन्यभाव मनमें सिद्ध होनेके पश्चात् ही दैवी संपत्तिके पोषक सच्चे कर्म होते हैं। सच्ची विश्वसेवाका यहां ही प्रारंभ होता है।

वह अपने पुत्रोंका पालन करेगा, परंतु ऐसी युक्तिसे करेगा कि जिसके कारण वह दूसरोंको दबानेके पापसे बच जायगा। वह अपने घरका पालन उत्तम रीतिसे करेगा, परंतु दूसरोंके घरोंको जलानेके पापसे बचेगा, वह अपनी जातिकी रक्षा करेगा परंतु दूसरी जातियोंका घातपात नहीं करेगा. वह अपने राष्ट्रका रक्षा करेगा परंतु दूसरे राष्ट्रोंका नाश करनेकी इच्छा तक नहीं करेगा। विश्वकी अखण्ड सेवा करता हुआ उस विश्वसेवाके अविरोधसे आत्मीयोंकी सेवा करेगा।

असुरों और देवोंमें भेद इतनाही है। जो असुर होते हैं, जो अन्य-भाव धारण करते हैं, वे विश्वका घात करते हुए स्वकीयोंका रक्षा करते हैं और जो दैवी-संपत्तिवाले अर्थात् जो अनन्य-भाव धारण करते हैं वे विश्वसेवा करते हुए विश्वहितके अविरोधसे स्वकीयोंका हित करेंगे। जो अन्य-भाव (द्वैतभाव, भेदभाव) धारण करते हैं वे विश्वहित कर ही नहीं सकते, उनको विश्वहितकी कल्पना तक नहीं छूती, वह तो अपना और अपने परिवारका हित करनेमेंहि मस्त रहते हैं। अतः इनका कार्यक्षेत्र अत्यत स्वल्प होता है।

परंतु जिनमें अनन्यभाव जाग्रत हुआ (अद्वैत भावका जहां प्रकाश हुआ) वे लोग विश्वसेवा करनेके अधिकारी होते हैं। उनकी सेवाका क्षेत्र अखण्ड विश्वतक अमर्याद है। अतः जिनके

कर्मक्षेत्रका इतना विस्तार हुआ है वे अनन्य-भाव धारण करनेवाले सिद्ध पुरुष कर्म करते हैं वा नहीं इस विषयमें संदेहही किस तरह हो सकता है ? ये लोग ये अनन्य-भाववाले, एकत्व का दर्शन और अनुभव करनेवाले लोग जितना विस्तृत कर्म कर सकते हैं उतना कर्म द्वैतभाव अन्यभाव धारण करनेवाले करही नहीं सकते हैं ।

इसलिये अखण्ड आत्मसत्ताका अनुभव करने वाले, संपूर्ण विश्वको अपने आत्माका साकार-रूप माननेवालेहि अखण्ड विश्वसेवा करते हैं । ये लोग जैसा शुद्ध और निर्दोष कर्म कर सकते हैं वैसा निर्दोष कर्म अन्योंसे नहीं हो सकता ।

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं
पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ
सर्वमिति ॥१॥
आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा
पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मै
वेदꣳसर्वमिति॥२॥ छांदोग्य उ. ७।२५

"मैं नीचे, मैं ऊपर, मैं पीछे, मैं आगे, मैं दक्षिण की ओर, मैं ही उत्तर की ओर हूँ अर्थात् मैंहि सब हूं ।"

"आत्मा नीचे, आत्मा ऊपर, आत्मा पीछे, आत्मा आगे, आत्मा दक्षिण की ओर, आत्मा उत्तर की ओर है अर्थात् आत्मा ही सब कुछ है ।" इसी तरह—

ईश्वर नीचे, ईश्वर ऊपर, ईश्वर पीछे, ईश्वर आगे, ईश्वर दक्षिण की ओर और ईश्वरही उत्तर की ओर है अर्थात् ईश्वर ही सब कुछ है । ऐसे ही ब्रह्म, परमात्मा आदि शब्द रखकर बोला जा सकता है । क्योंकि मैं, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर आदि एक ही वस्तुके विभिन्न नाम हैं । यद्यपि इनमें थोडा भेद है तथापि अनन्यभाव स्थिर होते ही वह भेद रहता नहीं है ।

इस तरह एकतत्त्वाभ्यास होनेके पश्चात अनन्य-भाव होता है और अनन्यभावके स्थिर होने के पश्चात्हि निर्दोष कर्म होते हैं । सच्ची विश्व-सेवा इसके बाद ही होती है, सच्ची अनन्यभक्ति इसके पश्चात्ही होती है और अनन्य होते ही नरका नारायण होता है, जीवका शिव होता है, ईश्वरभाव को वह प्राप्त होता है ।

विश्वसेवाका मर्म ।

विश्वसेवा का तत्त्व ध्यानमें आनेके लिये थोडासा अपने शरीरका विचार करना चाहिये जिससे विश्वसेवाका मर्म ध्यानमें आनेके लिये सुविधा होगा ।

अपने शरीरमें देखिये । मनुष्य कह सकता है कि मैंहि पांव हूं, पेट हूं, सिर हूं, छाती हाथ आदि मैंही हूं । मैंने ही आंख नाक, कान, जिव्हा, गाल, गला, छाती, पीठ, पेट, पसलियां, फॅफडे, यकृत, नाभि, जांघ, घुटने, पिंडरियां, पांव, अंगुलियां तथा अन्य अवयवोंके रूप धारण किये हैं, अर्थात् मैंहि अपनी शक्तिसे इन विविधरूपोंमें प्रकट हुआ हूं । इसलिये इन विभिन्न अवयवोंमें मैं अकेला ही अभिन्नतासे रहा हूं ।

अब ऐसी अवस्थामें मेरे अखण्डस्वरूपकी सेवा कैसी हो सकती है ? विचार करिये, अखण्ड आत्माकी सेवा कैसी की जा सकती है? क्या कोई मनुष्य किसीकी संपूर्ण सेवा करना चाहे तो उसके संपूर्ण अंगों, अवयवों, विभागों और इंद्रियोंतक सबकी यथायोग्य सेवा एकही समयमें कर सकता है? कभी नहीं । किसी एक मनुष्यकी संपूर्ण सेवा एकही समयमें कोई कर नहीं सकता । परंतु यहां किसीभी अंगकी सेवा की तो उसकी सेवा हो जाती है और इसी रीतिसे इस विश्वमें सब कोई सेवा किया करते हैं ।

किसी के पांवोंकी मालीश की, किसी को पानी पिलाया, उत्तम अन्न दिया, कपडे धोये, मकान स्वच्छ किया, इस तरह उसकी एकाङ्ग की

सेवा की तो उसकी संपूर्ण सेवा की ऐसाही होता है। जो सेवक रखे जाते हैं वे एक अंशकी सेवा करनेके लिये ही रखे जाते हैं, क्योंकि सब कोई एकांगकीहि सेवा कर सकता है। संपूर्णकी सेवा होना असंभव है। यही नियम सर्वत्र समझना चाहिये।

हां इसमें यह बात अवश्य है कि अन्य अवयवोंका विरोध न करते हुए एक अवयवकी सेवा हो। जैसा पांवकी मालिश करनी हो तो सिरपर लाठी मारना उचित नहीं। अन्य विभागोंकी प्रतिकूलता न करते हुए एक विभागकी सेवा की तो वह सेवा संपूर्ण की ही होती है। गुरुके पांवकी सेवा की तो गुरुकी सेवा होती है. गुरुका भोजन तैयार किया, गुरुके कपडे धोये, गुरुकी स्थान साफ किया इनमेंसे एकएक कार्य किया तो भी संपूर्ण गुरुकी सेवा की, ऐसा ही होता है। अवयवकी सेवा अनन्य भावसे करनेसे अवयवीकी सेवा होती है। यह नियम जैसा व्यक्तिमें है वैसाही राष्ट्रमें और वैसाही विश्वमें है।

राष्ट्रके मुख, बाहू, पेट और पांव क्रमशः ज्ञानी, शूर, व्यापारी और कारीगर हैं, इनमेंसे किसी एक राष्ट्रावयव की अनन्यभावसे सेवा की तो संपूर्ण राष्ट्रकी सेवा होती है। यहां अनन्यभावसे सेवा करना विशेष ध्यानसे देखने योग्य है। राष्ट्रमें मुखस्थानमें ज्ञानी हैं, और पांवके स्थानमें शूद्र हैं।

कई लोग शूद्रोंकी उन्नति करना चाहते हैं, शूद्रोंकी सेवा करके उनका सुख बढाना चाहते हैं, परंतु वे ब्राह्मणक्षत्रियोंकी निंदा करते हुए उनसे शूद्रोंको पथक् मानकर शूद्रोंकी संघटना करना चाहते हैं, इससे द्वेष बढता है और राष्ट्रका नाश होता है। क्योंकि यह अनन्यभावसे सेवा नहीं है। ब्राह्मणक्षत्रिय अन्य हैं, शूद्र अन्य हैं, ऐसा मानकर एकपर प्रेम और दूसरेका द्वेष करनेका नाम अनन्यसेवा नहीं है। वह तो अन्य भाव (द्वैतभाव) की सेवा है। यह तो आसुरी भाव की सेवा होनेसे नाश करनेवाली है।

अनन्यभावसे यही सेवा हो सकती है। ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र मिलकर एक अखण्ड अटूट राष्ट्रदेह है, उस अखण्ड राष्ट्रकी सेवा अविरोधसे करनी है। किसीभी अवयवकी निंदा की तो संपूर्ण राष्ट्रकी निंदा होती है. किसी एक जातिका द्रोह किया तो वह राष्ट्रका द्रोह होता है. ऐसा जानकर सब राष्ट्रकी अखण्डभावसे सेवा करनेके लिये मैं राष्ट्रके पांव जो शूद्र हैं उनके उद्धारका यत्न करनेके लिये उनकी सेवा करता हूं. ऐसे अनन्यभावसे जो सेवा करेगा, उससे सच्ची राष्ट्रसेवा संपूर्ण रीतिसे हो जायगी और कभी राष्ट्रकी हानि नहीं होगी। अनन्यभावसे सेवा अथवा कोई कार्य करनेका तात्पर्य यहां पाठकों के ध्यानमें आ-सकता है।

एक जातिका नाश करके दूसरी जातिका लाभ करनेका यत्न करनेका नाम अन्यभावसे प्रयत्न करना है. और किसीका विरोध न करते हुए सबकी भलाईके विचारके साथ किसी एक जातिकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करना अनन्यभावसे सेवा करना है। राष्ट्रमें पक्षोपपक्ष उत्पन्न करके, परस्पर विरोध बढाकर, एक दूसरेके गिरावटके लिये यत्न करते हुए, अपने हाथमें अधिकार प्राप्त करके दूसरेका नाश करके अपने पक्षवालोंकी उन्नति करेंगे ऐसी मनोवृत्ति धारण करके जो प्रयत्न होते हैं वे सब प्रयत्न 'अन्यभाव' (द्वैतभाव, द्वन्द्वभाव) के प्रयत्न हैं। ऐसे प्रयत्नोंसे जनताके दुःख ही बढेंगे। ये ही प्रयत्न मनुष्योंको असुर बनानेवाले हैं।

परंतु किसीका विरोध न करते हुए, प्रतिपक्षके साथ भी पूर्ण दैवीभावयुक्त सभ्यतासे बर्ताव करना, परस्पर सहानुभूति बढाते हुए, एक दूसरेकी अधिक उन्नति अविरोधसे करनेका यत्न करना, अपने हाथमें शासनाधिकार आनेपर

सबका हित करनेका ही उद्देश्य रखना, इत्यादि प्रकारके जो प्रयत्न होंगे वे 'अनन्यभाव' (अद्वैतभाव, द्वन्द्वातीतभाव, ऐक्यभाव) के प्रयत्न हैं और ये हां अनन्यभावके प्रयत्न मनुष्यों को देवता बनानेवाले हैं।

इससे पाठकोंको स्पष्ट होगा कि, अनन्यभाव मनमें स्थिर होनेके पश्चात् ही जो विशाल कार्य होंगे वे ही मानवोंकी पूर्ण उन्नति करनेमें समर्थ होंगे।

अनन्यभाव मनमें स्थिर होनेके पश्चात् कोई कर्म नहीं होगा, ऐसा जो कहते हैं वह उनका कहना कितना निर्मूल है, यह बात इतने विवरणसे सिद्ध हो चुकी है। वस्तुतः अनन्यभाव मनमें स्थिर होनेपर ही विशेष महत्त्वपूर्ण और सार्वजनीन सच्चे हितके कार्य हो सकते हैं। इसी लिये अनन्यभाव मनमें स्थिर होने योग्य शिक्षापद्धति राष्ट्रमें शुरू होनी चाहिये। सबका यत्न इसी दिशासे होना चाहिये।

अनन्यभावसे विश्वसेवा करना अन्तिम ध्येय है। जो नियम राष्ट्रसेवाका विवरण करते हुए बताये हैं, वे ही नियम अधिक विस्तारके साथ विश्वसेवा करनेके समय पालन करने चाहिये। अपने राष्ट्रकी उन्नति करनेके समय अन्य राष्ट्रोंको दबा देने, परतंत्र करने, उनको लूट करने आदि विचार अन्यभावसे उत्पन्न होते हैं। यदि अनन्यभाव मनमें एकवार स्थिर हो जाय, तो अपने राष्ट्रकी उन्नति करनेके समय अन्योंको परतंत्र करनेका विचार वह करेगा ही नहीं। क्यों कि अनन्यभावकी दृष्टिसे अन्योंको पारतन्त्र्यमें रखनेका अर्थ परपरया अपने आपको परतंत्रतामें रखना ही होता है। इस लिये जो राष्ट्र दूसरोंको परतंत्र रखनेमें मस्त हैं, वे राष्ट्र अन्य रीतियोंसे अपने आपको बहुत कष्टोंमें डालते जा रहे हैं, ऐसा स्पष्ट दीखता है। क्यों कि सभी विश्व एक अखण्ड अटूट सत्ता है इस कारण उसके एक विभागको कष्ट पहुंचे तो उसका अनिष्ट परिणाम अन्य सब विभागोंको भोगना ही चाहिये। इसलिये जब तक इस भूमिपर एक राष्ट्र पददलित अवस्थामें रहेगा और जब तक दूसरोंको पददलित अवस्थामें रखनेका विचार धुरीण राष्ट्रोंमें रहेगा, तब तक इस जगत्में सुख समाधान शान्ति और आनंद कभी प्राप्त नहीं होगा क्यों कि यहां सब विश्व ही अखण्ड एक सत्ता है। यहां–

> नेह नानास्ति किंचन, यो इह नानेव पश्यति।
> मृत्योः स मृत्युमाप्नोति॥

"यहां नाना-विभिन्न-अनेक-द्वैत नहीं है, जो यहां अनेक विभिन्न वस्तुएं हैं ऐसा मानता है, वही भेदवर्धक कार्य करके दुःखी होता है।" यहां संपूर्ण विश्वमें अखण्ड एकता है, एक ही अटूट वस्तु है, अतः उसके एक भागको अलग मान कर अलग समझ कर, विरोधी भावसे जो कार्य होता है, वह संपूर्णका दुःख बढानेवाला होता है।

इसलिये सब विश्वकी अटूट अखण्ड एकरस एकता देख कर अनन्य अभिन्न अद्वैत भावनासे हि अपने सब कार्य करने चाहिये। तभी निर्दोष कार्य हो सकते हैं और इसी अनन्य भावसे किये कर्मोंसे ही सबका भला, विश्वका कल्याण और जनताका हित हो सकता है। दूसरा सबके उद्धारका कोई मार्ग नहीं, सच्चा और निर्दोष मार्ग यही एक है।

समझा जाता है कि राजा प्रजा, मालिक–नौकर उच्च–नीच धनी–गरीब अधिकारी–अनधिकारी आदि पक्ष परस्परभिन्न हैं। परंतु वस्तुतः विश्वरूपमें इनकी भिन्नता नहीं है। जबतक विश्वरूपमें अपनी अखण्ड एकरूपता ये नहीं देखेंगे तबतक इनमें विभेद बढते जायंगे और अशान्तिही बढती रहेगी। राजाका और प्रजाका हित एकही है, क्योंकि दोनों विश्वरूपके अवयव हैं, ऐसा मान-

कर परस्पर अभिन्न और अनन्य हैं, इसका अनुभव करते हुए जो राज्यशास्त्र बनाया जायगा वही राजाप्रजाका सच्चा सुख बढावेगा। परंतु जहांका राज्यशासन चूहाबिल्लीके न्यायके अनुसार होगा, वहां दिन प्रतिदिन दुःख ही बढता जायगा।

सच तो यह है कि अनन्यभावसेहि सच्ची विश्वसेवा होना संभव है। राष्ट्रसेवाभी इसी अनन्यभावसे होगी। सब स्थानमें 'अन्य भाव' ही दुःख बढानेवाला सिद्ध हुआ है। आजकल राज्यशासन चलाना इतना बहुव्ययी हुआ है इसका कारण इसमें प्रजा राजासे और राजा प्रजासे भिन्न है, यह भाव प्रधान है। जिस समय राजा-प्रजा अनन्यभावसे युक्त हो कर अनन्य होंगे, तब बहुतसे व्यय करनेकी कोईभी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। और वह धन प्रजाका सुधार करनेके कार्योंमें खर्च करना संभव होगा। अतः इस राज्यशासनको (अव्ययं कम व्ययसे चलनेवाला (गी.९।२) कहा है, तथा यह शासन (सुसुखं कर्तुं) चलानेके लिये सुगम है, सुख बढानेवाला है। इस तरह जो भगवद्गीतोक्त राज्यशासनकी प्रशंसा पूर्वोक्त नवम अध्यायमें की है वह सार्थ है, ऐसाही विचार करनेपर सबको प्रतीत होगा। सबको सुख देनेवाला यह अनन्यभाव का राज्यशासन है, इसमें संदेह ही नहीं है। तथापि जनतामें 'अनन्यभाव' स्थिर नहीं हुआ और 'अन्यभाव' बढाया जा रहा है, इसलिये यह भगवद्गीतोक्त राज्यव्यवस्था प्रचार में नहीं आ सकती औ जबतक इसका प्रचार नहीं होता, तबतक दुःखभी दूर नहीं हो सकता, यह निश्चित बात है।

इतने विवरणसे निश्चय हुआ कि अनन्यभाव, अद्वैतभाव, अभिन्नभाव, द्वन्द्वातीतभाव मनमें स्थिर होनेके पश्चात् वैयक्तिक, कौटुंबिक, जातीय, ग्रामीण, प्रान्तीय, राष्ट्रीय और जागतिक उन्नतिके प्रशस्ततम कर्म मनुष्य उत्तम रीतिसे कर सकताहै और संपूर्ण संसार इसी शुभ अवस्था की प्राप्तिके लिये अत्यन्त आतुर हुआ है, संपूर्ण मानवी प्रयत्न इसी के लिये हो रहे हैं, परंतु उन बिचारोंको योग्य मार्ग दीखता नहीं, इसलिये विरुद्ध मार्गसे वे चल रहे हैं।

यदि श्रीमद्भगवद्गीतोक्त अनन्यभावकी शिक्षा सर्वत्र हो जाय और इस सुशिक्षासे सब जनता सुशिक्षित बन जाय, तो निःसन्देह सब लोगोंमें अनन्यभाव सुस्थिर हो जायगा और संपूर्ण जनता शुद्ध आनन्द प्राप्त कर सकेगी, जिसकी उसको बडी चाह है।

इसलिये कोई यह न समझे कि ब्रह्मज्ञान होनेके बाद जो अनन्यभाव मनुष्यके मनमें स्थिर होनेवाला है, वह होनेके पश्चात् मनुष्य कर्तव्यशून्य बनेगा। प्रत्युत सत्य तो यह है कि वह परिशुद्ध अनन्यभाव मनमें सुस्थिर होनेके पश्चात हि मनुष्य सच्ची राष्ट्रसेवा, सच्ची विश्वसेवा और सच्ची मानवसेवा कर सकता है। ब्रह्मज्ञान होनेके पश्चात् ही मनुष्यका कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। ब्रह्मज्ञानसे संकुचित क्षेत्रको छोडकर मानो वह विशाल क्षेत्रमें पहुंचता है।

अनन्यभाव वा अनन्यभक्ति के कार्यक्षेत्रका यह विस्तार है।

विश्व और जगत्।

यहां पाठकोंकी सुविधाके लिये 'विश्व और जगत्' में जो भेद है, उसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। जगत् और विश्व ये दो शब्द समान अर्थवाले नहीं हैं। यद्यपि प्रायः सभी लोग इनको समान अर्थसे प्रयुक्त करते हैं। जगत् बदलनेवाला है और विश्व वैसा नहीं है। जगत् मिथ्या है, परंतु विश्व शाश्वत है। इसलिये इनके अर्थोंका सूक्ष्म भेद ध्यानमें धारण करना आवश्यक है।

इस श्रीमद्भगवद्गीतामें परमेश्वरका 'विश्वरूप' कहा है। जो विश्वरूप है वह 'जगद्रूप' नहीं है। कई लोग दोनोंको एक ही मानकर बडी गडबड करते हैं. बडाही भ्रम उत्पन्न करते हैं। इसलिये इनका भेद विशद करना चाहिये।

परमेश्वर-निर्मित विश्व है. परंतु वैसा जगत् नहीं है। जगत् मानवनिर्मित है। इस विषयके कई उदाहरण लेकर विचार करना चाहिये, तब यह विषय स्पष्ट हो जाना संभव है। देखिये-

वृक्ष परमेश्वरने बनाये हैं. इसलिये वे विश्वके भाग हैं, परंतु वृक्षकी लकडियां काटकर चौरंग, चौपायी, पेटी, संदूक द्वार, खिडकी आदि जो अनंत चीजें बनाई जाती हैं, उनका समावेश जगतमें होता है। यह मनुष्यनिर्मित है। इसी तरह सुवर्ण परमेश्वर की निर्मिती है, उसको लेकर सुवर्णकार अनेक जेवर बनाता है, वह जगत् है यह मानवनिर्मित है। मिट्टी ईश्वर-निर्मित है,अतः वह विश्वरूप है, परंतु घडा,घरकी दिवारें आदि मानवनिर्मित चीजें जगत में संमिलित हैं। इस तरह विचार करनेसे विश्व क्या है और जगत् क्या है इसका विचार हो सकता है।

जगत् नाशवंत है, वह मिथ्या है, और वह ईश्वरके विश्वरूपमें अन्तर्भूत नहीं है। जो परमेश्वरनिर्मित हैं, उनके रूपोंको धारण करके परमेश्वर विश्वरूपो बन गया है। घडा मानवनिर्मित होनेसे वह जगद्रूपी है और विश्वरूपी नहीं है तथापि उसकी मिट्टी विश्वरूपमें संमिलित है, इस तरह घर जगद्रूप है, परंतु मिट्टी और काष्ट विश्वरूप हैं। यहां विशेष ही सूक्ष्मता के साथ विचार करके इस भेद को जानना चाहिये, नहीं तो यह स्पष्टीकरण भी दुर्बोधही होता जायगा। इसलिये इसका विवरण दूसरी रीतिसे करते हैं—

स्त्री और पुरुष ईश्वरनिर्मित हैं इसलिये ये विश्वरूप हैं, परंतु पति पत्नी और इनसे बननेवाले अनेक नाते ये सब मानवकल्पित और मानवी व्यवहार के कारण उत्पन्न हुए हैं,अतः ये जागतिक व्यवहार प्रापंचिक हैं। काका मामा, काकी मामी, चचा चची, दादा दादी आदी सभी नाते ये सबके सब जागतिक व्यवहार के हैं इसलिये ये मिथ्या जगत् के भाव हैं। विश्वभाव को ये मिटानेवाले हैं, विश्वरूपपर ये आरोपित हैं। वस्तुतः इनमें सत्यता नहीं है। किसी पुरुषको परमेश्वरने 'पति' करके उत्पन्न नहीं किया और किसी स्त्रीको उसकी पत्नी करकेभी उत्पन्न नहीं किया। मानवों ने अपने व्यवहार के कारण ये नाते उत्पन्न किये हैं। विचार करनेपर ये नाते मिथ्या हैं ऐसा हरएक को स्पष्ट हो जायगा। परमेश्वरने जो अपने विश्वरूपमें स्त्री और पुरुष उत्पन्न किये हैं वे तो स्थायी हैं, परंतु पतित्व और पत्नीत्व जगद्रूप होनेसे मिथ्या हैं और विश्वरूप दीखने में बाधक भी है।

ईश्वरने मनुष्य निर्माण किये हैं और वे विश्वरूपमें संमिलित भी हैं। परतु राजा,अमात्य, मंत्री, सेनापति, न्यायाधीश, सैनिक, सेवक, भृत्य, व्योपारी, खरीदार, किसान, चोर, साधु स्पृश्य अस्पृश्य आदि सब जो व्यावहारिक अथवा प्रापंचिक भेद हैं वे सबके सब जगद्रूपी हैं। अतः मिथ्या हैं, मानव विश्वरूपमें संमिलित होनेसे सत्य हैं। परमेश्वरने किसीको अमात्य करके निर्माण नहीं किया और किसीको सेवक करके भी उत्पन्न नहीं किया। स्त्री पुरुष भेद ईश्वरनिर्मित है अतः वह सत्य विश्वरूपमें संमिमित है, परंतु स्वामी और सेवक यह भेद जागतिक व्यवहार के कारण बना है, इसलिये यह मिथ्या है। किसी राजाकी कृपा हुई तो सेवक का सरदार अथवा महामंत्री भी बन सकता है, परंतु राजाकी कृपा होनेसे पुरुषको स्त्री बन नहीं सकती, इससे विश्वरूपकी पारमार्थिक सत्य सत्ता और जगत्के व्यावहारिक संबध की मिथ्यारूपता स्पष्ट हो सकती है।

मजदूर और कारखानदार ये व्यावहारिक जगत्

के भेद हैं,अतः ये मिथ्या हैं।इसी कारण जो आज मज्दूर है वह थोडे दिनों के बाद कारखानदार बनता है, परंतु दोनों मानव हैं इसलिये उन दोनों का मानवत्व विश्वरूपमें संमिलित है और मज्दूरपन तथा कारखानदारपन यह जागतिक व्यवहार के कारण उत्पन्न हुआ होनेसे मिथ्या।

आज जो सरदार है वह कल उस कार्यसे हटाया जाता है, क्यों कि उसका सरदारपन जागतिक व्यवहारसे उत्पन्न हुआ होनेके कारण मिथ्या है। परंतु उसका मानवपन हटकर उसपर मेंडकपन नहीं आता, क्यों कि मानवत्व ईश्वरनिर्मित होनेसे सत्य है।

संपूर्ण भूमि परमात्मनिर्मित होनेसे विश्वरूपी होनेके कारण सत्य है परंतु उस भूमिपर ये भारतवर्ष चीन तिब्बत आदि जो देश हैं वे मानवी प्रयत्नसे और कल्पनासे मर्यादावाले होनेके कारण जागतिक व्यवहारसे उत्पन्न हुए हैं।उन राष्ट्रोंमें जो ग्रामोंकी मर्यादायें हैं उन ग्रामोंमें जो वैयक्तिक स्वामित्वके भूमिविभाग हैं वे सबके सब जागतिक व्यवहारसे-मानवी कृतिसे उत्पन्न होनेके कारण जगद्रूप हैं और जगन्मिथ्या होनेसे वे सब मिथ्या हैं। विश्वरूपकी सत्यता इन जागतिक भागोंमें नहीं है।

विश्वरूपी भूमिमें एक मनुष्य कहता है कि इतना भूभाग मेरा है, इतना दूसरेका है, इतना तीसरे का है. यह सब मिथ्या व्यवहार है, लोग इस मिथ्याकोही सत्य मानते हैं और उसीपर कितनी शक्ति खर्च करते हैं। यह सब अज्ञान है, यह सब दुःखका हेतु है। 'मेरा' यह दुःखका हेतु है। वस्तुतः कुछभी 'मेरा' नहीं है। यह सब 'प्रभु'का है। जो प्रभुका है उसे मेरा कहना अज्ञान है। पाठक इस 'मेरा' कहनेके कारण कितने दुःख उत्पन्न होते हैं इसका विचार करें और इस संकुचित भावको जगद्रूप जानकर इसका विश्वरूपसे कैसा विरोध है यह देखें और विश्वरूपकी पहचान करनेको सीखें। यही 'मेरे पन' को हटानेकी और 'अखंड विश्वव्यापक' सत्ताको जाननेकी दृष्टिही दिव्यदृष्टि है। विश्वरूप दृष्टिमें 'यह मेरा घर, यह मेरी भूमि,' यह बात नहीं है. वहां सब परमात्माका अखण्ड एकरस विश्वरूप है। इस अखण्ड विश्वरूप सत्तामें 'खण्ड' करनेका कार्य 'मैं' 'मेरा' 'तू तेरा' ये भाव कर रहे हैं। यही मिथ्या जगत् है।

अर्जुन (प्रथमाध्यायमें) कहता था कि ये भीष्मद्रोणदुर्योधनादि मेरे गुरु, पितामह, भाई, स्वजातीय, सगे संबंधी, पारिवारिक जन हैं इसलिये इनको मारना पाप है। स्वजनोंका वध नहीं करना चाहिये इ०। उसको भगवान् श्रीकृष्णजीने दिव्यदृष्टि दी और अखण्ड परमात्माका अखण्ड एकरस विश्वरूप बताया, जिसमें संपूर्ण मानव संमिलित हैं ऐसा अर्जुनने देखा। उसे अखण्ड एकरस एकही विश्वरूप दिखाई दिया, जिस रूपमें 'ये मेरे आप्तसंबंधी हैं।'यह अर्जुनका जागतिक व्यवहारका भ्रम मिट गया और विश्वरूपमें सब समान हैं ऐसा बोध हुआ। इससे कल्पित पारिवारिकताके कारण उत्पन्न होनेवाला उसके मनका मोह दूर हुआ। इससे अर्जुनका मन जगद्भ्रमसे बिगडा हुआ था, उसको विश्वरूप-दर्शनसे परिशुद्ध किया गया, यह बात पाठकोंके मनमें विस्पष्ट रूपसे आजायगी। यही जगत् दृष्टि और विश्वदृष्टि है किंवा एक मिथ्या दृष्टि है और दूसरी सत्य दृष्टि है।

इसीको हम छोटे कार्यक्षेत्रमें और स्पष्ट कर देते हैं। एक दृष्टिसे सब बालक राष्ट्रके हैं, यह विश्वरूप दृष्टि है। दूसरी दृष्टिमें हरएक बालक उसके मातापिताका है यह जगत् दृष्टि है। ये दोनों दृष्टियां परस्पर भिन्न हैं और इनका परिणाम भी बिलकुल भिन्न है। देखिये विश्वदृष्टिसे सब बालक राष्ट्रके हैं, राष्ट्रही उन सबका यथायोग्य पालन करे, उनको यथायोग्य सब भोगोपभोग देवे और राष्ट्रीय शुभ

संस्कारोंसे संपन्न करे। इस विश्वदृष्टिसे न कोई बालक गरीब है न कोई धनवान् है, सब समान हैं सबका पालन पोषण समानतया होनेवाला है। इस समतामें जो शक्ति है उसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

दूसरी जागतिक दृष्टि है। उसमें कई बालक निधन हैं, कई बडे धनाढ्य हैं कई स्पृश्य हैं कई अस्पृश्य हैं कई सरदारोंके हैं और कई पददलितोंके हैं, कई स्वतंत्रोंके हैं और कई गुलामोंके हैं। गरीबोंके बालक भूखे मर रहे हैं धनियोंके बालक ऐषआराममें चैन कर रहे हैं, सरदारोंके बालक जन्मसे दूसरोंपर हुकूमत कर रहे हैं और पददलित गुलामोंके बालक जन्मसे गुलामी में सड रहे हैं, अस्पृश्योंके बालक स्पृश्योंकी पाठशालामेंभी नहीं जाते और राजाका पुत्र जन्मसेही राजा होनेका गर्व करता है। यह जगद्व्यवहार है, विश्वरूप पारमार्थिक दृष्टिसे यह मिथ्या है, हानिकारक है, अज्ञान है बंधनोंमें फँसानेवाला है और दुःख बढानेवाला है।

जो विश्वरूपी दिव्यदृष्टिका व्यवसाय है वहां सब बालक राष्ट्रकी दृष्टिसे समान और राष्ट्रके द्वारा पालेपोसे और सज्ञान किये जाने योग्य हैं। वहां हरएकको अपने बुद्धिबलपर खडा होने का मार्ग खुला होगा, यही सत्यदृष्टि है और सबका सुख बढानेवाली और सबका हित करने वाली दिव्य दृष्टि है। ब्रह्मचर्याश्रममें यही विश्वरूपी दृष्टि थी। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि आश्रमोंमें ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासमें यही समदृष्टि कार्य करती है, इसी कारण इन तीन आश्रमोंमें उच्चनीचता नहीं मानी जाती थी। दरिद्री सुदामाभी महाधनी श्रीकृष्णजीके साथ गुरुकुलमें पढता था, वानप्रस्थमेंभी समान दृष्टिकाही व्यवहार था।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

'विज्ञानी ब्राह्मण, श्वपाक और चाण्डाल समान दृष्टिसे देखे जाते हैं' सभी विश्वरूपमें समान होते हैं, वहां विषमताकी दृष्टि रहही नहीं सकती। जहां विश्वरूप दृष्टिमें सभी रूप एक अद्वितीय ईश्वरके रूप हो गये, तो वहां दृष्टि की विषमता कहां रहेगी? इस तरह दृष्टिकी समानता यहां प्रधान है।

घरमें पतिपत्नी पुत्र भाई बहिन आदि सबही विश्वरूपी परमात्माके प्रत्यक्ष रूप हुए, एकही ईश्वरके रूप समझकर उनसे यथायोग्य व्यवहार होने लगा, तो आजका एक दूसरेको दबानेका विषमताका दुःखदायी व्यवहार रहेगाही कहां? हरएक अपने अधिकारको सुरक्षित रखनेके लिये तडफ रहे हैं क्योंकि सब व्यवहारोंमें द्वन्द्वभाव है अर्थात् जहां द्वन्द्वभाव है वहां युद्धकारी भाव है। परंतु सब लोग जहां अद्वितीय परमात्माके विश्वरूपके समान अंश हुए वहां द्वन्द्वभाव रहेगा ही कहां? वहां तो सब एकही परमात्माके रूप हुए, फिर उनमें द्वन्द्वभाव कहां रहा? इस तरह निर्द्वन्द्व स्थिति होनेके पश्चात् सभी आत्माके अर्थात् अपनेही रूप हुए तो झगडोंका कारणही क्या रहा? इस तरह द्वन्द्वका मूलही कट जाता है। यदि कोई द्वन्द्वभाववाला रहा तो वहां 'पर' भाव रखनेवाला कांटेके समान चुभता रहेगा, उसको हटानाही पडेगा। परंतु यदि सब लोगोंमें इस तरह ब्रह्मभाव की एकरूपता जीती और जाग्रत रही तो उनमें आत्मवद्भाव सब व्यवहारमें रहेगा और वह गृह परम आनन्दका स्थान होगा।

राष्ट्रमेंभी राजा प्रजा राजपुरुष तथा अन्यान्य लोग इस दिव्यदृष्टिसे युक्त होकर सर्वत्र विश्वरूप देखने लगे तो राजा प्रजाके झगडे रहेंगे कहां? आजकल तो 'पर' भावसे सभी लोग परस्परको देख रहे हैं, इससे शत्रुता ही चारों ओर बढ रही है। यह 'पर' भाव हट गया और 'एकत्व'का भाव आ गया, तो सर्वत्र आत्मभावसेही व्यवहार होगा। राजा कहेगा

कि मैंही प्रजा हूं. मेरेलिये प्रजाही परमात्मा है क्योंकि सभी परमात्माके विश्वरूपमें संमिलित हैं. उस विश्वरूपसे कोई बाहर नहीं है। जहां राजा और प्रजा इस तरह एक हो गये वहां एक दूसरे को खायेगा. यह कैसे हो सकता है? एक दूसरेपर अन्याचार तबतकही करते हैं जबतक 'पर' भाव कार्य करता है, 'एकत्व' भावका उदय हुआ, आत्मवद्भाव का व्यवहार होने लगा. तो वहां सच्ची विश्वसेवा शुरू हुई ऐसा समझना चाहिये; वहां किसी को अपने अधिकार सुरक्षित रखनेके लिये युद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं है। वहाँ तो कोई दूसरा है हि नहीं, वहां तो 'अनन्यभाव' (अन्+अन्य=कोई दूसरा नहीं, स्वयं मैं ही सब हूं किंवा परमात्मा ही सब कुछ है)यह भाव सर्वत्र होगा और उस कारण जैसे अपना अधिकार हर एक सुरक्षित रखता है, उसी तरह सबके अधिकार आपहीआप सुरक्षित रहेंगे। संपूर्ण राष्ट्र इस दिव्यदृष्टिसे स्वर्गधाम बन जायगा और जागतिक मिथ्या व्यावहारिक दृष्टिके कारण जो अनंत झगडे उत्पन्न होते हैं उनमेंसे एकभी झगडा इसमें होगा नहीं, क्यों कि उनके व्यवहार में कोइ ऐसी त्रुटी रहेगी ही नहीं।

ऐसे दिव्यदृष्टिवाले राज्यमें न चोर होगा, न ठग, न व्यभिचारी, न दुराचारी, न छली न न कपटी, न धोखेबाज, न कोई स्वार्थी(खुदगर्ज) न अततायी होगा, सब यथायोग्य व्यवहार करनेवाले होंगे, अतः न अदालतों की आवश्यकता वहां रहेगी, न संरक्षक सैन्यकी आवश्यकता रहेगी, क्यों की किसीपर किसीका अत्याचार होने की संभावना ही वहां नहीं है। वहां तो सब ही मनुष्य विश्वात्माकी सेवा करते रहेंगे और सभी निर्दोष व्यवहार करते रहनेके कारण किसी प्रकार के पाप आचरणमें होनेकी संभावना ही नहीं। यह राज्य पूर्ण पुरुषोंका होगा, अतः उसमें दुःख नहीं होगा।

पाठक कहेंगे कि यह स्वर्गीय साम्राज्यकी मानसिक कल्पना दीखनेके लिये अच्छी है. परंतु यह इस व्यवहारमें कैसी उतरेगी? इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि उपनिषत्कालका एक राजा इसी तरहका अपना राज्य है ऐसी साक्षी देता है-

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
नानाहिताग्निः न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।

" मेरे राज्यमें चोर नहीं है. कृपण नहीं है, मद्यपी नहीं है, स्वैराचारी नहीं, फिर स्वैराचारिणी स्त्री कैसी मिलेगी ? " इस तरह यह राजा अपने राज्यका वर्णन कर रहा है, इस राजाको झूठी गवाही देनेका कोई कारण नहीं था और इस समयतक किसीने इसमें असत्यता होनेकी कल्पनातक नहीं की है. इतनाही नहीं इस देशके विषयमें अन्य देशीयोंने जो इतिहास लिखा है. उसमें ग्रीस देशवालोंने ऐसाही लिखा है कि भारतवर्षमें चोरी नहीं होती. इसलिये घरोंको ताले लगानेका रिवाज भारतवर्षमें नहीं है। दो सहस्र वर्ष पूर्व जब ग्रीक लोक यहां आये थे उस समयका यह वृत्तांत है। इसी तरह स्वैराचारके अभाव आदिके विषयमें भी सत्यता दिखाई दे सकती है। अर्थात् जो पूर्वोक्त राजाने अपने राज्यके विषयमें कहा था वह सत्य होनेमें संदेहही नहीं है।

यदि एक राज्य ऐसा पूर्ण पुरुषोंका हो सकता है तो निःसंदेह अन्य राष्ट्रभी वैसे परिशुद्ध हो सकते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें जो पूर्ण पुरुषके लक्षण कहे हैं, वे केवल कण्ठ करनेके लिये ही नहीं कहे हैं। वे आचरणमें लानेके लियेही कहे हैं। और यदि आचरणमें लानेके लिये सामूहिक रूपसे प्रयत्न होंगे, तो निःसंदेह वे सद्गुण मनुष्यों में आसकते हैं, क्योंकि सब मनुष्योंका अत्यधिक सुख यदि किसी नीतिसे होना संभव हो, तो इसी आध्यात्मिक नीतिसेही हो सकता है। अतः यह आध्यात्मिक नीति मनुष्योंके आचरणमें लानेके लियेही उपनिषदों और भगवद्गीताने कहा।

है । वेदमेंभी सबसे प्रारंभमें यही नीति कही है । भगवान् श्रीकृष्णका अवतार इसी आध्यात्मिक नीतिको जनताके आचरणमें लानेके लिये था ।

इस तरह विचार करनेसे पता लग सकता है कि परमात्माका विश्वरूप मनुष्योंकी दृष्टिमें आ सकता है, इसलिये राष्ट्रीय प्रयत्नोंकी आवश्यकता है । जो गीतामें कहा है कि–

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

'हजारों मनुष्योंमें कोई विरलाही इस सिद्धिके लिये यत्न करता है ।' यह तो सांप्रतके व्यवहारमें सत्यही है ।

इसमें ' यतति ' यह वर्तमान कालका प्रयोग है । कौरवोंके होते हुए जो हीन समाजव्यवस्था हो चुकी थी, उस समय सहस्रों मनुष्योंमें एकाध मनुष्य सिद्धिके लिये यत्न करता होगा, आजकल कदाचित् सहस्रों मानवोंमें एक मिलेगाभी नहीं, परंतु लाखोंमे एकाध मिल जायगा । परंतु इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि यदि राष्ट्रीय शिक्षापद्धति नये धार्मिक ढंगसे रची जाय, और सत्ययुगकी प्रणाली शुरू करनेके लिये सामूहिक रूपसे राष्ट्रीय प्रयत्न हों और सब राष्ट्र उसी ध्येयसे प्रेरित होकर यत्न करें, तो वह आध्यात्मिक नीति मानवोंके व्यवहारमें अवश्य आवेगी हि । उस सिद्धिके लिये वैसे ही प्रयत्न होने चाहिये । वैसे प्रयत्न होंगे तो अवश्य वैसा पूर्ण पुरुषोंका समाज बनेगा ।

आजकल प्रयत्न ही विरुद्ध दिशासे होते हैं इसलिये फल कडुवे आते हैं । इससे पूर्ण पुरुषोंका समाज कदापि नहीं बनेगा ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है । अस्तु ।

जो विश्वरूप देखनेकी दिव्यदृष्टि है उसका सार्वदेशिक प्रचार किया जाय तो वह दिव्यदृष्टि सब मानवोंको प्राप्त हो सकती है और जिनमें विश्वरूप देखनेकी दृष्टि उदित हो सकती है वे पूर्ण पुरुष बन सकते हैं इसमें कोई संदेहही नहीं। परंतु केवल प्रचारकों की हि कमी है ।

यदि दिव्यदृष्टि प्राप्त होकर संजय परमात्माका विश्वरूप देख सकता है, और संजयके कहनेपर अंधे धृतराष्ट्र कोभी उसकी कुछ कल्पना आसकती है, (गी०अ०११ और यदि यशोदामाता कोभी परमात्माका दिव्य विश्वरूप दीख सकता है' (श्रीमद्भागवत) और यदि अर्जुन के रथके चारों ओर खडे रहे सैनिकोंकोभी विश्वरूप दर्शन हो सकता है (गी० ११) तो अन्य मनुष्योंको वह विश्वरूप क्यों न दीखेगा ? अवश्य अवश्य दिखेगा और सार्वदेशिक प्रयत्न करनेपर यह सत्ययुग राष्ट्रभर में अवश्य शुरु होगा । परंतु उसके लिये योग्य दिशासे प्रयत्न करने चाहिये । अस्तु ।

इस कारण यह भगवद्गीतोक्त विश्वरूप-दर्शनसे होनेवाला शुभ व्यवहार मानवी व्यवहारमें परिणत होगा या न होगा, इस विषयमें किसी को शंका करना योग्य नहीं है । उतना तीव्र प्रयत्न करनेपर सिद्ध होनेवाली वह बात है । प्रयत्न किया तो सिद्धि होगी, न किया तो नहीं होगी, इतना ही उस शंका के विषयमें उत्तर है ।

इस तरह प्रत्यक्ष परमेश्वर का विश्वरूप-दर्शन करने का उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें किया है, जो सर्व जनहितकारी है, अब गीताके सिवाय अन्य ग्रथोंमें जो विश्वरूपदर्शन का वर्णन आया है वह देखेंगे । इससे पूर्व वेद उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रंथोंमें विश्वरूपवर्णन हमने देखा, अब अर्वाचीन ग्रंथोंमें देखेंगे—

गणेशगीतामें विश्वरूप-दर्शन ।

गणेशगीतामें भी इसी तरह विश्वरूपदर्शन का वर्णन है, वह अब देखिये—

असंख्यवक्त्रं ललितमसंख्यांघ्रिकरं महत् ।
असंख्यनयनं कोटिसूर्यरश्मिधृतायुधम् ॥६॥
तदूर्ध्वमणि त्रयो लोका दृष्टास्तेन पृथग्विधाः॥७॥

वीक्षेऽहं तव देहेऽस्मिन्देवानृषिगणान्पितॄन्।
पातालानां समुद्राणां द्वीपानां चैव भूभृताम् ॥८॥
महर्षीणां सप्तकं च नानार्थैः संकुलं विभो।
भुवोऽन्तरिक्षं स्वर्गांश्च मनुष्योरगराक्षसान् ॥९॥
अनाद्यनन्तं लोकादिमनन्तभुजमस्तकम् ॥१०॥
पातालानि दिशः स्व..न्भुवं व्याप्याखिलं स्थितं १५
देवा मनुष्या नागाद्याः खलास्त्वदुदरेशयाः।
नानायोनिभुजश्चान्ते त्वय्यैव प्रविशन्ति च ॥१७॥
अब्धेरुत्पद्यमानास्ते यथा जीमूतबिन्दवः।
त्वमिन्द्रोऽग्निर्यमश्चैव निर्ऋतिर्वरुणो मरुत् ॥१८॥
गुह्यकेशस्तथेशानः सोमः सूर्योऽखिलं जगत् ॥१९॥
(गणेशगीता अ० ८
गणेशपुराण क्रीडा खंड अ० १४३)

ये श्लोक क्रमशः भगवद्गीता के अध्याय ११ के इन श्लोकोंकीहि छाया है-६(गी ११।१०,११,१६ ; ७(११।२,२०) ८-१० (११।१५); १५ ११।२३); १ (११।२८);१८- ९ (११ ३८-३९) पाठक दोनों जगहके श्लोकोंकी तुलना करें और देखें कि दोनों स्थानोंका वर्णन किस तरह समान है। अब इनका आशय देखिये-

"असंख्य मख, असंख्य पांव, असंख्य नयन वाला यह विश्वरूप कोटीसूर्यसमान प्रभासे युक्त है। उस परमात्माके इस विश्वरूपमें तीनों लोक धा.ण हुए हैं। इस विश्वरूप में देव ऋषि पितर समाविष्ट हुये हैं. पाताल समुद्रद्वीप और पर्वत उसी रूपमें समाय हैं। सप्त ऋषि, भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग तथा मानव सर्प और राक्षस ये इसी विश्वरूप में हैं। इस विश्वरूप को अनन्त भुजा और अनन्त मस्तक हैं, ऐसा यह अनादि और अनन्त विश्वरूप है। सब पाताल, दिशा. स्वर्ग. भूमि इन सब को व्यापकर यह रहा है। देव, मानव, नाग, खल ये सब इनके पेटमें हैं। नाना योनिमें उत्पन्न हुए इसी ईश्वरमें प्रविष्ट होते हैं। समुद्रसे जैसे मेघ और जलबिन्दु उत्पन्न होते हैं, वैसे ही इस विश्वरूपी परमात्मासे इस सबकी उत्पत्ति होती है। वही इंद्र अग्नि यम निर्ऋति वरुण मरुत् गुह्यकेश-कुबेर, ईशान, सोम, सूर्य और अखिल जगत् है।"

यह वर्णन स्पष्ट है। परमात्मा विश्वरूप है। उसमें अनन्त मस्तक, आंख. मुख. हाथ, पांव चारों ओर हैं। प्राचीन कालके देव ऋषि पितर नाग सर्प आदि सब उसीमें हैं। नाना योनिमें उत्पन्न हुए सब प्राणी इस परमात्माके विश्वरूपमें हैं। सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि सब उसीमें हैं। स्वर्ग, मृत्यु, पाताल, आकाश, भूमि और बीचका अवकाश यह सब ही इस विश्वरूपमें है। तात्पर्य जो इस विश्वरूपमें था है और होगा, वह सबका सब इस विश्वरूपमें है। इस विश्वरूपसे बाहर कुछ भी नहीं है।

यह वर्णन स्पष्टताके साथ इस विश्वका अखंड रूप ही 'परमात्माका विश्वरूप' है इस बातका स्पष्टीकरण कर रहा है। यह गणेशगीता गणेश पुराणके क्रीडाखण्ड अध्याय १३८-१४८ तक है. जिसका आठवां अध्याय अर्थात् गणेशपुराण क्री० खं० का १४३ वां अध्याय विश्वरूपदर्शन का है।

विनायकका विश्वरूप।

गणेशपुराण क्रीडाखण्ड अ० ६१ में विनायकके विश्वरूपका वर्णन आया है वह भी यहां तुलना करनेके लिये देखने योग्य है—

विनायकं विराड्रूपं गगनोर्ध्वगमस्तकम्।
पातालव्याप्तचरणं दिक्श्रोत्रं वृक्षरोमकम् ॥३१॥
भ्रमद्ब्रह्मांडरोमाञ्चं पयोधिश्रमबिन्दुकम्।
नखाग्रे यस्य देवानां भांति त्रिंशत्त्रिकोटयः ॥३२॥
उदरे भान्त्यकदेशे भुवनानि चतुर्दश ॥ ३३ ॥
(गणेशपुराण क्रीडाखण्ड अ० ६१)

" विनायकने विश्वरूप धारण किया, इसका मस्तक आकाशमें था और पातालमें पांव थे,

संपूर्ण वृक्ष उनके शरीरपरके लोम थे, रोमांचोंमें सब ब्रह्माण्ड घूमते थे, समुद्र ये उसके शरीर परके जलबिन्दु थे, उसके नखाग्रमें ३३ कोटी देव थे, उदरके एक भागमें १४ भुवन रहे थे " इस तरह यह विश्वरूपी विनायक है। यह वर्णन भी वेदके पुरुषसूक्तके वर्णनके समान दीखता है। पाठक इसकी तुलना गीताके वर्णनके साथ करें। गणेशपुराणमें और एक स्थानमें विश्वरूपवर्णन है, वह अब देखिये-

मुखमध्ये ददर्शाऽस्य विश्वं विश्वस्वरूपिणः ।
सप्तद्वीपां वसुमतीं पुरग्रामवनाकराम् ॥ ४२ ॥
ब्रह्माणं भास्करं शेषं विष्णुं पर्वतसागरान् ।
गंधर्वान्यक्षरक्षांसि मुनिपक्षिगणानपि ।
नदीवापीतडागानि मनूनष्टौ वसूनपि ॥४३॥
शशिसूर्यानलोडूनि सचेतनमचेतनम् ।
पातालान्यपि सप्तानि स्वर्गानप्येकविंशतीन्॥४४
एवं त्रिभुवनं दृष्ट्वा मुमूर्च्छ गिरिजा तदा॥४५॥
(गणेशपुराण क्रीडाखण्ड अ० ९२)

" पार्वतीने विश्व रूपी गणेशके मुखमें संपूर्ण विश्व देखा । सप्त द्वीप, भूमि, नगर ग्राम वन, ब्रह्मा, सूर्य, शेष, विष्णु, पर्वत, सागर, गंधर्व यक्ष, राक्षस, मुनि, पक्षी, नदी, कुआ, तालाव, मनु, आठ वसु, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, सब सचेन और अचेतन, सात पाताल, इक्कीस स्वर्ग, त्रिभुवन यह सब देखा । "

यह वर्णन वास्तविक विश्वरूपका वर्णन नहीं है, यह ब्रह्माण्ड शक्तियों को पिण्डमें दर्शाने-वाला वर्णन है। पिण्डमेंभी वही शक्तियां हैं जो ब्रह्माण्डमें हैं। उन शक्तियोंका दर्शन उमा देवीने अपने पुत्र श्रीगणेशजी के शरीर में किया। ऐसा वर्णन करनेके स्थानपर लिखने वालेने अशुद्ध कल्पनाके कारण अथवा विश्व-रूपकी ठीक ठीक कल्पना न होनेके कारण श्रीगणेशजीके मुखमें उमादेवीने विश्व देखा ऐसा कहा। वस्तुतः जो विश्वरूपदर्शन है वह किसीके मुखमें नहीं देखा जाता, वह तो विश्वात्माको विश्वरूपमें देखना होता है। परंतु लिखनेवाले साक्षात्कारी नहीं होते और कल्पनासे जो प्रतीत होता है लिख देते हैं। विश्वरूपी परमेश्वर का नाम ही विश्वात्मा अथवा सर्वात्मा है, उस सर्वात्माको संपूर्ण रूपोंमें देखना है, विश्वात्माका अनुभव विश्वके रूपमे करना है। यहां मुखमें विश्व दीखने की कल्पना अशुद्ध है। इसी तरह श्रीमद्भागवत में भी कहा है, वह विषय अब देखीये—

पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम् ।
मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशे इदम् ॥३५॥
खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः
सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च ।
द्वीपान्नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि
भूतानि यानि स्थिरजंगमानि ॥ ३६ ॥
सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन्संजातवेपथुः॥३७॥
(श्रीमद्भागवत १०।८)

'भगवान् श्रीकृष्णने जमुहाई दी तब उसकी माताने उसके मुकमें आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी दिशा सूर्य चन्द्र समुद्र द्वीप पर्वत नदियां सब स्थावर जंगम भूतोंको देखा और उसके मुखमें सब विश्व देखकर वह कृष्णकी माता कांपने लगी।'

यह विश्वरूप कृष्णके मुखमें देखनेकी कल्पना भी पिण्डमें ब्रह्मांडके तत्त्व दिखानेके लिये हि की है। कई लोग इसका नाम विश्वरूपदर्शन कहते हैं, परंतु यह विश्वरूपदर्शन नहीं हैं।

श्रीमद्भागवतमें विश्वात्माके विश्वरूप का वर्णन अनेक प्रकारसे आ गया है, उसका संक्षेपसे यहां अब उल्लेख करना चाहिये। वह विश्वरूप वर्णन अब देखिये—

श्रीमद्भागवतमें विश्वरूप ।

एकही परमात्मा ब्रह्मा विष्णु शिवके रूप धारण करता है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतकार कहते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैः
युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादयो हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥२३॥
(श्री० भा० स्कं० १।२।२३)

'सत्व रज और तम ये तीन गुण परमात्माकी प्रकृतिके हैं, इन गुणोंसे युक्त होनेके कारण एक ही परात्पर पुरुष ब्रह्मा विष्णु और शिव यह तीन संज्ञाएं धारण करके उत्पत्ति स्थिति और लय करता है और संपूर्ण मानवोंका कल्याण करता है।''

इस तरह यहां एकही विश्वात्मा ब्रह्मा विष्णु और शिव होता है, ये तीन देव विभिन्न नहीं हैं, ये एक ही परात्पर पुरुषके सात्विक राजस और तामस भाव हैं, ऐसा कहा है। एक के अनेक रूप और अनेक रूपोंमें एक का भाव होनेका वर्णन इस तरह यहां किया गया है। विश्वरूपका विचार करनेके समय यह वचन देखना योग्य है।

एकके अनेक रूप।

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्॥
(श्री० भाग० १।२।३२)

'जैसा अग्नि एक होता हुआ भी अनेक लकडियोंके आकारोंके समान विविध आकार-वाला दिखाई देता है, वैसाही विश्वात्मा एक होता हुआभी विश्वके अनेक रूपोंमें अनेकरूप दिखाई देता है।'

यही विश्वरूप की उत्तम कल्पना है। यही कल्पना कठ उपनिषदमें (२।५ मंत्र ९,१०में) बताई है। वहांभी-

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव॥'
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव॥

इस तरह 'अग्नि' का दृष्टान्त लेकर ही कहा है। यहां 'वायु' का और दृष्टान्त लेकर यही बात विशेष स्पष्ट की है।

विराट स्वरूप।

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्॥३॥
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यम्बरकुंडलोल्लसत्॥ ४॥
(श्री० भागवत १।३।३-४)

'इस परमात्माके अवयवोंके स्थानपर संपूर्ण लोकलोकान्तर की कल्पना की है। भगवान् का यह शुद्ध सात्विक और ऊर्जस्वी रूप है। इस विराट् रूपको हजारों पांव जंघाएं भुजाएं और मुख हैं, इसमें सहस्रों मस्तक, कर्ण, आंख, नाक आदि है।''

ये हजारों अवयव हजारों प्राणियोंके अवयव मिलकर ही हुए हैं। सहस्रों प्राणियोंका रूप धारण करके वह विराट्रूपी बना है। सब प्राणियोंके रूप उसीके रूप हैं, इसका वर्णन इस तरह किया है—

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥
(श्री० भागवत १।३।५)

'इसीके अंशसे देव पशु पक्षी और मानवादि प्राणी उत्पन्न होते हैं।'इसके अंशसे सनत्कुमार, वराह, नारद, नरनारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरी, मोहिनी, नरसिंह, वामन, परशुराम, व्यास, राम, कृष्ण, बलराम, बुद्ध, कलि इस तरह अवतार उत्पन्न हुए हैं, ऐसा श्रीमद्भागवत १।३६-२६ तक कहा है और अन्तमें कहा है कि-

ऋषयो मानवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।

कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥

(श्रीमद्भागवत १।३।२७)

"ऋषि मनु देव मनुपुत्र और प्रजापति ये सब परमेश्वरकी ही कलाएं (अंश) हैं।" अर्थात् ये सब परमेश्वरके ही विश्वरूपमें संमिलित हैं। तथा-

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः ॥१५॥
नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः॥१६॥

(श्रीमद्भागवत २।५।१६)

'वेद, देव, लोक, यज्ञ, योग, तप, ज्ञान और गति यह सब नारायणपर हैं।' क्यों की नारायण को छोडकर विश्वमें दूसरा कोई स्थायी पदार्थ नहीं है। सब रूप नारायण केही हैं। यही नारायण-

बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया।

(श्री०भागवत २।९।२)

"अनेकरूपवाला जैसा प्रतीत होता है, क्यों कि बहुरूपी मायाका यह परिणाम है। इस मायाके कारण वह एकरूपी होता हुआ अनेकरूपी दिखाई देता है।"

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैः
अभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा।
परावरेशो महदंशयुक्तो
ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्निः॥

(श्रीमद्भागवत३।२।१५)

"साधुसंतादि शान्त रूप और राक्षसादि क्रूर रूप ये ईश्वरके ही रूप हैं। जब शान्त रूपोंको क्रूर रूपोंसे पीडा होती है, तब यह स्वयं अजन्मा होता हुआभी अपनी प्रकृतिके साथ उत्पन्न होता है।" यहां शान्त और क्रूर दोनों परमात्माके रूप हैं। यजुर्वेद के रुद्रसूक्तमें रुद्र स्वरूपी परमेश्वरके घोर (क्रूर) और शिव (शान्त) ऐसे रूप हैं ऐसा कहा है, वही बात यहां अनुवादित हुई है, यजुर्वेदका वचन यह है-

नम उग्राय च भीमाय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥य०१६।४०-४१

'उग्र और शिव ये दो प्रकारके रूप रुद्र केही हैं।' और यही न जन्मनेवाला होनेपर भी जन्मता (अजोऽपि जातः) है। यह बात भी यजुर्वेदमंत्रसे ली है जैसा देखिये-

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो
बहुधा विजायते।

(यजु०३१।१९)

'न जन्म लेनेवाला प्रजापति गर्भमें होकर अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है।' यहां 'अजायमानः विजायते' ये यजुर्वेदके शब्द 'अजोऽपि जातः' के समान ही हैं। अस्तु। इस तरह श्रीमद्भागवतमें विश्वरूपदर्शन है। अब विष्णुपुराणमें विश्वरूपवर्णन देखिये-

विष्णुपुराणमें विश्वरूप।

पुराणोंमें विष्णुपुराण बहुत प्राचीन है, इस पुराणमें अनेक स्थानोंमें परमात्माके विश्वरूपका वर्णन आया है। यह बोधप्रद विषय अब देखिये—

यदम्बु वैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुंधरा।
पद्माकारा समुद्भूता पर्वताब्ध्यादिसंयुता ॥ ३७ ॥
ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च। नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वम् यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य ॥३८॥
ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसावशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः। ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदाज्जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि ॥३९॥
एकं सदैकं परमः परेशः स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥ ४४ ॥

(विष्णुपुराण अं. १ अ० १२)

" विष्णुका जो जलरूपी शरीर है, उससे पृथ्वी पर्वतों और समुद्रों सहित उत्पन्न हुई। ज्योतियां, भुवन, वन, पर्वत, दिशाएं, नदियां,

समुद्र यह सब विष्णु ही है। जो कुछ है वह सब विष्णु ही है। विष्णु ज्ञानस्वरूप होनेसे वह अखण्ड रूप है, तथापि वह वस्तुरूप किंवा पदार्थाकार नहीं है, उसके अखण्ड रूपसे पर्वत समुद्र पृथ्वी आदि भेद विज्ञानके ही विलास हैं, ऐसा समझो॥ वही एक सत्स्वरूप वही परमेश्वर वासुदेव है, जिससे पृथक् और कोई दूसरा पदार्थ नहीं है॥ ''

पृथिवी आदि पदार्थ भगवान् विष्णुके ही रूप हैं। जल तो (वैष्णवः कायः) विष्णु भगवान् का देह ही है। खण्डित वस्तुमात्र भगवान् नहीं है, परंतु अखण्ड-अशेष-रूप ही भगवान्का है। सब कुछ वासुदेव ही है, उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ यहां नहीं है। पूर्वोक्त श्लोकोंमें ये सब बातें कहीं हैं। तथा और देखिये—

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः।
सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च॥
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतः।
विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः॥ ४६॥
(विष्णु अं. २ अ. १)

' समस्त देवता, मनु, सप्तर्षिगण, मनुके पुत्र, सब देवोंका अधिपति इन्द्र, ये सब विष्णुके अशेष अखण्डित विभूतियां हैं। ' यहां भी वही बात कही है। देव मानवादि सब मूर्तियां परमेश्वर की ही हैं अर्थात् देवमानवादि समस्त अखण्ड विश्वका रूप परमेश्वरकाही विश्वरूप है।

पाकाय योऽग्नित्वमुपैति लोकान्बिभर्ति पृथ्वीवपुरव्ययात्मा। शक्रादिरूपी परिपाति विश्वमर्केन्दुरूपश्च तमो हिनस्ति॥ ८७॥ करोति चेष्टाः श्वसनस्वरूपी लोकस्य तृप्तिं च जलान्नरूपी। ददाति विश्वस्थितिसंस्थितस्तु सर्वावकाशं च नभस्स्वरूपी॥ ८८॥ यस्सृज्यते सर्गकृदात्मनैव यः पाल्यते पालयिता च देवः। विश्वात्मकस्संन्हियतेऽन्तकारी पृथक् त्रयस्यास्य च योऽव्ययात्मा॥ ८९॥
(विष्णु अं० ४ अ० १)

" जो अव्ययात्मा अन्न पकानेके लिये अग्नि हुआ है, जो पृथ्वी बनकर सब विश्वका धारण कर रहा है, जो इन्द्रादि रूपसे विश्वका पालन करता है और जो सूर्य चन्द्रादि रूपसे संपूर्ण अन्धकारका नाश करता है। जो श्वास प्रश्वास रूप बनकर सब प्राणियोंमें चेष्टा करता है, जो जल और अन्न बनकर सबकी तृप्ती करता है तथा जो आकाशरूप धारण कर सबकी स्थिति करता है। जो सृष्टिकर्ता होकर आपही अपनी रचना करता है, जो जगत् का पालन करनेवाला होकर अपनीहि पालना करता है। और संहारकारी होकर अपने आपका ही संहरण करता है, तथापि जो उत्पत्ति-स्थिति-लयसे पृथक् वर्तमान है। '

इन श्लोकोंमें स्पष्ट रूपसे कहा है कि वह अग्नि आदि के रूप धारण करके विश्वका सब कर्म करता है। अग्नि आदि रूप धारण करने का ही तात्पर्य विश्वरूप होना है। वह परमात्मा भूमि जल अग्नि वायु आकाश के रूप धारण करता है, यह बात पाठक ध्यानमें लावेंगे तो उनको परमेश्वरका विश्वरूप सहज ही से समझमें आ सकता है। यही भाव और प्रकारसे देखिये—

त्वं पयोनिधयश्शैलसरितस्त्वं वनानि च। मेदिनी गगनं वायुरापोऽग्निस्त्वं तथा मनः॥ ३२॥ बुद्धिरव्याकृतप्राणाः प्राणेशस्त्वं तथा पुमान्। पुंसः परतरं यच्च व्याप्य जन्मविकारवत्॥ ३३॥ त्वत्तोऽमरास्सपितरो यक्षगन्धर्वकिन्नराः। सिद्धाश्चाप्सरसस्त्वत्तो मनुष्याः पशवः खगाः॥३५॥ सरीसृपा मृगास्सर्वे त्वत्तस्सर्वे महीरुहाः। यच्च भूतं भविष्यं च किञ्चिदत्र चराचरम्॥ ३६॥ मूर्तामूर्तं तथा चापि स्थूलं

सूक्ष्मतरं तथा। तत्सर्वं त्वं जगत्कर्ता नास्ति किञ्चित्त्वया विना ॥ ३७ ॥

(विष्णु अं. ५ अ० २३)

'हे प्रभो! तू ही समुद्र, पर्वत, नदियां, वन, पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि और मन है। बुद्धि, अव्याकृत, प्राण, प्राणोंका अधीश, पुरुष और पुरुषसे जो परे है, जो विकाररहित है वह सब तूहि है। हे प्रभो! तुझसे ही देवता, पितृगण, यक्ष गंधर्व किन्नर, सिद्ध अप्सरागण, मनुष्य पशु पक्षी, सरीसृप, मृग, सब वृक्ष, चराचर सब भूत मात्र, मूर्त और अमूर्त, स्थूल सूक्ष्म यह सब हुआ है। जो यह कुछ है वह सब तूही जगत्कर्ता है। तेरेसे भिन्न यहाँ और कुछ भी नहीं है।' सब प्रभुका ही यह रूप है जो पृथिवी आदि रूपसे दिखाई दे रहा है। यह वर्णन बिलकुल स्पष्ट है। प्रभु जगद्रूप है, यह बात निम्नलिखित श्लोकोंमें कही है। ये श्लोक भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—

त्वं कर्ता च विकर्ता च संहर्ता प्रभवोऽप्ययः। जगतां त्वं जगद्रूपः स्तूयते तव किं तथा ॥ २६ ॥ व्याप्तिर्व्याप्य क्रिया कर्ता कार्यं च भगवान्यथा। सर्वभूतात्मभूतस्य स्तूयते तव किं तथा ॥ २७ ॥ परमात्मा च भूतात्मा त्वमात्मा चाव्ययो भवान्। यथा तथा स्तुतिर्नाथ किमर्थं ते प्रवर्तते ॥ २८ ॥

(विष्णु अं. ५ अ० २९)

'हे प्रभो! तू जगत् कर्ता विकर्ता, पोषक, और संहारक है। तू जगद्रूप है। व्याप्ति व्याप्त क्रिया कर्ता और कार्यरूप ही तू है। तूं ही परमात्मा, भूतात्मा और अव्यय आत्मा है।'

इन श्लोकोंमें 'त्वं जगद्रूपः' ये शब्द विशेष महत्त्वके हैं। तूं विश्वरूपी है, इस अर्थमें ही ये शब्द यहां बर्ते गये हैं। यद्यपि जगत और विश्वमें थोडा भेद है, तथापि वह भेद यहां ध्यानमें नहीं रखा है और दोनों शब्द समानार्थक माने गये हैं। परमात्मा भूतात्मा और जीवात्मा भी एकही आत्मा है और यह भेद कल्पित है, ऐसा भी यहां कहा है। और देखिये—

नमस्ते पुंडरीकाक्ष भक्तानामभयंकर। सनातनात्मन् सर्वात्मन् भूतात्मन् भूतभावन ॥ ८ ॥ सन्ध्या रात्रिरहो भूमिर्गगनं वायुरम्बु च। हुताशनो मनो बुद्धिर्भूतादिस्त्वं तथाच्युत ॥ ९ ॥ सर्गस्थितिविनाशानां कर्ता कर्तृपतिर्भवान्। ब्रह्मविष्णुशिवाख्याभिरात्ममूर्तिभिरीश्वरः ॥ १० ॥ देवा दैत्यास्तथा यक्षा राक्षसाःसिद्धपन्नगाः। कूष्माण्डाश्च पिशाचाश्च गन्धर्वा मनुजास्तथा ॥ ११ ॥ पशवश्च मृगाश्चैव पतंगाश्च सरीसृपाः। वृक्षगुल्मलता बह्व्यः समस्ता स्तृणजातयः ॥ १२ ॥ स्थूला मध्यास्तथा सूक्षास्सूक्ष्मात्सूक्ष्मतराश्च ये। देहभेदा भवान् सर्वे ये केचित्पुद्गलाश्रयाश्च ॥ १३ ॥

(विष्णु अं०५ अ०५५)

'हे प्रभो! हे सनातन स्वरूप! हे सर्वात्मन्! हे भूतस्वरूप! हे भूतभावन! तुझे नमस्कार है। सन्ध्या रात्री दिन, भूमि, आकाश वायु जल अग्नि मन बुद्धि अहंकार ये रूप तुम्हारे ही हैं। तूही सृष्टिकर्ता ब्रम्हा, पालनकर्ता विष्णु और संहारकर्ता शिव है। ये सब रूप तुम्हारे ही हैं। देव दैत्य यक्ष राक्षस सिद्ध पन्नग कूष्माण्ड पिशाच गंधर्व मानव, वृक्ष गुल्म लता, समस्त तृणजातियां, स्थूल मध्यम और सूक्ष्म, सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम जो भी हैं वे सब आपहीके देहभेदसे रूप हैं।" यहां देहभेदसे एक ही परमात्मा सब रूपोंका धारणकर्ता है यह बात स्पष्टताके साथ कही है।

त्वया यदभयं दत्तं तद्दत्तमखिलं मया। मत्तोऽविभिन्नमात्मानं द्रष्टुमर्हसि शङ्कर ॥ ४७ ॥ योऽहं स त्वं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम्। मत्तो नान्यदशेषं यत्तत्वं

ज्ञातुमिहार्हसि ॥ ४८ ॥ अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः । वदन्ति भेदं पश्यन्ति चावयोरन्तरं हर ॥ ४९ ॥

(विष्णु अं. १ अ० ३३)

'हे शंकर ! आपने जो अभय दिया है वह मैंने हि दिया है। आप अपनेको मुझसे सर्वथा अभिन्न देखें ॥ जो मैं (विष्णु) हूं सो ही आप हैं, तथा यह संपूर्ण जगत् देव असुर मनुष्य आदि सब कोई मुझसे भिन्न नहीं है। जिन लोगोंका चित्त अविद्यासे मोहित हुआ है वे भेदको देखते हैं और वही भेदका वर्णन करते हैं।' वस्तुतः भगवान् विष्णु ही संपूर्ण विश्वरूपी हैं, अतः यहां परस्पर भिन्न वस्तु कोई नहीं है। जो भेददर्शी पुरुष हैं वे सबके सब अविद्याग्रस्त मनुष्य हैं और भेदका अनुभव अज्ञानका फल है।

इस तरह विष्णुपुराणमें विश्वरूपका वर्णन किया है। अब और देखिये—

लिंगपुराणमें विश्वरूप ।

लिंगपुराणमें निम्नलिखितप्रकार शिवजीका विश्वरूप कहा है-

नित्योनित्योहमनघो ब्रह्माहं ब्रह्मणस्पतिः ॥११॥
दिशश्च विदिशश्चाहं प्रकृतिश्च पुमानहम् ॥
त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्च छंदोहं तन्मयः शिवः॥१२॥
सत्योहं सर्वगः शान्तस्त्रेताग्निर्गौरहं गुरुः ।
गौरहं गह्वरश्चाहं नित्यं गहनगोचरः ॥ १३ ॥
आपोहं भगवानीशस्तेजोऽहं वेदिरप्यहम् ॥१४॥
ऋग्वेदोऽहं यजुर्वेदः सामवेदोऽहमात्मभूः ।
अथर्वणोऽहं मन्त्रोऽहं तथा चांगिरसां वरः॥१५॥
इतिहासपुराणानि कल्पोऽहं कल्पनाप्यहम् ।
अक्षरं च क्षरं चाहं क्षान्तिः शान्तिरहं क्षमा॥१६॥ गुह्योऽहं सर्ववेदेषु वरेण्योऽहमजोऽप्यहम् । पुष्करं च पवित्रं च मध्यं चाहं ततः परम् ॥ १७॥ बहिश्चाहं तथा चान्तः पुरस्तादहमव्ययः । ज्योतिश्चाहं तमश्चाहं ब्रह्माविष्णुर्महेश्वरः॥१८॥ बुद्धिश्चाहमहंकारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च । एवं सर्वं च मामेव यो वेद सुरसत्तमाः ॥१९॥ स एव सर्ववित्सर्वः सर्वात्मा परमेश्वरः ॥२०॥

(लिंगपुराण अ.१८ उपरिभागः)

"मैं (ईश्वर) नित्य अनित्य, निष्पाप, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, दिशा विदिशा, प्रकृति पुरुष, त्रिष्टुप् जगति अनुष्टुप्, सत्य, शान्त शिव, त्रेताग्नि, गुरु, गौ, गव्हर, जल, तेज, वेदि, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्ववेद, मन्त्र, इतिहास पुराण, कल्प और कल्पना, क्षर अक्षर, क्षान्ति शान्ति क्षमा, सर्व वेदोंमें गुह्य, अज, पुष्कर, आदि मध्य अन्त, बहिः अन्तः, ज्योतिः तम, विष्णु महेश्वर, बुद्धि अहंकार, तन्मात्रा इंद्रिय हूं। इस तरह जो मनुष्य मुझ ईश्वर को ही सब कुछ जानता है वह सर्वज्ञ होता है और वह सबको परमात्मा परमेश्वर जानता है।"

इस रीतिसे लिंगपुराणमें ईश्वरके विश्वरूपका वर्णन है। इस पुराणमें अनेक स्थानोंपर इस तरह के वर्णन हैं, परन्तु सबके सब यहां लिखानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस एक उल्लेखसे पाठक जान सकते हैं कि इस ग्रंथमें विश्वरूपका वर्णन किस रीतिसे किया गया है।

सूर्यपुराणमें विश्वरूप ।

सूर्यपुराणमें निम्नलिखित प्रकार विश्वरूपदर्शनका वर्णन किया है वह अब देखिये-

विश्वतश्चक्षुरीशानस्त्रिशूली विश्वतोमुखः ।
जनकः सर्वभूतानामेक एव महेश्वरः ॥४१॥
पृथिव्यां तिष्ठति विभुः पृथिवी वेत्ति नैव तम् । रूपं च पृथिवी यस्य तस्मै भूम्यात्मने नमः ॥४३॥ अप्सु तिष्ठति नैवापस्तं विदुः परमेश्वरम् । आपो रूपं च यस्यैव नमस्तस्मै जलात्मने ॥४४॥ योऽग्नौ तिष्ठत्यमेयात्मा न तं वेत्ति कदाचन । अग्नीरूपं भवेद्यस्य तस्मै

वन्ह्यात्मने नमः॥४५॥ तिष्ठत्यजस्रं यो वायौ न वायुर्वेत्ति तं परम्। वायुर्यस्य भवेद्रूपं तस्मै ग्रात्वात्मने नमः॥ ४६॥ व्योम्नि तिष्ठति यो नित्यं व्योम वेत्ति न तं हरम्। व्योम यस्य भवेद्रूपं तस्मै व्योमात्मने नमः ॥४७॥ सूर्ये तिष्ठति यो देवो न सूर्यो वेत्ति शंकरम्। यस्य सूर्यो भवेद्रूपं तस्मै सूर्यात्मने नमः॥४८॥ यश्चन्द्रे तिष्ठति विभुश्चन्द्रो वेत्ति न शाश्वतम्। चन्द्रो यस्य भवेद्रूपं तस्मै चन्द्रात्मने नमः॥४९॥ (सूर्य पुराण अ.२)

"एक सब विश्वका प्रभु है, उसके नेत्र और मुख सब ओर हैं। यह ईश्वर पृथ्वी आप तेज वायु आकाश सूर्य चन्द्रमें रहता है, परंतु पृथ्वी आप आदि उसे जानते नहीं, परंतु जिसका रूप पृथ्वी आप तेज वायु आकाश सूर्य और चन्द्र हैं उस विश्वात्माको नमस्कार है।"

यहां परमात्माका पृथ्वी आप तेज वायु आकाश सूर्य चन्द्र यह रूप है ऐसा कहा है। यही विश्वका रूप परमेश्वरका ही रूप है। बृहदारण्यकोपनिषद्में अन्तर्यामी ब्राह्मण (बृ० उ०) है वहां यही विषय अधिक विस्तारके साथ कहा है। इसी पुराणमें और देखिये-

ब्रह्मणे विश्वरूपाय नमस्ते परमात्मने।
त्वमीश्वरो महादेवः परं ब्रह्म महेश्वरः।
परमेष्ठी शिवः शान्तः पुरुषो निष्कलो हरः॥ ३१॥
भूमिरापोऽनलो वायुर्व्योमाहंकार एव च।
यस्य रूपं नमस्यामि भवन्तं ब्रह्मसंज्ञितम्॥३३॥
यस्य द्यौरभवन्मूर्धा पादौ पृथ्वी दिशो भुजाः।
आकाशमुदरं तस्मै विराजे प्रणमाम्यहम्॥३॥
(सूर्यपुराण अ०२३)

"विश्वरूपी परमात्मा ब्रह्मके लिये नमस्कार है। तूं ही ईश्वर महादेव परब्रह्म महेश्वर परमेष्ठी शिव शान्त पुरुष निष्कल हर है। पृथ्वी आप अग्नि वायु आकाश अहंकार यह उस ब्रह्मका रूप है। उसको मेरा नमस्कार है। जिसकी मूर्धा आकाश है, पृथ्वी पांव है, दिशाएं भुजा हैं, आकाश उदर है, उस विशेष तेजस्वी ईश्वरके लिये मेरा प्रणाम है।"

यहां परमेश्वरका विश्वरूप कहा है और उसके शरीरमें कौनसे अवयव कौन हैं यह भी दर्शाया है। इसकी तुलना पाठक पुरुषसूक्तके वर्णनके साथ (ऋ० १०-९०) करें। क्योंकि वही वर्णन यहां लिया है। सूर्यपुराणमें ऐसाही और एक स्थानपर वर्णन है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राकृतिरीश्वरः।
सहस्रनयनो देवः सहस्रचरणः शिवः॥ ३२॥
सहस्रबाहुर्विश्वात्मा त्रिशूली दीप्तलोचनः।
दंष्ट्राकरालवदन परब्रह्मतनुः शिवः॥ ३६॥
(सूर्यपुराण अ० ३३)

यह तो पुरुषसूक्तका रूपान्तर ही है। 'हजार मस्तक, हजारों आकृति, हजार नयन, हजार चरण, हजार बाहुवाला यह विश्वात्मा है। यह परब्रह्मकी तनु है'। अब शिवपुराणका विश्वरूप वर्णन देखिये-

शिवपुराणमें विश्वरूप।

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदाहृता।
सा सा विश्वेश्वरी देवी स स सर्वो महेश्वरः॥
(शिवपुराण वा० सं० उ० अ० ५-६७)

'हरएक पदार्थमें एक शक्ति रहती है, वह शक्ति माहेश्वरी है और वह पदार्थ महेश्वर है।' इस तरह एक श्लोकमें मुख्य तत्त्व कहा है। इसी अध्यायमें तथा अन्यत्र बहुत वर्णन है परन्तु वह सब यहां उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसी श्लोकसे सब पदार्थोंका महेश्वररूप होना सिद्ध होता है। यह श्लोक मननपूर्वक पाठक देखेंगे तो उनको हरएक पदार्थ किस तरह शिवस्वरूप है इसका यथार्थ ज्ञान होगा।

अन्यान्य पुराणोंमें भी विश्वरूप दर्शनके वर्णन बहुतसे हैं तथापि उन सबको यहां उद्धरण

करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि ये सब वर्णन एक जैसेही हैं और इनमें कोई विशेषता नहीं है। अतः पुराणवचनोंमें आये विश्वरूप-वर्णनका विषय यहां ही समाप्त करते हैं।

वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, इतिहास और पुराण ग्रंथोंमें यह परमात्माके विश्वरूपका विषय है, और सर्वत्र वह विषय समानहि है। अतः सब ग्रंथोंका इस विषयमें ऐकमत्य है। अतः इसको ऐसा ही मानना चाहिये, इसमें संदेह नहीं हो सकता।

भगवद्गीताका विश्वरूप।

भगवद्गीताके विश्वरूपवर्णनमें संपूर्ण विश्वरूपका वर्णन नहीं है, केवल विनाशक कालस्वरूपी परमात्माके विनाशक स्वरूपका ही वर्णन है। अतः इसको परिपूर्ण वर्णन समझना उचित नहीं है। परमेश्वरके उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि अनेक गुण और तदनुसार कार्य हो रहे हैं, उनके अनुसार विश्वमें उसके रूप प्रकट हो रहे हैं। वे सबके सब रूप परमात्माके विश्वरूपमें संमिलित हैं और जिस समय साधक उन सब रूपोंको परमात्माके रूपमें संमिलित देखेगा उसी समय उसको परमात्माके विश्वरूपका ज्ञान हुआ ऐसा हो सकता है।

इससे सिद्ध हुआ कि भगवद्गीतामें जितना विश्वरूपका वर्णन है वह ईश्वरके संहारभावका विशेष कर है, सृष्टिस्थितिका वहां अति संक्षेपसे है, अतः वह परिपूर्ण वर्णन नहीं है, वह अंशभाव का ही वर्णन है। जिस प्रकारका वर्णन यहां किया है और जो वर्णन अन्यान्य ग्रंथोंमें है, उनका अनुसंधान करके पाठक और साधक परमात्माके विश्वरूपको संपूर्णतया अपनी कल्पनामें ला सकते हैं। परमेश्वर अनन्त है, और उसका विश्वरूप भी अनन्त है, इसलिये उसको अनन्त मानना, समझना और कहना ही यथार्थ वर्णन हो सकता है। अर्थात् जितना भी मनुष्य की कल्पनामें आसकता है, और जितना मनुष्य वर्णन कर सकता है वह भी उसके विश्वरूपका एक ही अंश होगा, इतना यह विश्वरूप अनन्त है। और इसको ऐसा ही अनन्त समझना चाहिये। भगवद्गीतामें क्या और किसी अन्य ग्रंथमें क्या इसका समग्र वर्णन होना असंभव ही है। क्योंकि अनन्तका समग्र वर्णन करना है तो 'विश्व, सर्व' इन शब्दोंसे ही होना संभव है।

धर्माधर्मनिश्चय।

इस स्पष्टीकरणसे परमात्माके विश्वरूपकी कल्पना पाठकोंको हो गयी होगी। यह विश्वरूपका विषय अत्यन्त महत्त्वका है और संपूर्ण धर्माधर्मका निश्चय इसी ज्ञानसे होता है। इस कारण हरएक पाठकको उचित है कि वह प्रयत्न करके इसको यथायोग्य समझनेका यत्न करे, और समझनेपर बहुत मनन करे, तथा मनमें यह ज्ञान स्थिर करे। अपने जीवनके हरएक पहलूमें इस दिव्यदृष्टिसे देखकर अपने कर्तव्यको जाननेका यत्न करे और जो कर्तव्य इस रीतिसे निश्चित होगा उसको पूर्ण रीतिसे निभानेकी पराकाष्टा करे। इसीसे जीवनकी पूर्णता हो सकती है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गी०११।५४)

'अनन्य भक्तिसे ही (अहं) परमेश्वर (एवंविधः) इस तरह विश्वरूपमें दीखना शक्य है और उसका तत्त्वतः ज्ञान दर्शन और उस परमेश्वरमें अपना प्रवेश है यह अनुभव होनाभी संभव है।'' अनंन्य भाव का अर्थ मैं उससे भिन्न नहीं यह भाव। यह भाव पूर्वोक्त प्रकार विश्वरूपदर्शनसे ही सिद्ध हो सकता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें (१) अनन्य भाव, (२)

विश्वरूप परमेश्वरका ज्ञान, (३) विश्वरूप परमेश्वरका दर्शन और (४) विश्वरूप परमेश्वरमें अपने प्रवेशका साक्षात् अनुभव ये चारों बातें प्रत्यक्ष अनुभव की हैं। इस तरह परमेश्वरका साक्षात्कार हरएक स्थानमें साधकको हो सकता है और यही साक्षात्कार नरको नारायणस्वरूप बनानेवाला है। इसीसे—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गी० ११।५५)

"साधक ईश्वरका कर्म करे, ईश्वरको परम श्रेष्ठ समझे, ईश्वरकी भक्ति करे, भोगोंका संग छोड दे, सब भूतोंके साथ वैर न करे। जो ऐसा आचरण करेगा, वह ईश्वरको प्राप्त होगा।"

यह ईश्वरप्राप्ति उक्त प्रकार विश्वरूपी परमात्माका साक्षात्कार होनेसेही हो सकती है। और मनुष्यमात्रके धर्ममार्गका निश्चय इसीसे हो सकता है। मनुष्यकी कृतकृत्यता होनेका यह एकमात्र सत्य साधन है।

मनुष्यको जिस समय यह ज्ञान होगा, तब उसको अपने कर्तव्यकर्म करनेके निर्णयमें किसी प्रकार संदेह हो नहीं सकते। मनुष्यको कर्तव्य दक्ष, संदेहरहित और शोकमोहरहित करनेवाला यही दिव्य ज्ञान है।

अर्जुनको दिव्य विश्वरूपका दर्शन होनेके पश्चात् उसने कोई कर्तव्यविषयक प्रश्न नहीं किये। इसका कारण यही है कि उसको इस दिव्य ज्ञानसे अपने कर्तव्यका निश्चय हुआ और कोई संदेह नहीं रहा। इतनाही नहीं परंतु कर्तव्याकर्तव्यनिर्णय करनेकी कसौटी भी उसके ध्यानमें आ गयी।

अतः पाठकोंसे निवेदन यह है कि वे विकल्परहित होकर इस विश्वरूपविज्ञानको पहचानें, तथा अनुभव करें और अपने जन्मका सार्थक करें।

ग्यारहवें अध्यायका मनन समाप्त ॥११॥

श्रीमद्भगवद्गीताके ग्यारहवें अध्यायकी

विषयानुक्रमणिका।

द्वादशोऽध्यायः ।

भक्तियोग ।

(१) श्रेष्ठ भक्त कौन हैं ?

अर्जुन उवाच- एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच — (हे भगवन् !) एवं सततयुक्ताः ये भक्ताः त्वां पर्युपासते, ये च अपि अव्यक्तं अक्षरं (पर्युपासते), तेषां (मध्ये) के योगवित्तमाः (सन्ति) ? ॥१॥

अर्जुन बोले- (हे भगवन् !) इस तरह सतत योग करनेवाले जो भक्त आप (व्यक्त) की उपासना करते हैं, और जो अव्यक्त अविनाशी (आत्माकी उपासना करते हैं), उनमें कौनसे योगी अधिक श्रेष्ठ हैं ? ॥ १ ॥

भावार्थ— सतत योगसाधन करनेवालोंमें कई उपासक सगुण रूपकी-व्यक्तकी-उपासना करते हैं और कई उपासक अव्यक्त निर्गुण निराकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं । इन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अधिक श्रेष्ठ योगी कौनसे हैं ? व्यक्तकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ हैं, या अव्यक्तकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ हैं ? ॥ १ ॥

उपासकोंके दो भेद ।

(१) ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपका दर्शन कराकर यही विश्वरूपी ईश्वर मनुष्यके लिये एकमात्र उपास्य है, ऐसा कहा। इससे पूर्व आठवें अध्याय (गी.८।२१) में कहा है कि ' अव्यक्त आत्मतत्त्व ही परम गति है ।' ये दो उपदेश परस्परविरोधी प्रतीत होते हैं, इसलिये अर्जुन प्रश्न करता है कि- 'हे भगवन् ! आप जैसे व्यक्त ईश्वर की सगुण उपासना करनेवाले भक्त श्रेष्ठ हैं, अथवा अव्यक्त आत्मतत्त्व की उपासना करनेवाले भक्त श्रेष्ठ हैं ? '

द्वितीय अध्यायसे आठवें अध्याय तक आत्मतत्त्व अव्यक्त है, ऐसा अनेकवार कहा है। इससे अव्यक्त की उपासना करनी चाहिये, ऐसा प्रतीत होता है-

१ अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। (गी०२।१७)

२ अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य ॥ (गी० २।१८)

३ अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो। न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (गी० २।२०)

४ अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥ (गी० २।२५)

५ देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत॥ (गी० २।३०)

६ इंद्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ (गी० ३।४२)

७ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि॥ (गी० ६।२९)

८ अष्टधा अपरा प्रकृति ॥ (गी० ७।४)
जीवभूता परा प्रकृति ॥ (गी० ७।५)

९ अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ (गी० ७।६)

१० मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव गी० ७।७

११ रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः॥ (गी० ७।८)

१२ अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। परं भावमजानन्तो ममाऽव्ययमनुत्तमम्॥ (गी० ७।२५)

१३ अक्षरं ब्रह्म परमं ॥ (गी० ८।३)
अधिभूतं क्षरो भावः ॥ (गी० भृ० ८।)

१४ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥ (गी० ८।४)

१५ मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ॥ (गी० ८।१०)

१६ अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ (गी० ८।११)

(१) अविनाशी वह आत्मतत्त्व है जिसने इस विश्वका विस्तार किया है, (२) नित्य आत्माके ये सब देह नाशवाले हैं, अविनाशी और अतर्क्य आत्मा है, (३) शरीर मारा जानेपर भी उसमें रहनेवाला आत्मा शाश्वत नित्य अजन्मा और पुराण है, अतः शरीरके नाश होनेपर भी वह सदा एक जैसा स्थायी रहता है, (४) यह अव्यक्त अचिंत्य और अविकारी आत्मा है, (५) देहमें आत्मा अवध्य है, (६) इन्द्रिय मन बुद्धिसे आत्मा परे और श्रेष्ठ है, (७) सर्व भूत आत्मामें और सर्व भूतों में आत्मा है, (८) ईश्वर की प्रकृति परा और अपरा ऐसी दो प्रकार की है और (९) ईश्वर ही सब की उत्पत्ति करता है, (१०) सूत्रमें मणि रहनेके समान परमेश्वरमें यह सब विश्व है, (११) जलमें रस, चंद्रसूर्यकी प्रभा ईश्वरकी विभूति है (१२) अव्यक्त स्वरूपवाले ईश्वरको मूढ लोग व्यक्त मानते हैं और ईश्वरके श्रेष्ठ भावको जानते तक नहीं, (१३) अक्षर ब्रह्म है और क्षर सब भूत हैं, (१४) अव्यक्त ईश्वरने यह सब बनाया है, (१५) ईश्वर इस जगत् का अध्यक्ष है और वह सब चराचर को उत्पन्न करता है, (१६) ईश्वर का श्रेष्ठ भाव न जानते हुए मानवी शरीरको प्राप्त हुए का अपमान करते हैं।

इस तरह अनेकानेक वचनोंमें अव्यक्त आत्मतत्त्व की प्रशंसा की है। इस तरह अव्यक्त आत्माकी उपासना का महत्त्व दर्शाकर पश्चात् ग्यारहवें अध्यायमें संपूर्ण विश्वरूपी परमेश्वर सबका उपास्य है, ऐसा असंदिग्ध रीतिसे कहा। अतः अर्जुनके मनमें शंका उत्पन्न हुई कि इन दो प्रकारके भक्तोंमें अर्थात् अव्यक्त आत्माकी उपासना करनेवाले और सगुण विश्वरूपकी उपासना करनेवाले, ऐसे जो दो प्रकारके भक्त हैं, उनमें कौनसे भक्त श्रेष्ठ हैं ?

वस्तुतः देखा जाय तो क्षर और अक्षर मिलकर ही क्षराक्षरात्मक 'पुरुषोत्तम' है। यही दिव्य दृष्टि भगवद्गीतामें कही है। यही दिव्य दृष्टि भगवद्गीतामें ७ वें अध्यायसे समझायी है। और ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपी परमेश्वर का दर्शन कराया है। जब अष्टधा प्रकृति परमेश्वरकी हि प्रकृति है (गी०७।४), तो पृथ्वी आप आदि से बननेवाले सभी रूप उसी ईश्वरीय प्रकृतिकेही हुए, किसी अन्यके रूप यहां नहीं हैं और अष्टधा प्रकृतिसे भिन्न अक्षर परमात्मा किसीके अनुभवमें आना भी असंभव है। जिस तरह क्षरके साथ अक्षर रहता है, उसी तरह जलों में रस है। जलसे रस विभिन्न नहीं किया जा सकता। कोई मनुष्य केवल 'रस' की हि उपासना करना चाहे और जल को स्पर्श भी न करे तो उसको वह कामना कैसी सिद्ध हो सकेगी? रस लेनेके समय जल लेनाही चाहिये। इसी तरह अव्यक्त आत्मा को प्राप्त करनेके लिये अष्टधा प्रकृतिके किसी न किसी रूपको प्राप्त करना ही चाहिये। यदि ऐसा है तो 'अव्यक्त अक्षर' के उपासक और 'व्यक्त' के उपासक इनमें (योग-वित्-तम) सबसे अधिक योग जाननेवाले कौन है, यह प्रश्न

(२) श्रेष्ठ भक्तोंके लक्षण।

श्रीभगवानुवाच— मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

अन्वयः-- श्रीभगवान् उवाच- (हे अर्जुन !), मयि मनः आवेश्य नित्ययुक्ताः (सन्तः) ये परया श्रद्धया उपेताः मां उपासते, ते युक्ततमाः मे मताः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले— (हे अर्जुन !) मुझ (मेरे व्यक्त रूप) में मन लगाकर नित्य योग करते हुए जो श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मेरी (व्यक्त रूपकी) उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ योगी हैं ऐसा मेरा मत है॥ २॥

भावार्थ-- परमेश्वरके व्यक्त रूपकी, मन एकाग्र करके, बडी अचल श्रद्धासे जो उपासना करते हैं, वे सचमुच श्रेष्ठ योगी हैं। अर्थात् साकार रूपकी उपासना जो बडी श्रद्धासे करते हैं, वेही श्रेष्ठ योगी हैं॥ २॥

सुसंगत कैसे हो सकता है ?

सत्य रीतिसे देखा जाय तो यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता, सातवें अध्यायसे लेकर ग्यारहवें अध्यायतक का उपदेश ठीक प्रकार समझमें आ गया और—

वासुदेवः सर्वं (सब कुछ वासुदेव है)

यह योग्य रीतिसे ध्यानमें आ गया तो पश्चात् व्यक्त की उपासना और अव्यक्त की उपासना भिन्न है और उनमें एक श्रेष्ठ है और दूसरी निकृष्ट है यह सब कल्पना व्यर्थ होती है। क्यों कि क्षर और अक्षर ये दो कल्पनाएं भिन्न हैं तथापि 'जल' और 'रस' अथवा 'मिश्रीका ढेला' और 'मीठास' के समान वे दोनों परस्परभिन्न नहीं परंतु निश्चयसे वे दोनों 'क्षर' और 'अक्षर' की कल्पनाएं एकही 'पुरुषोत्तम' पर आश्रित हुई हैं। इस कारण क्षर और अक्षर परस्पर-भिन्न नहीं है, एकही सद्वस्तुके वे दो पहलू हैं।

पाठक इस तरह विचार करके जानें कि यह प्रश्न पूर्व स्थानमें दिया ज्ञानविज्ञान न समझनेके कारण ही उत्पन्न हुआ है। परंतु केवल अर्जुन ही यह प्रश्न कर रहा है ऐसी बात नहीं है, व्यक्त -दृश्य- की उपासना करनेवाले और अव्यक्त -अदृश्य- की उपासना करनेवाले ऐसे उपासकों के दो भेद माने जाते हैं और उनमें श्रेष्ठ कनिष्ठ दर्जा समझा जाता है. इस समझके कारण बडे विवाद भी होते आये हैं, इसलिये इस प्रश्नका विचार सार्वभौमिक महत्त्व रखता है। अतः इसका उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण किस तरह देते हैं वह मननपूर्वक हमें देखना उचित है, वह उत्तर अगले श्लोकोंमें दिया है—

श्रेष्ठ भक्त।

(२) जो परमेश्वरके सगुण रूपमें मन लगाकर, नित्य परमेश्वरकी सगुण भक्तिमें तत्पर हो कर परम श्रद्धासे ईश्वरकी सगुण उपासना करते हैं, वे (युक्ततमा) योगियोंमें श्रेष्ठ योगी हैं। यह अपना निज मत है (मे युक्ततमाः मताः), ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के मतसे 'व्यक्त रूपकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ योगी होते हैं,' यह बात निश्चित है।

श्रेष्ठ योगी होनेके लिये जो बातें आवश्यक हैं वे ये हैं—

१ मनः आवेश्य = ईश्वरमें मन लगाना,

२ नित्ययुक्तः= ईश्वरसे नित्य योग संबंध करना, कुशलताके साथ कर्म करना,

३ परया श्रद्धया उपेतः = श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होना।

ईश्वर का रूप वही है जो इस विश्वमें दिखाई देता है। जो आंखसे दिखाई देता है वही विश्वका रूप परमात्माका अखण्ड रूप है। यह रूप अनन्त है, उसमें जो अपनी उपासनाके लिये योग्य है, वही लिया जावे और उसमें अपना मन पूर्णताके साथ लगाया जावे. मनमें उसके विषयमें भक्तिभाव नित्य और सुदृढ रहे और जो कुछ किया जाय, वह अटल श्रद्धासे किया जावे। इस तरह जो भक्ति होती है, वही श्रेष्ठ भक्ति है। यहां उक्त तीन बातें मुख्य हैं-

१ मन लगाना, जब मन किसी विषयमें लग जाता है, तब अन्यान्य इंद्रियाँ उसीमें लग जाती हैं सब शरीर ही अर्पण हो जाता है। मन लगनेपर अपने पास और कुछ अवशिष्ट नहीं रहता मन ही से जाग्रतिके संपूर्ण व्यापार होते हैं, अतः मन परमेश्वर की किसी विभूतिमें लग जानेके कारण जाग्रतिके सभी व्यापार उस विभूतिको समर्पित हुए, ऐसा ही हो जाता है।

२ नित्य योग करनेसे अपने समयका समर्पण हो जाता है, अपने पास जो समय है वह सब 'नित्य' शब्दसे जाना जाता है। नित्य उपासना करनेका अर्थ यही है कि अपना संपूर्ण समय उसके लिये दे देना, अपने पासके समयमें दूसरा कुछ न करना। अपने पास जो आयु है, वह सब 'नित्य' शब्दसे बोधित होती है। नित्ययोग करनेका आशय यही है कि अपनी संपूर्ण आयुमें ईश्वरके साथ संयुक्त रहना, उससे वियुक्त न होना। यहां अपनी आयुका समर्पण हुआ। अपनी आयुमें सब कार्य सदा कुशलताके साथ करना।

३ इस तरह मन और आयुका समर्पण होनेके पश्चात् वह समर्पण किस प्रकार करना चाहिये, इसका उत्तर परम 'श्रद्धासे' ऐसा आगे दिया है। अश्रद्धासे, बनावटी-अथवा दिखावटी रीतिसे नहीं। अर्थात् अत्यंत तत्परतासे वह समर्पण होना चाहिये। तर्कवितर्क कुतर्क छोड कर श्रद्धासे आत्मसमर्पण होना चाहिये।

जो भक्तिमार्ग की सुफलताके लिये तीन बातें आवश्यक हैं वे ये हैं, (१) अपने मनका समर्पण, (२) अपनी आयुका-जीवन का समर्पण और (३) परम श्रद्धासे उपासना करना। इसीसे सुफलता प्राप्त होती है और मनुष्य श्रेष्ठ भक्त बन सकता है।

यहां 'मयि' (मुझमें) ऐसा कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण यहां अपने व्यक्त रूपके विषयमें बोल रहे हैं। इससे व्यक्त रूपकी उपासना सूचित होती है। मुझमें मन लगाओ, इसका अर्थ जो पांडवोंके साथ कार्य कर रहा है उस श्रीकृष्णके व्यक्त रूपमें मन लगाओ, अर्थात् इसी तरह के जो परमेश्वरके विभूतियोंके रूप हैं उन रूपोंमेंसे किसी रूप पर मन लगाओ, यह आशय यहां है। किसीभी विभूतिपर मन स्थिर किया, उस विभूतिके लिये अपना मन तन धन अर्पण किया तो वही सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

यहां हमने विभूतिका लक्ष्य करके किसी विभूतिपर मन स्थिर करनेका विधान किया। परंतु इससे भी जो उन्नत हुए हैं और जिनको विश्वरूपी परमेश्वर का स्वरूप ज्ञात हुआ है वे किसी विश्वरूपपर भी अपना मन स्थिर कर सकते हैं। कोई रूप हो, वह उसी एक अद्वितीय आत्माका रूप है और इसकी भक्ति करनेसे उस अद्वितीय आत्माकी भक्ति हो सकती है, ऐसे सुदृढ विश्वाससे जो अपना मन उस विश्वरूपके ऊपर स्थिर करता है, अपनी आयु उसकी भक्तिके लिये अर्पण करता है और परम श्रद्धासे

उसकी सेवा करता है, वह भी श्रेष्ठ पदवी प्राप्त कर सकता है ।

इस तरह इस विश्वरूपमें जैसे रामकृष्णादि विभूतियां हैं, उसी तरह ब्राह्मण क्षत्रिय भी हैं, पीछे रहे शूद्रादिभी हैं,लडनेवाले वीर हैं,संग्राममें घायल हुए सैनिक हैं, अन्य रीतिसे बीमार हुए रोगी हैं, गौ आदि पशु हैं तथा वृक्ष वनस्पति भी हैं। विश्वमें जो आ सकता है वह सब इसका उपास्य हो सकता है। अव्यक्त परमात्माका व्यक्त सगुण रूप यह सब विश्व है, अतः सगुण व्यक्त रूपकी उपासना करनेवालोंके लिये मनकी स्थिरता करने योग्य आश्रयकी न्यूनता नहीं है । कई लोग देशको स्वतंत्र करनेवाले श्रीरामचन्द्र को अपना उपास्य समझेंगे उसी तरह कई अन्य उस युद्धमें लढनेवाले छोटे मोटे वीर वानरोंको भी सहायता करनेके लिये उत्सुक होंगे । इसी तरह इस समय देशसेवा करनेवाले भद्र पुरुषोंकी यथाशक्ति सेवा करना भी ईश्वर की सगुण उपासनामें संमीलित है, इसमें संदेह नहीं है।

दस सहस्र वर्षोंके पूर्व हुए श्रीरामचन्द्र ही परमेश्वर की विभूति हैं और तीन सौ वर्षोंके पूर्व उत्पन्न हुए श्रीशिवाजी महाराज अथवा राणा प्रताप विभूति नहीं हैं ऐसा नहीं है । और इस समय जो राष्ट्रोद्धार का प्रयत्न कर रहे हैं वे विभूति नहीं हैं ऐसाभी नहीं है । प्राचीन कालके, मध्य कालके, और वर्तमान कालके सब भद्र पुरुष और महात्मा लोग विभूति हैं और भक्ति-सेवा-करने योग्य हैं; विशेषतः इस वर्तमान समय में जो कार्य कर रहे हैं उनके विषयमें आग्रत समादर दर्शाना आवश्यक है।

यदि सभी विश्वका रूप यह परमेश्वरका सगुण रूप है, तो उसमें प्राचीन कालका ही एक विशेष रूप सेव्य है और अर्वाचीन कालका रूप सेव्य नहीं, ऐसा मानना अयोग्य है । सभी रूप परमात्माके सगुण रूप हैं और अनन्यभावसे सेवा करने योग्य है। कौन किसकी सेवा कैसी करे, यह विचारणीय और मननीय प्रश्न है। जो शौर्यके उपयोगी वस्तु निर्माण कर सकते हैं वे उस कार्य को कुशलतासे करके शूरोंकी सेवा करें। जो विद्वानोंके अनुकूल रखकर उनके योग्य कार्य कर सकते हैं वे वैसा करें। जो शूद्रोंका उनकी हीन अवस्थासे उद्धार कर सकते हैं वे उनके उद्धार का कार्य करके विश्वसेवा करें। जो चिकित्सा कर सकते हैं, वे हर प्रकारके रोगियोंकी उत्तम चिकित्सा करके विश्वसेवा का जितना भाग अपनेसे हो सकता है, उतना उत्तम रीतिसे करें। यहां एक ही कार्य हर एक को करना चाहिये ऐसी बात नहीं है। जो जिससे हो सकता है, वह अपना तन-मन-धन अर्पण करके विश्वसेवाभावसे परम श्रद्धासे करे । इसीसे सगुण भक्ति होगी ।

(मनः आवेश्य) उसी कार्यमें अपना मन लगा कर, (नित्ययुक्तः) नित्य कुशलतापूर्वक कर्म करते हुए (परया श्रद्धया उपेतः) उत्तम श्रद्धाभक्तिसे- विश्वसेवाभावसे- अपना कर्तव्य करना चाहिये । इसमें हरएक प्रकारका मनुष्य अपना कर्तव्य करके परमेश्वर की भक्ति कर सकता है। यही ईश्वर की सेवा है। सगुण परमेश्वर की यह प्रत्यक्ष सेवा है।

सगुण भक्तिमें प्राचीन कालके विभूतियोंकी ही सेवा आती है ऐसा विचार इस समय बहुत लोगोंमें प्रबल हुआ है और इस कारण उनकी मूर्तियां बना बना कर बहुत बडा भक्ति-मार्ग चलाया जा रहा है। इस कारण जो इस समय प्रत्यक्ष रूपमें परमेश्वर अनेक रूपों द्वारा अपने संमुख उपस्थित हुआ है, उसकी यथा-योग्य सेवा कोई नहीं करता ! यह कितना विचित्र है, इसका विचार पाठक करें। इस समय उपस्थित हुआ प्रत्यक्ष परमेश्वर का रूप छोडना और दस पांच हजार वर्षोंके पूर्व हुए

उसी ईश्वरकी विभूतिके पीछे लगना कितना अविचार का कार्य है! यहां हम प्राचीन विभूति के पूजा का निषेध नहीं करते, परंतु वर्तमान समयमें उपस्थित हुए विश्वरूपमें संमीलित प्रत्यक्ष ईश्वरके रूप की विशेष सेवा होनी चाहिये, यह बताना चाहते हैं। इस विषयमें कई उदाहरण देखने योग्य हैं।

मातापिता के जीवित होनेके समय उनकी यथायोग्य सेवा न करना, परंतु उनके मृत्युके पश्चात् उनके नामसे दान श्राद्ध आदि करना। यहां मरणोत्तरक्रिया का निषेध नहीं है, अपितु पितरोंकी जीवित दशामें उनके यथायोग्य सत्कार करनेकी आवश्यकता बताने का उद्देश्य है।

शंकर विष्णु नारायण इन्द्र वरुण आदि प्राचीन विभूतियोंको, तथा रामकृष्ण वामन आदिको परम उपास्य मानना, परंतु इतिहास कालमें उत्पन्न हुए श्रीशिवाजी, रामदास, राणा प्रताप आदिकोंको वैसा न मानना और इस समयके राष्ट्रकार्य करनेवालोंका अनुगामी न होना। परमेश्वरकी विभूति हजारों वर्षोंके पूर्वही हो चुकी थी और इस समय परमेश्वरकी विभूति कोई नहीं है, ऐसा मानना एक महाभ्रम है।

'ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र विराट् पुरुषके सिर बाहु उदर और पांव हैं' यह ऋग्वेद (मं. १०।९०।१२) का कथन इस विषयमें स्पष्ट है। इसमें कोई संदेह ही नहीं है। विराट् पुरुषके ये रूप यहां हैं। ये प्रत्यक्ष रूप हैं। अनेकानेक रीतियोंसे इनकी सेवा की जा सकती है, अपने राष्ट्रके ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोंकी सेवा करनेका अवसर छोडना और उनको भूखों मरते देखकर अन्य उपासनादि व्यवहार करना, यह तबतक ही हो सकता है कि जबतक मनुष्य ईश्वरके सच्चे और प्रत्यक्ष सगुण रूपको न जानता हो।

अपने घरमें पुरुषके लिये स्त्री और स्त्रीके लिये पुरुष ये भगवान्‌के सगुण रूप ही बनने चाहिये; इसी तरह माताको पुत्र और पुत्रको मातापिता, परमेश्वरके सगुण रूप ही बनने चाहियें; ग्राममें सच्चे अध्यापक, जनहितकर्ता लोग ये सब ईश्वरके रूप हैं; राष्ट्रमें राष्ट्रहित-कारी कार्यमें अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाले ये सचमुच ईश्वरके सगुण रूप हैं। इनको छोडना और सर्वकाल प्राचीन विभूतिके पीछे पडना, यह सच्ची विभूतिपूजा या सगुण उपासना नहीं है।

प्राचीन विभूतियोंकी पूजा उपयोगी है इसमें संदेह नहीं। परंतु वह उपयोग कौनसा है, इसका विचार होना चाहिये। 'आदर्श विभूति' का नमूना ये प्राचीन विभूतियां बता रहीं हैं। जैसा श्रीरामचन्द्रने उस समयके ३३ करोड देवजाती के लोगोंको रावणकी परतंत्रतासे मुक्त किया और स्वातंत्र्य दिया। इस नमूनेसे हम मध्य-कालकी विभूतियोंकी परीक्षा कर सकते हैं और इस समयके विभूतियोंकाभी निश्चय कर सकते हैं। इस तरह निश्चय करके इस समयकी विभूतियां जानना और उनके अनुगामी बनना चाहिये। 'उप-आसना' का अर्थ 'उनके पास पहुंचना' उनका अनुगामी होना, उनकी सहायता करना, उनका सिद्धान्त आचरणमें लाना है।

इसके अतिरिक्त भी सगुण उपासना है। संपूर्ण विश्वरूप परमात्माकाही सगुण रूप है यह माननेपर अवनत और क्लेशयुक्त स्थितिमें रहनेवाली जनता भी उस विश्वरूपमें आती है, यह बात सभी जान सकते हैं। मनुष्यकी सेवा करनेमें उसके उस अवयवकी सेवा है कि जिस अवयवको क्लेश होते हों और जिसको आराम पहुंचानेकी आवश्यकता विशेष है। पांव दूखता हो तो उस पांवकी मालिश करना, हाथपर व्रण हुआ हो तो हाथपर मर्हमपट्टी लगाकर उस स्थानपर आरोग्य स्थापित करना। इस तरह जहां आराम पहुंचाना चाहिये वहां आराम पहुंचानेका यत्न करनेका नाम सेवा,

उपासना अथवा भक्ति है।

गुरुको आराम पहुंचानेकाही नाम गुरुभक्ति है। इस तरह विचार करनेपर यह बात निश्चित होगी कि परमात्माके जिस भागको विशेष क्लेश हो रहे हैं उसको आराम देनेका यत्न करनेका नामही परमेश्वरकी भक्ति है।

परमात्माका सगुण रूप यह सब विश्वरूपही है। इस विश्वरूपमें सब मानवजाती, सब पशुपक्षियोंकी जाती, सब कीटपतंगोंकी जाती, सब वृक्षवनस्पतियोंकी जाती संमीलित हैं। सबकी सेवा एक मनुष्य कर नहीं सकता इसलिये जो उससे हो सकता है वही सेवा उसको करनी चाहिये। परमेश्वरके किस विश्वरूपके भागको क्लेश, दुःख अथवा कष्ट हो रहे हैं? पाठको! विचार करिये। अपने यहां अशिक्षित, दरिद्री, अवनत जातियां हैं, अपने राष्ट्रमें रोगियोंकी संख्या बढ रही है।

ये सब कष्टी लोग परमेश्वरके विश्वरूपके भाग हैं वा नहीं? यदि सब विश्वरूप परमेश्वरका रूप है, तो उस विश्वरूपमें ये क्लेशयुक्त लोग आते हैं वा नहीं? क्या ये उस विश्वरूपी परमात्मासे पृथक् हैं? क्या इन रूपोंमें उपस्थित होकर आपसे सेवा लेनेके लिये परमेश्वर आपके पास नहीं आ रहा है? इस तरह सच्चा ईश्वर आपके सामने उपस्थित होनेपर आप उसकी सेवा कर रहे हैं अथवा उसको अपमानित कर रहे हैं? और उसकी सेवा करनेके स्थानपर प्राचीन विभूतिकी मूर्तिकी सेवा करनेके लिये बिसीयों सैंकडों हजारों और लाखों रुपयोंका व्यय कर रहे हैं? विचार करिये।

वेदसे लेकर भगवद्गीता तक के संपूर्ण ग्रन्थभंडारमें परमेश्वर के विश्वरूपका वर्णन किया है और संपूर्ण जनता उस विश्वरूपमें संमिलित है,ऐसा असंदिग्ध रीतिसे कहा है। उस जनताके रूपसे आपका परमेश्वर हर समय आपके सन्मुख उपस्थित है, उसके जिस भागको अधिक कष्ट पहुंच रहे हैं उसकी सेवा अनन्य भावसे मैं (उससे पृथक् नहीं इस भावसे) करना आपका परम आवश्यक कर्तव्य है। क्या वह आप कर रहे हैं? उस कर्तव्य को न करते हुए जो अन्य व्यापार आप उपासनादि नामसे कर रहे हैं उसका क्या उपयोग हो सकेगा? पाठको! इसका विचार करिये, सच्ची सगुण उपासना यह है। यहां प्रत्यक्ष परमेश्वर का सगुण रूपमें आप दर्शन कर सकते हैं, मैं उससे भिन्न नहीं यह अनन्यभावकी प्रत्यक्षता यहां है, सेवा किस तरह करनी चाहिये यह भी स्पष्ट हो सकता है। यह विश्वरूप की उपासना न करना और उसके स्थान पर किसी प्राचीन विभूतिकी उपासना करना, यह कितना अज्ञान है। यह विभूतिके मूर्तिकी उपासनाका निषेध नहीं है, परंतु सच्ची विश्वसेवाका स्वरूप बताना है। पाठक इस दृष्टिसे इसका विचार करें।

जो सगुण उपासना करनी चाहिये वह यह विश्वसेवाही है। उपासक लोग इस सच्ची सगुण उपासनासे अर्थात् सच्ची विश्वरूप उपासनासे, सच्ची ईश्वरसेवासे कितने दूर गये हुए हैं, यह पाठक देखें और सोचें और सच्ची उपासनाका मार्ग जानकर उस सच्ची उपासना का अनुष्ठान करें।

यही विश्वसेवारूपी सच्ची सगुण उपासना श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रतिपादित उपासना है। जो तीन बातें इस सगुण उपासनामें होनी चाहियें ऐसा इस श्लोकमें कहा है, वे तीनों बातें इस सगुण उपासनामें प्रत्यक्षतया प्रयुक्त हो सकती हैं और अपनी सेवासे ईश्वर संतुष्ट हुआ है या नहीं इसका भी पता यहां उपासकको प्रत्यक्ष लग सकता है। जो तीन बातें विशेषतया आवश्यक हैं, वे ये हैं— (१) " मनः आवेश्य "= मन लगाकर उपासना करना, यह बात इसी विश्वसेवा-व्रत में हो सकती है। क्यों कि उपासनासे प्रत्यक्ष ईश्वर संतुष्ट हो रहा है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव यहां आ सकता है और जैसा

(३) अव्यक्तके उपासक।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

अन्वयः— ये तु सर्वभूतहिते रताः सर्वत्र समबुद्धयः (सन्तः), इन्द्रियग्रामं संनियम्य, अव्यक्तं, अचिन्त्यं, अनिर्देश्यं, सर्वत्रगं, कूटस्थं अचलं, ध्रुवं अक्षरं च उपासते, ते मां एव प्राप्नुवन्ति ॥ ३-४ ॥

जो सब प्राणियोंका हित करनेमें तत्पर होकर, सर्वत्र सम बुद्धि रखते हुए, सब इन्द्रियोंका संयम कर, अव्यक्त, अचिन्त्य, अवर्णनीय, सर्वव्यापक, सर्वोपरि स्थित, अचंचल, स्थिर और अविनाशी स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे मुझेही प्राप्त होते हैं ॥ ३-४ ॥

जैसा अनुभव आ जाता है वैसा वैसा मन भी उसी उपासनामें स्थिर हो सकता है। (२) "नित्ययुक्त" = सदा इस भक्तियोग को करना, यह इसी विश्वसेवामें हो सकता है, क्यों कि विश्वमें जहां जहां कष्ट दुःख परवशता आदि विपत्तियां रहती हैं वहां वहां जा कर उन विपन्नोंको सुख पहुंचानारूपी जो विश्व सेवा है वह इतनी है कि जितने उपासक इसमें आत्मसमर्पण करने के लिये आ जांयगे, उतनों की सदा ही आवश्यकता रहेगी, अर्थात् यह भक्ति सदा हो सकनेमें कोई कठिनता नहीं है। किसी मूर्तिकी पूजा अथवा किसी संत महंत की सेवा थोडी देर तक ही हो सकती है, यह नित्य होना असंभव है। परंतु यह विश्वसेवा सदा ही हो सकती है। (३) " परया श्रद्धया उपेतः"= श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हो कर भक्ति करना, यह इस विश्वसेवा व्रतमें प्रत्यक्षतया होनेवाली बात है, क्यों कि अपनी की हुई सेवा परमेश्वरको प्रत्यक्ष पहुंच रही है, यह इस विश्वसेवामें समक्ष दीखता है। अतः प्रतिसमय उपासक की श्रद्धा सुदृढ होती जाती है। किसी मूर्ति विशेषकी जो पूजाभक्ति है वह ईश्वरको पहुचती है या नहीं, इसमें प्रत्यक्षता नहीं है, यह तो एक विश्वाससे मानी जानेवाली बात है। परंतु विश्वसेवा विश्वात्माको प्रत्यक्ष पहुंचती है और उससे उसकी संतुष्टता होती है, यह उपासक प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। अतः उसकी श्रद्धा अनुभवसे बढती जाती है।

इस रीतिसे तीनों सगुण उपासनाकी तीनों बातें इस विश्वसेवारूप उपासनामें प्रत्यक्ष सिद्ध हो सकती हैं। इस तरह विश्वसेवारूपी उपासना करनेवाले ही श्रेष्ठ योगी होते हैं। अब अव्यक्त उपासना का मार्ग देखिये—

(३-५) अव्यक्तके उपासक "(अक्षरं) अविनाशी, (अनिर्देश्यं) निर्देश करने या वर्णन करके समझानेके लिये कठिन, (अव्यक्तं) अदृश्य, (सर्वत्रगं) सर्वव्यापक, (अचिन्त्यं) मनन करनेके लिये कठिन, (अचलं) न हिलनेवाले अर्थात् (ध्रुवं) स्थिर परंतु (कूटस्थं) सबसे उच्च भागमें स्थित ऐसे अतर्क्य परमा-

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

अन्वयः-अव्यक्तासक्तचेतसां तेषां अधिकतरः क्लेशः (अस्ति, तैः) देहवद्भिः अव्यक्ता गतिः दुःखं अवाप्यते हि ॥५॥

अव्यक्तपर जिनका चित्त लगा है उनको बहुत कष्ट होते हैं, क्योंकि देहधारियोंको अव्यक्तकी प्राप्ति बहुतही कष्टसे होती है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो सब प्राणियोंका हित करनेमें दत्तचित हुए और जिनकी दृष्टि सम हुई है, वे अव्यक्तकी उपासना करनेपर भी ईश्वरकोही प्राप्त होते हैं, परंतु मनुष्योंको अव्यक्तकी उपासना करना बडा कष्टप्रद है ॥३-५॥

त्माकी उपासना करते हैं। ये लोग साकार सगुण उपासनाका उपहासभी करते हैं और साकार सगुणकी उपासना करनेवालोंको हीनभी समझते हैं, तथा अपने आपको निराकार अव्यक्तकी उपासना करनेके कारण उच्च भी समझते हैं। यह व्यवहार जगत्में चल ही रहे हैं।

निराकार परमात्माके उपासकोंने इस समय तक कितनी मूर्तियां तोडी हैं, मूर्तिपूजकोंको कितने कष्ट दिये हैं, कितने युद्ध किये हैं, इसका कोई ठिकाना नहीं है। इतिहासके पृष्ठ इन युद्धोंके वर्णनोंसे भरे पडे हैं। परंतु इनको इतनाही हम पूछना चाहते हैं कि जिस समय आंख बंद करके आप ध्यान लगानेका यत्न करते हैं, उस समय अचिन्त्यका चिन्तन आप कैसा करते हैं? अनिर्देश्यका निर्देश किस तरह हो सकता है? आंख बन्द करनेसे बाहरका दृश्य विषय हट जाता है,यह सत्य है, परंतु बाहरका दृश्य विषय हट गया तो उतनेहीसे अदृश्यका साक्षात्कार होता है, यह बात सत्य नहीं है।

आठ वर्ष आयुका लडकाभी आंख बंद करके बैठता है और साठ वर्षोंका वृद्ध मनुष्यभी आंखें बंद करता है। परंतु आंख बंद करके ध्यान किसका किया जाता है और ठीक ठीक ध्यान होता है वा नहीं, इसका हिसाब स्वयंहि हर-एकने देखना है। कई लोग सुखासन लगाकर ध्यानके लिये बैठते हैं, कई लोग घुटनोंपर खडे रहकर ध्यान करते हैं, कई लोग उठते बैठते सिर भूमिपर टिकाते, इस तरह शरीरको हिला कर ध्यान करनेका यत्न करते हैं और कई तो अनेक प्रकारसे आंखें बंद करके ध्यानका यत्न करते हैं। परंतु इन लोगोंमेंसे कितने लोग सफलतापूर्वक ध्यान लगा सकते हैं, यह एक बडा कठिन प्रश्न है।

मूर्तिपूजा न की जाय इस तत्वके लिये कई-योंने चित्रकारीकीभी निन्दा की और मनुष्यका चित्र करनेको अपराध मान लिया है। इससे एक कला नष्ट हुई इतनाही सत्य है, परंतु उनके सम्मुख सत्य परमात्माका साक्षात्कार कितना हुआ है यह एक समस्याही है।

चित्र या मूर्ति न करनेसे तथा आंखें बंद करनेसे स्थूल रूप सामनेसे हट सकते हैं, परंतु इतना करनेसे अव्यक्त परमात्माका साक्षात्कार होता है यह बात असंभव है। आंखोंको बंद करनेसे सामनेका स्थूल दृश्य हट जाता है, परंतु विश्वदृश्यके संस्कार जो मनपर हुए रहते हैं वे जाग उठते हैं और मनके सम्मुख वे मानसिक दृश्य खडे हो जाते हैं। आंखें बंद करके स्थूल दृश्यको हटाना सहज है, उतना सहज मानसिक और काल्पनिक दृश्यको हटाना नहीं है। मनुष्य जितना अंधेरेमें जाय और जितने आंख बन्द करे और जितना स्थूल दृश्यको हटानेका यत्न करे, उतनीहि स्पष्टताके साथ मानसिक दृश्य उसके सम्मुख खडे हो जाते हैं। विविध रंग, विविध सुंदर दृश्य उसके सम्मुख इस

तरह आंख बंद करके आ जाते हैं। और इन मानसिक दृश्योंको हटाना असंभव हो जाता है।

जो लोग तो दसपंद्रह निमेषही आंखें बंद करके बैठते या उठते-बैठते-सिर नमाते हैं और अव्यक्तकी उपासना की, ऐसा अभिमान करते हैं, उनके विषयमें कुछभी यहां लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि दस पंद्रह निमेषोंमें ध्यान तो कितना होता है और उठने बैठनेमें कितना समय जाता है, इसका हिसाब देखनेसे उनके अव्यक्त उपासना की कल्पना हरएकको हो सकती है। वे बिचारे गुरुपर श्रद्धा रखकर बैठते हैं, आसन लगाते हैं, आंखें बंद करते हैं, हाथ जोडते हैं और मंत्र बोलते हैं, अर्थ समझमें आगया तो उसका मनन करते हैं और इतन करनेसे अचिन्त्य परमात्माका ध्यान किया ऐसा मानते हैं। जो विश्वाससे अचिन्त्यका चिन्तन किया ऐसा मानते हैं। वे चाहे वैसा श्रद्धासे मानें, उनका विश्वास हटानेकी इच्छा हमें नहीं है, परंतु यदि वे अभिमानसे ऐसा कहेंगे कि हम जो करते हैं उससे अचिन्त्यका ध्यान हुआ है और जो वैसा नहीं करते वे नरकमें जायंगे, तो हम उनसे पूछेंगे कि उस ध्यानके समय आपका मन बिलकुल निर्विषय हुआ था, अथवा उस समय आपके मनमें कोई विषय था? यदि कोई विषय था तो फिर 'रूपविषय' को हटानेसे कौनसा प्रयोजन सिद्ध हुआ? एक रूप विषय हटानेसे- अर्थात् आंखें बंद करनेसे-रूपविषयभी पूर्णतासे हटता नहीं और अन्य विषय नहीं हटते यह तो प्रत्यक्षही है। फिर अचिन्त्यका ध्यान हम करते हैं, यह अभिमान किस तरह सार्थ हो सकता है?

वस्तुतः देखा जाय तो अव्यक्त की मानस उपासना करनेवालोंके लिये योगसाधन है। यमनियमोंके पालनसे वैयक्तिक और सामाजिक सदाचार सिद्ध करके संयम सिद्ध किया जाता है, आसनोंके अभ्याससे शरीरको स्वाधीन किया जाता है, प्राणायामसे प्राणोंको अपने आधीन करते हैं, प्रत्याहारसे सब इंद्रियोंको विषयोंसे खींच कर स्वाधीन करते हैं। इस तरह अपने सब शरीरस्थ अवयवों, प्राणों और मनको अपने आधीन करनेका यत्न किया जाता है। (संनियम्य इंद्रियग्रामं) सब इंद्रियोंका संयम करके जो चाहे सोही विषय मनमें आवे अथवा न चाहनेपर मन निर्विषयभी किया जावे, यह सिद्धि प्राप्त करनेका यत्न इस समय किया जाता है।

इस समय आंखें बंद कीं तो आपही आप सुंदर दृश्य संमुख उपस्थित होते हैं, कानपर संयम किया तो मधुर स्वर मधुर गायन अन्दर हि अन्दरसे सुनाई देता है, जिह्वापर संयम करनेपर सुमधुर मीठे रस प्राप्त होनेका अनुभव आता है, स्पर्शेंद्रियपर संयम करनेसे विविध सुखस्पर्श प्राप्त होनेका अनुभव होता है। अर्थात् जितने विषय दूर करनेका यत्न किया जाय उतने विषय अन्दरहि अन्दरसे प्राप्त होने लगते हैं। अतः मन निर्विषय करनेका यत्न केवल आंखें बंद करनेसे तो सफल होता ही नहीं, परंतु अन्य इंद्रिय स्तब्ध करनेसेभी नहीं होता।

जो तो दस बीस निमेष आंखें बंद करके कुछ मंत्र पढकर ध्यान किया ऐसा मानते हैं वे जो मर्जी आये मानते रहें, परंतु जो ध्यान-धारणापर्यंत योगसाधन करते हैं उनको प्रत्याहार तक निर्विषय होनेका अनुभव नहीं होता है, इतनाही नहीं परंतु घण्टोंतक ध्यान और धारणा करनेवालोंको भी निर्विषय मन होनेका अनुभव नहीं आता। फिर दस निमेष आंखें बंद करनेवालोंके हाथमें जो आता होगा वह वे ही जान सकते हैं।

किसी बाह्य वस्तुपर चित्त लगानेका नाम धारणा है, चित्त किसी स्थानपर स्थिर करनेका नाम धारणा है। उसकी स्थिरता बढ गयी तो ध्यान स्थिर होता है। जैसा आकाशस्थ किसी नक्षत्र पर चित्त स्थिर करनेका नाम धारणा है, यही धारणा स्थिर होनेके पश्चात् केवल वही एक नक्षत्र है और दूसरा कोई

दूसरा नक्षत्र नहीं, ऐसा जो एकताका प्रत्यय आता है उसका नाम ध्यान है। शेष सब विषय हटजाने चाहिये और उसी एक ध्येय के आकार का चित्त बनना चाहिये, तब ध्यान होता है।

ध्यानतक हरएक मनुष्यका पहुंचना अति कठिन कार्य है, परंतु समझ लीजिये कि कोई मनुष्य ध्यान लगानेमें प्रवीण हुआ, तो भी अचिन्त्य परमात्माका उसे साक्षात्कार हुआ ऐसा कहना अयोग्य है, क्योंकि वही ध्येय विषयके आकारका मन उसका उस समय बना होता है। परमात्माका वह ध्यान नहीं है। योग साधनमें ध्यान की सिद्धि एक उच्च सिद्धि है उसके पश्चात् समाधी हि एक है। ऐसी उच्च ध्यान की सिद्धि प्राप्त करनेके लिये प्रतिदिन घण्टोंतक एकान्तसेवनपूर्वक अभ्यास करना चाहिये। बीचमें अनेक विघ्न होनेकी संभावना है। और इतना प्रयत्न करके ध्यान सिद्ध होने- पर भी अव्यक्तकी उपासना हो गयी ऐसा कहना व्यर्थ है, क्योंकि ध्यान तो किसी स्थूल विषयका ही है। अव्यक्त परमात्माका साक्षा- त्कार तो बहुत ही दूर है। जो घण्टोंतक हठ योगसाधन करते हैं उनको ध्यानसिद्धितक अव्यक्तकी उपासना नहीं साध्य होती, फिर जो दिनमें एकवार अथवा अनेकवार दसपांच मिनिट आंखें बंद करके बैठते हैं और उस समय कुछ मंत्र बोलते अथवा मंत्रोंका अर्थ मनमें विचारते हैं उनको कितनी सिद्धि मिलती है, यह एक विचारणीय ही प्रश्न है।

ध्यानतक जो पहुंचते हैं, उनको कमसे कम दो तीन वर्षोंका नियमपूर्वक अभ्यास आवश्यक होता है और प्रतिदिन कई घण्टोंतक अभ्यास करना पडता है। इस अभ्यासके करनेके समय आन्तरिक सिद्धियोंके अनुभव बहुत ही आते हैं, जो साधक को लाभ पहुंचाते हैं। इस तरहका योगी अनेक चमत्कार भी करता है। परंतु ध्यान की सिद्धितक उसने निराकार परमात्माकी उपासना की, ऐसा कहना असंभव है, क्योंकि ध्यानतक साकारकेहि साथ संबंध रहता है।

जब ध्यानमें एकताका प्रत्यय आता है और वह बहुत कालतक स्थिर रहता है, तब जाग्रति- का मन मूर्छितसा हो जाता है, अथवा अपना कार्य करना छोड देता है। मनोभूमिका से उच्च भूमिकामें यह साधक जाता है। यही ध्यानके पश्चात् मिलनेवाली समाधी है। जाग्रतिका मन सो गया और अभौतिक उन्मनी अवस्था प्राप्त हो गयी, तो निर्विषयता सिद्ध होती है, इसमें संदेह नहीं है। परंतु वह परमा- त्माका साक्षात्कार समझना अयोग्य है, क्यों कि मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे परे (काम और कामसे) परे आत्मा है। वह तो बहुत ही दूर है, अतः वह समाधि के अनुभव प्राप्त होनेपर भी अचिन्त्य ही रहेगा।

इससे पाठकों के मनमें यह बात स्पष्ट हो जायगी कि अव्यक्त की उपासना कोई सहज बात नहीं जो आठ वर्षोंका बालक भी आंखें बंद करके सहजीसे कर सके और विना योगा- भ्यास साठ वर्षोंका विवेकवान् साधक भी दस निमेष आंखें बंद करके कर सके। इसीलिये कहा है कि-

अव्यक्तासक्तचेतसां तेषां अधिकतरः क्लेशः।
देहवद्भिः अव्यक्ता गतिः दुःखं अवाप्यते॥ (५)

अव्यक्तपर चित्त स्थिर करनेका यत्न करने- वालोंको अत्यंत क्लेश होते हैं, क्यों कि देह- धारी मनुष्योंको अव्यक्तमें गति अत्यंत दुःखसेही प्राप्त होती है।

जो लोग हठयोगका साधन करते हैं उनको ही पता है कि उसमें कितने कष्ट हैं, कितने नियम हैं, और कितने आयास हैं। बीचमें थोडीसी अशुद्धि रही तो अनेक प्रकारका भय होनेकी भी संभावना है। इतने आयास सहन करनेपर भी ध्यानसिद्धितक निराकार अव्यक्त परमा- त्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता, क्यों कि वहांतक साकारकाही ध्यान करना होता है। समाधि सिद्ध हुई तो भी जाग्रतिके मनको

स्तब्ध करनेतक ही साधक पहुंचता है, उससे बहुत परे परमात्मा है। समाधिमें जो निर्विषयता होती है, उसीको परमात्म-साक्षात्कार कोई मानना चाहे तो वह वैसा माने, परंतु जाग्रतिका मन स्तब्ध होनेपर एकदम सामने परमात्मदर्शन होना असंभवहि है। क्यों कि–

मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान्परः।

मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे परे महान् आत्मा है। वह एकदम मन स्तब्ध होते ही कैसा अनुभवमें आ सकता है? और उस अवस्थामें परमात्माका अनुभव हो जाता है ऐसा माननेपर भी वैसी समाधिसिद्धि कितने साधकोंको हो सकती है, यह एक प्रश्न है और आंख बंद करनेवाले अनंत अन्य उपासकों को क्या प्राप्त होता है, यह भी एक बडाभारी प्रश्न ही है।

अव्यक्त उपासनाके पीछे पडनेवालोंको इतने क्लेश सहन करने पडते हैं और इतने आयास करनेपर भी निश्चयपूर्वक अव्यक्तका साक्षात्कार होगा, ऐसा भी मानना कठिन है। अतः देहधारी लोगोंको अव्यक्तकी ओर जानेका मार्ग बहुत ही दुःखसे साध्य होता है।

हजारों मनुष्योंमें कई थोडे ही इस हठयोगके साधन करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं और जो साधनका प्रारंभ करते हैं उनमें थोडे हि सिद्धितक पहुंच सकते हैं। इस लिये थोडी देर आंखें बन्द करके बैठनेसेहि सिद्धि मिल सकती है ऐसा मानना अयोग्य है, फिर 'बुधपरस्ती' के विरोधमें तलवार से काम करनेवालों की सिद्धिके विषयमें पूछना ही क्या है? पाठक ही सोच सकते हैं कि ऐसे लढन्त निराकारके उपासकोंमेंसे कितने परमात्माको प्राप्त हुए होंगे।

यहां पाठक पूछ सकते हैं कि "यदि ऐसी अवस्था है, तो क्या निराकार उपासना करनेवालोंके लिये कोई शुभ गति प्राप्त होनेकी संभावना नहीं है?" अवश्य उनको शुभ गति मिलेगी, क्यों कि वे "ईश्वर है" ऐसा मानते ही हैं। ईश्वरकी सत्ताको माननेवालों और उसकी प्राप्तिके लिये संयमादि साधन करनेवालोंकी कदापि अधोगति नहीं होती। ईश्वरपर विश्वास रखकर उसकी प्राप्तिके लिये ऐहिक सुखोंका त्याग करना, यह कोई छोटा तप नहीं है और इस तपके करनेके कारण इन निराकारके उपासकों को अवश्य शुभ अवस्था प्राप्त होती है, परंतु इस मार्गमें सायास और परिश्रम अत्यंत है।

निश्चित मार्ग।

फिर ये हठयोगी किस मार्गसे चले तो इनको ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा है कि (ये साधकाः) सर्वत्र समबुद्धयः सर्वभूतहितेरताः (भवन्ति) ते मां (ईश्वरं) एव प्राप्नुवन्ति ॥ (४)

"जो साधक सर्वत्र समबुद्धि रखते हैं और सर्व भूतोंका हित करनेमें तत्पर होते हैं, वे साधक परमेश्वरको प्राप्त होते हैं।" अर्थात् अव्यक्त की उपासना करनेवालोंमें जितने साधक सर्वत्र समबुद्धि रख सकते हैं, अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म भावना रख सकते हैं और जो सर्व भूतोंका हित करनेमें तत्पर रहते हैं, वे ही साधक परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं, अन्य साधक अर्थात् जो सर्वत्र विषयभावना रखते हैं और जो सर्व भूतोंका हित करनेके कार्योंमें अपने आपको समर्पित नहीं करते, उनको अनेक आयास के साधन करनेपर भी परमेश्वरकी प्राप्ति हो नहीं सकती। अर्थात् (१) सर्वत्र समबुद्धि, सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि और (२) सर्वभूतहित करनेमें तत्परता ये दोही साधन परमात्माका सच्चा साक्षात्कार करनेके हैं।

इन साधनोंका स्वरूप।

ये दो साधन परमात्माकी प्राप्तिके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। इन दो साधनोंके करनेसे हि ईश्वरप्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। अन्य साधक ध्यानधारणा कितनी भी करें, कितनी देर आंखें बन्द करके बैठे, कितनी ही मूर्तियोंका विध्वंस करें अथवा कितनी अन्य साधनाएं

करते रहे हैं, जबतक उनकी बुद्धिमें समता नहीं आती और जबतक सब भूतों-सब प्राणियों-का हित करनेके कार्योंमें वे अपने आपको समर्पित नहीं करते, तबतक उनको परमेश्वरप्राप्ति नहीं हो सकती। अतः इन दो साधनोंसे क्या होता है, यह देखना चाहिये-

सर्वत्र समबुद्धि, समदर्शन।

'सर्वत्र समबुद्धि रखना' यह साधन पहिला है। समबुद्धिका पाठ पहिले दिया हुआ है—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(भ०गी०६।९)

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(भ. गी. ५।१८)

'हितैषी, मित्र, शत्रु, निष्पक्षपाती, दोनों पक्षोंका भला करनेवाला, द्वेषी, बन्धु, साधु तथा पापी इन सबके संबधमें जो समबुद्धि रखता है, वह श्रेष्ठ है। विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण गौ हाथी कुत्ता और कुत्ता खानेवालेके विषयमें ज्ञानी लोग समदृष्टि रखते हैं।'

यही समबुद्धि रखनेवाले साधक (ते सर्वत्र समबुद्धयः मां (ईश्वरं) एव प्राप्नुवन्ति) ईश्वर को प्राप्त होते हैं ऐसा यहां कहा है। यहां समबुद्धिका अर्थ सर्वत्र समान मनोवृत्ति यह हैहि, परंतु सर्वत्र समबुद्धिका अर्थ सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि ऐसा यहां विवक्षित है -

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
(भ गी. ५।१९)

"जिनका मन समत्वमें स्थिर हुआ, उन्होंने यहां ही संसारको जीत लिया है। ब्रह्म निर्दोष और सर्वत्र सम है। इसलिये सर्वत्र समबुद्धि रखनेवाले साधक उसी ब्रह्ममें स्थिर हुए होते हैं।"

ब्रह्म सर्वत्र सम है, ब्रह्मके विना कोई वस्तु नहीं है, सब वस्तुमें समान ब्रह्म विद्यमान है। इसलिये सर्वत्र समदृष्टि रखनेका अर्थ सर्वत्र ब्रह्मको देखना है। जो साधक सर्वत्र संपूर्ण वस्तुओंमें समान ब्रह्मभाव देखते हैं, वेही साधक परमेश्वरको प्राप्त होते हैं।

सर्वत्र ब्रह्मभाव देखनेका अर्थ ही विश्वरूपमें परमात्माको अथवा परब्रह्मको देखना है। विश्वरूपमें ब्रह्मदर्शन करनेका अर्थ ही ब्रह्मके सगुण रूपकी उपासना करना है। विश्वरूप उपासनामें निराकार उपासनाका संबंध ही नहीं आता है। तथापि यहां कहा है कि 'जो अव्यक्त अचिंत्य अनिर्देश्य अतर्क्य आत्माकी उपासना करते हैं, वे यदि सर्वत्र समबुद्धि रखने लगे तो ही वे ईश्वरको प्राप्त करते हैं, अर्थात् वे सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि रखने लग जाय, तो ही वे ईश्वरको प्राप्त करते हैं। जो विश्वरूपमें ब्रह्मभाव देखते हैं वे ही ईश्वरको प्राप्त करते हैं। यहां अव्यक्त आत्माकी उपासना के स्थानपर विश्वरूप आत्माकी हि उपासना हुई और केवल अव्यक्त की उपासना नहीं रही, यह बात विशेष सूक्ष्म रीतिसे देखनी योग्य है।

दूसरा उपाय।

जो लोग सर्वत्र संपूर्ण विश्वरूपमें ब्रह्मभाव देख नहीं सकते वे साधक क्या करें? यह एक प्रश्न यहां उपस्थित हो सकता है। उसके उत्तरमें कहा है कि—

(ये) सर्वभूतहितेरताः ते मां (ईश्वरं) एव प्राप्नुवन्ति। (५)

'जो साधक सर्व प्राणियोंका हित करनेमें रममाण होते हैं, वे ईश्वरको प्राप्त होते हैं।' यदि सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि न हुई तो वे सब प्राणियोंका हित करनेके कार्यमें अपने आपको समर्पित करें। यह भी विश्वसेवा ही है। विश्वसेवा के विषयमें इससे पूर्व बहुत कुछ लिखा गया है। विश्वसेवा विश्वरूपमें ब्रह्मभाव देखनेके पश्चात् ही उत्तम रीतिसे हो सकती है, परंतु सर्वत्र

(४) सर्वकर्मसमर्पणपूर्वक भक्ति।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

अन्वयः-ये तु मत्पराः (सन्तः), सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य, (मां) ध्यायन्तः, अनन्येन योगेन एव मां उपासते ॥६॥ हे पार्थ! मयि आवेशितचेतसां तेषां अहं मृत्युसंसारसागरात् न चिरात् समुद्धर्ता भवामि ॥७॥ मयि एव मनः आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय, अतः ऊर्ध्वं मयि एव निवासिष्यसि, (अत्र) संशयः न ॥८॥

जो मेरे विषयमें तत्पर होकर सब कर्मोंको मुझे समर्पण करके, मेरा ध्यान करते हुए, अनन्ययोगसे मेरी ही उपासना करते हैं ॥६॥ हे पार्थ ! और मुझमें हि जिनका चित्त लगा होता है, उनका मृत्युरूपी संसारसागरसे मैं उद्धार करता हूं ॥७॥ मुझमें हि मन लगा, मुझमें बुद्धि स्थिर कर, ऐसा करनेसे तू इसके पश्चात् मुझमें ही निवास करेगा, इस विषयमें कोई संदेह ही नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थ-जो अनन्यभावसे ईश्वरभक्ति करते हैं, उनके सब दुःख परमेश्वर दूर करता है। जो ईश्वरमें अपनी मन और बुद्धि स्थिर करेंगे वे परमेश्वरमें हि निवास करेंगे ॥६-८॥

ब्रह्मदर्शन न होनेकी अवस्थामें भी यदि कोई साधक सब प्राणियोंके हित करनेके कार्य करेगा तो वह साधक भी ईश्वर को प्राप्त होगा।

सर्वत्र समबुद्धि (ब्रह्मबुद्धि) रखना और सब प्राणियोंका हित करना ये दो कार्य करनेवाले ही परमेश्वरको प्राप्त होते हैं अथवा श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करते हैं। यह निराकार उपासना नहीं है। सब प्राणियोंको परमात्माके रूप मान कर सब प्राणियोंमें परमात्माकी उपासना करना सगुण उपासना ही है।

यहां तक इस तरह कहा कि अव्यक्त की उपासना करनेवालोंको अत्यंत क्लेश हाते हैं, परंतु विश्वरूपमें परमात्माको देखकर सर्व प्राणियोंका हित करनेवाले ही ईश्वरको प्राप्त करते हैं। साकार-निराकार-उपासना के विषयमें झगडा करनेवाले इसका उचित मनन करें और उचित बोध लें। अब आगेका उपदेश देखिये-

उद्धारका निश्चित मार्ग

(६-८) अर्जुन का मन संशयग्रस्त हुआ है यह देखकर और व्यक्तकी उपासना तथा अव्यक्तकी उपासनाके झंझटमें अर्जुन न फंसे इस लिये भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्यके उद्धारका निश्चित मार्ग उसे बताते हैं। यह मार्ग इस तरह का है-

१ मत्पराः (ईश्वरपराः)= ईश्वर को ही परम श्रेष्ठ मानो, ईश्वर को ही अपना श्रेष्ठ

प्राप्तव्य समझो ईश्वरको, छोडकर दुसरा कुछ मनमें न लाओ।

२ मां (ईश्वरं) ध्यायन्तः- ईश्वरकाही ध्यान करो।

३ मयि (ईश्वरे) आवेशितचेतस्- ईश्वरमें अपना चित्तको स्थिर करो।

४ मयि (ईश्वरे) मनः आधत्स्व - ईश्वरमें अपना मन लगाओ।

५ मयि (ईश्वरे) बुद्धिं निवेशय- ईश्वरमें अपनी बुद्धि स्थिर रखो।

६ सर्वाणि कर्माणि मयि (ब्रह्मणि) संन्यस्य= अपने सब कर्मोंको ईश्वर में अर्पण करो।

७ अनन्येन एव योगेन उपासते-अनन्य अर्थात् मैं उससे भिन्न नहीं हूं इसी योगसे ईश्वरकी उपासना करो।

ये सात वाक्य मनुष्यके उद्धार के मार्ग की सूचना यहां दे रहे हैं। इनका भी हम इस तरह संक्षेप कर सकते हैं—

१ ईश्वरको ही सर्वोपरि मान कर उसीको अपना सर्वस्व समझो।

२ ईश्वरका सतत ध्यान करो और अपने चित्त मन तथा बुद्धि को उसीमें लगा ओ।

३ अपने सब कर्म ईश्वरको अर्पण करनेके लिये करो।

४ अपने आपको ईश्वरसे भिन्न न समझो और अनन्य भावसे कर्तव्य करो।

संक्षेपसे मनुष्यके उद्धार का यह मार्ग है। इस में (१) ईश्वरतत्परता, (२) ईश्वर के साथ अपना अनन्यभाव और (३) ईश्वरको अपने कर्मोंका समर्पण, ये तीन बातें मुख्य हैं। यही मानवी उद्धारका मार्ग है। जो इस मार्गसे चलेंगे उनका उद्धार इस तरह होगा—

१ तेषां मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता अहं भवामि-उन का उद्धार मैं मृत्यु और संसाररूपी सागर से करता हूं।

२ अत ऊर्ध्वं मयि (ईश्वरे) एव निवसिष्यसि न संशयः- इसके पश्चात् तू ईश्वरमें ही निवास करेगा, इसमें संदेह नहीं है।

यह उद्धार का स्वरूप है; उसे मृत्युका भय नहीं रहेगा, संसार से वह डरेगा नहीं और वह प्रत्यक्ष ईश्वरमें ही निवास करेगा। अर्थात् वह निर्भय होकर ईश्वरमें ही निवास करेगा। यह फल बडाभारी प्रलोभनीय है इस में संदेह ही नहीं है।

परंतु यहां जो मार्ग बताया है, उसे अव्यक्त अतर्क्य निराकार की उपासना ऐसा कोई नहीं कह सकता, यह बात ध्यानमें धारण करना योग्य है।

ईश्वरको श्रेष्ठ मानना, ईश्वरमें परम निष्ठा रखना, अपना चित्त मन बुद्धि ईश्वरमें तल्लीन करना, ईश्वरको अपने संपूर्ण कर्म समर्पण करना और अनन्य होकर उपासना करना, इन विधियोंमें एक भी ऐसी नहीं है कि जो निराकार की उपासनामें ही लगनेवाली हो। परंतु जो 'अनन्ययोग' का विधान यहां किया है, वह तो साकार देहधारी सगुण रूपके साथ ही सुसंगत होनेवाला है। देखिये—ईश्वरसे अनन्य होनेवाला यह उपासक देहधारी साकार और सगुण है। यह उपासक ईश्वरसे अनन्य है अर्थात् उससे भिन्न अथवा पृथक् नहीं है, उससे एकरूप है। इसका अर्थ यह हुआ जैसा वह है ऐसाही यह है, उसके अन्दर यह उसके साथ मिलनेजुलनेवाला है। यदि यहां के ईश्वरको केवल अतर्क्य अचिन्त्य अव्यक्त ही मानें तो उसमें यह तर्क्य चिन्त्य और व्यक्त उपासक एकरूप और अनन्य अर्थात् दूसरा नहीं, भिन्न नहीं ऐसा कैसा हो सकता है? उससे अभिन्न अनन्य होनेके लिये यह उपासक उसके साथ एकरूप होनेवाला चाहिये।

अब विश्वरूपी ईश्वरके विश्वव्यापक सगुण रूपके साथ तुलना कीजिये; उसमें उपासक का

(५) अभ्यासयोग।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अन्वयः— हे धनंजय ! अथ मयि स्थिरं चित्तं समाधातुं न शक्नोषि, ततः अभ्यासयोगेन मां आप्तुं इच्छ ॥ ९ ॥

हे धनञ्जय ! यदि तू मुझ (ईश्वर) में अपना स्थिर चित्त लगानेमें असमर्थ हो, तो अभ्यासयोगद्वारा मुझे (ईश्वरको) पानेकी इच्छा करो ॥ ९ ॥

भावार्थ— जो साधक अपना चित्त परमेश्वरपर स्थिर करनेमें असमर्थ हैं, वे अभ्यासयोगद्वारा ईश्वरको पानेका यत्न करें ॥ ९ ॥

यह सगुण रूप एकरूप हो सकता है या नहीं ? विश्वरूपमें उपासकका रूप मिलनेजुलनेवाला है, विश्वरूपसे उपासक का रूप पृथक् नहीं है। विश्वरूपमें हरएक का रूप संमिलित होनेवाला है, अतः यह उपासक विश्वरूपी उपास्य देवके साथ अनन्य हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि यहां सगुण साकार विश्वरूपी ईश्वरकी भक्ति हि विवक्षित है; यही विश्वसेवा है और यह विश्वसेवा विश्वसे मैं पृथक् नहीं ऐसा मानकर, ऐसा अनुभव करके की जाय तो, यह उपासक उपास्य देवमें विराजेगा और मृत्यु तथा संसारका भय इसे नहीं रहेगा, यह स्पष्ट ही है।

संपूर्ण कर्म इसी विश्वात्माको समर्पित करने चाहियें, इसी विश्वसेवाको अपना परम कर्तव्य मानना चाहिये, अपना चित्त मन बुद्धि और ध्यान इसीकी सेवामें लगाना चाहिये और अपने आपको उससे विभिन्न न समझकर यह विश्वसेवा करनी चाहिये। अपने आपको उससे पृथक् न समझने का अर्थ अपने आपको उसमें संमिलित समझना है।

परमेश्वरको अपने सब कर्म समर्पण करनेसे अपने कर्म उत्तमसे उत्तम होने चाहियें, यह बात स्वयं हो जाती है। जैसा कोई मनुष्य किसी राजाकी तुष्टिके लिये कुछ कर्म करता है, तो वह अपनेसे जितना उत्तम हो सके उतना उत्तम करता है, यह स्वभावतः ही होता है, फिर यदि वह विश्वरूपी परमेश्वर जो सब राजाओंका राजा है उसके लिये अपने कर्म समर्पण करना चाहे तो वह कितनी कुशलताके साथ करेगा, कितने आदरके साथ और कितने विचारके साथ करेगा, इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता ही नहीं है। परमेश्वर की सेवामें अपने कर्म सचमुच समर्पित होने हैं, ऐसा निश्चय होनेके पश्चात् उसके कर्म सर्वोत्तम होंगे और अत्यंत कुशलता के साथ होंगे इसमें संदेह ही नहीं है।

इस प्रकारका यह 'अनन्ययोग' आत्मसमर्पणपूर्वक करनेका है और यही संपूर्ण मानव समाजकी उन्नति करनेवाला है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

यह 'अनन्ययोग' सब योगोंमें श्रेष्ठ है, यदि साधक इस अनन्ययोग के करनेमें असमर्थ हो, तो क्या करे, इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अनन्ययोग करनेमें जो असमर्थ हैं वे 'अभ्यास योग करे। देखिये—

(९) सातवें श्लोकमें (मयि आवेशित-चेतसां) मुझ ईश्वरमें अपना चित्त लगानेवाले ऐसा

(६) ईश्वरके लिये कर्म करना।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अन्वयः – (त्वं) अभ्यासे अपि असमर्थः असि (चेत्), मत्कर्मपरमः भव, मदर्थं कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिं अवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि तू इस अभ्यास करनेमें भी असमर्थ हो, तो (कमसे कम) मेरे (ईश्वरके) लिये कर्म करनेमें तो तत्पर रहो, मेरे (ईश्वरके) लिये कर्म करनेसे भी तू सिद्धिको प्राप्त होगा ॥ १० ॥

भावार्थ — जो साधक अभ्यासयोग करनेमें अपने आपको असमर्थ मानता है वह, परमेश्वर के लिये सब कर्म करे, इससे उसे परम सिद्धि प्राप्त होगी ॥ १० ॥

ईश्वरमें अपना चित्त स्थिर करनेवालोंका उल्लेख है। इस तरह जो साधक ईश्वरमें अपना चित्त स्थिर करते हैं, उनका उद्धार परमेश्वर करता है। परंतु जो अपना चित्त ईश्वरमें स्थिर नहीं कर सकते, और ईश्वरसे अपना अनन्यभाव नहीं अनुभव कर सकते, उनके उद्धारका मार्ग कौनसा है? इस शंकाके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णका कथन है कि ऐसे अनन्ययोग न कर सकनेवाले साधक 'अभ्यास योग' करें।

यह 'अभ्यासयोग' किस चीज का नाम है? इसका विचार अब करना है। अभ्यास का अर्थ वारंवार उस विषय के साथ परिचय करना है। जो विषय प्राप्त न होता हो तो वारंवार करनेसे जो अभ्यास होता है, उससे वह विषय हस्तगत हो जाता है। हरएक कला कुशलता और विद्या शनैःशनैः अभ्यास करनेसे ही हस्तगत हो जाती है। इसी तरह जो अनन्य योग इससे पूर्व कहा गया है, यदि वह एकदम साध्य नहीं होता है, तो शनैः शनैः अभ्यास करनेसे साध्य हो सकता है।

उस अनन्य योगमें कई बातें कहीं हैं, चित्त परमात्मामें स्थिर करना, यह ध्यानयोगका विषय है, हठयोग में यह ध्यान सातवाँ अंग है, यदि यह ध्यान स्थिर न होता हो, तो शनैः शनैः आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणाका अभ्यास करते रहनेसे योग्य अभ्यास होनेके पश्चात् चित्त जहां चाहे वहां स्थिर रह सकता है,

इसी तरह मन बुद्धि को परमात्मा में एकाग्र करना, यह भी एकदम साध्य न होता है तो मनन द्वारा मनको और ज्ञानयोग द्वारा बुद्धिको शनैःशनैः अभ्यास करके एकाग्र कर सकते हैं।

सर्व कर्मोंका ईश्वरमें समर्पण करनेका भी इसी तरह अभ्यास कर सकते हैं। जो विशेष महत्वके कर्म हैं, उनको पहिले समर्पित करना और पश्चात् हरएक कर्मको समर्पित करना चाहिये। तत्पश्चात् अपना संपूर्ण जीवन ही ईश्वरार्पण करनेसे उसमें होनेवाले सब कर्म परमेश्वर को समर्पित हो जायंगे।

इसी रीतिने 'अनन्य भाव' अर्थात् मैं परमेश्वरसे भिन्न नहीं हूं यह भाव भी शनैःशनैः विचारसे मननसे और सत्पुरुषोंके उपदेशसे स्थिर हो जाता है।

(७) कर्म फलत्याग।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

अन्वयः—अथ एतत् अपि कर्तुं अशक्तः असि, ततः यतात्मवान् मद्योगं आश्रितः (सन्) सर्वकर्मफलत्यागं कुरु ॥११॥

और यदि इसके करनेमें भी तू असमर्थ हो तो अपना संयम करता हुआ मेरे (ईश्वरके) योगका आश्रय करके सर्वकर्मोंके फलोंका त्याग कर ॥११

भावार्थ—जो साधक परमेश्वरके लिये कर्म करनेमें भी अपनेआपको असमर्थ समझता है, तो वह अपना उत्तम संयम करे और परमेश्वरके साथ योग करनेकी इच्छासे सब कर्मोंके फलोंका दान करे।

अभ्यासका अर्थ शनैःशनैः पाठको सुदृढ बनाना है इस अभ्यासयोगसे साध्य न होने-वाली कोई विद्या नहीं है, सभी विद्याएं इसी अभ्यासयोगसे साध्य हो सकती हैं। अतः जो पाठक पूर्वोक्त 'अनन्य योग' न कर सकते हों, तो वे अभ्यास से उसको साध्य करें। अभ्यास द्वारा शनैःशनैः प्रगति होकर अनन्य योग करना सुगम हो सकता है। पाठक इस रीतिसे अभ्यास करके अपनेमें जो न्यूनता हो उसकी पूर्णता करें।

अभ्यास सतत करना चाहिये, नहींतो अभ्या-सका कोई फल नहीं हो सकता है, जो लोग किसी कारण वश सतत और नियम पूर्वक अभ्यास नहीं कर सकते वे क्या करें? इस प्रश्नके उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण जो कहते हैं वह अब सुनिये—

(१०)पूर्व श्लोकमें अभ्यास करनेसे असाध्य बात सुसाध्य होती है ऐसा कहा है, परंतु यह अभ्यास नियमपूर्वक और सतत प्रतिदिन करना चाहिये, आज थोडा किया और दो महिने छोडकर कुछ किया, तो कुछभी प्रगति नहीं हो सकती। अतः जिनसे नियम पूर्वक अभ्यास नहीं हो सकता वे क्या करें, वे किस युक्तिसे अपना उद्धार करें, यह प्रश्न अपने सन्मुख आ सकता है, इसके उत्तर में भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि यदि नियम पूर्वक अभ्यास नहीं हो सकता, उसमें कोई बाधाएं आती हैं, शारी-रिक कौटुंबिक सामाजिक अथवा अन्य विघ्न उत्पन्न होते हैं तो—

मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थं कर्माणि कुर्वन्,सिद्धिं अवाप्स्यसि।(१०)

'मेरे लिये कर्म करनेवाला हो, मेरे लिये कर्म करता हुआ तू सिद्धिको प्राप्त होगा।' जो साधक पूर्वोक्त रीतिसे अभ्यास नियम पूर्वक कर नहीं सकता, वह अपने सब कर्म परमेश्वरको अर्पण करे।

मनुष्यसे कर्म तो होने ही हैं, कर्मकिये विना मनुष्य जीवित भी रह नहीं सकता। अतः जो कर्म होगा वह परमेश्वर को समर्पण करना, ऐसा क्रम रखनेसे शनैःशनैः कर्म अच्छे होने लगेंगे, और उन्नतिके पथपर प्रगति होती जायगी।

मान लीजिये कि कोइ मनुष्य अत्यंत निकृष्ट कर्म करता है, यदि वह अपने कर्म राजाधिराज सर्वेश्वर के लिये समर्पण करता है, तो उसी कर्मके समर्पण से उसके कर्म सुधरते जायंगे,

(८) शान्तिकी प्राप्ति ।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अन्वयः— अभ्यासात् ज्ञानं श्रेयः (अस्ति); ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते; ध्यानात् कर्मफलत्यागः (विशिष्यते); अनंतरं त्यागात् शान्तिः भवति हि ॥ १२ ॥

अभ्यासयोगसे ज्ञानयोग अधिक श्रेयस्कर है, ज्ञानयोगसे ध्यानयोग अधिक श्रेयस्कर है, ध्यानयोगसे कर्मफलत्याग की विशेषता अधिक है, इस कर्मफल-त्यागसे शीघ्रही शान्ति प्राप्त होती है ।।१२।।

भावार्थ- अभ्याससे ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान, ध्यानसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है, क्यों कि फलत्यागसे शीघ्रही शान्ति मिलती है ।। १२ ॥

बुरे कर्म छोडनेका विचार उसके मनमें दृढ होता जायगा, और कुछ समयके पश्चात् वह परिशुद्ध बनकर साधु पुरुष बनेगा। अतः अपने सब कर्म सर्वज्ञ सर्वसमर्थ परमेश्वरको अर्पण करने मात्रसेही मनुष्य सुधरने लगता है और उसके उद्धार का मार्ग खुल जाता है और यह मार्ग अत्यंत सुगम भी है, क्यों कि जो कर्म होगा, वह ईश्वरार्पण करना है। इसमें कोई नियम पालन करनेकी अवश्यकता नहीं। अब आगे देखिये-

(११) जो कर्म हो रहा है वह कर्म परमेश्वर को समर्पण करना यह सुगमसे सुगम उपाय है, तथापि कई मनुष्य इसका भी अवलंबन नहीं कर सकते वे क्या करें? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि जो लोग अपने कर्म ईश्वरार्पण कर नहीं सकते, वे यथाशक्ति (यतात्मवान्) आत्मसंयम करके ईश्वरके साथ योग करनेकी (मद्योगं आश्रितः) इच्छा करके (सर्व-कर्म-फल-त्यागं कुरु) सर्व कर्मोंके फलोंका त्याग करें।

मनुष्य कर्म करता है और उस कर्मका फल उसे मिलता ही है। फल भला हो, बुरा हो, थोडा हो या अधिक हो जैसा फल मिले वैसा वह फल ईश्वरको समर्पण करे।

इससे फल भोग की इच्छाका संयम होगा। फलभोग की इच्छासे ही मनुष्य बहुत बुरे कर्म करनेमें प्रवृत होता है। मैं कर्म करता हूं, उसका फल मुझे अपने भोगके लिये चाहिये, ऐसा विचार जिसके मनमें हो वह अपने पास भोगोंकी समृद्धि करनेकी इच्छासे जैसे चाहिये वैसे कर्म करता है, और यदि बुरे कर्म करके धन मिलनेकी संभावना हो तो वह बुरे भी कर्म करेगा।

परंतु यदि वह नियम करेगा कि जो कर्मका फल मिलेगा वह अपने भोगके लिये अपने पास रखना नहीं है, प्रत्युत उसका परमेश्वरके लिये समर्पण करना है तो इस कर्म समर्पणसे उसकी भोगविलास की इच्छा मर्यादित और संयमित होती जायगी, और उस भोगी पुरुष का रूपान्तर संयमी पुरुषमें हो जायगा। केवल कर्मफलत्याग करनेसे ही मनुष्य उन्नत होने लगता है, कर्मफल भोग मनुष्य करता है और भोगमें फंसता जाता है, अतः जो कर्मफलत्याग करेगा वह भोगमें नहीं फंसेगा और संयमसे

(९) प्रियभक्त।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

अन्वयः— (यः) सर्वभूतानां अद्वेष्टा, मैत्रः, करुणः च एव, निर्ममः, निरहंकारः, समदुःखसुखः, क्षमी, सततं संतुष्टः, योगी, यतात्मा, दृढनिश्चयः, मयि अर्पितमनोबुद्धिः, सः मद्भक्तः मे प्रियः (अस्ति) ॥ १३-१४ ॥

जो सब प्राणियोंका द्वेष न करनेवाला, सबका मित्र, दयावान्, ममतारहित घमंड न करनेवाला, सुख और दुःखको सम माननेवाला, क्षमाशील, सदा संतुष्ट, योगाभ्यास करनेवाला, संयमी और दृढनिश्चयी है, और जिसने अपनी

उन्नत होता रहेगा।

कर्मफलत्याग और कर्मफलभोग का विवेचन इससे पूर्व अनेक वार आचुका है अतः यहां इस विषय को अधिक बढानेकी कोई अवश्यकता नहीं है।

(१२) अभ्यास योगसे ज्ञानयोग श्रेयस्कर है, ज्ञानयोगसे ध्यानयोग की विशेषता अधिक है, ध्यानयोगसे कर्मफल का त्याग अधिक उत्तम है, इस कर्मफल के त्याग करनेसे शीघ्रही शान्ति मिलती है।

छठे श्लोकमें 'अनन्ययोग' करनेका उपदेश है और उसी का विवरण ८ वें श्लोक तक किया है। जिनसे यह अनन्ययोग नहीं हो सकता वे वारंवार अभ्यास करके सिद्धि प्राप्त करें, ऐसा नवम श्लोकमें कहा है, अर्थात् अनन्ययोग से यह अभ्यासयोग सुगम है।

इस अभ्यासयोगसे ज्ञानयोग और ज्ञानयोग से ध्यानयोग अधिक श्रेयस्कर है इसमें संदेह नहीं है। यह ज्ञानयोग द्वितीय अध्यायमें सबसे प्रारंभमें कहा है, ध्यानयोगका थोडासा वर्णन छठे अध्यायमें आचुका है और इसीका निर्देश इस १२ वें अध्यायमें ८ वें श्लोकमें 'मन और बुद्धिको परमात्मामें लगाने का उपदेश करके' किया है। जिनसे ये योग नहीं हो सकते वे 'सर्व कर्मफलत्याग' करें, ऐसा ११ वें श्लोकमें कहा है। यह कर्मफल त्यागकी विशेषता सबसे सुगम और सबसे परिणामकारी होनेके कारण है। कर्मफलत्याग न किया तो कोई अन्ययोग सफल और सुफल नहीं हो सकता। यह कर्मफलत्यागयोग सबसे सुगम है और सब अन्ययोगोंके साथ संबंध रखनेवाला भी है। सब अन्ययोगोंकी सफलता इसीसे हो सकती है। अतः सुगमता और सर्व योगोंके लिये उपयोगिता होने के कारण कर्मफलत्यागका महत्त्व सर्वतोपरि है।

कर्मफलत्यागसे ही सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है। फलत्यागके विना शान्ति नहीं मिल सकती। इस तरह कर्मफलत्याग कर्मफलदान और कर्मफलसंन्यास का महत्त्व है। यह जान कर सब साधक कर्मफलत्याग करके शान्तिको प्राप्त करें।

अब उत्तम भक्तोंके लक्षण बताते हैं सो मनन पूर्वक देखिये-

यस्मान्नोद्विजते लोकः लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ॥
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

लोकः यस्मात् न उद्विजते, यः च लोकात् न उद्विजते, यः च हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः, सः मे प्रियः (अस्ति)॥१५॥ यः मद्भक्तः अनपेक्षः शुचिः दक्षः उदासीनः गतव्यथः सर्वारंभपरित्यागी, सः मे प्रियः ॥ १६ ॥ यः न हृष्यति, न द्वेष्टि, न शोचति, न कांक्षति, यः शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् (अस्ति), सः मे प्रियः (भवति) ॥ १७ ॥ (यः) शत्रौ मित्रे (च) तथा मानापमानयोः समः, शीतोष्णसुखदुःखेषु समः, संगविवर्जितः (च अस्ति); तुल्यनिन्दास्तुतिः, मौनी, (यः) येन केनचित् संतुष्टः (भवति), अनिकेतः, स्थिरमतिः भक्तिमान् सः नरः मे प्रियः (भवति) ॥ १८-१९ ॥ ये तु श्रद्दधानाः मत्परमाः भक्ता इदं यथोक्तं धर्म्यामृतं पर्युपासते, ते मे अतीव प्रियाः (सन्ति) ॥२०॥

मन और बुद्धिको मुझे (ईश्वरको) अर्पण कर दिया है, वह मेरा (ईश्वरका) भक्त मुझे (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १३-१४ ॥ लोग जिससे उद्विग्न नहीं होते, और जो लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता, और जो हर्ष क्रोध भय और उद्वेगसे मुक्त रहता है, वह मुझे (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १५ ॥ जो मेरा (ईश्वरका) भक्त इच्छा-रहित, पवित्र, दक्ष, उदासीन, व्यथारहित और सकाम कर्मोंका आरंभ न करनेवाला है,वह मुझे (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १६ ॥ जो हर्ष नहीं मानता और

द्वेषभी नहीं करता, जो शोक नहीं करता और न आशा करता है, जो शुभ तथा अशुभ दोनोंका त्याग करता है,ऐसा जो भक्तिमान है वह मुझे (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १७ ॥ जो शत्रु और मित्रके विषयमें, मान और अपमानके विषयमें समभाव रखता है, शीत उष्ण सुख दुःखके विषयमें सम भाव धारण करता है, जिसने भोगोंपर आसक्ति नहीं रखी है, जो निंदा और स्तुतिके विषयमें समभाव रखता है, जो मौन धारण करता है, जो मिल जाय उसीसे जो संतुष्ट रहता है, जिसका अपना कोई स्थान नहीं है, जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा जो भक्तिमान मनुष्य है वह मुझे (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १८—१९ ॥ जो श्रद्धा रखनेवाले और मुझे (ईश्वरको) परमश्रेष्ठ माननेवाले भक्त, जैसा यहां कहा वैसे-ही धर्मयुक्त इस अमर ज्ञानका सेवन करते हैं, वे मुझे (ईश्वरको) अत्यन्त प्रिय होते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ— जो किसीका द्वेष नहीं करता, सबके साथ मित्रके समान बर्ताव करता है, सबपर दया करता है, यह मेरा और यह मेरा नहीं ऐसा भाव कभी नहीं धारण करता, कभी घमंड नहीं करता, सुखदुःखको समान समझता है, क्षमा करता है, सदा संतुष्ट रहता है, नियम पूर्वक योग साधन करता है, इन्द्रियोंका निग्रह करता है, दृढनिश्चयसे अपना कर्तव्य करता है, अपने मन बुद्धिको ईश्वरके कार्यमें अर्पण करता है, जिससे दूसरोंको उद्वेग नहीं होता और जो लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता, जिसके अन्दर हर्ष क्रोध भय और उद्वेग आदि विकार नहीं होते, जो भोगेच्छा नहीं रखता, पवित्र रहता है, कर्तव्यमें दक्ष रहता है, लाभ हानिके विषयमें उदासीन रहता है, जिसे कष्ट नहीं होता, जो अपने भोग बढानेवाले कर्मोंका आरंभ नहीं करता, जो शोक और द्वेष नहीं करता, जो फल-भोगकी आशा नहीं रखता, जो शुभ और अशुभ दोनोंका त्याग करता है, जो शत्रुमित्र, मान अपमान, शीत उष्ण सुखदुःख, स्तुति निन्दाके संबंध होनेपर मनकी समानवृत्ती धारण करता है, जो भोगोंपर आसक्त नहीं है, सहजसे जो प्राप्त हो उससे सन्तुष्ट होता है, जो मौन धारण करता है, जिसका अपना कोई स्थान नहीं है, जिसकी बुद्धि चञ्चल नहीं है, जो श्रद्धावान् ईश्वरकोही परमश्रेष्ठ मानता है और उसकी भक्ति करता है और ज्ञानामृत प्राप्त करके तदनुसार आचरण करता है वह भक्त परमेश्वरको बडा प्रिय होता है ॥ १३—२० ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

(१३-२०) जो भक्त ईश्वर को अत्यंत प्रिय होता है उसके लक्षण यहां बताये हैं। ये सभी लक्षण एक ही भक्तमें होने चाहिये, ऐसा नहीं जितने लक्षण हो, उतनेहीं पर्याप्त हैं, क्यों कि कोई एक लक्षण पूर्णताके साथ किसी एक भक्तमें स्थिर होने लगा, तो अन्य लक्षण उसके साथसाथ न्यूनाधिक प्रमाणमें आने लगते हैं। ये लक्षण उत्तम भक्तके हैं अर्थात् ये लक्षण पूर्ण पुरुषके भी हैं। पूर्ण पुरुष ही उत्तम भक्त होता है और वह कैसा आचार विचार करता है यह इन लक्षणों से ज्ञात हो सकता है अतः इन लक्षणोंसे जैसे मनुष्यके अन्दर के उत्तम

लक्षण ज्ञात हो सकते हैं, वैसे ही उत्तम सामाजिक व्यवहार भी ध्यानमें आसकते हैं। इस दृष्टीसे हम इन लक्षणोंका यहां थोडासा विचार करते हैं-

१ अद्वेष्टा

किसीका द्वेष नहीं करना चाहिये। परंतु जगत् के अन्दर द्वेषही दीखता है, व्यक्ति व्यक्ति और समाज समाजमें द्वेष बढ रहे हैं, यह ठीक नहीं है। यह दुःखका मूल है। द्वेष करना छोड देना चाहिये। मनसे द्वेष बिलकुल हट गया तो वह मनुष्य उत्तम भक्त बनता है। द्वेष छोडना यह उत्तम भक्तका प्रथम लक्षण है। परंतु द्वेष छोड देना यह निषेध लक्षण है, अर्थात् द्वेष छोडनेमें कुछ करना नहीं होता, अतः इसका विधिलक्षण देखना चाहिये, जो आगेही कहा है-

२ मैत्रः

सबके साथ मित्र भावसे वर्ताव करना चाहिये। सबका मित्र बनकर रहना चाहिये। द्वेष छोडनेके पश्चात् जो करना है वह इस शब्दद्वारा बताया है। सबका हित, मान्य करना चाहिये। मित्र जैसा हित करता है वैसाहि प्राणिमात्रका हित करना चाहिये। किसका हित किसमें है यह जानकर वैसा ही करना चाहिये तथा-

३ करुणः

करुणा, दया मनमें धारण करनी चाहिये। यह गुणभी द्वेष छोडनेके साथ धारण करने योग्य है, यह गुण न रहा तो न मित्रता सिद्ध होगी और न द्वेष छोडनेकी सफलता हो सकती है। तथा-

४ निर्ममः

ममत्वको छोडना चाहिये। यह मेरा है, यह मुझे चाहिये, यह दूसरे का है, यह मेरा नहीं है, इस प्रकारके विचार को ममत्व कहते हैं। इस ममत्वके कारण ही सब द्वेष उत्पन्न होते हैं। यह स्थान मेरा है और वह दूसरेका है, उसने मेरी भूमि में अतिक्रमण किया है, इस प्रकारके निमित्तसे द्वेषका प्रारंभ होता है, और द्वेष बढनेसे मित्रता और करुणा नष्ट होती है। अर्थात् 'ममत्व' द्वेषका हेतु है, इसलिये ममत्व छोडना चाहिये।

जब हम इस ममत्वरहित समाज व्यवस्थाका विचार करते हैं तब सब भूमी, सब घर, सब उद्यान, सब धन राजाका है और किसी व्यक्तिका नहीं, ऐसीहि समाजव्यवस्था स्वीकारनी पडती है। इसके साथ आगेका शब्द यहां ही देखना चाहिये-

५ अनिकेतः

किसीका स्वामित्व (निकेतः) घरपर (अ) नहीं है। यहां गृह वाचक 'निकेत' शब्द धनवाचक सब शब्दोंका उपलक्षण है। घरोंपर किसी व्यक्तिका स्वामित्व नहीं है, वैसाही भूमि, कृषि, गौ, बैल, घोडे, धन तथा अन्य वस्तुओंपर भी किसी व्यक्तिका स्वामित्व न हो, सब राजाके स्वामित्व में रहें और वे सबको राजनियमसे बर्तने को मिलें। कोई अपने आधीन कोई धन न रखे, सब धन राजाका हो और वह सबकी भलाईके लिये व्यय हो। समाज व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि जिसमें कोई अपना ममत्व किसीपर रख न सके। इस तरहके समाजमें ममत्वसे और अपना घर करके रहनेसे जो जो विद्वेष बढते हैं वे नहीं होंगे।

आजकल संन्यासी और बैरागी भी जिनको अपना घरबार नहीं होता और जिनके पास ममत्व रखनेके योग्य कोई वस्तु नहीं होती, वे भी आपसमें लड मरते हैं, ऐसा दीखता है, परंतु यह अज्ञानताके कारण होता है। पूर्वोक्त समाज व्यवस्थामें यदि पर्याप्त ज्ञान सबको दिया जावे, तो वे दोष कदापि नहीं बढ सकेंगे, इसलिये हम कहते हैं कि भगद्गीताके ध्येयमें वैसी समाजरचना अभीष्ट है कि जहां किसीका

अपना घर बार न हो, और कोई मनुष्य 'यह वस्तु मेरी है' ऐसा न कह सके, परंतु समाज के अन्तर्गत रहनेवाले सभी लोगोंका योगक्षेम राजप्रबंधद्वाराहि उत्तम रीतिसे चले।

६ निरहंकारः

अहंकार न रहे, घमंड न रहे, अहंकारसे ही दूसरे की निंदा की जाती है। द्वेष ममत्व और अहंकार का संबंध बडा घनिष्ट है। अहंकारसे ममत्व, ममत्वसे दूसरेकी निंदा और निंदासे द्वेष होता है। यह संबंध देखकर अहंकार छोडनेका प्रयत्न होना चाहिये।

७ सततं सन्तुष्टः, सन्तुष्टो येन केनचित्।

सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये, जो मिले उसमें सन्तुष्ट रहना चाहिये। असन्तोषसे द्वेष और झगडे होते हैं, असन्तोषसे ही अप्रसन्नता बढती है, और अन्तमें द्वेष शुरू हो जाता है। संतोषसे हि भोगलालसा मर्यादित रहती है, मेरे भोगके लिये मुझे यह चाहिये ऐसा आग्रह बढनेसे असन्तोष बढने लगता है। जो मिल जाय उसमें संतोष होगा, तो ही सुख मिलता है, संतोष तो तब होगा जब इसमें अपेक्षा इच्छा आशा न हो, इसीलिये कहा है—

८ अनपेक्षः

सुखभोगकी इच्छा-अपेक्षा-आशा नहीं चाहिये, जितनी भोगेच्छा कम हो सके उतनी कम करनी चाहिये, तभी सन्तोष होगा और समयपर जो मिल जाय उससे सन्तुष्टी होगी। यदि भोगलालसा बढ जाय, तो जो मिलजाय उससे सन्तोष नहीं होगा, सतत समाधान रहना भी असंभव है। अतः भोगोंकी इच्छाको मर्यादित करना चाहिये। यहां—

९ यतात्मा

अपना संयम करनेका उपदेश किया है, आत्मसंयम करनेसे हि जो समयपर मिले उससे संतोष होना संभव हो सकता है। आत्मसंयमके अभावमें भोगेच्छा बढेगी और पूर्वोक्त सब दोष उत्पन्न होगा और जो समाजका सुख होना संभव है वह कदापि नहीं मिलेगा। इसलिये संयमका अवलंब करना अत्यंत आवश्यक है।

१० समभावः

[१ समदुःखसुखः, २ समः शत्रौ च मित्रे च, ३ मानापमानयोः समः, ४ शीतोष्णसुखदुःखेषु समः, ५ तुल्यनिन्दास्तुतिः, ६ न हृष्यति न द्वेष्टि, ७ न शोचति न कांक्षति।]

समबुद्धि, समभाव, समदृष्टि सर्वत्र रखनी चाहिये। सुखदुःख, शीत उष्ण, निन्दास्तुति, हर्षद्वेष, शोक (निराशा) और आशा, मान अपमान, शत्रुमित्र इन द्वन्द्वोंके विषयमें मनकी समवृत्ति रखनी चाहिये। इनमेंसे कोई भी प्राप्त हो, तो भी उस कारण अपना मन पराजित नहीं होना चाहिये। सुख हो अथवा दुःख हो अपने कर्तव्यसे कभी परावृत्त नहीं होना चाहिये। इसी तरह कोई निन्दा करे अथवा स्तुति करे, शीत हो वा उष्ण हो, अपना मान हो अथवा कोई अपना अपमान करे, अपना कोई द्वेष करे अथवा न करे, अपनी निराशा हो वा आशा दीखे, सामना शत्रुके साथ हो अथवा मित्रके साथ हो, अपना कर्तव्य कभी नहीं छोडना चाहिये। यहां मनकी समस्थिति इष्ट है, अपना तोल संभालना चाहिये, एक ओर झुकाव नहीं होने देना चाहिये, यह बात यहां मुख्य है। एक ओर मनुष्य झुक जाय तो गिरनेका डर रहता है। उस भयको दूर करनेके लिये ही समस्थिति प्राप्त करनी चाहिये। जिस मनुष्यकी यह समस्थिति नहीं होती वह अत्यंत दुःख प्राप्त होनेपर उस दुःखको न सह सकनेके कारण उस दुःखाघातसे मर भी जायगा। इसी तरह अत्यंत आनंद होनेसे अथवा हर्ष अत्यधिक होनेसे भी मनुष्य मर जाता है। इस तरह जो द्वन्द्वके आघात सहे नहीं जाते उसका कारण

उसकी बुद्धि सम नहीं हुई यही एक मात्र है। अतः समभाव रखनेका उपदेश गीतामें सर्वत्र किया है। हरएक द्वन्द्वका इस तरह विचार करके पाठक जान लें कि समभावसे लाभ किस तरह हो सकता है। और मनका समभाव न रहा तो किसतरह पतन हो सकता है।

११ दृढनिश्चयः

दृढनिश्चयसेही यह समवृत्ति रखी जा सकती है। निश्चयकी दृढता न रही तो मन विचलित होगा और इधर या उधर गिर जायगा। अतः सम अवस्थिति रखनेके लिये दृढनिश्चय अत्यन्त आवश्यक है। दृढनिश्चय जागतिक व्यवहारमें भी उपयोगी है, और हरएक स्थानमें विजय प्राप्त करनेके लिये दृढनिश्चयकी अत्यंत आवश्यकता होती है।

१२ स्थिरमतिः

स्थिरमति, स्थिरबुद्धि मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। चंचल बुद्धिवाला मनुष्य कोई विशेष कार्य पूर्ण कर नहीं सकता। जिसकी बुद्धि विषम परिस्थितिमें भी चंचल नहीं होती वही कुछ उन्नतिका मार्ग आक्रमण कर सकता है।

१३ संगविवर्जितः

भोगकी संगति छोडनेवाला, जिसने अपनी भोगलालसा संयमित की है, जिसने भोग भोगनेकी इच्छा त्याग दी है, उसीकी मति स्थिर हो सकती है। अतः संग छोडना उन्नतिका साधक है। अपने भोगोंके विषयमें निष्कामता अथवा अनासक्ति मनुष्यकी उन्नति करनेवाली है।

१४ हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः

हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग आदिको छोडना चाहिये। अत्यधिक हर्ष हुआ, अत्यधिक क्रोध हुआ, अत्यंत भय लगा अथवा अतिशय उद्वेग हुआ तो मनुष्य पागल होता है अथवा मरता भी है। अतः इनके आघातोंसे परास्त नहीं होना चाहिये। इन विकारोंके आधीन नहीं होना चाहिये।

१५ शुभाशुभपरित्यागी

शुभ और अशुभ इन दोनोंका त्याग करनेवाला, जो अशुभ कर्ममें लिपटता नहीं वैसाही शुभ कर्ममें भी लिपटता नहीं वह श्रेष्ठ भक्त समझना चाहिये। अशुभ कर्मके विषयमें त्याग की कल्पना सब लोगोंके समझमें आ सकती है, परंतु शुभ कर्ममें लिपटनेकी कल्पना सहजहीसे समझमें नहीं आ सकती। इसलिये इस विषयमें थोडा अधिक स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता है।

समझ लीजिये कि योगसाधन करना एक शुभ कर्म है। वह आतुरताके साथ एक साधक करना चाहता है। इसने कुछ साधन इकट्ठे किये, किसीने उनका नाश किया, तो उस समय यदि वह उसमें अत्यंत लिपटा हुआ होगा, तो उसे अत्यंत क्रोध आ जायगा। जो क्रोध इसीका घात करेगा। इससे पाठक जान सकते हैं कि शुभ कर्ममें लिपटना भी कष्टका हेतु बनता है। इसलिये कहा है कि अशुभमें जैसा लिपटना नहीं चाहिये, वैसाही शुभमें भी लिपटना नहीं चाहिये। दोनोंसे मध्यस्थ जैसा अलग रहना चाहिये।

१६ उदासीनः

उदासीन मध्यस्थ जैसा रहना चाहिये। किसी पक्षके साथ मिलना नहीं चाहिये। दोनों विरुद्ध पक्षोंके दोष मध्यस्थ उदासीनके पास नहीं आते हैं, इसलिये उदासीन जैसा रहनेसे सुखलाभ होता है।

१७ शुचिः

शुद्ध, पवित्र, निर्मल रहना चाहिये, निष्कलंक निर्दोष होना चाहिये।

१८ दक्षः

हरएक कर्तव्य दक्षताके साथ करना चाहिये।

दक्षता न रही तो अशुद्धियां होती हैं और यश नहीं मिलता, अतः दक्षता धारण करना अत्यंत आवश्यक है।

१९ सर्वारंभपरित्यागी, गतव्यथः

संपूर्ण सकाम कर्मोंके आरंभका त्याग करनेवाला, अर्थात् अपने भोग बढानेके जो जो कर्म हैं उनका आरंभतक न करनेवाला इतना निरिच्छ वृत्तिवाला जो भक्त होगा वही श्रेष्ठ भक्त हो सकता है। इसमें अपने भोगोंकी लालसा बिलकुल कम होती है और निष्काम कर्मयोग अनासक्तिसे करनेकी वृत्ति अधिक होती है। यही इसकी श्रेष्ठताका हेतु है।

२० यस्मात् लोकः न उद्विजते, यः च लोकात् न उद्विजते।

जिससे लोगोंको उद्वेग नहीं होता, और जो लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता, वही धन्य है। वही श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ तथा शुद्ध आचरण का ही यह परिणाम हो सकता है।

२१ ईश्वरे अर्पितमनोबुद्धिः, योगी

ईश्वरमें मन और बुद्धिका समर्पण करना चाहिये। मन जिसने अर्पण किया उसने अपना सर्वस्व अर्पण किया ऐसा होता है। जो दुर्व्यसनमें अपना मन अर्पण करता है वह दुष्ट बनता है, इसी तरह जो मनुष्य अपना मन ईश्वरार्पण करता है वह ईश्वर- भावसे युक्त होगा।

२२ क्षमी

क्षमी के दो अर्थ हैं, एक क्षमाशील अर्थात् अपराधोंकी क्षमा करनेवाला, और दूसरा अर्थ कष्ट सहन करनेमें समर्थ। दोनों अर्थ यहां अपेक्षित हैं। सत्कर्म करनेके समय होनेवाले कष्ट सहन करनेका सामर्थ्य जिसके अन्दर होता है वही उन्नत हो सकता है, तथा जो कठोर दण्ड न करता हुआ शान्तिसे कार्य करता है वह भी आनंदका अनुभव करता है। अतः ये दोनों गुण उन्नतिशील मनुष्यमें होने चाहिये।

२३ धर्म्यामृतं यथोक्तं पर्युपासते।

धर्म्य अमृत उपदेश जैसा किया गया वैसा ही आचरण में लाते हैं वे भी उत्तम सदाचारी बनाते हैं और उन्नत होते हैं।

२४ मत्परमा श्रद्धाना भक्ताः।

ईश्वरको ही परमश्रेष्ठ माननेवाले श्रद्धायुक्त जो भक्त हैं वे ही श्रेष्ठ भक्त हैं और वे ही ईश्वरके प्रियभक्त हैं।

श्रेष्ठ भक्तोंके ये लक्षण हैं। ये लक्षण व्यक्तिमें और समाजमें घटाकर देखना चाहिये। इस तरह विचार करनेसे वैयक्तिक सदाचार किस तरह होना चाहिये और सामाजिक सदाचार कैसा होता है, इसका ज्ञान हो सकाता है। पाठक इन लक्षणोंका इस रीतिसे विचार करके उचित बोध ले सकते हैं।

बारहवाँ अध्याय समाप्त॥ १२॥

बारहवें अध्याय के सुभाषित।

(१)

सर्वभूतोंका हित करनेसे उन्नति।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
गी० १२।४

' अपने इन्द्रियोंका संयम करके सर्वत्र समबुद्धि रखकर जो साधक सर्वभूतों का हित करनेमें तत्पर रहते हैं वे ही ईश्वर को प्राप्त होते हैं।

(१) इंद्रियसंयम करनेसे (२) सर्वत्र समदृष्टि रखनेसे और (३) सर्व भूतोंका हित करनेमें तत्परता धारण करनेसे परमेश्वरकी प्राप्ति होती है। ईश्वरको प्राप्त करनेके ये साधन हैं।

(२)

अव्यक्तासक्तिसे अधिक क्लेश।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
गी० १२।५

' जो अव्यक्तकी उपासनामें चित्त लगाते हैं उनको अत्यंत क्लेश हो सकते हैं। देहधारी लोगोंको अव्यक्त में गति अत्यंत कष्टसे ही हो सकती है।

इसलिये व्यक्त सगुणरूपकी उपासना करना योग्य है। क्योंकि देहधारी मनुष्योंसे दूसरी उपासना होना अत्यंत कठिन है।

(३)

त्यागसे शान्ति।

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्। गी० १२।१२

' त्यागसे त्वरित शान्ति मिलती है।' जहां त्याग अर्थात् दान का भाव नहीं है वहां शान्ति-सुख भी नहीं मिल सकता।

श्रीमद्भगवद्गीता के द्वादश अध्यायका थोडासा मनन।

भक्तियोग

ग्यारहवें अध्यायमें परमेश्वरका 'विश्वरूप-दर्शन' किया, अर्थात् परमेश्वरका सगुण साकार व्यक्तरूप दर्शाया। परमेश्वर के इस विश्वरूपमें संपूर्ण मानव जाती, संपूर्ण पशुपक्षियोंकी जाती, संपूर्ण वृक्षवनस्पतियोंकी जातियाँ और जो कुछ अवशिष्ट है जो इस विश्वमें संमिलित है वह सब अखण्डरूपसे, संमिलित एकरूप भावसे, संमिलित हुआ है।

जब परमेश्वरका यह स्वरूप ज्ञात हुआ, तब उसकी सेवा किसतरह करनी चाहिये इसका विचार करना आवश्यक हुआ, यही विचार इस अध्यायमें किया गया है। परमेश्वर का यदि स्वरूप विश्वही है तो इस विश्वरूपकी सेवा विश्वसेवा ही होनी चाहिये इसमें संदेह नहीं हो सकता। तथापि इस समयतक स्थूल विश्व और उसमें व्यापनेवाला सूक्ष्म आत्मा ये दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं ऐसा वारंवार कहा है। अतः शंका उत्पन्न होती है कि इस स्थूल क्षर विश्व की सेवा करना तो एक अज्ञानका ही विकार है, वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो सूक्ष्म अव्यक्त अक्षर आत्माकीहि सेवा करनी चाहिये। यही प्रश्न अर्जुनने प्रथम श्लोकमें किया है—

अर्जुनने पूछा कि- 'इस तरह जो भक्त निरंतर ध्यान करते हुए आपकी उपासना करते (त्वां पर्युपासते) हैं और जो आपके अविनाशी (ये अक्षरं अव्यक्तं उपासते) अव्यक्त-रूपका ध्यान करते हैं, उनमेंसे कौन (के योगवित्तमाः) श्रेष्ठ योगी कहलाने योग्य हैं?'

अर्जुन यही उत्तर चाहता था कि 'अव्यक्त अक्षर आत्माके उपासक श्रेष्ठ हैं' ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण कहेंगे।' क्योंकि पूर्व स्थलमें मनसे बुद्धि, और बुद्धिसे आत्मा परे और श्रेष्ठ है, ऐसा कहा गया है। अतः श्रेष्ठकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ और निकृष्टकी उपासना करनेवाले निकृष्ट हैं ऐसा ही कोई कहेगा, ऐसा अर्जुन का तर्क था।

वासुदेवका रूप।

सप्तम अध्यायमें 'वासुदेवः सर्वं (गी० ७।१९)' परमेश्वर सब कुछ है ऐसा जो कहा था वह अर्जुन भूल गया दीखता है, और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान् का रूप यह विश्वरूप है ऐसा जो कहा वह भी उसके ध्यानमें ठीक तरह नहीं रहा ऐसा यहां प्रतीत होता है। क्योंकि 'सर्वं वासुदेवः' ऐसा कहनेपर और 'यह सब रूप वासुदेव का ही है' ऐसा कहनेपर उपास्य का निश्चय स्पष्टतया और संदेहरहित रीतिसे हो चुका है। एक मात्र विश्वसेवा करना ही विश्वरूपी परमात्माकी उपासना करना निश्चयसे है। इसमें शंकाही क्यों कर उपस्थित हो सकती है?

व्यक्त रूपकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ अथवा अव्यक्त की उपासना करनेवाले श्रेष्ठ? यह प्रश्न व्यक्त और अव्यक्तमें सनातन भेद होनेपर हो सकता है, परंतु जहां व्यक्ताव्यक्त सब ही रूप परमेश्वरका सिद्ध हुआ, वहां यह प्रश्न कैसा हो सकता है? परंतु व्यक्त और अव्यक्त रूप परमात्माका ही है, तथापि व्यक्त रूपसे अव्यक्त की श्रेष्ठता होनेसे अर्थात् व्यक्त रूप क्षर- नाशवान् है और

अव्यक्तरूप अक्षर- अविनाशी है, नाशवान्‌के उपासकोंसे अविनाशीके उपासक श्रेष्ठ होनेकी संभावना है, अतः अर्जुनकी शंका इस रीतिसे देखी जाय तो योग्य ही है।

यदि इस दृष्टिसे कोई विचार करे तो पूर्वोक्त शंकाका उत्तर 'क्षरके उपासकोंसे अक्षरके उपासक श्रेष्ठ हैं' ऐसा ही कोई कहेगा, परंतु भगवान् श्रीकृष्ण इसका उत्तर दूसरीही रीतिसे देते हैं—

सगुण उपासना।

श्रीभगवान् बोले- 'जो नित्य ध्यान धरते हुए मुझमें मन लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करते हैं उन्हें मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूं। (२)' तथा- 'सब इंद्रियोंको वशमें रखकर सर्वत्र समबुद्धि रखकर, जो दृढ अचल धीर, अचिन्त्य, सर्वव्यापी अव्यक्त अवर्णनीय अविनाशी स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे सर्व प्राणियोंके हितमें लगे हुए मुझे ही पाते हैं, जिनका चित्त अव्यक्त में लीन है उन्हें कष्ट अधिक होते हैं, देहधारी मनुष्य अव्यक्तगतिको कष्टसे ही पा सकता है। (३-५)'

इसका तात्पर्य यह है कि जो तो श्रद्धासे सगुण साकार की उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ भक्त हैं, जो सर्व भूतोंका हित करनेमें दत्तचित्त हैं, सर्वत्र समबुद्धि रखते हैं और जो अव्यक्त की उपासना करते हैं वे भी ईश्वरको प्राप्त करते हैं, परंतु जो केवल अव्यक्तमें ही चित्त लगाते हैं उनको बहुत ही कष्ट होते हैं।

यहां व्यक्तकी उपासनासे सुखसे और अव्यक्त की उपासनासे कष्टके साथ ईश्वर-प्राप्ति होती है ऐसा कहा है। यहां तीन प्रकारके उपासकोंका वर्णन है—

१ सतत किसी विभूतिके अनुगामी होकर उसी विभूतिके आदेशानुसार चलकर उसकी उपासना करनेवाले भक्त,

२ इंद्रियसंयम कर, सर्वत्र समबुद्धि रखकर, सर्वभूतोंका हित करते हुए सर्वव्यापक अव्यक्त आत्माकी उपासना करनेवाले भक्त, और

३ सर्व भूतोंका हित न करते हुए केवल सर्वव्यापक अव्यक्त आत्माकी उपासना करनेवाले भक्त।

पहिले दो प्रकारके भक्त परमेश्वरको प्राप्त करते हैं, तीसरे जो हैं वे अव्यक्तकी उपासना करनेके कारण अत्यंत कष्टसे अव्यक्त आत्माको प्राप्त करते हैं। इस उत्तरसे स्पष्ट होता है कि अव्यक्तकी उपासनाकी अपेक्षा व्यक्तकी उपासना करनेसे अधिक लाभ है और परमेश्वरकी प्राप्ति अधिक सुलभताके साथ हो सकती है। इस तरह श्रीमद्भगवद्गीता अव्यक्तकी उपासनाका पक्षपात नहीं करती है। इसी कारण किसी प्राचीन विभूतिकी मूर्तिकी उपासना भी भगवद्गीतामें प्रशंसाके योग्य मानी नहीं। यहां जो उपासना कही है वह-

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(गी० १२।२)

श्रीकृष्णके दो रूप।

यहां 'मयि, मां' ये शब्द स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके बोधक है। 'मुझमें मन लगाकर, मेरी नित्य उपासना करते हैं।' यह भगवान् श्रीकृष्ण के संबंधमें ही कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण दो रूपोंमें भगवद्गीतामें दिखाई देते हैं-

१ (वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि। गी० १०।३८)= वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव नामक विभूति भगवान् श्रीकृष्ण है। इससे विभूति पूजा सूचित होती है।

२ (वासुदेवः सर्वं। गी० ७।१९) = भगवान् श्रीकृष्ण विश्वरूपी हैं। संपूर्ण विश्व ही भगवान् का रूप है [इस विश्वरूपमें चारों वर्ण, चारों आश्रम, सब पशुपक्षी आदि सब अखण्ड एकरूप होकर संमिलित समझने चाहिये।]

ये दोनों रूप सगुण साकार व्यक्त और

दृश्य हैं। (मयि मनः आवेश्य) मुझमें मन लगाओ, ऐसा जो कहा गया है वह इन दो रूपोंमेंसे किसी एक सगुणरूप पर मन लगाओ, इसी आशयका द्योतक है। यहां विभूतिपूजा हो अथवा विश्वरूप-उपासना हो, यह प्रत्यक्ष जीवित जाग्रत सजीव देहधारी विभूतिकीहि उपासना है । श्रीकृष्णके जीते जी उसका अनुगामी होना, उनके उपदेशानुसार चलना, उनके कार्य करना, उनके आदेशमें मन स्थिर करना ही उनकी उपासना है। विश्वरूप उपासनामें भी विश्वरूपके किसी भागकी राष्ट्रकी, समाजकी, रुग्ण जनोंकी अथवा किसी अन्य भागकी अर्थात् जीवितोंकी प्रत्यक्ष सेवा ही है।

यहां जो भक्ति कही है वह इसी तरह की सेवा कही है। यह पाठक न भूलें।

जीवित विभूति-पूजा ।

आजकल जो भक्ति कही और समझी जाती है वह प्राचीन कालके किसी विभूतिकी मूर्तिकी कही और समझी जाती है। प्रत्यक्ष किसी विभूतिकी भक्ति नहीं। यह अन्तर भगवद्गीता की भक्ति में और आजकलकी प्रचलित भक्तिमें है, यह ध्यानमें धारण करना चाहिये। मूर्तिपूजा के लिये योग्य स्थान उपासना में है और मूर्तियां जैसी प्राचीन कालकी विभूतियों की हो सकती हैं वैसीही वर्तमान कालकी विभूतियोंकी भी हो सकती हैं और यह मूर्तिपूजा अथवा मूर्तिसत्कार जनताके लिये मार्गदर्शक भी हो सकता है और यह विभूतिपूजा तथा वीरपूजा सर्व देशोंके बुद्धिमान लोगोंको संमत भी है। इतना मानने पर भी भगवद्गीतामें यहां जीवित विभूतियोंको और जीवित वीरोंको उपास्य करके माना है यह बात कभी भूलना नहीं चाहिये, और यही बात विशेष विचार करके देखने योग्य है। भगवद्गीताके विभूति-अध्यायमें जैसी प्राचीन कालकी विभूतियां कहीं हैं, वैसी उस समयके वर्तमान कालकी भी कहीं हैं देखिये -

महर्षीणां भृगुः । (२५)
देवर्षीणां च नारदः । (२६)
गंधर्वाणां चित्ररथः । (२६)
नराणां च नराधिपं । (२७)
वृष्णीनां वासुदेवः । (३७)
पांडवानां धनंजयः । (३७)
मुनीनामप्यहं व्यासः । (३७) गी०अ०१०

" ऋषियोंमें भृगु, देवर्षियोंमें नारद, मुनियोंमें व्यास ये ब्राह्मणोंमें विभूतियां, गंधर्वोंमें चित्ररथ, वृष्णियोंमें वासुदेव, पांडवोंमें धनंजय, मनुष्योंमें राजा ये क्षत्रियोंमें विभूतियां हैं। " ये विभूतियां भगवान् श्रीकृष्णके समय जीवित और कार्यक्षेत्रमें कार्य करनेवाली प्रत्यक्ष थीं। इन प्रत्यक्ष दीखनेवाली ईश्वर-स्वरूप विभूतियोंकी उपासना करना अर्थात् उनके पास जाना, उनके उपदेशमें अपना मन लगाना, उनके आदेशानुसार करना, उनके लिये कर्म करना, उनके लिये आत्मसमर्पण करना यह उस समयकी सगुण उपासना थी।

विश्वरूप दृष्टिसे उस समयके किसी जनताके किसी भागके कष्ट दूर करनेके लिये अपना जीवन व्यतीत करते हुए अपने कर्मसे ईश्वर-उपासना हो रही है ऐसा अनुवभ करना भी सगुण उपासनाकाही कार्य था।

भगवान् श्रीकृष्ण जो सगुण उपासना कह रहे हैं वह सगुण उपासना उस समयके श्रेष्ठ पुरुषोंके जीवित कालमें करनेकी थी, यह बात कभी भूलने योग्य नहीं है। यह जीवित वीरपुरुषोंकी उपासना करते हुए और विश्वरूप-उपासना करते हुए, वह उपासना विश्वात्माकी उपासना हो रही है ऐसा मानना और अनुभव करना योग्य है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना जीते जी कर रहा था, और श्रीकृष्ण अर्जुनकी उपासना जीते जी कर रहे थे। दोनों एक दूसरेको उपास्य और एक दूसरेके लिये विभूति थे। दोनों

जो विभूतिपूजा कर रहे थे वह जीवित वीरोंकी हि उपासना थी। श्रीरामकी हनुमानद्वारा जो उपासना हुई थी वहभी इसी तरह जीवित अवस्थामेंही उपासना थी। इन सब उपासकोंने अपने उपास्यके लिये कष्टोंको सहन किया, उपास्योंके कार्य किये, उपास्योंके साथ वार्तालाप किये, वादविवाद किये, उनके लिये आत्मसर्वस्व समर्पण किया। तात्पर्य यह प्रत्यक्ष विभूतिकी उपासना थी।

प्रत्यक्ष सेवा।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि इस समयके आजके उपासकोंको भी आजके समय जो विभूतियां यहां उपस्थित हैं उनकी प्रत्यक्ष सेवा करनी चाहिये। जीवित विभूतियां इस समयभी हैं, जो जनताके उद्धारका कार्य निःस्वार्थभावसे कर रहे हैं वे ही इस समयकी विभूतियां हैं, उनके उपदेश सुनने चाहिये, उनके लिये कर्तव्यकर्म करना चाहिये, उनके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये, उनके जो अभीष्ट कार्यक्रम हों उनको उत्तम कुशलताके साथ करना चाहिये। यही सगुण उपासना है। और यही सगुण उपासना भगवद्गीतामें कही है।

आजकल हम क्या कर रहे हैं ? प्राचीन कालमें जिन विभूतियोंने और वीरोंने कार्य किये हैं, उनकी मूर्तियां हमने बनवायीं हैं और उनकी पूजा अर्चा आरती आदि कर रहे हैं और इसीको सगुण उपासना करके हम कहते हैं। आजके जीवित विभूतियोंका विरोध करते हैं और इस प्राचीन विभूतियोंकी मूर्तियोंका पूजनेमें लाखों रुपयोंका व्यय कर रहे हैं। इस वीरमूर्तिकी पूजासे एक लाभ है वह उनके पुण्य इतिहासके स्मरणसे शुभ विचारोंकी स्फूर्ति होती है। यह लाभ इस मूर्तिपूजासे होता है।

परंतु जो सगुण उपासना, प्रत्यक्ष ईश्वरकी उपासना, करके भगवद्गीतामें कही है, वह जीवित विभूतियोंकी और जीवित वीरोंकी और विश्वरूपके किसी जीवित भागकी उपासना है। जो प्रत्यक्ष फलदायी है। जिसकी तृप्ती और अतृप्ति हुई है या नहीं इसका अनुभव उपासक को होसकता है। यहां उपासक उपास्यसे पूछता है, उसको क्या चाहिये और क्या नहीं, इसका उससे पता लगा सकता है, जो चाहिये सो उसको वह यथा योग्य समयमें दे सकता है, उससे उपदेश लेता है, तदनुसार आचरण करता है, उसकी सेवा करके उसे सुख पहुंचाता है, यह जीवित जाग्रत संबंध, यह प्रत्यक्ष संबंध उपासकका उपास्यके साथ है, जो भगवद्गीताको अभीष्ट है।

प्रत्यक्ष विभूतियां।

भगवद्गीतामें उस समयमें प्रत्यक्ष दीखनेवाली उपास्य विभूतियोंकी नामावली दी है, उनको यहां पुनः देखना आवश्यक है—

१ आदित्यानां विष्णुः। १०।२१
२ ज्योतिषां रविः। १०।२१
३ पवनः पवतां। १०।३१
४ वसूनां पावकः। १०।२३
५ नक्षत्राणां शशी। १०।२१
६ मेरुः शिखरिणां। १०।२३
७ स्थावराणां हिमालयः। १०।२५
८ अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां। १०।२६
९ सरसां सागरः। १०।२४
१० स्रोतसां जाह्नवी। १०।३१

'आदित्योंमें विष्णु, ज्योतियोंमें सूर्य, बहनेवालोंमें वायु, वसुओंमें अग्नि, नक्षत्रोंमें चन्द्र, शिखावालोंमें मेरुपर्वत, स्थावरोंमें हिमालय, वृक्षोंमें अश्वत्थ, जलोंमें सागर और गंगानदी' ये विभूतियां आज भी प्रत्यक्ष हैं। इनसे आनंद की प्राप्ति आज भी मनुष्य कर सकता है, इनके पास जाकर उनसे लाभ उठा सकता है। अर्थात् यह उपासना प्रत्यक्ष उपास्य की हि है।

उस समयके भृगुऋषि, नारद, चित्ररथ, वासुदेव, अर्जुन और व्यास तथा राष्ट्रका राजा

ये उपास्य विभूति करके उस समय विद्यमान थे और इनमें 'राष्ट्रका राजा' यह राष्ट्रके प्रजाजनोंका उपास्य करके आज भी विद्यमान है। हरएक राष्ट्रमें कोई न कोई शासक रहता ही है। जो हितकारी शासक है वही प्रजाका उपास्य देव है इसमें संदेह नहीं है और ऐसे राजाका बडा सत्कार सब प्रजाजन करते ही रहते हैं।

गुणरूप विभूतियोंकी प्रत्यक्षता ।

जो गुणरूप विभूतियां हैं वे जैसी उस समय थीं वैसी हि आज भी प्रत्यक्ष हैं जिनका उल्लेख इस तरह किया गया है-

१ ज्ञानवतां ज्ञानं । १०।३८
२ प्रवदतां वादः । १०।३२
३ दमयतां दण्डः । १०।३८
४ तेजस्विनां तेजः । १०।३६
५ सत्त्ववतां सत्त्वं । १०।३६
६ छलयतां द्यूतं । १०।३६
७ जिगीषतां नीतिः । १०।३८
८ गुह्यानां मौनं । १०।३८
९ जयः, व्यवसायः । १०।३६
१० यमः संयमतां । १०।२९

'ज्ञान, वाद-कौशल्य, दण्ड (राज्यशासन), तेजस्विता, सत्त्व-बल, द्यूत, नीति, मौन, जय-विजय, व्यवसाय उद्योग, संयम,' ये सबही गुण-रूप विभूतियां जैसी प्राचीन कालमें थीं वैसीहि आज भी गुणी लोगोंमें हैं। अर्थात् इनकी प्रत्यक्षता इस समयमें भी देखी जा सकती है। तथा—

१ अध्यात्मविद्या विद्यानां । १०।३२
२ अक्षराणां अकारः । १०।३३
३ गिरां एकं अक्षरं । १०।२५
४ वेदानां सामवेदः । १०।२२
५ साम्नां बृहत्साम । १०।३५
६ छन्दसां गायत्री । १०।३५
७ सामासिकस्य द्वन्द्वः । १०।३३
८ यज्ञानां जपयज्ञः । १०।२५
९ इंद्रियाणां मनः । १०।२२
१० उद्भवश्च भविष्यतां । १०।३४
११ मृत्युः सर्वहरः । १०।३४
१२ अक्षयः कालः । १०।३३
१३ कालः कलयतां । १०।३०
१४ मासानां मार्गशीर्षः ।१०।३५
१५ ऋतूनां कुसुमाकरः ।१०।३५
१६ सर्वभूतानां बीजं । १०।३९
१७ भूतानां चेतना । १०।२२
१८ सर्गाणां आदिरन्तः मध्यं च । १०।३३

'विद्याओंमें अध्यात्मविद्या किंवा ब्रह्मविद्या, अक्षरोंमें अकार, वाणियोंमें एक अक्षर, वेदोंमें सामवेद, सामोंमें बृहत्साम, छन्दोंमें गायत्री, समासोंमें द्वन्द्व, यज्ञोंमें जपयज्ञ, इंद्रियोंमें मन, उत्पन्न होनेवालोंका जन्म और मरनेवालोंकी मृत्यु, सबका अक्षय काल, समय, महिनोंमें मार्गशीर्ष, ऋतुओंमें वसन्त ऋतु, सर्व भूतोंका बीज अर्थात् वीर्य आदि जिससे प्राणी उत्पन्न होते हैं, भूतोंकी चेतना, वस्तुमात्रके आदि, मध्य और अन्त' ये सब ही विभूतियाँ जैसी भगवान् श्रीकृष्णजीके समय थीं वैसी ही आज हैं और इनकी सहचर्यासे आज भी उपासक लाभ प्राप्त कर सकता है।

यहां कहना इतनाही है कि ये विभूतियां प्रत्यक्ष दीखनेवाली हैं, इनकी प्रसन्नता मनुष्य संपादन कर सकता है और इनसे लाभ भी प्राप्त कर सकता है।

उपासना की रीति ।

मनुष्यको उपास्य देव ऐसे चाहिये कि उनके पास वह जा सके और उनकी प्रसन्नता करके लाभ प्राप्त कर सके। इनमेंसे सब ऐसी ही प्रत्यक्ष फल देनेवाली विभूतियाँ हैं। हरएक की प्रसन्नता करनेके मार्ग अलग हैं यह बात हरएक पाठक विचारसे जान सकता है। जैसी

जल वायुकी प्रसन्नता उनकी शुद्धता रखनेसे होतीहै, वीर्यकी प्रसन्नता ब्रह्मचर्यसे हो सकती है इत्यादि प्रकार सबके विषयमें जानना योग्य है। ये विभूतियां मनुष्यकी सहायक हैं, मनुष्य को प्राप्त होनेवाली हैं और इनसे मनुष्य अपनी उन्नतिभी प्रत्यक्ष रीतिसे सिद्ध कर सकता है।

'वासुदेव, भृगु, नारद, व्यास, चित्ररथ, अर्जुन' ये विभूतियां भगवान् श्रीकृष्ण के समय थीं, परंतु ये आज प्राचीन हो चुकीं हैं। इसी तरह पांडवोंके समयभी कई विभूतियां प्राचीन हो चुकी थीं, जैसे-धाता (१०।३३), वरुणः (१०। २९), अर्यमा (१०।२९), कुबेर (१०।२३), य संभवतः उनसे प्राचीन कालकी विभूतियां होंगी। शंकर, रुद्र, स्कंद, वासव (इंद्र) ये विभूतियां अर्जुनके समकालीन माननी होंगी, क्यों कि इन्द्रसे तो अर्जुन का जन्म ही हुआ और श्रीशंकर से उन्होंने विविध शस्त्रास्त्र प्राप्त किये थे। अस्तु। इसका अधिक विचार करने की हमें यहां आवश्यकता नहीं है, परंतु इतना ही ध्यानमें धारण करना चाहिये कि इतनी विभूतियोंमें दो चारही ऐसी हैं कि जो अप्रत्यक्ष तथा प्राचीन कालकी हैं और शेष सबकी सब वर्तमान समयकी हैं। हमें इससे यह बोध प्राप्त करना चाहिये कि हमारे उपास्योंमें दो चार प्राचीन कालकी उपास्य देवताएं हों और शेष सब हमारे समयमें उपस्थित ही होनी चाहिये।

विश्वरूपदर्शन से भी यही दिखाई देता है। जिस समय हमें विश्वरूपमें परमेश्वर देखनेका अभ्यास होगा, उस समय हमें प्रत्यक्ष वर्तमान कालमें दिखाई देनेवाला ही विश्वका रूप हमारा उपास्य होगा। किसी अप्रत्यक्ष का विचार यहां प्रधान नहीं होता है।

जैसे अर्जुनके लिये श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके लिये अर्जुन प्रत्यक्ष थे वैसे ही इस समय रोगियोंके लिये वैद्य और वैद्यके लिये रोगी प्रत्यक्ष विश्वरूपमें उपस्थित हैं। इसी तरह अन्यान्य रूपोंकी कल्पना करनी चाहिये।

मूर्तिपूजाका स्थान।

फिर यहां पाठक पूछेंगे कि प्राचीन कालकी विभूतियोंके लिये स्थान है वा नहीं? उत्तरमें निवेदन है कि प्राचीन काल की विभूतियोंके लिये स्थान अवश्य है, वे आदर्श पुरुष हैं, उनके चरित्र हमारे पास हैं, उन नमूनोंके आदर्शोसे हम इस समयके महापुरुषोंमें कौनसी विभूतियां हैं और कौनसी नहीं, इसकी परीक्षा कर सकते हैं। इस दृष्टिसे इन प्राचीन विभूतियोंकी उपासना निःसन्देह लाभदायक है। परंतु केवल प्राचीन विभूतियोंका ही पूजापाठ करना और वर्तमान समयके विभूतियोंसे दूर रहना कदापि योग्य नहीं है। हमारी उपासनामें वर्तमान समयकी विभूतियां अधिक आनी चाहिये। वैसा इस समय नहीं हो रहा है। इस लिये विभूतिपूजाका अर्थात् सगुण उपासनाका यथार्थ स्वरूप कितना व्यावहारिक है और व्यवहार-साधनसे परमार्थ-साधन इसमें कैसा होता है, यह दर्शानेके लिये यहां इतना विस्तार से लिखना पडा।

नामजप।

आजकल सगुण उपासनामें प्राचीन विभूतियोंकी किसी मूर्तिकी पूजा, नामजप आदि बातें हि आती हैं। मंदिर बनवाना, मूर्ति स्थापन करना, पूजा अर्चा करना, उसके नामका जाप करना, ये अनेक विधि इस समय प्रचलित हैं। भगवद्गीतामें 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि (गी० १०।२५)' यज्ञोंमें जपयज्ञ ईश्वरकी विभूति है। इसमें 'जप' का प्रमुख स्थान माना है। जप का अर्थ किसी विभूतिके नाम का जप भी हो सकता है, किसी मंत्रका जप भी हो सकता है और किसी उच्च विचार का वारंवार मनन भी हो सकता है। मनको स्वाधीन करनेके लिये इस 'जप' का अत्यंत उपयोग है। किसी

नामका जप करनेसे मनको अभौतिक अवस्था प्राप्त हो सकती है। इसमें कोई संदेह ही नहीं है। यह जप किंवा नामजप अत्यंत सुलभ साध्य है, अतः इसमें हरकोई भाग ले सकता है और अपूर्व आनन्द प्राप्त कर सकता है।

इमर्सनका अनुभव

तत्त्वज्ञानी इमर्सन ने भी अपना अनुभव ऐसा लिखा है कि 'मैं अपने ही नामका जप करता हूं और इस अपने नामके जपसे मैं ऐसी अलौकिक भूमिकामें पहुंचता हूं कि जो सत्य और आनन्द मय है और इस जागतिक अवस्था से वह बडी उच्च अवस्था है।' यह तत्त्वज्ञानी कवि यूरोप अमेरिकामें बडी मान्यता के स्थानपर विराजमान है। अतः हरकोई नामजप से अभौतिक आनन्द प्राप्त कर सकता है, इसमें संदेह ही नहीं है। भारतवर्षमें तो नामजप का बडाही परिपाठ है और उसमें प्रविष्ट होनेवाले लोग भी इस अभौतिक आनन्दको प्राप्त करके संतुष्ट हुए दीखते हैं। इस तरह नामजप की श्रेष्ठता निर्विवाद है।

नामजपका इतना महत्त्व भगवद्गीतामें वर्णन किया गया है, तथापि प्राचीन विभूति की मूर्ति करके उसकी पूजा आदिका वर्णन गीतामें नहीं है और भगवद्गीतामें जो सगुण उपासना मानी है, वह भूतकालकी विभूतिकी मूर्तिकी उपासना नहीं है, परंतु भगवान् श्रीकृष्णकी अमृतमयी वाणीसे जो सगुण उपासना कही गयी है, वह वर्तमान समयके महापुरुषोंकी जीवित मूर्तियोंकीहि उपासना है।

त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें ईश्वरकी प्रकटता।

जो ईश्वर सत्त्वरजतमगुणात्मक अष्टधा प्रकृति में हम उपासकोंके सम्मुख प्रकट हुआ है वही उपास्यकी सगुण मूर्ति है और उसीकी उपासना करना सगुण उपासना कहलाता है। इसीलिये भगवद्गीतामें स्थान स्थानपर ' अहं (मैं), मयि (मुझमें), मां (मुझे), मे (मेरी)' इत्यादि शब्द आते हैं। इनका वास्तविक अर्थ ' मेरे जैसे विभूति, मेरे जैसा प्रकृतिमें प्रकट हुआ ईश्वर ' ऐसा है। ' राम अथवा कृष्ण जैसा उपासकके समयमें अष्टधा प्रकृतिमें प्रकट हुआ ईश्वरांश ' यह अर्थ ऊपरके ' मैं ' आदि शब्दोंका है। श्री रामचन्द्रने जैसे ३३ करोड देवगणोंकी विदेशी राजाकी परतंत्रतासे मुक्ति की; भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार दुष्टोंका निर्दलन करके सज्जनों की रक्षा की, उस प्रकार जो महापुरुष इस समय प्रशस्ततम कार्य कर रहे हैं, वे सत्पुरुष इस समय के लोगोंके उपास्य हैं, यह आशय इन शब्दोंमें है। पाठक इसका अधिक विचार करें और योग्य बोध प्राप्त करें।

भगवान् श्रीकृष्णके ' (मत्कर्मकृत्) मेरे लिये कर्म कर, (मद्भक्तः) मेरी भक्ति कर, (मत्परमः) मुझे श्रेष्ठमान, इस कथन का ऐसा संकुचित अर्थ नहीं है कि अर्जुन सखा श्रीकृष्ण को ही शरण जानेसे सब कुछ कृतकृत्यता प्राप्त होती है, परंतु श्रीरामचन्द्रको भी वैसी ही शरणागति करनेसे वैसी हि परम गति हो सकती है, इतना अर्थ उक्त कथनमें है। अर्थात् किसी ईश्वरके सगुण रूपकी सेवा करनेसे वैसी हि सफलता हो सकती है, इतना अर्थ उक्त कथनमें है। नहीं तो कई लोग ऐसा अर्थ समझेंगे कि श्रीकृष्णकी हि उपासना करनी चाहिये और श्रीरामचन्द्रकी करनेसे भी वह गति नहीं मिलेगी। ऐसा संकुचित भाव भगवान् श्रीकृष्णजीके उपदेशमें नहीं है।

जहां 'अन्य देवताके भक्त भी मुझ (ईश्वर) को ही प्राप्त होते हैं (भ०गी० ९।२३)' ऐसा कहा है वहां अन्य विभूतियोंके उपासक ईश्वर को प्राप्त नहीं होते ऐसा अर्थ कैसा माना जा सकता है? अतः अन्य श्रीरामचन्द्रादि विभूतियोंके उपासक भी उच्च अवस्था प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा ही मानना योग्य है। अर्थात् उपासनाकी रीति और अपने लिये उपास्य का

निर्णय करना आदि बातें यथायोग्य विचार करने योग्य हैं, इसमें विवाद नहीं हो सकता। तात्पर्य जो भक्तिमार्ग आज प्रचलित है, उससे अधिक व्यापक भक्तिमार्ग भगवद्गीतामें कहा गया है, यह बात यहां पाठकोंको ध्यानमें रखनी चाहिये।

जीवित विभूति-पूजा।

श्रीमद्भगवद्गीताकी सगुण उपासना 'जीवित विभूतियोंकी उपासना' है, यह बात यहां तक बताई है। विश्वरूप उपासना 'जीवितोंकी हि उपासना' है। विभूति उपासनामें थोडेसे विश्वरूपके प्रभावी अंश चुने जाते हैं और विश्वरूप उपासनामें सभी अंश उसी एक अद्वितीय आत्माके हैं ऐसा माना जाता है। जैसा 'मुनीनां अपि अहं व्यासः (गी० १०-३०)' इसके अनुसार अनेक मुनियोंमें व्यास विभूति है ऐसा माना जाता है, और विश्वरूप उपासनामें सभी मुनिगणोंमें वही एक अखड विश्वात्मा है ऐसा मानकर मुनिजनोंकी सेवा की जाती है। दोनोंकी सेवा जीवित दशामें ही होनी है यह बात सगुण उपासकोंको ध्यानमें धारण करनी चाहिये। जीवित विभूतियोंकी सेवा करनी चाहिये, यही बात हमारी उपासनामेंसे हट चुकी है, इस कारण सगुण उपासना से जितना हो सकता है उतना पूर्ण लाभ हमें इस समय प्राप्त नहीं हो रहा है। सगुण उपासनासे हमारी कल्पना 'प्राचीन विभूतियोंकी प्रतिमाओंकी हि उपासना' ऐसी निश्चित हो चुकी है। अतः उसका फल भी हमें उतनाही न्यून मिलता है। जिस समय सगुण उपासनाका आशय जीवित विभूतियों और वीरोंकी उपासना होगा, उस समय हमारी उपासनामें नव जीवन आजायगा और प्रत्यक्ष लाभ होनेका अनुभव भी हमें मिलेगा। उपासनाका फल जो अदृष्ट माननेकी परिपाठी पड गयी है, उसके स्थानपर दृष्ट फलभी उपासकोंको इससे प्रत्यक्ष दिखाई देगा।

प्रत्यक्ष रूप।

परमेश्वर के विश्वरूपमें वैद्य और रोगी, अध्यापक और शिष्य, राजा-राजपुरुष और प्रजाजन, अधिकारी और नोकर, धनी और धनहीन, स्वामी और भृत्य, सेनापति और सैनिक, मातापिता और पुत्र इस तरह अनेक रूप संमिलित हैं। ये सब प्रत्यक्ष उपास्य हैं। जैसा पत्नीको पति उपास्य देव है, वैसी ही पतिको पत्नी उपास्य देवता है। जैसे शिष्योंको अध्यापक आचार्य देव हैं। वैसे ही अध्यापकोंको शिष्यगणभी ईश्वरांशही हैं। इसी तरह सब अन्योंके विषयमें समझना चाहिये।

प्रत्यक्ष स्वर्गधाम।

यदि राजपुरुष सब प्रजाजनोंको ईश्वरांश मान कर अपने उपास्य समझेंगे तो राज्यशासन अत्यंत पवित्र बन जायगा। आजकल वैद्य और डाक्तर रोगियोंको लूटनेका व्यवसाय करते हैं, उसके स्थानपर रोगियोंको अपने परमेश्वर के विश्वरूपके अंश समझकर सेवा करेंगे तो यही मृत्युलोक स्वर्गधाम बन जायगा। इसी तरह अध्यापक गण अपने विद्यार्थियोंको ईश्वरांश मानकर सचमुच उस भावसे उनकी उपासना करेंगे तो सब विद्यालय स्वर्गका नमूना बनेंगे। माता अपने पुत्रको ईश्वरांश मानकर सेवा करेगी तो घरमेंहि स्वर्गसुख मिलेगा। इसी तरह सब लोग इस जीवित और जाग्रत सगुण मूर्तियोंकी जीतेजी उपासना करेंगे, तो सगुण उपासनाका प्रत्यक्ष फल अपने जीवनमें मिलेगा। यही सगुण उपासना विभूतियोग-अध्यायसे और विश्वरूपदर्शन-अध्यायसे भगवद्गीतामें कही है। जिनके भूलनेके कारण हमारी अनंत हानियाँ हुई हैं।

जिस सगुण उपासनासे ईश्वरप्राप्ति होती है ऐसा कहा है, वह सगुण उपासना यह है। जिनका इसपर विश्वास नहीं है, वे क्या करें? इसके उत्तरमें कहा है कि वे सर्व भूतोंका हित करनेके

कार्य करें।

सर्व भूतहितके कार्य।

ते सर्वभूतहिते रताः समबुद्धयः (ईश्वरं) प्राप्नुवन्ति॥

जो जीवित विभूतियोंको तथा अखंड विश्वरूपको पहचान नहीं सकते वे क्या करें और वे अपना उद्धार किस मार्गसे करें? इसके उत्तरमें कहा है कि वे सर्वत्र समदृष्टि रखें और जैसा अपनेको दुःख होता है वैसा ही अन्योंको होता है ऐसा समझकर अन्य सब भूतोंका हित करनेके कार्यमें तत्पर रहें।

यहां सब अन्य भूतोंको ईश्वरका विश्वरूप नहीं माना है, परंतु प्रत्येक देहमें आत्मा भिन्न है, जैसा मुझे सुखदुःख होता है वैसा ही सब अन्य जीवजन्तुओंको होता है, इसलिये मैं दूसरों को कष्ट नहीं पहुंचाऊंगा, प्रत्युत दूसरोंका हित-करनेके हि कार्य करूंगा। अपने समान सब अन्य जीव हैं इतनीहि समदृष्टि यहां है और अन्योंका हित करनेके कार्य करना ही इसका कर्तव्य है। जो ऐसा करेंगे वे भी ईश्वरको प्राप्त होंगे।

जो तो विश्वरूपी विश्वात्माको जानते हैं वे सर्व भूतोंको अखण्ड विश्वात्माका रूप मानकर उसकी विश्वसेवा करेंगे, तो वे श्रेष्ठ-आत्मा लोग होंगे। उनका विचार यहां नहीं किया जा रहा है। जो अखण्ड विश्वात्माको नहीं पचानते, परंतु प्रत्येक जीव का अलग अलग आत्मा है ऐसा मानते हैं और सबको सुख दुःख समान होता है ऐसी समदृष्टि रखकर सबका हित करनेके कार्य करनेके लिये आत्मसमर्पण करते हैं, उन सर्वभूतहितकारी साधकोंका ही विचार यहां करते हैं। ऐसे लोग सर्वभूतहितकारी कार्य के लिये अपने धन का दान करते हैं, अपनी शक्तिका समर्पण करते हैं, अपने ज्ञानका व्यय करते हैं। तथा अपने शरीरसे आवश्यक कार्य करते हैं। जो अपनेसे हो सकता है वह सर्व प्राणियोंके हितके लिये करते हैं। ऐसे साधकही बहुत हैं। इनमें दया और करुणा का भाव विशेष होता है और पूर्ण दया-भावसे प्रेरित होकर ये लोग सर्व प्राणियोंका भला करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। ये भी इस कार्यके करनेके कारण परमेश्वर को प्राप्त होते हैं। यह जीवितोंकी हि उपासना है, क्यों कि जीवित प्राणियोंका हि हित किया जा सकता है।

समदृष्टि।

उपासनामें 'सर्व प्राणियोंके हित की कल्पना' कितनी उज्ज्वल है यह पाठक यहां देखें। सर्व प्राणियोंको अपने जैसा ही सुख दुःख होता है ऐसी समदृष्टि धारण करना और सब प्राणियोंका हित करनेके कार्योंमें अपना समय अर्पण करना, ये दो बातें आजभी अत्यंत आवश्यक हैं। इस तरह कार्य करनेवाले न होनेके कारण ही आज यह विपन्न अवस्था हो गयी है।

जिस समाजमें इस तरह की समबुद्धि रखने वाले लोक होंगे और जिस समाजमें सर्व प्राणियोंका हित करनेके शुभ कर्म अपना कर्तव्यकर्म समझकर करनेवाले होंगे, वह समाज अधिक सुखी होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

यदि इससे और आगे बढ कर सब प्राणियोंको विश्वात्मा का अखण्ड रूप मान कर सेवा करने-वाले महात्मा जिस समाज में अधिक होंगे उस समाजकी स्थिति तो स्वर्गीय स्थितिके समान ही दिव्य होगी, इसमें संदेह हि क्या है?

इस तरह उपासनामें 'सर्व प्राणियोंका हित करनेका भाव' प्रधान स्थान रखता है, यह बात यहां सिद्ध है। सर्व प्राणियोंका हित करनेका नाम ही ईश्वरकी उपासना है, यह भाव अपने समाजमें कब जाग्रत होगा? सब प्राणियोंको सुख दुःख अपने जैसे होते हैं और उनका हित करना ही ईश्वरकी उपासना करना है, यह भगवद्गीताका उपदेश शीघ्रही मनुष्योंके आच-रणमें लाना चाहिये।

दो प्रकारके उपासक।

यहां तक दो प्रकारके उपासकोंके भेद कहे। पहिले उपासक विभूतियों की सगुण उपासना करते हैं और दूसरे प्रकारके उपासक अपने समान सब प्राणियों को मानकर सब प्राणियोंका हित करनेका कार्य करना अपना कर्तव्य समझ कर वह कार्य करनेमें अपना तनमनधन लगाते हैं। ये दोनों प्रकारके उपासक वस्तुतः सगुण ईश्वरके हि उपासक हैं और वे दोनों ईश्वरको प्राप्त करते हैं। (देखो श्लो० २ और ३-४)

इससे भिन्न न तो विभूतियोंकी उपासना करते हैं और न तो सर्व प्राणियोंका हित करनेके कार्यका भारहि अपने ऊपर लेते हैं, परंतु केवल निराकार अव्यक्त आत्माकी हि ध्यानधारणा करनेमें अपने आपको लगाते हैं। उनको (क्लेशोऽधिकतरस्तेषां॥ १२।५) बहुत क्लेश ही होता है, क्यों कि देहधारी मनुष्योंको निराकार आत्मातक गति होना बडा कठिन कार्य है।

इस तरह निराकार निर्गुण की उपासना करनेवालोंको कष्ट ही कष्ट होते हैं और सगुण साकार की जीवित जाग्रत उपासना करनेवाले दोनों प्रकारके उपासकों को निश्चित परमेश्वरप्राप्ति होती है, ऐसा यहां कहा है। एक तरहसे सगुण उपासनाका आदेश ही यहां दिया है और केवल निर्गुण निराकार की उपासनाकी कठिणता ही दर्शायी है। सर्वसाधारण लोगोंको सगुण उपासना ही लाभदायक है, यह इस विवेचन का तात्पर्य है। कोई विरला भी योगाभ्यास द्वारा निर्गुणका ध्यान धारणा समाधिद्वारा अनुभव नहीं करेगा, ऐसा निषेध यहां नहीं किया है, परंतु सर्वसाधारण लोग दो ही मार्गोंका अवलंबन करते हैं-

(१) एक जीवित विभूतियों की सेवा और

(२) दूसरी अपने समान सब भूतोंको मान सब जीवित प्राणियोंका हित करनेके कार्य में अपने आपको लगा कर सब भूतोंकी सेवा करना।

ये दो ही सगुण उपासनाके प्रकार यहां कहे हैं। (३) विश्वात्माकी विश्वरूप में उपासना करनेका तीसरा उच्च प्रकार है, परंतु वह दिव्यदृष्टिवालोंको ही साध्य है, अन्योंके लिये उक्त दो प्रकारही योग्य हैं।

अनन्ययोग.

श्लोक ६ और ७ में इस अनन्ययोगका उपदेश किया है। यहां कहा है कि — 'मुझे श्रेष्ठ मान कर, सब कर्मोंको मुझे समर्पण करके, अनन्यभावसे मेरा ध्यान करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं, मुझमें जिनका चित्त लगा है, उन्हें मृत्युसंसारसागरसे मैं शीघ्र ही पार करता हूं।' अर्थात् उनको मैं आनंद और सुख देता हूं।

यहां उपासकमें अनन्यभाव स्थिर होनेका महत्त्व विशेष है। अनन्यभाव क्या है? उपासक और उपास्य पृथक् हैं, सब जीव परस्पर पृथक् हैं, ईश्वर जगत् से पृथक् है, इस तरह पृथक् भाव धारण करनेका नाम 'अन्यभाव' है। इस अन्यभावको धारण करनेवाले साधक सर्व प्राणियोंका हित करनेके कार्य करें, ऐसा (श्लो० ४ में) पूर्व स्थानमें कहा है। जिनके अन्दरका यह अन्यभाव, पृथग्भाव, भिन्नभाव दूर हुआ है और जिनको अभिन्नभावसे सर्व विश्वरूप देखने की दिव्य दृष्टि मिल चुकी है और जिनको अनन्य, अपृथक्, अभिन्न भावसे अखंड विश्वरूपमें अखंड विश्वात्माको देखनेकी दृष्टि प्राप्त हुई है, वे अपने सब कर्मोंको ईश्वरार्पण करें, वे अखंड विश्वेश्वर का ध्यान करें, उनका उद्धार परमेश्वर निःसंदेह करेगा। (श्लो. ६-७)

ईश्वरमें मन लगाओ, ईश्वरमें अपनी बुद्धि समर्पण करो, ऐसा करनेसे साधक ईश्वरमें ही निवास करेगा, (श्लो. ८) इसमें संदेह नहीं है। क्यों कि मन जहां स्थिर किया जाता है

वैसा वह बनता है। साधकका मन ईश्वरमें लग गया तो उसमें ईश्वरभाव आ सकता है, अतः वह ईश्वरमें ही बसता है, ऐसा यहां कहा है। इस श्लोकमें जो मन ईश्वरमें स्थिर करनेको कहा है वह (मयि=मुझमें अर्थात्) किसी विभूति में अथवा विश्वरूपके किसी विशेष प्रभावी अंशमें स्थिर करनेको कहा है। अर्थात् यह अव्यक्तकी उपासना नहीं है, व्यक्त सगुण ईश्वरकीहि यह उपासना है।

यदि इस तरह किसी विभूतिमें अपना मन स्थिर करना किसीको संभवनीय प्रतीत नहीं होता है तो वह साधक अपना मन स्थिर करनेका शनैः शनैः अभ्यास करे। अभ्याससे कठिण बात भी सुगम प्रतीत होती है। अभ्यास का अर्थ वारंवार करना है। इस प्रकार वारंवार करनेसे विशेष अभ्यास होता है और असंभवनीय प्रतीत होनेवाली बात संभवनीय प्रतीत होती है। (श्लो० ९)

यदि इस तरह सतत अभ्यास करना नहीं हो सकता, तो अपने सब कर्म ईश्वरको समर्पण करो। कर्म परमेश्वरको समर्पण करनेसे ही वे कर्म परिशुद्ध होने लगते हैं। कोई कर्म साधारण व्यक्तिके लिये करना हो तो वह यथातथा किया जाता है, परंतु यदि वही कर्म किसी महान् व्यक्तिके लिये करना हो तो वही कर्म करनेवाला उसे विशेष परिश्रमसे किया करता है। फिर यदि वह अपने सब कर्म सर्वश्रेष्ठ परमेश्वरके लिये करने लगा, तो फिर वह कितनी उत्तमताके साथ करेगा, यह कोई कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इस तरह परमेश्वरको अपने कर्म समर्पण करनेसे अपने कर्म परिशुद्ध होने लगते हैं, करनेकी पद्धति अधिक कौशल्ययुक्त होने लगती है, इससे साधक सब ओर से उन्नत होने लगता है। अतः ईश्वरार्पण कर्म करना ही एक बडा उत्तम साधन मानवी उन्नतिके लिये है। (श्लो० १०)

यदि कोई साधक अपने कर्म ईश्वरार्पण करनेमें असमर्थ है, तो वह अपने कर्मोंके फल अपने भोगके लिये अपने पास संग्रहित करके न रखे। अपने कर्मोंके फलोंको सर्व प्राणियोंके हित करनेके लिये त्याग दे। इस तरह कर्मफल त्याग करनेसे भी मनुष्यका उद्धार हो सकता है। इसका हेतु यह है- अपने भोग बढानेकी वृत्तिसे मनुष्यकी गिरावट होती है, उससे बचनेके लिये कर्मफलका त्याग करनेके लिये कहा, अर्थात् इससे भोगलालसा कम होगी और दोष न्यून होते जायंगे। (श्लो० ११)

साधक ईश्वरका ध्यान करे, ध्यान नहीं होता है तो उसका अभ्यास करे, अभ्यास नहीं हो सकता तो अपने सब कर्म ईश्वरको अर्पण करे, वह भी नहीं हो सकता तो अपने कर्मफलको त्याग देने-दान करनेका अभ्यास करे। यह सुगमसे सुगम साधन है।

ज्ञानमार्गसे ध्यानमार्ग सुगम है, ध्यानसे अभ्यास करना सुगम है, ध्यानाभ्याससे कर्मयोग सुगम है, उससे कर्मफलत्याग सुगम है। कर्मफलत्यागसे उसी समय शान्ति मिलती है। अपने पासका फल सर्व प्राणियोंके हितार्थ दान करनेसे सहजही आत्माकी प्रसन्नता होती है। यही शान्तिसुख है। (श्लो० १२) कर्मफलत्याग न हुआ तो समझो कि ज्ञान, ध्यान, अभ्यास अथवा कर्मयोग कुछ भी सिद्ध नहीं होगा। इस दानभावसे ही सब कुछ सिद्धि मिलती है, इसलिये 'कर्म-फल-त्याग' सब साधनोंमें सुगम और मुख्य साधन है।

पाठक पूछेंगे कि यह कर्मफलत्याग सुगम कैसा है? उत्तरमें निवेदन है कि किसीने कुछ कर्म किया, उस कर्मका वेतनरूप फल उसे मिल गया, वह मिलते ही वह फल सबका सब अथवा उसका कुछ अंश सर्व भूतोंके हितार्थ अर्पण करनेका निश्चय करना और वैसा अर्पण करना कोई अशक्य बात नहीं है। इस तरह

सर्वभूतहित होता जाता है। अर्थात् यह सुगमसे सुगम साधन है।

अब आगे आठ (श्लो० १३-२० तक) श्लोकोंमें श्रेष्ठ भक्तके लक्षण कहे हैं। इनको क्रमशः देते हैं और साथ साथ दैवी संपत्तिके लक्षण जो १६ वें अध्यायमें आनेवाले हैं वे भी देते हैं। इससे पाठकोंको स्पष्ट हो जायगा कि उत्तम भक्तके लक्षणोंमें दैवी संपत्ति किस तरह विकसित होती है। अस्तु। अब भक्तके लक्षण देखिये—

भक्तके लक्षण (अध्याय १२)	दैवी संपत्तिके लक्षण (अध्याय १६, अध्याय २)
१ अद्वेष्टा सर्वभूतानां (१३)	अभयं (१) [न द्वेष्टि २।५७]
२ मैत्रः (१३)	अहिंसा (२), अद्रोहः (१३)
३ करुणः (१३)	दया भूतेषु (२), मार्दवं (२)
४ निर्ममः (१३)	अलोलुप्त्वं (२) [निर्ममः २।७१]
५ अनिकेतः (१९)	
६ निरहंकारः (१३)	[निरहंकारः २।७१]
७ सततं सन्तुष्टः (१३)	[आत्मन्येवात्मना तुष्टः २।५५]
सन्तुष्टो येन केनचित् (१९)	शान्तिः (२)
८ अनपेक्षः (१६)	[विहाय कामान् निःस्पृहः २।७१]
९ यतात्मा (४)	दमः (१), [इंद्रियाणि अर्थेभ्यः संहरते।२।५८] [यस्य इंद्रियाणि वशे २।६१] वैराग्यं १३।८
१० समदुःखसुखः (१३)	[दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः २।५६]
समः शत्रौ च मित्रे च (१८)	
तथा मानापमानयोः (१८)	नातिमानिता (३)
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः (१८)	
तुल्यनिन्दास्तुतिः (१९)	
न हर्षति न द्वेष्टि (१७)	[नाभिनन्दति न द्वेष्टि। २।५७]
न शोचति न कांक्षति (१७)	
११ दृढनिश्चयः (१४)	
१२ स्थिरमतिः (१९)	[स्थितप्रज्ञः २।५५] [स्थितधीः २।५६]
१३ संगवर्जितः (१८)	[सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति २।५५] [विषया विनिवर्तन्ते २।५९]
१४ हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः (१५)	अक्रोधः (२) [वीतरागभयक्रोधः २।५६]
१५ शुभाशुभपरित्यागी (१७)	दानं (१) [शुभाशुभं नाभिनन्दति २।५७]
१६ उदासीनः (१६)	[सर्वत्र अनभिस्नेहः॥ २।५७]
१७ शुचिः (१६)	सत्त्वसंशुद्धिः (१), शौचं (३)
१८ दक्षः (१६)	
१९ गतव्यथः (१६)	
२० सर्वारंभपरित्यागी (१६)	त्यागः (२)

२१ यस्मात् लोकः न उद्विजते । यः च लोकात् न उद्विजते । (१५)	
२२ (ईश्वरे) अर्पितमनोबुद्धिः (१४)	
२३ क्षमी (१३)	क्षमा (३)
२४ योगी (१४)	योगव्यवस्थितिः (१) [युक्तः २।६१]
२५ मौनी (१९)	[मुनिः २।५६]
२६ धर्म्यामृतं यथोक्तं पर्युपासते (२०)	ज्ञानव्यवस्थितिः (१) स्वाध्यायः (१)
२७ श्रद्दधानाः, मत्परमाः (२०), भक्तिमान् (१७), भक्ताः (२०)	[मत्परः २।६१]

इस तरह १६ वें अध्यायमें वर्णन किये दैवी संपत्तिके गुणोंके साथ इस १२ वें अध्यायके श्रेष्ठ भक्तके गुणोंका मेल है। यहां १२ वें अध्यायमें कुछ अधिक गुण कहे हैं जिनका नामनिर्देश १६ वें अध्यायमें नहीं है, तथापि वे गुण ऐसे नहीं हैं कि जो दैवी संपत्तिके साथ विरोधी हों। जैसा 'भक्तिमान्, श्रद्धान' ये गुण दैवी संपत्तिके वर्णनके समय १६ वें अध्यायमें नहीं कहे, तथापि 'श्रद्धा' और 'भक्ति' ये गुण दैवी संपत्तिके साथ विपरीत नहीं हैं, प्रत्युत दैवी संपत्तिके साथ ये गुण मिलनेवाले ही हैं। इसी रीतिसे 'दक्ष, उदासीन, ईश्वरार्पितमनोबुद्धि, स्थिरमति, दृढनिश्चय' आदि गुण भी दैवी-संपत्तिके साथ रहनेवाले ही हैं। यहां भक्तके गुणोंमें क्या और सोलहवें अध्यायमें दैवसंपत्तिके गुणोंमें क्या गुणोंके नामोंका उल्लेख परिपूर्ण रीतिसे किया गया है, ऐसा समझना योग्य नहीं है। तत्तत्सदृश अन्य गुण भी वहां लिये और उस नामावलीमें समझे जाने योग्य हैं। ऐसा विचार करनेपर यह बात स्पष्ट होगी कि ये भक्तके लक्षण और सोलहवें अध्यायमें कहे दैवी संपत्तिके लक्षण परस्पर मिलनेजुलनेवाले हैं और एक दूसरेके साथ रहनेवाले हैं।

स्थितप्रज्ञके लक्षण ।

पूर्व स्थानमें [ ] ऐसे चतुरस्रमें भगवद्गीताके द्वितीयाध्यायके स्थिर-प्रज्ञके लक्षण दिये हैं। उनके साथ इस द्वादशाध्यायके भक्तके लक्षण और सोलहवें अध्यायके दैवी संपत्तिके लक्षण तुलनाकी दृष्टिसे पाठक देखें। गी० अ० २।५५-७२ में स्थितप्रज्ञके; गी० अ० १२।१३-२० में भक्तके और गी० अ० १६।१-२ में दैवी संपत्तिके ये सब लक्षण परस्पर मिलने जुलनेवाले हैं। इस कोष्टकमें ये तीनों स्थानके सब लक्षण आपके सामने दिये हैं। पाठक इनकी तुलना करके परस्पर मिलाप करके देखें और ठीक प्रकार समझें कि (अ० २) ज्ञानमार्गी, (अ० १२) भक्तिमार्गी और (अ० १६) देवमार्गी ये सब उन्नत होनेपर एक जैसे ही होते हैं और उनमें कोई भेद नहीं रहता।

देवासुरमार्ग ।

यहां 'देवमार्गी' कहनेसे पाठक चकित न हों। भगवद्गीतामें जैसा ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग कहा है, वैसाही देवमार्ग, असुरमार्ग, राक्षसमार्ग, पिशाचमार्ग, भूतमार्ग भी कहा है। 'देवमार्ग' दैवी संपत्तिके लक्षणोंको धारण करनेसे स्वीकृत होता है, वैसाही 'असुरमार्ग' आसुरी विपत्तिके कुलक्षणोंको धारण करनेसे अंगीकृत होता है। इसी तरह राक्षस, पिशाच और भूत मार्गभी मनुष्य स्वीकार करते हैं,

इनका उल्लेख भगवद्गीतामें थोडा थोडा आया है। असुरराक्षसादि मार्ग छोडने चाहियें और दैवी मार्ग स्वीकारना चाहिये। इसलिये ही ये लक्षण यहां कहे गये हैं। 'मैं किस मार्गपर चल रहा हूं' इसका निश्चय हरकोई इन लक्षणोंके विवेकसे कर सकता है और अपना अशुद्ध मार्ग हुआ तो उसे शुद्ध कर सकता है। इन लक्षणोंके विचारसे यही बात सिद्ध होती है।

विग्रहाराधना।

आजकल भक्तिमार्गके लक्षण 'विग्रहाराधना, प्रतिमापूजा, नामजप' आदि प्रसिद्ध हैं, परंतु विग्रहाराधना, प्रतिमापूजा आदिका उल्लेखभी संपूर्ण भगवद्गीतामें किया नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीताका विशेष उद्देश्य जीवित विभूतियोंकी भक्ति हि साधक करें यही दीखता है। विग्रहाराधना, प्रतिमापूजा और मूर्तिपूजा धर्मभाव जाग्रत रखनेके कार्यमें साधक है इसमें संदेह नहीं, परंतु जीवित विभूतियोंकी पूजाके नीचे उनका स्थान है। मातापिता जीवित रहनेतक उन विभूतियोंकी समक्ष सेवा करनी चाहिये, उनकी मृत्युके पश्चात् उनके चित्रोंसे उनका स्मरण करके उनका आदर प्रकट कर सकते हैं। परंतु प्रत्यक्ष मातापिताकी सेवा और मृतमातापिताका आदर इन दो प्रकारोंमें प्रत्यक्ष जीते जी होनेवाली उपासना विशेष महत्त्वकी है इसमें संदेह नहीं है।

इसी तरह जीवित वीर, जीवित उपदेशक, जीवित संत आदिकी प्रत्यक्ष भक्ति करना यह भगवद्गीताका विशेष प्रतीत होता है, विभूति अध्यायमें इसी इच्छासे जीवित विभूतियोंकाही उल्लेख अधिक है, और प्राचीन भूतकालकी विभूतियोंका उल्लेख अत्यंत अल्प है। प्राचीन कालकी विभूतियोंके विग्रहोंकी आराधनाका निर्देश तक भी स्पष्ट रूपसे भगवद्गीतामें नहीं है।

सोलहवें अध्यायमें जहां आसुरी विपत्तिके लक्षण कहे हैं वहां—

नामयज्ञ अथवा यज्ञ।

धनमानमदान्विताः यजन्ते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम्॥ (गी० १६।१७)

'धन, मान और गर्वसे युक्त होकर वे आसुरी लोग दंभसे और अविधिसे नामयज्ञोंसे यजन करते हैं।' यहां नामयज्ञका उल्लेख है। इससे कई मानते हैं कि नामजप करनेके विरुद्ध गीता का यह ध्वनि है। परंतु यह सत्य नहीं है, नामजपकी प्रथा वेदसे प्रचलित हुई है। ऋग्वेद और अथर्ववेदमें नामजपका विधान किया है, मंत्रजप तो वेदसंमतही है। विभूतिके १० वें अध्यायमें 'जपयज्ञ' ईश्वरकी विभूति है ऐसा कहा है, अतः वही जप १६ वें अध्यायमें आसुरी संपत्तिका लक्षण हो नहीं सकता।

यहां (दंभेन अविधिपूर्वकं) दंभसे और विधिको छोडकर जो नामयज्ञ है उसका निषेध है। दंभको छोडकर यथाविधि और गर्व छोड कर धर्मभावनाके साथ जो किया जाता है उस नामयज्ञका निषेध यहां (१६ वें अध्यायमें) नहीं किया है।

यहां कई विद्वान् 'यजन्ते नाम, यज्ञैस्ते' ऐसा भी पदच्छेद करते हैं, जिससे नामजप का कोई संबंध ही नहीं रहता और 'यज्ञोंसे यजन करते हैं' इतना ही अर्थ इस ढंगसे होता है। 'धनमानकी घमंडसे दंभसे अविधिपूर्वक बडे आडंबरके साथ बडे बडे यज्ञोंकी रचना करके यजन करते हैं।' ऐसा इस पदच्छेदसे आशय निकलता है। अतः यहांके 'नामयज्ञ' पदसे नामजप का निषेध हुआ है ऐसा मानना असंभव है। इसके अतिरिक्त जैसे बडे आडंबरसे विविध यज्ञ रचे जाते हैं, वैसे नामजप नहीं किये जा सकते, इसलिये भी 'नाम' और 'यज्ञैः' ये पद पृथक् मानकर ही इस श्लोक का अर्थ

करना अधिक योग्य है। ऐसा हमें प्रतीत होता है।

व्यवहारकी सिद्धि।

यहां जो भक्तके लक्षण कहे हैं वे हरएक मनुष्यके आचरण में ये लक्षण आजांय, और समाजमें ये लक्षण दृढमूल हों इस उद्देश्यसे कहे हैं। ये लक्षण केवल व्याख्यानबाजीके लिये कहे नहीं हैं। उत्तम समाज किन लक्षणोंसे युक्त होना चाहिये वे ये लक्षण हैं।

अद्वेष।

पहिला लक्षण 'अद्वेष्टा' है। परस्परद्वेष करनेवाले लोगोंके समाजमें अधिक सुख होगा, अथवा परस्परद्वेष न करनेवालों के समाजमें अधिक सुख होगा, इसका निश्चय पाठक ही कर सकते हैं। जिस समाजमें कोई आपसमें द्वेष नहीं करते और नाही कोई दूसरोंका द्वेष करते हैं, ऐसा समाज ही अधिक सुखी हो सकता है। यहां 'सर्वभूतानां अद्वेष्टा' ऐसे पद हैं, 'संपूर्ण प्राणियोंका द्वेष नहीं करनेका आदेश' यहां दिया है। किसीका कोई द्वेष न करे। न आपमेंसे किसीका और न किसी अन्य समाज की किसी व्यक्तिका कोई द्वेष करे। यह है 'आदर्श पुरुष'। जिसके मनमें द्वेषभाव ही नहीं है वह पूर्ण पुरुष है।

मित्रभाव और दया।

'मैत्र और करुण' ये दो लक्षण आगे कहे हैं। हरकोई अपने बालबच्चोंपर दया करता ही है और मित्रदृष्टिभी रखता है। अपने बालबच्चोंपर कीहि दया यहां नहीं कही है। यहां जो दया कही है वह सार्वभौमिक है, मित्रदृष्टिभी सार्वभौमिक है, सब प्राणिमात्र के साथ दया और मित्रदृष्टिका बर्ताव होना चाहिये। स्वधर्मियों, स्वजनों, स्वबांधवोंसे दयाभाव और मित्रभाव का व्यवहार करनेवाले इस जगत् में बहुत हैं। परंतु ये अन्यधर्मियों, विदेशियों और विजातियोंसे ऐसा क्रूरताका व्यवहार करते हैं कि उसकी कोई सीमा ही नहीं रहती। स्वधर्मियोंपर प्रेम करनेवाले ही विधर्मियोंके गले काटते हैं, स्वदेशियों पर मित्रदृष्टि रखनेवाले ही विदेशियोंपर शत्रुभाव रखते हैं। अतः यह मित्रदृष्टि और करुणा भगवद्गीताको अभीष्ट नहीं है। यहां जिस मित्रदृष्टि और जिस करुणाका उल्लेख है वह सब प्राणिमात्रके साथ होनेवाली है। हरएक प्राणीको मित्रदृष्टिसे देखना चाहिये और हरएक प्राणीपर करुणा करनी चाहिये। जिसमें ऐसे स्वभावसे मित्रभाव और करुणाभाव होते हैं वही पूर्ण पुरुष है। पूर्ण पुरुषोंके मित्रभाव और करुणाभावको देश-काल-जाति-धर्म आदि की मर्यादा नहीं है। सब मनुष्योंको सुशिक्षा देकर इस प्रकारकी मित्रदृष्टि और करुणाका उदय उनके अन्तःकरणोंमें हो ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये।

ममत्वत्याग।

निर्मम, निरहंकर के भाव भी ऐसे ही वैयक्तिक और सामूहिक व्यवहारमें लाने योग्य हैं। यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, इस भावका नाम 'ममत्व' है और इस भावके न होनेका नाम 'निर्मम' होना है। इसीका दूसरा नाम 'अनिकेत' है। इसका शब्दार्थ 'अपना कोई घर न होना' है। यहां 'घर' का अर्थ 'धन, दौलत, गाय, बैल, घोडा, जमीन, गाडी, रथ, मंदिर' आदि जिसपर अपना ममत्व टिक सकता है वह वस्तु ऐसा है। अपनी ऐसी कोई वस्तु न हो, इसका नाम है 'अ-निकेत'-वृत्ति। इसतरह अपनी कोई वस्तु न रही तो ही 'नि-र्मम'ता सिद्ध हो सकती है।

अनिकेत।

सर्वत्र अपनी वस्तुएं होनेसे उनके साथ

ममत्व रहेगा ही, और जबतक ममत्व रहेगा, तबतक 'निर्मम' होना असंभव है। इसलिये 'अनिकेत' समाजव्यवस्था हो जायगी, तो उस समाज़में 'निर्मम' वृत्तीवाले लोग स्वभावतः हो सकते हैं। उपनिषद्-कालके यति, संन्यासी, बुद्धकालके भिक्षु, प्राचीन कालके बैरागी, नंगे साधु निरंकारी आदि सब लोग इसी 'अनिकेत' जीवन-संस्थाके आजकलके अवशेष हैं। एक समयमें इन लोगोंने 'अनिकेत' पद्धतिका जीवन सामूहिकरूपसे व्यतीत किया था। आजकल ये सब अवनत हुए हैं, परंतु एक समय ऐसा था कि जिस समय ये नाम 'आदर्श पुरुष' के दर्शक समझे जाते थे। संपूर्ण समाज-रचना अनेक कारणोंसे अवनत होनेके कारण ये भी गिर गये।

इस समय रशियामें 'कम्यूनिष्ट' करके जो समाजसत्तावाद्से प्रसिद्ध एक पंथ शुरू हुआ है वह भी 'अनिकेत' पद्धतिका ही पंथ है। किसी व्यक्तिका कोई घरदार, खेतवाडी, भूमि, धन या कारखाना नहीं है, परंतु सब सरकारका है और सबका योगक्षेम सरकार ही चलाती है। सब बालबच्चे राष्ट्रके अर्थात् राष्ट्र-शासक संस्थाके हैं, किसी व्यक्तिका कोई धन नहीं। इस पद्धतिमें 'यह मेरा है' ऐसा कहनेके लिये कोई वस्तुहि नहीं होती, अतः इनमें स्वभावसे 'ममत्व' की भावना नहीं रहती। अर्थात् इनमें 'निर्मम' और 'अ-निकेत' वृत्ति जन्मसे ही होती है।

बौद्ध भिक्षुओंने, प्राचीन संन्यासियोंने तथा बैरागियोंने यही सांघिक परंतु निरहंकारी निर्मम जीवन व्यवहारमें लाया था। बौद्ध भिक्षुओंने इसका जितना प्रचार किया उतना किसीने नहीं किया था। परंतु इसमें 'अपना' ऐसा कोई पदार्थ नहीं रहता, इसलिये गुणोंका उत्कर्ष करनेकी प्रेरणा मनुष्योंको नहीं होती, और अन्तमें इनकी गिरावट हो जाती है। बौद्धोंकी गिरावट इसी गुणोत्कर्षकी प्रेरणाके अभावके कारण हुई। रशियामें भी कहते हैं कि 'अनिकेत' अवस्थासे गुणोत्कर्षकी प्रेरणा नहीं होती, यह अनुभव आनेके कारण वहां उन्होंने वैयक्तिक धनदौलत करनेकी आज्ञा किसी अंशमें शुरू की है। जो कुछ हो सांघिक 'अ-निकेत' जीवन-घरदारहीन जीवन-गुणोत्कर्षके लिये प्रेरक नहीं होता। इसलिये दो उपाय अपने वैदिक धर्ममें कहे हैं—

गुणपोषणमें बाधा।

१. कर्म करना प्रत्येक का अधिकार है अर्थात् हरएकको कर्म करना ही चाहिये, और (योगस्थः कुरु कर्माणि (गी० २।४८) अत्यंत कुशलताके साथ कर्म करना हरएक का कर्तव्य है।

यह भगवद्गीतामें कहा है। हरएक मनुष्य अपना कर्तव्यकर्म समझकर (योगस्थ कर्म) कौशल्ययुक्त कर्म करे। जितनी कुशलताकी वृद्धि हो सके उतनी कुशलताकी वृद्धि करे। कर्मकौशल बढाना हरएक का आवश्यक कर्तव्य माना है। उसका कारण ही यह है कि 'अनिकेत' अर्थात् अपना घरदार, धनदौलत कोई नहीं ऐसी भावना होनेपर कौशलवृद्धि करनेका कोई हेतु ही नहीं रहता, क्योंकि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते
मा फलेषु कदाचन। (गी० २।४७)

'मनुष्य कर्म करे, परंतु उस कर्मका वेतनरूप फल वह न लेवे'। योग्य वेतनरूप कर्मफल न मिलनेपर उस कर्मको उत्तम कुशलतासे करनेकी ओर कर्ताकी उदासीनता होती है। यदि कौशल्ययुक्त कर्म करनेपर वेतनमें बढती होनेकी संभावना रही, तो ही मनुष्य अपना कौशल्य बढानेका यत्न करता है। परंतु भगवद्गीताको ऐसी फलासक्ति पसंद नहीं है। 'कर्मफलका त्याग' हि भगवद्गीताने पुरस्कृत किया

है। जो लोग अपने कर्ममें कुशलताकी वृद्धि कर्तव्य समझकर करेंगे, वेही इस कर्मफलत्यागके मार्गमें सफल हो सकते हैं। अन्य लोग कर्मफलत्याग कर नहीं सकते। अतः वे सकाम कर्मके अधिकारी हैं ऐसा भगवद्गीताने माना है।

अर्थात् कर्मफलत्यागके मार्गमें असंगवृत्तिवाले उच्च कोटीके पुरुष आ गये तोहि वे वहां प्रगति कर सकते हैं। अन्य साधारण मनुष्योंसे वहां का कर्तव्यपालन नहीं हो सकता, इसलिये वे सकाम कर्मका मार्ग स्वीकारें। इस उद्देश्यसे वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था निर्माण हुई है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासमें निर्मम निरहंकारयुक्त सामूहिक जीवनका पुरस्कार किया है। अपना ऐसा यहां कुछ भी नहीं रखा है। समाजके द्वारा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी भिक्षुओंका योगक्षेम चलनेवाला है। गृहस्थाश्रममें वैयक्तिक घरदार, खेतवाडी, व्यापारधंदा करके धन कमाना, कौशलकी वृद्धि करना आदिके लिये पर्याप्त क्षेत्र है। इसतरह वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का योग्य समन्वय इस आश्रमव्यवस्थामें किया है। अतः यही व्यवस्था मानवी हित करनेमें समर्थ है, इसमें संदेह नहीं।

आजकलका समाजसत्तावाद व्यक्तिसत्ताका नाश करता है, वैसा नाश आश्रमव्यवस्थासे नहीं होता। इस वर्णाश्रमव्यवस्थामें मर्यादित समाजसत्तावाद है और पुनः मर्यादित व्यक्तिसत्तावादभी है। दोनोंका मिलाप होनेके कारण यही वर्णाश्रमव्यवस्था सब लोगोंका हित करनेवाली है।

गृही और अनिकेतनी।

'निर्मम, निरहंकार और अनिकेत' होनेका जो उपदेश भगवद्गीताने किया है, उसको व्यवहारमें लानेके लियेहि यह वर्णाश्रमव्यवस्था निर्माण हुई है और इस व्यवस्थाने ऐसे सुयोग्य ढंगसे उक्त बातें समाजमें लायीं हैं कि उनको देखकर चित्त प्रसन्न होता है। पाठक 'अ-निकेत, वृत्तिके साथ आश्रमव्यवस्थाका मिलान करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि चार आश्रमोंमें 'अनिकेत' भाव को आचरणमें लानेवाले तीन आश्रम हैं और एकही गृहस्थाश्रम है जिसको 'गृही' कहते हैं, इसमें ही घरदार, खेतवाडी अपने स्वामित्वकी की जाती है। यह दोनोंका मेल बडाही सुयोग्य है।

संगवर्जन।

'अनिकेतन' जीवनका नाम 'संगविवर्जित' है। भोगोंके साथ अत्यधिक संग नहीं होना चाहिये। भोग उतने ही भोगने चाहिये कि जिससे शरीर नीरोग सुदृढ और दीर्घायुवाला होवे, अधिक भोग भोगनेसे रोग होंगे, व्यसन बढेंगे और हानि होगी। अतः कहा है कि 'सततं संतुष्टः, येन केन चित् संतुष्टः' अर्थात् यह साधक सतत संतुष्ट रहे, जो समयपर मिलेगा उसीसे संतुष्ट रहे, अति भोगेच्छा न धारण करे, यदि वह इस तरह संतुष्ट न रहेगा तो भोगी बनकर विविध कष्टोंमें पडेगा और वह पूर्ण बनेगा नहीं। असंतोष अपूर्णताका ही लक्षण है। अतः संतोषवृत्ति रहनेसे अपनी पूर्णता सिद्ध होती है। यही बात 'अनपेक्ष' शब्दसे बतायी है। आवश्यकताएं कम करनी चाहिये। अपेक्षाओंकी वृद्धि करनी नहीं चाहिये। आवश्यकताएं कम किये विना संतोषकी स्थिरता नहीं हो सकती है।

आगे 'यतात्मा' अर्थात् इंद्रियोंका संयम, अपने जीवनकी स्वाधीनता, अपने सब इंद्रियोंको अपने वशमें करना चाहिये। जिसके इंद्रिय वशमें न होंगे, उसकी आवश्यकताएं बढेंगी, आवश्यकताएं बढनेपर व्यय अधिक करना पडेगा, व्यय बढनेपर और उतनी आय न रही

तो असन्तोष होगा और असन्तोषसे चित्तवृत्ति अशान्त हो जायगी। इसलिये आत्मसंयम आवश्यक है। अन्य संयमोंकी अपेक्षा स्वादजय अथवा रसनेंद्रियका संयम अत्यंत आवश्यक है। स्वादजय होनेसे अन्य संयम हो सकते हैं।

समवृत्ति।

आगे समदृष्टि अथवा समबुद्धि धारण करनेका उपदेश दिया है। सुखदुःख, शत्रुमित्र, मान-अपमान, शीतउष्ण, निन्दास्तुति, हर्षशोक, इच्छाद्वेष, शुभ-अशुभ, भय-अभय, इत्यादि द्वन्द्वोंको समान समझकर अपनी मनोवृत्ति विचलित होने नहीं देना चाहिये। यहां समबुद्धिका थोडासा अधिक विचार करना चाहिये।

शीत+उष्ण समान समझनेका अर्थ क्या है? वस्तुतः शीत और उष्ण ये दो पदार्थ विभिन्न हैं या अभिन्न हैं? पाठक कहेंगे कि भिन्न हैं। यहां पाठक देखें कि बर्फ, थंडा जल, उष्ण जल, अग्नि, ये पदार्थ शीत हैं या उष्ण हैं? बर्फसे जल शीत पदार्थ है, उससे बर्फ उष्ण कहा जा सकता है, और जलती आगसे भी अधिक उष्णता निर्माण हो सकती है, उससे चूल्हे की आग शीत है। अतः शीत-उष्ण कोई निश्चित वस्तु नहीं है। यह एक तुलनात्मक अनुभव है। जो हम शीत कहते हैं वह किसी अन्य अधिक शीतसे उष्ण है और जो हम आज उष्ण करके कहते हैं उससे दूसरा उष्ण पदार्थ होनेसे उसे शीत भी कहना पडेगा। इस कारण शीत-उष्ण निश्चित वस्तुएं नहीं हैं। उस समयके अनुकूल किसीको हम शीत और किसीको हम उष्ण कहते हैं, अतः शीतउष्णकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जिसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं उसका विचारही क्या करना है। अथवा यों कह सकते हैं कि जिसको हम शीत और उष्ण कहते हैं वे पदार्थ न्यूनाधिक शीत हैं ऐसा कहिये अथवा न्यूनाधिक उष्ण हैं ऐसा कहिये। अर्थात् शीत, उष्ण यह एक ही पदार्थ है, परंतु न्यूनाधिक अंशोंका भेद है। हम अपने शरीरका अभ्यास बढावेंगे तो शीतोष्ण हमें वैसे कष्ट भी नहीं दे सकते। इसलिये इनके आघात सहन करनेका अभ्यास करना चाहिये जिससे अपने कर्तव्यकर्म करनेमें इनसे बाधा नहीं होगी।

इसी तरह मान-अपमान होनेपर भी अपना कर्तव्यकर्म करनेका व्रत टूटना नहीं चाहिये। मान होनेपर घमंडसे और अपमान होनेपर दुःखसे अपने कर्तव्य करनेमें क्षति नहीं होनी चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि आत्मसंमान, अपनी जातीके संमान अथवा अपने देशके संमानका भाव छोडना चाहिये और कोई इनका अपमान करे तो उसे चुपचाप सहना चाहिये, नहीं नहीं, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है। आत्मसंमानका भाव सदा जाग्रत रखना ही चाहिये। जो अपमान करेगा उसका योग्य प्रतिकार भी करना चाहिये, परंतु यह सब करते हुए अपने मनकी समता विचलित नहीं होनी चाहिये। मान-अपमान, समान समझनेका अर्थ यह नहीं है कि अपमानको भी निष्क्रियताके साथ सहना, परंतु अपने अच्छे कर्म करनेपर भी कई लोग निंदा करते हैं, तो उस समय उससे अपने शुभकर्ममें बाधा नहीं होने देना।

शत्रुमित्रको समान समझनेका भी ऐसाही अर्थ है। वस्तुतः शत्रु और मित्र समान कैसे हो सकते हैं? परंतु जो मित्र होता है उसके दोषोंको भी मनुष्य भूलता है और जो शत्रु होता है उसके गुणोंको भी ध्यानमें नहीं धारण करता। इससे इसकी हानि होती है। इस हानिसे बचनेके लिये शत्रु और मित्रको समभावसे देखना चाहिये जिससे दोनोंके गुण और दोष हमारे सामने यथायोग्य रीतिसे स्पष्ट रूपसे आ जांयगे और हम उनका किसी तरह पक्षपात नहीं करेंगे। पक्षपातसे गुणदोषनिर्णय यथार्थतासे नहीं हो सकता।

इसी तरह अन्य द्वन्द्वोंका विचार करके उनको समान किसतरह और कैसा मानना चाहिये, इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये । यह समभाव मनमें स्थिर हो जायगा तो मनुष्य कैसे भी विपरीत आपत्तिके समय अपने कर्तव्यसे च्युत नहीं होगा । इसी स्थिर वृत्तीमें मनुष्यकी उन्नति है, इसलिये यह द्वन्द्वोंके विषयमें समभावना मनुष्यके उद्धारकी साधक है ऐसा कहा जाता है ।

' दृढनिश्चय और स्थिरमति ' ये आगेके गुण भी इसी समान भावके साथ रहनेवाले गुण हैं । द्वन्द्वसे मन विचलित न हुआ तो ही मति स्थिर हो सकती है और मनका निश्चय सुदृढ रह सकता है ।

' संगवर्जित ' होनेका विचार पूर्व स्थलमें किया है । ' हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेगसे मुक्त रहना ' भी मानवी उन्नतिका साधक है । हर्ष अत्यंत हुआ, क्रोध बहुत आगया, भय अत्यधिक लगा तो मनुष्य तत्काल मर भी जाता है, किसी समय पागल भी होता है । इसलिये इनसे परास्त नहीं होना चाहिये ।

हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेगके वेगोंको सहन करके अपने धार्मिक कर्तव्यके पथपर स्थिर रहना चाहिये । क्रोध और भयको मनुष्य जीत सकता है । जिस समय क्रोध आने लगता है उस समय उसे युक्तिसे रोकनेका अभ्यास करनेसे अथवा विपरीत भावनाका अभ्यास करनेसे अर्थात् क्रोधके समय प्रसन्नताका, भयके समय निर्भयताका और उद्वेग के समय उल्हासका विचार मनमें लानेका अभ्यास करना योग्य है । इससे क्रोध, भय, उद्वेग आदिके कष्ट निःसन्देह दूर हो जायंगे और मनकी समवृत्ति सदा स्थिर रहेगी । यही समता हर्षके समयमें भी रखना योग्य है । इसतरह इन सब द्वन्द्वोंके विषयमें पूर्ण ' उदासीन ' परंतु सर्वदा अपने कर्तव्यकर्म करनेमें तत्पर रहना चाहिये । ऐसा ही मनुष्य स्वयं उन्नत हो सकता है और अपने समाजको भी उन्नतिके शिखरपर पहुंचा सकता है ।

'शुचिता, दक्षता, इन गुणोंकी महत्ताके विषयमें वारंवार कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । व्यक्तिके आचरणमें, अन्नपान-खानापीना, कपडे, घरदार, उद्यान, नगर, देश आदि सब जगह शुचिता रहेगी तोही आरोग्य रहेगा । इसलिये शुचिता जैसी वैयक्तिक आचरणमें उपयोगी है वैसीहि सामाजिक आचारमें भी आवश्यक है । शुचिता जैसी आचारमें वैसीहि विचारमें चाहिये । हरएक इंद्रियके विषयमें शुचिता रखना चाहिये । वक्तृत्व तथा लेखनमें शुचिता होनी चाहिये ।

लेखनमें कलाभिवृद्धिकी इच्छासे जो लोग कामुकताको बढा रहे हैं वे लेखनमें अशुचिता फैलाते हैं । यह अशुचिता, अमंगलता और मलिनता पाठकोंके मनोंको मलिन बना देती है । इसतरह सब प्रकारकी शुचिता मानवी उन्नति करनेवाली है । समाजकी स्थिरता शुचितासे ही हो सकती है ।

परमेश्वरपर मन, बुद्धि और चित्तको लगाना, श्रद्धा रखना, भक्तिभाव मनमें धारण करना, धर्म्य उपदेशका श्रवण करके तदनुसार आचरण करना इत्यादि सब ही बातें मानवी मनको परम उच्च बनानेवाली हैं । यह उपदेश इतना स्पष्ट है कि उसपर अधिक चर्चा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

मनुष्यका आचरण ऐसा होना चाहिये कि जिससे दूसरोंको उद्वेग न हो सके और दूसरोंके व्यवहारसे इसको भी उद्वेग न हो सके । यही आदर्श आचारव्यवस्था है । जो समाज ऐसा उद्वेगरहित आचारव्यवहार करनेवाला होगा वही श्रेष्ठ समाज समझना चाहिये । हरएक मनुष्यको विचार करना चाहिये कि मैं जो आचरण कर रहा हूं वह दूसरोंको उपद्रव देगा अथवा सुख देगा, उन्नति करेगा अथवा गिरा-

वट करेगा। इसतरह सोच विचार करके वर्तन करनेका प्रयत्न किया जायगा तो उद्वेगरहित आचरण हो सकता है। जिससे जनताको उद्वेग नहीं होता और जो जनताके आचरणसे उद्विग्न नहीं होता वही श्रेष्ठ और पूर्ण पुरुष है।

ये भक्तोंके सब लक्षण आर्योंके आदर्श सामाजिक जीवनकी उत्तम कल्पना दे रहे हैं। पाठक इनका विचार करके इनको अपने जीवनमें ढालनेका यत्न करें।

इनमें कई लक्षण जीवनमें ढालना कठीन है, परंतु यत्न करते रहनेसे और यह आदर्श संमुख रहनेसे मनुष्य बहुत कुछ कर सकता है। अब भक्तिका विचार थोडासा करना चाहिये।

भक्तिका स्वरूप।

भक्तिका अर्थ आजकल किसी देवताकी मूर्तिकी पूजाअर्चा करना, उसके नामका जप करना आदि समझा जाता है। यह पूजाअर्चा और नामजप आदि वैयक्तिक और सामुदायिक उपासना की दृष्टिसे, सबकी संघटना करनेका सुगम साधन होने की दृष्टिसे और चित्तकी एकाग्रता की दृष्टिसे बडी उपयोगी है, इसमें संदेह नहीं है। तथापि हमने इससेपूर्व बताया ही है कि भगवद्गीताके उपदेशानुसार भक्ति जीवित विभूतियोंकी ही करनी होती है। उस अवस्थामें मातापिताकी भक्ति करनेवाले पुत्र, वीरपूजा करनेवाले अनुयायी, किसी महात्मा या सत्पुरुष की भक्ति करनेवाले श्रद्धालु मनुष्य यदि उस जीवित उपास्यके सामने जमा होकर उसके नामका वारंवार उच्चार करते जांयगे और उसके उपदेशानुसार न चलेंगे, तो उस जीवित विभूतिको संतोष होगा ऐसा प्रतीत नहीं होता है। नामजपका परिणाम चित्तकी एकाग्रता है ऐसा माननेपर भी जीवित विभूति की भक्ति तो उसकी सेवाही है, उसके उपदेशानुसार आचरण करना है, उसके उद्देश्य की पूर्णता करना ही है।

पुत्र मातापिताके संमुख उनका नाम जपतेही रहेंगे तो मातापिताको संतोष नहीं हो सकता, मातापिता जो सत्कार्य करना चाहते हैं उस कार्यमें उनकी सहायता करना, उनकी आवश्यकताओंकी पूर्णता करना, उनका उपदेश सुनकर तदनुसार आचरण करना, उनका यश बढे ऐसे उद्योग करना, यही उनकी भक्ति है।

इसी रीतिसे कोई नेता वीर राष्ट्रमें राष्ट्र उद्धारका कार्य कर रहा है तो उसके नामका केवल जप करनेसे क्या होगा? उससे उसका संतोष नहीं होगा। जो कार्य वह करना चाहता है उसको उत्तम कुशलतासे समाप्त करना, उसकी आवश्यकताओंकी पूर्णता करना, उसके उपदेशानुसार चलना, उसका यश बढानेका यत्न करना, यही उसकी सन्तोषकरी भक्ति है। जो लोग महात्माओंके नामोंका 'जयजयकार' करते हैं, परन्तु उनके उपदेशानुसार आचरण करते नहीं, उनके जयजयकारसे महात्माओंको सुख नहीं हो सकता। यदि वे उनके नामोंका जयजयकार न करते हुए उनके उपदेशानुसार आचरण करेंगे तो उनको अधिक आनंद हो सकेगा। यही बात सब विभूतियोंके विषयमें सत्य है। इससे भक्ति किसतरह करनी चाहिये इसका निर्णय हो सकता है।

भक्तिका अर्थ 'सेवा' है। सेवा का अर्थ जो कार्य महात्मा करना चाहते हैं उसको करना, उनकी सहायता करना है। विभूति क्या चाहती है। सज्जनोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी संस्थापना ये तीन ही कार्य करनेके लिये विभूति या महात्मा लोग आते हैं। इस तरहके जो कार्य वे करना चाहते हैं उन कार्योंमें

जितना भाग अपने से हो सकता है उतना करने का नाम उनकी सेवा अथवा भक्ति है।

जीवित वीरोंकी भक्ति करनी चाहिये, इतनी बात ध्यानमें धारण करनेसेहि भक्ति किस तरह करनी चाहिये इसका निर्णय हो सकता है। जबसे प्राचीन कालके विभूतियोंकी मूर्तियोंकीहि भक्ति करनेकाही विचार सुदृढ हुआ, तबसे प्रत्यक्ष आचारका महत्त्व लुप्त हुआ। विग्रहाराधनाका कार्य चित्तकी स्थिरता है, और जीवित-सगुण-विभूतियोंकी भक्तिसे व्यवहारकी सफलता होती है, यह प्राचीन प्रणाली जब शुरू होगी, तब सब प्रकारकी भक्ति योग्य मार्गसे ही हो सकेगी। आज कल एक भाग रहा है और दूसरा बंद हुआ है।

अर्जुनने प्रत्यक्ष विभूति-श्रीकृष्ण भगवान्‌-के साथ कंधेको कंध लगाकर सज्जनरक्षा, दुर्जन विनाश और धर्मस्थापना का कार्य किया। उस समयके क्रान्तियुद्धमें उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके साथ अपना कर्तव्य किया। विभूति-पूजा किसतरह करनी चाहिये इसका यह उदाहरण है। हनुमान भी भक्त था। जिसने श्रीरामचन्द्रकी सेवा उनके समक्ष की, अर्थात् शत्रुनाश करनेके कार्यका प्रमुख भाग उसने अपने ऊपर लिया और उसे निभाया। भक्तिके ये उदाहरण हरएक जानते हैं, परंतु वैसा करते नहीं इतना ही नहीं, परंतु विरुद्ध ही करते हैं। इस समय जो बडे पुरुष राष्ट्रउद्धार, समाजोद्धार, धर्मोद्धारका कार्य, सर्व प्राणियोंके हित करनेके कार्य, मानवी उन्नतिके प्रयत्न कर रहे हैं, उनमें अपने आपको समर्पित करना ही सत्य भक्ति है। यही सेवारूप भक्ति मुख्य है।

विभूतिपूजाका तथा वीरपूजाका विचार छोडकर जब विश्वरूपी विश्वात्माकी भक्ति करनेकी इच्छा होती है, तब तो 'सर्वभूतहिते रताः' सब प्राणियोंके हितमें आनन्द माननेका अर्थ स्पष्टही हो जाता है। और सब प्राणियोंका हित करनेके कार्य करना ही एकमात्र भक्तिका मार्ग है यह बात स्पष्ट हो जाती है। विद्वान् लोग विद्यार्थियोंको विद्या पढाकर, वैद्य और डाक्तर लोग रोगियोंकी चिकित्सा करके, धनि लोग गरीबोंकी सहायता करके, तथा अन्यान्य लोग अपने हरएक कार्यसे सर्व भूतोंका हित करने लगेंगे तो ही सर्वभूतोंका हित हो सकता है। सच्ची भक्ति 'सर्व प्राणियोंका हित करनेके कार्य करना' ही है। आजकलकी भक्तिसे यह मुख्य भाग हट गया है इसलिये सर्वभूतहितकी साधना इस भक्तिसे नहीं हो रही है।

पाठक भगवद्गीताकी इस भक्तिका बहुत विचार करें। बहुत मनन करें। और सब प्राणियोंका हित करनेके जो जो कार्य अपनेसे हो सकते हैं वे अवश्य करें। इसी भक्तिसे परमात्माकी संतुष्टी हो सकती है और सबका कल्याण भी इसीसे हो सकता है।

यहां द्वादश अध्याय का मनन समाप्त ॥ १२ ॥

बारहवें अध्यायकी विषयसूची ।

बारहवां अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः ।

(१) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ।

श्रीभगवानुवाच- इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

अन्वयः-श्रीभगवान् उवाच - हे कौन्तेय ! इदं शरीरं क्षेत्रं इति अभिधीयते । यः एतत् वेत्ति, तं क्षेत्रज्ञः इति तद्विदः प्राहुः ॥ १ ॥ हे भारत ! सर्वक्षेत्रेषु मां अपि च क्षेत्रज्ञं विद्धि । यत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः ज्ञानं, तत् ज्ञानं (इति) मम मतं (अस्ति) ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले— हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं । जो इसे जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ ऐसा तत्त्वज्ञानी कहते हैं ॥ १ ॥ हे भारत ! सब क्षेत्रोंमें रहनेवाले मुझे (ईश्वरको) तू क्षेत्रज्ञ समझ । जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान है, वही ज्ञान है, ऐसी मेरी संमति है ॥ २ ॥

भावार्थ—इस शरीरका नाम खेत है और जो इस खेतको जानता है उसका नाम खेती जाननेवाला है । ईश्वर सब खेतोंमें रहता है और सब खेतोंको यथावत् जानता भी है ; जो इस खेत और खेतीवाले की विद्या है, उसीको सत्य ज्ञान कहना योग्य है ॥ १-२ ॥

खेत और खेती करनेवाला ।

(१-२) इस अध्यायमें ' खेत' और ' खेती करनेवाला ' इन दोनोंका विचार किया है । इसलिये इस अध्यायका नाम 'क्षेत्र+क्षेत्र+ज्ञ+योग' है । खेत और खेती करनेवाला कृषीवल इन दोनोंका योग उत्तम रीतिसे किस तरह हो सकता है, इसका विचार इस अध्यायमें है । खेत कौनसा है, इस खेतको उत्तम उपजाऊ कैसा बनाया जा सकता है और खेतको उत्तम खाद आदि न देनेसे उसकी अवनति कैसी होती है, किसान अपने खेतको अत्यंत उत्तम उपजाऊ कैसे बना सकता है ? कृषीवल अपने खेतको किस तरह जाने और पहचाने, वह उस खेतमें किस प्रकारका बीज बोवे, कौनसा धान्य किस तरह डाले, कौनसे वृक्ष किस तरह लगावे और उनकी वृद्धि किस रीतिसे करे, अपने खेतमें किसकी उत्पत्ति होने न दे, अपने खेतके उत्पन्न हुए धान्य फल फूल आदिकी रक्षा कैसी करे और उससे अपना लाभ किस प्रकार साधन करे, ये प्रश्न विचारार्थ यहां अपने संमुख आनेवाले हैं ।

खेत।

यहांका खेत कौनसा है? (इदं शरीरं क्षेत्रं)यह शरीरही खेत है, हमारा जो खेत है वह अपना शरीरहि है। यह शरीर छोटासा दीखता है, परंतु इसमें बहुत प्रकारके फलफूल और अन्न उत्पन्न होते हैं। इसमें जिसकी कृषि की जावे उसकी उत्पत्ति यहां होती है। पाठक इस अपने खेतकी महिमा जानें और उसकी योग्यता ध्यानमें धारण करें। यह खेत अमृतके फल देनेवाला है, जो खानेसे नर का नारायण हो सकता है। अतः इस खेत को अच्छी तरह संभालना अत्यंत आवश्यक है।

कृषीवल।

(एतत् यः वेत्ति स क्षेत्रज्ञः) जो इस खेतको जानता है अथवा जिसके पास यह क्षेत्र है, उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। अपने खेतको यथावत् जाननेवाला किसान होना चाहिये। जिसको अपना खेत कितना है, उसमें क्या पैदा होता है, क्या पैदा नहीं होता, इसके शत्रु और मित्र कौन हैं, इससे अपना क्या लाभ हो सकता है, इत्यादि बातोंका पता नहीं है,वह उस खेतसे अधिकसे अधिक लाभ नहीं उठा सकता। अतः अपने खेतका पता खेतके स्वामीको अवश्य होना चाहिये।

यहां 'देह' खेत है और आत्मा 'क्षेत्रज्ञ' है। आत्मा ही यहांका किसान है। अतः देहधारी को अपने देहका ठीक पता अवश्य होना चाहिये। देहरूपी क्षेत्रका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक देहधारीका मुख्य कर्तव्य है।

(सर्व क्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञं मां विद्धि) 'सब क्षेत्रोंमें मैंहि क्षेत्रज्ञ हूं'। यहांका 'मैं' शब्द ईश्वर-वाचक है। सब प्रकारके अनेकानेक शरीरोंमें व्यापकर वहांका ठीक ठीक ज्ञान रखनेवाला एकमात्र ईश्वर है। पाठक यहां 'विश्वरूपी ईश्वर'की भावना ध्यानमें लावें। विश्वरूपी ईश्वर विश्वरूपी अनंत पिण्डोंको यथावत् जानता है, उसे कुछ भी अज्ञात नहीं है।

जब नरका नारायण अथवा पुरुषका पुरुषोत्तम होता है, उस समय वह भी अपने आपको इस 'महाक्षेत्रज्ञ' के स्थानमें मान सकता है। इस अवस्थामें यहांका 'मैं' शब्द हरएक साधक के लिये भी माना जा सकता है। जिस समय साधक अनन्यभावसे युक्त हो सकता है और मैं विश्वरूपसे पृथक् नहीं हूँ ऐसा उसे अनुभव होता है, तब वही (सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञः) सर्व क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ कहला सकता है और उस समय 'अनन्यभावयुक्त वह भक्त' सर्व क्षेत्रोंमें 'मैं ही क्षेत्रज्ञ हूं' ऐसा कह सकता है। क्योंकि 'अनन्य भाव' होनेपर वहां 'दूसरा' कोई भाव अवशिष्ट रहता ही नहीं।

इस तरह 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञका ज्ञान' ही सच्चा ज्ञान है। यही ज्ञान हरएक मनुष्यको जानने योग्य है। यही सच्चा ज्ञान है। इससे भिन्न जो होगा वह अज्ञान है। अज्ञान और मिथ्या ज्ञान मनुष्यका नाश करनेवाला है और मानवोंकी सच्ची उन्नति करनेवाला यही एकमात्र ज्ञान है। यह उच्च तथा आवश्यक ज्ञान भगवान् श्रीकृष्ण यहां कह रहे हैं।

'मैं ज्ञान कहता हूं' ऐसा कहकर श्रीमद्भगवद्गीतामें चार स्थानोंपर कुछ विशेष ज्ञानोपदेश किया है। ये चारही स्थान पाठक यहां देखें-

(१)

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥
(गीता अ० ७)

'मैं विज्ञानसहित ज्ञान तुझे कहता हूं, इसके जाननेके पश्चात् जानने योग्य ऐसा कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। पंच महाभूत, मन-बुद्धि-अहंकार यह अष्टविध स्थूल प्रकृति और जीव-रूप सूक्ष्म प्रकृति मिलकर नौ प्रकारकी ईश्वरीय प्रकृति है। यह नवविध प्रकृति ईश्वरकी है जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं और ईश्वरहि जगत्का उत्पत्ति-स्थिति-लय करनेवाला है। जैसे सूत्रमें मणि होते हैं, उस प्रकार विश्वात्मामें यह सब विश्व है।'

यह ज्ञान यहां कहा है। जैसा शरीर और आत्मा है, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष है, इसीसे सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। अर्थात् संपूर्ण विश्व ही इससे बना है। इसी उपदेशका सार (गी० अ० ७।१९ में) 'वासुदेवः सर्वं, सब कुछ वासुदेव ही है, इस कथनसे दर्शाया है।

(२)

अब पुनः ज्ञानका उपदेश नवम अध्यायमें हुआ है। वह अब देखिये—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥४॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
(गीता अ० ९)

"मैं यह विज्ञानसहित गुह्य ज्ञान तुझे कहता हूं। इसके जाननेसे अशुभ की प्राप्ति नहीं होती है। अपनी (नवधा) प्रकृतिका आश्रय करके ईश्वर इस संपूर्ण विश्वकी उत्पत्ति करता है। ये सब भूत उसीमें हैं, परंतु इनके आधारसे वह नहीं है।"

यहां भी वही बात पुनः दुहराई है। प्रकृति और पुरुष हैं, पुरुष प्रकृतिके अन्दर प्रेरणा करके सब विश्वकी रचना करता है, अतः ईश्वरकी प्रकृतिसे भिन्न इस विश्वमें और कुछ भी नहीं है। ईश्वरीय प्रकृतिके ही ये विविध रूप हैं। जहां प्रकृति है वहां पुरुष है और जहां पुरुष है वहां प्रकृति है। 'जलमें रस' (गी० ७।८) रहनेके समान प्रकृतिमें पुरुष है। इसी लिये 'वासुदेवही सब कुछ है' यही तत्त्व यहां भी पुनः दुहराया है।

(३)

अब तीसरी बार जो ज्ञान कहा है वह इसी १३ वें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' नामोंसे यहां कहा है। यहां 'क्षेत्र' नाम प्रकृतिका और 'क्षेत्रज्ञ' नाम आत्माका है। प्रकृति-पुरुषके समानही यह वर्णन है, परंतु शब्दोंका भेद है, इतनी विशेषता है। इसका विशेष वर्णन इसी अध्याय (१३ में) श्लोक ५ से ११ तक आनेवाला है। अतः इस विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

(४)

पुनः चौदहवें अध्यायमें उत्तम ज्ञान कहा है, वह भी संक्षेपसे यहां देखना चाहिये-

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥१॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥
(गीता अ० १४)

"उत्तमसे उत्तम ज्ञान मैं अब कहता हूं, इस ज्ञानसे ही सब मुनियोंने परम सिद्धि प्राप्त की थी। ईश्वर की प्रकृति है, जिसमें ईश्वर गर्भ रखता है और उससे प्राणिमात्रकी उत्पत्ति होती है। सब योनियोंमें जो प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं, उन सबकी उत्पत्ति यही प्रकृति है। इसमें

(२) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका प्रभाव।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

अन्वयः— तत् क्षेत्रं यत् च, यादृक् च, यद्विकारि (च), यतः च यत्, सः च यः, यत् प्रभावः च (अस्ति) तत्, (त्वं) समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥ (इदं ज्ञानं) ऋषिभिः बहुधा, तथा विविधैः छन्दोभिः पृथक् हेतुमद्भिः विनिश्चितैः ब्रह्मसूत्रपदैः च गीतं एव ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र क्या है, यह किस प्रकारका है, इसमें कौनसे विकार होते हैं, इसमें कहांसे क्या होता है, वह क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका प्रभाव क्या है, यह सब तू संक्षेपसे मुझसे सुन ॥ ३ ॥ यह ज्ञान ऋषियोंने अनेक प्रकारसे, तथा विविध छंदोंमें पृथक् पृथक् और हेतु दर्शाकर निश्चित अर्थवाले ब्रह्मसूत्रके पदोंसे भी गाया गया है ॥ ४ ॥

बीज रखनेवाला परम पिता परमेश्वर ही है।"

यहां भी उत्तम ज्ञान करके जो कहा है वह प्रकृति और पुरुषसे संपूर्ण विश्व होता है यही है। अर्थात् चारों स्थानोंमें एकही ज्ञान कहा है, उसका तात्पर्य यही है कि सर्वव्यापक एक ईश्वर है, उसकी प्रकृति नौ प्रकारकी है, ईश्वरकी शक्तिसे प्रकृतिमें बीजधारणा होकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। इस सृष्टिमें जीवसृष्टि और जडसृष्टि दोनों आ गई। दोनों की उत्पत्ति प्रकृतिसे ही है और सबमें सूत्रात्मा यही विश्वात्मा है। विश्वात्माके आधारसे ही यह सब सृष्टि है, जैसे मालाके मणि सूत्रके आधारसे रहते हैं, वैसे ही सूत्रात्माके आधारसे यह सब सृष्टि है। यह सब ज्ञान यथायोग्य जानने योग्य है।

यही ज्ञान क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की संज्ञासे इस अध्यायमें कहा है। यहां क्षेत्र नाम प्रकृति का है और क्षेत्रज्ञ नाम आत्माका है। आत्मा ही इस प्रकृतिरूपी क्षेत्रको जाननेवाला है। वह इस प्रकृतिको जानता है, उसमें जो चाहे वह निर्माण करता है, अनेक प्रकारके पुरुषार्थ करता है और श्रेष्ठ पुरुष बनता है-

इस अध्यायके प्रारंभमें कई लोग इस श्लोक का पाठ करते हैं-

अर्जुन उवाच-
"प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।"
"एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥"

अर्थ— अर्जुनने पूछा कि -'मुझे प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय के जाननेकी इच्छा है, सो बतलाओ।' परंतु सब भाष्यकार इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं, अतः हम भी इसको छोड देते हैं। अस्तु।

इस क्षेत्रका स्वरूप क्या है और क्षेत्रज्ञका प्रभाव क्या है, वह अब देखिये-

भावार्थ— इस खेतका स्वरूप क्या है, यह खेत किस प्रकारका है, इसमें कौनसी विकृतियां होती हैं, इसमें किस कारणसे क्या गुणदोष होते हैं, यहां इस खेतको जाननेवाला कौन है और उसकी शक्ति क्या है, यही सब जानना चाहिये। यही ज्ञान है और यह ऋषिमुनियोंने विविध छन्दोंमें दर्शाया है तथा कार्यकारण दर्शाकर निश्चित सिद्धान्त बतानेवाले ब्रह्मस्वरूपका निर्णय करनेवाले सूचक वाक्योंमें भी वर्णित हुआ है ॥ ३-४ ॥

(३-४) यह क्षेत्र क्या है अर्थात् इसका स्वरूप क्या है, लक्षण कौनसे हैं, वह क्षेत्र किस प्रकारका है, उसमें अन्तर्गत भेद कितने हैं और इस क्षेत्रमें विकार क्या होते हैं? इसमें परिवर्तन कौनसे होते हैं, उसमें अदलबदल किस तरह होता है और उसमें किससे क्या होता है? इतने प्रश्न क्षेत्रके संबंधमें यहां किये हैं। इन सब प्रश्नोंका विचार यहां करना है।

इसी तरह यहां क्षेत्रज्ञ कौन है और उस क्षेत्रज्ञका प्रभाव क्या है? उसका प्रभाव यहां कैसा अनुभवमें आ सकता है? यह संक्षेपसे यहां इस अध्यायमें देखना है। जो ज्ञान और विज्ञान करके कहा जाता है, वह यही है। मनुष्यको यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और इस ज्ञानका उपयोग अपने जीवनमें करना चाहिये। इसलिये मनुष्यके प्रारंभिक आयुमें यह ज्ञान उसको प्राप्त करना चाहिये। प्रारंभिक आयु ब्रह्मचर्याश्रमकी होती है, इसमें विद्याध्ययनका काल आयुकी २५ वर्षकी अवस्थातक माना है अर्थात् आठवें वर्ष उपनयन होकर गुरुगृहमें ब्रह्मचारी जाता है और वहां १६ वर्ष रहकर २५ वें वर्ष विद्या प्राप्त करके वापस आता है। इस कालमें जो ज्ञान उस ब्रह्मचारी को मिलता है, वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ही ज्ञान होता है। प्रकृति पुरुष, स्थूल सूक्ष्म, देह देही, अपरा और परा प्रकृति, इस तरह अनेक शब्दोंद्वारा एकही भाव बताया जाता है। प्रकृतिकी विद्या और पुरुषकी विद्या येही अध्ययन करनेयोग्य विद्याएं हैं और जो भी कुछ पढाया जाता है वह इसीके अन्तर्गत होता है।

आजकल अनेक शास्त्र बहुतही बढ गये हैं, परंतु वे प्रायः प्रकृतिविद्याके ही अन्तर्गत हैं। प्रकृतिके अंशको लोग जानते हैं और उसका एक शास्त्र बना देते हैं। अर्थात् विद्याएं कितनी भी हों उनका समावेश प्रकृति-पुरुष-विद्याके अन्दर होता है। इसलिये क्षेत्रक्षेत्रज्ञके ज्ञानमें सब प्रकारका ज्ञान समाया है, यह बात भूलना नहीं चाहिये।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।

अनेक ऋषियोंने विविध छंदोंद्वारा पृथक् पृथक्, अनेक ढंगोंसे इस ज्ञानका विवरण किया है। अनेक प्रकारके शास्त्र और विविध ग्रंथ रचे हैं और पढानेकी सुबोधताके लिये अनंत प्रकारके विद्याके अंग-प्रत्यंग निर्माण किये हैं।

ब्रह्मसूत्रमें भी हेतु दर्शाकर निश्चित आशय प्रकट करनेके लिये बादरायणने कई प्रकरण रचे हैं। इस प्रकार अनेकानेक ऋषियोंने विविध शास्त्रों द्वारा इसी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानका विस्तार किया है।

वेद शास्त्र पुराण दर्शन तथा अन्यान्य शास्त्र जो प्रतिपादन करते हैं वह इसी क्षेत्रक्षेत्रज्ञका ही प्रतिपादन है, तथा जो ग्रंथ विविध शास्त्र-प्रतिपादन के लिये बनाये जा रहे हैं और बनाये जांयगे, उनमें भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ही विषय होगा।

परंतु यहां इतना ही समझना चाहिये कि प्रकृति विद्याके शास्त्र इस समय बहुत बढ रहे हैं, प्रकृतिविद्यामें बहुत प्रगति हो रही है और आत्मविद्यामें कम प्रगति हो रही है। तथापि जो भी कुछ शास्त्ररचना हो रही है, वह प्रकृति-पुरुष अथवा क्षेत्रक्षेत्रज्ञके संबंधमें ही हो रही है। अब इसका विवरण देखिए-

(३) क्षेत्रका स्वरूप

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इंद्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

अन्वयः— महाभूतानि, अहंकारः, बुद्धिः अव्यक्तं एव च, दश इंद्रियाणि च, एकं (मनः), इंद्रियगोचराः पञ्च च इच्छा, द्वेषः, सुखं, दुःखं, संघातः, चेतना, धृतिः, एतत् सविकारं क्षेत्रं (मया) समासेन उदाहृतम्॥५-६॥

पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महत्), अव्यक्त (प्रकृति), दस (सूक्ष्म) इन्द्रियाँ, एक मन, तथा पांच विषय; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धारणा-शक्ति (यह इकत्तीस प्रकारका) विकार होनेवाला क्षेत्र संक्षेपसे वर्णित हुआ है॥ ५-६॥

भावार्थ— पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, (पांच ज्ञानेंद्रियां और पांच कर्मेंद्रियां मिलकर) दस सूक्ष्म इंद्रिय-शक्तियां, एक मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पांच विषय, इच्छा, द्वेप, सुख, दुःख, संघात अर्थात् सबका समूह, चैतन्यशक्ति और धृति अर्थात् धारणाशक्ति यह इकत्तीस प्रकारका खेत है, और इसमें विविध विकार भी होते हैं। इसका बहुत वर्णन हो सकता है, परंतु यहां इसका नाममात्र उल्लेख किया है। पाठक हरएक विभागका विशेष विचार करके विशेष ज्ञान प्राप्त करें॥ ५-६॥

क्षेत्रका वर्णन।

(५-६) पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत; अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति; नासिका, रसना, नेत्र, त्वचा और कर्ण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय; हाथ, पांव, मुख, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेंद्रिय; मन; गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पांच विषय; इच्छा, द्वेप, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति (धारणाशक्ति) ये सात भाव मिलकर इकत्तीस प्रकारका यह क्षेत्र है-

पंच महाभूत	५
अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार	३
ज्ञानेंद्रिय	५
कर्मेंद्रिय	५
मन	१
विषय	५
इच्छाद्वेषादि भाव	७

मिलकर ३१ प्रकारकी प्रकृति है।

इसी प्रकृतिको क्षेत्र, प्रकृति, क्षर, आदि अनेक नाम दिये हैं। यह (सविकारं क्षेत्रं) विकृति होनेवाला क्षेत्र है। विकृति-विकारका अर्थ परिवर्तन, बदल, हेरफेर है। इनका एक दूसरे पर परिणाम होता है और परिवर्तन होता है। जैसी मिट्टी शुष्क होती है, उसमें जल मिलनेसे

(४) ज्ञानका स्वरूप ।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

गीली होती है और जल वहां स्थिर रहनेसे सडना शुरू होता है। इसी तरह सूखे तृणकाष्ठ को अग्नि लगनेसे वह जल जाता है। गीला वस्त्र वायुमें रखनेसे सूखता है। किसी स्थानमें जल हुआ तो कुछ दिनोंके बाद सूख जाता है। वृक्ष बढ जाते हैं और सूख भी जाते हैं। इस रीतिसे अनेकानेक परिवर्तन यहां हो रहे हैं। ये ही विकार हैं।

संपूर्ण सृष्टिभरमें ये विकार हो रहे हैं। (जायते) उत्पन्न होता है, (अस्ति) है, (वर्धते) बढता है, (विपरिणमते) परिणाम होता है, (अपक्षीयते) क्षीण होता है और (विनश्यति) नाशको प्राप्त होता है। ये छः विकार इस सृष्टिमें हो रहे हैं। इनमें अनंत भेद हैं और इन विकारभेदोंका निरीक्षण करकेही अनेक शास्त्र बने हैं।

जैसे भूस्तरशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, वास्तुविद्या, खनिजशास्त्र आदि शास्त्र पृथ्वीके साथ संबंध रखनेवाले हैं। जलविद्या, जलयानविद्या, नौकानयनशास्त्र, जलचिकित्सा, रसविद्या, औषधिविद्या, इत्यादि शास्त्र जलतत्त्वके साथ संबंध रखनेवाले हैं। अग्नि-विद्या, विद्युच्छास्त्र, सूर्यकिरणचिकित्सा, वर्णचिकित्सा, इत्यादि शास्त्र आग्नेय तत्त्वके साथ संबंध रखनेवाले हैं। वायुयानविद्या, विमानशास्त्र, प्राणायामशास्त्र, वायुस्तंभनविद्या, वायुयंत्रनिर्माण आदिका संबंध वायुतत्त्वके साथ है। शब्दशास्त्र, ध्वनिविद्या, शब्दवेध, ध्वनिक्षेपणविद्या, गानविद्या, वक्तृत्वशास्त्र, आदि अनेक विद्याएं शब्दके साथ संबंध रखनेके कारण आकाशतत्त्वके साथ संबंध जोडनेवाली हैं। इंद्रियविज्ञानके शास्त्र अनेक हैं। अहंकार, बुद्धि आदिका विचार और खोज करनेवाले अनेकानेक शास्त्र हैं। भोगविषयोंके शास्त्र तो नित्य प्रति बढही रहे हैं। सूपशास्त्र, रूपशास्त्र, कामशास्त्र आदि अनेकानेक भोगविषयोंके शास्त्र हैं। चैतन्यकी खोज करनेवाले अध्यात्मशास्त्र हैं, इसमें अनंत शास्त्रोंका समावेश होता है। मानसशास्त्रकी खोज होकर मनोविज्ञान, मानसचिकित्सा, विचारसंक्रमण आदि बहुतही शास्त्र बने हैं और बन रहे हैं।

ये सब प्रकृतिपुरुष विषयक शास्त्र हैं। ये शास्त्र इतने हैं कि इनका अध्ययन एक मनुष्य अपनी आयुमें कर नहीं सकता। तथापि संक्षेपसे साधकको इनमेंसे मुख्य मुख्य विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अब इस ज्ञानका स्वरूप देखिये—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अन्वयः- अमानित्वं, अदम्भित्वं, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवं, आचार्योपासनं, शौचं, स्थैर्यं, आत्मविनिग्रहः । इंद्रियार्थेषु वैराग्यं अनहंकारः एव च, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिदुख-दोषानुदर्शनं । असक्तिः, पुत्र-दार-गृहादिषु अनभिष्वंगः, इष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यं समचित्तत्वं च । मयि च अनन्य-योगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः, विविक्त-देश सेवित्वं, जनसंसदि अरतिः । अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, तत्वज्ञानार्थदर्शनं, एतत् ज्ञानं इति प्रोक्तं, यत् अतः अन्यथा (तत्) अज्ञानं (इति प्रोक्तम्) ॥ ७-११ ॥

मानी न होना, दम्भ न करना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्ति, अहंकार न करना, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख और दोषोंका विचार करना, अनासक्ति, पुत्र-स्त्री-गृह आदिमें लंपट न होना, प्रिय और अप्रिय के विषयमें समभाव धारण करना, मेरे प्रति (ईश्वरके प्रति) अनन्यभावसे अटल भक्ति, एकान्त देशका सेवन, जनसमूहमें आनेकी अरुचि, नित्य अध्यात्मज्ञानका विचार करना, तत्त्वज्ञानका विचार करना, इसको 'ज्ञान' कहते हैं। जो इससे भिन्न है, वह सब अज्ञान है ॥ ७-११ ॥

भावार्थ-- घमंडकी वृत्ति न रखना, ढोंग न करना, हिंसा न करना, क्षमाकी वृत्ति धारण करना, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, आचारविचारमें स्थिरता, आत्मसंयम, भोगोंके विषयमें अरुची, अहंता छोडना, जन्म-मृत्यु, बुढपा, रोग, दुःख और दोष किस तरह होते हैं इसका नित्य विचार करना, अनासक्ति, स्त्रीपुत्र घरदारके विषयमें लंपटता न धरना, प्रिय और अप्रिय आदि द्वंद्वोंके विषयमें समभाव धारण करना, ईश्वरकी अनन्य और दृढभक्ति करना, एकान्त सेवन करना, जनसमूहमें आनेकी अरुची, सदा अध्यात्मका ज्ञान प्राप्त करना, तत्वोंके ज्ञान का मनन करना, यही ज्ञान है। इससे भिन्न जो है, उसे अज्ञान कहना योग्य है ॥७-११॥

ज्ञान और अज्ञान ।

(७-११) इन पांच श्लोकोंमें ज्ञान कौनसा है यह कहा है, इसके अतिरिक्त इससे भिन्न जो है वह अज्ञान है। अतः हम यहां ज्ञान क्या है और उससे भिन्न अज्ञान क्या है, यह देखते हैं। यहां ज्ञानके लक्षण जो कहे हैं, उनके विरोधी लक्षणोंको मनके संमुख खडा करनेसे अज्ञानके स्वरूपका पता लग सकता है। इस तरह विचार करके निम्नलिखित कोष्टक बनाया है। पाठक इसको अधिक मनन करके परिपूर्ण कर सकते हैं—

ज्ञानके लक्षण ।	अज्ञानके लक्षण ।
१ अहिंसा, अक्रूरत्व	१ हिंसा, क्रौर्य
२ अमानित्व	२ मानित्व, घमंड
३ अदम्भित्व	३ दम्भित्व, दंभ
४ क्षान्तिः, क्षमा	४ अशान्ति, असमाधान, क्षमा न करना
५ आर्जव, सरलता,	५ कुटिलता, टेढ़ापन
६ आचार्योपासन, गुरुसेवा	६ गुरुके साथ विरोध
७ शौच, शुद्धता, पवित्रता	७ अपवित्रता, मलिनता
८ स्थैर्य, स्थिरता	८ चंचलता, अस्थिरता
९ आत्मविनिग्रहः, आत्मसंयम मनोनिग्रह, इन्द्रियदमन	९ असंयम, स्वैराचार, इंद्रियोंकी उच्छृङ्खलता
१० इंद्रियार्थोंमें वैराग्य, भोगोंके विषयमें उदासीनता	१० इंद्रियोंके भोगोंके विषयमें अत्यंत आसक्ति
११ अनहंकारः	११ अहंकार
१२ जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिमें दुःखों और दोषोंको देखना	१२ दुःख और दोष का विचार न करना ।
१३ असक्ति, अनासक्ति	१३ भोगोंपर आसक्ति
१४ पुत्र-दार-गृहादिमें (अनभिष्वंगः) मोह और ममता न रखना	१४ पुत्र, स्त्री, गृहादिकोंमें मोहित होना, इनपर ममत्व रखना
१५ इष्ट-अनिष्टमें सदा समचित्त होना	१५ इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें विषमचित्त होना, इष्टका प्रेम और अनिष्टका द्वेष करना
१६ ईश्वरमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति	१६ ईश्वरको न मानना, अन्यभाव धरना, सबको परस्परभिन्न समझना, या तो भक्तिही न करना अथवा व्यभिचारिणी भक्ति करना
१७ एकान्त-सेवन करना	१७ एकान्त-सेवन न करना
१८ जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि	१८ जनसंमर्दमें जानेकी रुचि
१९ नित्य अध्यात्मविचारमें मग्न होना	१९ अध्यात्मका विचार न करना
२० तत्त्वज्ञानके मोक्षरूप उद्देश्यका दर्शन करना	२० तत्त्वज्ञान न सुनना और उसके उद्देश्यका भी विचार न करना
२१ इसका नाम ज्ञान है ।	२१ इसका नाम अज्ञान है ।

यहां ज्ञान और अज्ञानकी व्याख्या की है। यहां इतनेही ज्ञानके और अज्ञानके लक्षण हैं, ऐसा समझना नहीं चाहिये। ये उपलक्षण मात्र लक्षण यहां कहे हैं जैसा यहां 'अहिंसा' यह एक सत्यज्ञानका लक्षण कहा है, अक्रोध, अवैर आदिका समावेश इसमेंही मानना चाहिये। इसी तरह अन्यान्य लक्षणोंके विषयमें विचार करके जानना चाहिये।

वस्तुतः ये ज्ञानके लक्षण नहीं और इसके विपरीत लक्षण अज्ञानकेभी नहीं हैं। परंतु ये ज्ञानके परिणाम हैं। मनुष्यमें ज्ञानका विकास परिपूर्ण रीतिसे होनेपर वह इन लक्षणोंसे युक्त होता है। जो पूर्ण ज्ञानी है, वह अहिंसक, अमानी, अदम्भी, निरहंकारी, अनन्यभक्त, भोगोंके विषयमें विरक्त, सरल सीधा, शुद्धाचाररत, शान्त, इंद्रियदमन करनेवाला, अनासक्त, समचित्त होगा और जो अज्ञानी होगा, वह हिंसक, क्रूर, मानी, घमंडी, दम्भी, विरोधक, भोगोंमें लिपटा हुआ, कुटिल, अशुचि, चञ्चल, स्वैराचारी भोगासक्त, विषमभावयुक्त होगा। इसके साथ साथ जो अन्यान्य सहचारी लक्षण संभव हो सकते हैं, उनका विचार भी पाठक करें और वे लक्षण यहां गिनाये हैं, ऐसा यहां समझें।

सर्व विश्वरूप ही वासुदेवका है, सर्वत्र वही ईश्वर है ऐसा अनुभव करनेसे येही ज्ञानके लक्षण उस साधकमें स्थिर होते हैं और ये स्वभावसे ही लक्षण किसीमें स्थिर हुए तो उसीको सिद्ध पुरुष कहा जाता है।

पाठक ये सिद्ध पुरुषके लक्षण हैं ऐसा समझें और इन लक्षणोंको अपने अन्दर स्थिर करनेका यत्न करें। किस प्रमाणमें अपने अन्दर ये लक्षण हैं इसका परीक्षण करनेसे अपनी उन्नति कितनी हुई है और शेष कितनी उन्नति होनी चाहिये इसका निश्चय हो सकता है। पाठक इस रीतिसे आत्मपरीक्षण करें।

ये जो ज्ञानके लक्षण यहां कहे हैं, उनकी सामाजिक और राष्ट्रीय सुख-शान्तिके लिये कितनी आवश्यकता है और इनके विपरीत जो अज्ञानके लक्षण अनुमान किये जाते हैं उनसे समाजमें और राष्ट्रमें कैसी अशान्ति बढेगी, इसका विचार पाठक करें और भगवद्गीताका यह तत्त्वज्ञान समाजोपयोगी कैसा है यह जानें। यदि समाज सुख और शान्तिसे युक्त बनाना है, तो उसमें ये ज्ञानलक्षण सुस्थिर होने चाहियें।

श्रीमद्भगवद्गीता आदर्श सामाजिक जीवन का उपदेश कर रही है। समाजके मनुष्य यह आदर्श अपने अन्दर सुस्थिर करनेका प्रयत्न करते रहें। यह आदर्श ऐसा है कि विना परिश्रम यह आचरणमें आना कठिन है। बडे परिश्रम किये जांय तोहि यह आचरणमें आसकता है। सामाजिक, जातीय तथा राजकीय प्रबंध भी ऐसा होना चाहिये कि जिसमें रहते हुए यह आदर्श जीवन मनुष्योंके आचरणमें आ जावे और मनुष्य 'पूर्ण मानव' अथवा 'पुरुषोत्तम' बन सकें। आजकलकी समाजव्यवस्था और राज्यव्यवस्था ऐसी है कि जिसमें रहता हुआ मनुष्य इन दैवी गुणोंके बदले आसुरी भावोंको ही अपने अन्दर बढा सकता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रका वध कर रहा है, एक दूसरेको लूट रहे हैं, जो हिंसा करना नहीं चाहते वे असभ्य गिने जाते हैं और उनको दबानेका यत्न होता है। आसुरी भाव बढनेके कारण ऐसा हो रहा है। अतः भारतीयोंको ऐसा प्रचण्ड यत्न करना चाहिये कि जिससे सब भारतीय जनता अपने अन्दर उक्त दैवी गुणोंका उत्कर्ष कर सके और संपूर्ण जगत् में दैवी गुणोंका विकास करनेका विशेष प्रयत्न करे।

इस तरह ज्ञानका विचार हुआ। अब जानने योग्य बातोंका बोध भगवान् करते हैं, वह देखिये-

(५) ज्ञेय क्या है ?

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च यज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अन्वयः– यत् ज्ञेयं, यत् ज्ञात्वा (जीवः) अमृतं अश्नुते, तत् प्रवक्ष्यामि । तत् अनादिमत् परं ब्रह्म सत् न, असत् च न, इति उच्यते । १२॥ लोके तत् सर्वतः पाणिपादं, सर्वतः अक्षिशिरोमुखं, सर्वतःश्रुतिमत् (अस्ति), सर्वं च आवृत्य तिष्ठति ॥१३॥ (तत्) सर्वेंद्रियगुणाभासं, सर्वेंद्रियविवर्जितं, असक्तं, सर्वभृत् च एव, निर्गुणं, गुणभोक्तृ च (अस्ति)॥ १४॥ तत् भूतानां बहिः अन्तः च अस्ति), अचरं चरं च एव (अस्ति), तत्, सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयं (अस्ति), दूरस्थं च अन्तिके च (अस्ति) ॥१५॥ तत् ज्ञेयं अविभक्तं भूतेषु विभक्तं इव स्थितं, भूतभर्तृ च ग्रसिष्णु च प्रभविष्णु च अस्ति॥१६॥ तत् ज्योतिषां अपि ज्योतिः (अस्ति), तमसः परं उच्यते, (तत्) ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञानगम्यं (अस्ति), (तत्) सर्वस्य हृदि धिष्ठितं (अस्ति) ॥१७॥

वह ज्ञेय जिसके जाननेसे जीव अमृतत्व प्राप्त करता है, मैं तुझे कहता हूं । वह अनादि परब्रह्म है, उसे न सत् और न असत् कहते हैं ॥१२। इस लोकमें उसके सर्वत्र हाथ पांव, सब ओर आंख, सिर और मुख और सब ओर कान हैं । वह सर्वत्र व्याप कर रहा है ॥१३। उसमें सर्व इंद्रियोंके गुणोंका आभास है, तो भी वह सर्व इंद्रियोंसे रहित है । वह सर्वत्र आसक्तिरहित, सबका भरणपोषण करनेवाला, गुणरहित होनेपरभी गुणोंका भोक्ता है ॥१४॥ वह सब भूतोंके बाहर भी है और अन्दर भी है, वह स्थिर भी है और चर भी है,

वह सूक्ष्म होनेके कारण जाननेके लिये कठिन है और वह दूरभी है और पास भी है ॥१५॥ वह ज्ञेय आत्मा अविभक्त होता हुआ भी सब भूतोंमें विभक्त जैसा रहता है। वह सब भूतोंका पोषण करनेवाला, नाश करनेवाला और उत्पन्न करनेवाला भी है ॥१६॥ वह ज्योतियोंकी भी ज्योति है, वह अन्धकारसे परे है ऐसा कहा जाता है, वही ज्ञान है, वही जानने योग्य है और वही ज्ञानसे जानने योग्य है। वह सब के हृदयोंमें रहता है ॥१७॥

भावार्थ- परमेश्वर ही जानने योग्य है, उसके ज्ञानसे जीव अमरभावको प्राप्त होता है। वह परब्रह्म अनादि है, उसको सत् या असत् कहना अयोग्य है। उसके हस्तपाद आदि अवयव सर्वत्र हैं, वह सर्वत्र व्याप्त है, यद्यपि सर्व इंद्रियोंके गुण उसमें हैं, तथापि वह सर्व इंद्रियोंसे रहित है, वह सर्वत्र आसक्ति न रखनेवाला, तथापि सबका पालनपोषण करनेवाला, निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है। वह अन्दर बाहर सर्वत्र है। वह हिलनेवाला होनेपर भी स्थिर है, अति सूक्ष्म होनेसे जाननेके लिये कठिन है और वह जैसा दूर है वैसाहि पास भी है। वह अखंडित है, परंतु प्रत्येक भूतमें खण्डित सा दीखता है। वही सबकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश भी करता है। सब तेजस्वी पदार्थोंको उसीसे तेज मिलता है, उसके पास अन्धकार नहीं है, क्योंकि वह इससे परे है। वही ज्ञान, जानने योग्य और ज्ञानसे प्राप्तव्य है। ऐसा यह परमात्मा सबके हृदयोंमें सदा रहता है ॥१२-१७॥

किसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये?

(१२-१७) मनुष्यको किसका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये? इस जीवनमें मनुष्य का ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य क्या है? इसका विचार अब करते हैं। जिसका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य मात्रके लिये अत्यंत आवश्यक है, वह 'अनादि परब्रह्म' है। इसका वर्णन इस तरह यहां किया है —

(१) सर्वतः पाणिपादं, सर्वतः अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमत् (१३)

'इस परब्रह्मके हाथ, पांव, आंख, सिर, मुख और कान सब ओर हैं।' पाठक यह विश्वरूपी परमात्माका वर्णन है ऐसा समझें। ये सब ओर जो हाथ पांव और मुखादि अवयव हैं, वे केवल कल्पनाके नहीं हैं, वे सत्य अवयव हैं। क्योंकि परमात्माके विश्वरूप में सब मानव, सब पशु पक्षी और सब अन्य स्थूल सूक्ष्म जीवजन्तु समाये हैं। इन सब प्राणियोंके जो हाथपांव, मुख आदि अवयव हैं वे ही इस विश्वात्माके अवयव हैं, अतः कहा है कि इसके हाथ पांव आंख मुख सिर कान आदि अवयव सब ओर हैं। पाठक अपने चारों ओर देखें, उनके सम्मुख अनेक प्राणी दीखेंगे और उनके अनेक अवयव होंगे, वे सब अवयव इस विश्वात्मा अथवा सूत्रात्माके हि हैं, क्योंकि सब प्राणियोंके हृदयमें यही विश्वात्मा अनुस्यूत भरा है, इससे कोई पृथक् नहीं है, सब रूप उसीके हैं और उसीके विश्व रूपमें समाये हैं, इसके विश्वरूपसे भिन्न किसीका रूप नहीं है। अतः उसके मुख नासिकादि अवयव चारों ओर हैं ऐसा वर्णन अनेक स्थनोंपर किया गया है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ (ऋग्वेद १०।८१।३)

"सब ओर चक्षु मुख बाहु और पांव हैं, ऐसा एकही परमात्म देव इस सब विश्वका

उत्पादक है।" यहां भी वही बात कही है। जहां ऋग्वेदमें 'विश्वतः' है वहां गीतामें 'सर्वतः' है, दोनोंका अर्थ एकही है।

(२) सर्वं आवृत्य तिष्ठति (१३)

'यह परब्रह्म, जिसके हाथ पांव मुख सब ओर हैं, वह सब विश्वको घेर कर रहा है।' कोई वस्तु इससे पृथक् नहीं है। इस विश्वके सब वस्तुओंको उसने घेरा है। इससे न घेरा हुआ कोई पदार्थ नहीं है। इसने सबको घेरा है और कोई इससे पृथक् नहीं है, इसी लिये सबके अवयव इसीके अवयव हैं और इसी कारण इसके अवयव सब ओर हैं ऐसा कहा जाता है।

(३) सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितं। (१४)

'सर्व इंद्रियोंके गुणोंका आभास उसमें होता है, तथापि वह सर्व इन्द्रियोंसे रहित ही है।' इससे पूर्व कहा है कि 'सब ओर उसके हाथ-पांव मुख कान नाक आदि अवयव हैं।' इन सर्वत्र स्थित अवयवोंको देखनेसे ही वह है ऐसा दिखाई देता है। यदि ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां तथा अन्तःकरण कार्य न करता, जगत् में किसी स्थानपर इनका कार्य न दिखाई देता, तो आत्माका अस्तित्व भी नहीं माना जाता। अतः हाथ पांव आदि इंद्रियोंके गुणोंका उसमें आभास है, यह बात सत्य है, तथापि ये इंद्रिय क्षर प्रकृतिके हैं, आज हैं और कल नहीं रहेंगे, अतः उस अक्षरमें ये इंद्रिय हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है। उसमें क्षर इंद्रियोंके गुणोंका आभास होता है और इस आभाससे उसका ज्ञान भी होता है, यह सत्य है। तथापि वह अक्षर-तत्त्व इन इंद्रियोंसे रहित ही है। गुडकी मीठास गुडके आकारकी नहीं होती, तथापि गुडके स्थूल आकारमें वह दिखाई देती है। इसी तरह उस परमात्मामें इन इन्द्रियोंका आभास प्रतीत होता है तथापि उसके शुद्ध स्वरूपमें ये इन्द्रिय नहीं हैं। उस निर्गुणमें इंद्रियगुणोंकी संभावना भी कैसी मानी जा सकती है ?

जैसा आकाश घडेमें घटाकार और घरमें गृहाकार हुआ दीखता है, परन्तु आकाशको कोई आकार नहीं है; रस जैसा जलमें जलरूप हुआ दीखता है, परंतु उसका आकार नहीं होता; जैसा तेज दीपमें दीपकके आकारका दीखता है तथापि तेजका स्वयं कोई आकार नहीं होता; जलकी धारा तेढी बहने लगी तो जल जैसा तेढा नहीं होता, तथा वह ब्रह्म मन आदि इंद्रियोंमें कार्य करता हुआ दीखनेके कारण इंद्रियोंके गुण-धर्मोंसे युक्त होनेके समान दीखता है, परन्तु वस्तुतः वह इंद्रियधर्मोंसे रहित ही है। उपनिषदोंमें कहा है—

> कतमः स आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव ॥
> (बृ० उ० ४।३।७)

> अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
> (श्वे० उ० ३।१९)

"जो प्राणोंमें विज्ञानमय है, वह हृदयमें अन्तर्ज्योति है व ध्यान करता हुआसा, चेष्टा करता हुआसा दीखता है। उसको हाथ पांव न होते हुएभी वह वेगवान् और सबको पकडनेवाला है, आंख न होते हुएभी वह सबको देखता है, कान न होते हुए भी वह सब कुछ सुनता है, वह सब जानता है, परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है, इस पुरुषको अग्रगण्य महान् पुरुष कहते हैं।"

यहां इन्द्रियरहित होनेका उसका वर्णन है, परंतु उसी आत्माके कारण सब इंद्रिय कार्य करनेमें समर्थ होते हैं और इन्द्रियोंके कार्य देखकर उस इंद्रका अर्थात् आत्माका अनुमान होता है। इसलिये कहा जाता है कि सब इन्द्रियों

योंके गुणधर्मोंका आभास उस आत्मामें है। सब इन्द्रियोंके कार्य उसीसे हो रहे हैं, तथापि उसमें कोई इन्द्रिय नहीं है, यह बात इस तरह स्पष्ट हो गयी है।

(४) असक्तं (१४)

वह ब्रह्म सर्वत्र है तथापि वह किसीके साथ आसक्त नहीं है। जैसा सुवर्णका आभूषण किया जाय, तो उस आभूषणमें वह सुवर्ण रहता हुआ भी आभूषणके स्वरूपके अथवा उस आकारके साथ वह आसक्त नहीं होता। उसका वह आकार दूर हुआ और दूसरा कोई आकार उसे प्राप्त हुआ तो उसे उसमें कोई रागद्वेष नहीं होता। इसी तरह वह श्रेष्ठ ब्रह्म सब आकारोंमें समान अवस्थित होने पर भी किसी आकारके साथ वह लिपटा हुआ नहीं है, किसीमें वह आसक्त नहीं है।

(५) सर्वभृत् (१४), भूतभर्तृ (१६)

वह ब्रह्म सब भूतोंका भरण पोषण धारण करता है, उसीसे सबका भरण पोषण-धारण हो रहा है, यही बात अन्यत्र कही है-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति (छां० उ०)

'जिससे ये सब भूत बनते हैं, जिससे बननेपर जीवित रहते हैं और विनष्ट होकर जिसमें लीन होते हैं, वह ब्रह्म है।' यहां मिट्टीसे घडा बनता है, मिट्टीके आधारसे रहता है और टूटने पर उसकी मिट्टीहि बनती है। तथा जैसे सुवर्णसे आभूषण बनता है, सुवर्णके आधारसे ही आभूषण रहता है और टूटनेपर सुवर्णके ही रूपमें परिणत होता है। इसी तरह ये सब भूत ब्रह्मसे बने, ब्रह्मसे धारण पोषण हो रहे हैं और ब्रह्ममें ही जा मिलेंगे। इस लिये ब्रह्मको सर्वभृत् अर्थात् सबका धारण-पोषण-भरण करनेवाला कहा है।

(६) निर्गुणं गुणभोक्तृ च। (१४)

'वह ब्रह्म निर्गुण है, परन्तु गुणोंका भोग करनेवाला है।' यह ब्रह्म स्वयं सत्त्वरजतम आदि गुणोंवाला नहीं है, तथापि इन गुणोंका भास उसमें होता है। जैसा आभूषणका भास सुवर्णमें होता है, सुवर्ण उस आभूषणको धारणभी करता है, परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो सुवर्णका आभूषणके साथ क्या संबंध है? कुछ भी नहीं। ज्ञान, भोग और मोह ये सत्त्व रज तमके गुण हैं, ये विश्वरूपमें ब्रह्मपर दीखते हैं, ब्रह्मके कारण उसीके आधारसे रहे हैं, परंतु वस्तुतः वे उसके या उसमें नहीं है।

(७) भूतानां बहिः अन्तः च। (१५)

वह ब्रह्म 'सब भूतोंके अन्दर और बाहर है।' अर्थात् वह सबको व्याप्त हुआ है, सबके अन्दर, बाहर और बीचमें अर्थात् सर्वत्र है। वह नहीं है ऐसा एक अणुरेणु जितना भी स्थान नहीं है। जो कुछ है वह सूक्ष्म हो या स्थूल हो, वह उसीसे व्याप्त है, उसके अन्दर बाहर वह व्याप्त हुआ है।

(८) तत् दूरस्थं अन्तिके च। (१५)

'वह ब्रह्म दूर भी है और पास भी है।' सर्वव्यापक होनेका ही यह अधिक स्पष्टीकरण है। जो जानते नहीं उनके लिये वह बहुत दूर है, परन्तु जो जानते हैं उनके बिलकुल पासहि वह है। अर्थात् वह स्थानसे भी दूर और पास है और ज्ञानसेभी दूर और समीप है।

(९) तत् अचरं चरं एव। (१५)

"वह ब्रह्म अचल अर्थात् स्थिरभी है और चल भी है।'

वह स्वयं अचल अर्थात् न हिलनेवाला होता हुआ भी सबको चलाता है, इसलिये चल भी है। वह अचल-चल, अचर-चर, स्थिर-चर दोनों प्रकारका भासता है। वह गतिमान् वस्तुओंमें गतिमान्-सा दीखता है और स्थिर वस्तुओंमें स्थिर-सा दीखता है। इसका वर्णन ईशोपनिषद्-

में इस तरह किया गया है-

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥

तदेजति तन्नैजति, तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥ (ईश० उ०)

'वह स्वयं न हिलनेवाला एक है, तथापि मन सेभी वेगवान् है। अन्य दौडनेवालोंके आगे जाता है, तथापि वह स्थिर है॥ वह चलाता है तथापि स्वयं हिलता नहीं, वह दूरभी है और समीपभी है, वह सबके अन्दर भी है और सबके बाहर भी है॥'

यह ईशोपनिषद् का और गीताका वर्णन एक जैसा ही है। यही वर्णन मुण्डकोपनिषद् में इस तरह है-

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
(मुण्डक उ० ३।१।७)

'वह ब्रह्म बडेसे बडा और सूक्ष्मसे सूक्ष्म है। वह दूर भी है और समीप भी है, देखनेवालोंके लिये वह उनके अंतःकरणमें ही है।' वह सर्वव्यापक होनेसे सर्वत्र उपस्थित है।

(१०) सूक्ष्मत्वात् तत् अविज्ञेयम्। (१५)

'अति सूक्ष्म होनेसे जाननेके लिये वह कठिन है।' सर्वत्र है,इसी लिये वह सबसे सूक्ष्म है और अति सूक्ष्म, सबसे सूक्ष्म होनेसे ही जाननेके लिये सबसे कठिन है।

(११) (तत्) अविभक्तं, (परन्तु) भूतेषु विभक्तं इव स्थितम्। (१६)

'वह ब्रह्म वस्तुतः अविभक्त अर्थात् अखण्ड है, उसमें टूकडे नहीं हैं, वह सर्वत्र एकरस है, तथापि सब भूतोंमें विभक्त जैसा होकर रहा है।' अखंड एकरस होनेपर भी खण्डित विभिन्नरस जैसा दीखता है। एक होनेपर भी अनेक जैसा प्रतीत होता है।

जैसे सुवर्णके आभूषण अनेक बनवाये, कई कानमें धारण करनेके, कई नाकमें, कई गलेमें, कई छातीपर, कई हाथोंमें, कई कमरमें धारण करनेके होते हैं। सुवर्णकी दृष्टिसे सबमें एकरसता है,तथापि धारणकी रीतिसे उसमें विविधता और भेद है।

जैसा एक ही काल निमेष मुहूर्त दिन पक्ष मास अयन आदि भेदोंसे युक्त प्रतीत होता है, एक ही जीवन बाल्य, तारुण्य, वार्धक्यादि भेदोंमें विभक्तसा प्रतीत होता है, इसी तरह वह एक तत्त्व सब विश्वके रूपमें दिखाई देता है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋग्वेद६।४७।१८)

इन्द्र अर्थात् आत्मा एक होता हुआ भी अनेक रूपोंवालासा दिखाई देता है। तथा और देखिये-

यत्र द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति... शृणोति .. अभिवदति...मनुते...विजनाति, यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं शृणुयात्, तत्केन कमभिवदेत्, तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं विजानीयात्, येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, विज्ञातारमरे केन विजानीयात्॥ (बृ० उ० २।४।१४)

'जहां द्वैतसा होता है वहां ही एक दूसरेको देखता सुनता कहता विचारता और जानता है। परंतु जहां सब आत्मा ही हो जाये, तब कौन किसको देखे, कौन किसको सुने, कौन किसको जाने? जिससे जाना जाता है उसे कौन जाने? और विज्ञाताको कौन कैसा जाने?' यहां दोनों अवस्थाओंका वर्णन है, एक एकत्व की अवस्था का और दूसरा द्वैतकी अवस्थाका। एक ही वस्तु एक ही होती हुई अनेक जैसी प्रतीत होती है,इस कारण ऐसा अनुभव होता है। इसी तरह-

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१९॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः
॥२०॥ बृ ४।४।१९

'मनसे ही यह अनुभव करना चाहिये कि यहां अनेक वस्तुएं नहीं हैं। जो यहां नाना वस्तुएं देखता है वह मृत्युके कष्ट वारंवार भोगता है। वह अप्रमेय ध्रुव आत्मा एक ही है, ऐसा देखना चाहिये। यह आत्मा आकाशसे भी महान् है।'

इस तरह वह आत्मा अनेक नहीं है। वह एक-रस, एक और अखंड है। परंतु एक होता हुआ अनेक सा दिखाई देता है, अखण्ड होता हुआ खण्डित-सा दीखता है, एकरस होता हुआ विविधरसवाला-सा प्रतीत होता है।

(१२) तत् प्रभविष्णु ग्रसिष्णु च। (१६)

'वह ब्रह्म सब की उत्पत्ति करनेवाला और सबका ग्रास करनेवाला अर्थात् नाश करनेवाला है।' और (भूतभर्तृ, सर्वभृत्) सबका पालन करनेवाला है। इस रीतिसे वही सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाला है। वह एक ही होता हुआ ये तीनों कार्योंको करता है, इसलिये उसी एक को सृष्टिकर्ता, स्थितिकर्ता और लय कर्ता कहा है। इसी कार्यके कारण उसी एकके नाम ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हुए हैं। ये तीन नाम होते हुए भी वह एक ही है। तीन विभिन्न नाम होनेके कारण वह तीन प्रकारका नहीं है। वह एक होता हुआ भी ये तीनों कार्य करता है।

(१३) तत् ज्योतिषां अपि ज्योतिः।
तत् तमसः परं उच्यते। (१७)

'वह ब्रह्म तेजका भी तेज है और अतः वह अन्धकारसे परे है।' बृहदारण्यकमें कहा है—

तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः। (बृ० ४।४।१६)
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। (श्वे०उ०४।८)
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (श्वे०उ०६।१४)
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्। (गीता १५।१२)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंकी भी ज्योति है, वह सूर्य-समान तेजस्वी और अंधारसे परे है। उसी ब्रह्मके तेजसे यह सब विश्व प्रकाशता है। जो सूर्य चन्द्र अग्नि आदिमें तेज है, जिस तेजसे यह संपूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है, वह ईश्वर-काही तेज है।' इस प्रकार अन्यत्र ऐसाही इस ब्रह्मका वर्णन है।

(१४) सर्वस्य हृदि धिष्ठितम्। (१७)

'यह ब्रह्म सबके हृदयमें स्थित है।' सबके अन्तःकरणमें, सबकी बुद्धिमें रहा है। गीतामें आगे कहा है कि– 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः (गी० १५।१५)' परमेश्वर सबके हृदयमें रहा है। तथा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥
(गी० १८।६१)

'ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें ठहरा है और सबको घुमाता है।'

इस तरह सर्वत्र ईश्वरके सबके हृदयमें होनेका वर्णन है। यह केवल हृदयमें रहता है और बाहर नहीं ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्वस्थानमें अन्दर बाहर उसके होनेका स्पष्ट उल्लेख है। अतः हृद्देशमें रहनेका तात्पर्य यह है कि उसके सब कार्य अन्दरहीसे होते हैं।

(१५) तत् ज्ञेयं, ज्ञानगम्यं, ज्ञानं (अस्ति)
(१७)

"वह ब्रह्म सबको जानने योग्य है, ज्ञानसे समझमें आनेवाला है, क्योंकि वही ज्ञानरूप है।" यहां ज्ञेय और ज्ञान एकही है। और ज्ञाताभी उसीमें संमिलित होता है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान यहां एक होनेके कारण, इस त्रिपुटीका भेद वहां नहीं होता है, अतः यह विषय समझनेके लिये कठिन है। परंतु पाठक यहां ऐसा समझें कि स्वयं ज्ञाता है, अपनाही ज्ञान प्राप्त करना है, इसलिये ज्ञेय विषयभी स्वयंही है और

स्वयं चित्स्वरूप होनेसे ज्ञानभी अपनाही स्वरूप है। इस तरह विचार करनेसे यहांभी ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान 'स्वयं' होता है, जैसा यहां है वैसाही उक्त स्थानमें 'वह ज्ञेय, ज्ञानगम्य और ज्ञान है' ऐसा जो कहा है उस विषयमें समझना चाहिये।

(१६) तत् न सत्, न असत् उच्यते। (१२)

"वह ब्रह्म सत् किंवा असत् है, ऐसा नहीं कहा जाता,' वह सदसत् कल्पनासे परे है। सत् असत् यह वाणीसे कहा जाता है, परंतु ब्रह्म तो वाणीका विषय नहीं है- 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'(तै० उ०२।४।१) उस ब्रह्मसे वाणी निवृत्त होती है, क्योंकि वाणी से वर्णन करनेका विषय ब्रह्म नहीं है, तथा—

अन्यत् एव तद्विदितात् अथो अविदितात् अधि। (केन उ० १।३)

'वह ब्रह्म ज्ञात और अज्ञातसे भिन्न है' अर्थात् वह ज्ञात भी नहीं और अज्ञात भी नहीं है। क्योंकि वह—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं। (श्वेता०उ०६।१९)

'कलारहित और क्रियारहित है।' इसलिये उसका वर्णन करना असंभव है। जो वाणीसे कहा जा सकता है वह सत् है वा असत् है ऐसा कहा जायगा, परंतु जो वाणीका विषयही नहीं है उस विषयमें क्या कहा जा सकता है? अतः यहां कहा है कि न वह सत् है और न असत् है। गीताके—

सदसच्चाहम्॥ (गीता ९।१९)

इस श्लोकमें बताया है कि 'मैं ईश्वर सत् और असत् हूं' और यहां बताया है कि-

तत् न सत् न असत्। (१३।१२)

'वह ईश्वर सत् भी नहीं और असत् भी नहीं है। क्या यह विरोध नहीं है? इसका विचार करनेके लिये हमें सत् और असत् शब्दोंके अर्थोंका मनन करना चाहिये—

सत्= भला, शुभ, अविनाशी, अमृत, अस्ति, अदृश्य-सूक्ष्म-तत्त्व, अक्षर।

असत्= बुरा, अशुभ, नश्वर, मृत्यु, नास्ति, दृश्य-स्थूल-सृष्टि, क्षर।

ये शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगता है कि सत् और असत्के अर्थ अनेक हैं, अतः उक्त कथनमें परस्पर असंगति नहीं है।

जहां नवम अध्यायमें कहा है वहां 'सत् असत्' का अर्थ क्रमसे शुभ और अशुभ, अमृत और मृत्यु इस प्रकारका है। उसी श्लोकमें—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। (९।१९)

'ईश्वर अमृत और मृत्यु है,' ऐसा कहा है। इसी द्वन्द्वके साथ संगत होनेवाला शुभाशुभ सब रूप परमेश्वरका ही है, विश्वरूपमें शुभ भी है और अशुभ भी है, दोनों रूप ईश्वरके हैं, यह आशय वहां है। और यहां अ० १३।१२ में क्षर और अक्षरके परे परमात्मा है, ऐसा कहनेका तात्पर्य है। अतः दोनों स्थानोंमें यद्यपि 'सत्' और 'असत्' ये ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, तथापि उनका आशय दोनों स्थानोंमें एक दूसरेसे पृथक् है। अतः यह विरोध नहीं है।

अस्तु। इस प्रकार ज्ञेय वस्तुका वर्णन किया है। इसी ज्ञेय वस्तुको पर-ब्रह्म, ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा आदि अन्य नाम हैं। इसका वर्णन प्रारंभसे इस समयतक अनेक प्रकारोंसे अनेक स्थानोंपर किया गया है। पाठक सबका विचार करके इस ब्रह्मतत्त्वको जानें और उसके साथ अपना अनन्य भाव देखकर उसी अनन्य भावसे उसकी सेवा, भक्ति अथवा उपासना करें।

इस ज्ञेयका और ज्ञेयके ज्ञानका फल कहते हैं सो देखिये—

(६) ज्ञानका फल ।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

(७) पुरुष और प्रकृति ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

अन्वयः— इति क्षेत्रं, तथा ज्ञानं ज्ञेयं च समासतः उक्तं, एतत् विज्ञाय, मद्भक्तः मद्भावाय उपपद्यते ॥ १८ ॥

इस तरह क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके विषयमें संक्षेपसे कहा गया है । इसे जानकर, मेरा भक्त मेरे (ईश्वरके) भावको प्राप्त करनेके लिये समर्थ होता है ॥ १८ ॥

भावार्थ-खेत, खेतको जाननेवाला, खेतीका ज्ञान और जानने योग्य ज्ञेय वस्तुके विषयमें अतिसंक्षेपसे वहां कहा गया है । इस ज्ञानकी सहायतासे ईश्वरका भक्त ईश्वरपनको प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

(१८) यहां क्षेत्र क्या है, ज्ञान किसे कहते हैं और ज्ञेय करके जो मनुष्योंको जानने योग्य वस्तु है, उसका संक्षेपसे वर्णन किया है । इसके मननसे साधक अपने पासके क्षेत्रके गुणधर्म जानें, ज्ञान प्राप्त करें और ज्ञेयके जाननेका यत्न करें । ज्ञेय जाननेके पश्चात् उससे अपना अनन्य भाव कैसा है यह देखें और मैं उससे अनन्य हूं, यह जानकर अपना नित्य संबंध उस परब्रह्मसे जो है, उसको ध्यानमें रखें ।

यहां शरीररूपी अपना क्षेत्र अर्थात् खेत है, इस खेतमें अपनेको क्या बोना चाहिये, कौनसा धान्य बोना चाहिये, कोनसा फल प्राप्त करना चाहिये, कौनसा नहीं बोना है, इसका विचार हरएक साधकको करना चाहिये । अपनी उन्नति के लिये जो साधक होगा, वही धान्य या फल यहां लगाना चाहिये । धान्यका नाश करनेवाला खराब घास हटाना चाहिये । सर्वदा शुभजीवनरूप जल देना चाहिये, सुविचारोंका खेत उग जाय, ऐसा करना चाहिये ।

इस खेत और किसानके ज्ञानसे साधक ईश्वरकी भक्ति करके ईश्वरभावको प्राप्त हो सकता है। परंतु जो मनुष्य इस ज्ञानको जानता नहीं वह राक्षसभाव, असुरभाव अथवा पशुभावसे युक्त बनता है । अतः सावध रहकर यह ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करके अपने अन्दर ब्रह्मभावको देखकर, अपने आपको ब्रह्मसे अनन्य जानकर अनन्य भावसे उपासना करके कृतकृत्य होना चाहिये ।

इसके विषयमें यथार्थ ज्ञानका उपदेश करनेके लिये प्रकृति और पुरुषका ज्ञान भगवान् देते हैं सो अब देखिये-

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

अन्वयः- (त्वं) प्रकृतिं पुरुषं च उभौ अपि अनादी विद्धि। विकारान् च गुणान् च प्रकृतिसंभवान् एव विद्धि ॥१९॥ प्रकृतिः कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः उच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते ॥ २० ॥ पुरुषः प्रकृतिस्थः (सन्) प्रकृतिजान् गुणान् भुंक्ते हि। गुणसंगः अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं (अस्ति) ॥ २१॥

तू प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको अनादि समझ। तथा विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं, यह भी ध्यान रख ॥ १९ ॥ प्रकृति ही कार्य तथा कारण की हेतु कही जाती है और पुरुष सुख-दुःखके भोग का हेतु माना जाता है ॥२०॥ पुरुष प्रकृतिमें रहकर प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है। यही गुणोंका संग इसके उत्तम अथवा अधम योनिमें जन्म होनेका कारण है ॥२१॥

भावार्थ— प्रकृति और पुरुष ये दोनों न उत्पन्न हुए ऐसे सदासे हैं और प्रकृतिसे गुण तथा विकार होते हैं। सब कार्योंका तथा सब कारणोंका मूल हेतु यही प्रकृति है। पुरुष ही सुखदुःखका भोग करता है। पुरुष प्रकृतिके साथ संबंध करके प्राकृतिक गुणोंका भोग करता है। इसी गुणोंके भोगोंके संगसे पुरुषको उत्तम अथवा अधम योनिमें जन्म लेना पडता है ॥ १९-२१ ॥

(१९-२१) प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं। प्रकृति जड है और पुरुष चेतन है। प्रकृतिमें पुरुष व्यापकर रहता है और पुरुषकीहि यह प्रकृति महा शक्ति है। जैसा जलमें रस, सूर्यमें तेज वैसा ही प्रकृतिमें पुरुष है।

इस प्रकृतिमें सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इसी प्रकृतिके अनेक विकार भी हैं। मूल प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, तन्मात्रा, पंच-महाभूत, संपूर्ण सृष्टि ये सब प्रकृतिके विकार ही हैं। मूल सूक्ष्म प्रकृति घनीभूत होकर क्रमसे स्थूल होती है और सब विश्वके पदार्थ बनाती है।

इस कार्यकारणपरंपरासे यह रचना चल रही है। प्रकृति कारण है, उसका कार्य महत्तत्त्व है, महत्त्व कारण है उसका कार्य है अहंकार, अहंकार कारण है उसका कार्य तन्मात्रा, तन्मात्रा कारण है उसका कार्य है पंचमहाभूत, पंचमहाभूत कारण है उसका कार्य है सृष्टि, इस प्रकार यह कार्य कारण-परंपरा है। जो एक का कार्य है वही दूसरे का कारण होता है। इस तरह कार्य और कारण का विचार करना चाहिये। इस कार्य-कारण-परंपराका मूल हेतु 'मूल प्रकृति' है।

इस तरह यह सृष्टि मूल प्रकृतिसे बनी है। मूल सूक्ष्मद्रव्य घन होते होते मूलप्रकृति ही स्थूल सृष्टिके रूपको प्राप्त हुई है। इस ढंगसे सृष्टिकी उत्पत्तिका विचार पाठक करें।

दूसरा पुरुष है जो जलमें रस रहनेके समान सब प्रकृतिमें रहता है, इसी तरह प्रकृति भी पुरुषके साथ पुरुषकी शक्ति बनके रहती है। यह संबंध पाठक ठीक प्रकार समझें।

यह पुरुष सुखदुःखोंका भोग करता है। सुख

(८) परमात्मा।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

अन्वयः— उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वरः, अपि च परमात्मा इति उक्तः परः पुरुषः अस्मिन् देहे (अस्ति) ॥२२॥ यः एवं पुरुषं गुणैः सह प्रकृतिं च वेत्ति, सः सर्वथा वर्तमानः अपि भूयः न अभिजायते ॥२३॥

देखनेवाला, अनुमोदन करनेवाला, पोषण करनेवाला, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा इस देहमें है ॥ २२ ॥ जो इस तरह पुरुषको और गुणोंके साथ रहनेवाली प्रकृतिको यथावत् जानता है, वह सब तरह रहनेपर भी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

भावार्थ—इस देहमें जो परम पुरुष है उसीको सर्वसाक्षी, अनुमोदक, पोषक, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहते हैं। जो साधक इस परम पुरुषको और गुणमयी प्रकृतिको ठीक ठीक जानता है, वह किस प्रकारका भी कर्म करे, परंतु उसे पुनर्जन्म में आना नहीं होता है ॥२२-२३ ॥

होना या दुःखका अनुभव करना पुरुष ही को हो सकता है। शरीरमें यह देही-पुरुष-न हुआ, तो शरीर मुर्दा होता है और वह मुर्दा सुख-दुःखका अनुभव कर नहीं सकता। इससे स्पष्ट है कि यह पुरुष ही प्रकृतिमें रहकर सुखका अथवा दुःखका अनुभव कर सकता है।

यह पुरुष- आत्मा- प्रकृतिमें रहता है, देहमें रहता है, क्षेत्रमें कार्य करता है, उस कारण प्रकृतिके सत्त्व रज तम इन तीनों गुणोंके साथ उसका संबंध होता है और इस प्रकार सत्त्व रज तमके साथ संबंध होनेके कारण इसकी उच्च मध्यम और निकृष्ट गति होकर इसका शुभ अथवा अशुभ योनिमें जन्म होता है।

क्षेत्रमें कार्य करनेका यह फल है। इस तरह शुभाशुभ फल इसीके कर्तृत्वसे इस पुरुषको प्राप्त होता है, यह जानकर मनुष्य सावधानताके साथ अपने आपको अशुभ फलसे बचावे और शुभ गतिहि प्राप्त करे। इस तरह पुरुषको उसका ध्येय बताकर उसे परमात्माका ज्ञान देते हैं-

(२२-२३) जो इस देहमें द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला है, यहां रहकर अनुमोदन देता है, इसका भरण-पोषण-धारण करता है, यहां रहकर भोग करता है, यहां सबका महान् ईश्वर है, जो परमात्मा कहा जाता है, वही इस देहरूपी प्रकृतिमें परम पुरुष करके है। इसका आशय यह है—

(देहमें)	(ब्रह्माण्डमें)
द्रष्टा (देखनेवाला)	द्रष्टा
अनुमोदन देनेवाला	अनुमोदनकर्ता
शरीरका भरणकर्ता	ब्रह्माण्डका भरणकर्ता
शरीरमें भोक्ता	ब्रह्माण्डमें भोक्ता
शरीरका स्वामी	ब्रह्माण्डका महेश्वर

(९) आत्मदर्शन और उपासना।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्वयः — केचित् ध्यानेन आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति। अन्ये सांख्येन योगेन (आत्मानं पश्यन्ति) अपरे च कर्मयोगेन (आत्मानं पश्यन्ति) ॥ २४ ॥ अन्ये तु एवं अजानन्तः अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते, ते श्रुति परायणाः च अपि मृत्युं अतितरन्ति एव ॥ २५ ॥

कोई ध्यान-योगसे अपने आत्माद्वारा आत्मामें आत्माको देखते हैं, दूसरे साधक ज्ञानयोगसे आत्माको देखते हैं और अन्य साधक कर्मयोगसे आत्माको देखते हैं ॥ २४ ॥ दूसरे कोई इन मार्गोंको न जानते हुए, अन्य (विद्वानोंसे) सुनकर उपासना करते हैं, वे सुने हुए उपदेशमें तल्लीन होनेवाले साधक भी मृत्युसे पार हो जाते हैं ॥ २५ ॥

शरीरमें आत्मा	ब्रह्माण्डमें परमात्मा
देहमें पुरुष	ब्रह्माण्डमें परम पुरुष

जो परमात्मा ब्रह्माण्डमें है, वही देहमें भी है, कोई दूसरा नहीं। जैसा एकही आकाश घडेमें, घरमें, ग्राममें और विश्वमें है उसी तरह परमात्मा देहमें है और वही विश्वमें है। देहमें देहरूप धारण किये रहता है और विश्वमें विश्वरूप धारण किये है। देहमें उसे देही कहते हैं और विश्वमें उसेहि विश्वात्मा कहते हैं। विश्वात्माका अंश ही देहात्मा है।' (गी० १५।७)

जो इस तरह पुरुषको यथावत् जानता है और तीनों गुणोंके साथ प्रकृति है ऐसा जो जानता है, उसने कैसाभी बर्ताव किया तो भी उसे वारंवार जन्म लेना नहीं पडता अर्थात् वह मुक्त हो जाता है। यहां जो 'कैसा भी बर्ताव किया तो भी मुक्त होता है' ऐसा कहा है, वह प्रशंसात्मक वाक्य है। उसका सच्चा भाव यह है कि वह इतना परिशुद्ध होता है कि उससे कभी अयोग्य व्यवहार होता ही नहीं। स्वभावसे ही अयोग्य व्यवहार होना असंभव होता है।

प्रकृति-पुरुषका ज्ञान होनेसे पुरुषकी अद्भुत शक्तिका पता लग जाता है और वह अद्भुत शक्तिवाला पुरुष ही यहां मैं हूं ऐसा निश्चय हो जाता है। और अपने ही सामर्थ्यसे यहां बुरा भला जो कुछ बनना है ऐसा जानकर वह अपना सामर्थ्य बुरे कर्ममें लगाता नहीं और जो कर्म हो रहा है वह प्रकृतिसे हो रहा है, ऐसा देखकर अपने आपको प्रकृति के विना अकर्ता अनुभव करके, वह अपनी परिशुद्ध अवस्थाका अनुभव करता है। इसीसे वह निष्कलंक होकर मोक्षका भागी हो जाता है।

अब इस आत्मदर्शन करनेका वर्णन करते हैं-

(१०) समदर्शनका फल।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

भावार्थ— कई साधक ध्यान-मार्गसे, कई ज्ञानमार्गसे और कई कर्ममार्गसे अपने अन्दर इस आत्माको देखनेका यत्न करते हैं। जो इन मार्गोंको जानते ही नहीं, वे विद्वानोंसे जो कुछ सुनते हैं, उसीमें तल्लीन होकर यथाशक्ति उपासना करते हैं, ये साधक भी मृत्युसे परे होते हैं ॥ २४-२५ ॥

(२४-२५) कई साधक ध्यान करते हैं और अपने अन्दर स्वयं अपने आत्माको देखते हैं। ये साधक यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान करते हैं। प्रत्याहारसे बाह्य विषय छूट जाते हैं और अपने आत्मामें अपनेही आत्माका ध्यान करते हैं और आत्मानुभव प्राप्त करते हैं।

अन्य साधक सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगसे आत्माका अनुभव करते हैं। प्रकृति किन गुणोंसे युक्त है, आत्माके धर्म क्या हैं, इसका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके उसके मननसे प्रकृति और पुरुषको यथायोग्य रीतिसे जानते हैं। ज्ञान-मननके द्वारा ज्ञानमार्गी आत्माका अनुभव करते हैं।

तीसरे साधक कर्मयोगके द्वारा उन्नतिका साधन करते हैं। अपना स्वभावधर्म जानकर तदनुसार कर्म करते हुए और अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करके, तथा कर्मफलत्याग करके अथवा अनासक्तिसे कर्म करते हुए उन्नतिका साधन करते हैं।

चौथे साधक ऐसे होते हैं कि जो स्वयं आत्मानात्मका ज्ञान जानते नहीं, स्वयं बहुत विद्वान् नहीं होते, वे दूसरे विद्वानोंके व्याख्यान और प्रवचन सुनते हैं, उनसे उपासनाकी विधि जानते हैं और जैसा सुनते हैं वैसीही उपासना करते हैं। उसमें इतनी श्रद्धा-भक्ति रखते हैं कि मनमें तर्क-वितर्क-कुतर्क कुछ भी न करते हुए, अपने गुरुपर अतुल श्रद्धा रखते हैं, उसके उपदेशमें तत्पर रहकर उपासना करते हैं। किसीने उनकी श्रद्धा हटानेका प्रयत्न किया तो भी वे मार्ग नहीं छोडते और उपासना करते जाते हैं। ऐसे केवल श्रद्धा रखनेवाले भी अपने श्रद्धाबलके सहारे मृत्युके पार हो जाते हैं। क्योंकि इनकी दृढ श्रद्धासे इनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरणकी निर्मलतासेहि वे मुक्तिको प्राप्त करते हैं।

कई लोग इनको अन्धश्रद्धालु कहके इनका उपहास करते हैं। परंतु उपहास करनेवाले अश्रद्धाके कारण पीछे रह जाते हैं और ये अपनी असीम श्रद्धाके कारण उन्नत होते हैं।

इस प्रकार साधकोंके उन्नत होनेके ये विविध मार्ग हैं। इन सब मार्गोंमें प्रयत्नही सबका आधार है। जो प्रयत्न करेंगे वे ही उन्नति प्राप्त करेंगे। जो कुछ भी नहीं करेंगे वे कैसे उन्नत होंगे? ये सब योग हैं और योगका अर्थ 'कुशलताके साथ प्रयत्न करना' है।

आगे समदर्शन का महत्त्व बताते हैं—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

अन्वयः— हे भरतर्षभ! यावत् किंचित् स्थावरजंगमं सत्त्वं संजायते, तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् (संजायते इति त्वं) विद्धि ॥ २६ ॥ यः विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तं अविनश्यन्तं परमेश्वरं पश्यति, सः पश्यति ॥ २७ ॥ (यः) सर्वत्र समवस्थितं ईश्वरं समं पश्यन् हि आत्मना आत्मानं न हिनस्ति, (सः) ततः परां गतिं याति ॥ २८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! जो भी कुछ स्थावर जंगम वस्तु निर्माण होती है, वह इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसेही निर्माण होती है ऐसा तू समझ ॥ २६ ॥ जो नाश होनेवाले सब भूतोंमें समभावसे रहनेवाले अविनाशी परमेश्वरको देखता है, वही सत्यको देखता है ॥ २७ ॥ जो सर्वत्र समभावसे रहनेवाले ईश्वरको देखता है, वह स्वयं अपने आत्माद्वारा आत्माका घात नहीं करता, अतः वह परम गतिको प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

भावार्थ— प्रकृति और पुरुषके संबंधसे सब कुछ स्थावर अथवा जंगम वस्तु बनती है। सब नाश होनेवाले पदार्थोंमें कभी नाशको प्राप्त न होनेवाला परमेश्वर है और वह सर्वत्र समभावसे रहता है यह जो देखता है, वही परमेश्वरको देखता है। जो इस तरह आत्माको देखता है, उसके आत्माकी कभी हानि नहीं होती और उसीको परम गति मिलती है॥ २६-२८ ॥

(२६-२८) इस सृष्टिमें जो भी कुछ वस्तुमात्र बना है, वह स्थावर हो अथवा जंगम हो वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-अर्थात् प्रकृति और पुरुष-के संबंधसे ही बना है। कोई ऐसी वस्तु यहां नहीं है कि जिसमें प्रकृति और पुरुष मिले न हों, अर्थात् सब विश्व प्रकृतिपुरुषके संयोगसे ही हुआ है। इसी लिये इस विश्वके रूपको पुरुषका रूप कहते हैं। वैसा कहा जाय तो रूप प्रकृतिका है, तथापि अधिष्ठाता पुरुष होनेसे और उससे पृथक् प्रकृति न होनेसे अथवा प्रकृति उसीकी शक्ति होनेसे यह विश्वरूप उसी पुरुषका—उसी आत्माका है ऐसा कहते हैं। प्रकृति क्षेत्र कहलाती है और पुरुषको क्षेत्रज्ञ कहते हैं, इनसे संपूर्ण वस्तुमात्र हुआ है। यहां प्रकृतिके साथ पुरुष सर्वत्र, संपूर्ण वस्तुओंमें और संपूर्ण प्राणियोंमें रहता है, यह बात सिद्ध हुई। इसी पुरुषको आत्मा और ईश्वर कहते हैं।

यह आत्मा, परमात्मा अथवा ईश्वर (सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तं) सब भूतोंमें समभावसे रहता है, किसीमें भी विषम भावसे वह नहीं रहता, सर्वत्र समभावसे अवस्थित और विनष्ट होनेवाले वस्तुओंमें भी कभी नाशको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् वस्तु टूट गई तो उस कारण वह ईश्वर टूटता नहीं, वस्तु कृश हुई तो उसमें वह कृश नहीं होता और वस्तुका आकार बदल गया तो भी उस कारण इस ईश्वरमें बदल नहीं होता। इसी प्रकार वस्तुका नाश होनेपर भी ईश्वरका नाश नहीं होता। हरएक वस्तुकी हर-एक अवस्थामें वह समभावसे रहता है।

आकाश जैसा किसी स्थानपर कम और किसी स्थानपर अधिक नहीं रहता और सर्वत्र समभावसे रहता है। जलमें रस समभावसे ही

रहता है, वह जल छोटे पात्रमें रखा हो अथवा बडे बर्तनोंमें रखा हो जलमें रसका प्रमाण एकसा ही होता है,वैसाही सर्वत्र ईश्वर समभावसे रहता है। सोनेके अनेक भूषणोंमें जेसा सुवर्ण समान रहता है, मिट्टीके घडोंमें मिट्टी जैसी समभावसे रहती है, उसी प्रकार सर्व वस्तुओंमें परमेश्वर समभावसेही रहता है। यही भाव प्रकृतिके साथ पुरुष समभावसे रहा है और प्रकृति पुरुषसेहि सब वस्तुमात्र बना है, इस कथनमें है। दोनों वर्णनोंमें एकही भाव पाठक देखें।

यह ईश्वरके विश्वरूपकाही स्पष्टीकरण है। हरएक वस्तुमें ईश्वर समभावसे रहा है, अतः ईश्वरनेही हरएक वस्तुका आकार लिया है, अथवा ईश्वरही वस्तुका आकार लिये रहा है, अर्थात् वस्तुका रूप ईश्वरकाही रूप है और सब विश्वका रूपही ईश्वरका विश्वरूप है। प्रकृतिपुरुषकी सर्वत्र सम अवस्थिति, ईश्वरका सर्वत्र सम अवस्थान और विश्वरूपमें परमात्माकी उपलब्धि, इनका अर्थ एकही है। एकही भावके ये तीन वाक्य हैं। पाठक यह आशय इन वाक्योंमें देखें।

वस्तुमात्रके नाश होनेपर ईश्वर सर्वत्र होता हुआ भी नहीं नष्ट होता। यह बात जो देखता है, वही सचमुच देखता है। अन्य लोग आंखें होती हुई भी अंधेही हैं। ईश्वर विषम पदार्थोंमें सम है, भिन्न पदार्थोंमें अभिन्न है, खंडित वस्तुजातमें अखण्डित है, नश्वर पदार्थोंमें अविनाशी, बदलनेवाली सृष्टिमें कभी न बदलनेवाला है। जिसको यह बात प्रत्यक्ष दीखती है वही सत्य देखता है और जिसको यह बात नहीं दीखती वह आंखें धारण करनेपर भी अन्धाही है। प्रायः सभी मनुष्य इस प्रकारके अन्धेही हैं, क्वचित् कोई सत्यको देखता है।

इस तरह सर्वत्र समभावसे अवस्थित ईश्वरको देखना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। योग्य गुरुके समीप जाकर दिव्यदृष्टि प्राप्त करके जो मनुष्य देखेगा, उसको ईश्वरका दर्शन इस प्रकार हो सकता है। परंतु मनुष्य इस प्रकार दर्शन करना चाहते ही नहीं और अन्यान्य उपासनामें मस्त रहते हैं। सरल मार्गपर आते नहीं और तेढे मार्गपर जाना पसंत करते हैं।

यह कोई जनताका दोष नहीं है। जो ज्ञाता हैं उनको चाहिये कि वे उपदेश, प्रवचन अथवा व्याख्यान-संभाषण-द्वारा इस दिव्यदृष्टिका प्रचार करें और सत्य ईश्वरका सत्य स्वरूप लोगोंको समझा दें। यदि प्रचारसे विपरीत ज्ञान बढता है, तो प्रचारसेही सत्यज्ञान बढेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

जिस साधकको इस तरह दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई और जिसने उस दिव्यदृष्टिके द्वारा संपूर्ण अनेक विभिन्न पदार्थोंमें एक अभिन्न परमेश्वरका दर्शन किया,उसका जन्म सफल हुआ समझिये। ऐसा परमात्माका सर्वत्र साक्षात्कार करनेवाला साधक अपने आपको भी उससे अन्य नहीं समझता और उसके साथ अपने आपको अनन्य अनुभव करता हुआ, अपने आत्माको उसीमें-उसीका अंश- देखकर, अपने आत्माको भी वैसाही अजर और अमर अनुभव करता हुआ (आत्मना आत्मानं न हिनस्ति) आत्मासे अपने आत्माका नाश नहीं करता, अर्थात् परमात्माके साथ अपने आत्माको अमर देखता है।

जो ऐसा नहीं देखता वही आत्मघाती है, वही आत्माका नाश करता है, आत्महत्यारा है। क्योंकि वह देहके साथ आत्माका नाश हुआ ऐसा मानता है। यह उसके अज्ञानका फल है। अतः जिसने ज्ञानाग्निसे अपने अज्ञानका नाश किया है, उसका आत्मा परमात्माके साथ सदा अनन्य भावसे संलग्न होनेके कारण अमर होता है। इसीका नाम 'आत्माके द्वारा आत्माकी हिंसा न करना' है। यह अहिंसा सिद्ध हुई तो उसे परम गति प्राप्त होती है,ऐसा कहते हैं। आत्मा अमर बन गया तो वह श्रेष्ठ गतिको प्राप्त हुआ, इसमें क्या संदेह है?

(११) अकर्ता आत्मा।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

(१२) एकमें पृथग्भाव।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ३०॥

अन्वयः- यः च प्रकृत्या एव कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि (सन्ति इति पश्यति), तथा आत्मानं अकर्तारं पश्यति, सः पश्यति॥ २९॥

जो प्रकृतिद्वाराहि सब कर्म सब प्रकारसे किये जाते हैं और आत्मा अकर्ता है, ऐसा देखता है, वही सत्यको देखता है॥ २९॥

भावार्थ— आत्मा स्वयं कुछ भी नहीं करता, परंतु प्रकृतिहि सब कुछ कर्म करती है ऐसा जो जानता है, वही ठीक ठीक जानता है॥ २९॥

अन्वयः—यदा भूतपृथग्भावं एकस्थं च ततः एव च विस्तारं अनुपश्यति, तदा ब्रह्म संपद्यते॥ ३०॥

जब (कोई साधक) प्राणियोंके भेदभावको एकही आधारमें स्थित (देखता है) और उसीसे सबका विस्तार हो रहा है यह भी देखता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त करता है॥ ३०॥

आत्मा सर्वत्र समभावसे है, ऐसा कहनेसे शंका उत्पन्न होती है कि सबके बुरेभले कर्मोंके कारण आत्माको भी कलंक लगता होगा, इसका निवारण करनेके लिये आत्मा निष्कलंक किस तरह रहता है, इसका विवेचन करते हैं। यह सबके लाभके लिये आवश्यक होनेके कारण पाठक इस विषयको ध्यानसे देखें-

(२९) प्रकृतिही सब कर्म करती है, आत्मा केवल देखता है, कर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है, यह जिसको यथावत् अनुभव होता है, उसीको सत्य ज्ञान हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। आंख देखता है और कान सुनता है, क्योंकि आंख और कानका यह प्रकृतिस्वभाव ही है। उनकी घटना ही ऐसी है कि वे वह कर्म करें। आत्मा तो सर्वत्र है, आत्माकी शक्ति या उपस्थितिसे कान सुनता हो और आंख देखता हो, परंतु आत्माकी शक्ति होनेपर भी कान देख नहीं सकता और आंख सुन नहीं सकता, क्योंकि उनकी प्रकृति ही वैसी है। इस तरह विचार करनेपर विदित होगा कि सब कर्म प्रकृतिद्वारा ही होते हैं, अतः आत्मा अकर्ता है। इस कारण आत्मा निर्लेप है, निष्कलंक है, और निर्दोष है।

इस तरह आत्माका अकर्ता होनेके कारण निष्कलंक होनेपर उसको ब्रह्मरूपकी प्राप्ति कैसी होती है, इसका विचार आगे बताते हैं। वह इस प्रकार है-

भावार्थ— सब प्राणी भिन्न भिन्न हैं यह प्रत्यक्ष है। इस भिन्न भावका आधार एक अभिन्न सत्वमें है और उसी अभिन्न सत्वसे सब भेदोंकी उत्पत्ति है। यह जो ठीक ठीक जानता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥३०॥

(३०) इस विश्वमें अनन्त पदार्थ हैं। ये विभिन्न पदार्थ परस्पर पृथक् हैं, ऐसा सामान्य मनुष्य देखता है। परंतु यह भ्रम है। वह विभेद सत्य नहीं है, यह एकही आत्मासे उत्पन्न हुआ है, उसी एक आत्मासे ये सब अनन्त पदार्थ हुए हैं। अतः यह सब भूतोंका पृथक् भाव एक आत्मामें है और उसी आत्मासे इस पृथक्-भावका विस्तार होता है। जैसा—

जल एक है, उसी एक जलसे अनंत लहरियां उत्पन्न होतीं हैं, ये जलके आधारसे रहतीं हैं और जलसे ही फैलतीं हैं। सूर्य एक है, परंतु उसकी किरणें अनंत हैं, उन किरणोंका आधार एक मात्र सूर्य है, सूर्यसे वे किरण निकलते हैं और उसीसे चारों ओर फैलते हैं। शरीरके अवयव विभिन्न हैं, परंतु उनको शरीरकाही आधार है और वे शरीरसे ही विकसित होते हैं। मनके शुभाशुभ भाव कितने विभिन्न हैं, परंतु वे सबके सब मनमें एकरूप होते हैं, मनसे उत्पन्न होते, मनके साथ रहते और मनसे ही फैलते हैं। अग्निसे चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, परंतु उन सबका आधार अग्निही है।

इसी प्रकार सब प्राणिमात्र विभिन्न दीखते हैं, परंतु वे सब एकही आत्मासे प्रकट हुए हैं, सबमें एकही आत्मतत्त्व है और एकही आत्माका यह फैलाव हैं। जिसके मनमें यह सिद्धान्त स्थिर होता है वह स्वयं ब्रह्मही बन जाता है। क्योंकि जैसे अन्य प्राणी और अन्य पदार्थ ब्रह्मका विस्तार है, वैसाही यह देखनेवाला भी ब्रह्मसे ही फैला हुआ है। यह जो जानता है वह स्वयं अपने आपको ब्रह्ममें देखता है, ब्रह्मके साथ अनुभव करता है, ब्रह्मसे फैलनेका साक्षात्कार करता है और अपने आपको ब्रह्मही जानता है। इस तरहका ज्ञानी अपने आपको ब्रह्मसे भिन्न किस तरह जान सकता है? जब ब्रह्मसे भिन्न दूसरा कोई पदार्थ ही नहीं रहा, तो वह अपने आपको उससे भिन्न दूसरा किस तरह मान सकता है? जिसको सबही ब्रह्मरूप दीखने लगा, उसे अपना रूप पृथक् कैसा दीखेगा?

> यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
> तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
> (ईश० उ०)

'जिस अवस्थामें सब भूत आत्माही हो गये, उस एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानीको शोक और मोह कैसे हो सकते हैं?' अर्थात् वह शोक-मोहरहित हो जाता है।

ग्यारहवें अध्यायमें जो विश्वरूपका वर्णन किया है उससे भी यही ब्रह्मरूपता सिद्ध होती है। कोई उससे पृथक् नहीं है और सबही ब्रह्मरूपमें संमिलित हुए हैं, यह बात जैसी पूर्व अध्यायोंमें वैसी यहां भी कही है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ किंवा प्रकृति पुरुषके वर्णन करते करते सबकी एकरूपतामें किस तरह प्रवेश करते हैं, यह यहां देखना चाहिये। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, तथा प्रकृति और पुरुष यहां कल्पनाका भेद प्रथम वर्णन किया जाता है, यह तो हरएक का अनुभव ही है। परंतु जैसा जलमें रस, खांडमें मीठास वैसाही यह भेद केवल कल्पनाका ही भेद है। जैसी जलके साथ रसकी एकरूपता है, खांडसे मीठास पृथक् नहीं है, वैसी ही क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञ, प्रकृतिसे पुरुष की अभिन्नता है। ऐसा अभेद माननेपर ही ईशोपनिषद्में (अथवा वा० यजुर्वेद अ० ४० में) कही सब भूतोंकी एकात्मरूपता सिद्ध हो सकती है। एकही ब्रह्मसे सबकी उत्पत्ति और उसीमें सबकी स्थिति होती है, यह देखनेपर

(१३) आत्माकी निर्लेपता।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

अन्वयः— हे कौन्तेय! अयं परमात्मा अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्, अव्ययः (अस्ति, अतः सः) शरीरस्थः (सन्) अपि न करोति, न (च) लिप्यते ॥ ३१ ॥ यथा सर्वगतं आकाशं सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते, तथा सर्वत्र देहे अवस्थितः आत्मा न उपलिप्यते ॥ ३२ ॥ हे भारत! यथा एकः रविः इमं कृत्स्नं लोकं प्रकाशयति, तथा क्षेत्री कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति ॥ ३३ ॥

हे कुन्तीके पुत्र! यह परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण अविनाशी है, अतः वह शरीरमें होता हुआ भी कुछ भी नहीं करता और किसीसे लिप्त भी नहीं होता ॥ ३१ ॥ जैसा सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होनेपर भी किसी तरह कलंकित नहीं होता, वैसाही सब देहोंमें रहनेवाला आत्मा किसी प्रकार कलंकित नहीं होता है ॥ ३२ ॥ हे भारतीय! जैसा सूर्य इस संपूर्ण जगत्को प्रकाश देता है, वैसाही क्षेत्री सारे क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ— परमात्मा अनादि, अविनाशी और निर्गुण है। वह सब शरीरोंमें है, तथापि स्वयं कुछ भी नहीं करता, अतः किसीके कारण कलंकित भी नहीं होता। जैसा आकाश अतिसूक्ष्म और सब वस्तुओंमें व्याप्त होनेपर किसी कारण मलिन नहीं होता, वैसाही सब देहोंमें आत्मा है। तथापि वह मलिन नहीं होता। जैसा सूर्य सब जगत्के वस्तुओंको प्रकाशित करता है, वैसाही वह पुरुष सब प्राकृतिक विश्वको प्रकाशित करता है, परंतु किसीके संसर्गसे मलिन नहीं होता है ॥ ३१-३३ ॥

देखनेवाला स्वयं ब्रह्महीं बनता है। ब्रह्मभाव अपनेमें अनुभव करनेका साधन यह है। ब्रह्म स्वयं निर्लेप है, वह निर्लेपता स्वतःसिद्ध है, इसी की विवेचना अब कहते हैं, वह देखिये-

(३१-३३) यह परमात्मा अनादि है, यह किसी समय उत्पन्न हुआ और उससे पहिले नहीं था, ऐसी बात नहीं है, यह सदासे है। यह अव्यय है, अर्थात् यह अनंत है, इसका नाश नहीं होता। इसका आदि नहीं और अन्तभी नहीं है। अतः यह सदासे एकरस है। अव्यय शब्दमें और एक अर्थ है, वह अर्थ यह है कि इसका व्यय नहीं होता, इसमेंसे कुछ भाग व्यय नहीं होता, इसमें कुछ न्यून नहीं होता है, कम नहीं होता है, इसमें क्षीणता नहीं होती। इस तरह यह परमात्मा सदासे एक जैसा रहता है।

इसमें सत्त्व रज तम ये गुण नहीं हैं। इसमें ये गुण नहीं हैं, अतः इसको निर्गुण कहते हैं। निर्गुणका अर्थ इसमें कोईभी गुण नहीं ऐसा नहीं है, क्योंकि कोई गुण न होना यह भी एक गुणही है। इसलिये निर्गुण शब्दका आशय सत्त्व रज तम इन तीन गुणोंमेंसे एक भी गुण इसमें नहीं, ऐसा है।

इस परमात्माका आदि नहीं, इसकी उत्पत्ति नहीं, इसका व्यय नहीं- इसका नाश नहीं- इसमें क्षीणता नहीं होती, अतः यह सदा एक जैसा अखण्ड एकरस है। इसी तरह इसमें प्रकृतिके सत्त्वरजतमात्मक गुण नहीं हैं। इसमें कुछ उत्तम (सत्त्व), कुछ मध्यम (रज), कुछ कनिष्ठ (तम) भाग है, ऐसा भी नहीं, अर्थात् यह सब अखण्ड एकरस सदा सम है।

यह जैसा शरीरमें है, वैसाही बाहरभी है, यह सर्वत्र व्यापक है, सर्वत्र ओतप्रोत भरा है। कोई वस्तु इसके विना नहीं है।

यह परमात्मा भूतमात्रके शरीरमें है, इस कारण उस शरीरके दोषोंसे वह दोषयुक्त नहीं होता। शरीरमें रहनेपरभी वह न रहनेके समान अलिप्त और अकर्ता है। शरीरसे सब कार्य होते हैं, परंतु उन कार्योंका कर्तव्यसंबंध इस आत्माके साथ नहीं है अतः यह निर्लेप है।

यही बात समझानेके लिये (श्लोक ३२ और ३३ में) उदाहरण देते हैं, वे विचारपूर्वक देखने योग्य हैं। जैसा आकाश सबसे सूक्ष्म है और वह सर्वव्यापक है, वैसाही परमात्मा सबसे सूक्ष्म है और सब विश्वमें व्यापक है। ये दोनोंके समान धर्म हैं। आकाशभी घडेमें रहनेके कारण 'घटाकाश,' घरमें रहनेवाला आकाश 'मठाकाश' कहा जाता है। किसी घडेमें दूध रखा, किसीमें मद्य रखा और किसीमें मिश्री रखी, तो उस कारण उसमें रहनेवाले आकाशको कोई बुरा-भला भाव अथवा लाभ-हानिका भाव नहीं होता। आकाश एक जैसाही निर्लेप और अखण्ड रहता है। घडेकी उत्पत्ति हुई, स्थिति हुई अथवा नाश हुआ, उसमें कुछ रखा या न रखा, तो आकाशकी निर्लेपताके साथ कोई संबंध नहीं आता। घडेमें दूध रखने-पर वह संतुष्ट और गोबर रखनेसे वह असंतुष्ट नहीं होता। घडेके बनने बिगडनेपर आकाशकी स्थितिमें कोई भेद नहीं होता है। इसी तरह एकही परमात्मा चूंटीके देहमें, मनुष्यके देहमें और हाथीके देहमें रहता है। ये देह बनने बिगडनेसे आत्माकी एकरसतामें कोई न्यूना-धिक नहीं होता। इन देहोंसे जो चाहे बन जाय, अच्छे कर्म हों या बुरे हों, आत्मा बिलकुल अकर्ता और निर्लेप रहता है। देह छोटा बाल्या-वस्थामें हुआ तो वह आत्मा बाल नहीं होता और देहकी तारुण्य-वार्धक्य अवस्थाओंसे उसकी स्थितिमें कोई भेद नहीं होता। देहोंकी सब प्रकारकी अवस्थाओंमें वह एक जैसाही रहता है।

दूसरा उदाहरण और अधिक मननपूर्वक देखने योग्य है। सूर्यसेही पृथिवी आदि ग्रह बने हैं, पृथ्वीसे चन्द्र बना है अर्थात् सूर्यकेही ये छोटे छोटे टूकडे हैं। पृथ्वी बननेके पश्चात् उसपरके पर्वत नदियां समुद्र वृक्षवनस्पतियां पशुपक्षी और मनुष्य आदि सब बने हैं। अर्थात् परंपरया इन सबकी उत्पत्ति सूर्यसेही हुई है। तथापि इस समय जो तेज सूर्यमें है वैसा किसी अन्यमें नहीं है।

यही सूर्य सब वस्तुमात्रको प्रकाशित करता है। सूर्य तो सूर्यही है, परंतु अन्य पृथिव्यादि पदार्थभी सूर्यकेही अंश हैं, अतः कोई यह भी कह सकता है कि सूर्यही अपने आपको प्रका-शित कर रहा है, तो वह कथनभी सत्यही है। क्योंकि सब लोकलोकान्तर सूर्यकेही अंश हैं, पूर्ण सूर्य अंशरूप सूर्यको प्रकाशित करता है।

(१४) परमपदप्राप्ति।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अन्वयः— ये एवं ज्ञानचक्षुषा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं (ज्ञानं) भूतप्रकृतिमोक्षं च विदुः, ते परं यान्ति॥३४॥

जो इस तरह अपने ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको और प्राणियोंकी प्रकृतिबंधनसे मुक्ति होनेके उपायको जो जानते हैं, वे परब्रह्मको प्राप्त करते हैं॥ ३४॥

इस लोकमें- इस भूलोकमें कई पदार्थ अच्छे उत्तम कहने योग्य हैं, कई मध्यम हैं और कई निकृष्ट हैं। यह उत्तमता, मध्यमता और निकृष्टता हमने अपनी अपेक्षासे निश्चित की है। सूर्यके ये अंश होनेके कारण सूर्यकी दृष्टिसे उनमें न कोई उत्तम है, न मध्यम और न कोई कनिष्ठ है। मूलतः वे सूर्यकेही अंश थे।

अब सूर्यसे किरण चले और कई किरण उत्तम पदार्थोंपर गिरे, कई मध्यम पदार्थोंपर गिरे और कई निकृष्ट पदार्थोंपर गिरे, तो भी मूलतः यह उत्तम-मध्यम-कनिष्ठता किसी पदार्थमें न होनेके कारण और वह हमने अपनी अपेक्षासे कल्पित माननेके कारण और सूर्यकी दृष्टिसे ये सभी पदार्थ सूर्यके अपने निज अंशही होनेके कारण, सूर्यके किरण किस पदार्थपर गिरनेसे सूर्यको आनन्द होगा और किस पदार्थपर गिरनेके कारण सूर्यको कष्ट होगा, ऐसी बातही नहीं है। क्योंकि वह तो अपने आपपरहि स्वयं प्रकाश रहा है। उसमें हीनता और उत्तमताकी कल्पना तक नहीं है।

अतः कहा है कि जैसा सूर्य सब विश्वको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्री-आत्मा- क्षेत्रका स्वामी-संपूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है। वस्तुतः आत्माही क्षेत्र है, परंतु व्यवहार दर्शानेकी सुबोधताके लिये हमने उसमें यह कल्पना की है। इसी तरह प्रकृति-अर्थात् प्राकृतिक सृष्टिको— यह पुरुष प्रकाशित करता है, परंतु प्रकृति तो पुरुषकी शक्तिही है। क्या शक्ति कभी शक्तिवालेसे पृथक् हो सकती है? पुरुषकी शक्ति ही प्रकृति है।

जैसा बलवानोंका बल, बुद्धिवानोंकी बुद्धि वैसीही पुरुषकी यह प्रकृति है। अतः पुरुष सर्वत्र है और उसकी प्रकृति- उसकी शक्ति- उसीके साथ सर्वत्र है। प्रकृतिसे सब कुछ सृष्टि बन रही है, इसका आशय यही है कि उसीकी शक्तिसे सब कुछ सृष्टि बनी है। अतः इसके सबको प्रकाशित करनेसे इसका न कुछ बनता है और न बिगडता है। जैसी इतनी सृष्टि बननेसे सूर्यका कुछभी बिगडा नहीं है, वैसीहि यहां कल्पना करनी चाहिये।

इस रीतिसे विचार करके पाठक आत्माकी निर्लेपता जानें और वही अपना आत्मा है यह जानकर अपने आपको भी निष्कलंक अनुभव करें और जलमें कमलपत्र रहनेके समान इस संसारमें निष्कलंक होकर विराजें।

इसके पश्चात् परमपदकी प्राप्तिके विषयमें कहते हैं, सो अब एकाग्र होकर सुनिये—

भावार्थ- अपने ज्ञान-चक्षुसे खेत और खेतके जाननेवालेके भेदको जानना चाहिये और प्राकृतिक बंधनसे प्राणियोंकी मुक्ति कैसी होती है, इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जो इसको जानते हैं, वे परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें **क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग** नामक तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

(३४) ज्ञानचक्षुके द्वारा, दिव्यदृष्टिसे, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके बीचमें जो अन्तर है, जो भेद है, उसको यथावत् जानकर और भूतमात्रकी जो प्रकृति है; जो उसका निज स्वभाव है, उससे मुक्त होनेकी युक्ति भी जानकर, जो मुक्त होनेका यत्न करते हैं, वे परम पदको प्राप्त होते हैं।

ज्ञानचक्षु।

पहिले ज्ञानचक्षु प्राप्त करने चाहिये। ज्ञान क्या है यह इसी अध्यायमें श्लोक ७ से ११ तक कहा है। यह ज्ञान है। यह ज्ञान ही एक प्रकारकी नूतन दृष्टि देता है। उस नूतन और दिव्य दृष्टिको प्राप्त करना चाहिये।

"इस ज्ञानदृष्टिसे गर्व, दम्भ और हिंसा दूर होती है।

शान्ति और सरलता आती है।

पवित्रता, स्थिरता और संयमकी सिद्धि होती है।

सद्गुरुकी कृपा प्राप्त होती है।

भोगोंके विषयमें विरक्ति होती है।

अहंकार दूर होता है।

जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखोंमें जो दोष होते हैं, वे दीखते हैं।

भोगोंपर आसक्ति नहीं होती।

पुत्रस्त्रीगृह इत्यादिके विषयमें असंगवृत्ति स्थिर होती है।

इष्ट-अनिष्ट कुछभी अवस्था प्राप्त हुई तो भी चित्त सम रहता है।

ईश्वरमें अव्यभिचारिणी अनन्यभक्ति होती है।

एकान्तस्थान पसंद होता है, जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि होती है।

एकान्तमें रहकर अध्यात्म-विचार करनेसे आनन्द होता है।

तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाले परम पदका दर्शन होता है।"

ये ज्ञानके लक्षण हैं। इस ज्ञानसे एक प्रकारकी विलक्षण और दिव्य दृष्टि मिलती है। इस ज्ञान-दृष्टिको प्राप्त करना साधकका पहिला काम है।

इस ज्ञानके चक्षुओंसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुषका जो अन्तर है, वह जानना चाहिये। इसमें पूर्वोक्त प्रकार कल्पनागत भेद है, वस्तुगत भेद नहीं, इसका यथावत् ज्ञान मननसे प्राप्त होता है। खांड और मिठासमें कल्पनागत भेद है, जल और रसमें भी कल्पनागत भेद है, बलिष्ठ और बलमें भी वैसाही भेद है। आत्मा और प्रकृतिमें भी आत्माकी शक्तिहि प्रकृति होनेके कारण वैसाही कल्पनागत अन्तर है, वस्तुगत भेद नहीं है। तथापि इस भेदको देखनेसे व्यवहारका साधन अच्छा होता है, इस कारण क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके भेदज्ञानसे उत्तम अनुष्ठान साधन करके, भूत-प्रकृतिसे मोक्ष प्राप्त करनेका भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, जिससे साधकको परम पद प्राप्त हो सकता है।

यह शरीर मेरा क्षेत्र है, शरीर यह मेराही क्षेत्र है, इसमें शुभाशुभ कर्मफलोंका बीजारोपण किया जाता है, इस क्षेत्रका यथायोग्य उपयोग करनेसे यहां अशुभ फलकी उत्पत्तिहि नहीं होगी, यह बात जानकर जो अनुष्ठान करेगा, उसके लिये यह क्षेत्र तारक बन जायगा, यह ज्ञान

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके योग्य विचारसे प्राप्त होता है। ज्ञानदृष्टिसे यह ज्ञान प्राप्त करना और तदनुसार अनुष्ठान करते हुए आगे बढना सब साधकोंको योग्य है। साधन करनेके लिये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी कल्पना अत्यंत उत्तम है।

इसी साधनसे भूतोंकी प्रकृतिसे मोक्ष हो सकता है। भूतप्रकृतिका अर्थ पंच महाभूत और पंच सूक्ष्म भूतोंका स्वभाव है। यहां स्वभाव मनुष्यको भोगोंकी ओर खींचता है। इन भूतोंके शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये जो स्वभाव हैं ये ही भोग बनकर जीवको अपने साथ बांध देते हैं। अतः इन भूतप्रकृतियोंसे अर्थात् पंचमहाभूतोंके गुणरूप भोगोंसे मुक्त होनेका साधन जो जानते हैं, वेही उक्त साधनद्वारा परमगतिको प्राप्त होते हैं।

किस तरह इनसे मुक्ति होगी? असंग-वृत्तिसे ही मुक्ति हो सकती है। यह जानकर अनासक्तिसे सब व्यवहार करके साधक परम श्रेष्ठ गति अर्थात् मोक्षको लाभ कर सकता है।

तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥

तेरहवें अध्यायके सुभाषित।

(१) आत्माकी खेती।

इदं शरीरं क्षेत्रमित्यभिधीयते ॥ १ ॥

'इस शरीरको खेत कहते हैं।' यह आत्माका खेत है, इसमें आत्मा जिस प्रकारकी चाहे खेती करके लाभ उठा सकता है। खेतका स्वामी आत्माही है।

(२) खेतका स्वामी।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥१॥

"इस खेतको जो यथावत् जानता है, उसे ही इस खेतका स्वामी समझदार है ऐसा कहते हैं।" प्रत्येक खेतका एक स्वामी होता ही है। परंतु खेतीका कार्य उत्तम करनेवाले स्वामी बहुत ही थोडे होते हैं।

(३) खेतमें बिगाडकी संभावना।

क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

'इस खेतमें बिगाड होनेकी संभावना है, यह बात संक्षेपसे जाननी चाहिये।' खेतका स्वामी सावधान न रहा तो इस क्षेत्रमें अनेक प्रकारके बिगाड होकर खेतीका नाश होगा, अतः खेती करनेवाला सदा दक्ष रहे और अपने खेतमें बिगाड होने न दें।

(४) ज्ञान।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं
तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त-
मज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

"अध्यात्मज्ञान और तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला जो मोक्ष रूप अर्थ है, इसका प्रत्यक्ष करना इसका नाम ज्ञान है।" अध्यात्मज्ञानसे भिन्न और मोक्षसे विरोधी जो है, वह सब अज्ञान है।

(५) समचित्त।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥९॥

"इष्ट अथवा अनिष्ट इनमेंसे कोई अवस्था प्राप्त होनेपर भी चित्तकी समता स्थिर रखना।" चित्तकी समाधान-वृत्ति हरएक अवस्थामें स्थिर रखनी चाहिये।

(६) सबका पोषण करना।

असक्तं सर्वभृच्चैव ॥ १४ ॥

" स्वयं भोगोंमें आसक्त न होना, परंतु सबका पालन पोषण धारण यथायोग्य करना चाहिये।" स्वयं भोगोंसे निवृत्त होना चाहिये, परंतु सब लोगोंको खानेपीने आदि भोग मिलेंगे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये।

(७) अविभक्त होनेपर विभक्तसा व्यवहार।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् १६

"अन्तर्यामी अविभक्त रहनेपर भी, बाहरके व्यवहारमें विभक्त जैसा आचरण करना।" बाहर विभक्त जैसा व्यवहार करनेपर भी अन्दरसे वस्तुतः अविभक्त ही रहना चाहिये।

(८) समभाव।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

" सब भूतोंमें परमेश्वर सम भावसे रहता है।" वैसाही साधक सब प्राणियोंके विषयमें समभावना धारण करे।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति
परां गतिम् ॥२८ ॥

'परमेश्वर सर्वत्र समभावसे है, यह जाननेवाला स्वयं आत्मघात नहीं करता और श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है।" जो मनुष्य सबको समभावसे देखता है, उसकी श्रेष्ठता होती है।

(९) पृथग्भावमें एकता।

भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ॥३०॥

" भूतोंके पृथग्भावको भी एकत्वमें आश्रित देखना" चाहिये। प्राणियोंमें भेदभाव कितना भी हो, परंतु उनमें जो एकताका केन्द्र है उसको ही ध्यानमें धारण करना चाहिये।

(१०) निर्लेपता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥३२॥

'जैसा आकाश सूक्ष्म और सर्वव्यापक होनेपर भी निष्कलंक है, वैसाही आत्मा सब देहोंमें रहनेपर भी कलंकरहित है।' इसी प्रकार साधक सर्वत्र संचार करके भी अपने आपको निर्दोष, निष्कलंक और निर्लेप रखे। सबके साथ संबंध होनेपर भी किसीके दोषसे दोषी न होवे।

(११) प्रकाश दो।

प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री कृत्स्नं प्रकाशयति ॥३३॥

" सूर्य सब लोकोंको प्रकाशित करता है, क्षेत्री संपूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है।" इसी तरह मनुष्य अपने अन्दर प्रकाश बढाकर दूसरोंको देवे।

(१२) श्रेष्ठ गति प्राप्त करो।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३४

" जो ज्ञानदृष्टि प्राप्त करेंगे, क्षेत्र और क्षेत्रीका भेद जानेंगे और पंच भूतोंकी प्रकृतिस्वभावसे अपनी मुक्तता करेंगे, वे श्रेष्ठ गतिको प्राप्त करेंगे।" ज्ञान प्राप्त करो, क्षेत्र और उसका स्वामी इनका परस्पर संबंध ध्यानमें रखो और भोगोंके बंधनसे अपने आपको छुडाओ, इतना करनेसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होगी।

श्रीमद्भगवद्गीताके

तेरहवें अध्यायका मनन।

इस तेरहवें अध्यायमें प्रारंभसे अन्ततक श्री भगवान्‌काही उपदेश अखण्ड धारा-प्रवाहसे चल रहा है। अतः इस अध्यायका महत्त्व उपदेशकी एकरसताकी दृष्टिसे विशेष है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ।

इस अध्यायमें "क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ" का विचार किया है और साधकको अपनी उन्नतिके लिये आवश्यक साधन करनेका उपदेश दिया है। पहिलेहि श्लोकमें कहा है कि (इदं शरीरं क्षेत्रम्) यह शरीर क्षेत्र है और (एतत् यः वेत्ति स क्षेत्रज्ञः) इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। खेत और खेतका स्वामी इनका विचार इस अध्यायमें किया है। इस 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' के विचारको यथावत् जाननेके लिये इनका अर्थ सबसे पहिले समझना चाहिये, वह देखिये। इस समयतक इस आशयको प्रकट करनेवाले जो शब्द आगये हैं, वे ये हैं—

१ सगुण	निर्गुण (गी० १३।३१)
२ तमः	ज्योतिः (गी० १३।१७)
३ जड	चेतन
४ क्षर	अक्षर (गी० ८।३-४)
५ स्थूल	सूक्ष्म (गी० १३।१५)
६ व्यक्त	अव्यक्त (गी० १२।३)
७ प्रकृति	पुरुष (गी० १३।१९-२१)
८ भूत	आत्मा (गी० ६।२९)
अभिभूत	पुरुष (गी० ८।४)
सर्वभूत	अहं (गी० ६।३०-३१)
भूतपृथग्भाव	एकत्वं (गी० १३।३०)
९ देह	देही (गी० २।२२, ३०)
देह	अधियज्ञः (गी० ८।४)
१० क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ (गी० १३।१-३)
,,	क्षेत्री (गी० १३।३३)

इस ढंगसे अनेक शब्दोंद्वारा गीतामें प्रकृति-पुरुषकाही भाव व्यक्त किया है। यद्यपि इन शब्दोंमें मुख्यतः एकही भाव व्यक्त होता है, तथापि हरएक शब्दमें अर्थका कुछ न कुछ भेद अवश्य है। यह भेद देखना, यहां अत्यंत आवश्यक है। अतः हम पहिले प्राकृतिक क्षेत्रकाहि विचार करते हैं–

प्राकृतिक क्षेत्र।

प्राकृतिक क्षेत्रमें 'प्रकृति, भूत, देह, क्षेत्र,' ये शब्द मुख्य हैं और 'सगुण, तमः, जड, क्षर, स्थूल, व्यक्त' ये शब्द गौण हैं। इनका अर्थ यह है–

१ सगुण- सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंसे युक्त,

२ तमः- अज्ञान, अन्धकार, ज्ञानग्रहणमें असमर्थ,

३ जड- चैतन्यरहित, स्थिर,

४ क्षर- नाशवान्, चूनेवाला,

५ स्थूल- मोटा, बडे आकारवाला,

६ व्यक्त- प्रकट, दीखनेवाला।

प्राकृतिक वस्तुओंके ये गुण हैं। अपने शरीरमें ये शब्द सार्थही होते हैं। हरएक पाठक इनको अपने देहमें घटाकर देखें। अब शेष चार शब्दोंका अर्थ देखिये–

७ प्रकृति- मूल प्रकृति, पुरुषकी सनातन शक्ति, जिससे विशेष कृति होती है।

८ भूत- प्रकृतिसे बना पदार्थ, बनी वस्तु।
९ देह- प्राणीका शरीर, संचयसे बना।
१० क्षेत्र- खेत, जिसमें फल परिपक्व होता है।

ये शब्द विशेष अर्थके सूचक हैं। इनमेंभी 'भूत' शब्दका अर्थ 'बना हुआ' और 'देह' शब्दका अर्थ 'संचयसे निर्माण हुआ' है। ये शब्द कोई विशेष महत्त्वकी सूचना नहीं देते। शेष दोही शब्द रहे हैं, जो विशेष विचार करने योग्य हैं। 'प्र-कृति' शब्दसे 'विशेष कृति करनेका साधन, जिससे विशेष कर्म हो सकते हैं, जिससे अद्भुत पुरुषार्थ किये जा सकते हैं' यह भाव सूचित होता है और 'क्षेत्र' शब्दसे 'खेत, जो चाहे बीज बोया जा सकता है, खेतका स्वामी जो चाहे वृक्ष इसमें लगा सकता है और उसके फल प्राप्त कर सकता है।' यह आशय व्यक्त होता है।

प्रकृति और क्षेत्र।

इस विवरणसे पाठकोंको पता लग सकता है कि, 'प्रकृति और क्षेत्र' ये दो शब्द विशेषहि महत्त्वका उपदेश दे सकते हैं। ये दोही शब्द (गी० १३।१-३; १९-२१) मुख्यतया यहां इस तेरहवें अध्यायमें प्रयुक्त किये गये हैं। इसका स्पष्ट उद्देश्य यही है कि, यह साधक अपने देह-रूप साधनसे विशेष कृति करे और श्रेष्ठ बने तथा देहरूप क्षेत्रमें ऐसे बीज बोवे कि, उससे उत्तम फल तैयार होकर इसे मिले।

इस क्षेत्रमें जो बीज बोया जाय, वैसेही फल इस साधकको मिलेंगे, यह निश्चय है। यदि इसको दुःख हो रहा है, तो निश्चय जानिये कि इसने बुरा बीज बोया था। आगे सावधान रहे और प्रयत्न करके अच्छा बीज बो देवे, जिससे इसको अच्छे फल मिलेंगे और आनन्द प्राप्त होगा। सुखदुःखका हेतु कोई दूसरा नहीं है। अपने खेतमें बाजरा लगानेपर आम नहीं मिलेंगे, यह ध्यानमें रखना चाहिये।

क्षेत्रका महत्त्व।

केवल एक 'क्षेत्र' शब्दसे कितना सीधा मार्ग उन्नति करनेके लिये सामने खडा होता है, यह देखिये। साधक समझे कि यह मेरा खेत है, इसमें जो चाहे बीज मैं डाल सकता हूं और इस क्षेत्रको अधिक उपजाऊ बनाकर बहुत अच्छा फल प्राप्त कर सकता हूं। यह आशा हर-एक साधकको देनेके लियेही यहां 'क्षेत्र' (खेत) शब्दका प्रयोग इस अध्यायमें किया है।

अपना एक खेत है, ऐसी कल्पना करनेसे आगेकी कल्पना आपही आप हो जाती है और अपना कर्तव्य स्पष्ट रूपमें सामने आ जाता है। खेतमें भी उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ प्रकारकी भूमि रहती है, वैसा यहां सात्त्विक, राजस और तामस देहप्रवृत्तिसे तीन प्रकारका यह क्षेत्र होता है। निकृष्ट खेतको उत्तम प्रयत्न और उत्तम खाद आदि द्वारा उत्तम बनाया जा सकता है, इसी तरह यहां तामस प्रकृतिको तपस्या यम-नियमपालन, योगसाधन, उपासना आदि द्वारा सात्त्विक प्रकृतिमें रूपान्तरित किया जा सकता है। जैसी उत्तम जलसे उत्तम कृषि होती है, उसी प्रकार यहां उत्तम जीवनसे उत्तम फल प्राप्त हो सकते हैं। जैसे उत्तम कृषिसे धनधान्यसंपन्नता हो सकती है, उसी प्रकार यहां भी इस कुरुक्षेत्रमें किये शुभ यज्ञीय धर्म-कर्मसे शुभ फल अवश्य प्राप्त हो सकते हैं।

यहांका 'क्षेत्र' शब्द इतना उत्तम उपदेश दे रहा है और अपनी सच्ची उन्नतिका साधन अपने हाथमें है, यह बात स्पष्ट कर रहा है। पाठक इसका विचार करें और अपना भविष्य स्वयं अपने हाथसे जैसा चाहिये वैसा घडनेका प्रयत्न करें।

पुरुषका सामर्थ्य।

क्षेत्रका विचार किया, अब पुरुषका विचार

करना चाहिये। यह पुरुष कैसा है ? इसका उत्तर इसके वाचक शब्द दे रहे हैं। यह पुरुष 'निर्गुण' है अर्थात् गुणोंसे मुक्त है, गुणोंसे-रस्सियोंसे बंधा नहीं है, स्वतंत्र है, बंधनरहित है। यह पुरुष 'ज्योतिः' स्वरूप है, प्रकाशयुक्त है, अतः यह अपना उन्नतिका मार्ग स्वयं देख सकता और दूसरोंको दिखा सकता है। 'चेतन' होनेसे प्रेरणा कर सकता है और ज्ञानी हो सकता है। 'अक्षर' होनेसे यह अविनाशी है। सूक्ष्म और अव्यक्त है, अतः सर्वत्र निष्प्रतिबंध गमन कर सकता है। यह 'पुरुष' है (पुरि+वस= पुरुषः) अतः अपनी पुरिमें वसता है, अपने क्षेत्रमें रह सकता है। 'आत्मा' (अतति) होनेसे यह सर्वत्र गमन करके अपने क्षेत्रका यथायोग्य निरीक्षण कर सकता है। 'अहं' (अ-हीन) इसका नाम होनेसे यह हीन नहीं है, यह पूर्ण उच्च है। 'एक' होनेसे इसका कोई वैरी नहीं है, यहां दूसरा कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है, जो इसको दबावे, यह एक होनेसे क्षेत्रका पूर्ण स्वामी यही है। 'देही' और 'क्षेत्री' ये दो शब्द यह अपने क्षेत्रका पूर्ण स्वामी है, यह भाव बताते हैं। 'अधि-यज्ञ' शब्द यह सर्व-पूज्य होनेका आशय बता रहा है और 'क्षेत्र-ज्ञ' शब्द अपने खेतको सब प्रकारसे यह जान सकता है, यह भाव व्यक्त कर रहा है।

ये सभी शब्द महत्त्वके हैं और साधकके कर्तव्य बताते हैं। परंतु इन सबमें 'क्षेत्र-ज्ञ' शब्द सबसे अधिक उच्च भाव व्यक्त कर रहा है। यह 'अपने खेतको जाननेवाला' है। अन्य शब्द अच्छा उपदेश दे रहे हैं। इसमें संदेह नहीं, प्रत्युत यह शब्द इसकी योग्यता निःसंदेह सिद्ध कर रहा है कि, 'यह स्वयं अपने खेतको उत्तम रीतिसे जानता है, इसमें कौनसा बीज कैसा बोना चाहिये, किस समय कैसा जल देना चाहिये, घास आदि कैसे हटाना चाहिये, किस समय धान्य और फल तैयार होता है, वह किस समय कैसा लाना चाहिये और उस प्राप्त फलका उपयोग कैसा करना चाहिये' इत्यादि सब खेती करनेवालेके कर्तव्य इसे उत्तम प्रकार ज्ञात हैं। यह आशय 'क्षेत्रज्ञ' शब्दमें है। यदि किसीको अपने खेतका यथावत् पता नहीं है, तो उसे वह प्राप्त करना चाहिये। यदि वह प्राप्त करना चाहे, तो उसे वह ज्ञान हो सकता है। यह विश्वास इस शब्दने यहां साधकको दिया है। इस कारण इन सब शब्दोंमें 'क्षेत्र+ज्ञ' शब्द अत्यंत महत्त्वका है।

'प्रकृति-पुरुष' वाचक सब शब्दोंमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' ये ही दो शब्द निश्चित पुरुषार्थ सिद्धिके सूचक होनेसे मुख्य हैं। साधक अपनेही प्रयत्नसे सिद्धिको प्राप्त कर सकता है, यह स्पष्ट भाव इन शब्दोंसे बताया है। खेतका यह स्वामी है, खेत इसके अधिकारमें है, यह प्रयत्न करे, बीज बोवे और फल प्राप्त करे।

'मैं स्वतंत्र हूं, अपना क्षेत्र मेरे पास है, मैं खेती करूंगा तो धान्य प्राप्त होगा, नहीं करूंगा तो भूखा रहना पडेगा' यह व्यवहारका सरल तत्त्वज्ञान यहां बताया है। पाठक इसका अधिक विचार करें और अपना कर्तव्य जानें।

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही सत्य ज्ञान है' (श्लो० २) क्योंकि साधककी सिद्धि और असिद्धि इसीपर निर्भर है।

खेतकी परीक्षा।

खेत अपने अधीन होनेपर (यत् च या-दृक् च) इस क्षेत्रकी मर्यादा कौनसी है, खेतकी जाति कौनसी है, भूमि उपजाऊ है वा निकृष्ट भूमि है, उत्तम भूमि है वा पथरीली है (यद्विकारी) इस खेतमें विकार-रोग-कौनसे होते हैं, इसमें बिघाड कैसा हो सकता है और पुनः सुधार कैसा हो सकता है, (यतः च यत्) किस कारणसे कौनसा कार्य यहां हो सकता है, क्या करनेसे शुभ होगा और किस तरह करनेसे

अशुभ अथवा अनिष्ट होगा। यह सब बातें खेतके स्वामीको जाननी चाहिये। अपने खेतकी इस तरह परीक्षा करना प्रत्येक स्वामीका कर्तव्य है। (श्लो० ३)

इस देहरूपी क्षेत्रकी परीक्षा करनेकी कसौटियां गीता अध्याय १४ से १८ तक सत्त्व-रज-तम-विवेकसे दी हैं। साधक इन कसौटियोंसे अपनी परीक्षा करें और अपना खेत किस योग्यताका है,इसका निश्चय करें और इस आत्म-परीक्षासे यदि हीन योग्यताका क्षेत्र है, ऐसा निश्चय हुआ तो साधक हताश न हो, परंतु योग्य तपस्यादि साधनसे अपने खेतको अधिक उपजाऊ बनावे। प्रयत्न करनेपर निकृष्ट खेतको भी उत्तमसे उत्तम बनाया जा सकता है, अथवा उस भूमिके योग्य बीजकर बोध अधिकसे अधिक लाभ उठाया जा सकता है। अतः हरएकको अपने खेतकी परीक्षा करनी चाहिये।

अनेक ऋषि-मुनियोंने इस खेतका बहुत ही वर्णन किया है। विविध ऋषि अनेक छन्दोंमें कुशल थे। इसी तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विचिकित्सा करनेवाले अनेक मुनि हो गये हैं। उन्होंने अनेक हेतु दर्शाकर इस क्षेत्रकी महत्ता विविध प्रकारसे वर्णन की है। इस तरह प्राचीन ज्ञानी इस क्षेत्रका वर्णन करते रहे हैं, उसको देखनेसेभी इस खेतकी योग्यता सहजहीसे ज्ञात हो सकती है। (श्लो० ४)

क्षेत्रका स्वरूप।

यहां तक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका विचार किया और उससे जो बोध मिलता है, उसको देखा। अब क्षेत्रमें किसका समावेश होता है, उसका विचार करना है। इसका विचार इस अध्यायके श्लोक ४ और ५ में किया है। यहां जो क्षेत्रका स्वरूप बताया है, वह यह है—

१ पंचमहाभूत- पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत, पांच तत्त्व (५)

२ अहंकार- 'अहं' (मैं) ऐसा जो कहना है, यह वैयक्तिक सत्ता स्थिर रखता है। इससे एक वस्तुकी दूसरी वस्तुसे पृथक् सत्ता स्थापित हो रही है। (१)

३ बुद्धि— ज्ञानग्रहणशक्ति, ज्ञानशक्ति (१)

४ अव्यक्त- प्रकृति, मूल प्रकृति (१)

५ ग्यारह इंद्रियगण- पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेंद्रिय। नाक, जिह्वा, नेत्र, त्वचा और कान ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं और हाथ, पांव, मुख, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। मन ग्यारहवाँ इंद्रिय है। (११)

६ पांच विषय- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच भोगविषय हैं। पांच ज्ञानेंद्रियोंसे इन पांच विषयोंका ग्रहण होता है।

कान से शब्दका ग्रहण होता है।
त्वचा „ स्पर्शका „ „
नेत्र „ रूपका „ „
जिह्वा „ रसका „ „
नाक „ गंधका „ „

येही भोग हैं और इनके भोगसे ही मनुष्य भोगी होकर बद्ध होता है। (५)

७ इच्छा- वासना, आकांक्षा, भोग प्राप्त करनेकी मनीषा (१)

८ द्वेष— शत्रुत्व, दूर करनेकी मनीषा (१)

९ सुख— (सु+ख) जिससे इंद्रियको समाधान मिलता है। (१)

१० दुःख— (दुः+ख) जिससे इंद्रियको समाधान नहीं होता। (१)

११ संघात- समूह बनाकर रहनेकी चाह, जैसा शरीर और इंद्रियोंका संयोग, संघात है। (१)

१२ चेतना-चैतन्य, हलचल, प्रयत्न, ज्ञानपूर्वक प्रयत्न (१)

१३ धृति—धारणाशक्ति, सबको आधार देकर संभालनेकी सामर्थ्य (१)

यह ३१ प्रकारका विकार होनेवाला क्षेत्र है। इसमें विकार इस प्रकार होते हैं। विकारका अर्थ बिगाड है। इन क्षेत्रविभागोंमें जो विकार होते हैं, वे इस तरह होते हैं—

क्षेत्रके विकार।

पंचमहाभूतोंमें पार्थिव भाग और जल भाग एक दूसरेके साथ मिलनेसे, अथवा जलवायुके संयोगसे सडान शुरू होती है, सूर्यकिरणोंसे पृथ्वीपर शुष्कता होती है, वायु भी सबको सुखा देता है। इस तरह अनेक प्रकार इनमें विकार होते हैं। वृक्षवनस्पति, तथा पशुपक्षियोंके शरीर बनते हैं, बढते हैं और बिगडते भी हैं। यह भी पांचभौतिक विकार ही है। एक दूसरेके साथ मिलनेसे अनंत विकार होते हैं, इन विकारोंका शास्त्र ही रसायनशास्त्र है।

बुद्धिमें विकार होते हैं, कई लोग दुष्ट बुद्धिवाले होते हैं। बुद्धिकी दुष्टता एक बडा भारी विकार है। (बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति। मनु) बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है। अर्थात् इसके विकार ज्ञानसे दूर होते हैं।

अव्यक्त-मूल प्रकृति- महत्तत्त्व- अहंकार इनमें विकार होकर सब सृष्टि होती है, सृष्टिमें भी अनंत विकार हो रहे हैं। यह बात यहां दुबारा कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

ग्यारह इंद्रियोंमें विविध विकार, रोग, आघात आदि होते हैं, यह बात मनुष्यके अनुभवकी है। इन रोगोंके निवारण के लिये आयुर्वेदकी रचना हो गयी है, इनमें विकार होनेकी बात सिद्ध होती है।

शब्दस्पर्शमें विविध विकार होनेकाभी अनुभव मनुष्यको है; विकृत शब्द, विकृत गंध, विकृत रूप मनुष्यके सामने आते हैं। इसी प्रकार इच्छा-द्वेषादिमें भी अनंत विकार हैं, यह बात थोडासा विचार करनेसे हरएक पाठक जान सकता है।

अतः यह सब क्षेत्र 'स-विकार' अर्थात् विकार होनेवाला, विकृत बननेवाला, बिगडनेवाला, परिवर्तन होनेवाला है, ऐसा यहां कहा है। साधक इस अपने क्षेत्रको विकारवान् जानें और उसमें विकार कम होने योग्य अपनी खेती का कार्य करें।

खेतमें धान्यके साथ घास उगता है, अवृष्टि अतिवृष्टिसे हानि होती है, अनेक धान्यके रोग होकर बिगाड होता है, इस तरह अनेक विकार होनेका अनुभव खेती करनेवालोंको है। उसी प्रकार इस अध्यात्म क्षेत्रमें भी अनेक विकार होते हैं और यहांकी अध्यात्मकी कृषिका बिगाड होता है यह साधकको जानना और यह बिगाड अपने खेतमें न होनेके लिये सावध रहना चाहिये।

'मेरे इस अध्यात्म क्षेत्रके पंचमहाभूत, उनकी तन्मात्रा, ग्यारह इंद्रिय, इंद्रियोंके भोगविषय, ये विकाररहित हों, मेरा मन, मेरी इच्छा और मेरे प्रयत्न दोषरहित हों, मैं यहां ऐसा आचरण करूंगा कि, मेरे आचरणसे यहां किसी प्रकार भी बिगाड उत्पन्न न होगा। मैं सावधान रहकर यहांकी आध्यात्मिक खेती करूंगा और मोक्षरूप फल यहांसे ही प्राप्त करूंगा।' इस प्रकारकी आकांक्षा साधक मनमें धारण करे। जो साधक इस तरह सावध रहेगा, उसके क्षेत्रमें विकार नहीं होंगे। विकार न होनेसे उसका खेत उत्तम रीतिसे फूलेगा और फलेगा। ऐसी सफल खेती करना इसके अधीन है।

इतने विरणसे पाठकोंके ध्यानमें बात आगई होगी कि, इस क्षेत्रका इतना विवरण करनेका

प्रयोजन क्या है। जो साधक इस क्षेत्रको यथावत् जानेंगे और अपने आपको 'क्षेत्री' अर्थात् क्षेत्रके स्वामी तथा 'क्षेत्र-ज्ञ' इस क्षेत्रके जानकार समझेंगे, क्षेत्रका उपयोग करनेकी विद्या जो यथावत् प्राप्त करेंगे, उनके लिये यह क्षेत्र सफल होगा। उनको असीम आनन्द मिलेगा और परम श्रेष्ठ स्थान प्राप्त होगा।

साधकोंके पुरुषार्थपर उनकी सिद्धि अवलंबित है, वे साधक पुरुषार्थ करनेके लिये स्वतंत्र हैं, यह बात यहां सिद्ध हो गई है। और यही बात बतानेके लिये उनका शरीर क्षेत्र है और साधक स्वयं उस क्षेत्रके स्वामी हैं, यह उपदेश यहां कहा है।

ज्ञानका परिणाम।

साधक और उनका कार्यक्षेत्र इसका इतना विचार करनेके पश्चात् अब साधकको जो ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, वह कहते हैं। यह ज्ञान साधकको प्राप्त होनेसे, इस ज्ञानसे साधकको क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका निश्चय हो सकता है। अतः इसका विचार यहां विशेष करना चाहिये।

यहां श्लोक ७ से ११ तक जो कहा है, उसको (एतत् ज्ञानं) 'ज्ञान' कहा है, परंतु विचार करनेसे पता लगेगा कि सत्य ज्ञानसे साधकके मनमें यहां कहे भाव स्थिर होते हैं और सत्य ज्ञान न होनेसे इसके विपरीत भाव होते हैं।

'सब कुछ वासुदेव है' (गी० ७।१९); 'नवधा प्रकृति ईश्वरकी प्रकृति है, जिससे सब कुछ विश्व बना है।' (गी० ७।४-६) 'विश्वका सब रूप ईश्वरकाही है और उस विश्वरूपमें मेरा रूप संमिलित है, इस लिये मैं उससे अभिन्न हूं, मैं उससे अनन्य हूं।' (गी० अ० ११) इसका नाम ज्ञान है। इस ज्ञानका उपदेश द्वितीय अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक किया है। इस ज्ञानकी मनमें स्थिरता होनेसे जिसका मन अनन्य भावसे परिशुद्ध हुआ है, उसके मनमें 'अमानित्व' आदि भाव स्थिर होते हैं। इस ज्ञानी पुरुषका अनन्यभावयुक्त मन इन निम्नलिखित भावोंसे युक्त होता है—

१ अहिंसा।

ज्ञानी पुरुष अहिंसा-वृत्तिवाला होता है। वह समझता है कि, सब विश्व अखण्ड एकरस है, उससे मैं अभिन्न हूं, मैं उससे अनन्य हूं, अतः इसमेंसे किसीकी हिंसा की, तो वह मेरीहि हिंसा होगी। हिंसाभावसे समाज स्थिर नहीं रह सकता। सब प्राणियोंको अभय होना चाहिये। जिस समाजमें निर्भयता रहती है, वही समाज कुछ प्रगति कर सकता है। ऐसा विचार करके ज्ञानी पुरुष (मत्तः सर्वेभ्यः अभयं) 'मुझसे सबको मैं अभय दिया है' ऐसा कहकर पूर्ण अहिंसाशील होता है।

परंतु जो अज्ञानी है, वह कहता है कि, 'मैं हि भोक्ता हूं, दूसरोंका घातपात करके मैं भोग भोगूंगा। दूसरोंका नाश करूंगा, दूसरोंको लूटूंगा और मैं अपने भोग बढाऊंगा।' इस तरह अज्ञानसे हिंसा करनेकी वृत्ति बढती है और विश्वमें अशांति बढती है। विश्वमें लूट, दंगे, फिसाद, युद्ध, घातपात बढते हैं और किसीको भी अपने जीवितकी सुरक्षितता नहीं रहती। अज्ञानसे ऐसे अनर्थ होते हैं।

इस लिये सत्य ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये और अहिंसाशील मनोवृत्ति बनानी चाहिये।

२ अमानित्व।

मानी न होना, अपना बडापन दिखलानेकी जिसे इच्छा नहीं होती, लोगोंमें अपना महत्त्व स्थापित हो जाय ऐसी महत्त्वाकांक्षा जिसे नहीं होती, लोग मेराही सत्कार करें और किसीका न करें, ऐसी जिसमें इच्छा नहीं होती, उसको 'अमानी' कहते हैं। अपने अन्दर विद्या, ज्ञान,

चातुर्य आदि श्रेष्ठ गुण रहनेपर भी, तथा अपनी योग्यता विशेष रहनेपर भी जो अपना दिखावा बढानेका यत्न नहीं करता, उसमें 'अमानित्व' गुण है, ऐसा कह सकते हैं। जो ज्ञानी होते हैं, वे अमानी होते हैं।

परंतु जो अज्ञानी होते हैं, जिनमें सत्य ज्ञान नहीं होता, वे अपना बडापन अत्यधिक दिखानेके लिये यत्न करते हैं, हरएक स्थानमें आगे आगे बढते हैं, अपनेको प्रमुख स्थान मिले, इस के लिये प्रयत्नकी पराकाष्ठा करते हैं और अपनी योग्यता न होनेपर भी बडे स्थानपर जाकर बैठनेका यत्न करते हैं। इससे वह कार्य बिगडता है और इनकी भी अप्रतिष्ठा होती है।

३ अदम्भित्व।

दम्भ न होना, दम्भ न करना ज्ञानीका लक्षण है। दम्भ का अर्थ है। मिथ्याचार अपने अन्दर जो धर्मभाव नहीं है, वह है ऐसा जो बताना है, उसका नाम दम्भ है। स्वयं योगाभ्यास न करते हुए 'मैं योगी हूं' ऐसा बताना और योगका उपदेश करना दंभ है। स्वयं साक्षात्कारी न होते हुए अपने आपको साक्षात्कारी बताना दम्भ है। अज्ञानी हि दम्भ करते हैं। ज्ञानी दम्भसे हानि होती है, यह देखकर दंभ कभी नहीं करते। दम्भसे जनता फंसती है, मोहित होती है और दुष्टके पीछे पडकर फंस जाती है। दम्भसे ऐसा अनर्थ होता है, यह देखकर ज्ञानी सदा दम्भसे दूर रहते हैं और जो अन्दर रहता है, वही बाहर बताते हैं। दम्भी लोग बाहरका बडा आडम्बर रचते हैं और जनताको ठगाते हैं। अतः दम्भी अज्ञानी होता है और ज्ञानी कभी दम्भ नहीं करता।

४ आर्जव-सरलता।

ज्ञानी सरलस्वभाव होता है। उसमें कुटिलता नहीं होती। जैसा सरल करना होता है, वैसाही ज्ञानी करता है और कहता है। सरलता और नम्रता ज्ञानीमें सहज स्वभावसे रहती है। इसके विरुद्ध ज्ञानहीन मनुष्य कुटिल होता है, कपट करता है, ठगाता है। बोलता है एक और करता दूसरा ही है।

जैसा फूले हुए फूलका सुगंध सहज... फैलता है, वैसा ज्ञानीका सरल स्वभाव आपही आप जनताके अनुभवमें आता है। वह अपना सरल मत सहजहीसे विनासंकोच प्रकट करता है। जिसमें लोभ, कपट और तेढापन नहीं होता, विनय और नम्रता जिसमें अत्यंत है, जो संदेहरहित भाषण करता है। अन्तःकरणमें एक और बाहर एक ऐसा भाव जिसमें नहीं होता, वह सरल स्वभावी होता है। ज्ञानकी पूर्णतासेही मनुष्य ऐसा होता है।

परंतु जिसमें सत्य, शुद्ध ज्ञान नहीं है, वह कपटी, कुटिल, लोभी, तेढा, अभिमानी घमंडी होता है। इसका यह स्वभाव इसके आचरणमें दीखता है। यह अज्ञानकाही प्रभाव है।

५ क्षान्ति, क्षमा।

'क्षान्ति' का अर्थ 'क्षमा' है, क्षमाका आशय भी सहन करनेका सामर्थ्य है। दूसरोंने अपने अपराध किये तो उनका प्रतिकार न करना, क्षमाका एक आशय है। और धर्मकार्य करनेके समय होनेवाले कष्टोंको सहन करनेका सामर्थ्य भी क्षमाके अर्थोंमें आता है। ज्ञान होनेके पश्चात् मनमें अनन्य भाव स्थिर होता है, इस कारण जिसे दूसरा कहा जाय वैसा कोई रहता ही नहीं, इस लिये जो अपराध दूसरेके द्वारा होते हैं, उनमें भी अपना भाग है, ऐसा प्रतीत होता है। अपनी अपूर्णताके कारण उसमें अपूर्णता रही, अतः उसके दोष मेरी अपूर्णताके कारण हुए ऐसा सिद्ध होता है। ऐसा माननेवाला मनुष्य दूसरेको कैसा दण्ड दे सकता है? वह दण्ड करेगा तो अपनेकोहि करेगा और दूसरोंको क्षमाही करेगा। इसलिये ज्ञानी आत्म-

दण्डन करता है और दूसरोंके विषयमें शान्ति धारण करता है।

इसके विपरीत ज्ञानहीन मनुष्य दूसरोंका दोष देखतेही क्रुद्ध होता है, चिडता है, आक्रोश करता है, दूसरोंको पीडा देता है। इस तरह जगत्में अशान्ति उत्पन्न करता है। यह स्वयं अशांत होकर दूसरोंको भी अशान्त करता है। सहनशीलता तो इसमें रहतीहि नहीं। अशान्ति और परपीडन ये भाव अज्ञानके कारण बढते हैं और जगत्में अशान्तिको बढाते हैं।

६ आचार्योपासना।

सद्गुरुकी सेवा ज्ञानी करता है, सद्गुरुसे ज्ञान प्राप्त होता है, इस लिये वह उसकी भक्ति करता है, सेवा करता है और ज्ञानकी प्राप्ति इससे उसको होती है। ज्ञानसे भक्ति बढती है और भक्तिसे ज्ञान बढता है। इस तरह एक दूसरेकी वृद्धि होकर वह साधक पूर्ण ज्ञानी होता है।

यहां 'आचार्यकी उपासना' शब्द है। 'आचार्य' उसका नाम है कि जो (आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्। निरुक्त) सदाचार का ग्रहण कराता है, सत्य अर्थोंका संग्रह करके शिष्यको देता है। यह सदाचार है, यह दुराचार है, सदाचारके ग्रहणसे ये लाभ हैं, दुराचारसे ये हानियां हैं, ऐसा समझाकर जो अपने शिष्योंको सदाचारी बनाता है, उस आचार्यकी योग्यता बहुत बडी है। गुरु और अध्यापक विद्या पढाते हैं, परंतु आचार्य विद्या पढानेके साथ साथ सदाचारकी शिक्षा देता है। ऐसे आचार्यकी सेवा शुश्रूषा करना अथवा उसकी सत्संगतिमें रहना जो शिष्य करते हैं, उनको सत्य ब्रह्मज्ञान मिलता है और उनके जन्मकी सफलता होती है। इस तरह ज्ञानीका व्यवहार है।

ज्ञानहीन लोग गुरुसे लडते हैं, उनसे अहंकार करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं। गुरुभक्ति उनमें नहीं होती, अतः वे सत्यज्ञानसे वंचित रहते हैं।

७ शौच–पवित्रता।

इस पवित्रताका संबंध केवल शारीरिक स्वच्छताके साथही नहीं है। बुद्धि, मन, इंद्रियां, शरीर, घर, ग्राम आदि सबकी स्वछता और निर्मलता यहां अभीष्ट है। वाणीकी पवित्रता, विचारोंकी शुद्धता, कल्पनाओंकी निर्मलता, व्यवहारकी पवित्रता, आचारकी निष्कलंकता, रहनसहनकी स्वच्छता, व्यापारधंदोंकी शुचिता इन सबका इसमें समावेश होता है। जिस समय मानवी आचार व्यवहारमें यह पवित्रता पूर्ण रूपसे सिद्ध होगी, उस समय मनुष्यसमाज उच्च स्थितिमें अथवा आदर्श अवस्थामें रहेगा। यही आदर्श समाज-स्थिति अतिशीघ्र व्यवहारमें लानेके लिये प्रयत्न होना चाहिये। ज्ञानसेही यह समाज-स्थिति सिद्ध हो सकती है।

जिस समाजमें सत्य ज्ञान नहीं है, उस समाजके लोगोंमें अपवित्र विचार होते हैं, उनकी भाषा अमंगल होती है, व्यवहार अशुद्ध होते हैं, कल्पनाएं मलिन होती हैं, आचारविचार कलंकित होते हैं, रहनसहन अपवित्र होता है, व्यापारधंदोंमें तेढापन और दूसरोंको ठगानेकी अपवित्र बुद्धि होती है। इस समाजमें किसीको भी सुख प्राप्त होनेकी आशा नहीं है। दूसरेको ठगाकर कोई एकाध मनुष्य धनवान् या क्षणमात्र सुखी हुआ है ऐसा दीखेगा, तथापि चिरस्थायी सुख अशुचि व्यवहारसे मानवोंको प्राप्त होना असंभव है। इसीलिये शुचिताका अन्तर्भाव ज्ञानमें किया है।

८ स्थैर्य–स्थिरता।

चञ्चलताका अभाव, स्थिरता, एक कार्यमें स्थिर रहना, एक छोडना और दूसरा करना, दूसरा छोडकर तीसरा शुरू करना, ऐसा न करना, परंतु एकही शुभ कार्य शुरू करना और

उसीको अन्ततक पहुंचाना, यह ज्ञानसेही हो सकता है। ज्ञान-हीन मनुष्य चञ्चल, अस्वस्थ, अस्थिर बुद्धिवाला होता है। अस्थिरतासे हानि और स्थिरतासे लाभ होता है।

कोई मनुष्य कुछ व्यापार करता है, यदि उसका वचन विश्वास रखने योग्य स्थिर न रहा, तो व्यवहारमें उसपर कोई विश्वास नहीं रखेगा। और उस कारण उसकी व्यवहारमें असफलता रहेगी। जो अपने वचनपर स्थिर रहेगा वही व्यवहारमें सफल होगा।

स्थैर्यका अर्थ शरीरकी स्थिरता, जो बलके कारण होती है, है। बलसे मनुष्य अपने स्थानमें स्थिर रहता है, निर्बलही डरसे चंचल होता है, शिथिल होता है और अपना कार्य कर नहीं सकता, न अपने स्थानमें ठहर सकता है। अस्थिरता निर्बलताकी सूचक है और स्थिरता बलशाली होनेकी सूचक है। इसी लिये यहां कहा है कि ज्ञानसे बल प्राप्त करके अपने स्थानपर स्थिर रहना चाहिये। युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये युद्धमें अपने स्थानमें स्थिर रहना चाहिये, 'युधि-ष्ठिर' का ही 'विजय' होगा। स्थिरताका ज्ञानके साथ संबंध बडा घनिष्ठ है क्योंकि ज्ञानसेहि संसार-युद्धमें विजय प्राप्त होता है।

९ आत्म-वि-नि-ग्रह।

ज्ञानसे आत्म-विनिग्रह किया जा सकता है। आत्मविनिग्रहका अर्थ अपना विशेष निग्रह अर्थात् संयम। अपना विशेष प्रकारसे संयम करना ज्ञानसेहि सिद्ध हो सकता है। आत्म-संयम, मनोनिग्रह, इंद्रियदमन यह मानवी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। इस संयमके विना मनुष्यकी उन्नति असंभव है।

ज्ञानरहित मनुष्य स्वैराचार करता है, अपने इंद्रियोंको स्वैर छोडकर दुष्ट व्यसनोंमें फंसाता है, इससे न केवल उसीका अहित होता है, प्रत्युत उसके वंशजोंको भी रोगी होना पडता है। व्यभिचारी मनुष्य उपदंशादि रोगोंसे पीडित होता है, इससे उसको पीडा तो होतीहि है, परंतु उसके अस्थिगत रोग उसकी संतानोंको भी पीडा देते हैं। स्वैराचारका हानिकारक परिणाम इसी लोकमें प्रत्यक्ष दीखता है। भोजनके स्वैराचारसे अजीर्ण होता है, इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंके स्वैराचारसे-असंयमसे-भयानक परिणाम भोगने पडते हैं। अज्ञानी लोग स्वैराचारकोहि सुखका साधन मानकर अपनाही नाश करते हैं और अन्तमें पस्ताते हैं।

अतः यहां कहा है ज्ञानसे आत्मनिग्रह अर्थात् अपना संयम करना, अपने आपको अपने स्वाधीन रखना, भटकने न देना, आचारके सत्पथमें रखना चाहिये। अपना विशेष रीतिसे संयम करनेसेहि शाश्वत सुख प्राप्त हो सकता है। जो स्वैराचारीको कभी नहीं मिल सकता है। आत्म-संयम के विना किसी प्रकारकी उन्नति नहीं हो सकती।

१० इन्द्रिय-भोगोंके संबंधमें वैराग्य।

हरएक इंद्रियका भोग निश्चित हुआ है, जैसा नेत्र रूपकाही भोग कर सकता है, कान शब्दका भोग कर सकता है, इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंके भोग निश्चित हुए हैं। ये ही भोग इंद्रियोंके अर्थ हैं। जिसको सत्यज्ञान नहीं है वह समझता है कि अपना जन्म इंद्रिय-भोग भोगनेके लियेही है, वह भोग भोगनेके ग्रंथ पढता है, भोगोंका विचार करता है और विचार वारंवार करनेसे अपने शरीरकी शक्ति क्षीण करता है। स्त्री-भोगकी कथाएं सुननेसे और वारंवार उनके रूपका चिंतन करनेसे मनुष्यका वीर्य क्षीण होता है और उसकी आयुही इस मानसिक भोग-तृष्णासे क्षीण होती है, इसका अनुभव बहुतोंको है। क्या अपनाही नाश करना मनुष्यके लिये योग्य है? कदापि नहीं।

मनुष्यकी भोगशक्ति मर्यादित है। अन्नभोग-ही के विषयमें देखिये। मनुष्यने अपनेपास कितना भी अन्नका संग्रह किया तो भी वह प्रतिदिन सेर दो सेरही खा सकता है। मान लीजिये ५ सेर खा सकेगा, तो भी यह भोग मर्यादितही है। जितना मनमें आ जाय उतना भोग करना उसके लिये असंभव है। इस कारण भोगशक्ति मनुष्यकी मर्यादित है। जैसा यह अन्नका भोग मर्जी चाहे उतना मनुष्य कर नहीं सकता, उसी प्रकार स्त्रीभोग करनेकी शक्ति तो उसकी उससेभी मर्यादितही है। अन्य भोग भी वह अमर्याद प्रमाणमें करनेमें असमर्थ है। कपडे शरीरपर धारण करना है, परंतु यह भी वह एक समय एकही कोट शरीरपर रख सकता और एकही साफा सिरपर धारण कर सकता है। घरमें हजारों कपडे रहें परंतु इसकी उप-भोगशक्ति मर्यादित होनेसे वह अधिक उपभोग ले नहीं सकता।

परंतु मनुष्य जब अपने पास अत्यधिक भोग्य-वस्तुओंका संग्रह करता है तब उतने भोगके पदार्थ दूसरोंको मिलते नहीं और उतने मनुष्य आवश्यक भोगोंसे दूर होते हैं। यह अनर्थ अप-रिमित भोगतृष्णासे होता है। इसकी कितनी भी अपरिमित भोगतृष्णा हुई तो भी यह अपरिमित भोग भोगही नहीं सकता। फिर अपरिमित भोग-साधन अपने पास संग्रहित करके रखनेसे इसे क्या लाभ होगा? तथापि मनुष्य अपनी भोग-शक्ति मर्यादित है यह न जानकर भोगवस्तुओंका संग्रह अपने पास अत्यधिक करनेके लिये अत्यंत परिश्रम करता है। इस कारण अन्य लोग भोगोंसे वंचित रहते हैं और इस हेतुसे इस जगत्‌में सदा अशान्ति रहती है। एक दूसरेसे द्वेष करता है, परस्पर घातपातका भाव बढ रहा है इसका कारण यह है।

यद्यपि भोगशक्ति मर्यादित है तथापि मनुष्य अधिक भोग भोगनेकी पराकाष्ठा करता है, अर्थात् अपनी मर्यादासे अधिक भोग करता है, भोजनभी अधिक खाता है, ऋतुगामी न होता हुआ स्त्रीसहवास अधिक करता है। इस अधिक भोगसे भी यह रोगी होता है और दुःखकोही बढाता है। अतः भोगोंका जितना संयम किया जाय उतना लाभदायक है। इसलिये ही कहा है कि इंद्रियोंके भोगोंके संबंधमें वैराग्य धारण करना चाहिये। इंद्रियोंको स्वैराचारी और भोगी बनाना हानिकारक है।

ज्ञानहीन लोग भोगोंमें फंसते हैं और अपनी आयुकीहि खराबी करते हैं। अतः इन्द्रियोंके अर्थोंके विषयमें विरक्त रहना योग्य है। इंद्रिय-भोगोंके विषयमें देखनेसे मनुष्य उन भोगोंसे दूर रह सकता है। जैसा मिष्टान्न देखनेसे खाने की इच्छा प्रबल होती है परंतु उसमें विष मिला है ऐसा ज्ञान होनेसे वह इच्छा निवृत्त होती है। इसी तरह सब भोगोंके विषयमें दोष-दृष्टि होनेसे वैराग्य मनमें स्थिर रह सकता है।

समाजमें सुख और समाधान सुस्थिर होना चाहिये, ऐसी इच्छा होगी तो भोगोंकी प्रबल वासना मर्यादित करनी चाहिये। भोगवासना मर्यादित करनेके लिये भोगोंमें जो दोष हैं उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इससे भोगोंकी वास-ना मर्यादित होगी। और मर्यादित प्रमाणमें भोग सबको प्राप्त हो सकेंगे और भोगवासनाही मर्या-दित होनेके कारण जितने भोग मिलेंगे उसीसे तृप्ति होगी और समाजमें सुख तथा समाधान सदा सुस्थिर रहेगा।

इस तरह भोगोंके विषयमें वैराग्य समाजके स्वास्थ्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। जिस समाजमें भोगोंकी वासना अमर्याद बढाई जाती है, आज यह भोग मुझे हुआ, कल यह प्राप्त करूंगा, ऐसी प्रबल वासना जिस समाजमें बढती जायगी, वह समाज अन्दरके और बाहरके कलहमें डूब जायगा और सदा अशान्तिमेंही

फंसता जायगा। इस कारण ज्ञानके द्वारा आत्मसंयमन, इंद्रियदमन, मनोनिग्रह करके इंद्रियार्थोंके विषयमें वैराग्य अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

११ निरभिमानता।

अहंकारका अर्थ गर्व, घमंड, अभिमान है। यह ज्ञानका नाश करता है। अहंकार जहां है वहां ज्ञान नहीं रह सकता। जैसा वायु बहता है, सूर्य प्रकाशता है, गंगानदी वह रही है, वृक्ष छाया देता है, यह सब स्वभावसे होता है, उसमें इनका कोई अभिमान नहीं होता। वैसाही निरभिमानी होकर स्वभावसेहि शुभ कर्म करना चाहिये। मनुष्यके मनमें विचारमें, उच्चारमें और आचारमें निरभिमान-वृत्ति सदा रहनी चाहिये।

अहंकारसे मनुष्य अपने आपको अन्य विश्वसे पृथक् मानता है। मैं विश्वसे भिन्न हूं, मैं भोक्ता हूं अन्य मेरे उपभोग्य हैं, इस विपरीत कल्पनाके कारण मनुष्य अपने आपको विश्वसे पृथक् समझता है और अनन्य भावसे दूर होता है। सब धर्मसिद्धांत मनुष्य अन्य विश्वसे अनन्य-अपृथक् है, उसीका भाग है, इस सिद्धान्तपर अवलंबित हैं। अहंकारसे यह अपने आपको विश्वसे पृथक्, विश्वसे भिन्न, विश्वसे अन्य मानता है, इस कारण इसके मनका अनन्यभाव हटनेसेही इसमें अज्ञानकी वृद्धि होती है और यही पृथग्भाव सब दुःखोंका कारण है। इससे स्पष्ट होगा कि अनहंकार क्यों धारण करना चाहिये।

जबतक अहंकार मनुष्यके मनमें वास्तव्य करता है, तबतक मनुष्यके मनमें अनन्यभाव उत्पन्नही नहीं होगा, ईश्वरसे जनतासे, सब विश्वसे अनन्य हूं यह भावही सब सदाचारका मूल है, यही हट जानेसे अभिमानी और अहंकारी मनुष्य ज्ञानके अधिकारी हो ही नहीं सकते। इस कारण निरभिमान—वृत्ति धारण करनी चाहिये। स्वभावही निरभिमानी बनना चाहिये।

१२ जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शन।

जन्मसे लेकर मृत्युतक जरा, व्याधि, दुःख और दोष होते हैं, उनको पहिलेसे ही देखना और उनके हटाने का उपाय ज्ञानसे करना चाहिये। ज्ञान- सत्यज्ञान होनेसे ही (जरा) वृद्ध-अवस्था दूर की जा सकती है, तारुण्य का संवर्धन योगसाधनसे किया जा सकता है, योगसाधनसे शीघ्र जरा नहीं आती और बुढापेमें भी शक्ति का क्षय नहीं होता है।

योगसाधन के धौति, वस्ति, नेति आदिसे, तथा आसन-प्राणायामके अभ्याससे व्याधि आते नहीं और आये तो शीघ्र हटाये जा सकते हैं। योगसाधन व्याधिशमनका उत्तम साधन है। मृत्युतक दूर किया जा सकता है फिर जराका दूर होना सहज ही से होनेवाली बात है।

शारीरिक और मानसिक दुःख कैसे होते हैं, विविध प्रकारके कायिक, वाचिक और सामाजिक दोष किस कारण होते हैं इसके मूल कारण की खोज ज्ञानसे ही हो सकती है। इसका मूल कारण देखकर उसका नाश करनेसे दुःख और दोषोंका उपशम हो सकता है।

ज्ञानहीन मनुष्य जरा, व्याधि और दुःख आनेके पश्चात् उपाय करनेके लिये दौडता है, अतः वह अपने आपको इन दुःखोंसे मुक्त नहीं कर सकता। परंतु ज्ञानी मनुष्य जरा आनेवाली है, व्याधि नगरमें फैलनेका संभव है, ये दुःख भविष्यकालमें होना संभव है ऐसा पहिले ही जानकर उसके दूर करनेके लिये जो जो उपाय किये जाने चाहिये वे पहिलेहि करता है। इस कारण अन्य लोग दुःखोंसे दुःखी होनेपर भी यह ज्ञानी दुःखोंसे दूर रहता है। योगदर्शनमें कहा है--

हेयं दुःखमनागतम्। (योगदर्शन)

जो दुःख आया नहीं है, उसका प्रतिबंध आनेसे पूर्व ही करना चाहिये। दुःख आनेपर उसको भोगनाही पडता है। अतः जो ज्ञानी दुःख-दोष होनेके पूर्व ही प्रतिबंधक उपाय करते हैं वे ही दुःखोंसे अपने आपको बचाते हैं।

जन्मसे लेकर मृत्युतक क्या होता है, शरीर क्षीण होता है, व्याधियोंसे पीडित होता है, अनेक दुःखोंसे पीडित होता है, अनेक दोषोंसे विविध कष्ट होते हैं। मनुष्य विचार करेगा तो जन्मसे लेकर मृत्युतक यही बारबार चल रहा है ऐसा अनुभव आ जायगा। अज्ञानी मनुष्य जानता ही नहीं कि आगामी आपत्तिको किस तरह हटाया जावे, अतः वह आपत्ति आनेतक कुछ भी करता नहीं, आपत्ति आनेपर दुःखसे पीडित होकर छाती पीटता है, दुःखसे विह्वल होता है, कष्टोंसे पागल बनता है और सह लेता है। परंतु ज्ञानीहि पहिले सोचता है कि अब यह दुःख आनेवाला है, इसके प्रतिबंधके लिये यह उपाय करना चाहिये। वह उपाय करता है और उपाय ठीक होनेपर दुःखसे बच जाता है। ज्ञानसेही यह हो सकता है, अतः कहा है कि जरा-व्याधि-दुःख-दोषोंको पहिलेसे देखना चाहिये और उनके निवृत्तिका उपाय सोचना चाहिये।

१३ अनासक्ति।

आसक्ति न धरना, भोगोंपर आसक्त न होना, इस जगत्के अन्दर अनासक्तिसे सब व्यवहार करना, लंपटता न धरना आवश्यक है। भोगासक्तिसेही सब कष्ट होते हैं। अतः कष्टोंसे बचनेके लिये अनासक्तिसेही सब व्यवहार करने चाहिये। सब दुःख दूर करनेके लिये अनासक्तिही एक मात्र उपाय है।

अज्ञानी मनुष्य हरएक कर्म आसक्तिसे करता है और कर्मफलपर आसक्त होता है और दुःख भोगता है। आसक्तिके होनेपर दुःखोंसे बचने का कोई उपाय नहीं है। अतः यहां कहा है कि आसक्ति छोडनी चाहिये।

इस आसक्ति के साथ 'इंद्रियार्थेषु वैराग्यं' यह श्लोक ८ का विधान अवश्य देखने योग्य है। तथा श्लोक ७ का 'आत्मविनिग्रह' ये भी दो उपदेश अवश्य देखिये, क्योंकि इन दोनोंका अनासक्तिके साथ बडा संबंध है। वैराग्य और आत्मसंयम के विना 'अनासक्ति' सिद्ध होना कठिन है।

अनासक्त मनुष्य सुखदुःख, हानिलाभ आदि द्वन्द्व प्राप्त होनेपर समचित्त रहता है, क्योंकि वह सुखपर आसक्त नहीं होता, अतः दुःखसे हताश भी नहीं होता। समाजमें भोगी मनुष्य बढ गये तो भोगोंके कारण कलह भी बढ जाते हैं, परंतु समाजमें अनासक्त वृत्तिवाले मनुष्य संख्यामें अधिक हुए तो उस समाजमें उस प्रमाणसे शांतिकी वृद्धि अधिक होगी। क्योंकि भोगासक्तिहि अशान्ति की जड है और वह अनासक्त वृत्तिवाले समाजमें नहीं होती। अतः अनासक्ति समाजहित वर्धक है।

१४ पुत्र-स्त्री-गृहादिमें असंग।

पुत्र, स्त्री, घर आदिमें न रहना, आसक्त न होना, प्रेमान्ध न होना चाहिये। क्योंकि प्रायः सब अज्ञानी लोग पुत्र, स्त्री और घरके प्रेमान्धताके कारण ही अनंत अपराध करते हैं। स्त्री-पुत्रादिके भरण-पोषण-भूषणादिके लिये बुरेभले व्यवहारसे धनादिकी कमाई करते हैं और विविध प्रकारके अपराधी होकर अनेक दुःख भोगते हैं। यह पुत्र मेरा है और यह दूसरेका है, इतनेही कारण पक्षपात किया जाता है और पक्षपातसे अन्याय होना स्वाभाविक है। यह मनुष्य मेरी जाति का है और यह अन्यजातिका है, इस कारण कितना घृणित व्यवहार इस जगत्में हो रहा है यह पाठक देखेंगे, तो पता लग जायगा कि स्त्री-पुत्र-गृहादि की प्रेमान्धताके कारण

जगत्में कितना अनर्थ हो रहा है, यह सब अज्ञान है। ज्ञानी मनुष्य इनके विषयमें प्रेमान्ध नहीं होता। वह समझता है कि ये परमात्माके विश्वरूपके अंश हैं वैसे ही अन्य अंश हैं। इनमें कोई भेद नहीं है ऐसा मानकर सबपर समदृष्टि रखता है और इस सर्वत्र समदर्शनसे वह मोहित नहीं होता और इस कारण उससे कोई अपराध, अन्याय अथवा दोष नहीं होते। वह निर्दोष होता है और सर्वत्र समभाव रखनेके कारण विषमाचरणसे होनेवाले दोषोंसे दूर रहता है। ज्ञानसे यह अपूर्व लाभ है।

१५ इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति होनेपर नित्य समचित्त होना।

मनुष्य इष्ट वस्तु चाहता है और अनिष्ट से दूर रहने की इच्छा करता है। इष्टसे प्रेम करता और अनिष्टका द्वेष करता है। इसलिये इष्टकी प्राप्ति होनेके समय उसके मनकी प्रवृत्ति जैसी होती है उसके विपरीत स्थिति अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर होती है। यही मनका विक्षेप दुःखका हेतु है। इस विक्षेपके कारण मनकी शक्ति क्षीण होती है और मनुष्यकी उन्नति रुक जाती है।

इसी हेतुके लिये यहां कहा है कि ऐसा अभ्यास करो कि जिससे इष्ट अथवा अनिष्ट की प्राप्ति होनेपर चित्त समस्थितिमें रहे। चित्तपर दोनों अवस्थाओंमें कोई परिणाम न हो। बाहरकी परिस्थिति कैसी भी हो, विपरीत हो अथवा अनुकूल हो, अन्दरका मन सम अवस्थामें रखना चाहिये।

चित्तके विक्षेपसे न केवल मानवी अन्तःकरण का बिगाड होता है, परंतु मनुष्यका शारीरिक स्वास्थ्य भी बिगड जाता है। अतः मनको सम अवस्थामें रखना स्वास्थ्य की दृष्टिसे भी अत्यंत आवश्यक है। जिस सामाजिक परिस्थितिमें मानवी मन सदा विक्षिप्त सा रहता है वह परिस्थिति मनुष्योंको पागल बनावेगी। अतः यहां उपदेश दिया है कि अनुकूल अथवा विपरीत परिस्थितिमें अपना चित्त सम रखो। चित्त की घबराहट न हो।

१६ अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति।

'अनन्य-योग' का अर्थ (अन्+अन्य-योग) मैं पृथक् नहीं हूं ऐसा समझकर अपना (योगः कर्मसु कौशलं) कर्तव्य करना। परमेश्वर विश्वरूप है और मैं उसका एक अंश हूं अर्थात् उससे भिन्न नहीं हूं, उससे पृथक् नहीं हूं उससे अन्य नहीं हूं, उससे विभक्त नहीं हूं ऐसा अनुभव करके, उसके साथ अपना अखंड संबंध देखकर, उसके साथ अपना अनन्यभाव जानकर अपना कर्तव्य करना। इसका नाम अनन्य-योग है। इस अनन्य-योगके करनेसे मानव सच्चे उन्नतिके मार्गपर चल सकता है।

इस अनन्ययोगमें संपूर्ण मानवप्राणी परस्पर अटूट संबंधसे अखण्डित जीवनमें संघटित हुए हैं, सब अन्य जीवजन्तु भी मानवोंके साथ और परस्पर अटूट संबंधसे संघटित हैं, कोई किसीसे पृथक् अन्य या भिन्न नहीं, सबोंका हित-संबंध एक दूसरेके साथ जुडा है। कोई अन्योंसे पृथक् होकर, अपने आपको अन्य मानकर भिन्न-भावका व्यवहार करेगा तो दुःख बढानेके विना रह नहीं सकता। अतः अन्यभाव दुःख बढानेवाला और अनन्यभाव सुखशान्ति देने-वाला है। सब विश्व इस तरह परस्परसे जुडा हुआ है यह जाननेका नाम ही अनन्ययोग है। इसमें कहां भी 'अन्य' का भाव नहीं होता, एकत्वका भाव ही सर्वत्र है। एक बार इस अनन्य-योग की ठीक ठीक कल्पना ध्यानमें आ गई तो फिर भेदभावके लिये कोई स्थान रहता ही नहीं।

अनन्ययोग जो कर सकते हैं, परमेश्वरके विश्वरूपसे जो अपने आपको अभिन्न अनुभव करते हैं वे जो भक्ति करेंगे वह अनन्यभक्ति ही

होगी, वही अव्यभिचारिणी भक्ति होगी। व्यभिचारका अर्थ दूसरेका संबंध, अन्यसंबंध, विजातीय सहवास। अनन्यभक्ति करनेवालोंमें कोई अन्य न होनेके कारण विजातीय कोई वस्तुहि नहीं है। सब एक अखण्ड, अभिन्न, अनन्य वस्तु है, ऐसा निश्चयसे जाननेपर उससे अव्यभिचारिणी भक्ति ही होगी। व्यभिचार तो भिन्न-भावसे हुआ करता है।

ज्ञानका साध्य यही अनन्यभाव और परमेश्वरकी अव्यभिचारिणी भक्ति है। पाठक इस अनन्यभावको ठीक प्रकार जाने, क्योंकि भगवद्गीताके मुख्य सिद्धान्तोंमें यह सबसे प्रमुख सिद्धान्त है। सब सफलता, सुफलता, परमसिद्धि इसीसे होती है।

भक्तिका अर्थ सेवा है। विश्वरूप परमात्माकी विश्वसेवाही भक्ति है। यह विश्वसेवा मैं विश्वसे पृथक् नहीं हूं, विश्वमें ही मैं हूं, ऐसा जानकर करनी चाहिये। मनुष्यकी जो उच्च गति होती है वह अखण्ड विश्वसेवासे ही होती है और यह अखंड विश्वसेवा अनन्यभावसे होनी चाहिये।

सेवा अनेक प्रकारसे की जाती हैं, तृषितको जल देनेसे, रोगीकी चिकित्सा करके उसे आरोग्य पहुंचानेसे, अशिक्षितको विद्यादान देनेसे, भयभीतको निर्भय करनेसे, भूखेको अन्न देनेसे, इस तरह विविध विश्वरूपकी विविध प्रकारकी सेवा की जा सकती है। ईश्वरके अनंत रूप हैं, उनमें जिसको जो देकर हम सेवा कर सकते हैं,उससे वैसी सेवा करना विश्वसेवा है। यही मनुष्यको कृतकृत्य कर सकती है।

'स्वकर्मसे उसकी सेवा करनी चाहिये।' (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः। गी० १८।४६) अपने जो शुभ कर्म कुशलताके साथ कर सकते हैं उससे विश्वसेवा अनन्यभावसे करनी चाहिये। इस विश्वसेवामें हरएक का कर्तव्य अर्पित हो सकता है। हरएकका कर्तव्य यहां आवश्यकही है। यह कर्तव्य लोग नहीं करते, विश्वसेवासे पराङ्मुख होते हैं, मैं अलग और पृथक् हूं, मैं दूसरोंकी पर्वा नहीं करता, ऐसा मानकर अपनाहि हित करनेका प्रयत्न करते और विश्वसेवासे दूर होते हैं, इस कारण इस विश्वमें या जगत्में अशान्ति, दुःख और असमाधान है।

यदि लोग इस अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति करते हुए विश्वसेवा करेंगे तो संपूर्ण विश्व शांतिसुखसे अपूर्व समाधान प्राप्त करेगा इसमें कोई संदेहही नहीं है। इस तरह यह अनन्य योगसे होनेवाली अव्यभिचारिणी भक्ति सामाजिक स्वास्थ्यके लिये अत्यंत उपयोगी है। यह सामाजिक सद्गुण है और समाजको सुखी करनेके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

१७ एकान्तसेवन।

आत्मपरीक्षण, अपने दोषोंका विचार करना और उनको दूर करनेका यत्न करना, किसी गूढ विचार करनेके लिये एकान्तमें जाकर सोचना, ऐसे अनेक कार्योंके लिये एकान्तसेवन करना अत्यंत आवश्यक है। जो ज्ञानहीन होते हैं वे एकान्तसेवन का महत्त्व जानते ही नहीं। किसी प्रकारका अभ्यास करना हो तो एकान्तस्थानमें जाकर रहनेसे अच्छा अभ्यास होता है। यह अनुभव सब कोई ले सकते हैं। इस तरह एकान्तवास लाभदायक है, यह जानकर पाठक इससे अपना लाभ साधन करें।

१८ जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि।

यह जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि, एकान्तवास की रुचि की हि दूसरी बाजू है। जो एकान्तवासमें रहना चाहता है वही जनसंमर्दमें-मेलोंमें जाना नहीं चाहता। मेलोंमें जानेसे अनेक प्रकार के लोगोंके साथ संबंध आता है, जिनसे संबंध

आना योग्य नहीं है उनसे संबंध करना पडता है, ऐसे अनेक उपद्रव होते हैं, इसलिये योगाभ्यासी लोग एकान्तवास पसंद करते हैं और अभ्यासके समयमें तो मेलोंमें जाते ही नहीं। जनसंमर्दमें जानेसे मनका विक्षेप भी होता है।

परंतु जो लोग साधनसंपन्न होते हैं, अथवा सिद्ध बनते हैं,वे किसी आवश्यक घटनाके लिये परिषदोंमें नहीं जाते ऐसा नहीं है। जनकराजाकी परिषदमें याज्ञवल्क्य जाते ही थे। यज्ञ करनेके समय बडी बडी विराट् सभाएं होती ही थीं। अर्थात् मन एकाग्र करनेके योगसाधन करनेके समय जनसंमर्दमें वारंवार जाना योग्य नहीं है।

१९ अध्यात्मज्ञानमें नित्य रुचि।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्व अर्थात् अध्यात्मज्ञानका नित्य विचार करना चाहिये। अध्यात्मका अर्थ (अधि+आत्मा) आत्माके ऊपर आत्माके आश्रयसे जो कुछ रहता है, आत्मासे जो प्रकट होता है वह अध्यात्म है। आत्माके आश्रयसे क्या रहता है? अपनेही अन्दर देखिये, आत्माके आश्रयसे बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, इंद्रियां (कर्मेंद्रियां और ज्ञानेन्द्रियां), शरीर, शरीरावयव शरीरसे बाहर जानेवाली शक्ति। यह सब अपने आत्माके आधारसेहि रहते हैं। अतः इसका नाम अध्यात्म है। आत्माके आधारके विना इनका होना, कार्य करना और शक्ति प्रकट करना असंभव है। आत्माकीही यह प्रकृति है, आत्माकीहि यह शक्ति है,इसी कारण इनको 'इंद्रिय' कहते हैं।

'इन्द्र' आत्मा है और इन्द्रशक्ति (इन्द्र+य) इंद्रिय कहलाती है। इन्द्रके आधारसे इन्द्रशक्तिका रहना स्वाभाविक ही है। यही भाव आत्मा और उसकी शक्ति आत्माके साथ रहती है इस कथनमें है।

इससे स्पष्ट हुआ कि अध्यात्म क्या है। सब ज्ञानोंमें अध्यात्मज्ञान मुख्य है, इसका कारण यह है कि इसका संबंध प्रत्यक्ष मनुष्यके स्वास्थ्य-सुख-समाधानके साथ है। मनुष्यको स्वास्थ्यादि सुख चाहिये, इसलिये उसको अध्यात्मज्ञान भी अवश्य चाहिये।

अध्यात्मज्ञानमें (१) आत्माका ज्ञान, (२) बुद्धिकी शक्तिका ज्ञान, (३) मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, मानसशक्तिका ज्ञान, (४) चित्त-संकल्प-अहंकार आदि शक्तियोंका ज्ञान, (५) प्रत्येक इंद्रियका ज्ञान, अर्थात् वह क्या है, कैसा कार्य करता है, स्वस्थ आरोग्यसंपन्न कैसा रह सकता है, रोगी और क्षीण कैसा होता है, अधिक कार्यक्षम कैसा हो सकता है, इत्यादि संबंधका ज्ञान, (६) शारीर शास्त्र, शरीरसंबंधी आरोग्य कैसा प्राप्त होगा, रोग क्यों होते हैं, रोगनिवृत्ति कैसी होती है, आरोग्य किस तरह सुरक्षित रह सकता है, इत्यादि विषयका जो शास्त्र है, उसका नाम शारीरविज्ञान है। (७) शरीरसे बाहर जो अपनी शक्ति जा रही है और कार्य कर रही है, अपनी मानसशक्ति बाहर जाकर जो कार्य करती है उसका ज्ञान भी जानना चाहिये। इन सब विज्ञान और ज्ञानका अन्तर्भाव अध्यात्मज्ञानमें है।

इसस पाठकोंको पता लग जायगा कि अध्यात्मज्ञान क्या है और मानवी स्वास्थ्य-सुख-समाधानके लिये इस अध्यात्मज्ञानका संबंध क्या है। हरएक मनुष्यके पास जितना यह ज्ञान होगा, उतनाही उसको स्वास्थ्यका साधन करना संभव हो सकता है। सर्वसाधारण जनताको इस अध्यात्मज्ञानका थोडासा भी अंश ज्ञात नहीं होता, इसी कारण वे सदा दुःखमें डूबे रहते हैं।

उदाहरणके लिये देखिये, शारीर शास्त्रका ज्ञान मनुष्यको हुआ तो शरीरको स्वस्थ, हृष्ट, पुष्ट, नीरोग रखनेमें वह समर्थ हो सकता है।

मनुष्यको दूसरा कुछ भी आवश्यक न हुआ तो शरीरकी स्वस्थता तो आवश्यही चाहिये। शरीर शास्त्रका कुछ भी ज्ञान जिसे नहीं है वह अपना स्वास्थ्य सुरक्षित किस तरह रख सकता है, रोगोंके संचार होनेके समय करना क्या चाहिये, ऋतुपरिवर्तनके समय क्या करना चाहिये, शरीरकी अन्दर बाहरसे पवित्रता कैसी करनी चाहिये। यह सब ज्ञान आवश्यक है। हरएकको यह सब ज्ञान संपूर्णतासे होना कठिन है, तथापि मुख्य आवश्यक ज्ञान तो हर-एक मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

अध्यात्मज्ञानका नित्य विचार करना चाहिये, ऐसा जो यहां कहा है उसका अपने आरोग्यके साथ कैसा संबंध है, इसका पाठक यहां विचार करें। और इस अध्यात्मशास्त्रके साथ अपने सुख-समाधानका कितना संबंध है यह देखे।

शरीर शास्त्रकी अपेक्षा मानसशक्तिके ज्ञान का मानवी सुखसमाधानके साथ अधिक संबंध है। शरीरमें बीमारी होनेके पूर्व मन रोगी होता है, और मन रोगी होनेके कारण शरीर रोगी होता है। अतः शरीर स्वास्थ्यके लिये मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षित रखनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इसी लिये मनःसंयम, मनमें शिवसंकल्प रखना, सज्जनोंकी संगति करना, दुष्ट विचारोंको दूर रखना आदि धर्मनियम किये गये हैं।

मन सत्यसे शुद्ध होता है, बुद्धि ज्ञानसे पवित्र होती है, इत्यादि जो नियम धर्मशास्त्रमें कहे हैं वे इसी लिये कहे हैं। ये सब मनुष्यका सुख बढानेवाले हैं। अध्यात्मज्ञानका नित्य विचार करनेका अर्थ अपनी शक्तियोंका नित्य विचार करना है। अपनी शक्तिका विचार करनेसे वह शक्ति कैसी उन्नत की जाती है इसका भी निश्चय होता ही है।

कई लोग अध्यात्मज्ञानका अर्थ केवल आत्मा का ज्ञान, केवल ईश्वरका ज्ञान ऐसा मानते हैं, वह अशुद्ध विचार है, अध्यात्मज्ञानमें आत्माका तथा परमात्माका ज्ञान आता है परंतु पूर्वोक्त सब अन्य शक्तियोंका ज्ञान भी उसमें अन्तर्भूत होता है। क्योंकि सबही आत्माकी शक्तियोंका ज्ञान यहां संमिलित होता है।

'आत्मज्ञान' का अर्थ केवल आत्माका ज्ञान है और 'अध्यात्मज्ञान' का अर्थ पूर्वोक्त सब ज्ञान है। क्योंकि जो जो शक्तियां आत्माके आधारसे हैं उन सबका ज्ञान अध्यात्मज्ञान कहलाता है। पाठक थोडासा विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस अध्यात्मज्ञान के साथ मानवी सुखसमाधान का कितना संबंध है। कोई मनुष्य इस ज्ञानके विना पूर्ण सुखी नहीं हो सकता है। अध्यात्मज्ञानसे मनुष्य दुःखसे पूर्ण मुक्त हो सकता है, ऐसा जो कहते हैं उसकी सत्यता यहां इस प्रकार सिद्ध हुई है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

अध्यात्मज्ञानका नित्य मनन करना चाहिये, इसका तात्पर्य यह है कि अपनी शक्तियोंका विचार सदा करना चाहिये। इससे आत्मविश्वास बढता है, अपनी शक्तिके प्रयोग सिद्ध किये जा सकते हैं, अपनी शक्तिमें किसी कारण न्यूनता हो रही हो तो उसकी पूर्णता करनेका योग किया जा सकता है, तात्पर्य अध्यात्मज्ञानके मननसे अनंत लाभ हैं, अथवा जो कुछ उदय होना संभव है वह इस अध्यात्मज्ञानसेही होना संभव है।

पेटमें दर्द हो रहा है, कान दूख रहा है, स्वप्नमें वीर्यनाश होता है, शरीरकी कमजोरी है, मनकी दुर्बलता है, स्मरणशक्ति कम हो रही है, इन सबके लिये अपनी पूर्वोक्त शक्तियोंका मनन करनेसे और उनको नीरोग और स्वस्थ रखनेका विचार करनेसेहि उपाय हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि अपना सब प्रकारका कल्याण अध्यात्मज्ञानसेही हो सकता है, इसलिये इस

ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये और उसका मनन करना चाहिये।

२० तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन।

पृथिवी,आप,तेज आदि अनेक तत्त्व हैं। उन तत्त्वोंकी विद्याका नाम तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञानका जो अर्थ दुःखमोचनरूप पुरुषार्थ है, उसको 'तत्त्वज्ञानार्थ' कहते हैं। इस मुख्य ध्येयकोही सदा अपने आंखके सामने रखना चाहिये। अर्थात् यह अपना साध्य है और यह साध्य तत्त्वज्ञानसे हि प्राप्त होना है,ऐसा निश्चय करना और इसकी सिद्धताके लिये तत्त्वोंका ज्ञान यथायोग्य प्राप्त करना चाहिये।

मोक्ष अर्थात् त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिरूप श्रेष्ठ पुरुषार्थ प्राप्त करना है,यह कदापि नहीं भूलना। जो कुछ करना हो वह इसके लिये ही करना चाहिये।

त्रिविध दुःख ये हैं-एक आध्यात्मिक दुःख, दूसरा आधिभौतिक दुःख और तीसरा आधिदैविक दुःख। अध्यात्म शक्तियोंका वर्णन '(१९) अध्यात्मज्ञान' के प्रसंगमें किया है अर्थात् आध्यात्मिक दुःख बुद्धि-मन-इंद्रिय शरीर आदिमें उत्पन्न होनेवाले दुःख हैं। आधिभौतिक दुःख प्राणिमात्रसे उत्पन्न होते हैं, जैसे मानवोंके आपसके झगडे अथवा सिंहव्याघ्रादिकोंके उपद्रव आदि। आधिदैविक उपद्रव भूंचाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अग्निप्रकोप आदि हैं। इन सब तीनों प्रकारके दुःखोंके दूर करनेके लिये तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये। पृथिवी, आप,तेज आदि तत्त्वोंके गुणधर्मोंका ज्ञान प्राप्त होनेसे उनका उपयोग करके इन दुःखोंको दूर करनेका उपाय समझमें आसकता है। संपूर्ण दुःख इसी तरह दूर किये जा सकते हैं। यह लाभ बडा भारी है।

मनुष्यको तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये और तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाले मोक्षरूप अर्थका लक्ष्य अपनी दृष्टिमें सदा रखना चाहिये अर्थात् अपना ध्यान उससे दूर करना नहीं चाहिये।

यह सब ज्ञान किंवा ज्ञानका साधन है, इससे जो विपरीत है, उसको अज्ञान कहते हैं। (श्लो० ११) इस ज्ञानके वर्णनके साथ साथ अज्ञानका भी वर्णन किया है। ज्ञानसे साध्य होनेवाली ये बातें हैं, अज्ञानी लोग जो किया करते हैं, उसका अनुमान इसके विरोधके अनुमानसे पाठकोंको हो सकता है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि, यह ज्ञान मनुष्यमात्रके हितके लिये अत्यंत आवश्यक है। जो इस ज्ञानका विरोध करते हैं अथवा जो इस ज्ञानसे दूर रहते हैं, वे अनेक प्रकारसे दुःखकेही भागी हो सकते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है।

जाननेयोग्य वस्तु।

अब श्लोक १२ से १७ तक सबको जाननेयोग्य वस्तुका वर्णन है। यही आत्मा अथवा परमात्मा है। यही एक मनुष्यमात्रके लिये जाननेयोग्य वस्तु है। इसको जाननेसे मनुष्यको (अमृतं अश्नुते) अमरत्व प्राप्त होता है। यह अमरत्व कैसे मिलता है, इसका थोडासा विचार करना चाहिये।

विभक्तोंमें अविभक्त।

भूतेषु अविभक्तं (ब्रह्म) विभक्तमिव स्थितं।
(गी० १३।१५)

सब भूतोंमें ब्रह्म अविभक्त होनेपर भी वह विभक्त जैसा रहा है। अर्थात् वह वस्तुतः अविभक्त,अखण्ड और एकरस है, तथापि वह विभिन्न, खण्डित और अनेकरस जैसा रहा है। वह भिन्नोंमें अभिन्न, खण्डितोंमें अखण्ड, अनेक रसोंमें एकरस है। जो भिन्नता दीख रही है, वह व्यवहारदशामें भिन्नता होनेपरभी वास्तविक दशामें अभेदही है। यह बात एकवार समझना चाहिये।

लकडीके अनेक खिलौने बनाये जाते हैं, अनेक पशुपक्षी, जानवर आदि वस्तुएं बच्चोंके खेलके लिये बनायीं गयीं, तो खेलनेके व्यवहार में प्रत्येक वस्तु भिन्न मानकर हि खेल खेला जाता है। इस व्यवहारदशामें हरएक वस्तु भिन्नही है, परंतु जिस समय लकडीके भावसे उनकी विक्री करनेका समय आजाय उस समय उन सब खिलौनोंकी भिन्नता एक ही लकडीकी एकतामें एकरूप हो जाती है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि व्यवहारदशामें विभेद रहनेपरभी परमार्थदशामें अभेद किस तरह हो जाता है। यह जाननेपर परमात्मा विभक्तोंमें अविभक्त किस तरह रह सकता है, इसका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है।

विश्वमें वस्तुभेद कितनाभी हो, परंतु सबमें एकरस परमात्मा है, यह बात जाननेपर, विश्व की वस्तुओंमें 'मैं भी एक हूं और मैं पृथक् नहीं हूं,' यह ज्ञान हो जाता है। 'यदि सबमें एकरस परमात्मा है, तो मुझमेंभी वह है और यदि सब विश्वरूप उसी परमात्माका है, तो मेरा रूपभी उसीमें संमिलित है। किसी तरह मैं पृथक् नहीं हूं।' यह अनन्यभाव जब मनमें स्थिर होगा तब परमात्मा अजर अमर होनेके कारण यह भी अजर और अमर हो जायगा। इसी लिये कहा है कि (यत् ज्ञात्वा अमृतं अश्नुते) जिस ब्रह्मको जाननेसे मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होता है और जिसको न जाननेसे मनुष्य मरणधर्माही रह जाता है।

परमात्माके ज्ञानका यह महत्त्व है। परमात्मा सर्वत्र एकरस है। 'मैं उससे अनन्य हूं, इस लिये मैं उसीका अंश हूं' (मम एव अंशः जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गी० १५।७) क्योंकि परमात्माका एक अंश जीव हुआ है, अतः यह जीव पृथक् नहीं है। जब यह एकरूपताका पता लग जाता है और यह स्पष्ट ज्ञान असंदिग्ध रीतिसे ध्यानमें बैठता है, तब यह साधक भी अमर भावसे युक्त होता है, क्योंकि वह अपने आपको अमर परमात्माके साथ अनन्य अपृथक् अथवा अभिन्न समझता है।

मनुष्यको परमात्मा ही एक ज्ञेय वस्तु है, उसको जाननेसे साधकका इस तरह लाभ होता है। यह ज्ञान होनेकी अवस्थामें जो साधक अपने आपको मरणधर्मा मानता है, वही साधक यह ज्ञान प्राप्त करनेपर अपने आपको अमर मानने लगता है।

यह ब्रह्म (अनादिमत्) अनादि, अनंत, (परं) सबसे श्रेष्ठ, (ब्रह्म) सबसे बडा, सबको व्यापनेवाला, (असक्तं) अनासक्त, (सर्वभृत्, भूतभर्तृ) सब का भरणपोषण करनेवाला, सबका पालक, (गुणभोक्तृ) गुणोंका भोग करनेवाला, परंतु स्वयं (निर्गुणं) गुणत्रयातीत है। यह ब्रह्म (भूतानां बहिः अन्तः च) भूतोंके अन्दर और बाहर है, यह (अचरं चरं) अचल है और चल भी है, स्थावर जंगम भी यही है। (दूरस्थं अन्तिके च) वह जैसा दूर है, वैसाही समीप भी है। यह अति (सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयं) सूक्ष्म होनेसे जाननेके लिये कठिन है, (भूतेषु अविभक्तं अपि विभक्तं इव स्थितं) सब विभिन्न प्राणियोंमें अथवा सब विभिन्न वस्तुओंमें वह अखण्ड अविभक्त रहनेपर भी विभक्त जैसा रहा है, अविभक्त होनेपर विभक्त जैसा दीखता है, (प्रभविष्णु भूतभर्तृ ग्रसिष्णु च) वह ब्रह्म सबकी उत्पत्ति करनेवाला, पालनपोषण करनेवाला और संहार करनेवाला है। वह (ज्योतिषां ज्योतिः) तेजस्वी पदार्थोंको तेज देनेवाला और (तमसः परस्तात्) अन्धकारसे परे अर्थात् स्वयंज्योति है, वही स्वयं ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानसे जाना जाने योग्य है। वह सबके हृदयोंमें रहा है।

वह ब्रह्म सत् और असत्से विलक्षण है, क्योंकि सत् और असत् ये उसीसे प्रगट होनेवाले भाव हैं। वह (सर्व-इंद्रिय-विवर्जितं) सर्व इंद्रि-

यों से रहित है अर्थात् उसमें एक भी इंद्रिय नहीं है, तथापि सब इंद्रियोंके गुणोंका भास उसमें दिखाई देता है। अर्थात् वह सब ओर हाथ, पांव, मुख, सिर, आंख, कान, नाक आदि अवयवोंसे युक्त है, क्यों कि विश्वरूपी परमात्मा सब प्राणियोंमें है, इस लिये सब प्राणियोंके सब अवयव उसी परमात्माके अनंत अवयव होते हैं। अतः वह सहस्र हस्तपादादि अवयवोंसे युक्त है।

यहां सब प्राणियोंके सब अवयव उसी परमात्माके अवयव हैं ऐसा कहा है, इसमें पाठक अपने आपको भी संमिलित समझें। जिस से वे अपने आपको उससे अनन्य-अपृथक् अनुभव करने लग जांयगे और अपने इंद्रिय वस्तुतः उसीके इंद्रिय हैं, ऐसा ज्ञान होकर इनके ऊपरसे अपना अहंकार दूर हो जायगा। साधक अपने आपको इस तरह परमात्मासे एकरूप अनुभव कर सकता है, जिससे वह परमात्माके रूपमें अपने आपको अमर अनुभव करेगा, फिर उसे मरण की भांति किस तरह सता सकती है? इस रीतिसे यह इस ब्रह्मज्ञानसे अमर होता है। यह अतिमानुष अवस्था है जो ज्ञानसे ही प्राप्त होती है। यही सर्वात्मभाव ज्ञानसे प्राप्त होनेवाला है। एकात्मभावमें मरण और सर्वात्मभावमें अमरत्व है। पाठक इसको ठीक रीतिसे समझनेका यत्न करें, क्योंकि इसी ज्ञानसे नरका नारायण बन सकता है।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥

(गी० १३।१८)

परमेश्वर का भक्त इस ज्ञानको प्राप्त करके ईश्वरभावको प्राप्त करता है, ईश्वर ही होता है, ईश्वरस्वरूप में अपने आपको संमिलित अनुभव करता है। ईंटोंका बडा मंदिर बनाया है, उसमेंसे प्रत्येक ईंट अपने आपको अलग मानकर अलग होने लगी तो स्थानपर वह मन्दिर खडा रहेगा ही नहीं। इस कारण ईंटोंके अन्यभावयुक्त होनेसे मंदिर नष्ट होता है। परंतु वही ईंटें अपने आपको पृथक् न मानती हुई अपने आपको मंदिरभावसे युक्त मानने लगीं अपने आपको मंदिरसे अनन्य समझने लगीं, और मंदिरमें मन्दिररूप होनेमें अपने आपको कृतार्थ मानने लगीं, तो ही उनको मन्दिरभाव प्राप्त हो सकता है। इसी तरह नर आपने आपको नारायणसे अपृथक् अनुभव करके, अपने आपको अनन्य समझकर अपना जीवन उसीमें संमिलित देखेगा, तो वह नर नारायणभावको निःसन्देह प्राप्त होगा।

यहांतक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय इनका विचार किया। अब वही ज्ञान प्रकृति-पुरुषके ज्ञानसे देते हैं।

प्रकृति और पुरुष।

पूर्वोक्त 'क्षेत्र' ही प्रकृति है और पूर्वोक्त 'क्षेत्रज्ञ' ही पुरुष है अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके वर्णनसे प्रकृति-पुरुषका ही विचार पूर्वस्थानमें दिया है। अब वही विचार पाठकोंके मनमें स्थिर रूपसे जम जाय इसलिये पुनः प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका वर्णन करते हैं। पाठक इन दोनों वर्णनोंकी तुलना करें और उन दोनोंका तात्पर्य एकही है, यह बात मननसे जानें।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

(गी० १३।१९)

'प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं।' यहां क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये दोनों अनादी हैं, यही आशय है। एक पहिले था और दूसरा पीछेसे उत्पन्न हुआ, ऐसी बात नहीं है। दोनों अनादि और सनातन हैं। ये एक दूसरेसे पृथक् हैं वा एकरूप हैं, इसका विचार यहां करना चाहिये।

मिश्रीका ढेला और मीठास ये दोनों अनादि हैं, ये दोनों एक साथ रहते हैं, इनमेंसे एक पहिले था और दूसरा पीछेसे हुआ, ऐसी बात नहीं है। यहाँ मीठास और ढेला ये पुरुष और प्रकृतिके वाचक समझिये, जिससे प्रकृतिपुरुषके कल्पनागत भेद और वस्तुगत अभेदकी ठीक

कल्पना होगी। पुरुष प्रकृतिमें कैसा है, जैसा रस जलमें होता है वैसा, अर्थात् रस और जल ये दोनों अनादि हैं, ऐसा कहनेसे कल्पनामें दो वस्तुएं हैं ऐसा हुआ, परन्तु यहां दो वस्तुएं केवल कल्पनामें ही हैं, वास्तविक जल और रसका वस्तुगत अभेदही है। इससे पुरुषकी शक्ति प्रकृति है अतः यहां कल्पनागत भेद होनेपर भी शक्ति और शक्तिमान का वस्तुगत अभेदही है, यह बात सिद्ध हुई। अब प्रकृतिका वर्णन करते हैं—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥
(गी० १३।१९)

' विकार और गुण ये प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं।' गुणका अर्थ सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण हैं और विकारका अर्थ जो पंचभूत, मन, बुद्धि, इंद्रिय, इच्छा, कामना, वासना आदिमें बिगाड होता है,वह है। ये गुण और ये विकार प्रकृतिमें होते हैं, ऐसा समझना चाहिये और अनुभव करना चाहिये। ये विकार आत्माके नहीं हैं। इसके लिये एक उदाहरण लेते हैं—

मिश्रीका ढेला लिया, उसमें मीठास है, इसका अनुभव पाठक लें। उस ढेलेके चारपांच टुकडे कीजिये, टुकडे होनेपर भी मीठासमें कोई न्यूनाधिक नहीं हुआ। ढेलेकी शकलमें भेद हुआ इतनीहि बात है। उस ढेलेको पिघालकर किसी पशुपक्षीकी आकृतिमें ढाल दिया, तो उस ढेलेको पशुपक्षीका आकर प्राप्त हुआ, परंतु मीठासमें कोई न्यूनाधिकता नहीं हुई। फिर उस ढेलेको पिघालकर पतला कर दिया, तो भी मिश्री पतली बनी, तथापि मीठास वैसीहि रही। यहां ढेला प्रकृति है और मीठास पुरुष है ऐसा समझिये। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये भी नाम यहां समझे जा सकते हैं। प्रकृतिमें या क्षेत्रमें विकार होनेपर पुरुष, क्षेत्रज्ञ अथवा आत्मामें कोई न्यूनाधिक नहीं होता है, अर्थात् प्रकृति विकारी है और पुरुष अविकारी है, यह बात यहां प्रत्यक्ष सिद्ध हुई।

इस प्रकृतिमें विकार होते हैं इसी लिये (कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः। गी० १३।२०) कार्य और कारणपरंपरा इस प्रकृतिमें होती है। जैसा ऊपरकेही उदाहरणमें देखिये कि, मिश्रीको पिघालकर उसका रस बनाया, तो उस रसका कारण मिश्री है और इस मिश्रीका कार्य वह मीठा रस है। यह कार्यकारणभाव इसी लिये सिद्ध होते हैं कि, वह विकारी है। इसी तरह पंचमहाभूतों से सृष्टि बनी है, अतः पंचभूत कारण और सृष्टि कार्य है। यह कार्यकारणभाव इसी लिये सिद्ध होते हैं कि, ये पंचभूत विकारी हैं। इसी तरह सब प्रकृति और उससे बने पदार्थ विकारी हैं। इसलिये कार्यकारणपरंपरा उसमें चल रही है। इस प्रकृतिके विकारी होनेके साथ पुरुषका कोई संबंध नहीं है, क्योंकि पुरुष, आत्मा अथवा क्षेत्रज्ञ विकारी नहीं है, बदलनेवाला नहीं है।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः।
(गी० १३।२०)

" पुरुष सुखदुःखोंके भोगका हेतु है। " क्योंकि यह स्वयं ज्ञानवान् है, चेतन है, जान सकता है। इसलिये इस समय यह सुखदायक है और यह दुःखदायक है, ऐसा यह जान सकता है। प्रकृति जड है, स्थूल है, चेतन नहीं है, इस लिये वह सुखदुःखको जान नहीं सकती और पुरुष स्वयंप्रज्ञ है इसलिये सुखदुःखका ज्ञान कर सकता है। पुरुष प्रकृतिके साथ रहकर (पुरुषः प्रकृतिस्थः प्रकृतिजान् गुणान्भुंके। गी० १३।२१) प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है। जबतक यह पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंपर मोहित नहीं होता, इन गुणोंका संग करनेमें आसक्त नहीं होता, तबतक यह पुरुष उन गुणोंसे-रसियोंसे-बांधा नहीं जाता। परन्तु जिस समय यह उन भोगविलासोंपर आसक्त हो जाता है, उसी समय यह उन गुणोंसे-उन रसियोंसे-बांधा जाता है और इस कारण

उस पुरुषकी अच्छी या बुरी अवस्था हो जाती है।

अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं गुणसंगः।
(गी० १३।२१)

'इस पुरुषका सत् वा असत् योनिमें जन्म होनेका कारण यही गुणोंके साथ होनेवाला इसका संग है।' इसकी आसक्ति जिन गुणोंपर होती है उन गुणोंके अनुकूल इसकी अवस्था होती है। सात्त्विक गुणोंपर आसक्त होनेपर सात्त्विक, राजस गुणोंमें बद्ध होनेपर राजस और तामस गुणोंपर लुब्ध होनेपर यह पुरुष तामस परिस्थितिमें जन्म लेता है अथवा पहुंचता है। अतः इस पुरुषको उचित है कि वह किसी प्रकृतिके गुणोंपर मोहित न हो, आसक्त न हो, गुणोंका संग करनेकी अभिलाषा न करे, अपने आपको स्वाधीन रखे, अपना संयम करे, इंद्रियदमन करे, अपनी वासनाओंको स्वैराचारमें जाने न दे। ऐसा करनेसे उसका सदसद्योनिमें जन्म होनेका कष्ट दूर होगा।

देहमें परमात्मा।

इस देहमें जो पुरुष है, वह जिस समय अहंकाररहित हो जाता है उसी समय उसी पुरुषको परम पुरुष कहते हैं।

ब्रह्म	परब्रह्म
आत्मा	परमात्मा
पुरुष	परम पुरुष, परपुरुष
,,	परात्पर पुरुष
ईश	ईश्वर, महेश्वर
समर्याद	अमर्याद

इस तरह आत्माही अमर्याद होनेपर परमात्मा कहा जाता है और मर्यादित क्षेत्रमें उसेही आत्मा कहते हैं। जैसा घटाकाश, मठाकाश और आकाश उपाधिभेदसे ही होता है, सब आकाशहि है, परंतु घडेमें जितना आकाश होता है उतना घटाकाश हुआ करता है। इसी तरह देहाभिमानसे आत्मा और विश्वरूप परमात्मा कहा जाता है।

यही (उपद्रष्टा) सर्व देखनेवाला, (अनुमंता) अनुमोदन देनेवाला, (भर्ता) पालन करनेवाला, (भोक्ता) भोग करनेवाला, (महेश्वर) सबका ईश्वर परमात्मा है। यही पुरुष है और यही सबका अधिष्ठाता है। (श्लोक २२)

इस रीतिसे जो साधक इस पुरुषको जानता है और त्रिगुणयुक्त प्रकृतिको भी यथावत् जानता है, वह कैसा भी व्यवहार करेगा, तोभी वारंवार जन्म नहीं लेता। अर्थात् वह ऐसा असंगभावसे व्यवहार करता है कि, उसको कभी कलंक नहीं लगता, वह सदा निर्दोष रहता है, वह दोषोंमें लिपटता नहीं। (श्लो० २३)

आत्मदर्शन।

कई लोग इस आत्माको, इस पुरुषको ध्यानसे अपने आत्मामें देखते हैं, कई दूसरे सांख्ययोग-ज्ञानयोगद्वारा और कइ कर्मयोगद्वारा देखते हैं। दूसरे कइ स्वयं ज्ञानविज्ञानको न जानते हुए भी दूसरोंसे अच्छे उपदेश सुनते हैं और उनपर विश्वास करते हुए वैसाही आचरण करते हैं, ये भी मृत्युके पार होते हैं अर्थात् अमरत्व प्राप्त करते हैं, आत्माको प्राप्त होते हैं। (श्लो० २४-२५)

सबकी उत्पत्ति।

जो कुछ वस्तुमात्र यहां है, वह स्थावर हो वा जंगम हो, वह सब प्रकृति और पुरुषके (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात्) संयोगसे बना है। सब स्थावरजंगम वस्तु (स्थावरजंगमं सत्त्वं) प्रकृतिपुरुषके संयोगसे बनी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि, हरएक वस्तुमें जैसी प्रकृति है वैसा ही पुरुष भी है। कई लोग समझते हैं कि, जंगम प्राणियोंमेंहि पुरुष, आत्मा अथवा क्षेत्रज्ञ तथा चेतन जीव है, वैसा स्थावर पदार्थोंमें नहीं है' परंतु वह भूल है। क्योंकि (स्थावरजंगमं

सत्त्वं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात् संजायते। गी०१३।२६)
संपूर्ण स्थिरचर पदार्थमात्र प्रकृतिपुरुष के संयोगसेही बनते हैं। इस विषयमें कोई संदेह न करें। चर पदार्थोंमें पुरुष है, ऐसा सब मानतेही हैं, अब यहां कहा है कि, स्थिर-जड पदार्थमें भी आत्मा है, पुरुष है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि, जो प्रकृतिपुरुषके संयोगके विना बनी हो। यह असंदिग्ध कथन है और इसको ठीक प्रकार समझना चाहिये।

इस तरह इस कथनसे सभी वस्तु चेतन हो गई हैं और सभीमें प्राकृतिक जडत्वभी है। सभी चेतन और सभी जड है। जो समझते हैं कि कई पदार्थ चेतन हैं और कई जड हैं, वह विचार अशुद्ध है। पाठक यहां पूछेंगे कि यदि सभी पदार्थ प्रकृतिपुरुष, क्षेत्रक्षेत्रज्ञ, जड-चेतनके संयोगसे हुए हैं तो कईयोंमें चेतना दीखती है और कईयोंमें नहीं, यह कैसे ?

मनुष्यप्राणी — पूर्ण चेतन
पशुपक्षी — चेतन
वृक्षवनस्पति — सुप्त चेतन
पत्थर आदि — अप्रकट चेतन

चैतन्य या पुरुष इन चार स्थानोंमें चार प्रकारसे प्रकट हो रहा है। मनुष्य प्राणियोंमें वह पुरुष पूर्ण जाग्रत हुआ है और अपना ज्ञान यथावत् जाननेमें समर्थ है। पशुपक्षियोंमें किंचित् जाग्रत है, केवल मैं हूं, मुझे यह चाहिये, इतना ही जान सकता है, इन योनियोंमें यह आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है। वृक्षवनस्पतियोंमें यह सुप्त अवस्थामें है और पत्थर आदिकोंमें अप्रकट अवस्थामें है, घोर निद्रामें पडा है, ऐसा समझिये। इन चार अवस्थाओंमें आत्मा, पुरुष अथवा क्षेत्रज्ञ इस तरह प्रकट हुआ है।

यही विश्वात्माका विश्वरूप है। वही विश्वात्मा मानवोंमें स्वयंप्रज्ञ होकर प्रकट हुआ है, पशुपक्षियोंमें केवल चेतनता प्रकट कर रहा है। वृक्षवनस्पतियोंमें सुप्त स्थितिमें है और पत्थरादि पदार्थोंमें गुप्त रहा है। यही विश्वात्मा मानवोंमें पूर्ण रूपसे प्रकट होकर अपने आपको जानता है, अपनी महिमाका अनुभव करता है और अन्य योनियोंमें केवल सत्तामात्र रहा है। विश्वात्माकी स्थिति यहां चार प्रकारकी वर्णन की गयी है। इसीका अर्थ यह है कि हरएक वस्तु प्रकृतिपुरुषके संयोगसे बनी है। जहां पुरुष-आत्मा नहीं, ऐसी एकभी वस्तु नहीं है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
(गी० १३।२७)

'सब भूत नाश होनेवाले हैं, सब वस्तुएं नाशको प्राप्त होती हैं, इन नश्वर वस्तुओंमें अविनाशी परमेश्वर विराजता है, यह जो यथावत् जानता है, वही सत्य देखता है।' अन्य लोग आंखें रहकर भी अन्धे हैं। नाशको प्राप्त होनेवाली वस्तुओंमें विश्वात्मा अविनाशी है। नाशको प्राप्त होना, विकारको प्राप्त होना अथवा बनना या बिगडना, यह सब प्रकृतिका कार्य है। इस प्रकृतिके साथ पुरुष सदा है और ये दोनों मिलकर सब सृष्टिके पदार्थ बनाती हैं।

जैसा जलमें रस है वैसाही प्रकृतिमें पुरुष है। एक बर्तनका जल दस बर्तनोंमें रखा, तो जलके विभाग हुए, परंतु रस सबमें एक जैसाही है, जलके विभाग होनेपर भी रसके विभाग नहीं हुए। वैसेही प्रकृतिपुरुषके संयोगसे सब विश्वके अनंत पदार्थ बने हैं, प्रकृति विभक्त होकर नाना रूपोंको धारण करनेपरभी आत्मा या पुरुष उन सबमें अविभक्तही रहा है। पाठक इस बातको समझनेका यत्न करें। इसके समझनेसेहि परमात्मा विभक्त होनेवालोंमें अविभक्त कैसा है और विनष्ट होनेवालोंमें अविनाशी कैसा है यह बात समझमें आ जायगी। यही बात सबको जानने योग्य है और इसीके जाननेसे अमरत्वकी प्राप्ति हो सकती है।

सब विश्वके नानाविध विषम पदार्थोंमें परमेश्वर सम है, यह जो जानता है वह विषमतामें भी समता धारण कर सकता है, विषम परिस्थितिमें उसका मन सम रह सकता है, सुखदुःखमें तथा हानिलाभमें वह समबुद्धि रख सकता है। इस तरह समत्वको प्राप्त हुआ मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है, सबसे उच्च स्थिति प्राप्त कर सकता है। (श्लो० २८)

सब कर्म प्रकृतिसे हो रहे हैं, सब किये जानेवाले उद्योग प्रकृति कर रही है, उन सब कर्मोंके होनेपरभी आत्मा अकर्ता है, निर्लेप है, निर्दोष है ऐसा जो देखता है, वही सत्य देखता है। जिनको यह ज्ञान नहीं है वे आंखें होनेपरभी अन्धे हैं। सूत्रके अनेक वस्त्र बनाये गये तो भी कपासको जैसा वस्त्रपन बाधित नहीं कर सकता, वैसाही प्रकृतिसे विविध पदार्थ बननेपर आत्मा निर्दोष रहता है। (श्लो० २९)

जब भूतोंका पृथग्भाव एकही आत्माके आश्रयसे है (एकस्थं पृथग्भावं अनुपश्यति) ऐसा अनुभव होता है और सबका विस्तार उसी एकसे होता है, (ततः एव विस्तारं) ऐसा जानता है, उस समय अपनाभी विस्तार उसी एक अद्वितीय अखण्ड आत्मासे हुआ है, ऐसा उसको स्पष्ट दीखने लगता है और इससे उसको अपना मूल ब्रह्ममें है और मैं ब्रह्मही हूं ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। यही जीवका ब्रह्म होता है।

जब सभी वस्तुएं ब्रह्मसे विस्तारित हुई हैं ऐसा ज्ञान होता है, तब सब वस्तुओंमें मैं हूं यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है और जो सब वस्तुओंका बीज है, वह ब्रह्म मेरा बीज है यह ज्ञान स्पष्ट हो जाता है और वह अपने आपको ब्रह्मसे अनन्य समझने लगता है। इसीका नाम (तदा ब्रह्म संपद्यते) उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त होता है, यह है। यही ज्ञान सुविचारपरंपरासे जब सुदृढ हो जाता है, उस समय उसे सब पृथक् वस्तुमात्रमें अखंड एकरस ब्रह्मसत्ता दीखती है, अपने आपको उससे अपृथक् देखता है और सब वस्तुओंको ब्रह्मका विश्वरूप अनुभव करता है। उस समय—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
(वा० यजु० ४०।५)

'जिस समय सब भूत आत्मा ही हुए' यह अवस्था उसे प्राप्त होती है और फिर एकत्वका दर्शन प्रत्यक्ष करनेवाले उस विज्ञानीको शोक और मोह क्यों कर सतायेंगे? शोकमोह तो भेदभावसे ही उत्पन्न होते हैं, जिसे सब भेद एकत्वमें लीन हो चुके उसे शुद्ध आनंद ही प्राप्त होगा, इसमें क्या संदेह है? एक ही ब्रह्मसे अनेकविध विश्व विस्तृत होता है और यह अनेकविध विश्व उस एकही ब्रह्ममें फिर मिल जाता है। जैसे सोनेके अलंकार और फिर अलंकारोंका सोना होना है। दोनों अवस्थाओंमें सोनेका सोनेपन जैसा सदा अखण्ड रहता है, वैसाही पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओंमें ब्रह्मका ब्रह्मपण अखण्ड रहता है। विश्वका विस्तार होने न होनेमें ब्रह्मके ब्रह्मत्वमें कोई भेद नहीं होता।

यही ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सनातन सत्ता है। इसमें आप अपना अस्तित्व भी मिलाइये तो अपने आपको उससे अनन्य अनुभव करनेमें आप समर्थ होंगे। (श्लो० ३०)

अनादि अव्यय निर्गुण परमात्मा यही है। यह शरीरमें होनेपर भी न कुछ करता है (शरीरस्थोऽपि न करोति) और न लिप्त होता है (न लिप्यते)। जेवर होनेपर सोनेमें किस तरह दोष होता है, वह सोना जैसा का वैसाही है। इसी तरह निर्गुण परमात्मा शरीरमें रहनेपर भी सगुण थोडाही होता है। यह सगुणता शरीरकी प्रकृतिकी है, आत्मा वैसाही शुद्ध अव्यय और निर्गुण है। मिश्रीके जेवर बनाये तो मिश्रीका मिश्रीपन हटता नहीं और न मिठास कम

होती है। इसी तरह अनंत शरीरोंके भेद होनेपर भी उनमें परमात्मा एकरस अखण्ड अनादि अनंत है और वैसाही अपने अन्दर भी है। (श्लो० ३१)

जैसा आकाश सूक्ष्म है और सर्वत्र एक जैसा है, सब घडोंमें घडेके आकारवाला और सब घरोंमें घरोंके आकारवाला है, तथापि किसी घडेके या घरके टूटने न टूटनेसे उस आकाशमें कुछभी न्यूनाधिक नहीं होता.वैसाही सब विभिन्न वस्तुओंमें एकरस आत्मा होनेपर भी वस्तुगत दोषसे वह दोषयुक्त नहीं होता। वस्तु सदोष हो या निर्दोष वह आत्मा सदा निष्कलंक है। (श्लो० ३२)

जैसा एकही सूर्य सब विश्वको प्रकाशित करता है वैसाही यह पुरुष प्रकृतिको प्रकाशित करता है अर्थात् क्षेत्रज्ञ क्षेत्रको प्रकाशित करता है, आत्मा शरीरको चैतन्य देता है। अर्थात् जैसा अनेक बुरेभले पदार्थोंपर प्रकाश डालनेके कारण सूर्यको कोई दोष नहीं लगता, वैसाही भलेबुरे पदार्थोंके अन्दरसे प्रकाश करनेके कारण आत्माको कोई दोष नहीं लगता। (श्लो०३३)

ज्ञानचक्षु।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष, देह और आत्मा, जड और चेतन, रयी और प्राणका यह अन्तर अर्थात् यह भेद (ज्ञानचक्षषा। ज्ञानकी आंखसेही मनुष्य देखें, क्योंकि यह कल्पनागत भेद है, वस्तुगत भेद नहीं है। जैसा खांड और मीठासका भेद ज्ञानचक्षुसे देखा जानेवाला है, खांड और मीठास अलग अलग कभी हो नहीं सकते, वे एकही वस्तुके दो पहलू हैं, वैसाही प्रकृति यह पुरुषकी शक्ति होनेके कारण एक दूसरेकेही साथ है अतः उनमें कल्पनाका अन्तर है, वस्तुका अन्तर नहीं। यहां जो यह अन्तर ज्ञानचक्षुसेही देखनेको कहा है, उसकी ओर पाठक विशेष ध्यान दें,क्योंकि यह अन्तर सत्य नहीं है, केवल कल्पनासे ही भासमान होनेवाला है। जो यह जानते हैं कि, यह केवल कल्पनाका भेद ज्ञानचक्षुसे ही दीखनेवाला है, प्रकृति और पुरुष ये अलग रहनेवाली पृथक् दो वस्तुएं नहीं हैं, वे ही भूतप्रकृतिसे मुक्त होनेका उपाय जानते हैं और वे परब्रह्मको प्राप्त करते हैं। (श्लो० ३४)

प्रकृति-मोक्ष।

यहां ' भूतप्रकृति-मोक्ष ' को जानना और ' परब्रह्मको प्राप्त होना ' इसका आशय देखना चाहिये। ' भूतप्रकृतिमोक्ष ' का ठीक ठीक विचार समझनेके लिये दो कल्पनाओंका मनन करना चाहिये।

१ भूतप्रकृति-बंधनं।

२ भूतप्रकृति-मोक्षः।

ये शब्दोंद्वारा व्यक्त होनेवाली कल्पनाएं ठीक तरह समझनेसे भूतप्रकृतिमोक्ष क्या है यह-समझमें आसकता है। भूत शब्दका अर्थ ' प्राणीमात्र ' है। वस्तुमात्र अर्थात् जो कुछ बना हुआ पदार्थ है, ऐसा अर्थ भी हम ले सकते हैं, परंतु अपने विचारका निर्णय करनेके लिये ' प्राणिमात्र ' यह अर्थ पर्याप्त है। इन भूतोंकी विशिष्ट प्रकारकी प्रकृति होती है, उदाहरणार्थ सिंहव्याघ्रोंकी क्रूर प्रकृति, गायघोडेकी सौम्य प्रकृति। मनुष्योंमें भी देखिये कि कई मनुष्य सात्त्विक, कई राजस और कई तामस प्रकृतिवाले होते हैं। यह प्रकृतिस्वभाव भूतोंके पीछे लगा हुआ है, यह त्रिगुणात्मक स्वभाव सबके पीछे लगा हुआ है, मनुष्योंके पीछे तो यह लगाही है। कौन इस प्रकृतिस्वभावसे बच सकता है? जो गुणातीत होगा, वही इससे बच सकता है। प्रकृतिके गुणोंसे जो बंधन होता है, उससे मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय गुणातीत होनाही है। यहां भूतप्रकृतिसे मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय इस विचारसे पाठकोंके समझमें आगया होगा।

संपूर्ण पदार्थ, संपूर्ण प्राणी अथवा मनुष्यमात्र प्रकृतिके तीनों गुणोंसे बांधे हुए हैं. प्रकृतिके गुणोंके बंधनमें पडे हैं । जो गुणातीत होगा वही भूत-प्रकृतिसे मुक्त हो सकता है । भगवद्गीतामें आगे १४ वें अध्यायमें गुणत्रयविभागका विचार किया है और वहां गुणातीत होनेका उपाय भी कहा है । वहांहि विस्तारपूर्वक पाठकोंको गुणातीत होनेके महत्त्व का पता लग जायगा । गुणातीत होनेसे यह फल मिलता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
(गी० १४)

"सुख-दुःख, मिट्टी-सोना, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु इत्यादि द्वन्द्वोंके विषयमें समवृत्ति रखनेसे, परमेश्वरकी अनन्यभक्तिपूर्वक सेवा करनेसे, तथा सकाम स्वार्थभोगोंके लिये कर्म न करनेसे साधक गुणातीत होता है और ब्रह्मका श्रेष्ठत्व प्राप्त करता है ।"

गुणातीत होना और ब्रह्मका श्रेष्ठत्व प्राप्त करना एकही बात है, क्योंकि ब्रह्म गुणातीत है इसी लिये श्रेष्ठ है । अतः जो गुणातीत होगा वह श्रेष्ठ बनेगा ।

गुणोंके आधीन न रहना चाहिये, गुणोंके बाहर रहकर गुणोंका खेल देखना चाहिये, गुणोंको अपने आधीन करना चाहिये । गुणोंके जालमें मनुष्य फंसे हैं, वे जब गुणोंके स्वामी बनेंगे तब अपनी शक्तिका अनुभव वे कर सकते हैं । गुणोंके जालसे जबतक वे बंधे रहेंगे तबतक उनकी परतंत्रताके कारण अपनी शक्तिका पता उनको लग नहीं सकता । परतंत्रता अपनी शक्तिका नाश करनेवाली है । इसीलिये भूतोंकी प्रकृतिसे अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करनेका उपदेश (भूत-प्रकृति-मोक्षं विदुः) किया है । जो यह साध्य करते हैं, वे (परं यान्ति) श्रेष्ठ ब्रह्मभाव को प्राप्त करते हैं ।

अब आगे के १४ वें अध्यायमें प्रकृतिके गुण कौनसे हैं, वे मनुष्यको कैसा बांधते हैं और किस युक्ति से मनुष्य उनके बंधनसे मुक्त हो सकता है, इसका विचार देखिये ।

यहां तेरहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥१३॥

तेरहवें अध्यायकी विषयसूची।

संपूर्ण

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	पृष्ठसंख्या	सजिल्द	मूल्य	डा॰ व्य॰
१ आदिपर्व	११२५	,,	६। छः रु.	१।)
२ सभापर्व	३५६	,,	२॥) अढाई	॥)
३ वनपर्व	१५३८	,,	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	३०६	,,	२) दो	॥)
५ उद्योगपर्व	९५३	,,	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	८००	,,	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	१३६४	,,	७॥) साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	६३७	,,	३॥) साढेतीन	॥)
९ शल्यपर्व	४३५	,,	२॥) अढाई	॥)
१० सौप्तिकपर्व	१०४	,,	॥।) बारह आने	।=)
११ स्त्रीपर्व	१०८	,,	॥।) " "	।=)
१२ शान्तिपर्व				
१ राजधर्मपर्व	६९४	,,	४) चार	॥=)
२ आपद्धर्मपर्व	२३२	,,	१॥) डेढ	।≡)
३ मोक्षधर्मपर्व	११००	,,	६) छः	१।)
१३ अनुशासनपर्व	१०७६	,,	६) छः	१=)
१४ आश्वमेधिकपर्व	४००	,,	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिकपर्व	१४८	,,	१) एक	।=)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व	१०८		१ एक	।=)

सजिल्दका मू० ६५) रु०

मिलनेका पता— मन्त्री--स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि॰ सातारा)

चतुर्दशोऽध्यायः।

गुण–त्रय–विभाग–योगः ।

(१) उत्तम ज्ञान ।

श्रीभगवानुवाच-परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

अन्वयः—श्रीभगवान् उवाच- यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः परां सिद्धिं गताः,(तत्) ज्ञानानां उत्तमं परं ज्ञानं भूयः (अहं ते) प्रवक्ष्यामि ॥१॥ (ये) इदं ज्ञानं उपाश्रित्य मम साधर्म्यं आगताः, (ते) सर्गे अपि न उपजायन्ते, प्रलये च न व्यथन्ति ॥२॥

श्रीभगवान् बोले, जिसको जान कर सब मुनियोंने यहांसे हि परम सिद्धि प्राप्त की, वह सब ज्ञानोंमें उत्तम श्रेष्ठ ज्ञान फिरसे (मैं तुझे) कहता हूं ॥१॥ (जो) इस ज्ञान का आश्रय करके मेरे (ईश्वरके) समान धर्म को प्राप्त हुए, (वे) उत्पत्तिके समय न जन्म लेते हैं और प्रलयकालमें न कष्ट भोगते हैं ॥२॥

भावार्थ—श्रेष्ठ ज्ञान वह है कि, जिससे परम श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त होती है, वही ज्ञान बार बार सुनना सुनाना चाहिये। जिस ज्ञानसे नर का नारायण बनता है और जन्ममरण के कष्ट दूर होते हैं, वही ज्ञान श्रेष्ठ है और वही प्राप्त करना चाहिये ॥१-२॥

ईश्वरसे साधर्म्य।

(१-२) उत्तमसे उत्तम ज्ञान अब इस अध्यायमें कहा जाता है। इस ज्ञानको प्राप्त करके प्राचीन कालके अनेक ऋषियों, मुनियों, सिद्धों और योगियोंने उत्तमसे उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। इस तरह यह ज्ञान केवल तर्क में अथवा विचार में हि रहनेवाला नहीं है, प्रत्युत प्रत्यक्ष व्यवहारमें उत्तमसे उत्तम सिद्धि देनेवाला है। इसी कारण इसकी योग्यता प्रत्यक्ष फलदायी होनेके हेतुसे विशेष है।

जो ज्ञान अब कहा जायगा उस ज्ञानसे वारंवार जन्ममरण के दुःख भोगने नहीं पडते। यह एक लाभ तो हैहि,परंतु इससेभी अधिक महत्त्वका एक लाभ है वह-

(ईश्वरस्य) साधर्म्यं आगताः। (२)

ईश्वरके जो धर्म हैं उन धर्मोंके समान इसके धर्म होते हैं। जैसा तपा हुआ लोहा अग्निके गुणधर्मोंसे युक्त होता है, इसी तरह ईश्वरकी पवित्र अग्निमें तपा हुआ यह साधक ईश्वरके पवित्र और शुभ गुणधर्मोंसे युक्त हो जाता है, मानो ईश्वर ही बन जाता है, क्योंकि जो ईश्वरके साथ समानधर्मा हो गया, उसके ईश्वर

(२) पिता और माता।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

अन्वयः– हे भारत! महद् ब्रह्म मम योनिः (अस्ति); तस्मिन् अहं गर्भं दधामि; ततः सर्वभूतानां संभवः भवति ॥३॥ हे कौन्तेय! सर्वयोनिषु याः मूर्तयः संभवन्ति तासां योनिः महद् ब्रह्म (अस्ति), अहं बीजप्रदः पिता (च अस्मि) ॥४॥

हे भरतकुलमें उत्पन्न वीर! महत्-ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृति हि मेरा गर्भ रखनेका स्थान है, उसमें मैं गर्भ रखता हूं; वहींसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥३॥ हे कुन्तीपुत्र! सब योनियोंमें जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबका उत्पत्तिस्थान महत्-ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृतिहि है और मैंहि उसमें बीज डालनेवाला पिता हूं ॥४॥

भावार्थ— ईश्वर है, उसकी बडी शक्ति प्रकृति है, ईश्वर अपना बीज इस प्रकृतिमें डालता है, जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है, अर्थात् ईश्वरके वीर्यसे प्रकृतिमातामें गर्भधारणा होकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। अतः सब साधक अपने अन्दर परमात्माका बीज है, यह जानकर, इस बीजका विकास होकर अपने आपको अपने परम पिताके समान समर्थ बनना है, इस बातको न भूलें ॥३-४॥

बननेमें क्या न्यून हो सकता है? अर्थात् यह ज्ञान 'नरका नारायण' करनेवाला है। अतः यह हरएक साधक को अवश्यही प्राप्त करना चाहिये, इसलिये आगे जो ज्ञान कहा जानेवाला है, उसका मननपूर्वक एकाग्रचित्त होकर ग्रहण करिये–

सबका उत्पत्ति-स्थान।

(३-४) सब विश्वका पालक एक ईश्वर है, उस ईश्वरकी एक प्रकृति है, उसको 'महद्ब्रह्म' कहते हैं। यह अनंत शक्ति है। अपरंपार अथांग शक्ति होनेसे तथा इसका पार कोई भी नहीं पा सकता, इस कारण इसको 'महत्-ब्रह्म' कहते हैं। 'महत्' का अर्थ 'बडा' है और 'ब्रह्म' का अर्थ भी 'विशाल, विस्तृत' है। अतः 'महत्-ब्रह्म' का अर्थ 'बडी विशाल, विस्तृत शक्ति' है। यह ईश्वरकीहि शक्ति है। जैसा ईश्वर महान् है, वैसीहि उसकी शक्ति भी महती है।

यही ईश्वरकी महती प्रकृति सब स्थिरचरका (योनिः) उत्पत्तिस्थान है। इसीसे सब पैदा होते हैं और इसीमें अन्तमें जा मिलते हैं। कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि, जो इस प्रकृतिसे उत्पन्न न हुई हो। अर्थात् स्थिरचर, मूर्त, अमूर्त सृष्टिके अन्तर्गत सब पदार्थ इसी ईश्वरीय प्रकृतिसे पैदा हुए हैं।

मानो ईश्वर (बीजप्रदः पिता) गर्भाधान करनेवाला पिता है और यह प्रकृति गर्भका धारण-

पोषण करके प्रसव करनेवाली (ब्रह्म महत्-योनिः) माता है। इस प्रकृतिकी योनिमें ईश्वरका वीर्य जाता है। वहां उससे गर्भधारणा होती है और सृष्टिके सब चल और अचल-सजीव और निर्जीव (मूर्तयः संभवन्ति) पदार्थ बनते हैं। (संभवः सर्वभूतानां ततो भवति। गी० १४।३) संपूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति इस तरह होती है।

इस सृष्टिमें मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, जलचर, स्थलचर, खेचर, वृक्ष, वनस्पति आदि अनंत योनियां हैं। प्रत्येक जातिमें अनंत उपजातियां हैं। इनकी गिनती नहीं हो सकती। प्रत्येक योनिमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंका स्वभावधर्म भिन्न भिन्न होता है। प्रत्येक उपजातिमें उत्पन्न होनेवालों का स्वभावधर्म भी विभिन्न होता है। ऐसे संपूर्ण अनंत योनियोंमें उत्पन्न होनेवाली अनंत मूर्तियोंकी महायोनि यह परमात्माकी प्रकृति ही है और परमेश्वर ही सबका बीज इस प्रकृतिमें डालता है, जिससे सब सृष्टि में दीखनेवाली मूर्तियां उत्पन्न होती हैं। यह इस तरह होता है—
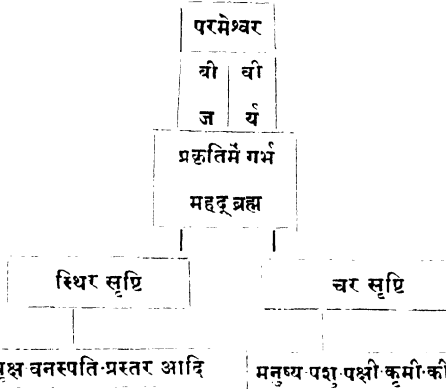
इसका तात्पर्य यह है की, पदार्थ स्थिर हो या चल हो, उसमें प्रकृतिका अंश है और साथ-साथ परमात्मके सारभूत वीर्यकाभी अंश है। परमात्माका वीर्य केवल सजीव सृष्टिमें है और निर्जीव सृष्टिमें नहीं है ऐसा नहीं है, दोनोंमें उसका वीर्य है। सजीव सृष्टि जैसी विविध प्रकारकी है, वैसी हि निर्जीव सृष्टिभी है और दोनोंका परम पिता बीजदाता परमात्माही है। साधक यहां समझे कि, अपने अन्दर परमात्माका बीज है, साथ ही साथ यह भी समझे कि अपने अन्दर परमात्माका बीज होनेसे उसका विकास होकर नरका नारायण बनानेवाला है। मैं परमात्माका अमृत पुत्र हूं, अतः मैं परम पिताके साधर्म्य को अवश्य प्राप्त करुंगा। जैसा प्रत्येक पुत्र पिताके साधर्म्यसे युक्त होता ही है वैसा ही मैं उसका अमृत पुत्र उसके अमृतको अवश्यही प्राप्त होऊंगा। उसके अमरपनको प्राप्त करना ही मेरा जीवन—उद्देश्य है। उस परम पिता परमात्माके वीर्यका स्वभावही ऐसा है कि, वह क्रमशः परमात्माके साधर्म्यसे युक्त होगा (साधर्म्य आगताः। १४-२) कितनेभी विघ्न बिचमें आगये तो भी उन

(३) तीन गुणोंका बंधन ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबन्धन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

अन्वयः-हे महाबाहो! सत्त्वं रजः तमः इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः,(सन्ति, ते) देहे अव्ययं देहिनं निबध्नन्ति ॥५॥ हे अनघ! तत्र अनामयं प्रकाशकं सत्त्वं निर्मलत्वात् (आत्मानं) सुखसंगेन ज्ञानसंगेन च बध्नाति ॥६॥ हे कौन्तेय ! रागात्मकं रजः तृष्णासंगसमुद्भवं, विद्धि । तत् देहिनं कर्मसंगेन निबध्नाति ॥७॥ हे भारत! तमः तु सर्व देहिनां मोहनं अज्ञानजं विद्धि । तत् (देहिनं) प्रमाद–आलस्य–निद्राभिः निबध्नाति ॥८॥ हे भारत! सत्त्वं (देहिनं) सुखे संजयति, रजः कर्मणि, उत तमः तु ज्ञानं आवृत्य प्रमादे संजयति ॥९॥

हे महाबाहो! सत्त्व, रज और तम ये गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले हैं, वे देहमें अविनाशी देहधारीको–जीवको–बांध लेते हैं ॥५॥ हे निष्पाप! इसमें नीरोगता देनेवाला और प्रकाश करनेवाला सत्त्वगुण अपनी निर्मलताके कारण आत्माको सुखसे और ज्ञानसे बांधता है ॥६॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! प्रेम करनेवाला रजोगुण होनेसे वह तृष्णा और आसक्ति उत्पन्न करता है,ऐसा तू समझ।

संपूर्ण विघ्नोंको परास्त करके परमपिताके सामर्थ्य को यह अवश्य प्राप्त होगा । संपूर्ण विघ्नोंका ही पराजय होगा और यही परमात्माका बीज विजयी होकर पूर्णताके साथ बढेगा।

अपने अन्दर यही अतुल सामर्थ्ययुक्त परमात्मबीज है और जैसा वटबीज का वटवृक्ष होता है, उसी प्रकार मैं भी नरका नारायण, पुरुषका पुरुषोत्तम, जीवात्माका परमात्मा,जीव का शिव अवश्य बनूंगा ।

इस ज्ञानसे साधक के मनमें यह निश्चय हो जायगा और उसका आत्मविश्वास निःसन्देह बढेगा । यहांतक बीजका विचार करके अब इसकी प्रकृतिका विचार करते हैं—

वह देहधारीको कर्मपाशसे बांधता है ॥७॥ हे भरतकुलोत्पन्न! तमोगुण तो सब देहियोंको मोहमें डालनेवाला है और वह अज्ञानसे उत्पन्न होता है। वह देहीको प्रमाद,आलस्य और निद्रा से बांध देता है ॥८॥ हे भारत! देहधारीको सत्त्वगुण सुखमें, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानको ढक कर प्रमादमें लगा देता है ॥९॥

भावार्थ—प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। ये तीनों गुण देह की उत्पत्तिके साथ देहमें आते हैं और इन गुणोंके मेलसे देहधारी जीवका स्वभाव बनता है। सत्त्वगुणसे निर्मलता, नीरोगता, प्रकाश, सुख और ज्ञान प्राप्त होता है। रजोगुणसे विषयोंपर प्रेम, तृष्णा, भोगोंपर आसक्ति और कर्मोंके साथ संग होते हैं, तथा तमोगुणसे मोह, प्रमाद, अशुद्धियां, आलस्य, निद्रा, अज्ञान आदि होता है। इन गुणोंको अपनेमें देखकर मनुष्य अपने में किस गुणकी प्रधानता है इसकी परीक्षा करे ॥५-९॥

प्रकृतिका स्वभाव।

(५-९) परमात्माकी एक प्रकृति है, जिसमें परमात्मा का बीज जाकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। इसमें परमात्माके बीजका महिमा बताया, अब प्रकृतिका स्वभावधर्म बताना है। इस प्रकृतिमें तीन गुण हैं। उनके नाम सत्त्व, रज और तम हैं। ये तीन गुण जिस समय सम भावमें रहते हैं तब इस प्रकृतिको 'मूल प्रकृति, गुणसाम्या प्रकृति' कहते हैं। इस गुणसाम्यावस्थामें इससे कोई कार्य नहीं होता है, कार्य होनेके लिये इसमें कुछ न कुछ विषमता उत्पन्न होनी पडती है और इस प्रकृतिकी गुण-साम्यता हटकर, गुण-विषमता उत्पन्न होनी आवश्यक होती है।

सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणोंके कुछ विशेष धर्म होते हैं, वे अब देखिये-

सत्त्वगुण।

निर्मल, निर्दोष, प्रकाशक, मार्गदर्शक, अनामय, नीरोगता स्थापन करनेवाला, व्याधियोंको हटानेवाला, सुख देनेवाला, इंद्रियोंकी सुस्थिति रखनेवाला, ज्ञान देनेवाला, (सत्त्व) बल बढानेवाला यह है।

रजोगुण।

यह राग अर्थात् विषयोंपर प्रीति उत्पन्न करता है, तृष्णा-प्यास अथवा चाह उत्पन्न करता है, मुझे यह चाहिये और वह चाहिये, ऐसी जो मनमें वृत्ति उठती है, वह इसी रजोगुण से उठती है। भोगोंके साथ संग करनेकी अभिलाषा होती है। यह रजोगुणी मनुष्य भोगोंका संग छोडना नहीं चाहता, भोगोंको अपने पास इकट्ठा करता जाता है, भोगोंकी प्राप्ति के लिये विविध प्रकारके छोटे-मोटे कर्म करना शुरू करता है, एक कर्म समाप्त होनेपर दूसरा, दूसरेके बाद तीसरा ऐसे विविध कर्मोंका प्रारंभ करता है। यह रजोगुण का स्वरूप है।

तमोगुण।

तमोगुणसे अज्ञान होता है, ज्ञानग्रहणशक्ति ढक जाती है, घेरी जाती है, वह अपना कार्य कर नहीं सकती। ज्ञान न होनेसे मोह होता है, मोह होनेसे कार्य और अकार्य का निर्णय नहीं होता है, क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चहिये, यह वह जान नहीं सकता। इस कारण वह प्रमाद-गलतियां और अशुद्धियां करता है, उसमें आलस्य निरुत्साह सुस्ती उत्पन्न

(४) तीनों गुणोंके लक्षण।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

होती है। वह रातदिन निद्रा लेता है, कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता, पडा रहता है। शरीर, वाणी और मनके कार्य करनेमें अरुचि होती है। यह है तमोगुणका स्वरूप।

संक्षेपसे जानना चाहें तो सत्त्वगुणसे सुख, रजोगुणसे विविध कर्म और तमोगुणसे ज्ञान घेरा जानेके कारण प्रमाद होते हैं।

संपूर्ण विश्वमें इन तीन गुणोंका खेल चल रहा है। यह त्रिगुणोंका विलास इस विश्वमें पाठक देखें। प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक वस्तु इन तीनों गुणोंसे बनी है, किसीमें किस गुणका विकास है, तो दूसरेमें न्यूनता है। न्यून हो वा अधिक हो, इन तीनों गुणोंका निवास सब सृष्टि के पदार्थों में है। मूल प्रकृतिमें ही ये तीनों गुण हैं, अतः प्रकृतिसे उत्पन्न हुए विविध पदर्थोंमें ये दीख रहे हैं।

जो सुख चाहता है, वह सत्त्वगुणसे अपने आपको बांधना चाहता है। जो अनेक कर्म करना चाहता है, वह रजोगुणसे अपने आपको बांध देता है और जो सुस्त पडता है, वह तमोगुणसे वेष्टित होता है। किसी एक गुणका प्रभाव हुआ, तो वहां अन्य गुण नहीं होते, ऐसी बात नहीं है, होते तो हैं, परंतु दबे होते हैं।

यदि कोई मनुष्य निर्मल निर्दोष नीरोग और आनंदप्रसन्न है, चतुर है, तो समझो कि उसमें सत्त्वगुण प्रभावशाली हुआ है। यदि कोई मनुष्य यह चाहिये वह चाहिये, ऐसा करता है और भोगवस्तुओं की प्राप्तिके लिये दिनरात प्रयत्न करता है, तो उस सदा अशान्त मनुष्यमें रजोगुण का प्रभाव बहुत बढ गया है, ऐसा समझना उचित है। तथा जिसमें कुछ भी बुद्धि नहीं है, जो बडा सुस्त है, दिनरात सोता रहता हैं, बिलकुल प्रयत्न नहीं करता, यदि कुछ करने लगता है, तो अनेक प्रमाद ही कर बैठता है, उसमें तमोगुण बढ गया है ऐसा समझो।

इस ढंगसे किस मनुष्यमें कौनसा गुण बढ गया है, इसकी परीक्षा हो सकती है। साधक इस तरह अपनी परीक्षा करे। किसी एक गुणकी वृद्धि होनेका अर्थ अन्य गुण दबे रहे हैं, ऐसा ही ही समझना चाहिये। इसी विषयमें आगे कहा है सो देखो—

अन्वयः- हे भारत! सत्त्वं, रजः तमः अभिभूय (स्वयं) भवति; रजः, सत्त्वं तमः च (अभिभूय स्वयं भवति); तथा तमः, सत्त्वं रजः च (अभिभूय स्वयं भवति) ॥१०॥ उत यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु प्रकाशः ज्ञानं च उपजायते, तदा सत्त्वं विवृद्धं इति विद्यात् ॥११॥ हे भरतर्षभ! लोभः, प्रवृत्तिः, कर्मणां आरंभः, अशमः, स्पृहा एतानि (चिह्नानि) रजसि विवृद्धे (सति) जायन्ते ॥१२॥ हे कुरुनंदन! अप्रकाशः,अप्रवृत्तिः च प्रमादः, च मोहः एव, एतानि (चिह्नानि) तमसि विवृद्धे (सति) जायन्ते ॥१३॥

सत्त्वगुण रज और तमोगुणका पराजय करके (स्वयं प्रभाविन) होता है, वैसाहि रजोगुण सत्त्व और तम का (पराजय करके स्वयं प्रभावी होता है), वैसाही तमोगुण सत्त्व और रजोगुग को (परास्त करके स्वयं प्रभावी) होता है ॥१०॥ जब इस देहमें सब इंद्रियोंमें प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न होता है, तब सत्त्वगुण बढ गया है,ऐसा समझना चाहिये॥११॥ हे भरतश्रेष्ठ! लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका आरंभ, इंद्रियोंकी अशान्ति और इच्छा ये चिह्न रजोगुण बढनेपर होते हैं ॥१२॥ हे कुरुपुत्र अर्जुन! प्रकाशका अभाव, कर्म करनेकी प्रवृत्ति न होना, प्रमाद,और मोह ये चिह्न तमोगुण बढनेपर होते हैं ॥१३॥

भावार्थ-यद्यपि मनुष्यमें तीनों गुण सदा रहते हैं,तथापि समय समयपर अन्य गुण दब जाते हैं और किसी एक गुणका विशेष प्रभाव होता है । किसी समय रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं और सत्त्वगुण प्रभावशाली होकर कार्य करता है । दूसरे समय सत्वगुण और तमोगुण दब जाते हैं और रजोगुण बढकर प्रभावी हो जाता है । तीसरे समय सत्वगुण और रजोगुण दब जाते हैं और तमोगुण बढकर प्रभावी होता है । इस तरह इन प्राकृतिक गुणोंका खेल चलता रहता है । जब देहमें प्रकाश और ज्ञान होता है तब सत्वगुण का प्रभाव है; जब लोभ, प्रवृत्ति, भोगलालसा, कर्मोंकी प्रवृत्ति, असंयम आदि चिह्न होते हैं, तब रजोगुण का प्रभाव है, तथा जब अज्ञान, अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद, मोह आदि होते हैं, उस समय तमोगुणका प्रभाव हुआ है, ऐसा समझना चाहिये । इससे साधक अपने अन्दर किस समय किस गुणका प्रभाव हुआ है, यह जान सकता है ॥१०-१३॥

(१०-१३) एक गुण प्रभावशाली हुआ तो दूसरे दब जाते हैं । अर्थात् दूसरे गुणोंको दबाकर ही कोई एक गुण प्रभावी होता है, जैसा—

सत्त्वप्रभाव	रजःप्रभाव	तमःप्रभाव
रज-तम	सत्त्व-तम	सत्त्व-रज

जो प्रभावी होता है, वह दूसरोंको दबाए रखता है और उनको उठने नहीं देता । इसलिये उन दबे हुए गुणोंमें उठनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और वे यत्न करते हैं और जो अधिक जोर पकडता है, वह अधिक प्रभावशाली बनता है और दूसरों को दबाये रखता है । ऐसा तीनों गुणोंका खेल चलता रहता है । (श्लो०१०)

इस देहके संपूर्ण इंद्रियद्वारोंमें जब प्रकाश होता है,सर्वत्र प्रसन्नता अनुभव होती है, असाधारण आनंद होने लगता है, स्वाभाविक नीरोगता रहती है, संदेहरहित ज्ञान ज्ञानेंद्रियोंके द्वारा होता है, उस समय सत्त्वगुण उस देहमें बढ गया है और प्रभावशाली हुआ है, ऐसा जानना योग्य है । (श्लो०११)

जिस समय इस देहमें लोभ उत्पन्न होता है, यह मुझे मिलना चाहिये, ऐसी इच्छा प्रबल हो जाती है, उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये कर्म करने की प्रवृत्ति होती है,उस भोगलालसा की तृप्तिके

(५) तीनों गुणोंका फल।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

अन्वयः-यदा तु सत्वे प्रवृद्धे (सति) देहभृत् प्रलयं याति तदा उत्तमविदां अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥ (देहभृत्) रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते। तथा (सः) तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते ॥१५॥ सुकृतस्य कर्मणः सात्विकं निर्मलं फलं, रजसः फलं तु दुःखं, तमसः च फलं अज्ञानं (इति) आहुः॥१६॥ सत्वात् ज्ञानं संजायते, रजसः लोभः एव च (संजायते), तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानं च एव भवति ॥१७॥ सत्वस्थाः ऊर्ध्वं गच्छन्ति, राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति, जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति ॥१८॥

लिये विविध कर्मोंका प्रारंभ किया जाता है, एक कर्मसे भोग न मिले तो दूसरे अनेक कर्म एकके पीछे दूसरा ऐसे आरंभ किये जाते हैं, इंद्रियोंका संयम करनेका यत्नतक नहीं होता, परंतु अशान्तिहि उन्नतिका साधन समझा जाता है, मुझे यह चाहिये आज मेरे पास यह है, कल उसको प्राप्त करूंगा, परसूं वह मिलेगा, और उस समय मैं बहुत ही सुखी हो जाऊंगा, इस तरह की वासना, कामना तथा भोगस्पृहा जब बढती हि जाती है, उस समय उस देहमें रजोगुण बढ गया है, ऐसा समझना योग्य है। (श्लो०१२)

जब देहमें कुछ कार्य न किये जांय, चुपचाप पडे रहें, कुछभी हलचल न करें, सो जाय, आलस्यमें पडे रहना ही सुखदायक है, ऐसी मनोवृत्ति हो जाती है, क्या करना चाहिये और क्या करना नहीं चाहिये, इस विषयमें कुछभी निश्चय नहीं होता, भविष्यके विषयमें अपने आंखोंके सामने बिलकुल अन्धेरा ही रहता है, उजालेका एकभी किरण सामने नहीं होता, जो किया जाता है उसमें प्रमाद गलतियां और अशुद्धियां ही होती है, कभी कुछ कर्म निर्दोष नहीं होता, मोह, अज्ञान अविद्या ही मनको घेरी रहती है, उस समय वहां तमोगुण प्रबल हुआ है, ऐसा समझना चाहिये।

इस वर्णनसे अपने अन्दर किस समय कौनसा गुण प्रबल हुआ है और किस समय अपना जीवन किस गुणके प्रभावके अन्दर गया है, यह निश्चित होता है। साधक इस तरह अपनी परीक्षा करे और जाने कि अपने जीवन को घेरनेवाला गुण कौनसा है। इसी विषयमें और आगे देखिये-

जब सत्त्वगुण की वृद्धि होनेपर देहधारी देहको छोड देता है, तब वह उत्तम ज्ञानियोंके निर्मल लोकोंको प्राप्त करता है ॥१४॥ रजोगुण की वृद्धि होनेके समय जब मृत्यु हो जाती है, तब वह कर्मसंगी लोगोंमें जन्म लेता है। वैसा ही तमोगुण के बढनेपर मृत्यु हो गयी, तो मूढ योनियोंमें उत्पन्न होता है॥१५॥ सत्कर्मका फल सात्त्विक और निर्दोष होता है, रजोगुणका फल दुःख और तमोगुण का फल अज्ञान है, ऐसा कहते हैं ॥१६॥ सत्त्वगुणसे ज्ञान होता है, रजोगुणसे लोभ होता है और तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान होता है ॥१७॥ सात्त्विक उन्नत होते हैं, राजस बीचमें रहते हैं और अधोगतिको जानेवाले तमोगुणी लोग नीचे गिरते हैं ॥१८॥

भावार्थ-सत्त्वगुणका प्रभाव रहनेपर मृत्यु हो गयी, तो अगला जन्म ज्ञानियोंमें होता है, रजोगुणके प्रभावके समय मरण हुआ तो कर्म करनेवालों में जन्म होता है और तमोगुणके प्रभावके समय मृत्यु हुई, तो मूढ जातियोंमें उत्पत्ति होती है। अतः सत्त्वगुण अपनेमें बढाना लाभदायक है। सत्त्व, रज और तमोगुणोंका फल क्रमशः सुख अशान्ति और अज्ञान है। सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुणसे असावधानी, मोह और अज्ञान होता है। सत्त्वगुणी लोग उन्नत होते हैं, रजोगुणी बीच की अवस्थामें प्रयत्न करनेमें दत्तचित्त होते हैं, और तमोगुणी लोग अधोगतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये साधक को अपनेमें सत्त्व गुणकी वृद्धि करनेका यत्न करना चाहिये ॥१४-१८॥

(१४-१८) सत्त्व, रज और तम ये गुण प्रभावशाली रहनेपर मृत्यु हो गई तो अगला जन्म किस प्रकार की परिस्थितिमें होता है, इसका विचार अब बताते हैं।

सत्त्वगुण प्रबल रहनेके समय मृत्यु होनेसे वह जीवात्मा उत्तम निर्मल निर्दोष ज्ञानी लोगोंके घरमें उत्पन्न होता है, वहां उसको सब प्रकारकी सात्त्विक परिस्थिति मिलती है और वह उत्तम उन्नतिको प्राप्त होता है।

जिस समय रजोगुण का जोर होता है, उस समय मृत्यु आनेपर वह जीवात्मा विविध कर्म करनेवालोंके घरमें जन्म लेता है और वहां विविध श्रेष्ठ पुरुषार्थ करता हुआ अनेकानेक भोग प्राप्त करता है।

इसी तरह तमोगुण की वृद्धि होनेके समय जिसकी मृत्यु होती है, वह मूढ जातियोंमें जन्म लेता है और वहां अज्ञानसे युक्त होकर प्रमाद और आलस्यमें सडता हुआ अत्यंत दुर्गतिको प्राप्त होता है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि, मृत्यु होनेके पश्चात्भी पूर्व जन्मके गुणका परिणाम कैसे भोगना पडता है, इसका उत्तर इतनाही है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण ऐसे तीन देह देहधारीके होते हैं। जो गुण प्रभावशाली होता है, वह इन तीनों देहोंमें प्रभावशाली होता है। स्थूल शरीर अन्नमय देह है, सूक्ष्म देह वासनामय देह है, मनोमय देह है और ज्ञानमय देह है। ये देह एक दूसरेके अन्दर होते हैं। सबसे बाहर स्थूल देह, यह अन्नका बनता है, इसके अन्दर सूक्ष्म वासनादेह और मनोमय देह है और इसके अन्दर कारणदेह अथवा बुद्धिरूप-ज्ञानरूप देह है। जिस समय सत्त्वगुण प्रधान होता है उस समय शरीर ही सात्त्विक गुणयुक्त होता है और मन आदि रज या तम गुणसे युक्त होते हैं, ऐसा नहीं

(६) द्रष्टाका गुणातीत होना।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अन्वयः—यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यं कर्तारं न अनुपश्यति, गुणेभ्यःच परं (आत्मानं) वेत्ति, तदा सः मद्भावं अधिगच्छति ॥ १९ ॥ देही एतान् देहसमुद्भवान् त्रीन् गुणान् अतीत्य, जन्म-मृत्यु-जरा-दुखैः विमुक्तः (सन्) अमृतं अश्नुते॥ २०॥

है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन देहोंमें एक ही गुण प्रभावशाली होता है। इस कारण स्थूल शरीर छूटनेपर अन्य दो शरीर जीवचैतन्यके साथ रहते हैं और उनमें वही गुण प्रभावशाली रहता है, जो मृत्युके समय प्रभावी हुआ था। वस्तुतः देखा जाय तो स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म और कारणदेहके गुणोंका प्रभाव अत्यधिक हुआ करता है। अतः मृत्युके पश्चात् सूक्ष्म देहोंके अन्दर के गुण इसको अपने साथ आकर्षित करके जहां पहुंचाना हो, वहां पहुंचा देते हैं। इससे स्पष्ट होगा कि, मृत्युके समय प्रभावशाली हुआ गुण मृत्युके पश्चात् दूसरा देह मिलनेतक और दूसरा देह धारण होनेके पश्चात् भी प्रभावशाली होता है। इसी लिये मरण के समय जो गुण प्रभावशाली रहेगा, उसका महत्त्व अधिक है।

जैसा निद्रा आनेके समय जो गुण प्रभावी रहेगा, उसका परिणाम पुनः जाग्रत होनेतक रहता है और सत्त्वगुणके समय निद्रा आ गयी, तो शान्त और गाढ निद्रा आती है, उत्तम स्वास्थ्य रहता है और आनन्द अनुभवमें आता है। रजोगुण के समय निद्रा आ गयी, तो अनेक स्वप्न आते हैं, भयभीत होनेके दृश्य दीखते हैं, भोग भोगनेके स्वप्न आते हैं और अशान्त नींद लगती है। इसी तरह तमोगुणके समय निद्रा आ गई तो बेहोषी जैसी छायी रहती है। इस तरह जितनी देरतक निद्रा आवेगी, उतनी देरतक उसी गुणका प्रभाव रहता है, जो गुण निद्रा आनेके समय प्रभावी रहता है। ऐसाही महानिद्रा-मृत्युके समय समझना उचित है। (श्लो० १४-१५)

सात्त्विक कर्मका निर्दोष सुखदायी फल, रजोगुणयुक्त कर्मका फल दुःख और तमोगुणी कर्मका फल अज्ञान और सुस्ती है। सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे अज्ञानजन्य प्रमाद और मोह होते हैं। इसकारण सत्त्वगुणसे उन्नति, रजोगुणसे मध्यम स्थिति और तमोगुणसे अधोगति होती है। (श्लो० १६-१८)

इस तरह इन तीनों गुणोंका प्रभाव और परिणाम जान कर साधक मनुष्य अपने आपको अवनति करनेवाले गुणोंसे बचावे और उन्नति करनेवाले गुणोंकी वृद्धि अपने अन्दर करनेका यत्न करे। इस तरह यत्न करनेपर निश्चयसे साधक की उन्नति होनेका उपाय उसके हाथमें आवेगा।

आगे इन गुणोंके बंधनोंसे मुक्त होनेके उपाय का उपदेश करते हैं। सो अब देखिये—

जब द्रष्टा इन गुणोंको छोडकर दूसरा कोई कर्ता नहीं है, यह प्रत्यक्ष देखता है, और गुणोंके परे रहनेवाले (आत्माको भी) देखता है, तब वह मेरे (ईश्वर के) स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ देह-धारी इन देहसे उत्पन्न होनेवाले तीनों गुणों के पार होकर जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखसे मुक्त होता है, तब वह अमरत्व को प्राप्त होता है ॥२०॥

भावार्थ-जब साधक देखता है कि, यहां ये तीन गुण ही सब कुछ कर रहे हैं, इनको छोड कर यहां दूसरा कोई कर्ता नहीं है, तब वह जानता है कि, इन गुणोंसे सदा पृथक् रहनेवाला आत्मा अकर्ता है और वही ईश्वर है तो स्वयं अकर्तृत्वको अपने आत्मामें अनुभव करके ईश्वरीय भावसे युक्त होता है। जब साधक इन तीनों गुणोंके पार होता है, तब वह जन्म,मृत्यु,जरा दुःखोंसे मुक्त होकर ईश्वरीय अमर भावसे युक्त होता है ॥१९-२०॥

(१९-२०) साधक ऐसा विचार करे कि मेरे शरीरके अन्दर अर्थात् मेरे स्थूल देहमें, सूक्ष्म देहमें और कारण देहमें किंवा मेरे इंद्रियोंमें, मनमें, वासना और आकांक्षामें तथा बुद्धिमें जो गुण प्रबल रहते हैं, वैसेही उसमें कर्मविचार और वासना कामना आदि होते रहते हैं। यह तो इन गुणोंका ही खेल है, तमोगुणी देह और तमोगुणी मनसे सत्वगुणी कर्म और विचार होना असंभव है। इस कारण यही सत्य है कि, ये गुण यहांके सब व्यवहारोंके सच्चे कर्ता हैं। और जो आत्मा यहां है, वह इन गुणोंके परे है, इन गुणोंसे ऊपर है, अतः वह अकर्ताही है।

ये गुण प्रकृतिके हैं, प्रकृतिका यह सत्वरज-तमात्मक स्वभावगुणधर्म ही है। वेही एक दूसरे को दबाते और स्वयं प्रभावशाली बनते हैं और कार्य करते हैं। परंतु जो कार्य होता है, उसका फल जीवको भोगना पडता है, जैसा तमोगुणके प्रभावी रहनेपर मृत्यु हो गयी तो उसका जन्म अनाडी लोगोंमें होगा, इस कारण जो हीन परिस्थिति होगी, उसके कष्टोंका अनुभव देहधारी जीवको ही करना पडेगा। अतः कहा है—

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
(गीता-अ० १३)

"प्रकृतिसे कार्यकारणपरंपरा शुरू होती है और पुरुष सुखदुःख भोगता है। पुरुष इस प्राकृतिक शरीरमें रहकर प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है, इसके इस गुणसंग के कारण इस पुरुषको उत्तम और हीन योनियोंमें जन्म लेना पडता है।"

पुरुष जीव और द्रष्टा एकही है। प्रकृतिके गुण सब कुछ कर्म करते हैं और द्रष्टा केवल देखनेवाला है। जब वह द्रष्टा अपने आपको केवल द्रष्टा मानता है, कर्मके साथ अपना कोई संबंध नहीं, कर्म तो उक्त तीनों गुणोंसे होते हैं,यह बात असंदिग्ध रीतिसे वह अनुभव करता है, तब उस द्रष्टाको परमात्मभाव प्राप्त होता है। उस समय वह नरका नारायण बनता है। ईश्वरभावसे वह युक्त होता है।

साधक जब देहसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंको नीचे छोडकर ऊपर उठता है, तब वह जन्म-मृत्यु-बुढापा और मृत्यु से मुक्त हो कर अमृतत्वको प्राप्त होता है। अर्थात् ईश्वरभावको अपनाता है। ये तीनों गुण प्रकृतिके हैं, इनका खेल ऐसा ही होता रहेगा, मैं इनसे पृथक् हूं, ऐसा जब वह स्पष्ट देखेगा,तब वह इन गुणोंका बंधन तोडकर स्वतंत्र होगा और यही अमृतत्व है, न

(७) गुणातीत कैसा होता है ?

अर्जुन उवाच—लैङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानातिवर्तते ॥ २१ ॥
श्रीभगवानुवाच- प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ॥
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

अन्वयः—अर्जुनः उवाच—हे प्रभो! एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः (जीवः) कैः लिंगैः (ज्ञातः) भवति? (सः च) किमाचारः? (सः) एतान् त्रीन् गुणान् कथं अतिवर्तते ॥२१॥ श्रीभगवान् उवाच-हे पाण्डव! प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहं एव च संप्रवृत्तानि न द्वेष्टि, निवृत्तानि च न कांक्षति॥२२॥ यः उदासीनवत् आसीनः गुणैः न विचाल्यते, यः च गुणाः वर्तन्ते इति (मत्वा) एव अवतिष्ठति, (च) न इंगते ॥२३॥ (यः) समदुःखसुखः, स्वस्थः, समलोष्टाश्मकांचनः, तुल्यप्रियाप्रियः, धीरः, तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥ (यः) मानापमानयोः तुल्यः, मित्रारिपक्षयोः तुल्यः, सर्वारंभपरित्यागी (च अस्ति) सः गुणातीतः उच्यते ॥२५॥

यहां मृत्यु है और न दुःख है। यही सबसे उच्च प्राप्तव्य अवस्था है।

यहां का सब उपदेश प्रकृतिपुरुष को परस्पर भिन्न मानकर साधक को सुबोधतया ज्ञान देनेकी इच्छासे किया है। वस्तुतः सत्व-रज-तम ये गुण क्षर प्रकृतिके हैं, प्रकृति यह पुरुष की शक्ति है, शक्ति शक्तिधारीसे पृथक् कदापि नहीं होती, इसी कारण पुरुष और प्रकृति ये एकही पुरुषोत्तम के दो पहलू हैं। ऐसा होनेके कारण ये तीनों गुण पुरुषसे पृथक् नहीं है, तथापि साधक को बोध सहज प्राप्त करानेके लिये द्रष्टा जीव और प्राकृतिक गुण का भेद यहां वर्णन किया है। वह भेद बुद्धिगम्य है, वस्तुगत नहीं।

मैं गुणोंके आधीन नहीं हूं, परंतु गुण मेरे आधीन हैं, मैं हाथोंके आधीन नहीं; परंतु हाथ मेरे आधीन हैं, ऐसा माननेपर जैसा अपना प्रभुत्व सिद्ध होता है और अपना प्रभुत्व सिद्ध होनेपर जैसी अपनी शक्ति बढती है, वैसीहि गुणातीत होनेसे साधक की शक्ति बढती है, अखंड शक्तिका उसे अनुभव मिलता है। यही अमृतत्वकी प्राप्ति है और यही ईश्वरभाव की प्राप्ति है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि, गुणातीत कैसे हो सकते हैं और गुणोंका खेल कैसा देख सकते हैं और अपने आपको उनसे पृथक् द्रष्टाके स्वरूपमें किस रीतिसे अनुभव कर सकते हैं? येही प्रश्न अर्जुन करना चाहता है और भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का समाधान करते हैं, वह मनोहारी प्रश्नोत्तर अब देखिये-

अर्जुनने पूछा कि—हे प्रभो! इन तीन गुणोंसे परे रहनेवाले की पहचान किन लक्षणोंसे होती है ? वह कैसा आचार करता है? और वह इन तीनों गुणोंसे परे किस तरह पहुंचता है ? ॥२१॥ श्रीभगवान्‌ने कहा कि—हे पण्डुके पुत्र ! प्रकाश (सत्त्व), प्रवृत्ति (रजः), और मोह (तमः) ये तीनों गुण प्राप्त होनेपर जो दुःख नहीं मानता, और इन तीनोंके निवृत्त होनेपर जो इनको चाहता नहीं, जो उदासीन के समान रहनेके कारण इन गुणोंसे हिलाया नहीं जाता, गुणही अपना कार्य करते हैं ऐसा मानकर जो स्वस्थ रहता है, और कंपायमान् नहीं होता है। जो सुखदुःख को सम मानता है, जो अपनेमेंहि आनंदित रहता है, जो मिट्टी पत्थर और सुवर्णको समान मानता है, जो प्रिय अथवा अप्रिय की प्राप्ति होनेपर सम अवस्थामें रहता है, जो धैर्यवान् रहता है, जिसको अपनी निन्दा और स्तुति समान प्रतीत होती है, जिसको अपने मान और अपमान समान होते हैं, जो मित्र और शत्रुके साथ समभावसे बर्तता है, जो सब कार्यारंभोंको त्यागता है, वही इन तीनों गुणोंसे परे होता है ॥२२-२५॥

भावार्थ- जिसको सुख-दुःख, हानि-लाभ, धनी-निर्धन, स्तुति-निंदा, जय-पराजय, प्रिय अप्रिय, मान-अपमान शत्रु-मित्र समान होते हैं, जो इन द्वन्द्वोंसे विचलित नहीं होता, जो इनको उदासीन जैसा देखता है, वह गुणातीत है। गुणातीतके ये लक्षण और ये आचरण होते हैं और इसी तरह साधक गुणातीत होता है ॥ २१-२५ ॥

(२१-२५) अर्जुन प्रश्न करता है कि गुणातीत की पहचान किन लक्षणोंसे होती है? वह आचार कैसा करता है ? और कैसे इन गुणोंसे ऊंचा उठता है? (श्लो० २१)

यह प्रश्न श्रवण करके भगवान् श्रीकृष्ण यह गुह्य ज्ञान भक्तका कल्याण करनेकी इच्छासे उसे सुबोधशब्दोंकेद्वारा प्रदान करते हैं।—

सत्त्वगुणसे प्रकाश, रजोगुणसे कर्मप्रवृत्ति और तमोगुणसे मोह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इन गुणोंसे ये परिणाम होतेही रहते हैं। (संप्रवृत्तानि न द्वेष्टि) ये हुए तो जो उसका द्वेष नहीं करता और (निवृत्तानि न कांक्षति) ये न हुए तो जो इनकी आकांक्षाभी नहीं करता वह गुणातीत कहलाता है। स्वभावसे जो चल- रहा है, उसमें न्यून करनेकी वा अधिक करनेकी जो अभिलाषा नहीं करता, परंतु जो गुणोंका खेल चल रहा है उसे केवल द्रष्टा होकर देखता है, जो (उदासीनवत् आसीनः) उदासीन जैसा देखता रहता है, फलना ही सत्त्वगुण का खेल मेरे सम्मुख हो और तमोगुणका न हो ऐसा आग्रह जो नहीं धरता, सत्त्वगुण के भाव सम्मुख आनेसे जो प्रसन्न नहीं होता और तमोगुणके भाव सम्मुख आनेसे जो क्रोधित नहीं होता, जो भी भाव आ जाय वह इन गुणोंका स्वाभाविक खेल चल रहा है ऐसा जो मानकर उदास जैसा देखता है और (गुणैः न विचाल्यते) गुणोंके कारण जिसमें हलचल या घबराहट नहीं होती, (गुणाः वर्तन्ते) ये गुण हैं और ये ऐसेही खेल खेलते रहेंगे ऐसा जो मानता है

(८) शाश्वत धर्मका आधार ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ॥
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रय-विभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अन्वय- यः मां च अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते, सः एतान् गुणान् समतीत्य, ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥ अमृतस्य अव्ययस्य च ब्रह्मणः, शाश्वतस्य च धर्मस्य, ऐकान्तिकस्य सुखस्य च हि अहं प्रतिष्ठा (अस्मि) ॥२७॥

जो मेरी (ईश्वरकी) एकनिष्ठ भक्तिभावसे सेवा करता है, वह इन गुणोंको लांघकर ब्रह्मके महत्त्वको प्राप्त करने योग्य बनता है ॥ २६ ॥ अमर और अव्यय ब्रह्मका, शाश्वत धर्मका और उच्च सुखका स्थान मैं (ईश्वर) ही हूं ॥ २७ ॥

और इस गुणोंके खेलमें जो आसक्त नहीं होता, वह गुणातीत कहलाने योग्य है। (श्लो०२३)

सुख देनेवाले सत्त्वगुण और दुःख देनेवाले रजोगुण के साथ जिसका रागद्वेष नहीं है, जो इनके संमुख आने न आनेपरभी एक जैसा रहता है, जो (स्व-स्थः) अपने ही शक्तिसे रहता है, जिसको ये गुण हिलाते नहीं, जो इन गुणोंके कारण अपने स्थानसे भ्रष्ट नहीं होता, जो सुख प्राप्त होनेपर गर्व नहीं करता, दुःख प्राप्त होनेपर विषाद नहीं मानता, कर्म करनेके समय त्रस्त नहीं होता,प्रिय वस्तु मिली तो हर्षित नहीं होता और अप्रिय स्थितिमें रहनेका अवसर आया तोभी जो दुःखी नहीं होता, प्रशंसा होने लगी, तो जिसकी छाती आगे नहीं आती और निन्दा हुई तो जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, जो पत्थरमिट्टी और सोनेको सम भावसे देखता है, अर्थात् बहुत सुवर्ण मिल गया तो हर्षवायुसे उन्मत्त नहीं होता और अपने पासका सुवर्ण चला गया और हाथमें मिट्टी आ गयी तो जिसका हृदय फट नहीं जाता, वह गुणातीत कहलाता है।

मान हो अथवा अपमान, मित्र साथ रहे अथवा शत्रु का सामना करना पडे, दोनों अवस्थाओंमें जो मनकी समान स्थिति रखता है, वह गुणातीत है। तथा जो मैं कर्ता हूं, ऐसा अहंकार धारण करके कर्म नहीं करता,वह गुणातीत कहलाता है।

यहां तक गुणातीत के लक्षण कहे, गुणातीत कैसा आचरण करता है, कैसा बोलता और चालता है, कैसा व्यवहार करता है, इसका वर्णन हुआ। इससे गुणातीत पहचाना जा सकता है। इन लक्षणोंसे साधक अपनी परीक्षा करें और उन्नतिमें कहांतक पहुंचा हूं, इसका निश्चय करें, अब ईश्वरसेवा का व्रत कहते हैं—

भावार्थ- जो एकनिष्ठ भक्तिसे ईश्वर की सेवा करता है, वह तीनों गुणोंको पीछे छोड कर आगे बढता है और ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त होता है। अमर ब्रह्म, शाश्वत धर्म और उच्च सुख का स्थान ईश्वरही है ॥ २६--२७ ॥

(२६-२७) जो अनन्य भक्तिसे परमेश्वरकी सेवा करता है, वह इन गुणोंको पीछे छोडता है, और आगे बढकर ब्रह्मभाव प्राप्त करता है। ब्रह्म, अमृत, उत्तम सुख और शाश्वत धर्म का आधार यही एकमात्र परमेश्वर है। इस परमेश्वरके साथ जो अनन्य हुआ, वह उससे अन्य न रहनेके कारण, उससे पृथक् न रहनेके कारण, उसी ईश्वरीय भावसे युक्त होता है। क्योंकि सब एकही अखण्ड सत्ता है, उसमें खण्ड नहीं है। उसमें यह मैं यह दूसरा, ऐसा भेदही नहीं है। इसतरह जिसके अन्दर यह अनन्यभाव स्थिर हुआ, वह ईश्वरके साथ अनन्य अभिन्न होनेके कारण ईश्वरभावसेही युक्त होता है।

श्रेष्ठ प्रकार की सेवा वही करता है कि, जो अपने आपको उससे अनन्य अथवा अभिन्न समझता हो। जो अपने आपको भिन्न तथा अन्य मानता है, वह सच्ची अनन्यसेवा अथवा अनन्यभक्ति करही नहीं सकता। अतः यह सच्ची अनन्यभक्तिहि ब्रह्मभावको प्राप्त करनेवाली है। यहां अनन्य भावसे की जानेवाली विश्वसेवा सबको शाश्वत सुख देनेवाली है, क्योंकि ब्रह्म अमृत शाश्वत धर्म अखण्ड सुखका एकही आधार है, जो विश्वरूपी विश्वात्मा है, उसके साथ अनन्य अभिन्न और अखण्डित होनेसे ही साधक ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त करता है। यही जीवका अन्तिम साध्य है, जो गुणातीत होनेसेहि सिद्ध हो सकता है। सब जीव इसी सिद्धिके लिये यत्न कर रहे हैं। जो अनन्यभावसे प्रयत्न करेंगे वेही सफलता प्राप्त करेंगे।

चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्दश अध्याय का

थोडासा मनन ।

इस अध्यायमें 'सत्त्व-रज-तम' ये तीनों गुण विश्वके संपूर्ण पदार्थोंमें कैसे हैं, इसका वर्णन उत्तम प्रकार किया है । प्रत्येक गुणका लक्षण क्या है और परिणाम क्या है,यह भी यहां दर्शाया है । ये गुण मनुष्यमें हैं और मनुष्यका स्वभाव इनसे ही बनता है । मनुष्यकी उच्चगति अथवा अधोगति होना इन गुणोंपर सर्वथा निर्भर है । इस कारण इस त्रिगुणविषयक ज्ञानकी साधकको बडी आवश्यकता है ।

इस ज्ञानसे साधक को परम सिद्धि मिलती है और साधक परमेश्वरके गुणधर्मोंको अपने अन्दर धारण करके परम उच्च अर्थात् 'नरका नारायण' बन सकता है ।

शुद्ध बीज ।

संपूर्ण विश्वका एक ही स्वामी परमपिता परमात्मा है और उसकी महाशक्ति अथवा आदिशक्ति है, जिसका नाम मूल प्रकृति है । इसीका नाम आदिमाता है और परमेश्वरका नाम आदि पिता है। ये दो मिलकर संपूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं । परमेश्वरका शुद्ध बीज प्रकृतिमें जाकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है । यह बीज ही वीर्य है । वीर्यमें पिताके सब गुणधर्म अंशरूपसे आते हैं और पुत्रके विकास के साथ उन गुणोंका विकास होता है ।

पिताके अवयवोंके सदृश पुत्रके अवयव कईबार होते हैं, इसका कारण यही है । पिताके वीर्यमें पिताके अवयवोंका अंशरूप सार रहता है और वह विकसित होकर पिताके जैसे अवयव पुत्रके होते हैं। पिताके वीर्यका प्रभाव यहां पाठक देखें और अपने अन्दर परमपिता परमात्माका वीर्य है, इसलिये मेरा विकास होकर, मैंभी परमपिता परमात्मा के सदृश होनेवाला हूं, मैं इस समय नर हूं परंतु भविष्य में नारायण बनूंगा क्योंकि मेरे अन्दर नारायणका वीर्य कार्य कर रहा है, मैं पुरुष हूं अतः मैं पूर्ण उन्नत होकर पुरुषोत्तम बनूंगा, मैं जीव हूं और शिव बनूंगा। इस तरह विचार करनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, जगद्बीज परमात्मा का वीर्य प्रकृतिमें आकर यह सब संसार बना है,ऐसा कहनेसे यहां कौनसा महान् सिद्धान्त कहा है।

जिसका वीर्य होता है, वैसा पुत्र होता है। यह नियम संपूर्ण विश्वमें सदा अनुभवमें आता है, मनुष्यके वीर्यसे मनुष्यरूप पुत्र होता है, इसी तरह परमात्माके वीर्यसे जो पुत्र होगा,वह परमेश्वर स्वरूप ही बनेगा इसमें कोई संदेह नहीं है । जिस कारण मेरे अन्दर परमात्माका वीर्य है, उसी कारण मेरी पूर्णता परमेश्वर बननेमें होगी। हरएक मनुष्यके अन्दर परमात्माका वीर्य है, यह उपदेश यहां देकर भगवद्गीताने हरएक मनुष्यको यह विश्वास दिया है कि, वह अवश्यही नरका नारायण बनेगा, अथवा वह नररूपसे नारायण ही अवतीर्ण हुआ है।

इस उपदेशको ग्रहण करके, इस समयतकके ऋषि,मुनि,साधुसंत सब परमसिद्धिको प्राप्त हुए और परमेश्वर के साधर्म्यसे युक्त हुए, ऐसा जो यहां कहा है,उसका तात्पर्य यह है।पिताके वीर्यसे

उत्पन्न हुआ बालक अंशरूपसे पिताही होता है, पिताही बालकरूपसे अवतीर्ण हुआ होता है, वह दूसरा कोई नहीं होता, परंतु वह स्वयं पुत्ररूपसे आया होता है। इसी तरह परमपिता संपूर्ण विश्वरूपसे अवतीर्ण हुआ है, उसीमें वह मानवरूपसे भी अवतीर्ण हुआ है। और साधकभी वही है।

पाठक यह शुद्ध ज्ञान अन्तःकरणमें धारण करें और विचारें, मनन करें, पुनः पुनः मनमें स्थिर करें और देखें कि इस ज्ञानसे कितना आत्मशक्तिका विश्वास बढता है। पहिले जो प्रतीत होता था कि, मैं यत्किञ्चित् क्षुद्र बलहीन हूं, तुच्छ हूं वह विचार दूर होता है और मैं परमात्माके वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण परमात्मशक्तिसे संपन्न हूं और परिपूर्ण होकर परमेश्वरके साधर्म्यसे युक्त होऊंगा, इस समयभी यद्यपि मैं परमेश्वर का पुत्र हूं, तथापि वही इस रूपसे अवतीर्ण हुआ है, इत्यादि विचार प्रबल होनेके कारण अपनी सच्ची शक्ति का पता लगता है। और यही आत्मविश्वास मानवोंकी सच्ची उन्नतिका हेतु है।

रजःसामर्थ्य।

जैसा बीज उत्तम चाहिये, वैसा रजभी उत्तम चाहिये। पूर्वोक्त स्थानमें बीजके प्रभाव का वर्णन किया, अब रजके प्रभाव का विचार करते हैं। परमात्माकी आदिशक्ति ही यहां रजःशक्ति है, परमात्माके बीजको यह रज अपने अन्दर लेता है और उनके मेलसे पुत्र उत्पन्न होता है। यह रजः परमात्मा की आदिशक्तिका ही होनेसे यहां का रजःसामर्थ्यभी बडा विलक्षण है। परमात्माका बीज वीर्य और परमात्मशक्तिका ही रज ऐसा शुभ संयोग यहां हुआ है। अर्थात् बीजरूपसे परमात्मा हमारे अन्दर है और रजः स्वरूपसे परमात्मशक्ति हमारे अन्दर है। अतः पिता और माता की ओरसे देखा जाय, तो हमारा सामर्थ्य कम नहीं है। यह निश्चय जानना चाहिए।

जो आदिशक्ति मूल प्रकृति है, उसमें तीन गुण हैं, जो सत्त्व-रज-तम नामसे प्रसिद्ध हैं। सत्त्वगुण सुख देनेके कारण सुखसंगसे देहधारी को बांध देता है, रजोगुण विविध कर्मोंमें प्रेरित करनेके कारण विविध पुरुषार्थों में देहधारी को बांध देता है, और तमोगुण प्रमाद, आलस्यादि दोषोंसे बांध देता है। इस तरह ये तीनों गुण देहधारीको बांध देते हैं। और इनके पाशोंके बंधनसे छूटनाही इसका पुरुषार्थ है और यही मुक्ति इसे प्राप्त करनी है।

सब प्रकारके बंधन इन प्राकृतिक तीनों गुणोंसे होते हैं, सब प्रकारके दुःख इन गुणोंके संगके कारण होते हैं, और सब प्रकारकी रुकावटें इन गुणोंसे होती हैं, इस कारण इनका बंधन दूर किस तरह हो सकता है और इस साधक को इन गुणोंकी सहायता किस रीतिसे हो सकती है, इसका विचार करना अत्यंत आवश्यक है। अतः इन तीनों गुणोंका स्वभाव कैसा है, वह देखेंगे-

तीन गुणोंका स्वभाव।

सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
निर्मल (६, १६)	मलिनता	मलीन
निर्दोष	दोषयुक्त	दोषयुक्त
निष्कलंक	कलंकित	कलंकित
प्रकाश (६,११)	धुंधलापन	अन्धकार
दिन	संधिसमय	रात्री, अप्रकाश (१३)

अनामय (६)	रोग होकर निवृत्त होना,	आमय, रोगी होना ।
नीरोगिता	,, ,,	रोगमय
सुख (९)	दुःख (१६)	दुःख
ज्ञान (११, १७)	कर्मप्रवृत्ति (९)	अज्ञान (८, १६)
वैराग्य	राग (प्रीति) (७)	—
तृष्णा न होना	तृष्णा	—
निष्काम कर्म	कर्मसंगसे बंधन	कर्महीनता
उत्साह	सदा प्रयत्न	आलस्य, निद्रा (८)
मोह न होना	किंचित् मोह	मोह (१७)
अप्रमाद	,, प्रमाद	प्रमाद (९,१७)
निर्लोभता	लोभः (१२, १७)	—
शान्ति	प्रवृत्तिः	अप्रवृत्ति (१३)
निष्काम भाव	कर्मोंका प्रारंभ	प्रमाद, मोह,
शम, दम	अशमः	—
उत्तम लोगों में जन्म (१४)	कर्मसंगियोंमें जन्म	मूढयोनिमें जन्म
ऊर्ध्वगति (१८)	मध्यम स्थिति (१८)	अधोगति (१८)

इस तरह यह गुणोंका प्रभाव है। सत्त्वगुणके विरुद्ध तमोगुण है और रजोगुण दोनोंके मेलसे होता है। तमोगुण में आलस्य होनेसे उससे रजोगुण उसकी कर्मप्रवृत्तिके कारण अच्छा है, परंतु इस रजोगुणमें अशान्तिके दुःख हैं। अतः उससेभी सत्त्वगुण नित्यसुखदायी होनेके कारण अच्छा है। परंतु ये तीनों गुण न्यूनाधिक प्रमाणसे प्रत्येक स्थानमें रहते ही हैं।

प्रत्येक मनुष्य तमोगुण का आश्रय करके विश्रान्ति लेता है, रजोगुणके आश्रयसे प्रयत्न करता है और सत्त्वगुणके आश्रयसे आनन्दका अनुभव करता है। ये तीनों इस तरह मनुष्यके सहाय्यकभी हैं। परंतु जब इनका प्रमाण बिगड जाता है तब इनहीसे बंधन होता है, जैसा मनुष्यको विश्राम-निद्रा चाहिये, परंतु यदि कोई मनुष्य दिनरात विश्रामही करता रहेगा, तो वही बंधन होगा। इसी तरह मनुष्यको प्रयत्न करनाही चाहिये, परंतु अविश्रांत रहकर रातदिन प्रयत्न करता रहेगा, तो विश्रामके अभावके कारण यह प्रयत्नशीलता उसकी हानि करेगी और बंधनरूप हो जायगी। इसी प्रकार मनुष्यको सुख और आनन्द चाहिये, परंतु जब यह सुखलालसा बढ जाती है, तब स्वार्थमें परिणत होनेके कारण यह अपने सुखके लिये संघकी हानि करता है, तब इसका यह सुख सबकी हानि करने लगता है और बंधनका हेतु होता है। इस रीतिसे येही सत्त्व, रज तम मनुष्यके सहायकभी होते हैं और विनाशकभी होते हैं।

मनुष्योंके सब कार्य इन गुणोंसेही होते रहते हैं। परंतु मनुष्यको इनके आधीन होना नहीं चाहिये और मनुष्यके स्वाधीन इनका रहना योग्य है। साधक इस जगत्में इन तीनों गुणोंके कार्य कैसे चल रहे हैं यह देखे और अपने आपको उनका द्रष्टा, उनसे स्वतंत्र, उनका निरीक्षक अनुभव करे। तब यह गुणोंके परे रहेगा और संपूर्ण दुःखोंको दूर करके परमात्मभावको अपने अन्दर धारण करेगा। जब तक यह साधक इन गुणोंके द्वारा घसीटा

आ रहा है, उनके पीछे उनका अनुगामी होकर उनसे बांधा जाकर पराधीनसा हो रहा है, तब तक इसके परतंत्र होनेके कारण इसको आनंद प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं है। अतः इसको अपना स्वातंत्र्य स्थापन करना आवश्यक है। इस स्वातंत्र्यके प्राप्त करनेकी युक्ति यह है-

स्वातंत्र्यकी स्थिति ।

साधक जब पूर्ण उन्नत होता है, तब उसको सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है, इस सिद्ध स्थितिमें वह इन तीनों गुणोंका कार्य देखता रहता है, सत्त्वसे होनेवाले प्रकाश और ज्ञान, रजोगुणसे होनेवाले लोभ और कर्म तथा तमोगुणसे होनेवाले प्रमाद और मोहको यह देखता है। इनमेंसे किसीको यह चाहता भी नहीं और नहीं चाहता ऐसाभी नहीं, इनमेंसे कोई इनके पास आये, तो यह न उनका द्वेष करता है और न उनसे प्यार करता है, जैसा कोई उदासीन मनुष्य स्वस्थ रहता है, वैसा यहभी स्वस्थ रहता है।

ये गुण अपना कार्य कर रहे हैं ऐसा यह देखता है और उनसे अपना कोई संबंध स्थिर करना नहीं चाहता। इनमेंसे कोई गुण आ गये, तो भी ठीक है और न आ गये तोभी ठीक है, ऐसी उदास वृत्तिका धारण यह करता है। यह अपनी प्रकृतिकाही खेल है, यह किसी दूसरेकी प्रकृति नहीं है, अतः यह जैसी है वैसी रहे, ऐसा यह मानता है और इनके कारण अपने अन्दर ईर्ष्या, द्वेष होने नहीं देता। इनके वेगसे यह चंचल नहीं होता है, इनका वेग कितना ही क्यों न बढे, यह वायुवेगसे पर्वतके न हिलनेके समान स्थिर रहता है।

सुख-दुःख, प्रियाप्रिय, निन्दास्तुति, मानापमान, मित्रशत्रु, सुवर्णमिट्टी आदिकी प्राप्ति होनेपर यह सम स्थितिमें रहता है। किसी भी परिस्थितिसे इसमें कोई हेरफेर नहीं होता, इसकी मनोवृत्ति विपरीत परिस्थितिमेंभी सम रहती है। ऐसा जो झंझावातमें स्थिर रहनेवाले मेरुपर्वतके समान सुस्थिर रहता है उसको गुणातीत कहते हैं, यही इन गुणोंका स्वामी है, यही गुणोंके परे है और यही ईश्वरभावसे युक्त है।

अनन्यभावसे ईश्वरभक्ति करनेवालाभी इसी तरह ईश्वरभावसे युक्त होता है, क्योंकि अमृत, सुख और ब्रह्मका वही एक आधार है, वही आधार इसे प्राप्त होता है। अतः वह ईश्वरभावयुक्त हुआ ऐसा कहते हैं।

आगे अठारहवें अध्यायतक इन तीनों गुणोंका विचार विविध प्रकारसे होनेवाला है। इसलिये इसका मनन हम आगे विशेषरूपसे करेंगे, अतः यहां इतनाही पर्याप्त है।

चौदहवें अध्यायका मनन समाप्त ॥ १४ ॥

चौदहवें अध्यायके सुभाषित ।

(१) सात्त्विक भावसे उन्नति ।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था
मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था
अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

" सात्त्विक लोगोंका उत्कर्ष होता है, राजस

लोग मध्य स्थितिमें रहते हैं, और तामस लोगोंकी अधोगति होती है।' अतः मनुष्य अपने अन्दर सात्विकभाव बढावे।

(२) त्रिगुणोंमें न फंसो।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्
देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखै—
र्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

" देहमें उत्पन्न होनेवाले इन तीनों गुणोंको उलांघ कर जन्ममृत्यु, जरादुःखोंसे मुक्त होकर मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होता है।" अतः इन गुणोंमें न फंसना साधकको योग्य है।

(३) अव्यभिचारिणी भक्ति।

मां च योऽव्यभिचारेण
भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्
ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

"अव्यभिचारिणी भक्तिसे जो ईश्वरकी सेवा करता है, वहभी तीनों गुणोंके बंधनोंको तोडकर ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त करता है।" ईश्वरभक्तिकी यह महिमा है।

श्रीमद्भगवद्गीताके

चतुर्दश अध्यायकी विषयसूची

पुरुषोत्तम-योगः।

(१) अश्वत्थ वृक्ष।

श्रीभगवानुवाच- ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

अन्वयः—श्रीभगवान् उवाच- छन्दांसि यस्य पर्णानि (सन्ति तं) अश्वत्थं ऊर्ध्वमूलं अधःशाखं अव्ययं प्राहुः। यः तं वेद, सः वेदवित् (इति उच्यते) ॥ १ ॥ तस्य गुणप्रवृद्धाः विषयप्रवालाः शाखाः अधः ऊर्ध्वं च प्रसृताः (सन्ति); अधः च मनुष्यलोके कर्मानुबंधीनि मूलानि अनुसंततानि (सन्ति) ॥ २ ॥

श्रीभगवान् कहते हैं- सब छन्द जिसके पत्ते हैं, उस अश्वत्थकी जड ऊपर है और शाखा नीचे फैली हैं, इसे अविनाशी कहते हैं। जो इसे जानता है, वही वेदवित् कहा जाता है ॥ १ ॥ उसकी (सत्त्वादि) गुणोंसे बढीं हुईं और (शब्दादि) विषयोंके कोमल पल्लवोंसे युक्त शाखाएं नीचे और ऊपर फैली हुई हैं, और नीचे मनुष्यलोकमें कर्मोंके साथ संबंध रखनेवाली जडें बहुत फैली हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— संसारका वृक्ष अनादि अनंत चारों ओर फैला है, इसके ज्ञानरूपी पत्ते सबको शीतल छाया देनेवाले हैं, शाखाएं ऊपर नीचे फैली हैं, इनमें सत्त्व-रज-तम गुणोंका रस भरपूर भरा है, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधरूप विषयोंके सुखदायी कोमल अंकुर लगे हैं और इनकी कर्मोंसे संबंध जोडनेवाली जडें चारों ओर फैली हैं ॥ १-२ ॥

संसार का वृक्ष।

(१-२) यहां इस पंद्रहवें अध्यायमें इस संसारको अश्वत्थ वृक्ष मानकर बडा सुंदर वर्णन किया है। "इसका मूल ऊपर है, शाखाएं नीचे हैं, इसके पत्ते सब प्रकारके छन्द हैं, ऊपर नीचे इसकी शाखाएँ फैली हैं। सत्त्व-रज-तम ये तीन गुणोंसे इन सब शाखाओंका पालन होता है, शब्द -स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये विषय इन शाखाओंके कोमल अंकुर बढ रहे हैं, इसकी जडें बहुत गहरीं गयी हैं और आगे उनका कर्मोंके साथ संबंध हुआ है। मनुष्यलोकमें यही अव्यय वृक्ष है जिसके आश्रयमें सब मानव हैं।"

यह वर्णन बडा अर्थपूर्ण है। इसका विचार हम आगे करेंगे। उससे पूर्व इस तरह संसारको वृक्ष कहकर कहां कहां वर्णन किया है वे वर्णन देखेंगे। पहिले कठोपनिषद् का वर्णन देखिये—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोका श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ कठ उ० ६ । १

"जिसकी जडें ऊपर हैं और शाखाएं नीचेकी ओर हैं, वह सनातन अश्वत्थ वृक्ष यह है। वही शुक्र, वही ब्रह्म और वही अमृत है ऐसा कहते हैं। इसीमें सब लोक आश्रय किये हुए हैं। इसको कोइ उलांघ नहीं सकता, यही निश्चयसे वह है।"

भगवद्गीताके श्लोक का अर्थ समझनेके लिये इस वचनका अनुसंधान अवश्य करना चाहिये। इस वृक्षको यहां 'सनातन' कहा है और गीतामें 'अव्यय' कहा है. दोनोंका अर्थ एकही है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह वृक्ष क्षणभंगुर नहीं है। यह सनातन है और अव्यय अर्थात् अविनाशी है। बहुत लोग इसको क्षणभंगुर कहते हैं परंतु यह क्षणभंगुर संसारकी कल्पना वेद, उपनिषद् और गीताकी नहीं है। भगवद्गीता तो परमात्माको ' विश्वरूप ' मानती है, अतः परमात्मा अनादि अनंत है और अविनाशी है वैसाही परमात्माका विश्वरूप-संसारभी अनादि अनंत और अविनाशी है। यही भाव इस वृक्षको सनातन और अव्यय कहनेसे व्यक्त हो रहे हैं। पाठक ये शब्द अवश्य देखें।

इसी उद्देश्यसे यहां इस उपनिषद्के वचनमें इसी अश्वत्थ वृक्षको ' शुक्र ब्रह्म और अमृत ' कहा है। यह वृक्ष ब्रह्मका ही रूप है, यही शुक्र तथा बलशाली है और अमृत अर्थात् मरणधर्मरहित है। इसको जो बंधनकारक समझते हैं वे गलतीपर हैं, इसका विचार आगे किया जायगा। यहां प्रथम अन्यान्य स्थानोंपर इस वृक्षके विषयमें क्या कहा है वह देखेंगे। मुण्डक उपनिषद्में वृक्षका वर्णन इस तरह है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयारन्यः पिप्पलं स्वाद्व-
त्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥
(ऋग्वेद १ । १६४ । २२; मुण्डक ३।१)

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया
शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥
(मुण्डक उ० ३।२).

" उत्तम पंखवाले, साथ साथ रहनेवाले दो पक्षी एक वृक्षपर साथ साथ रहते हैं. उनमें से एक पक्षी उस वृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा कुछभी न खाता हुआ प्रकाशता है॥ इस वृक्षपर रहनेवाला पुरुष इस वृक्षके फल में निमग्न हो कर मोहित होता है और अपने स्वामी न होनेके— अपने सामर्थ्यहीन होनेके- अपने निर्बल होनेके विषयमें शोक करता रहता है। जब यह दूसरे सच्चे स्वामीका दर्शन करता है और उसका ही यह महिमा है ऐसा जानता है, तब इसका शोक दूर होता है।"

यहां भी एक वृक्ष है और उसपर एक जीव और दूसरा शिव ऐसे दो पक्षी बैठे हैं, जीव नामक पक्षी इसका फलभोग करता है, इस लिये इसमें फलभोग की आसक्ति रहती है, और आसक्तिके कारण मोहशोक होते हैं और अपने बलहीन होनेका विचार वारंवार उसे कष्ट देता है। पश्चात् जब अपने साथी दूसरे शिवसंज्ञक पक्षीकी यह सब महिमा है, ऐसा यह जीवपक्षी जानता है, तब फलभोगके संगमें फंसता नहीं और शोकरहित होता हुआ जीवन की सफलता प्राप्त करता है।

इन मंत्रोंकी तुलना गीताके श्लोकोंके साथ करनेसे अर्थकी पूर्णता होती है और मुक्तिके मार्गका भी पता लगता है। असंगशस्त्र (श्लो० १५।३) से वृक्षका छेदन करनेका जो उपाय गीतामें बताया है उसका संबंध उसके फलभोगके

साथ है, यह बात (पिप्पलं स्वादु अत्ति) मीठा फल खाता है, इस ऋग्वेदके वचनसे स्पष्ट होती है।

महाभारतके आश्वमेधिक पर्वमें ब्रह्मारण्यका वर्णन इस तरह किया है-

प्रज्ञावृक्षं मोक्षफलं शान्तिच्छायासमन्वितम्।
ज्ञानाश्रयं तृप्तितोयमन्तःक्षेत्रज्ञभास्करम्॥१६॥
येऽधिगच्छन्ति तत्सन्तस्तेषां नास्ति पुनर्भवः।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक्च तस्य नान्तोऽधिगम्यते॥
॥१७॥

महाभा० आश्व० अ० २८ (अनुगीता०)

" इस विद्यारण्य अथवा ब्रह्मारण्यमें प्रज्ञा नामक वृक्ष हैं, उनको मोक्षरूपी फल लगे हैं शान्तिरूप छाया वहां है, ज्ञानका आश्रय करने योग्य स्थान है, तृप्ति देनेवाला जीवन-जल वहां है। और क्षेत्रज्ञ आत्माका प्रकाश यहां पडा है। जो लोग इस वनमें जाते हैं उनको पुनर्जन्म नहीं होता, इस वनका ऊपर नीचे तिरछा तथा किसी भी ओर अन्त नहीं प्रतीत होता।" ऐसा यह बडा भारी अरण्य है। एक अश्वत्थ वृक्षके स्थानपर यहां अनन्त वृक्षोंका महावन कहा है। इस वृक्षपर वे जाते हैं कि जो मुक्तिके अधिकारी होते हैं, इन्हींको मोक्षरूपी फल प्राप्त होता है। भगवद्गीतामें जिस अश्वत्थ वृक्षका वर्णन है उसको असंगशस्त्रसे काटना है, वह वृक्ष इस वनमें नहीं है. इस वनमें पहुंचनेवालोंको मोक्षरूपी अमृतफल मिलता है और किसी वृक्षके किसी टहनीको काटनेकी आवश्यकता नहीं है। अर्थात् ये वृक्ष मानवी प्रगतिमें रुकावट डालनेवाले नहीं है और भगवद्गीतामें कहा अश्वत्थ वृक्षका विस्तार साधक की उन्नतिमें रुकावट करनेवाला है। अतः वह असंगशस्त्रसे काटना पडता है।

इन दोनों वृक्षोंके स्वरूपमें यह भेद है जिसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। अब वेदके कतिपय मंत्रोंका विचार करते हैं—

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥१॥
पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः॥२॥

(ऋग्वेद १० । १३५)

(ऋषिः—कुमारो यामायनः। देवता-यमः)

"जिस उत्तम पानोंसे युक्त वृक्षपर बैठकर सब प्रजाओंका पालनकर्ता पिता यम अन्य देवोंके साथ रसपान करता है और अपने साथ प्राचीन पितरोंको चाहता है। प्राचीन पितरोंको चाहनेवाले और पापी बुद्धिके साथ विचरनेवालोंको न चाहनेवाले यमका मैंने एकबार दर्शन किया और उसका फिर दर्शन करना चाहता हूं।" इस मंत्रमें एक वृक्ष है, उसपर सबका पालक देव बैठा है और उसके साथ अन्य देव भी हैं ये सब वहां रसपान कर रहे हैं और वह पालनकर्ता देव पुराने लोगोंको वहां चाहता है, सम्भवतः उनको भी रस पिलाता ही होगा, और वह पापी बुद्धिके साथ रहनेवालोंको नहीं चाहता अर्थात् निष्पाप बुद्धिवालोंकोही चाहता है। यहां का यह वृक्ष असंगशस्त्रसे काटने योग्य नहीं है; क्यों कि यहां सद्बुद्धिवाले सत्पुरुष जाते हैं और परमपिता के साथ जो देवसभा बैठी है उसमें प्रवेश पाते हैं तथा ये सब मिलकर अमृत रसका पान करते हैं। इस कारण यह वृक्ष पूर्वोक्त महाभारतमें कहे प्रज्ञावृक्षके सदृश दीखता है; इसको यहां 'पलाश' कहा है, गीतोक्त वृक्ष 'अश्वत्थ' है परंतु 'वड' के समान उसका वर्णन है।

रुशत्पिप्पलं मरुतो वि धूनुथ॥ (ऋ० ५।५४।१२)

'पीपल वृक्षको मरुत् देव हिलाते रहते हैं।' ऐसा एक स्थानपर कहा है। संभवतः ऊपरके मीठे फल गिरानेके लिये ही ये इस वृक्षको

हिलाते होंगे। यह स्वर्गीय पीपल है इसमें संदेह नहीं है। और देखिये—

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥
(अथर्ववेद ५।४।३; १९।३९।६)

"अश्वत्थ वृक्ष देवोंके रहनेका स्थान है, वह तीसरे द्युलोकमें रहता है, उस अमरत्व देनेवाले कुष्ठको देवोंने प्राप्त किया।" इस मंत्रमें अश्वत्थको देवोंका घर बताया है और इसका मूल स्थान तृतीय द्युलोक है। चूंकि इसके आश्रयसे देवताएं रहती हैं इसलिये इस वृक्षकी शाखाएं छेदन करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, जैसा कि गीतामें असंगशस्त्रसे अश्वत्थ वृक्षको काटनेको कहा है। अस्तु।

इस तरह वैदिक सारस्वतमें वृक्षके आश्रयसे देवताओंका निवास आदिके विषयमें कहा है। यहां 'वृक्ष' आदि शब्द आलंकारिक भाव दर्शाते हैं, और यहांके 'पक्षी' भी आकाशमें उडनेवाले पंखयुक्त प्राणी नहीं है, यह बात स्पष्ट ही है। अतः इसको आलंकारिक मानते हुए यहांतक जो वचन हमने देखे उसका संक्षेपसे आशय देखेंगे और उसका थोडासा मनन भी करेंगे—

अलंकारका स्वरूप।

१ जिसकी जडें ऊपर हैं और नीचे शाखाएं हैं ऐसा एक अश्वत्थ वृक्ष है, इसके पत्ते छन्द-वेद-हैं। (गीता १५-१, कठ ६।१)

२ इस वृक्षकी शाखाएं नीचे और ऊपर फैली हैं, इनमें सत्त्व-रज-तमका भाव रसरूप होकर भरपूर भर गया है, मानों इस रससे ही इस शाखाविस्तारका पोषण हो रहा है। (गी० १५।२)

३ इन शाखाओंपर विषयरूपी सुंदर पल्लव इसकी शोभा बढाते हैं और मोक्षधामके पान्थस्थोंको सुख देते हैं। इनके कारण ही इस वृक्षकी सुंदरता बढ गयी है। (गी० १५।२)

४ इस वृक्षकी जडें मनुष्योंके कर्मोंके साथ संबंध रखती हैं अर्थात् कर्मरूपी भूमिमें जडें जाती हैं और वहांसे इस वृक्षका पोषण और संवर्धन होता है। (गी० १५।२)

५ जिसकी जडें ऊपर हैं और शाखाएं नीचे हैं वह अश्वत्थ वृक्षही सामर्थ्ययुक्त 'अमृत ब्रह्म' है, इसीके आश्रयसे सब लोग सुरक्षित रहे हैं और कोई इसको उलांघ नहीं सकता। (कठ उ० ६।१)

६ एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हैं, उनमें एक फल खाता है और दूसरा कुछभी न खाता हुआ चमकता रहता है, अर्थात् भोग न करनेवाला तेजस्वी है और भोग करनेवाला भूखा है। (ऋ० १।१६४।२२; मुण्ड० ३।१)

७ इस वृक्षके फलका भोग करनेमें जो तत्पर होता है वह मोहसे शोक करता है, अपनी निर्बलतासे दुखी होता है, जब दूसरे तेजस्वी पक्षीका दर्शन करता है और जानता है कि वह फलभोग न करनेके कारण तेजस्वी और समर्थ है तब उसकी यह सब महिमा है ऐसा जानकर शोकरहित अर्थात् सुखी होता है। (मुण्ड० ३।२)

८ इस हरेभरे वृक्षके नीचे बैठकर सब देवोंके साथ यम रसपान करता है, वहां हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होंने देवत्वको प्राप्त किया वे भी उस सभामें विराजते हैं। (ऋ० १०।१३५।१)

९ यह सब विश्वका देव पापमयी बुद्धिको नहीं पसंद करता वह पुण्यमयी बुद्धिहि पसंद करता है। इस देवताका जो एकवार दर्शन करता है उसको उसका वारंवार दर्शन करनेकी तीव्र इच्छा होती है, क्योंकि उसका दर्शनही ऐसा सुंदर है। (ऋ० १०।१३५।२)

१० अश्वत्थ वृक्षपर देव रहते हैं और वह अश्वत्थ तृतीय द्युलोक में है। वहां ही अमृत का स्रोत है। (अथर्व० ५।४।३)

संक्षेपसे यह आशय यहां तक दिये वचनोंका है। यहांका वृक्ष यही संसार है। इस संसार-वृक्षपर कई जीवरूपी पक्षी बैठे हैं, उनमें कई नित्यतृप्त आप्तकाम और असंग वृत्तिसे रहनेवाले हैं, जो आनंदी और तेजस्वी हैं। अन्य जीव भोगी हैं वे चिन्तामें मग्न, मोहसे ग्रस्त, दुःखसे संतप्त और आधिव्याधियोंसे पीडित हैं। यहां पता लगता है कि भोगलालसासे दुःख और अनासक्तिसे सुख प्राप्त होता है।

जो आत्मा सुखी है वह (अनश्नन्) भोगमें अनासक्त है और (यमः) संयमी है। इसीमें उसके सुखका बीज है। अनासक्ति ही सुखका हेतु है। एकही वृक्षपर बैठनेवाले दो पक्षियोंमें जब अनासक्तको सुख और आसक्तको दुःख होता है, तब दुःखी जीवोंको उचित है कि वे अनासक्तिसे रहें और सुखी हो जांय। जो अनासक्त और संयमी है, वही ईश है। भोगी ईश होही नहीं सकता, क्योंकि भोगी होनेका अर्थ वह अपने आपको हीन दीन और अपूर्ण समझता है। जो अपूर्ण है और बाहरसे वस्तु आनेपर जिसकी तृप्ति होनेकी कल्पना है वह समर्थ और पूर्ण किस तरह हो सकता है? और समर्थ न होगा, वह ईश भी किस तरह हो सकता है?

यहां 'कर्मफलत्याग' के गीताके सिद्धान्त का वैदिक मूल हमें प्राप्त हुआ। इस संसारमें जीवोंको सुख देनेवाली छाया वेदोंसे ही प्राप्त होती है। छन्द ही यहांके (पर्णानि) पल्लव हैं, शाखाविस्तार सब यही वेदविस्तार है। आनंदसे और सुखसे इस छायामें जीव रहते हैं और वेदमार्गके अनुसार चलते चलते आगे मार्ग मिलता जाता है।

शाखाएं, पल्लव, जडें और वृक्षकी टहनियां ऐसी एक दूसरेके साथ मिलीं हैं कि उनके अन्दर अटका हुआ पक्षी बाहर खुली वायुमें आ नहीं सकता, क्योंकि उसको मार्गही नहीं मिलता। कर्म करो, उसका सुख भोगो, आगे भी कर्म करो और फिर सुख भोगो, फलसंग्रह करो, उसका रक्षण करो, उसको भोगो, इस तरह अनेक कष्टों और यातनाओंमें फंसा हुआ यह जीव बाहर कैसा निकल आवे? इसके पाश इतने हैं कि उनसे बाहर निकलना बिलकुल उसे कठिन होता है।

छोटेपनमें अज्ञानमें रहता है, तारुण्यमें स्त्रीभोगमें लिपट जाता है, आगे बालबच्चे होते हैं, पीछे उनके विवाहके मंगलकार्य हैं, मित्र हैं, सगे हैं, संबंधी हैं, दुःख और शोक हैं, वैयक्तिक और सामूहिक कार्य हैं, एक कार्य समाप्त होता है तो दूसरा शुरू होता है, इस तरह इसे इससे छूटनेका मार्ग नहीं दीखता। एकही मार्ग है जो यह (यम) संयमी बने और (अनश्नन्) भोग भोगनेका इच्छुक न रहे, इस असंगवृत्तिसे रहनेसे ही इसका मार्ग खुल जाता है।

कठ उपनिषद्में जो कहा है कि यह अश्वत्थ वृक्षही (शुक्र अमृत ब्रह्म) सामर्थ्ययुक्त अमृतमय ब्रह्म है वह सत्य है, क्योंकि (वासुदेवः सर्वं। गी० ७।१९) वासुदेवही सब कुछ है और (पुरुष एवेदं सर्वं। ऋ० १०।९०।२) पुरुष परमेश्वरही सब कुछ है, तब तो यही वृक्ष है और दूसरा कुछ भी नहीं है, यही सब कुछ है। हम अलग होकर भोग भोगना चाहते हैं। इस भोगी वृत्तिमें दुःख है। मझसे दूसरे भिन्न हैं और मैं उनको दबाकर भोग भोगूंगा, इस वृत्तिमें सब दुःख है। यदि इसके मनमें अनन्यभाव स्थिर होगा और यहां अन्य कोई नहीं है, सब एकही सत्यवस्तु है, मैं और अन्य सब उसीमें अन्तर्गत हैं, यहां कोई पृथक् नहीं है, इस तरहके अनन्यभावसे यदि मनुष्य रहने लगें, तो असंगवृत्ति होनेके कारण सर्वत्र आनंद और एकरस सुखही सुख प्राप्त होगा। अतः अनन्यभाव और असंगवृत्ति धारण करना उचित है।

(२) असंग शस्त्रसे वृक्षका छेदन।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

अन्वयः— (यथा अयं वर्णितः) तथा अस्य रूपं इह न उपलभ्यते। (अस्य) अन्तः न, आदिः च न, संप्रतिष्ठा च न (उपलभ्यते,), सुविरूढमूलं एनं अश्वत्थं दृढेन असंगशस्त्रेण छित्वा, ततः ' यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता तं एव आद्यं पुरुषं अहं प्रपद्ये ' (इति)तत् पदं परिमार्गितव्यं, यस्मिन् गताः भूयः न निवर्तन्ति ॥ ३–४ ॥

(इस अश्वत्थ वृक्षका यहां जिस तरह वर्णन किया है) उस तरह इसका स्वरूप यहां व्यक्त रूपसे दीखता नहीं, अर्थात् इसका न अन्त, न आदि और न आधार दीखता है, अत्यंत गहरी जडोंसे युक्त इस अश्वत्थ नामक वृक्षको सुदृढ असंगरूप शस्त्रसे काटकर, 'जिससे पुरातन कालसे प्रवृत्ति चली आ रही है उसी आद्य पुरुषको मैं शरणागत होता हूं।' (ऐसी भावना करके) पश्चात् उस पदको ढूंढना चाहिये कि जिसमें गये हुए फिर वारंवार वापस नहीं आते।

भावार्थ— इस संसारवृक्षका आदि अन्त और आधार कहां है इसका पता नहीं लगता और इसका ठीक ठीक स्वरूप भी सर्वसाधारण के समझमें नहीं आता। इसलिये वैराग्यरूपी शस्त्रसे इसको काटना चाहिये और जिस बीजसे यह वृक्ष अनादि कालसे इतना फैल रहा है, उस आद्य जगद्बीज ईश्वरको मैं शरण जाता हूं ऐसी नम्र भावनासे उसे शरण जाकर, उस स्थानको ढूंढना चाहिये कि जहां पहुंचनेपर वारंवार वापस आकर दुःख भोगना नहीं पडता, अर्थात् जहां जाकर अखण्ड आनंद मिलता रहता है ॥ ३—४ ॥

जो पाश हमारे पीछे लगे हैं वे और किसीके बनाये नही हैं, वे तो सब भोगासक्तवृत्तिसे, संगभावसे अर्थात् हमारेहि कारण बनाये गये हैं। भोगी लोग अपने पाशोंको स्वयं बनाते हैं और अपने आपको उसीमें बांध देते हैं, बांधा जाने पर स्वयं रोते हैं, चिल्लाते हैं और पीटते हैं और कहते हैं कि 'हे देव! हमें छोड दो।' परंतु विचार नहीं करते कि बांधा किसने है ? पाश किसने निर्माण किये हैं? यहां तो बांधनेवाला और छोडनेवाला दूसरा कोई नहीं है। स्वयंही संग-वृत्तिसे बांधा जाता है और असंगवृत्तिसे स्वयं बंधन टूट जाते हैं। अतः कहा है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।

'मन ही मनुष्योंके बंधन और मोक्षका हेतु है।' फिर भाई! कष्टोंसे बचानेवाला और कष्टोंमें डालनेवाला कौन है ? अपने मनकी वृत्ति है, जो सब करती है, उद्धार करनेवाला भी स्वयं और अवनति करनेवालाभी स्वयंहि है।

असंगभावसे सब प्रकारकी उन्नतिका मार्ग खुला हो जाता है और संगवृत्तिसे सब प्रकारके कष्ट होते हैं। यही भाव भगवान् श्रीकृष्ण आगे बताते हैं—

(३-४) यहां जिस अश्वत्थ वृक्षका वर्णन किया गया है, उसका रूप साधारण मानव जानते नहीं। वे तो चारों और देखते हैं और उनको सर्वत्र सुंदर रमणीय भोग ही भोग दीखते हैं, सब ओर सुंदर जगत् है, उसमें भोगविलास भरे हैं, प्रयत्न करो, भोग भोगो, आनंद करो, दूसरोंको मारो काटो, जो मर्जी हो वह करो, खाओ, पीओ आनंद लूटो, मरनेके पीछे किसने देखा है, ? ऋण करो और घी खाओ, इस तरहके विचारोंसे चलनेवाले लोग मोहवश अनेक अनर्थ करते हो रहते हैं, उनको तो इस वृक्षका (न रूपं उपलभ्यते) दर्शन भी नहीं होता। यहां दर्शन न होनेका तात्पर्य यही है कि उनको इसकी कल्पनातक नहीं है। वे तो दुःखको सुख माननेवाले अनित्यको नित्य मानकर विचार न करते हुए चलते हैं।

परंतु जो जीवनका विचार करते हैं उनको अपने बंधनकी कल्पना होती है और वे सोच विचार करने लगते हैं, सोचने लगते हैं और विचार करते करते उनको पता लगता है कि (न अन्तः न आदिः न संप्रतिष्ठा) जिसका आदि अन्त नहीं है और जिसका आधार भी नहीं है ऐसे घने जंगलमें हम अटक गये हैं। चारों और वृक्षवल्लियां हैं, मार्ग तो किसी जगह नहीं दीखता, कहां जांय, क्या करें, इस जंगलसे मुक्त किस तरह हो सकते हैं ? ऐसा सोचते सोचते उसको पता लगता है कि (असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा) असंगरूप सुदृढ शस्त्रसे इस वनको काटा जा सकता है। जब इसका पता उनको लग जाता है और आगे चलकर कई पुरुषार्थी जीवोंने इसी असंगशस्त्रसे इस वनको काटा और मार्ग खुला किया है ऐसा ये देखते हैं, तो येभी पांथस्थ जीव अपने लिये मार्ग तैयार करते हैं। इस रीतिसे मार्ग बनता है और बद्धों को स्वतंत्रता इसी असंगवृत्तिसे प्राप्त हो सकती है। कितना भी घना जंगल क्यों न हो, वह सुदृढ शस्त्रसे काटा जाता है। और उसमेंसे सीधा मार्ग बनाया जा सकता है। इसीका नाम पुरुषार्थ है और यह हरएक मनुष्यको करना ही चाहिये।

यह प्रपंच अथवा संसाररूपी वृक्ष है और यह (सु-वि-रूढ-मूल)बडा सुदृढ मूलोंवाला है, अर्थात् इसके जड बडे गहरे गये हुए हैं। तथापि किसीको डरना उचित नहीं है, क्योंकि यह कितनाही सुदृढ क्यों न हो, असंगशस्त्र चलानेपर यह प्रतिबंधक नहीं होता। असंगशस्त्र उठाते ही पथिकका मार्ग सीधा हो जाता है। इसलिये भोगी वृत्ति रहनेतक ही इसका बंधन कष्ट देता है, भोगवृत्ति छोड दी और असंग अथवा अनासक्त वृत्ति बन गयी तो यह वृक्ष ऐसा ही रहने पर कोई कष्ट नहीं होता। ऋग्वेदमें जहां एक वृक्षपर दो पक्षी बैठनेका वर्णन है, वहां जो फलभोग करनेवाला पक्षी है, वही शोकग्रस्त है, परंतु जो फलभोग नहीं करता वह आनंदसे चमकता रहता है। एकही वृक्षपर एक सुखी और दूसरा दुःखी है और इसका कारण एक भोगी है और दूसरा त्यागी है। यह ऋग्वेदका पाठ ही श्रीमद्भगवद्गीतामें अधिक विस्पष्ट कर दिया है। अर्थात् यहां स्पष्ट हुआ कि वृक्ष जैसा का वैसा रहनेपर भी संगवृत्ति और असंगवृत्तिसे बंध और मोक्ष होते हैं और यही असंगशस्त्रसे वृक्ष के काटनेका सच्चा तात्पर्य है।

असंग नामक कोई शस्त्र नहीं है जिससे वृक्षके काटने की संभावना है। वृक्ष के फल के भोग का त्याग करनेका ही नाम असंगशस्त्रसे वृक्षको काटना है। अतः पाठक यह न समझें कि यह अश्वत्थ वृक्ष किसी समय काटा जायगा और कभी यह वृक्ष बिलकुल न रहेगा। ऐसा कभी नहीं होगा। यह अश्वत्थ वृक्ष, यह संसारवृक्ष सदा रहेगा, परंतु जो यहां फलभोग करनेकी वासना त्याग देगा, उसके लिये यह न रहने के समान उपद्रवरहित अथवा सहायक बनकर रहेगा और इससे उसको कोई बंधन नहीं होगा। इतना ही आशय असंगशस्त्रसे इस वृक्षके काटने

(३) शाश्वत पदके अधिकारी।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

अन्वयः— निर्मानमोहाः, जितसंगदोषाः, अध्यात्मनित्याः, विनिवृत्तकामाः सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः, अमूढाः, तत् अव्ययं पदं गच्छन्ति ॥ ५ ॥ न सूर्यः, न शशांकः, न पावकः (च) तत् (पदं) भासयते। यत् गत्वा न निवर्तन्ते तत् मम परमं धाम ॥ ६ ।

जिनका अभिमान और मोह नष्ट हो चुका है, जिन्होंने विषयासक्तिके दोषोंको जीत लिया है, जो आत्मामें नित्य रमते हैं, जिनकी कामनाएं दूर हो चुकी हैं, जो सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो चुके हैं और जो ज्ञानी हैं, वे ही उस अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥ सूर्य चन्द्र अथवा अग्नि उस पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं है। जहां जानेपर वापस आना नहीं पडता, वही मेरा (ईश्वरका) परम धाम है ॥ ६ ॥

में है। पाठक विचार करके इसका ठीक ठीक आशय जाने।

ईश्वर उपासना।

फलभोगकी वासना छूट गयी और नित्यतृप्त रहनेकी स्थिति प्राप्त हो गयी, तो यह स्थिति चिरकाल रखने के लिये ईश्वरउपासना का अभ्यास करना चाहिये, अन्यथा मनका स्वभाव चंचल होने के कारण यह असंगवृत्ति कदाचित् स्थिर रूप से नहीं रहेगी और फिर भोगवृत्ति बढ जायगी। ऐसा न हो इस लिये कहा है—

यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता
तं आद्यं पुरुषं एव प्रपद्ये।

'जिससे पुरातन कालसे इस संसारकी प्रवृत्ति चली आयी है उसी आद्य पुरुष-परमात्मा -परमेश्वर को मैं शरण जाता हूं' और वह मुझे उस अमृत स्थानमें चिरकाल रखे। ऐसी मनोभावना से उस साधकको ईश्वरकी प्रार्थना करते हुए शरण जाना चाहिये। शरण जानेमें अपनी सब अहंकार की वृत्तिका त्याग होता है। अपने आपको परमात्माके लिये समर्पित करना भगवच्छरणागतिसे ही होता है।

जिस स्थानको पहुंचनेसे फिर वापस आना नहीं होता है, उस पद को प्राप्त करना मनुष्यका कर्तव्य है और वह इस तरह प्राप्त किया जाता है, ढूंढा जाता है, खोज किया जाता है और भगवच्छरणागतिसे वह निश्चयसे प्राप्त भी होता है। अपने अहंकार का इस तरह यज्ञ किया जाता है और पूर्ण अनन्यभाव मनमें स्थिर होता है। जिनको यह स्थिति प्राप्त होती है, वेही शाश्वत पद के अधिकारी हैं। इसका वर्णन आगे के दो श्लोकों में किया है वह मननीय वर्णन अब देखिये-

भावार्थ— जो अभिमानरहित, मोहरहित, अनासक्त, आत्मनिष्ठ, भोगवासना-रहित, द्वन्द्वभावसे दूर और ज्ञानी हैं वे उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं। जहां सूर्य, चन्द्र अथवा अग्निका प्रकाश नहीं पहुंचता, वहां ईश्वरका परम धाम चमक रहा है, क्योंकि इसके प्रकाशसेही सूर्य चन्द्र और अग्नि प्रकाशित होते हैं ॥ ५-६ ॥

अव्यय पदके अधिकारी ।

(५-६) अव्यय परमात्मा के स्थानको कौन प्राप्त करते हैं इस का वर्णन यहां किया है

अमूढाः अव्ययं पदं गच्छन्ति ।

' जिनकी मूढता दूर हुई है वे ही परमात्माके अव्यय पद को प्राप्त होते हैं।' मूढता रहने तक, अर्थात् अज्ञान रहनेतक परमात्माका अव्यय पद प्राप्त नहीं हो सकता। जिनका अज्ञान दूर हुआ है उनके लक्षण पाठक इसी श्लोकमें देखें-

(१) निः-मान+मोहाः ।

जिनसे अभिमान दूर हुआ है और मोह भी दूर हुआ है वे परम पद के अधिकारी हैं। अज्ञानसेहि अभिमान और मोह होते हैं, अभिमान घमंड अहंकार ज्ञान प्राप्त होने तक ही रहते हैं। अभिमान का अर्थ ' मैं हूं, मैं दूसरोंसे पृथक् हूं, मैं भोग भोगूंगा, इससे दूसरोंकी हानि हुई तो भी मुझे उसकी पर्वाह नहीं है।' इत्यादि भाव अहंकार से होते हैं। यह सब अज्ञान ही है, मोह भी इसी कारण होता है, मैं और दूसरा इस द्वैतभाव का ही फल मोह है, यह मेरा है और यह दूसरेका है, इस कारण ही मनुष्य मोहित होते और पाप करते हैं। यह सब अज्ञान है। ज्ञान वही है जिससे सर्वत्र अनन्यभाव प्रतीत होता है, सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व है उसे छोडकर उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, ऐसी एकात्मदृष्टि स्थिर हो गई, तो उस में अहंकार और मोह के लिये कोई स्थान नहीं मिलेगा, जहां सर्वत्र एकात्मप्रत्यय आगया वह किसको पास करेगा और किससे दूर होगा? अतः घमंड, शोक, मोह, उसके पास नहीं रहेंगे।

(२) सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः ।

' सुख और दुःख नामक द्वन्द्वोंसे जो मुक्त होते हैं,' सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय, आप-पर, आदि अनेक द्वन्द्व हैं, वे अज्ञानीको ही कष्ट देते हैं, जिसमें सभी ब्रह्मके रूप हुए विश्वात्मा के विश्वरूप में जिसने सबको एकत देखी, उसको द्वन्द्वके सब प्रकार एकही अभिन्न ब्रह्मके अखंड रूप होनेके कारण उस अनन्यभाव धारण करनेवालेके सामने कोई द्वन्द्व भेदरूपसे रहते ही नहीं, अतः द्वन्द्वोंसे वह मुक्त होता है। जब सब द्वन्द्व ब्रह्मरूप होंगे, तब उनका द्वन्द्व होनेका दोष दूर होता है और द्वन्द्वभावसे यह मुक्त होगा।

(३) वि-निवृत्त-कामाः ।

जिनके अन्तःकरणसे भोगोंकी कामनाएं जिनके मनसे सब प्रकारकी कामनाएं दूर हो चुकी हैं, जो निष्काम हुए हैं, जिनमें तृष्णा रही नहीं, वे परम पदके अधिकारी हैं।

(४) जित-संग-दोषाः ।

भोगासक्तिके दोषोंको जिन्होंने जीत लिया है, अर्थात् जिनमें फलभोगवृत्ति रही नहीं, जो नित्यतृप्त हैं, आप्तकाम हैं, असंग हो चुके हैं वे परम पदके अधिकारी हैं।

(५) अध्यात्मनित्याः ।

(अधि+आत्मा) आत्माकी जो शक्तियां प्रकट होती हैं उनका नित्य मनन जो करते हैं, उनको आत्माकी अद्भुत शक्तिका पता लगता है, और उस कारण आत्मामें उनकी श्रद्धा दिनो दिन बढ जाती है। इन लोगोंको आत्माका ही यह सब आविष्कार है ऐसा निश्चय होता है और वे एक आत्मतत्त्वका सर्वत्र दर्शन करते

(४) ईश्वरीय अंश जीव।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७॥

हैं अतः इसतरह आत्माका सर्वत्र साक्षात्कार करनेवाले आत्माके अव्यय पदको प्राप्त होते हैं, अर्थात् मैं उस आत्मासे पृथक् नहीं हूं यह ज्ञान उनमें सुदृढ होनेके कारण वे आत्मारूप बनते हैं

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि,
आत्मा एव अभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक,
एकत्वमनुपश्यतः ॥ (ईश उ० ९)

'जिस समय सब भूत आत्माही हो चुके, उस समय उस एकतत्वका दर्शन करनेवाले विज्ञानी पुरुषको शोक और मोह किस तरह हो सकते हैं ?' ऐसी अवस्था जिनकी होती है, वे परम अव्यय पदके अधिकारी होते हैं।

निरभिमानी, मोहरहित, द्वन्द्वोंको समभावसे देखनेवाले, निष्काम, भोगोंके विषयमें अनासक्त और आत्माकी शक्तिका सतत मनन करनेवाले, आत्माको यथायोग्य रीतिसे जानते हैं और आत्मज्ञान होनेसे वे स्वयं आत्मारूप बनते हैं, स्वयं आत्मा बनने से वे आत्मासे अनन्य होते हैं और पूर्ण रूपसे अनन्य होनाही परमात्माका अव्यय पद प्राप्त करना है।येही शब्द इस समयतक भगवद्गीतामें अनेक वार आ चुके हैं, अतः इनका अधिक स्पष्टीकरण जो वहां किया है, वह भी पाठक यहां देखें और इन निरभिमानिता आदि गुणोंका महत्त्व जानें। ये गुण प्राप्त होना ही श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होनेका लक्षण है।

परम पदका लक्षण।

अब परम पदका लक्षण बताते हैं। 'वहां सूर्य का प्रकाश नहीं पहुंचता, न वहां चन्द्रमा और अग्निकी ज्योति उजाला करती है। जहां पहुंचनेसे वापस नहीं आते, वही परमात्मा का श्रेष्ठ धाम है।', यह परमधाम का लक्षण है।

सूर्य, चन्द्र और अग्निका प्रकाश वहां नहीं पहुंचता अथवा वहांके तेजके सामने इनका प्रकाश बहुतही फीका है, क्योंकि उसीके तेजसे सूर्यादि पदार्थ तेजस्वी हुए हैं, अतः सूर्यादि पदार्थ वहां प्रकाश नहीं डाल सकते।

जहांसे वापस आना नहीं होता, वह परमात्म पद है। वापस आनेका तात्पर्य दुःखमें गिरना है। दुःख तो द्वैतका ही परिणाम है, जहां द्वैत न रहा, एकत्वानुभव का अनन्यभाव जहां स्थिर हुआ, वहां वापस आकर दुःखका अनुभव पाना कैसा संभव हो सकता है? एकवार जिसे अद्वैतका अनुभव हुआ, वह द्वैत में आवेगा ही नहीं, क्योंकि उसकी कल्पनामें द्वैत रहेगा ही नहीं। जैसा अनेक वस्तु मिश्रीकी बनाई हैं, जिसके मनमें उन सब का मिश्रीरूप स्थिर है, वह उन में विविधता कैसी अनुभव कर सकता है। अतः एकवार अद्वैतका अनन्य होनेका अनुभव हुआ, तो उसे द्वन्द्वका भान होना असंभव है। अतः यह परम पद ऐसा है, कि जिसे एकवार पहचाननेसे फिर शोक मोह होते ही नहीं। यहां पाठक पूछेंगे कि यदि, ऐसा एक तत्त्व है, तो जीवका जीवभाव कहां सिद्ध हो सकता है, इस शंका के उत्तरमें कहते हैं, कि जीवभी परमात्मा का ही अंश है, देखिये–

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

अन्वयः– (अस्मिन्) जीवलोके मम एव सनातनः अंशः जीवभूतः (अस्ति सः) प्रकृतिस्थानि मनः षष्ठानि इंद्रियाणि कर्षति ॥ ७ ॥ यत् (एषः) ईश्वरः शरीरं अवाप्नोति, अपि च यत् उत्क्रामति (तत्) वायुः आशयात् गंधान् इव, एतानि गृहीत्वा संयाति ॥ ८ ॥ अयं (जीवः) श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च, रसनं घ्राणं मनः च एव अधिष्ठाय विषयान् उपसेवते ॥ ९ ॥ उत्क्रामन्तं स्थितं वा, भुञ्जानं गुणान्वितं वा अपि विमूढाः न अनुपश्यन्ति, ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति ॥ १० ॥ यतन्तः योगिनः आत्मनि अवस्थितं एनं पश्यन्ति, अचेतसः अकृतात्मानः च यतन्तः अपि एनं न पश्यन्ति ॥ ११ ॥

इस मनुष्यलोकमें मेरा (ईश्वर का) ही सनातन अंश जीव बन कर रहा है, वह प्रकृतिमें स्थिर रहनेवाले पांच इन्द्रियों और छठें मनको अपने पास आकर्षित करता है ॥ ७ ॥ जब यह शरीरका स्वामी शरीरको प्राप्त करता है अथवा जब उसे छोडता है, तब वह, वायु पुष्पोंसे सुगंध ले जाने के समान, इन इंद्रियोंको अपने साथ ले जाता है ॥ ८ ॥ यह जीव कान, नेत्र, त्वचा, जीह्वा, नाक और मन का आश्रय करके विषयोंका उपभोग करता है ॥ ९ ॥ शरीरको छोडनेवाले, शरीरमें रहनेवाले, विषयोंको भोगनेवाले, अथवा गुणोंसे युक्त होनेवाले इस जीव को मूढ जन देखते नहीं, परंतु ज्ञानी लोगही इसे देखते हैं ॥ १० ॥ यत्न करनेवाले योगी अपने अन्दर रहनेवाले इस आत्मा को देखते हैं, परंतु जो विचारहीन और संस्कारहीन होते हैं वे प्रयत्न करनेपर भी इस आत्माको देख नहीं सकते ॥ ११ ॥

भावार्थ– जीव ईश्वर का ही एक अंश है, वही नाना शरीरोंमें जीवभावसे रहता है, वह अपने पास इंद्रियोंको खींच कर रखता है। जैसा वायु अपने साथ सुगंध लाता है, वैसा यह जीव शरीरधारण के समय अपने साथ

इंद्रियोंको लाता है और शरीर छोडनेके समय इनको अपने साथ ले जाता है। यह जीव इन इंद्रियोंका आश्रय करके ही सब प्रकारके विषय भोगता है। यह किसी समय शरीरको छोडता है, किसी समय शरीरमें रहता है, रहकर भोग भोगता है, गुणोंको अपने पास लाता है, इतना करने पर भी मूढ मनुष्य इसे पहचानते नहीं, परंतु जो ज्ञानचक्षुसे देख सकते हैं, वे ही इसे देख सकते हैं। योगी लोग प्रयत्न करने पर इसे देख सकते हैं, परंतु अज्ञानी और संस्कारहीन मनुष्य यत्न करने पर भी इसे जान नहीं सकते॥ ७-११॥

ईश्वरका सनातन अंश।

(७-११) 'ईश्वरका सनातन अंश इस मानव लोकमें जीवभावको प्राप्त हुआ है।' अर्थात् जीवात्मा पृथक् नहीं है, वह ईश्वर का ही अंश है। यह श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त है। जैसा महासागरमें एक जलबिन्दु, जैसा सूर्यप्रभामें एक किरण, जैसी बडे प्रज्वलित अग्निमें एक चिनगारी, वैसा परमात्मामें जीवात्मा है। संपूर्ण सचेतन अचेतन का अन्तर्यामी आत्मा ही ईश्वर है, उसीका व्यक्तिगत अंश जीवात्मा है। जैसा आकाशमें मठाकाश और मठाकाशमें घटाकाश होता है वैसाही विश्वात्मामें राष्ट्रात्मा और राष्ट्रात्मामें वैयक्तिक आत्मा है। वेदमें कहा है

> एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
> पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
> स एव जातः स जनिष्यमाणः
> प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥

'यह एकही प्रभु सब दिशा-उपदिशाओंमें है, वही पूर्व समयमें और इस समयमें गर्भमें आता है। वही पहिले जन्मा था, वही इस समय जन्मता है और आगेभी वही जन्मेगा। उसीका मुख सब ओर है और वही प्रत्येक मनुष्यके अन्दर रहता है।' तथा— (वा०यजु०३२।४)

> प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर-
> अजायमानो बहुधा वि जायते।
> तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
> स्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
> (वा० यजु० ३१।१९)

'प्रजापति परमपिता परमेश्वर गर्भके अन्दर संचार करता है, वह स्वयं अजन्मा होता हुआ भी अनेक प्रकारसे और विशेष रीतिसे जन्मता है। इसका मूल स्थान ज्ञानी लोग देखते हैं और इसीमें सब भुवन रहे हैं।'

परमात्माका वर्णन करते हुए ही 'वह न जन्मनेवाला होनेपर भी जन्म लेता है' ऐसा कहा है। आत्मा तो 'अज' है अर्थात् अजन्मा है, फिर भी घटमें आये आकाशके समान शरीरमें आया आत्माका अंश शरीरके साथ जन्मता है। यह एक रूपक है, इससे इतनाही बताना है, कि विभु एकरस आत्माके अंश ही जीव रूप बन कर (मम एव अंशः जीवभूतः) इस विश्वमें नानारूप धारण करते हैं, इसी कारण उसको 'सर्वतो मुखः, विश्वतो मुखः, विश्वतश्चक्षुः, विश्वतस्पात्, विश्वतो बाहुः' कहा है—

> विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
> विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
> सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी
> जनयन्देव एकः। (वा० यजु० १७।१९)

यदि वह प्रभु सब शरीरोंमें न होगा तो उसके सब ओर मुख, सब ओर हाथ, सब ओर चक्षु और सब ओर पांव कैसे हो सकते हैं। जो द्वैती परमात्माका अंश जीवात्मा है ऐसा नहीं मानते और जीवात्माको परमात्मासे सर्वथा पृथक मानते हैं उनका परमात्मा 'विश्वतो मुख, विश्वतो बाहु विश्वतस्पात्' किस तरह हो सकता है? क्योंकि जो मुख बाहु पाव चक्षु आदि अवयव दीखते हैं वे द्वैतियोंके पक्षमें जीवात्माओंके हैं, न कि परमात्माके। अतः हाथपांवबाहुमुख ये अवयव जीवात्माके होनेके कारण किसी तरह परमात्मा

के हो नहीं सकते। परंतु वेदोंमें परमात्माका ही वर्णन 'विश्वतो मुख' आदि शब्दोंद्वारा किया है, अतः मानना पडेगा कि 'न जन्मने वाला परमात्मा विशेष रीतिसे जन्म लेता है, (अजायमानः बहुधा विजायते) और विश्वतो मुखी बनता है।' यही भगवद्गीताकी भाषामें परमात्माका विश्वरूपवर्णन है, सब रूप उसीने धारण किया है। अस्तु।

परमात्माका अंश जीवात्माके रूपमें जीव-सृष्टिमें जन्मता है, यह गीताका कहना इस तरह वेदसे भी प्रमाणित होता है। 'परमात्मा का अंश' ऐसा कहनेसे खण्डित अंश नहीं समझा जाता, परंतु जैसा आकाशका अंश मठाकाश या घटाकाशमें खंडित न होनेपर भी अंश कहा जाता है, वैसा यहां भी समझना चाहिये, क्यों कि परमात्मा अखंड एकरस है उसका टुकडा हो नहीं सकता। परंतु शरीरमें व्यापार करनेके कारण उसका अंश ऐसा समझानेके लिये यहां कहा है, वेदमें भी ऐसाही कहा है-

> पादोऽस्य विश्वा भूतानि
> त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ॥ ३ ॥
> त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः,
> पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥ ४ ॥ (वा० यजु० ३१)

'पुरुष अर्थात् परमात्माका एक पाद अर्थात् अंश इस विश्वमें विश्वरूप बना है, और वारंवार विश्वरूप बनता है और तीन पाद अर्थात् तीन अंश द्युलोकमें अपने स्वरूपमें रहते हैं' यहां भी पाद शब्द अंशवाचकही है और यह अंश या पाद शब्द टुकडेका वाचक नहीं है, परंतु एकरस पदार्थके कुछ अंशका वाचक है।

यह परमात्माका सनातन अंश मन, कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका इन छः इन्द्रियोंका अपने पास आकर्ष करके इन छहों इंद्रियोंको अपने पास रखता है और इन इन्द्रियोंसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस गंध विषयोंका भोग करता है। जीव इन इन्द्रियोंको अपने पास आकर्षण करके विविध भोग भोगता है। मनके साथ छः इंद्रियां मिलकर जीवात्माका लिंगदेह होता है। वायु जैसा फूलोंका सुगंध अपने साथ ले जाता है, इसी तरह जीव एक शरीरको छोडता और दूसरे शरीरको प्राप्त करता है, उस समय इस लिंगदेहके साथ अर्थात् मन आदि छहों इंद्रियोंके साथ एक शरीरसे दूसरे शरीरको जाता है। जब यह एक शरीर छोडता है तब उस देहके मन आदि छः इन्द्रियोंको अपने साथ आकर्षण करके लेता है, और जब यह दूसरे देहमें प्रवेश करता है, तब उस देहमें इन छः इंद्रियोंको सुरक्षित रखता है। अर्थात् अकेला जीवात्मा किसी देहको छोडता नहीं और किसी देहको पकडता भी नहीं। जब देहको छोडता है उस समय मनके साथ छः इंद्रियोंके साथ छोडता है और जब किसी देहमें प्रवेश करता है तब भी इन छः इंद्रियोंके साथ ही प्रविष्ट होता है।

यहां पाठक स्मरण रखें कि जो आत्मा है वह 'सर्वगत' (गी० २।२४) अर्थात् सर्वव्यापक है तथा उसका अंश या टुकडा होता नहीं क्योंकि वह अखण्ड एकरस है। तथापि बृहदाकाशमेंसे अनेक घटोंमें आकाश रहनेके समान, सर्वगत आत्माका अंश अनेक देहोंमें विराजता है। यदि केवल आत्माका अंश शरीरकी उपाधीमें रहता, तो भी उसको जीवभाव कदापि प्राप्त न होता, क्योंकि अखण्ड एकरस आत्मामें एक या अनेक शरीर आये अथवा न आये, तो उसमें कोई परिवर्तन होनेका संभवही नहीं है।

परंतु जब यह आत्मा अपने साथ मन आदि छः इंद्रियोंको आकर्षित करता है और उन छः इंद्रियोंसे नाना भोग भोगनेका कार्य करता है, तब 'मैं भोक्ता' हूं ऐसा उसे अनुभव होता

है और यही जीवभाव है। अर्थात् मन आदि छः इंद्रियोंके साथ रहनेसेहि अपने भोक्ता होनेका अनुभव उसे हुआ और इसी कारण जीवभाव उसमें प्रतीत होने लगा। अतः यह मनके कारण प्रतीति है। मनके विना इंद्रियां कुछभी कार्य कर नहीं सकती, अतः मनके साथ रहनेसे आत्माके अंशमें ' मैं भोक्ता हूं और अन्य भोग्य हैं ' ऐसा भान हुआ और जीवभावका प्रारंभ हुआ। यह मनका खेल है अतः मनकोही बंधन और मोचनका हेतु कहा जाता है।

कान, त्वचा, आंख, रसना, नासिका और मनके ऊपर अधिष्ठाता होकर इनके द्वारा यह शब्दस्पर्शरूपरसगंध आदि विषयोंका उपभोग लेता है, और मैं उपभोग करनेवाला हूं तथा ये उपभोगके विषय हैं, ऐसा अनुभव करता है। यही जीवभाव है। भोगकामना जीवभावका महत्वका लक्षण है। इसी कारण वासनाक्षयसे मोक्षकी प्राप्ति संभवनीय होती है।

शरीरको छोडते समय, शरीरमें रहते समय, भोग करते समय, तथा सत्वादि गुणोंसे युक्त होते समय आत्माको ज्ञानदृष्टिसे देखनेवालेही देखते हैं, परंतु जो ज्ञानदृष्टिसे रहित मूढ हैं उनको आत्माका पता तक नहीं होता।

शरीरमें जो कर्म होते हैं उनके देखनेसे आत्माका पता लगता है, यदि शरीरमें होनेवाले कर्मोंका अनुसंधान न किया जाय, तो आत्माका ज्ञान होनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। इस सृष्टिमें स्थिर और चर, स्थावर-जंगम, निर्जीव-सजीव ऐसे दो भाव दीखते हैं। पत्थर पर्वत आदि स्थिर स्थावर अथवा निर्जीव कहलाते हैं और जीव, कृमिकीट, पतंग, पक्षी, पशु, मानव आदिकोंको सजीव- जिनमें जीवन है- ऐसा कहते हैं। यह सजीव-निर्जीव-भेद स्पष्ट है और हरएक मानव इसका अनुभव स्पष्टताके साथ कर सकता है। यदि सजीव सृष्टिमें दिखाई देनेवाले ' इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ' न देखे जांय तो जीवका अथवा आत्माके जाननेका इनसे भिन्न और कोई लक्षणही नहीं है।

ये लक्षण देखनेसेहि सजीवोंमें जीवात्मा- आत्मा-है और स्थावरोंमें आत्मा नहीं है ऐसा मनुष्य कहते हैं। यहां इतना सत्य है कि जीवोंकी हलचलसे आत्माका बोध होता है, परंतु इससे जो अनुमान किया जाता है कि जीवोंसे भिन्न स्थानोंमें आत्मा नहीं, यह अनुमान अशुद्ध है। उदाहरणके लिये आप देखिये कि वृक्ष हिलते हुए देखनेसे वायुके अस्तित्वका पता लगता है, इतना सत्य है, परंतु यदि वृक्ष न हिले किंवा किसी स्थानपर वृक्षही न रहे, तो वहां वायुही नहीं है ऐसा अनुमान करना अयोग्य है। इसी तरह प्राणियोंकी हलचल देखनेसे आत्माका ज्ञान होता है यह सत्य है, परंतु जहां प्राणी न हो, अथवा प्राणीकी हलचल न हो वहां आत्मा नहीं है ऐसा अनुमान करना अयोग्य है।

अतः मरनेके साथ साथ शरीरसे आत्मा चला गया, जन्म लेनेपर उसमें आत्मा आया, फलाने शरीरमें आत्मा भोग करता है और फलाने शरीरमें आत्मा फलाने गुणोंसे युक्त है, यह सब भाषा अशुद्ध है। आत्मा 'सर्वगत' (गी० २।२४) है इस लिये आत्मा तो सबमें और सर्वत्र है, न वह किसीमें पहिले न होता हुआ फिर आता है और न किसी स्थानपर पहिले होता हुआ फिर चला जाता है। वह सदा अखंड एक जैसा एकरसही है। आना जाना, होकर न होना, और न होकर होना यह उसके लिये असंभव है।

जैसा देखिये एक स्थानपर अनेक घडे रखे, तो क्या उनमें पहिले आकाश नहीं था? और क्या आकाशने उनमें पश्चात् प्रवेश किया? तथा उनमेंसे कई घडे टूट गये तो क्या वहांसे आकाश भाग गया? ये सब भाषाके बोलनेके प्रकार तत्वदृष्टिसे गलत हैं। आकाश सर्वत्र एक जैसा पहिलेसेहि है। घडे उत्पन्न होनेके कारण मनुष्य घटकाशके विषयमें अपनी कल्पनासे जैसा चाहे

(५) सबके हृदयोंमें ईश्वरका निवास।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

वैसा बोलते हैं। जैसे आकाशमें घडे वैसेही परमात्मामें जीवोंके ये शरीर हैं। ये शरीर आये अथवा नष्ट हुए, तो परमात्मामें कोई न्यून वा अधिक नहीं होता। अतः आत्मा आया अथवा चला गया यह भाषा केवल व्यवहारकीही भाषा है उसमें पारमार्थिक सत्यता नहीं है। तीनों कालोंमें आत्मा 'सर्वगत' है यही बात सत्य है। सबका एक आत्मा है न वह आता है और न वह जाता है।

इतना होनेपरभी आत्माका अस्तित्व जाननेके लिये सजीव प्राणियोंका निरीक्षण करना आवश्यक है, और इस कारण जीवन, मरण, भोग, और गुणका विचार करना आवश्यकही है। क्योंकि इसके विना आत्माके अस्तित्वका भी पता नहीं लग सकता। अतः कहा है कि ज्ञानदृष्टिवाले लोग प्राणियोंके उत्क्रमण, भोग, अवस्थान आदिका विचार करके आत्माको पहचानते हैं, परंतु जिनको ज्ञानचक्षु नहीं है वे प्राणियोंकी हलचल देखनेपर भी आत्माको जानते नहीं। अतः मनुष्योंको उचित है कि वे विद्या प्राप्त करके ज्ञानदृष्टिका विकास अपने अन्दर कराकर, इस आत्माका साक्षात्कार करें।

जो कृतात्मा योगी होते हैं वे जब आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयत्न करते हैं तब वे अपने अन्दर ही आत्माको देखते हैं। परंतु जो अकृतात्मा और अयोगी होते हैं उनके प्रयत्न करनेपरभी उनको आत्माका साक्षात्कार नहीं होता। यहां कृतात्मा और अकृतात्मा कौन हैं इसका थोडासा विचार करना चाहिये। विद्या प्राप्त करके शास्त्रानुसार अनुष्ठान यमनियमादि साधन, सद्गुरुसेवन तथा श्रवणमननिदिध्यास जो करते हैं वे अपने आपको यथायोग्य सुविद्य बनानेके कारण 'कृतात्मा' कहे जाते हैं। तथा जो लोग अपने उद्धार के लिये योग्य अनुष्ठान नहीं करते अथवा आत्मघात के ही मार्गसे चलते हैं वे 'अकृतात्मा' कहे जाते हैं। इनको आत्माका विचार भी नहीं सूझता।

आत्माके ज्ञानका योग करनेवाले योगी और जो आत्माका विचार तक नहीं करते वे अयोगी होते हैं।

इस तरह एक सर्वगत आत्माही विविध शरीरोंमें मन आदि इंद्रियोंका अधिष्ठाता होकर प्रत्येक शरीरका प्रत्यगात्मा करके प्रकट होता है, इसतरह इस आत्माने संपूर्ण विश्वान्तर्गत सब शरीर अपने ऊपर धारण किये हैं और वही एक आत्मा विश्वरूपी विश्वात्मा बना है। आत्मज्ञानी दिव्य दृष्टिवाले प्रयत्नशील योगी इसको अपने अन्दर भी देख सकते हैं, वैसाही सर्वत्र इसका साक्षात्कार कर सकते हैं, परंतु जिनको दिव्यदृष्टि नहीं है, उनको इसका ज्ञान नहीं होता। यही विषय अन्य रीतिसे स्पष्ट करते हैं—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

अन्वयः— यत् आदित्यगतं तेजः अखिलं जगत् भासयते, यत् च चन्द्रमसि, यत् च अग्नौ (स्थितं अस्ति), तत् मामकं तेजः (अस्ति इति त्वं) विद्धि ॥ १२ ॥ अहं च गां आविश्य ओजसा भूतानि धारयामि। रसात्मकः सोमः भूत्वा सर्वाः ओषधीः पुष्णामि ॥ १३ ॥ अहं प्राणिनां देहं आश्रितः प्राणापानसमायुक्तः वैश्वानरः भूत्वा चतुर्विधं अन्नं पचामि ॥ १५ ॥ अहं सर्वस्य च हृदि संनिविष्टः (अस्मि), मत्तः (सर्वस्य) स्मृतिः ज्ञानं अपोहनं च (भवति), अहं च एव सर्वैः वेदैः वेद्यः (अस्मि), अहं एव वेदान्तकृत् वेदवित् च (अस्मि) ॥ १५ ॥

जो सूर्यमें रहनेवाला तेज सब जगत्को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमामें और जो अग्निमें है, वह तेज मेरा (ईश्वरका) है ऐसा तू समझ ॥ १२ ॥ और मैं पृथ्वीमें प्रवेश करके अपने बलसे सब भूतोंका धारण करता हूं। तथा रसरूप सोम बन कर सब औषधियोंको पुष्ट करता हूं ॥ १३ ॥ मैं (ईश्वर) प्राणियोंके देहोंमें जाकर, प्राण और अपानसे युक्त वैश्वानर अग्नि बन कर चतुर्विध अन्नका पाचन करता हूं ॥ १४ ॥ मैं (ईश्वर) सबके हृदयोंमें रहता हूं, मुझसे सबोंको स्मरण, ज्ञान और इनका अभाव (विस्मरण और अज्ञान) होता है, मैं ही (ईश्वर) सब वेदोंके द्वारा जानने योग्य हूं, और मैं (ईश्वर) ही वेदान्त शास्त्र निर्माण करनेवाला और वेदका ज्ञाता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थ— सूर्य चन्द्र और अग्निमें जो तेज है वह तेज ईश्वर का है। पृथ्वी जिस बलसे सब भूतोंका धारण करती है वह बल ईश्वर का है। जिस रस से सब औषधियां पुष्ट होती हैं वह रस परमेश्वर का है। जो जाठर अग्नि प्राणियोंके देहोंमें अन्न का पाचन करती है वह वैश्वानर अग्नि परमेश्वरका ही रूप है। जिससे मनुष्योंको ज्ञान और स्मरण, तथा अज्ञान और विस्मरण होता है वह ईश्वर का ही सामर्थ्य है। यही ईश्वर वेद और वेदान्त का निर्माता और ज्ञाता है और वेद में इसीका वर्णन है ॥ १२– १५ ॥

(१२–१५) परमात्मा हरएक रूपमें है अतः वह विश्वात्मा विश्वरूप है, इतना कहने मात्रसे हरएक आकृतिमें, मूर्तिमें, रूपमें, शरीरमें वह विद्यमान है यह बात सिद्ध होती है। और यदि वह हरएक वस्तुमें है, तो वही सर्वत्र विश्वमें कार्य चलाता है इसमें क्या संदेह हो सकता है?

इतनी बात मानने पर आदित्यमें, चन्द्रमामें और अग्निमें जो तेज है, वह ईश्वर का ही तेज इस विषयमें शंकाही नहीं हो सकती, इतनाही नहीं परंतु सब तारकाओं में तथा दीपकोंमें जो तेज है वह सब तेज परमेश्वर से ही उनमें रहा है। जहां जहां तेज, प्रकाश, उजाला, रोशनी

दीखती है, वह सब परमेश्वर से वहां रही है। यह तेज के विषयमें यहां कहा है, तेज के समान ही पृथ्वीका गंध, आपतत्त्वका रस, वायुतत्त्वका स्पर्श और आकाशतत्त्वका शब्द ये भी परमात्माके कारण ही वहां रहे हैं, यह बात इससे पूर्व ही कही गई है—

गुण और गुणी

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८॥
पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

(भ० गी० ७)

' जलोंमें रस, सूर्यचन्द्र और अग्निकी प्रभा, आकाश का शब्द, पृथिवी का गंध, वदोंमें प्रणव, मनुष्योंमें पौरुष, सब प्राणियोंमें जीवन, तपस्वियोंका तप, यह सब परमेश्वर का ही रूप है।'

इस आशय को ही सर्वत्र देखना चाहिये और यहां जो केवल प्रकाश के विषयमें कहा है, वह जैसा तेजस्तत्त्वके प्रकाशगुणके विषयमें सत्य है, वैसा ही जलतत्त्वकी रुचिके विषयमें और अन्यान्यतत्त्वों के अन्यान्यगुणों के विषयमें भी सत्य है, ऐसा विचारपूर्वक जानना चाहिये। यह भाव आगे स्पष्ट करते हैं—

(गां आविश्य) पृथ्वीमें परमेश्वर प्रविष्ट होकर सब प्राणियोंको वही धारण करता है, (औषधीः पुष्णामि) पृथ्वीके ऊपर उत्पन्न होनेवाली सब औषधियोंका पोषण करता है, और रसात्मक सोम (रसात्मकः सोमः) बन कर सब औषधि वनस्पतियोंमें संचार करता है। वैश्वानर बन कर अर्थात् सब विश्वका नेता बन कर संपूर्ण प्राणियोंके देहोंमें (प्राणिनां देहं आश्रितः) आश्रय करके परमेश्वर रहा है और वही प्राणअपान आदिसे युक्त होकर (अन्नं पचामि) सब प्रकार के अन्नको पचन करता है।

परमेश्वरका कार्य।

इस रीतिसे सर्वत्र प्रविष्ट होकर, यह परमात्मा सब भूतमात्र में जो कार्य हो रहा है, उसको चलाता है, परंतु अज्ञ मनुष्य समझते हैं, कि सूर्य प्रकाशता है, जल प्रवाहित होता है, पृथ्वी सबका धारण करती है, वायु सुखाता है इ० परंतु वस्तुतः देखा जाय, तो इन सबमें परमेश्वर है और वही यह सब कार्य करता है। इसी बातको और अधिक स्पष्ट करते हैं—

वेदवेद्य।

(सर्वस्य हृदि संनिविष्टः) परमेश्वर सबके हृदयमें- मध्यमें- बीचमें प्रविष्ट हुआ है, उसीसे सबकी स्मृति, ज्ञान और विस्मृति हो रही है। सब वेदोंके द्वारा (वेदैः वेद्यः) जानने योग्य वही परमेश्वर है, अर्थात् सब वेद उसीका वर्णन कर रहे हैं, वेदान्तकर्ता, वेदवेत्ताभी वही है, ज्ञानी वही है।

सबके हृदयोंमें रहकर सबको ज्ञान, पूर्वस्मरण और स्मरण होकर पुनः विस्मरण आदि होना परमेश्वरद्वारा ही होता है। वेदवेत्ता, वेदान्तप्रवीण, ज्ञानी वही है, अर्थात् यहां दूसरा कोई नहीं है। स्मरणभी वही कराता है और विस्मरणभी उसी कारण होता है। पाठकोंको इसका आश्चर्य प्रतीत होगा, अतः एक उदाहरण देते हैं। सूर्यके कारण दिनरात होते हैं यह सब जानते हैं, सूर्यके प्रकाशसे दिन बनना स्वाभाविक है, परंतु दिन बननेकेही कारण रात्री बनती है, यहभी उतनाही स्पष्ट है। इसी तरह स्मरण और विस्मरण एकहीसे हुआ करता है। अस्तु। एकही पुरुषोत्तम परमेश्वर परमात्मासे यह सब होता है। इस पुरुषोत्तम का स्वरूप अब देखिये—

(६) क्षर+अक्षर = पुरुषोत्तम।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ ८ ॥

अन्वयः— (अस्मिन्) लोके क्षरः अक्षरः च एव इमौ द्वौ पुरुषौ (स्तः), सर्वाणि भूतानि क्षरः, कूटस्थः च अक्षरः उच्यते ॥ १६ ॥ उत्तमः पुरुषः तु अन्यः (अस्ति), सः परमात्मा इति उदाहृतः, यः अव्ययः ईश्वरः लोकत्रयं आविश्य (तत्) बिभर्ति ॥ १७ ॥ यस्मात् अहं क्षरं अतीतः, अक्षरात् अपि च उत्तमः (अस्मि), अतः अहं लोके वेदे च पुरुषोत्तमः इति प्रथितः अस्मि ॥ १८ ॥

इस लोकमें क्षर और अक्षर ये दोही पुरुष हैं। सब भूतोंको क्षर कहते हैं और कूटस्थ (जीव) को अक्षर कहते हैं ॥ १६ ॥ उत्तम पुरुष तो (इन दोनोंसे) भिन्न ही है, उसे परमात्मा कहते हैं, जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उसका धारण और पोषण करता है ॥ १७ ॥ जिस कारण मैं (ईश्वर) क्षरसे परे और अक्षरसेभी उत्तम हूं, इस कारण मैं (ईश्वर) लोकोंमें और वेदमें 'पुरुषोत्तम' इस नामसे प्रसिद्ध हूं ॥ १८ ॥

भावार्थ— इस विश्वमें एक क्षर पुरुष है और दूसरा अक्षर पुरुष है। सब भूतोंका नाम क्षर पुरुष है और जीव-चैतन्य का नाम अक्षर पुरुष है। क्षर और अक्षर ये जिसमें एक होते हैं वह पुरुषोत्तम है, और उसीको परमात्मा कहते हैं। यह परमात्मा संपूर्ण विश्वमें प्रविष्ट होकर उसका धारण और पोषण करता है. यह परमात्मा केवल क्षरसे श्रेष्ठ और केवल अक्षरसेभी उत्तम है, क्योंकि इसमें क्षर और अक्षर एकरूपता को प्राप्त हुए हैं, अतः इसको सब वेद और सब लोक ' पुरुषोत्तम ' कहते हैं ॥ १६– १८ ॥

(१६– १८) इस विश्वमें ' क्षर और अक्षर ' ये दो पुरुष हैं, एक नाशवान् है और दूसरा अविनाशी है. इसके वाचक नाम अनेक स्थानमें आये हैं, उनमेंसे कुछ यहां देते हैं—

क्षर	अक्षर
व्यय	अव्यय
प्रकृति	पुरुष
जड	चेतन
प्रकृति	आत्मा
स्थूल	सूक्ष्म
रयी	प्राण
जीव	शिव
मूर्त	अमूर्त
दिति	अदिती

चन्द्रमा	सूर्य
अनात्मा	आत्मा
अनीश	ईश

इस प्रकारके अनेक नाम अनेक ग्रंथोंमें लिखे हैं, इन सब संकेतोंका आशय एक ही है। हमें इस विश्वमें कई वस्तु नाश होनेवाली दीखती हैं और कई अविनाशी दीखती है। इन्हीं का नाम 'क्षर पुरुष' और 'अक्षर पुरुष' है। इसका स्वरूप इस तरह बताते हैं-

(क्षरः सर्वाणि भूतानि) सब भूतोंको क्षर कहते हैं और जो (कूटस्थ) सब भूतोंके मध्य में चेतना करनेवाला है, उसका नाम अक्षर है। मानवी देहमें देहको 'क्षर-पुरुष' समझिये, क्योंकि देह क्षीण होता जाता है, और आत्माको 'अक्षर-पुरुष' समझिये क्योंकि इसका नाश नहीं होता है। इसी तरह सर्वत्र देखकर क्षराक्षर विवेक करना उचित है।

(उत्तमः पुरुषः अन्यः) उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम इन क्षर और अक्षर पुरुषोंसे अन्य है, वही ईश्वर कहलाता है और यही तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका धारणपोषण करता है। यहां शंका होती है, कि यहां जो अन्य पुरुष-पुरुषोत्तम- कहा है, वह पहिले कहे दोनों पुरुषोंसे पृथक् है वा उनमें ही यह संमिलित है? यदि उनमें संमिलित होता तो—

उत्तमः पुरुषः अन्यः।

'उत्तम पुरुष अन्य' है ऐसा कहा न जाता, तथा यदि यह तीसरा पुरुष होता, तो पहिलेही श्लोकमें (द्वौ पुरुषौ) दोही पुरुष यहां हैं, ऐसा जो कहा है वहां (त्रयः पुरुषाः) तीन पुरुष हैं ऐसा कहा जाता। अतः पुरुष तीन नहीं हैं और केवल दोही हैं, यह सिद्ध है। यद्यपि (अन्यः) ऐसा तीसरे पुरुषका निर्देश यहां किया प्रतीत होता है तथापि, यहां तीसरा पुरुष जो कहा है, वह उन पूर्वोक्त दोनोंसे भिन्न होनेपरभी उनमें ही है। यह कैसे हो सकता है, ऐसी शंका कोई कर सकते हैं, इसके उत्तरमें कुछ न कुछ कहना यहां आवश्यक है। अतः इसका थोडासा स्पष्टीकरण करते हैं।

यहां एक पुरुष है और दूसरी स्त्री है, दोनोंका विवाह होनेपर उनको दम्पती कहते हैं। इसका वर्णन इस तरह हम कर सकते हैं-

(१) दोही मनुष्य यहां हैं, एक पुरुष और दूसरी स्त्री।

(२) संतान उत्पन्न करनेवाली स्त्री है और गर्भका आधान करनेवाला पुरुष होता है।

(३) दम्पती तो इनसे भिन्न है, जो गृहस्थाश्रम चलाती है।

स्त्री और पुरुष ये दो मनुष्यही हैं, इनके विवाहसंबंधसे दम्पती होती है, अविवाहित अवस्थामें स्त्री और पुरुष अलग अलग रहते हैं। विवाहित होनेपर दम्पती कहलाती है। यद्यपि स्त्रीपुरुष मिलकरही दम्पती होती है, तथापि केवल स्त्री और केवल पुरुष दम्पती नहीं होती। यहां पाठकोंको पता लगा कि दोनोंके अस्तित्वसे ही उनसे भिन्न तीसरेका संभव कैसा होता है। यही संबंध आगेके श्लोकमें कहा है—

जिस कारण उत्तम पुरुष केवल 'क्षर पुरुष' से श्रेष्ठ है और 'अक्षर पुरुष' से भी अधिक उत्तम है अतः उस उत्तम पुरुषको लोकोंमें तथा वेदोंमें 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है।

क्षर+अक्षर = पुरुषोत्तम।

पुरुषोत्तममें क्षर भी है और अक्षरभी है, अतः वह केवल क्षरसे तथा केवल अक्षरसे उत्तम है, इसमें संदेह नहीं है। क्षर और अक्षर ये वस्तुगत भेद नहीं हैं, परंतु कल्पनागत भेद हैं, यह बात यहां ध्यानमें धारण करनी चाहिये। कोई ज्ञानी या विज्ञानी 'केवल क्षर' को एक बोतलमें और 'केवल अक्षर' को दूसरी बोतलमें भरकर अलग अलग रख नहीं सकता,

(७) सर्वभावसे भजन।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

अन्वयः—हे भारत! यः असंमूढः मां पुरुषोत्तमं एवं जानाति, सः सर्ववित् (भूत्वा) मां सर्वभावेन भजति॥ १९॥ हे अनघ! इति गुह्यतमं शास्त्रं मया उक्तं, हे भारत! एतत् बुद्ध्वा (जीवः) बुद्धिमान् कृतकृत्यः च स्यात्॥ २०॥

किंवा इस तरह पृथक् करनेयोग्य ये विभिन्न पदार्थ हैं ही नहीं।

जैसे मीठास और मिश्रीका ढेला ये दो पदार्थ कल्पनामें पृथक् माने जा सकते हैं, परंतु वस्तुतः पृथक् नहीं है, मिश्रीका ढेला और मीठास सदा एकरूपही रहेगी, उसी तरह क्षर और अक्षर, जड-चेतन ये पुरुषोत्तमके विश्वरूपमें सदा एकरूपही हैं। पुरुषोत्तमही एक सत्यवस्तु है और क्षर अक्षर ये समझानेके लिये कल्पनासे अलग अलग माने गये हैं। जैसा जल और रस भिन्न कल्पना होनेपर भी वस्तु एकही है, वैसाही यहां समझना चाहिये।

इस रीतिसे क्षर और अक्षर ये दो भिन्न कल्पनाएं हैं, दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। दोनों मिलकर सत्यवस्तु एकही होती है जो दोनोंसे पृथक् पुरुषोत्तम कही जाती है। यही सत्यवस्तु है और जो पहिले दो वस्तुएं कही थीं वह काल्पनिक—केवल शिशुबोधके लिये—समझानेके लिये कही गयी थी।

हरएक वस्तुके दो पहलू होते हैं। एक इस ओरका पहलू और दूसरा दूसरी ओरका। ये एक दूसरेसे पृथक् भी हैं। तथापि ये दोनों पहलू मिलकर जो सत्य-वस्तु बनती है वह दोनों पहलुओंसे पृथक् ही होती है, इसका कारण यह है कि किसी भी एक पहलूसे वह सत्यवस्तु अधिक मूल्य की होती है।

इसी तरह 'क्षर+अक्षर=पुरुषोत्तम' होनेसे पुरुषोत्तमका मूल्य केवल क्षरके मूल्यसे और केवल अक्षरके मूल्यसे निःसंदेह अधिक है। परंतु क्षर और अक्षर एक दूसरेसे पृथक् करना असंभव है, ये केवल सुबोधताके लिये माने हैं। इसलिये एकही पुरुषोत्तम सत्य है और दूसरे दोनों काल्पनिक हैं क्योंकि पुरुषोत्तमसे पृथक् सत्ता इनमेंसे किसी की भी नहीं है।

यह पुरुषोत्तमही 'सत्य' है। इसी पुरुषोत्तम का भजन सर्वभावसे सबको करना उचित है। वह कैसा करना चाहिये वह अब देखिये—

सर्वभावका महत्त्व।

(१९-२०) यहां 'सर्वभाव' से ईश्वरको जानना और सर्वभाव से ईश्वरकी सेवा करने का उपदेश किया है। मनुष्य अपने आपको अलग मानता है और अन्य विश्वको अपनेसे

हे भारतीय वीर! जो ज्ञानी मुझे (ईश्वरको) इस तरह पुरुषोत्तम समझता है, वह सर्वज्ञ होकर मेरी (ईश्वरकी) संपूर्णभावसे सेवा करता है ॥ १९ ॥ हे निष्पाप वीर ! इस प्रकार यह अत्यंत गुह्य शास्त्र मैंने तुझे बताया है। हे भारतीय वीर ! यह जानकर जीव बुद्धिमान और कृतकृत्य होता है ॥ २० ॥

भावार्थ- जो पुरुषोत्तम को इस तरह समझता है वह सर्वज्ञ होकर संपूर्णभावसे ईश्वर की सेवा करता है, यही गुह्य ज्ञान है, इसे जाननेसे मनुष्य ज्ञानी बनकर कृतकृत्य होता है। इस ज्ञानसे मनुष्यका जीवन सार्थ हो जाता है ॥ १९—२० ॥

पृथक् मानता है। मैं अलग हूं और मुझसे भिन्न जो विश्व है वह मुझसे पृथक् है, यह असर्वभाव अथवा खंडभाव मनुष्यके मनमें सदा सर्वदा रहता है और यही खंडभाव असर्वभाव - अपूर्णभाव अधर्म बढानेवाला है। इसीसे सब दुःख हो रहे हैं और सब आपत्तियां बढ रहीं है।

इसी लिये यहां कहा है, कि परमेश्वरको (एवं सर्वभावेन पुरुषोत्तमं जानाति) इस तरह सर्वभावसे जानता है वह (सर्ववित्) सबको जाननेवाला होता है और सबको जाननेके पश्चात् (सर्वभावेन पुरुषोत्तमं भजति) वह सर्वभावसे परमेश्वरकी सेवा करता है। परमेश्वरको सर्वभावसे जानना और उसकी सर्वभावसे सेवा करना यहां मुख्य है।

यही (गुह्यतमं शास्त्रं) अत्यंत गुह्यशास्त्र है, यह शास्त्र जो यथावत् जानता है, वह बुद्धिमान और कृतकृत्य होता है। अर्थात् बुद्धिमान और कृतकृत्य होनेका एकमात्र साधन 'सर्वभावसे परमेश्वरको जानना और सर्वभावसे उसकी सेवा करना ही है।' कृतकृत्य होनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। सर्वभावसे ईश्वरको जाननेसे ही साधक (सर्व-वित्) सब कुछ जाननेवाला होता है अर्थात् जाननेयोग्य ऐसा कोईभी अवशिष्ट नहीं रहता।

अब यहां विचार करना है, कि सर्वभावसे जानना और सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य क्या है? और इसके विपरीत समझनेका आशय क्या है? इसका तात्पर्य समझमें आनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं-

एक गुरु था और उसके दो शिष्य थे। सेवा करनेकी आतुरतासे वे वारंवार झगडा किया करते थे। उनका झगडा मिटानेके लिये गुरुने कहा, कि शरीरका एक भाग एक शिष्यका है और दूसरा दूसरेका है। हरएक शिष्य अपने अपने भाग की सेवा किया करे और इस बातपर न लडें। इस तरह समझौता होनेपर दोनों शिष्य अपने अपने गुरुके शरीरके भाग की सेवा करते थे। एक समय गुरु दायें पांवको बायें पांवपर रखकर आराम कर रहे थे। यह बायें पांव की सेवा करनेवाले शिष्यने देखा और क्रोधमें आकर गुरुके दायें पांवको पीटना आरंभ किया। और कहने लगा कि मेरे उपास्य अवयवपर बैठनेवाला तुम कौन हो! यह मूढ भक्तिभाव देखकर त्रस्त हुआ गुरु शिष्यसे कहने लगा कि 'हे शिष्य! तू तो मेरी सेवा खंडितभावसे कर रहे हो, जो अखंडभावसे अर्थात् सर्वभावसे करनी चाहिये। जैसा दायां पांव मेरा है वैसाही बायां पांव भी मेरा ही है। यद्यपि यह पांव दूसरे को सेवाके लिये दिया है तथापि वह भी मैं ही हूं। अब तूने दूसरे पांवपर ताडन किया, इससे मुझे ही कष्ट भोगने पडे। अतः यह तुम्हारा मूढभाव है। सर्वभावसे सेवा करोगे तोही वह तुम्हारी सेवा सफल होगी

और जब तू खंडभावसे सेवा करोगे तो वह गुरुद्रोह ही होगा।"

इस जगत्में असर्वभाव अथवा खंडभावसे सब लोग ईश्वरसेवा कर रहे हैं। शैववैष्णवोंके उपासनाविषयक झगडे सबको पता हैं, मुसलमानोंके झगडे भी इसी कारण होते हैं। यदि इन उपासकोंको सर्वभावसे ईश्वरका स्वरूप समझेगा और सर्वभावसे उसकी सेवा करनेकी रीति ज्ञात होगी, तो कोई झगडेका कारण ही नहीं रहेगा।

सर्वभाव क्या है? एकही सद्वस्तु है जिसका नाम पुरुषोत्तम, ईश्वर, परब्रह्म आदि है। उस एक वस्तुका स्वरूपही यह विश्वरूप अथवा सबरूप है। जो रूप दीखता है वह उसी सद्वस्तुका है। उस सद्वस्तुको छोडकर यहां दूसरी वस्तुहि नहीं है। जो भी कुछ यहां है वह उसकाही प्रकटीकरण है। यही ईश्वर है और यही सब कुछ है। इसीका नाम 'सर्वभाव' है। यही सर्वभावसे उस एक अद्वितीय सद्वस्तुको जानना है। अब सर्वभावसे उसकी उपासना करना भी इसी तरह है। सबकी उपासना एक समय तो हो ही नहीं सकती। उपासक की मर्यादा छोटी होनेसे वह विश्वरूपके किसी छोटेसे अंशकीहि सेवा कर सकता है। परंतु जिस अंशकी सेवा करनी है वह अंश उस पूर्णका अंश है ऐसा जानकर और वह अंश उससे पृथक् नहीं है ऐसा मानकर, इस अंशकी सेवा ही सबकी सेवा है इस तरह सर्वभावसे सेवा करनी चाहिये। जैसी मनुष्यके किसी अवयवकी सेवा करनेसे उसकी सेवा हो सकती है, इसी तरह विश्वात्माके किसी अंशकी अखंडभावसे सेवा करनेसे ही वह विश्वात्माकी सेवा हो सकती है। यह है सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य।

खंडभावसे, असर्वभावसे सेवा करनेकी बात तो सब जानते ही हैं, मैं अलग हूं, मेरा उपास्य अन्यविश्वसे पृथक् है, अन्य विश्व मर जाय तो भी पर्वाह नहीं, मेरी, मेरी जातीकी और मेरे उपास्यकी प्रतिष्ठा हुई तो बस है, इस तरह जो किया जाता है वह खंडभावसे सेवा है। यही अपूर्ण अर्थात् असर्वभाव सब द्वन्द्वोंकी जड है, अतः सब दुःख इसीसे उत्पन्न होते हैं।

इसी कारण यहां कहा है कि जो सर्वभावसे पुरुषोत्तमको जानता है वह (अ-संमूढ) ज्ञानविज्ञानसंपन्न होता है और वही (सर्वविद् भवति) सब कुछ जाननेवाला होता है। यही उच्चतम शास्त्र है इसीके जाननेसे मनुष्य कृतकृत्य होता है। कृतकृत्यका आशय यह है कि जिस रीतिसे कर्म करना चाहिये उस रीतिसे वह कर्म कर सकता है। कर्तव्य उत्तम रीतिसे वह करता है। अशुद्धभावसे वह कुछ भी नहीं करता, क्योंकि वह सब जानता है और उसमें किसी प्रकारका अज्ञान रहता नहीं है।

कृतकृत्य होनेके लिये सर्वभावसे विश्वरूपको जानना चाहिये और सर्वभावसे उसकी सेवा करनी चाहिये। इस तरह जाननेवाला अपने आपको विश्वरूपमें संमिलित देखता है और विश्वरूपको भी अपनाही रूप जानता है। सब अखंड एकरस जीवन है ऐसा जाननेपर अशुद्धी होनेकी संभावनाही नहीं है। अपनी आवश्यकताकी पूर्ती करना भी जिसको विश्वसेवा प्रतीत होती है और विश्वसेवा भी जिसको अपनीहि सेवा करनेके समान प्रतीत होता है, वही सर्वभावसे व्यवहार करता है और वही कृतकृत्य होता है।

पंद्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥

पन्द्रहवें अध्यायका मनन ।

पुरुषोत्तमयोग ।

इस पंद्रहवें अध्यायमें ' पुरुषोत्तमयोग ' कहा है। पुरुषोत्तम के साथ अपना योग करना, अथवा पुरुषोत्तमसे मैं भिन्न नहीं हूं इसका अनुभव करना ही इस अध्यायका ध्येय है। इसका अनुभव करनेके लिये पुरुषोत्तम का स्वरूप जानना चाहिये। वह पुरुषोत्तमका स्वरूप इस तरह जानना योग्य है—

पुरुषोत्तम का स्वरूप ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
गी० १५।१८

क्षरपुरुष और अक्षरपुरुष ऐसे दो पुरुष हैं' इन दोनोंसे श्रेष्ठ जो है उसका नाम पुरुषोत्तम है। क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष और उत्तमपुरुष ऐसे तीन पुरुषहैं, उनमें जो उत्तम पुरुष है वह तीनोंमें उत्तमोत्तम होनेसे उसको पुरुषोत्तम कहते हैं। यह शेष दोनोंसे पृथक् नहीं है, परंतु क्षर और अक्षर उस पुरुषोत्तम में एकरूप हुए हैं। इस विषयको समझानेके लिये एक उदाहरण लेते हैं।

अपनेपास शरबत है, इसमें जल है और मिश्री है। यहां जल+मिश्री=शरबत ये तीन पदार्थ हुए। जल एक वस्तु है, मिश्री दूसरी वस्तु है, जलसे श्रेष्ठ और मिश्रीसे उत्तम एक तीसरी वस्तु है उसका नाम शरबत है। इसमें जल और मिश्री एकरूप हो गयी है। इसी लिये शरबत कह सकता है कि चूंकि मैं जलसे श्रेष्ठ और मिश्रीसे भी उत्तम हूं। यह बात स्पष्ट है कि केवल जलसे और केवल मिश्रीसे अर्थात् इन दोनोंसे शरबत उत्तम होता है, तथा ये दोनों पदार्थ शरबतमें एकरूप होकर रहते हैं।

इसी तरह क्षर-पुरुष (पंचभूत मन, बुद्धि और अहंकार), तथा अक्षरपुरुष (जीवतत्त्व) ये दोनों पुरुष हैं। परंतु ये पुरुष ऐसे नहीं हैं कि जो अलग अलग बोतलोंमें भरकर रखे जा सकते हैं। ये सर्वत्र एक दूसरेके साथ एकरस मिले जुले हैं, तथापि कल्पनासे इनका भेद विदित होता है। जैसा ढेला और मीठास ये कभी अलग न होनेवाले पदार्थ परस्परभिन्न हैं ऐसा ही जागतिक बुद्धिको दीखता है। इनका जो एकरूपमें मेल है वही पुरुषोत्तम है, क्योंकि इसके रूपमें क्षर भी है और अक्षर भी है।

क्षर + अक्षर= पुरुषोत्तम ।

{ पंचभूत मन बुद्धि- अहंकार } + जीवतत्त्व = उत्तम पुरुष ।

इस तरह पुरुषोत्तममें क्षर भी आगया, अक्षर जीवतत्त्वभी आगया और दोनोंका मेल होकर होनेवाला पुरुषोत्तम भी इसी में आगया है। इस तरह पुरुषोत्तममें पृथ्वी-आप-तेज-वायु-आकाश-मन-बुद्धि-अहंकार-जीवतत्त्व इन नव तत्त्वोंका एकरस मीलन है।

ये एकरस पहिले नहीं थे और पश्चात् मिले ऐसी बात नहीं है। सदासर्वदा ये सब भासमान तत्त्व एकरस ही हैं। अविवेकके कारण हमें जो भिन्नता प्रतीत हुई वह विवेकसे दूर होगई इतना हो समझना चाहिये।

जैसा जलका बर्फ किया गया, अथवा जलकी भांप बनाई तो बर्फ- जल -भांपमें भिन्न भिन्न भावके अनुभव होते हैं, तथापि आपतत्त्व के ही ये रूप हैं, अथवा मिश्रीके अनेक पदार्थ

बनाये तो भी विभिन्न पदार्थोंका भान होते हुए भी उन सबका मिथ्यापन कदापि हटता नहीं, इसी तरह एक सद्वस्तु-एकही पुरुषोत्तम-अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ, तो उसमें भिन्नता किसी भी रीतिसे आ नहीं सकती।

इलेक्ट्रान्स

आजकल की साइन्स एकमतसे कहती है कि विद्युत्कणों (इलेक्ट्रान्स) से ही विश्वकी सब वस्तुएं बन गयी हैं। येही विद्युत्कण अनंत वस्तुओंके रूपोंमें हमारे सन्मुख उपस्थित हैं। बिजली, बिजली की तारें, बिजलीके स्तंभ, बिजलीके दीप, आदि सब विद्युत्कणोंसे ही बने हैं।

ये पदार्थ अनंत हैं, विभिन्न गुणधर्मवाले हैं तथापि वे एकही सत्तत्वसे बने हैं। यही बात-

इन्द्र = विद्युत्

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' (ऋग्वेद)

'इन्द्र अपनी सामर्थ्यसे अनंतरूपोंमें प्रकट होता है।'

यहां इन्द्र नाम विद्युत्का ही है। जो सायन्सने कहा वही वेदने इतने सहस्रों वर्षोंके पूर्व कहा था। अस्तु। इस तरह एकही पुरुषोत्तम विश्वरूपमें प्रकट हुआ है।

अखंड विश्वरूप

क्या इस विश्वरूपमें हमारा रूप नहीं है? अवश्य है, फिर हमारा रूप भी किसका रूप है? उत्तरमें कह सकते हैं कि जिसका यह अखंड-विश्वरूप है उसीका यह रूप है। जहां दूसरी वस्तुही नहीं वहां दूसरे किसका रूप हो सकता है? अर्थात् मैं, तू, वह, यह सब व्यवहार पुरुषोत्तमके ही रूपमें हो रहा है इसमें संदेह नहीं है।

पुरुषोत्तम

जीवनतत्त्व

अहंकार

मनबुद्धि

आकाश

वायु

तेज

आप

पृथ्वी

पुरुषोत्तमही स्वयं हरएक स्थूल रूपमें नटवत् प्रकट हो रहा है। जिस तरह एकही 'अ' कार सर्व वर्णमालाका रूप धारण करके पश्चात् वाङ्मयके अनेक रूपोंमें प्रकट होता है, उसी तरह यहां समझना चाहिये। एकहि 'अ' कारकी सब वर्णमाला बनी होगी तो भी शब्दोंके उलटपुलट अर्थ होते ही हैं, इसी तरह एकही सत्तत्वका सब विश्व बना होनेपर उस विश्वमें द्वन्द्वभाव प्रकट हुआ तो भी उसमें कोई आश्चर्य नहीं है, कारण यह है कि—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि, न त्वहं तेषु, ते मयि॥
भ० गी० ७।१२

"जो सात्त्विक राजस और तामस भाव इस विश्वमें प्रकट हो रहे हैं वे सबके सब

आत्मासे ही हो रहे हैं। " केवल सात्त्विक भाव आत्मासे हुए और तामस भाव किसी दूसरे सैतानसे हुए हैं, ऐसी बात नहीं है। एकही आत्मा है, दूसरी सैतान नामक कोई वस्तु नहीं है। अतः एकही सद्वस्तुसे ये सब विविध भाव उत्पन्न होते हैं।

इस आत्माकाही यह विश्वरूप है और उसीमें हम सब संमिलित हैं। अतः हम सब उससे भिन्न नहीं है। यह विश्व उसीका शरीर है। प्रत्येक मनुष्यका अथवा प्राणीका एक शरीर होता है। उस प्राणीके आत्माका दर्शन तो किसीको होता ही नहीं, जो दर्शन होता है वह उस प्राणीके शरीरकाही दर्शन होता है। इससे स्पष्ट है कि आत्माका साक्षात्कार उसकी प्रकृतिमेंही होना है। अतः इस विश्वात्माकी प्रकृति कौनसी है,इसको प्रथम जानना चाहिये। इस विश्वात्माकी प्रकृतिका वर्णन इस तरह किया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥६॥
(भ० गी० ७)

यहां परमेश्वरकी प्रकृति नवविध है, ऐसा कहा है। पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि अहंकार और जीवतत्त्व यह नवविध शरीर ही पुरुषोत्तमका है। इस शरीरमें संपूर्ण भूतमात्र हैं, संपूर्ण विश्व है, इससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। प्रकृतिका ही अर्थ शरीर है।

हमारे शरीरमें पंचभूत-मन बुद्धि अहंकार और जीवभाव हैं, जो पुरुषोत्तमके शरीरके घटक हैं वेही घटक हमारे शरीरमें हैं। पुरुषोत्तमका शरीर विश्वव्यापक है, उसीका थोडासा भाग लेकर हमारा शरीर बना है। अतः कहा है-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥९॥
(भ० गी० १५)

"ईश्वरकाही अंश- अर्थात् पुरुषोत्तमकाही अंश यहां जीव हुआ है। वह यहां शरीरमें प्रकट होकर पांच ज्ञानेंद्रियोंके सहित मनको अपने साथ आकर्षित करता है। जिस शरीरके अन्दर जाता है अथवा जिस शरीरसे बाहर जाता है, वायु गंधको अपने साथ ले जानेके समान, यह इंद्रियोंको अपने साथ ले जाता है। श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, रसन, घ्राण और मन इन इंद्रियोंपर यह अधिष्ठाता होकर सब विषयोंका सेवन करता है।' इस तरहके वर्णनोंसे स्पष्ट होता है कि विश्वात्माका एक अंश इस शरीरमें जीव होकर रहा है। अंशी विश्वात्मा है और अंश जीव है। अंशीसे भिन्न अंश नहीं हो सकता।

अपने शरीरमें जो स्थूल पार्थिव भाग है, वह विश्वात्माके पार्थिव शरीरका अंश है, अपने शरीरमें जो प्रवाहरूपसे आप् तत्त्व है, वह विश्वात्माके आपोमय शरीरका अंश है। अपने शरीरमें जो तेजस्वी भाग है,वह सर्वात्माके तेज शरीरका अंश है। इसी तरह अपने अंदर वायुरूपी प्राण है और अवकाश रूप आकाश है,मनन करनेवाला मन है, ज्ञानग्रहण करनेवाली बुद्धि है और अहंकार भी सर्वोपरि 'मैं' करके रहा है, ये सब अंश विश्वात्माके विश्वव्यापक प्राण, अवकाश, मन, महत्तत्त्व और अहंकारके अंश हैं। हमारे पास जो कुछ है,वह विश्वात्माके विशाल शरीरसे ही लिया हुआ है। जो पूर्णतः विश्वशरीरमें है, वही अंशतः हमारे शरीरमें है

और जो अंशतः हमारे शरीरमें है वही पूर्णतः विश्वात्माके विश्वशरीरमें है। यह पंचभूतात्मक विश्वशरीर परमात्माका है, इस विषयमें जैसा यहां भगवद्गीतामें कहा है, वैसाही बृहदारण्यकोपनिषद् में विस्तारसे कहा है-

...यस्य पृथिवी शरीरं...यस्यापः शरीरं... यस्याग्निः शरीरं... यस्यान्तरिक्षँ शरीरं... यस्य वायुः शरीरं ... यस्य द्यौः शरीरं ... यस्यादित्यः शरीरं...यस्य दिशः शरीरं... यस्य चन्द्रतारकं शरीरं ... यस्याकाशः शरीरं ... यस्य तमः शरीरं...यस्य तेजः शरीरं ... यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं... यस्य प्राणः शरीरं ... यस्य वाक्शरीरं... यस्य चक्षुः शरीरं ...यस्य श्रोत्रं शरीरं... यस्य मनः शरीरं...यस्य त्वक्शरीरं... यस्य विज्ञानं शरीरं.. यस्य रेतः शरीरं, यः...अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः (एष) द्रष्टा... श्रोता.. मन्ता...विज्ञाता, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।
(बृ० उ० ३।७।३—२३)

'परमात्माका शरीर "पृथिवी-आप-अग्नि-अन्तरिक्ष-वायु-द्यौ-आदित्य-दिशा-चन्द्रतारका-आकाश-तम-तेज-सर्वभूत-प्राण-वाणी चक्षु-श्रोत्र-मन-त्वचा-विज्ञान-रेत" है। यह परमात्मा इनके अन्दर रहता हुआ इनका नियमन करता है, यही मनुष्यका अमर आत्मा है, यह द्रष्टा श्रोता मननकर्ता ज्ञाता है, यही तेरा आत्मा है।'

भगवद्गीता (अ०७।४—६) में नवविध शरीर कहा है और यहां इक्कीस पदार्थोंकी गिनती की है, परंतु अधिक वस्तुएँ गिननेसे विशेष स्पष्टीकरण ही हुआ है, नवविध पदार्थोंसेही ये अनेक पदार्थ बने हैं। अस्तु। यहां पाठकोंको परमेश्वरके विश्वशरीरकी कल्पना हो सकती है। इस पुरुषोत्तमके विश्वशरीरमेंहि सब प्राणियोंके शरीर समाये हैं और हमारे शरीर भी उसी विश्वशरीरके अंश हैं। उससे पृथक् कोई नहीं है।

संपूर्ण विश्व एकही अखंड जीवन है, ऐसा यहां कहा है और यही विश्वात्मा पुरुषोत्तम है। जन्मनेवाले भी उसीमें और मरनेवाले भी उसीमें हैं। जनन और मरण सतत होनेपरभी विश्वात्मस्थितिमें कोई न्यूनाधिक नहीं होता। वह जैसा था, वैसा है और वैसाही सदा रहेगा।

इस विश्वात्माकाही यह सब विश्वरूप है। क्या यह विश्वरूप साधकके अनुभवमें आसकता है? यह मेरा ही रूप है, ऐसा साधक कभी न कभी अनुभव कर सकता है? यह शंका यहां उत्पन्न हो सकती है। इसके उत्तरमें निवेदन है कि यह अनुभव साधक भी कर सकता है। पहिले विश्वात्मस्वरूपका ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् उसका अच्छी तरह मनन करना चाहिये। जितना मनन होगा, उतनाही यह अपने व्यवहारमें भी लानेका यत्न करना चाहिये।

यहां प्रश्न हो सकता है कि इस ज्ञानको व्यवहारमें कैसे लाया जा सकता है? इसके उत्तरमें कह सकते हैं कि यह ज्ञान व्यवहारमें प्रयुक्त किया जा सकता है। वस्तुतः यह ज्ञान इसी लिये कहा गया है कि व्यवहारमें प्रयोग किया जावे और इस ज्ञानसे निर्दोष व्यवहार होता रहे। यह श्रेष्ठ ज्ञान है और जो व्यवहार इस ज्ञानसे होगा, वह भी श्रेष्ठ व्यवहार ही होगा। इस ज्ञानको जो ठीक ठीक आत्मसात् करेंगे, उनसे सदोष व्यवहार हो ही नहीं सकता।

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि
आत्मा एव अभूद्विजानतः। (वा. य.४०।७)

'जिसको सब भूत आत्मा ही हो गये,' उसको ही (विजानतः) सच्चा ज्ञान हुआ। इस समय

उसको सब भूत- सब पदार्थ आत्माके ही रूप हैं ऐसा प्रत्यक्ष होगा, अथवा आत्माही सब रूपोंमें प्रकट हो रहा है ऐसा प्रत्यक्ष होगा, अथवा ईश्वर ही सब कुछ रूप धारण किये हैं ऐसा दिखाई देगा अथवा यह सब मेरा ही रूप है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा। ये सब वाक्य एकही आशयको दर्शा रहे हैं, यह बात भूलना किसीको उचित नहीं है। तदाकारवृत्ति होनेपर यह अनुभव आवेगा, तबतक यह ज्ञान केवल शब्दोंके ही रूपमें रहेगा।

परोक्षकृत मंत्र।

(पहिला अनुभव)

गुरुके पाससे ज्ञान प्राप्त होते ही, अथवा शब्दोंके द्वारा बुद्धिद्वारा इस ज्ञानको समझमें आतेहि जो अनुभव आवेगा, वह यह है—

पुरुष एवेदं सर्वं। (ऋ. १०।९०।२)
आत्मा वा इदं सर्वं। (छां० उ० ७।२५।२)
नारायण इदं सर्वं। (नारा० उ० २)
ब्रह्म खल्विदं सर्वं। (मैत्री उ. ४।६)
वासुदेवः सर्वं॥ (गी० ७।१९)

'पुरुष, आत्मा, नारायण, ब्रह्म, वासुदेव ये जिसके नाम हैं वह, सद्वस्तु इस विश्वके रूपमें प्रकट हुई है।' यह सब तृतीय पुरुषका प्रयोग है। 'वह ईश्वर इस विश्वरूपमें प्रकट हुआ है।' ईश्वर करके कोई है, वह अभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ, परंतु शब्दप्रमाणसे वह है, ऐसा मैं मानता हूं और वही विश्वरूप हुआ है यह भी शब्दप्रमाणसे मैं स्वीकार करता हूं। इस तरहके तृतीय पुरुषके (वह करके कहे हुए) जो वेदवचन होते हैं, उनका नाम श्रुति है। गुरुके उपदेशसे श्रवण करके यहां ज्ञान प्राप्त हुआ है। 'यह विषय प्रत्यक्ष नहीं हुआ। यह केवल श्रुति' है, केवल ऐसा सुनकर माना है। ईश्वर करके कोई है, उसको आत्मा ब्रह्म नारायण वैश्वानर आदि कहते हैं, वही सब कुछ भूत भविष्य वर्तमानकालका विश्व बना है, वही सबका आत्मा है। यह अप्रत्यक्ष ज्ञान है, श्रौत ज्ञान इसे कहते हैं।

इसको सबसे प्रथम प्राप्त करना चाहिये। इसीका मनन करना और इसीको प्रत्यक्ष करना है। इन्हीं मन्त्रोंको 'परोक्षकृत मंत्र' कहते हैं। 'श्रुति' ही परोक्षकृत मंत्र है।

प्रत्यक्षीकृत मंत्र।

(दूसरा अनुभव)

साधक जब गुरुमुखसे सुनता है कि 'सब भूत आत्माही हैं,' जब वह इसका मनन करने लगता है, तब अनेकवार उसे संदेह होता है कि (सर्वाणि भूतानि आत्मा एव) सब भूत आत्मा ही कैसे हो सकते हैं? भूतमात्र बनते बिगडते हैं और आत्मा अखंड एकरस है, ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? ऐसी अनंत शंकाएं साधकके मनमें उठतीं हैं, वह अपने गुरुसे शंका पूछता है, गुरु उसका समाधान करता है और शंका शनैः शनैः दूर होती जाती है, एकताका अनुभव होता जाता है।

पहिले पार्थिव तत्त्वकी एकता देखी जाती है, पश्चात् आप् तत्त्व विश्वभरमें है ऐसी प्रतीति होती है, नंतर तेजस्तत्त्व सर्वत्र है इसका अनुभव सर्वत्र रूपदर्शनसे स्पष्ट होता है। रूप तेजस्तत्त्वका ही गुण है और वह रूप सर्वत्र है, कोई ऐसा स्थान नहीं है कि जहां रूप नहीं है, अतः सर्वत्र तैजस तत्त्वके होनेका निश्चय होता है। इसी तरह वायु आकाश मन बुद्धि अहंकारका होना सर्वत्र अनुभवमें आता है। सर्वत्र अवकाश की उपस्थिति है, यह तो तेजस्तत्त्वके समानही प्रत्यक्ष होनेवाली बात है। इसी तरह अहंकार भी सर्वत्र है। प्रत्येक कृमी कीट 'मैं हूं' ऐसा कहताही है, इससे भी वनस्पतिसृष्टिमें प्रत्येक वनस्पति 'मैं हूं और मैं सर्वत्र बहुत होकर फैलूंगी।'(एकोऽहं बहु स्यां) ऐसा कहती है। 'मैं हूं' यह अहंकार कोई छोडना नहीं चाहता, यहां कोई मरना नहीं चाहता, सब कोई बढना

चाहते हैं। इस तरह अहंकारको सर्वत्र देखनेसे शनैः शनैः सर्वत्र अहंकारके अनुसंधानसे 'एकात्मप्रत्यय' होने लगता है।

जब साधकको इतना प्रत्यक्ष अनुभव आता है तब वह साधक कहता है कि 'हे ईश्वर! तू ही सब कुछ हो' इ० जैसा–

त्वं अक्षरं परमं वेदितव्यं।
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥(गी० ११)
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः॥ (गी०११।३८)

'हे ईश्वर! तूहि अविनाशी ज्ञेय वस्तु है, तू ही इस विश्वका परम आश्रय है, तूही सनातन है और शाश्वत धर्मका रक्षक है। तूहि आदिदेव और पुराण पुरुष है।' इस तरह परमेश्वरको प्रत्यक्ष पुकारनेवाली भाषा भक्त इस समय बोलता है।

वह परमेश्वरकी उपस्थिति सर्वत्र देखता है और मेरे चारों ओर वह है ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करता है। अपने शरीररूपी रथपर अपनी सहायता करनेके लिये वह उपस्थित है और अपनी सहायताके लिये उसने सब कुछ कर रखा है, इस बातको साधक इस समय प्रत्यक्ष देखता है। किसी स्थानपर वह साधक देखे, तो वहां वह ईश्वर साक्षात् है, ऐसा वह देखता है। इसलिये साधक इस समय ईश्वरको 'तू' करके पुकारता है, प्रत्यक्ष स्पर्श करनेका अनुभव लेता है, प्रभुके प्रेमका अनुभव करता है, गद्गद होता है। यह साक्षात्कार की अवस्था है। इस समय उसकी प्रार्थना इस तरह होती है—

वि न इन्द्र मृधो जहि
नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्मानभिदासति
अधरं गमया तमः॥ (ऋ०१०।१५२।४)

'हे प्रभो! हमारे शत्रुओंका नाश करो, सेनाद्वारा हमारे ऊपर हमला करनेवालोंको पराजित करो और जो हमको दास करता है उसको अन्धेरेमें भेज दो अर्थात् उसकी दुर्गति करो।' तथा–

त्वमेव सर्वं मम देवदेव।

'हे प्रभो! तू ही मेरा सब कुछ है।' इत्यादि रीतिसे प्रत्यक्ष देवताको संमुख रखकर बोलनेके समान भक्त देवताके साथ बातचीत करता है, मांगता है, प्रार्थना करता है, इ०

इस समय देवता इसको प्रत्यक्ष होती है, परंतु इस समय देवता देनेवाली और मैं लेनेवाला यह भावना रहती है। इसके पश्चात् भी भक्तकी उन्नति होती रहती है और आगे जाकर वह देवतासे अपना तादात्म्य अनुभव करता है, यह उच्चसे उच्च भूमिका है।

अहंकारादेशके मंत्र।

(आध्यात्मिक ऐक्यका अनुभव)

इस समय साधक देवतासे तादात्म्य प्राप्त करता है। देवतासे अपना अभेद संबंध अनुभवता है। इस अनुभवके मंत्र ये हैं–

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये। (ऋग्वेद)

'मैं इन्द्र हूं, मेरा पराजय नहीं होगा।' इस तरहके मंत्र आध्यात्मिक होते हैं। अर्थात् देवताके साथ अभेदका अनुभव इसमें होता है। इन मंत्रोंका नाम 'वेद' होता है, क्योंकि इनमें देवताका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ होता है। श्रुति और वेदमें यह भेद है। स्वयं देवतांश होनेका अनुभव साधकको इस तरह होता है। भगवद्गीतामें भी यही दर्शाया है–

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा
रसात्मकः॥ १३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥ (भ०गी० १५)

"जो तेज सूर्य चन्द्र और अग्नि में है, वह मेरा तेज है । भूमिमें प्रविष्ट होकर मैं अपनी शक्तिसे रसात्मक सोम बनकर सब औषधियोंको पुष्ट करता हूं । मैं सब विश्वका नेता होकर सब प्राणियोंके देहोंमें रहकर प्राण और अपानसे युक्त होता हुआ चतुर्विध अन्नका पाचन करता हूं । मैं ही सबके हृदयोंमें हूं, मुझसे ही स्मरण, ज्ञान और विस्मरण होता है। सब वेदोंके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं और मैंहि वेदान्त का कर्ता और वेदका ज्ञाता हूं ।"

यह साधक इस समय विश्वात्माके स्वरूपमें मिला होता है, विश्वात्मासे अभिन्न होता है, मैंहि देवतारूप हूं यह प्रत्यक्षानुभव इस समय इसको आता है । ये तीनों अनुभव उपनिषदोंमें स्पष्ट रीतिसे कहे हैं। इस विषयकी सुबोधताके लिये इन वचनोंको यहां पाठक अवश्य देखें-

१ स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति ॥

२ अथातोऽहंकारादेशः-
अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥ १ ॥

३ अथात आत्मादेशः-
आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति ॥

४ स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति । तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।

५ अथ येऽन्यथातो विदुः, अन्यराजानस्ते अक्षय्यलोका भवन्ति,तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥

(छां०उ०७।२५।१-२)

(१) अब 'वह' शब्दसे वह ज्ञान कहते हैं-
'वह (ईश्वर) नीचे, वही ऊपर, वही पीछे, वही आगे, वह दाईं और वही बाईं ओर अर्थात् वही सब कुछ है ।'

(२) अब 'अहं' शब्दसे वही कहते हैं-
'मैं नीचे, मैं ऊपर, मैं पीछे, मैं आगे, मैं दाईं ओर और मैं बाईं ओर अर्थात् मैंहि सब कुछ हूं ।'

(३) अब 'आत्मा' शब्दसे वही ज्ञान कहते हैं—

'आत्मा नीचे, आत्मा ऊपर, आत्मा पीछे, आत्मा आगे, आत्मा दाईं ओर और आत्माही बाईं ओर अर्थात् आत्मा ही सब कुछ है ।'

(४) जो इस तरह देखता है, इस तरह मानता है, इस तरह जानता है, वह आत्मामें रमता है, आत्मामें क्रीडा करता है, आत्मासे मिलता है और आत्मासे आनंदित होता है। इस समय वह स्वराट्-[स्वयं राजा-स्वयं प्रकाश—स्वतंत्र] होता है। इसकी गति सब लोकोंमें स्वेच्छासे होती है ।

(५) परंतु जिनको यह ज्ञान नहीं है, वे दूसरेको राजा माननेवाले अर्थात् दूसरेको अपना स्वामी माननेवाले परतंत्र होते हैं, उनको अक्षय लोक कभी नहीं मिलता, उनकी परतंत्रताके कारण उनकी गति सब लोकोंमें नहीं हो सकती ।

इस छांदोग्य उपनिषद्में स्पष्ट कहा है कि जबतक 'मैंहि विश्वरूप आत्मा हूं' ऐसा प्रत्यक्षानुभव नहीं होता, तबतक साधक दूसरेको

अपना अधिपति माननेवाला परतंत्र ही रहता है। वह जिस समय जानता है कि मैं ही आत्मा हूं तब वह स्वतंत्र और मुक्त होता है। इस वचनमें (सः) वह, (अहं) मैं और आत्माके निर्देश से एकही आत्माका ज्ञान कहा है। इसमें (अहं) मैं के निर्देशसे जो कहा है वैसा ज्ञान जिस समय साधकको होगा, उसी समय वह अपने आपको ही सर्वव्यापक अनुभव करेगा और अपनेसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है ऐसा अनुभव करता हुआ पूर्ण स्वतंत्रताकी अनुभव करेगा।

पहिला अनुभव- वह ईश्वर सब कुछ है,
दूसरा अनुभव- तू ईश्वर सब कुछ है,
अन्तिम अनुभव- मैं सब कुछ हूं।

पहिले दो अनुभव अपनी अपूर्णताके हैं, तीसरा अनुभव अपनी पूर्णताका है। इस पूर्णताके अनुभवमेंहि 'जो आदित्यमें तेज है, वह मेरा है' ऐसा कह सकता है। इस रीतिसे विश्वात्माका अनुभव साधकको प्राप्त होता है। हरएक साधक इस अनुभवकी कसौटीसे अपनी परीक्षा कर सकता है और अपनी कितनी उन्नति हो चुकी है, इसका निश्चय कर सकता है।

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश, राष्ट्र यहांतक अपना संबंध जोडने तक साधारणतः मनुष्यकी उन्नति अंशतः हुई है। 'वसुधैव कुटुंब' माननेकी वृत्ति संन्यासाश्रममें करनेकी प्रथा वर्णाश्रम-धर्मनेही भारतीयोंको समझायी है। इसके पश्चात् सूर्यचन्द्रका तेज भी मेरा ही है, यह सीढी है। पाठक इसका विचार करें और अपनी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त करें।

सर्वत्र आत्मस्वरूप देखनेवाला व्यवहार कैसा कर सकता है? यह भी एक प्रश्न लोग किया करते हैं।

मान लीजिये कि किसी साधकको 'पुरुषोत्तम-योग' की साधनासे 'मैं ही सब कुछ (अहं एव इदं सर्वं) हूं' ऐसा निश्चित ज्ञान हुआ। वह मानो पुरुषोत्तमरूपही हुआ है। वह सबको पुरुषोत्तमरूप अथवा अपना ही रूप मानेगा। उसके सामने शिष्य उपस्थित हुआ तो समझेगा कि पुरुषोत्तमही शिष्यभावसे संमुख आगया है अथवा मैं हि शिष्यरूपसे सम्मुख आगया हूं। दोनों अवस्थाओंमें वह निष्कपट भावसे अध्यापन करेगा। क्योंकि कपट अपने ही से नहीं हो सकता।

इसी तरह पुरुषके सामने स्त्री आगयी, वैद्य या डाक्तरके सामने रोगी आया, अधिकारीके सामने प्रजाजन आगया, मालिकके सामने नौकर उपस्थित हुआ अथवा राजाके सामने कोई मनुष्य आगया, तो इन सब आत्मज्ञानियोंका व्यवहार पूर्ण निष्कपट भावसे होगा। जितना निष्कपट व्यवहार अपने साथ किसीका हो सकता है, उतना निष्कपट और सीधा व्यवहार अन्योंके साथ हो सकता है। सर्वात्मभावसे जब व्यवहार होगा, तब ऐसा सीधा व्यवहार हो सकता है।

जो ज्ञानी होगा वह सर्वात्मभावको जानकर सहज भावसेहि सरल और निष्कपट व्यवहार कर सकता है, अथवा उनसे सरल व्यवहार स्वयं हो सकता है। परंतु सब अन्य लोग भी सबका आत्मा एकही है, यह अखंड एकरस अनन्यभाव बुद्धिद्वारा जानकर, ज्ञानीको अपना आदर्श मान कर सरल व्यवहार करें। इस तरह लोगव्यवहारसे छल कपट पूर्णतया दूर हो सकता है।

इस पुरुषोत्तम-विद्याको व्यवहारमें इस तरह लाया जा सकता है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म में प्रारंभसे यही पाठ मिलता है। पूर्ण ज्ञान न होते हुए भी वर्णाश्रमधर्मके पालनसे मनुष्य, ज्ञान होनेके समान ही उत्तम व्यवहार करनेमें

समर्थ होता है। वर्णाश्रमधर्ममें रहनेवाला साधक अपने धर्मपालनके मिषसे अहिंसा, संयम, इन्द्रियनिग्रह आदि करता है। और पुरुषोत्तम-स्वरूपको यथार्थ रीतिसे जाननेवाला सिद्ध पुरुष अपनी सहज वृत्तिसे अहिंसाशील, संयमी और इन्द्रियनिग्रही होता है। हिंसा, स्वैराचार आदि वृत्ति उसके मनमें उठतीहि नहीं। सिद्ध पुरुष होनेपर जो आचार सहज वृत्तिसे होगा, वही आचार प्रयत्नसे वर्णाश्रमधर्ममें हरएक मनुष्यको करना पडता है। इससे पाठकोंको ज्ञात हुआ होगा कि पुरुषोत्तमयोग सिद्ध होनेपर क्या होगा और उससे पूर्व कैसा आचरण करना होगा।

जो विश्वरूप भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें बताया गया है, वह सब विश्व अखंड एकरस अनन्य वस्तु है, यह स्पष्ट करनेके लिये ही बताया है। यहां एकही वस्तु है जिसपर इन विश्वगत पदार्थोंका रूप दीख रहा है। विश्व मिथ्या नहीं है, परंतु पुरुषोत्तमरूप ही है। अर्थात् सबही पुरुषोत्तमके रूप हैं, ऐसा मानकर जो साधक व्यवहार करेंगे, उनके व्यवहारमें अशुद्धि हो ही नहीं सकती। क्योंकि उनका सब व्यवहार पुरुषोत्तमके साथ ही होता है। जो अपना सब व्यवहार परमेश्वरके साथ हो रहा है ऐसा जानकर अथवा मानकर व्यवहार करेंगे, उनसे अत्यंत शुद्ध व्यवहार होगा, इसमें क्या संदेह हो सकता है?

अपने कर्मोंसे परमेश्वरकी पूजा करने (गी. १८।४६) का जो आदेश है वह भी परमेश्वरको सब भूतोंमें देखनेका अथवा सब रूपोंको परमेश्वरके रूप माननेका ही आदेश है। मनुष्य जो कुछ करता है, वह परमेश्वरकी पूजा करनेकी अभिलाषासे ही करे। तृषित मनुष्यको जल दिया, तो वह परमेश्वर को ही दिया है, भूखे मनुष्य को अन्न दिया, तो वह परमेश्वरकोही दिया है। ऐसे कर्मोंसे परमेश्वरकी पूजा होती है। प्रत्यक्ष परमेश्वरके ये रूप हमारे सामने आते हैं। इनसे हम जो व्यवहार करते हैं, वह प्रत्यक्ष परमेश्वरसे ही व्यवहार हो रहा है। जो मनुष्य अथवा पशुपक्षी हमारे सामने आता है, वह परमेश्वर का प्रत्यक्ष रूप है। उससे हम कैसा व्यवहार करते हैं? स्वकर्मसे उसकी पूजा करते हैं, या उसको कष्ट पहुंचा देते हैं? इसका विचार हरएक को करना चाहिये।

परमेश्वरसे व्यवहार।

दूसरोंपर अत्याचार किया जाता है, दुराचार किया जाता है, लूटमार की जाती है, धोखेबाजी की जाती है, यह सब व्यवहार परमेश्वरसे होता है। फिर इससे कौन कैसा बचेगा? प्रत्यक्ष प्रभुके साथ कुव्यवहार करनेसे उस अपराधसे बचनेका कोई साधन नहीं है। पुरुषोत्तमयोग हो रहा है, परंतु कैसा योग हो रहा है? जो चल रहा है, वह सब पुरुषोत्तमसे ही योग हो रहा है, परंतु जो जानेंगे वे निर्दोष आचरण करनेद्वारा पुरुषोत्तमकी पूजा करेंगे और दूसरे पुरुषोत्तमको कष्ट देनेके कारण स्वयं कष्टमें पडेंगे। व्यवहारमें यही हो रहा है। आज दूसरेको लूटनेवाला कल स्वयं लूटा जाता है और उस समय कष्टी होता है। परंतु वह अपना ही कर्म था।

पुरुषोत्तमका विश्वरूप जानकर और अपने कर्मोंसे उसकी पूजा करनेका व्रत करके पुरुषोत्तमकी सेवा करनी चाहिये। हरएक आचरण इस कसौटीसे परखा जायगा, तभी निर्दोष आचरण होगा। ब्राह्मण ज्ञानदानसे, क्षत्रिय रक्षाकर्मसे, वैश्य धनदानसे और शूद्र अपने सेवाकर्मसे परमेश्वरकी ही उपासना करता है। मूर्तिपर चंदनपुष्प चढानेको लोग पूजा समझते हैं। यह पूजा साक्षात् नहीं है। जो मानवादि प्राणियोंसे व्यवहार हो रहा है वह है साक्षात् पूजा करनेका विधि, इस विधिसे हरएकको साक्षात् भगवान्‌की सेवा करनेका अवसर प्राप्त

होता है। उस अवसरमें वह क्या कर रहा है, यही विचारणीय बात है। इसका विचार हरएक मनुष्य करे। यह एक नियम मनुष्यका आचरण यथायोग्य करनेवाला है।

जैसा संपूर्ण विश्वरूप पुरुषोत्तम है, वैसाही पूर्वोक्त अहंकारादेशसे यह सब विश्वरूप (अहं) मेरा ही है। जैसा पुरुषोत्तम इस विश्वरूपमें प्रकट हुआ है, वैसाही अहंकारादेशसे इस सब विश्वरूपमें मैं ही प्रकट हुआ हूं, जो कुछ विश्वमें हो रहा है,वह आत्मस्वरूपी मुझसे ही हो रहा है। यह जानकर विश्वसेवाका अद्भुत मार्ग जाना जाता है। विश्वमें जो कुछ कल्याणरूप हुआ वह तो ठीक ही हुआ है, उस विषयमें विशेष बोलनेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु जो कुछ हानिकारक, अहितकारक, अभद्रकारक हुआ हो वह सब मेरे अन्दरके दोषके कारण हुआ है, इसलिये उसको ठीक करनेके लिये आत्मसमर्पण, आत्मशुद्धि अथवा विश्वसेवा करना मेरा कर्तव्य ही होता है। विश्वमें मेरे व्यतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है, अतः जो यहां बुराभला हो रहा है, वह मुझसे ही हो रहा है इसमें कोई संदेह ही नहीं है। जो तो यहां भला हुआ वह तो होनाही चाहिये था, इस लिये उसके विषयमें कुछ कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु जो अनिष्ट हुआ हो वह मुझे छोडकर कोई अन्य यहां न होनेसे मेरे कारण ही हुआ है, अतः उसके निराकरणके लिये अर्थात् इस अपने कर्तव्यसे विश्वसेवा करनेके लिये कटिबद्ध होना अपना कर्तव्य ही होता है। उस कर्तव्य करनेद्वारा विश्वात्माकी भक्ति-सेवा-पूजा करना साधकका कर्तव्य होता है। साधक विश्वसेवा करता रहता है, इसका कारण यह है। विश्वरूपी आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेके पश्चात् कर्तव्यक्षेत्रका बडा विस्तार होता है। साधक अपना जीवन विश्वरूपकी सेवा के लिये अर्पण करता है और जो करता है, वह निष्कामभावसे ही करता है।

विश्वमें दुःख, कष्ट और न्यूनता देखकर वह दूसरोंको दोष नहीं देता, क्योंकि उसके लिये इस विश्वमें दूसरा कोई रहा ही नहीं है। सब विश्वरूपही उसको अपना रूप हुआ है। अतः जहां कहां वह न्यूनताका अनुभव करता है, वह न्यूनता अपनेमें है, ऐसा वह देखता है। जब इसको अपनेमें दोष दीखेगा तब वह दूसरोंको दोष क्यों कर दे सकता है? इस लिये वह अपना दोष जानकर अपना ही दोष दूर करता है, वह कदापि दूसरोंकी निंदा नहीं करता, क्योंकि दूसरा कोई है नहीं। जिस समय (सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्) सब भूत आत्माही हुए उस समय अपने कर्तव्यके संबंध में कोई शोक मोह नहीं होते। उसको उसका सीधा कर्तव्य स्पष्ट दीखता है। (वा० यजु० ४०।७)

सर्वात्मभाव जाननेसे परनिंदा करनेका कोई प्रयोजनही रहता और स्वकर्तव्य करनेमें दोष भी नहीं रहते। पाठक सबका आत्मा एक है अथवा सब रूप परमेश्वरके हैं, ऐसा मानकर व्यवहार करके देखें। इससे उनके व्यवहार पूर्ण निर्दोष होंगे।

सर्वभाव।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(गी० १५।१९)

'जो इस तरह ज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तमको जानता है, वह सर्वज्ञ होता है और सर्वभावसे परमेश्वरकी पूजा करता है।' यहां पूजाके दो विधि निश्चित हुए दीखते हैं। एक सर्वभावसे पूजा करना और दूसरा असर्वभावसे किंवा खण्डभावसे पूजा करना। इन दोनोंका परिणाम कैसा होता है, वह हम अब देखेंगे।

जे खण्डभावसे पूजा करता है, वह किसी

मूर्तिकी पूजा करना है। जिस ग्राममें वह मंदिर हो वहां जाना, अन्य स्थानपर ईश्वर नहीं है ऐसा मानना. वह मूर्ति मुझसे भिन्न है, मैं भिन्न हूं, ऐसा मानकर तथा अन्य जनता उससे भिन्न है ऐसा मानकर और एक स्थानपरही उसका निवास मानकर मूर्तिकी उपासना होती है। यह सब उपासना असर्व-भावसे है। इसलिये मूर्तिमें ईश्वर है, अन्य जनतामें नहीं, ऐसी बुद्धि होती है और दैनिक व्यवहारमें लूटमार करके मंदिरमें स्थित मूर्तिपर हजारों रुपयोंके चढावे-समर्पण-किये जाते हैं। असर्वभावसे ये दोष होते हैं। जो साहुकार अपने ऋणकोंको लूटता है, वही मंदिरमेंहि जाकर देवताको धन अर्पण करता है, क्योंकि वह समझता है कि मंदिरमेंहि देवता है, मंदिरसे बाहर देवता नहीं है। जो अपने ऋणी हैं उनको लूटकर धन कमाना और मंदिरकी मूर्तिपर चढाना यह तबही होगा जब मंदिरसे बाहर देवताका अस्तित्व न माना जाय। जगत्के संपूर्ण पातक असर्वभावके माननेके कारण हो रहे हैं।

अब सर्वभावके माननेसे कैसा परिवर्तन होता है वह देखिये। संपूर्ण विश्व एक अखण्ड वस्तुका प्रकटीकरण है, मैं भी उसीमें हूं। संपूर्ण विश्व और मैं मिलकर एक अखण्ड भाव हुआ है, उसका नाम 'सर्व' है। यह सर्वभाव मेरा है। उपासक उपास्य सब इसी सर्वभावमें संमिलित हैं। यहां पृथक् कोई नहीं। सब मेरे अथवा ईश्वरकेही रूप हैं। ऐसा निश्चय होनेपर कौन किसे लूटे, कौन किससे कपट करे? जहां दूसरा रहा नहीं, जहां एकही सर्वत्र सत्ता हुई, वहां कौन किसका छल करे? इस प्रकार सर्वभावसे निर्दोष आचरण होता है। इसलिये सर्वभावसे भक्ति करनेवाले निर्दोषी होते हैं। सर्वभावसे व्यवहार करनेपर निर्दोष व्यवहार होता है। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक तथा राजकीय सब प्रकारके व्यवहार सर्वभावसे करनेसेहि झगडे नहीं होंगे। जो आजकल झगडे बढ रहे हैं, उसका कारण असर्वभावसे अर्थात् मैं व्यक्ति अलग हूं और शेष विश्व अलग है, ऐसा मानकर सब व्यवहार हो रहे हैं, यही सदोषता है। संपूर्ण धर्म मूलमें इस सर्व भावपर अधिष्ठित हैं, तथापि आगे जाकर धर्मप्रचारक असर्वभावही मानने लगते हैं, इसलिये धर्मके नामसे झगडे खडे होते हैं।

उदाहरणके लिये ईसामसीहने अपने ईसाई धर्मके पुस्तकमें कहा है कि जिस समय सामने कोई भिकारी दुःखी कष्टी आदमी आजाय तो उसको परमेश्वरका रूप मानकर उसकी सेवा करना चाहिये। ऐसा कई धर्मसेवक ईसाई करते भी हैं, परंतु सर्वसाधारण प्रचारक इस विश्वात्माके विश्वरूपको जानते तक नहीं! और न जानते हुए किस धर्मका प्रचार करते हैं, पता नहीं।

भारतवासी आर्यधर्मके अथवा सनातनधर्मके वेदधर्मानुयायी वेदको, उपनिषदोंको और भगवद्गीताको प्राणसे भी अधिक मूल्यवान् मानते हैं, परंतु विश्वरूपकी उपासना नहीं करते। इतनाही नहीं, परंतु अपनेही धर्मके भाइयोंको इतना दूर रखते हैं कि जितना दूर रखना विश्वरूपी परमेश्वरको माननेपर योग्य है ऐसा सिद्ध करना असंगत होगा।

अनेक धर्मोंका ऐसाही अयोग्य रीतिसे प्रचारकोंने प्रचार किया है, अतः सच्चे धर्मभावसे लोग बहुत दूर गये हैं। अतः श्रीमद्भगवद्गीताके भक्तोंको उचित है कि वे परमेश्वरके विश्वरूपको जानें, उसको यथायोग्य समझें और यह विश्वरूप अखण्ड एकरस तथा अनन्य है और सर्वभावसे विश्वरूपकी उपासना करनी चाहिये, यह ठीक ठीक समझकर, वैसा धर्माचरण करें। स्वकर्मसे विश्वसेवा करें और कृतकृत्य बनें।

ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ।

इस अध्यायमें ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ वृक्षका वर्णन

प्रारंभके तीन श्लोकोंमें किया है। यह अश्वत्थवृक्ष कौन है? इसकी शाखाएं ऊपर नीचे फैली हैं, जडें ऊपर हैं, शाखाविस्तार नीचे फैला है। यह विचित्र वृक्ष है कहां? ऐसा प्रश्न विचक्षण पाठक अवश्य करेंगे।

यह वृक्ष हरएक मनुष्यके शरीरमें है। (नर्वस सिस्टीम) मज्जा-संस्थान इसका नाम है। ऊपर मस्तकमें-मस्तिष्कमें इसकी जडें हैं और संपूर्ण शरीरभरमें अनंत छोटीमोटी शाखाएँ फैली हैं। इसका जाल ऐसा फैला है कि एक सूईके नोक जितना स्थानभी इससे खाली नहीं है। ऊपर नीचे शाखाविस्तार यहां प्रत्यक्ष है। इसका (ऊर्ध्वमूलं) मूल ऊपर है यहभी स्पष्ट है। तीन गुणोंसे ये युक्त हैं (गुणप्रवृद्धाः) ऐसा जो इसका वर्णन है वह यहां प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। (विषयप्रवालाः) विषयरूप अंकुरोंसे युक्त होनाभी इसका सिद्धही है क्योंकि इनका संबंध किसी न किसी विषयसे अवश्य आता है। संपूर्ण कर्मोंके साथ इसका संबंध आताही है, क्योंकि यदि इस मज्जामें बिगाड हुआ तो उससे होनेवाले कर्म होते नहीं और उस मज्जाके द्वारा ग्रहण किये जानेवाले विषयोंका ग्रहणभी नहीं होता है। माना मनुष्यका मनुष्यत्व इन सब मज्जाकेन्द्रोंपरही निर्भर है।

इस वृक्षके पर्ण (छंदांसि यस्य पर्णानि) छंद है। छंदका अर्थ वेद और वेदका अर्थ ज्ञान है। उक्त मज्जातन्तुओंका भी प्रयोजन ज्ञान प्राप्त करनाही है। शरीरके किसीभी भागपर किसी पदार्थका स्पर्श हुआ तो झट उसका ज्ञान इनही मज्जातंतुओंके कारण होता है। यदि इनमें बाधिरता आगयी तो ज्ञान होना बंद होता है। अर्थात् सब प्रकारका ज्ञान प्राप्त करना इन मज्जाकेन्द्रोंके कारणही होता है। वेदज्ञतामें इनका कितना कार्य है, यह यहां पाठक देखें और इस मज्जातन्तुओंका महत्त्व जानें।

ये मज्जातन्तु सब शरीरभर फैले हैं। ज्ञान लेते, ज्ञान पहुंचाते और कर्मकी प्रेरणा करते तथा कर्म करते भी येही हैं। (कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके) मानवलोकमें जो कर्म हो रहे हैं उनका मुख्य संबंध इनसे है।

यह मज्जासंस्थान मनुष्यकी जितनी सहायता करता है उतनी सहायता और किसीसे नहीं हो सकती। यह सहायता करता है, परंतु साथ साथ विषयोंसे बांधभी देता है, भोगलालसा बढाता है, बारीक बारीक तर्क करनेका कार्य यही करता है। सूक्ष्म विचार करना इसी मज्जाकेन्द्रोंके आधीन है। इसके जितने बारीक तन्तु होंगे उतनी विचारशक्ति बढती है और विचारशक्ति बढनेसे श्रद्धा कम होती जाती है। मज्जाका कार्य विचार तथा तर्कना बढाना है। इसके बहुत बढ जानेसे श्रद्धा और भक्ति उसी प्रमाणसे हट जाती है।

इसका परिणाम शुष्क विचार बढ जानेमें होता है और अन्तमें नास्तिकता की हदतक मनुष्य पहुंचता है। तर्कके बडे बडे जाल फैलाता रहता है और श्रद्धा तो होतीहि नहीं। जिसका (नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा) आदि अन्त नहीं और जिसकी प्रतिष्ठाभी कोई नहीं, ऐसी तर्क वितर्क कुतर्ककी श्रेणियां चलती हैं और भ्रमही भ्रम बढ जाता है। भोगप्रधान और कुतर्कप्रधान जीवन बढता जाता है और सर्वत्र असमाधान बढता है। क्या करें, कहां जांय, शान्ति किस तरह मिल सकती है इसकी विवेचना शुरू होती है और इस समय विवंचनासे त्रस्त हुआ मनुष्य गुरुको शरण जाता और अपनी अवस्था उसे निवेदन करता है।

'असंगशस्त्रसे इस अश्वत्थवृक्षके शाखाविस्तारको काटो' यह उपदेश गुरुसे प्राप्त होता है और उसका प्रयोग यह करता है। तर्कनाका शाखाविस्तार कटते ही भक्तिश्रद्धाका हार्दिक

भाव उदित होता है। मज्जाके जालोंकी अति सूक्ष्मता नष्ट होकर हृदयकी गंभीरता बढाई जाती है। इस तरह श्रद्धाका उदय होनेपर परमेश्वरकी खोज शुरू होती है। अन्तमें वह स्थान-परम पद-प्राप्त करता है।

यहां पाठकोंके ध्यानमें यह बात आगयी होगी कि यह वृक्ष अपने ही शरीरमें है, जिसके तन्तुजाल बढनेसे अपनी गति रुक जाती है और जाल कम होनेसे प्रगति होती है। तर्कना की शक्ति बढनेसे भक्तिकी न्यूनता और भक्तिके बढ जानेसे तर्ककी न्यूनता होती है। पूर्ण पुरुष होनेके लिये दोनोंका सम विकास होना चाहिये। अतः कहा है कि असंगशस्त्रसे उतना ही इसका शाखाविस्तार काटना चाहिये (सुविरूढमूल छित्वा) कि जिससे (तत्पद्-परिमार्गितव्य) उस स्थानका अपना मार्ग दीखने लग जाय। उक्त वृक्ष सबका सब काटना नहीं चाहिये। परंतु उसकी शाखाएं उतनी कटनी चाहिये कि जिससे अपना मार्ग खुला हो जावे और अपना प्राप्तव्य स्थान दीख पडे और हम आसानीसे आगे बढ सकें।

आवश्यक तर्क तो चाहिये और प्राप्तव्य स्थानके मार्गपर दृष्टि स्थिर रहने योग्य भक्ति भी चाहिये। तर्कसे दुष्ट मार्गकी ओर नहीं फंसना होता और श्रद्धासे श्रेय मार्गपरसे चलना होता है। इस तरह तर्क और श्रद्धाका सहारा लेता हुआ साधक आगे बढता है।

व्यक्तिके अन्दर यह अश्वत्थ वृक्ष मज्जातन्तुओंका संस्थान ही है। इसका नाम 'अश्व-त्थ' अर्थात् जिसमें घोडे बन्धे हुए ऐसा है। घोडे नाम इंद्रियोंका है। हमारे सब इंद्रियरूपी घोडे इसी मज्जातन्तुओंसे बंधे हुए हैं। यह वृक्ष 'अ-श्व-त्थ' भी है, अर्थात् यह कलतक रहेगा ऐसा नियम नहीं है। संपूर्ण शरीर की नाश होनेकी अवस्थाका वर्णन 'अ-श्व-त्थ' शब्द कर रहा है। इस रीतिसे इस वृक्षका वर्णन पाठक अपने अन्दर देख सकते हैं।

जो व्यवस्था शरीरमें है, वैसी ही और उससे भी विशेष गूढ व्यवस्था विश्वमें है। इस शरीरमें रहनेवाली मज्जातन्तुओंकी व्यवस्थासे संपूर्ण शरीरके अवयवोंकी एकता सिद्ध हुई है। शरीरके किसी स्थानमें कुछ हुआ तो उसका पता झट लगता है, वह इसी मज्जातन्तुओंसे ही है। चोट पांवमें लगे, हाथमें लगे, या सिरमें लगे, उसका ज्ञान झट होता है। इतनी एकता विभक्त अवयवोंमें रही है, इसका कारण येही ज्ञानवाहक मज्जातन्तु हैं।

जैसा यह मनुष्य 'पुरुष' कहलाता है, वैसाही विश्वपुरुषका नाम 'विराट् पुरुष' है। अतः विराट् पुरुषमें हमारे मज्जातन्तु-संज्ञान-व्यवस्थाके समान कुछ न कुछ व्यवस्था होनी चाहिये। जिनको हम जड कहते हैं, उनमें भी सजीवता दिखाइ देती है। भूमिपर गोबर या विष्ठा पडनेसे स्वयं उसपर मिट्टी आती है, धातुओंका मारण अर्थात् विशेष विषप्रयोगसे मरण होता है, अतः यहां इस विश्वमें कोई जड या निर्जीव वस्तु नहीं है। संपूर्ण विश्वमें विश्वात्मा अपनी जीवनशक्तिके साथ रहनेसे संपूर्ण विश्व ही सजीव है, अतः उस विश्वमें किंवा विराट् पुरुषमें कुछ न कुछ सूक्ष्म मज्जाके ज्ञानवाहक केन्द्र होंगे ही। इस विश्व-व्यापक सूक्ष्म मज्जाका सिर सूर्यलोकमें है, मन चन्द्रलोकमें है। ब्रह्माण्डके मध्यमें सूर्य है, वहांसे सूक्ष्ममज्जा-प्रवाह उसकी किरणोंके साथ संपूर्ण ब्रह्माण्डमें जाता है।

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्। (ऋग्वेद)

ऐसा वेदमें कहा है। यहांका यंत्र शब्द नियमन-शक्तिका वाचक स्पष्ट है। तथा-

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। (प्रश्न उ. १।७)

ऐसा उपनिषद्में सूर्यके विषयमें कहा है । सूर्यकिरणद्वारा संपूर्ण ग्रहोपग्रहोंका नियमन होता है । भूमिपर जो स्थिरचर जीवजन्तु तथा वस्तुजात हैं, उसका संपूर्ण जीवन सूर्यसे ही होता है । सबके जीवनके साथ सूर्यके सत्त्वांशका संबंध है । जैसा मज्जारस प्राणीके शरीरमें वैसाही सूर्यका सत्त्वांश इस सूर्यमालामें सबके जीवनका आधार है ।

इस विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें विराट् पुरुषके सजीव होनेकी कल्पना आसकती है । इसके अतिरिक्त यदि विराट् पुरुष जड और मृतवत् है, तो उसके जीवनसे जीवित रहनेवाले हम उसके जीवनके विना जीवित किस तरह रह सकते हैं ? इससे भी संपूर्ण विश्व अखण्ड जीवनसे सजीव है, यह बात ध्यानमें आ सकती है ।

यही विश्वव्यापी अखण्ड मज्जास्रोत है जिसके वेद (छंदांसि पर्णानि) पत्ते हैं, त्रिगुणमयी शाखाएँ (गुणप्रवृद्धाः) चारों ओर फैली हैं, जिनका मानवी (मनुष्यलोके कर्मानुबंधीनि) कर्मोंके साथ सुदृढ संबंध है । असंगभावसे ही इसके ये बंधन दूर हो सकते हैं, इत्यादि वर्णन जागतिक दृष्टिसे देखना योग्य है ।

परमात्माका एक अंश (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः) यहां जीव बनकर कार्य कर रहा है। इस अंशने अपने साथ विश्वकी संपूर्ण शक्तियोंके अंश लाये हैं, उनमें मज्जांश भी वहांसे ही लाया है । अतः इसका संबंध परमात्माके विश्वव्यापक शरीरसे स्पष्ट है । जीवका प्राण विश्वव्यापक प्राणका अंश है । जीवका पांचभौतिक शरीर विश्वव्यापक पांचभौतिक विराट् शरीरका अंश है । इसी तरह जीव शरीरकी सब शक्तियां विराट् पुरुषकी शक्तियोंसे संबंधित हैं । इस विचारसे भी जीवका शिवसे अखंड और अनन्य संबंध ज्ञात हो सकता है । इसी अनन्य संबंधका ध्यान करना चाहिये ।

जीव परमात्माका अंश है, इसी कारण अंशको अंशी परमात्माके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये । अंशकी इतिकर्तव्यता अंशीकी सेवा तत्परतासे और अनन्यभावसे करनेसे ही हो सकती है, दूसरा कोई कृतकृत्यताका उपाय नहीं है । अंश जीव है और विश्वात्मा पुरुषोत्तम है, पुरुषोत्तम का अंश जीवपुरुष है । इस जीवका पुरुषोत्तमसे अखंड और अनन्य योग है। इसका ज्ञान प्राप्त करना, उस योगका अनुभव करना, मनुष्यकी पूर्णता के लिये अत्यंत आवश्यक है । जीवात्माका परमात्माके साथ अखण्ड और अनन्य संबंध कैसा है यही वर्णन इस अध्यायमें किया है । इस संबंधको अपने अंदर देखना और उसका अनुभव करना, तथा इस पुरुषोत्तमविद्याकी शिक्षा देना, इस अध्यायका उद्देश्य है ।

> इति गुह्यतमं शास्त्रं इदमुक्तं मयानघ ।
> एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥
> (गी. १५।२०)

'यह पुरुषोत्तमविद्या अत्यंत गुप्त विद्या है । तथा यह (गुह्य-तम) सदा बुद्धि (गुहा) में धारण करनेयोग्य ज्ञान है । यह विद्या जाननेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है और कृतकृत्य होता है। क्योंकि संपूर्ण विश्व अखण्ड और अनन्य है, यह प्रत्यक्ष यहां दिखाया है ।

इस प्रकार विचार करके पाठक इस पुरुषोत्तमयोगका आशय जानें और अनन्यभावसे विश्वसेवा करके अपनी कृतकृत्यता संपादन करें।

॥ यहां पंदरहवें अध्यायका मनन समाप्त ॥ १५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

पंचदश अध्यायके सुभाषित ।

(१)

शाश्वत पदकी खोज ।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं ।
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ॥ (गी. १५।४)

"उस पदको प्राप्त करना चाहिये, जहांसे वापस आना नहीं होता।"

ऐसे स्थानपर बैठना चाहिये, जहांसे उठना न पडे। ऐसा स्थान प्राप्त करना चाहिये, जहांसे दूसरा कोई अपनेको न हटा देवे।

(२)

आदिपुरुषकी उपासना ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येत् ॥ (गी. १५।४)

"उस आदिपुरुषको शरण जाना चाहिये।" आदि पुरुष परमात्माकी उपासना करना चाहिये।

उपासना करनेके समय यह उपास्य आदि पुरुष है या नहीं, इसका निश्चय करना चाहिये और वह आदिपुरुष होगा, तोही उसकी उपासना करनी चाहिये।

(३)

ज्ञानसे शाश्वत पदकी प्राप्ति ।

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ गी. (१५।५)

"जो मूढभावसे मुक्त होते हैं, वे अक्षय्य शाश्वत पदको प्राप्त करते हैं।" अर्थात् ज्ञानसे ही शाश्वत पद मिलता है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते
तद्धाम परमं मम। (गी. १५-६)

जहां पहुंचनेपर वापस आना नहीं पडता वह श्रेष्ठ धाम है।" अर्थात् जहां स्थानाभावके कारण रहनेका स्थान नहीं होता, वह श्रेष्ठ धाम नहीं कहलाता।

(४)

अहंकी खोज ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (गी० १५।१५)

"सब वेदोंसे 'अहं' को ही खोज की गयी है।" मैं कौन हूं, इसकी खोज करनेके लिये ही सब शास्त्र लग गये हैं।

(५)

उत्तम होनेका उपाय ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(गी. १५।१८)

"क्षरभावसे परे और अक्षर-भावसे उत्तम

होनेसे वेदमें और लोकमें मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं ।"

विनाशी होनेका कारण क्षर भाव दूर करने और अविनाशियोंमें (अक्षर भावमें) उत्तमता प्राप्त करनेसे सर्वोत्तमता (पुरुषोत्तम-भाव) की प्राप्ति होती है ।

(६)

सर्वभावसे भक्ति ।

सर्वविद्भजति सर्वभावेन । (गी १५।१९)

'जो वस्तुको पूर्ण रूपसे जानता है, वही सर्व-भावसे उसका सेवन कर सकता है ।"

जो जिसवस्तुको जितना जानता है, उतना ही उस वस्तु का वह उपयोग कर सकता है । अतः पूर्णका पूर्ण उपयोग करके पूर्ण लाभ प्राप्त करनेके लिये वस्तुका संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

(७)

कृतकृत्य होना ।

गुह्यतमं शास्त्रं...बुद्ध्वा
बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च ॥
(गी.१५।२०)

"गुह्योंमें गुह्य (अध्यात्म) शास्त्र जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है ।" अध्यात्मशास्त्र जाननेसे मनुष्य ज्ञानसंपन्न और कर्तृत्ववान् होता है ।

श्रीमद्भगवद्गीताके

पन्द्रहवें अध्यायकी विषयसूची।

शुद्ध धार्मिक कर्तव्य करने में जो निडरता आवश्यक है वही यह धृति है ऐसा मानना उचित है ।

(२१) क्षमा ।

क्षमा शब्दके दो अर्थ हैं । एक दूसरोंके अपराधोंकी शान्तिसे क्षमा करना और धर्मकर्म करनेके समय जो कष्ट होंगे उनको सहन करनेकी शक्ति अपनेमें धारण करना । ये दोनों गुण मनुष्यको अपनेमें बढाने चाहिये । दूसरे अर्थसे धर्मकर्म करनेकी अपनी शक्ति बढती है और पहिले अर्थको स्वीकार करनेसे निर्वैरता सिद्ध होती है । दोनों अर्थ सहाय्यक हैं ।

(२२) तेजः ।

तेजस्विता, तेजस्वी वृत्ति मनुष्यमें चाहिये, अपमान सहन करना नहीं चाहिये । अहिंसा, अक्रोध, क्षमा आदि शब्दोंसे तथा विशेषतः 'नातिमानिता' शब्दसे, तथा 'मानापमानयोः तुल्यः' इस वर्णनसे अपना अपमान सहन करना और दुःख कष्ट अपमान सहते जाना, ऐसा कई अर्थ मानते हैं और अपना अपमान हुआ तो वे सहते हैं, परंतु भगवद्गीताको यह अभीष्ट नहीं है । तेजस्विताके साथ नातिमानिताका संबंध देखना चाहिये । दैवी संपत्तिमें तेजस्विता रहनी है, आत्मसंमानके विना तेजस्विता कैसी रहेगी? अर्थात् तेजस्वीपन दैवी संपत्तिका प्रधान अंग है। मान-अपमानको तुल्य माननेका अर्थ इतनाही है कि संमान होने अथवा अपमान होनेपर अपना कर्तव्य न छोडना, दोनोंको समान मानकर अपना मन हतबल न होने देना चाहिये । जितने भी दैवी गुण हैं वे तेजस्विताके विरोधी नहीं हैं ।

(२३) अचापल ।

चपलताका अर्थ चंचलता है । इस क्षणमें एक करना, झट् दूसरे क्षणमें दूसराही करते जाना । किसी एक अनुष्ठानमें स्थिर न होनेसे कोई सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती । अतः चपलताका त्याग करके अनुष्ठानका स्थैर्य प्राप्त करना चाहिये । सिद्धिके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है ।

(२४) मार्दव ।

हृदयकी कोमलता । दूसरेकी हिंसा करनेके समय मनकी कठोरता कार्य करती है, कोमलता—मार्दव—रहा तो हिंसा, क्रौर्य, द्रोह हो ही नहीं सकते । मृदुतासे कई आसुरी कठोर वृत्तियां दूर होती हैं, इस लिये यह कोमलता सहाय्यक होती है ।

(२५) अभय ।

निर्भयता तो पूर्वोक्त गुणोंके साथ प्राप्त होनेवाली है । जो सत्य पालन करता है, जो द्रोह नहीं करता, जो पवित्र होता है, वह निर्भय होता है । यह तो बाहरसे प्राप्त होनेवाली अभयता है । परंतु यहां जो अभय कहा है वह इससे दूसरोंको प्राप्त होनेवाला है । यह साधक सबको अभय देवे । जिससे सबकी ओरसे यह अभय प्राप्त कर सकता है । धर्माचरण करनेके समय मनुष्य निर्भय रहे, किसीसे न डरे । सत्यपालनके लिये किसीसे न डरे । यह किसीसे भयभीत न होवे और इससे किसीको भय प्राप्त न होवे । इस तरह की निर्भय वृत्ति दैवी संपत्तिका परमविकास होनेके पश्चात् ही सिद्ध होगी ।

(२६) शान्ति ।

पूर्णतासे शान्ति प्राप्त होगी । यही सच्ची अन्तर्बाह्य शान्ति है । न इसका वैर कोई करेगा और न यह किसीका वैर करेगा । जगत् में अशान्ति कितनी भी रहे यह साधक परम शान्तिसे युक्त होगा । क्योंकि इसकी शान्ति हटानेका कोई कारण इसके पास आवेगा ही नहीं । यही पूर्णता का लक्षण है ।

इस तरह दैवी संपत्तिके ये लक्षण हैं । ये

लक्षण केवल सूचना मात्र हैं । और कई लक्षण हैं जो यहां दिये नहीं हैं । महाभारत के शान्ति-पर्वमें कई दैवी गुणोंका वर्णन है वह यहां देखने योग्य है-

दम का वर्णन ।

दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनाः ॥ ७ ॥
नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते ।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥ ८ ॥
दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥ ९ ॥

दम-लिंगानि ।

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १५ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता ।
अविहिंसाऽनसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥ १६ ॥
गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेष्वपैशुनम् ।
जनवादमृषावादस्तुतिनिन्दाविसर्जनम् ॥ १७ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम् ।
रोषमीर्ष्यावमानं च नैव दान्तो निषेवते ॥ १८ ॥
अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः ।
समुद्रकल्पः स नरो न कथंचन पूर्यते ॥ १९ ॥
एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं दमसंयुक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ३४ ॥
म० भा० शान्ति, अ० १५८

दम का वर्णन करते हुए भीष्मपितामह युधिष्ठिरसे कहते हैं— 'दम निःसंदेह मोक्ष देनेवाला है । जो दम पालन नहीं करेगा उसको कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होगी । दान यज्ञ और अध्ययन से दमका महत्त्व अत्यंत अधिक है । दमसे तेज की वृद्धि होती है, पवित्रता रहती है, दमसे मनुष्य निष्पाप होकर महत्फल को प्राप्त होता है ।' दम सिद्ध होनेसे जो लक्षण दीखते हैं वे ये हैं— 'क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, इंद्रियजय, दक्षता, मृदुता (कोमलता), ह्री (कुकर्मके विषयमें लज्जा), अचापल्य (स्थैर्य), कृपणताका न होना, ढोंगका न होना, संतोष, प्रियभाषण, असूया का न होना, गुरुका सत्कार करनेकी बुद्धि, भूतदया, चुगली न करना, वृथा वादविवाद न करना, व्यर्थ स्तुनिंदा करते न बैठना ये सब लक्षण दमके होनेसे दीखते हैं ।' इनसे पता लग सकता है, कि इस मनुष्यमें दम है और इसमें नहीं है ।

'जो दमयुक्त है वह काम, क्रोध, लोभ, गर्व, निंदा, ईर्ष्या, तथा दूसरोंका अपमान कभी नहीं करता । दमयुक्त मनुष्य समुद्रके समान गंभीर रहता है । इस दममें एकही एक दोष है, वह यह कि दमयुक्त मनुष्यको सामान्य जन अशक्त समझते हैं । इसको छोडकर दममें कोई दोष नहीं है' । अब तपके विषयमें देखिये—

तप ।

सर्वमेतत्तपोमूलं कवयः परिचक्षते ।
न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते ॥ १ ॥
प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत्प्रभुः ।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥
तपसैव ससर्जान्नं फलमूलानि यानि च ।
त्रीँल्लोकांस्तपसा सिद्धाः पश्यन्ति सुसमाहिताः ॥ ३ ॥
औषधान्यगदादीनि तिस्रो विद्याश्च संस्कृताः ।
तपसैव हि सिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥ ४ ॥
यद्दुरापं दुराराध्यं दुराधर्षं दुरुत्सहम् ।
तत्सर्वं तपसा शक्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ ५ ॥
ऐश्वर्यं ऋषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः ।
अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात्परम् ॥ ८ ॥
ऋषयः पितरो देवा मनुष्या मृगपक्षिणः ।
यानि चान्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ११ ॥

तपः परायणाः सर्वे सिध्यन्ति तपसा च ते ।
इत्येवं तपसा देवा महत्त्वं प्रतिपेदिरे ॥ १२ ॥
इमानीष्टविभागानि फलानि तपसा सदा ।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयः ॥१३॥
(म० भा० शां० अ० १५९)

"सबका मूल तप है। तप कियेविना किसीको भी कुछ फल प्राप्त नहीं होता। प्रजापतिने भी तपसेही इस सबको उत्पन्न किया। ऋषियोंको तपसे ही वेद प्राप्त हुए। फल मूल अन्न सब कुछ तपसेही प्राप्त किया जाता है। तपसे ही सिद्ध हुए महात्मा तीनों लोकोंका साक्षात्कार करते हैं। औषधियां दवाइयां तथा तीनों विद्याएं तपसेहि सिद्ध होती हैं। तपही सबका साधन है। जो दुष्प्राप्य है, जो दुराराध्य है, जो सिद्ध होना कठिन है और जिसके विषयमें उत्साहभंग होता है वह सब तपसे सिद्ध होता है। ऋषियोंने तपसेहि ऐश्वर्य प्राप्त किया था। अहिंसा, सत्यभाषण, दान, इंद्रियनिग्रह, इनसे भी तप श्रेष्ठ है। अनशन अर्थात् भोगसे दूर रहना ही श्रेष्ठ तप है। ऋषि, पितर, देव, मनुष्य, पशु पक्षी, और जो भूत है वे सब तपसेहि सिद्धिको प्राप्त होते हैं। देवोंका जो महत्त्व है वह उनको तपके कारणहि प्राप्त हुआ है। संपूर्ण इष्ट फल तपसेही प्राप्त हो सकते हैं। तपसे मनुष्य देवत्व को भी प्राप्त कर सकते हैं।

तपके विषयमें यह लिखा है। इससे तपका महत्त्व पाठकोंको विदित हो सकता है। तपकी गणना दैवी संपत्तिमें क्यों हुई है इसका यह कारण है। सब उन्नतियां तपसे ही सिद्ध होनेवाली है। अब सत्यका वर्णन देखिये—

सत्य ।

धर्मः साधारणः सत्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥ ३ ॥
सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥ ४ ॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥
सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत ॥ ७ ॥
सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता ॥ ८ ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥ ९ ॥
आत्मनीष्टे तथाऽनिष्टे रिपौ च समता तथा ।
इच्छाद्वेषं क्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा ॥ ११ ॥
दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ।
अशाठ्यं क्रोधदमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥ १२ ॥
अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च संयमः ।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत् ॥ १३ ॥
अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च ।
क्षमते सर्वतः साधुस्ततः प्राप्नोति सत्यताम् ॥ १४ ॥
त्यक्तस्नेहस्य यस्त्यागो विषयाणां तथैव च ।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥ १७ ॥
आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः ।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च ॥ १८ ॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥
एते त्रयोदशाकाराः पृथक्सत्यैकलक्षणाः ।
भजन्ते सत्यमेवेह बृंहयन्ते च भारत ॥ २२ ॥
नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्य धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत् ॥ २४ ॥
(म० भा० शांति. १६०)

सर्वसाधारण मानवोंका धर्म सत्यपालन ही है। सत्यही सनातन धर्म है। सत्यही परम गति है। सत्यही धर्म, तप, योग, सनातन ब्रह्म, तथा यज्ञ है क्योंकि सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित हुआ है। यह सत्य तेरह प्रकारका है–

(२) आसुरी विपत्तिका रूप।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

अन्वयः— हे पार्थ! दम्भः, दर्पः, अभिमानः च, क्रोधः, पारुष्यं, एव च, अज्ञानं च (एतानि लक्षणानि) आसुरीं संपदं अभिजातस्य (पुरुषस्य भवन्ति) ॥ ४ ॥

हे अर्जुन! दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञानये दुर्गुण आसुरी संपत्तिके साथ उत्पन्न हुए मनुष्यमें होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः— आसुरी भाववाले मनुष्यमें ढोंग, बडाई, अभिमान, क्रोध, क्रूरता तथा अज्ञान होता है। इन गुणोंके प्रमाणसे किस पुरुषमें कितना आसुरी भाव है इसका ज्ञान हो सकता है ॥ ४ ॥

समता, दम, मत्सर न करना, क्षमा, ह्री (कुकर्म करनेकी लज्जा), तितिक्षा (सहनशक्ति), अनसूयता (दूसरेका उत्कर्ष देखकर संतोष होना), त्याग, ध्यान, आर्यत्व, धृति (धैर्य सत्कर्म करनेमें), दया, अहिंसा ये तेरह सत्यके रूप हैं। आप-पर, इष्ट-अनिष्टके विषयमें समता अर्थात् निर्विकार होना, इच्छाद्वेषका और काम-क्रोधका क्षय करके, इंद्रियोंका दमन करना, गंभीरता, धैर्य, शठता न करना, आदि ज्ञानसे सिद्ध होते हैं। मत्सर न करना, संयम करना, दानधर्ममें रुचि ये सब सत्यके पालनसे हो सकते हैं। क्षमा-अक्षमा, प्रिय-अप्रिय इनके विषयमें निर्विकार समता स्थिर होनेसे सत्यका पालन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। भोगासक्ति छोडकर, रागद्वेषोंको दूर करके जो विषयोंका त्याग होता है वही सच्चा त्याग है। आर्यता उसका नाम है कि जिससे सब भूतोंका भला करनेके लिये सतत निरलस प्रयत्न होता है और भोगेच्छाका त्याग होता है। अद्रोह वह है जिससे सब प्राणियोंपर मन वाणी और कर्म द्वारा अनुग्रह किया जाता है, दान दिया जाता है, वह सज्जनोंका सनातन धर्म ही है। ये तेरह सत्यके लक्षण हैं। इनसे सत्यका पालन और सत्यधर्मकी बधाई होती है। अतः सत्य से बडा कोई धर्म नहीं है, और अनृतसे घोर पातक दूसरा कोई नहीं है। धर्मका आधार सत्य ही है, इस कारण सत्यका लोप करना किसीको भी उचित नहीं है।''

इस तरह सत्यकी महिमा वर्णन की है। अस्तु। यहां पाठकों के ध्यानमें यह बात आगयी होगी कि सत्य दम, तप आदि के वर्णनोंमें अहिंसा अनसूया, क्षमा, त्याग, संयम आदि आचुके हैं। इसका कारण यह है कि इन दैवी गुणोंका पर-स्पर संबंध इतना घनिष्ट है कि किसीको लेनेसे उसके साथ अन्यान्य गुण स्वयं ही आते हैं, इनमेंसे किसी एकको हि केवल लेना असंभव है। धर्मानुष्ठानसे जो सद्गुण आते हैं वे समूहसे आते हैं, अकेला अकेला कोईभी नहीं आ सकता। इसी तरह पतित होनेपर जब सद्गुण जाने लगते हैं, तबभी अकेला अकेला नहीं जाता, प्रत्युत समूहसे ही जाते हैं। अतः साधक को सावधान रहना चाहिये और ऐसा अनुष्ठान करना चाहिये कि जिससे दैवी संपत्तिके शुभगुण अपनेमें बढते जांय। अब आसुरी भावका स्वरूप देखिये—

(४) दैवी संपत्तिवाले मनुष्यमें दंभ नहीं होता, गर्व नहीं होता, घमंड नहीं होती, क्रोध नहीं होता, निष्ठुरता नहीं होती, इसका कारण उसमें सत्यज्ञान होता है। आसुरी वृत्तिवाले मनुष्यमें सत्यज्ञान नहीं होता, इस कारण इसमें दंभ, गर्व, अहंकार, क्रोध, क्रौर्य आदि राक्षसी दुर्गुण होते हैं। इनको देखनेसे किस मनुष्यमें कितनी असुरता है इसका निश्चय किया जा सकता है। यहां दैवी और आसुरी वृत्तियोंका अधिक निरीक्षण करना चाहिये, अतः पूर्वोक्त दैवी गुणोंके विरोधी आसुरी भाव कौनसे हैं ये देखेंगे—

दैवी भाव	आसुरी भाव
अभय	भय
सत्त्वसंशुद्धि	सत्त्वकी मलीनता
ज्ञानव्यवस्थिति	अज्ञानी स्थिति
योगव्यवस्थिति	योगहीनत्व
दान	अदातृत्व
दम, संयम	स्वैरवृत्ति
यज्ञ	यज्ञ न करना
स्वाध्याय	आत्मपरीक्षा न करना
तपः	तप न करना.
आर्जव (सरलत्व)	कुटिलता, तेढापन
अहिंसा	हिंसा, घातपातवृत्ति
सत्य	असत्य
अक्रोध	क्रोध, क्रौर्य
त्याग	भोग
शान्ति	अशान्ति
अपैशुन	पिशुनता (चुगलीखोरी)
भूतदया	निर्दयता
निर्लोभ	लोभ
मार्दव	कठोरता
ह्री	निर्लज्जा
अचापल्य	चापल्य
स्थैर्य	चांचल्य
तेजस्विता	निस्तेजता
क्षमा	क्षमा न करना
धैर्य	भीरुता
शुद्धता	अपवित्रता
अद्रोह	द्रोह
नातिमानिता	अतिमानिता
ज्ञान	अज्ञान
मोक्ष	बद्धता
निष्पापता	पापाचारप्रवृत्ति
समता	विषमता
इंद्रियजय	इंद्रियस्वैरता
दक्षता	अदाक्षिण्य
अकार्पण्य	कृपणता
असंरम्भ	संरम्भ
संतोष	असंतोष
प्रियवादिता	अप्रिय भाषण
अनसूया	असूया
गुरुपूजा	गुरुद्रोह
वाद न करना	मृषावाद
निष्कामता	कामीपन
निर्लोभता	लोभीपन
निगर्वता	दर्प
ईर्ष्या न करना	ईर्ष्या
अपमान न करना	अपमान करना
अनिन्दा	निंदा करना
गंभीरता	क्षुद्रता
भोगविषयमें संयम	भोगीपन
तितिक्षा	तितिक्षा का न होना
ध्यानसिद्धि.	ध्यानसिद्धि न होना,
आर्यत्व	अनार्यत्व
दया	निर्दयता
प्रेमभाव	निष्ठुरता
इच्छाद्वेषक्षय	इच्छाद्वेषवृद्धि
कामक्रोधक्षय	कामक्रोधवृद्धि
अशाठ्य	शठता
संयम	असंयम
त्यक्तस्नेह (ममता रहित)	धृतस्नेह (ममता युक्त)

विषयत्याग	विषयभोग
रागद्वेषहीन	रागद्वेषयुक्त

पूर्वोक्त दैवी संपत्तिके विवेचन में जो दैवी संपत्तिके गुण बताये हैं उनसे अनुमान करके जाने जानेवाले ये आसुरी दुर्गुण हैं। इनका विचार करनेसे पाठकोंको दैवी संपत्ति कौनसी है और आसुरी विपत्ति कौनसी है इसका ज्ञान हो सकता है। यहां यद्यपि बहुतसे दोनों ओरके गुणावगुण बताये हैं तथापि इनका विचार करने पर अन्यान्य बहुतसे दोनों ओरके गुणावगुण ध्यानमें आसकते हैं। पाठक इस तरह अधिक विचार करके दैवी संपत्ति और आसुरी विपत्ति का स्वरूप विस्तारसे जाननेका यत्न करें।

यहां प्रारंभमें दैवी संपत्तिका वर्णन करते हुए २६ दैवी गुणोंकी गणना की है और आसुरी वृत्तिका वर्णन करनेके प्रसंगमें केवल ६ ही अवगुणोंका दिग्दर्शन किया है। वास्तवमें आसुरी भाव थोडे नहीं हैं तथापि आसुरी अवगुणोंका वर्णन जानबूझ कर थोडा किया है। इसका हेतु यह है कि दुष्ट गुणोंका चिन्तन भी अधिक नहीं करना चाहिये।

मनुष्यका मन ऐसा है कि जिसका चिन्तन वह करता है उसके गुणधर्मोंसे युक्त वह हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवद्गीता को उचित ही था कि वह सद्गुणोंका वर्णन विस्तारसे करे और दुर्गुणोंका वर्णन केवल दिशामात्र करके छोड देवे। इसी तरह यहां किया है। तथापि आगे आसुरीवृत्तिके भयानक परिणाम इसी अध्यायमें श्लोक० ६ से २० तक बताये हैं, इसका कारण यह है कि पाठक इस भयानक परिणामको देखकर अपने आपको आसुरी प्रवृत्तिसे बचावे।

भगवद्गीतामें दैवी और आसुरी इन दोही भावोंका वर्णन किया है परंतु गणेशगीतामें दैवी-आसुरी-राक्षसी ऐसे तीन वृत्तियोंका वर्णन है। उसका यहां संबंध होनेसे वह वर्णन यहां देखिये-

> दैव्यासुरी राक्षसी च प्रकृतिस्त्रिविधा नृणाम्।
> तासां फलानि चिह्नानि संक्षेपात्तेऽधुना ब्रुवे ॥
> (ग० गी० १०।१)
>
> अपैशुन्यं दयाऽक्रोधोऽचापल्यं धृतिरार्जवम्।
> तेजोऽभयमहिंसा च क्षमा शौचममानिता॥३॥
> इत्यादि चिह्नमाद्याया आसुर्याः शृणु सांप्रतम्।
> अतिवादोऽभिमानश्च दर्पोऽज्ञानं सकोपता॥४॥
> आसुर्या एवमाद्यानि चिह्नानि प्रकृतेर्नृप।
> निष्ठुरत्वं मदो मोहोऽहंकारो गर्व एव च॥ ५ ॥
> द्वेषो हिंसाऽदया क्रोध औद्धत्यं दुर्विनीतता।
> आभिचारिक कर्तृत्वं क्रूरकर्मरतिस्तथा॥ ६ ॥
> अविश्वासः सतां वाक्येऽशुचित्वं कर्महीनता।
> निन्दकत्वं च वेदानां भक्तानामसुरद्विषाम्॥७॥
> मुनिश्रोत्रियविप्राणां तथा स्मृतिपुराणयोः।
> पाखण्डवाक्ये विश्वासः संगतिर्मलिनात्मनाम्
> ॥ ८ ॥
> सदम्भकर्मकर्तृत्वं स्पृहा च परवस्तुषु।
> अनेककामनावत्त्वं सर्वदाऽनृतभाषणम्॥ ९ ॥
> परोत्कर्षासहिष्णुत्वं परकृत्यपराहतिः।
> इत्याद्या बहवश्चान्ये राक्षस्याः प्रकृतेर्गुणाः॥१०॥
> (गणेशगीता अ० १०)

'मनुष्योंकी दैवी आसुरी और राक्षसी ऐसी तीन प्रकारकी प्रकृति होती है, उनके चिह्न संक्षेपसे ये हैं-

दैवी प्रकृतिके लक्षण।

चुगली न करना, दया, अक्रोध, अचापल्य (स्थैर्य), धैर्य, सरलस्वभाव, तेजस्वीपन, निर्भयता, अहिंसा, क्षमा, शुद्धता, अमानिता ये लक्षण दैवी वृत्तिके हैं।

आसुरी प्रकृतिके लक्षण।

अतिवाद (बहुत वाद करना), अभिमान, दर्प (घमंड), अज्ञान, क्रोध ये आसुरी वृत्तिके लक्षण हैं।

(३) दैवी और आसुरी प्रकृतिके फल ।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

अन्वयः— दैवी संपत् विमोक्षाय, आसुरी (संपत् च) निबंधाय मता । हे पाण्डव! (त्वं) दैवीं संपदं अभिजातः असि, मा शुचः ॥ ५ ॥

दैवी वृत्ति बंधनसे छुडानेवाली और आसुरी वृत्ति बंधनमें डालनेवाली है ऐसा माना जाता है । हे पाण्डुके पुत्र! तू दैवी संपत्तिसे युक्त पैदा हुआ है, अतः शोक मत कर ॥ ५ ॥

भावार्थः— दैवी भाव बंधनका नाश करता है और आसुरी भाव बंधन बढाता है । जो दैवी भावसे युक्त है वह कर्तव्य करनेके समय विषाद न करे, क्योंकि उसका कर्म उसे बंधनसे मुक्त करनेवाला होगा ॥ ५ ॥

राक्षसी प्रकृतिके लक्षण ।

निष्ठुरता, मद, मोह, अहंकार, गर्व, द्वेष, हिंसा, निर्दयता, क्रोध, औद्धत्य, नम्रता का न होना, घातपात करना, क्रूर कर्ममें प्रीति, सद्वाक्यमें अरुचि, अपवित्रता, कर्महीनता (हीन कर्म करना), वेदोंकी निन्दा करना, देवोंके भक्तोंकी निन्दा करना, मुनिश्रोतिय विप्र तथा स्मृतिपुराणोंकी निंदा करना, पाखण्डवाक्यपर विश्वास, मलिनात्माओंकी संगति, दम्भके साथ कर्म करना, परद्रव्य का अपहार करना, अनेक कामनाओंका धारण करना, सदा असत्य भाषण करना, दूसरेकी उन्नतिको देखकर बुरा लगना, दूसरेके प्रारंभ किये कर्मोंमें विघ्न करना इत्यादि राक्षसी वृत्तिके लक्षण हैं ।

इस तरह गणेशगीताने मानवी स्वभावके तीन विभाग किये हैं । तथापि आसुरी और राक्षसी वृत्तियोंको एकही कोष्टकमें गिन कर मानवी स्वभावके दोही विभाग मानना योग्य है, क्योंकि आसुरी और राक्षसीमें अधिक तारतम्य देखनेकी कोई आवश्यकता दीखती नहीं ।

इस तरह आसुरी तथा राक्षसी वृत्तिवालोंका वर्णन पाठक देखें और ये दुर्गुण अपने अन्दर यदि हों तो उनको दूर करनेका यत्न करें, तथा दैवी गुणोंकी अपनेमें वृद्धि करनेका अनुष्ठान करते रहें । प्रयत्न करनेपर उन्नति हो सकती है । मनुष्योंको दैवी भाव ये हैं और आसुरी तथा राक्षसी भाव ये हैं ऐसा यहां इसी लिये कहा है कि मनुष्य स्वयं अपनी परीक्षा करें, अपने अन्दरके गुणदोष देखें, और अपना स्थान कहां है इसका निश्चय करें । तथा अपने अन्दरके आसुरी गुणोंको कम और दैवी गुणोंको अधिक करनेका अनुष्ठान करें । इस तरह क्रमशः करनेसे मनुष्यकी आसुरी तथा राक्षसी भावसे मुक्तता होकर उसके अन्दर दैवी भावकी स्थिरता हो सकती है । इसीका नाम नरका नारायण होना है, तथा--

तपसा शक्यते प्राप्तं देवत्वमपि निश्चयः ।
(म० भा० शां० १५९)

'तपसे देवत्व प्राप्त होता है' ऐसा जो कहा है, उसकी प्रत्यक्षता इस पद्धतिसे दीख सकती है । अब दैवी तथा आसुरी वृत्तिके फल देखिये-

(५) दैवी वृत्तिसे बंधन की निवृत्ति होती है

(४) आसुरी विपत्ति।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! अस्मिन् लोके दैवः आसुरः च एव द्वौ भूतसर्गौ (स्तः, तत्र) दैवः विस्तरशः प्रोक्तः। आसुरं मे शृणु ॥ ६ ॥ आसुराः जनाः प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च न विदुः, तेषु च न शौचं, न आचारः, न अपि सत्यं विद्यते ॥ ७ ॥ इदं जगत् असत्यं, अप्रतिष्ठं, अनीश्वरं, अपरस्परसंभूतं, काम हैतुकं (च अस्ति), अन्यत् किं (इति ते) आहुः ॥ ८ ॥ एतां दृष्टिं अवष्टभ्य नष्टात्मानः, अल्पबुद्धयः, उग्रकर्माणः, अहिताः जगतः क्षयाय प्रभवन्ति ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! इस लोकमें दैवी और आसुरी यह दो प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न हुई है, इसमें दैवी सृष्टिका वर्णन विस्तारसे कहा गया है, अब आसुरी सृष्टिका वर्णन मुझसे सुन ॥ ६ ॥ आसुरी लोग प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते, उनमें पवित्रता नहीं होती, सदाचार नहीं होता और नाही सत्य होता है ॥ ७ ॥ यह जगत् असत्य है, निराधार है और यहां कोई परमेश्वर नहीं है, तथा परस्परसंबंधके विना ही यहां सब उत्पत्ति होती है, इसलिये विषय-भोग को छोडकर इसका कोई हेतु नहीं है, ऐसाभी वे कहते हैं ॥ ८ ॥ इस प्रकारकी दृष्टिको स्वीकार करनेवाले, नष्टात्मा, मन्दमति, भयानक कर्म करनेवाले, और सबका अहित करनेवाले जगत् का विनाश करनेके लिये ही उत्पन्न हुए होते हैं ॥ ९ ॥

और आसुरी तथा राक्षसी वृत्तिसे बंधन बढते जाते हैं। इस लिये साधकको उचित है कि वह आसुरी वृत्तिसे दूर रहनेका और दैवी वृत्तिको अपने अन्दर बढानेका यत्न करे।

जो साधक दैवी वृत्तिसे युक्त हों वे अपने आपको आसुरी वृत्तिके प्रलोभनमें न फंसावें। क्योंके आसुरी वृत्तिसे मनुष्य गिरताही है। साधकको इस आसुरी वृत्तिको एक वार जान कर इससे सावध रहना चाहिये। अतः इसका वर्णन देखिये—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १० ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

अन्वयः-दुष्पूरं कामं आश्रित्य,मोहाद् असद्ग्राहान् गृहीत्वा,अशुचिव्रताः दंभमानमदान्विताः प्रवर्तन्ते ॥१०॥(ते) अपरिमेयां प्रलयान्तां चिन्तां उपाश्रिताः कामोपभोगपरमाः, एतावत् इति निश्चिताः ॥ ११ ॥ (ते) आशापाशशतैः बद्धाः, कामक्रोधपरायणाः, कामभोगार्थं अन्यायेन अर्थसंचयान् ईहन्ते ॥ १२ ॥ अद्य इदं मया लब्धं, इमं मनोरथं (श्वः) प्राप्स्ये, इदं (धनं अधुना) अस्ति, (इदं) अपि धनं च मे पुनः भविष्यति ॥ १३ ॥ असौ शत्रुः मया हतः, अपरान् अपि च हनिष्ये, अहं ईश्वरः, अहं भोगी, अहं सिद्धः, बलवान् सुखी (च अहं अस्मि) ॥ १४ ॥

कभी तृप्त न होनेवाली कामनाओंको धारण करनेवाले, मोहसे अनेक दुष्ट इच्छाओंको धारण करके, अशुद्ध आचरण करनेवाले दम्भी, मानी और मदान्ध लोग कर्म करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥ प्रलय होनेतक समाप्त न होनेवाली अपरिमित चिन्ताओंसे ग्रसे हुए, काम-भोगोंको ही परम माननेवाले, कामभोगको ही सर्वस्व माननेवाले ये होते हैं ॥ ११ ॥ सैकडों आशाओंके जालोंसे बंधे हुए, कामी और क्रोधी, अपने उपभोगके लिये अन्यायसे ही बहुतसा धनसंचय करते हैं ॥ १२ । आज मैंने यह प्राप्त किया, उस मनोरथ को कल प्राप्त करूंगा, यह धन इस समय मेरे पास है और यह धन मेरे पास कल हो जायगा ॥ १३ ॥ इस शत्रुको मैंने मारा है, इसी तरह अन्य शत्रुओंको भी मैं मारूंगा, मैं ही ईश्वर हूं, मैं ही भोगी हूं, मैं सिद्ध हूं और मैं ही बलवान् तथा मैं ही सुखी हूं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

अन्वयः–आढ्यः अभिजनवान् अस्मि, मया सदृशः कः अन्यः अस्ति? (अहं) यक्ष्ये, दास्यामि, मोदिष्ये, इति अज्ञानविमोहिताः ते (सन्ति) ॥ १५ ॥ अनेकचित्तविभ्रान्ताः मोहजालसमावृताः कामभोगेषु प्रसक्ताः, ते अशुचौ नरके पतन्ति ॥ १६ ॥ आत्मसंभाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः, ते दम्भेन अविधिपूर्वकं नामयज्ञैः यजन्ते ॥ १७ ॥ अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः, आत्मपरदेहेषु (स्थितं) मां प्रद्विषन्तः, अभ्यसूयकाः च (ते भवन्ति) ॥ १८ ॥ तान् द्विषतः क्रूरान्, अशुभान्, नराधमान् संसारेषु आसुरीषु एव योनिषु अजस्रं अहं क्षिपामि ॥ १९॥

मैं श्रीमान् और कुलीन हूं, मेरे जैसा दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, मैं दान दूंगा और मैं ही मौज करूंगा, इस तरहके अज्ञानसे मोहित हुए ये आसुरी लोग होते हैं ॥ १५ ॥ अनेक चित्तविभ्रमोंमें पडे हुए, मोहजालोंसे घेरे हुए, कामोपभोगोंमें आसक्त होकर ये लोग अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥ अपनेको बडा माननेवाले, अकडबाज, धन और मानके मदसे मस्त ये आसुरी लोग दम्भसे विधिहीन ऐसे केवल नामके लिये ही यज्ञ करते हैं ॥ १७ ॥ अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोधका आश्रय करके, अपने तथा पराये देहोंमें रहनेवाले मुझ (ईश्वर) का द्वेष करनेवाले ये लोग सदा निंदा ही किया करते हैं ॥ १८ ॥ इन नीच द्वेषी क्रूर अमंगल नराधमोंको मैं (ईश्वर) इस संसारमें आसुरी योनिमें बार बार डालता हूं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

अन्वयः- हे कौन्तेय ! आसुरीं योनिं आपन्नाः जन्मनि जन्मनि मूढाः (सन्तः) मां अप्राप्य एव, ततः अधमां गतिं यान्ति ॥ २० ॥

हे अर्जुन! इस तरह हर एक जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होनेवाले ये आसुरी लोग, मूढ होते हुए, मुझ (ईश्वर) को न पाते हुए, अधम गतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ— इस लोक में दैवी वृत्ति और आसुरी वृत्ति ऐसी दो वृत्तिवाले मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। दैवी वृत्तिवालोंका वर्णन इससे पूर्व किया गया है, अब आसुरी वृत्तिवालोंका वर्णन करते हैं। आसुरी वृत्तिवालोंको प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति क्या है, इसका ज्ञान भी नहीं होता है। वे सदा अपवित्र होते हैं और दुराचारी भी होते हैं। उनमें सत्य नहीं होता। इस जगत्के अधिष्ठानमें सत्य है, ऐसा वे मानते नहीं। यह जगत् यों ही हुआ और वह आधारके विना ही रहा है। परमेश्वर कुछ भी नहीं है और यह कार्यकारणभावके विनाही बनता है, ऐसा ये आसुरी वृत्तिवाले लोग मानते हैं। इस जगत्का कोई नियंता नहीं है, यह केवल हमारे विषयोपभोग के लिये ही बना है। ऐसा माननेवाले ये दुष्टबुद्धिवाले असुरी लोग सबका अहित होनेका ही कार्य करते हैं और जगत्का नाश करनेके उद्यममें सदा लगे रहते हैं। इनकी भोगवासना सदा अतृप्त रहती है। ये दुष्टभाव धारण करते हैं, अपवित्र कर्मोंमें सदा लगे रहते हैं और घमंडसे सदा मदान्ध होते हैं। कामोपभोगमें सदा मस्त रहते हैं। विविध आशाओंसे बंधे हुए अपने भोगोंके लियेहि सदा अन्यायसेभी धनसंचय करते रहते हैं। आज यह कमाया, कल वह कमाऊंगा, परंतू इनका भोग भोगूंगा और ऐसा सुखी होऊंगा, मेरे जैसा इस जगत्में कौन है? मैं कर्म करूंगा और मैं उपभोग भोगूंगा, यही विचार सदा उनके मनमें होते हैं। जो करते हैं, दंभसे करते हैं। अपनी ही ऐंटमें होनेके कारण इनकी श्रद्धा कर्ममें होतीहि नहीं। परंतु अपने नामके लिये ही ये कुछ न कुछ कर्म करते रहते हैं। सर्वव्यापक परमात्माको ये मानते नहीं, धर्मकी निंदा करते हैं, ये अमंगल, क्रूर घमंडी आसुरी लोग अवनत होते हुए नरकमें ही जाते हैं ॥ ६—२० ॥

(६-२०) संपूर्ण सृष्टिमें तथा विशेषतः मानवजातिमें देव और असुर ऐसे दो प्रकार के मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। देवोंके लक्षण इससे पूर्व कहे गये हैं, असुरोंके संक्षेपसे ही कहे हैं, अतः उन असुरोंके लक्षण विस्तारसे अब कहे जाते हैं। पाठक इन लक्षणोंको देखकर अपने पासकी जनतामें कौन असुर हैं, इसका निर्णय करें, तथा अपने अन्दर जो आसुर भाव होंगे, उनका अनुभव करके उनको दूर करनेका यत्न करें। देखिये आसुरी मानवोंके लक्षण ये हैं—

(१) आसुराः जनाः प्रवृत्तिं निवृत्तिंच न विदुः 'आसुरी वृत्तिवाले लोगोंको प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति क्या है, इसका ज्ञान नहीं होता है। किस कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये और किस कर्मसे निवृत्त होना चाहिये, यह ठीक प्रकार आसुरी लोग जानते नहीं। इस लिये वे अयोग्य कर्ममें विना सोचते हुए प्रवृत्त होते हैं। इस कारण गिरते हैं। प्रायः इनकी शुभ प्रवृत्ति रहती नहीं, भोगी वृत्ति होती है, इसलिये अपने भोग बढानेके लिये चाहे जैसा

नीच कर्म करने लगते हैं संकोच तो इनको किसी प्रकार नहीं होता है। अतः शास्त्रीय दृष्टिसे किस कर्ममें प्रवृत्त होना हितकारी है, और किस कर्मसे निवृत्त होना हितकारी है इसका विचार इन आसुरी वृत्तिवाले मानवोंको नहीं होता है।

(२) न शौचं, नापि आचारो, न सत्यं तेषु विद्यते।

'न उनमें पवित्रता, न आचारशुद्धता और न सत्यप्रियता उन आसुरी वृत्तिवालोंमें होती है।' मलिन आचार, मलिन रहना और असत्य व्यवहार उनका चिह्न है। ये असुर लोग वैसे देखनेके लिये बाह्य दिखावेसे पवित्र और स्वच्छ दीखेंगे, परंतु सच्ची पवित्रता वहां नहीं होती। व्यभिचरादि दोष उनमें बहुत रहता है, यह आचारकी मलिनता उनमें बहुत रहती है।

(३)ते जगत् असत्यं,अप्रतिष्ठं,अनीश्वरंआहुः।

'वे जगत् असत्य, आधाररहित और ईश्वरके विनाही स्वयं हुआ है' ऐसा मानते हैं। यह जो दीख रहा है, वह जगत् सत्य नहीं है, उसका सत्य और शाश्वत आधार कोई नहीं है, यह निराधार है और ईश्वर जगन्नियन्ता करके कोई नहीं है। नियामक के विनाही यह जगत् है, ऐसा इनका मत है अर्थात् ये लोग निरीश्वर-वादी होते हैं। ये असुर ईश्वरको मानते नहीं। दुसरा कोई नियंता नहीं, ऐसा मानकर अपने आपको ही सबका भोक्ता मानते हैं।

(४) अपरस्परसंभूतं कामहेतुकं जगत्।

यह जगत् परस्परके मिलापसे--क्रमपूर्वक परस्पर मेलसे बना है,ऐसा नहीं मानते। जगत् बननेमें कोई क्रम, कोई नियम, कोई पूर्वापर-कारणपरंपरा है,ऐसा नहीं मानते। यों ही बना, विना नियमके बना, विना कारणके बना ऐसा मानते हैं। इसका कोई हेतु नहीं और कोई नियामक वा नियंता नहीं ऐसा माननेपर, इस जगत्को केवल अपना भोग्यही ये आसुरी लोग मानते हैं। कामहेतुक ही यह जगत् है, अर्थात् 'मैं अपनी शक्ति बढाऊंगा और इस जगत्का यथेच्छ उपभोग ले लूंगा' ऐसा इनका मत होता है।

जो बलवान् बनेगा, वही इसका भोग करेगा, यह मत प्रचलित होनेपर इन असुरोंकी वृत्ति अपना बल बढानेकी ओर होती है। वे कहते हैं कि 'मैं अन्योंसे अधिक बलवान् बनूंगा।' परंतु यह बने कैसे? यदि हरएक असुर अन्योंसे अधिक बलवान् बननेका यत्न करेगा, तो सब ही अस-फल होते हुए, एक दूसरेको काट मारनेके लिये प्रवृत्त होंगे, इसमें कोई संदेह नहीं।

(५) नष्टात्मानो अल्पबुद्धयः उग्रकर्माणः अहिताः जगतः क्षयाय प्रभवन्ति।

'ये दुष्ट आत्मा अल्पबुद्धि क्रूर कर्म करनेवाले जगत्के शत्रु जगत्के विनाशके लिये कारण बनते हैं।' आसुरी वृत्तिका यही दृश्य है। अपना बल बढाना, संघटना करना, शस्त्रास्त्र बढाना और परस्परको मार काट करके मर जाना और यह सब अपने भोग बढानेके लिये करना! कितना आश्चर्य है! परंतु ये ऐसा ही करते हैं।

अपना सैन्य बढायेंगे, अपने शस्त्रास्त्र बढा-वेंगे, युद्धका कौशल्य विलक्षण दिखायेंगे; शारी-रिक शक्ति बढावेंगे, विद्या तथा हुनर बढावेंगे और यह सब करते हुए सब भोग मुझे चाहिये, दूसरोंसे ये सुख छिनेंगे और मैं सब भोगोंको प्राप्त करके सुखी होऊंगा, यह एक ही विचार इनका रहता है। इस कारण इनको सदा युद्ध की ही तैयारी करनी पडती है, सब ऐश्वर्य युद्धकी तैयारीमें व्यय करना इनको आवश्यक होता है। अपनी शक्ति बढाते हैं और एक दूसरों को कटवा कर मर जाते हैं। इनकी उत्पत्ति और इनके प्रयत्न इस तरहकी मार काटके लिये ही होते हैं। जगत्में सब युद्ध इनके इस विचार

परिपाठीके कारण ही होते हैं।

(६) दुष्पूरं कामं आश्रित्य दम्भमानमदान्विताः, अशुचिव्रताः मोहात् असद्ग्राहान् गृहीत्वा प्रवर्तन्ते।

'कभी पूर्ण न होनेवाली कामोपभोग की कल्पनाओंको हृदयमें धारण करके, ढोंग, मान और मदसे युक्त होकर, अशुद्धाचारमें प्रवृत्त होकर मोहसे असद्विचार-परिपाठीके पीछे पडकर महाभयंकर कर्ममें प्रवृत्त होते हैं।' कामोपभोगकी अदम्य इच्छाको धारण करते हैं, मुझे ही सब उपभोग चाहिये ऐसा मानते हैं, इस कारण उन भोगोंसे दूसरोंको निवृत्त करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं। इस तरह सर्वत्र संघर्ष उत्पन्न होता है और उसका शमन किसी प्रकार नहीं होता।

ये आसुरी लोग जो कर्म करते हैं, दम्भसे करते हैं, अपना नाम और मान बढे ऐसे दिखावेसे करते हैं। मैंने यह कर्म किया ऐसी घमंड इनको होती है, इस कारण ये दूसरोंको तुच्छ समझते हैं। इस तरह जिनको ये तुच्छ मानते हैं वे लोग इनका द्वेष करने लग जाते हैं। इस हेतुसे भी द्वेष, मत्सर और कलह उत्पन्न होते हैं।

मनमें अशुचि और असत्य भ्रान्त कल्पनाओंको धारण करते हैं और उन कल्पनाओंको सिद्ध करनेके लिये यत्न करते हैं। उनकी सिद्धि तो कभी होनेवाली नहीं होती, परंतु उनके पीछे पडते हुए वे नाना कष्टोंको करते रहते हैं। अपवित्र और असत्य ध्येयके पीछे जानेवालोंका अन्तमें नाश ही होगा, इसमें संदेह ही नहीं है।

(७) अपरिमेयां प्रलयान्तां चिन्तां उपाश्रिताः।

'अपरिमित और प्रलयकालतक समाप्त न होनेवाली चिन्ताको ये आसुरी लोग प्राप्त होते हैं।' चिन्ताके सिवाय इनके पास कुछभी सुख नहीं होता, क्योंकि इनके सिद्धान्तही चिन्ताको बढानेवाले और शान्ति को हटानेवाले होते हैं। भोगवासना न्यून करनेसे ही शान्ति मिलनेवाली है, वह शान्ति भोगोंकी वासनाएं अखण्ड बढाते रहनेसे कैसी मिलेगी? भोगवासनाओंकी वृद्धि करनेसे चिन्ता, कष्ट, सतत परिश्रम, अशान्ति, बेचैनी, परस्पर-संघर्ष, परस्पर-युद्ध, परस्परकी मार-काट, परस्परका अपमान ही बढता जायगा। असुरोंमें सदा यही बढता है, चिन्ता और अशान्ति बढती है।

(८) कामोपभोगपरमाः एतावत् इति निश्चिताः।

'कामोपभोग लेनाही एकमात्र मानवोंका ध्येय है, ऐसा वे मानते हैं।' और अपने कामोपभोग बढानेका प्रयत्न भरपूर करते हैं। परंतु अन्तमें बनता क्या है? कामोपभोग ही इनका भोग करके इन्हींको खा जाते हैं और हाय हाय करते हुए ये आसुरी लोग आपसके संघर्षसे मर जाते हैं। कामोपभोग ही अपने जीवनोद्देश्यका ध्येय माननेसे ऐसे अनर्थ होना संभव है। अतः कामोपभोगोंका शमन करना चाहिये।

(९) कामक्रोधपरायणाः आशापाशशतैःबद्धाः कामभोगार्थं अन्यायेन अर्थसंचयान् ईहन्ते।

'अपने कामोपभोग बढानेवाले, काम शान्त न हुआ तो बडा क्रोध करनेवाले, भोगाशाके पाशोंसे सदा बद्ध होनेवाले, अपने कामोपभोगोंके शमनार्थ यदि न्यायसे धन मिला तो हरएक प्रकारके अन्यायसे धनोपार्जन करनेवाले ये आसुरी वृत्तिके लोग होते हैं।' जगत्में ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत है। हरएक प्रकारके अन्यायकी जडमें यही कामोपभोगकी प्रबल इच्छाही रहती है। स्वल्प कष्टसे बडा लाभ प्राप्त करनेके कारण ही कितने अन्याय हो रहे हैं! राजा-प्रजाके संघर्ष, मालक-मजदूरोंके संघर्ष इसी वृत्तिके परिणाम हैं। इनकी आशाएं अनंत होती हैं और सफलता न हुई तो ये क्रूर कर्म

करने लगते हैं और अपने भोग बढानेके लिये अनंत अन्याय करते हैं ।

(१०) मया इदं अद्य लब्धं,
श्वः इमं मनोरथं प्राप्स्ये,
मे इदानीं इदं धनं अस्ति,
पुनः मे इदं धनं भविष्यति ।

'मैंने यह भोग आज प्राप्त किया है, कल इस मनोरथको प्राप्त करूंगा, मेरे पास आज यह धन है, फिर मेरा इतना धन थोडेही समयमें होगा।' ऐसे भोगसाधनोंकी वृद्धि करनेके लिये इनके विचार चलते रहते हैं । आज यह धन कमाया, आज इसको ऐसा लूटा, इसके विरुद्ध ऐसी मुकद्दमबाजी की, उसको ऐसा फँसाया, इसे ऐसे ठगाया, इस ढंगसे मैं इस वर्ष इतना धन कमाऊंगा और आगे मेरा इतना धन हो सकेगा तथा—

(११) असौ शत्रुः मया हतः,
अपरान् अपि हनिष्यामि ।

'इस शत्रुको मैंने मारा है, इसी तरह दूसरे शत्रुओंको भी मारूंगा ।' मेरे सामने कोई शत्रु ठहर नहीं सकते । मेरी शक्ति इतनी बडी है कि मैं शत्रुओंको जैसा कहूंगा, वैसाही वे मानेंगे । मेरे सामर्थ्यके सामने कौन ठहरेगा ? शत्रुओंका निर्दालन मैं करूंगा, भोगोंको प्राप्त करूंगा, उन असंख्य भोगोंको मैं ही अकेला भोगूंगा। मेरे सिवाय दूसरा इन भोगोंको भोगनेवाला कौन है ? मेरी दयासे दूसरे लोग भोग भोगें तो भोगें। मेरी दया न होगी, तो उनको भोग प्राप्त ही नहीं होंगे । ऐसे विचार आसुरी लोगोंके मनमें आते रहते हैं ।

(१२) अहं ईश्वरः, अहं भोगी, अहं सिद्धः,
अहं बलवान्, अहं सुखी, अहं आढ्यः,
अहं अभिजनवान् अस्मि ।

''मैं इन सबका स्वामी हूं, मैं ही भोग भोगने का अधिकारी हूं, मैं ही सिद्धियोंको प्राप्त करनेवाला हूं, मेरे पास जैसा बल है वैसा अन्योंके पास नहीं है । मैं सुखी हूं, सुख मुझेही मिलना चाहिये, मैं श्रेष्ठ हूं, मैं संपन्न हूं और मैं ही कुलीन हूं ।'' इस लिये मेरी योग्यता अन्योंको कैसी प्राप्त हो सकती है ? मैंही समर्थ और श्रेष्ठ हूं। मेरे पास ही सब लोगोंको आना चाहिये और मेरी सहायताके लिये मेरी प्रार्थना करनी चाहिये। इस तरह मेरी प्रार्थना करनेके लिये अनेक लोग आवेंगे, मेरी दयाके भागी बननेमें वे अपने आपको सफल समझेंगे, फिर मेरे समान कौन सामर्थ्यशाली होगा ? ऐसी मेरी धन्यता है, मेरा यश है और मेराही प्रभाव है। मेरे जैसा मैंही अकेला हूं। यह मेरा वैभव है, मैंही कर्ता धर्ता और हर्ता हूं। इस ढंगसे आसुरी वृत्तिवाले मनुष्यके विचार चलते रहते हैं ।

(१२) यक्ष्ये, दास्यामि, मोदिष्ये ।

'मै यज्ञ करूंगा, मैं दान दूंगा और मैंही आनंदभोग लूंगा.' यह सब करनेका सामर्थ्य मुझमें ही है । मेरे सदृश कौन दान देनेवाला है? मेरे समान यज्ञ करनेवाला भी कौन है? मेरे सदृश भोग भोगनेवाला भी कौन है? ऐसी घमंड आसुरी लोग करते रहते हैं ।

(१३) इति अज्ञानविमोहिताः, मोहजालसमावृताः, अनेकचित्तविभ्रान्ताः कामभोगेषु प्रसक्ताः, अशुचौ नरके पतन्ति ।

'इस तरहके अज्ञानसे मोहित हुए, विविध मोहजालोंसे युक्त, अनेक चित्तोंके विभ्रमोंसे भ्रान्त हुए, कामोपभोगोंमें विशेष आसक्त होकर नीचे गिरते जाते हैं और अन्तमें अपवित्र नरकमें गिरते हैं ।' ये आसुरी लोग जो करते हैं वह उनकी गिरावटके लिये ही होता है। ऐसी भयानक अवस्था इनकी होती है ।

(१४) आत्मसंभाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः, दम्भेन अविधिपूर्वकं नामयज्ञैः यजन्ते ।

(५) नरकके तीन द्वार।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

'अपने आपको सर्वश्रेष्ठ माननेवाले, अक्कडबाज, धन और मानके घमंडसे भरे हुए, दम्भसे विधिको छोडकर केवल नाममात्र यज्ञोंका यजन करते हैं।' अर्थात् इनमें घमंड अत्यधिक होनेसे तथा विधिविधान की पर्वाह न करनेके कारण दम्भसे जो ये करते हैं वह केवल नाममात्रकेही यज्ञ होते हैं। सच्चे यज्ञकर्तामें अहिंसा, सत्य, निर्मानता, विधिनिष्ठा अवश्य चाहिये। इन सद्गुणोंसे तो ये दूर रहते हैं, अतः इनसे होनेवाले यज्ञ सत्य होते ही नहीं और न ये सच्चे यज्ञ करनेमें समर्थ होते हैं। क्योंकि यज्ञके लिये आत्मसमर्पणका भाव चाहिये और इसके विरुद्ध इनमें आत्मभोगका भावही बढा हुआ रहता है। इसलिये इनसे सच्चा यज्ञ होना अशक्यही है।

(१५) अहंकारं, बलं, दर्पं कामं, क्रोधं च संश्रिताः।

'अहंकार, बल, गर्व, काम, क्रोध आदिका आश्रय करके' ये आसुरी लोग बडे घमंडमें आकर जगत्का नाश करनेके लिये कारण होते हैं। इनके अन्दर आत्मवत् सर्वभूतोंको माननेका भाव थोडाभी नहीं रहता। दूसरोंको लूटमार कर अपने भोग बढानेका यत्न ये लोग सदा करते रहते हैं।

(१६) अभ्यसूयकाः आत्मपरदेहेषु मां (ईश्वरं) प्रद्विषन्तः।

'ये निंदा करनेवाले आसुरी वृत्तिवाले लोग अपने तथा दूसरोंके देहोंमें रहनेवाले ईश्वरकी निर्भर्त्सना करते हैं।' अपमान करते हैं और द्वेष करते हैं। क्योंकि विश्वरूपी परमात्मा है, अतः उसका रूप हरएक रूपहि है। किसीके साथ छल कपट किया जाय, तो परमेश्वरके साथ ही छल कपट किया, ऐसा अर्थ होता है। सर्व भूतोंमें ईश्वरको समान भावसे देखना और वहां उसका अनुभव करके उसका आदर करना हरएक को उचित है। परंतु ये आसुरी लोग ऐसा क्यों करेंगे? क्योंकि घमंड से भरे हुए ये आसुरी लोग दूसरोंको संमानसे देखते तक नहीं और उनका छल करनेमें आनंद मानते हैं!

ये हैं आसुरी वृत्तिवालोंके लक्षण। ये असुर लोग जगत्में चारों ओर भरे पडे हैं। पाठक इनको अपने चारों ओर देख सकते हैं।

ऐसे आसुरी स्वभाववालोंको, वे क्रूर और नराधम होनेके कारण, ईश्वर अशुभ योनिमें चिरकाल फैंक देता है। आसुरी अधम अशुभ योनिमें पडे हुए ये जीव क्लेश भोगते हुए, मूढ बनते हुए, ईश्वरका विचारतक न करते हुए अधम गतिको प्राप्त होते हैं। अर्थात् हरएक प्रकारकी अधोगतिको प्राप्त होते जाते हैं। ऐसी भयानक अवस्था आसुरी प्रवृत्तिवालोंकी होती है। इस कारण पाठकोंको उचित है, कि वे इस आपत्तिसे अपने आपको बचावें और दैवी संपत्तिके पथपर अपने आपको स्थिर करें।

आगे नरक के तीन द्वारोंका स्वरूप देखिये-

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

(६) शास्त्रप्रामाण्य।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुर-संपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अन्वयः- कामः क्रोधः तथा लोभः इदं त्रिविधं आत्मनः नाशनं नरकस्य द्वारं (अस्ति); तस्मात् एतत् त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥ हे कौन्तेय! एतैः त्रिभिः तमोद्वारैः विमुक्तः नरः, आत्मनः श्रेयः आचरति, ततः परां गतिं याति ॥ २२ ॥

काम क्रोध और लोभ ये तीन प्रकारके, आत्मशक्तिका नाश करनेवाले नरकके द्वार हैं। इस लिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये ॥ २१ ॥ हे कुन्तीपुत्र! इन तीन तमोद्वारोंसे विशेष रीतिसे मुक्त हुआ मनुष्य अपने आत्माके कल्याणके लिये योग्य आचरण करता है, इस कारण वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

भावार्थ- काम, क्रोध और लोभ ये तीन मनोविकार मनुष्यकी शक्ति क्षीण करनेवाले हैं, इस कारण मनुष्य इनको दूर करे। इनको दूर करनेसेहि साधककी उन्नति होती है ॥ २१-२२ ॥

अन्वयः- यः शास्त्रविधिं उत्सृज्य, कामकारतः वर्तते, सः न सिद्धिं, न सुखं, न च परां गतिं अवाप्नोति ॥२३॥ तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ ते शास्त्रं प्रमाणं (अस्ति), शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा (तत् त्वं) इह कर्तुं अर्हसि ॥ २४ ॥

जो शास्त्रविधिको त्याग कर, मनमाना आचरण करता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न परमश्रेष्ठ गति प्राप्त होती है ॥ २३ ॥

(२१-२२) काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरकको पहुंचानेवाले तीन द्वार हैं। इनसे दूर रह कर जो अपने मोक्षका साधन करता है, वही परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है।

इस श्रेयःसाधनके लिये शास्त्र—वचन प्रमाण मानना चाहिये, यह सूचित करनेके लिये शास्त्र—प्रामाण्य का महत्त्व दर्शाते हैं।

इसलिये कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये तुझे शास्त्रही प्रमाण मानना योग्य है। शास्त्रमें जो कहा है उस कर्मको जानकर, वही कर्म करना तुझे इस लोकमें उचित है ॥ २४ ॥

भावार्थ- शास्त्रविधि छोडकर कर्म करनेवालेकी अधोगति होती है, इस लिये हरएक मनुष्य शास्त्रको प्रमाण माने और जैसा शास्त्रमें कहा है, वैसा कर्म करके उन्नतिको प्राप्त होवे ॥ २३-२४ ॥

(२३—२४) आसुरी वृत्तिवाले लोग शास्त्र-विधिको छोडकर दम्भसे सब कर्म करते हैं, इसलिये उनको योग्य सिद्धि प्राप्त नहीं होती, न सुख प्राप्त होता है और न श्रेष्ठ गति मिलती है। उनके लिये सदा बेचैनी, चिन्ता, घोर अशान्ति ही भोगनी पडती है। यदि ये आसुरी लोग अपना हठ छोडेंगे और शास्त्राज्ञाके अनुसार कार्य करते जायगे, तो निःसन्देह उनको सुख, शान्ति और सिद्धिके साथ परम गति भी अवश्य प्राप्त होगी।

शास्त्र क्या है? शास्त्र प्राचीन आप्त पुरुषोंका अनुभवही बताता है। इसलिये शास्त्रवचन प्रमाण माननेसे अनेकानेक आप्त पुरुषोंके अनुभवोंका लाभ मिल सकता है और शास्त्रवचनोंको न माननेसे इतने अनुभवसे वंचित रहनेके कारण अनेक प्रकारकी हानियां भोगनी पडतीं हैं।

शास्त्रप्रमाण माननेसे अनंत लाभ हैं और शास्त्रवचनोंकी ओर दुर्लक्ष्य करनेसे अनेक हानियां हैं। इसलिये ज्ञानी लोगोंने प्रमाणोंमें शब्द-प्रमाण को महत्त्वका स्थान दिया है। इससे अति प्राचीन कालसे इस समयतक के अनेक आप्त पुरुषोंकी संमति इकट्ठी मिलती है और उसका विचार करनेसे बहुत ही संकटोंसे बचाव होनेकी संभावना होती है।

इसीलिये कर्तव्य और अकर्तव्य का निश्चय करनेमें शास्त्रवचनका प्रमाण मानना सबको योग्य है—

कार्याकार्यव्यवस्थितौ ते शास्त्रं प्रमाणं।

शास्त्र कहता है, कि यह कार्य करने योग्य है और यह करने योग्य नहीं है। इस शास्त्र-विधिको देखकर, शास्त्रविधिने क्या कहा है इसका विचार करके जो निश्चय होगा, वह करना हरएक के लिये लाभकारी है।

यहां कई पूछेंगे कि हम शास्त्रवचनोंकी गुलामी-परतंत्रता-क्यों मानें? क्यों हम स्वतंत्र विचारसे अपने कर्तव्याकर्तव्य निश्चय न करें? इस विषयमें उत्तर यह है कि शास्त्रवचन न माननेसे अपरंपार संकट आयेंगे। संकटोंसे अपने आपको बचानेकी इच्छा है, तो आपको आप्त वचनोंका प्रमाण मानना ही चाहिये। इसमें गुलामी या पारतंत्र्य नहीं है, प्रत्युत अनंत काल के अनुभवसे लाभ उठाना है।

हरएक मनुष्य स्वतंत्रतासे विचार करके अपना कर्तव्यकर्म करे, ऐसा कहना बडा सुगम है, परंतु आचरणमें लाना बडा हानि करनेवाला है। देखिये—एक बालक अक्षरलेखन जानना चाहता है, उसको गुरुजीने 'अ' अक्षर बताया। अब प्रश्न होता है कि वह उस 'अ' अक्षर 'अ' ऐसाही है, ऐसा विश्वास करे या न करे और न विश्वास करे, तो अक्षरविज्ञान किस ढंगसे प्राप्त करे? आप कहेंगे कि बालकोंको गुरुजनों के वचनोंपर विश्वास रखनाही चाहिये। यदि बालकोंको अक्षरविज्ञानके सीखनेके समय आप्त पुरुषोंके वचनोंपर विश्वास रखना चाहिये, अन्यथा उनको ज्ञान नहीं होगा, ऐसा कहेंगे, तो आध्यात्मिक ज्ञानक्षेत्रमें जो बालक जैसे अज्ञान हैं, उनको भी आध्यात्मिक ज्ञानी गुरुजनोंपर

पराविद्याके पाठ लेनेके समय वैसा ही विश्वास रखना चाहिये, यही सिद्धान्त मानना पडेगा और इसीका नाम शास्त्रवचनोंपर विश्वास रखना है।

जगत्‌का व्यवहार भी आप्त वाक्यपर विश्वास रखनेके विना नहीं चलता। जैसा—किसीको किसी एक ग्रामको जाना है, मार्ग विदित नहीं, ऐसी अवस्थामें वह पूछते पूछते उस ग्राम-तक पहुंचता है। यदि वह किसीसे मार्ग पूछने-पर और उसके मार्ग बतानेपर यह अविश्वास करेगा और स्वयं अनुभव आयेविना किसीपर विश्वास न रखनेका निश्चय करेगा, तो वह अविश्वासी अपने इष्ट ग्रामको कैसे पहुंचेगा?

किसीके घरमें एक मनुष्य बडा बीमार है, उसका मित्र कहता है, कि फलाना वैद्य या डाक्तर इस रोगकी चिकित्सा करना जानता है, उसका इलाज करनेसे इसको आरोग्य होगा। बहुतसे लोग ऐसे वचनोंपर विश्वास करके आरोग्य पाते भी हैं; परंतु यदि हरएक मनुष्य कहेगा कि मुझे अनुभव आयेविना मैं विश्वास नहीं रखुंगा, तो वह किस चिकित्सकको बुला सकेगा? किसीपर तो इसका विश्वासही नहीं है। विश्वास न होनेके कारण वह अनुभव आनेतक किसीकोभी बुला नहीं सकता और अविश्वा-सीके घरका रोगी चिकित्साके विना वैसा ही सडकर मर जायेगा।

विश्वास रखनेवाले भी फसते हैं, परंतु अवि-श्वासियोंको अधिक दुःख भोगना पडता है, क्यों-कि किसीकी भी तो सहायता उनको मिल नहीं सकती। अतः विश्वासियोंकी अपेक्षा अविश्वा-सियोंको कष्ट अधिक भोगने पडते हैं। इसी कारण कहा है कि आप्त वचनोंपर विश्वास रखना चाहिये।

पाठक विचार करेंगे तो उनको विदित होगा कि जो किसीपर भी विश्वास नहीं करते, उनको तो क्षणक्षणपर कष्ट होना संभव है। इसलिये आप्त पुरुषोंके वचनोंपर अर्थात् शास्त्रवचनोंपर विश्वास रख कर, अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना और जैसा निर्णय होगा, वैसाही श्रद्धा-पूर्वक करना सब साधकोंको योग्य होगा।

हां, प्रथम सद्गुरु करनेके समय 'यह अच्छा है वा नहीं,' इसका बहुत विचार करके निश्चय करना योग्य है। शास्त्रवचनप्रमाणमें कौनसा शास्त्रवचन आदरणीय है, इसकाभी निर्णय जागते हुए करना चाहिये। अन्यथा अन्ध परंपरा चल जायगी और वह अन्तमें हानिकारक सिद्ध होगी। तथापि इतना करनेपर अन्तमें शास्त्र प्रमाण मानना ही मनुष्योंके लिये हितकारक सिद्ध होगा।

शास्त्रवचन न मानते हुए अपने ही अहंकार के वशमें होकर चलनेवाले आसुरवत्तिके लोग आप्त पुरुषोंके अनुभवका लाभ न मिलनेके कारण इधर उधर भटकते हुए, अनेक स्थानोंमें टक्कर खाते हुए, दुःख भोगते चले जाते हैं। इन दुःखोंको दूर करनेका मार्ग एक ही है और वह शास्त्रवचनोंको, आप्त वाक्योंको मानना और उनपर विश्वास करके उनकी ज्योतिमें अपना मार्ग आक्रमण करना। यही एक सुखकर मार्ग है।

आप्त पुरुषोंके वचनोंपर विश्वास रखनेवालों को भी सोचनेका अवसर नहीं होता है ऐसा नहीं। प्रत्येक अवस्थामें कुछ न कुछ अनुभव आता है और उसका अनुभव लेकर आगे बढना सुगम होता है। बीच बीचमें पूछते, गुरुजनोंसे मंत्रणा लेते हुए आगे बढनेसे बीचमेंका मार्ग सावधानी-से आक्रमण किया जा सकता है।

आप्तवचनोंपर विश्वास रखकर अनुष्ठान कर-नेवालोंको जो विश्वासका बल और भविष्य-

कालके परिणामसंबंधी चिन्तारहित शान्ति मिलती है, वह अविश्वासियोंको कदापि नहीं मिल सकती।

सारांश, यह कि शास्त्रवचनोंपर विश्वास रखनाही सदा सर्वदा लाभदायक है। अतः वैसा ही साधक करे और इह लोकमें सुख, शान्ति और सिद्धिको प्राप्त करके परलोकमें परम उच्च गति अर्थात् श्रेयसी अवस्था प्राप्त करे।

यहां सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

सोलहवें अध्यायका

थोडासा मनन ।

दैवी वृत्ति ।

श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें मनुष्योंके दो विभागोंका वर्णन है। एक दैवी वृत्तिवाले लोग होते हैं और दूसरे राक्षसी अथवा आसुरी-वृत्तिवाले होते हैं। दैवी वृत्तिवाले लोगोंमें "निर्भयता, पवित्रता, ज्ञान में रुचि, योगाभ्यासमें तत्परता, दान देनेकी इच्छा, इंद्रियदमन करने की दक्षता, आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करनेकी अभिलाषा, आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा, श्रेष्ठ कर्म करनेके समय होनेवाले कष्ट आनंदसे सहनेकी वृत्ति, सरल स्वभाव, अहिंसा, सत्यपालन, क्रोध न करना, कर्मफलका संग न करनेका स्वभाव, शान्त स्वभाव, चुगली न करना, भूतदया, निर्लोभी भाव, मनकी कोमलता, कुकर्म करनेकी लज्जा, चंचलताका न होना, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, किसीका द्रोह न करना, घमंड न करना, आदि शुभ गुण होते हैं।"

ये सबके सब शुभ गुण हरएकमें होते हैं, ऐसा भाव यहां नहीं है। कई गुण न्यूनाधिक प्रमाणमें होंगे, कई न भी होंगे, तथापि इनमेंसे बहुतसे गुण होते हैं। कई अधिक प्रमाणमें होंगे तो कई न्यून प्रमाणमें होंगे।

ये गुण अकेले नहीं रहते, एकके होनेसे दूसरेका होना स्वाभाविकसा होता है, इस कारण एक गुण बढनेसे दूसरे गुण स्वयंही आकर बसने लगते हैं।

इस तरह यह दैवी संपत्ति मानवताकी उच्च से उच्च कोटी का लक्षण है। उच्चसे उच्च, उन्नतसे उन्नत मनुष्य कौनसा है। इसका उत्तर यही है, कि जिसमें ये दैवी शुभ गुण उत्कर्षसे रहते हैं, वह मनुष्य उच्च है, वही श्रेष्ठ है और वही मानवताका पूर्ण विकास है। वही मोक्षका अधिकारी है और इसीके पास बंधन नहीं रह सकते। अस्तु। यह दैवी संपत्ति है।

आसुरी वृत्ति ।

अब आसुरी वृत्तिका वर्णन देखिये। आसुरी वृत्तिवालों में कर्तव्याकर्तव्यका विचार न होना, अपवित्र व्यवहार, सदाचार का अभाव, सत्यका पालन न करना, ईश्वरको न मानना, यह जगत् नियन्ताके विना चल रहा है ऐसा मानना, अपने उपभोगके लिये ही यह है ऐसा मानना, अपने भोग बढानेके लिये बडे क्रूर कर्मोंका करना, जगत्का संहार करकेभी अपने भोग

बढाना, दंभ, मान, मदसे युक्त होकर भोग बढानेवाले कर्ममें दंग रहना, मोहसे अशुद्ध को शुद्ध मानना, अशुद्ध व्रतोंका पालन करना, चिन्ताको बढानेवाले बहुतसे कर्म करनेका प्रयत्न करना, कामभोग बढानेका खटाटोप करना, कामी, क्रोधी, आशापाशोंसे बद्ध हुए, कुकर्मी, क्रूरकर्मी आसुरी लोग अपने भोग बढानेके लिये न्यायसे धन न मिला, तो अन्यायसे धन प्राप्त करनेका यत्न करते रहते हैं, उस प्रयत्नमें कितना भी घातपात हुआ तो भी उसकी चिन्ता इनको नहीं होती।

यह आज कमाया है, उस धनको मैं कल प्राप्त करूंगा, परसूं उसका पराभव करके लूट कर धन ले आऊंगा, आज मेरी यह इच्छा सफल हुई है, कल मैं उस मनोरथको सफल करूंगा। मैं अपना सामर्थ्य बढा रहा हूं। मेरा सेनाबल, बडा है, शारीरिक तथा मानसिक बल मैंने बढाया है, मेरी संघटना अद्भुत है, उसके सामने कोई ठहरनेवाला नहीं है, जो मेरा सामना करेगा उसको मार काटकर हटा दूंगा। सब जगत् मर गया तो भी मुझे पर्वा नहीं, मुझे भोग प्राप्त होते हैं वा नहीं यही देखना है। मैं सब शत्रुओंका वध करूंगा, जय प्राप्त करके सबको लूट मार कर यथेच्छ उपभोग लेता रहूंगा। मेरा सामर्थ्य बढा हुआ है, मेरे सामने ठहरनेवाला अब कोई नहीं है, मेरे शस्त्रास्त्र प्रभावशाली हैं, मेरे सैनिक युद्धविशारद हैं, मेरे पास विद्याका, धनका और मानवोंका बल बहुत है, फिर मुझे किसकी पर्वा है? कमजोरोंपर मैं आक्रमण करूंगा, उनका राज्य छीन लूंगा, उनको पादाक्रान्त करूंगा, उनको दबाकर रखूंगा, उनको उठने नहीं दूंगा, उनके देशोंमें हमारे देशके विजयी वीर खूब संचार करेंगे, उनको जो रोकेंगे उनकी कत्तल की जायगी। वे जित लोग तो कःपदार्थ हैं, उनको जीवित रखना, अथवा उनको मारना हमारी इच्छापर निर्भर है। हमें रोकनेवाला कौन है? यदि कोई खडा होगा तो उसका नामनिशानतक नहीं रहने देंगे। जित राष्ट्रके व्यापारका नाश करेंगे, उनके धन छीननेके उपाय सोचेंगे, उनको धनसंग्रह करने नहीं देंगे, हरएक मार्गसे उनको आगे बढने नहीं देंगे।

जित लोगोंको दबाये रखेंगे। अब तो सब जगत्के राजशासनके बागडोर हमारे हाथमें हैं, जिसे हम उठायेंगे वही ऊपर रहेगा, जिसको हम मारना चाहे वही मर जायगा, सब कुछ तो हमारेहि मतानुकूल होगा। जो हमपर राजनिष्ठा नहीं रखेंगे, मारे जायगे। हमारे लोगही भोग भोगेंगे। अन्योंको कौन पूछता है? वे चाहे मरें, चाहे रोगी हों, चाहे जो कुछ हो, हमही उनके उपभोग छीनकर सुख भोगेंगे।

दान देना हो तो हमही देंगे, यज्ञ करना हो तो हम जैसा कहेंगे वैसाही करना होगा, हम जितना चाहेंगे उतनी विद्या पढाई जायगी, हम जितना चाहेंगे उतनाही ये जित लोग वक्तृत्व करेंगे, उतनाही लेख लिखेंगे, उतनाही भोग वे भोगेंगे, हमारी दयापर उनका जीवित रहेगा। बस, हमारी दयाही सर्वतोपरि है।

इस तरह घमंड करते हुए ये लोग मोहजालोंमें फंसते हुए अनेक दुराचार, अनाचार और अत्याचार करते हैं और शास्त्रविधि की पर्वाह नहीं करते।

ये क्रूर, अधम और हीनाचारी लोग प्रतिदिन अपने ही कर्मोंके बंधनमें फँसते जाते हैं। जो अपनी उन्नतिके लिये ये करते हैं, वही इनको प्रतिदिन बंधनमें डालता है और इस तरह ये अनेक आशा चिन्ता आदिमें फँसते हुए प्रतिदिन हीनतर अवस्थाको पहुंचते हैं और अन्तमें ऐसे गढेमें गिरते हैं कि वे वहांसे कभी उठ नहीं सकते।

सब आपत्तियोंका मूल ।

इन असुरवृत्तिवालोंका आचार- व्यवहार देखनेसे इनमें काम, क्रोध और लोभ ये तीनही भाव प्रबल हुए हैं, ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है और दैवी वृत्तिवालोंमें येही तीन भाव संयमित और धर्मानुकूल रहते हैं। देव और असुरोंमें यही भेद है। पाठक इस भेदको विचारकी दृष्टिसे ठीक प्रकार देखें। और अपने चारों ओर इसका अनुभव करें। इतना करनेके पश्चात् इस जगत्में अपने चारों ओर काम-क्रोध-लोभों ने स्वैर प्रवृत्त होनेसे कितना अनर्थ किया है, वह अवश्य देखें और अपने अन्दर तथा अपने समाजमें काम-क्रोध-लोभोंको स्वैर होने न दें। इनका संयम करनाही सभ्यता का चिह्न है। और इनका असंयम अधःपातका कारण होने-वाला है।

यही शास्त्रमर्यादा है। अतः शास्त्रमर्यादाका अवलोकन करके अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय शास्त्रके अनुसार निश्चित करके अपना आचार, व्यवहार धर्मशास्त्रानुसार करना हरएक श्रेयोर्थी के लिये योग्य है।

यहां सोलहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ है ॥ १६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

सोलहवें अध्यायके सुभाषित।

(१) बंध और मोक्ष।

दैवी संपद्विमोक्षाय
निबंधायासुरी मता॥ (गी० १६।५)

" दैवी गुणोंसे बंधनकी निवृत्ति होती है और आसुरी वृत्तिसे बंधनोंकी वृद्धि होती है।"

(२) मूढोंका अधःपात।

मूढा जन्मनि जन्मनि
यान्त्यधमां गतिम्॥ (गी० १६।२०)

" मूढ लोग जन्म जन्ममें अपनी मूढताके कारण अधःपातको प्राप्त होते हैं।"

(३) नरकद्वार।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गी० १६।२१)

" काम, क्रोध और लोभ ये नरकके तीन द्वार हैं, इनमें प्रविष्ट होनेसे आत्माका अधःपात होता है। अतः इनसे अपने आपका बचाव करना चाहिये।"

(४) परम गतिकी प्राप्ति।

आचरत्यात्मनः श्रेयः
ततो याति परां गतिम्॥ (गी० १६।२२)

" जो अपने श्रेयका आचरण करता है, वही परम उच्च अवस्थाको प्राप्त होगा।"

(५) शास्त्रवचन न माननेसे हानि।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गी० १६।२३)

" जो शास्त्रोंके आदेश छोडकर स्वैर वर्तन करते हैं, उनको सिद्धि, सुख तथा उन्नति प्राप्त नहीं होती।"

(६) शास्त्रप्रमाण मानो।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(गी० १६।२४)

" कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय शास्त्र-वचनोंसे हो सकता है, अतः शास्त्रोक्त कर्म करो।"

श्रीमद्भगवद्गीताके

सोलहवें अध्यायकी विषयसूची ।

अथ सप्तदशोऽध्यायः।

श्रद्धात्रयविभागयोगः।

(१) त्रिविध श्रद्धाका स्वरूप।

अर्जुन उवाच— ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥
श्रीभगवानुवाच- त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच-- हे कृष्ण ! ये शास्त्रविधिं उत्सृज्य, श्रद्धयान्विताः (सन्तः) यजन्ते, तेषां तु का निष्ठा ? सत्त्वं, रजः आहो तमः ? ॥ १ ॥ श्रीभगवान् उवाच- देहिनां या स्वभावजा श्रद्धा, सा सात्त्विकी च राजसी च तामसी च एव इति त्रिविधा भवति, तां शृणु ॥ २ ॥ हे भारत ! सर्वस्य सत्त्वानुरूपा श्रद्धा भवति, अयं पुरुषः श्रद्धामयः (अस्ति), यः यच्छ्रद्धः भवति, सः एव सः (जीवः) ॥ ३ ॥ सात्त्विकाः देवान् यजन्ते, राजसाः यक्षरक्षांसि यजन्ते, अन्ये तामसाः जनाः प्रेतान् भूतगणान् च यजन्ते ॥ ४ ॥

अर्जुनने पूछा-- हे कृष्ण ! जो लोग शास्त्रविधिको छोडकर, परंतु श्रद्धासे युक्त होकर, यजन करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी होती है- सात्त्विक, राजस या तामस ? ॥ १ ॥

भगवान् बोले- प्राणिमात्रोंकी जो स्वभावतः श्रद्धा होती है, वह सात्त्विक, राजसी और तामसी ऐसी तीन प्रकारकी होती है, उसका वर्णन श्रवण

कर ॥ २ ॥ हे भारत ! सब लोगोंकी श्रद्धा अपने अपने सत्त्वके अनुरूप अर्थात् प्रकृति-स्वभावके अनुसार होती है । यह मनुष्य श्रद्धामय है । जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह (जीव) वैसा ही होता है ॥ ३ ॥ सात्त्विक पुरुष देवोंका यजन करते हैं, राजस लोग यक्षों और राक्षसोंका यजन करते हैं, इसके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे लोग प्रेतों और भूतगणोंका यजन करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ- कई लोग शास्त्रविधिके अनुसार तो कर्म करते नहीं परंतु जो कर्म करते हैं, वह बडी श्रद्धासे करते हैं, उनकी निष्ठा कौनसी समझनी चाहिये ? इस प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है, मनुष्योंके प्रकृतिके अनुसार तीन भेद होते हैं, उनको सात्त्विक, राजस और तामस कहते हैं। जिसकी प्रकृति सात्त्विक होती है, वे देवोंकी उपासना करते हैं, जो राजस प्रकृतिसे युक्त होते हैं वे यक्षराक्षसोंकी पूजा करते हैं और जिनकी प्रकृति तमोगुणी होती है, वे भूत-प्रेत-पिशाचोंकी भक्ति करते हैं । जिसकी जैसी प्रकृति होगी, उसकी वैसी ही कृति अथवा उपासना होगी। अपनी प्रकृतिके विपरीत कोई कुछ कर नहीं सकता ॥ १-४ ॥

(१-४) शास्त्रोक्त कर्म करनेवालोंके सात्त्विक राजस तामस भेद किस तरह पहचाने जाते हैं, इसका वर्णन पूर्व अध्यायमें किया । साथ साथ शास्त्रविधिके अनुसार हरएक कर्म करनेकी प्रशंसा और शास्त्रविधिको छोडकर मनमानी रीतिसे कर्म करनेवालोंकी निंदा भी की गई। तथापि एक शंका ऐसी रह गई कि कई लोग शास्त्रविधिकी बात तो जानते ही नहीं, परंतु जो करते हैं वह बडी धर्मश्रद्धासे करते हैं । उनके मनमें बडी धर्मश्रद्धा होती है। ऐसे श्रद्धालु लोग जो यज्ञ दान तप करते हैं, उनको सात्त्विक राजस अथवा तामस किस विभागमें रखेंगे ? अर्जुनकी इस शंकाका निवारण करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

हरएक मनुष्यमें जो श्रद्धा होती है, वह सात्त्विक, राजस और तामस ऐसी तीन प्रकारकी होती है । श्रद्धाका अर्थ मनका सुदृढ विश्वास है, तथा मनकी स्वाभाविक प्रवृत्तिका नाम श्रद्धा होता है । कितना भी प्रयत्न किया जाय तथापि जो मनःप्रवृत्ति बदलती नहीं उसका नाम श्रद्धा है ।

शरीर, इंद्रियां, मन आदिकी जैसी सत्त्वशुद्धि होती है, उस प्रकार यह प्रवृत्ति शुद्ध अथवा अशुद्ध रहती है और उसके अनुसार सात्त्विक राजस और तामस श्रद्धा प्रकट होती है। यह सत्त्वशुद्धिके ऊपर अवलंबित होनेके कारण जैसी आत्माकी शुद्धि या अशुद्धि होगी वैसीहि यह श्रद्धा होती है । उसमें न्यून वा अधिक नहीं हो सकती ।

मनुष्य पूर्णतः श्रद्धाके आधीन होता है । जैसी जिसकी श्रद्धा अर्थात् मनःप्रवृत्ति वैसा ही वह होता है । अपनी मनःप्रवृत्तिके प्रतिकूल कोई विषय किसीके सामने आगया, तो वह उसके समझमें ही नहीं आता। इतना मनुष्य अपनी प्रकृतिके आधीन रहता है। क्रूर प्रकृतिका मनुष्य क्रूर कर्म करनेमें कोई दोष देखता ही नहीं, तथा शान्त प्रकृतिका मनुष्य कभी युद्ध जैसा क्रूर कर्म करनेमें प्रवृत्त होगा ही नहीं। यह श्रद्धासे होनेवाली स्वभावप्रवृत्तिसे होता है ।

साधारणतः सात्त्विक लोग देवताओंका भजनपूजन करते हैं, राजस लोग यक्षराक्षसोंके अनुयायी होकर बडी शक्ति प्राप्त करते हैं और उसके द्वारा बहुत भोग बढानेका यत्न करते हैं। तामसी पुरुष भूत प्रेत पिशाच कबरस्थान

(३) अशास्त्रीय रीतिसे तप करनेवाले आसुरी लोग ।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

अन्वयः—दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ये जनाः अशास्त्रविहितं घोरं तपः तप्यन्ते ॥ ५ ॥ अचेतसः च ये शरीरस्थं भूतग्रामं अन्तःशरीरस्थं मां च कर्षयन्तः तान् आसुरनिश्चयान् विद्धि ॥ ६ ॥

जो लोग दम्भ और अहंकारसे युक्त हो, कामभोगकी आसक्तिके वेगसे प्रभावित होकर शास्त्रविरुद्ध महाघोर तप किया करते हैं ॥ ५ ॥ तथा जो अविवेकी पुरुष शरीरस्थ पञ्च महाभूतोंके समुदायको तथा शरीरान्तर्गत जो मैं अर्थात् आत्मा है, उसको भी कष्ट देते हैं, उनको आसुरी निश्चयवाले समझो ॥ ६ ॥

भावार्थ- आसुरी स्वभाववाले लोग दम्भ और घमंडसे युक्त होकर, कामभोग भोगनेकी आसक्तिसे शास्त्र-विरुद्ध ही महाघोर तप करते हैं। ये लोग शरीरमें विद्यमान पञ्चभूतोंको तो ताप देते ही हैं, परंतु उनके अन्तर्यामी जो ईश्वरांश आत्मा है उसको भी बडा ताप देते हैं। इनका निश्चय निःसन्देह प्रबल होता है, परंतु वह आसुरी निश्चय है ॥ ५—६ ॥

आदिकी पूजा करते हैं। कौन कैसी उपासना करता है यह देखकर वह मनुष्य किस प्रवृत्तिका है, इसका ज्ञान हो जाता है।

सात्त्विक वृत्तिवालोंको प्रेतपूजन पसंद नहीं होगा और तामसी श्रद्धावालोंको सात्त्विक देवपूजा पसंद नहीं होगी। इसी कारण अनेकविध उपासना प्रचारमें आगयी हैं, वह मनुष्योंकी निसर्ग-प्रवृत्तिकी द्योतक है।

अब अशास्त्रविहित घोर कर्म करनेवालोंकी अवस्था देखिये-

(५-६) कई लोग अशास्त्रविहित दम्भ-अहंकारसे युक्त होकर, घमंडके आधीन होकर, कामोपभोग भोगनेकी शक्ति बढानेके लिये बडा कठोर तप किया करते हैं। इनमेंसे कई लोग हाथ ऊपर ही धरते हुए उसे सुखाते हैं, कई एकही पांवपर खडा रहकर मंत्र जाप करते हैं, कई तो दोपहरके समय धूपमें चारों ओर अग्नि जलाकर बीचमें बैठकर जप करते हैं, कई खीलोंके फट्टोंपर ही बैठते हैं, कई जलमें चार चार घण्टे खडा होकर मंत्र जपते हैं, कई गुफामें बंद रहकर अनुष्ठान करते हैं, कई तो कठोर उपवास करते हैं, कई अनेक प्रकारके क्लेश सहकर कुछ साधन करते हैं, कई लोग उलटे टांगे रहकर जप करते हैं, कई धूवेंमें रहकर धूम्रपान करते हैं, कई तो बहुत दिन निराहार रहते हैं, इस तरह अनेक प्रकारके कष्ट भोगते हुए कुछ साधन करते हैं।

इनकी इच्छा विशेष बल प्राप्त करनेकी होती है। वह बल प्राप्त करनेपर मुझे बडे भोग प्राप्त होंगे, ऐसा इनका भोग भोगनेका विचार रहता

(३) त्रिविध भोजन।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अन्वयः– सर्वस्य प्रियः आहारः अपि तु त्रिविधः भवति, तथा यज्ञः, तपः, दानं च (सर्वस्य त्रिविधं भवति) (त्वं) तेषां इमं भेदं शृणु ॥ ७ ॥ आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः आहाराः सात्त्विकप्रियाः (सन्ति) ॥ ८ ॥ कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः दुःखशोकामयप्रदाः आहाराः राजसस्य इष्टाः (भवन्ति) ॥ ९ ॥ यत् यातयामं, गतरसं, पूति, पर्युषितं च, उच्छिष्टं अपि च अमेध्यं भोजनं, तत् तामसप्रियं (अस्ति) ॥१०॥

है और इस विचारकी पूर्तता करनेके लिये अपने शरीरको ये अत्यंत कठोर कष्ट देते हैं। शरीरस्थ सब भूतोंको इनके इस अशास्त्रीय तपके कारण अनेक प्रकारके कष्ट होते हैं।

जो अन्तर्यामी परमात्माका अंश बैठा है उसको भी इस अशास्त्रीय घोर तपस्याके कारण बडे कष्ट होते हैं, जब इस तरह आत्माको ही असंख्य कष्ट होते हैं, तब उनको प्रसन्नता किस तरह प्राप्त होगी ? अतः वे सदा अप्रसन्न, खिन्न, क्रोधसे भरे, आक्रोश करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। उनको तो अनुष्ठान करते हुए भी कष्ट होते हैं और अनुष्ठानके पश्चात् भी कष्ट ही होते हैं।

ये आसुरी वृत्तिवाले रजोगुणी या तमोगुणी लोग सदा दुःखमें ही सडते रहते हैं। इसलिये साधकोंको उचित है कि वे ऐसे अशास्त्रविहित दुःख बढानेवाले साधनोंमें अपने आपको न फंसावें। परंतु जहांतक हो वहांतक सात्त्विक साधनकी ओर झुकनेका यत्न करें।

अपनी मानसिक प्रवृत्तिके अनुकूल जो अपने योग्य सात्त्विक उपासनाका साधन होगा, वही किया करें। इस तरह थोडी भी सत्त्व-प्रवृत्ति दृढमूल हुई, तो वही आगे शनैः शनैः बढती जायगी और कभी न कभी उत्तम सत्त्व-गुणमें उस वृत्तिका विकास होगा।

सबकी रुचिको प्रिय लगानेवाला भोजन भी तीन प्रकारका होता है, तथा यज्ञ, तप और दानभी सबका इसी तरह तीन प्रकारका होता है, उनका भेद बतलाता हूं, सुन ॥ ७ ॥ आयु, सत्त्व बढानेवाले, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढानेवाले, रसयुक्त, स्निग्ध, शरीरमें स्थिररूपसे बडी देर रहनेवाले और मनको आनंद प्रसन्न करनेवाले आहार सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं ॥८॥ कटु अर्थात् चटपटे, खट्टे, नमकीन, उष्ण, तीखे, दाहकारक, तथा दुःख, शोक और रोग बढानेवाले भोजन राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥ जो कुछ कालका रखा हुआ, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा तथा अपवित्र भोजन होता है, वह तामस लोगोंको अत्यंत प्रिय होता है ॥ १० ॥

भावार्थ– जिसकी जैसी प्रकृति होती है उसको वैसा अन्न प्रिय होता है। यज्ञ दान तप भी प्रकृतिके अनुरूप ही हुआ करते हैं। आयु, शरीरका सत्व,बल, आरोग्य,सुख और प्रसन्नता बढानेवाले स्निग्ध रसदार अन्न सात्विक लोग आनंदसे सेवन करते हैं। कटु तीखे खट्टे उष्ण दाहकारक अन्न राजस लोग पसंद करते हैं और बासे, अपवित्र, नीरस, जूठे, दुर्गंधयुक्त अन्न तामस लोग पसंद करते हैं ॥ ७–१० ॥

(७-१०) मनुष्यका त्रिविध भाव भोजनसे भी विदित होता है। जिसको जो भोजन मनसे प्रिय प्रतीत होता है,उस भोजनसे उस मनुष्यका वर्ग कौनसा है, यह निश्चय होता है।

कई मनुष्योंको स्निग्ध और मधुर भोजन प्रिय लगता है, कई मनुष्य तीक्ष्ण रूक्ष और विदाहक भोजनमें रुची रखते हैं और कई मनुष्य बासी, सडा हुआ, जूठा और अपवित्र भोजन प्रेमसे खाते हैं। यह उनका प्रकृति स्वभाव है। बडा प्रयत्न करनेपर भी यह बदलता नहीं। जो मनुष्य मनसे कटु तीक्ष्ण रूक्ष और विदाहक चटपटे पदार्थोंका सेवन करना चाहते हैं, उनको स्निग्ध रसदार मीठे मधुर पदार्थ दिये तो वे उनको पसंद नहीं करते। ऐसे मनुष्य अपने समाजमें इस समय हैं कि जो हैयंगवीन घृत (ताजा घी) दूर करके बाजारका बदबूदार घीहि प्रेमसे खाते हैं। आज तैयार हुई रोटी न खाते हुए कलपरसूंकी अधिक रोचक मानकर आनंदसे खाते हैं।

दरिद्रताके कारण जो जूंठा अन्न लेते हैं, अथवा बासी रोटी खाते हैं, उनका प्रश्न ही स्वतंत्र है, वह उनका व्यवहार असहायताके कारण होता है। परंतु घरमें संपत्ति विपुल होनेपर और सात्विक भोजन लेनेके लिये पर्याप्त धन घरमें रहनेपर भी जो चटपटा तथा बासा अन्न स्वादसे तथा प्यारसे सेवन करते हैं, उनकी प्रकृति ही वह अन्न चाहती है इसमें संदेह नहीं है। इस तरह की अन्नकी अभिरुचि मनुष्यकी परीक्षा करनेमें सहायक हो सकती है। मनुष्य सात्विक है वा राजस अथवा तामस इसकी परीक्षा इस स्वाभाविक अभिरुचिसे हो सकती है।

प्रत्येक प्राणीको कोई न कोई आहार स्वभावसे प्रिय होता है। मनुष्य भी कोई इस नियममें अपवाद नहीं है। स्वभावसे ही मनुष्यकी परीक्षा होती है। इस तरह होनेवाली परीक्षामें अशुद्धि नहीं होती, क्योंकि यह परीक्षा स्वभावके अनुरूप होती है।

भोजनप्रियतासे होनेवाली परीक्षा सहजहीसे होनेवाली है, इसमें सदाके लिये कपट

होनेकी संभावना नहीं है। एक दो दिन कोई मनुष्य बतावेके लिये एक पदार्थका सेवन न करते हुए दूसरे पदार्थका सेवन कर सकता है, परंतु सदाके लिये कोई भी मनुष्य विरुद्ध अन्न आनन्दसे सेवन नहीं कर सकता। इस लिये यह परीक्षा सहज होनेवाली है और निःसंदेह होनेवाली है।

यज्ञ दान तपके द्वारा भी परीक्षा हो सकती है, परंतु लोगोंको दिखानेके लिये कोई मनुष्य इसमें मनमें एक होते हुए जनताको दिखानेके लिये दूसरा यज्ञ कर सकता है और इस कपटका किसीको भी पता नहीं लग सकता। दान और तप भी मनःप्रवृत्तिके विरुद्ध किसी समय किये जा सकते हैं। वैसा भोजनका नहीं। स्वभावविरुद्ध भोजन करना पडे, तो वमन भी होता है, क्योंकि शरीर ही उसको बाहर फेंकने का कार्य करता है। सात्त्विक पुरुषको तामस अपवित्र जूंठा बासा अन्न खाना पडे तो वमन होनेमें कोई संदेह ही नहीं। इस कारण इससे मनुष्यके सहज स्वभावकी परीक्षा हो सकती है।

किसी मनुष्यकी परीक्षा कोई दूसरा कर सके या न कर सके, परंतु हरकोई अपनी परीक्षा स्वयं कर सकता है,इसमें संदेह ही नहीं है। आत्मपरीक्षा करनेमें निःसंदेह यह कसौटी सहाय्यक होती है। मनुष्य दूसरोंको ठगा सकता है, परंतु कोई अपने आपको ठगा नहीं सकता। स्वयं अपने आपको पता रहता है कि मुझे स्वभावसे सात्त्विक अन्न प्रिय है अथवा राजस या तामस प्रिय है। बस, यह अपना स्वभाव देखकर अपनी परीक्षा हरकोई कर सकता है। इस आत्मपरीक्षा की दृष्टिसे यह आहारपरीक्षा महत्त्वकी है।

सात्त्विक भोजन।

रसदार होता है, स्निग्ध अर्थात् घृतकी मात्रा उसमें अधिक होती है, हृदयका आनन्द बढाने-वाला होता है, शरीरमें स्थिरता- वीर्यकी स्थिरता करनेवाला होता है। सात्त्विक अन्नसे दीर्घ आयु प्राप्त होती है, सत्त्व अर्थात् जीवन का बल बढता है, शरीरकी शक्ति बढती है, आरोग्य प्राप्त होता है, सुखकी वृद्धि होती है और मानसिक प्रसन्नता होती है। स्वभावतः सात्त्विक लोगोंको यह भोजन अत्यंत प्रिय होता है।

जिस अन्नमें अत्यधिक मिर्च न हो, बहुत खटाई न हो, बहुत नमक न हो, जो अति उष्ण अतिशीत और अति तीक्ष्ण न हो, जो रूखा सूखा न हो, जलाते हुए पेटमें प्रवेश करनेवाला न हो, सब षड्रसोंका ऐसा सम मिश्रण हो कि जिससे सरसता अन्नमें आ जाय, जो बहुत देरसे पडा हुआ न हो, नीरस तथा शुष्क हुआ न हो, जो ताजा बना हुआ हो, जो दुर्गंधि-युक्त न हो, जिसमें सडान न हो, जो उच्छिष्ट न हो, जो अपवित्र न हो, जो स्वच्छ निर्मल, पवित्र हो, देखनेसे मन प्रसन्न होने योग्य, जिसका पवित्र दर्शन हो, जो रसदार होते हुए स्निग्ध और हृदयंगम हो, ऐसे अन्नको सात्त्विक अन्न कहते हैं, और सात्त्विक मनुष्योंको यह स्वभावसे प्रिय होता है। इसके सेवन करनेवालोंको दीर्घायुष्य, सत्त्वसंशुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रसाद प्राप्त होता है। शरीरकी स्वस्थता, इंद्रियोंका सुख और मनकी प्रसन्नता इससे ही सिद्ध होती है।

राजस भोजन।

राजस अन्नमें अत्यंत मिर्च, अत्यंत खटाई, अति नमक, अर्थात् हरएक तीक्ष्ण रसकी मात्रा अधिक होती है। अति उष्ण अन्न अथवा अति शीत, अति तीक्ष्ण और अति रूक्ष अर्थात् खुष्की उत्पन्न करनेवाला राजस अन्न होता है। यह अन्न मुखमें रखते ही ज्वलन शुरू होता है, मुखसे नाकसे और आंखसे पानी निकलने लगता है, ऐसी जलन इससे उत्पन्न होती है। पेटमें

पहुंचनेपर वहांभी जलनेका अनुभव आता है। इस जलनसे ही राजसिक लोगोंको आनन्द मिलता है। यह जलन न हुआ तो वे कहते हैं कि यह अन्न बिलकुल फीका है, न इसमें मिर्च है न इम्ली। ऐसा फीका अन्न वे खाही नहीं सकते।

इस राजस अन्नमें खुश्कीकी प्रधानता होती है, चटपटे पदार्थ सूखे रूखे तले हुए रसहीन अन्न होते हैं, स्नेह नहीं होता, रसीलापन नहीं होता, जिससे प्यास बढती है, बहुत पानी पीनेपर भी प्यास नहीं बुझती, ऐसे जो दाह करनेवाले पदार्थ होते हैं व राजस अन्न होते हैं। इनसे रोगोंकी वृद्धि होती है, रोगोंसे दुःख और शोकोंकी वृद्धि होती है। सबको क्लेशोंकी प्राप्ति होती है।

शरीरकी समता इस राजस अन्नसे हटती है, शरीरके सप्त धातुओंमें विषमता बढती है। जिससे रोग और अशान्ति होनेमें कोई देरी नहीं लगती। ऐसे अन्न राजस लोग प्रेमसे खाते हैं और अनेक प्रकारका दुःख भोगते हैं।

राजस अन्नसे आयुष्य क्षीण होता है, धातुक्षय होता है। रोगोंके आक्रमण के कारण बल घटता है, आरोग्य नहीं रहता, इस कारण सुख और मनकी प्रसन्नता उसको कभी प्राप्त नहीं होती। इस तरह अनंत क्लेश राजस अन्नसे होते हैं। इसलिये प्रयत्न करके राजस अन्नका सेवन न्यून प्रमाणमें जितना किया जा सके उतने न्यून प्रमाणमें करना उचित है। स्वभाव राजस होनेपरभी और निजस्वभावके कारण राजस अन्नही प्रिय होनेपरभी मनुष्यको उचित है कि वह नमक मिर्च इमली की मात्रा कम करके अपने भोजनमें स्निग्धता, मधुरता रसमयता का प्रमाण बढावे। प्रयत्न करनेपर थोडा थोडा सुधार होनेकी संभावना रहतीहि है। इसका विचार करके मनुष्यको उचित है कि वह यत्न करके सात्त्विक अन्नका सेवन करनेका यत्न करे और जहांतक हो सके वहांतक राजस अन्नसे दूर ही रहनेका प्रयत्न करे।

शरीरकी प्रवृत्ति बडी बलवत्तर होती है, तथापि मनुष्य दक्षताके साथ प्रयत्न करेगा तो कुछ न कुछ अंशतः सफलता उसको अवश्य प्राप्त हो सकती है इसमें संदेह नहीं है।

तामस भोजन।

जो सडा हुआ, बडी देरका पडा हुआ, कृमिकीटोंसे अपवित्र हुआ, बाल नाखूनोंके स्पर्शसे दोषयुक्त हुआ, अपवित्र, दुर्गन्धियुक्त, उच्छिष्टसे लिया हुआ अन्न तामस होता है। यह हरएक प्रकारके रोगों और अस्वास्थ्यका कारण होता है, बुद्धिको मलिन करता है, आयुकी क्षीणता बढाता है और हरएक प्रकारसे कष्ट उत्पन्न करता है। इससे मनुष्य सुस्त, मलिन और प्रमादी होता है और इस कारण वह अवनत हो जाता है।

तामसी लोग भी इस अन्नका यह भयानक परिणाम जानें और जहांतक संभव हो वहांतक इससे दूर रहनेका यत्न करें। इससे थोडासा भी बचाव हुआ तो बडा अनर्थ टल जाता है।

व्रतनियम।

राजसी और तामसी लोगोंकी देहशुद्धि करनेके लिये ही व्रत और नियम रचे गये हैं। उपवासके दिन और उपासकी तिथियां, सात्त्विक देवताओंकी सार्वजनिक पूजा-अर्चा आदि धर्मनियम मनुष्योंकी राजसिक और तामसिक वृत्तियां शान्त होने और सात्त्विक वृत्ति बढानेके लिये हैं।

उपवाससे शरीरके अणू जलाये जाते हैं और उनके स्थानपर सात्त्विक अन्नके अणु भर दिये जाते हैं। उपवासके दिन दूधही पीना चाहिये, तेलमें तले पदार्थ नहीं खाने चाहिये, आदि नियम

(४) त्रिविध यज्ञ।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

अन्वयः– अफलाकांक्षिभिः (पुरुषैः) यष्टव्यं एव इति मनः समाधाय विधिदृष्टः यः यज्ञः इज्यते, सः सात्त्विकः (यज्ञः मतः) ॥ ११ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! फलं तु अभिसंधाय, अपि च दम्भार्थं एवं यत् इज्यते, तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥१२॥ विधिहीनं, असृष्टान्नं, मन्त्रहीनं, अदक्षिणं, श्रद्धाविरहितं च यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

शरीरके राजस और तामस अणुओंको जलाकर उनके स्थानमें सात्त्विक अणुओंकी संख्या बढानेके लिये रचे हैं।

कृच्छ्रचांद्रायण आदि प्रायश्चित्त, यवागु-भक्षण, घृत-पान, दुग्धपान, फलभोज आदि व्रतोपवासनियम इसी उद्देश्यकी पूर्णताके लिये किये गये हैं। अपने शरीरकी अनुकूलताके अनुसार इनका प्रयोग करनेसे निःसंदेह लाभ होता है। इससे शरीरकी तामस और राजस प्रवृत्ति कम होकर सात्त्विक प्रवृत्ति बढती है। यह परिवर्तन अति शीघ्र नहीं होता, बीसियों वर्षोंके परिश्रमसे कुछ परिवर्तन होता है। क्यों कि शरीरकी प्रवृत्ति बडी बलवती होती है, योंही नहीं बदलती। सात वर्षोंमें शरीरके सब परमाणु बदलकर दूसरे नये आजाते हैं। यदि राजस और तामस परमाणुओंको उपवासादि द्वारा जलाकर सात्त्विक अन्नसेवनके द्वारा सात्त्विक परमाणुओंको शरीरमें भर दिया जाय, तो संभव है कि कुछ वर्षोंके पश्चात् अंशतः सफलता होगी।

शरीरकी प्रवृत्ति अत्यंत प्रबल होनेके कारण इस परिवर्तनमें बहुत बदल नहीं होता, क्योंकि शरीर ही नहीं चाहता और जबरदस्तीसे परिवर्तन करना चाहेंगे तो शरीर साथ नहीं देता और किसी न किसी तरह विरोधी भाव बढ जाता है और इष्ट सफलता नहीं हो सकती।

इस कारण युक्तिसे और मनकी अनुकूलताके साथ यह व्रतनियमादिका प्रयोग करना उचित है। हठ किया जाय तो दम्भ और मिथ्याचार होकर हानिहि होगी। इसलिये बहुत परिवर्तन करनेकी इच्छा न धारण करते हुए जितना मनकी अनुकूलतासे हो उतनेहीपर संतुष्ट रहना चाहिये।

बहुत परिवर्तन न हुआ तोभी अपनी निसर्ग-प्रवृत्तिके अनुरूप अपने वर्णके अनुसार कर्म करनेका निश्चय करके और उस कर्मको ईश्वरार्पणबुद्धिसे करनेसे हरकोई मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। अतः बहुतपरिवर्तन न होनेपर भी दुःख करनेका कोई कारण नहीं है। अस्तु। अब यज्ञके विषयमें देखें।

फलकी आशा छोडकर अपना कर्तव्य समझकर, मन शान्त रखकर शास्त्रविधिके अनुसार जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ कहा जाता है ॥११॥ हे भरतश्रेष्ठ ! फलाशा मनमें धारण करके तथा दम्भसे जो यज्ञ किया जाता है उसको राजस यज्ञ समझो ॥ १२ ॥ शास्त्रविधिके विरुद्ध, अन्नदान न करते हुए, मन्त्रविहीन तथा दक्षिणारहित श्रद्धा न होते हुए जो यज्ञ किया जाता है उसको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— फलाशा न धारण करते हुए, कर्तव्य करनेके उद्देश्यसे शान्तचित्तद्वारा शास्त्रविधिके अनुसार होनेवाला यज्ञ सात्त्विक है। फलप्राप्तिकी इच्छासे, दम्भसे, अपना ऐश्वर्य बतानेके लिये जो यज्ञ होता है वह राजस यज्ञ है। शास्त्रविरुद्ध, अन्नदानरहित, मन्त्रविहीन, दक्षिणा न देते हुए जो यज्ञ किया जाता है उसको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ ११-१३॥

(११-१३) यज्ञ भी करनेवालेकी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारके होते हैं। उनके नाम सात्त्विक यज्ञ, राजस यज्ञ और तामस यज्ञ हैं। स्वयं यज्ञ सात्त्विक या राजस है ऐसा नहीं, परंतु वह करनेवालेकी मनःप्रवृत्तिके कारण वैसा कहलता है।

सात्त्विक यज्ञ ।

फलका अपने भोगके लिये उपयोग करनेकी अभिलाषा न रखते हुए, शास्त्रमें जो विधि लिखी है उसके अनुसार जो किया जाता है, और इस समय यह यज्ञ करना ही चाहिये, यही मेरा इस कालमें कर्तव्य है ऐसा मानकर, मनकी समाधानवृत्ति रखते हुए जो यज्ञ किया जाता है उसको सात्त्विक यज्ञ कहते हैं।

इसमें स्वार्थी फलभोग की कामना नहीं है, दम्भ नहीं, दिखावा नहीं, अपना ऐश्वर्य दिखानेकी इच्छा नहीं, कोप आदि मनके असमाधानके प्रकार नहीं हैं, यह सात्त्विकताके लक्षण हैं।

राजस यज्ञ ।

यज्ञका फल मेरे भोगके लिये मिलना चाहिये ऐसी भोगतृष्णा मनमें रखकर जो यज्ञ किया जाता है, दम्भसे जो किया जाता है, अपने ऐश्वर्य का ठाठ दर्शाने के लिये जो किया जाता है, अपना कर्तव्य न होते हुए भी केवल दिखावे के लिये किया जाता है उसका नाम राजस यज्ञ है। इस यज्ञके करनेके समय कर्ताका मन शान्त नहीं होता, धनका व्यय होनेके कारण उद्विग्न हुआ होता है। मानापमान के कारण क्रोधादिसे व्याप्त होता है, अपमान-कर्ताका नाश करनेकी भावना सदा मनमें जाग्रत होती है, इत्यादि अनेक कारणोंसे मन अशान्त रहता है। इस कारण यह राजस यज्ञ दुःखदायी हुआ करते हैं।

तामस यज्ञ ।

जो यज्ञ अश्रद्धासे किया जाता है, शास्त्रविधिकी ओर पूर्ण दुर्लक्ष्य करके किया जाता है, अन्नदान तथा दक्षिणाका दान जिसमें नहीं होता है और यथायोग्य रीतिसे मंत्रोंका उच्चारण भी जिसमें नहीं किया जाता, उस यज्ञका नाम तामस यज्ञ है। इससे न करनेवालेको यश मिलता है और न दूसरोंका हित होता है, संभवतः दोनों का अहितही होनेकी संभावना इसमें होती है।

इसलिये तामस यज्ञको अत्यंत हीन माना गया है, क्योंकि इससे सब प्रकारकी हानि ही

(५) त्रिविध तप।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

अन्वयः— देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं, शौचं, आर्जवं, ब्रह्मचर्यं, अहिंसा च इति शारीरं तपः उच्यते ॥ १४ ॥ यत् अनुद्वेगकरं सत्यं प्रियहितं वाक्यं च (यत्) स्वाध्यायाभ्यसनं च, (तत्) एव वाङ्मयं तपः इति उच्यते ॥१५॥ मनःप्रसादः सौम्यत्वं, मौनं, आत्मविनिग्रहः, भावसंशुद्धिः इति एतत् मानसं तपः उच्यते ॥ १६ ॥

देवता, द्विज, गुरु और ज्ञानियोंकी पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को कायिक तप कहते हैं ॥ १४ ॥ जो मनका उद्वेग न करनेवाला सत्य प्रिय तथा हितकारक भाषण है और जो स्वाध्यायका अभ्यास करना है उसको वाचिक तप कहते हैं ॥ १५ ॥ मनकी प्रसन्नता रखना, सौम्यता धारण करना, मौन अवलंबन करना, आत्मनिग्रह, और आत्माकी सम्यक् शुद्धता करना, यह सब मानसिक तप कहलाता है ॥ १६ ॥

होती है। ये तीन प्रकारके यज्ञ हैं, इनका पाठक विचार करें। हरएक कर्म इस तरह तीन प्रकार का हो सकता है।

सात्त्विक कर्मके लक्षण— फलासक्तिका न होना, यथाशास्त्रविधिके अनुरूप कर्म करना और कर्तव्य समझकर करना।

राजसिक कर्मके लक्षण— फलपर आसक्त होना, अपने भोग बढानेके लिये कर्म करना, दम्भसे कर्म करना, दिखावेके लिये करना।

तामसिक कर्मके लक्षण— कर्तव्याकर्तव्यका विचार छोडना, शास्त्रविधिका विचार ही न करना, विधिको छोडकर ही करना, अन्नदान और कर्मकर्ताको योग्य दक्षिणा न देना, श्रद्धा का न होना और मंत्रपूत कर्म न करना ये तामस कर्मके लक्षण हैं।

हरएक मनुष्य इनका विचार करके अपने द्वारा जो कर्म होते हैं वे किस प्रकारके होते हैं, इसका निर्णय कर सकता है। अस्तु। अब त्रिविध तपका विचार देखिये—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

अन्वयः— अफलाकांक्षिभिः युक्तैः नरैः परया श्रद्धया तप्तं यत् त्रिविधं तपः, तत् सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥ सत्कारमानपूजार्थं दंभेन च एव यत् तपः क्रियते, तत् इह राजसं, चलं, अध्रुवं प्रोक्तम् ॥ १८ ॥ मूढग्राहेण आत्मनः पीडया, परस्य उत्सादनार्थं वा यत् तपः क्रियते, तत् तामसं उदाहृतम् ॥ १९ ॥

फलभोगकी आसक्ति न रखनेवाले, योगावलम्बी साधकोंने जो उत्तम श्रद्धासे इन तीनों प्रकारोंका तप किया जाता है उसको सात्त्विक तप कहते हैं ॥ १७ ॥ जो अपने सत्कार मान और पूजा के लिये अथवा दम्भसे तप किया जाता है उस अस्थिर और चंचल तपको राजस तप कहते हैं ॥ १८ ॥ मूढतासे दुराग्रहसे, स्वयं कष्ट करके तथा दूसरोंको उखाडने के लिये जो तप किया जाता है उसे तामस तप कहते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—श्रद्धासे देवताओंकी पूजा करना, शुद्धता धारण करना, सरल स्वभाव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का धारण करना यह शारीरिक तप है । हित मित प्रिय और सौम्य भाषण करना और सद्विद्याध्ययन करना वाचिक तप है । मनको प्रसन्न रखना, शान्तिका अवलंबन करना, मौन धारण करना, संयम करना और आत्मशुद्धि करना मानसिक तप है । फलभोग की आसक्ति न धारण करनेवाले योगसाधन करनेवाले उत्तम श्रद्धासे युक्त होकर जो ये तीनों प्रकारके तप करते हैं उसे सात्त्विक तप कहते हैं । इससे सबको सुख होता है । जो अपनी प्रतिष्ठा मान और ऐश्वर्यके दिखाने के लिये दम्भसे किया जाता है वह राजस तप चंचल और अस्थिर होता है, उसका फल कभी शाश्वत नहीं होता । जो तप मूढता और दुराग्रहसे किया जाता है, जिसमें स्वयं भी कष्ट सहे जाते हैं और दूसरोंको भी दुःख दिया जाता है वह तामस तप होता है । इससे सबको दुःखही होता है ॥ १४-१९ ॥

त्रिविध तप ।

(१४-१९) तपके शारीरिक, वाचिक और मानसिक ऐसे तीन भेद होते हैं । शारीरसे किया जानेवाला तप शारीरिक, वाणीसे होनेवाला तप वाचिक और मनसे होनेवाला तप मानसिक है । शारीरिक तपमेंभी मनका प्रयोग बिलकुल नहीं होता ऐसी बात नहीं है, परंतु यहां मुख्य साधनकी अपेक्षासे ये नाम दिये हैं ।

शारीरिक तप ।

द्विजोंकी अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंकी सेवा करना, ज्ञानी शूर और व्यापारियोंका संमान करना, देवताओंकी पूजा करना, गुरु अध्यापक

शिक्षक ज्ञानदान करनेवालोंका आदर करना, जो विशेष ज्ञानीजन हैं किसी विद्यामें प्रवीणता रखते हैं उन सबकी पूजा करना, उनका आदर सत्कार करना, उनकी हरएक प्रकारकी सहायता करना, यह शारीरिक तप कहलाता है, क्योंकि इसमें शारीरिक परिश्रमद्वाराही यह सेवा की जा सकती है। ब्रह्मचर्य शारीरिक तप इसलिये है कि इससे शरीरके बीजभूत वीर्यका संरक्षण होता है और ब्रह्मचर्यनाशसे वीर्यका नाश होनेसे शरीरका भी नाश हो जाता है।

शुचिता पवित्रता शुद्धता यहां शरीरकी अपेक्षित है जो शारीरिक प्रयत्नोंसे की जानेवाली है। सरलता (आर्जव) यहां शारीरिक है परंतु (शौच) शुद्धता और (आर्जव) सरलता जैसी शारीरिक होती है वैसीहि वाचिक और मानसिक भी होती है।

अहिंसा दूसरेके शरीरका नाश करनेसे होती है जो शारीरिक है, परंतु हिंसा और अहिंसा यह वाचिक और मानसिक भी होती है। इस लिये जो यहां शारीरिक तप करके कहा है वह दिशामात्र समझना चाहिये। ऐसा न समझनेसे किसीके मनमें वाचिक हिंसा नहीं होती है, ऐसा भाव बैठ सकता है, वह अशुद्ध भाव है। हिंसा वाचिक भी है, इसी तरह शौच और आर्जव आदिके विषयमें समझना योग्य है।

वाचिक तप।

दूसरेको कष्ट देनेवाला वाक्य न उच्चारण करना, सत्य प्रिय और हितकारक भाषण करना, विद्याध्ययन करना यह वाङ्मय तप है। दूसरेके हृदयको पीडा होने योग्य भाषण कदापि करना नहीं चाहिये। यह वाणीका संयम है। इससे दोषयुक्त भाषणका उच्चारण नहीं होगा। इसके पश्चात् क्या बोलना चाहिये और कैसा बोलना चाहिये यह प्रश्न उपस्थित होता है, उसका उत्तर सत्य-प्रिय-हित भाषण करना चाहिये यह है। जो बोलना हो वह सत्य हो, सुननेवालेको प्रिय लगे और बोलने तथा सुननेवालेका जिससे हित हो, सबका हित हो और किसीका अत्यंत अहित न हो। ऐसा भाषण करना हो तो बडी सावधानता धारण करनी चाहिये।

पहिली सावधानता सत्यासत्यके निर्णय के लिये धारण करनी चाहिये। यह निर्णय यौंहि नहीं हो सकता। बडे चातुर्य के साथ सत्यनिर्णय होना संभव है। सत्यनिर्णय हुआ, अब सत्य बोलना है, परंतु सत्य बोलना हुआ तो भी वह कटु बोलना नहीं चाहिये, प्रिय लगने योग्य उत्तम रीतिसे बोलना चाहिये। भाव सत्यही रहे परंतु बोलनेकी पद्धति मधुर हो।

कई लोग मधुर भाषण करनेकी इच्छासे असत्य तथा वृथा प्रशंसायुक्त बोलते हैं, वह बहुतही बुरा होता है। वह सत्य नहीं होता। अस्तु। इस तरह सत्य और प्रिय बोलना चाहिये यह इसका आशय है।

सत्य और प्रिय बोलनेके साथ और एक शर्त है वह हितकारक भाषण करनेकी है। सत्य भी हो, प्रियभी लगता हो, परंतु हितकारक न हो तो वह बोलना उचित नहीं है। जो जो सत्य हो वह सब बोलही देना चाहिये ऐसी बात नहीं है, वैसाही जो प्रिय हो वह भी अवश्य बोलना चाहिये ऐसी भी बात नहीं है। परंतु जो हितकर हो वह सत्य बात प्रिय लगने योग्य मधुर पद्धतिसे बोलना योग्य है। इस तरह सत्य-प्रिय-हित भाषण करना चाहिये। जो साधक इन तीन परीक्षाओंसे परीक्षित हुआ भाषण करेगा, उसके इस भाषणरूप तपसे ही उसकी उन्नति होगी। बोलनेके समय जो मैं बोलना चाहता हूं क्या वह सत्य है? क्या वह प्रिय है? और क्या वह हितकर है? ये तीन प्रश्न पूछकर यदि इन तीनों प्रश्नोंका अनुकूल उत्तर आगया तो वह भाषण करना

चाहिये। इन तीन प्रमाणोंसे सुपरीक्षित भाषण करनेसे बहुतसा भाषण करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी और मनुष्यकी उतनी शक्ति बच जायगी। शक्तिके बचनेसे उस शक्तिका किसी श्रेष्ठ कर्ममें उपयोग किया जा सकता है। जो मनुष्य बहुत बोलते हैं वे अपनी शक्तिका व्यर्थ व्यय करते हैं और अपनीहि अद्भुत शक्ति विना योग्य कारणके नष्ट करते हैं। इस तरह विचार करनेपर पता लग जायगा कि यह वाङ्मय तप मनुष्यकी उन्नति करनेवाला अवश्य है।

अब (स्वाध्यायाभ्यसनं) स्वाध्यायका अभ्यास करनेके विषयमें विचार करना रहा है। स्वाध्याय का मूल अर्थ 'स्व' नामक एक अखंड तत्त्व है उसका अध्याय अर्थात् अध्ययन। इस स्वाध्याय का अभ्यास करना वाङ्मय तप है। इस स्वाध्यायमें किन किन विद्याओंका समावेश होता है, इसका विचार करना यहां अत्यंत आवश्यक है।

'स्व' शब्द 'आत्मा' का वाचक है और आत्माका प्रभाव संपूर्ण विश्वान्तर्गत सब वस्तुओं पर पडा है। कोई वस्तु इस प्रभावसे दूर नहीं, इस कारण स्वाध्यायमें संपूर्ण विश्वान्तर्गत जितनी विद्याएं हैं उन सबका अन्तर्भाव होता है। कोई सद्विद्या ऐसी नहीं कि जो स्वाध्यायमें नहीं आती है। अतः संपूर्ण सद्विद्याओंका अन्तर्भाव स्वाध्यायमें होता है और संपूर्ण सद्विद्याओंका अध्ययन- अभ्यास- करना स्वाध्यायाभ्यसनमें समाविष्ट होता है। इसका विचार करनेसे पाठकोंको ज्ञात हो सकता है कि स्वाध्यायाभ्याससे सब उन्नतिसाधक विद्याओंका अभ्यास लेना है जो मनुष्य मात्रको अवश्यही करना चाहिये।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेषधर्मः सनातनः।

(मनु० ४।१३८)

असत्यभाषण न किया जाय, अहितकर भाषण न किया जाय, अप्रिय कठोर रीतिसे भाषण न हो, मनको दुःख जिससे हो वैसा भाषण न बोला जाय, यह सब न बोलने योग्य है, और किया क्या जाय? तो सब सत्य विद्याओंका स्वयं अध्ययन करके उस सच्छास्त्र विद्याका खूब प्रचार करनेका कार्य किया जावे। यही वाङ्मय तप है जो हरएकको करना चाहिये।

मानसिक तप।

प्रसन्नचित्त रहना, किसी प्रकारकी परिस्थिति प्राप्त हुई तो भी मनको अप्रसन्न न होने देना, मनकी सौम्यवृत्ति सदा स्थिर रखना, मनमें क्रूर वृत्ति उठने न देना, अपना मनोनिग्रह, इंद्रियनिग्रह आत्मसंयम करना, अपनी सब शक्तियोंको स्वाधीन रखना, (भाव-सं-शुद्धि) अपनी अन्तःकरणकी उत्तम पवित्रता रखना और मौन धारण करना मानसिक तप कहलाता है।

मौन धारण करनेसे एक तो अपनी वाणीके दोषोंके कारण जो अनर्थ होना संभव होंगे वे टलते हैं, वे नहीं होते, और दूसरी बात यह है कि अपनी शक्तिका व्यर्थ व्यय नहीं होता वह शक्ति संग्रहित होती है। हम जो भाषण करते हैं उस कारण हमारी बहुतही शक्ति नष्ट होती है। अतः यदि अपनी शक्तिका व्यय होना ही है तो उस भाषणका संयम करनेसे अथवा नियमित प्रयोग करनेसे अपना लाभ ही है। मौनावलंबनसे अपनी आत्मिक शक्तिका ज्ञान होता है। मौनधारण एक प्रबल योगसाधन है। साल छः मास मौन धारण करनेसे बडे लाभ होते हैं, परंतु सप्ताहमें एक दिन मौन धारण करनेसे भी बडा लाभ होना संभव है। मनस्ताप के शमनार्थ मौनावलंबन करना योग्य है।

आत्मनिग्रहमें मनःसंयम, इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह आदिका समावेश होता है। अपनी संपूर्ण शक्तियोंकी स्वाधीनता करनेसे अपनी शक्तिकी वृद्धि होती है। अनिग्रहसे जो स्वैराचार होता है वह शक्तिकी क्षीणता करनेवाला है अतः

आत्मनिग्रह करनेसे शक्तिकी क्षीणता नहीं होती।

'भावसंशुद्धि' का अर्थ अपने अन्तःकरणकी पवित्रता है। मनके अन्दर जो भाव होते हैं वे परिशुद्ध ही हों, मनमें कभी बुरे भाव न उठें, मनमें कभी अशुद्ध कल्पना न खडी हो, ऐसा करनेका नाम ही भावसंशुद्धि है। जिसकी भावसंशुद्धि हुई उससे कुकल्पनाका प्रचार कभी नहीं हो सकता। भावशुद्धि हुई तो मनुष्यकी आत्मिक उन्नति हुई ऐसा समझना चाहिये।

मनका सौम्यपन यह अहिंसाका प्रतीक है। हिंसा क्रूरतासे होती है। इसके विरुद्ध मन सौम्य-शान्त-भावसे युक्त हुआ तो उससे हिंसा नहीं होती। सौम्य स्वभाव मानवी पूर्णत्वका द्योतक है।

इस तरह यह मानसिक तप है। मनुष्य परम उच्च साधनासेही इस मानसिक तपको कर सकता है। यह शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप सात्त्विक-राजस-तामस भेदसे त्रिविध हुआ करता है, इसका वर्णन अब देखिये–

सात्त्विक तप।

परम श्रद्धासे जो तप किया जाता है, जिसमें फलका स्वयं उपभोग करनेकी आकांक्षा नहीं होती, जो कर्तव्य समझ कर हि किया जाता है, जिसमें अपना ऐश्वर्य दिखानेकी अभिलाषा नहीं होती, जिसमें दम्भका लेश भी नहीं होता, अपना मानसंमान बढानेकी इच्छा जिसमें नहीं होती, अपने लिये तथा दूसरोंको पीडा होनेकी संभावना ही जिसमें नहीं प्रत्युत जिससे सबका हित होनेकी संभावना है, सब जनताकी सुस्थिरता,जिससे सबका हित होनेकी संभावना है, सब जनताकी सुस्थिरता जिससे सिद्ध हो सकती है ऐसा जो परम उच्च तप है उसको सात्त्विक तप कहा जाता है।

राजस तप।

अपना मान बढे, इसने इतना दान दिया है इसकी घोषणा चारों ओर होती रहे ऐसी प्रबल इच्छा जिसके अन्दर है, इससे अपना सत्कार चारों ओर होना चाहिये ऐसी आकांक्षा जिस तपके करनेके पहिले मनमें उत्पन्न हुई थी और जिसकी प्रेरणासे यह तप करनेकी स्फूर्ति हुई, इस तपसे जो उपभोग प्राप्त होंगे उनका भोग लेकर मैं बहुत सुख प्राप्त करूंगा ऐसा भोग बढानेका भाव जिस तपके करनेमें सदा जाग्रत रहता है, जो घमंडसे और बतावेके लिये किया जाता है, उस तपको राजस तप कहते हैं।

तामस तप।

जो मूढताके दुराग्रहसे किया जाता है, जिसमें करनेवालेके लिये पीडा होती है और देखनेवालोंको भी कष्ट होते हैं, जिसमें सबके हितकी भावना तो होतीहि नहीं परंतु इसके विरुद्ध दूसरेको जडसे उखाड देनेकी प्रबल इच्छा रहती है उसको तामस तप कहते हैं। तामस तपसे करनेवालेकी जैसी अधोगति होती है वैसीहि उसको उत्तेजना देनेवालोंकी भी अधोगति होती है।

फलभोगकी इच्छा न होनेसे सात्त्विक, प्रबल फलभोगकी आकांक्षासे राजस और मूढतासे तामस कर्म होता है। इन लक्षणोंको विचार-दृष्टिसे देखकर अपने द्वारा किस तरहके कर्म होते हैं इसका निश्चय हरएकको करना चाहिये। और यदि विचार सात्त्विक होते हों तब तो ठीक ही है, परंतु यदि राजस अथवा तामस होते हों तो अपनी सत्त्वशुद्धि करनेका यत्न हरएकको करना चाहिये। प्रयत्न करनेपर कुछ न कुछ सत्त्वसंशुद्धि अवश्यही हो जायगी इसमें संदेह ही नहीं है।

तपका प्रभाव।

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्।
तपो मध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः॥
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्॥
औषधान्यगदो विद्या दैवा च विविधा स्थितिः।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम्॥

(६) त्रिविध दान।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अन्वयः— दातव्यं इति यत् दानं देशे च काले च पात्रे (च) अनुपकारिणे दीयते, तत् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥ यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फलं उद्दिश्य वा, पुनः परिक्लिष्टं च दीयते, तत् दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥ यत् दानं असत्कृतं अवज्ञातं, अदेशकाले अपात्रेभ्यः च दीयते, तत् तामसं उदाहृतम् ॥ २२ ॥

दान देना अपना कर्तव्य है ऐसा समझकर जो दान योग्य देशमें, योग्य कालमें और योग्य पात्रमें, प्रत्युपकार न करनेवाले को दिया जाता है वह सात्त्विक दान है ॥ २० ॥ प्रत्युपकारकी आशासे फलभोगकी इच्छासे तथा बडे कष्टोंसे जो दिया जाता है उसे राजस दान कहते हैं ॥ २१ ॥ जो दान निन्दा करते हुए तथा अपमान करते हुए अयोग्य देशमें, अयोग्य समयमें और अयोग्य पात्रमें दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—कर्तव्य जानकर देश काल और सत्पात्र देखकर प्रत्युपकारकी आशा छोडकर होनेवाला दान सात्त्विक है, प्रत्युपकार की आकांक्षासे, फलभोग की आसक्तिसे तथा दान देनेकी इच्छा मनमें न होते हुए बडे मनस्तापसे दिया जानेवाला दान राजस है, और दूसरोंका अपमान करके क्रोध और आक्रोश करते हुए, निंदा करते हुए पात्रापात्रादि विचार न करके जो दान दिया जाता है वह तामस दान होता है ॥२०—२२॥

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥
महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषात् ॥
(मनु० अ० ११ श्लो० २३४-२३९)

"तपसे सब उत्कर्ष प्राप्त होता है, सब सुख तपसे ही मिलता है। ब्राह्मणका तप ज्ञानही है, क्षत्रियका तप प्रजाका रक्षण करना है, वैश्यका तप व्यापारव्यवहार है, और शूद्रका तप परिचर्या करना है। सब प्रकारकी विद्या चिकित्सा कला आदि सब तपसे साध्य होती है। जो दुष्प्राप्य है वह सब तपसे प्राप्त होता है, महापातकी और अत्याचारी भी तप करनेसेहि सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।" ऐसा तपका प्रभाव है अतः उत्तम सात्त्विक तप करना मनुष्योंको उचित है। अब दानका विचार करिये—

(२०-२२) दान देना अपना कर्तव्य है ऐसा देखकर देश काल परिस्थितिका विचार करके

(७) ओं तत्सत्

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

अन्वय—ओं तत् सत् इति ब्रह्मणः त्रिविधः निर्देशः स्मृतः, तेन ब्राह्मणाः वेदाः यज्ञाः च पुरा विहिताः ॥२३॥ तस्मात् ब्रह्मवादिनां विधानोक्ताः यज्ञदानतपःक्रियाः ॐ इति उदाहृत्य सततं प्रवर्तन्ते ॥ २४ ॥ मोक्षकांक्षिभिः तत् इति (उदाहृत्य) फलं अनभिसंधाय विविधाः यज्ञतपःक्रियाः दानक्रियाः च क्रियन्ते ॥ २५॥ (ज्ञानिभिः) सत् इति एतत् सद्भावे च साधुभावे च प्रयुज्यते; तथा हे पार्थ! प्रशस्ते कर्मणि सत् शब्दः युज्यते ॥२६॥

'ओं तत् सत्' ऐसा ब्रह्मका तीन प्रकारसे निर्देश किया जाता है। इसीसे पूर्व समयमें ब्राह्मण वेद और यज्ञ निर्मित हुए ॥ २३ ॥ इस कारण ब्रह्मवादी लोगोंके यज्ञ, दान, तप और कर्म ओंकारका उच्चारण करके सतत किये जाते हैं ॥ २४ ॥ मोक्षप्राप्तिकी इच्छा करनेवाले लोग 'तत्' शब्दका उच्चारण करके, फलकी भोगतृष्णा छोडकर विविध यज्ञ तप और क्रियाएं किया करते हैं ॥ २५ ॥ ज्ञानी लोग 'सत्' इस शब्दका प्रयोग सद्भाव और साधुभावके अर्थमें करते हैं, इसी प्रकार हे पार्थ ! प्रशस्त कर्मोंके लियेभी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

जो सत्पात्रमें दान दिया जाता है उसको सात्त्विक दान कहते हैं। नाम हो, फल प्राप्त हो, इससे प्रत्युपकार होता रहे, इस मनोभावनासे परंतु कष्टसे जो दिया जाता है उसको राजस दान कहते हैं। देश-काल-परिस्थितिके विपरीत, निंदा करते हुए, दूसरेका अपमान करके कुपात्र में जो दान दिया जाता है उसको तामस दान कहते हैं।

सात्त्विक दानसे सबका कल्याण होता है, राजस दानसे दाताका अहंकार बढता है और तामस दानसे देनेवाले और लेनेवालेकी हानि होती है। यह जान कर जहांतक हो सके वहां तक प्रयत्न करके दानमें तामस भाव कम हो और सात्त्विक भाव अधिक हो ऐसा यत्न करना चाहिये।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

अन्वयः— यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सत् इति च उच्यते । तदर्थीयं च कर्म सत् इति अभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञ, तप और दान में जो स्थिर भावना रखनी होती है, उसको भी 'सत्' कहते हैं। तथा उसके निमित्त जो कर्म होता है, उसको भी 'सत्' ही कहते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ- ब्रह्मका निर्देश 'ॐ तत् सत्' इन तीन शब्दोंसे किया करते हैं। इस कारण यज्ञ दान तप कर्म अथवा वेदोच्चारण करनेके समय 'ॐ' कहा जाता है। 'तत्' कहकर निष्काम-भावसे कर्म करते हैं जिससे मोक्ष प्राप्त हो सकता है। अस्तित्व, साधुता और प्रशस्त कर्मके अर्थमें 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है, यज्ञ तप दान में दत्तचित्त होनेको भी 'सत्' कहते हैं और इसमें जो शुभ कर्म करते हैं उसका नाम भी सत् ही है। इस तरह 'ॐ तत्सत्' का निर्देश ब्रह्म-वेद-कर्मका वाचक है और यह परम पवित्र निर्देश है॥ २३—२७ ॥

(२३—२७) ब्रह्मका निर्देश 'ओं-तत्-सत्' इन तीन पदों से करते हैं। 'तत्' का अर्थ 'वह'। वह तत्त्व जो है वही 'सत' है अर्थात् त्रिकालाबाधित है, तीनों कालोंमें एक जसा रहनेवाला है, किसी भी कालमें उसमें परिवर्तन होनेवाला नहीं है। वही एक सत्य वस्तु है और उसीका 'ओं' नाम है। ओंकार उसी सद्वस्तुका वाचक है। ओंकार यह 'ओं' ही है। यह शब्द 'ॐ, ओं, ओ३म्' ऐसा लिखा जाता है। इसके अनेक अर्थ हैं जो सबके सब मनन करने योग्य हैं, इनमें से कुछ यहां दिये जाते हैं-

ओंकार के अर्थ।

'मांडूक्य उपनिषद्' में 'अ+उ+म्' इन ओंकारके अन्दर के तीनों अक्षरोंका अर्थ क्रमसे 'जाग्रति-स्वप्नस्थिति—सुषुप्ति' देकर कहा है कि आत्माकी यह तीन अवस्थाएं हैं, अर्थात् इन तीन स्थितियोंमें आत्माकी शक्ति प्रकट होती है और अर्धमात्राकी जो चतुर्थी तुर्या अवस्था है वह उसकी स्वरूपस्थिति है। अर्थात् जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यामें प्रकट होनेवाली सब शक्ति आत्माकीहि है। ओं शब्दसे यही अर्थ मांडूक्योपनिषद् में लिया है। इन अक्षरोंके अन्य अर्थ ये हैं-

अ—(अवति, रक्षति, अतति, सातत्येन तिष्ठति इति अः) आदिम, प्रथम, सबसे पहिला, (आप्त, व्याप्त) सर्वव्यापक, सर्वत्र प्राप्त होनेवाला। ब्रह्मा, शिव, वायु, वैश्वानर, मूल तत्त्व। जाग्रति। जाग्रतिमें होनेवाला अनुभव।

उ—उत्कर्ष, उत्तम स्थिति, आदि अन्तको जोडनेवाली मध्य स्थिति, उभय अवस्थाओंका संग्रह (साम्यावस्था)। शब्द। शिव, ब्रह्मा, चन्द्रकला। स्वप्नस्थिति, स्वप्नमें होनेवाला अनुभव।

म्—परिमाण, लय, अन्तिम अवस्था। समय। विष, चन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, यम। जल, सुख, आनंद। सुषुप्ति-स्थिति, सुषुप्ति स्थितिमें आनेवाला अनुभव। ब्रह्मस्वरूपी स्थिति।

(अर्धमात्रा)- अद्वैत, अनिर्वचनीय आत्माकी शुद्ध अवस्था।

ओंकारके तीन पाद और चतुर्थ अर्धमात्राके ये अर्थ हैं। मनुष्यको जो ज्ञान इस विश्वमें मिलता है, वह जाग्रति स्वप्न और सुषुप्ती इन तीन अवस्थाओंमें ही प्राप्त होता है, इससे भिन्न और किसी अवस्थाका अनुभव मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकता। इस लिये इन तीन अवस्थाओं का निदर्शक ओंकारही संपूर्णताका प्रदर्शक माना जाता है। और-

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं।
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वं ओंकार एव।
(मां० उ० १)

'ओं इस एक अक्षर का अर्थ यह सब है, भूत वर्तमान और भविष्यकालमें होनेवाला सब कुछ ओंकार ही है।' अर्थात् ऐसी कोई वस्तु हमारे ज्ञानमें नहीं आ सकती कि जो ओंकारमें नहीं समाविष्ट होती। अर्थात् सब कुछ, जो है, वह सब ओंकारसे ही बताया है, वह ओंकार ही है। ओंकारसे भिन्न यहां कुछभी नहीं है।

इसी लिये यहां कहा है कि 'ओं' (तत् सत्) वह सद्वस्तु है, क्योंकि सब कुछ जो है उसका नाम 'ओं' ही है। इस ओं शब्दका मूल अर्थ भी देखने योग्य है-

अवति इति ओम्।

जो सबका अवन-रक्षण करे उसको ओं कहते हैं। अवनके अर्थ ये हैं— 'अव=रक्षण-गति-कान्ति—प्रीति-तृप्ति--अवगम--प्रवेश-श्रवण-स्वाम्यर्थ-याजना-क्रिया-इच्छा-दीप्ति-अवाप्ति-आलिंगन-हिंसा-आदान-भाग-वृद्धिषु।'

१ रक्षण- संरक्षण करना,
२ गति- हलचल करना,
३ कान्ति- प्रीति करना, प्रिय होना,
४ प्रीति- संतोष करना, संतोष देना,
५ तृप्ति- समाधान प्राप्त करना,
६ अवगम- जानना, ज्ञान प्राप्त करना,
७ प्रवेश- घुसना, व्यापना,
८ श्रवण- सुनना,
९ स्वाम्यर्थ, सामर्थ्य- अधिकार जमाना, स्वामी होना, समर्थ होना,
१० याजना- मांगना,
१२ क्रिया- कर्म करना,
१३ इच्छा- इच्छा करना,
१४ दीप्ति- प्रकाशित होना,
१५ अवाप्ति- प्राप्त होना,
१६ आलिंगन- आलिंगन देना,
१७ हिंसा- (विरोधीका) नाश करना,
१८ आदान (ग्रहण)- स्वीकार करना,
१९ भाव- होना, अस्तित्व रखना,
२० वृद्धि- बढना,
२१ भाग (भजनीय)- भाग होकर रहना, सेवन करना,
२२ दहन- जलाना।

ये सब अर्थ 'अव्' धातुके हैं और इस 'अव्' धातुसे 'ओं' होनेके कारण 'ओं' के अंदर भी ये सब भाव हैं। जाग्रति-स्वप्न-सुषुप्ति तथा उत्पत्ति-स्थिति-लयके अन्दर समाविष्ट होनेवाले ये सब भाव हैं। इसी लिये ओंकारके अर्थोंमें इन सब भावोंका समावेश किया जाता है। अर्थात् 'ओं' कारसे (तत्) वह तत्त्व बताया जाता है कि जो (सत्) सत् है, उससे भिन्न और कोई सद्वस्तु नहीं है। इतना 'ओं तत् सत्' का आशय है। यह परमेश्वरका सत्य नाम है जो हरएक कर्मके आदि अन्तमें बोला जाता है, ताकि उस कर्मकी उत्तम सफलता हो और उस कर्मके द्वारा कर्ताको शुभ फल प्राप्त होकर कर्ता कृतकृत्य होवे।

'ओं तत्सत्' इति ब्रह्मणः निर्देशः।

'ओं तत्सत्' यह ब्रह्मका-परब्रह्मका-परमात्माका-परमेश्वरका निर्देश अथवा संकेत है। इस निर्देशसे ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञोंका विधान होता आ रहा है, क्योंकि ब्रह्मको

(८) असत्।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

जाननेवाले ब्राह्मण हैं। ब्रह्मका वर्णन वेदोंमें है और कर्मरूप यज्ञ भी ब्रह्मरूपही है। ब्रह्मसे ही उत्पन्न होनेके कारण ब्राह्मण वेद और यज्ञोंका यह 'ओं तत्सत्' ही संकेत हुआ है। इसी कारण ओंकारका उच्चारण करके ही यज्ञ दान तप आदि क्रियाएं ब्रह्मवादी लोग करते हैं। ओंकार की इसी कारण अत्यंत पवित्रता मानी है। संपूर्ण शब्द-ब्रह्मका मूल ओंकारमें है जिससे सब शब्दमय वेदादिकी उत्पत्ति हुई है।

शब्दगुण आकाशतत्त्वसे सब सूर्य चंद्र पृथ्वी वायु आदि तत्त्व बने हैं और आकाश आत्मासे ही हुआ है। इस तरह वस्तु और नाम एक ही तत्त्वके आविष्कार हैं। (आत्मनः आकाशः संभूतः)

आत्मा (ब्रह्म)
|
आकाश

नाद (ओं)	वायु
शब्द	अग्नि
स्वर	आप्
व्यंजन	पृथ्वी
पद	वनस्पति
मंत्र	प्राणी
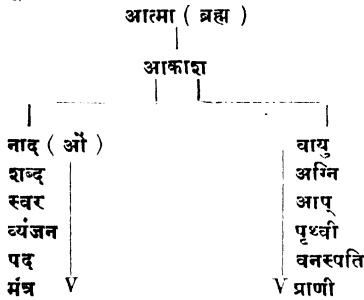
इस तरह आकाशतत्त्वसे एक ओर नादसृष्टि हुई है और दूसरी ओर उसी आकाश-तत्त्वसे पंचभूत उत्पन्न होकर प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है। नामरूपात्मक विश्व इस तरह परस्पर संबंधित है।

फलसंगकी कामना छोडकर यज्ञ तप और विविध प्रकारके दान 'तत्' (यह परब्रह्म परमात्मा सत्य स्वरूप है) इस शब्दका उच्चार करके, अर्थात् उस परमात्माकी संतुष्टि के लिये ही यह सब किया जाता है ऐसा संकल्प करके, किये जाते हैं। इस सबका समर्पण उस परमात्माके लिये होनेके कारण फलभोग के कारण होनेवाले दोष कर्ताको नहीं लगते।

'सत्' शब्दके अर्थ 'अस्तित्व, होना, शुभ, प्रशस्त कर्म' ये होते हैं। तथा 'यज्ञ तप दान और ईश्वरार्पण बुद्धिसे किया हुआ कर्म' यह भी 'सत्' शब्दका अर्थ है।

'ओं तत् सत्' के ये सब अर्थ ध्यानमें लानेसे इसमें सब कुछ शुभमंगल साध्यों और साधनों का समावेश होता है। इस आशय को जाननेसे प्रत्येक कर्मका प्रारंभ करनेके समय 'ओं तत्सत्' क्यों कहते हैं यह पाठकोंके समझमें आसकता है। ओंकारवाचक वही एक वस्तु अथवा तत्त्व सत्य है। उसके साथ अनन्य-भाव प्राप्त करनेके लिये मैं यह दान तप आदि कर रहा हूं। इसका फल उस सद्वस्तुके लिये समर्पित हो और इस समर्पणसे मुझे वह शाश्वत ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो। यह शुभेच्छा हरएक साधक अपने मनमें धारण करे और ओं तत्सत् के उच्चारणपूर्वक सब शुभ कर्म करके अपने आपको कृतकृत्य करे। इस तरह 'सत्' का विचार हुआ। अब असत् का विचार देखिये-

अन्वयः— हे पार्थ ! अश्रद्धया हुतं दत्तं, तपः तप्तं, यत् च कृतं, तत् असत् इति उच्यते; तत् प्रेत्य, इह (अपि) च (फलप्रदं) नो (भवति) ॥ २८ ॥

हे पार्थ ! अश्रद्धासे जो हवन किया है, दान दिया हो, तप किया हो, या अन्य कुछ कर्म किया हो, उसका निर्देश 'असत्' शब्दसे किया जाता है, वह न मरनेके पश्चात् और न इहलोकमें सुफलता देनेवाला हो सकता है ॥ २८ ॥

भावार्थ— अश्रद्धासे जो किया जाता है वह असत् होनेके कारण वह किसी प्रकार भी हितकारक नहीं होता है ॥ २८ ॥

(२८) जो श्रद्धासे किया जाता है वह तो 'सत्' है, परंतु जो अश्रद्धासे किया जाता है- फिर वह यज्ञ हो, दान हो, तप हो अथवा अन्य कुछभी कर्म हो-उसको श्रद्धाहीनताके कारण 'असत्' कहते हैं। इस तरह जो असत् होता है, उसका फल न इस लोकमें मिलता है, न परलोकमें मिलता है। क्योंकि वह व्यर्थ ही चला जाता है। इस कारण जो किया जावे वह श्रद्धासे किया जावे, सद्भावनासे किया जावे। इससे मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है। यदि कुछ कर्म करना है तो श्रद्धा भक्ति और शास्त्रविधिके अनुसार हि किया जावे। अश्रद्धासे करनेसे श्रमादिका व्यय अवश्य होगा हि, परंतु इहपरलोकमें कुछभी फल नहीं मिलेगा। पाठक इस तरह श्रद्धाका महत्त्व जानकर श्रद्धासे हि अपनी कृतकृत्यताका साधन करें और पूर्णता प्राप्त करें।

यहां सतरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

सूचना—

सत्त्व रज तमका विचार आगे १८ वें अध्यायमें होनेवाला है, वह विचार इस अध्यायके कथनके साथ अत्यंत संबंधित है। इसलिये इस अध्यायके इस कथन का विशेष विचार १८ वें अध्याय के विचारके साथ किया जायगा।
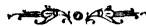
श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तदशवें अध्यायके

सुभाषित।

(१)

सत्त्वानुरूप श्रद्धा।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति ॥

(भ० गी० १७।३)

"सत्त्वके अनुकूल ही सबकी मनोवृत्ति होती है।" अन्तः-करणकी पवित्रता अथवा अपवित्रता जैसी होगी, वैसी हि सबकी मनोवृत्ति हुआ करती है। जैसा मन वैसी वृत्ति।

(२)

श्रद्धामय मनुष्य।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो
यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

(भ० गी० १७।३)

"यह मनुष्य श्रद्धारूप ही है। जसी जिसकी श्रद्धा, वैसा वह मनुष्य होता है।"

(४)

सत् में स्थिति।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

भ० गी० १७।२७

"यज्ञ, तप, दान और कर्ममें जो स्थिति होती है, उसको 'सत्' कहते हैं।" अर्थात् यज्ञ, तप, दान और कर्म करनेमें जो अपना समय जाता है, वही सत्कार्यमें जाता है। तथा इसके विपरीत कृत्यमें जो आयुका व्यय होगा, वह असत् कहलायेगा।

(५)

असत् का रूप।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

(भ० गी० १७।२८)

"अश्रद्धासे जो हवन, तप, दान और कर्म किया जाता है, उसका नाम असत् है, वह न यहां और न परलोकमें फलदायक होता है।"

अश्रद्धासे किया हुआ कर्म असत्, हानिकारक, निष्फल होता है।

इस कारण श्रद्धासे धर्मयुक्त कर्म करना सबको योग्य है।

श्रीमद्भगवद्गीताके सतरहवें अध्यायकी

विषयसूची।

सतरहवें अध्यायकी विषयानुक्रमणिका समाप्त ।

अथ अष्टादशोऽध्यायः ।

संन्यासयोगः ।

(१) संन्यास और त्यागके लक्षण ।

अर्जुन उवाच—संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥
श्रीभगवानुवाच—काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच— हे महाबाहो केशिनिषूदन हृषीकेश ! अहं संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथक् वेदितुं इच्छामि ॥ १ ॥ श्रीभगवान् उवाच— कवयः काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं विदुः, विचक्षणाः च सर्वकर्मफलत्यागं त्यागं प्राहुः ॥ २ ॥

अर्जुन बोले कि— हे महा भुजावाले, केशि दैत्यका नाश करनेवाले और इंद्रियोंको स्वाधीन रखनेवाले श्रीकृष्ण ! मैं ' संन्यास ' और 'त्याग' का रहस्य पृथक् पृथक् जानना चाहता हूं ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्णजीने उत्तर दिया कि— ज्ञानी लोग काम्य कर्मोंका त्याग करनेको ' संन्यास ' कहते हैं और विद्वान् लोग सब कर्मोंके फलके त्याग करनेको ' त्याग ' कहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— संन्यास और त्यागके लक्षण ये हैं । अपने भोग बढानेके लिये जो कर्म किये जाते हैं उनका त्याग करनेका नाम ' संन्यास ' है और संपूर्ण कर्मोंके फलोंका त्याग करनेका नाम ' त्याग ' है । संन्यासमें कर्म त्यागे जाते हैं और त्यागमें फल त्यागे जाते हैं ॥ १-२ ॥

संन्यास ।

(१-२) ' संन्यास ' किसे कहते हैं और ' त्याग ' का लक्षण क्या है, इसका विवेचन यहां किया है । कर्मोंमें ' काम्य कर्म ' और ' निष्काम कर्म ' ऐसे दो मुख्य भेद हैं । अपने भोग बढानेकी इच्छासे जो जो कर्म किये जाते हैं, उनको काम्य कर्म कहा जाता है । निष्काम कर्म केवल अपने भोगोंकी निरपेक्षतासेहि किये जाते हैं, इसलिये वे कर्ता को बाधक नहीं होते । बाधक होनेवाले सकाम अथवा काम्य कर्महि हैं । अतः इन सकाम कर्मोंका न्यास करनेका उपदेश धर्ममार्गमें किया गया है । सकाम कर्मोंका जितना हो सके उतना न्यास करना चाहिये । अर्थात् अपने भोग बढानेके लिये जो जो कर्म करने होंगे, उनको मर्यादित करना चाहिये, इस इच्छाका

संयम करना चाहिये।

दूसरोंकी हानि न हो, दूसरोंको उपद्रव न पहुंचे, इस दृष्टिसे मनुष्य अपने कर्मोंकी परीक्षा जब करने लगेगा, तब उसके ध्यानमें यह बात आजायगी कि, काम्य कर्मोंसे ही दूसरोंको कष्ट पहुंचते हैं और जगत्में दुःख बढते हैं। स्वार्थसे प्रेरित होकर जब मनुष्य अपने पास भोगसंग्रह करनेकी इच्छा करता है, तब यह अपने पास अत्यधिक भोग बढाता है। इस कारण उतने दूसरोंके भोग कम होते हैं, इस कारण जगत्में दुःख बढता है। यदि यह मनुष्य अपने पास भोगसंग्रह न करेगा, अर्थात् यह अपरिग्रह-वृत्तिसे रहेगा, तो इसको संन्यासव्रतका आचरण करना पडेगा और यह भोगसंग्रह करनेके पापसे अपने आपको बचा सकेगा।

परिग्रहवृत्तिही सब पापोंका कारण है। परिग्रहवृत्ति जिस व्यक्तिमें अथवा जिस राष्ट्रमें बढती है, वही पाप करता है और वही पापसे नहीं हट सकता। 'मेरे भोगके लिये मेरे पास भोग्य वस्तुओंका संग्रह होना चाहिये,' यह इच्छा काम्य अथवा सकाम कर्मोंके लिये कारण होती है और यही भोगेच्छा पापप्रवृत्ति की जननी है। इसी लिये कहा है कि—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः॥

"काम्य कर्मोंके छोडनेको ज्ञानी लोग संन्यास कहते हैं"। अर्थात् संन्यासमें स्वकीय भोगेच्छा बढानेवाले सकाम कर्मोंका संयमपूर्वक सम्यक् न्यास करना होता है। अतः इस संन्यासमें अपनी भोगेच्छापर मर्यादा रखनी पडती है, भोग भोगनेकी इच्छाका त्याग करना पडता है। इस तरह संन्यास-धर्म विश्वमें सुख बढानेका हेतु होता है। सच्चा संन्यासी संपूर्ण कर्मोंका त्याग नहीं करता, परंतु अपने भोग बढानेके लिये जो सकाम कर्म करने होते हैं, उनकाहि न्यास करता है अर्थात् उनको छोडता है।

जिससे जगत्का उपकार हो, जिससे जगत् में शान्ति फैले, ऐसे निष्काम कर्मोंका त्याग करनेकी संन्यासीको आवश्यकता नहीं है। अपनी भोगकामना के हेतुसे जो जो कर्म (काम्यानां कर्मणां न्यासं) होते हैं, उनका ही न्यास करना चाहिये। इस तरह विचार करने पर प्रतीत होगा कि संन्यासमें काम्य कर्मोंका ही निषेध है। काम्य कर्म जहांतक हो सकें वहांतक कम किये जांय, यही यहां मुख्य उद्देश्य है।

काम्य कर्ममें भोगेच्छा होती है और यह भोगेच्छा अपने लिये भोग भोगनेकी इच्छा है। इसका एक उदाहरण देखिये, कि मनुष्य मात्र अन्नादि भोगोंपरहि जीवित रह सकता है, अन्नादि भोग न मिलनेपर वह मर जायगा। अतः जीवनके लिये आवश्यक भोग स्वीकारनेमें दोष नहीं है, क्योंकि वह तो जीवनके लिये आवश्यकहि हैं। परंतु मनुष्य इतनेमें ही संतुष्ट नहीं होता और वह अपने पास भोगसंग्रह करता जाता है। धनी लोग अपने धनसे धान्य खरीदते हैं और धान्य महंगा बेचना चाहते हैं। इससे गरीबोंको धान्य न्यून मिलता है और उनको भूखा रहना पडता है, इससे जगत्में दुःख बढता है। इसी तरह अन्यान्य भोगोंके संग्रह करनेमें जो दोष हो सकते हैं, उनका विचार पाठक कर सकते हैं और जान सकते हैं कि, भोगसंग्रह करनेकी मनोवृत्तिसे कैसे दोष हो सकते हैं और अपरिग्रह-वृत्तिसे ही किस तरह सुखकी वृद्धि हो सकती है। यह अपरिग्रह-वृत्ति संन्यासमें होती है, जिससे काम्य कर्म कम किये जाते हैं। यही काम्य कर्मोंका संन्यास है। अर्थात् संन्यासमें काम्य कर्मोंका संन्यास करना है न कि संपूर्ण कर्मोंका। पाठक संन्यास का यह लक्षण ठीक प्रकार ध्यानमें धारण करें।

त्याग।

अब त्यागका विचार करना है। त्याग में

(२) यज्ञ-दान-तपका त्याग न करो ।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कर्मोंका त्याग अभीष्ट नहीं है । कर्म काम्य हों अथवा निष्काम हों, किसीका भी त्याग करना नहीं चाहिये । परंतु उन कर्मोंसे जो फल मिल जाय, उस फलका त्याग करना चाहिये, अर्थात् उस फलका उपभोग स्वयं कर्मकर्ताको लेना उचित नहीं है । उस कर्मफलको सब जनताकी भलाईके लिये समर्पण करना चाहिये । त्यागका यह अर्थ सबको विशेष ही मनन करने योग्य है ।

'संन्यास' में काम्य कर्मोंको छोडना होता है, परंतु 'त्याग' में सब कर्मोंको करके उनके फलोंका सबकी भलाईके लिये समर्पण करना होता है । इससे संन्यासमें कुछ कर्मही नहीं होते, परंतु त्यागमें सब कर्म होते हैं और उनके फलोंका दान अथवा समर्पण किया जाता है । त्यागमें कर्मोंका क्षेत्र विस्तृत होता है और संन्यासमें काम्य कर्मोंका संभवही नहीं होता है, इसलिये संन्यासकी अपेक्षा त्याग अच्छा है । तथापि संन्यासकी अपेक्षा त्याग कठिन है, क्योंकि उसमें फल प्राप्त होनेके पश्चात् उसको न भोगते हुए सबकी भलाईके लिये समर्पण करना होता है ।

फलभोगकी इच्छासे भोगोंका संग्रह करनेकी प्रवृत्ति होती है । वह भोगेच्छाही इस त्यागमें संयमित की जाती है, इस कारण कर्म करनेपर भी फलत्याग करके साधक निर्दोष रह सकता है । यह त्यागकी विशेषता है । संन्यासमें काम्य कर्म छोडे जाते हैं, इस कारण उन कर्मोंसे होनेवाले सुखसाधनोंसे जनता वंचित रहती है । परंतु त्यागमें काम्य कर्म करनेके पश्चात् उसका फल समर्पित किया जाता है, इससे काम्य कर्मसे जनताका लाभ होता है और फलभी सबकी भलाईके लिये बांटा जाता है । इससे स्पष्ट हुआ कि 'संन्यास' की अपेक्षा 'त्याग' अधिक लाभकारी है ।

संन्यासी साधक कुछ कर्म (काम्य कर्म) करेगाही नहीं, परंतु त्यागी काम्य कर्मभी करेगा और संपूर्ण कर्मोंका फल जनताकी भलाईके लिये दे देगा ।

संन्यास और त्याग एक नहीं है । संन्यासी काम्य कर्मोंसे डरता है, काम्य कर्मोंसे दोष होंगे, इस भयसे वह उनको करता नहीं । परंतु त्यागी साधक आवश्यक सब कर्म करता है और सब दोष फलभोगकी प्रवृत्तिसे होते हैं यह जानकर उन कर्मके फलोंको अपने पास न रखता हुआ सब जनताकी भलाईके लिये अर्पण करता है ।

उदाहरणार्थ देखिये- एक व्यापार-व्यवहार करनेवाला है। वह व्यापारको काम्य कर्म समझकर लाभ होनेकी इच्छासे किया करता है ऐसा देखकर, व्यापार करनाही छोड देता है; परंतु त्यागी मनुष्य उत्तम व्यापार करेगा, व्यापार सत्यव्यवहारपूर्वक करेगा, उसमें धोखा नहीं करेगा और उसमें जो लाभ होगा वह सब जनताकी भलाईके लिये अर्पण कर देगा । जिससे इसका समयभी सद्व्यवहारमें जायगा और फल सब जनताके हितके लिये बांटा जानेके कारण जनताका इससे अधिक हित होगा ।

यहां संन्यासीका व्यापाररूप कर्मको छोडना और त्यागीका उक्त कर्म सुयोग्य रीतिसे करके उसके लाभका समर्पण करना इन दोनोंकी तुलना पाठक अवश्य करें । इस तुलनासे पाठक संन्यास और त्यागका स्वरूप तत्त्वतः जान सकते हैं ।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अन्वयः— एके मनीषिणः कर्म दोषवत् (अस्ति तस्मात्) त्याज्यं इति प्राहुः, अपरे च यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं इति (आहुः) ॥ ३ ॥ हे भरतसत्तम ! तत्र त्यागे मे निश्चयं शृणु। हे पुरुषव्याघ्र ! त्यागः हि त्रिविधः संप्रकीर्तितः (अस्ति) ॥४॥ यज्ञः दानं तपः कर्म न त्याज्यं, तत् कार्यं एव । यज्ञः दानं तपः च एतानि मनीषिणां पावनानि (एव सन्ति) ॥ ५ ॥ अपि तु एतानि कर्माणि संगं फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानि इति, हे पार्थ ! मम निश्चितं उत्तमं मतं (अस्ति) ॥ ६ ॥

कई विद्वान् कहते हैं, कि सब प्रकारके कर्म दोषयुक्त हैं, अतः उनको त्यागना योग्य है। दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ,दान और तप रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥ हे भारतीयोंमें श्रेष्ठ वीर ! इस त्यागके संबंधमें मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ ! त्याग तीन प्रकारका कहा है ॥ ४ ॥ यज्ञ,दान और तप रूपी कर्म त्यागने नहीं चाहिये, ये कर्म करनेही चाहिये। कारण यह है कि यज्ञ दान और तप रूपी कर्म मनको स्वाधीन रखनेवालोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥ ये सब कर्म आसक्ति और फलभोगेच्छाको छोडकर करने चाहिये ऐसी, हे पार्थ ! मेरी निश्चित और उत्तम संमति है ॥ ६ ॥

भावार्थ- कर्मके विषयमें विद्वानोंके अनेक मत हैं। कई विद्वान् कहते हैं कि प्रत्येक शुभाशुभ कर्म दोषपूर्ण है, अतः सब कर्मोंको त्यागना चाहिये। दूसरे विवेकी तत्त्वज्ञानी कहते हैं, कि यज्ञ, दान और तप इन कर्मोंका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। इस विषयमें निर्णय यह है कि यज्ञदानतपरूपी कर्म हरएक मनुष्यको करनेही चाहिये। क्योंकि इन कर्मोंसे मनुष्य पवित्र होता जाता है अतः ये कर्म त्यागनेसे मनुष्यका अधःपात और इन कर्मोंके करनेसे मनुष्यकी पवित्रता होनेके कारण उन्नति होती है। अतः इन कर्मोंको भोगासक्तिका तथा अपने पास फलसंग्रह करनेकी इच्छाका त्याग करके करना चाहिये, यही निश्चित रहस्य है ॥ ३–६ ॥

कर्मत्यागसे दोष ।

(३—६) कर्मोंका त्याग करनेसे दोष होते हैं। काम्य कर्मोंसे दोष होते हैं, इस कारण संन्यासपंथी लोग इन कर्मोंको नहीं करते। परंतु यह विचारपद्धतिहि दोषयुक्त है। भोगकामनाको हटाकर इन कर्मोंको करनेसे कोई दोष नहीं हो सकता। यह तत्त्व जानकर कर्मफल का दान कर देनेसे कोई दोष नहीं लग सकता।

त्यागी इस तत्त्वको यथार्थ रीतिसे जानता है और संपूर्ण कर्म करके भी दोषोंका भागी नहीं होता। अतः त्यागवादी तत्त्वज्ञानके अनुसार कर्मका त्याग करना ही दोष बढानेवाला है।

यज्ञ, दान, तप ये कर्म कभी त्यागने नहीं चाहिये। हरएकको ये कर्म करने ही चाहिये, ऐसा कई तत्त्वज्ञानियोंका निश्चित मत है। यहां यज्ञ दान और तपका तत्त्व जानना आवश्यक है। 'तपः' का अर्थ 'कष्ट' है। परिश्रम, श्रम, कर्मोंके करनेमें जो आवश्यक कष्ट होते हैं उनको तप कहते हैं। तपके विना कुछभी कर्म हो नहीं सकता। 'दान' शब्दका अर्थ देना है, अपनी वस्तको दूसरेके हितके लिये अर्पण करनेका नाम दान है। और 'यज्ञ' वह है कि जिस, में 'सत्कार- संगति और उपकार' होता है। इन तीनों शब्दोंके ये मूल अर्थ हैं।

इनमें तपके कष्ट स्वयं भोगने पडते हैं। एकके लिये दूसरा तप करे, यह नहीं हो सकता। दान अपनी वस्तुका दान करनेसे सिद्ध हो सकता है। दाता, देय वस्तु और याचक इन तीनों का संबंध दानसे होता है और दाताकी वस्तु याचकके पास जाती है अर्थात् वस्तुपरका एकका स्वामित्व जाकर उसपर दूसरेका स्वामित्व उत्पन्न होता है। यहां याचक शब्दसे याचना करनेवाला भिक्षुक ही चाहिये, ऐसा नहीं। किसीने अपनी गौ किसी गुरुकुल संस्थाको दान दी, तो भी वह दान ही होता है। यहां गुरुकुल संस्था कोई याचक या भिक्षुक नहीं है। तथापि गुरुकुलमें अनेक छात्रगण पढते हैं, इसलिये उस संस्थाको गौवोंकी अपेक्षा रहती है, अतः उस संस्थाको गौवोंका दान करना योग्य है। गौका स्वामी गौपरका अपना स्वामित्व छोडता है और गुरुकुल का स्वामित्व उसपर कर देता है। यह दान है।

यज्ञ इससे विलक्षण है। ब्राह्मण ग्रंथोंमें—

ऋतुसंधिषु व्याधिर्जायते।
ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते। (गोपथ ब्राह्मण)

'ऋतुसंधिमें व्याधियां होतीं हैं और उनके निवारणके लिये ऋतुपरिवर्तनके समय यज्ञ किये जाते हैं।' ये यज्ञ जो लोग करते हैं उन यज्ञोंसे वायुकी प्रसन्नता होती है, उससे संपूर्ण जनताका लाभ होता है। यहां की एक विचित्र घटना विवेक की दृष्टिसे देखनी योग्य है। एकने यज्ञ किया, उस यज्ञसे वायुकी शुद्धता और प्रसन्नता हो गयी, इस वायुशुद्धिसे जनताको आरोग्य प्राप्त हुआ, परंतु यज्ञकर्ताको पता नहीं कि किसको किस तरह आरोग्यलाभ हुआ है और आरोग्यलाभ करनेवालोंकोभी पता नहीं कि किसके कर्मसे मुझे आरोग्यलाभ हुआ है। यज्ञसे जो जनताका लाभ होता है, उसमें यह गुप्तता रहती है।

जैसा दान देनेवाला और लेनेवाला ये परस्पर पास आते और देतेलेते हैं, वैसा यज्ञका कर्ता और यज्ञसे लाभ लेनेवालों का संबंध नहीं होता। उपकारकर्ता और उपकार लेनेवाला परस्पर को पहचानते भी नहीं, परंतु अमूर्त संबंधसे जुडे होते हैं। यह यज्ञसे ही चमत्कार होता है।

और एक उदाहरण देखिये। एकने मार्गपर धर्मशाला बनवाई और कूवाँ खुदवाया। कई वर्षोंके पश्चात् वहां एक प्रवासी आया और उस धर्मशालामें रहा और उस कूवेका जल पीकर आनंदित हुआ। कूवा बनानेवाला और पानी पीनेवाला कालसे और स्थानसेभी दूर रहते हुए इस यज्ञकर्मके द्वारा एकत्रित हुए होते हैं। अतः यह कूप और धर्मशालाका निर्माण करना एक प्रकार का यज्ञ ही है।

अब एक मनुष्य उसी स्थानपर आता है और कूवेका पानी निकालकर कई लोगोंको देता है, इसमें पानी निकालनेमें उसे कष्ट हुए वह उसका

तप है और पानीका देना यह उसका दान है। यहां पाठक तप, दान और यज्ञका तत्त्व जान सकते हैं। शास्त्रोंमें इनकी गिनती की है और कहा है कि यह तप है, यह दान है और ये यज्ञ हैं। परंतु हमें इनकी गिनती करके हर-एक का विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। यहां केवल मूल तत्त्व ही देखना है, वह ऊपरके उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। अस्तु। इस तरह पाठक यज्ञ, दान और तपको जानें और उनका स्वरूप समझें।

ये यज्ञ, दान और तप कभी भी त्यागने नहीं चाहियें, क्योंकि इनपर सब जनताकी स्थिति अवलंबित है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्। (गी. १८।३)

यज्ञ, दान और तप न हुआ तो जनतामें दुःख बढेगा। यज्ञोंमें ज्ञानयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ, प्राणयज्ञ ऐसे अनेक यज्ञ हैं, इनका वर्णन श्रीभगवद्गीता (अ० ४) में आया है, वहां पाठक देखें और यज्ञपर संपूर्ण सृष्टि कैसी रही है यह जानें। सब विश्व यज्ञ, दान और तप पर खडा है, इसका निश्चय हो जानेसे ही उनको छोडना अयोग्य है, यह निश्चित ज्ञान हो जायगा। अब यज्ञदानतपके विषयमें उपनिषदादि ग्रंथोंकी संमति देखिये—

तपः।

अथ यत्तपो दानं। (छां० उ० ३।१७।४)
तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। (तै० उ० १।९।१)
तपो ब्रह्मेति॥ (तै० उ० ३।२।१)
तपसापहतपाप्मा। (मैत्री० उ० ४।४)
ज्ञानमयं तपः। (मुण्ड० उ० १।९)
ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञं तपः भूर्भुवःसुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः॥
(महानारा २।१०)
तपो नानशनात्परं। (महानारा० २१।२)
तपसा देवता देवतामग्र आयन्, तपस ऋषयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नाप्रणुदामरातीः। (महानारा० २२।१)
येषां तपो ब्रह्मचर्यं। (प्रश्न उ० १।१५)
तपो वैराग्यं। (महा० २)
शारीरं तपः, वाङ्मयं तपः, मानसं तपः।
(भ. गी. १७।१४-१६)

"दान देना, अध्ययन करना, व्याख्यान देना, ज्ञान प्राप्त करना, सत्य पालन करना, सरलताका आचरण करना, शान्त रहना, इंद्रियदमन करना, विकारोंका शमन करना, यजन करना, अनशन करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, वैराग्य धारण करना यह सब तप है। तपमें शारीरिक, मानसिक और वाचिक ऐसे तीन भेद हैं और प्रत्येकमें सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे तीन तीन भेद होते हैं। तपसे पाप दूर होता है, तपसे ब्रह्मप्राप्ति होती है, तपसे मनुष्य देवत्व प्राप्त कर सकता है, तपसे ऋषियोंने स्वर्ग प्राप्त किया और तपसेही शत्रुओंको भगाया जाता है।" यह तपका वर्णन देखने योग्य है। यहां यज्ञ और दान यह तप है ऐसा जो कहा है वह विचार करने योग्य है। यज्ञ करने और दान देनेमें जो परिश्रम होते हैं वह उनमें तप है, ऐसा यहां समझना योग्य है।

दान।

अब दानके विषयमें उपनिषद्वचन देखिये—
एतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयाम्। (बृ० उ० ५।२।३)
दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशंसन्ति दानान्नातिदुष्करं तस्माद्दाने रमन्ते॥ दानं... दानेनारातीरपानुदन्त दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं परमं वदन्ति। (महानारायण० २१।२; २२।१)

'इंद्रियदमन, दान देना और दया करना इन तीनोंका शिक्षण लेना हरएकको योग्य है। दानकी प्रशंसा सब कोई करते हैं, दानसे अधिक

दुष्कर कोई नहीं हैं, दानमेंहि सबकी स्थिति है, यही दानकी श्रेष्ठता है।' यह दानका महत्त्व विचार करने योग्य है। अब यज्ञके विषयमें देखिये—

यज्ञ।

त्रयो धर्मस्कंधा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। (छां. उ. २।२३।१)
पुरुषो वाव यज्ञः। (छां. ३।१६।१)
एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते। यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः। (छां. उ. ४।१६।१)
भेषजकृतो ह वा एष यज्ञः। (छां. उ. ४।१७।८)
यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्। (छां. उ. ८।५।१)
असुरान् यज्ञ उद्गीतेनात्ययाम। (बृ. उ. १।३।१)
अहं ब्रह्म अहं यज्ञः। (बृ. १।५।१७)
वाग्वै यज्ञस्य होता, चक्षुर्वैयज्ञस्याध्वर्युः, प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा। (बृ. ३।१।१-६)
यज्ञः प्रजापतिः। (बृ. ३।९।६)
विज्ञानं यज्ञं तनुते। (तै० उ० २।५।१)
यज्ञो विष्णुः प्रजापतिः। (मैत्री. उ. ६।१६)
यज्ञस्तपः। (म० नारा. ८।१)
शरीरं यज्ञः। (म० नारा. २०।१२)
यज्ञेन हि देवा दिवं गता, यज्ञेनासुरानपानुदन्त, यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति। (म० ना० २३।१)
यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च। (प्रश्न० उ० २।६)
स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामि॥ (प्राणाग्नि. २)

"यज्ञ, अध्ययन और दान ये धर्मके तीन आधार हैं। मनुष्यका जीवन ही यज्ञ है। जो सबकी पवित्रता करता है वह यज्ञ है। यज्ञ औषधियोंके हवनसे किये जाते हैं। ब्रह्मचर्य ही एक यज्ञ है। यज्ञमें उद्गीथसे असुरोंको दूर भगाया जाता है। मैंहि यज्ञ हूं (मेरा जीवन यज्ञरूप हो)। वाणी, नेत्र, प्राण और मन ये क्रमशः आत्मयज्ञके होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा है। यज्ञ ही प्रजाका पालन करता है। विज्ञान यज्ञका विस्तार करता है। यज्ञ ही परमेश्वरस्वरूपी प्रजापालन करनेवाला है। यज्ञ तप है। शरीर ही यज्ञ है। यज्ञसे देवोंने स्वर्ग प्राप्त किया, यज्ञसे असुरोंको दूर भगाया, यज्ञसे शत्रु मित्र बनते हैं, यज्ञमें सब कुछ रहा है, इस लिये यज्ञकी सबसे श्रेष्ठता मानी है। क्षात्रबल और ब्राह्मणोंका ज्ञान यह यज्ञही ही है। अपने शरीरमें यज्ञ परिवर्तित करना चाहिये।"

इस तरह यज्ञ, दान और तपका वर्णन उपनिषदोंमें किया है। इनका इतना महत्त्व होनेसे ही इनके आश्रयसे सब कुछ है ऐसा कहा है, और इसी लिये सब जगत्के आधारभूत यज्ञ-दान तप कभी छोडने नहीं चाहिये, और इनका आचरण अवश्यमेव करना चाहिये ऐसा कहा है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्। (गी. १८।५)

क्योंकि यज्ञ दान और तपसे मनुष्योंकी पवित्रता होती है। इसलिये हरएक मनुष्यको अपनी पवित्रताके लिये इनका पालन अवश्यमेव करना आवश्यक है।

इन कर्मोंको करना तो योग्य है परंतु फलभोगका संग करनेका विचार छोडना चाहिये, अपने भोग बढानेके हेतुसे इनका आचरण कोई न करे, प्रत्युत कर्तव्य समझकर इनको करे और करनेके पश्चात् जो फल मिले वह जनताकी भलाईके लिये अर्पण करे। ऐसा करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है।

अब त्यागका त्रिविध रूप देखिये—

(३) तीन प्रकारका त्याग।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

अन्वयः— नियतस्य कर्मणः तु संन्यासः न उपपद्यते। मोहात् तस्य परित्यागः तामस परिकीर्तितः ॥ ७ ॥ यः दुःखं इति (मत्वा) एव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्, स राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं न एव लभेत् ॥८॥ हे अर्जुन ! कार्यं इति (मत्वा) एव यत् नियतं कर्म, संगं फलं च एव त्यक्त्वा क्रियते, सः त्यागः सात्त्विकः मतः ॥ ९ ॥

नियत कर्मका त्याग करना उचित नहीं है। यदि कोई अज्ञानवश नियत कर्मका त्याग करेगा तो उस त्यागको 'तामस त्याग' कहते हैं ॥ ७ ॥ दुःख समझकर शरीरको कष्ट होनेके डरसे जो कर्मोंको त्यागते हैं, वह 'राजस त्याग' है, इसलिये त्याग करनेपर भी उसे त्यागका फल नहीं मिलता ॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! अपना कर्तव्य है ऐसा मानकर, जो नियत कर्म, आसक्ति और फल-भोगेच्छा छोडकर किया जाता है, उस त्यागको 'सात्त्विक त्याग' कहते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— धर्म्य कर्मका त्याग अज्ञानसे किया जाय तो वह तामस है, दुःखके भयसे किया जाय तो वह राजस है, और नियत कर्म करके जो फलासक्तिका त्याग करना है वह सात्त्विक त्याग कहलाता है ॥ ७-९ ॥

(७-९) यहां कर्मका त्याग करनेके तीन भेद बताये हैं। कर्मका त्याग 'सात्त्विक, राजस और तामस' ऐसा तीन प्रकारका है। राजस और तामस त्याग बडा हानि करनेवाला है, क्योंकि इसमें कर्म ही त्यागा जाता है।

तामस त्याग।

'नियत कर्तव्यकर्मका त्याग कभी करना नहीं चाहिये, परंतु मोहसे और अज्ञानसे जो लोग आवश्यक कर्तव्यकर्मका भी त्याग करते हैं, अर्थात् कर्तव्य भी नहीं करते, और कर्तव्य त्यागनेके कारण अपने आपको संन्यासी बताते हैं, वह उनका त्याग तामस अर्थात् अज्ञानजन्य है (गी. १८।७)। तामस त्याग हानिकारक है क्योंकि (अधो गच्छन्ति तामसाः। गी. १४। १८) तामस लोग अवनत होते हैं, ऐसा स्पष्ट कहा है। जो अपना कर्तव्यकर्म छोड देते हैं उनकी निःसंदेह अधोगति होगी इसमें क्या संदेह है ?

यह कर्तव्यकर्मका त्याग होनेसे दुःखकारक है। जो त्याग भ०गी० ने करनेका आदेश दिया है वह त्याग यह नहीं है। वह कर्मके फलका त्याग है। उसके करनेसे जनताका दुःख न्यून होना संभव है, परंतु कर्मका ही त्याग करनेसे और अपना कर्तव्य न करनेसे, अपने जीवन के लिये अत्यंत आवश्यक कर्तव्य भी न करनेसे उसका भार दूसरोंपर पडता है, इस कारण कर्तव्यत्याग करनेवाले संन्यासी जनताका दुःख बढाते हैं। इसका एक उदाहरण देखिये—

कर्तव्यत्यागसे दुःख।

प्रत्येक मनुष्यके जीवित रहनेके लिये अन्न और जलकी आवश्यकता है, इस कारण संन्यासीको भी अन्न और जलकी आवश्यकता निःसन्देह है। खानपानकी प्राप्तिके लिये जो कुछ यत्न करना आवश्यक है, वह तो करना ही चाहिये। यदि यह संन्यासी कुछभी नहीं करेगा, तो इसके जीवननिर्वाह के लिये दूसरोंको कष्ट उठाना ही पडेगा। इससे दूसरोंको अपने जीवनके लिये तथा इसके जीवनके लिये यत्न करनेका भार सहना पडेगा। इस तरह जनताके कष्ट इसके कर्तव्यत्यागसे बढेंगे।

एक मनुष्यके कर्तव्यकर्मके त्यागसे यदि अन्योंके कष्ट बढते हैं, तो वैसे कर्मत्याग करनेवाले बहुत हुए तो वह समाज दुःखी होगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि संन्यासी अपना अन्न पकावे और अपने लिये पानी भर लावे। इसके लिये कोई दूसरा ये कर्म करे, परंतु संन्यासी ऐसे कर्म करे कि जिससे जनता सत्यज्ञानसे युक्त हो और अपना कर्तव्य करनेमें समर्थ बने। ऐसा सत्यज्ञान का प्रदान करनेवाला जो होगा वह अपने खानपानके लिये दूसरोंकी सेवा ले सकता है। अस्तु। इस तरह विचार करनेपर कर्तव्य का त्याग करनेसे जगत्में दुःख किस तरह बढ सकता है, इसका पता पाठकोंको हो जायगा। यह तामस त्याग अज्ञानसे ही होता है।

राजस त्याग।

राजस त्याग दुःखके भयसे होता है। कर्म करनेमें जो दुःख होगा और जो शरीरको कष्ट होंगे, उनके डरसे जो कर्म छोडे जाते हैं वह राजस त्याग है। शरीरकी सुंदरतामें बिघाड होगा, कपडोंकी स्वच्छता और बालोंकी सुंदरता बिगडेगी, इसलिये जो लोग कर्तव्यकर्म करना छोड देते हैं उसको राजस त्याग कहते हैं। कई युवक व्यायामशालामें जाते नहीं और वहां इस लिये मल्लयुद्ध (कुश्ती) खेलते नहीं कि शरीरको और कपडोंको मिट्टी लग जाय और शानमें न्यूनता आजाय। शरीरकी सुंदरता और कोमलताकी रक्षा करनेके लिये शरीरका स्वास्थ्य और बलका त्याग ये लोग करते हैं। शरीरस्वास्थ्य और बल लाभदायक है, वैसी कोमलता लाभकारी नहीं। परंतु ये राजस प्रवृत्तिके लोग क्षणिक सुख की आशासे शाश्वत सुख को त्यागते हैं। और पश्चात् यह होता है कि शाश्वत सुख तो मिलता ही नहीं, परंतु जिस सुखकी आशा वे करते हैं, वह क्षणिक सुखभी उनको नहीं मिलता। इस तरह दोनों सुखोंसे वंचित होते हुए वे अत्यंत दुःखमें गिरते हैं।

राजस त्याग यह इस प्रकार दुःखका हेतु बनता है। यह राजस त्याग करनेपर भी उसको त्याग का सुफल मिलता नहीं, क्योंकि यह कर्तव्यका ही त्याग है। कर्तव्यका त्याग करनेसे लाभ कैसा होगा? इस तरह तामस और राजस त्याग हानिकारक है। अब सात्त्विक त्याग का विचार करते हैं—

सात्त्विक त्याग।

सात्त्विक त्यागमें कर्तव्यकर्म उत्तम रीतिसे किया जाता है, परंतु उस कर्मके फलका स्वयं

(४) सच्चा त्यागी ।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्यते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

अन्वयः— (यः) त्यागी सत्त्वसमाविष्टः मेधावी छिन्नसंशयः (च भवति सः) अकुशलं कर्म न द्वेष्टि, कुशले च न अनुषज्यते ॥ १० ॥ देहभृता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यं, यः तु हि कर्मफलत्यागी सः त्यागी इति अभिधीयते ॥ ११ ॥

जो त्यागी सत्त्वयुक्त, बुद्धिवान् और संदेहरहित होता है, वह कुशलता-रहित कर्मका द्वेष नहीं करता और कुशलतायुक्त कर्ममें रममाण भी नहीं होता ॥ १० ॥ देहधारण करनेवाले मनुष्यके लिये कर्मोंका संपूर्ण त्याग संभव नहीं है, अतः जो कर्मफलका त्याग करता है, वही त्यागी कहलाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो ज्ञानी और जो निःसंदेह होकर कर्मका रहस्य जानता है, वह सात्त्विक त्यागी किसी कर्मका विशेष आदर और दूसरे का निरादर नहीं करता, क्योंकि हरएक नियत कर्मका कुछ न कुछ उपयोग होताही है, यह तत्त्व वह जानता है । वस्तुतः देखा जाय तो मनुष्य संपूर्ण कर्मोंका त्याग कभी कर नहीं सकता, क्योंकि जीवन भी एक कर्मही है, अतः कर्मफलका त्याग करना ही सच्चा और श्रेष्ठ त्याग है ॥ १०—११ ॥

भोग करनेकी इच्छा भी नहीं की जाती और कर्मका सब फल जनताकी भलाईके लिये समर्पण किया जाता है । इस कारण यह कर्म निर्दोष होता है और उससे सबका भला होता है ।

इस सात्त्विक त्यागमें कर्मका त्याग नहीं होता, प्रत्युत कर्मफलका सबके हित करनेके लिये पूर्णतया समर्पण होता है । जैसा कोई फलोंका उद्यान लगावे और फलोंकी प्राप्ति होनेपर उन फलोंको गुरुकुलके विद्यार्थियोंको अर्पण करे । यहां कर्म तो हुआ, परंतु फलका त्याग हुआ, और फलभोग का संगभी नहीं रहा । जिस राष्ट्रमें ऐसे सात्त्विक त्यागी बहुत होंगे, उस राष्ट्रमें जनता अधिक सुखी होगी । इस लिये यह सात्त्विक त्याग सबकी उन्नति करनेवाला है, इसी कारण (ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः । गी० १४।१८) सात्त्विक लोगोंकी उन्नति होती है ऐसा कहा है, वह प्रत्यक्ष ही है । यहां सबके उपकार के लिये स्वयं कष्ट करना होता है, स्वयं दुःख-भोग कर दूसरोंको सुखी करनेका यत्न होता है । राजस प्रवृत्तिमें शारीरिक कष्टोंके भयसे ही कर्म छोडे जाते हैं और तामस प्रवृत्तिमें अज्ञान के कारण कर्म छोडे जाते हैं । पाठक यहां तामस, राजस और सात्त्विक कर्मत्यागका स्वरूप जानें । सात्त्विक त्यागही सच्चा त्याग है । पाठक इसका स्वरूप विशेष सूक्ष्म रीतिसे देखें-

सच्चा त्यागी ।

(१०-११) सच्चा त्यागी कैसा होता है। यह यहां उत्तम और स्पष्ट शब्दोंमें कहा है । यह सच्चा त्यागी (मेधा-वी) बुद्धिवान् होता है, धारणावती बुद्धिका नाम मेधा है । जो अध्ययन किया है, उसको मस्तिष्कमें जो धारण कर सकता है, और जो अपना ज्ञान सदा तेजस्वी रखता है, सदा उपस्थित रख सकता है, भूलता नहीं, वह मेधावी है । ऐसा मेधावीहि सच्चा त्यागी हो सकता है । इसके उत्तम ज्ञानके कारण यह (छिन्न-संशयः) संदेहरहित होता है, वह अपनी प्रबल युक्तिसे कर्तव्याकर्तव्य ठीक तरह जान लेता है, कर्म करनेकी रीतिके विषयमें उसे कोई संदेह नहीं होता । जो करता है आत्म-विश्वाससे करता है। जो करता है कर्तव्यबुद्धिसे करता है। जो करता है ठीक तरह करता है, अर्थात् निडर होकर करता है । बुद्धिमत्ता और संदेहरहितता ये दो गुण यहां सच्चे त्यागीके हैं ।

इसके पश्चात् वह (सत्व-समाविष्टः) सत्व-रूपी बलसे युक्त होता है । सत्व नाम उस बलका है जिससे शरीर, मन और बुद्धि की धारणा होती है । यही सच्चा बल है जिससे जीवन धारण होता है ।

ये तीन गुण (मेधावी, छिन्नसंशयः, सत्व-समाविष्टः) सच्चे त्यागीमें अवश्य रहने चाहिये, जिससे फलत्याग करनेका सामर्थ्य उस सात्विक मनुष्यमें स्थिर रह सकता है । जिस मनुष्यमें ये शुभगुण रहेंगे, उसमें असाधारण सामर्थ्य उत्पन्न होगा, इसमें संदेहही नहीं है; क्योंकि अज्ञान, संदेह और सत्वहीनता ये दुष्ट गुण मनुष्यकी शक्ति घटाते हैं, इनमेंसे एक एक मनुष्यको निर्बल करनेवाला है, फिर जहां ये तीनों अनिष्ट गुण रहेंगे, वहां की शोचनीय निर्बलताका ठिकानाही क्या होगा ? अतः ज्ञान, बुद्धिमत्ता, संदेहरहितता और संपन्नता ये गुण मनुष्यका सामर्थ्य बढाते हैं इस कारण और सामर्थ्यके विना त्याग का होना असंभव है, इसलिये सच्चे त्यागके लिये इन शुभगुणोंकी अत्यंत आवश्यकता है ।

कर्मत्याग-असंभव ।

देहभृता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यं ।
(११)

' देहधारी मनुष्य अशेष कर्मोंका त्याग करनेमें असमर्थही है । ' कर्मत्याग करनेसे उसका मृत्युही होगा । इसलिये जीवित रहनेके लिये कुछ न कुछ कर्म करनाही चाहिये । जीवनके लिये कर्म अत्यंत आवश्यक सिद्ध होनेपर वह कर्म कैसा किया जाय और उस कर्मके दोषोंसे किस तरह अपने आपको बचाया जाय, यही देखना चाहिये । मनुष्य कर्म करे, परंतु उसका फल जनतारूपी जनार्दनके लिये समर्पण करे, जिससे उस कर्मफलत्यागके साथ उस कर्मके सब दोष धुले जांयगे और कर्ता निर्दोष होकर विराजेगा । अत—

यः कर्मफलत्यागी सः त्यागी इति अभिधीयते ॥
(११)

' जो कर्मके फलका त्याग करता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है । ' मनुष्य फल प्राप्त होनेपर उसका दान, समर्पण अथवा त्याग कर सकता है । जैसा किसी वैश्यने खेत किया और उस खेतकी कृषीरूप कर्म करनेसे उसको धान्य-रूपी फल प्राप्त हुआ । इस समय उसका इस धान्यपर अधिकार हुआ । यह अधिकार होनेके पश्चात्ही वह उसका भोग करे, दान करे, समर्पण करे अथवा त्याग करे । इनमेंसे जो चाहिये सो किया जा सकता है । सब लोग भोग करनेवालेहि होते हैं, इसलिये भोगेच्छाके कारण वे सब फलको अपने संग्रहमें इकट्ठा करनेमें लगते हैं और दोषी हो जाते हैं । यदि वे फलका त्याग करेंगे, तो निःसंदेह निर्दोष होंगे । इसका

(५) कर्मका त्रिविध फल।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अन्वयः— अनिष्टं, इष्टं, मिश्रं च इति त्रिविधं कर्मणः फलं प्रेत्य अत्यागिनां भवति, संन्यासिनां तु क्वचित् न (भवति)॥ १२॥

अनिष्ट, इष्ट और संमिश्रित (इष्टानिष्ट) ऐसा कर्मका तीन प्रकारका फल, कर्मफलका त्याग न करनेवालोंको होता है। परंतु कर्मफलका त्याग करनेवाले संन्यासियोंको उन तीनों फलोंकी प्राप्ति किसी समयमें भी नहीं होती ॥१२॥

भावार्थ— मनुष्य जो कोई कर्म भोगलालसासे करता है, उस कर्मका उसको कभी शुभ फल मिलता है कभी अशुभ मिलता है और कभी संमिश्रितसा मिलता है। परंतु जो मनुष्य निष्कामभावसे फलभोगकी कामना त्याग करके अपना नियत कर्म करता है, उसको उस कर्मके साथ भोगवासना न रहनेके कारण, उसको वैसा कोई फल नहीं मिल सकता, क्योंकि फल तो उसने त्यागहि दिया होता है, फिर वह फल शुभ हो या अशुभ, उसका उसके साथ कोई संबंधही नहीं होता ॥ १२॥

संक्षेपसे सार यह है कि कर्मके फलको अपने पास संग्रहित करके रखना नहीं चाहिये, उसका त्याग ईश्वरकी प्रीतिके लिये कर्तव्यबुद्धिसे करना चाहिये।

अब कर्मफलका स्वरूप बताते हैं। कर्मका फल विविध प्रकारका होता है, उसका अब विचार करेंगे—

त्रिविध फल।

(१२) प्रत्येक कर्मका अनिष्ट फल, इष्ट फल तथा मिश्र अर्थात् इष्टानिष्ट फल होता है। किसी कर्मसे इष्ट फल होगा, किसीसे अनिष्ट होगा, और किसीसे इष्टानिष्ट होगा। यह त्रिविध फल किसको प्राप्त होता है और किसको नहीं यहभी निश्चित हुआ हुआ है।

अत्यागिनां कर्मणः फलं भवति
संन्यासिनां तु न। (१२)

'जो कर्मके फलका त्याग नहीं करते उनके लियेहि इष्टानिष्ट फलभोग भोगने पडते हैं, अतः इष्टफलसे सुख और अनिष्ट फलसे दुःख भोगना उनके लिये आवश्यकही होता है। उदाहरणके लिये देखिये–किसीने ईखकी खेती की, उससे बहुत गुड तैयार हुआ, वह सब उसने अपने उपभोगके लिये किसी स्थानपर संग्रहित किया, पश्चात् वृष्टि हुई और उस स्थानपर पानी भर गया और सब गुड खराब हुआ। यह गुडके नाशका दुःख उसको इसलिये भोगना पडा, कि उसने अपने कर्मके फलका संग्रह अपने पास कर रखा था। यदि उस गुडकी विक्रीसे उसे बहुत धन प्राप्त हुआ तो उसे बडा आनंद होगा। इस तरह इष्ट तथा अनिष्ट अवस्थाओंमें यह हिलता और सुखदुःख भोगता रहता है। इससे मुक्तिका मार्ग एकही है और वह यह है कि वह कर्मफलका त्याग करे। देखिये इसका उदाहरण यह है—

उसी किसानने एक वर्ष सब अपना सब गुड सब जनताकी सेवा करनेके शुद्ध भावसे राजाके पास दान किया। राजाकी अपनी शासन-व्यव-

(६) पांच कारण ।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

अन्वयः- हे महाबाहो ! सर्वकर्मणां सिद्धये कृतान्ते (कृत+अन्ते) सांख्ये प्रोक्तानि इमानि पञ्च कारणानि मे निबोध ॥ १३ ॥ अधिष्ठानं, तथा कर्ता, पृथग्विधं करणं च विविधाः पृथक् चेष्टाः, अत्र दैवं पंचमं एव (भवति) ॥ १४ ॥ नरः शरीरवाङ्मनोभिः न्याय्यं वा विपरीतं वा यत् कर्म प्रारभते, तस्य (एते) पञ्च हेतवः (सन्ति) ॥ १५ ॥

स्थासे इस गुडका उपयोग प्रजापालनमें किया जायगा, तथा इस कर्मकर्ताका भी पालन राजप्रबंधसेही होता रहेगा। इस गुडके दान करनेसे उसकी रक्षाकी चिन्ता उसको नहीं रही, इस कारण जलप्रलयसे गुडके नाश होनेका दुःखभी उसको नहीं रहा। गुडविक्रीसे प्राप्त होनेवाला धन रक्षण करनेका कष्टभी नहीं रहा, अपने योगक्षेमकी भी चिन्ता नहीं रही, क्योंकि सब प्रकारसे राजप्रबंधद्वाराही उसका योगक्षेम होताही रहेगा, यह उसका निश्चयही है ।

इस तरह कर्मका फल प्रजापतिको समर्पण करनेमें और प्रजापतिद्वारा सबका योगक्षेम चलानेमें सबका लाभ है और फलसंगके दोषसे सब लोग इसी एक उपायसे मुक्त हो सकते हैं। कर्मफलका विनियोग तो कई रीतियोंसे हो सकता है—

१ कर्मफल-दान- कर्मका फल किसीको विशेष उद्देश्यसे देना,

२ कर्मफल-त्याग- कर्मके फलका त्याग करना और उसपरका अपना अधिकार छोडना,

३ कर्मफलसमर्पण- कर्मके फलको पूर्ण रीतिसे किसीके आधीन करना,

४ कर्मफलसंन्यास- कर्मके फलका संपूर्ण रीतिसे न्यास करना, अर्थात् किसी स्थानपर उसको सुरक्षित रखना, अपने पास नहीं, परंतु जहां वह सुरक्षित रह कर सबकी भलाईके कार्यमें लग जाय, ऐसे स्थानपर रखना ।

ऐसी अनेक रीतियें कर्मफलत्यागकी हैं । किसीभी पद्धतिसे त्याग किया जाय तो वह कर्ताके लिये शान्ति देनेवालाही होता है । इसलिये यहां कहा है कि, कर्मफलका त्याग न करनेवालोंकोही कष्ट होते हैं, कर्मफलके संन्यास या त्याग करनेवालोंको कोई कष्ट नहीं होते। पाठक इसका विशेष मनन करें और यह उपाय किस तरह व्यवहारमें लाया जा सकता है, इसका विचार निश्चित करें। अब और कर्मका विचार देखिये—

हे महाबाहूवाले अर्जुन! सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये, कर्मके दोषका अन्त करनेवाले सांख्य शास्त्रमें, ये पांच कारण बताये हैं, उनको तू जान ॥ १३ ॥ आधारक्षेत्र, कर्ता, अनेक प्रकारके साधन, अनेक प्रकारकी क्रियाएं, ये चार और यहां पांचवां दैव होता है ॥ १४ ॥ मनुष्य शरीर, वाणी और मनके द्वारा योग्य अथवा अयोग्य जो कुछ कर्म करता है, उसके ये पांच हेतु होते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ-सांख्यशास्त्र कर्मोंके दोषोंका समूल नाश करनेवाला शास्त्र है। उस शास्त्रमें कर्मके पांच कारण कहे हैं। क्षेत्र, कर्ता, साधन, क्रिया और दैव। शरीर, वाणी और मनसे मनुष्य जो कर्म करता है, उसमें ये पांच हेतु होते हैं। फिर वह कर्म धर्मानुकूल हो अथवा प्रतिकूल ॥ १३-१५ ॥

कृतान्त सांख्य।

(१३-१५) सांख्यशास्त्रको कृतान्त कहते हैं, इसका कारण यह है कि उस सांख्यशास्त्रके अनुसार समबुद्धियुक्त होकर कर्म करनेसे वह कर्म निर्विघ्नतासे अन्ततक पहुंचता है, बीचमें किसी प्रकार विघ्नोंकी बाधा नहीं होती और बीचके विघ्नोंसे कार्यकी क्षतीभी नहीं होती। सांख्यशास्त्रका यह महत्त्व है।

इस कृतान्त सांख्यशास्त्रमें सब कर्मों की सिद्धताके लिये जो कारण कहे गये हैं, वे ये हैं—(१) अधिष्ठान, आधारक्षेत्र, (२) कर्ता, (३) करण-अनेक प्रकारके साधन, (४) अनेक प्रकारकी क्रियाएं, और (५) पांचवां दैव। ये पांच साधन हैं जिनसे हरएक प्रकारके कर्मकी सिद्धता होती है।

अधिष्ठान।

इन पांच साधनोंमें गौण कौनसे हैं और मुख्य साधन कौनसे हैं, इसका विचार यहां करना चाहिये। सबसे प्रथम अधिष्ठान है। अधिष्ठानका अर्थ आधारक्षेत्र। कर्ताको ठहरने के लिये कुछ स्थान चाहिये। उसीका नाम अधिष्ठान है। इसी तरह कर्मके साधन रखनेके लिये और क्रिया करनेके लिये भी स्थान चाहिये। ठहरनेके लियेहि स्थान न रहा, तो कर्ता अपना कर्म कहां करेगा? इसलिये उक्त पांचों साधनोंमें अधिष्ठान मुख्य है, इसी लिये इसको सबसे प्रथम गिना है।

कर्ता।

इसके पश्चात् ' कर्ता ' मुख्य है। क्योंकि कर्ताही कर्म करता है, कर्ताही सब प्रकारकी क्रियाएं कर सकता है, साधनोंका उपयोग करनेवाला कर्ताही होता है। साधन न रहे तो कर्ताही उनको निर्माण करके उनका उपयोग कर सकता है। इसलिये ' कर्ता ' का महत्त्व अत्यधिक है। विविध चेष्टा और दैव इन तीनों की अपेक्षा कर्ताकी प्रधानता विशेष है। क्योंकि इनके दोष दूर करनेवाला कर्ता है और अपनी कुशलतासे इनकी हीनताको दूर करना उत्तम कर्ताही कर सकता है। इस तरह कर्ताका महत्त्व पाठक जानें।

करण।

कर्ताके पश्चात् (पृथग्विधं करणं) विविध प्रकारके साधनोंका विचार होता है। कर्ताके ये सहाय्यक होते हैं, जैसे सुतार तर्खाणके सहायक विविध प्रकारके अवजार होते हैं, कुंभारके साधन चक्र मिट्टी आदि होते हैं,

चित्रकारके साधन वर्ण, फलक आदि होते हैं, ये सब करण अथवा उपकरण हैं। ये साधन जितने अच्छे होंगे, उतना कार्य अच्छा होगा और इनमें यदि दोष रहे, तो कार्यमें भी दोष होंगे। साधनोंके कई दोष कर्ता दूर कर सकता है, इसमें संदेह नहीं है, परंतु उसके लिये कर्ता को अपनी शक्ति लगानी पडती है और निर्दोष साधनोंकी उपस्थितिमें उतनी कर्ताकी शक्ति बच जाती है। इसलिये करणोंकी निर्दोषता अवश्यही रहनी चाहिये।

विविध चेष्टा।

कार्यके करनेके लिये कर्ता इन साधनोंको अपने पास लेता है और उनसे विविध चेष्टा करता है। इन चेष्टाओंसे कार्यकी सिद्धि होती है। अधिष्ठान, कर्ता और सब साधन तथा दैव इन सबकी अनुकूलता रहनेपर कर्ताने विविध आवश्यक चेष्टाएं न कीं, तो कार्यसिद्धि कभी नहीं होगी। जो लोग 'दैव' कोहि प्रधान मानते हैं, उनको आवश्यक है कि वे इन कर्ता की चेष्टाओंका महत्त्व जानें, जिनके विना कोई कार्य बननेकी संभावनाही नहीं है।

दैव।

'दैव' यह अन्तिम कारण है। दैवका अर्थ परिस्थितिकी अनुकूलता। उत्तम साधनसंपन्न कुलमें जन्म होना, उत्तम कुशल लोगोंके घरमें जन्म होना, उत्तम कर्तृत्ववान् पुरुषोंके देशमें जन्म होना, यह दैवयोगसेहि होता है। कर्ताका प्रयत्न और दैवकी अनुकूलता इनपर कर्मकी सिद्धि अवलंबित है।

पुरुषार्थ श्रेष्ठ अथवा दैव श्रेष्ठ, यह वाद बहुत ही प्रबल है। कई लोग पुरुषार्थको प्रधान मानते हैं और कई लोग दैवको प्रधान मानते हैं। परंतु गीतामें 'दैव' को पांचवां कारण माना है, पहिला नहीं माना। संपूर्ण अध्यात्मशास्त्रोंमें पुरुषार्थको प्रधान और दैवको गौण माना है। परंतु जो मानते हैं कि 'दैव' कुछ भी नहीं है, वे ठीक नहीं मानते। कलका कर्म आज दैव होकर पीछे लगता है, यह ठीक है, परंतु वह दैव बनने पर उसका प्रभाव होता ही है।

जैसा कल भोजनमें अत्यधिक अन्न खाया, जिस पुरुषार्थका परिणाम आज दैवरूपसे होकर आज अजीर्ण हुआ और पेट दूखने लगा। यह दैव कलकेअपनेही पुरुषार्थका परिणाम है, इसमें संदेह नहीं है, परंतु एक वार पुरुषार्थका दैवमें रूपान्तर हुआ, तो वह दैव पीछे लगताही है। अत्यशन करनेसे पेट दर्द करने लगा तो उसे भोगनाही चाहिये। इसी तरह सब प्रकारके दैवके विषयमें जानना योग्य है। यह दैव प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण आदि प्रकारसे अनेकविध होता है। इसी तरह उपादान कारण, निमित्त कारण, समवाय कारण आदि कारणोंमें भी अनेक प्रकार हैं। परंतु इन भेदोंका विचार करनेकी यहां हमें आवश्यकता नहीं है। ये पांच कारण हैं, इतनाही यहां देखना और समझना चाहिये और इनका परस्पर संबंध जानना चाहिये।

मनुष्य अपने शरीरसे, वाणीसे, मनसे जो कुछ कार्य करता है, वह कर्म न्याय्य हो या अन्याय्य हो, वह धर्म्य हो वा अधार्मिक हो, वह योग्य हो वा अयोग्य हो, उसके ये पांच हेतु होते हैं। इन पांचों हेतुओंके निर्दोष होनेसेही वह कर्म उत्तम बनता है। इसका विचार हर-एक साधकको अवश्य करना चाहिये।

अपना अधिष्ठान कैसा है, अपना कर्तृत्व कैसा है, अपने साधन कैसे हैं, अपनी विविध चेष्टाएं कैसी होती हैं, और दैवकी अनुकूलता है वा प्रतिकूलता है, इन सबका विचार हरएक साधकको करना चाहिये। क्योंकि इनमें जहां जितना दोष होगा, वहां उतनी सिद्धिमें न्यूनता अवश्य होगी।

(७) कर्ता और अकर्ता।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

अन्वयः— तत्र एवं सति यः तु केवलं आत्मानं कर्तारं पश्यति, सः दुर्मतिः अकृतबुद्धित्वात् न पश्यति ॥१६॥ यस्य अहंकृतः भावः न, यस्य बुद्धिः न लिप्यते; सः इमान् लोकान् हत्वा अपि न हन्ति, न निबध्यते ॥१७॥

यह सत्य होते हुए जो केवल अपने आत्माको ही कर्ता मानता है, वह हीन मतिवाला संस्कारहीन बुद्धिके कारण कुछ भी नहीं जानता ॥ १६ ॥ जिसको अहंकार का भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह, इन सब लोगोंका वध करनेपर भी वध न करनेके समानही (निर्दोष) है, अतः वह बंधनमें नहीं पडता ॥ १७ ॥

भावार्थ— प्रत्येक कर्मको उक्त पांच कारण हैं, यह सार्वकालिक सत्य है, इसको न मानना और अपनेको कर्ता समझना यह बुद्धिहीनता और संस्कारहीनताका लक्षण है। इसलिये जिसको यह कर्तृत्वाभिमान नहीं है, जिसकी बुद्धिमें दोष नहीं है, उसने सबका वध किया तो भी इस वधके दोषसे वह दोषी नहीं होता, अतः उसे बंधन में भी पडनेका कारण नहीं है। अर्थात् अहंकार के त्यागनेसे सब दोष दूर होते हैं ॥ १६-१७ ॥

कर्ता और उसके साधनोंका यह विचार हुआ। कर्ता अपना कर्म निर्दोष रीतिसे कैसा कर सकता है, यह इस विचारसे ध्यानमें आ सकता है। अब निर्दोष कर्ता कैसा हो सकता है इसका विचार करते हैं। कर्म करकेभी न करने के समान कर्ता निर्दोष किस तरह रह सकता है, इसका विचार अब होगा—

कर्मके साधन।

(१६-१७) अधिष्ठान, कर्ता, साधन, चेष्टा और दैव ये पांच साधन प्रत्येक कर्मके लिये रहते हैं। इन पांचोंके होनेसे ही हरएक कर्म होता है, इस लिये किसी कर्मके शुभाशुभ होनेका मूल इन पांचोंमें होना संभव है। ऐसा होते हुए कर्ताही अपने आपको अहंकारसे किसी कर्मका पूर्ण कर्ता किस तरह मान सकता है ? मनुष्य अहंकारवश अपने आपको कर्ता मानता ही है और जिस समय कोई कर्म विशेष प्रशंसनीय होता है, उस समय तो ' यह कर्म मैंने किया,' ' मैं हि इसका कर्ता हूं' ऐसी घमंड मारता है, परंतु ऐसे समय यह सोचना चाहिये, कि इस कर्मके बननेमें अधिष्ठान, कर्ता, विविध साधन, विविध चेष्टाएं और दैवका भाग कितना है। चारोंका भाग कितना और कर्ताका भाग कितना है, इसका विचार करना चाहिये।

इन सब पांचों हेतुओंमें ' कर्ता ' को प्रधान मानने और अन्य चारोंको गौण माननेपर भी, अन्य चारोंके प्रतिकूल होनेपर अकेला कर्ता

कुछ भी कर नहीं सकता, इसमें संदेह ही नहीं है। अतः जो कर्म पांचोंकी अनुकूलतासे हुआ है, उसके बननेके विषयमें अकेले कर्ताको अभिमान धारण करना अयोग्य है।

इनमें भी दैवके अनुकूल होनेमें मेरा कोई हाथ नहीं है, अधिष्ठान तो पहिलेसे ही है, चेष्टा करनेकी शक्ति अन्य किसीकी निर्माण की है, सब साधनोंका भागभी कर्मके होनेमें विशेषही है, इस तरह जो कर्म मैंने किया, वह बननेके लिये मेरे पूर्वसेही कैसी अनुकूलता बनती आयी है, इसका विचार कर्ताको करना चाहिये।

उदाहरणके लिये देखिये। आज मैंने रोटी बनायी है। जिन गेहूं की यह रोटी बनाई गयी उनके निर्माण करनेके लिये सेकडों और सहस्रों मानवोंके परिश्रम लगे हैं। खेत तैयार करनेमें, हलनिर्माणमें, खेती करनेमें, गेहूं पीसनेमें, जल लाने आदि कर्मोंमें सेकडों मानवोंके परिश्रम सहायक हुए हैं। अतः रोटीका निर्माण करना मेरे अकेलेके परिश्रमका कार्य निश्चयसे नहीं है। अतः रोटीके निर्माण करनेका अहंकार जो धारण करता है,वह व्यर्थ धारण करता है, इसमें संदेहही नहीं है। इसी तरह अन्य सब कार्योंके विषयमें जानना चाहिये।

इसलिये (केवलं आत्मानं कर्तारं पश्यति स दुर्मतिः) केवल अपनेको कर्ता मानना, केवल आत्माको कर्ता समझना, यह अहंकारमय दोषयुक्त बुद्धिका द्योतक है। यहां जो दुर्मतित्व है वह निराधार अहंकारके कारण हुआ है, व्यर्थ अहंकारके कारण मति दुष्ट हुई है। जैसा मैं नहीं हूं वैसा अपने आपको मानना यह दुष्ट मतिसेही होता है। प्रत्येक कर्मका कर्तृत्व अपने पास कितना है और कितना नहीं, इसका विचार करनेसे मनुष्यको स्पष्ट ज्ञात होगा कि मनुष्यके पास अहंकर करने योग्य कर्तृत्व नहीं है, जो कुछ कर्तृत्व मनुष्यके पास आसकता है वह अधिकसे अधिक पांचवाँ हिस्सा है और वह भी अन्योंकी अनुकूलतासेहि प्रभावित होनेवाला है। इसलिये जो अपने कर्तृत्वकी घमंड करता है, उसकी घमंड अयोग्य है, अस्थानमें है, असत्य है। अतः सबसे पहिले यह अहंकारका भाव मनुष्यको अपने अन्तः-करणसे दूर करना चाहिये। इस अहंकारसे अपनी मतिको दोषयुक्त बनाना किसीको भी उचित नहीं है।

जो इस तरह शुद्ध विचार करके (नाहंकृतः) अहंकारसे दूर रहता है, घमंड नहीं करता, अपने आपको कर्ता माननेका अविचार नहीं करता, घमंडसे जिसकी (बुद्धिः न लिप्यते) मति कलंकित नहीं होती जिसकी बुद्धि अहंकार-रहित होनेसे शुद्ध रहती है, निर्दोष होती है, ऐसा भद्र पुरुष इन सब सैनिकोंका (हत्वा अपि न हन्ति) वध करनेपर भी वध न करनेके समान निर्दोष रह सकता है और (न निबध्यते) वध-दोषके कारण उसे बंधन भी नहीं हो सकता।

कर्ता होनेपर भी अकर्ता होनेके समान वह निर्दोष रहता है। सेनापतिके शासनके नीचे रहनेवाले सैनिक युद्धमें अनेक शत्रुवीरोंका वध करते हैं, परंतु वह सब सेनापतिकी आज्ञासे होता है। इस लिये किसी सैनिकको किसी शत्रुवीरका वध करनेका दोष नहीं लगाया जाता और नहीं लग सकता। वह सैनिक भी अपने आपको उसका वधकर्ता नहीं कहता, क्यों कि वह अपनी स्वतंत्रतासे वह वधकर्म नहीं करता है, परंतु सेनापतिकी आज्ञासे वह केवल गोली चलाता है, जिससे शत्रुके वीर मरते हैं।

शत्रुके फलाने वीरको मारनेका अहंकार इसको नहीं था। इसलिये उसके वधका यह कर्ता नहीं है। अहंकारसेही कर्तृत्वका दोष होता है, इसलिये जिसने अहंकार छोड दिया, वह कर्ता

(८) त्रिपुटीकी त्रिविधता।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

(९) त्रिविध ज्ञान।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

अन्वयः- ज्ञानं, ज्ञेयं, परिज्ञाता इति त्रिविधा कर्मचोदना (अस्ति,) करणं, कर्म, कर्ता इति त्रिविधः कर्म-संग्रहः (अस्ति) ॥ १८ ॥ ज्ञानं, कर्म च कर्ता च त्रिधा एव गुणभेदतः गुणसंख्याने प्रोच्यते, तान् अपि यथावत् शृणु ॥ १९ ॥

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यह तत्त्व कर्मकी प्रेरणामें है, तथा साधन, क्रिया और कर्ता ये तीन प्रकारके कर्मके अंग हैं ॥ १८ ॥ ज्ञान, कर्म और कर्ता गुणके त्रिविध भेदके कारण तीन प्रकारके होते हैं, उनका वर्णन जैसा है, वैसा तू श्रवण कर ॥ १९ ॥

भावार्थ- ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यह कर्मप्रेरक त्रिपुटी है; करण (साधन), कर्म और कर्ता यह त्रिपुटी कर्मसाधक है। सत्त्व रज तम इस गुणभेदके कारण इनके तीन भेद होते हैं, उनका विचार अवश्य करना योग्य है ॥ १८-१९ ॥

होनेपरभी अकर्ता जैसाही निर्दोष रहता है। कर्मोंके दोषोंसे बचनेका यह एकमात्र साधन है, जिसके अवलंबनसे साधक निरहंकार वृत्ति धारण करके अपने आपको, संपूर्ण कर्मोंको करते हुएभी निर्दोष रख सकते हैं। अब कुछ त्रिपुटी-योंका विचार देखिये—

(१८-१९) ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान, कर्ता कर्म और करण इस तरहकी त्रिपुटियां सर्वत्र होतीं हैं। सत्त्व-रज-तम भेदसे इनके त्रिविध भेद होते हैं। उनका वर्णन अब करते हैं—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अन्वय—येन (जीवः) विभक्तेषु सर्वभूतेषु अविभक्तं, एकं, अव्ययं भावं ईक्षते, तत् ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥२०॥ यत् ज्ञानं पृथक्त्वेन सर्वेषु भूतेषु पृथग्विधान् नानाभावान् वेत्ति, तत् ज्ञानं राजसं विद्धि ॥ २१ ॥ यत् तु एकस्मिन् कार्ये कृत्स्नवत् सक्तं अहेतुकं अतत्त्वार्थवत् अल्पं च, तत् ज्ञानं तामसं उदाहृतम् ॥ २२ ॥

जिससे जीव परस्पर विभक्त सब भूतोंमें अविभक्त और अविनाशी भावको देखता है, वह ज्ञान सात्त्विक है, ऐसा तू समझ ॥ २० ॥ जिस ज्ञानसे पृथक्त्वका अनुभव होनेके कारण सब भूतोंमें विविध प्रकारके नाना भाव देखे जाते हैं, वह ज्ञान राजस है ऐसा तू जान ॥२१॥ जो तो एकही कार्यमें यही सब कुछ है ऐसा मानकर आसक्त होना है, जो हेतुरहित रहस्य-हीन और अल्प होता है, वह ज्ञान तामस कहलाता है ॥२२॥

भावार्थ— विभक्तोंमें अविभक्त अखण्ड एकरस अविनाशी भाव देखना सात्त्विक ज्ञानसे होता है। पृथग्भावका अनुभव होनेका कारण राजस ज्ञान है और जो सत्त्वहीन मिथ्या ज्ञान होता है, वह तमोगुणी समझना योग्य है ॥ २०-२२ ॥

(२०-२२) यहां सत्त्व-रज-तम भेदसे ज्ञानके तीन भेद होते हैं, उनका वर्णन है। सात्त्विक ज्ञान, राजस ज्ञान और तामस ज्ञानके लक्षण ये हैं—

सात्त्विक ज्ञान ।

इस विश्वमें अनेक विविध भूत हैं। प्रत्येक भूत अन्योंसे पृथक् है। वस्तुओंकी विविधता ही विश्व का स्वभाव है। इस विविधतामें, इस पृथक्त्वमें, इन विभक्त वस्तुओंमें, एकत्वके भावका अपृथक्त्वका, अविभक्त सत्ताका जिससे अनुभव होता है, वह सात्त्विक ज्ञान है। अर्थात् सात्त्विक ज्ञानसे अनेक विभक्त वस्तुओंमें एक अविभक्त सत्य तत्त्वका दर्शन होता है। अनेक पृथक् एक दूसरेसे भिन्न वस्तुओंमें एक अखण्ड भावका दर्शन होता है, अर्थात् अनेक भेदोंमें अभिन्न सत्ताका अनुभव होता है।

उदाहरणके लिये देखिये, कि समुद्रकी अनेक और परस्पर भिन्न लहरियोंमें एकही जल भरपूर भर रहा है, अतः एक लहरि दूसरी लहरिसे भिन्न होती हुईभी जलरूपकी एकही सत्ता उन सबमें है। सब विभिन्न लहरियोंमें जलरूपसे अभेद देखनेका नाम सात्त्विक ज्ञान है।

सुवर्णके विविध अलंकार बनाये, वे परस्पर-भिन्न हैं और उनका उपयोगभी भिन्नभिन्नही है। परंतु उन सबमें एक जैसीहि सुवर्णकी सत्ता है, यह एक सत्ता विविध पृथक् भावोंमें देखनेका नाम सात्त्विक भाव है।

एक मिट्टीके अनेक घडे बनाये, हरएक घडे-का अस्तित्व भिन्न है, तथापि सब घडोंमें मिट्टी की सत्ता एक जैसी है। इस तरह अनेकोंमें एकत्व देखना यह सात्त्विक ज्ञानसेही होता है।

कपासके अनेकविध सूत्र बनाये और उसके बुननेकी विविध कारीगरीसे विविध कपडे बनाये। इन कपडों कि विविधता निःसंदेह है,

इस विविधतामें सर्वत्र कपासरूपी वस्तुकी एक-रूप सत्ताका दर्शन करनेका नाम सात्त्विक भावका दर्शन है।

एक राष्ट्रमें हिंदु,बौद्ध,जैन, मुसलमीन,ख्रिस्ती, यहुदी आदि विविध धर्म माननेवाले तथा संस्कृत, हिंदी, मराठी, पंजाबी, बंगाली, कनडी आदि विविध भाषा बोलनेवाले अनेक लोग हैं। यह मानवोंकी विविधता निःसंदेह है। इस विविधताके होते हुए इन सबमें 'हिंदी' होनेका अद्वैत भाव देखकर ये सब हिंदी रूपमें समान हैं ऐसा मानकर इन सबसे समान व्यवहार करना यह सात्त्विक ज्ञानसेहि होता है।

सब मानव प्राणी, पशुपक्षी, कीट, पतंग ये परस्परभिन्न हैं। परंतु इनमें एक और अखण्ड जीवतत्त्व है, यह देखकर उस जीवभावसे इन सबको समान मानना और सबको जीवनधारणके साधन भक्ष्यभोज्यादि यथायोग्य रीतिसे समानहीं चाहियें, सबका जीव सबको प्रिय है, सबको भूक प्यास समान है, मृत्यु सबको समान कष्टप्रद प्रतीत होता है, इन विविध प्राणियोंमें जीवनकी यह समानता देखना सात्त्विक ज्ञानसे होता है।

इसी तरह संपूर्ण विश्वकी विविध वस्तुओंकी पृथक् सत्तामें आत्माका अथवा ब्रह्मका अखण्ड अविभक्त भाव देखना सात्त्विक ज्ञानसे होता है।

सात्त्विक ज्ञानका स्वरूप इन उदाहरणोंके विवेकसे पाठकोंमें सुस्थिर हो सकता है। सात्त्विक ज्ञानका फल बहुत श्रेष्ठ और सच्ची उन्नतिका साधक होता है, इसका विचार आगे किया जायगा। अब राजस ज्ञानका लक्षण देखिये—

राजस ज्ञान।

भेदका ज्ञान, पृथग्भावका ज्ञान, प्रत्येकके नाना भावोंका अनुभव राजस ज्ञानसे होता है। राजस ज्ञानसे हरएक भूतमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म भेद दिखाई देते हैं। एकही वस्तुमें राजस ज्ञानसे विविध भेद दिखने लगते हैं और उनके पृथक् होनेका प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

एकही मानवजातिमें ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण-भेद, ब्रह्मचर्य-गृहस्थादि आश्रमभेद, हिंदूमुसलमीनादि धर्मभेद, हिंदू ऊर्दू आदि भाषाभेद, दाढी बढाना या शिखा रखना आदि चिह्नभेद, इस तरहके भेदोंपरहि दृष्टि रखकर और उन भेदोंको बढाकर तथा उन भेदोंकी भिन्नताको फैलाकर जो भेदोंकी वृद्धि करना होता है, यह राजस ज्ञानके कारण होता है।

राजस दृष्टि सर्वत्र इस तरह भेद बढाती जाती है। इस कारण एक दूसरेके साथ मेल होना असंभव हो जाता है। जहां मेल होगा, वहां राजस दृष्टिका उद्भव होनेसे भेद निर्माण होंगे और वे बढते ही जांयगे।

सात्त्विक दृष्टिवालेने कहा कि यह मुख सुंदर है, तो राजस दृष्टिवाला उसी समय कह उठेगा कि यहां तो नाक है, कान हैं, आंख हैं, जिह्वा है, होंट हैं, गाल हैं, थाडी है, सिर है, ये भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। यहां आपके कथनानुसार मुख कहां है? इस तरह राजस दृष्टिवाला झगडा करनेके लिये खडा होगा। किसीने कहा कि यह रथ है तो राजस बुद्धिवाला कहेगा कि यहां चक्र, अक्ष, धुरा, आसन आदि हि भिन्न भिन्न वस्तुएं हैं। गाडी करके कोई एक वस्तु नहीं है। इस तरह प्रतिपादन करता हुआ वह लडनेके लिये भी तैयार होगा।

यह भारतीय मानवसमाज है, ऐसा किसीने कहा तो वह राजस दृष्टिवाला कहेगा कि यहां तो हिंदु, मुसलमान, ख्रिस्ती आदि विभिन्न जातियां हैं, इनका मेल नहीं होगा, यहां भारतीय मानवसमाज करके एक समाज नहीं है।

इस तरहकी जो मनोवृत्ति होती है, जिससे भेदही भेद नजर आते हैं, वह राजस ज्ञानकी वृत्ति है। इससे भेदही भेद दीखते हैं, भेद ही बढानेकी रुचि होती है, एकता करनेके लिये प्रयत्न नहीं होते, भेदोंमें अभेद देखनेकी रुचि भी नहीं होती।

राष्ट्रमें भेद बढ रहे हैं यह देखकर समझ सकते हैं, कि उस राष्ट्रमें राजस वृत्ति बढ रही है। यदि किसी राष्ट्रमें सात्विक मनोवृत्ति बढेगी तो भेद होते हुए भी एकताकी मनोवृत्ति बढती जायगी और संघटनाका फैलाव होगा। राजस मनोवृत्तिसे विघटना होती है और मेलमिलाप असंभव हो जाता है।

अब तामस ज्ञानका लक्षण देखिये—

तामस ज्ञान।

(अ-हैतुकं) जिसमें कार्यकारणका यथा-योग्य बोध नहीं होता, तथा (अ-तत्त्वार्थवत्) जिसमें सत्य तत्त्वका भी ठीक ठीक बोध नहीं होता है और जिसमें संपूर्णके समान ही एक अंशमें आसक्तियुक्त भाव रखा जाता है, उसको तामस ज्ञान कहा जाता है।

कार्यकारण-भावकी गोलमाल होना यह अज्ञानका लक्षण है। इसी अज्ञानका नाम 'तामस ज्ञान' है। तामस ज्ञान वस्तुतः शुद्ध अज्ञान है किंवा उसे 'मिथ्या ज्ञान' भी कह सकते हैं। मिथ्याज्ञान विपरीत ज्ञानको कहते हैं। तामस ज्ञानमें विपरीत भावना और अशुद्ध भावना दोनों रहते हैं। कार्यकारण-भावका यथायोग्य ज्ञान ही सत्य ज्ञान है। वह इसमें नहीं रहता, यह तामस ज्ञानका पहिला दोष है।

तामस ज्ञानका दूसरा दोष इसमें (अतत्त्वार्थ-वत्) सत्य तत्त्वका बोध नहीं होता। या तो विपरीत बोध होगा, अथवा अबोध ही होगा, परंतु यथायोग्य तत्त्वका ज्ञान कभी नहीं होगा। तामसी मनुष्य प्रत्येक वस्तुके विषयमें विपरीत कल्पना करता हुआ झगडता रहेगा और अपना ही मत सच्चा है ऐसा कहेगा।

तीसरा दोष तामस ज्ञानमें यह है कि (कृत्स्नवत् एकस्मिन् कार्ये सक्तं) अंशमें पूर्णकी भावनाका अनुभव तामसी मनुष्य करता है। यह समझता है कि अपनी उदरपूर्ति हुई तो अपने कुटुंबियोंकी तृप्ति हो चुकी। अपने कुटुंबको सुख हुआ तो अपना ग्राम सुखी हो चुका। अपनी जातिका सुख बढानेके लिये तामसी लोग सब राष्ट्रका नाश करनेके लिये भी तैयार होते हैं। इस तरह ये तामसी लोग संपूर्णके स्थानपर अंशको मानकर अंशकी संतुष्टीके लिये संपूर्णका नाश करनेको भी प्रवृत्त होते हैं। अतः इस कारण यह तामस ज्ञान नाशके लिये कारण होता है। अंशमें (सक्तं) अत्यंत आसक्त होना और उस आसक्तिके कारण संपूर्णका हित हो चुका ऐसा मानकर संपूर्णके हितके विषयमें उदासीन रहना, यह घोर परिणाम इस तामस ज्ञानसे होता है।

सत्त्व और तम।

इस तरह ये तीन ज्ञान हैं। सात्विक ज्ञान अनेकोंमें- परस्परविभिन्नोंमें एकत्व देखता है और उसके अत्यंत विपरीत यह तामस ज्ञान एकमें भी भेदभाव देखकर संपूर्णके स्थानपर उसके अल्प अंशको मानकर, अंशके लिये ही आसक्ति धारण करके संपूर्णका त्याग करता है। सत्त्व और तम इनमें यह भेद है, इसका पाठक विचार करें।

यह ज्ञान ठीक तरह समझमें आनेके लिये एक उदाहरण देते हैं। आर्य धर्म मानता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण मानवी सुसंस्कृत समाजमें उनके गुणकर्मोंके कारण होते हैं। सुसंस्कृतोंके ये चार वर्ण होनेसे इनसे भिन्न असंस्कृत लोगोंका एक पांचवां गण

(१०) विविध कर्म।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

मानना पडता है। इस तरह इन पांच वर्गोंमें अखिल मानवी जनता बँटी है। इसकी ओर सात्त्विक मनुष्य देखता है और इन पांच वर्गोंमें बँटी हुई विभिन्न मानवजातिमें मानवत्वभावसे एकता है, यह सात्त्विक ज्ञानसे वह देखता है और इस एकतासे वह सबकी उन्नतिके लिये यत्न करता है। इसके विपरीत तामस मनुष्य ब्राह्मणब्राह्मणेतर, शूद्रशूद्रेतर ऐसे अस्वाभाविक भेद बढाता हुआ अपनी जाति-उपजातिमें हि संपूर्ण मानवसमाज समाप्त हुआ है, ऐसा मानकर जो कार्य संपूर्ण जनताके लिये करने चाहिये, वे अपनी उपजातिके लिये करता है और अपनी उपजातिके हितके लिये संपूर्ण जनताके अहित होनेकी कोई चिंता नहीं करता; इतनाही नहीं अपनी उपजातिके हितके लिये संपूर्ण मानवजातिको दुःख देना अपना कर्तव्यही समझता है। इस कारण इस तामस ज्ञानसे मानवी कष्ट बढते जाते हैं।

इस उदाहरणसे सात्त्विक और तामस ज्ञानका ठीक ठीक पता पाठकोंको लग सकता है। पाठक देखेंगे कि सात्त्विक-राजस—तामस इन तीन प्रवृत्तियोंसे समाज त्रिविध हुआ है और उनके ज्ञानविज्ञान और आचारविचारमें भी वही भेद दीखता है। यह देखकर साधक अपनी प्रवृत्ति जानें और तदनुसार अपने कर्मका तथा गुण धर्मका निश्चय करें।

यद्यपि सात्त्विक ज्ञानसे उन्नति, राजस ज्ञानसे मध्यम स्थिति और तामस ज्ञानसे अवनति होनेका वर्णन (गीता अ० १४।१८) में कहा है, तथापि सात्त्विक ज्ञानके विपरीत रहनेवाले राजस और तामस ज्ञानका कोई उपयोग नहीं, ऐसी बात नहीं है। जैसा देखिये- सात्त्विक ज्ञानसे संघटना हो सकती है, राजस ज्ञानसे हरएक विभेदका दूसरेसे क्या संबंध है इसका ठीक ठीक ज्ञान होता है, सब विज्ञानकी उन्नति विभेदोंकी विशेषताओंको पहचाननेसे ही हो सकती है। विज्ञानके लिये पृथग्विध नाना भावोंके पृथक्पृथक् ज्ञानकी भी अत्यंत आवश्यकता है और तामस ज्ञानसे हरएक अपने अपने अंशकाही विचार कर सकता है। इस तरह अविरोधसे सब अंश उन्नत होनेसे सबकी उन्नति होना संभव है। अर्थात् इन तीनों ज्ञानोंका मानवी उन्नतिमें स्थान है, परंतु उनके मर्यादाके अधिक बढनेसे हानिकी संभावना हो सकती है।

ज्ञानकी त्रिविधताका यह विचार है। अब त्रिविध कर्मका विचार देखिये—

अन्वयः- अफलप्रेप्सुना यत् नियतं कर्म संगरहितं अरागद्वेषतः कृतं, तत् सात्त्विकं उच्यते ॥ २३ ॥ पुनः यत् तु कामेप्सुना, साहंकारेण वा बहुलायासं कर्म क्रियते, तत् राजसं उदाहृतम् ॥ २४ ॥ अनुबंधं क्षयं हिंसां पौरुषं च अनपेक्ष्य, यत् कर्म मोहात् आरभ्यते, तत् तामसं उच्यते ॥ २५ ॥

फलकी इच्छा न करते हुए जो नियत कर्म आसक्तिरहित और रागद्वेष-रहित होकर किया जाता है, उसको सात्त्विक कर्म कहते हैं ॥ २३ ॥ परंतु जो कर्म फलकी इच्छासे, अहंकारसे और बडे आयाससे किया जाता है, उसे राजस कर्म कहते हैं ॥ २४ ॥ परिणाम, हानि, हिंसा और अपना सामर्थ्य इनका विचार किये विना ही मोहसे जो कर्म किया जाता है, उसे तामस कर्म कहते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ— जो कर्म निष्काम भावसे रागद्वेषरहित होकर होता है, वह सात्त्विक कर्म है। जो भोगवृद्धिके लिये अहंकारसे होता है वह राजस कर्म है। परिणाम का विचार न करते हुए अज्ञानसे किंवा मोहसे होता है, वह तामस कर्म है ॥ २३—२५ ॥

(२३—२५) सात्त्विक कर्म, राजस कर्म, और तामस कर्म का स्वरूप यहां बताते हैं। जो नियत कर्म आसक्तिरहित होकर तथा रागद्वेष छोडकर और उसका फल अपने भोगके लिये लेनेकी इच्छा न करते हुए किया जाय, वह सात्त्विक कहा जाता है। अर्थात् सात्त्विक कर्म के लिये फलभोग की इच्छा का त्याग करना चाहिये, राग और द्वेष छोडना चाहिये, यह मुख्य बात है। राग अर्थात् भोगकी प्रिति, द्वेष अर्थात् दूसरेकी कायिक, वाचिक मानसिक हिंसा करनेकी वृत्ती यह सब मानवके अधो-गतिके साधन हैं। इनके होते हुए सात्त्विक कर्म होना असंभव है। रागद्वेषसे मन कंपायमान होता है, रागसे मनुष्य भोगकी ओर जाता है और द्वेषसे वैरके प्रभावमें फंसता है। इसलिये रागद्वेषोंके कारण अशान्तिमें फँसता है। अतः रागद्वेषको दूर करके मनको शान्त करना चाहिये। इस मनकी प्रशान्त स्थितिसे जो कर्म होता है, वही सात्त्विक कहलाता है।

इसके विपरीत जो कर्म फलभोग करनेकी प्रबल अभिलाषा से किये जाते हैं, जिनके फल इसलिये अपने पास संग्रहित करनेका यत्न किया जाता है कि, उनका भोग अपनेकोहि सदा मिलता रहे, कितनेभी परिश्रम हों और सायास पडें तो भी उनकी पर्वाह न करते हुए बडे आ-यासोंको सहते हुए भी जो कर्म किया जाता है और जिसमें अपने कर्तृत्व की घमंड बहुत ही रहती है, वह राजस कर्म है।

अब सात्त्विक और राजस कर्मके लक्षण देखिये—

(सात्त्विक कर्म)	(राजस कर्म)
अहंकाररहित होकर	अहंकार से किया
फलभोगका विचार छोडकर।	फलभोगकी इच्छासे
आसक्ति छोडकर	आसक्तिसे
रागद्वेष छोडकर	रागद्वेषसे

राजस और सात्त्विक कर्म के ये लक्षण देखने योग्य हैं। इनका विचार करनेसे इन कर्मोंके परिणामोंकी भी कल्पना हो सकती है। जिसमें अहंकार, आसक्ति, रागद्वेष और भोगवासना होगी, वे राजस कर्म दुःख बढानेवाले होंगे इसमें कोई संदेह ही नहीं है। अतः जो कर्म फलभोगकी कामना छोडकर, अहंकार न धारण करते हुए,

(११) त्रिविध कर्ता।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

आसक्तिरहित होकर और रागद्वेषरहित होकर किये जांयगे, वेही मनुष्यका सुख बढायेंगे, इसमें संदेह नहीं है।

अब तामस कर्मका लक्षण देखिये-, जो कर्म अपना सामर्थ्य है वा नहीं है, इसका बिलकुल विचार न करते हुए हानि और हिंसाका विचार भी छोड कर, परिणाम क्या होगा इसका अनुसंधान न करते हुए मोहसे किये जाते हैं, वे तामस कर्म अधोगतिको ले जानेवाले होते हैं। क्योंकि अपनेमें इस कर्मको करनेका सामर्थ्य न होनेपर जो कर्म किये जांयगे, वे अपूर्ण हि रहेंगे और उनपर व्यय हुई शक्ति व्यर्थ ही जायगी, इसमें संदेह नहीं है। इसमें क्षय, हानि और हिंसा कितनी होगी, इसका विचार न करते हुए, जो कर्म किये जांयगे, वे भी किसी समय निःसंदेह हानि करेंगे तथा इसका परिणाम क्या होगा इसका यदि पहिले विचार न किया जायगा, तो संभवतः वे कर्म भयानक परिणाम करनेवाले सिद्ध होंगे। इसलिये तामस कर्म अपने हाथसे न होंगे, ऐसा यत्न हरएकको करना चाहिये।

मनुष्यकी प्रवृत्तिके अनुसार उससे कर्म होते हैं। सात्विक प्रवृत्तिके मनुष्यसे सात्विक कर्म होगा, राजस मनुष्य राजस कर्म करेगा और तामस प्रवृत्तिके मनुष्यसे तामस कर्मही स्वभावतः होंगे। यह तो स्वभावसे ही होगा। परंतु राजस और तामस कर्मोंसे हानि होनेवाली है यह जानकर, यदि थोडी सावधानीके साथ वेही कर्म किये जांयगे, तो हानि कम होगी। धर्म यही करता है। तामस कर्मसे जितनी हानी होना संभव है उतनी हानि होने न देना धर्मका कार्य है।

उदाहरण के लिये देखिये-एक तामसी मनुष्य है, वह मोहयुक्त होनेसे अज्ञानी है। उसे ज्ञान न होनेके कारण उससे अनेक अशुद्धियां होना संभव है। इस मोहको छोडकर जो इसमें अन्य दुर्गुण अर्थात् अपनी शक्तिका अपरिचय, हिंसा और हानि की उपेक्षा, परिणामकी ओर दुर्लक्ष्य आदि होते हैं, उनका भयानक परिणाम दूर करने के लिये धर्मविधिकी योजना हुआ करती है। इस लिये तामसी लोग भी धर्मविधिके अनुसार अपने कर्म करते जांयगे, तो उनको उतनी हानि भोगनी नहीं पडेगी, जितनी कि वे धर्मको छोडकर बर्ताव करनेपर उनको भोगनी पडेगी। एक तामसी मनुष्य तामस-उपासना करता है और दूसरा तामसी मनुष्य मनमाना आचार करता है। इसकी उपासनामें प्रवृत्ति होनेके कारण उस उपासकका तमोगुण उतनी हानि नहीं करेगा कि जितनी हानि दूसरेको भोगनी पडेगी। इससे धर्मके द्वारा राजस और तामस कर्म भी किस तरह कम हानी करनेवाले हो सकते हैं, इसका निश्चय हो सकता है। अस्तु। अब त्रिविध कर्ताका विचार देखिये—

अन्वयः—मुक्तसंगः अनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः कर्ता सात्त्विकः उच्यते ॥२६॥ रागी, कर्मफलप्रेप्सुः, लुब्धः, हिंसात्मकः, अशुचिः, हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥ अयुक्तः, प्राकृतः, स्तब्धः, शठः, नैष्कृतिकः, अलसः, विषादी, दीर्घसूत्री च कर्ता तामसः उच्यते ॥ २८ ॥

जो आसक्ति और अहंकारसे रहित, धैर्य और उत्साहसे युक्त, सिद्धि और असिद्धिके विषयमें हर्षशोक न माननेवाला है, वह सात्त्विक कर्ता है ॥ २६ ॥ जो भोगी, कर्मफलकी इच्छा करनेवाला, लोभी, हिंसाशील, अशुद्ध, हर्षशोक करनेवाला है, वह राजस कर्ता है ॥ २७ ॥ जो अव्यवस्थित-अकुशल, संस्कार-रहित, सुस्त, शठ, नीच-परोत्कर्ष सहन न करनेवाला, आलसी, विषादी, दीर्घसूत्री कर्ता है, उसे तामस कर्ता कहते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ— घमंड और भोगासक्तिरहित, उत्साहयुक्त, द्वन्द्वोंके विषय में सम भाव रखनेवाला कर्ता सात्त्विक है; भोगी, लोभी, हिंसक, अशुद्ध और शोक तथा हर्ष युक्त कर्ता राजस होता है और प्रमादी, आलसी, सुस्त कर्ता तामस समझना योग्य है ॥ २६—२८ ॥

सात्त्विक कर्ता ।

(२६—२८) जिसमें भोगकी आसक्ति (मुक्तसंगः) नहीं है, जिसमें (अन्- अहं-वादी) अहंकार नहीं है, जो धैर्य और उत्साहसे (धृत्युत्साहसमन्वितः) युक्त है, तथा जो सिद्धि और असिद्धिके (सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः) विषयमें निर्विकार रहता है, अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेपर जिसे घमंड नहीं होती और असिद्धि होनेसे जो निरुत्साह नहीं होता, वह कर्ता सात्त्विक कहलाता है । जो कर्मके फलको अपने भोगके लिये अपने पास संग्रहित करके रखना नहीं चाहता; इतनाही नहीं, परंतु जो कर्मफलका ईश्वरार्पणबुद्धिसे समर्पण करता है, अपने कर्मके फलको अपना न मानकर परमेश्वरका मानता है और उसे परमेश्वर का भाग मानकर व्यवहार करता है, वह आसक्ति-रहित समझना चाहिये ।

कर्मका अभिमान जिसमें नहीं, कर्म करनेके कारण जो अपने आपको परमोच्च नहीं समझता, मैंही ऐसा कर्म कर सकता हूं, दूसरे मेरे मुकाबलेमें हीन हैं, वे क्या कर सकेंगे? ऐसा जो कभी नहीं मानता, वही अभिमानरहित कहलाता है । अभिमान से दूसरोंके साथ द्वेष उत्पन्न होता है । इसलिये जो निरभिमानी होता है, वह अपने आपको द्वेषसे बचा लेता है ।

सात्त्विक मनुष्य धैर्य और उत्साहसे सदा युक्त होता है, क्योंकि धैर्य और उत्साहका नाश करनेवाले शोकमोहादि विकार उसके पास नहीं होते । सिद्धि असिद्धिकी चिन्ता उसको सताती नहीं, इसलिये सिद्धि होनेसे उसको घमंड नहीं चढती और असिद्धि होनेसे उसका निरुत्साह भी नहीं होता । ऐसा सात्त्विक कर्ता सब कर्ताओंमें श्रेष्ठ है ।

राजस कर्ता।

अब राजस कर्ताका विचार करेंगे। राजस कर्ताका सबसे पहिला लक्षण उसका 'भोगी' होना है। भोग भोगनेकी लालसा उसके मनमें तीव्र रहती है। भोग भोगनेके लिये ही वह कर्म करता है। उसके कर्म करनेके अन्दर भोग भोगने की प्रवृत्तिहि रहती है। भोगोंपर आसक्ति होनेसे हि वह अपने कर्मके फलोंकी अपने उपभोगके लिये अभिलाषा मनमें धारण करता है। लोभ इसके मनमें रहता है, यह तो कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि भोगी और फलासक्त मनुष्य लोभी होंगे ही। (हर्षशोकान्वितः) भोग प्राप्त होनेसे वह हर्षसे नाचने लगेगा और भोग दूर होनेसे वह ऐसा शोकमें मग्न होगा, कि उसका वर्णन होना कठिन है। हर्षसे एक ओर उसका मन झुकेगा तो शोकसे दूसरी ओर चला जायगा। इस तरह वह सदा अशान्त ही रहेगा।

जिस समय ऐसे अशान्त मनवाले मनुष्यके प्रयत्न करनेपर भी उसको भोग मिलनेमें बाधा होती है, तब वह बडा क्रोध करता है और उस क्रोधके वशमें (हिंसात्मकः) हिंसा करनेमेंभी वह प्रवृत्त हो जाता है। जो उसकी भोगप्राप्तिमें विघ्न करता है, उसका नाश करनेका वह यत्न करता है। इससे द्वेष बढता है और हिंसा भी बढती है। भोगी राजस वृत्तिका यही परिणाम है।

हिंसा जहां होगी, वहां अशुद्धता होगीहि। इस कारण राजस कर्ता (अशुचिः) अशुद्ध होता है, ऐसा कहा है। जहां भोग, लोभ और हिंसा होगी, वहां काया, वाचा, मन शुद्ध रहना कठिन है। इस तरहका राजस कर्ता भोगी वृत्तिके कारण रोगी होता है, कर्मफलसंग्रहके कारण उस फलके संरक्षणकी चिन्तासे दुःखी होता है, लोभी होनेसे वह हीनवृत्तिवाला होता है, हिंसक होनेसे क्रूर बनता है, अशुचिताके कारण अपवित्र होता है, हर्षशोकग्रस्त होनेके कारण चंचल होता है। अर्थात् इन सब कारणों से वह दुःखी होता है। वह कदापि शान्त नहीं रह सकता। अशान्ति बेचैनी का ही नाम है।

तामस कर्ता।

अब तामस कर्ताके लक्षण देखिये। तामस कर्ताका प्रधान लक्षण अज्ञान और मोह है। इस कारण उसमें योग अर्थात् कर्मका कौशल्य नहीं हो सकता। अतः उसको (अ-युक्तः) कर्मकी कुशलता जिसमें नहीं, ऐसा अकुशल, कलाकौशल्यहीन पुरुष कहते हैं। कर्मकौशल्य जिसमें नहीं होगा, उससे कोई भी कर्म यथायोग्य रीतिसे नहीं हो सकता और योग्य रीतिसे कर्म न होनेके कारण सफलताभी उसको नहीं प्राप्त हो सकती।

तामस कर्ता अपने अज्ञानके ही कारण (प्राकृतः) संस्कारहीन होता है। मनुष्य सुसंस्कारसंपन्न रहनेसे ही वह उत्तम नागरिक हो सकता है। संस्कारहीन पुरुष प्राकृत किंवा पराकृत अर्थात् समाजसे दूर रखने योग्य समझा जाता है। समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त होनेके लिये मनुष्य शुभ संस्कारोंसे संपन्न होना चाहिये। ये शुभ संस्कार ज्ञानसे हि हो सकते हैं। परंतु तामस मानवके पास तो ज्ञान रहता ही नहीं, परंतु मोह भरपूर रहता है। इसलिये शुभ संस्कारोंका न होना ही तामस कर्ताकी स्वाभाविक स्थिति है।

जिसके पास कर्मकौशल्य नहीं और ज्ञानजन्य शुभ संस्कार भी नहीं, वह क्या करेगा? वह तो स्वभावतः आलस्यमें पडा रहेगा और सुस्ति ही उसका प्रधान लक्षण बना रहेगा। अतः इस तामस कर्ताको यहां (स्तब्धः

(१२) त्रिविध बुद्धि।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

स्तब्ध कहा है। न वह ज्ञानकी बातें बोल सकता है, न वह कुशलताके कर्म कर सकता है, न वह शुभ, विचार फैला सकता है, इस तरह जिस क्षेत्रमें हो, उस क्षेत्रमें वह सुस्त और स्तब्ध रहता है। स्तब्धताके कारण उससे कोई अच्छे कर्म नहीं होते और वह हीन स्थितिमें सडता जाता है। सुस्त होनेके कारण (अलसः) वह आलसी होता है। कोई कर्म करनेमें उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती, फिर उन्नति कैसे होगी?

जब अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति कर लेनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं होता, तब उसकी बुद्धि टेढी चालें चलने लगती है और वह अन्तमें शठ बनता है, ठगानेका यत्न करके कुछ कमानेका यत्न करता है, परंतु वह भी साध्य करनेके लिये कौशल्य तो अवश्य चाहिये। वह उसके पास नहीं होता है। इस कारण वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अपनी असफलताका विषाद मानता है और दूसरे लोक सफल मनोरथ हुए देखकर वह उनका भी द्वेष करने लगता है। इस तरह वह नीच बनता है, दूसरोंके उत्कर्षसे आनंद माननेकी उदारता उसमें नहीं होती, इसीको 'नैष्कृतिक' कहते हैं। इस कारण यह मनुष्य सदा विषाद माननेवाला, सदा दुःख करनेवाला और उत्कर्षको पहुंचनेवाले दुसरोंका द्वेष करनेवाला होता है।

जिसके पास किसी प्रकारका ज्ञान नहीं, कौशल्य नहीं, कर्म करनेका उत्साह नहीं, विषादसे जिसका मन खिन्न हुआ है, आलस्यके कारण जिससे कुछ कार्य बनता नहीं, वह हरएक काम करनेमें दीर्घसूत्री होना स्वाभाविक है। दीर्घसूत्री का भाव यह है कि जिस कामको एक घण्टा लगनेवाला है, वही कार्य करनेके लिये आठ दस घण्टे लगाकर भी वह अपूर्ण ही रखना। इससे सफलताकी कोई आशा नहीं होती।

तामसी कर्ताकी यह अवस्था है। इसकी उन्नति संभवनीयही नहीं है। हरएक कार्यमें असफल होनेके कारण उसकी सदा अवनति हि होती रहेगी।

इस तरह कर्ताके तीनों भेदोंका यह विचार है। अब त्रिविध बुद्धीका विचार देखिये—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

अन्वयः— हे धनंजय ! बुद्धेः धृतेः च एव गुणतः त्रिविधं भेदं अशेषेण पृथक्त्वेन प्रोच्यमानं शृणु ॥ २९ ॥ हे पार्थ ! या बुद्धिः प्रवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये बंधंमोक्षं च वेत्ति, सा सात्त्विकी मता ॥ ३० ॥ हे पार्थ ! यया च (बुद्ध्या जीवः) धर्मं अधर्मं च, कार्यं अकार्यं च, अयथावत् प्रजानाति, सा बुद्धिः राजसी (मता) ॥ ३१ ॥ हे पार्थ ! या तमसा आवृता (बुद्धिः) अधर्मं धर्मं इति सर्वार्थान् विपरीतान् च मन्यते, सा बुद्धिः तामसी स्मृता ॥३२॥

हे धनंजय ! बुद्धि और धृतिके गुणोंके अनुसार तीन प्रकारके भेद होते हैं, उनका पूर्ण और पृथक् वर्णन कहता हूं, वह तू सुन ॥ २९ ॥ हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बंध-मोक्षको यथावत् जानती है, वह सात्त्विक बुद्धि है ॥ ३० ॥ हे पार्थ ! जिस बुद्धिसे जीव धर्म--अधर्म, कार्य--अकार्य का भेद यथार्थ रीतिसे नहीं जानता, वह राजसी बुद्धि है ॥ ३१ ॥ हे पार्थ ! जो अज्ञानसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है और सब अर्थोंको विपरीत जतलाती है, वह तामस बुद्धि है ॥३२॥

भावार्थ— बुद्धि और धृति भी सात्त्विकराजसादि भेदोंसे तीन प्रकारकी है। कर्तव्याकर्तव्य का विचार ठीक तरह करनेवाली बुद्धि सात्त्विक; जिससे कर्तव्याकर्तव्यका विचार ठीक नहीं होता, परंतु जिससे त्यागकी अपेक्षा भोग पसंद किया जाता है, वह बुद्धि राजस और गाढ अज्ञानके कारण जो अज्ञानको ही ज्ञान मानती है और सब बातोंको विपरीत बतलाती है, वह तामस बुद्धि है ॥ २९-३२॥

(२९-३२) बुद्धिके सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद होते हैं। किसमें प्रवृत्ति करनी योग्य है, किससे निवृत्त होना चाहिये, कौनसा कार्य करना चाहिये, कौनसा कर्म करना नहीं चाहिये, किससे बन्ध होता है और किससे बन्धका नाश होकर साधक मुक्त होता है, इसका ठीक ठीक ज्ञान जिस बुद्धिको ठीक समयपर होता है, उस बुद्धिका नाम सात्त्विक बुद्धि है। जिस बुद्धिसे धर्मको अधर्म, अधर्मको धर्म, कर्तव्यको अकर्तव्य और अकर्तव्यको कर्तव्य, बन्धको मोक्ष और मोक्षको बन्ध, स्वातंत्र्यको पारतंत्र्य और पारतंत्र्यको स्वतंत्रता, अर्थात् जिस बुद्धिसे सत्य ज्ञान न होकर मिथ्या ज्ञानहि होता है, जिससे जो जैसा नहीं है वैसा ही प्रतीत होता है, वह राजस बुद्धि है। तमसे आवृत हुई, अज्ञानसे मूढ हुई बुद्धिको संपूर्ण बातें विपरीत ही प्रतीत होती हैं और कुछ भी यथार्थ ज्ञान उसे नहीं होता है। इस कारण तामस बुद्धिवाला धर्माधर्मका निर्णय नहीं कर सकता। ये त्रिविध बुद्धिके भेद हैं। अब धृतिके तीन भेद दखिए—

(१३) त्रिविध धृति ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३ ॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! (नरः) यया अव्यभिचारिण्या धृत्या मनःप्राणेंद्रियक्रियाः योगेन धारयते, सा धृतिः सात्त्विकी (अस्ति) ॥ ३३ ॥ हे अर्जुन ! यया धृत्या प्रसंगेन फलाकांक्षी (सन्) धर्मकामार्थान् (नरः) धारयते, सा धृतिः राजसी (अस्ति) ॥ ३४ ॥ हे पार्थ ! दुर्मेधाः (नरः) यया स्वप्नं, भयं, शोकं, विषादं, मदं एव च न विमुंचति, सा धृतिः तामसी (मता) ॥३५॥

हे पार्थ ! मनुष्य जिस एकनिष्ठ धृतिसे मन, प्राण और इंद्रियक्रियाओं का साम्य वृत्तिसे धारण करता है, वह सात्त्विक धृति है ॥ ३३ ॥ हे अर्जुन ! जिस धृतिसे आसक्त बुद्धिसे फलभोगकी आकांक्षा करता हुआ धर्म,अर्थ और कामको मनुष्य धारण करता है, वह राजस धृति है ॥ ३४ ॥ हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिसे निद्रा, भय, शोक, खेद और मदको नहीं छोडता, वह तामस धृति है ॥ ३५ ॥

भावार्थ— सम-बुद्धिसे इंद्रिय-शक्तिका धारण करनेका नाम सात्त्विक धृति है। फलभोगकी इच्छासे धर्मार्थ कामोंको धारण करनेका नाम राजस धृति है और निद्राभयशोकादिको न छोडनेका नाम तामस धृति है ॥ ३३-३५ ॥

(३३-३५) धृतिका अर्थ धारण करनेकी शक्ति। शरीरमें मन-प्राण-इंद्रियोंकी क्रियाओंका धारण जिस शक्तिसे हो रहा है, उस शक्तिका नाम धृति है। जिस शक्तिसे योगीके शरीरमें मन-प्राण और इंद्रियोंकी शक्तियोंका सम वृत्तिसे अर्थात् सम स्थितिसे धारण होता है, अर्थात् मन, प्राण और इंद्रियां परस्पर सहायक, पोषक और संवर्धक होती हैं, उस धारणशक्तिको सात्त्विक कहते हैं । आसक्त वृत्तिसे फलोंका भोग मैं करूंगा, फलोंका संग्रह मैं अपने उपभोगके लिये अपने पास बढाऊंगा, इस तरह की आसक्तिसे धर्मके कर्म करने, अर्थका उपार्जन भी भोगके लिये ही करना और कामवृत्तिकी वृद्धि हो, ऐसेहि कार्य करना, यह जिस शक्तिसे होता है, वह राजस धृति है। तामस धृतिसे अर्थात् तमोगुणी धारणशक्तिसे मनुष्यमें

(१४) त्रिविध सुख।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे भरतर्षभ! इदानीं तु त्रिविधं सुखं मे शृणु, यत्र (सुखे जीवः) अभ्यासात् रमते, दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६॥ यत् अग्रे विषं इव, परिणामे अमृतोपमं आत्मबुद्धिप्रसादजं (अस्ति) तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् ॥ ३७ ॥ यत् विषयेंद्रियसंयोगात् अग्रे अमृतोपमं, परिणामे च विषं इव (अस्ति), तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥ यत् अग्रे च अनुबन्धे च आत्मनः मोहनं निद्रालस्यप्रमादोत्थं, तत् सुखं तामसं उदाहृतम् ॥ ३९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकारके सुखके भेद मुझसे तू सुन। इस सुखमें जीव अभ्याससे रमता है और दुःखका नाश होता है ॥ ३६ ॥ जो आरंभमें विषके समान लगता है, परंतु परिणाममें अमृतके समान होता है और जो आत्मबुद्धिकी प्रसन्नतामें उत्पन्न होता है, उसको सात्त्विक सुख कहते हैं॥३७॥ जो विषयोंके साथ इंद्रियोंके संयोग होनेसे उत्पन्न होकर प्रारंभमें अमृतके समान लगता है, परन्तु अन्तमें जो विषके समान होता है, वह सुख राजस है ॥ ३८ ॥ जो प्रारंभमें और अन्तमें आत्माको मोहमें डालता है और जो निद्रा आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है, उसे तामस सुख कहते हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थ- जिस सुखमें जीव सदा रमता है और जिसको प्राप्त होनेसे दुःखका नाश होता है, वह सुख भी तीन प्रकारका है। जो आत्मज्ञानकी प्रसन्न वृत्तिमें उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक, जो भोगोंसे उत्पन्न होता है,वह राजस और जो मोह, निद्रा, आलस्यसे होता है, वह तामस सुख है ॥ ३६–३९ ॥

बहुत निद्रा, अतिस्वप्न, भीति, घबराहट, डर, शोक, रोनेमें प्रवृत्ति, अल्प कारणसे रो पडना, खेद, विषाद, दुःख, अकारण दुःख करते रहनेकी वृत्ति और मद, गर्व,घमंड उत्पन्न होती है। इन दुर्गुणोंको मनुष्यके अन्दर देखनेसे समझ सकते हैं,कि इसमें तमोगुणी धृति रहती है। सात्त्विक, राजस और तामस धृतिके ये लक्षण हैं। अब त्रिविध सुखका विचार किया जाता है-

(१५) सबकी त्रिविधता।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

अन्वयः— यत् सत्त्वं एभिः प्रकृतिजैः त्रिभिः गुणैः मुक्तं स्यात्, तत् पृथिव्यां वा दिवि वा पुनः देवेषु (वा) न अस्ति ॥ ४० ॥

जो वस्तु इन प्राकृतिक तीनों गुणोंसे अलिप्त हो, वह पृथ्वीमें, द्युलोकमें वा देवोंमें भी नहीं है ॥ ४० ॥

भावार्थ— ऐसी एक भी वस्तु नहीं है, कि जिसमें सात्त्विक, राजस अथवा तामस भाव न हो, अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें किसी न किसी गुणका भाव होता ही है ॥४०॥

(३६-३९) सुख भी तीन प्रकारका है, एक सात्त्विक सुख, दूसरा राजस सुख और तीसरा तामस सुख। तामस सुखको दुःखही समझना उचित है, निःसन्देह वह दुःखको उत्पन्न करता है। इन सुखोंके अन्दर अपनी प्रकृतिके अनुसार जीव रमता है और दुःख दूर हुआ ऐसा समझता है।

सात्त्विक सुखका लक्षण यह है, कि यह सात्त्विक सुख आरंभमें विष जैसा दुखदायी प्रतीत होता है, परंतु इसका परिणाम अमृत जैसा अत्यंत हितकर होता है, जिसमें आत्माकी और बुद्धिकी मानो मनुष्यकी अति सुप्रसन्नता होती है, चारों ओर आनन्दहि आनन्द प्रतीत होता है, स्वाभाविक अकृत्रिम आनन्दका अनुभव आता है। यह है सात्त्विक सुख। यह सुख मिलनेके समय दुःख होगा, परंतु इसका स्थायी परिणाम आनन्द होगा। यह सात्त्विक सुखका लक्षण है। दूसरा सुख राजस सुख है। यह प्राप्त होनेके समय अत्यंत सुख प्रतीत होता है, परंतु इसका परिणाम बहुतही भयानक होता है। परिणाममें दुःख, क्लेश और हानि उठानी पडती है, यह सुख तो इंद्रियोंको विषयोंके साथ संयुक्त करनेसे हि होता है, विषय न मिले तो यह राजस सुख मिलता नहीं। मनमें क्षुधा उत्पन्न हुई हो, विषय समीप हों और इंद्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त हों, तब यह सुख मिलता है। इस तरहका यह राजस सुख होता है। यह दुःखपरिणामी होनेके कारण इसको सुख कहा जाय या नहीं, इस विषयमें सन्देह है। तथापि सब जीवजन्तु इस सुखके लिये यत्न कर रहे हैं, और इसमें प्रथम सुख मिलता हि है और जैसा सात्त्विक सुखके प्रयत्नमें प्रथम कष्टके अनुभव होते हैं वैसा यहां नहीं है।

जो प्रारंभसे अन्ततक और बीचमें भी आत्माको मोहमें फंसा देता है, जिसमें निद्रा आलस्य और अकर्मण्यके भाव बढते हैं और जिसमें प्रमाद हो जाते हैं, वह तामस सुख है। तामसी मनुष्य सोना चाहता है, खूब निद्रा लेता है, आलस्यमें सुस्तीसे बैठा रहता है, कुछ भी करनेको दिल नहीं चाहता, सरासर प्रमाद होते जाते हैं। सुस्तीमें जो सुखका अनुभव करना है, वह तमोवृत्तिका भाव है। प्रयत्नमें जो सुखका अनुभव है, वह रजोवृत्तिका भाव है। समवृत्तिमें सुखका अनुभव करना है, वह सत्त्वगुणका भाव है।

इस तरह त्रिविध भाव बतानेके पश्चात् सब विश्व त्रिविध है, ऐसा भगवान् कहते हैं—

(१६) स्वभावज कर्म।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः- हे परंतप ! ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च कर्माणि स्वभावप्रभवैः गुणैः प्रविभक्तानि (सन्ति)॥४१॥ शमः, दमः, तपः, शौचं, क्षान्तिः, आर्जवं, ज्ञानं, विज्ञानं, आस्तिक्यं एव च (इति) स्वभावजं ब्रह्मकर्म (अस्ति) ॥४२॥ शौर्यं, तेजः, धृतिः, दाक्ष्यं, युद्धे अपि च अपलायनं, दानं, ईश्वरभावः च (इति) स्वभावजं क्षात्रं कर्म (अस्ति) ॥४३॥ कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं स्वभावजं वैश्यकर्म (अस्ति), अपि (च) शूद्रस्य परिचर्यात्मकं कर्म स्वभावजं (अस्ति) ॥ ४४ ॥

हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र के भी कर्म स्वभावजन्य गुणोंसे विविध हुए हैं ॥४१॥ शम, दम, तप, शुद्धता, सहनशक्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मणके स्वभावजन्य कर्म हैं ॥४२॥ शौर्य, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्धसे पीछे न हटना, दान और शासनका प्रभुत्व क्षत्रियके स्वभावजन्य कर्म हैं ॥४३॥ खेती, गोरक्षा और वाणिज्य ये वैश्यके स्वभावजन्य गुण हैं और परिचर्या यह शूद्रोंका स्वभावजन्य गुण है ॥ ४४ ॥

(४०) इस पृथ्वीपर, अन्तरिक्षमें तथा आकाशमें जो भी वस्तुएं हैं, वे सबकी सब सत्व, रज और तम इन तीनों प्राकृतिक भावोंसे युक्त हैं । एक भी ऐसी वस्तु नहीं है, कि जिसमें इनमेंसे एक भी भाव न हो । मनुष्य संपूर्ण विश्वमें इन तीनों गुणोंका खेल और मेल देखें और मानव जातिमें भी ये तीनों प्राकृतिक गुण हैं, इसका अनुभव करें । कई मनुष्य सत्वगुणविशिष्ट, कई रजोगुणविशिष्ट, और कई तमोगुणविशिष्ट होते हैं । अपनी प्रकृतिके अनुकूल हरएक के गुण कर्म हुआ करते हैं, इसलिये मानवजातिके चार भेद होना स्वाभाविक है । इन चार विभेदोंका वर्णन इस तरह है-

भावार्थ— चार वर्णोंके गुण भी सत्त्वरजतमरूप प्रकृतिके अनुसार स्वाभाविक ही हैं। शमदम आदि ब्राह्मणोंके, शौर्यतेज आदि क्षत्रियोंके, खेतीव्यापार आदि वैश्यके और सेवा करके आजीविका करना शूद्रके स्वभावसिद्ध कर्म हैं ॥ ४१-४४ ॥

(४१-४४) मानव जातिमें सत्त्व-रज-तमो-गुणोंसे कुछ भेद होना स्वाभाविकही है। जिसकी जैसी प्रकृति होती है वैसे उसके गुण और गुणोंके अनुसार कर्म होना स्वाभाविकही है। पहिले कहाही है कि—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गी० ३-३३)

" ज्ञानी मनुष्यभी अपनी प्रकृतिस्वभावके अनुकूल कार्य करता है, प्रकृतिस्वभावके अनुकूल भूतोंका बर्ताव होता है, अतः निग्रह क्या करेगा ?" इस तरह प्रकृतिस्वभावकी प्रबलता बतायी है। जिसकी प्रकृति सात्त्विक है, वह राजस तामस कर्म करनेमें असमर्थ होगा, तथा जिसकी प्रकृति राजस होगी वह सात्त्विक अथवा तामस कर्म नहीं कर सकेगा, इसी तरह जिसकी तामस प्रकृति होगी वह सात्त्विक और राजस कर्म करनेमें पूर्ण असमर्थ होगा। यही अर्थ 'ज्ञानी मनुष्यभी अपनी प्रकृतिके अनुकूल कर्म करता रहेगा, फिर जो ज्ञानी नहीं है, ऐसी जनता अपनी प्रकृतिके अनुकूलही चलती रहेगी,' इसमें संदेहही क्या है ?

मनुष्योंके अन्दर प्रकृतिके गुण-वृत्तिके अनुकूल अनेक भेद होते हैं, इसी लिये एक मनुष्यका स्वभाव दूसरेके साथ मिलाता नहीं। ये भेद शरीर-इंद्रिय-मन-बुद्धिकी स्वभावप्रवृत्तिके अनुसार विभिन्न हुआ करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में जो त्रिगुणोंका विचार अ० १५ में तथा अ० १८ में किया है, वह मनुष्योंकी स्वभाव-प्रवृत्ति कैसी है, इसकी परीक्षा करनेके लिये ही कहा है। भ० गी० अ० १८ में ज्ञान-कर्म-कर्ता-बुद्धि-धृति-सुख-के भेदोंका वर्णन किया है। इस वर्णनके साथ अ० १७ का त्रिगुणोंका वर्णन भी देखने योग्य है। वहां यजन-उपासना-आहार-यज्ञ-तप-दान-के वर्णनसे इसी त्रिगुणमयी मानवी प्रवृत्ति का वर्णन है। मनुष्यकी परीक्षा इन कसौटियोंसे हो सकती है। यह परीक्षा दूसरा भी कर सकता है और पक्षपात-रहित होकर स्वयं अपनी परीक्षा भी की जा सकती है। अपनी प्रवृत्ति सात्त्विक है, राजस है या तामस है, यह स्वयं अपने आपको भी इस परीक्षाद्वारा ज्ञात हो सकता है। यह परीक्षा दूसरोंको बतानेके लिये नहीं की जाती, परंतु धार्मिक क्षेत्रमें अपनी स्थिति किस सीढीपर-किस भूमिकापर-है, यह जाना जा सकता है। और यह जानना सत्य धर्मान्वेषीके लिये अत्यंत आवश्यक है। यह परीक्षा किस तरह की है, यह अब देखना है। यह निम्नलिखित कोष्टकसे ज्ञात हो सकता है-

अ० १७	सात्त्विक	राजस	तामस
उपासना	देवतोपासना	यक्षराक्षसोपासना	भूतप्रेतोपासना
भोजन	रस्य स्निग्ध-हृद्य	तीक्ष्ण-रूक्ष	उच्छिष्ट बासा-दुर्गंधयुक्त
यज्ञ	निष्काम भावसे	भोग बढानेकेलिये	श्रद्धारहित
तप	,,	दंभसे	दूसरेके नाशके लिये
दान	देशकालोचित	प्रतिफलभोगके लिये	कुपात्रमें दिया

अ० १८	सात्विक	राजस	तामस
कर्मत्याग	फलत्यागयुक्त	दुःखके भयसे	मोहसे
ज्ञान	विभक्तोंमें अविभक्त भावका ज्ञान	पृथग्भावका ज्ञान	मिथ्या ज्ञान
कर्म	निष्काम भावसे किया	सकाम कर्म	हिंसादि दोषयुक्त
कर्ता	निष्काम कर्ता	भोगी कर्ता	विषादी,दीर्घसूत्री
बुद्धि	कार्याकार्यज्ञ	अयथाज्ञान युक्त	विपरीत भावयुक्त
धृति	समभावयुक्त	फलाकांक्षी	शोकमोहयुक्त
सुख	आत्मबुद्धि प्रसादज	विषयजन्य	निद्रालस्योत्पन्न

संक्षेपसे मनुष्यकी परीक्षा करनेकी कसोटियां ये हैं। विस्तारसे देखना हो तो गीता अ० १७ और १८ में देख सकते हैं। किस मनुष्यमें स्वाभाविक प्रवृत्ति कैसी है, यह देखकर उसमें सत्व रज या तम इन गुणोंमेंसे किस गुणकी प्रवृत्ति है, इसका निर्णय इस परीक्षासे हो सकता है। इसीसे स्वयं अपनी भी परीक्षा की जा सकती है। मनुष्य क्या खाता पीता है, क्या करता है, क्या चाहता है, इसका निरीक्षण करनेसे उसकी प्रवृत्ति निश्चित की जा सकती है।

इस तरह मनुष्यके तीन वर्ग होते हैं। कई मनुष्य सात्विक, कई राजस और कई तामस होते हैं। ये मनुष्य शीघ्रही पहचाने जा सकते हैं। परंतु कई लोग ढोंगसेभी अपनी दूसरी स्वभाववृत्ति है, ऐसा दिखावा करते हैं, इस कारण यह परीक्षा समाजमें कठीन हो रही है।

सात्विक गुणवालेकी योग्यता समाजमें अधिक समझी जाती है,इसलिये अपन आपको सात्विक न होते हुएभी सात्विक बतानेकी इच्छा कइयोंमें होनेके कारण समाजमें यह प्रवृत्ति परीक्षा करके पहचानना कठिन हो रहा है। जो मनुष्य स्वयं जान बूझ करके अपनी निजवृत्तिको रोकता और दूसरी वृत्ति अपनेमें होनेका ढोंग रचता है वह अपनाही घात करता है। उदाहरणके लिये देखिये कि किसीने अपनी निजवृत्ति तमोगुणी होनेपरभी उसने राजस या सात्विक बतानेका ढोंग किया, तो अन्तमें उसीकी हानि होगी। तमोगुणी सुस्त होगा, उससे राजस वृत्तिके चुस्त कार्य होंगेभी नहीं। और वह न इधरका और न उधरका बनेगा। इसलिये अपनी प्रवृत्तिको ढोंगसे भिन्न दर्शाना अपनाही घात करना है और समाजकाभी घात करना है।

यद्यपि सत्व-रज-तम ये तीनहि गुण हैं, तथापि इन तीन गुणोंके कारण मानवोंमें चार भेद होते हैं। सत्वगुण स्थिर है और तमोगुण सुस्त है, इसलिये एक सत्वगुणी और दूसरे तमोगुणी ऐसे दो भेद स्पष्ट होते हैं। मानवोंके ये दो भेद पहिले जानना चाहिये। तीसरा गुण रजोगुण है, यह स्वयं चञ्चल है, इसलिये यह रजोगुण अपनी चञ्चल वृत्तिके कारण एक समय सत्वगुणकी ओर झुका होता है और दूसरी ओर रजोगुणकी ओर झुका होता है। इस झुकावके कारण दो प्रकारका रजोगुण समाजमें दिखाई देता है। इसलिये रजोगुणके दो भेद और सत्वगुण तथा तमोगुण ये दो भेद मिलकर मानवोंके मुख्यतः चार भेद हुआ करते हैं। इसीका नाम चातुर्वर्ण्य है।

सत्वगुण	सत्वमिश्रित रजोगुण	तमोमिश्रित रजागुण	तमोगुण
ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र

इस प्रकार गुणभेदसे- अर्थात् त्रिगुणोंके भेदसे चार वर्ण होते हैं। इन चार वर्णोंमें इन तीनों

गुणोंका सर्वसामान्य प्रमाण इस तरह होता है-

वर्ण	निजस्वभाव-गुण		
१ ब्राह्मण	सत्त्व	रज	तम
	·॥·	·।·	·।·
२ क्षत्रिय	रज	सत्त्व	तम
	·॥·	·।·	·।·
३ वैश्य	रज	तम	सत्त्व
	·॥·	·।·	·।·
४ शूद्र	तम	सत्त्व	रज
	·॥·	·।·	·।·

१ ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म— शम, दम, तप, शुद्धि, शान्ति, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य।

२ क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म- शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धमें स्थिर रहना, न भागना, दान, स्वाभिमान, स्वामित्व ।

३ वैश्यके स्वाभाविक कर्म- कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य ।

४ शूद्रके स्वाभाविक कर्म-सेवा अथवा हुनर, कला ।

निज स्वभावगुणोंके अनुसार स्वभावसिद्ध कर्म ये हैं। अर्थात् जिसके अन्दर सत्त्वगुण होगा, उससे शमदमादि गुण हो होंगे, जिसमें सात्त्विक रजोगुण होगा, उससे शौर्यादि कर्म ही होंगे, जिसमें तामस रजोगुण होगा, वह वाणिज्य करना पसंद करेगा,अर्थात् जितना दगा उससे अधिक लेना चाहेगा । इसी तरह तमोगुणी किसी न किसीका दास ही बनेगा । उसमें जो रजाधिक्यवाला होगा वह हुनरके कार्य करना चाहेगा । इस विचारसे पाठक जान सकते हैं कि निज गुणोंके अनुकूल कर्म करना मनुष्यके लिये स्वाभाविक है और वेही कर्म उससे उत्तम हो सकेंगे । निज गुणके विपरीत कर्म करनेका कोई यत्न करेगा, तो उससे वे कर्म होंगे नहीं, और यदि बलात् करनेका यत्न किया जायगा, तो उस प्रयत्नमें असफलता ही प्राप्त होगी ।

इस चातुर्वर्ण्य के संबंधका विवरण गी० अ० ४, श्लो० १३ के प्रकरणमें पाठक देखें।

प्रत्येक मनुष्यमें न्यूनाधिक प्रमाणसे सत्त्व+रज+तम गुण होते हैं । इसलिये प्रत्येक मनुष्यमें चातुर्वर्ण्य न्यूनाधिक हुआ ही करता है । इस कारण प्रत्येक मनुष्य थोडा शमदममें रुची रखनेवाला, थोडा शूर वीर, थोडा उद्यानमें वृक्षादि लगानेमें रुची रखनेवाला, और थोडा परस्पर सेवा करनेवाला होताही है । ब्राह्मणमें भी रज, तम ये गुण होते ही हैं, वैसाही सत्त्वगुण अधिक होता है । प्रत्येक मनुष्यमें अंशतः चारों वर्णोंके कामका भाव रहता है, परंतु जो गुण उसमें विशेष होता है, उसकी प्रबलता रहती है ।

इस कारण शमदमादि गुण ब्राह्मणमें पूर्ण विकसित और अन्य वर्णोंमें कुछ न्यून, इसी तरह अन्य वर्णोंके कर्मोंके विषय में जानना उचित है । अतः शमदम शूद्रमें नहीं हो सकते ऐसा कोई न समझे । होते तो हैं, परंतु दबे होते हैं । इसी लिये राष्ट्रपर आपत्ति आ जाय तो सब लोग शस्त्रास्त्र लेकर उठ खडे हो सकते हैं, उस समय चारों वर्ण क्षत्रियका कार्य करेंगे । आपत्ति जानेके पश्चात् अपना अपना कार्य प्रत्येक वर्ण करता जायगा ।

इससे राष्ट्रीय शिक्षा किस तरह देनी चाहिये, इसका निर्णय हो सकता है । हरएकमें चारों वर्ण सामान्यतः हैं,इसलिये सामान्यतः प्रत्येकको चारों वर्णोंके कर्तव्योंका पता लग जाय, ऐसी सामान्य शिक्षा सब राष्ट्रको देनी चाहिये । इस सर्वसामान्य शिक्षाके पश्चात् जिसमें जो विशेष गुण है, उसके विकासके योग्य उसको विशेष शिक्षा मिलनी चाहिये । सर्वसामान्य और विशेष शिक्षा राष्ट्रमें शुरू करनेकी रीति इससे ज्ञात हो सकती है ।

सामान्य शिक्षा।

प्रत्येक मनुष्यमें तीनों गुणोंका मिश्रण १६ आने है, ऐसा माननेपर सत्त्व, रज, तम प्रत्येकमें चार चार आने मिलकर बारह आने और उस वर्णका गुण चार आने मिलकर १६ आने मनुष्य होता है। इसलिये सर्वसामान्य शिक्षा तीनों गुणोंके कर्मोंकी हरएक विद्यार्थीको सबसे प्रथम मिलनी चाहिये। जैसा—

इंद्रियोंका शम, मनका दमन, पवित्रता साधन, शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति, सरलतासे व्यवहार करना, ज्ञान-विज्ञान, आस्तिक्य और उपासना की रीति, शूर-वीरताके कार्य करनेका अभ्यास, तेजस्विताकी वृद्धि, धारणशक्तिका संगोपन, दक्षता, युद्धमें स्थिर रहकर युद्ध करना, युद्धसे न भागना, दान देना, स्वामीभाव, कृषिकर्म, गोरक्षा, व्यापारव्यवहार, कारीगरी और सेवाशुश्रूषा आदि चारों वर्णोंके सामान्य कर्तव्योंकी शिक्षा राष्ट्रके सब लडके-लडकियोंको देनी चाहिये।

इसका विचार करके सुविचारी पाठक पठनपाठनका कार्यक्रम विस्तारपूर्वक बना सकते हैं। प्राथमिक पढाई सर्वसाधारण बालकोंको इस तरहकी देनेपर जो बालक अपने निज स्वभाव गुण विशेष प्रकारके बतावेंगे, उनको स्ववर्णोचित विशेष शिक्षा देना उचित है।

इससे यह नहीं सिद्ध होता कि शौर्यवीर्यादि गुण ब्राह्मणमें न रहें और शमदमादि शूद्रमें न हों। सब गुण सबमें न्यूनाधिक रहते ही हैं, उनको शिक्षित करना आवश्यकहि है। परंतु आगे जाकर कई लडके ऐसे होंगे कि जो ज्ञानविज्ञानकी चर्चामें प्रवीण हो सकेंगे और युद्धविद्यामें वैसे नहीं हो सकेंगे, कई ऐसे होंगे कि जो युद्धकलामें निपुण होंगे और उनकी बुद्धि वाणिज्यमें नहीं चलेगी, तीसरे कोई ऐसे होंगे, जिनको कृषि अथवा वाणिज्यही प्रिय होकर उसीके पीछे लगनेमें उनको आनन्द होगा, शेष कई ऐसे होंगे कि जो कारीगरीमें प्रवीण होंगे और कई सेवाशुश्रूषाके कार्य प्रेमसे करेंगे। ऐसे प्रवृत्तिवाले छात्रोंको इन विषयोंकी शिक्षा अवश्य देनी चाहिये। इस विशेष शिक्षासे जो उनमें विशेष गुण होगा, उसका संवर्धन करना चाहिये। इस विचारसे राष्ट्रीय शिक्षा किस ढंगसे राष्ट्रमें देनी चाहिये, इसका निर्णय हो सकेगा।

चारों वर्णोंके छात्रोंको सर्वसाधारण सामान्य शिक्षा देनेसे सबकी समानता प्रथम सिद्ध होगी, और तत्पश्चात् उनमें जो विशेष शिक्षासे स्ववर्णभावकी उन्नति होनी है उससे उनमें वर्णधर्मका विकास होगा। हरएक वर्णके कर्मोंसे राष्ट्रकी सेवा होनी है, इसलिये राष्ट्रसेवाकी दृष्टिसे संपूर्ण वर्णोंकी आवश्यकता निःसंदेह है। सापेक्षतासे युद्धके समय क्षात्रभावका विशेष महत्त्व, व्यापारव्यवहारसे धन कमानेमें वैश्योंका महत्त्व, ज्ञानविज्ञानकी खोज और दूरदृष्टिसे राष्ट्रका भवितव्यका निश्चय करनेमें ब्राह्मणोंका महत्त्व होता है। इस तरह देखनेसे सदासर्वदा किसी एक वर्णका महत्त्व है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

जैसा शरीरमेंभी विचार करनेके कार्यके समय मस्तकका महत्त्व, देखनेके कार्यके समय नेत्रोंका महत्व, लडनेके समय बाहुओंका महत्व, दौडनेके समय पांवोंका महत्व होता है। सर्वसाधारण मस्तक और सिरमें रहनेवाले नेत्र-कर्णादिका महत्व तो सर्वदा ही विशेष होता है।

इसी तरह यद्यपि समयविशेषमें हरएक वर्ण विशेष महत्वका होता है, और सर्वसामान्यतया सब वर्णधर्मकर्मोंकी राष्ट्रके लिये आवश्यकता समानतया है, तथापि ज्ञानी और शूरोंकी आवश्यकता अन्योंसे अधिक है, इसमें संदेहही नहीं है, इनमें भी शूरोंकी अपेक्षा ज्ञानियोंका

(१७) स्वकर्मसे सिद्धि।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

अन्वयः— स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः नरः संसिद्धिं लभते। स्वकर्मनिरतः (नरः) तथा सिद्धिं विंदति, तत् शृणु ॥ ४५ ॥ यतः भूतानां प्रवृत्तिः (अस्ति), येन इदं सर्वं ततं (अस्ति), तं (ईश्वरं) स्वकर्मणा अभ्यर्च्य मानवः सिद्धिं विन्दति ॥४६॥

अपने अपने कर्ममें जो तत्पर रहता है, वह नर उत्तम सिद्धिको प्राप्त होता है। स्वकर्ममें तत्पर रहनेवालेको जिस तरह सिद्धि प्राप्त होती है, वह श्रवण कर ॥ ४५ ॥ जिससे सब भूतोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे यह सब (संसार) व्याप्त हुआ है, उस (ईश्वरको) स्वकर्मद्वारा पूजनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

भावार्थ—अपना अपना कर्म तत्परतासे करनेसे प्रत्येक मनुष्य श्रेष्ठ सिद्धि-परमपदकी प्राप्ति-अथवा मोक्ष-पदको प्राप्त हो सकता है। जिसकी शक्ति प्राप्त होनेसे सब प्राणी अपने कर्म करनेमें समर्थ होते हैं, और जो सबमें व्याप्त है वही ईश्वर है। स्वकर्मसे इस ईश्वरकी जो मनुष्य पूजा करता है, अर्थात् अपना जीवन ही जो ईश्वरार्पण करता है, वही परमेश्वरार्पण होनेके कारण ईश्वरको ही प्राप्त करता है ॥ ४५-४६ ॥

महत्त्व विशेष है। ब्राह्मणोंके आधीन क्षत्रिय रहें या क्षत्रियाधीन ब्राह्मण रहें, इसका निर्णय ब्राह्मणोंके आधीन क्षत्रिय रहें, यही शास्त्रकारोंने किया है। सर्व काल वही मान्य होने योग्य है।

राष्ट्रमें जिस विशेष समयमें सैनिकोंका शासन (मार्शल ला) शुरू होता है उस समय राष्ट्रके लोगोंको बडे कष्ट होते हैं। इसका अर्थही यह है कि जनता क्षात्रशासन पसंद नहीं करती परंतु ब्राह्मशासनही पसंद करती है। जिन देशोंमें सेनाविभागका अधिक महत्व समझा जाता है, उन देशोंमें स्वतंत्र, उच्च विचारोंका परिपोष नहीं होता; उच्च, स्वतंत्र विचारोंका पोषण होनेके लिये ब्राह्मशासनही रहना चाहिये। अर्थात् शासन तो क्षत्रिय ही करेंगे, परंतु वे ब्राह्मणोंको अपने ऊपर मानते हुए करेंगे।

अपने अपने स्वभावधर्मके अनुसार हरएक अपने नियत कर्तव्य देखे और उनको करता रहे, इसीसे राष्ट्रकी जनता सुखी होगी। अपने निज कर्तव्यसे ही हरएक व्यक्ति राष्ट्रपुरुष की सेवा करे, इस विषयमें आगेके श्लोकोंमें उत्तम उपदेश दिया है—

(४५-४६) मनुष्य अपने अपने कर्ममें दत्त-चित्त होनेसे, अर्थात् अपना कर्तव्य ठीक तरह करनेसे सिद्धिको प्राप्त होता है। स्वकर्ममें निःशेष रत होनेसे सिद्धिको प्राप्त होता है। अपना कर्तव्य करनेसे मनुष्य संपूर्ण उन्नति सिद्ध कर सकता है, अपना कर्म छोडकर जो अपना कर्तव्य नहीं, उसे करनेसे मनुष्य उन्नत नहीं हो सकता।

यहां प्रश्न हो सकता है कि 'अपना कर्तव्य कौनसा है?' अपना कर्तव्यकर्म वही है, जो अपने अन्दरके निजगुणोंके अनुसार निश्चित होता है। समझ लीजिये कि किसीमें सत्त्वगुण विशेष है, तो वह मनुष्य शम, दम, ज्ञान,विज्ञान आदि कर्म करे, यही उसका निजकर्तव्य है। यदि किसीमें सत्त्वकी ओर झुकनेवाला रजोगुण है, तो वह शौर्य, तेज, धैर्य आदि प्रकट करनेवाले युद्ध आदि कार्य करे। यही उसका निजधर्म है। इसी तरह अपने निज गुणोंद्वारा निजकर्म निश्चित होते हैं, वेही उससे अच्छी तरह हो सकते हैं; क्योंकि वे उसकी प्रकृति के अनुकूल होते हैं। इन निजकर्मोंको छोडकर यदि उसने दूसरेहि कर्म करना आरंभ किया, तो उसको सफलता नहीं हो सकती, क्योंकि वे उनकी प्रकृतिके विरुद्ध होंगे।

वर्णधर्म वही है जो अपनी प्रकृतिके अनुकूल होता है। और पूर्वोक्त परीक्षाओंद्वारा अपना प्रकृतिगुण निश्चित किया जा सकता है और तदनुसार अपना कर्तव्यकर्म भी ज्ञात हो सकता है। यह कर्तव्यकर्म अर्थात् यह सहज-सिद्ध वर्णधर्म करनेसेहि मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।

स्वकर्मसे ईश्वरपूजा।

जिससे सब भूत उत्पन्न हुए हैं और जिसने यह सब फैलाया है, जो सर्वत्र व्याप्त है, उस ईश्वरकी पूजा अपने कर्मके द्वारा करनेसे मनुष्य सम्यक् सिद्धिको प्राप्त होता है। अपने कर्मसे पूजा कैसी हो रही है,इसका विचार अपने अन्दरहि देखिये—

शरीरमें आत्मा है जिसके प्रभावसे यह शरीर बना और जीवित रहा है। जो अपने प्रभाव-शक्तिसे इस शरीरमें व्याप्त है और जिसने अपनी शक्ति नेत्रकर्णादि इंद्रियोंमें फैलाई है, वही इस शरीरमें इंद्रियोंद्वारा उपास्य है। सब इंद्रियां इसीकी उपासना स्वकर्मद्वारा कर रही हैं। पांव अपने चलनवलनरूप कर्मसे, बाहु अपने बलसे रक्षाकर्मद्वारा, पेट अपनी पचनशक्तिद्वारा, गुदा अपने मलको बाहर फेंकनेके कर्मसे, मूत्रेंद्रिय मूत्रद्वारा विषको बाहर त्यागनेसे, हृदय सब शरीरमें रुधिरका दौरा करानेसे, मुख वक्तृत्व-द्वारा तथा चर्वणभक्षणद्वारा, नेत्र दृश्यको देखने द्वारा, कर्ण शब्दका श्रवण करने द्वारा,नासिका श्वासोच्छ्वास करनेद्वारा, मस्तक विचार करने द्वारा, बुद्धि ज्ञानसंग्रहद्वारा, चित्त चिंतन करने-रूपकर्मसे इसी तरह अन्य इंद्रिय और अवयव अपने अपने कर्मद्वारा सदा इसकी पूजा कर रहे हैं। यह आत्माकी पूजा अपने अन्दर स्वकर्मद्वाराही हो रही है। जिस समय यहांका कोई इन्द्रिय अपना कर्म छोडता है, उस समय उतनी पूजा न्यून होती है। यहांका कोई देव अपना स्वकर्म छोडकर दूसरेका कर्म नहीं करता। अपना नियत कर्म उत्तम करनेद्वाराहि हरएककी सफलता होती है। नेत्रको उचित है कि वह उत्तम दर्शनरूप कर्म करे, दूसरोंके कर्म इससे अच्छे हों या बुरे हों, इसका विचार न करता हुआ अपने कर्मोंद्वारा वह आत्माकी पूजा करे, यह 'स्वकर्मसे आत्माकी पूजा' है। सब इंद्रियरूपी देवोंद्वारा यही पूजा हो रही है, किसी समय न हुई तो उसीका नाम रोगी अवस्था है। इससे स्पष्ट होता है कि स्वकर्म-द्वारा ईश्वरपूजा कैसी होती है।

बाह्य जगत्के अन्दर सूर्यादि सब देवता इसी

तरह स्वकर्मद्वाराही परब्रह्मकी उपासना कर रहे हैं। सूर्य प्रकाशने द्वारा, अग्नि जलने द्वारा वायु बहने द्वारा,जल शीत गुणद्वारा,पृथ्वी अपनी धारणाशक्तिद्वारा इसी तरह अन्यान्य देवताएं अन्यान्य नियत स्वकर्मद्वारा परमात्माकी सेवा कर रही हैं। यहां भी हरएक देव अपना निज-स्वभावजन्य कर्म करनेमेंहि दक्ष है, दूसरोंका कर्म सुकर हो या दुष्कर, उसका विचार न करता हुआ प्रत्येक अपना कर्म करनेमें दक्ष रहता है। अपना कर्म योग्य रीतिसे करनेसेहि परमात्मपूजा हो जाती है। पूजा करनेके लिये दूसरे साधनोंको इकट्ठा करनेकी आवश्यकता नहीं है।

जनताभी परमात्मरूपही है। जगद्बीज नारायणसेही ये चार वर्ण उत्पन्न हुए हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋग्वेद १०।९०)

'हजारों सिर, हजारों आंख, हजारों पांव जिसको हैं,ऐसा एक पुरुष है वह पृथ्वीके चारों ओर फैला है। इसके मुख बाहू ऊरू और पांव कौनसे हैं? ब्राह्मण इसका मुख है, क्षत्रिय इसके बाहू हैं, वैश्य इसकी जंघाएं हैं और शूद्र इसके पांव हैं।" अर्थात् यह मानवसमाजरूपी प्रत्यक्ष दीखनेवाला ही पुरुष है। पशु, पक्षी, वृक्ष आदिभी इसीके अवयव हैं, तथापि अपने विषयके प्रतिपादन के लिये हमें मानवसमाज का ही यहां विचार करना योग्य है। इसीका वर्णन उपनिषदोंमें इस तरह किया है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ।
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः॥
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य।
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥
तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः।
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च।
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥

(मुण्डक. २।४-७)

'अग्नि उस परमात्माकी मूर्धा है, आंख सूर्य और चन्द्र हैं, दिशाएं कान हैं, वेद उसकी वाणी है, वायु उसका प्राण है, अन्तःकरण यह अन्तरिक्ष है और पांव ही यह पृथ्वी है। यही सर्वभूतान्तरात्मा है। यही परमात्मा है। इसी परमात्मासे देव साध्य मनुष्य, पशु, पक्षी हुए हैं, और प्राण, अपान, चावल, जौं, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और यज्ञविधि भी उसीसे प्रकट हुए हैं।" वेदमें जो पुरुष-सूक्तमें कहा है वही मुण्डकोपनिषद्में इसी तरह कहा है। अर्थात्-

पुरुष एवेदं विश्वम्। (मुडक २।१०)
पुरुष एवेदं सर्वम्। (ऋ० १०।९०।२)

'यह नारायण पुरुषही यह सब है,' यही आशय वेदोंमें अन्यत्र इस तरह कहा है—

एकं वा इदं विबभूव सर्वम्। (ऋ०८।५८।२)
यो विश्वा भुवना बभूव॥ (ऋ०४। ६।५)
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते॥(ऋ०६।४७।१८)

"एकही सत्तत्व यह सब विश्व विशेष रीतिसे हुआ है। जो परमात्मा सब भुवन बना है। इन्द्र अपनी अनन्त शक्तियोंसे अनेक रूपोंवाला हुआ है।" यहां भी एककाही वर्णन है, जिसके ये सब रूप हैं। अतः उसका नाम 'विश्वरूप' है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये मानव इस नारायणके मुख-बाहू-ऊरू-पांव हैं, इसीकारण इसके हजारों सिर, हजारों बाहु, हजारों जंघाएं और हजारों पांव हैं, ऐसा कहा है। अस्तु। यही अनन्तबाहूदर नारायण मानवों द्वारा उपासना करने योग्य है।

(१८) स्वधर्मकी श्रेष्ठता।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

अन्वयः— विगुणः स्वधर्मः स्वनुष्ठितात् परधर्मात् श्रेयान् (अस्ति), स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नरः किल्बिषं न आप्नोति ॥ ४७ ॥ हे कौंतेय! सहजं कर्म सदोषं अपि न त्यजेत्, धूमेन अग्निः इव हि सर्वारंभाः दोषेण आवृताः (सन्ति) ॥ ४८ ॥ सर्वत्र असक्तबुद्धिः, जितात्मा, विगतस्पृहः (नरः) परमां नैष्कर्म्यसिद्धिं संन्यासेन अधिगच्छति ॥ ४९ ॥

पृथ्वीके चारों ओर यही जनता रूपी देव है. पृथ्वीके चारों ओर यही रूप फैला है। हम सब उसीके विराट् देहके अंग हैं, अतः हमें उसीकी सेवा स्वकर्मके द्वारा करनी चाहिये। जिस तरह शरीरनेत्रादि इंद्रिय शरीरकी सेवा स्वकर्मसे करते हैं, वसी ही ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य, शूद्रोंको इस विराट् पुरुषकी सेवा करनी चाहिये। ब्राह्मण अपने ज्ञानप्रसारके द्वारा, क्षत्रिय अपने बाहुबलसे रक्षा करने द्वारा, वैश्य धान्यादिकी उत्पत्ति करने द्वारा, और शूद्र कारीगरी तथा सेवाशुश्रूषाद्वारा सेवा करे। प्रत्येक मनुष्य उसकी सत्त्वरजतमात्मक प्रकृतिके अनुरूप जो कर्म कर सकता है, उस कर्मके द्वारा वह इस विराटपुरुषकी सेवा करे। इसी सेवा द्वारा प्रत्येक मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है।

स्वकर्मणा तं अभ्यर्च्य;
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं विन्दति;
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते।
(गी० १८।४५-४६)

इन श्लोकभागोंमें जो कहा है, उसका अर्थ यही है। प्रत्येक मनुष्य चार वर्णोंके अन्दर किसी न किसी वर्णमें होता है और वर्णाश्रम विभागके अनुकूल उसका कुछ न कुछ कर्म निश्चित ही होता है। यही उसका सहज कर्म है यही कर्म इसके जन्मके साथ इसके पास आया होता है। जो जिसका नियत कर्म है, वही उत्तम रीतिसे करनेसे उसको उत्तमोत्तम सिद्धि प्राप्त होती है। अपना कर्म सुयोग्य रीतिसे करनेसेहि परमात्मसेवा हो जाती है। ईश्वरपूजा दूसरी नहीं है। स्वकीय कर्म करना ही सच्ची ईश्वर-सेवा है।

किसीका स्वकर्म सुकर होता है और किसीका दुष्कर होता है, इसलिये दुष्कर कर्मका त्याग करके सुकर कर्म करनेकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। परंतु वैसा करना योग्य है वा नहीं, इसका विचार आगे भगवान् करते हैं—

गुणहीन सा प्रतीत होनेवाला स्वधर्म, आचरण करनेमें सुगम सा प्रतीत होनेवाले परधर्मसे, श्रेयस्कर है। स्वभावसे नियत हुआ कर्म करनेसे ही मनुष्य को पाप नहीं लगता ॥ ४७ ॥ हे कुन्तीपुत्र! सहज कर्म सदोष होनेपर भी छोडना नहीं चाहिये। जैसा धूँवेंसे अग्नि, उसी तरह सब कर्मोंका प्रारंभ करना दोषोंसे व्याप्त रहता है ॥ ४८ ॥ जिसकी बुद्धि कहीं भी आसक्त नहीं है, जो जितेंद्रिय है, जो निःस्पृह हुआ है, वह मनुष्य नैष्कर्म्यकी परम सिद्धिको संन्यास द्वारा प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

भावार्थ— गुणवान परधर्मसे गुणहीन स्वधर्म श्रेष्ठ है और लाभकारक भी है। स्वकर्म करनेसे किसीको पाप नहीं लगता। अपना सदोष कर्म भी छोडना नहीं चाहिये क्योंकि दोष तो सब कर्मोंमें रहते ही हैं। जो आसक्तिरहित, संयमी और निर्लोभ है वही संन्यास द्वारा निष्कर्मसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४७-४९ ॥

(४७-४९) अपना निजधर्मानुकूल कर्तव्य कितनाभी दुष्कर, सदोष अथवा गुणहीन हो, और दूसरेका कर्तव्य कितनाभी सुकर, निर्दोष अथवा बहुगुणी हो, किसी अवस्थामें अपना निजधर्म त्यागकर परधर्मका अवलंबन करना योग्य नहीं है। क्योंकि प्रत्येक कर्ममें कुछ न कुछ दोष होतेही हैं। इसलिये एक सदोष कर्मका त्याग करनेसे कौनसा लाभ हो सकता है?

मान लीजिये कि एक प्रदेशमें युद्ध चल रहा है, और सेनापतिने अपने सैनिकोंको अपनी इच्छानुसार विशेष विशेष स्थानपर रखा है। अब प्रत्येक सैनिकका कर्तव्य है कि वह अपने स्थानपर रहे और वहांका अपना कर्तव्य करे। शत्रुका हमला होनेपर अपने ऊपर गोलियां चल रही हैं ऐसा देखकर अपना स्थान छोडकर भागना और युद्धसे निवृत्त होना योग्य नहीं है। प्रत्युत अपने स्थानपर युद्ध करते हुए मरनाही समाजकी सेवा करना है। वह सैनिक जिस स्थानपर रखा गया है, वहांसे भागना उसका कर्तव्य नहीं है, प्रत्युत वहां रहकर युद्ध करना और समय आया तो मरनाही कर्तव्य है। अपना कर्तव्य दुष्कर सदोष और गुणहीन होनेपर भी वही करना चाहिये और दूसरेका कर्म निर्दोष सुकर और लाभदायक होनेपरभी अपना छोड कर दूसरेका कर्म करना नहीं चाहिये। क्योंकि अपना कर्तव्य करनेसेहि सबका लाभ है, अपना कर्तव्य छोडनेसे किसीका लाभ नहीं है। सैनिक अपना स्थान छोडते जांयगे तो पराजय होनेमें संदेहही नहीं है। इस तरह एकका भागना सबके नाशके लिये कारण होता है। अपने स्थानसे भागनेसे उसका संभवतः बचाव हो जायगा, परंतु सेनामें भाग जानेकी वृत्ति बढेगी और सब राष्ट्रका पराभव हो जायगा। अपना स्थान सदोष और बचाव करनेके लिये कठिन होनेपरभी वहीं रहकर लडनाही सैनिकका कर्तव्य है। इसमें सेनापतिकी आज्ञाही सैनिकके लिये प्रमाण है। सेनापतिकी आज्ञासे सैनिकका कर्तव्य निश्चित हो चुका। वह कर्तव्य कठिन हो या सुकर हो, करनाही उसका धर्म है।

इसी तरह अपने शरीरकी सत्त्व-रज-तमात्मक प्रकृतिके अनुसार हरएकका सहज निज-वर्णधर्म निश्चितही होता है और वही उसको करना चाहिये। निज प्रकृतिधर्म निश्चित होने-पर कर्मका सुकरता अथवा दुष्करताके कारण उसे छोडना नहीं चाहिये। इस तरह हरएक मनुष्य अपना कर्तव्य छोड देगा, तो समाजमें

(१९) परम सिद्धिकी प्राप्ति।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म यथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

इतनी असुविधा होगी कि उसका ठिकानाही नहीं।

मनुष्य दुष्कर कर्म करना नहीं चाहता, सदा सुकर कर्महि करना चाहता है, इसलिये कर्म करना मनुष्यकी इच्छापर छोड दिया जाय तो सुकर कर्ममें करनेवालोंकी बहुत भीड होगी और दुष्कर कर्मकी ओर कोई जायगाही नहीं। इस कारण कई कर्म नहीं होंगे और कर्म न होनेके कारण समाजमें कष्ट बढ जायगे। अतः कर्म करना न करना मनुष्यकी इच्छापर छोडना अयोग्य है। इसलिये यहां कहा है कि मनुष्य स्वकर्म अवश्य करे और कभी उसका त्याग न करे, स्वकर्म करनेसेहि मनुष्यकी परम उन्नति होती है।

स्वभावनियत कर्म करनेमें हिंसा हो अथवा जो कुछ होनेवाला है वह होवे, (किल्बिषं न आप्नोति) उसको करनेसे मनुष्यको पाप या दोष नहीं लगते। जैसा क्षत्रियोंका निज सहज धर्म युद्ध है, युद्धमें हिंसा होतीहि है, यद्यपि हिंसासे पाप लगता है तथापि क्षत्रियने धर्मयुद्धमें की हुई हिंसासे उसको पाप नहीं लगता। अतः कहा है कि सदोष कर्म होनेपर भी उसको त्यागना किसीको भी उचित नहीं, जिसका वह निज धर्म होगा उसको वह करना ही चाहिये। क्योंकि संपूर्ण कर्मोंके अन्दर कुछ न कुछ दोष होते ही हैं। अतः दोषोंके भयसे कर्म छोडना हो तो सभी कर्म छोडने पडेंगे, परंतु सब कर्म छोडना मनुष्यके लिये असंभवही है।

फलपर आसक्ति न रखकर, सर्वत्र निर्लोभ वृत्तिका धारण करके और अपने इंद्रियोंका संयम करके कर्म करनेसे जो फलभोगकी कामना का संन्यास होता है, फलभोगेच्छाका त्याग होता है उससे परम नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है। यही उच्च अवस्था है। परमसिद्धिकी प्राप्तिके विषयमें आगे बडा सुंदर वर्णन है वह अब देखिये—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! सिद्धिं प्राप्तः (मानवः) यथा ब्रह्म आप्नोति, तथा मे समासेन एव निबोध, या च (इयं ब्रह्मप्राप्तिः) सा ज्ञानस्य परा निष्ठा वर्तते ॥५०॥ विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः, धृत्या आत्मानं नियम्य च, शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा, रागद्वेषौ व्युदस्य च, विविक्तसेवी, लघ्वाशी, यतवाक्कायमानसः, नित्यं ध्यानयोगपरः, वैराग्यं समुपाश्रितः च, अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं च विमुच्य, निर्ममः शान्तः, (नरः) ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५१-५३ ॥ (सः) ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा (सन्) न शोचति, न कांक्षति, च सर्वेषु भूतेषु समः भूत्वा परां मद्भक्तिं लभते ॥ ५४ ॥ (किं च) यावान् यः च अस्मि, तं मां तत्त्वतः भक्त्या अभिजानाति, ततः तत्त्वतः मां ज्ञात्वा तदनंतरं (मां) विशते ॥५५॥ मद्व्यपाश्रयः सदा सर्वकर्माणि अपि कुर्वाणः मत्प्रसादात् शाश्वतं अव्ययं पदं अवाप्नोति ॥ ५६ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! सिद्धिको प्राप्त होनेवाला मनुष्य जिस तरह ब्रह्मको प्राप्त होता है वह संक्षेपसे मुझसे सुन । यह जो ब्रह्मकी प्राप्ति है वह ज्ञानकी पराकाष्ठा है ॥ ५० ॥ विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, धैर्यसे अपने आत्माका नियमन करके, शब्दादि विषयोंका त्याग करके, रागद्वेषको जीत कर, एकान्तसेवन करके, मिताहारी होकर, मन वचन और शरीरको स्वाधीन रखकर, सदा ध्यानयोगमें तत्पर रहकर, वैराग्यका आश्रय करनेवाला, अहंकार बल दर्प काम क्रोध और तथा संग्रहबुद्धि इन सबका त्याग करके, ममतारहित होकर जो शान्तिसे युक्त होता है वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ५१-५३ ॥ ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ मनुष्य प्रसन्नचित्त होकर किसीका शोक नहीं करता और किसीकी इच्छाभी नहीं करता और सब भूतमात्रके विषयमें समभाव धारण करके मेरी (ईश्वरकी) श्रेष्ठ भक्तिको प्राप्त होता है ॥५४॥ और जितना बडा और जैसा मैं (ईश्वर) हूं उतना और वैसा तत्त्वतः मुझे (ईश्वरको) भक्तिसे जानता है और पश्चात् मुझमें (ईश्वरमें) प्रविष्ट होता है ॥ ५५ ॥ मेरा [ईश्वरका] आश्रय करनेवाला सदा सब कर्मोंको करता हुआभी मेरी [ईश्वरकी] कृपासे शाश्वत और अव्यय पदको प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

भावार्थ— ज्ञानकी पराकाष्ठाका नाम ब्रह्मकी प्राप्ति है। यह इस तरह प्राप्त होती है। बुद्धिकी पवित्रता करना, आत्मसंयम करना, विषयभोगोंका त्याग करना, प्रीति और द्वेषके परे होना, एकान्तसेवन करना, मिताहारी

होना, काया वाचा मनको स्वाधीन रखना, ध्यानयोग करनेमें तत्पर होना, वैराग्ययुक्त होना, अहंकार आदिका त्याग करना, ममतारहित होना, इससे शान्ति प्राप्त होती है और वही ब्रह्मभावकी योग्यता है। इस समय वह शोकसे दूर हो जाता है, भोगेच्छासेभी दूर होता है, सबको समभावसे देखता है और ईश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति करता है। तत्वत: जैसा ईश्वर है वैसाही उसको जानता है और उसकी अनन्यभक्ति करके उसमें प्रविष्ट होता है। परमेश्वरका आश्रय करके सब प्रकारके कर्म करनेपर भी ईश्वरकी कृपाके कारण वह शाश्वत और अव्यय पदको प्राप्त होता है। यही अन्तिम सिद्धि है ॥ ५०-५६ ॥

(५०-५६) इससे पूर्व अनेक वार कहा है कि 'सिद्धि प्राप्त होगी' 'सिद्धि प्राप्त होती है,' इसका अर्थ 'ब्रह्म प्राप्त होता है,' ऐसा है ब्रह्म प्राप्त होनेका अर्थ भी 'सत्य ज्ञान की पराकाष्ठा होना' है। परम सत्य ज्ञान पूर्णतया प्राप्त होना ही ब्रह्म प्राप्त होना है। ब्रह्मरूप होना और ज्ञानी होना और सिद्ध होना अथवा सिद्धि प्राप्त होनेका आशय एकही है। इस प्रकारका ज्ञानी मनुष्य क्या करता है, कैसा वर्तता है, व्यवहार कैसा करता है, यह बात अब कही जाती है—

ब्रह्मज्ञानीके लक्षण।

१ विशुद्धया बुद्धया युक्तः।

ज्ञानी शुद्ध बुद्धिसे युक्त होता है। इसकी बुद्धिमें कपटादि दोष होते नहीं, निर्दोष सत्य ज्ञान उसकी बुद्धिमें होता है।

२ धृत्या आत्मानं नियम्य,

ज्ञानी बडे धैर्यसे आत्माका नियमन करता है। मनःसंयम, इंद्रियदमन, आत्मसंयम करके अपने सब वासनादिको अपने अधीन रखता है। आत्मसंयम करनेके लिये बडे धैर्यकी आवश्यकता रहती है, क्योंकि प्रलोभन सम्मख आनेपर उसमे न फंसनेके लिये बडा ही धैर्य लगता है। इस धैर्यसे वह प्रलोभनोंको दूर करता है और अपना संयम करके स्वाधीन रहता है।

३ शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा,

शब्दादि विषयोंका त्याग करता है, अर्थात् अत्यंत आवश्यक जितना भोग है उतनाही करता है, अधिक भोग करता नहीं और अपने पास भोग्य पदार्थोंका संग्रह भी नहीं करता।

४ रागद्वेषौ व्युदस्य,

भोगोंके विषयमें प्रीति नहीं धारण करता और अप्रिय वस्तुका द्वेष भी नहीं करता, रागद्वेषोंका त्याग करता है, इससे अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर भी उसकी घबराहट नहीं होती और उसकी मनःस्थिति सदा सम रहती है। इस कारण उसकी चञ्चलता दूर होती है और द्वन्द्वोंके आघातसे उसकी शक्ति भी क्षीण नहीं होती।

५ विविक्तसेवी,

ज्ञानी एकान्त सेवन करता है, एकान्तमें उसे आनन्द मिलता है, जनसंगमें वह रहना नहीं चाहता, परंतु आवश्यक होनेपर वह जनसमाजमें भी वह जाता है। क्योंकि वह इतना पूर्ण होता है कि वह जनसमाजमें रहा तो भी उसकी वृत्तियां चंचल नहीं होती, अतः उसपर जनसमाजमें न आनेका बंधन नहीं है तथापि वह स्वभावसे आगे आगे करना नहीं चाहता।

६ लघ्वाशी,

लघु भोजन करता है, मिताहारी होता है, जो भोजन करना हो वह अपनी क्षुधा और पाचनशक्तिके अनुकूल परिमितही करता है। अत्यशनका दोष उससे नहीं होता।

७ यतवाक्कायमानसः,

वाणी, शरीर और मनको स्वाधीन रखता है, बहुत बोलता नहीं, मनसे अनावश्यक बातोंको सोचता नहीं और शरीरको अलंगके संगमें फंसाता भी नहीं, संयमित वृत्तिसे सदा रहता है।

८ नित्यं ध्यानयोगपरः,

सदा ध्यानयोगमें तत्पर रहता है, समय मिलनेपर ध्यानयोगही करता है, उसका सदा ध्यानयोग चलता है।

९ वैराग्यं समुपाश्रितः,

वैराग्यका आश्रय करता है, भोगोंपर उसकी आसक्ति नहीं होती, भोगोंमें दोषदृष्टि वह रखता है और उनसे सदा दूर रहता है।

१० अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं
परिग्रहं च विमुच्य,

अहंकार, घमण्ड, गर्व, बलका दुरुपयोग, कामी वृत्ति, क्रोध और भोगसाधनोंके संग्रहका त्याग करता है। ज्ञानी कभी घमण्ड नहीं करता, अपने बलका दुरुपयोग नहीं करता, कामके अधीन नहीं होता, क्रोध आने नहीं देता, अपने पास भोगसाधनोंका संग्रह करके दूसरोंको आवश्यक भोगोंसे वंचित नहीं रखता।

११ निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।

ममत्वबुद्धि किसीपर नहीं रखता, मैं और मेरा यह भाव छोड देता है जिससे वह सबके साथ समभावसे वर्तता है। वह इस कारण शान्त होता है। इस तरहका ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मके महत्त्वको प्राप्त होता है। मानो वह ब्रह्मही होता है।

१२ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

जो ब्रह्मरूप बनता है वह सदा आनन्दयुक्त होता है और इसी कारण न कभी शोक करता है और न कभी किसी भोग की प्राप्तिकी आकांक्षा धारण करता है। वह नित्य तृप्त और सदा आनन्दप्रसन्न रहता है।

१३ सर्वेषु भूतेषु समः,

सब भूतमात्रोंके साथ समवृत्तिसे व्यवहार करता है, न उसको कोई स्वकीय है और न कोई परकीय है, न उसका किसीके साथ द्वेष है और न मित्रता है। अतः वह सबके साथ समान व्यवहार करता है और इस कारण उसका आचरण निर्दोष होता है।

१४ परां मद्भक्तिं लभते।

ज्ञानी पुरुष ही ईश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति करता है, क्योंकि वही जानता है कि ईश्वरका सत्य स्वरूप क्या है और उसका अपना संबंध कैसा है और उसके संबंधमें अपना कर्तव्य उत्तम रीतिसे किस तरह करना चाहिये।

१५ यावान् यः च (अहं ईश्वरः) अस्मि
तं मां तत्त्वतः भक्त्या अभिजानाति।

ईश्वर जितना बडा है और उसका वास्तविक स्वरूप कैसा है वह उसको सत्य दृष्टिसे मालूम है और उसकी भक्ति करनेद्वारा वह उसका यथार्थ अनुभव लेता है और भक्तिसे ईश्वरका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है, उसे परमेश्वरका निःसन्देह ज्ञान होता है।

१६ तत्त्वतः मां (ईश्वरं) ज्ञात्वा
तदनंतरं (मां) विशते।

सत्य दृष्टिसे ईश्वरको जानकर वह ज्ञानी परमेश्वरमेंहि प्रवेश करता है, ईश्वरमें प्रविष्ट होता है, वह अपने आपको ईश्वरसे विभिन्न नहीं देखता। अपने आपको ईश्वरमेंहि अनुभव करता है। अपने चारों ओर परमेश्वरको अनुभव करता है और अपने आपको अभिन्न भी मानता है। क्योंकि एकहि सत्य आत्मस्वरूप सर्वत्र है यह उसे प्रत्यक्ष दीखता है और वही उसका अनुभव भी है।

१७ मद्व्यपाश्रयः सदा सर्वाणि कर्माणि
कुर्वाणः।

(२०) सब संकटोंको दूर करनेका उपाय।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥
मच्चित्तः सर्वं दुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

अन्वयः— (त्वं) सर्वकर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य, मत्परः (सन्) बुद्धियोगं उपाश्रित्य, सततं मच्चित्तः भव ॥ ५७ ॥ (त्वं) मच्चित्तः (सन्) सर्वं दुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि। अथ त्वं अहंकारात् न श्रोष्यसि चेत्, विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

तू सब कर्मोंको अपने मनसे ही मुझ (ईश्वर) में समर्पण करके, मुझ (ईश्वर) में स्थिर रह कर, बुद्धियोगका आश्रय करके, सतत मुझ (ईश्वर) में चित्त लगा ॥ ५७ ॥ तू मुझ (ईश्वर) में चित्त लगाकर सब संकटोंको मेरी कृपासे ही पार करेगा। और यदि तू अभिमानसे न सुनेगा तो नाशको प्राप्त होगा ॥ ५८ ॥

भावार्थ— अपने सब कर्म परमेश्वरके लिये कर, ईश्वरमें अपना चित्त स्थिर कर और बुद्धियोगका आश्रय करके ईश्वरपरायण हो, जिससे सब संकट दूर होंगे। यदि कोई अहंकारसे ऐसा नहीं करेगा तो उसका नाश होगा ॥ ५७–५८ ॥

ईश्वरका आश्रय करता हुआ सदा सब कर्मोंको करता है, ज्ञान होनेके कारण वह अपने कर्तव्य कभी भी त्यागता नहीं। उचित प्रक्रिया से वह सब कर्मोंको यथा योग्य करता है और कर्मोंको करता हुआ भी ईश्वरके आश्रयको सदा स्मरता है अर्थात् ईश्वरका आधार है उसके विना कुछ भी नहीं है यह सुस्पष्ट रीतिसे जानता है।

१८ मत्प्रसादात् शाश्वतं अव्ययं पदं अवाप्नोति।

इस तरहके ज्ञानीको ईश्वरकी प्रसन्नताके कारण शाश्वत और अव्यय स्थान मिलता है जहांसे वह कभी च्युत नहीं होता है।

बुद्धिकी पवित्रता, आत्मसंयम, इंद्रियदमन, मनकी स्वाधीनता, शब्दादि विषयोंका त्याग करना, रागद्वेष छोडना, एकान्त-सेवन करना, हितमित पथ्यभोजन करना, ध्यानयोगमें मनकी स्थिरता रखना, वैराग्य की वृत्ति, अहंकार का त्याग, कामक्रोधका त्याग, भोगसाधनोंका संग्रह न करना, ममत्व छोडना, शान्ति, प्रसन्नचित्त रहना, सब भूतोंके साथ समवृत्ति, ईश्वरको जानकर उसमें अपने आपको देखना, ईश्वरार्पण बुद्धिसे सब कर्म करना, ये ब्रह्मज्ञानीके लक्षण हैं। इनसे ब्रह्मज्ञानी पहचाना जाता है। इसीको सिद्ध कहते हैं और यही ब्रह्मरूप होता है।

(५७–५८) सब संकटोंको दूर करनेके उपाय का वर्णन करते हैं। ईश्वरका प्रसाद होनेसे सब संकट दूर होते हैं (मत्प्रसादात् सर्वं दुर्गाणि तरिष्यसि), परमेश्वरकी प्रसन्नता

(२१) प्रकृतिका वेग।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

अन्वयः— यत् अहंकारं आश्रित्य ' न योत्स्ये ' इति मन्यसे, (तत्) एषः ते व्यवहारः मिथ्या (एव अस्ति, यतः) प्रकृतिः त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥ हे कौन्तेय ! स्वभावजेन स्वेन कर्मणा निबद्धः (त्वं) यत् मोहात् कर्तुं न इच्छसि, तत् अवशः (सन्) अपि करिष्यसि ॥ ६० ॥

यदि अहंकारका आश्रय करके ' मैं नहीं लडूंगा ' ऐसा समझोगे, तो यह मानना मिथ्याही होगा, क्यों कि तेरी प्रकृतिहि तुझे (इस युद्धमें) नियुक्त करेगी ॥ ५९ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधा हुआ तू मोह-वश जो करनेकी इच्छा नहीं करता, उसीको परतंत्रसा होकर अवश्य करेगा ॥ ६० ॥

भावार्थ— प्रकृतिस्वभाव ऐसा प्रबल है कि जो न करनेका निश्चय मनुष्य करता है, उसीकी ओर प्रकृति-स्वभाव उसे घसीट ले जाता है। मनुष्य अपने स्वभावसे बंधा हुआ है, अतः प्रकृतिस्वभावके अधीन रहकर जो कुछ होगा वह करता जाता है ॥ ५९-६० ॥

कैसी हो सकती है इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि-

१ चेतसा सर्वकर्माणि मयि (ईश्वरे) संन्यस्य,
२ मत्परः, मच्चित्तः (ईश्वरपरः ईश्वरचित्तः) भूत्वा,
३ बुद्धियोगं उपाश्रित्य सततं भव।

(१) मनसे अपने संपूर्ण कर्मोंको और उनके फलोंको ईश्वरार्पण करो, (२) अपना मन परमेश्वर पर लगाओ, (३) सतत बुद्धियोग करो, अर्थात् सतत समचित्त होकर कर्तव्य करो।

ऐसा करनेसे परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी और उसकी प्रसन्नतासे सब संकट दूर होंगे। संपूर्ण संकटोंको दूर करनेका यही एक उपाय है। पाठक इसका मनन करें।

(५९-६०) यदि घमंड करता हुआ कोई मनुष्य हटसे कहेगा कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, अर्थात् इस विश्वमें जीवित रहनेके लिये जो आवश्यक युद्ध है वह भी नहीं करूंगा, अर्थात् मैं सब कर्मोंका त्याग करूंगा, तो समझो कि वह कहना मिथ्या ही है, क्योंकि समयपर प्रकृतिहि घसीट कर कर्म करावेगी। प्रकृतिके गुणोंसे बंधा हुआ मनुष्य आवश्यही कर्म करेगा। कर्मत्याग असंभव है।

अपने स्वभावसे उत्पन्न हुए कर्मोंसे मनुष्य बंधा हुआ है। इस परवशताके कारण मनुष्य प्रकृतिके आधीन रहकर कर्म करता ही रहता है। कर्मत्यागकी बातें होना असंभव है।

अर्जुन जन्मसे और गुणकर्मोंसे क्षत्रिय था।

(२२) ईश्वर-शरणागतिसे शाश्वत सुख।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वं भूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

अन्वयः— हे अर्जुन ! यंत्रारूढानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति ॥ ६१ ॥ हे भारत ! (त्वं) तं एव सर्वभावेन शरणं गच्छ। तत्प्रसादात् परां शान्तिं शाश्वतं स्थानं (च) प्राप्स्यसि ॥६२॥ इति गुह्यात् गुह्यतरं ज्ञानं मया ते आख्यातम्, एतत् अशेषेण विमृश्य, यथा इच्छसि तथा कुरु ॥

हे अर्जुन ! यंत्रपर आरूढ हुएके समान सब भूतोंको अपनी शक्तिसे घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें वास करता है ॥ ६१ ॥ हे भरत-पुत्र ! तू उसी (ईश्वर) को सर्वभावसे शरण जा। उसके प्रसादसे परम शान्ति और शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥ यह गुह्यसे गुह्य ज्ञान मैंने तुझे कहा, इस सबका अच्छी तरह विचार करके, जैसी इच्छा हो वैसा कर ॥ ६३ ॥

भावार्थः— यंत्रपर लगी वस्तुएँ यंत्रके साथ जैसी घुमायीं जाती हैं, उसी तरह सब विश्वकी वस्तुएं विश्वचक्र-पर लगीं हैं और उनको परमेश्वर अपनी माया से घुमाता है। इस ईश्वरको सर्वभावसे शरण जाना चाहिये जिससे शान्ति और शाश्वत पद प्राप्त होगा। यह गुह्य ज्ञान जानकर मनुष्य जैसी इच्छा हो वैसा करे ॥ ६१—६३ ॥

युद्ध छिड जानेपर वह युद्धका दृश्य देखनेके पश्चात् उसका युद्धत्यागका निश्चय स्थिर रहना असंभव था। इसलिये भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! युद्ध न करनेका सच्चे क्षत्रियका निश्चय कायम टिकना युद्ध शुरू होनेपर कठिन है। युद्धका दृश्य देखनेके पश्चात् सच्चा क्षत्रिय बाहु स्फुरण होते ही युद्धके लिये स्वयं तैयार होकर उठेगाहि। इसलिये कर्मत्यागकी बातें व्यर्थ है।

हरएकका प्रकृति-स्वभाव ऐसा प्रबल होता है कि वह उससे कर्म कराता ही है। इतना प्रकृतिका वेग है, जिसका नियमन बडा कठिन और करीब करीब असंभवही है। इस लिये अपना स्वभावजन्य कर्म छोडना किसीको उचित नहीं है।

(६१-६३) सब विश्वका नियंता ईश्वर एक है। और वह सबके हृदयोंमें निवास कर रहा है। उसके संचालनसे सब विश्व एक नियमसे चल

(२३) गुह्य उपदेश।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

रहा है जैसा कट-पुतलियां यंत्रक घुमानेसे घूमतीं हैं और विविध आविर्भाव करती हुई दीखती हैं। परंतु सच तो यह है वह कटपुतलियां स्वयं अपनी गतिसे घूमती नहीं, परंतु यंत्रकी गति उनको घुमाती है और यंत्र-घुमानेवालाहि वस्तुतः यंत्रद्वारा उनको घुमाता है। इसी तरह परमेश्वर की शक्तिसे यह विश्वका यंत्र घूम रहा है और उसमें रहनेवाले सब भूत उसकी गतिसे घुमाये जा रहे हैं।

सर्वभावसे शरण।

इस सबके नियामक ईश्वरको अन्तःकरणसे सर्वभावसे शरण जाना योग्य है। यहां उसको केवल शरण जानेको नहीं कहा है प्रत्युत सर्वभावसे शरण जानेको कहा है। यह जितना विश्व है, उतना इस परमात्माका रूप है और वह अखण्ड एकरस है। इसमें किसी प्रकारका खण्ड नहीं है। यह सब मिलकर एक ही जीवन है ऐसा समझना मानना और जानना 'सर्वभाव' मनमें स्थिर होनेसे हो सकता है। इसका नाम 'सर्वभाव' है। इस सर्वभावसे ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। यहां भेदभावके लिये स्थान ही नहीं है। यदि मनुष्य सर्वभावसे ईश्वरको शरण जायगा, तोही ईश्वर प्रसन्न होगा, और उसकी प्रसन्नता होनेसे इसको शान्ति प्राप्त होकर शाश्वत ध्रुव स्थान इस भक्तको प्राप्त होगा।

यही गुह्य ज्ञान है। जो इसको यथावत् जानता है वह अपने मनकी प्रवृत्तिसेहि जैसा स्फुरण हो वैसा करता है और उसकी प्रवृत्ति अशुद्ध नहीं होती।

(यथा इच्छसि तथा कुरु) जैसी इच्छा होगी वैसा ही कर, यह उसी समय कहा जायगा जिस समय उसका मन शुद्ध होगा, और उसको सत्यज्ञान यथावत् होगा, और 'सर्वभाव' उसके मनमें स्थिर होगा और उस सर्वभावसे वह ईश्वरभक्ति करेगा।

जब यह पूर्ण-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, तब तक मनुष्य शास्त्रकी आज्ञाको प्रमाण मान कर (शास्त्रं प्रमाणं ते) शास्त्र में कहे अनुसार आचरण करता रहे। ज्ञानी मनुष्यके लिये शास्त्र की मर्यादा पालन करनेका बंधन नहीं है, ज्ञानी अपने अन्तःकरण के स्फुरण के अनुसार चले। क्योंकि उसके अन्तःकरणमें जो प्रवृत्ति होती है वही अन्योंके लिये धर्मशास्त्र-वचन जैसा प्रमाण होता है। इसलिये अपने मनके स्फुरण के अनुकूल चलने में कोई दोष नहीं। अन्य मानवोंका मन अशुद्ध होता है, अज्ञानके कारण उसमें अनेक दोष होते हैं, इसलिये उसकी मनःप्रवृत्ति सदोष होती है; यह कारण है कि जिसके कारण उसको शास्त्रानुकूल चलना पडता है और इंद्रियदमन मनःसंयम करना पडता है।

अतः पूर्णज्ञानी मनुष्य ही अपनी अन्तःकरण की प्रवृत्ति और स्फूर्तिके अनुकूल जैसा चाहे वैसा व्यवहार करके भी निर्दोष रह सकता है, क्योंकि उसके अन्तःकरणमें अशुद्ध स्फूर्ति उत्पन्न ही नहीं होती।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

अन्वयः— सर्वगुह्यतमं परमं वचः मे भूयः शृणु । मे दृढं इष्टः असि, इति ततः ते हितं वक्ष्यामि ॥ ६४ ॥ मन्मना, मद्भक्तः, मद्याजी (च) भव, मां नमस्कुरु, (एवं कृत्वा त्वं) मां एव एष्यसि। (इति) ते सत्यं प्रतिजाने, (यतः त्वं) मे प्रियः असि ॥ ६५ ॥ (त्वं) सर्वधर्मान् परित्यज्य मां एकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि, (त्वं) मा शुचः ॥ ६६ ॥

सबसे अधिक गुह्य ऐसा यह मेरा श्रेष्ठ वचन तू फिरसे सुन। तू मेरा अत्यंत प्रिय है इसलिये यह तेरे हितकी बात कहता हूं ॥६४॥ मुझ (ईश्वर)में मन लगा, मेरा (ईश्वरका) भक्त बन, मुझे (ईश्वरको) नमस्कार कर, ऐसा करनेसे तू मुझे (ईश्वरको) प्राप्त होगा। यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है (इसलिये यह कहता हूं) ॥६५॥ तू सब धर्मोंको छोडकर मुझ अकेले (ईश्वर)को शरण आ, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, तू मत शोक कर ॥६६॥

भावार्थ— सबसे गुह्य परम कल्याणकी और मनुष्यमात्रके हितकी बात यह है कि साधक ईश्वरपरायण होवे, ईश्वरका भक्त बने, ईश्वरकोही शरण जावे, ईश्वरकोही आत्मार्पण करे जिससे वह ईश्वररूप होगा। यही सत्य तत्त्वज्ञान है। अन्य सब व्यवसायोंका त्याग करके यही एक मार्गका अवलंबन करनेसे मानवोंका परम कल्याण हो सकता है। पापोंसे बचनेका यह धर्म जानकर मनुष्य शोक न करता हुआ इसीका आचरण करे ॥६४-६६॥

(६४-६६) अब औरभी गुह्य ज्ञान कहते हैं। अल्प शब्दोंमें सबसे महत्त्वका उपदेश देते हैं-

(१) ईश्वरमें अपना मन सदा सर्वदा लगा,
(२) ईश्वरकी भक्ति सदा कर,
(३) ईश्वरकोही नमस्कार कर,
(४) ऐसा करनेसे ईश्वरकी प्राप्ति होगी, यह सत्य है।
(५) परमेश्वरने प्रतिज्ञापूर्वक यह कहा है,
(६) सब अन्य कर्मोंका त्याग कर और एक ईश्वरको शरण जा।
(७) वह भक्तोंको सब पापोंसे मुक्त करेगा इसमें संदेह नहीं है।
(८) ईश्वरपर ऐसा दृढविश्वास रखो और शोक करना छोड दो।

ये सारगर्भित वाक्य हैं इसलिये इनका अधिक विवरण करना अनावश्यक है। पाठक वारंवार इनका मनन करें और इन गुह्य उपदेशोंको अपनाएँ। इस तत्त्वज्ञानका सब जनतामें प्रचार करनेकोभी कहा है—

(२४) इस तत्त्वज्ञानका प्रचार ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

अन्वयः— इदं ते न अतपस्काय, (च) न अभक्ताय, न च अशुश्रूषवे, न च यः मां अभ्यसूयति (तस्मै) कदाचन वाच्यम् ॥ ६७ ॥ यः इमं परमं गुह्यं (ज्ञानं) मद्भक्तेषु अभिधास्यति, (सः) मयि परां भक्तिं कृत्वा, असंशयः (सन्) मां एव एष्यति ॥ ६८ ॥ मनुष्येषु च कश्चित् तस्मात् प्रियकृत्तमः मे न (अस्ति); तस्मात् अन्यः भुवि प्रियतरः मे न भविता ॥ ६९ ॥

यह ज्ञान तूने जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता अथवा जो मेरा (ईश्वरका) द्वेष करता है उसे कभी नहीं कहना ॥ ६७ ॥ जो यह परम गुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको कहेगा, वह मुझ (ईश्वर) में दृढ भक्ति करके संदेहरहित होकर मुझ (ईश्वर)को ही प्राप्त होगा ॥ ६८ ॥ मनुष्योंमें कोईभी उससे मेरा अधिक प्रिय करनेवाला नहीं है, और उससे अधिक प्रिय करनेवाला इस पृथ्वीपर कोईभी नहीं होगा ॥ ६९ ॥

भावार्थ— गुह्य ज्ञान सुयोग्य शिष्यकोही देना योग्य है, ऐसे सच्छिष्यको जो यह गुह्य ज्ञान देगा वह ईश्वरका सच्चा भक्त परमेश्वरको प्राप्त करेगा और यहां इस ज्ञानप्रसार करनेवाले भक्तके समान और ईश्वरका प्यारा कोई नहीं होगा ॥ ६७—६९ ॥

(६७-६९) इस गुह्य ज्ञानका अर्थात् भगवद्गीताके इस परम उच्च तत्त्वज्ञानका फलाव और प्रचार करना चाहिये। यह ज्ञान सच्ची सुखशान्ति देनेवाला है और सब संकटोंको दूर करनेवाला है, इसलिये मनुष्यमात्रतक पहुंचाना योग्य है। मनुष्य इस शास्त्रका अध्ययन करे, मनन करे, निदिध्यास करे, इस ज्ञानको अपनाये और इसका हरएक प्रकारसे प्रचार करे। उपदेश द्वारा, लेखनद्वारा तथा अन्यान्य साधनोंके द्वारा प्रचारकोंको प्रचार करना चाहिये। भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानके अनुसार जब मानवोंके वैयक्तिक, कौटुंबिक, सामाजिक, राजकीय और जागतिक व्यवहार चलेंगे तबही मनुष्योंको सच्ची शांति और सच्चा सुख मिलेगा, तबतक सुखकी आशा करना अयोग्य है। जागतिक शान्तिकी स्थापना करना सर्वथा प्रचारकोंके

(२५) अध्ययन और प्रवचनश्रवण ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

(२६) मोह दूर हुआ ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥
अर्जुन उवाच-नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अन्वयः— यः च आवयोः इमं धर्म्यं संवादं अध्येष्यते, तेन ज्ञानयज्ञेन अहं इष्टः स्यां इति मे मतिः ॥ ७० ॥ श्रद्धावान् अनसूयः च यः नरः (इदं) शृणुयात् अपि, सः मुक्तः (सन्) पुण्यकर्मणां शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

और जो हमारे इस धर्मयुक्त संवादका अध्ययन करेगा, उसने इस ज्ञान-यज्ञसे मेरी (ईश्वरकी) पूजा की है, ऐसी मेरी संमति है ॥ ७० ॥ श्रद्धावान् द्वेष न करनेवाला जो मनुष्य इसको श्रवण करेगा, वह मुक्त होकर पुण्य कर्म करने वालोंके शुभ लोकोंको प्राप्त करेगा ॥ ७१ ॥

भावार्थ— जो इस गीताका अध्ययन करेगा और प्रचार करेगा वह ज्ञानयज्ञसे ईश्वरका यजन ही करेगा। इस गीताके श्रवण मनन करनेसे साधक शुभ स्थानको प्राप्त करेगा इसमें संदेह नहीं है ॥ ७०-७१ ॥

परिश्रमपरहि निर्भर है।

इसलिये यहां कहा है कि इस तरह भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानका प्रचार करनेवाला भगवान्‌को अत्यंत प्रिय होता है और इसके प्रचारसेभी प्रचारकर्ता परमेश्वरको प्राप्त हो सकता है।

अर्थात् भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानका प्रचार करनेवाला ज्ञानी होकर मुक्त हो सकता है।

(७०-७१) जो मनुष्य इस भगवद्गीताका अध्ययन करेगा वहभी ज्ञानयज्ञद्वारा परमात्मा की पूजाही करेगा और जो सुनेगा वहभी मुक्त होगा, अथवा शुभगतिको प्राप्त होगा।

(२७) रोमाञ्चकारी संवाद।

संजय उवाच—इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिमद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

अन्वयः— हे पार्थ ! त्वया एतत् एकाग्रेण चेतसा श्रुतं कच्चित् ? हे धनंजय ! ते अज्ञानसंमोहः प्रनष्टः कच्चित् ? ॥ ७२ ॥ अर्जुनः उवाच- हे अच्युत ! त्वत्प्रसादात् मे मोहः नष्टः, मया स्मृतिः लब्धा,(अहं) गतसंदेहः स्थितः अस्मि, (इदानीं) तव वचनं करिष्ये ॥ ७३ ॥

हे पृथाके पुत्र ! क्या तूने यह एकाग्रचित्तसे श्रवण किया है ? हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ ? ॥ ७२ ॥ अर्जुनने कहा– हे अच्युत ! तेरी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ, मुझे स्वकर्मकी स्मृति प्राप्त हुई, मैं संदेहरहित हुआ हूं, अब आपके वचनके अनुसार करूंगा ॥ ७३ ॥

भावार्थ— इस ज्ञानको एकाग्र चित्तसे श्रवण करनेसे सब प्रकारका मोह नष्ट होगा, संदेह दूर होगा और धर्मानुकूल अपना कर्तव्य पालन करनेमें मनुष्य तत्पर रहेगा ॥ ७२--७३ ॥

(७२-७३) इतना अपूर्व ज्ञान देनेके पश्चात् भगवानने अर्जुनसे पूछा कि " क्या इस तत्त्वज्ञानके निरूपणको सुननेसे तेरा मोह नष्ट हुआ या नहीं अथवा अभी और कुछ पूंछना है ? "

इस प्रश्नको सुनतेही अर्जुन एकदम बोल उठा कि 'भगवन् ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ, अज्ञान दूर हुआ, स्वकर्म करनेका भाव मेरे मनमें बैठ गया है, मुझे अब स्वकर्मके विषयमें कोई संदेह नहीं रहा। अब मैं जैसा आपने कहा उसी प्रकार अपना युद्धरूपी स्वधर्मोचित कर्तव्य करूंगा।'

यहां भगवान् और अर्जुनका संवाद समाप्त होता है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अन्वयः-संजयः उवाच-इति अहं वासुदेवस्य महात्मनः पार्थस्य च इदं अद्भुतं रोमहर्षणं संवादं अश्रौषम्॥७४॥ व्यासप्रसादात् स्वयं योगं कथयतः योगेश्वरात् कृष्णात् एतत् परं गुह्यं अहं साक्षात् श्रुतवान् ॥ ७५ ॥ हे राजन्! (अहं) केशवार्जुनयोः इमं पुण्यं अद्भुतं संवादं संस्मृत्य संस्मृत्य मुहुः मुहुः हृष्यामि ॥ ७६ ॥ हे राजन्! हरेः तत् च अत्यद्भुतं रूपं संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मयः (भवति), अहं पुनः पुनः हृष्यामि च ॥ ७७ ॥ यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र धनुर्धरः पार्थः, तत्र श्रीः, विजयः, भूतिः, ध्रुवा नीतिः च इति मम मतिः (अस्ति) ॥ ७८ ॥

संजयने कहा- यह मैंने वासुदेवका महात्मा पार्थके साथ हुआ अद्भुत रोमांचकारी संवाद सुना॥७४॥ व्यासजी की कृपासे स्वयं कहनेवाले योगेश्वर कृष्णसे यह श्रेष्ठ गुह्य ज्ञान मैंने साक्षात् श्रवण किया ॥ ७५ ॥ हे राजन्! मैं केशव और अर्जुनके इस पुण्यकारक अद्भुत संवादको वारंवार स्मरण कर करके वारंवार हर्षित होता हूं ॥ ७६ ॥ हे राजन्! श्रीकृष्णके उस अद्भुत विश्वरूपका वारंवार स्मरण कर करके मुझे बडा विस्मय हुआ है और पुनः पुनः आनंद भी होता है ॥ ७७ ॥ जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण है और धनुर्धारी पार्थ है, वहां श्री है, वहां विजय है, वहां ऐश्वर्य है, वहां ही स्थिर नीति भी है, यह मेरा निश्चित मत है ॥ ७८ ॥

भावार्थ— यह अद्भुत रोमांचकारी संवाद सबका आनंद बढानेवाला है। जहां ईश्वर सहायक है और जहां धर्म-युद्धके अंदर जाकर लडनेवाला क्षत्रिय है, वहां निःसंदेह विजय श्री ऐश्वर्य और स्थिर धर्म नीति है, ऐसा समझकर हरएक मनुष्य परमेश्वरकी सहायता करे और विजयी बने ॥७४—७८ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

(७४-७८) अब राजा धृतराष्ट्रको संजय कहते हैं कि हे राजा धृतराष्ट्र! यह रोमांचकारी संवाद अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णके बीचमें हुआ, वह मैंन जैसा सुना वैसाही आपको निवेदन किया। इस अद्भुत तत्वज्ञानके उपदेश-का स्मरण करनेसे अबभी मेरे शरीरपर रोंवें खडे हो रहे हैं। भगवान् का वह आश्चर्यमय विश्वरूप जो मैंने देखा उसका स्मरण करनेसेभी मुझे बडा आनन्द हो रहा है।

मैं तो निश्चयसे यही कहता हूं कि जहां योगे-

श्वर श्रीकृष्ण सहायक हैं और जिस पक्षमें धनुर्धारी पार्थ जैसा वीर है, उसी पक्षको श्री, ऐश्वर्य, ध्रुव नीति और विजय होगा, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। अतः विजय प्राप्त करनेकी इच्छा धारण करनेवाले पक्षको उचित है कि वह सबसे प्रथम अपने पक्षको परमेश्वरका साहाय्य प्राप्त करनेका यत्न करे, पश्चात् धर्मके लिये लडनेवाले उत्तम वीर अपने पक्षमें निर्माण करे। जब ये दोनों अपने पक्षमें होंगे तब यश, विजय और ऐश्वर्य मिलने में संदेहही नहीं है।

इस तरह विजयी होनेका तत्त्वज्ञान इस ग्रंथमें कहा है जो यहां समाप्त होता है और सबको विजयका मार्ग बताता है। मनुष्य इसे जाने तदनुसार आचरण करे और विजयी बने।

अठारहवां अध्याय समाप्त ॥१८॥

अठारहवें अध्यायके

सुभाषित।

(१) कर्मत्याग न करना।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्। कार्यमेव तत्।

(गी० १८।५)

यज्ञ दान तप ये कर्म कभी त्यागने नहीं चाहिये प्रत्युत ये कर्म करनेही चाहिये।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

(गी० १८।५)

यज्ञ दान तप ये कर्म मनुष्योंको पवित्र बनानेवाले होते हैं। इनके करनेसे मनुष्य शुद्ध होताहै।

(२) कर्म करो।

कर्माणि संगं फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानि।

(गी० १८।६)

कर्मोंको भोगोंकी आसक्ति छोड और फलोंका त्याग करके करना चाहिये।

नियतस्य कर्मणः संन्यासो नोपपद्यते ॥

(गी० १८।७)

अपने कर्तव्यका त्याग करना अयोग्य है।

(३) कर्मत्याग अशक्य है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

(गी० १८।११)

मनुष्यके लिये कर्मोंका पूर्ण त्याग करना अशक्य है।

(४) संन्यासी कौन है ?

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

(गी० १८।११)

"जो कर्मफलका त्याग करता है वही सच्चा संन्यासी अथवा वही सच्चा त्यागी है ऐसा कहा जाता है।

(५) स्वकर्मसे सिद्धि।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गी० १८।४५)

'स्वकर्ममें जो मनुष्य तत्पर रहता है वह उत्तम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

(६) स्वकर्मसे ईश्वरपूजा।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गी० १८।४६)

"जो सर्वत्र व्याप्त है और जिससे ये सब प्राणी हुए हैं उस परमात्माकी पूजा अपने कर्मद्वारा करनेसे मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होती है।'

(७) स्वधर्मकी श्रेष्ठता।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
(गी० १८।४७)

'सुकर और गुणवान् परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म गुणहीन होनेपर वही श्रेष्ठ है।'

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
(गी० १८।४८)

'सहज स्वकर्म सदोष होनेपरभी उसका त्याग करना अयोग है।'

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।
(गी० १८।४७)

'स्वभावसे निश्चित हुआ कर्म कैसा भी हो, वह करनेसे पाप नहीं लगता।'

(८) ब्रह्मप्राप्ति।

निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।
(गी० १८।५३)

'ममता छोडकर जो शान्त रहता है वह ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

(९) श्रेष्ठ भक्त।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।
(गी० १८।५४)

'सर्व भूतोंके विषयमें जो समभाव धारण करता है वही ईश्वरका श्रेष्ठ भक्त होता है।'

(१०) ईश्वरपर विश्वास।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(गी० १८।५८)

'ईश्वरपर अपना मन रखोगे तो उसीकी कृपासे सब संकटोंको तैरोगे।'

(११) स्वभाव बलवान् है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्
(गी० १८।६०)

'स्वभावसे बंधा हुआ मनुष्य जो कर्म नहीं करना चाहता वही परवश होकर करता है।'

(१२) ईश्वर सबको चलाता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥
(गी० १८।६१)

'ईश्वर सबके हृदयमें है वही यंत्रपर चढायी कटपुतलियों की तरह सब को चलाता है।'

(१३) ईश्वरको शरण जा।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
(गी० १८।६२)

'ईश्वरको सर्वभावसे शरण जा।'

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्। (गी० १८।६२)

'उसी ईश्वरके प्रसादसे श्रेष्ठ शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त होगा।'

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गी० १८।६६)

'सब धर्मोंका त्याग करके एक ईश्वरको शरण जा। वही तुझे सब पापोंसे मुक्त करेगा, शोक मत कर।'

(१४) विजयी कौन होगा।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(गी० १८।७८)

'जहां योगेश्वर परमेश्वर सहायक हैं, और जिस पक्षमें लढनेवाला धनुर्धर है वहीं यश श्री विजय निःसंदेह होगा।'

श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्यायका

थोडासा मनन।

यह अठारहवाँ अध्याय भगवद्गीताका अन्तिम अध्याय है। इसमें विशेषतः 'संन्यासयोग' का विचार किया है और अन्तिम महत्त्वपूर्ण उपदेश भी कहा है। सबसे प्रथम संन्यास और त्याग का विवेचन इसमें किया है। भगवद्गीता के पूर्व कालमें 'त्याग' शब्दका अर्थ 'कर्मत्याग' करके कई साधक सब कर्म छोडकर अपने आपको कृतार्थ समझते थे और 'त्यागी' भी समझते थे। श्रीमद्भगवद्गीताने कहा कि यह सच्चा त्याग नहीं है। सच्चा त्याग वह है जिसमें-

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥७॥
(गी० १८। २)

सब कर्मोंके फलोंका पूर्ण त्याग होता है।
यहां त्याग और संन्यास का भेद दर्शाया है। यह भेद महत्त्व का है, इसलिये इस स्थान-पर इसका थोडासा अधिक विवरण करना योग्य है।

संन्यास और त्याग।

१ संन्यासः-

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं विदुः।
(गी० १८। २)

२ त्यागः-

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागम्।
(गी०१८। २)

काम्य अर्थात् अपनी इच्छातृप्ति के लिये, अपने लाभ के लिये किये जानेवाले सब कर्मोंको छोड देना संन्यास का लक्षण है। इसमें संपूर्ण काम्य कर्मों का त्याग किया जाता है। केवल निष्काम कर्म हि इस अवस्थामें हो सकते हैं। सब काम्य कर्मोंको छोडना संन्यास का लक्षण है।

त्यागी लोग संन्यासियोंसे भिन्न हैं। त्यागी लोग काम्य अथवा निष्काम दोनों प्रकार के कर्म करते रहते हैं, परंतु किसी भी कर्मका फल अपने लिये अपने पास संग्रहित करके नहीं रखते। त्यागमार्गमें कोई कर्म छूटता नहीं। संन्यासमार्गमें काम्य कर्म छूटता है और केवल निष्काम कर्म हि किया जाता है। त्यागमें सब प्रकारके कर्म किये जाते हैं, परंतु किसी कर्मके फल की आकांक्षा कर्ता को नहीं होती। फल प्राप्त होनेपर भी कर्ता उसे अपने उपभोग के लिये नहीं स्वीकारता।

संन्यासमार्ग में सब सकाम कर्म छोडने पडते हैं, परंतु त्यागमार्ग में सकाम कर्म छोडने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। हरएक प्रकार के कर्म साधक करे, परंतु उसके फल अपने लिये न लेवे। अपने पास भोगसाधनोंका संग्रह न रहे, यह मुख्य बात यहां है।

फलभोग की इच्छा के कारण ही सब दुःख हो रहे हैं। मनुष्य के दुःख जो बढ रहे हैं, उसका विचार किया जाय, तो उन सब दुःखोंका मूल कारण भोगसाधनोंका— अर्थात् कर्मफलों का अपने पास संग्रह करना ही है। इस दुःख-हेतु की जड काटने के लिये इस त्याग-

मार्ग में कर्म के फलका संपूर्ण त्याग किया जाता है।

'संन्यास'- मार्ग में काम्य कर्म छोडने होते हैं और 'त्याग'-मार्ग में कर्मों के फल छोडने होते हैं। दोनों मार्गोंकी यह विशेषता पाठक स्मरण रखें। त्यागमार्ग में फलत्याग करनेके कारण काम्य कर्मोंको भी निष्काम कर्मका स्वरूप प्राप्त होता है। इसलिये संन्यास की अपेक्षा त्यागमार्ग अधिक अच्छा है, क्योंकि उसमें सभी कर्म किये जाते हैं और उन के करनेपरभी बंधन नहीं होता। संन्यास में काम्य कर्मोंका डर रहता है, अपने द्वारा काम्य कर्म न हों, यह भीतिका भाव इसमें रहता है। परंतु त्यागमार्गी ऐसे निडर होते हैं, कि वे सब प्रकारके कर्म करते हुए भी फलभोग न करनेके कारण, उन कर्मोंके बंधनोंसे सदा अलिप्त रहते हैं। अतः संन्यास की अपेक्षा त्यागमार्ग श्रेष्ठ है। (गी० १८।२)

कर्म का त्याग उचित नहीं।

संन्यास और त्याग इन दो मार्गों का मतभेद इतना बढ जानेका कारण विशेष महत्त्वका है। संन्यासमार्गी कहते थे, कि हम यज्ञ-दान-तप ये कर्म काम्य होनेके कारण करेंगे नहीं। इससे यज्ञ बंद हुए, दान भी बंद हो गये और तप भी करना लोगोंने छोड दिया। यज्ञ-दान-तप बंद होनेके कारण सब समाज शक्तिहीन हो गया। देखिये— तप न होनेके कारण शीत-उष्ण सहन करनेका सामर्थ्य कम हुआ, इस कारण जनता अत्यधिक कोमल और सुकुमार बन गयी। थोडीसी सर्दी-गर्मी होने पर भी लोग बीमार होने लगे, महान् कार्य करनेकी शक्ति हट गयी। दान न देनेका भाव बढनेके कारण गरीबों के कष्ट बढने लगे; जिनका गुजारा दानपर हि होता था, वे भूखे मरने लगे। और यज्ञ न होनेके कारण सज्जनों का सत्कार होना बंद हुआ, संगठन न होनेके कारण विघटन शुरू हुआ और आपसमें विभिन्नता बढने लगी। इस तरह यज्ञ के न होनेसे बडा अनर्थ होने लगा।

सब समाज यज्ञ-दान-तप पर अवस्थित रहता है। ये कर्म बंद होते ही सब समाज शिथिल हुआ। उस समय के संन्यासमार्गीयोंने यज्ञ-दान-तप ये तीनों कर्म करना छोड दिया, इस लिये यह अनर्थ हुआ। यह बात उस समयके धर्मधुरीणोंने देखी और वे सोचने लगे कि, क्या किया जाय। सोचते सोचते उनके ध्यान में आ गया, कि यह अव्यवस्था संन्यासियोंके कर्मत्यागके कारण समाजपर आ पडी है। समाज की सुरक्षा के लिये ये कर्म अवश्यहि होने चाहिये।

कर्म तो करनेहि चाहिये, परंतु उनकी बाधकता हटनी चाहिये। यह किस तरह होगा, इस विषयमें सोचते सोचते वे विचार करने लगे, तब उनको पता लगा, कि कर्मों की बाधकता उनका फल स्वयं भोगनेके कारण है। यदि फलभोगके विषसे दूर रहा जाय, तो स्वयं कर्म किसी प्रकार बाधक हो नहीं सकते। कर्मोंमें बाधकता नहीं है, अपि तु कर्मफलभोग की इच्छा में बाधकता है। यह इच्छा संयमित हो जाय, तो कर्मों की बाधकता दूर हो जायगी।

जब इस बातका प्रकाश उस समयके सुविज्ञ पुरुषोंके अन्तःकरणोंमें पडा, तब उन्होंने इस कर्मफलत्याग के मार्ग की घोषणा की। इसीका संक्षिप्त नाम 'त्यागमार्ग' है। इस कारण त्यागमार्ग संन्यास की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

इस तरह त्याग की सर्वश्रेष्ठता निश्चित होनेके पश्चात् संन्यासियोंने भी अपने अन्दर फलत्यागकी बात स्वीकृत की और वे त्यागियोंकी बराबरी करने लगे। इसी कारण आगे ये दोनों शब्द समानार्थमें प्रयुक्त हुए दीखते हैं। परंतु प्रारंभमें इनमें यह भेद था और इस भेदको

ध्यानमें धारण करके इन दोनों मार्गोंका विचार पाठकों को करना चाहिये।

संपूर्ण समाजकी सुस्थिति यज्ञ-दान-तप पर कैसी है, यह सबसे प्रथम देखना चाहिये। इसका ज्ञान होते ही संन्यासियों की निर्बलता और त्यागियोंकी श्रेष्ठता किस बातमें कैसी है, इसका पता लग सकता है। यज्ञ-दान-तप न होनेपर कोई समाज सुरक्षित रह ही नहीं सकता। संन्यासियोंके कर्मत्याग के कारण सब समाज निर्बल हुआ था। उसमें बल की पुनः स्थापना करनेका पवित्र कार्य त्यागियोंने किया। इसीमें त्यागियोंकी श्रेष्ठता है।

कर्मत्याग के तीन भेद।

कर्मत्याग के तीन भेद हैं। एक सात्विक कर्मत्याग, दूसरा राजस कर्मत्याग और तीसरा तामस कर्मत्याग। यहां सात्विक, राजस और तामस कर्मसंन्यास ऐसा भाव समझना चाहिये। यज्ञ, दान और तप ये त्यागने योग्य कर्म नहीं हैं, ये मनुष्यकी पवित्रता करते हैं, परंतु फलसंगका त्याग करके ये कर्म करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। (गी. १८।४)

ये यज्ञ दान और तप सर्वसाधारण व्यवहार में भी होते हैं। देखिये- किसी एक नगर में एक सार्वजनिक कूप है, सब लोग उसीसे पानी भरते हैं। यदि लोग ऐसे होंगे, कि कूवेकी साफसफाई की ओर ध्यान न देते हुए पानी ही उस से लेते रहेंगे, तो वे अयज्ञीय होनेसे बडे ही पापी समझे जायंगे। क्योंकि वे दूसरे के किये कर्मका फल उपभोगते रहते हैं। कूवा किसी दूसरेने बनवाया, वे फलभोग करते हैं। उस कूवेके लिये कुछ भी न करते हुए उसका भोग भोगना अयोग्य है और यही बडा पाप है।

यदि कोई स्वयं प्रेरणासे उस कूवेका मार्ग स्वच्छ करेगा, तथा कूवेके आसपास का स्थान स्वच्छ करेगा, वहां का पडनेवाला पानी दूर जाय ऐसी सुयोग्य व्यवस्था करेगा, तो उस सार्वजनिक भलाईके लिये जो उसका कष्ट उठाना है, वह उसका तप है। ऐसा तप करनेसे उस कूवेसे पानी लेनेका अधिकार उसे प्राप्त हो सकता है।

यदि वहां कोई वृद्ध मनुष्य पानी के लिये आ जाय, तो उसको पानी निकाल कर वह देवे, तो उसका वह दान होगा और उस कूवेके पास उत्तम उद्यान वा गृह सबके उपयोग के लिये बनवाया जाय, तो वह उसका यज्ञ है।

इस तरह यज्ञ-दान-तप करनेसे ग्राम का वह स्थान सबके उपयोग के लिये चिरकाल तक सुंदर बन सकता है। यदि ग्रामके सब लोग इस तरह स्वयं प्रेरणासे यज्ञ-दान-तप करते रहेंगे, तो प्रत्येक का अन्तःकरण प्रतिदिन पवित्र होनेसे सब ग्राम के लोग अधिक सुखी और अधिक सन्तुष्ट हो सकते हैं। और यदि उनमें फलसंगत्याग करनेवालों की संख्या अधिक हो, तो उस ग्रामका सुख अधिक बढेगा और उस ग्राम में यज्ञ-दान तप न करके दूसरोंके किये हुए कर्मका फल स्वयं भोगनेवाले होंगे, तो उस ग्राम में प्रतिदिन दुःखही अधिक बढता जायगा।

यज्ञ, दान और तप मनुष्यका सुख किस तरह बढाते हैं और अयज्ञ, अदाता और अतपस्क लोग क्यों दुःखी होते हैं, इसका मूल कारण यह है। पाठक हरएक दिनके व्यवहारमें यज्ञदानतपका स्वरूप किस तरह हो सकता है, इसका विचार करें। स्वयं दूसरोंको दान देना, परंतु जहां तक हो वहां तक प्रयत्न करके दूसरों से दान स्वयं न लेना, स्वयं तप करना अर्थात् दूसरोंके हित करनेके लिये स्वयं कष्ट उठाना, परंतु जहां तक हो सके, वहां तक अपने लिये

दूसरोंको कष्ट न देना, स्वयं अपने कर्मका फल सब जनताको मिले ऐसी व्यवस्था करना, परंतु जहांतक हो वहां तक यत्न करके दूसरोंके कर्मोंके फलोंका स्वयं उपभोग न करना, इतना भाव यहां है। यज्ञदानतप करनेका यही तात्पर्य है, कि स्वयं दूसरेके ऋणमें न जाना, परंतु दूसरोंकी सहायता हर समय करना। यही उत्कृष्ट मानवधर्म है। (गी० १८। ५)

कर्तव्य करो।

जो अपना कर्तव्य है, वह तो प्रत्येक मनुष्यको करनाही चाहिये। अपना कर्तव्यकर्म न करना और आलसमें समय व्यतीत करना, तामस प्रवृत्तिका आचरण है, इससे निःसन्देह उसकी अधोगति होती है। अतः इसकी ओर कोई न जावे। (गी० १८।७)

कर्म करनेके समय बडा दुःख होता है, इस लिये शरीर पीडा से बचनेके उद्देश्यसे जो कर्म छोडना है, वह राजस कर्मत्याग है, क्योंकि इस में दुःखके भयसे कर्म छोडा जाता है। अपना जो कर्तव्यकर्म है, वह दुःखों और कष्टों की पर्वाह न करते हुए करना और उसका फल अपनेको हि प्राप्त हो, ऐसा भाव न धारण करना, इतना ही नहीं, प्रत्युत उसका फल दूसरों को समर्पित करना सात्त्विक प्रवृत्ति का लक्षण है। (गी १८।८-९)

अपना जो कर्तव्य है उसकी कदापि निन्दा नहीं करनी चाहिये। अपना कर्म उत्तम, मध्यम कनिष्ठ कैसा भी हो, वह अपने लिये उत्तम ही है, ऐसा मानकर मनको शान्त रखकर हि करना योग्य है। क्योंकि मनुष्य जब तक जीवित है, तब तक वह कर्मोंका त्याग करही नहीं सकता, उसके द्वारा कर्म होते ही रहेंगे। मनुष्य यदि कुछ त्याग कर सकता है, तो वह कर्मका त्याग नहीं, अपितु उस कर्म के फलका त्याग कर सकता है। मनुष्यका जो निज कर्तव्य है, वह करनेकी उत्तम कुशलता प्राप्त करे और उत्तम कुशलतासे वह अपना कर्तव्य करे और उस कर्मका जो फल मिलनेवाला हो, वह संपूर्णतया त्याग दे, सबकी भलाई के लिये छोड दे। (गी० १८।१०-११)

एक डाक्तर है, वह चिकित्सा तथा शस्त्रक्रिया उत्तम रीतिसे कर सकता है, वह अपनी विद्यामें उत्तमोत्तम कुशलता प्राप्त करे और जो गरीब निर्धन असहाय रोगी आ जाय, उसकी अपनी चिकित्सा द्वारा सेवा करे और इस सेवाका फल न लेवे। यह है कर्मफलत्याग का अर्थ। सब मनुष्य परमेश्वर की मूर्तियां हैं। उनमें जो धनवान हैं, उनके धनके बलसे उत्तमसे उत्तम चिकित्सकोंकी सहायता उन धनवानोंको प्राप्त हो सकती है, इस लिये उनकी सेवा करने के लिये वैद्योंको त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु जो परमेश्वरका रूप आपसे सेवा लेने के लिये और आपकी सेवा लेकर आपका जीवित अपने आशीर्वादसे सफल और सुफल करनेके लिये आपके पास उपस्थित हुआ है, वह गरीब, निर्धन और असहाय स्थितिमें जो आता है, वही है। आपको कृतकृत्य करनेके लिये वह आपके पास आता है, इसके लिये आप अपना कर्तव्य करें, वह कर्म परमेश्वरको अर्पण करनेकी सुबुद्धिसे करें। उस कर्मसे जो फल आपको मिल सकता है, उस फलका आपको त्याग करना उचित है। उस फलका भी आप ईश्वरके ही लिये समर्पण करेंगे, तो बहुत अच्छा होगा।

कर्मका त्याग करना अयोग्य है, फलका त्याग हो सकता है। जो पूर्वोक्त प्रकार करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य इस तरह कर्म करके और फलका त्याग करके अपना जीवन सफल और सुफल कर सकता है।

कर्मके पांच कारण ।

कर्म करनेके लिये पांच कारण होते हैं । (१) कार्यका क्षेत्र, (२) कर्म का कर्ता, (३) कर्म करनेके विविध साधन, (४) कर्म करनेकी क्रियाएं और (५) दैव, अर्थात् कर्म के लिये अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति । प्रत्येक कर्म करनेके समय इन पांच कारणोंका उसके साथ संबंध आता है और इनमेंसे प्रत्येक के उत्तम, मध्यम,कनिष्ठ होनेसे कर्मके परिणाम भी वैसेहि होते हैं । इतने पांच कारण प्रत्येक कर्म के लिये होते हैं, यह देखकर प्रत्येक को विदित हो सकता है, कि कर्मका कर्ता केवल अकेला 'मैं' हि नहीं हूं । क्योंकि उक्त पांच हेतुओं का संबंध उस कर्मके साथ सदा है । जो अन्य चार कारणोंका विचार छोड कर अपने आपकोहि किसी कर्मका कर्ता मानने लगता है, तो समझना चाहिये, कि उसकी बुद्धिमें कुछ न कुछ दोष उत्पन्न हुआ है । क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् पुरुष जो कार्य पांचों के द्वारा हुआ है, उस को एकका बनाया नहीं मान सकता । (गी० १८।१२-१६)

पांचोंकी उत्तम सहायता सेहि प्रत्येक कार्य की सफलता और सुफलता हो सकती है।उन पांचों-में अकेला 'कर्ता' किस तरह उस कर्म करने की घमंड मार सकता है ? और संपूर्ण कर्तृत्व अपना ही है, ऐसा किस तरह मान सकता है ? इसलिये अपने कर्तत्वकी घमण्ड करना सर्वथा अयोग्य है ।

सात्त्विक ज्ञान ।

जिस ज्ञानसे सब विविध भूतोंमें, विविध वस्तुमात्रोंमें अविभक्त भाव का ज्ञान होता है, उसे सात्त्विक ज्ञान कहना चाहिये । प्रत्येक मनुष्य दूसरों से भिन्न है, प्रत्येक पशुपक्षी अन्य प्राणियोंसे भिन्न है, प्रत्येक वृक्ष प्राणियोंसे भिन्न है । प्रत्येक जड पदार्थ वृक्षादिकों से भिन्न है । यह तो विश्व में भेदभावका अनुभव हि है । जाग्रति में हम यही देखते हैं, सर्वत्र भेद हि भेद दिखाई देता है । इस भेदके अन्दर, अनेक विभिन्न पदार्थों के अन्दर एक अखण्ड, अभिन्न जीवन का सूत्र कार्य कर रहा है। वस्तुओंका भेद होनेपर भी उस सर्वव्यापक जीवन में कोई भेद नहीं होता । इस तरह विभक्तोंमें अविभक्त सत्ताका दर्शन करना सात्त्विक ज्ञानसे होता है। जिसमें यह सात्त्विक ज्ञान बढा है, वह विभक्तों-में व्यापनेवाली अविभक्त सत्ताको जान सकता है । (गी. १८।२०)

राजस ज्ञान ।

प्रत्येक वस्तु दूसरे वस्तुओंसे भिन्न है, ब्राह्मण क्षत्रियोंसे भिन्न, वैश्य शूद्रोंसे भिन्न, हिंदु यवनों और म्लेंच्छोंसे भिन्न, मनुष्य पशुओंसे भिन्न, पशु पक्षियों से, पक्षी वृक्षोंसे, वृक्षप्रस्तरादि जड वस्तुओंसे भिन्न हैं । इस प्रत्येक जातिमें भी मुख्य भेदमें उपभेद बहुत हैं,जैसा देखो,वृक्षों में आम, इमली, पनस, वड, पीपल, आदि वृक्ष परस्पर भिन्न हैं । पक्षिजातिमें कौवा, मोर, गीध, कोकिल, तोता, गरुड आदि अनेक उप-जातियां हैं । पशुमें भी सिंह, व्याघ्र, घोडा, गाय, भेड बकरी आदि अनेक जातियां हैं । इस प्रत्येक उपजातिमें भी गौओंमें गीर जाति की गाय, पंजाबी गौ, महाराष्ट्रीय गौ भिन्न हैं । घोडे में भी अरब, काठियावाडी, राजपूतानी, भीम-थडी, आस्ट्रेलियन ऐसे अनेक भेद हैं । प्रत्येक जातिमें उपजाति, उपजातिमें उपभेद, उपभेदोंमें गुणकर्मभेद ऐसे सर्वत्र भेद दृष्टिगोचर होते हैं। इस का कारण राजस मनोभाव है। राजस वृत्ति भेददर्शी है । यह राजस वृत्ति भेदोंको बढाने-वाली है और आगे झगडे करनेवाली है । यहां पाठक,सात्त्विक ज्ञान मेल मिलाप करता है और राजस ज्ञान भेदोंको बढाता है, यह विचारपूर्वक देखें । (गी० १८।२१)

तामस ज्ञान।

तामस ज्ञान को वस्तुतः अज्ञानहि कहना चाहिये, परंतु उसमें अल्प ज्ञान रहता है, इसलिये ज्ञान नामसे यहां कहा गया है। तामस ज्ञानवाला मनुष्य कर्म में बडा ही आसक्त रहता है, विघ्नकर्ताओंके साथ शत्रुता करता है। क्षुद्र, निरर्थक, साररहित कर्म में सदा रमता है और उसीको बडा भारी कार्य मानता है। तत्त्वदृष्टिसे जिसमें कोई सार नहीं है, अथवा जो स्वरूपतः हीन है, सबकी भलाई का जिसमें कोई संबंध नहीं है, किसी एक विभाग के हितका ही जिसमें संबन्ध होगा, ऐसा संकुचित विचार जिसमें प्रमुख है, उस कर्ममें प्रवृत्ति तामस ज्ञानसे होती है। इसलिये तामस प्रवृत्तिसे संघ की हानि और व्यक्तिका नुकसान होता है। (गी० १८।२२)

सात्त्विक कर्म।

जो जिसके लिये नियत अर्थात् आवश्यक कर्तव्य हो, धर्मसे और सहज स्वभावसे जो प्राप्त हो, वह उसके लिये सात्त्विक कर्म कहलाता है। सात्त्विक मनुष्य उस नियत कर्मको रागद्वेष छोडकर करता है। फलकी आसक्ति नहीं और हानिका द्वेष नहीं, इस समवृत्तिसे वह अपना नियत कर्म करता है। कर्मफलका भोग करनेकी वह इच्छा नहीं करता, इतनाही नहीं प्रत्युत जो फल प्राप्त होगा, उस का सबकी भलाई के लिये त्याग भी करता है, जिससे फलके मोहमें वह कदापि फंस कर नहीं रहता। फल मुझे ही प्राप्त हो, ऐसी वह इच्छा भी नहीं धारण करता, अथवा फलके विषयमें वह पूर्ण उदासीन रहता है। परंतु फलके विषयमें उदासीन होनेपर भी जो कर्तव्यकर्म करता है, वह उत्तम कुशलताके साथ और निर्दोष पद्धतिसे करता है। इस प्रकार का जो कर्म होता है, वह सात्विक कर्म है। (गी० १८।२३)

राजस कर्म।

अहंकारके साथ, कर्मफलका भोग करनेकी इच्छासे, बहुत सायाससे जो कर्म किया जाता है, उसको राजस कर्म कहते हैं। इसमें कर्ता अपने कौशल की घमण्ड करता है, मेरे जैसा कर्मकर्ता कोई दूसरा नहीं है, ऐसा वह मानता है। अपने कर्मोंके सब फल अपने पास संग्रहित करके रखता है, और कुशलता न होने के कारण कर्म की सिद्धता करने में उसे बडे आयास पडते हैं।

अन्य लोगोंके कर्मोंके फलोंसे अपनी जीवनयात्रा हो रही है, इसलिये अपने कर्मोंके फल दूसरों की भलाई के लिये अर्पण करने चाहिये, यह विचार उस राजस वृत्तिवाले मनुष्यके मनमें नहीं आता। इसलिये वह अपने भोग बढानेके लिये विविध कर्म करता है, उनके फलों का अपने पास संग्रहित करके रखता है, उनकी रक्षा की चिन्ता करता है, उनके दूर होनेसे दुःखी होता है, उनको देखनेसे आनन्द मानता है। इसके भोगसंग्रहको देखकर दूसरे लोग इसका द्वेष करने लगते हैं। इस तरह वह दुखोंको बढाता है और उन में फंसता जाता है। राजस कर्मका यही परिणाम होता है। (गी०१८।२४)

तामस कर्म।

परिणामका विचार न करते हुए, इसके करने में घातपात और हिंसा कितनी होगी, इसका ख्याल छोडकर, हानि कितनी होगी, इसका विचार न करके, अपना और दूसरेका पौरुष कितना है, अपनेसे यह निभ सकता है वा नहीं, इसका कुछभी विवेक न करके, केवल मोहसे जो कर्म किया जाता है, वह तामस कर्म कर्ताकी भी हानि करता है और जिसके साथ उसका संबंध आता है, उसकी भी हानि करता है। (१८।२५)

सात्त्विक कर्ता।

जो कर्ता कर्मके फलोंका स्वयं भोग करनेकी इच्छा नहीं धारण करता, परंतु फलसंगेच्छा छोडकर तृप्त रहता है; जो कर्म करनेका, फल-प्राप्तिका अथवा सिद्धिका अहंकार नहीं धारण करता, अहंकार का पूर्ण त्याग करता है, सिद्धि और असिद्धिके विषयमें पूर्ण निर्विकार रहता है, सिद्धि होने पर भी समवृत्ति में रहता है और असिद्धि हुई तो भी समवृत्ति में हि रहता है, द्वन्द्वोंका परिणाम अपने मनपर कभी होने नहीं देता, तथा सदा धैर्य और उत्साहसे युक्त, कितना भी बडा भय प्राप्त हुआ तोभी जो डरता नहीं और कैसी भी विपरीत परिस्थितिमें जिसके मनमें उदासीनताका विचार तक नहीं आता, जो सदा उत्साहके विचारों का प्रचारक रहता है, उसको सात्त्विक कर्ता कहते हैं। (१८। २६)

राजस कर्ता।

अपने भोगोंको बढानेवाला, अपने कर्मोंके फलोंको अपने भोगके लिये अपने पास अत्यधिक प्रमाणमें संग्रह करनेके लिये सदा आतुर, भोगोंके पीछे पडनेवाला, लोभी, घातपात और हिंसा करनेवाला, अपवित्र आचरण करनेवाला, लाभ होनेपर हर्षसे नाचनेवाला और हानि होनेपर दुःखसे हताश होनेवाला, लाभ होनेपर अति घमंड करके आनन्दसे मूर्च्छित होनेवाला, तथा हानि होनेपर प्राण देनेके लिये भी तैयार होनेवाला, जिसके मनमें समभावना बिलकुल नहीं है, ऐसा जो कर्ता होता है, उसे राजस कर्ता कहते हैं। (गी० १८। २७)

तामस कर्ता।

जिसमें कर्म करनेकी कुशलता नहीं है, जिस पर कोई शुभ संस्कार नहीं हुए, जो सुस्त और सदा आलस्यमें समय बिताता है, शठता करने वाला, कृतघ्न, नीच, कर्म करनेकी इच्छा न करनेवाला, सुस्त, खिन्न और उदास, तथा थोडेसे कर्म के लिये जो बहुत समय लगाता है, ऐसे अव्यवस्थित कर्ताको तामस कर्ता कहते हैं। इसके कर्मसे जैसी इसकी हानि होगी, वैसीहि इसके साथ जिसका संबंध आवेगा, उसकी भी हानि होगी। (गी० १८। २८)

सात्त्विक बुद्धि।

जिस बुद्धिसे किसमें प्रवृत्त होना चाहिये और किससे निवृत्त होना चाहिये, कौनसा कर्तव्य करना चाहिये और कौनसा नहीं करना चाहिये, किससे भय होनेवाला है और किससे निर्भयता होगी, किससे अपना बंधन होगा और किससे बन्धसे निवृत्ति होगी, किससे अपनी सच्ची उन्नति होगी और किससे अवनति होगी, इसका यथार्थ ज्ञान होता है, वह बुद्धि सात्त्विक कहलाती है। यही बुद्धि मानवी उन्नतिका सत्य मार्ग साधक को दर्शाती है, जिससे जाननेसे मनुष्य अपनी परम उन्नति कर सकता है। (गी० १८। ३०)

राजस बुद्धि।

जिस बुद्धिसे धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्म समझा जाता है, तथा कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य जान पडता है, जिस बुद्धिसे विपरीतहि ज्ञान होता है, उसका नाम राजस बुद्धि है। यह बुद्धि दुःख उत्पन्न करने-वाली है, क्योंकि वह विपरीत कर्म करनेमें प्रवृत्त होती है, जिसका परिणाम सदा दुःखही दुःख निःसन्देह है। (गी० १८। ३१)

तामस बुद्धि।

जिस बुद्धिसे धर्माधर्मके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं होता, संपूर्ण अर्थोंके विषयमें विपरीतहि भावना सदा होती है, कभी सत्य ज्ञान होता ही नहीं, सत्यज्ञान किसीने समझाया तोभी जिसे

वह विपरीतहि प्रतीत होता है, उसका नाम तामस बुद्धि है। यह निरी बुद्धिहीनता है, निर्बुद्धताभी इसे कह सकते हैं। सब प्रकार की अधोगति इससे होना संभव है। (गी० १८। ३२)

सात्त्विक धृति।

सतत योगसाधन करनेकी रुचि, धार्मिक व्रत-नियम करके उनका पालन नियमपूर्वक करनेकी वृत्ति, मन-प्राण-इन्द्रियक्रियाओं की उत्तम धारणा जिससे होती है, जिससे मन, प्राण और इन्द्रियोंका परस्पर सहाय्यक आचरण होता है, उस समधारणाका नाम सात्त्विक धृति है। (गी० १८। ३३)

राजस धृति।

धर्म, काम और अर्थ की धारणा विशेष कर फलभोग की इच्छासे होती है। अर्थात् फलाना धर्म करनेसे फलाना फल भोगनेको मुझे मिलेगा, ऐसी इच्छा धारण करके, उस फलभोगकी कामना का ध्यान करते हुए वह उस कर्म को करता है। इसमें फलभोग की कामना बडीहि प्रबल रहती है। इसलिये इसको राजस धृति कहते है। (गी. १८।३४)

तामस धृति।

जिसमें तामस धृति होती है, वह निद्रा, भय शोक, खिन्नता, मद (बेहोषी) को छोडता नहीं, अर्थात् उसकी दोषयुक्त बुद्धि इन दुष्ट गुणोंसे व्याप्त रहती है। अर्थात् जो आलसी, सुस्त, शोकग्रस्त, खिन्न रहता है, उसकी तामस धृति है, ऐसा मानना योग्य है। (गी० १८।३५)

सात्त्विक सुख।

जो सुख प्राप्त होनेके समय विषसा प्रतीत होता है, परंतु जिसका परिणाम अमृतसा होता है और जिससे आत्मा, बुद्धि, मनकी प्रसन्नता रहती है, वह सात्त्विक सुख होता है। उदाहरण के लिये विद्याका सुख। विद्याप्राप्ति करनेके समय बडे कष्ट प्रतीत होते हैं, परंतु प्राप्त होने पर उससे जो आनन्द होता है, वह अपूर्व हि होता है, तथा इससे आत्माबुद्धिकी प्रसन्नता भी होती है। अतः वह सुख सात्त्विक है। इसी तरहके जो अन्य सुख हैं, वे सब सात्त्विक कहलाते हैं। (गी० १८। ३७)

राजस सुख।

जो सुख विषयों से इंद्रियोंका संबंध होनेसे मिलता है, सुख प्राप्त होनेके समय अमृत जैसा प्रतीत होता है,परंतु परिणाम विष जैसा होता है, उस सुख का नाम राजस सुख है। उदाहरणके लिये देखिये-कोई मनुष्य भोजन डंट कर खाता है, खानेके समय तो उसे जिह्वाका आनंद मिलता है, परंतु जिह्वाके वश हो जानेसे वह मर्यादा को उलंघ कर खा जाता है और अजीर्ण होने पर रोता रहता है। खानेके समय अमृतसा खाया, परंतु भोगनेके समय विष जैसा हुआ। इसी कारण इसका नाम राजस सुख हुआ। (गी० १८३८)

तामस सुख।

प्रारंभ से अन्ततक तामस सुख मनको मूर्च्छित करनेवाला है, निद्रा उत्पन्न करता है, प्रमाद और दोष निर्माण करता है, सुस्तीसे कुछ बनना नहीं, इस तरह अकर्मण्यता में सदा वह फंसा रहता है। इस तरह का आलस्य से उत्पन्न हुआ, यदि सुख कहा जाय तो वह तामस सुख है।(गी.१८।३९)

त्रिगुणोंकी व्याप्ति।

यहां जो इन तीनों गुणों का वर्णन किया है, उस का विचार पाठक करें और विश्वमें देखें कि इन गुणोंका खेल इस विश्वमें सर्वत्र कैसा चल रहा है। कोई वस्तु इन गुणोंके विना नहीं है। जो वस्तु संमुख आ जाय, उसमें कौनसा गुण कार्य कर रहा है, यह पाठक अवश्य देखें। प्रत्येक

वस्तु में कोई न कोई गुण अवश्य दिखाई देगा। (गी० १८।४०)

पाठक अपने अन्दर भी देखें,अन्यान्य मनुष्यों में भी देखें और पहचाननेका यत्न करें, कि किसमें कौनसा गुण कार्य कर रहा है। मनुष्य का सहज कर्म कौनसा है इस का निर्णय इस गुणत्रयविभाग के सुनिश्चयसे हो सकता है। जिसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता है, उससे जो स्वभावतः रुचिसे कर्म होंगे, वे कर्म राजस गुणकी प्रधानतावाले मनुष्यके स्वाभाविक कर्मोंसे भिन्न होंगे और तमोगुणवाले मनुष्यके कर्म तो उन दोनोंसे सर्वथा भिन्नहि होंगे।

सत्त्वगुणवाले की प्रवृत्ति उत्साहमयी और समाधानमयी होगी, रजोगुणवालेकी प्रवृत्ति हिंसक और क्रूर होती है और तमोगुणवालेकी प्रवृत्ति सुस्त होती है। अतः इनसे होनेवाले सहज कर्म एक जैसे नहीं हो सकते, इसीलिये मनुष्योंके चार भेद माने गये हैं। (गी० १८।४१)

चार वर्णोंकी व्यवस्था।

सत्त्वगुणका आधिक्य जिसमें होगा, वह ब्राह्मण कहलायेगा,सत्त्वगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण जिसमें अधिक होगा,वह क्षत्रिय होगा, तमोगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण जिसमें होगा वह वैश्य होगा, और जिसमें तमोगुणकी अधिकता रहेगी, वह शूद्र कहलावेगा। पूर्वोक्त स्थानमें जो गुणोंके न्यूनाधिक्यसे होनेवाले लक्षण कहे हैं, उनका विचार करनेसे किसमें कौनसा वर्ण है, इसका निर्णय किया जा सकता है।

ब्राह्मणमें सत्त्वगुण परम उन्नत होगा और अन्य दोनों गुण दबे हुए होंगे। अथवा जिसमें सत्त्वगुण प्रभावित है और अन्य गुण दबे हैं, वह ब्राह्मण है। (गी० १८।४२)

क्षत्रियमें रजोगुणकी प्रधानता होगी, परंतु इस रजोगुणका झुकाव सत्त्वगुणकी ओर अधिक होगा। जिसमें सत्त्वगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण होगा, उसका वर्ण क्षत्रिय होगा। (गी० १८।४३)

वैश्यमें भी रजोगुणहि होगा, परंतु उसका झुकाव तमोगुणकी ओर होगा। इस तरह जिसमें तमोगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगण होगा, उसकी वैश्य-वर्णमें गिनती होगी। (गी० १८।४४)

जिसमें तमोगुणकी प्रधानता होगी, उसका शूद्र वर्णमें भरती होगी। क्योंकि उसको किसी अन्य वर्ण में स्थान ही नहीं है।

चातुर्वर्ण्य 'स्व-भाव-ज' है, अथवा 'गुण-कर्म-स्वभाव-ज' ऐसा जो कहते हैं, उसका यह आशय है। सत्त्व, रज, तम ये गुण हैं। जिनमें जो गुण होगा, उनके अनुसार उससे कर्म होंगे। यही गुणोंके कारण कर्म करनेका स्वभाव प्रत्येक मनुष्यमें स्थिर रहता है। यह शीघ्र बदलनेवाला नहीं होता। सबेरे सत्त्वगुण रहा तो शामको रजोगुण हो नहीं सकता। प्रायः यह एक एक जन्म तक स्थिर रहता है, बदलने-का प्रयत्न किया जाय, तो जन्म भर यत्न करने पर भी बदलता है,ऐसी बात नहीं हैं। इसलिये जो जिसका गुणोंसे बना हुआ स्वभाव है,वैसे उसके लिये कर्म शास्त्रकारोंने नियत किये हैं। क्योंकि स्वभाव बदलनेका यत्न करनेपर भी बदलेगा नहीं, इसलिये सिद्ध न होनेवाली बातके लिये आयुका नाश करना कोई बुद्धि-मत्ताकी बात नहीं है। अतः इस कारण जन्म-स्वभाव बदलनेका यत्न न करना, और जो स्वभाव होगा, उसीके अनुसार शास्त्रसे निश्चित हुआ कर्म स्वीकारना और वही करते जाना। इतनाही नहीं परंतु दूसरेके कर्म की ओर देखना भी नहीं। (गी० १८।४५)

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये गुणकर्म स्वभाव से माने गये वर्ण हैं। किसी मनुष्यका वर्ण निश्चित करना हो,तो सबसे प्रथम उसमें कौनसा गुण प्रबल है, उस गुण का झुकाव किस ओर

है, कौनसे गुण दबे हुए हैं और कौनसे बिलकुल शान्त हुए हैं, इसका परीक्षण पूर्व कहे परीक्षाओंसे करना चाहिये। और इस परीक्षासे जो वर्ण निश्चित हो जाय, उसके अनुसार जो कर्म नियत हुए हैं, उनको ही करते जाना चाहिये। अपना कर्म कितनाभी निःसार हो और दूसरों का कर्म कितना भी सारगर्भित हो, अपना कर्म छोडना नहीं और दूसरोंका लेना नहीं। इससे मनुष्य निश्चित होता है और अपने कर्म करने लगता है। यह कर्म करूं या वह, ऐसी चिन्ता उसे सताती नहीं।

मनुष्यका स्वभाव निश्चित है, स्वभावके अनुकूल कर्म निश्चित हैं, और उन कर्मोंका त्याग करना नहीं चाहिये, यह भी निश्चित है। अपने सहज स्वभावसे प्राप्त कर्मसे हि अपनी सद्गति होगी, यह नियम भी निश्चित है, स्वकर्म त्यागने से अधोगति और स्वकर्म करते हुए मृत्यु आनेसे शुभ गति होना भी निश्चित है, स्वकर्म करनेसे उसी कर्मद्वारा परमेश्वरकी पूजा और उपासना होती है, यह भी निश्चित ही है। और यही ईश्वरपूजा मनुष्यका उद्धार करनेवाली है। मनुष्य अपने अन्दर गुण कैसे हैं यह देखे, कौनसा गुण विकसित हुआ है इसका निश्चय करे, उस गुणके अनुसार कौनसा अपना कर्म है, तथा अपने द्वारा कौनसा कर्म हो सकता है, इसकाभी निर्णय करे और समझे कि यही अपना स्वाभाविक कर्म है, यही अपनेको करना चाहिये। वह मनुष्य उस कर्मको करे और अपना जीवन कृतार्थ बनावे। (गी० १८।४६-४८)

वर्णसंकर।

यहां वर्णसंकर कैसा होता है, यहभी देखना उचित है। समझ लीजिये कि किसी मनुष्यके अन्दर सत्वगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण है, तो उसका वर्ण क्षत्रिय हुआ। राज्यरक्षा, सेनाविभागमें प्रवेशकर युद्ध करना आदि उसका कर्म वर्णानुकूल हुआ। यदि वह मनुष्य अपने गुणकर्मानुसार प्राप्त यह कर्म नहीं करता, और किसी कारण दूसराही कर्म करता है, तो उसके अन्दर वर्णसंकर होता है। उसके गुणकर्मानुसार उसका जो वर्ण निश्चित हुआ है, उसके अनुकूल कर्म न करता हुआ, वह दूसरे वर्णके कर्म करता है। इसलिये स्वाभाविक वर्णके संस्कारोंमें कर्मजन्य वर्णके संस्कार मिलते हैं, और वहां दो वर्णोंका संकर हो जाता है। यह वर्णसंकर मनुष्यत्वकी हानि करनेवाला है।

अतः अपना जो गुणकर्मानुसार वर्ण निश्चित हुआ है, उसीके अनुकूल जो कर्म है, वही करना चाहिये, उसीसे उस मनुष्यकी उन्नति हो सकती है, क्योंकि वे कर्म उसके गुणोंके अनुकूल होनेसे वे उससे उत्तम रीतिसे हो सकेंगे, और उस कारण उसमें शुभ संस्कार होते रहेंगे। यही उन्नतिका बडा अच्छा साधन है। वर्णसंकर न करते हुए अपने नियत कर्म करनाही मनुष्यको उचित है।

ब्राह्मणोंका कर्तव्य।

इंद्रियोंका शमन, मनका संयम, धर्मकर्म करनेके समय होनेवाले कष्टोंको सहन करनेका तप, पवित्रता-मनके परिशुद्ध विचार, वाणीकी शुद्धता और शरीरकी निर्दोषता, शरीरकी अन्तःशुद्धि और बहिःशुद्धि, सहनशीलता, सरल आचरण, सत्यज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि ये ब्रह्मकर्म स्वाभाविक हैं। जिसके अन्दर सत्वगुण प्रभावशाली होता है, उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इन कर्मोंके करनेकी ओर होती है। (गी० १८।४२)

क्षत्रियके कर्तव्य।

शौर्य, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्धमें स्थिर रहकर शत्रुसे लडना, दान देना, स्वामी होनेका भाव, ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं। क्षत्रियमें

रजोगुण होता है, परंतु वह सत्त्वगुणकी ओर झुका हुआ होता है, अतः उसका विचार आत्मसमर्पणकी ओर अधिक होता है। जनताकी रक्षाके लिये शौर्यके कर्म करना, शत्रुके साथ मरणतक युद्ध करना, धर्मयुद्धमें अपना भाग लेना, धैर्यसे शत्रुपर हमला करना, अपने पास जो धनादि होगा, वह दीनोंको उदारताके साथ देना, हरएक कर्म दक्षताके साथ करना, और मैं इस देशका स्वामी हूं, ऐसा मानकर उसकी सुरक्षाके लिये आवश्यक कार्य करना। ये क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं। ये सब कर्म रजोगुणके हैं, परंतु उनके साथ सात्त्विकताका बडा घनिष्ट संबंध है। (गी० १८।४३)

वैश्यके कर्म।

कृषिकर्म, खेतीका काम, गौ आदि पशुओंका पालन, और वाणिज्य, देशदेशान्तरमें जाकर व्यापार करना या अपने देशमें व्यापार करना ये कर्म वैश्यवर्णके स्वाभाविक हैं। निःसन्देह जिन कर्मोंमें धनकी प्राप्ति होती है, वेही कर्म वैश्य करता है, क्योंकि उसके अन्दर जो रजोगुण है, वह तमोगुणकी ओर झुका हुआ है, इसलिये वह प्रयत्न ऐसे करता है, कि जिससे व्यय की अपेक्षा आय अधिक हो। (गी० १८।४४)

शूद्रके कर्म।

परिचर्या अथवा सेवा-कर्मसे आजीविका करनाही एकमात्र शूद्रका कार्य है। इसमें अत्यधिक तमोगुण होनेसे वह सुस्त होता है और उत्साह आदि शुभ गुण इसमें नहीं होते। इस लिये प्रशस्तकर्म इनसे नहीं होते, अतः अन्य वर्णोंकी सेवा करके यह अपनी आजीविका करता है। (गी० १८।४४)

शूद्र वर्णमें एक सच्छूद्र और दूसरा असच्छूद्र ऐसे दो भेद माने गये हैं। उत्तम शूद्र और अधम शूद्र, ऐसा इनका आशय माना जा सकता है। जो उत्तम शूद्र हैं, वे विविध कारीगरीके कर्म करके अपनी आजीविका चलाते हैं, ये व्यवसाय वैसे ही स्वतंत्र और सन्मान्य हैं, कि जैसे पूर्वोक्त तीनों वर्णोंके हैं। अतः कई शास्त्रकार इस सच्छूद्र को त्रैवर्णिकोंके समान मौंजीबन्धनपूर्वक यज्ञोपवीत धारण का अधिकार देते हैं। अथवा विना उपनयन के भी इनका अध्ययन होता है, जैसा कि विदुर का हुआ था। विदुर शूद्र होनेपर भी बहुत पढा हुआ ज्ञानसंपन्न था। यह विदुर सच्छूद्रका उत्तम उदाहरण है। इसका अध्ययन उस समयके द्विजों जितना हुआ था, भगवान् सनत्कुमार के समान यह विद्वान था, ऐसा कई कहते हैं। उतना न भी हो तथापि वेदान्त और व्यवहार का अच्छा ज्ञाता वह था और उस समय की राजसभाका वह सदस्य भी था। आर्य राज्यमें शूद्रकी कितनी उन्नति हो सकती थी, इसका आदर्श हमें विदुरके उदाहरण से ज्ञात होता है। विदुरकी उन्नति किसी भी रीतिसे उस समय के अन्य द्विजोंसे बहुत कम न थी।

द्विजोंके कर्तव्य।

ब्राह्मणोंका कर्तव्य अध्ययन अध्यापन नियत होनेपर भी पितामह भीष्म, धर्मराज, भगवान् श्रीकृष्ण ये क्षत्रिय अच्छे धर्मोपदेश करनेवाले करके प्रसिद्ध रहे। उनके साथ विदुरकी भी तुलना करना योग्य है। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाचार्य ये ब्राह्मण होनेपर भी क्षत्रियोंसे बढकर धनुर्विद्यामें निपुण थे, और युद्ध विद्यामें भी प्रवीण थे। इससे सिद्ध होता है, कि परस्परके कर्म परस्पर वर्णवाले करते नहीं थे, ऐसा नहीं है।

इससे भी प्राचीन कालमें नरनारायण ऋषि बद्रिकाश्रममें तपस्या करते थे। उनके आश्रमपर उन्मत्त क्षत्रियों ने हमला किया, तब उन्होंने तृणास्त्रका प्रयोग करके सब सैनिकों के नाक, कान, आंखोंमें घांस के तिनके बारीक बारीक

टुकडे जाने-योग्य कुछ अस्त्र चलाया, जिससे वह क्षत्रिय का सैन्य परास्त होकर भाग गया और ऋषियोंका आश्रम सुरक्षित रहा। इससे पता चलता है, कि अति प्राचीन कालके ब्राह्मण भी शस्त्रास्त्र चलाना जानते थे, इतनाही नहीं अपि तु क्षात्रगुरुकुलमें युद्धविद्या सिखानेवाले आचार्य सब ब्राह्मणहि होते थे। जो क्षत्रियोंको शस्त्रास्त्रविद्या और युद्धविद्या पढाते थे।

अतः ऊपर जो ब्राह्मणोंका शमदमादि कर्म, क्षत्रियोंका शौर्य तेज आदि कर्म, कहा है, यह तो उनकी विशेषताकी बात है। ब्राह्मण इन कर्मोंमें विशेषता प्राप्त करें और क्षत्रिय इन कर्मोंमें विशेषता प्राप्त करे। एक दूसरेके कर्मोंमें स्पर्धा न हो। ब्राह्मण क्षत्रियका धंदा (पेशा) न करे और क्षत्रिय ब्राह्मण का (पेशा) धंदा न करे। इसी तरह सब धंदोंमें स्पर्धा न हो। यह मुख्य तात्पर्य वर्णव्यवस्थाका है। कोई अध्ययन न करे, यह इसका तात्पर्य नहीं है। समयपर चारों वर्णोंको और स्त्रियोंकोभी शस्त्रधारण करना उचित है और राष्ट्रपर कठिन प्रसंग आनेपर चारों वर्णोंको शस्त्रधारण करना आवश्यक होगा, तब तो राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको शस्त्रास्त्रविद्या का प्राथमिक शिक्षण तो अवश्यहि मिलना चाहिये। ऐसा सबको शस्त्रविद्याका शिक्षण मिले, परंतु क्षत्रिय उसमें विशेषता प्राप्त करे और वह उस विशेषताके कारण राष्ट्रकी रक्षा करे। इसी तरह अन्यान्य वर्णोंके विषयमें जानना योग्य है।

स्वकर्मसे सिद्धि।

अपने अपने कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्यको श्रेष्ठसे श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त हो सकती है, परम सिद्धि प्राप्त होनेका एकमात्र उपाय स्वकर्म उत्तम रीतिसे करनाही है, यहां यह बात स्पष्ट करनेके लिये यही विषय प्रश्नोत्तररूपसे लिखते हैं (गी० १८। ४५-४६)—

(प्रश्न)-मनुष्यको परमसिद्धि किस प्रकार प्राप्त होती है?

(उत्तर)-स्वकर्म उत्तम रीतिसे करनेसे।

(प्र०) प्रत्येक मनुष्यका स्वकर्म कौनसा है?

(उ०) प्रत्येक मनुष्यके शरीर-मन-बुद्धि की जो सत्त्व-रज-तम-रूप प्रकृति है, उसके अनुसार जो कर्म निश्चित होता है, वह उसका स्वकर्म है। सहज कर्म, स्वभावनियत कर्म, स्वधर्म, गुणकर्मस्वभावज वर्णधर्म, स्वकर्म इन सब शब्दोंका अर्थ एक हि है।

(प्र०) अपने शरीर की, मनकी, बुद्धिकी, प्रवृत्तिका ज्ञान किस तरह होता है? और अपना धर्म निश्चित किस तरह होता है?

(उ०) भगवद्गीतामें सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणोंका जो वर्णन है, वह अपने अन्दर देखनेसे अपनी प्रकृति सात्त्विक है, राजस है वा तामस है, इसका निर्णय होता है, और अपनी प्रकृतिके अनुकूल जो कर्तव्य अर्थात् तदनुसार अपना जो वर्णधर्म है, वही अपनी प्रकृतिके अनुकूल स्वभावज कर्तव्य है।

(प्र०) अपना यह कर्तव्य करनेसे क्या होता है?

(उ०) सिद्धि प्राप्त होती है। सिद्धिका अर्थ मानवत्वका पूर्ण विकास है। यह विकास होकर ' पूर्ण मानव ' बनता है। और यह पूर्णत्व स्वकर्म उत्तम प्रकार करनेसेहि होता है।

(प्र०) अपना कर्तव्यकर्म न करनेसे क्या होगा?

(उ०) अपना कर्तव्यकर्म, अपना धर्मपालन न करनेसे सिद्धि नहीं मिलेगी, उन्नति नहीं होगी, मानवभावका विकास नहीं होगा।

(प्र०) स्वकर्म न करके दूसराहि कर्म करनेसे क्या होगा?

(उ०) अपनी सात्त्विक-राजस-तामस प्रकृतिके अनुसार सात्त्विक-राजस-तामस कर्म न करनेसे और अपनी प्रकृतिके विपरीत

कर्म करनेसे वर्णसंकर होगा, जो सर्वथा मानवभावका नाश करनेवाला होगा।

(प्र०) स्वकर्म किस तरह करना चाहिये?

(उ०) योगके साथ स्वकर्म करना चाहिये, अर्थात् कुशलताके साथ, उत्तम प्रवीणताके साथ स्वधर्मानुकूल कर्म करना चाहिये।

यही सिद्धि प्राप्त करनेकी शुद्ध रीति है, जिससे मनुष्यमात्र उन्नत हो सकता है।

परमेश्वर एक है, उसने यह संपूर्ण विश्व फैलाया है। और विश्वका फैलाव करते समय प्रत्येक मनुष्यकी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रवृत्ति बनी है। यही स्वभावकी सहज प्रवृत्ति है। इस स्वभावकी सहज प्रवृत्तिके अनुसार इससे होनेवाले सात्त्विक, राजस और तामस कर्म उसके स्वकर्म कहलाते हैं। इन स्वकर्मोंको उत्तम प्रवीणताके साथ करके, तथा इन कर्मोंको और इन कर्मोंके फलोंको परमेश्वरको समर्पण करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। (गी० १८।४६)

(प्रश्न)-क्या परमेश्वर है?

(उत्तर)-है।

(प्र०) परमेश्वर कहां है?

(उ०) इस विश्वके रूपसे मनुष्यके चारों ओर है और मनुष्यभी उसीमें उसीका एक अंश है।

(प्र०) परमेश्वरसेवाका अर्थ क्या है?

(उ०) "विश्व-सेवा" ही परमेश्वर सेवा है, और परमेश्वरसेवा ही विश्वसेवा है।

(प्र०) यह कैसी की जाती है?

(उ०) स्वकर्मसे परमेश्वरसेवा- विश्वसेवा करनी चाहिये। अर्थात् ब्राह्मणने ज्ञानके द्वारा, क्षत्रियने प्रजारक्षाद्वारा, वैश्यने कृषि-गोरक्षाद्वारा और शूद्रने कारीगरी तथा परिचर्याद्वारा करनी चाहिये।

(प्र०) ईश्वरसेवा किस तरह करनी चाहिये?

(उ०) ईश्वर विश्वरूपसे अपने सामने है, प्रत्येकको प्रत्यक्ष है, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र निषादादि रूपसे, पशुपक्षियोंके रूपसे, वृक्षवनस्पतियोंके रूपसे, नदीनदोंके रूपसे तथा अन्यान्य विश्वस्थित वस्तुमात्रके रूपसे ईश्वर मनुष्यमात्रको प्रत्यक्ष है। जो जिस शुभ कर्ममें प्रवीण है, वह उस कर्मके द्वारा इस ईश्वरकी संतुष्टी होने योग्य उसकी सेवा करे, इसीसे उसकी कृतकृत्यता होगी। अपने जीवन-समर्पणसे मनुष्योंका, पशुपक्षियोंका, सुख और आरोग्य बढावे। वृक्षोंकी प्रसन्नता रखे, नदीनदोंको प्रसन्न रखे। जल, वायु तथा भूप्रदेशोंको प्रसन्न रखे, जहां मनुष्य जाकर आनन्द प्राप्त कर सकें। जनसेवा ही ईश्वरसेवा है, ऐसा जो कहते हैं, वह आंशिक सत्य है। मनुष्य विचार करेगा, तो उसको अपने जीवनद्वारा विश्वसेवा करनेके अनेक मार्ग ज्ञात होंगे। अपने जीवनमें जो कर्म हो रहे हैं, उनसे विश्वकी प्रसन्नता किस प्रमाणमें हो रही है, इसका विचार प्रत्येकको करना चाहिये। और तदनुसार अपने कर्तव्यकर्म करनेसे परमेश्वरसेवा होती है। इसी ईश्वरको अपने कर्मोंके फल समर्पण करने चाहिये, ऐसा करनेसे वही इसका योगक्षेम चलावेगा।

मनुष्यस्वभावोचित कर्म में उत्तम प्रवीणता संपादन करे, प्रवीणतासे स्वधर्मोंके कर्मके अनुष्ठान करे, अपने कर्मोंके फलोंका जनतारूपी जनार्दन की संतुष्टी के लिये समर्पण करे, जिससे संतुष्ट और प्रसन्न हो कर वही इसका योगक्षेम उत्तम रीतिसे चलावेगा।

विशिष्ट समाजपद्धति।

इस रीतिसे विचार करनेपर एक विशेष प्रकार की समाजपद्धति इसमें वर्णित हुई है, ऐसा प्रतीत होगा। प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म उत्तम

प्रवीणताके साथ जितने उत्तमसे उत्तम हो सकते हैं, उतने उत्तम करे, वह वे सब कर्म जनसमाज-रूपी ईश्वरकी संतुष्टीके लिये समर्पण करे, उन कर्मोंके फलोंको भी अपने उपभोगके लिये अपने पास संग्रहित करके न रखे, प्रत्युत उन कर्म-फलोंको भी ईश्वर ही के लिये समर्पित करे। जन समाजरूपी परमेश्वर प्रत्येक इस तरहके विश्व-सेवक का योगक्षेम चलावे। देखिये इस तरहके विश्वसेवक-समाजका स्वरूप कैसा होगा।

विश्वही परमेश्वर है (विश्वं विष्णुः), परंतु अपने विचारकी सुविधाके लिये हम मानव-समाज को ही ईश्वर का रूप मान कर यहां विचार करेंगे।

इस मानवसमाजरूपी ईश्वर का मुख ज्ञानी जन है, उसी ईश्वरके बाहु शूर पुरुष हैं, उसी ईश्वरके पेट व्यापारी हैं, और उसी ईश्वरके पांव कारीगर हैं। ये उसके अवयव हैं और ईश्वर अवयवी है। कोई मनुष्य ईश्वरके इस विश्वव्यापक शरीरसे पृथक् नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति समष्टिका ही अंश है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने कर्तव्यकर्ममें प्रवीण बने, प्रवीणतासे अपना कर्तव्यकर्म करे, अपना कर्तव्य करके उस कर्मद्वारा जनता-रूपी परमेश्वरकी प्रसन्नता करे, उसीकी प्रसन्नता के लिये अपना कर्तव्य करे, दूसरा कोई अपना जीवनोद्देश्य न रखे, कर्तव्यकर्म करे परंतु उसके लिये कोई बदला न लेवे, अवैतनिक सेवा करे।

ज्ञानी सद्गुरु अपना ज्ञान जनताकी भलाईके लिये देता रहे, विना वेतन लिये अध्यापन करे, पढावे, उपदेशक सेवाभावसे उपदेश करे, ज्ञानका फैलाव करनेके जितने उपाय होंगे, उतने उपायोंका अवलम्बन करके ज्ञानका प्रसार ज्ञानी जन करते रहें। परंतु वेतन न लेवें, केवल ईश्वर-सेवा के भावसे यह कार्य करें।

शूर पुरुष अपने शौर्यसे जनताकी सुरक्षा करें, कोई ग्राम की रक्षा करें, कोई वनों और उपवनों की रक्षा करें, कई जलस्थानोंको सुरक्षित रखें, कई सैनिक बनें और शत्रुओंको परास्त करके जनताको सुरक्षित रखें। जहां जहां दुर्जनोंका उपद्रव हो और सज्जनों की रक्षा करने का कार्य उपस्थित हो, वहां शूर वीर स्वयं-सेवक बनकर जांय, और दुर्जनोंको दूर करके सज्जनोंकी रक्षा करें। इस कार्य को ईश्वरसेवा के भावसे करें और इस कार्यके बदले कोई वेतन न लेवे।

कृषीवल खेती उत्तम कुशलतासे करें, नाना प्रकारके उत्तमोत्तम धान्य, तथा फल, फूल, कंद-मूळ-शाक, तैयार करें और जनता को अर्पण करें। व्यापारव्यवहार करनेवाले देशदेशान्तर में और ग्रामग्रामान्तरमें जहां धान्यादि न हों, वहां ले जावें और वहां की जनता तक पहुंचावें। कारीगर लोग कुशलतासे विविध कारीगरीकी वस्तुएं बनावें।

राष्ट्रमें ऐसी आयोजना हो, कि जिससे जिसको जो वस्तु आवश्यक हो, वह उसको मिले और राज्यप्रबंधद्वारा सबका योगक्षेम उत्तम प्रकार चलाया जावे और कोई मनुष्य बुभुक्षित और पिपासित न रहे।

वैद्य लोग रुग्णोंकी चिकित्सा करें, तथा अन्यान्य लोग अन्यान्य कर्मोंके द्वारा जनताकी सेवा करें। और सबका योगक्षेम जनताकी प्रबंधक समितिद्वारा होता रहे। इस तरह की सुव्यवस्था की रचना करनेका आदेश यहां भगवद्गीताने दिया है।

इस प्रकारकी धार्मिक राज्यव्यवस्थासे जनता अधिक सुखी होने में संदेह ही नहीं है। आज-कलकी समाज-रचना वैयक्तिक भोगसंग्रह के तत्त्वका आश्रय करनेवाली है। व्यक्ति कर्म करे, वेतन लेवे और उस धनसे अपने पास भोग-संग्रह करे। यह इस समयकी समाजरचना का तत्त्वज्ञान है।

भगवद्गीतोक्त समाजरचनामें प्रत्येक व्यक्ति उत्तम कुशलतासे कर्म करेगी, परंतु अपने कर्मके लिये वेतन नहीं लेगी, अपना कर्म समाजसेवाके भावसे करेगी, और समाज प्रत्येक व्यक्तिका योगक्षेम चलावेगा। कोई व्यक्ति बेकार न रहे, कोई भूखी न रहे, कोई दुःखी न रहे इस विषयमें समाज दक्ष रहेगा।

आजकलका समाज और गीतोक्त समाज इस में यह भेद है। पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा, कि वैयक्तिक फलभोगके साधनों का संग्रह करनेकी पद्धतिमें इतना अधिक शक्तिका नाश होता है और संघ-सेवाभावके तत्त्वज्ञानपर आरूढ समाज-व्यवस्थामें शक्तिका इतना संग्रह होता है, कि सब प्रकारसे विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है, कि संघभावोपासक समाज ही अधिक सुखी होना संभव है।

प्रत्येक मनुष्य संघहितके लिये अपना जीवन देवे और संघ ही व्यक्तिका योगक्षेम चलावे। सब धन संघका है, व्यक्ति का अधिकार संघकी सेवा करना ही है।

ईश्वर और उसकी सेवा का यह तात्पर्य है। जिस व्यक्तिको जो कर्म संघकी सेवाके भावसे करना है, वही उसको करना चाहिये। वह कितनाभी सुकर हो वा दुष्कर, उसको वह करनाही चाहिये। प्रत्येक मनुष्य सुकर कर्मही करें और दुष्कर कर्म छोड दे, यह बात नहीं है। संघसेवाके लिये प्रत्येक कर्मकीआवश्यकता है, यदि उनमें से कई कर्म न किये जांयगे, तो संघकी प्रसन्नता नहीं रहेगी। अतः कर्म अच्छा हो वा बुरा, सुकर हो वा दुष्कर, सौम्य हो वा क्रूर, जो कर्म अपने लिये कर्तव्य निश्चित हुआ हो, वह सुखदुःखकी पर्वाह न करते हुए करना ही चाहिये।

प्रत्येक कर्ममें दोष हुआ ही करते हैं, अतः सदोष कर्म है, इसलिये उसका त्याग करना नहीं चाहिये। कई सैनिक शत्रुके आघात होनेके स्थानपर होते हैं और कई पीछे रहते हैं। यदि आघात स्थानपर कोई न रहे, तो पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी। इसलिये सेनापति की आज्ञा-द्वारा जो स्थान जिस सैनिक के लिये योग्य हुआ है, वहीं उसको रहकर अपना कर्तव्य करना चाहिये और उसी कर्तव्य को करनेसे अपने जीवन की सफलता होती है, ऐसा भी मानना चाहिये। (गी० १८।४८)

भोगविषयक आसक्ति छोडनी चाहिये। आत्मसंयम करना चाहिये, भोगोंके विषयमें उदासीन रहना चाहिये, और अपना कर्तव्य करना चाहिये। जो इस तरह अपना कर्तव्यकर्म कुशलता पूर्वक करेंगे, उनको सफलता प्राप्त होगी। शुद्ध बुद्धिसे युक्त हो कर, सदाचारका धैर्य धारण करके, विषयभोगोंका त्याग करके, रागद्वेष छोड कर, थोडा भोजन करता हुआ, वाणी-शरीर और मनका संयम करके, अहंकार, घमंड, काम-क्रोध और भोगसंग्रह को छोडकर जो निर्मम हो कर शान्त होता है, वही ब्रह्मरूप बनता है। वह सब भूतों के विषयमें सम होता है और वही ईश्वर का सच्चा भक्त होता है। (गी० १८।४९-५४)

इस तरह जो भक्तहोता है वह ईश्वर कितना है और कैसा है, यह तत्त्वतः जानता है और वह सचमुच अनुभव करता है कि मैं भी उसीमें हूं, उसीका एक अंश हूं। ऐसा अपने आपको ईश्वर का अंश मानकर और ईश्वरको अंशी मानकर सब कर्म ईश्वरार्पण बुद्धिसे करता है। इसलिये परमेश्वर उसपर प्रसन्न होता है और वह ईश्वरके शाश्वत पदको प्राप्त होता है। (गी० १८।५५-५६)

समर्पणयोग।

उस समय भक्त का सब चित्त ईश्वरमें समर्पित होता है, सब कर्म वह ईश्वरार्पण बुद्धिसे करता है, बुद्धिभी ईश्वर में ही लगती है, उसकी सब क्रिया ईश्वर के लिये होती है क्योंकि वह उससे पृथक् नहीं रहता। जो वह करता है ईश्वर के लिये करता है। (गी० १८।५७)

परंतु जो अहंकार करनेवाला मानव घमण्ड करके, अपना कर्तव्यकर्म करता नहीं, और मैं यह कर्म नहीं करूंगा ऐसा कहता है, वह कर्म हीनता के कारणहि नष्ट भ्रष्ट होता है। क्योंकि वह विश्वरूपी ईश्वर का विरोध करता है। जो विश्वशक्ति से विरोध करेगा, वह जिवित रह नहीं सकता। कर्म न करूंगा ऐसा उसने अपने आपको स्वतंत्र मानकर कहा, परंतु उसकी प्रकृति स्वतंत्र है वह उसको घसीट कर अपनी प्रकृति के अनुकूल कर्म करावेगी। इस कारण उस समय वह पराधीन होकर कर्म करेगाहि। फिर प्रथमसे हि अपना स्वभावनियत कर्म करनेमें क्या दोष था? इसलिये इस प्रकार का कर्मत्यागका हट करना किसको योग्य नहीं है। (गी० १८।५८-६०)

हृदयनिवासी ईश्वर।

सब के हृदयोंमें ईश्वर निवास करता है और वह वहां से सबको चलाता है। जैसे किसी यंत्र पर कटपुतलियां लगाई होती हैं और यन्त्रके घुमनेसे वे सब पुतलियां अपनी अपनी गतिसे घूमती हैं, उसी तरह इस विश्व के यंत्रपर सब भूत लगाये हैं और ईश्वर उस यंत्र को घुमाकर सब भूतोंको घुमाता है। यह सब विश्व ही एक बडा यन्त्र है और उस महायन्त्रका एक पुर्जा मैं हूं। मैं स्वतंत्र नहीं हूं, विश्वरूपी महायन्त्रके साथ मुझे भी घूमना चाहिये, और यंत्रकी सुफलता और सफलता ही एक पुर्जेकी सुफलता और सफलता है। यह जानकर अपना अहंकार छोडना चाहिये और विश्वनियामक की इच्छा की सफलता के लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिये। विश्वरूपी परमेश्वर को आत्मसमर्पण करके, स्वयं उसको शरण जाकर, मैं उसका हूं और उसकी इच्छाकी पूर्तिके लिये हूं, यह जानकर, उसकी संतुष्टीके लिये अपने जीवन का यज्ञ करना चाहिये। इसी तरह के आत्मयज्ञसे मानवी जीवन की सफलता होनी है। (गी० १८।६१-६३)

यह सत्य ज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् जिसने अपना जीवन इस ज्ञानसे युक्त बनाया है, वही अपनी इच्छाके अनुसार कार्य कर सकता है, क्योंकि उसकी इच्छा परमेश्वर की हि इच्छा होती है, वह परमेश्वररूप ही उस समय बना होता है।

उस समय उसका मन परमेश्वर में लगा होता है, वह उसी ईश्वर की सेवा करता है, ईश्वरके लिये ही वह आत्मयज्ञ करता है, ईश्वरको हि वह नमन करता है, और अन्तमें वह ईश्वरमें ही एकरूप हो जाता है। उस समय वह किसी अन्य कर्तव्य का विचार करता नहीं; एक ईश्वरको शरण जाता है और उसी शरणागतिसे वह सब पापोंसे छूटकारा पाकर ईश्वरस्वरूपमें मिल जाता है। (१८।६५-६६)

ज्ञानप्रसार।

इसी सत्य-ज्ञानका प्रसार जिस उत्तम रीतिसे हो उस रीतिसे करना चाहिये। अध्ययन, अध्यापन, संकीर्तन, व्याख्यान, लेखन, तथा, प्रवचन द्वारा इस सत्य ज्ञानको मनुष्यमात्रतक पहुंचाना चाहिये। क्योंकि इसीसे मनुष्यमात्रका परम कल्याण होनेवाला है। (गी० १८।६७-७२)

यहां अठारहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायकी

विषयसूची

श्रीमद्भगवद्गीता ।

[पुरुषार्थबोधिनी भाषा-टीका]

प्रथम विभाग ।

द्वितीय विभाग ।

तृतीय विभाग ।